70-६८

श्रीराधाकृष्णाभ्यां नमः

महर्षि वेदव्यास-प्रणीत

श्रीमद्भागवत-महापुराण

(सचित्र, हिन्दी-अनुवादसहित)

प्रथम खण्ड

(स्कन्ध १ से ७ तक)

गीताप्रेस, गोरखपुर

ΣΤΟ Ε-C

श्रीराधाकृष्णाभ्यां नमः

महर्षि वेदव्यास-प्रणीत

श्रीमद्भागवत-महापुराण

(सचित्र, हिन्दी-अनुवादसहित)

प्रथम खण्ड

(स्कन्ध १ से ७ तक)

अनुवादक—

मुनिलाल

मुद्रक तथा प्रकाशक
घनश्यामदास जालान
गीताप्रेस, गोरखपुर

सं० १९९७, प्रथम संस्करण ४२५०

मूल्य दोनों खण्डोंका ८)

मिलनेका पता—
गीताप्रेस, गोरखपुर

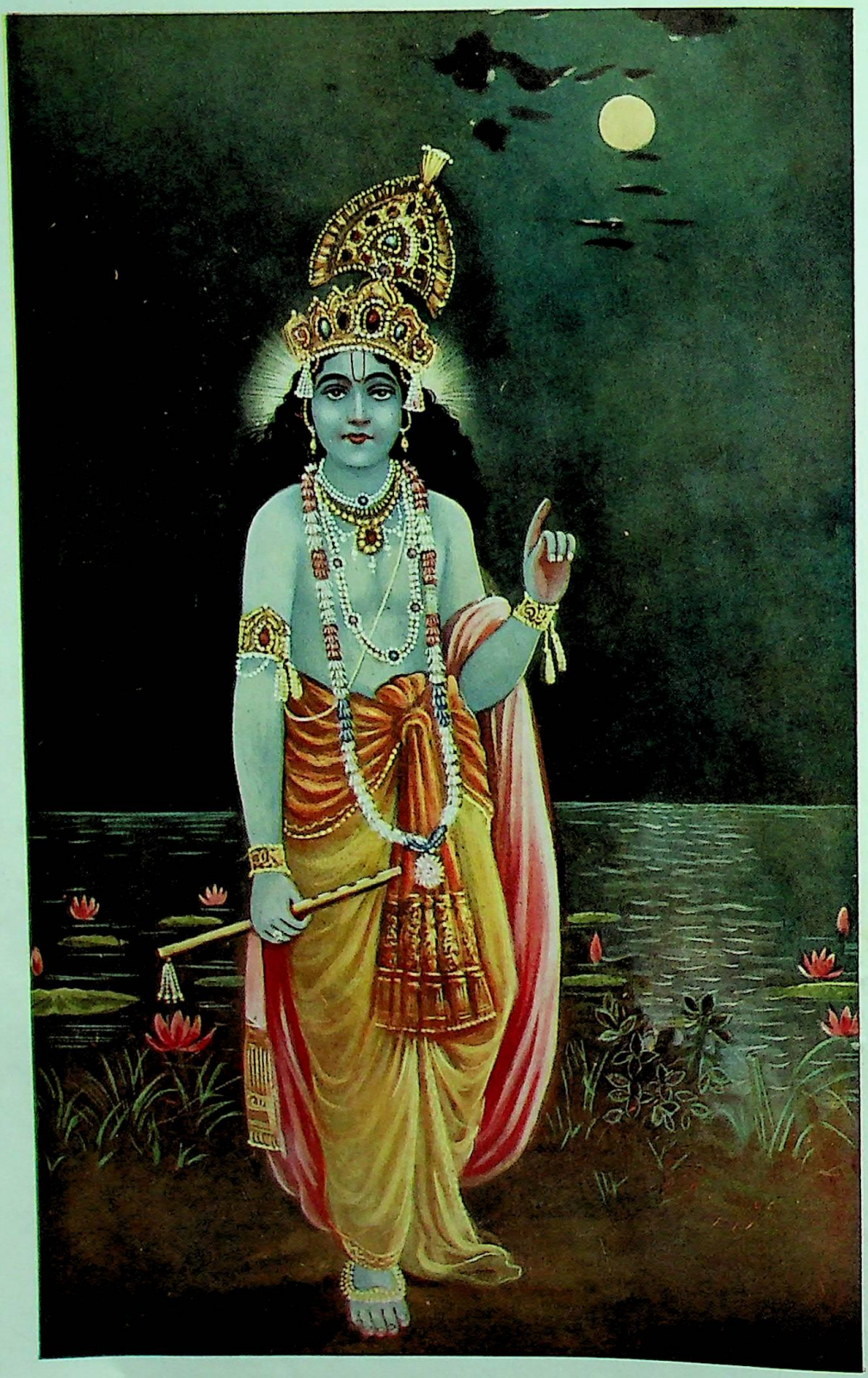

भगवान् श्यामसुन्दर

श्रीकृष्णः शरणं मम ।

निरखि किन नयना होहु निहाल ।

अति अदभुत आनँद-अम्बुद-सी सोहत सो सुखमा सुविसाल ॥ १ ॥

नीरद-तनु दामिनि-सी दमकत छिन-छिन छवि-कन झरत रसाल ।

अंग-अंग मनिगन-दुति राजत झिलमिलात जनु उडुगन जाल ॥ २ ॥

नाचत मन-मयूर अति उनमद निरखि इन्द्रधनु-सी बनमाल ।

पुनि पुनि अति आनँद उर उमँगत सुनि-सुनि बंसीनाद रसाल ॥ ३ ॥

मुख-मयंक पै मुकुट मनोहर लसत कञ्ज जनु कनक-मराल ।

मधुर-मधुर मुसकान मनोहर मारत मनहुँ मार सर-जाल ॥ ४ ॥

स्याम-सनेह-सुधा नित बरसत परसत कँपत कुटिल कलिकाल ।

सो सुठि सुधा पान करि रुचि सों भजहु निसंक न किमि नँदलाल ॥ ५ ॥

श्रीहरिः

निवेदन

वंशीविभूषितकरान्नवनीरदाभात् पीताम्बरादरुणबिम्बफलाधरोष्ठात् ।
पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात्कृष्णात्परं किमपि तत्त्वमहं न जाने ॥

प्यारे श्यामसुन्दर ! तुम्हारी लीला बड़ी विचित्र है। तुम्हारे प्रत्येक खेलमें कोई-न-कोई नवीनता रहती है। विना कुछ नवीनता किये तुम्हें चैन भी नहीं पड़ता। इसीलिये तुम नित्य नये-नये स्वाँग रचकर बेचारी भोली व्रजबालाओंको झकाकर प्रेमरसकी वृद्धि किया करते थे। तभी नहीं, अब भी सर्वत्र तुम्हीं तो क्रीडा कर रहे हो। तुम पुराण-पुरुष होकर भी नित्य-नूतन हो, उदासीन होकर भी सर्वकर्ता हो, असङ्ग होकर भी सबके सुहृद् हो तथा निष्क्रिय होकर भी निखिल नियति-नाट्यके नियामक हो। नटवर ! इस सम्पूर्ण प्रपञ्च-मञ्चपर जहाँ-जहाँ जो कुछ हो रहा है वह सब तुम्हारा ही तो लीला-विलास है !

यदि ऐसी बात है तो हमारी प्रत्येक प्रवृत्तिके प्रेरक क्या आप ही नहीं हैं ? फिर हम क्यों व्यर्थ अभिमानवश उसमें साधुता-असाधुताकी कल्पना करके हर्ष-शोकका बोझा उठावें ? प्रत्येक क्रियाके कर्ता, भोक्ता, नियन्ता और साक्षी तो आप ही हैं; हम अहंकारकी छाप लगाकर वृथा ही अपने ऊपर उसकी जिम्मेवारी ले लेते हैं। किन्तु प्यारे ! हमारा यह मोह भी तो तुम्हारी ही माया है। ऐ नटखट खिलाड़ी ! तेरी जैसी मौज हो वैसा खेल खेल, बस इतनी ही कृपा कर कि 'हम तेरे यन्त्र हैं'—यह बोध हमारे अन्तःकरणमें निरन्तर जाग्रत् रहे।

हाँ, तो अब दो शब्द अपनी इस कृतिके विषयमें कहने हैं। आजसे कई वर्ष पूर्वकी बात है एक दिन एक इक्केपर श्रीभाईजी (श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार) और श्रीहरिकृष्णदासजी गोयन्दकाके साथ मैं प्रेससे बगीचेको आ रहा था। मार्गमें मेरे श्रद्धेय साथियोंमें श्रीमद्भागवतके प्रकाशनके विषयमें बातचीत होने लगी। उसी समय मेरे चित्तमें इस ग्रन्थरत्नके अनुवादका मूक सङ्कल्प हुआ। उस वार्तालापके प्रसङ्गमें ही श्रीगोयन्दकाजीने श्रीभाईजीसे कहा, 'भाईजी ! यदि आप ही इसका अनुवाद करें तो बड़ा अच्छा हो।' इसपर भाईजीने कहा, 'शिव ! शिव ! मैं इस कार्यके योग्य कहाँ हूँ ? इसके लिये तो बड़ी योग्यताकी आवश्यकता है।' श्रद्धेय भाईजीकी यह बात सुनकर मेरे सङ्कल्पमें कुछ ठेस लगी और मैं सोचने लगा 'यदि भाईजी ही इस कार्यके योग्य नहीं हैं तो मैं इसे कैसे कर सकूँगा ?'

अस्तु ! उस समय इससे अधिक और कुछ नहीं हुआ। धीरे-धीरे इस ग्रन्थके अनुवादके लिये जहाँ-तहाँ बातचीत होने लगी; मैंने भी उसमें कुछ सहायता की। किन्तु उस सङ्कल्पका बीज तो मेरे हृदयमें भी था ही। एक बार प्रसङ्गवश मैंने अपनी इच्छा श्रीभाईजीको लिख दी और उन्होंने तुरंत मुझे इस कार्यके लिये अपनी स्वीकृति दे दी।

मैंने बड़े उत्साहसे मार्गशीर्ष शु० १५ सं० १९८८ को अनुवाद आरम्भ कर दिया। इससे पूर्व मुझे कभी इस ग्रन्थरत्नके अनुशीलनका सौभाग्य नहीं हुआ था। इसलिये आरम्भ करनेके पश्चात् वास्तवमें मुझे अपनी अयोग्यता अनुभव होने लगी। कुछ दिन पीछे यह उक्ति भी सुनी 'विद्यावतां भागवते परीक्षा'।

इससे चित्तमें और भी शङ्का होने लगी। जिस ग्रन्थमें विद्वानोंकी परीक्षा होती है, उसमें एक विद्याहीनका प्रवेश कैसे होगा ?

किन्तु यह सब होते हुए भी मेरा उत्साह शिथिल नहीं हुआ। मुख्यतया लोकैषणाने ही इसे सजीव बनाये रखा। यद्यपि परमार्थपथके पथिकके लिये सभी प्रकारकी एषणाएँ हेय ही हैं, तथापि लोकमें बहुत-से कार्य तो इन्हींकी प्रेरणासे होते हैं। उस समय यही बात इन पंक्तियोंके लेखकके विषयमें भी हुई। इस प्रकार प्रायः डेढ़ वर्षतक यह कार्य चलता रहा। बीच-बीचमें प्रेसके और-और कार्य भी होते रहे। अन्तमें आषाढ़ शु० ६ सं० १९८९ वि०को श्रीभागीरथीके तटपर वैकुण्ठाश्रम मियाँगंज (फर्रुखाबाद) में यह अनुवाद समाप्त हुआ।

यह कहनेकी आवश्यकता नहीं कि इस कार्यके लिये मैं किसी प्रकार योग्य नहीं था। केवल चञ्चलताके कारण ही मैंने इसे अपने हाथमें लेनेका दुःसाहस किया था तथा पूज्य श्रीभाईजीने भी स्नेहवश ही मुझे इसके लिये स्वीकृति दे दी थी। यदि इसमें मुझे कुछ भी सफलता मिली है तो वह उस सर्वान्तर्यामी श्यामसुन्दरके कृपाकटाक्षका ही प्रसाद है जो सबके अन्तःकरणोंमें बैठकर उनकी प्रत्येक प्रवृत्तिके सच्चे प्रेरक और नियन्ता हैं। वास्तवमें प्रत्येक कार्यके सच्चे कर्ता तो वे ही हैं। हम अभिमान-वश उनके कर्तृत्वका अपनेमें आरोप करके वृथा ही शुभाशुभ फलभागके बन्धनमें पड़ते हैं।

अस्तु, अनुवाद समाप्त हो जानेपर प्रायः दो वर्ष तो यों ही पड़ा रहा। उसके बाद यह विचार हुआ कि यदि मूल ग्रन्थका पाठ किसी प्राचीन प्रतिसे मिला लिया जाय तो विशेष प्रामाणिक रहे। इसके लिये विद्वानोंसे, मुख्यतया श्रीमन्मध्वगौडसम्प्रदायाचार्य गोस्वामी श्रीदामोदरलालजी शास्त्री और गवर्नमेण्ट संस्कृत कालेज बनारसके भूतपूर्व प्रिंसिपल श्रीगोपीनाथजी कविराज एम्० ए० से परामर्श किया गया। श्रीकविराज महोदयने बताया कि कालेजके सरस्वती-पुस्तकालयमें एक प्रति प्रायः आठ सौ वर्ष पूर्वकी लिखी हुई है। अभीतक इतनी प्राचीन और कोई प्रति उपलब्ध नहीं हुई। यदि उसके अनुसार पाठ रखा जाय तो बहुत अच्छा हो। तब श्रीकविराजजीके तत्त्वावधानमें पाठसंशोधनका कार्य आरम्भ हुआ। किन्तु पीछे उक्त प्रतिके अनुसार पाठ रखनेमें कई प्रकारकी अड़चनें समझकर उन्हींकी सम्मतिसे केवल पादटिप्पणियोंमें उसके पाठान्तर देनेका निश्चय हुआ।

इसके पश्चात् अनुवादके संशोधनका विचार हुआ। अतः पहले देवर्षि पं० रमानाथजी भट्टसे यह कार्य कराया गया और फिर श्रद्धेय पं० श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्री तथा श्रद्धेय श्रीहरिकृष्णदासजी गोयन्दकाने मिलकर बाँकुड़ामें सम्पूर्ण ग्रन्थका संशोधन करनेकी कृपा की। इन तीनों महानुभावोंका मैं अत्यन्त कृतज्ञ हूँ।

अब इस ग्रन्थके विषयमें कुछ विचार किया जाता है। श्रीमद्भागवतकी गणना अष्टादश पुराणों-के अन्तर्गत की जाती है। इसमें महापुराणके दशों लक्षणोंका सविस्तर विवेचन है। इनका उल्लेख द्वितीय स्कन्धके दशम अध्यायके आरम्भमें किया गया है। पुराणोंमें वेदार्थका ही निरूपण हुआ है। जो लोग वेदाध्ययनके अधिकारी नहीं हैं, उन्हें वेदोक्त तत्त्वका बोध करानेके लिये ही पुराणोंकी रचना हुई है। और 'वेदो नारायणः साक्षात्' इस उक्तिके अनुसार वेद साक्षात् भगवान्‌का विग्रह है। अतः अर्थतः श्रीमद्भागवत भी भगवान्‌का स्वरूप ही है। यह साक्षात् भगवान्‌का हृदय है। सर्गके आरम्भमें स्वयं श्रीहरिने ही इसका श्रीब्रह्माजीको उपदेश किया था। फिर ब्रह्माजीने नारदजीको सुनाया और श्रीनारदजीसे

श्रीहरिः

विषय-सूची

प्रथम खण्ड

अध्याय	विषय	पृष्ठ
	श्रीमद्भागवतमाहात्म्य	
१	देवर्षि नारदकी भक्तिसे भेंट ...	१
२	भक्तिका दुःख दूर करनेके लिये नारदजीका उद्योग	८
३	भक्तिके कष्टकी निवृत्ति	१५
४	गोकर्णोपाख्यानका प्रारम्भ ...	२२
५	धुन्धुकारीको प्रेतयोनि मिलना और भागवतका श्रवण करके उससे मुक्त होना ...	३०
६	सप्ताहयज्ञकी विधि	३८
	प्रथम स्कन्ध	
१	श्रीसूतजीसे शौनकादि ऋषियोंका प्रश्न ...	५१
२	भगवत्कथा और भगवद्भक्तिका माहात्म्य ...	५४
३	भगवान्‌के अवतारोंका वर्णन ...	५८
४	शौनकजीका प्रश्न और सूतजीद्वारा महर्षि व्यासके असन्तोषका वर्णन ...	६३
५	नारदजीका व्यासजीको भगवद्धर्मवर्णनके लिये प्रेरित करते हुए अपना पूर्वचरित्र सुनाना ...	६६
६	नारदजीके पूर्वचरित्रका शेष भाग ...	७१
७	अश्वत्थामाद्वारा द्रौपदीके पाँच पुत्रोंका वध और अर्जुनद्वारा उसका मानमर्दन ...	७५
८	गर्भमें परीक्षित्‌की रक्षा, कुन्तीकृत भगवान्‌की स्तुति और राजा युधिष्ठिरका शोक ...	८१
९	युधिष्ठिरादिका भीष्मके पास आना और भीष्मका श्रीकृष्णस्तुति करते हुए प्राण त्यागना ...	८७
१०	श्रीकृष्णका द्वारका जाना	९२
११	द्वारकामें स्वागतकी धूम	९६
१२	परीक्षित्‌का जन्म	१०१
१३	विदुरजीके उपदेशसे धृतराष्ट्र और गान्धारीका वनमें जाना	१०५
१४	महाराज युधिष्ठिरका अपशकुन देखना और अर्जुनका द्वारकासे लौटना ...	१११
१५	कृष्णविरहव्यथित पाण्डवोंका परीक्षित्‌को राज्य देकर स्वर्ग सिधारना	११५
१६	परीक्षित्‌का दिग्विजय तथा धर्म और पृथिवीका संवाद	१२२
१७	महाराज परीक्षित्‌द्वारा कलियुगका दमन ...	१२६
१८	महाराज परीक्षित्‌को शृङ्गी ऋषिका शाप ...	१३१
१९	शुक-समागम	१३६
	द्वितीय स्कन्ध	
१	ध्यान-विधि और भगवान्‌के विराट् रूपका वर्णन	१४५
२	सद्योमुक्ति और क्रममुक्तिका निरूपण ...	१४९
३	भिन्न-भिन्न कामनाओंसे भिन्न-भिन्न देवताओंकी उपासनाका वर्णन तथा भगवद्भक्तिकी प्रधानताका निरूपण	१५६
४	राजाका सृष्टिविषयक प्रश्न और शुकदेवजीका कथारम्भ	१५८
५	सृष्टि-वर्णन	१६१
६	विराट्-स्वरूपका वर्णन	१६६
७	भगवान्‌के लीलावतारोंकी कथा ...	१७०
८	राजा परीक्षित्‌का श्रीमद्भागवतविषयक प्रश्न	१७९
९	श्रीमद्भागवतकथाका आरम्भ ...	१८२
१०	भागवतके दश लक्षण	१८७
	तृतीय स्कन्ध	
१	उद्धव और विदुरकी भेंट	१९७
२	उद्धवजीद्वारा भगवान्‌की बाललीलाओंका वर्णन	२०३
३	भगवान्‌के अन्य चरित्रोंका वर्णन ...	२०८
४	उद्धव-विदुर-संवादकी समाप्ति, विदुरजीका मैत्रेय ऋषिके पास जाना	२११
५	विदुरजीका प्रश्न और मैत्रेयजीका सृष्टिक्रमवर्णन	२१६
६	विराट्‌शरीरकी उत्पत्ति	२२२
७	विदुरजीके प्रश्न	२२६
८	ब्रह्माजीकी उत्पत्ति	२३१
९	ब्रह्माजीद्वारा भगवान्‌की स्तुति ...	२३५
१०	दश प्रकारकी सृष्टिका वर्णन ...	२४१
११	मन्वन्तरादिकालपरिमाण	२४५
१२	सृष्टिका विस्तार	२४९
१३	वाराह अवतारकी कथा	२५५
१४	दितिके गर्भस्थापन	२६२
१५	जय-विजयको सनकादिका शाप ...	२६८
१६	जय-विजयका वैकुण्ठसे पतन ...	२७५

अध्याय	विषय	पृष्ठ
१७	हिरण्यकशिपु और हिरण्याक्षका जन्म तथा हिरण्याक्षका दिग्विजय	२८०
१८	हिरण्याक्षके साथ वराह भगवान्‌का युद्ध ...	२८४
१९	हिरण्याक्षवध	२८७
२०	ब्रह्माजीद्वारा रचित विविध सृष्टिका वर्णन ...	२९२
२१	कर्दमजीकी तपस्या और भगवान्‌का वरदान	२९८
२२	देवहूति और कर्दम प्रजापतिका विवाह ...	३०५
२३	कर्दम और देवहूतिका विहार ...	३०९
२४	कपिलदेवजीका जन्म	३१५
२५	देवहूतिका प्रश्न तथा कपिलदेवजीद्वारा भक्ति-योगकी महिमाका वर्णन	३२०
२६	महदादि भिन्न-भिन्न तत्त्वोंकी उत्पत्तिका वर्णन	३२५
२७	प्रकृति-पुरुष-विवेकद्वारा मोक्ष-प्राप्तिका वर्णन	३३२
२८	अष्टाङ्गयोगकी विधि	३३६
२९	भक्तिका मर्म और कालकी महिमा ...	३४२
३०	देह-गेहमें आसक्त पुरुषोंकी अधोगतिका वर्णन	३४७
३१	मनुष्ययोनिको प्राप्त हुए जीवकी गतिका वर्णन	३५०
३२	धूममार्ग तथा अर्चिरादिमार्गसे जानेवालोंकी गतिका और भक्तियोगकी उत्कृष्टताका वर्णन	३५६
३३	देवहूतिको ज्ञानलाभ तथा मोक्षपदकी प्राप्ति	३६१

चतुर्थ स्कन्ध

अध्याय	विषय	पृष्ठ
१	स्वायम्भुवमनुकी दो कन्याओंके वंशका वर्णन	३६९
२	शिव और दक्षके वैरका वृत्तान्त ...	३७५
३	सतीका पिताके यहाँ यज्ञोत्सवमें जानेके लिये आग्रह करना	३७९
४	सतीका अग्निप्रवेश	३८३
५	वीरभद्रकृत दक्षयज्ञविध्वंस और दक्षवध ...	३८८
६	ब्रह्मादि देवताओंका कैलासपर एकत्रित होकर भगवान् शङ्करको मनाना	३९१
७	दक्षयज्ञकी पूर्ति	३९७
८	ध्रुवका वन-गमन	४०६
९	ध्रुवका वर पाकर घर लौटना ...	४१५
१०	उत्तमका वध और ध्रुवका यक्षोंके साथ युद्ध	४२३
११	स्वायम्भुव मनुका ध्रुवजीको युद्ध छोड़नेके लिये समझाना	४२६
१२	ध्रुवजीको कुबेरका वरदान और ध्रुवलोककी प्राप्ति	४३०
१३	ध्रुववंशका वर्णन—अङ्गचरित्र ...	४३६
१४	राजा वेनकी कथा	४४१
१५	महाराज पृथुका आविर्भाव और राज्याभिषेक	४४५
१६	बन्दीजनकर्तृक महाराज पृथुकी स्तुति ...	४४८
१७	महाराज पृथुका पृथिवीपर कुपित होना और पृथिवीका उनकी स्तुति करना ...	४५१
१८	पृथिवी-दोहन	४५५
१९	यज्ञका घोड़ा चुरानेके कारण राजा पृथुका इन्द्रको मारनेके लिये उद्यत होना और फिर ब्रह्माजीके समझानेसे यज्ञसे निवृत्त होना ...	४५९
२०	राजा पृथुको विष्णु भगवान्‌का प्रत्यक्ष दर्शन मिलना	४६३
२१	राजा पृथुका अपनी प्रजाको उपदेश ...	४६८
२२	राजा पृथुको सनकादिका उपदेश ...	४७४
२३	राजा पृथुकी तपस्या और परलोकगमन ...	४८२
२४	रुद्रगीत	४८६
२५	पुरञ्जनोपाख्यानका प्रारम्भ ...	४९५
२६	राजा पुरञ्जनका मृगयाके लिये वनमें जाना और उसकी स्त्रीका कुपित होना ...	५०२
२७	पुरञ्जनपुरीपर चण्डवेगकी चढ़ाई तथा काल-कन्याका चरित्र	५०५
२८	पुरञ्जनको स्त्री-योनिकी प्राप्ति और अज्ञातके उपदेशसे मोक्षकी प्राप्ति	५०९
२९	पुरञ्जनोपाख्यानका तात्पर्य ...	५१६
३०	प्रचेताओंको विष्णुका वरदान ...	५२७
३१	प्रचेताओंको नारदजीका उपदेश और उनका परमपदलाभ	५३३

पञ्चम स्कन्ध

अध्याय	विषय	पृष्ठ
१	प्रियव्रत-चरित्र	५३९
२	आग्नीध्र और पूर्वचित्तिकी भेंट ...	५४६
३	आग्नीध्रके पुत्र राजा नाभिका चरित्र ...	५५०
४	ऋषभदेवजीका राज्यशासन ...	५५४
५	ऋषभजीका अपने पुत्रोंको उपदेश देना और स्वयं अवधूतवृत्ति ग्रहण करना ...	५५७
६	ऋषभदेवजीका देहत्याग	५६३
७	भरत-चरित्र	५६७
८	भरतजीका मृगके मोहमें फँसकर मृग-योनिमें जन्म लेना	५७०
९	भरतजीका ब्राह्मणकुलमें जन्म लेना ...	५७५
१०	जडभरत और राजा रहूगणकी भेंट ...	५८०
११	राजा रहूगणको भरतजीका उपदेश ...	५८५
१२	रहूगणका प्रश्न और भरतजीका समाधान ...	५८८
१३	भवाटवीका वर्णन और रहूगणका संशयोच्छेद	५९१
१४	भवाटवीका स्पष्टार्थ	५९६
१५	भरतके वंशका वर्णन	६०३
१६	भुवनकोशवर्णन	६०६

अध्याय	विषय	पृष्ठ
१७	गङ्गाजीका विवरण और भगवान् शङ्करकृत संकर्षणदेवकी स्तुति ··· ···	६११
१८	भिन्न-भिन्न वर्षोंका वर्णन··· ···	६१५
१९	किम्पुरुष और भारतवर्षका वर्णन ···	६२२
२०	अन्य छः द्वीपों तथा लोकालोकपर्वतका वर्णन	६२७
२१	सूर्यके रथ और उसकी गतिका वर्णन ···	६३४
२२	भिन्न-भिन्न ग्रहोंकी स्थिति और गतिका वर्णन	६३७
२३	शिशुमारचक्रका वर्णन ··· ···	६४०
२४	अतलादि नीचेके सात लोकोंका वर्णन ···	६४२
२५	संकर्षणदेवका विवरण और स्तुति ···	६४८
२६	नरकोंकी विभिन्न गतियोंका वर्णन ···	६५१

षष्ठ स्कन्ध

अध्याय	विषय	पृष्ठ
१	अजामिलोपाख्यानका प्रारम्भ ···	६६१
२	विष्णुदूतोंका भागवतधर्म-निरूपण और अजामिलका परमधामगमन ···	६६८
३	यम और यमदूतोंका संवाद ···	६७३
४	हंसगुह्यस्तोत्र ··· ···	६७८
५	श्रीनारदजीके उपदेशसे हर्यश्व और शबलाश्व नामक दक्ष-पुत्रोंका विरक्त होना तथा नारदजीको दक्षका शाप ··· ···	६८४
६	दक्षप्रजापतिकी साठ कन्याओंके वंशका वर्णन	६८८
७	बृहस्पतिजीका अपमान करनेसे देवताओंका ऐश्वर्यभ्रष्ट होना और विश्वरूपको अपना पुरोहित बनाना ··· ···	६९२
८	नारायणकवचका उपदेश ···	६९७
९	वृत्रासुरकी उत्पत्ति ··· ···	७०१
१०	देवताओंका दधीचि ऋषिकी हड्डी लाना और वृत्रासुरसे युद्ध करना ···	७०९
११	वृत्रासुरके वीरोचित उद्गार ···	७१२
१२	वृत्रवध ··· ···	७१६
१३	इन्द्रपर ब्रह्महत्याका आक्रमण ···	७२०
१४	वृत्रासुरका पूर्वचरित्र ··· ···	७२३
१५	चित्रकेतुको अङ्गिरा और नारदजीका उपदेश	७२९
१६	नारदजीके उपदेशसे चित्रकेतुको श्रीसंकर्षण-देवका साक्षात्कार होना ··· ···	७३२
१७	चित्रकेतुको पार्वतीजीका शाप ···	७४०
१८	अदिति और दितिकी सन्तानोंका तथा मरुद्गणकी उत्पत्तिका वर्णन ···	७४४
१९	पुंसवनव्रतकी विधि ··· ···	७५२

सप्तम स्कन्ध

अध्याय	विषय	पृष्ठ
१	नारद-युधिष्ठिर-संवादका प्रारम्भ और जय-विजयकी कथा ··· ···	७५९
२	पुत्रशोकाकुला दिति तथा अन्य कुटुम्बियोंको हिरण्यकशिपुका समझाना ···	७६४
३	हिरण्यकशिपुकी तपस्या और वरप्राप्ति ···	७७१
४	हिरण्यकशिपुके शासन और प्रह्लादके गुणोंका वर्णन ··· ···	७७५
५	हिरण्यकशिपुद्वारा प्रह्लादजीके वधका प्रयत्न ···	७८०
६	प्रह्लादजीका असुरबालकोंको उपदेश ···	७८७
७	प्रह्लादजीद्वारा माताके गर्भमें प्राप्त हुए नारदजीके उपदेशका वर्णन ···	७९१
८	नृसिंहभगवान्‌का प्रादुर्भाव, हिरण्यकशिपुवध एवं ब्रह्मादि देवताओंका भगवान्‌की स्तुति करना ··· ···	७९७
९	प्रह्लादकर्तृक नृसिंह-स्तुति··· ···	८०६
१०	भगवान् नृसिंहका अन्तर्धान होना, प्रह्लादजी-का राज्याभिषेक तथा त्रिपुरदहनकी कथा···	८१५
११	चारों वर्ण तथा स्त्रियोंके धर्मोंका वर्णन ···	८२३
१२	ब्रह्मचर्य और वानप्रस्थ आश्रमोंके नियम ···	८२७
१३	यतिके धर्मोंका वर्णन तथा अवधूत और प्रह्लादका संवाद ··· ···	८३०
१४	गृहस्थसम्बन्धी सदाचारका वर्णन ···	८३६
१५	गृहस्थोंके लिये मोक्षधर्मका वर्णन ···	८४०

चित्र-सूची

		पृष्ठ
१—भगवान् श्यामसुन्दर	(बहुरंगा)	प्रारम्भमें
२—धुन्धुकारीका उद्धार	,,	३४
३—अवधूत श्रीशुकदेवजी	,,	१३९
४—श्रीविष्णुभगवान्	,,	१५१
५—देवहूति और कपिल	,,	३२१
६—ध्यानावस्थित ध्रुव	,,	४१३
७—प्रचेताओंको भगवद्दर्शन	,,	५२७
८—प्रियव्रतके पास ब्रह्माजीका पधारना	(बहुरंगा)	५४१
९—जडभरत और राजा रहूगण	,,	५८२
१०—अजामिल-उद्धार	,,	६६४
११—दक्षको भगवद्दर्शन	,,	६८२
१२—नारद-युधिष्ठिर-संवाद	,,	७६०
१३—प्रह्लादपर भगवान् नृसिंहकी कृपा	,,	८०६

वन्दनम्

सर्गस्थितिनिरोधार्थं कामाः काममयो हि यः ।
तं कामं कामकामघ्नं कामाभावाय कामये ॥

यत्कामिनीकेलिकलापकुण्ठितः कामोऽप्यकामो विमदो बभूव ह ।
तं मानिनीमानदमानदं सदा श्रीमोहनं मोहनमानतोऽस्म्यहम् ॥

यस्याङ्घ्रिपङ्कजपरागपरप्रभावाद् भूत्वा कृती कृतिमतां सृतिमाचरामि ।
तं सद्गुरुं सततसर्वसुखं सदग्र्यं वन्दे सदा विमलबोधघनं विचित्रम् ॥

व्यासं व्यासकरं वन्दे मुनिं नारायणं स्वयम् ।
यतः प्राप्तकृपालोका लोका मुक्ताः कलेर्ग्रहात् ॥

यस्य तुण्डाच्च्युतो चूतो राजतेऽयं रसात्मकः ।
तमच्युतकथाकुञ्जे सुकूजन्तं शुकं भजे ॥

श्रीधरं श्रीधरं वन्दे श्रीधरैकपरायणम् ।
यस्यैव श्रीप्रसादेन श्रीधरेयं कृतिः कृता ॥

राधा भक्तिर्हरिर्ज्ञानं ताभ्यां या च समन्विता ।
तां श्रीभागवतीं गाथां वन्दे युगलरूपिणीम् ॥

श्रीराधाकृष्णाभ्यां नमः

श्रीमद्भागवत

माहात्म्य

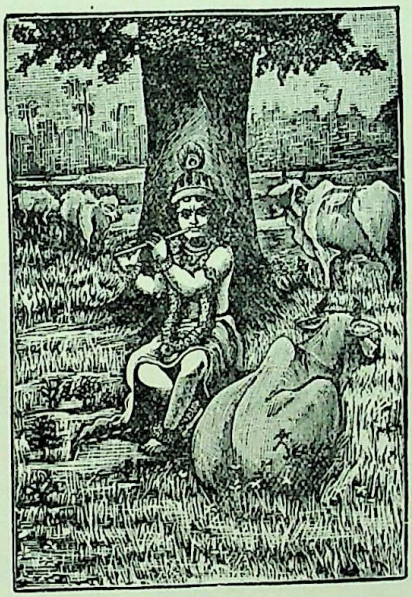

वाङ्मये विग्रहे न्वस्मिन् राजते यो रसात्मना ।
तमानन्दमयं वन्दे नन्दनन्दनमीश्वरम् ॥

ॐ

नमो भगवते वासुदेवाय

श्रीमद्भागवतमाहात्म्य

कृष्णं नारायणं वन्दे कृष्णं वन्दे व्रजप्रियम् ।
कृष्णं द्वैपायनं वन्दे कृष्णं वन्दे पृथासुतम् ॥

पहला अध्याय

देवर्षि नारदकी भक्तिसे भेंट

सच्चिदानन्दरूपाय विश्वोत्पत्त्यादिहेतवे ।
तापत्रयविनाशाय श्रीकृष्णाय वयं नुमः ॥ १ ॥

जो जगत्‌की उत्पत्ति आदिके कारण और आध्यात्मिक आदि तीनों प्रकारके दुःखोंको दूर करनेवाले हैं उन सच्चिदानन्दस्वरूप भगवान् श्रीकृष्णको हम प्रणाम करते हैं ॥१॥

यं प्रव्रजन्तमनुपेतमपेतकृत्यं
द्वैपायनो विरहकातर आजुहाव ।
पुत्रेति तन्मयतया तरवोऽभिनेदु-
स्तं सर्वभूतहृदयं मुनिमानतोऽस्मि ॥ २ ॥

सब प्रकारके लौकिक-वैदिक कर्मोंको त्यागकर अकेले ही वनकी ओर जाते हुए जिन (शुकदेवजी) को महर्षि द्वैपायनने विरहातुर हो 'हे पुत्र ! हे पुत्र !' ऐसा कहकर पुकारा और तन्मयताके कारण जिनकी ओरसे वृक्षोंने उत्तर दिया था, उन सब भूतोंके अन्तरात्मरूप मुनीश्वरको मैं प्रणाम करता हूँ ॥२॥

नैमिषे सूतमासीनमभिवाद्य महामतिम् ।
कथामृतरसास्वादकुशलः शौनकोऽब्रवीत् ॥ ३ ॥

एक बार हरिकथामृतके रसास्वादनमें निपुण मुनिवर शौनकजीने नैमिषारण्यमें विराजमान महामति सूतजीको नमस्कार करके उनसे कहा ॥३॥

शौनक उवाच

अज्ञानध्वान्तविध्वंसकोटिसूर्यसमप्रभ ।
सूताख्याहि कथासारं मम कर्णरसायनम् ॥ ४ ॥
भक्तिज्ञानविरागाप्तो विवेको वर्धते महान् ।
मायामोहनिरासश्च वैष्णवैः क्रियते कथम् ॥ ५ ॥
इह घोरे कलौ प्रायो जीवश्चासुरतां गतः ।
क्लेशाक्रान्तस्य तस्यैव शोधने किं परायणम् ॥ ६ ॥

श्रीशौनकजी बोले—हे अज्ञानरूप अन्धकारको नष्ट करनेके लिये करोड़ों सूर्योंके समान कान्तिमान् सूतजी ! कोई ऐसी सारभूत कथा कहिये जो मेरे कानोंको अति सरस मालूम हो ॥४॥ भक्ति, ज्ञान और वैराग्यसे प्राप्त हुए विवेककी अधिकाधिक वृद्धि किस प्रकार होती है और भगवान् श्रीविष्णुके भक्त मायाजनित मोहको किस प्रकार दूर करते हैं ? ॥५॥ इस घोर कलिकालमें जीव प्रायः आसुरी स्वभावके हो गये हैं, वे नाना प्रकारके क्लेशोंसे आक्रान्त हैं; उनके शुद्ध होनेका क्या उपाय है ? [सो आप मुझसे कहिये] ॥६॥

श्रेयसां यद्भवेच्छ्रेयः पावनानां च पावनम् ।
कृष्णप्राप्तिकरं शश्वत्साधनं तद्वदाधुना ॥ ७ ॥
चिन्तामणिर्लोकसुखं सुरेन्द्रः स्वर्गसम्पदम् ।
प्रयच्छति गुरुः प्रीतो वैकुण्ठं योगिदुर्लभम् ॥ ८ ॥

हे सूतजी ! जो साधन कल्याणकारियोंमें परम कल्याणकारक, पवित्रकर्ताओंमें परम पवित्रकर्ता और निरन्तर भगवान् श्रीकृष्णकी प्राप्ति करानेवाला हो, वह इस समय आप मुझसे कहिये ॥७॥ चिन्तामणि केवल लौकिक सुख दे सकती है और इन्द्र स्वर्गीय सुख प्रदान कर सकता है परन्तु गुरुदेव प्रसन्न हो जानेपर योगियोंको भी दुर्लभ श्रीवैकुण्ठधाम (मोक्षपद) दे सकते हैं ॥८॥

सूत उवाच

प्रीतिः शौनक चित्ते ते ह्यतो वच्मि विचार्य च ।
सर्वसिद्धान्तनिष्पन्नं संसारभयनाशनम् ॥ ९ ॥
भक्त्योघवर्धनं यच्च कृष्णसन्तोषहेतुकम् ।
तदहं तेऽभिधास्यामि सावधानतया शृणु ॥१०॥
कालव्यालमुखग्रासत्रासनिर्णाशहेतवे ।
श्रीमद्भागवतं शास्त्रं कलौ कीरेण भाषितम् ॥११॥
एतस्मादपरं किञ्चिन्मनःशुद्ध्यै न विद्यते ।
जन्मान्तरे भवेत्पुण्यं तदा भागवतं लभेत् ॥१२॥
परीक्षिते कथां वक्तुं सभायां संस्थिते शुके ।
सुधाकुम्भं गृहीत्वैव देवास्तत्र समागमन् ॥१३॥
शुकं नत्वावदन्सर्वे स्वकार्यकुशलाः सुराः ।
कथासुधां प्रयच्छस्व गृहीत्वैव सुधामिमाम् ॥१४॥
एवं विनिमये जाते सुधा राज्ञा प्रपीयताम् ।
प्रपास्यामो वयं सर्वे श्रीमद्भागवतामृतम् ॥१५॥
क्व कथा क्व सुधा लोके क्व काचः क्व मणिर्महान् ।
ब्रह्मरातो विचार्यैवं तदा देवाञ्जहास ह ॥१६॥
अभक्तांस्तांश्च विज्ञाय न ददौ स कथामृतम् ।
श्रीमद्भागवती वार्ता सुराणामपि दुर्लभा ॥१७॥
राज्ञो मोक्षं तथा वीक्ष्य पुरा धातापि विस्मितः ।

श्रीसूतजी बोले–हे शौनकजी ! तुम्हारे हृदयमें भगवान्‌के प्रति प्रेम है, इसलिये मैं अपने मनमें विचारकर संसारभयको नष्ट करनेवाला भक्तिप्रवाहको बढ़ानेवाला और श्रीभगवान् कृष्णकी प्रसन्नताका कारणरूप इस सर्व सिद्धान्तोंके सार तत्त्वका तुमसे वर्णन करता हूँ, सावधान होकर सुनो॥९-१०॥श्रीशुकदेवजीने कलियुग-में कालरूप विकराल सर्पके गालमें जानेके भयको दूर करनेके लिये श्रीमद्भागवतपुराण कहा है ॥११॥ मनकी शुद्धिके लिये इससे बढ़कर और कोई साधन नहीं है। जब पुरुषके जन्मान्तरका पुण्य सहायक होता है तब उसे श्रीमद्भागवतकी प्राप्ति होती है ॥ १२ ॥ जिस समय श्रीशुकदेवजी ब्राह्मणोंकी सभामें राजा परीक्षितको भागवतकी कथा सुनानेके लिये विराजमान हुए उस समय देवतालोग वहाँ अमृतका कलश लेकर उपस्थित हुए ॥१३॥ और अपना स्वार्थ साधनेमें कुशल वे सम्पूर्ण देवगण शुकदेवजीको नमस्कार कर उनसे कहने लगे–"आप इस अमृतको लेकर हमें कथामृतका दान दीजिये। इस तरह बदला होनेपर राजा परीक्षित अमृत-पान कर सकेंगे और हम सभी देवता श्रीमद्भागवता-मृतका पान करेंगे" ॥१४-१५॥ तब श्रीशुकदेवजी यह सोचकर कि, 'संसारमें कहाँ अमृत और कहाँ हरिकथा ? कहाँ काँच और कहाँ महामूल्य मणि ?' देवताओंकी बातपर हँसने लगे ॥ १६ ॥ तथा उन्हें भक्तिशून्य जानकर कथामृतका पान नहीं कराया। इसीसे मैं कहता हूँ कि यह श्रीमद्भागवतकथा देवताओंको भी दुर्लभ है ॥१७॥

हे शौनकजी ! राजा परीक्षितको केवल श्रीमद्-भागवतश्रवणसे ही मुक्त हुआ देख पूर्वकालमें ब्रह्माजी

सत्यलोके तुलां बद्ध्वातोलयत्साधनान्यजः ॥१८॥
लघून्यन्यानि जातानि गौरवेण इदं महत् ।
तदा ऋषिगणाः सर्वे विस्मयं परमं ययुः ॥१९॥
मेनिरे भगवद्रूपं शास्त्रं भागवतं कलौ ।
पठनाच्छ्रवणात्सद्यो वैकुण्ठफलदायकम् ॥२०॥
सप्ताहेन श्रुतं चैतत्सर्वथा मुक्तिदायकम् ।
सनकाद्यैः पुरा प्रोक्तं नारदाय दयापरैः ॥२१॥
यद्यपि ब्रह्मसम्बन्धाच्छ्रुतमेतन्महर्षिणा ।
सप्ताहश्रवणविधिः कुमारैस्तस्य भाषितः ॥२२॥

भी आश्चर्यमें पड़ गये थे, इसलिये उन्होंने सत्यलोकमें तराजू बाँधकर सब साधनोंको तोला ॥१८॥ उस समय तोलमें सब साधन हल्के पड़ गये, और यह श्रीमद्भागवत ही अपने महत्त्वके कारण सबसे भारी रहा । यह देखकर सब ऋषियोंको भी बड़ा ही विस्मय हुआ ॥१९॥ तथा उन्होंने इस भगवद्रूप श्रीमद्भागवतशास्त्रको ही कलियुगमें पढ़ने-सुननेपर तत्काल मोक्षरूप फल देनेवाला निश्चय किया ॥२०॥

इसका सप्ताहपरायणकी विधिसे श्रवण किया जाय तो यह सर्वथा मुक्ति प्रदान करनेवाला है । पूर्वकालमें परम दयालु सनकादिने इसे नारदजीको (सप्ताहपरायणविधिसे) सुनाया था ॥२१॥ यद्यपि महर्षि नारद इसे ब्रह्माजीके मुखसे सुन चुके थे तथापि इसकी सप्ताहश्रवणविधि उन्हें सनकादिने ही बतायी थी ॥२२॥

शौनक उवाच

लोकविग्रहमुक्तस्य नारदस्यास्थिरस्य च ।
विधिश्रवे कुतः प्रीतिः संयोगः कुत्र तैः सह ॥२३॥

श्रीशौनक बोले–हे सूत ! नारदजी तो सर्वदा सांसारिक झंझटोंसे दूर रहते हैं, वे एक स्थानपर स्थिरतापूर्वक ठहरते भी नहीं हैं, फिर उन्हें सप्ताहविधिसे भागवतश्रवण करनेमें कैसे प्रेम हुआ और सनकादिके साथ उनका कहाँ समागम हुआ ? ॥२३॥

सूत उवाच

अत्र ते कीर्तयिष्यामि भक्तियुक्तं कथानकम् ।
शुकेन मम यत्प्रोक्तं रहः शिष्यं विचार्य च ॥२४॥
एकदा हि विशालायां चत्वार ऋषयोऽमलाः ।
सत्सङ्गार्थं समायाता ददृशुस्तत्र नारदम् ॥२५॥

श्रीसूतजी बोले–अब मैं आपसे इस सम्बन्धमें एक भक्तिपूर्ण आख्यान कहता हूँ जो श्रीशुकदेवजीने मुझको अपना अनन्य शिष्य समझकर मुझसे एकान्तमें कहा था ॥२४॥ एक बार सनकादि चारों पवित्रहृदय मुनीश्वर सत्संगके लिये बद्रिकाश्रममें आये; वहाँ उन्होंने नारदजीको देखा ॥२५॥

कुमारा ऊचुः

कथं ब्रह्मन्दीनमुखः कुतश्चिन्तातुरो भवान् ।
त्वरितं गम्यते कुत्र कुतश्चागमनं तव ॥२६॥
इदानीं शून्यचित्तोऽसि गतवित्तो यथा जनः ।
तदेवं मुक्तसङ्गस्य नोचितं वद कारणम् ॥२७॥

श्रीसनकादिने कहा–ब्रह्मन् ! आपका मुख मलिन क्यों हो रहा है ? आप चिन्तातुर क्यों हैं ? आप इतनी शीघ्रतासे कहाँ जा रहे हैं ? और इस समय आपका आना कहाँसे हुआ है ? ॥२६॥ जिसका धन लुट गया हो ऐसे पुरुषके समान आप उदास हो रहे हैं । आप विरक्त पुरुषोंकी ऐसी दशा होनी ठीक नहीं है; अतः आप अपनी चिन्ताका कारण बतलाइये ॥२७॥

नारद उवाच

अहं तु पृथिवीं यातो ज्ञात्वा सर्वोत्तमामिति ।

श्रीनारदजी बोले—'कर्मभूमि होनेके कारण यही सर्वोत्तम है' ऐसा जानकर मैं पृथिवीलोकमें गया था ।

पुष्करं च प्रयागं च काशीं गोदावरीं तथा ॥२८॥
हरिक्षेत्रं कुरुक्षेत्रं श्रीरङ्गं सेतुबन्धनम् ।
एवमादिषु तीर्थेषु भ्रममाण इतस्ततः ॥२९॥
नापश्यं कुत्रचिच्छर्म मनःसन्तोषकारकम् ।
कलिनाधर्ममित्रेण धरेयं बाधिताधुना ॥३०॥
सत्यं नास्ति तपः शौचं दया दानं न विद्यते ।
उदरम्भरिणो जीवा वराकाः कूटभाषिणः ॥३१॥
मन्दाः सुमन्दमतयो मन्दभाग्या ह्युपद्रुताः ।
पाषण्डनिरताः सन्तो विरक्ताः सपरिग्रहाः ॥३२॥
तरुणीप्रभुता गेहे श्यालको बुद्धिदायकः ।
कन्याविक्रयिणो लोभाद्दम्पतीनां च कल्कनम् ॥३३॥
आश्रमा यवनै रुद्धास्तीर्थानि सरितस्तथा ।
देवतायतनान्यत्र दुष्टैर्नष्टानि भूरिशः ॥३४॥
न योगी नैव सिद्धो वा न ज्ञानी सत्क्रियो नरः ।
कलिदावानलेनाद्य साधनं भस्मतां गतम् ॥३५॥
अट्टशूला[1] जनपदाः शिवशूला द्विजातयः ।
कामिन्यः केशशूलिन्यः संभवन्ति कलाविह ॥३६॥
एवं पश्यन्कलेर्दोषान्पर्यटन्नवनीमहम् ।
यामुनं तटमापन्नो यत्र लीला हरेरभूत् ॥३७॥
तत्राश्चर्यं मया दृष्टं श्रूयतां तन्मुनीश्वराः ।
एका तु तरुणी तत्र निषण्णा खिन्नमानसा ॥३८॥
वृद्धौ द्वौ पतितौ पार्श्वे निःश्वसन्तावचेतनौ ।
शुश्रूषन्ती प्रबोधन्ती रुदती च तयोः पुरः ॥३९॥
दशदिक्षु निरीक्षन्ती रक्षितारं निजं वपुः ।
वीज्यमाना शतस्त्रीभिर्बोध्यमाना मुहुर्मुहुः ॥४०॥
दृष्ट्वा दूराद्गतः सोऽहं कौतुकेन तदन्तिकम् ।

वहाँ पुष्कर, प्रयाग, काशी, गोदावरी, हरिक्षेत्र, कुरुक्षेत्र, श्रीरंग और सेतुबन्ध आदि कितने ही तीर्थस्थानोंमें इधर-उधर घूमते हुए मुझे कहीं भी मनको सन्तुष्ट करनेवाला सुख दिखायी नहीं दिया। इस समय सम्पूर्ण पृथिवी अधर्मके मित्र कलियुगसे पीड़ित हो रही है ॥ २८–३० ॥ अब वहाँ सत्य, तप, शौच, दया और दानादि कुछ भी नहीं है, बेचारे सभी जीव अपने-अपने पेटका पालन करनेवाले, कपटभाषण करनेवाले, आलसी, मन्दबुद्धि, भाग्यहीन, नाना प्रकारके क्लेशोंसे आक्रान्त और पाखण्डी हो गये हैं। तथा विरक्तजन भी धन, स्त्री आदिसे युक्त दिखायी देते हैं ॥ ३१-३२ ॥ घरमें स्त्रियोंका राज्य है, साले ही सलाहकार हैं, लोग लोभवश अपनी लड़कियोंको बेचते हैं और स्त्री-पुरुषोंमें नित्य कलह मचा रहता है ॥३३॥ महात्माओंके आश्रम, तीर्थ और नदियोंपर यवनोंका अधिकार है और उन दुष्टोंने बहुत-से देवालय नष्ट-भ्रष्ट कर दिये हैं ॥३४॥ इस समय वहाँ कोई योगी, सिद्ध, ज्ञानी अथवा सत्कर्म करनेवाला पुरुष दिखायी ही नहीं देता, सम्पूर्ण साधन कलिरूप दावानलसे जलकर भस्म हो गये हैं ॥३५॥ अब कलियुगमें समस्त देशवासी रँधे हुए अन्नको बेचनेवाले, ब्राह्मणलोग वेद (विद्या) बेचनेवाले और स्त्रियाँ वेश्यावृत्तिसे निर्वाह करनेवाली हो रही हैं ॥ ३६ ॥

इस प्रकार कलियुगके दोषोंको देखता हुआ मैं पृथिवीपर विचरता-विचरता यमुनाजीके तटपर पहुँचा, जहाँ भगवान् श्रीकृष्णकी लीलाएँ हुई थीं ॥३७॥ हे मुनीश्वरगण ! वहाँ मैंने जो आश्चर्य देखा वह सुनिये—वहाँ एक युवती बड़े खिन्न चित्तसे बैठी थी ॥ ३८ ॥ उसके पास दो वृद्ध पुरुष पृथिवीपर अचेत अवस्थामें पड़े लम्बे-लम्बे श्वास छोड़ रहे थे, और वह तरुणी उनकी सेवा करती तथा बारम्बार जगानेका प्रयत्न करती रोती जाती थी ॥ ३९ ॥ बीच-बीचमें वह दशों दिशाओंमें अपने शरीरकी रक्षा करनेवाले [किसी पुरुष] को देखती जाती थी, और उसके चारों ओर सैकड़ों स्त्रियाँ उसे पंखा झलती हुई बार-बार समझा रही थीं ॥ ४० ॥ यह सब चरित्र दूरसे ही देखकर मैं कुतूहलवश उसके पास गया।

१. अट्टमन्नं शिवो वेदः शूलो विक्रय उच्यते। केशो मगमिति प्रोक्तमृषिभिस्तत्त्वदर्शिभिः ॥

मां दृष्ट्वा चोत्थिता बाला विह्वला चाब्रवीद्वचः ॥४१॥

मुझे देखकर वह युवती उठ खड़ी हुई और मुझसे व्याकुल होकर कहने लगी ॥ ४१ ॥

बालोवाच

भो भो साधो क्षणं तिष्ठ मच्चिन्तामपि नाशय ।
दर्शनं तव लोकस्य सर्वथाघहरं परम् ॥४२॥
बहुधा तव वाक्येन दुःखशान्तिर्भविष्यति ।
यदा भाग्यं भवेद्भूरि भवतो दर्शनं तदा ॥४३॥

युवतीने कहा—हे साधो ! एक क्षण ठहरिये और मेरी चिन्ताको भी नष्ट कीजिये। आपका दर्शन संसारके सब पापोंका सर्वथा नाश करनेवाला है ॥ ४२ ॥ आपके वचनोंसे मेरे दुःखकी भी बहुत कुछ शान्ति हो जायगी । जब मनुष्यका अत्यन्त सौभाग्य होता है तभी आपका दर्शन हुआ करता है ॥ ४३ ॥

नारद उवाच

कासि त्वं काविमौ चेमा नार्यः काः पद्मलोचनाः ।
वद देवि सविस्तारं स्वस्य दुःखस्य कारणम् ॥४४॥

श्रीनारदजीने कहा—[तब मैंने उस स्त्रीसे पूछा—] हे देवि ! तुम कौन हो ? ये दोनों पुरुष कौन हैं ? और तुम्हारे पास ये कमलनयनी स्त्रियाँ कौन हैं ? तुम अपने दुःखका कारण विस्तारपूर्वक कहो ॥ ४४ ॥

बालोवाच

अहं भक्तिरिति ख्याता इमौ मे तनयौ मतौ ।
ज्ञानवैराग्यनामानौ कालयोगेन जर्जरौ ॥४५॥
गङ्गाद्याः सरितश्चेमा मत्सेवार्थं समागताः ।
तथापि न च मे श्रेयः सेवितायाः सुरैरपि ॥४६॥
इदानीं शृणु मद्वार्तां सचित्तस्त्वं तपोधन ।
वार्ता मे विततात्यस्ति तां श्रुत्वा सुखमावह ॥४७॥

युवती बोली—मेरा नाम 'भक्ति' है । ये दोनों 'ज्ञान' और 'वैराग्य' नामसे प्रसिद्ध मेरे पुत्र हैं । ये कालक्रमसे ऐसे जराजर्जरित हो गये हैं ॥ ४५ ॥ ये गंगादिक नदियाँ मेरी सेवाके लिये आयी हैं, इस प्रकार देवताओंसे सेवित होनेपर भी मुझे बिल्कुल चैन नहीं है ॥ ४६ ॥ हे तपोधन ! अब सावधान होकर मेरी बात सुनिये । मेरा वृत्तान्त बहुत लम्बा-चौड़ा है, उसे सुनकर आप मुझे शान्ति प्रदान कीजिये ॥ ४७ ॥

उत्पन्ना द्राविडे साहं वृद्धिं कर्णाटके गता ।
क्वचित्क्वचिन्महाराष्ट्रे गुर्जरे जीर्णतां गता ॥४८॥
तत्र घोरकलेर्योगात्पाखण्डैः खण्डिताङ्गका ।
दुर्बलाहं चिरं याता पुत्राभ्यां सह मन्दताम् ॥४९॥
वृन्दावनं पुनः प्राप्य नवीनेव सुरूपिणी ।
जाताहं युवती सम्यक्प्रेष्ठरूपा तु साम्प्रतम् ॥५०॥
इमौ तु शयितावत्र सुतौ मे क्लिश्यतः श्रमात् ।
इदं स्थानं परित्यज्य विदेशं गम्यते मया ॥५१॥
जरठत्वं समायातौ तेन दुःखेन दुःखिता ।
साहं तु तरुणी कस्मात्सुतौ वृद्धाविमौ कुतः ॥५२॥
त्रयाणां सहचारित्वाद्वैपरीत्यं कुतः स्थितम् ।
घटते जरठा माता तरुणौ तनयाविति ॥५३॥

मैं द्रविडदेशमें उत्पन्न होकर कर्णाटकमें बढ़ी और फिर महाराष्ट्रमें कुछ-कुछ क्षीण होती हुई गुजरातमें सर्वथा जराग्रस्त हो गयी ॥ ४८ ॥ वहाँ घोर कलियुगके प्रभावसे पाखण्डियोंने मेरा अंग भंग कर डाला, इस प्रकार अपने पुत्रोंके सहित मैं बहुत समयतक दुर्बल रहनेके कारण मन्द पड़ गयी ॥ ४९ ॥ अब मैं वृन्दावनमें आकर अत्यन्त प्रिय रूपवाली अति सुन्दरी नवयुवती-सी हो गयी हूँ ॥ ५० ॥ किन्तु, ये दोनों मेरे पुत्र यहाँ [आते ही जराग्रस्त हो] भूमिपर पड़ गये हैं और श्रमसे थके-माँदे क्लेश भोग रहे हैं। अब मैं इस स्थानको छोड़कर अन्यत्र जाना चाहती हूँ ॥ ५१ ॥ किन्तु मेरे पुत्र वृद्ध हो गये, इसी दुःखसे दुखी हूँ। हे ब्रह्मन् ! मैं क्यों तरुणी हो गयी और मेरे पुत्र क्यों बूढ़े हो गये ? हम तीनों ही साथ-साथ रहते थे, फिर यह विपरीत फल कैसे हुआ ? उचित तो यही है कि माता वृद्धा हो और पुत्र तरुण हों ॥ ५२-५३ ॥

अतः शोचामि चात्मानं विस्मयाविष्टमानसा ।
वद योगनिधे धीमन्कारणं चात्र किं भवेत् ॥५४॥

नारद उवाच

ज्ञानेनात्मनि पश्यामि सर्वमेतत्तवानघे ।
न विषादस्त्वया कार्यो हरिः शं ते करिष्यति ॥५५॥

सूत उवाच

क्षणमात्रेण तज्ज्ञात्वा वाक्यमूचे मुनीश्वरः ॥५६॥

नारद उवाच

शृणुष्वावहिता बाले युगोऽयं दारुणः कलिः ।
तेन लुप्तः सदाचारो योगमार्गस्तपांसि च ॥५७॥
जना अघासुरायन्ते शाठ्यदुष्कर्मकारिणः ।
इह सन्तो विषीदन्ति प्रहृष्यन्ति ह्यसाधवः ।
धत्ते धैर्यं तु यो धीमान्स धीरः पण्डितोऽथवा ॥५८॥
अस्पृश्यानवलोक्येयं शेषभारकरी धरा ।
वर्षे वर्षे क्रमाज्जाता मङ्गलं नापि दृश्यते ॥५९॥
न त्वामपि सुतैः साकं कोऽपि पश्यति साम्प्रतम् ।
उपेक्षितानुरागान्धैर्जर्जरत्वेन संस्थिता ॥६०॥
वृन्दावनस्य संयोगात्पुनस्त्वं तरुणी नवा ।
धन्यं वृन्दावनं तेन भक्तिर्नृत्यति यत्र च ॥६१॥
अत्रेमौ ग्राहकाभावान्न जरामपि मुञ्चतः ।
किञ्चिदात्मसुखेनेह प्रसुप्तिर्मन्यतेऽनयोः ॥६२॥

भक्तिरुवाच

कथं परीक्षिता राज्ञा स्थापितो ह्यशुचिः कलिः ।
प्रवृत्ते तु कलौ सर्वसारः कुत्र गतो महान् ॥६३॥
करुणापरेण हरिणाप्यधर्मः कथमीक्ष्यते
इमं मे संशयं छिन्धि त्वद्वाचा सुखितास्म्यहम् ॥६४॥

इसीलिये मैं चकितचित्त होकर मन-ही-मन चिन्ता कर रही हूँ । हे मतिमान् योगनिधे ! इसका क्या कारण हो सकता है ? सो कहिये ॥ ५४ ॥

नारदजीने कहा—हे अनघे ! मैं ज्ञानदृष्टिसे तेरे इस दुःखका सब कारण अभी अपने हृदयमें देखता हूँ, तू किसी प्रकारकी चिन्ता मत कर, भगवान् तेरा मंगल करेंगे ॥ ५५ ॥

सूतजी कहते हैं—तब एक क्षणमें ही उस दुःखका कारण जानकर मुनिवर नारदने कहा ॥ ५६ ॥

नारदजी बोले—हे बाले ! तू सावधान होकर सुन । यह भयंकर कलिकाल है । उसके कारण सदाचार, योगमार्ग और तप आदि सभी लुप्त हो गये हैं ॥५७॥ इस समय सब लोग शठता और कुकर्मका आश्रय करनेसे पापी दैत्योंके समान हो चले हैं । संसारमें साधु पुरुष दुखी रहते हैं और असाधु आनन्द उड़ाते हैं । इस समय जिसका धैर्य बना रहे उसे बड़ा बुद्धिमान्, धीर या पण्डित समझना चाहिये ॥ ५८ ॥ पृथिवी क्रमशः प्रतिवर्ष शेषजीके लिये भाररूपा होती जा रही है, अब यह छूनेयोग्य तो क्या देखनेयोग्य भी नहीं रही और इसमें कहीं मंगल भी दिखायी नहीं देता ॥ ५९ ॥ तेरी और तेरे पुत्रोंकी ओर अब कोई ताकता भी नहीं है । इस प्रकार विषयान्ध पुरुषोंके उपेक्षा करनेसे ही तू जर्जर हो गयी थी ॥ ६० ॥ किन्तु इस वृन्दावनका संयोग पाकर तू फिर नवीन तरुणी हो गयी ! इसलिये यह वृन्दावनधाम धन्य है कि जहाँ भक्ति सर्वत्र नृत्य करती फिरती है ॥ ६१ ॥ परन्तु इन ज्ञान-वैराग्यको पूछनेवाला यहाँ कोई नहीं है, इसलिये यहाँ इनका बुढ़ापा दूर नहीं होता । हाँ, यहाँ इनके मनको कुछ चैन मिला है, इसलिये सोये-से जान पड़ते हैं ॥ ६२ ॥

भक्ति बोली—भगवन् ! इस पापी कलियुगको महाराज परीक्षितने क्यों रहने दिया ? और इसके आते ही सब वस्तुओंका महान् सत्त्व कहाँ चला गया ? ॥६३॥ करुणामय भगवान् भी इस अधर्मको कैसे देख रहे हैं ? मुने ! आप मेरा यह सन्देह दूर कीजिये, मुझे आपके वचनोंसे बहुत शान्ति मिली है ॥ ६४ ॥

नारद उवाच

यदि पृष्टस्त्वया बाले प्रेमतः श्रवणं कुरु ।
सर्वं वक्ष्यामि ते भद्रे कश्मलं ते गमिष्यति ॥६५॥
यदा मुकुन्दो भगवान्क्ष्मां त्यक्त्वा स्वपदं गतः ।
तद्दिनात्कलिरायातः सर्वसाधनबाधकः ॥६६॥
दृष्टो दिग्विजये राज्ञा दीनवच्छरणं गतः ।
न मया मारणीयोऽयं सारङ्ग इव सारभुक् ॥६७॥
यत्फलं नास्ति तपसा न योगेन समाधिना ।
तत्फलं लभते सम्यक्कलौ केशवकीर्तनात् ॥६८॥
एकाकारं कलिं दृष्ट्वा सारवत्सारनीरसम् ।
विष्णुरातः स्थापितवान्कलिजानां सुखाय च ॥६९॥
कुकर्माचरणात्सारः सर्वतो निर्गतोऽधुना ।
पदार्थाः संस्थिता भूमौ बीजहीनास्तुषा यथा ॥७०॥
विप्रैर्भागवती वार्ता गेहे गेहे जने जने ।
कारिता कणलोभेन कथासारस्ततो गतः ॥७१॥
अत्युग्रभूरिकर्माणो नास्तिका रौरवा जनाः ।
तेऽपि तिष्ठन्ति तीर्थेषु तीर्थसारस्ततो गतः ॥७२॥
कामक्रोधमहालोभतृष्णाव्याकुलचेतसः ।
तेऽपि तिष्ठन्ति तपसि तपःसारस्ततो गतः ॥७३॥
मनसश्चाजयाल्लोभाद्दम्भात्पाखण्डसंश्रयात् ।
शास्त्रानभ्यसनाच्चैव ध्यानयोगफलं गतम् ॥७४॥
पण्डितास्तु कलत्रेण रमन्ते महिषा इव ।
पुत्रस्योत्पादने दक्षा अदक्षा मुक्तिसाधने ॥७५॥
न हि वैष्णवता कुत्र सम्प्रदायपुरःसरा ।

श्रीनारदजी बोले—हे बाले ! तू जो कुछ पूछती है वह सब मैं तुझे बताये देता हूँ, प्रेमपूर्वक सुन । हे कल्याणि ! इस रहस्यको जाननेपर तेरा सब दुःख दूर हो जायगा ॥ ६५ ॥ जिस दिन भगवान् श्रीकृष्ण इस भूलोकको छोड़कर अपने परमधामको पधार गये उसी दिनसे यहाँ सम्पूर्ण साधनोंमें बाधा डालनेवाला कलियुग आ गया ॥ ६६ ॥ दिग्विजयके समय राजा परीक्षितने इसे देखा; किन्तु जब यह अत्यन्त दीनके समान उनकी शरणमें गया तो भ्रमरके समान सारग्राही राजा परीक्षितने सोचा कि मुझे इसका वध करना उचित नहीं है क्योंकि [इसमें एक गुण अति अपूर्व है, वह यह कि] अन्य युगोंमें जो फल तपस्या, योग और समाधि आदिसे भी प्राप्त नहीं होता था वह कलियुगमें केवल श्रीहरिकीर्तनसे पूर्णरूपसे प्राप्त हो जाता है ॥ ६७-६८ ॥ इस प्रकार सारहीन कलियुगको इस एक दृष्टिसे सारयुक्त देखकर ही महाराज परीक्षितने कलियुगमें उत्पन्न होनेवाले पुरुषोंके सुखके लिये इसे रहने दिया ॥ ६९ ॥ इस समय कुकर्मकी प्रवृत्ति होनेके कारण सब वस्तुओंका सार निकल गया है और पृथिवीमें सब पदार्थ भूसीके समान निर्बीज हो गये हैं ॥ ७० ॥ ब्राह्मणलोग एक-एक दानेके लोभसे [अधिकारीका विचार किये बिना ही] घर-घरमें चाहे जिसको भगवान्की कथा सुनाने लगे; इस कारण कथाका महत्त्व नष्ट हो गया ॥ ७१ ॥ तीर्थोंमें अनेकों अति भयानक कर्म करनेवाले नास्तिक और नरकके अधिकारी लोग भी रहने लग गये; इससे तीर्थोंका सार निकल गया ॥ ७२ ॥ जिनका चित्त काम, क्रोध, महालोभ और तृष्णासे तप रहा है वे भी तपस्या [का ढोंग] करने लगे; इसलिये तपका भी सार निकल गया ॥ ७३ ॥ मनके असंयम, लोभ, दम्भ और पाखण्डसे एवं शास्त्राभ्यासके अभावके कारण ध्यानयोगका फल मिट गया ॥ ७४ ॥ पण्डितलोग अपनी स्त्रियोंके साथ भैंसोंकी तरह विषयभोग करते हैं; वे पुत्र उत्पन्न करनेमें तो बहुत कुशल हैं परन्तु मुक्तिसाधनके करनेमें असमर्थ हैं ॥ ७५ ॥ सम्प्रदाय (गुरुपरम्परासे प्राप्त हुए सदुपदेश) के अनुसार वैष्णवधर्म भी कहीं नहीं है । इस प्रकार जहाँ तहाँ

एवं प्रलयतां प्राप्तो वस्तुसारः स्थले स्थले ॥७६॥
अयं तु युगधर्मो हि वर्तते कस्य दूषणम् ।
अतस्तु पुण्डरीकाक्षः सहते निकटे स्थितः ॥७७॥

सभी वस्तुओंका सार लुप्त हो गया है ॥ ७६ ॥ यह कलियुगका धर्म ही है । इसमें किसीका दोष नहीं है, इसीलिये भगवान् भी सदा पास रहकर देखते हुए भी सब कुछ सहन कर रहे हैं ॥ ७७ ॥

सूत उवाच

इति तद्वचनं श्रुत्वा विस्मयं परमं गता ।
भक्तिरूचे वचो भूयः श्रूयतां तच्च शौनक ॥७८॥

श्रीसूतजी कहते हैं–शौनक ! इस प्रकार देवर्षि नारदके वचन सुनकर भक्तिको बड़ा आश्चर्य हुआ, फिर उसने जो कुछ कहा सो सुनो ॥ ७८ ॥

भक्तिरुवाच

सुरर्षे त्वं हि धन्योऽसि मद्भाग्येन समागतः ।
साधूनां दर्शनं लोके सर्वसिद्धिकरं परम् ॥७९॥
जयति जयति मायां यस्य कायाधवस्ते
वचनरचनमेकं केवलं चाकलय्य ।
ध्रुवपदमपि यातो यत्कृपातो ध्रुवोऽयं
सकलकुशलपात्रं ब्रह्मपुत्रं नतास्मि ॥८०॥

भक्ति बोली–हे देवर्षे ! आप धन्य हैं । मेरा बड़ा सौभाग्य था जो आप यहाँ पधारे । संसारमें साधुओंका दर्शन ही सबसे अधिक सिद्धि देनेवाला और श्रेष्ठ है ॥ ७९ ॥ हे नारदजी ! जिन आपकी एकमात्र वचनावलीको ही [अपनी माताके गर्भमें] सुनकर कयाधूके पुत्र प्रह्लादजीने मायाको परास्त कर दिया और जिनकी कृपासे ध्रुवजीको अविचल पद प्राप्त हुआ उन आप सर्वमङ्गलमय ब्रह्माजीके पुत्रको मैं नमस्कार करती हूँ ॥ ८० ॥

इति श्रीपद्मपुराणे उत्तरखण्डे श्रीभागवतमाहात्म्ये भक्ति-
नारदसमागमो नाम प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

दूसरा अध्याय

भक्तिका दुःख दूर करनेके लिये नारदजीका उद्योग।

नारद उवाच

वृथा खेदयसे बाले अहो चिन्तातुरा कथम् ।
श्रीकृष्णचरणाम्भोजं स्मर दुःखं गमिष्यति ॥ १ ॥
द्रौपदी च परित्राता येन कौरवकश्मलात् ।
पालिता गोपसुन्दर्यः स कृष्णः क्वापि नो गतः ॥ २ ॥
त्वं तु भक्तिः प्रिया तस्य सततं प्राणतोऽधिका ।
त्वयाहूतस्तु भगवान्याति नीचगृहेष्वपि ॥ ३ ॥
सत्यादित्रियुगे बोधवैराग्यौ मुक्तिसाधकौ ।
कलौ तु केवला भक्तिर्ब्रह्मसायुज्यकारिणी ॥ ४ ॥

श्रीनारदजी बोले–हे बाले ! तू वृथा खेद करती है । अहो ! इतनी चिन्तातुर होनेकी क्या बात है ? भगवान् श्रीकृष्णके चरणकमलोंका चिन्तन कर, इससे तेरा सब दुःख दूर हो जायगा ॥ १ ॥ जिन्होंने द्रौपदीकी कौरवोंके कुकर्मसे रक्षा की और गोपसुन्दरियोंकी कामना पूर्ण की वे श्रीकृष्ण कहीं चले नहीं गये हैं ॥ २ ॥ और तू भक्ति तो उन्हें सदा ही प्राणोंसे भी अधिक प्रिय है, तेरे बुलानेपर तो भगवान् नीच पुरुषोंके घरोंमें भी चले जाते हैं ॥ ३ ॥ सत्ययुग, त्रेता और द्वापर—इन तीन युगोंमें ज्ञान और वैराग्य मुक्तिके साधन थे; किन्तु अब कलियुगमें तो केवल भक्ति ही ब्रह्मसायुज्यरूप मोक्षकी प्राप्ति करानेवाली है ॥ ४ ॥

इति निश्चित्य चिद्रूपः सद्रूपां त्वां ससर्ज ह ।
परमानन्दचिन्मूर्तिः सुन्दरीं कृष्णवल्लभाम् ॥ ५ ॥
बद्ध्वाञ्जलिं त्वया पृष्टं किं करोमीति चैकदा ।
त्वां तदाज्ञापयत्कृष्णो मद्भक्तान्पोषयेति च ॥ ६ ॥
अङ्गीकृतं त्वया तद्वै प्रसन्नोऽभूद्धरिस्तदा ।
मुक्तिं दासीं ददौ तुभ्यं ज्ञानवैराग्यकाविमौ ॥ ७ ॥
पोषणं स्वेन रूपेण वैकुण्ठे त्वं करोषि च ।
भूमौ भक्तविपोषाय छायारूपं त्वया कृतम् ॥ ८ ॥
मुक्तिं ज्ञानं विरक्तिं च सह कृत्वा गता भुवि ।
कृतादिद्वापरस्यान्तं महानन्देन संस्थिता ॥ ९ ॥
कलौ मुक्तिः क्षयं प्राप्ता पाखण्डामयपीडिता ।
त्वदाज्ञया गता शीघ्रं वैकुण्ठं पुनरेव सा ॥१०॥
स्मृता त्वयापि चात्रैव मुक्तिरायाति याति च ।
पुत्रीकृत्य त्वयेमौ च पार्श्वे स्वस्यैव रक्षितौ ॥११॥
उपेक्षातः कलौ मन्दौ वृद्धौ जातौ सुतौ तव ।
तथापि चिन्तां मुञ्च त्वमुपायं चिन्तयाम्यहम् ॥१२॥
कलिना सदृशः कोऽपि युगो नास्ति वरानने ।
तस्मिंस्त्वां स्थापयिष्यामि गेहे गेहे जने जने ॥१३॥
अन्यधर्मांस्तिरस्कृत्य पुरस्कृत्य महोत्सवान् ।
तदा नाहं हरेर्दासो लोके त्वां न प्रवर्तये ॥१४॥
त्वदन्विताश्च ये जीवा भविष्यन्ति कलाविह ।
पापिनोऽपि गमिष्यन्ति निर्भयं कृष्णमन्दिरम् ॥१५॥
येषां चित्ते वसेद्भक्तिः सर्वदा प्रेमरूपिणी ।
न ते पश्यन्ति कीनाशं स्वप्नेऽप्यमलमूर्तयः ॥१६॥

ऐसा सोचकर ही परमानन्दचिन्मूर्ति ज्ञानस्वरूप भगवान्‌ने तुझ कृष्णप्रियाको अति सुन्दरी और सत्-स्वरूपा रचा है ॥ ५ ॥ जब एक बार तूने हाथ जोड़कर भगवान् कृष्णसे पूछा था कि—'मैं क्या करूँ' तो उन्होंने तुझे यही आज्ञा दी कि—'मेरे भक्तोंका पोषण कर' ॥ ६ ॥ तूने भी भगवान्‌की यह आज्ञा स्वीकार कर ली। इसपर श्रीहरिने प्रसन्न होकर तुझे 'मुक्ति' नामकी दासी और 'ये ज्ञान-वैराग्य' नामक दो पुत्र दिये ॥ ७ ॥ तू अपने साक्षात्स्वरूपसे तो वैकुण्ठ-धाममें ही भक्तोंका पोषण करती है भूलोकमें तो तूने उनकी पुष्टिके लिये केवल अपना छायारूप धारण किया है ॥ ८ ॥

तदनन्तर तू मुक्ति, ज्ञान और वैराग्यको साथ ले इस पृथिवीतलपर आयी और सत्ययुगके प्रारम्भसे लेकर द्वापरके अन्तपर्यन्त खूब आनन्दसे रही ॥ ९ ॥ कलियुगमें तेरी दासी मुक्ति पाखण्डरूप रोगसे पीड़ित होकर क्षीण होने लगी; इसलिये तेरी आज्ञासे वह तुरन्त वैकुण्ठधामको लौट गयी ॥ १० ॥ अब भी जब कभी तू स्मरण करती है तभी मुक्ति इस लोकमें आ जाती है और फिर चली जाती है। किन्तु इन ज्ञान और वैराग्यको तूने अपने पुत्र मानकर अपने पास ही रक्खा है ॥ ११ ॥ कलियुगमें मनुष्य इनकी उपेक्षा करते हैं इसलिये तेरे ये पुत्र उत्साहहीन और बूढ़े हो गये हैं। तो भी तू चिन्ता न कर, मैं इनके उद्धारका उपाय सोचता हूँ ॥ १२ ॥ हे सुमुखि ! कलियुगके समान और कोई भी युग नहीं है; इसलिये इस युगमें मैं तुझे घर-घरमें प्रत्येक मनुष्यके हृदयमें स्थापित कर दूँगा ॥ १३ ॥ देख, अन्य पाखण्ड धर्मोंका तिरस्कारकर नाना प्रकारके महोत्सवोंके सहित यदि मैंने लोकमें तेरा प्रचार न किया तो मैं श्रीहरिका दास ही नहीं ॥ १४ ॥ इस कलियुगमें जो जीव तुझसे युक्त होंगे वे पापी होनेपर भी निर्भयतापूर्वक भगवान् कृष्णके धाम (वैकुण्ठलोक) को चले जायँगे ॥ १५ ॥ जिनके हृदयमें प्रेमरूपिणी भक्ति सर्वदा निवास करती है वे पवित्रमूर्ति पुरुष स्वप्नमें भी यमराजका दर्शन नहीं करते ॥ १६ ॥

न प्रेतो न पिशाचो वा राक्षसो वासुरोऽपि वा ।
भक्तियुक्तमनस्कानां स्पर्शनेन प्रभुर्भवेत् ॥१७॥
न तपोभिर्न वेदैश्च न ज्ञानेनापि कर्मणा ।
हरिर्हि साध्यते भक्त्या प्रमाणं तत्र गोपिकाः ॥१८॥
नृणां जन्मसहस्रेण भक्तौ प्रीतिर्हि जायते ।
कलौ भक्तिः कलौ भक्तिर्भक्त्या कृष्णः पुरः स्थितः १९
भक्तिद्रोहकरा ये च ते सीदन्ति जगत्त्रये ।
दुर्वासा दुःखमापन्नः पुरा भक्तविनिन्दकः ॥२०॥
अलं व्रतैरलं तीर्थैरलं योगैरलं मखैः ।
अलं ज्ञानकथालापैर्भक्तिरेकैव मुक्तिदा ॥२१॥

सूत उवाच

इति नारदनिर्णीतं स्वमाहात्म्यं निशम्य सा ।
सर्वाङ्गपुष्टिसंयुक्ता नारदं वाक्यमब्रवीत् ॥२२॥

भक्तिरुवाच

अहो नारद धन्योऽसि प्रीतिस्ते मयि निश्चला ।
न कदाचिद्विमुञ्चामि चित्ते स्थास्यामि सर्वदा ॥२३॥
कृपालुना त्वया साधो मद्बाधा ध्वंसिता क्षणात् ।
पुत्रयोश्चेतना नास्ति ततो बोधय बोधय ॥२४॥

सूत उवाच

तस्या वचः समाकर्ण्य कारुण्यं नारदो गतः ।
तयोर्बोधनमारेभे कराग्रेण विमर्दयन् ॥२५॥
मुखं संयोज्य कर्णान्ते शब्दमुच्चैः समुच्चरन् ।
ज्ञान प्रबुध्यतां शीघ्रं रे वैराग्य प्रबुध्यताम् ॥२६॥
वेदवेदान्तघोषैश्च गीतापाठैर्मुहुर्मुहुः ।
बोध्यमानौ तदा तेन कथञ्चिच्चोत्थितौ बलात् ॥२७॥
नेत्रैरनवलोकन्तौ जृम्भन्तौ सालसावुभौ ।

जिनके हृदय भक्तियुक्त हैं उनका स्पर्श करनेमें प्रेत-पिशाच-राक्षस और दैत्य आदि कोई भी समर्थ नहीं होते ॥१७॥ भगवान् तप, विद्या, ज्ञान अथवा कर्म आदि किसी भी साधनसे वशीभूत नहीं होते, वे केवल भक्तिहीसे वश किये जा सकते हैं, इस विषयमें गोपियाँ प्रमाण हैं ॥ १८ ॥ मनुष्योंको सहस्रों जन्मोंके शुभ कर्मोंसे भक्तिमें प्रीति होती है, कलियुगमें भक्ति ही सार है । भक्ति ही सार है । क्योंकि भक्तिसे भगवान् कृष्ण सामने उपस्थित हो जाते हैं ॥ १९ ॥ जो लोग भक्तिसे विरोध करते हैं वे तीनों लोकोंमें दुःख उठाते हैं । पूर्वकालमें भी भक्तका तिरस्कार करनेवाले दुर्वासा ऋषिको बड़ा क्लेश सहना पड़ा था ॥ २० ॥ व्रत, तीर्थ, योग, यज्ञ और ज्ञानचर्चा आदि साधनोंकी क्या आवश्यकता है; एकमात्र भक्ति ही मुक्ति देनेवाली है ॥ २१ ॥

सूतजी बोले–इस प्रकार नारदजीद्वारा निर्णय किये हुए अपने माहात्म्यको सुनकर भक्तिके सब अङ्ग पुष्ट हो गये और वह नारदजीसे कहने लगी ॥ २२ ॥

भक्ति बोली–अहो नारदजी ! तुम धन्य हो, तुम्हारी मुझमें निश्चल प्रीति है। मैं तुम्हारे हृदयमें सदा निवास करूँगी, तुम्हें कभी न छोड़ूँगी ॥ २३ ॥ हे साधो ! तुम बड़े कृपालु हो, तुमने एक क्षणमें ही मेरा दुःख तो दूर कर दिया किन्तु अभीतक मेरे पुत्रोंमें चेतना नहीं आयी; अतः इन्हें शीघ्र ही सचेत करो ॥ २४ ॥

सूतजी कहते हैं–हे मुनिगण ! भक्तिके ये वचन सुनकर नारदजीको बड़ी करुणा आयी, और वे उन्हें हाथसे दबा-दबाकर, तथा उनके कानोंके पास मुँह ले जाकर जोरसे शब्द उच्चारण करते हुए कहने लगे कि—'हे ज्ञान ! शीघ्र जागो, हे वैराग्य ! शीघ्र उठो' ॥ २५-२६ ॥ फिर वेदध्वनि, वेदान्तघोष और गीतापाठ आदिसे बारम्बार नारदजीद्वारा जगाये जानेपर ये जैसे-तैसे बहुत जोर लगाकर उठे ॥ २७ ॥ किन्तु उन्होंने नेत्र उघाड़कर भी नहीं देखा और वे बगलेके समान सफेद केशोंवाले दोनों भाई आलसके कारण जमुहाई

बकवत्पतितौ प्रायः शुष्ककाष्ठसमाङ्गकौ ॥२८॥
क्षुत्क्षामौ तौ निरीक्ष्यैव पुनः स्वापपरायणौ ।
ऋषिश्चिन्तापरो जातः किं विधेयं मयेति च ॥२९॥
अहो निद्रा कथं याति वृद्धत्वं च महत्तरम् ।
चिन्तयन्निति गोविन्दं स्मारयामास भार्गव ॥३०॥
व्योमवाणी तदैवाभून्मा ऋषे खिद्यतामिति ।
उद्यमः सफलस्तेऽयं भविष्यति न संशयः ॥३१॥
एतदर्थं तु सत्कर्म सुरर्षे त्वं समाचर ।
तत्ते कर्माभिधास्यन्ति साधवः साधुभूषणाः ॥३२॥
सत्कर्मणि कृते तस्मिन्सनिद्रा वृद्धतानयोः ।
गमिष्यति क्षणाद्भक्तिः सर्वतः प्रसरिष्यति ॥३३॥
इत्याकाशवचः स्पष्टं तत्सर्वैरपि विश्रुतम् ।
नारदो विस्मयं लेभे नेदं ज्ञातमिति ब्रुवन् ॥३४॥

नारद उवाच

अनयाकाशवाण्यापि गोप्यत्वेन निरूपितम् ।
किं वा तत्साधनं कार्यं येन कार्यं भवेत्तयोः ॥३५॥
क्व भविष्यन्ति सन्तस्ते कथं दास्यन्ति साधनम्।
मयात्र किं प्रकर्तव्यं यदुक्तं व्योमभाषया ॥३६॥

सूत उवाच

तत्र द्वावपि संस्थाप्य निर्गतो नारदो मुनिः ।
तीर्थं तीर्थं विनिष्क्रम्य पृच्छन्मार्गे मुनीश्वरान् ॥३७॥
वृत्तान्तः श्रूयते सर्वैः किञ्चिन्निश्चित्य नोच्यते ।
असाध्यं केचन प्रोचुर्दुर्ज्ञेयमिति चापरे ।
मूकीभूतास्तथान्ये तु कियन्तस्तु पलायिताः ॥३८॥

लेते हुए फिर गिर पड़े क्योंकि उनके शरीर प्रायः सूखे काठके समान निस्तेज और शिथिल हो गये थे ॥ २८ ॥ इस प्रकार भूख-प्यासके कारण अत्यन्त दुर्बल होनेसे उन्हें फिर सोते देख मुनिवर नारद सोचने लगे कि 'अब मुझे क्या करना चाहिये ? इनकी यह नींद और महान् वृद्धावस्था कैसे दूर हो ?' हे शौनकजी! इस प्रकार चिन्ता करते हुए श्रीनारदजीने भगवान् श्रीकृष्णका स्मरण किया ॥ २९-३० ॥ इसी समय आकाशवाणी हुई कि 'हे मुने ! तुम खेद मत करो, यह तुम्हारा उद्योग सफल होगा—इसमें कोई सन्देह नहीं ॥ ३१ ॥ हे देवर्षे ! इसके लिये तुम्हें एक शुभ-कर्म करना होगा, जिसे कि तुम्हें साधुओंमें भूषणरूप संतजन बतायेंगे ॥ ३२ ॥ उस शुभकर्मका अनुष्ठान करते ही इनकी वृद्धावस्था निद्राके सहित दूर हो जायगी और उसी क्षण सब ओर भक्ति फैल जायगी' ॥ ३३ ॥ यह आकाशवाणी वहाँ सभीको साफ़-साफ़ सुनायी दी; इसे सुनकर नारदजीको बड़ा विस्मय हुआ और वे कहने लगे—'मुझे इसका आशय कुछ भी समझमें नहीं आया' ॥ ३४ ॥

नारदजी बोले—इस आकाशवाणीने भी गुप्त शब्दोंमें ही कहा, [बातको खोला नहीं] । यह नहीं जान पड़ता कि वह कौन साधन कर्तव्य है जिससे इन ज्ञान-वैराग्यका कार्य सिद्ध होगा ॥ ३५ ॥ वे संत-जन न जाने कहाँ मिलेंगे और किस प्रकार उस साधन-को बतलावेंगे ? अब आकाशवाणीने जो कुछ कहा है उस सम्बन्धमें मुझे क्या करना चाहिये ॥ ३६ ॥

सूतजी कहते हैं—हे मुने ! तब ज्ञान-वैराग्य दोनोंको वहीं छोड़कर मुनिवर नारद वहाँसे चल दिये और प्रत्येक तीर्थपर जाते हुए मार्गमें मिलनेवाले मुनीश्वरोंसे वह साधन पूछने लगे ॥ ३७ ॥ उस बात-को सबने सुना किन्तु किसीसे भी कोई निश्चित उत्तर न बना । किन्हींने उसे असाध्य बतलाया; कोई बोले 'हमें कुछ समझ नहीं पड़ता ?' कोई मौन हो गये और कितने ही मुनि तो [अपनी अवज्ञा होनेके भयसे] खिसक ही गये ॥ ३८ ॥

हाहाकारो महानासीत्त्रैलोक्ये विस्मयावहः ।
वेदवेदान्तघोषैश्च गीतापाठैर्विबोधितम् ॥३९॥
भक्तिज्ञानविरागाणां नोदतिष्ठत्त्रिकं यदा ।
उपायो नापरोऽस्तीति कर्णे कर्णेऽजपञ्जनाः ॥४०॥
योगिना नारदेनापि स्वयं न ज्ञायते तु यत् ।
तत्कथं शक्यते वक्तुमितरैरिह मानुषैः ॥४१॥
एवमृषिगणैः पृष्टैर्निर्णीयोक्तं दुरासदम् ॥४२॥
ततश्चिन्तातुरः सोऽथ बदरीवनमागतः ।
तपश्चरामि चात्रेति तदर्थं कृतनिश्चयः ॥४३॥
तावद्ददर्श पुरतः सनकादीन्मुनीश्वरान् ।
कोटिसूर्यसमाभासानुवाच मुनिसत्तमः ॥४४॥

तीनों लोकोंमें बड़ा विस्मयजनक हाहाकार मच गया और लोग परस्पर कानाफूसी करने लगे कि 'भाई ! जब नारदजीके वेदध्वनि, वेदान्तघोष और गीतापाठ सुनाकर जगानेपर भी भक्ति, ज्ञान और वैराग्य—ये तीनों जाग्रत् नहीं हुए तो अब उनके जागनेका और कोई उपाय भी नहीं है ॥३९-४०॥ जो उपाय योगी होनेपर भी स्वयं नारदजीको विदित नहीं हुआ उसे अन्य कोई साधारण मनुष्य कैसे बता सकता है ?' ॥ ४१ ॥ इस प्रकार जिन-जिन मुनीश्वरोंसे पूछा गया था उन सबने परस्पर निर्णय करके यही कहा कि यह बात अति दुःसाध्य है ॥ ४२ ॥

तब नारदजी बहुत चिन्तित हुए और यह निश्चय करके बद्रिकाश्रमको चले आये कि 'उस साधनकी प्राप्तिके लिये मैं यहाँ तप करूँगा' ॥ ४३ ॥ वहाँ पहुँचते ही उन्हें अपने सामने करोड़ों सूर्योंके समान देदीप्यमान सनकादि मुनीश्वर दिखायी दिये । उन्हें देखकर मुनिश्रेष्ठ नारदजी कहने लगे ॥ ४४ ॥

नारद उवाच

इदानीं भूरिभाग्येन भवद्भिः संगमोऽभवत् ।
कुमारा ब्रुवतां शीघ्रं कृपां कृत्वा ममोपरि ॥४५॥
भवन्तो योगिनः सर्वे बुद्धिमन्तो बहुश्रुताः ।
पञ्चहायनसंयुक्ताः पूर्वेषामपि पूर्वजाः ॥४६॥
सदा वैकुण्ठनिलया हरिकीर्तनतत्पराः ।
लीलामृतरसोन्मत्ताः कथामात्रैकजीविनः ॥४७॥
हरिः शरणमेवं हि नित्यं येषां मुखे वचः ।
अतः कालसमादिष्टा जरा युष्मान्न बाधते ॥४८॥
येषां भ्रूभङ्गमात्रेण द्वारपालौ हरेः पुरा ।
भूमौ निपतितौ सद्यो यत्कृपातः पुरं गतौ ॥४९॥
अहो भाग्यस्य योगेन दर्शनं भवतामिह ।
अनुग्रहस्तु कर्तव्यो मयि दीने दयापरैः ॥५०॥

श्रीनारदजी बोले—हे सनकादि मुनीश्वरगण ! इस समय बड़े सौभाग्यसे आपका समागम हुआ है अतः मुझपर कृपा करके आप वह साधन शीघ्र बतलाइये ॥४५॥ आपलोग सब-के-सब बड़े योगी, बुद्धिमान् और विद्वान् हैं । आप यद्यपि पाँच वर्षके बालकोंके समान जान पड़ते हैं तो भी पूर्वजोंके भी पूर्वज हैं ॥४६॥ आपलोग सदा श्रीवैकुण्ठधाममें निवास करनेवाले हैं और निरन्तर हरिकीर्तनमें तत्पर रहते हैं, आपका जीवनाधार एकमात्र हरिचर्चा ही है और आप सर्वदा श्रीभगवान्‌के लीलामृतसे छककर उन्मत्त रहते हैं ॥४७॥ आपके मुखमें सदा 'हरिः शरणम्' (हरि ही हमारे आश्रय हैं) यह वचन रहता है, इसलिये कालप्रेरित वृद्धावस्था आपको बाधा नहीं पहुँचा सकती ॥४८॥ पूर्वकालमें आपके भ्रूभंगमात्रसे भगवान् विष्णुके द्वारपाल (जय और विजय) तुरन्त ही पृथिवीपर गिर पड़े थे और फिर आपहीकी कृपासे वैकुण्ठधामको प्राप्त हुए थे ॥४९॥ मेरा बड़ा ही सौभाग्य है कि जिससे मुझे यहाँ आपका दर्शन हुआ, आपलोग बड़े दयालु हैं इसलिये मुझ दीनपर आपको अनुग्रह करना चाहिये ॥५०॥

अशरीरगिरोक्तं यत्तत्किं साधनमुच्यताम् ।
अनुष्ठेयं कथं तावत्प्रब्रुवन्तु सविस्तरम् ॥५१॥
भक्तिज्ञानविरागाणां सुखमुत्पद्यते कथम् ।
स्थापनं सर्ववर्णेषु प्रेमपूर्वं प्रयत्नतः ॥५२॥

आकाशवाणीने जिसके विषयमें कहा था बतलाइये, वह साधन कौन-सा है और उसका किस प्रकार अनुष्ठान करना चाहिये? इसका विस्तारपूर्वक वर्णन कीजिये ॥ ५१ ॥ भक्ति, ज्ञान और वैराग्य-को किस प्रकार सुख प्राप्त हो सकता है? तथा सब वर्णोंमें इनका किस यत्नसे प्रेमपूर्वक प्रचार किया जा सकता है? ॥५२॥

कुमारा ऊचुः

मा चिन्तां कुरु देवर्षे हर्षं चित्ते समावह ।
उपायः सुखसाध्योऽत्र वर्तते पूर्व एव हि ॥५३॥
अहो नारद धन्योऽसि विरक्तानां शिरोमणिः ।
सदा श्रीकृष्णदासानामग्रणीर्योगभास्करः ॥५४॥
त्वयि चित्रं न मन्तव्यं भक्त्यर्थमनुवर्तिनि ।
घटते कृष्णदासस्य भक्तेः संस्थापना सदा ॥५५॥
ऋषिभिर्बहवो लोके पन्थानः प्रकटीकृताः ।
श्रमसाध्याश्च ते सर्वे प्रायः स्वर्गफलप्रदाः ॥५६॥
वैकुण्ठसाधकः पन्था स तु गोप्यो हि वर्तते ।
तस्योपदेष्टा पुरुषः प्रायो भाग्येन लभ्यते ॥५७॥
सत्कर्म तव निर्दिष्टं व्योमवाचा तु यत्पुरा ।
तदुच्यते शृणुष्वाद्य स्थिरचित्तः प्रसन्नधीः ॥५८॥
द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे ।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च ते तु कर्मविसूचकाः ॥५९॥
सत्कर्मसूचको नूनं ज्ञानयज्ञः स्मृतो बुधैः ।
श्रीमद्भागवतालापः स तु गीतः शुकादिभिः ॥६०॥
भक्तिज्ञानविरागाणां तद्घोषेण बलं महत् ।
व्रजिष्यति द्वयोः कष्टं सुखं भक्तेर्भविष्यति ॥६१॥
प्रलयं हि गमिष्यन्ति श्रीमद्भागवतध्वनेः ।
कलेर्दोषा इमे सर्वे सिंहशब्दाद्वृका इव ॥६२॥

सनकादि बोले-हे देवर्षे! आप चिन्ता न कीजिये, मनमें प्रसन्न होइये । उनके उद्धारका सुख-साध्य उपाय पहलेहीसे वर्तमान है ॥५३॥ नारदजी! आप धन्य हैं! आप विरक्तोंमें शिरोमणि, भगवान् श्रीकृष्णके दासोंमें सदा अग्रगण्य और योगमार्गके सूर्य हैं ॥५४॥ आप जो भक्तिके लिये इतना प्रयत्न कर रहे हैं—यह कोई आश्चर्यकी बात नहीं है; क्योंकि भगवान् श्रीकृष्ण-के भक्तको तो भक्तिकी स्थापना करना सदा उचित ही है ॥५५॥ ऋषियोंने संसारमें बहुत-से मार्ग प्रकट किये हैं किन्तु वे सब कष्टसाध्य और प्रायः स्वर्गरूप फल-को ही देनेवाले हैं ॥५६॥ अभीतक भगवत्प्राप्तिरूप मोक्षका मार्ग तो गुप्त ही है । उसका उपदेश करने-वाला पुरुष प्रायः बड़े भाग्यसे ही मिलता है ॥५७॥ आकाशवाणीने आपसे जिस सत्कर्मके विषयमें कहा है वह अब हम बतलाते हैं, आप प्रसन्न और समाहित चित्त होकर सुनिये ॥५८॥

हे नारद! द्रव्ययज्ञ, तपोयज्ञ, योगयज्ञ और स्वाध्यायरूप ज्ञानयज्ञ आदि जितने यज्ञ हैं वे सब स्वर्गादिकी प्राप्ति करानेवाले कर्ममात्र हैं ॥ ५९ ॥ पण्डितोंने श्रीमद्भागवतपारायणरूप ज्ञानयज्ञको ही सत्कर्मका सूचक कहा है । उस भागवतका शुकदेव आदि महात्माओंने वर्णन किया है ॥ ६० ॥ उस श्रीमद्भागवतके शब्दश्रवणसे भक्ति, ज्ञान और वैराग्यको महान् बल प्राप्त होगा । इससे ज्ञान और वैराग्यका दुःख दूर हो जायगा और भक्तिको आनन्द प्राप्त होगा ॥ ६१ ॥ सिंहके शब्दसे जैसे भेड़िये भाग जाते हैं उसी प्रकार श्रीमद्भागवतकी ध्वनिसे ये कलियुगके सब दोष दूर हो जायँगे ॥ ६२ ॥

ज्ञानवैराग्यसंयुक्ता भक्तिः प्रेमरसावहा ।
प्रतिगेहं प्रतिजनं ततः क्रीडां करिष्यति ॥६३॥

तब प्रेमरसप्रवाहिनी भक्ति ज्ञान और वैराग्यके सहित प्रत्येक घरमें और प्रत्येक व्यक्तिके हृदयमें क्रीडा करेगी अर्थात् सब जगह इनका प्रचार हो जायगा ॥ ६३ ॥

नारद उवाच

वेदवेदान्तघोषैश्च गीतापाठैः प्रबोधितम् ।
भक्तिज्ञानविरागाणां नोदतिष्ठत्त्रिकं महत् ॥६४॥
श्रीमद्भागवतालापात्तत्कथं बोधमेष्यति ।
तत्कथासु तु वेदार्थः श्लोके श्लोके पदे पदे ॥६५॥
छिन्दन्तु संशयं ह्येनं भवन्तोऽमोघदर्शनाः ।
विलम्बो नात्र कर्तव्यः शरणागतवत्सलाः ॥६६॥

नारदजीने कहा—मैंने उन्हें वेद-वेदान्तका घोष और गीतापाठ आदि सुनाकर बहुत कुछ जगाया किन्तु भक्ति, ज्ञान और वैराग्य—इन तीनोंका समुदाय नहीं उठा ॥ ६४ ॥ फिर श्रीमद्भागवतकी कथा उन्हें कैसे जाग्रत् कर सकेगी ? क्योंकि उस कथाके प्रत्येक श्लोक और प्रत्येक पदमें तो वेदका ही अर्थ भरा है ॥ ६५ ॥ आपलोग शरणागतवत्सल हैं और आपका दर्शन कभी निष्फल नहीं होता । इसलिये मेरा यह सन्देह दूर कर दीजिये; इस विषयमें विलम्ब न कीजिये ॥६६॥

कुमारा ऊचुः

वेदोपनिषदां साराज्जाता भागवती कथा ।
अत्युत्तमा ततो भाति पृथग्भूता फलाकृतिः ॥६७॥
आमूलाग्रं रसस्तिष्ठन्नास्ते न स्वाद्यते यथा ।
स भूयः संपृथग्भूतः फले विश्वमनोहरः ॥६८॥
यथा दुग्धे स्थितं सर्पिर्न स्वादायोपकल्पते ।
पृथग्भूतं हि तद्द्रव्यं देवानां रसवर्धनम् ॥६९॥
इक्षूणामपि मध्यान्तं शर्करा व्याप्य तिष्ठति ।
पृथग्भूता च सा मिष्टा तथा भागवती कथा ॥७०॥
इदं भागवतं नाम पुराणं ब्रह्मसंमितम् ।
भक्तिज्ञानविरागाणां स्थापनाय प्रकाशितम् ॥७१॥
वेदान्तवेदसुस्नाते गीताया अपि कर्तरि ।
परितापवति व्यासे मुह्यत्यज्ञानसागरे ॥७२॥
तदा त्वया पुरा प्रोक्तं चतुःश्लोकसमन्वितम् ।
तदीयश्रवणात्सद्यो निर्बाधो बादरायणः ॥७३॥

सनकादि बोले—श्रीमद्भागवतकी कथा वेद और उपनिषदोंके सारांशसे प्रकट हुई है इसलिये फलके स्वरूपमें उनसे पृथक् होनेके कारण यह अति उत्तम मालूम होती है ॥ ६७ ॥ जिस प्रकार रस वृक्षकी जड़से लेकर शिखापर्यन्त सर्वत्र भरा रहता है, किन्तु उसका आस्वादन नहीं किया जा सकता । वही जब पृथक् होकर फलरूपमें आ जाता है तब संसारको प्रिय लगने लगता है ॥ ६८ ॥ जिस प्रकार दूधमें रहनेवाला घी स्वादका विषय नहीं होता, परन्तु अलग हो जानेपर वही घी देवताओंके लिये भी स्वादवर्धक हो जाता है तथा खाँड यद्यपि ईखमें व्याप्त रहती है तथापि उसका मिठास अलग होनेपर ही अधिक मिलता है, उसी प्रकार यह श्रीमद्भागवतकथा भी वेदादिसे पृथक् उनकी सारभूत होनेके कारण उनकी अपेक्षा अधिक मधुर और विशेष फलवती है ॥ ६९-७० ॥ यह श्रीमद्भागवत पुराण वेदोंके समान माना गया है, इसे श्रीवेदव्यासजीने भक्ति, ज्ञान और वैराग्यकी स्थापना करनेके लिये ही प्रकट किया है ॥ ७१ ॥ पूर्वकालमें जिस समय वेद-वेदान्तके पारगामी और गीताजीके भी छन्द-रचयिता भगवान् व्यास खिन्न होकर अज्ञानसमुद्रमें डूब रहे थे उस समय आपहीने उन्हें चतुःश्लोकी भागवतका [तात्पर्यसहित] उपदेश किया था । उसके सुनते ही व्यासजीकी सब चिन्ता दूर हो गयी थी ॥ ७२-७३ ॥

तत्र ते विस्मयः केन यतः प्रश्नकरो भवान् ।
श्रीमद्भागवतं श्राव्यं शोकदुःखविनाशनम् ॥७४॥

उसी श्रीमद्भागवतके विषयमें आपको आश्चर्य कैसे होता है, जो आप हमसे प्रश्न कर रहे हैं ? अतः आपको उन्हें शोक और दुःख दूर करनेवाला श्रीमद्भागवत पुराण ही सुनाना चाहिये ॥ ७४ ॥

नारद उवाच

यद्दर्शनं च विनिहन्त्यशुभानि सद्यः
श्रेयस्तनोति भवदुःखदवार्दितानाम् ।
निःशेषशेषमुखगीतकथैकपानाः
प्रेमप्रकाशकृतये शरणं गतोऽस्मि ॥७५॥
भाग्योदयेन बहुजन्मसमार्जितेन
सत्सङ्गमं च लभते पुरुषो यदा वै ।
अज्ञानहेतुकृतमोहमदान्धकार-
नाशं विधाय हि तदोदयते विवेकः ॥७६॥

श्रीनारदजी बोले-हे श्रीशेषजीके सम्पूर्ण मुखोंसे कही गयी श्रीमद्भागवतकथाका पान करनेवाले मुनीश्वरो ! आपका दर्शन मनुष्यके सम्पूर्ण पापोंको तत्काल नष्ट कर देता है और संसारतापरूप दावानलसे दग्ध हुए पुरुषोंको तत्काल शान्ति प्रदान करता है । मैं प्रेमलक्षणा भक्तिके प्रकाशनार्थ आपकी शरणमें आया हूँ ॥ ७५ ॥ जिस समय अनेकों जन्मोंके सञ्चित पुण्यपुञ्ज उदित होनेसे मनुष्यको सत्संग प्राप्त होता है उसी समय उसके अज्ञानजन्य मोह और मदरूप अन्धकारका नाश करके विवेक उदय होता है ॥७६॥

इति श्रीपद्मपुराणे उत्तरखण्डे श्रीभागवतमाहात्म्ये कुमारनारदसंवादो नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

तीसरा अध्याय

भक्तिके कष्टकी निवृत्ति

नारद उवाच

ज्ञानयज्ञं करिष्यामि शुकशास्त्रकथोज्ज्वलम् ।
भक्तिज्ञानविरागाणां स्थापनार्थं प्रयत्नतः ॥ १ ॥
कुत्र कार्यो मया यज्ञः स्थलं तद्वाच्यतामिह ।
महिमा शुकशास्त्रस्य वक्तव्यो वेदपारगैः ॥ २ ॥
कियद्भिर्दिवसैः श्राव्या श्रीमद्भागवती कथा ।
को विधिस्तत्र कर्तव्यो ममेदं ब्रुवतामितः ॥ ३ ॥

नारदजी बोले-मैं भक्ति, ज्ञान और वैराग्यकी स्थापनाके लिये प्रयत्नपूर्वक श्रीशुकदेवजीके शास्त्र (भागवत) की कथाद्वारा उज्ज्वल ज्ञानयज्ञ करूँगा ॥१॥ मुझे वह यज्ञ कहाँ करना चाहिये, उसके लिये आप स्थान निश्चित कर दीजिये । आपलोग वेदके पारगामी हैं, इसलिये मुझे श्रीमद्भागवतकी महिमा भी सुनाइये ॥२॥ इसके सिवा यह भी बतलाइये कि श्रीमद्भागवतकी कथा कितने दिनोंमें सुननी चाहिये और उसके सुननेकी क्या विधि है ॥३॥

कुमारा ऊचुः

शृणु नारद वक्ष्यामो विनम्राय विवेकिने ।
गङ्गाद्वारसमीपे तु तटमानन्दनामकम् ॥ ४ ॥

सनकादि बोले-नारदजी ! आप अति विनम्र और विवेकी हैं, इसलिये हम आपको यह सब बातें बताते हैं, सुनिये; गंगाद्वारके पास आनन्द नामक एक घाट है ॥४॥

नानाऋषिगणैर्जुष्टं देवसिद्धनिषेवितम् ।
नानातरुलताकीर्णं नवकोमलवालुकम् ॥ ५ ॥
रम्यमेकान्तदेशस्थं हेमपद्मसुसौरभम् ।
यत्समीपस्थजीवानां वैरं चेतसि न स्थितम् ॥ ६ ॥
ज्ञानयज्ञस्त्वया तत्र कर्तव्यो ह्यप्रयत्नतः ।
अपूर्वरसरूपा च कथा तत्र भविष्यति ॥ ७ ॥
पुरःस्थं निर्बलं चैव जराजीर्णकलेवरम् ।
तद्द्वयं च पुरस्कृत्य भक्तिस्तत्रागमिष्यति ॥ ८ ॥
यत्र भागवती वार्ता तत्र भक्त्यादिकं व्रजेत् ।
कथाशब्दं समाकर्ण्य तत्त्रिकं तरुणायते ॥ ९ ॥

वह अनेकों ऋषियोंसे सम्पन्न तथा देवता और सिद्धगणसे सेवित है । वहाँ नाना प्रकारके लता और वृक्ष सुशोभित हैं तथा अति कोमल नवीन बालुका बिछी हुई है ॥५॥ वह घाट बड़ा सुन्दर और एकान्त देशमें स्थित है, वहाँ हर समय सुनहरे कमलोंकी सुगन्ध छायी रहती है और उसके पास रहनेवाले सिंह-गौ आदि [परस्पर वैर रखनेवाले] जीवोंके चित्तोंमें भी वैरभाव दिखायी नहीं देता ॥ ६ ॥ अतः तुम्हें बिना विशेष प्रयत्न किये उस आनन्दवनमें ही यह ज्ञानयज्ञ करना चाहिये; वहाँ जो कथा होगी वह अपूर्व रसमयी होगी ॥ ७ ॥ भक्ति भी, जिनका शरीर अति जराजर्जरित है और जो अत्यन्त दुर्बल हो रहे हैं उन अपने सामने पड़े हुए दोनों पुत्रों—ज्ञान और वैराग्यको साथ लेकर वहाँ ही आ जायगी ॥८॥ क्योंकि जहाँ श्रीमद्भागवतकी कथा होती है वहाँ ये भक्ति आदि सब स्वयं उपस्थित हो जाते हैं । वहाँ कानोंमें कथाके शब्द पड़नेसे वे भक्ति, ज्ञान और वैराग्य—तीनों ही तरुण हो जायँगे ॥९॥

सूत उवाच

एवमुक्त्वा कुमारास्ते नारदेन समं ततः ।
गङ्गातटं समाजग्मुः कथापानाय सत्वराः ॥१०॥
यदा यातास्तटं ते तु तदा कोलाहलोऽप्यभूत् ।
भूर्लोके देवलोके च ब्रह्मलोके तथैव च ॥११॥
श्रीभागवतपीयूषपानाय रसलम्पटाः ।
धावन्तोऽप्याययुः सर्वे प्रथमं ये च वैष्णवाः ॥१२॥
भृगुर्वसिष्ठश्च्यवनश्च गौतमो
मेधातिथिर्देवलदेवरातौ ।
रामस्तथा गाधिसुतश्च शाकलो
मृकण्डुपुत्रात्रिजपिप्पलादाः ॥१३॥
योगेश्वरौ व्यासपराशरौ च
छायाशुको जाजलिजह्नुमुख्याः ।
सर्वेऽप्यमी मुनिगणाः सहपुत्रशिष्याः
स्वस्त्रीभिराययुरतिप्रणयेन युक्ताः॥१४॥
वेदान्तानि च वेदाश्च मन्त्रास्तन्त्राः समूर्तयः ।
दशसप्तपुराणानि षट्शास्त्राणि तथाययुः ॥१५॥
गङ्गाद्याः सरितस्तत्र पुष्करादिसरांसि च ।

सूतजी कहते हैं—इस प्रकार कहकर सनकादि श्रीमद्भागवतकथामृतका पान करनेके लिये नारदजीको साथ ले वहाँसे तुरन्त श्रीगंगातटपर पहुँचे ॥१०॥ जिस समय वे गंगातटपर आये उस समय भूलोक, देवलोक और ब्रह्मलोकादिमें सर्वत्र इस समाचारका कोलाहल छा गया ॥११॥ और जो-जो भगवत्कथाके रसिक विष्णुभक्त थे वे सब श्रीभागवतकथामृतका पान करनेके लिये सबसे पहले दौड़-दौड़कर आने लगे ॥१२॥ भृगु, वसिष्ठ, च्यवन, गौतम, मेधातिथि, देवल, देवरात, परशुराम, विश्वामित्र, शाकल, मार्कण्डेय, दत्तात्रेय, पिप्पलाद, योगेश्वर व्यास और पराशर, छायाशुक तथा जाजलि और जह्नु आदि सभी प्रधान-प्रधान मुनीश्वरगण अपने पुत्र, शिष्य और स्त्रियोंके सहित अति प्रेमपूर्वक वहाँ आये ॥१३-१४॥ सम्पूर्ण वेद, वेदान्त, मन्त्र, तन्त्र, सत्रह पुराण और छहों शास्त्र भी मूर्तिमान् होकर उपस्थित हुए ॥१५॥ इनके सिवा गंगादिक नदियाँ, पुष्करादि सरोवर, सब क्षेत्र, सब दिशाएँ, दण्डकादि सब वन तथा देव, गन्धर्व, दानव और नाग आदि सभी वहाँ

क्षेत्राणि च दिशः सर्वा दण्डकादिवनानि च ॥१६॥
नगादयो ययुस्तत्र देवगन्धर्वदानवाः ।
गुरुत्वात्तत्र नायातान्भृगुः सम्बोध्य चानयत् ॥१७॥
दीक्षिता नारदेनाथ दत्तमासनमुत्तमम् ।
कुमारा वन्दिताः सर्वैर्निषेदुः कृष्णतत्पराः ॥१८॥
वैष्णवाश्च विरक्ताश्च न्यासिनो ब्रह्मचारिणः ।
मुखभागे स्थितास्ते च तदग्रे नारदः स्थितः ॥१९॥
एकभागे ऋषिगणास्तदन्यत्र दिवौकसः ।
वेदोपनिषदोऽन्यत्र तीर्थान्यत्र स्त्रियोऽन्यतः ॥२०॥
जयशब्दो नमःशब्दः शङ्खशब्दस्तथैव च ।
चूर्णलाजाप्रसूनानां निक्षेपः सुमहानभूत् ॥२१॥
विमानानि समारुह्य कियन्तो देवनायकाः ।
कल्पवृक्षप्रसूनैस्तान् सर्वांस्तत्र समाकिरन् ॥२२॥

सूत उवाच

एवं तेष्वेकचित्तेषु श्रीमद्भागवतस्य च ।
माहात्म्यमूचिरे स्पष्टं नारदाय महात्मने ॥२३॥

कुमारा ऊचुः

अथ ते वर्ण्यतेऽस्माभिर्महिमा शुकशास्त्रजः ।
यस्य श्रवणमात्रेण मुक्तिः करतले स्थिता ॥२४॥
सदा सेव्या सदा सेव्या श्रीमद्भागवती कथा ।
यस्याः श्रवणमात्रेण हरिश्चित्तं समाश्रयेत् ॥२५॥
ग्रन्थोऽष्टादशसाहस्रो द्वादशस्कन्धसंमितः ।
परीक्षिच्छुकसंवादः शृणु भागवतं च तत् ॥२६॥
तावत्संसारचक्रेऽस्मिन्भ्रमतेऽज्ञानतः पुमान् ।
यावत्कर्णगता नास्ति शुकशास्त्रकथा क्षणम् ॥२७॥
किं श्रुतैर्बहुभिः शास्त्रैः पुराणैश्च भ्रमावहैः ।
एकं भागवतं शास्त्रं मुक्तिदानेन गर्जति ॥२८॥
कथा भागवतस्यापि नित्यं भवति यद्गृहे ।

आये । जो लोग अपनेको बड़ा माननेके कारण वहाँ आनेसे हिचकते थे उन्हें भृगुजी समझा-बुझाकर ले आये ॥१६-१७॥ तदनन्तर ज्ञानयज्ञके लिये दीक्षित हुए कृष्णपरायण सनकादि समस्त सभासदोंसे वन्दित हो श्रीनारदजीके दिये हुए श्रेष्ठ सिंहासनपर विराजमान हुए ॥१८॥ श्रोताओंमें वैष्णव, विरक्त, संन्यासी और ब्रह्मचारीलोग आगेकी ओर बैठे और उनके आगे नारदजी विराजमान हुए ॥१९॥ एक ओर ऋषिगण, एक ओर देवतालोग, एक ओर वेद-उपनिषदादि, एक ओर तीर्थ तथा एक ओर सब स्त्रियाँ कथा सुननेके लिये बैठीं ॥२०॥ उस समय सब ओर जय-जयकार, नमस्कार और शंखध्वनिका शब्द छा गया तथा अबीर, गुलालादि चूर्ण, लाजा (खील) और फूलोंकी प्रचुर मात्रामें वर्षा होने लगी ॥२१॥ बहुतसे देवश्रेष्ठ विमानोंपर चढ़कर वहाँ बैठे हुए सब लोगोंपर कल्पवृक्षके पुष्पोंकी वर्षा करने लगे ॥२२॥

सूतजी बोले—इस प्रकार उन सबके एकाग्रचित्त हो जानेपर सनकादि मुनीश्वर महात्मा नारदजीसे श्रीमद्भागवतका माहात्म्य स्पष्ट करके कहने लगे ॥२३॥

सनकादिने कहा—नारदजी ! अब हम तुमसे इस भागवतशास्त्रकी महिमा वर्णन करते हैं; जिसके श्रवणमात्रसे मुक्ति हाथमें आ जाती है ॥२४॥ इस श्रीमद्भागवत-कथाका सदा सेवन करना चाहिये, सदा सेवन करना चाहिये । इसके श्रवणमात्रसे श्रीहरि हृदयमें विराजमान हो जाते हैं ॥२५॥ जिस ग्रन्थमें अठारह सहस्र श्लोक और बारह स्कन्ध हैं तथा जो श्रीशुकदेव और राजा परीक्षितका संवादरूप है उस श्रीमद्भागवतशास्त्रको हम तुम्हें सुनाते हैं, श्रवण करो ॥२६॥ जबतक इस शुक-शास्त्र श्रीमद्भागवतकी कथा एक क्षणके लिये भी कानमें नहीं पड़ती तभीतक जीव अज्ञानवश इस संसार-चक्रमें घूमा करता है ॥२७॥ भ्रम उत्पन्न करनेवाले बहुतसे शास्त्र और पुराणोंको सुननेसे क्या प्रयोजन है ? केवल यह भागवतशास्त्र ही मुक्तिदान करता हुआ गर्ज रहा है, [इसलिये एक इसीका श्रवण क्यों नहीं करते ?] ॥२८॥ जिस घरमें श्रीमद्भागवतकी कथा नित्य-प्रति होती है वह घर तीर्थरूप हो जाता है

तद्गृहं तीर्थरूपं हि वसतां पापनाशनम् ॥२९॥
अश्वमेधसहस्राणि वाजपेयशतानि च ।
शुकशास्त्रकथायाश्च कलां नार्हन्ति षोडशीम् ॥३०॥
तावत्पापानि देहेऽस्मिन्निवसन्ति तपोधनाः ।
यावन्न श्रूयते सम्यक्श्रीमद्भागवतं नरैः ॥३१॥
न गङ्गा न गया काशी पुष्करं न प्रयागकम् ।
शुकशास्त्रकथायाश्च फलेन समतां नयेत् ॥३२॥
श्लोकार्धं श्लोकपादं वा नित्यं भागवतोद्भवम् ।
पठस्व स्वमुखेनैव यदीच्छसि परां गतिम् ॥३३॥
वेदादिर्वेदमाता च पौरुषं सूक्तमेव च ।
त्रयी भागवतं चैव द्वादशाक्षर एव च ॥३४॥
द्वादशात्मा प्रयागश्च कालः संवत्सरात्मकः ।
ब्राह्मणाश्चाग्निहोत्रं च सुरभिर्द्वादशी तथा ॥३५॥
तुलसी च वसन्तश्च पुरुषोत्तम एव च ।
एतेषां तत्त्वतः प्राज्ञैर्न पृथग्भाव इष्यते ॥३६॥
यश्च भागवतं शास्त्रं वाचयेदर्थतोऽनिशम् ।
जन्मकोटिकृतं पापं नश्यते नात्र संशयः ॥३७॥
श्लोकार्धं श्लोकपादं वा पठेद्भागवतं च यः ।
नित्यं पुण्यमवाप्नोति राजसूयाश्वमेधयोः ॥३८॥
उक्तं भागवतं नित्यं कृतं च हरिचिन्तनम् ।
तुलसीपोषणं चैव धेनूनां सेवनं समम् ॥३९॥
अन्तकाले तु येनैव श्रूयते शुकशास्त्रवाक् ।
प्रीत्या तस्यैव वैकुण्ठं गोविन्दोऽपि प्रयच्छति ॥४०॥
हेमसिंहयुतं चैतद्वैष्णवाय ददाति च ।
कृष्णेन सह सायुज्यं स पुमाँल्लभते ध्रुवम् ॥४१॥
आजन्ममात्रमपि येन शठेन किञ्चि-
च्चित्तं विधाय शुकशास्त्रकथा न पीता ।
चाण्डालवच्च खरवद्धृत तेन नीतं
मिथ्या स्वजन्म जननीजनिदुःखभाजा ॥४२॥

और जो लोग उसमें रहते हैं उनके पापोंको नष्ट कर देता है ॥२९॥ सहस्रों अश्वमेध और सैकड़ों वाजपेय यज्ञ इस शुकशास्त्रकी सोलहवीं कलाकी भी समता नहीं कर सकते ॥३०॥ हे तपोधनो ! जबतक लोग श्रीमद्भागवतका भली प्रकार श्रवण नहीं करते तभीतक उनके शरीरोंमें पाप ठहरते हैं ॥३१॥ गंगा, गया, काशी, पुष्कर या प्रयाग आदि कोई भी तीर्थ फलमें श्रीमद्भागवतकथाकी बराबरी नहीं कर सकता ॥३२॥ यदि तुम्हें परमगतिकी इच्छा है तो नित्यप्रति श्रीमद्भागवतका आधा श्लोक अथवा श्लोकका केवल एक पाद ही स्वयं अपने मुखसे पढ़ो ॥३३॥ ॐकार, गायत्री, पुरुषसूक्त, ऋक्, साम, यजुः आदि चारों वेद, श्रीमद्भागवत, 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय' यह द्वादशाक्षर मन्त्र, द्वादशमूर्ति सूर्यनारायण, प्रयाग, संवत्सररूप काल, ब्राह्मण, अग्निहोत्र, कामधेनु, द्वादशी तिथि, तुलसी, वसन्तऋतु और पुरुषोत्तम भगवान्—इन सबमें बुद्धिमान् लोग वस्तुतः कोई अन्तर नहीं मानते ॥३४–३६॥ जो पुरुष अहर्निश श्रीमद्भागवतशास्त्रका अर्थसहित पाठ करता है उसके करोड़ों जन्मोंके किये हुए पाप नष्ट हो जाते हैं, इसमें सन्देह नहीं है ॥३७॥ जो पुरुष नित्यप्रति भागवतका आधा या चौथाई श्लोक भी पढ़ता है उसे राजसूय और अश्वमेधयज्ञका फल प्राप्त होता है ॥ ३८ ॥ नित्य श्रीभागवतका पाठ करना, भगवान्‌का चिन्तन करना, तुलसीका पोषण करना और गौओंकी सेवा करना—ये चारों समान हैं ॥३९॥ जो पुरुष अन्त समयमें श्रीमद्भागवतका वाक्य श्रवण करता है उसपर प्रसन्न होकर श्रीगोविन्द उसे अपना वैकुण्ठधाम अवश्य दे देते हैं ॥४०॥ जो पुरुष इसे सुवर्णसिंहासनपर रखकर उसके सहित विष्णुभक्तको दान करता है, वह निश्चय भगवान् श्रीकृष्णके साथ सायुज्य लाभ करता है ॥४१॥ जिस दुष्टने अपने जन्मसे लेकर मरणपर्यन्त कभी चित्तको एकाग्र करके श्रीमद्भागवतकथाका थोड़ा-सा भी रसपान नहीं किया, खेदकी बात है कि उसने अपने जन्मको चाण्डाल और गधेके समान व्यर्थ ही नष्ट कर दिया, उसका जन्म अपनी माताको प्रसवकी पीड़ा पहुँचानेके लिये ही हुआ ४२

जीवच्छवो निगदितः स तु पापकर्मा
येन श्रुतं शुककथावचनं न किञ्चित् ।
धिक् तं नरं पशुसमं भुवि भाररूप-
मेवं वदन्ति दिवि देवसमाजमुख्याः ॥४३॥
दुर्लभैव कथा लोके श्रीमद्भागवतोद्भवा ।
कोटिजन्मसमुत्थेन पुण्येनैव तु लभ्यते ॥४४॥
तेन योगनिधे धीमन्श्रोतव्या सा प्रयत्नतः ।
दिनानां नियमो नास्ति सर्वदा श्रवणं मतम् ॥४५॥
सत्येन ब्रह्मचर्येण सर्वदा श्रवणं मतम् ।
अशक्यत्वात्कला बोध्यो विशेषोऽत्र शुकाज्ञया॥४६॥
मनोवृत्तिजयश्चैव नियमाचरणं तथा ।
दीक्षा कर्तुमशक्यत्वात्सप्ताहश्रवणं मतम् ॥४७॥
श्रद्धातः श्रवणे नित्यं माघे तावद्धि यत्फलम् ।
तत्फलं शुकदेवेन सप्ताहश्रवणे कृतम् ॥४८॥
मनसश्चाजयाद्रोगात्पुंसां चैवायुषः क्षयात् ।
कलेर्दोषबहुत्वाच्च सप्ताहश्रवणं मतम् ॥४९॥
यत्फलं नास्ति तपसा न योगेन समाधिना ।
अनायासेन तत्सर्वं सप्ताहश्रवणे लभेत् ॥५०॥
यज्ञाद्गर्जति सप्ताहः सप्ताहो गर्जति व्रतात् ।
तपसो गर्जति प्रोच्चैस्तीर्थान्नित्यं हि गर्जति ॥५१॥
योगाद्गर्जति सप्ताहो ध्यानाज्ज्ञानाच्च गर्जति ।
किं ब्रूमो गर्जनं तस्य रे रे गर्जति गर्जति ॥५२॥

शौनक उवाच

साश्चर्यमेतत्कथितं कथानकं
ज्ञानादिधर्मान्विगणय्य साम्प्रतम् ।
निःश्रेयसे भागवतं पुराणं
जातं कुतो योगविदादिसूचकम् ॥५३॥

'जिसने इस शुकशास्त्रका वचन थोड़ा भी नहीं सुना वह पापी जीता हुआ ही मुर्देके समान कहा गया है। उस पृथिवीके भाररूप पशुतुल्य मनुष्यको धिक्कार है' —ऐसा देवताओंमें प्रधान इन्द्रादि देवगण स्वर्गमें कहा करते हैं ॥४३॥ संसारमें श्रीमद्भागवतकी कथाका मिलना निःसन्देह अति दुर्लभ है । यह करोड़ों जन्मोंके सञ्चित हुए पुण्यसे मिलती है ॥४४॥ इसलिये हे परम बुद्धिमान् योगनिधे नारदजी! तुम्हें उसका प्रयत्नपूर्वक श्रवण करना चाहिये; इसके श्रवणके लिये दिनोंका कोई नियम नहीं है, इसे तो सदा ही सुनना चाहिये ॥४५॥ सत्यभाषण और ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करते हुए सर्वदा ही इसका श्रवण उत्तम माना गया है, किन्तु कलियुगमें इतनी सामर्थ्य न होनेके कारण शुकदेवजीने जो विशेष विधि कही है वह जानने योग्य है ॥४६॥ कलियुगमें [बहुत दिनोंतक] मनोवृत्तियोंको जीतना, नियम पालन करना और दीक्षा ग्रहण करना कठिन है, इसलिये सप्ताहश्रवणकी विधि है ॥४७॥ श्रद्धापूर्वक नित्य श्रवण करनेसे तथा माघ मासमें श्रवण करनेसे जो फल मिलता है वही फल सप्ताहश्रवणसे प्राप्त हो सकता है—ऐसा श्रीशुकदेवजीने नियम कर दिया है ॥४८॥ मनके असंयम, रोगोंकी उत्पत्ति और पुरुषोंकी आयुका ह्रास हो जानेके कारण तथा कलियुगके और भी अनेक दोषोंको देखते हुए सप्ताहश्रवणकी विधि की गयी है ॥४९॥ तपसे, योगसे और समाधिसे जो फल प्राप्त नहीं हो सकता वह सप्ताहश्रवणसे सहजहीमें मिल जाता है ॥५०॥ वह सप्ताहश्रवण यज्ञसे, व्रतसे, तपसे, तीर्थसे, योगसे, ध्यानसे और ज्ञानसे भी बढ़-चढ़कर गर्जता है । उसकी गर्जनाके विषयमें क्या कहें ? अरे ! वह सभीसे बढ़कर गर्जता है, सभीसे बढ़कर गर्जता है ! ॥५१-५२॥

श्रीशौनकजी बोले—हे सूतजी ! यह तो आपने बड़ी आश्चर्यजनक बात कही । योगवेत्ता श्रीब्रह्माजीके भी आदिकारण श्रीपुरुषोत्तम भगवान्‌को बतानेवाला यह श्रीमद्भागवतपुराण ज्ञानादि धर्मसाधनोंका भी तिरस्कार करके अर्थात् उनसे भी बढ़कर मोक्षकी प्राप्ति करानेमें समर्थ किस प्रकार हुआ ? ॥५३॥

सूत उवाच

यदा कृष्णो धरां त्यक्त्वा स्वपदं गन्तुमुद्यतः ।
एकादशं परिश्रुत्याप्युद्धवो वाक्यमब्रवीत् ॥५४॥

श्रीसूतजी बोले—हे शौनकजी ! जिस समय भगवान् कृष्ण पृथिवीतलको छोड़कर निजधाम पधारनेके लिये तैयार हुए उस समय उद्धवजीने उनके मुखारविन्दसे एकादश स्कन्धका उपदेश सुनकर भी उनसे यह वचन कहा ॥५४॥

उद्धव उवाच

त्वं तु यास्यसि गोविन्द भक्तकार्यं विधाय च ।
मच्चित्ते महती चिन्ता तां श्रुत्वा सुखमावह ॥५५॥
आगतोऽयं कलिर्घोरो भविष्यन्ति पुनः खलाः ।
तत्सङ्गेनैव सन्तोऽपि गमिष्यन्त्युग्रतां यदा ॥५६॥
तदा भारवती भूमिर्गोरूपेयं कमाश्रयेत् ।
अन्यो न दृश्यते त्राता त्वत्तः कमललोचन ॥५७॥
अतः सत्सु दयां कृत्वा भक्तवत्सल मा व्रज ।
भक्तार्थं सगुणो जातो निराकारोऽपि चिन्मयः॥५८॥
त्वद्वियोगेन ते भक्ताः कथं स्थास्यन्ति भूतले ।
निर्गुणोपासने कष्टमतः किञ्चिद्विचारय ॥५९॥

उद्धवजी बोले—हे गोविन्द ! आप तो अब अपने भक्तोंका कार्य सम्पन्न करके अपने परमधामको पधार रहे हैं किन्तु मेरे चित्तमें एक बहुत बड़ी चिन्ता है; उसे दूर करके मुझे आनन्दित कीजिये ॥ ५५ ॥ देखिये, यह घोर कलियुग सामने आ गया है, अब संसारमें दुष्ट पुरुषोंका पुनः प्रादुर्भाव होनेवाला है । उनके सहवाससे ही जब साधुजन भी उग्र स्वभाववाले हो जायँगे॥५६॥ उस समय, उनके भारसे दबी हुई यह गोरूपा पृथिवी किसका आश्रय लेगी । हे कमलनयन ! इसकी रक्षा करनेवाला आपके सिवा और कोई दिखायी नहीं देता ॥ ५७ ॥ अतः हे भक्तवत्सल ! आप साधु पुरुषोंपर दया करके अपने परमधामको न जाइये; देखिये, भक्तोंके लिये ही तो आपने निर्गुण और चिन्मय होकर भी दयादि सद्गुणोंसहित अवतार लिया है ॥ ५८ ॥ भगवन् ! आपके वियोगमें वे भक्तगण पृथिवीपर किस प्रकार रहेंगे ? क्योंकि आपके निर्गुण स्वरूपकी उपासना करना तो अत्यन्त कठिन है; इसलिये आप मेरे कथनपर कुछ तो विचार कीजिये ॥ ५९ ॥

इत्युद्धववचः श्रुत्वा प्रभासेऽचिन्तयद्धरिः ।
भक्तावलम्बनार्थाय किं विधेयं मयेति च ॥६०॥
स्वकीयं यद्भवेत्तेजस्तच्च भागवतेऽदधात् ।
तिरोधाय प्रविष्टोऽयं श्रीमद्भागवतार्णवम् ॥६१॥
तेनेयं वाङ्मयी मूर्तिः प्रत्यक्षा वर्तते हरेः ।
सेवनाच्छ्रवणात्पाठाद्दर्शनात्पापनाशिनी ॥६२॥
सप्ताहश्रवणं तेन सर्वेभ्योऽप्यधिकं कृतम् ।
साधनानि तिरस्कृत्य कला धर्मोऽयमीरितः ॥६३॥

प्रभासक्षेत्रमें उद्धवके ये वचन सुनकर श्रीहरि सोचने लगे कि मुझे भक्तोंके अवलम्बके लिये क्या करना चाहिये ? ॥ ६० ॥ हे शौनक ! तब भगवान्ने अपना सम्पूर्ण तेज श्रीमद्भागवतमें स्थापित कर दिया और स्वयं अन्तर्धान होकर इस भागवतसमुद्रमें ही प्रविष्ट हो गये ॥ ६१ ॥ इसलिये यह श्रीमद्भागवत भगवान् श्रीकृष्णकी प्रत्यक्ष वाङ्मयी मूर्ति है; यह सेवन, श्रवण, पाठ और दर्शन करनेपर मनुष्यके सम्पूर्ण पापोंको नष्ट कर देती है ॥ ६२ ॥ इसीलिये इसका सप्ताहश्रवण सबसे बड़ा साधन माना गया है; कलियुगमें और सब साधनोंको छोड़कर यही सबसे प्रधान धर्म कहा गया है ॥ ६३ ॥

दुःखदारिद्र्यदौर्भाग्यपापप्रक्षालनाय च ।
कामक्रोधजयार्थं हि कलौ धर्मोऽयमीरितः ॥६४॥
अन्यथा वैष्णवी माया देवैरपि सुदुस्त्यजा ।
कथं त्याज्या भवेत्पुम्भिः सप्ताहोऽतः प्रकीर्तितः ॥६५॥

कलियुगमें दुःख, दरिद्रता, दुर्भाग्य और पापोंकी निवृत्तिके लिये तथा काम-क्रोधादिको जीतनेके लिये इसीको परम धर्म कहा गया है ॥६४॥ नहीं तो, जिसे त्यागना देवताओंके लिये भी अत्यन्त कठिन है ऐसी भगवान् विष्णुकी मायाको मनुष्य कैसे त्याग सकते हैं? अतः इससे छूटनेके लिये ही सप्ताहश्रवणका विधान किया गया है ॥ ६५ ॥

सूत उवाच

एवं नगाहश्रवणोरुधर्मे
प्रकाश्यमाने ऋषिभिः सभायाम् ।
आश्चर्यमेकं समभूत्तदानीं
तदुच्यते संशृणु शौनक त्वम् ॥६६॥
भक्तिः सुतौ तौ तरुणौ गृहीत्वा
प्रेमैकरूपा सहसाविरासीत् ।
श्रीकृष्ण गोविन्द हरे मुरारे
नाथेति नामानि मुहुर्वदन्ती ॥६७॥
तां चागतां भागवतार्थभूषां
सुचारुवेषां ददृशुः सदस्याः ।
कथं प्रविष्टा कथमागतेयं
मध्ये मुनीनामिति तर्कयन्तः ॥६८॥
ऊचुः कुमारा वचनं तदानीं
कथार्थतो निष्पतिताधुनेयम् ।
एवं गिरः सा ससुता निशम्य
सनत्कुमारं निजगाद नम्रा ॥६९॥

सूतजी बोले–हे शौनकजी ! सनकादि मुनीश्वरोंद्वारा उस सभामें सप्ताहश्रवणरूप महान् धर्मके प्रकाशित किये जानेपर वहाँ एक बड़ा आश्चर्य हुआ, सो मैं तुम्हें बतलाता हूँ, सुनो ॥ ६६ ॥ वहाँ, अपने तरुण अवस्थाको प्राप्त हुए दोनों पुत्रोंको साथ लिये प्रेमलक्षणा भक्ति बारम्बार 'श्रीकृष्ण ! गोविन्द ! हरे ! मुरारे ! हे नाथ !' आदि भगवन्नामोंका उच्चारण करती हुई सहसा प्रकट हुई ॥६७॥ तब सभी सदस्योंने श्रीमद्भागवतके अर्थको विभूषित करनेवाली और सुन्दर वेषवाली भक्तिको आयी हुई देखा और वे सोचने लगे कि इसने मुनियोंकी सभामें कैसे प्रवेश किया? यह यहाँ कैसे आयी? ॥ ६८ ॥ तब सनकादिने कहा–"यह भक्ति इस कथाके प्रभावसे ही इस समय यहाँ प्रकट हुई है।" उनके ये वचन सुनकर भक्तिने अपने पुत्रोंसहित अति नम्र हो सनत्कुमारजीसे कहा ॥ ६९ ॥

भक्तिरुवाच

भवद्भिरद्यैव कृतास्मि पुष्टा
कलिप्रणष्टापि कथारसेन ।
क्वाहं तु तिष्ठाम्यधुना ब्रुवन्तु
ब्राह्मा इदं तां गिरमूचिरे ते ॥७०॥
भक्तेषु गोविन्दसरूपकर्त्री
प्रेमैकधर्त्री भवरोगहन्त्री ।
सा त्वं च तिष्ठस्व सुधैर्यसंश्रया
निरन्तरं वैष्णवमानसानि ॥७१॥
ततोऽपि दोषाः कलिजा इमे त्वां
द्रष्टुं न शक्ताः प्रभवोऽपि लोके ।
एवं तदाज्ञावसरेऽपि भक्ति-
स्तदा निषण्णा हरिदासचित्ते ॥७२॥

भक्ति बोली–मैं कलियुगमें नष्टप्राय हो गयी थी, सो आपने कथामृतका पान कराकर मुझे फिर पुष्ट कर दिया, अब आप यह बतलाइये कि 'मैं कहाँ रहूँ ?' तब उन ब्रह्माजीके पुत्रोंने उससे इस प्रकार कहा– ॥ ७० ॥ "तुम भक्तोंके हृदयमें गोविन्द भगवान्का मधुर रूप धारण करानेवाली, प्रेमका सम्पादन करनेवाली और संसाररोगको दूर करनेवाली हो । अतः तुम धैर्य धारण कर विष्णुभक्तोंके हृदयोंमें निरन्तर निवास करो ॥ ७१ ॥ वहाँ ये कलिकालके दोष संसारपर अपना प्रभाव डालनेमें समर्थ होकर भी तुम्हें नहीं देख सकेंगे ।" इस प्रकार उनकी आज्ञा पाकर भक्ति तत्काल हरिभक्तोंके हृदयोंमें विराजमान हो गयी ॥ ७२ ॥

सकलभुवनमध्ये निर्धनास्तेऽपि धन्या
निवसति हृदि येषां श्रीहरेर्भक्तिरेका ।
हरिरपि निजलोकं सर्वथातो विहाय
प्रविशति हृदि येषां भक्तिसूत्रोपनद्धः ॥७३॥

ब्रूमोऽद्य ते किमधिकं महिमानमेवं
ब्रह्मात्मकस्य भुवि भागवताभिधस्य ।
यत्संश्रयान्निगदिते लभते सुवक्ता
श्रोतापि कृष्णसमतामलमन्यधर्मैः ॥७४॥

जिनके हृदयमें केवल श्रीहरिकी भक्ति निवास करती है वे त्रिलोकीमें सबसे अधिक निर्धन होनेपर भी धन्य हैं; क्योंकि इस भक्तिसूत्रसे बँधकर श्रीहरि भी सर्वथा अपने लोकको छोड़कर उन भक्त पुरुषोंके हृदयोंमें आकर विराजमान हो जाते हैं ॥७३॥ अतः संसारमें ब्रह्मरूप इस श्रीमद्भागवतकी महिमा हम आपसे और अधिक क्या कहें? इसका भली प्रकार आश्रय लेनेसे और इसकी व्याख्या करनेसे प्रेमपूर्वक सुनानेवाला और सुननेवाला दोनों ही भगवान् श्रीकृष्णकी समता प्राप्त कर लेते हैं; इसलिये इसे छोड़कर अन्य धर्मोंसे क्या प्रयोजन है? ॥ ७४ ॥

इति श्रीपद्मपुराणे उत्तरखण्डे श्रीमद्भागवतमाहात्म्ये भक्ति-
कष्टनिवर्तनं नाम तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

चौथा अध्याय

गोकर्णोपाख्यानका प्रारम्भ

सूत उवाच

अथ वैष्णवचित्तेषु दृष्ट्वा भक्तिमलौकिकीम् ।
निजलोकं परित्यज्य भगवान्भक्तवत्सलः ॥ १ ॥

वनमाली घनश्यामः पीतवासा मनोहरः ।
काञ्चीकलापरुचिरोल्लसन्मुकुटकुण्डलः ॥ २ ॥

त्रिभङ्गललितश्चारुकौस्तुभेन विराजितः ।
कोटिमन्मथलावण्यो हरिचन्दनचर्चितः ॥ ३ ॥

परमानन्दचिन्मूर्तिर्मधुरो मुरलीधरः ।
आविवेश स्वभक्तानां हृदयान्यमलानि च ॥ ४ ॥

वैकुण्ठवासिनो ये च वैष्णवा उद्धवादयः ।
तत्कथाश्रवणार्थं ते गूढरूपेण संस्थिताः ॥ ५ ॥

तदा जयजयारावो रसपुष्टिरलौकिकी ।
चूर्णप्रसूनवृष्टिश्च मुहुः शङ्खरवोऽप्यभूत् ॥ ६ ॥

तत्सभासंस्थितानां च देहगेहात्मविस्मृतिः ।

श्रीसूतजी बोले—हे मुने ! अपने भक्तोंके चित्तोंमें अलौकिकी भक्तिका प्रवेश हुआ देख भक्तवत्सल भगवान् हरि अपने धामको छोड़कर वहाँ पधारे ॥ १ ॥ भगवान् वनमाला धारण किये थे, उनका श्रीअङ्ग सजल मेघके समान श्याम वर्ण था, वे पीताम्बर पहने हुए मनोहर वेशमें थे तथा उनकी कमरमें सुवर्णमयी करधनी-की लड़ियाँ, मस्तकपर मुकुट और कानोंमें कुण्डलोंकी अपूर्व छटा थी ॥२॥ उनका उदरप्रदेश त्रिवलीसे शोभायमान और अति कान्तिमयी कौस्तुभमणिसे अलंकृत था तथा उनका करोड़ों कामदेवोंके समान सुन्दर श्रीअङ्ग मलयागिरि चन्दनसे चर्चित था ॥ ३ ॥ ऐसे मधुर मुरलीधर परमानन्द चिन्मूर्ति भगवान् श्रीकृष्ण अपने भक्तोंके निर्मल चित्तोंमें आविर्भूत हुए ॥ ४ ॥ उस समय वैकुण्ठवासी उद्धवादि वैष्णवगण भी गुप्तरूपसे वहाँ कथा सुननेके लिये आये थे ॥ ५ ॥ भगवान्के प्रकट होते ही वहाँ सब ओर जयजयकारकी ध्वनि, अलौकिक भक्तिभाव, अबीर और पुष्पादिकी वर्षा तथा शंखध्वनि छा गयी ॥ ६ ॥ उस सभामें जो लोग बैठे थे उन्हें देह, गेह और अपने आपकी भी स्मृति

दृष्ट्वा च तन्मयावस्थां नारदो वाक्यमब्रवीत् ॥ ७ ॥
अलौकिकोऽयं महिमा मुनीश्वराः
सप्ताहजन्योऽद्य विलोकितो मया ।
मूढाः शठा ये पशुपक्षिणोऽत्र
सर्वेऽपि निष्पापतमा भवन्ति ॥ ८ ॥
अतो नृलोके ननु नास्ति किञ्चि-
च्चित्तस्य शोधाय कलौ पवित्रम् ।
अघौघविध्वंसकरं तथैव
कथासमानं भुवि नास्ति चान्यत् ॥ ९ ॥
के के विशुद्ध्यन्ति वदन्तु मह्यं
सप्ताहयज्ञेन कथामयेन ।
कृपालुभिर्लोकहितं विचार्य
प्रकाशितः कोऽपि नवीनमार्गः ॥१०॥

कुमारा ऊचुः

ये मानवाः पापकृतस्तु सर्वदा
सदा दुराचाररता विमार्गगाः ।
क्रोधाग्निदग्धाः कुटिलाश्च कामिनः
सप्ताहयज्ञेन कलौ पुनन्ति ते ॥११॥
सत्येन हीनाः पितृमातृदूषका-
स्तृष्णाकुलाश्चाश्रमधर्मवर्जिताः ।
ये दाम्भिका मत्सरिणोऽपि हिंसकाः
सप्ताहयज्ञेन कलौ पुनन्ति ते ॥१२॥
पञ्चोग्रपापाश्छलछद्मकारिणः
क्रूराः पिशाचा इव निर्दयाश्च ये ।
ब्रह्मस्वपुष्टा व्यभिचारकारिणः
सप्ताहयज्ञेन कलौ पुनन्ति ते ॥१३॥
कायेन वाचा मनसापि पातकं
नित्यं प्रकुर्वन्ति शठा हठेन ये ।
परस्वपुष्टा मलिना दुराशयाः
सप्ताहयज्ञेन कलौ पुनन्ति ते ॥१४॥
अत्र ते कीर्तयिष्याम इतिहासं पुरातनम् ।
यस्य श्रवणमात्रेण पापहानिः प्रजायते ॥१५॥

तुङ्गभद्रातटे पूर्वमभूत्पत्तनमुत्तमम् ।
यत्र वर्णाः स्वधर्मेण सत्यसत्कर्मतत्पराः ॥१६॥

न रही । उनकी तन्मय अवस्थाको देखकर नारदजी इस प्रकार कहने लगे—॥७॥ हे मुनीश्वरगण ! आज यह सप्ताहश्रवणकी मैंने अलौकिक महिमा देखी है देखो, उसके प्रभावसे यहाँके महामूर्ख और दुष्टलोग ही नहीं बल्कि पशु-पक्षी भी अतिशय निष्पाप हो गये हैं ॥ ८ ॥ इसलिये मेरा तो यह विचार है कि इस मर्त्यलोकमें कलियुगमें ऐसा कोई पवित्र साधन नहीं है जो इस भागवतकथाके समान चित्तको पवित्र करनेवाला और पापपुञ्जका विनाशक हो ॥ ९ ॥ हे सनकादि ! आपलोग बड़े कृपालु हैं, आपने संसारके कल्याणका विचार करके यह बिल्कुल निराला मार्ग प्रकट किया है। इस कथारूप सप्ताहयज्ञसे संसारमें कौन-कौन लोग पवित्र हो जाते हैं, सो आप मुझे बताइये ॥ १० ॥

सनकादि बोले—जो लोग बड़े पापी, निरन्तर दुराचारमें रत रहनेवाले, कुमार्गगामी, क्रोधाग्निसे जलते रहनेवाले, कुटिल और कामपरायण होंगे वे भी कलियुगमें सप्ताहयज्ञसे पवित्र हो जायेंगे ॥११॥ जो सत्यहीन, पिता-माताकी निन्दा करनेवाले, तृष्णाकुल, आश्रम-धर्मसे रहित, दम्भी, दूसरोंकी उन्नति न देख सकने-वाले तथा दूसरोंकी हिंसा करनेवाले हैं वे सब भी कलियुगमें इस सप्ताहयज्ञसे पवित्र हो जाते हैं ॥१२॥ जो पाँच महापाप (मदिरापान, ब्रह्महत्या, सुवर्णकी चोरी, गुरु-स्त्री-गमन, और विश्वासघात) करनेवाले, छल-कपट करनेवाले, क्रूर, पिशाचोंके समान निर्दयी, ब्राह्मणके धनसे पुष्ट होनेवाले और व्यभिचारी होंगे वे भी कलियुगमें सप्ताहयज्ञसे पवित्र हो जायेंगे ॥१३॥ जो दुष्टजन शरीर, वाणी और मनसे नित्य हठपूर्वक पाप करते हैं, जो दूसरोंके धनसे पुष्ट होते हैं तथा मलिनमन और दुराशय हैं, कलियुगमें वे भी सप्ताहयज्ञसे पवित्र हो जाते हैं ॥१४॥ इस विषयमें हम तुम्हें एक प्राचीन इतिहास सुनाते हैं, उसके सुननेमात्रसे सब पाप क्षीण हो जाते हैं ॥१५॥

पूर्वकालमें तुंगभद्रा नदीके तीरपर एक अति उत्तम नगर बसा हुआ था । वहाँ सब वर्णोंके लोग अपने धर्मोंका आचरण करते हुए सत्य और सत्कर्ममें तत्पर

आत्मदेवः पुरे तस्मिन्सर्ववेदविशारदः ।
श्रौतस्मार्तेषु निष्णातो द्वितीय इव भास्करः ॥१७॥
भिक्षुको वित्तवाँल्लोके तत्प्रिया धुन्धुली स्मृता ।
स्ववाक्यस्थापिका नित्यं सुन्दरी सुकुलोद्भवा ॥१८॥
लोकवार्तारता क्रूरा प्रायशो बहुजल्पिका ।
शूरा च गृहकृत्येषु कृपणा कलहप्रिया ॥१९॥
एवं निवसतोः प्रेम्णा दम्पत्यो रममाणयोः ।
अर्थाः कामास्तयोरासन्न सुखाय गृहादिकम् ॥२०॥
पश्चाद्धर्माः समारब्धास्ताभ्यां सन्तानहेतवे ।
गोभूहिरण्यवासांसि दीनेभ्यो यच्छतः सदा ॥२१॥
धनार्धं धर्ममार्गेण ताभ्यां नीतं तथापि च ।
न पुत्रो नापि वा पुत्री ततश्चिन्तातुरो भृशम् ॥२२॥

रहते थे ॥१६॥ उस नगरमें समस्त वेदोंका विशेषज्ञ तथा श्रौत और स्मार्त कर्मोंमें कुशल एवं दूसरे सूर्यके समान तेजस्वी आत्मदेव नामक ब्राह्मण रहता था ॥१७॥ वह भिक्षावृत्तिसे निर्वाह करनेवाला होनेपर भी धनवान् था । उसकी स्त्रीका नाम धुन्धुली था । वह सुन्दरी और उच्च कुलमें उत्पन्न हुई होनेपर भी सदा अपनी ही टेक रखनेवाली थी ॥१८॥ वह इधर-उधरकी बातें बनानेवाली, क्रूर और बहुत बर-बर करनेवाली थी तथा बड़ी ही कृपण और कलहकारिणी होनेपर भी घरके धन्धोंमें बड़ा उत्साह रखती थी ॥१९॥ ऐसा होनेपर भी वे स्त्री-पुरुष आपसमें प्रेमपूर्वक विहार करते हुए रहते थे; उनके यहाँ गृह आदि अर्थ और काम-की कमी नहीं थी तो भी सन्तान न होनेके कारण उनसे उन्हें कुछ सुख न था ॥२०॥ अतः उन्होंने सन्तान-प्राप्तिके लिये नाना प्रकारके शुभ कर्म करना आरम्भ किया और दीन पुरुषोंको वे सदा ही गौ, पृथिवी, सुवर्ण और वस्त्रादि दान करने लगे ॥ २१ ॥ इस प्रकार धर्ममार्गमें यद्यपि उनका आधा धन समाप्त हो गया तो भी उनके पुत्र या कन्या कोई सन्तान न हुई । इसलिये वे अत्यन्त चिन्तातुर हुए ॥२२॥

एकदा स द्विजो दुःखाद्गृहं त्यक्त्वा वनं गतः ।
मध्याह्ने तृषितो जातस्तडागं समुपेयिवान् ॥२३॥
पीत्वा जलं निषण्णस्तु प्रजादुःखेन कर्षितः ।
मुहूर्तादपि तत्रैव संन्यासी कश्चिदागतः ॥२४॥
दृष्ट्वा पीतजलं तं तु विप्रो यातस्तदन्तिकम् ।
नत्वा च पादयोस्तस्य निःश्वसन्संस्थितः पुरः ॥२५॥

एक दिन वे विप्रवर अति दुःखित हो घर छोड़कर वनमें चले गये । वहाँ मध्याह्नके समय तृषित होनेके कारण वे एक सरोवरपर आये ॥२३॥ जल पीनेके पश्चात् सन्तानके दुःखसे दुखी और चिन्तित हो वे वहीं बैठ गये । इसके एक मुहूर्त पीछे ही वहाँ कोई संन्यासी महात्मा आये ॥२४॥ महात्मा जल पी चुके हैं—यह देखकर वे ब्राह्मण देवता उनके पास गये और उनके चरणोंमें नमस्कारकर दीर्घ निःश्वास लेते हुए उनके सामने खड़े हो गये ॥२५॥

यतिरुवाच

कथं रोदिषि विप्र त्वं का ते चिन्ता बलीयसी ।
वद त्वं सत्वरं मह्यं स्वस्य दुःखस्य कारणम् ॥२६॥

संन्यासीने पूछा—हे विप्र ! तुम क्यों रोते हो ? ऐसी तुम्हें क्या भारी चिन्ता है ? तुम शीघ्र ही मुझसे अपने दुःखका कारण कहो ॥२६॥

ब्राह्मण उवाच

किं ब्रवीमि ऋषे दुःखं पूर्वपापेन सञ्चितम् ।
मदीयाः पूर्वजास्तोयं कवोष्णमुपभुञ्जते ॥२७॥

ब्राह्मणने कहा—हे मुने ! मैं अपने पूर्व पापोंसे सञ्चित दुःखका क्या वर्णन करूँ ? मेरे पितृगण मेरी दी हुई जलाञ्जलिको [मेरे निःसन्तान होनेके कारण अपने उष्ण श्वासोंसे] गर्म करके पीते हैं ॥२७॥

मद्दत्तं नैव गृह्णन्ति प्रीत्या देवा द्विजातयः ।
प्रजादुःखेन शून्योऽहं प्राणांस्त्यक्तुमिहागतः ॥२८॥
धिग्जीवितं प्रजाहीनं धिग्गृहं च प्रजां विना ।
धिग्धनं चानपत्यस्य धिक्कुलं संततिं विना ॥२९॥
पाल्यते या मया धेनुः सा वन्ध्या सर्वथा भवेत् ।
यो मया रोपितो वृक्षः सोऽपि वन्ध्यत्वमाश्रयेत् ॥३०॥
यत्फलं मद्गृहायातं तच्च शीघ्रं विनश्यति ।
निर्भाग्यस्यानपत्यस्य किमतो जीवितेन मे ॥३१॥
इत्युक्त्वा स रुरोदोच्चैस्तत्पार्श्वे दुःखपीडितः ।
तदा तस्य यतेश्चित्ते करुणाभूद्गरीयसी ॥३२॥
तद्भालाक्षरमालां च वाचयामास योगवान् ।
सर्वं ज्ञात्वा यतिः पश्चाद्विप्रमूचे सविस्तरम् ॥३३॥

यतिरुवाच

मुञ्चाज्ञानं प्रजारूपं बलिष्ठा कर्मणो गतिः ।
विवेकं तु समासाद्य त्यज संसारवासनाम् ॥३४॥
शृणु विप्र मया तेऽद्य प्रारब्धं तु विलोकितम् ।
सप्तजन्मावधि तव पुत्रो नैव च नैव च ॥३५॥
सन्ततेः सगरो दुःखमवापाङ्गः पुरा तथा ।
रे मुञ्चाद्य कुटुम्बाशां संन्यासे सर्वथा सुखम् ॥३६॥

ब्राह्मण उवाच

विवेकेन भवेत्किं मे पुत्रं देहि बलादपि ।
नो चेत्त्यजाम्यहं प्राणांस्त्वदग्रे शोकमूर्च्छितः ॥३७॥
पुत्रादिसुखहीनोऽयं संन्यासः शुष्क एव हि ।

देवता और ब्राह्मणगण भी मेरे दिये हुए अन्नको प्रसन्नतासे ग्रहण नहीं करते । मैं सन्तान न होनेके दुःखसे विवेकशून्य होकर यहाँ अपने प्राण त्यागनेके लिये आया हूँ ॥२८॥ बिना सन्तानके जीवनको धिक्कार है ! जिस घरमें बाल-बच्चे नहीं हैं उसे धिक्कार है ! जो पुत्रहीन है उसके धनको धिक्कार है ! और सन्तति-शून्य कुलको भी धिक्कार है ! ॥२९॥ मैं जिस गौको पालता हूँ वह भी सर्वथा बाँझ हो जाती है तथा जिस वृक्षको लगाता हूँ वह भी नहीं फलता-फूलता ॥३०॥ जो फल मेरे घर आता है वह भी शीघ्र ही नष्ट हो जाता है, अतः मुझ-जैसे अभागी और सन्तानहीनके जीवनसे क्या लाभ है ? ॥३१॥

ऐसा कह वे ब्राह्मण देवता अत्यन्त दुःखातुर हो उन संन्यासी महात्माके पास फूट-फूटकर रोने लगे । तब उन यतिवरके चित्तमें अत्यन्त करुणा उत्पन्न हुई ॥३२॥ उन योगिराजने ब्राह्मणके ललाटकी कर्मरेखा देखकर सब वृत्तान्त जान लिया और जानकर फिर उसको ब्राह्मण महाशयसे विस्तारपूर्वक बताने लगे ॥ ३३ ॥

संन्यासीने कहा—सन्तानकी कामनारूप इस अज्ञानको छोड़ो । भाई, कर्मकी गति बड़ी बलवती होती है । तुम विवेकका आश्रय लेकर संसारवासना त्याग दो ॥३४॥ हे विप्र ! सुनो, मैंने इस समय तुम्हारा प्रारब्ध देखा है । उससे निश्चय होता है कि सात जन्मपर्यन्त तुम्हारे कोई सन्तान किसी प्रकार नहीं हो सकती ॥३५॥ देखो, पूर्वकालमें इस सन्तानके ही कारण राजा सगर और अंगको दुःख उठाने पड़े थे । इसलिये तुम कुटुम्बकी आशा छोड़ दो, त्यागमें सब प्रकारसे सुख-ही-सुख है ॥३६॥

ब्राह्मणने कहा—महात्माजी ! विवेकसे मुझे क्या होना है ? आप जैसे बने वैसे मुझे पुत्र दीजिये, नहीं तो मैं शोकातुर होकर आपके सामने ही अपने प्राण छोड़ दूँगा ॥३७॥ जिसमें पुत्रादिका सुख नहीं है ऐसा यह संन्यास-आश्रम तो सर्वथा ही नीरस है ।

गृहस्थः सरसो लोके पुत्रपौत्रसमन्वितः ॥३८॥
इति विप्राग्रहं दृष्ट्वा प्राब्रवीत्स तपोधनः ।
चित्रकेतुर्गतः कष्टं विधिलेखविमार्जनात् ॥३९॥
न यास्यसि सुखं पुत्राद्यथा दैवहतोद्यमः ।
अतो हठेन युक्तोऽसि ह्यर्थिनं किं वदाम्यहम् ॥४०॥

लोकमें सरस तो पुत्र-पौत्रोंसे भरा-पूरा गृहस्थाश्रम ही है ॥३८॥ ब्राह्मणका ऐसा आग्रह देख वे तपोधन महात्मा बोले—'देखो, विधाताके लिखेको मेटनेका हठ करनेसे राजा चित्रकेतुको कष्ट उठाना पड़ा था ॥३९॥ दैवने जिसका पुरुषार्थ नष्ट कर दिया है उस पुरुषके समान तुमको भी पुत्रसे सुख नहीं मिल सकता, तुम हठसे युक्त हो; अतः इस प्रकार अर्थके पीछे पड़े हुए तुमसे मैं क्या कहूँ ?' ॥४०॥

तस्याग्रहं समालोक्य फलमेकं स दत्तवान् ।
इदं भक्षय पत्न्या त्वं ततः पुत्रो भविष्यति ॥४१॥
सत्यं शौचं दया दानमेकभक्तं तु भोजनम् ।
वर्षावधि स्त्रिया कार्यं तेन पुत्रोऽतिनिर्मलः ॥४२॥

तब ब्राह्मणका बहुत आग्रह देख उन योगिराजने उन्हें एक फल दिया, और कहा—'इसे अपनी स्त्रीको खिला देना, इससे उसके एक पुत्र होगा ॥४१॥ तुम्हारी स्त्रीको चाहिये कि एक वर्षतक सत्य बोलना, बाहर-भीतरसे शुद्ध रहना, दुखियोंपर दया करना, श्रेष्ठ दान देना तथा एक समय केवल एक अन्नका भोजन करना—इन नियमोंका पालन करे । ऐसा करनेसे वह बालक बड़ा शुद्ध स्वभाववाला होगा' ॥४२॥

एवमुक्त्वा ययौ योगी विप्रस्तु गृहमागतः ।
पत्न्याः पाणौ फलं दत्त्वा स्वयं यातस्तु कुत्रचित् ॥४३॥
तरुणी कुटिला तस्य सख्यग्रे च रुरोद ह ।
अहो चिन्ता ममोत्पन्ना फलं चाहं न भक्षये ॥४४॥
फलभक्षेण गर्भः स्याद्गर्भेणोदरवृद्धिता ।
स्वल्पभक्षं ततोऽशक्तिर्गृहकार्यं कथं भवेत् ॥४५॥
दैवाद्घाटीं व्रजेद्ग्रामे पलायेद्गर्भिणी कथम् ।
शुकवन्निवसेद्गर्भस्तं कुक्षेः कथमुत्सृजेत् ॥४६॥
तिर्यक्चेदागतो गर्भस्तदा मे मरणं भवेत् ।
प्रसूतौ दारुणं दुःखं सुकुमारी कथं सहे ॥४७॥
मन्दायां मयि सर्वस्वं ननान्दा संहरेत्तदा ।
सत्यशौचादिनियमो दुराराध्यः स दृश्यते ॥४८॥

ऐसा कह योगी चले गये और ब्राह्मणदेवता अपने घर लौट आये । वहाँ आ उन्होंने वह फल अपनी स्त्रीके हाथमें दे दिया और स्वयं कहीं बाहर चले गये ॥४३॥ तब उस ब्राह्मणकी कुटिल स्वभाववाली तरुणीने अपनी एक सखीसे रो-रोकर इस प्रकार कहा—'सखी ! मुझे बड़ी चिन्ता है, मैं तो इस फलको खाऊँगी नहीं ॥४४॥ क्योंकि फल खानेसे मेरे गर्भ रह जायगा, गर्भसे पेट बढ़ेगा और भोजन थोड़ा हो सकेगा । इससे दुर्बलता बढ़ जायगी तो फिर घरका धंधा कैसे होगा ? ॥४५॥ दैववश यदि गाँवमें लूट मच जाय तो गर्भिणी स्त्री भाग भी कैसे सकती है ? और जो कहीं शुकदेवजीकी भाँति गर्भ [बारह वर्षतक] कुक्षिमें ही रह गया तो उसे बाहर कैसे निकाला जायगा ॥४६॥ और यदि प्रसवकालमें गर्भ टेढ़ा हो गया तब तो मेरा मरण ही है । इसके सिवा प्रसवके समय भी जो दारुण पीडा होती है उसे मैं सुकुमारी स्त्री कैसे सह सकूँगी ? ॥४७॥ और मेरे दुर्बल हो जानेपर मेरी ननद मेरा सर्वस्व लूट ले जायगी । इसके सिवा मुझसे तो [उनके बताये हुए] सत्य, शौच आदि नियमोंका निभना भी अत्यन्त कठिन प्रतीत होता है ॥ ४८ ॥

लालने पालने दुःखं प्रसूतायाश्च वर्तते ।
वन्ध्या वा विधवा नारी सुखिनी चेति मे मतिः ॥४९॥

जिस स्त्रीके सन्तान होती है उसे तो सदा उसके लालन-पालनका दुःख ही उठाना पड़ता है। मेरे विचार-से तो वन्ध्या या विधवा स्त्री ही सुखी होती है ॥४९॥

एवं कुतर्कयोगेन तत्फलं नैव भक्षितम् ।
पत्या पृष्टं फलं भुक्तं भुक्तं चेति तयेरितम् ॥५०॥

हे नारद ! ऐसे ही नाना प्रकारके कुतर्क करती हुई उस ब्राह्मणीने वह फल नहीं खाया, और जब पतिने पूछा कि 'फल खा लिया या नहीं ?' तो कह दिया कि 'खा लिया' ॥५०॥

एकदा भगिनी तस्यास्तद्गृहं स्वेच्छयागता ।
तदग्रे कथितं सर्वं चिन्तेयं महती हि मे ॥५१॥
दुर्बला तेन दुःखेन ह्यनुजे करवाणि किम् ।
साब्रवीन्मम गर्भोऽस्ति तं दास्यामि प्रसूतितः ॥५२॥
तावत्कालं सगर्भेव गुप्ता तिष्ठ गृहे सुखम् ।
वित्तं त्वं मत्पतेर्यच्छ स ते दास्यति बालकम् ॥५३॥
षाण्मासिको मृतो बाल इति लोको वदिष्यति।
तं बालं पोषयिष्यामि नित्यमागत्य ते गृहे ॥५४॥
फलमर्पय धेन्वै त्वं परीक्षार्थं तु साम्प्रतम् ।
तत्तदाचरितं सर्वं तथैव स्त्रीस्वभावतः ॥५५॥

एक दिन उसकी बहिन अपने-आप ही उसके घर आयी । तब उसने उससे सारा वृत्तान्त कह सुनाया और कहा 'बहिन ! मुझे इसकी बड़ी चिन्ता है [कि सन्तान न होनेपर मैं ब्राह्मणदेवतासे क्या कहूँगी ?] ॥५१॥ इसी दुःखसे मैं बहुत दुर्बल हो गयी हूँ, मुझे क्या करना चाहिये। तब उसकी बहिनने कहा—'मेरे पेटमें गर्भ है, उसे प्रसव होनेपर मैं तुझे दे दूँगी ॥५२॥ तबतक तू गर्भवतीके समान सुखपूर्वक घरमें गुप्तरूपसे रह । तू मेरे पतिको कुछ धन दे दे तो वह तुझे अपना बालक दे देंगे ॥५३॥ [हम ऐसी युक्ति करेंगे जिससे] सब लोग हमारे बालकको 'छः महीनेका होकर मर गया' ऐसा कहेंगे, और उस बालकका भी नित्यप्रति मैं ही तेरे घर आकर पालन-पोषण करूँगी ॥५४॥ तू परीक्षा-के लिये वह फल अपनी गौको खिला दे ।' तब उस ब्राह्मणीने स्त्रीस्वभावानुसार सब कार्य अपनी बहिनके कथनानुसार ही किये ॥५५॥

अथ कालेन सा नारी प्रसूता बालकं तदा ।
आनीय जनको बालं रहस्ये धुन्धुलीं ददौ ॥५६॥
तया च कथितं भर्त्रे प्रसूतः सुखमर्भकः ।
लोकस्य सुखमुत्पन्नमात्मदेवप्रजोदयात् ॥५७॥
ददौ दानं द्विजातिभ्यो जातकर्म विधाय च ।
गीतवादित्रघोषोऽभूत्तद्द्वारे मङ्गलं बहु ॥५८॥
भर्तुरग्रेऽब्रवीद्वाक्यं स्तन्यं नास्ति कुचे मम ।
अन्यस्तन्येन निर्दुग्धा कथं पुष्णामि बालकम् ॥५९॥
मत्स्वसुश्च प्रसूताया मृतो बालस्तु वर्तते ।

तदनन्तर समयानुसार जब उस स्त्रीके पुत्र हुआ तो उसके पतिने उसे एकान्तमें लाकर धुन्धुलीको दे दिया ॥५६॥ तब धुन्धुलीने अपने पतिसे कहा, 'मेरे सुखपूर्वक एक बालक हुआ है ।' आत्मदेवके पुत्र हुआ सुनकर सभी लोगोंको बड़ा आनन्द हुआ ॥५७॥ तब आत्मदेवने उसका जातकर्म संस्कार कर ब्राह्मणोंको दान दिया और उनके द्वारपर गाना-बजाना आदि अनेक प्रकारके मंगलकृत्य होने लगे ॥५८॥ इसी समय धुन्धुलीने अपने पतिसे कहा—"मेरे स्तनोंमें दूध नहीं है, फिर मैं दुग्धहीना किसी और (गौ आदि) के दूधसे किस प्रकार बालकका पालन-पोषण करूँगी ॥५९॥ मेरी बहिनके प्रसव हुआ था, उसका बालक मर

तामाकार्य गृहे रक्ष सा तेऽर्भं पोषयिष्यति ॥६०॥
पतिना तत्कृतं सर्वं पुत्ररक्षणहेतवे ।
पुत्रस्य धुन्धुकारीति नाम मात्रा प्रतिष्ठितम् ॥६१॥

गया है, उसे बुलाकर अपने घर रक्खो तो वह तुम्हारे इस बालकका पोषण करेगी'' ॥६०॥ तब उसके पतिने पुत्रके रक्षाके लिये जैसा धुन्धुलीने कहा वैसा ही किया तथा माता धुन्धुलीने उस बालकका नाम 'धुन्धुकारी' रक्खा ॥६१॥

त्रिमासे निर्गते चाथ सा धेनुः सुषुवेऽर्भकम् ।
सर्वाङ्गसुन्दरं दिव्यं निर्मलं कनकप्रभम् ॥६२॥
दृष्ट्वा प्रसन्नो विप्रस्तु संस्कारान्स्वयमादधे ।
मत्वाश्चर्यं जनाः सर्वे दिदृक्षार्थं समागताः ॥६३॥
भाग्योदयोऽधुना जात आत्मदेवस्य पश्यत ।
धेन्वा बालः प्रसूतस्तु देवरूपीति कौतुकम् ॥६४॥
न ज्ञातं तद्रहस्यं तु केनापि विधियोगतः ।
गोकर्णं तं सुतं दृष्ट्वा गोकर्णं नाम चाकरोत् ॥६५॥

तीन महीने बीत जानेपर उस गौके भी एक बालक हुआ । वह सर्वांगसुन्दर दिव्यरूप तथा अति स्वच्छ सुवर्णकी-सी कान्तिवाला था ॥६२॥ उसे देखकर ब्राह्मणदेवताको बड़ा आनन्द हुआ और उन्होंने स्वयं ही उसके सब संस्कार किये तथा सब लोग बहुत आश्चर्य मानकर उसे देखनेके लिये आये ॥६३॥ उस बालकको देखकर सब लोग कहने लगे, ''देखो ! अब आत्मदेवका कैसा भाग्य उदय हुआ है ? कैसे आश्चर्यकी बात है कि गौसे भी ऐसा दिव्यरूप बालक उत्पन्न हुआ'' ॥६४॥ दैववश, इस गुप्त रहस्यको कोई भी न जान सका । आत्मदेवने उस बालकके गौके-से कान देखकर उसका नाम 'गोकर्ण' रक्खा ॥६५॥

कियत्कालेन तौ जातौ तरुणौ तनयावुभौ ।
गोकर्णः पण्डितो ज्ञानी धुन्धुकारी महाखलः ॥६६॥
स्नानशौचक्रियाहीनो दुर्भक्षी क्रोधवर्धितः ।
दुष्परिग्रहकर्ता च शवहस्तेन भोजनम् ॥६७॥
चौरः सर्वजनद्वेषी परवेश्मप्रदीपकः ।
लालनायार्भकान्धृत्वा सद्यः कूपे न्यपातयत् ॥६८॥
हिंसकः शस्त्रधारी च दीनान्धानां प्रपीडकः ।
चाण्डालाभिरतो नित्यं पाशहस्तः श्वसंगतः ॥६९॥
तेन वेश्याकुसङ्गेन पित्र्यं वित्तं तु नाशितम् ।
एकदा पितरौ ताड्य पात्राणि स्वयमाहरत् ॥७०॥

कुछ कालमें वे दोनों बालक तरुणावस्थाको प्राप्त हुए । उनमें गोकर्ण तो बड़ा पण्डित और ज्ञानी हुआ किन्तु धुन्धुकारी बड़ा ही दुष्ट निकला ॥६६॥ वह स्नान-शौचादि ब्राह्मणोचित क्रियाओंसे रहित, अभक्ष्य भक्षण करनेवाला, महाक्रोधी, दूषित दान लेनेवाला, मृतकके हाथसे [स्पर्श कराये हुए अन्नका] भी भोजन करनेवाला, चोर, सब लोगोंसे द्वेषभाव रखनेवाला और दूसरोंके घरोंमें आग लगा देनेवाला था । वह खेलानेके लिये बालकोंको उठा लेता और उन्हें चटसे कुएँमें डाल देता ॥६७-६८॥ वह हिंसक, अस्त्र-शस्त्र धारण करनेवाला तथा अन्धों और दीन पुरुषोंको कष्ट देनेवाला था और सर्वदा हाथमें पाश लिये कुत्तोंके साथ चाण्डालोंकी टोलीमें रहा करता था ॥६९॥ उसने वेश्याओंके कुसंगमें पड़कर अपने पिताका सब धन नष्ट कर दिया । और एक दिन माता-पिताको मार-पीटकर घरके सब बर्तन-भाँडे ले गया ॥७०॥

तत्पिता कृपणः प्रोच्चैर्धनहीनो रुरोद ह ।

उसका पिता इस प्रकार धन-हीन हो जानेसे दीनभावसे फूट-फूटकर रोने लगा और बोला—''इससे

वन्ध्यत्वं तु समीचीनं कुपुत्रो दुःखदायकः ॥७१॥
क्व तिष्ठामि क्व गच्छामि को मे दुःखं व्यपोहयेत् ।
प्राणांस्त्यजामि दुःखेन हा कष्टं मम संस्थितम्॥७२॥
तदानीं तु समागत्य गोकर्णो ज्ञानसंयुतः ।
बोधयामास जनकं वैराग्यं परिदर्शयन् ॥७३॥
असारः खलु संसारो दुःखरूपी विमोहकः ।
सुतः कस्य धनं कस्य स्नेहवाञ्ज्वलतेऽनिशम् ॥७४॥
न चेन्द्रस्य सुखं किञ्चिन्न सुखं चक्रवर्तिनः ।
सुखमस्ति विरक्तस्य मुनेरेकान्तजीविनः ॥७५॥
मुञ्चाज्ञानं प्रजारूपं मोहतो नरके गतिः ।
निपतिष्यति देहोऽयं सर्वं त्यक्त्वा वनं व्रज ॥७६॥

तद्वाक्यं तु समाकर्ण्य गन्तुकामः पिताब्रवीत् ।
किं कर्तव्यं वने तात तत्त्वं वद सविस्तरम् ॥७७॥
अन्धकूपे स्नेहपाशे बद्धः पङ्गुरहं शठः ।
कर्मणा पतितो नूनं मामुद्धर दयानिधे ॥७८॥

गोकर्ण उवाच

देहेऽस्थिमांसरुधिरेऽभिमतिं त्यज त्वं
जायासुतादिषु सदा ममतां विमुञ्च ।
पश्यानिशं जगदिदं क्षणभङ्गनिष्ठं
वैराग्यरागरसिको भव भक्तिनिष्ठः ॥७९॥
धर्मं भजस्व सततं त्यज लोकधर्मान्
सेवस्व साधुपुरुषाञ्जहि कामतृष्णाम् ।
अन्यस्य दोषगुणचिन्तनमाशु मुक्त्वा
सेवाकथारसमहो नितरां पिब त्वम् ॥८०॥

तो पुत्रहीन रहना ही अच्छा था, कुपुत्र तो बड़ा ही दुःखदायी होता है ॥७१॥ अब मैं कहाँ रहूँ ? कहाँ जाऊँ ? मेरे इस दुःखको कौन दूर कर सकेगा ? हाय ! मेरे ऊपर बड़ा ही कष्ट आ पड़ा है, अब मुझे इस दुःखमें अपने प्राण ही छोड़ने पड़ेंगे'' ॥७२॥ इसी समय परमज्ञानी गोकर्णजी वहाँ आये और उन्होंने पिताको वैराग्यका उपदेश करते हुए समझाया ॥७३॥ वे बोले–''पिताजी ! यह निश्चित बात है कि, इस संसारमें कुछ भी सार नहीं है । यह दुःखरूपी और मोह उत्पन्न करनेवाला ही है । भला, पुत्र या धन कब किसके होते हैं ? उनमें स्नेह (आसक्ति) रखनेवाला पुरुष रात-दिन जला करता है ॥७४॥ इन्द्र अथवा चक्रवर्ती राजाको भी कुछ सुख नहीं है, सुख तो एकमात्र एकान्तवासी वैराग्यवान् मुनिको ही है ॥७५॥ आप इस पुत्रमोहरूप अज्ञानको छोड़िये क्योंकि इस मोहमें पड़नेसे तो नरकहीमें जाना पड़ता है । अन्तमें यह शरीर नष्ट होनेवाला ही है, इसलिये अभीसे सब कुछ छोड़कर वनको चले जाइये ॥७६॥

गोकर्णके वाक्य सुनकर आत्मदेव वनको जानेके लिये तैयार हो गये और उनसे कहने लगे, ''पुत्र ! वनमें जाकर मुझे क्या करना चाहिये, सो तुम विस्तारपूर्वक बतलाओ ॥७७॥ मैं महामूर्ख अपने कर्मवश इस घररूप अन्धकूपमें स्नेहपाशसे बँधा हुआ पंगु पुरुषके समान पड़ा हूँ । हे दयानिधे ! तुम इससे मेरा उद्धार करो'' ॥७८॥

गोकर्णने कहा–पिताजी ! आप इस हड्डी, मांस और रुधिरके संघातरूप शरीरमें [मैंपनका] अभिमान छोड़ दीजिये और स्त्री-पुत्रादिमें मेरापनका भाव त्याग दीजिये । इस जगत्को अहर्निश क्षणभङ्गुर देखिये और एकमात्र वैराग्यरूप रसके ही रसिक होकर सर्वदा भक्तिपरायण हो जाइये ॥७९॥ और सदा भगवद्भजनरूप धर्मका ही आश्रय लीजिये, लौकिक धर्मोंको छोड़ दीजिये, साधुपुरुषोंकी सेवा कीजिये, भोगोंकी लालसाका त्याग कीजिये तथा शीघ्र ही दूसरोंके गुण-दोषोंका चिन्तन करना छोड़कर एकमात्र भगवत्सेवा और कथाका रस-पान कीजिये ॥ ८० ॥

एवं सुतोक्तिवशतोऽपि गृहं विहाय
यातो वनं स्थिरमतिर्गतषष्टिवर्षः ।
युक्तो हरेरनुदिनं परिचर्ययातः
श्रीकृष्णमाप नियतं दशमस्य पाठात् ॥८१॥

इस प्रकार पुत्रके कहनेसे आत्मदेव अपनी आयुके साठ वर्ष बीत जानेपर घर छोड़कर स्थिरचित्तसे वनको चले गये और वहाँ श्रीहरिमें मन लगाकर नित्यप्रति भगवान्‌की पूजा करनेसे और नियमपूर्वक भागवतके दशम स्कन्धका पाठ करनेसे उन्होंने श्रीकृष्णचन्द्रको प्राप्त कर लिया ॥८१॥

इति श्रीपद्मपुराणे उत्तरखण्डे श्रीमद्भागवतमाहात्म्ये
विप्रमोक्षो नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

पाँचवाँ अध्याय

धुन्धुकारीको प्रेतयोनि मिलना और भागवतका श्रवण करके उससे मुक्त होना ।

सूत उवाच

पितर्युपरते तेन जननी ताडिता भृशम् ।
क्व वित्तं तिष्ठति ब्रूहि हनिष्ये लत्तया न चेत् ॥ १ ॥
इति तद्वाक्यसंत्रासाज्जनन्या पुत्रदुःखतः ।
कूपे पातः कृतो रात्रौ तेन सा निधनं गता ॥ २ ॥
गोकर्णस्तीर्थयात्रार्थं निर्गतो योगसंस्थितः ।
न दुःखं न सुखं तस्य न वैरी नापि बान्धवः ॥ ३ ॥
धुन्धुकारी गृहेऽतिष्ठत्पञ्चपण्यवधूवृतः ।
अत्युग्रकर्मकर्ता च तत्पोषणविमूढधीः ॥ ४ ॥
एकदा कुलटास्तास्तु भूषणान्यभिलिप्सवः ।
तदर्थं निर्गतो गेहात्कामान्धो मृत्युमस्मरन् ॥ ५ ॥
यतस्ततश्च संहृत्य वित्तं वेश्म पुनर्गतः ।
ताभ्योऽयच्छत्सुवस्त्राणि भूषणानि कियन्ति च ॥६॥
बहुवित्तचयं दृष्ट्वा रात्रौ नार्यो व्यचारयन् ।
चौर्यं करोत्यसौ नित्यमतो राजा ग्रहीष्यति ॥ ७ ॥

सूतजी बोले—हे शौनक ! पिताके परलोक सिधारनेपर एक दिन धुन्धुकारीने अपनी माताको बहुत पीटा और कहा—'बता, धन कहाँ रक्खा है, नहीं तो अभी लातसे ठोकूँगा' ॥ १ ॥ उसके इस वाक्यसे डरकर और पुत्रद्वारा दिये गये दुःखोंसे दुखी होकर उसकी माता रात्रिके समय कुएँमें जा गिरी और इसीसे उसकी मृत्यु हो गयी ॥२॥ [इस प्रकार माता-पिताका अन्त हो जानेपर] सदा योगमें स्थित रहनेवाले गोकर्णजी भी तीर्थयात्राको निकल गये । उन्हें इस घटनासे किसी प्रकारका सुख या दुःख नहीं हुआ; क्योंकि उनकी दृष्टिमें कोई भी अपना शत्रु या मित्र नहीं था ॥३॥

इधर, धुन्धुकारी पाँच वेश्याओंके साथ घरमें रहने लगा और उनके पालन-पोषणके भारसे विचारशून्य होकर नाना प्रकारके अति भयानक कर्म करने लगा ॥४॥ एक दिन वे कुलटाएँ उससे बहुत-से आभूषण माँगने लगीं । तब कामान्ध धुन्धुकारी अपनी मृत्युको भूलकर उन आभूषणोंके लिये घरसे निकला ॥५॥ और जहाँ-तहाँसे बहुत-सा धन चुराकर घर लौट आया तथा उन गणिकाओंको कुछ सुन्दर वस्त्र और आभूषण दिये ॥६॥ उसे बहुत-सा धन लाया देख उन स्त्रियोंने रात्रिके समय विचारा कि यह नित्यप्रति चोरी करता है इसलिये एक दिन राजा इसे अवश्य पकड़ लेगा ॥७॥

वित्तं हृत्वा पुनश्चैनं मारयिष्यति निश्चितम् ।
अतोऽर्थगुप्तये गूढमस्माभिः किं न हन्यते ॥ ८ ॥
निहत्यैनं गृहीत्वार्थं यास्यामो यत्र कुत्रचित् ।
इति ता निश्चयं कृत्वा सुप्तं संबद्ध्य रश्मिभिः ॥ ९ ॥
पाशं कण्ठे निधायास्य तन्मृत्युमुपचक्रमुः ।
त्वरितं न ममारासौ चिन्तायुक्तास्तदाभवन् ॥१०॥
तप्ताङ्गारसमूहांश्च तन्मुखे हि विचिक्षिपुः ।
अग्निज्वालातिदुःखेन व्याकुलो निधनं गतः ॥११॥
तं देहं मुमुचुर्गर्ते प्रायः साहसिकाः स्त्रियः ।
न ज्ञातं तद्रहस्यं तु केनापीदं तथैव च ॥१२॥
लोकैः पृष्टा वदन्ति स्म दूरं यातः प्रियो हि नः ।
आगमिष्यति वर्षेऽस्मिन्वित्तलाभविकर्षितः ॥१३॥
स्त्रीणां नैव तु विश्वासं दुष्टानां कारयेद्बुधः ।
विश्वासे यः स्थितो मूढः स दुःखैः परिभूयते ॥१४॥
सुधामयं वचो यासां कामिनां रसवर्धनम् ।
हृदयं क्षुरधाराभं प्रियः को नाम योषिताम् ॥१५॥

और यह निश्चित ही है कि वह इस सब धनको छीनकर इसे भी मार डालेगा । इसलिये इस धनको बचानेके लिये इसे गुप्तरूपसे हम ही क्यों न मार डालें ? ॥८॥ इसे मारकर और इसका सारा माल-मता लेकर यहाँसे कहीं चली जायँ ।' ऐसा निश्चय कर उन्होंने सोये हुए धुन्धुकारीको रस्सियोंसे बाँधा ॥९॥ और उसके गलेमें फाँसी लगाकर उसे मारनेका प्रयत्न किया । जब वह जल्दी न मरा तो उन्हें बड़ी चिन्ता हुई ॥१०॥ तब उन्होंने बहुत-से दहकते हुए अँगारे लाकर उसके मुखपर डाल दिये । अतः वह अग्निकी लपटोंके भयंकर कष्टसे छटपटाता हुआ मर गया ॥११॥ फिर उन्होंने उसके शरीरको एक गड्ढेमें डाल [कर गाड़] दिया । सच है, स्त्रियाँ प्रायः बड़ी दुःसाहसवाली होती हैं । उनकी इस करतूतको किसीने भी नहीं जाना । और जब लोगोंने उनसे पूछा तो कह दिया कि 'हमारे प्रियतम धनके लोभसे आकृष्ट हो कहीं दूर चले गये हैं, सम्भवतः इस वर्षके भीतर-भीतर लौट आवेंगे ॥ १२-१३ ॥ बुद्धिमान् पुरुषको दुष्टा स्त्रियोंका कभी विश्वास न करना चाहिये । जो मूर्ख इनके विश्वासपर रहता है वह अवश्य दुःखके वशीभूत होता है ॥ १४ ॥ इनकी वाणी कामियोंके हृदयमें रस बढ़ानेके लिये अमृतके समान होती है, किन्तु इनका हृदय छूरेकी धारके समान तीखा होता है । भला, इन स्त्रियोंका कौन प्रिय है ? ॥१५॥

संहृत्य वित्तं ता याताः कुलटा बहुभर्तृकाः ।
धुन्धुकारी बभूवाथ महान्प्रेतः कुकर्मतः ॥१६॥
वात्यारूपधरो नित्यं धावन्दशदिशोऽन्तरम् ।
शीतातपपरिक्लिष्टो निराहारः पिपासितः ॥१७॥
न लेभे शरणं क्वापि हा दैवेति मुहुर्वदन् ।
कियत्कालेन गोकर्णो मृतं लोकादबुध्यत ॥१८॥
अनाथं तं विदित्वैव गयाश्राद्धमचीकरत् ।

इसके बाद वे बहुत-से पतियोंवाली कुलटा स्त्रियाँ उसका सब धन लेकर वहाँसे चम्पित हो गयीं और धुन्धुकारी अपने कुकर्मोंके कारण एक महान् प्रेत हुआ ॥१६॥ वह वायुरूपधारी प्रेत सदा दशों दिशाओंमें दौड़ता-फिरता और शीत-घामसे क्लेशित तथा भूखा-प्यासा होनेके कारण बार-बार 'हा दैव ! हा दैव !' ऐसा कहकर चिल्लाता रहता; परन्तु उसे कहीं भी शरण नहीं मिलता था । कुछ काल पीछे गोकर्णको भी लोगोंके मुखसे धुन्धुकारीके मरनेका समाचार मालूम हुआ ॥१७-१८॥ तब उन्होंने उसे अनाथ समझकर

यस्मिंस्तीर्थे तु संयाति तत्र श्राद्धमवर्तयत् ॥१९॥

गयाजीमें उसका श्राद्ध किया। और भी जिस-जिस तीर्थमें वे जाते वहीं उसका श्राद्ध कर देते थे ॥१९॥

एवं भ्रमन्स गोकर्णः स्वपुरं समुपेयिवान्।
रात्रौ गृहाङ्गणे स्वप्तुमागतोऽलक्षितः परैः ॥२०॥
तत्र सुप्तं स विज्ञाय धुन्धुकारी स्वबान्धवम्।
निशीथे दर्शयामास महारौद्रतरं वपुः ॥२१॥
सकृन्मेषः सकृद्धस्ती सकृच्च महिषोऽभवत्।
सकृदिन्द्रः सकृच्चाग्निः पुनश्च पुरुषोऽभवत् ॥२२॥
वैपरीत्यमिदं दृष्ट्वा गोकर्णो धैर्यसंयुतः।
अयं दुर्गतिकः कोऽपि निश्चित्याथ तमब्रवीत्॥२३॥

इस प्रकार घूमते-घूमते वे गोकर्णजी अपने नगरमें आये, और रात्रिके समय दूसरोंकी दृष्टिसे बचकर अपने घरके आँगनमें सोनेके लिये पहुँचे ॥२०॥ वहाँ अपने भाईको सोया हुआ जान धुन्धुकारीने आधी रातके समय उन्हें अपना बड़ा विकट रूप दिखाया ॥२१॥ वह कभी मेंढा, कभी हाथी, कभी भैंसा, कभी इन्द्र, कभी अग्निका रूप धारण करता-करता अन्तमें पुरुषरूप हो गया ॥२२॥ यह विपरीत भाव देख गोकर्णने धैर्यपूर्वक हृदयमें यह निश्चयकर कि यह कोई दुर्गतिको प्राप्त हुआ जीव है, उससे कहा ॥२३॥

गोकर्ण उवाच

कस्त्वमुग्रतरो रात्रौ कुतो यातो दशामिमाम्।
किं वा प्रेतः पिशाचो वा राक्षसोऽसीति शंस नः॥२४॥

गोकर्ण बोले—इस रात्रिके समयमें ऐसे भयानक रूप धारण करनेवाले तुम कौन हो? तुम्हें यह दशा कैसे प्राप्त हुई? तुम प्रेत हो, पिशाच हो या राक्षस हो? यह हमें बताओ ॥२४॥

सूत उवाच

एवं पृष्टस्तदा तेन रुरोदोच्चैः पुनः पुनः।
अशक्तो वचनोच्चारे संज्ञामात्रं चकार ह ॥२५॥
ततोऽञ्जलौ जलं कृत्वा गोकर्णस्तमुदैरयत्।
तत्सेकहतपापोऽसौ प्रवक्तुमुपचक्रमे ॥२६॥

सूतजी कहते हैं—हे मुनिगण! गोकर्णके इस प्रकार पूछनेपर धुन्धुकारी बारम्बार जोर-जोरसे रोने लगा और बोलनेमें असमर्थ होनेके कारण उसने केवल संकेतमात्र ही किया ॥२५॥ तब गोकर्णने अपनी अञ्जलिमें जल लेकर [कुछ मन्त्र पढ़ते हुए] उसके ऊपर छिड़का। उस अभिषेकसे धुन्धुकारीके पाप नष्ट हो गये और वह इस प्रकार कहने लगा ॥२६॥

प्रेत उवाच

अहं भ्राता त्वदीयोऽस्मि धुन्धुकारीति नामतः।
स्वकीयेनैव दोषेण ब्रह्मत्वं नाशितं मया ॥२७॥
कर्मणां नास्ति संख्या मे महाज्ञाने विवर्तिनः।
लोकानां हिंसकः सोऽहं स्त्रीभिर्दुःखेन मारितः॥२८॥
अतः प्रेतत्वमापन्नो दुर्दशां च वदाम्यहम्।
वाताहारेण जीवामि दैवाधीनफलोदयात् ॥२९॥
अहो बन्धो कृपासिन्धो भ्रातर्मामाशु मोचय।
गोकर्णो वचनं श्रुत्वा तस्मै वाक्यमथाब्रवीत्॥३०॥

प्रेत बोला—मैं तुम्हारा भाई हूँ, मेरा नाम धुन्धुकारी है। मैंने अपने ही दोषसे अपने ब्राह्मणत्व-को नष्ट कर डाला है ॥२७॥ मैं घोर अज्ञानमें पड़ा हुआ था, मेरे कुकर्मोंकी गिनती नहीं है। लोकोंकी हिंसा करनेवाले मुझ दुष्टको स्त्रियोंने बड़ा कष्ट देकर मार डाला ॥२८॥ इसीलिये मैं इस प्रेतयोनिको प्राप्त हुआ हूँ, अब मैं अपनी दुर्दशाका वर्णन करता हूँ, अपने दैवाधीन कर्मफलोंके उदय होनेसे इस समय मैं केवल वायु-भक्षण करके ही जी रहा हूँ ॥२९॥ भाई, तुम कृपाके सागर हो; जल्दी ही मुझे इस योनिसे छुड़ाओ। धुन्धुकारीका यह कथन सुनकर गोकर्णने उससे कहा ॥३०॥

गोकर्ण उवाच

त्वदर्थं तु गयापिण्डो मया दत्तो विधानतः ।
तत्कथं नैव मुक्तोऽसि ममाश्चर्यमिदं महत् ॥३१॥
गयाश्राद्धान्न मुक्तिश्चेदुपायो नापरस्त्विह ।
किं विधेयं मया प्रेत तत्त्वं वद सविस्तरम् ॥३२॥

प्रेत उवाच

गयाश्राद्धशतेनापि मुक्तिर्मे न भविष्यति ।
उपायमपरं कश्चित्त्वं विचारय साम्प्रतम् ॥३३॥
इति तद्वाक्यमाकर्ण्य गोकर्णो विस्मयं गतः ।
शतश्राद्धैर्न मुक्तिश्चेदसाध्यं मोचनं तव ॥३४॥
इदानीं तु निजं स्थानमातिष्ठ प्रेत निर्भयः ।
त्वन्मुक्तिसाधकं किञ्चिदाचरिष्ये विचार्य च॥३५॥
धुन्धुकारी निजस्थानं तेनादिष्टस्ततो गतः ।
गोकर्णश्चिन्तयामास तां रात्रिं न तदध्यगात्॥३६॥
प्रातस्तमागतं दृष्ट्वा लोकाः प्रीत्या समागताः ।
तत्सर्वं कथितं तेन यज्जातं च यथा निशि ॥३७॥
विद्वांसो योगनिष्ठाश्च ज्ञानिनो ब्रह्मवादिनः ।
तन्मुक्तिं नैव तेऽपश्यन्पश्यन्तः शास्त्रसञ्चयान् ॥३८॥
ततः सर्वैः सूर्यवाक्यं तन्मुक्तौ स्थापितं परम् ।
गोकर्णः स्तम्भनं चक्रे सूर्यवेगस्य वै तदा ॥३९॥
तुभ्यं नमो जगत्साक्षिन्ब्रूहि मे मुक्तिहेतुकम् ।
तच्छ्रुत्वा दूरतः सूर्यः स्फुटमित्यभ्यभाषत ॥४०॥
श्रीमद्भागवतान्मुक्तिः सप्ताहं वाचनं कुरु ।
इति सूर्यवचः सर्वैर्धर्मरूपं तु विश्रुतम् ॥४१॥
सर्वेऽब्रुवन्प्रयत्नेन कर्तव्यं सुकरं त्विदम् ।

गोकर्ण बोले—भाई ! तुम्हारे लिये तो मैंने विधिपूर्वक गयाजीमें पिण्डदान किया था; फिर भी तुम प्रेतयोनिसे कैसे मुक्त नहीं हुए—मुझे इस बातका बड़ा आश्चर्य है ॥३१॥ यदि गयामें श्राद्ध करनेसे भी तुम्हारी मुक्ति नहीं हुई तो और तो इसका कोई उपाय ही नहीं है। हे प्रेत ! अब मुझे क्या करना चाहिये, सो तुम विस्तारपूर्वक कहो ॥३२॥

प्रेत बोला—भाई ! गयाजीमें सैकड़ों श्राद्ध करनेसे भी मेरी मुक्ति नहीं हो सकती इसलिये अब तुम इसका कोई दूसरा ही उपाय सोचो ॥३३॥

उसके ये वचन सुनकर गोकर्णको बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने कहा—"यदि तुम्हारी मुक्ति सैकड़ों गयाश्राद्धोंसे भी नहीं हो सकती तब तो तुम्हें मुक्त करना असाध्य ही है ॥३४॥ हे प्रेत ! अभी तो तुम निर्भय होकर अपने स्थानपर ही रहो, मैं कुछ विचारकर तुम्हें मुक्त करनेवाले किसी साधनका आचरण करूँगा" ॥३५॥

गोकर्णकी आज्ञा पा धुन्धुकारी वहाँसे अपने स्थानपर चला गया। गोकर्णने उस रात्रिभर विचार किया किन्तु उन्हें कोई उपाय न सूझा ॥३६॥ प्रातःकाल होनेपर गोकर्णको आये हुए देख सब लोग प्रीतिवश उनसे मिलनेके लिये आये। तब गोकर्णने जो कुछ जिस प्रकार रात्रिके समय हुआ था वह सब उनसे कह सुनाया ॥३७॥ उनमें जो लोग विद्वान्, योगनिष्ठ, ज्ञानी और ब्रह्मवादी थे उन्होंने बहुत-से शास्त्रोंको उलट-पलटकर देखा तो भी उन्हें उसकी मुक्तिका कोई उपाय न दीख पड़ा ॥३८॥ तब सबने उसकी मुक्तिके लिये सूर्यनारायणके कथनको ही सर्वश्रेष्ठ निश्चित किया। अतः गोकर्णने अपने तपोबलसे सूर्यभगवान्‌की गतिको रोककर कहा ॥३९॥ "हे जगत्साक्षी सूर्यदेव ! आपको नमस्कार है। आप मेरे भाईकी मुक्तिका उपाय बतलाइये।" यह सुनकर सूर्यदेवने दूरहीसे इस प्रकार स्फुट वचनोंमें कहा—॥४०॥ "श्रीमद्भागवतश्रवणसे मुक्ति होती है; इसलिये तुम उसीका सप्ताहपारायण करो।" सूर्यका यह धर्मरूप वचन सभीने सुना ॥४१॥ तब सब लोग कहने लगे, 'सूर्यदेवका बताया हुआ यह साधन बहुत ही सरल है, इसे ही प्रयत्नपूर्वक करना चाहिये।'

गोकर्णो निश्चयं कृत्वा वाचनार्थं प्रवर्तितः ॥४२॥

तब गोकर्णजी भी निश्चय करके कथा सुनानेके लिये तैयार हो गये ॥४२॥

तत्र संश्रवणार्थाय देशग्रामाञ्जना ययुः ।
पङ्ग्वन्धवृद्धमन्दाश्च तेऽपि पापक्षयाय वै ॥४३॥
समाजस्तु महाञ्जातो देवविस्मयकारकः ।
यदैवासनमास्थाय गोकर्णोऽकथयत्कथाम् ॥४४॥
स प्रेतोऽपि तदायातः स्थानं पश्यन्नितस्ततः ।
सप्तग्रन्थियुतं तत्रापश्यत्कीचकमुच्छ्रितम् ॥४५॥
तन्मूलच्छिद्रमाविश्य श्रवणार्थं स्थितो ह्यसौ ।
वातरूपी स्थितिं कर्तुमशक्तो वंशमाविशत् ॥४६॥

उस समय वहाँ देश और ग्रामके बहुत-से लोग कथा सुननेके लिये आये । अनेकों लँगड़े, अन्धे, वृद्ध और मन्दबुद्धि मनुष्य भी अपने पापोंको क्षीण करनेके लिये वहाँ आ पहुँचे ॥४३॥ इस प्रकार वहाँ देवताओंको भी विस्मित करनेवाला बड़ा भारी समुदाय इकट्ठा हो गया । ज्यों ही गोकर्णजी व्यासगद्दीपर बैठकर कथा बाँचने लगे त्यों ही वह प्रेत भी वहाँ आ पहुँचा, और इधर-उधर स्थान ढूँढ़ते हुए उसे एक सात गाँठ-का ऊँचा बाँस दिखायी दिया ॥४४-४५॥ वह उसी-के जड़के छिद्रमें घुसकर कथा सुननेके लिये बैठ गया। वायुरूप होनेके कारण वह कहीं बैठ नहीं सकता था, इसलिये बाँसमें घुस गया ॥४६॥

वैष्णवं ब्राह्मणं मुख्यं श्रोतारं परिकल्प्य सः ।
प्रथमस्कन्धतः स्पष्टमाख्यानं धेनुजोऽकरोत् ॥४७॥
दिनान्ते रक्षिता गाथा तदा चित्रं बभूव ह ।
वंशैकग्रन्थिभेदोऽभूत्सशब्दं पश्यतां सताम् ॥४८॥
द्वितीयेऽह्नि तथा सायं द्वितीयग्रन्थिभेदनम् ।
तृतीयेऽह्नि तथा सायं तृतीयग्रन्थिभेदनम् ॥४९॥
एवं सप्तदिनैश्चैव सप्तग्रन्थिविभेदनम् ।
कृत्वा स द्वादशस्कन्धश्रवणात्प्रेततां जहौ ॥५०॥
दिव्यरूपधरो जातस्तुलसीदाममण्डितः ।
पीतवासा घनश्यामो मुकुटी कुण्डलान्वितः ॥५१॥
ननाम भ्रातरं सद्यो गोकर्णमिति चाब्रवीत् ।
त्वयाहं मोचितो बन्धो कृपया प्रेतकश्मलात् ॥५२॥
धन्या भागवती वार्ता प्रेतपीडाविनाशिनी ।
सप्ताहोऽपि तथा धन्यः कृष्णलोकफलप्रदः ॥५३॥
कम्पन्ते सर्वपापानि सप्ताहश्रवणे स्थिते ।
अस्माकं प्रलयं सद्यः कथा चेयं करिष्यति ॥५४॥

गोकर्णजीने एक वैष्णव ब्राह्मणको मुख्य श्रोता बनाया और प्रथम स्कन्धसे ही स्फुट स्वरमें कथा सुनानी आरम्भ की ॥४७॥ सायंकाल होनेपर जब कथाको विश्राम दिया गया तो उस समय वहाँ एक बड़ी विचित्र घटना हुई । सब सभासदोंके देखते-ही-देखते उस बाँसकी एक गाँठ [तड़-तड़] शब्द करती हुई फट गयी ॥४८॥ इसी प्रकार दूसरे दिन सायं-कालको दूसरी गाँठ और तीसरे दिन उसी समय तीसरी गाँठ फटी ॥४९॥ इसी प्रकार सात दिनमें सातों गाँठोंका भेदन करके धुन्धुकारी बारहों स्कन्ध-का पारायण सुननेके कारण प्रेतयोनिसे छूट गया ॥५०॥ तब वह तुलसीकी मालाओंसे सुशोभित हो मेघके समान श्याम शरीरपर पीताम्बर धारण किये हुए एवं मुकुट और कुण्डलादिसे विभूषित तथा दिव्यस्वरूपवाला हो गया तथा उसने तत्काल अपने भाई गोकर्णको जाकर प्रणाम किया और कहा—'भाई,तुमने कृपा करके मुझे प्रेत-योनिकी यातनाओंसे मुक्त कर दिया ॥५१-५२॥ अहो ! प्रेतपीडाको नष्ट करनेवाली श्रीमद्भागवत-कथा धन्य है ! तथा श्रीकृष्णधामरूप फलका देनेवाला यह सप्ताह भी धन्य है ॥५३॥ सप्ताहश्रवणका आरम्भ होनेपर सब पाप काँपने लगते हैं कि यह कथा शीघ्र ही हमारा संहार कर डालेगी ॥५४॥

धुन्धकारीका उद्धार

ननाम भ्रातरं सद्यो गोकर्णमिति चाब्रवीत् ।
त्वयाहं मोचितो बन्धो कृपया प्रेतकश्मलात् ॥

[पृष्ठ ३४

आर्द्रं शुष्कं लघु स्थूलं वाङ्मनःकर्मभिः कृतम् ।
श्रवणं विदहेत्पापं पावकः समिधो यथा ॥५५॥
अस्मिन्वै भारते वर्षे सूरिभिर्देवसंसदि ।
अकथाश्राविणां पुंसां निष्फलं जन्म कीर्तितम् ॥५६॥
किं मोहतो रक्षितेन सुपुष्टेन बलीयसा ।
अध्रुवेण शरीरेण शुकशास्त्रकथां विना ॥५७॥
अस्थिस्तम्भं स्नायुबद्धं मांसशोणितलेपितम् ।
चर्मावनद्धं दुर्गन्धपात्रं मूत्रपुरीषयोः ॥५८॥
जराशोकविपाकार्तं रोगमन्दिरमातुरम् ।
दुष्पूरं दुर्धरं दुष्टं सदोषं क्षणभङ्गुरम् ॥५९॥
कृमिविड्भस्मसंज्ञान्तं शरीरमिति वर्णितम् ।
अस्थिरेण स्थिरं कर्म कुतोऽयं साधयेन्न हि ॥६०॥
यत्प्रातः संस्कृतं चान्नं सायं तच्च विनश्यति ।
तदीयरससंपुष्टे काये का नाम नित्यता ॥६१॥
सप्ताहश्रवणाल्लोके प्राप्यते निकटे हरिः ।
अतो दोषनिवृत्त्यर्थमेतदेव हि साधनम् ॥६२॥
बुद्बुदा इव तोयेषु मशका इव जन्तुषु ।
जायन्ते मरणायैव कथाश्रवणवर्जिताः ॥६३॥
जडस्य शुष्कवंशस्य यत्र ग्रन्थिविभेदनम् ।
चित्रं किमु तदा चित्तग्रन्थिभेदः कथाश्रवात् ॥६४॥
भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि सप्ताहश्रवणे कृते ॥६५॥
संसारकर्दमालेपप्रक्षालनपटीयसि ।

जिस प्रकार अग्नि सब प्रकारके काष्ठको भस्म कर डालता है उसी प्रकार यह सप्ताहश्रवण गीले, सूखे, लघु, स्थूल एवं मन, वचन और कर्मद्वारा किये हुए सभी पापोंको नष्ट कर देता है ॥५५॥ विद्वानोंने देवताओंकी सभामें कहा है कि 'इस भारतवर्षमें जन्म पाकर भागवतको न सुननेवाले मनुष्योंका जन्म निष्फल है' ॥५६॥ मोह-पूर्वक लालन-पालनकर पुष्ट और बलवान् बनाये हुए इस अनित्य शरीरसे श्रीमद्भागवतकी कथा सुननेके सिवा अन्य क्या प्रयोजन है ? ॥५७॥ हड्डियाँ ही जिसके आधारस्तम्भ हैं, जो स्नायु (नस) रूप रस्सियोंसे बँधा हुआ है, जो मांस और रक्तसे थुपा हुआ तथा ऊपरसे त्वचासे मँढा हुआ है; ऐसा यह शरीर मल-मूत्ररूप दुर्गन्धका पात्र है ॥५८॥ वृद्धावस्था और शोकके कारण यह परिणाममें अति दुःखमय है, रोगका घर होनेसे निरन्तर आतुर रहता है, इसका तृप्त होना और धारण करना अत्यन्त कठिन है, यह अत्यन्त दुष्टस्वभाव, दोषमय और क्षणभंगुर है ॥५९॥ अन्तमें इस शरीरको कीड़ा, विष्ठा और भस्मरूप होने-वाला ही कहा गया है । ऐसे इस अस्थिर शरीरसे मनुष्य अपने अविचल फल देनेवाले कर्मको क्यों नहीं सिद्ध कर लेता ? ॥६०॥ जो अन्न प्रातःकालके समय पकाया जाता है वह सायंकालतक बिगड़ जाता है; फिर उसी-के रससे पुष्ट होनेवाले इस शरीरमें नित्यता कैसी ? ॥६१॥ इस लोकमें सप्ताहश्रवण करनेसे श्रीहरि निकट (सहज) हीमें मिल जाते हैं । इसलिये सब दोषों-की निवृत्तिके लिये एकमात्र यही साधन है ॥६२॥ जो लोग श्रीमद्भागवतकी कथा नहीं सुनते वे जलमें बुद्बुदोंके समान और जीवोंमें मच्छरोंके समान केवल मरनेहीके लिये उत्पन्न होते हैं ॥६३॥ जिससे जड और सूखे बाँसकी गाँठें फट गयीं उस भागवतकथा-श्रवणसे यदि हृदयकी गाँठ खुल जाय तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ? ॥६४॥ सप्ताहश्रवण करनेसे मनुष्यकी हृदयग्रन्थि खुल जाती हैं, [अर्थात् देहात्मबुद्धि नष्ट हो जाती है] उसके सब संशय छिन्न-भिन्न हो जाते हैं और सम्पूर्ण कर्म क्षीण हो जाते हैं ॥६५॥ विद्वानोंका कथन है कि संसाररूप कीचड़को धो

कथातीर्थे स्थिते चित्ते मुक्तिरेव बुधैः स्मृता ॥६६॥

डालनेमें समर्थ इस कथारूप तीर्थके चित्तमें स्थित हो जानेपर मुक्ति निश्चित है' ॥६६॥

एवं ब्रुवति वै तस्मिन्विमानमागमत्तदा ।
वैकुण्ठवासिभिर्युक्तं प्रस्फुरद्दीप्तिमण्डलम् ॥६७॥
सर्वेषां पश्यतां भेजे विमानं धुन्धुलीसुतः ।
विमाने वैष्णवान्वीक्ष्य गोकर्णो वाक्यमब्रवीत्॥६८॥

जिस समय धुन्धुकारी इस प्रकार कह रहा था उसी समय वैकुण्ठवासी पार्षदोंसे युक्त एक ऐसा विमान वहाँ उतरा, जिसका तेजःपुञ्ज सर्वत्र फैल रहा था ॥६७॥ और सबके देखते-देखते धुन्धुलीका पुत्र धुन्धुकारी उस विमानपर चढ़ गया । तब विमान-पर आये हुए विष्णुपार्षदोंको देखकर गोकर्णने उनसे इस प्रकार कहा ॥६८॥

गोकर्ण उवाच

अत्रैव बहवः सन्ति श्रोतारो मम निर्मलाः ।
आनीतानि विमानानि न तेषां युगपत्कुतः ॥६९॥
श्रवणं समभागेन सर्वेषामिह दृश्यते ।
फलभेदः कुतो जातः प्रब्रुवन्तु हरिप्रियाः ॥७०॥

गोकर्ण बोले—यहाँ मेरी कथाको सुननेवाले और भी बहुत-से शुद्धचित्त श्रोता उपस्थित हैं उन सबके लिये आप एक साथ ही विमान क्यों नहीं लाये ॥६९॥ हे भगवान्‌के प्रिय पार्षदो ! हम देखते हैं सभी श्रोताओंको कथाका बराबर ही श्रवण हुआ है, फिर फलमें भेद क्यों हुआ—यह हमसे कहो ॥७०॥

हरिदासा ऊचुः

श्रवणस्य विभेदेन फलभेदोऽत्र संस्थितः ।
श्रवणं तु कृतं सर्वैर्न तथा मननं कृतम् ।
फलभेदस्ततो जातो भजनादपि मानद ॥७१॥
सप्तरात्रमुपोष्यैव प्रेतेन श्रवणं कृतम् ।
मननादि तथा तेन स्थिरचित्ते कृतं भृशम् ॥७२॥
अदृढं च हतं ज्ञानं प्रमादेन हतं श्रुतम् ।
संदिग्धो हि हतो मन्त्रो व्यग्रचित्तो हतो जपः ॥७३॥
अवैष्णवो हतो देशो हतं श्राद्धमपात्रकम् ।
हतमश्रोत्रिये दानमनाचारं हतं कुलम् ॥७४॥
विश्वासो गुरुवाक्येषु स्वस्मिन्दीनत्वभावना ।
मनोदोषजयश्चैव कथायां निश्चला मतिः ॥७५॥
एवमादि कृतं चेत्स्यात्तदा वै श्रवणे फलम् ।

श्रीहरिके सेवकोंने कहा—हे मानद ! श्रवण करनेमें [भावका] भेद होनेसे ही यह फलमें भेद हुआ है; श्रवण तो अवश्य सबने समान ही किया किन्तु इसके-जैसा मनन सबने नहीं किया । यही कारण है कि सबके एक साथ भजन करनेपर भी उसके फलमें भेद हुआ ॥७१॥ इस प्रेतने सात दिन-तक निराहार रहकर जैसे श्रवण किया वैसे ही फिर अपने स्थिर हृदयमें उसका खूब मननिदिध्यासनादि करता रहा ॥७२॥ जो ज्ञान दृढ नहीं होता वह नष्ट हो जाता है, प्रमादसे श्रवणका फल नष्ट हो जाता है, मन्त्रमें सन्देह होनेसे वह सिद्ध नहीं होता, और व्यग्रचित्तसे किया हुआ जप व्यर्थ हो जाता है ॥७३॥ जिसमें विष्णुभक्त नहीं होता वह देश नष्ट हो जाता है, कुपात्र ब्राह्मणसे कराया हुआ श्राद्ध व्यर्थ हो जाता है, अश्रोत्रियको दिया हुआ दान निष्फल हो जाता है, तथा अनाचारके कारण कुल नष्ट हो जाता है ॥७४॥

गुरुके वचनोंमें विश्वास रखना, अपनेको दीन समझना, मनके दोषोंको जीतना और कथामें स्थिर-बुद्धि रखना—इत्यादि नियमोंका यदि पालन किया जाय तो श्रवणका पूरा-पूरा फल मिलता है । ये श्रोता-गण भी यदि इन नियमोंका पालन करते हुए फिर

पुनः श्रवान्ते सर्वेषां वैकुण्ठे वसतिर्ध्रुवम् ॥७६॥
गोकर्ण तव गोविन्दो गोलोकं दास्यति स्वयम्।
एवमुक्त्वा ययुः सर्वे वैकुण्ठं हरिकीर्तनाः ॥७७॥
श्रावणे मासि गोकर्णः कथामूचे तथा पुनः।
सप्तरात्रवतीं भूयः श्रवणं तैः कृतं पुनः ॥७८॥
कथासमाप्तौ यज्जातं श्रूयतां तच्च नारद ॥७९॥
विमानैः सह भक्तैश्च हरिराविर्बभूव ह।
जयशब्दो नमःशब्दस्तत्रासन्बहवस्तदा ॥८०॥
पाञ्चजन्यध्वनिं चक्रे हर्षात्तत्र स्वयं हरिः।
गोकर्णं तु समालिङ्ग्याकरोत्स्वसदृशं हरिः ॥८१॥
श्रोतॄनन्यान्घनश्यामान्पीतकौशेयवाससः।
किरीटिनः कुण्डलिनस्तथा चक्रे हरिः क्षणात् ॥८२॥
तद्ग्रामे ये स्थिता जीवा आश्वचाण्डालजातयः।
विमाने स्थापितास्तेऽपि गोकर्णकृपया तदा॥८३॥
प्रेषिता हरिलोके ते यत्र गच्छन्ति योगिनः।
गोकर्णेन स गोपालो गोलोकं गोपवल्लभम्।
कथाश्रवणतः प्रीतो निर्ययौ भक्तवत्सलः ॥८४॥
अयोध्यावासिनः पूर्वं यथा रामेण संगताः।
तथा कृष्णेन ते नीता गोलोकं योगिदुर्लभम् ॥८५॥
यत्र सूर्यस्य सोमस्य सिद्धानां न गतिः कदा।
तं लोकं हि गतास्ते तु श्रीमद्भागवतश्रवात् ॥८६॥
ब्रूमोऽत्र ते किं फलवृन्दमुज्ज्वलं
सप्ताहयज्ञेन कथासु सञ्चितम्।
कर्णेन गोकर्णकथाक्षरो यैः
पीतश्च ते गर्भगता न भूयः ॥८७॥
वाताम्बुपर्णाशनदेहशोषणै-

कथा श्रवण करें तो निश्चय ही इन सबोंका वैकुण्ठ-लोकमें वास होगा ॥७५-७६॥ और हे गोकर्ण ! तुम्हें तो श्रीगोविन्द स्वयं ही ले जाकर अपने गोलोकधाममें स्थान देंगे। ऐसा कह वे सब पार्षदगण हरिकीर्तन करते हुए वैकुण्ठलोकको चले गये ॥७७॥

श्रावण मासमें गोकर्णने फिर उसी प्रकार सात दिनतक कथा की और उन सब श्रोताओंने उसे फिर श्रवण किया ॥७८॥ हे नारद ! उस कथाके समाप्त होनेपर जो घटना हुई वह सुनो ॥७९॥ वहाँ अनेकों विमानों और पार्षदोंके सहित श्रीहरि प्रकट हुए। उस समय सब ओरसे जय-जयकार और नमस्कारकी तुमुल ध्वनि होने लगी ॥८०॥ श्रीहरिने स्वयं हर्ष-वश वहाँ पाञ्चजन्य शंखकी ध्वनि की और गोकर्णको आलिंगनकर प्रभुने अपने समान कर लिया ॥८१॥ फिर भगवान्‌ने अन्य श्रोताओंको भी एक क्षणमें ही मेघके समान श्यामवर्ण, रेशमी पीताम्बरसे सुशोभित तथा किरीट और कुण्डलादिसे विभूषित कर दिया॥८२॥ उस समय, उस ग्राममें कुत्ते और चाण्डाल आदि नीच जातिसे लेकर जितने भी जीव रहते थे वे सभी गोकर्णजीकी कृपासे विमानोंपर बैठाये गये ॥८३॥ और जहाँ योगीजन जाते हैं उस श्रीहरिके परमधामको भेज दिये गये, तथा कथाश्रवणसे प्रसन्न हुए भक्त-वत्सल भगवान् कृष्णचन्द्र गोकर्णको साथ ले अपने गोपबन्धुओंके परम प्रिय गोलोकधामको चले गये ॥८४॥ जिस प्रकार पूर्व कालमें अयोध्यापुरवासी श्रीराम-चन्द्रजीके साथ साकेतलोकको सिधारे थे उसी प्रकार उन सबको भगवान् श्रीकृष्ण योगियोंके लिये भी अत्यन्त दुर्लभ गोलोकधामको ले गये ॥८५॥ जिस लोकमें सूर्य, चन्द्र और सिद्ध पुरुषोंकी भी कभी गति नहीं हो सकती श्रीमद्भागवतके श्रवणसे वे उसी लोकको प्राप्त हो गये ॥८६॥ हे नारद ! सप्ताह-यज्ञमें कथाओंद्वारा सञ्चित हुए अति उज्ज्वल फलोंके विषयमें हम अधिक क्या कहें ? जिन्होंने गोकर्णजीकी कथाका एक अक्षर भी अपने कर्णपुटसे पान कर लिया वे फिर माताके गर्भमें नहीं आये ॥८७॥ जिस गति-को लोग वायु, जल और पत्ते खाकर शरीरको सुखाने-

स्तपोभिरुग्रैश्चिरकालसञ्चितैः ।
योगैश्च संयाति न तां गतिं वै
सप्ताहगाथाश्रवणेन यान्ति ते ॥८८॥
इतिहासमिमं पुण्यं शाण्डिल्योऽपि मुनीश्वरः ।
पठते चित्रकूटस्थो ब्रह्मानन्दपरिप्लुतः ॥८९॥
आख्यानमेतत्परमं पवित्रं
श्रुतं सकृद्वै विदहेदघौघम् ।
श्राद्धे प्रयुक्तं पितृतृप्तिमावहे-
न्नित्यं सुपाठादपुनर्भवं च ॥९०॥

वाली घोर तपस्या करनेसे अथवा बहुत दिनोंतक योगाभ्यास करनेसे भी नहीं पा सकते उसे वे सप्ताह-पारायण सुननेसे [सहजहीमें] प्राप्त कर लेते हैं ॥८८॥ इस परम पवित्र इतिहासको चित्रकूटपर विराजमान मुनिवर शाण्डिल्य भी ब्रह्मानन्दमें मग्न होकर पढ़ा करते हैं ॥८९॥ यह कथा अत्यन्त पवित्र है । यह एक बार श्रवण करनेसे ही पाप-पुञ्जको भस्म कर देती है, इसका श्राद्धकालमें पाठ करनेसे पितृगण तृप्त हो जाते हैं और नित्य पाठ करनेसे पुनर्जन्म नहीं होता ॥९०॥

इति श्रीपद्मपुराणे उत्तरखण्डे श्रीमद्भागवतमाहात्म्ये गोकर्णमोक्ष-
वर्णनं नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

छठा अध्याय

सप्ताहयज्ञकी विधि

कुमारा ऊचुः

अथ ते संप्रवक्ष्यामः सप्ताहश्रवणे विधिम् ।
सहायैर्वसुभिश्चैव प्रायः साध्यो विधिः स्मृतः ॥ १ ॥
दैवज्ञं तु समाहूय मुहूर्तं पृच्छ्य यत्नतः ।
विवाहे यादृशं चित्तं तादृशं परिकल्पयेत् ॥ २ ॥
नभस्य आश्विनोर्जौ च मार्गशीर्षः शुचिर्नभाः ।
एते मासाः कथारम्भे श्रोतॄणां मोक्षसूचकाः ॥ ३ ॥
मासानां विग्रहे यानि तानि त्याज्यानि सर्वथा ।
सहायाश्चेतरे तत्र कर्तव्याः सोद्यमाश्च ये ॥ ४ ॥
देशे देशे तथा सेयं वार्ता प्रेष्या प्रयत्नतः ।
भविष्यति कथा चात्र आगन्तव्यं कुटुम्बिभिः ॥ ५ ॥
दूरे हरिकथाः केचिद्दूरे चाच्युतकीर्तनाः ।
स्त्रियः शूद्रादयो ये च तेषां बोधो यतो भवेत् ॥ ६ ॥

सनकादिक बोले— हे नारद ! अब हम तुमसे सप्ताहश्रवणकी विधिका वर्णन करते हैं । सप्ताह-विधि प्रायः लोगोंकी सहायता और धनसे सिद्ध होती है—ऐसा कहा जाता है ॥ १ ॥ प्रथम ज्योतिषीको बुलाकर उससे मुहूर्त पूछे और फिर जैसे विवाहके समय चित्त सब प्रकारसे प्रसन्न रखा जाता है उसी प्रकार इस समय भी यत्नपूर्वक प्रसन्न रखना चाहिये ॥२॥ कथाके आरम्भ करनेमें भाद्रपद, आश्विन, कार्तिक, मार्ग-शीर्ष, आषाढ़ और श्रावण—ये छः मास श्रोताको मोक्षपदकी प्राप्ति करानेवाले हैं ॥ ३ ॥ इन महीनोंमें भी जो त्यागने योग्य [भद्रा, व्यतीपात आदि मुहूर्त] हैं उन्हें सर्वथा त्याग देना चाहिये तथा जो लोग उद्यमी (उत्साही) हों, उन्हें इस उत्सवमें अपना सहायक बना लेना चाहिये ॥ ४ ॥ फिर प्रयत्नपूर्वक देश-देशान्तरों-में यह समाचार पहुँचा देना चाहिये कि 'यहाँ कथा होगी, सब लोग परिवारसहित पधारें' ॥ ५ ॥ क्योंकि हरिकथा और हरिकीर्तनसे बहुत-से लोग बहुत दूर रहा करते हैं, इसलिये इस समाचारको ऐसा फैलावे जिससे स्त्री और शूद्रादिको भी इसका बोध हो सके [अर्थात् उनको भी सुननेका सौभाग्य मिल

देशे देशे विरक्ता ये वैष्णवाः कीर्तनोत्सुकाः ।
तेष्वेव पत्रं प्रेष्यं च तल्लेखनमितीरितम् ॥ ७ ॥
सतां समाजो भविता सप्तरात्रं सुदुर्लभः ।
अपूर्वरसरूपैव कथा चात्र भविष्यति ॥ ८ ॥
श्रीभागवतपीयूषपानाय रसलम्पटाः ।
भवन्तश्च तथा शीघ्रमायात प्रेमतत्पराः ॥ ९ ॥
नावकाशः कदाचिच्चेद्दिनमात्रं तथापि तु ।
सर्वथागमनं कार्यं क्षणोऽत्रैव सुदुर्लभः ॥१०॥
एवमाकारणं तेषां कर्तव्यं विनयेन च ।
आगन्तुकानां सर्वेषां वासस्थानानि कल्पयेत् ॥११॥
तीर्थे वापि वने वापि गृहे वा श्रवणं मतम् ।
विशाला वसुधा यत्र कर्तव्यं तत्कथास्थलम् ॥१२॥
शोधनं मार्जनं भूमेर्लेपनं धातुमण्डनम् ।
गृहोपस्करमुद्धृत्य गृहकोणे निवेशयेत् ॥१३॥
अर्वाक्पञ्चाहतो यत्नादास्तीर्णानि प्रमेलयेत् ।
कर्तव्यो मण्डपः प्रोच्चैः कदलीखण्डमण्डितः ॥१४॥
फलपुष्पदलैर्विष्वग्वितानेन विराजितः ।
चतुर्दिक्षु ध्वजारोपो बहुसंपद्विराजितः ॥१५॥
ऊर्ध्वं सप्तैव लोकाश्च कल्पनीयाः सविस्तरम् ।
तेषु विप्रा विरक्ताश्च स्थापनीयाः प्रबोध्य च ॥१६॥
पूर्वं तेषामासनानि कर्तव्यानि यथोत्तरम् ।
वक्तुश्चापि तदा दिव्यमासनं परिकल्पयेत् ॥१७॥
उदङ्मुखो भवेद्वक्ता श्रोता वै प्राङ्मुखस्तदा ।
प्राङ्मुखश्चेद्भवेद्वक्ता श्रोता चोदङ्मुखस्तदा ॥१८॥
अथवा पूर्वदिग्ज्ञेया पूज्यपूजकमध्यतः ।

सके] ॥ ६ ॥ देश-देशान्तरोंमें जो विरक्त विष्णुभक्त और हरिकीर्तनके प्रेमी महात्मालोग हों उनके पास पत्र भेजे । उसके लिखनेकी विधि इस प्रकारसे कही गयी है ॥ ७ ॥ 'महानुभावो, यहाँ सात दिनतक सत्पुरुषोंका अति दुर्लभ समागम होगा और अपूर्व रसमयी श्रीमद्भागवतकथा भी होगी ॥ ८ ॥ आपलोग सर्वदा श्रीमद्भागवतामृतरसके रसिक हैं । अतः आप प्रेमपूर्वक शीघ्र पधारनेकी कृपा करें ॥ ९ ॥ यदि किसी कारणवश आपको सात दिनतक रहनेका अवकाश न हो तो एक दिनके लिये भी अवश्य आ जायँ क्योंकि यहाँका एक क्षण भी परम दुर्लभ है' ॥१०॥ इस प्रकार उन्हें विनयपूर्वक निमन्त्रित करे, तथा जो लोग उत्सवमें सम्मिलित होनेके लिये आवें उनके लिये यथोचित निवासस्थानका प्रबन्ध करे ॥११॥

तीर्थमें, वनमें अथवा अपने घरमें भी इस कथाका श्रवण उत्तम माना गया है; किन्तु जहाँ खूब लम्बा-चौड़ा मैदान हो वहीं कथाका मण्डप बनाना चाहिये ॥१२॥ पृथिवीको झाड़-बुहारकर साफ कर देना चाहिये और उसे लिपवा-पुतवाकर गेरू आदिसे भली प्रकार सजा देना चाहिये तथा घरका सब सामान उठाकर एक कोनेमें रख देना चाहिये ॥१३॥ पाँच दिन पहलेसे ही बहुत-से आसन एकत्रित कर लें और केलेके खम्भोंसे सुशोभित सब ओर फल-पुष्प-पत्र और वितानोंसे सुसम्पन्न, चारों दिशाओंमें झण्डियों-से सजाया हुआ तथा अत्यन्त वैभवपूर्ण एक ऊँचा मण्डप तैयार करावे ॥१४-१५॥ फिर उस वेदीके ऊर्ध्वभागमें विस्तारपूर्वक सात लोकोंकी कल्पना करे और उनमें सात विरक्त ब्राह्मणोंको बुलाकर बैठावे ॥१६॥ किन्तु इससे पूर्व उनके लिये वहाँ यथोचित आसन बिछा दे । फिर वक्ताके लिये भी एक दिव्य आसन स्थापन करना चाहिये ॥ १७ ॥ वक्ता उत्तरकी ओर मुख करके बैठे तो श्रोताको पूर्वाभिमुख होकर बैठना चाहिये और यदि वक्ता ~~यदि~~ पूर्वाभिमुख होकर बैठे तो श्रोताको उत्तरकी ओर मुख करके बैठना चाहिये ॥१८॥ अथवा पूज्य (वक्ता) और पूजक (श्रोता) के बीचमें पूर्व दिशा आनी चाहिये—

श्रोतॄणामागमे प्रोक्ता देशकालादिकोविदैः ॥१९॥
विरक्तो वैष्णवो विप्रो वेदशास्त्रविशुद्धिकृत् ।
दृष्टान्तकुशलो धीरो वक्ता कार्योऽतिनिःस्पृहः ॥२०॥
अनेकधर्मविभ्रान्ताः स्त्रैणाः पाखण्डवादिनः ।
शुकशास्त्रकथोच्चारे त्याज्यास्ते यदि पण्डिताः ॥२१॥
वक्तुः पार्श्वे सहायार्थमन्यः स्थाप्यस्तथाविधः ।
पण्डितः संशयच्छेत्ता लोकबोधनतत्परः ॥२२॥

श्रोताओंके लिये ऐसा नियम देशकालकी गतिको जाननेवाले महापुरुषोंने कहा है ॥१९॥ जो विरक्त और विष्णुभक्त ब्राह्मण हो, वेद-शास्त्रकी स्पष्ट व्याख्या करनेमें समर्थ हो, दृष्टान्तादिमें कुशल हो तथा धैर्यवान् और अत्यन्त निःस्पृह हो उसे वक्ता बनाना चाहिये॥२०॥ जो नाना प्रकारके मतमतान्तरोंमें भ्रम रहे हों, स्त्री-लम्पट हों, और कपट भाषण करनेवाले हों वे यदि विद्वान् भी हों तो भी उन्हें श्रीमद्भागवतकी कथाका वक्ता नहीं बनाना चाहिये ॥२१॥ वक्ताके पास उसकी सहायताके लिये उसीके समान एक ऐसा पण्डित और बैठाना चाहिये जो सब प्रकारके संशयोंको दूर कर सकता हो और लोगोंको समझानेमें कुशल हो ॥२२॥

वक्त्रा क्षौरं प्रकर्तव्यं दिनादर्वाग्व्रताप्तये ।
अरुणोदयेऽसौ निर्वर्त्य शौचं स्नानं समाचरेत् ॥२३॥
नित्यं संक्षेपतः कृत्वा सन्ध्याद्यं स्वं प्रयत्नतः ।
कथाविघ्नविघाताय गणनाथं प्रपूजयेत् ॥२४॥
पितॄन्संतर्प्य शुद्ध्यर्थं प्रायश्चित्तं समाचरेत् ।
मण्डलं च प्रकर्तव्यं तत्र स्थाप्यो हरिस्तथा ॥२५॥
कृष्णमुद्दिश्य मन्त्रेण चरेत्पूजाविधिं क्रमात् ।
प्रदक्षिणनमस्कारान्पूजान्ते स्तुतिमाचरेत् ॥२६॥
संसारसागरे मग्नं दीनं मां करुणानिधे ।
कर्ममोहगृहीताङ्गं मामुद्धर भवार्णवात् ॥२७॥
श्रीमद्भागवतस्यापि ततः पूजा प्रयत्नतः ।
कर्तव्या विधिना प्रीत्या धूपदीपसमन्विता ॥२८॥
ततस्तु श्रीफलं धृत्वा नमस्कारं समाचरेत् ।
स्तुतिः प्रसन्नचित्तेन कर्तव्या केवलं तदा ॥२९॥
श्रीमद्भागवताख्योऽयं प्रत्यक्षः कृष्ण एव हि ।
स्वीकृतोऽसि मया नाथ मुक्त्यर्थं भवसागरे ॥३०॥
मनोरथो मदीयोऽयं सफलः सर्वथा त्वया ।

[अब सप्ताह आरम्भ होनेसे प्रथम दिनका कर्तव्य बतलाते हैं] वक्ताको चाहिये कि व्रत-ग्रहण करनेके लिये एक दिन पहले क्षौर करा ले फिर अरुणोदयके समय अर्थात् सूर्योदयसे दो घड़ी पूर्व शौचादिसे निवृत्त हो भली प्रकारसे स्नान करे ॥२३॥ फिर सन्ध्या आदि अपने नित्य कर्मोंको संक्षेपसे ही समाप्तकर कथाके विघ्नोंकी शान्तिके लिये प्रयत्नपूर्वक गणेशजीका पूजन करे ॥२४॥ तदनन्तर पितृगणका तर्पणकर अपने शरीरकी शुद्धिके लिये प्रायश्चित्त करे और एक मण्डल बनाकर वहाँ श्रीहरिकी स्थापना करे ॥२५॥ फिर कृष्ण-चन्द्रका चिन्तन करता हुआ मन्त्रपाठके सहित क्रमसे षोडशोपचारविधिसे पूजा करे तथा पूजाके अनन्तर प्रदक्षिणा और नमस्कारादि कर भगवान्‌की इस प्रकार स्तुति करे ॥२६॥ 'हे करुणानिधे ! मैं संसार-सागरमें मग्न होनेसे अति दीन हो रहा हूँ, मुझे कर्म और मोहरूप ग्राहोंने पकड़ रक्खा है । प्रभो ! इस संसार-समुद्रसे मेरा उद्धार कीजिये' ॥२७॥ तत्पश्चात् धूप-दीप आदि सामग्रियोंसे श्रीमद्भागवतकी पूजा भी अति उत्साह और प्रीतिपूर्वक विधि-विधानसे करे ॥२८॥ फिर श्रीफल समर्पणकर पुस्तकको नमस्कार करे, उस समय यह विश्वास करके कि, श्रीमद्भागवत-नामसे ये साक्षात् श्रीकृष्णचन्द्र ही विराजमान हैं, प्रसन्न चित्तसे पुस्तककी इस प्रकार स्तुति करे 'हे नाथ ! मैंने भवसागरसे छुटकारा पानेके लिये आपकी शरण ली है । हे

निर्विघ्नेनैव कर्तव्यो दासोऽहं तव केशव ॥३१॥

केशव ! मैं आपका दास हूँ; आप मेरा यह मनोरथ सब प्रकार निर्विघ्नतापूर्वक सफल करें ॥२९-३१॥

एवं दीनवचः प्रोच्य वक्तारं चाथ पूजयेत् ।
संभूष्य वस्त्रभूषाभिः पूजान्ते तं च संस्तवेत् ॥३२॥
शुकरूप प्रबोधज्ञ सर्वशास्त्रविशारद ।
एतत्कथाप्रकाशेन मदज्ञानं विनाशय ॥३३॥

इस प्रकार दीन वचन कहकर फिर वक्ताको सुन्दर वस्त्र और आभूषणोंसे विभूषितकर उसका पूजन करना चाहिये और पूजाके बाद उसकी इस प्रकार स्तुति करनी चाहिये ॥३२॥ 'हे सर्व शास्त्रोंमें कुशल, परमज्ञानी शुकदेवस्वरूप भगवन् ! आप इस कथाको प्रकाशित करके मेरा अज्ञान दूर कीजिये' ॥३३॥

तदग्रे नियमः पश्चात्कर्तव्यः श्रेयसे मुदा ।
सप्तरात्रं यथाशक्त्या धारणीयः स एव हि ॥३४॥
वरणं पञ्चविप्राणां कथाभङ्गनिवृत्तये ।
कर्तव्यस्तैर्हरिजपो द्वादशाक्षरविद्यया ॥३५॥
ब्राह्मणान्वैष्णवांश्चान्यांस्तथा कीर्तनकारिणः ।
नत्वा सम्पूज्य दत्ताज्ञः स्वयमासनमाविशेत् ॥३६॥
लोकवित्तधनागारपुत्रचिन्तां व्युदस्य च ।
कथाचित्तः शुद्धमतिः स लभेत्फलमुत्तमम् ॥३७॥

फिर, अपने कल्याणके लिये वक्ताके सामने प्रसन्नतापूर्वक नियम ग्रहण करना चाहिये और सात दिनतक यथाशक्ति उसका पालन करना चाहिये ॥३४॥ कथामें विघ्न न हो, इसलिये पाँच अन्य ब्राह्मणोंका वरण करे और उनसे द्वादशाक्षर मन्त्रद्वारा भगवान्‌का जप करावे ॥३५॥ फिर विष्णुभक्त और हरिकीर्तन करनेवाले ब्राह्मणोंको नमस्कारकर उनका पूजन करे और उनकी आज्ञा पा स्वयं भी आसनपर बैठ जाय ॥३६॥ जो श्रोता लोक, सम्पत्ति, धन, गृह और पुत्रादिकी चिन्ताको त्यागकर शुद्धचित्त हो कथामें ही ध्यान रखता है उसे उत्तम फल प्राप्त होता है ॥३७॥

आसूर्योदयमारभ्य सार्धत्रिप्रहरान्तकम् ।
वाचनीया कथा सम्यग्धीरकण्ठं सुधीमता ॥३८॥
कथाविरामः कर्तव्यो मध्याह्ने घटिकाद्वयम् ।
तत्कथामनु कार्यं वै कीर्तनं वैष्णवैस्तदा ॥३९॥
मलमूत्रजयार्थं हि लघ्वाहारः सुखावहः ।
हविष्यान्नेन कर्तव्यो ह्येकवारं कथार्थिना ॥४०॥
उपोष्य सप्तरात्रं वै शक्तिश्चेच्छृणुयात्तदा ।
घृतपानं पयःपानं कृत्वा वै शृणुयात्सुखम् ॥४१॥
फलाहारेण वा भाव्यमेकभुक्तेन वा पुनः ।
सुखसाध्यं भवेद्यत्तु कर्तव्यं श्रवणाय तत् ॥४२॥
भोजनं तु वरं मन्ये कथाश्रवणकारकम् ।
नोपवासो वरः प्रोक्तः कथाविघ्नकरो यदि ॥४३॥

बुद्धिमान् वक्ताको चाहिये कि सूर्योदयसे कथा प्रारम्भ करे और साढ़े तीन पहरतक मध्यम स्वरसे भली प्रकार बाँचे ॥३८॥ मध्याह्नके समय दो घड़ीके लिये कथा बन्द कर दे, उस समय कथाके अनन्तर वैष्णवगण कीर्तन करें ॥३९॥ कथा सुननेकी इच्छावाले पुरुषको मल और मूत्रका वेग जीतनेके लिये अल्पाहार सुखकारक होता है । इसलिये उसे केवल एक बार हविष्यान्न (खीर आदि) का ही भोजन करना चाहिये ॥४०॥ यदि शक्ति हो तो सात दिनतक निराहार रहकर श्रवण करे अथवा केवल घृत या दूध पीकर ही सुखपूर्वक कथा सुने ॥४१॥ अथवा फलाहार या केवल एक बार अन्न खाकर रहे । [सारांश यह है कि] जो नियम सुखपूर्वक निभ सके कथाश्रवणके लिये उसे ही ग्रहण करे ॥४२॥ कथाश्रवणमें सहायक भोजनको मैं [उपवासकी अपेक्षा] अच्छा समझता हूँ, यदि उपवास श्रवणमें बाधा डालनेवाला हो तो वह अच्छा नहीं ॥४३॥

सप्ताहव्रतिनां पुंसां नियमाञ्छृणु नारद ।
विष्णुदीक्षाविहीनानां नाधिकारः कथाश्रवे ॥४४॥
ब्रह्मचर्यमधःसुप्तिः पत्रावल्यां च भोजनम् ।
कथासमाप्तौ भुक्तिं च कुर्यान्नित्यं कथाव्रती ॥४५॥
द्विदलं मधु तैलं च गरिष्ठान्नं तथैव च ।
भावदुष्टं पर्युषितं जह्यान्नित्यं कथाव्रती ॥४६॥
कामं क्रोधं मदं मानं मत्सरं लोभमेव च ।
दम्भं मोहं तथा द्वेषं दूरयेच्च कथाव्रती ॥४७॥
वेदवैष्णवविप्राणां गुरुगोव्रतिनां तथा ।
स्त्रीराजमहतां निन्दां वर्जयेद्यः कथाव्रती ॥४८॥
रजस्वलान्त्यजम्लेच्छपतितव्रात्यकैस्तदा ।
द्विजद्विड्वेदबाह्यैश्च न वदेद्यः कथाव्रती ॥४९॥
सत्यं शौचं दयां मौनमार्जवं विनयं तथा ।
उदारमानसं तद्वदेवं कुर्यात्कथाव्रती ॥५०॥
दरिद्रश्च क्षयी रोगी निर्भाग्यः पापकर्मवान् ।
अनपत्यो मोक्षकामः शृणुयाच्च कथामिमाम् ॥५१॥
अपुष्पा काकवन्ध्या च वन्ध्या या च मृतार्भका ।
स्रवद्गर्भा च या नारी तया श्राव्या प्रयत्नतः ॥५२॥
एतेषु विधिना श्रावे तदक्षयतरं भवेत् ।
अत्युत्तमा कथा दिव्या कोटियज्ञफलप्रदा ॥५३॥

हे नारद ! अब सप्ताहश्रवण करनेका व्रत ग्रहण करनेवाले पुरुषोंके नियम सुनो । जो लोग विष्णुदीक्षा (विष्णुमन्त्र अथवा विष्णुभक्ति) से रहित हैं उन्हें कथाश्रवणका अधिकार नहीं है ॥४४॥ नियमसे कथा सुननेवाले पुरुषको चाहिये कि ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करे, भूमिपर सोवे और नित्यप्रति कथा समाप्त हो जानेपर पत्तलमें भोजन करे ॥४५॥ दाल, मधु, तैल, गरिष्ठ भोजन, भावदूषित पदार्थ तथा बासी अन्न ये सब कथा-श्रवणका व्रत लेनेवाले पुरुषको सदा त्यागने चाहिये ॥४६॥ कथाका व्रत लेनेवाला पुरुष काम, क्रोध, मद, मान, मत्सर, लोभ, दम्भ, मोह तथा द्वेष आदि दोषोंको अवश्य दूर कर दे ॥४७॥ जो पुरुष कथाश्रवणका व्रत ग्रहण करे वह वेद, वैष्णव, ब्राह्मण तथा गुरु और गौकी सेवा करनेवालोंकी और स्त्री, राजा तथा महान् पुरुषोंकी निन्दा न करे ॥४८॥ नियमसे कथा सुननेवाला पुरुष रजस्वला स्त्री, अन्त्यज, म्लेच्छ, पतित, व्रात्य, ब्राह्मणोंसे द्वेष करनेवालों और जिन्हें वेदका अधिकार नहीं है उन पुरुषोंसे कभी बातचीत न करे ॥४९॥ तथा सर्वदा सत्य, शौच, दया, मौन, सरलता और विनय आदि गुणोंका आचरण करे और चित्तको उदार बनावे ॥५०॥ जो पुरुष दरिद्र, क्षयका रोगी, भाग्यहीन, पापी, पुत्रहीन और मुमुक्षु हो वह इस कथाको सुने ॥५१॥ जो स्त्री रजस्वला न होती हो, जिसके एक बार संतान होकर फिर न हुई हो, अथवा जो बाँझ हो या जिसकी सन्तान होकर मर जाती हो अथवा जिसका गर्भ गिर जाता हो वह यत्नपूर्वक इस कथाको सुने ॥५२॥ इनके विधिपूर्वक श्रवण करनेसे [ये सब दोष मिट जाते हैं और] अक्षय फलकी प्राप्ति होती है । यह अति उत्तम दिव्य कथा करोड़ों यज्ञोंका फल देनेवाली है ॥५३॥

एवं कृत्वा व्रतविधिमुद्यापनमथाचरेत् ।
जन्माष्टमीव्रतमिव कर्तव्यं फलकाङ्क्षिभिः ॥५४॥

इस प्रकार व्रतकी विधिका पालन करके उद्यापन करे, फलेच्छु पुरुषको जन्माष्टमीव्रतके समान ही इस कथाव्रतका भी उद्यापन करना चाहिये ॥५४॥

१. जिन द्विजोंका यज्ञोपवीत संस्कार ठीक समयपर नहीं हुआ इसलिये जो गायत्रीमन्त्रसे हीन हैं वे व्रात्य कहलाते हैं ।

अकिञ्चनेषु भक्तेषु प्रायो नोद्यापनाग्रहः ।
श्रवणेनैव पूतास्ते निष्कामा वैष्णवा यतः ॥५५॥

परन्तु जो भगवान्‌के निष्किञ्चन भक्त हैं उनके लिये प्रायः उद्यापनका आग्रह नहीं है । वे तो श्रवणमात्रसे ही पवित्र हो जाते हैं; क्योंकि वैष्णव निष्काम हुआ करते हैं ॥५५॥

एवं नगाहयज्ञेऽस्मिन्समाप्ते श्रोतृभिस्तदा ।
पुस्तकस्य च वक्तुश्च पूजा कार्यातिभक्तितः ॥५६॥
प्रसादतुलसीमाला श्रोतृभ्यश्चाथ दीयताम् ।
मृदङ्गताललितं कर्तव्यं कीर्तनं ततः ॥५७॥
जयशब्दं नमःशब्दं शङ्खशब्दं च कारयेत् ।
विप्रेभ्यो याचकेभ्यश्च वित्तमन्नं च दीयताम् ॥५८॥
विरक्तश्चेद्भवेच्छ्रोता गीता वाच्या परेऽहनि ।
गृहस्थश्चेत्तदा होमः कर्तव्यः कर्मशान्तये ॥५९॥
प्रतिश्लोकं तु जुहुयाद्विधिना दशमस्य च ।
पायसं मधु सर्पिश्च तिलान्नादिकसंयुतम् ॥६०॥
अथवा हवनं कुर्याद्गायत्र्या सुसमाहितः ।
तन्मयत्वात्पुराणस्य परमस्य च तत्त्वतः ॥६१॥
होमाशक्तौ बुधो हौम्यं दद्यात्तत्फलसिद्धये ।
नानाच्छिद्रनिरोधार्थं न्यूनताधिकतानयोः ॥६२॥
दोषयोः प्रशमार्थं च पठेन्नामसहस्रकम् ।
तेन स्यात्सफलं सर्वं नास्त्यस्मादधिकं यतः ॥६३॥
द्वादश ब्राह्मणान्पश्चाद्भोजयेन्मधुपायसैः ।
दद्यात्सुवर्णं धेनुं च व्रतपूर्णत्वहेतवे ॥६४॥
शक्तौ पलत्रयमितं स्वर्णसिंहं विधाय च ।
तत्रास्य पुस्तकं स्थाप्यं लिखितं ललिताक्षरम् ॥६५॥
सम्पूज्यावाहनाद्यैस्तदुपचारैः सदक्षिणम् ।
वस्त्रभूषणगन्धाद्यैः पूजिताय यतात्मने ॥६६॥
आचार्याय सुधीर्दत्त्वा मुक्तः स्याद्भवबन्धनैः ।

इस प्रकार सप्ताहयज्ञ समाप्त हो जानेपर श्रोताओंको अति भक्तिपूर्वक पुस्तक और वक्ताका पूजन करना चाहिये ॥५६॥ फिर वक्ताको चाहिये कि सब श्रोताओंको प्रसाद और तुलसीकी माला दे । तदनन्तर सब लोगोंको मृदंगकी मनोहर तालसे सुन्दर कीर्तन करना चाहिये ॥५७॥ फिर जयजयकार, नमस्कार और शंखध्वनिका घोष करावे तथा ब्राह्मण और याचकोंको धन और अन्न दे ॥५८॥ फिर दूसरे दिन, यदि श्रोता विरक्त हो तो कर्मकी शान्तिके लिये श्रीमद्भगवद्गीताका पाठ करना चाहिये और यदि गृहस्थ हो तो होम करना चाहिये ॥५९॥ उस हवनमें दशम स्कन्धका एक-एक श्लोक पढ़कर अग्निमें विधिपूर्वक खीर, मधु, घृत, तिल और अन्नादि सामग्रियोंसे आहुति दे ॥६०॥ अथवा एकाग्रचित्तसे गायत्रीमन्त्रद्वारा ही हवन करे, क्योंकि वास्तवमें तो यह महापुराण गायत्रीमय ही है ॥६१॥ यदि हवन करनेकी शक्ति न हो तो बुद्धिमान् पुरुष उसका फल प्राप्त करनेके लिये हवनकी सामग्री ब्राह्मणोंको दान कर दे । तथा नाना प्रकारके विघ्नोंकी निवृत्तिके लिये और विधिमें जो न्यूनाधिकता रह गयी हो उसके दोषको शान्त करनेके लिये विष्णुसहस्रनामका पाठ करे । उससे सब कार्य सफल हो जाते हैं क्योंकि इससे बढ़कर और कोई उपाय नहीं ॥६२-६३॥ इस सबके पीछे बारह ब्राह्मणोंको मधु और खीरका भोजन करावे तथा व्रतकी पूर्तिके लिये सोनेका और गौका दान करे ॥६४॥ यदि सामर्थ्य हो तो तीन तोले सोनेका सिंहासन बनवाकर उसपर श्रीमद्भागवतकी सुन्दर अक्षरोंमें लिखी पुस्तक रखकर उसकी आवाहनादि षोडशोपचारोंसे भली प्रकार पूजाकर, वस्त्र, आभूषण और गन्धादि सामग्रियोंसे पूजा किये गये जितेन्द्रिय आचार्यको दक्षिणाके सहित दान करे । ऐसा करनेसे वह परम बुद्धिमान् दाता सब बन्धनोंसे मुक्त हो

एवं कृते विधाने च सर्वपापनिवारणे ॥६७॥
फलदं स्यात्पुराणं तु श्रीमद्भागवतं शुभम् ।
धर्मकामार्थमोक्षाणां साधनं स्यान्न संशयः ॥६८॥

जाता है । सम्पूर्ण पापोंको नष्ट करनेवाली इस सप्ताहविधिका इस प्रकार आचरण करनेसे श्रीमद्भागवत अति शुभ फल देता है और धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—चारोंहीकी प्राप्तिका साधन हो जाता है, इसमें सन्देह नहीं ॥६५-६८॥

कुमारा ऊचुः

इति ते कथितं सर्वं किं भूयः श्रोतुमिच्छसि ।
श्रीमद्भागवतेनैव भुक्तिमुक्ती करे स्थिते ॥६९॥

सनकादि बोले—हे नारद ! यह तुम्हें सप्ताहयज्ञकी सम्पूर्ण विधि सुना दी, अब और क्या सुनना चाहते हो सो कहो ? एक श्रीमद्भागवतसे ही भोग और मोक्ष दोनों अपने हाथमें आ जाते हैं ॥६९॥

सूत उवाच

इत्युक्त्वा ते महात्मानः प्रोचुर्भागवतीं कथाम् ।
सर्वपापहरां पुण्यां भुक्तिमुक्तिप्रदायिनीम् ॥७०॥
शृण्वतां सर्वभूतानां सप्ताहं नियतात्मनाम् ।
यथाविधि ततो देवं तुष्टुवुः पुरुषोत्तमम् ॥७१॥
तदन्ते ज्ञानवैराग्यभक्तीनां पुष्टता परा ।
तारुण्यं परमं चाभूत्सर्वभूतमनोहरम् ॥७२॥
नारदश्च कृतार्थोऽभूत्सिद्धे स्वीये मनोरथे ।
पुलकीकृतसर्वाङ्गः परमानन्दसंभृतः ॥७३॥
एवं कथां समाकर्ण्य नारदो भगवत्प्रियः ।
प्रेमगद्गदया वाचा तानुवाच कृताञ्जलिः ॥७४॥

सूतजी बोले—ऐसा कह महात्मा सनकादिने एक सप्ताहतक एकाग्रचित्तसे सुननेवाले सब प्राणियोंके सामने सब पापोंको दूर करनेवाली परम पवित्र और भोग-मोक्ष प्रदान करनेवाली श्रीमद्भागवतकथा सुनायी। उसके पीछे उन्होंने श्रीपुरुषोत्तम भगवान्‌की विधिपूर्वक स्तुति की ॥७०-७१॥ ऐसा करनेपर ज्ञान, वैराग्य और भक्तिको अत्यन्त पुष्टता और सब जीवोंको प्रिय लगनेवाली तरुणता प्राप्त हो गयी ॥७२॥ अपना मनोरथ सिद्ध हो जानेपर नारदजी भी कृतकृत्य हो गये; उनके शरीरमें रोमाञ्च हो आया और वे परमानन्दसे पूर्ण हो गये ॥७३॥ इस प्रकार कथा श्रवणकर भगवान्‌के प्यारे श्रीनारदजी सनकादिसे हाथ जोड़कर प्रेमगद्गद वाणीसे कहने लगे ॥७४॥

नारद उवाच

धन्योऽस्म्यनुगृहीतोऽस्मि भवद्भिः करुणापरैः ।
अद्य मे भगवाँल्लब्धः सर्वपापहरो हरिः ॥७५॥
श्रवणं सर्वधर्मेभ्यो वरं मन्ये तपोधनाः ।
वैकुण्ठस्थो यतः कृष्णः श्रवणाद्यस्य लभ्यते ॥७६॥

नारदजी बोले—मैं धन्य हूँ, आपलोगोंने करुणा करके मुझे अनुगृहीत किया है, आज मुझे सब पापोंको दूर करनेवाले भगवान् हरिकी प्राप्ति हो गयी ॥७५॥ हे तपोधन मुनीश्वरो ! मेरे विचारसे सब धर्मोंमें श्रीमद्भागवतश्रवण ही उत्तम है; क्योंकि इससे वैकुण्ठविहारी भगवान् श्रीकृष्ण भी प्राप्त हो जाते हैं ॥७६॥

सूत उवाच

एवं ब्रुवति वै तत्र नारदे वैष्णवोत्तमे ।
परिभ्रमन्समायातः शुको योगेश्वरस्तदा ॥७७॥
तत्रायया षोडशवार्षिकस्तदा
व्यासात्मजो ज्ञानमहाब्धिचन्द्रमाः ।
कथावसाने निजलाभपूर्णः
प्रेम्णा पठन्भागवतं शनैः शनैः ॥७८॥

सूतजी कहते हैं—हे शौनक ! जिस समय वैष्णवशिरोमणि श्रीनारदजी इस प्रकार कह रहे थे उसी समय वहाँ योगेश्वर श्रीशुकदेवजी घूमते-फिरते चले आये ॥७७॥ ज्ञानरूप समुद्रके लिये चन्द्रमारूप और आत्मलाभसे तृप्त श्रीव्यासनन्दनका आगमन वहाँ ठीक कथा समाप्त होनेपर हुआ। उनकी सोलह वर्षकी अवस्था थी और वे अति प्रेमपूर्वक धीरे-धीरे श्रीमद्भागवतका पाठ कर रहे थे ॥७८॥

दृष्ट्वा सदस्याः परमोरुतेजसं
सद्यः समुत्थाय ददुर्महासनम् ।
प्रीत्या सुरर्षिस्तमपूजयत्सुखं
स्थितोऽवदत्संशृणुतामलां गिरम् ॥७९॥

श्रीशुक उवाच

निगमकल्पतरोर्गलितं फलं
शुकमुखादमृतद्रवसंयुतम् ।
पिबत भागवतं रसमालयं
मुहुरहो रसिका भुवि भावुकाः ॥८०॥

धर्मः प्रोज्झितकैतवोऽत्र परमो निर्मत्सराणां सतां
वेद्यं वास्तवमत्र वस्तु शिवदं तापत्रयोन्मूलनम् ।
श्रीमद्भागवते महामुनिकृते किं वा परैरीश्वरः
सद्यो हृद्यवरुध्यतेऽत्र कृतिभिः शुश्रूषुभिस्तत्क्षणात् ८१

श्रीमद्भागवतं पुराणतिलकं यद्वैष्णवानां धनं
यस्मिन्पारमहंस्यमेवममलं ज्ञानं परं गीयते ।
यत्र ज्ञानविरागभक्तिसहितं नैष्कर्म्यमाविष्कृतं
तच्छृण्वन्प्रपठन्विचारणपरो भक्त्या विमुच्येन्नरः ८२

स्वर्गे सत्ये च कैलासे वैकुण्ठे नास्त्ययं रसः ।
अतः पिबन्तु सद्भाग्या मा मा मुञ्चत कर्हिचित् ॥८३॥

सूत उवाच

एवं ब्रुवाणे सति बादरायणौ
मध्ये सभायां हरिराविरासीत् ।
प्रह्लादबल्युद्धवफाल्गुनादिभि-
र्वृतः सुरर्षिस्तमपूजयच्च तान् ॥८४॥
दृष्ट्वा प्रसन्नं महदासने हरिं
ते चक्रिरे कीर्तनमग्रतस्तदा ।
भवो भवान्या कमलासनस्तु
तत्रागमत्कीर्तनदर्शनाय ॥८५॥

परम तेजस्वी शुकदेवजीको देखते ही सब सभासदोंने झटपट खड़े होकर उन्हें एक श्रेष्ठ सिंहासन दिया और देवर्षि नारदने उनकी प्रीतिपूर्वक पूजा की । इस प्रकार सुखपूर्वक बैठ जानेपर श्रीशुकदेवजी 'मेरे निर्मल वचन सुनो' ऐसा कहते हुए बोले ॥७९॥

श्रीशुकदेवजीने कहा–अहो भावुक रसिकगण ! वेदरूप कल्पवृक्षका यह अमृतरससे परिपूर्ण भागवत-रूप फल शुकके मुखसे पृथिवीपर गिरा है, इसके भगवत्कथारूप अमृतरसका आपलोग मरणपर्यन्त बारंबार पान करते रहें ॥८०॥ महामुनि व्यासजीकृत इस श्रीमद्भागवतमें मत्सरहीन सत्पुरुषोंके निष्कपट (फल-कामनारहित) धर्मका और तापत्रयको दूर करनेवाली परम कल्याणमयी परमार्थ ज्ञेय वस्तुका प्रतिपादन किया गया है । इसे श्रवण करनेकी इच्छावाले भाग्यवान् पुरुष शीघ्र ही भगवान्‌को अपने हृदयमें स्थित कर लेते हैं । फिर इसे छोड़कर और किसी साधनकी क्या आवश्यकता है ? ॥ ८१ ॥ यह श्रीमद्भागवत सब पुराणोंका तिलक (शिरोभूषण) है, यह वैष्णवोंका परम धन है । इसमें परमहंसोंको प्राप्त होनेवाले परम निर्मल तत्त्वज्ञानका वर्णन किया गया है तथा ज्ञान, वैराग्य और भक्तिके सहित निवृत्तिमार्गको प्रकाशित किया गया है । जो पुरुष भक्तिपूर्वक इसके श्रवण, पाठ और विचारमें तत्पर रहता है वह संसारसे मुक्त हो जाता है ॥ ८२ ॥ यह रस स्वर्गलोक, सत्यलोक, कैलास और वैकुण्ठलोकमें भी नहीं मिल सकता । इसलिये हे भाग्यवान् पुरुषो ! इसका यथेष्ट पान करो, इसे किसी प्रकार छोड़ना मत ! छोड़ना मत ! ॥ ८३ ॥

सूतजीने कहा–जिस समय श्रीशुकदेवजी इस प्रकार कह रहे थे उसी समय उस सभामें प्रह्लाद, बलि, उद्धव और अर्जुन आदि पार्षदोंसे घिरे हुए श्रीहरि प्रकट हुए । तब देवर्षि नारदजीने भगवान् और उन भक्तोंकी भी पूजा की ॥ ८४ ॥ भगवान्‌को देखकर वे सब अत्यन्त प्रसन्न हुए और उन्हें एक श्रेष्ठ सिंहासनपर बैठाकर उनके आगे कीर्तन करने लगे । उस कीर्तनको देखनेके लिये उस समय वहाँ श्रीपार्वतीजीके सहित भगवान् शंकर और ब्रह्माजी भी आ पहुँचे ॥ ८५ ॥

प्रह्लादस्तालधारी तरलगतितया चोद्धवः कांस्यधारी
वीणाधारी सुरर्षिः स्वरकुशलतया रागकर्तार्जुनोऽभूत्।
इन्द्रोऽवादीन्मृदङ्गं जयजयसुकराः कीर्तने ते कुमारा
यत्राग्रे भाववक्ता सरसरचनया व्यासपुत्रो बभूव ।८६।

ननर्त मध्ये त्रिकमेव तत्र
भक्त्यादिकानां नटवत्सुतेजसाम् ।
अलौकिकं कीर्तनमेतदेक्ष्य
हरिः प्रसन्नोऽपि वचोऽब्रवीत्तत् ॥८७॥

मत्तो वरं भाववृताद्वृणुध्वं
प्रीतः कथाकीर्तनतोऽस्मि साम्प्रतम् ।
श्रुत्वेति तद्वाक्यमतिप्रसन्नाः
प्रेमार्द्रचित्ता हरिमूचिरे ते ॥८८॥

नगाहगाथासु च सर्वभक्तै-
रेभिस्त्वया भाव्यमिति प्रयत्नात् ।
मनोरथोऽयं परिपूरणीय-
स्तथेति चोक्त्वान्तरधीयताच्युतः ।८९।

ततोऽनमत्तच्चरणेषु नारद-
स्तथा शुकादीनपि तापसांश्च ।
अथ प्रहृष्टाः परिनष्टमोहाः
सर्वे ययुः पीतकथामृतास्ते ॥९०॥

भक्तिः सुताभ्यां सह रक्षिता सा
शास्त्रे स्वकीयेऽपि तदा शुकेन ।
अतो हरिर्भागवतस्य सेवना-
च्चित्तं समायाति हि वैष्णवानाम् ॥९१॥

दारिद्र्यदुःखज्वरदाहितानां
मायापिशाचीपरिमर्दितानाम् ।
संसारसिन्धौ परिपातितानां
क्षेमाय वै भागवतं प्रगर्जति ॥९२॥

शौनक उवाच

शुकेनोक्तं कदा राज्ञे गोकर्णेन कदा पुनः ।
सुरर्षये कदा ब्राह्मैश्छिन्धि मे संशयं त्विमम् ॥९३॥

उस कीर्तनोत्सवमें प्रह्लादजी चंचलगति होनेके कारण ताल बजाने लगे, उद्धवजीने मँजीरे उठा लिये, देवर्षि नारदजी वीणाकी ध्वनि करने लगे, स्वरमें कुशल होनेके कारण अर्जुन राग अलापने लगे, इन्द्रने मृदङ्ग बजाना आरम्भ किया, सनकादि कीर्तनके बीच-बीचमें जयजयकार करने लगे और इन सबके आगे रहकर श्रीशुकदेवजी सरस-रचना करते हुए भाव बताने लगे ॥ ८६ ॥ उन सबके बीचमें भक्ति, ज्ञान और वैराग्य ये तीनों परम तेजस्वी नटोंके समान नाचने लगे। ऐसा अलौकिक कीर्तन देखकर श्रीहरिने अति प्रसन्न होकर कहा— ॥ ८७ ॥ "मैं तुम्हारी कथा और कीर्तनसे अति प्रसन्न हूँ इसलिये अब तुम्हारे भक्तिभावसे वशीभूत हुए मुझसे तुमलोग इच्छित वर माँगो।" भगवान्‌के ये वचन सुनकर वे सब अति प्रसन्न हुए और प्रेमार्द्रचित्तसे श्रीहरिसे कहने लगे—॥ ८८ ॥ "भगवन्! हमारी यही इच्छा पूर्ण कीजिये कि आगे भी जहाँ कहीं सप्ताहकथा हो वहाँ इन भक्तोंके साथ आप अवश्य पधारें।" तब भगवान् 'तथास्तु' कहकर अन्तर्धान हो गये ॥ ८९ ॥

तब नारदजीने भगवान्‌के चरणोंके उद्देश्यसे प्रणाम किया और फिर शुकदेवजी आदि तपस्वियोंको भी नमस्कार किया। तदनन्तर सब लोग कथामृतका पान करनेसे अति आनन्दित और मोहहीन हो स्वेच्छापूर्वक जहाँ-तहाँ चले गये ॥ ९० ॥ उस समय शुकदेवजीने भक्तिकी उसके पुत्र ज्ञान और वैराग्यके सहित श्रीमद्भागवतमें स्थापना कर दी। इसीलिये भागवतका सेवन करनेसे ही श्रीहरि विष्णुभक्तोंके हृदयमें आ विराजते हैं ॥ ९१ ॥ जो लोग दरिद्रता और दुःखरूप ज्वरसे जलाये जा चुके हैं, जिन्हें मायारूप पिशाचीने कुचल दिया है तथा जो संसारसमुद्रमें गिरा दिये गये हैं उन्हें क्षेम प्रदानके लिये श्रीमद्भागवत गर्ज रहा है ॥ ९२ ॥

शौनकजी बोले—हे सूतजी! शुकदेवजीने राजा परीक्षितको, गोकर्णने धुन्धुकारीको और सनकादिने श्रीनारदजीको यह भागवत पुराण किस-किस समय सुनाया था। मेरे संशयको आप दूर कर दीजिये ॥ ९३ ॥

सूत उवाच

आकृष्णनिर्गमात्त्रिंशद्वर्षाधिकगते कलौ ।
नवमीतो नभस्ये च कथारम्भं शुकोऽकरोत् ॥९४॥
परीक्षिच्छ्रवणान्ते च कलौ वर्षशतद्वये ।
शुद्धे शुचौ नवम्यां च धेनुजोऽकथयत्कथाम् ॥९५॥
तस्मादपि कलौ प्राप्ते त्रिंशद्वर्षगते सति ।
ऊचुरूर्जे सिते पक्षे नवम्यां ब्रह्मणः सुताः ॥९६॥
इत्येतत्ते समाख्यातं यत्पृष्टोऽहं त्वयानघ ।
कलौ भागवती वार्ता भवरोगविनाशिनी ॥९७॥

कृष्णप्रियं सकलकल्मषनाशनं च
मुक्त्येकहेतुमिह भक्तिविलासकारि ।
सन्तः कथानकमिदं पिबतादरेण
लोके हि तीर्थपरिशीलनसेवया किम् ॥९८॥
स्वपुरुषमपि वीक्ष्य पाशहस्तं
वदति यमः किल तस्य कर्णमूले ।
परिहर भगवत्कथासु मत्ता-
न्प्रभुरहमन्यनृणां न वैष्णवानाम् ॥९९॥
असारे संसारे विषयविषभङ्गाकुलधियः
क्षणार्धं क्षेमार्थं पिबत शुकगाथातुलसुधाम् ।
किमर्थं व्यर्थं भो व्रजत कुपथे कुत्सितकथे
परीक्षित्साक्षी यच्छ्रवणगतमुक्त्युक्तिकथने ।१००।
रसप्रवाहसंस्थेन श्रीशुकेनेरिता कथा ।
कण्ठे सम्बध्यते येन स वैकुण्ठप्रभुर्भवेत् ॥१०१॥
इति च परमगुह्यं सर्वसिद्धान्तसिद्धं
सपदि निगदितं ते शास्त्रपुञ्जं विलोक्य ।
जगति शुककथातो निर्मलं नास्ति किञ्चि-
त्पिब परसुखहेतोर्द्वादशस्कन्धसारम् ।१०२।

सूतजी बोले-भगवान्‌के परमधाम पधारनेपर कलियुगके तीस वर्षसे कुछ अधिक बीत जानेपर शुकदेवजीने भाद्रपद मासकी (शुक्ला) नवमीको कथा आरम्भ की थी ॥ ९४ ॥ राजा परीक्षितके कथा सुननेके अनन्तर कलियुगके दो सौ वर्ष बीत जानेपर आषाढ़ मासकी शुक्ला नवमीको गोकर्णजीने यह कथा सुनायी थी ॥ ९५ ॥ और इसके पश्चात् कलियुगके तीस वर्ष और बीत जानेपर कार्तिक शुक्ला नवमीसे सनकादिने कथा आरम्भ की ॥ ९६ ॥ हे अनघ ! आपने मुझसे जो प्रश्न किया था उसका उत्तर मैंने दे दिया । इस कलियुगमें श्रीमद्भागवतकी कथा संसाररोगको नष्ट करनेवाली है ॥ ९७ ॥

हे सन्तजन ! आपलोग अति आदरपूर्वक इस कथाका ही पान कीजिये । यह भगवान् कृष्णको अति प्रिय, सकल पापोंको नष्ट करनेवाली, मुक्तिकी एकमात्र हेतु और भक्तिको बढ़ानेवाली है । संसारमें अन्य कल्याणकारी विषयोंके विचारने और तीर्थोंका सेवन करनेसे क्या होगा ? ॥ ९८ ॥ अपने दूतोंको हाथमें पाश लिये देख यमराज उनके कानमें कहते हैं—'देखो, जो भगवान्‌की कथा-वार्तामें उन्मत्त हो रहे हों उन्हें मत छूना; मैं औरोंको ही दण्ड देनेमें समर्थ हूँ, वैष्णवोंको नहीं' ॥ ९९ ॥ इस असार संसारमें विषयरूप विषसे व्याकुलचित्त हुए पुरुषो ! अपने कल्याणके लिये इस श्रीशुकशास्त्ररूप अतुलित सुधाका आधे क्षणके लिये ही पान करो । तुम क्यों अन्य निन्दित कथाओंसे युक्त कुमार्गोंमें व्यर्थ भटकते फिरते हो ? कानोंमें इस कथाका प्रवेश होते ही मनुष्यकी मुक्ति हो जाती है—इस बातको कहनेमें राजा परीक्षित साक्षी हैं ॥१००॥ इस कथाको प्रेमरसके प्रवाहमें स्थित श्रीशुकदेवजीने कही है । इसे जो पुरुष अपने कण्ठमें धारण करता है वह वैकुण्ठका स्वामी हो जाता है ॥१०१॥ हे शौनक ! सकल शास्त्रोंको देखकर उन सबका परम गुह्य सार सिद्धान्तरूप यह श्रीमद्भागवत शास्त्र तुम्हें सुनाया है । संसारमें इस शुकशास्त्रसे अधिक पवित्र और कुछ भी नहीं है । इसलिये परमानन्दकी प्राप्तिके लिये इस द्वादशस्कन्धरूप रसका पान करो ॥ १०२ ॥

एतां यो नियततया शृणोति भक्त्या
यश्चैनां कथयति शुद्धवैष्णवाग्रे ।
तौ सम्यग्विधिकरणात्फलं लभेते
याथार्थ्यान्न हि भुवने किमप्यसाध्यम् १०३

जो पुरुष इसे नियमपूर्वक भक्तिभावसे सुनता है और जो इसे शुद्ध विष्णुभक्तोंके सामने सुनाता है वे दोनों ही भली प्रकार विधिका पालन करनेके कारण इसका यथार्थ फल प्राप्त करते हैं। उनके लिये त्रिलोकीमें कोई भी वस्तु अप्राप्य नहीं है ॥१०३॥

इति श्रीपद्मपुराणे उत्तरखण्डे श्रीमद्भागवतमाहात्म्ये
श्रवणविधिकथनं नाम षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

॥ समाप्तमिदं श्रीमद्भागवतमाहात्म्यम् ॥

॥ हरिः ॐ तत्सत् ॥

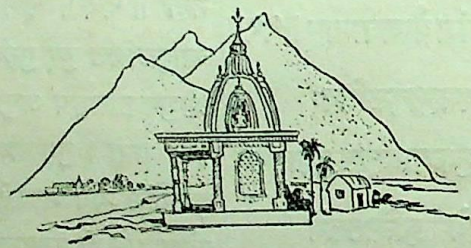

श्रीराधाकृष्णाभ्यां नमः

श्रीमद्भागवत

प्रथम स्कन्ध

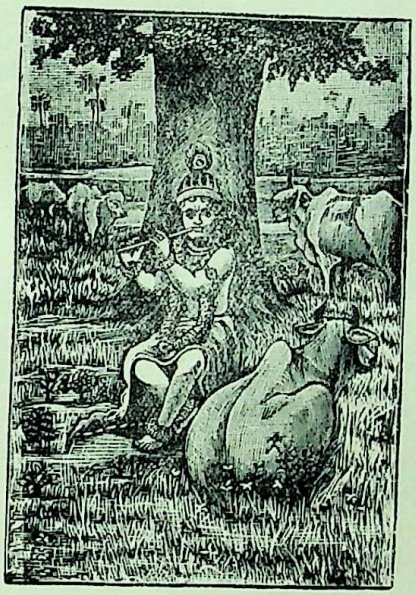

यो लीलालास्यसँछग्नो गतोऽलोलोऽपि लोलताम् ।
तं लीलावपुषं बालं वन्दे लीलार्थसिद्धये ॥

ॐ

श्रीगणेशाय नमः

श्रीमद्भागवत

प्रथम स्कन्ध

पहला अध्याय

श्रीसूतजीसे शौनकादि ऋषियोंका प्रश्न ।

मङ्गलाचरण

जन्माद्यस्य यतोऽन्वयादितरत-
श्चार्थेष्वभिज्ञः स्वराट्
तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये
मुह्यन्ति यत्सूरयः ।
तेजोवारिमृदां यथा विनिमयो
यत्र त्रिसर्गोऽमृषा
धाम्ना स्वेन सदा निरस्तकुहकं
सत्यं परं धीमहि ॥ १ ॥

समस्त कार्य-कारणात्मक जगत्में जो अन्वय और व्यतिरेक दोनों ही दृष्टियोंसे व्यापक है अर्थात् जिसकी सत्तासे ही सम्पूर्ण वस्तुएँ सत्तावाली हैं और जिसकी सत्ता या अस्तित्व बिना किसीकी सत्ता सिद्ध ही नहीं हो सकती । इसीसे इस जगत्के जन्म, पालन एवं संहारादि जिसके द्वारा होते हैं । जो सर्वज्ञ तथा स्वयंप्रकाश है और जिस वेदके सम्बन्धमें बड़े-बड़े विद्वान् भी मोहित रहते हैं उसका जिसने संकल्प-मात्रसे ही ब्रह्माके हृदयमें सञ्चार कर दिया । और जैसे तैजस (काँच आदि) को जल, जल आदिको स्थल एवं मिट्टी आदिको जल समझनेकी भ्रान्ति होती है वैसे ही जिस शुद्ध भगवत्स्वरूपमें यह त्रिगुणमयी सृष्टि असत् होनेपर भी सत् प्रतीत होती है । जिसके ज्ञानस्वरूप तेजसे छल-कपट-माया आदि सर्वदा बाधित ही रहते हैं उस परम सत्यका हम ध्यान करते हैं ॥१॥

धर्मः प्रोज्झितकैतवोऽत्र परमो
निर्मत्सराणां सतां
वेद्यं वास्तवमत्र वस्तु शिवदं
तापत्रयोन्मूलनम् ।
श्रीमद्भागवते महामुनिकृते
किं वा परैरीश्वरः
सद्यो हृद्यवरुध्यतेऽत्र कृतिभिः
शुश्रूषुभिस्तत्क्षणात् ॥ २ ॥

महामुनि श्रीवेदव्यासजीद्वारा रचे हुए इस श्रीमद्भागवतमें मत्सरहीन सत्पुरुषोंके निष्कपट (फलाभिसन्धिसे रहित) एवं [केवल ईश्वराराधनरूप] परम धर्मका तथा तापत्रयको दूर करनेवाली कल्याणकारिणी एवं जाननेयोग्य वास्तविक वस्तु (परब्रह्म श्रीकृष्ण) का वर्णन किया गया है । इसका श्रवण करनेकी इच्छा रखनेवाले भाग्यवान् पुरुष अपने हृदयमें ईश्वरको तुरन्त ही स्थिर कर लेते हैं । इसके लिये दूसरे साधनोंकी क्या आवश्यकता है ? ॥२॥

निगमकल्पतरोर्गलितं फलं
शुकमुखादमृतद्रवसंयुतम् ।
पिबत भागवतं रसमालयं
मुहुरहो रसिका भुवि भावुकाः ॥ ३ ॥

अहो भावुक रसिकगण ! वेदरूप कल्पवृक्षका यह अमृतरससे परिपूर्ण भागवतरूप फल शुकके मुखसे पृथ्वीपर गिरा है, इसके भगवत्कथारूप अमृतरसका आपलोग मरणपर्यन्त बार-बार पान करते रहें ॥ ३ ॥

कथाप्रारम्भ

नैमिषेऽनिमिषक्षेत्रे ऋषयः शौनकादयः ।
सत्रं स्वर्गाय लोकाय सहस्रसममासत ॥ ४ ॥
त एकदा तु मुनयः प्रातर्हुतहुताग्नयः ।
सत्कृतं सूतमासीनं पप्रच्छुरिदमादरात् ॥ ५ ॥

[एक बार] भगवान् विष्णुके क्षेत्र नैमिषारण्यमें शौनकादि ऋषियोंने स्वर्गलोककी[1] प्राप्तिके लिये सहस्र वर्षोंमें होनेवाले सत्रका[2] आरम्भ किया था ॥४॥ एक दिन प्रातःकालिक अग्निहोत्रसे निवृत्त हो उन मुनियोंने वहाँ सम्मानित होकर बैठे हुए श्रीसूतजीसे इस प्रकार आदरपूर्वक पूछा—॥५॥

ऋषय ऊचुः

त्वया खलु पुराणानि सेतिहासानि चानघ ।
आख्यातान्यप्यधीतानि धर्मशास्त्राणि यान्युत ॥ ६ ॥
यानि वेदविदां श्रेष्ठो भगवान्बादरायणः ।
अन्ये च मुनयः सूत परावरविदो विदुः ॥ ७ ॥
वेत्थ त्वं सौम्य तत्सर्वं तत्त्वतस्तदनुग्रहात् ।
ब्रूयुः स्निग्धस्य शिष्यस्य गुरवो गुह्यमप्युत ॥ ८ ॥
तत्र तत्राञ्जसायुष्मन्भवता यद्विनिश्चितम् ।
पुंसामेकान्ततः श्रेयस्तन्नः शंसितुमर्हसि ॥ ९ ॥
प्रायेणाल्पायुषः सभ्य कलावस्मिन्युगे जनाः ।
मन्दाः सुमन्दमतयो मन्दभाग्या ह्युपद्रुताः ॥१०॥
भूरीणि भूरिकर्माणि श्रोतव्यानि विभागशः ।
अतः साधोऽत्र यत्सारं समुद्धृत्य मनीषया ।
ब्रूहि नः श्रद्दधानानां येनात्मा सम्प्रसीदति ॥११॥
सूत जानासि भद्रं ते भगवान्सात्वतां पतिः ।

ऋषिगण बोले—हे निष्पाप सूतजी ! आपने इतिहासोंके सहित पुराणोंको और धर्मशास्त्रोंको भी भली प्रकार पढ़ा है तथा उनकी व्याख्या भी की है ॥६॥ हे सौम्य ! वेदवेत्ताओंमें श्रेष्ठ भगवान् व्यासजी तथा प्रकृति और परमेश्वरको तत्त्वसे जाननेवाले अन्यान्य मुनिगण जिन शास्त्रोंको जानते हैं उन सबको आप भी उनकी कृपासे यथावत् जानते हैं; क्योंकि गुरुजन अपने प्रिय शिष्यको अत्यन्त गुह्य तत्त्व भी बतला दिया करते हैं ॥७-८॥ हे आयुष्मन् ! आपने उन सब शास्त्रोंमें पुरुषोंके लिये जो एकान्तश्रेय[3] (कल्याणप्राप्तिका अव्यर्थ साधन) सरलतासे भली प्रकार निश्चित किया हो वह हमें बतलाइये ॥९॥ हे सभ्य ! इस कलिकालमें लोग प्रायः अल्पायु, शिथिल स्वभाववाले, मन्दमति, मन्दभाग्य और विघ्नोंसे घिरे हुए हैं ॥१०॥ संसारमें विभागपूर्वक सुनने योग्य और नाना प्रकारके कर्मोंका प्रतिपादन करनेवाले शास्त्र बहुत हैं । अतः हे साधो ! उन सबमें जो सार वस्तु हो उसे अपनी बुद्धिसे निकालकर हम श्रद्धालुओंको सुनाइये, जिससे कि हमारा चित्त अति आनन्दित एवं निर्मल हो ॥११॥ हे सूतजी ! आपका शुभ हो । सात्वतों (भक्तों तथा यादवों) के स्वामी श्रीहरि वसुदेवजीकी

१. श्रीश्रीधर स्वामीजीने 'स्वर्गाय लोकाय' इस पदका यह अर्थ किया है—स्वर्गमें जिनका यशोगान किया जाता है वे श्रीहरि 'स्वर्गाय' हैं तथा भक्तोंके निवासस्थानस्वरूप होनेके कारण वे ही लोक हैं, उन भगवान् हरिकी ही प्राप्तिके लिये यज्ञका आरम्भ किया । यही अर्थ उचित जान पड़ता है; क्योंकि सहस्र वर्षोंमें साध्य यज्ञकी सफलता इसीमें है कि उससे भगवत्प्राप्ति हो जाय ।

२. जहाँ यजमान ही ऋत्विक्कर्म करें वह यज्ञ 'सत्र' कहलाता है ।

३. जो सर्वविध अधिकारियोंके प्रति अपना कल्याणपन न छोड़े वह एकान्तश्रेय कहलाता है ।

देवक्यां वसुदेवस्य जातो यस्य चिकीर्षया ॥१२॥
तन्नः शुश्रूषमाणानामर्हस्यङ्गानुवर्णितुम् ।
यस्यावतारो भूतानां क्षेमाय च भवाय च ॥१३॥
आपन्नः संसृतिं घोरां यन्नाम विवशो गृणन् ।
ततः सद्यो विमुच्येत यद्बिभेति स्वयं भयम् ॥१४॥
यत्पादसंश्रयाः सूत मुनयः प्रशमायनाः ।
सद्यः पुनन्त्युपस्पृष्टाः स्वर्धुन्यापोऽनुसेवया ॥१५॥
को वा भगवतस्तस्य पुण्यश्लोकेड्यकर्मणः ।
शुद्धिकामो न शृणुयाद्यशः कलिमलापहम् ॥१६॥
तस्य कर्माण्युदाराणि परिगीतानि सूरिभिः ।
ब्रूहि नः श्रद्दधानानां लीलया दधतः कलाः ॥१७॥
अथाख्याहि हरेर्धीमन्नवतारकथाः शुभाः ।
लीला विदधतः स्वैरमीश्वरस्यात्ममायया ॥१८॥
वयं तु न वितृप्याम उत्तमश्लोकविक्रमे ।
यच्छृण्वतां रसज्ञानां स्वादु स्वादु पदे पदे ॥१९॥
कृतवान्किल वीर्याणि सह रामेण केशवः ।
अतिमर्त्यानि भगवान्गूढः कपटमानुषः ॥२०॥
कलिमागतमाज्ञाय क्षेत्रेऽस्मिन्वैष्णवे वयम् ।
आसीना दीर्घसत्रेण कथायां सक्षणा हरेः ॥२१॥
त्वं नः संदर्शितो धात्रा दुस्तरं निस्तितीर्षताम् ।
कलिं सत्त्वहरं पुंसां कर्णधार इवार्णवम् ॥२२॥
ब्रूहि योगेश्वरे कृष्णे ब्रह्मण्ये धर्मवर्मणि ।

पत्नी देवकीके गर्भसे जिस कार्यको पूर्ण करनेकी इच्छासे उत्पन्न हुए थे वह आप जानते हैं ॥१२॥ इसलिये हे प्रिय ! हम सुननेकी इच्छावालोंसे आप उसका वर्णन अवश्य कीजिये जिन भगवान्‌का अवतार जीवोंके क्षेम और समृद्धिके लिये ही होता है, घोर संसार-बन्धनमें पड़ा हुआ जीव विवश होकर भी जिनके नामका उच्चारण करता हुआ शीघ्र ही उससे मुक्त हो जाता है, जिनसे स्वयं भय भी भय मानता है तथा जिनके चरणोंका आश्रय लेनेवाले शान्तिपरायण मुनिजन अपना स्पर्श होते ही [अपने सेवकको] तुरन्त पवित्र कर देते हैं और गंगाजीका जल तो दीर्घकालतक सेवन करनेपर ही पवित्र करता है—ऐसे पुण्यकीर्ति भक्तोंद्वारा जिनके कर्मोंकी स्तुति की जाती है उन भगवान्‌के कलिमलनाशक पवित्र यशको ऐसा कौन आत्मशुद्धिकी इच्छावाला मनुष्य होगा जो न सुने ? ॥१३–१६॥ लीलासे ही ब्रह्म-रुद्रादि मूर्तियाँ धारण करनेवाले उन हरिके उदार चरित्रोंका, जिनका कि [नारदादि] विद्वानोंने भली प्रकार गान किया है, हम श्रद्धालु जनोंसे वर्णन कीजिये ॥१७॥ हे धीमन् ! स्वच्छन्दतापूर्वक अपनी मायासे नाना प्रकारकी लीलाएँ करनेवाले भगवान् श्रीविष्णुकी अति सुन्दर अवतार-कथाएँ अब आप हमसे कहिये ॥१८॥ हम उत्तम यशवाले भगवान्‌के चरित्र सुननेसे, जो कि रसज्ञ श्रोताओंको पद-पदपर अत्यन्त स्वादु प्रतीत होते हैं, कभी नहीं अघाते ॥१९॥ कहते हैं कि, मायामानुष-रूपमें छिपे हुए भगवान् श्रीकृष्णने बलरामजीके सहित अनेकों ऐसे कर्म किये थे जो मानवी शक्तिके बाहर हैं ॥२०॥ हमलोग कलियुग आया जानकर इस वैष्णव-क्षेत्रमें बहुत दिनोंमें समाप्त होनेवाले यज्ञका अनुष्ठान करनेके लिये एकत्रित होकर बैठे हैं, अतः श्रीहरिकी कथा सुननेका हमारे पास समय है ॥२१॥ पुरुषोंके धैर्य और साहसको हरण करनेवाले इस दुस्तर कलिकाल-को पार करना चाहनेवाले हमलोगोंसे आज विधाताने समुद्रके पार जानेकी इच्छावालोंसे कर्णधारके समान आपको मिला दिया है ॥२२॥ इसके सिवा यह भी बतलाइये कि कवचके समान धर्मकी रक्षा करनेवाले

स्वां काष्ठामधुनोपेते धर्मः कं शरणं गतः ॥२३॥

ब्राह्मणवत्सल योगेश्वर भगवान् कृष्णके स्वधाम पधारनेपर उस समय धर्म किसकी शरण गया ? ॥२३॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां प्रथमस्कन्धे नैमिषेयोपाख्याने प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

दूसरा अध्याय

भगवत्कथा और भगवद्भक्तिका माहात्म्य ।

व्यास उवाच

इति संप्रश्नसंहृष्टो विप्राणां रौमहर्षणिः ।
प्रतिपूज्य वचस्तेषां प्रवक्तुमुपचक्रमे ॥ १ ॥

श्रीव्यासजी कहते हैं–ब्राह्मणोंके इन प्रश्नोंसे अत्यन्त प्रसन्न होकर रोमहर्षणजीके पुत्र उग्रश्रवा सूतजीने उनके वचनोंका अभिनन्दन कर इस प्रकार कहना आरम्भ किया ॥१॥

सूत उवाच

यं प्रव्रजन्तमनुपेतमपेतकृत्यं
द्वैपायनो विरहकातर आजुहाव ।
पुत्रेति तन्मयतया तरवोऽभिनेदु-
स्तं सर्वभूतहृदयं मुनिमानतोऽस्मि ॥ २ ॥

सूतजी बोले–सब प्रकारके लौकिक-वैदिक कर्मोंको त्यागकर अकेले ही वनकी ओर जाते हुए जिन (श्रीशुकदेवजी) को महर्षि द्वैपायनने विरहाकुल होकर 'हे पुत्र ! हे पुत्र !' इस प्रकार पुकारा था और [उस समय पिताका शोक दूर करनेके लिये] तन्मयताके कारण जिनकी ओरसे वृक्षोंने उत्तर दिया था, समस्त भूतोंके अन्तरात्मरूप उन मुनीश्वरको मैं नमस्कार करता हूँ ॥२॥

यः स्वानुभावमखिलश्रुतिसारमेक-
मध्यात्मदीपमतितितीर्षतां तमोऽन्धम् ।
संसारिणां करुणयाह पुराणगुह्यं
तं व्याससूनुमुपयामि गुरुं मुनीनाम् ॥ ३ ॥

जिन्होंने अज्ञानरूप घोर अन्धकारके पार जानेकी इच्छावाले संसारियोंके लिये उनपर कृपा करके अध्यात्मतत्त्वका प्रकाशक, असाधारण प्रभाववाला, समस्त श्रुतियोंका सारभूत, अद्वितीय एवं पुराणोंमें अत्यन्त गुह्य यह श्रीमद्भागवतपुराण प्रकाशित किया है और जो समस्त मुनियोंके गुरु हैं उन व्यासनन्दन श्रीशुकदेवजीकी शरण लेता हूँ ॥३॥

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम् ।
देवीं सरस्वतीं चैव ततो जयमुदीरयेत् ॥ ४ ॥

मनुष्योंमें श्रेष्ठ नर ऋषि और श्रीनारायण ऋषिको एवं सरस्वतीदेवी और व्यासजीको नमस्कार कर फिर जय [अर्थात् जिससे संसार जीता जा सके ऐसे इस भागवत] ग्रन्थका पाठ करे ॥४॥

मुनयः साधु पृष्टोऽहं भवद्भिर्लोकमङ्गलम् ।
यत्कृतः कृष्णसंप्रश्नो येनात्मा सुप्रसीदति ॥ ५ ॥

हे मुनिजन ! आपने मुझसे बहुत अच्छी और संसारके लिये मंगलमयी बात पूछी है; क्योंकि आपने यह श्रीकृष्णविषयक प्रश्न किया है जिससे कि अन्तःकरण अत्यन्त पवित्र एवं आनन्दित होता है ॥५॥

१. यहाँ प्राचीन प्रतिमें 'सूत उवाच' यह पाठ अधिक है ।

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे ।
अहैतुक्यप्रतिहता ययात्मा संप्रसीदति ॥ ६ ॥
वासुदेवे भगवति भक्तियोगः प्रयोजितः ।
जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानं यत्तदहैतुकम् ॥ ७ ॥
धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसां विष्वक्सेनकथासु यः ।
नोत्पादयेद्यदि रतिं श्रम एव हि केवलम् ॥ ८ ॥
धर्मस्य ह्यापवर्ग्यस्य नार्थोऽर्थायोपकल्पते ।
नार्थस्य धर्मैकान्तस्य कामो लाभाय हि स्मृतः ॥ ९ ॥
कामस्य नेन्द्रियप्रीतिर्लाभो जीवेत यावता ।
जीवस्य तत्त्वजिज्ञासा नार्थो यश्चेह कर्मभिः ॥१०॥
वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम् ।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते ॥११॥
तच्छ्रद्दधाना मुनयो ज्ञानवैराग्ययुक्तया[1] ।
पश्यन्त्यात्मनि चात्मानं भक्त्या श्रुतगृहीतया॥१२॥
अतः पुम्भिर्द्विजश्रेष्ठा वर्णाश्रमविभागशः ।
स्वनुष्ठितस्य धर्मस्य संसिद्धिर्हरितोषणम् ॥१३॥
तस्मादेकेन मनसा भगवान्सात्वतां पतिः ।
श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च ध्येयः पूज्यश्च नित्यदा॥१४॥
यदनुध्यासिना युक्ताः कर्मग्रन्थिनिबन्धनम् ।
छिन्दन्ति कोविदास्तस्य को न कुर्यात्कथारतिम्।१५।
शुश्रूषोः श्रद्दधानस्य वासुदेवकथारुचिः ।
स्यान्महत्सेवया विप्राः पुण्यतीर्थनिषेवणात् ॥१६॥
शृण्वतां स्वकथां कृष्णः पुण्यश्रवणकीर्तनः ।
हृद्यन्तःस्थो ह्यभद्राणि विधुनोति सुहृत्सताम् ॥१७॥

पुरुषोंका सबसे उत्तम धर्म वही है जिससे श्रीहरिमें निष्काम और अव्यभिचारिणी भक्ति हो जिससे कि चित्त प्रसन्न होता है ॥६॥ भगवान् वासुदेवमें प्रयुक्त किया हुआ भक्तियोग तुरन्त ही संसारसे वैराग्य कराता है और शुष्क तर्कादिसे रहित विशुद्ध ज्ञान उत्पन्न करता है ॥७॥ मनुष्योंका भलीप्रकार अनुष्ठान किया हुआ भी धर्म यदि श्रीविष्वक्सेन (नारायण) की कथामें प्रेम उत्पन्न न करे तो वह केवल श्रममात्र ही है ॥८॥ क्योंकि अपवर्ग (मोक्ष-) साधक धर्मका प्रयोजन केवल अर्थ (धन) ही नहीं है और न धर्मसाधक अर्थका फल केवल काम (भोग) ही है ॥९॥ कामका फल भी जीवनपर्यन्त इन्द्रिय-लालन ही नहीं है । इस जीवनका लाभ तत्त्वजिज्ञासा ही है, इस लोकमें यज्ञ आदि कर्मोंके द्वारा प्राप्त होनेवाले स्वर्गादि फल इसके वास्तविक प्रयोजन नहीं हैं ॥१०॥ तत्त्ववेत्ता लोग अद्वितीय ज्ञानको ही तत्त्व कहते हैं जो कि ब्रह्म, परमात्मा और भगवान् आदि नामोंसे कहा जाता है ॥११॥ श्रद्धावान् मुनिजन शास्त्रश्रवणद्वारा प्राप्त हुई ज्ञान और वैराग्यसे युक्त भक्तिके द्वारा उस परम-तत्त्वको अपने-आपमें परमात्मरूपसे देखते हैं ॥१२॥ अतः हे द्विजश्रेष्ठगण ! वर्णाश्रमविभागके अनुसार पुरुषोंद्वारा भलीप्रकार अनुष्ठान किये हुए धर्मकी सिद्धि श्रीहरिको प्रसन्न करना ही है ॥१३॥ अतः सर्वदा एकाग्र चित्तसे सात्वतोंके स्वामी भगवान् श्रीहरि-का ही श्रवण, कीर्तन, ध्यान और पूजन करना चाहिये ॥१४॥ जिनके निरन्तर ध्यानरूप खड्गसे युक्त विवेकीजन कर्मग्रन्थिके बन्धनको काट डालते हैं उन भगवान्‌की कथामें कौन प्रेम न करेगा ? ॥१५॥ हे विप्रगण ! सुननेकी इच्छावाले श्रद्धालु पुरुषकी महा-पुरुषोंकी सेवा करने और पुण्यतीर्थोंमें रहनेसे भगवान् वासुदेवकी कथामें रुचि हो जाती है ॥१६॥ जिनका श्रवण और कीर्तन अत्यन्त पवित्र है वे साधुजनोंके सुहृद् भगवान् कृष्ण अपनी कथा सुननेवालोंके हृदयमें विराजमान हुए उनकी अशुभ वासनाओंको नष्ट कर देते हैं ॥१७॥

१. प्रा० पा०—युक्तयः ।

नष्टप्रायेष्वभद्रेषु नित्यं भागवतसेवया ।
भगवत्युत्तमश्लोके भक्तिर्भवति नैष्ठिकी ॥१८॥
तदा रजस्तमोभावाः कामलोभादयश्च ये ।
चेत एतैरनाविद्धं स्थितं सत्त्वे प्रसीदति ॥१९॥
एवं प्रसन्नमनसो भगवद्भक्तियोगतः ।
भगवत्तत्त्वविज्ञानं मुक्तसङ्गस्य जायते ॥२०॥
भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि दृष्ट एवात्मनीश्वरे ॥२१॥
अतो वै कवयो नित्यं भक्तिं परमया मुदा ।
वासुदेवे भगवति कुर्वन्त्यात्मप्रसादिनीम् ॥२२॥

इस प्रकार भागवत (श्रीमद्भागवत अथवा भगवद्भक्तों) का निरन्तर सेवन करनेसे अशुभ वासनाओंके प्रायः नष्ट हो जानेपर भगवान् उत्तमश्लोकमें निश्चल प्रेम-भक्ति उत्पन्न होती है ॥१८॥ उस समय काम और लोभादि जो राजस-तामस भाव हैं उनसे रहित होकर सत्त्वगुणमें स्थित हुआ चित्त प्रसन्न और निर्मल हो जाता है ॥१९॥

इस प्रकार भगवान्के भक्तियोगसे प्रसन्नचित्त हुए आसक्तिरहित साधकको भगवत्तत्त्वका ज्ञान प्राप्त होता है ॥२०॥ अन्तःकरणमें आत्मस्वरूप भगवान्का साक्षात्कार होते ही इस जीवकी हृदय-ग्रन्थि (अहंकार) टूट जाती है, इसके सभी संशय छिन्न-भिन्न हो जाते हैं और समस्त शुभाशुभ कर्मोंका नाश हो जाता है ॥२१॥ इसीलिये बुद्धिमान् लोग सर्वदा अत्यन्त आनन्दपूर्वक भगवान् वासुदेवमें चित्तको निर्मल एवं प्रसन्न करनेवाली भक्ति किया करते हैं ॥२२॥

सत्त्वं रजस्तम इति प्रकृतेर्गुणास्तै-
र्युक्तः परः पुरुष एक इहास्य धत्ते ।
स्थित्यादये हरिविरिञ्चिहरेति संज्ञाः
श्रेयांसि तत्र खलु सत्त्वतनोर्नृणां स्युः ॥२३॥

सत्त्व, रज और तम—ये प्रकृतिके ही गुण हैं; उनसे युक्त हुआ एक ही परम पुरुष परमेश्वर संसारकी उत्पत्ति, स्थिति और नाशके लिये ब्रह्मा, विष्णु और शिव ये तीन रूप धारण करता है; तथापि मनुष्योंका आत्यन्तिक कल्याण तो सत्त्वमूर्ति श्रीहरिसे ही होता है ॥२३॥

पार्थिवाद्दारुणो धूमस्तस्मादग्निस्त्रयीमयः ।
तमसस्तु रजस्तस्मात्सत्त्वं यद्ब्रह्मदर्शनम् ॥२४॥
भेजिरे मुनयोऽथाग्रे भगवन्तमधोक्षजम् ।
सत्त्वं विशुद्धं क्षेमाय कल्पन्ते येऽनु तानिह ॥२५॥
मुमुक्षवो घोररूपान्हित्वा भूतपतीनथ ।
नारायणकलाः[2] शान्ता[3] भजन्ति ह्यनसूयवः ॥२६॥

जैसे पार्थिव काष्ठकी अपेक्षा धूम श्रेष्ठ है और धूमसे सद्गतिका हेतुरूप वैदिक अग्नि श्रेष्ठ है । इसी प्रकार तमोगुणसे रजोगुण और रजोगुणसे ब्रह्म-दर्शन करानेवाला सत्त्वगुण श्रेष्ठ है ॥२४॥ पूर्वकालमें मुनिजन सत्त्वस्वरूप विशुद्ध भगवान् अधोक्षज (विष्णु) का भजन करते थे; अतः इस समय भी जो लोग उन मुनियोंका अनुसरण करते हैं उनका भी कल्याण होता है ॥२५॥ मुमुक्षुजन घोररूप प्रेत-पिशाचादि भूतपतियोंको छोड़कर अन्य देवताओंकी निन्दा न करते हुए श्रीनारायणके प्रशान्त स्वरूपका भजन

१. प्रा० पा०—भगवदाश्रयात् । वर्तमान पाठकी अपेक्षा यह पाठान्तर शुद्ध है; क्योंकि इसके रहनेसे श्लोकका छन्द ठीक रहता है । वर्तमान पाठ रखनेसे श्लोकके द्वितीय चरणमें नव अक्षर हो जाते हैं, ऐसा होना अनुष्टुप्के नियमके विरुद्ध है । २. प्रा० पा०—कलां । ३. प्रा० पा० शान्तां ।

रजस्तमःप्रकृतयः समशीला भजन्ति वै ।
पितृभूतप्रजेशादीन् श्रियैश्वर्यप्रजेप्सवः ॥२७॥
वासुदेवपरा वेदा वासुदेवपरा मखाः ।
वासुदेवपरा योगा वासुदेवपराः क्रियाः ॥२८॥
वासुदेवपरं ज्ञानं वासुदेवपरं तपः ।
वासुदेवपरो धर्मो वासुदेवपरा गतिः ॥२९॥
स एवेदं ससर्जाग्रे भगवानात्ममायया ।
सदसद्रूपया चासौ गुणमय्यागुणो विभुः ॥३०॥
तया विलसितेष्वेषु गुणेषु गुणवानिव ।
अन्तःप्रविष्ट आभाति विज्ञानेन विजृम्भितः ॥३१॥
यथा ह्यवहितो वह्निर्दारुष्वेकः स्वयोनिषु ।
नानेव भाति विश्वात्मा भूतेषु च तथा पुमान् ॥३२॥
असौ गुणमयैर्भावैर्भूतसूक्ष्मेन्द्रियात्मभिः ।
स्वनिर्मितेषु निर्विष्टो भुङ्क्ते भूतेषु तद्गुणान् ॥३३॥
भावयत्येष सत्त्वेन लोकान्वै लोकभावनः ।
लीलावतारानुरतो देवतिर्यङ्नरादिषु ॥३४॥

करते हैं ॥२६॥ किन्तु राजस-तामस प्रकृतिवाले पुरुष धन, ऐश्वर्य और सन्तानादिकी इच्छासे अपने स्वभावके अनुसार पितृगण, भूतगण और प्रजापति आदिकी उपासना किया करते हैं ॥२७॥ सम्पूर्ण वेद, यज्ञ, योग, क्रिया, ज्ञान, तप, धर्म और गतियाँ वासुदेवपरक ही हैं [अर्थात् वेदोंसे प्रतिपाद्य, यज्ञोंसे यष्टव्य (पूजनीय), योगसे प्राप्य, क्रियासे साध्य, ज्ञानसे जानने योग्य, तपसे प्राप्त किये जाने योग्य, धर्मके फल और सम्पूर्ण गतियोंके लक्ष्य एकमात्र वासुदेव ही हैं] ॥२८-२९॥ उन निर्गुण और व्यापक भगवान्‌ने ही अपनी सदसद्रूपा, त्रिगुणमयी मायासे पहले इस संसारको रचा था ॥३०॥ उस माया-द्वारा विस्तृत किये हुए इन गुणोंके भीतर प्रविष्ट होकर वे गुणवान्-से प्रतीत होते हैं; वास्तवमें तो वे विज्ञानसे परिपूर्ण हैं ॥३१॥ जिस प्रकार अपने आश्रयभूत लकड़ियोंमें रहनेवाला एक ही अग्नि उन (लकड़ियों) के भेदसे अनेक रूप-सा प्रतीत होता है उसी प्रकार अनेक प्राणियोंमें व्याप्त हुए एक ही विश्वात्मा भगवान् अनेक-से प्रतीत होते हैं ॥ ३२ ॥ वह परमात्मा अपने ही रचे हुए भूतोंमें प्रविष्ट होकर भूततन्मात्रा और इन्द्रियरूप गुणमय भावोंके द्वारा उनके विषयोंका भोग करता है ॥३३॥ वे सम्पूर्ण लोकोंकी रचना करनेवाले भगवान् देवता, तिर्यक् और मनुष्यादि योनियोंमें लीलावतार धारण कर सत्त्वगुणद्वारा समस्त जीवोंका पालन करते हैं ॥३४॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे प्रथमस्कन्धे
द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

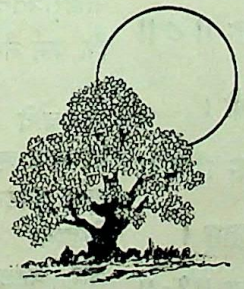

१. प्रा० पा०—लीलावतारानुरतस्तिर्यङ्नरसुरादिषु ।

तीसरा अध्याय

भगवान्‌के अवतारोंका वर्णन ।

सूत उवाच

जगृहे पौरुषं रूपं भगवान्महदादिभिः ।
सम्भूतं षोडशकलमादौ लोकसिसृक्षया ॥ १ ॥
यस्याम्भसि शयानस्य योगनिद्रां वितन्वतः ।
नाभिह्रदाम्बुजादासीद्ब्रह्मा विश्वसृजां पतिः ॥ २ ॥
यस्यावयवसंस्थानैः कल्पितो लोकविस्तरः ।
तद्वै भगवतो रूपं विशुद्धं सत्त्वमूर्जितम् ॥ ३ ॥
पश्यन्त्यदो रूपमदभ्रचक्षुषा
सहस्रपादोरुभुजाननाद्भुतम् ।
सहस्रमूर्धश्रवणाक्षिनासिकं
सहस्रमौल्यम्बरकुण्डलोल्लसत् ॥ ४ ॥
एतन्नानावताराणां निधानं बीजमव्ययम् ।
यस्यांशांशेन सृज्यन्ते देवतिर्यङ्नरादयः ॥ ५ ॥

स एव प्रथमं देवः कौमारं सर्गमास्थितः ।
चचार दुश्चरं ब्रह्मा ब्रह्मचर्यमखण्डितम् ॥ ६ ॥
द्वितीयं तु भवायास्य रसातलगतां महीम् ।
उद्धरिष्यन्नुपादत्त यज्ञेशः सौकरं वपुः ॥ ७ ॥
तृतीयमृषिसर्गं च देवर्षित्वमुपेत्य सः ।
तन्त्रं सात्वतमाचष्ट नैष्कर्म्यं कर्मणां यतः ॥ ८ ॥
तुर्ये धर्मकलासर्गे नरनारायणावृषी ।
भूत्वात्मोपशमोपेतमकरोद्दुश्चरं तपः ॥ ९ ॥
पञ्चमः कपिलो नाम सिद्धेशः कालविप्लुतम् ।
प्रोवाचासुरये सांख्यं तत्त्वग्रामविनिर्णयम् ॥१०॥
षष्ठे अत्रेरपत्यत्वं वृतः प्राप्तोऽनसूयया ।

श्रीसूतजी बोले—प्रथम सृष्टिके आदिमें भगवान्‌ने लोकरचना करनेकी इच्छासे महत्, अहंकार और पञ्चतन्मात्राओंसे सम्पन्न तथा सोलह कलाओं (ग्यारह इन्द्रियों और पाँच भूतों) से युक्त विराट पुरुष (नारायण) रूप धारण किया ॥१॥ जलमें शयन करके योगनिद्राका विस्तार करनेवाले जिस नारायण भगवान्‌के नाभिसरोवरमें प्रकट हुए कमलसे प्रजापतियोंके पति श्रीब्रह्माजी उत्पन्न हुए ॥२॥ तथा जिसके अंग-प्रत्यंगोंसे सम्पूर्ण लोकविस्तारकी कल्पना की गयी है वही भगवान्‌का विशुद्ध सत्त्वमय उत्कृष्ट रूप है ॥३॥ जो अनन्त मुकुट, वस्त्र एवं कुण्डलादिसे सुशोभित है और सहस्रों चरण, जंघा, भुजा एवं मुखोंके कारण अद्भुत प्रतीत होता है तथा जिसके सहस्रों शिर, कर्ण, नेत्र और नासिकाएँ हैं, भगवान्‌के उस रूपको योगीजन अति उदार दिव्य दृष्टिसे देखते हैं ॥ ४ ॥ यही रूप भगवान्‌के नाना अवतारोंका अक्षय निधान (लयस्थान) और बीज (उद्भवस्थान) है। इसके एक अंशांशसे सम्पूर्ण देव, तिर्य्यक् और मनुष्यादि योनियोंकी सृष्टि की जाती है॥५॥

उन्हीं भगवान्‌ने सबसे पहले कौमारसर्गमें स्थित होकर ब्राह्मण (सनकादि) रूपसे अति दुष्कर अखण्ड ब्रह्मचर्यव्रतका पालन किया था॥६॥दूसरी बार इस विश्वके अभ्युदयके निमित्त रसातलको गयी हुई पृथिवीका उद्धार करनेके लिये उन यज्ञेश्वरने सूकररूप धारण किया ॥७॥ तीसरी बार ऋषिसर्गका आश्रय ले देवर्षि नारद होकर पाञ्चरात्रतन्त्रका व्याख्यान (प्रवचन) किया जिससे कि कर्म नैष्कर्म्य (मोक्ष) के साधक हो जाते हैं ॥८॥

चौथे अवतारमें धर्मकी भार्यासे उत्पन्न नर और नारायण ऋषि हुए और मन तथा इन्द्रियोंके निग्रहपूर्वक कठिन तप किया॥ ९ ॥ पाँचवें कपिल नामक सिद्धेश्वर हुए, उन्होंने तत्त्वोंका निर्णय करनेवाले और कालक्रमसे लुप्त हुए सांख्य-शास्त्रका आसुरि नामक ब्राह्मणको उपदेश किया ॥१०॥ छठे दत्तात्रेय-अवतारमें भगवान् अत्रि-पत्नी अनसूयाके वर माँगनेपर

आन्वीक्षिकीमलर्काय प्रह्लादादिभ्य ऊचिवान् ॥११॥
ततः सप्तम आकूत्यां रुचेर्यज्ञोऽभ्यजायत ।
स यामाद्यैः सुरगणैरपात्स्वायम्भुवान्तरम् ॥१२॥

अत्रिके पुत्ररूपसे उत्पन्न हुए* तथा उन्होंने अलर्क और प्रह्लाद आदिको ब्रह्मविद्याका उपदेश किया ॥११॥ फिर सातवेंमें रुचि प्रजापतिकी स्त्री आकूतिसे यज्ञ भगवान्-के रूपमें प्रकट हुए। स्वायम्भुवमन्वन्तरमें [अपने ही पुत्र] यामादि देवताओंके सहित इन्हींने त्रिलोकीकी रक्षा की थी ॥१२॥

अष्टमे मेरुदेव्यां तु नाभेर्जात उरुक्रमः ।
दर्शयन्वर्त्म धीराणां सर्वाश्रमनमस्कृतम् ॥१३॥
ऋषिभिर्याचितो भेजे नवमं पार्थिवं वपुः ।
दुग्धेमामौषधीर्विप्रास्तेनायं स उशत्तमः ॥१४॥
रूपं स जगृहे मात्स्यं चाक्षुषोदधिसम्प्लवे ।
नाव्यारोप्य महीमय्यामपाद्वैवस्वतं मनुम् ॥१५॥
सुरासुराणामुदधिं मथ्नतां मन्दराचलम् ।
दध्रे कमठरूपेण पृष्ठ एकादशे विभुः ॥१६॥
धान्वन्तरं द्वादशमं त्रयोदशममेव च ।
अपाययत्सुरानन्यान्मोहिन्या मोहयन्स्त्रिया ॥१७॥
चतुर्दशं नारसिंहं बिभ्रद्दैत्येन्द्रमूर्जितम् ।
ददार करजैर्वक्षस्येरकां कटकृद्यथा ॥१८॥
पञ्चदशं वामनकं कृत्वागादध्वरं बलेः ।
पदत्रयं याचमानः प्रत्यादित्सुस्त्रिविष्टपम् ॥१९॥

आठवीं बार भगवान् उरुक्रम (विष्णु) महाराज नाभि-की पत्नी मेरुदेवीसे ऋषभ नामसे अवतीर्ण हुए। उस समय उन्होंने धीर पुरुषोंका समस्त आश्रमोंसे वन्दनीय मार्ग (परमहंस-धर्म) दिखलाया ॥१३॥ फिर ऋषियोंके प्रार्थना करनेपर नवाँ पृथुरूप धारण किया। हे विप्रगण! उन्हींने इस पृथ्वीसे सब ओषधियोंको दुहा था अतः यह अवतार सभीके लिये अत्यन्त अभीष्ट हुआ ॥१४॥ (दशवीं बार) चाक्षुष मन्वन्तरके अन्तमें समुद्रकी बाढ़से प्रलय होनेपर उन्होंने मत्स्यरूप धारण किया और पृथिवीमयी नौकापर [अगले मन्वन्तरमें होनेवाले] वैवस्वत मनुको चढ़ाकर उनकी रक्षा की ॥१५॥ ग्यारहवें अवतारमें देवता और दैत्योंके समुद्र-मन्थन करते समय भगवान् विभुने कूर्मरूपसे अपनी पीठपर मन्दराचल पर्वत धारण किया ॥१६॥

बारहवाँ धन्वन्तरि अवतार है [जो समुद्रसे अमृत लेकर प्रकट हुआ] और तेरहवाँ अवतार वही है जिसमें मोहिनी स्त्रीके रूपसे असुरोंको मोहित करते हुए भगवान्-ने देवताओंको अमृत पिलाया था ॥१७॥ चौदहवाँ नरसिंह रूप धारणकर अत्यन्त बलवान् दैत्यराज हिरण्यकशिपुके वक्षःस्थलको अपने नखोंसे इस प्रकार चीर डाला था जैसे कि चटाई बनानेवाला एरका (सींक) को चीर डालता है ॥१८॥ पन्द्रहवाँ वामनरूप धारण-कर भगवान् राजा बलिकी यज्ञमें गये और उससे स्वर्ग-लोक छीन लेनेकी इच्छासे तीन पग पृथिवी माँगी ॥१९॥

* 'अत्रिने भगवान्से यह याचना की थी कि मेरे आप ही जैसा पुत्र हो, इसी कथाका, जो चतुर्थ स्कन्धमें वर्णित है, इस श्लोकमें संकेत किया गया है। परन्तु श्लोकके वाक्यार्थसे ऐसा मालूम होता है कि अनसूयाने स्वयं ही भगवान्से अपने पुत्ररूपमें प्रकट होनेका वर माँगा था। ब्रह्माण्डपुराणके पतिव्रतोपाख्यानमें भी यही बात कही गयी है—

अनसूयाब्रवीन्नत्वा देवान् ब्रह्मेशकेशवान्। यूयं यदि प्रसन्ना मे वरार्हा यदि वाप्यहम्॥ प्रसादाभिमुखाः सर्वे मम पुत्रत्वमेष्यथ।

अर्थात्—अनसूयाने ब्रह्मा, शिव और विष्णु—इन देवताओंको नमस्कार करके इनसे कहा "यदि आपलोग मुझ-पर प्रसन्न हैं और मुझे वर देनेयोग्य समझते हैं तो आप सभी लोग कृपया मेरे पुत्रभावको प्राप्त हों।" इसके अनुसार यह विष्णुका अवतार है। [—क्रमसन्दर्भसे]

अवतारे षोडशमे पश्यन् ब्रह्मद्रुहो नृपान् ।
त्रिःसप्तकृत्वः कुपितो निःक्षत्रामकरोन्महीम् ॥२०॥

सोलहवें (परशुराम) अवतारमें राजाओंको वेद, भगवान् और ब्राह्मणोंसे द्वेष करनेवाले देखकर अत्यन्त क्रोधपूर्वक युद्ध कर पृथिवीको इक्कीस बार क्षत्रियहीन कर दिया ॥२०॥

ततः सप्तदशे जातः सत्यवत्यां पराशरात् ।
चक्रे वेदतरोः शाखा दृष्ट्वा पुंसोऽल्पमेधसः ॥२१॥
नरदेवत्वमापन्नः सुरकार्यचिकीर्षया ।
समुद्रनिग्रहादीनि चक्रे वीर्याण्यतः परम् ॥२२॥
एकोनविंशे विंशतिमे वृष्णिषु प्राप्य जन्मनी ।
रामकृष्णाविति भुवो भगवानहरद्भरम् ॥२३॥
ततः कलौ सम्प्रवृत्ते सम्मोहाय सुरद्विषाम् ।
बुद्धो नाम्नाजनसुतः[1] कीकटेषु भविष्यति ॥२४॥
अथासौ युगसन्ध्यायां दस्युप्रायेषु राजसु ।
जनिता विष्णुयशसो नाम्ना कल्किर्जगत्पतिः ॥२५॥

तदनन्तर सतरहवें (वेदव्यास) अवतारमें पराशरजीद्वारा सत्यवतीके गर्भसे उत्पन्न हुए और लोगोंको अल्प बुद्धिवाले देखकर वेदरूप वृक्षकी शाखाएँ कीं ॥२१॥ तत्पश्चात् देवताओंके कार्य करनेकी इच्छासे महाराज रामरूप होकर समुद्रबन्धन और रावणवधादि अनेक पराक्रम किये ॥२२॥ इसके बाद उन्नीसवें और बीसवें अवतारोंमें वृष्णिवंशमें बलराम और कृष्ण होकर भगवान्‌ने पृथिवीका भार उतारा ॥ २३ ॥ तत्पश्चात् कलियुगकी प्रवृत्ति हो जानेपर देवद्रोही असुरोंको मोहित करनेके लिये भगवान् मगधदेशमें अजन [अथवा जिन] के पुत्र बुद्ध नामसे अवतीर्ण होंगे ॥ २४ ॥ फिर [कलियुगका अन्त आनेपर] युगसन्धिके समय जब राजालोग प्रायः लुटेरे हो जायँगे तो जगत्पति भगवान् विष्णुयशा ब्राह्मणके यहाँ कल्किरूपसे अवतीर्ण होंगे* ॥२५॥

अवतारा ह्यसंख्येया हरेः सत्त्वनिधेर्द्विजाः ।
यथाविदासिनः कुल्याः सरसः स्युः सहस्रशः ॥२६॥
ऋषयो मनवो देवा मनुपुत्रा महौजसः ।
कलाः सर्वे हरेरेव सप्रजापतयस्तथा ॥२७॥
एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान्स्वयम् ।
इन्द्रारिव्याकुलं लोकं मृडयन्ति युगे युगे ॥२८॥

हे द्विजगण! इनके अतिरिक्त भी सत्त्वनिधि भगवान् विष्णुके अगणित अवतार हैं, जैसे कि कभी क्षीण न होनेवाले सरोवरसे सहस्रों छोटे-छोटे स्रोत निकला करते हैं ॥२६॥ ऋषि, मनु, देवता, महातेजस्वी मनुपुत्र और प्रजापतिगण ये सब भगवान् विष्णुके ही अंश हैं ॥२७॥ ये सब तो पुराणपुरुष भगवान् विष्णुके अंश और कला हैं किन्तु श्रीकृष्ण तो [सम्पूर्ण कलाओंसे युक्त] स्वयं भगवान् ही हैं । ये अवतार असुरगणोंके उत्पातसे लोकके व्याकुल होनेपर उसे युग-युगमें शान्ति प्रदान करते हैं ॥२८॥

---

१. प्रा० पा०—जिनसुतः ।

* यहाँ बाईस अवतारोंकी गणना की गयी है, परन्तु भगवान्‌के चौबीस अवतार प्रसिद्ध हैं । कुछ विद्वान् चौबीसकी संख्या यों पूर्ण करते हैं—बीस अवतार तो उपर्युक्त ही हैं, शेष, चार अवतार श्रीकृष्णके ही अंश हैं । स्वयं श्रीकृष्ण तो पूर्ण परमेश्वर हैं, वे अवतार नहीं अवतारी हैं । अतः श्रीकृष्णको अवतारोंकी गणनामें नहीं गिनते । उनके चार अंश ये हैं—एक तो केशका अवतार, दूसरा सुतपा तथा पृश्निपर कृपा करनेवाला अवतार, तीसरा संकर्षण-बलराम और चौथा परब्रह्म । इस प्रकार इन चार अवतारोंसे विशिष्ट पाँचवें साक्षात् भगवान् वासुदेव हैं । दूसरे विद्वान् ऐसा मानते हैं कि बाईस तो उपर्युक्त ही अवतार हैं और दो ये हैं—हंस और हयग्रीव ।

जन्म गुह्यं भगवतो य एतत्प्रयतो नरः ।
सायं प्रातर्गृणन्भक्त्या दुःखग्रामाद्विमुच्यते ॥२९॥
एतद्रूपं भगवतो ह्यरूपस्य चिदात्मनः ।
मायागुणैर्विरचितं महदादिभिरात्मनि ॥३०॥
यथा नभसि मेघौघो रेणुर्वा पार्थिवोऽनिले ।
एवं द्रष्टरि दृश्यत्वमारोपितमबुद्धिभिः ॥३१॥
अतः परं यदव्यक्तमप्यूढगुणव्यूहितम् ।
अदृष्टाश्रुतवस्तुत्वात्स जीवो यत्पुनर्भवः ॥३२॥
यत्रेमे सदसद्रूपे प्रतिषिद्धे स्वसंविदा ।
अविद्ययात्मनि कृते इति तद्ब्रह्मदर्शनम् ॥३३॥
यद्येषोपरता देवी माया वैशारदी मतिः ।
सम्पन्न एवेति विदुर्महिम्नि स्वे महीयते ॥३४॥
एवं जन्मानि कर्माणि ह्यकर्तुरजनस्य च ।
वर्णयन्ति स्म कवयो वेदगुह्यानि हृत्पतेः ॥३५॥

स वा इदं विश्वममोघलीलः
सृजत्यवत्यत्ति न सज्जतेऽस्मिन् ।
भूतेषु चान्तर्हित आत्मतन्त्रः
षाडवर्गिकं जिघ्रति षड्गुणेशः ॥३६॥
न चास्य कश्चिन्निपुणेन धातु-
रवैति जन्तुः कुमनीष ऊतीः ।
नामानि रूपाणि मनोवचोभिः
सन्तन्वतो नटचर्यामिवाज्ञः ॥३७॥
स वेद धातुः पदवीं परस्य
दुरन्तवीर्यस्य रथाङ्गपाणेः ।

जो मनुष्य पवित्र भावसे भगवान्‌की इस गुह्य जन्मकथाका प्रातः और सायंकालमें भक्तिपूर्वक कीर्तन करता है वह दुःखसमूहसे छूट जाता है ॥२९॥ रूपरहित एवं ज्ञानस्वरूप भगवान्‌का जो यह विराट् रूप है वह मायाके महत्तत्त्वादि गुणोंसे अपनेमें कल्पित है ॥३०॥ जिस प्रकार आकाशमें मेघमालाकी और वायुमें पार्थिव रजकणोंकी कल्पना होती है उसी प्रकार अविवेकियोंद्वारा द्रष्टामें दृश्यत्वका आरोप किया गया है ॥३१॥ इस दृश्यके परे जो देखने और सुननेमें न आनेवाला होनेके कारण अव्यक्त और परिणामरहित गुणोंसे रचित है वही [लिंगदेहाभिमानी] जीव है, जिसका कि बारम्बार जन्म होता है ॥३२॥ और आत्मामें अविद्यासे आरोपित किये गये ये सत् और असत् दोनों रूप जिस अवस्थामें आत्मज्ञानके द्वारा बाधित हो जाते हैं, वही ब्रह्मदर्शन है ॥३३॥ जब [संसारचक्रसे क्रीड़ा करनेवाली] यह बुद्धिरूपा ईश्वरीय माया निवृत्त हो जाती है उस समय बुद्धि विद्यास्वरूपिणी हो जाती है और तब वह जीव ब्रह्मस्वरूप हो गया, ऐसा तत्त्वज्ञानी लोग जानते हैं । उस अवस्थामें वह अपनी महिमामें विराजमान होता है ॥३४॥ वास्तवमें जो जन्म और कर्मोंसे रहित हैं उन हृदयेश्वर अन्तर्यामी भगवान्‌के वेदोंद्वारा भी जाननेमें न आनेवाले गुह्य जन्म और कर्मोंका विद्वानोंने इस प्रकार वर्णन किया है ॥३५॥

वे अमोघलीलाविहारी भगवान् इस सम्पूर्ण जगत्‌की रचना, पालन और संहार करते हैं, किन्तु इसमें आसक्त नहीं होते; तथा प्राणियोंके अन्तःकरणमें स्वाधीनतापूर्वक स्थित होकर [पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और छठा मन इन] छहों इन्द्रियोंके नियन्ता होनेसे इन छहोंके विषयोंको अलग रहकर ही ग्रहण करते हैं ॥३६॥ जिस प्रकार मन और वाणीद्वारा नाना रूप तथा नाम बनानेवाले नटकी लीलाओंको अनजान मनुष्य नहीं जान सकता उसी प्रकार संकल्पमात्रसे नाम और रूपोंका विस्तार करनेवाले इस विधाताकी लीलाओंको कोई कुबुद्धि जीव बड़ी चतुराईसे भी नहीं जान सकता ॥ ३७ ॥ जो पुरुष निष्कपटभावसे निरन्तर प्रेमपूर्वक अनुकूल आचरण करते

योऽमायया सन्ततयानुवृत्त्या
भजेत तत्पादसरोजगन्धम् ॥३८॥
अथेह धन्या भगवन्त इत्थं
यद्वासुदेवेऽखिललोकनाथे[1] ।
कुर्वन्ति सर्वात्मकमात्मभावं
न यत्र भूयः परिवर्त उग्रः ॥३९॥

हुए उनके चरणकमलकी गन्धका सेवन करता है वही उन अनन्तवीर्य चक्रपाणि परमात्मा विधाताके मार्ग (जन्म-कर्मोंके रहस्य) को जान सकता है ॥३८॥ हे मुनिगण ! इस संसारमें आप धन्य हैं, जो इस प्रकार उन निखिललोकपति भगवान् वासुदेवमें सब प्रकार अपना प्रेम लगा रहे हैं, जिससे कि फिर यह भयंकर संसार प्राप्त नहीं होता ॥ ३९ ॥

इदं भागवतं नाम पुराणं ब्रह्मसम्मितम् ।
उत्तमश्लोकचरितं चकार भगवानृषिः ॥४०॥
निःश्रेयसाय लोकस्य धन्यं स्वस्त्ययनं महत् ।
तदिदं ग्राहयामास सुतमात्मवतां वरम् ॥४१॥
सर्ववेदेतिहासानां सारं सारं समुद्धृतम् ।
स तु संश्रावयामास महाराजं परीक्षितम् ॥४२॥
प्रायोपविष्टं गङ्गायां परीतं परमर्षिभिः ।
कृष्णे[3] स्वधामोपगते धर्मज्ञानादिभिः सह ॥४३॥
कलौ नष्टदृशामेष पुराणार्कोऽधुनोदितः ।
तत्र कीर्तयतो विप्रा विप्रर्षेर्भूरितेजसः ॥४४॥
अहं चाध्यगमं तत्र निविष्टस्तदनुग्रहात् ।
सोऽहं वः श्रावयिष्यामि यथाधीतं यथामति ॥४५॥

पुण्यकीर्ति श्रीनारायणके चरित्ररूप इस वेदसम्मत अतिधन्य और महान् मंगलमय भागवत नामक पुराणको भगवान् वेदव्यासजीने संसारके कल्याणके लिये रचा और उसे आत्मज्ञानियोंमें श्रेष्ठ अपने पुत्र श्रीशुकदेवजीको पढ़ाया था ॥ ४०-४१ ॥ इसमें सम्पूर्ण वेद और इतिहासोंका सार-सार ले लिया गया है । उन शुकदेवजीने इसे महाराज परीक्षितको सुनाया था जो कि मरणपर्यन्त अनशनव्रत लेकर महर्षियोंसे घिरे हुए श्रीगंगाजीके तटपर बैठे हुए थे । धर्म और ज्ञानादिके सहित भगवान् श्रीकृष्णके स्वधाम पधारनेपर इस समय कलियुगमें अज्ञानान्धकारसे आवृत दृष्टिवाले पुरुषोंके लिये यह पुराणरूप सूर्य प्रकट हुआ है । हे विप्रगण ! महातेजस्वी ब्रह्मर्षि शुकदेवजी जब वहाँ सुना रहे थे तब वहाँ बैठे-बैठे मैंने भी उनकी कृपासे इसका अध्ययन किया है, सो जैसा मैंने अध्ययन किया है वह आपको अपनी बुद्धिके अनुसार सुनाता हूँ ॥ ४२-४५ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे प्रथमस्कन्धे
तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

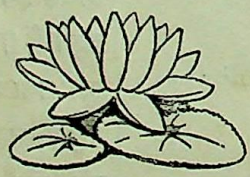

१. प्रा० पा०—ऽखिलविश्वनाथे । २. प्रा० पा०—ततः संग्राहयामास । ३. कृष्णे स्वधामोपगते·····'यहाँसे लेकर·····ऽधुनोदितः ।' यहाँतकका पाठ प्राचीन प्रतिमें नहीं है । ४. यहाँ प्राचीन प्रतिमें 'नैमिषीयोपाख्याने जन्मगुह्य' इतना पाठ अधिक है ।

चौथा अध्याय

शौनकजीका प्रश्न और सूतजीद्वारा महर्षि व्यासके असन्तोषका वर्णन ।

व्यास उवाच

इति ब्रुवाणं संस्तूय मुनीनां दीर्घसत्रिणाम् ।
वृद्धः कुलपतिः सूतं बह्वृचः शौनकोऽब्रवीत् ॥ १ ॥

व्यासजी कहते हैं—सूतजीके इस प्रकार कहनेपर चिरकालिक यज्ञका अनुष्ठान करनेवाले उन मुनियोंमें वयोवृद्ध कुलपति ऋग्वेदी शौनकजीने उनकी प्रशंसा करते हुए कहा ॥ १ ॥

शौनक उवाच

सूत सूत महाभाग वद नो वदतां वर ।
कथां भागवतीं पुण्यां यदाह भगवाञ्छुकः ॥ २ ॥
कस्मिन्युगे प्रवृत्तेयं स्थाने वा केन हेतुना ।
कुतः सञ्चोदितः कृष्णः कृतवान्संहितां मुनिः ॥ ३ ॥
तस्य पुत्रो महायोगी समदृङ्निर्विकल्पकः ।
एकान्तमतिरुन्निद्रो गूढो मूढ इवेयते ॥ ४ ॥
दृष्ट्वानुयान्तमृषिमात्मजमप्यनग्नं[1]
देव्यो ह्रिया परिदधुर्न सुतस्य चित्रम् ।
तद्वीक्ष्य पृच्छति मुनौ जगदुस्तवास्ति
स्त्रीपुंभिदा न तु सुतस्य विविक्तदृष्टेः ॥ ५ ॥
कथमालक्षितः पौरैः सम्प्राप्तः कुरुजाङ्गलान् ।
उन्मत्तमूकजडवद्विचरन् गजसाह्वये ॥ ६ ॥
कथं वा पाण्डवेयस्य राजर्षेर्मुनिना सह ।
संवादः समभूत्तात यत्रैषा सात्वती श्रुतिः ॥ ७ ॥

शौनक मुनि बोले—हे वक्ताओंमें श्रेष्ठ महाभाग सूतजी ! भगवान् शुकदेवजीने जिस परम पवित्र भागवत कथाको सुनाया था वह आप हमें भी सुनाइये ॥ २ ॥ यह कथा किस युगमें किस कारणसे किस स्थानपर हुई थी ? और मुनिवर कृष्णद्वैपायनने किसकी प्रेरणासे इस संहिताको रचा था ? ॥ ३ ॥ उनके पुत्र शुकदेवजी तो महायोगी, समदृष्टि, भेदभावसे रहित, एकान्तमति (ब्रह्ममात्रमें लग्न) और संसार-निद्रासे जागे हुए हैं; अतः सर्वसाधारणको व्यक्त न होनेके कारण वे मूढ़-से प्रतीत होते हैं ॥ ४ ॥ अपने पुत्रके पीछे अनग्नावस्थामें जाते हुए भी श्रीव्यासजीको देखकर जब अप्सराओंने लज्जावश अपने वस्त्र धारण कर लिये और पुत्रको [नग्नावस्थामें भी] देखकर नहीं किये तो इस आश्चर्यको देखकर मुनिवरके पूछनेपर उन्होंने कहा था—'तुम्हारी दृष्टिमें स्त्री-पुरुषका भेद है किन्तु तुम्हारे पुत्रका निर्मल दृष्टिमें यह भेद नहीं है' [इसलिये हमने ऐसा किया] ॥ ५ ॥ कुरुजाङ्गल देशमें पहुँचकर हस्तिनापुरमें उन्मत्त, मूक और जड़के समान विचरते हुए उन शुकदेवजीको पुरवासियोंने किस प्रकार पहचान लिया ? ॥ ६ ॥ फिर हे तात ! पाण्डवनन्दन राजर्षि परीक्षितका शुकदेव मुनिके साथ किस प्रकार संवाद हुआ जिसमें यह श्रुतिरूप भागवत-कथा हुई ॥ ७ ॥

---

१. प्रा० पा०—मप्सु मग्नाः । वर्तमान पाठकी अपेक्षा यह पाठान्तर अधिक उपयुक्त है; क्योंकि वर्तमान पाठसे यह पता नहीं चलता कि 'अप्सराएँ कहाँ और क्या कर रही थीं ? जो उन्हें व्यासजीके सहसा आ जानेसे वस्त्र पहननेकी आवश्यकता पड़ी ।' वस्त्र पहननेसे यह अनुमान करना पड़ता है कि वे कहीं नग्न होकर स्नान कर रही थीं । इस प्राचीन पाठान्तरके रखनेसे यह बात स्वतः स्पष्ट हो जाती है, अनुमानकी आवश्यकता नहीं पड़ती; क्योंकि वे 'अप्सु मग्नाः' जलमें स्नान करती थीं ।

स गोदोहनमात्रं हि गृहेषु गृहमेधिनाम् ।
अवेक्षते महाभागस्तीर्थीकुर्वंस्तदाश्रमम् ॥ ८ ॥
अभिमन्युसुतं सूत प्राहुर्भागवतोत्तमम् ।
तस्य जन्म महाश्चर्यं कर्माणि च गृणीहि नः ॥ ९ ॥
स सम्राट् कस्य वा हेतोः पाण्डूनां मानवर्धनः ।
प्रायोपविष्टो गङ्गायामनादृत्याधिराट्श्रियम् ॥१०॥
नमन्ति यत्पादनिकेतमात्मनः
शिवाय हानीय धनानि शत्रवः ।
कथं स वीरः श्रियमङ्ग दुस्त्यजां
युवैषतोत्स्रष्टुमहो सहासुभिः ॥११॥
शिवाय लोकस्य भवाय भूतये
य उत्तमश्लोकपरायणा जनाः ।
जीवन्ति नात्मार्थमसौ पराश्रयं
मुमोच निर्विद्य कुतः कलेवरम् ॥१२॥
तत्सर्वं नः समाचक्ष्व पृष्टो यदिह किञ्चन ।
मन्ये त्वां विषये वाचां स्नातमन्यत्र छान्दसात् ॥१३॥

सूत उवाच

द्वापरे समनुप्राप्ते तृतीये युगपर्यये ।
जातः पराशराद्योगी वासव्यां कलया हरेः ॥१४॥
स कदाचित्सरस्वत्या उपस्पृश्य जलं शुचि ।
विविक्तदेश आसीन उदिते रविमण्डले ॥१५॥
परावरज्ञः स ऋषिः कालेनाव्यक्तरंहसा ।
युगधर्मव्यतिकरं प्राप्तं भुवि युगे युगे ॥१६॥
भौतिकानां च भावानां शक्तिह्रासं च तत्कृतम् ।
अश्रद्दधानान्निःसत्त्वान्दुर्मेधान्ह्रसितायुषः ॥१७॥
दुर्भगांश्च जनान्वीक्ष्य मुनिर्दिव्येन चक्षुषा ।
सर्ववर्णाश्रमाणां यद्दध्यौ हितममोघदृक् ॥१८॥
चातुर्होत्रं कर्म शुद्धं प्रजानां वीक्ष्य वैदिकम् ।
व्यदधाद्यज्ञसन्तत्यै वेदमेकं चतुर्विधम् ॥१९॥

क्योंकि वे महाभाग तो गृहस्थोंके घरोंमें उन्हें तीर्थस्वरूप करनेके लिये केवल गोदोहनकालतक ही ठहरते हैं ॥८॥ हे सूतजी ! अभिमन्युनन्दन परीक्षितको भी भगवद्भक्तोंमें श्रेष्ठ कहा जाता है। उनके महा अद्भुत जन्म और कर्म भी हमें सुनाइये ॥ ९ ॥ पाण्डवोंके मान बढ़ानेवाले वे राजाधिराज किस कारणसे राज्यश्रीका तिरस्कारकर मरणपर्यन्त अनशनका निश्चयकर श्रीगंगाजीके तटपर बैठे थे ॥ १० ॥ अपनी कुशलके लिये शत्रुगण बहुत-सा धन लाकर जिनके पादपीठपर शिर झुकाते थे, हे मुने ! उन्हीं वीरने अति कठिनतासे त्यागनेयोग्य अपने ऐश्वर्यका प्राणोंके सहित युवावस्थामें ही त्याग देनेकी इच्छा कैसे की ? ॥ ११ ॥ जो लोग भगवत्परायण होते हैं वे सम्पूर्ण संसारके कल्याण और ऐश्वर्यवृद्धिके लिये जीवित रहते हैं, उनका जीवन अपने लिये नहीं होता; ऐसे परोपकारी शरीरको उन्होंने विरक्त होकर क्यों त्याग दिया ? ॥१२॥ हमने आपसे जो कुछ पूछा है उन सबका वर्णन कीजिये। [द्विजाति न होनेके कारण] वेदोंको छोड़कर शेष समस्त शास्त्रोंमें हम आपको पूर्ण निष्णात मानते हैं ॥१३॥

सूतजी बोले—चतुर्युगीके तीसरे युग द्वापरके उपस्थित होनेपर भगवान् विष्णुके अंशसे श्रीपराशर मुनिद्वारा वासवी (सत्यवती) के गर्भसे योगिराज व्यासजीका जन्म हुआ ॥१४॥ किसी समय वे सूर्योदयकालमें सरस्वतीके पवित्र जलसे आचमनकर एकान्त निर्मल स्थानमें बैठे थे ॥१५॥ उस समय भूत-भविष्यत्का ज्ञान रखनेवाले अमोघदृष्टि महर्षि व्यासजीने, जिसका वेग जाना नहीं जाता, उस कालके द्वारा पृथिवीतलपर युग-युगमें होनेवाली धर्मसंकरता और उससे होनेवाले भौतिक वस्तुओंकी शक्तिके ह्रासको देखकर तथा मनुष्योंको श्रद्धाहीन, सत्त्वहीन, कुबुद्धि, अल्पायु और मन्दभाग्य हुए जानकर अपनी दिव्यदृष्टिसे सर्व वर्ण और आश्रमोंके हितका विचार किया ॥१६–१८॥ उन्होंने चातुर्होत्र नामक शुद्ध वैदिक कर्मको प्रजाके लिये शुभ जानकर यज्ञोंका विस्तार करनेके लिये एक वेदके चार विभाग किये ॥१९॥

ऋग्यजुःसामाथर्वाख्या वेदाश्चत्वार उद्धृताः ।
इतिहासपुराणं च पञ्चमो वेद उच्यते ॥२०॥
तत्रर्ग्वेदधरः पैलः सामगो जैमिनिः कविः ।
वैशम्पायन एवैको[1] निष्णातो यजुषामुत ॥२१॥
अथर्वाङ्गिरसामासीत्सुमन्तुर्दारुणो मुनिः ।
इतिहासपुराणानां पिता मे रोमहर्षणः ॥२२॥

उन्होंने ऋक्, यजुः, साम और अथर्व नामक चार वेदोंके रूपमें वेदोंका उद्धार किया तथा [उनसे प्रकाशित] इतिहास और पुराण पाँचवाँ वेद कहलाते हैं ॥२०॥ उनमेंसे ऋग्वेदका ग्रहण करनेवाले पैल, सामगान करनेवाले कवि जैमिनि और यजुर्वेदके पारगामी एकमात्र वैशम्पायनजी हुए ॥२१॥ तथा अथर्ववेदके अध्येता दारुणस्वभाव सुमन्तुमुनि और इतिहास-पुराणोंका अध्ययन करनेवाले मेरे पिता रोमहर्षणजी हुए ॥२२॥

त एत ऋषयो वेदं स्वं स्वं व्यस्यन्ननेकधा ।
शिष्यैः प्रशिष्यैस्तच्छिष्यैर्वेदास्ते शाखिनोऽभवन्२३
त एव वेदा दुर्मेधैर्धार्यन्ते पुरुषैर्यथा ।
एवं चकार भगवान्व्यासः कृपणवत्सलः ॥२४॥
स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा ।
कर्मश्रेयसि मूढानां श्रेय एवं भवेदिह ।
इति भारतमाख्यानं कृपया मुनिना कृतम् ॥२५॥

इन ऋषियोंने अपने-अपने वेदके अनेकों विभाग किये । इस प्रकार उनके शिष्य-प्रशिष्य और फिर उनके शिष्योंसे वेद अनेकों शाखाओंवाले हो गये ॥२३॥ दीनवत्सल भगवान् व्यासजीने उन्हीं वेदोंको ऐसा कर दिया जिससे कि मन्दबुद्धिवाले पुरुष भी उन्हें ग्रहण कर सकें ॥२४॥ जो कर्मरूप श्रेयःसाधनमें मूढ़ हैं उन स्त्रियों और शूद्रोंको तथा द्विजातियोंमें पतितोंको वेदत्रयी श्रवण करनेका अधिकार नहीं है। 'इन लोगोंका इस लोकमें किस प्रकार कल्याण होगा' यह सोचकर श्रीव्यासजीने कृपापूर्वक महाभारत इतिहासकी रचना की । [उसमें उन्होंने वेदार्थको ही उद्धृत करके कहा है] ॥२५॥

एवं प्रवृत्तस्य सदा भूतानां श्रेयसि द्विजाः ।
सर्वात्मकेनापि यदा नातुष्यद्धृदयं ततः ॥२६॥
नातिप्रसीददद्धृदयः सरस्वत्यास्तटे शुचौ ।
वितर्कयन्विविक्तस्थ इदं प्रोवाच धर्मवित् ॥२७॥
धृतव्रतेन हि मया छन्दांसि गुरवोऽग्नयः ।
मानिता निर्व्यलीकेन गृहीतं चानुशासनम् ॥२८॥
भारतव्यपदेशेन ह्याम्नायार्थश्च दर्शितः ।
दृश्यते यत्र धर्मादि स्त्रीशूद्रादिभिरप्युत ॥२९॥
तथापि बत मे दैह्यो ह्यात्मा चैवात्मना विभुः ।
असम्पन्न इवाभाति ब्रह्मवर्चस्यसत्तमः ॥३०॥
किं वा भागवता धर्मा न प्रायेण निरूपिताः ।

हे द्विजगण ! इस प्रकार सर्वदा सब प्रकार प्राणियोंके कल्याणके लिये ही प्रवृत्त रहनेपर भी जब उनका चित्त सन्तुष्ट नहीं हुआ तो कुछ अनमने हो सरस्वतीके पवित्र तटपर एकान्तमें विचार करते हुए धर्मज्ञ व्यासजी [मन-ही-मन] इस प्रकार कहने लगे ॥ २६-२७ ॥ 'मैंने निष्कपटभावसे नियमोंका पालन करते हुए वेद, गुरुजन और अग्नियोंका मान किया और उनकी आज्ञा शिरोधार्य की ॥ २८ ॥ महाभारतके व्याजसे मैंने वेदार्थका निरूपण किया जिसमें कि स्त्री-शूद्रादि भी स्वयं अपने धर्मादि देख सकते हैं ॥२९॥ फिर भी मेरा देहाभिमानी जीव, जो कि समस्त ब्रह्मतेजसम्पन्नोंमें श्रेष्ठ है, मनमें कुछ असन्तुष्ट-सा प्रतीत होता है ॥३०॥ अथवा क्या मैंने भागवत धर्मोंका, जो कि परमहंसोंको प्रिय हैं और

१. प्रा० पा०—एकस्तु ।

प्रियाः परमहंसानां त एव ह्यच्युतप्रियाः ॥३१॥

भगवान् श्रीअच्युतको भी इष्ट हैं, प्रायः निरूपण नहीं किया ? ॥३१॥

तस्यैवं खिलमात्मानं मन्यमानस्य खिद्यतः ।
कृष्णस्य नारदोऽभ्यागादाश्रमं प्रागुदाहृतम् ॥३२॥
तमभिज्ञाय सहसा प्रत्युत्थायागतं मुनिः ।
पूजयामास विधिवन्नारदं सुरपूजितम् ॥३३॥

इस प्रकार अपने-आपको तुच्छ समझकर खेद करते हुए उन श्रीकृष्णद्वैपायनके पास पूर्वोक्त आश्रममें नारदजी आये ॥३२॥ मुनिवर नारदजीको आये जान वे तुरन्त उठ खड़े हुए और देवपूजित नारदजीका विधिपूर्वक पूजन किया ॥३३॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे प्रथमस्कन्धे
चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

पाँचवाँ अध्याय

नारदजीका व्यासजीको भगवद्धर्मवर्णनके लिये प्रेरित करते हुए अपना पूर्वचरित्र सुनाना ।

सूत उवाच

अथ तं सुखमासीन उपासीनं बृहच्छ्रवाः ।
देवर्षिः प्राह विप्रर्षिं वीणापाणिः स्मयन्निव ॥ १ ॥

श्रीसूतजी बोले—तदनन्तर हाथमें वीणा लिये सुखपूर्वक बैठे हुए महान् यशस्वी देवर्षि नारदजी अपने समीप विराजमान ब्रह्मर्षि व्यासजीसे मुसकाते हुए बोले ॥ १ ॥

नारद उवाच

पाराशर्य महाभाग भवतः कच्चिदात्मना ।
परितुष्यति शारीर आत्मा मानस एव वा ॥ २ ॥
जिज्ञासितं सुसम्पन्नमपि ते महदद्भुतम् ।
कृतवान्भारतं यस्त्वं सर्वार्थपरिबृंहितम् ॥ ३ ॥
जिज्ञासितमधीतं च यत्तद्ब्रह्म सनातनम् ।
अथापि शोचस्यात्मानमकृतार्थ इव प्रभो ॥ ४ ॥

नारदजी बोले—हे महाभाग व्यासजी ! आपका शरीर और मन—दोनों स्वस्थ और प्रसन्न हैं न ? ॥ २ ॥ आपने सम्पूर्ण विषयोंसे युक्त अति अद्भुत महाभारत रचा है, इससे आपकी जिज्ञासा भी भली प्रकार पूर्ण हो गयी होगी ॥ ३ ॥ जो सनातन ब्रह्म-तत्त्व है उसका भी आपने भलीभाँति विचार किया है और उसे जाना भी है, फिर भी, हे प्रभो ! आप अकृतार्थके समान चिन्तित कैसे हैं ? ॥ ४ ॥

व्यास उवाच

अस्त्येव मे सर्वमिदं त्वयोक्तं
तथापि नात्मा परितुष्यते मे ।
तन्मूलमव्यक्तमगाधबोधं
पृच्छामहे त्वात्मभवात्मभूतम् ॥ ५ ॥

व्यासजी बोले—आप मेरे विषयमें जो कुछ कहते हैं वह सब बिलकुल ठीक है, फिर भी मेरा चित्त सन्तुष्ट नहीं है । इसका कारण मुझसे छिपा हुआ है । आप बड़ी गम्भीर बुद्धिवाले और साक्षात् श्रीब्रह्माजीके पुत्र हैं अतः मैं आपसे इसका कारण पूछता हूँ ॥ ५ ॥

१. यहाँ प्राचीन प्रतिमें 'नारदागमनं' इतना पाठ अधिक है । २. प्रा० पा०—तथापि ।

स वै भवान्वेद समस्तगुह्य-
मुपासितो यत्पुरुषः पुराणः ।
परावरेशो मनसैव विश्वं
सृजत्यवत्यत्ति गुणैरसङ्गः ॥ ६ ॥
त्वं पर्यटन्नर्क इव त्रिलोकी-
मन्तश्चरो वायुरिवात्मसाक्षी ।
परावरे ब्रह्मणि धर्मतो व्रतैः
स्नातस्य मे न्यूनमलं विचक्ष्व ॥ ७ ॥

आप सब गुह्य विषयोंको भी जानते हैं, क्योंकि आपने पुराणपुरुष श्रीनारायणकी सेवा की है, जो कि जीव और प्रकृति दोनोंके ईश्वर हैं और प्रकृतिके गुणोंसे असंग रहकर संकल्पमात्रसे ही संसारकी रचना, पालन और संहार करते हैं ॥ ६ ॥ आप सूर्यके समान तीनों लोकोंमें विचरते हैं और योगबलसे प्राणवायुके समान शरीरके भीतर रहकर सबके अन्तःकरणके साक्षी हैं, अतः धर्म (योग) द्वारा परब्रह्मका और स्वाध्याय आदि नियमोंसे अपर ब्रह्म (वेद) का मर्म जाननेवाले मुझमें जो कुछ कमी हो उसका आप विवेचन कीजिये ॥ ७ ॥

श्रीनारद उवाच

भवतानुदितप्रायं यशो भगवतोऽमलम् ।
येनैवासौ न तुष्येत मन्ये तद्दर्शनं खिलम् ॥ ८ ॥
यथा धर्मादयश्चार्था मुनिवर्यानुकीर्तिताः ।
न तथा वासुदेवस्य महिमा ह्यनुवर्णितः ॥ ९ ॥
न यद्वचश्चित्रपदं हरेर्यशो
जगत्पवित्रं प्रगृणीत कर्हिचित् ।
तद्वायसं तीर्थमुशन्ति मानसा
न यत्र हंसा निरमन्त्युशिक्षयाः ॥१०॥
तद्वाग्विसर्गो जनताघविप्लवो
यस्मिन्प्रतिश्लोकमबद्धवत्यपि ।
नामान्यनन्तस्य यशोऽङ्कितानि य-
च्छृण्वन्ति गायन्ति गृणन्ति साधवः ॥११॥
नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं
न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनम् ।
कुतः पुनः शश्वदभद्रमीश्वरे
न चार्पितं कर्म यदप्यकारणम् ॥१२॥
अथो महाभाग भवानमोघदृक्

नारदजी बोले--आपने भगवान्‌के निर्मल यशका वर्णन पूर्णरूपसे नहीं किया, जिस ज्ञानसे भगवान् ही प्रसन्न न हों उसे मैं तुच्छ समझता हूँ ॥ ८ ॥ हे मुनिवर ! आपने जिस प्रकार धर्म और अर्थ आदिका पूर्ण निरूपण किया उस तरह भगवान् वासुदेवकी महिमाका वर्णन नहीं किया ॥ ९ ॥ जिस वाणीसे--चाहे वह विचित्र पदविन्यासवाली ही क्यों न हो--जगत्‌को पवित्र करनेवाला श्रीहरिका यश किसी अंशमें भी नहीं गाया जाता उसे काकतीर्थ (उच्छिष्ट आदि अमेध्य वस्तुएँ फेंकनेका स्थान) ही माना जाता है । उसमें कमनीय धाम (ब्रह्मधाम या पद्मवन) में रहनेवाले मनस्वी हंस (परमहंस या मानसरोवरके हंस पक्षी) कभी रमण नहीं करते ॥ १० ॥ इसके विपरीत वह वाक्य-विन्यास मनुष्योंके सम्पूर्ण पापोंको नष्ट करनेवाला होता है जिसके कि प्रत्येक श्लोकमें--भले ही उसकी रचना शिथिल भी हो--भगवान् अनन्तके सुयशसूचक नाम रहते हैं, क्योंकि साधुजन उन्हींका श्रवण, गान और कीर्तन किया करते हैं ॥ ११ ॥ कैवल्यमोक्षका कारणरूप उपाधिरहित ज्ञान भी भगवद्भक्तिके बिना सुशोभित नहीं होता, फिर जो कि सदा ही अमंगल-रूप है और सत्त्वशुद्धिका कारण नहीं है वह ईश्वरार्पण-बुद्धिसे रहित कर्म कैसे शोभित हो सकता है ? ॥ १२ ॥ अतः हे महाभाग ! अब सम्पूर्ण जीवोंको बन्धनसे

शुचिश्रवाः सत्यरतो धृतव्रतः ।
उरुक्रमस्याखिलबन्धमुक्तये
समाधिनानुस्मर तद्विचेष्टितम् ॥१३॥
ततोऽन्यथा किञ्चन यद्विवक्षतः
पृथग्दृशस्तत्कृतरूपनामभिः ।
न कुत्रचित्क्वापि च दुःस्थिता मति-
र्लभेत वाताहतनौरिवास्पदम् ॥१४॥
जुगुप्सितं धर्मकृतेऽनुशासतः
स्वभावरक्तस्य महान्व्यतिक्रमः ।
यद्वाक्यतो धर्म इतीतरः स्थितो
न मन्यते तस्य निवारणं जनः ॥१५॥
विचक्षणोऽस्यार्हति वेदितुं विभो-
रनन्तपारस्य निवृत्तितः सुखम् ।
प्रवर्तमानस्य गुणैरनात्मन-
स्ततो भवान्दर्शय चेष्टितं विभोः ॥१६॥
त्यक्त्वा स्वधर्मं चरणाम्बुजं हरे-
र्भजन्नपक्वोऽथ पतेत्ततो यदि ।
यत्र क्व वाभद्रमभूदमुष्य किं
को वार्थ आप्तोऽभजतां स्वधर्मतः ॥१७॥
तस्यैव हेतोः प्रयतेत कोविदो
न लभ्यते यद्भ्रमतामुपर्यधः ।
तल्लभ्यते दुःखवदन्यतः सुखं
कालेन सर्वत्र गभीररंहसा ॥१८॥
न वै जनो जातु कथञ्चनाव्रजे-
न्मुकुन्दसेव्यन्यवदङ्ग संसृतिम् ।
स्मरन्मुकुन्दाङ्घ्र्युपगूहनं पुन-
र्विहातुमिच्छेन्न रसग्रहो यतः ॥१९॥

छुड़ानेके लिये आप समाधिद्वारा भगवान् उरुक्रमकी लीलाओंका स्मरण [कर उनका वर्णन] कीजिये; क्योंकि आप स्वयं अमोघदृष्टि, पवित्रकीर्ति, सत्यपरायण और व्रतशील हैं ॥ १३ ॥ भगवान्‌की लीलाओंके अतिरिक्त जो पुरुष कुछ और कहना चाहता है उस पृथग्दर्शीकी विवक्षा (कथनकी इच्छा) से स्फुरित हुए नाम और रूपोंद्वारा चञ्चल हुई बुद्धिको वायुसे डगमगाती हुई नौकाके समान कभी कहीं भी ठहरनेके लिये स्थान नहीं मिलता ॥ १४ ॥ स्वभावसे ही कर्मोंमें आसक्त रहनेवाले मनुष्यके लिये धर्मके नामपर निन्दित सकाम कर्मोंका उपदेश करके आपने बड़ा ही विपरीत कार्य किया है, क्योंकि उस उपदेशसे 'यही मुख्य धर्म है' ऐसा मानकर वे मूढ़जन सकाम कर्मके निषेधक वाक्योंको ठीक नहीं मानते ॥ १५ ॥ विचक्षण पुरुष ही अनन्तपार भगवान् विभुके स्वरूप-भूत आनन्दका निवृत्तिमार्गसे अनुभव कर सकता है । किन्तु जो सत्त्वादि गुणोंसे प्रेरित होकर कर्ममें प्रवृत्त होनेवाले देहाभिमानी हैं [वे ऐसा नहीं कर सकते अतः] उनके लिये आप भगवान् विष्णुकी लीलाका वर्णन करें ॥ १६ ॥ जो पुरुष अपने वर्णाश्रमधर्मोंको छोड़कर श्रीहरिके चरणकमलोंका भजन करता है वह यदि भजन सिद्ध होनेके पहले ही गिर जाय [किसी विघ्न आदिसे भजन करना छूट जाय या मर जाय] तो उसका क्या कहीं भी अमङ्गल हो सकता है ? [अर्थात् नहीं हो सकता है] किन्तु भगवान्‌का भजन न करनेवालोंको स्वधर्म-पालन करनेसे भी क्या लाभ हो सकता है ? ॥१७॥ चतुर मनुष्यको चाहिये कि उसी वस्तुकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न करे जो ब्रह्मासे लेकर तृणपर्यन्त समस्त ऊँची-नीची योनियोंमें भ्रमण करते हुए प्राप्त न हो सकती हो । दुःखके समान विषय-सुख तो गम्भीर वेगवाले कालके द्वारा सभी योनियोंमें स्वभावसे ही मिल सकता है ॥१८॥ हे प्रिय ! औरोंके समान मुकुन्द-सेवी जन कभी संसार-चक्रमें नहीं पड़ सकता, वह मुकुन्दचरणा-म्बुजके आलिंगनसुखका स्मरणकर फिर उसे छोड़नेकी इच्छा नहीं करता है; क्योंकि उसको भगवद्रसका

इदं हि विश्वं भगवानिवेतरो
यतो जगत्स्थाननिरोधसम्भवाः ।
तद्धि स्वयं वेद भवांस्तथापि वै[1]
प्रादेशमात्रं भवतः प्रदर्शितम् ॥२०॥

त्वमात्मनात्मानमवेह्यमोघदृक्
परस्य पुंसः परमात्मनः कलाम् ।
अजं प्रजातं जगतः शिवाय त-
न्महानुभावाभ्युदयोऽधिगण्यताम् ॥२१॥

इदं हि पुंसस्तपसः श्रुतस्य वा
स्विष्टस्य सूक्तस्य च बुद्धिदत्तयोः[2] ।
अविच्युतोऽर्थः कविभिर्निरूपितो
यदुत्तमश्लोकगुणानुवर्णनम्[3] ॥२२॥

अहं पुरातीतभवेऽभवं मुने[4]
दास्यास्तु कस्याश्चन वेदवादिनाम् ।
निरूपितो बालक एव योगिनां
शुश्रूषणे प्रावृषि निर्विविक्षताम् ॥२३॥

ते मय्यपेताखिलचापलेऽर्भके
दान्तेऽधृतक्रीडनकेऽनुवर्तिनि ।
चक्रुः कृपां यद्यपि तुल्यदर्शनाः
शुश्रूषमाणे मुनयोऽल्पभाषिणि ॥२४॥

उच्छिष्टलेपाननुमोदितो द्विजैः
सकृत्स्म भुञ्जे तदपास्तकिल्बिषः ।
एवं प्रवृत्तस्य विशुद्धचेतस-
स्तद्धर्म एवात्मरुचिः प्रजायते ॥२५॥

तत्रान्वहं कृष्णकथाः प्रगायता-
मनुग्रहेणाशृणवं मनोहराः ।
ताः श्रद्धया मेऽनुपदं विशृण्वतः
प्रियश्रवस्यङ्ग ममाभवद्रुचिः[5] ॥२६॥

तस्मिंस्तदा लब्धरुचेर्महामुने[6]
प्रियश्रवस्यस्खलिता मतिर्मम ।
ययाहमेतत्सदसत्स्वमायया
पश्ये मयि ब्रह्मणि कल्पितं परे ॥२७॥

अनुभव हुआ है ॥१९॥ जिनसे जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय होते हैं, वे भगवान् ही यद्यपि यह सम्पूर्ण विश्व हैं तथापि वे इससे विलक्षण हैं । यह तत्त्व आप स्वयं भी जानते हैं तथापि [याद दिलानेके लिये] मैंने आपको संकेतमात्र कर दिया है ॥२०॥

हे अमोघदृष्टिवाले ! आप अपने-आपको परम पुरुष परमात्माकी कला जानें । जगत्के कल्याणके लिये आपने अजन्मा होकर भी जन्म ग्रहण किया है, अतः महानुभाव भगवान्के अभ्युदयका [अर्थात् उनकी लीला-कथाओंका] विशेषरूपसे वर्णन कीजिये ॥२१॥ बुद्धिमानोंने मनुष्यके तप, वेदाध्ययन, यज्ञानुष्ठान, सत्कथन, ज्ञान और दान आदि समस्त सत्कर्मोंका एकमात्र अक्षय फल भगवान् उत्तमश्लोकके गुणोंका वर्णन करना ही बतलाया है ॥२२॥

हे मुने ! पिछले कल्पमें होनेवाले पूर्वजन्ममें मैं वेदवादी ब्राह्मणोंकी किसी एक दासीसे उत्पन्न हुआ था और बाल्यावस्थामें ही चातुर्मास्यमें एक जगह रहनेवाले योगियोंकी सेवामें नियुक्त कर दिया गया था ॥२३॥ वे मुनिगण यद्यपि समदर्शी थे तथापि चञ्चलतासे रहित, जितेन्द्रिय, खेल-कूदसे दूर रहनेवाले, आज्ञाकारी, मितभाषी और सेवापरायण मुझ बालकपर उन्होंने कृपा की ॥२४॥ उन ब्राह्मणोंके कहनेसे मैंने एक बार पात्रोंमें लगा हुआ उनका जूठन खाया, उससे मेरा सम्पूर्ण पाप दूर हो गया । इस प्रकार प्रवृत्ति होनेसे शुद्धचित्त हो जानेके कारण उनके भगवद्भजनरूप धर्ममें मेरी रुचि हो गयी ॥२५॥ हे प्रिय ! तबसे, वहाँ नित्यप्रति कृष्णकथाका गान करनेवाले महात्माओं-के अनुग्रहसे मैं उन मनोहर कथाओंको श्रद्धापूर्वक सुना करता था । उन कथाओंके एक-एक पदको सुनते-सुनते मनोहर कीर्तिवाले भगवान्में मेरी रुचि हो गयी ॥२६॥ हे महामुने ! उस समय भगवान्में रुचि हो जानेसे उन प्रियश्रवा प्रभुमें मेरी बुद्धि निश्चल हो गयी, जिससे कि मैं इस सम्पूर्ण सत्-असत्-रूप जगत्को परब्रह्मरूप अपने-आपमें स्वकीय मायासे कल्पित देखने

१. प्रा० पा०—ते प्रदेश० । २. प्रा० पा०—बुद्ध० । ३. प्रा० पा०—गुणानुकीर्तनम् । ४. प्रा० पा०—सुतो । ५. प्रा० पा०—ममाभवद्रतिः । ६. प्रा० पा०—महामते ।

इत्थं शरत्प्रावृषिकावृतू हरे-
र्विशृण्वतो मेऽनुसवं यशोऽमलम् ।
संकीर्त्यमानं मुनिभिर्महात्मभि-
र्भक्तिः प्रवृत्तात्मरजस्तमोपहा[1] ॥२८॥
तस्यैवं मेऽनुरक्तस्य प्रश्रितस्य हतैनसः ।
श्रद्दधानस्य बालस्य दान्तस्यानुचरस्य च ॥२९॥
ज्ञानं गुह्यतमं यत्तत्साक्षाद्भगवतोदितम् ।
अन्ववोचन्गमिष्यन्तः कृपया दीनवत्सलाः ॥३०॥
येनैवाहं भगवतो वासुदेवस्य वेधसः ।
मायानुभावमविदं येन गच्छन्ति तत्पदम् ॥३१॥
एतत्संसूचितं ब्रह्मंस्तापत्रयचिकित्सितम् ।
यदीश्वरे भगवति कर्म ब्रह्मणि भावितम् ॥३२॥
आमयो यश्च भूतानां जायते येन सुव्रत ।
तदेव ह्यामयं द्रव्यं न पुनाति चिकित्सितम् ॥३३॥
एवं नृणां क्रियायोगाः सर्वे संसृतिहेतवः ।
त एवात्मविनाशाय कल्पन्ते कल्पिताः परे ॥३४॥
यदत्र क्रियते कर्म भगवत्परितोषणम् ।
ज्ञानं यत्तदधीनं हि भक्तियोगसमन्वितम् ॥३५॥
कुर्वाणा यत्र कर्माणि भगवच्छिक्षयासकृत् ।
गृणन्ति गुणनामानि कृष्णस्यानुस्मरन्ति च ॥३६॥
नमो भगवते तुभ्यं वासुदेवाय धीमहि ।
प्रद्युम्नायानिरुद्धाय नमः संकर्षणाय च ॥३७॥
इति मूर्त्यभिधानेन मन्त्रमूर्तिममूर्तिकम् ।
यजते यज्ञपुरुषं स सम्यग्दर्शनः पुमान् ॥३८॥

लगा ॥२७॥ इस प्रकार वर्षा और शरद् ऋतुमें महात्मा मुनिजनोंसे गाये जाते हुए भगवान् हरिके निर्मल यशको निरन्तर सुनते रहनेसे मुझमें चित्तके रजोगुण और तमोगुणको नष्ट करनेवाली भक्तिका प्रादुर्भाव हो गया ॥२८॥ तब उन दीनवत्सल मुनीश्वरोंने वहाँसे जाती बार मुझ अनुरागी, विनीत, निष्पाप, श्रद्धालु, जितेन्द्रिय और अनुयायी बालकको उस गुह्यतम ज्ञानका उपदेश किया जो साक्षात् भगवान्का ही कहा हुआ है ॥२९-३०॥ जिससे कि मैंने जगत्की रचना करनेवाले भगवान् वासुदेवकी मायाका प्रभाव समझा और जिस ज्ञानके प्राप्त होनेपर मनुष्य भगवान्के धामको प्राप्त होता है ॥३१॥ हे ब्रह्मन्! भगवान् परब्रह्म परमेश्वरमें कर्मोंको समर्पित करना ही तापत्रयकी ओषधि है, सो मैंने आपको बतला दी ॥३२॥ हे सुव्रत! जिन पदार्थोंसे जीवोंको रोग उत्पन्न होते हैं साधारणतया वे पदार्थ उस रोगकी निवृत्ति नहीं करते किन्तु चिकित्साकी विधिसे उपयोगमें लाये जानेपर वे ही उस रोगको निवृत्त करनेवाले हो जाते हैं ॥३३॥ इसी प्रकार सम्पूर्ण कर्म मनुष्यके जन्म-मरणरूप संसारके कारण हैं; किन्तु वे ही जब परब्रह्ममें अर्पित कर दिये जाते हैं तो आप ही अपने नाशके कारण हो जाते हैं [अर्थात् उन कर्मोंका कोई फल नहीं भोगना पड़ता; वे भूने हुए बीजके समान हो जाते हैं] ॥३४॥ इस लोकमें जो शास्त्रविहित कर्म भगवान्की प्रसन्नताके लिये किये जाते हैं उनसे भक्तियोगयुक्त ज्ञानकी प्राप्ति होती है ॥३५॥ जिस अवस्थामें कि वे ज्ञानी भक्त भगवान्की शिक्षा[1]के अनुसार कर्म करते हुए श्रीकृष्णचन्द्रके नाम और गुणोंका निरन्तर कीर्तन एवं स्मरण करते हैं। 'भगवान् श्रीवासुदेवको नमस्कार है, हम उनका ध्यान करते हैं, तथा श्रीप्रद्युम्न, अनिरुद्ध और संकर्षणजीको भी नमस्कार है'—इस प्रकार जो पुरुष भगवन्मूर्तियोंके नामद्वारा प्राकृतमूर्तिरहित मन्त्रमूर्ति भगवान् यज्ञपुरुषका पूजन करता है वही पूर्ण ज्ञानवान् है ॥३६—३८॥

१. प्रा० पा०—तमोहरा ।

१—जैसा कि श्रीमद्भगवद्गीतामें कहा है—
यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् । यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥ इत्यादि ।

इमं स्वनिगमं ब्रह्मन्नवेत्य मदनुष्ठितम् ।
अदान्मे ज्ञानमैश्वर्यं स्वस्मिन्भावं च केशवः ॥३९॥

त्वमप्यदभ्रश्रुत विश्रुतं विभोः
समाप्यते येन विदां बुभुत्सितम् ।
आख्याहि दुःखैर्मुहुरर्दितात्मनां
संक्लेशनिर्वाणमुशन्ति नान्यथा ॥४०॥

हे ब्रह्मन् ! अपने उपदेशका मेरेद्वारा इस प्रकार पालन होते देखकर श्रीकेशव भगवान्‌ने मुझे ज्ञान, ऐश्वर्य (सिद्धियाँ) और अपनी प्रेम-भक्ति प्रदान की ॥३९॥ हे पूर्णविद्वान् व्यासजी ! आप भी भगवान् विभुके प्रख्यात सुयशका ही वर्णन कीजिये जिससे कि विवेकियोंकी सम्पूर्ण जिज्ञासा पूर्ण हो जाती है। क्योंकि जो लोग दुःखोंसे निरन्तर पीड़ित रहते हैं उनका क्लेश इसके सिवा किसी अन्य उपायसे शान्त नहीं हो सकता ॥४०॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे प्रथमस्कन्धे
व्यासनारदसंवादे पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

छठा अध्याय

नारदजीके पूर्वचरित्रका शेष भाग ।

सूत उवाच

एवं निशम्य भगवान्देवर्षेर्जन्म कर्म च ।
भूयः पप्रच्छ तं ब्रह्मन्व्यासः सत्यवतीसुतः ॥ १ ॥

श्रीसूतजी बोले—हे ब्रह्मन् ! इस प्रकार देवर्षि नारदके जन्म और कर्मोंका वर्णन सुन सत्यवतीनन्दन भगवान् श्रीव्यासजीने उनसे फिर पूछा ॥१॥

व्यास उवाच

भिक्षुभिर्विप्रवसिते विज्ञानादेष्टृभिस्तव ।
वर्तमानो वयस्याद्ये ततः किमकरोद्भवान् ॥ २ ॥
स्वायंभुव कया वृत्त्या वर्तितं ते परं वयः ।
कथं चेदमुदस्राक्षीः काले प्राप्ते कलेवरम् ॥ ३ ॥
प्राक्कल्पविषयामेतां स्मृतिं ते सुरसत्तम ।
न ह्येष व्यवधात्काल एष सर्वनिराकृतिः ॥ ४ ॥

श्रीव्यासजी बोले—हे देवर्षे ! जब आपको ज्ञानोपदेश करनेवाले भिक्षुगण चले गये तो फिर आपने बाल्यावस्थामें रहते हुए क्या किया ? ॥२॥ हे ब्रह्मपुत्र ! आपकी शेष आयु किस वृत्तिसे बीती ? और अन्तकाल उपस्थित होनेपर आपने अपना शरीर किस प्रकार त्यागा ? ॥ ३ ॥ हे सुरश्रेष्ठ ! समस्त वस्तुओंको नष्ट करनेवाले कालने आपकी इस पूर्वकल्पविषयक स्मृतिका नाश कैसे नहीं किया ? ॥ ४ ॥

नारद उवाच

भिक्षुभिर्विप्रवसिते विज्ञानादेष्टृभिर्मम ।
वर्तमानो वयस्याद्ये तत एतदकारषम्[1] ॥ ५ ॥
एकात्मजा मे जननी योषिन्मूढा च किङ्करी ।
मय्यात्मजेऽनन्यगतौ चक्रे स्नेहानुबन्धनम् ॥ ६ ॥

श्रीनारदजी बोले—अपने ज्ञानोपदेश करनेवाले भिक्षुओंके चले जानेके बाद बाल्यावस्थामें रहते हुए मैंने यह किया ॥ ५ ॥ मेरी माता मूर्खा और दासीका कर्म करनेवाली स्त्री थी । मैं उसका एकमात्र पुत्र था इसलिये मुझ बालकमें, जिसका माताके सिवा दूसरा कोई सहारा न था, उसने बड़ा स्नेह बढ़ाया ॥ ६ ॥

१. प्रा० पा०—कारिषम् ।

साऽस्वतन्त्रा न कल्पासीद्योगक्षेमं ममेच्छती ।
ईशस्य हि वशे लोको योषा दारुमयी यथा ॥ ७ ॥
अहं च तद्ब्रह्मकुले ऊषिवांस्तदवेक्षया ।
दिग्देशकालाव्युत्पन्नो बालकः पञ्चहायनः ॥ ८ ॥

वह मेरे योग-क्षेमकी चिन्तामें रहती थी, किन्तु परतन्त्र होनेके कारण असमर्थ थी, क्योंकि कठपुतलीके समान यह सम्पूर्ण लोक ईश्वरके वशीभूत है ॥ ७ ॥ मैं भी माताके स्नेहबन्धनके निवृत्त होनेकी प्रतीक्षा करता हुआ उस ब्राह्मणपरिवारमें ही रहा; क्योंकि मैं उस समय केवल पाँच वर्षका बालक था और मुझे देश, दिशा, काल आदिका कुछ ज्ञान न था ॥ ८ ॥

एकदा निर्गतां गेहाद्दुहतीं[1] निशि गां पथि ।
सर्पोऽदशत्पदा स्पृष्टः कृपणां कालचोदितः ॥ ९ ॥
तदा तदहमीशस्य भक्तानां शमभीप्सतः ।
अनुग्रहं मन्यमानः प्रातिष्ठं दिशमुत्तराम् ॥१०॥
स्फीताञ्जनपदांस्तत्र पुरग्रामव्रजाकरान् ।
खेटखर्वटवाटीश्च[2] वनान्युपवनानि च ॥११॥
चित्रधातुविचित्राद्रीनिभभग्नभुजद्रुमान् ।
जलाशयाञ्छिवजलान्नलिनीः सुरसेविताः ॥१२॥
चित्रस्वनैः पत्ररथैर्विभ्रमद्भ्रमरश्रियः ।
नलवेणुशरस्तम्बकुशकीचकगह्वरम्[3] ॥१३॥
एक एवातियातोऽहमद्राक्षं विपिनं महत् ।
घोरं प्रतिभयाकारं व्यालोलूकशिवाजिरम् ॥१४॥
परिश्रान्तेन्द्रियात्माहं तृट्परीतो बुभुक्षितः ।
स्नात्वा पीत्वा ह्रदे नद्या उपस्पृष्टो गतश्रमः ॥१५॥
तस्मिन्निर्मनुजेऽरण्ये पिप्पलोपस्थ आश्रितः[6] ।
आत्मनात्मानमात्मस्थं[7] यथाश्रुतमचिन्तयम् ॥१६॥
ध्यायतश्चरणाम्भोजं भावनिर्जितचेतसा ।
औत्कण्ठ्याश्रुकलाक्षस्य हृद्यासीन्मे शनैर्हरिः ॥१७॥

एक दिन जब कि वह रात्रिके समय गोदोहनके लिये घरसे बाहर निकली, उस बेचारीको मार्गमें उसके पैरसे कुछ दब जानेके कारण एक काल-प्रेरित सर्पने डस लिया ॥ ९ ॥ तब उस घटनाको भक्तोंका मंगल चाहनेवाले भगवान्‌का अनुग्रह समझकर मैं उत्तर दिशाकी ओर चल दिया ॥ १० ॥ मार्गमें बहुत-से विस्तृत जनपद (देश), पुर, ग्राम, गोशाला, खानें, खेट (किसानोंकी बस्ती), खर्वट (नदी और पर्वतोंके किनारेके पड़ाव), फुलवाड़ी, वन, उपवन, चित्र-विचित्र धातुओंसहित पर्वत, हाथियोंद्वारा तोड़ी हुई शाखाओंवाले वृक्ष, शीतल जलपूर्ण जलाशय तथा जो कलरव करते हुए पक्षियों और मञ्जुल मधुकरोंसे सुशोभित थे उन सुरसेवित कमलवनोंको अकेले ही लाँघकर मैंने नल, बाँस, सेंठा और कुश-कीचकादिसे गहन बहुत बड़ा जंगल देखा, जो सर्प, उल्लू और स्यार आदिका निवास-स्थान होनेके कारण बड़ा ही भयंकर जान पड़ता था ॥११–१४॥ मेरा शरीर थक गया था, इन्द्रियाँ शिथिल पड़ गयी थीं और मैं भूख-प्याससे व्याकुल हो रहा था। वहाँ एक नदीके कुण्डमें स्नान-पानकर आचमन किया, इससे मेरी थकावट जाती रही ॥ १५ ॥ उस निर्जन वनमें एक पीपलके तले बैठकर, मैंने जैसा सुना था उसी प्रकार अपने हृदयगत परमात्माका मन-ही-मन ध्यान करने लगा ॥ १६ ॥ जब मैं भाव-भक्तिसे जीते हुए चित्तद्वारा भगवान्‌के चरण-कमलोंका ध्यान करने लगा और अत्यन्त उत्कण्ठावश मेरे नेत्रोंसे आँसू बहने लगे तो धीरे-धीरे मेरे हृदयमें श्रीहरिका प्रादुर्भाव हो आया ॥१७॥

१. प्रा० पा०—दुहन्तीं । २. प्रा० पा०—खेटान् । ३. प्रा० पा०—रत्नरेणु० । ४. प्रा० पा०—कीचकमस्करि । ५. प्रा० पा०—एवाभि० । ६. प्रा० पा०—आश्रितः । ७. प्रा० पा०—आत्मनात्मस्थमात्मानं ।

प्रेमातिभरनिर्भिन्नपुलकाङ्गोऽतिनिर्वृतः ।
आनन्दसंप्लवे लीनो नापश्यमुभयं मुने ॥१८॥
रूपं भगवतो यत्तन्मनःकान्तं शुचापहम् ।
अपश्यन्सहसोत्तस्थे वैक्लव्याद्दुर्मना इव ॥१९॥
दिदृक्षुस्तदहं भूयः प्रणिधाय मनो हृदि ।
वीक्षमाणोऽपि नापश्यमवितृप्त इवातुरः ॥२०॥
एवं यतन्तं विजने मामाहागोचरो गिराम् ।
गम्भीरश्लक्ष्णया वाचा शुचः प्रशमयन्निव ॥२१॥
हन्तास्मिञ्जन्मनि भवान्न मां द्रष्टुमिहार्हति ।
अविपक्वकषायाणां दुर्दर्शोऽहं कुयोगिनाम् ॥२२॥
सकृद्यद्दर्शितं रूपमेतत्कामाय तेऽनघ ।
मत्कामः शनकैः साधुः सर्वान्मुञ्चति हृच्छयान् ॥२३॥
सत्सेवया दीर्घया ते जाता मयि दृढा मतिः ।
हित्वावद्यमिमं लोकं गन्ता मज्जनतामसि ॥२४॥
मतिर्मयि निबद्धेयं न विपद्येत कर्हिचित् ।
प्रजासर्गनिरोधेऽपि स्मृतिश्च मदनुग्रहात् ॥२५॥

हे मुने ! उस समय बढ़े हुए प्रेमसे मेरा शरीर रोमाञ्चित हो गया, हृदयमें अत्यन्त शान्ति छा गयी और मैं आनन्दकी बाढ़में ऐसा डूब गया कि मुझे 'ध्याता और ध्यान' दोनोंका कुछ भी भान न रहा ॥ १८ ॥ फिर मनको प्रिय लगनेवाले भगवान्‌के उस शोकनाशक स्वरूपको सहसा न देखनेपर मैं विकलतासे अनमना-सा होकर उठ खड़ा हुआ ॥ १९ ॥ फिर उस स्वरूपको देखनेकी इच्छासे मनको हृदयमें समाहित कर बार-बार देखनेपर भी न देख सका इससे मैं अतृप्तकी भाँति व्याकुल हो गया ॥ २० ॥ इस प्रकार निर्जन वनमें प्रयत्न करते देख वाणीसे अतीत भगवान्‌ने मेरा शोक शान्त करते हुए-से गम्भीर और मधुर वाणीमें यों कहा— ॥ २१ ॥ "खेद है कि इस जन्ममें तुम मुझे नहीं देख सकते; क्योंकि जिनकी वासनाएँ पूर्णतया शान्त नहीं हो जातीं उन कुयोगियोंको मेरा दर्शन अत्यन्त दुर्लभ है ॥ २२ ॥ हे अनघ ! मुझमें तुम्हारा अनुराग बढ़ानेके लिये तुम्हें एक बार यह रूप दिखला दिया है; क्योंकि मेरी कामनावाला साधु पुरुष शनैः-शनैः समस्त वासनाओंको छोड़ देता है ॥ २३ ॥ दीर्घकालतक साधुओंकी सेवा करनेसे तुम्हारी मुझमें दृढ़ श्रद्धा हो गयी है; अतः इस निन्द्य शरीरको छोड़कर अब तुम मेरे निज जन होगे ॥ २४ ॥ मुझमें लगी हुई तुम्हारी बुद्धि कभी नष्ट न होगी तथा प्रजावर्गकी सृष्टि और प्रलयके समय भी मेरी कृपासे तुम्हारी यह सम्पूर्ण स्मृति बनी रहेगी" ॥ २५ ॥

एतावदुक्त्वोपरराम तन्महद्-
भूतं नभोलिङ्गमलिङ्गमीश्वरम् ।
अहं च तस्मै महतां महीयसे
शीर्ष्णावनामं विदधेऽनुकम्पितः ॥२६॥
नामान्यनन्तस्य हतत्रपः पठन्
गुह्यानि भद्राणि कृतानि च स्मरन् ।
गां पर्यटंस्तुष्टमना गतस्पृहः
कालं प्रतीक्षन्विमदो[2] विमत्सरः ॥२७॥

वे नभोमूर्ति महत्स्वरूप अव्यक्त परमात्मा इतना कहकर मौन हो गये । मैंने भी उनका अनुग्रह प्राप्त-कर उन महान्‌से भी महान् भगवान्‌को शिर झुकाकर प्रणाम किया ॥ २६ ॥ फिर मैं निःसङ्कोच होकर भगवान् अनन्तके गुह्य और मंगलमय नाम तथा लीलाओंका कीर्तन और स्मरण करता हुआ प्रसन्न-चित्त, निःस्पृह, मदशून्य और मत्सरहीन होकर कालकी प्रतीक्षा करता हुआ पृथिवीतलपर विचरने लगा ॥२७॥

१. प्राचीन प्रतिमें 'अपश्यन् सहसोत्तस्थे·····से लेकर·····'दुर्दर्शोऽहं कुयोगिनाम्' यहाँतक साढ़े तीन श्लोक नहीं हैं । २. प्रा० पा०—प्रतीक्षन्नमदो ।

एवं कृष्णमतेर्ब्रह्मन्नसक्तस्यामलात्मनः ।
कालः प्रादुरभूत्काले विद्युत्सौदामनी यथा ॥२८॥
प्रयुज्यमाने मयि तां शुद्धां भागवतीं तनुम् ।
आरब्धकर्मनिर्वाणो न्यपतत्पाञ्चभौतिकः ॥२९॥
कल्पान्त इदमादाय शयानेऽम्भस्युदन्वतः ।
शिशयिषोरनुप्राणं विविशेऽन्तरहं विभोः ॥३०॥
सहस्रयुगपर्यन्त उत्थायेदं सिसृक्षतः ।
मरीचिमिश्रा ऋषयः प्राणेभ्योऽहं च जज्ञिरे ॥३१॥
अन्तर्बहिश्च लोकांस्त्रीन्पर्येम्यस्कन्दितव्रतः ।
अनुग्रहान्महाविष्णोरविघातगतिः क्वचित् ॥३२॥
देवदत्तामिमां वीणां स्वरब्रह्मविभूषिताम् ।
मूर्च्छयित्वा हरिकथां गायमानश्चराम्यहम् ॥३३॥
प्रगायतः स्ववीर्याणि तीर्थपादः प्रियश्रवाः ।
आहूत इव मे शीघ्रं दर्शनं याति चेतसि ॥३४॥
एतद्वयातुरचित्तानां मात्रास्पर्शेच्छया मुहुः ।
भवसिन्धुप्लवो दृष्टो हरिचर्यानुवर्णनम् ॥३५॥
यमादिभिर्योगपथैः कामलोभहतो मुहुः ।
मुकुन्दसेवया यद्वत्तथात्माद्धा न शाम्यति ॥३६॥
सर्वं तदिदमाख्यातं यत्पृष्टोऽहं त्वयानघ ।
जन्मकर्मरहस्यं मे भवतश्चात्मतोषणम् ॥३७॥

हे ब्रह्मन् ! इस प्रकार मैं कृष्णपरायण, अनासक्त और शुद्धचित्त होकर रहने लगा। फिर जब भगवान्‌की प्रेरणासे मुझे विशुद्ध भागवत (पार्षद-) शरीर प्राप्त होनेका अवसर आया तो कालक्रमसे अकस्मात् चमक जानेवाली बिजलीके समान सहसा मेरा काल उपस्थित हुआ, उस समय प्रारब्ध क्षय हो जानेसे मेरा यह पाञ्चभौतिक शरीर छूट गया ॥ २८–२९ ॥ तत्पश्चात् कल्पका अन्त होनेपर जब भगवान् नारायण सम्पूर्ण त्रिलोकीको अपनेमें लीनकर प्रलयकालके एकार्णवजलमें शयन कर रहे थे उस समय उन्हींके अन्दर शयन करनेके इच्छुक ब्रह्माजीके अन्तःकरणमें उनके श्वासके साथ मैं प्रविष्ट हो गया ॥३०॥ सहस्र युग बीतनेपर जब उन्होंने निद्रासे उठकर सृष्टि-रचनाका विचार किया तो उनकी इन्द्रियोंसे मरीचि आदि ऋषियोंके साथ मैंने भी जन्म लिया ॥३१॥ श्रीमहाविष्णुकी कृपासे मैं अखण्ड ब्रह्मचर्यका पालन करता हुआ तीनों लोकोंके बाहर-भीतर विचरता हूँ, मेरी गतिका कहीं भी अवरोध नहीं होता ॥३२॥ भगवान्‌की दी हुई इस स्वरब्रह्मविभूषिता* वीणाको बजाकर हरिगुण गाता हुआ विचरता हूँ ॥३३॥ जिनके चरण तीर्थके सदृश हैं वे मनोहर यशवाले भगवान् अपना चरित्र गाते समय मेरे हृदयमें बुलाये हुएके समान तुरन्त आकर दर्शन देते हैं ॥३४॥ जिन लोगोंका चित्त विषयभोगोंकी इच्छासे बारम्बार व्याकुल होता है उनके लिये भगवान्‌के चरित्रोंकी कथा ही संसारसागरसे पार उतारनेवाली नौका निश्चित की गयी है ॥ ३५ ॥ बार-बार काम और लोभके वशीभूत होनेवाला चित्त श्रीमुकुन्दचरणारविन्दके सेवनसे जैसी शान्ति लाभ करता है वैसी यमादि योगाङ्गोंसे नहीं करता ॥ ३६ ॥ हे अनघ ! आपने मुझसे जो कुछ पूछा था वह सब अपने जन्म-कर्म आदिका रहस्य और आपकी चित्त-शान्तिका उपाय मैंने आपको बतला दिया ॥३७॥

सूत उवाच

एवं सम्भाष्य भगवान्नारदो वासवीसुतम् ।
आमन्त्र्य वीणां रणयन्ययौ यादृच्छिको मुनिः ॥३८॥

सूतजी बोले—स्वेच्छानुसार भ्रमण करनेवाले भगवान् नारद सत्यवतीनन्दन श्रीव्यासजीसे इस प्रकार सम्भाषणकर उनकी अनुमति लेकर वीणा बजाते हुए चले गये ॥ ३८ ॥

१. प्रा० पा०—अनुग्रहादहं विष्णो० ।

* षट्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत और निषाद—ये सातों स्वर ब्रह्मव्यञ्जक हैं ।

अहो देवर्षिर्धन्योऽयं यत्कीर्तिं[1] शार्ङ्गधन्वनः ।
गायन्माद्यन्निदं तन्त्र्या रमयत्यातुरं जगत् ॥३९॥

अहो ! ये देवर्षि नारद धन्य हैं ! जो वीणा बजाकर हरिगुण गाते हुए आनन्दमग्न हो इस सन्तप्त जगत्को शान्ति प्रदान करते हैं ॥३९॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे प्रथमस्कन्धे
व्यासनारदसंवादे षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

सातवाँ अध्याय

अश्वत्थामाद्वारा द्रौपदीके पाँच पुत्रोंका वध और अर्जुनद्वारा उसका मानमर्दन ।

शौनक उवाच

निर्गते नारदे सूत भगवान्बादरायणः ।
श्रुतवांस्तदभिप्रेतं ततः किमकरोद्विभुः ॥ १ ॥

शौनकजी बोले—हे सूतजी ! इस प्रकार नारदजीका अभिप्राय सुन लेनेके बाद उनके चले जानेपर विभु भगवान् व्यासजीने क्या किया ? ॥१॥

सूत उवाच

ब्रह्मनद्यां सरस्वत्यामाश्रमः पश्चिमे तटे ।
शम्याप्रास इति प्रोक्त ऋषीणां सत्रवर्धनः ॥ २ ॥
तस्मिन्स्व आश्रमे व्यासो बदरीखण्डमण्डिते ।
आसीनोऽप उपस्पृश्य प्रणिदध्यौ मनः स्वयम् ॥ ३ ॥
भक्तियोगेन मनसि सम्यक्प्रणिहितेऽमले ।
अपश्यत्पुरुषं पूर्वं मायां च तदपाश्रयाम् ॥ ४ ॥
यया संमोहितो जीव आत्मानं त्रिगुणात्मकम् ।
परोऽपि मनुतेऽनर्थं तत्कृतं चाभिपद्यते ॥ ५ ॥
अनर्थोपशमं साक्षाद्भक्तियोगमधोक्षजे ।
लोकस्याजानतो विद्वांश्चक्रे सात्वतसंहिताम्॥ ६ ॥
यस्यां वै श्रूयमाणायां कृष्णे परमपूरुषे ।

सूतजी बोले—ब्रह्मनदी सरस्वतीके पश्चिम तटपर श्रीव्यासजीका शम्याप्रास नामसे विख्यात आश्रम है, जो ऋषियोंके ज्ञानादि यज्ञोंको बढ़ानेवाला है ॥२॥ बदरीवनसे सुशोभित अपने उस आश्रममें बैठे हुए श्रीव्यासजी आचमनकर अपने चित्तको समाहित करने लगे ॥ ३ ॥ जब उनका निर्मल चित्त भक्तियोगके द्वारा पूर्णतया समाहित (एकाग्र) हो गया तो उन्होंने पुराणपुरुष परमेश्वरका और उनके आश्रय रहनेवाली उनकी मायाका साक्षात्कार किया ॥ ४ ॥ जिस मायासे मोहित होकर जीव, वस्तुतः प्राकृत गुणोंसे अतीत होता हुआ भी, अपनेको त्रिगुणात्मक मानता है और उस मायाके अहंकारादिरूप अनर्थोंका भी भागी होता है ॥५॥इस अनर्थका साक्षात् मूलोच्छेद करनेवाला जो भगवान् विष्णुविषयक भक्तियोग है उसका भी साक्षात्कार किया—तथा जो लोग इस बातको नहीं जानते उनको जनानेके लिये परम विद्वान् भगवान् व्यासने भागवतसंहिता रची ॥६॥ जिसके श्रवण करनेसे मनुष्यके हृदयमें उसके शोक, मोह और जरा आदिके भय-

१. प्रा० पा०—यः कीर्तिं । यहाँ 'यत्' की अपेक्षा 'यः' पाठ अच्छा है ।

भक्तिरुत्पद्यते पुंसः शोकमोहजरापहा[1] ॥ ७ ॥
स संहितां भागवतीं कृत्वानुक्रम्य चात्मजम् ।
शुकमध्यापयामास निवृत्तिनिरतं मुनिः ॥ ८ ॥

शौनक उवाच

स वै निवृत्तिनिरतः सर्वत्रोपेक्षको मुनिः ।
कस्य वा बृहतीमेतामात्मारामः समभ्यसत् ॥ ९ ॥

सूत उवाच

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे ।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थंभूतगुणो हरिः ॥१०॥
हरेर्गुणाक्षिप्तमतिर्भगवान्बादरायणिः ।
अध्यगान्महदाख्यानं नित्यं विष्णुजनप्रियः ॥११॥
परीक्षितोऽथ राजर्षेर्जन्मकर्मविलापनम् ।
संस्थां च पाण्डुपुत्राणां वक्ष्ये कृष्णकथोदयम् ॥१२॥
यदा मृधे कौरवसृञ्जयानां
वीरेष्वथो वीरगतिं गतेषु ।
वृकोदराविद्धगदाभिमर्श-
भग्नोरुदण्डे धृतराष्ट्रपुत्रे ॥१३॥
भर्तुः प्रियं द्रौणिरिति स्म पश्यन्
कृष्णासुतानां स्वपतां शिरांसि ।
उपाहरद्विप्रियमेव तस्य तै-[2]
र्जुगुप्सितं कर्म विगर्हयन्ति ॥१४॥
माता शिशूनां[3] निधनं सुतानां
निशम्य घोरं परितप्यमाना ।
तदारुदद्बाष्पकलाकुलाक्षी
तां सान्त्वयन्नाह किरीटमाली ॥१५॥
तदा शुचस्ते प्रमृजामि[4] भद्रे

को दूर करनेवाली परमपुरुष भगवान् श्रीकृष्णकी भक्ति उत्पन्न हो जाती है ॥ ७ ॥ तत्पश्चात् मुनिवर व्यासजीने वह भागवतसंहिता बनाकर और उसका निरीक्षणकर अपने पुत्र निवृत्तिपरायण श्रीशुकदेवजीको पढ़ायी ॥८॥

शौनकजी बोले—श्रीशुकदेवजी तो बड़े निवृत्तिपरायण और निरपेक्ष महात्मा थे । उन्होंने आत्माराम होकर भी इस बहुत बड़ी संहिताको किस लिये पढ़ा ? ॥ ९ ॥

सूतजी बोले—जो आत्माराम और जीवन्मुक्त मुनिजन होते हैं वे भी श्रीहरिमें अहैतुकी भक्ति किया करते हैं, क्योंकि श्रीहरिके गुण ही ऐसे हैं ॥ १० ॥ विष्णुभक्तोंसे सदा प्रेम रखनेवाले भगवान् शुकदेवजीने भगवद्गुणोंसे आकर्षित होकर ही इस महान् आख्यानका अध्ययन किया था ॥ ११ ॥

हे मुनिजन ! अब मैं राजर्षि परीक्षित्के जन्म-कर्म और मोक्षकी कथा तथा पाण्डवोंके महाप्रस्थानका वृत्तान्त सुनाता हूँ, जिसमें श्रीकृष्णचन्द्रकी अनेकों कथाओंका उद्गम होता है ॥ १२ ॥ जिस समय भारतीय युद्धमें कौरव और सृञ्जय (धृष्टद्युम्न)* पक्षके वीर वीरगतिको प्राप्त हुए और भीमसेनकी गदाके प्रहारसे धृतराष्ट्रनन्दन दुर्योधनकी जंघा टूट गयी तब द्रोणपुत्र अश्वत्थामा यह सोचकर कि, इससे स्वामी (दुर्योधन) का हित होगा, द्रौपदीके सोये हुए पुत्रोंके शिर काट लाये । किन्तु वह कर्म दुर्योधनको अप्रिय ही मालूम हुआ; क्योंकि निन्दित कर्मकी सभी निन्दा करते हैं ॥ १३-१४ ॥

जब उन बालकोंकी माता (द्रौपदी) ने उनकी इस अपमृत्युका घोर समाचार सुना तो वह अत्यन्त दुःख मानकर आँखोंसे आँसू बहाती हुई विलाप करने लगी । उस समय उसे आश्वासन देते हुए अर्जुनने कहा— ॥१५॥ "भद्रे ! मैं तुम्हारा दुःख उसी समय शान्त करूँगा

१. प्रा० पा०—भयापहा । २. प्राचीन प्रतिमें 'तत्' शब्द नहीं है केवल 'जुगुप्सितं' पाठ है । वास्तवमें यहाँ 'तत्' शब्दका न रहना ही अच्छा है, क्योंकि यह श्लोक 'उपजाति' छन्दका है, 'तत्' शब्दके रहनेसे केवल इसका तृतीय चरण 'वंशस्थ' छन्द हो जाता है और शेष 'उपजाति' ही रह जाते हैं; उपजातिमें इन्द्रवज्रा और उपेन्द्रवज्राका ही मेल रहता है, वंशस्थका नहीं । ३. प्रा० पा०—माता सुतानां निधनं शिशूनां । ४. प्रा० पा०—विमृजामि ।

* सृञ्जयवंशीय धृष्टद्युम्न पाण्डवसेनाके प्रधान सेनापति थे । इसलिये पाण्डवपक्षको सृञ्जयपक्ष कहा है ।

यद्ब्रह्मबन्धोः शिर आततायिनः ।
गाण्डीवमुक्तैर्विशिखैरुपाहरे
त्वाक्रम्य[1] यत्स्नास्यसि दग्धपुत्रा ॥१६॥
इति प्रियां वल्गुविचित्रजल्पैः
स सान्त्वयित्वाच्युतमित्रसूतः ।
अन्वाद्रवद्दंशित उग्रधन्वा
कपिध्वजो गुरुपुत्रं रथेन ॥१७॥
तमापतन्तं स विलक्ष्य दूरात्
कुमारहोद्विग्नमना रथेन ।
पराद्रवत्प्राणपरीप्सुरुर्व्यां
यावद्गमं रुद्रभयाद्यथार्कः ॥१८॥
यदाशरणमात्मानमैक्षत श्रान्तवाजिनम् ।
अस्त्रं ब्रह्मशिरो मेन आत्मत्राणं द्विजात्मजः ॥१९॥
अथोपस्पृश्य सलिलं संदधे तत्समाहितः ।
अजानन्नुपसंहारं प्राणकृच्छ्र उपस्थिते ॥२०॥
ततः प्रादुष्कृतं तेजः प्रचण्डं सर्वतोदिशम् ।
प्राणापदमभिप्रेक्ष्य विष्णुं जिष्णुरुवाच ह ॥२१॥

अर्जुन[2] उवाच

कृष्ण कृष्ण महाभाग[3] भक्तानामभयंकर ।
त्वमेको दह्यमानानामपवर्गोऽसि संसृतेः ॥२२॥
त्वमाद्यः पुरुषः साक्षादीश्वरः प्रकृतेः परः ।
मायां व्युदस्य चिच्छक्त्या कैवल्ये स्थित आत्मनि २३

जब कि उस आततायी* ब्राह्मणाधमका शिर गाण्डीवसे छोड़े हुए बाणोंसे काटकर तुम्हारे पास लाऊँगा और पुत्रशोकसे दग्ध हुई तुम उसपर चढ़कर स्नान करोगी'' ॥ १६ ॥ इस प्रकार बड़े रमणीय और विचित्र वाक्योंसे प्रियाको सान्त्वना देकर अपने मित्र और सारथि श्रीअच्युतके सहित कपिध्वज अर्जुन कवच और उग्र धनुष धारणकर रथपर चढ़ गुरुपुत्रके पीछे दौड़ पड़े ॥१७॥ बालकोंके मारनेवाले अश्वत्थामाने जब दूरसे ही अर्जुनको आते देखा तो वह अपनी प्राण-रक्षाके लिये व्याकुल हो रथपर चढ़कर पृथिवीपर जहाँ-तक भाग सकता था भागा; जैसे कि एक समय रुद्रके भय-से सूर्य भागे थे† ॥ १८ ॥ जब रथके घोड़े थक गये और अपना कोई सहारा नहीं दीख पड़ा तब द्विजपुत्र अश्वत्थामाने एकमात्र ब्रह्मास्त्रको ही अपनी रक्षाका साधन समझा ॥ १९ ॥ यद्यपि वह उसका उपसंहार (उसे निवृत्त करनेका प्रकार) नहीं जानता था तो भी प्राणसंकट उपस्थित हो जानेके कारण उसने आचमन-कर सावधानतापूर्वक उसे धनुषपर चढ़ाया ॥ २० ॥ उससे समस्त दिशाओंमें अति असह्य प्रचण्ड तेज प्रकट हुआ । तब अपने प्राणोंपर आपत्ति देख अर्जुनने श्रीकृष्णचन्द्रसे प्रार्थना की ॥ २१ ॥

अर्जुन बोले—''हे कृष्ण ! हे कृष्ण ! हे महा-भाग ! आप भक्तोंको अभय देनेवाले हैं । आप ही [संसारदावानलसे] जलते हुए जीवोंके लिये मोक्षरूप हैं ॥ २२ ॥ आप प्रकृतिसे अतीत उसका नियमन करनेवाले साक्षात् श्रीपुरुषोत्तम हैं । आप अपनी चिच्छक्तिसे मायाका निरास-कर अपने कैवल्यस्वरूपमें स्थित हैं ॥ २३ ॥

---

१. प्रा० पा०—आक्रम्य । २. प्राचीन प्रतिमें 'अर्जुन उवाच' इतना नहीं है । ३. प्रा० पा०—महाबाहो ।

* आग लगानेवाला, विष देनेवाला, [किसीके साथ अन्याय करनेके लिये] हाथमें शस्त्र ग्रहण करनेवाला, पराया धन चुरानेवाला, किसीका खेत अथवा किसीकी स्त्री छीननेवाला—ये छः आततायी होते हैं; जैसा कि कहा है—

'अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः । क्षेत्रदारहरश्चैव षडेते आततायिनः ॥'

† शिवभक्त विद्युन्माली दैत्यको जब सूर्यने हरा दिया तब सूर्यपर क्रुद्ध हो श्रीशिवजी त्रिशूल ले उन्हें मारने दौड़े, तब सूर्य भी भागते-भागते पृथ्वीपर काशीमें आकर गिरे और वहाँ लोलार्क संज्ञाको प्राप्त हुए ।

स एव जीवलोकस्य मायामोहितचेतसः ।
विधत्से स्वेन वीर्येण श्रेयो धर्मादिलक्षणम् ॥२४॥
तथायं चावतारस्ते भुवो भारजिहीर्षया ।
स्वानां चानन्यभावानामनुध्यानाय चासकृत् ॥२५॥
किमिदं स्वित्कुतो वेति देवदेव न वेद्म्यहम् ।
सर्वतोमुखमायाति तेजः परमदारुणम् ॥२६॥

ऐसे होकर भी आप अपने प्रभावसे मायामोहित जीवोंके धर्मादिरूप श्रेयका विधान करते हैं ॥ २४ ॥ आपका यह अवतार भी पृथिवीका भार उतारनेके लिये तथा अपने अनन्य भक्तोंद्वारा निरन्तर ध्यान किये जानेके लिये ही हुआ है ॥ २५ ॥ हे देवदेव ! देखिये, चारों ओरसे यह परम दारुण तेज मेरी ओर आ रहा है; मैं नहीं जानता कि यह क्या है और कहाँसे आ रहा है ? ॥ २६ ॥

श्रीभगवानुवाच

वेत्थेदं द्रोणपुत्रस्य ब्राह्ममस्त्रं प्रदर्शितम् ।
नैवासौ वेद संहारं प्राणबाध उपस्थिते ॥२७॥
नह्यस्यान्यतमं किञ्चिदस्त्रं प्रत्यवकर्शनम् ।
जह्यस्त्रतेज उन्नद्धमस्त्रज्ञो ह्यस्त्रतेजसा ॥२८॥

श्रीभगवान् बोले—इसे तुम द्रोणपुत्रका ब्रह्मास्त्र जानो । वह इसका उपसंहार करना नहीं जानता तो भी प्राणसंकट उपस्थित हो जानेके कारण उसने इसे छोड़ दिया है ॥२७॥ इसे कोई दूसरा शस्त्र नहीं दबा सकता अतः ब्रह्मास्त्रके तेजसे ही इसके प्रचण्ड तेजको शान्त करो, क्योंकि तुम सभी अस्त्रविद्याओंको भली-भाँति जानते हो ॥२८॥

सूत उवाच

श्रुत्वा भगवता प्रोक्तं फाल्गुनः परवीरहा ।
स्पृष्ट्वापस्तं परिक्रम्य ब्राह्मं ब्राह्माय संदधे ॥२९॥
संहत्यान्योन्यमुभयोस्तेजसी शरसंवृते ।
आवृत्य रोदसी खं च ववृधातेऽर्कवह्निवत् ॥३०॥
दृष्ट्वास्त्रतेजस्तु तयोस्त्रींल्लोकान्प्रदहन्महत् ।
दह्यमानाः प्रजाः सर्वाः सांवर्तकममंसत ॥३१॥
प्रजोपप्लवमालक्ष्य लोकव्यतिकरं च तम् ।
मतं च वासुदेवस्य संजहारार्जुनो द्वयम् ॥३२॥
तत आसाद्य तरसा दारुणं गौतमीसुतम् ।
बबन्धामर्षताम्राक्षः पशुं रशनया यथा ॥३३॥
शिबिराय निनीषन्तं दाम्ना[2] बद्ध्वा रिपुं बलात् ।
प्राहार्जुनं प्रकुपितो भगवानम्बुजेक्षणः ॥३४॥
मैनं पार्थार्हसि त्रातुं ब्रह्मबन्धुमिमं जहि ।

सूतजी बोले—भगवान्‌के ये वचन सुनकर विपक्षी वीरोंका संहार करनेवाले अर्जुनने आचमनकर भगवान्‌की परिक्रमा की और ब्रह्मास्त्रको रोकनेके लिये ब्रह्मास्त्र छोड़ा ॥ २९ ॥ तब उन दोनों ब्रह्मास्त्रोंके तेज परस्पर टकराकर पृथिवी और आकाशको व्याप्तकर [प्रलयकालके] सूर्य और अग्निके समान बढ़ने लगे ॥३०॥ तीनों लोकोंको दग्ध करते हुए उन शस्त्रोंके महान् तेजको देखकर जलती हुई सम्पूर्ण प्रजाने उसे [शेषनागके मुखसे निकला हुआ प्रलयकालिक] संवर्तक अग्नि समझा ॥३१॥ प्रजाओंकी वह विकलता और लोकोंका विध्वंस देखकर तथा भगवान्‌की भी सम्मति जानकर अर्जुनने उन दोनोंका उपसंहार कर दिया ॥३२॥ फिर वे क्रोधसे आँखें लाल किये बड़े वेगसे क्रूरकर्मा अश्वत्थामाके पास पहुँचे और उसे पकड़कर पशुके समान रस्सीसे बाँध लिया ॥ ३३ ॥ जब कमलनयन भगवान्‌ने देखा कि अर्जुन अपने शत्रुको बलपूर्वक रस्सियोंसे बाँधकर शिबिरकी ओर ले जाना चाहते हैं तो उन्होंने अश्वत्थामाके प्रति कुपित होकर अर्जुनसे कहा ॥ ३४ ॥ "पार्थ ! इस ब्राह्मणाधमको छोड़ना न चाहिये, इसे तुरन्त मार डालो; क्योंकि

१. प्रा० पा०—स्वानामनन्य० । २. प्रा० पा०—रज्ज्वा ।

योऽसावनागसः सुप्तानवधीन्निशि बालकान् ॥३५॥
मत्तं प्रमत्तमुन्मत्तं सुप्तं बालं स्त्रियं जडम् ।
प्रपन्नं विरथं भीतं न रिपुं हन्ति धर्मवित् ॥३६॥
स्वप्राणान्यः परप्राणैः प्रपुष्णात्यघृणः खलः ।
तद्वधस्तस्य हि श्रेयो यद्दोषाद्यात्यधः पुमान् ॥३७॥
प्रतिश्रुतं च भवता पाञ्चाल्यै शृण्वतो मम ।
आहरिष्ये शिरस्तस्य यस्ते मानिनि पुत्रहा ॥३८॥
तदसौ वध्यतां पाप आततायात्मबन्धुहा ।
भर्तुश्च विप्रियं वीर कृतवान्कुलपांसनः ॥३९॥

इस दुष्टने रात्रिके समय सोये हुए निरपराध बालकोंका वध किया है ॥३५॥ धर्मको जाननेवाला पुरुष मतवाले, असावधान, पागल, सोये हुए, बालक, स्त्री, मूर्ख, शरणागत, रथहीन और भयभीत शत्रुको कभी नहीं मारता ॥३६॥ जो निर्दय दुष्ट पुरुष दूसरेके प्राणोंसे अपने प्राणोंका पोषण करता है उसका वध ही उसके लिये कल्याणकारी होता है; क्योंकि [यदि उसका वध करके उसके पापका प्रायश्चित्त न कर दिया जाय तो] वह अपने पापके कारण नरकमें जाता है ॥३७॥ और तुमने भी मेरे सुनते-ही-सुनते द्रौपदीसे प्रतिज्ञा भी की है कि हे मानिनि ! जो तुम्हारे पुत्रोंका मारनेवाला है, मैं उसका शिर लाऊँगा ॥३८॥ अतः अपने बन्धुजनोंका वध करनेवाले इस पापी आततायीको मार डालो। हे वीर ! इस कुलकलंकने बालहत्या करके अपने स्वामी दुर्योधनका भी अप्रिय ही किया है" ॥३९॥

एवं परीक्षता धर्मं पार्थः कृष्णेन चोदितः ।
नैच्छद्धन्तुं गुरुसुतं यद्यप्यात्महनं महान् ॥४०॥
अथोपेत्य स्वशिबिरं गोविन्दप्रियसारथिः ।
न्यवेदयत्तं प्रियायै शोचन्त्या आत्मजान्हतान् ॥४१॥
तथाहृतं पशुवत्पाशबद्ध-
मवाङ्मुखं कर्मजुगुप्सितेन ।
निरीक्ष्य कृष्णापकृतं गुरोः सुतं
वामस्वभावा कृपया ननाम च ॥४२॥
उवाच चासहन्त्यस्य बन्धनानयनं सती ।
मुच्यतां मुच्यतामेष ब्राह्मणो नितरां गुरुः ॥४३॥
सरहस्यो धनुर्वेदः सविसर्गोपसंयमः ।
अस्त्रग्रामश्च भवता शिक्षितो यदनुग्रहात् ॥४४॥
स एष भगवान्द्रोणः प्रजारूपेण वर्तते ।
तस्यात्मनोऽर्धं पत्न्यास्ते नान्वगाद्वीरसूः कृपी ॥४५॥
तद्धर्मज्ञ महाभाग भवद्भिर्गौरवं कुलम् ।
वृजिनं नार्हति प्राप्तुं पूज्यं वन्द्यमभीक्ष्णशः ॥४६॥

धर्मकी परीक्षा करते हुए भगवान् कृष्णद्वारा इस प्रकार प्रेरित किये जानेपर भी महापुरुष अर्जुनने अपने गुरुपुत्रको मारना न चाहा; यद्यपि वह उनके पुत्रोंका हत्यारा था ॥४०॥ तदनन्तर गोविन्द जिनके प्रिय सारथि हैं वे अर्जुन अपने शिबिरमें पहुँचकर मृतपुत्रोंके लिये शोक करती हुई प्रियाको उसे सौंप दिया ॥४१॥ इस प्रकार निरादरपूर्वक पशुके समान बाँधकर लाये गये और अपने घृणित कर्मके कारण नीचा मुख किये खड़े हुए अपराधी गुरुपुत्रको सुशीला द्रौपदीने दयादृष्टि-से देखकर प्रणाम किया ॥४२॥ तथा उस सतीने उसका इस प्रकार बाँधकर लाना सहन न करते हुए कहा—"इन्हें छोड़ दो छोड़ दो ! ये ब्राह्मण हैं और हमारे सनातन गुरु हैं ॥४३॥ जिनकी कृपासे आपने रहस्यसहित धनुर्वेद और प्रयोग तथा उपसंहारके सहित सम्पूर्ण अस्त्र-शस्त्रोंकी शिक्षा प्राप्त की है वे भगवान् द्रोण ही साक्षात् पुत्ररूपसे वर्तमान हैं। उनकी अर्द्धांगिनी और इन वीर पुत्रको उत्पन्न करनेवाली कृपी अभीतक जीवित हैं। स्वामीके मरनेपर भी इन्हींके प्रेमवश उनका अनुगमन न कर सकीं ॥४४-४५॥ हे महाभाग ! आप धर्मज्ञ हैं, अतः आपके द्वारा गुरुकुलको कष्ट न पहुँचना चाहिये; गुरुवंश सदा ही पूज्य और वन्दनीय होता है।४६।

मा रोदीदस्य जननी गौतमी पतिदेवता ।
यथाहं मृतवत्सार्ता रोदिम्यश्रुमुखी मुहुः ॥४७॥
यैः कोपितं ब्रह्मकुलं राजन्यैरकृतात्मभिः[1] ।
तत्कुलं प्रदहत्याशु सानुबन्धं शुचार्पितम्[2] ॥४८॥

सूत उवाच

धर्म्यं न्याय्यं सकरुणं निर्व्यलीकं समं महत् ।
राजा धर्मसुतो राज्ञ्याः प्रत्यनन्दद्वचो द्विजाः ॥४९॥
नकुलः सहदेवश्च युयुधानो धनञ्जयः ।
भगवान् देवकीपुत्रो ये चान्ये याश्च योषितः ॥५०॥
तत्राहामर्षितो भीमस्तस्य श्रेयान्वधः स्मृतः ।
न भर्तुर्नात्मनश्चार्थे योऽहन्त्सुप्ताञ्शिशून्वृथा[3] ॥५१॥
निशम्य भीमगदितं द्रौपद्याश्च चतुर्भुजः ।
आलोक्य वदनं सख्युरिदमाह हसन्निव ॥५२॥

श्रीकृष्ण उवाच

ब्रह्मबन्धुर्न हन्तव्य आततायी वधार्हणः[5] ।
मयैवोभयमाम्नातं परिपाह्यनुशासनम् ॥५३॥
कुरु प्रतिश्रुतं सत्यं यत्तत्सान्त्वयता प्रियाम् ।
प्रियं च भीमसेनस्य पाञ्चाल्या मह्यमेव च ॥५४॥

सूत उवाच

अर्जुनः सहसाज्ञाय[6] हरेर्हार्दमथासिना ।
मणिं जहार मूर्धन्यं द्विजस्य सहमूर्धजम् ॥५५॥
विमुच्य रशनाबद्धं बालहत्याहतप्रभम् ।
तेजसा मणिना हीनं शिबिरान्निरयापयत् ॥५६॥
वपनं द्रविणादानं स्थानान्निर्यापणं तथा ।
एष हि ब्रह्मबन्धूनां वधो नान्योऽस्ति दैहिकः ॥५७॥

अपने बालकोंके मारे जानेसे जिस प्रकार मैं बारम्बार आँसू बहाती हुई अति आतुर होकर रो रही हूँ उसी प्रकार इनकी माता पतिव्रता गौतमी न रोवें ॥४७॥ जो अजितेन्द्रिय राजा विप्रवंशको कुपित कर देते हैं, उनके कुलको परिवारके साथ ही वह शोक-सन्तप्त ब्राह्मणवंश शीघ्र भस्म कर देता है'' ॥४८॥

सूतजी बोले—हे द्विजगण ! धर्मपुत्र महाराज युधिष्ठिरने महारानीके इन धर्मानुकूल, न्याययुक्त, करुणापूर्ण, सत्य, समतायुक्त और उच्चकोटिके वाक्यों-का अनुमोदन किया ॥ ४९ ॥ इसी प्रकार नकुल, सहदेव, सात्यकि, अर्जुन, भगवान् कृष्ण तथा अन्य स्त्री-पुरुषोंने भी उनका समर्थन किया ॥५०॥ तब भीमसेनने क्रुद्ध होकर कहा—''जिसने न अपने लिये और न स्वामीके लिये किन्तु व्यर्थ ही सोते हुए बालकोंको मारा है उस-का तो मारना ही अच्छा है'' ॥ ५१ ॥ भीमसेन और द्रौपदीका कथन सुनकर श्रीकृष्णचन्द्रने सखा अर्जुनके मुखकी ओर देखकर मुसकाते हुए-से कहा ॥५२॥

श्रीभगवान् बोले—भाई ! 'ब्राह्मणका वध न करना चाहिये' और 'आततायीको मारना ही उचित है' ये दोनों उपदेश मेरे ही किये हुए हैं; अतः ऐसा काम करो, जिसमें इन दोनोंकी रक्षा हो ॥ ५३ ॥ तथा द्रौपदीको धैर्य बँधाते समय तुमने जो प्रतिज्ञा की थी उसे भी सत्य करो एवं भीमसेन, द्रौपदी और मेरी इच्छा भी पूर्ण करो ॥ ५४ ॥

सूतजी बोले—तब अर्जुनने सहसा भगवान्का अभिप्राय जान अपने खड्गसे अश्वत्थामाके मस्तककी मणि केशोंसहित उतार ली ॥ ५५ ॥ और बाल-हत्यासे तेजोहीन हुए अश्वत्थामाको बन्धनमुक्त कर उसे गौरव और मणिसे हीन कर अपने शिबिरसे निकाल दिया ॥ ५६ ॥ शिर मूँड़ देना, धन छीन लेना और स्थानसे बाहर निकाल देना यही ब्राह्मणोंका वध है उनके शारीरिक वधका विधान नहीं है ॥ ५७ ॥

१. प्रा० पा०—रजितात्मभिः । २. प्रा० पा०—शुचार्दितम् । ३. ४. प्राचीन प्रतिमें 'वृथा' शब्दसे लेकर 'श्रीकृष्ण उवाच' के 'श्री' तकका मैटर खण्डित हो गया है तथा उसमें 'कृष्ण उवाच' की जगह 'भगवानुवाच' पाठ है । ५. प्रा० पा०—वधार्हकः । ६. प्रा० पा०—सहसा ज्ञात्वा ।

पुत्रशोकातुराः सर्वे पाण्डवाः सह कृष्णया ।
स्वानां मृतानां यत्कृत्यं चक्रुर्निर्हरणादिकम् ॥५८॥

तदनन्तर द्रौपदीके सहित समस्त पुत्रशोकातुर पाण्डवोंने अपने मृत बन्धु-बान्धवोंके निर्हरण (शवदाह) आदि कर्म किये ॥ ५८ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे प्रथमस्कन्धे
द्रौणिनिग्रहो नाम सप्तमोऽध्यायः ॥७॥

आठवाँ अध्याय

गर्भमें परीक्षित्‌की रक्षा, कुन्तीकृत भगवान्‌की स्तुति और राजा युधिष्ठिरका शोक ।

सूत उवाच

अथ ते[2] संपरेतानां स्वानामुदकमिच्छताम् ।
दातुं सकृष्णा गङ्गायां पुरस्कृत्य ययुः स्त्रियः ॥ १ ॥
ते निनीयोदकं सर्वे विलप्य च भृशं पुनः ।
आप्लुता हरिपादाब्जरजःपूतसरिज्जले ॥ २ ॥
तत्रासीनं कुरुपतिं धृतराष्ट्रं सहानुजम् ।
गान्धारीं पुत्रशोकार्तां पृथां कृष्णां च माधवः ॥ ३ ॥
सान्त्वयामास मुनिभिर्हतबन्धूञ्छुचार्पितान्[3] ।
भूतेषु कालस्य गतिं दर्शयन्नप्रतिक्रियाम् ॥ ४ ॥
साधयित्वाजातशत्रोः स्वं राज्यं कितवैर्हृतम् ।
घातयित्वासतो राज्ञः कचस्पर्शक्षतायुषः ॥ ५ ॥
याजयित्वाश्वमेधैस्तं त्रिभिरुत्तमकल्पकैः ।
तद्यशः पावनं दिक्षु शतमन्योरिवातनोत् ॥ ६ ॥
आमन्त्र्य पाण्डुपुत्रांश्च शैनेयोद्धवसंयुतः ।
द्वैपायनादिभिर्विप्रैः पूजितैः प्रतिपूजितः ॥ ७ ॥

सूतजी बोले—इसके अनन्तर वे पाण्डवगण मरे हुए एवं जलके इच्छुक अपने आत्मीयजनोंको जलाञ्जलि देनेके लिये भगवान् कृष्णके सहित [कुन्ती आदि] स्त्रियोंको आगे कर गंगातटको गये ॥ १ ॥ वहाँ उन सबने जलाञ्जलि देकर बड़ा विलाप किया और भगवान् हरिके चरणरजसे पवित्र श्रीगंगाजीके जलमें [नैमित्तिक] स्नान किया ॥ २ ॥ वहाँ बैठे हुए भाइयोंसहित महाराज युधिष्ठिर, धृतराष्ट्र, पुत्रशोकाकुला गान्धारी, कुन्ती तथा द्रौपदीको, जो कि अपने बन्धुओंके मारे जानेसे अत्यन्त शोकाकुल थे, मुनियोंसहित भगवान् कृष्णने कालकी दुर्निवार गति दिखलाते हुए ढाढ़स बँधाया ॥ ३-४ ॥

इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्णने महाराज युधिष्ठिरको उनका दुर्योधनादि धूर्तोंद्वारा (छलपूर्वक) हरा हुआ राज्य दिलाकर और द्रौपदीके केश छूनेमात्रसे जिनकी आयु क्षीण हो गयी थी उन (दुर्योधनादि) अन्यायी राजाओंका वध कराकर तथा युधिष्ठिरद्वारा उत्तम सामग्रियों और याजकोंसे युक्त तीन अश्वमेध यज्ञ कराकर इन्द्रके समान उनका पवित्र यश समस्त दिशाओंमें फैला दिया ॥ ५-६ ॥ हे ब्रह्मन् ! फिर महर्षि व्यास आदि ब्राह्मणोंका सत्कार कर और स्वयं भी उनसे सत्कृत हो पाँचों पाण्डवोंसे पूछकर सात्यकि

१. प्रा० पा०—प्राचीन प्रतिमें 'द्रौणिनिग्रहो नाम' की जगह 'पारिक्षिते' पाठ है। २. प्रा० पा०— तेषां परेतानां । ३. प्रा० पा०—शुचार्दितान् ।

गन्तुं कृतमतिर्ब्रह्मन्द्वारकां रथमास्थितः ।
उपलेभेऽभिधावन्तीमुत्तरां भयविह्वलाम् ॥ ८ ॥

उत्तरोवाच

पाहि पाहि महायोगिन्देवदेव जगत्पते ।
नान्यं[1] त्वदभयं पश्ये यत्र मृत्युः परस्परम् ॥ ९ ॥
अभिद्रवति मामीश शरस्तप्तायसो विभो ।
कामं दहतु[2] मां नाथ मा मे गर्भो निपात्यताम् ॥१०॥

सूत[3] उवाच

उपधार्य वचस्तस्या भगवान्भक्तवत्सलः ।
अपाण्डवमिदं कर्तुं द्रौणेरस्त्रमबुध्यत ॥११॥
तर्ह्येवाथ मुनिश्रेष्ठ[4] पाण्डवाः पञ्च सायकान् ।
आत्मनोऽभिमुखान्दीप्तानालक्ष्यास्त्राण्युपाददुः ॥१२॥
व्यसनं वीक्ष्य तत्तेषामनन्यविषयात्मनाम् ।
सुदर्शनेन स्वास्त्रेण स्वानां रक्षां व्यधाद्विभुः ॥१३॥
अन्तःस्थः सर्वभूतानामात्मा योगेश्वरो हरिः ।
स्वमाययावृणोद्गर्भं वैराट्याः कुरुतन्तवे ॥१४॥
यद्यप्यस्त्रं ब्रह्मशिरस्त्वमोघं चाप्रतिक्रियम् ।
वैष्णवं तेज आसाद्य समशाम्यद्भृगूद्वह ॥१५॥
मा मंस्था ह्येतदाश्चर्यं सर्वाश्चर्यमयेऽच्युते ।
य इदं मायया देव्या सृजत्यवति हन्त्यजः ॥१६॥
ब्रह्मतेजोविनिर्मुक्तैरात्मजैः सह कृष्णया ।
प्रयाणाभिमुखं कृष्णमिदमाह पृथा सती ॥१७॥

और उद्धवके साथ द्वारका जानेके विचारसे वे रथपर चढ़े । इतनेहीमें उन्होंने देखा कि सामनेसे भयसे विह्वल हुई उत्तरा दौड़ी चली आ रही है ॥ ७-८ ॥

[उत्तराने कहा—] हे महायोगिन् ! हे देवाधिदेव ! हे जगत्प्रभो ! रक्षा करो, रक्षा करो !! आपके सिवा मुझे कोई अभयदाता नहीं दिखलायी देता; क्योंकि सभी एक दूसरेको मारनेवाले हैं ॥ ९ ॥ हे ईश ! देखिये, यह तपाये हुए लोहेका बाण मेरी ओर बढ़ा आ रहा है । हे नाथ ! हे विभो ! मुझे यह भले ही जला डाले परन्तु मेरे गर्भको नष्ट न करे ॥ १० ॥

सूतजी बोले—भक्तवत्सल भगवान्‌ने उसके वचन सुनकर जान लिया कि यह पृथिवीको पाण्डवहीन करनेके लिये छोड़ा हुआ अश्वत्थामाका ब्रह्मास्त्र है ॥ ११ ॥ हे मुनिश्रेष्ठ ! उसी समय पाण्डवोंने भी अपने सामने पाँच प्रज्वलित बाणोंको आते देख अपने-अपने शस्त्र उठाये ॥ १२ ॥ उन एकमात्र अपनेमें ही चित्त लगानेवाले भक्तोंपर यह आपत्ति देख भगवान्‌ने अपने अस्त्र सुदर्शनचक्रसे उन आत्मीय जनोंकी रक्षा की ॥ १३ ॥ तथा उत्तराके हृदयमें स्थित सर्वभूतात्मा योगेश्वर श्रीहरिने कुरुवंशकी रक्षाके लिये उसके गर्भको अपनी मायासे ढक दिया ॥ १४ ॥ हे भृगुनन्दन ! यद्यपि ब्रह्मास्त्र अमोघ था और किसी प्रकार रोका नहीं जा सकता था तथापि वैष्णव तेजके सामने आकर अत्यन्त शान्त हो गया ॥ १५ ॥ जो अजन्मा हरि अपनी दिव्य मायासे इस सम्पूर्ण जगत्‌की रचना, पालन और नाश करते हैं उन सर्वाश्चर्यमय भगवान् अच्युतके इस कृत्यमें तुम्हें कोई आश्चर्य नहीं मानना चाहिये ॥ १६ ॥ इस प्रकार भगवान्‌ने जिनको ब्रह्मास्त्रके भयसे मुक्त किया उन अपने पुत्रोंके और द्रौपदीके सहित सती कुन्तीने जानेकी तैयारी करते हुए श्रीकृष्णसे कहा ॥ १७ ॥

१. प्रा० पा०—नान्यत्र त्वभयं । २. प्रा० पा०—दहति । ३. प्राचीन प्रतिमें 'सूत उवाच' नहीं है । ४. प्रा० पा०—भृगुश्रेष्ठ ।

कुन्त्युवाच

नमस्ये पुरुषं त्वाद्यमीश्वरं प्रकृतेः परम् ।
अलक्ष्यं सर्वभूतानामन्तर्बहिरवस्थितम्[1] ॥१८॥
मायाजवनिकाच्छन्नमज्ञाधोक्षजमव्ययम् ।
न लक्ष्यसे मूढदृशा नटो नाट्यधरो यथा ॥१९॥
तथा परमहंसानां मुनीनाममलात्मनाम् ।
भक्तियोगविधानार्थं कथं पश्येमहि स्त्रियः ॥२०॥
कृष्णाय वासुदेवाय देवकीनन्दनाय च ।
नन्दगोपकुमाराय गोविन्दाय नमो नमः ॥२१॥
नमः पङ्कजनाभाय नमः पङ्कजमालिने ।
नमः पङ्कजनेत्राय नमस्ते पङ्कजाङ्घ्रये ॥२२॥
यथा हृषीकेश खलेन देवकी
कंसेन रुद्धातिचिरं शुचार्पिता ।
विमोचिताहं च सहात्मजा विभो
त्वयैव नाथेन मुहुर्विपद्गणात् ॥२३॥
विषान्महाग्नेः पुरुषाददर्शना-
दसत्सभाया वनवासकृच्छ्रतः ।
मृधे मृधेऽनेकमहारथास्त्रतो
द्रौण्यस्त्रतश्चास्म हरेऽभिरक्षिताः ॥२४॥
विपदः सन्तु नः[2] शश्वत्तत्र तत्र जगद्गुरो ।
भवतो दर्शनं यत्स्यादपुनर्भवदर्शनम् ॥२५॥
जन्मैश्वर्यश्रुतिश्रीभिरेधमानमदः पुमान् ।
नैवार्हत्यभिधातुं वै त्वामकिञ्चनगोचरम् ॥२६॥
नमोऽकिञ्चनवित्ताय निवृत्तगुणवृत्तये ।

कुन्ती बोली—समस्त प्राणियोंके बाहर-भीतर अलक्षित भावसे स्थित, मायारूप जवनिका (पर्दे) से ढँके हुए, अधोक्षज (इन्द्रियजन्य ज्ञान जिनसे नीचे हैं) और अविनाशी जो आप प्रकृतिसे अतीत आदिपुरुष ईश्वर हैं उन्हें मैं अबोध नारी नमस्कार करती हूँ; नाटक करनेवाले नटके समान आप अविवेकमयी दृष्टिवालोंको नहीं दिखलायी देते ॥ १८-१९ ॥ तथा आप निर्मलचित्त परमहंस मुनियोंके हृदयमें भक्तियोगकी स्थापना करनेके लिये धराधाममें अवतीर्ण हुए हैं; ऐसे आपको हम स्त्रियाँ कैसे जान सकती हैं ? ॥ २० ॥ कृष्ण, वासुदेव, देवकी-पुत्र, नन्दगोप-कुमार और गोविन्द आदि नामोंसे कहे जानेवाले आप परमेश्वरको बारंबार प्रणाम है ॥ २१ ॥ जिनकी नाभिसे ब्रह्माण्ड-कमल उत्पन्न हुआ है, जो कमलोंकी माला धारण किये हुए हैं, जिनके कमलके समान नेत्र और कमलसे चिह्नित चरण हैं उन आपको नमस्कार है ॥ २२ ॥ हे हृषीकेश ! आपने जिस प्रकार दुष्ट कंसद्वारा बन्दीगृहमें डाली हुई तथा [सन्तान-वध होनेसे] चिरकालतक शोकमग्न हुई माता देवकीकी रक्षा की थी, हे विभो ! उसी प्रकार पुत्रोंके सहित मेरी भी आप प्रभुने ही बारंबार विपत्तियोंसे रक्षा की है ॥ २३ ॥ हे हरे ! विषसे, लाक्षागृहकी महा अग्निसे, हिडिम्ब आदि राक्षसों-की दृष्टिसे, दुष्ट दुर्योधनकी सभासे, वनवासकी विपत्ति-से , प्रत्येक युद्धमें अनेक महारथियोंके शस्त्रोंसे और अभी अश्वत्थामाके ब्रह्मास्त्रसे आपहीने हमलोगोंकी रक्षा की है ॥ २४ ॥ हे जगद्गुरो ! हमारे ऊपर सर्वदा पद-पदपर विपत्तियाँ आवें जिससे कि हमें फिर संसारकी प्राप्ति न करानेवाला आपका दुर्लभ दर्शन मिलता रहे ॥ २५ ॥ क्योंकि जो आपके अतिरिक्त अन्य किसी भी वस्तुकी इच्छा नहीं रखते ऐसे महात्माओंको आप दर्शन देनेवाले हैं; इसलिये उच्चकुलमें जन्म, ऐश्वर्य, विद्या और लक्ष्मी आदिसे मतवाला पुरुष आपका नाम-संकीर्तन भी नहीं कर सकता ॥ २६ ॥ निर्धनोंके धन, गुणवृत्ति (मायाप्रपञ्च) से रहित, आत्मामें रमण करनेवाले, शान्तस्वरूप

१. प्रा० पा०—बहिरपि ध्रुवम् । २. प्रा० पा०—ताः ।

आत्मारामाय शान्ताय कैवल्यपतये नमः ॥२७॥

मन्ये त्वां कालमीशानमनादिनिधनं विभुम् ।
समं चरन्तं सर्वत्र भूतानां यन्मिथः कलिः ॥२८॥

न वेद कश्चिद्भगवंश्चिकीर्षितं
तवेहमानस्य नृणां विडम्बनम् ।
न यस्य कश्चिद्दयितोऽस्ति कर्हिचिद्
द्वेष्यश्च यस्मिन्विषमा मतिर्नृणाम्॥२९॥

जन्म कर्म च विश्वात्मन्नजस्याकर्तुरात्मनः ।
तिर्यङ्नृषिषु[1] यादःसु तदत्यन्तविडम्बनम् ॥३०॥

गोप्याददे त्वयि कृतागसि दाम तावद्
या ते दशाश्रुकलिलाञ्जनसंभ्रमाक्षम्[2] ।
वक्त्रं निनीय भयभावनया स्थितस्य
सा मां विमोहयति भीरपि यद्बिभेति॥३१॥

केचिदाहुरजं जातं पुण्यश्लोकस्य कीर्तये ।
यदोः प्रियस्यान्ववाये मलयस्येव चन्दनम् ॥३२॥

अपरे वसुदेवस्य देवक्यां याचितोऽभ्यगात् ।
अजस्त्वमस्य क्षेमाय वधाय च सुरद्विषाम् ॥३३॥

भारावतरणायान्ये भुवो नाव इवोदधौ ।
सीदन्त्या भूरिभारेण जातो ह्यात्मभुवार्थितः ॥३४॥

भवेऽस्मिन्क्लिश्यमानानामविद्याकामकर्मभिः ।
श्रवणस्मरणार्हाणि करिष्यन्निति[3] केचन ॥३५॥

और मोक्षके अधिपति आपको मैं बारम्बार नमस्कार करती हूँ ॥२७॥ मैं आपको कालरूप परमेश्वर समझती हूँ, क्योंकि आप सबके नियन्ता, आदि-अन्तसे रहित, व्यापक और सर्वत्र समानरूपसे आचरण करनेवाले हैं; आपमें विषमदृष्टि रखनेवाले लोगोंमें ही परस्पर विषमता है, आपमें नहीं ॥ २८ ॥ वास्तवमें जिनका न कोई प्रिय है; और न कोई वैरी है तो भी जिनमें मनुष्योंकी विषम बुद्धि हुआ करती है, ऐसे आप मनुष्य-लीलाका आचरण करते हुए क्या करना चाहते हैं ? इस बातको कोई नहीं जानता ॥ २९ ॥ हे विश्वात्मन् ! वास्तवमें जन्म-कर्मसे रहित आपका तिर्यक्, मनुष्य, ऋषि और जलचर आदि योनियोंमें जन्म लेना और उन-उन योनियोंके अनुरूप आचरण करना लीलामात्र ही है ॥ ३० ॥ बाल-लीलाके समय अपराध करनेपर आपको बाँधनेके लिये गोपी यशोदाने जब हाथमें रस्सी ली उस समय, जिनसे भय भी भय मानता है, वही आप भयभीत-से होकर कज्जलयुक्त आँखोंसे आँसू बहाते हुए मुँह नीचा करके खड़े हो गये थे, आपकी वह दशा आज भी मुझे मोहित कर रही है ॥ ३१ ॥ कोई कहते हैं कि आपने अजन्मा होकर भी अपने प्रिय पवित्रकीर्तिवाले युधिष्ठिरका सुयश फैलानेके लिये मलयाचलमें चन्दनके समान यदुवंशमें जन्म लिया है ॥ ३२ ॥ दूसरे कहते हैं कि अजन्मा होकर भी आपने वसुदेवके यहाँ देवकीके गर्भसे [जो पूर्वजन्ममें सुतपा और पृश्नि थे] उनकी प्रार्थनासे जगत्के कल्याण और दैत्योंके वधके लिये अवतार लिया है ॥ ३३ ॥ किन्हींका मत है कि समुद्रमें डूबती हुई नौकाके समान अत्यन्त भारसे पीड़ित पृथिवीका भार उतारनेके लिये ब्रह्माजीकी प्रार्थनासे आपका आविर्भाव हुआ है ॥ ३४ ॥ कोई कहते हैं कि इस संसारमें अविद्या, कामना और कर्म-बन्धनसे पीडित हुए जीवोंके श्रवण और स्मरण करनेयोग्य चरित्र करनेके लिये आपका अवतार हुआ है ॥ ३५ ॥

१. प्रा० पा०—नृष्वपि यादस्सु । २. प्रा० पा०—मृषा० । ३. प्रा० पा०—करिष्य इति

श्रृण्वन्ति गायन्ति गृणन्त्यभीक्ष्णशः[1]
स्मरन्ति नन्दन्ति तवेहितं जनाः ।
त एव पश्यन्त्यचिरेण तावकं
भवप्रवाहोपरमं पदाम्बुजम् ॥३६॥
अप्यद्य नस्त्वं स्वकृतेहित[2] प्रभो
जिहाससि स्वित्सुहृदोऽनुजीविनः ।
येषां न चान्यद्भवतः पदाम्बुजा-
त्परायणं राजसु योजितांहसाम् ॥३७॥
के वयं नामरूपाभ्यां यदुभिः सह पाण्डवाः ।
भवतोऽदर्शनं यर्हि हृषीकाणामिवेशितुः ॥३८॥
नेयं शोभिष्यते तत्र तथेदानीं गदाधर ।
त्वत्पदैरङ्किता भाति स्वलक्षणविलक्षितैः ॥३९॥
इमे जनपदाः स्वृद्धाः सुपक्वौषधिवीरुधः ।
वनाद्रिनद्युदन्वन्तो ह्येधन्ते तव वीक्षितैः[3] ॥४०॥
अथ विश्वेश विश्वात्मन्विश्वमूर्ते स्वकेषु मे ।
स्नेहपाशमिमं छिन्धि दृढं पाण्डुषु वृष्णिषु ॥४१॥
त्वयि मेऽनन्यविषया मतिर्मधुपतेऽसकृत् ।
रतिमुद्वहतादद्धा[4] गङ्गेवौघमुदन्वति ॥४२॥
श्रीकृष्ण कृष्णसख वृष्ण्यृषभावनिध्रुग्-
राजन्यवंशदहनानपवर्गवीर्य ।
गोविन्द गोद्विजसुरार्तिहरावतार
योगेश्वराखिलगुरो भगवन्नमस्ते ॥४३॥

जो लोग आपकी लीलाओंका बारंबार श्रवण, गान, स्तवन और स्मरण करते हैं वे ही संसारसागरसे पार करनेवाले आपके चरणकमलोंका शीघ्र दर्शन पाते हैं ॥३६॥ हे भक्तोंकी इच्छा पूर्ण करनेवाले प्रभो ! क्या अब आप हमें छोड़ना चाहते हैं? हम आपके सुहृद् और आश्रित हैं। हम सब राजाओंको पीड़ित कर चुके हैं, अतः आपके चरणकमलोंको छोड़कर अब हमारा कोई आश्रय नहीं है ॥ ३७ ॥ इन्द्रियोंसे उनके प्रभु जीवका वियोग हो जानेपर जिस प्रकार उनमें कुछ भी सामर्थ्य नहीं रहती उसी प्रकार जब हमसे आपका वियोग हो जायगा तो केवल नाम और रूपको लेकर यादवोंके सहित हम पाण्डवोंकी सत्ता ही क्या रह जायगी?॥ ३८ ॥ हे गदाधर! आपके विलक्षण लक्षणोंसे युक्त चरणोंसे अंकित होकर यह पृथिवी जैसी अब सुशोभित होती है वैसी आपके चले जानेपर न होगी ॥ ३९ ॥ आपकी दृष्टिसे ही यह देश सुपक्व औषधि और वृक्ष-लतादिसे सम्पन्न एवं समृद्धिशाली हो रहा है तथा वन, पर्वत, नदी और समुद्र भी बढ़ रहे हैं ॥ ४० ॥ हे विश्वेश ! हे विश्वात्मन् ! हे विश्वमूर्ते ! अपने आत्मीय पाण्डवों और यदुवंशियोंमें जो मेरा स्नेहबन्धन है इसे काट डालिये ॥ ४१ ॥ हे मधुपते ! जैसे गंगाका प्रवाह निरन्तर समुद्रकी ओर बढ़ता रहता है, वैसे ही साक्षात् आपमें मेरी सर्वदा अनन्य प्रीति हो ॥ ४२ ॥ हे श्रीकृष्ण ! हे अर्जुनके सखा ! हे वृष्णिश्रेष्ठ ! हे पृथिवीके भाररूप राजवंशोंको दग्ध करनेके लिये अग्निरूप ! हे अक्षयवीर्य ! हे गोविन्द ! हे गो-ब्राह्मण और देवताओंका दुःख दूर करनेके लिये अवतार लेनेवाले योगेश्वर ! हे जगद्गुरो ! हे भगवन् ! आपको नमस्कार है ॥ ४३ ॥

सूत उवाच

पृथयेत्थं कलपदैः परिणूताखिलोदयः ।
मन्दं जहास वैकुण्ठो मोहयन्निव मायया ॥४४॥
तां बाढमित्युपामन्त्र्य प्रविश्य गजसाह्वयम् ।

सूतजी बोले—इस प्रकार कुन्तीके द्वारा सुमधुर शब्दोंमें अपनी सम्पूर्ण महिमाका वर्णन किया जानेपर श्रीकृष्णचन्द्र अपनी मायासे मोहित करते हुए-से मुसकाने लगे ॥ ४४ ॥ और उनसे 'बहुत अच्छा' ऐसा कहकर हस्तिनापुर लौट आये। फिर सुभद्रा आदि अन्य स्त्रियोंसे

१.—प्रा० पा०—वदन्त्य० । २. प्रा० पा०—स्वकृतेहितः । ३. प्रा० पा०—वीक्षिताः । ४. प्रा०पा०—रतिमुद्वहतां तद्वत् ।

स्त्रियश्च स्वपुरं यास्यन्प्रेम्णा राज्ञा निवारितः ॥४५॥

व्यासाद्यैरीश्वरेहाज्ञैः कृष्णेनाद्भुतकर्मणा ।

प्रबोधितोऽपीतिहासैर्नाबुध्यत शुचार्पितः[1] ॥४६॥

आह राजा धर्मसुतश्चिन्तयन्सुहृदां वधम् ।

प्राकृतेनात्मना विप्राः स्नेहमोहवशं गतः ॥४७॥

अहो मे पश्यताज्ञानं हृदि रूढं दुरात्मनः ।

पारक्यस्यैव देहस्य बह्व्यो मेऽक्षौहिणीर्हताः ॥४८॥

बालद्विजसुहृन्मित्रपितृभ्रातृगुरुद्रुहः ।

न मे स्यान्निरयान्मोक्षो ह्यपि वर्षायुतायुतैः ॥४९॥

नैनो राज्ञः प्रजाभर्तुर्धर्मयुद्धे वधो द्विषाम् ।

इति मे न तु बोधाय कल्पते[2] शासनं वचः ॥५०॥

स्त्रीणां मद्धतबन्धूनां द्रोहो योऽसाविहोत्थितः ।

कर्मभिर्गृहमेधीयैर्नाहं कल्पो व्यपोहितुम् ॥५१॥

यथा पङ्केन पङ्काम्भः[3] सुरया वा सुराकृतम् ।

भूतहत्यां तथैवैकां[4] न यज्ञैर्मार्ष्टुमर्हति ॥५२॥

पूछकर अपने नगर द्वारकाको जाने लगे तो महाराज युधिष्ठिरने उन्हें प्रेमपूर्वक रोक लिया ॥ ४५ ॥ भगवान्‌की भीतरी इच्छाको जाननेवाले व्यासादि महर्षियोंने और अद्भुत कर्म करनेवाले श्रीकृष्णचन्द्रने भी उन्हें अनेक इतिहास सुनाकर बहुत कुछ समझाया फिर भी शोकसे दबे हुए राजाको विवेक नहीं हुआ ॥ ४६ ॥ हे विप्रगण ! अपने बन्धु-बान्धवोंके वधसे चिन्तित हुए धर्मपुत्र महाराज युधिष्ठिर अविवेकपूर्ण चित्तसे स्नेह और मोहके वशीभूत होकर कहने लगे— ॥ ४७ ॥ 'अहो ! मुझ दुरात्माके हृदयपर छाये हुए अज्ञानको तो देखो ! मैंने इस पराये (कुत्ते, सियार आदिके) आहाररूप देहके लिये अनेक अक्षौहिणी* सेनाका संहार कर डाला ! ॥ ४८ ॥ मैं बालकों, ब्राह्मणों, सुहृदों, मित्रों, पितृव्यों, भ्राताओं और गुरुओंसे द्रोह करनेवाला हूँ, हजारों-लाखों वर्ष बीतनेपर भी मेरा नरकसे छुटकारा नहीं हो सकता ॥ ४९ ॥ 'प्रजाका पालन करनेवाला राजा यदि धर्मयुद्धमें शत्रुओंको मारे तो उसे पाप नहीं लगता' यह शास्त्राज्ञा मुझे संतोष नहीं दे सकती ॥ ५० ॥ जिनके पति आदि बान्धवोंका मैंने वध किया है उन स्त्रियोंके साथ जो द्रोह हो गया है उसे मैं गृहस्थोचित यज्ञादि कर्मोंसे दूर नहीं कर सकता ॥ ५१ ॥ जिस प्रकार कीचड़से कीचड़ धोया नहीं जा सकता और मदिरासे मदिराकी दुर्गन्धि दूर नहीं की जा सकती, वैसे ही [अश्वमेधादि हिंसामय] यज्ञोंसे एक प्राणिहत्याका भी पाप दूर नहीं किया जा सकता' ॥ ५२ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे प्रथमस्कन्धे कुन्तीस्तुतिर्युधिष्ठिरानुतापो[5] नामाष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

१. प्रा० पा०—शुचार्दितः । २. प्रा पा०—कल्पते शाश्वतं । ३. प्रा० पा०—पङ्कोत्थं । ४. प्रा० पा०—तथैकां तु । ५. प्रा० पा०—प्रथमस्कन्धे पारिक्षिते युधिष्ठिरानुतापेऽष्टमो ।

* श्रीव्यासजीने अक्षौहिणीकी संख्या इस प्रकार बतलायी है—

"अक्षौहिणी प्रसंख्याता रथानां द्विजसत्तम । संख्यागणनतत्त्वज्ञैः सहस्राण्येकविंशतिः ॥
शतान्युपरि चैवाष्टौ तथा भूयश्च सप्ततिः । गजानां च प्रसंख्यानमेतावद्धि प्रकीर्तितम् ॥
ज्ञेयं शतसहस्रं तु सहस्राणि नवैव तु । नराणामपि पञ्चाशच्छतानि त्रीणि चैव हि ॥
पञ्चषष्टिसहस्राणि तथाश्वानां शतानि च । तथोत्तराणि षट् प्राहुः संख्यां तत्त्वविदो जनाः ॥"

अर्थात् 'गणनातत्त्वके जाननेवाले लोग २१८७० रथ, इतने ही हाथी, १०९३५० पैदल और ६५६०० घुड़सवार इतनी सेनाको अक्षौहिणी कहते हैं । (महाभारत)

नवाँ अध्याय

युधिष्ठिरादिका भीष्मके पास आना और भीष्मका श्रीकृष्णस्तुति करते हुए प्राण त्यागना ।

सूत उवाच

इति भीतः प्रजाद्रोहात्सर्वधर्मविवित्सया ।
ततो विनशनं प्रागाद्यत्र देवव्रतोऽपतत् ॥ १ ॥
तदा ते भ्रातरः सर्वे सदश्वैः स्वर्णभूषितैः ।
अन्वगच्छन्रथैर्विप्रा व्यासधौम्यादयस्तथा ॥ २ ॥
भगवानपि विप्रर्षे रथेन सधनञ्जयः ।
स तैर्व्यरोचत नृपः कुबेर इव गुह्यकैः ॥३॥
दृष्ट्वा निपतितं भूमौ दिवश्च्युतमिवामरम् ।
प्रणेमुः पाण्डवा भीष्मं सानुगाः सह चक्रिणा ॥ ४ ॥
तत्र ब्रह्मर्षयः सर्वे देवर्षयश्च सत्तम ।
राजर्षयश्च तत्रासन्द्रष्टुं भरतपुङ्गवम् ॥ ५ ॥
पर्वतो नारदो धौम्यो भगवान्बादरायणः ।
बृहदश्वो भरद्वाजः सशिष्यो रेणुकासुतः ॥ ६ ॥
वसिष्ठ इन्द्रप्रमदस्त्रितो गृत्समदोऽसितः ।
कक्षीवान्गौतमोऽत्रिश्च कौशिकोऽथ सुदर्शनः ॥ ७ ॥
अन्ये च मुनयो ब्रह्मन्ब्रह्मरातादयोऽमलाः ।
शिष्यैरुपेता आजग्मुः कश्यपाङ्गिरसादयः ॥ ८ ॥
तान्समेतान्महाभागानुपलभ्य वसूत्तमः ।
पूजयामास धर्मज्ञो देशकालविभागवित् ॥ ९ ॥
कृष्णं च तत्प्रभावज्ञ आसीनं जगदीश्वरम् ।
हृदिस्थं पूजयामास माययोपात्तविग्रहम् ॥१०॥
पाण्डुपुत्रानुपासीनान्प्रश्रयप्रेमसंगतान्[1] ।

सूतजी बोले—इस प्रकार प्रजा-द्रोहसे डरे हुए महाराज युधिष्ठिर वहाँसे सम्पूर्ण धर्मोंके जाननेकी इच्छासे कुरुक्षेत्रको चले, जहाँ कि देवव्रत (भीष्म) शरशय्यापर पड़े थे ॥ १ ॥ हे विप्रगण ! उस समय वे सब भाई सुन्दर घोड़ोंसे युक्त स्वर्णजटित रथोंमें चढ़कर चले तथा व्यास, धौम्य आदि ब्राह्मणगण भी उनके साथ हो लिये ॥ २ ॥ हे विप्रर्षे ! अर्जुनके सहित भगवान् भी एक रथपर चढ़कर चले। उन सबसे घिरे हुए महाराज युधिष्ठिर ऐसे सुशोभित हुए जैसे यक्षमण्डलीसे युक्त कुबेर विराजते हैं ॥ ३ ॥ उन सभी पाण्डवोंने स्वर्गसे गिरे हुए देवताके समान पृथिवीपर पड़े पितामह भीष्मको देखकर अपने अनुचरों और भगवान् कृष्णके सहित उन्हें प्रणाम किया ॥ ४ ॥ हे साधुश्रेष्ठ ! उस समय भरतश्रेष्ठ श्रीभीष्मजीको देखनेके लिये वहाँ समस्त ब्रह्मर्षि, देवर्षि और राजर्षि आये ॥ ५ ॥ पर्वत-मुनि, नारदजी, महर्षि धौम्य, भगवान् व्यास, बृहदश्व, भरद्वाज, शिष्योंके सहित परशुरामजी, वसिष्ठ, इन्द्र-प्रमद, त्रित, गृत्समद, असित, कक्षीवान्, गौतम, अत्रि, विश्वामित्र, सुदर्शन तथा और भी शुकदेव आदि शुद्धचित्त महात्मागण एवं शिष्योंके सहित कश्यप, अंगिरा आदि मुनिगण वहाँ आये ॥ ६–८ ॥

उन सब महाभाग मुनीश्वरों और राजाओंको आये देख देश और कालके विभागको जाननेवाले धर्मज्ञ वसुश्रेष्ठ भीष्मजीने उनका यथायोग्य सत्कार किया ॥ ९ ॥ और अपने अन्तःकरणमें स्थित, मायासे ही शरीर धारण करनेवाले, वहाँ बैठे हुए जगदीश्वर भगवान् श्रीकृष्णका भी उनकी महिमा जाननेवाले पितामह (भीष्म) ने पूजन किया ॥ १० ॥ फिर आँखोंमें स्नेहके आँसू भरकर अति विनय और प्रेमके

१. प्रा० पा०—सन्नतान् ।

अभ्याचष्टानुरागास्रैरन्धीभूतेन चक्षुषा ॥११॥
अहो कष्टमहोऽन्याय्यं यद्यूयं धर्मनन्दनाः ।
जीवितुं नार्हथ क्लिष्टं[1] विप्रधर्माच्युताश्रयाः ॥१२॥
संस्थितेऽतिरथे[2] पाण्डौ पृथा बालप्रजा वधूः ।
युष्मत्कृते बहून्क्लेशान्प्राप्ता तोकवती मुहुः ॥१३॥
सर्वं कालकृतं मन्ये भवतां च यदप्रियम् ।
सपालो यद्वशे लोको वायोरिव घनावलिः ॥१४॥
यत्र धर्मसुतो राजा गदापाणिर्वृकोदरः ।
कृष्णोऽस्त्री गाण्डिवं चापं सुहृत्कृष्णस्ततो विपत् ।१५।
न ह्यस्य कर्हिचिद्राजन्पुमान्वेद विधित्सितम् ।
यद्विजिज्ञासया युक्ता मुह्यन्ते कवयोऽपि हि ॥१६॥
तस्मादिदं दैवतन्त्रं व्यवस्य भरतर्षभ ।
तस्यानुविहितोऽनाथा नाथ पाहि प्रजाः प्रभो[3] ॥१७॥
एष वै भगवान्साक्षादाद्यो नारायणः पुमान् ।
मोहयन्मायया लोकं गूढश्चरति वृष्णिषु ॥१८॥
अस्यानुभावं भगवान्वेद गुह्यतमं शिवः ।
देवर्षिर्नारदः साक्षाद्भगवान्कपिलो नृप[4] ॥१९॥
यं मन्यसे मातुलेयं प्रियं मित्रं सुहृत्तमम् ।
अकरोः सचिवं दूतं सौहृदादथ सारथिम् ॥२०॥
सर्वात्मनः समदृशो ह्यद्वयस्यानहंकृतेः ।
तत्कृतं मतवैषम्यं निरवद्यस्य न क्वचित् ॥२१॥
तथाप्येकान्तभक्तेषु पश्य भूपानुकम्पितम्[5] ।
यन्मेऽसूंस्त्यजतः साक्षात्कृष्णो दर्शनमागतः॥२२॥

साथ अपने समीप बैठे हुए पाण्डुपुत्रोंसे कहा—॥११॥ "हे धर्मनन्दनो ! ब्राह्मण, धर्म और भगवान् अच्युतके आश्रित रहनेवाले तुमलोग ऐसे दुःखमय जीवनके योग्य नहीं थे, तथापि तुम्हें इतने क्लेश सहने पड़े ! यह बड़े कष्ट और अन्यायकी बात है ॥१२॥ महारथी पाण्डुके परलोक सिधारनेपर पुत्रवती बहू कुन्तीने भी तुम्हारे लिये बारम्बार बहुत ही कष्ट सहे हैं, क्योंकि तुम सब बालक ही थे ॥ १३ ॥ तुमलोगोंका इस प्रकार अप्रिय होना मैं कालरूप भगवान्‌की ही लीला समझता हूँ; क्योंकि वायुके वशीभूत मेघमण्डलके समान सम्पूर्ण विश्व उसीके वशमें है ॥ १४ ॥ नहीं तो, जहाँ साक्षात् धर्मपुत्र राजा हों, गदाधारी भीमसेन और अस्त्र-विद्यामें कुशल अर्जुन सहायक हों, गाण्डीव धनुष हो और श्रीकृष्णचन्द्र मित्र हों वहाँ विपत्ति कैसे आ सकती है ? ॥ १५ ॥ हे राजन् ! इस कालरूप श्रीकृष्णको क्या करना है—इस बातको पुरुष कभी नहीं जान सकता । इसे जाननेकी इच्छावाले बड़े-बड़े विद्वान् भी मोहित हो जाते हैं ॥१६॥ अतः हे भरत-श्रेष्ठ ! ये सब दुःख-सुख दैवाधीन समझ ईश्वरेच्छाका अनुसरण करके इस अनाथ प्रजाका पालन करो, क्योंकि अब तुम्हीं इसके स्वामी और इसे पालन करने-में समर्थ हो ॥१७॥ ये भगवान् श्रीकृष्ण साक्षात् आदिपुरुष नारायण ही हैं, जो कि अपनी मायासे लोकको मोहित करते हुए वृष्णिवंशमें गूढभावसे विचर रहे हैं ॥१८॥ हे राजन् ! इनका अत्यन्त रहस्यमय प्रभाव भगवान् शङ्कर, देवर्षि नारद और साक्षात् भगवान् कपिल जानते हैं ॥१९॥ जिन्हें तुम अपने मामाका पुत्र, प्रिय मित्र और अतिशय सुहृत् मानते हो तथा जिन्हें विश्वाससे तुमने मन्त्री, दूत और सारथि-तक बनाया है उन सर्वात्मा, समदर्शी, अद्वितीय, अहंकारहीन और निर्मल परमात्मामें इन कार्योंसे होने-वाली विषम बुद्धि कभी नहीं होती ॥२०-२१॥ हे राजन् ! देखो, फिर भी अपने अनन्य भक्तोंपर भगवान् श्रीकृष्णकी कितनी कृपा है कि मेरे प्राण छोड़ते समय मुझे इन्होंने साक्षात् दर्शन दिया है ॥ २२ ॥

१. प्रा० पा०—कृच्छ्रं । २. प्रा० पा०—संस्थिते विरथे । ३. प्रा० पा०—विभो । ४. प्रा० पा०—मुनिः । ५. प्रा० पा०—भूतानु० ।

भक्त्यावेश्य मनो यस्मिन्वाचा यन्नाम कीर्तयन् ।
त्यजन्कलेवरं योगी मुच्यते कामकर्मभिः ॥२३॥

स देवदेवो भगवान्प्रतीक्षतां
कलेवरं यावदिदं हिनोम्यहम् ।
प्रसन्नहासारुणलोचनोल्लस-
न्मुखाम्बुजो ध्यानपथश्चतुर्भुजः ॥२४॥

सूत उवाच

युधिष्ठिरस्तदाकर्ण्य शयानं शरपञ्जरे ।
अपृच्छद्विविधान्धर्मानृषीणां चानुशृण्वताम् ॥२५॥
पुरुषस्वभावविहितान्यथावर्णं यथाश्रमम् ।
वैराग्यरागोपाधिभ्यामाम्नातोभयलक्षणान् ॥२६॥
दानधर्मान्राजधर्मान्मोक्षधर्मान्विभागशः ।
स्त्रीधर्मान्भगवद्धर्मान्समासव्यासयोगतः ॥२७॥
धर्मार्थकाममोक्षांश्च सहोपायान्यथा मुने[2] ।
नानाख्यानेतिहासेषु वर्णयामास तत्त्ववित् ॥२८॥
धर्मं प्रवदतस्तस्य स कालः प्रत्युपस्थितः ।
यो योगिनश्छन्दमृत्योर्वाञ्छितस्तूत्तरायणः ॥२९॥

तदोपसंहृत्य गिरः सहस्रणी-
र्विमुक्तसङ्गं[3] मन आदिपूरुषे ।
कृष्णे लसत्पीतपटे चतुर्भुजे
पुरःस्थितेऽमीलितदृग्व्यधारयत् ॥३०॥
विशुद्धया धारणया हताशुभ-[4]
स्तदीक्षयैवाशु गतायुधश्रमः ।
निवृत्तसर्वेन्द्रियवृत्तिविभ्रम-
स्तुष्टाव जन्यं विसृजञ्जनार्दनम् ॥३१॥

श्रीभीष्म उवाच

इति मतिरुपकल्पिता वितृष्णा
भगवति सात्वतपुङ्गवे विभूम्नि ।

जिनमें भक्तिभावसे चित्त लगाकर और जिनका वाणीसे नामसंकीर्तन करते हुए शरीर त्यागकर योगीजन कामना और कर्मके बन्धनसे छूट जाते हैं, वे देवदेव भगवान् अपने प्रसन्न हास्य और अरुण नयनोंसे सुशोभित मुखकमलवाले चतुर्भुजरूपसे तबतक मेरे ध्यान-मार्गमें स्थित रहें जबतक कि मैं इस शरीरका त्याग कर रहा हूँ" ॥२३-२४॥

सूतजी बोले—यह सुनकर महाराज युधिष्ठिरने शरशय्यापर सोये हुए भीष्मजीसे ऋषियोंके सुनते हुए नाना प्रकारके धर्म पूछे ॥२५॥ तब हे मुने ! तत्त्वज्ञ भीष्मजीने वर्ण और आश्रमके अनुसार पुरुषके स्वाभाविक धर्म, वैराग्य और रागरूप उपाधियोंके कारण पृथक्-पृथक बतलाये हुए निवृत्ति और प्रवृत्तिरूप द्विविध धर्म, दानधर्म, राजधर्म, मोक्षधर्म, स्त्रीधर्म और भगवद्धर्म—इन सबका अलग-अलग संक्षेप और विस्तारसे तथा साधनके सहित धर्म, अर्थ, काम और मोक्षका अनेक इतिहास और उपाख्यान सुनाते हुए वर्णन किया ॥२६—२८॥ इस प्रकार धर्मचर्चा करते-करते वह उत्तरायणकाल उपस्थित हुआ जो भगवत्परायण स्वच्छन्द-मृत्यु योगियोंको अभीष्ट है ॥२९॥ उस समय, युद्धमें हजारों रथियोंका नेतृत्व (रक्षा) करनेवाले भीष्मजी मौन हो गये और नेत्रोंसे एकटक देखते हुए अपने सामने स्थित पीतपटविभूषित चतुर्भुजमूर्ति आदिपुरुष भगवान् श्रीकृष्णमें चित्तको स्थिर कर दिया ॥३०॥ विशुद्ध धारणासे जिनके अशुभ क्षीण हो गये हैं तथा भगवान्के दर्शनसे जिनकी शस्त्रव्यथा तुरन्त शान्त हो गयी है वे भीष्मजी अपनी समस्त इन्द्रियोंके वृत्ति-विलासको रोक-कर शरीर छोड़ते समय सावधानतापूर्वक भगवान् जनार्दनकी स्तुति करने लगे ॥३१॥

भीष्मजी बोले—इस प्रकार [जीवनकी इस अन्तिम वेलामें] नाना धर्मादि उपायोंसे प्राप्त की हुई मेरी कामनारहित बुद्धि उन परम महान् यदुश्रेष्ठ भगवान् श्रीकृष्णमें स्थित हो, जो अपने परमानन्दमय

१. प्रा० पा०—सर्व० । २. प्रा० पा०—मुनिः । ३. प्रा० पा०—विमुक्तसंगो । ४. प्रा० पा०—हृता० ।

स्वसुखमुपगते क्वचिद्विहर्तुं
प्रकृतिमुपेयुषि यद्भवप्रवाहः ॥३२॥
त्रिभुवनकमनं तमालवर्णं
रविकरगौरवराम्बरं दधाने ।
वपुरलककुलावृताननाब्जं
विजयसखे रतिरस्तु मेऽनवद्या ॥३३॥
युधि तुरगरजोविधूम्रविष्वक्-
कचलुलितश्रमवार्यलङ्कृतास्ये ।
मम निशितशरैर्विभिद्यमान-
त्वचि विलसत्कवचेऽस्तु कृष्ण आत्मा ॥३४॥
सपदि सखिवचो निशम्य मध्ये
निजपरयोर्बलयो रथं निवेश्य ।
स्थितवति परसैनिकायुरक्ष्णा
हृतवति पार्थसखे रतिर्ममास्तु ॥३५॥
व्यवहितपृतनामुखं निरीक्ष्य
स्वजनवधाद्विमुखस्य दोषबुद्ध्या ।
कुमतिमहरदात्मविद्यया य-
श्चरणरतिः परमस्य तस्य मेऽस्तु ॥३६॥
स्वनिगममपहाय मत्प्रतिज्ञा-
मृतमधिकर्तुमवप्लुतो रथस्थः ।
धृतरथचरणोऽभ्ययाच्चलद्गु-
र्हरिरिव हन्तुमिभं गतोत्तरीयः ॥३७॥
शितविशिखहतो विशीर्णदंशः
क्षतजपरिप्लुत आततायिनो मे ।
प्रसभमभिससार मद्वधार्थं
स भवतु मे भगवान्गतिर्मुकुन्दः ॥३८॥
विजयरथकुटुम्ब आत्ततोत्रे

रूपमें स्थित हुए ही कभी लीलाके लिये प्रकृतिको आश्रय देते हैं जिस (प्रकृति) से कि यह सृष्टिपरम्परा चलती है ॥ ३२ ॥ जो त्रिभुवनसुन्दर और तमालवृक्षके सदृश श्यामवर्ण है, सूर्यरश्मियोंके समान सुन्दर पीताम्बर धारण किये हुए है तथा जिसका मुखकमल अलकावली-से आवृत है ऐसे सुन्दर रूपको धारण करनेवाले अर्जुनसखा श्रीकृष्णमें मेरी निष्काम प्रीति हो ॥ ३३ ॥ जिनका मुखकमल युद्धमें घोड़ोंके खुरकी धूलिसे धूसरित और चञ्चल अलकावली एवं पसीनेकी बूँदोंसे सुशोभित है तथा जिनकी त्वचा मेरे तीक्ष्ण बाणोंसे विंधी जा रही है उन कवच-सुशोभित कृष्णमें मेरा चित्त स्थिर हो ॥ ३४ ॥ जो मित्रके वचन सुनकर तुरन्त ही अपनी और शत्रुपक्षकी सेनाओंके बीचमें रथ ले जाकर स्थित हो गये और वहाँ जिन्होंने अपनी दृष्टिसे विपक्षी वीरोंकी आयुका हरण कर लिया उन पार्थसखामें मेरा अनुराग बना रहे ॥ ३५ ॥ दूर खड़ी हुई शत्रुसेनाके अग्रभागमें दृष्टि डालते ही मोहादि दोषसे युक्त बुद्धिके द्वारा स्वजनवधसे विमुख हुए अर्जुनकी कुमति जिन्होंने आत्मविद्यासे दूर की थी उन परमात्मा श्रीकृष्णके चरणोंमें मेरी भक्ति बनी रहे ॥३६॥ जो अपनी प्रतिज्ञा छोड़कर मेरी प्रतिज्ञाको सत्य करनेके लिये रथसे कूद पड़े और सिंह जैसे हाथीको मारने चलता है वैसे ही मुझे मारनेके लिये रथका पहिया लेकर इतने वेगसे चले कि पृथिवी डोलने लगी और कंधेका दुपट्टा गिर गया । मुझ आततायीके तीखे बाणोंसे जिनका कवच फटकर शरीर लोहू-लुहान हो रहा था और उस समय मुझे मारनेके लिये जो बड़े वेगसे दौड़े वे भक्तवत्सल भगवान् मुकुन्द मेरी गति हों* ॥ ३७-३८ ॥ अर्जुनके रथपर स्थित हो हाथोंमें चाबुक

१. प्रा० पा०—मति० । २. प्रा० पा०—प्रवेश्य । ३. प्रा० पा०—नति० । ४. प्रा० पा०—व्यवसित० । ५. प्रा० पा०—धर्मबुद्ध्या । ६. प्रा० पा०—मेऽस्तु तस्य ।

* भगवान्‌की प्रतिज्ञा थी कि 'मैं भारतीय-युद्धमें शस्त्र ग्रहण न करूँगा ।' पितामह भीष्मने अपनी शिथिलताके लिये दुर्योधनके बहुत ताने मारनेपर यह प्रतिज्ञा की कि 'कल मैं श्रीकृष्णचन्द्रको अवश्य शस्त्र ग्रहण करा दूँगा ।' दूसरे दिन भीष्मने बड़ा भीषण युद्ध किया । उस समय अर्जुनकी शिथिलता दूर करनेके लिये और भीष्मकी प्रतिज्ञा रखनेके लिये भगवान्‌ने अपनी प्रतिज्ञा तोड़ दी । वे एक रथका पहिया लेकर भीष्मको मारनेके लिये दौड़े, किन्तु फिर अर्जुनके बहुत अनुनय-विनय करनेपर शान्त हो गये । भगवान्‌की इस उग्रतामें भी कितनी भक्तवत्सलता थी, उसीका स्मरणकर भीष्म गद्गद हो रहे हैं ।

धृतहयरश्मिनि तच्छ्रियेक्षणीये ।
भगवति रतिरस्तु मे मुमूर्षो-
र्यमिह निरीक्ष्य हता गताः स्वरूपम्[1] ॥३९॥
ललितगतिविलासवल्गुहास-
प्रणयनिरीक्षणकल्पितोरुमानाः ।
कृतमनुकृतवत्य उन्मदान्धाः
प्रकृतिमगन्किल यस्य गोपवध्वः ॥४०॥
मुनिगणनृपवर्यसंकुलेऽन्तः-
सदसि युधिष्ठिरराजसूय एषाम् ।
अर्हणमुपपेद ईक्षणीयो
मम दृशिगोचर एष आविरात्मा ॥४१॥
तमिममहमजं शरीरभाजां
हृदि हृदि[2] धिष्ठितमात्मकल्पितानाम् ।
प्रतिदृशमिव[3] नैकधार्कमेकं
समधिगतोऽस्मि विधूतभेदमोहः ॥४२॥

सूत उवाच

कृष्ण एवं भगवति मनोवाग्दृष्टिवृत्तिभिः[4] ।
आत्मन्यात्मानमावेश्य सोऽन्तःश्वास उपारमत् ॥४३॥
सम्पद्यमानमाज्ञाय भीष्मं ब्रह्मणि निष्कले ।
सर्वे बभूवुस्ते तूष्णीं वयांसीव दिनात्यये[5] ॥४४॥
तत्र दुन्दुभयो नेदुर्देवमानववादिताः[6] ।
शशंसुः साधवो राज्ञां[7] खात्पेतुः पुष्पवृष्टयः ॥४५॥
तस्य निर्हरणादीनि सम्परेतस्य भार्गव ।
युधिष्ठिरः कारयित्वा मुहूर्तं दुःखितोऽभवत् ॥४६॥
तुष्टुवुर्मुनयो हृष्टाः कृष्णं तद्गुह्यनामभिः ।
ततस्ते कृष्णहृदयाः स्वाश्रमान्प्रययुः पुनः ॥४७॥

और घोड़ोंकी रास लिये उस सारथिरूपकी दर्शनीय शोभासे युक्त भगवान्‌में मुझ मरनेवालेका अनुराग हो, जिनकी उस छविको देखकर रणक्षेत्रमें मरे हुए शूर-वीर सारूप्य मोक्षको प्राप्त हो गये थे ॥३९॥ जिनकी सुललित गति, दिव्य विलास, मनोहर मुसकान और प्रेममयी चितवनसे अत्यन्त सम्मानित हुई गोपियाँ [उनके अन्तर्धान हो जानेपर] प्रेमोन्मादवश उनकी लीलाओंका अनुकरण करती हुई तन्मय हो गयी थीं [उन प्रेममूर्ति कृष्णमें मेरी रति हो] ॥४०॥ अहो ! मैं कैसा भाग्यवान् हूँ कि जिनकी राजा युधिष्ठिरके राजसूय यज्ञमें मुनिगण और महीपालोंसे सुशोभित सभाभवनमें अग्रपूजा हुई थी वे ही उन सबके दर्शनीय भगवान् श्रीकृष्ण मेरे नेत्रोंके सामने खड़े हैं ! ॥४१॥ जिस प्रकार एक ही सूर्य भिन्न-भिन्न दृष्टियोंमें अलग-अलग प्रतीत होता है उसी प्रकार जो एक ही अजन्मा भगवान् अपने ही रचे हुए अनेक प्राणियोंके हृदयोंमें अनेक-से प्रतीत होते हैं उन्हीं इन भगवान् श्रीकृष्णको मैं भेद-भ्रमसे रहित होकर प्राप्त हो गया हूँ ॥४२॥

सूतजी बोले—इस प्रकार मन, वाणी और नेत्रादि इन्द्रियोंकी वृत्तियोंद्वारा मनको परमात्मा भगवान् श्रीकृष्णमें जोड़कर जिन्होंने प्राणवायुको अपने भीतर ही लीन कर दिया है, वे भीष्मजी शान्त हो गये ॥४३॥ उन्हें निष्कल (व्यापक) ब्रह्ममें लीन हुए जान वे सब लोग ऐसे स्तब्ध हो गये जैसे कि दिनका अन्त हो जानेपर पक्षीवृन्द शान्त हो जाते हैं ॥४४॥ उस समय [आकाश और पृथ्वीमें] देवता और मनुष्योंके बजाये हुए नगाड़ोंका घोष होने लगा, श्रेष्ठ राजागण प्रशंसा करने लगे और आकाशसे फूलोंकी वर्षा होने लगी ॥ ४५ ॥ हे भृगुवंशीय शौनकजी ! उनके मृत-देहका प्रेतकर्म कराकर राजा युधिष्ठिर एक मुहूर्तके लिये शोकमग्न हो गये ॥ ४६ ॥ उस समय मुनीश्वरोंने प्रसन्न होकर श्रीकृष्णचन्द्रकी उनके गुह्य नामोंसे स्तुति की और फिर वे भगवान् कृष्णको हृदयमें धारण कर अपने-अपने आश्रमोंको चले गये ॥ ४७ ॥

१. प्रा० पा०—सरूपम् । २. प्रा० पा०—विदधे स्थितमात्म० । ३. प्रा० पा०—प्रतिदिशमिव । ४. प्रा० पा०—मनोवाग्वृत्तिदृष्टिभिः । ५. प्रा० पा०—दिवात्यये । ६. प्रा० पा०—दानव० । ७. प्रा० पा०—राजन् ।

ततो युधिष्ठिरो गत्वा सहकृष्णो गजाह्वयम् ।
पितरं सान्त्वयामास गान्धारीं च तपस्विनीम् ॥४८॥
पित्रा चानुमतो राजा वासुदेवानुमोदितः ।
चकार राज्यं धर्मेण पितृपैतामहं विभुः ॥४९॥

तदनन्तर महाराज युधिष्ठिर भगवान् कृष्णके सहित हस्तिनापुर गये और चाचा धृतराष्ट्र तथा तपस्विनी गान्धारीको ढाढ़स बँधाया ॥४८॥ तदनन्तर चाचा धृतराष्ट्रकी आज्ञासे और श्रीकृष्णके अनुमोदनसे महाराज युधिष्ठिर अपने पैतृक राज्यका धर्मपूर्वक शासन करने लगे ।४९।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे प्रथमस्कन्धे युधिष्ठिरराज्यप्रलम्भो नाम नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

दशवाँ अध्याय

श्रीकृष्णका द्वारका जाना ।

शौनक उवाच

हत्वा स्वरिक्थस्पृध आततायिनो
युधिष्ठिरो धर्मभृतां वरिष्ठः ।
सहानुजैः प्रत्यवरुद्धभोजनः
कथं प्रवृत्तः किमकारषीत्ततः ॥ १ ॥

सूत उवाच

वंशं कुरोर्वंशदवाग्निनिर्हृतं[1]
संरोहयित्वा भवभावनो हरिः ।
निवेशयित्वा निजराज्य ईश्वरो
युधिष्ठिरं प्रीतमना बभूव ह ॥ २ ॥
निशम्य भीष्मोक्तमथाच्युतोक्तं
प्रवृत्तविज्ञानविधूतविभ्रमः ।
शशास गामिन्द्र इवाजिताश्रयः
परिध्युपान्तामनुजानुवर्तितः ॥ ३ ॥
कामं ववर्ष पर्जन्यः सर्वकामदुघा मही ।
सिषिचुः स्म व्रजान्गावः पयसोधस्वतीर्मुदा ॥ ४ ॥
नद्यः समुद्रा गिरयः सवनस्पतिवीरुधः ।
फलन्त्योषधयः सर्वाः कामम[2]न्वृतु तस्य वै ॥ ५ ॥

शौनकजी बोले—अपने पैतृकधनको हड़प जानेकी इच्छावाले आततायी कौरवोंको मारकर [बन्धुवधके दुःखसे] भोगोंमें प्रवृत्तिहीन होकर धार्मिक पुरुषोंमें श्रेष्ठ महाराज युधिष्ठिर अपने भाइयोंसहित किस प्रकार राज्यशासनमें प्रवृत्त हुए ? और फिर उन्होंने क्या किया ? ॥ १ ॥

सूतजी बोले—अपने वंशरूपी वनमें प्रकट हुई क्रोधरूप अग्निसे दग्ध हुए कुरुकुलको [उत्तराके गर्भकी रक्षासे] पुनः अङ्कुरित कर और युधिष्ठिरको अपने राज्यपर बिठाकर भूतभावन भगवान् हरि अति प्रसन्न हुए ॥ २ ॥ तथा भगवान्के आश्रित रहनेवाले महाराज युधिष्ठिर भी पितामह भीष्म और भगवान् कृष्णके उपदेश सुनकर उससे उत्पन्न हुए विज्ञानके द्वारा मोहरहित हो भाइयोंके सहारे समुद्रपर्यन्त पृथिवीका इन्द्रके समान शासन करने लगे ॥ ३ ॥ महाराज युधिष्ठिरके राज्यमें मेघ यथासमय यथेष्ट वर्षा करते थे, पृथिवी समस्त इच्छित वस्तुएँ उत्पन्न करती थी और बड़े-बड़े स्तनोंवाली गौएँ प्रसन्न होकर दूधसे गोशालाओंको भी भिगो दिया करती थीं ॥ ४ ॥ नदी, समुद्र, वनस्पति और लताओंसहित पर्वत तथा सम्पूर्ण ओषधियाँ प्रत्येक ऋतुमें उनकी इच्छानुसार फलते-

१. प्रा० पा०—निर्हृतं । २. प्रा० पा०—कामता मृत्युरत्र वै ।

नाधयो व्याधयः क्लेशा दैवभूतात्महेतवः ।
अजातशत्रावभवञ्जन्तूनां राज्ञि कर्हिचित् ॥ ६ ॥

उषित्वा हास्तिनपुरे मासान्कतिपयान्हरिः ।
सुहृदां च विशोकाय स्वसुश्च प्रियकाम्यया ॥ ७ ॥
आमन्त्र्य चाभ्यनुज्ञातः परिष्वज्याभिवाद्य तम् ।
आरुरोह रथं कैश्चित्परिष्वक्तोऽभिवादितः ॥ ८ ॥
सुभद्रा द्रौपदी कुन्ती विराटतनया तथा ।
गान्धारी धृतराष्ट्रश्च युयुत्सुर्गौतमो यमौ ॥ ९ ॥
वृकोदरश्च धौम्यश्च स्त्रियो मत्स्यसुतादयः ।
न सेहिरे विमुह्यन्तो विरहं शार्ङ्गधन्वनः ॥१०॥
सत्सङ्गान्मुक्तदुःसङ्गो हातुं नोत्सहते बुधः ।
कीर्त्यमानं यशो यस्य सकृदाकर्ण्य रोचनम् ॥११॥
तस्मिन्न्यस्तधियः पार्थाः सहेरन्विरहं कथम् ।
दर्शनस्पर्शसंलापशयनासनभोजनैः ॥१२॥
सर्वे तेऽनिमिषैरक्षैस्तमनुद्रुतचेतसः ।
वीक्षन्तः स्नेहसंबद्धा विचेलुस्तत्र तत्र ह ॥१३॥
न्यरुन्धन्नुद्गलद्बाष्पमौत्कण्ठ्याद्देवकीसुते ।
निर्यात्यगारान्नोऽभद्रमिति स्याद्बान्धवस्त्रियः ॥१४॥
मृदङ्गशङ्खभेर्यश्च पणवानकगोमुखाः ।
धुन्धुर्यानकघण्टाद्या नेदुर्दुन्दुभयस्तथा ॥१५॥
प्रासादशिखरारूढाः कुरुनार्यो दिदृक्षया ।
ववृषुः कुसुमैः कृष्णे प्रेमव्रीडास्मितेक्षणाः ॥१६॥

फूलते थे ॥ ५ ॥ महाराज अजातशत्रु (युधिष्ठिर) के राज्यमें आधिदैविक, आधिभौतिक और आध्यात्मिक तीनों प्रकारके क्लेश तथा आधि-व्याधियाँ कभी किसी जीवको नहीं होती थीं ॥ ६ ॥

अपने बन्धुओंका शोक शान्त करनेके लिये और बहिन सुभद्राका प्रिय करनेकी इच्छासे भगवान् कृष्णचन्द्र कुछ महीनोंतक हस्तिनापुरमें रहे ॥ ७ ॥ फिर महाराज युधिष्ठिरसे [द्वारका जानेके लिये] पूछा तब उन्होंने उन्हें गलेसे लगाकर जानेकी अनुमति दी। भगवान्ने राजा युधिष्ठिरको प्रणाम किया तथा कुछ [अपने समवयस्क और अपनेसे छोटी अवस्थावाले] लोगोंसे क्रमशः आलिङ्गित और अभिवादित हो रथपर चढ़े ॥८॥ उस समय सुभद्रा, द्रौपदी, कुन्ती, विराटतनया उत्तरा, गान्धारी, धृतराष्ट्र, युयुत्सु, कृपाचार्य, नकुल, सहदेव, भीमसेन, धौम्य तथा सत्यवती आदि स्त्रियाँ मोहित हो भगवान् कृष्णका वियोग न सह सकीं ॥ ९-१० ॥ सत्सङ्गद्वारा जिसका दुःसङ्ग छूट गया है वह चतुर पुरुष जिनके मनोरम सुयशको एक बार सुनकर फिर उसे नहीं छोड़ सकता उन्हीं भगवान्में जिनका चित्त दर्शन, स्पर्शन और सम्भाषण करनेसे तथा साथ-साथ सोने, उठने-बैठने और भोजन करनेसे निरन्तर लगा रहता था वे पाण्डव-गण उनका विरह कैसे सह सकते थे ? ॥ ११-१२ ॥ अतः वे सब उन्हींमें दत्तचित्त हो स्नेह-बन्धनसे बँधे हुए उन्हींकी ओर टकटकी लगाये [यात्राकी तैयारीमें व्यग्र हो] इधर-उधर चल-फिर रहे थे ॥ १३ ॥ भगवान् देवकीनन्दनके चलते समय उनके बान्धवोंकी स्त्रियोंने अपने नेत्रोंमें उत्कण्ठावश उमड़ते हुए आँसुओंको इस भयसे कि, अमङ्गल न हो, कठिनतासे रोका ॥ १४ ॥

भगवान्के प्रस्थानके समय मृदङ्ग, शङ्ख, भेरी, वीणा, पणव, गोमुख, धुन्धुरी, आनक, घण्टा और दुन्दुभी आदि बाजे बजने लगे ॥ १५ ॥ भगवान्को देखनेके लिये महलोंकी अटारियोंपर चढ़ी हुई कुरुवंशकी स्त्रियाँ प्रेम-लज्जामयी मुसुकानसे निहारती हुई उनपर पुष्प बरसाने लगीं ॥ १६ ॥

१. प्रा० पा०—भूता इहेतयः। २. प्रा० पा०—तान्। ३. प्रा० पा०—तत्संगा०। ४. प्रा० पा०—स्पर्शनालाप०। ५. प्रा० पा०—त्यागारतो। ६. प्रा० पा०—बान्धवाः स्त्रियः। ७. प्रा० पा०—ववर्षुः।

सितातपत्रं जग्राह मुक्तादामविभूषितम् ।
रत्नदण्डं गुडाकेशः प्रियः प्रियतमस्य ह ॥१७॥
उद्धवः सात्यकिश्चैव व्यजने परमाद्भुते ।
विकीर्यमाणः कुसुमै रेजे मधुपतिः पथि ॥१८॥
अश्रूयन्ताशिषः सत्यास्तत्र तत्र द्विजेरिताः ।
नानुरूपानुरूपाश्च निर्गुणस्य गुणात्मनः ॥१९॥
अन्योन्यमासीत्संजल्प उत्तमश्लोकचेतसाम् ।
कौरवेन्द्रपुरस्त्रीणां सर्वश्रुतिमनोहरः ॥२०॥

स वै किलायं पुरुषः पुरातनो
य एक आसीदविशेष आत्मनि ।
अग्रे गुणेभ्यो जगदात्मनीश्वरे
निमीलितात्मन्निशि सुप्तशक्तिषु ॥२१॥
स एव भूयो निजवीर्यचोदितां
स्वजीवमायां प्रकृतिं सिसृक्षतीम् ।
अनामरूपात्मनि रूपनामनी
विधित्समानोऽनुससार शास्त्रकृत् ॥२२॥
स वा अयं यत्पदमत्र सूरयो
जितेन्द्रिया निर्जितमातरिश्वनः ।
पश्यन्ति भक्त्युत्कलितामलात्मना
नन्वेष सत्त्वं परिमार्ष्टुमर्हति ॥२३॥
स वा अयं सख्यनुगीतसत्कथो
वेदेषु गुह्येषु च गुह्यवादिभिः ।
य एक ईशो जगदात्मलीलया
सृजत्यवत्यत्ति न तत्र सज्जते ॥२४॥
यदा ह्यधर्मेण तमोधियो नृपा
जीवन्ति तत्रैष हि सत्त्वतः किल ।
धत्ते भगं सत्यमृतं दयां यशो
भवाय रूपाणि दधद्युगे युगे ॥२५॥

उस समय प्रिय सखा अर्जुनने अपने प्रियतम (भगवान्) पर मोतीकी लड़ियोंसे विभूषित रत्न-दण्डयुक्त श्वेत छत्र लगाया ॥ १७ ॥ और उद्धव तथा सात्यकि अति विचित्र चँवर डुलाने लगे। इस प्रकार मार्गमें अपने ऊपर फूलोंकी वर्षा होनेसे भगवान् कृष्ण सुशोभित हुए ॥ १८ ॥ उन्हें जहाँ-तहाँ विप्रवृन्दोंके सत्य आशीर्वाद सुनायी देने लगे जो उनके सगुण-निर्गुण रूपके अनुरूप और अननुरूप भी थे ॥ १९ ॥ उस समय, जिनका चित्त पुण्यकीर्ति श्रीहरिमें लगा हुआ था उन हस्तिनापुरकी स्त्रियोंमें परस्पर सबके कानोंको प्रिय लगनेवाली ये बातें होने लगीं ॥ २० ॥

[स्त्रियाँ बोलीं—] सखि ! ये वे ही पुराणपुरुष हैं जो प्रलयकालके समय गुणक्षोभसे पूर्व अपने निर्विशेष ब्रह्मरूपमें स्थित थे जब कि सत्त्वादि शक्तियोंके सो जानेसे समस्त जीव उस जगदात्मा ईश्वरमें लीन थे ॥ २१ ॥ फिर वे ही नामरूपरहित अपने-आपमें नामरूपका विधान करनेके लिये अपनी कालरूपा शक्तिसे प्रेरित सृष्टिरचनाके लिये प्रवृत्त हुई जीवोंको मोहित करनेवाली अपनी मायारूप प्रकृतिको सहारा देने लगे, और वे ही व्यवहारके लिये वेदादि शास्त्रोंके रचयिता हुए ॥२२॥ ये वही साक्षात् परब्रह्म श्रीकृष्ण हैं जिनके चरणका इसी देहमें प्राणको जीतनेवाले जितेन्द्रिय योगीगण अपने भक्तिवश उत्कण्ठित एवं निर्मल चित्तसे साक्षात्कार किया करते हैं; अतः ये ही अन्तःकरणको पूर्णतया विशुद्ध कर सकते हैं ॥ २३ ॥ हे सखि ! व्यासादि रहस्यवादियोंने वेद और अपने गुह्य शास्त्रोंमें जिनके यशका गान किया है, जो एकमात्र ईश्वर हैं तथा लीलासे ही इस जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और लय करते हैं तथापि उसमें आसक्त नहीं होते, वे ये ही श्रीकृष्ण हैं ॥ २४ ॥ जब तामसी प्रकृतिके राजालोग अधर्मसे पेट पालने लगते हैं तो ये ही प्रत्येक युगमें शुद्ध सात्त्विक अवतार ले संसारकी समृद्धिके लिये भग,* सत्य, ऋत, दया और यशको धारण करते हैं ॥ २५ ॥

१. प्रा० पा०—अवकीर्यमाणः । २. प्रा० पा०—सात्वतः ।

* ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः । वैराग्यस्याथ ज्ञानस्य षण्णां भग इतीङ्गना ॥
'सम्पूर्ण ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, वैराग्य और ज्ञान—इन छः का नाम भग है ।'

अहो अलं श्लाघ्यतमं यदोः कुल-
महो अलं पुण्यतमं मधोर्वनम् ।
यदेष पुंसामृषभः श्रियः प्रियः
स्वजन्मना[1] चङ्क्रमणेन चाञ्चति ॥२६॥

अहो बत स्वर्यशसस्तिरस्करी
कुशस्थली पुण्ययशस्करी भुवः ।
पश्यन्ति नित्यं यदनुग्रहेषित-[2]
स्मितावलोकं स्वपतिं स्म यत्प्रजाः ॥२७॥

नूनं व्रतस्नानहुतादिनेश्वरः
समर्चितो ह्यस्य गृहीतपाणिभिः ।
पिबन्ति याः सख्यधरामृतं[3] मुहु-
र्व्रजस्त्रियः संमुमुहुर्यदाशयाः ॥२८॥

या वीर्यशुल्केन हृताः स्वयंवरे
प्रमथ्य चैद्यप्रमुखान्हि शुष्मिणः[4] ।
प्रद्युम्नसाम्बाम्बसुतादयोऽपरा[5]
याश्चाहृता भौमवधे सहस्रशः ॥२९॥

एताः परं स्त्रीत्वमपास्तपेशलं
निरस्तशौचं बत साधु कुर्वते ।
यासां गृहात्पुष्करलोचनः पति-
र्न जात्वपैत्याहृतिभिर्हृदि स्पृशन् ॥३०॥

एवंविधा गदन्तीनां स गिरः पुरयोषिताम् ।
निरीक्षणेनाभिनन्दन्सस्मितेन ययौ हरिः ॥३१॥

अजातशत्रुः पृतनां गोपीथाय मधुद्विषः ।
परेभ्यः शङ्कितः स्नेहात्प्रायुङ्क्त चतुरङ्गिणीम् ॥३२॥

अथ दूरागताञ्छौरिः कारवान्विरहातुरान्[6] ।
संनिवर्त्य दृढं स्निग्धान्प्रायात्स्वनगरीं प्रियैः ॥३३॥

अहो ! यदुकुल परम प्रशंसनीय है जिसको इन पुरुषोत्तम लक्ष्मीपतिने अपने जन्मसे सम्मानित किया है ! तथा वह मधुवन भी अत्यन्त श्लाघनीय है जिसको ये अपने विहारसे सुशोभित करते थे ॥ २६ ॥ अहो ! पृथिवीके पावन सुयशको बढ़ानेवाली और स्वर्गके यशका तिरस्कार करनेवाली कुशस्थली (द्वारका) धन्य है जहाँकी प्रजा मनोहर मुसकान-युक्त कृपादृष्टिवाले अपने प्रभु श्रीकृष्णचन्द्रका नित्य-प्रति अवलोकन करती है ॥ २७ ॥ हे सखि ! इनसे पाणिग्रहण करनेवाली स्त्रियोंने अवश्य ही व्रत, स्नान और हवन आदिसे ईश्वरकी आराधना की थी, जिससे वे इनके उस अधरामृतका पान करती हैं जिसमें मन लगाकर व्रजबालाएँ बारम्बार मोहित हो जाया करती थीं ॥ २८ ॥ जिन्हें श्रीकृष्णचन्द्र अपने बाहुबल-के प्रभावसे शिशुपाल आदि वीरोंका मान मर्दनकर स्वयंवरसे हर लाये थे तथा जिनके प्रद्युम्न, साम्ब और अम्ब आदि पुत्र हैं वे (रुक्मिणी, जाम्बवती और नाग्नजिती, सत्यभामा आदि) पटरानियाँ और जिन्हें भौमासुरको मारकर लाये थे वे सहस्रों रानियाँ—इन सभीने भद्रता और पवित्रतासे शून्य स्त्रीत्वको अत्यन्त उज्ज्वल कर दिया है; क्योंकि इनके महलोंको भगवान् कमलनयन कभी नहीं छोड़ते तथा इनके चित्तोंको पारिजात आदि प्रिय वस्तुएँ लाकर आनन्दित करते रहते हैं ॥ २९-३० ॥

इस प्रकार बातें करती हुई पुरनारियोंका अपनी मन्द मुसकानयुक्त चितवनसे अभिनन्दन करते हुए श्रीहरि द्वारकाको चले ॥ ३१ ॥ अजातशत्रु महाराज युधिष्ठिरने शत्रुओंके उपद्रवकी आशंकासे स्नेहवश भगवान् मधुसूदनकी रक्षाके लिये उनके साथ चतुरङ्गिणी सेना* कर दी ॥३२॥ फिर सुदृढ़ स्नेहके कारण दूरतक साथ आये हुए अपने विरहसे व्याकुल प्रेमी कुरुवंशियोंको भगवान् कृष्ण आग्रहपूर्वक विदा करके उद्धवादि सुहृदोंके सहित अपने नगरको चले ॥३३॥

१. प्रा० पा०—सुजन्मना । २. प्रा० पा०—यदनुग्रहोषितं स्मिता० । ३. प्रा० पा०—सख्यमृताधरं । ४. प्रा० पा०—विशुष्मिणः । ५. प्रा० पा०—साम्बप्रसवादयोऽपराः । ६. प्रा० पा०—विदुरान्वितान् ।

* हाथी, घोड़े, रथ और पैदल—इन चार प्रकारके सैनिकोंसे युक्त सेनाको चतुरङ्गिणी कहते हैं ।

कुरुजाङ्गलपाञ्चालान्शूरसेनान्सयामुनान् ।
ब्रह्मावर्तं कुरुक्षेत्रं मत्स्यान्सारस्वतानथ ॥३४॥
मरुधन्वमतिक्रम्य सौवीराभीरयोः परान् ।
आनर्तान्भार्गवोपागाच्छ्रान्तवाहो मनाग्विभुः ॥३५॥
तत्र तत्र ह तत्रत्यैर्हरिः प्रत्युद्यतार्हणः ।
सायं भेजे दिशं पश्चाद्गविष्ठो गां गतस्तदा ॥३६॥

हे भार्गव ! फिर कुरुजाङ्गल, पाञ्चाल, शूरसेन, यामुनप्रदेश, ब्रह्मावर्त, कुरुक्षेत्र, मत्स्य, सारस्वत और मरुधन्वप्रदेशको पार करते हुए तथा सौवीर, आभीर आदि अन्य देशोंको लाँघकर भगवान् कृष्ण आनर्तदेशमें द्वारकाके समीप आये । उस समय उनके रथोंके घोड़े कुछ थके हुए थे ॥ ३४-३५ ॥ मार्गमें पूर्वोक्त देशोंके राजाओंके उपहारोंसे पूजित हुए सायंकालके समय स्वर्गस्थ सूर्यके क्षितिजमें डूबने-पर भगवान् पश्चिम दिशामें पहुँचे ॥ ३६ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे प्रथमस्कन्धे
दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

ग्यारहवाँ अध्याय

द्वारकामें स्वागतकी धूम ।

सूत उवाच

आनर्तान्स उपव्रज्य स्वृद्धाञ्जनपदान्स्वकान् ।
दध्मौ दरवरं[2] तेषां विषादं शमयन्निव ॥ १ ॥
स[3] उच्चकाशे धवलोदरो दरो-
ऽप्युरुक्रमस्याधरशोणशोणिमा ।
दाध्मायमानः करकञ्जसंपुटे
यथाब्जखण्डे कलहंस उत्स्वनः ॥ २ ॥
तमुपश्रुत्य निनदं जगद्भयभयावहम् ।
प्रत्युद्ययुः प्रजाः सर्वा भर्तृदर्शनलालसाः ॥ ३ ॥
तत्रोपनीतबलयो रवेर्दीपमिवादृताः ।
आत्मारामं पूर्णकामं निजलाभेन नित्यदा ॥ ४ ॥
प्रीत्युत्फुल्लमुखाः प्रोचुर्हर्षगद्गदया गिरा ।
पितरं सर्वसुहृदं[4]मवितारमिवार्भकाः ॥ ५ ॥
नताः स्म ते नाथ सदाङ्घ्रिपङ्कजं

सूतजी बोले—भगवान् कृष्णचन्द्रने अपने धन-धान्यसम्पन्न आनर्तदेशमें पहुँचकर वहाँके निवासियों-की विरह-वेदना शान्त करते हुए-से अपना श्रेष्ठ शङ्ख बजाया ॥१॥ भगवान्के करकमलोंमें बजता हुआ वह पाञ्चजन्य नामक श्वेतवर्ण शङ्ख उनके अधरपुटकी लालिमासे कुछ अरुणवर्ण होकर ऐसा सुशोभित हुआ मानो अरुण कमलपर बैठा हुआ राजहंस कलनाद कर रहा हो ॥२॥ संसारभयको भय देनेवाले उस शङ्ख-नादको सुनकर सम्पूर्ण प्रजाओंने अपने स्वामीके दर्शनोंकी उत्कण्ठासे उनकी अगवानी की ॥३॥ वहाँ आकर उन सबने सदा आत्मामें रमण करनेवाले और आत्मलाभसे सन्तुष्ट भगवान् श्रीकृष्णको सूर्यको दीपदान करनेके समान अति आदरपूर्वक उपहार दिये ॥४॥ और फिर प्रीतिवश प्रसन्नवदन हो हर्षगद्गद वाणीसे सबके सुहृद् तथा रक्षक भगवान्से इस प्रकार बोले जैसे अपना पालन करनेवाले पितासे बालक बोलते हैं ॥५॥ "हे नाथ ! हम आपके चरणकमलोंको

१. प्राचीन प्रतिमें 'इति·····से लेकर·····'सूत उवाच' तक नहीं है । २. प्रा० पा०—शङ्खवरं । ३. प्राचीन प्रतिमें यह श्लोक नहीं है । ४. प्रा० पा०—सुहृदं सवितार० ।

विरिञ्चवैरिञ्च्यसुरेन्द्रवन्दितम् ।
परायणं क्षेममिहेच्छतां परं
न यत्र कालः प्रभवेत्परः[1] प्रभुः ॥ ६ ॥
भवाय नस्त्वं भव विश्वभावन
त्वमेव माताथ[2] सुहृत्पतिः पिता ।
त्वं सद्गुरुर्नः परमं च दैवतं
यस्यानुवृत्त्या कृतिनो बभूविम ॥ ७ ॥
अहो सनाथा भवता स्म यद्वयं
त्रैविष्टपानामपि दूरदर्शनम् ।
प्रेमस्मितस्निग्धनिरीक्षणाननं
पश्येम रूपं तव सर्वसौभगम् ॥ ८ ॥
यर्ह्यम्बुजाक्षापससार भो भवान्
कुरून्मधून्वाथ सुहृद्दिदृक्षया ।
तत्राब्दकोटिप्रतिमः क्षणो भवे-
द्रविं विनाक्ष्णोरिव नस्तवाच्युत[3] ॥ ९ ॥

सर्वदा प्रणाम करते हैं, जो चरण ब्रह्मा, ब्रह्मपुत्र, सनकादि और देवराज इन्द्रसे वन्दित तथा कल्याणकामी पुरुषोंके परम आश्रय हैं और जहाँ परम समर्थ कालका भी वश नहीं चलता ॥६॥ हे विश्वका पालन करनेवाले ! आप हमारा कल्याण कीजिये । हमारे माता, पिता, सुहृद्, स्वामी, सद्गुरु और इष्टदेव एकमात्र आप ही हैं, आपके अनुयायी होनेके कारण हम कृतार्थ हो गये हैं ॥७॥ अहो ! हम आपसे सनाथ हैं, क्योंकि जिसका दर्शन देवताओंको भी दुर्लभ है वह आपका प्रेमभरी मुसकान तथा स्नेहमयी चितवनसे मनोहर मुखारविन्दवाला सर्वाङ्गसुन्दर रूप हम नित्य देखते हैं ॥८॥ हे कमलनयन ! जब आप अपने बन्धु-बान्धवोंसे मिलनेके लिये हस्तिनापुर या मथुरा चले गये उस समय आपके बिना हमारा एक-एक क्षण कोटि वर्षोंके समान बीतता था । और हे अच्युत ! सूर्यके बिना जैसे नेत्र व्यर्थ हो जाते हैं वैसे ही आपके बिना हम भी कोई कार्य नहीं कर सकते थे" ॥ ९ ॥

इति चोदीरिता वाचः प्रजानां भक्तवत्सलः ।
शृण्वानोऽनुग्रहं दृष्ट्या वितन्वन्प्राविशत्पुरीम्[4] ॥१०॥
मधुभोजदशार्हार्हकुकुरान्धकवृष्णिभिः ।
आत्मतुल्यबलैर्गुप्तां नागैर्भोगवतीमिव ॥११॥
सर्वर्तुसर्वविभवपुण्यवृक्षलताश्रमैः ।
उद्यानोपवनारामैर्वृतपद्माकरश्रियम् ॥१२॥
गोपुरद्वारमार्गेषु कृतकौतुकतोरणाम् ।
चित्रध्वजपताकाग्रैरन्तः प्रतिहतातपाम् ॥१३॥

इस प्रकार प्रजाके कहे हुए वचनोंको सुनते और अपने कृपाकटाक्षसे उनपर अनुग्रह करते हुए भक्तवत्सल भगवान्‌ने नागोंद्वारा रक्षित भोगवती पुरीके समान अपने ही तुल्य पराक्रमवाले मधु, भोज, दशार्ह, कुकुर, अन्धक और वृष्णिवंशी यादवोंसे सुरक्षित द्वारकामें प्रवेश किया, जो समस्त ऋतुओंके सम्पूर्ण [पुष्प-फलादि] वैभवोंसे सम्पन्न पवित्र वृक्षों, लता-कुञ्जों, उद्यानों[1], उपवनों[2] तथा आरामोंसे[3] घिरे हुए कमलवनविभूषित सरोवरोंसे सुशोभित थी ॥१०–१२॥ उसके नगरद्वार, गृहद्वार और मार्गोंमें [भगवान्‌के] स्वागतोत्सवके लिये वन्दनवारें और चित्र-विचित्र ध्वजा-पताकाएँ लगायी गयी थीं, जिससे कि उसमें घामका प्रवेश नहीं हो सकता था ॥ १३ ॥

१. प्रा० पा०—परः प्रभो । २. प्रा० पा०—मातात्मसुहृत्पिता पतिः । ३. प्राचीन प्रतिमें नवम श्लोकके बाद एक श्लोक अधिक है, जो इस प्रकार है—'कथं वयं नाथ चिरोषिते त्वयि प्रसन्नदृष्ट्याखिलतापशोषणम् । जीवाम ते सुन्दरहास-शोभितमपश्यमाना वदनं मनोहरम् ॥' ४. प्रा० पा०—पुरम् ।

१. फलवाले बाग । २. पुष्पवाटिका । ३. क्रीडावन ।

संमार्जितमहामार्गरथ्यापणकचत्वराम् ।
सिक्तां गन्धजलैरुप्तां फलपुष्पाक्षताङ्कुरैः ॥१४॥
द्वारि द्वारि गृहाणां च दध्यक्षतफलेक्षुभिः ।
अलङ्कृतां पूर्णकुम्भैर्बलिभिर्धूपदीपकैः[1] ॥१५॥

उसके राजमार्ग (सड़कें), गलियाँ, बाजार और चौराहे झाड़-बुहारकर सुगन्धित जलसे छिड़के गये थे तथा उसमें चारों ओर बरसाये हुए फल, पुष्प, अक्षत और अंकुरादि बिखरे हुए थे॥१४॥ और घरोंके सभी द्वार दही, अक्षत, फल, ईख, जलसे भरे हुए कलश, उपहारकी सामग्री तथा धूप-दीपादिसे सजाये गये थे ॥१५॥

निशम्य प्रेष्ठमायान्तं वसुदेवो महामनाः ।
अक्रूरश्चोग्रसेनश्च रामश्चाद्भुतविक्रमः ॥१६॥
प्रद्युम्नश्चारुदेष्णश्च साम्बो[2] जाम्बवतीसुतः ।
प्रहर्षवेगोच्छ्वसितशयनासनभोजनाः ॥१७॥
वारणेन्द्रं पुरस्कृत्य ब्राह्मणैः[3] ससुमङ्गलैः ।
शङ्खतूर्यनिनादेन ब्रह्मघोषेण चादृताः ।
प्रत्युज्जग्मू[4] रथैर्हृष्टाः[5] प्रणयागतसाध्वसाः ॥१८॥
वारमुख्याश्च शतशो यानैस्तद्दर्शनोत्सुकाः ।
लसत्कुण्डलनिर्भातकपोलवदनश्रियः[6] ॥१९॥
नटनर्तकगन्धर्वाः सूतमागधवन्दिनः ।
गायन्ति[7] चोत्तमश्लोकचरितान्यद्भुतानि च ॥२०॥

प्रियतम कृष्णका आगमन सुन महामना वसुदेव, अक्रूर, उग्रसेन, अद्भुत कर्म करनेवाले बलराम, प्रद्युम्न चारुदेष्ण और जाम्बवतीके पुत्र साम्ब हर्षके उद्वेगसे शयन, आसन और भोजनादि छोड़-छोड़कर आदरपूर्वक मङ्गल शकुनके लिये गजराज और मांगलिक सामग्रियों-से सुसज्जित ब्राह्मणोंको आगे कर शंख, तूर्य और वेदमन्त्रोंका घोष कराते हुए प्रेमसे उतावले हो अति हर्षके साथ रथोंपर चढ़कर अगवानी करने चले ॥१६-१८॥ [उनके साथ ही] भगवान्‌के दर्शनोंके लिये उत्कण्ठित हुई सैकड़ों वाराङ्गनाएँ, जिनके कपोलोंपर कुण्डलोंकी कान्ति पड़नेसे उनके मनोहर मुखारविन्द सुशोभित होते थे, शिविकाओंपर बैठकर चलीं॥१९॥ तथा अनेकों नट, नाचनेवाले, गवैये, सूत, मागध और बन्दीजन भगवान् उत्तमश्लोकके विचित्र चरित्र गाने लगे ॥२०॥

भगवांस्तत्र बन्धूनां पौराणामनुवर्तिनाम् ।
यथाविध्युपसंगम्य सर्वेषां मानमादधे ॥२१॥
प्रह्वाभिवादनाश्लेषकरस्पर्शस्मितेक्षणैः[8] ।
आश्वास्य चाश्वपाकेभ्यो वरैश्चाभिमतैर्विभुः॥२२॥
स्वयं च गुरुभिर्विप्रैः सदारैः स्थविरैरपि ।
आशीर्भिर्युज्यमानोऽन्यैर्बन्दिभिश्चाविशत्पुरम्[9]॥२३॥
राजमार्गं गते कृष्णे द्वारकायाः[10] कुलस्त्रियः ।
हर्म्याण्यारुरुहुर्विप्र तदीक्षणमहोत्सवाः ॥२४॥

भगवान्‌ने भी अपने बन्धु-बान्धव और अनुगत पुरवासियोंसे मिलकर किसीको शिर झुकाकर प्रणाम किया, किसीका वाणीसे अभिवादन किया, किसीको गले लगाया, किसीसे हाथ मिलाया, किसीकी ओर मन्द मुसकानसे निहारा तथा किसीको अभिमत वर देकर सन्तुष्ट किया। इस प्रकार उन परमेश्वरने चाण्डालपर्यन्त सभीका यथायोग्य सत्कार किया ॥२१-२२॥ स्वयं भी गुरुजनों तथा स्त्रियोंके सहित वृद्ध ब्राह्मणोंसे आशीर्वाद और बन्दीजनोंसे जय-जयकार सुनते हुए नगरमें प्रवेश किया ॥२३॥ हे विप्र ! जिस समय कृष्णचन्द्र राजमार्गमें पहुँचे उस समय द्वारकापुरी-की कुलकामिनियाँ उनके दर्शनका उत्सव मनानेके लिये अपनी अटारियोंके ऊपर चढ़ गयीं ॥ २४ ॥

१. प्रा० पा०—दीपधूपकैः । २. प्रा० पा०—चारुसाम्बगदादयः । ३. प्रा० पा०—ब्राह्मणैस्तु सुमङ्गलैः । ४. प्रा० पा०—प्रतिजग्मू । ५. प्रा० पा०—रथैर्ब्रह्मन् । ६. प्रा० पा०—निर्भिन्न० । ७. प्रा० पा०—गायन्त उत्तमश्लोक० । ८. प्रा० पा०—बान्धवानथ आश्लिष्य । ९. प्रा० पा०—पुरीम् । १०. प्रा० पा०—द्वारकायां ।

नित्यं निरीक्षमाणानां यदपि द्वारकौकसाम् ।
न वितृप्यन्ति हि दृशः श्रियो धामाङ्गमच्युतम् ॥२५॥
श्रियो निवासो यस्योरः पानपात्रं मुखं दृशाम् ।
बाहवो लोकपालानां सारङ्गाणां पदाम्बुजम् ॥२६॥
सितातपत्रव्यजनैरुपस्कृतः
प्रसूनवर्षैरभिवर्षितः पथि ।
पिशङ्गवासा वनमालया बभौ
घनो यथार्कोडुपचापवैद्युतैः ॥२७॥
प्रविष्टस्तु गृहं पित्रोः परिष्वक्तः[2] स्वमातृभिः ।
ववन्दे शिरसा सप्त देवकीप्रमुखा मुदा ॥२८॥
ताः पुत्रमङ्कमारोप्य स्नेहस्नुतपयोधराः ।
हर्षविह्वलितात्मानः सिषिचुर्नेत्रजैर्जलैः ॥२९॥
अथाविशत्स्वभवनं सर्वकाममनुत्तमम् ।
प्रासादा यत्र पत्नीनां सहस्राणि च षोडश ॥३०॥
पत्न्यः पतिं प्रोष्य गृहानुपागतं
विलोक्य संजातमनोमहोत्सवाः ।
उत्तस्थुरारात्सहसासनाशयात्[3]
साकं व्रतैर्व्रीडितलोचनाननाः ॥३१॥
तमात्मजैर्दृष्टिभिरन्तरात्मना
दुरन्तभावाः परिरेभिरे पतिम् ।
निरुद्धमप्यास्रवदम्बु नेत्रयो-
र्विलज्जतीनां[4] भृगुवर्य वैक्लवात् ॥३२॥
यद्यप्यसौ पार्श्वगतो रहोगत-
स्तथापि[5] तस्याङ्घ्रियुगं नवं नवम् ।

जिनका वक्षःस्थल लक्ष्मीका निवासस्थान है, जिनका मुख सब प्राणियोंके नेत्रोंद्वारा पीनेके लिये सौन्दर्य-रूप अमृतसे भरा हुआ पात्र है, जिनकी भुजाएँ लोकपालोंका आश्रय हैं तथा जिनके चरणकमल भक्तजनोंके आश्रय हैं उन शोभाधाम भगवान् अच्युतको यद्यपि द्वारकावासिनी स्त्रियाँ नित्य ही निहारती थीं तथापि उनके लोचन तृप्त नहीं होते थे ॥ २५–२६ ॥ द्वारकाकी सड़कपर भगवान् श्वेत छत्र और चँवरोंसे सुशोभित हो रहे थे, उनके ऊपर फूलोंकी वर्षा हो रही थी, शरीरपर पीताम्बर और गलेमें वनमाला धारण किये हुए थे उनसे वे सूर्य, चन्द्र, इन्द्रधनुष और विद्युत्से मण्डित श्याममेघके समान दीख पड़ते थे ॥२७॥ जिस समय वे माता-पिताके घरमें पहुँचे, माताओंने उनका आलिंगन किया और उन्होंने भी प्रसन्नचित्तसे देवकी आदि सातों माताओंको शिर झुकाकर प्रणाम किया ॥ २८ ॥ उस समय स्नेहवश माताओंके स्तनोंसे दूध बहने लगा और वे पुत्रको गोदमें ले हर्षसे विह्वल हो उसे आनन्दाश्रुओंसे सींचने लगीं ॥ २९ ॥

तदनन्तर भगवान् श्रीकृष्ण अपने सर्वभोगसम्पन्न अत्यन्त सुन्दर भवनमें गये जहाँ उनकी सोलह सहस्र एक सौ आठ पत्नियोंके महल थे ॥ ३० ॥ पतिदेवको विदेशसे घर आये देखकर रानियोंके चित्तमें बड़ा उल्लास हुआ और वे सहसा आसन और व्रत* त्यागकर उठ खड़ी हुईं तथा [भगवान्को निहारते समय] उनके मुख और लोचनोंमें लज्जा छा गयी ॥ ३१ ॥ उन गूढ़ भाववाली पत्नियोंने अपने पतिका प्रथम मनसे, फिर नेत्रोंसे और तदुपरान्त अपने पुत्रोंद्वारा आलिंगन किया। हे भृगुश्रेष्ठ! यद्यपि उन्होंने अपने नेत्रोंमें आये हुए आँसुओंको लज्जावश बहुत रोका तथापि वे विवशतासे ढलक ही आये ॥ ३२ ॥ यद्यपि भगवान् नित्य एकान्तमें उनके पास ही रहते थे तथापि उन्हें उनके चरणकमल पद-पदपर नवीन

१. प्रा० पा०—कृष्णः । २. प्रा० पा०—परिष्वक्तश्च मातृभिः । ३. प्रा० पा०—सहसासनाश्रयात्सकञ्चुका व्रीडित० । ४. प्रा० पा०—विलज्जितानां । यह पाठान्तर शुद्ध है । ५. प्रा० पा०—रहोगतस्तासां तथाप्यङ्घ्रियुगं ।

* जिस स्त्रीका पति विदेश गया हो उसे इन नियमोंका पालन करना चाहिये—

क्रीडां शरीरसंस्कारं समाजोत्सवदर्शनम् । हास्यं परगृहे यानं त्यजेत्प्रोषितभर्तृका ॥

जिसका पति परदेश गया हो उस स्त्रीको खेल-कूद, शृंगार, सामाजिक उत्सवोंमें भाग लेना, हँसी करना और पराये घर जाना—इन पाँच कामोंको त्याग देना चाहिये । (याज्ञवल्क्यस्मृति)

पदे पदे का विरमेत तत्पदा-
च्चलापि यच्छ्रीर्न जहाति कर्हिचित् ॥३३॥
एवं नृपाणां क्षितिभारजन्मना-
मक्षौहिणीभिः परिवृत्ततेजसाम्[1] ।
विधाय वैरं श्वसनो यथानलं
मिथो वधेनोपरतो[2] निरायुधः ॥३४॥
स एष नरलोकेऽस्मिन्नवतीर्णः स्वमायया ।
रेमे स्त्रीरत्नकूटस्थो भगवान्प्राकृतो यथा ॥३५॥
उद्दामभावपिशुनामलवल्गुहास-
व्रीडावलोकनिहतो मदनोऽपि यासाम् ।
संमुह्य चापमजहात्प्रमदोत्तमास्ता
यस्येन्द्रियं विमथितुं कुहकैर्न शेकुः ॥३६॥
तमयं[3] मन्यते लोको ह्यसङ्गमपि सङ्गिनम् ।
आत्मौपम्येन मनुजं व्यापृण्वानं यतोऽबुधः[4] ॥३७॥
एतदीशनमीशस्य प्रकृतिस्थोऽपि तद्गुणैः ।
न युज्यते सदात्मस्थैर्यथा बुद्धिस्तदाश्रया ॥३८॥
तं मेनिरेऽबला मूढाः स्त्रैणं चानुव्रतं रहः ।
अप्रमाणविदो भर्तुरीश्वरं मतयो यथा ॥३९॥

ही जान पड़ते थे। जिनके चरणोंको अति चञ्चला लक्ष्मी भी कभी नहीं छोड़ती उनसे भला कौन स्त्री उपराम हो सकती है? ॥ ३३ ॥

वायु जैसे बाँसोंके संघर्षसे दावानल प्रकट करके उन्हें भस्म कर शान्त हो जाता है वैसे ही जिन राजाओंका जन्म पृथिवीके भारके लिये ही था और जिनका प्रभाव सब ओर फैल चुका था उनमें परस्पर वैर उत्पन्न कर, बिना शस्त्र ग्रहण किये ही भगवान् उनको कई अक्षौहिणी सेनासहित मरवाकर निवृत्त हो गये ॥ ३४ ॥ उन परब्रह्म परमेश्वरने ही अपनी मायासे इस मर्त्यलोकमें अवतार ले सहस्रों रमणीरत्नोंमें रहकर साधारण मनुष्यके समान रमण किया ॥ ३५ ॥ जिनके गूढ अभिप्रायोंको सूचित करनेवाले निर्मल सुन्दर हास और सलज्ज चितवनकी चोटसे मूर्छित होकर कामदेवने भी अपना (विश्वविजयी) धनुष छोड़ दिया था वे कमनीय कामिनियाँ जिनके इन्द्रिय-समूहको अपने कपट-विलासोंसे विचलित नहीं कर सकीं ॥ ३६ ॥ उन असंग भगवान्को मनुष्य अपने ही समान व्यापार करते देख संसारमें आसक्त समझते हैं; क्योंकि वे उनका वास्तविक तत्त्व नहीं जानते ॥ ३७ ॥ ईश्वरकी ईश्वरता यही है कि वह प्रकृतिमें स्थित हुआ भी उसके गुणोंसे कभी लिप्त नहीं होता; जैसे आत्माके आश्रित रहनेवाली बुद्धि उसके आनन्दादि गुणोंसे युक्त नहीं होती ॥ ३८ ॥ अल्पमति अबलाओंने भी अपने पतिका प्रभाव न जाननेके कारण उन्हें अपने वशवर्ती और एकान्तमें अपना प्रिय करनेवाला ही समझा, जैसे कि अहंकारकी वृत्तियाँ अन्तर्यामी ईश्वरको अपने धर्मोंसे युक्त समझती हैं ॥ ३९ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे प्रथमस्कन्धे श्रीकृष्णद्वारका-
प्रवेशो नामैकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

१. प्रा० पा०—परिवृद्ध० । २. प्रा० पा०—वधायोपरतो । ३. प्रा० पा०—मन्यते तमयं लोको । ४. प्रा० पा०—व्यापृण्वानमतोऽबुधः ।

बारहवाँ अध्याय

परीक्षित्‌का जन्म ।

शौनक उवाच

अश्वत्थाम्नोपसृष्टेन[1] ब्रह्मशीर्ष्णोरुतेजसा ।
उत्तराया हतो गर्भ ईशेनाजीवितः पुनः ॥ १ ॥
तस्य जन्म महाबुद्धेः कर्माणि च महात्मनः ।
निधनं च यथैवासीत्स प्रेत्य गतवान्यथा ॥ २ ॥
तदिदं श्रोतुमिच्छामि गदितुं[2] यदि मन्यसे ।
ब्रूहि नः श्रद्दधानानां यस्य ज्ञानमदाच्छुकः ॥ ३ ॥

सूत उवाच

अपीपलद्धर्मराजः[4] पितृवद्रञ्जयन्प्रजाः ।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यः कृष्णपादाब्जसेवया[5] ॥ ४ ॥
सम्पदः क्रतवो विप्रा महिषी भ्रातरो मही ।
जम्बूद्वीपाधिपत्यं च यशश्च त्रिदिवं गतम् ॥ ५ ॥
किं ते कामाः सुरस्पार्हा मुकुन्दमनसो द्विजाः[6] ।
अधिजह्रुर्मुदं राज्ञः क्षुधितस्य यथेतरे ॥ ६ ॥
मातुर्गर्भगतो वीरः स तदा[7] भृगुनन्दन ।
ददर्श पुरुषं कञ्चिद्दह्यमानोऽस्त्रतेजसा[8] ॥ ७ ॥
अङ्गुष्ठमात्रममलं स्फुरत्पुरटमौलिनम्[9] ।
अपीच्यदर्शनं श्यामं तडिद्वाससमच्युतम् ॥ ८ ॥
श्रीमद्दीर्घचतुर्बाहुं तप्तकाञ्चनकुण्डलम् ।
क्षतजाक्षं[10] गदापाणिमात्मनः सर्वतोदिशम् ।

शौनकजी बोले—अश्वत्थामाद्वारा छोड़े हुए अत्यन्त तेजस्वी ब्रह्मास्त्रसे उत्तराका गर्भ नष्ट हो गया था, किन्तु भगवान्‌ने उसे फिर जीवित कर दिया ॥१॥ उस गर्भसे उत्पन्न हुए महा बुद्धिमान् महात्मा परीक्षित्‌के जन्म, कर्म एवं मरण जैसे-जैसे हुए तथा देह त्यागनेपर उन्हें जो गति प्राप्त हुई वह सब मैं सुनना चाहता हूँ । जिन परीक्षित्‌जीको श्रीशुकदेवजीने ज्ञानोपदेश किया था, उनका चरित्र यदि आप बतलाना ठीक समझें तो हम श्रद्धालुओंको बतलावें ॥ २-३ ॥

सूतजी बोले—श्रीकृष्णचन्द्रके चरणकमलोंकी सेवाके कारण समस्त कामनाओंसे रहित हुए धर्मराज युधिष्ठिर अपनी प्रजाको प्रसन्न रखते हुए पिताके समान उसका पालन करने लगे ॥ ४ ॥ हे द्विजगण ! महाराज युधिष्ठिरकी असंख्य सम्पत्ति, उनके किये हुए अनेक यज्ञ, राजमहिषियाँ, वीर बन्धुगण, सारी पृथिवी, समस्त जम्बूद्वीपका राज्य और स्वर्गपर्यन्त फैला हुआ सुयश ये सभी विषय, जिनकी देवगण भी इच्छा किया करते हैं उन भगवच्चित्त महाराजको क्या आनन्द दे सकते थे ? भूखे पुरुषको क्या [अन्नके अतिरिक्त सुगन्ध, नृत्य, वाद्य आदि] अन्य भोग प्रसन्न कर सकते हैं ? कभी नहीं ॥ ५-६ ॥

हे भृगुनन्दन ! माताकी कुक्षिमें स्थित ब्रह्मास्त्रके तेजसे जलते हुए उस वीर बालक (परीक्षित्) ने देखा कि कोई एक पुरुष जिसका परिमाण केवल अंगुष्ठमात्र है, स्वरूप निर्मल है, शिरपर झिलमिलाता हुआ सुवर्णका मुकुट है, अति सुन्दर श्याम शरीरपर विद्युत्‌के समान अति उज्ज्वल पीताम्बर धारण किये है, विकारसे रहित है, परम शोभायमान चार बड़ी-बड़ी भुजाएँ हैं, कानोंमें तप्त सुवर्णके कुण्डल हैं तथा [भक्तको कष्ट प्राप्त होनेके कारण क्रुद्ध होनेसे]

१. प्रा० पा०—अश्वत्थाम्ना विसृष्टेन । २. प्रा० पा०—श्रोतुमिच्छामः । यहाँ बहुवचन पाठ ही उपयुक्त मालूम होता है, क्योंकि आगे 'ब्रूहि नः श्रद्दधानानाम्' (हम श्रद्धालु जनोंसे कहिये) इस प्रकार बहुवचनका प्रयोग देखा जाता है । ३. प्रा० पा०—स त्वं वा । ४. प्रा० पा०—अपालयद् । ५. प्रा० पा०—पादानुसेवया । ६. प्रा० पा०—द्विज । ७. प्रा० पा०—तथा । ८. प्रा० पा०—दह्यमानस्तु तेजसा । ९. प्रा० पा०—मौलिकम् । १०. प्रा० पा०—शङ्खचक्रगदा० ।

परिभ्रमन्तमुल्काभां भ्रामयन्तं गदां मुहुः ॥ ९ ॥
अस्त्रतेजः स्वगदया नीहारमिव गोपतिः ।
विधमन्तं सन्निकर्षे पर्यैक्षत क इत्यसौ ॥१०॥
विधूय तदमेयात्मा भगवान्धर्मगुब्विभुः ।
मिषतो दशमासस्य तत्रैवान्तर्दधे हरिः ॥११॥

जिसकी आँखें लाल हो रही हैं, हाथमें गदा लिये हुए मेरे चारों ओर घूम रहा है। तथा उल्काके समान तेजवाली अत्यन्त उत्तम गदाको बारंबार घुमा रहा है और उसी गदासे ब्रह्मास्त्रके तेजको इस प्रकार ठण्डा कर रहा है जैसे सूर्यदेव अपनी किरणोंसे कुहरेको दूर कर देते हैं। उसे अपने पास ही देखकर वह बालक सोचने लगा 'यह कौन है ?' ॥ ७–१० ॥ इस प्रकार उस दश मासके गर्भगत बालकके देखते-देखते उस तेजको शान्तकर सर्वव्यापक धर्मरक्षक अप्रमेयात्मा श्रीहरि वहीं अन्तर्धान हो गये ॥ ११ ॥

ततः सर्वगुणोदर्के सानुकूलग्रहोदये ।
जज्ञे वंशधरः पाण्डोर्भूयः पाण्डुरिवौजसा ॥१२॥
तस्य प्रीतमना राजा विप्रैर्धौम्यकृपादिभिः[1] ।
जातकं कारयामास वाचयित्वा च मङ्गलम् ॥१३॥
हिरण्यं गां महीं ग्रामान्हस्त्यश्वान्नृपतिर्वरान्[2] ।
प्रादात्स्वन्नं[3] च विप्रेभ्यः प्रजातीर्थे स तीर्थवित् ॥१४॥
तमूचुर्ब्राह्मणास्तुष्टा राजानं प्रश्रयान्वितम् ।
एष ह्यस्मिन्प्रजातन्तौ पुरूणां पौरवर्षभः[4] ॥१५॥
दैवेनाप्रतिघातेन शुक्ले संस्थामुपेयुषि ।
रातो वोऽनुग्रहार्थाय[5] विष्णुना प्रभविष्णुना ॥१६॥
तस्मान्नाम्ना विष्णुरात इति लोके बृहच्छ्रवाः ।
भविष्यति न सन्देहो महाभागवतो महान् ॥१७॥

तदनन्तर जिसमें जन्म लेनेसे भविष्यमें सभी सद्गुणोंका विकास होता है और जिसमें अन्य अनुकूल ग्रहोंके साथ ही शुभ ग्रहोंका उदय हुआ था, ऐसा लग्न आनेपर महाराज पाण्डुके वंशधरका प्रादुर्भाव हुआ, वह अपने तेजसे ऐसा जान पड़ता था मानो पाण्डुने ही फिर जन्म ग्रहण किया हो ॥ १२ ॥ बालकका जन्म हुआ सुन महाराज युधिष्ठिरने अति आनन्दित हो धौम्य, कृपाचार्य आदि ब्राह्मणोंसे मंगल-पाठ कराकर उसका जातकर्मसंस्कार कराया ॥ १३ ॥ दानयोग्य कालको जाननेवाले राजा युधिष्ठिरने प्रजातीर्थमें* सुवर्ण, गौ, पृथिवी, ग्राम, उत्तम हाथी-घोड़े और उत्तम-उत्तम अन्न ब्राह्मणोंको दिये ॥ १४ ॥ तब ब्राह्मणोंने अति विनीत महाराजसे प्रसन्न होकर कहा—"हे पुरुश्रेष्ठ ! कालकी दुर्निवार गतिसे यह अति उज्ज्वल पुरुवंश उच्छिन्न ही हो चुका था किन्तु विश्वम्भर भगवान् विष्णुने तुमपर अनुग्रह करके यह बालक दिया है ॥ १५-१६ ॥ इसलिये इसका नाम 'विष्णुरात' होगा। यह लोकमें बड़ा यशस्वी, महान् भगवद्भक्त और महापुरुष होगा, इसमें सन्देह नहीं" ॥ १७ ॥

१. प्रा० पा०—विप्रैर्जातक्रियादिभिः। २. प्रा० पा०—ग्रामान्हयांश्च नृपति०। ३. प्रा० पा०—प्रादात्स्वयं च। ४. प्रा० पा०—पौरवर्षभः। ५. प्रा० पा०—यो।

* नालच्छेदनसे पहले सूतक नहीं होता, जैसे कहा है—'यावन्न छिद्यते नालं तावन्नाप्नोति सूतकम्। छिन्ने नाले ततः पश्चात् सूतकन्तु विधीयते ॥' इसी समयको प्रजातीर्थ काल कहते हैं। इस समय जो दान दिया जाता है वह अक्षय होता है। स्मृति कहती है—'पुत्रे जाते व्यतीपाते दत्तं भवति चाक्षयम्।' अर्थात् 'पुत्रोत्पत्ति और व्यतीपातके समय दिया हुआ दान अक्षय होता है।'

युधिष्ठिर उवाच[1]

अप्येष वंश्यान्राजर्षीन्[2]पुण्यश्लोकान्महात्मनः ।
अनुवर्तिता स्विद्यशसा साधुवादेन सत्तमाः ॥१८॥

युधिष्ठिर बोले– हे साधुश्रेष्ठगण ! क्या यह उत्तम सुयशके द्वारा अपने पूर्वज पुण्यकीर्ति महात्मा राजर्षियोंका अनुसरण करेगा ? ॥ १८ ॥

ब्राह्मणा ऊचुः

पार्थ प्रजाविता साक्षादिक्ष्वाकुरिव मानवः ।
ब्रह्मण्यः सत्यसन्धश्च रामो दाशरथिर्यथा ॥१९॥
एष दाता शरण्यश्च यथा ह्यौशीनरः शिबिः ।
यशो[3] वितनिता स्वानां दौष्यन्तिरिव यज्वनाम् ॥२०॥
धन्विनामग्रणीरेष तुल्यश्चार्जुनयोर्द्वयोः ।
हुताश इव दुर्धर्षः समुद्र इव दुस्तरः ॥२१॥
मृगेन्द्र इव विक्रान्तो निषेव्यो हिमवानिव ।
तितिक्षुर्वसुधेवासौ सहिष्णुः पितराविव ॥२२॥
पितामहसमः साम्ये प्रसादे गिरिशोपमः ।
आश्रयः सर्वभूतानां यथा देवो रमाश्रयः ॥२३॥
सर्वसद्गुणमाहात्म्यै[4] एष कृष्णमनुव्रतः ।
रन्तिदेव इवोदारो ययातिरिव धार्मिकः ॥२४॥
धृत्या बलिसमः कृष्णे प्रह्लाद इव सद्ग्रहः[5] ।
आहर्तैषोऽश्वमेधानां वृद्धानां पर्युपासकः ॥२५॥
राजर्षीणां जनयिता शास्ता चोत्पथगामिनाम् ।
निग्रहीता कलेरेष भुवो धर्मस्य कारणात् ॥२६॥
तक्षकादात्मनो मृत्युं द्विजपुत्रोपसर्जितात् ।
प्रपत्स्यत उपश्रुत्य मुक्तसङ्गः पदं हरेः ॥२७॥
जिज्ञासितात्मयाथात्म्यो मुनेर्व्याससुतादसौ ।
हित्वेदं नृप गङ्गायां यास्यत्यद्धाकुतोभयम् ॥२८॥

ब्राह्मण बोले—हे पृथापुत्र ! यह अपनी प्रजाका साक्षात् मनुपुत्र इक्ष्वाकुके समान पालन करेगा तथा दशरथपुत्र रामके समान ब्राह्मणभक्त और सत्यप्रतिज्ञ होगा ॥ १९ ॥ यह दान देने और शरणागतकी रक्षा करनेमें उशीनर नरेश शिबिके समान होगा और यज्ञकर्ताओंमें भरतके समान अपने कुलका यश बढ़ावेगा ॥ २० ॥ यह धनुर्धरोंमें दोनों अर्जुन (कार्तवीर्य और पार्थ) के समान अग्रगण्य होगा तथा अग्निके समान दुर्धर्ष, समुद्रके समान दुस्तर, सिंहके समान पराक्रमी, हिमालयके समान आश्रय देनेवाला, पृथिवीके समान क्षमाशील और माता-पिताके समान सहिष्णु होगा ॥ २१-२२ ॥ समतामें पितामह ब्रह्माजीके समान और कृपा करनेमें शंकरके समान तथा सब प्राणियोंको आश्रय देनेमें रमानिवास विष्णु भगवान्‌के समान होगा ॥ २३ ॥ सम्पूर्ण सद्गुणोंके माहात्म्यमें यह भगवान् श्रीकृष्णके सदृश होगा तथा रन्तिदेवके समान उदार और ययातिके समान धर्मात्मा होगा ॥ २४ ॥ यह बलिके समान धीर और प्रह्लादके सदृश कृष्णमें दृढ़ निष्ठा रखनेवाला होगा । तथा अनेक अश्वमेध यज्ञ करनेवाला और बड़े-बूढ़ोंकी सेवा करनेवाला होगा ॥ २५ ॥ यह राजर्षियोंको जन्म देनेवाला, कुमार्गगामियोंका दमन करनेवाला तथा पृथिवी और धर्मकी रक्षाके लिये कलियुगका निग्रह (दमन) करनेवाला होगा ॥ २६ ॥ अन्तमें ब्राह्मणकुमारके शापसे तक्षक सर्पद्वारा अपनी मृत्यु सुनकर यह सबका संग छोड़कर श्रीहरिचरणोंकी शरण लेगा ॥ २७ ॥ और हे राजन् ! व्यासपुत्र शुकदेवजीसे आत्मज्ञानकी जिज्ञासा करके गंगातटपर शरीर त्यागकर निस्सन्देह निर्भयपद (मुक्ति) को प्राप्त होगा ॥ २८ ॥

१. प्रा० पा०—राजोवाच । २. प्रा० पा०—ब्राजर्षिः पुण्य० । ३. प्रा० पा०—यथोचितविधाता च दौष्यन्ति० । ४. प्रा० पा०—माहात्म्यमेष कृष्ण० । ५. प्रा० पा०—निर्भरः ।

इति राज्ञ उपादिश्य विप्रा जातककोविदाः ।
लब्धोपचितयः सर्वे प्रतिजग्मुः स्वकान्गृहान् ॥२९॥

स एष लोकविख्यातः परीक्षिदिति यत्प्रभुः ।
गर्भदृष्टमनुध्यायन्परीक्षेत नरेष्विह ॥३०॥

स राजपुत्रो ववृध आशु शुक्ल इवोडुपः ।
आपूर्यमाणः पितृभिः काष्ठाभिरिव सोऽन्वहम् ॥३१॥

यक्ष्यमाणोऽश्वमेधेन ज्ञातिद्रोहजिहासया ।
राजालब्धधनो दध्यावन्यत्र करदण्डयोः ॥३२॥

तदभिप्रेतमालक्ष्य भ्रातरोऽच्युतचोदिताः ।
धनं प्रहीणमाजह्रुरुदीच्यां दिशि भूरिशः ॥३३॥

तेन संभृतसंभारो धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ।
वाजिमेधैस्त्रिभिर्भीतो यज्ञैः समयजद्धरिम् ॥३४॥

आहूतो भगवान्राज्ञा याजयित्वा द्विजैर्नृपम् ।
उवास कतिचिन्मासान्सुहृदां प्रियकाम्यया ॥३५॥

ततो राज्ञाभ्यनुज्ञातः कृष्णया सह बन्धुभिः ।
ययौ द्वारवतीं ब्रह्मन्सार्जुनो यदुभिर्वृतः ॥३६॥

इस प्रकार महाराज युधिष्ठिरको बालकका भविष्य बतलाकर जातकलग्नके फलोंको जाननेवाले ब्राह्मण पूजा ले-लेकर अपने-अपने घर चले गये ॥ २९ ॥ उस समर्थ बालकने [जन्म लेते ही] यहाँ अपने पूर्वदृष्ट पुरुषका स्मरणकर मनुष्योंमें उसकी परीक्षा की थी [अर्थात् यह देखता था कि इन लोगोंमें वह गर्भमें देखा हुआ पुरुष कौन-सा है] इसलिये वह लोकमें 'परीक्षित्' नामसे विख्यात हुआ ॥ ३० ॥ अपने गुरुजनोंके लालन-पालनसे वह राजकुमार दिन-दिन ऐसे बढ़ने लगा जैसे शुक्लपक्षमें चन्द्रमा अपनी कलाओंसे शीघ्र ही पूर्ण हो जाता है ॥ ३१ ॥

इसी समय महाराज युधिष्ठिरने जातिद्रोहजनित पापसे छुटकारा पानेकी इच्छासे अश्वमेध यज्ञ करना चाहा किन्तु उसे करनेके लिये कर और दण्डसे अतिरिक्त धन न मिलनेके कारण उन्हें चिन्ता हुई ॥ ३२ ॥ उनका अभिप्राय जान श्रीकृष्णचन्द्रकी प्रेरणासे उनके भाई उत्तर दिशासे [मरुत्त और ब्राह्मणोंका] छोड़ा हुआ* बहुत-सा धन ले आये ॥ ३३ ॥ वह धन पाकर उससे यज्ञकी सामग्री एकत्रित कर धर्मभीरु महाराज युधिष्ठिरने तीन अश्वमेध यज्ञोंसे श्रीहरिका पूजन किया ॥ ३४ ॥ राजाके निमन्त्रणसे आये हुए भगवान् श्रीकृष्णने ब्राह्मणोंसे यज्ञ सम्पन्न कराया और अपने सुहृद् पाण्डवोंको प्रसन्न करनेके लिये कई मास वहाँ रहे ॥ ३५ ॥ हे ब्रह्मन् ! फिर महाराज युधिष्ठिर, द्रौपदी और अन्य बन्धु-बान्धवोंकी आज्ञा ले वे अर्जुन और यादवोंके सहित द्वारकाको चले गये ॥ ३६ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे प्रथमस्कन्धे परीक्षिज्जन्मा-
द्युत्कर्षो नाम द्वादशोऽध्यायः ॥१२॥

१. प्रा० पा०—सर्वदृष्ट० । २. प्रा० पा०—राजा लब्ध० । ३. प्रा० पा०—दध्यौ नान्यत्र । ४. प्रा० पा०—भूरिशो दिशि । ५. प्रा० पा०—त्रिभी राजा यज्ञैः । ६. प्राचीन प्रतिमें 'यदुभिर्वृतः ॥ ३६ ॥' के बाद 'यावतः कृतवान् प्रश्नान् क्षत्ता कौषारवेशतः' इतना पाठ अधिक है (?) ।

* पूर्वकालमें महाराज मरुत्तने ऐसा यज्ञ किया था जिसमें सभी पात्र सुवर्णमय थे । यज्ञ समाप्त हो जानेपर उन्होंने वे पात्र उत्तरदिशामें फिकवा दिये थे । उन्होंने ब्राह्मणोंको भी इतना धन दिया कि वे उसे ले न जा सके; वे भी उसे उत्तर दिशामें ही छोड़कर चले गये । उसी धनको मँगवाकर भगवान्ने युधिष्ठिरका यज्ञ कराया । इससे उनकी भक्तवत्सलताका स्पष्ट परिचय मिलता है । उन्हींकी कृपासे वह ब्राह्मणत्यक्त धन यज्ञादि पुण्यकर्मानुष्ठानके योग्य हो गया था ।

तेरहवाँ अध्याय

विदुरजीके उपदेशसे धृतराष्ट्र और गान्धारीका वनमें जाना।

सूत उवाच

विदुरस्तीर्थयात्रायां मैत्रेयादात्मनो गतिम्।
ज्ञात्वागाद्धास्तिनपुरं तथावाप्तविवित्सितः ॥ १ ॥
यावतः[1] कृतवान्प्रश्नान्क्षत्ता कौषारवाग्रतः।
जातैकभक्तिर्गोविन्दे तेभ्यश्चोपरराम ह ॥ २ ॥
तं बन्धुमागतं दृष्ट्वा धर्मपुत्रः सहानुजः[2]।
धृतराष्ट्रो युयुत्सुश्च सूतः शारद्वतः पृथा ॥ ३ ॥
गान्धारी द्रौपदी ब्रह्मन्सुभद्रा चोत्तरा कृपी।
अन्याश्च जामयः पाण्डोर्ज्ञातयः ससुताः स्त्रियः ॥४॥
प्रत्युज्जग्मुः प्रहर्षेण प्राणं तन्वा इवागतम्।
अभिसंगम्य विधिवत्परिष्वङ्गाभिवादनैः ॥ ५ ॥
मुमुचुः प्रेमबाष्पौघं विरहौत्कण्ठ्यकातराः।
राजा तमर्हयांचक्रे कृतासनपरिग्रहम् ॥ ६ ॥
तं[3] भुक्तवन्तमासीनं विश्रान्तं सुखमासने।
प्रश्रयावनतो राजा प्राह तेषां[4] च शृण्वताम् ॥ ७ ॥

युधिष्ठिर उवाच[5]

अपि स्मरथ नो युष्मत्पक्षच्छायासमेधितान्।
विपद्गणाद्विषाग्न्यादेर्मोचिता यत्समातृकाः ॥ ८ ॥
कया वृत्त्या वर्तितं वश्चरद्भिः क्षितिमण्डलम्।
तीर्थानि क्षेत्रमुख्यानि सेवितानीह भूतले ॥ ९ ॥
भवद्विधा भागवतास्तीर्थीभूताः[6] स्वयं विभो[7]।

सूतजी बोले—विदुरजी तीर्थयात्राको गये हुए थे, वहाँ उन्होंने मैत्रेयजीसे आत्मतत्त्वका ज्ञान प्राप्त किया और उससे उन्हें समस्त जिज्ञासित वस्तुओंका ज्ञान प्राप्त हो गया, तत्पश्चात् वे हस्तिनापुर लौट आये॥१॥ विदुरजीने कौषारव (मैत्रेयजी) से जितने प्रश्न किये थे उनमेंसे थोड़े ही प्रश्नोंका उत्तर सुनकर उनकी श्रीगोविन्दमें अनन्य भक्ति हो गयी, तब वे उन प्रश्नोंसे उपरत हो गये ॥ २ ॥ हे ब्रह्मन् ! अपने सुहृद् विदुरजीको आये हुए जान भाइयोंके सहित धर्मपुत्र युधिष्ठिर, धृतराष्ट्र, युयुत्सु, संजय, कृपाचार्य, कुन्ती, गान्धारी, द्रौपदी, सुभद्रा, उत्तरा, कृपी तथा पाण्डुकुटुम्बके पुरुष और स्त्रियाँ एवं अन्य स्त्रियाँ भी अपने पुत्रोंसहित उनसे ऐसे हर्षसे मिलने चलीं मानो मृत शरीरमें प्राण आ गया हो। वे सब उनका आलिङ्गन और प्रणामादि करते हुए यथायोग्य मिलकर विरहकी उत्कण्ठासे कातर हो नेत्रोंसे जल बरसाने लगे। महाराज युधिष्ठिरने उन्हें आसनपर बिठाकर यथोचित सत्कार किया ॥ ३–६ ॥ और जब वे भोजनादिसे निवृत्त हो सुखपूर्वक आसनपर बैठकर विश्राम करने लगे तो राजाने अति नम्रतापूर्वक सबके सामने उनसे कहा ॥ ७ ॥

युधिष्ठिर बोले—आपके ही पक्षपातकी छायामें पले हुए हमलोगोंका क्या आप कभी स्मरण करते थे ? क्योंकि आपने माताके सहित हमारी विष, अग्नि आदि अनेकों विपत्तियोंसे रक्षा की है ॥ ८ ॥ इस समय इस पृथिवीपर विचरते हुए आप किस वृत्तिसे प्राणयात्रा निभाते थे और अबतक आपने पृथिवीके किन-किन मुख्य तीर्थों और क्षेत्रोंका सेवन किया है ? ॥ ९ ॥ हे देव ! आप-जैसे महात्मा तो स्वयं ही

१. प्राचीन प्रतिमें 'यावतः···'से लेकर 'कौषारवाग्रतः' यहाँतकका पाठ नहीं है। २. प्रा० पा०—सहानुगः। ३. प्राचीन प्रतिमें इस पूर्वार्धका पाठ इस प्रकार है—'तं सत्कृतं तु विश्रान्तमासीनं सुखमासने।' ४. प्रा० पा०—स्वानां विशृण्वताम्। ५. प्राचीन प्रतिमें 'युधिष्ठिर उवाच' नहीं है। ६. प्रा० पा०—तीर्थभूताः। ७. प्रा० पा०—प्रभो।

तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि स्वान्तःस्थेन[1] गदाभृता ॥१०॥
अपि नः सुहृदस्तात बान्धवाः कृष्णदेवताः ।
दृष्टाः श्रुता वा यदवः स्वपुर्यां सुखमासते ॥११॥

तीर्थरूप हैं और अपने हृदयस्थ हृषीकेशके द्वारा तीर्थोंको भी पवित्र करते हैं ॥ १० ॥ हे तात ! क्या आपने यह भी देखा या सुना है कि हमारे कृष्ण-परायण सुहृद् यादव-बन्धुगण कुशलसे अपनी पुरी (द्वारका) में हैं ॥ ११ ॥

इत्युक्तो धर्मराजेन सर्वं तत्समवर्णयत् ।
यथानुभूतं क्रमशो[2] विना यदुकुलक्षयम् ॥१२॥
नन्वप्रियं दुर्विषहं[3] नृणां स्वयमुपस्थितम् ।
नावेदयत्सकरुणो[4] दुःखितान्द्रष्टुमक्षमः ॥१३॥

धर्मराजके इस प्रकार पूछनेपर विदुरजीने सभी बातें जिस-जिस प्रकार अनुभव की थीं क्रमशः सुना दीं, केवल यदुकुलके विनाशका समाचार छोड़ दिया ॥ १२ ॥ क्योंकि वे परम दयालु और पाण्डवोंको दुखी देखनेमें असमर्थ थे इसलिये यह सोचकर कि, 'यह अत्यन्त अप्रिय एवं असह्य समाचार लोगोंपर आप ही प्रकट हो जायगा' उन्होंने स्वयं नहीं बताया ॥१३॥

किञ्चित्कालमथावात्सीत्सत्कृतो देववत्सुखम्[5] ।
भ्रातुर्ज्येष्ठस्य श्रेयस्कृत्सर्वेषां प्रीतिमावहन् ॥१४॥
अबिभ्रदर्यमा दण्डं यथावदघकारिषु ।
यावद्दधार शूद्रत्वं शापाद्वर्षशतं यमः ॥१५॥
युधिष्ठिरो लब्धराज्यो दृष्ट्वा पौत्रं कुलंधरम्[6] ।
भ्रातृभिर्लोकपालाभैर्मुमुदे परया श्रिया ॥१६॥
एवं गृहेषु सक्तानां प्रमत्तानां तदीहया ।
अत्यक्रामदविज्ञातः कालः परमदुस्तरः ॥१७॥
विदुरस्तदभिप्रेत्य धृतराष्ट्रमभाषत ।
राजन्निर्गम्यतां शीघ्रं पश्येदं भयमागतम् ॥१८॥

महात्मा विदुर देवताके समान सत्कार पाते हुए अपने बड़े भाई धृतराष्ट्रकी मंगलकामनासे और सबकी प्रसन्नताके लिये कुछ दिन आनन्दपूर्वक वहाँ रहे ॥१४॥ जिस समय ऋषिके शापसे [विदुर होकर] यमराज सौ वर्षतक शूद्रयोनिमें रहे तबतक अर्यमा नियमानुसार पापियोंको दण्ड देते रहे* ॥१५॥ महाराज युधिष्ठिर राज्य पाकर और वंशधर पोतेका मुख देखकर अपने लोकपाल-सदृश भाइयोंके सहित अपनी अतुल सम्पत्तिसे युक्त हो आनन्दमग्न रहते थे ॥१६॥ इस प्रकार गृहस्थीमें आसक्त हुए और उसीकी चेष्टाओंमें भूले हुए उन पाण्डवोंका परम दुस्तर जीवन-काल अज्ञातरूपसे प्रायः बीत गया ॥१७॥ यह जानकर विदुरजीने धृतराष्ट्रसे कहा—"राजन् ! देखो, यह भयंकर समय आ गया है अब तुम यहाँसे जल्दी निकल चलो ॥ १८ ॥

१. प्रा० पा०—आत्मस्थेन । २. प्रा० पा०—भ्रमतो । ३. प्रा० पा०—दुर्विषह्यं । ४. प्रा० पा०—न्यवेदयत् । ५. प्रा० पा०—स्वकैः । ६. प्रा० पा०—कुलोद्वहम् ।

* एक समय किसी राजाके दूतोंने कुछ चोरोंको धनसहित माण्डव्य ऋषिके आश्रममें पकड़ा । चोरोंके साथ वे ऋषिको भी पकड़ लाये और राजाज्ञासे सबको सूलीपर चढ़ा दिया । राजाने यह जानते ही कि ये महात्मा हैं ऋषिको सूलीपरसे उतरवा लिया और बहुत अनुनय-विनय कर अपना अपराध क्षमा कराया । तदनन्तर मुनि राजाके यहाँसे सीधे यमराजके पास पहुँचे और उनसे अपने सूलीपर चढ़ाये जानेका कारण पूछा । यमराजने कहा—"तुमने बाल्यावस्थामें एक टिड्डीको कुशकी नोकसे छेदा था इसलिये तुम्हें वह दुःख देखना पड़ा ।" इसपर मुनिने क्रुद्ध होकर कहा—"मैंने अज्ञानवश ऐसा किया होगा, उसके लिये तुमने ऐसा कठोर दण्ड दिया; इसलिये तुम सौ वर्षतक शूद्रयोनिमें रहोगे ।" माण्डव्य मुनिके इस शापसे ही यमराजने विदुरका अवतार लिया था ।

प्रतिक्रिया[1] न यस्येह कुतश्चित्कर्हिचित्प्रभो ।
स एव भगवान्कालः सर्वेषां नः[2] समागतः ॥१९॥
येन चैवाभिपन्नोऽयं प्राणैः प्रियतमैरपि ।
जनः सद्यो वियुज्येत किमुतान्यैर्धनादिभिः ॥२०॥
पितृभ्रातृसुहृत्पुत्रा हतास्ते विगतं वयः ।
आत्मा च जरया ग्रस्तः परगेहमुपाससे ॥२१॥
अहो महीयसी जन्तोर्जीविताशा यया भवान् ।
भीमेनावर्जितं[3] पिण्डमादत्ते गृहपालवत् ॥२२॥
अग्निर्निसृष्टो दत्तश्च गरो दाराश्च दूषिताः ।
हृतं क्षेत्रं धनं येषां तद्दत्तैरसुभिः कियत् ॥२३॥
तस्यापि तव देहोऽयं कृपणस्य जिजीविषोः ।
परैत्यनिच्छतो जीर्णो जरया वाससी इव ॥२४॥
गतस्वार्थमिमं देहं विरक्तो मुक्तबन्धनः ।
अविज्ञातगतिर्जह्यात्स वै धीर उदाहृतः ॥२५॥
यः स्वकात्परतो वेह जातनिर्वेद आत्मवान् ।
हृदि कृत्वा हरिं गेहात्[5]प्रव्रजेत्स नरोत्तमः ॥२६॥
अथोदीचीं दिशं यातु स्वैरज्ञातगतिर्भवान् ।
इतोऽर्वाक्प्रायशः कालः पुंसां गुणविकर्षणः ॥२७॥

एवं राजा विदुरेणानुजेन
प्रज्ञाचक्षुर्बोधितो[6] ह्याजमीढः ।
छित्त्वा स्वेषु स्नेहपाशान्द्रढिम्नो
निश्चक्राम भ्रातृसंदर्शिताध्वा ॥२८॥
पतिं प्रयान्तं सुबलस्य पुत्री

हे प्रभो ! जिसे रोकनेका यहाँ कोई उपाय नहीं है, वही हम सब लोगोंका प्रबल काल उपस्थित हो गया है ॥१९॥ जिस कालसे आक्रान्त मनुष्यको अपने प्रियतम प्राणोंसे भी तत्काल वियुक्त होना पड़ता है फिर अन्य धनादिके विषयमें तो कहना ही क्या है ? ॥२०॥ अहो ! आपके पिता, भ्राता, मित्र और पुत्र सभी मारे गये, आयु समाप्त हो चुकी और शरीर भी जराजर्जरित हो गया ! फिर भी आप पराये घरकी सेवा कर रहे हैं ॥२१॥ ओह ! जीवोंकी जीवन-आशा भी बड़ी प्रबल होती है ! जिसके कारण आप भीमसेनका दिया हुआ टुकड़ा घरकी रखवाली करनेवाले (कुत्ते) के समान खा रहे हैं ॥२२॥ जिनको आपने आगमें जलानेका प्रयत्न किया, जिन्हें विष दिया, जिनकी स्त्रीका भरी सभामें अपमान किया तथा जिनका धन और राज्य छीना उनके आश्रित रहकर प्राण पालनेमें क्या गौरव है ? ॥२३॥ यद्यपि आप इतने दीन और प्राण-लोलुप हैं फिर भी आपकी इच्छाके बिना ही आपका यह जराजर्जरित देह जीर्ण वस्त्रके समान क्षीण हो ही जा रहा है ॥२४॥ जो पुरुष इस शरीरका कोई प्रयोजन न देखकर विरक्त और मोह-बन्धनसे रहित होकर अज्ञातभावसे रहता हुआ इसका त्याग करता है वही धीर कहा गया है ॥२५॥ जो मनस्वी पुरुष अपने विचारोंसे या परोपदेशसे विरक्त होकर हृदयमें भगवान् श्रीहरिको धारणकर घरसे निकल वनको चला जाता है वही पुरुषोंमें श्रेष्ठ है ॥२६॥ इसलिये अब आप अपने बन्धु-बान्धवोंके बिना जाने ही यहाँसे उत्तराखण्डको चले जाइये, क्योंकि अब आगे जो समय आवेगा उसमें प्रायः मनुष्योंके गुणोंका ह्रास ही होगा" ॥२७॥

अजमीढकुलोत्पन्न प्रज्ञाचक्षु महाराज धृतराष्ट्र अपने छोटे भाई विदुरके इस प्रकार समझानेपर दृढ़तापूर्वक बन्धु-बान्धवोंके स्नेह-बन्धनको तोड़ विदुरजीके दिखलाये हुए मार्गसे निकलकर चल दिये ॥२८॥ पतिको जाते देख परम साध्वी पतिपरायणा

१. प्रा० पा०—प्रतिक्रियां न पश्येऽहं कुतश्चित् । २. प्रा० पा०—वः । ३. प्रा० पा०—भीमापवर्जितं । ४. प्रा० पा०—मति० । ५. प्रा० पा०—सम्यक् प्रव्र० । ६. प्रा० पा०—बोधित आज० ।

पतिव्रता चानुजगाम साध्वी ।
हिमालयं न्यस्तदण्डप्रहर्षं
मनस्विनामिव सत्संप्रहारः[1] ॥२९॥
अजातशत्रुः कृतमैत्रो हुताग्नि-
र्विप्रान्नत्वा तिलगोभूमिरुक्मैः ।
गृहं प्रविष्टो गुरुवन्दनाय
न चापश्यत्पितरौ सौबलीं च ॥३०॥
तत्र संजयमासीनं पप्रच्छोद्विग्नमानसः ।
गावल्गणे क्व नस्तातो वृद्धो हीनश्च नेत्रयोः ॥३१॥
अम्बा च हतपुत्रार्ता पितृव्यः क्व गतः सुहृत् ।
अपि मय्यकृतप्रज्ञे हतबन्धुः स भार्यया ।
आशंसमानः शमलं गङ्गायां दुःखितोऽपतत् ॥३२॥
पितर्युपरते पाण्डौ सर्वान्नः सुहृदः शिशून् ।
अरक्षतां व्यसनतः पितृव्यौ क्व गतावितः ॥३३॥

सूत उवाच

कृपया स्नेहवैक्लव्यात्सूतो विरहकर्शितः ।
आत्मेश्वरमचक्षाणो न प्रत्याहातिपीडितः ॥३४॥
विमृज्याश्रूणि पाणिभ्यां विष्टभ्यात्मानमात्मना ।
अजातशत्रुं प्रत्यूचे प्रभोः पादावनुस्मरन् ॥३५॥

संजय उवाच

नाहं वेद व्यवसितं पित्रोर्वः कुलनन्दन ।
गान्धार्या वा महाबाहो मुषितोऽस्मि महात्मभिः ॥

सुबलसुता गान्धारी भी उनके पीछे-पीछे हिमालयको चल दी । जो (हिमालय) संन्यासियोंको उसी प्रकार सुखद है जैसे शूर-वीरोंको धर्मयुक्त संग्राम सुखद होता है ॥२९॥ प्रातःकाल होनेपर अजातशत्रु महाराज युधिष्ठिरने सन्ध्या-वन्दन और अग्निहोत्र कर ब्राह्मणोंको प्रणाम किया तथा तिल, गौ, पृथिवी और सुवर्णका दान दिया । तदनन्तर जब वे गुरुजनोंकी चरणवन्दनाके लिये राजमहलमें गये तो उन्होंने अपने दोनों चाचाओं (धृतराष्ट्र और विदुर) तथा गान्धारीको न देखा ॥३०॥ तब उन्होंने घबराकर वहाँ बैठे हुए संजयसे पूछा—"हे गावल्गणे ! हमारे वृद्ध और नेत्रहीन पिता, पुत्रवधसे आतुर माता और हितैषी चाचा विदुरजी कहाँ चले गये ? क्या वे अपने सुहृदोंके मारे जानेसे दुःखित होकर मुझ दुर्बुद्धिसे किसी अपराधकी आशंका कर भार्यासहित गंगाजीमें डूब तो नहीं गये ? ॥ ३१-३२ ॥ पिता पाण्डुकी मृत्युके पश्चात् जिन्होंने हम प्रिय बालकोंकी अति स्नेहपूर्वक नाना विपत्तियोंसे रक्षा की थी वे हमारे दोनों चाचा यहाँसे कहाँ चले गये ?" ॥३३॥

सूतजी कहते हैं—दया और स्नेहपूर्ण आकुलतासे पीड़ित हो सारथि संजय अपने स्वामीको न देखनेके कारण ऐसे विरहातुर हो गये कि कोई उत्तर न दे सके ॥ ३४ ॥ फिर हाथोंसे आँसू पोंछ विचारके द्वारा हृदयको स्थिर करके प्रभुके चरणोंका स्मरण करते हुए युधिष्ठिरसे कहने लगे ॥ ३५ ॥

संजय बोले—हे कुलनन्दन ! आपके दोनों चाचाओं अथवा गान्धारीका निश्चय—मैं नहीं जानता । हे महाबाहो ! मुझे तो उन महात्माओंने ठग लिया ॥३६॥

---

१. प्रा० पा०—सम्प्रसारम् । इस पाठान्तरकी व्याख्या श्रीधर स्वामीने भी की है । २. प्रा० पा०—कृतमैत्रसत्क्रियो विप्रान् । ३. प्रा० पा०—वसु । ४. प्रा० पा०—परं न पश्यत् पितरौ सौबलीं च । ५. प्रा० पा०—क्व यातोऽसौ । ६. प्रा० पा०—सुकृत् । ७. प्रा० पा०—विमृज्य पाणिनाश्रूणि विष्ट० । ८. प्राचीन प्रतिमें 'संजय उवाच'पाठ नहीं है । ९. प्राचीन प्रतिमें 'नाहं वेद···'से लेकर '···वहन्ति बलिमीशितुः॥' यहाँतक पाँच श्लोक इस प्रकार मिलते हैं—

'अहं व्यवसितं रात्रौ पित्रोस्ते कुलनन्दन । न वेद साध्व्या गान्धार्या मुषितोऽस्मि महात्मभिः ॥
एतस्मिन्नन्तरे विप्र नारदः प्रत्यदृश्यत । वीणां त्रितन्त्रीं ध्वनयन् भगवान् सहतुम्बुरुः ॥
राजा तत्रोपनीतार्घ्यः प्रत्युत्थायाभिवन्दितम् । परमासन आसीनं पौरवेन्द्रोऽभ्यभाषत ॥
नाहं वेद गतिं पित्रोर्भगवन् क्व गताविति । कर्णधार इवापारे सीदतां पारदर्शकः ॥

नारद उवाच—

मा कञ्चन शुचो राजन् यदीश्वरवशे जगत् । लोकाः सपाला यस्येमे वहन्ति बलिमीशितुः ॥'

अथाजगाम भगवान्नारदः सहतुम्बुरुः ।
प्रत्युत्थायाभिवाद्याह सानुजोऽभ्यर्चयन्निव ॥३७॥

इसी समय वहाँ तुम्बुरु मुनिके सहित भगवान् नारदजी आये । तब भाइयोंसहित राजा युधिष्ठिर उठकर उन्हें प्रणाम करके उनकी पूजा करते हुए-से बोले ॥ ३७ ॥

युधिष्ठिर उवाच

नाहं वेद गतिं पित्रोर्भगवन्क्व गतावितः ।
अम्बा वा हतपुत्रार्ता क्व गता च तपस्विनी ॥३८॥
कर्णधार इवापारे भगवान्पारदर्शकः ।

युधिष्ठिर बोले—भगवन् ! मुझे अपने दोनों चाचाओंका पता नहीं लगता । न जाने वे यहाँसे कहाँ चले गये ? तथा पुत्रशोकसे आतुर तपस्विनी माता गान्धारी भी कहाँ चली गयी ? ॥ ३८ ॥ अब कर्णधार (नाविक) के समान आप ही इस अपार शोकसागरका पार दिखानेवाले हैं ।

अथाबभाषे भगवान्नारदो मुनिसत्तमः ॥३९॥
मा कञ्चन शुचो राजन्यदीश्वरवशं जगत् ।
लोकाः सपाला यस्येमे वहन्ति बलिमीशितुः ।
स संयुनक्ति भूतानि स एव वियुनक्ति च ॥४०॥
यथा गावो नसि प्रोतास्तन्त्यां बद्धाः स्वदामभिः ।
वाक्तन्त्यां नामभिर्बद्धा वहन्ति बलिमीशितुः ॥४१॥
यथा क्रीडोपस्कराणां संयोगविगमाविह ।
इच्छया क्रीडितुः स्यातां तथैवेशेच्छया नृणाम् ॥४२॥
यन्मन्यसे ध्रुवं लोकमध्रुवं वा न चोभयम् ।
सर्वथा हि न शोच्यास्ते स्नेहादन्यत्र मोहजात् ॥४३॥
तस्माज्जह्यङ्ग वैक्लव्यमज्ञानकृतमात्मनः ।
कथं त्वनाथाः कृपणा वर्तेरंस्ते च मां विना ॥४४॥
कालकर्मगुणाधीनो देहोऽयं पाञ्चभौतिकः ।
कथमन्यांस्तु गोपायेत्सर्पग्रस्तो यथा परम् ॥४५॥
अहस्तानि सहस्तानामपदानि चतुष्पदाम् ।

युधिष्ठिरके ये वचन सुनकर मुनिश्रेष्ठ भगवान् नारदजी बोले—"हे राजन् ! तुम किसीके लिये शोक मत करो, क्योंकि यह सम्पूर्ण जगत् उस ईश्वरके ही अधीन है जिसकी आज्ञाका ये समस्त लोक और लोकपाल पालन कर रहे हैं । जीवोंका संयोग और वियोग एकमात्र वही करता है ॥ ३९-४० ॥ जिस प्रकार नाकमें नथे हुए बैल अपनी रस्सियोंसे बँधे रहकर अपने स्वामीका भार वहन करते हैं उसी प्रकार ब्राह्मण, ब्रह्मचारी आदि वर्णाश्रमरूप नामोंके द्वारा वेदरूप डोरीमें बँधे हुए जीव ईश्वरकी आज्ञाका ही अनुसरण करते हैं ॥ ४१ ॥ जैसे इस लोकमें खेलनेवाले बालककी इच्छासे खिलौनोंके संयोग-वियोग होते हैं वैसे ही ईश्वरकी इच्छासे मनुष्योंके संयोग-वियोग हुआ करते हैं ॥ ४२ ॥ यदि इस लोकको जीवरूपसे अविनाशी, देहरूपसे नाशवान् अथवा ब्रह्मरूपसे [नाशवान्-अविनाशी] दोनों भावोंसे रहित मानते हो, तो इनमेंसे किसी दृष्टिसे भी वे चाचा-चाची आदि शोचनीय नहीं हैं । केवल मोहजन्य स्नेहसे ही तुम उनका शोक कर रहे हो ॥ ४३ ॥ अतः हे प्रिय ! इस अज्ञानकृत व्याकुलताको छोड़ो कि हमारे असहाय और दीन-दुखी चाचा-चाची वनमें कैसे रहेंगे ॥ ४४ ॥ यह पाञ्चभौतिक शरीर काल, कर्म और गुणोंके अधीन है; यह दूसरोंकी रक्षा कैसे कर सकता है ? जो स्वयं ही सर्पके मुखमें पड़ा हुआ है वह दूसरोंकी रक्षा कैसे करेगा ? ॥ ४५ ॥ देखो, हाथवालोंके बिना हाथवाले, चौपायोंके बिना पैरवाले (तृणादि) और बड़े जीवोंके छोटे जीव भक्ष्य हैं ।

फल्गूनि तत्र महतां जीवो जीवस्य जीवनम् ॥४६॥
तदिदं भगवान्राजन्नेक आत्मात्मनां स्वदृक् ।
अन्तरोऽनन्तरो भाति पश्य तं माययोरुधा ॥४७॥
सोऽयमद्य महाराज भगवान्भूतभावनः ।
कालरूपोऽवतीर्णोऽस्यामभावाय सुरद्विषाम् ॥४८॥
निष्पादितं देवकृत्यमवशेषं प्रतीक्षते ।
तावद्यूयमवेक्षध्वं भवेद्यावदिहेश्वरः ॥४९॥
धृतराष्ट्रः सह भ्रात्रा गान्धार्या च स्वभार्यया[1] ।
दक्षिणेन हिमवत ऋषीणामाश्रमं गतः[2] ॥५०॥
स्रोतोभिः सप्तभिर्या वै स्वर्धुनी सप्तधा व्यधात्[3] ।
सप्तानां प्रीतये नाना सप्तस्रोतः[4] प्रचक्षते ॥५१॥
स्नात्वानुसवनं तस्मिन्हुत्वा चाग्नीन्यथाविधि ।
अब्भक्ष उपशान्तात्मा स आस्ते विगतैषणः ॥५२॥
जितासनो जितश्वासः प्रत्याहृतषडिन्द्रियः ।
हरिभावनया ध्वस्तरजःसत्त्वतमोमलः ॥५३॥
विज्ञानात्मनि संयोज्य क्षेत्रज्ञे प्रविलाप्य तम् ।
ब्रह्मण्यात्मानमाधारे घटाम्बरमिवाम्बरे ॥५४॥
ध्वस्तमायागुणोदर्को निरुद्धकरणाशयः ।
निवर्तिताखिलाहार आस्ते स्थाणुरिवाचलः ।
तस्यान्तरायो मैवाभूः संन्यस्ताखिलकर्मणः ॥५५॥

इस प्रकार संसारमें एक जीव दूसरे जीवके जीवनका कारण बना हुआ है [अर्थात् सभी मृत्युग्रस्त हो रहे हैं] ॥ ४६ ॥ किन्तु, हे राजन् ! इन समस्त जीवोंके बाहर और भीतर वह एकमात्र स्वयंप्रकाश भगवान् ही, जो सम्पूर्ण आत्माओंका आत्मा है मायावश नाना रूपसे प्रकाशित हो रहा है । तुम इन सबमें उसीका दर्शन करो ॥ ४७ ॥ हे महाराज ! वही भूतभावन भगवान् इस समय देव-द्रोहियोंका अन्त करनेके लिये कालरूपसे धराधाममें अवतीर्ण हुए हैं ॥ ४८ ॥ अब वे देवताओंका कार्य तो कर चुके हैं, किन्तु उन्हें जो कुछ और करना है उसका अवसर देख रहे हैं । अतः तुम भी, जबतक भगवान् इस भूमण्डलमें विराजमान हैं, तभीतक और प्रतीक्षा करो ॥ ४९ ॥ राजा धृतराष्ट्र भाई विदुर और महारानी गान्धारीके सहित हिमालय-के दक्षिणभागमें स्थित ऋषियोंके आश्रममें गये हैं, जहाँ कि सात ऋषियोंकी प्रसन्नताके लिये श्रीभागीरथी सात धाराओंमें बहती हैं, अतः जो सप्तस्रोत कहलाता है ॥ ५०-५१ ॥ वहाँ वे त्रिकाल स्नानकर विधिपूर्वक अग्निहोत्र करते हैं और केवल जल पीकर सब प्रकार-की कामनाओंसे रहित हो शान्तचित्तसे रहते हैं ॥५२॥ उन्होंने आसन और प्राणको जीतकर मनसहित छहों इन्द्रियोंका दमन किया है तथा श्रीहरिका निरन्तर स्मरण करनेसे उनका सत्त्व-रज-तमरूप मल नष्ट हो गया है ॥ ५३ ॥ अपने अहङ्कारको बुद्धिके साथ जोड़कर उसे उन्होंने क्षेत्रज्ञ (साक्षी चेतन) में लीन किया है और फिर उस साक्षी चेतनकी उसके आधार शुद्धब्रह्मके साथ इस प्रकार एकता कर दी है जैसे [घटरूप उपाधिको नष्ट करके] घटाकाश महाकाशरूप कर दिया जाता है ॥५४॥ इस प्रकार उन्होंने मायिक गुणोंकी वासनाको शान्त कर दिया है और इन्द्रियों तथा मनको अपने अधीन कर सम्पूर्ण भोगोंको त्याग दिया है, अतः इस समय वे शुष्कवृक्षके समान निश्चलभावसे स्थित हैं [अब तुम उन्हें लौटा लानेके विचारसे वहाँ जाकर] उन सर्वकर्मसंन्यासीके मार्गमें रोड़े न अटकाओ ॥५५॥

१. प्रा० पा०—सुभार्यया । २. प्रा० पा०—दक्षिणे हिमवत्पार्श्वे । ३. प्रा० पा०—सप्तधाभवत् । ४. प्रा० पा०—सप्तस्रोताः ।

स वा अद्यतनाद्राजन्परतः पञ्चमेऽहनि ।
कलेवरं हास्यति स्वं तच्च भस्मीभविष्यति ॥५६॥
दह्यमानेऽग्निभिर्देहे पत्युः पत्नी सहोटजे ।
बहिः स्थिता पतिं साध्वी तमग्निमनुवेक्ष्यति ॥५७॥
विदुरस्तु तदाश्चर्यं निशाम्य कुरुनन्दन ।
हर्षशोकयुतस्तस्माद्गन्ता तीर्थनिषेवकः ॥५८॥
इत्युक्त्वार्थारुहत्स्वर्गं नारदः सहतुम्बुरुः ।
युधिष्ठिरो वचस्तस्य हृदि कृत्वाजहाच्छुचः ॥५९॥

हे राजन् ! आजसे पाँचवें दिन वे शरीर छोड़ देंगे और वह जलकर भस्म हो जायगा । ॥ ५६ ॥ पर्णकुटीसहित अपने पतिके देहको गार्हपत्यादि अग्नियोंद्वारा जलते देख बाहर खड़ी हुई साध्वी गान्धारी भी उसीमें प्रविष्ट हो जायगी ॥५७॥ हे कुरुनन्दन ! यह आश्चर्य देखकर विदुरजी हर्ष और शोकयुक्त होकर* वहाँसे तीर्थयात्राके लिये चले जायँगे ॥५८॥

ऐसा कहकर नारदजी तुम्बुरु मुनिके सहित स्वर्गलोकको चले गये । तथा युधिष्ठिरने भी उनका उपदेश हृदयमें धारणकर अपना शोक छोड़ दिया ॥५९॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे प्रथमस्कन्धे
त्रयोदशोऽध्यायः ॥१३॥

चौदहवाँ अध्याय

महाराज युधिष्ठिरका अपशकुन देखना और अर्जुनका द्वारकासे लौटना ।

सूत उवाच

संप्रस्थिते द्वारकायां जिष्णौ बन्धुदिदृक्षया ।
ज्ञातुं च पुण्यश्लोकस्य कृष्णस्य च विचेष्टितम् ॥ १ ॥
व्यतीताः कतिचिन्मासास्तदा नायात्ततोऽर्जुनः ।
ददर्श घोररूपाणि निमित्तानि कुरूद्वहः ॥ २ ॥
कालस्य च गतिं रौद्रां विपर्यस्तर्तुधर्मिणः ।
पापीयसीं नृणां वार्तां क्रोधलोभानृतात्मनाम् ॥ ३ ॥
जिह्मप्रायं व्यवहृतं शाठ्यमिश्रं च सौहृदम् ।
पितृमातृसुहृद्भ्रातृदम्पतीनां च कल्कनम् ॥ ४ ॥
निमित्तान्यत्यरिष्टानि काले त्वनुगते नृणाम् ।

सूतजी बोले—अपने बन्धुजनोंसे मिलने और 'पुण्यकीर्ति भगवान् कृष्ण अब क्या करना चाहते हैं' यह देखनेके लिये द्वारकापुरीमें गये हुए अर्जुनको कई महीने बीत गये किन्तु वे तब भी वहाँसे न लौटे। इस समय महाराज युधिष्ठिरने बड़े भयंकर अपशकुन देखे ॥१-२॥ उन्होंने देखा, जिसमें ऋतुओंके [पुष्पोद्गम आदि] धर्म विपरीत हो गये हैं, ऐसे इस कालकी गति बड़ी विकट हो रही है। लोग क्रोधी, लोभी और असत्यपरायण हो चले हैं तथा अपना पेट पालनेके लिये उन्होंने पापमयी जीविकाओंको ग्रहण कर लिया है॥३॥ आपसका व्यवहार कुटिलतापूर्ण हो गया है, मित्रतामें छल मिला रहता है और माता-पिता, सुहृद्, भाई तथा पति-पत्नियोंमें परस्पर कलह रहता है ॥४॥ इस प्रकार सम्पूर्ण दोषोंका सहायक कलिकाल आ जानेके कारण अत्यन्त अरिष्ट-

१. प्रा० पा०—इत्युक्त्वा चारुहत् । २. प्रा० पा०—प्राचीन प्रतिमें इसके पहले 'पारीक्षिते' इतना अधिक पाठ है । यह पाठान्तर सुन्दर है । ४. प्रा० पा०—पाण्डुसुतो नृपः ।
३. प्रा० पा०—ज्ञातुं मायामनुष्यस्य वासुदेवस्य चेष्टितम् ।
५. प्रा० पा०—भृगूद्वह । ६. प्रा० पा०—धर्मणः ।
* विदुरजीको भाईके मुक्तिलाभसे हर्ष और वियोग होनेसे शोक हुआ ।

लोभाद्यधर्मप्रकृतिं दृष्ट्वोवाचानुजं नृपः ॥ ५ ॥

सूचक अपशकुन और लोगोंकी लोभादि अधर्ममयी प्रकृति देखकर महाराज युधिष्ठिरने भाई भीमसे कहा ॥५॥

युधिष्ठिर उवाच

संप्रेषितो द्वारकायां जिष्णुर्बन्धुदिदृक्षया ।
ज्ञातुं च पुण्यश्लोकस्य कृष्णस्य च विचेष्टितम् ॥ ६ ॥
गताः सप्ताधुना मासा भीमसेन तवानुजः ।
नायाति कस्य वा हेतोर्नाहं वेदेदमञ्जसा ॥ ७ ॥
अपि देवर्षिणादिष्टः स कालोऽयमुपस्थितः ।
यदात्मनोऽङ्गमाक्रीडं भगवानुत्सिसृक्षति ॥ ८ ॥
यस्मान्नः सम्पदो राज्यं दाराः प्राणाः कुलं प्रजाः ।
आसन्सपत्नविजयो लोकाश्च यदनुग्रहात् ॥ ९ ॥
पश्योत्पातान्नरव्याघ्र दिव्यान्भौमान्सदैहिकान् ।
दारुणान्[1] शंसतोऽदूराद्भयं नो[2] बुद्धिमोहनम् ॥१०॥
ऊर्वक्षिबाहवो मह्यं स्फुरन्त्यङ्गं पुनः पुनः ।
वेपथुश्चापि हृदय आराद्दास्यन्ति विप्रियम् ॥११॥
शिवैषोद्यन्तमादित्यमभिरौत्यनलानना[3] ।
मामङ्ग[4] सारमेयोऽयमभिरौति ह्यभीरुवत्[5] ॥१२॥
शस्ताः कुर्वन्ति मां सव्यं दक्षिणं पशवोऽपरे ।
वाहांश्च पुरुषव्याघ्र लक्षये रुदतो मम ॥१३॥
मृत्युदूतः कपोतोऽयमुलूकः कम्पयन्मनः ।
प्रत्युलूकश्च कुह्वानैरनिद्रौ[6] शून्यमिच्छतः ॥१४॥

युधिष्ठिर बोले—भीमसेन ! देखो, हमने बन्धु-बान्धवोंके देखने और 'पुण्यकीर्ति भगवान् कृष्ण क्या करना चाहते हैं' यह जाननेके लिये अर्जुनको द्वारका भेजा था। अबतक सात महीने बीत गये परन्तु तुम्हारे अनुज अर्जुन नहीं लौटे, इसका कारण क्या हो सकता है यह मेरी समझमें कुछ नहीं आ रहा है ॥६-७॥ क्या जैसा देवर्षि नारदजी कहते थे, यह वही समय तो नहीं आ गया जिसमें कि भगवान् अपना लीलाविग्रह त्यागना चाहते हैं ॥ ८ ॥ जिन भगवान्‌की कृपासे कि हमें ये धन, राज्य, स्त्री, प्राण, कुल, प्रजा और शत्रु-विजय प्राप्त हुए हैं तथा [जिनकी सहायतासे यज्ञादि पुण्यकर्म करनेसे] हमारे ये लोक और परलोक भी बन गये हैं ॥९॥ हे पुरुषसिंह ! इन महाभयंकर आधिदैविक, आधिभौतिक और आध्यात्मिक उत्पातोंको तो देखो जो निकट भविष्यमें आनेवाले किसी ऐसे भयकी सूचना दे रहे हैं, जो कि हमारी बुद्धिको मोहित करनेवाला होगा ॥१०॥ हे प्रिय ! मेरी बायीं जंघा, आँख और भुजा बार-बार फड़क उठती हैं तथा मेरे हृदयमें कम्प होता है । जान पड़ता है, ये लक्षण शीघ्र ही कोई अनिष्ट उपस्थित करेंगे ॥११॥ देखो, यह सियारिन उदय होते हुए सूर्यकी ओर मुख करके रो रही है और मुँहसे आग उगल रही है, इधर यह कुत्ता बिल्कुल निर्भय-सा मेरी ओर देखकर जोर-जोरसे भूँक रहा है ॥ १२ ॥ गौ आदि प्रशस्त पशु मेरी बायीं ओर होकर निकलते हैं और निन्द्य पशु दाहिनी ओरसे जाते हैं। हे पुरुषसिंह ! मैं देखता हूँ मेरे घोड़े आदि वाहन रोया करते हैं ॥१३॥ मृत्युका दूत कबूतर तथा उल्लू और उसके सामने शब्द करनेवाला दूसरा उलूक ये अपने कठोर शब्दसे मेरा हृदय कँपाते हैं; इन दोनोंको कभी नींद नहीं आती, ये विश्वको शून्य करना चाहते हैं ॥ १४ ॥

१. प्रा० पा०—घोरमाशंसतो । २. प्रा० पा०—मे । ३. प्रा० पा०—मरुणमभि० । ४. प्रा० पा०—ममाग्रे । यह पाठ सुन्दर है । ५. प्रा० पा०—भीत० । ६. प्रा० पा०—कुह्वानो रौद्रोऽसौ शून्यमिच्छति ।

धूम्रा दिशः[1] परिधयः कम्पते भूः सहाद्रिभिः ।
निर्घातश्च[2] महांस्तात साकं च स्तनयित्नुभिः ॥१५॥
वायुर्वाति खरस्पर्शो रजसा विसृजंस्तमः ।
असृग्वर्षन्ति जलदा बीभत्समिव सर्वतः ॥१६॥
सूर्यं हतप्रभं पश्य ग्रहमर्दं मिथो दिवि ।
ससंकुलैर्भूतगणैर्ज्वलिते इव रोदसी ॥१७॥
नद्यो नदाश्च क्षुभिताः सरांसि च मनांसि च ।
न ज्वलत्यग्निराज्येन कालोऽयं किं विधास्यति ॥१८॥
न पिबन्ति स्तनं वत्सा न दुह्यन्ति च मातरः ।
रुदन्त्यश्रुमुखा गावो न हृष्यन्त्यृषभा व्रजे ॥१९॥
दैवतानि रुदन्तीव स्विद्यन्ति ह्युच्चलन्ति च ।
इमे जनपदा ग्रामाः पुरोद्यानाकराश्रमाः ।
भ्रष्टश्रियो निरानन्दाः किमघं दर्शयन्ति नः ॥२०॥
मन्य एतैर्महोत्पातैर्नूनं भगवतः पदैः ।
अनन्यपुरुषश्रीभिर्हीना भूर्हतसौभगा ॥२१॥
इति चिन्तयतस्तस्य दृष्टारिष्टेन चेतसा ।
राज्ञः प्रत्यागमद्ब्रह्मन्यदुपुर्याः कपिध्वजः ॥२२॥
तं पादयोर्निपतितमयथापूर्वमातुरम् ।
अधोवदनमब्बिन्दून्मुञ्चन्तं[3] नयनाब्जयोः ॥२३॥
विलोक्योद्विग्नहृदयो विच्छायमनुजं नृपः ।
पृच्छति स्म सुहृन्मध्ये संस्मरन्नारदेरितम् ॥२४॥

युधिष्ठिर उवाच

कच्चिदानर्तपुर्यां नः स्वजनाः सुखमासते ।
मधुभोजदशार्हार्हसात्वतान्धकवृष्णयः[4] ॥२५॥

दिशाएँ धूम्रवर्ण हो गयी हैं। सूर्य और चन्द्रमाके चारों ओर मण्डल दीखते रहते हैं, पर्वतोंके सहित पृथिवी काँपती है और हे तात! भयंकर मेघगर्जनके सहित जहाँ-तहाँ बिजली गिरा करती है ॥१५॥ धूलिवर्षासे अन्धकार करती हुई स्पर्श करनेमें कठोर वायु चलती है और चारों तरफ मेघगण बीभत्स दृश्य उपस्थित करते हुए लोहूकी वर्षा करते हैं।१६। देखो सूर्य तेजोहीन हो गया है, आकाशमें ग्रहगण परस्पर टकराया करते हैं तथा भूत-प्रेतादिसे परिपूर्ण पृथिवी और अन्तरिक्षमें दाह-सा हो रहा है ॥१७॥ नदी, नद और सरोवर क्षुब्ध हो रहे हैं तथा लोगोंके मनोंमें भी घबराहट हो रही है। घृतकी आहुति पड़नेपर भी अग्नि प्रज्वलित नहीं होता। न जाने यह काल क्या करनेवाला है ॥१८॥ बछड़े दूध नहीं पीते, गौएँ दुहने नहीं देतीं, पशुशालामें गौएँ आँसू बहाती हुई रोती हैं और गोष्ठमें बैल भी प्रसन्न नहीं रहते ॥१९॥ देवमूर्तियाँ मानो रोती हैं। उन्हें पसीना आता है और वे हिलती-डुलती भी मालूम होती हैं। भाई! ये देश, ग्राम, पुर, बगीचे, खानें और आश्रम श्रीहीन और आनन्दरहित हो गये हैं, इसलिये आगे न जाने कौन-सा दुःख हमें दिखावेंगे ॥२०॥ इन महान् उत्पातोंसे मुझे ऐसा मालूम होता है कि अवश्य ही जिनकी वज्रांकुशादिविशिष्ट शोभा किसी अन्य पुरुषमें नहीं मिलती उन भगवच्चरणोंसे रहित होकर पृथिवी सौभाग्यहीन हो गयी है ॥२१॥

हे ब्रह्मन्! जिस समय महाराज युधिष्ठिर उन भयंकर उत्पातोंको देखकर मन-ही-मन इस प्रकार चिन्ता कर रहे थे उसी समय अर्जुन द्वारकासे आये।२२। उन्हें अभूतपूर्व आतुरतासे युक्त मुख नीचा कर नेत्र-कमलोंसे आँसू बहाते हुए अपने चरणोंमें गिरे देख युधिष्ठिरने चित्तमें घबराकर नारदजीकी बातोंको स्मरण करते हुए सब बन्धु-बान्धवोंके सामने कान्तिहीन छोटे भाई अर्जुनसे पूछा ॥२३-२४॥

युधिष्ठिर बोले--भाई! हमारे बन्धु मधु, भोज, दशार्ह, अर्ह, सात्वत, अन्धक और वृष्णिवंशी यादव-गण तो अपनी राजधानी द्वारकामें कुशलसे हैं न? ॥२५॥

१. प्रा० पा०—दीप्ताः। २. प्रा० पा०—तः सुमहां०। ३. प्रा० पा०—सृजन्तं। ४. प्रा० पा०—दशार्हास्ते कुकुरान्धक०।

शूरो मातामहः कच्चित्स्वस्त्यास्ते वाथ मारिषः ।
मातुलः सानुजः कच्चित्कुशल्यानकदुन्दुभिः ॥२६॥
सप्त स्वसारस्तत्पत्न्यो मातुलान्यः सहात्मजाः ।
आसते सस्नुषाः क्षेमं देवकीप्रमुखाः स्वयम् ॥२७॥
कच्चिद्राजाहुको जीवत्यसत्पुत्रोऽस्य चानुजः ।
हृदीकः ससुतोऽक्रूरो जयन्तगदसारणाः ॥२८॥
आसते कुशलं कच्चिद्ये च शत्रुजिदादयः ।
कच्चिदास्ते सुखं रामो भगवान्सात्वतां प्रभुः ॥२९॥
प्रद्युम्नः सर्ववृष्णीनां सुखमास्ते महारथः ।
गम्भीररयोऽनिरुद्धो वर्धते भगवानुत ॥३०॥
सुषेणश्चारुदेष्णश्च साम्बो जाम्बवतीसुतः ।
अन्ये च कार्ष्णिप्रवराः सपुत्रा ऋषभादयः ॥३१॥
तथैवानुचराः शौरेः श्रुतदेवोद्धवादयः ।
सुनन्दनन्दशीर्षण्या ये चान्ये सात्वतर्षभाः ॥३२॥
अपि स्वस्त्यासते सर्वे रामकृष्णभुजाश्रयाः ।
अपि स्मरन्ति कुशलमस्माकं बद्धसौहृदाः ॥३३॥
भगवानपि गोविन्दो ब्रह्मण्यो भक्तवत्सलः ।
कच्चित्पुरे सुधर्मायां सुखमास्ते सुहृद्वृतः ॥३४॥
मङ्गलाय च[1] लोकानां क्षेमाय च भवाय च ।
आस्ते यदुकुलाम्भोधावाद्योऽनन्तसखः पुमान् ॥३५॥
यद्बाहुदण्ड[2]गुप्तायां स्वपुर्यां यदवोऽर्चिताः[3] ।
क्रीडन्ति परमानन्दं महापौरुषिका इव ॥३६॥

यत्पादशुश्रूषणमुख्यकर्मणा
सत्यादयो द्व्यष्टसहस्रयोषितः ।
निर्जित्य संख्ये त्रिदशांस्तदाशिषो
हरन्ति वज्रायुधवल्लभोचिताः ॥३७॥
यद्बाहुदण्डाभ्युदयानुजीविनो
यदुप्रवीरा ह्यकुतोभया मुहुः ।
अधिक्रमन्त्यङ्घ्रिभिराहृतां बलात्
सभां सुधर्मां सुरसत्तमोचिताम् ॥३८॥

हमारे माननीय नाना शूरसेनजी प्रसन्न हैं ? तथा अपने छोटे भाईसहित मामा वसुदेवजी तो अच्छी तरह हैं ? ॥२६॥ उनकी पत्नियाँ हमारी मामी देवकी आदि सातों बहनें तो अपने पुत्रों और बहुओंसहित आनन्दपूर्वक हैं ? ॥२७॥ जिनका पुत्र कंस अत्यन्त दुष्ट था वे राजा उग्रसेन क्या अपने छोटे भाई देवकसमेत जीवित हैं ? हृदीक, उनके पुत्र कृतवर्मा, अक्रूर, जयन्त, गद, सारण तथा शत्रुजित् आदि यादव वीर तो कुशलसे हैं न ? यादवोंके प्रभु भगवान् बलभद्रजी तो आनन्दमें हैं ? ॥ २८-२९ ॥ वृष्णिवंशियोंमें सर्वश्रेष्ठ महारथी प्रद्युम्नजी प्रसन्न हैं ? गम्भीर वेगवाले भगवान् अनिरुद्धजी तो सुखी हैं न ? ॥३०॥ इनके सिवा सुषेण, चारुदेष्ण, जाम्बवतीकुमार साम्ब और अपने पुत्रोंके सहित ऋषभ आदि कृष्णचन्द्रके अन्य पुत्र प्रसन्न हैं ? भगवान्के सेवक श्रुतदेव और उद्धव आदि एवं सुनन्द, नन्द आदि अन्य प्रमुख यादवगण जो भगवान् राम और कृष्णकी भुजाओंके आश्रित हैं वे कुशलसे हैं ? और जिनका हमारे प्रति अत्यन्त सौहार्द है वे यादवगण क्या कभी हमारा कुशल पूछते हैं ? ॥ ३१–३३ ॥ अपने सम्बन्धियोंसे सुशोभित ब्राह्मणभक्त भक्तवत्सल भगवान् श्रीकृष्ण भी क्या द्वारकापुरीमें सुधर्मा सभामें सुखपूर्वक विराजमान हैं ? ॥३४॥ वे आदि पुरुष इस समय संसारके मंगल, रक्षा और उन्नतिके लिये श्रीअनन्त (बलदेवजी) के सहित यदुकुलरूप क्षीरसागरमें विराजमान हैं ? ॥ ३५ ॥ जिनके भुजदण्डसे सुरक्षित द्वारकापुरीमें लोकसम्मानित यादवगण अति आनन्दपूर्वक विष्णुपार्षदोंके समान क्रीडा करते हैं ॥३६॥ जिनके चरणकमलोंकी सेवासे सत्यभामा आदि सोलह सहस्र रानियाँ युद्धमें देवताओंको उनके द्वारा परास्तकर इन्द्राणीके भोगयोग्य उनके पारिजात आदि भोगोंका उपभोग करती हैं ॥३७॥ तथा जिनके बाहुबलसे सुरक्षित यादववीर बलपूर्वक लायी हुई सुधर्मा सभामें, जो कि केवल देवताओंके ही बैठने योग्य है, निर्भयतापूर्वक सदा चरण रखते हैं ॥ ३८ ॥

१. प्रा० पा०—हि । २. प्रा० पा०—दण्डैर्गु० । ३. प्रा० पा०—यदवोऽजिताः । यहाँ 'अजिताः' पाठ ही सुसंगत है ।

कच्चित्तेऽनामयं तात भ्रष्टतेजा विभासि मे ।
अलब्धमानोऽवज्ञातः किं वा तात चिरोषितः ॥३९॥
कच्चिन्नाभिहतोऽभावैः शब्दादिभिरमङ्गलैः ।
न दत्तमुक्तमर्थिभ्य आशया यत्प्रतिश्रुतम् ॥४०॥
कच्चित्त्वं ब्राह्मणं बालं गां वृद्धं रोगिणं स्त्रियम् ।
शरणोपसृतं सत्त्वं नात्याक्षीः शरणप्रदः ॥४१॥
कच्चित्त्वं नागमोऽगम्यां गम्यां वासत्कृतां स्त्रियम् ।
पराजितो वाथ भवान्नोत्तमैर्नासमैः पथि ॥४२॥
अपि स्वित्पर्यभुङ्क्थास्त्वं संभोज्यान्वृद्धबालकान् ।
जुगुप्सितं कर्म किञ्चित्कृतवान्न यदक्षमम् ॥४३॥
कच्चित्प्रेष्ठतमेनाथ हृदयेनात्मबन्धुना ।
शून्योऽस्मि रहितो नित्यं मन्यसे तेऽन्यथा न रुक् ॥४४॥

भाई ! तुम तो कुशलसे हो ? तुम मुझे तेजोहीन-से दिखलायी देते हो; बहुत दिन रहनेके कारण क्या द्वारकामें तुम्हारा कुछ मान नहीं हुआ अथवा किसीने अपमान किया है ? ॥३९॥ किसीने दुर्भावयुक्त अमङ्गलमय दुर्वचनोंसे तुम्हारा चित्त तो नहीं दुखाया ? अथवा आशासे आये हुए याचकोंको उनके माँगनेपर कुछ देना स्वीकार करके फिर नहीं दे सके ? ॥४०॥ तुमने अपनी शरणमें आये हुए किसी ब्राह्मण, बालक, गौ, वृद्ध, रोगी, स्त्री या किसी अन्य प्राणीको तो नहीं त्याग दिया, क्योंकि पहले उन्हें तुम सदा शरण देते रहे हो ॥४१॥ तुमने किसी अगम्या स्त्रीके पास गमन तो नहीं किया अथवा गम्या स्त्रीके साथ असत्कार-पूर्वक तो सहवास नहीं किया । अथवा अपनेसे हीन या समान बलवाले पुरुषोंसे तुम मार्गमें पराजित तो नहीं हो गये ? ॥४२॥ अथवा भोजन कराने योग्य वृद्ध और बालकोंको छोड़कर तुमने अकेले ही तो भोजन नहीं किया । या तुमने ऐसा कोई निन्द्य कार्य तो नहीं किया है जो तुम्हारे योग्य नहीं था ॥४३॥ अथवा अपने परम प्रिय अभिन्नहृदय सुहृद् श्रीकृष्णसे रहित होकर अपनेको सदाके लिये शून्य मानते हो; इसके सिवा तुम्हारे शोकका कोई अन्य कारण नहीं दीखता ॥४४॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे प्रथमस्कन्धे युधिष्ठिर-वितर्को नाम चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

पन्द्रहवाँ अध्याय

कृष्णविरहव्यथित पाण्डवोंका परीक्षित्को राज्य देकर स्वर्ग सिधारना ।

सूत उवाच

एवं कृष्णसखः कृष्णो भ्रात्रा राज्ञा विकल्पितः ।
नानाशङ्कास्पदं रूपं कृष्णविश्लेषकर्शितः ॥ १ ॥
शोकेन शुष्यद्वदनहृत्सरोजो हतप्रभः ।
विभुं तमेवानुध्यायन्नाशक्नोत्प्रतिभाषितुम् ॥ २ ॥

सूतजी बोले—कृष्णसखा अर्जुन पहले ही कृष्ण-वियोगसे दुर्बल हो गये थे, इसपर भी उनके भाई युधिष्ठिरने ऐसे नाना शंकापूर्ण प्रश्न किये ॥१॥ इससे शोकवश उनका मुख और हृदयकमल सूख गया तथा कान्तिहीन हो वे उन्हीं सर्वव्यापक हरिका ध्यान करते रह गये, कुछ उत्तर

१. प्रा० पा०—रुदन्तं । २. प्रा० पा०—शरण्यो० । ३. प्राचीन प्रतिमें 'बालवृद्धकान् ।' इसके बाद यह श्लोकार्ध अधिक है—'उपेक्ष्यातिथिभृत्यांश्च गर्भिण्यातुरकन्यकाः ।' ४. प्रा० पा०—कृतं वा यद् । ५. प्रा० पा०—पारिक्षितोपाख्याने युधिष्ठिरारिष्टदर्शनं चतु० । ६. प्रा० पा०—न शशाकास्य गदितुम् ।

कृच्छ्रेण संस्तभ्य शुचः पाणिनामृज्य नेत्रयोः ।
परोक्षेण समुन्नद्धप्रणयौत्कण्ठ्यकातरः ॥ ३ ॥
सख्यं मैत्रीं सौहृदं च सारथ्यादिषु संस्मरन् ।
नृपमग्रजमित्याह बाष्पगद्गदया गिरा ॥ ४ ॥

अर्जुन उवाच

वञ्चितोऽहं महाराज हरिणा बन्धुरूपिणा ।
येन मेऽपहृतं तेजो देवविस्मापनं महत् ॥ ५ ॥
यस्य क्षणवियोगेन लोको ह्यप्रियदर्शनः ।
उत्थेन रहितो ह्येष मृतकः प्रोच्यते यथा ॥ ६ ॥
यत्संश्रयाद्द्रुपदगेहमुपागतानां
राज्ञां स्वयंवरमुखे स्मरदुर्मदानाम् ।
तेजो हृतं खलु मयाभिहतश्च मत्स्यः
सज्ञीकृतेन धनुषाधिगता च कृष्णा ॥७॥
यत्संनिधावहमु खाण्डवमग्नयेऽदा-
मिन्द्रं च सामरगणं तरसा विजित्य ।
लब्धा सभा मयकृताद्भुतशिल्पमाया
दिग्भ्योऽहरन्नृपतयो बलिमध्वरे ते ॥ ८ ॥
यत्तेजसा नृपशिरोऽङ्घ्रिमहन्मखार्थे
आर्योऽनुजस्तव गजायुतसत्त्ववीर्यः ।
तेनाहृताः प्रमथनाथमखाय भूपा
यन्मोचितास्तदनयन्बलिमध्वरे ते ॥ ९ ॥
पत्न्यास्तवाधिमखक्लृप्तमहाभिषेक-
श्लाघिष्ठचारुकबरं कितवैः सभायाम् ।
स्पृष्टं विकीर्य पदयोः पतिताश्रुमुख्या
यस्तत्स्त्रियोऽकृत हतेशविमुक्तकेशाः ॥१०॥

नहीं दे सके ॥ २ ॥ फिर बड़ी कठिनतासे शोकके आँसुओंको रोककर और आँखोंको हाथोंसे पोंछकर भगवान् कृष्णके परोक्ष हो जानेके कारण बढ़ी हुई प्रेमोत्कण्ठासे कातर होकर वे सारथ्यादि कर्मोंमें उनके सख्य, मैत्री और सौहार्दका स्मरण करते हुए अपने बड़े भाई राजा युधिष्ठिरसे इस प्रकार गद्गद वाणीसे बोले ॥ ३-४ ॥

अर्जुन बोले—महाराज ! मुझे बन्धुरूप श्रीहरिने ठग लिया । मेरे जिस महान् तेजको देखकर देवता भी विस्मित होते थे उसे भी उन्होंने हर लिया ॥ ५ ॥ जिनके एक क्षणके वियोगसे भी यह संसार ऐसा अप्रिय दीखने लगता है जैसे प्राणके बिना मृतक शरीर ॥ ६ ॥ जिसके आश्रयसे मैंने महाराज द्रुपदके यहाँ स्वयंवरमें एकत्रित हुए कामोन्मत्त राजाओं-का प्रभाव क्षीण कर दिया तथा धनुष चढ़ाकर मत्स्य बेधा और द्रौपदीको प्राप्त किया ॥ ७ ॥ अहो ! जिनकी सन्निधिसे मैंने अग्निदेवको खाण्डववन जलानेके लिये दे दिया और बड़े वेगसे देवताओंसहित इन्द्रको जीतकर मयदानवकी बनायी हुई अद्भुत शिल्पकला-विशिष्ट सभा प्राप्त की जिसमें समस्त दिशाओंसे आये हुए राजाओंने आपको [यज्ञमें] भेंटें दीं ॥ ८ ॥ जिनके प्रभावसे दशसहस्र हाथियोंके बलवाले आपके अनुज आर्य भीमसेनने, जिस जरासन्धके पादपीठपर राजालोग शिर रखते थे, उसका वध किया तथा उसके द्वारा भैरवयज्ञमें बलि दिये जानेके लिये बन्दी बनाये हुए राजालोग जिनके द्वारा बन्धन-मुक्त होकर आपके यज्ञमें भेंट ले आये ॥ ९ ॥ राजन् ! राजसूय यज्ञके समय महाभिषेकके द्वारा पवित्र की हुई आपकी स्त्री द्रौपदीकी अति सुन्दर वेणीको जब धूर्त दुर्योधनादि दुष्टोंने अपनी राजसभा-में खोलकर पकड़ा और वह [स्मरणमात्रसे वहाँ पधारे हुए] कृष्णचन्द्रके चरणोंपर आँखोंमें आँसू भरकर गिर पड़ी तो जिन भगवान्ने [उसे उस विपत्तिसे बचाकर उसके अपमानका बदला लेनेके लिये] उनकी भी स्त्रियोंको विधवा बनाकर उनके केश खोल

१. प्रा० पा०—सुसन्नद्ध० । २. प्राचीन प्रतिमें नहीं है । ३. प्रा०पा०—धनुषा विजिता । ४. प्राचीन प्रतिमें 'यत्तेजसा' से लेकर 'बलिमध्वरे ते' तक एक श्लोक नहीं है । इस श्लोकके विषयमें श्रीधरस्वामी और वल्लभाचार्यने भी अपनी अरुचि प्रकट की है ।

यो नो जुगोप वनमेत्य दुरन्तकृच्छ्राद्
दुर्वाससोऽरिविहितादयुताग्रभुग्यः ।
शाकान्नशिष्टमुपभुज्य यतस्त्रिलोकीं
तृप्ताममंस्त सलिले विनिमग्नसङ्घः ॥११॥

यत्तेजसाथ भगवान्युधि शूलपाणि-
र्विस्मापितः सगिरिजोऽस्त्रमदान्निजं मे ।
अन्येऽपि चाहममुनैव कलेवरेण
प्राप्तो महेन्द्रभवने महदासनार्धम् ॥१२॥

तत्रैव मे विहरतो भुजदण्डयुग्मं
गाण्डीवलक्षणमरातिवधाय देवाः ।
सेन्द्राः श्रिता यदनुभावितमाजमीढ
तेनाहमद्य मुषितः पुरुषेण भूम्ना ॥१३॥

यद्बान्धवः कुरुबलाब्धिमनन्तपार-
मेको रथेन ततरेऽहमतीर्यसत्त्वम् ।

दिये ॥ १० ॥ शत्रुओंके षड्यन्त्र रचनेके कारण दस हजार शिष्योंके साथ भोजन करनेवाले दुर्वासा ऋषिके द्वारा प्राप्त दुरन्त कष्टसे जिन्होंने वनमें पधारकर थोड़ा-सा बाकी रहा शाक ही खाकर हमारी रक्षा की क्योंकि [उनके ऐसा करनेसे] जलमें स्नान करते समय ही उस मुनिमण्डलीको त्रिलोकी तृप्त मालूम होने लगी [और वे फिर हमारे पास न आकर उधरसे ही चले गये]* ॥ ११ ॥ जिनके प्रतापसे मैंने युद्धमें पार्वतीसहित भगवान् शंकरको चकित कर दिया और उन्होंने मुझे अपना पाशुपत नामक अस्त्र दिया, तथा अन्य लोकपालोंने भी अपने-अपने अस्त्र दिये और जिनकी कृपासे मैंने इसी शरीरसे इन्द्रके भवनमें उनका आधा सिंहासन प्राप्त किया ॥ १२ ॥ और जब मैं वहाँ कुछ दिन रहा तो इन्द्रके सहित सम्पूर्ण देवताओंने निवातकवच आदि अपने शत्रुओंका संहार करानेके लिये मेरी गाण्डीव धनुष-लक्षित भुजाओंका, जो उन्हींकी कृपासे प्रभावयुक्त थीं, आश्रय लिया, हे अजमीढकुलनन्दन ! आज उन्हीं अपनी महिमामें स्थित परमपुरुष श्रीकृष्णने मुझे ठग लिया ॥ १३ ॥ हे राजन् ! जिन सुहृद् श्रीकृष्णकी सहायतासे मैंने रथपर चढ़कर अकेले ही अति दुस्तर और अनन्तपार

१. प्रा० पा०—गात्रः । २. प्रा० पा०—ऽस्त्रवरं ददन्मे ।

* एक बार राजा दुर्योधनने महर्षि दुर्वासाकी बड़ी सेवा की । उससे प्रसन्न होकर मुनिने दुर्योधनसे वर माँगनेको कहा । दुर्योधनने यह सोचकर कि ऋषिके शापसे पाण्डवोंको नष्ट करनेका अच्छा अवसर है, मुनिसे कहा—"ब्रह्मन् ! हमारे कुलमें युधिष्ठिर प्रधान हैं, आप अपने दशसहस्र शिष्योंसहित उनका आतिथ्य स्वीकार करें किन्तु आप उनके यहाँ उस समय जायँ जब कि द्रौपदी भोजन कर ले, जिससे उसे भूखका कष्ट न उठाना पड़े ।" द्रौपदीके पास सूर्यकी दी हुई एक ऐसी बटलोई थी जिसमें राँधा हुआ अन्न द्रौपदीके भोजन कर लेनेसे पूर्व नहीं समाप्त होता था किन्तु जब वह स्वयं भोजन कर लेती थी तो उससे अन्न नहीं मिलता था । दुर्वासाजी दुर्योधनके कथनानुसार उसके भोजन कर चुकनेपर मध्याह्नमें अपनी शिष्यमण्डलीसहित पहुँचे और कहा—"हम नदीपर स्नान करने जाते हैं, तुम भोजन तैयार रखना ।" इससे द्रौपदीको बड़ी चिन्ता हुई और उसने अति आर्त होकर आर्तबन्धु भगवान् कृष्णकी शरण ली । भगवान् तुरन्त ही अपना विलासभवन छोड़कर द्रौपदीकी झोंपड़ीपर आये और उससे कहा—"कृष्णे, आज बड़ी भूख लगी है, कुछ खानेको दो ।" द्रौपदी भगवान्की इस अनुपम दयासे गद्गद हो गयी और बोली, "प्रभो ! मेरा बड़ा भाग्य है जो आज विश्वम्भरने मुझसे भोजन माँगा परन्तु क्या करूँ ? अब तो कुटीमें कुछ भी नहीं है ।" भगवान्ने कहा, "अच्छा, वह बटलोई तो लाओ उसमें कुछ होगा ही ।" द्रौपदी बटलोई ले आयी; उसमें शाकका एक कण लगा था । भगवान्ने उसे ही खाकर त्रिलोकीको तृप्त कर दिया और भीमसेनसे कहा कि मुनिमण्डलीको भोजनके लिये बुला लाओ । किन्तु मुनिगण तो पहले ही तृप्त होकर भाग गये थे । (महाभारत)

प्रत्याहृतं बहु[1] धनं च मया परेषां
तेजास्पदं मणिमयं च हृतं शिरोभ्यः ॥१४॥
यो भीष्मकर्णगुरुशल्यचमूष्वदभ्र-
राजन्यवर्यरथमण्डलमण्डितासु ।
अग्रेचरो मम विभो रथयूथपाना-
मायुर्मनांसि च दृशा सह[3] ओज आर्च्छत् ॥१५॥
यद्दोष्षु मा प्रणिहितं गुरुभीष्मकर्ण-
द्रौणित्रिगर्तशलसैन्धवबाह्लिकाद्यैः ।
अस्त्राण्यमोघमहिमानि निरूपितानि
नो पस्पृशुर्नृहरिदासमिवासुराणि ॥१६॥
सौत्ये वृतः कुमतिनात्मद ईश्वरो मे
यत्पादपद्ममभवाय भजन्ति भव्याः ।
मां श्रान्तवाहमरयो रथिनो भुविष्ठं
न प्राहरन्यदनुभावनिरस्तचित्ताः ॥१७॥
नर्मा[4]ण्युदाररुचिरस्मितशोभितानि
हे पार्थ हेऽर्जुन सखे कुरुनन्दनेति ।
संजल्पितानि नरदेव हृदिस्पृशानि
स्मर्तुर्लुठन्ति हृदयं मम माधवस्य ॥१८॥
शय्यासनाटनविकत्थनभोजनादि-
ष्वैक्याद्वयस्य ऋतवानिति विप्रलब्धः ।
सख्युः सखेव पितृवत्तनयस्य सर्वं
सेहे महान्महितया कुमतेरघं मे ॥१९॥

कौरवसैन्यसमुद्रको पार किया और उन शत्रुओंका बहुत-सा धन तथा उनके शिरोंके अति तेजस्वी मणिमय मुकुट छीन लिये [आज उन्हीं कृष्णद्वारा मैं ठगा गया] ॥ १४ ॥ हे विभो ! भीष्म, कर्ण, द्रोण और शल्य आदिकी अनेक क्षत्रिय वीरोंके रथमण्डलसे मण्डित सेनाओंके सम्मुख जिन्होंने मेरे आगे रहकर अपनी दृष्टिसे उन महारथी यूथपतियोंके आयु, मन, बल और ओजका अपहरण किया था [उन्हीं माधवने आज मुझे ठग लिया] ॥ १५ ॥ जिनकी भुजाओंके आश्रित रहनेसे मुझे द्रोण, भीष्म, कर्ण, अश्वत्थामा, त्रिगर्तराज सुशर्मा, शल्य, जयद्रथ और बाह्लिक आदि वीरोंके छोड़े हुए अमोघ प्रभाववाले अस्त्रोंने स्पर्श भी नहीं किया जैसे कि नृसिंहभक्त प्रह्लादपर दैत्योंके अस्त्र-शस्त्रोंका कोई प्रभाव नहीं हुआ था, उन्हीं भक्तवत्सल हरिने मुझे ठग लिया ॥ १६ ॥ अहो ! जिन भगवान्‌के पादपद्मोंका महात्माजन मोक्षप्राप्तिके लिये ध्यान करते हैं, मुझ कुमतिने उन्हीं आत्मद त्रिलोकीनाथको अपना सारथि बनाया ! जब [जयद्रथवधके दिन] मेरे घोड़े थक गये और मैं रथसे उतरकर पृथिवीपर [जल निकालनेके लिये] खड़ा हो गया, उस समय भी जिनके प्रभावसे मुग्धचित्त हो जानेके कारण महारथी शत्रुओंने मुझपर प्रहार नहीं किया, आज उन्हीं घनश्यामके हाथों मैं छला गया ॥ १७ ॥ हे नरदेव ! प्यारे माधवकी वह उदार और मनमोहिनी मुसकानसे मिली हुई परिहासकथाएँ तथा वे हृदयहारिणी बातें, जब कि वे मुझे 'हे पार्थ ! हे अर्जुन ! हे सखे ! हे कुरुनन्दन !' कहकर पुकारा करते थे, याद आते ही मेरे चित्तको उथल-पुथल कर डालती हैं ॥ १८ ॥ मैं सोने, बैठने, घूमने, अपने सम्बन्धमें बड़ी-बड़ी बातें करने और भोजन आदिमें उनके साथ-साथ रहनेके कारण उनसे कभी-कभी व्यङ्ग्य वचनोंमें कह दिया करता था—'मित्र ! तुम तो खूब सत्यवादी हो !' उस समय मेरे व्यङ्ग्यके लक्ष्य होकर भी वे अपनी महानुभावताके कारण मुझ कुमतिके इस अपराधको इस प्रकार सहन कर लेते थे जैसे मित्र मित्रका और पिता पुत्रका अपराध

१. प्रा० पा०—पुरु । २. प्रा० पा०—कृप । ३. प्रा० पा०—सह उज्जहार । ४. प्रा० पा०—कर्मा० ।

सोऽहं नृपेन्द्र रहितः पुरुषोत्तमेन
सख्या प्रियेण सुहृदा हृदयेन शून्यः ।
अध्वन्युरुक्रमपरिग्रहमङ्ग रक्षन्
गोपैरसद्भिरबलेव विनिर्जितोऽस्मि ॥२०॥
तद्वै धनुस्त इषवः स रथो हयास्ते
सोऽहं रथी नृपतयो यत आनमन्ति ।
सर्वं क्षणेन तदभूदसदीशरिक्तं
भस्महुतं कुहकराद्धमिवोप्तमूष्याम् ॥२१॥
राजंस्त्वयाभिपृष्टानां सुहृदां नः सुहृत्पुरे ।
विप्रशापविमूढानां निघ्नतां मुष्टिभिर्मिथः ॥२२॥
वारुणीं मदिरां पीत्वा मदोन्मथितचेतसाम् ।
अजानतामिवान्योन्यं चतुःपञ्चावशेषिताः ॥२३॥
प्रायेणैतद्भगवत ईश्वरस्य विचेष्टितम् ।
मिथो निघ्नन्ति भूतानि भावयन्ति च यन्मिथः ॥२४॥
जलौकसां जले यद्वन्महान्तोऽदन्त्यणीयसः ।
दुर्बलान्बलिनो राजन्महान्तो बलिनो मिथः ॥२५॥
एवं बलिष्ठैर्यदुभिर्महद्भिरितरान्विभुः ।
यदून्यदुभिरन्योन्यं भूभारान्संजहार ह ॥२६॥
देशकालार्थयुक्तानि हृत्तापोपशमानि च ।
हरन्ति स्मरतश्चित्तं गोविन्दाभिहितानि मे ॥२७॥

सूत उवाच

एवं चिन्तयतो जिष्णोः कृष्णपादसरोरुहम् ।
सौहार्देनातिगाढेन शान्तासीद्विमला मतिः ॥२८॥
वासुदेवाङ्घ्र्यनुध्यानपरिबृंहितरंहसा ।
भक्त्या निर्मथिताशेषकषायधिषणोऽर्जुनः ॥२९॥
गीतं भगवता ज्ञानं यत्तत्संग्राममूर्धनि ।
कालकर्मतमोरुद्धं पुनरध्यगमत्प्रभुः ॥३०॥

सह लेते हैं ॥ १९ ॥ हे राजेन्द्र ! आज उन्हीं अपने प्रिय मित्र सुहृद् पुरुषोत्तमसे रहित होकर मैं ऐसा शून्यहृदय हो गया कि मार्गमें भगवान्‌की स्त्रियोंकी रक्षा करते हुए मुझे एक अबलाकी भाँति तुच्छ गोपोंने परास्त कर दिया ॥ २० ॥ वही मेरा गाण्डीव धनुष है, वे ही अमोघ बाण हैं, वही रथ है, वे ही घोड़े हैं और वही मैं रथी हूँ जिसे राजालोग शिर झुकाते थे ! किन्तु भगवान्‌के बिना वे सभी क्षणभरमें इस प्रकार सारहीन हो गये जैसे भस्ममें किया हुआ हवन, ठग स्वामीका आराधन या ऊसरमें बोया हुआ बीज निष्फल हो जाता है ॥ २१ ॥

राजन् ! आपने द्वारकाके जिन हमारे सुहृदोंके विषयमें पूछा है वे तो ब्राह्मणोंके शापसे मोहित होकर और वारुणी मदिरा पीकर ऐसे मदोन्मत्त हो गये कि एक-दूसरेको न पहचानते हुए-से आपसहीमें मुक्कोंसे लड़कर सब नष्ट हो गये । अब उनमेंसे केवल चार-पाँच ही बचे हैं ॥ २२-२३ ॥ वास्तवमें यह सब सर्वसमर्थ भगवान्‌की ही लीला है कि जो लोग एक दूसरे-का पालन करनेवाले हैं वे ही एक दूसरेको मार भी डालते हैं ॥ २४ ॥ हे राजन् ! जिस प्रकार जलचरोंमें बड़े छोटोंको, बलवान् दुर्बलोंको और बलवान् भी एक दूसरेको खा जाते हैं ॥ २५ ॥ उसी प्रकार भगवान् विभुने बलिष्ठ और महान् यादवोंसे अन्य दुर्बल और तुच्छ राजाओंको मरवाकर तथा यादवोंको भी एक दूसरेसे आपसमें ही नष्ट कराकर पृथिवीका भार पूर्ण-रूपसे उतार दिया ॥२६॥ श्रीगोविन्दकी वे देश, काल और प्रयोजनके उपयुक्त तथा हृदयके तापको शान्त करनेवाली शिक्षाएँ याद आते ही मेरा मन हर लेती हैं ॥ २७ ॥

सूतजी बोले—इस प्रकार भगवान् कृष्णके चरण-कमलोंका अत्यन्त गाढ़ प्रेमसे स्मरण करते-करते अर्जुन-की बुद्धि निर्मल और शान्त हो गयी ॥ २८ ॥ श्रीवासुदेवके चरणोंका ध्यान करनेसे बढ़े हुए भक्तिके वेगसे अर्जुनकी बुद्धिके काम-क्रोधादि सम्पूर्ण दोष नष्ट हो गये और उन्हें काल-कर्मजन्य तमोगुणसे विस्मृत हुआ वह ज्ञान फिर स्मरण हो आया जो भगवान्‌ने उन्हें युद्धके आरम्भकालमें दिया था ॥ २९-३० ॥

विशोको ब्रह्मसंपत्त्या संछिन्नद्वैतसंशयः ।
लीनप्रकृतिनैर्गुण्यादलिङ्गत्वादसम्भवः ॥३१॥

उस समय ब्रह्मज्ञानकी प्राप्तिसे उनका शोक दूर हो गया, तथा उनका भेद-भ्रम जाता रहा और मायाका आवरण हट जानेसे गुणातीत हो जानेके कारण लिङ्ग-देहका भान न रहनेसे वे स्थूल देहके अभिमानसे रहित हो गये ॥ ३१ ॥

निशम्य भगवन्मार्गं संस्थां यदुकुलस्य च ।
स्वःपथाय मतिं चक्रे निभृतात्मा युधिष्ठिरः ॥३२॥
पृथाप्यनुश्रुत्य धनञ्जयोदितं
नाशं यदूनां भगवद्गतिं च ताम् ।
एकान्तभक्त्या भगवत्यधोक्षजे
निवेशितात्मोपरराम संसृतेः ॥३३॥
ययाहरद्भुवो भारं[1] तां तनुं विजहावजः ।
कण्टकं कण्टकेनेव द्वयं चापीशितुः समम् ॥३४॥
यथा मत्स्यादिरूपाणि धत्ते जह्याद्यथा नटः ।
भूभारः क्षपितो येन जहौ तच्च कलेवरम् ॥३५॥
यदा मुकुन्दो भगवानिमां महीं
जहौ स्वतन्वा श्रवणीयसत्कथः ।
तदाहरेवाप्रतिबुद्धचेतसा-
मधर्महेतुः[2] कलिरन्ववर्तत ॥३६॥
युधिष्ठिरस्तत्परिसर्पणं बुधः[3]
पुरे च राष्ट्रे च गृहे तदात्मनि ।
विभाव्य लोभानृतजिह्महिंसना-
द्यधर्मचक्रं गमनाय पर्यधात् ॥३७॥
स्वराट् पौत्रं विनयिनमात्मनः सुसमं गुणैः ।
तोयनीव्याः पतिं भूमेरभ्यषिञ्चद्गजाह्वये ॥३८॥
मथुरायां तथा वज्रं शूरसेनपतिं ततः ।
प्राजापत्यां निरूप्येष्टिमग्नीनपिबदीश्वरः ॥३९॥
विसृज्य तत्र तत्सर्वं दुकूलवलयादिकम् ।
निर्ममो निरहङ्कारः संछिन्नाशेषबन्धनः ॥४०॥

भगवान्‌के स्वधामगमन और यादवोंके संहारका समाचार पाकर स्थिरमति महाराज युधिष्ठिरने अपने स्वर्गलोक जानेका निश्चय किया ॥३२॥ माता कुन्तीने भी जब अर्जुनके मुखसे यदुकुलका नाश और भगवान्‌का वैकुण्ठवास सुना तो वे अनन्य भक्तिसे भगवान् अधोक्षजमें अपना चित्त स्थिरकर संसारसे उपरत हो गयीं [अर्थात् शरीर त्याग कर दिया] ॥३३॥ अजन्मा भगवान् श्रीहरिने अपने जिस यादव-शरीरसे काँटेसे काँटे-के समान पृथिवीका भार दूर किया था उसे त्याग दिया क्योंकि परमात्माकी दृष्टिमें तो दोनों ही समान हैं ॥३४॥ जिस प्रकार वे नटके समान मत्स्यादि रूपोंको धारण करते और त्याग देते हैं उसी प्रकार जिस यादव-देहसे उन्होंने पृथिवीका भार हरा था उसे भी त्याग दिया ॥३५॥ जिस दिन श्रवणीयकीर्ति भगवान् कृष्णने अपने मानव-विग्रहसे इस पृथिवीको त्यागा उसी दिन यहाँ अविवेकियोंको अधर्मकी ओर ले जाने-वाला कलियुग आया ॥ ३६ ॥ महाराज युधिष्ठिरने कलिका प्रसार जान तथा प्रत्येक राष्ट्र, पुर, गृह और प्राणियोंमें लोभ, असत्य, छल, हिंसा आदि अधर्मसमूह-की प्रवृत्ति देख महाप्रयाणके लिये निश्चय किया ॥३७॥ उन सम्राट्‌ने अपने ही समान गुणवान् और अति विनीत पौत्र परीक्षित्‌को हस्तिनापुरमें समुद्रपर्यन्त पृथिवीके राज्यपर अभिषिक्त किया ॥ ३८ ॥ तथा [अनिरुद्धके पुत्र] वज्रको मथुरापुरीमें शूरसेनदेशका राजा बनाया । तदनन्तर प्राजापत्य यज्ञ कर समर्थ युधिष्ठिरने आहवनीयादि अग्नियोंको अपनेमें लीन कर लिया [अर्थात् संन्यास ग्रहण किया] ॥३९॥ तथा अपने समस्त अमूल्य वस्त्र-आभूषण आदि वहीं छोड़ ममता और अहंकारसे रहित हो समस्त बन्धनोंको काट डाला ॥४०॥

१. प्राचीन प्रतिमें 'ययाहरद्भुवो भारं' से लेकर 'जहौ तच्च कलेवरम्॥' तक दो श्लोक नहीं हैं, विजयध्वजने भी इन दोनों श्लोकोंको नहीं माना है। २. प्रा०पा०—अभद्रहेतुः। ३. प्रा०पा०—बुधो गृहे सराष्ट्रे च पुरे तदा०। ४. प्रा०पा०—विनियतमात्मनः।

वाचं जुहाव मनसि तत्प्राण इतरे च तम् ।
मृत्यावपानं सोत्सर्गं तं पञ्चत्वे ह्यजोहवीत् ॥४१॥
त्रित्वे हुत्वाथ पञ्चत्वं तच्चैकत्वेऽजुहोन्मुनिः ।
सर्वमात्मन्यजुहवीद्ब्रह्मण्यात्मानमव्यये ॥४२॥
चीरवासा निराहारो बद्धवाङ्मुक्तमूर्धजः ।
दर्शयन्नात्मनो रूपं जडोन्मत्तपिशाचवत् ॥४३॥
अन्वेक्षमाणो निरगादशृण्वन्बधिरो यथा ।
उदीचीं प्रविवेशाशां गतपूर्वां महात्मभिः ।
हृदि ब्रह्म परं ध्यायन्नावर्तेत यतो गतः ॥४४॥
सर्वे तमनु निर्जग्मुर्भ्रातरः[1] कृतनिश्चयाः ।
कलिनाधर्ममित्रेण दृष्ट्वा स्पृष्टाः प्रजा भुवि ॥४५॥
ते साधुकृतसर्वार्था[2] ज्ञात्वात्यन्तिकमात्मनः ।
मनसा धारयामासुर्वैकुण्ठचरणाम्बुजम् ॥४६॥
तद्ध्यानोद्रिक्तया भक्त्या विशुद्धधिषणाः परे ।
तस्मिन्नारायणपदे एकान्तमतयो[3] गतिम् ॥४७॥
अवापुर्दुरवापां ते असद्भिर्विषयात्मभिः ।
विधूतकल्मषाः स्थानं विरजेनात्मनैव हि ॥४८॥
विदुरोऽपि परित्यज्य प्रभासे देहमात्मवान्[4] ।
कृष्णावेशेन तच्चित्तः पितृभिः स्वक्षयं ययौ ॥४९॥
द्रौपदी च तदाज्ञाय पतीनामनपेक्षताम् ।
वासुदेवे भगवति ह्येकान्तमतिराप तम् ॥५०॥

उन्होंने दृढ़ भावनाद्वारा वाणीको मनमें, मनको प्राणमें, प्राणको अपानमें और अपानको उसके व्यापारसहित मृत्युमें लीन किया तथा मृत्युको पञ्चभूतमय शरीरमें लीन किया [अर्थात् शरीरको नाशवान् देखने लगे] ॥ ४१ ॥ फिर उस मुनिने शरीरको त्रिगुणमें, त्रिगुणको मूल प्रकृतिमें और प्रकृतिको आत्मामें लीन किया एवं आत्माको सबके आत्मा अविनाशी ब्रह्ममें लीन कर दिया । [इस प्रकार वे सम्पूर्ण प्रपञ्चको ब्रह्ममय देखने लगे] ॥४२॥ तदनन्तर शरीरपर चीर वस्त्र धारणकर, निराहार, मौन, बाल खुले हुए, आत्मस्वरूपका साक्षात्कार करते हुए जड, उन्मत्त और पिशाचके समान अपने बन्धु-बान्धवोंसे बिना पूछे ही बहिरेके समान किसीकी कोई बात न सुनते हुए हृदयमें परब्रह्मका चिन्तन करते हुए उत्तर दिशाको चल दिये जहाँ पहले भी बहुत-से महात्मा जा चुके हैं। और जहाँसे फिर लौटना नहीं होता ॥४३-४४॥

भीमसेन आदि उनके सब भाइयोंने भी संसारमें लोगोंको अधर्मके मित्र कलियुगसे प्रभावित देख स्वर्गगमनका निश्चयकर धर्मराजका अनुगमन किया ॥४५॥ पाण्डवोंने सम्पूर्ण धर्मोंका भली प्रकार अनुष्ठान किया था; अतः उन्होंने भगवान् श्रीकृष्णके चरणकमलोंको अपनी अन्तिम शरण जान उन्हें हृदयमें धारण किया ॥४६॥ भगवान्के चरणकमलोंका ध्यान करनेसे उनके हृदयमें भक्तिकी वृद्धि हुई, उससे उनकी बुद्धि शुद्ध हो गयी और उन भगवान्के स्वरूपमें एकाग्रचित्त हो निष्पाप पाण्डवोंने अपने शुद्ध आत्मस्वरूपसे ही वह गति प्राप्त की जो विषयासक्त असत् पुरुषोंके लिये अत्यन्त दुर्लभ है ॥४७-४८॥

महामति विदुरजीने भी श्रीकृष्णचन्द्रमें चित्त स्थिरकर प्रभासक्षेत्रमें अपना शरीर त्याग दिया;और [उस समय लेनेके लिये आये हुए] पितृगणके साथ अपने लोकको चले गये ॥४९॥ इधर द्रौपदी भी पतियोंकी निरपेक्षता देखकर भगवान् वासुदेवमें ही एकचित्त हो उन्हींमें लीन हो गयी ॥५०॥

१. प्रा० पा०—ग्मुस्त्वरिताः । २. प्रा० पा०—सत्त्वार्थाः । ३. प्रा० पा०—गतयो । ४. प्रा० पा०—देहमात्मनः ।

यः श्रद्धयैतद्भगवत्प्रियाणां
पाण्डोः सुतानामिति संप्रयाणम् ।
शृणोत्यलं स्वस्त्ययनं पवित्रं
लब्ध्वा हरौ भक्तिमुपैति सिद्धिम् ॥५१॥

भगवान्‌के प्रिय पाण्डवोंके महाप्रयाणकी इस परम पवित्र और अत्यन्त कल्याणकारिणी कथाको जो पुरुष श्रद्धापूर्वक सुनता है वह भगवान्‌की भक्ति प्राप्तकर मोक्ष लाभ करता है ॥५१॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे प्रथमस्कन्धे पाण्डव-
स्वर्गारोहणं नाम पञ्चदशोऽध्यायः ॥१५॥

सोलहवाँ अध्याय

परीक्षित्‌का दिग्विजय तथा धर्म और पृथिवीका संवाद ।

सूत उवाच

ततः परीक्षिद्द्विजवर्यशिक्षया
महीं महाभागवतः शशास ह ।
यथा हि सूत्यामभिजातकोविदाः
समादिशन्विप्र महद्गुणस्तथा ॥ १ ॥
स उत्तरस्य तनयामुपयेम इरावतीम् ।
जनमेजयादींश्चतुरस्तस्यामुत्पादयत्सुतान् ॥ २ ॥
आजहाराश्वमेधांस्त्रीन्गङ्गायां भूरिदक्षिणान् ।
शारद्वतं गुरुं कृत्वा देवा यत्राक्षिगोचराः ॥ ३ ॥
निजग्राहौजसा वीरः कलिं दिग्विजये क्वचित् ।
नृपलिङ्गधरं शूद्रं घ्नन्तं गोमिथुनं पदा ॥ ४ ॥

सूतजी बोले—हे विप्र ! तदनन्तर महाभागवत महाराज परीक्षित् विद्वान् ब्राह्मणोंके उपदेशके अनुसार पृथिवीका राज्य करने लगे। उनके जन्म-समयमें ज्यौतिष-विद्याके विशेषज्ञोंने उनके विषयमें जैसा कहा था वे वैसे ही महान् गुणोंसे सम्पन्न हुए ॥ १ ॥ उन्होंने उत्तरकी पुत्री इरावतीसे विवाह किया जिससे उनके जनमेजय आदि चार पुत्र हुए ॥२॥ राजा परीक्षित्‌ने शारद्वत (कृपाचार्य) को गुरु बनाकर गंगातटपर बड़ी-बड़ी दक्षिणाओंवाले तीन अश्वमेध यज्ञ किये जिनमें देवताओंने प्रत्यक्ष प्रकट होकर अपने भाग ग्रहण किये थे ॥३॥ एक बार दिग्विजय करते समय एक राजवेषधारी शूद्रको एक गौ और बैलके जोड़ेके ऊपर पदाघात करते देख वीरवर परीक्षित्‌ने बलपूर्वक कलियुगका दमन किया था ॥४॥

शौनक उवाच

कस्य हेतोर्निजग्राह कलिं दिग्विजये नृपः ।
नृदेवचिह्नधृक् शूद्रः कोऽसौ गां यः पदाहनत् ।
तत्कथ्यतां महाभाग यदि कृष्णकथाश्रयम् ॥ ५ ॥
अथवास्य पदाम्भोजमकरन्दलिहां सताम् ।
किमन्यैरसदालापैरायुषो यदसद्व्ययः ॥ ६ ॥
क्षुद्रायुषां नृणामङ्ग मर्त्यानामृतमिच्छताम् ।

शौनकजी बोले—महाराज परीक्षित्‌ने दिग्विजय-के समय कलियुगका दमन ही क्यों किया ? [उसे मार क्यों नहीं डाला ?] यह राजवेषधारी शूद्र कौन था जिसने गौके लात मारी ? हे महाभाग ! यदि इस प्रसंगमें कुछ कृष्ण-कथा भी सम्मिलित हो अथवा उनके चरणकमलमकरन्दके रसिक भक्तोंका चरित्र हो तो यह सब चरित्र हमें सुनाइये; अन्य व्यर्थ बातोंसे क्या लाभ ? उनमें तो आयुका भी अपव्यय करना है ॥ ५-६ ॥ हे सूतजी ! मोक्षकी इच्छावाले अल्पायु मनुष्योंकी मंगलकामनासे इस

१. प्राचीन प्रतिमें 'शारद्वतं' से लेकर 'यत्राक्षिगोचराः' तक नहीं है। २. प्रा० पा०—विष्णु० ।

इहोपहूतो भगवान्मृत्युः शामित्रकर्मणि ॥ ७ ॥
न कश्चिन्म्रियते तावद्यावदास्त इहान्तकः ।
एतदर्थं हि भगवानाहूतः परमर्षिभिः ।
अहो नृलोके पीयेत हरिलीलामृतं वचः ॥ ८ ॥
मन्दस्य मन्दप्रज्ञस्य वयो मन्दायुषश्च वै ।
निद्रया ह्रियते नक्तं दिवा च व्यर्थकर्मभिः ॥ ९ ॥

यज्ञके बलिकर्मके लिये भगवान् मृत्युका यहाँ आवाहन किया गया है ॥ ७ ॥ जबतक भगवान् काल यहाँ रहेंगे तबतक कोई प्राणी नहीं मरेगा—इसीलिये महर्षियोंने उनका आवाहन किया है जिससे (इस बीचमें) मनुष्य श्रीहरिकथामृतका पान कर सकें ॥ ८ ॥ जो पुरुष मन्दभाग्य, मन्दबुद्धि और मन्द आयुवाले होते हैं उनकी आयुकी रात्रि निद्रामें और दिन व्यर्थ कर्मोंमें नष्ट होते हैं ॥ ९ ॥

सूत उवाच

यदा परीक्षित्कुरुजाङ्गले वसन्
कलिं प्रविष्टं निजचक्रवर्तिते ।
निशम्य वार्तामनतिप्रियां ततः
शरासनं संयुगशौण्डिराददे ॥१०॥
स्वलङ्कृतं श्यामतुरङ्गयोजितं
रथं मृगेन्द्रध्वजमाश्रितः पुरात् ।
वृतो रथाश्वद्विपपत्तियुक्तया
स्वसेनया दिग्विजयाय निर्गतः ॥११॥
भद्राश्वं केतुमालं च भारतं चोत्तरान्कुरून् ।
किंपुरुषादीनि वर्षाणि विजित्य जगृहे बलिम् ॥१२॥
तत्र तत्रोपशृण्वानः स्वपूर्वेषां महात्मनाम् ।
प्रगीयमानं च यशः कृष्णमाहात्म्यसूचकम् ॥१३॥
आत्मानं च परित्रातमश्वत्थाम्नोऽस्त्रतेजसः ।
स्नेहं च वृष्णिपार्थानां तेषां भक्तिं च केशवे ॥१४॥
तेभ्यः परमसंतुष्टः प्रीत्युज्जृम्भितलोचनः ।
महाधनानि वासांसि ददौ हारान्महामनाः ॥१५॥
सारथ्यपारषदसेवनसख्यदौत्य-
वीरासनानुगमनस्तवनप्रणामम् ।

सूतजी बोले—कुरुजाङ्गलदेशमें निवास करते हुए महाराज परीक्षित्‌ने जिस समय यह सुना कि मेरी सेनाद्वारा सुरक्षित देशमें कलियुग आ गया है तो इस अनतिप्रिय* संवादको सुनकर समरशूर परीक्षित्‌ने अपना धनुष उठा लिया ॥ १० ॥ और जिसमें श्यामवर्ण घोड़े जुते हुए थे ऐसे अति सुसज्जित सिंहकी ध्वजावाले रथपर चढ़कर हाथी, घोड़े, रथ और पैदल इन चार अंगोंसे युक्त अपनी चतुरङ्गिणी सेनाके सहित दिग्विजयके लिये नगरसे चल दिये ॥ ११ ॥ उन्होंने भद्राश्व, केतुमाल, भारत, उत्तर कुरु और किम्पुरुष आदि वर्षोंको जीतकर वहाँके राजाओंसे भेंट ली ॥ १२ ॥ उपर्युक्त देशोंमें उन्होंने जहाँ-तहाँ सभी जगह अपने पूर्वपुरुष महात्मा पाण्डवोंका सुयश-गान सुना जिससे भगवान् कृष्णका माहात्म्य प्रकट होता था ॥ १३ ॥ इसके सिवा अश्वत्थामाके शस्त्रसे अपनी रक्षा होना, यादव और पाण्डवोंका पारस्परिक स्नेह तथा कृष्णचन्द्रमें उनकी भक्ति आदिके प्रसंग भी सुने ॥ १४ ॥ जो लोग ये चरित्र सुनाते थे उनसे प्रसन्न होकर महामना परीक्षित् उन्हें प्रेमभरी दृष्टिसे निहारते हुए बहुमूल्य वस्त्र और मणिमय हार देते थे ॥ १५ ॥ [जगद्वन्द्य] भगवान् कृष्णने अपने परमप्रिय पाण्डवोंका कभी सारथ्य किया, कभी उनके सभासद् बने, कभी सेवक, कभी मित्र और कभी दूत बने, वीरासनसे बैठकर रातको सशस्त्र पहरा देते रहे, कभी अनुगामी

१. प्रा० पा०—भगवानुपहूतो महर्षिभिः । २. प्रा० पा०—ऽवसत्कलिं । ३. प्रा० पा०—शौण्ड आददे । ४. प्रा० पा०—गीयमानं च पुरतः । ५. प्रा० पा०—सूचनम् ।

* जो अत्यन्त प्रिय न हो उसे 'अनतिप्रिय' कहते हैं । कलियुगके आगमनका समाचार तो अत्यन्त अप्रिय था किन्तु युद्धका अवसर हाथ लगनेके कारण वह उतना अप्रिय नहीं रहा । इसलिये 'अनतिप्रिय' विशेषण दिया गया है ।

स्निग्धेषु पाण्डुषु जगत्प्रणतिं च विष्णो-
भक्तिं करोति नृपतिश्चरणारविन्दे ॥१६॥

तस्यैवं वर्तमानस्य पूर्वेषां वृत्तिमन्वहम् ।
नातिदूरे किलाश्चर्यं यदासीत्तन्निबोध मे ॥१७॥

धर्मः पदैकेन चरन्विच्छायामुपलभ्य गाम् ।
पृच्छति स्माश्रुवदनां विवत्सामिव मातरम् ॥१८॥

धर्म[2] उवाच

कच्चिद्भद्रेऽनामयमात्मनस्ते
विच्छायासि म्लायतेपन्मुखेन ।
आलक्षये भवतीमन्तराधिं
दूरेबन्धुं शोचसि कञ्चनाम्ब ॥१९॥

पादैर्न्यूनं[3] शोचसि मैकपाद-
मात्मानं[4] वा वृषलैर्भोक्ष्यमाणाम् ।
अहो सुरादीन्हृतयज्ञभागान्
प्रजा उत स्विन्मघवत्यवर्षति ॥२०॥

अरक्ष्यमाणाः स्त्रिय उर्वि बालान्
शोचस्यथो पुरुषादैरिवार्तान् ।
वाचं देवीं ब्रह्मकुले कुकर्म-
ण्यब्रह्मण्ये राजकुले कुलाग्र्यान् ॥२१॥

किं क्षत्रबन्धून्कलिनोपसृष्टान्
राष्ट्राणि वा तैरवरोपितानि ।
इतस्ततो वाशनपानवासः-[5]
स्नानव्यवायोन्मुखजीवलोकम् ॥२२॥

यद्वाम्ब ते भूरिभरावतार-
कृतावतारस्य हरेर्धरित्रि ।

बने, कभी पाण्डवोंकी स्तुति की, कभी उन्हें स्वयं प्रणाम किया और कभी सम्पूर्ण जगत्से प्रणाम कराया, ये सब चरित्र सुनकर राजा परीक्षित्की श्रीकृष्ण भगवान्के चरणकमलोंमें भक्ति होती थी ॥ १६ ॥ इस प्रकार वे नित्यप्रति अपने पूर्वजोंकी वृत्तिका अनुसरण करते हुए दिग्विजय कर रहे थे । इसी समय उनके [शिविरसे] थोड़ी ही दूरपर जो एक आश्चर्यजनक घटना हुई, वह मैं तुम्हें सुनाता हूँ, सुनो ॥ १७ ॥ वृषभरूप धर्म अपने एक ही पैरसे घूम रहा था । घूमते-घूमते उसने गोरूपधारिणी पृथिवीको पुत्रहीन माताके समान आँसू बहाती हुई अत्यन्त कान्तिहीन देखकर पूछा ॥ १८ ॥

धर्म बोला—भद्रे ! कहो कुशलसे तो हो ? तुम्हारा मुख कुछ-कुछ मलिन हो रहा है इससे तुम कान्तिहीन दिखलायी पड़ती हो, मालूम होता है तुम्हें कोई आन्तरिक क्लेश है । माता ! क्या अपने किसी दूरस्थित हितैषीके लिये चिन्ता करती हो ? ॥ १९ ॥ या मेरे तीन पैर नष्ट होकर एक ही रह गया है इसका शोक है अथवा अपनेको शूद्रोंसे भोगी जाती हुई देखकर दुःखी हो ? अथवा यज्ञभागहीन देवताओंका या इन्द्रके वर्षा न करनेसे अकालग्रस्त प्रजाका खेद है ? ॥ २० ॥ अथवा हे पृथ्वि ! राक्षसोंके समान उपद्रव मचानेवाले पुरुषोंद्वारा सतायी हुई रक्षाविहीन स्त्रियों और बालकोंका तुम्हें शोक है ? या सरस्वती कुकर्मी ब्राह्मणोंके चंगुलमें पड़ गयी है और ब्राह्मण अब्रह्मण्य राजाओंकी सेवा करते हैं—इस बातका दुःख है ? ॥ २१ ॥ अथवा तुम्हें कलियुगसे प्रभावित नाममात्रके राजाओं और उनके उजाड़े हुए राष्ट्रोंका शोक है ? या लोग स्वेच्छाचारी होकर चाहे जहाँ खाने-पीने और रहने-सहने लगे हैं तथा उनके स्नान और स्त्रीप्रसंगका भी कोई नियम नहीं है—इस बातका दुःख है ॥ २२ ॥ अथवा हे मातः धरणि ! जिन्होंने तुम्हारा महान् भार उतारनेके लिये ही अवतार लिया था उन श्रीहरिके अन्तर्धान हो जानेपर

१. प्रा० पा०—स्म । २. प्राचीन प्रतिमें 'धर्म उवाच' नहीं है । ३. प्रा० पा०—पादन्यूनं । ४. प्रा० पा०—युतात्मानं वृष० । ५. प्रा० पा०—वाससा उत व्यवा० ।

अन्तर्हितस्य स्मरती विसृष्टा
कर्माणि निर्वाणविलम्बितानि ॥२३॥
इदं समाचक्ष्व तवाधिमूलं
वसुन्धरे येन विकर्शितासि ।
कालेन वा ते बलिनां बलीयसा
सुरार्चितं किं हृतमम्ब सौभगम् ॥२४॥

धरण्युवाच[1]

भवान्हि वेद तत्सर्वं यन्मां धर्मानुपृच्छसि ।
चतुर्भिर्वर्तसे येन पादैर्लोकसुखावहैः ॥२५॥
सत्यं शौचं दया क्षान्तिस्त्यागः[3] सन्तोष आर्जवम् ।
शमो दमस्तपः साम्यं तितिक्षोपरतिः श्रुतम् ॥२६॥
ज्ञानं विरक्तिरैश्वर्यं शौर्यं तेजो बलं[4] स्मृतिः ।
स्वातन्त्र्यं कौशलं कान्तिर्धैर्यं[5] मार्दवमेव च ॥२७॥
प्रागल्भ्यं प्रश्रयः शीलं सह ओजो बलं भगः ।
गाम्भीर्यं स्थैर्यमास्तिक्यं कीर्तिर्मानोऽनहंकृतिः ।२८।
एते[6] चान्ये च भगवन्नित्या यत्र महागुणाः ।
प्रार्थ्या महत्त्वमिच्छद्भिर्न वियन्ति स्म कर्हिचित् ॥
तेनाहं गुणपात्रेण श्रीनिवासेन साम्प्रतम् ।
शोचामि रहितं लोकं पाप्मना कलिनेक्षितम् ॥३०॥
आत्मानं चानुशोचामि भवन्तं चामरोत्तमम् ।
देवान्पितॄनृषीन्साधून्सर्वान्वर्णांस्तथाश्रमान् ॥३१॥
ब्रह्मादयो बहुतिथं[7] यदपाङ्गमोक्ष-
कामास्तपः[8] समचरन्भगवत्प्रपन्नाः ।
सा श्रीः स्ववासमरविन्दवनं विहाय
यत्पादसौभगमलं भजतेऽनुरक्ता ॥३२॥
तस्याहमब्जकुलिशाङ्कुशकेतुकेतैः
श्रीमत्पदैर्भगवतः समलङ्कृताङ्गी ।
त्रीनत्यरोच उपलभ्य ततो[9] विभूतिं
लोकान्स मां व्यसृजदुत्स्मयतीं तदन्ते ॥
यो वै ममातिभरमासुरवंशराज्ञा-
मक्षौहिणीशतमपानुददात्मतन्त्रः ।

उनसे रहित हुई उनके अति अद्भुत चरित्रोंको, जिनपर मोक्ष अवलम्बित है, याद कर रही हो ॥ २३ ॥ हे वसुन्धरे ! बताओ तो, तुम्हारे क्लेशका क्या कारण है, जिससे तुम ऐसी कृश हो गयी हो ? अथवा हे मातः ! सभी बलवानोंमें महाप्रबल कालने तुम्हारा देवपूजित सौभाग्य छीन लिया है ॥ २४ ॥

पृथिवी बोली–हे धर्म ! तुम मुझसे जो कुछ पूछते हो, वह सब कारण स्वयं भी जानते ही हो । जिन भगवान्‌के सहारे तुम अपने लोककल्याणमय चारों चरणोंसे युक्त थे तथा जिनमें सत्य, शौच, दया, क्षमा, त्याग, सन्तोष, कोमलता, शम, दम, तप, समता, तितिक्षा, उपरति, शास्त्रविचार, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, शूरवीरता, तेज, बल, स्मृति, स्वतन्त्रता, कुशलता, कान्ति, धैर्य, मृदुलता, निर्भीकता विनय, शील, साहस, उत्साह, बल, सौभाग्य, गम्भीरता, स्थिरता, आस्तिकता, कीर्ति, मान और निरहंकारता आदि गुण तथा इनके अतिरिक्त महापुरुषोंद्वारा वाञ्छनीय अन्य भी अनेकों महागुण सदा स्वभावसे ही वर्तमान हैं, कभी क्षीण नहीं होते, हे भगवन् ! उन सर्वगुण-धाम श्रीनिवाससे रहित हुए समस्त भूमण्डलको पापमय कलिकालसे ग्रस्त देखकर ही मैं शोक करती हूँ ॥२५—३०॥ अपने ही साथ मुझे देवताओंमें श्रेष्ठ आप, अन्य देवगण, पितर, मनुष्य, ऋषि, साधु और समस्त वर्णों तथा आश्रमोंका भी शोक है ॥३१॥ जिनका कृपाकटाक्ष प्राप्त करनेके लिये ब्रह्मादिक देवताओंने भगवत्परायण होकर बहुत दिनोंतक तपस्या की थी वे लक्ष्मीजी भी अपने निवासस्थान कमलवनको छोड़कर अति प्रेमपूर्वक जिनके चरणलावण्यका सेवन करती हैं ॥३२॥ उन भगवान्‌के कमल, वज्र, अंकुश और ध्वजा आदि चिह्नोंसे युक्त श्रीचरणोंसे विभूषिताङ्गी हो उनसे महान् वैभव प्राप्त कर मैं तीनों लोकोंसे अधिक सुशोभित होती थी । किन्तु, हाय ! उस सौभाग्यका अन्त आनेसे भगवान्‌ने मुझ अभिमानिनीको त्याग दिया ॥३३॥ जिन स्वेच्छाविहारी परमेश्वरने यदुकुलमें सुन्दर शरीर धारण करके मेरे अत्यन्त भाररूप असुरवंशीय राजाओंकी सैकड़ों

१. प्रा० पा०—धरोवाच । २. प्रा० पा०—भवानेव हि तद्वेद यन्मां । ३. प्रा० पा०—दानं त्यागः । ४. प्रा० पा०—धृतिः । ५. प्रा पा०—कान्तिः सौभाग्यं मार्दवं क्षमा । ६. प्रा० पा०—इमे । ७. प्रा० पा०—यदनिशं । ८. प्रा० पा०—तपोव्रतधरा भगव० । ९. प्रा० पा०—तपोविभूतिं ।

त्वां दुःस्थमूनपदमात्मनि पौरुषेण
सम्पादयन्यदुषु रम्यमबिभ्रदङ्गम् ॥३४॥
का वा सहेत विरहं पुरुषोत्तमस्य
प्रेमावलोकरुचिरस्मितवल्गुजल्पैः ।
स्थैर्यं समानमहरन्मधुमानिनीनां
रोमोत्सवो मम यदङ्घ्रिविटङ्कितायाः ॥३५॥

अक्षौहिणी सेनाएँ उच्छिन्न कर डालीं, तथा तुम्हें चरणोंके कम हो जानेसे मन-ही-मन दुःखी देखकर अपने पुरुषार्थसे सुखी किया उन पुरुषोत्तमके वियोगको कौन सहन कर सकती है ? जिन्होंने अपने प्रेमकटाक्ष, मनोहर मुसकान और मधुरवाणीसे सत्यभामा आदि मानिनी कामिनियोंके मान और धैर्यको हर लिया था तथा जिनके चरणस्पर्शसे मुझे आनन्दके कारण रोमाञ्च होता था ॥३४-३५॥

तयोरेवं कथयतोः पृथिवीधर्मयोस्तदा ।
परीक्षिन्नाम राजर्षिः प्राप्तः प्राचीं सरस्वतीम् ॥३६॥

धर्म और पृथिवीमें इस प्रकार बातें हो ही रही थीं कि इसी बीचमें राजर्षि परीक्षित् पूर्ववाहिनी सरस्वती-के तीरपर आ पहुँचे ॥३६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे प्रथमस्कन्धे पृथ्वीधर्म-
संवादो नाम षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

सतरहवाँ अध्याय

महाराज परीक्षित्[1]द्वारा कलियुगका दमन ।

सूत उवाच

तत्र गोमिथुनं राजा हन्यमानमनाथवत् ।
दण्डहस्तं च वृषलं ददृशे नृपलाञ्छनम् ॥ १ ॥
वृषं मृणालधवलं मेहन्तमिव बिभ्यतम् ।
वेपमानं पदैकेन सीदन्तं शूद्रताडितम्[2] ॥ २ ॥
गां च धर्मदुघां दीनां भृशं शूद्रपदाहताम् ।
विवत्सां साश्रुवदनां क्षामां[3] यवसमिच्छतीम् ॥ ३ ॥
पप्रच्छ रथमारूढः कार्तस्वरपरिच्छदम् ।
मेघगम्भीरया वाचा समारोपितकार्मुकः ॥ ४ ॥
कस्त्वं मच्छरणे लोके बलाद्धंस्यबलान्बली ।
नरदेवोऽसि वेषेण नटवत्कर्मणाद्विजः ॥ ५ ॥

सूतजी बोले—वहाँ पहुँचकर राजा परीक्षित्ने अनाथकी तरह मारे जाते हुए एक गाय और बैलके जोड़ेको तथा हाथमें डंडा लिये एक राजवेषधारी शूद्र-को भी देखा ॥१॥ उनमें कमल-तन्तुके समान श्वेतवर्ण बैल एक ही पैरसे खड़ा था और शूद्रकी ताड़नासे पीड़ित होकर मानो भयसे काँपता हुआ बारम्बार मूत्रत्याग कर रहा था ॥ २ ॥ तथा कामधेनुके समान वह गौ भी शूद्रके पैरोंसे बारम्बार मार खाती हुई अति दीन अवस्थामें थी, उसके पास बछड़ा नहीं था, उसके मुखपर आँसू बह रहे थे, शरीर सूख गया था मानो उसे चारेकी इच्छा थी ॥३॥ तब सुवर्णमण्डित रथपर चढ़े हुए महाराज परीक्षित्ने अपना धनुष चढ़ाकर मेघके समान गम्भीर वाणीसे पूछा ॥४॥ "अरे तू कौन है, जो स्वयं बलवान् होकर भी मेरे आश्रित जगत्में बलहीनोंको इस प्रकार बलात्कारसे मारता है ? तूने नटकी भाँति वेष तो राजाके समान बना रखा है, परन्तु कर्मसे तू शूद्र मालूम

१. प्रा० पा०—पारिक्षिते षोड० । २. प्रा० पा०—पीडितम् । ३. प्रा० पा०—कृशां ।

कस्त्वं कृष्णे गते दूरं सह गाण्डीवधन्वना ।
शोच्योऽस्यशोच्यान्रहसि प्रहरन्वधमर्हसि ॥ ६ ॥
त्वं वा मृणालधवलः पादैर्न्यूनः पदा चरन् ।
वृषरूपेण किं कश्चिद्देवो नः परिखेदयन् ॥ ७ ॥
न जातु पौरवेन्द्राणां दोर्दण्डपरिरम्भिते ।
भूतलेऽनुपतन्त्यस्मिन्विना ते प्राणिनां शुचः ॥ ८ ॥
मा सौरभेयानुशुचो व्येतु ते वृषलाद्भयम् ।
मा रोदीरम्ब भद्रं ते खलानां मयि शास्तरि ॥ ९ ॥
यस्य राष्ट्रे प्रजाः सर्वास्त्रस्यन्ते साध्व्यसाधुभिः ।
तस्य मत्तस्य नश्यन्ति कीर्तिरायुर्भगो गतिः ॥१०॥
एष राज्ञां परो धर्मो ह्यार्तानामार्तिनिग्रहः ।
अत एनं वधिष्यामि भूतद्रुहमसत्तमम् ॥११॥
कोऽवृश्चत्तव पादांस्त्रीन्सौरभेय चतुष्पद ।
मा भूवंस्त्वादृशा राष्ट्रे राज्ञां कृष्णानुवर्तिनाम् ॥१२॥
आख्याहि वृष भद्रं वः साधूनामकृतागसाम् ।
आत्मवैरूप्यकर्तारं पार्थानां कीर्तिदूषणम् ॥१३॥
जनेऽनागस्यघं युञ्जन्सर्वतोऽस्य च मद्भयम् ।
साधूनां भद्रमेव स्यादसाधुदमने कृते ॥१४॥
अनागस्स्विह भूतेषु य आगस्कृन्निरङ्कुशः ।
आहर्तास्मि भुजं साक्षादमर्त्यस्यापि साङ्गदम् ॥१५॥
राज्ञो हि परमो धर्मः स्वधर्मस्थानुपालनम् ।
शासतोऽन्यान्यथाशास्त्रमनापद्युत्पथानिह ॥१६॥

होता है ॥५॥ तू ऐसा कौन है जो गाण्डीवधारी पितामह अर्जुनके सहित भगवान् श्रीकृष्णके परमधाम पधारनेपर इस प्रकार निर्जनस्थानमें निरपराधोंको मारता है । तू दूसरोंको मार रहा है, अतः वध ही तेरे लिये उचित दण्ड है ॥६॥ [कलिको इस तरह फटकारकर वृषकी ओर दृष्टि करके राजाने कहा—] कमलनालके समान श्वेतवर्णवाले आप कौन हैं जो वृषभरूपसे तीन चरणोंके बिना केवल एक ही पगसे चलते-फिरते हैं ? इससे हमें बड़ा दुःख होता है । कहिये आप कोई देवता तो नहीं हैं ? ॥ ७ ॥ पुरुवंशीय नरेन्द्रोंके भुजदण्डसे सुरक्षित इस भूमण्डलपर आपके सिवा अन्य किसी प्राणीके शोकाश्रु कभी नहीं गिरते ॥ ८ ॥ हे गोपुत्र ! आप शोक न करें, आपका इस शूद्रसे प्राप्त होनेवाला भय दूर हो । और हे गोमाता ! तुम भी मत रोओ; अब तुम्हारा कल्याण हो, क्योंकि दुष्टोंका दमन करनेवाला मैं आ गया हूँ ॥ ९ ॥ हे साध्वि ! जिस राजाके राज्यमें दुष्टजन समस्त प्रजाको कष्ट देते हैं उस उन्मत्त नरेशकी कीर्ति, आयु, ऐश्वर्य और परलोक नष्ट हो जाते हैं ॥१०॥ दुःखियोंका दुःख दूर करना—यही राजाका परम धर्म है; अतः मैं इस जीवद्रोही महादुष्टको अभी मारे डालता हूँ ॥११॥ हे सुरभिनन्दन ! आप चार पैरवाले जीव हैं; आपके तीन पैर किसने काट डाले ? कृष्णानुयायी राजाओंके राज्यमें आपकी भाँति कोई भी दुखी न हो ॥१२॥ हे वृष ! आप-जैसे निरपराध साधु स्वभाववालोंका अंग-भंग करनेवाले और पार्थ-कुलकी कीर्तिको कलङ्कित बनानेवाले उस दुष्टका नाम बतलाइये, ऐसा करनेसे आपका मंगल ही होगा ॥१३॥ जो निरपराध जीवोंको दुःख देता है उसको भी मुझसे सर्वत्र भय है; क्योंकि दुष्टोंका दमन हो जानेसे साधुओंको सुख ही मिलता है ॥१४॥ जो दुष्ट निरङ्कुश होकर निरपराध प्राणियोंको दुःख देता है, वह साक्षात् देवता ही क्यों न हो, मैं उसकी भी अंगदादि-विभूषित भुजाको काट डालूँगा ॥१५॥ राजाका यही परम धर्म है कि अपने धर्ममें स्थित लोगोंका पालन करे और बिना आपत्ति-कालके कुमार्गमें जानेवालोंको शास्त्रानुसार दण्ड दे" ॥१६॥

१. प्रा० पा०—मातर्हिंस्यन्ते । २. प्रा० पा०—राज्ञः । ३. प्रा० पा०—चतुष्पदः । चतुष्पदको सम्बोधन माननेकी अपेक्षा प्राचीन प्रतिके अनुसार षष्ठीका एकवचन मानना ही अधिक उपयुक्त है ।

धर्म उवाच

एतद्वः पाण्डवेयानां युक्तमार्ताभयं वचः ।
येषां गुणगणैः कृष्णो दौत्यादौ भगवान्कृतः ॥१७॥
न वयं क्लेशबीजानि यतः[1] स्युः पुरुषर्षभ ।
पुरुषं तं विजानीमो वाक्यभेदविमोहिताः ॥१८॥
केचिद्विकल्पवसना आहुरात्मानमात्मनः[2] ।
दैवमन्ये परे कर्म स्वभावमपरे प्रभुम्[3] ॥१९॥
अप्रतर्क्यादनिर्देश्यादिति केष्वपि निश्चयः ।
अत्रानुरूपं राजर्षे विमृशस्व मनीषया ॥२०॥

सूत उवाच

एवं धर्मे प्रवदति स सम्राड् द्विजसत्तम[4] ।
समाहितेन मनसा विखेदः पर्यचष्ट[5] तम् ॥२१॥

राजोवाच[6]

धर्मं ब्रवीषि धर्मज्ञ धर्मोऽसि वृषरूपधृक् ।
यदधर्मकृतः[7] स्थानं सूचकस्यापि तद्भवेत् ॥२२॥
अथवा देवमायाया नूनं गतिरगोचरा ।
चेतसो वचसश्चापि[8] भूतानामिति निश्चयः ॥२३॥
तपः शौचं दया सत्यमिति पादाः प्रकीर्तिताः[9] ।
अधर्मांशैस्त्रयो भग्नाः स्मयसङ्गमदैस्तव ॥२४॥
इदानीं धर्म पादस्ते सत्यं निर्वर्तयेद्यतः ।
तं जिघृक्षत्यधर्मोऽयमनृतेनैधितः कलिः ॥२५॥
इयं च भूर्भगवता न्यासितोरुभरा सती ।

धर्म बोला—राजन् ! आपके वचन दुखियोंको अभय करनेवाले हैं; वे आपके योग्य ही हैं, क्योंकि आपने पाण्डवोंके कुलमें जन्म लिया है जिनके गुण-गणसे मुग्ध होकर भगवान् श्रीकृष्णने उनका दूत और सारथि आदि बनना स्वीकार किया था ॥ १७ ॥ हे पुरुषश्रेष्ठ ! जिससे जीवोंके क्लेश-बीज उत्पन्न होते हैं उस पुरुषको हम नहीं जानते, क्योंकि शास्त्रोंके वाक्य-भेदसे हमारी बुद्धि मोहित हो रही है ॥ १८ ॥ कोई विकल्पको आच्छादित करनेवाले (अभेदवादी) आत्माको ही आत्माके सुख-दुःखका कारण बतलाते हैं, कोई दैवको, कोई कर्मको, कोई स्वभावको और कोई ईश्वरको कारण मानते हैं ॥१९॥ किन्हींका ऐसा भी निश्चय है कि सुख-दुःखका कारण वह है जो कि तर्कद्वारा नहीं जाना जा सकता और वाणीद्वारा नहीं बतलाया जा सकता। अतः हे राजर्षे! आप स्वयं अपनी बुद्धिसे विचार लीजिये कि इनमें कौन-सा मत ठीक है ?॥२०॥

सूतजी कहते हैं—हे द्विजोत्तम ! धर्मके इस प्रकार कहनेपर महाराज परीक्षित् एकाग्रचित्तसे उसका अभिप्राय समझकर प्रसन्न हो उससे कहने लगे ॥२१॥

राजाने कहा—हे धर्म ! आप धर्मकी बात कर रहे हैं; अतः मालूम होता है आप वृषभरूपधारी धर्म हैं। क्योंकि अधर्म करनेवाले पुरुषको जो नरकादि लोक प्राप्त होते हैं वे ही उसका परिचय देनेवालेको भी मिलते हैं ॥ २२ ॥ अथवा यही सिद्धान्त निश्चित है कि परमेश्वरकी मायाकी गति प्राणियोंके मन-वाणी-का विषय नहीं है ॥२३॥ [सत्ययुगमें] आपके तप, शौच, दया और सत्य ये चार चरण बताये गये हैं। इस समय अधर्मके अंश गर्व, आसक्ति और मदके द्वारा उनमेंसे तीन नष्ट हो गये ॥२४॥ हे धर्म ! अब आपका सत्य नामक केवल एक ही चरण रह गया है जिसके बलपर आप अपना शरीर धारण कर रहे हैं। उसे भी यह असत्यसे पुष्ट हुआ अधर्मरूप कलि नष्ट करना चाहता है ॥२५॥ और यह साध्वी पृथिवी है, भगवान्ने इसका महान्

१. प्रा० पा०—यतस्त्व । २. प्रा० पा०—मात्मना । ३. प्रा० पा०—विभुम् । ४. प्रा० पा०—द्विजसत्तमाः । ५. प्रा० पा०—प्रत्यचष्ट । ६. प्राचीन प्रतिमें नहीं है । ७. प्रा० पा०—कृतं । ८. प्रा० पा०—वचसो मनसश्चापि । ९. प्रा० पा०—कृते कृताः । यही पाठ अधिक अच्छा है ।

श्रीमद्भिस्तत्पदन्यासैः सर्वतः कृतकौतुका ॥२६॥
शोचत्यश्रुकला साध्वी दुर्भगेवोज्झिताधुना ।
अब्रह्मण्या नृपव्याजाः शूद्रा भोक्ष्यन्ति मामिति ।२७।

इति धर्मं महीं चैव सान्त्वयित्वा महारथः ।
निशातमाददे खड्गं कलयेऽधर्महेतवे ॥२८॥
तं जिघांसुमभिप्रेत्य[1] विहाय नृपलाञ्छनम् ।
तत्पादमूलं शिरसा समागाद्भयविह्वलः ॥२९॥
पतितं पादयोर्वीक्ष्य[2] कृपया दीनवत्सलः ।
शरण्यो नावधीच्छ्लोक्य आह चेदं हसन्निव ॥३०॥

राजोवाच

न ते गुडाकेशयशोधराणां
बद्धाञ्जलेर्वै[3] भयमस्ति किञ्चित् ।
न वर्तितव्यं भवता कथञ्चन
क्षेत्रे मदीये त्वमधर्मबन्धुः ॥३१॥
त्वां वर्तमानं नरदेवदेहे-
ष्वनुप्रवृत्तोऽयमधर्मपूगः ।
लोभोऽनृतं चौर्यमनार्यमंहो
ज्येष्ठा च माया कलहश्च दम्भः ॥३२॥
न वर्तितव्यं तदधर्मबन्धो
धर्मेण सत्येन च वर्तितव्ये ।
ब्रह्मावर्ते यत्र यजन्ति यज्ञै-
र्यज्ञेश्वरं यज्ञवितानविज्ञाः ॥३३॥
यस्मिन्हरिर्भगवानिज्यमान
इज्यात्ममूर्तिर्[4]यजतां शं तनोति ।
कामानमोघान्स्थिरजङ्गमाना-
मन्तर्बहिर्वायुरिवैष आत्मा ॥३४॥

सूत उवाच

परीक्षितैवमादिष्टः स कलिर्जातवेपथुः ।

भार उतारा था और उनके श्रीसम्पन्न चरण-चिह्नोंसे चिह्नित होकर यह सर्वत्र सुशोभित हुई थी ॥२६॥ अब उन्हींसे रहित होकर यह साध्वी अभागिनीके समान नेत्रोंमें जल भरकर सोचती है कि अब मुझे राजाका स्वाँग बनाये हुए ब्राह्मणद्रोही शूद्र भोगेंगे ! ॥२७॥

महारथी परीक्षित्‌ने धर्म और पृथिवीको इस प्रकार सान्त्वना देकर अधर्मरूप कलिको मारनेके लिये तीक्ष्ण खड्ग हाथमें लिया ॥२८॥ जब कलियुगने देखा कि राजा मुझे मारना चाहते हैं तो उसने तुरन्त ही अपने राज-चिह्नोंको उतार डाला और भयसे व्याकुल होकर उनके चरणोंपर सिर रख दिया ॥२९॥ उसे चरणोंपर गिरा देख शरण देनेवाले परम यशस्वी दीनरक्षक परीक्षित्‌ने उस शरणागतको दयावश नहीं मारा; तथा उससे हँसते हुए इस प्रकार कहा ॥३०॥

राजा बोले—हे शूद्र ! अब तू हाथ जोड़कर शरण आ गया; अतः अब तुझे महाराज अर्जुनके वंशमें उत्पन्न किसी वीरसे किञ्चित् भी भय नहीं है। किन्तु तुझे मेरे राज्यमें किसी तरह नहीं ठहरना चाहिये; क्योंकि तू अधर्मका साथी है ॥३१॥ तेरे रहनेसे राजाओंके शरीरमें लोभ, असत्य, चोरी, अनार्यता, स्वधर्मत्याग, दरिद्रता, कपट, कलह और दम्भ आदि पापसमूहकी प्रवृत्ति होती है ॥३२॥ अतः हे अधर्मके मित्र ! धर्म और सत्यके रहनेयोग्य स्थान इस ब्रह्मावर्तदेशमें तू न रहना, क्योंकि यहाँ यज्ञविधिके जाननेवाले महात्मा-गण यज्ञोंद्वारा भगवान् यज्ञपुरुषकी आराधना किया करते हैं ॥३३॥ इस देशमें यज्ञमूर्ति भगवान् श्रीहरि यज्ञों-द्वारा पूजित होकर याजकोंका कल्याण करते हैं; जिस प्रकार वायु सर्वत्र व्याप्त है उसी प्रकार सबके आत्मा-रूप श्रीहरि भी समस्त स्थावर-जंगम जीवोंके भीतर-बाहर व्याप्त हुए उनकी सम्पूर्ण कामनाएँ पूर्ण करते हैं ॥३४॥

सूतजी बोले—परीक्षित्‌के इस प्रकार आज्ञा देने-पर कलियुग काँपने लगा और उसने दण्डपाणि यम-

१. प्रा० पा०—प्रेक्ष्य । २. प्रा० पा०—वीरः । ३. प्रा० पा०—बद्धाञ्जलेस्ते । ४. प्रा० पा०—इष्टात्म० । ५. प्राचीन प्रतिमें नहीं है ।

तमुद्यतासिमाहेदं दण्डपाणिमिवोद्यतम् ॥३५॥

राजके समान अपने शिरपर तलवार उठाये खड़े हुए राजासे कहा ॥३५॥

कलिरुवाच

यत्र क्वचन वत्स्यामि सार्वभौम तवाज्ञया ।
लक्षये तत्र तत्रापि त्वामात्तेषुशरासनम् ॥३६॥
तन्मे धर्मभृतां श्रेष्ठ स्थानं निर्देष्टुमर्हसि ।
यत्रैव नियतो वत्स्य आतिष्ठंस्तेऽनुशासनम् ॥३७॥

कलि बोला—हे सार्वभौम ! मैं आपकी आज्ञानुसार जहाँ कहीं भी रहनेके लिये विचार करता हूँ वहीं आपको अपने पीछे धनुष-बाण चढ़ाये हुए देखता हूँ ॥३६॥ अतः हे धार्मिकोंमें श्रेष्ठ ! आप मुझे वह स्थान बतलाइये जहाँ आपकी आज्ञाका पालन करते हुए मैं स्थिरतापूर्वक रह सकूँ ॥३७॥

सूत उवाच

अभ्यर्थितस्तदा तस्मै स्थानानि कलये ददौ ।
द्यूतं पानं स्त्रियः सूना यत्राधर्मश्चतुर्विधः ॥३८॥
पुनश्च याचमानाय जातरूपमदात्प्रभुः ।
ततोऽनृतं मदं कामं रजो वैरं च पञ्चमम् ॥३९॥
अमूनि पञ्च स्थानानि ह्यधर्मप्रभवः कलिः ।
औत्तरेयेण दत्तानि न्यवसत्तन्निदेशकृत् ॥४०॥
अथैतानि न सेवेत बुभूषुः पुरुषः क्वचित् ।
विशेषतो धर्मशीलो राजा लोकपतिर्गुरुः ॥४१॥
वृषस्य नष्टांस्त्रीन्पादांस्तपः शौचं दयामिति ।
प्रतिसन्दध आश्वास्य[3] महीं च समवर्धयत् ॥४२॥
स एष एतर्ह्यध्यास्त आसनं पार्थिवोचितम् ।
पितामहेनोपन्यस्तं राज्ञारण्यं विविक्षता ॥४३॥
आस्तेऽधुना स राजर्षिः कौरवेन्द्रश्रियोल्लसन् ।
गजाह्वये महाभागश्चक्रवर्ती बृहच्छ्रवाः ॥४४॥
इत्थम्भूतानुभावोऽयमभिमन्युसुतो नृपः ।
यस्य पालयतः क्षोणीं यूयं सत्राय दीक्षिताः ॥४५॥

राजाने उसे सुवर्ण और दिया इस प्रकार उन्होंने अनृत, मद, काम, रजोगुण और वैर ये पाँच स्थान दे दिये ॥ ३९ ॥ उत्तरानन्दन महाराज परीक्षित्के दिये ये पाँच स्थान पाकर अधर्मका कारण कलि उनकी आज्ञापालन करता हुआ वहाँ रहने लगा ॥४०॥ अतः उन्नति चाहनेवाला पुरुष इनका सेवन न करे । विशेषतः लोकपति धर्मपरायण राजा और गुरु तो इनकी ओर कभी न देखें ॥४१॥ तदनन्तर राजा परीक्षित्ने धर्मरूप बैलके नष्ट हुए तप, शौच और दयारूप तीन चरणोंको जोड़ दिया और गोरूप पृथिवीको भी ढाढ़स बँधाकर उत्साहित किया ॥४२॥ अब भी वे ही महाराज परीक्षित् अपने उस सार्वभौमोचित राजसिंहासनपर विराजमान थे जो कि उन्हें अपने पितामह महाराज युधिष्ठिरसे वन जाते समय मिला था ॥४३॥ महायशस्वी चक्रवर्ती महाभाग राजर्षि परीक्षित् अभीतक हस्तिनापुरमें कुरुकुलकी राजलक्ष्मीसे सुशोभित हुए विराजमान थे ॥ ४४ ॥ ये अभिमन्युनन्दन ऐसे प्रभावशाली थे इन्हींके शासनकालमें आपलोगोंने यज्ञदीक्षा ग्रहण की थी * ॥४५॥

इति श्रीमद्भागवते प्रथमस्कन्धे कलिनिग्रहो नाम सप्तदशोऽध्यायः ॥१७॥

१. प्रा० पा०—क्व चाथ । २. प्रा० पा०—मदः कामो । ३. प्रा० पा०—आस्थाय । ४. प्रा० पा०—एतदध्यास्त । ५. प्रा० पा०—'पारिक्षिते पर्वणि' इतना अधिक है ।

* श्लोक ४३, ४४ और ४५ के मूलमें राजा परीक्षित्का वर्तमानकालके समान वर्णन किया है; किन्तु जिस समय सूतजीका शौनकादि ऋषियोंसे समागम हुआ था तबतक वे परमधाम सिधार चुके थे । इसलिये यहाँ वर्तमानकालसे निकट भूतका ही आशय समझना चाहिये ।

अठारहवाँ अध्याय

महाराज परीक्षित्‌को शृङ्गी ऋषिका शाप।

सूत उवाच

यो वै द्रौण्यस्त्रविप्लुष्टो न मातुरुदरे मृतः।
अनुग्रहाद्भगवतः कृष्णस्याद्भुतकर्मणः ॥ १ ॥
ब्रह्मकोपोत्थिताद्यस्तु तक्षकात्प्राणविप्लवात्।
न संमुमोहोरुभयाद्भगवत्यर्पिताशयः ॥ २ ॥
उत्सृज्य सर्वतः सङ्गं विज्ञाताजितसंस्थितिः।
वैयासकेर्जहौ शिष्यो गङ्गायां स्वं कलेवरम् ॥ ३ ॥
नोत्तमश्लोकवार्तानां जुषतां[1] तत्कथामृतम्।
स्यात्सम्भ्रमोऽन्तकालेऽपि स्मरतां तत्पदाम्बुजम् ॥४॥
तावत्कलिर्न प्रभवेत्प्रविष्टोऽपीह सर्वतः।
यावदीशो महानुर्व्यामभिमन्यव एकराट् ॥ ५ ॥
यस्मिन्नहनि यर्ह्येव भगवानुत्ससर्ज गाम्।
तदैवेहानुवृत्तोऽसावधर्मप्रभवः कलिः ॥ ६ ॥
नानुद्वेष्टि[2] कलिं सम्राट् सारङ्ग इव सारभुक्।
कुशलान्याशु सिद्ध्यन्ति नेतराणि कृतानि यत् ॥ ७ ॥
किं नु बालेषु शूरेण कलिना धीरभीरुणा।
अप्रमत्तः प्रमत्तेषु यो वृकः[3] नृषु वर्तते ॥ ८ ॥
उपवर्णितमेतद्वः[4] पुण्यं पारीक्षितं मया।
वासुदेवकथोपेतमाख्यानं यदपृच्छत ॥ ९ ॥
या याः कथा भगवतः कथनीयोरुकर्मणः।

सूतजी बोले—जो अद्भुतकर्मा भगवान् कृष्णकी कृपासे अश्वत्थामाके शस्त्रसे दग्ध होकर भी माताके गर्भमें नहीं मरे ॥ १ ॥ तथा जो भगवान्‌में चित्त लगा रहनेके कारण ब्राह्मणके शापसे तक्षकद्वारा अपने प्राणनाशके महान् भयसे भी विकल नहीं हुए ॥ २ ॥ शुकदेवजीके शिष्य उन महाराज परीक्षित्‌ने सबका संग छोड़कर और भगवत्स्वरूपका ज्ञान प्राप्तकर अपना नाशवान् शरीर गंगातटपर त्याग किया ॥ ३ ॥ जो भगवान् उत्तमश्लोकके गुणोंकी चर्चा करनेवाले हैं, तथा उनके कथामृतका पान किया करते हैं और उनके चरणकमलोंका निरन्तर स्मरण करते हैं उनको अन्तकालमें भी मोह नहीं होता ॥ ४ ॥ जबतक पृथिवीपर अभिमन्युनन्दन परीक्षित्‌का एकच्छत्र राज्य रहा तबतक संसारमें सर्वत्र फैल जानेपर भी कलिका कोई प्रभाव नहीं हुआ ॥ ५ ॥ जिस दिन और जिस समय भगवान्‌ने पृथिवीको छोड़ा था उसी समयसे अधर्मका जनक कलियुग आ गया था ॥ ६ ॥ महाराज परीक्षित् भ्रमरके समान सारग्राही थे, इसलिये कलिसे द्वेष न रखते थे; क्योंकि इसमें पुण्यकर्म शीघ्र ही (मनमें आनेमात्रसे) फल देनेवाले हो जाते हैं, किन्तु पापकर्म इस प्रकार फल देनेवाले नहीं होते, उनका फल करनेहीपर मिलता है ॥ ७ ॥ इसके अतिरिक्त, जो मूर्खोंके लिये ही प्रबल और धीर पुरुषोंसे डरनेवाला है उस कलियुगसे हानि भी क्या थी? वह तो प्रमादी पुरुषोंको ग्रसनेके लिये ही सावधान रहता है, जैसे भेड़िया बालकोंपर ही आक्रमण करता है ॥ ८ ॥ हे मुनिगण! आप-लोगोंने जो पूछा था वह श्रीवासुदेवकी कथासे युक्त महाराज परीक्षित्‌का परम पवित्र आख्यान मैंने सुना दिया ॥ ९ ॥ कीर्तनयोग्य महान् कर्म करनेवाले भगवान् श्रीकृष्णके गुण और कर्मोंसे सम्बन्ध रखनेवाली

१. प्रा० पा०—कुर्वतां। २. प्रा० पा०—नाभि०। ३. प्रा० पा०—नृपो। ४. प्रा० पा०—मेतद्धि।

गुणकर्माश्रयाः पुम्भिः संसेव्यास्ता बुभूषुभिः ॥१०॥

ऋषय ऊचुः

सूत जीव समाः सौम्य शाश्वतीर्विशदं यशः ।
यस्त्वं शंससि कृष्णस्य मर्त्यानाममृतं हि नः ॥११॥
कर्मण्यस्मिन्ननाश्वासे धूम्रधूम्रात्मनां भवान् ।
आपाययति गोविन्दपादपद्मासवं मधु ॥१२॥
तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम् ।
भगवत्सङ्गिसङ्गस्य मर्त्यानां किमुताशिषः ॥१३॥
को नाम तृप्येद्रसवित्कथायां
महत्तमैकान्तपरायणस्य ।
नान्तं गुणानामगुणस्य जग्मु-
र्योगेश्वरा ये भवपाद्ममुख्याः ॥१४॥
तन्नो भवान्वै भगवत्प्रधानो
महत्तमैकान्तपरायणस्य ।
हरेरुदारं चरितं विशुद्धं
शुश्रूषतां नो वितनोतु विद्वन्[2] ॥१५॥
स वै महाभागवतः परीक्षि-
द्येनापवर्गाख्यमदभ्रबुद्धिः ।
ज्ञानेन वैयासकिशब्दितेन
भेजे खगेन्द्रध्वजपादमूलम् ॥१६॥
तन्नः परं पुण्यमसंवृतार्थ-
माख्यानमत्यद्भुतयोगनिष्ठम् ।
आख्याह्यनन्ताचरितोपपन्नं
पारीक्षितं भागवताभिरामम् ॥१७॥

सूत उवाच

अहो वयं जन्मभृतोऽद्य हास्म
वृद्धानुवृत्त्यापि विलोमजाताः ।
दौष्कुल्यमाधिं विधुनोति शीघ्रं
महत्तमानामभिधानयोगः ॥१८॥
कुतः पुनर्गृणतो नाम तस्य
महत्तमैकान्तपरायणस्य ।

जो-जो कथाएँ हैं, उन्नति चाहनेवाले पुरुषोंको उन्हींका सेवन करना चाहिये ॥१०॥

ऋषिगण बोले—हे सौम्य सूतजी ! आप बहुत वर्षोंतक जीवित रहें, क्योंकि आप भगवान् अनन्तकीर्तिका अमृतरूप निर्मल यश, जो मरणशीलोंके लिये अमृतके समान है, हमें सुनाते हैं ॥११॥ इस यज्ञकर्ममें, जो विघ्न आदिकी आशङ्कासे फल या समाप्तिके विषयमें विश्वास करनेयोग्य नहीं है, यज्ञधूमसे धूम्रवर्ण हुए हमलोगोंको आप भगवान् श्रीकृष्णके चरणकमलोंका मधुर मधु पिला [कर तृप्त कर] रहे हैं ॥१२॥ भगवान्के प्रेमी भक्तोंका एक क्षण भी संग करनेसे जो सुख मिलता है उसके साथ हम स्वर्ग और मोक्षके सुखकी भी तुलना नहीं कर सकते, फिर मर्त्यलोकके सुखोंकी बात ही क्या है ? ॥१३॥ ऐसा कौन रसज्ञ होगा जो महापुरुषोंके एकमात्र आधार भगवान् श्रीकृष्णकी कथाओंसे तृप्त हो जायगा ? उन निर्गुण भगवान्के गुणोंका अन्त तो महादेव और ब्रह्मा आदि योगेश्वर भी नहीं पा सके ॥१४॥ हे विद्वन् ! आपको भगवान् ही सबसे अधिक प्रिय हैं; अतः आप हमें सत्पुरुषोंके एकमात्र अवलम्ब श्रीहरिके अति उदार और पवित्र चरित्रोंका विस्तृत वर्णन कीजिये, हम उन्हें सुननेके इच्छुक हैं ॥ १५ ॥ महाभागवत महाबुद्धिमान् महाराज परीक्षित् श्रीशुकदेवजीके कहे हुए जिस ज्ञानसे श्रीहरिके मोक्षरूप चरणकमलोंमें लीन हो गये वह परम पवित्र, अद्भुत योगयुक्त और भगवान्के चरित्रोंसे सम्पन्न एवं हरिजनोंको अत्यन्त प्रिय महाराज परीक्षित्का उपाख्यान स्पष्टतया कहिये ॥१६-१७॥

सूतजी बोले—अहो ! हम विलोम जातिके हैं, तथापि वृद्धों (ज्ञानवृद्ध शुकदेवादि) का अनुवर्तन करनेसे हमारा जन्म सफल हो गया । सच है, महात्माओंके साथ होनेवाला बातचीतका भी सम्बन्ध शीघ्र ही नीच कुलमें उत्पन्न होनेकी मानसिक व्यथाको शान्त कर देता है ॥१८॥ फिर जो लोग महात्माओंके एकमात्र आधार अनन्तशक्ति भगवान् अनन्तके

१. प्रा० पा०—ततो । २. प्रा० पा०—विद्वान् ।

योऽनन्तशक्तिर्भगवाननन्तो
महद्गुणत्वाद्यमनन्तमाहुः ॥१९॥
एतावतालं ननु[1] सूचितेन
गुणैरसाम्यानतिशायनस्य[2] ।
हित्वेतरान्प्रार्थयतो विभूति-
र्यस्याङ्घ्रिरेणुं जुषतेऽनभीप्सोः ॥२०॥
अथापि यत्पादनखावसृष्टं
जगद्विरिञ्चोपहृतार्हणाम्भः ।
सेशं पुनात्यन्यतमो मुकुन्दात्
को नाम लोके भगवत्पदार्थः ॥२१॥
यत्रानुरक्ताः सहसैव धीरा
व्यपोह्य देहादिषु सङ्गमूढम् ।
व्रजन्ति तत्पारमहंस्यमन्त्यं[3]
यस्मिन्नहिंसोपशमः स्वधर्मः ॥२२॥
अहं हि पृष्टोऽर्यमणो भवद्भि-
राचक्ष आत्मावगमोऽत्र यावान् ।
नभः पतन्त्यात्मसमं पतत्रिण-
स्तथा समं विष्णुगतिं विपश्चितः ॥२३॥

नामोंका उच्चारण करते हैं उनके लिये तो कहना ही क्या है । भगवान्‌में अनन्त गुण हैं इसीसे उन्हें अनन्त कहते हैं ॥१९॥ जिनके समान तथा जिनसे अधिक गुणवान् और कोई नहीं है उन भगवान्‌की विशेषता बतलानेके लिये इतना ही कहना पर्याप्त है कि लक्ष्मीजी अपनी प्रार्थना करनेवाले अन्य (ब्रह्मादि) देवताओंको त्यागकर श्रीहरिके न चाहनेपर भी उन्हींकी चरणरज-का सेवन करती हैं ॥२०॥ ब्रह्माजीद्वारा पूजाके लिये अर्पण किया हुआ जल जिनके चरण-नखोंसे गङ्गारूप-में प्रवाहित होकर महादेवजीसहित जगत्‌को पवित्र करता है उन मुकुन्दके अतिरिक्त त्रिभुवनमें भगवत्पदका वाच्य (परमेश्वर) दूसरा कौन हो सकता है ? ॥२१॥ जिनमें अनुरक्त होकर धीर पुरुष सहसा अज्ञानजन्य देहादिसंगको त्याग अन्तिम आश्रम—परमहंसवृत्ति ग्रहण करते हैं, जिसका एकमात्र धर्म अहिंसामयी उपरति ही है ॥२२॥ हे सूर्यस्वरूप महात्माओ ! आपने मुझसे जो कुछ पूछा है वह जैसा मैं जानता हूँ अपनी बुद्धि-के अनुसार सुनाता हूँ । जिस प्रकार पक्षीगण अपनी शक्तिके अनुसार ही आकाशमें उड़ते हैं उसी प्रकार विद्वान् लोग भी अपनी बुद्धिके अनुसार श्रीकृष्णकी लीलाका वर्णन किया करते हैं ॥२३॥

एकदा धनुरुद्यम्य विचरन्मृगयां वने ।
मृगाननुगतः श्रान्तः क्षुधितस्तृषितो भृशम् ॥२४॥
जलाशयमचक्षाणः प्रविवेश तमाश्रमम् ।
ददर्श मुनिमासीनं शान्तं मीलितलोचनम् ॥२५॥
प्रतिरुद्धेन्द्रियप्राणमनोबुद्धिमुपारतम् ।
स्थानत्रयात्परं प्राप्तं ब्रह्मभूतमविक्रियम् ॥२६॥
विप्रकीर्णजटाच्छन्नं रौरवेणाजिनेन च ।
विशुष्यत्तालुरुदकं तथाभूतमयाचत ॥२७॥

एक दिन महाराज परीक्षित् हाथमें धनुष ले वनमें शिकार खेलने गये । मृगोंके पीछे दौड़ते-दौड़ते वे बहुत थक गये और उन्हें बहुत भूख-प्यास लग गयी ॥२४॥ उन्हें कोई जलाशय नहीं दीख पड़ा, अन्तमें वे एक प्रसिद्ध मुनिके आश्रममें गये जहाँ एक मुनि नेत्र बन्द किये बड़े शान्तभावसे बैठे दृष्टिगोचर हुए ॥२५॥ वे अपनी इन्द्रिय, प्राण, मन और बुद्धिके निरुद्ध हो जानेसे शान्त थे, तथा जाग्रत् आदि तीनों अवस्थाओंसे रहित निष्क्रिय ब्रह्मरूप तुरीयपदमें स्थित थे ॥२६॥ उनका शरीर बिखरी हुई जटाओं और कृष्ण मृगचर्मसे आच्छादित था । महाराज परीक्षित्‌ने ऐसी अवस्थामें स्थित शमीक मुनिसे जल माँगा क्योंकि प्यासके कारण उनका गला सूख रहा था ॥ २७ ॥

१. प्रा० पा०—बत । २. प्रा० पा०—रसाम्यैरति० । ३. प्रा० पा०—ते ।

अलब्धतृणभूम्यादिरसंप्राप्तार्घ्यसूनृतः ।
अवज्ञातमिवात्मानं मन्यमानश्चुकोप ह ॥२८॥
अभूतपूर्वः सहसा क्षुत्तृड्भ्यामर्दितात्मनः ।
ब्राह्मणं प्रत्यभूद्ब्रह्मन्मत्सरो मन्युरेव च ॥२९॥
स तु[1] ब्रह्मऋषेरंसे गतासुमुरगं रुषा ।
विनिर्गच्छन्धनुष्कोट्या निधाय पुरमागमत्[2] ॥३०॥
एष किं निभृताशेषकरणो मीलितेक्षणः ।
मृषासमाधिराहोस्वित्किं नु स्यात्क्षत्रबन्धुभिः ॥३१॥
तस्य पुत्रोऽतितेजस्वी विहरन्बालकोऽर्भकैः ।
राज्ञाघं प्रापितं तातं श्रुत्वा तत्रेदमब्रवीत् ॥३२॥
अहो अधर्मः पालानां पीन्नां बलिभुजामिव ।
स्वामिन्यघं यद्दासानां द्वारपानां शुनामिव ॥३३॥
ब्राह्मणैः क्षत्रबन्धुर्हि द्वारपालो[3] निरूपितः ।
स कथं तद्गृहे द्वाःस्थः सभाण्डं भोक्तुमर्हति[4] ॥३४॥
कृष्णे गते भगवति शास्तर्युत्पथगामिनाम् ।
तद्भिन्नसेतून्[5]द्याहं शास्मि पश्यत मे बलम् ॥३५॥
इत्युक्त्वा रोषताम्राक्षो वयस्यानृषिबालकान्[6] ।
कौशिक्याप उपस्पृश्य वाग्वज्रं विससर्ज ह ॥३६॥
इति[7] लङ्घितमर्यादं तक्षकः सप्तमेऽहनि ।

किन्तु मुनिके द्वारा उन्हें न तो बैठनेके लिये तृणका आसन या भूमि ही मिली और न उनका अर्घ्य तथा मधुर वचनोंसे ही सत्कार हुआ; अतः वे अपनेको अपमानित-सा मानकर क्रुद्ध हो गये ॥२८॥ हे ब्रह्मन् ! राजा परीक्षित् भूख और प्याससे ऐसे व्याकुल थे कि उन्हें उन मुनीश्वरपर सहसा ईर्ष्या और क्रोध हो आये, जैसा कि पहले कभी नहीं हुआ था ॥२९॥ वहाँसे लौटते हुए उन्होंने मारे क्रोधके अपने धनुषकी नोकसे एक मरा साँप उठाकर ब्रह्मर्षिके गलेमें डाल दिया और अपने नगरको चले आये ॥३०॥ उन्होंने सोचा कि यह मुनि क्या वास्तवमें समस्त इन्द्रियोंके उपरत हो जानेसे आँखें मूँदे हुए हैं अथवा 'ये क्षत्रिय हमारा क्या कर लेंगे' इस प्रकार मेरी उपेक्षा करनेके लिये इन्होंने यह बनावटी समाधि लगायी है ? [इसकी परीक्षा करनेके लिये ही उन्होंने मुनिके गलेमें मरा सर्प डाल दिया था] ॥३१॥

उन मुनीश्वरका अति तेजस्वी पुत्र अन्य मुनिकुमारोंके साथ खेल रहा था। उसने जब सुना कि राजाने मेरे पिताका अपमान किया है तो वह इस प्रकार बोला—॥ ३२ ॥ "अहो ! कौवोंके समान [ब्राह्मणोंके उच्छिष्ट भोजनसे] पुष्ट हुए इन राजाओंका अधर्म तो देखो जो ये ब्राह्मणोंके दास होकर भी यज्ञके द्वाररक्षक कुत्तेके समान अपने स्वामीका ही अपकार करते हैं ॥ ३३ ॥ ब्राह्मणोंने क्षत्रियोंको अपना द्वारपाल बनाया है। वह द्वारहीपर रहनेवाला है; अतः उनके घरमें घुसकर उन्हींके पात्रोंमें कैसे भोजन कर सकता है ? ॥ ३४ ॥ कुमार्गगामियोंको दण्ड देनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण परमधाम चले गये; अतः इन धर्ममर्यादाओंको तोड़नेवालेको अब मैं दण्ड दूँगा, जरा मेरा बल भी देखो" ॥ ३५ ॥

जिसके नेत्र क्रोधसे लाल हो रहे हैं उस मुनिकुमारने अपने साथी बालकोंसे इस प्रकार कह कौशिकीके जलका आचमन किया, और राजाके लिये वज्रके समान शाप-वाक्यका प्रयोग किया ॥ ३६ ॥ 'मेरे पितासे द्रोह करनेवाले और इस प्रकार धर्मकी

१. प्रा० पा०—तस्य ब्रह्मर्षेरंसे। २. प्रा० पा०—मागतः। ३. प्रा० पा०—गृहपालो। ४. प्रा० पा०—भङ्क्तु०। ५. प्रा० पा०—सेतुमद्या०। ६. प्रा० पा०— बालकः। ७. प्रा० पा०—अतो।

दङ्क्ष्यति स्म कुलाङ्गारं चोदितो मे ततद्रुहम्[1] ॥३७॥

मर्यादा तोड़नेवाले कुलाङ्गार परीक्षित्को मेरी प्रेरणासे आजके सातवें दिन तक्षक सर्प काटेगा' ॥ ३७ ॥

ततोऽभ्येत्याश्रमं बालो गले सर्पकलेवरम् ।
पितरं वीक्ष्य[2] दुःखार्तो मुक्तकण्ठो रुरोद ह ॥३८॥
स वा[3] आङ्गिरसो ब्रह्मन् श्रुत्वा सुतविलापनम् ।
उन्मील्य शनकैर्नेत्रे दृष्ट्वा स्वांसे[4] मृतोरगम् ॥३९॥
विसृज्य पुत्रं पप्रच्छ वत्स कस्माद्धि रोदिषि ।
केन वा ते प्रतिकृतमित्युक्तः स न्यवेदयत् ॥४०॥

तदनन्तर वह बालक अपने आश्रमपर आया और पिताके गलेमें सर्पकी लाश पड़ी देख दुःखसे व्याकुल हो जोर-जोरसे रोने लगा ॥३८॥ हे ब्रह्मन् ! पुत्रका विलाप सुनकर शमीक मुनिने धीरे-धीरे नेत्र खोलनेपर अपने गलेमें मरा सर्प पड़ा देखा ॥ ३९ ॥ उसे तुरन्त फेंककर उन्होंने पुत्रसे पूछा, "बेटा ! तुम क्यों रोते हो ? तुम्हारा किसने अपराध किया है ?" मुनिके इस प्रकार पूछनेपर बालकने सब वृत्तान्त सुना दिया ॥४०॥

निशम्य शप्तमतदर्हं नरेन्द्रं
स ब्राह्मणो नात्मजमभ्यनन्दत् ।
अहो बतांहो महदज्ञ ते कृत-
मल्पीयसि द्रोह उरुर्दमो धृतः ॥४१॥
न वै नृभिर्नरदेवं पराख्यं
संमातुमर्हस्यविपक्वबुद्धे[5] ।
यत्तेजसा दुर्विषहेण गुप्ता
विन्दन्ति भद्राण्यकुतोभयाः प्रजाः ॥४२॥
अलक्ष्यमाणे नरदेवनाम्नि
रथाङ्गपाणावयमङ्ग लोकः ।
तदा हि चौरप्रचुरो विनङ्क्ष्य-
त्यरक्ष्यमाणोऽविवरूथवत्क्षणात्[6] ॥४३॥
तदद्य नः पापमुपैत्यनन्वयं
यन्नष्टनाथस्य[7] वसोर्विलुम्पकात् ।
परस्परं घ्नन्ति शपन्ति वृञ्जते
पशून्स्त्रियोऽर्थान्पुरुदस्यवो जनाः ॥४४॥
तदार्यधर्मश्च[8] विलीयते नृणां
वर्णाश्रमाचारयुतस्त्रयीमयः ।
ततोऽर्थकामाभिनिवेशितात्मनां
शुनां कपीनामिव वर्णसंकरः ॥४५॥
धर्मपालो नरपतिः स तु सम्राड् बृहच्छ्रवाः ।

शापके अयोग्य राजा परीक्षित्को पुत्रने शाप दिया—यह सुनकर उन ब्रह्मर्षिने पुत्रको अच्छा नहीं कहा । वे बोले—"अरे अज्ञ ! खेदकी बात है कि तूने यह बड़ा पाप किया जो थोड़े-से अपराधके लिये बहुत कठोर दण्ड दिया ॥ ४१ ॥ अरे कच्ची बुद्धिवाले ! तुझे विष्णुरूप राजाको अन्य साधारण पुरुषके समान न समझना चाहिये; उसके असह्य तेजसे सुरक्षित होनेसे ही प्रजा सर्वथा निर्भय होकर कल्याणकी प्राप्ति कर रही है ॥४२॥ अरे ! नारायणरूप नरदेवके न रहनेपर यह लोक चोर आदिके बढ़ जानेसे अरक्षित भेड़ोंके समान एक क्षणमें ही नष्ट हो जायगा ॥४३॥ अतः जिसका राजा नष्ट हो गया है ऐसी प्रजाको जो धनादिका अपहरण करनेवाले चोरोंसे कष्ट होगा उसका पाप सम्बन्ध न होनेपर भी [हम ही उसके कारण हुए अतः] हमें ही भोगना पड़ेगा; क्योंकि [राजाके न होनेपर] अधिकांश मनुष्य लुटेरे हो जानेके कारण आपसमें मारते-पीटते तथा गाली देते हैं और पशु, स्त्री तथा धनका अपहरण करते हैं ॥ ४४ ॥ उस समय मनुष्योंका वर्णाश्रमाचारयुक्त वेदोक्त आर्यधर्म लुप्त हो जाता है तथा अर्थलोलुपता और कामवासनाका वेग बढ़ जानेसे मनुष्योंमें कुत्तों और बन्दरोंके समान वर्णसंकरता आ जाती है ॥ ४५ ॥ चक्रवर्ती महाराज परीक्षित् तो बड़े धर्मरक्षक और महान् यशस्वी हैं । वे अश्वमेधोंद्वारा यजन

१. प्रा० पा०—पितृद्रुहम् । यह पाठान्तर स्पष्ट और शुद्ध है । २. प्रा० पा०—प्रेक्ष्य । ३. प्रा० पा०—स वै-वाङ्गिरसो । ४. प्रा० पा०—चांसे । ५. प्रा० पा०—बुद्धिः । ६. प्रा० पा०—हि विरुद्धलक्षणात् । ७. प्रा० पा०—नष्टस्य नाथस्य । ८ प्रा० पा०—तदाशु धर्मः सुविली० ।

साक्षान्महाभागवतो राजर्षिर्हयमेधयाट् ।
क्षुत्तृट्श्रमयुतो दीनो नैवास्मच्छापमर्हति ॥४६॥
अपापेषु स्वभृत्येषु बालेनापक्वबुद्धिना ।
पापं कृतं तद्भगवान्सर्वात्मा क्षन्तुमर्हति ॥४७॥
तिरस्कृता विप्रलब्धाः शप्ता क्षिप्ता हता अपि ।
नास्य तत्प्रतिकुर्वन्ति तद्भक्ताः प्रभवोऽपि हि ॥४८॥
इति पुत्रकृताघेन सोऽनुतप्तो महामुनिः ।
स्वयं विप्रकृतो राज्ञा नैवाघं तदचिन्तयत् ॥४९॥
प्रायशः साधवो लोके परैर्द्वन्द्वेषु योजिताः ।
न व्यथन्ति न हृष्यन्ति यत आत्मागुणाश्रयः ॥५०॥

करनेवाले परम भगवद्भक्त राजर्षि भूख-प्यास और श्रमके कारण व्याकुल हो गये थे। वे हमसे शाप पानेके योग्य कदापि नहीं थे ॥ ४६ ॥ तुझ अल्पबुद्धि बालकने अपने निरपराध सेवक (राजा) का जो कुछ अपराध किया है उसे सर्वान्तर्यामी भगवान् क्षमा करें ॥ ४७ ॥ क्योंकि भगवद्भक्त तो बदला लेनेमें समर्थ होनेपर भी अपने साथ किये हुए अपमान, शाप, आक्षेप, मार-पीट या धोखेबाजीका कोई बदला नहीं लेते'' ॥ ४८ ॥

इस प्रकार पुत्रके अपराधका पश्चात्ताप करते हुए महामुनि शमीकने राजाद्वारा अपमानित होकर भी उनके अपराधका विचार नहीं किया ॥ ४९ ॥ महात्मा लोग दूसरोंके द्वारा सुख-दुःखादि पाकर भी प्रायः प्रसन्न या कुपित नहीं होते, क्योंकि आत्माका स्वरूप तो गुणोंसे रहित है ॥ ५० ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे प्रथमस्कन्धे[1] विप्र-
शापोपलम्भनं नामाष्टादशोऽध्यायः ॥१८॥

उन्नीसवाँ अध्याय

शुक-समागम

सूत उवाच

महीपतिस्त्वथ तत्कर्म गर्ह्यं
विचिन्तयन्नात्मकृतं सुदुर्मनाः ।
अहो मया नीचमनार्यवत्कृतं
निरागसि ब्रह्मणि गूढतेजसि ॥ १ ॥
ध्रुवं ततो मे कृतदेवहेलना-
द्दुरत्ययं व्यसनं नातिदीर्घात् ।
तदस्तु कामं त्वघनिष्कृताय[2] मे
यथा न कुर्यां पुनरेवमद्धा[3] ॥ २ ॥
अद्यैव राज्यं बलमृद्धकोशं[4]
प्रकोपितब्रह्मकुलानलो मे ।

सूतजी बोले—घर पहुँचनेपर महाराज परीक्षित् उदास होकर अपने उस निन्द्य कर्मका पश्चात्ताप करने लगे कि 'अहो ! मैंने उन निरपराध गूढ तेजोमय मुनीश्वरके साथ अनार्य पुरुषोंके समान यह बड़ा नीच व्यवहार किया ॥१॥ उन महात्माका अपमान करनेसे मुझपर अवश्य शीघ्र ही कोई दुस्तर विपत्ति आवेगी। मैं भी ऐसा ही चाहता हूँ, जिससे मेरे पापका प्रायश्चित्त हो जाय और मैं फिर कभी ऐसा न करूँ ॥ २ ॥ मुझ पापीके राज्य, सेना और समृद्ध कोशको ब्राह्मणका प्रज्वलित कोपानल आज ही भस्म कर दे, जिससे

१. प्रा० पा०—'परमहंस्यां संहितायां पारिक्षितोपाख्याने' इतना अधिक है 'विप्र' शब्दके स्थानपर 'ब्रह्म' शब्द है। २. प्रा० पा०—ह्यघ। ३. प्रा० पा०—पुनरेव सद्यः। ४. प्रा० पा०—बलमूर्ज०।

दहत्वभद्रस्य पुनर्न मेऽभू-[1]
त्पापीयसी धीर्द्विजदेवगोभ्यः ॥ ३ ॥
स चिन्तयन्नित्थमथाशृणोद्यथा[2]
मुनेः सुतोक्तो निर्ऋतिस्तक्षकाख्यः ।
स साधु मेने न चिरेण तक्षका-[3]
नलं प्रसक्तस्य विरक्तिकारणम् ॥ ४ ॥
अथो विहायेममुं च लोकं
विमर्शितो हेयतया पुरस्तात् ।
कृष्णाङ्घ्रिसेवामधिमन्यमान
उपाविशत्प्रायममर्त्यनद्याम् ॥ ५ ॥
या वै लसच्छ्रीतुलसीविमिश्र-
कृष्णाङ्घ्रिरेण्वभ्यधिकाम्बुनेत्री ।
पुनाति लोकानुभयत्र सेशान्
कस्तां न सेवेत मरिष्यमाणः ॥ ६ ॥
इति व्यवच्छिद्य स पाण्डवेयः
प्रायोपवेशं प्रति विष्णुपद्याम् ।
दध्यौ मुकुन्दाङ्घ्रिमनन्यभावो
मुनिव्रतो मुक्तसमस्तसङ्गः ॥ ७ ॥
तत्रोपजग्मुर्भुवनं पुनाना
महानुभावा मुनयः सशिष्याः ।
प्रायेण तीर्थाभिगमापदेशैः
स्वयं हि तीर्थानि पुनन्ति सन्तः ॥ ८ ॥
अत्रिर्वसिष्ठश्च्यवनः शरद्वा-
नरिष्टनेमिर्भृगुरङ्गिराश्च ।
पराशरो गाधिसुतोऽथ राम
उतथ्य इन्द्रप्रमदेध्मवाहौ[4] ॥ ९ ॥
मेधातिथिर्देवल आर्ष्टिषेणो
भारद्वाजो गौतमः पिप्पलादः ।
मैत्रेय और्वः कवषः[5] कुम्भयोनि-
र्द्वैपायनो भगवान्नारदश्च ॥ १० ॥
अन्ये च देवर्षिब्रह्मर्षिवर्या[6]
राजर्षिवर्या अरुणादयश्च ।
नानार्षेयप्रवरान्समेता-[7]
नभ्यर्च्य राजा शिरसा ववन्दे ॥ ११ ॥

फिर कभी ब्राह्मण, देवता और गौओंके प्रति मेरी ऐसी पापबुद्धि न हो' ॥३॥ वे इस प्रकार चिन्ता कर ही रहे थे कि उन्होंने मुनिपुत्रके शापसे तक्षकद्वारा अपनी मृत्यु होनेका वृत्तान्त सुना। [इससे वे बड़े प्रसन्न हुए; क्योंकि] उस शीघ्र ही प्राप्त होनेवाले तक्षकाग्निको उन्होंने संसारासक्त चित्तके वैराग्यका कारण समझकर अति मंगलमय माना ॥४॥ अतः जिन्हें वे पहले ही त्याज्य मानते थे उन इहलोक और परलोककी आस्था छोड़कर तथा श्रीकृष्णचरणारविन्दकी सेवाको ही सर्वश्रेष्ठ मानकर राजा परीक्षित् प्रायोपवेशव्रत* लेकर गंगातटपर बैठ गये ॥५॥ जो श्रीगंगाजी शोभायुक्त तुलसीमिश्रित श्रीकृष्णचरणरजके संसर्गसे अत्यन्त पवित्र हुए जलको बहानेवाली हैं और ब्रह्मा-महादेवादि लोकपालोंके सहित दोनों (स्वर्ग-मर्त्य) लोकोंके लोगोंको पवित्र करती हैं उनका कौन मुमूर्षु पुरुष सेवन न करेगा ? ॥६॥

इस प्रकार गंगातटपर प्रायोपवेश करनेके लिये निश्चयकर पाण्डवनन्दन परीक्षित् सबका संग त्याग मुनिव्रतका अवलम्बन करके अनन्य भावसे श्रीकृष्णचरणारविन्दका स्मरण करने लगे ॥७॥ तब [यह समाचार सुनकर] त्रिलोकीको पवित्र करनेवाले अनेक महानुभाव मुनिजन अपने शिष्योंसहित वहाँ आये। सन्तजन प्रायः तीर्थयात्राके बहाने उन तीर्थस्थानोंको स्वयं पवित्र किया करते हैं ॥८॥ उस समय वहाँ अत्रि, वसिष्ठ, च्यवन, शरद्वान्, अरिष्टनेमि, भृगु, अंगिरा, पराशर, विश्वामित्र, परशुराम, उतथ्य, इन्द्रप्रमद, इध्मवाह, मेधातिथि, देवल, आर्ष्टिषेण, भारद्वाज, गौतम, पिप्पलाद, मैत्रेय, और्व, कवष, अगस्त्य, भगवान् व्यास, नारद तथा और भी अरुण आदि अनेक देवर्षि, ब्रह्मर्षि एवं राजर्षिगण आये। उन नाना ऋषीश्वरोंको आये देख राजा परीक्षित्ने उनका यथोचित सत्कारकर उन्हें शिर झुकाकर प्रणाम किया ॥९-११॥

१. प्रा० पा०—मेऽस्तु। यही पाठ शुद्ध है २. प्रा० पा०—यन्निष्टमथा०। ३. प्रा० पा०—तक्षकादलं। ४. प्रा० पा०—इन्द्रप्रमतिः सुबाहुः। ५. प्रा० पा०—कवयः। ६. प्रा० पा०—देवर्षिमहर्षि०। इस पाठान्तरसे छन्द ठीक रहता है ७. प्रा० पा०—नानर्षिसंघान् पुरतः। इस पाठमें छन्दकी शुद्धता और सरलता भी है।

* भगवच्चरणारविन्दका स्मरण करते हुए मरणपर्यन्त अन्न-जल त्याग देना प्रायोपवेशव्रत कहलाता है।

सुखोपविष्टेष्वथ तेषु भूयः
कृतप्रणामः स्वचिकीर्षितं यत्[1] ।
विज्ञापयामास विविक्तचेता
उपस्थितोऽग्रेऽभिगृहीतपाणिः ॥१२॥

जब वे सुखपूर्वक बैठ गये तो शुद्धचित्त राजाने उन्हें फिर प्रणाम किया और उनके सामने हाथ जोड़कर खड़े हो अपना जो करनेका संकल्प था वह कह सुनाया ॥ १२ ॥

राजोवाच

अहो वयं धन्यतमा नृपाणां
महत्तमानुग्रहणीयशीलाः ।
राज्ञां कुलं ब्राह्मणपादशौचा-
दूरा[2]द्विसृष्टं बत गर्ह्यकर्म ॥१३॥
तस्यैव मेऽघस्य परावरेशो
व्यासक्तचित्तस्य गृहेष्वभीक्ष्णम् ।
निर्वेदमूलो द्विजशापरूपो
यत्र प्रसक्तो भयमाशु धत्ते ॥१४॥
तं मोपयातं प्रतियन्तु विप्रा
गङ्गा च देवी धृतचित्तमीशे ।
द्विजोपसृष्टः कुहकस्तक्षको वा
दशत्वलं गायत विष्णुगाथाः ॥१५॥
पुनश्च भूयाद्भगवत्यनन्ते
रतिः[3] प्रसङ्गश्च तदाश्रयेषु ।
महत्सु यां यामुपयामि सृष्टिं
मैत्र्यस्तु सर्वत्र नमो द्विजेभ्यः ॥१६॥

राजाने कहा—अहो ! समस्त राजाओंमें मैं परम धन्य हूँ जो आज आप महानुभावोंका कृपापात्र हुआ ! क्योंकि जिसमें निन्दनीय कर्मोंका हो जाना स्वाभाविक है ऐसा राजाओंका कुल तो ब्राह्मणोंके चरणोंके धोवन-से भी प्रायः दूर ही रहा करता है ॥१३॥ निरन्तर देह-गेहमें आसक्त रहनेवाले उसी मुझ पापात्माके लिये वैराग्य उत्पन्न करनेवाले इस विप्रशापके रूपमें परमेश्वर ही प्राप्त हुए हैं जिस शापसे कि संसारासक्त पुरुष शीघ्र ही डर जाता है [अतः उसे विरक्ति हो जाती है] ॥१४॥ हे विप्रगण ! देवी गंगा और आपलोग मुझे अपना शरणागत जान अनुग्रह करें । अब मैंने अपना चित्त भगवान्‌के चरणकमलोंमें लगा दिया है; अतः विप्र-शापसे प्रेरित हुआ कपटवेषधारी तक्षक मुझे भले ही डँस ले, आपलोग भगवान्‌की कथाओंका गान कीजिये ॥१५॥ हे द्विजगण ! मैं आपलोगोंको पुनः प्रणाम करके यही प्रार्थना करता हूँ कि दूसरे जन्ममें भी भगवान् अनन्तके चरणोंमें मेरा दृढ़ अनुराग हो तथा उनके भक्त महात्माओंसे मेरा संग रहे और मैं जिस-जिस योनिमें जाऊँ वहीं सारे जगत्‌में मेरा मैत्रीभाव हो ॥१६॥

इति स्म राजाध्यवसाययुक्तः
प्राचीनमूलेषु कुशेषु धीरः ।
उदङ्मुखो दक्षिणकूल आस्ते
समुद्रपत्न्याः स्वसुतन्यस्तभारः ॥१७॥
एवं च तस्मिन्नरदेवदेवे
प्रायोपविष्टे दिवि देवसङ्घाः ।
प्रशस्य भूमौ व्यकिरन्प्रसूनै-
र्मुदा मुहुर्दुन्दुभयश्च नेदुः ॥१८॥
महर्षयो[5] वै समुपागता ये
प्रशस्य साध्वित्यनुमोदमानाः ।

परम धीर महाराज परीक्षित् इस प्रकार निश्चयकर पृथिवीके शासनका भार अपने पुत्र जनमेजयको सौंप श्रीगंगाजीके दक्षिण तटपर पूर्वाग्र कुशाओंपर उत्तरा-भिमुख होकर बैठे ॥१७॥ इस प्रकार प्रायोपवेशके निश्चयसे बैठे हुए महाराज परीक्षित्‌की प्रशंसा करते हुए देवतालोग प्रसन्नतापूर्वक उनपर फूल बरसाने लगे और उस समय बारम्बार दुन्दुभी आदि बाजे बजने लगे ॥१८॥ जो महर्षिगण वहाँ आये थे उन्होंने 'बहुत ठीक, बहुत ठीक' कहकर उनके निश्चयका अनुमोदन किया,

१. प्रा० पा०—महत् । २. प्रा० पा०—दाराद्विसृष्टं । ३. प्रा० पा०—रतिप्रसंगश्च । ४. प्रा० पा०—तु
५. प्रा० पा०—महर्षयस्ते ।

अवधूत श्रीशुकदेवजी

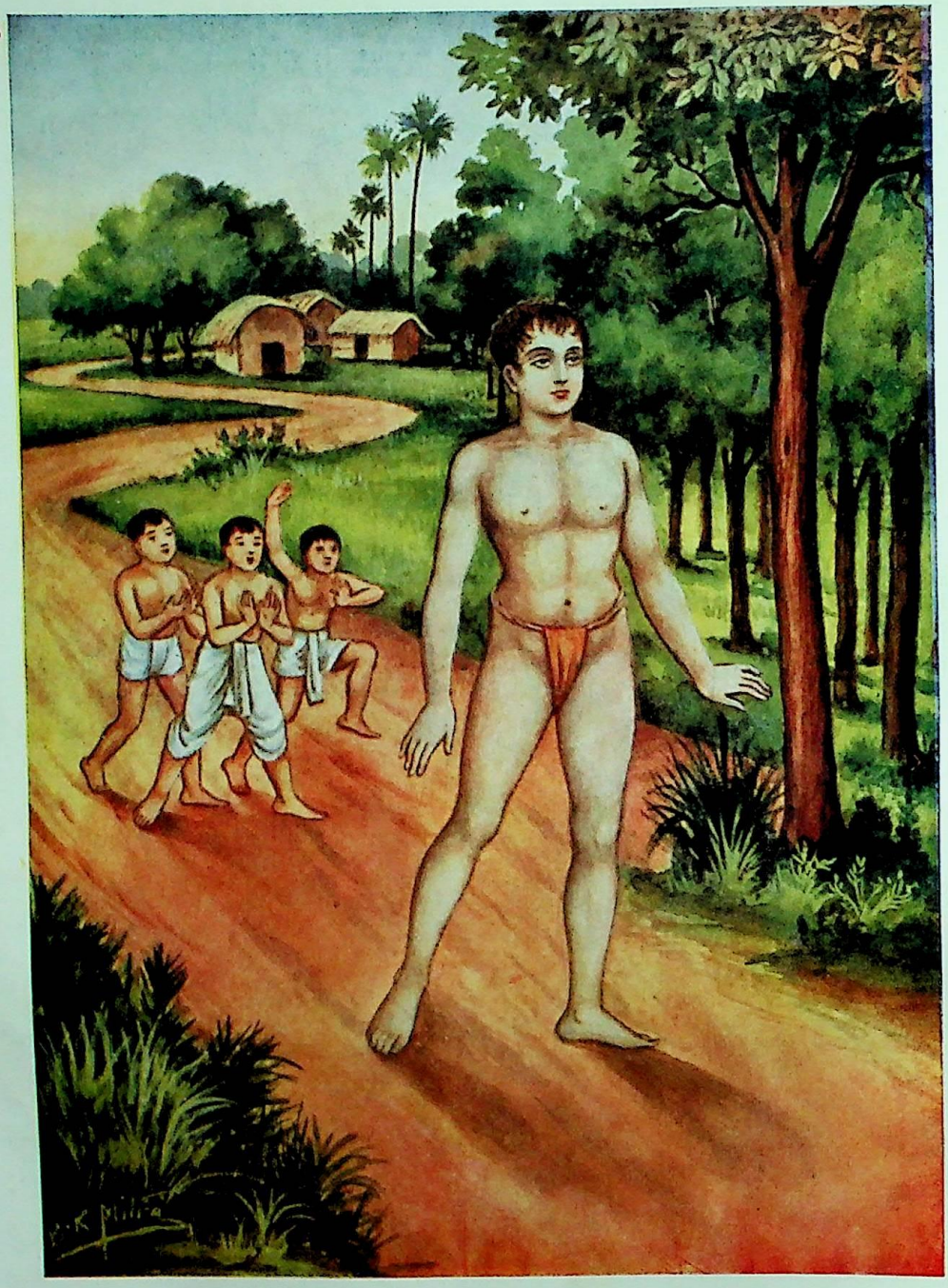

अलक्ष्यलिङ्गो निजलाभतुष्टो वृतस्त्रिबालैरवधूतवेषः ॥

[पृष्ठ १३९

ऊचुः प्रजानुग्रहशीलसारा
यदुत्तमश्लोकगुणाभिरूपम्[1] ॥१९॥
न वा इदं राजर्षिवर्य चित्रं
भवत्सु[2] कृष्णं समनुव्रतेषु ।
येऽध्यासनं राजकिरीटजुष्टं
सद्यो जहुर्भगवत्पार्श्वकामाः ॥२०॥
सर्वे वयं तावदिहास्महेऽद्य[3]
कलेवरं यावदसौ विहाय ।
लोकं परं विरजस्कं विशोकं
यास्यत्ययं भागवतप्रधानः ॥२१॥

आश्रुत्य तद्ऋषिगणवचः[4] परीक्षि-
त्समं मधुच्युद् गुरु चाव्यलीकम् ।
आभाषतैनानभिनन्द्य[5] युक्तं[6]
शुश्रूषमाणश्चरितानि विष्णोः ॥२२॥
समागताः सर्वत एव सर्वे
वेदा यथा मूर्तिधरास्त्रिपृष्ठे[7] ।
नेहाथवामुत्र च कश्चनार्थ
ऋते परानुग्रहमात्मशीलम् ॥२३॥
ततश्च वः पृच्छ्यमिमं विपृच्छे
विश्रभ्य विप्रा इतिकृत्यतायाम् ।
सर्वात्मना म्रियमाणैश्च कृत्यं
शुद्धं च तत्रामृशताभियुक्ताः ॥२४॥
तत्राभवद्भगवान्व्यासपुत्रो
यदृच्छया गामटमानोऽनपेक्षः ।
अलक्ष्यलिङ्गो निजलाभतुष्टो
वृतस्त्रिबालैरवधूतवेषः[8] ॥२५॥
तं द्व्यष्टवर्षं सुकुमारपाद-
करोरुबाह्वंसकपोलगात्रम् ।

और फिर जिनका लोकानुग्रह ही स्वभाव है वे मुनिगण इस प्रकार उत्तमश्लोक राजाके योग्य वचन कहने लगे ॥१९॥ वे बोले—"हे राजर्षिश्रेष्ठ ! आप कृष्णचरणानुगत पाण्डुवंशियोंके लिये यह कोई विचित्र बात नहीं है; आपके पूर्वजोंने भी भगवान्‌की सन्निधि प्राप्त करनेकी इच्छासे अपना राजमुकुटसे सेवित राजसिंहासन एक क्षणमें त्याग दिया था" ॥२०॥ [फिर समस्त ऋषिगण आपसमें कहने लगे—] 'राजा परीक्षित् परम भागवत हैं; जबतक ये अपना नश्वर शरीर छोड़कर शोक और दोषसे रहित परमधामको जायँ तबतक हम सब यहीं रहें' ॥२१॥

ऋषियोंके ये पक्षपातहीन, अमृतस्रावी, गम्भीर और यथार्थ वचन सुनकर उनको उचित प्रशंसा करते हुए राजाने भगवच्चरित्र सुननेकी इच्छासे उनसे कहा— ॥२२॥ "हे मुनिगण ! आप सब लोग यहाँ सभी दिशाओंसे पधारे हैं । आप सत्यलोकमें रहनेवाले मूर्तिमान् वेदोंके समान हैं । आपका इहलोक या परलोकमें स्वभावतः परोपकारके अतिरिक्त और कोई प्रयोजन नहीं है ॥२३॥ हे विप्रगण ! कर्तव्यके विषयमें आपलोगोंका विश्वास करके मैं आपसे यह पूछनेयोग्य बात पूछता हूँ । आप सब आपसमें विचारकर यह बतलाइये कि ऐसा कौन-सा शुद्ध कर्म है जो सभी अवस्थाओंमें सबको और विशेषतया मरनेवालोंको समस्त इन्द्रियों और अन्तःकरणके द्वारा करना चाहिये" * ॥२४॥ उसी समय परम निरपेक्ष व्यासपुत्र भगवान् शुकदेवजी स्वच्छन्दतासे पृथिवीपर विचरते हुए वहाँ आये । जो कि वर्णाश्रमादि चिह्नोंसे रहित, आत्मलाभसे सन्तुष्ट, स्त्री-बालकोंसे घिरे हुए और अवधूतवेषमें थे ॥२५॥ उनकी सोलह वर्षकी अवस्था थी, चरण, ऊरु, भुजा, कपोल और अङ्ग बड़े सुकुमार थे, आँखें बड़ी-बड़ी और मनोहर थीं, नासिका

१. प्रा० पा०—गुणानुरूपम् । २. प्रा० पा०—भवेद्ध्रुवं कृष्णमनुव्रतेषु । ३. प्रा० पा०—ऽथ । ४. प्रा० पा०—तदृषिगणस्य वचः । ५. प्रा० पा०—अभा० । ६. प्रा० पा०—युक्तः । ७. प्रा० पा०—त्रिपिष्टे । ८. प्रा० पा०—वृतश्च ।

* इस जगह राजाने ब्राह्मणोंसे दो प्रश्न किये हैं; पहला प्रश्न यह है कि जीवका सर्वदा कर्त्तव्य क्या है और दूसरा यह है कि जो थोड़े समयमें ही मरनेवाले हैं उनका कर्त्तव्य क्या है ? ये ही दो प्रश्न उन्होंने श्रीशुकदेवजीसे भी किये तथा प्रश्नानुसार दोनों प्रश्नोंका ही उत्तर द्वितीय स्कन्धसे लेकर द्वादशपर्यन्त श्रीशुकदेवजीने दिया है ।

चार्वायताक्षोन्नसतुल्यकर्ण-
सुभ्वाननं कम्बुसुजातकण्ठम् ॥२६॥
निगूढजत्रुं पृथुतुङ्गवक्षस-
मावर्तनाभिं वलिवल्गूदरं च ।
दिगम्बरं वक्त्रविकीर्णकेशं
प्रलम्बबाहुं स्वमरोत्तमाभम् ॥२७॥
श्यामं सदापीच्यैवयोऽङ्गलक्ष्म्या
स्त्रीणां मनोज्ञं रुचिरस्मितेन ।
प्रत्युत्थितास्ते मुनयः स्वासनेभ्य-
स्तल्लक्षणज्ञा अपि गूढवर्चसम् ॥२८॥

उन्नत, कर्ण समान और मुख सुन्दर भृकुटियोंसे सुशोभित था तथा ग्रीवा शंखके समान सुहावनी थी ॥२६॥ उनके कन्धे भरे हुए, छाती चौड़ी और उभरी हुई, नाभि भँवरके समान गम्भीर तथा उदर त्रिवलीयुक्त अति सुन्दर था। उनका दिगम्बर वेष था, मुखपर घुँघुराले बाल बिखरे हुए थे और लम्बी-लम्बी भुजाएँ थीं। वे देवताओंके समान तेजस्वी दीख पड़ते थे ॥२७॥ उनका वर्ण श्यामल था, अत्यन्त सुन्दर यौवन-अवस्था थी, वे अपने शरीरकी कान्ति और मधुर मुसकानसे स्त्रियोंको मनोहर प्रतीत होते थे। उनका तेज छिपा हुआ था तथापि उनके लक्षणोंको जाननेवाले समस्त मुनिजन उन्हें पहचानकर अपने आसनोंसे उठ खड़े हुए ॥२८॥

स विष्णुरातोऽतिथय आगताय
तस्मै सपर्यां शिरसाजहार ।
ततो निवृत्ता ह्यबुधाः स्त्रियोऽर्भका
महासने सोपविवेश पूजितः ॥२९॥
स संवृतस्तत्र महान्महीयसां
ब्रह्मर्षिराजर्षिदेवर्षिसङ्घैः ।
व्यरोचतालं भगवान्यथेन्दु-
र्ग्रहर्क्षतारानिकरैः परीतः ॥३०॥
प्रशान्तमासीनमकुण्ठमेधसं
मुनिं नृपो भागवतोऽभ्युपेत्य ।
प्रणम्य मूर्ध्नावहितः कृताञ्जलि-
र्नत्वा गिरा सूनृतयान्वपृच्छत् ॥३१॥

तब महाराज परीक्षित्‌ने अतिथिरूपसे आये हुए श्रीशुकदेवजीको शिर झुकाकर प्रणाम किया और उनकी पूजा की। यह देखकर उनके साथ लगे हुए अज्ञ स्त्री-बालक चले गये; और शुकदेवजी राजासे पूजित होकर एक ऊँचे सिंहासनपर विराजमान हुए ॥२९॥ ब्रह्मर्षि, देवर्षि और राजर्षियोंके समूहसे घिरे हुए वे महापुरुषोंमें भी महान् भगवान् शुकदेवजी ऐसे शोभायमान हुए जैसे ग्रह, नक्षत्र और ताराओंसे घिरे हुए चन्द्रदेव सुशोभित होते हैं ॥३०॥ जिनकी बुद्धि किसी विषयमें कुण्ठित नहीं होती उन शान्तभावसे बैठे हुए महामुनि शुकदेवजीके पास आ परम भागवत राजा परीक्षित्‌ने शिर झुकाकर प्रणाम किया और उन्हें हाथ जोड़कर अति नम्र वचनसे पूछा ॥३१॥

परीक्षिदुवाच

अहो अद्य वयं ब्रह्मन्सत्सेव्याः क्षत्रबन्धवः ।
कृपयातिथिरूपेण भवद्भिस्तीर्थकाः कृताः ॥३२॥
येषां संस्मरणात्पुंसां सद्यः शुद्ध्यन्ति वै गृहाः ।
किं पुनर्दर्शनस्पर्शपादशौचासनादिभिः ॥३३॥

परीक्षित् बोले—ब्रह्मन्! आज हमारा अहोभाग्य है, जो हम तुच्छ क्षत्रियलोग भी सन्तसमागमके योग्य हुए। अहो! आज अतिथिरूपसे आपने पधारकर हमें पवित्र कर दिया ॥३२॥ भगवन्! जिनके स्मरणमात्रसे ही मनुष्योंके घर पवित्र हो जाते हैं; उन्हीं आपके दर्शन, स्पर्श, पादप्रक्षालन और आसनादिका सुअवसर मिलनेपर तो कहना ही क्या है? ॥३३॥

१. प्रा० पा०—चार्वारुणाक्षोन्नसतुल्यकर्णं शुभ्राननम् । २. प्रा० पा०—पीनवयो । ३. प्रा० पा०—स्मयेन । ४. प्रा० पा०—रातो मुनये । ५. प्रा० पा०—पुंसः ।

सान्निध्यात्ते महायोगिन्पातकानि महान्त्यपि ।
सद्यो नश्यन्ति वै पुंसां विष्णोरिव सुरेतराः ॥३४॥
अपि मे भगवान्प्रीतः कृष्णः पाण्डुसुतप्रियः ।
पैतृष्वस्रेयप्रीत्यर्थं तद्गोत्रस्यात्तबान्धवः ॥३५॥
अन्यथा तेऽव्यक्तगतेर्दर्शनं नः कथं नृणाम् ।
नितरां म्रियमाणानां संसिद्धस्य वनीयसः[1] ॥३६॥
अतः पृच्छामि संसिद्धिं योगिनां परमं गुरुम् ।
पुरुषस्येह यत्कार्यं म्रियमाणस्य सर्वथा ॥३७॥
यच्छ्रोतव्यमथो जाप्यं यत्कर्तव्यं नृभिः प्रभो ।
स्मर्तव्यं भजनीयं वा ब्रूहि यद्वा विपर्ययम् ॥३८॥
नूनं भगवतो ब्रह्मन्गृहेषु गृहमेधिनाम् ।
न लक्ष्यते ह्यवस्थानमपि गोदोहनं क्वचित् ॥३९॥

हे महायोगिन् ! आपकी सन्निधिसे पुरुषोंके महान् पाप भी इस प्रकार तुरन्त नष्ट हो जाते हैं जैसे विष्णु भगवान्‌के सामने दैत्यलोग नहीं ठहरते ॥३४॥ मालूम होता है, पाण्डवोंके सुहृद् भगवान् कृष्ण अपनी बुआके पुत्रोंको प्रसन्न करनेके लिये उनके कुलमें उत्पन्न हुए मुझसे बन्धुभाव मानकर अवश्य प्रसन्न हुए हैं ॥ ३५ ॥ नहीं तो आप-जैसे अव्यक्तगति निरन्तर वनमें रहनेवाले सिद्धपुरुषका दर्शन हम-जैसे प्राकृत पुरुषोंको इस मृत्युके समय कैसे हो सकता था ? ॥३६॥ ब्रह्मन् ! आप योगियोंके परम गुरु हैं; अतः मैं आपसे वह सिद्धिप्रद कर्म पूछता हूँ जो शीघ्र मरनेवालों [और अन्य सभी] के लिये सर्वदा कर्त्तव्य है ? ॥३७॥ हे प्रभो ! उन पुरुषोंको क्या सुनना, क्या जपना, क्या करना, क्या स्मरण करना और क्या भजना चाहिये ? तथा क्या छोड़ देना चाहिये ? ॥३८॥ भगवन् ! अवश्य ही गृहस्थोंके यहाँ आपकी स्थिति, जितनी देरमें एक गौ दुही जाती है उतनी देर भी नहीं देखी जाती ॥३९॥

सूत उवाच

एवमाभाषितः पृष्टः स राज्ञा श्लक्ष्णया गिरा ।
प्रत्यभाषत धर्मज्ञो भगवान्बादरायणिः ॥४०॥

सूतजी बोले—राजाके इस प्रकार मधुर वाणीसे भाषण करते हुए पूछनेपर सब धर्मोंके जाननेवाले व्यासपुत्र भगवान् शुकदेवजी बोले ॥४०॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां प्रथमस्कन्धे
शुकागमने एकोनविंशोऽध्यायः ॥ १९ ॥

इति प्रथमस्कन्धः समाप्तः ।

॥ हरिः ॐ तत्सत् ॥

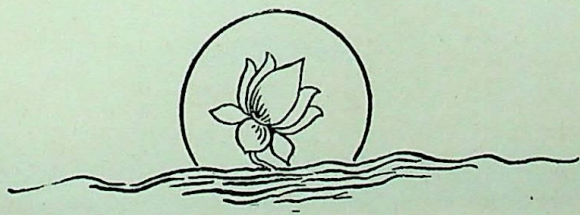

१. प्रा० पा०—वरीयसः ।

श्रीराधाकृष्णाभ्यां नमः

श्रीमद्भागवत

द्वितीय स्कन्ध

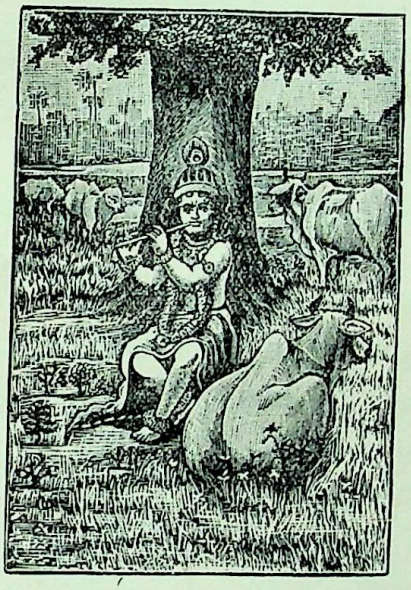

यस्य दीप्तिलवेनैव देवता देवतां गताः ।
वन्दे तं देवदेवेशं सर्वदेवमयं हरिम् ॥

ॐ

श्रीपरमात्मने नमः

श्रीमद्भागवत

द्वितीय स्कन्ध

पहला अध्याय

ध्यान-विधि और भगवान्‌के विराट् रूपका वर्णन

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ।

श्रीशुक उवाच

वरीयानेष ते प्रश्नः कृतो लोकहितं नृप ।
आत्मवित्संमतः पुंसां श्रोतव्यादिषु यः परः ॥ १ ॥
श्रोतव्यादीनि राजेन्द्र नृणां सन्ति सहस्रशः ।
अपश्यतामात्मतत्त्वं गृहेषु गृहमेधिनाम् ॥ २ ॥
निद्रया ह्रियते नक्तं व्यवायेन च वा वयः ।
दिवा चार्थेहया राजन्कुटुम्बभरणेन वा ॥ ३ ॥
देहापत्यकलत्रादिष्वात्मसैन्येष्वसत्स्वपि ।
तेषां प्रमत्तो निधनं पश्यन्नपि न पश्यति ॥ ४ ॥
तस्माद्भारत सर्वात्मा भगवान्हरिरीश्वरः ।
श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च स्मर्तव्यश्चेच्छताभयम् ॥ ५ ॥
एतावान्सांख्ययोगाभ्यां स्वधर्मपरिनिष्ठया ।
जन्मलाभः परः पुंसामन्ते नारायणस्मृतिः ॥ ६ ॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! तुमने यह बहुत उत्तम प्रश्न किया है, इससे संसारका परम हित होगा; यह प्रश्न श्रवण, मनन और कीर्तन करनेयोग्य समस्त विषयोंमें श्रेष्ठ और आत्मज्ञानियोंका प्रिय है ॥ १ ॥ हे राजेन्द्र ! जो आत्मतत्त्वको नहीं जानते उन विषयासक्त गृहस्थोंके लिये हजारों विषय सुनने और करनेयोग्य हैं ॥ २ ॥ उन विषयी पुरुषोंकी सारी उम्र रात्रिमें निद्रा अथवा स्त्री-प्रसङ्गसे और दिनमें अर्थसंग्रह-की धूम-धाम या कुटुम्बका लालन-पालन करनेमें बीत जाती है ॥ ३ ॥ वे मूढ़ देह, स्त्री, पुत्र आदि अपने असत् सम्बन्धियोंमें ऐसे आसक्त हो जाते हैं कि उनका नाश होना देखकर भी नहीं देखते ॥ ४ ॥ अतः हे भारत ! जिसे अभयपदकी इच्छा हो उसे सबके आत्मस्वरूप भगवान् हरिका ही श्रवण, कीर्तन और स्मरण करना चाहिये ॥ ५ ॥ सांख्य, योग तथा स्वधर्मपरायणता आदि समस्त साधनोंसे अन्तकालमें भगवान्‌का स्मरण रहे, यही मनुष्य-जन्मका परम लाभ है ॥ ६ ॥

---

१. प्राचीन प्रतिमें 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय' इतना अंश नहीं है । २. प्रा० पा०—लोकहितो । यह पाठ अधिक उपयुक्त है । 'लोकहितं' पाठ रखनेपर 'लोकहितं यथा स्यात्तथा' इस प्रकार क्रियाविशेषणकी क्लिष्ट कल्पना करनी पड़ती है अथवा 'लोकहितं यतो भवति स एष प्रश्नः' इस प्रकार अध्याहार करना पड़ता है । ३. प्रा० पा०—सौख्येष्व० । ४. प्रा० पा०—व्यः स्वेच्छया विभुः ।

प्रायेण मुनयो राजन्निवृत्ता विधिषेधतः ।
नैर्गुण्यस्था रमन्ते स्म गुणानुकथने हरेः ॥ ७ ॥

हे राजन् ! जो मुनिजन निस्त्रैगुण्यभावमें स्थित होकर विधि-निषेधमर्यादासे परे हो गये हैं वे भी प्रायः श्रीहरि-गुणगानमें रमण करते रहते हैं ॥ ७ ॥

इदं भागवतं नाम पुराणं ब्रह्मसम्मितम् ।
अधीतवान्द्वापरादौ पितुर्द्वैपायनादहम् ॥ ८ ॥
परिनिष्ठितोऽपि नैर्गुण्य उत्तमश्लोकलीलया ।
गृहीतचेता राजर्षे आख्यानं यदधीतवान् ॥ ९ ॥
तदहं तेऽभिधास्यामि महापौरुषिको भवान् ।
यस्य श्रद्दधतामाशु स्यान्मुकुन्दे गतिः सती ॥१०॥
एतन्निर्विद्यमानानामिच्छतामकुतोभयम् ।
योगिनां नृप[1] निर्णीतं हरेर्नामानुकीर्तनम् ॥११॥
किं प्रमत्तस्य बहुभिः परोक्षैर्हायनैरिह ।
वरं मुहूर्तं विदितं घटेत[2] श्रेयसे यतः ॥१२॥
खट्वाङ्गो नाम राजर्षिर्ज्ञात्वेयत्तामिहायुषः ।
मुहूर्तात्सर्वमुत्सृज्य गतवानभयं हरिम् ॥१३॥
तवाप्येतर्हि कौरव्य सप्ताहं जीवितावधिः ।
उपकल्पय तत्सर्वं तावद्यत्साम्परायिकम् ॥१४॥
अन्तकाले तु[3] पुरुष आगते गतसाध्वसः ।
छिन्द्यादसङ्गशस्त्रेण स्पृहां देहेऽनु[4] ये च तम् ॥१५॥
गृहात्प्रव्रजितो धीरः पुण्यतीर्थजलाप्लुतः[5] ।
शुचौ विविक्त आसीनो विधिवत्कल्पितासने ॥१६॥
अभ्यसेन्मनसा शुद्धं त्रिवृद्ब्रह्माक्षरं परम् ।

हे राजन् ! [अब मैं तुम्हें जो कथा सुनाना चाहता हूँ] यह भागवत नामक पुराण वेदके समान माननीय है। इसे मैंने द्वापरयुगके अन्तमें* अपने पिता श्रीव्यासजीसे पढ़ा था ॥ ८ ॥ हे राजर्षे ! निर्गुण ब्रह्ममें निष्ठावान् होकर भी मैंने जिस आख्यानको भगवान् पुण्यश्लोककी लीलाओंसे आकर्षित होकर पढ़ा था ॥ ९ ॥ वही मैं तुम्हें सुनाता हूँ, क्योंकि तुम महान् पुरुषार्थी हो। इस गाथामें श्रद्धा करनेवाले पुरुषकी शीघ्र ही श्रीमुकुन्दके चरणकमलोंमें अनन्य प्रेमवाली मति हो जाती है ॥१०॥ हे नृप ! जिन पुरुषोंको संसार-से वैराग्य है और जो अभयपदके इच्छुक हैं उन योगियोंको भी हरिका नामसंकीर्तन ही करना चाहिये—यही समस्त शास्त्रोंका निर्णय है ॥११॥ भगवान्से विमुख और विषयासक्त रहकर संसारमें बहुत वर्षोंतक जीनेसे भी क्या लाभ ? हमें तो जिससे निःश्रेयसकी प्राप्ति हो ऐसा [भगवद्भक्तियुक्त] एक मुहूर्तका जीवन भी अच्छा प्रतीत होता है ॥१२॥ राजर्षि खट्वाङ्गको जब अपनी आयुका अन्त विदित हुआ तो एक मुहूर्त-में ही सर्वस्व त्यागकर वे अभय देनेवाले श्रीहरिको प्राप्त हो गये ॥१३॥ हे कौरव्य ! तुम्हारे जीवनकी तो अभी सात दिनकी अवधि है; अतः इसी बीचमें तुम अपने परलोक-सुधारका पूर्ण उपाय कर लो ॥१४॥ अन्तकाल उपस्थित हो जानेपर मनुष्यको चाहिये कि वह निर्भय होकर असङ्ग (वैराग्य) रूप शस्त्रसे देह और उससे सम्बन्ध रखनेवाले कुटुम्ब आदिके मोहको काट डाले ॥१५॥ फिर वह धीर पुरुष घरसे निकल-कर पवित्र तीर्थ-जलमें स्नान करे तथा पवित्र और एकान्त स्थानमें विधिपूर्वक आसन लगाकर बैठे ॥१६॥ तत्पश्चात् मनमें परम पवित्र त्रिमात्र ओंकारका बारम्बार

१. प्रा० पा०—नृपते गीतं । २. प्रा० पा०—यतते । ३. प्रा० पा०—ऽपि । ४. प्रा० पा०—देहानुयायिनीम् । ५. प्रा० पा०—परिप्लुतः ।

* यहाँ 'द्वापर आदिर्यस्य कालस्य स द्वापरादिः द्वापरान्तः काल इत्यर्थः, तस्मिन्' इस व्युत्पत्तिके अनुसार द्वापरादिका द्वापरान्त अर्थ है ।

मनो यच्छेज्जितश्वासो ब्रह्मबीजमविस्मरन्[1] ॥१७॥

नियच्छेद्विषयेभ्योऽक्षान्मनसा बुद्धिसारथिः ।
मनः कर्मभिराक्षिप्तं शुभार्थे धारयेद्धिया ॥१८॥
तत्रैकावयवं ध्यायेदव्युच्छिन्नेन चेतसा ।
मनो निर्विषयं युङ्क्त्वा ततः किञ्चन न स्मरेत् ।
पदं तत्परमं विष्णोर्मनो यत्र प्रसीदति ॥१९॥
रजस्तमोभ्यामाक्षिप्तं विमूढं मन आत्मनः ।
यच्छेद्धारणया धीरो हन्ति या तत्कृतं मलम् ॥२०॥
यतः[2] संधार्यमाणायां योगिनो भक्तिलक्षणः ।
आशु सम्पद्यते योग आश्रयं भद्रमीक्षतः ॥२१॥

राजोवाच

यथा संधार्यते ब्रह्मन्धारणा यत्र सम्मता ।
यादृशी वा हरेदाशु पुरुषस्य मनोमलम् ॥२२॥

श्रीशुक उवाच

जितासनो जितश्वासो जितसङ्गो जितेन्द्रियः ।
स्थूले भगवतो रूपे मनः संधारयेद्धिया ॥२३॥
विशेषस्तस्य देहोऽयं स्थविष्ठश्च स्थवीयसाम् ।
यत्रेदं दृश्यते विश्वं भूतं भव्यं भवच्च सत् ॥२४॥
आण्डकोशे[3] शरीरेऽस्मिन्सप्तावरणसंयुते[4] ।
वैराजः पुरुषो योऽसौ भगवान् धारणाश्रयः ॥२५॥
पातालमेतस्य हि पादमूलं
पठन्ति पार्ष्णिप्रपदे रसातलम् ।
महातलं विश्वसृजोऽथ गुल्फौ
तलातलं वै पुरुषस्य जङ्घे ॥२६॥

जप करे । प्राणवायुको जीतकर मनका दमन करे और ओंकारका विस्मरण न होने दे ॥१७॥

बुद्धिकी सहायतासे मनद्वारा इन्द्रियोंको उनके विषयोंसे हटावे, तथा कर्मोंद्वारा चञ्चल हुए मनको बुद्धिसे एकाग्र करके केवल भगवच्चिन्तनरूप शुभ विषयमें लगावे ॥१८॥ फिर भगवान्‌के स्वरूपमें किसी एक अङ्गका तल्लीनचित्तसे ध्यान करे, इस प्रकार विषयवासनारहित मनको समाधिस्थ करके सच्चिदानन्दमय भगवत्स्वरूपसे अन्य किसी विषयका चिन्तन न करे, वही विष्णुका परमपद है, जहाँ पहुँचकर मन प्रसन्न—सच्चिदानन्दस्वरूप हो जाता है ॥१९॥ [उपर्युक्त प्रकारसे अपने मनको भगवत्स्वरूपमें लगाते समय] यदि वह रजोगुणसे विक्षिप्त या तमोगुणसे मूढ़ हो जाय तो धीर पुरुषको चाहिये कि ऐसी योगधारणाके द्वारा, जो उन दोनों गुणोंके दोषोंको दूर कर देती है, मनको वशमें करे ॥२०॥ क्योंकि योगधारणा करते समय कल्याणमय आश्रयका चिन्तन करनेवाले योगीका भक्तिरूप योग शीघ्र ही सिद्ध हो जाता है ॥२१॥

राजा बोले—ब्रह्मन् ! जिस प्रकारकी धारणा मनुष्यके मनोमलको शीघ्र नष्ट कर देती है, और उसका जो श्रेष्ठ आश्रय है, तथा वह जिस प्रकार की जाती है यह सब हमसे बतलाइये ? ॥२२॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! [साधकको चाहिये कि] प्रथम आसन, प्राण, आसक्ति और इन्द्रियोंको जीते, फिर बुद्धिके द्वारा मनको भगवान्‌के स्थूल रूपमें स्थिर करे ॥२३॥ जिसमें यह भूत, भविष्यत् और वर्तमान सम्पूर्ण जगत् प्रतीत होता है वह ब्रह्माण्ड ही भगवान्‌का स्थूलसे भी स्थूल विशेष विग्रह है ॥२४॥ इस सात आवरणोंवाले ब्रह्माण्ड-शरीरमें जो भगवान् विराट् पुरुष हैं वही धारणाके आश्रय हैं ॥२५॥ विद्वान्‌लोग उन विराट् भगवान्‌के चरणोंके तलुओंको पाताल, पार्ष्णि (एड़ियों) और प्रपद (पादाग्र भागों) को रसातल, दोनों गुल्फों (टखनों) को महातल, जङ्घाओं (पींडियों) को तलातललोक

१. प्रा० पा०—मनुस्म० । २. प्रा० पा०—यस्यां । यह पाठान्तर मूल पाठकी अपेक्षा अधिक सुस्पष्ट है । 'यतः' पाठ रखनेपर भी सप्तमीके ही अर्थमें 'तस्' प्रत्यय मानकर 'यतः' का 'यस्याम' अर्थ करना पड़ता है । ३. प्रा० पा०—अण्डकोशे । ४. प्रा० पा०—संयुतः ।

द्वे जानुनी सुतलं विश्वमूर्ते-
रूरुद्वयं वितलं चातलं च ।
महीतलं तज्जघनं[1] महीपते
नभस्तलं नाभिसरो गृणन्ति ॥२७॥
उरःस्थलं ज्योतिरनीकमस्य
ग्रीवा महर्वदनं वै जनोऽस्य ।
तपो रराटीं[2] विदुरादिपुंसः
सत्यं तु शीर्षाणि सहस्रशीर्ष्णः ॥२८॥
इन्द्रादयो बाहव आहुरुस्राः
कर्णौ दिशः श्रोत्रममुष्य शब्दः ।
नासत्यदस्रौ परमस्य नासे[3]
घ्राणोऽस्य[4] गन्धो मुखमग्निरिद्धः ॥२९॥
द्यौरक्षिणी चक्षुरभूत्पतङ्गः
पक्ष्माणि विष्णोरहनी उभे च ।
तद्भ्रूविजृम्भः परमेष्ठिधिष्ण्य-
मापोऽस्य तालू रस एव जिह्वा ॥३०॥
छन्दांस्यनन्तस्य शिरो गृणन्ति
दंष्ट्रा यमः स्नेहकला[5] द्विजानि ।
हासो जनोन्मादकरी च[6] माया
दुरन्तसर्गो यदपाङ्गमोक्षः ॥३१॥
व्रीडोत्तरोष्ठोऽधर एव लोभो
धर्मः स्तनोऽधर्मपथोऽस्य[7] पृष्ठः ।
कस्तस्य मेढ्रं वृषणौ च मित्रौ[8]
कुक्षिः समुद्रा गिरयोऽस्थिसङ्घाः ॥३२॥
नद्योऽस्य नाड्योऽथ तनूरुहाणि
महीरुहा विश्वतनोर्नृपेन्द्र ।
अनन्तवीर्यः श्वसितं मातरिश्वा
गतिर्वयः कर्म गुणप्रवाहः ॥३३॥
ईशस्य केशान्विदुरम्बुवाहा-
न्वासस्तु सन्ध्यां कुरुवर्य भूम्नः ।
अव्यक्तमाहुर्हृदयं मनश्च
स चन्द्रमाः सर्वविकारकोशः ॥३४॥
विज्ञानशक्तिं महिमामनन्ति
सर्वात्मनोऽन्तःकरणं गिरित्रम् ।

कहते हैं ॥२६॥ हे राजन् ! उन्हीं विश्वमूर्तिके दोनों जानुओं (घुटनों) को सुतल, ऊरुओंको वितल और अतल, जघन देश (कटिके निम्न भाग) को भूतल और नाभिदेशको आकाश कहते हैं ॥२७॥ उन आदिपुरुषके हृदयस्थलको स्वर्लोक, ग्रीवाको महर्लोक, मुखको जनलोक और ललाटको तपोलोक कहते हैं, तथा उन सहस्र शिरवाले भगवान्‌के शिर ही सत्यलोक हैं ॥२८॥ इन्द्रादि देवगण उन परम पुरुषके बाहु हैं, दिशाएँ कर्ण हैं, और शब्द श्रवणेन्द्रिय है। अश्विनीकुमार उनकी नासिकाके छिद्र हैं, गन्ध घ्राणेन्द्रिय है, और प्रज्वलित अग्नि उनका मुख है ॥२९॥ उन भगवान् विष्णुके नेत्रगोलक अन्तरिक्ष हैं, चक्षु-इन्द्रिय सूर्य हैं और दोनों पलक रात्रि-दिन हैं; उनका भृकुटिविलास ब्रह्मलोक है, तालु जल है और जिह्वा रस है ॥३०॥ वेदोंको भगवान् अनन्तके मस्तक कहते हैं, यमको डाढ़ें, स्नेह-कलाको दाँत और जगन्मोहिनी मायाको ही मुसकान कहते हैं, जिसका कटाक्ष-विक्षेप ही अनन्त सृष्टि है ॥३१॥ लज्जा उनका ऊपरका ओष्ठ है, लोभ नीचेका अधर है, धर्म स्तन है और अधर्ममार्ग उनकी पीठ है, प्रजापति भगवान्‌की लिङ्गेन्द्रिय हैं, मित्रावरुण अण्डकोश हैं, समुद्र कुक्षि है और पर्वतसमूह उनकी अस्थियाँ हैं ॥३२॥ हे राजेन्द्र ! नदियाँ उन विश्वरूप विराट् पुरुषकी नाडियाँ हैं, वृक्ष रोम हैं, परम प्रबल वायु श्वास है, काल गति है तथा गुणप्रवाह उनका कर्म है ॥३३॥ हे कुरुश्रेष्ठ ! मेघमालाको भगवान्‌का केश-कलाप, सन्ध्या समयको सर्वव्यापक प्रभुका वस्त्र, अव्यक्त (मूलप्रकृति) को उनका हृदय और चन्द्रमा-को ही सम्पूर्ण विकारसमूहका आश्रयभूत मन कहते हैं ॥३४॥ महत्तत्त्वको सर्वात्मा हरिका चित्त और भगवान् रुद्रको उनका अन्तःकरण बतलाते हैं; घोड़े, खच्चर,

१. प्रा० पा०—तज्जघने । २. प्रा० पा०—ललाटं । मूल पाठकी अपेक्षा प्रसिद्ध और स्पष्टार्थक होनेके कारण यह पाठान्तर अधिक उपयुक्त है । ३. प्रा० पा०—नासा । ४. प्रा० पा०—घ्राणं च । ५. प्रा० पा०—स्वेदकला द्विजालयः । ६. प्रा० पा०—हि । ७. प्रा० पा०—धर्मपथः स्वपृष्ठः । ८. प्रा० पा०—मित्रः ।

अश्वाश्वतर्युष्ट्रगजा नखानि
सर्वे मृगाः पशवः श्रोणिदेशे[1] ॥३५॥
वयांसि तद्व्याकरणं विचित्रं
मनुर्मनीषा मनुजो निवासः ।
गन्धर्वविद्याधरचारणाप्सरः-
स्वरस्मृतीरसुरानीकवीर्यः[2] ॥३६॥
ब्रह्माननं क्षत्रभुजो महात्मा
विड्ऊरुरङ्घ्रिश्रितकृष्णवर्णः ।
नानाभिधाभीज्यगणोपपन्नो
द्रव्यात्मकः कर्म वितानयोगः ॥३७॥
इयानसावीश्वरविग्रहस्य
यः सन्निवेशः कथितो मया ते ।
संधार्यतेऽस्मिन्वपुषि स्थविष्ठे
मनः स्वबुद्ध्या न यतोऽस्ति किञ्चित् ॥३८॥
स सर्वधीवृत्त्यनुभूतसर्व
आत्मा यथा स्वप्नजनेक्षितैकः ।
तं सत्यमानन्दनिधिं भजेत
नान्यत्र सज्जेद्यत आत्मपातः ॥३९॥

ऊँट और हाथी भगवान्‌के नख हैं तथा सम्पूर्ण वन्य पशु उनके कटिदेश हैं ॥३५॥ पक्षिगण उनके विचित्र रचनाकौशल हैं, स्वायम्भुव मनु बुद्धि हैं, मनुसे उत्पन्न हुए समस्त प्राणी निवासस्थान हैं, गन्धर्व, विद्याधर, चारण और अप्सराएँ स्वर और स्मरणशक्ति हैं तथा दैत्यगण उनके वीर्य हैं ॥३६॥ ब्राह्मण भगवान्‌का मुख हैं, क्षत्रिय भुजाएँ हैं, वैश्य ऊरु हैं और शूद्र चरण हैं तथा विविध देवताओंके नामोंसे सम्पन्न होनेवाला द्रव्यमय यज्ञानुष्ठान उनका कर्म है ॥३७॥ हे राजन् ! विराट् भगवान्‌के स्थूल शरीरका यही स्वरूप है सो मैंने तुम्हें सुना दिया । इससे भिन्न और कोई वस्तु नहीं है । इस स्थूल रूपमें ही मनको बुद्धिके द्वारा स्थिर करना चाहिये ॥३८॥ जिस प्रकार स्वप्न-पुरुष स्वप्नमें अपने-आपको ही [विविध पदार्थोंके रूपमें] देखता है, उसी प्रकार समस्त बुद्धिवृत्तियोंके द्वारा अनुभव होनेवाले सम्पूर्ण पदार्थ भगवद्रूप ही हैं । अतः एकमात्र उन सत्यस्वरूप आनन्दनिधि भगवान्‌का ही भजन करना चाहिये; किसी अन्य पदार्थमें आसक्त न होना चाहिये, क्योंकि भगवान्‌के सिवा अन्यत्र आसक्तिसे आत्माका अधःपतन होता है ॥३९॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे द्वितीयस्कन्धे महापुरुष-[3]
संस्थानुवर्णने प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

दूसरा अध्याय

सद्योमुक्ति और क्रममुक्तिका निरूपण ।

श्रीशुक उवाच

एवं पुरा धारणयात्मयोनि-
र्नष्टां स्मृतिं प्रत्यवरुध्य तुष्टात् ।
तथा ससर्जेदममोघदृष्टि-
र्यथाप्ययात्प्राग्व्यवसायबुद्धिः[4] ॥ १ ॥
शाब्दस्य[5] हि ब्रह्मण एष पन्था
यन्नामभिर्ध्यायति धीरपार्थैः ।

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! पूर्वकालमें आत्मयोनि ब्रह्माजीने इसी धारणासे सन्तुष्ट हुए श्रीहरिसे अपनी नष्ट हुई स्मृति पुनः प्राप्त की थी, जिससे उन अमोघज्ञानवान् स्थिरमति विधाताने इस जगत्‌को जैसा यह प्रलयकालसे पहले था वैसा ही रच दिया ॥ १ ॥ शब्दब्रह्म (वेद) के कर्मफलवर्णनकी ऐसी शैली है जिसके कारण बुद्धि उन फलोंके स्वर्ग-

१. प्रा० पा०—श्रोणिदेशाः । २. प्रा० पा०—स्वरः स्मृतिर्वै भासुरानीकवीर्यः । ३. प्राचीन प्रतिमें 'महा' पाठ नहीं है । ४. प्रा० पा०—यथाश्रयात्प्राग् । ५. प्रा० पा०—शब्दस्य । प्रसिद्धिके अनुसार 'शब्दस्य' पाठ ही उपयुक्त है ।

परिश्रमस्तत्र न विन्दतेऽर्था-
न्मायामये वासनया शयानः ॥ २ ॥
अतः कविर्नामसु यावदर्थः
स्यादप्रमत्तो व्यवसायबुद्धिः ।
सिद्धेऽन्यथार्थे न यतेत तत्र
परिश्रमं तत्र[1] समीक्षमाणः ॥ ३ ॥
सत्यां क्षितौ किं कशिपोः प्रयासै-
र्बाहौ स्वसिद्धे[2] ह्युपबर्हणैः किम् ।
सत्यञ्जलौ किं पुरुधान्नपात्र्या
दिग्वल्कलादौ सति किं दुकूलैः ॥ ४ ॥
चीराणि किं पथि न सन्ति दिशन्ति भिक्षां
नैवाङ्घ्रिपाः परभृतः[3] सरितोऽप्यशुष्यन् ।
रुद्धा गुहाः किमजितोऽवति नोपसन्ना-
न्कस्माद्भजन्ति कवयो धनदुर्मदान्धान् ॥ ५ ॥
एवं स्वचित्ते स्वत एव सिद्ध
आत्मा प्रियोऽर्थो[4] भगवाननन्तः ।
तं[5] निर्वृतोऽनियतार्थो भजेत
संसारहेतूपरमश्च यत्र ॥ ६ ॥
कस्तां त्वनादृत्य परानुचिन्ता-
मृते पशूनसतीं नाम युञ्ज्यात् ।
पश्यञ्जनं पतितं वैतरण्यां
स्वकर्मजान्परितापाञ्छुषाणम् ॥ ७ ॥
केचित्स्वदेहान्तर्हृदयावकाशे[6]
प्रादेशमात्रं पुरुषं वसन्तम् ।

लोक, ब्रह्मलोक आदि बड़े-बड़े व्यर्थ नामोंसे मोहित होकर उनका चिन्तन करने लगती है; किन्तु उन मायामय लोकोंमें वासनावश घूमते हुए पुरुषको कहीं भी यथार्थ सुख नहीं मिलता ॥ २ ॥ अतः विद्वान् मनुष्यको चाहिये कि भोग्य पदार्थोंका उतना ही उपार्जन करे जिसमें शरीरयात्राका निर्वाह हो, उनमें भी 'ये सुखके साधन नहीं हैं' ऐसा निश्चय करके अनासक्त रहे। यदि वे पदार्थ बिना प्रयत्न ही प्राप्त हो जायँ तो उनके उपार्जनमें व्यर्थ परिश्रम समझकर उनके लिये कोई प्रयत्न न करे ॥ ३ ॥ पृथिवीके रहते हुए किसी अन्य बिछौनेके लिये प्रयास करनेकी क्या आवश्यकता है? स्वतःसिद्ध भुजाओंके रहते हुए तकियोंसे क्या प्रयोजन है? अञ्जलि है तो [अन्न या जलके लिये] नाना प्रकारके पात्रोंसे क्या काम है? तथा दिशाओं और वल्कल आदिके रहते हुए वस्त्रोंकी क्या आवश्यकता है? ॥ ४ ॥ क्या रास्तोंमें चिथड़े नहीं हैं? सदा दूसरोंका पोषण करनेवाले वृक्षोंने क्या फल-फूलकी भिक्षा देना बन्द कर दिया है? क्या नदियाँ सूख गयी हैं? रहनेके लिये क्या पर्वतोंकी गुफाएँ बन्द हो गयी हैं? तथा भगवान्‌ने क्या अपने शरणागतोंका पालन करना छोड़ दिया है? फिर बुद्धिमान् लोग इन धनमदान्धोंकी आराधना क्यों करते हैं? ॥ ५ ॥ इस प्रकार विरक्त होकर जो परम प्रिय सत्य आत्मारूप भगवान् अनन्त अपने अन्तःकरणमें स्वयं ही अन्तर्यामीरूपसे विराजमान हैं उन्हींका दृढ़ निश्चयपूर्वक आनन्दमग्न होकर भजन करे। इससे संसारका कारण अज्ञान नष्ट हो जाता है ॥६॥ पशुके अतिरिक्त दूसरा ऐसा कौन है जो उस परमात्मचिन्तनको छोड़कर लोगोंको इस (संसाररूप) वैतरणी नदीमें अपने कर्म-फलरूप दुःख भोगते देखकर भी विषय-भोगोंमें ही चित्त लगावेगा? ॥ ७ ॥ कोई साधक अपने शरीरके भीतर हृदयाकाशमें विराजमान प्रादेशमात्र पुरुषका इस प्रकार धारणापूर्वक चिन्तन

१. प्रा० पा०—त्वत्र। २. प्रा० पा०—बाहौ च सिद्धे। ३. प्रा० पा०—फलभृतः। यह पाठान्तर अधिक उपयुक्त है; क्योंकि फलवाले वृक्ष ही भिक्षा दे सकते हैं, सभी नहीं; अतः 'अङ्घ्रिपाः' का 'फलभृतः' विशेषण होना आवश्यक है। ४. प्रा० पा०—प्रियार्थो। ५. प्रा० पा०—सुनिर्वृतो। ६. प्रा० पा०—केचित्स्वदेहेऽन्तर्हृदोऽवकाशे।

श्रीविष्णु भगवान्

[पृष्ठ १५१

चतुर्भुजं कञ्जरथाङ्गशङ्ख-
गदाधरं धारणया स्मरन्ति ॥ ८ ॥
प्रसन्नवक्त्रं नलिनायतेक्षणं
कदम्बकिञ्जल्कपिशङ्गवाससम् ।
लसन्महारत्नहिरण्मयाङ्गदं[1]
स्फुरन्महारत्नकिरीटकुण्डलम् ॥ ९ ॥
उन्निद्रहृत्पङ्कजकर्णिकालये[2]
योगेश्वरास्थापितपादपल्लवम् ।
श्रीलक्ष्मणं कौस्तुभरत्नकन्धर-
मम्लानलक्ष्म्या वनमालयाञ्चितम् ॥ १० ॥
विभूषितं मेखलयाङ्गुलीयकै-
र्महाधनैर्नूपुरकङ्कणादिभिः ।
स्निग्धामलाकुञ्चितनीलकुन्तलै-[3]
र्विरोचमानाननहासपेशलम् ॥ ११ ॥
अदीनलीलाहसितेक्षणोल्लसद्-
भ्रूभङ्गसंसूचितभूर्यनुग्रहम् ।
ईक्षेत चिन्तामयमेनमीश्वरं[4]
यावन्मनो धारणयावतिष्ठते ॥ १२ ॥
एकैकशोऽङ्गानि धियानुभावयेत्[5]
पादादि यावद्धसितं गदाभृतः ।
जितं जितं स्थानमपोह्य धारयेत्
परं परं शुद्ध्यति[6] धीर्यथा यथा ॥ १३ ॥
यावन्न जायेत परावरेऽस्मि-
न्विश्वेश्वरे द्रष्टरि भक्तियोगः ।
तावत्स्थवीयः पुरुषस्य रूपं
क्रियावसाने प्रयतः स्मरेत ॥ १४ ॥
स्थिरं सुखं चासनमाश्रितो यति-
र्यदा जिहासुरिममङ्ग लोकम् ।

करते हैं कि वे अपनी चार भुजाओंमें शङ्ख, चक्र, गदा और पद्म धारण किये हुए हैं ॥ ८ ॥ उनका मुखकमल प्रसन्न है, नेत्र कमलदलके समान विशाल हैं, तथा वे कदम्बकेसरके समान पीत वस्त्र धारण किये हुए हैं, उनकी भुजाओंमें बहुमूल्य रत्नोंसे जटित सोनेके बाजूबन्द सुशोभित हैं तथा सिरपर बहुमूल्य मणिमय मुकुट और कानोंमें कुण्डल झिलमिला रहे हैं ॥ ९ ॥ उनके चरणकमल योगेश्वरोंद्वारा अपने विकसित हृदयकमलकी कर्णिकापर स्थापित किये गये हैं तथा उनके वक्षःस्थलमें श्रीवत्सचिह्न और कण्ठमें कौस्तुभमणि है और वे कभी फीकी न पड़नेवाली कान्तिमयी वनमालासे सुशोभित हैं ॥ १० ॥ वे मेखला, अंगूठी तथा बहुमूल्य नूपुर, कङ्कण आदि आभूषणोंसे विभूषित हैं, उनका मधुर-मुसकानमय मनोहर मुख अति स्वच्छ, नीली, चिकनी और घुँघुराली अलकोंसे शोभायमान है ॥ ११ ॥ तथा उदारलीलामयी मुसकानयुक्त चितवनसे सुशोभित उनका भृकुटिविलास भक्तजनोंपर महान् अनुग्रह प्रकट कर रहा है । ऐसे ध्यानगम्य भगवान्‌का योगी तबतक चिन्तन करे जबतक कि मन इस धारणाके द्वारा स्थिर न हो जाय ॥ १२ ॥ भगवान्‌के चरणों-से लेकर उनके मृदु मुसकानमय मुखारविन्दपर्यन्त प्रत्येक श्रीअङ्गकी क्रमशः बुद्धिके द्वारा भावना करे । बुद्धि ज्यों-ही-ज्यों शुद्ध होती जाय और ऐसा होनेसे जो-जो अङ्ग बिना प्रयत्नके ध्यानमें स्थिर होता जाय उस-उसको छोड़कर अगले श्रीअङ्गका चिन्तन करे ॥ १३ ॥ हे राजन् ! जबतक ब्रह्मादि देवताओंसे भी महान् सर्वसाक्षी जगदीश्वरमें प्रेममय भक्तियोग प्राप्त न हो तबतक साधकको नित्य, नैमित्तिक कर्मोंके अनन्तर नियमपूर्वक भगवान्‌के स्थूल रूपका चिन्तन करते रहना चाहिये ॥ १४ ॥ हे राजन् ! जब वह योगी इस लोकको छोड़ना चाहे तब मनमें देश-

१. प्रा० पा०—महाहारहिरण्मया० । २. प्रा० पा०—कर्णिकालयम् । ३. प्रा० पा०—स्निग्धामलैः । ४. प्रा० पा०—मयमेतमीश्व० । ५. प्रा० पा०—भावयन्पादा० । ६. प्रा० पा०—चात्मनि ।

काले च देशे च मनो न सञ्जयेत्
प्राणं[1] नियच्छेन्मनसा जितासुः ॥१५॥
मनः[2] स्वबुद्ध्यामलया नियम्य
क्षेत्रज्ञ[3] एतां निनयेत्तमात्मनि ।
आत्मानमात्मन्यवरुध्य धीरो
लब्धोपशान्तिर्विरमेत कृत्यात् ॥१६॥
न यत्र कालोऽनिमिषां परः[4] प्रभुः
कुतो नु देवा जगतां य ईशिरे ।
न यत्र सत्त्वं न रजस्तमश्च
न वै विकारो[5] न महान्प्रधानम् ॥१७॥
परं[6] पदं वैष्णवमामनन्ति त-
द्यन्नेति नेतीत्यतदुत्सिसृक्षवः ।
विसृज्य दौरात्म्यमनन्यसौहृदा
हृदोपगुह्यार्हपदं पदे पदे ॥१८॥
इत्थं मुनिस्तूपरमेद्व्यवस्थितो
विज्ञानदृग्वीर्यसुरन्धिताशयः ।
स्वपार्ष्णिनापीड्य गुदं ततोऽनिलं
स्थानेषु षट्सून्नमयेज्जितक्लमः ॥१९॥
नाभ्यां स्थितं हृद्यधिरोप्य तस्मा-
दुदानगत्योरसि तं नयेन्मुनिः ।
ततोऽनुसंधाय धिया मनस्वी
स्वतालुमूलं शनकैर्नयेत ॥२०॥

काल का विचार न करे, स्थिर और सुखद आसनपर बैठे तथा इन्द्रियोंको जीतकर मनद्वारा प्राणोंका संयम करे ॥ १५ ॥ अपनी विशुद्ध बुद्धिसे मनका संयमकर उस मनसहित बुद्धिको क्षेत्रज्ञ अन्तरात्मामें लीन करे तथा अन्तरात्माको परमात्मामें स्थिर करके धीर पुरुष पूर्ण शान्ति प्राप्तकर चेष्टारहित हो जाय ॥१६॥ वहाँ सत्त्व, रज, तम ये तीनों गुण, अहङ्कार, महत्तत्त्व, या प्रधान (मूल प्रकृति) कुछ भी नहीं है । उसमें देवताओंके नियामक कालकी भी दाल नहीं गलती फिर देवता और उनके नियम्य अन्य प्राणियोंका तो कहना ही क्या है ? ॥ १७ ॥ नेति-नेति वाक्यके द्वारा अनात्मपदार्थोंको त्यागनेकी इच्छावाले अनन्य प्रेमी योगीजन लौकिक आसक्तिको छोड़कर जिस पूजनीय परमपदका पद-पदपर हृदयसे आलिङ्गन करते हैं इसीको 'शास्त्र' भगवान् विष्णुका परमपद बतलाते हैं ॥ १८ ॥ ज्ञानदृष्टिके बलसे जिसका अन्तःकरण सर्वथा वासनाहीन हो गया है वह जितेन्द्रिय योगी अपने शरीरको इस प्रकार त्यागे ।* प्रथम गुदाको एड़ीसे दबाकर स्थिर हो और फिर अनुद्विग्नभावसे प्राणवायुको छहों चक्रोंद्वारा ऊपर ले जाय ॥ १९ ॥ योगी नाभि (मणिपूरक-चक्र) में स्थित वायुको हृदय (अनाहतचक्र) में ले जाय । वहाँसे उदानवायुद्वारा उसे वक्षःस्थल (विशुद्धि-चक्र) में चढ़ावे । फिर वह मनस्वी मुनि अपनी विशुद्ध बुद्धिकी सहायतासे उस वायुको धीरे-धीरे तालुमूल (विशुद्धिचक्रके अग्रभाग) में ले जाय ॥ २० ॥

---

१. प्रा० पा०—प्राणान् । प्राण शब्दमें बहुवचनका प्रयोग ही उचित है । २. प्रा० पा०—मनश्च बुद्ध्या । ३. प्रा० पा०—क्षेत्रज्ञमेतं निनयेद्य आत्मनि । ४. प्रा० पा०—प्रभुः । ५. प्रा० पा०—विकाराः । ६. प्रा० पा०—पदं परं ।

* मूलका 'तु' शब्द दूसरे प्रकारकी सूचना करता है । यह हठयोगादिरूप भिन्न प्रकार है । यह पहले प्रकारसे बहुत श्रमसाध्य है, अतएव 'जितक्लमः' कहा है । इसमें प्राणके छः स्थानोंमें वायुको ले जाकर तालुमूलसे देहका त्याग समझ-बूझकर करना होता है । यह भी बड़े अभ्यासका काम है । गुदामें मूलाधारस्थान है, यह चतुर्दल कमल है । लिङ्गमें स्वाधिष्ठानस्थान है, यह षड्दल कमल है । नाभिमें मणिपूरकस्थान है, यह अष्टदल कमल है । हृदयमें अनाहत-स्थान है, यह द्वादशदल कमल है । तालुमूलमें विशुद्धिस्थान है, यह षोडशदल कमल है । और भौंहोंके मध्यमें आज्ञास्थान है, यह द्विदल कमल है । नाभिपर्यन्त स्थानोंकी सरलता है, तदनन्तर वक्रता है, इसलिये ही अधोमुख हृत्पुण्डरीकको वायुके द्वारा ऊर्ध्वमुख करना पड़ता है अतएव सर्वत्र 'शनैः' पद दिया है ।

तस्माद्भ्रुवोरन्तरमुन्नयेत
निरुद्धसप्तायतनोऽनपेक्षः ।
स्थित्वा मुहूर्तार्धमकुण्ठदृष्टि-
र्निर्भिद्य मूर्धन्विसृजेत्परं गतः ॥२१॥

यदि प्रयास्यन्नृप पारमेष्ठ्यं
वैहायसानामुत यद्विहारम् ।
अष्टाधिपत्यं गुणसन्निवाये
सहैव गच्छेन्मनसेन्द्रियैश्च ॥२२॥
योगेश्वराणां गतिमाहुरन्त-
र्बहिस्त्रिलोक्याः पवनान्तरात्मनाम् ।
न कर्मभिस्तां गतिमाप्नुवन्ति
विद्यातपोयोगसमाधिभाजाम् ॥२३॥
वैश्वानरं याति विहायसा गतः
सुषुम्नया ब्रह्मपथेन शोचिषा ।
विधूतकल्कोऽथ हरेरुदस्तात्
प्रयाति चक्रं नृप शैशुमारम् ॥२४॥
तद्विश्वनाभिं त्वतिवर्त्य विष्णो-
रणीयसा विरजेनात्मनैकः ।
नमस्कृतं ब्रह्मविदामुपैति
कल्पायुषो यद्विबुधा रमन्ते ॥२५॥
अथो अनन्तस्य मुखानलेन
दन्दह्यमानं स निरीक्ष्य विश्वम् ।
निर्याति सिद्धेश्वरजुष्टधिष्ण्यं
यद् द्वैपरार्ध्यं तदु पारमेष्ठ्यम् ॥२६॥
न यत्र शोको न जरा न मृत्यु-
र्नार्तिर्न चोद्वेग ऋते कुतश्चित् ।

तदनन्तर शिरके सातों* छिद्रोंको रोककर, उस तालुमूलस्थित वायुको भृकुटिके मध्य (आज्ञाचक्र) में ले जाय । यदि आगे कहे जानेवाले लोकोंकी इच्छा न हो तो वहाँ उस वायुको आधे मुहूर्त्त रोककर अकुण्ठित दृष्टिसे परमात्मामें स्थित होकर ब्रह्मरन्ध्रको भेदकर शरीरेन्द्रियादिको छोड़ दे ॥ २१ ॥†

हे राजन् ! यदि योगीकी ब्रह्मलोकको जानेकी इच्छा हो अथवा आकाशचारी सिद्धोंके क्रीडास्थलमें, जहाँ अणिमा आदि आठों सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं, वहाँ या गुणोंके समुदायरूप समस्त ब्रह्माण्डमें जहाँ कहीं भी विचरनेकी अभिलाषा हो तो वह मन और इन्द्रियोंको साथ ही लेकर जाय ॥ २२ ॥ जिनका शरीर वायुमय होता है उन विद्या, तप, योग और समाधिका सेवन करनेवाले योगियोंकी त्रिलोकीके बाहर-भीतर स्वच्छन्द गति होती है । उस गतिको कर्मोंसे कोई नहीं पा सकते ॥ २३ ॥ हे राजन् ! वह निर्मल योगी ज्योतिर्मय मार्ग सुषुम्ना नाड़ीके द्वारा आकाशमें ब्रह्मलोकके मार्गसे चलकर प्रथम अग्निलोकमें जाता है । फिर वहाँसे ऊपर स्थित श्रीहरिके शिशुमार नामक ज्योतिर्मय चक्रको प्राप्त होता है ॥ २४ ॥ संसारके आधाररूप उस विष्णुचक्रको पारकर योगी अपने परम सूक्ष्म और निर्मल लिङ्गदेहकी सहायतासे अकेला ही ब्रह्मवेत्ताओंके सर्ववन्दित (महः) लोकको जाता है, जहाँ कल्पान्ततक जीवित रहनेवाले [भृगु आदि] देवतालोग विहार करते हैं ॥ २५ ॥ तदनन्तर प्रलयकालमें भगवान् शेषके मुखसे निकले हुए अग्निद्वारा विश्वको जलते देख वह ब्रह्माजीकी दो परार्द्ध आयु-पर्यन्त रहनेवाले ब्रह्मलोकमें चला जाता है जहाँ कि सेवित सिद्धेश्वरोंद्वारा विमान सुशोभित होते हैं ॥ २६ ॥ इस परमपदको न जाननेवाले लोगोंका दुरन्त दुःखमय जन्म-बन्धन देख-देखकर उनके प्रति दयावश हृदयमें होनेवाली समवेदनाको छोड़कर

१. प्रा० पा०—प्रयास्यन्नथ । २. प्रा० पा०—विहारान् । ३. प्रा० पा०—तत्कर्म० । ४. प्रा० पा०—ब्रह्मपदेन । ५. प्रा० पा०—योऽर्चिषा । ६. प्रा० पा०—विबुधा यद्रमन्ते । ७. प्रा० पा०—विश्वेश्वर० ।

* दो आँख, दो कान, दो नासिकारन्ध्र और एक मुख ।

† यहाँतक सद्योमुक्तिका वर्णन किया गया है, आगे क्रममुक्तिका प्रकार बतलाते हैं ।

यच्चित्ततोदः कृपयानिदंविदां
दुरन्तदुःखप्रभवानुदर्शनात् ॥२७॥
ततो विशेषं प्रतिपद्य निर्भय-
स्तेनात्मनापोऽनलमूर्तिरत्वरन् ।
ज्योतिर्मयो वायुमुपेत्य काले
वाय्वात्मना खं बृहदात्मलिङ्गम् ॥२८॥
घ्राणेन गन्धं रसनेन वै रसं
रूपं तु दृष्ट्या श्वसनं त्वचैव ।
श्रोत्रेण चोपेत्य नभोगुणत्वं
प्राणेन चाकूतिमुपैति योगी ॥२९॥
स[1] भूतसूक्ष्मेन्द्रियसंनिकर्षं
मनोमयं देवमयं विकार्यम् ।
संसाद्य गत्या सह तेन याति
विज्ञानतत्त्वं गुणसंनिरोधम् ॥३०॥
तेनात्मनात्मानमुपैति शान्त-
मानन्दमानन्दमयोऽवसाने ।
एतां गतिं भागवतीं गतो यः
स वै पुनर्नेह विषज्जतेऽङ्ग ॥३१॥

और किसी प्रकारका शोक, बुढ़ापा, मृत्यु, कष्ट या उद्वेग वहाँ नहीं है ॥ २७ ॥* सत्यलोकमें पहुँचनेपर वह योगी [विष्णुपद प्राप्त करनेके लिये ब्रह्माण्डके सात आवरणोंको इस प्रकार पार करता है] प्रथम अपने सूक्ष्म शरीरसे निर्भय होकर पृथिवीरूप आवरणमें मिलता है, तदनन्तर उतावली न करते हुए पृथिवीरूपसे जलको और जलरूपसे अग्निमय आवरणोंको प्राप्त होकर वह ज्योतिर्मयस्वरूपसे वायुरूप आवरणमें जाता है, और वहाँसे भोग समाप्त होनेपर वायुरूपसे वह ब्रह्मकी मूर्तिरूप महान् आकाशमें लीन हो जाता है ॥ २८ ॥ इस प्रकार स्थूल आवरणोंको पार करते समय वह अपनी घ्राणसे गन्धतन्मात्रा, रसनासे रसतन्मात्रा, नेत्रसे रूपतन्मात्रा, त्वचासे स्पर्शतन्मात्रा, श्रोत्रसे शब्दतन्मात्रा और प्राण (कर्मेन्द्रियों) से उनको क्रिया-शक्तिको प्राप्त होता है । [अर्थात् अपनी भिन्न-भिन्न इन्द्रियोंको उनके सूक्ष्म अधिष्ठानमें लीन करता है] ॥ २९ ॥ इस प्रकार पञ्चभूतावरणोंको पारकर वह अहङ्कारमें प्रवेश करता है । उस समय वह भूत-सूक्ष्मोंको तामस अहङ्कारमें, इन्द्रियोंको राजस अहङ्कारमें, तथा मन और इन्द्रियोंके अधिष्ठाता देवताओंको सात्त्विक अहङ्कारमें लीन कर देता है । फिर अहङ्कारके सहित लयरूप गतिके द्वारा महत्तत्त्वमें प्रवेशकर अन्तमें गुणोंके लयस्थान प्रकृतिमय आवरणमें जा मिलता है ॥ ३० ॥ हे प्रिय ! वहाँ प्रधानरूपसे रहता हुआ वह योगी उस (प्रधानके भी) लय हो जानेपर स्वयं आनन्दमय होकर शान्तानन्दस्वरूप परमात्माको प्राप्त हो जाता है । जो पुरुष इस परमात्मगतिको प्राप्त होता है वह फिर संसारमें नहीं आता ॥ ३१ ॥

१. प्राचीन प्रतिमें 'स भूतसूक्ष्मे०·····से लेकर·····ऽवसाने' तक डेढ़ श्लोककी जगह कुछ परिवर्तनके साथ दो चरण और बढ़ाकर पूरे दो श्लोक मिलते हैं, यथा—

'स भूतसूक्ष्मेन्द्रियसन्निकर्षात् सनातनोऽसौ भगवाननादिः ।
अनामयं देवमयं विकार्यं संसाद्य गत्या सह तेन याति ॥ १ ॥
विज्ञानतत्त्वं गुणसन्निरोधं तेनात्मनात्मानमुपैति शान्तम् ।
आनन्दमानन्दमयोऽवसाने सर्वात्मके ब्रह्मणि वासुदेवे ॥ २ ॥'

इसके आगे मूलके ही अनुसार है ।

* ब्रह्मलोकमें गये हुए योगियोंकी तीन गतियाँ हैं । जो अपने पुण्यकर्मके प्रभावसे सत्यलोक प्राप्त करते हैं वे दूसरे कल्पमें (इन्द्र, मनु आदि) बड़े-बड़े अधिकारी होते हैं; जो हिरण्यगर्भकी उपासनासे वहाँ पहुँचते हैं वे कल्पान्तपर्यन्त वहाँ रहकर अन्तमें ब्रह्माजीके साथ मुक्त हो जाते हैं, और भगवत्पदके अभिलाषी क्रममुक्तिके क्रमसे वहाँ जाते हैं, वे ब्रह्माण्डको भेदकर परमपद लाभ करते हैं । आगे तीसरे प्रकारके योगियोंकी गतिका वर्णन किया जाता है ।

एते सृती ते नृप वेदगीते
त्वयाभिपृष्टे ह[1] सनातने च ।
ये[2] वै पुरा ब्रह्मण आह पृष्ट
आराधितो भगवान्वासुदेवः ॥३२॥

हे राजन् ! तुम्हारे प्रश्नके अनुसार ये सद्योमुक्ति और क्रममुक्ति नामक दो सनातन वेदोक्त मार्गोंका वर्णन किया । इन्हें पूर्वकालमें ब्रह्माजीके पूछनेपर उनकी आराधनासे प्रसन्न हुए भगवान् वासुदेवने उनसे कहा था ॥ ३२ ॥

न ह्यतोऽन्यः शिवः पन्था विशतः संसृताविह ।
वासुदेवे भगवति भक्तियोगो यतो भवेत् ॥३३॥

इस संसार-कूपमें पड़े हुए प्राणीके कल्याणका इससे बढ़कर दूसरा कोई मार्ग नहीं है, जिससे भगवान् वासुदेवमें विशुद्ध भक्ति हो जाय ॥ ३३ ॥

भगवान्ब्रह्म कार्त्स्न्येन त्रिरन्वीक्ष्य मनीषया ।
तदध्यवस्यत्कूटस्थो रतिरात्मन्यतो भवेत् ॥३४॥

भगवान् ब्रह्माने भी एकाग्रचित्त होकर वेदोंका तीन बार निरीक्षण करके अपनी ऋतम्भरा बुद्धिसे यही निश्चय किया कि जिससे अपने आत्मरूप श्रीहरिमें प्रेम हो वही धर्म श्रेष्ठ है ॥ ३४ ॥

भगवान्सर्वभूतेषु लक्षितः स्वात्मना हरिः ।
दृश्यैर्बुद्ध्यादिभिर्द्रष्टा लक्षणैरनुमापकैः ॥३५॥

भगवान् हरि समस्त प्राणियोंमें उनके अन्तरात्मारूपसे विराजमान हैं, क्योंकि बुद्धि आदि दृश्य पदार्थोंसे, जो किसी द्रष्टाका अनुमान करानेवाले लक्षण हैं, उन सर्वसाक्षीकी सत्ता सिद्ध होती है । [अर्थात् मन-बुद्धि आदिके विकारोंकी प्रतीतिसे यह सिद्ध होता है कि उनका जाननेवाला कोई अन्तर्यामी साक्षी अवश्य है] ॥ ३५ ॥

तस्मात्सर्वात्मना राजन्हरिः सर्वत्र सर्वदा ।
श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च स्मर्तव्यो भगवान्नृणाम् ॥३६॥

अतः हे राजन् ! मनुष्योंको सर्वत्र, सदा, सब प्रकार भगवान् श्रीहरिका ही श्रवण, कीर्तन और स्मरण करना चाहिये ॥ ३६ ॥

पिबन्ति ये भगवत आत्मनः सतां
कथामृतं श्रवणपुटेषु[3] संभृतम् ।
पुनन्ति ते विषयविदूषिताशयं
व्रजन्ति तच्चरणसरोरुहान्तिकम् ॥३७॥

जो महाभाग सत्पुरुषोंके आत्मारूप भगवान् श्रीहरिके कथामृतका अपने श्रवणपुटों (दोनों) में भर-भरकर पान करते हैं, वे अपने विषयदूषित चित्तको पवित्र कर अन्तमें उन्हीं (भगवान् श्रीकृष्ण) के चरणकमलकी सन्निधि प्राप्त करते हैं ॥३७॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे द्वितीयस्कन्धे
पुरुषसंस्थावर्णनं[4] नाम[5] द्वितीयोऽध्यायः ॥२॥

१. प्रा० पा०—च । २. प्रा० पा०—यद्वै । ३. प्रा० पा०—पुटेन । ४. प्रा० पा०—महापुरुष० । ५. प्राचीन प्रतिमें 'नाम' नहीं है ।

तीसरा अध्याय

भिन्न-भिन्न कामनाओंसे भिन्न-भिन्न देवताओंकी उपासनाका वर्णन तथा भगवद्भक्तिकी प्रधानताका निरूपण।

श्रीशुक उवाच

एवमेतन्निगदितं पृष्टवान्यद्भवान्मम ।
नृणां यन्म्रियमाणानां मनुष्येषु मनीषिणाम् ॥ १ ॥
ब्रह्मवर्चसकामस्तु यजेत ब्रह्मणस्पतिम् ।
इन्द्रमिन्द्रियकामस्तु[1] प्रजाकामः प्रजापतीन् ॥ २ ॥
देवीं मायां तु श्रीकामस्तेजस्कामो विभावसुम् ।
वसुकामो वसून्रुद्रान्वीर्यकामोऽथ वीर्यवान् ॥ ३ ॥
अन्नाद्यकामस्त्वदितिं[2] स्वर्गकामोऽदितेः सुतान् ।
विश्वान्देवान्राज्यकामः साध्यान्संसाधको विशाम् ४
आयुष्कामोऽश्विनौ देवौ पुष्टिकाम इलां यजेत् ।
प्रतिष्ठाकामः पुरुषो रोदसी लोकमातरौ ॥ ५ ॥
रूपाभिकामो गन्धर्वान्स्त्रीकामोऽप्सरउर्वशीम् ।
आधिपत्यकामः सर्वेषां यजेत परमेष्ठिनम् ॥ ६ ॥
यज्ञं यजेद्यशस्कामः कोशकामः प्रचेतसम् ।
विद्याकामस्तु गिरिशं दाम्पत्यार्थ उमां[3] सतीम् ॥ ७ ॥
धर्मार्थ[4] उत्तमश्लोकं तन्तुं[5] तन्वन्पितॄन्यजेत् ।
रक्षाकामः पुण्यजनानोजस्कामो मरुद्गणान् ॥ ८ ॥
राज्यकामो मनून्देवान्निर्ऋतिं त्वभिचरन्यजेत्[6] ।
कामकामो यजेत्सोममकामः पुरुषं परम्[7] ॥ ९ ॥
अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः ।
तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम् ॥१०॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन्! तुमने जो पूछा था कि मनुष्योंमें जो बुद्धिमान् हैं उन्हें मरते समय क्या करना चाहिये सो यह सब मैंने तुमसे कह दिया ॥१॥ [इसके अतिरिक्त] जिसे ब्रह्मतेजकी इच्छा हो वह ब्रह्माजीकी, जिसे इन्द्रिय-पटुताकी कामना हो वह इन्द्रकी और जिसे सन्तानकी इच्छा हो वह प्रजापतिकी उपासना करे ॥२॥ लक्ष्मीकी इच्छावाला माया देवीको, तेज चाहनेवाला सूर्यकी, धनकी कामनावाला वसुओंकी और वीर्यकी इच्छावाला प्रभावशाली पुरुष रुद्रोंकी पूजा करे ॥ ३ ॥ अन्नकी इच्छावाला अदितिको, स्वर्गकामी अदितिके पुत्र देवताओंको, राज्यकी कामनावाला विश्वेदेवोंको और जनताको अपने अधीन करनेकी इच्छावाला साध्य देवोंको भजे ॥ ४ ॥ जिसे आयुकी इच्छा हो वह अश्विनीकुमारोंका, जिसे पुष्टिकी इच्छा हो वह पृथिवीका तथा जो प्रतिष्ठा चाहता हो वह लोकमाता पृथिवी और आकाशका यजन करे ॥ ५ ॥ रूपकी इच्छावाला गन्धर्वोंका, स्त्रीकामी उर्वशी अप्सराका और सबके ऊपर आधिपत्य चाहनेवाला ब्रह्माजीका पूजन करे ॥६॥ यशकी इच्छावाला यज्ञपुरुषकी, कोष (खजाना) की इच्छावाला प्रचेताओंकी, विद्याभिलाषी महादेवजीकी और दाम्पत्य-सुखकी कामनावाला श्रीपार्वतीजीकी आराधना करे ॥ ७ ॥ धर्मलाभके लिये भगवान् विष्णुका, सन्तानवृद्धिके लिये पितृगणका, रक्षाके लिये यक्षोंका और ओजप्राप्तिके लिये मरुद्गणका पूजन करे ॥ ८ ॥ राज्यकी इच्छावाला मनु और देवताओंको, जादू-टोनाकी इच्छावाला निर्ऋतिको, कामकी कामनावाला चन्द्रमाको और निष्कामपुरुष परमपुरुष नारायणको भजे ॥ ९ ॥ कामनाहीन हो अथवा समस्त कामनाओंवाला हो या मोक्षकामी हो, बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि तीव्र भक्तियोगसे परम पुरुष भगवान्‌का ही भजन करे ॥ १० ॥

---

१. प्रा० पा०—कामाय। २. प्रा० पा०—·····त्वतिथिं। यह पाठान्तर उपयुक्त है; क्योंकि अदितिकी पूजा अप्रसिद्ध है और अतिथिकी पूजा (सत्कारादि) प्रसिद्ध एवं प्रचलित है। [श्रुति भी कहती है 'अतिथिदेवो भव।' 'अतिथींश्च लभेमहि'] ३. प्रा० पा०—त्यार्थमुमां। ४. प्रा० पा०—धर्मार्थमुत्तम०। ५. प्रा० पा०—तन्तुकामः पितॄन्। ६. प्रा० पा०—चरन्नरः। ७. प्रा० पा०—पुमान्।

एतावानेव यजतामिह निःश्रेयसोदयः ।
भगवत्यचलो भावो यद्भागवतसंगतः ॥११॥
ज्ञानं यदा प्रतिनिवृत्तगुणोर्मिचक्र-
मात्मप्रसाद उत[1] यत्र गुणेष्वसङ्गः ।
कैवल्यसंमतपथस्त्वथ भक्तियोगः
को निर्वृतो हरिकथासु रतिं न कुर्यात् ॥१२॥

शौनक उवाच

इत्यभिव्याहृतं राजा निशम्य भरतर्षभः ।
किमन्यत्पृष्टवान्भूयो वैयासकिमृषिं कविम् ॥१३॥
एतच्छुश्रूषतां विद्वन्सूत नोऽर्हसि भाषितुम् ।
कथा हरिकथोदर्काः सतां स्युः सदसि ध्रुवम् ॥१४॥
स वै भागवतो राजा पाण्डवेयो महारथः ।
बालक्रीडनकैः क्रीडन्कृष्णक्रीडां य आददे ॥१५॥
वैयासकिश्च भगवान्वासुदेवपरायणः ।
उरुगायगुणोदाराः सतां स्युर्हि समागमे ॥१६॥
आयुर्हरति वै पुंसामुद्यन्नस्तं च यन्नसौ ।
तस्यर्ते यत्क्षणो नीत उत्तमश्लोकवार्तया ॥१७॥
तरवः किं न जीवन्ति भस्त्राः किं न श्वसन्त्युत ।
न खादन्ति न मेहन्ति किं ग्रामपशवोऽपरे ॥१८॥
श्वविड्वराहोष्ट्रखरैः संस्तुतः पुरुषः पशुः ।
न यत्कर्णपथोपेतो जातु नाम गदाग्रजः ॥१९॥
बिले बतोरुक्रमविक्रमान्ये
न शृण्वतः कर्णपुटे नरस्य ।
जिह्वासती दार्दुरिकेव सूत
न चोपगायत्युरुगायगाथाः ॥२०॥
भारः परं पट्टकिरीटजुष्ट-

उपासकोंका सबसे बड़ा हित यही है कि भगवान्‌में अविचल श्रद्धाभक्ति और भगवद्भक्तोंका संग प्राप्त हो ॥११॥ जिनसे गुणमयी तरङ्गमालाको सर्वथा शान्त करनेवाला ज्ञान प्राप्त होता है, अध्यात्मप्रसादकी उपलब्धि होती है, तीनों गुणोंसे असङ्गता होती है और जिनसे कैवल्य मोक्षका मुख्य मार्ग भक्तियोग प्राप्त होता है उन हरिकथाओंमें, ऐसा कौन कथारसका अनुभवी पुरुष है जो प्रेम न करेगा ? ॥१२॥

शौनकजी बोले—हे सूतजी ! शुकदेवजीका यह कथन सुनकर भरतश्रेष्ठ महाराज परीक्षित्‌ने विद्वान् महात्मा व्यासनन्दनसे और क्या प्रश्न किया ? ॥१३॥ हमें उनका संवाद सुननेकी बड़ी इच्छा है, आप हमें वह संवाद सुनाइये; क्योंकि सत्पुरुषोंके समाजमें अवश्य ऐसा ही वार्तालाप हुआ करता है जिसके उत्तरमें भगवान्‌की कथा होती है ॥१४॥ पाण्डवनन्दन महारथी महाराजा परीक्षित् बड़े ही भगवद्भक्त थे; अपनी बाल्यावस्थामें खिलौनोंसे खेलते हुए भी वे कृष्णलीलाओंका ही अनुकरण किया करते थे ॥१५॥ और व्यासनन्दन भगवान् शुकदेवजी तो जन्मसे ही वासुदेवपरायण थे । ऐसे महानुभावोंके समागम होनेपर अवश्य ही भगवान् विष्णुका विमल गुणगान होता है ॥१६॥ जिसका समय भगवान् उत्तमश्लोकके गुणगानमें व्यतीत होता है उसको छोड़कर शेष सभी मनुष्योंकी आयुको भगवान् सूर्य उदय और अस्त होकर वृथा ही क्षीण करते हैं ॥१७॥ वृक्ष क्या जीते नहीं हैं ? धोंकनी क्या श्वास नहीं लेती ? और अन्य ग्राम्य पशु क्या भोजन और मल-मूत्र-त्याग नहीं करते ? [फिर मनुष्यमें और उनमें अन्तर ही क्या है ?] ॥ १८ ॥ जिसके श्रवणपथमें श्रीविष्णुभगवान्‌ने कभी प्रवेश नहीं किया, उस नर-पशुको कुत्ता, ग्राम्य सूकर, ऊँट और गधेके समान कहा है ॥१९॥ हे सूतजी ! मनुष्यके जो कान कभी भगवान् कृष्णकी कथा नहीं सुनते वे बिलके समान हैं तथा जो जिह्वा हरिकथाका गान नहीं करती वह मेंढककी जीभके समान व्यर्थ है ॥२०॥ जो शिर कभी मुकुन्दके आगे नहीं झुक सके

१. प्रा० पा०—उभयत्र । यह पाठान्तर श्रीधर स्वामीने भी माना है ।

मप्युत्तमाङ्गं न नमेन्मुकुन्दम् ।
शावौ करौ नो कुरुतः सपर्यां
हरेर्लसत्काञ्चनकङ्कणौ वा ॥२१॥
बर्हायिते ते नयने नराणां
लिङ्गानि विष्णोर्न निरीक्षतो ये ।
पादौ नृणां तौ द्रुमजन्मभाजौ
क्षेत्राणि नानुव्रजतो[1] हरेर्यौ ॥२२॥
जीवञ्छवो भागवताङ्घ्रिरेणुं
न जातु मर्त्योऽभिलभेत यस्तु ।
श्रीविष्णुपद्या[2] मनुजस्तुलस्याः
श्वसञ्छवो यस्तु न वेद गन्धम् ॥२३॥
तदश्मसारं हृदयं बतेदं
यद्गृह्यमाणैर्हरिनामधेयैः ।
न विक्रियेताथ यदा विकारो
नेत्रे जलं गात्ररुहेषु हर्षः ॥२४॥
अथाभिधेह्यङ्ग मनोऽनुकूलं
प्रभाषसे भागवतप्रधानः[3] ।
यदाह वैयासकिरात्मविद्या-
विशारदो नृपतिं साधुपृष्टः ॥२५॥

वह पट्टे और मुकुटसे सुशोभित हो तो भी भाररूप है; तथा जो हाथ कभी हरिकी सेवा नहीं करते वे सुवर्ण-कंकणविभूषित होनेपर भी मुर्देके हाथोंके समान हैं ॥ २१ ॥ मनुष्योंके वे नेत्र मोरपंखके समान हैं जो कभी भगवान्‌की प्रतिमाओंका दर्शन नहीं करते तथा वे पैर वृक्षके समान हैं जो कभी भगवान्‌के [तीर्थस्थान आदि] क्षेत्रोंमें नहीं जाते ॥ २२ ॥ जो पुरुष अपने शिरपर कभी भगवान्‌का चरणरज धारण नहीं करता वह जीता हुआ भी मृतकतुल्य है, तथा जो मनुष्य विष्णुभगवान्‌के चरणोंपर चढ़ी हुई तुलसीकी गन्ध नहीं जानता वह श्वास लेता हुआ भी शवके समान है ॥२३॥ वह हृदय वज्रके समान कठोर है जो हरिनामका उच्चारण करते ही द्रवीभूत नहीं हो उठता । जब चित्तमें द्रव होता है उस समय नेत्रोंसे अश्रुप्रवाह और शरीरमें रोमाञ्च होने लगता है ॥२४॥ हे प्रिय ! आप जो कुछ कर रहे हैं वह हमारे चित्तके अनुकूल ही है । अतः अब वह प्रसङ्ग सुनाइये जो महाराज परीक्षित्‌के पूछनेपर भागवत-प्रधान, आत्मविद्याविशारद भगवान् शुकदेवजीने उनसे कहा ॥२५॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे द्वितीयस्कन्धे[4]
तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

चौथा अध्याय

राजाका सृष्टिविषयक प्रश्न और शुकदेवजीका कथारम्भ ।

सूत उवाच

वैयासकेरिति वचस्तत्त्वनिश्चयमात्मनः ।
उपधार्य मतिं कृष्ण[5] औत्तरेयः सतीं व्यधात् ॥ १ ॥
आत्मजायासुतागारपशुद्रविणबन्धुषु ।
राज्ये चाविकले नित्यं विरूढां ममतां जहौ ॥ २ ॥
पप्रच्छ चेममेवार्थं यन्मां पृच्छथ सत्तमाः ।

सूतजी बोले—व्यासनन्दन शुकदेवजीके ये तत्त्व-निश्चय करानेवाले वाक्य सुनकर राजा परीक्षित्‌ने अपनी शुद्ध बुद्धि भगवान् कृष्ण [के चरणों] में स्थिर की ॥ १ ॥ और अपने शरीर, स्त्री, पुत्र, गृह, पशु, धन, बन्धु-बान्धव तथा एकच्छत्र राज्यमें सदा रहनेवाली सुदृढ़ ममता त्याग दी ॥२॥ तदनन्तर हे मुनिश्रेष्ठो ! महामनस्वी परीक्षित्‌ने अपनी मृत्यु निकट जान अर्थ,

१. प्रा० पा०—व्रजतां । २. प्रा० पा०—यो विष्णु० । ३. प्रा० पा०—···तः प्र० । ४. प्राचीन प्रतिमें यहाँ 'महापुरुषवर्णनं' इतना पाठ अधिक है । ५. प्रा० पा०—कृष्णे ।

कृष्णानुभावश्रवणे श्रद्दधानो महामनाः[1] ॥ ३ ॥
संस्थां विज्ञाय संन्यस्य[2] कर्म त्रैवर्गिकं च यत् ।
वासुदेवे भगवति आत्मभावं दृढं गतः ॥ ४ ॥

राजोवाच

समीचीनं वचो ब्रह्मन्सर्वज्ञस्य तवानघ ।
तमो विशीर्यते मह्यं हरेः कथयतः कथाम् ॥ ५ ॥
भूय एव विवित्सामि भगवानात्ममायया ।
यथेदं सृजते विश्वं दुर्विभाव्यमधीश्वरैः ॥ ६ ॥
यथा गोपायति विभुर्यथा संयच्छते पुनः ।
यां यां शक्तिमुपाश्रित्य पुरुशक्तिः परः पुमान् ।
आत्मानं क्रीडयन्क्रीडन्करोति विकरोति च ॥ ७ ॥
नूनं भगवतो ब्रह्मन्हरेरद्भुतकर्मणः ।
दुर्विभाव्यमिवाभाति कविभिश्चापि चेष्टितम् ॥ ८ ॥
यथा गुणांस्तु प्रकृतेर्युगपत्क्रमशोऽपि वा ।
बिभर्ति भूरिशस्त्वेकः कुर्वन्कर्माणि जन्मभिः ॥ ९ ॥
विचिकित्सितमेतन्मे ब्रवीतु भगवान्यथा ।
शाब्दे ब्रह्मणि निष्णातः परस्मिंश्च भवान्खलु ॥१०॥

सूत उवाच

इत्युपामन्त्रितो राज्ञा गुणानुकथने हरेः[3] ।
हृषीकेशमनुस्मृत्य प्रतिवक्तुं प्रचक्रमे ॥११॥

श्रीशुक उवाच

नमः परस्मै पुरुषाय भूयसे
सदुद्भवस्थाननिरोधलीलया ।
गृहीतशक्तित्रितयाय देहि-
नामन्तर्भवायानुपलक्ष्यवर्त्मने ॥१२॥

धर्म और कामरूप त्रिवर्गके साधक लौकिक-वैदिक कर्मोंको छोड़ दिया और भगवान् वासुदेवमें दृढ़ आत्मभाव कर श्रीकृष्णकथाओंके सुननेमें श्रद्धावान् हो शुकदेवजीसे यही प्रश्न किया जो आपलोग मुझसे पूछ रहे हैं ॥३–४॥

राजा बोले–हे ब्रह्मन् ! हे निष्पाप ! आप सर्वज्ञ हैं, आपका कथन अति उत्तम है । आप जो हरिकथा कह रहे हैं उससे मेरा अज्ञान नष्ट हो रहा है ॥ ५ ॥ अब मैं यह जानना चाहता हूँ कि जो ब्रह्मा आदि समर्थ लोकपालोंकी बुद्धिमें भी नहीं आता उस विश्वको भगवान् अपनी मायासे किस प्रकार रचते हैं ? ॥ ६ ॥ तथा वे किस प्रकार इसकी रक्षा करते हैं और फिर कैसे इसे लीन कर देते हैं ? अनन्तशक्ति परमपुरुष परमात्मा अपने आपमें ही क्रीड़ा करते हुए जिस-जिस शक्तिको आश्रय देकर लीलासे ही इस जगत्की उत्पत्ति और संहार करते हैं [सो सब आप मुझे सुनाइये] ॥ ७ ॥ हे ब्रह्मन् ! अद्भुतकर्मा भगवान्की लीलाओंको समझना अवश्य ही विद्वानोंके लिये भी कठिन-सा मालूम होता है ॥ ८ ॥ एक ही भगवान् सृष्टि आदि अनेक कर्म करनेके लिये प्रकृतिके सत्त्वादि गुणोंको एक ही साथ कैसे धारण करते हैं अथवा अवतार धारण करके क्रमशः किस प्रकार ग्रहण करते हैं ? ॥ ९ ॥ मेरे इस सन्देहका निर्णय कीजिये, क्योंकि आप शब्द-ब्रह्म (वेद) और परब्रह्म–दोनोंहीका मर्म भली प्रकार जानते हैं ॥ १० ॥

सूतजी बोले—भगवान्के गुण वर्णन करनेके लिये राजा परीक्षित्के इस प्रकार प्रार्थना करनेपर महामुनि शुकदेवजी हृदयमें श्रीहृषीकेशका चिन्तन-कर इस प्रकार कहने लगे ॥ ११ ॥

शुकदेवजी बोले—जो जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और लयरूप लीलाके लिये सत्त्व, रज और तमरूप तीन शक्तियोंका आश्रयकर ब्रह्मा, विष्णु और महेश–ये तीन रूप धारण करते हैं तथा जो समस्त प्राणियोंके अन्तःकरणमें अन्तर्यामीरूपसे विराजमान हैं, उन महामहिम अलक्ष्यगति परमपुरुषको नमस्कार है

१. प्रा० पा०—महायशाः । २. प्रा० पा०—विन्यस्य । ३. प्रा० पा०—विभोः ।

भूयो नमः सद्वृजिनच्छिदे-
ऽसतामसंभवायाखिलसत्त्वमूर्तये ।
पुंसां पुनः पारमहंस्य आश्रमे
व्यवस्थितानामनुमृग्यदाशुषे ॥१३॥

नमो नमस्तेऽस्त्वृषभाय सात्वतां
विदूरकाष्ठाय मुहुः कुयोगिनाम् ।
निरस्तसाम्यातिशयेन राधसा
स्वधामनि ब्रह्मणि रंस्यते नमः ॥१४॥

यत्कीर्तनं यत्स्मरणं यदीक्षणं
यद्वन्दनं यच्छ्रवणं यदर्हणम् ।
लोकस्य सद्यो विधुनोति कल्मषं
तस्मै सुभद्रश्रवसे नमो नमः ॥१५॥

विचक्षणा यच्चरणोपसादनात्
सङ्गं व्युदस्योभयतोऽन्तरात्मनः ।
विदन्ति हि ब्रह्मगतिं गतक्लमा-
स्तस्मै सुभद्रश्रवसे नमो नमः ॥१६॥

तपस्विनो दानपरा यशस्विनो
मनस्विनो मन्त्रविदः सुमङ्गलाः ।
क्षेमं न विन्दन्ति विना यदर्पणं
तस्मै सुभद्रश्रवसे नमो नमः ॥१७॥

किरातहूणान्ध्रपुलिन्दपुल्कसा
आभीरकङ्का यवनाः खसादयः ।
येऽन्ये च पापा यदुपाश्रयाश्रयाः
शुध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नमः ॥१८॥

स एष आत्मात्मवतामधीश्वर-
स्त्रयीमयो धर्ममयस्तपोमयः ।
गतव्यलीकैरजशङ्करादिभि-
र्वितर्क्यलिङ्गो[1] भगवान्प्रसीदताम् ॥१९॥

श्रियः पतिर्यज्ञपतिः प्रजापति-
र्धियां पतिर्लोकपतिर्धरापतिः ।
पतिर्गतिश्चान्धकवृष्णिसात्वतां
प्रसीदतां मे भगवान्सतां पतिः ॥२०॥

यदङ्घ्र्यनुध्यानसमाधिधौतया[2]

॥ १२ ॥ जो सत्पुरुषोंके संसारमार्गका छेदन करनेवाले और असत्पुरुषोंके अभ्युदयको रोकनेवाले हैं तथा जो परमहंस-आश्रममें स्थित पुरुषोंको उनका ध्येय ब्रह्मज्ञान देते हैं उन निखिलसत्त्वमूर्ति भगवान्‌को बारंबार नमस्कार है ॥ १३ ॥ जो भक्तजनोंकी रक्षा करनेवाले हैं और कुमार्गियोंके दृष्टिपथसे सदा दूर हैं, जिनके समान अथवा जिनसे अधिक और किसीका ऐश्वर्य नहीं है तथा जो उस ऐश्वर्यसे अपने ब्रह्मधाममें रमण करते हैं उन श्रीहरिको बारंबार नमस्कार है ॥ १४ ॥ जिनका कीर्तन, स्मरण, दर्शन, वन्दन, श्रवण और पूजन तत्काल मनुष्यके पापोंको नष्ट कर देता है उन पुण्यकीर्ति भगवान्‌को बारंबार नमस्कार है ॥ १५ ॥ जिनके चरणकमलकी सेवासे विवेकी पुरुष अपने हृदयसे इहलोक और परलोककी आसक्ति निकालकर अनायास ही ब्रह्मपद प्राप्त करते हैं उन पुण्यकीर्ति भगवान्‌को बारंबार नमस्कार है ॥ १६ ॥ बड़े-बड़े तपस्वी, दानी, कीर्तिमान्, मनस्वी और सदाचारपरायण मन्त्रवेत्ता भी अपने-अपने कर्मोंको जिन्हें अर्पण किये बिना कल्याण प्राप्त नहीं कर सकते उन पुण्यकीर्ति भगवान्‌को बारंबार नमस्कार है ॥ १७ ॥ किरात, हूण, आन्ध्र, पुलिन्द, पुल्कस, आभीर, कङ्क, यवन और खस आदि नीच जातियाँ तथा और भी पापीलोग जिनके भक्तोंकी शरण ग्रहण करनेसे पवित्र हो जाते हैं उन पुण्यकीर्ति भगवान्‌को बारंबार नमस्कार है ॥ १८ ॥ वे भगवान् आत्मज्ञानियोंके आत्मा हैं, तथा वे ही वेदरूप, धर्मरूप और तपोरूप हैं, उनके स्वरूपको ब्रह्मा और महादेव आदि निष्कपट भक्त भी आश्चर्यवत् देखते हैं; वे मुझपर प्रसन्न हों ॥ १९ ॥ जो लक्ष्मीके पति, यज्ञोंके पति, प्रजाओंके पति, सबकी बुद्धियोंके पति (साक्षी), समस्त लोकोंके पति, पृथिवीके पति, तथा अन्धक और वृष्णिवंशी यादवोंके पति एवं गति हैं वे सत्पुरुषोंके पति भगवान् मुझपर प्रसन्न हों ॥ २० ॥ जिनके चरणकमलके ध्यानरूप समाधिसे शुद्ध की हुई

१. प्रा० पा०—व्यतर्क्य । २. प्रा० पा०—भिध्या० ।

धियानुपश्यन्ति हि तत्त्वमात्मनः ।
वदन्ति चैतत्कवयो यथारुचं
स मे मुकुन्दो भगवान्प्रसीदताम् ॥२१॥
प्रचोदिता येन पुरा सरस्वती
वितन्वताजस्य सतीं स्मृतिं हृदि ।
स्वलक्षणा प्रादुरभूत्किलास्यतः
स मे ऋषीणामृषभः प्रसीदताम् ॥२२॥
भूतैर्महद्भिर्य इमाः पुरो विभु-
र्निर्माय शेते यदमूषु पूरुषः ।
भुङ्क्ते गुणान्षोडश षोडशात्मकः
सोऽलंकृषीष्ट भगवान्वचांसि मे ॥२३॥
नमस्तस्मै भगवते व्यासायामिततेजसे ।
पपुर्ज्ञानमयं सौम्या यन्मुखाम्बुरुहासवम् ॥२४॥
एतदेवात्मभू राजन्नारदाय विपृच्छते ।
वेदगर्भोऽभ्यधात्साक्षाद्यदाह हरिरात्मनः ॥२५॥

बुद्धिद्वारा विवेकीजन आत्मतत्त्वका साक्षात्कार करते हैं और फिर यथामति उसका वर्णन करते हैं वे भगवान् मुकुन्द मुझपर प्रसन्न हों ॥२१॥ कल्पके आरम्भमें ब्रह्माजीके हृदयमें सृष्टि-सम्बन्धी शुभ संस्मरणको जाग्रत् करनेवाले जिन भगवान्‌की प्रेरणासे वेदरूपा सरस्वती अपने शिक्षा, व्याकरण आदि अङ्गोंसहित उन ब्रह्माके ही मुखसे प्रकट होती हैं वे ज्ञानदाताओंमें श्रेष्ठ श्रीहरि मुझपर प्रसन्न हों ॥ २२ ॥ जो इन पुरुषशरीरोंको पञ्च महाभूतोंसे रचकर इनमें पुरुषरूपसे शयन करते हैं तथा पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच प्राण और एक मन—इन सोलह कलाओंसे इनके शब्द-स्पर्शादि सोलह विषयोंको भोगते हैं वे सर्वभूतमय भगवान् मेरी वाणीको अलङ्कृत करें ॥ २३ ॥ जिनके मुखकमलसे निकले हुए ज्ञानामृतका साधु पुरुषोंने यथेष्ट पान किया है उन परम तेजस्वी भगवान् व्यासको नमस्कार है ॥ २४ ॥

हे राजन्! पूर्वकालमें नारदजीके पूछनेपर जिनके अन्तःकरणमें उत्पत्तिके समयसे ही वेदोंका निवास है उन स्वयंभू ब्रह्माजीने उनसे यही श्रीमद्भागवत पुराण कही थी जिसे उनके प्रति स्वयं श्रीनारायणने सुनाया था ॥ २५ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे द्वितीयस्कन्धे
चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

पाँचवाँ अध्याय

सृष्टि-वर्णन

नारद उवाच

देवदेव नमस्तेऽस्तु भूतभावन पूर्वज ।
तद्विजानीहि यज्ज्ञानमात्मतत्त्वनिदर्शनम् ॥ १ ॥
यद्रूपं यदधिष्ठानं यतः सृष्टमिदं प्रभो ।

नारदजीने पूछा— हे समस्त प्राणियोंको उत्पन्न करनेवाले! सबके पूर्वज! देवदेव! आपको नमस्कार है; कृपया उस ज्ञानका उपदेश दीजिये जो आत्मतत्त्वका साक्षात्कार करानेवाला हो ॥ १ ॥ हे प्रभो! यह प्रपञ्च जिसका रूप है, जिसके आश्रयसे यह स्थित है, जिसने इसे रचा है, जिसमें लीन होता है तथा

१. प्रा० पा०—वितन्वतोऽजस्य । २. प्रा० पा०—विलक्षणा। ३. प्रा० पा०—सर्वं यदाह हरिरीश्वरः । ४. प्राचीन प्रतिमें 'पुरुषसंस्थानुवर्णनं' इतना पाठ अधिक है ।

यत्संस्थं यत्परं यच्च तत्तत्त्वं वद तत्त्वतः ॥ २ ॥
सर्वं ह्येतद्भवान्वेद भूतभव्यभवत्प्रभुः ।
करामलकवद्विश्वं विज्ञानावसितं तव ॥ ३ ॥
यद्विज्ञानो यदाधारो यत्परस्त्वं यदात्मकः ।
एकः सृजसि भूतानि भूतैरेवात्ममायया ॥ ४ ॥
आत्मन्भावयसे तानि न पराभावयन्स्वयम् ।
आत्मशक्तिमवष्टभ्य ऊर्णनाभिरिवाक्रमः ॥ ५ ॥
नाहं वेद परं ह्यस्मिन्नापरं न समं विभो ।
नामरूपगुणैर्भाव्यं सदसत्किञ्चिदन्यतः ॥ ६ ॥
स भवानचरद्घोरं यत्तपः सुसमाहितः ।
तेन खेदयसे नस्त्वं परां शङ्कां प्रयच्छसि ॥ ७ ॥
एतन्मे पृच्छतः सर्वं सर्वज्ञ सकलेश्वर ।
विजानीहि तथैवेदमहं बुद्ध्येऽनुशासितः ॥ ८ ॥

जिसके अधीन है और जो कुछ है उसका तत्त्व बतलाइये ॥ २ ॥ आप यह सब जानते हैं, क्योंकि भूत, भविष्यत्, वर्तमान सबके स्वामी होनेसे यह सम्पूर्ण विश्व हाथपर रक्खे हुए आँवलेके समान आपके ज्ञानका विषय है ॥ ३ ॥ हे प्रभो ! आपको यह विज्ञानशक्ति कहाँसे प्राप्त हुई ? आपका आधार क्या है ? आप किसके अधीन हैं ? तथा आप किसके स्वरूपसे प्रकाशित होकर अकेले ही अपनी मायासे [स्वयं असङ्ग रहकर] पञ्च भूतोंसे समस्त स्थावर-जङ्गम प्राणियोंको रचते हैं ? ॥ ४ ॥ जिस प्रकार मकड़ी अनायास ही अपने मुखसे जाला निकालकर उसमें क्रीड़ा करती है उसी प्रकार आप भी अपनी मायाशक्तिके आश्रयसे जीवोंकी अपनेहीमें उत्पत्ति किया करते हैं, तथापि आपमें कोई विकार नहीं होता ॥ ५ ॥ हे प्रभो ! जगत्में नाम, रूप और गुणसे प्रकट होनेवाली ऐसी कोई सत् या असद्रूप उत्तम, मध्यम या अधम कोटिकी वस्तु नहीं दिखलायी देती जो आपके सिवा किसी औरसे उत्पन्न हुई हो ॥ ६ ॥ इस प्रकार सबके ईश्वर होकर भी आपने बड़े एकाग्र चित्तसे अति घोर तप किया ! इससे हमें बड़ा खेद होता है और बहुत बड़ी शङ्का भी होती है [कि कोई आपसे भी बड़ा है] ॥ ७ ॥ हे सर्वज्ञ ! हे सर्वेश्वर ! मैंने जो कुछ पूछा है वह सब आप इस प्रकार समझाकर कहिये जिससे मैं भली प्रकार समझ सकूँ ॥ ८ ॥

ब्रह्मोवाच

सम्यक्कारुणिकस्येदं वत्स ते विचिकित्सितम् ।
यदहं चोदितः सौम्य भगवद्वीर्यदर्शने ॥ ९ ॥
नानृतं तव तच्चापि यथा मां प्रब्रवीषि भोः ।
अविज्ञाय परं मत्त एतावत्त्वं यतो हि मे ॥ १० ॥
येन स्वरोचिषा विश्वं रोचितं रोचयाम्यहम् ।
यथार्कोऽग्निर्यथा सोमो यथर्क्षग्रहतारकाः ॥ ११ ॥

ब्रह्माजी बोले—हे वत्स ! तुम सबके ऊपर करुणा करनेवाले हो, अतः तुम्हारा यह संशयात्मक प्रश्न बहुत ही उत्तम है; क्योंकि इसके द्वारा मैं भगवान्के गुण वर्णन करनेके लिये प्रेरित हुआ हूँ ॥ ९ ॥ हे नारद ! तुमने मेरे विषयमें जो कुछ कहा है वह भी मिथ्या नहीं है, क्योंकि मुझसे श्रेष्ठ भगवान्को न जाननेतक मेरा ऐसा ही प्रभाव प्रतीत होता है ॥ १० ॥ जिन स्वयंप्रकाश भगवान्के चिन्मय प्रकाशसे प्रकाशित जगत्को मैं सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि, नक्षत्र, ग्रह और तारागणके समान [स्वयं भी उन्हींसे प्रकाशित होकर] प्रकट करता हूँ ॥ ११ ॥

१. प्रा० पा०—सूत्रनाभि० । २. प्रा० पा०—तस्मि० । ३. प्रा० पा०—तत्त्वमेतावत्त्वं ।

तस्मै नमो भगवते वासुदेवाय धीमहि ।
यन्मायया दुर्जयया[1] मां ब्रुवन्ति जगद्गुरुम् ॥१२॥
विलज्जमानया यस्य स्थातुमीक्षापथेऽमुया ।
विमोहिता विकत्थन्ते ममाहमिति दुर्धियः ॥१३॥
द्रव्यं कर्म च कालश्च स्वभावो जीव एव च ।
वासुदेवात्परो ब्रह्मन्न चान्योऽर्थोऽस्ति तत्त्वतः॥१४॥
नारायणपरा वेदा देवा नारायणाङ्गजाः ।
नारायणपरा लोका नारायणपरा मखाः ॥१५॥
नारायणपरो योगो नारायणपरं तपः ।
नारायणपरं ज्ञानं नारायणपरा गतिः ॥१६॥
तस्यापि द्रष्टुरीशस्य कूटस्थस्याखिलात्मनः ।
सृज्यं सृजामि सृष्टोऽहमीक्षयैवाभिचोदितः ॥१७॥
सत्त्वं रजस्तम इति निर्गुणस्य गुणास्त्रयः ।
स्थितिसर्गनिरोधेषु गृहीता मायया विभोः ॥१८॥
कार्यकारणकर्तृत्वे द्रव्यज्ञानक्रियाश्रयाः ।
बध्नन्ति नित्यदा मुक्तं मायिनं पुरुषं गुणाः ॥१९॥
स एष भगवाँल्लिङ्गैस्त्रिभिरेभिरधोक्षजः ।
स्वलक्षितगतिर्ब्रह्मन्सर्वेषां मम चेश्वरः ॥२०॥
कालं कर्म स्वभावं च मायेशो मायया स्वया ।
आत्मन्यदृच्छया प्राप्तं विबुभूषुरुपाददे ॥२१॥
कालाद्गुणव्यतिकरः परिणामः स्वभावतः ।
कर्मणो जन्म महतः पुरुषाधिष्ठितादभूत् ॥२२॥
महतस्तु विकुर्वाणाद्रजःसत्त्वोपबृंहितात् ।

तथा जिनकी दुरन्त मायासे मोहित होकर लोग मुझे ही जगद्गुरु (सृष्टिकर्ता) कहा करते हैं उन भगवान् वासुदेव-को नमस्कार करके उनका ध्यान करते हैं ॥ १२ ॥ जिन भगवान्‌के दृष्टिपथमें आते ही लज्जित होनेके कारण न ठहर सकनेवाली मायासे मोहित होकर अज्ञानीजन 'मैं हूँ, मेरा है' ऐसी बकवाद किया करते हैं [उन्हें मैं प्रणाम करता हूँ] ॥ १३ ॥ हे ब्रह्मन् ! [भिन्न-भिन्न मतावलम्बियोंद्वारा जगत्‌के उपादानरूपसे माने हुए] द्रव्य, कर्म, काल, स्वभाव और जीव आदि कोई भी वस्तु वासुदेवसे भिन्न नहीं है, ॥ १४ ॥ समस्त देवगण नारायणके शरीरसे ही उत्पन्न हुए हैं तथा वेद, लोक, यज्ञ, योग, तप, ज्ञान और गति—ये सब भी नारायणपरक ही हैं ॥ १५-१६ ॥ सबके साक्षी, सबके ईश्वर और सबके मूल कारण उन सर्वात्माकी दृष्टिसे ही प्रेरित होकर उन्हींका रचा हुआ मैं उनकी अभिमत सृष्टिकी रचना करता हूँ ॥ १७ ॥ उन सर्वव्यापक गुणातीत भगवान्‌के सत्त्व, रज और तम—ये तीनों गुण, जो कि जगत्‌की स्थिति, उत्पत्ति और संहारके लिये मायासे स्वीकार किये गये हैं, वे ही द्रव्य, ज्ञान और क्रियाका आश्रय लेकर वास्तवमें जो सदा ही मायातीत हैं ऐसे मायामें स्थित पुरुषको कार्य, कारण और कर्त्तापनके अभिमानसे बाँधते हैं ॥ १८-१९ ॥ हे ब्रह्मन् ! इन तीनों गुणोंके आवरणसे आच्छादित होनेके कारण जिनकी गति जानी नहीं जाती वे भगवान् अधोक्षज ही मेरे तथा और सबके स्वामी हैं ॥ २० ॥

जिस समय भगवान्‌को अनेक रूप होनेकी इच्छा हुई तब उन्होंने अपनी मायासे अपने स्वरूपमें स्वयं ही प्राप्त हुए काल, कर्म और स्वभावको स्वीकार किया ॥२१॥ तब भगवान्‌द्वारा अधिष्ठित कालसे तीनों गुणोंमें विषमता हुई तथा स्वभावसे उनका परिणाम और कर्मसे महत्तत्त्वका जन्म हुआ ॥२२॥ फिर रज और सत्त्वसे परि-वर्द्धित महत्तत्त्वके विकृत होनेपर उससे ज्ञान, क्रिया

१. प्रा० पा०—दुर्जरया मां वदन्ति ।

तमःप्रधानस्त्वभवद्द्रव्यज्ञानक्रियात्मकः ॥२३॥
सोऽहंकार इति प्रोक्तो विकुर्वन्समभूत्त्रिधा ।
वैकारिकस्तैजसश्च तामसश्चेति यद्भिदा ।
द्रव्यशक्तिः क्रियाशक्तिर्ज्ञानशक्तिरिति प्रभो ॥२४॥
तामसादपि भूतादेर्विकुर्वाणादभून्नभः ।
तस्य मात्रा गुणः शब्दो लिङ्गं यद्द्रष्टृदृश्ययोः ॥२५॥
नभसोऽथ विकुर्वाणादभूत्स्पर्शगुणोऽनिलः ।
परान्वयाच्छब्दवांश्च प्राण ओजः सहो बलम् ॥२६॥
वायोरपि विकुर्वाणात्कालकर्मस्वभावतः ।
उदपद्यत तेजो वै रूपवत्स्पर्शशब्दवत् ॥२७॥
तेजसस्तु विकुर्वाणादासीदम्भो रसात्मकम् ।
रूपवत्स्पर्शवच्चाम्भो घोषवच्च परान्वयात् ॥२८॥
विशेषस्तु विकुर्वाणादम्भसो गन्धवानभूत् ।
परान्वयाद्रसस्पर्शशब्दरूपगुणान्वितः ॥२९॥
वैकारिकान्मनो जज्ञे देवा वैकारिका दश ।
दिग्वातार्कप्रचेतोऽश्विवह्नीन्द्रोपेन्द्रमित्रकाः ॥३०॥
तैजसात्तु विकुर्वाणादिन्द्रियाणि दशाभवन् ।
ज्ञानशक्तिः क्रियाशक्तिर्बुद्धिः प्राणस्तु तैजसौ ।
श्रोत्रं त्वग्घ्राणदृग्जिह्वावाग्दोर्मेढ्राङ्घ्रिपायवः ॥३१॥

और द्रव्यरूप तमःप्रधान विकार हुआ ॥२३॥ वह 'अहङ्कार' कहलाया; वह विकृत होकर तीन प्रकारका हुआ, उसके भेद वैकारिक, तैजस और तामस कहलाते हैं, जिनके स्वरूप क्रमशः ज्ञानशक्ति, क्रियाशक्ति और द्रव्य-शक्ति हैं ॥२४॥ तामस अहङ्कारके विकृत होनेपर उससे आकाश हुआ जिसकी तन्मात्रा और गुण शब्द है । यह शब्द ही द्रष्टा और दृश्यका ज्ञापक है ॥२५॥ आकाशमें विकार होनेपर उससे स्पर्श गुणवाला वायु हुआ, जो कारणरूपसे आकाशकी अनुवृत्ति होनेके कारण शब्दवान् भी है । प्राण, ओज, इन्द्रियस्फूर्ति और बल इसीके रूप हैं ॥२६॥ वायुका भी काल, कर्म और स्वभावसे रूपान्तर होनेपर उससे तेज हुआ । तेजका गुण रूप है तथा उसमें आकाश और वायुके गुण शब्द और स्पर्श भी हैं ॥२७॥ फिर तेजके विकृत होनेपर उससे रस गुणवाला जल हुआ । अपने कारणतत्त्वोंका अन्वय होनेसे वह उनके गुण रूप, स्पर्श और शब्दसे भी युक्त है ॥२८॥ जलका रूपान्तर होने-पर उससे गन्ध गुणवाली पृथ्वी हुई, जिसमें उसके कारणतत्त्वोंके गुण रस, रूप, स्पर्श और शब्द भी हैं ॥२९॥ [यह तामस अहङ्कारका सर्ग हुआ] वैकारिक अहङ्कारसे मन तथा दिशा, वायु, सूर्य, वरुण, दो अश्विनीकुमार, अग्नि, इन्द्र, विष्णु और मित्र—ये दस वैकारिक [इन्द्रियोंके] देवता उत्पन्न हुए ॥३०॥ तथा तैजस अहङ्कारका रूपान्तर होनेपर उससे श्रोत्र, त्वचा, घ्राण, नेत्र, जिह्वा, वाक्, पाणि, पाद, उपस्थ और गुदा—ये दस इन्द्रियाँ हुईं; तथा ज्ञानशक्तिरूप बुद्धि और क्रियाशक्तिरूप प्राण भी तैजस अहङ्कारके ही कार्य हैं ॥३१॥

यदैतेऽसङ्गता भावा भूतेन्द्रियमनोगुणाः ।
यदायतननिर्माणे न शेकुर्ब्रह्मवित्तम ॥३२॥
तदा संहत्य चान्योन्यं भगवच्छक्तिचोदिताः ।

हे ब्रह्मज्ञानियोंमें श्रेष्ठ नारद ! ये पञ्च भूत इन्द्रिय, मन और सत्त्वादि तीनों गुण परस्पर सङ्गठित न रहनेके कारण जब अपना आश्रय तथा सुखादि भोगोंका साधनरूप शरीर नहीं रच सके ॥३२॥ तब भगवान्-की शक्तिसे प्रेरित होकर वे तत्त्वसमूह एक दूसरेके

१. प्रा० पा०—सोऽभवत्त्रिधा । २. प्रा० पा०—य एते ।

सदसत्त्वमुपादाय चोभयं ससृजुर्ह्यदः ॥३३॥
वर्षपूगसहस्रान्ते तदण्डमुदकेशयम् ।
कालकर्मस्वभावस्थो जीवोऽजीवमजीवयत् ॥३४॥
स एव पुरुषस्तस्मादण्डं निर्भिद्य निर्गतः ।
सहस्रोर्वङ्घ्रिबाह्वक्षः सहस्राननशीर्षवान् ॥३५॥
यस्येहावयवैर्लोकान्कल्पयन्ति मनीषिणः ।
कट्यादिभिरधः सप्त सप्तोर्ध्वं जघनादिभिः ॥३६॥
पुरुषस्य मुखं ब्रह्म क्षत्रमेतस्य बाहवः ।
ऊर्वोर्वैश्यो भगवतः पद्भ्यां शूद्रोऽभ्यजायत ॥३७॥
भूर्लोकः कल्पितः पद्भ्यां भुवर्लोकोऽस्य नाभितः ।
हृदा स्वर्लोक उरसा महर्लोको महात्मनः ॥३८॥
ग्रीवायां जनलोकश्च तपोलोकः स्तनद्वयात् ।
मूर्धभिः सत्यलोकस्तु ब्रह्मलोकः सनातनः ॥३९॥
तत्कट्यां चातलं क्लृप्तमूरुभ्यां वितलं विभोः ।
जानुभ्यां सुतलं शुद्धं जङ्घाभ्यां तु तलातलम् ॥४०॥
महातलं तु गुल्फाभ्यां प्रपदाभ्यां रसातलम् ।
पातालं पादतलत इति लोकमयः पुमान् ॥४१॥
भूर्लोकः कल्पितः पद्भ्यां भुवर्लोकोऽस्य नाभितः ।
स्वर्लोकः कल्पितो मूर्ध्ना इति वा लोककल्पना ॥४२॥

साथ मिल गये और उन्होंने कार्य-कारणभावको ग्रहण-कर व्यष्टि-समष्टिरूप अण्ड और ब्रह्माण्डकी रचना की ॥ ३३ ॥ वह अण्ड एक सहस्र वर्षतक जलमें पड़ा रहा तदनन्तर काल-कर्मस्वभावस्थित जीव* (समष्टि-चेतन) ने उस निर्जीव अण्डको सजीव कर दिया ॥३४॥ तब वही सहस्र ऊरु, सहस्र चरण, सहस्र बाहु, सहस्र नेत्र, सहस्र मुख और सहस्र शिरवाला पुरुष उस अण्डेको फोड़कर निकला ॥३५॥ बुद्धिमान् लोग उसी पुरुषके कटिदेशसे नीचेके अङ्गोंमें नीचेके [अतल आदि] सात लोकोंकी और कटि-भागसे ऊपरके अङ्गोंमें ऊपरके [भूर्लोक आदि] सात लोकोंकी कल्पना करते हैं ॥ ३६ ॥ उस पुराणपुरुषका मुख ब्राह्मण और भुजाएँ क्षत्रिय हैं तथा उस ईश्वरकी जङ्घाओंसे वैश्य और चरणोंसे शूद्र उत्पन्न हुए हैं ॥३७॥ उस परमात्माके कटिपर्यन्त चरणोंमें पातालसे लेकर भूर्लोकतककी, नाभिमें भुवर्लोककी, हृदयमें स्वर्लोककी तथा वक्षःस्थलमें महर्लोककी कल्पना की गयी है ॥ ३८ ॥ तथा उसकी ग्रीवामें जनलोक,† दोनों स्तनोंमें तपोलोक, और मस्तकमें सनातन ब्रह्मधाम सत्यलोक है ॥३९॥ उस विभुके कटि अतल, ऊरुओंमें वितल, जानुओंमें सुतल और जङ्घाओंमें तलातलकी कल्पना की गयी है ॥४०॥ तथा उनके गुल्फों (टखनों) में महातल, पादाग्रभाग और एड़ियोंमें रसातल और तलुओंमें पाताल लोक माना जाता है । इस प्रकार वह विराट् पुरुष सर्वलोकमय है ॥४१॥ अथवा उनके चरणोंमें पृथिवी, नाभिमें भुवर्लोक और शिरमें स्वर्लोक है । इस प्रकार भी भगवान्‌के अङ्गोंमें लोकोंकी कल्पना की जाती है॥४२॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे द्वितीयस्कन्धे
पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

१. प्राचीन प्रतिमें यह श्लोक नहीं है । २. प्रा० पा०—इसके पहले 'पुरुषसंस्थानुवर्णनं' इतना अधिक पाठ है ।

* जीवयतीति जीवः । सबको अपने स्वरूपमें रखनेवाले परमात्माको यहाँ जीव कहा है । उसने उस ब्रह्माण्डके तत्तत्पदार्थोंमें तत्तद्रूप होकर प्रवेश किया । भगवान्‌के प्रवेश करते ही वह ब्रह्माण्ड सचेत हो गया ।

† यह लोकोंकी कल्पना उपासनाके लिये की गयी है अतः ग्रीवाके बाद स्तनोंके लोककी चर्चा करनेसे ऊपर-नीचेकी स्थितिके विपरीत भावकी शङ्का न करनी चाहिये । अथवा 'स्तनद्वयात्' पाठ मानकर 'स्तनन अर्थात् शब्द करनेवाले जो दोनों ओठ हैं उनमें तपोलोक कल्पित है' ऐसा अर्थ समझना चाहिये ।

छठा अध्याय

विराट्-स्वरूपका वर्णन

ब्रह्मोवाच

वाचां वह्नेर्मुखं क्षेत्रं छन्दसां सप्त धातवः ।
हव्यकव्यामृतान्नानां जिह्वा सर्वरसस्य च ॥ १ ॥
सर्वासूनां च वायोश्च तन्नासे परमायने ।
अश्विनोरोषधीनां च घ्राणो मोदप्रमोदयोः ॥ २ ॥
रूपाणां तेजसां चक्षुर्दिवः सूर्यस्य चाक्षिणी ।
कर्णौ दिशां च तीर्थानां श्रोत्रमाकाशशब्दयोः ।
तद्गात्रं वस्तुसाराणां सौभगस्य च भाजनम् ॥ ३ ॥
त्वगस्य स्पर्शवायोश्च सर्वमेधस्य चैव हि ।
रोमाण्युद्भिज्जजातीनां यैर्वा यज्ञस्तु संभृतः ॥ ४ ॥
केशश्मश्रुनखान्यस्य शिलालोहाभ्रविद्युताम् ।
बाहवो लोकपालानां प्रायशः क्षेमकर्मणाम् ॥ ५ ॥
विक्रमो भूर्भुवः स्वश्च क्षेमस्य शरणस्य च ।
सर्वकामवरस्यापि हरेश्चरण आस्पदम् ॥ ६ ॥
अपां वीर्यस्य सर्गस्य पर्जन्यस्य प्रजापतेः ।
पुंसः शिश्न उपस्थस्तु प्रजात्यानन्दनिर्वृतेः ॥ ७ ॥
पायुर्यमस्य मित्रस्य परिमोक्षस्य नारद ।
हिंसाया निर्ऋतेर्मृत्योर्निरयस्य गुदः स्मृतः ॥ ८ ॥
पराभूतेरधर्मस्य तमसश्चापि पश्चिमः ।
नाड्यो नदनदीनां तु गोत्राणामस्थिसंहतिः ॥ ९ ॥
अव्यक्तरससिन्धूनां भूतानां निधनस्य च ।
उदरं विदितं पुंसो हृदयं मनसः पदम् ॥१०॥
धर्मस्य मम तुभ्यं च कुमाराणां भवस्य च ।

श्रीब्रह्माजी बोले—हे नारद ! उस विराट् पुरुषका मुख वाणी और उसके अधिष्ठातृदेव अग्निका उत्पत्ति-स्थान है, उसकी सातों धातुएँ गायत्री आदि सात छन्दोंका उद्गमस्थान है और उसकी जिह्वा हव्य[1], कव्य[2] और अमृत[3] आदि अन्नों तथा समस्त रसोंकी [रसनेन्द्रियों एवं वरुण-देवकी] जन्मभूमि है ॥१॥ उसके नासिकारन्ध्र, पाँचों प्राण और वायुके आदि स्थान हैं तथा घ्राणेन्द्रिय अश्विनी-कुमार, समस्त ओषधि और सामान्य-विशेष गन्धका जन्मस्थान है ॥२॥ उसकी चक्षु इन्द्रिय रूप और तेजकी, नेत्रगोलक स्वर्ग और सूर्यकी, कान दिशा और तीर्थोंकी तथा श्रवणेन्द्रिय आकाश और शब्दकी एवं उसका शरीर निखिल वस्तुओंके सारभाग तथा सौन्दर्यकी जन्मभूमि है ॥३॥ विराट् पुरुषकी त्वचा स्पर्श, वायु और समस्त यज्ञोंको प्रकट करनेवाली है तथा उसके रोमोंसे वृक्षादि उद्भिज्ज और कुशा आदि यज्ञसम्भार उत्पन्न हुए हैं ॥ ४ ॥ भगवान्‌के केश, श्मश्रु (दाढ़ी-मूँछ) और नखोंसे क्रमशः मेघ, बिजली और शिला-लोहा आदि धातु तथा उसकी भुजाओंसे संसार-की रक्षा करनेवाले लोकपालगण प्रकट हुए हैं ॥५॥ उसके डग भूः भुवः स्वः—इन तीनों लोकोंके आश्रय हैं, तथा चरण क्षेम[4], शरण[5] और समस्त कामनाओंके आश्रयस्थान हैं ॥ ६ ॥ उस पुराणपुरुषका लिङ्ग जल, वीर्य, सृष्टि, मेघ और प्रजापतिका तथा उपस्थेन्द्रिय मैथुनजनित आनन्दका आधार है ॥ ७ ॥ हे नारद ! उसका पायु-इन्द्रिय यम, मित्र और मलत्यागका तथा गुदाद्वार हिंसा, निर्ऋति, मृत्यु और नरकका उद्गम स्थान है ॥८॥ विराट् पुरुषकी पीठसे पराभव, अधर्म और अज्ञान, नाडियोंसे नद-नदी और अस्थिसमूहसे पर्वत प्रकट हुए हैं ॥९॥ उसका उदर माया, अन्नादिके रस, समुद्र और प्राणियोंके प्रलयका स्थान है तथा हृदय मनकी जन्मभूमि है ॥१०॥ हे नारद ! धर्मका, मेरा, तुम्हारा, सनकादिका, महादेवका, विज्ञानका

१-देवताओंका अन्न । २-पितरोंका अन्न । ३-मनुष्योंका अन्न । ४-प्राप्तकी रक्षा । ५-भयसे बचाना ।

विज्ञानस्य च सत्त्वस्य परस्यात्मा परायणम् ॥११॥

अहं भवान्भवश्चैव ते[1] इमे मुनयोऽग्रजाः ।
सुरासुरनरा नागाः खगा मृगसरीसृपाः ॥१२॥
गन्धर्वाप्सरसो यक्षा रक्षोभूतगणोरगाः ।
पशवः पितरः सिद्धा विद्याध्राश्चारणा द्रुमाः ॥१३॥
अन्ये च विविधा जीवा जलस्थलनभौकसः ।
ग्रहर्क्षकेतवस्तारास्तडितः स्तनयित्नवः ॥१४॥
सर्वं पुरुष एवेदं भूतं भव्यं भवच्च यत् ।
तेनेदमावृतं विश्वं वितस्तिमधितिष्ठति ॥१५॥
स्वधिष्ण्यं प्रतपन्प्राणो बहिश्च प्रतपत्यसौ[2] ।
एवं विराजं प्रतपंस्तपत्यन्तर्बहिः पुमान् ॥१६॥
सोऽमृतस्याभयस्येशो मर्त्यमन्नं यदत्यगात् ।
महिमैष ततो ब्रह्मन्पुरुषस्य दुरत्ययः ॥१७॥
पादेषु सर्वभूतानि पुंसः स्थितिपदो विदुः ।
अमृतं क्षेममभयं त्रिमूर्ध्नोऽधायि मूर्धसु[3] ॥१८॥

पादास्त्रयो बहिश्चासन्नप्रजानां य आश्रमाः[4] ।
अन्तस्त्रिलोक्यास्त्वपरो गृहमेधोऽबृहद्व्रतः[5] ॥१९॥
सृती विचक्रमे विष्वङ्[6] साशनानशने उभे ।

तथा अन्तःकरणका परमाश्रय एकमात्र परमात्माका मन ही है ॥११॥ [अधिक क्या कहें] मैं, तुम, तुम्हारे अग्रज ये सनकादि मुनि, देव, दानव, मनुष्य, नाग, पक्षी, मृग, सरीसृप, गन्धर्व, अप्सरा, यक्ष, राक्षस, भूतगण, सर्प, पशु, पितृगण, सिद्ध, विद्याधर, चारण, वृक्ष तथा और भी नानाप्रकारके जल, स्थल एवं आकाशमें रहनेवाले जीव, ग्रह, नक्षत्र, केतु, तारागण, बिजली और मेघ—ये सब एकमात्र परम-पुरुष परमात्मा ही हैं। भूत, भविष्यत्, वर्तमान सभी जगत् उस परमेश्वरसे व्याप्त है और वह परमात्माके दश अङ्गुल* (एक देश) में ही ठहरा हुआ है ॥१२–१५॥ जिस प्रकार सूर्य अपने मण्डलको प्रकाशित करता हुआ सम्पूर्ण ब्रह्माण्डको प्रकाशमान करता है उसी प्रकार पुराणपुरुष परमात्मा सम्पूर्ण विराट् विग्रहको प्रकाशित करता हुआ उसके बाहर-भीतर प्रकाशमान हो रहा है ॥१६॥ वह ईश्वर अनित्य कर्मफलसे परे है तथा अमरता और अभय पदका स्वामी है, इसलिये हे ब्रह्मन् ! उस परमात्माकी महिमा अचिन्त्य है ॥१७॥ भू आदि लोक जिनके अंश हैं उन भगवान्के अंशभूत लोकोंमें समस्त भूत स्थित हैं तथा [भूः भुवः स्वः इन] तीन लोकोंके शिरोभूत महर्लोकसे ऊपरवाले [जन, तप और सत्य] लोकोंमें क्रमशः अमृत, क्षेम और अभय विराजमान हैं ॥१८॥

ये बाहरके तीन लोक क्रमशः ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ और संन्यासियोंके निवासस्थान हैं; तथा ब्रह्मचर्यसे रहित गृहस्थ त्रिलोकी (भूः भुवः स्वः) के भीतर ही रहते हैं ॥ १९ ॥ कर्मरूप अविद्या पहला मार्ग है तथा उपासनारूप विद्या दूसरा मार्ग है । इन अविद्या और

---

१. प्रा० पा०—य इमे । २. प्रा० पा०—प्रातपत्प्राणो । ३. प्रा० पा०—वापि । ४. प्रा० पा०—बहिस्त्वासन् प्रजानां त्रय आश्रमाः । ५. प्रा० पा०—महद्व्रतम् । ६. प्रा० पा०—विष्वक् ।

* ब्रह्माण्डके सात आवरणोंका वर्णन करते हुए वेदान्त-प्रक्रियामें ऐसा माना है कि—पृथिवीसे दशगुना जल है, जलसे दशगुना अग्नि, अग्निसे दशगुना वायु, वायुसे दशगुना आकाश, आकाशसे दशगुना अहङ्कार, अहङ्कारसे दशगुना महत्तत्त्व और महत्तत्त्वसे दशगुनी मूल-प्रकृति है वह प्रकृति भगवान्के केवल एक पादमें है। इस प्रकार भगवान्की महत्ता प्रकट की गयी है। यह दशाङ्गुलन्याय कहलाता है।

यदविद्या च विद्या च पुरुषस्तूभयाश्रयः ॥२०॥

यस्मादण्डं विराड् जज्ञे भूतेन्द्रियगुणात्मकः[1] ।

तद्द्रव्यमत्यगाद्विश्वं गोभिः सूर्य इवातपन्[2] ॥२१॥

विद्या दोनों मार्गोंका आश्रय करनेवाले पुरुष क्रमशः भोगप्राप्तिके साधनभूत दक्षिणमार्ग और मोक्षके साधनभूत उत्तरमार्गसे जाते हैं ॥ २० ॥ जिससे अण्डकी और भूत, इन्द्रिय तथा गुणमय विराट्की उत्पत्ति हुई है वह तत्त्व (ईश्वर) सूर्यकी भाँति अपनी किरणोंसे सबको प्रकाशित करता हुआ भी वास्तवमें सम्पूर्ण जगत्से अतीत है ॥ २१ ॥

यदास्य नाभ्यान्नलिनादहमासं महात्मनः ।
नाविदं यज्ञसंभारान्पुरुषावयवादृते ॥२२॥
तेषु यज्ञस्य[3] पशवः सवनस्पतयः कुशाः ।
इदं च देवयजनं कालश्चोरुगुणान्वितः ॥२३॥
वस्तून्योषधयः स्नेहा रसलोहमृदो जलम् ।
ऋचो यजूंषि सामानि चातुर्होत्रं च सत्तम ॥२४॥
नामधेयानि मन्त्राश्च दक्षिणाश्च व्रतानि च ।
देवतानुक्रमः कल्पः संकल्पस्तन्त्रमेव च ॥२५॥
गतयो मतयश्चैव[4] प्रायश्चित्तं समर्पणम् ।
पुरुषावयवैरेते[5] संभाराः संभृता मया ॥२६॥
इति संभृतसंभारः पुरुषावयवैरहम् ।
तमेव पुरुषं यज्ञं तेनैवायजमीश्वरम् ॥२७॥
ततस्ते भ्रातर इमे प्रजानां पतयो नव ।
अयजन्व्यक्तमव्यक्तं पुरुषं सुसमाहिताः ॥२८॥
ततश्च मनवः काले[6] ईजिरे ऋषयोऽपरे ।
पितरो विबुधा दैत्या मनुष्याः क्रतुभिर्विभुम् ॥२९॥
नारायणे भगवति तदिदं विश्वमाहितम् ।
गृहीतमायोरुगुणः सर्गादावगुणः स्वतः ॥३०॥
सृजामि तन्नियुक्तोऽहं हरो हरति तद्वशः ।
विश्वं पुरुषरूपेण परिपाति त्रिशक्तिधृक् ॥३१॥

हे नारद ! जब इस विराट् पुरुषके नाभिकमलसे मेरा जन्म हुआ तो इसके अवयवोंके सिवा मुझे कोई और यज्ञसामग्री नहीं मिली ॥ २२ ॥ तब मैंने उसके अवयवोंसे ही यज्ञपशु, वनस्पति, कुशा, यह यज्ञभूमि, यज्ञयोग्य उत्तम काल, पात्रादि वस्तुएँ, ओषधियाँ, घृत, रस, लोहा, मृत्तिका, जल, ऋक्, यजुः, साम, चातुर्होत्र, यज्ञोंके नाम, मन्त्र, दक्षिणा, व्रत, देवता, कल्प, संकल्प, तन्त्र, गति, मति, प्रायश्चित्त और समर्पण—यह समग्र यज्ञसामग्री एकत्रित की ॥ २३–२६ ॥ इस प्रकार उस पुरुषके अवयवोंसे सामग्री एकत्रित कर मैंने उसीसे उस यज्ञपुरुष परमेश्वरका यजन किया ॥२७॥ फिर तुम्हारे भाई इन मरीचि आदि नौ प्रजापतियोंने समाहित चित्तसे मूर्त्त और अमूर्त्तस्वरूप उस विराट् पुरुषका यजन किया ॥ २८ ॥ तदनन्तर कालक्रमसे मनु, अन्य ऋषिगण, पितर, देवता, दैत्य और मनुष्योंने भी उन सर्वव्यापक भगवान्का यज्ञोंसे पूजन किया ॥ २९ ॥ इस प्रकार जो वास्तवमें निर्गुण होकर भी सृष्टिके आरम्भमें अनेक मायिक गुणोंको स्वीकार करते हैं उन भगवान् नारायणमें ही यह सम्पूर्ण विश्व स्थित है ॥ ३० ॥ उन्हींकी प्रेरणासे मैं इस जगत्को उत्पन्न करता हूँ, महादेव उन्हींके अधीन होकर इसका संहार करते हैं तथा त्रिविध सर्गादि शक्तियोंको स्वीकार करनेवाले वे स्वयं ही परम पुरुष विष्णुरूपसे इसका पालन करते हैं ॥३१॥

इति तेऽभिहितं तात यथेदमनुपृच्छसि ।
नान्यद्भगवतः किंचिद्भाव्यं सदसदात्मकम् ॥३२॥

हे तात ! तुमने मुझसे जो कुछ पूछा था वह सब मैंने कह दिया । संसारमें कार्य-कारणरूप ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो भगवान्से भिन्न हो ॥ ३२ ॥

१. प्रा० पा०—गुणाश्रयः । २. प्रा० पा०—इवातपत् । ३. प्रा० पा०—यज्ञेषु । ४. प्रा० पा०—मतयः श्रद्धा । ५. प्रा० पा०—रेतैः । ६. प्रा० पा०—कालमीजिरे ।

न भारती मेऽङ्ग मृषोपलक्ष्यते
न[1] वै क्वचिन्मे मनसो मृषा गतिः ।
न मे हृषीकाणि पतन्त्यसत्पथे
यन्मे हृदौत्कण्ठ्यवता धृतो हरिः ॥३३॥
सोऽहं समाम्नायमयस्तपोमयः
प्रजापतीनामभिवन्दितः पतिः ।
आस्थाय योगं निपुणं समाहित-
स्तं नाध्यगच्छं यत आत्मसंभवः ॥३४॥
नतोऽस्म्यहं तच्चरणं समीयुषां
भवच्छिदं स्वस्त्ययनं सुमङ्गलम् ।
यो[2] ह्यात्ममायाविभवं स्म पर्यगा-
द्यथा नभः स्वान्तमथापरे कुतः ॥३५॥
नाहं न यूयं यदृतां गतिं विदु-
र्न वामदेवः किमुतापरे सुराः ।
तन्मायया मोहितबुद्धयस्त्विदं
विनिर्मितं चात्मसमं[3] विचक्ष्महे ॥३६॥
यस्यावतारकर्माणि गायन्ति ह्यस्मदादयः ।
न यं विदन्ति तत्त्वेन तस्मै भगवते नमः ॥३७॥
स एष आद्यः पुरुषः कल्पे कल्पे सृजत्यजः[4] ।
आत्मात्मन्यात्मनात्मानं संयच्छति[5] च पाति च ॥३८॥
विशुद्धं केवलं ज्ञानं प्रत्यक्सम्यगवस्थितम् ।
सत्यं पूर्णमनाद्यन्तं निर्गुणं नित्यमद्वयम् ॥३९॥
ऋषे विदन्ति मुनयः प्रशान्तात्मेन्द्रियाशयाः ।
यदा तदेवासत्तर्कैस्तिरोधीयेत विप्लुतम् ॥४०॥
आद्योऽवतारः पुरुषः परस्य
कालः स्वभावः सदसन्मनश्च ।

मैंने प्रेमवश उत्कण्ठित चित्तसे श्रीहरिका स्मरण किया है इसीलिये मेरी वाणी मिथ्या नहीं होती, मेरे चित्तकी कभी असद् विषयोंमें प्रवृत्ति नहीं होती और न मेरी इन्द्रियाँ ही कभी असन्मार्गमें जाती हैं ॥ ३३ ॥ मैं वेदमय, तपोमय और मरीचि आदि प्रजापतियोंका भी वन्दनीय पति हूँ, तथापि [बिना हरिस्मरणके] एकाग्र चित्तसे भली प्रकार योगाभ्यास करनेपर भी, जिनसे मेरा जन्म हुआ, उन श्रीहरिको भी मैं नहीं जान सका था ॥ ३४ ॥ अपने शरणागत भक्तोंका आवागमन छुड़ाकर उनका कल्याण करनेवाले भगवान्‌के परम मङ्गलमय चरणोंको प्रणाम करता हूँ । जिस प्रकार आकाश स्वयं अपना अन्त नहीं जानता उसी प्रकार भगवान् भी अपनी मायाके विस्तारको नहीं जानते, फिर औरोंका तो कहना ही क्या है ? ॥ ३५ ॥ जिनके वास्तविक स्वरूपको मैं, तुम और महादेवजी भी नहीं जानते, उन्हें अन्य देवगण कैसे जान सकते हैं ? उनकी मायाके रचे हुए इस जगत्‌को भी हम मायामोहित होनेके कारण अपनी-अपनी बुद्धिके अनुसार ही जानते हैं [पूरा इसे भी नहीं जानते] ॥ ३६ ॥ हमलोग जिनकी अवतार-लीलाओंका केवल गान करते हैं किन्तु उन्हें तत्त्वतः नहीं जानते, उन श्रीभगवान्‌को नमस्कार है ॥ ३७ ॥ वे अजन्मा आदिपुरुष प्रत्येक कल्पके आदिमें स्वयं अपनेमें अपनेद्वारा आप ही अपनेको रचते, पालते और संहार करते हैं ॥ ३८ ॥ वे श्रीहरि केवल विशुद्ध विज्ञानमय हैं और सबके अन्तर्यामी हैं । वे सत्यस्वरूप, पूर्ण, अनादि, अनन्त, निर्गुण, नित्य और अद्वितीय हैं ॥ ३९ ॥ हे ऋषे ! मुनिजन अपने देह, मन और इन्द्रियोंको स्वाधीन तथा शान्त कर लेनेपर उन्हें जान पाते हैं; असत्पुरुषोंके कुतर्कोंसे आच्छादित होनेपर वे अन्तर्धान हो जाते हैं, [वे उनका स्वरूप कुछ भी नहीं जान सकते] ॥ ४० ॥ उस परमात्माका प्रथम अवतार सहस्रशीर्षादियुक्त पुरुष है । उसके सिवा काल, स्वभाव, कार्य-कारणरूपा प्रकृति, मन, पञ्चभूत, अहङ्कार, सत्त्वादि गुण, इन्द्रियाँ,

१. प्रा० पा०—न कर्हिचिन्मे । २. प्रा० पा०—यस्त्वात्ममायाविभवं स्वयं गतो यथा । ३. प्रा० पा०—त्वात्म० । ४. प्रा० पा०—ऽसृजत्प्रजाः । ५. प्रा० पा०—समं गच्छति पाति ।

द्रव्यं विकारो गुण इन्द्रियाणि
विराट् स्वराट् स्थास्नु चरिष्णु भूम्नः ॥४१॥
अहं भवो यज्ञ इमे प्रजेशा
दक्षादयो ये भवदादयश्च ।
स्वर्लोकपालाः खगलोकपाला
नृलोकपालास्तललोकपालाः ॥४२॥
गन्धर्वविद्याधरचारणेशा
ये यक्षरक्षोरगनागनाथाः ।
ये वा ऋषीणामृषभाः पितॄणां[1]
दैत्येन्द्रसिद्धेश्वरदानवेन्द्राः ।
अन्ये च ये प्रेतपिशाचभूत-
कूष्माण्डयादोमृगपक्ष्यधीशाः ॥४३॥
यत्किञ्च लोके भगवन्महस्व-
दोजःसहस्वद्बलवत्क्षमावत् ।
श्रीह्रीविभूत्यात्मवदद्भुतार्णं
तत्त्वं परं रूपवदस्वरूपम् ॥४४॥
प्राधान्यतो यानृष आमनन्ति
लीलावतारान्पुरुषस्य भूम्नः ।
आपीयतां कर्णकषायशोषा-
ननुक्रमिष्ये त इमान्सुपेशान् ॥४५॥

ब्रह्माण्डशरीर, ब्रह्माण्डका अभिमानी तथा सम्पूर्ण स्थावर-जङ्गम जीव भी उस भूमा पुरुषके ही रूप हैं ॥ ४१॥ मैं, महादेव, विष्णु, ये दक्षादि प्रजापति, तुम सब भक्त-जन, इन्द्रादि स्वर्गलोकके पालक, गरुडादि पक्षिपति, मर्त्यलोकके रक्षक राजा आदि, निम्न लोकोंका पालन करनेवाले वासुकि आदि, गन्धर्व, विद्याधर और चारणोंके अधिनायक, यक्ष, राक्षस, सर्प और नागोंके अधिपति, ऋषिश्रेष्ठगण, पितृपति, दैत्येन्द्र, सिद्धेश्वर, दानपति, तथा प्रेत, भूत, पिशाच, कूष्माण्ड, जलचर, वनचर और नभश्चर जीवोंके नायक एवं और भी जो वस्तुएँ ऐश्वर्य, तेज, इन्द्रियबल, मनोबल, शारीरिक बल या क्षमायुक्त हैं, अथवा जो विशेष शोभा, ह्री (निन्दित कर्मसे लज्जा), वैभव और मूल्यमय हैं, तथा जितने भी अद्भुत वर्णवाले, रूपवान् और अरूप पदार्थ हैं वे सब भगवान्‌के ही रूप हैं ॥ ४२–४४ ॥ हे ऋषे ! इनके सिवा जो उस भूमा पुरुषके परम पवित्र प्रधान-प्रधान लीलावतार माने गये हैं उनका मैं क्रमशः वर्णन करता हूँ । उनका चरित्र श्रवणेन्द्रियके दोषोंको दूर करनेवाला है, अतः तुम सावधान होकर सुनो ॥४५॥

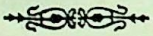

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे द्वितीयस्कन्धे
षष्ठोऽध्यायः[2] ॥ ६ ॥

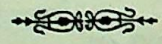

सातवाँ अध्याय

भगवान्‌के लीलावतारोंकी कथा ।

ब्रह्मोवाच

यत्रोद्यतः क्षितितलोद्धरणाय बिभ्र-
त्क्रौडीं तनुं सकलयज्ञमयीमनन्तः ।
अन्तर्महार्णव उपागतमादिदैत्यं
तं दंष्ट्रयाद्रिमिव वज्रधरो ददार ॥ १ ॥

श्रीब्रह्माजी बोले–हे नारद ! जिस समय भगवान् अनन्तने पृथिवीका उद्धार करनेके लिये सर्व यज्ञमय वराहरूप धारण किया तब प्रलयकालीन महा समुद्रके भीतर अपने सामने आये हुए आदिदैत्य हिरण्याक्षको अपनी डाढ़ोंसे इस प्रकार फाड़ डाला जैसे इन्द्रने अपने वज्रसे पर्वतोंको विदीर्ण किया था ॥ १ ॥

१. प्रा० पा०—मृषयः । २. प्राचीन प्रतिमें इसके पहले 'पुरुषसंस्थानुवर्णनं' इतना पाठ अधिक है ।

जातो रुचेरजनयत्सुयमान्सुयज्ञ
आकूतिसूनुरमरानथ दक्षिणायाम् ।
लोकत्रयस्य महतीमहरद्यदार्तिं
स्वायंभुवेन मनुना हरिरित्यनूक्तः ॥ २ ॥
जज्ञे च कर्दमगृहे द्विज देवहूत्यां
स्त्रीभिः समं नवभिरात्मगतिं स्वमात्रे ।
ऊचे ययात्मशमलं गुणसङ्गपङ्क-
मस्मिन्विधूय कपिलस्य गतिं प्रपेदे ॥ ३ ॥
अत्रेरपत्यमभिकाङ्क्षत आह तुष्टो
दत्तो मयाहमिति यद्भगवान्स दत्तः ।
यत्पादपङ्कजपरागपवित्रदेहा
योगर्द्धिमापुरुभयीं यदुहैहयाद्याः ॥ ४ ॥
तप्तं तपो विविधलोकसिसृक्षया मे[1]
आदौ सनात्स्वतपसः स चतुःसनोऽभूत् ।
प्राक्कल्पसंप्लवविनष्टमिहात्मतत्त्वं
सम्यग्जगाद मुनयो यदचक्षतात्मन् ॥ ५ ॥
धर्मस्य दक्षदुहितर्यजनिष्ट मूर्त्यां[2]
नारायणो नर इति स्वतपःप्रभावः[3] ।
दृष्ट्वात्मनो भगवतो नियमावलोपं
देव्यस्त्वनङ्गपृतना घटितुं न शेकुः ॥ ६ ॥
कामं दहन्ति कृतिनो ननु रोषदृष्ट्या
रोषं दहन्तमुत ते न दहन्त्यसह्यम् ।
सोऽयं यदन्तरमलं निविशन्बिभेति
कामः कथं नु पुनरस्य मनः श्रयेत ॥ ७ ॥

फिर उन्हीं नारायणने रुचि प्रजापतिके यहाँ आकूति-नन्दन सुयज्ञरूपसे प्रकट होकर दक्षिणा नामकी स्त्रीसे सुयमनामक देवताओंको उत्पन्न किया । उन्होंने त्रिलोकीका महान् कष्ट हर लिया था, इसलिये स्वायम्भुव मनुने उनका नाम 'हरि' रक्खा ॥ २ ॥ हे द्विज ! वे ही कर्दम ऋषिके यहाँ देवहूतिके गर्भसे अपनी नौ भगिनियोंके सहित कपिल नामसे उत्पन्न हुए । उन्होंने अपनी माताको आत्मज्ञानका उपदेश दिया जिससे वह इसी जन्ममें मनोमलरूप गुणसङ्गके दूर हो जानेसे कपिलदेवकी गति (मोक्षपद) को प्राप्त हुई ॥ ३ ॥ [एक बार] भगवान्‌से अत्रि ऋषिने पुत्ररूपसे जन्म लेनेकी प्रार्थना की, तब उनके तपसे प्रसन्न हुए श्री-हरिने उनसे कहा 'अच्छा, मैं अपने आपको तुम्हें देता हूँ ।' इससे भगवान् उनके यहाँ 'दत्त' नामसे प्रकट हुए, जिनके चरण-कमल-मकरन्दसे पवित्र देह होकर यदु और सहस्रार्जुनादिने भोग-मोक्षरूप दोनों प्रकारकी योगसम्पत्ति प्राप्त की थी ॥ ४ ॥ हे नारद ! मैंने जब कल्पके आरम्भमें विविध लोकोंकी रचना करनेके लिये घोर तप किया तो मेरे उस अखण्डित तपसे प्रसन्न हो भगवान् 'सन' शब्दसे युक्त नामोंवाले [सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमार—इन] चार तपस्वियोंके रूपमें प्रकट हुए । उन्होंने पूर्व कल्पके प्रलयकालमें नष्ट हुए आत्म-तत्त्वका ऐसा सुन्दर उपदेश दिया कि उसे सुनते ही मुनियों-ने अपने हृदयमें उस तत्त्वका साक्षात्कार कर लिया ॥ ५ ॥ तदनन्तर वे धर्मके यहाँ दक्षपुत्री 'मूर्ति' के गर्भसे नर-नारायण नामसे प्रकट हुए, उनके तपका प्रभाव असाधारण था, [इन्द्रद्वारा भेजी हुई] कामदेवकी सेनारूप अप्सराएँ उन भगवान्‌के सामने जाते ही अपने स्वभावका लोप होते देख उनका तप भङ्ग करने-की चेष्टा नहीं कर सकीं ॥ ६ ॥ शङ्करादि महानुभाव अपनी कोपदृष्टिसे कामदेवको भस्म कर देते हैं, पर वे हृदयको तपानेवाले असह्य क्रोधको नहीं जला पाते; वह क्रोध जिस भगवान्‌के हृदयमें प्रवेश करनेसे भी डरता है उसमें काम कैसे अपना अधिकार जमा सकता

१. प्रा० पा०—य । २. प्रा० पा०—भवत्स्वमूर्त्या । ३. प्रा० पा०—प्रभावात् ।

विद्धः सपत्न्युदितपत्रिभिरन्ति राज्ञो
बालोऽपि सन्नुपगतस्तपसे वनानि ।
तस्मा अदाद्ध्रुवगतिं गृणते प्रसन्नो
दिव्याः स्तुवन्ति मुनयो यदुपर्यधस्तात् ॥ ८ ॥

यद्वेनमुत्पथगतं द्विजवाक्यवज्र-
विप्लुष्टपौरुषभगं निरये पतन्तम् ।
त्रात्वार्थितो जगति पुत्रपदं च लेभे
दुग्धा वसूनि वसुधा सकलानि येन ॥ ९ ॥

नाभेरसावृषभ आस सुदेविसूनु-
र्यो वै चचार समदृग्जडयोगचर्याम् ।
यत्पारमहंस्यमृषयः पदमामनन्ति
स्वस्थः प्रशान्तकरणः परिमुक्तसङ्गः ॥ १० ॥

सत्रे ममास भगवान्हयशीर्षाथो[1]
साक्षात्स यज्ञपुरुषस्तपनीयवर्णः ।
छन्दोमयो मखमयोऽखिलदेवतात्मा
वाचो बभूवुरुशतीः श्वसतोऽस्य नस्तः ॥ ११ ॥

मत्स्यो युगान्तसमये मनुनोपलब्धः
क्षोणीमयो निखिलजीवनिकायकेतः ।
विस्रंसितानुरुभये सलिले मुखान्मे[2]
आदाय तत्र विजहार ह वेदमार्गान् ॥ १२ ॥

क्षीरोदधावमरदानवयूथपाना-
मुन्मथ्नतामृतलब्धय आदिदेवः ।
पृष्ठेन कच्छपवपुर्विदधार गोत्रं
निद्राक्षणोऽद्रिपरिवर्तकषाणकण्डूः[3] ॥ १३ ॥

त्रैविष्टपोरुभयहा स नृसिंहरूपं
कृत्वा भ्रमद्भ्रुकुटिदंष्ट्रकरालवक्त्रम् ।
दैत्येन्द्रमाशु गदयाभिपतन्तमारा-
दूरौ निपात्य विददार नखैः स्फुरन्तम् ॥ १४ ॥

है ? ॥ ७ ॥ ध्रुवजी बालक थे तो भी जब वे राजा उत्तानपादके सामने सौतेली माताके वाक्यबाणोंसे विद्ध होकर वनमें तपस्याके लिये गये तो उनकी प्रार्थनासे प्रसन्न होकर भगवान्‌ने उन्हें ध्रुवपद दिया, जिसके ऊपर-नीचे स्थित भृगु-आदि दिव्य मुनिगण स्तुति किया करते हैं ॥ ८ ॥

जब राजा 'वेन' कुमार्गमें चलने लगा तो उसका पुरुषार्थ और वैभव ब्राह्मणोंके वाग्वज्रसे नष्ट हो गया और नरकमें गिरने लगा । उस समय ऋषियोंकी प्रार्थनासे पृथु-अवतार ले भगवान्‌ने उसकी रक्षा कर संसारमें 'पुत्र' * पदको सार्थक किया और गोरूप पृथिवीसे अन्न आदि सम्पूर्ण वैभवोंको दुहा ॥ ९ ॥ वे ही भगवान् महाराज नाभिद्वारा सुदेवीके पुत्र ऋषभजी हुए । उन्होंने आत्मस्वरूपमें स्थित, जितेन्द्रिय, आसक्तिरहित और समदर्शी होकर जडयोगका आचरण किया, जिसे मुनिजन 'परमहंस' पद कहते हैं ॥ १० ॥ उन्हीं साक्षात् यज्ञपुरुषने मेरे यज्ञमें सुवर्णवर्ण हयग्रीव अवतार लिया । भगवान्‌का वह विग्रह वेदमय, यज्ञमय और सर्वदेवमय था । उनके श्वास लेते समय नासिकासे अति सुन्दर वेदवाक्य प्रकट हुए ॥ ११ ॥ पिछले कल्पके अन्तमें वैवस्वत मनुने मत्स्यावतार देखा था । वे पृथिवी-रूप नौकाके आश्रय होनेसे सभी जीवसमूहके आश्रय हुए । वे मत्स्य भगवान् मेरे मुखसे प्रलयकालीन भयङ्कर जलमें गिरे हुए वेदोंको ग्रहणकर विहार करते रहे ॥ १२ ॥ जब देव और दानव यूथपति अमृतप्राप्तिके लिये क्षीरसमुद्र मथने लगे तो भगवान् आदिनारायणने कच्छपरूप धारणकर अपनी पीठपर मन्दराचल पर्वतको धारण किया । उस समय उस पर्वतके घूमनेकी खुजलाहटसे वे निद्रासुखका अनुभव करने लगे ॥ १३ ॥ [एक बार] देवताओंके महान् भयको हरनेवाले भगवान्‌ने वक्र भृकुटि और तीक्ष्ण डाढ़ोंसे महाभयङ्कर मुखवाला नृसिंहरूप धारण कर अपने सामने गदा हाथमें लिये फड़ककर आये हुए दैत्यराज हिरण्यकशिपुको अपनी जाँघोंपर डाल नखोंसे चीर डाला ॥ १४ ॥

१. प्रा० पा०—शीर्षशीर्षा साक्षात् । २. प्रा० पा०—मखात्मा । ३. प्रा० पा०—निद्रे० ।

* 'पुन्नाम्नो नरकात् त्रायते इति पुत्रः'—जो पुन्नामक नरकसे रक्षा करे उसे पुत्र कहते हैं ।

अन्तःसरस्युरुबलेन पदे गृहीतो
ग्राहेण यूथपतिरम्बुजहस्त आर्तः ।
आहेदमादिपुरुषाखिललोकनाथ
तीर्थश्रवः श्रवणमङ्गलनामधेय ॥१५॥
श्रुत्वा हरिस्तमरणार्थिनमप्रमेय-
श्चक्रायुधः पतगराजभुजाधिरूढः ।
चक्रेण नक्रवदनं विनिपाट्य तस्मा-
द्धस्ते प्रगृह्य भगवान्कृपयोज्जहार ॥१६॥
ज्यायान्गुणैरवरजोऽप्यदितेः सुतानां
लोकान्विचक्रम इमान्यदथाधियज्ञः।
क्ष्मां वामनेन जगृहे त्रिपदच्छलेन
याच्ञामृते पथि चरन्प्रभुभिर्न चाल्यः॥१७॥
नार्थो बलेरयमुरुक्रमपादशौच-
मापः शिखां धृतवतो विबुधाधिपत्यम्।
यो वै प्रतिश्रुतमृते न चिकीर्षदन्य-
दात्मानमङ्ग शिरसा हरयेऽभिमेने ॥१८॥
तुभ्यं च नारद भृशं भगवान्विवृद्ध-
भावेन साधुपरितुष्ट उवाच योगम् ।
ज्ञानं च भागवतमात्मसतत्त्वदीपं
यद्वासुदेवशरणा विदुरञ्जसैव ॥१९॥
चक्रं च दिक्ष्वविहतं दशसु स्वतेजो
मन्वन्तरेषु मनुवंशधरो बिभर्ति ।

जिस समय सरोवरके भीतर महाबली ग्राहने यूथपति गजराजका पाँव पकड़ा और उसने अपनी सूँड़में कमल लेकर आर्त्तस्वरसे पुकारा, 'हे आदिपुरुष ! हे निखिललोकाधिपते ! हे पुण्यकीर्त्ते ! हे श्रवणमात्रसे कल्याणकारी नामोंवाले !' उस समय उसकी पुकार सुनकर अतुलबलशाली भगवान् 'चक्रपाणि' गरुडपर चढ़कर वहाँ आये और अपने चक्रसे ग्राहका मुख फाड़कर दयावश शरणागत गजको सूँड़ पकड़कर बाहर निकाला ॥ १५-१६ ॥ यज्ञपुरुष भगवान् वामन अदितिके पुत्रोंमें सबसे छोटे होकर भी गुणोंमें सबसे बड़े थे, क्योंकि उन्होंने अपने पगोंसे इन समस्त लोकोंको व्याप्त कर लिया था । इस प्रकार वामनरूपसे उन्होंने छलपूर्वक राजा बलिसे सम्पूर्ण पृथिवी ले ली । सच है, जो लोग सन्मार्गगामी होते हैं वे याच्ञाके सिवा और किसी प्रकार समर्थ पुरुषोंसे भी विचलित नहीं किये जा सकते ॥१७॥ अपने शिरपर भगवान् त्रिविक्रमका चरणोदक धारण करनेवाले राजा बलिको जो देवताओंका आधिपत्य प्राप्त हुआ—यह उनके लिये कोई बड़ा पुरुषार्थ नहीं मिल गया; क्योंकि उन्होंने [शुक्राचार्यके निषेध करनेपर भी] अपनी प्रतिज्ञासे इधर-उधर कुछ भी करना नहीं चाहा तथा अन्तमें [तीसरा पाद पूरा करनेके लिये] शिरसहित अपना अङ्ग भी भगवान्को अर्पण कर दिया ॥१८॥

हे नारद ! तुम्हारे अत्यन्त बढ़े हुए भक्तिभावसे सन्तुष्ट होकर उन्हीं भगवान्ने हंसरूपसे तुम्हें ज्ञान, योग और अपना वास्तविक तत्त्व प्रकट करनेवाले भागवतशास्त्रका उपदेश किया था, जिसे भगवान् वासुदेवकी शरणमें प्राप्त हुए भक्तजन अनायास ही जान सकते हैं ॥१९॥ वे ही भगवान् स्वायम्भुवादि मन्वन्तरोंमें मनुरूप होकर दशों दिशाओंमें अपने अप्रतिहत प्रभावरूपी सुदर्शनचक्रको धारण करते हैं [अर्थात् निष्कण्टक राज्य करते हैं] और अपने

१. प्रा० पा०—हरिः स्वम० । २. प्रा० पा०—मनसा ।

दुष्टेषु राजसु दमं व्यदधात्स्वकीर्तिं
सत्ये त्रिपृष्ठ उशतीं प्रथयंश्चरित्रैः ॥२०॥
धन्वन्तरिश्च भगवान्स्वयमेव कीर्ति-
र्नाम्ना नृणां पुरुरुजां रुज आशु हन्ति ।
यज्ञे च भागममृतायुरवावरुन्ध[1]
आयुश्च वेदमनुशास्त्यवतीर्य लोके ॥२१॥
क्षत्रं क्षयाय विधिनोपभृतं महात्मा
ब्रह्मध्रुगुज्झितपथं नरकार्तिलिप्सु ।
उद्धन्त्यसाववनिकण्टकमुग्रवीर्य-
स्त्रिःसप्तकृत्व उरुधारपरश्वधेन ॥२२॥
अस्मत्प्रसादसुमुखः कलया कलेश
इक्ष्वाकुवंश अवतीर्य गुरोर्निदेशे ।
तिष्ठन्वनं सदयितानुज आविवेश
यस्मिन्विरुध्य दशकन्धर आर्तिमार्च्छत् ॥२३॥
यस्मा अदादुदधिरूढभयाङ्गवेपो
मार्गं सपद्यरिपुरं हरवद्दिधक्षोः ।
दूरे सुहृन्मथितरोषसुशोणदृष्ट्या
तातप्यमानमकरोरगनक्रचक्रः ॥२४॥
वक्षःस्थलस्पर्शरुग्णमहेन्द्रवाह-
दन्तैर्विडम्बितककुब्जुष ऊढहासम् ।
सद्योऽसुभिः सह विनेष्यति दारहर्तु-
र्विस्फूर्जितैर्धनुष उच्चरतोऽधिसैन्ये ॥२५॥
भूमेः सुरेतरवरूथविमर्दितायाः

पवित्र चरित्रोंसे त्रिलोकीके ऊपर स्थित सत्यलोकतक अपनी कमनीय कीर्ति फैलाते हुए उस मन्वन्तरके दुष्ट राजाओंका दमन करते हैं ॥ २० ॥ स्वनामधन्य भगवान् धन्वंतरि अपने नामसे ही रोगी पुरुषोंके बड़े-से-बड़े रोग तुरन्त नष्ट कर देते हैं । उन्होंने अवतार लेकर [दैत्योंद्वारा बन्द किया हुआ] अपना यज्ञभाग फिर प्राप्त किया है और वे संसारमें आयुर्वेदका उपदेश कर रहे हैं ॥२१॥ वे भगवान् महापराक्रमी महात्मा परशुराम होकर दैववश नष्ट होनेके लिये ही बढ़े हुए ब्राह्मण-द्रोही, कुमार्गगामी और नरकयातनाओंको भोगनेकी इच्छावाले, पृथिवीके कण्टकरूप क्षत्रियोंका अपने तीक्ष्ण धारवाले फरसेसे इक्कीस बार संहार करनेकी इच्छासे वध कर रहे हैं ॥२२॥ वे ही मायापति प्रभु हमपर अनुग्रह करते इक्ष्वाकुवंशमें अपनी कलाओंसहित 'रामचन्द्र'—अवतार ले अपने पिताकी आज्ञा पालन करते हुए भाई और भार्याके सहित वनमें चले जायँगे; वहाँ उनसे विरोध करनेके कारण दशशीश रावण मृत्युको प्राप्त होगा ॥२३॥ पूर्व कालमें जैसे महादेवजी त्रिपुरासुरको भस्म करनेके लिये उद्यत हुए थे उसी प्रकार जब भगवान् राम तत्काल शत्रुनगरी लङ्काको जलानेकी इच्छा करेंगे उस समय प्रियतमा सीताको दूर हर ले जानेके कारण बढ़ी हुई लाल-लाल आँखोंकी रोषाग्निसे समुद्रके मकर, सर्प और ग्राह आदि जीव जलने लगेंगे तब समुद्र भयसे काँपता हुआ उन्हें मार्ग दे देगा ॥ २४ ॥ जिसके वक्षःस्थलसे टकराकर इन्द्रके वाहन ऐरावतके दाँत चूर्ण होकर सब ओर फैल जानेसे दिशाएँ श्वेतवर्ण हो जाती थीं, उन सम्पूर्ण दिशाओंके अधिपति और अपनी प्रियाके हरण करनेवाले रावणके गर्वपूर्ण हासको भगवान् राम दोनों सेनाओंमें फैले हुए अपने धनुषके टङ्कारसे उसके प्राणोंसहित नष्ट कर देंगे ॥ २५ ॥

जिस समय पृथिवी दैत्यसमूहसे पीडित होगी उस समय उसका भार उतारनेके लिये अपने श्वेत और

१. प्रा० पा०—खाप दुःखमायुश्च । २. प्रा० पा०—उद्यन्नसाव० । ३. प्रा० पा०—भग्नमहे० । ४. प्रा० पा०—विलम्बित० । ५. प्रा० पा०—जपरूढ । ६. प्रा० पा०—तोऽरि० ।

क्लेशव्ययाय कलया सितकृष्णकेशः।
जातः करिष्यति जनानुपलक्ष्यमार्गः
कर्माणि चात्ममहिमोपनिबन्धनानि॥२६॥
तोकेन जीवहरणं यदुलूकिकाया-
स्त्रैमासिकस्य च पदा शकटोऽपवृत्तः।
यद्रिङ्गतान्तरगतेन दिविस्पृशोर्वा
उन्मूलनं त्वितरथार्जुनयोर्न भाव्यम्॥२७॥
यद्वै व्रजे व्रजपशून्विषतोयपीथान्
पालांस्त्वजीवयदनुग्रहदृष्टिवृष्ट्या।
तच्छुद्धयेऽतिविषवीर्यविलोलजिह्व-
मुच्चाटयिष्यदुरगं विहरन् ह्रदिन्याम्॥२८॥
तत्कर्म दिव्यमिव यन्निशि निःशयानं
दावाग्निना शुचिवने परिदह्यमाने।
उन्नेष्यति व्रजमतोऽवसितान्तकालं
नेत्रे पिधाय सबलोऽनधिगम्यवीर्यः॥२९॥
गृह्णीत यद्यदुपबन्धममुष्य माता
शुल्बं सुतस्य न तु तत्तदमुष्य माति।
यज्जृम्भतोऽस्य वदने भुवनानि गोपी
संवीक्ष्य शङ्कितमनाः प्रतिबोधितासीत्॥३०॥
नन्दं च मोक्ष्यति भयाद्वरुणस्य पाशा-
द्गोपान्बिलेषु पिहितान्मयसूनुना च।
अह्न्यापृतं निशि शयानमतिश्रमेण
लोके विकुण्ठ उपनेष्यति गोकुलं स्म॥३१॥

कृष्ण केशोंसे* क्रमशः बलभद्र और कृष्णरूपसे कलावतार लेकर भगवान् अपनी महिमाको प्रकट करनेवाले अनेक कर्म करेंगे उस समय उनका मार्ग मनुष्योंकी बुद्धिसे बाहर होगा ॥ २६ ॥ बाल्यावस्थामें ही पूतनाके प्राण हरना, तीन मासकी अवस्थामें पैर मार कर शकट उलट देना और घुटनोंके बल चलते-चलते आकाशको छूनेवाले, यमलार्जुन वृक्षोंके बीचमें जाकर उन्हें उखाड़ डालना—इत्यादि ऐसे कर्म करेंगे जिन्हें ईश्वरके सिवा दूसरा कोई कर नहीं सकता ॥ २७ ॥ इसके सिवा यमुनाका विषैला जल पीकर मरे हुए गौओं और गोपगणोंको अपनी कृपादृष्टिसे जीवित कर देंगे तथा यमुनाजलको शुद्ध करनेके लिये यमुनामें विहार करते हुए अत्यन्त विषके बलसे जिसकी जिह्वाएँ लप-लपा रही हैं ऐसे कालिय नागको वहाँसे निकाल देंगे ॥ २८ ॥ फिर उसी रात्रिको ग्रीष्म ऋतुसे सूखे हुए यमुनातटवर्ती [मुञ्जाटवी नामक] वनको जब दावानल जलाने लगेगा उस समय सोते रहनेके कारण प्राणसंकटमें पड़े हुए समस्त व्रजवासियोंका उनके नेत्र मुँदवाकर बलरामसहित अचिन्त्यशक्ति भगवान् कृष्ण (दावानल-को पीकर) उद्धार करेंगे। उनका यह कर्म भी परम दिव्य होगा ॥ २९ ॥ भगवान्‌की माता यशोदा उन्हें बाँधनेके लिये जो-जो रस्सी लावेगी वही-वही उनके उदरमें पूरी नहीं पड़ेगी, उसी समय जमुहाई लेते समय उनके मुखमें चौदहों भुवन देखकर वह भयभीत हो उनके ऐश्वर्यको समझ जायगी ॥ ३० ॥ वे ही भगवान् नन्दजीको वरुणपाशके भयसे मुक्त करेंगे और मयासुरके पुत्र व्योमासुरद्वारा गुफामें बन्द किये गोपकुमारोंको छुड़ायेंगे तथा दिनभर काममें लगे रहनेवाले और रातभर परिश्रम-के कारण सोनेवाले गोकुलवासी गोपोंको स्वर्गसाधक पुण्यकर्मसे रहित होनेपर भी वैकुण्ठ ले जायेंगे ॥ ३१ ॥

१. प्रा० पा०—काले। २. प्रा० पा०—उपदास्यति।

* विष्णुपुराणमें भी कहा है "उज्जहारात्मनः केशौ सितकृष्णौ महामुने" हे महामुने! भगवान्‌ने (राम और कृष्णरूपसे अवतार लेनेके लिये) एक श्वेत और एक कृष्ण दो केश उखाड़े। केशोंके अवतार कहनेका अभिप्राय यह है कि भूभारहरणरूप कार्य करनेके लिये भगवान्‌का एक केश ही काफी है। इसके अतिरिक्त बलराम और कृष्णके वर्णोंकी सूचना देनेके लिये श्वेत और काले बालोंका अवतार कहा गया है। वस्तुतः भगवान् कृष्ण तो पूर्णावतार हैं जैसा कि महाभारतमें कहा है 'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्।'

गोपैर्मखे प्रतिहते व्रजविप्लवाय
देवेऽभिवर्षति पशून्कृपया रिरक्षुः ।
धर्तोच्छिलीन्ध्रमिव सप्त दिनानि सप्त-
वर्षो महीध्रमनघैककरे सलीलम् ॥३२॥
क्रीडन्वने निशि निशाकररश्मिगौर्यां
रासोन्मुखः कलपदायतमूर्च्छितेन ।
उद्दीपितस्मररुजां व्रजभृद्वधूनां
हर्तुर्हरिष्यति शिरो धनदानुगस्य ॥३३॥
ये च प्रलम्बखरदर्दुरकेश्यरिष्ट-
मल्लेभकंसयवनाः कुजपौण्ड्रकाद्याः ।
अन्ये च शाल्वकपिवल्वलदन्तवक्त्र-
सप्तोक्षशम्बरविदूरथरुक्मिमुख्याः ॥३४॥
ये वा मृधे समितिशालिन आत्तचापाः
काम्बोजमत्स्यकुरु[1]कैकयसृञ्जयाद्याः ।
यास्यन्त्यदर्शनमलं बल[2]भीमपार्थ-
व्याजाह्वयेन हरिणा निलयं तदीयम् ॥३५॥

कालेन मीलितधियामवमृश्य नृणां
स्तोकायुषां स्वनिगमो बत दूरपारः ।
आविर्हितस्त्वनुयुगं स हि सत्यवत्यां
वेदद्रुमं विटपशो विभजिष्यति स्म ॥३६॥
देवद्विषां निगमवर्त्मनि निष्ठितानां
पूर्भिर्मयेन विहिताभिरदृश्यतूर्भिः[3] ।
लोकान्घ्नतां मतिविमोहमतिप्रलोभं
वेषं विधाय बहु भाष्यत औपधर्म्यम् ॥३७॥
यर्ह्यालयेष्वपि सतां न हरेः[4] कथाः स्युः
पाखण्डिनो द्विजजना वृषला नृदेवाः ।

जिस समय गोपोंद्वारा अपना यजन छोड़ देनेपर इन्द्र व्रजभूमिको डुबानेके लिये भयङ्कर वर्षा करेगा उस समय भगवान् सात वर्षकी अवस्थामें दयावश पशुओंकी रक्षा करनेके लिये सात दिनतक गोवर्द्धन पर्वतको छत्राक पुष्पके*समान लीलासे अपने कभी न थकनेवाले एक हाथपर ही धारण किये रहेंगे ॥ ३२ ॥ फिर चन्द्रमाकी किरणोंसे धवलित रजनीमें रासक्रीडा करनेकी इच्छासे वनमें विचरते हुए भगवान् कृष्ण अपनी मधुर पदावलीकी फैली हुई मूर्च्छनासे प्रेमातुर होकर आयी हुई व्रज-बालाओंको जब कुबेरका यक्ष चन्द्रचूड बलात्कारसे हर ले जायगा तो उसका शिर काट डालेंगे ॥ ३३ ॥ और भी जो प्रलम्बासुर, धेनुकासुर, बकासुर, केशी, अरिष्टासुर, चाणूर आदि मल्ल, कुवलयापीड़ हाथी, कंस, कालयवन, नरकासुर, पौण्ड्रक, शाल्व, द्विविद वानर, बल्वल, दन्तवक्त्र, नग्नजित्के सात बैल, शम्बरासुर, विदूरथ और रुक्मी आदि ॥ ३४ ॥ तथा काम्बोज, मत्स्य, कुरु, कैकय और सृञ्जय आदि देशोंके संग्राममें शोभित होनेवाले धनुर्धर वीर होंगे वे सभी बलराम, भीमसेन और अर्जुन आदि नामोंके बहाने श्रीहरिके द्वारा ही मारे जाकर उन्हींके लोकको चले जायेंगे ॥ ३५ ॥

प्रत्येक कल्पमें कालक्रमसे मन्दबुद्धि हुए अल्पायु लोगोंको हमारी वाणी वेदका समझना अत्यन्त कठिन है, ऐसा विचारकर भगवान् सत्यवतीके गर्भसे व्यासरूपसे अवतीर्ण होकर वेद-वृक्षको शाखाओंमें विभक्त करेंगे ॥ ३६ ॥ जब देवद्रोही दानवगण वेद मार्गमें स्थित रहकर मयदानवके बनाये हुए अलक्षित गतिवाले पुरोंमें रहते हुए लोगोंको नष्ट करेंगे तो भगवान् उनकी बुद्धिमें मोह और लोभ उत्पन्न करनेवाला बुद्धवेष धारण कर उन्हें कितने ही उपधर्मोंका उपदेश करेंगे ॥ ३७ ॥ जब कलियुगके अन्तमें सत्पुरुषोंके घरोंमें भी हरिचर्चा होनी बन्द हो जायेगी, ब्राह्मणादि त्रिवर्ण पाखण्डी हो जायेंगे, शूद्रगण राज्य करेंगे तथा पृथिवीमें कहीं भी

१. प्रा० पा०—कुरुसृञ्जयकैकयाद्याः । २. प्रा० पा०—युधि पार्थभीमव्या० । ३. प्रा० पा०—रदृश्यमूर्तिः । ४. प्रा० पा०—कथा हरेः ।

* वर्षाऋतुमें प्रायः गन्दी जगहोंपर जो छतरीके आकारके छोटे-छोटे फूल-से हो जाते हैं उन्हें छत्राक-पुष्प कहते हैं।

स्वाहा स्वधा वषडिति स्म गिरो न यत्र
शास्ता भविष्यति कलेर्भगवान्युगान्ते ॥३८॥

स्वाहा, स्वधा और वषट्कारकी ध्वनि सुनायी नहीं पड़ेगी उस समय भगवान् कल्किअवतार लेकर कलिका शासन करेंगे ॥ ३८ ॥ *

सर्गे तपोऽहमृषयो नव ये प्रजेशाः
स्थाने च धर्ममखमन्वमरावनीशाः ।
अन्ते त्वधर्महरमन्युवशासुराद्या
मायाद्रिभूतय इमाः पुरुशक्तिभाजः ॥३९॥

हे नारद ! संसारकी रचनाके लिये मेरा किया हुआ तप, मैं और महर्षि मरीचि आदि नौ प्रजापति; स्थितिके लिये धर्म, यज्ञ (विष्णु) भगवान्, मनु, देवगण और राजा लोग तथा अन्तके लिये अधर्म, महादेव और क्रोधके वशीभूत दैत्यादि—ये सब अनन्त शक्तिशाली भगवान्की ही विभूतियाँ हैं ॥ ३९ ॥

विष्णोर्नु वीर्यगणनां कतमोऽर्हतीह
यः पार्थिवान्यपि कविर्विममे रजांसि ।
चस्कम्भ यः स्वरंहसास्खलतात्रिपृष्ठं
यस्मात्त्रिसाम्यसदनादुरुकम्पयानम् ॥४०॥

जिस महामनस्वीने पृथिवीके रजःकणोंको भी गिन लिया है वह भी कौन ऐसा है जो भगवान् श्रीविष्णुके पराक्रमोंकी गणना कर सकता है ? अहो ! उन हरिने [त्रिविक्रम-अवतार लेकर] अपने चरणोंके अस्खलित वेगसे [जिस समय त्रिलोकीको नापा उस समय] अत्यन्त काँपते हुए पातालसे लेकर सत्यलोकतक समस्त लोकको स्वयं धारण किया ! ॥ ४० ॥

नान्तं विदाम्यहममी मुनयोऽग्रजास्ते
मायाबलस्य पुरुषस्य कुतोऽपरे ये ।
गायन्गुणान्दशशतानन आदिदेवः
शेषोऽधुनापि समवस्यति नास्य पारम् ॥४१॥

उन महापराक्रमी पुराणपुरुषकी मायाके प्रभावका अन्त तो मैं और तुम्हारे अग्रज सनकादि भी नहीं जानते ! फिर औरोंका तो कहना ही क्या है ? दश सहस्र फणवाले आदिदेव शेषजी भी उनका गुणगान करते हुए अभीतक उनका पार नहीं पा सके ! ॥ ४१ ॥

येषां स एव भगवान्दयया[1]येदनन्तः
सर्वात्मनाश्रितपदो यदि निर्व्यलीकम् ।
ते दुस्तरामतितरन्ति च देवमायां
नैषां ममाहमिति धीः श्वसृगालभक्ष्ये ॥४२॥

निष्कपट होकर सब प्रकार उन्हींके चरणोंका आश्रय लेनेसे जिनपर वे भगवान् अनन्त स्वयं दया करते हैं वे ही उनकी दुस्तर मायाको पार कर पाते हैं । उनकी कुत्तों और सियारोंके भक्ष्यरूप इस देहमें अहंबुद्धि (मैंपन) नहीं हुआ करती ॥ ४२ ॥

वेदाहमङ्ग परमस्य हि योगमायां
यूयं भवश्च भगवानथ दैत्यवर्यः ।
पत्नी मनोः स च मनुश्च तदात्मजाश्च
प्राचीनबर्हिर्ऋभुरङ्ग उत ध्रुवश्च ॥४३॥

हे प्रिय ! उन परमप्रभुकी योगमायाको मैं, तुम, भगवान् शङ्कर, दैत्यश्रेष्ठ प्रह्लाद, मनुपत्नी शतरूपा, स्वायम्भुव मनु, प्रियव्रत आदि मनुपुत्र, प्राचीनबर्हि, ऋभु और ध्रुव जानते हैं ॥ ४३ ॥

इक्ष्वाकुरैलमुचुकुन्दविदेहगाधि-
रघ्वम्बरीषसगरा गयनाहुषाद्याः ।
मान्धात्रलर्कशतधन्वनुरन्तिदेवा
देवव्रतो बलिरमूर्त्तरयो दिलीपः ॥४४॥

इनके सिवा इक्ष्वाकु, इलापुत्र पुरूरवा, मुचुकुन्द, जनक, गाधि, रघु, अम्बरीष, सगर, गय, ययाति, मान्धाता, अलर्क, शतधन्वा, अनु, रन्तिदेव, भीष्म, बलि, अमूर्त्तरय, दिलीप ॥ ४४ ॥

१. प्रा० पा०—दयया ह्यनन्तः ।

* ब्रह्म-नारद-संवादके पहले वराह आदि अवतार हो चुके थे, धन्वन्तरि और परशुरामका अवतार उस समय था तथा राम आदि सभी अवतार होनेवाले थे । मन्वन्तरोंमें कुछ हो गये थे और कुछ होनेवाले थे । भावी अवतारोंमें भूत आदि क्रियाओंका प्रयोग आर्ष समझना चाहिये ।

सौभर्युतङ्कशिबिदेवलपिप्पलाद[1]-
सारस्वतोद्धवपराशरभूरिषेणाः ।
येऽन्ये विभीषणहनूमदुपेन्द्रदत्त[2]-
पार्थार्ष्टिषेणविदुरश्रुतदेववर्याः[3] ॥४५॥

ते वै विदन्त्यतितरन्ति च देवमायां
स्त्रीशूद्रहूणशबरा अपि पापजीवाः ।
यद्यद्भुतक्रमपरायणशीलशिक्षा-
स्तिर्यग्जना अपि किमु श्रुतधारणा ये ॥४६॥

शश्वत्प्रशान्तमभयं प्रतिबोधमात्रं
शुद्धं समं सदसतः परमात्मतत्त्वम् ।
शब्दो न यत्र पुरुकारकवान्क्रियार्थो
माया परैत्यभिमुखे च विलज्जमाना ॥४७॥

तद्वै पदं भगवतः परमस्य पुंसो
ब्रह्मेति यद्विदुरजस्रसुखं विशोकम् ।
सँध्र्यङ्[4] नियम्य यतयो यमकर्तहेतिं
जह्युः स्वराडिव निपानखनित्रमिन्द्रः ॥४८॥

स श्रेयसामपि विभुर्भगवान्यतोऽस्य
भावस्वभावविहितस्य सतः प्रसिद्धिः ।
देहे स्वधातुविगमेऽनुविशीर्यमाणे
व्योमेव तत्र पुरुषो न विशीर्यतेऽजः[5] ॥४९॥

सोऽयं तेऽभिहितस्तात भगवान्विश्वभावनः ।
समासेन हरेर्नान्यदन्यस्मात्सदसच्च यत् ॥५०॥

इदं भागवतं नाम यन्मे भगवतोदितम् ।
संग्रहोऽयं विभूतीनां त्वं[6]मेतद्विपुलीकुरु ॥५१॥

यथा हरौ भगवति नृणां भक्तिर्भविष्यति ।

सौभरि, उतङ्क, शिवि, देवल, पिप्पलाद, सारस्वत, उद्धव, पराशर, भूरिषेण तथा विभीषण, हनूमान्, उपेन्द्रदत्त (शुकदेव), अर्जुन, आर्ष्टिषेण, विदुर और श्रुतदेव आदि भी जानते हैं ॥ ४५ ॥ जो लोग अद्भुत विक्रमी भगवान्‌में तन्मय हुए भक्तोंके स्वभावानुसार शिक्षा ग्रहण करते हैं वे स्त्री, शूद्र, हूण और शबर आदि नीच योनिमें अथवा पशु-पक्षी आदि योनियोंमें जन्म लेनेवाले हों तो भी भगवान्‌की मायाको पार कर लेते हैं फिर वेदपरायण महात्माओंका तो कहना ही क्या है ॥४६॥

वह परमात्मतत्त्व नित्य, शान्त, अभय, विशुद्धज्ञान-स्वरूप, निर्मल, सम और कार्यकारणरूप प्रपञ्चसे परे है; वहाँतक शब्दों (वेदों) की भी पहुँच नहीं है तथा अनेकों कारकोंसे सम्पन्न होनेवाले यागादि कर्मफलकी भी वहाँ गति नहीं है। उसके सामने आते ही माया लज्जित होकर दूर हट जाती है* ॥४७॥ वही भगवान् परमपुरुषका शोकरहित नित्यानन्दरूप धाम है, जिसे विद्वान् लोग 'ब्रह्म' कहते हैं; और जिसमें अपने संयमशील चित्तको स्थिर करके यतिजन भेदबुद्धिको दूर करनेवाले साधनोंको [उनकी आवश्यकता न होनेसे] उसी प्रकार त्याग देते हैं जैसे इन्द्र स्वयं मेघरूपसे विराजमान होनेके कारण कुआँ खोदनेके साधनभूत कुदाल आदिको छोड़ देते हैं ॥ ४८ ॥ वह भगवान् ही समस्त कर्मोंका फल देनेमें भी समर्थ हैं, क्योंकि ब्राह्मणादि भावोंके शम-दमादि स्वभावसे सम्पन्न होनेवाले सभी शुभ कर्म उन्हींकी प्रेरणासे होते हैं। अपने उपादानरूप धातुओंके पृथक्-पृथक् हो जानेसे शरीरके नष्ट हो जानेपर भी अजन्मा पुरुष (आत्मा) आकाशके समान नष्ट नहीं होता ॥ ४९ ॥

हे तात ! मैंने यह षडैश्वर्ययुक्त विश्वभावन श्रीहरिका ही संक्षेपसे वर्णन किया, कार्य-कारणरूप जो कुछ भी वस्तु है वह भगवान्‌से पृथक् नहीं है; तो भी भगवान् इनसे पृथक् हैं ॥५०॥ मुझे जो स्वयं भगवान्‌ने सुनायी थी वह 'भागवत' यही है। यह भगवान्‌की विभूतियोंका संक्षिप्त वर्णन है, तुम इसका विस्तार करो ॥५१॥ जिस प्रकार सर्वात्मा सर्वाधार भगवान् हरिमें लोगोंकी भक्ति

१. प्रा० पा०—पिप्पलादाः । २. प्रा० पा०—दत्ताः । ३. प्रा० पा०—देवभूपाः । ४. प्रा० पा०—सम्यङ् । ५. प्रा० पा०—ऽतः । ६. प्रा० पा०—तदेत० ।

* इस श्लोकमें अक्षरब्रह्मका वर्णन है क्योंकि सम, शान्त इसके विशेषण दिये गये हैं ।

सर्वात्मन्यखिलाधार इति संकल्प्य वर्णय[1] ॥५२॥
मायां वर्णयतोऽमुष्य ईश्वरस्यानुमोदतः ।
शृण्वतः श्रद्धया नित्यं माययात्मा न मुह्यति ॥५३॥

हो—ऐसा सङ्कल्प (विचार) करके इसका वर्णन करो ॥५२॥ जो पुरुष भगवान्‌की सर्वभवनसामर्थ्यरूप माया-शक्तिका वर्णन अथवा अनुमोदन करते हैं या श्रद्धापूर्वक नित्यप्रति उसका श्रवण ही करते हैं उनका चित्त मायासे मोहित नहीं होता ॥ ५३ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे द्वितीयस्कन्धे ब्रह्मनारदसंवादे
सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

आठवाँ अध्याय

राजा परीक्षित्‌का श्रीमद्भागवतविषयक प्रश्न

राजोवाच

ब्रह्मणा चोदितो ब्रह्मन्गुणाख्यानेऽगुणस्य च ।
यस्मै यस्मै यथा प्राह नारदो देवदर्शनः ॥१॥
एतद्वेदितुमिच्छामि तत्त्वं वेदविदां वर ।
हरेरद्भुतवीर्यस्य कथा लोकसुमङ्गलाः[2] ॥ २ ॥
कथयस्व महाभाग यथाहमखिलात्मनि ।
कृष्णे निवेश्य निःसङ्गं मनस्त्यक्ष्ये कलेवरम् ॥ ३ ॥
शृण्वतः श्रद्धया नित्यं गृणतश्च स्वचेष्टितम् ।
कालेन नातिदीर्घेण भगवान्विशते हृदि ॥ ४ ॥
प्रविष्टः कर्णरन्ध्रेण स्वानां भावसरोरुहम् ।
धुनोति शमलं कृष्णः सलिलस्य यथा शरत् ॥ ५ ॥
धौतात्मा पुरुषः कृष्णपादमूलं न मुञ्चति ।
मुक्तसर्वपरिक्लेशः[3] पान्थः स्वशरणं यथा ॥ ६ ॥
यदधातुमतो ब्रह्मन्देहारम्भोऽस्य धातुभिः ।
यदृच्छया हेतुना वा भवन्तो जानते यथा ॥ ७ ॥
आसीद्यदुदरात्पद्मं लोकसंस्थानलक्षणम् ।

राजा परीक्षित्‌ने पूछा—हे ब्रह्मन् ! हे वेदवेत्ताओंमें श्रेष्ठ ! निर्गुण भगवान्‌के गुणोंका विस्तारपूर्वक वर्णन करनेके लिये ब्रह्माजीसे प्रेरित हुए देवदर्शन नारदजीने जिस-जिससे अद्भुतकर्मा भगवान्‌की लोककल्याण-कारिणी कथाओंका जैसे-जैसे वर्णन किया वह सब तत्त्व मैं जानना चाहता हूँ ॥ १-२ ॥ हे महाभाग ! वह सब कथा सुनाइये जिससे मैं अपने अनासक्त चित्तको सर्वात्मा श्रीकृष्णचन्द्रमें लगाकर प्राण-त्याग कर सकूँ ॥ ३ ॥ जो लोग भगवान्‌के चरित्रोंका नित्यप्रति श्रद्धापूर्वक श्रवण और कीर्तन करते हैं उनके हृदयमें श्रीहरि शीघ्र ही प्रवेश करते हैं ॥ ४ ॥ अपने भक्तोंके कर्ण-कुहरोंद्वारा उनके हृदयकमलमें प्रविष्ट हुए श्रीकृष्ण उनके मनोमलको इस प्रकार नष्ट कर देते हैं जैसे जलकी मलिनताको शरद् ऋतु ॥ ५ ॥ मार्गके समस्त क्लेशोंसे छूटकर घर आया हुआ पथिक जैसे घरको छोड़ना नहीं चाहता उसी प्रकार चित्त शुद्ध हो जानेपर मनुष्य भगवान्‌के चरणोंको नहीं छोड़ता ॥ ६ ॥

हे ब्रह्मन् ! महाभूतोंके सम्बन्धसे रहित इस जीवका शरीर पञ्चभूतोंसे बनता है, सो क्या स्वभावसे ही ऐसा होता है अथवा किसी कर्मादि कारणसे ? आप यह मर्म यथावत् जानते हैं, [अतः कृपाकर मुझे भी बतलाइये] ॥ ७ ॥ और [आपने जो कहा कि] उस

१. प्रा० पा०—वर्ण्यताम् । २. प्रा० पा०—योगे सुमङ्गलाः । ३. प्रा० पा०—मुक्तः सर्वपरिक्लेशैः ।

यावानयं वै पुरुष इयत्तावयवैः पृथक् ।
तावानसाविति प्रोक्तः संस्थावयववानिव ॥ ८ ॥
अजः सृजति भूतानि भूतात्मा यदनुग्रहात् ।
ददृशे येन तद्रूपं नाभिपद्मसमुद्भवः ॥ ९ ॥
स चापि यत्र पुरुषो विश्वस्थित्युद्भवाप्ययः ।
मुक्त्वात्ममायां मायेशः शेते सर्वगुहाशयः ॥१०॥
पुरुषावयवैर्लोकाः सपालाः पूर्वकल्पिताः ।
लोकैरमुष्यावयवाः सपालैरिति शुश्रुम ॥११॥
यावान्[1]कल्पो विकल्पो वा यथा कालोऽनुमीयते ।
भूतभव्यभवच्छब्द आयुर्मानं च यत्सतः ॥१२॥
कालस्यानुगतिर्या[2] तु लक्ष्यतेऽण्वी बृहत्यपि ।
यावत्यः कर्मगतयो यादृशीर्द्विजसत्तम ॥१३॥
यस्मिन्कर्मसमावायो यथा येनोपगृह्यते ।
गुणानां गुणिनां चैव परिणाममभीप्सताम् ॥१४॥
भूपातालककुब्व्योमग्रहनक्षत्रभूभृताम् ।
सरित्समुद्रद्वीपानां संभवश्चैतदोकसाम् ॥१५॥
प्रमाणमण्डकोशस्य बाह्याभ्यन्तर[3]भेदतः ।
महतां चा[4]नुचरितं वर्णाश्रमविनिश्चयः ॥१६॥
अवतारानुचरितं यदाश्चर्यतमं[5] हरेः ।
युगानि युगमानं च धर्मो यश्च युगे युगे ॥१७॥
नृणां साधारणो धर्मः सविशेषश्च यादृशः ।

पुराणपुरुषकी नाभिसे लोकरचनात्मक कमल उत्पन्न हुआ सो इससे तो आपने उस परमात्माको भी जीवके समान परिमित अवयवोंसे परिच्छिन्न ही प्रतिपादन किया, [फिर जीवकी अपेक्षा उसमें क्या विशेषता हुई ?] ॥ ८ ॥ जिनके नाभिकमलसे उत्पन्न हुए सर्वभूतात्मा ब्रह्माजी जिनकी कृपासे समस्त जीवोंकी रचना करते हैं तथा जिनका अनुग्रह होनेपर ही उन्होंने उनका स्वरूप देख पाया था ऐसे समस्त भूतोंकी उत्पत्ति, स्थिति और लयके आधार वे मायापति, सर्वान्तर्यामी, पुराणपुरुष अपनी मायाको त्यागकर कहाँ किस रूपसे शयन करते हैं ॥ ९-१० ॥ पहले आपके मुखसे सुना कि इन पुराणपुरुषके अङ्गोंसे ही समस्त लोक और लोकपालोंकी रचना हुई, फिर यह भी सुना कि समस्त लोक और लोकपालोंसे ही उनके अङ्ग कल्पित हैं ! [सो इसका क्या तात्पर्य है ?] ॥ ११ ॥

महाकल्प और उनके अन्तर्गत अवान्तरकल्प कितने हैं ? भूत, भविष्यत् और वर्तमान कालका अनुमान किस प्रकार किया जाता है ? जीवोंकी आयुका परिमाण क्या है ? ॥ १२ ॥ हे द्विजश्रेष्ठ ! कालकी सूक्ष्म और स्थूल गति किस प्रकार जानी जाती है ? विविध कर्मोंसे मनुष्यकी कैसी और कितनी गतियाँ होती हैं ? ॥ १३ ॥ सत्त्व, रज आदि गुणोंके परिणाम देव-मनुष्यादि योनियोंकी इच्छावाले प्राणियोंमेंसे कौन-कौन अधिकारी किस-किस योनिकी प्राप्तिके लिये आचरण करते हैं ? ॥ १४ ॥ पृथिवी, पाताल, दिशा, आकाश, ग्रह, नक्षत्र, पर्वत, नदी, समुद्र, द्वीप और उनमें रहनेवाले जीवोंकी उत्पत्ति किस प्रकार होती है ? [इन सब विषयोंका वर्णन कीजिये] ॥ १५ ॥ इनके सिवा भीतर और बाहरसे ब्रह्माण्डका परिमाण, महापुरुषोंके चरित्र, वर्णाश्रमविभागके नियम ॥ १६ ॥ भगवान्‌के परम आश्चर्यमय अवतार-चरित्र, युगभेद, युगोंका परिमाण, भिन्न-भिन्न युगोंके धर्म बतलाइये ॥ १७ ॥ तथा मनुष्योंके साधारण और विशेष धर्म, भिन्न-भिन्न व्यवसायियोंके,

१. प्रा० पा०—यावत्कल्पो । २. प्रा० पा०—नुमतिर्यावल्लक्ष्यते । ३. प्रा० पा०—भ्यन्तरवस्तुनः । ४. प्रा० पा०—चारु चरितं । ५. प्रा० पा०—मयं ।

श्रेणीनां राजर्षीणां च धर्मः कृच्छ्रेषु जीवताम् ॥१८॥

तत्त्वानां परिसंख्यानं लक्षणं हेतुलक्षणम् ।
पुरुषाराधनविधिर्योगस्याध्यात्मिकस्य च ॥१९॥

योगेश्वरैश्वर्यगतिर्लिङ्गभङ्गस्तु योगिनाम् ।
वेदोपवेदधर्माणामितिहासपुराणयोः ॥२०॥

संप्लवः सर्वभूतानां विक्रमः प्रतिसंक्रमः ।
इष्टापूर्तस्य काम्यानां त्रिवर्गस्य च यो विधिः ॥२१॥

यश्चानुशायिनां सर्गः पाखण्डस्य च संभवः ।
आत्मनो बन्धमोक्षौ च व्यवस्थानं स्वरूपतः ॥२२॥

यथात्मतन्त्रो भगवान्विक्रीडत्यात्ममायया ।
विसृज्य वा यथा मायामुदास्ते साक्षिवद्विभुः ॥२३॥

सर्वमेतच्च भगवन्पृच्छते मेऽनुपूर्वशः ।
तत्त्वतोऽर्हस्युदाहर्तुं प्रपन्नाय महामुने[1] ॥२४॥

अत्र प्रमाणं हि[2] भवान्परमेष्ठी यथात्मभूः ।
परे[3] चेहानुतिष्ठन्ति पूर्वेषां पूर्वजैः कृतम् ॥२५॥

न मेऽसवः परायन्ति ब्रह्मन्ननशनादमी ।
पिबतोऽच्युतपीयूषमन्यत्र कुपिताद्द्विजात् ॥२६॥

सूत उवाच

स उपामन्त्रितो राज्ञा कथायामिति सत्पतेः ।
ब्रह्मरातो भृशं प्रीतो विष्णुरातेन संसदि ॥२७॥

प्राह[4] भागवतं नाम पुराणं ब्रह्मसम्मितम् ।
ब्रह्मणे भगवत्प्रोक्तं[5] ब्रह्मकल्प उपागते ॥२८॥

राजर्षियोंके और आपत्तिग्रस्तोंके धर्म भी बतलाइये ॥ १८ ॥ तत्त्वोंकी संख्या और उनके स्वरूप लक्षण तथा हेतुलक्षण भगवदुपासना और अध्यात्मयोगकी विधि ॥ १९ ॥ योगेश्वरोंके ऐश्वर्यकी गति, योगियोंके लिङ्गशरीरका भङ्ग होना, वेद, उपवेद, धर्मशास्त्र, इतिहास और पुराणोंका स्वरूप वर्णन कीजिये ॥२०॥ समस्त भूतोंकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय तथा यज्ञादि वैदिक कर्मकी वापी-कूप आदिका निर्माणरूप स्मार्त कर्मोंकी, काम्यकर्मोंकी तथा धर्म, अर्थ, कामरूप त्रिवर्गके साधनोंकी विधि बतलाइये ॥ २१ ॥ प्रकृतिलीन पुरुषोंकी उत्पत्ति, पाखण्डका प्रादुर्भाव, आत्माके बन्ध-मोक्षका स्वरूप और उसकी अपने स्वरूपमें स्थिति—ये सब किस प्रकार होते हैं ॥ २२ ॥ सर्वतन्त्रस्वतन्त्र भगवान् अपनी मायासे किस प्रकार क्रीडा करते हैं तथा अपनी मायाको छोड़कर वे साक्षीके समान उदासीन भावसे किस प्रकार स्थित होते हैं ? ॥ २३ ॥ हे महामुने ! मैं ये सब विषय क्रमशः सुनना चाहता हूँ, आप मुझ शरणागतसे इनका यथावत् वर्णन कीजिये ॥ २४ ॥ आप इस विषयमें स्वयम्भू ब्रह्माजीके समान ही प्रामाणिक हैं [क्योंकि आपका ज्ञान स्वतःसिद्ध है] दूसरे मुनिगण तो अनुक्रमसे अपने पूर्वजोंका ही अनुकरण करते हैं ॥ २५ ॥ हे ब्रह्मन् ! यदि कुपित ब्राह्मणका शाप न होता तो भगवच्चरित्ररूप श्रवणसुधाका पान करते रहनेसे मेरे प्राण अन्न-जलका त्याग करनेपर भी नहीं निकलते ॥ २६ ॥

सूतजी कहते हैं—हे मुनिगण ! उस साधुसमाजमें राजा परीक्षित्के इस प्रकार भगवत्कथासम्बन्धी प्रश्न करनेसे भगवान् शुकदेवजी अति प्रसन्न हुए ॥ २७ ॥ और उन्हें वेदसम्मत श्रीमद्भागवतपुराण सुनानेमें प्रवृत्त हुए जो ब्रह्मकल्पके आरम्भमें साक्षात् श्रीनारायणने ब्रह्माजीको सुनायी थी ॥ २८ ॥

१. प्रा० पा०—महामते । २. प्रा० पा०—प्रमाणं भगवान् पर० । ३. प्रा० पा०—अपरे ह्यनुतिष्ठन्ति । ४. प्रा० पा०—आह । ५. प्रा० पा०—भगवता प्रोक्तं ।

यद्यत्परीक्षिदृषभः पाण्डूनामनुपृच्छति ।
आनुपूर्व्येण तत्सर्वमाख्यातुमुपचक्रमे ॥२९॥

पाण्डवश्रेष्ठ परीक्षित्‌ने उनसे जो-जो प्रश्न किये थे उन सबका क्रमशः उत्तर देना आरम्भ किया ॥ २९ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे द्वितीयस्कन्धे प्रश्न[1]-विधिर्नामाष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

नवाँ अध्याय

श्रीमद्भागवतकथाका आरम्भ

श्रीशुक उवाच

आत्ममायामृते राजन्परस्यानुभवात्मनः ।
न घटेतार्थसम्बन्धः स्वप्नद्रष्टुरिवाञ्जसा ॥१॥
बहुरूप इवाभाति मायया बहुरूपया ।
रममाणो गुणेष्वस्यां ममाहमिति मन्यते ॥ २ ॥
यर्हि वाव महिम्नि स्वे परस्मिन्कालमाययोः ।
रमेत गतसंमोहस्त्यक्त्वोदास्ते तदोभयम् ॥ ३ ॥
आत्मतत्त्वविशुद्ध्यर्थं यदाह भगवानृतम् ।
ब्रह्मणे दर्शयन्रूपमव्यलीकव्रतादृतः ॥ ४ ॥

स आदिदेवो जगतां[2] परो गुरुः
स्वधिष्ण्यमास्थाय सिसृक्षयैक्षत ।
तां नाध्यगच्छद्दृशमत्र सम्मतां
प्रपञ्चनिर्वाणविधिर्यया भवेत् ॥ ५ ॥
स चिन्तयन्द्व्यक्षरमेकदाम्भ-
स्युपाशृणोद्द्विर्गदितं वचो विभुः ।
स्पर्शेषु यत्षोडशमेकविंशं
निष्किञ्चनानां नृप यद्धनं विदुः ॥ ६ ॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! स्वाप्न पदार्थोंके साथ स्वप्नद्रष्टाके सम्बन्धके समान विशुद्ध ज्ञानस्वरूप आत्माका भगवान्‌की मायाके सिवा और किसी प्रकार दृश्य पदार्थोंके साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता ॥१॥ बहुरूपिणी मायाके कारण ही वह अनेकरूप प्रतीत होता है तथा मायिक गुणोंमें रमण करनेसे ही वह देह, गेह आदि असत् पदार्थोंको 'मैं हूँ, मेरा है' ऐसा मानता है ॥२॥ किन्तु जब गुणक्षोभक काल और मोहिनी माया दोनोंके शासनकर्त्ता अपने महिमारूप अक्षर-ब्रह्ममें ही रमण करता है तब यह शुद्ध चेतन अज्ञानरहित हो अहं-ममभावको छोड़कर पूर्ण उदासीन हो जाता है ॥३॥ सृष्टिके आदिमें ब्रह्माके निष्कपट तपसे प्रसन्न होकर उन्हें अपना शुद्धस्वरूप दिखलाते हुए भगवान्‌ने जिस तत्त्वका उपदेश किया था वही आत्मतत्त्वकी प्राप्तिका एकमात्र साधन है ॥४॥

संसारके परम गुरु आदिदेव ब्रह्माजी अपने उत्पत्तिस्थान कमलपर बैठे हुए लोकरचनाका विचार करने लगे परन्तु जिससे प्रपञ्चरचनाकी विधि मालूम हो वह सम्यक् ज्ञान-दृष्टि उन्हें नहीं प्राप्त हुई ॥ ५ ॥ इस प्रकार सोचते-सोचते उन्होंने प्रलयकालीन जलमें अकस्मात् दो अक्षरोंका एक शब्द दो बार सुना । उसका पहला अक्षर स्पर्श ('क'से 'म' तकके) वर्णोंमें सोलहवाँ ('त') और दूसरा इक्कीसवाँ ('प') था ।* हे नृप ! यह (तप) ही निष्किञ्चन योगियोंका परम धन माना

१. प्रा० पा०—विवक्षितानुप्रश्नोऽष्टमो । २. प्रा० पा०—भजतां ।

*—'तप, तप' इस प्रकार सुन पड़ा, यह तप धातुके विध्यर्थक लोट लकारके मध्यम पुरुषका एक वचन रूप है, इसके द्वारा ब्रह्माजीको तपस्या करनेका आदेश मिला ।

निशम्य तद्वक्तृदिदृक्षया दिशो
विलोक्य तत्रान्यदपश्यमानः ।
स्वधिष्ण्यमास्थाय विमृश्य तद्धितं
तपस्युपादिष्ट इवादधे मनः ॥ ७ ॥
दिव्यं सहस्राब्दममोघदर्शनो
जितानिलात्मा विजितोभयेन्द्रियः ।
अतप्यत स्माखिललोकतापनं
तपस्तपीयांस्तपतां समाहितः ॥ ८ ॥

जाता है ॥६॥ यह सुनते ही ब्रह्माजीने उस शब्दके उच्चारण करनेवालेको देखनेके लिये इधर-उधर देखा, किन्तु वहाँ इन्हें अपने सिवा और कोई दिखायी न दिया । तब यह समझकर कि मुझे तपका आदेश हुआ है उन्होंने उसीमें अपना हित जानकर कमलपर बैठे-बैठे तप करना आरम्भ किया ॥७॥ तपस्वियोंमें श्रेष्ठ अमोघ ज्ञानवान् ब्रह्माजीने एक सहस्र दिव्य वर्षपर्यन्त एकाग्रचित्तसे अपने प्राण, मन, कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रियोंको जीतकर सम्पूर्ण लोकोंको प्रकाशित करनेवाला घोर तप किया ॥ ८ ॥

तस्मै स्वलोकं भगवान्सभाजितः
संदर्शयामास परं न यत्परम् ।
व्यपेतसंक्लेशविमोहसाध्वसं
स्वदृष्टवद्भिर्विबुधैरभिष्टुतम् ॥ ९ ॥
प्रवर्तते यत्र रजस्तमस्तयोः
सत्त्वं च मिश्रं न च कालविक्रमः ।
न यत्र माया किमुतापरे हरे-
रनुव्रता यत्र सुरासुरार्चिताः ॥१०॥
श्यामावदाताः शतपत्रलोचनाः
पिशङ्गवस्त्राः सुरुचः सुपेशसः ।
सर्वे चतुर्बाहव उन्मिषन्मणि-
प्रवेकनिष्काभरणाः सुवर्चसः ।
प्रवालवैदूर्यमृडालवर्चसः
परिस्फुरत्कुण्डलमौलिमालिनः ॥११॥
भ्राजिष्णुभिर्यः परितो विराजते
लसद्विमानावलिभिर्महात्मनाम् ।
विद्योतमानः प्रमदोत्तमाद्युभिः
सविद्युदभ्रावलिभिर्यथा नभः ॥१२॥
श्रीर्यत्र रूपिण्युरुगायपादयोः
करोति मानं बहुधा विभूतिभिः ।
प्रेङ्खं श्रिता या कुसुमाकरानुगै-
र्विगीयमाना प्रियकर्म गायती ॥१३॥

तपसे प्रसन्न हो भगवान्‌ने उन्हें अपना परम धाम (वैकुण्ठलोक) दिखलाया, जिससे उत्तम कोई लोक नहीं है, जो सब प्रकारके क्लेश, मोह और भयसे रहित है तथा जिसकी पुण्यवान् देवगण स्तुति करते हैं ॥९॥ जहाँ रज, तम और इनसे मिला हुआ सत्त्व नहीं है, जहाँ कालकी दाल नहीं गलती तथा अन्य विकारोंकी तो बात ही क्या जहाँ मोहिनी मायाका भी लेश नहीं है और जहाँ सुरासुरपूजित भगवत्परायण पार्षदगण निवास करते हैं ॥१०॥ उन पार्षदोंका श्यामता लिये हुए धवल शरीर है, कमलके समान नेत्र हैं, शरीरपर पीताम्बर है, उन सभीके चार-चार भुजाएँ हैं, वे बड़े ही कान्तिमान्, सुकुमार, उत्तम प्रभामय मणिजटित सुवर्ण भूषणोंसे विभूषित और परम तेजस्वी हैं, उनकी आभा मूँगे, वैदूर्य और कमलनालके समान है तथा उनके कानोंमें कुण्डल, मस्तकपर मुकुट और कण्ठमें मोतीकी लड़ियाँ झलक रही हैं ॥ ११ ॥ जिस प्रकार आकाश बिजलीसहित मेघमालासे आच्छादित होकर सुशोभित होता है उसी प्रकार वह वैकुण्ठलोक सब ओरसे मनोहर कामिनियोंके सहित महात्माओंके दिव्य तेजोमय विमानोंसे सुशोभित है ॥१२॥ वहाँ मूर्तिमती लक्ष्मीजी विविध विभूतियोंके द्वारा परम यशस्वी भगवान्‌के चरणोंकी पूजा करती हैं और स्वयं झूलेपर झूलती हुई वसन्त-किङ्कर मधुकरोंसे अपना यशोगान सुनती हुई अपने प्रियतमके गुण गाती रहती हैं॥१३॥

१. प्रा० पा०—कालविभ्रमः ।

ददर्श तत्राखिलसात्वतां पतिं
श्रियः पतिं यज्ञपतिं जगत्पतिम् ।
सुनन्दनन्दप्रबलार्हणादिभिः[1]
स्वपार्षदमुख्यैः[2] परिसेवितं विभुम् ॥१४॥

भृत्यप्रसादाभिमुखं दृगासवं
प्रसन्नहासारुणलोचनाननम् ।
किरीटिनं कुण्डलिनं चतुर्भुजं
पीताम्बरं[3] वक्षसि लक्षितं श्रिया ॥१५॥

अध्यर्हणीयासनमास्थितं परं
वृतं चतुःषोडशपञ्चशक्तिभिः ।
युक्तं भगैः स्वैरितरत्र चाध्रुवैः
स्व एव धामन्रममाणमीश्वरम् ॥१६॥

तद्दर्शनाह्लादपरिप्लुतान्तरो
हृष्यत्तनुः प्रेमभराश्रुलोचनः ।
ननाम पादाम्बुजमस्य विश्वसृग्
यत्पारमहंस्येन पथाधिगम्यते ॥१७॥

तं प्रीयमाणं समुपस्थितं तदा
प्रजाविसर्गे निजशासनार्हणम् ।
बभाष ईषत्स्मितशोचिषा गिरा
प्रियः प्रियं प्रीतमनाः करे स्पृशन् ॥१८॥

ब्रह्माजीने देखा कि वहाँ समस्त भक्तोंके स्वामी लक्ष्मीपति, यज्ञपति, जगदीश्वर विराजमान हैं तथा नन्द, सुनन्द, सुबल और अर्हण आदि मुख्य-मुख्य पार्षदगण उनकी सेवा कर रहे हैं ॥ १४ ॥ भगवान्‌की मुख-मुद्रासे प्रतीत होता है मानो वे अपने सेवकोंपर कृपा करनेको प्रस्तुत हैं, उनका मुख मनोहर मुसकान, मदिर दृष्टि और अरुण नयनोंसे सुशोभित हैं, उनके शिरपर मुकुट और कानोंमें कुण्डल झिलमिला रहे हैं, चार भुजाएँ हैं, अङ्गमें पीताम्बर है तथा वक्षःस्थलमें श्रीलक्ष्मीजीका चिह्न है ॥ १५ ॥ वे जगदीश्वर चार[1] सोलह[2] और पाँच[3]—इन पचीस शक्तियोंसे घिरे हुए और अन्यत्र (योगी आदिकोंमें) न रहनेवाले अपने पूर्ण ऐश्वर्यसे सम्पन्न हो एक महामूल्यवान् सिंहासनपर विराजमान हैं तथा अपने नित्यानन्दमय स्वरूपमें ही मग्न हैं ॥१६॥ उनका दर्शन करते ही ब्रह्माजीका हृदय आनन्दसे भर आया, शरीरमें रोमाञ्च हो आया और नेत्रोंमें प्रेमाश्रु छलक आये, फिर उन्होंने भगवान्‌के चरणारविन्दोंमें, जो यतिधर्मसे ही प्राप्त हो सकते हैं, शिर झुकाकर प्रणाम किया ॥ १७ ॥ तब भगवान्‌ने अति प्रसन्न हो अपने पास खड़े हुए परम प्रेमातुर और प्रजासृष्टिकी आज्ञा माननेको प्रस्तुत अपने प्रिय भक्त ब्रह्माजीका हाथ पकड़ उनसे मन्द-मन्द मुसकाते हुए मनोहर वाणीमें कहा ॥ १८ ॥

श्रीभगवानुवाच

त्वयाहं तोषितः सम्यग्वेदगर्भ सिसृक्षया ।
चिरं भृतेन तपसा दुस्तोषः कूटयोगिनाम् ॥१९॥

वरं वरय भद्रं ते वरेशं माभिवाञ्छितम् ।
ब्रह्मञ्छ्रेयःपरिश्रामः पुंसो मद्दर्शनावधिः ॥२०॥

मनीषितानुभावोऽयं मम लोकावलोकनम् ।
यदुपश्रुत्य रहसि चकर्थ परमं तपः ॥२१॥

श्रीभगवान् बोले—हे वेदगर्भ ! तुमने सृष्टि करनेकी इच्छासे चिरकालतक तपस्या कर मुझे भली प्रकार सन्तुष्ट किया है; मुझे कपटयोगी कभी प्रसन्न नहीं कर सकते ॥१९॥ तुम्हारा कल्याण हो, मुझसे अब तुम्हारी जो इच्छा हो वही वर माँग लो; क्योंकि मैं सब प्रकारके वर देनेमें समर्थ हूँ, हे ब्रह्मन् ! जबतक पुरुषको मेरा दर्शन नहीं होता तभीतक उसे कल्याणप्राप्तिके लिये परिश्रम करना पड़ता है ॥२०॥ तुमने एकान्तमें मेरा आदेश सुनकर घोर तप किया, इसलिये मेरी इच्छासे ही तुम्हें मेरे लोकका दर्शन हुआ

१. प्रा० पा०—प्रमुखा० । २. प्रा० पा०—'स्व' शब्द नहीं है । ३. प्रा० पा०—पीतांशुकं ।

१–पुरुष, प्रकृति, महत्तत्त्व और अहङ्कार । २–मनसहित ग्यारह इन्द्रियाँ और पञ्चभूत तन्मात्राएँ । ३–पञ्च महाभूत ।

प्रत्यादिष्टं मया तत्र त्वयि कर्मविमोहिते ।
तपो मे हृदयं साक्षादात्माहं तपसोऽनघ ॥२२॥
सृजामि तपसैवेदं ग्रसामि तपसा पुनः ।
बिभर्मि तपसा विश्वं वीर्यं मे दुश्चरं तपः ॥२३॥

है ॥ २१ ॥ तुम कर्मकलापमें मोहित थे इसलिये मैंने ही तुम्हें तपका आदेश दिया था । हे अनघ ! तप मेरा हृदय है और साक्षात् मैं ही तपका आत्मा हूँ ॥२२॥ तपसे ही मैं संसारकी उत्पत्ति करता हूँ, तपसे ही कल्पके अन्तमें उसे अपनेमें लीन कर लेता हूँ और तपसे ही उसका पालन करता हूँ; दुश्चर तप ही मेरा वीर्य (बल) है ॥ २३ ॥

ब्रह्मोवाच

भगवन्सर्वभूतानामध्यक्षोऽवस्थितो गुहाम् ।
वेद ह्यप्रतिरुद्धेन प्रज्ञानेन चिकीर्षितम् ॥२४॥
तथापि नाथमानस्य नाथ नाथय नाथितम् ।
परावरे यथा रूपे जानीयां ते त्वरूपिणः ॥२५॥
यथात्ममायायोगेन नानाशक्त्युपबृंहितम् ।
विलुम्पन्विसृजन्गृह्णन्बिभ्रदात्मानमात्मना ॥२६॥
क्रीडस्यमोघसंकल्प ऊर्णनाभिर्यथोर्णुते ।
तथा तद्विषयां धेहि मनीषां मयि माधव ॥२७॥
भगवच्छिक्षितमहं करवाणि ह्यतन्द्रितः ।
नेहमानः प्रजासर्गं बध्येयं यदनुग्रहात् ॥२८॥
यावत्सखा सख्युरिवेश ते कृतः
प्रजाविसर्गे विभजामि भो जनम् ।
अविक्लवस्ते परिकर्मणि स्थितो
मा मे समुन्नद्धमदोऽजमानिनः ॥२९॥

ब्रह्माजी बोले–हे भगवन् ! आप समस्त प्राणियोंके आश्रय हैं और अन्तर्यामीरूपसे उनकी बुद्धिगुहामें स्थित हैं । मैं क्या करना चाहता हूँ—यह सब तो आप अपनी अमोघ ज्ञानदृष्टिसे जानते ही हैं ॥ २४ ॥ तथापि हे नाथ ! मुझ याचककी यही याच्ञा पूर्ण कीजिये कि मैं आप रूपरहितके स्थूल-सूक्ष्म दोनों प्रकारके रूप जान सकूँ ॥ २५ ॥ हे माधव ! आपका सङ्कल्प कभी व्यर्थ नहीं होता । मकड़ी जिस प्रकार अपने मुखसे जाला निकालकर उसमें क्रीड़ा करती है और फिर उसे अपनेमें ही लीन कर लेती है उसी प्रकार आप अपनी मायाका आश्रय लेकर जिस प्रकार विविध शक्तिसम्पन्न जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और लय करते हुए स्वयं अपनेको ही ब्रह्मादि रूपमें रचकर क्रीडा करते हैं—वह मर्म मैं जिस प्रकार जान सकूँ वही बुद्धि मुझे दीजिये ॥ २६-२७ ॥ भगवन् ! आपके उपदेशोंका मैं निरालस्यभावसे पालन करूँगा; परन्तु आप ऐसी कृपा कीजिये कि प्रजाकी सृष्टि करता हुआ मैं कर्तृत्वादिके अभिमानसे कभी न बँधूँ ॥ २८ ॥ हे ईश ! आपने सखाके समान हाथ पकड़कर मेरा मान किया है; अतः जिस समय प्रजासृष्टिरूप आपकी सेवा करते हुए मैं व्याकुलतारहित होकर उत्तम-मध्यम-अधम भेदसे जीवोंका विभाग करूँ उस समय अपनेको स्वतन्त्र मानकर मुझमें उत्कट अभिमान न हो जाय ॥ २९ ॥

श्रीभगवानुवाच

ज्ञानं परमगुह्यं मे यद्विज्ञानसमन्वितम् ।

श्रीभगवान् बोले–हे प्रिय ! मैं तुम्हें विविध जन्म-कर्मोंकी दिव्यताके प्रतिबोधक विज्ञानसहित अपने

१. प्राचीन प्रतिमें 'प्रत्यादिष्टं मया तत्र' से लेकर 'वीर्यं मे दुश्चरं तपः' तक दो श्लोक नहीं हैं । २. प्रा० पा०—अथापि । ३. प्रा० पा०—नाथनाथ जनार्चित । ४. प्रा० पा०—मम ।

सरहस्यं तदङ्गं च गृहाण गदितं मया ॥३०॥
यावानहं यथाभावो यद्रूपगुणकर्मकः ।
तथैव तत्त्वविज्ञानमस्तु ते मदनुग्रहात् ॥३१॥
अहमेवासमेवाग्रे नान्यद्यत्सदसत्परम् ।
पश्चादहं यदेतच्च योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहम् ॥३२॥
ऋतेऽर्थं यत्प्रतीयेत न प्रतीयेत चात्मनि ।
तद्विद्यादात्मनो मायां यथाभासो यथा तमः ॥३३॥
यथा महान्ति भूतानि भूतेषूच्चावचेष्वनु ।
प्रविष्टान्यप्रविष्टानि तथा तेषु न तेष्वहम् ॥३४॥
एतावदेव जिज्ञास्यं तत्त्वजिज्ञासुनात्मनः ।
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां यत्स्यात्सर्वत्र सर्वदा ॥३५॥
एतन्मतं समातिष्ठ परमेण समाधिना ।
भवान्कल्पविकल्पेषु न विमुह्यति कर्हिचित् ॥३६॥

श्रीशुक उवाच

संप्रदिश्यैवमजनो जनानां परमेष्ठिनम् ।
पश्यतस्तस्य तद्रूपमात्मनो न्यरुणद्धरिः ॥३७॥
अन्तर्हितेन्द्रियार्थाय हरये विहिताञ्जलिः ।
सर्वभूतमयो विश्वं ससर्जेदं स पूर्ववत् ॥३८॥
प्रजापतिर्धर्मपतिरेकदा नियमान्यमान् ।

तत्त्वका परम गुह्य ज्ञान तथा रहस्यके सहित उसके भक्तियोग आदि अङ्ग बतलाता हूँ, मेरे कहे हुए उस ज्ञानको तुम यथावत् ग्रहण करो ॥३०॥ [जिससे कि] मेरा परिमाण, मेरी सत्ता तथा मेरे रूप, गुण और कर्म जैसे हैं—इन सब बातोंका तत्त्वतः ज्ञान मेरी कृपासे तुम्हें प्राप्त हो जाय ॥ ३१ ॥ सृष्टिसे पूर्व मैं ही था, उस समय सत् (स्थूल), असत् (सूक्ष्म) और इनका कारण प्रकृति कुछ भी न था । सृष्टिके अनन्तर मैं ही हूँ, यह सम्पूर्ण जगत् भी मैं ही हूँ तथा इसका अन्त होनेपर जो बच रहता है वह भी मैं ही हूँ ॥ ३२ ॥ दो[1] चन्द्रमा आदि आभासकी भाँति जो यह प्रपञ्च बिना हुए ही प्रतीत होता है और आत्मा नित्य विद्यमान रहते हुए भी ताराओंके मध्यवर्ती राहु[2]की भाँति नहीं ज्ञात होता; इसे ही आत्माकी (मेरी) माया जाननी चाहिये ॥ ३३ ॥ जिस प्रकार समस्त छोटे-बड़े भौतिक पदार्थोंमें महाभूत उनके कारणरूपसे प्रविष्ट हुए भी वास्तवमें अप्रविष्ट ही हैं उसी प्रकार मैं भी सम्पूर्ण प्राणियोंमें उनके आत्मस्वरूपसे स्थित हुआ भी वास्तवमें उनसे अलग ही हूँ ॥ ३४ ॥ अन्वय और व्यतिरेक* दोनों हेतुओंसे सिद्ध होता है कि—भगवान् सदा ही सर्वत्र व्याप्त हैं—बस यही बात आत्मतत्त्वके जिज्ञासुओंको जानने योग्य है ॥ ३५ ॥ तुम निश्चल समाधिके द्वारा मेरा यह मत धारण करो; इससे तुम्हें कल्पकल्पान्तरोंमें नाना प्रकारकी सृष्टि रचते हुए भी कभी मोह न होगा ॥ ३६ ॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! लोक-विधाता ब्रह्माजीको इस प्रकार उपदेशकर जन्मरहित भगवान् हरिने उनके देखते-देखते अपना वह रूप छिपा लिया ॥ ३७ ॥ तब सर्वभूतमय ब्रह्माजीने इस प्रकार तिरोहित हुए श्रीहरिको हाथ जोड़कर प्रणाम किया और पूर्वकल्पोंके समान इस जगत्की रचना की ॥३८॥ एक बार धर्मपति, प्रजापति ब्रह्माजीने 'प्रजाका

१. प्रा० पा०—चेषु च । २. प्राचीन प्रतिमें नहीं है ।

१. दो चन्द्रमा आदि पदार्थ न होते हुए भी दृष्टिदोषसे दिखलायी देते हैं । २. राहु नक्षत्र-मण्डलमें रहते हुए भी दिखलायी नहीं देता ।

* वह भगवान् सारे जगत्में अपने सत्तात्मक स्वरूपसे व्याप्त है—यह उसका अन्वय है और जगत्को सम्पूर्णरीत्या पूर्ण कर और भी अतिमहत् परिमाणमें स्थित रहता है यह उसका व्यतिरेक (विशेषेण अतिरेक) है ।

भद्रं प्रजानामन्विच्छन्नातिष्ठत्स्वार्थकाम्यया ॥३९॥
तं नारदः प्रियतमो रिक्थादानामनुव्रतः ।
शुश्रूषमाणः शीलेन प्रश्रयेण दमेन च ॥४०॥
मायां विविदिषन्विष्णोर्मायेशस्य महामुनिः ।
महाभागवतो राजन्पितरं पर्यतोषयत् ॥४१॥
तुष्टं निशाम्य पितरं लोकानां प्रपितामहम् ।
देवर्षिः परिपप्रच्छ भवान्यन्मानुपृच्छति ॥४२॥
तस्मा इदं भागवतं पुराणं दशलक्षणम् ।
प्रोक्तं भगवता प्राह प्रीतः पुत्राय भूतकृत् ॥४३॥
नारदः प्राह मुनये सरस्वत्यास्तटे नृप ।
ध्यायते ब्रह्म परमं व्यासायामिततेजसे ॥४४॥
यदुताहं त्वया पृष्टो वैराजात्पुरुषादिदम् ।
यथासीत्तदुपाख्यास्ये प्रश्नानन्यांश्च कृत्स्नशः ॥४५॥

मङ्गल हो' इस कामनाकी सिद्धिके लिये विधिवत् यम-नियमोंको धारण किया ॥ ३९ ॥ उस व्रतग्रहणके समय उनके सब पुत्रोंमें प्रियतम, महाभागवत, महामुनि नारदजी मायापति भगवान् विष्णुकी मायाका मर्म जाननेकी इच्छासे उनकी शील, विनय और इन्द्रियदमनपूर्वक सेवा करने लगे । हे राजन् ! इस प्रकार पितृपरायण नारदजीने अपने पिताको सन्तुष्ट किया ॥ ४०-४१ ॥ अपने पिता लोकपितामह ब्रह्माजीको सन्तुष्ट देख देवर्षि नारदने उनसे यही प्रश्न किया जो तुम मुझसे पूछ रहे हो ॥४२॥ तब भूतभावन श्रीब्रह्माजीने प्रसन्न होकर अपने पुत्र नारदजीको यही दश लक्षणोंसे सम्पन्न श्रीमद्भागवतपुराण सुनाया जो उनसे साक्षात् श्रीनारायणने कहा था ॥ ४३ ॥ हे राजन् ! जिस समय परम तेजस्वी मुनिवर व्यास सरस्वतीके तटपर ब्रह्मचिन्तन कर रहे थे उसी समय नारदजीने वहाँ जाकर यह पुराण उनसे कहा ॥ ४४ ॥ तुमने जो मुझसे पूछा कि उस विराट् पुरुषसे यह जगत् किस प्रकार हुआ तथा तुमने और भी जो-जो प्रश्न किये हैं उन सबका मैं क्रमशः यथावत् उत्तर देता हूँ, सावधान होकर सुनो ॥ ४५ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे द्वितीयस्कन्धे[2]
नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

दशवाँ अध्याय

भागवतके दश लक्षण

श्रीशुक[3] उवाच

अत्र सर्गो विसर्गश्च स्थानं पोषणमूतयः ।
मन्वन्तरेशानुकथा निरोधो मुक्तिराश्रयः ॥ १ ॥
दशमस्य विशुद्ध्यर्थं नवानामिह लक्षणम् ।
वर्णयन्ति महात्मानः श्रुतेनार्थेन चाञ्जसा ॥ २ ॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! इस भागवत पुराणमें सर्ग, विसर्ग, स्थान, पोषण, ऊति, मन्वन्तर, ईशानुकथा, निरोध, मुक्ति और आश्रय—ये दश विषय हैं ॥ १ ॥ इनमेंसे दशवें (आश्रय) का तत्त्व जाननेके लिये महात्माओंने शेष 'नौ' के लक्षणोंका कहीं श्रुतिसे, कहीं तात्पर्यसे और कहीं साक्षात् वर्णन

१. प्रा० पा०—भवान्यदनु । २. प्रा० पा०—यहाँ 'पुरुषसंस्थानुवर्णनं' इतना अधिक है । ३. प्रा० पा०—श्रीबादरायणिरुवाच ।

भूतमात्रेन्द्रियधियां जन्म सर्ग उदाहृतः ।
ब्रह्मणो गुणवैषम्याद्विसर्गः पौरुषः स्मृतः ॥ ३ ॥
स्थितिर्वैकुण्ठविजयः पोषणं तदनुग्रहः ।
मन्वन्तराणि सद्धर्म ऊतयः कर्मवासनाः ॥ ४ ॥
अवतारानुचरितं हरेश्चास्यानुवर्तिनाम्[1] ।
पुंसामीशकथाः प्रोक्ता नानाख्यानोपबृंहिताः ॥ ५ ॥
निरोधोऽस्यानुशयनमात्मनः सह शक्तिभिः ।
मुक्तिर्हित्वान्यथा रूपं स्वरूपेण व्यवस्थितिः ॥ ६ ॥
आभासश्च निरोधश्च यतश्चाध्यवसीयते[2] ।
स आश्रयः परं ब्रह्म परमात्मेति शब्द्यते[3] ॥ ७ ॥
योऽध्यात्मिकोऽयं पुरुषः सोऽसावेवाधिदैविकः ।
यस्तत्रोभयविच्छेदः पुरुषो[4] ह्याधिभौतिकः ॥ ८ ॥
एकमेकतराभावे यदा नोपलभामहे ।
त्रितयं तत्र यो वेद स आत्मा स्वाश्रयाश्रयः ॥ ९ ॥

पुरुषोऽण्डं विनिर्भिद्य यदासौ स विनिर्गतः[5] ।
आत्मनोऽयनमन्विच्छन्नपोऽस्राक्षीच्छुचिः शुचीः ॥ १० ॥
तास्ववात्सीत्स्वसृष्टासु सहस्रपरिवत्सरान् ।
तेन नारायणो नाम यदापः पुरुषोद्भवाः ॥ ११ ॥

किया है ॥ २ ॥ गुणोंमें क्षोभ होनेसे ब्रह्म (मूल प्रकृति) से पञ्चभूत, शब्दादि तन्मात्रा, इन्द्रिय, महत्तत्त्व और अहङ्कार आदिके उत्पन्न होनेको 'सर्ग' कहते हैं, तथा विराट् पुरुषके सम्बन्धसे होनेवाली जीवसृष्टिका नाम 'विसर्ग' है ॥ ३ ॥ उत्पन्न किये हुए पदार्थोंको मर्यादामें रखनेसे जो भगवान् विष्णुका उत्कर्ष सूचित होता है उसीका नाम 'स्थान' है, भगवान्‌का अनुग्रह ही 'पोषण' है, भगवान्‌के अनुगृहीत मन्वन्तराधिपतियोंके धर्मका नाम 'मन्वन्तर' है और कर्मवासनाओंको 'ऊति' कहते हैं ॥ ४ ॥ भगवान् और उनके अनुयायी (पार्षद) भक्तोंके अवतार-चरित्र 'ईशानुकथा' कहलाते हैं, ये ईशकथाएँ और भी अनेक कथाओंके सम्मिलित होनेसे विस्तारको प्राप्त होती हैं ॥ ५ ॥ भगवान्‌के योगनिद्रा स्वीकार करनेपर जीवोंका अपनी शक्तियोंसहित उनमें लीन हो जाना 'निरोध' है; तथा अज्ञानजन्य अनात्मभावको त्यागकर आत्माका अपने स्वरूपमें स्थित हो जाना 'मुक्ति' है ॥ ६ ॥ हे राजन्! जिससे इस चराचर जगत्‌की उत्पत्ति और प्रलयका होना माना जाता है वह परम ब्रह्म ही 'आश्रय' है। शास्त्र उसे 'परमात्मा' कहकर वर्णन करते हैं ॥ ७ ॥ जो [चक्षु आदि इन्द्रियोंका साक्षी जीव] आध्यात्मिक पुरुष है वही [इन्द्रियोंके अधिष्ठाता देव सूर्यादि] आधिदैविक पुरुष भी है, तथा जिसके कारण इन दोनोंका विभाग होता है वह (दृश्य) ही आधिभौतिक पुरुष है ॥ ८ ॥ इनमेंसे एकका भी अभाव होनेसे हम दूसरेको नहीं जान सकते। अतः इन तीनोंको जो जानता है वह 'आत्मा' हो सबका अनन्य आश्रय है ॥ ९ ॥

जब विराट् पुरुष ब्रह्माण्डको फोड़कर निकला तो अपने अयन (निवासस्थान) की इच्छासे उस शुद्धसङ्कल्प पुरुषने स्वच्छ जलकी सृष्टि की ॥ १० ॥ पुरुष अर्थात् 'नर' से उत्पन्न होनेके कारण जलका नाम 'नार' है। उस अपने रचे हुए नारमें वह पुरुष एक सहस्र वर्ष रहा, अतः उसका नाम 'नारायण' हुआ ॥ ११ ॥

१. प्रा० पा०—नु वर्णितम्। २. प्रा० पा०—तपस्तद्यत्र गीयते। ३. प्रा० पा०—जप्यते। ४. प्रा० पा०—स स्मृतो। ५. प्रा० पा०—विसर्गतः।

द्रव्यं कर्म च कालश्च स्वभावो जीव एव च ।
यदनुग्रहतः सन्ति न सन्ति यदुपेक्षया ॥१२॥
एको नानात्वमन्विच्छन्योगतल्पात्समुत्थितः ।
वीर्यं हिरण्मयं देवो मायया व्यसृजत्त्रिधा ॥१३॥
अधिदैवमथाध्यात्ममधिभूतमिति प्रभुः ।
यथैकं पौरुषं वीर्यं त्रिधाभिद्यत तच्छृणु ॥१४॥
अन्तःशरीर आकाशात्पुरुषस्य विचेष्टतः ।
ओजः सहो बलं जज्ञे ततः प्राणो महानसुः ॥१५॥
अनुप्राणन्ति यं प्राणाः प्राणन्तं सर्वजन्तुषु ।
अपानन्तमपानन्ति नरदेवमिवानुगाः ॥१६॥
प्राणेन क्षिपता क्षुत्तृडन्तरा जायते प्रभोः ।
पिपासतो जक्षतश्च प्राङ्मुखं निरभिद्यत ॥१७॥
मुखतस्तालु निर्भिन्नं जिह्वा तत्रोपजायते ।
ततो नानारसो जज्ञे जिह्वया योऽधिगम्यते ॥१८॥
विवक्षोर्मुखतो भूम्नो वह्निर्वाग्व्याहृतं तयोः ।
जले वै तस्य सुचिरं निरोधः समजायत ॥१९॥
नासिके निरभिद्येतां दोधूयति नभस्वति ।
तत्र वायुर्गन्धवहो घ्राणो नसि जिघृक्षतः ॥२०॥
यदात्मनि निरालोकमात्मानं च दिदृक्षतः ।
निर्भिन्ने ह्यक्षिणी तस्य ज्योतिश्चक्षुर्गुणग्रहः ॥२१॥

उन श्रीनारायणकी कृपासे ही द्रव्य, कर्म, काल, स्वभाव और जीव आदिकी सत्ता है; उनकी उपेक्षा होनेपर इनमेंसे कोई नहीं रहता ॥१२॥ प्रथम वे एक ही थे; योगशय्यासे उठनेपर जब उन्हें अनेक रूप होनेकी इच्छा हुई तो उन्होंने मायाका आश्रय कर अपने सुवर्णसदृश तेजस्वी वीर्यके अधिदैव, अध्यात्म और अधिभूत नामसे तीन भाग किये । हे राजन् ! विराट् पुरुषके एक ही वीर्यके तीन भाग किस प्रकार हुए, सो सुनो ॥१३-१४॥

विराट् पुरुषकी चेष्टा होनेपर उनके देहान्तर्वर्ती आकाशसे ओज (इन्द्रियशक्ति), सह (मनःशक्ति) और बल (शारीरिक शक्ति) की उत्पत्ति हुई; और उनसे सूत्रात्मा-नामक सबका मुख्य प्राण हुआ ॥१५॥ जैसे सेवकगण राजाका अनुगमन करते हैं वैसे ही समस्त जीवोंमें व्याप्त उस मुख्य प्राणके चेष्टा करनेपर ही सब इन्द्रियाँ चेष्टा करती हैं और उसके निवृत्त हो जानेपर निवृत्त हो जाती हैं ॥१६॥ प्राणका वेगपूर्वक संचार होनेसे विराट् पुरुषको भूख-प्यास लगी, तब खाने-पीनेकी इच्छा करते ही पहले उनके मुख प्रकट हुआ ॥१७॥ फिर मुखसे तालु और उससे रसनेन्द्रिय प्रकट हुई, तदनन्तर नाना प्रकारके रस हुए जो रसनासे ग्रहण किये जाते हैं ॥१८॥ जब उन भूमा पुरुषने बोलनेकी इच्छा की तो अग्नि (देवता) वाक् (इन्द्रिय) और उनका (विषय) बोलना—ये तीनों प्रकट हुए । वे विराट् भगवान् बहुत समयतक जलमें रुके रहे ॥१९॥ उनका प्राणवायु वेगसे चलनेके कारण नासिका-छिद्र प्रकट हुए । और जब उन्हें सूँघनेकी इच्छा हुई तो घ्राणेन्द्रिय और उसके अधिष्ठाता गन्धवाह वायुदेवकी उत्पत्ति हुई ॥२०॥ पहले विराट् पुरुषके देहमें प्रकाशका अभाव था फिर जब उनको अपना स्वरूप तथा अन्य वस्तुओं-के देखनेकी इच्छा हुई तो नेत्र-गोलक, उनका अधिष्ठाता सूर्य और चक्षु-इन्द्रिय ये सब प्रकट हुए तदनन्तर नेत्रके द्वारा रूपका ग्रहण होने लगा ॥२१॥

१. प्रा० पा०—अथैकं । २. प्रा० पा०—तेजस्ततः । ३. प्रा० पा०—विभोः । ४. प्रा० पा०—सुचिरं तस्य । ५. प्रा० पा०—अक्षिणी । यही पाठ ठीक है, यहाँ 'हि' का कोई उपयोग नहीं है । सन्धिका वारण तो द्विवचनान्ततासे ही हो जाता है ।

बोध्यमानस्य ऋषिभिरात्मनस्तज्जिघृक्षतः ।
कर्णौ च निरभिद्येतां दिशः श्रोत्रं गुणग्रहः ॥२२॥
वस्तुनो मृदुकाठिन्यलघुगुर्वोष्णशीतताम् ।
जिघृक्षतस्त्वङ्निर्भिन्ना तस्यां रोममहीरुहाः ।
तत्र चान्तर्बहिर्वातस्त्वचा लब्धगुणो वृतः ॥२३॥
हस्तौ रुरुहतुस्तस्य नानाकर्मचिकीर्षया ।
तयोस्तु बलमिन्द्रश्च आदानमुभयाश्रयम् ॥२४॥
गतिं जिगीषतः पादौ रुरुहातेऽभिकामिकाम् ।
पद्भ्यां यज्ञः स्वयं हव्यं कर्ममिः क्रियते नृभिः ॥२५॥
निरभिद्यत शिश्नो वै प्रजानन्दामृतार्थिनः ।
उपस्थ आसीत्कामानां प्रियं तदुभयाश्रयम् ॥२६॥
उत्सिसृक्षोर्धातुमलं निरभिद्यत वै गुदम् ।
ततः पायुस्ततो मित्र उत्सर्ग उभयाश्रयः ॥२७॥
आसिसृप्सोः पुरः पुर्या नाभिद्वारमपानतः ।
तत्रापानस्ततो मृत्युः पृथक्त्वमुभयाश्रयम् ॥२८॥
आदित्सोरन्नपानानामासन्कुक्ष्यन्त्रनाडयः ।
नद्यः समुद्राश्च तयोस्तुष्टिः पुष्टिस्तदाश्रये ॥२९॥
निदिध्यासोरात्ममायां हृदयं निरभिद्यत ।
ततो मनस्ततश्चन्द्रः संकल्पः काम एव च ॥३०॥

जब वेद स्तुति करते हुए भगवान्‌को जगाने लगे तो अपनी स्तुति सुननेकी इच्छा होनेपर उनके कान, कानोंकी अधिष्ठात्री दिशाएँ और श्रोत्रेन्द्रिय इन सबोंका आविर्भाव हुआ तब इनसे शब्द सुनायी देने लगा ॥२२॥ जब उन्हें वस्तुओंकी कोमलता, कठिनता, लघुता, गुरुता, उष्णता और शीतता आदि जाननेकी इच्छा हुई तो उनके शरीरमें चर्म प्रकट हुआ उसमें वृक्षके सदृश रोम उत्पन्न हुए तथा उसके बाहर-भीतर रहनेवाला वायु प्रकट हुआ। वह त्वगिन्द्रिय-के द्वारा स्पर्शको ग्रहण करने लगा ॥ २३ ॥ विविध कर्म करनेकी इच्छा होनेपर उनके हाथ निकले, उनमें बल (हस्त), इन्द्रिय, इन्द्र देवता और उन दोनोंके आश्रय रहनेवाला ग्रहण नामक विषय प्रकट हुआ ॥२४॥ जब उन्हें अभीष्ट स्थानोंपर चलनेकी इच्छा हुई तो उनके चरण उत्पन्न हुए। उन चरणोंके स्वयं भगवान् विष्णु अधिष्ठाता हैं। मनुष्य उनके गति नामक कर्मेन्द्रिय-से यज्ञसामग्री एकत्रित करते हैं ॥२५॥ प्रजाविषय सुख और स्वर्गादिकी कामना होनेपर विराट् पुरुषके लिङ्ग उत्पन्न हुआ। उसमें उपस्थेन्द्रिय और प्रजापति देवता प्रकट हुआ। इन दोनोंके आश्रय रहनेवाले काम-सुखका आविर्भाव हुआ ॥२६॥ जब उन्हें मलत्यागकी इच्छा हुई तो गुदाद्वार प्रकट हुआ। तत्पश्चात् उसमें पायु इन्द्रिय और मित्र देवता उत्पन्न हुए। इन्हीं दोनोंके आश्रयसे मलत्याग होता है ॥ २७ ॥ एक शरीरसे दूसरे शरीरमें जानेकी इच्छा होनेपर उनके नाभिद्वार और अपानवायु उत्पन्न हुआ। उसमें अपान और मृत्यु देवता प्रकट हुए। इन दोनोंके आश्रयसे ही प्राण-अपानका पृथक्त्वरूप मृत्यु होती है ॥२८॥ जब विराट् पुरुषको अन्न-जल ग्रहण करनेकी कामना हुई तो उनके कुक्षि, आँतें और नाड़ियाँ उत्पन्न हुईं। तथा कुक्षिका देवता समुद्र, नाड़ियोंकी देवता नदियाँ एवं तुष्टि और पुष्टि ये दोनों उनके आश्रित विषय हुए ॥ २९ ॥ अपनी मायाका विचार करनेकी इच्छा होनेपर उनके हृदय उत्पन्न हुआ। उसमें मन (इन्द्रिय) और चन्द्रमा [देवता] हुआ तथा कामना और सङ्कल्पादि उसके विषय हुए ॥ ३० ॥

१. प्रा० पा०—बलवानिन्द्र आदा० । २. प्रा० पा०—त्रिभिः । ३. प्रा० पा०—मनश्चन्द्र इति ।

त्वक्चर्ममांसरुधिरमेदोमज्जास्थिधातवः ।
भूम्यप्तेजोमयाः सप्त प्राणो व्योमाम्बुवायुभिः ॥३१॥
गुणात्मकानीन्द्रियाणि भूतादिप्रभवा गुणाः ।
मनः सर्वविकारात्मा बुद्धिर्विज्ञानरूपिणी ॥३२॥
एतद्भगवतो रूपं स्थूलं ते व्याहृतं मया ।
मह्यादिभिश्चावरणैरष्टभिर्बहिरावृतम् ॥३३॥
अतः परं सूक्ष्मतममव्यक्तं निर्विशेषणम् ।
अनादिमध्यनिधनं नित्यं वाङ्मनसः परम् ॥३४॥
अमुनी भगवद्रूपे मया ते अनुवर्णिते ।
उभे अपि न गृह्णन्ति मायासृष्टे विपश्चितः ॥३५॥
स वाच्यवाचकतया भगवान्ब्रह्मरूपधृक् ।
नामरूपक्रिया धत्ते सकर्माकर्मकः परः ॥३६॥
प्रजापतीन्मनून्देवानृषीन्पितृगणान्पृथक् ।
सिद्धचारणगन्धर्वान्विद्याध्रासुरगुह्यकान् ॥३७॥
किन्नराप्सरसो नागान्सर्पान्किंपुरुषोरगान् ।
मातृ रक्षःपिशाचांश्च प्रेतभूतविनायकान् ॥३८॥
कूष्माण्डोन्मादवेतालान्यातुधानान्ग्रहानपि ।
खगान्मृगान्पशून्वृक्षान्गिरीन्नृप सरीसृपान् ॥३९॥
द्विविधाश्चतुर्विधा येऽन्ये जलस्थलनभौकसः ।
कुशलाकुशला मिश्राः कर्मणां गतयस्त्विमाः ॥४०॥

उस विराट् शरीरके त्वचा, चर्म, मांस, रुधिर, मेद, मज्जा और अस्थि—ये सात धातु पृथिवी, जल और तेजसे प्रकट हुए तथा आकाश, जल और वायुसे प्राण हुआ ॥३१॥ श्रोत्रादि समस्त इन्द्रियाँ शब्दादि विषयोंका ग्रहण करनेवाली हैं, वे शब्दादि विषय भूतोंके आदिकारण अहङ्कारसे उत्पन्न हुए हैं, मन हर्ष-शोकादि समस्त विकारोंका स्थान है और बुद्धि समस्त पदार्थोंका बोध करानेवाली है ॥३२॥ [इस प्रकार] मैंने तुम्हें यह भगवान्‌का स्थूल रूप सुनाया जो बाहरकी ओरसे पृथिवी आदि आठ आवरणोंसे* घिरा हुआ है ॥३३॥ इससे परे भगवान्‌का अत्यन्त सूक्ष्म रूप है, जो अव्यक्त, निर्विशेष, आदि, मध्य और अन्तसे रहित, नित्य तथा मन-वाणीका अविषय है ॥३४॥ भगवान्‌के इन दोनों रूपोंका मैंने तुम्हारे लिये वर्णन किया है किन्तु ये दोनों ही कार्य-कारणरूपा मायाके सम्बन्धसे प्रकाशित हुए हैं, इसलिये साक्षात्स्वरूपके जाननेवाले ज्ञानीजन इनमेंसे किसीको भी स्वीकार नहीं करते ॥३५॥ वास्तवमें अकर्मा होते हुए भी अपनी सामर्थ्यसे सकर्मा होनेवाले परमपुरुष भगवान् विराट्‌रूप धारण करके वाच्य-वाचक भेदसे नाम, रूप और क्रियाएँ धारण करते हैं ॥३६॥ हे नृप ! प्रजापति, मनु, देव, ऋषि, पितृगण, सिद्ध, चारण, गन्धर्व, विद्याधर, असुर, गुह्यक ॥३७॥ किन्नर, अप्सरा, नाग, सर्प, किम्पुरुष उरग, मातृका, राक्षस, पिशाच, प्रेत, भूत, विनायक ॥३८॥ कूष्माण्ड, उन्माद और वेताल-नामक गण, यातुधान, ग्रह, पक्षी, मृग, पशु, वृक्ष, पर्वत, सरीसृप—इत्यादि पृथक्-पृथक् नामरूपोंको धारण करते हैं ॥३९॥ [स्थावर-जङ्गम] दो प्रकारकी तथा [जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज्जभेदसे] चार प्रकारकी योनियाँ एवं जल, स्थल और आकाशमें रहनेवाले प्राणी—ये सब शुभ, अशुभ और मध्यकोटिके कर्मोंके फल

१. प्रा० पा०—भूतात्म० । २. प्रा० पा०—मातृरक्षः० । ३. प्रा० पा०—कुशलाकुशलमिश्राणां ।

* पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, अहङ्कार, महत्तत्त्व और प्रकृति ये आठ आवरण हैं।

सत्त्वं रजस्तम इति तिस्रः सुरनृनारकाः ।
तत्राप्येकैकशो राजन्भिद्यन्ते गतयस्त्रिधा ।
यदैकैकतरोऽन्याभ्यां स्वभाव उपहन्यते ॥४१॥
स एवेदं जगद्धाता भगवान्धर्मरूपधृक् ।
पुष्णाति स्थापयन्विश्वं तिर्यङ्नरसुरात्मभिः[1] ॥४२॥
ततः कालाग्निरुद्रात्मा यत्सृष्टमिदमात्मनः ।
संनियच्छति कालेन[2] घनानीकमिवानिलः ॥४३॥
इत्थंभावेन कथितो भगवान्भगवत्तमः ।
नेत्थंभावेन हि परं द्रष्टुमर्हन्ति सूरयः ॥४४॥
नास्य कर्मणि जन्मादौ परस्यानुविधीयते ।
कर्तृत्वप्रतिषेधार्थं माययारोपितं हि तत् ॥४५॥
अयं तु ब्रह्मणः कल्पः सविकल्प उदाहृतः ।
विधिः साधारणो यत्र सर्गाः प्राकृतवैकृताः ॥४६॥
परिमाणं च कालस्य कल्पलक्षणविग्रहम् ।
यथा पुरस्ताद्व्याख्यास्ये पाद्मं कल्पमथो[3] शृणु ॥४७॥

शौनक उवाच

यदाह नो भवान्सूत क्षत्ता भागवतोत्तमः ।
चचार तीर्थानि भुवस्त्यक्त्वा बन्धून्[4]सुदुस्त्यजान् ४८
कुत्र कौषारवेस्तस्य संवादोऽध्यात्मसंश्रितः[5] ।
यद्वा स भगवांस्तस्मै पृष्टस्तत्त्वमुवाच ह ॥४९॥
ब्रूहि नस्तदिदं सौम्य विदुरस्य विचेष्टितम् ।
बन्धुत्यागनिमित्तं च तथैवागतवान्पुनः ॥५०॥

हैं ॥४०॥ हे राजन् ! सत्त्व, रज और तमकी प्रधानतासे क्रमशः देवता, मनुष्य और नारकी तीन प्रकारकी योनियाँ मिलती हैं । इनमें भी जब एक गुण अपनेसे भिन्न दूसरे दो गुणोंद्वारा अभिभूत हो जाता है तब प्रत्येक गतिके तीन-तीन भेद हो जाते हैं ॥४१॥ वे विश्वविधाता धर्म (विष्णु) रूपधारी भगवान् ही संसारकी रचनाकर देवता, मनुष्य और पशु-पक्षी आदि योनियोंमें अवतार ले, इसकी रक्षा करते हैं ॥४२॥ फिर वे ही प्रलयकाल उपस्थित होनेपर कालाग्निमय रुद्ररूपसे अपने रचे हुए इस विश्वको इस प्रकार लीन कर देते हैं जैसे वायु मेघमालाको छिन्न-भिन्न कर डालता है ॥४३॥

हे राजन् ! शास्त्रोंमें परम ऐश्वर्यशाली भगवान्का वर्णन इसी प्रकार किया है, किन्तु तत्त्वज्ञानी पण्डितजन उन्हें इस रूपसे नहीं देखते [इस अवस्थामें भी उनके मायातीत रूपको ही देखते हैं] ॥४४॥ क्योंकि स्वरूपभूत जगत्की उत्पत्ति आदिमें भगवान्का कर्तृत्व वास्तविक नहीं है बल्कि उनके कर्तृत्वका निषेध करनेके लिये ही मायासे इसका आरोप किया गया है ॥४५॥ यह मैंने उदाहरणरूपसे उपकल्पोंके सहित ब्राह्मकल्पका वर्णन किया है जिसमें प्राकृत और वैकृत सृष्टिका क्रम अन्य कल्प और अवान्तर कल्पोंके समान ही रहता है ॥४६॥ हे राजन् ! कालका परिमाण, तथा कल्प और उसके अन्तर्वर्ती मन्वन्तरादिका वर्णन आगे चलकर करेंगे; अब तुम पाद्मकल्पका वर्णन सुनो ॥४७॥

शौनकजी बोले—हे सूतजी ! आपने कहा था कि परम भागवत श्रीविदुरजी अपने दुस्त्यज कुटुम्बियोंको छोड़कर पृथिवीके समस्त तीर्थोंमें विचरते रहे ॥४८॥ उस समय उनका मैत्रेयजीके साथ आत्मज्ञानके विषयमें कहाँ संवाद हुआ ? और उनके प्रश्न करनेपर भगवान् मैत्रेयजीने उनसे क्या-क्या कहा ? ॥४९॥ हे सौम्य ! विदुरजीने पहले अपने बन्धुओंको त्यागा और फिर उन्हींके पास चले आये—इसका क्या कारण था, सो कहिये ? ॥५०॥

१. प्रा० पा०—सुरादिभिः । २. प्रा० पा०—तत्काले । ३. प्रा० पा०—कल्पमिमं । ४. प्रा० पा०—कृत्स्नं च दुस्त्यजम् । ५. प्रा० पा०—संश्रयः ।

सूत उवाच

राज्ञा परीक्षिता पृष्टो यदवोचन्महामुनिः ।
तद्वोऽभिधास्ये शृणुत राज्ञः प्रश्नानुसारतः ॥५१॥

सूतजी बोले–हे मुने ! राजा परीक्षित्‌के [यही बात] पूछनेपर महामुनि शुकदेवजीने उनके प्रश्नानुसार उन्हें जो उत्तर दिया था वही मैं आपलोगोंको सुनाता हूँ, सावधान होकर सुनिये ॥५१॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे द्वितीयस्कन्धेऽष्टादशसाह-
स्र्यां संहितायां पुरुषसंस्थानुवर्णनं नाम
दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

इति द्वितीयस्कन्धः समाप्तः ।

ॐ ॐ ॐ

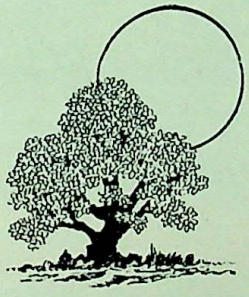

१. प्राचीन प्रतिमें—'ऽष्टादशसाहस्र्यां संहितायां' इतना अंश नहीं है ।

श्रीराधाकृष्णाभ्यां नमः

श्रीमद्भागवत

तृतीय स्कन्ध

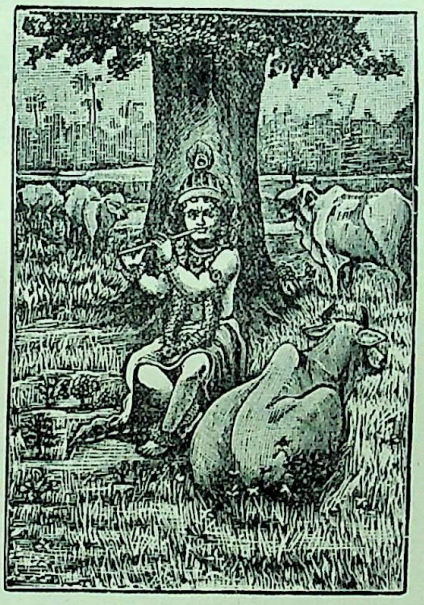

यस्य भासा विभातीदं सर्वं सदसदात्मकम् ।
सर्वाधारं सदानन्दं स्वात्मानं तं हरिं भजे ॥

श्रीहरिः

श्रीमद्भागवत

तृतीय स्कन्ध

पहला अध्याय

उद्धव और विदुरकी भेंट।

ॐ[1] नमो भगवते वासुदेवाय।

श्रीशुक उवाच

एवमेतत्पुरा पृष्टो मैत्रेयो भगवान्किल।
क्षत्त्रा वनं प्रविष्टेन त्यक्त्वा स्वगृहमृद्धिमत्॥ १॥
यद्वा अयं मन्त्रकृद्वो भगवानखिलेश्वरः।
पौरवेन्द्रगृहं हित्वा प्रविवेशात्मसात्कृतम्॥ २॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन्! पूर्वकालमें अपने समृद्धिशाली भवनको छोड़कर वनमें गये हुए महात्मा विदुरजीने भी भगवान् मैत्रेयजीसे ये ही प्रश्न किये थे॥ १॥ अहो! विदुरजीके उस घरका महत्त्व कहाँतक वर्णन किया जाय? जिसमें तुम पाण्डवोंका दूतकर्म करनेवाले भगवान् सर्वेश्वरने दुर्योधनके राजभवनको भी छोड़कर [बिना बुलाये ही] अपना घर समझकर स्वयं ही प्रवेश किया!॥ २॥

राजोवाच

कुत्र क्षत्तुर्भगवता मैत्रेयेणास संगमः।
कदा वा सह संवाद एतद्वर्णय नः प्रभो॥ ३॥
न ह्यल्पार्थोदयस्तस्य विदुरस्यामलात्मनः।
तस्मिन्वरीयसि प्रश्नः साधुवादोपबृंहितः॥ ४॥

राजा परीक्षित्ने पूछा—हे प्रभो! भगवान् मैत्रेयजीके साथ विदुरजीका समागम कहाँ हुआ? और कब उन दोनोंका आपसमें संवाद हुआ? यह सब चरित्र मुझे सुनाइये॥ ३॥ महात्मा मैत्रेयजीके प्रति पवित्रात्मा विदुरजीका जो प्रश्न हुआ होगा उसका आशय स्वल्प न रहा होगा; वह अवश्य ही साधुपुरुषोंके अनुमोदनद्वारा महत्त्वपूर्ण हुआ होगा॥ ४॥

सूत उवाच

स एवमृषिवर्योऽयं[2] पृष्टो राज्ञा परीक्षिता।
प्रत्याह तं सुबहुवित्प्रीतात्मा श्रूयतामिति॥ ५॥

श्रीसूतजी कहते हैं—हे मुनिवर! राजा परीक्षित्के इस प्रकार पूछनेपर बहुज्ञ महामुनि शुकदेवजीने अति प्रसन्न हो उनसे कहा—'सुनो'॥ ५॥

श्रीशुक[3] उवाच

यदा तु राजा स्वसुतानसाधून्
पुष्णन्नधर्मेण विनष्टदृष्टिः।
भ्रातुर्यविष्ठस्य सुतान्विबन्धून्
प्रवेश्य लाक्षाभवने ददाह॥ ६॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन्! जब जन्मके अन्धे और विवेकहीन राजा धृतराष्ट्रने अपने दुष्ट पुत्रोंका अधर्मपूर्वक पोषण करते हुए अपने छोटे भाई (पाण्डु) के अनाथ बालकोंको लाक्षाभवनमें भेजकर आग लगा दिया॥ ६॥

---

१. प्राचीन प्रतिमें 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय' इतना अंश नहीं है। २. प्रा० पा०—एवं मुनिवर्योऽथ। ३. प्राचीन प्रतिमें केवल 'श्री' नहीं है।

यदा सभायां कुरुदेवदेव्याः
केशाभिमर्शं सुतकर्म गर्ह्यम् ।
न वारयामास नृपः स्नुषायाः
स्रग्भिर्हरन्त्याः कुचकुङ्कुमानि ॥ ७ ॥
द्यूते त्वधर्मेण जितस्य साधोः
सत्यावलम्बस्य वनागतस्य ।
न याचतोऽदात्समयेन दायं
तमो जुषाणो यदजातशत्रोः ॥ ८ ॥
यदा च पार्थप्रहितः सभायां
जगद्गुरुर्यानि जगाद कृष्णः ।
न तानि पुंसाममृतायनानि
राजोरु मेने क्षतपुण्यलेशः ॥ ९ ॥
यदोपहूतो भवनं प्रविष्टो
मन्त्राय पृष्टः किल पूर्वजेन ।
अथाह तन्मन्त्रदृशां वरीया-
न्यन्मन्त्रिणो वैदुरिकं वदन्ति ॥१०॥
अजातशत्रोः प्रतियच्छ दायं
तितिक्षतो दुर्विषहं तवागः ।
सहानुजो यत्र वृकोदराहिः
श्वसन्रुषा यत्त्वमलं बिभेषि ॥११॥
पार्थांस्तु देवो भगवान्मुकुन्दो
गृहीतवान्स क्षितिदेवदेवः ।
आस्ते स्वपुर्यां यदुदेवदेवो
विनिर्जिताशेषनृदेवदेवः ॥१२॥
स एष दोषः पुरुषद्विडास्ते
गृहान्प्रविष्टो यमपत्यमत्या ।

जिसका कुचकुंकुम उसके आँसुओंकी धारासे बहा जाता था उस महाराज युधिष्ठिरकी महिषी और अपनी पुत्रवधू द्रौपदीके केश जब दुष्ट दुःशासनने भरी सभामें खींचे और कुरुराज धृतराष्ट्रने अपने पुत्रके इस कुकर्मको तनिक भी न रोका ॥ ७ ॥ द्यूतक्रीडामें अधर्मपूर्वक जीते हुए साधुस्वभाव और सत्यपरायण महाराज अजातशत्रु युधिष्ठिरने वनवाससे लौटकर जब अपना न्यायसंगत पैतृक भाग माँगा और पुत्र-मोहके वशीभूत हुए राजा धृतराष्ट्रने उन्हें उनका भाग नहीं दिया ॥ ८ ॥ जब महाराज युधिष्ठिरके भेजे हुए जगद्गुरु भगवान् कृष्णने कौरवोंकी सभामें अन्य पुरुषोंको अमृतके समान प्रतीत होनेवाले सुमधुर वचन कहे और जिसका राज्यभोगका साधनभूत सम्पूर्ण पुण्य क्षीण हो चुका था उस दुर्योधनने उस कथनका कुछ भी मान नहीं किया ॥ ९ ॥ फिर जब ज्येष्ठ भ्राता धृतराष्ट्रद्वारा सम्मति लेनेके लिये बुलाये जानेपर सलाहकारोंमें श्रेष्ठ श्रीविदुरजी राजभवनमें गये, तो सलाह पूछनेपर उन्होंने उन्हें वह सम्मति दी जिसे राजनीतिज्ञ पुरुष इस समय भी 'विदुर-नीति' कहकर पुकारते हैं । [उन्होंने कहा—] "हे भाई धृतराष्ट्र ! आप अजातशत्रु युधिष्ठिरको उनका भाग दे दीजिये । देखिये, वे आपके दुःसह अपराधको भी सहन कर रहे हैं, जिससे आप भी भय मानते हैं वह भीमसेन उस दायभागके लिये अपने छोटे भाइयोंके सहित सर्पके समान अति क्रोधसे फुफकारें भर रहा है । [आपको पता नहीं] साक्षात् भगवान् कृष्णने पाण्डवोंको अपना लिया है । वे यदुवीरोंके एकमात्र आराध्यदेव श्रीहरि सम्पूर्ण राजाओंको परास्तकर ब्राह्मण और देवताओंके साथ ही इस समय अपनी राजधानी द्वारकापुरीमें विराजमान हैं [इसलिये उनके भयसे भी तुम्हें पाण्डवोंका भाग दे देना चाहिये । यदि कहो 'क्या करूँ, दुर्योधन मानता ही नहीं' तो] जिसको तुम पुत्र मानकर पाल रहे हो यह साक्षात् पुरुषोत्तम भगवान्से द्वेष करनेवाला दुर्योधन तो मूर्तिमान् दोष ही तुम्हारे घरमें घुसा हुआ है । इसके कारण तुम

१. प्राचीन प्रतिके मूलमें 'सहानुजो···' से लेकर '···नृदेवदेवः' तक डेढ़ श्लोक नहीं है, पश्चात् लिखी हुई टिप्पणीमें है ।

पुष्णासि कृष्णाद्विमुखो गतश्री-
स्त्यजाश्वशैवं कुलकौशलाय ॥१३॥
इत्यूचिवांस्तत्र सुयोधनेन
प्रवृद्धकोपस्फुरिताधरेण ।
असत्कृतः सत्स्पृहणीयशीलः
क्षत्ता सकर्णानुजसौबलेन ॥१४॥
क एनमत्रोपजुहाव जिह्मं
दास्याः सुतं यद्बलिनैव पुष्टः ।
तस्मिन्प्रतीपः परकृत्य आस्ते
निर्वास्यतामाशु पुराच्छ्वसानः ॥१५॥
स इत्थमत्युल्बणकर्णबाणै-
र्भ्रातुः पुरो मर्मसु ताडितोऽपि ।
स्वयं धनुर्द्वारि निधाय मायां
गतव्यथोऽयादुरु मानयानः ॥१६॥
स निर्गतः कौरवपुण्यलब्धो
गजाह्वयात्तीर्थपदः पदानि ।
अन्वाक्रमत्पुण्यचिकीर्षयोर्व्यां
स्वधिष्ठितो यानि सहस्रमूर्तिः ॥१७॥
पुरेषु पुण्योपवनाद्रिकुञ्जे-
ष्वपङ्कतोयेषु सरित्सरस्सु ।
अनन्तलिङ्गैः समलङ्कृतेषु
चचार तीर्थायतनेष्वनन्यः ॥१८॥
गां पर्यटन्मेध्यविविक्तवृत्तिः
सदाप्लुतोऽधःशयनोऽवधूतः ।
अलक्षितः स्वैरवधूतवेषो
व्रतानि चेरे हरितोषणानि ॥१९॥
इत्थं व्रजन्भारतमेव वर्षं
कालेन यावद्गतवान्प्रभासम् ।
तावच्छशास क्षितिमेकचक्रा-
मेकातपत्रामजितेन पार्थः ॥२०॥

भगवान् कृष्णसे विमुख होकर श्रीहीन हो जाओगे। इसलिये अपने कुलकी कुशलताके लिये इस अमंगलरूप पुत्रको शीघ्र ही त्याग दो"॥१०—१३॥जिनके स्वभावकी साधु पुरुष इच्छा करते हैं उन विदुरजीके इस प्रकार कहनेपर जब बढ़े हुए क्रोधके कारण जिसके अधरपुट काँप रहे थे उस दुर्योधनने कर्ण, दुःशासन और शकुनिके सहित उनका तिरस्कार करते हुए कहा कि "अरे ! इस कुटिल दासीपुत्रको यहाँ किसने बुलाया है ? यह जिनके टुकड़ेसे पलकर पुष्ट हुआ है उन्हींके प्रतिकूल होकर शत्रुओंका हित चाहता है। इसे शीघ्र ही केवल जीता हुआ छोड़कर नगरसे निकाल दो" ॥ १४-१५॥ तब अपने ज्येष्ठ बन्धुके सामने ही कानोंमें बाणके समान प्रवेश करनेवाले इन महा-कठोर वचनोंसे मर्मस्थानोंमें विद्ध होकर भी श्रीविदुरजी इसको कुछ भी बुरा न मान भगवान्‌की मायाके प्रबल प्रभावपर विचार करते हुए स्वयं ही अपना धनुष राजद्वारपर रख वहाँसे चल दिये ॥ १६ ॥

जिन्हें कौरवोंने बड़े पुण्योंसे प्राप्त किया था वे विदुरजी हस्तिनापुरसे बाहर आ कुछ पुण्य करनेकी इच्छासे तीर्थपाद भगवान्‌के पवित्र क्षेत्रोंमें विचरने लगे, जिनमें श्रीहरि [ब्रह्मा, रुद्र, अनन्तादि] अपनी भिन्न-भिन्न अनेक मूर्तियोंसे स्थित हैं ॥ १७ ॥ भगवान्‌की प्रतिमाओंसे सुशोभित तीर्थस्थान, नगर, परम पवित्र उपवन, पर्वत, निकुंज और निर्मल जलसे भरे हुए नदी तथा सरोवरोंपर विदुरजी अकेले ही विचरने लगे ॥ १८ ॥ इस प्रकार अवधूतवेषसे पृथिवीपर विचरण करते हुए वे पवित्र और साधारण भोजन करते, प्रत्येक तीर्थमें स्नान करते, पृथ्वीपर सोते, तथा अपने आत्मीयोंसे छिपकर रहते थे और भगवान्‌को प्रसन्न करनेवाले नियमोंका पालन किया करते थे ॥ १९ ॥

इस प्रकार भारतवर्षमें ही विचरते हुए जबतक वे प्रभासक्षेत्रमें पहुँचे तबतक महाराज युधिष्ठिर ही श्रीकृष्णचन्द्रकी सहायतासे पृथिवीका अखण्ड एकछत्र शासन करने लगे ॥ २० ॥

१. प्रा० पा०—संस्पृह० ।

तत्रोथ[1] शुश्राव सुहृद्विनष्टिं
वनं यथा वेणुजवह्निसंश्रयम्[2] ।
संस्पर्धया दग्धमथानुशोच-
न्सरस्वतीं प्रत्यगियाय[3] तूष्णीम् ॥२१॥
तस्यां त्रितस्योशनसो मनोश्च
पृथोरथाग्नेरसितस्य वायोः ।
तीर्थं सुदासस्य गवां गुहस्य
यच्छ्राद्धदेवस्य स आसिषेवे ॥२२॥
अन्यानि चेह द्विजदेवदेवैः
कृतानि नानायतनानि विष्णोः ।
प्रत्यङ्गमुख्याङ्कितमन्दिराणि
यद्दर्शनात्कृष्णमनुस्मरन्ति ॥२३॥

वहाँ उन्होंने दावानलसे जले हुए बाँसोंके वनके समान अपनी ही स्पर्धासे नष्ट हुए अपने कौरव-बन्धुओंके विनाशका समाचार सुना। यह सुनकर वे शोक करते हुए चुपचाप सरस्वतीके तीरपर पहुँचे ॥२१॥ वहाँ त्रित, उशना, मनु, पृथु, अग्नि, असित, वायु, सुदास, गौ, गुह और श्राद्धदेवके नामसे प्रसिद्ध (ग्यारह) तीर्थोंमें स्नान किया ॥२२॥ इनके सिवा पृथिवीमें जो और भी ऋषि और देवताओंके स्थापित किये भगवान् विष्णुके मन्दिर हैं जिनके शिखरोंपर भगवान्‌के आयुधोंमें प्रधान चक्रके चिह्न बने हुए थे और जिनके दर्शनमात्रसे ही श्रीकृष्णचन्द्रका स्मरण हो आता था, उनमें गये ॥ २३ ॥

ततस्त्वतिव्रज्य सुराष्ट्रमृद्धं
सौवीरमत्स्यान्कुरुजाङ्गलांश्च ।
कालेन तावद्यमुनामुपेत्य
तत्रोद्धवं भागवतं ददर्श ॥२४॥
स वासुदेवानुचरं प्रशान्तं
बृहस्पतेः प्राक्तनयं प्रतीतम् ।
आलिङ्ग्य गाढं प्रणयेन भद्रं
स्वानामपृच्छद्भगवत्प्रजानाम् ॥२५॥
कच्चित्पुराणौ पुरुषौ स्वनाभ्य-
पाद्मानुवृत्त्येह किलावतीर्णौ ।
आसात उर्व्याः कुशलं विधाय
कृतक्षणौ कुशलं शूरगेहे ॥२६॥
कच्चित्कुरूणां परमः सुहृन्नो
भामः स आस्ते सुखमङ्ग शौरिः ।
यो वै स्वसॄणां पितृवद्ददाति
वरान्वदान्यो वरतर्पणेन ॥२७॥
कच्चिद्वरूथाधिपतिर्यदूनां
प्रद्युम्न आस्ते सुखमङ्ग वीरः ।
यं रुक्मिणी भगवतोऽभिलेभे
आराध्य विप्रान्स्मरमादिसर्गे ॥२८॥
कच्चित्सुखं सात्वतवृष्णिभोज-
दाशार्हकाणामधिपः स आस्ते ।

तदनन्तर अति समृद्ध सुराष्ट्र, सौवीर, मत्स्य और कुरुजांगलादि देशोंको लाँघकर जिस समय विदुरजी यमुनातटपर पहुँचे तो वहाँ उन्हें भागवतश्रेष्ठ उद्धवजी मिले ॥ २४ ॥ भगवान्‌के भक्त, शान्तस्वभाव और बृहस्पतिजीके विख्यात पूर्व शिष्य उद्धवजीको देखकर विदुरजीने प्रेमपूर्वक उनका गाढ आलिंगन किया और उनसे अपने आत्मीय भगवान् कृष्णकी प्रजाकी कुशल पूछी ॥ २५ ॥ वे कहने लगे—"अपने ही नाभिकमलसे उत्पन्न हुए ब्रह्माजीकी प्रार्थनासे जिन्होंने पृथिवीपर अवतार लिया है वे पुराणपुरुष राम और कृष्ण पृथिवीका भार उतारकर क्या अब शूरसेनजीके यहाँ कुशलपूर्वक हैं ?॥ २६ ॥ हे प्रिय ! हम कुरुवंशियोंके परम सुहृद् और पूज्य श्रीवसुदेवजी, जो अपनी उदारताके कारण अपनी बहिन कुन्तीके पुत्रोंको अभिलषित वस्तुएँ देकर उनकी इच्छा पिताके समान पूर्ण करते हैं, क्या आनन्दपूर्वक हैं ? ॥ २७ ॥ हे प्रिय ! जिन्हें रुक्मिणीने ब्राह्मणोंकी आराधनाकर भगवान्‌से प्राप्त किया है और जो पूर्वजन्ममें कामदेव थे, वे यादवोंके सेनापति वीरवर प्रद्युम्नजी सुखपूर्वक हैं ? ॥ २८ ॥ जिन्हें कमलनयन भगवान् श्रीकृष्णने राजसिंहासनकी आशाको दूरहीसे त्यागकर स्वयं ही राजपदपर अभिषिक्त किया

१. प्रा० पा०—तदाथ । २. प्रा० पा०—वह्निनाश्रयम् । ३. प्रा० पा०—प्रत्यगियात्ततश्च ।

यमभ्यषिञ्चच्छतपत्रनेत्रो
नृपासनाशां परिहृत्य दूरात् ॥२९॥
कच्चिद्धरेः सौम्य सुतः सदृक्ष
आस्तेऽग्रणी रथिनां साधु साम्बः ।
असूत यं जाम्बवती व्रताढ्या
देवं गुहं योऽम्बिकया धृतोऽग्रे ॥३०॥
क्षेमं स कच्चिद्युयुधान आस्ते
यः फाल्गुनाल्लब्धधनूरहस्यः ।
लेभेऽञ्जसाधोक्षजसेवयैव
गतिं तदीयां यतिभिर्दुरापाम् ॥३१॥
कच्चिद्बुधः स्वस्त्यनमीव आस्ते
श्वफल्कपुत्रो भगवत्प्रपन्नः ।
यः कृष्णपादाङ्कितमार्गपांसु-
ष्वचेष्टत प्रेमविभिन्नधैर्यः ॥३२॥
कच्चिच्छिवं देवकभोजपुत्र्या
विष्णुप्रजाया इव देवमातुः ।
या वै स्वगर्भेण दधार देवं
त्रयी यथा यज्ञवितानमर्थम् ॥३३॥
अपिस्विदास्ते भगवान्सुखं वो
यः सात्वतां कामदुघोऽनिरुद्धः ।
यमामनन्ति स्म ह[1] शब्दयोनिं
मनोमयं सत्त्वतुरीयतत्त्वम् ॥३४॥
अपिस्विदन्ये च निजात्मदैव-
मनन्यवृत्त्या समनुव्रता ये ।

है वे सात्वत, वृष्णि, भोज और दाशार्हवंशी यादवोंके अधिपति महाराज उग्रसेन प्रसन्न हैं ? ॥ २९ ॥ हे सौम्य ! जिनको पूर्वजन्ममें पार्वतीजीने अपने गर्भमें धारण किया था, जो स्वामिकार्तिकेयजीके अवतार थे, जिन्हें नाना प्रकारके व्रतोंका पालन करनेवाली जाम्बवतीने उत्पन्न किया है तथा जो गुण और शीलमें सब प्रकार श्रीहरिके समान हैं वे समस्त रथियोंमें अग्रगण्य भगवान् कृष्णके पुत्र साम्ब सानन्द हैं ? ॥ ३० ॥ जिन्होंने अर्जुनसे धनुर्विद्याकी शिक्षा पायी है, तथा निरन्तर भगवान्‌की सेवामें रहनेसे ही जिन्होंने उनकी उस परम गतिको सुगमतासे ही प्राप्त कर लिया है जो बड़े-बड़े योगियोंको भी दुर्लभ है, वे सात्यकि क्या कुशलपूर्वक हैं ? ॥ ३१ ॥ जो प्रेमके कारण अधीर होकर श्रीकृष्णचन्द्रके चरण-चिह्नोंसे अंकित व्रजरजमें लोटने लगे थे वे परम बुद्धिमान् निष्पाप और भगवान्‌के शरणागत भक्त श्वफल्कनन्दन अक्रूरजी सानन्द हैं न ? ॥३२॥ क्या भोज-वंशी देवककी पुत्री देवकीजी प्रसन्न हैं जो देवमाता अदितिके समान साक्षात् विष्णु भगवान्‌की माता हैं और जिन्होंने, वेदत्रयी जिस प्रकार अपने मन्त्रोंमें यज्ञ-विस्ताररूप अर्थको धारण करती है उसी प्रकार अपने गर्भमें भगवान् श्रीकृष्णको धारण किया था ॥ ३३ ॥ जो [चित्त, अहंकार, बुद्धि और मनरूप] चार प्रकारके अन्तःकरणोंमेंसे चौथे मनस्तत्त्वके अधिष्ठाता* हैं तथा जिन्हें शास्त्र शब्दका आदिकारण † बताता है वे तुम भक्तों [अथवा यादवों] की कामनाएँ पूर्ण करनेवाले भगवान् अनिरुद्धजी क्या सुखपूर्वक हैं ? ॥३४॥ हे सौम्य ! और भी हृदीक, चारुदेष्ण, गद तथा सत्यभामाके पुत्र आदि

१. प्रा० पा०—हि ।

* 'चित्त, अहंकार, बुद्धि और मन' इन चार प्रकारके अन्तःकरणोंके अधिष्ठाता क्रमशः 'वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध' हैं ।

† जैसे तैत्तिरीय-श्रुति 'अन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः' (दूसरा आन्तरिक आत्मा 'मनोमय' है) ऐसा कहकर 'तस्य यजुरेव शिरः, ऋग् दक्षिणः पक्षः, सामोत्तरः पक्षः' (उसका यजुर्वेद ही शिर है, ऋग्वेद दायाँ पक्ष है, सामवेद बायाँ पक्ष है) इत्यादि बताती है । इससे मनको शब्दका आदिकारण कहा है । इसके सिवा शिक्षामें भी कहा है—'आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान्मनो युङ्क्ते विवक्षया । मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम् । मारुतस्तूरसि चरन्मन्द्रं जनयति स्वरम् ।' अर्थात् 'आत्मा बुद्धिके साथ मिलकर अर्थोंको बतलानेकी इच्छासे मनको नियुक्त करता है, मन् कायाग्निको जगाता है, वह वायुको प्रेरित करता है और वायु अव्यक्त स्वरको प्रकट कर देता है ।' इसलिये भी मनको शब्दका आदिकारण कहा है ।

हृदीकसत्यात्मजचारुदेष्ण-
गदादयः स्वस्ति चरन्ति सौम्य ॥३५॥
अपि स्वदोर्भ्यां विजयाच्युताभ्यां
धर्मेण धर्मः परिपाति सेतुम् ।
दुर्योधनोऽतप्यत यत्सभायां
साम्राज्यलक्ष्म्या विजयानुवृत्त्या ॥३६॥
किं वा कृताघेष्वघमत्यमर्षी
भीमोऽहिवद्दीर्घतमं व्यमुञ्चत् ।
यस्याङ्घ्रिपातं रणभूर्न सेहे
मार्गं गदायाश्चरतो विचित्रम् ॥३७॥
कच्चिद्यशोधा रथयूथपानां
गाण्डीवधन्वोपरतारिरास्ते ।
अलक्षितो यच्छरकूटगूढो
मायाकिरातो गिरिशस्तुतोष ॥३८॥
यमावुतस्वित्तनयौ पृथायाः
पार्थैर्वृतौ पक्ष्मभिरक्षिणीव ।
रेमात उद्दाय मृधे स्वरिक्थं
परात्सुपर्णाविव वज्रिवक्त्रात् ॥३९॥
अहो पृथापि ध्रियतेऽर्भकार्थे
राजर्षिवर्येण विनापि तेन ।
यस्त्वेकवीरोऽधिरथो[1] विजिग्ये
धनुर्द्वितीयः ककुभश्चतस्रः ॥४०॥
सौम्यानुशोचे तमधःपतन्तं
भ्रात्रे परेताय विदुद्रुहे[2] यः ।
निर्यापितो येन सुहृत्स्वपुर्या
अहं स्वपुत्रान्समनुव्रतेन ॥४१॥
सोऽहं हरेर्मर्त्यविडम्बनेन
दृशो नृणां चालयतो विधातुः ।

जो अपने हृदयदेव भगवान् श्रीकृष्णका अनन्यभावसे अनुगमन करनेवाले हैं वे कुशलपूर्वक हैं ? ॥ ३५ ॥ जिनकी सभामें, उनकी साम्राज्यलक्ष्मी और विजय-परम्पराको देखकर दुर्योधनको डाह उत्पन्न हुआ था, वे धर्मराज अपनी भुजारूप अर्जुन और श्रीकृष्णचन्द्रकी सहायतासे धर्ममर्यादाका धर्मपूर्वक पालन करते हैं न ? ॥ ३६ ॥ गदायुद्धमें तरह-तरहके पैंतरे बदलते समय जिनके पादप्रहारको युद्धभूमि सहन नहीं कर सकी उन सर्पके समान अत्यन्त क्रोधी भीमसेनने क्या अपना अपकार करनेवाले कौरवोंके प्रति महान् द्वेष-भाव त्याग दिया है ? ॥ ३७ ॥ जिनकी बाणवर्षासे आच्छादित होकर मायाकिरातरूप भगवान् शंकर अति सन्तुष्ट हुए थे वे रथी और यूथपतियोंमें परम यशस्वी गाण्डीवधारी धनञ्जय, अब शत्रुओंका संहार हो जानेसे आनन्दमें हैं ? ॥ ३८ ॥ पलकोंसे जिस प्रकार नेत्रोंकी रक्षा होती है उसी प्रकार युधिष्ठिरादि कुन्तीपुत्रोंसे जो सर्वथा सुरक्षित हैं वे माद्रीके यमजपुत्र कुन्तीलालित नकुल और सहदेव कुशलसे हैं ? जिन्होंने युद्धमें शत्रुओंसे अपना भाग इस प्रकार छीन लिया है जैसे दो गरुड़ इन्द्रके मुखसे अमृत छीन लाये हों ॥३९॥ अहो ! बेचारी कुन्तीकी कुशलता क्या पूछूँ ? वह तो, जिन्होंने रथपर चढ़कर अपने दूसरे साथी धनुषकी ही सहायतासे अकेले ही चारों दिशाओंको जीत लिया था उन राजर्षिश्रेष्ठ पाण्डुके बिना, प्राणहीना-सी होकर भी केवल बालकोंके लिये अभीतक जीवन धारण किये हुए है ॥ ४० ॥ हे सौम्य ! मुझे तो अधःपतित होनेवाले उस धृतराष्ट्रके ही लिये बार-बार शोक होता है जिसने अपने परलोकवासी भाई पाण्डुसे [उसके स्त्री और पुत्रोंके साथ अन्याय करके] विद्रोह किया और अपने पुत्रोंका अनुगामी होकर मुझ अपने हितचिन्तकको भी नगरसे निकाल दिया ॥४१॥ किन्तु मुझे इसका कुछ विस्मय नहीं है; क्योंकि मैं इस घटनामें मानवोचित लीलाओंका अनुकरण करके मनुष्योंकी चित्तवृत्तियोंको

१. प्रा० पा०—ऽविरथो । २. प्रा० पा०—च दुद्रुहे यः ।

नान्योपलक्ष्यः पदवीं प्रसादा-
च्चरामि पश्यन्गतविस्मयोऽत्र ॥४२॥
नूनं नृपाणां त्रिमदोत्पथानां
महीं मुहुश्चालयतां चमूभिः ।
वधात्प्रपन्नार्तिजिहीर्षयेशो-
ऽप्युपैक्षतार्धं भगवान्कुरूणाम् ॥४३॥
अजस्य जन्मोत्पथनाशनाय
कर्माण्यकर्तुर्ग्रहणाय पुंसाम् ।
नन्वन्यथा कोऽर्हति देहयोगं
परो गुणानामुत कर्मतन्त्रम् ॥४४॥
तस्य प्रपन्नाखिललोकपाना-
मवस्थितानामनुशासने स्वे ।
अर्थाय जातस्य यदुष्वजस्य
वार्तां सखे कीर्तय तीर्थकीर्तेः ॥४५॥

विचलित करनेवाले विधाता भगवान् श्रीकृष्णकी महिमाका ही अवलोकन करता हुआ उनकी कृपासे दूसरोंकी दृष्टिसे अलग रहकर सानन्द विचर रहा हूँ ॥४२॥ जो राजा लोग तीन प्रकारके मदसे* कुपथगामी होकर पृथिवीको बारम्बार कम्पायमान कर रहे थे उनका सेनासहित संहार करके अपने शरणागत भक्तोंका कष्ट दूर करनेकी इच्छासे ही भगवान्ने [अपने प्रति किये हुए] कौरवोंके अपराधकी [उस समय] उपेक्षा कर दी थी ॥४३॥ भगवान् अजन्मा और अकर्मा हैं उनके जन्म दुष्टोंका नाश करनेके लिये और कर्म मनुष्योंको सन्मार्गमें प्रवृत्त करनेके लिये हुआ करते हैं । नहीं तो, भगवान्की तो बात ही क्या, जो अन्य [उनके भक्तादि] भी गुणोंसे पार हो गये हैं उनमेंसे भी ऐसा कौन है जो नाशवान् देह और कर्मकलापके बन्धनमें पड़ेगा ॥ ४४ ॥ अतः हे मित्र ! अपनी शरणमें आये हुए समस्त लोकपाल और आज्ञाकारी भक्तोंका प्रिय करनेके लिये यदुकुलमें उत्पन्न हुए उन अजन्मा और पवित्रकीर्ति भगवान्की बातें सुनाओ ॥४५॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे तृतीयस्कन्धे
विदुरोद्धवसंवादे प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

दूसरा अध्याय

उद्धवजीद्वारा भगवान्की बाललीलाओंका वर्णन ।

श्रीशुक उवाच

इति भागवतः पृष्टः क्षत्त्रा वार्तां प्रियाश्रयाम् ।
प्रतिवक्तुं न चोत्सेह औत्कण्ठ्यात्स्मारितेश्वरः ॥ १ ॥
यः पञ्चहायनो मात्रा प्रातराशाय याचितः ।

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! जब विदुरजीने उद्धवजीसे इस प्रकार प्रियतम श्रीकृष्णसे सम्बन्ध रखनेवाली बात पूछी तो उत्कण्ठावश उन्हें भगवान्का स्मरण हो आया; अतः वे [विह्वलताके कारण] कुछ भी उत्तर न दे सके ॥ १ ॥ जो उद्धवजी अपनी पाँच वर्षकी अवस्थामें बालोचित क्रीडाके प्रसंगमें

१. प्रा० पा०—अथोपजातस्य । २. प्राचीन प्रतिमें 'श्री' नहीं है ।

* जैसा कि कहा है—

'विद्यामदो धनमदस्तथैवाभिजनो मदः । एते मदा मदान्धानां त एव हि सतां दमाः ॥'

अर्थात् (१) विद्यामद, (२) धनमद और (३) कुटुम्बमद—ये ही मदान्धोंके तीन मद हैं और सज्जनगण इन्हींका दमन करते हैं ।

तन्नैच्छद्रचयन्यस्य सपर्यां बाललीलया ॥ २ ॥
स कथं सेवया तस्य कालेन जरसं[1] गतः ।
पृष्टो वार्तां प्रतिब्रूयाद्भर्तुः पादावनुस्मरन् ॥ ३ ॥
स मुहूर्तमभूत्तूष्णीं कृष्णाङ्घ्रिसुधया भृशम् ।
तीव्रेण भक्तियोगेन निमग्नः साधुनिर्वृतः ॥ ४ ॥
पुलकोद्भिन्नसर्वाङ्गो मुञ्चन्मीलद्दृशा शुचः ।
पूर्णार्थो लक्षितस्तेन स्नेहप्रसरसंप्लुतः ॥ ५ ॥
शनकैर्भगवल्लोकान्नृलोकं पुनरागतः ।
विमृज्य नेत्रे विदुरं प्रत्याहोद्धव उत्स्मयन् ॥ ६ ॥

भगवान् कृष्णकी पूजा करते समय कलेवेके लिये माताके बुलानेपर भी उसे छोड़कर जाना नहीं चाहते थे, वे ही सदा कृष्णसेवामें रहते-रहते अब कालक्रमसे बूढ़े हो चले थे; विदुरजीके द्वारा कृष्णविषयक वार्ता पूछी जानेसे स्वामीके चरणकमलोंकी स्मृति हो आनेपर [प्रेमाकुल हो जानेके कारण] भला वे कैसे उत्तर दे सकते थे ? ॥२-३॥ इस प्रकार तीव्र भक्तियोगसे भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रके चरणामृतसिन्धुमें डूबकर अत्यन्त आनन्दमग्न हो जानेके कारण थोड़ी देरके लिये वे मौन हो गये ॥ ४ ॥ उनके सम्पूर्ण शरीरमें रोमाञ्च हो गया तथा मुँदे हुए नयनोंसे आँसुओंकी धारा बहने लगी । उद्धवजीको इस प्रकार प्रेमप्रवाहमें डूबे हुए देख विदुरजीने उन्हें कृतकृत्य माना ॥ ५ ॥ फिर उद्धवजी धीरे-धीरे अपना चित्त भगवत्स्वरूपसे मानव-संसारकी ओर ले आये और [देहानुसंधान होनेपर] अपने नेत्रोंको पोंछकर विस्मित हो विदुरजी-से इस प्रकार कहने लगे ॥ ६ ॥

उद्धव उवाच

कृष्णद्युमणिनिम्लोचे गीर्णेष्वजगरेण ह ।
किं नु[2] नः कुशलं ब्रूयां गतश्रीषु गृहेष्वहम् ॥ ७ ॥
दुर्भगो बत लोकोऽयं यदवो नितरामपि ।
ये संवसन्तो न विदुर्हरिं मीना इवोडुपम् ॥ ८ ॥
इङ्गितज्ञाः पुरुप्रौढा एकारामाश्च सात्वताः ।
सात्वतामृषभं सर्वे भूतावासममंसत ॥ ९ ॥
देवस्य मायया स्पृष्टा ये चान्यदसदाश्रिताः ।
भ्राम्यते धीर्न तद्वाक्यैरात्मन्युप्तात्मनो हरौ ॥१०॥

उद्धवजी बोले—कृष्णरूप सूर्यके छिप जानेपर कालरूप सर्पसे ग्रसे हुए अपने श्रीहीन घरोंकी मैं क्या कुशल बताऊँ ? ॥ ७ ॥ यह लोक अभागा है, इसमें भी यादवगण तो बड़े ही भाग्य-हीन हैं, जिन्होंने निरन्तर अपने पास रहनेपर भी श्रीहरिको नहीं पहचाना, जैसे समुद्रमें रहते समय चन्द्रमाको मछलियाँ नहीं पहचान सकी थीं ॥ ८ ॥

यादवगण मनके भावको ताड़नेवाले, परम चतुर और सदा भगवान्के साथ ही क्रीडा करनेवाले थे तो भी [दुर्भाग्यवश] उन्होंने सम्पूर्ण प्राणियोंके आधारस्वरूप श्रीहरिको एक श्रेष्ठ यादव ही समझा ॥ ९ ॥ परन्तु भगवान्की मायासे मोहित होकर जो शिशुपालादि उनसे व्यर्थ वैरभाव रखते [हुए उनकी निन्दा करते] थे उनके वाक्योंसे ऐसे लोगोंकी बुद्धि भ्रममें नहीं पड़ती थी जिन्होंने अपना मन आत्मारूप श्रीहरिमें ही लगा दिया था ॥१०॥

१. प्रा० पा०—रजसं । २. प्रा० पा०—किं पुनः ।

प्रदर्श्यातप्ततपसामवितृप्तदृशां नृणाम् ।
आदायान्तरधाद्यस्तु स्वबिम्बं लोकलोचनम् ॥११॥

यन्मर्त्यलीलौपयिकं स्वयोग-
मायाबलं दर्शयता गृहीतम् ।
विस्मापनं स्वस्य च सौभगर्द्धेः
परं पदं भूषणभूषणाङ्गम् ॥१२॥

यद्धर्मसूनोर्वत राजसूये
निरीक्ष्य दृक्स्वस्त्ययनं त्रिलोकः ।
कात्स्न्येन चाद्येह[1] गतं विधातु-
रर्वाक्सृतौ कौशलमित्यमन्यत ॥१३॥

यस्यानुरागप्लुतहासरास-
लीलावलोकप्रतिलब्धमानाः ।
व्रजस्त्रियो दृग्भिरनुप्रवृत्त-
धियोऽवतस्थुः किल कृत्यशेषाः ॥१४॥

स्वशान्तरूपेष्वितरैः[2] स्वरूपै-
रभ्यर्द्यमानेष्वनुकम्पितात्मा ।
परावरेशो महदंशयुक्तो
ह्यजोऽपि जातो भगवान्यथाग्निः ॥१५॥

मां खेदयत्येतदजस्य जन्म-
विडम्बनं यद्वसुदेवगेहे ।
व्रजे च वासोऽरिभयादिव स्वयं
पुराद्व्यवात्सीद्यदनन्तवीर्यः ॥१६॥

दुनोति चेतः स्मरतो ममैत-
द्यदाह पादावभिवन्द्य पित्रोः ।
ताताम्ब कंसादुरुशङ्कितानां

जिन्होंने कभी तप नहीं किया अतएव जिनके नेत्र भगवान्‌के रूपको देखकर तृप्त नहीं हुए थे ऐसे मनुष्योंको इतने समयतक अपना त्रिभुवनकमनीय श्रीविग्रह दिखाकर भगवान् अब उनके नेत्र छीनकर छिप गये ॥ ११ ॥ अपनी योगमायाका बल दिखाते हुए भगवान्‌ने जो मानवलीलाएँ करनेयोग्य दिव्य विग्रह धारण किया था वह स्वयं उन्हींको विस्मित करता था; [फिर औरोंका तो कहना ही क्या है ?] वह सौभाग्यलक्ष्मीका परम आश्रय और अपने अंग-प्रत्यंगोंसे भूषणोंको भी विभूषित करनेवाला था ॥ १२ ॥ अहो ! धर्मराज युधिष्ठिरके राजसूययज्ञमें भगवान्‌के उस नयनाभिराम स्वरूपको देखकर त्रिलोकीने यही माना था कि ब्रह्माकी नूतन सृष्टिरचनाविषयक जितनी चतुरता है आज वह सब इस कृष्णमूर्तिमें ही पूरी हो गयी है ॥ १३ ॥ उनके प्रेमपूर्ण हास, विनोद और लीलामय चितवनसे सम्मानित हो व्रजबालाएँ अपने नेत्र और चित्त-वृत्तियोंके उन्हींकी ओर लगे रहनेसे घरके धंधोंको अधूरा ही छोड़कर [पुतलियोंके समान] निश्चेष्ट हो जाती थीं ॥ १४ ॥ अपने शान्तरूप ऋषि-मुनि आदिको अपने ही घोररूप दानवादिसे पीडित होते देख करुणावश भगवान्‌ने अजन्मा होकर भी व्यापक अग्निके काष्ठादिमें प्रकट हो जानेकी भाँति अपने महान् अंश बलदेवजीके सहित जन्म लिया ॥ १५ ॥ अजन्मा होकर भी वसुदेवजीके यहाँ जन्म लेनेका स्वाँग रचना, फिर अपने शत्रु कंससे डरे हुएके समान व्रजमें जाकर रहना और अनन्तपराक्रमी होकर भी कालयवनके सामने मथुरापुरी छोड़कर भाग जाना—ये भगवान्‌की लीलाएँ [आज याद आकर] मुझे भी खेदमें डाल रही हैं ॥ १६ ॥ [कंसको मारनेके बाद उन्होंने] माता-पिताके चरणोंकी वन्दनाकर उनसे जो कहा था कि 'हे तात ! हे मातः ! कंससे अत्यन्त भयभीत होनेके कारण हमसे आपकी कोई सेवा नहीं बन पड़ी सो आप [हमारे इस अपराधको क्षमाकर] हमपर प्रसन्न हों' भगवान्‌का वह सब चरित्र भी

१. प्रा० पा०—चाद्यैव । २. प्रा० पा०—प्रशान्त० ।

प्रसीदतं नोऽकृतनिष्कृतीनाम् ॥१७॥
को वा अमुष्याङ्घ्रिसरोजरेणुं
विस्मर्तुमीशीत पुमान्विजिघ्रन् ।
यो विस्फुरद्भ्रूविटपेन भूमे-
र्भारं कृतान्तेन तिरश्चकार ॥१८॥
दृष्टा भवद्भिर्ननु राजसूये
चैद्यस्य कृष्णं द्विषतोऽपि सिद्धिः ।
यां योगिनः संस्पृहयन्ति सम्य-
ग्योगेन कस्तद्विरहं सहेत ॥१९॥
तथैव चान्ये नरलोकवीरा
य आहवे कृष्णमुखारविन्दम् ।
नेत्रैः पिबन्तो नयनाभिरामं
पार्थास्त्रपूताः पदमापुरस्य ॥२०॥
स्वयं त्वसाम्यातिशयस्त्र्यधीशः
स्वाराज्यलक्ष्म्याप्तसमस्तकामः ।
बलिं हरद्भिश्चिरलोकपालैः
किरीटकोट्येडितपादपीठः ॥२१॥
तत्तस्य कैङ्कर्यमलङ्कृतान्नो
विग्लापयत्यङ्ग यदुग्रसेनम् ।
तिष्ठन्निषण्णं परमेष्ठिधिष्ण्ये
न्यबोधयद्देव निधारयेति ॥२२॥
अहो बकी यं स्तनकालकूटं
जिघांसयापाययदप्यसाध्वी ।
लेभे गतिं धात्र्युचितां ततोऽन्यं
कं वा दयालुं शरणं व्रजेम ॥२३॥
मन्येऽसुरान्भागवतांस्त्र्यधीशे
संरम्भमार्गाभिनिविष्टचित्तान् ।
ये संयुगेऽचक्षत तार्क्ष्यपुत्र-
मंसे सुनाभायुधमापतन्तम् ॥२४॥

याद आकर मेरे चित्तको अब भी व्यथित कर रहा है ॥ १७ ॥ [किन्तु इससे उनकी ईश्वरतामें कोई बाधा नहीं आती ।] अहो ! जिन भगवान् कृष्णने अपने भृकुटिविलासरूप कृतान्तके द्वारा सम्पूर्ण भूभारको नष्ट कर डाला उनके चरणारविन्दपरागकी गंधका सेवन करनेवाला ऐसा कौन पुरुष है जो उन्हें भूल सकता हो ॥१८॥ योगीगण निरन्तर योगाभ्यास-द्वारा जिस सिद्धि (मुक्ति) को प्राप्त करना चाहते हैं वही राजसूययज्ञमें चेदिराज शिशुपालको, भगवान्-से द्वेष करनेपर भी प्राप्त हुई—यह आपने देखा ही होगा ! फिर कहिये ऐसे प्रभुका वियोग कौन सहन कर सकता है ? ॥ १९ ॥ शिशुपाल ही नहीं, भारतीय युद्धमें अर्जुनके बाणोंकी चोटसे शुद्ध हुए योद्धाओं-ने भी अपने नेत्रोंद्वारा भगवान्के नयनाभिराम मुख-कमलका पान करते हुए उन्हींका धाम प्राप्त किया ॥२०॥ भगवान् कृष्ण स्वयं त्रिलोकीनाथ थे, उनके समान अथवा उनसे बढ़कर कोई भी नहीं था, वे अपनी परमानन्दस्वरूप स्वतःसिद्ध सम्पत्तिसे पूर्णकाम थे तथा चिरकालीन लोकपालगण नाना प्रकारकी पूजा-सामग्रियाँ अर्पणकर अपने मुकुटोंके अग्रभागसे उनके पादपीठकी वन्दना करते थे ॥ २१ ॥ हे प्रिय विदुरजी ! वे ही राजसिंहासनपर बैठे हुए उग्रसेनके सामने स्वयं खड़े होकर जो यों निवेदन करते थे कि 'देव ! [सुनिये] इसपर विचार कीजिये' उनका वह दासभाव हम भृत्योंको बड़ा ही खिन्न कर देता था ॥ २२ ॥ अहो ! पापिनी पूतनाने जिन्हें मारनेकी इच्छासे अपना विषलिप्त स्तन पान कराया था, तथापि वह माताके योग्य उत्तम गति पा गयी उन भगवान् कृष्णचन्द्रको छोड़कर हम और किस दयालुकी शरणमें जायँ ॥ २३ ॥ जिन्होंने युद्धमें भगवान् चक्रायुधको कन्धेपर लेकर आते हुए गरुड़जीका दर्शन किया है उन दैत्योंको भी मैं क्रोधावेशरूप मार्गसे भगवान्में चित्त लगानेवाले भक्त ही समझता हूँ ॥२४॥

१. प्रा० पा०—साम्राज्य० ।

वसुदेवस्य देवक्यां जातो भोजेन्द्रबन्धने ।
चिकीर्षुर्भगवानस्याः शमजेनाभियाचितः ॥२५॥
ततो नन्दव्रजमितः पित्रा कंसाद्वि बिभ्यता ।
एकादश समास्तत्र गूढार्चिः सबलोऽवसत् ॥२६॥
परीतो वत्सपैर्वत्सांश्चारयन्व्याहरद्विभुः ।
यमुनोपवने कूजद्द्विजसंकुलिताङ्घ्रिपे ॥२७॥
कौमारीं दर्शयंश्चेष्टां प्रेक्षणीयां व्रजौकसाम् ।
रुदन्निव हसन्मुग्धबालसिंहावलोकनः ॥२८॥
स एव गोधनं लक्ष्म्या निकेतं सितगोवृषम् ।
चारयन्ननुगान्गोपान्रणद्वेणुररीरमत् ॥२९॥
प्रयुक्तान्भोजराजेन मायिनः कामरूपिणः ।
लीलया व्यनुदत्तांस्तान्बालः क्रीडनकानिव ॥३०॥
विपन्नान्विषपानेन निगृह्य भुजगाधिपम् ।
उत्थाप्यापाययद्गावस्तत्तोयं प्रकृतिस्थितम् ॥३१॥
अयाजयद्गोसवेन गोपराजं द्विजोत्तमैः ।
वित्तस्य चोरुभारस्य चिकीर्षन्सद्व्ययं विभुः ॥३२॥
वर्षतीन्द्रे व्रजः कोपाद्भग्नमानेऽतिविह्वलः ।
गोत्रलीलातपत्रेण त्रातो भद्रानुगृह्णता ॥३३॥
शरच्छशिकरैर्मृष्टं मानयन्रजनीमुखम् ।
गायन्कलपदं रेमे स्त्रीणां मण्डलमण्डनः ॥३४॥

ब्रह्माजीके प्रार्थना करनेपर भगवान्‌ने पृथ्वीको [इसका भार उतारकर] सुख देनेके लिये कंसकी कैदमें पड़े हुए वसुदेवकी भार्या देवकीके गर्भसे अवतार लिया ॥ २५ ॥ वहाँसे पिताने कंससे अत्यन्त भयभीत होकर उन्हें नन्दजीके व्रजमें पहुँचा दिया। वहाँ वे काष्ठमें छिपे हुए अग्निके समान अपने तेजको छिपाये हुए बलरामजीके सहित ग्यारह वर्षतक रहे ॥ २६ ॥ व्रजमें रहते समय भगवान् ग्वालबालोंके साथ बछड़े चराते हुए यमुनातटके निकुञ्जमें जहाँ वृक्षोंपर भाँति-भाँतिके पक्षी बोल रहे थे, खेल किया करते थे ॥ २७ ॥ जिनकी चितवन भोले-भाले सिंहशावकके समान थी उन श्रीबालकृष्णने कभी रोते और कभी हँसते हुएके समान अनेकों दर्शनीय बाललीलाएँ व्रजवासियोंको दिखायीं ॥ २८ ॥ फिर वे ही [कुछ-कुछ बड़े होनेपर] परम शोभामय श्वेत गौ और वृषभोंसे युक्त गोधनको चराते हुए अपने साथी गोपोंको बाँसुरी बजाकर आनन्दित करने लगे ॥ २९ ॥ [अपनेको मारनेके लिये] भोजराज कंसद्वारा भेजे हुए बहुत-से मायावी और इच्छानुसार रूप धारण कर लेनेवाले राक्षसोंको उन्होंने खेलहीमें मार डाला, जैसे बालक खिलौनोंको नष्ट-भ्रष्ट कर देता है ॥ ३० ॥ उन्होंने कालियनागका दमनकर उसे वहाँसे निकाल दिया और विष मिला हुआ जल पीनेसे मरी हुई गौओंको जीवितकर उन्हें कालियदहका निर्मल नीर पान कराया ॥ ३१ ॥ फिर बढ़े हुए धनका सद्व्यय करनेके लिये, भगवान्‌ने गोपराज नन्दसे सद्ब्राह्मणोंद्वारा गोवर्धनका पूजन कराया ॥ ३२ ॥ हे भद्र ! इससे अपना मानभङ्ग होनेके कारण जब इन्द्र क्रोधवश मूसलाधार जल बरसाने लगा तो भगवान्‌ने करुणावश लीलाहीसे छत्रके समान गोवर्धनपर्वतको उठाकर अत्यन्त विह्वल व्रजवासियोंकी रक्षा की ॥ ३३ ॥ फिर शरच्चन्द्रकी किरणोंसे धवलित रजनीमुख (प्रदोषकाल) का मान रखते हुए व्रजसुन्दरियोंके मण्डलकी शोभा बढ़ानेवाले श्रीहरिने मनोहर गान करते हुए रासविहार किया॥३४॥

इति श्रीमद्भागवते तृतीयस्कन्धे विदुरोद्धवसंवादे
द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

१. प्रा० पा०—व्यचरद्भुवि ।

तीसरा अध्याय

भगवान्‌के अन्य चरित्रोंका वर्णन ।

उद्धव उवाच

ततः स आगत्य पुरं स्वपित्रो-
श्चिकीर्षया शं बलदेवसंयुतः ।
निपात्य तुङ्गाद्रिपुयूथनाथं
हतं व्यकर्षद्व्यसुमोजसोर्व्याम् ॥ १ ॥
सान्दीपनेः सकृत्प्रोक्तं ब्रह्माधीत्य सविस्तरम् ।
तस्मै प्रादाद्वरं पुत्रं मृतं पञ्चजनोदरात् ॥ २ ॥
समाहृता[1] भीष्मककन्यया ये
श्रियः सवर्णेन बुभूषयैषाम् ।
गान्धर्ववृत्त्या मिषतां स्वभागं
जह्रे पदं मूर्ध्नि दधत्[2]सुपर्णः ॥ ३ ॥
ककुद्मतोऽविद्धनसो दमित्वा
स्वयंवरे नाग्नजितीमुवाह[3] ।
तद्धग्नमानानपि गृध्यतोऽज्ञा-
ञ्जघ्नेऽक्षतः शस्त्रभृतः स्वशस्त्रैः ॥ ४ ॥
प्रियं प्रभुर्ग्राम्य इव प्रियाया
विधित्सुरार्च्छद् द्युतरुं यदर्थे ।
वज्रयाद्रवत्तं सगणो रुषान्धः
क्रीडामृगो नूनमयं वधूनाम् ॥ ५ ॥
सुतं मृधे खं वपुषा ग्रसन्तं
दृष्ट्वा सुनाभोन्मथितं धरित्र्या ।

उद्धवजी बोले—हे विदुर ! फिर अपने माता-पिताको सुख पहुँचानेकी इच्छासे बलदेवजीके सहित भगवान् कृष्ण मथुरापुरीमें पधारे और अपने शत्रु-समुदायके नायक कंसको ऊँचे सिंहासनसे गिराकर उसके प्राणहीन शरीरको बलपूर्वक पृथिवीपर घसीटा ॥ १ ॥ तत्पश्चात् गुरु सान्दीपनिके मुखसे एक बार ही कहे हुए अंग और उपाङ्गोंके सहित वेदोंका अध्ययनकर उन्हें गुरुदक्षिणामें पञ्चजन दैत्यका उदर विदीर्ण करके [यमपुरीसे ले आकर] उनका मरा हुआ पुत्र दिया ॥ २ ॥ फिर भीष्मककन्या रुक्मिणीद्वारा लक्ष्मीके समान अपने सुन्दररूपसे आकर्षित करके बुलाये हुएके समान जो-जो राजा एकत्रित हुए थे, उनके शिरपर पाँव रखकर गान्धर्वविधिसे विवाह करनेकी इच्छासे भगवान् अपना भाग (रुक्मिणीजीको) हर लाये, जैसे गरुड़ देवताओंको परास्तकर उनसे अमृत छीन लाये थे ॥ ३ ॥ इसी प्रकार बिना नथे हुए सात दुर्दान्त बैलोंको स्वयंवरमें नाथकर नाग्नजितीसे विवाह किया और उन वृषभोंका दमन हो जानेके कारण जिनका मान-मर्दन हो गया था, तथापि जो मूर्खतावश उन्हें छीन लेनेकी इच्छा रखते थे ऐसे मूर्ख शस्त्रधारी राजाओंको उन्होंने अपने शस्त्रोंसे मार डाला और अपने ऊपर कोई वार नहीं आने दिया ॥ ४ ॥ जब भगवान्‌ने अन्य विषयी पुरुषोंके समान अपनी प्रिया (सत्यभामा) का प्रिय करनेकी इच्छासे कल्पवृक्षका हरण किया तो उसके लिये [अपनी भार्याके कहनेसे] क्रोधसे अन्धा होकर इन्द्र देवताओं-की सेना साथ ले उनके पीछे दौड़ा ! इससे मालूम होता है वह निश्चय ही अपनी स्त्रियोंके हाथका खिलौना था [नहीं तो अपना ही प्रिय करनेवाले भगवान्‌के पीछे क्यों दौड़ता ?] ॥ ५ ॥ अपने शरीरसे आकाशको भी ग्रसनेवाले अपने पुत्र भौमासुरको भगवान् चक्रपाणिके हाथसे मारा गया देख जब

१. प्रा० पा०—'हु' । २. प्रा० पा०—ददत् । ३. प्रा० पा०—नाग्नजितीं व्युवाह ।

आमन्त्रितस्तत्तनयाय शेषं[1]
दत्त्वा तदन्तःपुरमाविवेश ॥ ६ ॥
तत्राहृतास्ता नरदेवकन्याः
कुजेन दृष्ट्वा हरिमार्तबन्धुम् ।
उत्थाय सद्यो जगृहुः प्रहर्ष-
व्रीडानुरागप्रहितावलोकैः[2] ॥ ७ ॥

पृथिवीने प्रार्थना की तो भगवान्‌ने भौमासुरके पुत्र भगदत्तको हरण किये हुए वैभवसे बचा हुआ राज्य दे उसके अन्तःपुरमें प्रवेश किया ॥ ६ ॥ वहाँ जिन राजकुमारियोंको भौमासुर बलपूर्वक हर लाया था उन्होंने दीनबन्धु श्रीहरिको देखते ही उठकर अति हर्ष, लज्जा और प्रेमपूर्ण दृष्टिसे उन्हें तत्काल ही पतिरूपसे वरण कर लिया ॥ ७ ॥

आसां मुहूर्त एकस्मिन्नानागारेषु योषिताम् ।
सविधं जगृहे पाणीनँनुरूपः स्वमायया ॥ ८ ॥
तास्वपत्यान्यजनयदात्मतुल्यानि सर्वतः[4] ।
एकैकस्यां दश दश प्रकृतेर्विबुभूषया ॥ ९ ॥
कालमागधशाल्वादीननीकै रुन्धतः पुरम् ।
अजीघनत्स्वयं दिव्यं स्वपुंसां तेज आदिशत् ॥१०॥
शम्बरं द्विविदं बाणं मुरं बल्वलमेव च ।
अन्यांश्च दन्तवक्त्रादीनवधीत्कांश्च घातयत्[5] ॥११॥
अथ ते भ्रातृपुत्राणां पक्षयोः पतितान्नृपान् ।
चचाल भूः कुरुक्षेत्रं येषामापततां बलैः ॥१२॥
सकर्णदुःशासनसौबलानां
कुमन्त्रपाकेन हतश्रियायुषम्[6] ।
सुयोधनं सानुचरं[7] शयानं
भग्नोरुमूर्व्यां न ननन्द पश्यन् ॥१३॥
कियान्भुवोऽयं क्षपितोरुभारो
यद्द्रोणभीष्मार्जुनभीममूलैः ।
अष्टादशाक्षौहिणिको मदंशै-
रास्ते बलं दुर्विषहं यदूनाम् ॥१४॥

तब भगवान्‌ने [द्वारकामें लाकर] उन्हें अलग-अलग महलोंमें रक्खा और अपनी मायासे उनके अनुरूप उतने ही रूप धारणकर एक ही मुहूर्तमें विधिपूर्वक सबका पाणिग्रहण किया ॥ ८ ॥ तदनन्तर अपनी मायाका विस्तार करनेके लिये श्रीकृष्णचन्द्रने उनमेंसे प्रत्येकके द्वारा अपने ही समान दश-दश पुत्र उत्पन्न किये ॥ ९ ॥ भगवान्‌ने [मुचुकुन्द आदिको निमित्त बनाकर] सेनाओंसे मथुरापुरीको घेरनेवाले कालयवन, जरासन्ध और शाल्वादि राजाओंको स्वयं ही मारा था । उस समय उन्होंने उन (मुचुकुन्द आदि) अपने भक्तोंको स्वयं अपना ही दिव्य तेज प्रदान कर दिया था ॥१०॥ शम्बर, द्विविद, बाणासुर, मुर और बल्वल तथा दन्तवक्त्र आदिमेंसे भी किसीको स्वयं मारा और किसीको दूसरोंसे मरवा डाला ॥११॥ इसके बाद तुम्हारे भाई धृतराष्ट्रके पुत्रोंका पक्ष लेकर आये हुए राजाओंका भी नाश किया जिनके कुरुक्षेत्रमें आते समय उनकी सेनाके भारसे सारी पृथ्वी काँपने लगी थी ॥ १२ ॥ किन्तु कर्ण, दुःशासन और शकुनिके कुमन्त्रसे जिसकी आयु और लक्ष्मी क्षीण हो चुकी थी तथा [भीमसेनकी गदासे] जिसकी जंघा टूट गयी थी उस दुर्योधनको अपने अनुगामियों-सहित पृथिवीपर पड़ा देखकर भी भगवान् प्रसन्न नहीं हुए ॥१३॥ [उन्होंने सोचा—] यदि द्रोण, भीष्म, अर्जुन और भीमसेनके द्वारा इस अठारह अक्षौहिणी सेनाका संहार हो भी गया तो भी इससे पृथिवीका कितना भार हल्का हुआ ! अभी तो मेरे अंशसे उत्पन्न हुए यादवों-का दुःसह समूह बना ही हुआ है ! ॥१४॥

१. प्रा० पा०—राज्यं। २. प्रा० पा०—लोकाः । ३. प्रा० पा०—पाणीनुरुरूपः । ४. प्रा०पा०—सर्वशः। ५. प्रा० पा०—घातयन् । ६. प्रा० पा०—श्रियाजुषाम् । ७. प्रा० पा०—सानुबलं ।

मिथो यदैषां भविता विवादो
माध्व्या[1] मदाताम्रविलोचनानाम् ।
नैषां वधोपाय इयानतोऽन्यो
मय्युद्यतेऽन्तर्दधते स्वयं स्म ॥१५॥

यदि मदिराके मदसे अरुणनयन हुए इन यादवोंमें परस्पर ही कलह उत्पन्न हो जाय तो यही इनके नाशका उपाय हो सकता है, इनके वधका इसके सिवा दूसरा उपाय नहीं है । इस सम्बन्धमें मेरे उद्योग करनेसे ये स्वयं ही नष्ट हो जायँगे ॥१५॥

एवं सञ्चिन्त्य भगवान्स्वराज्ये स्थाप्य धर्मजम् ।
नन्दयामास सुहृदः साधूनां वर्त्म दर्शयन् ॥१६॥

ऐसा सोचकर भगवान्‌ने महाराज युधिष्ठिरको उनके राज्यपर अभिषिक्त कर साधुपुरुषोंका मार्ग दिखाते हुए सब सुहृदोंको आनन्दित किया ॥१६॥

उत्तरायां धृतः पूरोर्वंशः साध्वभिमन्युना ।
स वै द्रौण्यस्त्रसंछिन्नः पुनर्भगवता धृतः ॥१७॥

उत्तराके उदरमें साधु अभिमन्युने जो पुरुवंशका बीजरूप गर्भ स्थापित किया था वह अश्वत्थामाके ब्रह्मास्त्रसे नष्ट हो चुका था, उसको भगवान्‌ने पुनः जीवित किया ॥ १७॥

अयाजयद्धर्मसुतमश्वमेधैस्त्रिभिर्विभुः ।
सोऽपि क्ष्मामनुजै रक्षन्रेमे कृष्णमनुव्रतः ॥१८॥

तदनन्तर भगवान्‌ने महाराज युधिष्ठिरसे तीन अश्वमेध-यज्ञ कराये तथा धर्मराजने भी कृष्णचन्द्रके अनुगामी होकर अपने छोटे भाइयोंकी सहायतासे पृथिवीकी रक्षा करते हुए राज्य-भोग किया ॥ १८ ॥

भगवानपि विश्वात्मा लोकवेदपथानुगः ।
कामान्सिषेवे[2] द्वार्वत्यामसक्तः सांख्यमास्थितः ॥१९॥

विश्वात्मा श्रीभगवान्‌ने भी द्वारकापुरीमें रहकर लोक और वेदका अनुसरण करते हुए सब प्रकारके भोग भोगे । किन्तु सांख्ययोगमें स्थित रहनेके कारण उनमें कभी लिप्त नहीं हुए ॥१९॥

स्निग्धस्मितावलोकेन वाचा पीयूषकल्पया ।
चरित्रेणानवद्येन[3] श्रीनिकेतेन चात्मना ॥२०॥
इमं लोकममुं चैव रमयन्सुतरां यदून् ।
रेमे क्षणदया दत्तक्षणस्त्रीक्षणसौहृदः ॥२१॥

मधुर मुसकान और स्नेहमयी चितवनसे, सुधामयी वाणीसे, निर्मल चरित्रसे तथा अनुपम शोभामय श्रीविग्रहसे इहलोक तथा परलोकको और विशेषतया यादवोंको आनन्दित करते हुए, रात्रिने जिन्हें मिलनेका अवसर दिया है उन अपनी स्त्रियोंमें क्षणिक अनुरागसे युक्त हो भगवान् उनके साथ क्रीड़ा करते थे ॥ २०-२१ ॥

तस्यैवं रममाणस्य संवत्सरगणान्बहून् ।
गृहमेधेषु योगेषु विरागः समजायत ॥२२॥

इस प्रकार बहुत वर्षोंतक विहार करते-करते उन्हें गृहस्थसम्बन्धी भोगोंसे वैराग्य हो गया ॥ २२ ॥

दैवाधीनेषु कामेषु दैवाधीनः स्वयं पुमान् ।
को विस्रम्भेत योगेन योगेश्वरमनुव्रतः ॥२३॥

[जब स्वाधीन भोगोंमें स्वयं भगवान्‌को भी वैराग्य हुआ तो] उन योगेश्वरका अनुगमन करनेवाला ऐसा कौन पुरुष होगा जो स्वयं दैवाधीन होकर भी दैववश ही प्राप्त होनेवाले भोगोंमें आसक्त होगा ? ॥ २३ ॥

पुर्यां कदाचित्क्रीडद्भिर्यदुभोजकुमारकैः ।
कोपिता मुनयः शेपुर्भगवन्मतकोविदाः ॥२४॥

एक बार द्वारकापुरीमें खेलते हुए यदुवंशी और भोजवंशी बालकोंने मुनीश्वरोंको [हँसी-हँसीमें] कुपित कर दिया । तब भगवान्‌की इच्छा जाननेवाले उन ऋषियोंने उन्हें शाप दे दिया ॥ २४ ॥

१. प्रा० पा०—मध्वामदार्ताम्बुजलोच० । २. प्रा० पा०—निषेवे । ३. प्रा० पा०—चारित्र्येणा० । ४. प्रा० पा०—तस्येत्थं ।

ततः कतिपयैर्मासैर्वृष्णिभोजान्धकादयः ।
ययुः प्रभासं संहृष्टा रथैर्देवविमोहिताः ॥२५॥
तत्र स्नात्वा पितॄन्देवानृषींश्चैव तदम्भसा ।
तर्पयित्वाथ विप्रेभ्यो गावो बहुगुणा ददुः ॥२६॥
हिरण्यं रजतं शय्यां वासांस्यजिनकम्बलान् ।
यानं रथानिभान्कन्यां धरां वृत्तिकरीमपि ॥२७॥
अन्नं चोरुरसं तेभ्यो दत्त्वा भगवदर्पणम् ।
गोविप्रार्थासवः शूराः प्रणेमुर्भुवि मूर्धभिः ॥२८॥

इसके कुछ मास पश्चात् दैवमोहित वृष्णि, भोज और अन्धकवंशी यादवगण रथोंपर चढ़-चढ़कर अति आनन्दित हो प्रभासक्षेत्रको गये ॥२५॥ वहाँ स्नानकर उन्होंने उस तीर्थके जलसे पितर, देवता और ऋषियोंका तर्पण किया तथा ब्राह्मणोंको बहुत-से गुणोंवाली गौएँ दानमें दीं ॥२६॥ इसके सिवा उन्होंने सुवर्ण, चाँदी, शय्या, वस्त्र, मृगचर्म, कम्बल, पालकी, रथ, हाथी, कन्या और जिससे जीविका हो सके ऐसी भूमि तथा नाना-प्रकारके रसोंसे युक्त अन्न आदि भी कृष्णार्पण करके ब्राह्मणोंको दिये । फिर जिनके प्राण गौ और ब्राह्मणों-की रक्षाहीके लिये थे उन शूरवीर यादवोंने उन्हें पृथिवीपर शिर रखकर प्रणाम किया ॥ २७-२८ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे तृतीयस्कन्धे विदुरो-
द्धवसंवादे तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

चौथा अध्याय

उद्धव-विदुर-संवादकी समाप्ति, विदुरजीका मैत्रेय ऋषिके पास जाना ।

उद्धव उवाच

अथ ते तदनुज्ञाता भुक्त्वा पीत्वा च वारुणीम् ।
तया विभ्रंशितज्ञाना दुरुक्तैर्मर्म पस्पृशुः ॥ १ ॥
तेषां मैरेयदोषेण विषमीकृतचेतसाम् ।
निम्लोचति रवावासीद्वेणूनामिव मर्दनम् ॥ २ ॥
भगवान्स्वात्ममायाया गतिं तामवलोक्य सः ।
सरस्वतीमुपस्पृश्य वृक्षमूलमुपाविशत् ॥ ३ ॥
अहं चोक्तो भगवता प्रपन्नार्तिहरेण ह ।
बदरीं त्वं प्रयाहीति स्वकुलं संजिहीर्षुणा ॥ ४ ॥
अथापि तदभिप्रेतं जानन्नहमरिन्दम ।
पृष्ठतोऽन्वगमं भर्तुः पादविश्लेषणाक्षमः ॥ ५ ॥

उद्धवजी बोले—फिर ब्राह्मणोंकी आज्ञा पा यादवों-ने भोजन किया तथा वारुणी मदिराका पानकर उससे मतवाले हो परस्पर दुर्वचन कहकर एक-दूसरेका चित्त दुखाने लगे ॥ १ ॥ इस प्रकार मदिराके दोषसे जिनकी बुद्धि बिगड़ गयी थी उन यादवोंका, आपसकी रगड़से उत्पन्न हुए दावानलसे जिस प्रकार बाँसोंका वन जल जाता है उसी प्रकार, सूर्यास्त होते-होते परस्पर युद्ध होकर नाश हो गया ॥ २ ॥ अपनी मायाकी उस विचित्र गतिको देखकर भगवान् सरस्वतीके जलसे आचमनकर एक वृक्षके नीचे बैठ गये ॥ ३ ॥ इससे पूर्व ही, शरणागतोंका दुःख दूर करनेवाले श्रीहरिने अपने कुलका संहार करनेकी इच्छासे मुझसे कहा था कि तुम 'बदरिकाश्रम चले जाओ' ॥४॥ हे शत्रुदमन ! इससे यद्यपि मैं उनका अभिप्राय समझ गया था, तो भी स्वामीके चरणोंका वियोग सहन करनेमें असमर्थ होनेके कारण मैं उनके पीछे-पीछे प्रभासक्षेत्रमें जा

१. प्रा० पा०—हयान्रथानिभान्कन्यां ।

अद्राक्षमेकमासीनं विचिन्वन्दयितं पतिम् ।
श्रीनिकेतं सरस्वत्यां कृतकेतमकेतनम् ॥ ६ ॥
श्यामावदातं विरजं प्रशान्तारुणलोचनम् ।
दोर्भिश्चतुर्भिर्विदितं पीतकौशाम्बरेण च ॥ ७ ॥
वाम ऊरावधिश्रित्य दक्षिणाङ्घ्रिसरोरुहम् ।
अपाश्रितार्भकाश्वत्थमकृशं त्यक्तपिप्पलम् ॥ ८ ॥
तस्मिन्महाभागवतो द्वैपायनसुहृत्सखा ।
लोकानुचरन्सिद्ध आससाद यदृच्छया ॥ ९ ॥
तस्यानुरक्तस्य मुनेर्मुकुन्दः
प्रमोदभावानतकन्धरस्य ।
आशृण्वतो मामनुरागहास-
समीक्षया विश्रमयन्नुवाच ॥१०॥

श्रीभगवानुवाच

वेदाहमन्तर्मनसीप्सितं[1] ते
ददामि यत्तद्दुरवापमन्यैः ।
सत्रे पुरा विश्वसृजां वसूनां
मत्सिद्धिकामेन वसो त्वयेष्टः ॥११॥
स एष भावश्चरमो[2] भवाना-
मासादितस्ते मदनुग्रहो यत्[3] ।
यन्मां नृलोकान्रह[4] उत्सृजन्तं
दिष्ट्या ददृश्वान्विशदानुवृत्त्या ॥१२॥
पुरा मया प्रोक्तमजाय नाभ्ये
पद्मे निषण्णाय ममादिसर्गे ।
ज्ञानं परं मन्महिमावभासं
यत्सूरयो भागवतं वदन्ति ॥१३॥

पहुँचा ॥ ५ ॥ वहाँ अपने प्रियतम प्रभुको खोजते-खोजते मैंने उन श्रीनिकेतन और आश्रयशून्य भगवान्‌को सरस्वतीके तटका आश्रय लेकर अकेले ही बैठे हुए देखा ॥६॥ उनका श्रीविग्रह श्याम एवं सुन्दर था, वे शुद्ध सत्त्वमें स्थित थे और उनके नेत्र परम शान्त एवं अरुण थे। वे प्रभु उस समय चार भुजाओं और रेशमी पीताम्बरसे उपलक्षित हो रहे थे ॥७॥ वे पीठकी ओरसे एक छोटे-से पीपलके पेड़का सहारा लेकर बायीं जंघापर अपना दायाँ चरणकमल रक्खे बैठे थे। उन्होंने विषय-सुखोंको छोड़ दिया था किन्तु वे आत्मानन्दसे परिपूर्ण थे* ॥ ८ ॥ इसी समय व्यासजीके प्रिय मित्र सिद्धप्रवर श्रीमैत्रेयजी लोकोंमें विचरते हुए दैववश वहाँ स्वयं ही आ पहुँचे ॥९॥

तब, अपनेमें अनुरक्तचित्त और प्रेमवश शिर झुकाये खड़े हुए उन ऋषिप्रवरके सुनते हुए श्रीहरि अपनी प्रेममुसकानमयी चितवनसे मेरा श्रम दूर करते हुए मुझसे कहने लगे ॥१०॥

श्रीभगवान् बोले—मैं तुम्हारी आन्तरिक अभिलाषाको जानता हूँ। हे वसो!† पूर्वजन्ममें तुमने विश्वकी सृष्टि करनेवाले प्रजापतियों और वसुओंके सम्मिलित यज्ञमें मेरी प्राप्तिकी इच्छासे यज्ञद्वारा मेरी आराधना की थी। अतः [मुझसे विमुख रहनेवाले] अन्य जीवोंके लिये जो अत्यन्त दुष्प्राप्य है वह अपनी प्राप्तिका साधनरूप ज्ञान मैं तुम्हें देता हूँ ॥११॥ मैं इस नरलोकको छोड़कर अब निजधामको जाना चाहता हूँ, इस समय अपनी उत्कृष्ट भक्तिके कारण तुमने एकान्तमें आकर मेरा दर्शन किया—यह बड़े सौभाग्यकी बात है। अब संसारमें तुम्हारा यह अन्तिम जन्म है; क्योंकि इसमें तुमने मेरा अनुग्रह प्राप्त किया है ॥१२॥ पूर्वकालमें पाद्मकल्पके आदिमें मैंने अपने नाभिकमलपर बैठे हुए ब्रह्माके प्रति अपनी महिमाको प्रकाशित करनेवाले जिस श्रेष्ठ ज्ञानका उपदेश किया था और जिसे विवेकीलोग 'भागवत' कहकर पुकारते हैं, [वही ज्ञान मैं तुम्हें देता हूँ] ॥१३॥

१. प्रा० पा०—नसेप्सि० । २. प्रा० पा०—साधो चर० । ३. प्रा० पा०—यः । ४. प्रा० पा०—कानिह ।

* इस श्लोकमें विरोधाभास है—भगवान्‌ने अश्वत्थ (पिप्पल) का आश्रय लेकर भी पिप्पलको त्याग दिया था, इस प्रकार विरोधकी प्रतीति होती है और 'पिप्पल' शब्दका 'विषयभोग' अर्थ करनेसे विरोधका परिहार होता है।

† यहाँ 'वसो!' इस सम्बोधनसे सिद्ध होता है कि उद्धवजी पूर्वजन्ममें आठ वसुओंमेंसे एक वसु थे।

इत्याहृतोक्तः परमस्य पुंसः
प्रतिक्षणानुग्रहभाजनोऽहम् ।
स्नेहोत्थरोमा स्खलिताक्षरस्तं
मुञ्चञ्छुचः प्राञ्जलिराबभाषे ॥१४॥
को न्वीश ते पादसरोजभाजां
सुदुर्लभोऽर्थेषु चतुर्ष्वपीह ।
तथापि नाहं प्रवृणोमि भूमन्[1]
भवत्पदाम्भोजनिषेवणोत्सुकः ॥१५॥
कर्माण्यनीहस्य भवोऽभवस्य ते
दुर्गाश्रयोऽथारिभयात्पलायनम् ।
कालात्मनो यत्प्रमदायुताश्रयः
स्वात्मन्रतेः खिद्यति धीर्विदामिह ॥१६॥
मन्त्रेषु मां वा उपहूय यत्त्व-
मकुण्ठिताखण्डसदात्मबोधः ।
पृच्छेः प्रभो मुग्ध इवाप्रमत्त-
स्तन्नो मनो मोहयतीव देव ॥१७॥
ज्ञानं परं स्वात्मरहःप्रकाशं
प्रोवाच कस्मै* भगवान्समग्रम् ।
अपि क्षमं नो ग्रहणाय भर्त-
र्वदाञ्जसा यद्वृजिनं तरेम ॥१८॥
इत्यावेदितहार्दाय मह्यं स भगवान्परः ।
आदिदेशारविन्दाक्ष आत्मनः परमां स्थितिम् ॥१९॥
स एवमाराधितपादतीर्था-
दधीततत्त्वात्मविबोधमार्गः ।
प्रणम्य पादौ परिवृत्य देव-
मिहागतोऽहं विरहातुरात्मा ॥२०॥
सोऽहं तद्दर्शनाह्लादवियोगार्तियुतः प्रभो ।
गमिष्ये दयितं तस्य बदर्याश्रममण्डलम् ॥२१॥

मैं प्रतिक्षण उन परमपुरुष भगवान्‌का कृपापात्र बना रहा, अतएव उनके आदरपूर्वक यों कहनेपर स्नेहवश मुझे रोमाञ्च हो आया, मेरी वाणी गद्गद हो गयी और नेत्रोंसे आँसुओंकी धारा बहने लगी; उस समय उनसे हाथ जोड़कर मैंने कहा—॥ १४ ॥ "हे ईश ! आपके चरणकमलोंकी सेवा करनेवाले पुरुषोंको इस संसारमें अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष—इन चारोंमेंसे कौन-सा पदार्थ दुर्लभ है ? तथापि हे विभो ! आपके चरणकमलोंकी सेवाके लिये ही उत्कण्ठित रहनेके कारण मुझे उनमेंसे किसीकी भी इच्छा नहीं है ॥१५॥ हे प्रभो ! आपका निरीह होकर भी कर्म करना, अजन्मा होकर भी जन्म लेना, कालरूप होकर भी शत्रुके डरसे भागना और द्वारकादुर्गमें जाकर छिपना तथा स्वात्माराम होकर भी सहस्रों स्त्रियोंके साथ रमण करना—इन विचित्र चरित्रोंको देखकर विद्वानोंकी बुद्धि भी चक्करमें पड़ जाती है ॥ १६ ॥ हे देव ! अप्रतिहत और अखण्ड आत्मज्ञानसम्पन्न होकर भी जब कभी आप मुझे सम्मति करनेके लिये बुलाकर मुझसे भोले मनुष्योंके समान बड़ी सावधानीसे सलाह पूछते थे, वह आपका प्रश्न करना मेरे मनको मोहित-सा कर देता था ॥१७॥ अपने स्वरूपका गूढ़ रहस्य प्रकट करनेवाला जो परमज्ञान आपने ब्रह्माजीको पूर्णरूपसे बताया वह यदि मेरे समझने योग्य हो तो हे स्वामिन् ! उसे मुझसे भी कहिये जिससे मैं सुगमता-से ही इस संसारसागरको पार कर जाऊँ" ॥१८॥

जब मैंने इस प्रकार अपने हृदयका भाव प्रकट किया तो परब्रह्म कमलनयन भगवान् कृष्णने मुझे अपने स्वरूपकी परमस्थितिका उपदेश दिया ॥१९॥ इस प्रकार पूज्यपाद गुरुरूप श्रीहरिसे, उनके स्वरूप-ज्ञानका मार्ग तत्त्वतः सुनकर तथा उनके चरण-कमलोंकी वन्दना और भगवान्‌की परिक्रमा कर उनके विरहसे व्याकुल हुआ मैं यहाँ आया हूँ ॥२०॥ हे प्रभो ! अब मैं प्रभुके दर्शनोंसे आनन्दित और वियोगसे व्यथित होकर उनके प्रिय क्षेत्र बदरिकाश्रमको जा रहा हूँ

१. प्रा० पा०—नूनं ।
* यहाँ 'कस्मै' यह 'क' शब्दका रूप है, इसमें सर्वनाम संज्ञा आर्ष है ।

यत्र नारायणो देवो नरश्च भगवानृषिः ।
मृदु तीव्रं तपो दीर्घं तेपाते लोकभावनौ ॥२२॥

॥२१॥ जहाँ देवदेव नारायण और भगवान् नर—ये दोनों ऋषि लोकपर अनुग्रह करनेके लिये कल्पान्त-स्थायी उपद्रवशून्य दुश्चर तप कर रहे हैं ॥२२॥

श्रीशुक उवाच

इत्युद्धवादुपाकर्ण्य सुहृदां दुःसहं वधम् ।
ज्ञानेनाशमयत्क्षत्ता शोकमुत्पतितं बुधः ॥२३॥
स तं महाभागवतं व्रजन्तं कौरवर्षभः ।
विश्रम्भादभ्यधत्तेदं मुख्यं कृष्णपरिग्रहे ॥२४॥

श्रीशुकदेवजी बोले-इस प्रकार उद्धवजीके मुखसे अपने प्रिय बन्धुओंके विनाशका असह्य समाचार सुन परमज्ञानी विदुरजीने अपने चित्तमें उत्पन्न हुए शोकको विवेकद्वारा दूर कर दिया ॥२३॥ और वे कुरुश्रेष्ठ फिर भगवान्‌के मित्रमण्डलमें प्रधान महाभागवत श्रीउद्धव-जीसे, जो बदरिकाश्रमकी ओर जानेको उद्यत थे, उनकी बातका विश्वास करते हुए, इस प्रकार कहने लगे ॥२४॥

विदुर[1] उवाच

ज्ञानं परं स्वात्मरहःप्रकाशं
यदाह योगेश्वर ईश्वरस्ते ।
वक्तुं भवान्नोऽर्हति यद्धि विष्णो-
र्भृत्याः स्वभृत्यार्थकृतश्चरन्ति ॥२५॥

विदुरजी बोले-उद्धवजी! योगेश्वर भगवान् कृष्णने अपने स्वरूपके गूढ़ रहस्यको प्रकट करनेवाला जो परमज्ञान आपसे कहा था वह आप हमें भी सुनाइये; क्योंकि भगवान्‌के सेवक तो अपने सेवकोंका प्रयोजन सिद्ध करनेके लिये ही विचरा करते हैं ॥२५॥

उद्धव उवाच

ननु[2] ते तत्त्वसंराध्य ऋषिः कौषारवोऽन्ति मे ।
साक्षाद्भगवतादिष्टो मर्त्यलोकं जिहासता ॥२६॥

उद्धवजीने कहा-आपको तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिके लिये मुनिवर मैत्रेयजीकी सेवा करनी चाहिये; क्योंकि इस मर्त्यलोकको छोड़नेकी इच्छा करते हुए साक्षात् भगवान्‌ने ही उन्हें मेरे सामने आपको उपदेश करनेके लिये आज्ञा दी थी ॥२६॥

श्रीशुक उवाच

इति सह विदुरेण विश्वमूर्ते-
र्गुणकथया सुधया प्लावितोरुतापः ।
क्षणमिव पुलिने यमस्वसुस्तां
समुषित औपगविर्निशां ततोऽगात् ॥२७॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं-इस प्रकार विदुरजीके साथ विश्वमूर्ति भगवान् कृष्णके गुणकथनरूप अमृतसे उद्धवजीका मानसिक ताप शान्त हो गया और उस रात्रिको एक क्षणके समान यमुनाजीके तीरपर बिता-कर वे प्रातःकाल होते ही वहाँसे चल दिये ॥२७॥

राजोवाच

निधनमुपगतेषु वृष्णिभोजे-
ष्वधिरथयूथपयूथपेषु मुख्यः ।
स तु कथमवशिष्ट उद्धवो यद्धरि-
रपि तत्यज आकृतिं त्र्यधीशः ॥२८॥

राजा परीक्षित्‌ने पूछा-भगवन्! ब्राह्मणोंके शाप-से वृष्णि और भोजवंशके सभी रथी और यूथपतिगण नष्ट हो गये थे; यहाँतक कि त्रिलोकीनाथ [अथवा ब्रह्मादिक तीनों देवताओंके अधीश्वर] श्रीहरिको भी उस रूपको छोड़ना पड़ा था, फिर केवल उद्धवजी ही कैसे बच रहे? ॥२८॥

---

१. प्राचीन प्रतिमें 'विदुर उवाच' नहीं है। २. प्राचीन प्रतिके मूलमें 'ननु ते' से लेकर 'आकृतिं त्र्यधीशः' तक तीन श्लोक तथा बीचके 'उवाच' आदि पूरा मैटर नहीं है, टिप्पणीमें है। शायद लिखते समय भूलसे रह गया हो और पश्चात् टिप्पणीके रूपमें सुधारा गया हो।

श्रीशुक उवाच

ब्रह्मशापापदेशेन कालेनामोघवाञ्छितः ।
संहृत्य स्वकुलं नूनं त्यक्ष्यन्देहमचिन्तयत् ॥२९॥
अस्माल्लोकादुपरते मयि ज्ञानं मदाश्रयम् ।
अर्हत्युद्धव एवाद्धा संप्रत्यात्मवतां वरः ॥३०॥
नोद्धवोऽण्वपि मन्न्यूनो यद्गुणैर्नार्दितः प्रभुः ।
अतो मद्वयुनं लोकं ग्राहयन्निह तिष्ठतु ॥३१॥
एवं त्रिलोकगुरुणा संदिष्टः शब्दयोनिना ।
बदर्याश्रममासाद्य हरिमीजे समाधिना ॥३२॥
विदुरोऽप्युद्धवाच्छ्रुत्वा कृष्णस्य परमात्मनः ।
क्रीडयोपात्तदेहस्य कर्माणि श्लाघितानि च ॥३३॥
देहन्यासं च तस्यैवं धीराणां धैर्यवर्धनम् ।
अन्येषां दुष्करतरं पशूनां विक्लवात्मनाम् ॥३४॥
आत्मानं च कुरुश्रेष्ठ कृष्णेन मनसेक्षितम् ।
ध्यायन्गते भागवते रुरोद प्रेमविह्वलः ॥३५॥
कालिन्द्याः[1] कतिभिः सिद्धः अहोभिर्भरतर्षभः[2] ।
प्रापद्यत स्वःसरितं यत्र मित्रासुतो मुनिः ॥३६॥

श्रीशुकदेवजी बोले–जिनकी इच्छा कभी व्यर्थ नहीं होती उन श्रीहरिने ब्राह्मणोंके शापरूप कालके बहाने अपने कुलका संहारकर अपने श्रीविग्रहको त्यागते समय सोचा कि ॥२९॥ 'इस लोकसे मेरे चले जानेपर अब तत्त्वज्ञानियोंमें श्रेष्ठ उद्धव ही मेरे आश्रित रहनेवाले तत्त्वज्ञानको ग्रहण करनेमें समर्थ है ॥३०॥ उद्धव मुझसे अणुमात्र भी कम नहीं है; क्योंकि विषय इसके चित्तको तनिक भी विचलित नहीं कर सकते । अतः इसे संसारको मेरे ज्ञानका उपदेश करते हुए अभी यहीं रहना चाहिये' ॥३१॥ वेदके उत्पत्तिस्थान त्रिलोकगुरु भगवान् कृष्णके इस प्रकार सोचकर उपदेश करनेपर उद्धवजी बदरिकाश्रममें आकर समाधि-द्वारा भगवान्‌की आराधना करने लगे ॥३२॥ हे कुरुश्रेष्ठ ! उद्धवजीके मुखसे लीलाहीके लिये श्रीविग्रह धारण करनेवाले परमात्मा श्रीकृष्णचन्द्रके प्रशंसनीय चरित्र तथा धीर पुरुषोंका उत्साह बढ़ानेवाले और अन्य पशुतुल्य अधीरचित्त पुरुषोंके लिये अत्यन्त दुष्कर प्रतीत होनेवाले देहत्यागका समाचार सुनकर और यह जानकर कि 'भगवान्‌ने परमधाम जाते समय मेरा स्मरण किया था।' विदुरजी भी भागवतश्रेष्ठ उद्धवजीके चले जानेपर प्रेमसे विह्वल होकर रोने लगे ॥३३–३५॥ हे भरतश्रेष्ठ ! तदनन्तर सिद्धप्रवर विदुरजी यमुनातटसे चलकर कुछ दिनोंमें गंगाजीके किनारे पहुँचे जहाँ श्रीमैत्रेयजी रहते थे ॥३६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे तृतीयस्कन्धे
विदुरोद्धवसंवादे चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

१. प्रा० पा०—कालिन्द्यां । २. प्रा० पा०—भागवतर्षभः ।

पाँचवाँ अध्याय

विदुरजीका प्रश्न और मैत्रेयजीका सृष्टिक्रमवर्णन ।

श्रीशुक उवाच

द्वारि द्युनद्या ऋषभः कुरूणां
मैत्रेयमासीनमगाधबोधम् ।
क्षत्तोपसृत्याच्युतभावशुद्धः
पप्रच्छ सौशील्यगुणाभितृप्तः ॥ १ ॥

विदुर उवाच

सुखाय कर्माणि करोति लोको
न तैः सुखं वान्यदुपारमं[1] वा ।
विन्देत भूयस्तत एव दुःखं
यदत्र युक्तं भगवान्वदेन्नः ॥ २ ॥
जनस्य कृष्णाद्विमुखस्य दैवा-
दधर्मशीलस्य सुदुःखितस्य ।
अनुग्रहायेह चरन्ति नूनं
भूतानि भव्यानि जनार्दनस्य ॥ ३ ॥
तत्साधुवर्यादिश वर्त्म[2] शं नः
संराधितो भगवान्येन पुंसाम् ।
हृदि स्थितो यच्छति भक्तिपूते
ज्ञानं सतत्त्वाधिगमं पुराणम् ॥ ४ ॥
करोति कर्माणि कृतावतारो
यान्यात्मतन्त्रो भगवांस्त्र्यधीशः ।
यथा ससर्जाग्र इदं निरीहः
संस्थाप्य वृत्तिं जगतो विधत्ते ॥ ५ ॥
यथा पुनः स्वे ख इदं निवेश्य
शेते गुहायां स निवृत्तवृत्तिः ।
योगेश्वराधीश्वर एक एत-
दनुप्रविष्टो बहुधा यथासीत् ॥ ६ ॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! भगवद्भावसे शुद्ध कुरुश्रेष्ठ विदुरजीने हरिद्वारक्षेत्रमें पहुँचकर वहाँ अगाधबोध सम्पन्न मुनिवर मैत्रेयजीको बैठे हुए देख उनके साधुस्वभावसे सन्तुष्ट हो इस प्रकार पूछा ॥१॥

विदुरजी बोले—भगवन् ! जगत्में सब लोग सुखहीके लिये कर्म करते हैं, परन्तु उससे उन्हें न तो सुख ही मिलता है और न दुःखकी निवृत्ति ही होती है, प्रत्युत उससे दुःख ही उठाना पड़ता है । अतः इस विषयमें जो उचित कर्तव्य हो, सो आप बतलानेकी कृपा कीजिये ॥ २ ॥ [प्रभो ! मेरा तो ऐसा विचार है कि] जो लोग दुर्भाग्यवश भगवान् श्रीकृष्णसे विमुख, अधर्म-परायण और अत्यन्त दुःखी हैं उनपर कृपा करनेके लिये ही आप-जैसे कल्याणकारी विष्णुभक्त पुरुष संसारमें विचरा करते हैं ॥ ३ ॥ अतः हे साधुवर्य ! जिस प्रकार आराधना करनेसे मनुष्योंके अन्तःकरणोंमें विराजमान श्रीहरि भक्तिसे पवित्र हुए चित्तमें अपने स्वरूपका अपरोक्ष अनुभव करानेवाला सनातन ज्ञान प्रदान करते हैं उस शान्तिप्रद मार्गका हमें उपदेश कीजिये ॥ ४ ॥ त्रिलोकीके नियन्ता और आत्मतन्त्र भगवान् जिस प्रकार अवतार लेकर नाना प्रकारके कर्म करते हैं, जिस प्रकार निरीह होकर भी उन्होंने कल्पके आदिमें इस सृष्टिकी रचना की है तथा जिस प्रकार वे इसे स्थिरकर जगत्की जीविकाका विधान करते हैं सो सब आप हमें सुनाइये ॥ ५ ॥ जिस प्रकार वे इसे फिर अपने हृदयाकाशमें लीनकर वृत्तिशून्य हो अपनी योगमायाका आश्रय ले शयन करते हैं एवं जिस प्रकार वे योगेश्वरोंके भी अधीश्वर श्रीहरि सृष्टिके पूर्व अकेले होकर भी भिन्न-भिन्न रूप धारणकर भिन्न-भिन्न तत्त्वोंमें अनुप्रविष्ट हो जगद्वर्ती अनेक रूपोंसे प्रकट होते हैं वह सब रहस्य हमें समझाइये ॥ ६ ॥

१. प्रा० पा०—पारमेद्वा । २. प्रा० पा०—साधुवर्त्म संरा० ।

क्रीडन्विधत्ते द्विजगोसुराणां
क्षेमाय कर्माण्यवतारभेदैः ।
मनो न तृप्यत्यपि[2] शृण्वतां नः
सुश्लोकमौलेश्चरितामृतानि ॥ ७ ॥

यैस्तत्त्वभेदैरधिलोकनाथो
लोकानलोकान्सह लोकपालान् ।
अचीकल्पद्यत्र हि सर्वसत्त्व-
निकायभेदोऽधिकृतः प्रतीतः ॥ ८ ॥

येन प्रजानामुत आत्मकर्म-
रूपाभिधानां च भिदां व्यधत्त ।
नारायणो विश्वसृडात्मयोनि-
रेतच्च नो वर्णय विप्रवर्य ॥ ९ ॥

परावरेषां भगवन्व्रतानि
श्रुतानि मे व्यासमुखादभीक्ष्णम् ।
अतृप्नुम क्षुल्लसुखावहानां
तेषामृते कृष्णकथामृतौघात् ॥ १० ॥

कस्तृप्नुयात्तीर्थपदोऽभिधानात्
सत्रेषु वः सूरिभिरीड्यमानात् ।
यः कर्णनाडीं पुरुषस्य यातो
भवप्रदां गेहरतिं छिनत्ति ॥ ११ ॥

मुनिर्विवक्षुर्भगवद्गुणानां
सखापि ते भारतमाह कृष्णः ।
यस्मिन्नृणां ग्राम्यसुखानुवादै-
र्मतिर्गृहीता नु हरेः कथायाम् ॥ १२ ॥

सा श्रद्दधानस्य विवर्धमाना
विरक्तिमन्यत्र करोति पुंसः[3] ।
हरेः पदानुस्मृतिनिर्वृतस्य
समस्तदुःखात्ययमाशु धत्ते ॥ १३ ॥

ताञ्छोच्यशोच्यानविदोऽनुशोचे
हरेः कथायां विमुखानघेन ।
क्षिणोति देवोऽनिमिषस्तु येषा-
मायुर्वृथावादगतिस्मृतीनाम् ॥ १४ ॥

वे ब्राह्मण, गौ और देवताओंके कल्याणके लिये मत्स्य-कच्छपादि अनेकों अवतार धारणकर लीलाहीसे जो नाना प्रकारके कर्म करते हैं वे भी हमें सुनाइये, क्योंकि यशस्वियों-में शिरोमणि श्रीहरिके पवित्र चरितामृतका श्रवण करते-करते हमारा चित्त नहीं अघाता ॥ ७ ॥ अतः जिनमें सब प्रकारके प्राणियोंके भिन्न-भिन्न भेद प्रतीत होते हैं उन लोकों, लोकपालों और लोकालोकपर्वतके बाहरके भागोंको सर्वलोकाधिपति श्रीहरिने जिन महत्तत्त्वादि भिन्न-भिन्न तत्त्वोंसे रचा है तथा हे विप्रवर ! जिस प्रकार उन विश्वकर्त्ता स्वयम्भू श्रीनारायणदेवने अपनी प्रजाके कर्म, रूप और नामोंके भेदकी रचना की है वह सब हमसे वर्णन कीजिये ॥ ८-९ ॥ भगवन् ! मैंने श्रीव्यासजीके मुखसे ऊँच-नीच वर्णोंके धर्म कई बार सुने हैं। उनमेंसे श्रीकृष्णकथामृतके प्रवाह-को छोड़कर शेष क्षुद्र सुखप्रद धर्मोंसे मेरा चित्त ऊब गया है ॥ १० ॥ किन्तु जिसका नारदादि महात्मागण भी आप-जैसे साधुओंके समाजमें कीर्तन करते हैं तथा जो मनुष्योंके कर्णरन्ध्रोंमें प्रवेश करके उनकी संसारचक्रमें डालनेवाली गृहासक्तिको नष्ट कर डालता है ऐसे तीर्थपाद भगवान् श्रीकृष्णके गुणानुवादसे कौन तृप्त हो सकता है ? ॥ १०-११ ॥ भगवन् ! आपके मित्र महर्षि व्यासजीने भी भगवान्के गुणोंका वर्णन करने-की इच्छासे ही महाभारत रचा है, उसमें भी विषय-सुखका वर्णन करते हुए मनुष्योंकी बुद्धिको भगवद्-गुणानुवादकी ओर ही लानेका प्रयत्न किया गया है ॥ १२ ॥ श्रद्धालु पुरुषोंके अन्तःकरणमें वह भगवत्-कथाकी रुचि उत्तरोत्तर बढ़कर उसे अन्य विषयोंसे विरक्त कर देती है और इस प्रकार शीघ्र ही भगव-च्चरणारविन्दोंकी स्मृतिसे आनन्दमग्न हुए उस पुरुषके सब दुःखोंका अन्त कर देती है ॥ १३ ॥ किन्तु अपने पूर्व पापोंके कारण जो हरिकथासे विमुख रहते हैं उन शोचनीयोंके भी शोचनीय अज्ञानियोंका मुझे अत्यन्त शोक है । क्योंकि वाणी, देह और मनके द्वारा व्यर्थ व्यापार करते-करते ही उनके अमूल्य मानव-जीवनको काल भगवान् नष्ट कर डालते हैं ॥ १४ ॥

१. प्रा० पा०—तारूपैः । २. प्रा० पा०—त्यधिशृण्वतां । ३. प्रा० पा०—पुंसां ।

तदस्य कौषारव शर्मदातु-
हरेः कथामेव कथासु सारम् ।
उद्धृत्य पुष्पेभ्य इवार्तबन्धो
शिवाय नः कीर्तय तीर्थकीर्तेः ॥१५॥
स विश्वजन्मस्थितिसंयमार्थे
कृतावतारः प्रगृहीतशक्तिः ।
चकार कर्माण्यतिपूरुषाणि
यानीश्वरः कीर्तय तानि मह्यम् ॥१६॥

श्रीशुक उवाच

स एवं भगवान्पृष्टः क्षत्त्रा कौषारविर्मुनिः ।
पुंसां निःश्रेयसार्थेन तमाह बहु मानयन् ॥१७॥

मैत्रेय उवाच

साधु पृष्टं त्वया साधो लोकान्साध्वनुगृह्णता ।
कीर्तिं वितन्वता लोके आत्मनोऽधोक्षजात्मनः॥१८॥
नैतच्चित्रं त्वयि क्षत्तर्बादरायणवीर्यजे ।
गृहीतोऽनन्यभावेन यत्त्वया हरिरीश्वरः ॥१९॥
माण्डव्यशापाद्भगवान्प्रजासंयमनो यमः ।
भ्रातुः क्षेत्रे भुजिष्यायां जातः सत्यवतीसुतात् ॥२०॥
भवान्भगवतो नित्यं संमतः सानुगस्य च ।
यस्य ज्ञानोपदेशाय मादिशद्भगवान्व्रजन् ॥२१॥
अथ ते भगवल्लीला योगमायोपबृंहिताः ।
विश्वस्थित्युद्भवान्तार्था वर्णयाम्यनुपूर्वशः ॥२२॥
भगवानेक आसेदमग्र आत्मात्मनां विभुः ।
आत्मेच्छानुगतावात्मानानामत्युपलक्षणः ॥२३॥

अतः हे दीनबन्धो मैत्रेयजी ! जैसे भ्रमर पुष्पोंमेंसे मधु निकालता है उसी प्रकार आप इस जगत्की कथाओंमेंसे सारभूता पवित्र-कीर्ति और सुखदायक श्रीहरिकी कथाको निकालकर हमारे कल्याणके लिये सुनाइये ॥ १५ ॥ उस परमपुरुष परमेश्वरने संसारकी उत्पत्ति, स्थिति और संहारके लिये अपनी काल आदि शक्तियोंको स्वीकारकर राम-कृष्णादि अवतार ले जो अलौकिक लीलाएँ कीं वह सब हमें सुनाइये ॥ १६ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—विदुरजीके इस प्रकार पूछनेपर मुनिवर मैत्रेयजी उनकी बहुत प्रशंसा करते हुए सब पुरुषोंके कल्याणके लिये इस प्रकार कहने लगे ॥ १७ ॥

श्रीमैत्रेयजी बोले—हे साधो ! आपने लोकोंपर अनुग्रह करनेके लिये यह बड़ा ही उत्तम प्रश्न किया है, इससे भगवान्में चित्त लगानेवाले आपका सुयश सम्पूर्ण लोकमें छा जायगा ॥ १८ ॥ हे विदुर ! व्यासजीके वीर्यसे उत्पन्न हुए आपके लिये यह कोई विचित्र बात नहीं है; क्योंकि आपने तो अनन्यभावसे श्रीहरिका ही आश्रय लिया है ॥ १९ ॥ आप प्रजाको दण्ड देनेवाले साक्षात् भगवान् यम ही माण्डव्य ऋषिके शापसे श्रीव्यासजीके वीर्यद्वारा उनके भाई विचित्रवीर्यके क्षेत्ररूप भोगपत्नीके गर्भसे उत्पन्न हुए हैं ॥ २० ॥ आप भगवान्के नित्य-अभिमत भक्त हैं तथा भगवद्भक्तोंके भी प्रिय हैं । भगवान् निजधाम पधारते समय आपको ज्ञानोपदेश करनेके लिये मुझे आज्ञा दे गये हैं ॥ २१ ॥ अतः अब मैं, योगमाया-द्वारा विस्तृत तथा जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और अन्त-के लिये की हुई भगवान्की लीलाओंका क्रमशः वर्णन करता हूँ ॥ २२ ॥

सृष्टिके पहले यह सारा जगत् एकमात्र भगवान् ही था, उस समय सम्पूर्ण जीवोंके आत्मस्वरूप वे व्यापक परमात्मा अकेले रहनेकी इच्छा होनेसे नानारूपमें उपलब्ध नहीं होते थे ॥ २३ ॥

१. प्राचीन प्रतिमें यह श्लोकार्ध इस प्रकार है—यज्ज्ञानादेशये चैव मादिशद्भगवानिह ।

स वा एष तदा द्रष्टा नापश्यद्दृश्यमेकराट् ।
मेनेऽसन्तमिवात्मानं सुप्तशक्तिरसुप्तदृक् ॥२४॥
सा वा एतस्य संद्रष्टुः शक्तिः सदसदात्मिका ।
माया नाम महाभाग ययेदं निर्ममे विभुः ॥२५॥
कालवृत्त्या तु मायायां गुणमय्यामधोक्षजः ।
पुरुषेणात्मभूतेन वीर्यमाधत्त वीर्यवान् ॥२६॥
ततोऽभवन्महत्तत्त्वमव्यक्तात्कालचोदितात् ।
विज्ञानात्मात्मदेहस्थं विश्वं व्यञ्जंस्तमोनुदः ॥२७॥
सोऽप्यंशगुणकालात्मा भगवद्दृष्टिगोचरः ।
आत्मानं व्यकरोदात्मा विश्वस्यास्य सिसृक्षया॥२८॥
महत्तत्त्वाद्विकुर्वाणादहंतत्त्वं व्यजायत ।
कार्यकारणकर्त्रात्मा भूतेन्द्रियमनोमयः[1] ॥२९॥
वैकारिकस्तैजसश्च तामसश्चेत्यहं त्रिधा ।
अहंतत्त्वाद्विकुर्वाणान्मनो वैकारिकादभूत् ।
वैकारिकाश्च ये देवा अर्थाभिव्यञ्जनं यतः ॥३०॥
तैजसानीन्द्रियाण्येव ज्ञानकर्ममयानि च ।
तामसो भूतसूक्ष्मादिर्यतः खं लिङ्गमात्मनः ॥३१॥
कालमायांशयोगेन भगवद्वीक्षितं नभः ।
नभसोऽनुसृतं स्पर्शं विकुर्वन्निर्ममेऽनिलम् ॥३२॥
अनिलोऽपि विकुर्वाणो नभसोरुबलान्वितः ।

उस समय उन एकमात्र प्रकाशमान साक्षीस्वरूप परमात्माने अपने सिवा किसी अन्य दृश्यको नहीं देखा,—अतः अपनी मायाशक्तिके लीन और ज्ञान-शक्तिके जागृत रहनेके कारण [अहङ्कारकी भी उपलब्धि न होनेसे] उन्होंने अपनेको असत् (बिना हुआ)-सा समझा ॥ २४ ॥ हे महाभाग ! यही उन सर्वसाक्षी प्रभुकी सदसद्रूपा मायाशक्ति है जिसके द्वारा भगवान्‌ने इस सम्पूर्ण जगत्‌की रचना की है ॥ २५ ॥ कालक्रमसे क्षोभको प्राप्त हुई उस त्रिगुणमयी मायामें उन इन्द्रियातीत चिन्मय परमात्माने अपने अंशभूत पुरुषरूपसे चेतनरूप बीजको स्थापित किया ॥ २६ ॥ फिर कालकी प्रेरणासे उस अव्यक्त मायासे 'महत्तत्त्व' प्रकट हुआ । वह विज्ञान-स्वरूप और अपने शरीरमें बीजरूपसे स्थित जगत्‌को प्रकाशित करनेवाला था; क्योंकि वह अज्ञानका नाशक था ॥ २७ ॥ फिर चेतनांश, गुण और कालके अधीन रहनेवाले उस महान्‌ने सर्वाध्यक्ष परमात्माके दृष्टिगोचर होकर इस जगत्‌की रचनाकी इच्छासे अपना रूपान्तर किया ॥ २८ ॥ महत्तत्त्वके विकृत होनेपर उससे 'अहङ्कार' की उत्पत्ति हुई, जो कार्य (अधिभूत), कारण (अध्यात्म) और कर्ता (अधिदैव) रूप होनेसे पञ्चभूत, दश इन्द्रिय और मनका कारण है ॥२९॥ वह अहङ्कार वैकारिक, राजस और तामस तीन प्रकारका है । अतः अहङ्कारतत्त्वका रूपान्तर होनेपर वैकारिक अहङ्कारसे मन और जिनसे विषयका ज्ञान होता है वे इन्द्रियोंके अधिष्ठाता देवता उत्पन्न हुए ॥ ३० ॥ तैजस अहङ्कारसे ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ तथा तामस अहङ्कारसे भूतसूक्ष्म अर्थात् शब्दतन्मात्राकी उत्पत्ति हुई और उससे दृष्टान्तरूपसे व्यापक आत्माका बोध करानेवाला आकाश उत्पन्न हुआ ॥ ३१ ॥ तदनन्तर काल, माया और चैतन्यांशके योगसे भगवान्‌की दृष्टि आकाशपर पड़ी तो उससे 'स्पर्शतन्मात्रा' प्रकट हुई, जिसने विकारको प्राप्त होकर वायुकी रचना की ॥ ३२ ॥ फिर बहुबलसम्पन्न वायुने भी आकाशके सहित विकारको प्राप्त होकर 'रूपतन्मात्रा'

१. प्रा० पा०—मनोभवः ।

ससर्ज रूपतन्मात्रं ज्योतिर्लोकस्य लोचनम् ॥३३॥
अनिलेनान्वितं ज्योतिर्विकुर्वत्परवीक्षितम् ।
आधत्ताम्भो रसमयं कालमायांशयोगतः ॥३४॥
ज्योतिषाम्भोऽनुसंसृष्टं विकुर्वद्ब्रह्मवीक्षितम् ।
महीं गन्धगुणामाधात्कालमायांशयोगतः ॥३५॥
भूतानां नभआदीनां यद्यद्द्रव्यावरावरम्[1] ।
तेषां परानुसंसर्गाद्यथासंख्यं गुणान्विदुः ॥३६॥
एते देवाः कला विष्णोः कालमायांशलिङ्गिनः।
नानात्वात्स्वक्रियानीशाः प्रोचुः प्राञ्जलयो विभुम् ३७

को उत्पन्न किया। जिससे संसारके नेत्ररूप तेजकी उत्पत्ति हुई ॥ ३३ ॥ काल, माया और चिदंशके योगसे परमात्माकी दृष्टि पड़नेपर वायुयुक्त तेजने भी विकृत होकर रसतन्मात्राके कार्य जलको उत्पन्न किया ॥ ३४ ॥ तदनन्तर तेजके सहित जलने काल, माया और चिदंशके योगसे ब्रह्मके दृष्टिगोचर होनेपर विकृत होकर गन्धगुणमयी पृथिवीको उत्पन्न किया ॥३५॥ हे भव्य विदुर! आकाशादि भूतोंमेंसे जो-जो भूत क्रमशः पीछे-पीछे उत्पन्न हुए हैं उनमें उसी प्रकार अपने पूर्व-पूर्व भूतोंके गुण भी वर्तमान समझने चाहिये ॥३६॥ इन महत्तत्त्वादिके अभिमानी देवतागण काल, माया और चेतनांशविशिष्ट विष्णु भगवान्‌की कलाएँ हैं। वे भिन्न-भिन्न होनेके कारण जब ब्रह्माण्डरचनारूप अपने कार्यमें सफल नहीं हुए तो हाथ जोड़कर भगवान्‌से कहने लगे ॥ ३७ ॥

देवा ऊचुः

नमाम ते देव पदारविन्दं
प्रपन्नतापोपशमातपत्रम् ।
यन्मूलकेता यतयोऽञ्जसोरु-
संसारदुःखं बहिरुत्क्षिपन्ति ॥३८॥
धातर्यदस्मिन्भव ईश जीवा-
स्तापत्रयेणोपहता न शर्म ।
आत्मँल्लभन्ते भगवंस्तवाङ्घ्रि-
च्छायां सविद्यामत आश्रयेम ॥३९॥
मार्गन्ति यत्ते मुखपद्मनीडै-
श्छन्दःसुपर्णैर्ऋषयो विविक्ते ।
यस्याघमर्षोदसरिद्वरायाः
पदं पदं तीर्थपदः[2] प्रपन्नाः ॥४०॥
यच्छ्रद्धया श्रुतवत्या च भक्त्या
संमृज्यमाने हृदयेऽवधाय ।
ज्ञानेन वैराग्यबलेन धीरा
व्रजेम[3] तत्तेऽङ्घ्रिसरोजपीठम् ॥४१॥
विश्वस्य जन्मस्थितिसंयमार्थे
कृतावतारस्य पदाम्बुजं ते ।

देवगण बोले—हे देव! जो शरणागत जीवोंका ताप दूर करनेके लिये छत्रके समान हैं तथा जिनका आश्रय लेनेसे यतिजन अनन्त संसार-दुःखको सुगमतासे ही पार कर जाते हैं उन आपके चरणकमलोंकी हम वन्दना करते हैं ॥३८॥ हे विधातः! हे ईश! हे आत्मन्! इस संसारमें तापत्रयसे व्याकुल रहनेके कारण जीवोंको जरा भी शान्ति नहीं मिलती, इसलिये हे भगवन्! हम आपके चरणोंकी ज्ञानमयी छायाका आश्रय लेते हैं ॥३९॥ मुनिजन आपके मुखरूप घोंसलेमें रहनेवाले वेद-वाक्यरूप पक्षियोंके द्वारा अपने आसक्तिरहित हृदयमें जिनको खोजते हैं तथा जो पापनाशक जल बहानेवाली सरिताओंमें सर्वश्रेष्ठ गङ्गाजीके उद्गम-स्थान हैं, आपके उन परम पवित्र पादपद्मोंका हम आश्रय लेते हैं ॥ ४० ॥ श्रद्धा और श्रवण-कीर्तनादिरूप भक्तिसे शुद्ध हुए अपने अन्तःकरणोंमें जिन चरणोंको धारण करके कितने ही पुरुष वैराग्यसहित ज्ञानसे परम बोधवान् हो जाते हैं उन आपके चरण-कमलोंकी पादुकाका हम आश्रय लेते हैं ॥४१॥ हे ईश! संसारकी उत्पत्ति, स्थिति और संहारके लिये ही अवतार धारण करनेवाले

१. प्रा० पा०—द्रव्यं चराचरम्। २. प्रा० पा०—तीर्थपदं। ३. प्रा० पा०—व्रजन्ति।

व्रजेम सर्वे शरणं यदीश
स्मृतं प्रयच्छत्यभयं स्वपुंसाम् ॥४२॥
यत्सानुबन्धेऽसति देहगेहे
ममाहमित्यूढदुराग्रहाणाम् ।
पुंसां सुदूरं वसतोऽपि पुर्यां
भजेम तत्ते भगवन्पदाब्जम् ॥४३॥
तान्वा असद्वृत्तिभिरक्षिभिर्ये
पराहृतान्तर्मनसः परेश ।
अथो न पश्यन्त्युरुगाय नूनं
ये ते पदन्यासविलासलक्ष्म्याः ॥४४॥
पानेन ते देव कथासुधायाः
प्रवृद्धभक्त्या विशदाशया ये ।
वैराग्यसारं प्रतिलभ्य बोधं
यथाञ्जसान्वीयुरकुण्ठधिष्ण्यम् ॥४५॥
तथापरे चात्मसमाधियोग-
बलेन जित्वा प्रकृतिं बलिष्ठाम् ।
त्वामेव धीराः पुरुषं विशन्ति
तेषां श्रमः स्यान्न तु सेवया ते ॥४६॥
तत्ते वयं लोकसिसृक्षयाद्य
त्वयानुसृष्टास्त्रिभिरात्मभिः स्म ।
सर्वे वियुक्ताः स्वविहारतन्त्रं
न शक्नुमस्तत्प्रतिहर्तवे ते ॥४७॥
यावद्बलिं तेऽज हराम काले
यथा वयं चान्नमदाम यत्र ।
यथोभयेषां त इमे हि लोका
बलिं हरन्तोऽन्नमदन्त्यनूहाः ॥४८॥
त्वं नः सुराणामसि सान्वयानां
कूटस्थ आद्यः पुरुषः पुराणः ।
त्वं देव शक्त्यां गुणकर्मयोनौ
रेतस्त्वजायां कविमादधेऽजः ॥४९॥
ततो वयं सत्प्रमुखा यदर्थे
बभूविमात्मन्करवाम किं ते ।

आपके उन चरणकमलोंकी हम सब शरण लेते हैं जो अपना स्मरण करनेवाले पुरुषोंको अभय देते हैं ॥४२॥ हे भगवन् ! जो अन्य सामग्रियोंके सहित नाशवान् देह-गेहादिमें 'मैं और मेरापन' का आग्रह करनेवाले पुरुषोंके लिये उनके शरीरहीमें वर्तमान रहनेपर भी बहुत दूर हैं उन आपके चरणारविन्दोंको हम भजते हैं ॥४३॥ हे परमेश्वर ! हे महाकीर्ते ! जिनका अन्तःकरण विषयाभिमुख इन्द्रियोंद्वारा बहिर्मुख हो रहा है वे आपके पादविन्यासके विलासकी शोभाके आश्रित भक्तोंका दर्शन नहीं कर पाते ॥४४॥ हे देव ! जो लोग आपके कथामृतका पान करनेसे बढ़ी हुई भक्तिके कारण पवित्र-चित्त हो गये हैं, वे, वैराग्य ही जिसका सार है ऐसे, आत्म-ज्ञानको प्राप्त होकर अनायास ही आपके वैकुण्ठधामको चले जाते हैं ॥४५॥ तथा कोई धीर पुरुष चित्तको आत्मामें स्थिर करनारूप योगके बलसे आपकी बलवती मायाको जीतकर आपहीमें लीन हो जाते हैं । किन्तु उन्हें बहुत परिश्रम उठाना पड़ता है, इस आपकी सेवारूप भक्तिसे श्रम नहीं उठाना पड़ता ॥४६॥ हे देव ! आपने लोक-रचनाकी इच्छासे हमें सत्त्वादि स्वभावोंसे युक्त उत्पन्न किया है; अतः विभिन्न स्वभावके कारण हम सब पृथक्-पृथक् रहनेसे आपकी क्रीडाके साधनरूप ब्रह्माण्डकी रचना करके उसे आपको समर्पण करनेमें सर्वथा असमर्थ हैं ॥४७॥ अतः हे अजन्मा प्रभो ! जिस प्रकार हम ब्रह्माण्ड उत्पन्न करके आपको सब प्रकारके भोग समर्पण कर सकें और हम स्वयं भी समय-समयपर अपनी योग्यतानुसार अपना अन्न ग्रहण कर सकें; तथा जिस प्रकार ये सब जीव निर्विघ्नतापूर्वक हम दोनोंको भोग समर्पण करते हुए अपना-अपना अन्न भक्षण कर सकें, ऐसा कोई उपाय कीजिये ॥४८॥ आप निर्विकार पुराण-पुरुष ही अन्य कार्यवर्गके सहित हम देवताओंके आदि-कारण हैं । हे देव ! पहले-पहल आपहीने सत्त्वादि गुण और जन्मादि कर्मोंकी कारणरूपा मायाशक्तिमें चेतनरूप वीर्यकी स्थापना की थी ॥४९॥ अतः हे आत्मन् ! महत्तत्त्वादिरूप हम सब देवगण जिस कार्यके लिये उत्पन्न हुए हैं उसके सम्बन्धमें हम क्या करें ?

१. प्रा० पा०—तत्त्वा । २. प्रा० पा०—हर्तुरेते ।

त्वं नः स्वचक्षुः परिदेहि शक्त्या
देव क्रियार्थे यदनुग्रहाणाम् ॥५०॥

हे देव ! हमपर आप ही अनुग्रह करनेवाले हैं, इसलिये ब्रह्माण्ड-रचनाके लिये आप हमें अपनी क्रियाशक्तिके सहित ज्ञानदृष्टि प्रदान कीजिये ॥५०॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे तृतीयस्कन्धे
पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

छठा अध्याय

विराट्शरीरकी उत्पत्ति।

ऋषिरुवाच

इति तासां स्वशक्तीनां सतीनामसमेत्य सः ।
प्रसुप्तलोकतन्त्राणां निशाम्य गतिमीश्वरः ॥ १ ॥
कालसंज्ञां तदा देवीं बिभ्रच्छक्तिमुरुक्रमः ।
त्रयोविंशतितत्त्वानां गणं युगपदाविशत् ॥ २ ॥
सोऽनुप्रविष्टो भगवांश्चेष्टारूपेण तं गणम् ।
भिन्नं संयोजयामास सुप्तं कर्म प्रबोधयन् ॥ ३ ॥
प्रबुद्धकर्मा दैवेन त्रयोविंशतिको गणः ।
प्रेरितोऽजनयत्स्वाभिर्मात्राभिरधिपूरुषम् ॥ ४ ॥
परेण विशता स्वस्मिन्मात्रया विश्वसृङ्गणः ।
चुक्षोभान्योन्यमासाद्य यस्मिँल्लोकाश्चराचराः ॥ ५ ॥
हिरण्मयः स पुरुषः सहस्रपरिवत्सरान् ।
ऑण्डकोश उवासाप्सु सर्वसत्त्वोपबृंहितः ॥ ६ ॥
स वै विश्वसृजां गर्भो देवकर्मात्मशक्तिमान् ।
विबभाजात्मनात्मानमेकधा दशधा त्रिधा ॥ ७ ॥
एष ह्यशेषसत्त्वानामात्मांशः परमात्मनः ।
आद्योऽवतारो यत्रासौ भूतग्रामो विभाव्यते ॥ ८ ॥

श्रीमैत्रेयजी बोले—हे विदुर ! इस प्रकार परस्पर संगठित न रहनेके कारण नाना प्रकारकी क्रियाएँ करनेमें असमर्थ अपनी उन महत्तत्त्वादि शक्तियोंकी गति देखकर परमपराक्रमी श्रीभगवान्‌ने अपनी कालशक्तिको आश्रितकर अन्तर्यामीरूपसे एक साथ ही तेईस तत्त्वोंमें प्रवेश किया ॥ १-२ ॥ उनमें अनुप्रविष्ट हो भगवान्‌ने उनकी लीन हुई क्रियाशक्तिको जागृतकर परस्पर विलग-विलग हुए उस तत्त्वसमूहको चेष्टारूप स्वशक्तिसे आपसमें मिला दिया ॥ ३ ॥ इस प्रकार भगवान्‌द्वारा क्रियाशक्तिके जाग्रत् कर दिये जानेपर उनकी प्रेरणासे उस तेईस तत्त्वोंके समूहने अपने अंशोंसे विराट् पुरुषको उत्पन्न किया ॥ ४ ॥ अपनेमें अंशरूपसे प्रविष्ट हुए परमात्माके सम्बन्धसे वह विश्वरचना करनेवाला तत्त्वसमूह एक दूसरेसे मिलकर अंशतः क्षोभ (परिणाम) को प्राप्त हुआ [अर्थात् विराट्पुरुष हो गया], जिसमें सम्पूर्ण चराचर जगत् विद्यमान है ॥ ५ ॥ सम्पूर्ण प्राणियोंसे युक्त वह हिरण्मय विराट् पुरुष देवताओंके एक सहस्र वर्षपर्यन्त ब्रह्माण्डके अन्तर्गत जलमें स्थित रहा ॥ ६ ॥ विश्वरचना करनेवाले तत्त्वोंका गर्भरूप वह विराट् पुरुष ज्ञानशक्ति, क्रियाशक्ति और भोक्तृशक्तिसे युक्त था। उन शक्तियोंके द्वारा उसने (क्रमशः) स्वयं ही अपने [हृदयरूप] एक [प्राणरूप] दश और [अध्यात्म-अधिदैव-अधिभूतरूप] तीन विभाग किये ॥ ७ ॥ यह विराट् पुरुष ही सब जीवोंका आत्मा और परमेश्वरका आदि अंशावतार है जिसमें यह सम्पूर्ण भूतसमूह निवास करता है ॥ ८ ॥

१. प्रा० पा०—ग्रहेण । २. प्रा० पा०—प्रसुप्तो लो० । ३. प्रा० पा०—निशम्य । ४. प्रा० पा०—प्रेरितो जनितस्ताभिर्मात्रा० । ५. प्रा० पा०—अण्डकोश० ।

साध्यात्मः साधिदैवश्च[1] साधिभूत इति त्रिधा ।
विराट् प्राणो दशविध एकधा हृदयेन च ॥ ९ ॥

वह विराट् पुरुष अध्यात्म, अधिभूत और अधिदैव रूपसे तीन प्रकारका, दश प्राणरूपसे दश प्रकारका और हृदयरूपसे एक प्रकारका है* ॥ ९ ॥

स्मरन्विश्वसृजामीशो[2] विज्ञापितमधोक्षजः ।
विराजमतपत्स्वेन तेजसैषां विवृत्तये ॥१०॥

फिर महत्तत्त्वादि विश्वरचयिता तत्त्वोंके अधीश्वर भगवान् अधोक्षजने उनकी प्रार्थनाको स्मरण करते हुए उनका विविध वृत्तियोंकी प्राप्तिके लिये अपने तेज (चिच्छक्ति) से विराट् पुरुषको तपाया [अर्थात् उसको जाग्रत् किया] ॥१०॥

अथ तस्याभितप्तस्य कति चायतनानि ह ।
निरभिद्यन्त देवानां तानि मे गदतः शृणु ॥११॥

उनके जागते ही देवताओंके लिये जो कितने ही भिन्न-भिन्न आयतन (स्थान) प्रकट हो गये, वह मैं तुम्हें सुनाता हूँ, श्रवण करो ॥११॥

तस्याग्निरास्यं निर्भिन्नं लोकपालोऽविशत्पदम् ।
वाचा स्वांशेन वक्तव्यं ययासौ प्रतिपद्यते ॥१२॥

प्रथम मुख प्रकट हुआ, उसमें लोकपाल अग्निदेव अपनी वाक्शक्तिके सहित प्रविष्ट हो गया । जीव उस वाक्शक्तिद्वारा शब्दका उच्चारण करता है ॥१२॥

निर्भिन्नं तालु वरुणो लोकपालोऽविशद्धरेः ।
जिह्वयांशेन च रसं[3] ययासौ प्रतिपद्यते ॥१३॥

फिर उस विराट् पुरुषरूप हरिके शरीरमें तालु उत्पन्न हुआ । उसमें लोकपाल वरुण अपनी अंशस्वरूपा रसनेन्द्रियके सहित स्थित हुए । इस रसनेन्द्रियसे जीव रस ग्रहण करता है ॥१३॥

निर्भिन्ने अश्विनौ नासे विष्णोराविशतां पदम् ।
घ्राणेनांशेन गन्धस्य प्रतिपत्तिर्यतो भवेत् ॥१४॥

उन विष्णु भगवान्के नासिकारन्ध्र प्रकट होनेपर उनमें दोनों अश्विनीकुमारोंने अपनी घ्राणशक्तिके सहित प्रवेश किया । घ्राणेन्द्रियके द्वारा जीव गन्ध ग्रहण करता है ॥१४॥

निर्भिन्ने अक्षिणी त्वष्टा लोकपालोऽविशद्विभोः ।
चक्षुषांशेन रूपाणां प्रतिपत्तिर्यतो भवेत् ॥१५॥

फिर विराट् पुरुषके नेत्रगोलक उत्पन्न हुए, उनमें सूर्यदेव अपनी शक्तिरूपा चक्षु-इन्द्रियके सहित स्थित हो गये । इस चक्षु-इन्द्रियसे जीवको रूपका ज्ञान होता है ॥१५॥

निर्भिन्नान्यस्य चर्माणि[4] लोकपालोऽनिलोऽविशत् ।
प्राणेनांशेन संस्पर्शं येनासौ प्रतिपद्यते ॥१६॥

विराट् विग्रहमें त्वचा प्रकट होनेपर उसमें अपनी शक्ति त्वक्-इन्द्रियके सहित लोकपाल वायुने प्रवेश किया । इस त्वक्-इन्द्रियसे जीव स्पर्शका अनुभव करता है ॥१६॥

कर्णावस्य विनिर्भिन्नौ धिष्ण्यं स्वं विविशुर्दिशः ।
श्रोत्रेणांशेन शब्दस्य सिद्धिं येन प्रपद्यते ॥१७॥

फिर उसमें कर्णरन्ध्र प्रकट हुए । उस अपने स्थानमें श्रवणेन्द्रियरूप शक्तिके सहित दिशाओंने प्रवेश किया । श्रोत्रेन्द्रियद्वारा जीवको शब्दका ज्ञान होता है ॥१७॥

त्वचमस्य विनिर्भिन्नां विविशुर्धिष्ण्यमोषधीः ।

जब विराट् शरीरमें चर्म प्रकट हुआ तो उसमें सम्पूर्ण ओषधियाँ अपनी रोमरूप शक्तिके सहित

१. प्रा० पा०—साधिभूतश्च साधिदैव इति । २. प्रा० पा०—स्फु० । ३. प्रा० पा०—रसान् । ४. प्रा० पा०—मर्माणि ।

* दश इन्द्रियोंसहित मन अध्यात्म है, इन्द्रियादिके विषय अधिभूत हैं, इन्द्रियाधिष्ठाता देव अधिदैव हैं तथा प्राण, अपान, उदान, समान, व्यान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनञ्जय—ये दश प्राण हैं ।

अंशेन रोमभिः कण्डूं यैरसौ प्रतिपद्यते ॥१८॥
मेढ्रं तस्य विनिर्भिन्नं स्वधिष्ण्यं क उपाविशत्।
रेतसांशेन येनासावानन्दं प्रतिपद्यते ॥१९॥
गुदं पुंसो विनिर्भिन्नं मित्रो लोकेश आविशत्।
पायुनांशेन येनासौ विसर्गं प्रतिपद्यते ॥२०॥
हस्तावस्य विनिर्भिन्नाविन्द्रः स्वर्पतिराविशत्।
वार्तयांशेन पुरुषो यया वृत्तिं प्रपद्यते ॥२१॥
पादावस्य विनिर्भिन्नौ लोकेशो विष्णुराविशत्।
गत्या स्वांशेन पुरुषो यया प्राप्यं प्रपद्यते ॥२२॥
हृदयं चास्य निर्भिन्नं चन्द्रमा धिष्ण्यमाविशत्।
मनसांशेन येनासौ विक्रियां प्रतिपद्यते ॥२३॥
आत्मानं चास्य निर्भिन्नमभिमानोऽविशत्पदम्।
कर्मणांशेन येनासौ कर्तव्यं प्रतिपद्यते ॥२४॥
सत्त्वं चास्य विनिर्भिन्नं महान्धिष्ण्यमुपाविशत्।
चित्तेनांशेन येनासौ विज्ञानं प्रतिपद्यते ॥२५॥
शीर्ष्णोऽस्य द्यौर्धरा पद्भ्यां खं नाभेरुदपद्यत।
गुणानां वृत्तयो येषु प्रतीयन्ते सुरादयः ॥२६॥
आत्यन्तिकेन सत्त्वेन दिवं देवाः प्रपेदिरे।
धरां रजःस्वभावेन पणयो[1] ये च ताननु ॥२७॥
तार्तीयेन स्वभावेन भगवन्नाभिमाश्रिताः[2]।
उभयोरन्तरं व्योम ये[3] रुद्रपार्षदां गणाः ॥२८॥

स्थित हुई। उन रोमोंद्वारा जीव खुजली आदिका अनुभव करता है ॥१८॥ फिर उसमें मेढ्र उत्पन्न हुआ। उस अपने आश्रयमें प्रजापतिने अपने अंश वीर्यके सहित प्रवेश किया जिसके द्वारा जीव आनन्दका अनुभव करता है ॥१९॥ तत्पश्चात् विराट् पुरुषके शरीरमें गुदा उत्पन्न हुई। उसमें लोकपाल मित्रने अपनी शक्ति पायु-इन्द्रियके सहित प्रवेश किया जिससे यह जीव मलत्याग करता है ॥२०॥ जब उसमें हाथ प्रकट हुए तो अपनी ग्रहण-त्यागरूप शक्तिके सहित उनमें देवराज इन्द्रने प्रवेश किया। इस हस्तेन्द्रियद्वारा जीव अपनी आजीविका प्राप्त करता है ॥२१॥ फिर उसके चरण प्रकट हुए। उनमें अपनी शक्ति गतिके सहित लोकेश्वर विष्णु-देवता स्थित हुए। इस गतिशक्तिद्वारा जीव अपने गन्तव्य स्थानपर पहुँचता है ॥ २२ ॥ तत्पश्चात् उसके हृदय प्रकट हुआ। उसमें अपनी मनःशक्तिके सहित चन्द्रमाने प्रवेश किया। इस मनःशक्तिद्वारा जीव संकल्प-विकल्पादि रूप विकारोंको प्राप्त होता है ॥२३॥ फिर विराट्पुरुषमें अहंकार उत्पन्न हुआ। उस अपने आश्रयमें क्रियाशक्तिके सहित अभिमान (रुद्र) ने प्रवेश किया। इस क्रियाशक्ति-द्वारा जीव अपने कर्त्तव्योंको स्वीकार करता है ॥२४॥ फिर विराट्पुरुषको चित्त उत्पन्न हुआ। उस अपने स्थानमें चित्तशक्तिके सहित महत्तत्त्व स्थित हुआ। इस चित्त-शक्तिद्वारा जीव सब प्रकारके विज्ञानोंको उपलब्ध करता है ॥२५॥

इस विराट्के शिरसे स्वर्गलोक, पैरोंसे पृथिवीलोक और नाभिसे आकाश उत्पन्न हुआ जिनमें क्रमशः सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणोंसे युक्त देवता-मनुष्यादि देखे जाते हैं ॥२६॥ उनमेंसे देवतालोग सत्त्वगुणकी अधिकताके कारण स्वर्गलोकमें तथा रजः-प्रधान होनेके कारण यज्ञादि कर्म करनेवाले मनुष्य और उनके अधीन रहनेवाले गौ आदि प्राणी पृथिवीलोकमें रहते हैं ॥२७॥ तथा तमोगुणी स्वभाववाले होनेसे रुद्रके पार्षदगण भगवान्के नाभिस्थानरूप अन्त-रिक्षलोकमें रहते हैं ॥२८॥

१. प्रा० पा०—प्राणयोगेन चैव तत्। २. प्रा० पा०—भगवान्नाभिमाश्रितः। ३. प्राचीन प्रतिमें इस श्लोकका यह चतुर्थपाद इस प्रकार है—सरुद्राः पार्षदा गणाः।

मुखतोऽवर्तत ब्रह्म पुरुषस्य कुरूद्वह ।
यस्तून्मुखत्वाद्वर्णानां मुख्योऽभूद्ब्राह्मणो गुरुः ॥२९॥
बाहुभ्योऽवर्तत क्षत्रं क्षत्रियस्तदनुव्रतः ।
यो जातस्त्रायते वर्णान्पौरुषः कण्टकक्षतात् ॥३०॥
विशोऽवर्तन्त तस्योर्वोर्लोकवृत्तिकरीर्विभोः ।
वैश्यस्तदुद्भवो वार्तां नृणां यः समवर्तयत् ॥३१॥
पद्भ्यां भगवतो जज्ञे शुश्रूषा धर्मसिद्धये ।
तस्यां जातः पुरा शूद्रो यद्वृत्त्या तुष्यते हरिः ॥३२॥
एते वर्णाः स्वधर्मेण यजन्ति स्वगुरुं हरिम् ।
श्रद्धयात्मविशुद्ध्यर्थं यज्जाताः सह वृत्तिभिः ॥३३॥
एतत्क्षत्तर्भगवतो दैवकर्मात्मरूपिणः ।
कः श्रद्दध्यादुपाकर्तुं योगमायाबलोदयम् ॥३४॥
अथापि कीर्तयाम्यङ्ग यथामति यथाश्रुतम् ।
कीर्तिं हरेः स्वां सत्कर्तुं गिरमन्याभिधासतीम् ॥३५॥

एकान्तलाभं वचसो नु पुंसां
सुश्लोकमौलेर्गुणवादमाहुः ।
श्रुतेश्च विद्वद्भिरुपाकृतायां
कथासुधायामुपसंप्रयोगम् ॥३६॥

आत्मनोऽवसितो वत्स महिमा कविनादिना ।

हे कुरुनन्दन ! भगवान्‌के मुखसे वेदका प्रादुर्भाव हुआ । और उनके मुखसे उत्पन्न होनेके कारण जो सब वर्णोंमें श्रेष्ठ और गुरु हैं वे ब्राह्मणलोग भी मुखसे ही प्रकट हुए ॥२९॥ उनकी भुजाओंसे क्षत्रिय-वृत्ति और उसका अवलम्बन करनेवाले क्षत्रिय उत्पन्न हुए, जो विष्णुके अंश होनेके कारण जन्म लेकर सब वर्णोंकी चोर आदिके उपद्रवोंसे रक्षा करते हैं ॥३०॥ तदनन्तर भगवान्‌की जंघाओंसे सब लोगोंकी जीविका निभानेवाली वणिग्वृत्ति उत्पन्न हुई और उन जंघाओंसे ही वैश्य उत्पन्न हुआ, जो अपनी वृत्तिसे सब जीवोंकी आजीविका चलाता है ॥३१॥ फिर सर्व धर्मोंकी सिद्धिके लिये भगवान्‌के चरणोंसे सेवावृत्तिका प्रादुर्भाव हुआ । फिर उसका अवलम्बन करनेवाले शूद्रोंकी उत्पत्ति हुई जिनकी सेवा-वृत्तिसे श्रीहरि प्रसन्न* होते हैं ॥३२॥ ये चारों वर्ण अपनी-अपनी वृत्तियोंके सहित जिनसे उत्पन्न हुए हैं उन अपने गुरु श्रीहरिका अपने-अपने धर्मोंसे चित्त-शुद्धिके लिये श्रद्धापूर्वक पूजन करते हैं ॥३३॥ हे विदुरजी ! काल, कर्म और स्वभावसे युक्त भगवान्‌के उनकी योगमायाके प्रभावको प्रकट करनेवाले इस विराट्-स्वरूपका पूरा-पूरा वर्णन करनेका साहस कौन कर सकता है ? ॥३४॥ तो भी हे प्रिय ! अन्य वार्ताओंसे अपवित्र हुई अपनी वाणीको पवित्र करनेके लिये जैसी मेरी बुद्धि है और जैसा मैंने गुरुमुखसे सुना है वैसा श्रीहरिके सुयशका वर्णन करता हूँ ॥३५॥ क्योंकि पुण्यश्लोकशिरोमणि भगवान्‌के गुणोंका गान करना ही मनुष्योंकी वाणीका तथा विद्वानोंद्वारा वर्णन किये हुए भगवत्कथामृतका पान करना ही उनके कर्णोंका परम लाभ है—ऐसा महापुरुषगण निश्चितरूपसे प्रतिपादन करते हैं ॥३६॥ हे वत्स ! हम ही क्या ? सहस्र दिव्यवर्षपर्यन्त ध्यान करते रहनेपर भी आदिकवि

१. प्रा० पा०—य० ।

* सब धर्मोंकी सिद्धिका मूल सेवा है, सेवा किये बिना कोई भी धर्म सिद्ध नहीं हो सकता; अतएव धर्मोंको गति देनेवाली सेवा ही जिसका धर्म है वह शूद्र सब वर्णोंमें महान् है । ब्राह्मणका धर्म मोक्षके लिये, क्षत्रियका धर्म भोगके लिये, वैश्य-का धर्म अर्थके लिये, किन्तु शूद्रका धर्म धर्मके लिये है । अन्य तीन वर्णोंका धर्म अन्य पुरुषार्थके लिये है पर शूद्रका धर्म स्वपुरुषार्थके लिये है, अतएव इसकी वृत्तिसे भगवान् प्रसन्न होते हैं ।

संवत्सरसहस्रान्ते धिया योगविपक्वया ॥३७॥
अतो भगवतो माया मायिनामपि मोहिनी ।
यत्स्वयं चात्मवर्त्मात्मा न वेद किमुतापरे ॥३८॥
यतोऽप्राप्य न्यवर्तन्त वाचश्च मनसा सह ।
अहं चान्य इमे देवास्तस्मै भगवते नमः ॥३९॥

श्रीब्रह्माजी क्या अपनी योगपरिपक्व बुद्धिसे भगवान्‌की अमित महिमाका पार पा सके ? [अर्थात् नहीं जान सके] ॥३७॥ इसलिये भगवान्‌की माया बड़े-बड़े मायावियोंको भी मोहित कर देनेवाली है; उसकी गति तो स्वयं भगवान् भी नहीं जानते, फिर दूसरे कैसे जान सकते हैं ? ॥ ३८ ॥ जहाँतक न पहुँचकर [अर्थात् जिनकी मायाका पार न पाकर] वाणी और मन लौट आते हैं तथा जिनका माहात्म्य जाननेमें अहंकारके अभिमानी देवता रुद्र तथा अन्य इन्द्रियाधिष्ठाता देवता भी असमर्थ हैं, उन श्रीभगवान्‌को नमस्कार है ॥३९॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे तृतीयस्कन्धे
षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

सातवाँ अध्याय

विदुरजीके प्रश्न ।

श्रीशुक उवाच

एवं ब्रुवाणं मैत्रेयं द्वैपायनसुतो बुधः ।
प्रीणयन्निव भारत्या विदुरः प्रत्यभाषत ॥ १ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं–मैत्रेयजीके इस प्रकार भाषण करते समय परम बुद्धिमान् व्यासपुत्र विदुरजीने उन्हें अपनी वाणीसे प्रसन्न करते हुए इस प्रकार कहा ॥ १ ॥

विदुर उवाच

ब्रह्मन्कथं भगवतश्चिन्मात्रस्याविकारिणः ।
लीलया चापि युज्येरन्निर्गुणस्य गुणाः क्रियाः ॥ २ ॥
क्रीडायामुद्यमोऽर्भस्य कामश्चिक्रीडिषान्यतः ।
स्वतस्तृप्तस्य च कथं निवृत्तस्य सदान्यतः ॥ ३ ॥
अस्राक्षीद्भगवान्विश्वं गुणमय्यात्ममायया ।
तया संस्थापयत्येतद्[1]भूयः प्रत्यपिधास्यति[2] ॥ ४ ॥
देशतः कालतो योऽसाववस्थातः स्वतोऽन्यतः ।
अविलुप्तावबोधात्मा स युज्येताजया कथम् ॥ ५ ॥

विदुरजी बोले–ब्रह्मन् ! जो भगवान् केवल चेतनमात्र निर्विकार और निर्गुण हैं उनके साथ लीलासे भी गुण और क्रियाका सम्बन्ध किस प्रकार हो सकता है ? ॥ २ ॥ बालकमें कामना और दूसरेके साथ खेलनेकी इच्छा होती है इसीलिये उसका खेलनेके लिये प्रयत्न देखा जाता है । किन्तु भगवान् तो आप्तकाम और सर्वदा दूसरेसे सम्बन्धरहित अद्वितीय हैं; उनमें क्रीडाकी कामना भी कैसे हो सकती है ? ॥३॥ भगवान्‌ने अपनी गुणमयी मायासे जगत्‌की रचना की, उसीके द्वारा इसका पालन करते हैं और फिर इसका संहार भी करेंगे ॥ ४ ॥ किन्तु देश, काल, अवस्थासे अथवा अपनेसे या अन्यसे किसी प्रकार भी जिनके ज्ञानका लोप नहीं होता उनका मायाके साथ संयोग किस प्रकार हो सकता है ? ॥ ५ ॥

१. प्रा० पा०—त्येष भू० । २. प्रा० पा०—प्रत्यभि० । इस पाठान्तरका श्रीधरस्वामीने भी उल्लेख किया है ।

भगवानेक एवैष सर्वक्षेत्रेष्ववस्थितः ।
अमुष्य दुर्भगत्वं वा क्लेशो वा कर्मभिः कुतः ॥ ६ ॥
एतस्मिन्मे मनो विद्वन्खिद्यतेऽज्ञानसंकटे ।
तन्नः पराणुद विभो कश्मलं मानसं महत् ॥ ७ ॥

सम्पूर्ण क्षेत्रोंमें क्षेत्रज्ञरूपसे एक ही भगवान् विराजमान हैं। उन्हें दुर्भाग्य अथवा कर्मजन्य क्लेशकी प्राप्ति कैसे हो सकती है? ॥ ६ ॥ हे विद्वन् ! इस अज्ञानसंकटमें पड़कर मेरा मन बड़ा खिन्न हो रहा है अतः आप मेरे मनके इस महान् सन्देहको दूर कर दीजिये ॥ ७ ॥

श्रीशुक उवाच

स इत्थं चोदितं क्षत्त्रा तत्त्वजिज्ञासुना मुनिः ।
प्रत्याह भगवच्चित्तः स्मयन्निव गतस्मयः ॥ ८ ॥

श्रीशुकदेवजी बोले–तत्त्वजिज्ञासु विदुरजीके इस प्रकार पूछनेपर अहङ्कारहीन श्रीमैत्रेयजी भगवान्‌का स्मरण करते हुए मुसकाकर इस प्रकार कहने लगे ॥ ८ ॥

मैत्रेय उवाच

सेयं भगवतो माया यन्नयेन विरुध्यते ।
ईश्वरस्य विमुक्तस्य कार्पण्यमुत बन्धनम् ॥ ९ ॥
यदर्थेन[1] विनामुष्य पुंस आत्मविपर्ययः ।
प्रतीयत उपद्रष्टुः स्वशिरश्छेदनादिकः ॥१०॥
यथा जले चन्द्रमसः कम्पादिस्तत्कृतो गुणः ।
दृश्यतेऽसन्नपि द्रष्टुरात्मनो नात्मनो गुणः ॥११॥
स वै निवृत्तिधर्मेण वासुदेवानुकम्पया ।
भगवद्भक्तियोगेन तिरोधत्ते शनैरिह ॥१२॥
यदेन्द्रियोपरामोऽथ द्रष्टुरात्मनि परे हरौ ।
विलीयन्ते तदा क्लेशाः संसुप्तस्येव कृत्स्नशः ॥१३॥
अशेषसंक्लेशशमं विधत्ते
गुणानुवादश्रवणं मुरारेः ।
कुतः[2] पुनस्तच्चरणारविन्द-
परागसेवारतिरात्मलब्धा ॥१४॥

श्रीमैत्रेयजी बोले–जो आत्मा सबका प्रभु और मुक्तस्वरूप है वही दीनता और बन्धनको प्राप्त हुआ है, इस प्रकार जो तर्कसे विरुद्ध भावकी प्रतीति हो रही है वह भगवान्‌की माया ही है ॥ ९ ॥ जिस प्रकार स्वप्न देखनेवाले पुरुषको अपना शिर कटना आदि व्यापार बिना हुए भी सत्यवत् भासते हैं उसी प्रकार जीवको बन्धनादिकी प्रतीति भी मिथ्या ही होती है ॥१० ॥ जिस प्रकार जलमें प्रतिबिम्बित चन्द्रमामें जो कम्पनादि होते हैं वे वास्तवमें जलके गुण हैं [चन्द्रमाके नहीं] उसी प्रकार साक्षी आत्मामें भी अनात्माके गुण सुख-दुःखादि बिना हुए ही भासते हैं ॥ ११ ॥ वह (अनात्मामें आत्मबुद्धि) निष्कामभावसे धर्मोंका आचरण करनेसे और भगवद्भक्तिसे भगवान्‌की कृपा होनेपर धीरे-धीरे निवृत्त हो जाती है ॥ १२ ॥ जिस समय सम्पूर्ण इन्द्रियाँ विषयोंसे उपराम होकर साक्षी आत्मा श्रीहरिमें लीन हो जाती हैं उस समय सोये हुए मनुष्यके समान जीवके सम्पूर्ण क्लेश क्षीण हो जाते हैं ॥ १३ ॥ जब भगवान्‌के गुणानुवादका श्रवण ही सम्पूर्ण क्लेशोंको शान्त कर देता है तब अपने हृदयमें प्रकट हुआ उनके पदपद्मपरागसेवनका प्रेम समस्त दुःखोंको दूर कर देगा—इसमें कहना ही क्या है ? ॥ १४ ॥

विदुर उवाच

संच्छिन्नः संशयो मह्यं तव सूक्तासिना विभो ।

विदुरजी बोले–भगवन् ! आपके सुन्दर युक्तियुक्त कथनरूप खड्गसे मेरे सब संशय नष्ट हो गये । अब

१. प्रा० पा०—यदर्थमात्मनामु० । २. प्रा० पा०—किं वा ।

उभयत्रापि भगवन्मनो मे संप्रधावति ॥१५॥

साध्वेतद्व्याहृतं विद्वन्नात्ममायायनं हरेः ।

आभात्यपार्थं निर्मूलं विश्वमूलं न यद्बहिः ॥१६॥

यश्च मूढतमो लोके यश्च बुद्धेः परं गतः ।

तावुभौ सुखमेधेते क्लिश्यत्यन्तरितो जनः ॥१७॥

अर्थाभावं विनिश्चित्य प्रतीतस्यापि नात्मनः ।

तां चापि युष्मच्चरणसेवयाहं पराणुदे ॥१८॥

यत्सेवया भगवतः कूटस्थस्य मधुद्विषः ।

रतिरासो भवेत्तीव्रः पादयोर्व्यसनार्दनः ॥१९॥

दुरापा ह्यल्पतपसः सेवा वैकुण्ठवर्त्मसु ।

यत्रोपगीयते नित्यं देवदेवो जनार्दनः ॥२०॥

सृष्ट्वाग्रे महदादीनि सविकाराण्यनुक्रमात् ।

तेभ्यो विराजमुद्धृत्य तमनु प्राविशद्विभुः ॥२१॥

यमाहुराद्यं पुरुषं सहस्राङ्घ्र्यूरुबाहुकम् ।

यत्र विश्व इमे लोकाः सविकासं समासते ॥२२॥

यस्मिन् दशविधः प्राणः सेन्द्रियार्थेन्द्रियस्त्रिवृत् ।

त्वयेरितो यतो वर्णास्तद्विभूतीर्वदस्व नः ॥२३॥

यत्र पुत्रैश्च पौत्रैश्च नप्तृभिः सह गोत्रजैः ।

प्रजा विचित्राकृतय आसन्याभिरिदं ततम् ॥२४॥

मेरा चित्त भगवान्‌की स्वतन्त्रता और जीवकी परतन्त्रता—दोनों ही विषयोंमें प्रवेश कर रहा है ॥ १५ ॥ हे विद्वन् ! आपने जो भगवान्‌की मायाके आश्रयसे इस जीवमें स्वप्नके समान बिना हुए ही निर्मूल क्लेश आदिका प्रतीत होना बतलाया वह बिलकुल ठीक है, क्योंकि भगवन्मायाके सिवा जगत्‌का कोई दूसरा कारण नहीं है ॥ १६ ॥ इस संसारमें जो लोग अत्यन्त मूढ़ हैं तथा जो बुद्धि आदिसे परे श्रीभगवान्‌को प्राप्त हो चुके हैं वे ही दोनों सुखी हैं बीचकी श्रेणीके लोग तो दुःख ही भोगते हैं ॥१७॥ हे मैत्रेयजी ! मुझे इतना निश्चय तो हो गया कि ये अनात्मपदार्थ प्रतीत होते हुए भी वास्तवमें कुछ नहीं हैं। अब जिनकी सेवा करनेसे निर्विकार भगवान् मधुसूदनके चरणकमलोंमें संसारसंकटको दूर करनेवाला प्रेम और उत्साह बढ़ता है उन आपके चरणोंकी आराधनासे इस मिथ्या प्रतीतिका भी बाध कर दूँगा ॥१८-१९॥ [मैं बड़ा सौभाग्यशाली हूँ क्योंकि] अल्प पुण्यवालोंको आप-जैसे वैकुण्ठके मार्गस्वरूप महापुरुषोंकी सेवाका अवसर मिलना अत्यन्त कठिन है जिनके समीप सदा ही देवदेव श्रीनारायणका सुयशगान हुआ करता है ॥ २० ॥

हे मैत्रेयजी ! आपने कहा कि भगवान्‌ने सृष्टिके आदिमें पहले महदादि तत्त्वोंको उनके विकारोंके सहित क्रमशः रचा और फिर उनके अंशोंसे विराट् शरीरकी रचनाकर उसमें स्वयं प्रवेश किया ॥ २१ ॥ उस सहस्रों चरण, जंघा और भुजाओंवाले पुरुषको वेद आदिपुरुष कहते हैं। उसीमें ये सम्पूर्ण लोक फैले हुए स्थित हैं ॥ २२ ॥ जिसमें इन्द्रिय, इन्द्रियोंके विषय और उनके अधिष्ठात्री देवता इन तीनोंके सहित दश प्रकारका प्राण स्थित है और जिससे आपने ब्राह्मणादि वर्णोंको उत्पन्न हुआ बतलाया है, उस विराट्पुरुषकी विभूतियोंका हमसे वर्णन कीजिये ॥ २३ ॥ जिन विभूतियोंसे पुत्र, पौत्र, नाती और कुटुम्बियोंके सहित नाना प्रकारकी प्रजा उत्पन्न हुई और उससे यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड व्याप्त हो गया ॥२४॥

१. प्रा० पा०—त० । २. प्रा० पा०—तश्चा० ।

प्रजापतीनां स पतिश्चक्लृपे कान्प्रजापतीन् ।
सर्गांश्चैवानुसर्गांश्च मनून्मन्वन्तराधिपान् ॥२५॥
एतेषामपि वंशांश्च वंशानुचरितानि च ।
उपर्यधश्च ते लोका भूमेर्मित्रात्मजासते ॥२६॥
तेषां संस्थां प्रमाणं च भूर्लोकस्य च वर्णय ।
तिर्यङ्मानुषदेवानां सरीसृपपतत्रिणाम् ।
वद नः सर्गसंव्यूहं गार्भस्वेदद्विजोद्भिदाम् ॥२७॥
गुणावतारैर्विश्वस्य सर्गस्थित्यप्ययाश्रयम् ।
सृजतः श्रीनिवासस्य व्याचक्ष्वोदारविक्रमम् ॥२८॥
वर्णाश्रमविभागांश्च रूपशीलस्वभावतः ।
ऋषीणां जन्मकर्मादि वेदस्य च विकर्षणम् ॥२९॥
यज्ञस्य च वितानानि योगस्य च पथः प्रभो ।
नैष्कर्म्यस्य च सांख्यस्य तन्त्रं वा भगवत्स्मृतम् ॥३०॥
पाखण्डपथवैषम्यं प्रतिलोमनिवेशनम् ।
जीवस्य गतयो याश्च यावतीर्गुणकर्मजाः ॥३१॥
धर्मार्थकाममोक्षाणां निमित्तान्यविरोधतः ।
वार्ताया दण्डनीतेश्च श्रुतस्य च विधिं पृथक् ॥३२॥
श्राद्धस्य च विधिं ब्रह्मन्पितॄणां सर्गमेव च ।
ग्रहनक्षत्रताराणां कालावयवसंस्थितिम् ॥३३॥
दानस्य तपसो वापि यच्चेष्टापूर्तयोः फलम् ।
प्रवासस्थस्य यो धर्मो यच्च पुंस उतापदि ॥३४॥
येन वा भगवांस्तुष्येद्धर्मयोनिर्जनार्दनः ।
संप्रसीदति वा येषामेतदाख्याहि चानघ ॥३५॥

ब्रह्मादि सम्पूर्ण प्रजापतियोंके पति उस विराट् पुरुषने किन-किन प्रजापतियोंको उत्पन्न किया तथा सर्ग, अनुसर्ग एवं चौदहों मन्वन्तरोंके अधिपति मनुओंकी किस क्रमसे रचना की ॥ २५ ॥ हे मैत्रेयजी ! उन मनुओंके वंश और उनके वंशधर राजाओंके चरित्रोंका, पृथिवीके ऊपर और नीचे जो लोक हैं उनकी स्थिति-का तथा पृथिवीके परिमाणका भी वर्णन कीजिये । इसके सिवा यह भी बतलाइये कि तिर्यक्, मनुष्य, देवता, सरीसृप (सर्प) और पक्षी तथा जरायुज, स्वेदज, अण्डज और उद्भिज ये चार प्रकारके प्राणी किस प्रकार उत्पन्न हुए ॥ २६-२७ ॥ अपने गुणावतार ब्रह्मा, विष्णु और महादेवरूपसे जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और संहार तथा विश्वके आश्रयकी रचना करनेवाले उन श्रीनिवास भगवान्ने जो अलौकिक पराक्रम किये हैं, उनका भी वर्णन कीजिये ॥ २८ ॥ इसके सिवा वेष-भूषा, आचरण और स्वभावके अनुसार वर्णाश्रमका विभाग, ऋषियोंके जन्म और कर्मादि, वेदोंका विभाग, यज्ञोंका विस्तार, योगका मार्ग, ज्ञान और उसके साधन सांख्यमार्गका प्रतिपादन करनेवाला भगवान्का कहा हुआ शास्त्र, पाखण्डमार्गका अवलम्बन करनेसे प्राप्त होनेवाली विषमता, नीच वर्णके पुरुषसे उच्च वर्णकी स्त्रीमें होनेवाली सन्तानोंका प्रकार तथा भिन्न-भिन्न गुण और कर्मोंके कारण जीवकी जो-जो गतियाँ होती हैं वे सब आप हमें सुनाइये ॥ २९-३१ ॥ हे ब्रह्मन् ! धर्म, अर्थ, काम और मोक्षकी प्राप्तिके निर्विरोध साधनका, वाणिज्य दण्डनीति और शास्त्रश्रवण-की पृथक्-पृथक् विधियोंका, श्राद्धकी विधिका, पितृगण-की उत्पत्तिका तथा ग्रह, नक्षत्र और तारागणकी कालचक्रमें स्थितिका भी वर्णन कीजिये ॥ ३२-३३ ॥ दान, तप तथा इष्ट और पूर्त कर्मोंका फल क्या है ? परदेशमें तथा आपत्तिके समय मनुष्यका क्या धर्म है ? सो बतलाइये ॥ ३४ ॥ धर्मके आदिकर्त्ता श्री-जनार्दन भगवान् किस प्रकार प्रसन्न होते हैं ? और कैसे पुरुषोंपर उनका अनुग्रह होता है ? हे अनघ ! ये सब रहस्य मुझे समझाइये ॥ ३५ ॥

१. प्रा० पा०—स्थित्युद्भवा० । २. प्रा० पा०—कर्माणि देवस्य ।

अनुव्रतानां शिष्याणां पुत्राणां च द्विजोत्तम ।
अनापृष्टमपि ब्रूयुर्गुरवो दीनवत्सलाः ॥३६॥
तत्त्वानां भगवंस्तेषां कतिधा प्रतिसंक्रमः ।
तत्रेमं क उपासीरन्क उ स्विदनुशेरते ॥३७॥
पुरुषस्य च संस्थानं स्वरूपं वा परस्य च ।
ज्ञानं च नैगमं यत्तद्गुरुशिष्यप्रयोजनम् ॥३८॥
निमित्तानि च तस्येह प्रोक्तान्यनघ सूरिभिः ।
स्वतो ज्ञानं कुतः पुंसां भक्तिर्वैराग्यमेव वा ॥३९॥
एतान्मे पृच्छतः प्रश्नान्हरेः कर्मविवित्सया ।
ब्रूहि मेऽज्ञस्य मित्रत्वादजया नष्टचक्षुषः ॥४०॥
सर्वे वेदाश्च यज्ञाश्च तपो दानानि चानघ ।
जीवाभयप्रदानस्य न कुर्वीरन्कलामपि ॥४१॥

हे द्विजश्रेष्ठ ! दीनोंपर दया करनेवाले गुरुजन अपने आज्ञाकारी शिष्य और पुत्रोंको बिना पूछे भी उनके हितकी बात बता देते हैं ॥ ३६ ॥ हे भगवन् ! आपके पूर्वकथित तत्त्वोंका प्रलय कितने प्रकारका है तथा प्रलयकालके समय योगनिद्रामें शयन करनेवाले श्रीहरिकी कौन-कौन तत्त्व सेवा करते हैं और कौन-कौन उनमें लीन हो जाते हैं ॥ ३७ ॥ जीवका तत्त्व, परमेश्वरका स्वरूप तथा उपनिषदादि शास्त्रोंमें गुरु-शिष्य-संवादरूपसे प्रतिपादित ज्ञान क्या हैं ? ॥ ३८ ॥ हे निष्पाप मैत्रेयजी ! विद्वानोंने उस ज्ञानकी प्राप्तिके क्या-क्या साधन बताये हैं—सो सब आप मुझसे कहिये, क्योंकि मनुष्योंको ज्ञान, भक्ति अथवा वैराग्यकी प्राप्ति अपने-आप तो कैसे हो सकती है ? ॥ ३९ ॥ मैं आपका मित्र हूँ; मायासे मोहित होनेके कारण मेरा ज्ञान नष्ट हो गया है; अतः श्रीहरिके चरित्र जाननेकी इच्छासे पूछे हुए इन सब प्रश्नोंका उत्तर आप मुझ अज्ञानीसे बताइये ॥ ४० ॥ हे पापरहित मैत्रेयजी ! प्राणियोंको मृत्यु-भयसे मुक्त कर देनेवाले फलकी समता सम्पूर्ण वेद, यज्ञ, तप और दान एक अंशमें भी नहीं कर सकते ॥४१॥

श्रीशुक उवाच

स इत्थमापृष्टपुराणकल्पः
कुरुप्रधानेन मुनिप्रधानः ।
प्रवृद्धहर्षो भगवत्कथायां
सञ्चोदितस्तं प्रहसन्निवाह ॥४२॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! कुरुप्रधान विदुरजीके इस प्रकार पुराणविषयक प्रश्न करनेपर मुनिश्रेष्ठ मैत्रेयजी भगवत्कथाके लिये प्रेरित होनेसे अति प्रसन्न होकर हँसते हुए उनसे इस प्रकार कहने लगे ।४२।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे तृतीयस्कन्धे
सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

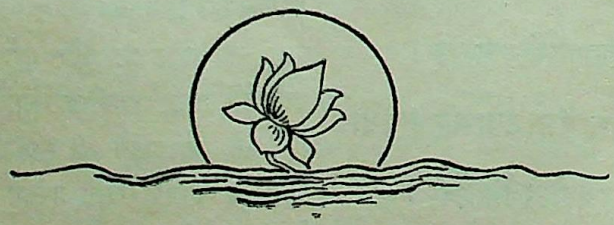

१. प्राचीन प्रतिमें 'ब्रह्मवाराहे' इतना पाठ अधिक है ।

आठवाँ अध्याय

ब्रह्माजीकी उत्पत्ति।

मैत्रेय उवाच

सत्सेवनीयो बत पूरुवंशो
यल्लोकपालो भगवत्प्रधानः।
बभूविथेहाजितकीर्तिमालां
पदे पदे नूतनयस्यभीक्ष्णम् ॥ १ ॥

सोऽहं नृणां क्षुल्लसुखाय दुःखं
महद्वतानां विरमाय तस्य[1]।
प्रवर्तये भागवतं पुराणं
यदाह साक्षाद्भगवानृषिभ्यः ॥ २ ॥

आसीनमुर्व्यां भगवन्तमाद्यं
संकर्षणं देवमकुण्ठसत्त्वम्।
विवित्सवस्तत्त्वमतः परस्य
कुमारमुख्या मुनयोऽन्वपृच्छन् ॥ ३ ॥

स्वमेव धिष्ण्यं बहु मानयन्तं
यं वासुदेवाभिधमामनन्ति।
प्रत्यग्धृताक्षाम्बुजकोशमीष-
दुन्मीलयन्तं विबुधोदयाय ॥ ४ ॥

स्वर्धुन्युदार्द्रैः स्वजटाकलापै-
रुपस्पृशन्तश्चरणोपधानम्।
पद्मं यदर्चन्त्यहिराजकन्याः
सप्रेमनानाबलिभिर्वरार्थाः ॥ ५ ॥

मुहुर्गृणन्तो वचसानुराग-
स्खलत्पदेनास्य कृतानि तज्ज्ञाः।
किरीटसाहस्रमणिप्रवेक-
प्रद्योतितोदामफणासहस्रम् ॥ ६ ॥

प्रोक्तं किलैतद्भगवत्तमेन
निवृत्तिधर्माभिरताय तेन।
सनत्कुमाराय स चाह पृष्टः
सांख्यायनायाङ्ग धृतव्रताय ॥ ७ ॥

श्रीमैत्रेयजीने कहा—हे विदुर ! यह पुरुवंश साधुपुरुषोंके सेवन करने योग्य है, क्योंकि इसमें भगवद्भक्तोंमें प्रधान आप साक्षात् लोकपाल यमराजने जन्म लिया है जो श्रीहरिकी कीर्तिमालाको क्षण-क्षणमें नयी-सी कर रहे हैं ॥ १ ॥ अतः क्षुद्र विषयसुखोंके लिये बड़े-बड़े दुःखोंको मोल लेनेवाले पुरुषोंकी दुःख-निवृत्तिके लिये अब मैं श्रीमद्भागवत प्रारम्भ करता हूँ, जिसे पूर्वकालमें साक्षात् शेष भगवान्ने (सनत्कुमार आदि) ऋषियोंसे कहा था ॥ २ ॥ एक बार पाताल-लोकमें स्थित, अप्रतिहत ज्ञानवान् आदिदेव भगवान् संकर्षणसे उनसे भी श्रेष्ठ श्रीपुरुषोत्तम भगवान्का स्वरूप जाननेकी इच्छासे सनत्कुमार आदि मुनीश्वरोंने यही प्रश्न किया था ॥ ३ ॥ उस समय शेषजी, वेद जिनका वासुदेव कहकर वर्णन करते हैं उन अपने ही आश्रय श्रीनारायणदेवका बड़े उत्साहसे मानसिक पूजन कर रहे थे। वे अन्तर्मुखवृत्तिसे अपने अन्तरात्मामें लगाये हुए नयनकमलोंको सनत्कुमारादि ज्ञानीजनोंपर अनुग्रह करनेके लिये कुछ-कुछ खोले हुए थे ॥४॥

मस्तकपर धारण किये हुए हजारों मुकुटोंमें जड़ी हुई उत्तम मणियोंसे जिनकी सहस्र कलाएँ देदीप्यमान हो रही थीं, उन भगवान् संकर्षणके चरणोंके नीचे रखे हुए जिस कमलको नागकन्याएँ मनोवाञ्छित वरकी कामनासे नाना प्रकारकी सामग्रियोंद्वारा पूजन करती हैं उसको इन सनत्कुमारादि ऋषियोंने गङ्गा-जलसे भीगी हुई अपनी जटाओंद्वारा स्पर्श करते हुए प्रणाम किया। वे भगवान्की लीलाओंको जानते थे, अतः प्रेमगद्गद वाणीसे उन लीलाओंका बखान करते हुए ही उन सनत्कुमारादिने जब प्रश्न किया तो भगवान् शेषजीने मोक्षधर्ममें तत्पर श्रीसनत्कुमार-जीसे यह भागवत कही थी—ऐसा प्रसिद्ध है। फिर हे तात ! सनत्कुमारजीने इसे परमव्रतशील सांख्यायन मुनिको, उनके प्रश्न करनेपर सुनाया ॥ ५–७ ॥

१. प्रा० पा०—तुभ्यम्।

सांख्यायनः पारमहंस्यमुख्यो
विवक्षमाणो भगवद्विभूतीः ।
जगाद सोऽस्मद्गुरवेऽन्विताय
पराशरायाथ बृहस्पतेश्च ॥ ८ ॥
प्रोवाच मह्यं स दयालुरुक्तो
मुनिः पुलस्त्येन पुराणमाद्यम् ।
सोऽहं तवैतत्कथयामि वत्स
श्रद्धालवे नित्यमनुव्रताय ॥ ९ ॥
उदाप्लुतं[1] विश्वमिदं तदासी-
द्यन्निद्रयामीलितदृङ् न्यमीलयत् ।
अहीन्द्रतल्पेऽधिशयान एकः
कृतक्षणः स्वात्मरतौ[2] निरीहः ॥१०॥
सोऽन्तःशरीरेऽर्पितभूतसूक्ष्मः
कालात्मिकां शक्तिमुदीरयाणः ।
उवास तस्मिन्सलिले पदे स्वे
यथानलो दारुणि रुद्धवीर्यः ॥११॥
चतुर्युगानां च सहस्रमप्सु
स्वपन्स्वयोदीरितया स्वशक्त्या ।
कालाख्ययासादितकर्मतन्त्रो[3]
लोकानपीतान्ददृशे स्वदेहे ॥१२॥
तस्यार्थसूक्ष्माभिनिविष्टदृष्टे-
रन्तर्गतोऽर्थो रजसा तनीयान् ।
गुणेन कालानुगतेन विद्धः
सूष्यंस्तदाभिद्यत नाभिदेशात् ॥१३॥
स पद्मकोशः सहसोदतिष्ठत्
कालेन कर्मप्रतिबोधनेन ।
स्वरोचिषा तत्सलिलं विशालं
विद्योतयन्नर्क इवात्मयोनिः ॥१४॥
तल्लोकपद्मं स उ एव विष्णुः
प्रावीविशत्सर्वगुणावभासम् ।

तदनन्तर परमहंसोंमें प्रधान श्रीसांख्यायनजीने भगवान्‌की विभूतियोंका वर्णन करनेकी इच्छासे अपने अनुगत शिष्य हमारे गुरु पराशरजीको और बृहस्पतिजीको यह महापुराण सुनाया ॥ ८ ॥ तत्पश्चात् परम दयालु पराशरजीने पुलस्त्य मुनिके कहनेसे वह आदिपुराण मुझसे कहा । हे वत्स ! तुम्हें श्रद्धालु और अपना अनुगत देखकर अब वही पुराण मैं तुम्हें सुनाता हूँ ॥ ९ ॥

जिस समय यह सम्पूर्ण जगत् जलमें डूबा हुआ था उस समय, जिनकी ज्ञानदृष्टि कभी बन्द नहीं होती उन शेषशय्यापर पौढ़े हुए अद्वितीय और निष्क्रिय नारायणदेवने योगनिद्राको आश्रितकर आत्मानन्दमें लीन हो अपने नेत्र मूँद लिये ॥ १० ॥ जिस प्रकार अग्नि अपनी दाह आदि शक्तियोंको छिपाये हुए काष्ठमें व्याप्त रहता है उसी प्रकार सम्पूर्ण भूतसूक्ष्मोंको अपने शरीरमें लीनकर श्रीनारायणदेवने अपनी काल-स्वरूपिणी शक्तिको [पुनः उत्थापनके लिये] प्रेरित करके उस प्रलयकालीन जलरूप अपने आश्रयमें निवास किया ॥ ११ ॥ इस प्रकार एक सहस्र चतुर्युगपर्यन्त जलमें शयन करनेवाले परमात्माने अपने द्वारा ही प्रेरित की हुई अपनी कालशक्तिद्वारा सृष्टि-रचनादि कर्म करनेके लिये जागरित कर दिये जानेपर अपने शरीरमें लीन हुए अनन्त लोकोंको देखा ॥ १२ ॥ जब परमात्माने अपने अन्तःस्थित भूतसूक्ष्मकी ओर दृष्टिपात किया तो वह सूक्ष्म भूतोंका समुदाय कालशक्तिसे उद्बोधित रजोगुणद्वारा क्षुभित होकर उनकी नाभिसे कमलके रूपमें प्रकट हुआ ॥ १३ ॥ इस प्रकार विष्णु भगवान्‌की नाभिसे प्रकट हुआ वह कमलकोश अपने तेजसे उस अपार जलको सूर्यके समान प्रकाशित करता हुआ कर्मशक्तिको जाग्रत् करनेवाले कालके द्वारा सहसा ऊपर उठा ॥ १४ ॥ सम्पूर्ण गुणोंको प्रकाशित करनेवाले उस सर्वलोकमय कमलमें वे ही विष्णु भगवान् अन्तर्यामीरूपसे प्रविष्ट हुए; तब उससे,

१. प्रा० पा०—उदप्लुतं । २. प्रा० पा०—रतावनीहः । ३. प्रा० पा०—कालात्ययोत्पादित० । ४. प्रा० पा०—स्वकमेव धिष्ण्यं प्रावी० ।

तस्मिन्स्वयं वेदमयो विधाता
स्वयंभुवं यं स्म वदन्ति सोऽभूत् ॥१५॥
तस्यां स चाम्भोरुहकर्णिकाया-
मवस्थितो लोकमपश्यमानः ।
परिक्रमन्व्योम्नि विवृत्तनेत्र-
श्चत्वारि लेभेऽनुदिशं मुखानि ॥१६॥
तस्माद्युगान्तश्वसनावघूर्ण-
जलोर्मिचक्रात्सलिलाद्विरूढम् ।
उपाश्रितः कञ्जमु लोकतत्त्वं
नात्मानमद्धाविददादिदेवः ॥१७॥
क एष योऽसावहमब्जपृष्ठ
एतत्कुतो वाब्जमनन्यदप्सु ।
अस्ति ह्यधस्तादिह किञ्चनैत-
दधिष्ठितं यत्र सता नु भाव्यम् ॥१८॥
स इत्थमुद्वीक्ष्य तदब्जनाल-
नाडीभिरन्तर्जलमाविवेश ।
नार्वाग्गतस्तत्खरनालनाल-
नाभिं विचिन्वंस्तदविन्दताजः ॥१९॥
तमस्यपारे विदुरात्मसर्गं
विचिन्वतोऽभूत्सुमहांस्त्रिणेमिः ।
यो देहभाजां भयमीरयाणः
परिक्षिणोत्यायुरजस्य हेतिः ॥२०॥
ततो निवृत्तोऽप्रतिलब्धकामः
स्वधिष्ण्यमासाद्य पुनः स देवः ।
शनैर्जितश्वासनिवृत्तचित्तो
न्यषीददारूढसमाधियोगः ॥२१॥
कालेन सोऽजः पुरुषायुषाभि-
प्रवृत्तयोगेन विरूढबोधः ।
स्वयं तदन्तर्हृदयेऽवभात-
मपश्यतापश्यत यन्न पूर्वम् ॥२२॥
मृणालगौरायतशेषभोग-

जिन्हें लोग स्वयंभू कहते हैं वे [बिना पढ़ाये] स्वयं ही सकल वेदोंके ज्ञाता श्रीब्रह्माजी उत्पन्न हुए ॥१५॥ उस कमलकोशमें बैठे हुए ब्रह्माजीको जब जगत् दिखायी नहीं दिया तो वे आकाशमें चारों ओर गर्दन मोड़-मोड़कर आँख फाड़कर देखने लगे । इससे उनके चारों दिशाओंमें चार मुख हो गये ॥ १६ ॥ उस समय प्रलय-कालीन पवनके थपेड़ोंसे उछलती हुई जलकी तरङ्ग-मालाओंके कारण उस जलके ऊपर आये हुए कमलकोश-पर विराजमान आदिदेव श्रीब्रह्माजीको अपना तथा उस लोकतत्त्वरूप कमलका कुछ भी रहस्य न जान पड़ा ॥१७॥

वे सोचने लगे 'इस कमलकी कर्णिकापर बैठा हुआ मैं कौन हूँ ? यह कमल भी बिना किसी अन्य आधारके जलमें कहाँसे उत्पन्न हो गया ? इसके नीचे अवश्य ही कोई और वस्तु होनी चाहिये जिसके आधारपर इसकी स्थितिकी सम्भावना हो सकती है' ॥१८॥ ऐसा सोचकर ब्रह्माजी उस कमलकी नालके छिद्रमें होकर जलमें घुसे, किन्तु उस नालके उत्पत्तिस्थान-को खोजते-खोजते बहुत नीचे चले जानेपर भी उन्हें उसका आधार न मिला ॥१९॥ हे विदुर ! उस अपार अन्धकारमें अपने उत्पत्तिस्थानको खोजते-खोजते ब्रह्माजीको बहुत (सहस्र वर्ष) काल बीत गया, जो काल भगवान्‌का चक्र है और प्राणियोंको भय देता हुआ उनकी आयुको क्षीण करता है ॥२०॥

अन्तमें विफलमनोरथ हो ब्रह्माजी वहाँसे लौट आये और अपने आश्रय कमलपर बैठकर धीरे-धीरे प्राणवायुको जीतकर चित्तको संकल्पोंसे निवृत्त किया तथा समाधिमें स्थित हो गये ॥२१॥ इस प्रकार पुरुषकी पूर्ण आयुके बराबर कालतक [अर्थात् एक सौ वर्षतक] अच्छी प्रकार सिद्ध किये हुए योगसे ब्रह्माजीको ज्ञान प्राप्त हुआ तब उन्होंने जिसे पहले कभी नहीं देखा था उस परमात्मस्वरूपको अपने अन्तः-करणमें स्वयं ही भासित होते देखा ॥२२॥

उन्होंने देखा कि उस प्रलयकालीन जलमें जिनके

१. प्रा० पा०—नालीभि० । २. प्रा० पा०—खरनालनाभिं स वै विचि० ।

पर्यङ्क एकं पुरुषं शयानम् ।
फणातपत्रायुतमूर्धरत्न-
द्युभिर्हतध्वान्तयुगान्ततोये ॥२३॥
प्रेक्षां क्षिपन्तं हरितोपलाद्रेः
सन्ध्याभ्रनीवेरुरुरुक्ममूर्ध्नः ।
रत्नोदधारौषधिसौमनस्य-
वनस्रजो वेणुभुजाङ्घ्रिपाङ्घ्रेः ॥२४॥
आयामतो विस्तरतः स्वमान-
देहेन लोकत्रयसंग्रहेण ।
विचित्रदिव्याभरणांशुकानां
कृताश्रियापाश्रितवेषदेहम् ॥२५॥
पुंसां स्वकामाय विविक्तमार्गै-
रभ्यर्चतां कामदुघाङ्घ्रिपद्मम् ।
प्रदर्शयन्तं कृपया नखेन्दु-
मयूखभिन्नाङ्गुलिचारुपत्रम् ॥२६॥
मुखेन लोकार्तिहरस्मितेन
परिस्फुरत्कुण्डलमण्डितेन ।
शोणायितेनाधरबिम्बभासा
प्रत्यर्हयन्तं सुनसेन सुभ्रुवा ॥२७॥
कदम्बकिञ्जल्कपिशङ्गवाससा
स्वलंकृतं मेखलया नितम्बे ।
हारेण चानन्तधनेन वत्स
श्रीवत्सवक्षःस्थलवल्लभेन ॥२८॥
परार्ध्यकेयूरमणिप्रवेक-
पर्यस्तदोर्दण्डसहस्रशाखम् ।
अव्यक्तमूलं भुवनाङ्घ्रिपेन्द्र-
महीन्द्रभोगैरधिवीतवल्शम् ॥२९॥

दश सहस्र फणरूप छत्रोंकी मणियोंके प्रकाशसे चारों ओरका अन्धकार दूर हो गया है उन श्रीशेषजीके कमलनालतुल्य गौर और विशाल विग्रहकी शय्यापर एक पुरुषश्रेष्ठ लेटे हुए हैं ॥२३॥ अपने श्याम शरीरकी कान्तिसे वे मरकतमणिके पर्वतकी शोभाको लज्जित करते हैं; उनकी कमरका पीतपट सायंकालीन मेघकी आभाको मलिन कर रहा है; उनके शिरपर विराजमान सुवर्णमय मुकुट सुवर्णशिखरोंका मानमर्दन करता है तथा उनकी वनमाला रत्न, जलधारा, औषध और पुष्पोंका, भुजाएँ बाँसोंका और चरण वृक्षोंका तिरस्कार करते हैं ॥ २४ ॥ उनका वह विग्रह लम्बाई-चौड़ाईमें अपने ही समान है, उसमें तीनों लोक संगृहीत हैं तथा वह विचित्र एवं दिव्य वस्त्राभूषणोंकी शोभासे अलंकृत है और वे भगवान् सुन्दर वेष धारण किये हुए हैं ॥२५॥ अपनी-अपनी कामनाओंकी प्राप्तिके लिये वेदविहित विशुद्ध विधिसे पूजन करनेवालोंको वे अपने नखचन्द्रोंकी किरणोंसे पृथक्-पृथक् प्रतीत होनेवाले मनोहर अंगुलिदलोंसे युक्त अपना सर्वकामप्रद चरणकमल कृपया दिखा रहे हैं ॥२६॥ संसारसंकटको दूर करनेवाली मनोहर मुसकानसे युक्त, झिलमिलाते हुए कुण्डलोंसे सुशोभित, अरुणवर्ण अधर-बिम्बोंसे भासमान तथा सुन्दर नासिका और भृकुटिसे सुशोभित सुन्दर मुखारविन्दसे वे अपने उपासकोंका मान कर रहे हैं ॥२७॥ हे वत्स ! ब्रह्माजीने देखा कि वे नरश्रेष्ठ अपने नितम्बदेशमें कदम्बकुसुमकी केशरके समान पीतवस्त्र और सुवर्णमयी मेखलासे अलंकृत हैं तथा श्रीलक्ष्मलाञ्छित वक्षःस्थलमें प्रेमपूर्वक पहने हुए महामूल्यमय हारसे सुशोभित हैं ॥२८॥ वे एक महान् चन्दनवृक्षके समान हैं, महामूल्य केयूर तथा उत्तम मणियोंसे सुशोभित उनकी विशाल भुजाएँ सहस्रों शाखाओंके समान हैं, अव्यक्त (प्रकृति अथवा ब्रह्म) ही उस वृक्षका मूलभाग है, तथा चन्दनमें जैसे सर्प लिपटे रहते हैं उसी प्रकार उनके स्कन्ध शेषजीके सहस्रों फणोंसे वेष्टित होकर शोभा पा रहे

१. प्रा० पा०—श्रितदेहवेषम् । २. प्रा० पा०—सुपीतवाससा ।

चराचरौको भगवन्महीध्र-
महीन्द्रबन्धुं सलिलोपगूढम् ।
किरीटसाहस्रहिरण्यशृङ्ग-
माविर्भवत्कौस्तुभरत्नगर्भम् ॥३०॥
निवीतमाम्नायमधुव्रतश्रिया
स्वकीर्तिमय्या वनमालया हरिम् ।
सूर्येन्दुवाय्वग्न्यगमं त्रिधामभिः
परिक्रमत्प्राधनिकैर्दुरासदम् ॥३१॥

हैं ॥२९॥ नागराज शेषजीके बन्धु श्रीनारायण मानो चराचरके आश्रयरूप कोई जलनिमग्न पर्वतराज हैं। शेषजीके सहस्रों मुकुट मानो उन पर्वतराजके सुवर्ण-मण्डित शिखर हैं और भगवान्‌के वक्षःस्थलपर विराजमान कौस्तुभमणि उनके गर्भसे प्रकट हुआ रत्न है ॥३०॥ वे श्रीहरि, जिसपर वेदरूप भौंरे गुञ्जार रहे हैं ऐसी अपनी कीर्तिमयी वनमालासे विभूषित हैं; उनतक सूर्य, चन्द्रमा, वायु और अग्नि आदि देवगणकी भी गति नहीं है तथा जिनकी त्रिभुवनमें अबाध गति है ऐसे अपनी परिक्रमा करनेवाले सुदर्शन चक्रादि अपने आयुधोंके लिये भी वे अत्यन्त दुष्प्राप्य हैं ॥३१॥

तर्ह्येव तन्नाभिसरःसरोज-[1]
मात्मानमम्भः श्वसनं वियच्च ।
ददर्श देवो जगतो विधाता
नातः परं लोकविसर्गदृष्टिः ॥३२॥
स कर्मबीजं रजसोपरक्तः
प्रजाः सिसृक्षन्नियदेव दृष्ट्वा ।
अस्तौद्विसर्गाभिमुखस्तमीड्य-
मव्यक्तवर्त्मन्यभिवेशितात्मा ॥३३॥

उस समय जगत्-रचनाकी इच्छावाले लोकविधाता ब्रह्माजीने भगवान्‌के नाभिसरोवरसे प्रकट हुआ वह कमल, जल, आकाश, वायु और अपना आप केवल ये पाँच ही पदार्थ देखे, और कुछ नहीं ॥३२॥ ये पाँच पदार्थ ही सृष्टिके बीजरूप हैं—ऐसा जानकर लोक-रचनाके लिये उत्सुक और रजोगुणसे व्याप्त वे ब्रह्माजी अचिन्त्यगति श्रीहरिमें चित्त लगाकर उन पूजनीय पुराणपुरुषकी स्तुति करने लगे ॥३३॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे तृतीयस्कन्धे-
ऽष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

नवाँ अध्याय

ब्रह्माजीद्वारा भगवान्‌की स्तुति ।

ब्रह्मोवाच

ज्ञातोऽसि मेऽद्य सुचिराननु देहभाजां
न ज्ञायते भगवतो गतिरित्यवद्यम् ।
नान्यत्त्वदस्ति भगवन्नपि तन्न[2] शुद्धं
मायागुणव्यतिकराद्यदुरुर्विभासि ॥ १ ॥

ब्रह्माजी बोले—भगवन् ! आज बहुत समयके पश्चात् मैं आपको जान सका हूँ। अहो ! कैसे दुःखकी बात है कि देहधारी जीव आपकी गतिको नहीं जान सकते। हे भगवन् ! आपके सिवा और कोई वस्तु नहीं है; जो वस्तु प्रतीत होती है वह भी शुद्ध (स्वरूपतः सत्य) नहीं है, क्योंकि मायागुणोंके अन्योन्यसम्बन्धके कारण आप ही अनेकों रूपोंमें प्रतीत होते हैं ॥१॥

१. प्रा० पा०—सरोरुह० । २. प्रा० पा०—तत्त्वशुद्धं ।

रूपं यदेतदवबोधरसोदयेन
शश्वन्निवृत्ततमसः सदनुग्रहाय ।
आदौ गृहीतमवतारशतैकबीजं
यन्नाभिपद्मभवनादहमाविरासम् ॥ २ ॥
नातः परं परम यद्भवतः स्वरूप-
मानन्दमात्रमविकल्पमविद्धवर्चः ।
पश्यामि विश्वसृजमेकमविश्वमात्मन्
भूतेन्द्रियात्मकमदस्त[1] उपाश्रितोऽस्मि ॥ ३ ॥
तद्वा इदं भुवनमङ्गल मङ्गलाय
ध्याने स्म नो दर्शितं त उपासकानाम् ।
तस्मै नमो भगवतेऽनुविधेम तुभ्यं
योऽनादृतो नरकभाग्भिरसत्प्रसङ्गैः ॥ ४ ॥
ये तु त्वदीयचरणाम्बुजकोशगन्धं
जिघ्रन्ति कर्णविवरैः श्रुतिवातनीतम् ।
भक्त्या गृहीतचरणः परया च तेषां
नापैषि नाथ हृदयाम्बुरुहात्स्वपुंसाम् ॥ ५ ॥
तावद्भयं द्रविणगेह[2]सुहृन्निमित्तं
शोकः स्पृहा परिभवो विपुलश्च लोभः ।
तावन्ममेत्यसदवग्रह आर्तिमूलं
यावन्न तेऽङ्घ्रिमभयं प्रवृणीत लोकः ॥ ६ ॥
दैवेन ते हतधियो भवतः प्रसङ्ग-
त्सर्वाशु[3]भोपशमनाद्विमुखेन्द्रिया ये ।
कुर्वन्ति कामसुखलेशलवाय दीना
लोभाभिभूतमनसोऽकुशलानि शश्वत् ॥ ७ ॥
क्षुत्तृट्त्रिधातुभिरिमा मुहुरर्द्यमानाः
शीतोष्णवातवर्षैरितरेतराच्च ।

हे देव ! चित्-शक्तिके सदा प्रकाशित रहनेके कारण जिससे अज्ञान सर्वदा दूर रहता है, जिसके नाभिकमलसे मैं प्रकट हुआ हूँ, ऐसे आपका यह रूप सैकड़ों अवतारोंका मूल कारण है। इसे सज्जनोंपर अनुग्रह करनेके लिये ही आपने पहले-पहल धारण किया है ॥२॥ हे परमात्मन् ! आपका जो आनन्दमात्र, निर्विकल्प और अखण्ड तेजोमय निर्गुण स्वरूप है उसे मैं आपके इस रूपसे कुछ पृथक् नहीं समझता; इसलिये मैंने आपके इस पञ्चभूत और इन्द्रियादिके भी आत्मा तथा वास्तवमें विश्वातीत होते हुए भी विश्वकी सृष्टि करनेवाले रूपकी ही शरण ली है ॥३॥ हे भुवनमङ्गल ! आपने अपनी उपासना करनेवाले हमलोगोंका कल्याण करनेके लिये ही हमें ध्यानमें यह रूप दिखाया है। हे देव ! नरकभागी विषयासक्त जन जिसका अनादर करते हैं ऐसे आपके इस रूपको हम नमस्कार करते हैं ॥४॥ जो लोग वेदरूप वायुसे लाये हुए आपके चरणरूप कमलकोशकी गन्धको अपने कर्णपुटोंसे ग्रहण करते हैं उन अपने भक्तजनोंके हृदयकमलसे आप कभी दूर नहीं होते क्योंकि ये परम भक्तिरूप रज्जुसे आपके पादपद्मोंको बाँध लेते हैं ॥ ५ ॥ प्रभो ! जबतक पुरुष आपके अभयप्रद चरणकमलोंका आश्रय नहीं लेता तभीतक उसे धन, गृह और सुहृद्जनके कारण प्राप्त होनेवाला भय तथा शोक, स्पृहा, पराभव और अत्यन्त तृष्णा आदि सताते हैं तथा तभीतक उसे 'मैं और मेरापनका' दुःखजनक असत् आग्रह रहता है ॥ ६ ॥ जो पुरुष सम्पूर्ण अशुभोंको नष्ट करनेवाले आपके श्रवण-कीर्तनादि प्रसङ्गोंसे इन्द्रियोंको हटाकर लेशमात्र विषय-सुखके लिये मन-ही-मन लालायित हो निरन्तर काम्यकर्मोंमें लगे रहते हैं उन बेचारोंकी बुद्धि दैवने हर ली है—ऐसा समझना चाहिये ॥ ७ ॥ हे उरुक्रम ! हे अच्युत ! इस प्रजाको क्षुधा-पिपासासे और वात, पित्त, कफ इन तीन धातुओंसे तथा शीत, उष्ण, वायु, वर्षासे

१. प्रा० पा०—स्तमुपा० । २. प्रा० पा०—द्रविणदेह० । ३. प्रा० पा०—सर्वासुखोप० ।

कामाग्निनाच्युत रुषा च सुदुर्भरेण
सम्पश्यतो मन उरुक्रम सीदते मे ॥ ८ ॥
यावत्पृथक्त्वमिदमात्मन इन्द्रियार्थ-
मायाबलं भगवतो जन ईश पश्येत् ।
तावन्न संसृतिरसौ प्रतिसंक्रमेत
व्यर्थापि दुःखनिवहं वहति क्रियार्था ॥ ९ ॥
अह्न्यापृतार्तकरणा निशि निःशयाना
नानामनोरथधिया क्षणभग्ननिद्राः ।
दैवाहतार्थरचना ऋषयोऽपि देव
युष्मत्प्रसङ्गविमुखा इह संसरन्ति ॥ १० ॥
त्वं भावयोगपरिभावितहृत्सरोज
आस्से श्रुतेक्षितपथो ननु नाथ पुंसाम् ।
यद्यद्धिया त उरुगाय विभावयन्ति
तत्तद्वपुः प्रणयसे सदनुग्रहाय ॥ ११ ॥
नातिप्रसीदति तथोपचितोपचारै-
राराधितः सुरगणैर्हृदि बद्धकामैः ।
यत्सर्वभूतदययासदलभ्ययैको
नानाजनेष्ववहितः सुहृदन्तरात्मा ॥ १२ ॥
पुंसामतो विविधकर्मभिरध्वराद्यै-
र्दानेन चोग्रतपसा व्रतचर्यया च ।
आराधनं भगवतस्तव सत्क्रियार्थो
धर्मोऽर्पितः कर्हिचिद्ध्रियते न यत्र ॥ १३ ॥
शश्वत्स्वरूपमहसैव निपीतभेद-
मोहाय बोधधिषणाय नमः परस्मै ।

और आपसमें एक-दूसरेसे एवं कामाग्नि और दुःसह क्रोधसे बारम्बार कष्ट उठाते देख मेरा चित्त दयावश अति खिन्न होता है ॥ ८ ॥ हे ईश ! जबतक मनुष्य आपकी इन्द्रिय और विषयरूपिणी मायासे दृढ़रूपमें प्रतीत होनेवाले देहादिरूप नानात्वका संपर्क आप ऐश्वर्यशाली परमात्मामें देखता है तबतक इस संसारचक्रकी निवृत्ति नहीं हो सकती और यह मिथ्या होनेपर भी कर्मफलभोगका आश्रय होनेके कारण नाना प्रकारके दुःख प्राप्त कराता रहता है ॥ ९ ॥ हे देव ! जो दिनमें नाना प्रकारके व्यापारोंके कारण विकलेन्द्रिय रहते हैं, रात्रिके समय निद्रामें अचेत पड़े रहते हैं, तरह-तरहके मनोरथोंके कारण क्षण-क्षणमें जिनकी नींद टूट जाती है और जिनके द्रव्यप्राप्तिके सब उद्योग दैववश व्यर्थ होते रहते हैं, ऐसे मुनिजन भी आपके कथाप्रसंगादिसे विमुख रहनेके कारण पुनः-पुनः संसारचक्रमें पड़ते हैं ॥ १० ॥ हे नाथ ! जिनका मार्ग केवल गुणश्रवणसे ही जाना जाता है ऐसे आप निश्चय ही मनुष्योंके भक्तिभावसे परिपूर्ण हृदयकमलमें निवास करते हैं । हे पुण्यश्लोक प्रभो ! आपके भक्तजन जिस-जिस भावनासे आपका चिन्तन करते हैं उन साधुपुरुषोंपर अनुग्रह करनेके लिये आप वही-वही रूप धारण कर लेते हैं ॥ ११ ॥ भगवन् ! आप एक हैं तथा सम्पूर्ण प्राणियोंके अन्तःकरणोंमें स्थित उनके परम हितकारी अन्तरात्मा हैं । इसलिये हृदयमें नाना प्रकारकी कामनाएँ रखनेवाले देवताओंके द्वारा भाँति-भाँतिकी सामग्रियोंसे पूजित होनेपर भी आप ऐसे प्रसन्न नहीं होते जैसे सम्पूर्ण प्राणियोंपर दया करनेसे होते हैं; किन्तु यह सर्वभूतदया असत्पुरुषोंको अत्यन्त दुर्लभ है ॥ १२ ॥ इसलिये हे भगवन् ! नाना प्रकारके कर्म, यज्ञ, दान, कठिन तपस्या और व्रतादिसे आपकी आराधना करना ही मनुष्योंके शुभ कर्मोंका फल है; क्योंकि आपको अर्पण किया हुआ धर्म कभी क्षीण नहीं होता ॥ १३ ॥ अतः सर्वदा अपने स्वरूपके प्रकाशसे ही भेदभ्रमरूप अन्धकारका नाश करनेवाले ज्ञानके आश्रय आप परमपुरुषको मैं नमस्कार

१. प्रा० पा०—पृथक्स्थितमिदं मन इन्द्रियार्थं मा० । २. प्रा० पा०—व्यर्थातिदुःख० । ३. प्रा० पा०—तदनुग्रहाय । ४. प्रा० पा०—बोधविषयाय ।

विश्वोद्भवस्थितिलयेषु निमित्तलीला-
रासाय ते नम इदं चकृमेश्वराय ॥१४॥
यस्यावतारगुणकर्मविडम्बनानि
नामानि येऽसुविगमे विवशा गृणन्ति ।
ते नैकजन्मशमलं[1] सहसैव हित्वा
संयान्त्यपावृतमृतं तमजं प्रपद्ये ॥१५॥
यो वा अहं च गिरिशश्च विभुः स्वयं च
स्थित्युद्भवप्रलयहेतव आत्ममूलम् ।
भित्त्वा त्रिपाद्वृध एक उरुप्ररोह-
स्तस्मै नमो भगवते भुवनद्रुमाय ॥१६॥
लोको विकर्मनिरतः कुशले प्रमत्तः
कर्मण्ययं[2] त्वदुदिते भवदर्चने स्वे ।
यस्तावदस्य बलवानिह जीविताशां
सद्यश्छिनत्त्यनिमिषाय नमोऽस्तु तस्मै ॥१७॥
यस्माद्बिभेम्यहमपि द्विपरार्धधिष्ण्य-
मध्यासितः सकललोकनमस्कृतं यत् ।
तेपे तपो बहुसवोऽवरुरुत्समान-[3]
स्तस्मै नमो भगवतेऽधिमखाय तुभ्यम् ॥१८॥
तिर्यङ्मनुष्यविबुधादिषु जीवयोनि-
ष्वात्मेच्छयात्मकृतसेतुपरीप्सया यः ।
रेमे निरस्तरतिरप्यवरुद्धदेह-
स्तस्मै नमो भगवते पुरुषोत्तमाय ॥१९॥
योऽविद्ययानुपहतोऽपि दशार्धवृत्त्या
निद्रामुवाह जठरीकृतलोकयात्रः ।
अन्तर्जलेऽहिकशिपुस्पर्शानुकूलां[4]
भीमोर्मिमालिनि जनस्य सुखं विवृण्वन् ॥२०॥
यन्नाभिपद्मभवनादहमासमीड्य
लोकत्रयोपकरणो यदनुग्रहेण ।

करता हूँ। संसारकी उत्पत्ति, स्थिति और संहार करनेके लिये अपनी मायामयी क्रीडामें विहार करनेवाले आप परमेश्वरको मैं बारम्बार प्रणाम करता हूँ ॥ १४ ॥ जिनके अवतारोंके गुण और कर्मोंको सूचित करनेवाले नामोंका प्राणत्यागके समय विवश होकर भी उच्चारण करनेवाले मनुष्य अनेकों जन्मके पापोंसे तत्काल मुक्त होकर माया आदि आवरणोंसे रहित ब्रह्मपदको प्राप्त होते हैं उन अजन्मा हरिकी मैं शरण हूँ ॥ १५ ॥ जो भगवान् जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयके लिये अपने मूलस्वरूपसे मेरे, अपने और महादेवजीके रूपमें तीन शाखाओंमें विभक्त हो प्रजापति और मनु आदि रूपसे फैलकर वृद्धिको प्राप्त हुए हैं उन विश्ववृक्षरूप परमात्माको मैं प्रणाम करता हूँ ॥ १६ ॥ हे प्रभो ! आपके बताये हुए अपने पूजनरूप कल्याणकारी कर्मसे उदासीन रहकर जो पुरुष विपरीत कर्मोंमें लगा रहता है उसकी जीवनाशाको जो शीघ्रतासे काटता रहता है उस सदा सावधान रहनेवाले बलवान् कालरूप आप परमेश्वरको प्रणाम है ॥ १७ ॥ जो दो परार्द्धपर्यन्त रहनेवाला होनेके कारण सम्पूर्ण लोकोंका वन्दनीय है उस अपने निवासस्थान सत्यलोकमें स्थित हुआ भी मैं जिनसे निरन्तर डरता रहता हूँ तथा जिनकी प्राप्तिके लिये मैंने बहुत समयतक कठोर तपस्या की थी उन आप भगवान् अधियज्ञ पुरुषको नमस्कार है ॥ १८ ॥ जिन्होंने अपनी बनायी हुई पशु-पक्षी, मनुष्य और देवता आदि जीवयोनियोंमें अपनी ही इच्छासे शरीर धारणकर धर्ममर्यादाकी रक्षाके लिये अनासक्त भावसे अनेकों क्रीडाएँ कीं उन भगवान् पुरुषोत्तमको नमस्कार है ॥ १९ ॥ जो [तामिस्र, अन्धतामिस्र, तम, मोह और महामोह नामक] पाँच प्रकारकी अविद्याके वशीभूत न होकर भी सम्पूर्ण जगत्को अपने उदरमें लीनकर जीवोंके निद्रासुखको बढ़ाते हुए भयङ्कर तरङ्गमालाओंसे आवृत प्रलयकालीन जलमें शेषजीके शरीरकी अनुकूल शय्यापर शयन कर रहे हैं, जिनके नाभिकमलसे उत्पन्न होनेके कारण और जिनकी कृपासे मैं त्रिलोकीकी रचनारूप उपकार करनेमें समर्थ एवं पूज्य

१. प्रा० पा०—जन्मजमलं । २. प्रा० पा०—ण्यपि । ३. प्रा० पा०—सवो विरु० । ४. प्रा० पा०—नुयोगाद् ।

तस्मै नमस्त उदरस्थभवाय योग-
निद्रावसानविकसन्नलिनेक्षणाय ॥२१॥
सोऽयं समस्तजगतां सुहृदेक आत्मा
सत्त्वेन यन्मृडयते भगवान्भगेन ।
तेनैव मे दृशमनुस्पृशताद्यथाहं
स्रक्ष्यामि पूर्ववदिदं प्रणतप्रियोऽसौ[1] ॥२२॥
एष प्रपन्नवरदो रमयात्मशक्त्या
यद्यत्करिष्यति गृहीतगुणावतारः[2] ।
तस्मिन्स्वविक्रममिदं[3] सृजतोऽपि चेतो
युञ्जीत कर्मशमलं च यथा विजह्याम् ॥२३॥
नाभिह्रदादिह सतोऽम्भसि यस्य पुंसो
विज्ञानशक्तिरहमासमनन्तशक्तेः ।
रूपं विचित्रमिदमस्य विबृण्वतो मे
मा रीरिषीष्ट निगमस्य गिरां विसर्गः ॥२४॥
सोऽसावदभ्रकरुणो भगवान्विवृद्ध-[4]
प्रेमस्मितेन नयनाम्बुरुहं विजृम्भन् ।
उत्थाय विश्वविजयाय च नो विषादं
माध्व्या गिरापनयतात्पुरुषः पुराणः ॥२५॥

मैत्रेय उवाच

स्वसम्भवं निशाम्यैवं[5] तपोविद्यासमाधिभिः ।
यावन्मनोवचः स्तुत्वा विरराम स खिन्नवत् ॥२६॥
अथाभिप्रेतमन्वीक्ष्य[6] ब्रह्मणो मधुसूदनः ।
विषण्णचेतसं तेन कल्पव्यतिकराम्भसा ॥२७॥
लोकसंस्थानविज्ञान आत्मनः परिखिद्यतः ।
तमाहागाधया वाचा कश्मलं शमयन्निव ॥२८॥

श्रीभगवानुवाच

मा वेदगर्भ गास्तन्द्रीं सर्ग उद्यममावह ।

हुआ हूँ जिनके उदरमें यह सम्पूर्ण जगत् स्थित है तथा योगनिद्राका अन्त हो जानेसे जिनके कमलनयन विकसित हो रहे हैं उन आपको नमस्कार है ॥२०-२१॥ सम्पूर्ण संसारके एकमात्र सुहृद् और आत्मा तथा शरणागतवत्सल वे श्रीभगवान् जिस अपने ज्ञान और ऐश्वर्यसे विश्वको आनन्दित करते हैं उसीसे मेरी बुद्धिको भी युक्त करें जिससे मैं जगत्की पहलेके समान ही रचना कर सकूँ ॥ २२ ॥ वे शरणागत-वरदायक श्रीहरि लक्ष्मीरूप अपनी शक्तिके सहित अनेकों गुणावतार लेकर जो-जो अद्भुत कर्म करेंगे उनमेंसे ही उन्हींके एक विक्रमरूप इस जगत्की रचना करते समय वे ही मेरे चित्तको प्रेरित करें जिससे मैं अपने सृष्टिरचनाविषयक अभिमानरूप मलका त्याग कर सकूँ ॥ २३ ॥ इस प्रलयकालीन जलमें शयन करनेवाले जिन अनन्तशक्ति परम पुरुषके नाभिसरोवरसे उनकी विज्ञानशक्तिरूप महत्तत्त्वका अभिमानी मैं उत्पन्न हुआ हूँ उन्हींकी कृपासे, इस जगत्के विचित्र रूपका विस्तार करते समय मेरी वेदरूप वाणीका उच्चारण लुप्त न हो ॥ २४ ॥ वे अपार करुणामय पुराणपुरुष परम प्रेममयी मुसकानके सहित अपने नेत्रकमल खोलते हुए जगत्के कल्याण और मुझपर अनुग्रह करनेके लिये स्वयं उठकर अपनी सुमधुर वाणीसे मेरा खेद दूर करें ॥ २५ ॥

श्रीमैत्रेयजी बोले—हे विदुर ! इस प्रकार तप, विद्या और समाधिके द्वारा अपने उत्पत्तिस्थान श्री-विष्णु भगवान्को देखकर तथा अपने मन और वाणी-की शक्तिके अनुसार उनकी स्तुतिकर ब्रह्माजी थके-से होकर मौन हो गये ॥ २६ ॥ तब लोकरचनाविषयक ज्ञानके लिये खेद करनेवाले ब्रह्माजीका अभिप्राय जान और उन्हें प्रलयकालीन जलसे मनमें घबड़ाते देख श्रीमधु-सूदन भगवान् अपनी अगाध वाणीसे उनका खेद शान्त करते हुए-से कहने लगे ॥ २७-२८ ॥

श्रीभगवान् बोले—हे वेदगर्भ ! तुम आलस्य न करो, सृष्टिरचनाके उद्योगमें तत्पर हो जाओ । तुम

१. प्रा० पा०—प्रियोऽस्मि । २. प्रा० पा०—गुणेषु गुणा० । ३. प्रा० पा०—मिमं । ४. प्रा० पा०—वान् प्रवृ० । ५. प्रा० पा०—निश० । ६. प्रा० पा०—प्रेत्य० ।

तन्मयापादितं ह्यग्रे यन्मां प्रार्थयते भवान् ॥२९॥
भूयस्त्वं तप आतिष्ठ विद्यां चैव मदाश्रयाम् ।
ताभ्यामन्तर्हृदि ब्रह्मन्लोकान्द्रक्ष्यस्यपावृतान् ॥३०॥
तत आत्मनि लोके च भक्तियुक्तः समाहितः ।
द्रष्टासि मां ततं ब्रह्मन्मयि लोकांस्त्वमात्मनः ॥३१॥
यदा तु सर्वभूतेषु दारुष्वग्निमिव स्थितम् ।
प्रतिचक्षीत[1] मां लोको जह्यात्तर्ह्येव[2] कश्मलम् ॥३२॥
यदा रहितमात्मानं भूतेन्द्रियगुणाशयैः[3] ।
स्वरूपेण मयोपेतं पश्यन्स्वाराज्यमृच्छति ॥३३॥
नानाकर्मवितानेन प्रजा बह्वीः सिसृक्षतः ।
नात्मावसीदत्यस्मिंस्ते वर्षीयान्मदनुग्रहः[4] ॥३४॥
ऋषिमाद्यं न बध्नाति पापीयांस्त्वां रजोगुणः ।
यन्मनो मयि निर्बद्धं प्रजाः संसृजतोऽपि ते ॥३५॥
ज्ञातोऽहं भवता त्वद्य दुर्विज्ञेयोऽपि देहिनाम् ।
यन्मां त्वं मन्यसेऽयुक्तं भूतेन्द्रियगुणात्मभिः ॥३६॥
तुभ्यं मद्विचिकित्सायामात्मा मे[5] दर्शितोऽबहिः ।
नालेन सलिले मूलं पुष्करस्य विचिन्वतः ॥३७॥
यच्चकर्थाङ्ग मत्स्तोत्रं मत्कथाभ्युदयाङ्कितम् ।
यद्वा तपसि ते निष्ठा स एष मदनुग्रहः ॥३८॥
प्रीतोऽहमस्तु भद्रं ते लोकानां विजयेच्छया ।

मुझसे जो कुछ चाहते हो उसका तो मैंने पहलेसे ही प्रबन्ध किया है ॥ २९ ॥ तुम एक बार फिर तपस्या करो और मुझसे सम्बन्ध रखनेवाला ज्ञान प्राप्त करो । हे ब्रह्मन् ! उन तप और ज्ञानकी सहायतासे तुम सम्पूर्ण लोकोंको अपने अन्तःकरणमें स्पष्ट देख सकोगे ॥ ३० ॥ फिर, चित्तको एकाग्र करके मेरी भक्तिसे युक्त हुए तुम सम्पूर्ण लोक और अपने आपमें मुझको देखोगे तथा सम्पूर्ण लोक और अपने आपको मुझमें देखोगे ॥ ३१ ॥ जिस समय जीव काष्ठमें व्याप्त अग्निके समान सम्पूर्ण भूतोंमें मुझे ही स्थित देखता है उसी समय वह अपने अज्ञानरूप मलको दूर कर देता है ॥ ३२ ॥ जिस समय वह अपने आपको पञ्चभूत, इन्द्रियगुण और अन्तःकरणसे रहित देखता है, उस समय वह अपनेको मुझ परमात्मासे एकीभूत देखता हुआ मोक्षपद प्राप्त कर लेता है ॥ ३३ ॥ हे ब्रह्माजी! नाना प्रकारके कर्म संस्कारोंके अनुसार विविधविध प्रजाकी रचना करते हुए भी जो इसमें तुम्हारा चित्त मोहित नहीं होता यह मेरी अत्यन्त कृपाका ही फल है ॥३४॥ प्रजाकी उत्पत्ति करते समय भी तुम्हारा चित्त मुझमें लगा हुआ है इसलिये तुझ आदिऋषिको यह महापापी रजोगुण नहीं बाँध सकता ॥ ३५ ॥ तुम मुझे पञ्चभूत, इन्द्रिय, गुण और अन्तःकरणसे रहित मानते हो इससे विदित होता है कि यद्यपि देहधारी जीवोंको मेरा ज्ञान होना अत्यन्त कठिन है तो भी तुमने मेरा वास्तविक रूप जान लिया है ॥ ३६ ॥ 'मेरा आश्रय कोई है या नहीं ?' इस सन्देहसे कमलनालद्वारा जलमें उस कमलके मूलको खोजनेवाले तुमको मैंने अपना यह रूप तुम्हारे अन्तःकरणहीमें दिखाया है ॥ ३७ ॥ हे तात ! तुमने जो मेरी कथाओंके वैभवसे युक्त मेरी स्तुति की और तपस्यामें तुम्हारी रुचि हुई यह मेरी कृपाका ही फल है ॥३८॥ लोकोंके उद्भव (सृष्टि) की इच्छासे तुमने जो प्राकृत गुणोंसे रहित मेरे स्वरूपका वर्णन करते हुए अनन्त कल्याणगुणयुक्त मुझ परमेश्वरकी

१. प्रा० पा०—प्रवि० । २. प्रा० पा०—जह्यां त० । ३. प्रा० पा०—गुणाश्रयैः । ४. प्रा० पा०—वरीयान् । ५. प्रा० पा०—संदर्शि० ।

यदस्तौषीर्गुणमयं निर्गुणं मानुवर्णयन् ॥३९॥
य एतेन पुमान्नित्यं स्तुत्वा स्तोत्रेण मां भजेत् ।
तस्याशु सम्प्रसीदेयं सर्वकामवरेश्वरः ॥४०॥
पूर्तेन तपसा यज्ञैर्दानैर्योगसमाधिना ।
राद्धं निःश्रेयसं पुंसां मत्प्रीतिस्तत्त्वविन्मतम्[1] ॥४१॥
अहमात्मात्मनां धातः प्रेष्ठः सम्प्रेयसामपि ।
अतो मयि रतिं कुर्याद्देहादिर्यत्कृते प्रियः ॥४२॥
सर्ववेदमयेनेदमात्मनात्मात्मयोनिना ।
प्रजाः सृज यथापूर्वं याश्च मय्यनुशेरते[2] ॥४३॥

मैत्रेय उवाच

तस्मा एवं जगत्स्रष्ट्रे प्रधानपुरुषेश्वरः ।
व्यज्येदं स्वेन रूपेण कञ्जनाभस्तिरोदधे ॥४४॥

स्तुति की इससे मैं तुमपर प्रसन्न हुआ हूँ, तुम्हारा कल्याण हो ॥ ३९ ॥ जो पुरुष नित्य-प्रति इस स्तोत्र-द्वारा स्तुति करके मेरा भजन करेगा उसपर समस्त कामना और वरोंके देनेमें समर्थ मैं शीघ्र ही प्रसन्न हो जाऊँगा ॥४०॥ तत्त्ववेत्ताओंका मत है कि पूर्त (कुआँ-तालाबादि बनवाना), तप, यज्ञ, दान, योग और समाधि आदि साधनोंसे प्राप्त होनेवाला जो कल्याणमय फल है वह मेरी प्रसन्नता ही है ॥४१॥ हे विधाता ! मैं आत्माओंका भी आत्मा और स्त्री-पुत्रादि प्रियोंका भी प्रिय हूँ; क्योंकि देहादिमें भी मेरे ही लिये प्रेम होता है, इसलिये सदा मुझहीमें प्रेम करना चाहिये ॥ ४२ ॥ हे ब्रह्माजी ! तुम स्वयम्भू और सर्ववेदमय अपने-आपसे ही, मुझमें लीन हुई सम्पूर्ण प्रजाकी, पूर्ववत् रचना करो ॥ ४३ ॥

श्रीमैत्रेयजी बोले—इस प्रकार सृष्टिकर्ता ब्रह्माजी-को यह सम्पूर्ण जगत् अपने-आपमें ही स्थित दिखाकर प्रकृति और पुरुषके नियन्ता भगवान् पद्मनाभ अन्तर्धान हो गये ॥ ४४ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे तृतीयस्कन्धे
नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

दशवाँ अध्याय

दश प्रकारकी सृष्टिका वर्णन ।

विदुर उवाच

अन्तर्हिते भगवति ब्रह्मा लोकपितामहः ।
प्रजाः ससर्ज कतिधा दैहिकीर्मानसीर्विभुः ॥ १ ॥
ये च मे भगवन्पृष्टास्त्वय्यर्था बहुवित्तम ।
तान्वदस्वानुपूर्व्येण छिन्धि नः सर्वसंशयान् ॥ २ ॥

सूत उवाच

एवं सञ्चोदितस्तेन क्षत्त्रा कौषारवो मुनिः ।
प्रीतः प्रत्याह तान्प्रश्नान्हृदिस्थानथ भार्गव ॥ ३ ॥

विदुरजी बोले—ब्रह्मन् ! भगवान्के अन्तर्धान हो जानेपर सर्वलोकपितामह श्रीब्रह्माजीने अपने देह और मनसे कितने प्रकारकी प्रजा उत्पन्न की ? ॥ १ ॥ हे भगवन् ! इसके सिवा मैंने आपसे जो और-और बातें पूछी हैं, हे बहुज्ञश्रेष्ठ ! उन सबका क्रमशः निरूपण करके मेरे सब संशयोंको दूर कर दीजिये ॥२॥

सूतजी बोले—हे शौनकजी ! विदुरके इस प्रकार पूछनेपर मुनिवर मैत्रेयजी अति प्रसन्न हुए और विदुरजीके उन हृदयस्थित प्रश्नोंका इस प्रकार उत्तर देने लगे ॥ ३ ॥

१. प्रा० पा०—मता । २. प्रा० पा०—मामनु० ।

मैत्रेय उवाच

विरिञ्चोऽपि तथा चक्रे दिव्यं वर्षशतं तपः ।
आत्मन्यात्मानमावेश्य यदाह भगवानजः ॥ ४ ॥
तद्विलोक्याब्जसम्भूतो वायुना यदधिष्ठितः ।
पद्ममम्भश्च तत्कालकृतवीर्येण कम्पितम् ॥ ५ ॥
तपसा ह्येधमानेन विद्यया चात्मसंस्थया ।
विबृद्धविज्ञानबलो न्यपाद्वायुं सहाम्भसा ॥ ६ ॥
तद्विलोक्य वियद्व्यापि पुष्करं यदधिष्ठितम् ।
अनेन लोकान्प्राग्लीनान्कल्पितास्मीत्यचिन्तयत् ॥७॥
पद्मकोशं तदाविश्य भगवत्कर्मचोदितः ।
एकं व्यभाङ्क्षीदुरुधा त्रिधा भाव्यं द्विसप्तधा ॥ ८ ॥
एतावाञ्जीवलोकस्य संस्थाभेदः समाहृतः[1] ।
धर्मस्य ह्यनिमित्तस्य विपाकः परमेष्ठ्यसौ ॥ ९ ॥

श्रीमैत्रेयजीने कहा—अजन्मा भगवान् पुरुषोत्तमने जिस प्रकार कहा था उसी प्रकार चित्तको अपने आत्मारूप श्रीनारायणमें लगाकर ब्रह्माजीने भी सौ दिव्य वर्षपर्यन्त तप किया ॥ ४ ॥ तदनन्तर अपने अधिष्ठान कमल और जलको प्रलयकालके प्रबल वायुसे काँपते देख बढ़ी हुई तपस्या तथा अपनेमें स्थित विद्याके द्वारा जिनके ज्ञान और बल उन्नत हो गये हैं उन ब्रह्माजीने उस प्रलयकालीन पवनको जलके सहित पी लिया ॥ ५-६ ॥ फिर जिसपर स्वयं बैठे हुए थे उस आकाशव्यापी कमलको देखकर ब्रह्माजीने सोचा कि 'पूर्व कालमें लीन हुए लोकोंको मैं इसीके द्वारा फिर रचूँ' ॥ ७ ॥ तब भगवान्‌के द्वारा सृष्टिरचनामें प्रवृत्त किये हुए ब्रह्माजीने उस कमलकोशमें प्रवेश किया और जिस अकेलेसे ही चौदह भुवन तथा इससे भी अधिक लोकोंकी रचना की जा सकती थी उस अत्यन्त विशाल ब्रह्माण्डकमलके उन्होंने [भूः, भुवः और स्वः रूपसे] तीन भाग किये ॥ ८ ॥ जीवोंके निवासस्थान ये ही तीन लोक हैं । [ये सकामकर्मका आचरण करनेवालोंको प्राप्त होते हैं] किन्तु निष्काम कर्म करनेवालोंको [महर्लोक, जनलोक, तपलोक और सत्यलोकरूप] वह परमेष्ठिपद प्राप्त होता है [जिसकी स्थिति ब्रह्माकी परमायुपर्यन्त है] ॥ ९ ॥

विदुर उवाच

यदात्थ बहुरूपस्य हरेरद्भुतकर्मणः ।
कालाख्यं लक्षणं ब्रह्मन्यथा वर्णय नः प्रभो ॥१०॥

विदुरजी बोले—हे ब्रह्मन् ! नाना प्रकारके रूप धारण करनेवाले अद्भुतकर्मा भगवान् हरिके जिस काल नामक रूपका लक्षण आपने मुझसे कहा था उसका विस्तारपूर्वक वर्णन कीजिये ॥ १० ॥

मैत्रेय उवाच

गुणव्यतिकराकारो निर्विशेषोऽप्रतिष्ठितः[2] ।
पुरुषस्तदुपादानमात्मानं लीलयासृजत् ॥११॥

मैत्रेयजी बोले—जो सत्त्वादि गुणोंके महत्तत्त्वादिरूप परिणामोंसे परिच्छिन्न-सा प्रतीत होता है परन्तु वस्तुतः निर्विशेष और प्रतिष्ठारहित [आदि-अन्तशून्य] है उसीका नाम 'काल' है । भगवान् परमपुरुष उस कालको निमित्त बनाकर लीलासे अपने-आपको ही जगत्‌रूपमें उत्पन्न

१. प्रा० पा०—हितः । २. प्रा० पा०—अप्रमाणतः ।

विश्वं वै ब्रह्मतन्मात्रं संस्थितं विष्णुमायया ।
ईश्वरेण परिच्छिन्नं कालेनाव्यक्तमूर्तिना ॥१२॥
यथेदानीं तथाग्रे च पश्चादप्येतदीदृशम् ।
सर्गो नवविधस्तस्य प्राकृतो वैकृतस्तु यः ॥१३॥
कालद्रव्यगुणैरस्य त्रिविधः प्रतिसंक्रमः ।
आद्यस्तु महतः सर्गो गुणवैषम्यमात्मनः ॥१४॥
द्वितीयस्त्वहमो यत्र द्रव्यज्ञानक्रियोदयः ।
भूतसर्गस्तृतीयस्तु तन्मात्रो द्रव्यशक्तिमान् ॥१५॥
चतुर्थ ऐन्द्रियः सर्गो यस्तु ज्ञानक्रियात्मकः ।
वैकारिको देवसर्गः पञ्चमो यन्मयं[1] मनः ॥१६॥
षष्ठस्तु तमसः[2] सर्गो यस्त्वबुद्धिकृतः प्रभो ।
षडिमे प्राकृताः सर्गा वैकृतानपि मे शृणु ॥१७॥
रजोभाजो भगवतो लीलेयं[3] हरिमेधसः ।
सप्तमो मुख्यसर्गस्तु षड्विधस्तस्थुषां च यः ॥१८॥
वनस्पत्योषधिलतात्वक्सारा वीरुधो द्रुमाः ।

करते हैं ॥११॥ पहले भगवान् विष्णुकी मायासे सम्पूर्ण विश्व लीन होकर ब्रह्मरूपसे स्थित था; उसे ही अव्यक्तमूर्ति कालस्वरूप ईश्वरने फिर प्रकट किया ॥१२॥ यह जगत् जैसा अब है ऐसा ही आगे रहेगा और इससे पूर्व भी ऐसा ही था। इसकी प्राकृत और वैकृत भेदसे नौ प्रकारकी सृष्टि है तथा प्राकृत और वैकृत सृष्टिको मिलाकर एक दशवीं सृष्टि और कही जाती है ॥१३॥ इस सृष्टिका काल, द्रव्य और गुणके द्वारा [नित्य, नैमित्तिक और प्राकृतभेदसे] तीन प्रकारका प्रलय होता है। [अब दश प्रकारकी सृष्टिका वर्णन करते हैं—] सबसे पहली सृष्टि महत्तत्त्वकी है। भगवान्‌की सत्तासे सत्त्व, रज और तम इन तीनों गुणोंमें विषमता होना ही महत्तत्त्व है ॥१४॥ दूसरी सृष्टि अहंकारकी है जिससे पृथिवी आदि पञ्चभूत एवं ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियोंकी उत्पत्ति होती है तथा जिसमें स्थूल भूतोंके उत्पन्न करनेकी शक्ति रहती है वह पञ्चतन्मात्रारूप भूतसूक्ष्म तीसरी सृष्टि है ॥१५॥ चौथी सृष्टि इन्द्रियोंकी है जो ज्ञान और क्रियाशक्तिसे युक्त होती है। तथा पाँचवीं सृष्टि सात्त्विक अहंकारसे उत्पन्न हुए इन्द्रियाधिष्ठाता देवताओं-की है; मन भी इसी सृष्टिके अन्तर्गत है ॥१६॥ छठी सृष्टि तामिस्रादि पाँच प्रकारकी अविद्याकी है जो जीवोंकी बुद्धिका आवरण और विक्षेप करती है। यह छः प्रकारकी प्राकृत सृष्टि है, अब वैकृत सृष्टिका वर्णन करता हूँ, सुनो ॥१७॥ यह सब रजोगुणको स्वीकार करनेवाले भगवान् ब्रह्माजीकी लीला ही है। स्थावरोंकी जो छः प्रकारकी सृष्टि है वही वैकृत सर्गमें प्रधान सातवीं सृष्टि है ॥१८॥ वे छः प्रकारके स्थावर वनस्पति[1], ओषधि[2], लता[3], त्वक्सार[4], वीरुध[5] और द्रुम[6] कहलाते हैं। इनका आहार नीचेसे ऊपरको जाता

१. प्रा० पा०—यन्मनोमयः। २. प्रा० पा०—तामसः। ३. प्रा० पा०—सीमेयं।

१. जो बिना फूल आये फलते हैं; जैसे गूलर, बड़, पीपल आदि। २. जो फल पक जानेपर नष्ट हो जाते हैं जैसे गेहूँ, चना आदि। ३. जो किसीका आश्रय लेकर बढ़ते हैं, जैसे गिलोय आदि। ४. जिनकी छाल बहुत कठोर होती है, जैसे बाँस आदि। ५. जो लता पृथिवीपर ही फैलती है, ऊपर नहीं चढ़ती, जैसे बेंत आदि। ६. जिनमें पहले फूल आकर फिर उस फूलके स्थानमें ही फल लगे, जैसे आम, जामुन आदि।

उत्स्रोतसस्तमःप्राया अन्तःस्पर्शा विशेषिणः ॥१९॥
तिरश्चामष्टमः सर्गः सोऽष्टाविंशद्विधो मतः ।
अविदो भूरितमसो घ्राणज्ञा हृद्यवेदिनः[1] ॥२०॥
गौरजो महिषः कृष्णः सूकरो गवयो रुरुः ।
द्विशफाः पशवश्चेमे अविरुष्ट्रश्च सत्तम ॥२१॥
खरोऽश्वोऽश्वतरो गौरः शरभश्चमरी तथा ।
एते चैकशफाः क्षत्तः शृणु पञ्चनखान्पशून् ॥२२॥
श्वा सृगालो वृको व्याघ्रो मार्जारः शशशल्लकौ ।
सिंहः कपिर्गजः कूर्मो गोधा च मकरादयः ॥२३॥
कङ्कगृध्रवटश्येनभासभल्लूकबर्हिणः[2] ।
हंससारसचक्राह्वकाकोलूकादयः खगाः ॥२४॥
अर्वाक्स्रोतस्तु नवमः क्षत्तरेकविधो नृणाम् ।
रजोऽधिकाः कर्मपरा दुःखे च सुखमानिनः ॥२५॥
वैकृतास्त्रय एवैते[3] देवसर्गश्च सत्तम ।
वैकारिकस्तु यः प्रोक्तः कौमारस्तूभयात्मकः ॥२६॥
देवसर्गश्चाष्टविधो विबुधाः पितरोऽसुराः ।
गन्धर्वाप्सरसः सिद्धा यक्षरक्षांसि चारणाः ॥२७॥
भूतप्रेतपिशाचाश्च विद्याध्राः किन्नरादयः ।
दशैते विदुराख्याताः सर्गास्ते विश्वसृक्कृताः ॥२८॥

है, इनकी ज्ञानशक्ति प्रकट नहीं होती, इन्हें भीतर-ही-भीतर केवल स्पर्शका ज्ञान होता है और इनमेंसे प्रत्येकमें कोई विशेष गुण होता है ॥१९॥ आठवीं सृष्टि तिर्यग्योनियों (पशु-पक्षी आदि) की है। इनके अट्ठाईस भेद कहे जाते हैं। इन्हें कालका ज्ञान नहीं होता, तमोगुणकी अधिकता होनेसे ये केवल खाना-पीना ही जानते हैं। इन्हें केवल सूँघकर ही पदार्थका ज्ञान होता है और हृदयमें किसी प्रकारकी विचारशक्ति नहीं होती ॥२०॥ हे साधुश्रेष्ठ ! [इन अट्ठाईस प्रकारके तिर्यग् जीवोंमेंसे] गौ, बकरी, भैंस, कृष्ण मृग, सूकर, नील गाय, रुरु, भेड़ और ऊँट ये नौ पशु 'द्विशफ' (चिरे हुए खुरोंवाले) होते हैं ॥२१॥ गधा, घोड़ा, खच्चर, गौर शरभ और चमरी—ये 'एकशफ' (एक खुरवाले) पशु कहलाते हैं। हे विदुर ! अब पाँच नखवाले पशुओंके नाम सुनो— ॥२२॥ वे कुत्ता, गीदड़, भेड़िया, बाघ, बिलाव, खरगोश, स्याही, सिंह, वानर, हाथी, कछुआ, गोह और मकरादि हैं ॥ २३ ॥ तथा कंक, गिद्ध, बटेर, बाज, भास, भल्लूक, मयूर, हंस, सारस, चकवा, कौआ और उल्लू आदि जीव 'पक्षी' कहलाते हैं ॥ २४ ॥ हे विदुर ! जिसके आहारका प्रवाह नीचेकी ओर होता है वह मनुष्योंकी एक ही प्रकारकी नवीं सृष्टि है। ये रजः-प्रधान कर्मपरायण और दुःखमें ही सुख माननेवाले होते हैं ॥२५॥ हे साधुश्रेष्ठ ! [स्थावर, तिर्यक् और मनुष्य] यह तीन प्रकारकी सृष्टि और [आगे कहा जाने-वाला] देवसर्ग वैकृत सृष्टि है। तथा जो वैकारिक देवसर्ग है, उसकी गणना पहले प्राकृत सर्गमें कर आयें हैं। तथा सनत्कुमार आदि ऋषिगणका कौमार सर्ग प्राकृत-वैकृत दोनों प्रकारका है ॥ २६ ॥ देवसर्ग आठ प्रकारका है—(१) देवता (२) पितर (३) असुर (४) गन्धर्व-अप्सरा (५) यक्ष-राक्षस, (६) सिद्ध, चारण—विद्याधर (७) भूत-प्रेत-पिशाच और (८) किन्नरादि। हे विदुर ! इस प्रकार जगत्कर्ता ब्रह्माजीकी रची हुई यह दश प्रकारकी सृष्टि मैंने तुमसे कही

१. प्रा० पा०—हृदि वेदिनः। २. प्रा० पा०—वकश्ये०। ३. प्रा० पा०—एते वै।

अतः परं प्रवक्ष्यामि वंशान्मन्वन्तराणि च ।
एवं रजःप्लुतः स्रष्टा कल्पादिष्वात्मभूर्हरिः ।
सृजत्यमोघसंकल्प आत्मैवात्मानमात्मना ॥२९॥

॥२७-२८॥ इससे आगे मैं वंश और मन्वन्तरोंका वर्णन करूँगा। इस प्रकार सृष्टि करनेवाले सत्यसंकल्प भगवान् ब्रह्माजी कल्पके आदिमें रजोगुणका आश्रय ले अपने-आपसे ही सम्पूर्ण संसारकी उत्पत्ति करते हैं ॥२९॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे तृतीयस्कन्धे
दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

ग्यारहवाँ अध्याय

मन्वन्तरादिकालपरिमाण ।

मैत्रेय उवाच

चरमः सद्विशेषाणामनेकोऽसंयुतः सदा ।
परमाणुः स विज्ञेयो नृणामैक्यभ्रमो यतः ॥ १ ॥
सत एव पदार्थस्य स्वरूपावस्थितस्य यत् ।
कैवल्यं परममहानविशेषो निरन्तरः ॥ २ ॥
एवं कालोऽप्यनुमितः सौक्ष्म्ये[1] स्थौल्ये च सत्तम ।
संस्थानभुक्त्या भगवानव्यक्तो व्यक्तभुग्विभुः ॥ ३ ॥
स कालः परमाणुर्वै यो भुङ्क्ते परमाणुताम् ।
ततोऽविशेषभुग्यस्तु स[2] कालः परमो महान् ॥ ४ ॥
अणुद्वौ[3] परमाणू स्यात्त्रसरेणुस्त्रयः स्मृतः ।
जालार्करश्म्यवगतः[4] खमेवानुपतन्नगात्[5] ॥ ५ ॥
त्रसरेणुत्रिकं भुङ्क्ते यः कालः स त्रुटिः स्मृतः ।

श्रीमैत्रेयजी बोले—हे विदुर ! जो कार्यरूप पृथिवी आदि स्थूल पदार्थोंका अन्तिम भाग है [जिसका कोई और विभाग नहीं हो सकता] तथा जो कार्यावस्थाको अप्राप्त, असंयुक्त एवं नित्य है उसे 'परमाणु' जानना चाहिये। उनके परस्पर मिलनेसे ही मनुष्यको भ्रमवश साकार वस्तुकी प्रतीति होती है ॥१॥ जिसका चरम अंश परमाणु है उस अपने स्वरूपमें स्थित सम्पूर्ण कार्यवर्गकी एकताका नाम ही 'परम महान्' है, जो सर्वदा निर्विशेषरूप है ॥२॥ हे साधुश्रेष्ठ ! [इस प्रकार यह वस्तुके सूक्ष्म और महान् रूपका विचार हुआ] इसीके समान परमाणु आदि संस्थानोंमें व्याप्त होनेके कारण व्यक्त पदार्थोंको भोगनेवाले उत्पत्ति आदिमें दक्ष अव्यक्त भगवान् कालकी भी सूक्ष्मता और स्थूलताका अनुमान किया जाता है ॥३॥ जो काल परमाणुमें व्याप्त रहता है वह परमाणु-रूप है और जो सम्पूर्ण निर्विशेष कार्यवर्गका भोग करता है वह अति महान् है ॥४॥ दो परमाणु मिलकर एक अणु होते हैं और तीन परमाणुका एक त्रसरेणु कहा जाता है, जो झरोखोंमें होकर आयी हुई सूर्यकी किरणोंके प्रकाशमें आकाशमें उड़ता देखा जाता है ॥ ५॥ वैसे तीन त्रसरेणुओंको पार करनेमें सूर्यको जितना समय लगता है उसे 'त्रुटि'

१. प्रा० पा०—सूक्ष्मे स्थूले च । २. प्रा० पा०—कालः स । ३. प्रा० पा०—अणू द्वौ द्व्यणुकः प्रोक्तः त्र० । यह पाठान्तर प्रसिद्धिके अनुकूल है। ४. प्रा० पा०—जालाक्षार्करश्मिगतः । ५. प्रा० पा०—पतन्न गाम् । इसका उल्लेख श्रीधरस्वामीने भी किया है ।

शतभागस्तु वेधः स्यात्तैस्त्रिभिस्तु लवः स्मृतः ॥ ६ ॥

निमेषस्त्रिलवो ज्ञेय आम्नातस्ते त्रयः क्षणः ।

क्षणान्पञ्च विदुः काष्ठां लघुता दश पञ्च च ॥ ७ ॥

लघूनि वै समाम्नाता दश पञ्च च नाडिका ।

ते द्वे मुहूर्तः प्रहरः षड्यामः सप्त वा नृणाम् ॥ ८ ॥

द्वादशार्धपलोन्मानं चतुर्भिश्चतुरङ्गुलैः[1] ।

स्वर्णमाषैः कृतच्छिद्रं यावत्प्रस्थजलप्लुतम् ॥ ९ ॥

यामाश्चत्वारश्चत्वारो मर्त्यानामहनी उभे ।

पक्षः पञ्चदशाहानि शुक्लः कृष्णश्च मानद ॥१०॥

तयोः समुच्चयो मासः पितॄणां तदहर्निशम् ।

द्वौ तावृतुः[2] षडयनं दक्षिणं चोत्तरं दिवि ॥११॥

अयने चाहनी[3] प्राहुर्वत्सरो द्वादश स्मृतः ।

संवत्सरशतं नृणां परमायुर्निरूपितम् ॥१२॥

ग्रहर्क्षताराचक्रस्थः परमाण्वादिना जगत् ।

संवत्सरावसानेन पर्येत्यनिमिषो विभुः ॥१३॥

संवत्सरः परिवत्सर इडावत्सर एव च ।

अनुवत्सरो वत्सरश्च विदुरैवं प्रभाष्यते ॥१४॥

यः सृज्यशक्तिमुरुधोच्छ्वसयन्स्वशक्त्या

पुंसोऽभ्रमाय दिवि धावति भूतभेदः ।

कहते हैं। इससे सौगुना काल 'वेध' कहलाता है और तीन वेधका एक 'लव' होता है ॥६॥ तीन लवका एक 'निमेष' होता है और तीन निमेषको एक 'क्षण' कहते हैं। पाँच क्षणकी एक 'काष्ठा' होती है और पन्द्रह काष्ठाका एक 'लघु' कहा जाता है ॥७॥ पन्द्रह लघुकी एक 'नाडिका' कही जाती है तथा दो नाडिकाका एक मुहूर्त्त और [दिनके घटने-बढ़नेके अनुसार] छः या सात नाडिकाका एक 'प्रहर' होता है, जो याम [अर्थात् मनुष्यके एक दिन या रातका चौथा भाग] कहलाता है ॥८॥ यदि छः पल (छटाँक) ताँबेका एक ऐसा पात्र बनवावे जिसमें एक प्रस्थ (सेर) जल आ जाय और उसमें चार माशे सोनेकी चार अङ्गुल लम्बी शलाकासे छेद करे तो उस छिद्रद्वारा उसमें एक प्रस्थ जल भरनेमें जितना समय लगेगा उतने समयको एक नाडिका कहते हैं ॥ ९ ॥ चार-चार पहर मनुष्योंके दिन और रात होते हैं और हे मानद ! पन्द्रह दिन-रातका एक 'पक्ष' होता है जो क्रमशः शुक्ल और कृष्णपक्ष कहलाता है ॥ १० ॥ इन शुक्लपक्ष और कृष्णपक्षके समुच्चयका नाम 'मास' है, जो पितरोंका एक दिन-रात है। तथा दो मासकी एक 'ऋतु' और छः मासका एक 'अयन' होता है जो दक्षिणायन और उत्तरायणभेदसे दो प्रकारका है। ये दोनों अयन देवताओंके एक दिन-रात कहे जाते हैं। बारह मासका एक वर्ष होता है। मनुष्योंकी परमायु सौ वर्षकी बतायी गयी है ॥११-१२॥ ग्रह, नक्षत्र और तारागणके चक्रपर आरूढ़ हुए भगवान् सूर्य परमाणुसे लेकर संवत्सरपर्यन्त कालमें द्वादशराशिरूप सम्पूर्ण भुवनकोशकी निरन्तर प्रदक्षिणा करते रहते हैं ॥१३॥ हे विदुर ! वह वर्ष ही [सूर्य, बृहस्पति, सवन, चन्द्रमा और नक्षत्रसम्बन्धी महीनोंके भेदसे] संवत्सर, परिवत्सर, इडावत्सर, अनुवत्सर और वत्सर कहा जाता है ॥१४॥ जो सूर्यदेव पञ्चभूतोंमेंसे तेजस्वरूप हैं और अपनी कालशक्तिसे बीजादि पदार्थोंकी अङ्कुर उत्पन्न करनेकी शक्तिको नानारूपसे कार्योन्मुखी करते हैं तथा सकाम पुरुषोंको यज्ञादि कर्मोंसे प्राप्त होनेवाले

१. प्रा० पा०—चतुरङ्गुलम्। २. प्रा० पा०—तौ ऋतुः। ३. प्रा० पा०—अयने अहनी।

कालाख्यया गुणमयं क्रतुभिर्वितन्वं-
स्तस्मै बलिं हरत वत्सरपञ्चकाय ॥१५॥

विदुर उवाच

पितृदेवमनुष्याणामायुः परमिदं स्मृतम्[1] ।
परेषां गतिमाचक्ष्व ये स्युः कल्पाद्बहिर्विदः ॥१६॥
भगवान्वेद कालस्य गतिं भगवतो ननु ।
विश्वं विचक्षते धीरा योगराद्धेन चक्षुषा ॥१७॥

मैत्रेय उवाच

कृतं त्रेता द्वापरं च कलिश्चेति चतुर्युगम् ।
दिव्यैर्द्वादशभिर्वर्षैः सावधानं निरूपितम् ॥१८॥
चत्वारि त्रीणि द्वे चैकं कृतादिषु यथाक्रमम् ।
संख्यातानि सहस्राणि द्विगुणानि शतानि च ॥१९॥
संध्यांशयोरन्तरेण यः कालः शतसंख्ययोः ।
तमेवाहुर्युगं तज्ज्ञा यत्र धर्मो विधीयते ॥२०॥
धर्मश्चतुष्पान्मनुजान्कृते समनुवर्तते ।
स एवान्येष्वधर्मेण व्येति पादेन वर्धता ॥२१॥
त्रिलोक्या युगसाहस्रं बहिराब्रह्मणो दिनम् ।
तावत्येव निशा तात यन्निमीलति विश्वसृक्[2] ॥२२॥
निशावसान आरब्धो लोककल्पोऽनुवर्तते[3] ।
यावद्दिनं भगवतो मनून्भुञ्जंश्चतुर्दश ॥२३॥

स्वर्गादि फलोंका विस्तार करते हैं और पुरुषोंके मोहको दूर करनेके लिये आकाशमें घूमते रहते हैं उन पाँच प्रकारके संवत्सरोंकी प्रवृत्ति करनेवाले सूर्य नारायणकी तुम पूजा करो ॥१५॥

विदुरजीने पूछा–हे मुने ! आपने देवता, पितर और मनुष्योंकी परमायु [अपने-अपने अनुमानसे सौ वर्षकी] बतायी । अब जो भृगु आदि ज्ञानी मुनिजन त्रिलोकीसे बाहर कल्पान्तपर्यन्त रहनेवाले हैं उनकी आयुका वर्णन कीजिये ॥ १६ ॥ धीर पुरुष अपनी योगसिद्ध दिव्य दृष्टिसे सम्पूर्ण जगत्को देखते हैं, इसलिये यह निश्चय है कि आप कालकी गति भली प्रकार जानते हैं ॥ १७ ॥

श्रीमैत्रेयजी बोले– हे विदुर ! सत्ययुग, त्रेता, द्वापर और कलि ये चार युग अपनी सन्ध्या और सन्ध्यांशोंके सहित देवताओंके बारह सहस्र वर्षतक रहते हैं—ऐसा कहा गया है ॥ १८ ॥ इन सत्ययुग आदि चारों युगोंमें क्रमशः चार, तीन, दो और एक सहस्र दिव्य वर्ष होते हैं, तथा प्रत्येक युगमें जितने सहस्र वर्ष होते हैं उससे दुगुने सौ वर्ष उसकी सन्ध्या[1] और अंश[2]के और होते हैं* ॥ १९ ॥ जिनका वर्षमान सैकड़ोंकी संख्यामें बताया गया है उन सन्ध्या और अंशोंके बीचका जो काल होता है उसीको कालका तत्त्व जाननेवाले पुरुष युग कहते हैं, जिसमें भिन्न-भिन्न युग-धर्मोंका आचरण किया जाता है ॥ २० ॥ सत्ययुगके मनुष्योंमें धर्म अपने चारों चरणोंसे युक्त रहता है, फिर अन्य युगोंमें अधर्मके बढ़ते रहनेसे उसका एक-एक चरण क्षीण हो जाता है ॥ २१ ॥ हे तात ! त्रिलोकीके बाहर महर्लोकसे लेकर ब्रह्मलोकपर्यन्त यहाँकी एक सहस्र चतुर्युगीका एक दिन होता है और इतनी ही बड़ी रात्रि होती है जिसमें जगद्रचयिता ब्रह्माजी शयन करते हैं ॥ २२ ॥ उस रात्रिका अन्त होनेपर आरम्भ हुए इस लोककल्पका क्रम भगवान् ब्रह्माजीके सारे दिनों चलता रहता है, जिसमें कि चौदह मनु हो जाते हैं ॥ २३ ॥

१. प्रा० पा०—श्रुतम् । २. प्रा० पा०—टक् । ३. प्रा० पा०—वर्धते ।

१. युगके आदिमें सन्ध्या होती है । २. युगान्तमें उसका अंश बीतता है ।

* अर्थात् सत्ययुगमें ४००० वर्षयुगके तथा ८०० वर्ष सन्ध्या और अंशके मिलाकर कुल ४८०० वर्ष होते हैं । इसी प्रकार त्रेतामें ३६०० द्वापरमें २४०० और कलियुगमें १२०० दिव्य वर्ष होते हैं ।

स्वं स्वं कालं मनुर्भुङ्क्ते साधिकां ह्येकसप्ततिम् ।
मन्वन्तरेषु मनवस्तद्वंश्या ऋषयः सुराः ॥
भवन्ति चैव[1] युगपत्सुरेशाश्चानु ये च तान् ॥२४॥
एष दैनन्दिनः सर्गो ब्राह्मस्त्रैलोक्यवर्तनः ।
तिर्यङ्नृपितृदेवानां सम्भवो यत्र कर्मभिः ॥२५॥
मन्वन्तरेषु भगवान्बिभ्रत्सत्त्वं स्वमूर्तिभिः ।
मन्वादिभिरिदं विश्वमवत्युदितपौरुषः ॥२६॥

इस प्रकार प्रत्येक मनु इकहत्तर सहस्र चतुर्युगीसे कुछ अधिक समय (७१ $\frac{६}{१४}$ चतुर्युगी) तक अपना-अपना अधिकार भोगता है । प्रत्येक मन्वन्तरमें मनु, मनुवंशी नृपतिगण, सप्तर्षि, देवता, इन्द्र तथा उनके अनुयायी गन्धर्वादि साथ-साथ ही अपना-अपना अधिकार भोगते हैं ॥ २४ ॥ यह श्रीब्रह्माजीकी एक दिनकी सृष्टि है जो त्रिलोकीको प्रकट करनेवाली है, उसमें तिर्यक्, मनुष्य, पितर और देवताओंकी अपने-अपने कर्मानुसार उत्पत्ति होती है ॥ २५ ॥ इन मन्वन्तरोंमें भगवान् सत्त्वगुणका आश्रय ले मनुआदि अपने रूपोंसे पुरुषार्थ प्रकट करते हुए इस विश्वका पालन करते हैं ॥ २६ ॥

तमोमात्रामुपादाय प्रतिसंरुद्धविक्रमः ।
कालेनानुगताशेष आस्ते तूष्णीं दिनात्यये ॥२७॥
तमेवान्वपिधीयन्ते लोका भूरादयस्त्रयः ।
निशायामनुवृत्तायां[2] निर्मुक्तशशिभास्करम् ॥२८॥
त्रिलोक्यां दह्यमानायां शक्त्या संकर्षणाग्निना ।
यान्त्यूष्मणा महर्लोकाज्जनं भृग्वादयोऽर्दिताः ॥२९॥
तावत्त्रिभुवनं सद्यः कल्पान्तैधितसिन्धवः ।
प्लावयन्त्युत्कटाटोपचण्डवातेरितोर्मयः ॥३०॥
अन्तः स तस्मिन्सलिल आस्तेऽनन्तासनो हरिः ।
योगनिद्रानिमीलाक्षः स्तूयमानो जनालयैः ॥३१॥
एवंविधैरहोरात्रैः कालगत्योपलक्षितैः ।
अपक्षितमिवाप्याप्यि[3] परमायुर्वयःशतम् ॥३२॥

इस प्रकार कालकी गतिसे प्रतीत होनेवाले दिन-रातके द्वारा इन ब्रह्माजीकी सौ वर्षकी परमायु भी क्षीण हुई-सी ही है ॥ ३२ ॥

यदर्धमायुषस्तस्य परार्धमभिधीयते ।
पूर्वः परार्धोऽपक्रान्तो ह्यपरोऽद्य प्रवर्तते ॥३३॥
पूर्वस्यादौ परार्धस्य ब्राह्मो नाम महानभूत् ।
कल्पो यत्राभवद्ब्रह्मा शब्दब्रह्मेति यं विदुः ॥३४॥

ब्रह्माजीकी आयुके आधे भागको परार्ध कहते हैं । अबतक एक परार्ध बीत चुका है और दूसरा चल रहा है ॥ ३३ ॥ पहले परार्धके आरम्भमें ब्राह्मनामक बहुत बड़ा कल्प हुआ था जिसमें ब्रह्माजीकी उत्पत्ति हुई थी, जिनको विद्वान् लोग शब्दब्रह्मके नामसे जानते हैं ॥ ३४ ॥

१. प्रा० पा०—चैके । २. प्रा० पा०—मथ वृत्ता० । ३. प्रा० पा०—अपे० ।

तस्यैव चान्ते कल्पोऽभूद्यं पाद्ममभिचक्षते ।
यद्धरेर्नाभिसरस आसील्लोकसरोरुहम् ॥३५॥
अयं तु कथितः कल्पो द्वितीयस्यापि भारत ।
वाराह इति विख्यातो यत्रासीत्सूकरो हरिः ॥३६॥
कालोऽयं द्विपरार्धाख्यो निमेष उपचर्यते ।
अव्याकृतस्यानन्तस्य अनादेर्जगदात्मनः ॥३७॥
कालोऽयं परमाण्वादिर्द्विपरार्धान्त ईश्वरः ।
नैवेशितुं प्रभुर्भूम्न ईश्वरो धाममानिनाम् ॥३८॥
विकारैः सहितो युक्तैर्विशेषादिभिरावृतः ।
अण्डकोशो बहिरयं पञ्चाशत्कोटिविस्तृतः ॥३९॥
दशोत्तराधिकैर्यत्र प्रविष्टः परमाणुवत् ।
लक्ष्यतेऽन्तर्गताश्चान्ये कोटिशो ह्यण्डराशयः ॥४०॥
तदाहुरक्षरं ब्रह्म सर्वकारणकारणम् ।
विष्णोर्धाम परं साक्षात्पुरुषस्य महात्मनः ॥४१॥

उस परार्धके अन्तमें जो कल्प हुआ था उसे पाद्मकल्प कहते हैं; क्योंकि उसमें श्रीहरिके नाभिसरोवरसे ब्रह्माण्डका कारणभूत कमल (पद्म) प्रकट हुआ था ॥ ३५ ॥ हे भरतश्रेष्ठ ! इस समय जो कल्प है वह दूसरे परार्धके आदिमें बतलाया जाता है । यह वाराहकल्पके नामसे विख्यात है, इसमें भगवान्‌ने सूकररूप धारण किया था ॥ ३६ ॥ यह द्विपरार्ध परिमित काल अव्यक्त अनन्त अनादि विश्वात्मा श्रीहरिके एक निमेषके समान माना जाता है ॥ ३७ ॥ परमाणुसे लेकर द्विपरार्धपर्यन्त रहनेवाला यह काल सर्वव्यापक भगवान् नारायणपर किसी प्रकारकी प्रभुता नहीं रखता, यह तो देहादिका अभिमान रखनेवाले जीवोंका ही शासन करनेमें समर्थ है ॥ ३८ ॥ हे विदुर ! प्रकृति-महत्तत्त्वादि आठ प्रकृतियोंसे* युक्त सोलह विकारोंसे आरम्भ किया हुआ† तथा बाहरसे एक-एकसे दशगुने अधिक सात आवरणोंसे घिरा हुआ पचास करोड़ योजनके विस्तारवाला यह ब्रह्माण्डकोश जिनमें परमाणुके समान पड़ा हुआ दीखता है तथा ऐसी जिनमें करोड़ों ब्रह्माण्डराशियाँ हैं उन प्रधानादि सम्पूर्ण कारणोंके कारण अक्षर ब्रह्मको ही साक्षात् पुराणपुरुष परमात्मा विष्णुका श्रेष्ठ धाम—गृह कहते हैं ॥ ३९–४१ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे तृतीयस्कन्धे
एकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

बारहवाँ अध्याय

सृष्टिका विस्तार

मैत्रेय उवाच

इति ते वर्णितः क्षत्तः कालाख्यः परमात्मनः ।
महिमा वेदगर्भोऽथ यथास्राक्षीन्निबोध मे ॥ १ ॥
ससर्जाग्रेऽन्धतामिस्रमथ तामिस्रमादिकृत् ।
महामोहं च मोहं च तमश्चाज्ञानवृत्तयः ॥ २ ॥

मैत्रेयजी बोले—विदुरजी ! यह मैंने तुम्हें भगवान् कालकी महिमा सुनायी, अब जिस प्रकार ब्रह्माजीने जगत्‌की रचना की, वह सुनो ॥ १ ॥ आदिकर्त्ता ब्रह्माजीने सबसे पहले तम, मोह, महामोह, तामिस्र और अन्धतामिस्र नामक अज्ञानकी पाँच वृत्तियोंको‡ उत्पन्न

१. प्रा० पा०—स्याद्यनन्तरः । २. प्रा० पा०—अण्ड० ।
* प्रकृति, महत्तत्त्व, अहंकार और पञ्चतन्मात्राएँ । † पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, मन और पाँच भूत ।
‡ विष्णुपुराणमें कहा है—
तमोऽविवेको मोहः स्यादन्तःकरणविभ्रमः । महामोहस्तु विज्ञेयो ग्राम्यभोगसुखैषणा ॥
मरणं ह्यन्धतामिस्रं तामिस्रं क्रोध उच्यते । अविद्या पञ्चपर्वैषा समुद्भूता महात्मनः ॥

दृष्ट्वा पापीयसीं सृष्टिं नात्मानं बह्वमन्यत ।
भगवद्ध्यानपूतेन मनसान्यां ततोऽसृजत् ॥ ३ ॥
सनकं च सनन्दं च सनातनमथात्मभूः ।
सनत्कुमारं च मुनीन्निष्क्रियानूर्ध्वरेतसः ॥ ४ ॥
तान्बभाषे स्वभूः पुत्रान्प्रजाः सृजत पुत्रकाः ।
तन्नैच्छन्मोक्षधर्माणो वासुदेवपरायणाः ॥ ५ ॥
सोऽवध्यातः सुतैरेवं प्रत्याख्यातानुशासनैः ।
क्रोधं दुर्विषहं जातं नियन्तुमुपचक्रमे ॥ ६ ॥
धिया निगृह्यमाणोऽपि भ्रुवोर्मध्यात्प्रजापतेः ।
सद्योऽजायत तन्मन्युः कुमारो नीललोहितः ॥ ७ ॥
स वै रुरोद देवानां पूर्वजो भगवान्भवः ।
नामानि कुरु मे धातः स्थानानि च जगद्गुरो ॥ ८ ॥
इति तस्य वचः पाद्मो भगवान्परिपालयन् ।
अभ्यधाद्भद्रया वाचा मा रोदीस्तत्करोमि ते ॥ ९ ॥
यदरोदीः सुरश्रेष्ठ सोद्वेग इव बालकः ।
ततस्त्वामभिधास्यन्ति नाम्ना रुद्र इति प्रजाः ॥ १० ॥
हृदिन्द्रियाण्यसुर्व्योम वायुरग्निर्जलं मही ।
सूर्यश्चन्द्रस्तपश्चैव स्थानान्यग्रे कृतानि मे[2] ॥ ११ ॥
मन्युर्मनुर्महिनसो महाञ्छिवः क्रतुध्वजः ।
उग्ररेता[4] भवः कालो वामदेवो धृतव्रतः ॥ १२ ॥
धीर्वृत्तिरुशनोमा[5] च नियुत्सर्पिरिलाम्बिका ।

किया ॥ २ ॥ किन्तु इस अत्यन्त पापमयी सृष्टिको देखकर वे प्रसन्न नहीं हुए । तब उन्होंने भगवान्‌के ध्यानसे पवित्र हुए अन्तःकरणद्वारा दूसरी रचना की ॥ ३ ॥ इस बार स्वयम्भू ब्रह्माजीने सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमार—इन चार निष्क्रिय तथा ऊर्ध्वरेता मुनीश्वरोंको उत्पन्न किया ॥ ४ ॥ अपने उन पुत्रोंसे ब्रह्माजीने कहा—'बेटा ! तुम लोग प्रजा उत्पन्न करो ।' किन्तु मोक्षमार्गका अवलम्बन लेनेवाले उन भगवत्परायण मुनीश्वरोंने ऐसा करना न चाहा ॥ ५ ॥ पुत्रोंके इस प्रकार आज्ञाभङ्ग करनेसे अपमानित होनेके कारण ब्रह्माजीको असह्य क्रोध उत्पन्न हुआ, किन्तु उन्होंने उसे रोकनेका प्रयत्न किया ॥ ६ ॥ बुद्धिद्वारा बहुत कुछ रोकनेपर भी वह क्रोध, प्रजापति ब्रह्माजीकी भृकुटियोंद्वारा तुरन्त एक नीललोहितवर्ण बालकके रूपमें प्रकट हो गया ॥ ७ ॥ वे देवताओंके पूर्वज भगवान् भव (महादेवजी) उत्पन्न होते ही रोने लगे कि 'हे जगद्गुरो ! हे विधातः ! मेरा नामकरण करो और मेरे रहनेके स्थान बताओ' ॥ ८ ॥

बालकके ये वचन सुन भगवान् पद्मयोनिने उसका पालन करनेके लिये मधुर वाणीमें कहा—'तुम रोओ मत, मैं अभी तुम्हारा कथन पूरा करता हूँ ॥ ९ ॥ हे देवश्रेष्ठ ! तुमने जन्म लेते ही बालकके समान बड़े उद्वेगसे रुदन किया, इसलिये सम्पूर्ण प्रजा तुम्हें 'रुद्र' नामसे पुकारेगी ॥ १० ॥ तुम्हारे रहनेके लिये मैंने हृदय, इन्द्रिय, प्राण, आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी, सूर्य, चन्द्रमा और तप आदि स्थानोंको पहले ही रच दिया है ॥ ११ ॥ हे रुद्र ! मन्यु, मनु, महिनस, महान्, शिव, क्रतुध्वज, उग्ररेता, भव, काल, वामदेव और धृतव्रत—ये तुम्हारे ग्यारह नाम होंगे तथा धी, वृत्ति, उशना, उमा, नियुत्सर्पि, इला,

अर्थात् अपने स्वरूपका ज्ञान न होना 'तम' है । देह, इन्द्रिय आदिमें अहंबुद्धिको 'मोह' कहते हैं । विषयसुखकी इच्छाका नाम 'महामोह' है । भोगोंकी अप्राप्तिमें जो क्रोध होता है वह 'तामिस्र' है और भोगोंका अन्त हो जानेपर अपना भी अन्त समझ लेना अन्धतामिस्र है । भगवान् पतञ्जलिने भी कहा है—'अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः ।'

१. प्रा० पा०—तन्मन्योः । २. प्रा० पा०—ते । ३. प्रा० पा०—र्मनुर्महान्सोमो महान् । ४. प्रा० पा०—ऊर्ध्वरेता । ५. प्रा० पा०—धीवृत्तिरसरोमा च निजसर्पि० ।

इरावती सुधा दीक्षा रुद्राण्यो रुद्र ते स्त्रियः ॥१३॥
गृहाणैतानि नामानि स्थानानि च सयोषणः ।
एभिः सृज प्रजा बह्वीः प्रजानामसि यत्पतिः ॥१४॥

अम्बिका, इरावती, सुधा और दीक्षा ये रुद्राणियाँ तुम्हारी स्त्रियाँ होंगी ॥ १२-१३ ॥ तुम इन नाम और स्थानोंको ग्रहण करो तथा स्त्रीसहित रहकर इन स्थान और नामोंके द्वारा बहुत-सी प्रजा उत्पन्न करो क्योंकि तुम प्रजापति हो' ॥ १४ ॥

इत्यादिष्टः स गुरुणा भगवान्नीललोहितः ।
सत्त्वाकृतिस्वभावेन ससर्जात्मसमाः प्रजाः ॥१५॥
रुद्राणां रुद्रसृष्टानां समन्ताद्ग्रसतां जगत् ।
निशाम्य संख्यशो यूथान्प्रजापतिरशङ्कत ॥१६॥
अलं प्रजाभिः सृष्टाभिरीदृशीभिः सुरोत्तम ।
मया सह दहन्तीभिर्दिशश्चक्षुर्भिरुल्बणैः ॥१७॥
तप आतिष्ठ भद्रं ते सर्वभूतसुखावहम् ।
तपसैव यथापूर्वं स्रष्टा विश्वमिदं भवान् ॥१८॥
तपसैव परं ज्योतिर्भगवन्तमधोक्षजम् ।
सर्वभूतगुहावासमञ्जसा विन्दते पुमान् ॥१९॥

लोकगुरु ब्रह्माजीसे इस प्रकार आज्ञा पा नीललोहित भगवान् रुद्र अपने बल, आकार और स्वभावके अनुसार प्रजा उत्पन्न करने लगे ॥१५॥ तब रुद्रद्वारा उत्पन्न किये हुए रुद्रोंके असंख्य यूथोंको सब ओरसे संसारका भक्षण करते देख ब्रह्माजीको बड़ी शङ्का हुई ॥ १६ ॥ और उन्होंने रुद्रसे कहा—"हे सुरश्रेष्ठ! जो अपनी भयङ्कर दृष्टिसे मेरे सहित सम्पूर्ण दिशाओंको भस्म किये डालती है ऐसी तुम्हारी रची हुई प्रजाकी हमें आवश्यकता नहीं है ॥ १७ ॥ तुम्हारा कल्याण हो, अब तुम सम्पूर्ण प्राणियोंको सुख देनेवाला तप करो । उस तपके प्रभावसे ही तुम फिर इस जगत्की पूर्ववत् रचना करोगे ॥ १८ ॥ तपके द्वारा ही यह मनुष्य सबके अन्तःकरणोंमें रहनेवाले परमज्योति भगवान् अधोक्षजको सुगमतासे प्राप्त कर सकता है" ॥ १९ ॥

मैत्रेय उवाच

एवमात्मभुवादिष्टः परिक्रम्य गिरां पतिम् ।
बाढमित्यमुमामन्त्र्य विवेश तपसे वनम् ॥२०॥

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—ब्रह्माजीके इस प्रकार कहनेपर भगवान् रुद्रने 'बहुत अच्छा' कह उनकी परिक्रमा की और उनकी सम्मति लेकर तपस्या करनेके लिये वनको चले गये ॥२०॥

अथाभिध्यायतः सर्गं दश पुत्राः प्रजज्ञिरे ।
भगवच्छक्तियुक्तस्य लोकसन्तानहेतवः ॥२१॥
मरीचिरत्र्यङ्गिरसौ पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः ।
भृगुर्वसिष्ठो दक्षश्च दशमस्तत्र नारदः ॥२२॥
उत्सङ्गान्नारदो जज्ञे दक्षोऽङ्गुष्ठात्स्वयंभुवः ।
प्राणाद्वसिष्ठः सञ्जातो भृगुस्त्वचि करात्क्रतुः ॥२३॥
पुलहो नाभितो जज्ञे पुलस्त्यः कर्णयोर्ऋषिः ।
अङ्गिरा मुखतोऽक्ष्णोऽत्रिर्मरीचिर्मनसोऽभवत् ॥२४॥
धर्मः स्तनाद्दक्षिणतो यत्र नारायणः स्वयम् ।

तदनन्तर, भगवान्की शक्तिसे युक्त श्रीब्रह्माजीके सृष्टि-चिन्तन करनेपर दश पुत्र उत्पन्न हुए जो लोककी वृद्धिके कारण थे ॥ २१ ॥ वे मरीचि, अत्रि, अंगिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, भृगु, वसिष्ठ, दक्ष और दशवें श्रीनारदजी थे ॥२२॥ उनमें नारदजी प्रजापति ब्रह्माजीकी गोदसे, दक्ष अँगूठेसे, वसिष्ठ प्राणसे, भृगु त्वचासे, क्रतु हाथसे, पुलह नाभिसे, पुलस्त्य कानोंसे, अंगिरा मुखसे, अत्रि नेत्रोंसे और मरीचि मनसे उत्पन्न हुए ॥ २३-२४ ॥ तत्पश्चात् ब्रह्माजीके दायें स्तनसे धर्म उत्पन्न हुआ, जिसमें स्वयं श्रीनारायणदेव

१. प्राचीन प्रतिमें २१ वें श्लोकके उत्तरार्ध 'भगवच्छक्तियुक्तस्य···' से लेकर २४ वें श्लोकके उत्तरार्धमें 'अङ्गिरा मुख' इस शब्दतकका अंश नहीं है । इसके अतिरिक्त २५ वें श्लोकका 'दक्षिणतो' शब्द और २६ वें श्लोकका 'भ्रुवः' शब्द नहीं है । जान पड़ता है, खण्डित हो गया है या लिखनेमें छूट गया है ।

अधर्मः पृष्ठतो यस्मान्मृत्युर्लोकभयंकरः ॥२५॥
हृदि कामो भ्रुवः क्रोधो लोभश्चाधरदच्छदात् ।
आस्याद्वाक्सिन्धवो मेढ्रान्निर्ऋतिः पायोरघाश्रयः२६
छायायाः कर्दमो जज्ञे देवहूत्याः पतिः प्रभुः ।
मनसो देहतश्चेदं जज्ञे विश्वकृतो जगत् ॥२७॥
वाचं दुहितरं तन्वीं स्वयम्भूर्हरतीं मनः ।
अकामां चकमे क्षत्तः सकाम इति नः श्रुतम् ॥२८॥
तमधर्मे कृतमतिं विलोक्य पितरं सुताः ।
मरीचिमुख्या मुनयो विश्रम्भात्प्रत्यबोधयन् ॥२९॥
नैतत्पूर्वैः कृतं त्वद्य न करिष्यन्ति चापरे ।
यत्त्वं दुहितरं गच्छेरनिगृह्याङ्गजं प्रभुः ॥३०॥
तेजीयसामपि ह्येतन्न सुश्लोक्यं जगद्गुरो ।
यद्वृत्तमनुतिष्ठन्वै लोकः क्षेमाय कल्पते ॥३१॥
तस्मै नमो भगवते य इदं स्वेन रोचिषा ।
आत्मस्थं व्यञ्जयामास स धर्मं पातुमर्हति ॥३२॥
स इत्थं गृणतः पुत्रान्पुरो दृष्ट्वा प्रजापतीन् ।
प्रजापतिपतिस्तन्वं तत्याज व्रीडितस्तदा ।
तां दिशो जगृहुर्घोरां नीहारं यद्विदुस्तमः ॥३३॥
कदाचिद्ध्यायतः स्रष्टुर्वेदा आसंश्चतुर्मुखात् ।

निवास करते हैं* तथा पीठसे अधर्मकी उत्पत्ति हुई जिससे संसारको भयभीत करनेवाली मृत्युका जन्म हुआ ॥ २५ ॥ फिर ब्रह्माजीके हृदयसे काम, भृकुटिसे क्रोध, नीचेके ओठसे लोभ, मुखसे वाणी, उपस्थसे समुद्र, पायुसे पापका निवासस्थान निर्ऋति (असत्य) तथा छायासे देवहूतिके पति भगवान् कर्दमजी उत्पन्न हुए। इस प्रकार विश्वरचयिता भगवान् ब्रह्माजीके शरीर और मनसे यह सम्पूर्ण जगत् उत्पन्न हुआ ॥ २६-२७ ॥

विदुरजी! हमने सुना है कि एक बार अपनी परम सुन्दरी कन्या वाणीको देखकर, जो अपने रूपसे चित्तको चुरानेवाली थी, उसके कामनाशून्य होनेपर भी, ब्रह्माजीका चित्त कामवश हो गया ॥ २८ ॥ अपने पिताको कन्यागमनरूप पापका संकल्प करते देख उनके पुत्र मरीचि आदि मुनीश्वरोंने उन्हें प्रेमपूर्वक इस प्रकार समझाया ॥२९॥ 'हे पितः! तुम समर्थ होकर भी कामके वेगको न रोककर जो कन्यागमनरूप महापापमें प्रवृत्त होना चाहते हो ऐसा तो तुमसे पहले किसी भी ब्रह्मा आदिने नहीं किया और न आगे ही कोई करेगा ॥३०॥ हे जगद्गुरो! यह कार्य आप-जैसे तेजस्वी पुरुषोंको शोभा भी नहीं देता, क्योंकि आप-जैसोंके आचरणका अनुगमन करनेसे ही संसारका कल्याण होता है ॥ ३१ ॥ जिन परमात्माने अपने स्वरूपमें स्थित इस जगत्को अपने ही तेजसे प्रकट किया है उन्हें नमस्कार है। इस समय वे ही धर्मकी रक्षा कर सकते हैं' ॥ ३२ ॥

अपने पुत्र मरीचि आदि प्रजापतियोंको अपने सामने इस प्रकार कहते देख प्रजापतियोंके पति ब्रह्माजीने अत्यन्त लज्जित हो उस शरीरको उसी समय त्याग दिया। उस घोर शरीरको दिशाओंने ग्रहण कर लिया, वही कुहरा हुआ जिसे अन्धकार भी कहते हैं ॥३३॥

एक बार जब ब्रह्माजी यह सोच रहे थे कि 'मैं पहलेहीके समान सब लोकोंकी रचना किस प्रकार

१. प्रा० पा०—ये परे। २. प्रा० पा०—ह्यात्मजां प्रभो। ३. प्रा० पा०—तन्वीं।

* धर्मसे ही भगवान्के अवतार नर-नारायण नामक ऋषि उत्पन्न हुए थे। इसलिये इसका यह भी अर्थ हो सकता है—'जिससे स्वयं श्रीनारायणका जन्म हुआ'।

कथं स्रक्ष्याम्यहं लोकान्समवेतान्यथा पुरा ॥३४॥
चातुर्होत्रं कर्मतन्त्रमुपवेदनयैः सह ।
धर्मस्य पादाश्चत्वारस्तथैवाश्रमवृत्तयः ॥३५॥

करूँ' उस समय उनके चार मुखोंसे चार वेद प्रकट हुए ॥ ३४ ॥ उनके सिवा उपवेद और न्यायशास्त्रके सहित होता, अध्वर्यु, उद्गाता और ब्रह्मा इन चार ऋत्विजोंके कर्म, यज्ञविस्तार, धर्मके चार चरण, चारों आश्रम और उन आश्रमोंकी वृत्तियाँ भी ब्रह्माजीके मुखसे ही उत्पन्न हुईं ॥ ३५ ॥

विदुर उवाच

स वै विश्वसृजामीशो वेदादीन्मुखतोऽसृजत् ।
यद्यद्येनासृजद्देवस्तन्मे ब्रूहि तपोधन ॥३६॥

विदुरजी बोले—हे तपोधन ! विश्वरचयिता ब्रह्माजीने जो अपने मुखोंसे वेदादिकी रचना की थी उनमेंसे किस मुखसे कौन-सी वस्तु उत्पन्न की—यह बताइये ॥ ३६ ॥

मैत्रेय उवाच

ऋग्यजुःसामाथर्वाख्यान्वेदान्पूर्वादिभिर्मुखैः ।
शास्त्रमिज्यां स्तुतिस्तोमं प्रायश्चित्तं व्यधात्क्रमात् ३७
आयुर्वेदं धनुर्वेदं गान्धर्वं वेदमात्मनः ।
स्थापत्यं चासृजद्वेदं क्रमात्पूर्वादिभिर्मुखैः ॥३८॥
इतिहासपुराणानि पञ्चमं वेदमीश्वरः ।
सर्वेभ्य एव वक्त्रेभ्यः ससृजे सर्वदर्शनः ॥३९॥
षोडश्युक्थौ पूर्ववक्त्रात्पुरीष्यग्निष्टुतावथ ।
आप्तोर्यामातिरात्रौ च वाजपेयं सगोसवम् ॥४०॥
विद्या दानं तपः सत्यं धर्मस्येति पदानि च ।
आश्रमांश्च यथासंख्यमसृजत्सह वृत्तिभिः ॥४१॥
सावित्रं प्राजापत्यं च ब्राह्मं चाथ बृहत्तथा ।
वार्ता सञ्चयशालीनशिलोञ्छ इति वै गृहे ॥४२॥

मैत्रेयजीने कहा—हे विदुर ! ब्रह्माने अपने पूर्वादि चार मुखोंसे क्रमशः ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेदको उत्पन्न किया तथा इसी क्रमसे शस्त्र (होताका कर्म), इज्या (अध्वर्युका कर्म), स्तुतिस्तोम (उद्गाताका कर्म) और प्रायश्चित्त (ब्रह्माका कर्म) इन चार कर्मोंकी रचना की ॥३७॥ इसी प्रकार आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद और स्थापत्य-वेद (शिल्पविद्या) इन चार उपवेदोंको भी क्रमशः अपने पूर्वादि मुखोंसे ही उत्पन्न किया ॥ ३८ ॥ तदनन्तर सर्वदर्शी भगवान् ब्रह्माजीने अपने सब मुखोंसे इतिहास-पुराणरूप पाँचवाँ वेद उत्पन्न किया ॥३९॥ ब्रह्माजीके पूर्व मुखसे षोडशी और उक्थ ये दो याग उत्पन्न हुए तथा अन्य मुखोंसे क्रमशः चयन और अग्निष्टोम, आप्तोर्याम और अतिरात्र एवं गोसव और वाजपेय नामक दो-दो याग प्रकट हुए ॥ ४० ॥ इनके सिवा उन्होंने विद्या, दान, तप और सत्य—इन धर्मके चार चरणोंको तथा वृत्तियोंके सहित ब्रह्मचर्यादि चार आश्रमोंको भी क्रमशः अपने पूर्वादि मुखोंसे ही उत्पन्न किया ॥ ४१ ॥ उनमेंसे सावित्र[1] प्राजापत्य[2] ब्राह्म[3] और बृहत्[4] ये चार वृत्तियाँ ब्रह्मचारीकी हैं । वार्ता (अनिषिद्ध कृषि आदि वृत्ति), सञ्चय (याजनादिकी वृत्ति), शालीन (अयाचित वृत्ति) और शिलोञ्छ[5] —ये गृहस्थोंकी चार वृत्तियाँ हैं ॥ ४२ ॥

१. प्रा० पा०—जह्रिष्ट्या तन्मे । २. प्रा० पा०—षोडशोक्षः पूर्व० ।

१. उपनयनसंस्कारके अनन्तर गायत्रीका अध्ययन करनेके लिये धारण किया जानेवाला तीन दिनका ब्रह्मचर्यव्रत । २. एक वर्षका ब्रह्मचर्यव्रत । ३. वेदाध्ययनकी समाप्तिपर्यन्त धारण किया जानेवाला ब्रह्मचर्यव्रत । ४. आयुपर्यन्त पालन किया जानेवाला ब्रह्मचर्यव्रत । ५. खेत कटनेके पीछे पृथिवीमें गिरे हुए अन्नके दानोंको बीनकर निर्वाह करना ।

वैखानसा बालखिल्यौदुम्बराः फेनपा वने ।
न्यासे[1] कुटीचकः पूर्वं बह्वोदो हंसनिष्क्रियौ ॥४३॥

वैखानस, बालखिल्य, औदुम्बर और फेनप—ये चार प्रकार बाणप्रस्थोंके हैं तथा कुटीचक, बहूदक हंस तथा निष्क्रिय ये चार संन्यासियोंके प्रकार हैं ॥४३॥

आन्वीक्षिकी त्रयी वार्ता दण्डनीतिस्तथैव च ।
एवं व्याहृतयश्चासन्प्रणवो ह्यस्य दहतः[2] ॥४४॥

इसी प्रकार आन्वीक्षिकी (मोक्ष प्राप्त करानेवाली विद्या), त्रयी (स्वर्गादि फल देनेवाली विद्या), वार्ता (खेती आदि) तथा दण्डनीति ये चार विद्याएँ तथा चार व्याहृतियाँ* भी ब्रह्माजीके चार मुखोंसे प्रकट हुई तथा उनके हृदयाकाशसे ओंकार हुआ ॥४४॥

तस्योष्णिगासील्लोमभ्यो गायत्री च त्वचो विभोः ।
त्रिष्टुम्मांसात्स्नुतोऽनुष्टुब्जगत्यस्थ्नः प्रजापतेः ॥४५॥
मज्जायाः पङ्क्तिरुत्पन्ना बृहती प्राणतोऽभवत् ।
स्पर्शस्तस्याभवज्जीवः स्वरो देह उदाहृतः ॥४६॥
ऊष्माणमिन्द्रियाण्याहुरन्तस्था बलमात्मनः ।
स्वराः सप्त विहारेण भवन्ति स्म प्रजापतेः ॥४७॥
शब्दब्रह्मात्मनस्तस्य व्यक्ताव्यक्तात्मनः परः ।
ब्रह्मावभाति विततो नानाशक्त्युपबृंहितः ॥४८॥

ब्रह्माजीके लोमोंसे उष्णिक्, त्वचासे गायत्री, मांससे त्रिष्टुप्, स्नायुसे अनुष्टुप्, अस्थियोंसे जगती और मज्जासे पंक्ति छन्दकी उत्पत्ति हुई तथा उनके प्राणसे बृहती नामक छन्दका प्रादुर्भाव हुआ। ऐसे ही ब्रह्माजीका जीव स्पर्शवर्ण (कवर्गादि पञ्चवर्ग) और देह स्वरवर्ण (अकारादि) कहलाये ॥ ४५-४६ ॥ उनकी इन्द्रियोंको ऊष्मवर्ण (श ष स ह) और बलको अन्तस्थ वर्ण (य र ल व) कहते हैं, तथा उनके विहारसे [निषाद, ऋषभ, गान्धार, षड्ज, मध्यम, धैवत, और पञ्चम ये] सात स्वर प्रकट हुए ॥ ४७ ॥ हे तात ! व्यक्त (वैखरी वाणी) और अव्यक्त (ओंकार) भेदसे दो प्रकारके शब्दब्रह्मसे परे जो सर्वत्र परिपूर्ण परब्रह्म है वही अपनी नाना प्रकारकी शक्तियोंसे इन्द्रादि रूपमें प्रकट होकर भास रहा है ॥ ४८ ॥

ततोऽपरामुपादाय स सर्गाय मनो दधे ।
ऋषीणां भूरिवीर्याणामपि सर्गमविस्तृतम् ॥४९॥

हे विदुर ! पहला शरीर छोड़नेके अनन्तर ब्रह्माजीने दूसरा देह धारणकर विश्वरचनाका विचार किया। जब उन्होंने देखा कि अति समर्थ होनेपर

१. प्रा० पा०—न्यासी। २. प्रा० पा०—दक्षतः।

१. बिना हल जोते उत्पन्न हुए अन्नसे निर्वाह करनेवाले। २. नवीन अन्नके मिलते ही पहला सञ्चय करके रखा हुआ अन्न त्याग देनेवाले। ३. प्रातःकाल उठनेके समय जिस दिशाकी ओर दृष्टि हो उधरहीसे फलादि लाकर निर्वाह करनेवाले। ४. अपने-आप झड़े हुए फलादिसे निर्वाह करनेवाले। ५. अपने आश्रमधर्मोंका पूर्णतया पालन करनेवाले। ६. कर्मकी ओर गौण दृष्टि रखकर ज्ञानहीको प्रधान माननेवाले। ७. ज्ञानाभ्यासमें तत्पर रहनेवाले। ८. अर्थात् परमहंस, जिन्हें ज्ञान प्राप्त हो गया है।

* भूः भुवः स्वः ये तीन और चौथी इन तीनोंको मिलाकर; जैसा कि आश्वलायनने अपने 'गृह्यसूत्रोंमें' कहा है—'एवं व्याहृतयः प्रोक्ता व्यस्ताः समस्ताः।' अथवा भूः भुवः स्वः ये तीन और चौथी महः ये चार व्याहृतियाँ; जैसा कि श्रुति कहती है—'भूर्भुवः सुवरिति वा एतास्तिस्रो व्याहृतयस्तासामु ह स्मैतां चतुर्थीमाह। वाचमस्य प्रवेदयते महः।' इत्यादि

ज्ञात्वा तद्धृदये भूयश्चिन्तयामास कौरव ।
अहो अद्भुतमेतन्मे व्यापृतस्यापि नित्यदा ॥५०॥
न ह्येधन्ते प्रजा नूनं दैवमत्र विघातकम् ।
एवं युक्तकृतस्तस्य दैवं चावेक्षतस्तदा ॥५१॥
कस्य रूपमभूद्द्वेधा यत्कायमभिचक्षते ।
ताभ्यां रूपविभागाभ्यां मिथुनं समपद्यत ॥५२॥
यस्तु तत्र पुमान्सोऽभून्मनुः स्वायम्भुवः स्वराट् ।
स्त्री यासीच्छतरूपाख्या महिष्यस्य[2] महात्मनः ॥५३॥
तदा मिथुनधर्मेण प्रजा ह्येधाम्बभूविरे[3] ।
स चापि शतरूपायां पञ्चापत्यान्यजीजनत् ॥५४॥
प्रियव्रतोत्तानपादौ तिस्रः कन्याश्च भारत ।
आकूतिर्देवहूतिश्च प्रसूतिरिति सत्तम ॥५५॥
आकूतिं रुचये प्रादात्कर्दमाय तु मध्यमाम् ।
दक्षायादात्प्रसूतिं च यत आपूरितं जगत् ॥५६॥

भी मरीचि आदि ऋषियोंका सर्ग और अधिक नहीं बढ़ा तो हे कुरुनन्दन ! वे उसकी वृद्धिके विषयमें विचार करने लगे । उन्होंने सोचा 'अहो ! यह बड़ा आश्चर्य है कि मेरे निरन्तर प्रयत्न करनेपर भी प्रजाकी वृद्धि नहीं होती ! मालूम होता है इसमें दैव ही कुछ विघ्न डाल रहा है । जिस समय यथोचित क्रिया करनेवाले श्रीब्रह्माजी इस प्रकार दैवका विचार कर रहे थे उसी समय अकस्मात् ब्रह्माजीके शरीरके दो भाग हो गये, इसीसे शरीरको 'काय' कहते हैं । उन दोनों खण्डोंसे एक स्त्री-पुरुषका जोड़ा प्रकट हुआ ॥ ४९–५२ ॥ उनमें जो पुरुष था वह सार्वभौम सम्राट् स्वायम्भुव मनु हुए और जो स्त्री थी वह उन महात्माकी महारानी शतरूपा हुई ॥ ५३ ॥ तबसे प्रजा मिथुनधर्मद्वारा वृद्धिको प्राप्त होने लगी । महाराज स्वायम्भुवमनुने भी शतरूपासे पाँच सन्तानें उत्पन्न कीं ॥ ५४ ॥ हे साधुश्रेष्ठ भरतनन्दन विदुर ! उनमें उत्तानपाद और प्रियव्रत नामक दो पुत्र थे तथा आकूति, प्रसूति और देवहूति ये तीन कन्याएँ थीं ॥ ५५ ॥ मनुजीने आकूतिका विवाह रुचि प्रजापतिसे किया, बीचकी देवहूति नामकी कन्या कर्दमजीको दी तथा प्रसूतिका विवाह दक्ष प्रजापतिसे किया । इन तीनों कन्याओंकी सन्तानसे सम्पूर्ण जगत् परिपूर्ण हो गया ॥ ५६ ॥

इति श्रीमद्भागवते तृतीयस्कन्धे द्वादशोऽध्यायः ॥१२॥

तेरहवाँ अध्याय

वाराह अवतारकी कथा ।

श्रीशुक उवाच

निशम्य वाचं वदतो मुनेः पुण्यतमां नृप ।
भूयः पप्रच्छ कौरव्यो वासुदेवकथादृतः ॥ १ ॥

विदुर उवाच

स वै स्वायम्भुवः सम्राट् प्रियः पुत्रः स्वयम्भुवः ।
प्रतिलभ्य प्रियां पत्नीं किं चकार ततो मुने ॥ २ ॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! मुनिवर मैत्रेयजीकी कही हुई पवित्र वाणी सुनकर भगवत्कथाके रसिक विदुरजीने उनसे फिर पूछा ॥ १ ॥

विदुरजी बोले—हे मुने ! स्वयम्भू श्रीब्रह्माजीके प्रिय पुत्र स्वायम्भुवमनुने अपनी प्रिय पत्नी शतरूपाको पाकर फिर क्या किया ? ॥ २ ॥ हे साधुश्रेष्ठ ! उन

१. प्रा० पा०—त्रासी० । २. प्रा० पा०—महिष्यथ । ३. प्रा० पा०—ह्येवं बभूविरे ।

चरितं तस्य राजर्षेरादिराजस्य सत्तम ।
ब्रूहि मे श्रद्दधानाय[1] विष्वक्सेनाश्रयो ह्यसौ ॥ ३ ॥

श्रुतस्य पुंसां सुचिरश्रमस्य[2]
नन्वञ्जसा सूरिभिरीडितोऽर्थः ।
यत्तद्गुणानुश्रवणं मुकुन्द-
पादारविन्दं हृदयेषु येषाम् ॥ ४ ॥

आदिराज राजर्षि स्वायम्भुवमनुजीके पवित्र चरित्र मुझसे कहिये । महाराज स्वायम्भुवमनु भगवान् विष्णुके आश्रय रहनेवाले थे, इसलिये उनका चरित्र सुननेकी मुझे बहुत श्रद्धा है ॥ ३ ॥ हे मुने ! जिनके हृदयोंमें श्रीमुकुन्दके चरणारविन्द विराजमान रहते हैं उन-उनके गुणोंके श्रवणको ही विद्वानोंने पुरुषके चिरकालीन श्रवणका मुख्य फल बतलाया है ॥ ४ ॥

श्रीशुक उवाच

इति ब्रुवाणं विदुरं विनीतं
सहस्रशीर्ष्णश्चरणोपधानम् ।
प्रहृष्टरोमा भगवत्कथायां
प्रणीयमानो मुनिरभ्यचष्ट ॥ ५ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! जिनके हृदयमें सहस्रशीर्षा श्रीहरिके चरणकमल विराजमान रहते थे उन विदुरजीके ऐसे विनयपूर्ण वचन सुनकर मुनिवर मैत्रेयजीको भगवत्कथामें अति अनुराग उत्पन्न हुआ और वे परम हर्षसे पुलकितशरीर हो इस प्रकार बोले—॥ ५ ॥

मैत्रेय उवाच

यदा स्वभार्यया साकं जातः स्वायम्भुवो मनुः ।
प्राञ्जलिः प्रणतश्चेदं वेदगर्भमभाषत ॥ ६ ॥
त्वमेकः सर्वभूतानां जन्मकृद्वृत्तिदः[3] पिता ।
अथापि नः प्रजानां ते शुश्रूषा केन वा भवेत् ॥ ७ ॥
तद्विधेहि नमस्तुभ्यं कर्मस्वीड्यात्मशक्तिषु ।
यत्कृत्वेह यशो विष्वगमुत्र च भवेद्गतिः ॥ ८ ॥

श्रीमैत्रेयजीने कहा—जिस समय अपनी भार्या शतरूपाके सहित स्वायम्भुवमनुका जन्म हुआ तब उन्होंने अति नम्रतासे हाथ जोड़कर ब्रह्माजीसे कहा—॥ ६ ॥ "भगवन् ! सम्पूर्ण प्राणियोंके एकमात्र आप ही जन्मदाता और जीविका प्रदान करनेवाले पिता हैं, तथापि हम आपकी प्रजा ऐसा क्या कर्म करें जिससे आपकी सेवा बन सके ॥ ७ ॥ अतः हे स्तुतिपात्र ! हम आपको नमस्कार करते हैं । हमसे हो सकने योग्य जिस कार्यके करनेसे इस लोकमें हमारी कीर्ति हो और परलोकमें शुभगति मिले ऐसे कार्यके लिये हमें आज्ञा दीजिये ॥ ८ ॥

ब्रह्मोवाच

प्रीतस्तुभ्यमहं तात स्वस्ति स्ताद्वां क्षितीश्वर ।
यन्निर्व्यलीकेन हृदा शाधि मेत्यात्मनार्पितम् ॥ ९ ॥
एतावत्यात्मजैर्वीर[4] कार्या ह्यपचितिर्गुरौ ।
शक्त्याप्रमत्तैर्गृह्येत सादरं गतमत्सरैः ॥ १० ॥
स त्वमस्यामपत्यानि सदृशान्यात्मनो गुणैः ।
उत्पाद्य शास धर्मेण गां यज्ञैः पुरुषं यज ॥ ११ ॥

ब्रह्माजी बोले—हे तात ! हे पृथिवीपते ! तुम्हारा कल्याण हो । मैं तुमसे बहुत प्रसन्न हूँ; क्योंकि तुमने निष्कपटभावसे 'मुझे आज्ञा दीजिये' ऐसा कहकर मुझे आत्मसमर्पण किया है ॥ ९ ॥ हे वीर ! पुत्रोंको अपने पिताकी यही पूजा करनी चाहिये कि उनकी आज्ञाका मत्सरतासे रहित होकर आदरपूर्वक यथाशक्ति पालन करें ॥ १० ॥ सो, तुम इस अपनी भार्यासे गुणमें अपने ही समान सन्तान पैदा करके धर्मपूर्वक पृथिवीका शासन करो और यज्ञोंद्वारा पुराणपुरुष श्रीनारायणका पूजन करो ॥ ११ ॥

१. प्रा० पा०—श्रद्दधानस्य । २. प्रा० पा०—चिरं श्र० । ३. प्रा० पा०—वृद्धिदः । ४. प्रा० पा०—त्मजैर्वीरैः ।

परं शुश्रूषणं मह्यं स्यात्प्रजारक्षया नृप ।
भगवांस्ते प्रजाभर्तुर्हृषीकेशोऽनुतुष्यति ॥१२॥
येषां न तुष्टो भगवान्यज्ञलिङ्गो जनार्दनः ।
तेषां श्रमो ह्यपार्थाय यदात्मा नादृतः स्वयम् ॥१३॥

प्रजापालनसे मेरी परम सेवा होगी तथा प्रजाओंका पालन करनेवाले तुमसे भगवान् हृषीकेश भी परम सन्तुष्ट होंगे ॥ १२ ॥ जिनसे यज्ञमूर्ति भगवान् विष्णु प्रसन्न नहीं होते उनका सब श्रम वृथा होता है क्योंकि उनके द्वारा स्वयं अपने आत्माका ही अनादर हुआ है ॥ १३ ॥

मनुरुवाच

आदेशेऽहं भगवतो वर्तेयामीवसूदन ।
स्थानं त्विहानुजानीहि प्रजानां मम च प्रभो ॥१४॥
यदोकः सर्वसत्त्वानां मही मग्ना महाम्भसि ।
अस्या उद्धरणे यत्नो देव देव्या विधीयताम् ॥१५॥

मनुजी बोले—हे पापनाशन ! मैं आपकी आज्ञाके अनुसार चलूँगा । हे प्रभो ! आप मेरे और मेरी प्रजाके रहनेके लिये स्थान बतलाइये, क्योंकि जो सम्पूर्ण प्राणियोंका निवासस्थान है वह पृथिवी इस समय जलमें डूबी हुई है। अतः हे देव ! आप इस पृथिवी देवीके उद्धारका प्रयत्न कीजिये ॥१४-१५॥

मैत्रेय उवाच

परमेष्ठी त्वपां मध्ये तथासन्नामवेक्ष्य गाम् ।
कथमेनां समुन्नेष्य इति दध्यौ धिया चिरम् ॥१६॥
सृजतो मे क्षितिर्वार्भिः प्लाव्यमाना रसां गता ।
अथात्र किमनुष्ठेयमस्माभिः सर्गयोजितैः ।
यस्याहं हृदयादासं स ईशो विदधातु मे ॥१७॥
इत्यभिध्यायतो नासाविवरात्सहसानघ ।
वराहतोको निरगादङ्गुष्ठपरिमाणकः ॥१८॥
तस्याभिपश्यतः खस्थः क्षणेन किल भारत ।
गजमात्रः प्रववृधे तदद्भुतमभून्महत् ॥१९॥
मरीचिप्रमुखैर्विप्रैः कुमारैर्मनुना सह ।
दृष्ट्वा तत्सौकरं रूपं तर्कयामास चित्रधा ॥२०॥
किमेतत्सौकरव्याजं सत्त्वं दिव्यमवस्थितम् ।
अहो बताश्चर्यमिदं नासाया मे विनिःसृतम् ॥२१॥

श्रीमैत्रेयजी बोले—पृथिवीको इस प्रकार अथाह जलमें डूबी देख ब्रह्माजी बहुत समयतक अपने चित्तमें यह सोचते रहे कि 'इसे किस प्रकार निकालना चाहिये ॥ १६ ॥ मेरे लोकरचना करते समय पृथिवी प्रलयकालीन जलमें डूबकर रसातलको चली गयी; अब सृष्टिकार्यमें नियुक्त हुए हमलोगोंको इस विषयमें क्या करना चाहिये । जिन प्रभुके हृदयसे मैं उत्पन्न हुआ हूँ वे ही इस समय मेरी सहायता करें' ॥१७॥

हे निष्पाप विदुरजी ! ब्रह्माके इस प्रकार विचार करनेपर उनकी नासिकाके रन्ध्रसे एक शूकरका बच्चा निकला जो केवल एक अंगूठेके बराबर था ॥ १८॥ ॥ हे भारत ! वह आकाशमें स्थित होकर ब्रह्माजीके देखते-देखते एक क्षणमें ही बढ़कर हाथीके बराबर हो गया । यह एक बड़ी ही विचित्र बात हुई ॥१९॥ उस वाराहरूपको देखकर ब्रह्माजी मरीचि आदि मुनियों, सनकादिकों और स्वायम्भुवमनुके सहित तरह-तरहके विचार करने लगे ॥ २० ॥ "अहो ! शूकरके रूपमें यह कौन दिव्य प्राणी यहाँ उपस्थित हुआ है । कैसा आश्चर्य है ? यह अभी, जब मेरे

१. प्रा० पा०—वर्तेयमरिसूदन । २. प्राचीन प्रतिमें 'सृजतो मे' इस श्लोकके पहले—
पीतं मया जलं सर्वं पृथिवी वापि वेशिता । प्रजा देवासुरपितॄन् मनुष्यपशुपक्षिणः ॥
सरीसृपा नगा नागा भूतान्युच्चावचानि च ।
—ये डेढ़ श्लोक अधिक हैं ।

दृष्टोऽङ्गुष्ठशिरोमात्रः क्षणाद्गण्डशिलासमः ।
अपि स्विद्भगवानेष यज्ञो मे खेदयन्मनः ॥२२॥

इति मीमांसतस्तस्य ब्रह्मणः सह सूनुभिः ।
भगवान्यज्ञपुरुषो जगर्जागेन्द्रसन्निभः ॥२३॥
ब्रह्माणं हर्षयामास हरिस्तांश्च द्विजोत्तमान् ।
स्वगर्जितेन ककुभः प्रतिस्वनयता विभुः ॥२४॥
निशम्य ते घर्घरितं स्वखेद-
क्षयिष्णु मायामयसूकरस्य ।
जनस्तपःसत्यनिवासिनस्ते
त्रिभिः पवित्रैर्मुनयोऽगृणन्स्म ॥२५॥
तेषां सतां वेदवितानमूर्ति-
र्ब्रह्मावधार्यात्मगुणानुवादम् ।
विनद्य भूयो विबुधोदयाय
गजेन्द्रलीलो जलमाविवेश ॥२६॥
उत्क्षिप्तवालः खचरः कठोरः
सटा विधुन्वन्खररोमशत्वक् ।
खुराहताभ्रः सितदंष्ट्र[1] ईक्षा-
ज्योतिर्बभासे भगवान्महीध्रः ॥२७॥
घ्राणेन पृथ्व्याः पदवीं विजिघ्रन्
क्रोडापदेशः स्वयमध्वराङ्गः ।
करालदंष्ट्रोऽप्यकरालदृग्भ्या-
मुद्वीक्ष्य विप्रान्गृणतोऽविशत्कम् ॥२८॥
स वज्रकूटाङ्गनिपातवेग-
विशीर्णकुक्षिः स्तनयन्नुदन्वान् ।
उत्सृष्टदीर्घोर्मिभुजैरिवार्त-[2]
श्चुक्रोश यज्ञेश्वर पाहि मेति ॥२९॥

नासिकाछिद्रसे निकला था तो अंगूठेके पोरुवेके बराबर दिखायी देता था और क्षणमें ही बड़ी भारी शिलाके समान हो गया। क्या ये भगवान् यज्ञपुरुष ही तो मेरे मनको मोहमें नहीं डाल रहे हैं? ॥ २१-२२ ॥

ब्रह्माजी अपने पुत्रोंके सहित इस प्रकार सोच रहे थे कि भगवान् यज्ञपुरुष पर्वताकार होकर गर्जने लगे ॥ २३ ॥ इस प्रकार भगवान् हरि दशों दिशाओंको गुञ्जायमान करनेवाली अपनी गर्जनासे ब्रह्माजी और मरीचि आदि मुनीश्वरोंको आनन्दित करने लगे ॥ २४ ॥ अपना खेद दूर करनेवाली मायामय वराह भगवान्‌की घुर्घुराहट सुनकर वे जन, तप और सत्यलोकनिवासी मुनिगण वेदत्रयीके पवित्र मन्त्रोंद्वारा उनकी स्तुति करने लगे ॥ २५ ॥ तब उन महात्माओंके मुखसे अपने गुणानुवादरूप वेदका पाठ सुनकर गजराजके समान लीला करनेवाले वे यज्ञमूर्ति भगवान् देवताओंका कल्याण करनेके लिये पुनः घोर गर्जना करते हुए प्रलयकालीन महाजलमें घुस गये ॥२६॥ जलमें प्रवेश करते समय जिन्होंने ऊपरको पूँछ उठा रक्खी है और जो अपने खुरोंके प्रहारसे मेघोंको इधर-उधर छितरा रहे हैं तथा अपनी सटाओंको फटकारते जाते हैं वे कठोर शरीर और कड़ी त्वचा एवं रोमोंवाले तथा पृथिवीका उद्धार करनेवाले आकाशविहारी भगवान् वराह अपने श्वेत दाँतों और नेत्रोंके प्रकाशसे [अन्धकारका नाश करते हुए] शोभा पाने लगे ॥ २७ ॥ उस समय शूकररूप धारण करनेके कारण स्वयं साक्षात् यज्ञपुरुष होकर भी वे सूँघकर पृथिवीका पता लगा रहे थे और कठोर दाढ़ोंवाले होकर भी अपने अकठोर (कोमल) नेत्रोंसे मरीचि आदि अपनी स्तुति करनेवाले ब्राह्मणोंकी ओर निहारते हुए जलमें घुसे ॥ २८ ॥ उनके वज्रमय पर्वतशिखरके समान कठोर कलेवरके पड़नेसे वेगके कारण समुद्रका उदर विदीर्ण-सा हो गया और वह मेघगर्जनके समान शब्द करते हुए मानो अपनी उत्ताल तरंगरूप भुजाओंको उठाकर आर्तस्वरसे पुकारने लगा 'हे यज्ञेश्वर! मेरी रक्षा करो' ॥ २९ ॥

१. प्रा० पा०—सितशृङ्ग । २. प्रा० पा०—र्मिकरै० ।

खुरैः क्षुरप्रैर्दरयंस्तदाप
उत्पारपारं त्रिपरू[1] रसायाम् ।
ददर्श गां तत्र सुषुप्सुरग्रे
यां जीवधानीं स्वयमभ्यधत्त ॥३०॥

स्वदंष्ट्रयोद्धृत्य महीं निमग्नां[2]
स उत्थितः संरुरुचे रसायाः ।
तत्रापि दैत्यं गदयापतन्तं
सुनाभसन्दीपिततीव्रमन्युः[3] ॥३१॥
जघान रुन्धानमसह्यविक्रमं
स लीलयेभं मृगराडिवाम्भसि ।
तद्रक्तपङ्काङ्कितगण्डतुण्डो
यथा गजेन्द्रो जगतीं विभिन्दन् ॥३२॥
तमालनीलं सितदन्तकोट्या
क्ष्मामुत्क्षिपन्तं गजलीलयाङ्ग ।
प्रज्ञाय बद्धाञ्जलयोऽनुवाकै-
र्विरिञ्चिमुख्या उपतस्थुरीशम् ॥३३॥

ऋषय ऊचुः

जितं जितं तेऽजित यज्ञभावन
त्रयीं तनुं स्वां परिधुन्वते नमः ।
यद्रोमगर्तेषु[4] निलिल्युरध्वरा-
स्तस्मै नमः कारणसूकराय ते[5] ॥३४॥
रूपं तवैतन्ननु दुष्कृतात्मनां
दुर्दर्शनं[6] देव यदध्वरात्मकम् ।
छन्दांसि यस्य त्वचि बर्हिरोम-
स्वाज्यं दृशि त्वङ्घ्रिषु चातुर्होत्रम् ॥३५॥

फिर [प्रातःसवन, मध्याह्नसवन और तृतीयसवन—ये] तीन सवन जिनके शरीरके जोड़ हैं उन भगवान् यज्ञमूर्तिने अपने बाणके समान तीखे खुरोंसे जलको चीरते हुए उस अपार जलराशिके उस पार रसातलमें पहुँचकर पृथिवीको देखा, जो जीवोंका आश्रयस्थान है और जिसे कल्पान्तमें शयन करनेके लिये उद्यत हुए श्रीहरिने स्वयं अपने ही उदरमें लीन कर लिया था ॥ ३० ॥

तदनन्तर वे जलमें डूबी हुई पृथिवीको अपनी दाढ़ोंपर उठाकर रसातलसे जलके बाहर निकले । उस समय वे बड़े ही शोभायमान प्रतीत होते थे । जलमें आते समय उन्होंने [अपने मार्गमें विघ्न डालनेके लिये] गदासे आक्रमण करनेवाले असह्यविक्रम हिरण्याक्ष दैत्यको चक्रके समान प्रदीप्त क्रोधसे युक्त होकर इस प्रकार लीलाहीसे मार डाला जैसे सिंह हाथीको मार डालता है । उस समय हिरण्याक्षके रक्तसे थूथनी सन जानेके कारण वे ऐसे मालूम होते थे जैसे कोई गजराज लाल मिट्टीके टीलेमें टक्कर मारकर आया हो ॥ ३१-३२ ॥ हे तात ! जैसे गजराज अपने दाँतोंपर कमल-पुष्प धारण करता है उस प्रकार अपने श्वेत दाँतोंकी नोंकपर पृथिवीको धारणकर जलसे बाहर निकले हुए तमालसदृश नीलवर्ण वाराहजीको देख ब्रह्मा-मरीचि आदि मुनीश्वरगण उन्हें निश्चयपूर्वक भगवान् ही जान हाथ जोड़कर वेदवाक्योंसे उनकी स्तुति करने लगे ॥ ३३ ॥

ऋषिगण बोले—हे अजित ! आपकी जय हो, जय हो, हे यज्ञपते ! अपने वेदत्रयीरूप विग्रहको हिलानेवाले आपको नमस्कार है । जिनके प्रत्येक रोमकूपमें सम्पूर्ण यज्ञ लीन हो रहे हैं उन कारणवश शूकररूप धारण करनेवाले आपको नमस्कार है ॥ ३४ ॥ हे देव ! आपका यह यज्ञमय स्वरूप दुराचारी पुरुषोंके लिये अत्यन्त दुर्दर्श है । इसकी त्वचामें छन्द, रोमावलीमें कुश, नेत्रोंमें घृत और चारों चरणोंमें [होता, अध्वर्यु, उद्गाता और ब्रह्मा इन] चारों ऋत्विजोंके कर्म हैं ॥ ३५ ॥

१. प्रा० पा०—नृपते । २. प्रा० पा०—विमग्नां । ३. प्रा० पा०—सन्नादसंदी० । ४. प्रा० पा०—मकूपेषु । ५. प्राचीन प्रतिमें 'ते' नहीं है । ६. प्रा० पा०—न रोचते देव ।

स्रुक्तुण्ड आसीत्स्रुव ईश नास-
योरिडोदरं चमसाः कर्णरन्ध्रे ।
प्राशित्रमास्ये[1] ग्रसने ग्रहास्तु ते
यच्चर्वणं ते भगवन्नग्निहोत्रम् ॥३६॥
दीक्षानुजन्मोपसदः[2] शिरोधरं
त्वं प्रायणीयोदयनीयदंष्ट्रः ।
जिह्वा प्रवर्ग्यस्तव[3] शीर्षकं क्रतोः
सभ्यावसथ्यं चितयोऽसवो हि[4] ते ॥३७॥
सोमस्तु[5] रेतः सवनान्यवस्थितिः
संस्थाविभेदास्तव देव धातवः ।
सत्राणि सर्वाणि शरीरसन्धि-
स्त्वं सर्वयज्ञक्रतुरिष्टिबन्धनः ॥३८॥
नमो नमस्तेऽखिलमन्त्रदेवता-
द्रव्याय सर्वक्रतवे क्रियात्मने ।
वैराग्यभक्त्यात्मजयानुभावित-
ज्ञानाय विद्यागुरवे नमो नमः ॥३९॥
दंष्ट्राग्रकोट्या भगवंस्त्वया धृता
विराजते भूधर भूः सभूधरा ।
यथा वनान्निःसरतो दता धृता
मतङ्गजेन्द्रस्य सपत्रपद्मिनी ॥४०॥
त्रयीमयं रूपमिदं च सौकरं
भूमण्डलेनाथ दता धृतेन ते ।
चकास्ति शृङ्गोढघनेन भूयसा
कुलाचलेन्द्रस्य यथैव विभ्रमः ॥४१॥
संस्थापयैनां जगतां सतस्थुषां
लोकाय पत्नीमसि मातरं पिता ।
विधेम चास्यै नमसा सह त्वया

ईश ! आपका तुण्ड (थूथन) ही स्रुक् है, आपके नासिका-छिद्रोंमें स्रुवा हैं, उदरमें इडा (यज्ञीय भक्षणपात्र) हैं, कर्णरन्ध्रोंमें चमस हैं, मुखमें प्राशित्र (ब्रह्मभागपात्र) है और कण्ठके छिद्रमें ग्रह (सोमपात्र) हैं । तथा हे भगवन् ! आपका चर्वण (चबाना) ही अग्निहोत्र है ॥३६॥ प्रभो ! आपका बारम्बार अभिव्यक्त होना ही दीक्षा है, ग्रीवा ही उपसद (तीन इष्टियाँ) हैं, दोनों दाढ़ें ही प्रायणीय (दीक्षाके अनन्तरकी इष्टि) और उदयनीय (यज्ञसमाप्तिकी इष्टि) हैं, जिह्वा प्रवर्ग्य (प्रत्येक उपसदके पूर्व किया जानेवाला महावीर नामक कर्म) है, शिर सभ्य (होमरहित अग्नि) और आवसथ्य (औपासनाग्नि) है तथा प्राण चिति (इष्टकाचयन) हैं ॥३७॥ हे देव ! सोम आपका वीर्य है, प्रातःसवनादि तीन सवन आसन हैं, सातों धातुएँ [अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ, षोडशी, वाजपेय, अतिरात्र और आप्तोर्याम नामक] सात संस्थाएँ हैं, आपके शरीरकी सन्धियाँ सम्पूर्ण सत्र हैं। इस प्रकार आप सम्पूर्ण यज्ञ (सोमरहित याग) और क्रतु (सोमसहित याग) रूप हैं। यज्ञानुष्ठान ही आपके अंगोंकी गठन है ॥३८॥ निखिल मन्त्र, देवता और द्रव्यस्वरूप आपको नमस्कार है सर्वयज्ञमय एवं क्रियामूर्ति आप प्रभुको नमस्कार है। वैराग्य, भक्ति और मनकी एकाग्रतासे जो ज्ञान-का अनुभव होता है वही आपका स्वरूप है तथा आप ही सबको विद्या प्रदान करनेवाले गुरु हैं; ऐसे आपको पुनः-पुनः प्रणाम है ॥३९॥ हे भूधर ! हे भगवन् ! आपकी दाढ़ों-की नोंकपर रखी हुई यह पर्वतादिमण्डित पृथिवी ऐसी सुशोभित होती है जैसे वनसे निकलते हुए गजराजके दाँतोंपर पत्रयुक्त कमलिनी रखी हो ॥४०॥ आपका यह वेदत्रयीमय शूकररूप दाँतोंपर रखे हुए भूमण्डलके सहित ऐसा प्रतीत होता है जैसे अपने शिखरोंपर धारण किये बहुत-से मेघोंके सहित कुलाचल सुशोभित हो ॥४१॥ हे नाथ ! चराचर जीवोंके सुखपूर्वक रहनेके लिये आप अपनी पत्नीरूपा जगन्माता पृथिवीको भली प्रकार स्थापित कीजिये, क्योंकि आप जगत्के पिता हैं और अरणिमें अग्निस्थापनके समान आपने

१. प्रा० पा०—प्रोशित्र० । २. प्रा० पा०—भुजज्योप० । ३. प्रा० पा०—प्रवस्यास्तव । ४. प्रा० पा०—अवरं ते । ५. प्रा० पा०—सोमश्च ।

यस्यां स्वतेजोऽग्निमिवारणावधाः ॥४२॥
कः श्रद्दधीतान्यतमस्तव प्रभो
रसां गताया भुव उद्विबर्हणम् ।
न विस्मयोऽसौ त्वयि विश्वविस्मये
यो माययेदं ससृजेऽतिविस्मयम् ॥४३॥
विधुन्वता वेदमयं निजं वपु-
र्जनस्तपःसत्यनिवासिनो वयम् ।
सटाशिखोद्धूतशिवाम्बुबिन्दुभि-
र्विमृज्यमाना भृशमीश पाविताः ॥४४॥
स वै बत भ्रष्टमतिस्तवैष ते
यः कर्मणां पारमपारकर्मणः ।
यद्योगमायागुणयोगमोहितं
विश्वं समस्तं भगवन्विधेहि शम् ॥४५॥

मैत्रेय उवाच

इत्युपस्थीयमानस्तैर्मुनिभिर्ब्रह्मवादिभिः ।
सलिले स्वखुराक्रान्त उपाधत्ताविताविनिम् ॥४६॥
स इत्थं भगवानुर्वीं विष्वक्सेनः प्रजापतिः ।
रसाया लीलयोन्नीतामप्सु न्यस्य ययौ हरिः ॥४७॥
य एवमेतां हरिमेधसो हरेः
कथां सुभद्रां कथनीयमायिनः ।
शृण्वीत भक्त्या श्रवयेत वोशतीं
जनार्दनोऽस्याशु हृदि प्रसीदति ॥४८॥
तस्मिन्प्रसन्ने सकलाशिषां प्रभौ
किं दुर्लभं ताभिरलं लवात्मभिः ।
अनन्यदृष्ट्या भजतां गुहाशयः
स्वयं विधत्ते स्वगतिं परः पराम् ॥४९॥

इसमें अपना तेज स्थापित किया है। हम आपके सहित इस पृथिवीमाताको प्रणाम करते हैं ॥४२॥ हे प्रभो! रसातलमें डूबी हुई इस पृथिवीको निकालनेका आपके सिवा और कौन साहस कर सकता है; किन्तु सम्पूर्ण विस्मयोंके आश्रयरूप आपके लिये यह कोई विस्मयकी बात नहीं है; क्योंकि आपने मायासे ही इस अति विस्मयरूप संसारकी रचना की है ॥४३॥ हे ईश! जब आप अपने वेदमय शरीरको हिलाते हैं तो आपकी सटाओंसे झड़ती हुई शीतल जलकी बूँदें हमारे ऊपर गिरती हैं। हे ईश! उनका संसर्ग होनेसे हम जनलोक, तपलोक और सत्यलोकमें रहनेवाले मुनिजन सर्वथा पवित्र हो गये हैं ॥४४॥ प्रभो! जो पुरुष आपके कर्मोंका पार पाना चाहता है अवश्य ही उसकी बुद्धि नष्ट हो गयी है, क्योंकि आप अपार कर्म करनेवाले हैं। आपकी ही योगमायाके सत्त्वादि गुणोंसे यह सम्पूर्ण जगत् मोहित हो रहा है; हे भगवन्! आप उसका कल्याण कीजिये ॥४५॥

श्रीमैत्रेयजी बोले—हे विदुर! उन ब्रह्मवादी मुनीश्वरोंके इस प्रकार स्तुति करनेपर सबकी रक्षा करनेवाले वराह भगवान्‌ने अपने खुरोंसे आक्रान्त जलके ऊपर पृथिवीको स्थापित कर दिया ॥४६॥ वे विष्वक्सेन प्रजापति भगवान् हरि इस प्रकार रसातलसे लीलापूर्वक लायी हुई पृथिवीको जलपर रखकर अन्तर्धान हो गये ॥४७॥ हे विदुर! जिनके मायामय चरित्र अत्यन्त कीर्तनीय हैं तथा जिनमें लगी हुई बुद्धि सब दुःखोंको दूर कर देती है उन श्रीहरिकी इस मंगलकारिणी सुन्दर कथाको जो पुरुष भक्तिभावसे सुनता या सुनाता है उसके हृदयमें स्थित श्रीजनार्दन भगवान् बहुत शीघ्र प्रसन्न हो जाते हैं ॥४८॥ सम्पूर्ण कामनाओंको पूर्ण करनेमें समर्थ उन श्रीहरिके प्रसन्न होनेपर संसारमें क्या दुर्लभ है? किन्तु उन तुच्छ कामनाओंकी क्या आवश्यकता है? जो लोग भगवान्‌को अनन्यभावसे भजते हैं उनकी बुद्धिरूप गुहामें स्थित हुए वे प्रभु उन्हें स्वयं ही अपना परमपद दे देते हैं ॥४९॥

१. प्रा० पा०—ग्निरिवा० । २. प्रा० पा०—र्दनस्तस्य हृदि ।

को नाम लोके पुरुषार्थसारवि-
त्पुराकथानां भगवत्कथासुधाम् ।
आपीय कर्णाञ्जलिभिर्भवापहा-
महो विरज्येत विना नरेतरम् ॥५०॥

संसारमें पशुओंको छोड़कर अपने परम पुरुषार्थको जाननेवाला ऐसा कौन पुरुष होगा जो संसारभयको नष्ट करनेवाले हरिकथारूप अमृतका अपने कर्णपुटोंसे एक बार पान करके फिर उससे उपराम हो जायगा ॥ ५० ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे तृतीयस्कन्धे वराह[1]-
प्रादुर्भावानुवर्णने त्रयोदशोऽध्यायः ॥१३॥

चौदहवाँ अध्याय

दितिके गर्भस्थापन

श्रीशुक उवाच

निशम्य कौषारविणोपवर्णितां
हरेः कथां कारणसूकरात्मनः ।
पुनः स पप्रच्छ तमुद्यताञ्जलि-
र्न चातितृप्तो विदुरो धृतव्रतः ॥ १ ॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! इस प्रकार कारणवश सूकररूप धारण करनेवाले श्रीहरिकी कथाको मैत्रेयजीके मुखसे सुनकर व्रतशील विदुरजी पूर्णतया तृप्त न होनेके कारण फिर हाथ जोड़कर कहने लगे ॥१॥

विदुर उवाच

तेनैव तु मुनिश्रेष्ठ हरिणा यज्ञमूर्तिना ।
आदिदैत्यो हिरण्याक्षो हत इत्यनुशुश्रुम ॥ २ ॥
तस्य चोद्धरतः क्षोणीं स्वदंष्ट्राग्रेण लीलया ।
दैत्यराजस्य च ब्रह्मन्कस्माद्धेतोरभून्मृधः ॥ ३ ॥

विदुरजीने कहा—हे मुनिश्रेष्ठ ! हमने आपके मुखसे अभी यह बात सुनी है कि आदिदैत्य हिरण्याक्षको उन भगवान् यज्ञमूर्तिने ही मारा था ॥२॥ सो, हे ब्रह्मन् ! जिस समय भगवान् लीलासे ही पृथिवीको अपनी दाढ़ोंपर रखकर निकाल रहे थे उस समय उनसे दैत्यराज हिरण्याक्षकी मुठभेड़ किस कारण हुई—यह जाननेकी मेरी इच्छा है ॥३॥

मैत्रेय उवाच

साधु वीर त्वया पृष्टमवतारकथां हरेः ।
यत्त्वं पृच्छसि मर्त्यानां मृत्युपाशविशातनीम् ॥ ४ ॥
ययोत्तानपदः पुत्रो मुनिना गीतयार्भकः ।
मृत्योः कृत्वैव मूर्ध्न्यङ्घ्रिमारुरोह हरेः पदम् ॥ ५ ॥
अथात्रापीतिहासोऽयं श्रुतो मे वर्णितः पुरा ।
ब्रह्मणा देवदेवेन देवानामनुपृच्छताम् ॥ ६ ॥

श्रीमैत्रेयजी बोले—हे वीर ! तुम्हारा प्रश्न बड़ा सुन्दर है; क्योंकि तुम श्रीहरिके अवतारोंकी कथाओंके विषयमें पूछते हो, जो मनुष्योंके मृत्युपाशका छेदन करनेवाली हैं ॥ ४ ॥ देखो, उत्तानपादका पुत्र ध्रुव बालकपनमें नारदजीकी सुनायी हुई हरिकथाके प्रभावसे ही मृत्युके शिरपर पैर रखकर भगवान्के परमपदपर आरूढ़ हो गया था ॥५॥ हे विदुर ! एक बार इस [वराह भगवान् और हिरण्याक्षके संग्रामके] विषयमें देवताओंके प्रश्न करनेपर देवदेव ब्रह्माजीने उन्हें यह इतिहास सुनाया था; इसे उस समय मैंने भी सुना था, सो तुमसे कहता हूँ ॥६॥

१. प्राचीन प्रतिमें 'वराहप्रादुर्भावानुवर्णने' इतना अंश नहीं है ।

दितिर्दाक्षायणी क्षत्तर्मारीचं कश्यपं पतिम् ।
अपत्यकामा चकमे सन्ध्यायां हृच्छयार्दिता ॥ ७ ॥
इष्ट्वाग्निजिह्वं पयसा पुरुषं यजुषां पतिम् ।
निम्लोचत्यर्क आसीनमग्न्यागारे समाहितम् ॥ ८ ॥

दितिरुवाच[1]

एष मां त्वत्कृते विद्वन्काम[2] आत्तशरासनः ।
दुनोति दीनां विक्रम्य रम्भामिव मतङ्गजः ॥ ९ ॥
तद्भवान्दह्यमानायां सपत्नीनां समृद्धिभिः ।
प्रजावतीनां भद्रं ते मय्यायुङ्क्तामनुग्रहम् ॥१०॥
भर्तर्याप्तोरुमानानां लोकानाविशते यशः ।
पतिर्भवद्विधो यासां प्रजया ननु जायते ॥११॥
पुरा पिता नो भगवान्दक्षो दुहितृवत्सलः ।
कं वृणीत वरं वत्सा इत्यपृच्छत नः पृथक् ॥१२॥
स विदित्वात्मजानां नो भावं सन्तानभावनः ।
त्रयोदशाददात्तासां यास्ते शीलमनुव्रताः ॥१३॥
अथ मे कुरु कल्याण कामं कञ्जविलोचन ।
आर्तोपसर्पणं भूमन्नमोघं हि[3] महीयसि ॥१४॥

इति तां वीर मारीचः कृपणां बहुभाषिणीम् ।
प्रत्याहानुनयन्वाचा प्रवृद्धानङ्गकश्मलाम् ॥१५॥
एष तेऽहं विधास्यामि प्रियं भीरु यदिच्छसि ।
तस्याः[4] कामं न कः कुर्यात्सिद्धिस्त्रैवर्गिकी यतः ।१६।

हे क्षत्तः ! एक बार दक्षकी पुत्री दितिने पुत्र-प्राप्तिकी इच्छासे सायंकालके समय कामातुरा हो अपने पति मरीचिनन्दन कश्यपजीसे रतिके लिये प्रार्थना की ॥७॥ उस समय कश्यपजी, जिनकी जिह्वा अग्नि ही है ऐसे भगवान् यज्ञपुरुषकी आहुतियोंद्वारा पूजाकर सूर्यास्तका समय जान हवन-शालामें एकाग्रचित्तसे बैठे हुए थे ॥८॥

दिति बोली—हे विद्वन् ! मतवाला हाथी जैसे केलेके वृक्षको मसल डालता है उसी प्रकार यह धनुर्धारी कामदेव आपको निमित्त बना मुझपर आक्रमण करके मुझ दीनाको अत्यन्त पीडित कर रहा है ॥९॥ अपनी पुत्रवती सौतोंकी समृद्धिसे मेरे चित्तमें बड़ा डाह हो रहा है ; अतः आप मुझपर कृपा कीजिये, आपका कल्याण हो ॥१०॥ जिनके गर्भसे आप-जैसा पति पुत्ररूपसे उत्पन्न होता है ऐसी पतिसे अत्यन्त सम्मानिता महिलाओंका सुयश त्रिलोकीमें व्याप्त हो जाता है ॥११॥ पूर्वकालमें हमारे कन्यावत्सल पिता दक्षप्रजापतिने हम सबसे अलग-अलग पूछा था कि 'बेटी ! तुम किसको अपना पति बनाना चाहती हो' ॥१२॥ तब अपनी सन्तानकी वृद्धि चाहनेवाले हमारे पिताने अपनी पुत्रियोंकी इच्छा जानकर हम तेरहको, जो आपके स्वभावकी अनुगामिनी थीं, आपके साथ विवाह दिया ॥१३॥ अतः हे मंगलमूर्ते ! हे कमलनयन ! आप मेरी इच्छा पूर्ण कीजिये । हे भूमन् ! आप-जैसे महापुरुषके पास मुझ दीनाका आना निष्फल नहीं होना चाहिये ॥१४॥

हे वीरवर विदुर ! बढ़े हुए कामदेवसे व्यथित और दीन होकर बहुत प्रकारसे अनुनय-विनय करती हुई अपनी भार्यासे मरीचिनन्दन कश्यपजीने अपनी वाणीद्वारा उसे शान्त करते हुए कहा ॥१५॥ 'हे भीरु ! तेरी जैसी इच्छा है वह तेरा प्रिय मैं अवश्य करूँगा । भला जिसके द्वारा धर्म, अर्थ और कामकी सिद्धि होती है उस अपनी पत्नीकी कामना कौन पुरुष पूर्ण न करेगा ? ॥१६॥

१. प्राचीन प्रतिमें 'दितिरुवाच' यह अंश मूलमें नहीं टिप्पणीमें है । २. प्रा० पा०—ब्रह्मन्काम । ३. प्रा० पा०—कर्तुमर्हसि । ४. प्रा० पा०—तस्यां ।

सर्वाश्रमानुपादाय स्वाश्रमेण कलत्रवान् ।
व्यसनार्णवमत्येति जलयानैर्यथार्णवम् ॥१७॥
यामाहुरात्मनो ह्यर्धं श्रेयस्कामस्य मानिनि ।
यस्यां स्वधुरमध्यस्य[1] पुमांश्चरति विज्वरः ॥१८॥
यामाश्रित्येन्द्रियारातीन्दुर्जयानितराश्रमैः ।
वयं जयेम हेलाभिर्दस्यून्दुर्गपतिर्यथा ॥१९॥
न वयं प्रभवस्तां त्वामनुकर्तुं गृहेश्वरि ।
अप्यायुषा वा[2] कात्स्न्येन ये चान्ये गुण[3]गृध्नवः ॥२०॥
अथापि काममेतं[4] ते प्रजात्यै करवाण्यलम् ।
यथा मां[5] नातिवोचन्ति मुहूर्तं प्रतिपालय ॥२१॥
एषा घोरतमा वेला घोराणां घोरदर्शना ।
चरन्ति यस्यां भूतानि भूतेशानुचराणि ह ॥२२॥
एतस्यां साध्वि सन्ध्यायां भगवान्भूतभावनः ।
परीतो भूतपर्षद्भिर्वृषेणाटति भूतराट् ॥२३॥
श्मशानचक्रानिलधूलिधूम्र-
विकीर्णविद्योतजटाकलापः ।
भस्मावगुण्ठामलरुक्मदेहो
देवस्त्रिभिः पश्यति देवरस्ते ॥२४॥
न यस्य[6] लोके स्वजनः परो वा
नात्यादृतो नोत कश्चिद्विगर्ह्यः ।
वयं व्रतैर्यच्चरणापविद्धा-
माशास्महेऽजां बत भुक्तभोगाम् ॥२५॥

जिस प्रकार जहाजपर चढ़कर मनुष्य समुद्रको पार कर लेता है उसी प्रकार गृहस्थाश्रमी पुरुष अन्य आश्रमोंको आश्रय देता हुआ अपने आश्रम-द्वारा स्वयं भी दुःखसमुद्रको पार कर जाता है ॥१७॥ हे मानिनि ! जिसे अर्थ, धर्म और काम-रूप त्रिविध पुरुषार्थकी इच्छावाले पुरुषके अंगका आधा भाग कहा है, जिसपर अपना गृहस्थीका बोझा डालकर पुरुष निश्चिन्त होकर विचरता है तथा दुर्गपति (किलेका स्वामी) जैसे लूटनेवाले शत्रुओंको जीत लेता है उसी प्रकार जिसका आश्रय लेकर हम अपने इन्द्रियरूप शत्रुओंको, जो अन्य आश्रमवालोंके लिये अत्यन्त दुर्जय हैं, सहजहीमें जीत लेते हैं, हे गृहेश्वरि ! उस तुम-जैसी भार्याका प्रत्युपकार हम अथवा और भी गुणग्राही पुरुष अपनी सम्पूर्ण आयुमें भी नहीं कर सकते ॥१८–२०॥ तो भी मैं तुम्हारी सन्तानप्राप्तिकी इच्छाको अभी पूर्ण करता हूँ परन्तु तुम एक मुहूर्त और ठहरी रहो जिससे लोग मेरी निन्दा न करें ॥२१॥ यह समय राक्षसादि घोर जीवोंका है तथा देखनेमें भी बड़ा भयानक है, इस समय भूतनाथ भगवान् रुद्रके गण भूतलोग फिरा करते हैं ॥२२॥ हे साध्वि ! इस सन्ध्याकालमें भूतभावन भगवान् शंकर अपने पार्षद भूतगणसे घिरे हुए बैलपर चढ़कर घूमा करते हैं ॥२३॥ [यदि कहो कि जब वे सामने आवें तब ऐसा मत करना तो] जिनका जटाजूट श्मशानभूमिसे उठे हुए बवण्डरकी धूलिसे धूसरित होकर देदीप्यमान हो रहा है तथा जिनका सुवर्णकान्तिमय गौर शरीर भस्मसे आच्छादित है वे तुम्हारे देवर देवदेव महादेव अपने [सूर्य, चन्द्रमा और अग्निरूप] तीन नेत्रोंसे सर्वत्र देख रहे हैं ॥२४॥ संसारमें उनका कोई भी अपना या पराया नहीं है और न कोई अति आदरपात्र या निन्दनीय ही है । हमलोग तो, जिसे उन्होंने भोगकर लात मार दी है उस उनकी मायाको ही, नाना प्रकारके व्रतोंका पालन करके, उनके प्रसादरूपसे ग्रहण करना चाहते

१. प्रा० पा०—मध्यास्य । २. प्रा० पा०—च । ३. प्रा० पा०—कामगृध्नवः । ४. प्रा० पा०—मेतत्ते प्रजायै । ५. प्रा० पा०—यथा मानिनि बोधन्ति मुहू० । ६. प्रा० पा०—तस्य ।

यस्यानवद्याचरितं मनीषिणो
गृणन्त्यविद्यापटलं विभित्सवः ।
निरस्तसाम्यातिशयोऽपि यत्स्वयं
पिशाचचर्यामचरद्गतिः सताम् ॥२६॥
हसन्ति यस्याचरितं हि दुर्भगाः
स्वात्मव्रतस्याविदुषः समीहितम् ।
यैर्वस्त्रमाल्याभरणानुलेपनैः
श्वभोजनं स्वात्मतयोपलालितम् ॥२७॥
ब्रह्मादयो यत्कृतसेतुपाला
यत्कारणं विश्वमिदं च माया ।
आज्ञाकरी तस्य पिशाचचर्या
अहो विभूम्नश्चरितं विडम्बनम् ॥२८॥

मैत्रेय उवाच

सैवं संविदिते भर्त्रा मन्मथोन्मथितेन्द्रिया ।
जग्राह वासो ब्रह्मर्षेर्वृषलीव गतत्रपा ॥२९॥
स विदित्वाथ भार्यायास्तं निर्बन्धं विकर्मणि ।
नत्वा दिष्टाय रहसि तयाथोपविवेश ह ॥३०॥
अथोपस्पृश्य सलिलं प्राणानायम्य वाग्यतः ।
ध्यायञ्जजाप विरजं ब्रह्म ज्योतिः सनातनम् ॥३१॥
दितिस्तु व्रीडिता तेन कर्मावद्येन भारत ।
उपसंगम्य विप्रर्षिमधोमुख्यभ्यभाषत ॥३२॥

दितिरुवाच

मा मे गर्भमिमं ब्रह्मन्भूतानामृषभो वधीत् ।
रुद्रः पतिर्हि भूतानां यस्याकरवमंहसम् ॥३३॥
नमो रुद्राय महते देवायोग्राय मीढुषे ।

हैं ॥२५॥ जो धीर पुरुष मायाके परदेको हटाना चाहते हैं वे उनके निर्मल चरित्रका गान करते हैं। उनके समान और उनसे अधिक कोई भी नहीं है और वे सत्पुरुषोंकी एकमात्र गति हैं, तो भी अपनी इच्छासे उन्होंने पिशाचोंका आचरण स्वीकार किया है ॥२६॥ जो कुत्तोंके भक्ष्यरूप अपने शरीरको ही आत्मा मानकर उसका नाना प्रकारके वस्त्र, आभूषण, माला और चन्दनादिसे लालन-पालन करते हैं वे अभागे पुरुष ही उन सर्वज्ञ आत्माराम भगवान् शंकरके चरित्रका उपहास करते हैं ॥ २७ ॥ ब्रह्मादिक लोकपालगण भी जिनकी बाँधी हुई धर्ममर्यादाका पालन करते हैं, यह सम्पूर्ण विश्व जिनका कार्यरूप है तथा माया भी जिनकी आज्ञाका अनुसरण करनेवाली है वे भगवान् भूतनाथ प्रेतोंका-सा आचरण करते हैं ! अहो ! उन जगद्व्यापक प्रभुका यह सब चरित्र लीलामात्र ही है ॥२८॥

श्रीमैत्रेयजी बोले—पतिके इस प्रकार समझानेपर भी कामातुरा दितिने वेश्याके समान निर्लज्ज होकर ब्रह्मर्षि कश्यपजीका वस्त्र पकड़ लिया ॥२९॥ तब कश्यपजीने उस निषिद्ध कर्ममें अपनी भार्याका अति आग्रह देख दैवरूप परमात्माको प्रणामकर उसके साथ एकान्तमें संगम किया ॥३०॥ और फिर जलमें स्नान-कर प्राण और वाणीका संयमकर शुद्ध और सनातन ज्योतिर्मय परमात्माका ध्यान करते हुए प्रणवका जप करने लगे ॥३१॥ हे विदुर ! फिर दितिको भी उस निन्दित कर्मके कारण बड़ी लज्जा आयी और वह ब्रह्मर्षि कश्यपजीके पास जा शिर नीचा किये उनसे इस प्रकार कहने लगी—॥३२॥

दिति बोली—ब्रह्मन् ! जिनका मैंने अपराध किया है वे भूतोंके स्वामी भूतश्रेष्ठ भगवान् रुद्र मेरे इस गर्भको नष्ट न करें ॥३३॥ जो दुःखोंको दूर करनेवाले और दुर्द्धर्ष हैं, तथा जो [सकाम उपासकोंकी] कामना पूर्ण करने-वाले, [निष्काम उपासकोंको] मोक्ष प्रदान करनेवाले

१. प्राचीन प्रतिमें 'मैत्रेय उवाच' इतना अंश नहीं है। २. प्रा० पा०—विप्रर्षे०। ३. प्रा० पा०—विदित्वा स्वभार्या०। ४. प्राचीन प्रतिमें 'दितिरुवाच' इतना अंश नहीं है।

शिवाय न्यस्तदण्डाय धृतदण्डाय मन्यवे ॥३४॥
स नः प्रसीदतां भामो भगवानुर्वनुग्रहः ।
व्याधस्याप्यनुकम्प्यानां स्त्रीणां देवः सतीपतिः।३५।

और वास्तवमें दण्डत्यागी दुष्टोंका दमन करनेके लिये दण्ड धारण करनेवाले हैं उन क्रोधमूर्ति महादेव भगवान् रुद्रको नमस्कार है ॥३४॥ वे परम कृपालु मेरे बहनोई सतीपति भगवान् शंकर हम स्त्रियोंपर, जो महाक्रूर व्याधोंकी भी दयापात्री हैं, प्रसन्न हों ॥३५॥

मैत्रेय उवाच

स्वसर्गस्याशिषं लोक्यामाशासानां प्रवेपतीम् ।
निवृत्तसन्ध्यानियमो भार्यामाह प्रजापतिः ॥३६॥

श्रीमैत्रेयजी बोले–हे विदुर ! तब प्रजापति कश्यपजीने सन्ध्या-वन्दनादिसे निवृत्त हो अपनी संतानकी लौकिक और पारलौकिक उन्नतिकी कामनासे इस प्रकार थर-थर काँपती हुई अपनी भार्यासे कहा ॥३६॥

कश्यप उवाच

अप्रायत्यादात्मनस्ते दोषान्मौहूर्तिकादुत ।
मन्निदेशातिचारेण देवानां चातिहेलनात् ॥३७॥
भविष्यतस्तवाभद्रावभद्रे जाठराधमौ ।
लोकान्सपालांस्त्रींश्चण्डि मुहुराक्रन्दयिष्यतः ॥३८॥
प्राणिनां हन्यमानानां दीनानामकृतागसाम् ।
स्त्रीणां निगृह्यमाणानां कोपितेषु महात्मसु ॥३९॥
तदा विश्वेश्वरः क्रुद्धो भगवाँल्लोकभावनः ।
हनिष्यत्यवतीर्यासौ यथाद्रीन् शतपर्वधृक् ॥४०॥

कश्यपजी बोले–अयि अभद्रे ! तुम्हारा चित्त अशुद्ध था, वह समय भी दोषयुक्त था तथा तुमने मेरी आज्ञाका उल्लङ्घन और देवताओंका अनादर किया, इसलिये हे चण्डि ! तुम्हारे गर्भसे दो अति अमंगलमय अधम पुत्र उत्पन्न होंगे, जो लोकपालोंके सहित सम्पूर्ण लोकोंको बारम्बार पीड़ित करेंगे ॥३७-३८॥ उनके द्वारा निरपराध और दीन प्राणियोंका वध होनेसे तथा स्त्रियोंपर अत्याचार होनेसे जब महात्मागण कुपित होंगे तब सम्पूर्ण लोकोंकी रक्षा करनेवाले भगवान् जगत्पति अति क्रुद्ध होकर अवतार लेंगे और जैसे इन्द्रने पर्वतोंका दमन किया था उसी प्रकार उनका वध करेंगे ॥३९-४०॥

दितिरुवाच

वधं भगवता साक्षात्सुनाभोदारबाहुना ।
आशासे पुत्रयोर्मह्यं मा क्रुद्धाद्ब्राह्मणाद्विभो ॥४१॥
न ब्रह्मदण्डदग्धस्य न भूतभयदस्य च ।
नारकाश्चानुगृह्णन्ति यां यां योनिमसौ गतः ॥४२॥

दितिने कहा–प्रभो ! जिनकी भुजाएँ सुदर्शनचक्रसे सुशोभित हैं उन साक्षात् श्रीभगवान्के हाथसे मेरे पुत्रोंका वध हो—यह तो मैं भी चाहती हूँ किन्तु उनकी मृत्यु कुपित ब्राह्मणोंके क्रोधसे न होनी चाहिये ॥४१॥ क्योंकि जो ब्रह्मदण्डसे दग्ध अथवा प्राणियोंको भय देनेवाला होता है वह किसी भी योनिमें जाय उसपर नारकी जीव भी दया नहीं करते ॥४२॥

कश्यप उवाच

कृतशोकानुतापेन सद्यः प्रत्यवमर्शनात् ।
भगवत्युरुमानाच्च भवे मय्यपि चादरात् ॥४३॥
पुत्रस्यैव तु पुत्राणां भवितैकः सतां मतः ।

कश्यपजीने कहा—प्रिये ! तुमने अपने किये कुकर्मपर शोक और पश्चात्ताप प्रकट किया, तुम्हें शीघ्र ही उचित-अनुचितका विचार हो गया तथा तुमने भगवान् शंकरके प्रति अत्यन्त सम्मान और मेरे प्रति भी आदर प्रकट किया है, इसलिये तुम्हारे पुत्रके चार

१. प्रा० पा०—चैव हेल०। २. प्रा० पा०—भावितः। ३. प्रा० पा०—गात्प्रभो। ४. प्रा० पा०—भवे वाप्यधिकादरात्। ५. प्रा० पा०—च।

गास्यन्ति यद्यशः शुद्धं भगवद्यशसा समम् ॥४४॥
योगैर्हेमेव दुर्वर्णं भावयिष्यन्ति साधवः ।
निर्वैरादिभिरात्मानं यच्छीलमनुवर्तितुम् ॥४५॥
यत्प्रसादादिदं विश्वं प्रसीदति यदात्मकम् ।
स स्वदृग्भगवान्यस्य तोष्यतेऽनन्यया दृशा ॥४६॥
स वै महाभागवतो महात्मा
महानुभावो महतां महिष्ठः ।
प्रवृद्धभक्त्या ह्यनुभाविताशये
निवेश्य वैकुण्ठमिमं विहास्यति ॥४७॥
अलम्पटः शीलधरो गुणाकरो
हृष्टः परद्धर्चा व्यथितो दुःखितेषु ।
अभूतशत्रुर्जगतः शोकहर्ता[1]
नैदाघिकं तापमिवोडुराजः ॥४८॥
अन्तर्बहिश्चामलमब्जनेत्रं
स्वपूरुषेच्छानुगृहीतरूपम् ।
पौत्रस्तव श्रीललनाललामं
द्रष्टा स्फुरत्कुण्डलमण्डिताननम् ॥४९॥

मैत्रेय उवाच

श्रुत्वा भागवतं पौत्रममोदत[2] दितिर्भृशम् ।
पुत्रयोश्च वधं कृष्णाद्विदित्वासीन्महामनाः ॥५०॥

पुत्रोंमेंसे एक सत्पुरुषोंका माननीय होगा जिसके पवित्र यशका भक्तजन भगवान्‌के गुणोंके साथ गान करेंगे ॥४३-४४॥ जिस प्रकार खोटे सोनेको बार-बार तपाकर शुद्ध किया जाता है उसी प्रकार साधुजन उसके स्वभावका अनुकरण करनेके लिये निर्वैरादि उपायोंसे अपने अन्तःकरणको शुद्ध करेंगे ॥४५॥ जिनकी कृपासे यह उन्हींका स्वरूपभूत जगत् आनन्दित होता है वे स्वयंप्रकाश भगवान् उसकी अनन्यभक्तिसे प्रसन्न होंगे ॥४६॥ वे परमभागवत उदाराशय महाप्रतापी और महान्‌से भी महान् (श्रीप्रह्लादजी) अपने प्रौढ़ भक्तिभावसे शुद्ध किये हुए अन्तःकरणमें भगवान् विष्णुको स्थापितकर इस देहको त्याग देंगे ॥ ४७ ॥ वे विषयोंमें अलिप्त, सुस्वभाव, गुणोंके निधि, दूसरोंके सुखमें सुखी और दुःखमें दुखी होनेवाले अजातशत्रु प्रह्लादजी, ग्रीष्मऋतुके तापको हरनेवाले चन्द्रमाके समान संसारका शोक शान्त करनेवाले होंगे ॥४८॥ जो इस जगत्‌के बाहर-भीतर सब ओर विराजमान हैं, अपने भक्तोंकी इच्छाके अनुसार उनपर कृपा करनेके लिये रूप धारण करते हैं और लक्ष्मीरूप ललनाकी शोभा बढ़ानेवाले हैं तथा जिनका मुखमण्डल झिलमिलाते हुए कुण्डलोंसे सुशोभित है उन अमलकमलनयन भगवान्‌का तेरे पौत्रको प्रत्यक्ष दर्शन होगा ॥४९॥

श्रीमैत्रेयजी बोले—हे विदुर ! 'मेरा पौत्र परम भगवद्भक्त होगा' यह सुनकर दितिको बड़ा ही आनन्द हुआ; और अपने पुत्रोंका भी भगवान् विष्णुके हाथसे वध होना सुनकर उसे अति उत्साह हुआ ॥५०॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे तृतीयस्कन्धे दितिकश्यप-
संवादे चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

१. प्रा० पा०—शोकहन्ता । २. प्रा० पा०—पौत्रं मुमोद च दिति० ।

पन्द्रहवाँ अध्याय

जय-विजयको सनकादिका शाप।

मैत्रेय उवाच

प्राजापत्यं तु तत्तेजः परतेजोहनं दितिः।
दधार वर्षाणि शतं शङ्कमाना सुरार्दनात्॥ १॥
लोके तेन हतालोके[1] लोकपाला हतौजसः।
न्यवेदयन्विश्वसृजे ध्वान्तव्यतिकरं दिशाम्॥ २॥

देवा[2] ऊचुः

तम एतद्विभो वेत्थ संविग्ना यद्वयं भृशम्।
न ह्यव्यक्तं भगवतः कालेनास्पृष्टवर्त्मनः॥ ३॥
देवदेव जगद्धातर्लोकनाथशिखामणे[3]।
परेषामपरेषां त्वं भूतानामसि भाववित्॥ ४॥
नमो विज्ञानवीर्याय माययेदमुपेयुषे।
गृहीतगुणभेदाय नमस्तेऽव्यक्तयोनये॥ ५॥
ये त्वानन्येन[4] भावेन भावयन्त्यात्मभावनम्।
आत्मनि प्रोतभुवनं परं सदसदात्मकम्॥ ६॥
तेषां सुपक्वयोगानां जितश्वासेन्द्रियात्मनाम्।
लब्धयुष्मत्प्रसादानां न कुतश्चित्पराभवः॥ ७॥
यस्य वाचा प्रजाः सर्वा गावस्तन्त्येव यन्त्रिताः।
हरन्ति बलिमायत्तास्तस्मै मुख्याय[5] ते नमः॥ ८॥
स त्वं विधत्स्व शं भूमंस्तमसा[6] लुप्तकर्मणाम्।
अदभ्रदयया दृष्ट्या आपन्नानर्हसीक्षितुम्॥ ९॥

श्रीमैत्रेयजी बोले—हे विदुर! 'मेरे पुत्रोंसे देवताओंको कष्ट पहुँचेगा' इस आशंकासे दिति दूसरोंके तेजका नाश करनेवाले उस कश्यपजीके तेजको सौ वर्षतक अपने उदरमें ही धारण किये रही॥१॥ उस तेजसे सम्पूर्ण लोकोंमें सूर्यादिका प्रकाश क्षीण हो गया, तब तेजोहीन हुए इन्द्रादि लोकपालोंने ब्रह्माजीके पास जाकर उनसे दिशाओंमें फैलते हुए अन्धकारके कारण हुई अव्यवस्थाका वर्णन किया॥२॥

देवगण बोले—हे विभो! काल जिनकी गतिका स्पर्श भी नहीं कर सकता ऐसे आपसे कोई भी बात छिपी नहीं है, अतः आप इस अन्धकारके विषयमें भी जानते ही होंगे जिससे कि हम अत्यन्त भयभीत हो रहे हैं॥ ३॥ हे देवदेव! हे जगद्विधातः! हे लोकपालशिरोमणे! आप सभी छोटे-बड़े जीवोंका भाव जानते हैं॥ ४॥ विज्ञान ही आपका बल है, आपने अपनी मायासे ही यह ब्रह्मारूप धारण किया है, तथा रजोगुणको स्वीकार किया है किन्तु आपके कारणको कोई नहीं जान सकता—ऐसे आपको नमस्कार है॥५॥ जिनमें सम्पूर्ण भुवन स्थित हैं, कार्य-कारणरूप निखिल प्रपञ्च जिनका शरीर है और वास्तवमें जो इससे परे हैं, सकल जीवोंको उत्पन्न करनेवाले उन आपका जो अनन्यभावसे ध्यान करते हैं उन श्वास, इन्द्रिय और मनको जीतनेवाले तथा आपके कृपाकटाक्षसे कृतकृत्य हुए सिद्ध योगियोंका किसी प्रकार ह्रास नहीं हो सकता॥६-७॥ जिनकी वेदवाणीरूप रस्सीमें बँधी हुई सम्पूर्ण प्रजा, नथे हुए बैलोंके समान, नियमपूर्वक कर्मानुष्ठान करती हुई उन्हें बलि समर्पण करती है उन सर्वनियन्ता मुख्य प्राणरूप आपको नमस्कार है॥८॥ हे भूमन्! इस अन्धकारके कारण जिनके सब कर्म लुप्त होते जा रहे हैं, उन देवताओंका कल्याण कीजिये और हम शरणागतोंको ओर अपनी अपार दयादृष्टिसे निहारिये॥ ९॥

१. प्रा० पा०—कृतालोके। २. प्राचीन प्रतिमें 'देवा ऊचुः' यह अंश नहीं है। ३. प्रा० पा०—शिरोमणे। ४. प्रा० पा०—ये त्वामनन्यभावेन। ५. प्रा० पा०—मुख्यात्मने नमः। ६. प्रा० पा०—भूमँल्लोकानां।

एष देव दितेर्गर्भ ओजः काश्यपमर्पितम् ।
दिशस्तिमिरयन्सर्वा वर्धतेऽग्निरिवैधसि ॥१०॥

हे देव ! अग्नि जिस प्रकार काष्ठमें बढ़ता है उसी प्रकार कश्यपजीके वीर्यसे स्थापित हुआ यह दितिका गर्भ सम्पूर्ण दिशाओंको अन्धकारमय करता हुआ बढ़ रहा है ॥१०॥

मैत्रेय उवाच

स प्रहस्य महाबाहो भगवान् शब्दगोचरः ।
प्रत्याचष्टात्मभूर्देवान्प्रीणन्रुचिरया गिरा ॥११॥

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—हे महाबाहो ! तब वेदवेत्ता भगवान् ब्रह्माजी [दितिकी कुचेष्टापर ध्यान जानेसे] कुछ हँसे और अपनी मधुर वाणीसे देवताओंको प्रसन्न करते हुए इस प्रकार कहने लगे ॥११॥

ब्रह्मोवाच

मानसा मे सुता युष्मत्पूर्वजाः सनकादयः ।
चेरुर्विहायसा लोकाँल्लोकेषु विगतस्पृहाः ॥१२॥
त एकदा भगवतो वैकुण्ठस्यामलात्मनः ।
ययुर्वैकुण्ठनिलयं सर्वलोकनमस्कृतम् ॥१३॥
वसन्ति यत्र पुरुषाः सर्वे वैकुण्ठमूर्तयः ।
येऽनिमित्तनिमित्तेन धर्मेणाराधयन्हरिम् ॥१४॥
यत्र चाद्यः पुमानास्ते भगवान् शब्दगोचरः ।
सत्त्वं विष्टभ्य विरजं स्वानां नो मृडयन्वृषः ॥१५॥
यत्र नैःश्रेयसं नाम वनं कामदुघैर्द्रुमैः ।
सर्वर्तुश्रीभिर्विभ्राजत्कैवल्यमिव मूर्तिमत् ॥१६॥
वैमानिकाः सललनाश्चरितानि यत्र
गायन्ति लोकशमलक्षपणानि भर्तुः ।
अन्तर्जलेऽनुविकसन्मधुमाधवीनां
गन्धेन खण्डितधियोऽप्यनिलं क्षिपन्तः ॥१७॥
पारावतान्यभृतसारसचक्रवाक-
दात्यूहहंसशुकतित्तिरिबर्हिणां यः ।
कोलाहलो विरमतेऽचिरमात्रमुच्चै-
र्भृङ्गाधिपे हरिकथामिव गायमाने ॥१८॥
मन्दारकुन्दकुरबोत्पलचम्पकार्ण-

हे देव ! अग्नि जिस प्रकार काष्ठमें बढ़ता है उसी प्रकार कश्यपजीके वीर्यसे स्थापित हुआ यह दितिका गर्भ सम्पूर्ण दिशाओंको अन्धकारमय करता हुआ बढ़ रहा है ॥१०॥

श्रीब्रह्माजी बोले—हे देवगण ! तुम्हारे पूर्वज मेरे मानसपुत्र सनकादिगण लोकोंकी आसक्तिको त्यागकर आकाश-मार्गसे सम्पूर्ण लोकोंमें विचरा करते थे ।१२। एक बार वे शुद्धस्वरूप भगवान् विष्णुके सब लोकोंके वन्दनीय वैकुण्ठधामको गये ॥१३॥ जिन्होंने पहले निष्काम धर्मद्वारा भगवान् विष्णुकी आराधना की है वे ही सब लोग उस वैकुण्ठधाममें भगवान्का-सा रूप धारण करके रहते हैं ॥१४॥ तथा वहाँ वेदान्त-प्रतिपाद्य धर्ममूर्ति भगवान् पुराणपुरुष हम अपने भक्तों-पर कृपा करनेके लिये शुद्धसत्त्वमय स्वरूप धारणकर हर समय विराजमान रहते हैं ॥ १५ ॥ वहाँ समस्त ऋतुओंकी सम्पत्तिसे युक्त कल्पवृक्षोंसे सुशोभित नैःश्रेयस नामक वन है, जो मूर्तिमान् कैवल्यपदके समान ही है ॥१६॥ वहाँ अपनी प्रियाओं-के सहित विमानचारी गन्धर्वगण अपने प्रभुकी पवित्र लीलाओंका, जो लोगोंकी पाप-राशिको नष्ट करनेवाली है, गान करते हैं । [उस समय] वे सरोवरोंमें खिली हुई मकरन्दभरी माधवीलताकी सुमधुर गन्धसे चित्तके चञ्चल होनेपर भी उस गन्धको लाने-वाले वायुका तिरस्कार कर देते हैं ॥ १७ ॥ जिस समय भ्रमरराज गुञ्जार करते हुए मानो हरिकथाका गान करते हैं उस समय थोड़ी देरके लिये कबूतर, कोकिल, सारस, चकवा, चातक, हंस, शुक, तीतर और मयूरों-का कोलाहल बंद हो जाता है । [मानो वे भी एकाग्र-चित्त होकर उस हरिकीर्तनका आनन्द लेने लगते हैं] ॥१८॥ तुलसीविभूषित श्रीहरि तुलसीकी सुगन्धका ही अधिक मान करते हैं—यह देखकर वहाँके मंदार, कुन्द,

१. प्रा० पा०—एधते । २. प्रा० पा०—जले तु विक० । ३. प्रा० पा०—क्षिपन्ति ।

पुन्नागनागबकुलाम्बुजपारिजाताः ।
गन्धे[1]ऽर्चिते तुलसिकाभरणेन तस्या
यस्मिंस्तपः सुमनसो बहु मानयन्ति ॥ १९ ॥
यत्संकुलं हरिपदानतिमात्रदृष्टै-
र्वैदूर्यमारकतहेममयैर्विमानैः ।
येषां बृहत्कटितटाः स्मितशोभिमुख्यः
कृष्णात्मनां न रज आदधुरुत्स्मयाद्यैः ॥२०॥
श्री रूपिणी क्वणयती चरणारविन्दं
लीलाम्बुजेन हरिसद्मनि मुक्तदोषा ।
संलक्ष्यते स्फटिककुड्य उपेतहेम्नि
सम्मार्जतीव यदनुग्रहणेऽन्ययत्नः ॥२१॥
वापीषु विद्रुमतटास्वमलामृताप्सु
प्रेष्यान्विता निजवने तुलसीभिरीशम्।
अभ्यर्चती स्वलकमुन्नसमीक्ष्य वक्त्र-
मुच्छेषितं भगवतेत्यमताङ्ग यच्छ्रीः ॥२२॥
यन्न व्रजन्त्यघभिदो रचनानुवादा-
च्छृण्वन्ति येऽन्यविषयाः कुकथा मतिघ्नीः ।
यास्तु श्रुता हतभगैर्नृभिरात्तसा[2]रा-
स्तांस्तान्क्षिपन्त्यशरणेषु तमःसु हन्त ॥२३॥
येऽभ्यर्थि[3]तामपि च नो नृगतिं प्रपन्ना
ज्ञानं च तत्त्वविषयं सहधर्ममत्र ।
नाराधनं भगवतो वितरन्त्यमुष्य
सम्मोहिता विततया व[4]त मायया ते ॥२४॥

कुरव (तिलक वृक्ष), उत्पल (रात्रिके समय खिलनेवाले कमल), चम्पक, अर्ण, पुन्नाग, नागकेशर, बकुल, अम्बुज (दिनमें खिलनेवाले कमल) और पारिजात आदि सुमनगण सुगन्धयुक्त होकर भी उस वनमें तुलसीहीका तप अधिक मानते हैं [इससे यह सूचित होता है कि वहाँके वृक्ष भी गुणग्राही हैं—ईर्ष्यालु नहीं] ॥१९॥ वह वैकुण्ठलोक वैडूर्य, मरकतमणि और सुवर्णमय विमानोंसे परिपूर्ण है जो [किसी कर्मफलसे नहीं, बल्कि] एकमात्र श्रीहरिचरणोंमें प्रणाम करनेसे ही प्राप्त होते हैं । उन विमानोंपर चढ़े हुए कृष्णप्राण भगवद्भक्तोंके चित्तोंमें बड़े-बड़े नितम्बोंवाली सुमुखी सुन्दरियाँ भी अपने मनोहर हास-परिहासादिसे काम उत्पन्न नहीं कर सकतीं ॥२०॥ जिनकी प्राप्तिके लिये अन्य सब देवतादि प्रयत्न करते रहते हैं वे मूर्तिमती लक्ष्मीजी उस वैकुण्ठधाममें श्रीहरिके स्फटिकमणिकी भीतोंवाले सुवर्णजटित भवनमें अपनी चञ्चलताको त्यागकर [नूपुरमण्डित] चरणकमलोंकी झनकार करती हुई अपने क्रीडाकमलसे मानो बुहारती हुई दिखायी देती हैं ॥२१॥ हे देवगण ! अपनी दासियोंके सहित वे लक्ष्मीजी अपने क्रीडावनमें भगवान्‌का तुलसीद्वारा पूजन करते समय वहाँके विद्रुमतटमण्डित निर्मल जलपूर्ण सरोवरोंमें अपना सुन्दर अलकावली और उन्नत नासिकासे सुशोभित मुखारविन्द देखकर 'यह भगवान्‌का चुम्बन किया हुआ है' ऐसा जानकर उसे अति शोभासम्पन्न समझती हैं ॥२२॥ जो लोग भगवान्‌के पापापहारी गुणानुवादोंको छोड़कर बुद्धिको नष्ट करनेवाली अन्य निन्दित कथाओंको सुनते हैं, वे उस वैकुण्ठलोकमें नहीं जा सकते । खेद है कि वे निन्दित कथाएँ उन भाग्यहीन पुरुषोंद्वारा श्रवण की जानेपर उनके पूर्वपुण्योंको नष्ट करके उन्हें आश्रयहीन घोर नरकमें ले जाती हैं ॥२३॥ हे देवगण ! जिसमें धर्मके सहित तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति हो सकती है ऐसी हम ब्रह्मादिकी भी प्रार्थनीय मनुष्ययोनिको प्राप्त करके जो लोग भगवान्‌की आराधना नहीं करते वे वास्तवमें उनकी सर्वत्र फैली हुई मायासे ही मोहित हो रहे हैं ॥२४॥

१. प्रा० पा०—गन्धेऽन्विते । २. प्रा० पा०—त्तवीर्या- । ३. प्रा० पा०—ऽभ्यर्चिता० । ४. प्रा०पा०—ननु ।

यच्च व्रजन्त्यनिमिषामृषभानुवृत्त्या
दूरेयमा ह्युपरि नः स्पृहणीयशीलाः ।
भर्तुर्मिथः सुयशसः कथनानुराग-
वैक्लव्यबाष्पकलया पुलकीकृताङ्गाः ॥२५॥
तद्विश्वगुर्वधिकृतं भुवनैकवन्द्यं
दिव्यं विचित्रविबुधाग्र्यविमानशोचिः ।
आपुः परां मुदमपूर्वमुपेत्य योग-
मायाबलेन मुनयस्तदथो विकुण्ठम् ॥२६॥
तस्मिन्नतीत्य मुनयः षडसज्जमानाः
कक्षाः समानवयसावथ सप्तमायाम् ।
देवावचक्षत गृहीतगदौ परार्ध्य-
केयूरकुण्डलकिरीटविटङ्कवेषौ ॥२७॥
मत्तद्विरेफवनमालिकया निवी[2]तौ
विन्यस्तयासितचतुष्टयबाहुमध्ये ।
वक्त्रं भ्रुवा कुटिलया स्फुटनिर्गमाभ्यां
रक्तेक्षणेन च मनाग्रभसं दधानौ ॥२८॥
द्वार्येतयोर्निविविशुर्मिषतोरपृष्ट्वा
पूर्वा यथा पुरटवज्रकपाटिका याः ।
सर्वत्र[3] तेऽविषमया मुनयः स्व[4]दृष्ट्या
ये सञ्चरन्त्यविहता विगताभिशङ्काः ॥२९॥
तान्वीक्ष्य वातरशनांश्चतुरः कुमारा-

निरन्तर देवाधिदेव भगवान् विष्णुका चिन्तन करते रहनेके कारण जिनसे यमराज दूर रहते हैं, अपने प्रभुके सुयशका परस्पर कथनोपकथन होनेपर प्रेमकी प्रबलताके कारण जिनके नेत्रोंसे आँसू बहने लगते हैं और शरीरमें रोमाञ्च हो जाता है तथा जिनके-से सुन्दर स्वभावकी सब लोग इच्छा करते हैं वे परम भगवद्भक्त महानुभाव ही हमारे लोकसे ऊपर उस वैकुण्ठधामको जाते हैं ॥२५॥ विश्वगुरु श्रीहरिके निवासस्थान, सम्पूर्ण लोकोंके वन्दनीय और देवश्रेष्ठोंके विचित्र विमानोंसे विभूषित उस परम दिव्य और अद्भुत वैकुण्ठ-धाममें अपने योगबलसे पहुँचकर सनकादि मुनीश्वरों-को परम आनन्द प्राप्त हुआ ॥२६॥

वहाँ पहुँचनेपर उन मुनीश्वरोंने भगवान्‌के दर्शनोंकी लालसासे किसी भी दिव्य दृश्यकी ओर ध्यान न देते हुए वैकुण्ठलोककी छः ड्योढ़ियाँ पार कीं और जब वे सातवीं ड्योढ़ीपर पहुँचे तो उन्हें हाथमें गदा लिये तथा महामूल्य केयूर, कुण्डल और किरीटादि आभूषणोंसे विभूषित दो समान अवस्थावाले देवश्रेष्ठ दिखायी पड़े ॥२७॥ उनकी अति सुन्दर चार श्यामल भुजाओंके बीच गलेमें मतवाले मधुकरोंसे गुञ्जायमान और चरणपर्यन्त लम्बायमान वनमाला सुशोभित हो रही थी तथा बाँकी भृकुटी, फड़कते हुए नासिकारन्ध्र और अरुण नयनोंके कारण उनका मुखकमल कुछ क्षुब्ध-सा जान पड़ता था ॥२८॥ उनके इस प्रकार देखते हुए भी उनसे बिना कुछ पूछ-ताछ किये वे मुनिगण जैसे सुवर्ण और वज्रमय कपाटोंसे युक्त पहली छः ड्योढ़ियोंको लाँघकर आये थे उसी प्रकार उनकी ड्योढ़ीमें भी घुस गये, क्योंकि जो मुनिगण बिना किसी रोक-टोकके सर्वत्र समान दृष्टि रखते हुए विचरते हैं वे निर्भय होते हैं ॥२९॥ उन आत्मज्ञानी दिगम्बर और सबसे बड़े होकर भी पाँच वर्षके बालकोंके समान

१-२. प्राचीन प्रतिके मूलमें 'विबुधाग्र्य' शब्दके बाद १ के चिह्नसे लेकर २ के चिह्नतक अर्थात् 'निवीतौ' शब्द के 'निवी' तकका सम्पूर्ण मैटर लिखनेमें छूट गया है; अतः टिप्पणीमें लिखा गया है। ३. प्रा० पा०—सर्वेऽपि ते। ४. प्रा० पा०—स्ववृत्त्या।

न्वृद्धान्दशार्धवयसो विदितात्मतत्त्वान् ।
वेत्रेण चास्खलयतामतदर्हणांस्तौ
तेजो विहस्य[1] भगवत्प्रतिकूलशीलौ ॥३०॥
ताभ्यां मिषत्स्वनिमिषेषु निषिध्यमानाः
स्वर्हत्तमा ह्यपि हरेः प्रतिहारपाभ्याम् ।
ऊचुः सुहृत्तमदिदृक्षितभङ्ग ईष-
त्कामानुजेन सहसा त उपप्लुताक्षाः ॥३१॥

मुनय ऊचुः[2]

को वामिहैत्य भगवत्परिचर्ययोच्चै-
स्तद्धर्मिणां[3] निवसतां विषमः स्वभावः ।
तस्मिन्प्रशान्तपुरुषे गतविग्रहे वां
को वात्मवत्कुहकयोः परिशङ्कनीयः ॥३२॥
नह्यन्तरं भगवतीह समस्तकुक्षा-
वात्मानमात्मनि नभो नभसीव धीराः ।
पश्यन्ति यत्र युवयोः सुरलिङ्गिनोः किं
व्युत्पादितं ह्युदरभेदि भयं यतोऽस्य ॥३३॥
तद्धाममुष्य परमस्य विकुण्ठभर्तुः
कर्तुं प्रकृष्टमिह धीमहि मन्दधीभ्याम् ।
लोकानितो व्रजतमन्तरभावदृष्ट्या
पापीयसस्त्रय इमे रिपवोऽस्य यत्र ॥३४॥

तेषामितीरितमुभाववधार्य घोरं
तं ब्रह्मदण्डमनिवारणमस्त्रपूगैः ।
सद्यो हरेरनुचरावुरु बिभ्यतस्त-
त्पादग्रहावपततामतिकातरेण ॥३५॥
भूयादघोनि भगवद्भिरकारि दण्डो
यो नौ हरेत सुरहेलनमप्यशेषम् ।

मालूम होनेवाले चार कुमारोंको देखकर जिनका स्वभाव श्रीहरिकी प्रकृतिके विरुद्ध था उन द्वारपालोंने हँसते हुए उन्हें वेंत अड़ाकर रोका, यद्यपि वे इस दुर्व्यवहारके योग्य किसी प्रकार भी न थे ॥३०॥ अन्य वैकुण्ठवासी देवताओंके देखते-देखते अति पूजनीय होकर भी उन द्वारपालोंद्वारा इस प्रकार रोके जानेपर अपने प्रियतम प्रभुके दर्शनोंमें सहसा विघ्न पड़नेके कारण क्रोधवश कुछ अरुणनयन हो वे इस प्रकार कहने लगे ॥३१॥

मुनिगण बोले—अरे द्वारपालो ! भगवान्‌की भली प्रकार की हुई परिचर्याके प्रभावसे इस लोकको प्राप्त होकर यहाँ भगवद्धर्मोंका पालन करते हुए निवास करनेवालोंमेंसे तुम दोनोंका यह कैसा विषम स्वभाव है ? भगवान् परम शान्तस्वभाव हैं, उनका किसीसे भी विरोध नहीं है; उनके लोकमें ऐसा कौन है जिसपर तुम महा कपटियोंको अपने ही समान आशंका हो सकती है ? ॥३२॥ जिनकी कुक्षिमें सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड स्थित है उन सर्वात्मा श्रीहरिसे यहाँ रहनेवाले धीर (ज्ञानी) पुरुष महाकाशसे घटाकाशके समान अपना कुछ भी भेद नहीं देखते, फिर तुम देवरूपधारियोंको उन प्रभुके विषयमें यह भेद-भावजन्य भय कैसे हुआ ? ॥३३॥ इसलिये इन वैकुण्ठपति भगवान्‌के तुम मन्दमति पार्षदोंका कल्याण करनेके लिये हम तुम्हारे अपराधके योग्य दण्डका विचार करते हैं । तुम इस वैकुण्ठलोकसे निकलकर उन पापमय लोकोंमें जाओ जहाँ भेदबुद्धिके दोषसे 'काम, क्रोध और लोभ' ये प्राणीके तीन शत्रु निवास करते हैं ॥३४॥

सनकादिके ये कठोर वचन सुनकर और उस ब्रह्मदण्डको किसी भी प्रकारके शस्त्रसमूहसे निवृत्त होने योग्य न जानकर श्रीहरिके वे दोनों पार्षद अति भयभीत और कातर हो उनके चरणकमलोंमें गिर पड़े ॥३५॥ और कहने लगे—"भगवन् ! हम अपराधियोंको आपने जो दण्ड दिया है वह अवश्य वैसा ही हो । वह हमारे भगवान्‌की आज्ञाओंका उल्लङ्घन करनारूप

१. प्रा० पा०—सम्यग्विहस्य । २. प्राचीन प्रतिमें 'मुनय ऊचुः' इतना अंश नहीं है । ३. प्रा० पा०—तद्धर्मण

मा वोऽनुतापकलया भगवत्स्मृतिघ्नो
मोहो भवेदिह तु नौ व्रजतोरधोऽधः॥३६॥

एवं तदैव भगवानरविन्दनाभः
स्वानां विबुध्य सदतिक्रममार्यहृद्यः।
तस्मिन्ययौ परमहंसमहामुनीना-
मन्वेषणीयचरणौ चलयन्सहश्रीः॥३७॥

तं त्वागतं प्रतिहृतौपयिकं स्वपुम्भि-
स्तेऽचक्षताक्षविषयं स्वसमाधिभाग्यम्।
हंसश्रियोर्व्यजनयोः शिववायुलोल-
च्छुभ्रातपत्रशशिकेसरशीकराम्बुम्॥३८॥

कृत्स्नप्रसादसुमुखं स्पृहणीयधाम
स्नेहावलोककलया हृदि संस्पृशन्तम्।
श्यामे पृथावुरसि शोभितया श्रिया स्व-
श्चूडामणिं सुभगयन्तमिवात्मधिष्ण्यम्॥३९॥

पीतांशुके पृथुनितम्बिनि विस्फुरन्त्या
काञ्च्यालिभिर्विरुतया वनमालया च।
वल्गुप्रकोष्ठवलयं विनतासुतांसे
विन्यस्तहस्तमितरेण धुनानमब्जम्॥४०॥

विद्युत्क्षिपन्मकरकुण्डलमण्डनार्ह-
गण्डस्थलोन्नसमुखं मणिमत्किरीटम्।
दोर्दण्डषण्डविवरे हरता परार्ध्य-
हारेण कन्धरगतेन च कौस्तुभेन॥४१॥

अत्रोपसृष्टमिति चोत्स्मितमिन्दिरायाः
स्वानां धिया विरचितं बहुसौष्ठवाढ्यम्।

समस्त पापोंका नाश करेगा। किन्तु अब उन अधमाधम योनियोंमें जाते हुए भी हमें आपकी किञ्चित् दयासे भगवत्स्मृतिको नष्ट करनेवाला मोह प्राप्त न हो" ॥३६॥

इधर जब साधुजनोंके प्रिय भगवान् कमलनाभको विदित हुआ कि 'मेरे द्वारपालोंने साधु सनकादिका अनादर किया है' तो वे, परमहंस मुनिजन जिनका अन्वेषण करते हैं उन अपने चरणोंसे चलकर ही लक्ष्मीजीके सहित वहाँ पहुँचे॥ ३७॥ तब सनकादिने अपनी समाधिके विषय श्रीहरिको वहाँ प्रत्यक्ष पधारे हुए देखा। उस समय भगवान्के पार्षदगण उनके उपयुक्त छत्र-चामरादि सामग्री लिये साथ-साथ चल रहे थे। उस समय राजहंसके पंखोंके सदृश श्वेत युगल चँवरोंकी शीतल वायुसे हिलती हुई छत्ररूप चन्द्रमाकी मुक्तामणिमयी झालरीरूप किरणोंसे भगवान्के ऊपर जल-बिन्दुके समान मोती गिर रहे थे॥ ३८॥ वे कृपा करनेके लिये पूर्णतया उद्यत प्रतीत होते थे, उनका सुन्दर स्वभाव सभीको प्रिय था, अपने प्रेममयी चितवनसे वे भक्तोंके चित्तमें प्रवेश करते थे तथा अपने श्यामवर्ण विशाल वक्षःस्थलपर सुशोभित लक्ष्मीसे वे सकल लोकोंके चूडामणिरूप अपने वैकुण्ठधामको मानो सुशोभित कर रहे थे॥ ३९॥ उनके पीताम्बरमण्डित विशाल नितम्बोंपर झिलमिलाती हुई करधनी और गलेमें भ्रमरगणसे गुञ्जायमान वनमाला सुशोभित थी तथा वे कलाइयोंमें सुन्दर कंकण धारण किये अपना एक करकमल गरुडजीके कन्धेपर रख दूसरेसे कमलका पुष्प घुमा रहे थे॥ ४०॥ उनके अमोल कपोल विद्युत्की प्रभाको भी लजानेवाले मकराकृत कुण्डलोंकी कान्तिसे सुशोभित थे, मुख उन्नत नासिकायुक्त था, शिरपर मणिमय मुकुट विराजमान था तथा चारों भुजाओंके मध्य गलेमें महामूल्यवान् हारकी और वक्षःस्थलमें कौस्तुभमणिकी अपूर्व शोभा थी॥ ४१॥ जिसे भक्तजन अपने हृदयमें धारण करते हैं जिसके सौन्दर्यको देखकर लक्ष्मीजीका सौन्दर्याभिमान गलित हो गया है ऐसे अपार सौन्दर्यसम्पन्न स्वरूपसे सुशोभित तथा मेरे, महादेवके

१. प्रा० पा०—तमभिक्रम०। २. प्रा० पा०—प्रतिहतौ०। ३. प्रा० पा०—च चूडा०। ४. प्रा० पा०—मण्डलार्ह०।

मह्यं भवस्य भवतां च भजन्तमङ्गं
नेमुर्निरीक्ष्य न वितृप्तदृशो मुदा कैः ॥४२॥
तस्यारविन्दनयनस्य पदारविन्द-
किञ्जल्कमिश्रतुलसीमकरन्दवायुः ।
अन्तर्गतः स्वविवरेण चकार तेषां
संक्षोभमक्षरजुषामपि चित्ततन्वोः ॥४३॥
ते वा अमुष्य वदनासितपद्मकोश-
मुद्वीक्ष्य सुन्दरतराधरकुन्दहासम् ।
लब्धाशिषः पुनरवेक्ष्य तदीयमङ्घ्रि-
द्वन्द्वं नखारुणमणिश्रयणं निदध्युः ॥४४॥
पुंसां गतिं मृगयतामिह योगमार्गै-
र्ध्यानास्पदं बहु मतं नयनाभिरामम् ।
पौंस्नं वपुर्दर्शयानमनन्यसिद्धै-
रौत्पत्तिकैः समगृणन्युतमष्टभोगैः ॥४५॥

कुमारा ऊचुः

योऽन्तर्हितो हृदि गतोऽपि दुरात्मनां त्वं[1]
सोऽद्यैव नो नयनमूलमनन्तराद्धः ।
यर्ह्येव कर्णविवरेण गुहां गतो नः
पित्रानुवर्णितरहा भवदुद्भवेन ॥४६॥
तं त्वा विदाम भगवन्परमात्मतत्त्वं
सत्त्वेन सम्प्रति रतिं रचयन्तमेषाम् ।
यत्तेऽनुतापविदितैर्दृढभक्तियोगै[2]-
रुद्ग्रन्थयो हृदि विदुर्मुनयो विरागाः ॥४७॥

और तुम्हारे लिये नाना प्रकारके रूप धारण करनेवाले उन श्रीहरिको देखकर सनकादि मुनीश्वरोंने उनकी छविके दर्शनसे तृप्त न होते हुए अति हर्षपूर्वक उन्हें शिर झुका कर प्रणाम किया ॥४२॥ उन कमलनयन भगवान्‌के चरणकमलपरागसे मिश्रित तुलसीमञ्जरीके गन्धसे युक्त वायुने नासिकापुटद्वारा अन्तःकरणमें प्रविष्ट हो उन अक्षरब्रह्मके उपासक मुनिगणके मन और शरीरमें भी क्षोभ उत्पन्न कर दिया ॥ ४३ ॥ जिसमें अति सुन्दर रक्तवर्ण अधरोंपर कुन्दकलीके समान मनोहर हास सुशोभित है ऐसे उनके नीलकमलसदृश मुख-मण्डलको देखकर वे मुनिगण कृतकृत्य हो गये और फिर उनके अरुणमणिसदृश नखोंके आश्रयस्थान युगल चरणकमलोंको देखकर उनका ध्यान करने लगे ॥ ४४ ॥ फिर, जो योगमार्गद्वारा मोक्षपदकी खोज करनेवाले पुरुषोंके ध्यानका विषय, तत्त्वज्ञानियोंका माननीय, नयनोंको आनन्दित करनेवाला तथा किसी अन्य साधनसे सिद्ध न होनेवाली स्वभावसिद्ध अणिमादि अष्टसिद्धियोंसे युक्त था ऐसे पुरुषरूपको दिखानेवाले श्रीहरिकी वे सनकादि ऋषीश्वरगण स्तुति करने लगे ॥ ४५ ॥

सनकादि बोले—हे अनन्त ! जो आप सबके अन्तःकरणोंमें विराजमान रहते हुए भी दुष्टचित्त पुरुषों-की दृष्टिसे ओझल रहते हैं, वे ही आप आज हमारे नयनोंके सामने सुशोभित हैं ! [यह हमारा कैसा सौभाग्य है ?] प्रभो ! जिस समय आपसे उत्पन्न हुए हमारे पिता ब्रह्माजीने आपका रहस्य वर्णन किया था उस समय ही आप हमारे कर्णकुहरोंद्वारा हमारी बुद्धिमें तो स्थित हो गये थे [किन्तु आपका प्रत्यक्ष दर्शन तो आज ही हुआ है] ॥ ४६ ॥ हे भगवन् ! इस समय अपने विशुद्ध सत्त्वमय विग्रहसे अपने भक्तोंको आनन्दित करनेवाले आपको हम साक्षात् परमात्मतत्त्व ही समझते हैं जिसको कि निरहंकार और विरक्त मुनिजन आपकी कृपादृष्टिसे प्राप्त हुए श्रवण-कीर्तनादि भक्तियोगके प्रभावसे अपने हृदयमें उपलब्ध करते हैं ॥ ४७ ॥

१. प्रा० पा०—त्वमद्यैव । २. प्रा० पा०—भक्तियुक्तै० ।

नात्यन्तिकं विगणयन्त्यपि तं प्रसादं
किन्त्वन्यदर्पितभयं भ्रुव उन्नयैस्ते ।
येऽङ्ग[1] त्वदङ्घ्रिशरणा भवतः कथायाः
कीर्तन्यतीर्थयशसः कुशला रसज्ञाः ॥४८॥

कामं भवः स्ववृजिनैर्निरयेषु नः स्ता-
च्चेतोऽलिवद्यदि नु ते पदयो रमेत ।
वाचश्च नस्तुलसिवद्यदि तेऽङ्घ्रिशोभाः
पूर्येत ते गुणगणैर्यदि कर्णरन्ध्रः ॥४९॥

प्रादुश्चकर्थ यदिदं पुरुहूत रूपं
तेनेश निर्वृतिमवापुरलं दृशो नः ।
तस्मा[2] इदं भगवते नम इद्विधेम
योऽनात्मनां दुरुदयो भगवान्प्रतीतः॥५०॥

जो लोग आपके कीर्तन करनेयोग्य पवित्र यशकी कथाके अत्यन्त रसिक और आपके चरणोंकी शरण लेनेवाले हैं वे आपके आत्यन्तिक प्रसाद (मोक्षपद) को भी कुछ अधिक नहीं मानते, फिर जिन्हें आपके भ्रूभंगमात्रसे भय उपस्थित हो जाता है उन इन्द्रपद आदि अन्य भोगोंका तो कहना ही क्या है ? ॥ ४८ ॥ हे प्रभो ! यदि हमारा चित्त भौंरेके समान आपके चरणकमलमें ही रमण करता रहे, यदि हमारी वाणी तुलसीके समान आपके चरणसम्बन्धसे ही सुशोभित हो और यदि हमारे कर्ण आपके सुयशसुधासे परिपूर्ण रहें तो अपने पापोंके कारण नरकादि योनियोंमें भी हमारा जन्म भले ही हो [इससे मुझे खेद न होगा] ॥४९॥ हे ईश्वर ! हे विपुलकीर्ते ! आपने हमारे सामने जो यह मनोहर रूप प्रकट किया है इससे हमारे नयनोंको परम आनन्द प्राप्त हुआ है । जिसका दृष्टिगोचर होना विषयासक्त पुरुषोंके लिये अत्यन्त कठिन है ऐसे जिस रूपसे आप हमारे सामने प्रकट हुए हैं उस आपकी ऐश्वर्यशालिनी मूर्तिको प्रणाम है ॥ ५० ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे तृतीयस्कन्धे जयविजययोः[3]
सनकादिशापो नाम पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

सोलहवाँ अध्याय

जय-विजयका वैकुण्ठसे पतन ।

ब्रह्मोवाच

इति तद्गृणतां[4] तेषां मुनीनां योगधर्मिणाम् ।
प्रतिनन्द्य जगादेदं विकुण्ठनिलयो विभुः ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच

एतौ तौ पार्षदौ मह्यं जयो विजय एव च ।
कदर्थीकृत्य मां यद्वो बह्वक्रान्तामतिक्रमम् ॥ २ ॥

ब्रह्माजी बोले—हे देवगण ! उन योगपरायण मुनीश्वरोंके इस प्रकार स्तुति करनेपर वैकुण्ठनिवास भगवान् हरि उनकी प्रशंसा करते हुए इस प्रकार कहने लगे ॥ १ ॥

श्रीभगवान् बोले—हे मुनिगण ! मेरे पार्षद इन जय और विजयने मेरी कुछ भी परवा न कर तुम्हारा बहुत बड़ा अपराध किया है, इसके लिये मेरे अनुगत

१. प्रा० पा०—ये वा । २. प्रा० पा०—तस्मादिदं । ३. प्राचीन प्रतिमें 'जयविजययोः सनकादिशापो नाम' इतना अंश नहीं है । ४. प्रा० पा०—तद्वदतां ।

यस्त्वेतयोर्धृतो दण्डो भवद्भिर्मामनुव्रतैः[1] ।
स एवानुमतोऽस्माभिर्मुनयो देवहेलनात् ॥ ३ ॥
तद्वः प्रसादयाम्यद्य ब्रह्म दैवं परं हि मे ।
तद्धीत्यात्मकृतं मन्ये यत्स्वपुम्भिरसत्कृताः ॥ ४ ॥
यन्नामानि च गृह्णाति लोको भृत्ये कृतागसि ।
सोऽसाधुवादस्तत्कीर्तिं हन्ति त्वचमिवामयः ॥ ५ ॥
यस्यामृतामलयशःश्रवणावगाहः
सद्यः पुनाति जगदा श्वपचाद्विकुण्ठः ।
सोऽहं भवद्भ्य उपलब्धसुतीर्थकीर्ति-
श्छिन्द्यां स्वबाहुमपि वः प्रतिकूलवृत्तिम् ॥ ६ ॥
यत्सेवया चरणपद्मपवित्ररेणुं
सद्यःक्षताखिलमलं प्रतिलब्धशीलम् ।
न श्रीर्विरक्तमपि मां विजहाति यस्याः
प्रेक्षालवार्थ इतरे नियमान्वहन्ति ॥ ७ ॥
नाहं तथाद्मि यजमान हविर्वितानै
श्च्योतद्घृतप्लुतमदन्हुतभुङ्मुखेन ।
यद्ब्राह्मणस्य मुखतश्चरतोऽनुघासं
तुष्टस्य मय्यवहितैर्निजकर्मपाकैः ॥ ८ ॥
येषां विभर्म्यहमखण्डविकुण्ठयोग-
मायाविभूतिरमलाङ्घ्रिरजः[2] किरीटैः ।
विप्रांस्तु को न विषहेत यदर्हणाम्भः
सद्यः पुनाति सहचन्द्रललामलोकान् ॥ ९ ॥
ये मे तनूर्द्विजवरान्दुहतीर्मदीया
भूतान्यलब्धशरणानि च भेदबुद्ध्या ।

भक्त तुमलोगोंने इन्हें जो दण्ड दिया है वह मुझे भी अभिमत है; क्योंकि ऐसा करके इन्होंने मेरे देवरूप ब्राह्मणोंकी अवज्ञा की है ॥ २-३ ॥ ब्राह्मण मेरे परम आराध्यदेव हैं; मेरे अनुचरोंद्वारा आपका जो तिरस्कार हुआ है उसे मैं अपने द्वारा ही किया हुआ समझता हूँ, इसलिये उस अपराधको क्षमा करानेके लिये मैं आपको प्रसन्न करना चाहता हूँ ॥ ४ ॥ क्योंकि सेवकोंके अपराध करनेपर लोक उनके स्वामीका ही नाम लेते हैं । उसका वह अपयश उसकी कीर्तिको इस प्रकार दूषित कर देता है जैसे चर्मरोग त्वचाको ॥ ५ ॥ मेरे निर्मल सुयशसुधामें गोता लगानेसे चाण्डालतक सम्पूर्ण जगत् पवित्र हो जाता है, इसीलिये मैं विकुण्ठ कहलाता हूँ; किन्तु मुझे यह पवित्र कीर्ति आपलोगोंसे ही प्राप्त हुई है; इसलिये जो कोई आपके प्रतिकूल आचरण करेगा, वह मेरी भुजा ही क्यों न हो, उसे तुरन्त काट डालूँगा ॥ ६ ॥ आपलोगोंकी सेवा करनेसे ही मुझे सम्पूर्ण पापोंको तत्काल नष्ट कर देनेवाली परम पवित्र चरणरज प्राप्त हुई है और ऐसा सुन्दर स्वभाव मिला है जिससे, जिनके लेशमात्र कृपाकटाक्षके लिये अन्य ब्रह्मादि नाना प्रकारके नियमोंका पालन करते हैं वे लक्ष्मी, मेरे बहुत उपराम रहनेपर भी मुझे एक क्षणके लिये भी नहीं छोड़तीं ॥ ७ ॥ हे विप्रगण ! मैं यज्ञमें अपने अग्निरूप मुखसे यजमानकी दी हुई घृताक्त आहुतियोंको ग्रहण करके उतना सन्तुष्ट नहीं होता जितना स्वकर्म-परायण और मुझे कर्मफल अर्पण करनेवाले संतुष्ट ब्राह्मणके एक-एक ग्रास भोजन करके तृप्त होनेसे संतुष्ट होता हूँ ॥ ८ ॥ अखण्ड और अप्रतिहत योगमाया ही जिसकी विभूति है तथा जिसका चरणोदक चन्द्रशेखर शंकरके सहित सम्पूर्ण लोकोंको पवित्र करता है ऐसा मैं जिनकी पवित्र चरणरजको अपने मुकुटपर चढ़ाता हूँ उन ब्राह्मणोंके कर्मको कौन सहन न करेगा ? ॥ ९ ॥ जो लोग अपने पापोंके कारण विवेकदृष्टि नष्ट हो जानेसे मेरे शरीररूप ब्राह्मणोंको, दूध देनेवाली गौओंको और अनाथ प्राणियोंको मुझसे

१. प्रा० पा०—मय्यनुव्रतैः । २. प्राचीन प्रतिमें 'रजः' शब्दसे लेकर ११ वें श्लोकके 'क्षिप०' शब्दतकका मैटर लेखकके प्रमादसे मूलमें नहीं लिखा गया है, टिप्पणीमें है ।

द्रक्ष्यन्त्यघक्षतदृशो ह्यहिमन्यवस्ता-
न्गृध्रा रुषा मम कुषन्त्यधिदण्डनेतुः ॥१०॥
ये ब्राह्मणान्मयि धिया क्षिपतोऽर्चयन्त-
स्तुष्यद्धृदः स्मितसुधोक्षितपद्मवक्त्राः ।
वाण्यानुरागकलयात्मजवद्गृणन्तः
सम्बोधयन्त्यहमिवाहमुपाहृतस्तैः ॥११॥
तन्मे स्वभर्तुरवसायमलक्षमाणौ
युष्मद्व्यतिक्रमगतिं प्रतिपद्य सद्यः ।
भूयो ममान्तिकमितां तदनुग्रहो मे
यत्कल्पतामचिरतो भृतयोर्विवासः ॥१२॥

ब्रह्मोवाच

अथ तस्योशतीं देवीमृषिकुल्यां सरस्वतीम् ।
नास्वाद्य मन्युदष्टानां तेषामात्माप्यतृप्यत ॥१३॥
सतीं व्यादाय शृण्वन्तो लघ्वीं गुर्वर्थगह्वराम् ।
विगाह्यागाधगम्भीरां न विदुस्तच्चिकीर्षितम् ॥१४॥
ते योगमाययारब्धपारमेष्ठ्यमहोदयम् ।
प्रोचुः प्राञ्जलयो विप्राः प्रहृष्टाः क्षुभितत्वचः[1] ॥१५॥

ऋषय ऊचुः

न वयं भगवन्विद्मस्तव देव चिकीर्षितम् ।
कृतो मेऽनुग्रहश्चेति यदध्यक्षः प्रभाषसे ॥१६॥
ब्रह्मण्यस्य परं दैवं ब्राह्मणाः किल ते प्रभो ।
विप्राणां देवदेवानां भगवानात्मदैवतम् ॥१७॥

भिन्न समझते हैं उन्हें मेरेद्वारा नियुक्त हुए दण्डधारी यमराजके गृध्राकार दूत सर्पके समान क्रोधित होकर अपनी चोंचोंसे नोंचते हैं ॥ १० ॥ तथा जो पुरुष कटुवचन कहते हुए ब्राह्मणोंका भी उनमें भगवद्बुद्धि रखते हुए प्रसन्नचित्त होकर आदर करते हैं और मुसुकानमयी सुधासे सींचे हुएके सदृश प्रसन्नमुख होकर मेरे सदृश प्रेमपूर्ण वचनोंसे पुत्रकी भाँति विनीत भावसे प्रार्थना करते हुए उन्हें शान्त करते हैं वे मुझे अपने वशमें कर लेते हैं ॥ ११ ॥ क्योंकि इन मेरे सेवकोंने अपने स्वामीका (मेरा) विचार न जानकर आपलोगोंका अपमान किया है इसलिये ये अपने अपराधयोग्य अधमगतिको शीघ्र ही प्राप्त होकर फिर मेरे पास लौट आवें; आप मेरे सेवकोंका शापवश होनेवाला प्रवास शीघ्र ही पूर्ण कीजिये, इससे मेरे ऊपर आपका बड़ा अनुग्रह होगा ॥ १२ ॥

ब्रह्माजी बोले—हे देवताओ ! इस प्रकार क्रोधरूप सर्पसे डसे हुए उन मुनीश्वरोंका चित्त भगवान्‌की ऋषि-कुलके योग्य अति सुन्दर और दिव्यवाणीका आस्वादन करके तृप्त न हुआ ॥ १३ ॥ उस बहुत ही अच्छी, थोड़े अक्षरोंवाली, अधिक अर्थसे भरी हुई और अत्यन्त गम्भीर वाणीको उन्होंने ध्यान देकर सुना और उसपर खूब विचार किया किन्तु वे उसका भाव न समझ सके ॥ १४ ॥ तब वे [आश्चर्ययुक्त होकर] अति आनन्दित और अंग-अंगमें पुलकित हो योगमाया-द्वारा अपने परम ऐश्वर्यका उत्कर्ष प्रकट करनेवाले श्रीहरिसे हाथ जोड़कर कहने लगे ॥ १५ ॥

मुनिगण बोले—हे भगवन् ! हे देव ! सम्पूर्ण चराचरके स्वामी होकर भी आप हमसे कहते हैं कि 'यह मुझपर बड़ा अनुग्रह किया' इससे आपका क्या अभिप्राय है, सो हम कुछ नहीं समझते ॥ १६ ॥ हे प्रभो ! आप जो कहते हैं कि 'ब्राह्मण मेरे आराध्यदेव हैं' सो आप ब्रह्मण्यदेवका यह कथन लोक-शिक्षाके लिये उचित ही है; किन्तु वास्तवमें ब्राह्मण और देवताओंके पूजनीय ब्रह्मादिके भी आप आत्मा और आराध्यदेव हैं ॥ १७ ॥

१. प्रा० पा०—कुपितं वचः ।

त्वत्तः सनातनो धर्मो रक्ष्यते तनुभिस्तव ।
धर्मस्य परमो गुह्यो निर्विकारो भवान्मतः ॥१८॥
तरन्ति ह्यञ्जसा मृत्युं निवृत्ता यदनुग्रहात् ।
योगिनः स भवान्किंस्विदनुगृह्येत[1] यत्परैः ॥१९॥
यं वै विभूतिरुपयात्यनुवेलमन्यै-
रथार्थिभिः स्वशिरसा धृतपादरेणुः ।
धन्यार्पिताङ्घ्रितुलसीनवदामधाम्नो
लोकं मधुव्रतपतेरिव कामयाना ॥२०॥
यस्तां विविक्तचरितैरनुवर्तमानां[2]
नात्याद्रियत्परमभागवतप्रसङ्गः ।
स त्वं द्विजानुपथपुण्यरजःपुनीतः
श्रीवत्सलक्ष्म किमगा भगभाजनस्त्वम् ॥२१॥
धर्मस्य ते भगवतस्त्रियुग त्रिभिः स्वैः
पद्भिश्चराचरमिदं द्विजदेवतार्थम् ।
नूनं भृतं तदभिघाति रजस्तमश्च
सत्त्वेन नो वरदया तनुवा निरस्य ॥२२॥
न त्वं द्विजोत्तमकुलं यदिहात्मगोपं
गोप्ता वृषः स्वर्हणेन ससूनृतेन ।
तर्ह्येव नङ्क्ष्यति शिवस्तव देव पन्था
लोकोऽग्रहीष्यदृषभस्य हि तत्प्रमाणम् ॥२३॥
तत्तेऽनभीष्टमिव सत्त्वनिधेर्विधित्सोः
क्षेमं जनाय निजशक्तिभिरुद्धृतारेः ।

अपने अवतारोंद्वारा आप ही अपने सनातनधर्मकी रक्षा करते हैं तथा धर्मका परम गुह्य रहस्य निर्विकल्प-स्वरूप आप ही हैं ॥ १८ ॥ जिनकी कृपासे निवृत्ति-परायण योगीजन सहजहीमें संसारसागरसे पार हो जाते हैं उन आपपर दूसरा कोई क्या कृपा कर सकता है ? ॥ १९ ॥ हे भगवन् ! अर्थी पुरुष जिनकी चरण-रजको निरन्तर अपने शिरपर धारण करते हैं वे लक्ष्मीजी, आपके पादपद्मोंमें, जो भक्तोंद्वारा चरणोंमें अर्पण की हुई तुलसीकी नूतन मालाओंपर रहने-वाले भ्रमरोंके लोक हैं, स्थान पानेकी इच्छासे सर्वदा आपकी सेवामें लगी रहती हैं ॥ २० ॥ किन्तु अपने पवित्र चरित्रोंसे निरन्तर सेवामें तत्पर रहनेवाली उन लक्ष्मीजीका भी बहुत आदर न करके जो अपने भक्तोंका ही मान रखते हैं उन आपको क्या ब्राह्मणके चरणोंमें लगी हुई मार्गकी रज पवित्र कर सकती हैं ? तथा सर्वैश्वर्यसम्पन्न आपको क्या श्रीवत्स सुशोभित कर सकता है ? फिर भी उसे आपने जो अपने वक्षःस्थलमें भूषणरूपसे धारण किया है उसमें [लोकशिक्षाको छोड़कर और] क्या कारण हो सकता है ? ॥ २१ ॥ हे षडैश्वर्यपूर्ण भगवन् ! आप धर्मस्वरूप हैं; इसलिये आप हमें अभिमत वर देनेवाली अपनी सत्त्वमयी मूर्तिसे धर्मके अभिघातक रजोगुण और तमोगुणको दबाकर ब्राह्मण और देवताओंका हित करनेके लिये ही [धर्म, दान और तपरूप] अपने तीन चरणोंसे इस सम्पूर्ण जगत्-का पालन करते हैं ॥ २२ ॥ हे देव ! यदि अपने रक्षा करनेयोग्य उत्तम ब्राह्मणकुलकी आप आदर और सुमधुर वाणीद्वारा रक्षा न करें तो हे धर्ममूर्ते ! उसी समय आपका निश्चित किया हुआ कल्याणमार्ग उच्छिन्न हो जाय; क्योंकि लोग तो श्रेष्ठ पुरुषोंके आचरणको ही प्रमाणरूपसे ग्रहण किया करते हैं ॥ २३ ॥ हे नाथ ! जब दुष्टलोग आप सत्त्वमूर्तिकी इच्छाके विरुद्ध पापमय आचरण करने लगते हैं तो आप अपनी शक्ति (राजा आदि अथवा अवतारों) के द्वारा उन धर्मके शत्रुओंका संहार कर लोकोंका

१. प्रा० पा०—नुग्राह्यते परम् । २. प्रा० पा०—मानो ।

नैतावता त्र्यधिपतेर्व्रत विश्वभर्तु-
स्तेजः क्षतं त्ववनतस्य स ते विनोदः ॥२४॥
यं वानयोर्ममधीश भवान्विधत्ते[1]
वृत्तिं नु वा तदनुमन्महि निर्व्यलीकम् ।
अस्मासु वा य उचितो ध्रियतां स दण्डो
येऽनागसौ वयमयुङ्क्ष्महि किल्बिषेण॥२५॥

श्रीभगवानुवाच

एतौ सुरेतरगतिं प्रतिपद्य सद्यः
संरम्भसम्भृतसमाध्यनुबद्धयोगौ ।
भूयः सकाशमुपयास्यत आशु यो वः
शापो मयैव निमितस्तदवैत विप्राः[2] ॥२६॥

ब्रह्मोवाच

अथ ते मुनयो दृष्ट्वा नयनानन्दभाजनम् ।
विकुण्ठं तदधिष्ठानं वैकुण्ठं च स्वयंप्रभम्[3] ॥२७॥
भगवन्तं परिक्रम्य प्रणिपत्यानुमान्य[4] च ।
प्रतिजग्मुः प्रमुदिताः शंसन्तो वैष्णवीं श्रियम् ॥२८॥
भगवाननुगावाह यातं मा भैष्टमस्तु शम् ।
ब्रह्मतेजः समर्थोऽपि हन्तुं नेच्छे मतं तु मे ॥२९॥
एतत्पुरैव निर्दिष्टं रमया क्रुद्धया यदा ।
पुरापवारिता द्वारि विशन्ती मय्युपारते ॥३०॥
मयि संरम्भयोगेन निस्तीर्य ब्रह्महेलनम् ।
प्रत्येष्यतं निकाशं मे कालेनाल्पीयसा पुनः ॥३१॥
द्वाःस्थावादिश्य भगवान्विमानश्रेणिभूषणम् ।
सर्वातिशयया लक्ष्म्या जुष्टं स्वं धिष्ण्यमाविशत् ॥३२॥

कल्याण करते हैं किन्तु इससे जगत्प्रतिपालक, सर्वलोकाधिपति और विनयशील आपके तेजकी कुछ क्षति नहीं हो सकती, यह सब तो केवल आपका विनोदमात्र है ॥ २४ ॥ हे सर्वेश्वर ! इन द्वारपालोंको आप जैसा उचित समझें वैसा दण्ड दें अथवा इनकी आजीविकामें और उन्नति कर दें—हम सब प्रकार निष्कपटभावसे सहमत हैं; अथवा हमने आपके इन निरपराध अनुचरोंको शाप दिया है, इसलिये हमें ही उचित दण्ड दें [हमें वह भी सहर्ष स्वीकार है] ॥ २५ ॥

श्रीभगवान् बोले—हे विप्रगण ! इन्हें तुमने जो शाप दिया है उसे मेरी ही प्रेरणासे हुआ समझो । अब ये शीघ्र ही दैत्ययोनिको प्राप्त हो वहाँ क्रोधावेश-से बढ़ी हुई एकाग्रताके कारण सुदृढ़ योगसम्पन्न होकर फिर मेरे पास लौट आवेंगे ॥ २६ ॥

ब्रह्माजी कहते हैं—तदनन्तर उन मुनीश्वरोंने नयनाभिराम भगवान् विष्णु और उनके स्वयंप्रकाश-मान वैकुण्ठधामके दर्शनकर भगवान्‌की परिक्रमा की और उन्हें प्रणामकर उनकी आज्ञा पा भगवान्‌की शोभाका वर्णन करते हुए अति आनन्दपूर्वक वहाँसे चल दिये ॥ २७-२८ ॥ फिर भगवान्‌ने अपने अनु-चरोंसे कहा, "तुम लोग यहाँसे जाओ । मनमें किसी प्रकारका भय मत करो । तुम्हारा कल्याण होगा । मैं सब कुछ करनेमें समर्थ होकर भी ब्रह्मतेजको मिटाना नहीं चाहता; क्योंकि वह मेरा मान्य है ॥ २९ ॥ जिस समय मेरे योगनिद्रामें स्थित होनेपर तुमने द्वारमें प्रवेश करती हुई लक्ष्मीजीको रोका था उस समय उन्होंने पहले ही तुम्हें यह शाप दे दिया था ॥ ३० ॥ तुम मेरी विरोधभक्तिके द्वारा विप्रशापका भोग समाप्तकर फिर मेरे पास शीघ्र ही लौट आओगे" ।३१।

द्वारपालोंको इस प्रकार आज्ञा दे भगवान्‌ने विमानों-की श्रेणियोंसे सुसज्जित अपने सर्वाधिक श्रीसम्पन्न धाममें प्रवेश किया ॥ ३२ ॥

१. प्रा० पा०—विचष्टे । २. प्रा० पा०—निहित० । ३. प्रा० पा०—प्रभुः । ४. प्रा० पा०—भाव्य च ।

तौ तु गीर्वाणऋषभौ दुस्तराद्धरिलोकतः ।
हतश्रियौ ब्रह्मशापादभूतां विगतस्मयौ ॥३३॥
तदा विकुण्ठधिषणात्तयोर्निपतमानयोः ।
हाहाकारो महानासीद्विमानाग्र्येषु पुत्रकाः ॥३४॥
तावेव ह्यधुना प्राप्तौ पार्षदप्रवरौ हरेः ।
दितेर्जठरनिर्विष्टं काश्यपं तेज उल्बणम् ॥३५॥
तयोरसुरयोरद्य तेजसा यमयोर्हि वः ।
आक्षिप्तं तेज एतर्हि भगवांस्तद्विधित्सति ॥३६॥
विश्वस्य यः स्थितिलयोद्भवहेतुराद्यो
योगेश्वरैरपि दुरत्ययययोगमायः ।
क्षेमं विधास्यति स नो भगवांस्त्र्यधीश-
स्तत्रास्मदीयविमृशेन कियानिहार्थः ॥३७॥

तब दुस्तर विप्रशापके कारण निस्तेज हो जानेसे जिनका गर्व गलित हो गया है वे देवश्रेष्ठ जय और विजय भगवान्‌के वैकुण्ठधामसे नीचे गिरे ॥ ३३ ॥ हे पुत्रो ! उन्हें भगवद्धामसे गिरते देख विमानोंपर बैठे हुए वैकुण्ठवासी लोगोंमें बड़ा हाहाकार होने लगा ॥३४॥ वे श्रीहरिके पार्षदप्रवर ही इस समय कश्यपजीके उग्र तेजके द्वारा दितिके गर्भमें स्थित हुए हैं ॥३५॥ उन दोनों असुरोंके तेजसे ही तुमलोगोंका तेज मन्द पड़ गया है, क्योंकि इस समय भगवान् ऐसा ही करना चाहते हैं ॥३६॥ जो आदिपुरुष संसारकी उत्पत्ति, स्थिति और लयके कारण हैं, जिनकी मायाको योगीजन भी बड़ी कठिनतासे पार कर सकते हैं वे सत्त्वादि तीनों गुणोंके नियन्ता श्रीहरि ही हमारा कल्याण करेंगे । अब इस विषयमें हमारे विशेष विचार करनेसे क्या प्रयोजन सिद्ध हो सकता है ? ॥ ३७ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे तृतीयस्कन्धे
षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

सत्रहवाँ अध्याय

हिरण्यकशिपु और हिरण्याक्षका जन्म तथा हिरण्याक्षका दिग्विजय ।

मैत्रेय उवाच

निशम्यात्मभुवा गीतं कारणं शङ्कयोज्झिताः ।
ततः सर्वे न्यवर्तन्त त्रिदिवाय दिवौकसः ॥ १ ॥
दितिस्तु भर्तुरादेशादपत्यपरिशङ्किनी ।
पूर्णे वर्षशते साध्वी पुत्रौ प्रसुषुवे यमौ ॥ २ ॥
उत्पाता बहवस्तत्र निपेतुर्जायमानयोः ।
दिवि भुव्यन्तरिक्षे च लोकस्योरुभयावहाः ॥ ३ ॥
सहाचला भुवश्चेलुर्दिशः सर्वाः प्रजज्वलुः ।
सोल्काश्चाशनयः पेतुः केतवश्चार्तिहेतवः ॥ ४ ॥
ववौ वायुः सुदुःस्पर्शः फूत्कारानीरयन्मुहुः ।
उन्मूलयन्नगपतीन्वात्यानीको रजोध्वजः ॥ ५ ॥

श्रीमैत्रेयजी बोले—हे विदुर ! इस प्रकार ब्रह्माजीके कहे हुए अन्धकारके कारणको जानकर समस्त देवगण निःशङ्क होकर स्वर्गलोकको लौट गये ॥ १ ॥ इधर पतिव्रता दितिने, अपने पतिके कथनानुसार अपने पुत्रोंद्वारा देवताओंको कष्ट मिलनेकी आशङ्कासे पूरे सौ वर्ष बीत जानेपर दो यमज पुत्र उत्पन्न किये ॥२॥ उनके जन्म लेते समय स्वर्ग, पृथिवी और अन्तरिक्षमें सम्पूर्ण लोकोंको भयभीत करनेवाले बहुतसे उत्पात होने लगे ॥ ३ ॥ पर्वतोंके सहित पृथिवी काँपने लगी, सब दिशाओंमें दाह होने लगा, जहाँ-तहाँ अँगारे और बिजलियाँ गिरने लगीं तथा आकाशमें भयकी सूचना देनेवाले धूमकेतु दिखायी देने लगे ॥ ४ ॥ आँधीरूप सेना तथा रजःकणरूप ध्वजाओंसे युक्त, शरीरको अप्रिय लगनेवाला बड़ा प्रबल वायु बारम्बार फुफकारता तथा वृक्षोंको उखाड़ता हुआ चलने लगा ॥ ५ ॥

उद्धसत्तडिदम्भोदघटया नष्टभागणे ।
व्योम्नि प्रविष्टतमसा न स्म व्यादृश्यते पदम् ॥ ६ ॥
चुक्रोश विमना वार्धिरुर्मिः[1] क्षुभितोदरः ।
सोदपानाश्च सरितश्चुक्षुभुः शुष्कपङ्कजाः ॥ ७ ॥
मुहुः परिधयोऽभूवन्सराह्वोः शशिसूर्ययोः ।
निर्घाता रथनिर्ह्रादा विवरेभ्यः प्रजज्ञिरे ॥ ८ ॥
अन्तर्ग्रामेषु मुखतो वमन्त्यो वह्निमुल्बणम् ।
सृगालोलूकटङ्कारैः प्रणेदुरशिवं शिवाः[2] ॥ ९ ॥
संगीतवद्रोदनवदुन्नमय्य शिरोधराम् ।
व्यमुञ्चन्विविधा वाचो ग्रामसिंहास्ततस्ततः ॥१०॥
खराश्च कर्कशैः क्षत्तः खुरैर्घ्नन्तो धरातलम् ।
खार्काररभसा मत्ताः पर्यधावन्वरूथशः ॥११॥
रुदन्तो रासभत्रस्ता नीडादुदपतन्खगाः ।
घोषेऽरण्ये च पशवः शकृन्मूत्रमकुर्वत ॥१२॥
गावोऽत्रसन्नसृग्दोहास्तोयदाः पूयवर्षिणः ।
व्यरुदन्देवलिङ्गानि द्रुमाः पेतुर्विनानिलम् ॥१३॥
ग्रहान्पुण्यतमानन्ये भगणांश्चापि दीपिताः ।
अतिचेरुर्वक्रगत्या युयुधुश्च परस्परम् ॥१४॥
दृष्ट्वान्यांश्च महोत्पातानतत्त्वविदः प्रजाः ।
ब्रह्मपुत्रानृते भीता मेनिरे विश्वसम्प्लवम् ॥१५॥

तावादिदैत्यौ सहसा व्यज्यमानात्मपौरुषौ ।

अत्यन्त हँसने (चमकने) वाली बिजली और घनघोर घटाओंके कारण चन्द्र-सूर्य आदि ग्रहगणके लुप्त हो जाने-से आकाशमें ऐसा अन्धकार छा गया था कि कहीं कुछ भी नहीं सूझ पड़ता था ॥ ६ ॥ समुद्र दुःखी मनुष्योंके समान कोलाहल करने लगा, उसमें ऊँची-ऊँची तरंगें उठने लगीं और उसके भीतर रहनेवाले मगर आदि जीवोंमें बड़ा क्षोभ उत्पन्न हो गया तथा अन्य जलाशयोंके सहित नदियोंमें भी बड़ी खलबली मच गयी और उनके कमल सूख गये ॥ ७ ॥ आकाशमें राहुग्रस्त सूर्य और चन्द्रमाके चारों ओर बार-बार परिधि पड़ने लगी और गुफाओंमेंसे रथकी घरघराहटके समान शब्द निकलने लगा ॥ ८ ॥ गाँवोंमें, गीदड़ और उल्लुओंका भयानक शब्द होनेके साथ ही सियारियाँ मुखसे अग्नि वमन करती हुई अमङ्गल शब्द करने लगीं ॥ ९ ॥ जहाँ-तहाँ कुत्ते अपनी गर्दनको ऊपर उठाकर कभी गाने और कभी रोनेके समान भाँति-भाँतिके शब्द करने लगे ॥ १० ॥ हे विदुर ! उस समय गधोंके झुण्ड-के-झुण्ड अपने कठोर खुरोंसे पृथिवीको खोदते तथा रेंकनेका शब्द करते हुए इधर-उधर फिरने लगे ॥ ११ ॥ उन गधोंके शब्दसे भयभीत होकर रोते हुए पक्षीगण अपने घोंसलोंको छोड़कर उड़ने लगे और गोष्ठ तथा वनमें स्थित गौ आदि पशुगण डरकर मल-मूत्र त्याग करने लगे ॥ १२ ॥ गौएँ ऐसी भयभीत हो गयीं कि दुहने-पर उनके स्तनोंसे रुधिर निकलने लगा, मेघ पीबकी वर्षा करने लगे, देवप्रतिमाएँ रोने लगीं और वृक्षगण बिना आँधीके ही उखड़-उखड़कर गिरने लगे ॥ १३ ॥ शनि, राहु आदि क्रूर ग्रह प्रबल होकर चन्द्र, बृहस्पति आदि सौम्य ग्रहों तथा बहुत-से नक्षत्रोंका उल्लङ्घन करके चलने लगे तथा वक्रगतिसे आपसमें ही युद्ध करने लगे [अर्थात् ग्रहोंमें अतिचार और युद्ध होने लगा] ॥ १४ ॥ ऐसे ही और भी अनेकों महान् उत्पातों-को देखकर सनकादिके सिवा और सब जीव भयभीत हो गये और उन (उत्पातों) का मर्म न जाननेके कारण उन्होंने प्रलयकाल उपस्थित हुआ समझा ॥ १५ ॥

इधर वे आदि दैत्य उत्पन्न होनेके अनन्तर अपने पाषाणसदृश कठोर कलेवरोंसे पर्वतके समान बढ़ने लगे

१. प्रा० पा०—रूर्मिभिः क्षुभि० । २. प्रा० पा०—शिवाः ।

ववृधातेऽश्मसारेण कायेनाद्रिपती इव ॥१६॥
दिविस्पृशौ हेमकिरीटकोटिभि-
र्निरुद्धकाष्ठौ स्फुरदङ्गदाभुजौ ।
गां कम्पयन्तौ चरणैः पदे पदे
कट्या सुकाञ्च्यार्कमतीत्य तस्थतुः ॥१७॥
प्रजापतिर्नाम तयोरकार्षी-
द्यः प्राक्स्वदेहाद्यमयोरजायत ।
तं वै हिरण्यकशिपुं विदुः प्रजा
यं तं हिरण्याक्षमसूत साग्रतः ॥१८॥
चक्रे हिरण्यकशिपुर्दोर्भ्यां ब्रह्मवरेण च ।
वशे सपालाँल्लोकांस्त्रीनकुतोमृत्युरुद्धतः ॥१९॥
हिरण्याक्षोऽनुजस्तस्य प्रियः प्रीतिकृदन्वहम् ।
गदापाणिर्दिवं यातो युयुत्सुर्मृगयन्रणम् ॥२०॥
तं वीक्ष्य दुःसहजवं रणत्काञ्चननूपुरम् ।
वैजयन्त्या स्रजा जुष्टमंसन्यस्तमहागदम् ॥२१॥
मनोवीर्यवरोत्सिक्तमसृण्यमकुतोभयम् ।
भीता निलिल्यिरे देवास्तार्क्ष्यत्रस्ता इवाहयः ॥२२॥
स वै तिरोहितान्दृष्ट्वा महसा स्वेन दैत्यराट् ।
सेन्द्रान्देवगणान्क्षीबानपश्यन्व्यनदद्भृशम् ॥२३॥
ततो निवृत्तः क्रीडिष्यन्गम्भीरं भीमनिःस्वनम् ।
विजगाहे महासत्त्वो वार्धिं मत्त इव द्विपः ॥२४॥

और उनका पूर्वसिद्ध पुरुषार्थ प्रकट होने लगा ॥१६॥ वे इतने ऊँचे थे कि अपने सुवर्णमय मुकुटोंके अग्रभागसे आकाशका स्पर्श करते थे और उनके विशाल शरीरसे सम्पूर्ण दिशाएँ व्याप्त हो जाती थीं । वे अपनी भुजाओं-में देदीप्यमान अङ्गदादि आभूषण धारण किये रहते थे; जिस समय वे चलते थे उस समय उनके पद-पदपर पृथिवी डोलने लगती थी और जब खड़े होते थे तो उनका मेखलामण्डित कटिप्रदेश सूर्यका भी अतिक्रमण कर जाता था ॥ १७ ॥ प्रजापति कश्यपजीने उनका नाम-करण किया—उन यमजोंमेंसे जो उनके शरीरसे दितिके गर्भमें प्रथम स्थापित किया गया था वह 'हिरण्यकशिपु' कहलाया और जिसे दितिने पहले जन्म दिया था उसका नाम 'हिरण्याक्ष' हुआ ॥ १८ ॥

हिरण्यकशिपुने ब्रह्माजीके वरदानसे मृत्युभयसे मुक्त हो जानेके कारण उद्धत होकर अपनी भुजाओंके बलसे लोकपालोंके सहित तीनों लोकोंको अपने अधीन कर लिया ॥ १९ ॥ उसका प्यारा छोटा भाई हिरण्याक्ष भी सदा उसीका प्रिय करता था । वह एक बार हाथमें गदा ले युद्धका अवसर ढूँढ़ता हुआ स्वर्गलोकमें पहुँचा ॥ २० ॥ जिसका वेग अति असह्य है, जिसके कटि और चरणोंमें नूपुरोंका छम-छम शब्द हो रहा है, गलेमें वैजयन्ती माला विराजमान है और कन्धेपर गदा रक्खी हुई है, जो शौर्य, बल और ब्रह्माजीके वरके कारण अति उद्धत हो रहा है उस महा निरङ्कुश और निर्भय हिरण्याक्षको देखकर समस्त देवगण गरुड़जीसे डरे हुए सर्पोंके समान भयभीत होकर जहाँ-तहाँ छिप गये ॥ २१-२२ ॥ वह दैत्य-राज हिरण्याक्ष इन्द्रादि सम्पूर्ण गर्वीले देवताओंको वहाँ न देखकर उन्हें अपने तेजसे भयभीत होकर छिपे हुए जान बार-बार घोर गर्जना करने लगा ॥ २३ ॥

तदनन्तर वह महावीर दैत्यराज वहाँसे लौटकर भयंकर गर्जना करनेवाले अति गम्भीर समुद्रमें जलक्रीडा करनेकी इच्छासे मतवाले गजराजके समान घुस गया ॥२४॥

---

१. प्रा० पा०—दावुभौ । यही पाठ शुद्ध है, मूलोक्त पाठमें 'स्फुरदङ्गदा' में 'आ' (टाप्) का श्रवण आर्ष मानना पड़ता है । २. प्रा० पा०—पदावीर्य० ।

तस्मिन्प्रविष्टे वरुणस्य सैनिका
यादोगणाः सन्नधियः ससाध्वसाः ।
अहन्यमाना अपि तस्य वर्चसा
प्रधर्षिता दूरतरं प्रदुद्रुवुः ॥२५॥

स वर्षपूगानुदधौ महाबल-
श्चरन्महोर्मीञ्च्छ्वसनेरितान्मुहुः ।
मौर्व्याभिजघ्ने गदया विभावरी-
मासेदिवांस्तात पुरीं प्रचेतसः ॥२६॥

तत्रोपलभ्यासुरलोकपालकं
यादोगणानामृषभं प्रचेतसम् ।
स्मयन्प्रलब्धुं प्रणिपत्य नीचव-
ज्जगाद मे देह्यधिराज संयुगम् ॥२७॥

त्वं लोकपालोऽधिपतिर्बृहच्छ्रवा
वीर्यापहो दुर्मदवीरमानिनाम् ।
विजित्य लोकेऽखिलदैत्यदानवा-
न्यद्राजसूयेन पुरायजत्प्रभो ॥२८॥

स एवमुत्सिक्तमदेन विद्विषा
दृढं प्रलब्धो भगवानपां पतिः ।
रोषं समुत्थं शमयन्स्वया धिया
व्यवोचदङ्गोपशमं गता वयम् ॥२९॥

पश्यामि नान्यं पुरुषात्पुरातना-
द्यः संयुगे त्वां रणमार्गकोविदम् ।
आराधयिष्यत्यसुरर्षभेहि तं
मनस्विनो यं गृणते भवादृशाः ॥३०॥

तं वीरमारादभिपद्य विस्मयः
शयिष्यसे वीरशये श्वभिर्वृतः ।
यस्त्वद्विधानामसतां प्रशान्तये
रूपाणि धत्ते सदनुग्रहेच्छया ॥३१॥

उसके जलमें प्रवेश करते ही वरुणके सैनिक जलचर जीवगण स्तब्ध और भयभीत हो गये तथा उसके प्रहार न करनेपर भी उसके तेजसे धर्षित होकर बहुत दूर भाग गये ॥२५॥ हे विदुर ! वह महाबली दैत्य अनेकों वर्षतक समुद्रमें घूमता रहा और वायुवेगसे उठी हुई उसकी तरल तरंगोंपर अपनी लोहेकी गदासे प्रहार करता रहा । इस प्रकार घूमते-घूमते वह वरुणजीकी राजधानी विभावरीमें पहुँचा ॥२६॥ वहाँ पाताललोकके स्वामी जलचरोंमें श्रेष्ठ श्रीवरुणजीको देखकर उसने उनका उपहास करनेके लिये एक साधारण नीच पुरुषके समान उन्हें प्रणाम किया और कुछ मुसकाकर कहा—'हे राजाधिराज ! मुझे युद्धकी भिक्षा दीजिये ॥२७॥ हे प्रभो ! आप लोकपालोंके अधीश्वर और अत्यन्त कीर्तिशाली हैं, जो लोग अपनेको बड़ा वीर समझते हैं उनके वीर्य-मदको आप चूर्ण करनेवाले हैं तथा आपने पूर्वकालमें दैत्य-दानवोंसे युक्त सम्पूर्ण लोकोंको जीतकर राजसूय यज्ञका अनुष्ठान किया था' ॥२८॥ उस मदोन्मत्त शत्रुके इस प्रकार अति उपहास करनेपर भगवान् वरुणजीको बड़ा क्रोध हुआ किन्तु उन्होंने उसे बुद्धिपूर्वक रोककर कहा—'भाई ! हम तो युद्धादिका कार्य छोड़ चुके हैं ॥२९॥ मैं भगवान् पुराणपुरुषके अतिरिक्त और किसीको ऐसा नहीं देखता जो युद्ध करनेमें कुशल तुम-जैसे वीरको सन्तुष्ट कर सके; अतः हे असुरश्रेष्ठ ! तुम उन्हींके पास जाओ [वे ही तुम्हारी कामना पूर्ण करेंगे] तुम-जैसे वीर [उनकी वीरतासे सन्तुष्ट होकर] उनका गुणगान किया करते हैं ॥३०॥ हे वीर ! उनके पास पहुँचते ही तुम्हारा सब घमण्ड दूर हो जायगा और तुम वीरशय्या (रण-भूमि) पर कुत्तोंसे घिरे हुए शयन करोगे । वे तुम-जैसे दुष्टोंको मारने और सत्पुरुषोंपर कृपा करनेके लिये नाना प्रकारके रूप धारण किया करते हैं' ॥३१॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे तृतीयस्कन्धे हिरण्याक्षदिग्विजये सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

१. प्रा० पा०—महोर्म्युच्छ्वस० । २. प्रा० पा०—मौर्व्या निज० । ३. प्रा० पा०—पुरं । ४. प्रा० पा०—खिलदेवदान० । ५. प्रा० पा०—प्रभुः ।

अठारहवाँ अध्याय

हिरण्याक्षके साथ वराह भगवान्‌का युद्ध ।

मैत्रेय उवाच

तदेवमाकर्ण्य जलेशभाषितं
महामनास्तद्विगणय्य दुर्मदः ।
हरेर्विदित्वा गतिमङ्ग नारदा-
द्रसातलं निर्विविशे त्वरान्वितः ॥ १ ॥

ददर्श तत्राभिजितं धराधरं
प्रोन्नीयमानावनिमग्रदंष्ट्रया ।
मुष्णन्तमक्ष्णा स्वरुचोऽरुणश्रिया
जहास चाहो वनगोचरो मृगः ॥ २ ॥

आहैनमेह्यज्ञ महीं विमुञ्च नो
रसौकसां विश्वसृजेयमर्पिता ।
न स्वस्ति यास्यस्वनया ममेक्षतः
सुराधमासादितसूकराकृते ॥ ३ ॥

त्वं नः सपत्नैरभवाय[2] किं भृतो
यो मायया हन्त्यसुरान्परोक्षजित् ।
त्वां योगमायाबलमल्पपौरुषं
संस्थाप्य मूढ प्रमृजे सुहृच्छुचः ॥ ४ ॥

त्वयि संस्थिते गदया शीर्णशीर्ष-
ण्यस्मद्भुजच्युतया ये च तुभ्यम् ।
बलिं हरन्त्यृषयो ये च देवाः
स्वयं सर्वे न भविष्यन्त्यमूलाः ॥ ५ ॥

स तुद्यमानोऽरिदुरुक्ततोमरै-
र्दंष्ट्राग्रगां गामुपलक्ष्य भीताम् ।
तोदं मृषन्निरगादम्बुमध्या-
द्ग्राहाहतः सकरेणर्यथेभः ॥ ६ ॥

तं निःसरन्तं सलिलादनुद्रुतो
हिरण्यकेशो द्विरदं यथा झषः ।
करालदंष्ट्रोऽशनिनिःस्वनोऽब्रवी-
द्दुतह्रियां किं त्वसतां विगर्हितम् ॥ ७ ॥

श्रीमैत्रेयजी बोले—हे विदुर ! वरुणजीका यह कथन सुनकर वह मदोन्मत्त दैत्य मनमें प्रसन्न हुआ और उनके इस कथनपर कि 'तू उनके हाथसे मारा जायगा' कोई ध्यान न देकर वह श्रीनारदजीसे भगवान्‌का पता लगाकर बड़ी शीघ्रतासे रसातलमें पहुँचा ॥१॥ वहाँ उसने अपने सामने आनेवाले विजयशील श्रीवराह भगवान्‌को अपने दाढ़ोंके अग्रभागपर पृथिवीको रखकर ले जाते हुए देखा, जो अपने नयनोंकी अरुणकान्तिसे उसका तेज हरण करते थे । उन्हें देखकर वह मन-ही-मन हँसा 'अहो ! यह वनमें विचरनेवाला मृग यहाँ जलमें कैसे दीख रहा है ?' ॥२॥ फिर वराहजीसे कहने लगा—"हे अज्ञ ! इधर आओ, इस पृथिवीको छोड़ दो, इसे विश्वरचयिता ब्रह्माजीने हम रसातलवासियोंको सौंप दिया है । हे शूकररूपधारी सुराधम ! मेरे देखते-देखते इस पृथिवीके साथ तुम कुशलपूर्वक नहीं जा सकते ॥३॥ हे परोक्षजित् ! तुम मायासे ही दैत्योंको मार डालते हो तो क्या हमारे शत्रुओंने हमारे विनाशके लिये ही तुम्हारा आश्रय लिया है ? हे मूढ ! योगमाया ही तुम्हारा बल है और तुम अल्प पौरुषवाले हो; अतः तुमको मारकर आज मैं अपने बन्धुओंका शोक दूर करूँगा ॥४॥ मेरी गदाके प्रहारसे शिर फट जानेके कारण जब तुम मर जाओगे तो तुम्हारी आराधना करनेवाले देवता और ऋषिगण निर्मूल हो जानेसे स्वयं ही नहीं रहेंगे" ॥५॥

शत्रुके ऐसे वाग्बाणोंसे व्यथित हो तथा अपनी दाढ़ोंपर रखी हुई पृथिवीको भयभीत देख श्रीवराह भगवान् उसके दुर्वचनोंको सहन करते हुए ग्राहसे चोट खाये हुए हथिनीसहित गजराजकी भाँति जलसे बाहर आये ॥६॥ तब जलसे निकलते हुए भगवान्‌के पीछे जिसके केश सुवर्णवर्ण, दाढ़ें अति तीखी और शब्द वज्रके समान कठोर हैं वह हिरण्याक्ष गजराजके पीछे दौड़नेवाले ग्राहके समान दौड़ा और कहने लगा—'निर्लज्ज और असत् पुरुषोंके लिये बुरा काम क्या है ?' ॥७॥

१. प्रा० पा०—कृतिः । २. प्रा० पा०—रभयाय ।

स गामुदस्तात्सलिलस्य गोचरे
विन्यस्य तस्यामदधात्स्वसत्त्वम् ।
अभिष्टुतो विश्वसृजा प्रसूनै-
रापूर्यमाणो विबुधैः पश्यतोऽरेः ॥ ८ ॥
परानुषक्तं तपनीयोपकल्पं
महागदं काञ्चनचित्रदंशम् ।
मर्माण्यभीक्ष्णं प्रतुदन्तं दुरुक्तैः
प्रचण्डमन्युः प्रहसंस्तं[1] बभाषे ॥ ९ ॥

भगवान्‌ने शत्रुके देखते-देखते पृथिवीको जलपर स्थापितकर उसमें अपनी आधारशक्तिका सञ्चार किया। उस समय विश्वरचयिता भगवान् ब्रह्माजीने उनकी स्तुति की और देवताओंने पुष्प बरसाये ॥८॥ तब श्रीहरिने हाथमें गदा लिये अपने पीछे आनेवाले सुवर्णभूषणभूषित तथा विचित्र कवचधारी हिरण्याक्षसे जो अपने कटुभाषणसे उन्हें निरन्तर व्यथित कर रहा था अति क्रोधपूर्वक हँसते हुए कहा ॥९॥

श्रीभगवानुवाच

सत्यं वयं भो वनगोचरा मृगा
युष्मद्विधान्[2]मृगये ग्रामसिंहान्[3] ।
न मृत्युपाशैः प्रतिमुक्तस्य वीरा
विकत्थनं तव गृह्णन्त्यभद्र ॥१०॥
एते वयं न्यासहरा रसौकसां
गतह्रियो गदया द्रावितास्ते ।
तिष्ठामहेऽथापि[4] कथञ्चिदाजौ
स्थेयं क्व यामो बलिनोत्पाद्य वैरम् ॥११॥
त्वं पद्रथानां किल यूथपाधिपो
घटस्व नोऽस्वस्तय आश्वनूहः ।
संस्थाप्य चास्मान्प्रमृजाश्रु स्वकानां
यः स्वां प्रतिज्ञां नातिपिपर्त्यसभ्यः ॥१२॥

श्रीभगवान् बोले—अरे! सचमुच ही हम वनवासी मृग हैं, किन्तु तुझ-जैसे ग्रामसिंहों (कुत्तों) को ढूँढ़ते फिरते हैं। रे अकल्याणस्वरूप! वीर पुरुष तुझ-जैसे मृत्युपाशमें बँधे हुए अभागे जीवोंकी आत्म-श्लाघापर ध्यान नहीं देते ॥ १० ॥ हाँ, हम रसातलवासियोंकी धरोहरको चुरानेवाले और निर्लज्ज हैं तथा तेरी गदाके भयसे यहाँ भाग आये हैं। [भाई! हम तुझसे युद्ध करनेमें समर्थ तो नहीं हैं] फिर भी जैसे-तैसे तेरे सामने खड़े हैं; क्योंकि तुझ-जैसे शूरवीरसे वैर बाँधकर हम जा भी कहाँ सकते हैं? ॥११॥ तू पदातियूथपतियोंका नायक कहलाता है; इसलिये तू निःशंक होकर शीघ्र ही हमारा अमंगल करनेके लिये यत्न कर और हमें मारकर अपने बन्धुजनोंके आँसू पोंछ [अब इसमें देरी न कर] क्योंकि जो अपनी की हुई प्रतिज्ञाका पालन नहीं करता वह असभ्य होता है ॥१२॥

मैत्रेय उवाच

सोऽधिक्षिप्तो भगवता प्रलब्धश्च रुषा भृशम् ।
आजहारोल्बणं क्रोधं क्रीड्यमानोऽहिराडिव ॥१३॥
सृजन्नमर्षितः श्वासान्मन्युप्रचलितेन्द्रियः ।
आसाद्य तरसा दैत्यो गदयाभ्यहनद्धरिम् ॥१४॥

श्रीमैत्रेयजी बोले—हे विदुर! जब भगवान्‌ने इस प्रकार उपहास करते हुए उस दैत्यका तिरस्कार किया तो पकड़कर खेलाये जाते हुए सर्पके समान उसे अत्यन्त क्रोध उत्पन्न हुआ ॥१३॥ वह बड़े जोर-जोरसे श्वास लेने लगा, उसकी सब इन्द्रियाँ क्रोधसे क्षुब्ध हो उठीं और उस दुष्ट दैत्यने बड़े वेगसे लपककर श्रीहरिपर गदासे प्रहार किया ॥१४॥

१. प्रा० पा०—प्रसभं तं। यह पाठान्तर अधिक उपयुक्त है क्योंकि 'प्रचण्डमन्युः' के साथ 'प्रसभं बभाषे'का ही मेल है। २. प्रा० पा०—द्विधं मृग०। ३. प्रा० पा०—सिंहम्। ४. प्रा० पा०—महे चापि। ५. प्रा० पा०—त्वया। ६. प्राचीन प्रतिमें 'मैत्रेय उवाच' नहीं है। ७. प्रा० पा०—विसृ०।

भगवांस्तु गदावेगं विसृष्टं रिपुणोरसि ।
अवञ्चयत्तिरश्चीनो योगारूढ इवान्तकम् ॥१५॥
पुनर्गदां स्वामादाय भ्रामयन्तमभीक्ष्णशः ।
अभ्यधावद्धरिः क्रुद्धः संरम्भाद्दष्टदच्छदम् ॥१६॥
ततश्च गदयारातिं दक्षिणस्यां भ्रुवि प्रभुः ।
आजघ्ने स तु तां सौम्य गदया कोविदोऽहनत् ॥१७॥
एवं गदाभ्यां गुर्वीभ्यां हर्यक्षो हरिरेव च ।
जिगीषया सुसंरब्धावन्योन्यमभिजघ्नतुः ॥१८॥
तयोः स्पृधोस्तिग्मगदाहताङ्गयोः
क्षतास्रवघ्राणविवृद्धमन्यवोः ।
विचित्रमार्गांश्चरतोर्जिगीषया
व्यभादिलायामिव शुष्मिणोर्मृधः ॥१९॥
दैत्यस्य यज्ञावयवस्य मायया
गृहीतवाराहतनोर्महात्मनः ।
कौरव्य मह्यां द्विषतोर्विमर्दनं
दिदृक्षुरागादृषिभिर्वृतः स्वराट् ॥२०॥
आसन्नशौण्डीरमपेतसाध्वसं
कृतप्रतीकारमहार्यविक्रमम् ।
विलक्ष्य दैत्यं भगवान्सहस्रणी-
र्जगाद नारायणमादिसूकरम् ॥२१॥

ब्रह्मोवाच

एष ते देव देवानामङ्घ्रिमूलमुपेयुषाम् ।
विप्राणां सौरभेयीणां भूतानामप्यनागसाम् ॥२२॥

किन्तु भगवान्‌ने अपने वक्षःस्थलपर शत्रुद्वारा किये हुए उस गदाप्रहारको कुछ टेढ़े होकर विफल कर दिया, जैसे योगसिद्ध पुरुष मृत्युको बचा जाता है ॥१५॥ और फिर जब वह क्रोधवश अधरपुटोंको दाँतोंसे चबाता हुआ अपनी गदा ले उसे बारम्बार घुमाने लगा तब श्रीहरि कुपित हो बड़े वेगसे उसकी ओर दौड़े ॥१६॥ हे सौम्य ! तब प्रभुने उस शत्रुकी दायीं भृकुटिपर अपनी गदासे प्रहार किया, किन्तु गदायुद्धमें कुशल हिरण्याक्षने बीचहीमें अपनी गदासे उस गदापर प्रहार किया ॥१७॥ इस प्रकार श्रीहरि और हिरण्याक्ष एक-दूसरेको जीतनेकी इच्छासे अति क्रोधपूर्वक एक-दूसरेपर भारी-भारी गदाओंसे प्रहार करने लगे ॥१८॥ उस समय उन दोनोंहीको जीतनेकी स्पर्धा (होड़) थी, दोनोंहीके अंग गदाओंके प्रहारसे आहत हो गये थे, अपने अंगोंके क्षतों (घावों) से बहनेवाले रुधिरकी गन्धसे दोनोंहीका क्रोध बढ़ रहा था और वे दोनों ही तरह-तरहके पैंतरे बदल रहे थे। इस प्रकार, गौके लिये आपसमें लड़नेवाले दो मतवाले साँड़ोंके समान उन दोनोंमें एक-दूसरेको जीतनेकी इच्छासे बड़ा भयंकर युद्ध हुआ ॥ १९ ॥ हे कुरुनन्दन ! उस समय, हिरण्याक्ष और जिन्होंने मायाहीसे वराहरूप धारण किया है उन यज्ञमूर्ति महात्मा श्रीहरिका पृथिवीके लिये परस्पर द्वेषपूर्वक युद्ध चलनेपर उसे देखनेके लिये वहाँ ऋषियोंके सहित श्रीब्रह्माजी आये ॥२०॥ और यह देखकर कि वह दैत्य बड़ा शूरवीर है, उसमें भयका नाम भी नहीं है, वह बदला लेनेमें भी समर्थ है और उसके पराक्रमको चूर्ण करना अति कठिन है, सहस्र ऋषियोंके नेता श्रीब्रह्माजी आदि शूकररूप श्रीहरिसे कहने लगे ॥२१॥

श्रीब्रह्माजी बोले—हे देव ! मुझसे वरदान पानेके कारण अति प्रबल हुआ यह दुष्ट दैत्य आपके चरण-शरणमें रहनेवाले देवताओंको, ब्राह्मणोंको, गौओंको तथा अन्य निरपराध जीवोंको बहुत ही हानि पहुँचानेवाला, दुःखदायी और भयप्रद हो रहा है । इसके समान कोई और योद्धा

१. प्रा० पा०—समा० । २. प्रा० पा०—च तं । ३. प्रा० पा०—मृधे तिग्मगदाहृ० । ४. प्रा० पा०—युद्धयोः । ५. प्रा० पा०—भेयाणां ।

[1]आगस्कृद्भयकृद्दुष्कृदस्मद्राद्धवरोऽसुरः ।
अन्वेषन्नप्रतिरथो लोकानटति कण्टकः ॥२३॥
[2]मैनं मायाविनं दृप्तं निरङ्कुशमसत्तमम् ।
आक्रीड बालवद्देव यथाशीविषमुत्थितम् ॥२४॥
न यावदेष वर्धेत स्वां वेलां प्राप्य दारुणः ।
स्वां देव मायामास्थाय तावज्जह्यघमच्युत ॥२५॥
एषा घोरतमा सन्ध्या लोकच्छम्बट्[3]करी प्रभो।
उपसर्पति सर्वात्मन्सुराणां जयमावह ॥२६॥
अधुनैषोऽभिजिन्नाम योगो मौहूर्तिको ह्यगात् ।
शिवाय नस्त्वं सुहृदामाशु निस्तर दुस्तरम् ॥२७॥
दिष्ट्या त्वां विहितं मृत्युमयमासादितः स्वयम्।
विक्रम्यैनं मृधे हत्वा लोकानाधेहि शर्मणि ॥२८॥

नहीं है इसलिये यह महाकंटक अपना सामना करनेवाले योद्धाको खोजता हुआ सम्पूर्ण लोकोंमें घूमता-फिरता है ॥२२-२३॥ हे देव ! बालक जैसे क्रुद्ध हुए सर्पसे खेलता है उसी प्रकार आप इस महामायावी, गर्वीले, निरङ्कुश और महादुष्ट दैत्यसे खेल न करें ॥२४॥ हे देव ! हे अच्युत ! यह दारुण दैत्य जबतक अपनी बलवृद्धिकी वेला (सायंकाल) को पाकर अधिक प्रबल न हो जाय उससे पहले ही अपनी योगमायाका आश्रय लेकर आप इस पापीको मार डालिये ॥२५॥ प्रभो ! देखिये, लोकोंका संहार करनेवाला भयंकर सायंकाल आना ही चाहता है। हे सर्वात्मन् ! उससे पहले ही आप [इस असुरको जीतकर] देवताओंको विजय प्रदान कीजिये ॥२६॥ भगवन् ! इस समय अभिजित् नामक मंगलमय मुहूर्त्तका भी योग है अतः अपने सुहृद्रूप हम लोगोंका कल्याण करनेके लिये शीघ्र ही इस दुर्जय दैत्यको मार डालिये ॥२७॥ बड़े सौभाग्यकी बात है कि यह स्वयं ही अपने विहित मृत्युरूप आपके पास आ गया है; अब आप इसे बलपूर्वक मारकर लोकोंको शान्ति प्रदान कीजिये ॥२८॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे तृतीयस्कन्धे
हिरण्याक्षवधेऽष्टादशोऽध्यायः ॥१८॥

उन्नीसवाँ अध्याय

हिरण्याक्षवध ।

मैत्रेय उवाच

अवधार्य विरिञ्चस्य निर्व्यलीकामृतं वचः ।
प्रहस्य प्रेमगर्भेण तदपाङ्गेन सोऽग्रहीत् ॥ १ ॥
ततः सपत्नं मुखतश्चरन्तमकुतोभयम् ।
जघानोत्पत्य गदया [4]हनावसुरमक्षजः ॥ २ ॥
सा हता तेन गदया विहता भगवत्करात् ।
[5]विघूर्णितापतद्रेजे तदद्भुतमिवाभवत् ॥ ३ ॥

श्रीमैत्रेयजी बोले—हे विदुर ! ब्रह्माजीके ये कपट-शून्य अमृतमय वचन सुनकर भगवान् [उनके भोलेपन-पर] हँसे और प्रेममय कटाक्षसे उनका कथन स्वीकार किया ॥१॥ फिर ब्रह्माजीकी घ्राणेन्द्रियसे उत्पन्न हुए श्री-वराहभगवान्ने उछलकर अपने सामने निर्भय विचरते हुए शत्रुकी ठोड़ीपर गदासे प्रहार किया ॥२॥ किन्तु वह गदा हिरण्याक्षकी गदाके प्रहारसे भगवान्के हाथसे छूटकर चक्कर काटती हुई पृथिवीपर जा पड़ी; यह बड़ी ही विचित्र बात हुई ॥३॥

१. प्राचीन प्रतिमें "आगस्कृद्....." यह पूर्वार्ध मूलमें नहीं है। २. प्रा० पा०—नैनं। ३. प्रा० पा०—च्छद्मकरी। ४. प्रा० पा०—विननादाथ सुस्वरम्। ५. प्राचीन प्रतिमें 'विघूर्णिता०' यह उत्तरार्ध मूलमें नहीं है।

स तदा लब्धतीर्थोऽपि न बबाधे निरायुधम् ।
मानयन्स मृधे धर्मं विष्वक्सेनं प्रकोपयन् ॥ ४ ॥
गदायामपविद्धायां हाहाकारे विनिर्गते[1] ।
मानयामास तद्धर्मं सुनाभं चास्मरद्विभुः ॥ ५ ॥
तं व्यग्रचक्रं दितिपुत्राधमेन
स्वपार्षदमुख्येन विषज्जमानम् ।
चित्रा वाचोऽतद्विदां खेचराणां
तत्रास्मासन्स्वस्ति तेऽमुं जहीति ॥ ६ ॥
स तं निशाम्यात्तरथाङ्गमग्रतो
व्यवस्थितं पद्मपलाशलोचनम् ।
विलोक्य चामर्षपरिप्लुतेन्द्रियो
रुषा स्वदन्तच्छदमादशच्छ्वसन् ॥ ७ ॥
करालदंष्ट्रश्चक्षुर्भ्यां संचक्षाणो दहन्निव ।
अभिप्लुत्य स्वगदया हतोऽसीत्याहनद्धरिम् ॥ ८ ॥
पदा सव्येन तां साधो भगवान्यज्ञसूकरः ।
लीलया मिषतः शत्रोः प्राहरद्वातरंहसम् ॥ ९ ॥
आह चायुधमाधत्स्व घटस्व त्वं जिगीषसि ।
इत्युक्तः स तदा भूयस्ताडयन्व्यनदद्भृशम् ॥ १० ॥
तां स आपततीं वीक्ष्य भगवान्समवस्थितः ।
जग्राह लीलया प्राप्तां गरुत्मानिव पन्नगीम् ॥ ११ ॥
स्वपौरुषे प्रतिहते हतमानो महासुरः ।
नैच्छद्गदां[2] दीयमानां हरिणा विगतप्रभः ॥ १२ ॥
जग्राह त्रिशिखं शूलं ज्वलज्ज्वलनलोलुपम् ।

उस समय भगवान्‌का क्रोध बढ़ानेवाले हिरण्याक्षने शत्रु-पर प्रहार करनेका अच्छा अवसर पाकर भी उन्हें निरस्त्र देखकर युद्धधर्मका मान रखते हुए आक्रमण नहीं किया ॥४॥ भगवान्‌की गदा गिरी देख वहाँ बड़ा हाहाकार मच गया। तब प्रभुने उसकी धर्मबुद्धिकी बड़ी प्रशंसा की और सुदर्शनचक्रका स्मरण किया ॥५॥ उस समय अपने प्रमुख पार्षद दैत्याधम दितिपुत्र हिरण्याक्षके साथ चक्र घुमाकर क्रीड़ा करते हुए भगवान्‌के प्रति उनके प्रभावको न जाननेवाले देवताओंके कहे हुए 'प्रभो ! आपका कल्याण हो, इसे मार डालिये' ये विचित्र वाक्य सब ओर सुनायी दे रहे थे ॥६॥ उस समय कमलदललोचन श्रीहरिको हाथमें चक्र लिये अपने सामने खड़े देख हिरण्याक्षकी सब इन्द्रियाँ क्रोधसे क्षुब्ध हो उठीं और वह लम्बी-लम्बी साँसें खींचता हुआ अपने नीचेके ओठको दाँतोंसे चबाने लगा ॥७॥ उस तीखी दाढ़ोंवाले दैत्यने, मानो अपने नेत्रोंसे भगवान्‌को भस्म कर देगा, इस प्रकार उनकी ओर घूरते हुए तथा 'तू मारा गया' इस प्रकार कहते हुए उनपर अपनी गदासे प्रहार किया ॥८॥ किन्तु हे साधो ! यज्ञमूर्ति श्रीवराहभगवान्‌ने शत्रुके देखते-देखते अपने दायें पाँवसे उस वायुके सदृश वेगवाली गदाको लीलाहीसे गिरा दिया ॥९॥ और हिरण्याक्षसे कहा 'अरे दैत्य ! तू अपना शस्त्र उठा ले और एक बार फिर प्रयत्न कर; क्योंकि तू मुझे जीतना चाहता है।' भगवान्‌के इस प्रकार कहनेपर उसने फिर गदा चलायी और भयंकर गर्जना करने लगा ॥१०॥ उस गदाको अपनी ओर आती देख भगवान्‌ने गरुड़ जैसे सर्पिणीको पकड़ लेता है उसी प्रकार उसे खेल-हीसे पकड़ लिया ॥११॥ इस प्रकार अपने उद्यमको व्यर्थ हुआ देख उस महादैत्यका गर्व नष्ट हो गया और उसकी कान्ति जाती रही; तथा भगवान्‌के देनेपर उसने फिर उस गदाको लेना न चाहा ॥१२॥ अतः उसने ब्राह्मणके ऊपर [जारण-मारणादि] अभिचार* करनेवाले पुरुषके समान वराहरूपधारी श्रीयज्ञ-

१. प्रा० पा०—च निर्गते । २. प्रा० पा०—नैच्छद्ग्रहीतुं सुगमां हरि० ।

* ब्राह्मणपर किया हुआ अभिचार व्यर्थ जाता है; हिरण्याक्षका त्रिशूल भी भगवान्‌का कुछ नहीं बिगाड़ सकता था। इसलिये यहाँ अभिचारकी उपमा दी गयी है।

यज्ञाय धृतरूपाय विप्रायाभिचरन्यथा ॥१३॥
तदोजसा दैत्यमहाभटार्पितं
चकासदन्तःख उदीर्णदीधिति ।
चक्रेण चिच्छेद निशातनेमिना
हरिर्यथा तार्क्ष्यपतत्त्रमुज्झितम् ॥१४॥
वृक्णे स्वशूले बहुधारिणा हरेः
प्रत्येत्य विस्तीर्णमुरो विभूतिमत् ।
प्रवृद्धरोषः स कठोरमुष्टिना
नदन्प्रहृत्यान्तरधीयतासुरः ॥१५॥

पुरुषपर आक्रमण करनेके लिये प्रज्वलित अग्निके समान जाज्वल्यमान एक तीन शिखाओंवाला त्रिशूल हाथमें लिया ॥१३॥ उस महाशूरवीर दैत्यका बड़े वेगसे छोड़ा हुआ वह त्रिशूल आकाशमें अपने प्रखर तेजसे प्रकाशित होने लगा । तब भगवान्‌ने उसे अपने तीखी धारवाले चक्रसे इस प्रकार काट डाला जैसे इन्द्रने गरुड़जीके छोड़े हुए परको अपने वज्रसे काट डाला था * ॥१४॥ भगवान्‌के चक्रद्वारा अपने त्रिशूलके बहुत-से टुकड़े हुए देख उस दैत्यने अति क्रोधित हो भगवान्‌के पास आ उनके लक्ष्मीलाञ्छनसुशोभित विशाल वक्षःस्थलमें अपने कठोर घूँसेका प्रहार किया और भयंकर गर्जना करता हुआ स्वयं अन्तर्धान हो गया ॥१५॥

तेनेत्थमाहतः क्षत्तर्भगवानादिसूकरः ।
नाकम्पत मनाक् क्वापि स्रजा हत इव द्विपः ॥१६॥
अथोरुधा सृजन्मायां योगमायेश्वरे हरौ ।
यां विलोक्य प्रजास्त्रस्ता मेनिरेऽस्योपसंयमम् ॥१७॥
प्रववुर्वायवश्चण्डास्तमः पांसवमैरयन् ।
दिग्भ्यो निपेतुर्ग्रावाणः क्षेपणैः प्रहिता इव ॥१८॥
द्यौर्नष्टभगणाभ्रौघैः सविद्युत्स्तनयित्नुभिः ।
वर्षद्भिः पूयकेशासृग्विण्मूत्रास्थीनि चासकृत् ॥१९॥
गिरयः प्रत्यदृश्यन्त नानायुधमुचोऽनघ ।
दिग्वाससो यातुधान्यः शूलिन्यो मुक्तमूर्धजाः ॥२०॥
बहुभिर्यक्षरक्षोभिः पत्त्यश्वरथकुञ्जरैः ।

हे विदुर ! हिरण्याक्षके इस प्रकार आघात करनेपर भी भगवान् आदिवराह विचलित नहीं हुए जैसे फूलोंकी मालाके प्रहारसे हाथी चलायमान नहीं होता ॥ १६ ॥ तब वह महामायावी दैत्य अन्तर्धान होकर मायापति श्रीहरिपर नाना प्रकारकी मायाओंका प्रयोग करने लगा, जिन्हें देखकर सब प्रजा अत्यन्त भयभीत हो गयी और समझने लगी कि अब संसारका प्रलय होनेवाला है ॥ १७ ॥ सब ओर धूलिसे अन्धकार फैलाता हुआ बड़ा प्रचण्ड पवन चलने लगा तथा सब दिशाओंमें क्षेपणयन्त्रसे फेंके हुए ढेलोंके समान पत्थरोंकी वर्षा होने लगी ॥ १८ ॥ बिजलीकी चमक और गड़गड़ाहटके साथ निरन्तर पीब, केश, लोहू, विष्ठा, मूत्र और हड्डियोंकी वर्षा करनेवाले बादलोंके आकाशमें घिर आनेसे सूर्य-चन्द्र आदि ग्रहगण छिप गये ॥ १९ ॥ हे निष्पाप विदुरजी ! नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्र बरसानेवाले पर्वत तथा हाथमें त्रिशूल लिये बाल खोले नग्नावस्थामें विचरनेवाली राक्षसियाँ दिखायी देने लगीं ॥२०॥ बहुत-से यक्ष, राक्षस, पदाति, घुड़सवार, रथी और गजारूढ़ आततायियोंका [मारो-मारो,

* एक बार जब गरुड़जी अपनी माताको नागमाता कद्रूके दासत्वसे छुड़ानेके लिये देवताओंके पाससे अमृत छीन लाये तब इन्द्रने उनके ऊपर अपना वज्र छोड़ा । इन्द्रका वज्र कभी व्यर्थ नहीं जाता, अतः उसका मान रखनेके लिये गरुड़जीने अपना एक पर छोड़ दिया । उसे ही उस वज्रने काट डाला ।

आततायिभिरुत्सृष्टा हिंस्रा वाचोऽतिवैशसाः[1] ॥२१॥

प्रादुष्कृतानां मायानामासुरीणां विनाशयत् ।
सुदर्शनास्त्रं भगवान्प्रायुङ्क्त दयितं त्रिपात् ॥२२॥

तदा दितेः समभवत्सहसा हृदि वेपथुः ।
स्मरन्त्या भर्तुरादेशं स्तनाच्चासृक् प्रसुस्रुवे ॥२३॥

विनष्टासु[2] स्वमायासु भूयश्चाव्रज्य केशवम् ।
रुषोपगूहमानोऽमुं ददृशेऽवस्थितं बहिः ॥२४॥

तं मुष्टिभिर्विनिघ्नन्तं वज्रसारैरधोक्षजः ।
करेण कर्णमूलेऽहन्यथा त्वाष्ट्रं मरुत्पतिः ॥२५॥

स आहतो विश्वजिता[3] ह्यवज्ञया
परिभ्रमद्गात्र उदस्तलोचनः ।
विशीर्णबाह्वङ्घ्रिशिरोरुहोऽपत-[4]
द्यथा नगेन्द्रो लुलितो नभस्वता ॥२६॥

क्षितौ शयानं तमकुण्ठवर्चसं
करालदंष्ट्रं परिदष्टदच्छदम् ।
अजादयो वीक्ष्य शशंसुरागता
अहो इमां को[5] नु लभेत संस्थितिम् ॥२७॥

यं योगिनो योगसमाधिना रहो
ध्यायन्ति लिङ्गादसतो मुमुक्षया ।
तस्यैष दैत्यापसदः[6] पदाहतो
मुखं प्रपश्यंस्तनुमुत्ससर्ज ह ॥२८॥

एतौ तौ पार्षदावस्य शापाद्यातावसद्गतिम् ।
पुनः कतिपयैः स्थानं प्रपत्स्येते ह जन्मभिः ॥२९॥

काटो-काटो—ऐसा] अति क्रूर और हिंसामय कोलाहल सुनायी देने लगा ॥ २१ ॥

इस प्रकार प्रकट हुई उन आसुरी मायाओंका नाश करनेके लिये जिनके [प्रातःसवन, मध्याह्न-सवन और तृतीय सवन—ये] तीन चरण हैं उन यज्ञमूर्ति वराह भगवान्‌ने अपना प्रिय सुदर्शनचक्र छोड़ा ॥ २२ ॥ उस समय अपने पतिका कथन स्मरण हो आनेसे दितिका हृदय सहसा काँप उठा और उसके स्तनोंसे रक्त बहने लगा ॥ २३ ॥ अपनी मायाके नष्ट हो जानेपर वह दैत्य फिर भगवान्‌के पास आया और उन्हें [दबाकर चूर-चूर करनेकी इच्छासे] अपनी बाहुओंसे आलिङ्गन करना चाहा तो देखा कि वे बाहर खड़े हैं ॥ २४ ॥ तब वह दैत्य बारम्बार भगवान्‌पर अपने वज्रसदृश मुक्कोंसे प्रहार करने लगा । इसपर भगवान्‌ने उसकी कनपटीपर एक तमाचा मारा जैसे इन्द्रने वृत्रासुरपर वज्रप्रहार किया था ॥ २५ ॥ भगवान् विश्वजित्‌के इस प्रकार तिरस्कारपूर्वक प्रहार करनेपर उसका शरीर घूमने लगा, नेत्र फट गये तथा भुजा, चरण और केश छिन्न-भिन्न हो गये और वह आँधीसे उखड़कर गिरे हुए विशाल वृक्षके समान पृथिवीपर गिर पड़ा ॥ २६ ॥ तब जिसका तेज कभी मलिन नहीं हुआ था उस कराल दाढ़ोंवाले दैत्यको दाँतोंसे ओठ दबाये पृथिवीपर पड़ा देख, वहाँ युद्ध देखनेके लिये आये हुए ब्रह्मादि देवगण उसकी प्रशंसा करने लगे कि 'अहो ! ऐसी मृत्यु किसको मिल सकती है ? ॥२७॥ अपनी असत् उपाधिसे छूटनेके लिये योगी जन जिनका योगसमाधिद्वारा एकान्तमें ध्यान करते हैं उन्हींके चरणप्रहारसे इस अधम दैत्यने उनका मुख देखते-देखते अपना शरीर त्याग दिया ॥ २८ ॥ ये दोनों (हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपु) भगवान्‌के ही पार्षद हैं । इन्हें शापवश यह अधोगति प्राप्त हुई है, अब कुछ जन्म-पश्चात् ये फिर अपने स्थानपर पहुँच जायँगे' ॥ २९ ॥

१. प्रा० पा०—ऽभिवै० । २. प्रा० पा०—व्युदस्तासु च मायासु । ३. प्रा० पा०—विश्वसृजा । ४. प्रा० पा०—विकीर्णबाह्वङ्घ्रिशिरोधरो । ५. प्रा० पा०—कोऽत्र । ६. प्रा० पा०—दैत्यऋषभः ।

देवा ऊचुः

नमो नमस्तेऽखिलयज्ञतन्तवे
स्थितौ गृहीतामलसत्त्वमूर्तये ।
दिष्ट्या हतोऽयं जगतामरुन्तुद-
स्त्वत्पादभक्त्या वयमाश निर्वृताः ॥३०॥

मैत्रेय[1] उवाच

एवं हिरण्याक्षमसह्यविक्रमं
स सादयित्वा हरिरादिसूकरः ।
जगाम लोकं स्वमखण्डितोत्सवं
समीडितः[2] पुष्करविष्टरादिभिः ॥३१॥
मया यथानूक्तमवादि ते हरेः
कृतावतारस्य सुमित्र चेष्टितम् ।
यथा हिरण्याक्ष उदारविक्रमो
महामृधे क्रीडनवन्निराकृतः ॥३२॥

सूत उवाच

इति कौषारवाख्यातामाश्रुत्य भगवत्कथाम् ।
क्षत्तानन्दं परं लेभे महाभागवतो द्विज ॥३३॥
अन्येषां पुण्यश्लोकानामुद्दामयशसां सताम् ।
उपश्रुत्य भवेन्मोदः श्रीवत्साङ्कस्य किं पुनः ॥३४॥
यो गजेन्द्रं ग्रहग्रस्तं ध्यायन्तं चरणाम्बुजम् ।
क्रोशन्तीनां करेणूनां कृच्छ्रतोऽमोचयद्द्रुतम् ॥३५॥
तं सुखाराध्यमृजुभिरनन्यशरणैर्नृभिः ।
कृतज्ञः को न सेवेत दुराराध्यमसाधुभिः ॥३६॥
यो वै हिरण्याक्षवधं महाद्भुतं
विक्रीडितं कारणसूकरात्मनः ।
शृणोति गायत्यनुमोदतेऽञ्जसा
विमुच्यते[3] ब्रह्मवधादपि द्विजाः[4] ॥३७॥

देवगण बोले—जो संसारकी स्थितिके लिये शुद्ध-सत्त्वमय स्वरूप धारण करते हैं उन अखिल यज्ञमय श्रीहरिको बारम्बार नमस्कार है । बड़े आनन्दकी बात है कि संसारको कष्ट देनेवाला यह दुष्ट दैत्य मारा गया । हे ईश ! [इसके मारे जानेसे] आपके चरणोंकी भक्तिके प्रभावसे अब हमें भी सुख प्राप्त हो गया ॥ ३० ॥

श्रीमैत्रेयजी बोले—हे विदुर ! जिसके पराक्रमको कोई सहन नहीं कर सकता था उस हिरण्याक्षका इस प्रकार वध करके भगवान् आदिवराह ब्रह्मादि देवताओंसे स्तुति किये जाते हुए अपने अखण्ड आनन्दयुक्त धामको चले गये ॥ ३१ ॥ हे सुमित्र ! महापराक्रमी हिरण्याक्षको जिस प्रकार भगवान्ने महायुद्धमें खिलौनेकी भाँति मार डाला था वह वराह अवतारधारी श्रीहरिका चरित्र जैसा मैंने [गुरुमुखसे] सुना था वैसा तुम्हें सुना दिया ॥ ३२ ॥

सूतजी बोले—हे द्विजवर ! इस प्रकार मैत्रेयजीके मुखसे भगवान्की कथा सुनकर परम भागवत श्रीविदुरजीको परमानन्द प्राप्त हुआ ॥ ३३ ॥ [सो यह कोई आश्चर्यकी बात नहीं है; क्योंकि] अन्य पुण्यकीर्ति और परम यशस्वी सत्पुरुषोंका चरित्र सुननेसे ही आनन्द प्राप्त होता है, फिर श्रीवत्सचिह्नधारी साक्षात् विष्णुभगवान्के चरित्रोंकी तो बात ही क्या है ? ॥ ३४ ॥ जिन्होंने अपने चरणकमलोंका ध्यान करनेवाले ग्राहग्रस्त गजराजको, जिसकी हथिनियाँ दुःखसे चिंघाड़ रही थीं, तत्काल सङ्कटसे छुड़ा दिया, सरलहृदय और अनन्य भक्तोंद्वारा सुगमतासे प्रसन्न किये जानेयोग्य तथा असत्पुरुषोंके लिये अत्यन्त दुराराध्य उन प्रभुका उनके उपकारोंको जाननेवाला कौन पुरुष सेवन न करेगा ? ॥३५-३६॥ हे द्विजगण ! जो पुरुष आदिसूकररूप श्रीहरिकी इस हिरण्याक्षवध नामक अद्भुत लीलाको सुनता, गाता अथवा अनुमोदन करता है वह ब्रह्मवध-जैसे घोर पापसे भी सुगमतासे ही छूट जाता है ॥ ३७ ॥

१. प्राचीन प्रतिमें 'मैत्रेय उवाच' यह पाठ नहीं है । २. प्रा० पा०—समीलितः । ३. प्रा० पा०—स मुच्यते । ४. प्रा० पा०—ध्रुवम् ।

एतन्महापुण्यमलं[1] पवित्रं
धन्यं यशस्यं पदमायुराशिषाम् ।
प्राणेन्द्रियाणां युधि शौर्यवर्धनं
नारायणोऽन्ते गतिरङ्ग शृण्वताम् ॥३८॥

यह चरित्र स्वर्गादिकी प्राप्ति करानेवाला, परम पवित्र, धन-दायक, यशप्रद, आयु तथा कामनाओंकी वृद्धि करनेवाला और युद्धके समय प्राण और इन्द्रियोंके बलको बढ़ानेवाला है । हे प्रिय ! इसका श्रवण करनेवालोंको अन्तमें भगवान् नारायण प्राप्त होते हैं ॥ ३८ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे तृतीयस्कन्धे हिरण्याक्ष-
वधो[2] नाम एकोनविंशोऽध्यायः ॥ १९ ॥

बीसवाँ अध्याय

ब्रह्माजीद्वारा रचित विविध सृष्टिका वर्णन ।

शौनक उवाच

महीं प्रतिष्ठामध्यस्य[3] सौते स्वायंभुवो मनुः ।
कान्यन्वतिष्ठद्द्वाराणि भार्गायावरजन्मनाम् ॥ १ ॥
क्षत्ता महाभागवतः कृष्णस्यैकान्तिकः सुहृत् ।
यस्तत्याजाग्रजं कृष्णे सापत्यमघवानिति ॥ २ ॥
द्वैपायनादनवरो महित्वे तस्य देहजः ।
सर्वात्मना श्रितः कृष्णं तत्परांश्चाप्यनुव्रतः ॥ ३ ॥
किमन्वपृच्छन्मैत्रेयं विरजास्तीर्थसेवया ।
उपगम्य कुशावर्त आसीनं तत्त्ववित्तमम् ॥ ४ ॥
तयोः संवदतोः सूत प्रवृत्ता ह्यमलाः कथाः ।
आपो गाङ्गा इवाघघ्नीर्हरेः पादाम्बुजाश्रयाः ॥ ५ ॥
ता नः कीर्तय भद्रं ते कीर्तन्योदारकर्मणः ।
रसज्ञः को नु तृप्येत हरिलीलामृतं पिबन् ॥ ६ ॥

एवमुग्रश्रवाः पृष्ट ऋषिभिर्नैमिषायनैः ।
भगवत्यर्पिताध्यात्मस्तानाह श्रूयतामिति ॥ ७ ॥

शौनकजी बोले—हे सूतनन्दन ! पृथिवीरूप आधारको पा लेनेपर स्वायम्भुव मनुने आगे होनेवाली सन्ततिके लिये किन उपायोंका अवलम्बन लिया ॥१॥ विदुरजी बड़े ही भगवद्भक्त और भगवान् श्रीकृष्णके अनन्य सुहृद् थे; इसीलिये उन्होंने अपने बड़े भाई धृतराष्ट्रको उनके पुत्र दुर्योधनके सहित, श्रीकृष्णचन्द्रका अनादर करनेके कारण अपराधी समझकर त्याग दिया था ॥२॥ वे महर्षि द्वैपायनके आत्मज थे और महिमामें उनसे किसी प्रकार कम नहीं थे । तथा सब प्रकार भगवान् श्रीकृष्णके आश्रित और कृष्णभक्तोंके अनुगामी थे ॥३॥ तीर्थसेवनसे निर्मल हुए उन विदुरजीने कुशावर्त्त (हरिद्वार) क्षेत्रमें पहुँचकर वहाँ बैठे हुए तत्त्वज्ञानियोंमें श्रेष्ठ मैत्रेयजीसे फिर क्या प्रश्न किया ॥४॥ क्योंकि हे तात ! उन दोनोंमें संवाद होनेपर श्रीहरिके चरणकमलोंसे सम्बन्धित गंगाजलके समान पापापहारिणी और निर्मल कथाओंका ही कथनोपकथन हुआ होगा ॥५॥ अतः जिनके उदार चरित्र परम कीर्तनीय हैं उन श्रीहरिकी वे पवित्र कथाएँ आप हमसे कहिये । भला ऐसा कौन रसिक होगा जो श्रीभगवल्लीलामृतका पान करते-करते तृप्त हो जायगा ॥६॥

नैमिषारण्यवासी मुनीश्वरोंके इस प्रकार पूछनेपर उग्रश्रवा नामक सूतजीने भगवान्में चित्त लगाकर उनसे कहा—'सुनिये' ॥७॥

१. प्रा० पा०—फलं । २. प्राचीन प्रतिमें 'वधो नाम' के स्थानमें 'वधे' पाठ है । ३. प्रा० पा०—मध्यास्य ।

सूत उवाच

हरेर्धृतक्रोडतनोः स्वमायया
निशम्य गोरुद्धरणं रसातलात् ।
लीलां हिरण्याक्षमवज्ञया हतं
सञ्जातहर्षो मुनिमाह भारतः[1] ॥ ८ ॥

विदुर उवाच

प्रजापतिपतिः सृष्ट्वा प्रजासर्गे प्रजापतीन् ।
किमारभत मे ब्रह्मन्प्रब्रूह्यव्यक्तमार्गवित् ॥ ९ ॥
ये मरीच्यादयो विप्रा यस्तु स्वायम्भुवो मनुः ।
ते वै ब्रह्मण आदेशात्कथमेतदभावयन् ॥१०॥
सद्वितीयाः किमसृजन्स्वतन्त्रा उत कर्मसु ।
आहोस्वित्संहताः सर्व इदं स्म[2] समकल्पयन् ॥११॥

मैत्रेय उवाच

दैवेन दुर्वितर्क्येण परेणानिमिषेण च ।
जातक्षोभाद्भगवतो महानासीद्गुणत्रयात् ॥१२॥
रजःप्रधानान्महतस्त्रिलिङ्गो दैवचोदितात् ।
जातः ससर्ज भूतादिर्वियदादीनि पञ्चशः[3] ॥१३॥
तानि चैकैकशः स्रष्टुमसमर्थानि भौतिकम् ।
संहत्य दैवयोगेन हैममण्डमवासृजन् ॥१४॥
सोऽशयिष्टाब्धिसलिले आण्डकोशो निरात्मकः ।
साग्रं वै वर्षसाहस्रमन्ववात्सीत्तमीश्वरः ॥१५॥
तस्य नाभेरभूत्पद्मं सहस्रार्कोरुदीधिति ।
सर्वजीवनिकायौको यत्र स्वयमभूत्स्वराट् ॥१६॥

श्रीसूतजी बोले—हे मुनिगण ! मायावश वराह-रूपधारी श्रीहरिकी रसातलसे पृथिवीको निकालने और खेलहीमें तिरस्कारपूर्वक हिरण्याक्षको मार डालनेकी लीला सुनकर श्रीविदुरजीने अति आनन्दित हो मुनिवर मैत्रेयजीसे कहा ॥८॥

विदुरजी बोले—हे ब्रह्मन् ! आप अव्यक्त मार्गके भी जाननेवाले हैं; अतः यह बताइये कि प्रजापतियोंके पति श्रीब्रह्माजीने मरीचि आदि प्रजापतियोंको उत्पन्न करके फिर प्रजाकी सृष्टिके लिये क्या किया ? ॥९॥ उनके उत्पन्न किये मरीचि आदि मुनीश्वरोंने और स्वायम्भुवमनुने ब्रह्माजीकी आज्ञासे किस प्रकार प्रजाकी वृद्धि की ? ॥१०॥ उन्होंने सपत्नीक होकर जगत्की रचना की अथवा अपने-अपने कार्यमें स्वतन्त्र होकर अकेले ही सृष्टि उत्पन्न की या सबने एक साथ मिलकर इस जगत्को रचा ? ॥११॥

श्रीमैत्रेयजी बोले—हे विदुर ! जिसकी गतिको जानना अत्यन्त कठिन है उस जीवोंके प्रारब्ध, प्रकृति-के नियन्ता पुरुष और काल—इन तीन हेतुओंसे और भगवान्के सकाशसे क्षोभ होनेपर सत्त्वादि तीन गुणोंसे महत्तत्त्व उत्पन्न हुआ ॥१२॥ फिर ईश्वरकी प्रेरणासे रजःप्रधान महत्तत्त्वसे [वैकारिक, राजस और तामस] तीन प्रकारका अहंकार उत्पन्न हुआ । उससे पञ्च-तन्मात्राएँ, पञ्चभूत, पञ्चकर्मेन्द्रियाँ, पञ्चज्ञानेन्द्रियाँ और उनके अधिष्ठाता देवता प्रकट हुए ॥१३॥ वे अलग-अलग भूतोंके कार्यरूप ब्रह्माण्डको उत्पन्न करनेमें असमर्थ थे; इसलिये उन्होंने दैवयोगसे सम्मिलित होकर एक सुवर्णवर्ण अण्डकी रचना की ॥१४॥ वह चेतनाशून्य अण्ड एक सहस्र वर्षसे कुछ अधिक समय-तक जलमें पड़ा रहा, फिर उसमें श्रीभगवान्ने प्रवेश किया ॥१५॥ तब उसमें अधिष्ठित हुए श्रीहरिकी नाभिसे सहस्र सूर्योंके समान देदीप्यमान एक कमल प्रकट हुआ जो सम्पूर्ण जीवसमुदायका आश्रय था और जिससे स्वयं ब्रह्माजीका आविर्भाव हुआ ॥१६॥

१. प्रा० पा०—सारवित् । २. प्रा० पा०—सर्वमकल्पयन् । ३. प्रा० पा०—भूतानि विय० ।

सोऽनुविष्टो भगवता यः शेते सलिलाशये ।
लोकसंस्थां यथापूर्वं निर्ममे संस्थया स्वया ॥१७॥
ससर्जच्छायया विद्यां पञ्चपर्वाणमग्रतः ।
तामिस्रमन्धतामिस्रं तमो मोहो[1] महातमः ॥१८॥
विससर्जात्मनः कायं नाभिनन्दंस्तमोमयम् ।
जगृहुर्यक्षरक्षांसि रात्रिं क्षुत्तृट्समुद्भवाम् ॥१९॥
क्षुत्तृड्भ्यामुपसृष्टास्ते तं जग्धुमभिदुद्रुवुः ।
मा रक्षतैनं जक्षध्वमित्यूचुः[2] क्षुत्तृडर्दिताः ॥२०॥
देवस्तानाह संविग्नो मा मां जक्षत रक्षत ।
अहो मे यक्षरक्षांसि प्रजा यूयं बभूविथ ॥२१॥

देवताः प्रभया या या दीव्यन्प्रमुखतोऽसृजत् ।
ते[3] अहार्षुर्देवयन्तो विसृष्टां तां प्रभामहः ॥२२॥
देवोऽदेवाञ्जघनतः सृजति स्मातिलोलुपान् ।
त एनं लोलुपतया मैथुनायाभिपेदिरे ॥२३॥
ततो हसन्स भगवानसुरैर्निरपत्रपैः ।
अन्वीयमानस्तरसा क्रुद्धो भीतः परापतत् ॥२४॥
स उपव्रज्य वरदं प्रपन्नार्तिहरं हरिम् ।
अनुग्रहाय भक्तानामनुरूपात्मदर्शनम् ॥२५॥
पाहि मां परमात्मंस्ते प्रेषणेनासृजं प्रजाः ।

तदनन्तर ब्रह्माण्डके गर्भरूप जलमें शयन करनेवाले श्रीनारायणदेवने ब्रह्माजीके अन्तःकरणमें प्रवेश किया। तब ब्रह्माजी पूर्वकल्पोंकी नाम-रूपमयी व्यवस्थाके अनुसार लोकोंकी रचना करने लगे ॥१७॥ सबसे पहले उन्होंने अपनी छायासे तामिस्र, अन्धतामिस्र, तम, मोह और महामोह नामक पाँच प्रकारकी अविद्या उत्पन्न की ॥१८॥ उस तमोगुणी सृष्टिसे ब्रह्माजीको कुछ प्रसन्नता नहीं हुई, इसलिये उन्होंने अपना शरीर त्याग दिया। तब क्षुधा और तृष्णाके उत्पत्तिस्थान ब्रह्माजीके उस रात्रिरूप शरीरको [उसीसे उत्पन्न हुए] यक्ष और राक्षसोंने ग्रहण कर लिया ॥१९॥ उस समय भूख-प्याससे अति व्याकुल होनेके कारण वे यक्ष और राक्षस 'इन्हें खा जाओ, इनकी रक्षा मत करो' ऐसा कहते हुए ब्रह्माजीकी ओर दौड़े ॥२०॥ तब ब्रह्माजीने भयभीत होकर कहा—"हे यक्ष-राक्षसो ! तुम मेरी सन्तान हो इसलिये मुझे भक्षण मत करो, बल्कि मेरी रक्षा करो।" [उनमेंसे जिन्होंने कहा कि 'खा जाओ' वे तो यक्ष हुए और जिन्होंने कहा कि 'इनकी रक्षा मत करो' वे राक्षस हुए] ॥२१॥

फिर ब्रह्माजीने प्रभामय शरीरसे प्रकाशित होकर उससे जो मुख्य-मुख्य सात्त्विक देवता हैं उनकी रचना की। तब क्रीडा करते हुए उन देवताओंने ब्रह्माजीके त्यागे हुए उस दिनरूप प्रकाशमय शरीरको ग्रहण कर लिया ॥२२॥ फिर ब्रह्माजीने अपने जघनदेशसे अत्यन्त कामासक्त असुरोंको उत्पन्न किया। वे अत्यन्त लोलुपताके कारण ब्रह्माजीसे ही मैथुन करनेके लिये उनकी ओर चले ॥२३॥ यह देखकर ब्रह्माजी हँसे और फिर उन निर्लज्ज दैत्योंको अपना पीछा करते देख उनसे भयभीत और क्रोधित हो बड़े जोरसे भगे ॥२४॥ तथा भक्तोंपर कृपा करनेके लिये उनकी भावनाके अनुसार दर्शन देनेवाले वरदायक और शरणागतवत्सल श्रीहरिके पास पहुँचकर कहने लगे—॥२५॥ "हे परमात्मन् ! आप मेरी रक्षा कीजिये, मैंने आपकी आज्ञानुसार प्रजा उत्पन्न की थी, किन्तु हे प्रभो ! यह

१. प्रा० पा०—मोहं। २. प्रा० पा०—त्युच्चैः। ३. प्रा० पा०—तेऽहारिषुर्दे०।

ता इमा यभितुं पापा उपाक्रामन्ति मां प्रभो ॥२६॥
त्वमेकः[1] किल लोकानां क्लिष्टानां क्लेशनाशनः ।
त्वमेकः क्लेशदस्तेषामनासन्नपदां तव ॥२७॥
सोऽवधार्यास्य कार्पण्यं विविक्ताध्यात्मदर्शनः ।
विमुञ्चात्मतनुं घोरामित्युक्तो विमुमोच ह ॥२८॥
तां क्वणच्चरणाम्भोजां मदविह्वललोचनाम् ।
काञ्चीकलापविलसद्दुकूलच्छन्नरोधसम् ॥२९॥
अन्योन्यश्लेषयोत्तुङ्गनिरन्तरपयोधराम् ।
सुनासां सुद्विजां स्निग्धहासलीलावलोकनाम् ॥३०॥
गूहन्तीं व्रीडयात्मानं नीलालकवरूथिनीम् ।
उपलभ्यासुरा धर्म सर्वे संमुमुहुः स्त्रियम् ॥३१॥
अहो रूपमहो धैर्यमहो अस्या नवं वयः ।
मध्ये कामयमानानामकामेव विसर्पति ॥३२॥
वितर्कयन्तो बहुधा तां सन्ध्यां प्रमदाकृतिम् ।
अभिसम्भाव्य विश्रम्भात्पर्यपृच्छन्कुमेधसः ॥३३॥
कासि कस्यासि रम्भोरु को वार्थस्तेऽत्र भामिनि ।
रूपद्रविणपण्येन दुर्भगान्नो विबाधसे ॥३४॥

पापिष्ठ सन्तति तो बलात्कारसे मैथुन करनेके लिये मेरे ही पीछे लगी हुई है ॥२६॥ हे नाथ ! एकमात्र आप ही दुःखी जीवोंका दुःख दूर करनेवाले हैं और जो आपकी चरण-शरणमें नहीं आते उन्हें दुःख देनेवाले भी एकमात्र आप ही हैं" ॥२७॥

तब सबके अन्तःकरणकी बात जाननेवाले श्रीभगवान्‌ने ब्रह्माजीकी आतुरता देख उनसे कहा—"तुम अपने इस कामदूषित शरीरको त्याग दो" । भगवान्‌के इस प्रकार कहनेपर ब्रह्माजीने वह शरीर त्याग दिया ॥२८॥

[ब्रह्माजीका छोड़ा हुआ वह शरीर एक सुन्दरी स्त्री (सन्ध्यादेवी) के रूपमें परिणत हो गया ।] वह स्त्री अपने चरणकमलोंसे नूपुरोंकी मनोहर झनकार करती जाती थी । उसके नेत्र मदोन्मत्त हो रहे थे तथा उसका कटिप्रदेश काञ्चीकलापसे सुशोभित सुन्दर साड़ीसे ढका हुआ था । उसके दोनों ऊँचे-ऊँचे स्तन इस प्रकार एक-दूसरेसे मिले हुए थे कि उनके बीचमें कुछ भी अन्तर नहीं रहा । उसकी नासिका और दन्तावली बड़ी ही सुघड़ थी तथा वह मधुर मुसकानके साथ [असुरोंकी ओर] लीलामय कटाक्षविक्षेप कर रही थी । उसकी नीली-नीली अलकावली बड़ी ही शोभायमान थी और वह लज्जावश बार-बार अपने अञ्चलसे शरीरको छिपाती जाती थी; हे विदुर ! उस परम सुन्दरी स्त्रीको पाकर वे समस्त दैत्यगण मोहित हो गये ॥ २९–३१॥ [और आपसमें कहने लगे–] 'अहो ! इसका रूप, धैर्य और नवयौवन तो देखो ! हम कामपीड़ितोंके बीचमें यह कैसी निष्काम-सी होकर विचर रही है' ॥३२॥

इस प्रकार नाना प्रकारके तर्क-वितर्क कर वे कुबुद्धि दैत्यगण उस स्त्रीरूपिणी सन्ध्याका बहुत सत्कार कर उससे प्रेमपूर्वक पूछने लगे—॥३३॥ "हे कदली-खण्डके समान गोल और कोमल जंघाओंवाली ! तुम कौन हो ? और किसकी पुत्री हो ? हे भामिनि ! यहाँ तुम किसलिये आयी हो ? तुम्हारा रूप एक अमूल्य विक्रीकी वस्तु है; उसे दिखाकर हम दीनोंको क्यों तरसा रही हो ? ॥ ३४ ॥

१. प्रा० पा०—त्वमेव ।

या वा कांचित्त्वमबले दिष्ट्या संदर्शनं तव ।
उत्सुनोषीक्षमाणानां कन्दुकक्रीडया मनः ॥३५॥
नैकत्र ते जयति शालिनि पादपद्मं
घ्नन्त्या मुहुः करतलेन पतत्पतङ्गम् ।
मध्यं विषीदति बृहत्स्तनभारभीतं[2]
शान्तेव दृष्टिरमला[3] सुशिखासमूहः ॥३६॥
इति सायन्तनीं सन्ध्यामसुराः प्रमदायतीम् ।
प्रलोभयन्तीं जगृहुर्मत्वा मूढधियः स्त्रियम् ॥३७॥
प्रहस्य भावगम्भीरं जिघ्रन्त्यात्मानमात्मना ।
कान्त्या ससर्ज भगवान्गन्धर्वाप्सरसां गणान् ॥३८॥
विससर्ज तनुं तां वै ज्योत्स्नां कान्तिमतीं प्रियाम् ।
त एव चाददुः प्रीत्या विश्वावसुपुरोगमाः ॥३९॥
सृष्ट्वा भूतपिशाचांश्च भगवानात्मतन्द्रिणा[4] ।
दिग्वाससो मुक्तकेशान्वीक्ष्य चामीलयद्दृशौ ॥४०॥
जगृहुस्तद्विसृष्टां तां जृम्भणाख्यां तनुं प्रभोः[5] ।
निद्रामिन्द्रियविक्लेदो यया भूतेषु दृश्यते ।
येनोच्छिष्टान्धर्षयन्ति तमुन्मादं प्रचक्षते ॥४१॥
ऊर्जस्वन्तं मन्यमान आत्मानं भगवानजः ।
साध्यान्गणान्पितृगणान्परोक्षेणासृजत्प्रभुः ॥४२॥
त आत्मसर्गं तं कायं पितरः प्रतिपेदिरे ।

हे अबले ! तुम कोई भी क्यों न हो; हमारा बड़ा सौभाग्य था जो तुम्हारा दर्शन हुआ । अहो ! तुम अपनी कन्दुकक्रीडा (गेंदके खेल) से तो हम दर्शकोंके मनको मथे डालती हो ॥३५॥ हे सुन्दरि ! जब उछलती हुई गेंदमें तुम बारम्बार अपनी हथेलीकी थपकी मारती हो तो तुम्हारा चरणकमल एक जगह स्थिर नहीं रहता । उस समय स्थूल स्तनोंके भारसे तुम्हारा कटिप्रदेश थकित-सा हो जाता है, तुम्हारी निर्मल दृष्टिसे भी थकावट झलकने लगती है । अहो ! तुम्हारा केशपाश कैसा सुन्दर है ?" ॥३६॥ इस प्रकार उन्हें उन्मत्त और प्रलोभित करती हुई उस सायंकालीन सन्ध्या देवीको स्त्री समझकर उन मूढ़-बुद्धि दैत्योंने ग्रहण कर लिया ॥३७॥

तदनन्तर ब्रह्माजीने गम्भीरभावसे हँसकर अपनेको आप ही सूँघनेवाली अर्थात् अपने ही रूपसे गर्वीली कान्तिमयी मूर्तिसे गन्धर्व और अप्सराओंको उत्पन्न किया ॥३८॥ फिर उन्होंने ज्योत्स्ना (चाँदनी) रूप अपने उस कान्तिमय प्रिय शरीरको त्याग दिया । उसीको विश्वावसु आदि गन्धर्वोंने ग्रहण किया ॥३९॥

तत्पश्चात् भगवान् ब्रह्माजीने अपनी तन्द्रासे भूत और पिशाचोंको उत्पन्न किया । उन्हें दिगम्बर और बाल खोले देख उन्होंने अपने नेत्र मूँद लिये ॥४०॥ तब ब्रह्माजीके त्यागे हुए उस जमुहाईरूप शरीरको भूत-पिशाचोंने ग्रहण कर लिया । इसीको निद्रा भी कहते हैं जिससे प्राणियोंमें इन्द्रियोंकी शिथिलताका होना देखा जाता है । यदि कोई मनुष्य उच्छिष्ट या अशुद्ध अवस्थामें सो जाता है तो उसपर भूत-पिशाचादि आक्रमण करते हैं, जिसे कि 'उन्माद' कहते हैं ॥४१॥

फिर भगवान् ब्रह्माजीने अपनेको बलवान् मानकर अपने अदृश्यरूपसे साध्य और पितृगणको उत्पन्न किया ॥ ४२ ॥ तब पितरोंने अपनी उत्पत्तिके स्थान उस ब्रह्माजीके शरीरको ग्रहण कर लिया, जिससे कर्म-

१. प्रा० पा०—का स्यास्त्वम० । २. प्रा० पा०—भीत्या । ३. प्रा० पा०—रचला । ४. प्रा० पा०—तन्त्रिणः ५. प्रा० पा०—विभोः ।

साध्येभ्यश्च पितृभ्यश्च कवयो यद्वितन्वते ॥४३॥

कुशल पुरुष श्राद्धादिके द्वारा पितर और साध्यगणको कव्य अर्पण करते हैं ॥४३॥

सिद्धान्विद्याधरांश्चैव तिरोधानेन सोऽसृजत् ।
तेभ्योऽददात्तमात्मानमन्तर्धानाख्यमद्भुतम् ॥४४॥

तदनन्तर ब्रह्माजीने अपनी तिरोधानशक्ति (देखते-देखते छिप जानेकी शक्ति) से सिद्ध और विद्याधरोंकी रचना की और उन्हें अपना वह अन्तर्धान नामक अद्भुत शरीर अर्पण कर दिया ॥४४॥

स किन्नरान्किम्पुरुषान्प्रत्यात्म्येनासृजत्प्रभुः ।
मानयन्नात्मनात्मानमात्माभासं विलोकयन् ॥४५॥

एक बार ब्रह्माजीने अपना प्रतिबिम्ब देखा; तब अपनेको सुन्दर समझते हुए उन्होंने अपने प्रतिबिम्ब किन्नर और किम्पुरुषोंको उत्पन्न किया ॥४५॥

ते तु तज्जगृहू रूपं त्यक्तं यत्परमेष्ठिना ।
मिथुनीभूय गायन्तस्तमेवोषसि कर्मभिः ॥४६॥

उन्होंने ब्रह्माजीके छोड़े हुए उस प्रतिबिम्बशरीरको ग्रहण कर लिया अतः वे परस्पर मिलकर उषा कालमें भगवान् ब्रह्माजीके पराक्रमोंका बखान करते हुए उनका गुणगान करते हैं ॥४६॥

देहेन वै भोगवता शयानो बहुचिन्तया ।
सर्गेऽनुपचिते क्रोधादुत्ससर्ज ह तद्वपुः ॥४७॥

एक समय ब्रह्माजी सर्गकी वृद्धि होती न देखकर बड़े चिन्ताग्रस्त हुए अपने स्थूल शरीरसे शयन कर रहे थे । उस समय क्रोधवश उन्होंने वह शरीर त्याग दिया ॥४७॥

येऽहीयन्तामुतः[1] केशा अहयस्ते[2]ऽङ्ग जज्ञिरे ।
सर्पाः प्रसर्पतः क्रूरा नागा भोगोरुकन्धराः ॥४८॥

हे प्रिय ! उस शरीरसे जो केश गिर गये थे वे ही 'अहि'रूपसे उत्पन्न हुए तथा हाथ-पाँव सकोड़कर चलनेके कारण उसीसे सर्प और नाग प्रकट हुए जिनका शरीर फणरूपसे कन्धेके पास फैला होता है ॥४८॥

स आत्मानं मन्यमानः कृतकृत्यमिवात्मभूः ।
तदा मनून्ससर्जान्ते मनसा लोकभावनान् ॥४९॥

तदनन्तर उन ब्रह्माजीने अपने-आपको कृतकृत्य-सा समझकर अपने मनसे प्रजाकी वृद्धि करनेवाले [चौदह] मनुओंको उत्पन्न किया ॥४९॥

तेभ्यः सोऽत्यसृजत्[3]स्वीयं पुरं पुरुषमात्मवान् ।
तान्दृष्ट्वा ये पुरा सृष्टाः प्रशशंसुः प्रजापतिम् ॥५०॥

महामनस्वी ब्रह्माजीने उन्हें अपना पुरुषाकार शरीर समर्पण कर दिया । उन मनुओंको देखकर उनसे पहले उत्पन्न हुए देवता-गन्धर्वादि ब्रह्माजीकी प्रशंसा करने लगे ॥५०॥

अहो एतज्जगत्स्रष्टः सुकृतं बत ते कृतम् ।
प्रतिष्ठिताः क्रिया यस्मिन्साकमन्नमदामहे ॥५१॥

वे बोले—"हे विश्वरचयिता ब्रह्माजी ! आपकी यह कीर्ति बड़ी सुन्दर है । इसमें अग्निहोत्र आदि सम्पूर्ण कर्म स्थित हैं तथा इसकी सहायतासे ही हम भी अपना-अपना अन्न ग्रहण करते हैं" ॥५१॥

तपसा विद्यया युक्तो योगेन सुसमाधिना[4] ।
ऋषीनृषिर्हृषीकेशः ससर्जाभिमताः प्रजाः ॥५२॥

तत्पश्चात् हृषीकेश ऋषिराज ब्रह्माजीने तप, विद्या, योग और समाधिसे युक्त होकर अपनी प्रिय प्रजा ऋषियोंकी रचना की ॥ ५२ ॥

१. प्रा० पा०—न्त शिरःकेशा । २. प्रा० पा०—ते च । ३. प्रा० पा०—सृजद्देहं पुरं पुरुषमात्मनः । ४. प्रा० पा०—स समा० ।

तेभ्यश्चैकैकशः स्वस्य[1] देहस्यांशमदादजः ।
यत्तत्समाधियोगर्द्धितपोविद्याविरक्तिमत् ॥५३॥

और उनमेंसे प्रत्येकको उन्होंने अपने समाधि, योग, ऐश्वर्य, तप, विद्या और वैराग्यमय शरीरका अंश दिया ॥५३॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे तृतीयस्कन्धे
विंशतितमोऽध्यायः ॥ २० ॥

इक्कीसवाँ अध्याय

कर्दमजीकी तपस्या और भगवान्‌का वरदान

विदुर उवाच

स्वायम्भुवस्य च मनोर्वंशः परमसम्मतः ।
कथ्यतां भगवन्यत्र मैथुनेनैधिरे प्रजाः ॥ १ ॥
प्रियव्रतोत्तानपादौ सुतौ स्वायम्भुवस्य वै ।
यथाधर्मं जुगुपतुः सप्तद्वीपवतीं महीम् ॥ २ ॥
तस्य वै दुहिता ब्रह्मन्देवहूतीति विश्रुता ।
पत्नी प्रजापतेरुक्ता कर्दमस्य त्वयानघ ॥ ३ ॥
तस्यां स वै महायोगी युक्तायां योगलक्षणैः ।
ससर्ज कतिधा वीर्यं तन्मे शुश्रूषवे वद ॥ ४ ॥
रुचिर्यो भगवान्ब्रह्मन्दक्षो वा ब्रह्मणः सुतः ।
यथा ससर्ज भूतानि लब्ध्वा भार्यां च मानवीम् ॥ ५ ॥

विदुरजी बोले—हे भगवन् ! अब आप स्वायम्भुव मनुके परमसम्माननीय वंशकी कथा सुनाइये, जिसमें मैथुनधर्म (स्त्री-पुरुष-संयोग) द्वारा प्रजाकी वृद्धि हुई थी ॥ १ ॥ हे ब्रह्मन् ! आपने कहा था कि स्वायम्भुव मनुके पुत्र प्रियव्रत और उत्तानपादने सातों द्वीप पृथिवीका धर्मपूर्वक पालन किया और उनकी पुत्री जो देवहूति नामसे प्रसिद्ध थी कर्दमप्रजापतिकी स्त्री हुई ॥ २-३ ॥ उस यमादि योगलक्षणोंसे सम्पन्न देवहूतिसे महायोगी कर्दमजीने कितनी सन्तानें उत्पन्न कीं ? उनका वह चरित्र आप मुझसे कहिये; मुझे उसे सुननेकी बड़ी अभिलाषा है ॥ ४ ॥ इसी प्रकार भगवान् रुचि प्रजापति और ब्रह्माजीके पुत्र दक्षने भी मनु-कन्याओं-का पाणिग्रहण कर उनसे किस प्रकार सन्तानोंकी उत्पत्ति की ? हे ब्रह्मन् ! यह सब चरित्र मुझे सुनाइये ॥ ५ ॥

मैत्रेय उवाच

प्रजाः सृजेति भगवान्कर्दमो ब्रह्मणोदितः ।
सरस्वत्यां तपस्तेपे सहस्राणां समा दश ॥ ६ ॥
ततः समाधियुक्तेन क्रियायोगेन कर्दमः ।
सम्प्रपेदे हरिं भक्त्या प्रपन्नवरदाशुषम्[2] ॥ ७ ॥
तावत्प्रसन्नो भगवान्पुष्कराक्षः कृते युगे ।
दर्शयामास तं क्षत्तः शाब्दं ब्रह्म दधद्वपुः ॥ ८ ॥

श्रीमैत्रेयजी बोले—हे विदुर ! उस समय 'तुम प्रजाकी उत्पत्ति करो' इस प्रकार ब्रह्माजीकी आज्ञा पा भगवान् कर्दमजीने सरस्वती नदीके तीरपर दश सहस्र वर्षतक तपस्या की ॥ ६ ॥ तदनन्तर कर्दमजी समाधिके सहित क्रियायोगद्वारा शरणागतवरदायक श्रीहरिकी अति भक्तिपूर्वक आराधना करने लगे ॥ ७ ॥ हे विदुर ! तब सत्ययुगके आरम्भमें उनकी तपस्यासे प्रसन्न हुए भगवान् कमलनयनने उन्हें अपने वेदप्रति-पाद्य ब्रह्मस्वरूपसे मूर्तिमान् होकर दर्शन दिया ॥ ८ ॥

१. प्रा० पा०—कशस्तस्य । २. प्रा० पा०—दाशिषम् ।

स तं विरजमर्काभं सितपद्मोत्पलस्रजम् ।
स्निग्धनीलालकव्रातवक्त्राब्जं विरजोऽम्बरम्॥ ९ ॥
किरीटिनं कुण्डलिनं शङ्खचक्रगदाधरम् ।
श्वेतोत्पलक्रीडनकं मनःस्पर्शस्मितेक्षणम् ॥१०॥
विन्यस्तचरणाम्भोजमंसदेशे गरुत्मतः ।
दृष्ट्वा खेऽवस्थितं वक्षःश्रियं कौस्तुभकन्धरम् ॥११॥
जातहर्षोऽपतन्मूर्ध्ना क्षितौ लब्धमनोरथः ।
गीर्भिस्त्वभ्यगृणात्प्रीतिस्वभावात्मा कृताञ्जलिः।१२।

भगवान्‌का वह स्वरूप सूर्यके समान निर्मल तेजोमय था, उनके गलेमें श्वेत कमल और कुमुदकी माला पड़ी हुई थी, मुखकमल चिकनी और नीली अलकावलीसे सुशोभित था, कटिप्रदेशमें विमल वस्त्र धारण किये थे, उनके शिरपर किरीट, कानोंमें कुण्डल और करकमलोंमें शंख, चक्र और गदा आदि आयुध विराजमान थे; एक हाथमें क्रीडाके लिये श्वेत कमल लिये हुए थे, उनकी मधुर मुसकानमयी चितवन चित्तको चुराये लेती थी, उनके चरणकमल गरुड़जीके कन्धोंपर विराजमान थे तथा वक्षःस्थलमें श्रीवत्सचिह्न और कौस्तुभमणि सुशोभित थे। भगवान्‌की इस आकाशस्थित भव्य मूर्तिका दर्शनकर कर्दमजीको अत्यन्त हर्ष हुआ और उन्होंने अपनेको आप्तकाम समझ पृथिवीपर लोटकर प्रभुको साष्टांग प्रणाम किया तथा स्वतःसिद्ध प्रसन्नचित्तसे अतिप्रेमपूर्वक हाथ जोड़कर मधुर वाणीसे स्तुति करने लगे ॥ ९–१२ ॥

ऋषिरुवाच

जुष्टं बताद्याखिलसत्त्वराशेः[1]
सांसिध्यमक्ष्णोस्तव दर्शनान्नः ।
यद्दर्शनं जन्मभिरीड्य सद्भि-
राशासते योगिनो रूढयोगाः ॥१३॥
ये मायया ते हतमेधसस्त्व-
त्पादारविन्दं भवसिन्धुपोतम् ।
उपासते कामलवाय तेषां
रासीश कामान्निरयेऽपि ये स्युः ॥१४॥
तथा स चाहं परिवोढुकामः
समानशीलां गृहमेधधेनुम् ।
उपेयिवान्मूलमशेषमूलं
दुराशयः कामदुघाङ्घ्रिपस्य ॥१५॥
प्रजापतेस्ते वचसाधीश तन्त्या
लोकः किलायं कामहतोऽनुबद्धः ।

कर्दमजी बोले—हे स्तुति करनेयोग्य प्रभो ! योगसिद्ध योगीजन अनेकों शुभ योनियोंमें जन्म लेकर जिनके दर्शनकी कामना करते रहते हैं उन्हीं निखिल-सत्त्वसमूहरूप आपका आज दर्शन करके हमें नेत्रोंका फल प्राप्त हो गया ॥ १३ ॥ जिन लोगोंकी बुद्धि आपकी मायासे भ्रष्ट हो जाती है वे ही संसार-सागरके लिये नौकारूप आपके चरणकमलोंकी लेशमात्र विषयसुखके लिये उपासना करते हैं । किन्तु हे ईश ! आप तो उन्हें वे विषयभोग भी देते ही हैं, जो कि नरकमें भी प्राप्त हो सकते हैं ॥१४ ॥ हे प्रभो ! उन्हीं सकाम पुरुषोंके समान मैं दुरात्मा भी अपने अनुरूप स्वभाववाली तथा अर्थ, धर्म और कामकी प्राप्ति करानेवाली स्त्रीको पानेकी इच्छासे कल्पवृक्षके समान सम्पूर्ण कामनाओंको पूर्ण करनेवाले आपके चरणकमलोंकी शरणमें आया हूँ ॥ १५ ॥ हे सर्वेश्वर ! जिस प्रकार नाना प्रकारकी कामनाओंके अधीन रहनेवाला यह लोक आप प्रजापतिके वचनरूप डोरीसे (पशुके समान) बँधा हुआ है उसी प्रकार हे शुद्ध-

१. प्रा० पा०—तत्त्वरा० ।

अहं च लोकानुगतो वहामि
बलिं च शुक्लानिमिषाय तुभ्यम् ॥१६॥
लोकांश्च लोकानुगतान्पशूंश्च
हित्वा श्रितास्ते चरणातपत्रम् ।
परस्परं त्वद्गुणवादसीधु-
पीयूषनिर्यापितदेहधर्माः ॥१७॥
न तेऽजराक्षभ्रमिरायुरेषां[1]
त्रयोदशारं त्रिशतं षष्टिपर्व ।
षण्नेम्यनन्तच्छदि यत्त्रिणाभि
करालस्रोतो जगदाच्छिद्य धावत्[2] ॥१८॥
एकः स्वयं सञ्जगतः सिसृक्षया
द्वितीययात्मन्नधियोगमायया- ।
सृजस्यदः पासि पुनर्ग्रसिष्यसे
यथोर्णनाभिर्भगवन्स्वशक्तिभिः ॥१९॥
नैतद्धताधीश पदं तवेप्सितं
यन्मायया नस्तनुषे भूतसूक्ष्मम् ।
अनुग्रहायास्त्वपि यर्हि मायया
लसत्तुलस्या तनुवा[3] विलक्षितः ॥२०॥

धर्ममूर्ते ! मैं भी उसका अनुगमन करता हुआ कालरूप आपको बलि समर्पण करता हूँ [अर्थात् आपकी आज्ञाका पालन करनेके लिये ही स्त्रीकी इच्छा करता हूँ] ॥ १६ ॥ [किन्तु यह दशा तो उन्हींकी है जिन्हें कालरूप आपका भय है; आपके भक्तोंके विषयमें ऐसा नहीं है] हे प्रभो ! आपके भक्तगण तो विषयासक्त लोकों और उनका पशुके समान अनुगमन करनेवाले मुझ-जैसे कर्मजडोंको कुछ भी न गिनकर आपके चरणरूप छत्रकी त्रिताप-नाशिनी छायाका आश्रय ले आपसमें आपके गुणगानरूप मधुर अमृतका पान करते हुए अपने [क्षुधा-पिपासादि] देहधर्मोंको शान्त करते रहते हैं ॥ १७ ॥ हे प्रभो ! साक्षात् ब्रह्म ही जिसकी धुरी है, अधिक माससहित तेरह महीने जिसके अरे हैं, तीन सौ साठ दिन जिसके जोड़ हैं, छः ऋतु जिसकी नेमि हैं, जिसमें अनन्त क्षण-पलरूप पत्तेके समान धारा हैं तथा तीन चातुर्मास्य जिसके आधार-चक्र हैं वह चराचर जगत्की आयुका छेदन करके घूमनेवाला अत्यन्त वेगवान् संवत्सररूप कालचक्र इन (आपके भक्तों) की आयुका ह्रास नहीं कर सकता ॥ १८ ॥ हे भगवन् ! जिस प्रकार मकड़ी स्वयं ही जालेको फैलाती, रक्षा करती और अन्तमें उसे निगल जाती है उसी प्रकार आप अकेले ही, जगत्की रचना करनेके लिये अपनेसे अभिन्न अपनी योगमाया-को स्वीकारकर, उससे अभिव्यक्त हुई अपनी [सत्त्वादि] शक्तियोंद्वारा स्वयं ही इस जगत्की रचना, पालन और संहार करते हैं ॥ १९ ॥ हे अधीश्वर ! आप हम भक्तोंको जो पञ्चभूतोंके कार्यरूप विषयसुख प्रदान करते हैं वे मायिक होनेके कारण आपको इष्ट नहीं हैं, तथापि आपकी कृपासे वे हमें प्राप्त हों [जिससे हम देव, ऋषि और पितृ-ऋणसे उऋण हो सकें] क्योंकि इस समय आपने हमें अपनी तुलसीमालामण्डित मायामयी सगुणमूर्तिसे दर्शन दिया है । [इसलिये हमें भोग और मोक्ष दोनों ही प्राप्त हों] ॥ २० ॥

१. प्रा० पा०—भ्रमि वायु० । २. प्रा० पा०—धावतु । ३. प्रा० पा०—भगवान् वि० ।

तं त्वानुभूत्योपरतक्रियार्थं
स्वमायया वर्तितलोकतन्त्रम् ।
नमाम्यभीक्ष्णं नमनीयपाद-
सरोजमल्पीयसि कामवर्षम् ॥२१॥

हे नाथ ! जो स्वरूपसे समस्त क्रियाओंसे रहित किन्तु मायाके द्वारा सम्पूर्ण जगत्का व्यवहार चलानेवाले हैं तथा थोड़ी-सी उपासना करनेवालेपर भी समस्त कामनाओं-की वर्षा (निरन्तर पूर्ति) करते रहते हैं उन आपके वन्द-नीय चरणकमलोंको मैं बारम्बार प्रणाम करता हूँ ॥२१॥

ऋषिरुवाच

इत्यव्यलीकं प्रणुतोऽब्जनाभ-
स्तमाबभाषे वचसामृतेन ।
सुपर्णपक्षोपरि रोचमानः
प्रेमस्मितोद्वीक्षणविभ्रमद्भ्रूः ॥२२॥

श्रीमैत्रेय ऋषि बोले—कर्दमजीके इस प्रकार निष्कपटभावसे स्तुति करनेपर, जिनकी भृकुटि प्रेम-मुसकानमयी चितवनसे चञ्चल हो रही है वे गरुड़-जीके कन्धेपर विराजमान श्रीहरि उनके प्रति अमृतमयी वाणीसे कहने लगे ॥ २२ ॥

श्रीभगवानुवाच

विदित्वा तव चैत्यं मे पुरैव समयोजि तत् ।
यदर्थमात्मनियमैस्त्वयैवाहं समर्चितः ॥२३॥
न वै जातु मृषैव स्यात्प्रजाध्यक्ष मदर्हणम् ।
भवद्विधेष्वतितरां मयि संगृभितात्मनाम् ॥२४॥
प्रजापतिसुतः सम्राण्मनुर्विख्यातमङ्गलः ।
ब्रह्मावर्ते योऽधिवसन् शास्ति सप्तार्णवां महीम् ॥२५॥
स चेह विप्र राजर्षिर्महिष्या शतरूपया ।
आयास्यति दिदृक्षुस्त्वां परश्वो धर्मकोविदः ॥२६॥
आत्मजामसितापाङ्गीं वयःशीलगुणान्विताम् ।
मृगयन्तीं पतिं दास्यत्यनुरूपाय ते प्रभो ॥२७॥
समाहितं[1] ते हृदयं यत्रेमान्परिवत्सरान् ।
सा त्वां ब्रह्मन्नृपवधूः काममाशु भजिष्यति ॥२८॥
या त आत्मभृतं वीर्यं नवधा प्रसविष्यति ।
वीर्ये त्वदीये ऋषय आधास्यन्त्यञ्जसात्मनः ॥२९॥

हे नाथ ! जो स्वरूपसे समस्त क्रियाओंसे रहित किन्तु मायाके द्वारा सम्पूर्ण जगत्का व्यवहार चलानेवाले हैं तथा थोड़ी-सी उपासना करनेवालेपर भी समस्त कामनाओं-की वर्षा (निरन्तर पूर्ति) करते रहते हैं उन आपके वन्द-नीय चरणकमलोंको मैं बारम्बार प्रणाम करता हूँ ॥२१॥

श्रीभगवान् बोले—जिसके लिये तुमने अपने नियमोंका पालन करते हुए मेरी आराधना की है उस तुम्हारे हृदयके भावको जानकर मैंने पहलेहीसे उसके लिये प्रबन्ध किया है ॥ २३ ॥ हे प्रजापते ! मेरी आराधना तो किसी समय भी निष्फल नहीं होती; तिसपर भी जिनका चित्त निरन्तर मुझमें ही लगा रहता है उन तुम-जैसे महात्माओंकी की हुई उपासना-का तो और भी विशेष फल होता है ॥ २४ ॥ प्रजापति ब्रह्माजीके पुत्र स्वायम्भुवमनु, जिनका सुयश सर्वत्र विख्यात है, इस समय सार्वभौम सम्राट् हैं; वे ब्रह्मावर्तमें रहते हुए सात समुद्रपर्यन्त सम्पूर्ण पृथिवीका शासन करते हैं ॥ २५ ॥ हे विप्रवर ! वे परम धर्मज्ञ महाराज स्वायम्भुवमनु अपनी महारानी शतरूपाके सहित परसों तुम्हें देखनेके लिये यहाँ आयेंगे ॥२६॥ हे प्रभो ! वे अपनी श्यामलोचना तथा नवयौवन, शील और सद्गुणसम्पन्ना कन्याको, जो इस समय अपने अनुरूप वरकी खोजमें है, उसके योग्य पति समझकर आपके लिये समर्पण करेंगे ॥२७॥ गत दश सहस्र वर्षोंमें तुम्हारा अन्तःकरण बहुत समाहित रहा है । अतः हे ब्रह्मन् ! वह राजकन्या तुम्हें शीघ्र ही वरकर तुम्हारी यथेष्ट सेवा करेगी ॥ २८ ॥ वह तुम्हारा वीर्य अपने गर्भमें धारणकर उसके द्वारा नौ कन्याएँ उत्पन्न करेगी । फिर तुम्हारी उन कन्याओंमें मरीचि आदि ऋषिगण अपना वीर्य स्थापन करेंगे ॥ २९ ॥

१. प्रा० पा०—सम्मोहितं ।

त्वं च सम्यगनुष्ठाय निदेशं म उशत्तमः ।
मयि तीर्थीकृताशेषक्रियार्थो मां प्रपत्स्यसे ॥३०॥
कृत्वा दयां च जीवेषु दत्त्वा चाभयमात्मवान् ।
मय्यात्मानं सह जगद्द्रक्ष्यस्यात्मनि चापि माम्॥३१॥
सहाहं स्वांशकलया त्वद्वीर्येण महामुने[1] ।
तव क्षेत्रे देवहूत्यां प्रणेष्ये तत्त्वसंहिताम् ॥३२॥

मैत्रेय[2] उवाच

एवं तमनुभाष्याथ भगवान्प्रत्यगक्षजः ।
जगाम बिन्दुसरसः सरस्वत्यां परिश्रितात् ॥३३॥
निरीक्षतस्तस्य ययावशेष-
सिद्धेश्वराभिष्टुतसिद्धमार्गः ।
आकर्णयन्पत्ररथेन्द्रपक्षै-
रुच्चारितं स्तोममुदीर्णसाम ॥३४॥

अथ सम्प्रस्थिते शुक्रे कर्दमो भगवानृषिः ।
आस्ते स्म[3] बिन्दुसरसि तं कालं प्रतिपालयन् ॥३५॥
मनुः स्यन्दनमास्थाय शातकौम्भपरिच्छदम् ।
आरोप्य स्वां दुहितरं सभार्यः पर्यटन्महीम् ॥३६॥
तस्मिन्सुधन्वन्नहनि[4] भगवान्यत्समादिशत् ।
उपायादाश्रमपदं मुनेः शान्तव्रतस्य यत् ॥३७॥
यस्मिन्भगवतो नेत्रान्न्यपतन्नश्रुबिन्दवः[5] ।
कृपया सम्परीतस्य प्रपन्नेऽर्पितया भृशम् ॥३८॥
तद्वै बिन्दुसरो नाम सरस्वत्या परिप्लुतम् ।
पुण्यं शिवामृतजलं महर्षिगणसेवितम् ॥३९॥

तुम भी मेरी वेदरूप आज्ञाका भली प्रकार पालन करनेसे शुद्धचित्त हो फिर अपने सब कर्मोंका फल मुझे अर्पणकर मुझे ही प्राप्त हो जाओगे ॥ ३० ॥ जीवोंपर दया करते हुए सबको अभयदान दे ज्ञानसम्पन्न हो तुम अपने सहित सम्पूर्ण जगत्को मुझमें और मुझको अपनेमें स्थित देखोगे ॥ ३१ ॥ हे महामुने ! मैं भी अपने अंशरूप कलासे तुम्हारे वीर्यद्वारा तुम्हारे क्षेत्र देवहूतिके गर्भसे अवतीर्ण हो सांख्यशास्त्रकी रचना करूँगा ॥ ३२ ॥

श्रीमैत्रेयजी बोले—हे विदुर ! कर्दमजीसे इस प्रकार कह, इन्द्रियोंके अन्तर्मुख होनेपर प्रकट होनेवाले श्रीहरि सरस्वती नदीके उस बिन्दुसरतीर्थसे अपने लोकको चले गये ॥३३॥ जिनके सिद्धमार्ग (वैकुण्ठमार्ग) की, जप-तप आदि साधनोंसे सिद्ध हुए समस्त योगीजन प्रशंसा करते हैं वे श्रीहरि कर्दमजीके देखते-देखते गरुड़जीके बृहद्रथन्तर नामक पक्षोंद्वारा उच्चारण किये गये एवं सुननेमें स्पष्ट सामगानको और उसकी आधारभूत ऋचाओंको सुनते हुए अपने लोकको पधारे ॥३४॥

इस प्रकार शुद्धस्वरूप श्रीभगवान्के चले जानेपर भगवान् कर्दम ऋषि श्रीहरिके बताये हुए समयकी प्रतीक्षा करते हुए बिन्दुसरोवरपर ही रहे ॥३५॥ हे धनुर्धरश्रेष्ठ विदुर ! इधर मनुजी भी अपनी महिषीके सहित सुवर्णजटित रथपर आरूढ़ हो और उसपर अपनी कन्याको भी चढ़ा पृथ्वीपर विचरते हुए, जो दिन भगवान्ने बताया था उसी दिन शान्तमूर्ति महर्षि कर्दमजीके आश्रमपर पहुँचे ॥३६-३७॥ जहाँ अपने शरणागत भक्त कर्दमजीके प्रति अति दयार्द्र होनेपर भगवान्के नेत्रोंसे आँसुओंकी बूँदें गिरी थीं वह सरस्वती नदीसे घिरा हुआ तथा आरोग्यप्रद और अमृतके समान स्वादु जलसे भरा होनेके कारण महर्षिगणसे सेवित बिन्दुसर नामक पवित्र तीर्थ है ॥३८-३९॥

१. प्रा० पा०—महामते । २. प्राचीन प्रतिमें 'मैत्रेय उवाच' इतना अंश नहीं है । ३. प्रा० पा०—आस्तेऽस्मिन् । ४. प्रा० पा०—सुधन्ये न्वहनि । ५. प्रा० पा०—पतन्हर्षबिन्दवः ।

पुण्यद्रुमलताजालैः कूजत्पुण्यमृगद्विजैः ।
सर्वर्तुफलपुष्पाढ्यं वनराजिश्रियान्वितम् ॥४०॥
मत्तद्विजगणैर्घुष्टं[1] मत्तभ्रमरविभ्रमम् ।
मत्तबर्हिनटाटोपमाह्वयन्मत्तकोकिलम्[2] ॥४१॥
कदम्बचम्पकाशोककरञ्जबकुलासनैः[3] ।
कुन्दमन्दारकुटजैश्चूतपोतैरलङ्कृतम् ॥४२॥
कारण्डवैः प्लवैर्हंसैः कुररैर्जलकुक्कुटैः ।
सारसैश्चक्रवाकैश्च चकोरैर्वल्गुकूजितम् ॥४३॥
तथैव हरिणैः क्रोडैः श्वाविद्गवयकुञ्जरैः ।
गोपुच्छैर्हरिभिर्मर्कैर्नकुलैर्नाभिभिर्वृतम् ॥४४॥
प्रविश्य तत्तीर्थवरमादिराजः सहात्मजः[4] ।
ददर्श मुनिमासीनं तस्मिन्हुतहुताशनम् ॥४५॥
विद्योतमानं वपुषा तपस्युग्रयुजा[5] चिरम् ।
नातिक्षामं भगवतः स्निग्धापाङ्गावलोकनात् ।
तद्वाचाहतामृतकलापीयूषश्रवणेन च ॥४६॥
प्रांशुं पद्मपलाशाक्षं जटिलं चीरवाससम् ।
उपसंश्रित्य मलिनं यथार्हणमसंस्कृतम् ॥४७॥
अथोटजमुपायातं नृदेवं प्रणतं पुरः ।
सपर्यया पर्यगृह्णात्प्रतिनन्द्यानुरूपया ॥४८॥

यह सब ओरसे सुन्दर वृक्ष और मनोहर लता-जालसे घिरा हुआ है, जिनमें नाना प्रकारकी बोली बोलनेवाले पवित्र मृग और पक्षी रहते हैं; तथा समस्त ऋतुओंकी फल और पुष्परूप सम्पत्तिसे सम्पन्न वनावलीसे सुशोभित है ॥४०॥ वह मतवाले पक्षियोंसे सेवित, मत्त मधुकरोंसे गुञ्जायमान, उन्मत्त मयूररूप नटोंके नाट्यसे सुशोभित और मत्त कोकिलकी कुहू-कुहू ध्वनिसे कूजित था ॥४१॥ तथा कदम्ब, चम्पक, अशोक, करञ्ज, बकुल, असन, कुन्द मन्दार, कुटज और आमके पौदोंसे अति शोभायमान हो रहा था ॥४२॥ वहाँ जलकौए, बत्तक आदि जलपर तैरनेवाले पक्षी, हंस, कुररपक्षी, जलकुक्कुट, सारस, चक्रवाक और चकोर आदि पक्षीगण अपनी मनोहर बोली बोल रहे थे ॥४३॥ तथा हरिण, शूकर, स्याही, नीलगाय, हाथी, लंगूर, सिंह, वानर, नकुल और कस्तूरीमृग आदि पशुओंसे वह आश्रम सर्वत्र व्याप्त था ॥४४॥

आदिराज महाराज मनुने अपनी कन्याके सहित उस पवित्र तीर्थस्थानमें पहुँचकर वहाँ अग्निहोत्रसे निवृत्त होकर बैठे हुए श्रीकर्दममुनिको देखा ॥४५॥ वे चिरकालीन उग्र तपके कारण अपने परमतेजस्वी शरीरसे देदीप्यमान थे तथा भगवान्‌की प्रेममयी चितवनके दर्शन और उनके उच्चारण किये हुए कर्णामृतरूप मधुर वचनोंके सुननेके कारण [इतने दिनोंतक तपस्या करनेपर भी] बहुत दुर्बल नहीं दीख पड़ते थे ॥४६॥ उनका शरीर ऊँचा था, नेत्र कमलदलके समान विशाल और मनोहर थे, शिरपर जटाएँ सुशोभित थीं और कमरमें चीरवस्त्र धारण किये थे। वे ऐसे जान पड़ते थे जैसे बिना सानपर चढ़ी महामूल्य मणि मलिन दीख पड़ती है ॥४७॥ उन्होंने महाराज स्वायम्भुवमनुको अपने आश्रममें आकर प्रणाम करते देख उन्हें आशीर्वाद दिया और उनका यथोचित सामग्रीसे सत्कार किया ॥४८॥

१. प्रा० पा०—गणैर्जुष्टं । २. प्रा० पा०—बर्हिणव्याघोषमा० । ३. प्रा० पा०—कदम्बबकुलाशोककरञ्जवञ्जुलासनैः । ४. प्रा० पा०—सहानुगः । ५. प्रा० पा०—रुजा ।

गृहीतार्हणमासीनं संयतं प्रीणयन्मुनिः ।
स्मरन्भगवदादेशमित्याह श्लक्ष्णया गिरा ॥४९॥
नूनं चङ्क्रमणं देव सतां संरक्षणाय ते ।
वधाय चासतां यस्त्वं हरेः शक्तिर्हि पालिनी ॥५०॥
योऽर्केन्द्वग्नीन्द्रवायूनां यमधर्मप्रचेतसाम् ।
रूपाणि स्थान आधत्से तस्मै शुक्लाय ते नमः ॥५१॥
न यदा रथमास्थाय जैत्रं मणिगणार्पितम् ।
विस्फूर्जच्चण्डकोदण्डो रथेन त्रासयन्नघान् ॥५२॥
स्वसैन्यचरणक्षुण्णं वेपयन्मण्डलं भुवः ।
विकर्षन्बृहतीं[1] सेनां पर्यटस्यंशुमानिव ॥५३॥
तदैव सेतवः सर्वे वर्णाश्रमनिबन्धनाः ।
भगवद्रचिता[2] राजन्भिद्येरन्वत दस्युभिः ॥५४॥
अधर्मश्च समेधेत लोलुपैर्व्यङ्कुशैर्नृभिः ।
शयाने त्वयि लोकोऽयं दस्युग्रस्तो विनङ्क्ष्यति ॥५५॥
अथापि पृच्छे त्वां वीर यदर्थं त्वमिहागतः ।
तद्वयं निर्व्यलीकेन प्रतिपद्यामहे हृदा ॥५६॥

जब महाराज स्वायम्भुवमनु उनकी पूजा ग्रहणकर स्वस्थचित्तसे आसनपर बैठ गये तो मुनिवर कर्दमने भगवान्‌की आज्ञाको स्मरणकर उन्हें अपनी मधुर वाणीसे प्रसन्न करते हुए इस प्रकार कहा—॥४९॥ "हे देव ! आप भगवान्‌की पालनशक्तिरूप हैं, इसलिये आपका पृथिवीतलपर विचरना निःसन्देह सज्जनोंकी रक्षा और दुष्टोंके संहारके लिये ही होता है ॥५०॥ जो भिन्न-भिन्न कार्योंके लिये सूर्य, चन्द्र, अग्नि, इन्द्र, वायु, यम, धर्म और वरुण आदि रूप धारण करते हैं उन विष्णुरूप आपको नमस्कार है ॥ ५१ ॥ यदि आप मणिगणमण्डित जयदायक रथपर चढ़कर अपने प्रचण्ड कोदण्ड (धनुष) की टङ्कार करते हुए उस रथकी घर्घराहटसे दुष्टोंको भयभीत करते हुए और अपनी सेनाके चरणोंसे रौंदे हुए भूमण्डलको कम्पायमान करते हुए बड़ी भारी सेनाके साथ पृथिवीमें सूर्यके समान न विचरें तो हे राजन् ! दस्युगण (चोर आदि) भगवान्‌की बनायी हुई वर्णाश्रमधर्मकी मर्यादाको तत्काल नष्ट-भ्रष्ट कर दें ॥५२—५४॥ तथा विषयलोलुप निरंकुश लोग सर्वत्र अधर्म फैला दें । इस प्रकार आपके निश्चिन्त सो जानेसे यह सम्पूर्ण लोक दुराचारियोंके पंजेमें पड़कर नष्ट हो जाय ॥५५॥ तो भी हे वीर ! तुम्हारा किस विशेष कारणसे यहाँ आगमन हुआ—यह मैं जानना चाहता हूँ, मैं उसे निष्कपट चित्तसे स्वीकार करूँगा" ॥५६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे तृतीयस्कन्धे
एकविंशतितमोऽध्यायः ॥२१॥

१. प्रा० पा०—न्महतीं । २. प्रा० पा०—द्ग्रथिता ।

बाईसवाँ अध्याय

देवहूति और कर्दम प्रजापतिका विवाह।

मैत्रेय उवाच

एवमाविष्कृताशेषगुणकर्मोदयो मुनिम्।
सव्रीड इव तं सम्राडुपारतमुवाच ह ॥ १ ॥

श्रीमैत्रेयजी बोले–हे विदुर ! इस प्रकार अपने सब गुण और कर्मोंकी श्रेष्ठताका वर्णन किये जानेपर महाराज मनुने कुछ सकुचाकर निवृत्तिपरायण मुनिवर कर्दमजीसे कहा ॥१॥

मनुरुवाच

ब्रह्मासृजत्स्वमुखतो युष्मानात्मपरीप्सया।
छन्दोमयस्तपोविद्यायोगयुक्तानलम्पटान् ॥ २ ॥
तत्त्राणायासृजच्चास्मान्दोःसहस्रात्सहस्रपात्।
हृदयं तस्य हि ब्रह्म[1] क्षत्रमङ्गं प्रचक्षते ॥ ३ ॥
अतो ह्यन्योन्यमात्मानं ब्रह्म क्षत्रं च रक्षतः।
रक्षति स्माव्ययो देवः स यः सदसदात्मकः ॥ ४ ॥
तव संदर्शनादेव छिन्ना मे सर्वसंशयाः।
यत्स्वयं भगवान्प्रीत्या धर्ममाह रिरक्षिषोः ॥ ५ ॥
दिष्ट्या मे भगवान् दृष्टो दुर्दर्शो योऽकृतात्मनाम्।
दिष्ट्या पादरजः स्पृष्टं शीर्ष्णा मे भवतः शिवम् ॥६॥
दिष्ट्या त्वयानुशिष्टोऽहं कृतश्चानुग्रहो महान्।
अपावृतैः कर्णरन्ध्रैर्जुष्टा दिष्ट्योशतीर्गिरः ॥ ७ ॥
स भवान्दुहितृस्नेहपरिक्लिष्टात्मनो मम।
श्रोतुमर्हसि दीनस्य श्रावितं कृपया मुने ॥ ८ ॥
प्रियव्रतोत्तानपदोः स्वसेयं दुहिता मम।
अन्विच्छति पतिं युक्तं वयःशीलगुणादिभिः ॥ ९ ॥

मनुजी बोले–हे मुने ! वेदमूर्ति भगवान् ब्रह्माजीने अपनी रक्षाके लिये तप, विद्या और योगसे सम्पन्न तथा विषयोंमें अनासक्त आप ब्राह्मणलोगोंको अपने मुखसे प्रकट किया है ॥२॥ और फिर उन सहस्रपाद भगवान्ने आपलोगोंकी रक्षाके लिये अपनी सहस्रों भुजाओंसे हम क्षत्रियोंको उत्पन्न किया है। इस प्रकार ब्राह्मण उनके हृदय और क्षत्रिय शरीर कहलाते हैं ॥३॥ इस प्रकार एक ही शरीरसे सम्बन्ध रखनेवाले होनेके कारण अपनी-अपनी और एक-दूसरेकी रक्षा करनेवाले उन ब्राह्मण और क्षत्रियोंकी वास्तवमें श्रीहरि ही रक्षा करते हैं जो सम्पूर्ण कार्य-कारणरूप होकर भी वास्तवमें निर्विकार हैं ॥४॥ हे मुने ! आपके दर्शनसे ही मेरे सब सन्देह दूर हो गये क्योंकि आपने स्वयं ही [मेरी प्रशंसाके मिससे] प्रजापालक राजाके धर्मोंका बड़े प्रेमपूर्वक वर्णन किया ॥५॥ आपका दर्शन अजितेन्द्रिय पुरुषोंको बड़ा दुर्लभ है; मेरा बड़ा भाग्य है जो मुझे आपका दर्शन हुआ। मैं आपके चरणोंकी मंगलमयी रज अपने सिर-पर चढ़ा सका–यह भी मेरा परम सौभाग्य है ॥६॥ मेरे भाग्योदयसे ही आपने मुझे राजधर्मोंकी शिक्षा देकर मुझपर महान् अनुग्रह किया है, और मैंने भी प्रारब्धका उदय होनेके कारण ही आपकी पवित्र वाणी कान खोलकर ग्रहण की है ॥७॥ अतः हे ऋषे ! जिसका चित्त पुत्रीस्नेहके कारण ['इसे किस प्रकार योग्य वर मिले' इस] चिन्तासे ग्रस्त हो रहा है ऐसे मुझ दीन-की प्रार्थना आप कृपापूर्वक सुनिये ॥८॥ यह मेरी कन्या, जो प्रियव्रत और उत्तानपादकी बहिन है, अवस्था, शील और गुण आदिमें अपने समान पति चाहती है ॥९॥

१. प्रा० पा०—ब्रह्मन्नुत्तमाङ्गं।

यदा तु भवतः शीलश्रुतरूपवयोगुणान् ।
अशृणोन्नारदादेषा त्वय्यासीत्कृतनिश्चया ॥१०॥
तत्प्रतीच्छ द्विजाग्र्येमां श्रद्धयोपहृतां मया ।
सर्वात्मनानुरूपां ते गृहमेधिषु कर्मसु ॥११॥
उद्यतस्य हि कामस्य प्रतिवादो न शस्यते ।
अपि निर्मुक्तसङ्गस्य कामरक्तस्य किं पुनः ॥१२॥
य उद्यतमनादृत्य कीनाशमभियाचते ।
क्षीयते तद्यशः स्फीतं मानश्चावज्ञया हतः ॥१३॥
अहं त्वाशृणवं विद्वन्विवाहार्थं[1] समुद्यतम् ।
अतस्त्वमुपकुर्वाणः प्राप्तां[2] प्रतिगृहाण मे ॥१४॥

ऋषिरुवाच

बाढमुद्वोढुकामोऽहमप्रत्ता च तवात्मजा ।
आवयोरनुरूपोऽसावाद्यो वैवाहिको विधिः ॥१५॥
कामः स भूयान्नरदेव तेऽस्याः
पुत्र्याः समाम्नायविधौ प्रतीतः ।
क एव ते तनयां नाद्रियेत
स्वयैव कान्त्या क्षिपतीमिव श्रियम् ॥१६॥
यां हर्म्यपृष्ठे क्वणदङ्घ्रिशोभां
विक्रीडतीं कन्दुकविह्वलाक्षीम् ।
विश्वावसुर्न्यपतत्स्माद्विमाना-
द्विलोक्य सम्मोहविमूढचेताः ॥१७॥
तां प्रार्थयन्तीं ललनाललाम-
मसेवितश्रीचरणैरदृष्टाम् ।
वत्सां मनोरुच्चपदः स्वसारं
को नानुमन्येत बुधोऽभियाताम् ॥१८॥

इसने जब नारदजीके मुखसे आपके शील, विद्या, रूप, अवस्था और गुणोंका वर्णन सुना, तभीसे आपहीको अपना पति बनाना निश्चित कर लिया है ॥१०॥ हे द्विजश्रेष्ठ! श्रद्धापूर्वक समर्पण की हुई मेरी इस कन्याको आप स्वीकार कीजिये, यह गृहस्थोचित कार्योंके लिये सब प्रकार आपके योग्य है ॥११॥ जो भोग स्वयं आकर उपस्थित हो उसका निरादर करना विरक्त पुरुषको भी उचित नहीं है फिर विषयासक्तकी तो बात ही क्या है ? ॥१२॥ जो पुरुष स्वयं उपस्थित हुए भोगका अनादरकर फिर किसी कृपण पुरुषसे उसकी याचना करता है उसका विस्तृत सुयश नष्ट हो जाता है और दूसरोंके तिरस्कारसे मानभंग भी होता है ॥१३॥ हे विद्वन् ! मैंने सुना है कि आप विवाह करनेके लिये तैयार हैं, अतः गृहस्थाश्रम स्वीकार करनेतक ब्रह्मचर्यव्रत पालन करनेवाले आप मेरी इस कन्याको स्वीकार कीजिये । मैं इसे आपके लिये अर्पण करता हूँ ॥१४॥

कर्दम ऋषि बोले—सच है, मैं वास्तवमें विवाह करना चाहता हूँ और आपने भी इस कन्याका किसी दूसरेको वाग्दान नहीं किया है । अतः दोनोंका यह प्रथम यथोचित विवाह-संस्कार होगा ॥१५॥ हे राजन् ! आप जो वेदोक्त विधिसे मुझे कन्यादान करना चाहते हैं आपका वह संकल्प पूर्ण हो । भला, जो अपनी कान्तिसे लक्ष्मीजीको भी लज्जित करती है उस आपकी कन्याका कौन आदर न करेगा ? ॥१६॥ एक बार अपने महलकी छतपर खेलते समय अपने चरणनूपुरोंकी झनकार करती हुई तथा कन्दुकक्रीडाके कारण चपलनयन हुई जिस तुम्हारी कन्याको देखकर विश्वावसु गन्धर्व मुग्धचित्त हो अपने विमानसे गिर पड़ा था उस रमणीरत्नके स्वयं आकर प्रार्थना करनेपर भी कौन समझदार पुरुष उसे स्वीकार न करेगा ? जो साक्षात् स्वायम्भुव मनुकी दुलारी कुमारी और उत्तानपादकी प्रिय भगिनी है तथा जिन्होंने श्रीलक्ष्मीजीके चरणोंकी उपासना नहीं की उन्हें जिसका दर्शन भी नहीं हो सकता ॥१७-१८॥

१. प्रा० पा०—द्वन्नुद्वाहा० । २. प्रा० पा०—प्रपन्नां प्रतिगृह्ण मे ।

अतो भजिष्ये[1] समयेन साध्वीं
यावत्तेजो बिभृयादात्मनो मे ।
अतो धर्मान्पारमहंस्यमुख्यान्
शुक्लप्रोक्तान्बहु मन्येऽविहिंस्रान् ॥१९॥
यतोऽभवद्विश्वमिदं विचित्रं
संस्थास्यते यत्र च वावतिष्ठते ।
प्रजापतीनां पतिरेष मह्यं
परं प्रमाणं भगवाननन्तः ॥२०॥

मैत्रेय[2] उवाच

स उग्रधन्वन्नियदेवाबभाष[3]
आसीच्च तूष्णीमरविन्दनाभम् ।
धियोपगृह्णन्स्मितशोभितेन
मुखेन चेतो लुलुभे देवहूत्याः ॥२१॥
सोऽनुज्ञात्वा व्यवसितं महिष्या दुहितुः स्फुटम् ।
तस्मै गुणगणाढ्याय ददौ तुल्यां प्रहर्षितः ॥२२॥
शतरूपा महाराज्ञी पारिबर्हान्[4]महाधनान् ।
दम्पत्योः पर्यदात्प्रीत्या भूषावासःपरिच्छदान् ॥२३॥
प्रत्तां[5] दुहितरं सम्राट् सदृक्षाय गतव्यथः ।
उपगुह्य च बाहुभ्यामौत्कण्ठ्योन्मथिताशयः ॥२४॥
अशक्नुवंस्तद्विरहं मुञ्चन्बाष्पकलां मुहुः ।
आसिञ्चदम्ब वत्सेति नेत्रोदैर्दुहितुः शिखाः[6] ॥२५॥
आमन्त्र्य तं मुनिवरमनुज्ञातः सहानुगः ।
प्रतस्थे रथमारुह्य सभार्यः स्वपुरं नृपः ॥२६॥
उभयोर्ऋषिकुल्यायाः सरस्वत्याः सुरोधसोः ।
ऋषीणामुपशान्तानां पश्यन्नाश्रमसम्पदः ॥२७॥
तमायान्तमभिप्रेत्य ब्रह्मावर्तात्प्रजाः पतिम् ।
गीतसंस्तुतिवादित्रैः प्रत्युदीयुः प्रहर्षिताः ॥२८॥

अतः जबतक यह मेरा वीर्य धारण करेगी उतने समयतक मैं इस साध्वीको ग्रहण करूँगा । उसके पीछे तो मैं संन्यास लेकर भगवान् विष्णुके बताये हुए ज्ञान-प्राप्तिके मुख्य कारण शम-दमादि हिंसारहित धर्मोंके आचरणको ही अधिक महत्त्व दूँगा ॥१९॥ जिनसे इस विचित्र जगत्की उत्पत्ति हुई है, जिनमें यह लीन हो जाता है तथा जिनके आश्रयसे यह स्थित है वे प्रजापतियोंके प्रभु श्रीअनन्त ही मुझे परम मान्य हैं ॥२०॥

श्रीमैत्रेयजी बोले—हे प्रचण्ड धनुषधारी विदुरजी! महर्षि कर्दम इतना कहकर हृदयमें भगवान् कमलनाभका ध्यान करते हुए मौन हो गये, उस समय उनके मधुर मुसुकानसुशोभित मुखकमलको देखकर देवहूतिका चित्त लुभाने लगा ॥२१॥ महाराज स्वायम्भुव मनुने अपनी महारानी और कन्याकी स्पष्ट अनुमति जान बहुगुणसम्पन्न कर्दमजीको उन्हींके समान गुणवती अपनी पुत्री अति प्रसन्नतापूर्वक दे दी ॥२२॥ उस समय महारानी शतरूपाने भी कन्या और जामाताको अति प्रेमपूर्वक बहुत-से बहुमूल्य वस्त्र, आभूषण और गृहस्थोपयोगी पात्रादि दहेजमें दिये ॥२३॥ इस प्रकार अपनी कन्या योग्य वरको देकर महाराज मनु निश्चिन्त हो गये । चलती बार उसका वियोग न सह सकनेके कारण उन्होंने उत्कण्ठावश विह्वलचित्त हो भुजाओंसे उसका आलिंगन किया तथा 'हे वत्से !' इस प्रकार कहकर नेत्रोंसे बारम्बार आँसू बहाते हुए उसके शिरके सारे केश भिगो दिये ॥२४-२५॥ फिर मुनिवर कर्दमसे सम्भाषणकर उनकी आज्ञा पा मनुजी रानीके सहित रथपर सवार हुए और अपने सेवकोंके सहित ऋषिकुलसेवित सरस्वती नदीके दोनों तीरोंपर मुनियोंके आश्रमोंकी शोभा निहारते हुए अपनी राजधानीको चले ॥२६-२७॥

इधर अपने स्वामीको आते सुन मनुजीकी ब्रह्मावर्त-निवासिनी प्रजा अति प्रसन्न हुई और उनकी अगवानीके लिये गाने-बजानेके साथ नगरसे बाहर आयी ॥२८॥

---

१. प्रा० पा०—वरिष्ये । २. प्राचीन प्रतिमें 'मैत्रेय उवाच' नहीं है । ३. प्रा० पा०—न्वन्नृप आबभा० । ४. प्रा० पा०—पारिहार्यं महाधनम् । ५. प्रा० पा०—पिता । ६. प्रा० पा०—आसिञ्चन्निव चात्मेति नेत्रो० ।

बर्हिष्मती नाम पुरी सर्वसम्पत्समन्विता ।
न्यपतन्यत्र रोमाणि यज्ञस्याङ्गं विधुन्वतः ॥२९॥
कुशाः[1] काशास्त एवासन् शश्वद्धरितवर्चसः ।
ऋषयो यैः पराभाव्य यज्ञघ्नान्यज्ञमीजिरे ॥३०॥
कुशकाशमयं बर्हिरास्तीर्य भगवान्मनुः ।
अयजद्यज्ञपुरुषं लब्धा स्थानं यतो भुवम्[2] ॥३१॥
बर्हिष्मतीं नाम विभुर्यां निर्विश्य समावसत् ।
तस्यां प्रविष्टो भवनं तापत्रयविनाशनम् ॥३२॥
सभार्यः सप्रजः कामान्बुभुजेऽन्याविरोधतः ।
संगीयमानसत्कीर्तिः सस्त्रीभिः सुरगायकैः ।
प्रत्यूषेष्वनुबद्धेन हृदा शृण्वन्हरेः कथाः ॥३३॥
निष्णातं योगमायासु मुनिं[3] स्वायम्भुवं मनुम्[4] ।
यदा भ्रंशयितुं भोगा न शेकुर्भगवत्परम् ॥३४॥
अयातयामास्तस्यासन्यामाः स्वान्तरयापनाः ।
शृण्वतो ध्यायतो विष्णोः कुर्वतो ब्रुवतः कथाः ॥३५॥
स एवं स्वान्तरं निन्ये युगानामेकसप्ततिम् ।
वासुदेवप्रसङ्गेन परिभूतगतित्रयः ॥३६॥
शारीरा मानसा दिव्या वैयासे ये च मानुषाः ।
भौतिकाश्च कथं क्लेशा बाधन्ते हरिसंश्रयम् ॥३७॥
यः पृष्टो मुनिभिः प्राह धर्मान्नानाविधाञ्छुभान् ।
नृणां वर्णाश्रमाणां च सर्वभूतहितः सदा ॥३८॥

सर्वसम्पत्तिसम्पन्ना बर्हिष्मती पुरी मनुजीकी राजधानी थी जहाँ यज्ञमूर्ति श्रीवराहभगवान्‌के शरीर कँपाते समय उनके बहुत-से रोम झड़कर गिरे थे ॥२९॥ भगवान्‌के वे रोम ही निरन्तर हरे-भरे रहनेवाले कुश और कास हुए जिनके द्वारा ऋषियोंने यज्ञविध्वंसक दैत्योंका तिरस्कारकर भगवान् यज्ञपुरुषका यज्ञोंद्वारा पूजन किया था ॥३०॥ महाराज मनुने भी वराहभगवान्‌से भूमिरूप निवासस्थान प्राप्त होनेपर इसी स्थानमें कुश और कासकी बर्हिष् बिछाकर श्रीयज्ञभगवान्‌की पूजा की थी ॥३१॥ अस्तु, जिस बर्हिष्मती पुरीमें मनुजी रहते थे उसमें पहुँचकर उन्होंने अपने त्रितापनाशक भवनमें प्रवेश किया तथा अपनी स्त्री और प्रजाके सहित धर्मानुकूल भोगोंको भोगने लगे ॥३२॥ उस समय प्रातःकाल गन्धर्वगण अपनी स्त्रियोंके सहित उनका सुयश-गान करते थे, किन्तु मनुजी [उसमें आसक्त न होकर] प्रेमपूर्ण हृदयसे श्रीहरिकी कथाएँ ही सुना करते थे ॥३३॥ महाराज स्वायम्भुव मनु इच्छानुसार भोगोंकी रचनामें कुशल और मननशील थे, किन्तु उनको किसी प्रकारके भोग किञ्चित् भी आसक्त नहीं कर सके, क्योंकि वे भगवत्परायण थे ॥३४॥ भगवान् विष्णुकी कथाओंका श्रवण, ध्यान, रचना और कथन करते रहनेके कारण उनके मन्वन्तरको व्यतीत करनेवाले क्षण जाते हुए भी नहीं जाते थे [अर्थात् व्यर्थ नहीं होते थे] ॥३५॥ इस प्रकार अपनी जाग्रदादि तीनों अवस्थाओंको भगवान् वासुदेवके कथाप्रसंगसे बिताते हुए उन्होंने अपने मन्वन्तरकी इकहत्तर चतुर्युगी समाप्त की ॥३६॥ हे व्यासनन्दन विदुरजी ! जो पुरुष श्रीहरिके आश्रित रहता है उसे शारीरिक, मानसिक, दैविक, मानुषिक अथवा भौतिक दुःख किस प्रकार कष्ट पहुँचा सकते हैं ॥३७॥ एक बार कुछ मुनियोंके पूछनेपर निरन्तर सम्पूर्ण प्राणियोंके हितमें लगे रहनेवाले उन मनुजीने मनुष्योंके नाना प्रकारके वर्णाश्रमसम्बन्धी धर्मोंका निरूपण किया था ॥३८॥

१. प्रा० पा०—कुशकाशाः । २. प्रा० पा०—भुवः । ३. प्रा० पा०—मनुं । ४. प्रा० पा०—मुनिम् ।

एतत्त आदिराजस्य मनोश्चरितमद्भुतम् ।
वर्णितं वर्णनीयस्य तदपत्योदयं शृणु ॥३९॥

इस प्रकार यह मैंने कथन करनेके योग्य आदिराज महाराज मनुके अद्भुत चरित्रका वर्णन किया, अब उनकी कन्या देवहूतिका प्रभाव सुनो ॥३९॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे तृतीयस्कन्धे
द्वाविंशतितमोऽध्यायः ॥ २२ ॥

तेईसवाँ अध्याय

कर्दम और देवहूतिका विहार।

मैत्रेय उवाच

पितृभ्यां प्रस्थिते साध्वी पतिमिङ्गितकोविदा ।
नित्यं पर्यचरत्प्रीत्या भवानीव भवं प्रभुम् ॥ १ ॥
विश्रम्भेणात्मशौचेन गौरवेण दमेन च ।
शुश्रूषया सौहृदेन वाचा मधुरया च भोः ॥ २ ॥
विसृज्य कामं दम्भं च द्वेषं लोभमघं मदम् ।
अप्रमत्तोद्यता नित्यं तेजीयांसमतोषयत् ॥ ३ ॥
स वै देवर्षिवर्यस्तां मानवीं समनुव्रताम् ।
दैवाद्[1]रीयसः पत्युराशासानां महाशिषः ॥ ४ ॥
कालेन भूयसा क्षामां कर्शितां व्रतचर्यया ।
प्रेमगद्गदया वाचा पीडितः कृपयाब्रवीत् ॥ ५ ॥

श्रीमैत्रेयजी बोले—हे विदुर ! माता-पिताके चले जानेपर पतिके अभिप्रायको जाननेवाली साध्वी देवहूति कर्दमजीकी इस प्रकार प्रेमपूर्वक सेवा करने लगी जैसे पार्वतीजी श्रीमहादेवजीकी ॥ १ ॥ सावधानतापूर्वक निरन्तर पतिकी सेवामें तत्पर रहनेवाली देवहूतिने कामेच्छा, कपट, दम्भ, द्वेष, लोभ, निषिद्धाचरण और मद आदिको त्यागकर विश्वास, शौच, इन्द्रियदमन, शुश्रूषा, सौहार्द और मधुर भाषण आदि गुणोंसे अपने परम तेजस्वी पतिदेवको सन्तुष्ट किया ॥ २-३ ॥ तब देवर्षियोंमें श्रेष्ठ कर्दमजीने उस मनुकन्याको दैवके विधानको भी बदलनेमें समर्थ अपने पतिसे बड़ी-बड़ी आशा रखकर सेवा करते हुए और बहुत कालपर्यन्त व्रतादिका पालन करनेसे दुर्बल हुई देख दयावश कुछ पीड़ित हो प्रेमगद्गद वाणीसे कहा ॥ ४-५ ॥

कर्दम उवाच

तुष्टोऽहमद्य तव मानवि मानदायाः
शुश्रूषया परमया परया च भक्त्या ।
यो देहिनामयमतीव सुहृत्स्वदेहो
नावेक्षितः समुचितः क्षपितुं मदर्थे ॥ ६ ॥
ये मे स्वधर्मनिरतस्य तपःसमाधि-
विद्यात्मयोगविजिता भगवत्प्रसादाः ।
तानेव ते मदनुसेवनयावरुद्धान्
दृष्टिं प्रपश्य वितराम्यभयानशोकान् ॥ ७ ॥

कर्दमजी बोले—हे मनुनन्दिनि ! मैं तुझ मान देनेवालीकी उत्तम सेवा और परम भक्तिसे अति प्रसन्न हूँ; क्योंकि तूने मेरी सेवा करनेमें अपने शरीरके क्षीण होनेकी भी कोई परवा नहीं की, जो सभी देहधारियोंको अत्यन्त प्रिय होता है ॥ ६ ॥ इसलिये अपने धर्मका पालन करते हुए मुझे भगवान्‌की कृपासे तप, समाधि, ज्ञान और योगके द्वारा जो भय और शोकसे रहित भोग प्राप्त हुए हैं उन्हें मेरी सेवाके प्रभावसे तू अपने अधीन हुए भी देख । उन्हें देखनेके लिये मैं तुझे दिव्य दृष्टि प्रदान करता हूँ ॥ ७ ॥

१. प्रा० पा०—तथा । २. प्रा० पा०—दयितां गरीयसीं ।

अन्ये पुनर्भगवतो भ्रुव उद्विजृम्भ-
विभ्रंशितार्थरचनाः किमुरुक्रमस्य ।
सिद्धासि भुङ्क्ष्व विभवान्निजधर्मदोहा-
न्दिव्यान्नरैर्दुरधिगान्नृपविक्रियाभिः ॥ ८ ॥

एवं ब्रुवाणमबलाखिलयोगमाया-
विद्याविचक्षणमवेक्ष्य गताधिरासीत् ।
सम्प्रश्रयप्रणयविह्वलया गिरेष-
द्व्रीडावलोकविलसद्धसिताननाह ॥ ९ ॥

देवहूतिरुवाच

राद्धं बत द्विजवृषैतदमोघयोग-
मायाधिपे त्वयि विभो तदवैमि भर्तः ।
यस्तेऽभ्यधायि समयः सकृदङ्गसङ्गो
भूयाद्वरीयसि गुणप्रसवः सतीनाम् ॥१०॥
तत्रेतिकृत्यमुपशिक्ष यथोपदेशं
येनैष मे कर्शितोऽतिरिरंसयात्मा ।
सिद्ध्येत ते कृतमनोभवधर्षिताया
दीनस्तदीश भवनं सदृशं विचक्ष्व ॥११॥

मैत्रेय उवाच

प्रियायाः प्रियमन्विच्छन्कर्दमो योगमास्थितः ।
विमानं कामगं क्षत्तस्तर्ह्येवाविरचीकरत् ॥१२॥
सर्वकामदुघं दिव्यं सर्वरत्नसमन्वितम् ।
सर्वर्द्ध्युपचयोदर्कं मणिस्तम्भैरुपस्कृतम् ॥१३॥
दिव्योपकरणोपेतं सर्वकालसुखावहम् ।

भगवान् उरुक्रमके भृकुटिविलासमात्रसे नष्ट हो जानेवाले अन्य मानवी भोग इनके आगे कुछ भी नहीं हैं; तुम मेरी सेवासे ही कृतार्थ हो चुकी हो; अतः जिन्हें तूने अपने पतिव्रत धर्मके प्रभावसे प्राप्त किया है और जो अन्य मनुष्योंको सम्पूर्ण राज्यके मोलमें भी नहीं मिल सकते उन दिव्य भोगोंको तू भोग ॥ ८ ॥

हे विदुर ! कर्दमजीके इस प्रकार कहनेपर, अपने पतिदेवको सम्पूर्ण योगमाया और विद्याओंमें कुशल जान उस अबलाकी सब चिन्ता जाती रही । उसका मुख सलज्ज चितवन और मधुर मुसकानसे खिल उठा और वह विनय तथा प्रेमसे विह्वल हुई वाणीसे इस प्रकार कहने लगी ॥ ९ ॥

देवहूतिने कहा—हे सर्वसमर्थ स्वामिन् ! हे द्विजश्रेष्ठ ! आप कभी निष्फल न होनेवाली योगमायाके प्रभु हैं, ये सब ऐश्वर्य आपको प्राप्त हैं—इस बातको मैं जानती हूँ । किन्तु आपने जो पाणिग्रहणके समय यह प्रतिज्ञा की थी कि 'इसके गर्भधारणपर्यन्त मेरा इससे अंगसंग होगा' वह अब पूर्ण होनी चाहिये, क्योंकि पतिव्रता स्त्रियोंको श्रेष्ठ पतिद्वारा सन्तान प्राप्त होना एक बहुत बड़ा लाभ है ॥ १० ॥ और हे भगवन् ! उस रतिसुखके लिये कामशास्त्रके बतलाये हुए उबटन-गन्ध आदि साधन भी प्रस्तुत कीजिये जिससे आपके साथ अत्यन्त रमण करनेकी इच्छासे मुझ कामपीड़िताका यह दीन और कृश शरीर रतिसुख भोगनेमें समर्थ हो सके, तथा इसके लिये एक अनुरूप भवन भी तैयार कीजिये ॥ ११ ॥

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—हे विदुर ! अपनी प्रियाका प्रिय करनेके लिये भगवान् कर्दमजीने उसी समय योगमें स्थित होकर इच्छानुसार सर्वत्र जा सकनेवाला एक विमान रचा ॥ १२ ॥ वह विमान सब कामनाओंको पूर्ण करनेवाला परम सुन्दर, सब प्रकारके रत्नोंसे युक्त, सर्वसम्पत्तिसम्पन्न तथा मणिमय स्तम्भोंसे सुशोभित था ॥ १३ ॥ वह विमान सभी समयोंमें सुखदायक था तथा उसमें जहाँ-तहाँ सब प्रकारकी

१. प्रा० पा०—निजधर्मदो० । २. प्रा० पा०—तव । ३. प्रा० पा०—प्रभवः ।

पट्टिकाभिः पताकाभिर्विचित्राभिरलंकृतम् ॥१४॥
स्रग्भिर्विचित्रमाल्याभिर्मञ्जुशिञ्जत्षडङ्घ्रिभिः ।
दुकूलक्षौमकौशेयैर्नानावस्त्रैर्विराजितम् ॥१५॥
उपर्युपरि विन्यस्तनिलयेषु पृथक्पृथक् ।
क्षिप्तैः कशिपुभिः कान्तं पर्यङ्कव्यजनासनैः ॥१६॥
तत्र तत्र विनिक्षिप्तनानाशिल्पोपशोभितम् ।
महामरकतस्थाल्या जुष्टं विद्रुमवेदिभिः ॥१७॥
द्वाःसु विद्रुमदेहल्या भातं वज्रकपाटवत् ।
शिखरेष्विन्द्रनीलेषु हेमकुम्भैरधिश्रितम् ॥१८॥
चक्षुष्मत्पद्मरागाग्र्यैर्वज्रभित्तिषु निर्मितैः ।
जुष्टं विचित्रवैतानैर्महार्हैर्हेमतोरणैः ॥१९॥
हंसपारावतव्रातैस्तत्र तत्र निकूजितम् ।
कृत्रिमान्मन्यमानैः स्वानधिरुह्याधिरुह्य च ॥२०॥
विहारस्थानविश्रामसंवेशप्राङ्गणाजिरैः ।
यथोपजोषं रचितैर्विस्मापनमिवात्मनः ॥२१॥
ईदृग्गृहं तत्पश्यन्तीं नातिप्रीतेन चेतसा ।
सर्वभूताशयाभिज्ञः प्रावोचत्कर्दमः स्वयम् ॥२२॥
निमज्ज्यास्मिन्ह्रदे भीरु विमानमिदमारुह ।
इदं शुक्लकृतं तीर्थमाशिषां यापकं नृणाम् ॥२३॥

दिव्य सामग्रियाँ रखी हुई थीं और वह चित्र-विचित्र पर्दों एवं पताकाओंसे सुसज्जित था ॥ १४ ॥ जिनपर भ्रमरगण मधुर गुञ्जार कर रहे थे ऐसे रंग-बिरंगे पुष्पोंकी मालाओंसे तथा दुपट्टे एवं सूती और रेशमी वस्त्रोंसे वह अत्यन्त शोभायमान हो रहा था ॥ १५ ॥ एकके ऊपर एक बनाये हुए कमरोंमें अलग-अलग रखी हुई शय्या, पलंग, पंखों और आसनोंके कारण वह बड़ा सुन्दर जान पड़ता था ॥ १६ ॥ उस विमानमें महामरकतमणिकी भूमि (फर्श), मूँगेकी वेदियाँ (बैठनेके स्थान) तथा मूँगेहीकी देहलियाँ थीं। उसके द्वारोंमें हीरेकी किवाड़ें लगी हुई थीं तथा उसके इन्द्रनीलमणिके शिखरोंपर सुवर्णमय कलश रखे हुए थे और वह जहाँ-तहाँ रखी हुई नाना प्रकारकी शिल्पसामग्रियोंसे सुशोभित था ॥ १७-१८ ॥ अपनी हीरेकी भित्तियोंमें जड़ी हुई उत्तम पद्मरागमणियोंके कारण वह विमान नेत्रयुक्त-सा जान पड़ता था तथा वह नाना प्रकारके वितान (चँदोवों) और सुवर्णकी बहुमूल्य बन्दनवारोंसे सुसज्जित था ॥ १९ ॥ उस विमानपर बनाये हुए कृत्रिम हंस और कबूतर आदिको अपना सजातीय जानकर बहुत-से हंस और कबूतरादि उसपर बैठकर अपनी-अपनी बोली बोल रहे थे ॥ २० ॥ जहाँ-तहाँ यथायोग्य बनाये हुए क्रीडास्थान, शयनगृह, उपभोगस्थान (बैठक), आँगन और चौकोंके कारण वह मायामय विमान अपने रचयिता कर्दमजीको भी मोहित-सा करता था ॥ २१ ॥

ऐसे सुन्दर गृहको भी [दासियोंके अभाव तथा अपने शरीरकी मलिनताके कारण] जब देवहूतिने बहुत प्रसन्नचित्तसे नहीं देखा तो समस्त प्राणियोंके अभिप्रायको जाननेवाले कर्दमजीने स्वयं ही कहा— ॥ २२ ॥ "अयि भीरु ! तुम इस (बिन्दुसर नामक) सरोवरमें स्नान करो और फिर विमानपर चढ़ जाओ। यह विष्णुभगवान्‌का रचा हुआ तीर्थ मनुष्योंकी सम्पूर्ण कामनाओंको पूर्ण करनेवाला है" ॥ २३ ॥

१. प्रा० पा०—मालाभि० । २. प्रा० पा०—द्वाःस्थविद्रु० । ३. प्रा० पा०—विकू० । ४. प्रा० पा०—मान्स-विमानांश्च समन्तादधिरु० । ५. प्रा० पा०—इत्थं गृहं तस्य पश्यन्नतिप्रीतेन । ६. प्रा० पा०—प्रोवाच कर्दमः । ७. प्रा० पा०—यद्भवेन्नृ० ।

सा तद्भर्तुः समादाय वचः कुवलयेक्षणा ।
सरजं बिभ्रती वासो वेणीभूतांश्च मूर्धजान् ॥२४॥
अङ्गं च मलपङ्केन संछन्नं शबलस्तनम् ।
आविवेश सरस्वत्याः सरः शिवजलाशयम् ॥२५॥
सान्तःसरसि वेश्मस्थाः शतानि दश कन्यकाः ।
सर्वाः किशोरवयसो ददर्शोत्पलगन्धयः ॥२६॥
तां दृष्ट्वा सहसोत्थाय प्रोचुः प्राञ्जलयः स्त्रियः ।
वयं कर्मकरीस्तुभ्यं शाधि नः करवाम किम् ॥२७॥

तब कमललोचना देवहूतिने पतिके वचन स्वीकार-कर सरस्वतीके तटवर्ती सरोवरके निर्मल जलमें प्रवेश किया । उस समय वह एक बड़ा मैला-कुचैला वस्त्र धारण किये थी, उसके केश आपसमें चिपककर जटाओंके रूपमें परिणत हो गये थे, शरीर धूलिसे भरा हुआ था और स्तन भी कान्तिहीन हो गये थे ॥२४-२५॥ देवहूतिने सरोवरके भीतर एक महलमें एक सहस्र कन्याएँ देखीं । वे सभी युवा अवस्थावाली थीं और उनके शरीरोंसे कमलकी-सी गन्ध आती थी ॥२६॥ देवहूतिको देखते ही वे सब स्त्रियाँ सहसा उठ खड़ी हुईं और हाथ जोड़कर कहने लगीं—"हम आपकी दासियाँ हैं; हमें आज्ञा दीजिये, आपकी क्या सेवा करें ?" ॥२७॥

स्नानेन तां महार्हेण स्नापयित्वा मनस्विनीम् ।
दुकूले निर्मले नूत्ने[1] ददुरस्यै च मानद[2] ॥२८॥
भूषणानि परार्ध्यानि वरीयांसि द्युमन्ति च ।
अन्नं सर्वगुणोपेतं पानं चैवामृतासवम् ॥२९॥
अथादर्शे स्वमात्मानं स्रग्विणं विरजाम्बरम् ।
विरजं कृतस्वस्त्ययनं कन्याभिर्बहुमानितम् ॥३०॥
स्नातं कृतशिरःस्नानं सर्वाभरणभूषितम् ।
निष्कग्रीवं वलयिनं कूजत्काञ्चननूपुरम् ॥३१॥
श्रोण्योरध्यस्तया काञ्च्या काञ्चन्या बहुरत्नया ।
हारेण च महार्हेण रुचकेन च भूषितम् ॥३२॥
सुदता[3] सुभ्रुवा श्लक्ष्णस्निग्धापाङ्गेन चक्षुषा ।
पद्मकोशस्पृधा नीलैरलकैश्च लसन्मुखम् ॥३३॥

हे मानद ! फिर उन रमणियोंने उबटनादि बहुमूल्य सामग्रियोंसे मनस्विनी देवहूतिको स्नान कराया और उसे दो नवीन और निर्मल वस्त्र दिये ॥२८॥ इसके सिवा उन्होंने देवहूतिको प्रिय लगनेवाले अति उत्तम और कान्तिमान् आभूषण, सर्वगुणसम्पन्न अन्न तथा पीनेके लिये अमृतासव प्रस्तुत किया ॥२९॥ फिर देवहूतिने दर्पणमें अपने शरीरका प्रतिबिम्ब देखा जो भाँति-भाँतिके हारोंसे विभूषित, निर्मल वस्त्र धारण किये, कन्याओंद्वारा भली प्रकार सम्मानित, मलहीन और मांगलिक श्रृंगारयुक्त था ॥३०॥ उसे शिरसे स्नान कराया गया था, उसके अंग-अंगमें सब प्रकारके आभूषण सुशोभित थे तथा गलेमें पदक, हाथोंमें कंकण और चरणोंमें छमछमाते हुए सुवर्णमय नूपुर शोभायमान थे ॥३१॥ कमरमें पड़ी हुई सोनेकी रत्नजटित करधनीसे, बहुमूल्य हारसे तथा अंग-प्रत्यंगमें सुशोभित कुंकुमादि मंगलद्रव्योंसे उसकी अपूर्व शोभा हो रही थी ॥३२॥ सुन्दर दन्तावलीसे, मनोहर भ्रुकुटिसे, कमलकोशसे स्पर्धा करनेवाले मनोहर और प्रेममय कटाक्षयुक्त नेत्रोंसे तथा नीलवर्ण अलकावलीसे उसका सुन्दर मुखारविन्द शोभायमान था ॥३३॥

यदा सस्मार ऋषभमृषीणां दयितं पतिम् ।

हे विदुरजी ! इस प्रकार दर्पणमें शरीरका प्रतिबिम्ब देखकर जब देवहूतिने अपने प्रिय पति ऋषिश्रेष्ठ

१. प्रा० पा०—भूते । २. प्रा० पा०—मानिताः । ३. प्रा० पा०—सुभ्रुवा सुदता ।

तत्र चास्ते[1] सह स्त्रीभिर्यत्रास्ते स प्रजापतिः ॥३४॥
भर्तुः पुरस्तादात्मानं स्त्रीसहस्रवृतं तदा ।
निशाम्य तद्योगगतिं संशयं प्रत्यपद्यत ॥३५॥

स तां कृतमलस्नानां विभ्राजन्तीमपूर्ववत् ।
आत्मनो बिभ्रतीं रूपं संवीतरुचिरस्तनीम् ॥३६॥
विद्याधरीसहस्रेण सेव्यमानां सुवाससम् ।
जातभावो विमानं तदारोहयदमित्रहन् ॥३७॥

तस्मिन्नलुप्तमहिमा प्रिययानुरक्तो
विद्याधरीभिरुपचीर्णवपुर्विमाने ।
बभ्राज उत्कचकुमुद्गणवानपीच्य-[2]
स्ताराभिरावृत इवोडुपतिर्नभःस्थः ॥३८॥

तेनाष्टलोकपविहारकुलाचलेन्द्र-
द्रोणीस्वनङ्गसखमारुतसौभगासु[3] ।
सिद्धैर्नुतो द्युधुनिपातशिवस्वनासु
रेमे चिरं धनदवल्ललनावरूथी ॥३९॥

वैश्रम्भके सुरसने नन्दने पुष्पभद्रके ।
मानसे चैत्ररथ्ये च स रेमे रामया रतः ॥४०॥
भ्राजिष्णुना विमानेन कामगेन महीयसा ।
वैमानिकानत्यशेत चरँल्लोकान्यथानिलः ॥४१॥

किं दुरापादनं तेषां पुंसामुद्दामचेतसाम् ।
यैराश्रितस्तीर्थपदश्चरणो व्यसनात्ययः ॥४२॥

कर्दमजीका स्मरण किया तो वह अपनी सहेलियोंके सहित स्वयं ही वहाँ उपस्थित हो गयी जहाँ प्रजापति कर्दमजी विराजमान थे ॥३४॥ उस समय अपने-आपको सहस्रों स्त्रियोंके सहित अपने पतिदेवके सामने देखकर और इसे उनके योगका प्रभाव जानकर देवहूतिको बड़ा विस्मय हुआ ॥३५॥

हे कामरूप शत्रुको जीतनेवाले विदुरजी ! कर्दमजीने देखा कि देवहूति स्नान करके स्वच्छ हो गयी है, तथा विवाहकालसे पूर्व जैसा उसका स्वरूप था, उसी नूतन यौवनसम्पन्न अपने रूपको प्राप्त होकर अपूर्व शोभा पा रही है उसके सुन्दर स्तन कञ्चुकीसे ढके हुए हैं और वह अति सुन्दर वस्त्र धारण किये है तथा सहस्रों विद्याधरियाँ उसकी सेवामें तत्पर हैं, तब उन्होंने अति प्रेमपूर्वक उसे उस विमानपर चढ़ाया ॥३६-३७॥ और जिनकी महिमा (स्वाधीनता) लुप्त नहीं हुई है तथा जिनके शरीरको विद्याधरियाँ सेवा कर रही हैं वे मुनिवर कर्दमजी अपनी प्रियामें अनुरक्त हो इस प्रकार विमानपर सुशोभित हुए जैसे आकाशमें विकसित कुमुदकुसुमयुक्त तारागणसे घिरे हुए चन्द्रदेव विराजमान हों ॥३८॥ फिर सिद्धगणोंसे वन्दित तथा रमणीरत्नोंसे घिरे हुए कर्दमजीने उस विमानपर चढ़कर मेरुपर्वतकी उन कन्दराओंमें, जो आठों लोकपालोंकी विहारभूमि हैं, जिनमें कामदेवको बढ़ानेवाला मन्द-सुगन्ध वायु चलता रहता है तथा जो श्रीगङ्गाजीके स्वर्गलोकसे गिरनेकी हर-हर ध्वनिसे निरन्तर गूँजती रहती हैं बहुत समयतक कुबेरजीके समान विहार किया ॥३९॥ प्रिया देवहूतिसे प्रसन्न होकर कर्दमजीने उसके साथ वैश्रम्भक, सुरसन, नन्दन, पुष्पभद्र, मानस और चैत्ररथ आदि अनेकों देवोद्यानोंमें विहार किया ॥४०॥ उस कान्तिमान् और इच्छानुसार सर्वत्र जानेवाले विशाल विमानपर बैठकर वायुवेगसे जहाँ-तहाँ जाते हुए उन्होंने विमान-विहारी देवगणको भी पीछे छोड़ दिया ॥४१॥ हे विदुरजी ! जिन्होंने भगवान्‌के भवभयहारी पवित्र चरणकमलोंका आश्रय लिया है उन उदारचित्त पुरुषोंको कौन काम करना

१. प्रा० पा०—चास्ति ततः स्त्री० । २. प्रा० पा०—वान्परार्ध्य० । ३. प्रा० पा०—सौरभासु ।

प्रेक्षयित्वा भुवो गोलं पत्न्यै यावान्स्वसंस्थया ।
बह्वाश्चर्यं महायोगी स्वाश्रमाय न्यवर्तत ॥४३॥
विभज्य नवधात्मानं मानवीं सुरतोत्सुकाम् ।
रामां निरमयन्रेमे वर्षपूगान्मुहूर्तवत् ॥४४॥
तस्मिन्विमान उत्कृष्टां शय्यां रतिकरीं श्रिता ।
न चाबुध्यत तं कालं पत्यापीच्येन संगता ॥४५॥
एवं योगानुभावेन दम्पत्यो रममाणयोः ।
शतं व्यतीयुः शरदः[1] कामलालसयोर्मनाक् ॥४६॥
तस्यामाधत्त रेतस्तां[2] भावयन्नात्मनात्मवित् ।
नोधा[3] विधाय रूपं स्वं सर्वसंकल्पविद्विभुः ॥४७॥
अतः सा सुषुवे सद्यो देवहूतिः स्त्रियः प्रजाः ।
सर्वास्ताश्चारुसर्वाङ्ग्यो लोहितोत्पलगन्धयः ॥४८॥
पतिं सा प्रव्रजिष्यन्तं तदालक्ष्योशती सती ।
स्मयमाना विक्लवेन हृदयेन विदूयता ॥४९॥
लिखन्त्यधोमुखी भूमिं पदा नखमणिश्रिया ।
उवाच ललितां वाचं निरुध्याश्रुकलां शनैः ॥५०॥

देवहूतिरुवाच[4]

सत्यं तद्भगवान्मह्यमुपोवाह प्रतिश्रुतम् ।
अथापि मे प्रपन्नाया अभयं दातुमर्हसि ॥५१॥
ब्रह्मन्दुहितृभिस्तुभ्यं विमृग्याः पतयः समाः ।

कठिन है ? ॥४२॥ इस प्रकार महायोगी कर्दमजी अपनी प्रियाको द्वीप-वर्षादि विचित्र रचनाओंके कारण अति आश्चर्यमय प्रतीत होनेवाले इस सम्पूर्ण भूमण्डलको दिखाकर अपने आश्रममें लौट आये ॥४३॥ फिर अपने नौ विभाग* कर सुरतसुखके लिये अत्यन्त उत्सुक मनुकुमारी देवहूतिके साथ बहुत वर्षोंतक रमण किया, किन्तु इतना समय एक मुहूर्त्तके समान बीत गया ॥४४॥ उस विमानमें रतिसुख उद्दीप्त करनेवाली अति सुन्दर शय्यापर परम रूपवान् प्रियतमके अंगसंगसे देवहूतिको इतना काल कुछ भी न जान पड़ा ॥४५॥ इस प्रकार उन कामासक्त दम्पतियोंको अपने योगबलसे सैकड़ों वर्षतक रमण करते हुए भी वह काल बहुत थोड़े समयके समान निकल गया ॥४६॥ तब, सब प्रकारके संकल्पोंको जाननेवाले आत्मज्ञानी भगवान् कर्दमजीने [देवहूतिकी सन्तानप्राप्तिकी इच्छा जान] अपने स्वरूपके नौ भागकर उसके गर्भमें वीर्य स्थापित किया ॥४७॥ इससे देवहूतिके नौ कन्या-सन्तानोंका जन्म हुआ । वे सभी सर्वांगसुन्दरी और अरुणकमलके समान गन्धवाली थीं ॥४८॥

इसी समय अपने पतिका सम्पूर्ण संगोंको त्यागकर वन जानेका विचार देख शुद्ध स्वभाववाली सती देवहूतिने खेदवश व्याकुलचित्तसे शिर नीचा किये अपने नखमणिमण्डित सुन्दर चरणकमलोंसे पृथिवी कुरेदते हुए नेत्रोंकी अश्रुधाराको जैसे-तैसे रोककर ऊपरसे मुसकाते हुए अति मधुरवाणीमें इस प्रकार कहा ॥४९-५०॥

देवहूति बोली—भगवन् ! आपने जो कुछ प्रतिज्ञा की थी वह सब तो आप पूर्ण कर चुके, तो भी आप मुझे अभयदान और दीजिये, मैं आपकी शरणागत हूँ ॥५१॥ हे ब्रह्मन् ! आपको अपनी इन कन्याओंके लिये इन्हींके अनुरूप पति खोजना चाहिये । और आपके वनगमनके अनन्तर मेरा (जन्म-मरणरूप)

१. प्रा० पा०—शरदां । २. प्रा० पा०—रेतः स्वं । ३. प्रा० पा०—नवधा । यह पाठान्तर स्पष्ट है । ४. प्राचीन प्रतिमें 'देवहूतिरुवाच' मूलमें नहीं, टिप्पणीमें है ।

* श्रुति कहती है—'आत्मा वै जायते पुत्रः' अर्थात् पुत्ररूपसे (पिता) स्वयं ही उत्पन्न होता है । कर्दमजीद्वारा नौ कन्याएँ उत्पन्न हुई थीं, सो मानो वे स्वयं ही नौ रूपसे उत्पन्न हुए थे । इसीलिये यहाँ 'अपने नौ विभाग कर' ऐसा कहा है ।

कश्चित्स्यान्मे विशोकाय त्वयि प्रव्रजिते वनम् ॥५२॥
एतावतालं कालेन व्यतिक्रान्तेन मे प्रभो ।
इन्द्रियार्थप्रसङ्गेन परित्यक्तपरात्मनः ॥५३॥
इन्द्रियार्थेषु सज्जन्त्या प्रसङ्गस्त्वयि मे कृतः ।
अजानन्त्या परं भावं तथाप्यस्त्वभयाय मे ॥५४॥
सङ्गो यः संसृतेर्हेतुरसत्सु विहितोऽधिया ।
स एव साधुषु कृतो निःसङ्गत्वाय कल्पते ॥५५॥
नेह यत्कर्म धर्माय न विरागाय कल्पते ।
न तीर्थपदसेवायै जीवन्नपि मृतो हि सः ॥५६॥
साहं भगवतो नूनं वञ्चिता मायया दृढम् ।
यत्त्वां विमुक्तिदं प्राप्य न मुमुक्षेय बन्धनात् ॥५७॥

शोक दूर करनेके लिये कोई और [ब्रह्मनिष्ठ पुत्र] भी होना चाहिये ॥५२॥ प्रभो! मेरा जो समय परमात्मासे विमुख रहकर इन्द्रियसुखभोगमें ही बीता है वह निरर्थक ही है ॥५३॥ मैं आपके परम प्रभावको नहीं जानती थी, इसीलिये मैंने इन्द्रियोंके विषयोंमें आसक्त होकर ही आपका सहवास किया। तथापि वह मेरे संसार-बन्धनको दूर करनेवाला हो ॥५४॥ क्योंकि जो संग अज्ञानवश असत् पुरुषोंके साथ होनेसे संसार-का कारण होता है वही सत्पुरुषोंके साथ किया जानेसे मोक्षसाधक वैराग्यका कारण हो जाता है ॥५५॥ संसारमें जिसके कर्म धर्म, वैराग्य अथवा महापुरुषोंकी सेवाके लिये नहीं होते वह प्राणी जीता हुआ भी मृतकके समान है ॥५६॥ अवश्य ही, मैं भगवान्‌की मायासे खूब ठगी गयी, जिसके कारण आप मुक्तिदाता पतिदेवको पाकर भी मैंने संसार-बन्धनसे छूटनेकी इच्छा नहीं की ॥५७॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे तृतीयस्कन्धे कापिले-[1]
योपाख्याने त्रयोविंशोऽध्यायः ॥ २३ ॥

चौबीसवाँ अध्याय

कपिलदेवजीका जन्म।

मैत्रेय उवाच

निर्वेदवादिनीमेवं मनोर्दुहितरं मुनिः ।
दयालुः शालिनीमाह शुक्लाभिव्याहृतं स्मरन् ॥ १ ॥

ऋषिरुवाच

मा खिदो राजपुत्रीत्थमात्मानं प्रत्यनिन्दिते ।
भगवांस्तेऽक्षरो गर्भमदूरात्सम्प्रपत्स्यते ॥ २ ॥
धृतव्रतासि[2] भद्रं ते दमेन[3] नियमेन च ।
तपोद्रविणदानैश्च श्रद्धया चेश्वरं भज ॥ ३ ॥

श्रीमैत्रेयजी बोले—हे विदुर! तब इस प्रकार वैराग्ययुक्त भाषण करनेवाली परम सुशीला मनुकुमारी देवहूतिसे अति कृपालु कर्दममुनिने भगवान् विष्णुके कथनका स्मरण करते हुए कहा ॥१॥

कर्दमजी बोले—हे अनिन्दिते राजकन्ये! तू मनमें इस प्रकार दुखी मत हो, क्योंकि कुछ ही दिनोंमें तेरे गर्भमें अविनाशी भगवान् विष्णु पधारेंगे ॥२॥ हे प्रिये! तूने नाना प्रकारके व्रतोंका पालन किया है, अतः तेरा कल्याण होगा। अब तू इन्द्रियदमन, नियम, तप और द्रव्यदान आदिके सहित श्रद्धापूर्वक भगवान्‌का भजन कर ॥ ३ ॥

१. प्रा० पा०—कापिलोपा०। २. प्रा० पा०—व्रता सुभद्रं। ३. प्रा० पा०—यमेन।

स त्वयाराधितः शुक्लो वितन्वन्मामकं यशः ।
छेत्ता ते हृदयग्रन्थिमौदर्यो ब्रह्मभावनः ॥ ४ ॥

इस प्रकार तेरे आराधना करनेसे शुद्धस्वरूप श्रीहरि तेरे गर्भसे अवतीर्ण होकर मेरा यश बढ़ावेंगे और ब्रह्मज्ञानका उपदेश करके तेरे हृदयकी अहंकाररूप ग्रन्थिका छेदन करेंगे ॥ ४ ॥

मैत्रेय उवाच

देवहूत्यपि सन्देशं गौरवेण प्रजापतेः ।
सम्यक्छ्रद्धाय पुरुषं कूटस्थमभजद्गुरुम् ॥ ५ ॥
तस्यां बहुतिथे काले भगवान्मधुसूदनः ।
कार्दमं वीर्यमापन्नो जज्ञेऽग्निरिव दारुणि[1] ॥ ६ ॥
अवादयंस्तदा व्योम्नि वादित्राणि घनाघनाः ।
गायन्ति तं[2] स्म गन्धर्वा नृत्यन्त्यप्सरसो मुदा ॥ ७ ॥
पेतुः सुमनसो दिव्याः खेचरैरपवर्जिताः ।
प्रसेदुश्च दिशः सर्वा अम्भांसि च मनांसि च ॥ ८ ॥
तत्कर्दमाश्रमपदं सरस्वत्या परिश्रितम्[3] ।
स्वयम्भूः साकमृषिभिर्मरीच्यादिभिरभ्ययात् ॥ ९ ॥
भगवन्तं परं ब्रह्म सत्त्वेनांशेन शत्रुहन् ।
तत्त्वसंख्यानविज्ञप्त्यै जातं विद्वानजः स्वराट् ॥ १० ॥
सभाजयन्विशुद्धेन चेतसा तच्चिकीर्षितम् ।
प्रहृष्यमाणैरसुभिः कर्दमं चेदमभ्यधात्[4] ॥ ११ ॥

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—हे विदुर ! प्रजापति कर्दमजीके इस सन्देशको देवहूतिने बड़े आदर और विश्वासके सहित ग्रहण किया और वह जगद्गुरु निर्विकार पुरुषोत्तम भगवान्‌की तन-मनसे आराधना करने लगी ॥५॥ तदनन्तर बहुत समय बीत जानेपर भगवान् श्रीमधुसूदन कर्दमजीके वीर्यका आश्रय ले उसके गर्भसे इस प्रकार प्रकट हुए जैसे काष्ठमेंसे अग्नि प्रकट होता है ॥६॥ उस समय आकाशमें मेघ गर्ज-गर्जकर बाजे बजाने लगे, गन्धर्वगण गान करने लगे और अप्सराएँ अति आनन्दित हो नाचने लगीं ॥७॥ आकाशसे देवताओंके बरसाये हुए दिव्य पुष्पोंकी वर्षा होने लगी, सब दिशाओंमें आनन्द छा गया तथा जलाशयोंके जल और महाशयोंके मन प्रसन्न हो गये ॥८॥

इसी समय, मरीचि आदि मुनिजनके सहित श्रीब्रह्माजी सरस्वतीतीरवर्ती कर्दमजीके आश्रममें आये ॥९॥ हे शत्रुदमन विदुर ! परब्रह्म भगवान् विष्णु जिसमें तत्त्वोंकी गणना की गयी है उस सांख्यशास्त्रका उपदेश करनेके लिये अपने सत्त्वमय अंशसे अवतीर्ण हुए हैं—ऐसा जानकर स्वतःसिद्ध ज्ञानवान् श्रीब्रह्माजी भगवान् जिस कार्यको करना चाहते थे उसका अपने निर्मल चित्तसे अभिनन्दन करते हुए तथा अपनी सभी इन्द्रियोंसे आनन्द प्रकट करते हुए श्रीकर्दमजीसे इस प्रकार कहने लगे ॥१०-११॥

ब्रह्मोवाच

त्वया मेऽपचितिस्तात कल्पिता निर्व्यलीकतः ।
यन्मे सञ्जगृहे वाक्यं भवान्मानद मानयन् ॥ १२ ॥
एतावत्येव शुश्रूषा कार्या पितरि पुत्रकैः ।

ब्रह्माजी बोले—हे दूसरोंका मान रखनेवाले प्रिय कर्दम ! तुमने मेरा सम्मान करते हुए मेरी आज्ञाका निष्कपटभावसे पालन किया है इससे तुमने मेरा भली प्रकार पूजन ही किया है ॥१२॥ पुत्रको अपने पिताकी सबसे बड़ी यही सेवा करनी चाहिये कि

१. प्रा० पा०—वारणे । २. प्रा० पा०—न्ति स्म स गन्धर्वा । ३. प्रा० पा०—परिश्रुतम् । ४. प्रा० पा०—मब्रवीत् ।

बाढमित्यनुमन्येत गौरवेण गुरोर्वचः ॥१३॥
इमा दुहितरः सभ्य तव वत्स सुमध्यमाः ।
सर्गमेतं प्रभावैः स्वैर्बृंहयिष्यन्त्यनेकधा[1] ॥१४॥
अतस्त्वमृषिमुख्येभ्यो यथाशीलं यथारुचि ।
आत्मजाः परिदेह्यद्य विस्तृणीहि यशो भुवि ॥१५॥
वेदाहमाद्यं पुरुषमवतीर्णं स्वमायया ।
भूतानां शेवधिं देहं बिभ्राणं कपिलं मुने ॥१६॥
ज्ञानविज्ञानयोगेन कर्मणामुद्धरन् जटाः ।
हिरण्यकेशः पद्माक्षः पद्ममुद्रापदाम्बुजः ॥१७॥
एष मानवि ते गर्भं प्रविष्टः कैटभार्दनः ।
अविद्यासंशयग्रन्थिं छित्त्वा गां विचरिष्यति ॥१८॥
अयं सिद्धगणाधीशः साङ्ख्याचार्यैः सुसम्मतः ।
लोके कपिल इत्याख्यां गन्ता ते कीर्तिवर्धनः ॥१९॥

उनकी आज्ञाको 'बहुत अच्छा' ऐसा कहकर आदर-सहित स्वीकार करे ॥१३॥ हे साधो ! हे वत्स ! तुम्हारी ये सुन्दरी कन्याएँ अपने वंशोंद्वारा इस सृष्टिको नाना प्रकारसे बढ़ावेंगी ॥१४॥ अतः अब तुम इन मरीचि आदि ऋषिश्रेष्ठोंको रुचि और स्वभावके अनुसार अपनी कन्याएँ समर्पण करो और पृथिवीपर अपना सुयश फैलाओ ॥१५॥ हे मुने ! मैं तो समझता हूँ कि सम्पूर्ण प्राणियोंकी कामनाएँ पूर्ण करनेवाले आदिपुरुष श्रीनारायण ही अपनी योगमायासे तुम्हारे यहाँ कपिलदेवरूपसे अवतीर्ण हुए हैं ॥१६॥ [फिर देवहूतिसे बोले] हे मनुकन्ये ! तेरे उदरमें साक्षात् श्रीहरिने प्रवेश किया है; इनके केश सुवर्णवर्ण, नयन कमलके समान सुन्दर और विशाल तथा चरणकमल पद्माङ्कित होंगे । ये ज्ञान (शास्त्र-ज्ञान) और विज्ञान (अनुभव-ज्ञान) द्वारा कर्मोंकी वासनाओंका मूलोच्छेदन कर तेरे हृदयकी अविद्याजन्य संशयग्रन्थिको काटकर पृथिवीमें स्वच्छन्द विचरेंगे ॥१७-१८॥ ये सिद्धगणोंके स्वामी और सांख्याचार्योंके भी माननीय होंगे और तेरी कीर्तिका विस्तार करते हुए लोकमें 'कपिल' नामसे विख्यात होंगे ॥१९॥

मैत्रेय उवाच

तावाश्वास्य जगत्स्रष्टा कुमारैः सह नारदः ।
हंसो हंसेन यानेन त्रिधाम परमं ययौ[2] ॥२०॥
गते शतधृतौ[3] क्षत्तः कर्दमस्तेन चोदितः ।
यथोदितं स्वदुहितॄः[4] प्रादाद्विश्वसृजां ततः ॥२१॥
मरीचये कलां प्रादादनसूयामथात्रये ।
श्रद्धामङ्गिरसेऽयच्छत्पुलस्त्याय हविर्भुवम् ॥२२॥
पुलहाय गतिं युक्तां क्रतवे च क्रियां सतीम् ।
ख्यातिं च भृगवेऽयच्छद्वसिष्ठायाप्यरुन्धतीम्[5] ॥२३॥

श्रीमैत्रेयजी बोले—जगत्स्रष्टा ब्रह्माजी उन दोनोंको इस प्रकार समझा-बुझाकर [मरीचि आदि नौ पुत्रोंको विवाहके लिये वहीं छोड़] सनकादि और नारदजीके सहित हंसपर आरूढ़ हो ब्रह्मलोकको चले गये ॥२०॥ हे विदुर ! ब्रह्माजीके चले जानेपर कर्दमजीने उनकी आज्ञानुसार मरीचि आदि प्रजापतियोंके साथ अपनी कन्याओंका यथायोग्य विवाह कर दिया ॥२१॥ उन्होंने अपनी कला नामकी कन्या मरीचिको, अनसूया अत्रिको, श्रद्धा अंगिराको और हविर्भू पुलस्त्यको समर्पण की ॥२२॥ पुलहको उनके अनुरूप गति नामकी कन्या दी, क्रतुके साथ परमसाध्वी क्रियाका विवाह किया तथा भृगुजीको ख्याति और वसिष्ठजीको अरुन्धती समर्पण की ॥२३॥

१. प्रा० पा०—ष्यन्ति नैकधा । २. प्रा० पा०—प्रत्यपद्यत । ३. प्रा० पा०—सत्यव्रते । ४. प्रा० पा०—सुदु० । ५. प्रा० पा०— स ।

अथर्वणेऽददाच्छान्तिं यया यज्ञो वितन्यते ।
विप्रर्षभान्कृतोद्वाहान्सदारान्समलालयत् ॥२४॥
ततस्त ऋषयः क्षत्तः कृतदारा निमन्त्र्य तम् ।
प्रातिष्ठन्नन्दिमापन्नाः स्वं स्वमाश्रममण्डलम् ॥२५॥

एवं अथर्वा ऋषिको, जिसके द्वारा यज्ञकर्मका विस्तार किया जाता है वह शान्ति नामकी कन्या दी। इस प्रकार उन विवाहित ऋषिश्रेष्ठोंका कर्दमजीने उनकी पत्नियोंके सहित खूब सत्कार किया ॥२४॥ हे विदुरजी ! तदनन्तर, जिन्हें स्त्रियाँ प्राप्त हो गयी हैं वे सब ऋषिगण कर्दमजीसे आज्ञा ले अति आनन्द-पूर्वक अपने-अपने आश्रमोंको चले गये ॥२५॥

स चावतीर्णं त्रियुगमाज्ञाय विबुधर्षभम् ।
विविक्त उपसङ्गम्य प्रणम्य समभाषत ॥२६॥
अहो पापच्यमानानां निरये स्वैरमङ्गलैः ।
कालेन भूयसा नूनं प्रसीदन्तीह देवताः ॥२७॥
बहुजन्मविपक्वेन सम्यग्योगसमाधिना ।
द्रष्टुं यतन्ते यतयः शून्यागारेषु यत्पदम् ॥२८॥
स एव भगवानद्य हेलनं न गणय्य नः ।
गृहेषु जातो ग्राम्याणां यः[1] स्वानां पक्षपोषणः ॥२९॥
स्वीयं वाक्यमृतं कर्तुमवतीर्णोऽसि मे गृहे ।
चिकीर्षुर्भगवान् ज्ञानं भक्तानां मानवर्धनः ॥३०॥
तान्येव तेऽभिरूपाणि रूपाणि भगवंस्तव ।
यानि यानि च रोचन्ते स्वजनानामरूपिणः ॥३१॥
त्वां सूरिभिस्तत्त्वबुभुत्सयाद्धा
सदाभिवादार्हणपादपीठम् ।
ऐश्वर्यवैराग्ययशोऽवबोध-
वीर्यश्रिया पूर्णमहं प्रपद्ये ॥३२॥
परं प्रधानं पुरुषं महान्तं
कालं कविं त्रिवृतं लोकपालम् ।
आत्मानुभूत्यानुगतप्रपञ्चं
स्वच्छन्दशक्तिं कपिलं प्रपद्ये ॥३३॥

तत्पश्चात्, श्रीकर्दमजी साक्षात् देवाधिदेव श्रीविष्णु-भगवान्‌को अवतीर्ण हुए जान, एकान्तमें उनके पास जा, उन्हें प्रणामकर इस प्रकार कहने लगे ॥२६॥ 'अहो ! अपने पापकर्मोंके कारण इस दुःखमय संसारमें नाना प्रकारसे पीड़ित होते हुए पुरुषोंपर देवगण बहुत काल बीतनेपर प्रसन्न होते हैं ॥२७॥ अनेकों जन्मोंके अनन्तर सिद्ध हुई सुदृढ़ समाधिके द्वारा योगीजन एकान्तमें जिनके स्वरूपको देखनेका यत्न करते हैं, अपने भक्तोंकी रक्षा करने-वाले वे ही श्रीहरि हम विषयलोलुपोंके अपराधोंका कुछ भी विचार न कर आज हमारे घर अवतीर्ण हुए हैं ॥२८-२९॥ अपने भक्तोंका मान बढ़ानेवाले आप साक्षात् भगवान् अपनी प्रतिज्ञाका पालन और भक्तोंको ज्ञानोपदेश करनेके लिये मेरे यहाँ प्रकट हुए हैं ॥३०॥ हे भगवन् ! वास्तवमें आप रूपरहित हैं तथापि आपके जो-जो अनूपरूप भक्तोंको प्रिय लगते हैं वे ही आपको भी ठीक मालूम होते हैं अर्थात् आप भी वे ही रूप धारण कर लेते हैं ॥३१॥ जिनका पादपीठ (चरण रखनेकी चौकी) तत्त्वजिज्ञासु विद्वज्जनोंके लिये सर्वदा वन्दनीय है उन ऐश्वर्य, वैराग्य, यश, ज्ञान, वीर्य और सम्पत्ति—इन छः ऐश्वर्योंसे पूर्ण श्रीहरिको मैं प्रणाम करता हूँ ॥३२॥ जो [सम्पूर्ण शक्तियोंके अधीश्वर] परमात्मा, प्रकृति (माया), पुरुष (मायाके अधिष्ठाता), महत्तत्त्व, काल, ब्रह्मा, त्रिविध अहंकार और सम्पूर्ण लोकपालरूप हैं, तथा चेतनशक्तिके द्वारा जिनमें सम्पूर्ण प्रपञ्च समाया हुआ है उन स्वच्छन्द-शक्ति कपिलदेवजीको प्रणाम करता हूँ ॥३३॥ हे

१. प्रा० पा०—यत् ।

आस्माभिपृच्छेऽद्य पतिं प्रजानां
त्वयावतीर्णार्ण उतात्तकामः ।
परिव्रजत्पदवीमास्थितोऽहं
चरिष्ये त्वां हृदि युञ्जन्विशोकः ॥३४॥

प्रभो ! आपकी कृपासे मैं तीनों ऋणोंसे मुक्त हो गया हूँ और मेरे सम्पूर्ण मनोरथ पूर्ण हो चुके हैं । अब मैं संन्यासमार्गको ग्रहणकर आपका चिन्तन करते हुए निर्द्वन्द्व होकर विचरूँगा । अतः सम्पूर्ण प्रजाओंके स्वामी आपसे मैं इसके लिये आज्ञा चाहता हूँ ॥३४॥

श्रीभगवानुवाच

मया प्रोक्तं हि लोकस्य प्रमाणं सत्यलौकिके[2] ।
अथाजनि मया तुभ्यं यदवोचमृतं मुने ॥३५॥
एतन्मे जन्म लोकेऽस्मिन्मुमुक्षूणां दुराशयात् ।
प्रसंख्यानाय तत्त्वानां सम्मतायात्मदर्शने ॥३६॥
एष आत्मपथोऽव्यक्तो[3] नष्टः कालेन भूयसा ।
तं प्रवर्तयितुं देहमिमं विद्धि मया भृतम् ॥३७॥
गच्छ कामं मया पृष्टो मयि संन्यस्तकर्मणा ।
जित्वा सुदुर्जयं मृत्युममृतत्वाय मां भज ॥३८॥
मामात्मानं स्वयंज्योतिः सर्वभूतगुहाशयम् ।
आत्मन्येवात्मना वीक्ष्य विशोकोऽभयमृच्छसि ॥३९॥
मात्र आध्यात्मिकीं विद्यां शमनीं सर्वकर्मणाम् ।
वितरिष्ये यया चासौ भयं चातितरिष्यति ॥४०॥

श्रीभगवान् बोले—हे मुने ! वैदिक और लौकिक सभी कार्योंमें जगत्के लिये मेरा कथन ही प्रमाण है, इसलिये मैंने तुमसे जो कहा था [कि मैं तुम्हारे यहाँ जन्म लूँगा] उसे सत्य करनेके लिये ही मैंने तुम्हारे यहाँ अवतार लिया है ॥३५॥ इस लोकमें मेरा यह जन्म लिंगशरीरसे मुक्त होनेकी इच्छावाले पुरुषोंके लिये आत्मदर्शनमें उपयोगी प्रकृति आदि तत्त्वोंकी गणना करनेके लिये ही हुआ है ॥३६॥ आत्मज्ञानका यह सूक्ष्म मार्ग बहुत समयसे लुप्त हो गया है । इसे प्रवृत्त करनेके लिये ही मैंने यह अवतार लिया है—ऐसा जानो ॥३७॥ हे मुने ! मैं तुम्हें आज्ञा देता हूँ, तुम इच्छानुसार जाओ और अपने सम्पूर्ण कर्म मुझे अर्पण करते हुए दुर्जय मृत्युको जीतकर मोक्षपद प्राप्त करनेके लिये मेरा भजन करो ॥३८॥ मुझ स्वयंप्रकाश और सम्पूर्ण जीवोंके अन्तःकरणोंमें रहनेवाले अपने आत्माको बुद्धिके द्वारा अपने आत्मा (अन्तःकरण) में ही देखकर तुम शोकरहित हो निर्भय पद प्राप्त करोगे ॥३९॥ माता देवहूतिको भी मैं सम्पूर्ण कर्मोंसे छुड़ानेवाला आत्मज्ञान प्रदान करूँगा, जिससे यह संसाररूप भयसे पार हो जायगी ॥४०॥

मैत्रेय उवाच

एवं समुदितस्तेन कपिलेन प्रजापतिः ।
दक्षिणीकृत्य तं प्रीतो वनमेव जगाम ह ॥४१॥
व्रतं स आस्थितो मौनमात्मैकशरणो मुनिः ।
निःसङ्गो व्यचरत्क्षोणीमनग्निरनिकेतनः ॥४२॥
मनो ब्रह्मणि युञ्जानो यत्तत्सदसतः परम् ।
गुणावभासे विगुण एकभक्त्यानुभाविते ॥४३॥

श्रीमैत्रेयजी बोले—भगवान् कपिलके इस प्रकार कहनेपर प्रजापति कर्दमजी उनकी परिक्रमाकर प्रसन्नतापूर्वक वनको चले गये ॥४१॥ वहाँ अहिंसामय मौन-धर्मका पालन करते हुए एकमात्र भगवत्परायण हो वे कर्दम मुनि अग्नि और आश्रयको त्यागकर निःसंगभावसे विचरने लगे ॥ ४२ ॥ उन्होंने, कार्य-कारणसे अतीत सत्त्वादि गुणोंके प्रकाशक और एकमात्र भक्तिसे ही अनुभव होनेवाले निर्गुण ब्रह्ममें अपना मन लगा दिया ॥४३॥

१. प्रा० पा०—युञ्जन्नशोकः । २. प्रा० पा०—लौकिकम् । ३. प्रा० पा०—यो नष्टोऽव्यक्तः ।

निरहंकृतिर्निर्ममश्च निर्द्वन्द्वः समदृक् स्वदृक् ।
प्रत्यक्प्रशान्तधीर्धीरः प्रशान्तोर्मिरिवोदधिः ॥४४॥
वासुदेवे भगवति सर्वज्ञे प्रत्यगात्मनि ।
परेण भक्तिभावेन लब्धात्मा मुक्तबन्धनः ॥४५॥
आत्मानं सर्वभूतेषु भगवन्तमवस्थितम् ।
अपश्यत्सर्वभूतानि भगवत्यपि चात्मनि ॥४६॥
इच्छाद्वेषविहीनेन सर्वत्र समचेतसा ।
भगवद्भक्तियुक्तेन प्राप्ता भागवती गतिः ॥४७॥

अहंकार, ममता और सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंसे छूटकर सर्वत्र समान भाव रखते हुए और सबमें अपने आत्माको ही देखते हुए अन्तर्मुखवृत्तिके कारण शान्त और गम्भीरचित्त हो जानेसे वे तरङ्गशून्य प्रशान्त समुद्रके समान जान पड़ने लगे ॥४४॥ वे परम भक्ति-भावके द्वारा सर्वान्तर्यामी सर्वज्ञ भगवान् वासुदेवमें चित्त स्थिर हो जानेसे सम्पूर्ण बन्धनोंसे मुक्त हो गये ॥४५॥ तथा सम्पूर्ण भूतोंमें अपने आत्मारूप श्रीभगवान्‌को और सम्पूर्ण भूतोंको आत्मारूप श्रीहरिमें स्थित देखने लगे ॥४६॥ इस प्रकार इच्छा और द्वेषसे रहित, सर्वत्र समानचित्त और भगवद्भक्तिसे सम्पन्न हो श्रीकर्दमजी भगवान्‌के परमपदको प्राप्त हो गये ॥४७॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे तृतीयस्कन्धे
कापिलेये चतुर्विंशतितमोऽध्यायः ॥२४॥

पच्चीसवाँ अध्याय

देवहूतिका प्रश्न तथा कपिलदेवजीद्वारा भक्तियोगकी महिमाका वर्णन ।

शौनक उवाच

कपिलस्तत्त्वसंख्याता भगवानात्ममायया ।
जातः स्वयमजः साक्षादात्मप्रज्ञप्तये नृणाम् ॥ १ ॥
न ह्यस्य वर्ष्मणः पुंसां वरिम्णः सर्वयोगिनाम् ।
विश्रुतौ श्रुतदेवस्य भूरि तृप्यन्ति मेऽसवः ॥ २ ॥
यद्यद्विधत्ते भगवान्स्वच्छन्दात्मात्ममायया ।
तानि मे श्रद्दधानस्य कीर्तन्यान्यनुकीर्तय ॥ ३ ॥

सूत उवाच

द्वैपायनसखस्त्वेवं मैत्रेयो भगवांस्तथा ।
प्राहेदं विदुरं प्रीत आन्वीक्षिक्यां प्रचोदितः ॥ ४ ॥

शौनकजी बोले—हे सूतजी ! तत्त्वोंकी संख्या करनेवाले भगवान् कपिलजी अजन्मा होकर भी लोगोंको आत्मज्ञानका उपदेश देनेके लिये अपनी मायासे उत्पन्न हुए थे ॥ १ ॥ मैंने भगवान्‌के बहुतसे चरित्र सुने हैं, तो भी इन योगिप्रवर पुरुषोत्तम कपिलजीकी कीर्तिका श्रवण करते-करते मेरी इन्द्रियाँ तृप्त नहीं होतीं ॥२॥ अतः सर्वथा स्वतन्त्र भगवान् श्रीहरि अपनी योगमायाद्वारा [शरीर धारणकर] जो-जो कीर्तनीय लीलाएँ करते हैं वे मुझे सुनाइये । मुझे उनके सुननेमें बड़ी श्रद्धा है ॥ ३ ॥

सूतजी बोले—हे मुने ! [आपकी ही भाँति] विदुरजीद्वारा यह आत्मज्ञानविषयक प्रश्न किया जानेपर श्रीव्यासजीके सखा भगवान् मैत्रेयजी अति प्रसन्नतापूर्वक इस प्रकार कहने लगे ॥४॥

१. प्रा० पा०—कृन्निर्मम० । २. प्रा० पा०—कापिले । ३. प्रा० पा०—तर्ह्यस्य । ४. प्रा० पा०—आहेदं ।

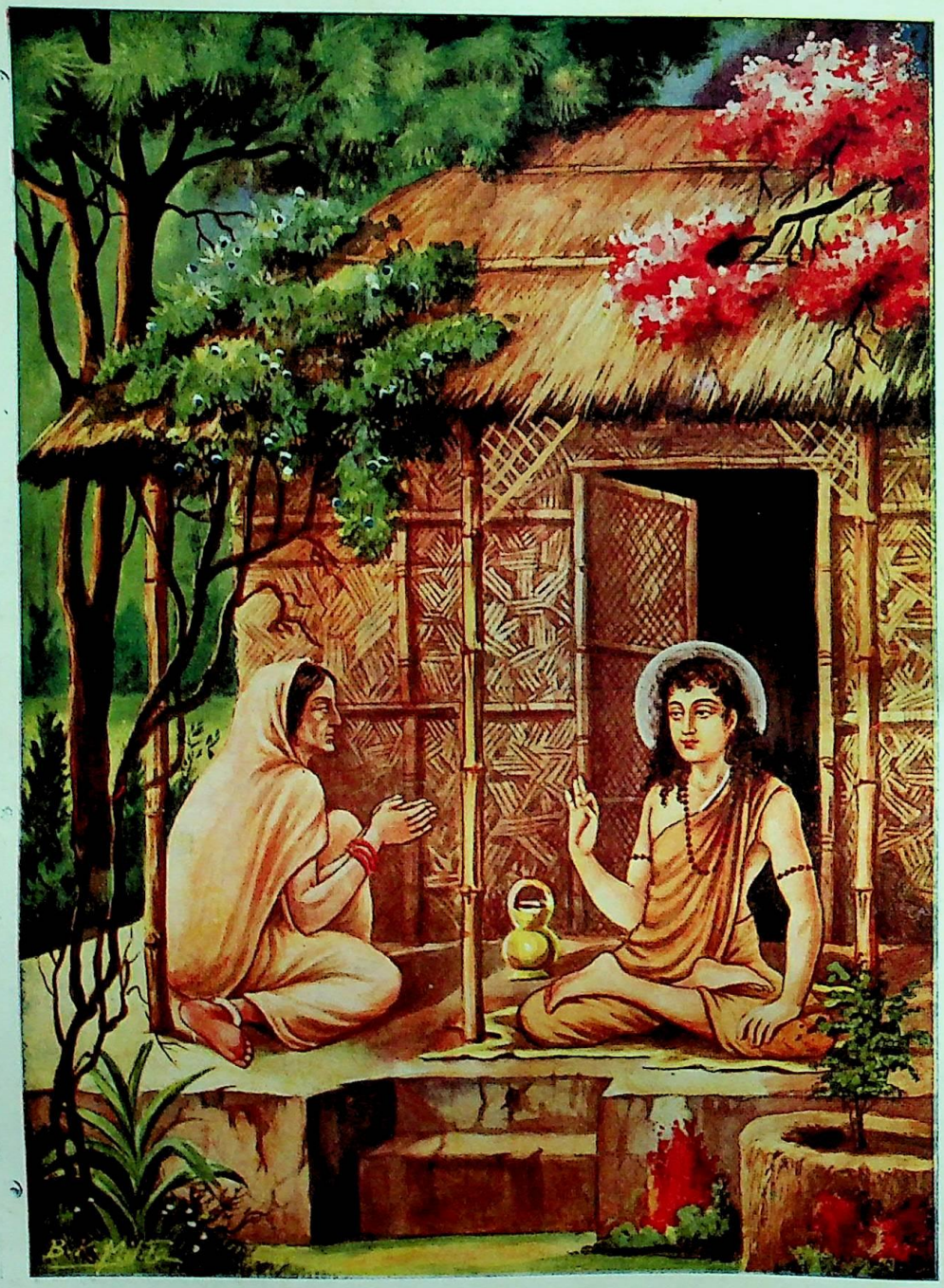

देवहूति और कपिल

[पृष्ठ ३२१

मैत्रेय उवाच

पितरि प्रस्थितेऽरण्यं मातुः प्रियचिकीर्षया ।
तस्मिन्बिन्दुसरेऽवात्सीद्भगवान्कपिलः किल ॥ ५ ॥
तमासीनमकर्माणं तत्त्वमार्गाग्रदर्शनम् ।
स्वसुतं देवहूत्याह धातुः संस्मरती वचः ॥ ६ ॥

देवहूतिरुवाच

निर्विण्णा नितरां भूमन्नसदिन्द्रियतर्षणात् ।
येन सम्भाव्यमानेन प्रपन्नान्धं तमः प्रभो ॥ ७ ॥
तस्य त्वं तमसोऽन्धस्य दुष्पारस्याद्य पारगम् ।
सच्चक्षुर्जन्मनामन्ते लब्धं मे त्वदनुग्रहात् ॥ ८ ॥
य आद्यो भगवान्पुंसामीश्वरो वै भवान्किल ।
लोकस्य तमसान्धस्य चक्षुः सूर्य इवोदितः ॥ ९ ॥
अथ मे देव सम्मोहमपाक्रष्टुं त्वमर्हसि ।
योऽवग्रहोऽहंममेतीत्येतस्मिन्योजितस्त्वया ॥ १० ॥
तं त्वागताहं शरणं शरण्यं
स्वभृत्यसंसारतरोः कुठारम् ।
जिज्ञासयाहं प्रकृतेः पूरुषस्य
नमामि सद्धर्मविदां वरिष्ठम् ॥ ११ ॥

मैत्रेय उवाच

इति स्वमातुर्निरवद्यमीप्सितं
निशम्य पुंसामपवर्गवर्धनम् ।
धियाभिनन्द्यात्मवतां सतां गति-
र्बभाष ईषत्स्मितशोभिताननः ॥ १२ ॥

श्रीभगवानुवाच

योग आध्यात्मिकः पुंसां मतो निःश्रेयसाय मे ।
अत्यन्तोपरतिर्यत्र दुःखस्य च सुखस्य च ॥ १३ ॥
तमिमं ते प्रवक्ष्यामि यमवोचं पुरानघे ।

श्रीमैत्रेयजीने कहा—हे विदुर ! कहते हैं कि पिताके वनमें चले जानेपर भगवान् कपिलजी माताका प्रिय करनेकी इच्छासे उस बिन्दुसर तीर्थमें ही रहने लगे ॥ ५ ॥ एक दिन देवहूतिने ब्रह्माजीके कथनको स्मरणकर आसनपर निश्चलभावसे बैठे हुए तत्त्वमार्गके पारदर्शी अपने पुत्र श्रीकपिलजीसे कहा ॥ ६ ॥

देवहूति बोली—हे भूमन्! हे प्रभो! इन दुष्ट इन्द्रियोंकी विषय-लालसासे मैं बहुत तंग हो गयी हूँ और इनकी इच्छाकी पूर्ति करते-करते घोर अज्ञानान्धकारमें पड़ी हुई हूँ ॥ ७ ॥ इस समय अपने जन्मोंका अन्त उपस्थित होनेपर आपकी ही कृपासे मुझे अपार अज्ञानान्धकारके पार लगानेवाले नेत्ररूप आप प्राप्त हुए हैं ॥ ८ ॥ आप सम्पूर्ण जीवोंके स्वामी भगवान् आदिपुरुष हैं और अज्ञानान्धकारसे अन्धे हुए पुरुषोंको उदित हुए सूर्यके समान ज्ञाननेत्र देनेवाले हैं ॥ ९ ॥ हे देव ! आप मेरे इस महामोहको दूर कीजिये, क्योंकि इन देह-गेह आदिमें जो मैं और मेरेपनका दुराग्रह होता है उसमें आपहीने मुझे नियुक्त किया है ॥ १० ॥ जो अपने भक्तोंके संसाररूप वृक्षके लिये कुठारके समान हैं ऐसे आप शरणागतवत्सलकी शरणमें मैं प्रकृति और पुरुषका ज्ञान प्राप्त करनेकी इच्छासे आयी हूँ । आप सम्पूर्ण श्रेष्ठ धर्मके ज्ञाताओंमें श्रेष्ठ हैं, मैं आपको प्रणाम करती हूँ ॥ ११ ॥

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—इस प्रकार अपनी माताकी परम पवित्र और पुरुषोंकी मोक्षमें रति उत्पन्न करनेवाली अभिलाषा सुनकर मन-ही-मन उसकी प्रशंसा करते हुए आत्मज्ञानी सत्पुरुषोंकी गति श्रीकपिलजी अपने मन्दमुसकानसुशोभित मुखारविन्दसे इस प्रकार कहने लगे ॥ १२ ॥

भगवान् कपिल बोले—हे मातः ! मेरे विचारसे अध्यात्मयोग ही मनुष्योंके आत्यन्तिक कल्याणका प्रधान साधन है, जिसके द्वारा दुःख और सुखकी सर्वथा निवृत्ति हो जाती है ॥ १३ ॥ हे अनघे ! उस सर्वाङ्गपूर्ण योगका मैं तुमसे वर्णन करता हूँ जिसे पूर्वकालमें

१. प्रा० पा०—मार्गप्रदर्शकम् । २. प्राचीन प्रतिमें 'देवहूतिरुवाच' इतना अंश टिप्पणीमें है । ३. प्रा० पा०—ज्ञानेन । ४. प्राचीन प्रतिमें 'मैत्रेय उवाच' यह पाठ नहीं है ।

ऋषीणां श्रोतुकामानां योगं सर्वाङ्गनैपुणम् ॥१४॥
चेतः खल्वस्य बन्धाय मुक्तये चात्मनो मतम् ।
गुणेषु[1] सक्तं बन्धाय रतं वा पुंसि मुक्तये ॥१५॥
अहंममाभिमानोत्थैः कामलोभादिभिर्मलैः ।
वीतं यदा मनः शुद्धमदुःखमसुखं समम् ॥१६॥
तदा पुरुष आत्मानं केवलं प्रकृतेः परम् ।
निरन्तरं स्वयंज्योतिरणिमानमखण्डितम् ॥१७॥
ज्ञानवैराग्ययुक्तेन भक्तियुक्तेन चात्मना[2] ।
परिपश्यत्युदासीनं प्रकृतिं च हतौजसम् ॥१८॥
न युज्यमानया भक्त्या भगवत्यखिलात्मनि ।
सदृशोऽस्ति शिवः पन्था योगिनां ब्रह्मसिद्धये ॥१९॥
प्रसङ्गमजरं पाशमात्मनः कवयो विदुः ।
स एव साधुषु कृतो मोक्षद्वारमपावृतम् ॥२०॥
तितिक्षवः कारुणिकाः सुहृदः सर्वदेहिनाम् ।
अजातशत्रवः शान्ताः साधवः साधुभूषणाः ॥२१॥
मय्यनन्येन भावेन भक्तिं कुर्वन्ति ये दृढाम् ।
मत्कृते त्यक्तकर्माणस्त्यक्तस्वजनबान्धवाः ॥२२॥
मदाश्रयाः कथा मृष्टाः शृण्वन्ति कथयन्ति च ।
तपन्ति विविधास्तापा नैतान्मद्गतचेतसः[3] ॥२३॥
त एते साधवः साध्वि सर्वसङ्गविवर्जिताः[4] ।
सङ्गस्तेष्वथ ते प्रार्थ्यः सङ्गदोषहरा हि ते ॥२४॥
सतां प्रसङ्गान्मम वीर्यसंविदो
भवन्ति हृत्कर्णरसायनाः कथाः ।
तज्जोषणादाश्वपवर्गवर्त्मनि
श्रद्धा रतिर्भक्तिरनुक्रमिष्यति ॥२५॥
भक्त्या पुमाञ्जातविराग ऐन्द्रिया-
द्दृष्टश्रुतान्मद्रचनानुचिन्तया ।

मैंने सुननेकी इच्छावाले ऋषियोंसे कहा था ॥१४॥ जीवके बन्धन और मोक्षका कारण मन ही माना गया है। जो मन विषयोंमें आसक्त होता है वह बन्धनका हेतु होता है और जो परमात्मामें लगा रहता है वह मोक्षप्रद होता है ॥१५॥ जिस समय मन मैं और मेरेपनके कारण होनेवाले काम-लोभ आदि मलोंसे मुक्त हो जाता है उस समय वह दुःख-सुखसे छूटकर शुद्ध और सम हो जाता है ॥१६॥ तब जीव अपने ज्ञान, वैराग्य और भक्ति-सम्पन्न अन्तःकरणसे आत्माको प्रकृतिसे परे, एकमात्र, भेदरहित, स्वयंप्रकाश, सूक्ष्म, अखण्डित और उदासीन (सुख-दुःख-रहित) देखता है तथा प्रकृतिको शक्तिहीना हुई अनुभव करता है ॥१७-१८॥ योगियोंको ब्रह्मप्राप्तिके लिये सर्वात्मा श्रीहरिके प्रति की हुई भक्तिके समान और कोई मङ्गलमय मार्ग नहीं है ॥ १९ ॥ विवेकीजन संगको ही आत्माका अच्छेद्य बन्धन मानते हैं, किन्तु वही साधुपुरुषोंके साथ किया जानेपर मोक्षका खुला द्वार हो जाता है ॥२०॥ जो लोग सहनशील, करुणामय, समस्त देहधारियोंके हित-चिन्तक, शत्रुहीन, शान्त, शास्त्रानुसार चलनेवाले और सद्गुणसम्पन्न होते हैं, जो मुझमें अनन्यभावसे सुदृढ़ प्रेम करते हैं, मेरे लिये सम्पूर्ण कर्म तथा अपने सगे-सम्बन्धियोंको त्याग देते हैं, और मेरी पवित्र कथाओंका परस्पर कीर्तन-श्रवण करते हैं उन मुझहीमें चित्त लगानेवाले भक्तोंको संसारके विविध ताप कोई कष्ट नहीं पहुँचा सकते ॥२१-२३॥ हे साध्वि ! ऐसे सर्वसंगपरित्यागी महापुरुष ही साधु होते हैं। तुम्हें उन्हींका संग करनेका प्रयत्न करना चाहिये; क्योंकि वे आसक्तिमूलक सम्पूर्ण दोषोंको दूर कर देनेवाले होते हैं ॥२४॥ सत्पुरुषोंके समागमसे मेरे पराक्रमोंका यथार्थ ज्ञान करानेवाली तथा हृदय और कानोंको प्रिय लगनेवाली कथाएँ होती हैं। उनका सेवन करनेसे शीघ्र ही मोक्षमार्गमें श्रद्धा, रति और भक्तिका क्रमशः प्रादुर्भाव हो जाता है ॥२५॥ फिर सृष्टि आदि मेरी लीलाओंका चिन्तन करनेसे प्राप्त हुई भक्तिके द्वारा लौकिक और पारलौकिक सुखोंमें वैराग्य हो जानेसे

१. प्रा० पा०—गुणे प्रसक्तं। २. प्रा० पा०—चेतसा। ३. प्रा० पा०—नैकात्मगत०। ४. प्रा० पा०—विनिर्गताः।

चित्तस्य यत्तो ग्रहणे योगयुक्तो
यतिष्यते ऋजुभिर्योगमार्गैः ॥२६॥
असेवयायं प्रकृतेर्गुणानां
ज्ञानेन वैराग्यविजृम्भितेन ।
योगेन मय्यर्पितया च भक्त्या
मां प्रत्यगात्मानमिहावरुन्धे ॥२७॥

मनुष्य सावधानतापूर्वक योगके भक्तिप्रधान सरल मार्गोंसे मनोनिग्रह करनेका प्रयत्न करता है ॥२६॥ इस प्रकार प्रकृति [के गुणों] से उत्पन्न हुए शब्दादि विषयोंका सेवन न करनेसे, वैराग्ययुक्त ज्ञानसे, योगसे और मेरे प्रति की हुई दृढ़ भक्तिसे मनुष्य मुझ सर्वान्तर्यामीको इस देहमें ही प्राप्त कर लेता है ॥२७॥

देवहूतिरुवाच

काचित्त्वय्युचिता भक्तिः कीदृशी मम गोचरा ।
यया पदं ते निर्वाणमञ्जसान्वाश्नवा अहम् ॥२८॥
यो योगो भगवद्धाणो निर्वाणात्मंस्त्वयोदितः ।
कीदृशः कति चाङ्गानि यतस्तत्त्वावबोधनम् ॥२९॥
तदेतन्मे विजानीहि यथाहं मन्दधीर्हरे ।
सुखं बुद्ध्येय दुर्बोधं योषा भवदनुग्रहात् ॥३०॥

देवहूति बोली—हे भगवन् ! मोक्ष प्रदान करनेमें समर्थ और मेरी-जैसी स्त्रियोंकी भी समझमें आ जानेवाली आपकी वह भक्ति क्या है ? और कैसी है ? यह बतलाइये, जिसके द्वारा मैं सुगमतासे ही आपके निर्वाणपदको प्राप्त कर सकूँ ॥२८॥ हे निर्वाणस्वरूप ! जिसके द्वारा तत्त्वज्ञान प्राप्त होता है तथा जो लक्ष्यको बेधनेवाले बाणके समान भगवान्‌की प्राप्ति करानेवाला है वह आपका कहा हुआ योग कैसा है और उसके कितने अङ्ग हैं ? ॥२९॥ हे हरे ! यह सब आप मुझे इस प्रकार बतलाइये जिससे आपकी कृपासे मैं मन्दमति स्त्रीजाति भी इस दुर्बोध विषयको सुखपूर्वक समझ सकूँ ॥३०॥

मैत्रेय उवाच

विदित्वार्थं कपिलो मातुरित्थं
जातस्नेहो यत्र तन्वाभिजातः ।
तत्त्वाम्नायं यत्प्रवदन्ति सांख्यं
प्रोवाच[1] वै भक्तिवितानयोगम् ॥३१॥

श्रीमैत्रेयजी बोले—हे विदुर ! जिसके शरीरसे स्वयं जन्म ग्रहण किया उस अपनी माताका ऐसा अभिप्राय जान कपिलजीके हृदयमें स्नेह उमड़ आया और वे प्रकृति आदि तत्त्वोंका निरूपण करनेवाले शास्त्रका, जिसे सांख्यशास्त्र भी कहते हैं, तथा भक्तिके विस्तार और योगका वर्णन करने लगे ॥३१॥

श्रीभगवानुवाच

देवानां गुणलिङ्गानामानुश्रविककर्मणाम् ।
सत्त्व एवैकमनसो वृत्तिः स्वाभाविकी तु या ॥३२॥
अनिमित्ता भागवती भक्तिः सिद्धेर्गरीयसी ।
जरयत्याशु या कोशं निगीर्णमनलो यथा ॥३३॥
नैकात्मतां मे स्पृहयन्ति केचि-
न्मत्पादसेवाभिरता मदीहाः ।

श्रीभगवान् बोले—हे मातः ! जिसका चित्त एकमात्र भगवान्‌में लग गया है ऐसे मनुष्यकी वेद-विहित समस्त कर्म कर लेनेवाली तथा विषयोंका ज्ञान करानेवाली इन्द्रियों और उनके अधिष्ठाता देवताओंकी जो सत्त्वमूर्ति श्रीहरिके प्रति स्वाभाविकी प्रवृत्ति है वह भगवान्‌की अहैतुकी भक्ति है । यह मुक्तिसे भी बढ़कर है, क्योंकि जठरानल जिस प्रकार खाये हुए अन्नको भस्म कर डालता है उसी प्रकार यह भी शीघ्र ही कर्म-संस्कारोंके भण्डाररूप लिंगशरीरको नष्ट कर देती है ॥३२-३३॥ मेरी चरणसेवामें प्रीति रखनेवाले और मेरी ही प्रसन्नताके लिये समस्त कार्य करनेवाले कितने

१. प्रा० पा०—प्रावोचद्वै ।

येऽन्योन्यतो भागवताः प्रसज्ज्य
सभाजयन्ते मम पौरुषाणि ॥३४॥
पश्यन्ति ते मे रुचिराण्यम्ब सन्तः
प्रसन्नवक्त्रारुणलोचनानि ।
रूपाणि दिव्यानि वरप्रदानि
साकं वाचं स्पृहणीयां वदन्ति ॥३५॥
तैर्दर्शनीयावयवैरुदार-
विलासहासेक्षितवामसूक्तैः ।
हृतात्मनो हृतप्राणांश्च भक्ति-
रनिच्छतो मे गतिमण्वीं प्रयुङ्क्ते ॥३६॥
अथो विभूतिं मम मायाविनस्ता-
मैश्वर्यमष्टाङ्गमनुप्रवृत्तम् ।
श्रियं भागवतीं वास्पृहयन्ति भद्रां
परस्य मे तेऽश्नुवते तु लोके ॥३७॥
न कर्हिचिन्मत्पराः शान्तरूपे
नङ्क्ष्यन्ति नो मेऽनिमिषो लेढि हेतिः ।
येषामहं प्रिय आत्मा सुतश्च
सखा गुरुः सुहृदो दैवमिष्टम् ॥३८॥
इमं लोकं तथैवामुमात्मानमुभयायिनम् ।
आत्मानमनु ये चेह ये रायः पशवो गृहाः ॥३९॥
विसृज्य सर्वानन्यांश्च मामेवं विश्वतोमुखम् ।
भजन्त्यनन्यया भक्त्या तान्मृत्योरतिपारये ॥४०॥
नान्यत्र मद्भगवतः प्रधानपुरुषेश्वरात् ।
आत्मनः सर्वभूतानां भयं तीव्र[2] निवर्तते ॥४१॥
मद्भयाद्वाति वातोऽयं सूर्यस्तपति मद्भयात् ।
वर्षतीन्द्रो दहत्यग्निर्मृत्युश्चरति मद्भयात् ॥४२॥

ही बड़भागी पुरुष, जो कि परस्पर एक-दूसरेसे मिलकर प्रेमपूर्वक मेरे ही पराक्रमोंकी चर्चा किया करते हैं, मेरे साथ एकीभाव (सायुज्यमोक्ष) हो जानेकी भी इच्छा नहीं करते ॥ ३४ ॥ हे जननि ! वे साधुजन प्रसन्नवदन और अरुणनयनयुक्त मेरे परम सुन्दर और वरदायक दिव्य स्वरूपोंकी झाँकी करते हैं और उनके साथ सप्रेम सम्भाषण करते हैं ॥३५॥ दर्शनीय अंगावयव, उदार हास-विलास, मनोहर चितवन तथा सुन्दर वाणी-से युक्त उन मेरे रूपोंकी माधुरीमें मन और इन्द्रियोंके फँस जानेसे वे मुक्तिकी इच्छा तो नहीं करते । तथापि मेरी भक्ति उन्हें उस परमपदकी प्राप्ति करा ही देती है ॥३६॥ अविद्याकी निवृत्ति हो जानेपर वे मुझ मायापतिके सत्यादि लोकोंकी भोगसम्पत्ति, भक्तिकी प्रवृत्तिके पश्चात् स्वयं प्राप्त होनेवाले अष्टसिद्धियोंके ऐश्वर्य अथवा वैकुण्ठलोककी परमोत्कृष्ट श्रीकी भी कामना नहीं करते । तथापि मुझ परमात्माके धाममें पहुँचनेपर उन्हें ये सब विभूतियाँ प्राप्त हो ही जाती हैं ॥३७॥ जिनका एकमात्र मैं ही प्रिय, आत्मा, पुत्र, मित्र, गुरु, सुहृद् और इष्टदेव हूँ वे मेरा ही आश्रय लेनेवाले भक्तजन शान्तिमय वैकुण्ठधाममें पहुँचकर किसी प्रकार नष्ट नहीं होते और न उन्हें मेरा कालचक्र ही ग्रस सकता है ॥ ३८ ॥ हे मातः ! इस लोक, परलोक तथा इन दोनों लोकोंमें जानेवाले वासनामय लिंगदेहको और अपने शरीरसे सम्बन्ध रखनेवाले धन, पशु और गृह आदि सम्पूर्ण पदार्थोंको छोड़कर जो मुझ सर्वसाक्षीका अनन्य भक्ति-भावसे भजन करते हैं उन्हें मैं मृत्युरूप संसारसागरसे पार कर देता हूँ ॥ ३९-४० ॥ प्रकृति और पुरुषके अधीश्वर तथा सम्पूर्ण प्राणियोंके अन्तरात्मारूप मुझ षडैश्वर्य-सम्पन्न भगवान्‌के सिवा और किसीकी भी सहायतासे मृत्युरूप महाभयसे छुटकारा नहीं मिल सकता ॥४१॥ मेरे ही भयसे वायु चलता है, मेरे ही भयसे सूर्य तपता है, मेरे ही भयसे मेघ बरसता है और अग्नि भस्म करता है तथा मेरे ही भयसे मृत्यु सर्वत्र विचरता है

१. प्रा० पा०—रभिपारये । २. प्रा० पा०—सर्वं ।

ज्ञानवैराग्ययुक्तेन भक्तियोगेन योगिनः ।
क्षेमाय पादमूलं मे प्रविश्यन्त्यकुतोभयम्[1] ॥४३॥
एतावानेव लोकेऽस्मिन्पुंसां निःश्रेयसोदयः ।
तीव्रेण भक्तियोगेन मनो मय्यर्पितं स्थिरम् ॥४४॥

॥४२॥ योगीजन ज्ञानवैराग्ययुक्त भक्तियोगके द्वारा शान्तिलाभके लिये मेरे निर्भय चरणकमलोंका आश्रय लेते हैं ॥४३॥ संसारमें मनुष्यको सबसे बड़ी कल्याण-प्राप्ति यही है कि उसका चित्त तीव्र भक्तियोगके द्वारा मुझमें अर्पित होकर स्थिर हो जाय ॥४४॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे तृतीयस्कन्धे कापिलेयोपाख्याने[2]
पञ्चविंशतितमोऽध्यायः ॥२५॥

छब्बीसवाँ अध्याय

महदादि भिन्न-भिन्न तत्त्वोंकी उत्पत्तिका वर्णन ।

श्रीभगवानुवाच

अथ ते संप्रवक्ष्यामि तत्त्वानां लक्षणं पृथक् ।
यद्विदित्वा विमुच्येत पुरुषः प्राकृतैर्गुणैः ॥ १ ॥
ज्ञानं निःश्रेयसार्थाय पुरुषस्यात्मदर्शनम् ।
यदाहुर्वर्णये तत्ते हृदयग्रन्थिभेदनम् ॥ २ ॥
अनादिरात्मा पुरुषो निर्गुणः प्रकृतेः परः ।
प्रत्यग्धामा स्वयंज्योतिर्विश्वं येन समन्वितम्[3] ॥ ३ ॥
स एष प्रकृतिं सूक्ष्मां दैवीं गुणमयीं विभुः ।
यदृच्छयैवोपगतामभ्यपद्यत लीलया ॥ ४ ॥
गुणैर्विचित्राः सृजतीं सरूपाः प्रकृतिं प्रजाः ।
विलोक्य मुमुहे सद्यः स इह ज्ञानगूहया ॥ ५ ॥
एवं पराभिध्यानेन कर्तृत्वं प्रकृतेः पुमान् ।
कर्मसु क्रियमाणेषु गुणैरात्मनि मन्यते ॥ ६ ॥
तदस्य संसृतिर्बन्धः पारतन्त्र्यं च तत्कृतम् ।
भवत्यकर्तुरीशस्य साक्षिणो निर्वृतात्मनः ॥ ७ ॥

श्रीभगवान् बोले—हे माता ! अब मैं तुम्हें सब तत्त्वोंके अलग-अलग लक्षण बतलाता हूँ, जिन्हें जानकर मनुष्य प्रकृतिके गुणोंसे मुक्त हो जाता है ॥१॥ आत्मदर्शनरूप ज्ञान ही पुरुषके मोक्षका कारण है और वही उसकी अहंकाररूप हृदयग्रन्थिका भेदन करनेवाला है—ऐसा पण्डितजन कहते हैं । वह ज्ञान मैं तुमसे बतलाता हूँ ॥२॥ हे जननि ! जिससे यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त है, वह आत्मा ही 'पुरुष' है । वह अनादि, निर्गुण, प्रकृतिसे परे, अन्तःकरणमें स्फुरित होनेवाला और स्वयंप्रकाशस्वरूप है ॥ ३ ॥ उस सर्वव्यापक पुरुषने अपने पास स्वतः ही प्राप्त हुई अव्यक्त और त्रिगुणमयी वैष्णवी मायाको लीलाहीसे स्वीकार कर रखा है ॥४॥ इस प्रकृतिको अपने सत्त्वादि गुणोंसे उनके अनुरूप नाना प्रकारकी प्रजा रचती देख वह ज्ञानको आच्छादित करनेवाली उसकी आवरणशक्तिके द्वारा उसीमें मोहित हो गया है ॥५॥ इस प्रकार प्रकृतिमें आत्मत्वका अध्यास हो जानेसे पुरुष प्रकृतिके गुणोंद्वारा किये जानेवाले कर्मोंमें अपना कर्तृत्व मान लेता है ॥६॥ इस कर्तृत्वाभिनिवेशसे ही अकर्ता, सर्वाध्यक्ष, साक्षी और आनन्दस्वरूप पुरुषको संसारबन्धन और परतन्त्रताकी प्राप्ति होती है ॥७॥

१. प्रा० पा०—कुतोभयाः । २. प्राचीन प्रतिमें 'कापिलेयोपाख्याने' इतना अंश नहीं है । ३. प्रा० पा०—प्रकाशितम् ।

कार्यकारणकर्तृत्वे कारणं प्रकृतिं विदुः ।
भोक्तृत्वे सुखदुःखानां पुरुषं प्रकृतेः परम् ॥ ८ ॥

विद्वान् पुरुष प्रकृतिको ही शरीर और मन, बुद्धि, अहंकारसहित इन्द्रिय वर्गकी उत्पत्तिका कारण समझते हैं तथा जो वास्तवमें प्रकृतिसे परे होकर भी प्रकृतिस्थ हो रहा है उस पुरुषको ही सुख-दुःखोंका भोक्ता मानते हैं ॥८॥

देवहूतिरुवाच

प्रकृतेः पुरुषस्यापि लक्षणं पुरुषोत्तम ।
ब्रूहि कारणयोरस्य सदसच्च यदात्मकम् ॥ ९ ॥

देवहूति बोली—हे पुरुषोत्तम ! यह स्थूल-सूक्ष्म जगत् जिनका कार्य है तथा जो इसके कारण हैं, उन प्रकृति और पुरुषका लक्षण आप मुझसे कहिये ॥९॥

श्रीभगवानुवाच

यत्तत्त्रिगुणमव्यक्तं नित्यं सदसदात्मकम् ।
प्रधानं प्रकृतिं प्राहुरविशेषं विशेषवत् ॥१०॥
पञ्चभिः पञ्चभिर्ब्रह्म चतुर्भिर्दशभिस्तथा ।
एतच्चतुर्विंशतिकं गणं प्राधानिकं विदुः ॥११॥
महाभूतानि पञ्चैव भूरापोऽग्निर्मरुन्नभः ।
तन्मात्राणि च तावन्ति गन्धादीनि मतानि मे ॥१२॥
इन्द्रियाणि दश श्रोत्रं त्वग्दृग्रसननासिकाः ।
वाक्करौ चरणौ मेढ्रं पायुर्दशम उच्यते ॥१३॥
मनो बुद्धिरहङ्कारश्चित्तमित्यन्तरात्मकम् ।
चतुर्धा लक्ष्यते भेदो वृत्त्या लक्षणरूपया ॥१४॥
एतावानेव सङ्ख्यातो ब्रह्मणः सगुणस्य ह ।
सन्निवेशो मया प्रोक्तो यः कालः पञ्चविंशकः ॥१५॥
प्रभावं पौरुषं प्राहुः कालमेके यतो भयम् ।
अहङ्कारविमूढस्य कर्तुः प्रकृतिमीयुषः ॥१६॥
प्रकृतेर्गुणसाम्यस्य निर्विशेषस्य मानवि ।
चेष्टा यतः स भगवान्काल इत्युपलक्षितः ॥१७॥
अन्तः पुरुषरूपेण कालरूपेण यो बहिः ।
समन्वेत्येष सत्त्वानां भगवानात्ममायया ॥१८॥
दैवात्क्षुभितधर्मिण्यां स्वस्यां योनौ परः पुमान् ।

श्रीभगवान् बोले—जो त्रिगुणात्मक अव्यक्त नित्य और कार्य-कारणरूप है तथा स्वयं निर्विशेष होकर भी सम्पूर्ण विशेष धर्मोंका आश्रय है उसे प्रधान या प्रकृति कहते हैं ॥१०॥ पाँच, पाँच, चार और दश इन चौबीस तत्त्वोंका समूह प्रकृतिरूप ब्रह्मका कार्य होनेसे प्राकृत कहलाता है ॥११॥ पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश—ये पाँच भूत हैं; गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द ये पाँच उनकी तन्मात्राएँ मानी गयी हैं ॥१२॥ श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, रसन, नासिका, वाक्, पाणि, पाद, उपस्थ और पायु ये दश इन्द्रियाँ कहलाती हैं ॥१३॥ तथा मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार इन चार-के रूपमें एक ही अन्तःकरण अपनी [संकल्प, निश्चय, चिन्ता और अभिमान] रूप चार वृत्तियोंसे लक्षित होता है ॥ १४॥ इस प्रकार तत्त्वज्ञानी पुरुषोंने सगुण ब्रह्मके सन्निवेशस्थानरूप चौबीस तत्त्वोंकी संख्या बतलायी है । इनके सिवा जो 'काल' है वह पच्चीसवाँ तत्त्व है ॥१५॥ कोई पुरुषके प्रभावको ही काल कहते हैं जिससे मायाके कार्यरूप देहमें आत्मत्वका अभिमान करके अहंकारसे मोहित हुए और अपनेको कर्ता माननेवाले जीवको निरन्तर भय रहता है ॥१६॥ हे मनुपुत्रि ! जिनकी प्रेरणासे गुणोंकी साम्यावस्थारूप निर्विशेष प्रकृतिमें गति उत्पन्न होती है वह 'भगवान् काल' कहलाते हैं ॥१७॥ इस प्रकार भगवान् अपनी मायाके द्वारा सब प्राणियोंके भीतर जीवरूपसे और बाहर कालरूपसे व्याप्त हैं ॥१८॥

उन परमपुरुषने जीवोंके अदृष्टवश क्षोभको प्राप्त हुई सम्पूर्ण जीवोंकी उत्पत्तिस्थानरूप अपनी मायामें

१. प्रा० पा०—पुरुषः प्रकृतेः परः । २. प्रा० पा०—प्रधानं पुरुषं प्रा० ।

आधत्त वीर्यं सासूत महत्तत्त्वं हिरण्मयम् ॥१९॥
विश्वमात्मगतं व्यञ्जन्कूटस्थो जगदङ्कुरः ।
स्वतेजसापिबत्तीव्रमात्मप्रस्वापनं तमः ॥२०॥

वीर्य स्थापित किया। तब उससे हिरण्यमय महत्तत्त्व उत्पन्न हुआ ॥१९॥ इस महत्तत्त्वरूप कूटस्थने अपनेमें स्थित विश्वको प्रकट करनेके लिये अपने स्वरूपको आच्छादित करनेवाले प्रलयकालीन अन्धकारको अपने ही तेजसे पी लिया ॥२०॥

यत्तत्सत्त्वगुणं स्वच्छं शान्तं भगवतः पदम् ।
यदाहुर्वासुदेवाख्यं चित्तं तन्महदात्मकम् ॥२१॥
स्वच्छत्वमविकारित्वं शान्तत्वमिति चेतसः ।
वृत्तिभिर्लक्षणं प्रोक्तं यथापां प्रकृतिः परा ॥२२॥
महत्तत्त्वाद्विकुर्वाणाद्भगवद्वीर्यसम्भवात् ।
क्रियाशक्तिरहङ्कारस्त्रिविधः समपद्यत ॥२३॥
वैकारिकस्तैजसश्च तामसश्च यतो भवः ।
मनसश्चेन्द्रियाणां च भूतानां महतामपि ॥२४॥
सहस्रशिरसं साक्षाद्यमनन्तं प्रचक्षते[1] ।
सङ्कर्षणाख्यं पुरुषं भूतेन्द्रियमनोमयम् ॥२५॥
कर्तृत्वं करणत्वं च कार्यत्वं चेति लक्षणम् ।
शान्तघोरविमूढत्वमिति[2] वा स्यादहंकृतेः ॥२६॥
वैकारिकाद्विकुर्वाणान्मनस्तत्त्वमजायत ।
यत्सङ्कल्पविकल्पाभ्यां वर्तते कामसंभवः[3] ॥२७॥
यद्विदुर्ह्यनिरुद्धाख्यं हृषीकाणामधीश्वरम् ।

[अब मैं तुमसे प्रसंगवश चतुर्व्यूहकी उपासनाका वर्णन करता हूँ—] सत्त्वगुणमय, स्वच्छ, शान्त और भगवान्‌की प्राप्तिका स्थानरूप जो चित्त है वही महत्तत्त्व है और उसीको 'वासुदेव' कहते हैं* ॥२१॥ जिस प्रकार जल अपने स्वाभाविक रूपसे अत्यन्त स्वच्छ होता है [पृथिवी आदि अन्य पदार्थोंके संयोगसे ही उसमें मलिनता आती है] उसी प्रकार स्वच्छत्व, अविकारित्व और शान्तत्व आदि वृत्तियोंसे चित्तकी अविकृत अवस्थाके लक्षण कहे गये हैं ॥२२॥ तदनन्तर भगवान्‌की वीर्यरूप चित्‌शक्तिसे उत्पन्न हुए महत्तत्त्वके विकृत होनेपर उससे क्रियाशक्तिमय तीन प्रकारका 'अहंकार' उत्पन्न हुआ ॥२३॥ वह वैकारिक, तैजस और तामस भेदसे तीन प्रकारका है। उसीसे मन, इन्द्रियाँ और पञ्चमहाभूत उत्पन्न हुए ॥२४॥ इस भूत, इन्द्रिय और मनरूप अहंकारको ही पण्डितजन साक्षात् संकर्षण नामक सहस्र शिरवाले अनन्तदेव कहते हैं ॥२५॥ इस अहंकारका [देवतारूपसे] कर्तृत्व [इन्द्रियरूपसे] करणत्व और [पञ्चभूतरूपसे] कार्यत्व लक्षण है तथा [सत्त्व, रज और तमके सम्बन्धसे] शान्तत्व, घोरत्व और मूढत्व भी इसीके लक्षण हैं ॥२६॥ [तीन प्रकारके अहंकारोंमेंसे] वैकारिक अहंकारके विकृत होनेपर उससे 'मन' उत्पन्न हुआ जिसके संकल्प-विकल्पोंसे कामनाओंकी उत्पत्ति होती है ॥२७॥ यह मनस्तत्त्व ही इन्द्रियोंके अधिष्ठाता 'अनिरुद्ध'के नामसे प्रसिद्ध है। योगीजन शरत्-

१. प्रा० पा०—प्रवर्तते। २. प्रा० पा०—शान्तं घोरं वि०। ३. प्रा० पा०—कार्यसं०।

* जिसे अध्यात्ममें 'चित्त' कहते हैं उसे ही अधिभूतमें 'महत्तत्त्व' कहा जाता है। चित्तमें उपास्य देव 'वासुदेव' है और अधिष्ठाता 'क्षेत्रज्ञ' है। इसी प्रकार अहंकारमें उपास्य देव 'संकर्षण' है और अधिष्ठाता 'रुद्र' है; बुद्धिमें उपास्य 'प्रद्युम्न' है और अधिष्ठाता 'ब्रह्मा' है तथा मनमें उपास्य 'अनिरुद्ध' है और अधिष्ठाता चन्द्रमा है।

शारदेन्दीवरश्यामं संराध्यं योगिभिः शनैः ॥२८॥
तैजसात्तु विकुर्वाणाद्बुद्धितत्त्वमभूत्सति ।
द्रव्यस्फुरणविज्ञानमिन्द्रियाणामनुग्रहः ॥२९॥
संशयोऽथ विपर्यासो निश्चयः स्मृतिरेव च ।
स्वाप इत्युच्यते बुद्धेर्लक्षणं वृत्तितः पृथक्[1] ॥३०॥
तैजसानीन्द्रियाण्येव क्रियाज्ञानविभागशः ।
प्राणस्य हि क्रिया शक्तिर्बुद्धेर्विज्ञानशक्तिता ॥३१॥
तामसाच्च विकुर्वाणाद्भगवद्वीर्यचोदितात् ।
शब्दमात्रमभूत्तस्मान्नभः[2] श्रोत्रं तु शब्दगम् ॥३२॥
अर्थाश्रयत्वं शब्दस्य द्रष्टुर्लिङ्गत्वमेव च ।
तन्मात्रत्वं च नभसो लक्षणं कवयो विदुः ॥३३॥
भूतानां छिद्रदातृत्वं बहिरन्तरमेव च ।
प्राणेन्द्रियात्मधिष्ण्यत्वं नभसो वृत्तिलक्षणम् ॥३४॥
नभसः शब्दतन्मात्रात्कालगत्या विकुर्वतः ।
स्पर्शोऽभवत्ततो वायुस्त्वक् स्पर्शस्य च संग्रहः ॥३५॥
मृदुत्वं कठिनत्वं च शैत्यमुष्णत्वमेव च ।
एतत्स्पर्शस्य स्पर्शत्वं तन्मात्रत्वं नभस्वतः ॥३६॥
चालनं व्यूहनं प्राप्तिर्नेतृत्वं द्रव्यशब्दयोः ।
सर्वेन्द्रियाणामात्मत्वं वायोः कर्माभिलक्षणम् ॥३७॥
वायोश्च स्पर्शतन्मात्राद्रूपं दैवेरितादभूत् ।
समुत्थितं ततस्तेजश्चक्षू रूपोपलम्भनम् ॥३८॥
द्रव्याकृतित्वं गुणता व्यक्तिसंस्थात्वमेव च ।

कालीन नीलकमलके समान श्याम वर्णवाले इन अनिरुद्ध-जीकी शनैः-शनैः [मनको वशीभूत करके] आराधना किया करते हैं ॥२८॥ हे साध्वि ! फिर तैजस अहंकारमें विकार होनेपर उससे 'बुद्धितत्त्व' हुआ । बुद्धिकी भिन्न-भिन्न वृत्तियोंके कारण पदार्थोंके स्फुरण-का ज्ञान, इन्द्रियोंका विषयोंके साथ संयोग करा देना, संशय, विपरीतज्ञान, निश्चय, स्मृति और सुषुप्ति—ये इस बुद्धिके लक्षण कहे गये हैं ॥२९-३०॥ इन्द्रियाँ तैजस अहंकारकी कार्य हैं, कर्म और ज्ञानके विभागसे उनके [कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिय] दो भेद हैं। उनमें कर्म प्राणकी शक्ति है और ज्ञान बुद्धिकी ॥३१॥ भगवान्‌की चेतन-शक्तिकी प्रेरणासे तामस अहंकारके विकृत होनेपर उससे शब्द-तन्मात्राका प्रादुर्भाव हुआ । उससे आकाश तथा शब्दको ग्रहण करनेका साधन कर्णरन्ध्र उत्पन्न हुआ ॥३२॥ अर्थका प्रकाशक होना, द्रष्टाको दृश्यके सम्बन्धका बोध कराना और आकाशका कारण होना—विद्वानोंके मतमें यही शब्द-तन्मात्राके लक्षण हैं ॥३३॥ भूतोंको अवकाश देना, सबके बाहर-भीतर वर्तमान रहना तथा प्राण, इन्द्रिय और मनका आश्रय होना—ये आकाशकी वृत्तियोंके लक्षण हैं ॥३४॥ फिर शब्द जिसकी तन्मात्रा है उस आकाशमें कालगतिसे विकार उत्पन्न होनेपर स्पर्श-तन्मात्राका जन्म हुआ और उससे वायु तथा स्पर्शका ग्रहण करानेवाली त्वचा हुई ॥३५॥ मृदुता, कठिनता, शीतलता और उष्णता तथा वायुका कारण होना—ये स्पर्शके लक्षण हैं ॥३६॥ [वृक्षकी शाखा आदिका] हिलाना, [तृण आदिको] इकट्ठा कर देना, सर्वत्र गतिशील होना एवं द्रव्य और शब्दका सञ्चालक होना तथा समस्त इन्द्रियोंको कार्यशक्ति देना—ये वायुकी क्रियाशक्तिके लक्षण हैं ॥३७॥ तदनन्तर दैवकी प्रेरणा-से स्पर्श-तन्मात्राविशिष्ट वायुके विकृत होनेपर उससे रूप-तन्मात्रा उत्पन्न हुई तथा उससे तेज और रूपको उपलब्ध करानेवाला नेत्र-गोलकका प्रादुर्भाव हुआ ॥३८॥ वस्तुके लम्बाई-चौड़ाई आदि आकारका बोध कराना, उसके पीत-शुक्लादि वर्णका ज्ञान कराना, उसकी संस्था

१. प्रा० पा०—क्वचित् । २. प्रा० पा०—तत्त्वन्नभः ।

तेजस्त्वं तेजसः साध्वि रूपमात्रस्य वृत्तयः ॥३९॥
द्योतनं पचनं पानमदनं हिममर्दनम् ।
तेजसो वृत्तयस्त्वेताः शोषणं क्षुत्तृडेव च ॥४०॥
रूपमात्राद्विकुर्वाणात्तेजसो दैवचोदितात् ।
रसमात्रमभूत्तस्मादम्भो जिह्वा रसग्रहः ॥४१॥
कषायो मधुरस्तिक्तः कट्वम्ल इति नैकधा[1] ।
भौतिकानां विकारेण रस एको विभिद्यते ॥४२॥
क्लेदनं पिण्डनं तृप्तिः प्राणनाप्यायनोन्दनम् ।
तापापनोदो भूयस्त्वमम्भसो वृत्तयस्त्विमाः ॥४३॥
रसमात्राद्विकुर्वाणादम्भसो दैवचोदितात् ।
गन्धमात्रमभूत्तस्मात्पृथ्वी घ्राणस्तु गन्धगः ॥४४॥
करम्भपूतिसौरभ्यशान्तोग्राम्लादिभिः[2] पृथक् ।
द्रव्यावयववैषम्याद्गन्ध एको विभिद्यते ॥४५॥
भावनं ब्रह्मणः स्थानं धारणं सद्विशेषणम् ।
सर्वसत्त्वगुणोद्भेदः पृथिवीवृत्तिलक्षणम् ॥४६॥

अर्थात् बनावटको प्रकट करना तथा तेजकी तन्मात्रा होना—ये रूप-तन्मात्राके भेद हैं ॥३९॥ चमकना, पकाना, शीतको दूर करना, सुखाना, भूख-प्यास उत्पन्न करना तथा [उनकी निवृत्तिके लिये] जलपान और भोजन करना—ये तेजकी वृत्तियाँ हैं ॥४०॥ फिर दैवकी प्रेरणासे रूप-तन्मात्रावाले तेजके विकृत होनेपर उससे 'रस-तन्मात्रा' उत्पन्न हुई और उससे जल तथा रसको ग्रहण करानेवाली जिह्वाकी उत्पत्ति हुई ॥४१॥ रस अपने शुद्धस्वरूपमें एक ही है, किन्तु अन्य भौतिक पदार्थोंके संयोगसे वह कसैला, मधुर, तीखा, कड़वा, खट्टा और खारा आदि कई प्रकारका होता है ॥४२॥ गीला करना, मृत्तिका आदिको पिण्डाकार कर देना, तृप्त करना, जीवित रखना, प्यास मिटाना, पदार्थोंको तरल कर देना, तापकी निवृत्ति करना और जलाशयोंमेंसे निकाल लेनेपर भी फिर बढ़ जाना—ये जलके कार्य हैं ॥४३॥ फिर दैव-प्रेरित रसस्वरूप जलके विकृत होनेपर उससे 'गन्ध-तन्मात्रा' हुई और उससे पृथिवी तथा गन्धको ग्रहण करानेवाली नासिका प्रकट हुई ॥४४॥ गन्ध एक ही है तथापि विभिन्न पदार्थोंके संसर्गसे वह मिश्रगन्ध, दुर्गन्ध, सुगन्ध, शान्त, उग्र और आम्ल आदि अनेक प्रकारका है ॥४५॥ प्रतिमा आदि रूपसे सगुण ब्रह्मकी भावनाका आश्रय होना, दूसरे तत्त्वोंकी अपेक्षा किये बिना अपने आधारसे स्थित रहना, अन्य जल आदिको धारण करना, आकाशादिका अवच्छेदक होना तथा सम्पूर्ण वस्तुओंके गुणोंको प्रकट करना—ये पृथिवीके कार्यरूप लक्षण हैं ॥४६॥

नभोगुणविशेषोऽर्थो यस्य तच्छ्रोत्रमुच्यते ।
वायोर्गुणविशेषोऽर्थो यस्य तत्स्पर्शनं विदुः ॥४७॥
तेजोगुणविशेषोऽर्थो यस्य तच्चक्षुरुच्यते ।
अम्भोगुणविशेषोऽर्थो यस्य तद्रसनं विदुः ।
भूमेर्गुणविशेषोऽर्थो यस्य स घ्राण उच्यते ॥४८॥

जिसका विषय आकाशका विशेष गुण 'शब्द' है वह श्रोत्रेन्द्रिय कहलाती है, जिसका विषय वायुका विशेष गुण 'स्पर्श' है वह त्वक्-इन्द्रिय है ॥४७॥ जिसका विषय तेजका विशेष गुण 'रूप' है वह चक्षु-इन्द्रिय है और जिसका विषय जलका विशेष गुण 'रस' है उसे रसनेन्द्रिय कहते हैं तथा जो इन्द्रिय पृथिवीके विशेष गुण 'गन्ध'को ग्रहण करती है उसे

१. प्रा० पा०—नैकशः । २. प्रा० पा०—ग्राच्छा० ।

परस्य दृश्यते धर्मो ह्यपरस्मिन्समन्वयात् ।
अतो विशेषो भावानां भूमावेवोपलक्ष्यते ॥४९॥
एतान्यसंहत्य यदा महदादीनि सप्त वै ।
कालकर्मगुणोपेतो जगदादिरुपाविशत् ॥५०॥

ततस्तेनानुविद्धेभ्यो युक्तेभ्योऽण्डमचेतनम् ।
उत्थितं पुरुषो यस्मादुदतिष्ठदसौ विराट् ॥५१॥
एतदण्डं विशेषाख्यं क्रमवृद्धैर्दशोत्तरैः ।
तोयादिभिः परिवृतं प्रधानेनावृतैर्बहिः ।
यत्र लोकवितानोऽयं रूपं भगवतो हरेः ॥५२॥
हिरण्मयादण्डकोशादुत्थाय सलिलेशयात् ।
तमाविश्य महादेवो बहुधा निर्बिभेद खम् ॥५३॥
निरभिद्यतास्य प्रथमं मुखं वाणी ततोऽभवत् ।
वाण्या वह्निरथो नासे प्राणोऽतो घ्राण एतयोः ॥५४॥
घ्राणाद्वायुरभिद्येतामक्षिणी चक्षुरेतयोः ।
तस्मात्सूर्यो व्यभिद्येतां कर्णौ श्रोत्रं ततो दिशः ॥५५॥

निर्बिभेद विराजस्त्वग्रोमश्मश्र्वादयस्ततः ।
तत ओषधयश्चासन् शिश्नं निर्बिभिदे ततः ॥५६॥
रेतस्तस्मादाप आसन्निरभिद्यत वै गुदम् ।
गुदादपानोऽपानाच्च मृत्युर्लोकभयङ्करः ॥५७॥

घ्राणेन्द्रिय कहते हैं ॥४८॥ आकाशादि कारण-तत्त्वोंके गुण भी पृथिवी आदि कार्य-तत्त्वोंमें अनुगत-रूपसे मिलते हैं इसलिये समस्त भूतोंके शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गुण केवल पृथिवीमें ही पाये जाते हैं ॥४९॥ जब महत्तत्त्व, अहंकार और पञ्चभूत—ये सातों तत्त्व अलग-अलग रहनेके कारण सृष्टिरचनामें असमर्थ रहे तो जगत्के आदिकारण श्रीनारायणने काल, कर्म, अदृष्ट और सत्त्वादि गुणोंके सहित उनमें प्रवेश किया ॥५०॥

फिर परमात्मा जिनमें प्रविष्ट हो चुके हैं ऐसे आपसमें मिले हुए उन तत्त्वोंसे एक जड अण्ड उत्पन्न हुआ तथा उस अण्डसे ही ये विराट् पुरुष प्रकट हुए ॥५१॥ इस अण्डका नाम विशेष है । इसीमें श्रीहरिके स्वरूपभूत इस सम्पूर्ण लोकका विस्तार है । यह चारों ओरसे क्रमशः एक-दूसरेसे दशगुने बड़े जल, अग्नि, वायु, आकाश, अहंकार, महत्तत्त्व और प्रकृति—इन सात आवरणोंसे घिरा हुआ है जिनमें प्रकृतिका आवरण सबसे बाहरकी ओर है ॥५२॥ उस जलस्थित सुवर्णवर्ण अण्डसे उठकर उन महादेवने उसमें कई प्रकारके छिद्र फोड़े ॥५३॥ सबसे पहले उसमें मुख प्रकट हुआ, उससे वाक्-इन्द्रिय और उसके साथ वाक्का अधिष्ठाता देव अग्नि उत्पन्न हुआ, फिर नासिकारन्ध्र प्रकट हुए उनमें प्राण और घ्राणेन्द्रिय स्थित हुए ॥५४॥ घ्राणसे उसका देवता वायु उत्पन्न हुआ । तत्पश्चात् नेत्रगोलक और उनकी इन्द्रिय चक्षु प्रकट हुए तथा उनसे उनका अधिष्ठाता देव सूर्य उत्पन्न हुआ, फिर कर्णरन्ध्र [उनकी इन्द्रिय] श्रोत्र और [श्रोत्राभिमानी देवता] दिशाएँ प्रकट हुईं ॥५५॥

फिर विराट् पुरुषके त्वचा उत्पन्न हुई, उसमें मूँछ-दाढ़ी आदि रोम और त्वचाकी अभिमानी ओषधियाँ स्थित हुईं तदनन्तर शिश्न प्रकट हुआ ॥ ५६ ॥ उसमें वीर्य और शिश्नका अभिमानी जल स्थित हुआ । फिर गुदा प्रकट हुई । गुदासे अपान और अपानसे [उसका अभिमानी देव] लोकोंको भयभीत करनेवाला मृत्यु उत्पन्न हुआ ॥ ५७ ॥

१. प्रा० पा०—लभ्यः । २. प्रा० पा०—नेन वृतै० । ३—४. प्राचीन प्रतिमें चिह्न ३ से ४ तकके बीचका मैटर मूलमें नहीं, टिप्पणीमें है ।

हस्तौ च निरभिद्येतां बलं ताभ्यां ततः स्वराट् ।
पादौ च निरभिद्येतां गतिस्ताभ्यां ततो हरिः ॥५८॥
नाड्योऽस्य निरभिद्यन्त ताभ्यो लोहितमाभृतम्[1]।
नद्यस्ततः समभवन्नुदरं निरभिद्यत ॥५९॥
क्षुत्पिपासे ततः स्यातां समुद्रस्त्वेतयोरभूत् ।
अथास्य हृदयं भिन्नं हृदयान्मन उत्थितम् ॥६०॥
मनसश्चन्द्रमा जातो बुद्धिर्बुद्धेर्गिरां पतिः ।
अहङ्कारस्ततो रुद्रश्चित्तं चैत्यस्ततोऽभवत् ॥६१॥

तदनन्तर हाथ प्रकट हुए, उनमें बल और हस्तेन्द्रियका अभिमानी इन्द्र स्थित हुआ । तथा चरण प्रकट होनेपर उनमें गति और पादेन्द्रियके अभिमानी विष्णु स्थित हुए ॥५८॥ जब विराट् पुरुषके नाडियाँ प्रकट हुईं तो उनमें रुधिर भर गया और नाडियोंसे ही नदियाँ प्रकट हुईं । तदनन्तर उदर प्रकट हुआ ॥५९॥ उसमें क्षुधा और पिपासा तथा उदरका अभिमानी समुद्र स्थित हुआ, फिर विराट् पुरुषके हृदय प्रकट हुआ, हृदयसे मन उत्पन्न हुआ और मनसे उसका अभिमानी चन्द्रमा प्रकट हुआ । तथा हृदयसे ही बुद्धि और उससे उसका अभिमानी ब्रह्मा, अहंकार और उससे उसका अभिमानी रुद्र तथा चित्त और उससे उसका अभिमानी क्षेत्रज्ञ प्रकट हुआ ॥ ६०-६१ ॥

एते ह्यभ्युत्थिता देवा नैवास्योत्थापनेऽशकन् ।
पुनराविविशुः स्वानि तमुत्थापयितुं क्रमात् ॥६२॥
वह्निर्वाचां मुखं भेजे नोदतिष्ठत्तदा विराट् ।
घ्राणेन[2] नासिके वायुर्नोदतिष्ठत्तदा विराट् ॥६३॥
अक्षिणी चक्षुषादित्यो नोदतिष्ठत्तदा विराट् ।
श्रोत्रेण कर्णौ च दिशो नोदतिष्ठत्तदा विराट् ॥६४॥
त्वचं रोमभिरोषध्यो नोदतिष्ठत्तदा विराट् ।
रेतसा शिश्नमापस्तु नोदतिष्ठत्तदा विराट् ॥६५॥
गुदं मृत्युरपानेन नोदतिष्ठत्तदा विराट् ।
हस्ताविन्द्रो बलेनैव नोदतिष्ठत्तदा विराट् ॥६६॥
विष्णुर्गत्यैव चरणौ नोदतिष्ठत्तदा विराट् ।
नाडीर्नद्यो लोहितेन नोदतिष्ठत्तदा विराट् ॥६७॥
क्षुत्तृड्भ्यामुदरं सिन्धुर्नोदतिष्ठत्तदा विराट् ।

[इन सबमें क्षेत्रज्ञ ही प्रधान है, क्योंकि] जब ये सम्पूर्ण देवगण उत्पन्न होनेके अनन्तर विराट् पुरुषको उठानेमें असमर्थ रहे तो वे उसे उठानेकी इच्छासे क्रमशः फिर अपने-अपने स्थानोंमें प्रविष्ट होने लगे ॥६२॥ अग्निने वाणीके साथ मुखमें प्रवेश किया, किन्तु इससे विराट् पुरुष न उठा । वायुने घ्राणेन्द्रियके सहित नासिकामें प्रवेश किया, फिर भी विराट् पुरुष न उठा ॥६३॥ सूर्यने चक्षु इन्द्रियके सहित नेत्रोंमें प्रवेश किया तब भी विराट् पुरुष न उठा । दिशाओंने श्रवणेन्द्रियके सहित कानोंमें प्रवेश किया तो भी विराट् पुरुष न उठा ॥६४॥ ओषधियोंने रोमोंके सहित त्वचामें प्रवेश किया तो भी विराट् पुरुष न उठा । जलने वीर्यके साथ शिश्नमें प्रवेश किया फिर भी विराट् पुरुष न उठा ॥ ६५ ॥ मृत्युने अपानके साथ गुदामें प्रवेश किया, फिर भी विराट् पुरुष न उठा । फिर इन्द्रने बलके साथ हाथोंमें प्रवेश किया परन्तु इससे भी विराट् पुरुष न उठा ॥६६॥ विष्णुने गतिके सहित चरणोंमें प्रवेश किया तो भी विराट् पुरुष न उठा । नदियोंने रुधिरके सहित नाडियोंमें प्रवेश किया तब भी विराट् पुरुष न उठा ॥६७॥ समुद्रने क्षुधा और पिपासाके सहित उदरमें प्रवेश किया किन्तु

१. प्रा० पा०—माश्रितम् ।

२. प्राचीन प्रतिमें यहाँ यह उत्तरार्ध मूलमें नहीं, टिप्पणीमें है तथा 'रेतसा शिश्नमा०' इसके पहले मूलमें भी है, परन्तु 'घ्राणेन' की जगह 'प्राणेन' पाठ है और 'नासिके' के स्थानमें 'नासिका' है ।

हृदयं मनसा चन्द्रो नोदतिष्ठत्तदा विराट् ॥६८॥
बुद्ध्या ब्रह्मापि हृदयं नोदतिष्ठत्तदा विराट् ।
रुद्रोऽभिमत्या हृदयं नोदतिष्ठत्तदा विराट् ॥६९॥
चित्तेन हृदयं चैत्यः क्षेत्रज्ञः प्राविशद्यदा ।
विराट् तदैव पुरुषः सलिलादुदतिष्ठत ॥७०॥
यथा प्रसुप्तं पुरुषं प्राणेन्द्रियमनोधियः ।
प्रभवन्ति विना येन नोत्थापयितुमोजसा ॥७१॥
तमस्मिन्प्रत्यगात्मानं धिया योगप्रवृत्तया ।
भक्त्या विरक्त्या ज्ञानेन विविच्यात्मनि चिन्तयेत् ॥७२॥

विराट् पुरुष तब भी न उठा । चन्द्रमाने मनके सहित हृदयमें प्रवेश किया तो भी विराट् पुरुष न उठा ॥६८॥ ब्रह्माने बुद्धिके सहित हृदयमें प्रवेश किया, तब भी विराट् पुरुष न उठा । रुद्रने अहंकारके साथ हृदयमें प्रवेश किया, तो भी विराट् पुरुष न उठा ॥६९॥ [अन्तमें] जब चित्तके अधिष्ठाता क्षेत्रज्ञने चित्तके सहित हृदयमें प्रवेश किया तो विराट् पुरुष उसी समय जलसे उठ खड़ा हुआ ॥७०॥ जिस प्रकार उस क्षेत्रज्ञ जीवकी सहायताके बिना प्राण, इन्द्रिय, मन और बुद्धि आदि इन्द्रियाँ सोये हुए पुरुषको नहीं उठा सकतीं [उसी प्रकार यहाँ भी समस्त देवगण विराट् पुरुषको उठानेमें असमर्थ रहे] ॥७१॥ अतः भक्ति, वैराग्य और ज्ञानद्वारा उस अन्तरात्मारूप क्षेत्रज्ञको शरीरसे पृथक् करके उसका योगपरिशुद्ध बुद्धिसे चिन्तन करे ॥७२॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे तृतीयस्कन्धे कापिलेये
तत्त्वसमाम्नाये षड्विंशतितमोऽध्यायः ॥२६॥

सत्ताईसवाँ अध्याय

प्रकृति-पुरुष-विवेकद्वारा मोक्ष-प्राप्तिका वर्णन ।

श्रीभगवानुवाच

प्रकृतिस्थोऽपि पुरुषो नाज्यते प्राकृतैर्गुणैः ।
अविकारादकर्तृत्वान्निर्गुणत्वाज्जलार्कवत् ॥ १ ॥
स एष यर्हि प्रकृतेर्गुणेष्वभिविषज्जते ।
अहंक्रियाविमूढात्मा कर्तास्मीत्यभिमन्यते ॥ २ ॥
तेन संसारपदवीमवशोऽभ्येत्य निर्वृतः ।
प्रासङ्गिकैः कर्मदोषैः सदसन्मिश्रयोनिषु ॥ ३ ॥

श्रीभगवान् बोले—हे मातः ! जिस प्रकार जलमें प्रतिबिम्बित सूर्यसे जलके शीतत्व, चञ्चलत्व आदि गुणोंका संग नहीं होता उसी प्रकार प्रकृतिमें स्थित रहनेपर भी आत्मा वास्तवमें प्रकृतिके गुणोंसे लिप्त नहीं होता; क्योंकि वह स्वभावसे ही निर्विकार, अकर्ता और निर्गुण है ॥ १ ॥ तथापि अज्ञानवश वही पुरुष जब प्राकृत गुणोंमें आसक्त हो जाता है तो अहंकारसे मोहित होकर 'मैं करता हूँ' ऐसा मानने लगता है ॥ २ ॥ उस अभिमानके कारण वह देहके संसर्गसे किये हुए पुण्य-पापरूप कर्मोंके दोषसे विवश और शान्तिहीन होकर [देवता, मनुष्य और तिर्यक्-रूप] उच्च, मध्यम और नीच योनियोंमें उत्पन्न होकर जन्म-मरणरूप संसारचक्रमें पड़ा रहता है ॥ ३ ॥

अर्थे ह्यविद्यमानेऽपि संसृतिर्न निवर्तते ।
ध्यायतो विषयानस्य स्वप्नेऽनर्थागमो[1] यथा ॥ ४ ॥
अत एव[2] शनैश्चित्तं प्रसक्तमसतां पथि ।
भक्तियोगेन तीव्रेण विरक्त्या च नयेद्वशम् ॥ ५ ॥
यमादिभिर्योगपथैरभ्यसन् श्रद्धयान्वितः ।
मयि भावेन सत्येन मत्कथाश्रवणेन च[3] ॥ ६ ॥
सर्वभूतसमत्वेन निर्वैरेणाप्रसङ्गतः ।
ब्रह्मचर्येण मौनेन स्वधर्मेण बलीयसा[4] ॥ ७ ॥
यदृच्छयोपलब्धेन संतुष्टो मितभुङ् मुनिः ।
विविक्तशरणः शान्तो मैत्रः करुण आत्मवान्॥ ८ ॥
सानुबन्धे च देहेऽस्मिन्नकुर्वन्नसदाग्रहम् ।
ज्ञानेन दृष्टतत्त्वेन प्रकृतेः पुरुषस्य च ॥ ९ ॥
निवृत्तबुद्ध्यवस्थानो दूरीभूतान्यदर्शनः ।
उपलभ्यात्मनात्मानं चक्षुषेवार्कमात्मदृक् ॥१०॥
मुक्तलिङ्गं सदाभासमसति[5] प्रतिपद्यते ।
सतो बन्धुमसच्चक्षुः सर्वानुस्यूतमद्वयम् ॥११॥

यथा जलस्थ आभासः स्थलस्थेनावदृश्यते ।
स्वाभासेन तथा[6] सूर्यो जलस्थेन दिवि स्थितः ॥१२॥

जिस प्रकार स्वप्नमें भय-शोकादिके कारणोंका अत्यन्ताभाव होनेपर भी स्वप्नके पदार्थोंमें आस्था हो जानेके कारण दुःख उठाना पड़ता है उसी प्रकार भय-शोक, अहं-मम जन्म-मरणादि संसारकी कोई सत्ता न होनेपर भी अविद्यावश विषयोंका निरन्तर चिन्तन करते रहनेसे जीवका संसारचक्र कभी निवृत्त नहीं होता ॥ ४ ॥ इसलिये कल्याणकामीको उचित है कि असन्मार्ग (विषयचिन्तन) में फँसे हुए अपने चित्तको क्रमशः अभ्यास करता हुआ भक्तियोगके द्वारा तीव्र वैराग्यसे अपने वशमें करे ॥ ५ ॥ यमादि योगमार्गोंको अभ्यास करे, श्रद्धापूर्वक मुझमें सत्य भावना करे और मेरी कथाओंका श्रवण करे ॥ ६ ॥ सम्पूर्ण प्राणियोंमें समभाव रखे, किसीसे वैर न करे, कुसंग त्याग दे, ब्रह्मचर्य तथा मौनव्रतका पालन करे और निष्कामभावसे स्वधर्मका आचरण करे ॥ ७ ॥ उसे चाहिये कि जो कुछ दैववश मिल जाय उसीमें सन्तुष्ट रहे, मित भोजन करे, एकान्तमें रहकर मनन करता रहे, शान्तस्वभाववाला, सबका बन्धु, करुणामय और धैर्यवान् हो ॥ ८ ॥ प्रकृति और पुरुषके वास्तविक स्वरूपका अनुभव होनेसे प्राप्त हुए तत्त्वज्ञानद्वारा स्त्री-पुत्रादि सम्बन्धियोंके सहित इस अपने देहमें 'मैं और मेरापनका' मिथ्या अभिनिवेश न करे ॥ ९ ॥ जाग्रत् आदि बुद्धिकी अवस्थाओंसे दूर रहे, आत्माके सिवा और कोई वस्तु न देखे । आत्मदर्शी मुनि नेत्रोंसे सूर्यको देखनेकी भाँति अपने शुद्ध अन्तःकरणद्वारा आत्माका अनुभवकर अद्वितीय ब्रह्मपदको प्राप्त हो जाता है, जो देह आदि सम्पूर्ण उपाधियोंसे पृथक्, मिथ्या अहंकारादिमें सत्यरूपसे प्रसित होनेवाला, आत्माका मित्र, मिथ्या प्रपञ्चका प्रकाशक और सम्पूर्ण पदार्थोंमें व्याप्त है ॥१०-११॥

जिस प्रकार जलमें पड़ा हुआ सूर्यका प्रतिबिम्ब अपने भीतपर पड़े हुए प्रतिबिम्बके सम्बन्धसे देखा जाता है और जलके प्रतिबिम्बसे आकाशस्थित सूर्यका ज्ञान होता है उसी

१. प्रा० पा०—स्वप्नेनार्थाग० । २. प्रा० पा०—अतः शनैः । ३. प्रा० पा०—तु । ४. प्रा० पा०—महीयसा । ५. प्रा० पा०—मगतिं । ६. प्रा० पा०—यथा ।

एवं त्रिवृदहङ्कारो भूतेन्द्रियमनोमयैः ।
स्वाभासैर्लक्षितोऽनेन सदाभासेन सत्यदृक् ॥१३॥
भूतसूक्ष्मेन्द्रियमनोबुद्ध्यादिष्विह निद्रया ।
लीनेष्वसति यस्तत्र विनिद्रो निरहंक्रियः ॥१४॥
मन्यमानस्तदात्मानमनष्टो नष्टवन्मृषा ।
नष्टेऽहङ्करणे द्रष्टा नष्टवित्त इवातुरः ॥१५॥
एवं प्रत्यवमृश्यासावात्मानं प्रतिपद्यते ।
साहङ्कारस्य द्रव्यस्य योऽवस्थानमनुग्रहः ॥१६॥

प्रकार वैकारिक आदि भेदसे तीन प्रकारका अहंकार, भूत, इन्द्रिय और मनरूप अपने आभासोंसे जाना जाता है और फिर ब्रह्मके प्रतिबिम्बयुक्त उस अहंकारसे ब्रह्मका ज्ञान होता है, जो सुषुप्तिके समय मिथ्याभूत शब्दादि विषय, इन्द्रिय और मन-बुद्धि आदिके अव्याकृतमें लीन हो जानेपर जागता रहता है और सर्वथा अहंकारशून्य है ॥१२–१४॥ आत्माका कभी नाश नहीं होता किन्तु सुषुप्तिके समय अहंकारके नाशसे अपनेको भ्रमसे नष्ट हुआ-सा मानकर वह साक्षी आत्मा, जिसका धन नष्ट हो गया हो उस पुरुषके समान व्याकुल हो जाता है ॥ १५ ॥ हे मातः ! ऐसा विचारकर विवेकी पुरुष अपने शुद्ध आत्माको प्राप्त होता है जो अहंकारके सहित सम्पूर्ण तत्त्वोंका प्रकाशक और अधिष्ठान है ॥१६॥

देवहूतिरुवाच

पुरुषं प्रकृतिर्ब्रह्मन्न विमुञ्चति कर्हिचित् ।
अन्योन्यापाश्रयत्वाच्च नित्यत्वादनयोः[1] प्रभो ॥१७॥
यथा गन्धस्य भूमेश्च न भावो व्यतिरेकतः ।
अपां रसस्य च यथा तथा बुद्धेः परस्य च ॥१८॥
अकर्तुः कर्मबन्धोऽयं पुरुषस्य यदाश्रयः ।
गुणेषु सत्सु प्रकृतेः कैवल्यं तेष्वतः कथम् ॥१९॥
क्वचित्[2]तत्त्वावमर्शेन निवृत्तं भयमुल्बणम्[3] ।
अनिवृत्तनिमित्तत्वात्[4]पुनः प्रत्यवतिष्ठते ॥२०॥

देवहूति बोली—प्रभो ! पुरुष और प्रकृति दोनों ही नित्य और एक दूसरेके आश्रयसे रहनेवाले हैं, इसलिये हे ब्रह्मन् ! प्रकृति पुरुषको कभी नहीं छोड़ सकती ॥१७॥ जिस प्रकार गन्ध और पृथिवी तथा रस और जलकी पृथक्-पृथक् स्थिति नहीं हो सकती उसी प्रकार पुरुष और प्रकृति भी एक दूसरेको छोड़कर नहीं रह सकते ॥१८॥ अतः जिस प्रकृतिके आश्रयसे पुरुषको अकर्ता होनेपर भी यह कर्म-बन्धन प्राप्त हुआ है उसके गुणोंके रहते हुए उसे कैवल्यपद कैसे प्राप्त हो सकता है ? ॥१९॥ यदि तत्त्वोंका विचार करनेसे कभी पुरुषका यह भयंकर संसारबन्धन निवृत्त हो भी जाय तो भी [प्रकृतिके गुणरूप] निमित्तका अभाव न होनेसे वह फिर इसी चक्रमें पड़ जायगा ॥२०॥

श्रीभगवानुवाच

अनिमित्तनिमित्तेन स्वधर्मेणामलात्मना ।
तीव्रया मयि भक्त्या च श्रुतसम्भृतया चिरम् ॥२१॥
ज्ञानेन दृष्टतत्त्वेन वैराग्येण बलीयसा ।
तपोयुक्तेन योगेन तीव्रेणात्मसमाधिना ॥२२॥

श्रीभगवान् बोले—हे मातः ! जिस प्रकार अरणि अपनेहीसे उत्पन्न हुए अग्निद्वारा जलकर भस्म हो जाती है उसी प्रकार निष्कामतापूर्वक शुद्धचित्तसे किये गये अपने वर्णाश्रमधर्मोंसे चिरकालीन श्रवणद्वारा प्राप्त हुई मेरी तीव्र-भक्तिसे, तत्त्वविषयक ज्ञानसे, प्रबल वैराग्यसे तथा व्रत-नियमादिका पालन करते हुए तीव्र अष्टांग

१. प्रा० पा०—नित्यत्वाच्चा० । २. प्रा० पा०—सकृत्तत्त्वा० । ३. प्रा० पा०—तत्त्वमु० । ४. प्रा० पा०—अनिमित्त० ।
५. प्राचीन प्रतिमें 'श्रीभगवानुवाच' इतना अंश नहीं है ।

प्रकृतिः पुरुषस्येह दह्यमाना त्वहर्निशम् ।
तिरोभवित्री शनकैरग्नेर्योनिरिवारणिः ॥२३॥
भुक्तभोगा परित्यक्ता दृष्टदोषा च नित्यशः ।
नेश्वरस्याशुभं धत्ते स्वे महिम्नि स्थितस्य च ॥२४॥
यथा ह्यप्रतिबुद्धस्य प्रस्वापो बह्वनर्थभृत् ।
स एव प्रतिबुद्धस्य न वै मोहाय कल्पते ॥२५॥
एवं विदिततत्त्वस्य प्रकृतिर्मयि मानसम् ।
युञ्जतो नापकुरुत आत्मारामस्य कर्हिचित् ॥२६॥
यदैवमध्यात्मरतः कालेन बहुजन्मना ।
सर्वत्र जातवैराग्य आ ब्रह्मभुवनान्मुनिः ॥२७॥
मद्भक्तः प्रतिबुद्धार्थो मत्प्रसादेन भूयसा ।
निःश्रेयसं स्वसंस्थानं कैवल्याख्यं मदाश्रयम् ॥२८॥
प्राप्नोतीहाञ्जसा धीरः स्वदृशा छिन्नसंशयः ।
यद्गत्वा न निवर्तेत योगी लिङ्गाद्विनिर्गमे[1] ॥२९॥
यदा न योगोपचितासु चेतो
मायासु सिद्धस्य विषज्जतेऽङ्ग[2] ।
अनन्यहेतुष्वथ मे गतिः स्या-
दात्यन्तिकी यत्र न मृत्युहासः ॥३०॥

योगद्वारा आत्मस्वरूपमें की हुई चित्तकी एकाग्रतासे पुरुषकी प्रकृति (अविद्या) अहर्निश क्षीण होती हुई अन्तमें लीन हो जाती है ॥२१–२३॥ फिर नित्य-प्रति दोषदर्शनद्वारा भोगकर त्यागी हुई वह प्रकृति अपने स्वरूपमें स्थित और ईश्वरभावको प्राप्त हुए उस पुरुषका कुछ भी नहीं बिगाड़ सकती ॥२४॥ जिस प्रकार निद्रा सोये हुए पुरुषको स्वप्नद्वारा अनेकों अनर्थोंकी प्राप्ति कराती है किन्तु जाग पड़नेपर उससे किसी प्रकारका मोह प्राप्त नहीं हो सकता, उसी प्रकार जिसे तत्त्वज्ञान प्राप्त हो गया है तथा जो निरन्तर मुझहीमें मन लगाये रहता है उस आत्माराम मुनिका प्रकृति कुछ भी नहीं बिगाड़ सकती ॥२५-२६॥ जब मनुष्य अनेकों जन्मोंमें बहुत कालपर्यन्त इस प्रकार आत्मामें ही निमग्न रहता है तब उसे ब्रह्म-लोकपर्यन्त सम्पूर्ण भोगोंसे वैराग्य हो जाता है ॥२७॥ आत्मतत्त्वको जाननेवाला मेरा वह भक्त आत्मानुभवके द्वारा सम्पूर्ण सन्देहोंका नाश हो जानेसे मेरी ही महती कृपासे मेरे आश्रय रहनेवाले कैवल्य नामक अपने परम मङ्गलमय पदको सुगमतासे ही प्राप्त हो जाता है, जहाँ पहुँचकर योगी लिंगदेहका नाश हो जानेके कारण फिर नहीं लौटता ॥२८-२९॥ हे मातः ! यदि योगीका चित्त केवल योगसाधनद्वारा ही प्राप्त होनेवाली मायामयी अणिमादि सिद्धियोंमें नहीं फँसता तो उसे मेरा परमपद प्राप्त होता है, जहाँ मृत्युकी कुछ भी दाल नहीं गलती ॥३०॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे तृतीयस्कन्धे कापिले[3]-
योपाख्याने सप्तविंशतितमोऽध्यायः ॥२७॥

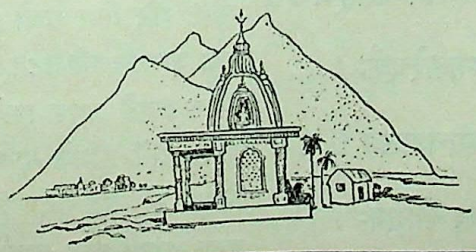

१. प्रा० पा०—लिङ्गविनिर्गमे । २. प्रा० पा०—ज्जते कथम् । । ३. प्राचीन प्रतिमें 'कापिलेयोपाख्याने' इतना अंश नहीं है ।

अट्ठाईसवाँ अध्याय

अष्टाङ्गयोगकी विधि ।

श्रीभगवानुवाच

योगस्य लक्षणं वक्ष्ये सबीजस्य नृपात्मजे ।
मनो येनैव विधिना प्रसन्नं याति सत्पथम् ॥ १ ॥
स्वधर्माचरणं शक्त्या विधर्माच्च निवर्तनम् ।
दैवाल्लब्धेन सन्तोष आत्मविच्चरणार्चनम् ॥ २ ॥
ग्राम्यधर्मनिवृत्तिश्च मोक्षधर्मरतिस्तथा ।
मितमेध्यादनं शश्वद्विविक्तक्षेमसेवनम् ॥ ३ ॥
अहिंसा सत्यमस्तेयं यावदर्थपरिग्रहः ।
ब्रह्मचर्यं तपः शौचं स्वाध्यायः पुरुषार्चनम् ॥ ४ ॥
मौनं सदासनजयः स्थैर्यं प्राणजयः शनैः ।
प्रत्याहारश्चेन्द्रियाणां विषयान्मनसा हृदि ॥ ५ ॥
स्वधिष्ण्यानामेकदेशे मनसा प्राणधारणम् ।
वैकुण्ठलीलाभिध्यानं समाधानं तथात्मनः ॥ ६ ॥
एतैरन्यैश्च पथिभिर्मनो दुष्टमसत्पथम् ।
बुद्ध्या युञ्जीत शनकैर्जितप्राणो ह्यतन्द्रितः ॥ ७ ॥
शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य विजितासन आसनम् ।
तस्मिन्स्वस्ति[1] समासीन ऋजुकायः समभ्यसेत् ॥ ८ ॥
प्राणस्य शोधयेन्मार्गं पूरकुम्भकरेचकैः ।
प्रतिकूलेन वा चित्तं यथा स्थिरमचञ्चलम् ॥ ९ ॥
मनोऽचिरात्स्याद्विरजं जितश्वासस्य योगिनः ।

श्रीभगवान् बोले—हे राजकन्ये ! अब मैं तुम्हें सबीज योगका लक्षण बताता हूँ जिसके द्वारा चित्त प्रसन्न होकर परमात्माको प्राप्त हो जाता है ॥१॥ अपनी शक्तिके अनुसार स्वधर्मका आचरण करना, परधर्मोंका परित्याग करना, दैववश जो कुछ मिल जाय उसीमें संतुष्ट रहना, आत्मज्ञानियोंके चरणोंकी पूजा करना ॥ २ ॥ विषय-वासनाकी वृद्धिके हेतुभूत कर्मोंसे दूर रहना, संसारबन्धनसे छुटानेवाले धर्मोंमें प्रेम करना, अल्प और पवित्र भोजन करना, निरन्तर एकान्त और निर्भय स्थानमें रहना ॥३॥ मन, वाणी और कर्मसे किसी जीवको न सताना, सत्य बोलना, चोरी न करना, जितना आवश्यक हो उतना ही धन सञ्चय करना, ब्रह्मचर्यका पालन करना, तपस्या करना, शुद्धतासे रहना, धर्म-ग्रन्थोंका मनन करना, भगवान्‌की पूजा करना ॥४॥ मौन धारण करना, आसनको भली प्रकार जीतना, स्थिरतासे रहना, धीरे-धीरे प्राणको अपने वशीभूत करना, मनके द्वारा इन्द्रियको विषयोंसे हटाकर अपने हृदयमें ले जाना ॥५॥ अपने शरीरके किसी एक भागमें मनके द्वारा प्राणोंको स्थिर करना, भगवान्‌की लीलाओंका निरन्तर चिन्तन करना और चित्तको समाहित करना ॥६॥ अपने विषयसंगद्वारा दूषित और कुमार्गमें जानेवाले चित्तको उपर्युक्त साधनोंसे तथा अन्य साधनोंसे भी सावधानतापूर्वक धीरे-धीरे प्राणोंको जीतकर बुद्धिद्वारा एकाग्र करे ॥७॥

प्रथम पवित्र देशमें कुश-मृगचर्म आदिसे युक्त काष्ठ आदि आसनका स्थापन करे, उसपर शरीरको सीधा और स्थिर रखते हुए सुखपूर्वक बैठकर चिरकाल-तक अभ्यास करे ॥८॥ सबसे पहले पूरक, कुम्भक और रेचक क्रमसे अथवा इसके विपरीत रेचक, कुम्भक और पूरक करके प्राणके मार्गका शोधन करे जिससे चित्त निश्चल हो जाय ॥९॥ जिस प्रकार वायु और अग्नि-द्वारा तपाया हुआ सुवर्ण अपने मलको त्याग देता है

१. प्रा० पा०—स्वस्तिकमासी० ।

वाय्वग्निभ्यां यथा लोहं ध्मातं त्यजति वै मलम् ॥१०॥
प्राणायामैर्दहेद्दोषान्धारणाभिश्च किल्बिषान् ।
प्रत्याहारेण संसर्गान्ध्यानेनानीश्वरान्गुणान् ॥११॥
यदा मनः स्वं विरजं योगेन सुसमाहितम् ।
काष्ठां भगवतो ध्यायेत्स्वनासाग्रावलोकनः ॥१२॥
प्रसन्नवदनाम्भोजं पद्मगर्भारुणेक्षणम् ।
नीलोत्पलदलश्यामं शङ्खचक्रगदाधरम् ॥१३॥
लसत्पङ्कजकिञ्जल्कपीतकौशेयवाससम् ।
श्रीवत्सवक्षसं भ्राजत्कौस्तुभामुक्तकन्धरम् ॥१४॥
मत्तद्विरेफकलया परीतं वनमालया ।
परार्ध्यहारवलयकिरीटाङ्गदनूपुरम् ॥१५॥
काञ्चीगुणोल्लसच्छ्रोणिं हृदयाम्भोजविष्टरम् ।
दर्शनीयतमं शान्तं मनोनयनवर्धनम् ॥१६॥
अपीच्यदर्शनं शश्वत्सर्वलोकनमस्कृतम् ।
सन्तं वयसि कैशोरे भृत्यानुग्रहकातरम् ॥१७॥
कीर्तन्यतीर्थयशसं पुण्यलोकयशस्करम् ।
ध्यायेद्देवं समग्राङ्गं यावन्न च्यवते मनः ॥१८॥
स्थितं व्रजन्तमासीनं शयानं वा गुहाशयम् ।
प्रेक्षणीयेहितं ध्यायेच्छुद्धभावेन चेतसा ॥१९॥

उसी प्रकार जो योगी प्राणवायुको जीत लेता है उसका चित्त शीघ्र ही निर्मल हो जाता है ॥१०॥ अतः योगीको उचित है कि प्राणायामसे अपने वात-पित्तादिजनित दोषोंको, धारणासे पापोंको, प्रत्याहारसे विषयोंके सम्बन्धको और ध्यानसे राग-द्वेषादि दुर्गुणोंको दूर करे ॥११॥ जिस समय योगाभ्यासद्वारा चित्त निर्मल और समाहित हो जाय तब नासिकाके अग्र-भागमें दृष्टि रखकर इस प्रकार भगवान्‌की मूर्तिका ध्यान करे ॥ १२ ॥

जिनका मुखकमल अति प्रसन्न है, नेत्र कमल-कोशके समान अरुणवर्ण हैं, और शरीर नील कमल-दलके सदृश श्याम है, जो अपने चार हाथोंमें शंख, चक्र, गदा और पद्म धारण किये हैं ॥१३॥ जिनका रेशमी पीताम्बर कमलकी केशरके समान सुशोभित है, जिनके वक्षःस्थलमें श्रीवत्सचिह्न शोभायमान है, तथा गलेमें कौस्तुभमणि देदीप्यमान हो रही है ॥१४॥ जो मत्तमधुकरोंसे गुञ्जायमान वनमालासे वेष्टित हैं, जिनके अंग-प्रत्यंगोंमें महामूल्य हार, कंकण, किरीट, भुजबन्द और नूपुर आदि आभूषण विराजमान हैं ॥१५॥ जिनका नितम्बदेश सुवर्णमय काञ्चीकलापसे विभूषित है, भक्तोंका हृदयकमल ही जिनकी शय्या है तथा जिनका अत्यन्त दर्शनीय श्यामसुन्दर स्वरूप मन और नयनोंको आनन्दित करनेवाला है ॥१६॥ जिनकी झाँकी बड़ी मनोहर है, जो निरन्तर सर्वलोकोंसे वन्दित हैं, जिनकी अति सुन्दर किशोर अवस्था है और जो भक्तोंपर कृपा करनेके लिये आतुर हो रहे हैं ॥१७॥ जिनका पवित्र यश परम कीर्तनीय है, जो युधिष्ठिर आदि परम यशस्वियोंसे भी अधिक कीर्तिशाली हैं उन श्रीनारायणदेवका सम्पूर्ण अंगोंके सहित तबतक ध्यान करे जबतक चित्त चलायमान न हो ॥१८॥ अपनी रुचिके अनुसार भगवान्‌को बैठे हुए, चलते हुए, शेषशय्यापर शयन करते हुए, अन्तःकरणमें विराजमान अन्तर्यामीरूपसे अथवा नाना प्रकारकी दर्शनीय लीलाएँ करते हुए शुद्धभावसे चिन्तन करे

१. प्रा० पा०—षम् । २. प्रा० पा०—भूत्या० ।

तस्मिँल्लब्धपदं चित्तं सर्वावयवसंस्थितम् ।
विलक्ष्यैकत्र संयुञ्ज्यादङ्गे भगवतो मुनिः ॥२०॥

सञ्चिन्तयेद्भगवतश्चरणारविन्दं
वज्राङ्कुशध्वजसरोरुहलाञ्छनाढ्यम्।
उत्तुङ्गरक्तविलसन्नखचक्रवाल-
ज्योत्स्नाभिराहतमहद्धृदयान्धकारम् ।२१।

यच्छौचनिःसृतसरित्प्रवरोदकेन
तीर्थेन मूर्ध्न्यधिकृतेन शिवः शिवोऽभूत् ।
ध्यातुर्मनःशमलशैलनिसृष्टवज्रं
ध्यायेच्चिरं भगवतश्चरणारविन्दम् ॥२२॥

जानुद्वयं[1] जलजलोचनया जनन्या
लक्ष्म्याखिलस्य सुरवन्दितया विधातुः ।
ऊर्वोर्निधाय करपल्लवरोचिषा य-
त्संलालितं हृदि विभोरभवस्य कुर्यात् ॥२३॥

ऊरू सुपर्णभुजयोरधिशोभमाना-
वोजोनिधी अतसिकाकुसुमावभासौ ।
व्यालम्बिपीतवरवाससि वर्तमान-
काञ्चीकलापपरिरम्भि नितम्बबिम्बम्॥२४॥

नाभिह्रदं भुवनकोशगुहोदरस्थं
यत्रात्मयोनिधिषणाखिललोकपद्मम्।
व्यूढं हरिन्मणिवृषस्तनयोरमुष्य[2]
ध्यायेद्द्वयं विशदहारमयूखगौरम् ॥२५॥

वक्षोऽधिवासमृषभस्य महाविभूतेः
पुंसां मनोनयननिर्वृतिमादधानम् ।

॥१९॥ इस प्रकार जब भगवान्‌के सम्पूर्ण अंगोंमें चित्त स्थिर हो जाय तब योगीको चाहिये कि उनके एक-एक अंगमें मनको लगावे ॥२०॥

सबसे पहले भगवान्‌के चरणकमलोंका ध्यान करना चाहिये, जो वज्र, अंकुश, ध्वजा और कमलके मंगलमय चिह्नोंसे युक्त हैं तथा जिन्होंने अपने ऊँचे अरुणवर्ण और परम शोभायमान नखचन्द्रोंकी कान्तिसे ध्यान करनेवालोंके हृदयके अज्ञानरूप घोर अन्धकारको दूर कर दिया है ॥२१॥ जिनके धोनेसे उत्पन्न हुई श्रीगंगाजीके पवित्र जलसे, उसे शिरपर धारण करनेके कारण, श्रीमहादेवजी [अमंगलवेष होनेपर भी] परम मंगलमय हुए हैं तथा जो अपना ध्यान करनेवालेके पापपुञ्जरूप पर्वतपर छोड़ा हुआ साक्षात् वज्र ही हैं भगवान्‌के उन चरणकमलोंका चिरकालतक चिन्तन करे ॥२२॥ फिर अपने हृदयमें उन अजन्मा हरिकी दोनों जानुओंका ध्यान करे जिनको विश्वविधाता ब्रह्माजीकी माता सुरवन्दिता कमललोचना लक्ष्मीजीने अपनी जंघापर रखकर अपने कान्तिमान् पाणिपल्लवोंसे उनकी सेवा की है ॥२३॥ तत्पश्चात् भगवान्‌की जंघाओंका ध्यान करे जो अतसीपुष्पके समान श्यामवर्ण और बलकी निधि हैं तथा गरुड़जीके कंधोंपर शोभायमान हैं। फिर जिसपर एड़ीपर्यन्त पीताम्बर पड़ा हुआ है और ऊपरसे सुवर्णमयी करधनीकी लड़ें सुशोभित हैं भगवान्‌के उस कटिप्रदेशका ध्यान करे ॥२४॥ तदनन्तर सम्पूर्ण लोकोंके आश्रयस्थान भगवान्‌के उदर देशमें स्थित उनके नाभिसरोवरका ध्यान करे जिससे श्रीब्रह्माजीका आश्रयरूप सर्वलोकमय कमल उत्पन्न हुआ। फिर स्वच्छ हारोंकी कान्तिसे जो गौरवर्ण प्रतीत होते हैं श्रीहरिके उन नीलमणिसदृश स्तनोंका चिन्तन करे ॥२५॥ इसके पश्चात् योगी महान् ऐश्वर्यसम्पन्न श्रीहरिके वक्षःस्थलका ध्यान करे, जो सम्पूर्ण लोकोंका निवासस्थान तथा पुरुषोंके मन और नयनोंको आनन्दित करनेवाला है। फिर

१. प्राचीन प्रतिमें 'जानुद्वयं···' से लेकर '···कुर्यात्' तक पूरा एक श्लोक मूलमें नहीं है, टिप्पणीमें लिखा गया है।
२. प्रा० पा०—मणिदृशस्त० ।

कण्ठं च कौस्तुभमणेरधिभूषणार्थं
कुर्यान्मनस्यखिललोकनमस्कृतस्य ॥२६॥
बाहूंश्च मन्दरगिरेः परिवर्तनेन
निर्णिक्तबाहुवलयानधिलोकपालान्।
सञ्चिन्तयेद्दशशतारमसह्यतेजः
शङ्खं च तत्करसरोरुहराजहंसम् ॥२७॥
कौमोदकीं भगवतो दयितां स्मरेत
दिग्धामरातिभटशोणितकर्दमेन ।
मालां मधुव्रतवरूथगिरोपघुष्टां
चैत्यस्य तत्त्वममलं मणिमस्य कण्ठे ॥२८॥
भृत्यानुकम्पितधियेह गृहीतमूर्तेः
सञ्चिन्तयेद्भगवतो वदनारविन्दम् ।
यद्विस्फुरन्मकरकुण्डलवल्गितेन
विद्योतितामलकपोलमुदारनासम् ॥२९॥
यच्छ्रीनिकेतमलिभिः परिसेव्यमानं
भूत्या स्वया कुटिलकुन्तलवृन्दजुष्टम् ।
मीनद्वयाश्रयमधिक्षिपदब्जनेत्रं
ध्यायेन्मनोमयमतन्द्रित उल्लसद्भ्रु ॥३०॥
तस्यावलोकमधिकं कृपयातिघोर-
तापत्रयोपशमनाय विसृष्टमक्ष्णोः ।
स्निग्धस्मितानुगुणितं विपुलप्रसादं
ध्यायेच्चिरं विपुलभावनया गुहायाम्॥३१॥
हासं हरेरवनताखिललोकतीव्र-
शोकाश्रुसागरविशोषणमत्युदारम् ।

सर्वलोकनमस्कृत भगवान्‌के कण्ठका चिन्तन करे जो शोभाके लिये धारण की हुई कौस्तुभमणिको भी सुशोभित कर रहा है ॥२६॥ तदनन्तर सम्पूर्ण लोकोंकी रक्षा करनेवाली भगवान्‌की भुजाओंका चिन्तन करे जिनमें धारण किये कंकणादि आभूषण समुद्र-मन्थनके समय मन्दराचलरूप मथानीकी डोरियोंकी रगड़से और भी उज्ज्वल हो गये हैं। फिर जिसके तेजको सहन नहीं किया जा सकता उस सहस्र अरोंवाले सुदर्शनचक्रका और उनके करकमलमें राजहंसके समान विराजमान शंखका चिन्तन करे ॥२७॥ तदनन्तर विपक्षी वीरोंके रुधिरपंकसे पूर्ण भगवान्‌की परम प्रिय कौमोदकी गदाका ध्यान करे, तथा भ्रमर-समूहसे गुञ्जायमान वनमालाका और उनके गलेमें शोभायमान सम्पूर्ण जगत्‌के शुद्ध तत्त्वरूप* कौस्तुभ-मणिका ध्यान करे ॥२८॥ फिर जिन्होंने अपने भक्तोंपर कृपा करनेके लिये ही साकाररूप धारण किया है उन श्रीहरिके मुखकमलका ध्यान करे, जो झिल-मिलाते हुए मकराकृत कुण्डलोंकी कान्तिसे, स्वच्छ और प्रकाशमान कपोलोंसे तथा सुघड़ नासिकासे सुशोभित है ॥२९॥ जो अपनी कान्तिके कारण भ्रमरगणसे सेवित है, जिसपर घुँघराली अलकावली छितरायी हुई हैं, जो दो मछलियोंके आश्रयस्थानको भी लजानेवाले नेत्रोंसे सुशोभित है तथा उन्नत भृकुटियोंवाला है भगवान्‌के उस श्रीसम्पन्न मनोमय मुखका सावधान होकर ध्यान करे ॥३०॥ फिर अपने हृदयमें अत्यन्त प्रेमसहित भगवान्‌की उस मधुर मुसकान और अति-शय कृपायुक्त चितवनका चिरकालतक चिन्तन करे जिसे वे अति कृपापूर्वक भक्तोंके अति भयानक ताप-त्रयको शान्त करनेके लिये छोड़ रहे हैं ॥३१॥ तदनन्तर श्रीहरिकी मधुर मुसुकानका ध्यान करे जो प्रणतजनोंके प्रबल शोकाश्रुसमुद्रका शोषण करनेवाली है; फिर, जिसे उन्होंने मुनिजनपर कृपा करनेके हेतु

१—२. प्राचीन प्रतिमें '१' के चिह्नसे लेकर '२' के चिह्नतकके बीचका मैटर मूलमें खण्डित है, टिप्पणीमें लिखा है। ३. प्रा० पा०—वितत०।

* 'आत्मानमस्य जगतो निर्लेपमगुणामलम्। बिभर्ति कौस्तुभमणिं स्वरूपं भगवान् हरिः ॥'
अर्थात् इस जगत्‌की निर्लेप, निर्गुण और निर्मल आत्मा तथा अपनी स्वरूपभूत कौस्तुभमणिको भगवान् धारण करते हैं।

सम्मोहनाय रचितं निजमाययास्य
भ्रूमण्डलं मुनिकृते मकरध्वजस्य ॥३२॥
ध्यानायनं प्रहसितं बहुलाधरोष्ठ-
भासारुणायिततनुद्विजकुन्दपङ्क्ति।
ध्यायेत्स्वदेहकुहरेऽवसितस्य विष्णो-
र्भक्त्यार्द्रयार्पितमना न पृथग्दिदृक्षेत् ॥३३॥

एवं हरौ भगवति प्रतिलब्धभावो
भक्त्या द्रवद्धृदय उत्पुलकः प्रमोदात्।
औत्कण्ठ्यबाष्पकलया मुहुरर्द्यमान-
स्तच्चापि चित्तबडिशं शनकैर्वियुङ्क्ते ॥३४॥
मुक्ताश्रयं यर्हि निर्विषयं विरक्तं
निर्वाणमृच्छति मनः सहसा यथार्चिः।
आत्मानमत्र पुरुषोऽव्यवधानमेक-
मन्वीक्षते प्रतिनिवृत्तगुणप्रवाहः ॥३५॥
सोऽप्येतया चरमया मनसो निवृत्त्या
तस्मिन्महिम्न्यवसितः सुखदुःखबाह्ये।
हेतुत्वमप्यसति कर्तरि दुःखयोर्य-
त्स्वात्मन्विधत्त उपलब्धपरात्मकाष्ठः ॥३६॥
देहं च[2] तं न चरमः स्थितमुत्थितं वा
सिद्धो विपश्यति यतोऽध्यगमत्स्वरूपम्।
दैवादुपेतमथ [3]दैववशादपेतं

साक्षात् कामदेवको भी कुण्ठित करनेके लिये अपनी मायासे धारण किया है, ऐसे उनके भ्रूमण्डलका चिन्तन करे ॥३२॥ तत्पश्चात् अपने हृदयमें स्थित हुए श्रीहरिके ध्यान करनेयोग्य हास्यका ध्यान करे, जिसमें उनके अधर और ओष्ठकी अरुण कान्तिसे उनकी दन्तावलिरूप कुन्दकलीकी पंक्ति कुछ अरुण वर्ण हो गयी है। इस प्रकार अत्यन्त भक्ति-भावसे अपना चित्त भगवान्में लगाकर उनका ध्यान करे और उनके सिवा किसी और पदार्थका चिन्तन न करे ॥३३॥

इस प्रकार जिसका श्रीहरिमें परम प्रेम हो गया है, जिसका हृदय भक्तिसे द्रवीभूत है, जिसके शरीरमें परमानन्दके कारण रोमाञ्च होने लगता है तथा जो उत्कण्ठावश प्रेमाश्रुओंकी धारासे बारम्बार आनन्द-समुद्रमें निमग्न हो जाता है वह धीरे-धीरे मछलीको पकड़नेवाले काँटेके समान श्रीहरिको स्ववश करनेके साधनरूप अपने चित्तको भी त्याग देता है ॥३४॥ फिर, जिस प्रकार दीपशिखा तैल आदिके चुक जानेपर अपने कारणरूप तेजस्तत्त्वमें लीन हो जाती है उसी प्रकार उसका मन जिस समय आश्रय, विषय और रागादिसे शून्य हो जाता है, उस समय तत्काल निर्वाणपदमें स्थित हो जाता है। इस अवस्थाके प्राप्त होनेपर पुरुष गुणप्रवाहसे निकलकर अव्यवहित और अद्वितीय परमात्माका साक्षात्कार करता है ॥३५॥ चित्तकी इस आनन्दमयी अन्तिम अवस्थासे अपने सुख-दुःख-रहित परमानन्दस्वरूपमें स्थित होकर परमात्मस्वरूपका साक्षात्कार कर वह योगी जिस सुख-दुःखके भोक्तृत्वको अज्ञानवश पहले अपने स्वरूपमें देखता था उसे अब मिथ्या अहंकारमें त्याग देता है॥३६॥ जिस प्रकार मदिराके मदसे मतवाला पुरुष शरीरपर धारण किये वस्त्रके रहने अथवा गिरनेकी कुछ भी सुधि नहीं रखता उसी प्रकार चरमावस्थाको प्राप्त हुआ सिद्ध पुरुष भी अपने देहके बैठने, उठने अथवा दैववश कहीं जाने या लौट आनेके विषयमें कुछ भी नहीं

१. प्रा० पा०—बहुला०। २. प्रा० पा०—तु। ३. प्राचीन प्रतिमें 'दैववशा०' से लेकर ३९ वें श्लोकके 'नाभिमता०' तकका मैटर मूलमें नहीं, टिप्पणीमें है।

वासो यथा परिकृतं मदिरामदान्धः ॥३७॥
देहोऽपि दैववशगः खलु कर्म यावत्
स्वारम्भकं प्रतिसमीक्षत एव सासुः।
तं सप्रपञ्चमधिरूढसमाधियोगः
स्वाप्नं पुनर्न भजते प्रतिबुद्धवस्तुः ॥३८॥
यथा पुत्राच्च वित्ताच्च पृथङ्मर्त्यः प्रतीयते।
अप्यात्मत्वेनाभिमताद्देहादेः पुरुषस्तथा ॥३९॥
यथोल्मुकाद्विस्फुलिङ्गाद्धूमाद्वापि स्वसम्भवात्।
अप्यात्मत्वेनाभिमताद्यथाग्निः पृथगुल्मुकात् ॥४०॥
भूतेन्द्रियान्तःकरणात्प्रधानाज्जीवसंज्ञितात्।
आत्मा तथा पृथग्द्रष्टा भगवान्ब्रह्मसंज्ञितः ॥४१॥
सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षेतानन्यभावेन भूतेष्विव तदात्मताम् ॥४२॥
स्वयोनिषु यथा ज्योतिरेकं नाना प्रतीयते।
योनीनां गुणवैषम्यात्तथात्मा प्रकृतौ स्थितः ॥४३॥
तस्मादिमां स्वां प्रकृतिं दैवीं सदसदात्मिकाम्।
दुर्विभाव्यां पराभाव्य स्वरूपेणावतिष्ठते ॥४४॥

जानता, क्योंकि वह अपने परमानन्दस्वरूपमें स्थित है ॥३७॥ उसका दैवाधीन शरीर भी जबतक उसके आरम्भक प्रारब्ध कर्म रहते हैं तबतक इन्द्रियोंसहित जीवित रहता है; किन्तु जिसे समाधियोग प्राप्त हो गया है और जो परमात्मवस्तुको भी भली प्रकार जान गया है वह सिद्ध समस्त प्रपञ्चसहित इस शरीरको स्वप्नमें प्रतीत होनेवाले शरीरोंके समान फिर स्वीकार नहीं करता ॥३८॥ जिस प्रकार [अपने अत्यन्त प्रिय माने हुए] पुत्र और धन आदिसे उनमें अपनेपनका अभिमान करनेवाला मनुष्य स्पष्टतया पृथक् प्रतीत होता है उसी प्रकार जिन्हें अपना आत्मा माना हुआ है उन देहादिसे उनका साक्षी जीव पृथक् है ॥३९॥ जिस प्रकार अग्निरूप माने जानेवाले और अग्निसे ही प्रकट होनेवाले अंगार विस्फुलिंग और धुएँसे उनका प्रकाशक अग्नि पृथक् है उसी प्रकार आत्मा नामसे कही जानेवाली भूतइन्द्रिय और अन्तःकरणरूप प्रकृतिसे उसका साक्षी भगवान् ब्रह्म नामक 'आत्मा' पृथक् है ॥४०-४१॥ जिस प्रकार भूतोंके कार्य घटादिमें उनके कारणरूप पञ्च महाभूत अनुगत हैं उसी प्रकार सम्पूर्ण जीवोंमें आत्माको और आत्मामें सम्पूर्ण जीवोंको अनन्यभावसे अनुगत देखे ॥४२॥ जिस प्रकार एक ही अग्नि अपने पृथक्-पृथक् आश्रयोंमें उनकी विभिन्नताके कारण भिन्न-भिन्न आकारका प्रतीत होता है उसी प्रकार देव-मनुष्यादि शरीरोंमें रहनेवाला एक ही आत्मा अपने आश्रयोंके गुण-भेदके कारण भिन्न-भिन्न प्रकारका भासता है ॥४३॥ अतः हे मातः ! भगवान्‌का भक्त, कार्य-कारणरूपसे परिणामको प्राप्त हुई इस भगवान्‌की अचिन्त्य शक्तिमयी मायाको विचारद्वारा जीतकर अपने वास्तविक स्वरूपसे स्थित होता है ॥४४॥

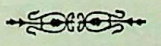

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे तृतीयस्कन्धे कापिलेये[1]
साधनानुष्ठानं नामाष्टाविंशतितमोऽध्यायः ॥२८॥

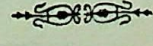

१. प्राचीन प्रतिमें 'कापिलेये साधनानुष्ठानं नाम' इतना अंश नहीं है।

उन्तीसवाँ अध्याय

भक्तिका मर्म और कालकी महिमा।

देवहूतिरुवाच

लक्षणं महदादीनां प्रकृतेः पुरुषस्य च।
स्वरूपं लक्ष्यतेऽमीषां येन तत्पारमार्थिकम् ॥ १ ॥
यथा सांख्येषु कथितं यन्मूलं तत्प्रचक्षते।
भक्तियोगस्य मे मार्गं ब्रूहि विस्तरशः[1] प्रभो ॥ २ ॥
विरागो येन पुरुषो भगवन्सर्वतो भवेत्।
आचक्ष्व जीवलोकस्य विविधा मम संसृतीः ॥ ३ ॥
कालस्येश्वररूपस्य परेषां च परस्य ते।
स्वरूपं बत कुर्वन्ति यद्धेतोः कुशलं जनाः ॥ ४ ॥
लोकस्य मिथ्याभिमतेरचक्षुष-
श्चिरं प्रसुप्तस्य तमस्यनाश्रये।
श्रान्तस्य कर्मस्वनुविद्धया धिया
त्वमाविरासीः किल योगभास्करः ॥ ५ ॥

मैत्रेय उवाच

इति मातुर्वचः श्लक्ष्णं प्रतिनन्द्य महामुनिः।
आबभाषे कुरुश्रेष्ठ प्रीतस्तां करुणार्दितः ॥ ६ ॥

श्रीभगवानुवाच

भक्तियोगो बहुविधो मार्गैर्भामिनि भाव्यते।
स्वभावगुणमार्गेण पुंसां भावो विभिद्यते ॥ ७ ॥
अभिसंधाय यो हिंसां दम्भं मात्सर्यमेव वा[2]।
संरम्भी भिन्नदृग्भावं मयि कुर्यात्स तामसः ॥ ८ ॥
विषयानभिसंधाय यश ऐश्वर्यमेव वा।
अर्चादावर्चयेद्यो मां पृथग्भावः स राजसः ॥ ९ ॥

देवहूतिने पूछा—हे प्रभो ! जिसके द्वारा प्रकृति, पुरुष और महत्तत्त्वादिका सांख्योक्त वास्तविक स्वरूप जाना जाता है और जो उन लक्षणोंका मूल कहा जाता है उस भक्तियोगके मार्गका मुझसे विस्तारपूर्वक वर्णन कीजिये ॥१-२॥ हे भगवन् ! जिसको सुननेसे पुरुषको सर्व पदार्थोंसे वैराग्य होता है वह जीवोंकी नाना प्रकारकी जन्म-मरणरूप गति भी मुझे सुनाइये ॥ ३ ॥ और जिसके भयसे लोग शुभ कर्मोंमें प्रवृत्त होते हैं तथा जो ब्रह्मादिका भी शासन करनेवाला है उस सर्वसमर्थ कालका भी स्वरूप मुझसे कहिये ॥ ४ ॥ क्योंकि जो लोग मिथ्या अभिमानसे अन्धा होकर चिरकालसे अनन्त अन्धकारमें सोये पड़े हैं तथा बुद्धिके कर्मासक्त रहनेके कारण जो अत्यन्त श्रमित हो रहे हैं उनको ज्ञानरूप प्रकाशसे जगानेके लिये और स्फूर्ति दान करनेके लिये आप साक्षात् योगमार्गके सूर्य ही प्रकट हुए हैं ॥ ५ ॥

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—हे कुरुश्रेष्ठ ! माताके ये मधुर वचन सुनकर महामुनि कपिलदेवजी उनकी प्रशंसा करते हुए जीवोंपर करुणार्द्र हो अति प्रसन्नतापूर्वक इस प्रकार कहने लगे ॥ ६ ॥

श्रीभगवान् बोले—हे भामिनि ! भक्तियोग नाना प्रकारके मार्गोंसे प्रचलित है, क्योंकि मनुष्योंका भाव उनके स्वभाव और गुणके अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकारका होता है ॥ ७ ॥ जो भेददर्शी क्रोधी पुरुष दूसरोंके प्रति हिंसा, दम्भ या स्पर्धाका भाव रखकर मुझसे प्रेम करता है, वह मेरा तामस भक्त है [इनमें जो हिंसाका भाव रखकर प्रेम करता है वह अधम है, जो दम्भका भाव रखता है वह मध्यम है तथा स्पर्धा रखकर प्रेम करनेवाला उत्तम है] ॥ ८ ॥ जो पुरुष विषयोंकी अभिलाषासे अथवा यश या ऐश्वर्यके लिये मेरा प्रतिमादिमें भेदभावसे पूजन करता है वह राजस भक्त है। [इनमें विषयोंकी अभिलाषासे भक्ति करनेवाला अधम, यशके लिये प्रेम करनेवाला मध्यम और ऐश्वर्यकी इच्छावाला उत्तम है]

१. प्रा० पा०—रतः। २. प्रा० पा०—च।

कर्मनिर्हारमुद्दिश्य परस्मिन्वा तदर्पणम् ।
यजेद्यष्टव्यमिति वा पृथग्भावः स सात्त्विकः ॥१०॥

मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये[1] ।
मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ ॥११॥
लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम् ।
अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे ॥१२॥
सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत ।
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः ॥१३॥
स एव भक्तियोगाख्य आत्यन्तिक उदाहृतः ।
येनातिव्रज्य त्रिगुणं मद्भावायोपपद्यते ॥१४॥
निषेवितेनानिमित्तेन स्वधर्मेण महीयसा ।
क्रियायोगेन शस्तेन नातिहिंस्रेण नित्यशः ॥१५॥
मद्विष्ण्वदर्शनस्पर्शपूजास्तुत्यभिवन्दनैः ।
भूतेषु मद्भावनया सत्त्वेनासङ्गमेन च ॥१६॥
महतां बहुमानेन दीनानामनुकम्पया ।
मैत्र्या चैवात्मतुल्येषु यमेन नियमेन च ॥१७॥
आध्यात्मिकानुश्रवणान्नामसङ्कीर्तनाच्च मे ।
आर्जवेनार्यसङ्गेन निरहङ्क्रियया तथा ॥१८॥
मद्धर्मणो गुणैरेतैः परिसंशुद्ध आशयः ।
पुरुषस्याञ्जसाभ्येति श्रुतमात्रगुणं हि माम् ॥१९॥
यथा वातरथो घ्राणमावृङ्क्ते[2] गन्ध आशयात् ।
एवं योगरतं चेत आत्मानमविकारि यत् ॥२०॥
अहं सर्वेषु भूतेषु भूतात्मावस्थितः सदा ।

॥ ९ ॥ जो पुरुष पापकर्मोंकी निवृत्तिके लिये, परमात्माको अर्पण करनेके लिये अथवा 'पूजन करे, पूजन करना चाहिये' ऐसी शास्त्राज्ञाका पालन करनेके लिये मेरा भेदभावसे पूजन करता है वह सात्त्विक भक्त है* ॥१०॥

इनके सिवा, मेरे गुणोंके श्रवणमात्रसे मुझ सर्वान्तर्यामीमें, समुद्रके प्रति जानेवाले गंगाप्रवाहके समान, मनकी अविच्छिन्न गति हो जाना तथा मुझ पुरुषोत्तममें अकारण और अनन्य भक्तिभाव होना मेरे निर्गुण भक्तियोगका लक्षण कहा जाता है ॥११-१२॥ ऐसे भक्तजन मेरी सेवाके सिवा सालोक्य, सार्ष्टि, सामीप्य, सारूप्य और कैवल्यमोक्षको दिये जानेपर भी ग्रहण नहीं करते ॥१३॥ अतः यह अन्तिम भक्तियोग ही सर्वश्रेष्ठ है जिसके द्वारा पुरुष तीनों गुणोंको पारकर मेरा ही रूप हो जाता है ॥१४॥

अपने वर्णाश्रमधर्मोंका निष्कामभावसे पालन करना, नित्यप्रति हिंसारहित शास्त्रोक्त क्रियायोगद्वारा मेरा पूजन करना, मेरी प्रतिमाका दर्शन, स्पर्श, पूजन, स्तुति और वन्दन करना, प्राणियोंमें मेरी ही भावना करना, धैर्य, असंगता, महापुरुषोंका सम्मान, दीनोंपर दया, अपने समान स्थितिवालोंसे मित्रता, यम-नियमोंका पालन करना, अध्यात्मशास्त्रोंका श्रवण और मेरे नामोंका संकीर्तन, मनकी सरलता, सत्पुरुषोंका समागम तथा अहंकारका त्याग—इन गुणोंको धारण करनेसे भगवद्धर्मोंका अनुष्ठान करनेवाले भक्त पुरुषका चित्त अत्यन्त शुद्ध होकर मेरे गुणोंका श्रवण करते ही बड़ी सुगमतासे मुझमें लग जाता है ॥१५-१९॥ जिस प्रकार वायुद्वारा उड़कर जानेवाला गन्ध अपने आश्रय (पुष्प) पर स्थित हुआ ही घ्राणेन्द्रियको आकर्षित कर लेता है उसी प्रकार जो चित्त भक्तियोगमें तत्पर और राग-द्वेषादि विकारोंसे शून्य होता है वह परमात्माको अपनी ओर खींच लेता है ॥२०॥ मैं सम्पूर्ण भूतोंका अन्तरात्मा हूँ और सर्वदा समस्त जीवोंमें विराजमान रहता हूँ। ऐसे मुझ

१. प्रा० पा०—गुणाशये । २. प्रा० पा०—माभुङ्क्ते ।

* इनमें पापकर्मोंकी निवृत्तिके लिये प्रेम करनेवाला अधम, परमात्माको अर्पण करनेकी बुद्धिसे उनका पूजन करनेवाला मध्यम और शास्त्राज्ञाका पालन करनेके लिये यजन करनेवाला उत्तम भक्त है।

तमवज्ञाय मां मर्त्यः कुरुतेऽर्चाविडम्बनम् ॥२१॥
यो मां सर्वेषु भूतेषु सन्तमात्मानमीश्वरम् ।
हित्वार्चां भजते मौढ्याद्भस्मन्येव जुहोति सः ॥२२॥
द्विषतः परकाये मां मानिनो भिन्नदर्शिनः ।
भूतेषु बद्धवैरस्य न मनः शान्तिमृच्छति ॥२३॥
अहमुच्चावचैर्द्रव्यैः क्रिययोत्पन्नयानघे ।
नैव तुष्येऽर्चितोऽर्चायां भूतग्रामावमानिनः ॥२४॥
अर्चादावर्चयेत्तावदीश्वरं मां स्वकर्मकृत् ।
यावन्न वेद स्वहृदि सर्वभूतेष्ववस्थितम् ॥२५॥
आत्मनश्च परस्यापि यः करोत्यन्तरोदरम् ।
तस्य भिन्नदृशो मृत्युर्विदधे भयमुल्बणम् ॥२६॥
अथ मां सर्वभूतेषु भूतात्मानं कृतालयम् ।
अर्हयेद्दानमानाभ्यां मैत्र्याभिन्नेन चक्षुषा ॥२७॥
जीवाः श्रेष्ठा ह्यजीवानां ततः प्राणभृतः शुभे ।
ततः सचित्ताः प्रवरास्ततश्चेन्द्रियवृत्तयः ॥२८॥
तत्रापि स्पर्शवेदिभ्यः प्रवरा रसवेदिनः ।
तेभ्यो गन्धविदः श्रेष्ठास्ततः शब्दविदो वराः ॥२९॥

परमात्माकी अवज्ञा करके जो लोग [उन्हें केवल प्रतिमामें ही स्थित मानकर] पूजन करते हैं, उनका वह पूजन स्वाँगमात्र है ॥ २१॥ जो पुरुष सम्पूर्ण भूतोंमें स्थित और सबके अन्तरात्मा-रूप मुझ ईश्वरकी मूर्खतावश अवहेलनाकर केवल प्रतिमापूजनमें ही लगा रहता है वह मानो भस्ममें ही हवन करता है। [अर्थात् उसकी उपासना भस्ममें किये हुए हवनके समान व्यर्थ ही होती है] ॥ २२ ॥ जो भेददर्शी पुरुष दूसरोंके शरीरमें विद्यमान मुझ सर्वान्तर्यामी परमेश्वरसे वैर करता है उस अत्यन्त मानी और प्राणियोंसे वैर करनेवाले पुरुषका चित्त कभी शान्ति नहीं पाता ॥ २३ ॥ हे पापहीने ! ऐसा सर्वभूतोंसे द्वेष करनेवाला पुरुष यदि बहुत-सी श्रेष्ठ या साधारण वस्तुओंसे मेरी प्रतिमाका नाना प्रकारकी क्रियाओंद्वारा पूजन करे, तो भी मैं उससे सन्तुष्ट नहीं होता ॥२४॥ अतः हे मातः ! जबतक उपासकको अपने हृदयमें विराजमान मुझ सर्वान्तर्यामीका पूर्णतया अनुभव न हो तबतक उसे अपने नित्य-नैमित्तिक कर्मोंका आचरण करते हुए प्रतिमाद्वारा मेरा पूजन करना चाहिये ॥ २५ ॥ जो पुरुष आत्मा और परमात्माके बीचमें शरीरको देखता अर्थात् शरीरमें आत्माभिमान करता है उस भिन्नदर्शी-को मैं मृत्युरूप होकर (संसाररूप) अति घोर दुःख देता हूँ ॥ २६ ॥ अतः सम्पूर्ण भूतोंमें विराजमान मुझ सर्वभूतान्तरात्माका दान, मान और मित्रताका आचरण करते हुए अभेदभावसे पूजन करना चाहिये ॥ २७ ॥

हे मङ्गलमयि ! पाषाणादि अचेतनोंकी अपेक्षा वृक्षादि जीव श्रेष्ठ हैं, उनसे श्वास लेनेवाले जंगम प्राणी श्रेष्ठ हैं, जङ्गम प्राणियोंमें भी जिनमें मन है वे उत्तम हैं तथा उनमें भी इन्द्रियकी वृत्तियोंसे युक्त प्राणी श्रेष्ठ हैं ॥ २८ ॥ सेन्द्रिय प्राणियोंमें भी केवल स्पर्शका ज्ञान रखनेवालोंसे रसका ज्ञान रखनेवाले उत्कृष्ट हैं, तथा रसका ज्ञान रखनेवालोंसे गन्धका ज्ञान रखनेवाले और गन्धके जाननेवालोंसे शब्दका ज्ञान रखनेवाले

१. प्रा० पा०—क्रियोत्पत्तेश्च मानिनि। २. प्रा० पा०—भूतेष्वपि स्थितम्।

रूपभेदविदस्तत्र[1] ततश्चोभयतोदतः ।
तेषां बहुपदाः श्रेष्ठाश्चतुष्पादस्ततो[2] द्विपात् ॥३०॥
ततो वर्णाश्च चत्वारस्तेषां ब्राह्मण उत्तमः ।
ब्राह्मणेष्वपि वेदज्ञो ह्यर्थज्ञोऽभ्यधिकस्ततः ॥३१॥
अर्थज्ञात्संशयच्छेत्ता ततः श्रेयान्स्वकर्मकृत् ।
मुक्तसङ्गस्ततो भूयानदोग्धा धर्ममात्मनः ॥३२॥
तस्मान्मय्यर्पिताशेषक्रियार्थात्मा निरन्तरः ।
मय्यर्पितात्मनः पुंसो मयि संन्यस्तकर्मणः ।
न पश्यामि परं भूतमकर्तुः समदर्शनात् ॥३३॥
मनसैतानि भूतानि प्रणमेद्बहु मानयन् ।
ईश्वरो जीवकलया प्रविष्टो भगवानिति ॥३४॥

भक्तियोगश्च योगश्च मया मानव्युदीरितः ।
ययोरेकतरेणैव पुरुषः पुरुषं व्रजेत् ॥३५॥
एतद्भगवतो रूपं ब्रह्मणः परमात्मनः ।
परं प्रधानं पुरुषं दैवं कर्मविचेष्टितम् ॥३६॥
रूपभेदास्पदं दिव्यं काल इत्यभिधीयते ।
भूतानां महदादीनां यतो भिन्नदृशां भयम् ॥३७॥
योऽन्तः प्रविश्य भूतानि भूतैरत्त्यखिलाश्रयः[3] ।
स विष्ण्वाख्योऽधियज्ञोऽसौ कालः कलयतां प्रभुः ॥३८

(सर्पादि) श्रेष्ठ हैं ॥ २९ ॥ उनसे भी रूपका ज्ञान रखनेवाले उत्तम हैं, उनकी अपेक्षा जिनके दोनों ओर दाँत होते हैं वे जीव श्रेष्ठ हैं उनमें भी बहुत-से चरणोंवाले तथा बहुत चरणवालोंसे चार चरणवाले और चार चरणवालोंसे दो चरणवाले जीव श्रेष्ठ हैं ॥ ३० ॥ दो चरणवाले प्राणियों (मनुष्यों) में भी ब्राह्मणादि चार वर्ण श्रेष्ठ हैं, चारों वर्णोंमें ब्राह्मण श्रेष्ठ हैं, ब्राह्मणोंमें वेदके जाननेवाले उत्तम हैं और वेदज्ञोंसे भी वेदका तात्पर्य जाननेवाले श्रेष्ठ हैं ॥ ३१ ॥ तात्पर्य जाननेवालोंसे संशय निवारण करनेवाले और संशय निवारण करनेवालोंसे अपने वर्णाश्रमधर्मोंका पालन करनेवाले श्रेष्ठ हैं । उनमें भी आसक्तिका त्याग करनेवाले और अपने धर्मका निष्कामभावसे आचरण करनेवाले उत्तम हैं ॥ ३२ ॥ उनसे भी जो अपने कर्मफल और चित्त मुझे ही अर्पण करके मुझमें निरन्तर स्थित रहते हैं वे पुरुष श्रेष्ठ हैं । ऐसे मुझे ही चित्त और कर्मफल समर्पण करनेवाले अकर्ता और समदर्शी पुरुषसे बढ़कर मुझे कोई अन्य प्राणी नहीं दीखता ॥ ३३ ॥ अतः इन सम्पूर्ण भूतोंको, यह मानकर कि इनमें जीवरूप अपने अंशसे साक्षात् श्रीनारायण ही अनुगत हैं, अति सम्मानपूर्वक प्रणाम करे ॥ ३४ ॥

हे मनुपुत्रि ! इस प्रकार मैंने तुमसे भक्तियोग और अष्टांगयोगका वर्णन किया । इनमेंसे एकका भी आचरण करनेसे पुरुष परमात्माको प्राप्त कर लेता है ॥ ३५ ॥ प्रधान, पुरुष और इनसे परे जो भगवान्‌का स्वरूप है वह सब साक्षात् परब्रह्म परमात्माके ही रूप हैं; इन्हींको कर्मकी प्रेरणा करनेवाला 'दैव' भी कहते हैं ॥ ३६ ॥ तथा यह परमात्मतत्त्व ही, जिससे महत्तत्त्वादिके अभिमानी भेददर्शी प्राणियोंको भय लगा रहता है, वह रूपभेदका आश्रय दिव्य 'काल' कहलाता है ॥ ३७ ॥ जो सबका आश्रय होनेके कारण सम्पूर्ण प्राणियोंमें अनुप्रविष्ट होकर पञ्चमहाभूतोंद्वारा उनका भक्षण करता है वह जगत्‌का शासन करनेवाले ब्रह्मादिका भी प्रभु भगवान् काल ही ये यज्ञफलदाता श्रीविष्णु भगवान् हैं ॥ ३८ ॥ इसका कोई भी मित्र,

१. प्रा० पा०—विदस्तेभ्यस्ततश्चोभयवेदिनः । २. प्रा० पा०—पादास्ततो । ३. प्रा० पा०—रण्य० ।

न चास्य कश्चिद्दयितो न द्वेष्यो न च बान्धवः ।
आविशत्यप्रमत्तोऽसौ प्रमत्तं जनमन्तकृत् ॥३९॥

यद्भयाद्वाति वातोऽयं सूर्यस्तपति यद्भयात् ।
यद्भयाद्वर्षते देवो भगणो भाति यद्भयात् ॥४०॥

यद्वनस्पतयो भीता लताश्चौषधिभिः सह ।
स्वे स्वे कालेऽभिगृह्णन्ति पुष्पाणि च फलानि च ॥४१॥

स्रवन्ति सरितो भीता नोत्सर्पत्युदधिर्यतः ।
अग्निरिन्धे सगिरिभिर्भूर्न मज्जति यद्भयात् ॥४२॥

नभो ददाति श्वसतां पदं यन्नियमाददः ।
लोकं स्वदेहं तनुते महान्सप्तभिरावृतम् ॥४३॥

गुणाभिमानिनो देवाः सर्गादिष्वस्य यद्भयात् ।
वर्तन्तेऽनुयुगं येषां वश एतच्चराचरम् ॥४४॥

सोऽनन्तोऽन्तकरः कालोऽनादिरादिकृदव्ययः ।
जनं जनेन जनयन्मारयन्मृत्युनान्तकम् ॥४५॥

शत्रु अथवा बन्धु-बान्धव नहीं है। यह सर्वदा सावधान रहकर असावधान प्राणियोंपर आक्रमणकर उनका संहार करता रहता है ॥ ३९ ॥ इसीके भयसे वायु चलता है, इसीके भयसे सूर्य तपता है, इसीके भयसे मेघ बरसता है और इसीके भयसे तारागण चमकते हैं ॥ ४० ॥ इसीसे भयभीत होकर लता और ओषधियोंके सहित सम्पूर्ण वनस्पतियाँ समयानुसार फूल और फल धारण करता हैं ॥४१॥ इसीसे डरकर नदियाँ बहती हैं और समुद्र अपनी मर्यादासे बाहर नहीं जाता तथा इसीके भयसे अग्नि प्रज्वलित होता है और पर्वतोंके सहित पृथिवी जलमें नहीं डूबती ॥४२॥ इसीके शासनसे यह आकाश जीवित प्राणियोंको श्वास-प्रश्वासके लिये अवकाश देता है तथा महत्तत्त्व जल आदि सात आवरणोंसे घिरे हुए अपने शरीररूप इस ब्रह्माण्डकी रचना करता है ॥ ४३ ॥ इस कालके ही भयसे सत्त्वादि गुणोंके अभिमानी विष्णु आदि देवगण, जिनके अधीन सम्पूर्ण चराचर जगत् है, अपने जगत्-रचना आदि कार्योंमें युगक्रमसे तत्पर रहते हैं ॥ ४४ ॥ वह काल स्वयं अनादि किन्तु दूसरोंका आदिकर्ता और अव्यय है; वह स्वयं अनन्त होकर भी दूसरोंका अन्त करनेवाला है। वह पितासे पुत्रकी उत्पत्ति कराता हुआ जगत्की रचना करता है और मृत्युके द्वारा मारता हुआ सबका अन्त करनेवाला है ॥ ४५ ॥

इति श्रीमद्भागवते तृतीयस्कन्धे कापिलेयोपाख्याने[2]
एकोनत्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥ २९ ॥

१. प्रा० पा०—मार्गं यन्नियमाच्च यः। २. प्राचीन प्रतिमें 'कापिलेयोपाख्याने' इतना अंश नहीं है।

तीसवाँ अध्याय

देह-गेहमें आसक्त पुरुषोंकी अधोगतिका वर्णन।

कपिल उवाच

तस्यैतस्य जनो नूनं नायं वेदोरुविक्रमम्।
काल्यमानोऽपि बलिनो वायोरिव घनावलिः ॥ १ ॥

यं यमर्थमुपादत्ते दुःखेन सुखहेतवे।
तं तं धुनोति भगवान्पुमाञ्छोचति यत्कृते ॥ २ ॥

यदध्रुवस्य देहस्य सानुबन्धस्य दुर्मतिः।
ध्रुवाणि मन्यते मोहाद्गृहक्षेत्रवसूनि[1] च ॥ ३ ॥

जन्तुर्वै भव एतस्मिन्यां यां योनिमनुव्रजेत्।
तस्यां तस्यां स लभते निर्वृतिं न विरज्यते ॥ ४ ॥

नरकस्थोऽपि देहं वै न पुमांस्त्यक्तुमिच्छति।
नारक्यां निर्वृतौ सत्यां देवमायाविमोहितः ॥ ५ ॥

आत्मजायासुतागारपशुद्रविणबन्धुषु।
निरूढमूलहृदय आत्मानं बहु मन्यते ॥ ६ ॥

सन्दह्यमानसर्वाङ्ग एषामुद्वहनाधिना।
करोत्यविरतं मूढो दुरितानि दुराशयः ॥ ७ ॥

आक्षिप्तात्मेन्द्रियः स्त्रीणामसतीनां च मायया।
रहो रचितयालापैः शिशूनां कलभाषिणाम् ॥ ८ ॥

गृहेषु कूटधर्मेषु दुःखतन्त्रेष्वतन्द्रितः।
कुर्वन्दुःखप्रतीकारं सुखवन्मन्यते गृही ॥ ९ ॥

अर्थैरापादितैर्गुर्व्या हिंसयेतस्ततश्च तान्।
पुष्णाति येषां पोषेण शेषभुग्यात्यधः स्वयम् ॥ १० ॥

वार्तायां लुप्यमानायामारब्धायां पुनः पुनः।

श्रीकपिलदेवजी बोले—हे मातः! जिस प्रकार निरन्तर वायुसे विचलित रहनेपर भी मेघ उसके बलको नहीं जानता उसी प्रकार कालक्रमसे भिन्न-भिन्न अवस्थाओंको प्राप्त होनेवाला यह पुरुष उसके प्रबल पराक्रमको नहीं जानता ॥ १ ॥ पुरुष सुखकी प्राप्तिके लिये जिस-जिस वस्तुको बड़े परिश्रमसे प्राप्त करता है उसी-उसीको भगवान् काल उससे छीन लेता है इससे वह उसके लिये शोक करता रहता है ॥ २ ॥ क्योंकि यह दुर्मति जीव अपने नाशवान् शरीरसे सम्बन्ध रखनेवाले गृह, क्षेत्र और धन आदिको मोहवश नित्य मानता रहता है ॥ ३ ॥ देखो, यह जीव इस संसारमें जिस-जिस योनिमें जन्म लेता है उसी-उसीमें आनन्द मानने लगता है, और इसे उससे वैराग्य नहीं होता ॥ ४ ॥ यह जीव भगवान्‌की मायासे ऐसा मोहित हो रहा है कि कर्मवश नारकी योनिमें उत्पन्न होनेपर भी वहाँके विष्ठा आदि आहारोंमें सुख माननेके कारण उसे भी नहीं छोड़ना चाहता ॥ ५ ॥ यह मूर्ख जीव अपने स्त्री, पुत्र, गृह, पशु, धन और बन्धु-बान्धवोंमें अत्यन्त आसक्त होकर अपनेको बड़ा भाग्यशाली समझता है इनके पालन-पोषणकी चिन्तासे इसके सम्पूर्ण अंग जलते रहते हैं और दुर्वासनाओंसे युक्त हो निरन्तर इन्हींके लिये नाना प्रकारके दुष्कर्म करता रहता है ॥६-७॥ कुलटा स्त्रियोंकी माया और एकान्तमें बनायी हुई चिकनी-चुपड़ी बातोंमें तथा बालकोंके मधुर भाषणमें मन और इन्द्रियोंके फँस जानेसे गृहस्थी पुरुष घरके कपटधर्मयुक्त और अत्यन्त दुःखदायी कर्मोंमें लिप्त होकर दुःखोंका बड़ी सावधानीसे प्रतीकार करता हुआ अपनेको सुखी मानता रहता है ॥८-९॥ जहाँ-तहाँ-से भयङ्कर हिंसावृत्तिके द्वारा धन सञ्चय कर यह स्त्री-पुत्रादिके पोषणमें ही लगा रहता है, उनके पेटसे बचे हुए अन्नको खाकर स्वयं नरकमें पड़ता है ॥१०॥ बार-बार प्रयत्न करनेपर भी जब इसकी कोई जीविका

१. प्रा० पा०—क्षेत्रधनानि च।

लोभाभिभूतो निःसत्त्वः परार्थे कुरुते स्पृहाम् ॥११॥
कुटुम्बभरणाकल्पो मन्दभाग्यो वृथोद्यमः[1] ।
श्रिया विहीनः कृपणो ध्यायञ्छ्वसिति मूढधीः ॥१२॥

नहीं चलती तो यह लोभवश अधीर हो जानेसे दूसरोंके धनकी इच्छा करने लगता है ॥११॥ जब मन्दभाग्यके कारण इसका कोई प्रयत्न नहीं चलता और यह मन्दबुद्धि धनहीन होकर कुटुम्बके भरण-पोषणमें असमर्थ हो जाता है तो अत्यन्त दीन होकर लम्बी-लम्बी साँसें छोड़ने लगता है ॥१२॥

एवं स्वभरणाकल्पं तत्कलत्रादयस्तथा ।
नाद्रियन्ते यथापूर्वं कीनाशा इव गोजरम् ॥१३॥
तत्राप्यजातनिर्वेदो म्रियमाणः स्वयंभृतैः ।
जरयोपात्तवैरूप्यो[2] मरणाभिमुखो गृहे ॥१४॥
आस्तेऽवमत्योपन्यस्तं गृहपाल इवाहरन् ।
आमयाव्यग्रदीप्ताग्निरल्पाहारोऽल्पचेष्टितः ॥१५॥
वायुनोत्क्रमतोत्तारः कफसंरुद्धनाडिकः[3] ।
कासश्वासकृतायासः[4] कण्ठे घुरघुरायते ॥१६॥
शयानः परिशोचद्भिः परिवीतः[5] स्वबन्धुभिः ।
वाच्यमानोऽपि न ब्रूते कालपाशवशं गतः ॥१७॥
एवं कुटुम्बभरणे व्यापृतात्माजितेन्द्रियः[6] ।
म्रियते रुदतां स्वानामुरुवेदनयास्तधीः ॥१८॥
यमदूतौ तदा प्राप्तौ भीमौ सरभसेक्षणौ ।
स दृष्ट्वा त्रस्तहृदयः शकृन्मूत्रं विमुञ्चति ॥१९॥
यातनादेह आवृत्य पाशैर्बद्ध्वा गले बलात् ।

इस प्रकार अपने पालन-पोषणमें असमर्थ देखकर वे स्त्री-पुत्रादि इसका पहलेके समान आदर नहीं करते, जैसे किसान लोग बूढ़े बैलका ॥१३॥ किन्तु फिर भी इसे वैराग्य नहीं होता । वृद्धावस्थाके कारण इसका रूप बिगड़ जाता है, शरीर रोगी हो जानेके कारण अग्नि मन्द पड़ जाती है, तथा भोजन और पुरुषार्थ दोनों ही कम हो जाते हैं । इस प्रकार मरणोन्मुख हो जानेपर अपने ही पाले हुए स्त्री-पुत्रादिके अपमानपूर्वक दिये हुए टुकड़ेसे निर्वाह करता हुआ यह घरकी रक्षा करनेवाले कुत्तेके समान अपने घरपर ही पड़ा रहता है ॥१४-१५॥ उसकी श्वास-प्रश्वासकी नाड़ियाँ कफसे रुक जाती हैं, इसलिये उसे खाँसने और श्वास लेनेमें बहुत कष्ट होता है तथा प्राण-प्रयाणके समय उसके नेत्रोंकी पुतलियाँ चढ़ जाती हैं और कण्ठमें घुर-घुर शब्द होने लगता है ॥१६॥ वह अपने शोकातुर बन्धु-बान्धवोंसे घिरा हुआ पड़ा रहता है और मृत्युपाशके वशीभूत हो जानेसे उनके बुलानेपर भी स्वयं नहीं बोल सकता ॥१७॥ इस प्रकार इन्द्रियोंको न जीतकर निरन्तर कुटुम्बपोषणमें ही लगा रहनेवाला वह मूढ़ पुरुष अपने आत्मीयोंको रोते छोड़कर चल बसता है । उस समय अत्यन्त कष्टके कारण उसकी सब बुद्धि मारी जाती है ॥१८॥ उस समय अपनेको लेनेके लिये आये हुए अति भयङ्कर और क्रोधसे लाल नेत्र किये दो यमदूतोंको देखकर वह भयके कारण मल-मूत्र त्याग कर देता है ॥१९॥ जिस प्रकार दण्डनीय पुरुषको राजदूत ले जाते हैं उसी प्रकार वे यमदूत उसके

१. प्रा० पा०—वृथाश्रमः । २. प्रा० पा०—जरया जात० । ३. प्रा० पा०—नाडिना । ४. प्रा० पा०—यासकण्ठो घु० । ५. प्रा० पा०—परीतश्च स्व० । ६. प्रा० पा०—व्यावृता० ।

नयतो दीर्घमध्वानं दण्ड्यं राजभटा यथा ॥२०॥
तयोर्निर्भिन्नहृदयस्तर्जनैर्जातवेपथुः ।
पथि श्वभिर्भक्ष्यमाण आर्तोऽघं स्वमनुस्मरन् ॥२१॥
क्षुत्तृट्परीतोऽर्कदवानलानिलैः
संतप्यमानः पथि तप्तवालुके ।
कृच्छ्रेण पृष्ठे कशया च ताडित-
श्चलत्यशक्तोऽपि निराश्रमोदके ॥२२॥
तत्र तत्र पतञ्छ्रान्तो मूर्च्छितः पुनरुत्थितः ।
पथा पापीयसा नीतस्तमसा यमसादनम् ॥२३॥
योजनानां सहस्राणि नवतिं नव चाध्वनः ।
त्रिभिर्मुहूर्तैर्द्वाभ्यां वा नीतः प्राप्नोति यातनाः ॥२४॥
आदीपनं स्वगात्राणां वेष्टयित्वोल्मुकादिभिः ।
आत्ममांसादनं क्वापि स्वकृतं परतोऽपि वा ॥२५॥
जीवतश्चान्त्राभ्युद्धारः श्वगृध्रैर्यमसादने ।
सर्पवृश्चिकदंशाद्यैर्दशद्भिश्चात्मवैशसम् ॥२६॥
कृन्तनं चावयवशो गजादिभ्यो भिदापनम् ।
पातनं गिरिशृङ्गेभ्यो रोधनं चाम्बुगर्तयोः ॥२७॥
यास्तामिस्रान्धतामिस्रा रौरवाद्याश्च यातनाः ।
भुङ्क्ते[1] नरो वा नारी वा मिथः सङ्गेन निर्मिताः ॥२८॥
अत्रैव नरकः स्वर्ग इति मातः प्रचक्षते ।
या यातना वै नारक्यस्ता इहाप्युपलक्षिताः ॥२९॥
एवं कुटुम्बं बिभ्राण उदरम्भर एव वा ।

यातनादेहके गलेमें सुदृढ़ पाश डालकर उसे बलात्कारसे एक बहुत लम्बे मार्गसे ले जाते हैं ॥२०॥ उन यमदूतोंकी यातनासे उसका हृदय फटने और शरीर काँपने लगता है, मार्गमें उसे कुत्ते नोचते हैं। इस प्रकार अत्यन्त व्याकुल हो अपने पापोंको स्मरण करता हुआ, भूख-प्याससे विह्वल तथा सूर्यकी घाम और दावानलसे सन्तप्त तथा उष्णवायुसे अति पीड़ित हो शक्ति न होनेपर भी यमदूतोंद्वारा पीठपर कोड़े खानेसे विवश होकर तप्त वालुकामय तथा जल और विश्राम-स्थानसे रहित मार्गमें उसे चलना ही पड़ता है॥२१-२२॥ जहाँ-तहाँ थककर गिर जाता है, मूर्च्छा आ जाती है, चेतना आनेपर फिर उठता है। इस प्रकार अति दुःख-मय अँधेरे मार्गसे यमदूत उसे यमपुरीको ले जाते हैं ॥ २३ ॥ यमलोकका मार्ग निन्यानवे सहस्र (९९०००) योजन लम्बा है। इतने मार्गको दो या तीन मुहूर्त्तमें पार करनेमें उसे बड़े कष्ट उठाने पड़ते हैं॥२४॥ [नरकमें पहुँचनेपर भी उसे तरह-तरहके दुःख दिये जाते हैं, जैसे] दहकती हुई लकड़ी आदिके बीचमें डालकर तपाया जाना, स्वयं अथवा दूसरोंके द्वारा अपना ही मांस नोचकर खिलाया जाना ॥२५॥ यमपुरीके कुत्तों अथवा गिद्धोंद्वारा जीते-जी अपनी आँतें खींची जाना, साँप, बिच्छू और डाँस आदि काटनेवाले जीवोंसे शरीरको पीड़ित किया जाना ॥२६॥ शरीरके अंग-अंगको शस्त्रद्वारा कटवाना, हाथी आदिसे शरीरको कुचलवाना, पर्वतशिखरसे गिराना, जलमें अथवा अन्धकारमय गढ़ेमें डाल देना ॥२७॥ ये सब यातनाएँ तथा इसी प्रकार और भी तामिस्र, अन्धतामिस्र तथा रौरव आदि नरकोंकी यातनाएँ, स्त्री हो या पुरुष उसे पारस्परिक संसर्गसे होनेवाले पापके कारण भोगनी ही पड़ती हैं ॥२८॥ हे मातः! विचारवान् लोग स्वर्ग और नरक दोनों इस लोकमें भी बताते हैं, क्योंकि ये नरककी यातनाएँ यहाँ कीट-पतंगादि सब योनियोंमें भी देखी जाती हैं ॥२९॥

इस प्रकार अपने कुटुम्बका ही पालन करनेवाला अथवा अपना ही पेट भरनेवाला पुरुष अपने कुटुम्ब

१. प्राचीन प्रतिमें 'भुङ्क्ते नरो वा नारी वा···'से लेकर '···इहाप्युपलक्षिताः' तक डेढ़ श्लोक नहीं है।

विसृज्येहोभयं प्रेत्य भुङ्क्ते तत्फलमीदृशम् ॥३०॥

एकः प्रपद्यते ध्वान्तं हित्वेदं स्वकलेवरम् ।
कुशलेतरपाथेयो भूतद्रोहेण यद्धृतम् ॥३१॥

दैवेनासादितं तस्य शमलं निरये पुमान् ।
भुङ्क्ते कुटुम्बपोषस्य हृतवित्त इवातुरः ॥३२॥

केवलेन ह्यधर्मेण कुटुम्बभरणोत्सुकः ।
याति जीवोऽन्धतामिस्रं चरमं तमसः पदम् ॥३३॥

अधस्तान्नरलोकस्य यावतीर्यातनादयः ।
क्रमशः समनुक्रम्य पुनरत्राव्रजेच्छुचिः ॥३४॥

और शरीर दोनोंको इसी लोकमें छोड़कर मरनेके अनन्तर अपने पापकर्मोंका ऐसा फल भोगता है ॥३०॥ अपने इस शरीरको यहीं छोड़कर प्राणीमात्रसे द्रोह करके एकत्रित किये हुए पापरूप पाथेयको साथ लेकर वह अकेला ही नरकमें पड़ता है ॥३१॥ जीव कुटुम्बपोषणके समय किये हुए अपने पापोंका फल विधाताद्वारा उपस्थित किये जानेपर नरकमें [अकेला ही] भोगता है और जिसका सर्वस्व लुट गया है उस पुरुषके समान वह अत्यन्त व्याकुल रहता है ॥३२॥ केवल अधर्मसे ही अपने कुटुम्बके पालन-पोषणमें लगा रहनेवाला पुरुष नरकके अत्यन्त घोर अन्तिम स्थान अन्धतामिस्र नरकमें जाता है ॥३३॥ इस प्रकार नरक-भोगके अनन्तर मनुष्ययोनिके नीचे जितनी दुःखमयी योनियाँ हैं उन्हें क्रमशः भोगकर पवित्र हो जानेपर वह फिर इस मनुष्ययोनिमें ही जन्म लेता है ॥३४॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे तृतीयस्कन्धे कापिलेयोपाख्याने कर्मविपाको नाम त्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥३०॥

इकतीसवाँ अध्याय

मनुष्ययोनिको प्राप्त हुए जीवकी गतिका वर्णन ।

श्रीभगवानुवाच

कर्मणा दैवनेत्रेण जन्तुर्देहोपपत्तये ।
स्त्रियाः प्रविष्ट उदरं पुंसो रेतःकणाश्रयः ॥ १ ॥

कललं त्वेकरात्रेण पञ्चरात्रेण बुद्बुदम् ।
दशाहेन तु कर्कन्धूः पेश्यण्डं वा ततः परम् ॥ २ ॥

मासेन तु शिरो द्वाभ्यां बाह्वङ्घ्र्याद्यङ्गविग्रहः ।

श्रीभगवान् बोले—हे मातः ! फिर यह जीव देह-प्राप्तिके लिये, जिसका प्रेरक विधाता ही है उस कर्मका आश्रयकर पुरुषके वीर्यकणके आश्रयसे स्त्रीके उदरमें प्रवेश करता है ॥१॥ स्त्रीके उदरमें पहुँचनेके अनन्तर वह एक रात्रिमें कलल (वीर्य और रजका मिला हुआ रूप) हो जाता है, फिर पाँच रात्रिमें बुद्बुद (गोलाकार) हो जाता है, दश रात्रिमें बेरके समान आकारवाला और कुछ कठिन हो जाता है और उसके पीछे मांस-पेशी (मांसपिण्ड) रूप अथवा [पक्षीका गर्भ होनेपर] अण्डाकारमें परिणत हो जाता है ॥२॥ एक मास पश्चात् उसके शिर निकल आता है और दो महीनेमें हाथ-पाँव आदि अंगोंका विभाग हो जाता

१. प्रा० पा०—नास्तु ताः । २. प्रा० पा०—के त्रिंश० ।

नखलोमास्थिचर्माणि[1] लिङ्गच्छिद्रोद्भवस्त्रिभिः ॥ ३ ॥
चतुर्भिर्धातवः सप्त पञ्चभिः क्षुत्तृडुद्भवः ।
षड्भिर्जरायुणा वीतः कुक्षौ भ्राम्यति दक्षिणे ॥ ४ ॥
मातुर्जग्धान्नपानाद्यैरेधद्धातुरसम्मते ।
शेते विण्मूत्रयोर्गर्ते स जन्तुर्जन्तुसम्भवे ॥ ५ ॥
कृमिभिः क्षतसर्वाङ्गः सौकुमार्यात्प्रतिक्षणम् ।
मूर्च्छामाप्नोत्युरुक्लेशस्तत्रत्यैः क्षुधितैर्मुहुः ॥ ६ ॥
कटुतीक्ष्णोष्णलवणरूक्षाम्लादिभिरुल्बणैः ।
मातृभुक्तैरुपस्पृष्टः सर्वाङ्गोत्थितवेदनः ॥ ७ ॥
उल्बेन संवृतस्तस्मिन्नन्त्रैश्च बहिरावृतः ।
आस्ते कृत्वा शिरः कुक्षौ भुग्नपृष्ठशिरोधरः ॥ ८ ॥
अकल्पः स्वाङ्गचेष्टायां शकुन्त इव पञ्जरे ।
तत्र लब्धस्मृतिर्दैवात्कर्म जन्मशतोद्भवम् ।
स्मरन्दीर्घमनूच्छ्वासं शर्म[2] किं नाम विन्दते ॥ ९ ॥
आरभ्य सप्तमान्मासाल्लब्धबोधोऽपि[3] वेपितः ।
नैकत्रास्ते सूतिवातैर्विष्ठाभूरिव सोदरः[4] ॥ १० ॥
नाथमान ऋषिर्भीतः सप्तवध्रिः कृताञ्जलिः ।
स्तुवीत तं विक्लवया वाचा येनोदरेऽर्पितः ॥ ११ ॥

है तथा तीन मासमें नख, लोम, अस्थि, चर्म और स्त्रीत्व अथवा पुरुषत्वके प्रदर्शक छिद्र उत्पन्न हो जाते हैं ॥३॥ चार महीनेमें वह मांस आदि सातों धातुओंसे युक्त हो जाता है, पाँचवें महीनेमें उसे भूख-प्यास लगने लगते हैं और छठे मासमें वह झिल्लीसे आवृत (लिपटा) हुआ माताकी दाहिनी कोखमें घूमने लगता है ॥४॥ तब माताके खाये हुए अन्न और जलसे जिसकी सब धातुएँ वृद्धिको प्राप्त हो रही हैं ऐसा वह जीव इच्छा न होनेपर भी कीटादि जन्तुओंके उत्पत्तिस्थान उस मल-मूत्रके गढ़ेमें पड़ा रहता है ॥५॥ और वहाँके भूखे जन्तुओंद्वारा बारम्बार सम्पूर्ण शरीरमें काटे जानेसे सुकुमार शरीर होनेके कारण अत्यन्त क्लेशित होकर क्षण-क्षणमें मूर्छित हो जाता है ॥६॥ माताके खाये हुए कड़ुए, तीखे, उष्ण, लवण, रूखे और खट्टे आदि उग्र पदार्थोंके स्पर्शसे उसके सब अंगोंमें पीड़ा होने लगती है ॥७॥ माताके गर्भाशयमें गर्भवेष्टन (झिल्ली) से ढका हुआ वह जीव बाहरसे आँतोंसे घिरा रहता है । उसका शिर माताकी कोखमें स्थित रहता है तथा पीठ और गर्दन मुड़ी रहती हैं ॥८॥ पिंजड़ेमें बन्द हुए पक्षीके समान वह अपने अंगोंको चेष्टा करनेमें भी समर्थ नहीं होता । उसी समय दैववश उसे अपने सैकड़ों पूर्वजन्मोंके पापकर्मोंकी याद आती है। उस समय वह दुःखसे बार-बार दीर्घ निःश्वास छोड़ने लगता है और उसे तनिक भी चैन नहीं मिलता ॥९॥ सातवें महीनेके आरम्भमें उसे सुख-दुःख-का ज्ञान हो जानेपर भी प्रसूतिवायुसे चलायमान रहनेके कारण वह अपनी माताके उदरमें विष्ठासे उत्पन्न हुए कीड़ोंके समान एक स्थानपर नहीं रहता ॥१०॥ उस समय, सात धातुओंसे युक्त शरीरमें अभिमान करनेवाला [तथा अपने पूर्वजन्मोंका वृत्तान्त जाननेवाला] वह जीव अति भयभीत होकर याचना करता हुआ, जिन्होंने उसे माताके उदरमें प्रविष्ट किया है उन श्रीहरिकी, हाथ जोड़कर अति दीन वाणीसे इस प्रकार स्तुति करता है ॥११॥

१. प्रा० पा०—मर्माणां । २. प्रा० पा०—संगात् किं । ३. प्रा० पा०—ऽति० । ४. प्रा० पा०—सोऽचरत् ।

जन्तुरुवाच[1]

तस्योपसन्नमवितुं जगदिच्छयात्त-
नानातनोर्भुवि चलच्चरणारविन्दम् ।
सोऽहं व्रजामि शरणं ह्यकुतोभयं[2] मे
येनेदृशी गतिरदर्श्यसतोऽनुरूपा ॥१२॥

यस्त्वत्र बद्ध इव कर्मभिरावृतात्मा
भूतेन्द्रियाशयमयीमवलम्ब्य[3] मायाम् ।
आस्ते विशुद्धमविकारमखण्डबोध-
मातप्यमानहृदयेऽवसितं नमामि ॥१३॥

यः पञ्चभूतरचिते रहितः शरीरे
छन्नो यथेन्द्रियगुणार्थचिदात्मकोऽहम् ।
तेनाविकुण्ठमहिमानमृषिं तमेनं
वन्दे परं प्रकृतिपूरुषयोः पुमांसम् ॥१४॥

यन्माययोरुगुणकर्मनिबन्धनेऽस्मि-
न्संसारिके पथि चरंस्तदभिश्रमेण ।
नष्टस्मृतिः पुनरयं प्रवृणीत लोकं
युक्त्या कया महदनुग्रहमन्तरेण ॥१५॥

ज्ञानं यदेतददधात्कतमः स देव-
स्त्रैकालिकं स्थिरचरेष्वनुवर्तितांशः ।
तं जीवकर्मपदवीमनुवर्तमाना-
स्तापत्रयोपशमनाय वयं भजेम ॥१६॥

देह्यन्यदेहविवरे जठराग्निनासृ-
ग्विण्मूत्रकूपपतितो भृशतप्तदेहः ।
इच्छन्नितो विवसितुं गणयन्स्वमासा-
न्निर्वास्यते कृपणधीर्भगवन्कदा नु ॥१७॥

येनेदृशीं गतिमसौ दशमास्य ईश
संग्राहितः पुरुदयेन भवादृशेन ।

जीव कहता है—जो अपने शरणागत जगत्की रक्षाके लिये नाना प्रकारके रूप धारण करते हैं तथा जिन्होंने मुझे असाधुओंके योग्य यह गर्भवासरूप अधमगति दिखायी है मैं उन्हीं श्रीहरिके भयहीन और भूमिविहारी चरणारविन्दोंकी शरण हूँ ॥१२॥ जो इस माताके उदरमें देह, इन्द्रिय और अन्तःकरण-रूप मायाका आश्रयकर पुण्य-पापरूप कर्मोंसे आच्छादित रहनेके कारण बद्ध-सा मालूम होता है वह मैं अपने संतप्त हृदयमें स्फुरित होनेवाले शुद्ध अविकारी और अखण्ड बोधस्वरूप परमात्माको नमस्कार करता हूँ ॥१३॥ जो मैं शरीरादिसे रहित होकर भी पाञ्चभौतिक शरीरसे आच्छादित हो इन्द्रिय, गुण, इन्द्रियोंके विषय और चेतनरूपसे स्थित हुआ हूँ, किन्तु उस शरीरादिके आवरणसे जिसकी महिमा कुण्ठित नहीं हुई है उस प्रकृति और पुरुषके नियन्ता परमपुरुषकी मैं वन्दना करता हूँ ॥१४॥ क्योंकि जिसकी मायासे मोहित होकर यह जीव नाना प्रकारके सत्त्वादि गुण और कर्मके बन्धनसे युक्त इस संसारमार्ग-में बड़े क्लेशके साथ भटकता रहता है, उन्हीं परमात्माकी कृपाके बिना उसे और किस युक्तिसे अपने स्वरूपका ज्ञान हो सकता है ? ॥१५॥ मुझे जो यह त्रैकालिक ज्ञान हुआ है इसे उनको छोड़कर और किसने दिया है ? क्योंकि स्थावर-जंगम समस्त प्राणियोंमें एकमात्र वे ही तो अंशरूपसे विद्यमान हैं । अतः जीवके कर्मबन्धन-के अनुरूप आचरण करनेवाले हम अपने आध्यात्मिकादि तीनों प्रकारके तापोंकी शान्तिके लिये उन्हींका भजन करते हैं ॥१६॥ हे भगवन् ! यह देहधारी जीव दूसरे देहके उदररूप रुधिर, विष्ठा और मूत्रके कुएँमें पड़ा हुआ उसकी जठराग्निसे अत्यन्त संतप्त हो रहा है । अब, इससे निकलनेकी इच्छासे यह अपने महीनोंको गिन रहा है, सो हे दयानिधे ! इस दीनको आप कब इससे बाहर निकालेंगे ? ॥१७॥ हे ईश ! जिन परम उदार आपने इस दश मासके जीवको ऐसा उत्कृष्ट ज्ञान दिया है उस अपने ही किये हुए उपकारसे

१. प्रा० पा०—जीव उवाच । २. प्रा० पा०—न कुतो० । ३. प्रा० पा०—याश्रय० ।

स्वेनैव तुष्यतु कृतेन स दीननाथः
को नाम तत्प्रति विनाञ्जलिमस्य कुर्यात् ॥१८॥

पश्यत्ययं धिषणया ननु सप्तवध्रिः
शारीरके दमशरीर्यपरः स्वदेहे ।
यत्सृष्टयास तमहं पुरुषं पुराणं
पश्ये बहिर्हृदि च चैत्यमिव प्रतीतम् ॥१९॥

सोऽहं वसन्नपि विभो बहुदुःखवासं
गर्भान्न निर्जिगमिषे बहिरन्धकूपे ।
यत्रोपयातमुपसर्पति देवमाया
मिथ्यामतिर्यदनु संसृतिचक्रमेतत् ॥२०॥

तस्मादहं विगतविक्लव उद्धरिष्य
आत्मानमाशु तमसः सुहृदात्मनैव ।
भूयो यथा व्यसनमेतदनेकरन्ध्रं
मा मे भविष्यदुपसादितविष्णुपादः ॥२१॥

कपिल उवाच

एवं कृतमतिर्गर्भे दशमास्यः स्तुवन्नृषिः ।
सद्यः क्षिपत्यवाचीनं प्रसूत्यै सूतिमारुतः ॥२२॥

तेनावसृष्टः सहसा कृत्वावाक्छिर आतुरः ।
विनिष्क्रामति कृच्छ्रेण निरुच्छ्वासो हतस्मृतिः ॥२३॥

पतितो भुव्यसृङ्मूत्रे विष्ठाभूरिव चेष्टते ।
रोरूयति गते ज्ञाने विपरीतां गतिं गतः ॥२४॥

आप दीनबन्धु प्रसन्न हों, क्योंकि आपको हाथ जोड़ देनेके सिवा उसका और कोई प्रत्युपकार कौन कर सकता है ? ॥१८॥ हे प्रभो ! संसारके ये [पशु-पक्षी आदि] अन्य जीव तो अपने शरीरमें होनेवाले सुख-दुःखादिका ही अनुभव करते हैं किन्तु मैं तो जिनकी कृपासे शम-दमादि साधन-सम्पन्न शरीरसे युक्त हुआ हूँ उन आप पुराण-पुरुषको आपकी दी हुई बुद्धिके द्वारा अपने शरीरके बाहर और भीतर भी अहंकारके अधिष्ठाता-रूपसे प्रत्यक्ष अनुभव करता हूँ ॥१९॥ हे विभो ! इस गर्भाशयमें यद्यपि मैं अत्यन्त कष्टसे रहता हूँ तो भी मुझे इससे निकलकर संसाररूप अन्ध-कूपमें गिरनेकी इच्छा नहीं है; क्योंकि हे देव ! इस संसारचक्रमें पड़े हुए प्राणीको आपकी माया घेर लेती है, जिससे उसका देह-गेहादिमें मिथ्या अभिमान हो जाता है और उसके परिणाममें उसे फिर संसारचक्रमें पड़ना होता है ॥२०॥ इसलिये मैं व्याकुलताको छोड़कर अपने वशमें की हुई बुद्धिके द्वारा यहींपर श्रीविष्णु-भगवान्‌के चरणोंकी आराधनाकर अपने-आपको शीघ्र ही अज्ञानान्धकारसे मुक्त कर लूँगा, जिससे मुझे नाना प्रकारके दोषोंसे युक्त यह संसारदुःख फिर प्राप्त न हो ॥२१॥

श्रीकपिलदेवजी बोले—हे मातः ! जब वह दश महीनेका गर्भस्थ जीव ऐसी बुद्धि प्राप्त होनेपर इस प्रकार भगवान्‌की स्तुति करता है तो उस अधोमुख बालकको प्रसवकालका वायु गर्भके बाहर फेंक देता है ॥२२॥ उस प्रसूतिवायुके द्वारा नीचेको शिर करके सहसा फेंका हुआ वह बालक अति आतुर होकर बड़े कष्टसे गर्भके बाहर निकलता है । उस समय उसका श्वास-बन्द हो जाता है और स्मृति नष्ट हो जाती है ॥२३॥ पृथिवीपर माताके रुधिर और मूत्रमें पड़ा हुआ वह बालक विष्ठाके कीड़ेके समान चेष्टा करता है, उसका गर्भवासके समयका सारा ज्ञान नष्ट हो जाता है और वह विपरीत गति (देहाभिमानादि) को प्राप्त होकर रोने लगता है ॥ २४ ॥

१. प्रा० पा०—दैवमिति प्रतीतः । २. प्राचीन प्रतिमें 'रोरूयति···' इस उत्तरार्धसे लेकर २६ वें श्लोकके पूर्वार्धतक पूरे दो श्लोक मूलमें नहीं टिप्पणीमें हैं ।

परच्छन्दं न विदुषा पुष्यमाणो जनेन सः ।
अनभिप्रेतमापन्नः प्रत्याख्यातुमनीश्वरः ॥२५॥

शायितोऽशुचिपर्यङ्के जन्तुः स्वेदजदूषिते ।
नेशः कण्डूयनेऽङ्गानामासनोत्थानचेष्टने ॥२६॥

तुदन्त्यात्मत्वचं दंशा मशका मत्कुणादयः ।
रुदन्तं विगतज्ञानं कृमयः कृमिकं यथा ॥२७॥

इत्येवं शैशवं भुक्त्वा दुःखं पौगण्डमेव च ।
अलब्धाभीप्सितोऽज्ञानादिद्धमन्युः शुचार्पितः ॥२८॥

सह देहेन मानेन वर्धमानेन मन्युना ।
करोति विग्रहं कामी कामिष्वन्ताय चात्मनः ॥२९॥

भूतैः पञ्चभिरारब्धे देहे देह्यबुधोऽसकृत् ।
अहंममेत्यसद्ग्राहः करोति कुमतिर्मतिम् ॥३०॥

तदर्थं कुरुते कर्म यद्बद्धो याति संसृतिम् ।
योऽनुयाति ददत्क्लेशमविद्याकर्मबन्धनः ॥३१॥

यद्यसद्भिः पथि पुनः शिश्नोदरकृतोद्यमैः ।
आस्थितो रमते जन्तुस्तमो विशति पूर्ववत् ॥३२॥

सत्यं शौचं दया मौनं बुद्धिः श्रीर्ह्रीर्यशः क्षमा ।
शमो दमो भगश्चेति यत्सङ्गाद्याति संक्षयम् ॥३३॥

तेष्वशान्तेषु मूढेषु खण्डितात्मस्वसाधुषु ।
सङ्गं न कुर्याच्छोच्येषु योषित्क्रीडामृगेषु च ॥३४॥

फिर जो लोग उसका अभिप्राय नहीं जानते उनके द्वारा उसका पालन-पोषण होता है, इसलिये उसे उन्हींके अधीन रहना पड़ता है । ऐसी अवस्थामें उसे जो प्रतिकूलता प्राप्त होती है उसे रोकनेकी भी उसमें शक्ति नहीं होती ॥२५॥ जब उसे मैली-कुचैली खाटपर सुला दिया जाता है और खटमल आदि स्वेदज जीव काटने लगते हैं तो उसमें शरीरको खुजाने अथवा हिलाने-डुलानेकी भी शक्ति नहीं होती [इसलिये वह रोने लगता है] ॥२६॥ जिस प्रकार कीड़ेको कीड़े काटते हैं उसी प्रकार गर्भवासके ज्ञानको भूले हुए उस रुदन करनेवाले बालककी कोमल त्वचाको डाँस, मच्छर और खटमल आदि पीड़ा पहुँचाते हैं ॥२७॥

इस प्रकार बाल्य और कौमार अवस्थाओंके दुःखोंको भोगकर वह बालक [युवावस्थामें पहुँचनेपर] इच्छित भोगोंके प्राप्त न होनेसे अज्ञानवश क्रोध और शोकके वशीभूत हो जाता है ॥ २८ ॥ देहाभिमानके सहित बढ़ते हुए क्रोधके कारण वह कामपरवश जीव अपना ही नाश करनेके लिये दूसरे कामी पुरुषोंके साथ वैर ठानता है ॥ २९ ॥ वह अज्ञानी और मन्दमति प्राणी पञ्चभूतोंसे रचे हुए इस देहमें निरन्तर 'मैं और मेरापन' का अभिमान करने लगता है ॥ ३० ॥ अविद्या और कर्मके बन्धनसे युक्त इसका जो शरीर इसे वृद्धावस्था आदि नाना प्रकारके दुःख ही देता है, तथा जिसमें आसक्त होनेसे इसे जन्म-मरणरूप संसारचक्रमें पड़ना होता है उसीके लिये यह नाना प्रकारके कर्म करता रहता है ॥ ३१ ॥ सन्मार्गमें चलते समय यदि इसका किन्हीं शिश्नोदरपरायण पुरुषोंसे समागम हो जाता है तो उनका अनुगमन करनेके कारण यह पूर्वकथित नारकी योनियोंमें पड़ता है ॥३२॥ उनके संगसे इसके सत्य, शौच, दया, मौन, बुद्धि, श्री, लज्जा, यश, क्षमा, शम, दम और ऐश्वर्य आदि समस्त सद्गुण नष्ट हो जाते हैं ॥ ३३ ॥ अतः उन अशान्त, मूढ, विक्षिप्तचित्त और स्त्रियोंके क्रीडामृगरूप अत्यन्त शोचनीय असत्पुरुषोंका संग कभी नहीं करना चाहिये

१. प्रा० पा०—तपोमौनं बुद्धिर्ह्रीः श्रीर्यशः ।

न तथास्य भवेन्मोहो बन्धश्चान्यप्रसङ्गतः ।
योषित्सङ्गाद्यथा पुंसो यथा तत्सङ्गिसङ्गतः ॥३५॥
प्रजापतिः स्वां दुहितरं दृष्ट्वा तद्रूपधर्षितः ।
रोहिद्भूतां सोऽन्वधावद्दक्षरूपी हतत्रपः ॥३६॥
तत्सृष्टसृष्टसृष्टेषु कोऽन्वखण्डितधीः पुमान् ।
ऋषिं नारायणमृते योषिन्मय्येह मायया ॥३७॥
बलं मे पश्य मायायाः स्त्रीमय्या जयिनो दिशाम् ।
या करोति पदाक्रान्तान्भ्रूविजृम्भेण केवलम् ॥३८॥
सङ्गं न कुर्यात्प्रमदासु जातु
योगस्य पारं परमारुरुक्षुः ।
मत्सेवया प्रतिलब्धात्मलाभो
वदन्ति या निरयद्वारमस्य ॥३९॥
योपयाति शनैर्माया योषिद्देवविनिर्मिता ।
तामीक्षेतात्मनो मृत्युं तृणैः कूपमिवावृतम् ॥४०॥
या मन्यते पतिं मोहान्मन्मायामृषभायतीम् ।
स्त्रीत्वं स्त्रीसङ्गतः प्राप्तो वित्तापत्यगृहप्रदम् ॥४१॥
तामात्मनो विजानीयात्पत्यपत्यगृहात्मकम् ।
दैवोपसादितं मृत्युं मृगयोर्गायनं यथा ॥४२॥
देहेन जीवभूतेन लोकाल्लोकमनुव्रजन् ।
भुञ्जान एव कर्माणि करोत्यविरतं पुमान् ॥४३॥
जीवो ह्यस्यानुगो देहो भूतेन्द्रियमनोमयः ।
तन्निरोधोऽस्य मरणमाविर्भावस्तु सम्भवः ॥४४॥
द्रव्योपलब्धिस्थानस्य द्रव्येक्षायोग्यता यदा ।

॥३४॥ क्योंकि इस जीवको किसी औरका संग करनेसे ऐसा मोह और बन्धन नहीं होता जैसा स्त्री अथवा स्त्रीके सहवासियोंका संग करनेसे होता है ॥ ३५ ॥ अपनी पुत्रीको देखकर उसके रूप-लावण्यसे मोहित हो श्रीब्रह्माजी उसके मृगीरूप होकर भागनेपर उसके पीछे निर्लज्जतापूर्वक मृगरूप होकर दौड़ने लगे थे ॥३६॥ इसलिये उन ब्रह्माजीके रचे हुए पुरुषोंद्वारा रचे हुए लोगोंके भी रचे हुए प्राणियोंमें एक ऋषिप्रवर नारायणको छोड़कर और ऐसा कौन पुरुष है जिसकी बुद्धि स्त्रीरूप मायासे मोहित न हो ॥३७॥ हे मातः ! मेरी स्त्रीरूपिणी मायाका बल तो देखो, जो अपने भृकुटिविलासमात्रसे दिग्विजयी वीरोंको पददलित कर देती है ॥३८॥ जो पुरुष योगके परमपदपर आरूढ़ होना चाहता हो, और जिसे मेरी सेवासे आत्मपद प्राप्त हो चुका हो वह स्त्रियोंका संग कभी न करे, क्योंकि इन्हें योगीके लिये नरकका खुला द्वार ही कहा है ॥ ३९ ॥ भगवान्‌की रची हुई यह जो स्त्रीरूपिणी माया धीरे-धीरे पास आती है इसे तिनकोंसे ढके हुए कुएँके समान अपनी मृत्यु ही समझे ॥ ४० ॥

हे मातः ! स्त्रीमें आसक्त रहनेके कारण स्त्रीयोनिको प्राप्त हुआ जीव भी मोहवश पुरुषके रूपमें प्रतीत होनेवाली मायाको धन, पुत्र और गृह आदि देनेवाला पति मानता रहता है, सो उस पुत्र, पति और गृह आदिको व्याधेके गानके समान विधाताकी निश्चित की हुई अपनी मृत्यु ही जाने ॥४१-४२॥ हे देवि ! जीवकी उपाधिरूप लिंगदेहके द्वारा पुरुष एक लोकसे दूसरे लोकमें जाता है और अपने प्रारब्धकर्मोंको भोगते हुए ही सदा [अन्य देहोंकी प्राप्तिके लिये] दूसरे कर्म करता रहता है ॥४३॥ जीवका उपाधिरूप लिंगशरीर उसके मोक्षपर्यन्त साथ रहनेवाला है और भूत, इन्द्रिय तथा मनका कार्यरूप स्थूल शरीर इसके भोगका अधिष्ठान है, उसका लय होना ही प्राणीकी मृत्यु है और उसका प्रकट होना ही जन्म है ॥४४॥ जब पदार्थोंकी उपलब्धिके स्थानरूप स्थूल शरीरमें उनको ग्रहण करनेकी योग्यता नहीं रहती तो

१. प्रा० पा०—चास्य प्र० । २. प्रा० पा०—सदायत्तान्भ्रू० । ३. प्राचीन प्रतिमें '.....मनोमयः ।' इस पूर्वार्धके आगे 'यश्चायमस्थिरो देहो यस्य मोक्षाय कृत्यसौ' इतना पाठ अधिक है ।

तत्पञ्चत्वमहंमानादुत्पत्तिर्द्रव्यदर्शनम् ॥४५॥

यथाक्ष्णोर्द्रव्यावयवदर्शनायोग्यता यदा ।

तदैव चक्षुषो द्रष्टुर्द्रष्टृत्वायोग्यतानयोः ॥४६॥

तस्मान्न कार्यः संत्रासो न कार्पण्यं न सम्भ्रमः ।

बुद्ध्वा जीवगतिं धीरो मुक्तसङ्गश्चरेदिह ॥४७॥

सम्यग्दर्शनया बुद्ध्या योगवैराग्ययुक्तया ।

मायाविरचिते लोके चरेन्न्यस्य कलेवरम् ॥४८॥

उसे ही 'मृत्यु' कहते हैं और जब अहंकारके द्वारा उसे पदार्थोंका ज्ञान होने लगता है तो उसीका नाम 'उत्पत्ति' है ॥४५॥ जिस प्रकार [किसी विकारवश] पदार्थोंके देखनेमें नेत्रोंकी अयोग्यता हो जानेपर नेत्र-गोलकस्थित चक्षु-इन्द्रियमें भी अवलोकनकी शक्ति नहीं रहती और इन दोनोंकी अयोग्यताके कारण इनके साक्षी जीवमें भी देखनेकी सामर्थ्य नहीं रहती [उसी प्रकार स्थूल देहकी असमर्थता होनेपर सूक्ष्म शरीर शक्तिहीन हो जाता है और इन दोनोंकी सामर्थ्य नष्ट हो जानेपर जीवमें भी कोई सामर्थ्य नहीं रहती] ॥४६॥ इसलिये मुमुक्षु पुरुष [मरणादिसे] भय, दीनता अथवा मोह न करे । उसे चाहिये कि जीवके स्वरूप-को जानकर धैर्यपूर्वक निःसंगभावसे विचरे ॥४७॥ तथा इस मायामय संसारमें योग और वैराग्ययुक्त सम्यग्ज्ञानमयी बुद्धिसे शरीरकी आस्था छोड़कर व्यवहार करे ॥ ४८ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे तृतीयस्कन्धे कापिलेयो-
पाख्याने जीवगतिर्नामैकत्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥३१॥

बत्तीसवाँ अध्याय

धूममार्ग तथा अर्चिरादिमार्गसे जानेवालोंकी गतिका और भक्तियोगकी उत्कृष्टताका वर्णन ।

कपिल उवाच

अथ यो गृहमेधीयान्धर्मानेवावसन्गृहे ।

काममर्थं च धर्मान्स्वान्दोग्धि भूयः पिपर्ति तान् ॥१॥

स चापि भगवद्धर्मात्काममूढः पराङ्मुखः ।

यजते क्रतुभिर्देवान्पितॄंश्च श्रद्धयान्वितः ॥ २ ॥

तच्छ्रद्धयाक्रान्तमतिः पितृदेवव्रतः पुमान् ।

श्रीकपिलदेवजी बोले—हे मातः ! जो पुरुष घरमें रहकर सकामभावसे गार्हस्थ्य धर्मोंका पालन करता है और उनके फलस्वरूप अर्थ एवं कामका उपभोग करके पुनः उन्हीं फलोंके लिये उन्हीं पूर्वकृत कर्मोंको करता रहता है ॥१॥ वह नाना प्रकारकी कामनाओंमें मोहित रहने-के कारण भगवद्धर्मोंसे विमुख रहकर अति श्रद्धापूर्वक देवता और पितरोंका यज्ञोंद्वारा यजन करता है ॥२॥ उसी श्रद्धासे बुद्धिके आच्छादित हो जानेके कारण उन पितरों और देवताओंकी उपासना करनेवाला वह पुरुष

१. प्राचीन प्रतिमें 'तत्पञ्चत्व···' इत्यादि उत्तरार्धसे लेकर '···दर्शनायोग्यता यदा' इस पूर्वार्धतकका पाठ नहीं है । २. प्रा० पा०—कापिलेये जीवगतिरेक० ।

गत्वा चान्द्रमसं लोकं सोमपाः पुनरेष्यति ॥ ३ ॥
यदा चाहीन्द्रशय्यायां शेतेऽनन्तासनो हरिः ।
तदा लोका लयं यान्ति त एते गृहमेधिनाम् ॥ ४ ॥
ये स्वधर्मान्न दुह्यन्ति धीराः कामार्थहेतवे ।
निःसङ्गा न्यस्तकर्माणः प्रशान्ताः शुद्धचेतसः ॥५॥
निवृत्तिधर्मनिरता निर्ममा निरहङ्कृताः ।
स्वधर्माख्येन सत्त्वेन परिशुद्धेन चेतसा ॥ ६ ॥
सूर्यद्वारेण ते यान्ति पुरुषं विश्वतोमुखम् ।
परावरेशं प्रकृतिमस्योत्पत्त्यन्तभावनम् ॥ ७ ॥
द्विपरार्द्धावसाने यः प्रलयो ब्रह्मणस्तु ते ।
तावदध्यासते लोकं परस्य परचिन्तकाः ॥ ८ ॥
क्ष्माम्भोऽनलानिलवियन्मनइन्द्रियार्थ-
भूतादिभिः परिवृतं प्रतिसञ्जिहीर्षुः ।
अव्याकृतं विशति यर्हि गुणत्रयात्मा
कालं पराख्यमनुभूय परः स्वयम्भूः ॥९॥
एवं परेत्य भगवन्तमनुप्रविष्टा
ये योगिनो जितमरुन्मनसो विरागाः ।
तेनैव साकममृतं पुरुषं पुराणं
ब्रह्मप्रधानमुपयान्त्यगताभिमानाः ॥१०॥
अथ तं सर्वभूतानां हृत्पद्मेषु कृतालयम् ।
श्रुतानुभावं शरणं व्रज भावेन भामिनि ॥११॥
आद्यः स्थिरचराणां यो वेदगर्भः सहर्षिभिः ।
योगेश्वरैः कुमाराद्यैः सिद्धैर्योगप्रवर्तकैः ॥१२॥

चन्द्रलोकमें जाकर वहाँ सोमपान करते हुए रहनेके अनन्तर [पुण्य क्षीण होनेपर] फिर इस लोकमें ही लौट आता है ॥३॥ जिस समय शेषशायी भगवान् शेष-शय्यापर शयन करते हैं उस समय गृहस्थाश्रमियोंको प्राप्त होनेवाले ये लोक लीन हो जाते हैं ॥४॥

इनके विपरीत, जो लोग अपने धर्मोंका काम अथवा अर्थके लिये पालन नहीं करते [बल्कि उन्हें ईश्वरकी प्रसन्नताके लिये ही करते हैं] वे निःसंग, निष्क्रिय, प्रशान्त, शुद्धचित्त, निवृत्तिधर्मपरायण, ममताशून्य और अहंकारहीन पुरुष स्वधर्मपालनरूप सत्त्व-गुणके द्वारा शुद्ध हुए चित्तसे सूर्यमार्गद्वारा परावर जगत्-के स्वामी तथा संसारके उपादान कारण और उसकी उत्पत्ति, स्थिति और अन्त करनेवाले सर्वव्यापी श्रीहरिको प्राप्त हो जाते हैं ॥ ५–७ ॥ जो लोग परमात्मदृष्टिसे हिरण्यगर्भकी उपासना करते हैं वे दो परार्द्धमें होनेवाले ब्रह्माजीके प्रलयपर्यन्त उनके सत्यलोकमें ही रहते हैं ॥ ८ ॥ हे मातः ! जिस समय देवतादिसे श्रेष्ठ त्रिगुणमय श्रीब्रह्माजी अपने द्विपरार्द्धकालपरिमित अधिकारको भोगकर पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, इन्द्रिय, शब्दादि विषय और अहंकारके सहित सम्पूर्ण संसारका उपसंहार करनेकी इच्छासे अव्याकृत परमात्मामें लीन होते हैं, उसी समय उनके साथ ही वे योगीगण भी पुराणपुरुष परब्रह्ममें लीन हो जाते हैं जिन्होंने वैराग्यपूर्वक प्राण और मनको जीतकर ब्रह्म-लोक प्राप्त किया था । [उससे पहले उन्हें परमात्म-पद प्राप्त नहीं होता] क्योंकि उनमें अहंभाव बना रहता है ॥ ९-१० ॥ अतः हे भामिनि ! तुम अत्यन्त भक्तिभावसे उन श्रीहरिकी चरणशरणमें जाओ जो सम्पूर्ण प्राणियोंके हृदयकमलमें स्थित हैं और जिनका प्रभाव तुम मुझसे सुन चुकी हो ॥ ११ ॥

जो समस्त स्थावर-जंगम प्राणियोंके आदिकारण हैं वे ब्रह्माजी निष्काम कर्मका आचरण करनेवाले होने-पर भी भेददृष्टिवश कर्तृत्वका अभिमान होनेके कारण

१. प्रा० पा०—तदैते । २. प्रा० पा०—स्वधर्म न । ३. प्रा० पा०—सानो यः । ४।प्रा० पा०—जिघृक्षुः । ५. प्रा० पा०—यान्ति गता० । ६. प्रा० पा०—भाविनि ।

भेददृष्ट्याभिमानेन निःसङ्गेनापि कर्मणा ।
कर्तृत्वात्सगुणं ब्रह्म पुरुषं पुरुषर्षभम् ॥१३॥
स संसृत्य पुनः काले कालेनेश्वरमूर्तिना ।
जाते गुणव्यतिकरे यथापूर्वं प्रजायते ॥१४॥
ऐश्वर्यं पारमेष्ठ्यं च[1] तेऽपि धर्मविनिर्मितम् ।
निषेव्य पुनरायान्ति गुणव्यतिकरे सति ॥१५॥
ये त्विहासक्तमनसः कर्मसु श्रद्धयान्विताः ।
कुर्वन्त्यप्रतिषिद्धानि नित्यान्यपि च कृत्स्नशः ॥१६॥
राजसाः कुण्ठमनसः कामात्मानो जितेन्द्रियाः ।
पितॄन्यजन्त्यनुदिनं गृहेष्वभिरताशयाः ॥१७॥
त्रैवर्गिकास्ते पुरुषा विमुखा हरिमेधसः ।
कथायां[2] कथनीयोरुविक्रमस्य मधुद्विषः ॥१८॥
नूनं दैवेन विहता ये चाच्युतकथासुधाम् ।
हित्वा शृण्वन्त्यसद्गाथाः पुरीषमिव विड्भुजः ॥१९॥
दक्षिणेन पथार्यम्णः[3] पितृलोकं व्रजन्ति ते[4] ।
प्रजामनु प्रजायन्ते श्मशानान्तक्रियाकृतः[5] ॥२०॥
ततस्ते क्षीणसुकृताः पुनर्लोकमिमं सति ।
पतन्ति विवशा देवैः सद्यो विभ्रंशितोदयाः ॥२१॥
तस्मात्त्वं सर्वभावेन भजस्व परमेष्ठिनम् ।
तद्गुणाश्रयया भक्त्या भजनीयपदाम्बुजम् ॥२२॥
वासुदेवे भगवति भक्तियोगः प्रयोजितः ।

मरीचि आदि ऋषियों, योगेश्वरों, सनकादिकों तथा योगप्रवर्तक सिद्धेश्वरोंके सहित पुराणपुरुषोत्तम सगुण-ब्रह्ममें लीन हो जाते हैं और जब सर्गकाल उपस्थित होता है तब कालरूप ईश्वरके द्वारा गुणोंमें क्षोभ होने-पर फिर पूर्ववत् प्रकट हो जाते हैं ॥१२–१४॥ तथा वे मरीचि आदि ऋषिगण भी अपने धर्मोंका आचरण करनेसे प्राप्त हुए ब्रह्मलोकके ऐश्वर्यको भोगकर गुणोंमें क्षोभ होनेपर फिर उत्पन्न होकर इस लोकमें अपने पद-पर स्थित हो जाते हैं ॥ १५ ॥

जो लोग इस लोकमें कर्मोंमें आसक्त रहनेके कारण वेद-में कहे हुए काम्य और नित्य कर्मोंका श्रद्धापूर्वक आचरण करते हैं, तथा जो रजोगुणसे विक्षिप्तचित्त और कामनाओंके कारण अजितेन्द्रिय होनेसे गृहस्थीमें आसक्त होकर नित्यप्रति पितृगणका यजन करते हैं वे अर्थ, धर्म और काममें ही तत्पर रहनेके कारण, जिनके पराक्रम अत्यन्त कथनीय हैं उन श्रीमधुसूदन भगवान्‌की कथावार्ताओंसे विमुख रहते हैं ॥१६–१८॥ जिस प्रकार विष्ठाके कीड़े अच्छे-अच्छे पदार्थोंको छोड़कर विष्ठा ही खाते हैं, उसी प्रकार जो लोग भगवान्‌के कथामृतको छोड़कर अन्य असत्कथाएँ सुनते हैं वे अवश्य ही विधाताके मारे हुए हैं [अर्थात् उनका भाग्य बड़ा ही मन्द है] ॥१९॥ गर्भाधानसे लेकर श्मशान (और्ध्वदैहिक) पर्यन्त सम्पूर्ण संस्कार करनेवाले वे लोग दक्षिण (धूम) मार्गद्वारा पितृराज अर्यमाके पितृलोकको प्राप्त होते हैं, और फिर अपनी ही सन्ततिके वंशमें उत्पन्न होते हैं ॥२०॥ हे सति ! पुण्य क्षीण हो जानेपर देवगण उन्हें ऐश्वर्यभ्रष्ट कर देते हैं और उन्हें विवश होकर तुरन्त ही इस लोकमें आना पड़ता है ॥२१॥

अतः हे मातः ! जिनके चरणकमल अत्यन्त भजनीय हैं उन परमेश्वरका तुम उन्हींके गुणोंके आश्रयमें रहनेवाली भक्तिके द्वारा सब प्रकारसे भजन करो ॥२२॥ क्योंकि श्रीवासुदेव भगवान्‌के प्रति किया हुआ भक्तियोग तुरन्त ही संसारसे वैराग्य और ब्रह्म-

१. प्रा० पा०—तु तेऽपि । २. प्रा० पा०—थायाः । ३. प्रा० पा०—यथा ते तु । ४. प्रा० पा०—वै । ५. प्रा० पा०—न्तकृतक्रियाः ।

जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानं यद्ब्रह्मदर्शनम् ॥२३॥
यदास्य चित्तमर्थेषु समेष्विन्द्रियवृत्तिभिः ।
न विगृह्णाति वैषम्यं प्रियमप्रियमित्युत ॥२४॥
स तदैवात्मनात्मानं निःसङ्ग[1] समदर्शनम् ।
हेयोपादेयरहितमारूढं पदमीक्षते ॥२५॥
ज्ञानमात्रं परं ब्रह्म परमात्मेश्वरः पुमान् ।
दृश्यादिभिः पृथग्भावैर्भगवानेक ईयते[2] ॥२६॥
एतावानेव योगेन समग्रेणेह योगिनः ।
युज्यतेऽभिमतो ह्यर्थो यदसङ्गस्तु कृत्स्नशः[3] ॥२७॥
ज्ञानमेकं पराचीनैरिन्द्रियैर्ब्रह्म निर्गुणम्[4] ।
अवभात्यर्थरूपेण भ्रान्त्या शब्दादिधर्मिणा ॥२८॥
यथा महानहंरूपस्त्रिवृत्पञ्चविधः स्वराट् ।
एकादशविधस्तस्य वपुरण्डं जगद्यतः ॥२९॥
एतद्वै श्रद्धया भक्त्या योगाभ्यासेन नित्यशः ।
समाहितात्मा निःसङ्गो विरक्त्या[5] परिपश्यति ॥३०॥

इत्येतत्कथितं गुर्वि ज्ञानं तद्ब्रह्मदर्शनम् ।
येनानुबुद्ध्यते तत्त्वं प्रकृतेः पुरुषस्य च ॥३१॥
ज्ञानयोगश्च मन्निष्ठो नैर्गुण्यो भक्तिलक्षणः ।
द्वयोरप्येक एवार्थो भगवच्छब्दलक्षणः ॥३२॥
यथेन्द्रियैः पृथग्द्वारैरर्थो बहुगुणाश्रयः ।

दर्शनरूप ज्ञानकी प्राप्ति करा देता है ॥२३॥ हे मातः ! जिस समय इस भगवद्भक्तका चित्त शब्द-स्पर्शादि समान विषयोंमें इन्द्रियोंकी वृत्तिद्वारा अनुकूलता-प्रतिकूलतारूप विषमताका अनुभव नहीं करता उस समय ही वह अपने असंग, सर्वत्र समान, हेयोपादेयरहित और स्वप्रकाश आत्मपदका सूक्ष्म बुद्धिके द्वारा अपने अन्तःकरणमें साक्षात्कार करता है ॥२४-२५॥ हे जननि ! वह ज्ञानस्वरूप एक पदार्थ ही दृश्य आदि अनेक भावोंसे प्रकट हो रहा है । वही [उपनिषदोंमें] परब्रह्म [योगशास्त्रमें] परमात्मा ईश्वर [सांख्यशास्त्रमें] पुरुष और [भक्तिशास्त्रमें] भगवान् कहा जाता है ॥२६॥ 'सम्पूर्ण विषयोंसे वैराग्य हो जाना' बस यही योगाभ्यासी योगीके सम्पूर्ण योगका अभिमत फल है ॥२७॥ बाह्यवृत्तिवाली इन्द्रियोंद्वारा एकमात्र ज्ञानस्वरूप निर्गुण ब्रह्म ही भ्रान्तिवश शब्दादि धर्मयुक्त पदार्थोंके रूपमें भास रहा है ॥२८॥ जिस प्रकार स्वप्रकाश जीवरूप महत्तत्त्व ही अहंकाररूपसे वैकारिक, राजस और तामस तीन प्रकारका, पञ्चभूतरूपसे पाँच प्रकारका तथा मनसहित एकादश इन्द्रियरूपसे ग्यारह प्रकारका भास रहा है उसी प्रकार उसका शरीर ब्रह्माण्ड भी ब्रह्मरूप ही है; क्योंकि ब्रह्महीसे जगत्की उत्पत्ति हुई है ॥२९॥ किन्तु श्रद्धा, भक्ति और वैराग्यके सहित निरन्तर योगाभ्यास करनेसे जिसका चित्त एकाग्र हो गया है वह अनासक्त पुरुष ही सम्पूर्ण प्रपञ्चको ब्रह्मरूप देख सकता है ॥३०॥

हे पूजनीये ! यह मैंने तुम्हें ब्रह्मसाक्षात्कारका साधनरूप ज्ञान सुनाया जिसके द्वारा प्रकृति और पुरुषके स्वरूपका यथार्थ बोध होता है ॥ ३१ ॥ हे देवि ! निर्गुण ब्रह्मविषयक ज्ञानयोग और मेरे प्रति किया हुआ भक्तियोग—इन दोनोंका फल 'भगवान्' शब्दसे कहा जानेवाला एक ही है ॥३२॥ जिस प्रकार रूप, रस और गन्धादि अनेक गुणोंको आश्रय करनेवाला एक ही पदार्थ भिन्न-भिन्न इन्द्रियोंके द्वारा

१. प्रा० पा०—निःसङ्गः समदर्शनः । २. प्रा० पा०—ईक्षते । ३. प्रा० पा०—कृत्स्नतः । ४. प्रा० पा०—राधीनै० । ५. प्रा० पा०—विरक्तः ।

एको नानेयते तद्वद्भगवान् शास्त्रवर्त्मभिः ॥३३॥
क्रियया क्रतुभिर्दानैस्तपःस्वाध्यायमर्शनैः[1] ।
आत्मेन्द्रियजयेनापि संन्यासेन च कर्मणाम् ॥३४॥
योगेन विविधाङ्गेन भक्तियोगेन चैव हि ।
धर्मेणोभयचिह्नेन यः प्रवृत्तिनिवृत्तिमान् ॥३५॥
आत्मतत्त्वावबोधेन वैराग्येण दृढेन च ।
ईयते भगवानेभिः सगुणो निर्गुणः स्वदृक् ॥३६॥

अनेक प्रकारसे प्रतीत होता है उसी प्रकार शास्त्रके भिन्न-भिन्न मार्गोंद्वारा एक ही भगवान्‌का नाना प्रकारसे वर्णन किया जाता है ॥३३॥ नाना प्रकारके कर्मकलाप, यज्ञ, दान, तप, वेदाध्ययन और वेद-विचार, मन और इन्द्रियोंको जीतना, कर्मोंका त्याग, विविध प्रकारके अंगवाला योग, भक्तियोग, प्रवृत्ति और निवृत्तिरूप दोनों प्रकारके कर्म, आत्मतत्त्वका ज्ञान तथा दृढ़ वैराग्य—इन सब साधनोंसे सगुण-निर्गुणरूप स्वप्रकाश भगवान्‌को ही प्राप्त किया जाता है ॥३४–३६॥

प्रावोचं भक्तियोगस्य स्वरूपं ते चतुर्विधम् ।
कालस्य चाव्यक्तगतेर्योऽन्तर्धावति जन्तुषु ॥३७॥
जीवस्य संसृतीर्बह्वीरविद्याकर्मनिर्मिताः ।
यास्वङ्ग प्रविशन्नात्मा न वेद गतिमात्मनः ॥३८॥
नैतत्खलायोपदिशेन्नाविनीताय कर्हिचित् ।
न स्तब्धाय न भिन्नाय नैव धर्मध्वजाय च ॥३९॥
न लोलुपायोपदिशेन्न गृहारूढचेतसे ।
नाभक्ताय च मे जातु[2] न मद्भक्तद्विषामपि ॥४०॥
श्रद्दधानाय भक्ताय विनीतायानसूयवे ।
भूतेषु कृतमैत्राय शुश्रूषाभिरताय च ॥४१॥
बहिर्जातविरागाय शान्तचित्ताय दीयताम्[3] ।
निर्मत्सराय शुचये यस्याहं प्रेयसां प्रियः ॥४२॥
य इदं शृणुयादम्ब श्रद्धया पुरुषः सकृत् ।
यो वाभिधत्ते मच्चित्तः स ह्येति पदवीं च[4] मे ॥४३॥

हे मातः ! [सात्त्विक, राजस, तामस और निर्गुण रूपसे] चार प्रकारके भक्तियोगका, और जो प्राणियोंके जन्मादि विकारोंका हेतु है तथा जिसकी गति जानी नहीं जाती उस कालका स्वरूप मैं तुमसे कह ही चुका हूँ ॥३७॥ हे देवि ! अविद्याजन्य कर्मोंके द्वारा जीवकी अनेकों गतियाँ होती हैं जिनमें प्रविष्ट होनेपर वह अपने स्वरूपको नहीं जान सकता ॥३८॥ इस मेरे कहे हुए ज्ञानका दुष्ट, दुर्विनीत, घमण्डी, नास्तिक, और धर्मध्वजी (धूर्त) पुरुषोंको कभी उपदेश न करना चाहिये ॥३९॥ जो विषयलोलुप और घर-स्त्री आदिमें आसक्त हो, मेरी भक्तिसे शून्य हो अथवा मेरे भक्तोंसे द्वेष करनेवाला हो उसे भी कभी इसका उपदेश न करे ॥४०॥ इसके विपरीत जो अत्यन्त श्रद्धालु, भक्त, विनयसम्पन्न, दूसरोंकी निन्दा न करनेवाला, सब प्राणियोंपर दया करनेवाला, गुरुसेवा-परायण, बाह्यविषयोंमें अनासक्त, शान्तचित्त, मत्सरशून्य, पवित्रचित्त एवं मुझे प्रियसे भी प्रिय माननेवाला हो उसे इस ज्ञानका अवश्य उपदेश करे ॥४१-४२॥ हे मातः ! जो पुरुष मुझमें चित्त रखकर इसका श्रद्धापूर्वक एक बार भी श्रवण अथवा कथन करेगा वह मेरे परमपदको प्राप्त होगा ॥४३॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे तृतीयस्कन्धे कापिलेये[5]
द्वात्रिंशोऽध्यायः ॥३२॥

१. प्रा० पा०—दर्शनैः । २. प्रा० पा०—ज्ञानं । ३. प्रा० पा०—दीयते । ४. प्रा० पा०—मम । ५. प्रा० पा०—लीये द्वात्रिंशत्तमो ।

तैंतीसवाँ अध्याय

देवहूतिको ज्ञानलाभ तथा मोक्षपदकी प्राप्ति ।

मैत्रेय उवाच

एवं निशम्य कपिलस्य वचो जनित्री
सा कर्दमस्य दयिता किल देवहूतिः ।
विस्रस्तमोहपटला तमभिप्रणम्य
तुष्टाव तत्त्वविषयाङ्कितसिद्धिभूमिम् ॥ १ ॥

देवहूतिरुवाच

अथाप्यजोऽन्तःसलिले शयानं
भूतेन्द्रियार्थात्ममयं वपुस्ते ।
गुणप्रवाहं सदशेषबीजं
दध्यौ स्वयं यज्जठराब्जजातः ॥ २ ॥

स एव विश्वस्य भवान्विधत्ते
गुणप्रवाहेण विभक्तवीर्यः ।
सर्गाद्यनीहोऽवितथाभिसन्धि-
रात्मेश्वरोऽतर्क्यसहस्रशक्तिः ॥ ३ ॥

स त्वं भृतो मे जठरेण नाथ
कथं नु यस्योदर एतदासीत् ।
विश्वं युगान्ते वटपत्र एकः
शेते स्म मायाशिशुरङ्घ्रिपानः ॥ ४ ॥

त्वं देहतन्त्रः प्रशमाय पाप्मनां
निदेशभाजां च विभो विभूतये ।
यथावतारास्तव सूकरादय-
स्तथायमप्यात्मपथोपलब्धये ॥ ५ ॥

यन्नामधेयश्रवणानुकीर्तना-
द्यत्प्रह्वणाद्यत्स्मरणादपि क्वचित् ।
श्वादोऽपि सद्यः सवनाय कल्पते
कुतः पुनस्ते भगवन्नु दर्शनात् ॥ ६ ॥

श्रीमैत्रेयजी बोले—हे विदुर ! श्रीकपिलदेवजीके ये वचन सुनकर कर्दमजीकी प्रिया तथा उनकी माता देवहूतिका मोहरूप आवरण हट गया और वे सांख्यतत्त्वद्वारा सिद्धि प्राप्त करनेवाले श्रीकपिलजीको प्रणामकर उनकी इस प्रकार स्तुति करने लगीं ॥ १ ॥

देवहूतिजी बोलीं—हे कपिलजी ! जिन आपके नाभिकमलसे उत्पन्न हुए ब्रह्माजीने प्रलयकालीन जलमें शयन करनेवाले आपके पञ्चभूत इन्द्रिय और मनोमय व्यक्त स्वरूपका, जो सत्त्वादि गुणोंके प्रवाहसे युक्त और सम्पूर्ण कार्यकारणवर्गका बीजरूप है, ध्यान किया था; वे ही निष्क्रिय, सत्यसंकल्प, सबके अन्तरात्मा, नियन्ता और अतर्क्य एवं अनन्त शक्तियोंसे सम्पन्न आप गुणप्रवाहके द्वारा नाना प्रकारकी शक्तियोंमें विभक्त होकर विश्वकी रचना आदि करते हैं ॥ २-३ ॥ हे नाथ ! यह कैसी विचित्र बात है कि जिन आपके उदरमें प्रलयकालके समय यह सम्पूर्ण प्रपञ्च लीन हो जाता है और जो कल्पान्तमें मायामय बालकका रूप धारणकर पाँवका अंगूठा चूसते हुए अकेले ही वटवृक्षके पत्तेपर शयन करते हैं उन्हीं आपको मैंने अपने गर्भमें धारण किया ! ॥ ४ ॥ हे विभो ! आप पापियोंका दमन और अपने आज्ञाकारी सत्पुरुषोंका कल्याण करनेके लिये ही शरीर धारण करते हैं । अतः जिस प्रकार आपके वराह आदि अवतार हुए हैं उसी प्रकार यह कपिलावतार भी मुमुक्षुओंको ज्ञानमार्ग दिखानेके लिये हुआ है ॥ ५ ॥ कभी जिनके नामोंका श्रवण या कीर्तन करनेसे अथवा जिनका वन्दन या स्मरण करनेसे साक्षात् चाण्डाल भी यज्ञका अधिकारी हो जाता है, हे भगवन् ! उन्हीं आपका दर्शन करके मनुष्य कृतकृत्य हो जाता है—इसमें तो कहना ही क्या है ? [इसलिये मेरे कल्याणमें भी अब कोई सन्देह नहीं है] ॥ ६ ॥

१. प्रा० पा०—णानुस्म० ।

अहो बत श्वपचोऽतो गरीया-
न्यज्जिह्वाग्रे वर्तते नाम तुभ्यम् ।
तेपुस्तपस्ते जुहुवुः सस्नुरार्या
ब्रह्मानूचुर्नाम गृणन्ति ये ते ॥ ७ ॥
तं त्वामहं ब्रह्म परं पुमांसं
प्रत्यक्स्रोतस्यात्मनि संविभाव्यम् ।
स्वतेजसा ध्वस्तगुणप्रवाहं
वन्दे विष्णुं कपिलं वेदगर्भम् ॥ ८ ॥

अहो ! जिसकी जिह्वापर आपका पवित्र नाम विराजमान रहता है वह चाण्डाल भी श्रेष्ठ है । जो भद्र पुरुष आपका नाम उच्चारण करते हैं वास्तवमें उन्होंने तप किया है, उन्होंने हवन किया है, उन्होंने सब तीर्थोंमें स्नान किया है और वे ही सच्चे वेदपाठी हैं ॥ ७ ॥ अतः जो इन्द्रियोंकी अन्तर्मुखवृत्तिसे अनुभव किये जाते हैं, जिन्होंने अपने तेजसे गुणप्रवाहको शान्त कर दिया है तथा जो वेदके उत्पत्तिस्थान हैं उन साक्षात् ब्रह्मस्वरूप पुराणपुरुष विष्णुभगवान् आप श्रीकपिलदेवजीको मैं प्रणाम करती हूँ ॥ ८ ॥

मैत्रेय उवाच

ईडितो भगवानेवं कपिलाख्यः परः पुमान् ।
वाचा विक्लवयेत्याह मातरं मातृवत्सलः ॥ ९ ॥

श्रीमैत्रेयजी बोले–माताके इस प्रकार स्तुति करनेपर मातृवत्सल परमपुरुष भगवान् कपिलदेवजीने उनसे प्रेमगद्गदवाणीसे यों कहा ॥ ९ ॥

कपिल उवाच

मार्गेणानेन मातस्ते सुसेव्येनोदितेन मे ।
आस्थितेन परां काष्ठामचिराद्वरोत्स्यसि ॥१०॥
श्रद्धत्स्वैतन्मतं मह्यं जुष्टं यद्ब्रह्मवादिभिः ।
येन मामभवं याया मृत्युमृच्छन्त्यतद्विदः ॥११॥

श्रीकपिलदेवजी बोले–हे मातः ! मैंने तुमसे जो सुगम मार्ग कहा है उसका अवलम्बन करनेसे तुम शीघ्र ही परमपद प्राप्त करोगी ॥ १० ॥ तुम मेरे इस मतमें विश्वास करो, ब्रह्मवादी लोगोंने इसका सेवन किया है । इसके द्वारा तुम मेरे जन्म-मरण-रहित स्वरूपको प्राप्त करोगी । जो लोग इस मतको नहीं जानते वे जन्ममरणरूप संसारको प्राप्त होते हैं ॥ ११ ॥

मैत्रेय उवाच

इति प्रदर्श्य भगवान्सतीं तामात्मनो गतिम् ।
स्वमात्रा ब्रह्मवादिन्या कपिलोऽनुमतो ययौ ॥१२॥
सा चापि तनयोक्तेन योगादेशेन योगयुक् ।
तस्मिन्नाश्रम आपीडे सरस्वत्याः समाहिता ॥१३॥
अभीक्ष्णावगाहकपिशान् जटिलान्कुटिलालकान् ।
आत्मानं चोग्रतपसा बिभ्रती चीरिणं कृशम् ॥१४॥
प्रजापतेः कर्दमस्य तपोयोगविजृम्भितम् ।
स्वगार्हस्थ्यमनौपम्यं प्रार्थ्यं वैमानिकैरपि ॥१५॥

श्रीमैत्रेयजी बोले–इस प्रकार अपनी परमसाध्वी माताको आत्मज्ञानका उपदेश कर श्रीकपिलदेवजी उस ब्रह्मवादिनी जननीकी अनुमति पा वहाँसे चल दिये ॥ १२ ॥ तब देवहूतिजी भी अपने पुत्रके उपदेश किये हुए योगसाधनके द्वारा अभ्यास करती हुई सरस्वतीके मुकुटसदृश अपने आश्रममें समाहित चित्तसे रहने लगीं ॥ १३ ॥ त्रिकालस्नान करनेसे भूरी-भूरी जटाओंके रूपमें परिणत हुई घुँघराली अलकों तथा उग्र तपस्याके कारण दुर्बल हुए चीरवस्त्रधारी शरीरको धारण किये उन्होंने प्रजापति कर्दमके तपोबलसे प्राप्त हुए तथा देवताओंके भी प्रार्थनीय अपने अनुपम गार्हस्थ्य सुखको त्याग दिया ॥ १४-१५ ॥

१. प्रा० पा०—दधिरो० । २. प्रा० पा०— योगमार्गेण । ३. प्रा० पा०—पीले । ४. प्रा० पा०—नीरावगाहकपिशं जटिलं कुटिलालकम् ।

पयःफेननिभाः शय्या दान्ता रुक्मपरिच्छदाः ।
आसनानि च हैमानि सुस्पर्शास्तरणानि च ॥१६॥
स्वच्छस्फटिककुड्येषु महामारकतेषु च ।
रत्नप्रदीपा आभान्ति ललनारत्नसंयुताः ॥१७॥
गृहोद्यानं कुसुमितै रम्यं बह्वमरद्रुमैः ।
कूजद्विहङ्गमिथुनं गायन्मत्तमधुव्रतम् ॥१८॥
यत्र प्रविष्टमात्मानं विबुधानुचरा जगुः ।
वाप्यामुत्पलगन्धिन्यां कर्दमेनोपलालितम् ॥१९॥
हित्वा तदीप्सिततममप्याखण्डलयोषिताम् ।
किञ्चिच्चकार वदनं पुत्रविश्लेषणातुरा ॥२०॥

जिसमें दुग्धफेनके समान स्वच्छ और सुकोमल शय्यासे युक्त हाथीदाँतके पलंग, सुवर्णके पात्र, सुवर्ण-जटित सिंहासन और कोमल-कोमल गद्दे शोभायमान थे तथा जिसकी स्वच्छ स्फटिकमणि और महामरकत-मणिकी भीतोंमें रमणीरत्नोंके सहित मणिमय दीपक झिलमिला रहे थे [उस घरको] तथा जो बहुत-से पुष्पित कल्पवृक्षोंसे शोभायमान था, जिसमें नाना प्रकारके पक्षियोंका कलरव और भ्रमरगणका गुञ्जार होता रहता था और जहाँ कि कमलगन्धसुवासित बावड़ियोंमें कर्दमजीके साथ क्रीडा करते समय गन्धर्वगण उनका (देवहूतिका) गुणगान करते थे एवं जिसे पानेके लिये इन्द्राणियाँ भी लालायित रहती थीं उस गृहोद्यानको त्यागकर देवहूतिने पुत्रवियोगसे विह्वल होकर अपना मुख कुछ उदास कर लिया ॥ १६–२० ॥

वनं प्रव्रजिते पत्यावपत्यविरहातुरा ।
ज्ञाततत्त्वाप्यभून्नष्टे वत्से गौरिव वत्सला ॥२१॥
तमेव ध्यायती देवमपत्यं कपिलं हरिम् ।
बभूवाचिरतो वत्स निःस्पृहा तादृशे गृहे ॥२२॥
ध्यायती भगवद्रूपं यदाह ध्यानगोचरम् ।
सुतः प्रसन्नवदनं समस्तव्यस्तचिन्तया ॥२३॥
भक्तिप्रवाहयोगेन वैराग्येण बलीयसा ।
युक्तानुष्ठानजातेन ज्ञानेन ब्रह्महेतुना ॥२४॥
विशुद्धेन तदात्मानमात्मना विश्वतोमुखम् ।
स्वानुभूत्या तिरोभूतमायागुणविशेषणम् ॥२५॥
ब्रह्मण्यवस्थितमतिर्भगवत्यात्मसंश्रये ।
निवृत्तजीवापत्तित्वात्क्षीणक्लेशाप्तनिर्वृतिः[1] ॥२६॥
नित्यारूढसमाधित्वात्परावृत्तगुणभ्रमा ।

पतिके वनगमनके अनन्तर पुत्रका भी वियोग हो जानेके कारण वह आत्मज्ञानसम्पन्न होकर भी ऐसी व्याकुल हो गयीं जैसे बछड़ेके बिछुड़ जानेसे उसे प्यार करनेवाली गौ ॥ २१ ॥ हे वत्स विदुरजी ! फिर अपने पुत्र श्रीकपिलदेवरूप भगवान् हरिका ही चिन्तन करते-करते वह कुछ ही दिनोंमें अपने ऐसे ऐश्वर्यसम्पन्न घरसे भी उपरत हो गयीं ॥ २२ ॥ फिर अपने पुत्रके बताये हुए ध्यान करनेयोग्य भगवान्‌के प्रसन्नवदनयुक्त स्वरूपका अवयवशः तथा समग्ररूपसे ध्यान करते हुए उन्हें भक्तिके प्रवाहसे, प्रबल वैराग्यसे तथा यथोचित पूजनादिद्वारा उत्पन्न हुए ब्रह्मसाक्षात्कार करानेवाले ज्ञानद्वारा शुद्ध हुए चित्तसे उस सर्वव्यापक आत्माका, जिसका अपने स्वरूपके प्रकाशसे मायाकृत देह-इन्द्रिय आदि भेद दूर हो गया है, ज्ञान प्राप्त हुआ और फिर जीवके अधिष्ठानरूप भगवान् ब्रह्ममें बुद्धिको स्थिर कर देनेसे जीवभाव निवृत्त हो जानेके कारण देवहूति समस्त क्लेशोंसे मुक्त हो गयी; तथा उन्हें परमानन्द प्राप्त हुआ ॥ २३–२६ ॥ इस प्रकार निरन्तर समाधिस्थ रहनेके कारण सत्त्वादि मायिक गुणोंके निवृत्त हो जानेपर उन्हें अपने शरीरकी

१. प्रा० पा०—त्वाद्धीनक्लेशा० ।

न सस्मार तदात्मानं स्वप्ने दृष्टमिवोत्थितः ॥२७॥

तद्देहः परतःपोषोऽप्यकृशश्चाध्यसम्भवात् ।
बभौ मलैरवच्छन्नः सधूम इव पावकः ॥२८॥

स्वाङ्गं तपोयोगमयं मुक्तकेशं गताम्बरम् ।
दैवगुप्तं न बुबुधे वासुदेवप्रविष्टधीः ॥२९॥

भी सुधि नहीं रही जैसे जागे हुए लोगोंको अपने स्वप्नमें देखे हुए शरीरका कुछ भी भान नहीं रहता ॥ २७ ॥ उस समय देवहूतिका शरीर दूसरोंके द्वारा पोषित होनेपर भी किसी प्रकारका मानसिक कष्ट न पहुँचनेके कारण दुर्बल नहीं हुआ; केवल धूलि आदिसे आच्छादित हो जानेके कारण वह धूमयुक्त अग्निके समान जान पड़ता था ॥ २८ ॥ किन्तु भगवान् वासुदेवमें बुद्धि लगी रहनेके कारण देवहूतिजीको अपने तपोयोगमय, खुले बालोंवाले, वस्त्रहीन और प्रारब्धद्वारा सुरक्षित शरीरकी कुछ भी सुधि नहीं थी ॥ २९ ॥

एवं सा कपिलोक्तेन मार्गेणाचिरतः परम् ।
आत्मानं ब्रह्मनिर्वाणं भगवन्तमवाप ह ॥३०॥

तद्वीरासीत्पुण्यतमं क्षेत्रं त्रैलोक्यविश्रुतम् ।
नाम्ना सिद्धपदं यत्र सा संसिद्धिमुपेयुषी ॥३१॥

तस्यास्तद्योगविधुतमार्त्यं मर्त्यमभूत्सरित् ।
स्रोतसां प्रवरा सौम्य सिद्धिदा सिद्धसेविता[1] ॥३२॥

हे विदुरजी ! इस प्रकार देवहूतिजीने कपिलदेवजीके बताये हुए मार्गद्वारा थोड़े ही समयमें अपने प्रकृति आदिसे श्रेष्ठ अन्तरात्मा नित्यमुक्त भगवान् ब्रह्मको प्राप्त कर लिया ॥ ३० ॥ हे वीर ! जिस स्थानपर उन्हें सिद्धि प्राप्त हुई थी वह परम पवित्र क्षेत्र त्रिलोकीमें 'सिद्धपद' नामसे विख्यात हुआ ॥ ३१ ॥ हे सौम्य ! योगसाधनके द्वारा जिसका सब दैहिकमल दूर हो गया था वह उनका शरीर एक परम सिद्धिदायिनी सिद्धसेविता सरिताके स्वरूपमें परिणत हो गया ॥ ३२ ॥

कपिलोऽपि महायोगी भगवान्पितुराश्रमात् ।
मातरं समनुज्ञाप्य प्रागुदीचीं दिशं ययौ ॥३३॥

सिद्धचारणगन्धर्वैर्मुनिभिश्चाप्सरोगणैः ।
स्तूयमानः समुद्रेण दत्तार्हणनिकेतनः ॥३४॥

आस्ते योगं समास्थाय सांख्याचार्यैरभिष्टुतः ।
त्रयाणामपि लोकानामुपशान्त्यै[2] समाहितः ॥३५॥

एतन्निगदितं तात यत्पृष्टोऽहं तवानघ[3] ।
कपिलस्य च संवादो देवहूत्याश्च पावनः ॥३६॥

इधर महायोगी भगवान् कपिलजी भी माताकी आज्ञा ले पिताके आश्रमसे उत्तर-पूर्व (ईशानकोण) की ओर चल दिये ॥ ३३ ॥ वहाँ वे समुद्रद्वारा आदरपूर्वक निवासस्थान दिये जानेपर सिद्ध, चारण, गन्धर्व, मुनि और अप्सरागणसे स्तुति किये जाते हुए तथा सांख्याचार्योंसे वन्दित होते हुए तीनों लोकोंको शान्ति प्रदान करनेके लिये एकाग्रतापूर्वक योगाभ्यास कर रहे हैं ॥ ३४-३५ ॥ हे तात ! हे अनघ ! तुम्हारे पूछनेके अनुसार मैंने तुम्हें यह भगवान् कपिल और देवहूतिका परम पवित्र संवाद सुनाया ॥३६॥

१. प्रा० पा०—सिद्धि० । २. प्रा० पा०—कानां सुखापास्ते समा० । ३. प्रा० पा०—त्वया० ।

य इदमनुशृणोति योऽभिधत्ते
कपिलमुनेर्मतमात्मयोगगुह्यम् ।
भगवति कृतधीः सुपर्णकेता-
वुपलभते भगवत्पदारविन्दम् ॥३७॥

जो पुरुष आत्मयोगके रहस्यरूप इस कपिलदेवजीके मत-को सुनता अथवा कहता है उसे भगवान् गरुडध्वजकी भक्ति प्राप्त होनेसे शीघ्र ही भगवच्चरणारविन्दोंकी प्राप्ति हो जाती है ॥ ३७ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे तृतीयस्कन्धे कापिलेयो-[1]
पाख्याने त्रयस्त्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥३३॥

इति तृतीयस्कन्धः समाप्तः ।

॥ हरिः ॐ तत्सत् ॥

१. प्रा० पा०—कापिलेये ।

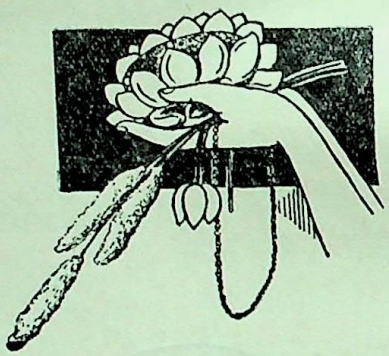

श्रीराधाकृष्णाभ्यां नमः

श्रीमद्भागवत

चतुर्थ स्कन्ध

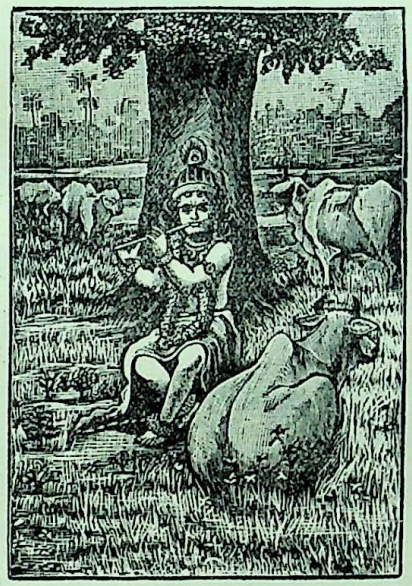

अध्रुवाय कृतो यत्नो ध्रुवाय परिकल्पितः ।
ध्रुवस्य यत्प्रसादेन वासुदेवं नतोऽस्मि तम् ॥

श्रीहरिः

श्रीमद्भागवत

चतुर्थ स्कन्ध

पहला अध्याय

स्वायम्भुवमनुकी दो कन्याओंके वंशका वर्णन ।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ।

मैत्रेय उवाच

मनोस्तु शतरूपायां तिस्रः कन्याश्च जज्ञिरे ।
आकूतिर्देवहूतिश्च प्रसूतिरिति विश्रुताः ॥ १ ॥
आकूतिं रुचये प्रादादपि भ्रातृमतीं नृपः ।
पुत्रिकाधर्ममाश्रित्य शतरूपानुमोदितः ॥ २ ॥
प्रजापतिः स भगवान्रुचिस्तस्यामजीजनत् ।
मिथुनं ब्रह्मवर्चस्वी परमेण समाधिना ॥ ३ ॥
यस्तयोः पुरुषः साक्षाद्विष्णुर्यज्ञस्वरूपधृक् ।
या स्त्री सा दक्षिणा भूतेरंशभूतानपायिनी ॥ ४ ॥
आनिन्ये स्वगृहं पुत्र्याः पुत्रं विततरोचिषम् ।
स्वायम्भुवो मुदा युक्तो रुचिर्जग्राह दक्षिणाम् ॥ ५ ॥
तां कामयानां भगवानुवाह यजुषां पतिः ।
तुष्टायां तोषमापन्नोऽजनयद्द्वादशात्मजान् ॥ ६ ॥
तोषः प्रतोषः संतोषो भद्रः शान्तिरिडस्पतिः ।

श्रीमैत्रेयजी बोले—हे विदुर ! स्वायम्भुवमनुके शतरूपा नाम रानीसे दो पुत्रोंके सिवा तीन कन्याएँ भी हुई थीं; वे आकूति, देवहूति और प्रसूति नामसे विख्यात थीं ॥ १ ॥ उनमेंसे मनुजीने आकूतिको भ्रातृमती होनेपर भी शतरूपाकी अनुमतिसे, पुत्रिका-धर्मके* अनुसार रुचि प्रजापतिके साथ विवाह दिया ॥ २ ॥ तब ब्रह्मतेजसम्पन्न भगवान् रुचि प्रजापतिने ईश्वरका ध्यान करते हुए उससे एक पुरुष और एक स्त्री उत्पन्न की ॥ ३ ॥ उनमें जो पुरुष था वह साक्षात् यज्ञस्वरूपधारी विष्णु भगवान् थे और जो स्त्री थी वह भगवान्से कभी पृथक् न रहनेवाली लक्ष्मीजीकी अंशस्वरूपा 'दक्षिणा' थी ॥ ४ ॥ तब स्वायम्भुवमनु अति प्रसन्न होकर अपनी पुत्रीके सहित उस परमकान्तिमान् पुत्रको अपने घर ले आये और दक्षिणाको रुचिने ग्रहण किया ॥ ५ ॥ जब दक्षिणाको पतिकी इच्छा हुई तो उसे भगवान् यज्ञपुरुषने विवाह लिया इससे दक्षिणाको परम सन्तोष हुआ, तब यज्ञ भगवान्ने भी प्रसन्न होकर उससे बारह पुत्र उत्पन्न किये ॥ ६ ॥ ये तोष, प्रतोष, सन्तोष, भद्र, शान्ति,

१. प्रा० पा०—सुव्रताः ।

* 'अभ्रातृकां प्रदास्यामि तुभ्यं कन्यामलंकृताम् । अस्यां यो जायते पुत्रः स मे पुत्रो भविष्यति ॥'

अर्थात् 'यह बिना भाईकी भली प्रकार अलंकृत कन्या तुम्हें देता हूँ इससे जो पुत्र उत्पन्न होगा वह मेरा पुत्र होगा' ऐसा कहकर कन्यादान करनेको पुत्रिकाधर्म कहते हैं ।

इध्मः कविर्विभुः स्वह्नः सुदेवो रोचनो द्विषट् ॥ ७ ॥
तुषिता नाम ते देवा आसन्स्वायम्भुवान्तरे ।
मरीचिमिश्रा ऋषयो यज्ञः सुरगणेश्वरः ॥ ८ ॥
प्रियव्रतोत्तानपादौ मनुपुत्रौ महौजसौ ।
तत्पुत्रपौत्रनप्तॄणामनुवृत्तं तदन्तरम् ॥ ९ ॥

इडस्पति, इध्म, कवि, विभु, स्वह्नः, सुदेव और रोचन—ये बारह थे ॥ ७ ॥ ये ही स्वायम्भुवमन्वन्तरमें 'तुषित' नामक देवता हुए, मरीचि आदि सप्तर्षि हुए तथा यज्ञ नामक भगवदवतार ही देवताओंके अधीश्वर इन्द्र हुए ॥ ८ ॥ प्रियव्रत और उत्तानपाद ये दोनों महातेजस्वी मनुपुत्र थे । उन्हींके पुत्र-पौत्र और नातियोंसे यह सम्पूर्ण मन्वन्तर व्याप्त हुआ ॥ ९ ॥

देवहूतिमदात्तात कर्दमायात्मजां मनुः ।
तत्सम्बन्धि श्रुतप्रायं भवता गदतो मम ॥१०॥
दक्षाय ब्रह्मपुत्राय प्रसूतिं भगवान्मनुः ।
प्रायच्छद्यत्कृतः सर्गस्त्रिलोक्यां विततो महान् ॥११॥

हे तात ! मनुजीने अपनी दूसरी कन्या देवहूति महर्षि कर्दमको विवाही थी । उसके विषयमें प्रायः सब बातें तुम मेरे मुखसे सुन ही चुके हो ॥ १० ॥ इसी प्रकार, भगवान् मनुने ब्रह्माजीके पुत्र दक्ष प्रजापतिको अपनी प्रसूति नाम कन्या दी, जिसकी बहुत-सी सन्तानें इस सम्पूर्ण त्रिलोकीमें फैली हुई हैं ॥ ११ ॥

याः कर्दमसुताः प्रोक्ता नव ब्रह्मर्षिपत्नयः ।
तासां प्रसूतिप्रसवं प्रोच्यमानं निबोध मे ॥१२॥
पत्नी मरीचेस्तु कला सुषुवे कर्दमात्मजा ।
कश्यपं पूर्णिमानं च ययोरापूरितं जगत् ॥१३॥
पूर्णिमासूत विरजं विश्वगं च परंतप ।
देवकुल्यां हरेः पादशौचाद्याभूत्सरिद्दिवः ॥१४॥
अत्रेः पत्न्यनसूया त्रीञ्जज्ञे सुयशसः सुतान् ।
दत्तं दुर्वाससं सोममात्मेशब्रह्मसम्भवान् ॥१५॥

हे विदुर ! मैंने तुमसे कर्दमजीकी नौ कन्याओंका, जो ब्रह्मर्षियोंकी पत्नियाँ थीं, पहले वर्णन किया था । अब मैं उनकी सन्तानपरम्पराका वर्णन करता हूँ, सुनो ॥ १२ ॥ कर्दमजीकी पुत्री और मरीचि ऋषिकी पत्नी कलासे कश्यप और पूर्णिमानामक दो पुत्र हुए जिनकी सन्तानसे यह सम्पूर्ण जगत् परिपूर्ण है ॥ १३ ॥ हे परन्तप ! पूर्णिमाके विरज और विश्वग नामक दो पुत्र और देवकुल्या नामकी एक कन्या हुई जो श्रीहरिके पादप्रक्षालनसे स्वर्गकी नदी (गंगा) हो गयी थी ॥ १४ ॥ अत्रिऋषिकी पत्नी अनसूयाके श्रीविष्णु, महादेव और ब्रह्माजीके अंशसे प्रकट हुए दत्तात्रेय, दुर्वासा और चन्द्रमा नाम तीन परम यशस्वी पुत्र उत्पन्न हुए ॥ १५ ॥

विदुर उवाच

अत्रेर्गृहे सुरश्रेष्ठाः स्थित्युत्पत्त्यन्तहेतवः ।
किञ्चिच्चिकीर्षवो जाता एतदाख्याहि मे गुरो ॥१६॥

श्रीविदुरजीने पूछा—हे गुरो ! जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और अन्त करनेवाले ब्रह्मा, विष्णु और महादेव—इन त्रिदेवोंने क्या करनेकी इच्छासे अत्रिमुनिके यहाँ अवतार लिया था ? यह मुझे बतलाइये ॥ १६ ॥

मैत्रेय उवाच

ब्रह्मणा नोदितः सृष्टावत्रिर्ब्रह्मविदां वरः ।
सह पत्न्या ययावृक्षं कुलाद्रिं तपसि स्थितः ॥१७॥

श्रीमैत्रेयजी बोले—जब ब्रह्माजीने ब्रह्मज्ञानियोंमें श्रेष्ठ महर्षि अत्रिको सृष्टि रचनेकी आज्ञा दी तब वे तपस्या करनेके लिये अपनी सहधर्मिणीके सहित ऋक्ष नामक पर्वतपर गये ॥ १७ ॥

१. प्रा० पा०—यद० । २. प्रा० पा०—क्ताः क्षत्तर्ब्रह्म० । ३. प्रा० पा०—यशं च । ४. प्रा० पा०—चो० ।

तस्मिन्प्रसूनस्तबकपलाशाशोककानने ।
वार्भिः स्रवद्भिरुद्घुष्टे निर्विन्ध्यायाः समन्ततः ॥१८॥
प्राणायामेन संयम्य मनो वर्षशतं मुनिः ।
अतिष्ठदेकपादेन निर्द्वन्द्वोऽनिलभोजनः ॥१९॥
शरणं ते प्रपद्येऽहं य एव जगदीश्वरः ।
प्रजामात्मसमां मह्यं प्रयच्छत्विति चिन्तयन् ॥२०॥
तप्यमानं त्रिभुवनं प्राणायामैधसाग्निना ।
निर्गतेन मुनेर्मूर्ध्नः समीक्ष्य प्रभवस्त्रयः ॥२१॥
अप्सरोमुनिगन्धर्वसिद्धविद्याधरोरगैः ।
वितायमानयशसस्तदाश्रमपदं ययुः ॥२२॥
तत्प्रादुर्भावसंयोगविद्योतितमना मुनिः ।
उत्तिष्ठन्नेकपादेन ददर्श विबुधर्षभान् ॥२३॥
प्रणम्य दण्डवद्भूमावुपतस्थेऽर्हणाञ्जलिः[1] ।
वृषहंससुपर्णस्थान्स्वैः स्वैश्चिह्नैश्च चिह्नितान् ॥२४॥
कृपावलोकेन हसद्वदनेनोपलम्भितान् ।
तद्रोचिषा प्रतिहते निमील्य मुनिरक्षिणी ॥२५॥
चेतस्तत्प्रवणं युञ्जन्नस्तावीत्संहताञ्जलिः ।
श्लक्ष्णया सूक्तया वाचा सर्वलोकगरीयसः ॥२६॥

अत्रिरुवाच

विश्वोद्भवस्थितिलयेषु विभज्यमानै-
र्मायागुणैरनुयुगं विगृहीतदेहाः ।
ते ब्रह्मविष्णुगिरिशाः प्रणतोऽस्म्यहं व-
स्तेभ्यः क एव भवतां म इहोपहूतः ॥२७॥
एको मयेह भगवान्विविधप्रधान-
श्चित्तीकृतः प्रजननाय कथं नु यूयम् ।
अत्रागतास्तनुभृतां मनसोऽपि दूराद्

वहाँ निर्विन्ध्या नदीके बहते हुए जलसे सब ओर शब्दायमान तथा फूलोंके गुच्छोंसे सुशोभित पलाश और अशोकके वनमें मुनिवर अत्रि प्राणायामद्वारा अपने चित्तको वशीभूत कर सौ वर्षतक केवल वायुभक्षण करते हुए द्वन्द्वरहित होकर एक ही पाँवपर खड़े रहे ॥ १८-१९ ॥ और यह चिन्तन करते रहे कि 'जो सम्पूर्ण जगत्के ईश्वर हैं उनकी हम शरण हैं, वे हमें अपने ही समान सन्तान प्रदान करें' ॥ २० ॥

तब, प्राणायामरूप इन्धनद्वारा प्रज्वलित होकर अत्रिमुनिके मस्तकसे बाहर निकलकर तीनों लोकोंको तपाते हुए अग्निको देखकर, अप्सरा, मुनि, गन्धर्व, सिद्ध, विद्याधर और नागगण जिनका सुयश गा रहे हैं ऐसे ब्रह्मा, विष्णु और महादेव—ये तीनों जगत्पति अत्रिमुनिके आश्रममें आये ॥ २१-२२ ॥ उन तीनोंका एक साथ प्रादुर्भाव होनेसे मुनिका अन्तःकरण प्रकाशित हो उठा और एक ही पैरपर खड़े हुए उन मुनिश्रेष्ठने अपने-अपने चिह्नोंसे सुशोभित अपनी दया-दृष्टि और हास्य मुखकमलसे प्रसन्नता प्रकट करते हुए तथा वृषभ, हंस और गरुड़पर आरूढ़ शङ्कर, ब्रह्मा और श्रीहरि—इन देवश्रेष्ठोंको देखकर उन्हें पृथ्वीपर दण्डके समान लोटकर प्रणाम करनेके अनन्तर श्रद्धाञ्जलि समर्पण की । फिर उनके तेजसे चौंधियाये हुए अपने नेत्रोंको मूँदकर और चित्तको उनकी ओर लगाकर सम्पूर्ण लोकमें महान् उन त्रिदेवोंकी अति मधुर और सुन्दर वाणीसे हाथ जोड़कर स्तुति करने लगे ॥२३–२६॥

श्रीअत्रिमुनि बोले—हे देवगण ! आप मायाके भिन्न-भिन्न गुणोंके द्वारा जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और लयके लिये युग-युगमें भिन्न-भिन्न देह धारण करनेवाले ब्रह्मा, विष्णु और महादेव हैं । मैं आपको नमस्कार करता हूँ । कहिये, मैंने आपमेंसे किन एकका आवाहन किया था ? ॥२७॥ मैंने सन्तान-प्राप्तिके लिये केवल एक ही देवेश्वरभगवान्का चिन्तन किया था, सो सम्पूर्ण देहधारियोंके मनके भी अगोचर आप तीनों देव यहाँ कैसे पधारे ? मुझे इस विषयमें बड़ा विस्मय

१. प्रा० पा०—स्थे कृताञ्ज० ।

ब्रूत प्रसीदत महानिह विस्मयो मे ॥२८॥

मैत्रेय उवाच

इति तस्य वचः श्रुत्वा त्रयस्ते विबुधर्षभाः ।
प्रत्याहुः श्लक्ष्णया वाचा प्रहस्य तमृषिं प्रभो ॥२९॥

देवा ऊचुः

यथा कृतस्ते सङ्कल्पो भाव्यं तेनैव नान्यथा ।
सत्सङ्कल्पस्य ते ब्रह्मन्यद्वै ध्यायति[2] ते वयम् ॥३०॥
अथास्मदंशभूतास्ते आत्मजा लोकविश्रुताः ।
भवितारोऽङ्ग भद्रं ते विस्रप्स्यन्ति च ते यशः ॥३१॥
एवं कामवरं दत्त्वा प्रतिजग्मुः सुरेश्वराः ।
सभाजितास्तयोः सम्यग्दम्पत्योर्मिषतोस्ततः ॥३२॥
सोमोऽभूद्ब्रह्मणोंऽशेन दत्तो विष्णोस्तु योगवित् ।
दुर्वासाः शंकरस्यांशो निबोधाङ्गिरसः प्रजाः ॥३३॥

श्रद्धा त्वङ्गिरसः पत्नी चतस्रोऽसूत कन्यकाः ।
सिनीवाली कुहू राका चतुर्थ्यनुमतिस्तथा ॥३४॥
तत्पुत्रावपरावास्तां ख्यातौ स्वारोचिषेऽन्तरे ।
उतथ्यो भगवान्साक्षाद्ब्रह्मिष्ठश्च बृहस्पतिः ॥३५॥

पुलस्त्योऽजनयत्पत्न्यामगस्त्यं च हविर्भुवि ।
सोऽन्यजन्मनि दहाग्निर्विश्रवाश्च महातपाः ॥३६॥
तस्य यक्षपतिर्देवः कुबेरस्त्विडविडासुतः ।
रावणः कुम्भकर्णश्च तथान्यस्यां विभीषणः ॥३७॥

पुलहस्य गतिर्भार्या त्रीनसूत सती सुतान् ।
कर्मश्रेष्ठं वरीयांसं सहिष्णुं च महामते ॥३८॥
क्रतोरपि क्रिया भार्या वालखिल्यानसूयत ।

हो रहा है, आप लोग प्रसन्न होकर इसका मर्म बतलाइये ॥२८॥

श्रीमैत्रेयजी बोले–हे समर्थ ! अत्रिमुनिके ये वचन सुन वे तीनों देवश्रेष्ठ हँसे और उनसे सुमधुर वाणीमें कहने लगे—॥२९॥

देवगण बोले–हे ब्रह्मन् ! तुम सत्यसंकल्प हो । तुमने जैसा संकल्प किया था वैसा ही हुआ है, उसके प्रतिकूल कुछ नहीं हुआ । तुम जिस 'जगदीश्वर'का ध्यान करते थे वह हम तीनों ही हैं ॥३०॥ अतः हे मुने ! तुम्हारा शुभ हो, तुम्हारे यहाँ हमारे ही अंशसे प्रकट हुए तीन जगद्विख्यात पुत्र उत्पन्न होंगे । वे संसारमें तुम्हारा सुयश फैला देंगे ॥३१॥ इस प्रकार उन्हें इच्छित वर दे वे तीनों सुरेश्वरगण उन दम्पतियों-से भली प्रकार पूजित हो उनके देखते-देखते अपने लोकोंको चले गये ॥३२॥ अत्रिऋषिके पुत्रोंमें चन्द्रमा ब्रह्माजीके अंशसे, योगवेत्ता दत्तात्रेयजी विष्णुके अंशसे और दुर्वासाजी महादेवजीके अंशसे उत्पन्न हुए थे । अब अंगिराऋषिकी सन्तानका वर्णन सुनो ॥३३॥

अंगिराकी पत्नी श्रद्धासे सिनीवाली, कुहू, राका और अनुमति इन चार कन्याओंका जन्म हुआ ॥३४॥ इनके सिवा उनके साक्षात् भगवान् उतथ्यजी और ब्रह्मनिष्ठ बृहस्पतिजी–ये दो पुत्र भी थे जो स्वारोचिष मन्वन्तरमें विख्यात हुए ॥३५॥

पुलस्त्यजीने अपनी पत्नी हविर्भूसे अगस्त्य और महातपस्वी विश्रवाको उत्पन्न किया । इनमें अगस्त्यजी दूसरे जन्ममें जठराग्नि हुए ॥३६॥ विश्रवा मुनिके इडविडाके गर्भसे यक्षराज कुबेरका जन्म हुआ तथा उनकी [कैकसी नामवाली] दूसरी स्त्रीसे रावण, कुम्भकर्ण और विभीषण उत्पन्न हुए ॥३७॥

हे महामते ! महर्षि पुलहकी स्त्री परमसाध्वी गति-ने कर्मश्रेष्ठ वरीयान् और सहिष्णु–इन तीन पुत्रोंको उत्पन्न किया ॥३८॥ इसी प्रकार क्रतुकी भार्या क्रियाने

१. प्राचीन प्रतिमें 'मैत्रेय उवाच' नहीं है । २. प्रा० पा०—ध्यायसि ।

ऋषीन्षष्टिसहस्राणि ज्वलतो ब्रह्मतेजसा ॥३९॥
ऊर्जायां जज्ञिरे पुत्रा वसिष्ठस्य परंतप ।
चित्रकेतुप्रधानास्ते सप्त ब्रह्मर्षयोऽमलाः ॥४०॥
चित्रकेतुः सुरोचिश्च विरजा मित्र एव च ।
उल्बणो वसुभृद्यानो द्युमाञ्च्छक्त्यादयोऽपरे ॥४१॥
चित्तिस्त्वथर्वणः पत्नी लेभे पुत्रं धृतव्रतम् ।
दध्यञ्चमश्वशिरसं भृगोर्वंशं निबोध मे ॥४२॥

वालखिल्यादि साठ हजार ऋषियोंको जन्म दिया जो ब्रह्मतेजसे देदीप्यमान थे ॥३९॥ हे परन्तप ! वशिष्ठजीके उनकी भार्या ऊर्जा (अरुन्धती) से चित्रकेतु आदि सात पुत्र उत्पन्न हुए, ये ही सात शुद्धचित्तवाले ब्रह्मर्षि थे ॥४०॥ उनके नाम चित्रकेतु, सुरोचि, विरजा, मित्र, उल्बण, वसुभृद्यान और द्युमान् थे । इनके सिवा उनके शक्ति आदि अन्य पुत्र भी थे ॥ ४१ ॥ चिति अथर्वण ऋषिकी स्त्री थी। उसके तपोनिष्ठ दध्यङ् (दधीचि) नामक पुत्र उत्पन्न हुआ जो 'अश्वशिरा' भी कहलाता था । अब भृगुके वंशका वर्णन सुनो ॥४२॥

भृगुः ख्यात्यां महाभागः पत्न्यां पुत्रानजीजनत् ।
धातारं च विधातारं श्रियं च भगवत्पराम् ॥४३॥
आयतिं नियतिं चैव सुते मेरुस्तयोरदात् ।
ताभ्यां तयोरभवतां मृकण्डः प्राण एव च ॥४४॥
मार्कण्डेयो मृकण्डस्य प्राणाद्वेदशिरा मुनिः ।
कविश्च भार्गवो यस्य भगवानुशना सुतः ॥४५॥
ते एते मुनयः क्षत्तर्लोकान्सर्गैरभावयन् ।
एष कर्दमदौहित्रसंतानः कथितस्तव ।
शृण्वतः श्रद्दधानस्य सद्यः पापहरः परः ॥४६॥

महाभाग भृगुजीने अपनी भार्या ख्यातिसे धाता और विधाता नामक पुत्र तथा भगवत्परायणा श्रीनामकी कन्या उत्पन्न की ॥४३॥ उन धाता और विधाताको मेरु ऋषिने अपनी आयति और नियति नामकी कन्याएँ दीं; उनसे उनके मृकण्ड और प्राण नामक दो पुत्र हुए ॥४४॥ उनमेंसे मृकण्डके मार्कण्डेय और प्राणके मुनिवर वेदशिराका जन्म हुआ । भृगुजीके एक कवि नामक पुत्र थे । उनके पुत्र भगवान् उशना (शुक्राचार्य) थे ॥ ४५ ॥ हे विदुरजी ! इन सब मुनीश्वरोंने अपनी सन्तानसे इस सम्पूर्ण त्रिलोकीको परिपूर्ण कर दिया । यह मैंने तुम्हें कर्दमजीके दौहित्रोंकी सन्तानका वर्णन सुनाया । जो पुरुष इसका श्रद्धापूर्वक श्रवण करता है उसके पापोंको यह तत्काल नष्ट कर देता है ॥४६॥

प्रसूतिं मानवीं दक्ष उपयेमे ह्यजात्मजः ।
तस्यां ससर्ज दुहितॄः षोडशामललोचनाः ॥४७॥
त्रयोदशादाद्धर्माय तथैकामग्नये विभुः ।
पितृभ्य एकां युक्तेभ्यो भवायैकां भवच्छिदे ॥४८॥
श्रद्धा मैत्री दया शान्तिस्तुष्टिः पुष्टिः क्रियोन्नतिः ।
बुद्धिर्मेधा तितिक्षा ह्रीर्मूर्तिर्धर्मस्य पत्नयः ॥४९॥
श्रद्धासूत शुभं मैत्री प्रसादमभयं दया ।
शान्तिः सुखं मुदं तुष्टिः स्मयं पुष्टिरसूयत ॥५०॥

मनुजीकी पुत्री प्रसूतिका विवाह ब्रह्माजीके पुत्र दक्षप्रजापतिसे हुआ था । उससे उन्होंने सोलह सुनयनी कन्याएँ उत्पन्न कीं ॥४७॥ भगवान् दक्षने उनमेंसे तेरह धर्मको, एक अग्निको, एक समस्त पितृगणको और एक संसारका संहार करनेवाले भगवान् शंकरको दी ॥४८॥ श्रद्धा, मैत्री, दया, शान्ति, तुष्टि, पुष्टि, क्रिया, उन्नति, बुद्धि, मेधा, तितिक्षा, ह्री और मूर्ति—ये धर्मकी स्त्रियाँ थीं ॥४९॥ उनमेंसे श्रद्धाने शुभ, मैत्रीने प्रसाद, दयाने अभय, शान्तिने सुख, तुष्टिने मोद, पुष्टिने अहंकार, क्रियाने योग, उन्नतिने

१. प्रा० पा०—दधीचमश्व० । २. प्रा० पा०—सर्वे ते मुन० ।

योगं क्रियोन्नतिर्दर्पमर्थं बुद्धिरसूयत ।
मेधा स्मृतिं तितिक्षा तु क्षेमं ह्रीः प्रश्रयं सुतम् ॥५१॥
मूर्तिः सर्वगुणोत्पत्तिर्नरनारायणावृषी ॥५२॥
ययोर्जन्मन्यदो विश्वमभ्यनन्दत्सुनिर्वृतम् ।
मनांसि ककुभो वाताः प्रसेदुः सरितोऽद्रयः ॥५३॥
दिव्यवाद्यन्त तूर्याणि पेतुः कुसुमवृष्टयः ।
मुनयस्तुष्टुवुस्तुष्टा जगुर्गन्धर्वकिन्नराः ॥५४॥
नृत्यन्ति स्म स्त्रियो दैव्य[1] आसीत्परममङ्गलम् ।
देवा ब्रह्मादयः सर्वे उपतस्थुरभिष्टवैः ॥५५॥

दर्प, बुद्धिने अर्थ, मेधाने स्मृति, तितिक्षाने क्षेम और ह्री (लज्जा) ने प्रश्रय (विनय) नामक पुत्रको जन्म दिया ॥५०-५१॥ सकल गुणोंकी उत्पत्तिस्थान मूर्तिने ऋषिवर नर और नारायणको उत्पन्न किया, जिनके जन्मसे अति आनन्दित होकर इस सम्पूर्ण जगत्‌ने प्रसन्नता प्रकट की थी। उस समय मन, दिशा, वायु, नदी और पर्वत सभी प्रसन्न थे ॥५२-५३॥ आकाशमें तुर्य-घोष होने लगा और देवतागण फूलोंकी वर्षा करने लगे, मुनिगण प्रसन्न होकर स्तुति करने लगे, गन्धर्व और किन्नर भगवान्‌का सुयश गाने लगे ॥५४॥ तथा अप्सराएँ नृत्य करने लगीं। इस प्रकार उस समय बड़ा ही मंगलसमारोह हुआ तथा ब्रह्मादिक सम्पूर्ण देवतागण स्तोत्रोंद्वारा भगवान्‌की स्तुति करने लगे ॥५५॥

देवा[2] ऊचुः

यो मायया विरचितं निजयात्मनीदं
खे रूपभेदमिव तत्प्रतिचक्षणाय ।
एतेन धर्मसदने ऋषिमूर्तिनाद्य
प्रादुश्चकार पुरुषाय नमः परस्मै ॥५६॥
सोऽयं स्थितिव्यतिकरोपशमाय सृष्टा-
न्सत्त्वेन नः सुरगणाननुमेयतत्त्वः ।
दृश्याददभ्रकरुणेन विलोकनेन
यच्छ्रीनिकेतममलं क्षिपतारविन्दम् ॥५७॥
एवं सुरगणैस्तात भगवन्तावभिष्टुतौ ।
लब्धावलोकैर्ययतुरर्चितौ गन्धमादनम् ॥५८॥
ताविमौ वै भगवतो हरेरंशाविहागतौ ।
भारव्ययाय च भुवः कृष्णौ यदुकुरूद्वहौ ॥५९॥

देवतालोग बोले—जिस प्रकार आकाशमें मनुष्य नाना प्रकारके रूपोंकी कल्पना कर लेता है उसी प्रकार जिन्होंने अपनी मायासे इस सम्पूर्ण जगत्‌को नाना रूपसे अवलोकन करनेके लिये अपनेहीमें निर्माण किया है और जो इस समय धर्मके यहाँ ऋषिरूपसे अवतीर्ण हुए हैं उन परमपुरुषको नमस्कार है ॥५६॥ जिनके तत्त्वका शास्त्रसे केवल अनुमान किया जाता है वे भगवान् लक्ष्मीजीके निवासस्थानरूप कमलको भी नीचा दिखानेवाले अपने करुणामय नेत्रोंसे हम देवताओंकी ओर, जिन्हें उन्होंने संसारकी मर्य्यादाके विघ्नोंकी शान्तिके लिये ही सत्त्वगुणसे उत्पन्न किया है, निहारें ॥५७॥

हे तात ! देवताओंद्वारा इस प्रकार स्तुति किये जानेपर भगवान्‌ने उनकी ओर देखा और फिर उनसे पूजित हो वे गन्धमादन पर्वतपर चले गये ॥५८॥ भगवान् हरिके अंशरूप वे नर और नारायण ही इस समय पृथ्वीका भार उतारनेके लिये कुरु और यदुकुलोंमें दोनों जगह कृष्ण (कुरुकुलमें 'अर्जुन' और यदुकुलमें 'कृष्ण') नामसे अवतीर्ण हुए हैं ॥५९॥

१. प्रा० पा०—दिव्या आसीत् परमसङ्गमम् । २. प्राचीन प्रतिमें 'देवा ऊचुः' नहीं है ।

स्वाहाभिमानिनश्चाग्नेरात्मजांस्त्रीनजीजनत् ।
पावकं पवमानं च शुचिं च हुतभोजनम् ॥६०॥
तेभ्योऽग्नयः समभवंश्चत्वारिंशच्च पञ्च च ।
त एवैकोनपञ्चाशत्साकं पितृपितामहैः ॥६१॥
वैतानिके कर्मणि यन्नामभिर्ब्रह्मवादिभिः ।
आग्नेय्य इष्टयो यज्ञे निरूप्यन्तेऽग्नयस्तु ते ॥६२॥
अग्निष्वात्ता बर्हिषदः सौम्याः पितर आज्यपाः ।
साग्नयोऽनग्नयस्तेषां पत्नी दाक्षायणी स्वधा ॥६३॥
तेभ्यो दधार कन्ये द्वे वयुनां धारिणीं स्वधा ।
उभे ते ब्रह्मवादिन्यौ ज्ञानविज्ञानपारगे ॥६४॥
भवस्य पत्नी तु सती भवं देवमनुव्रता ।
आत्मनः सदृशं पुत्रं न लेभे गुणशीलतः ॥६५॥
पितर्यप्रतिरूपे स्वे भवायानागसे रुषा ।
अप्रौढैवात्मनात्मानमजहाद्योगसंयुता ॥६६॥

अग्निकी पत्नी स्वाहाने हविको भक्षण करनेवाले अग्निके अभिमानी देव पावक, पवमान और शुचि ये तीन पुत्र उत्पन्न किये ॥ ६० ॥ उनसे पैंतालीस प्रकारका अग्नि उत्पन्न हुआ वही तीन पिता (पावक, पवमान और शुचि) तथा एक पितामह (अग्नि) के सहित उनचास प्रकारका है ॥ ६१ ॥ वेदवादीगण यज्ञकर्ममें जिन उनचास अग्नियोंके नामोंसे आग्नेय इष्टियाँ करते हैं, यहाँ उन्हीं अग्नियोंसे अभिप्राय है ॥ ६२ ॥

अग्निष्वात्त[1] बर्हिषद्[2] सोमप[3] आज्यप[4] साग्निक[5] और निरग्निक[6]—इन सब प्रकारके पितरोंकी पत्नी दक्षकुमारी स्वधा थी ॥ ६३ ॥ उन पितरोंसे स्वधाके धारिणी और वयुना नामकी दो कन्याएँ हुईं । वे दोनों ही ज्ञान-विज्ञानकी पारगामिनी और ब्रह्मज्ञानका उपदेश करनेवाली थीं ॥ ६४ ॥ श्रीमहादेवजीकी पत्नी सती थीं; वह सब प्रकार उनकी अनुगामिनी थीं । किन्तु उनके गुण और शीलमें अपने ही समान कोई पुत्र नहीं हुआ ॥ ६५ ॥ उन्होंने प्रौढ़ावस्था प्राप्त होनेसे पूर्व ही अपने पिताको बिना किसी अपराधके भगवान् शङ्करका विरोध करते देख क्रोधवश योगाग्निमें अपना शरीर भस्म कर दिया था ॥ ६६ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे चतुर्थस्कन्धे विदुरमैत्रेयसंवादे[1] प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

दूसरा अध्याय

शिव और दक्षके वैरका वृत्तान्त ।

विदुर उवाच

भवे शीलवतां श्रेष्ठे दक्षो दुहितृवत्सलः ।
विद्वेषमकरोत्कस्मादनादृत्यात्मजां सतीम् ॥ १ ॥

विदुरजीने पूछा—ब्रह्मन् ! पुत्रीवत्सल दक्षने अपनी कन्या सतीका अनादरकर शीलवानोंमें श्रेष्ठ श्रीमहादेवजीका अपमान क्यों किया ? ॥ १ ॥

१. प्राचीन प्रतिमें 'विदुरमैत्रेयसंवादे' के स्थानमें 'दाक्षायनं (?) नाम' यह पाठ है ।

१. जो इस लोकमें केवल स्मार्त्तकर्म करके पितृलोकको प्राप्त हुए हैं । २. जो अग्निहोत्रादि और यज्ञादि कर्मोंद्वारा पितृलोकमें गये हैं । ३. यज्ञमें सोमपान करनेवाले । ४. यज्ञमें घृतपान करनेवाले । ५. जिनके श्राद्धके समय अग्निकरण होता है । ६. जिनके श्राद्धके समय अग्निकरण नहीं होता ।

कस्तं चराचरगुरुं निर्वैरं शान्तविग्रहम् ।
आत्मारामं कथं द्वेष्टि जगतो दैवतं महत् ॥ २ ॥
एतदाख्याहि मे ब्रह्मञ्जामातुः श्वशुरस्य च ।
विद्वेषस्तु यतः प्राणांस्तत्यजे दुस्त्यजान्सती ॥ ३ ॥

महादेवजी तो चराचरके गुरु, निर्वैर, शान्तमूर्ति, आत्माराम और जगत्‌के परम इष्टदेव हैं; उनसे कौन वैर कर सकता है ? ॥२॥ हे ब्रह्मन् ! उन श्वसुर और जामातामें ऐसा विद्वेष, जिसके कारण सतीने अपने दुस्त्यज प्राण त्याग दिये, किस प्रकार हो गया ? सो आप मुझसे कहिये ॥ ३ ॥

मैत्रेय उवाच

पुरा विश्वसृजां सत्रे समेताः परमर्षयः ।
तथामरगणाः सर्वे सानुगा मुनयोऽग्नयः ॥ ४ ॥
तत्र प्रविष्टमृषयो दृष्ट्वार्कमिव रोचिषा ।
भ्राजमानं वितिमिरं कुर्वन्तं तन्महत्सदः ॥ ५ ॥
उदतिष्ठन्सदस्यास्ते स्वधिष्ण्येभ्यः सहाग्नयः ।
ऋते विरिञ्चं शर्वं च तद्भासाक्षिप्तचेतसः ॥ ६ ॥
सदसस्पतिभिर्दक्षो भगवान्साधुसत्कृतः ।
अजं लोकगुरुं नत्वा निषसाद तदाज्ञया ॥ ७ ॥

मैत्रेयजी बोले—विदुरजी ! एक बार पूर्वकालमें मरीचि आदि प्रजापतियोंके यज्ञमें सम्पूर्ण महर्षि, देवता, मुनि और अग्नि आदि अपने अनुयायियोंके सहित एकत्रित हुए ॥ ४ ॥ उस समय सूर्यके समान तेजस्वी और अपनी कान्तिसे उस सभाभवनके अन्धकारको दूर करनेवाले दक्षप्रजापतिको वहाँ आया देख, उनके तेजसे प्रभावित हो, ब्रह्मा और महादेवजीके सिवा और सब सदस्यगण अग्नियोंके सहित अपने आसनोंसे उठ खड़े हुए ॥ ५-६ ॥ इस प्रकार सभासदोंसे भली प्रकार सम्मानित हो भगवान् दक्ष लोकगुरु ब्रह्माजीको नमस्कारकर उनकी आज्ञा पा अपने आसनपर बैठ गये ॥ ७ ॥

प्राङ्निषण्णं मृडं दृष्ट्वा नामृष्यत्तदनादृतः ।
उवाच वामं चक्षुर्भ्यामभिवीक्ष्य दहन्निव ॥ ८ ॥
श्रूयतां ब्रह्मर्षयो मे सहदेवाः सहाग्नयः ।
साधूनां ब्रुवतो वृत्तं नाज्ञानान्न च मत्सरात् ॥ ९ ॥
अयं तु लोकपालानां यशोघ्नो निरपत्रपः ।
सद्भिराचरितः पन्था येन स्तब्धेन दूषितः ॥१०॥
एष मे शिष्यतां प्राप्तो यन्मे दुहितुरग्रहीत् ।
पाणिं विप्राग्निमुखतः सावित्र्या इव साधुवत् ॥११॥
गृहीत्वा मृगशावाक्ष्याः पाणिं मर्कटलोचनः ।

किन्तु महादेवजीको पहलेसे ही बैठे देख इसमें अपना अपमान समझ दक्षको उनका व्यवहार सहन नहीं हुआ और उन्होंने उनकी ओर टेढ़ी दृष्टिसे देख-देखकर उन्हें जलाते हुए-से कहा ॥ ८ ॥ "देवता और अग्नियोंके सहित हे ब्रह्मर्षिगण ! आप मेरा कथन सुनिये । मैं अज्ञान या मत्सरतासे नहीं कहता बल्कि जो शिष्ट पुरुषोंका आचरण है उसीके विषयमें कहता हूँ ॥ ९ ॥ यह निर्लज्ज महादेव तो सम्पूर्ण लोकपालोंके सुयशको नष्ट करनेवाला है । देखिये, इस ढीठने सत्पुरुषोंके आचरण किये हुए मार्गको भी कलंकित कर दिया ॥ १० ॥ इसने साधु पुरुषके समान मेरी सावित्रीसदृश कन्याका अग्नि और ब्राह्मणोंके समक्ष पाणिग्रहण किया है, इसलिये यह मेरे शिष्यत्वको प्राप्त हुआ है ॥ ११ ॥ किन्तु इस बन्दरके-से नेत्रवाले-ने मेरी मृगनयनी कन्याका पाणिग्रहणकर जिसे उठकर

१. प्रा० पा०—अथ । २. प्रा० पा०—पाणिमर्केन्दुलोच० ।

प्रत्युत्थानाभिवादार्हे वाचाप्यकृत नोचितम् ॥१२॥
लुप्तक्रियायाशुचये मानिने भिन्नसेतवे ।
अनिच्छन्नप्यदां बालां शूद्रायेवोशतीं गिरम् ॥१३॥
प्रेतावासेषु घोरेषु प्रेतैर्भूतगणैर्वृतः ।
अटत्युन्मत्तवन्नग्नो व्युप्तकेशो हसन्रुदन् ॥१४॥
चिताभस्मकृतस्नानः प्रेतस्रङ्नस्थिभूषणः ।
शिवापदेशो ह्यशिवो मत्तो मत्तजनप्रियः ।
पतिः प्रमथभूतानां तमोमात्रात्मकात्मनाम् ॥१५॥
तस्मा उन्मादनाथाय नष्टशौचाय दुर्हृदे ।
दत्ता बत मया साध्वी चोदिते परमेष्ठिना ॥१६॥

मैत्रेय उवाच

विनिन्द्यैवं स गिरिशमप्रतीपमवस्थितम् ।
दक्षोऽथापं उपस्पृश्य क्रुद्धः शप्तुं प्रचक्रमे ॥१७॥
अयं तु देवयजन इन्द्रोपेन्द्रादिभिर्भवः ।
सह भागं न लभतां देवैर्देवगणाधमः ॥१८॥
निषिध्यमानः स सदस्यमुख्यै-
र्दक्षो गिरित्राय विसृज्य शापम् ।
तस्माद्विनिष्क्रम्य विवृद्धमन्यु-
र्जगाम कौरव्य निजं निकेतनम् ॥१९॥
विज्ञाय शापं गिरिशानुगाग्रणी-
र्नन्दीश्वरो रोषकषायदूषितः ।
दक्षाय शापं विससर्ज दारुणं
ये चान्वमोदंस्तदवाच्यतां द्विजाः ॥२०॥

प्रणामादि करना चाहिये था उसने मेरा वाणीसे भी सत्कार नहीं किया—इसका यह आचरण ठीक नहीं है ॥ १२ ॥ हाय ! जिस प्रकार कोई पुरुष शूद्रको वेदवाणी दे देता है उसी प्रकार मैंने इच्छा न होते हुए भी इस क्रियाभ्रष्ट अपवित्र अभिमानी और लोक-मर्यादाका उल्लङ्घन करनेवालेको अपनी सुकुमारी कन्या दे दी ॥१३॥ देखिये, यह प्रेतोंके निवासस्थान भयङ्कर श्मशानादिमें भूत-प्रेतोंसे घिरा हुआ उन्मत्तके समान नंगा और बाल बखेरे कभी हँसता और कभी रोता हुआ घूमा करता है ॥ १४ ॥ यह शरीरमें चिताकी भस्म लगाये रहता है, गलेमें प्रेतोंके मुण्डकी माला और अंग-प्रत्यंगोंमें हड्डियोंके आभूषण पहने रहता है । इसका नाम तो शिव है किन्तु वास्तवमें अशिव (अमंगल) रूप है । यह स्वयं भी मतवाला है और मतवाले पुरुष ही इसे प्रिय हैं । यह प्रमथ और भूत आदि केवल तमोमय प्राणियोंका ही नायक है ॥ १५॥ अहो ! मैंने केवल ब्रह्माजीके कहनेसे ही इस उन्मत्त-नाथ शौचहीन और दुष्टचित्तको अपनी भोली-भाली कन्या दे दी' ! ॥ १६ ॥

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—हे विदुरजी ! किसी प्रकार भी विरोध न करनेवालेके समान चुपचाप बैठे हुए श्रीमहादेवजीकी इस प्रकार निन्दाकर दक्ष अति क्रोध-पूर्वक जलका आचमनकर उन्हें शाप देनेको उद्यत हुआ ॥ १७ ॥ उसने कहा—'देवताओंमें अधम यह महादेव देवयज्ञोंमें इन्द्र-उपेन्द्र आदि देवताओंके साथ यज्ञका भाग प्राप्त न कर सके' ॥ १८ ॥ उस समय उपस्थित सभासदोंने दक्षको बहुत कुछ रोका किन्तु हे कुरुनन्दन ! वह श्रीमहादेवजीका शाप दे अत्यन्त क्रुद्ध हो उस सभासे निकलकर अपने घर चला गया ॥ १९ ॥

दक्षने शाप दिया है—यह जानकर श्रीशङ्करके अनुयायियोंमें अग्रगण्य नन्दीश्वरको बड़ा ही क्रोध हुआ और उन्होंने दक्ष तथा उन ब्राह्मणोंको, जिन्होंने दक्षके कुवाक्योंका अनुमोदन किया था, भयङ्कर शाप दिया ॥ २० ॥

१. प्रा० पा०—क्षो ह्याप । २. प्रा० पा०—यज्ञे ।

य एतन्मर्त्यमुद्दिश्य भगवत्यप्रतिद्रुहि ।
द्रुह्यत्यज्ञः पृथग्दृष्टिस्तत्त्वतो विमुखो भवेत् ॥२१॥
गृहेषु कूटधर्मेषु सक्तो ग्राम्यसुखेच्छया ।
कर्मतन्त्रं वितनुते वेदवादविपन्नधीः ॥२२॥
बुद्ध्यापराभिध्यायिन्या विस्मृतात्मगतिः पशुः ।
स्त्रीकामः सोऽस्त्वतितरां दक्षो बस्तमुखोऽचिरात् २३
विद्याबुद्धिरविद्यायां कर्ममय्यामसौ जडः ।
संसरन्त्विह ये चामुमनु शर्वावमानिनम् ॥२४॥
गिरः श्रुतायाः पुष्पिण्या मधुगन्धेन भूरिणा ।
मथ्ना चोन्मथितात्मानः संमुह्यन्तु हरद्विषः ॥२५॥
सर्वभक्षा द्विजा वृत्त्यै धृतविद्यातपोव्रताः ।
वित्तदेहेन्द्रियारामा याचका विचरन्त्विह ॥२६॥
तस्यैवं ददतः[1] शापं श्रुत्वा द्विजकुलाय वै ।
भृगुः प्रत्यसृजच्छापं ब्रह्मदण्डं दुरत्ययम् ॥२७॥
भवव्रतधरा ये च ये च तान्समनुव्रताः ।
पाखण्डिनस्ते भवन्तु सच्छास्त्रपरिपन्थिनः ॥२८॥
नष्टशौचा मूढधियो जटाभस्मास्थिधारिणः ।
विशन्तु शिवदीक्षायां यत्र दैवं सुरासवम् ॥२९॥
ब्रह्म च ब्राह्मणांश्चैव यद्यूयं परिनिन्दथ ।
सेतुं विधारणं पुंसामतः पाखण्डमाश्रिताः ॥३०॥
एष एव हि लोकानां शिवः पन्थाः सनातनः ।
यं पूर्वे चानुसंतस्थुर्यत्प्रमाणं जनार्दनः ॥३१॥

'जो भेदबुद्धिवाला मूर्ख दक्ष इस मरणधर्मा शरीरमें ही अभिमान करके किसीसे भी द्रोह न करनेवाले भगवान् शङ्करसे द्वेष मानता है वह सदा तत्त्वज्ञानसे विमुख रहे ॥ २१ ॥ यह मूर्ख 'चातुर्मास्य यज्ञ करनेवालेको अक्षय पुण्य प्राप्त होता है' आदि वेदवाक्योंमें भ्रान्त होकर विषयसुखकी इच्छासे कपटधर्ममय गृहस्थाश्रममें ही आसक्त रहकर कर्मकाण्डमें ही लगा रहता है ॥ २२ ॥ इसकी बुद्धि सदा अविद्यामें ग्रस्त रहती है इसलिये यह आत्मस्वरूप-को भूले हुए है अतः यह दक्ष अत्यन्त स्त्रीलम्पट हो और शीघ्र ही इसका बकरेका मुख हो ॥ २३ ॥ यह मूर्ख कर्ममयी अविद्याको ही विद्या समझता है इसलिये यह और जो भगवान् शङ्करका अपमान करनेवाले इस दुष्टके अनुयायी हैं वे सब जन्ममरणरूप संसारचक्रमें पड़े रहें ॥ २४ ॥ फलश्रुतिरूप पुष्पोंसे सुशोभित वेदवाणीरूप लताके मनको क्षुभित करनेवाले कर्मफलरूप गन्धसे इनके चित्त मुग्ध हो रहे हैं। इसलिये ये शङ्करद्रोही कर्ममार्गमें ही भटकते रहें ॥२५॥ ये ब्राह्मणगण भक्ष्याभक्ष्यके विचारसे रहित हो केवल पेट पालनेके लिये विद्या, तप और व्रतादिका आश्रय लें तथा धन, शरीर और इन्द्रियोंमें ही सुख मान भिक्षुक होकर पृथिवीपर विचरें' ॥ २६ ॥

नन्दीश्वरको इस प्रकार ब्राह्मणकुलको शाप देते सुन भृगुजीने उन्हें बदलेमें अति दुस्तर ब्रह्मशाप दिया ॥ २७ ॥ भृगुजीने कहा—'जो लोग शिवके भक्त हैं और जो उन भक्तोंके अनुयायी हैं वे सत् शास्त्रोंके विरुद्ध आचरण करनेवाले और पाखण्डी हों ॥ २८ ॥ शौचहीन, बुद्धिहीन तथा जटा, भस्म और अस्थियोंको धारण करनेवाले लोग शिवदीक्षामें प्रविष्ट हों, जहाँ सुरा और आसव ही देवताओंके समान आदरणीय है ॥२९॥ अरे, तुम जो मानवधर्मकी मर्यादाकी रक्षा करनेवाले वेद और ब्राह्मणोंकी निन्दा करते हो, इससे विदित होता है तुमने पाखण्डका आश्रय ले रक्खा है ॥३०॥ यह वेदमार्ग ही संसारमें कल्याणकारक और सनातन मार्ग है; पूर्व-पुरुष इसीपर चलते आये हैं और इसके प्रवर्तक भी साक्षात् श्रीविष्णु भगवान् हैं ॥ ३१ ॥

१. प्रा० पा०—वदतः ।

तद्ब्रह्म परमं शुद्धं सतां वर्त्म सनातनम् ।
विगर्ह्य यात पाषण्डं दैवं वो यत्र भूतराट् ॥३२॥

तुमलोग परमशुद्ध और सत्पुरुषोंके सनातन मार्गका तिरस्कार करते हो इसलिये उस पाखण्डमार्गमें जाओ जहाँ तुम्हारे इष्टदेव भूतनाथ महादेवजीकी स्थिति है ॥३२॥

मैत्रेय उवाच

तस्यैवं वदतः शापं भृगोः स भगवान् भवः ।
निश्चक्राम ततः किञ्चिद्विमना इव सानुगः ॥३३॥
तेऽपि विश्वसृजः सत्रं सहस्रपरिवत्सरान् ।
संविधाय महेष्वास यत्रेज्य ऋषभो हरिः ॥३४॥
आप्लुत्यावभृथं यत्र गङ्गा यमुनयान्विता ।
विरजेनात्मना सर्वे स्वं स्वं धाम ययुस्ततः ॥३५॥

मैत्रेयजी बोले—हे विदुर ! भृगुजीके इस प्रकार शाप देनेपर भगवान् शंकर कुछ अनमने हो वहाँसे अपने अनुयायियोंसहित चल दिये ॥ ३३ ॥ हे महाधनुर्धर विदुर ! उन प्रजापतियोंने भी जिसमें सर्वश्रेष्ठ श्रीहरि ही उपास्य देव हैं ऐसे सहस्र वर्षमें समाप्त होनेवाले यज्ञको समाप्तकर जहाँ गंगा और यमुनाका संगम हुआ है उस प्रयागराजमें अवभृथस्नान किया और शुद्धचित्त हो अपने-अपने स्थानोंको चले गये ॥ ३४-३५ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे चतुर्थस्कन्धे दक्षशापो नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

तीसरा अध्याय

सतीका पिताके यहाँ यज्ञोत्सवमें जानेके लिये आग्रह करना ।

मैत्रेय उवाच

सदा विद्विषतोरेवं कालो वै ध्रियमाणयोः ।
जामातुः श्वशुरस्यापि सुमहानतिचक्रमे ॥ १ ॥
यदाभिषिक्तो दक्षस्तु ब्रह्मणा परमेष्ठिना ।
प्रजापतीनां सर्वेषामाधिपत्ये स्म योऽभवत् ॥ २ ॥
इष्ट्वा स वाजपेयेन ब्रह्मिष्ठानभिभूय च ।
बृहस्पतिसवं नाम समारेभे क्रतूत्तमम् ॥ ३ ॥
तस्मिन्ब्रह्मर्षयः सर्वे देवर्षिपितृदेवताः ।
आसन्कृतस्वस्त्ययनास्तत्पत्न्यश्च सभर्तृकाः ॥ ४ ॥

श्रीमैत्रेयजी बोले—हे विदुर ! इस प्रकार परस्पर द्वेषभावसे बर्ताव करते हुए उन श्वसुर और जामाताको बहुत अधिक समय बीत गया ॥ १ ॥ इसी समय परमेष्ठी श्रीब्रह्माजीने दक्षको सम्पूर्ण प्रजापतियोंके आधिपत्यपर अभिषिक्त किया । इससे उनका गर्व और भी बढ़ गया ॥ २ ॥ इससे उन्होंने शंकरादि ब्रह्मज्ञानियोंको यज्ञभाग न देकर उनका तिरस्कारकर वाजपेय यज्ञ करनेके अनन्तर फिर यज्ञोंमें श्रेष्ठ बृहस्पतिसवका आरम्भ किया ॥ ३ ॥ उस यज्ञोत्सवमें सम्पूर्ण ब्रह्मर्षि, देवर्षि, पितृगण और देवता आदि उनसे सत्कृत होकर पधारे थे तथा उनकी स्त्रियाँ भी अपने पतियोंके साथ वहाँ आयी थीं ॥ ४ ॥

तदुपश्रुत्य नभसि खेचराणां प्रजल्पताम् ।
सती[1] दाक्षायणी देवी पितुर्यज्ञमहोत्सवम् ॥ ५ ॥
व्रजन्तीः सर्वतो दिग्भ्य उपदेववरस्त्रियः ।
विमानयानाः सप्रेष्ठा निष्ककण्ठीः सुवाससः ॥ ६ ॥
दृष्ट्वा स्वनिलयाभ्याशे लोलाक्षीर्मृष्टकुण्डलाः ।
पतिं भूतपतिं देवमौत्सुक्यादभ्यभाषत ॥ ७ ॥

उस समय आकाशमार्गसे जाते हुए देवगण दक्षयज्ञके विषयमें चर्चा करते जाते थे। उनके मुखसे दक्षकुमारी सतीको अपने पिताके यज्ञोत्सवकी सूचना मिली ॥ ५ ॥ तथा उन्होंने अपने निवासस्थानके निकट देखा कि सब ओरसे यक्ष-गन्धर्व आदि उपदेवोंकी सुनयनी स्त्रियाँ सुन्दर वस्त्र, स्वच्छ कुण्डल और गलेमें पदक धारण किये अपने पतियोंके साथ विमानपर आरूढ़ हो उस यज्ञोत्सवमें सम्मिलित होनेके लिये जा रही हैं। इससे सतीने अति उत्सुक हो अपने पति सर्वभूतपति भगवान् शंकरसे कहा ॥ ६-७ ॥

सत्युवाच[2]

प्रजापतेस्ते श्वशुरस्य साम्प्रतं
निर्यापितो यज्ञमहोत्सवः किल ।
वयं च तत्राभिसराम वाम ते
यद्यर्थितामी विबुधा व्रजन्ति हि ॥ ८ ॥
तस्मिन्भगिन्यो मम भर्तृभिः स्वकै-
र्ध्रुवं गमिष्यन्ति सुहृद्दिदृक्षवः ।
अहं च तस्मिन्भवताभिकामये
सहोपनीतं परिबर्हमर्हितुम्[3] ॥ ९ ॥
तत्र स्वसॄर्मे ननु भर्तृसम्मिता
मातृष्वसॄः स्निग्धधियं च मातरम् ।
द्रक्ष्ये चिरोत्कण्ठमना महर्षिभि-
रुन्नीयमानं च मृडाध्वरध्वजम् ॥ १० ॥
त्वय्येतदाश्चर्यमजात्ममायया
विनिर्मितं भाति गुणत्रयात्मकम् ।
तथाप्यहं योषिदतत्त्वविच्च ते
दीना दिदृक्षे भव मे भवक्षितिम् ॥ ११ ॥
पश्य प्रयान्तीरभवान्ययोषितो-
प्यलङ्कृताः कान्तसखा वरूथशः ।
यासां व्रजद्भिः शितिकण्ठ मण्डितं
नभो विमानैः कलहंसपाण्डुभिः ॥ १२ ॥
कथं सुतायाः पितृगेहकौतुकं
निशम्य देहः सुरवर्य नेङ्गते ।

सती बोली—हे देव ! सुना है, इस समय आपके श्वशुर दक्ष प्रजापतिके यहाँ एक बहुत बड़ा यज्ञोत्सव है। देखिये, ये सब देवगण वहीं जा रहे हैं; यदि आपकी इच्छा हो तो हम भी वहाँ चलें ॥ ८ ॥ इस समय अपने बन्धु-बान्धवोंसे मिलनेके लिये मेरी भगिनियाँ अपने पतियोंके सहित वहाँ अवश्य आवेंगी। मैं भी चाहती हूँ कि आपके साथ जाकर वहाँ माता-पिताकी दी हुई भेंटको स्वीकार करूँ ॥ ९ ॥ वहाँ अपनी पतिपरायणा बहिनों, मौसियों और ममतामयी माताको देखनेके लिये मेरा चित्त बहुत दिनोंसे उत्सुक है। यही नहीं, वहाँ महर्षियोंका रचा हुआ यज्ञोत्सव और आकाशमें उड़ती हुई ध्वजा भी देखनेको मिलेगी ॥ १० ॥ हे अज ! यह आश्चर्यमय त्रिगुणात्मक जगत् यद्यपि आपमें अपनी ही मायासे निर्माण किया हुआ भास रहा है, तथापि हे शंकर ! मैं स्त्रीस्वभाव होनेसे आपके तत्त्वको न जाननेवाली और दीन हूँ; इसलिये मुझे अपनी जन्मभूमि देखनेकी बड़ी इच्छा है ॥ ११ ॥ हे अजन्मा प्रभो ! देखिये, जिनका दक्षसे कोई सम्बन्ध भी नहीं है वे स्त्रियाँ भी भली प्रकार अलंकृत हो अपने पतियोंके साथ वहाँ झुण्ड-की-झुण्ड जा रही हैं ! हे नीलकण्ठ ! उन जानेवाली स्त्रियोंके राजहंसके समान श्वेत विमानोंसे सम्पूर्ण आकाश व्याप्त हो रहा है ॥ १२ ॥ हे सुरश्रेष्ठ ! फिर अपने पिताके यहाँ उत्सवका समाचार पा उसकी कन्याका शरीर उसमें सम्मिलित होनेके लिये चेष्टा

१. प्रा० पा०—दाक्षायणी महादेवी पितृयज्ञमहोत्सवे । २. प्राचीन प्रतिमें 'सत्युवाच' नहीं है। ३. प्रा० पा०—मर्षितुम् ।

अनाहुता अप्यभियन्ति सौहृदं
भर्तुर्गुरोर्देहकृतश्च केतनम् ॥१३॥
तन्मे प्रसीदेदममर्त्य वाञ्छितं
कर्तुं भवान्कारुणिको बतार्हति ।
त्वयात्मनोऽर्धेऽहमदभ्रचक्षुषा
निरूपिता मानुगृहाण याचितः ॥१४॥

ऋषिरुवाच

एवं गिरित्रः प्रिययाभिभाषितः
प्रत्यभ्यधत्त प्रहसन्सुहृत्प्रियः ।
संस्मारितो मर्मभिदः कुवागिषू-
न्यानाह को विश्वसृजां समक्षतः ॥१५॥

श्रीभगवानुवाच

त्वयोदितं शोभनमेव शोभने
अनाहुता अप्यभियन्ति बन्धुषु ।
ते यद्यनुत्पादितदोषदृष्टयो
बलीयसानात्म्यमदेन मन्युना ॥१६॥
विद्यातपोवित्तवपुर्वयःकुलैः
सतां गुणैः षड्भिरसत्तमेतरैः ।
स्मृतौ हतायां भृतमानदुर्दृशः
स्तब्धा न पश्यन्ति हि धाम भूयसाम् ॥१७॥
नैतादृशानां स्वजनव्यपेक्षया
गृहान्प्रतीयादनवस्थितात्मनाम् ।
येऽभ्यागतान्वक्रधियाभिचक्षते
आरोपितभ्रूभिरमर्षणाक्षिभिः ॥१८॥
तथारिभिर्न व्यथते शिलीमुखैः
शेतेऽर्दिताङ्गो हृदयेन दूयता ।

क्यों न करेगा ? [यदि कहें कि उन्होंने हमें बुलाया नहीं है इसलिये वहाँ नहीं जाना चाहिये तो] पति, गुरु और माता-पिता आदि सुहृद्गणके यहाँ तो उनके बिना बुलाये भी जा सकते हैं ॥ १३ ॥ अतः हे देव ! आप मुझपर प्रसन्न होइये । आप बड़े करुणामय हैं; इसलिये मेरी यह इच्छा पूर्ण कीजिये । आप ऐसे कृपालु हैं कि परम ज्ञानी होकर भी आपने मुझे अपने आधे अंगमें स्थान दिया है । अतः मेरी इस याचनाको स्वीकार कर मुझे अनुगृहीत कीजिये ॥ १४ ॥

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—हे विदुर ! प्रियाके इस प्रकार प्रार्थना करनेपर अपने सुहृद्जनोंका प्रिय करनेवाले भगवान् शंकरको दक्षप्रजापतिके उन मर्मवेधी कुवाक्यबाणोंका स्मरण हो आया जो उन्होंने सम्पूर्ण प्रजापतियोंके सामने कहे थे, तब वे हँसते हुए बोले— ॥ १५ ॥

श्रीशंकर भगवान्ने कहा—हे सुन्दरि ! तुमने जो कहा कि 'अपने बन्धुजनोंके यहाँ बिना बुलाये भी जा सकते हैं' सो ठीक है; किन्तु ऐसा तभी करना चाहिये जब कि वे अति बलवान् देहाभिमानसे उत्पन्न हुए क्रोधके कारण दोषभरी दृष्टिसे न देखते हों ॥ १६ ॥ देखो, विद्या, तप, धन, सुदृढ़ शरीर, युवावस्था और उच्च कुल—ये छः सत्पुरुषोंके गुण हैं । किन्तु ये ही नीच पुरुषोंमें अवगुण हो जाते हैं, क्योंकि इनसे उनका अभिमान बढ़कर उनकी स्मृति और बुद्धि नष्ट हो जाती है; अतः वे मूर्ख महापुरुषोंका प्रभाव नहीं देख पाते ॥ १७ ॥ इसलिये जो अपने घर आये हुए पुरुषोंको कुटिल बुद्धिसे भौं चढ़ाकर रोषभरी दृष्टिसे देखते हैं, ऐसे अव्यवस्थितचित्त लोगोंके यहाँ 'ये हमारे बान्धव हैं' ऐसा समझकर कभी न जाना चाहिये ॥ १८ ॥ हे देवि ! शत्रुओंद्वारा बाणोंसे विद्ध होनेपर ऐसी व्यथा नहीं होती जैसी कि अपने कुटिलबुद्धि स्वजनोंके कुवाक्योंसे होती है, क्योंकि बाणोंसे शरीर छिन्न-भिन्न

१. प्रा० पा०—त्वया सहार्धे । २. प्रा० पा०—गृहात् । ३. प्रा० पा०—शेते क्षताङ्गे ।

स्वानां यथा वक्रधियां दुरुक्तिभि-
दिवानिशं तप्यति मर्मताडितः ॥१९॥
व्यक्तं त्वमुत्कृष्टगतेः प्रजापतेः
प्रियात्मजानामसि सुभ्रु सम्मता ।
अथापि मानं न पितुः प्रपत्स्यसे
मदाश्रयात्कः परितप्यते यतः ॥२०॥
पापच्यमानेन हृदातुरेन्द्रियः
समृद्धिभिः पूरुषबुद्धिसाक्षिणाम् ।
अकल्प एषामधिरोढुमञ्जसा
पदं परं द्वेष्टि यथासुरा हरिम् ॥२१॥
प्रत्युद्गमप्रश्रयणाभिवादनं
विधीयते साधु मिथः सुमध्यमे ।
प्राज्ञैः परस्मै पुरुषाय चेतसा
गुहाशयायैव न देहमानिने ॥२२॥
सत्त्वं विशुद्धं वसुदेवशब्दितं
यदीयते तत्र पुमानपावृतः ।
सत्त्वे च तस्मिन्भगवान्वासुदेवो
ह्यधोक्षजो मे मनसा विधीयते ॥२३॥
तत्त्वे[2] निरीक्ष्यो न पितापि देहकृ-
द्दक्षो मम द्विट् तदनुव्रताश्च ये ।
यो विश्वसृग्यज्ञगतं वरोरु मा-
मनागसं दुर्वचसाकरोत्तिरः ॥२४॥
यदि व्रजिष्यस्यतिहाय मद्वचो
भद्रं भवत्या न ततो भविष्यति ।
सम्भावितस्य स्वजनात्पराभवो
यदा स सद्यो मरणाय कल्पते ॥२५॥

हो जानेपर तो मनुष्यके हृदयमें पीड़ा रहते हुए भी जैसे-तैसे निद्रा आ सकती है किन्तु कुवाक्योंसे मर्म-स्थान विद्ध हो जानेपर रात-दिन चैन नहीं मिलता ॥१९॥ हे सुभ्रू ! मैं यह जानता हूँ कि तुम परमोन्नतिको प्राप्त हुए दक्षप्रजापतिकी अपनी सब कन्याओंमें अधिक प्रिय हो; तथापि मेरी आश्रिता होनेके कारण तुम्हें अपने पितासे मान प्राप्त नहीं हो सकता; क्योंकि वह मुझसे बड़ा द्वेषभाव रखते हैं ॥२०॥ जीवोंकी चित्तवृत्तियोंके साक्षी महापुरुषोंकी समृद्धिको देखकर जिसका हृदय और इन्द्रियाँ सन्तप्त होती हैं वह पुरुष उनके पदको तो सुगमतासे प्राप्त कर नहीं सकता, बस, दैत्यगण जैसे श्रीहरिसे द्वेष मानते हैं वैसे ही उनसे द्वेष मानता रहता है ॥२१॥ हे सुमध्यमे ! यह ठीक है कि ज्ञानी लोगोंमें भी परस्पर 'सम्मुख जाना, नम्रता दिखाना और प्रणाम करना' आदि सत्कारोंका व्यवहार होता है तथापि वे सबके अन्तःकरणोंमें स्थित परमपुरुषको मनहीसे प्रणामादि किया करते हैं, देहाभिमानी पुरुषोंका अभिवादन नहीं करते ॥२२॥ विशुद्ध अन्तःकरणका नाम 'वसुदेव' है क्योंकि उसमें परमपुरुष [ज्ञानरूप] भगवान् वासुदेव-का साक्षात् अनुभव होता है । उस शुद्धचित्तमें स्थित इन्द्रियातीत भगवान् वासुदेवका ही मैं मनसे अभिवादन किया करता हूँ ॥२३॥ इसलिये हे वरोरु ! जिसने प्रजापतियोंकी सभामें मुझ निरपराधका कटुवचनोंसे तिरस्कार किया है वह दक्ष यद्यपि तुम्हारे शरीरको उत्पन्न करनेवाला पिता है तो भी मेरा शत्रु होनेके कारण तुम्हें उसे अथवा उसके अनुयायियोंको देखनेका विचार भी न करना चाहिये ॥२४॥ यदि तुम मेरा कथन न मानकर वहाँ जाओगी तो तुम्हारा कल्याण न होगा, क्योंकि जिस समय सुप्रतिष्ठित व्यक्तिको अपने आत्मीयजनोंसे अपमान उठाना पड़ता है उस समय वह तत्काल ही उनके मरणका कारण हो जाता है ॥२५॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे चतुर्थस्कन्धे
उमारुद्रसंवादे तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

१. प्रा० पा०—यस्मि० । २. प्रा० पा०—त्वया ।

चौथा अध्याय

सतीका अग्निप्रवेश ।

मैत्रेय उवाच

एतावदुक्त्वा विरराम शङ्करः
पत्न्यङ्गनाशं ह्युभयत्र चिन्तयन् ।
सुहृद्दिदृक्षुः परिशङ्किता भवा-
न्निष्क्रामती निर्विशती द्विधास सा ॥ १ ॥

सुहृद्दिदृक्षाप्रतिघातदुर्मनाः
स्नेहाद्रुदत्यश्रुकलातिविह्वला ।
भवं भवान्यप्रतिपूरुषं रुषा
प्रधक्ष्यतीवैक्षत जातवेपथुः ॥ २ ॥

ततो विनिःश्वस्य सती विहाय तं
शोकेन रोषेण च दूयता हृदा ।
पित्रोरगात्स्त्रैणविमूढधीर्गृहा[1]-
न्प्रेम्णात्मनो योऽर्धमदात्सतां प्रियः ॥ ३ ॥

तामन्वगच्छन्द्रुतविक्रमां सती-
मेकां त्रिनेत्रानुचराः सहस्रशः ।
स[2]पार्षदयक्षा मणिमन्मदादयः
पुरोवृषेन्द्रास्तरसा गतव्यथाः ॥ ४ ॥

तां सा[3]रिकाकन्दुकदर्पणाम्बुज-
श्वेतातपत्रव्यजनस्रगादिभिः ।
गीतायनैर्दुन्दुभिशङ्खवेणुभि-
र्वृषेन्द्रमारोप्य विटङ्किता ययुः ॥ ५ ॥

आब्रह्मघोषोर्जितयज्ञवैशसं
विप्रर्षिजुष्टं विबुधैश्च सर्वशः ।
मृद्दार्वयःकाञ्चनदर्भचर्मभि-

श्रीमैत्रेयजी बोले—हे विदुर ! इतना कह भगवान् शंकर बलपूर्वक रोकने अथवा जाने देनेमें—दोनों ही प्रकार अपनी प्रियाके देहत्यागकी सम्भावना देख चुप हो गये । इधर सती भी कभी बन्धुजनोंको देखने जानेकी इच्छासे बाहर आतीं और कभी 'भगवान् शंकर रुष्ट न हो जायँ' इस आशंकासे फिर लौट जातीं । इस प्रकार बारम्बार आने-जानेके कारण मालूम होता था मानो उन्होंने दो रूप धारण कर लिये हैं ॥ १ ॥ अपने सुहृद्जनोंसे मिलनेकी इच्छाका प्रतिघात होनेसे वे बड़ी अनमनी हो गयीं और स्नेहवश अति विह्वल हो आँखोंमें आँसू भरकर रोने लगीं । उनका शरीर काँपने लगा और जिनसे बढ़कर और कोई पुरुष नहीं है उन भगवान् शंकरकी ओर वे इस प्रकार रोषपूर्ण दृष्टिसे देखने लगीं मानो उन्हें भस्म कर देंगी ॥ २ ॥ अन्तमें, शोक और क्रोधसे जिनका अन्तःकरण खिन्न हो रहा है तथा स्त्री-स्वभावके कारण जिनकी बुद्धि मूढ़ हो गयी है वे सतीजी, जिन सत्पुरुषोंके प्रिय भगवान् शंकरने उन्हें प्रेमवश अपना आधा अंग दे दिया था उन्हें छोड़कर दीर्घ निःश्वास लेती हुई अपने पिताके यहाँ चल दीं ॥ ३ ॥ सतीको बड़ी शीघ्रताके साथ अकेली जाती देख भगवान् शंकरके मणिमान् और मद आदि सहस्रों अनुचरगण नन्दीश्वरको आगे कर अन्य पार्षदों और यक्षोंके सहित बड़ी शीघ्रता और निर्भयतासे उनके पीछे-पीछे हो लिये ॥ ४ ॥ उन्होंने सतीको नन्दीश्वरपर सवार किया और मैना, गेंद, दर्पण, कमल, श्वेत छत्र, चँवर और माला आदि उनकी क्रीडाकी सामग्रियाँ तथा दुन्दुभी, शङ्ख और बाँसुरी आदि गाने-बजानेका सामान लेकर उनके साथ चल दिये ॥ ५ ॥

तदनन्तर सतीने, जहाँ वेदध्वनिके साथ यज्ञमें पशुओंकी बलि हो रही थी, जिसमें सब ओर ब्रह्मर्षि तथा देवगण विराजमान थे और जो मृत्तिका, काष्ठ,

१. प्रा० पा०—गृहात् । २. प्रा० पा०—स्वपार्षदा ये । छन्दकी दृष्टिसे यही पाठ शुद्ध है । ३. प्रा० पा०—सैनिका रुद्रकदर्प० ।

निसृष्टभाण्डं यजनं समाविशत् ॥ ६ ॥
तामागतां तत्र न कश्चनाद्रिय-
द्विमानितां यज्ञकृतो भयाज्जनः ।
ऋते स्वसॄर्वै जननीं च सादराः
प्रेमाश्रुकण्ठ्यः परिषस्वजुर्मुदा ॥ ७ ॥
सोदर्यसंप्रश्नसमर्थवार्तया
मात्रा च मातृष्वसृभिश्च सादरम् ।
दत्तां सपर्यां वरमासनं च सा
नादत्त पित्राप्रतिनन्दिता सती ॥ ८ ॥
अरुद्रभागं तमवेक्ष्य चाध्वरं
पित्रा च देवे कृतहेलनं विभौ ।
अनादृता यज्ञसदस्यधीश्वरी
चुकोप लोकानिव धक्ष्यती रुषा ॥ ९ ॥
जगर्ह सामर्षविपन्नया गिरा
शिवद्विषं धूमपथश्रमस्मयम् ।
स्वतेजसा भूतगणान्समुत्थिता-
न्निगृह्य देवी जगतोऽभिशृण्वतः ॥१०॥

सुवर्ण, दर्भ और चर्मके पात्रोंसे पूर्ण था उस यज्ञमण्डप-में प्रवेश किया ॥ ६ ॥ वहाँ पहुँचनेपर यजमान दक्षने उनका कुछ भी सत्कार नहीं किया । यह देखकर उसके भयसे, उनकी माता और बहिनोंको छोड़कर और किसीने उनका आदर नहीं किया । हाँ, उन माता और बहिनोंने अवश्य अति आनन्दित होकर प्रेमसे गद्गद-कण्ठ हो उन्हें आदरपूर्वक गले लगाया ॥७॥ किन्तु सतीने पितासे अपमानित होनेके कारण बहिनोंके कुशल-प्रश्न तथा माता और मौसियोंके दिये हुए आसन और उपहारादिकी ओर कुछ भी ध्यान नहीं दिया ॥ ८ ॥ इस प्रकार उस यज्ञको भगवान् शंकरके भाग-से रहित देखकर तथा पिताद्वारा किये हुए उनके अपमानका विचार कर उस यज्ञसभामें तिरस्कृत हुई सर्वलोकेश्वरी देवी सतीको अत्यन्त क्रोध हुआ । उस समय ऐसा मालूम होता था मानो वे अपने रोषसे सम्पूर्ण लोकोंको भस्म कर देंगी ॥ ९ ॥ तब देवी सतीने, कर्ममार्गके अभ्याससे अति गर्वित हुए शिव-द्रोही दक्षको मारनेके लिये प्रकट हुए भूतगणोंको अपने तेजसे रोककर, सब लोगोंको सुनाते हुए क्रोधके कारण लड़खड़ाती वाणीसे पिताकी निन्दा करते हुए कहा ॥१०॥

श्रीदेव्युवाच

न यस्य लोकेऽस्त्यतिशायनः प्रिय-
स्तथाप्रियो देहभृतां प्रियात्मनः ।
तस्मिन्समस्तात्मनि मुक्तवैरके
ऋते भवन्तं कतमः प्रतीपयेत् ॥११॥
दोषान्परेषां हि गुणेषु साधवो
गृह्णन्ति केचिन्न भवादृशा द्विज ।
गुणांश्च फल्गून् बहुलीकरिष्णवो
महत्तमास्तेष्वविदद्भवानघम् ॥१२॥
नाश्चर्यमेतद्यदसत्सु सर्वदा
महद्विनिन्दा कुणपात्मवादिषु ।

सती बोली-हे दक्ष ! जिनसे बड़ा संसारमें कोई भी नहीं है और जिनका कोई प्रिय अथवा अप्रिय भी नहीं है तथा जो सम्पूर्ण देहधारियोंके प्रिय आत्मा हैं उन सर्वान्तरात्मा वैरहीन भगवान् शंकरसे तेरे सिवा और कौन विरोध कर सकता है ? ॥११॥ हे द्विज ! कोई-कोई साधुजन दूसरोंके दोषोंको भी गुणदृष्टिसे देखते हैं, किन्तु तुझ-जैसे दुष्ट पुरुषोंकी ऐसी बुद्धि नहीं होती । जो लोग दूसरोंके थोड़े-से गुणको भी बहुत करके देखते हैं वे तो अत्यन्त महान् होते हैं, किन्तु खेद है, तूने ऐसे महत्तम भगवान् शंकरपर भी दोषारोपण किया ! ॥१२॥ जो असत्पुरुष इस शवरूप शरीरको ही आत्मा मानते हैं वे यदि महापुरुषोंकी सर्वदा ईर्ष्यापूर्वक निन्दा करें तो कोई आश्चर्यकी बात

१. प्रा० पा०—तो वि० । २. प्रा० पा०—विमुक्तात्मनि ।

सेर्ष्यं महापूरुषपादपांसुभि-
निरस्ततेजःसु तदेव शोभनम् ॥१३॥
यद्द्व्यक्षरं नाम गिरेरितं नृणां
सकृत्प्रसङ्गादघमाशु हन्ति तत् ।
पवित्रकीर्तिं तमलङ्घ्यशासनं
भवानहो द्वेष्टि शिवं शिवेतरः ॥१४॥
यत्पादपद्मं महतां मनोऽलिभि-
र्निषेवितं ब्रह्मरसासवार्थिभिः ।
लोकस्य यद्वर्षति चाशिषोऽर्थिन-
स्तस्मै भवान्द्रुह्यति विश्वबन्धवे ॥१५॥
किंवा शिवाख्यमशिवं न विदुस्त्वदन्ये
ब्रह्मादयस्तमवकीर्य जटाः श्मशाने ।
तन्माल्यभस्मनृकपाल्यवसत्पिशाचै-
र्ये मूर्धभिर्दधति तच्चरणावसृष्टम् ॥१६॥
कर्णौ पिधाय निरयाद्यदकल्प ईशे
धर्मावितर्यसृणिभिर्नृभिरस्यमाने ।
छिन्द्यात्प्रसह्य रुशतीमसतीं प्रभुश्चे-
ज्जिह्वामसूनपि ततो विसृजेत्स धर्मः ॥१७॥
अतस्तवोत्पन्नमिदं कलेवरं
न धारयिष्ये शितिकण्ठगर्हिणः ।
जग्धस्य मोहाद्धि विशुद्धिमन्धसो
जुगुप्सितस्योद्धरणं प्रचक्षते ॥१८॥
न वेदवादाननुवर्तते मतिः
स्व एव लोके रमतो महामुनेः ।
यथा गतिर्दैवमनुष्ययोः पृथक्
स्व एव धर्मे न परं क्षिपेत्स्थितः ॥१९॥

नहीं है । क्योंकि महापुरुषोंकी चरणधूलिसे जिनका तेज नष्ट हो गया है उनमें यही शोभा पाती है ॥१३॥ जिनका 'शिव' यह दो अक्षरका नाम प्रसंगवश एक बार लिये जानेपर भी मनुष्योंके सम्पूर्ण पापोंको तत्काल नष्ट कर देता है और जिनकी आज्ञाका कोई उल्लङ्घन नहीं कर सकता, अहो ! उन पवित्रकीर्ति भगवान् शंकरसे तू द्वेष करता है ! इसलिये तू अवश्य अमङ्गलरूप है ॥१४॥ ब्रह्मानन्द रसको पान करनेकी इच्छावाले महान् पुरुषोंके मनरूप मधुकरगण जिनके चरणकमलोंका निरन्तर सेवन करते हैं तथा जो सकाम पुरुषोंकी सम्पूर्ण कामनाएँ पूर्ण कर देते हैं उन विश्वबन्धु भगवान् शिवसे तू द्रोह करता है ! [यह तेरा कैसा दुर्भाग्य है ?] ॥१५॥ [मैंने सुना है] तू कहा करता है कि शिव नाममात्रके शिव हैं उनका वेष अशिव (अमङ्गल) है; वे श्मशानोंमें जटा खोले, अपने शरीरमें श्मशानका ही फूल और भस्म धारण किये मनुष्योंके कपालोंकी माला पहने, पिशाचोंके साथ रहते हैं, सो उनकी इस अशिवताको क्या तुम्हें छोड़कर ब्रह्मा आदि कोई भी नहीं जानते ? जो कि उनके चरणोंसे गिरे हुए निर्माल्यको अपने शिरपर धारण करते हैं ॥१६॥ [मेरा ऐसा विचार है कि] यदि धर्ममर्यादाको न माननेवाले पुरुष धर्मकी रक्षा करनेवाले ईश्वरकी निन्दा करते हों तो यदि सामर्थ्य हो तो बलात्कारसे उनकी अमंगलमयी जिह्वाको काट डाले या अपने प्राणोंको त्याग दे और यदि ऐसा न कर सकता हो तो वहाँसे कान मूँदकर तो चला ही जाय—ऐसा करना ही धर्म है ॥१७॥ इसलिये भगवान् नीलकण्ठकी निन्दा करनेवाले तुझसे उत्पन्न हुए इस शरीरको अब मैं नहीं रख सकती, क्योंकि भूलसे खाये हुए अभक्ष्य पदार्थका वमन कर देना ही मनुष्यकी शुद्धिका कारण कहा जाता है ॥१८॥ हे दक्ष ! जो महामुनि संसारमें अपने ही स्वरूपमें रमण करते हैं उनकी बुद्धि वेदके विधि-निषेधमय वचनोंमें रमण नहीं करती । आकाश-विहारी देवगण और पृथ्वीपर रहनेवाले मनुष्योंके समान ज्ञानी और अज्ञानियोंकी गति भिन्न-भिन्न हुआ करती है । इसलिये अपने धर्ममें स्थित रहनेवाला पुरुष दूसरोंकी निन्दा न करे ॥१९॥

कर्म प्रवृत्तं च निवृत्तमप्यृतं
वेदे विविच्योभयलिङ्गमाश्रितम् ।
विरोधि तद्यौगपदैककर्तरि
द्वयं तथा ब्रह्मणि कर्म नर्च्छति ॥२०॥
मा वः पदव्यः पितरस्मदास्थिता[1]
या यज्ञशालासु न धूमवर्त्मभिः ।
तदन्नतृप्तैरसुभृद्भिरीडिता
अव्यक्तलिङ्गा अवधूतसेविताः ॥२१॥
नैतेन देहेन हरे कृतागसो
देहोद्भवेनालमलं कुजन्मना ।
व्रीडा ममाभूत्कुजनप्रसङ्गत-
स्तज्जन्म धिग्यो[2] महतामवद्यकृत् ॥२२॥
गोत्रं त्वदीयं भगवान्वृषध्वजो
दाक्षायणीत्याह यदा सुदुर्मनाः ।
व्यपेतनर्मस्मितमाशु तद्ध्यहं
व्युत्स्रक्ष्य एतत्कुणपं त्वदङ्गजम् ॥२३॥

प्रवृत्ति और निवृत्तिरूप दोनों प्रकारके कर्म सत्य ही हैं; वेदमें इन दोनोंका विवेचन करके भिन्न-भिन्न अधिकारियोंके लिये विधान किया गया है। जिस प्रकार परस्पर विरोधी होनेके कारण उन दोनोंका एक ही कर्ता आचरण नहीं कर सकता उसी प्रकार परमात्मा भगवान् शंकरको दोनोंमेंसे किसी भी प्रकारके कर्म करनेकी आवश्यकता नहीं है ॥२०॥ हे पितः ! हमारा ऐश्वर्य अव्यक्त है, आत्मज्ञानी महात्मागण ही उसका सेवन कर सकते हैं वैसा ऐश्वर्य तुम्हारे पास नहीं है, क्योंकि तुम्हारा ऐश्वर्य यज्ञशालामें ही होता है और प्रकट यज्ञान्नसे तृप्त होकर अपना पेट पालनेवाले धूममार्गी कर्मठ लोग ही उसकी स्तुति करते हैं वे हमारे ऐश्वर्यकी प्रशंसा नहीं कर सकते ॥२१॥ भगवान् शंकरका अपराध करनेवाले तेरे शरीरसे उत्पन्न हुए इस निन्दनीय देहसे अब मुझे कोई काम नहीं है। तुझ-जैसे दुष्ट पुरुषसे सम्बन्ध होनेके कारण मुझे लज्जा आती है। जो महापुरुषोंका अपराध करता है उसके जन्मको धिक्कार है ॥२२॥ जिस समय भगवान् शिव तेरे साथ मेरा सम्बन्ध दिखाते हुए मुझसे हँसीमें दक्षकन्या कहकर बोलते हैं, उस समय उनकी हँसीको भूलकर मुझे बड़ी ही लज्जा और खेद होता है। अब मैं तेरे शरीर-से उत्पन्न हुए इस शव-तुल्य शरीरको शीघ्र ही त्याग दूँगी ॥२३॥

मैत्रेय[3] उवाच

इत्यध्वरे दक्षमनूद्य शत्रुहन्
क्षितावुदीचीं निषसाद शान्तवाक् ।
स्पृष्ट्वा जलं पीतदुकूलसंवृता
निमील्य दृग्योगपथं समाविशत् ॥२४॥
कृत्वा समानावनिलौ जितासना
सोदानमुत्थाप्य च नाभिचक्रतः ।
शनैर्हृदि स्थाप्य धियोरसि स्थितं
कण्ठाद्भ्रुवोर्मध्यमनिन्दितानयत् ॥२५॥
एवं स्वदेहं महतां महीयसा

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—हे क्रोधादि शत्रुओंको जीतनेवाले विदुरजी ! उस यज्ञमण्डपमें दक्षसे इस प्रकार कह देवी सती मौन हो गयीं और जलका आचमनकर पीली साड़ी ओढ़ पृथ्वीपर बैठ गयीं। तदनन्तर वे नेत्र मूँदकर योगाभ्यासमें प्रवृत्त हुईं ॥२४॥ अनिन्दिता सतीने आसनको स्थिरकर प्राण और अपान-को समान किया, फिर उनको ऊर्ध्वगति कर उन्हें धीरे-धीरे नाभिचक्रसे उठाकर हृदयदेशमें स्थित किया; तदनन्तर वे हृदयस्थित प्राणोंको बुद्धिके द्वारा कण्ठमार्गसे भ्रुकुटियोंके बीचमें ले गयीं ॥२५॥ इस प्रकार जिस शरीरको महापुरुषोंमें श्रेष्ठ भगवान् शंकरने

१. प्रा० पा०—तरः सदास्थि० । २. प्रा० पा०—यन्म० । ३. प्राचीन प्रतिमें 'मैत्रेय उवाच' नहीं है।

मुहुः समारोपितमङ्कमादरात् ।
जिहासती दक्षरुषा मनस्विनी
दधार गात्रेष्वनिलाग्निधारणाम् ॥२६॥
ततः स्वभर्तुश्चरणाम्बुजासवं
जगद्गुरोश्चिन्तयती न चापरम् ।
ददर्श देहं हतकल्मषा सती
सद्यः प्रजज्वाल समाधिजाग्निना ॥२७॥
तत्पश्यतां खे भुवि चाद्भुतं महद्
धाहेति वादः सुमहानजायत ।
हन्त प्रिया दैवतमस्य देवी
जहावसून्केन सती प्रकोपिता ॥२८॥
अहो अनात्म्यं महदस्य पश्यत
प्रजापतेर्यस्य चराचरं प्रजाः ।
जहावसून्यद्विमतात्मजा सती
मनस्विनी मानमभीक्ष्णमर्हति ॥२९॥
सोऽयं दुर्मर्षहृदयो ब्रह्मध्रुक् च
लोकेऽपकीर्तिं महतीमवाप्स्यति ।
यदङ्गजां स्वां पुरुषद्विडुद्यतां
न प्रत्यषेधन्मृतयेऽपराधतः ॥३०॥

बड़े आदरसे बारम्बार अपनी गोदमें लिया था उसे, दक्षपर कुपित होनेके कारण, त्यागनेकी इच्छासे महामनस्विनी सतीने अपने सब अंगोंमें वायु और अग्निकी भावना की ॥२६॥ तदनन्तर अपने पति जगद्गुरु भगवान् शंकरके चरणकमलमकरन्दका चिन्तन करती हुई निष्पाप सतीने और सबका ध्यान भुला दिया। इससे उनका शरीर योगाग्निसे तुरन्त प्रज्वलित हो उठा ॥२७॥ इस विचित्र चरित्रको देखनेवाले देवतादिका महा भयंकर हाहाकार आकाश और भूतलमें छा गया। सब लोग कहने लगे—'हाय! देवाधिदेव महादेवकी प्रिया सतीने अपना शरीर त्याग दिया क्योंकि दक्षने उन्हें कुपित कर दिया था ॥२८॥ अहो! सकल चराचर जीव जिसकी प्रजा हैं उस दक्ष प्रजापतिकी दुष्टता तो देखो! जिसके तिरस्कार करनेसे उसकी निरन्तर आदरपात्री उदारचित्ता सतीने अपने प्राण त्याग दिये ॥२९॥ यह कुटिलहृदय और ब्रह्मद्रोही दक्ष निश्चय ही संसारमें महान् अपकीर्ति पायेगा, क्योंकि इस शंकरद्रोहीने अपने ही अपराधसे प्राणत्याग करनेको उद्यत हुई अपनी कन्याको रोकातक नहीं!' ॥३०॥

वदत्येवं जने सत्या दृष्ट्वासुत्यागमद्भुतम् ।
दक्षं तत्पार्षदा हन्तुमुदतिष्ठन्नुदायुधाः ॥३१॥
तेषामापततां वेगं निशाम्य भगवान्भृगुः ।
यज्ञघ्नघ्नेन यजुषा दक्षिणाग्नौ जुहाव ह ॥३२॥
अध्वर्युणा हूयमाने देवा उत्पेतुरोजसा ।
ऋभवो नाम तपसा सोमं प्राप्ताः सहस्रशः ॥३३॥
तैरलातायुधैः सर्वे प्रमथाः सहगुह्यकाः ।
हन्यमाना दिशो भेजुरुशद्भिर्ब्रह्मतेजसा ॥३४॥

जिस समय सब लोग इस प्रकार कह रहे थे उसी समय सतीका वह अद्भुत प्राणत्याग देख शिवके पार्षदगण दक्षको मारनेके लिये अस्त्र-शस्त्र लेकर दौड़े ॥३१॥ उनके आक्रमणका वेग देखकर भगवान् भृगुने यज्ञमें विघ्न डालनेवालोंका नाश करनेवाला मन्त्र पढ़कर दक्षिणाग्निमें आहुति डाली ॥३२॥ अध्वर्यु भृगुके आहुति छोड़ते ही उसके प्रभावसे सहस्रों 'ऋभु' नामक देवता यज्ञकुण्डसे प्रकट हो गये जिन्होंने पहले अपने तपके प्रभावसे बहुत-सा सोमरस प्राप्त किया था ॥३३॥ तब ब्रह्मतेजसे देदीप्यमान उन देवताओंद्वारा जलती हुई लकड़ियोंसे आक्रमण किये जानेपर गुह्यकोंके सहित सम्पूर्ण प्रमथगण दिशा-विदिशाओंमें भाग गये ॥३४॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे चतुर्थस्कन्धे
सतीदेहोत्सर्गो नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥४॥

पाँचवाँ अध्याय

वीरभद्रकृत दक्षयज्ञविध्वंस और दक्षवध।

मैत्रेय उवाच

भवो भवान्या निधनं प्रजापते-
रसत्कृताया अवगम्य नारदात्।
स्वपार्षदसैन्यं च तदध्वरर्भुभि-
र्विद्रावितं क्रोधमपारमादधे ॥ १ ॥

क्रुद्धः सुदष्टोष्ठपुटः स धूर्जटि-
र्जटां तडिद्वह्निसटोग्ररोचिषम्।
उत्कृत्य रुद्रः सहसोत्थितो हस-
न्गम्भीरनादां विससर्ज तां भुवि ॥ २ ॥

ततोऽतिकायस्तनुवा स्पृशन्दिवं
सहस्रबाहुर्घनरुक् त्रिसूर्यदृक्।
करालदंष्ट्रो ज्वलदग्निमूर्धजः
कपालमाली विविधोद्यतायुधः ॥ ३ ॥

तं किं करोमीति गृणन्तमाह
बद्धाञ्जलिं भगवान्भूतनाथः।
दक्षं सयज्ञं जहि मद्भटानां
त्वमग्रणी रुद्रभटांशको मे ॥ ४ ॥

आज्ञप्त एवं कुपितेन मन्युना
स देवदेवं परिचक्रमे विभुम्।
मेने तदात्मानमसङ्गरंहसा
महीयसां तात सहः सहिष्णुम् ॥ ५ ॥

अन्वीयमानः स तु रुद्रपार्षदै-
र्भृशं नदद्भिर्व्यनदत्सुभैरवम्।
उद्यम्य शूलं जगदन्तकान्तकं
स प्राद्रवद्घोषणभूषणाङ्घ्रिः ॥ ६ ॥

मैत्रेयजी बोले—हे विदुर! जब भगवान् शंकरने नारदजीके मुखसे दक्षप्रजापतिसे तिरस्कृता सतीके मरण और ऋभुगणद्वारा अपने पार्षदोंकी सेनाके भगाये जानेका समाचार सुना तो उन्हें अत्यन्त क्रोध हुआ ॥१॥ तब भगवान् रुद्रने अति क्रुद्ध हो अपना ओठ चबाते हुए विद्युत् और अग्निकी लपटके समान अत्यन्त देदीप्यमान अपनी एक जटा उखाड़ ली और सहसा खड़े होकर बड़े गम्भीर अट्टहासके साथ हँसते हुए उसे पृथिवीपर पटक दी ॥२॥ उससे तत्काल एक विशालकाय पुरुष उत्पन्न हुआ। उसका शरीर इतना लम्बा-चौड़ा था कि वह मानो स्वर्गको स्पर्श कर रहा था; उसके सहस्र भुजाएँ थीं, मेघके समान श्याम वर्ण था, सूर्यके समान देदीप्यमान तीन नेत्र थे, विकराल डाढ़ें थीं और अग्निकी लपटोंके समान लाल-लाल केश थे। वह गलेमें कपालमाला धारण किये था और अपने हाथोंमें नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्र लिये हुए था ॥३॥ जब उसने हाथ जोड़कर पूछा 'प्रभो! मैं क्या करूँ?' तब भगवान् भूतनाथने कहा—"हे रुद्र! हे सुभट! तू मेरा अंश है इसलिये मेरे पार्षदोंमें अग्रगण्य है; अतः तू तुरन्त ही जाकर दक्षको उसके यज्ञसहित नष्ट कर डाल" ॥४॥

भगवान् शंकरके क्रोधमें भरकर इस प्रकार आज्ञा देनेपर वीरभद्रने देवाधिदेव महादेवकी परिक्रमा की और हे तात! उन्हें ऐसा मालूम होने लगा कि मेरे वेगका सामना करनेवाला संसारमें कोई नहीं है और मैं बड़े-से-बड़े वीरका भी वेग सह सकता हूँ ॥५॥ तदनन्तर अन्य रुद्रपार्षदोंसे अनुगत हुए पार्षदप्रवर वीरभद्र उनके गर्जना करनेपर स्वयं भी भयंकर शब्दसे गर्जते हुए तथा जगत्का अन्त करनेवाले मृत्युका भी अन्त करनेमें समर्थ अति कराल त्रिशूल हाथमें लिये दक्षके यज्ञमण्डपकी ओर दौड़े। उस समय उनके चरणोंके आभूषण छम-छम बजते जाते थे ॥६॥

१. प्रा० पा०—तत्पा०। २. प्रा० पा०—महिर्महिष्वः। ३. प्रा० पा०—भूषिता०।

अथर्त्विजो यजमानः सदस्याः
ककुभ्युदीच्यां प्रसमीक्ष्य रेणुम् ।
तमः किमेतत्कुत एतद्रजोऽभू-
दिति द्विजा द्विजपत्न्यश्च दध्युः[1] ॥ ७ ॥
वाता न वान्ति न हि सन्ति दस्यवः
प्राचीनबर्हिर्जीवति होग्रदण्डः ।
गावो न काल्यन्त इदं कुतो रजो
लोकोऽधुना किं प्रलयाय कल्पते ॥ ८ ॥
प्रसूतिमिश्राः स्त्रिय उद्विग्नचित्ता
ऊचुर्विपाको वृजिनस्यैष[2] तस्य ।
यत्पश्यन्तीनां[3] दुहितॄणां प्रजेशः
सुतां सतीमवदध्यावनागाम् ॥ ९ ॥
यस्त्वन्तकाले व्युप्तजटाकलापः
स्वशूलसूच्यर्पितदिग्गजेन्द्रः ।
वितत्य नृत्यत्युदितास्त्रदोर्ध्वजा-
नुच्चाट्टहासस्तनयित्नुभिन्नदिक् ॥१०॥
अमर्षयित्वा तमसह्यतेजसं
मन्युप्लुतं दुर्विषहं भ्रुकुट्या ।
करालदंष्ट्राभिरुदस्तभागणं
स्यात्स्वस्ति किं कोपयतो विधातुः ॥११॥
बह्वेवमुद्विग्नदृशोच्यमाने
जनेन दक्षस्य मुहुर्महात्मनः ।
उत्पेतुरुत्पाततमाः सहस्रशो
भयावहा दिवि भूमौ च पर्यक् ॥१२॥
तावत्स रुद्रानुचरैर्मखो महा-
न्नानायुधैर्वामनकैरुदायुधैः ।
पिङ्गैः पिशङ्गैर्मकरोदराननैः
पर्याद्रवद्भिर्विदुरान्वरुध्यत ॥१३॥

इधर, यज्ञमण्डपमें बैठे हुए ऋत्विज्, यजमान, सदस्य, ब्राह्मण और ब्राह्मणपत्नियाँ उत्तर दिशाकी ओर धूलि उड़ती देख आपसमें सोचने लगीं—'अरे ! यह अन्धकार कैसे होता जाता है ? मालूम होता है यह धूलि है [किन्तु यह धूलि आयी कहाँसे ?] इस समय न तो आँधी ही है और न कहीं चोर ही हैं, क्योंकि अभी अपराधियोंको कठोर दण्ड देनेवाला राजा प्राचीनबर्हि जीवित है; अभी गौओंके आनेका भी समय नहीं हुआ है । फिर यह धूलि कहाँसे आयी ? क्या अब संसारका प्रलय होनेवाला है ?' ॥ ७-८ ॥ तब प्रसूति (दक्षपत्नी) आदि स्त्रियोंने व्याकुल होकर कहा—"प्रजापति दक्षने अपनी सब कन्याओंके सामने बेचारी निरपराधा सतीका अपमान किया था, मालूम होता है यह उसी पापका फल है ॥ ९ ॥ जो कल्पान्तमें अपने जटाजूटको बखेरकर अपने त्रिशूलकी नोकसे दिग्गजोंको उठा-उठाकर इधर-उधर फेंक देते हैं और मेघगर्जनके समान भयंकर अट्टहास करके दिशाओंको कम्पायमान करते हुए अपने सशस्त्र हाथोंको ध्वजाओंके समान फैलाकर नृत्य करते हैं, जिनका भ्रुकुटिविलास अति असह्य है तथा जो अपनी कराल दाढ़ोंसे तारागणोंको चूर्ण कर डालते हैं उन असह्यतेज और क्रोधमूर्ति भगवान् शंकरको कुपित करके क्या उन्हें क्रुद्ध करनेवाले विधाताका भी कल्याण हो सकता है ? [फिर दक्ष प्रजापतिके विषयमें तो कहना ही क्या है ?] ॥१०-११॥

यज्ञशालामें बैठे हुए सब लोग कातर नेत्रोंसे देखते हुए यों ही नाना प्रकारकी बातें कह रहे थे । इतने-हीमें आकाश और पृथिवीमें सब ओर परम समर्थ दक्षको भी भयभीत करनेवाले सहस्रों भयंकर उत्पात दिखायी देने लगे ॥ १२ ॥ हे विदुर ! इसी समय दौड़कर आये हुए रुद्रानुचरोंने उस यज्ञमण्डपको घेर लिया । वे सब नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्र लिये हुए थे । उनमेंसे कोई बौने, कोई पिंगल, कोई पीले और कोई मगरके समान पेट और मुखवाले थे ॥ १३ ॥

१. प्रा० पा०—चुकुशुः । २. प्रा० पा०—स्यैव । ३. प्रा० पा०—प्रप० । ४. प्रा० पा०—नेत्रैः ।

केचिद्बभञ्जुः प्राग्वंशं पत्नीशालां तथापरे ।
सद आग्नीध्रशालां च तद्विहारं महानसम् ॥१४॥
रुरुजुर्यज्ञपात्राणि तथैकेऽग्नीननाशयन् ।
कुण्डेष्वमूत्रयन्केचिद्रिभिदुर्वेदिमेखलाः ॥१५॥
अबाधन्त मुनीनन्य एके पत्नीरतर्जयन् ।
अपरे जगृहुर्देवान्प्रत्यासन्नान्पलायितान् ॥१६॥
भृगुं बबन्ध मणिमान्वीरभद्रः प्रजापतिम् ।
चण्डीशः पूषणं देवं भगं नन्दीश्वरोऽग्रहीत् ॥१७॥
सर्व एवर्त्विजो दृष्ट्वा सदस्याः सदिवौकसः ।
तैर्ह्यमानाः सुभृशं ग्रावभिर्नैकधाद्रवन् ॥१८॥
जुह्वतः स्रुवहस्तस्य श्मश्रूणि भगवान्भवः ।
भृगोर्लुलुञ्चे सदसि योऽहसच्छ्मश्रु दर्शयन् ॥१९॥
भगस्य नेत्रे भगवान्पातितस्य रुषा भुवि ।
उज्जहार सदःस्थोऽक्ष्णा यः शपन्तमसूसुचत् ॥२०॥
पूष्णश्चापातयद्दन्तान्कालिङ्गस्य यथा बलः ।
शप्यमाने गरिमणि योऽहसद्दर्शयन्दतः ॥२१॥
आक्रम्योरसि दक्षस्य शितधारेण हेतिना ।
छिन्दन्नपि तदुद्धर्तुं नाशक्नोत्त्र्यम्बकस्तदा ॥२२॥

उनमेंसे कितनोंहीने प्राग्वंशको* तोड़ डाला, कितनोंहीने पत्नीशाला नष्ट कर दी, किन्हींने यज्ञशालाके सामनेका मण्डप और मण्डपके आगेकी हविर्धानोको तथा किन्हींने यजमानगृह और भोजनागारको विध्वस्त कर दिया ॥ १४ ॥ किन्हींने यज्ञके पात्र फोड़ डाले, किन्हींने अग्नि बुझा दी, किन्हींने यज्ञके कुण्डोंमें मूत्र कर दिया और किन्हींने वेदीकी सीमाके सूत्रोंको तोड़ डाला ॥ १५ ॥ कितनोंहीने मुनियोंको कष्ट देना आरम्भ किया, कोई स्त्रियोंको धमकाने लगे और किन्हींने अपने निकट ही भागते हुए देवताओंको पकड़ लिया ॥ १६ ॥ मणिमान्ने भृगु ऋषिको बाँध लिया, वीरभद्रने दक्षप्रजापतिको कैद किया तथा चण्डीशने पूषाको और नन्दीश्वरने भगदेवको पकड़ लिया ॥ १७ ॥

उस समय सम्पूर्ण ऋत्विज्, सदस्य और देवतागण भगवान् शंकरके पार्षदोंकी यह भयंकर लीला देख उनके कंकड़-पत्थर फेंकनेसे अति पीड़ित हो जैसे-तैसे वहाँसे भाग गये ॥ १८ ॥ तब भगवान् शंकरके पार्षद वीरभद्रने हाथमें स्रुवा लेकर हवन करनेवाले भृगु ऋषिके दाढ़ी-मूँछ उखाड़ लिये, क्योंकि उन्होंने प्रजापतियोंकी सभामें अपनी मूँछोंको मटकाते हुए श्रीमहादेवजीकी हँसी की थी ॥ १९ ॥ फिर, उन्होंने भगदेवको क्रोधपूर्वक पृथिवीपर गिराकर उनकी आँखें निकाल लीं; क्योंकि उन्होंने सभामें भगवान् शंकरको बुरा-भला कहते हुए दक्षको सैन चलाकर उकसाया था ॥ २० ॥ तदनन्तर, महापराक्रमी वीरभद्रने, जिस प्रकार बलरामजीने कलिंगराजके दाँत उखाड़े थे उसी प्रकार पूषाके दाँत उखाड़ लिये; क्योंकि जिस समय दक्ष जगद्गुरु भगवान् महेश्वरकी निन्दा कर रहा था उस समय वह दाँत निकालकर हँसा था ॥ २१ ॥ फिर वे दक्षको गिराकर उसकी छातीपर चढ़ बैठे और एक तीक्ष्ण तलवारसे उसका गला काटने लगे, किन्तु बहुत प्रयत्न करनेपर भी उसे न काट सके

१. प्रा० पा०—बभञ्जु० । २. प्रा० पा०—मुनीनेके । ३. प्रा० पा०—मसूचयत् । ४. प्राचीन प्रतिमें 'पूष्णश्चा.....हसद्दर्शयन्दतः' यह श्लोक अगले दो श्लोकोंके बाद है ।

* यज्ञशालाके पूर्व और पश्चिमके खम्भोंपर पूर्व-पश्चिमकी ओर आड़ा रक्खा हुआ काष्ठ ।

शस्त्रैरस्त्रान्वितैरेवमनिर्भिन्नत्वचं हरः ।
विस्मयं परमापन्नो दध्या पशुपतिश्चिरम् ॥२३॥
दृष्ट्वा संज्ञपनं योगं पशूनां स पतिर्मखे ।
यजमानपशोः कस्य कायात्तेनाहरच्छिरः ॥२४॥
साधुवादस्तदा तेषां कर्म तत्तस्य शंसताम् ।
भूतप्रेतपिशाचानामन्येषां तद्विपर्ययः ॥२५॥
जुहावैतच्छिरस्तस्मिन्दक्षिणाग्नावमर्षितः ।
तद्वेयजनं दग्ध्वा प्रातिष्ठद्गुह्यकालयम् ॥२६॥

॥ २२ ॥ फिर नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंसे भी उसकी त्वचा कटती न देख वीरभद्रको बड़ा विस्मय हुआ और वे बहुत देरतक विचार करते रहे ॥२३॥ तब पशु-पति भगवान् वीरभद्रने यज्ञमें पशुओंको गला घोंटकर मारनेका यन्त्र आदि उपाय देख उसी युक्तिसे उस यजमानपशुरूप दक्षका शिर धड़से अलग कर दिया ॥ २४ ॥ उस समय, उनके इस कर्मकी प्रशंसा करनेवाले भूत, प्रेत और पिशाचादि 'वाह-वाह' कहकर प्रशंसा करने लगे और दक्षके सम्बन्धी आदि अन्य पुरुष हाहाकार करने लगे ॥ २५ ॥ फिर वीरभद्रने अति कुपित होकर वह शिर यज्ञकी दक्षिणाग्निमें हवन कर दिया और उस यज्ञशालाको जलाकर वे कैलास पर्वतको लौट गये ॥ २६ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे चतुर्थस्कन्धे दक्षयज्ञ-
विध्वंसो नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

छठा अध्याय

ब्रह्मादि देवताओंका कैलासपर एकत्रित होकर भगवान् शङ्करको मनाना ।

मैत्रेय उवाच

अथ देवगणाः सर्वे रुद्रानीकैः पराजिताः ।
शूलपट्टिशनिस्त्रिंशगदापरिघमुद्गरैः ॥ १ ॥
संछिन्नभिन्नसर्वाङ्गाः सर्त्विक्सभ्या भयाकुलाः ।
स्वयम्भुवे नमस्कृत्य कार्त्स्न्येनैतन्न्यवेदयन् ॥ २ ॥
उपलभ्य पुरैवैतद्भगवानब्जसम्भवः ।
नारायणश्च विश्वात्मा न कस्याध्वरमीयतुः ॥ ३ ॥
तदाकर्ण्य विभुः प्राह तेजीयसि कृतागसि ।
क्षेमाय तत्र सा भूयान्न प्रायेण बुभूषताम् ॥ ४ ॥

श्रीमैत्रेयजी बोले—हे विदुर ! इस प्रकार भगवान् रुद्रके पार्षदोंसे परास्त हुए सम्पूर्ण देवगण, उनके त्रिशूल, पट्टिश, खड्ग, गदा, परिघ और मुद्गर आदि आयुधोंसे सर्वाङ्गमें छिन्न-भिन्न हो, ऋत्विज् और सदस्यगणके सहित भयसे व्याकुल हुए ब्रह्माजीके पास पहुँचे और उन्हें नमस्कारकर वह सारा वृत्तान्त कह सुनाया ॥ १-२ ॥ भगवान् ब्रह्माजी और सबके अन्तरात्मा श्रीनारायणदेव इस भावी उत्पातको पहले-हीसे जानते थे, इसीलिये वे दक्षके यज्ञमें नहीं गये थे ॥ ३ ॥ वह सब वृत्तान्त सुन भगवान् ब्रह्माने कहा—"हे देवगण ! उन्नतिकी इच्छावाले पुरुषोंके लिये तेजस्वी महानुभावोंका अपराध करना प्रायः कुशलताका हेतु नहीं हुआ करता ॥ ४ ॥

१. प्रा० पा०—दक्षप्रशमनं पञ्चमोऽध्यायः । २. प्रा० पा०—तस्या । ३. प्रा० पा०—भवाय भूयसे भूया० ।

अथापि यूयं कृतकिल्बिषा भवं
ये बर्हिषो भागभाजं परादुः ।
प्रसादयध्वं परिशुद्धचेतसा[1]
क्षिप्रप्रसादं प्रगृहीताङ्घ्रिपद्मम् ॥ ५ ॥

आशासाना जीवितमध्वरस्य
लोकः सपालः कुपिते न यस्मिन् ।
तमाशु देवं प्रियया विहीनं
क्षमापयध्वं हृदि विद्धं दुरुक्तैः ॥ ६ ॥

नाहं न यज्ञो न च यूयमन्ये
ये देहभाजो मुनयश्च तत्त्वम् ।
विदुः प्रमाणं बलवीर्ययोर्वा
यस्यात्मतन्त्रस्य[2] क उपायं विधित्सेत् ॥ ७ ॥

स इत्थमादिश्य सुरानजस्तैः
समन्वितः पितृभिः सप्रजेशैः ।
ययौ स्वधिष्ण्यान्निलयं पुरद्विषः
कैलासमद्रिप्रवरं प्रियं प्रभोः ॥ ८ ॥

जन्मौषधितपोमन्त्रयोगसिद्धैर्नरेतरैः[3] ।
जुष्टं[4] किन्नरगन्धर्वैरप्सरोभिर्वृतं सदा ॥ ९ ॥

नानामणिमयैः शृङ्गैर्नानाधातुविचित्रितैः ।
नानाद्रुमलतागुल्मैर्नानामृगगणावृतैः ॥ १० ॥

नानामलप्रस्रवणैर्नानाकन्दरसानुभिः ।
रमणं विहरन्तीनां रमणैः[5] सिद्धयोषिताम् ॥ ११ ॥

मयूरकेकाभिरुतं मदान्धालिविमूर्च्छितम् ।
प्लावितै[6] रक्तकण्ठानां कूजितैश्च पतत्त्रिणाम् ॥ १२ ॥

आह्वयन्तमिवोद्धस्तैर्द्विजान्कामदुघैर्द्रुमैः ।
व्रजन्तमिव मातङ्गैर्गृणन्तमिव निर्झरैः ॥ १३ ॥

आपलोगोंने यज्ञभागके अधिकारी भगवान् शंकरको उससे वञ्चित रखकर उनका बड़ा अपराध किया है, तथापि वे बहुत जल्दी प्रसन्न हो जाया करते हैं; इसलिये तुम शुद्ध चित्तसे उनके चरणकमल पकड़कर उन्हें प्रसन्न करो ॥ ५ ॥ भगवान् शंकरका हृदय दक्षकी दुरुक्तियोंसे पहले ही बिंधा हुआ था, उसपर भी उनकी प्रियाका वियोग हो गया । इसलिये यदि तुम चाहते हो कि 'वह यज्ञ फिर आरम्भ होकर पूर्ण हो' तो उनसे अपना अपराध क्षमा कराओ; नहीं तो यह यज्ञ क्या, उनके कुपित होनेपर तो लोकपालोंके सहित ये सम्पूर्ण लोक नष्ट हो जायँगे ॥ ६ ॥ उन परम स्वतन्त्र भगवान् शंकरके तत्त्व और बल-वीर्यके प्रमाण-को मैं, इन्द्र, तुम देवता लोग तथा अन्य मुनिगण आदि देहधारियोंमेंसे भी कोई नहीं जानता । फिर उन्हें शान्त करनेका उपाय कौन कर सकता है" ॥ ७ ॥

देवताओंसे इस प्रकार कह, भगवान् ब्रह्माजी पितृगण, प्रजापतिगण तथा देवताओंके सहित अपने लोकसे श्रीत्रिपुरारिके प्रियधाम पर्वतराज कैलासको गये ॥ ८ ॥ वह पर्वत जन्म, ओषधि, तप, मन्त्र और योग आदि उपायोंसे सिद्ध हुए देवता, किन्नर, गन्धर्व और अप्सरा आदिसे निरन्तर भरा रहता है ॥ ९ ॥ चित्र-विचित्र धातु, अनेक प्रकारके वृक्ष, लता और गुल्मादि तथा भाँति-भाँतिके मृगगणोंसे आवृत नाना मणिमय शिखरोंसे युक्त वह पर्वत अत्यन्त रमणीय जान पड़ता है ॥ १० ॥ वह निर्मलजलके अनेकों झरनों और बहुत-सी कन्दराओं तथा शिखरोंसे सुशोभित है और अपने प्रियतमोंके साथ विहार करती हुई सिद्धपत्नियोंका क्रीडास्थल बना हुआ है ॥ ११ ॥ उसमें सब ओर मोरोंका शोर, मदान्ध मलिन्दोंकी गुनगुनाहट, कोकिलाकी 'कुहू-कुहू' ध्वनि और पक्षियों-की चहचहाहट गूँजती रहती है ॥ १२ ॥ कल्पवृक्षोंकी ऊँची-ऊँची शाखाओंसे मानो वह पक्षियोंको बुला रहा है, हाथियोंके चलने-फिरनेसे वह चलता मालूम होता है और झरनोंकी झनकारसे बोलता-सा जान पड़ता है ॥ १३ ॥

१. प्रा० पा०—परिशुद्धसत्त्वं । २. प्रा० पा०—तस्यात्म० । ३. प्रा० पा०—निरन्तरैः । ४. प्रा० पा०—यक्षकिन्नर० । ५. प्रा० पा०—सिद्धचारणयोषिताम् । ६. प्रा० पा०—सूचितै ।

मन्दारैः पारिजातैश्च सरलैश्चोपशोभितम् ।
तमालैः शालतालैश्च कोविदारासनार्जुनैः ॥१४॥
चूतैः[1] कदम्बैर्नीपैश्च नागपुन्नागचम्पकैः ।
पाटलाशोकबकुलैः कुन्दैः कुरबकैरपि ॥१५॥
स्वर्णार्णशतपत्रैश्च वररेणुकजातिभिः ।
कुब्जकैर्मल्लिकाभिश्च माधवीभिश्च मण्डितम् ॥१६॥
पनसोदुम्बराश्वत्थप्लक्षन्यग्रोधहिङ्गुभिः ।
भूर्जैरोषधिभिः पूगैराजपूगैश्च[2] जम्बुभिः ॥१७॥
खर्जूराम्रातकाम्राद्यैः प्रियालमधुकेङ्गुदैः[3] ।
द्रुमजातिभिरन्यैश्च राजितं वेणुकीचकैः ॥१८॥
कुमुदोत्पलकह्लारशतपत्रवनर्द्धिभिः ।
नलिनीषु[4] कलं कूजत्खगवृन्दोपशोभितम् ॥१९॥
मृगैः शाखामृगैः क्रोडैर्मृगेन्द्रैर्ऋक्षशल्यकैः[5] ।
गवयैः शरभैर्व्याघ्रै रुरुभिर्महिषादिभिः ॥२०॥
कर्णान्त्रैकपदाश्वास्यैर्निर्जुष्टं[6] वृकनाभिभिः ।
कदलीषण्डसंरुद्धनलिनीपुलिनश्रियम् ॥२१॥
पर्यस्तं नन्दया सत्याः स्नानपुण्यतरोदया ।
विलोक्य भूतेशगिरिं विबुधा विस्मयं ययुः ॥२२॥
ददृशुस्तत्र[7] ते रम्यामलकां नाम वै पुरीम् ।
वनं सौगन्धिकं चापि यत्र तन्नाम पङ्कजम् ॥२३॥
नन्दा चालकनन्दा च सरितौ बाह्यतः पुरः ।
तीर्थपादपदाम्भोजरजसातीव पावने ॥२४॥

पारिजात, सरल, तमाल, शाल, ताल, कोविदार, असन और अर्जुनके वृक्षोंसे वह अत्यन्त शोभायमान है ॥ १४ ॥ इसी प्रकार आम, कदम्ब, नीप, नाग, पुन्नाग, चम्पक, पाटल, अशोक, बकुल, कुन्द, कुरबक, सुवर्णवर्ण शतदल कमल, अति सुन्दर इलायची और मालतीकी लताएँ, कुब्जक, मोगरा और माधवी आदिकी बेलें भी उसकी शोभा बढ़ा रहे हैं ॥ १५-१६ ॥ कटहर, गूलर, पीपल, पकड़ी, बड़, हिंगु, भोजपत्र, ओषधियाँ*, पूगीफल, बड़ी पूगी, जामुन, खजूर, आँवला, आम, प्रियाल, मधुक, इंगुद आदि विभिन्न प्रकारके वृक्षों तथा वेणु (ठोस बाँस) और कीचक (पोले बाँस) के रूखोंसे वह पर्वत बड़ा ही मनोहर मालूम होता था ॥ १७-१८ ॥ उसके सरोवरोंमें कुमुद, उत्पल, कह्लार और शतपत्र आदि नाना प्रकारके कमल खिले हुए थे । उनमें मनोहर शब्द करते हुए पक्षियोंके कारण वह पर्वत बड़ा ही शोभायमान हो रहा था ॥ १९ ॥ हरिण, वानर, शूकर, सिंह, रीछ, स्याही, नीलगाय, शरभ, बाघ, कृष्णमृग और भैंसे आदि जीवोंसे वह सब ओरसे परिपूर्ण था ॥ २० ॥ उसपर जहाँ-तहाँ कर्णान्त्र, एकपद, आश्वास्य, वृक और कस्तूरी-मृग घूम रहे थे, तथा वहाँके सरोवर किनारोंपर लगे हुए केलोंकी पंक्तियोंसे सुशोभित थे ॥ २१ ॥ देवी सतीके स्नान करनेसे जिसका जल परम पवित्र हो गया है उस नन्दा नदीसे वह पर्वतराज सब ओरसे घिरा हुआ था । भगवान् भूतभावनके कैलास पर्वतको देखकर देवताओंको बड़ा विस्मय हुआ ॥ २२ ॥

वहाँ उन्होंने अतिरमणीय अलका नामकी पुरी और सौगन्धिक वन देखा जिसमें उसी (सौगन्धिक) नामके कमल खिले हुए थे ॥ २३ ॥ उस नगरके बाहरकी ओर नन्दा और अलकनन्दा नामकी दो नदियाँ हैं वे तीर्थपाद भगवान् हरिकी चरणरजके कारण अति पवित्र हैं ॥ २४ ॥

१. प्रा० पा०—चूतैः कदम्बनिम्बैश्च । २. प्रा० पा०—गैः पत्रैश्च धवजम्बुभिः । ३. प्रा० पा०—काश्मर्याम्रा० । ४. प्रा० पा०—नलिनीपुलिने कूज० । ५. प्रा० पा०—शल्ल० । ६. प्रा० पा०—कल्लोलूषपदैश्चान्यैर्निविष्टं मृगनाभिभिः । ७. प्रा० पा०—तस्य ते ।

* 'ओषध्यः फलपाकान्ताः' जो वृक्ष फल पकनेके अनन्तर काट दिये जाते हैं वे 'ओषधि' कहलाते हैं ।

ययोः सुरस्त्रियः क्षत्तरवरुह्य स्वधिष्ण्यतः ।
क्रीडन्ति पुंसः सिञ्चन्त्यो विगाह्य रतिकर्शिताः[1] ॥२५॥
ययोस्तत्स्नानविभ्रष्टनवकुङ्कुमपिञ्जरम् ।
वितृषोऽपि पिबन्त्यम्भः पाययन्तो गजा गजीः ॥२६॥
तारहेममहारत्नविमानशतसंकुलाम् ।
जुष्टां पुण्यजनस्त्रीभिर्यथा खं सतडिद्घनम् ॥२७॥
हित्वा यक्षेश्वरपुरीं वनं सौगन्धिकं च तत् ।
द्रुमैः कामदुघैर्[2]हृद्यं चित्रमाल्यफलच्छदैः ॥२८॥
रक्तकण्ठखगानीकस्वरमण्डितषट्पदम् ।
कलहंसकुलप्रेष्ठं खरदण्डजलाशयम् ॥२९॥
वनकुञ्जरसंघृष्ट[3]हरिचन्दनवायुना ।
अधि पुण्यजनस्त्रीणां मुहुरुन्मथयन्मनः[4] ॥३०॥
वैदूर्यकृतसोपाना वाप्य उत्पलमालिनीः ।
प्राप्तं किंपुरुषैर्दृष्ट्वा त आराद्ददृशुर्वटम् ॥३१॥
स[5] योजनशतोत्सेधः पादोनविटपायतः ।
पर्यक्कृताचलच्छायो निर्नीडस्तापवर्जितः ॥३२॥
तस्मिन्महायोगमये मुमुक्षुशरणे सुराः ।
ददृशुः शिवमासीनं त्यक्तामर्षमिवान्तकम् ॥३३॥

हे विदुर ! उन नदियोंमें, रति-विलाससे थकी हुई देवांगनाएँ अपने निवासस्थान स्वर्गलोकसे आकर जल-क्रीडा करती हैं और उनमें स्नानकर अपने पतियोंके ऊपर उसका जल उछालती हैं ॥२५॥ वहाँ उन देवियोंके स्नान करनेसे उनके कुचमण्डलमें लगा हुआ कुंकुम छूटकर जलको पीला कर देता है । उस कुंकुममिश्रित जलको हाथी प्यास न होनेपर भी अपनी हथिनियोंको पिलाते और स्वयं पीते हैं ॥२६॥ वह अलकापुरी चाँदी, सोने और महामणियोंके सैकड़ों विमानोंसे संकुलित और अनेकों यक्षपत्नियोंसे सुशोभित होकर विद्युत् और रंगविरंगे बादलोंसे युक्त आकाशके समान जान पड़ती है ॥२७॥

तदनन्तर देवता लोग कुबेरकी उस अलकापुरीको छोड़कर सौगन्धिक वनमें गये, जो कल्पवृक्ष और चित्र-विचित्र फूल, फल और पत्तोंके कारण अति सुशोभित था ॥ २८ ॥ वह वन कोकिल आदि पक्षियोंके कलरव और भौंरोंकी गुञ्जारसे परिपूर्ण था तथा राजहंसोंको अतिप्रिय कमलकुसुममण्डित सरोवरोंसे सुशोभित था ॥ २९ ॥ वह, वनैले हाथियोंके मस्तककी रगड़से घिसे हुए हरिचन्दन वृक्षकी गन्धसे युक्त मलय-मारुतसे बारम्बार यक्षपत्नियोंके मनोंको अत्यन्त मोहित कर देता था ॥ ३० ॥ वहाँ जो बावड़ियाँ थीं उनकी सीढ़ियाँ वैडूर्यमणिकी थीं तथा उनमें कमलोंकी पंक्तियाँ खिली हुई थीं, उन सरोवरोंपर किम्पुरुषगण [जी बहलानेको] आये हुए थे । इस प्रकार सौगन्धिक वनकी शोभा निहारते हुए देवगण कुछ और आगे बढ़े तो उन्हें एक वटवृक्ष दिखायी दिया ॥ ३१ ॥ वह वृक्ष सौ योजन ऊँचा और सब ओर पौन-पौन सौ (पचहत्तर) योजन लम्बी शाखाओंसे फैला हुआ था । उसके चारों ओर निश्चल छाया थी । उसमें कोई घोंसला भी नहीं था, और उसके नीचे रहनेवालोंको धूपका कष्ट नहीं होता था ॥३२॥ हे विदुर ! उस महायोगमय और मुमुक्षुओंके आश्रय करनेयोग्य वटवृक्षके नीचे देवताओंने रोषहीन कालके समान भगवान् शंकरको विराजमान देखा ॥३३॥

१. प्रा० पा०—रतितर्षिताः । २. प्रा० पा०—दुघैर्जुष्टं । ३. प्रा० पा०—संमृष्ट० । ४. प्रा० पा०—मन्मथः । ५. प्रा० पा०—शतयोजनमुत्सेधः ।

सनन्दनाद्यैर्महासिद्धैः शान्तैः संशान्तविग्रहम् ।
उपास्यमानं सख्या च भर्त्रा गुह्यकरक्षसाम् ॥३४॥
विद्यातपोयोगपथमास्थितं तमधीश्वरम् ।
चरन्तं विश्वसुहृदं वात्सल्याल्लोकमङ्गलम् ॥३५॥
लिङ्गं च तापसाभीष्टं भस्मदण्डजटाजिनम् ।
अङ्गेन सन्ध्याभ्ररुचा चन्द्रलेखां च बिभ्रतम् ॥३६॥
उपविष्टं दर्भमय्यां बृस्यां ब्रह्म सनातनम् ।
नारदाय प्रवोचन्तं पृच्छते शृण्वतां सताम् ॥३७॥
कृत्वोरौ दक्षिणे सव्यं पादपद्मं च जानुनि ।
बाहुप्रकोष्ठेऽक्षमालामासीनं तर्कमुद्रया ॥३८॥
तं ब्रह्मनिर्वाणसमाधिमाश्रितं
व्युपाश्रितं गिरिशं योगकक्षाम् ।
सलोकपाला मुनयो मनूना-
माद्यं मनुं प्राञ्जलयः प्रणेमुः ॥३९॥
स तूपलभ्यागतमात्मयोनिं
सुरासुरेशैरभिवन्दिताङ्घ्रिः ।
उत्थाय चक्रे शिरसाभिवन्दन-
मर्हत्तमः कस्य यथैव विष्णुः ॥४०॥
तथापरे सिद्धगणा महर्षिभि-
र्ये वै समन्तादनु नीललोहितम् ।
नमस्कृतः प्राह शशाङ्कशेखरं
कृतप्रणामं प्रहसन्निवात्मभूः ॥४१॥

ब्रह्मोवाच

जाने त्वामीशं विश्वस्य जगतो योनिबीजयोः ।

उन शान्तमूर्ति भगवान् भूतनाथकी सनन्दन आदि शान्त सिद्धगण और यक्षराक्षसोंके स्वामी उनके सखा कुबेरजी सेवा कर रहे थे ॥ ३४ ॥ जगत्हितकारी श्रीमहादेवजी सम्पूर्ण जगत्के स्वामी हैं इसलिये प्रेमवश संसारका कल्याण करनेके लिये विद्या, तप और समाधि आदि मार्गोंका आचरण करते हैं ॥ ३५ ॥ वे सन्ध्याकालीन मेघकी-सी कान्तिवाले अपने शरीरपर भस्म, दण्ड, जटा और मृगचर्म आदि तपस्वियोंके योग्य चिह्न और चन्द्रमाकी कला धारण किये हुए थे ॥ ३६ ॥ कुशाके आसनपर बैठे हुए भगवान् शंकर नारदजीके पूछनेसे सनातन ब्रह्मका उपदेश कर रहे थे, उस समय अन्य सन्तजन भी एकाग्रचित्तसे उनका उपदेश सुन रहे थे ॥ ३७ ॥ भगवान् शंकर अपनी दायीं जंघापर बायाँ चरणकमल तथा बायें घुटनेपर हाथ रखे और कलाइयोंमें अक्षमाला धारण किये तर्कमुद्रासे* बैठे थे ॥ ३८ ॥ भगवान् भूतनाथ बायीं भुजासे योगपट्टका† आश्रय ले एकाग्रचित्तसे ब्रह्मानन्दका अनुभव कर रहे थे, तब विचारवानोंमें सर्वश्रेष्ठ भगवान् शंकरको लोकपालोंके सहित मुनीश्वरोंने हाथ जोड़कर प्रणाम किया ॥ ३९ ॥ देवता और दैत्योंके अधिपति जिनके चरणकमलोंकी वन्दना करते हैं उन महादेवजीने श्रीब्रह्माजीको आये देख आसनसे उठ शिर झुकाकर इस प्रकार प्रणाम किया जैसे वामनावतारमें परमपूज्य विष्णु भगवान्ने कश्यपजीको किया था ॥ ४० ॥ भगवान् नीलकण्ठके पास जो और भी सिद्ध तथा महर्षिगण बैठे थे उन सबके प्रणाम कर चुकनेपर भगवान् ब्रह्माजीने चन्द्रशेखर श्रीशंकरसे हँसते हुए कहा ॥ ४१ ॥

श्रीब्रह्माजी बोले—हे देव ! आप सम्पूर्ण जगत्के स्वामी हैं । मैं आपको जानता हूँ । आप संसारकी

१. प्रा० पा०—सनकाद्यै० । २. प्रा० पा०—योगसमाधिकक्षाम् । ३. प्रा० पा०—भिवादन० ।

* 'तर्जन्यङ्गुष्ठयोरग्रे मिथः संयोज्य चाङ्गुलीः । प्रसार्य बन्धनं प्राहुस्तर्कमुद्रेति मान्त्रिकाः ॥'

अर्थात् तर्जनीको अँगूठेसे जोड़कर अन्य अँगुलियोंको आपसमें मिलाकर फैला देनेसे जो 'बन्ध' सिद्ध होता है उसे 'तर्कमुद्रा' कहते हैं । [इसीको ज्ञानमुद्रा भी कहते हैं] ।

† योगपट्ट-एक काठकी टेकनी-सी होती है । उसके सहारेसे योगीलोग अधिक समयतक बैठे रहनेका अभ्यास किया करते हैं ।

शक्तेः शिवस्य च परं यत्तद्ब्रह्म निरन्तरम् ॥४२॥
त्वमेव भगवन्नेतच्छिवशक्त्योः सरूपयोः ।
विश्वं सृजसि पास्यत्सि क्रीडन्नूर्णपटो यथा ॥४३॥
त्वमेव धर्मार्थदुघाभिपत्तये
दक्षेन सूत्रेण ससर्जिथाध्वरम् ।
त्वयैव लोकेऽवसिताश्च सेतवो
यान्ब्राह्मणाः श्रद्दधते धृतव्रताः ॥४४॥
त्वं कर्मणां मङ्गल मङ्गलानां
कर्तुः स्म लोकं तनुषे स्वः परं वा ।
अमङ्गलानां च तमिस्रमुल्बणं
विपर्ययः केन तदेव कस्यचित् ॥४५॥
न वै सतां त्वच्चरणार्पितात्मनां
भूतेषु सर्वेष्वभिपश्यतां तव ।
भूतानि चात्मन्यपृथग्दिदृक्षतां
प्रायेण रोषोऽभिभवेद्यथा पशुम् ॥४६॥
पृथग्धियः कर्मदृशो दुराशयाः
परोदयेनार्पितहृद्रुजोऽनिशम् ।
परान्दुरुक्तैर्वितुदन्त्यरुन्तुदा-
स्तान्मा वधीर्दैववधान्भवद्विधः ॥४७॥
यस्मिन्यदा पुष्करनाभमायया
दुरन्तया स्पृष्टधियः पृथग्दृशः ।
कुर्वन्ति तत्र ह्यनुकम्पया कृपां
न साधवो दैवबलात्कृते क्रमम् ॥४८॥

योनि शक्ति (प्रकृति) और उसका बीज शिव (पुरुष) इन दोनोंसे परे भेदहीन सनातन ब्रह्म हैं ॥४२॥ हे भगवन् ! जिस प्रकार मकड़ी आप ही जालेको रचकर उसमें क्रीडा करती और अन्तमें अपनेहीमें लीन कर लेती है उसी प्रकार आप भी अपनेही स्वरूप पुरुष और प्रकृतिसे संसारकी रचना, पालन और संहार करते रहते हैं ॥४३॥ धर्म और अर्थकी प्राप्ति करानेवाले वेदकी रक्षा करनेके लिये आपहीने दक्षको निमित्त बनाकर यज्ञको प्रकट किया है तथा व्रतशील ब्राह्मणगण जिसका श्रद्धापूर्वक पालन करते हैं वह धर्म-मर्य्यादा भी आपहीकी निश्चित की हुई है ॥४४॥ हे मङ्गलमय महेश ! आप ही पुण्य कर्म करनेवालोंको स्वर्ग या मोक्षरूप मङ्गलमय फल और पापकर्म करनेवालोंको नरकादि भयंकर गति देते हैं; फिर कहीं-कहीं इस नियमके विपरीत होना भी क्यों देखा जाता है [अर्थात् यज्ञरूप पुण्यकर्म करते हुए भी दक्षको यह दुःख क्यों प्राप्त हुआ ?] ॥४५॥ [यदि आप कहें कि मेरे भक्तोंके क्रोधके कारण ऐसा हुआ है तो] जिन सत्पुरुषोंने अपने अन्तरात्माको आपके चरणकमलोंमें समर्पित कर दिया है, जो सम्पूर्ण प्राणियोंमें आपको विराजमान देखते हैं तथा जो समस्त जीवोंको अपृथक् भावसे अपनेमें ही अध्यस्त देखते हैं, उन्हें क्रोध प्रायः पशुओंके समान अपने अधीन नहीं कर सकता ॥४६॥ जिनकी भेदबुद्धि होनेके कारण कर्ममें ही आस्था है, जिनका चित्त दुष्ट है, दूसरोंका उत्कर्ष देखकर जिनका हृदय अहर्निश कुढ़ा करता है और जो मर्मवेधी अज्ञानी पुरुष अपने दुर्वचनोंसे दूसरोंके हृदयोंको विद्ध किया करते हैं वे विधातासे ही मारे गये होते हैं । आप-जैसोंको उन्हें नष्ट करनेका प्रयत्न नहीं करना चाहिये ॥४७॥ हे देव ! भगवान् कमलनाभकी प्रबल मायासे बुद्धि भ्रष्ट हो जानेके कारण भेददर्शी पुरुष जहाँ और जिस समय साधुपुरुषोंका अपराध करते हैं उस समय वे साधुजन अपनी दयालुतासे उनपर कृपा ही किया करते हैं; उस दुःखको दैवाधीन समझकर उनका अहित नहीं करते ॥४८॥

१. प्रा० पा०—क्रीडयोर्ण० । २. प्रा० पा०—भव । ३. प्रा० पा०—दैवहतान् । ४. प्रा० पा०—दुर्लङ्घ्यया ।

भवांस्तु पुंसः परमस्य मायया
दुरन्तयास्पृष्टमतिः समस्तदृक् ।
तया हतात्मस्वनुकर्मचेतः-
स्वनुग्रहं कर्तुमिहार्हसि प्रभो ॥४९॥
कुर्वध्वरस्योद्धरणं हतस्य भो
त्वयासमाप्तस्य मनो प्रजापतेः ।
न यत्र भागं तव भागिनो ददुः
कुयज्विनो येन मखो निनीयते ॥५०॥
जीवताद्यजमानोऽयं प्रपद्येताक्षिणी भगः ।
भृगोः श्मश्रूणि रोहन्तु पूष्णो दन्ताश्च पूर्ववत् ॥५१॥
देवानां भग्नगात्राणामृत्विजां चायुधाश्मभिः ।
भवतानुगृहीतानामाशु मन्योऽस्त्वनातुरम् ॥५२॥
एष ते रुद्र भागोऽस्तु यदुच्छिष्टोऽध्वरस्य वै ।
यज्ञस्ते रुद्रभागेन कल्पतामद्य यज्ञहन् ॥५३॥

हे प्रभो ! आप सर्वज्ञ हैं, भगवान् परमपुरुषकी दुस्तर मायाने आपकी बुद्धिका स्पर्श भी नहीं किया है । इसलिये जिनका चित्त उसके वशीभूत होकर कर्ममार्गमें आसक्त हो रहा है उनपर आपको कृपा करनी चाहिये ॥४९॥ हे मननशील ! आपके द्वारा विध्वंस किये जानेसे समाप्त न होनेवाले इस दक्षप्रजापतिके यज्ञका आप फिर उद्धार कीजिये । जिसके बुद्धिहीन याजकोंने, जिनकी कृपासे यज्ञ सम्पूर्ण होता है उन यज्ञभागके अधिकारी आपको यज्ञभागसे वञ्चित रक्खा ॥५०॥ आप ऐसी कृपा कीजिये, जिससे यजमान दक्ष फिर जी उठे, भगदेवको नेत्र प्राप्त हों, भृगुके दाढ़ी-मूँछ हो जायँ और पूषाके पहलेहीके समान दाँत निकल आवें ॥ ५१ ॥ हे मन्यो ! अस्त्र-शस्त्र और पत्थरोंकी बौछारसे जिन देवता और ऋत्विजोंके अंग-प्रत्यंग छिन्न-भिन्न हो गये हैं आपकी कृपासे वे शीघ्र ही फिर नीरोग हो जायँ ॥ ५२ ॥ हे रुद्र ! यज्ञ पूर्ण होनेपर जितना पदार्थ शेष रहेगा वह आपका भाग होगा । हे यज्ञविध्वंसक महादेव ! आपके भागसे ही आज यह यज्ञ सम्पूर्ण हो ॥ ५३ ॥

इति श्रीमद्भागवते चतुर्थस्कन्धे रुद्रसान्त्वनं
नाम षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

सातवाँ अध्याय

दक्षयज्ञकी पूर्ति ।

मैत्रेय उवाच

इत्यजेनानुनीतेन भवेन परितुष्यता ।
अभ्यधायि महाबाहो प्रहस्य श्रूयतामिति ॥ १ ॥

श्रीमहादेव उवाच

नाघं प्रजेश बालानां वर्णये नानुचिन्तये ।
देवमायाभिभूतानां दण्डस्तत्र धृतो मया ॥ २ ॥

श्रीमैत्रेयजी बोले—हे महाबाहो विदुर ! ब्रह्माजीके इस प्रकार स्तुति करनेपर भगवान् शंकरने प्रसन्नतापूर्वक हँसकर कहा कि सुनो—॥१॥

श्रीमहादेवजी बोले—हे प्रजापते ! भगवान्‌की मायासे मोहित हुए दक्ष-जैसे बालबुद्धि मनुष्योंके अपराधको न मैं कहता हूँ और न स्मरण ही करता हूँ; केवल सावधान करनेके लिये ही मैंने उसे थोड़ासा दण्ड दे दिया है ॥ २ ॥

१. प्रा० पा०—भव । २. प्राचीन प्रतिमें 'श्रीमहादेव उवाच' यह पाठ नहीं है । ३. प्रा० पा०—परेश । ४. प्रा० पा०—दण्डस्तु विधृतो ।

प्रजापतेर्दग्धशीर्ष्णो भवत्वजमुखं शिरः ।
मित्रस्य चक्षुषेक्षेत भागं स्वं बर्हिषो भगः ॥ ३ ॥
पूषा तु यजमानस्य दद्भिर्जक्षेत्तु[1] पिष्टभुक् ।
देवाः प्रकृतसर्वाङ्गा ये म उच्छेषणं ददुः ॥ ४ ॥
बाहुभ्यामश्विनोः पूष्णो हस्ताभ्यां कृतबाहवः ।
भवन्त्वध्वर्यवश्चान्ये बस्तश्मश्रुर्भृगुर्भवेत् ॥ ५ ॥

मैत्रेय उवाच

तदा सर्वाणि भूतानि श्रुत्वा मीढुष्टमोदितम् ।
परितुष्टात्मभिस्तात साधु साध्वित्यथाब्रुवन् ॥ ६ ॥
ततो मीढ्वांसमामन्त्र्य शुनासीराः सहर्षिभिः ।
भूयस्तद्देवयजनं समीढ्वद्वेधसो ययुः ॥ ७ ॥
विधाय कार्त्स्न्येन च तद्यदाह भगवान्भवः ।
संदधुः कस्य कायेन सवनीयपशोः शिरः ॥ ८ ॥
संधीयमाने शिरसि[2] दक्षो रुद्राभिवीक्षितः ।
सद्यः सुप्त इवोत्तस्थौ ददृशे चाग्रतो मृडम् ॥ ९ ॥
तदा वृषध्वजद्वेषकलिलात्मा प्रजापतिः ।
शिवावलोकादभवच्छरद्ध्रद इवामलः ॥ १० ॥
भवस्तवाय कृतधीर्नाशक्नोदनुरागतः ।
औत्कण्ठ्याद्बाष्पकलया संपरेतां सुतां[3] स्मरन् ॥ ११ ॥
कृच्छ्रात्संस्तभ्य च मनः प्रेमविह्वलितः सुधीः ।
शशंस निर्व्यलीकेन भावेनेशं प्रजापतिः ॥ १२ ॥

दक्ष उवाच

भूयाननुग्रह अहो भवता कृतो मे
दण्डस्त्वया मयि धृतो यदपि प्रलब्धः ।
न ब्रह्मबन्धुषु च वां भगवन्नवज्ञा
तुभ्यं हरेश्च कुत एव धृतव्रतेषु ॥ १३ ॥

दक्षप्रजापतिका शिर जल गया है इसलिये उसके बकरेका शिर लगा दिया जाय; भगदेव मित्रदेवताके नेत्रोंसे अपना यज्ञभाग देखें ॥३॥ पिसा हुआ अन्न खानेवाले पूषा देवता उसे यजमानके दाँतोंसे खायँ तथा अन्य देवताओंके छिन्न-भिन्न हुए अंग फिर स्वस्थ हो जायँ क्योंकि उन्होंने यज्ञका अवशिष्ट पदार्थ मेरा भाग निश्चित किया है ॥४॥ अध्वर्यु आदिमें जिनकी भुजाएँ टूट गयी हैं वे अश्विनी-कुमारकी भुजाओंसे और जिनके हाथ नष्ट हो गये हैं वे पूषाके हाथोंसे काम करें और भृगुऋषिके बकरेकी दाढ़ी-मूँछ लगायी जायँ ॥५॥

श्रीमैत्रेयजी बोले—हे विदुर ! उस समय भगवान् शंकरके वचनको सुनकर सब लोग प्रसन्नचित्तसे 'वाह ! वाह !' कहने लगे ॥६॥ तब ऋषियोंके सहित सब देवताओंने श्रीमहादेवजीको यज्ञमें सम्मिलित होनेके लिये निमन्त्रित किया तथा सब लोग श्रीशंकर और ब्रह्माजीको साथ ले उसी यज्ञशालाको गये ॥७॥ वहाँ श्रीमहादेवजीके कथनानुसार सब कार्य भली प्रकार सम्पन्न कर उन्होंने दक्षके धड़में यज्ञपशु (बकरे) का शिर जोड़ दिया ॥८॥ शिरके जुड़नेपर भगवान् शंकर-की दृष्टि पड़ते ही दक्ष तत्काल सोनेसे उठनेके समान जो उठे और उन्होंने सामने भगवान् शंकरको विराजमान देखा ॥९॥ दक्षका हृदय शंकरद्रोहरूप कालिमासे कलुषित हो रहा था, वह उनका दर्शन करनेसे शरत्कालीन सरोवरके समान स्वच्छ हो गया ॥१०॥ उन्होंने भगवान् शिवकी स्तुति करनी चाही किन्तु अपनी मृतकन्याका स्मरण हो आनेसे प्रेम और उत्कण्ठावश न कर सके ॥११॥ तब प्रेमसे विह्वल परम बुद्धिमान् प्रजापति दक्षने अपने मनको जैसे-तैसे रोककर भगवान् शंकरकी निष्कपट भावसे स्तुति करनी आरम्भ की ॥१२॥

दक्ष बोले—भगवन् ! मैंने आपका अपराध किया था, उसके बदलेमें मुझे दण्ड देकर आपने बड़ा भारी अनुग्रह किया है । आप और श्रीहरि तो अधम ब्राह्मणोंकी भी उपेक्षा नहीं करते, फिर व्रतशीलोंकी तो बात ही क्या है ? ॥ १३ ॥

१. प्रा० पा०—जक्षिति । २. प्रा० पा०—शीर्ष्णि । ३. प्रा० पा०—सतीं ।

विद्यातपोव्रतधरान्मुखतः स्म विप्रा-
न्ब्रह्मात्मतत्त्वमवितुं प्रथमं त्वमस्राक् ।
तद्ब्राह्मणान्परम सर्वविपत्सु पासि
पालः पशूनिव विभो प्रगृहीतदण्डः ॥१४॥

योऽसौ मयाऽविदिततत्त्वदृशा सभायां
क्षिप्तो दुरुक्तिविशिखैरगणय्य तन्माम् ।
अर्वाक् पतन्तमर्हत्तमनिन्दयापाद्
दृष्ट्यार्द्रया स भगवान्स्वकृतेन तुष्येत् ॥१५॥

मैत्रेय उवाच

क्षमाप्यैवं स मीढ्वांसं ब्रह्मणा चानुमन्त्रितः ।
कर्म सन्तानयामास सोपाध्यायर्त्विगग्निभिः ॥१६॥
वैष्णवं यज्ञसन्तत्यै त्रिकपालं द्विजोत्तमाः ।
पुरोडाशं निरवपन्वीरसंसर्गशुद्धये ॥१७॥
अध्वर्युणात्तहविषा यजमानो विशाम्पते ।
धिया विशुद्धया दध्यौ तथा प्रादुरभूद्धरिः ॥१८॥
तदा स्व[1]प्रभया तेषां द्योतयन्त्या दिशो दश ।
मुष्णंस्तेज उपानीतस्तार्क्ष्येण स्तोत्रवाजिना ॥१९॥
श्यामो हिरण्यरशनोऽर्ककिरीटजुष्टो
नीलालकभ्रमरमण्डितकुण्डलास्यः ।
क[2]म्ब्वब्जचक्रशरचापगदासिचर्म-
व्यग्रैर्हिरण्मयभुजैरिव कर्णिकारः ॥२०॥
वक्षस्यधिश्रितवधूर्वनमाल्युदार-
हासावलोककलया रमयंश्च विश्वम् ।

हे विभो ! वेद और आत्मतत्त्वकी रक्षा करनेके लिये आपने सबसे पहले अपने मुखसे विद्या, तप और व्रतके धारण करनेवाले ब्राह्मणोंको रचा था। उन ब्राह्मणोंकी, ग्वाला जैसे लाठी लेकर गौओंकी रक्षा करता है उसी प्रकार आप सब विपत्तियोंसे रक्षा करते हैं ॥१४॥ आपका तत्त्व न जाननेवाले मैंने आपको भरी सभामें दुर्वचनरूप बाणोंसे बेधा था, किन्तु आपने उस अपराधका कुछ भी विचार न कर महापुरुषोंकी निन्दा करनेके अपराधसे नरकादि अधोलोकोंमें गिरते हुए मेरी, अपनी कृपादृष्टिसे रक्षा की ! सो आप अपनी उस उदारताके कारण ही मुझपर प्रसन्न हों [क्योंकि आपको प्रसन्न करनेयोग्य मुझसे और कोई भी कृत्य नहीं बना] ॥१५॥

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—हे विदुर ! भगवान् शंकरसे इस प्रकार अपना अपराध क्षमा करा दक्षप्रजापतिने ब्रह्माजीके कहनेसे उपाध्याय, ऋत्विक् और अग्नियोंके सहित यज्ञकार्य आरम्भ किया ॥१६॥ तब ब्राह्मणोंने यज्ञसम्पन्न करनेके लिये और भूत-प्रेतादिके संसर्गकी शुद्धिके लिये विष्णुसम्बन्धी त्रिकपाल पुरोडाशका हवन (अर्पण) किया ॥१७॥ हे विदुर ! वह पुरोडाशरूप हवि हाथमें लेकर खड़े हुए अध्वर्युके साथ यजमान (दक्ष) ने ज्यों ही शुद्धचित्तसे श्रीहरिका ध्यान किया त्यों ही प्रभु प्रकट हो गये ॥१८॥ भगवान्ने दशों दिशाओंके देदीप्यमान करनेवाले अपने तेजसे समस्त सभासदोंके नेत्रोंको चौंधिया दिया। वे गरुड़पर आरूढ़ थे, जिनके पङ्खोंसे वेद-मन्त्रोंकी ध्वनि हो रही थी ॥१९॥ उनका वर्ण श्याम था, कटिप्रदेशमें सुवर्णकी कर्धनी सुशोभित थी, सिरपर सूर्यके समान देदीप्यमान मुकुट था, मुखकमल भौंरोंके समान नीली अलकावली और कान्तिमय कुण्डलोंसे, सुशोभित था तथा अपनी सुवर्णभूषण-भूषिता आठ भुजाओंमें शङ्ख, पद्म, चक्र, बाण, धनुष, गदा, खड्ग और चर्म (ढाल) धारण किये वे फूले हुए कनेरके वृक्ष-जैसे जान पड़ते थे ॥२०॥ उनके हृदयमें लक्ष्मीजी और वनमाला सुशोभित थीं, अपने उदारहास और लीलामय कटाक्षसे वे सम्पूर्ण विश्वको आनन्दित करते थे, उनके इधर-

१. प्रा० पा०—तत्प्रभया । २. प्रा० पा०—शङ्खाब्ज० ।

पार्श्वभ्रमद्व्यजनचामरराजहंसः
श्वेतातपत्रशशिनोपरि रज्यमानः ॥२१॥

तमुपागतमालक्ष्य सर्वे सुरगणादयः ।
प्रणेमुः सहसोत्थाय ब्रह्मेन्द्रत्र्यक्षनायकाः ॥२२॥
तत्तेजसा हतरुचः सन्नजिह्वाः ससाध्वसाः ।
मूर्ध्ना धृताञ्जलिपुटा उपतस्थुरधोक्षजम् ॥२३॥
अप्यर्वाग्वृत्तयो यस्य महि त्वात्मभुवादयः ।
यथामति गृणन्ति स्म कृतानुग्रहविग्रहम् ॥२४॥
दक्षो गृहीतार्हणसादनोत्तमं
यज्ञेश्वरं विश्वसृजां परं गुरुम् ।
सुनन्दनन्दाद्यनुगैर्वृतं मुदा
गृणन्प्रपेदे प्रयतः कृताञ्जलिः ॥२५॥

दक्ष उवाच

शुद्धं स्वधाम्न्युपरताखिलबुद्ध्यवस्थं
चिन्मात्रमेकमभयं प्रतिषिध्य मायाम् ।
तिष्ठंस्तयैव पुरुषत्वमुपेत्य तस्या-
मास्ते भवानपरिशुद्ध इवात्मतन्त्रः ॥२६॥

ऋत्विज ऊचुः

तत्त्वं न ते वयमनञ्जन रुद्रशापा-
त्कर्मण्यवग्रहधियो[1] भगवन्विदामः ।
धर्मोपलक्षणमिदं त्रिवृदध्वरारव्यं
ज्ञातं यदर्थमधिदैवमदोव्यवस्थाः ॥२७॥

सदस्या ऊचुः

उत्पत्त्यध्वन्यशरण उरुक्लेशदुर्गेऽन्तकोग्र-
व्यालान्विष्टे[2] विषयमृगतृष्णात्मगेहोरुभारः ।

उधर पार्षदगण राजहंसके समान श्वेत व्यजन और चँवर डुला रहे थे तथा शिरपर चन्द्रमाके समान शुभ्र छत्र सुशोभित था ॥२१॥

भगवान्‌को आये हुए देख ब्रह्मा, इन्द्र और महादेव आदि सम्पूर्ण देवताओंने सहसा उठकर उन्हें प्रणाम किया ॥२२॥ उनके तेजसे सबकी कान्ति फीकी पड़ गयी और जिह्वा गद्गद हो गयी तथा उन्होंने कुछ विस्मित हो श्रीअधोक्षजको हाथ जोड़कर शिरसे प्रणाम किया ॥२३॥ यद्यपि भगवान्‌की महिमातक ब्रह्मादिकी बुद्धि भी नहीं पहुँच सकती तो भी कृपापूर्वक शरीर धारणकर प्रकट हुए भगवान्‌की वे अपनी-अपनी बुद्धिके अनुसार स्तुति करने लगे ॥२४॥ प्रथम दक्षप्रजापति पूजाकी उत्तम सामग्री हाथमें लेकर नन्द-सुनन्दादि पार्षदोंसे घिरे हुए, प्रजापतियोंके परम गुरु भगवान् यज्ञेश्वरके पास गये और अति आनन्दित होकर विनीत भावसे उनकी स्तुति करने लगे ॥२५॥

दक्षने कहा—भगवन् ! आप शुद्ध हैं, अपने स्वरूपमें आप बुद्धिकी जाग्रदादि सम्पूर्ण अवस्थाओंसे रहित चिन्मात्र एक और अभय हैं, आप मायाका तिरस्कार कर स्वतन्त्र रहते हैं; तथापि लीलाके लिये उसे स्वीकारकर जीवभावको प्राप्त हो (जीवरूपमें) अज्ञानीके समान दीखने लगते हैं ॥२६॥

ऋत्विज बोले—हे निरञ्जनदेव ! हे भगवन् ! हमलोग भगवान् रुद्रके अंशरूप नन्दीश्वरके शापवश आपका तत्त्व नहीं जानते; हमारी बुद्धि केवल कर्मकाण्डमें ही फँसी हुई है । जिसमें 'इस कर्मका यही देवता है' ऐसी व्यवस्था की गयी है उस धर्मके प्रवर्त्तक ऋक्, यजुः और साम इन तीन वेदोंसे प्रतिपादित 'यज्ञ' को ही हम आपका स्वरूप समझते हैं ॥२७॥

सदस्योंने कहा—हे शरणद ! जो नाना प्रकारके क्लेशोंके कारण अति दुर्गम है, जिसमें कालरूप भयङ्कर सर्प बैठा हुआ है, नाना प्रकारके द्वन्द्वरूप गड्ढे हैं, खलजनरूप वन्यपशुओंका भय है तथा शोकरूप दावानल धधक रहा है ऐसे आश्रयरहित संसारमार्गमें

१. प्रा० पा०—ण्यविग्रहदया । २. प्रा० पा०—लाकृष्टे ।

द्वन्द्वश्वभ्रे खलमृगभये शोकदावेऽज्ञसार्थः
पादौ कस्ते शरणद कदा याति कामोपसृष्टः ॥२८॥

जो अज्ञानी पुरुष कामनाओंके वशीभूत होकर मृग-तृष्णाके समान विषयोंके लिये देह-गेहका महान् भार शिरपर लिये जा रहे हैं वे आपकी चरणशरणमें कब आवेंगे ? ॥२८॥

रुद्र उवाच

तव वरद वराङ्घ्रावाशिषेहाखिलार्थे
ह्यपि मुनिभिरसक्तैरादरेणार्हणीये ।
यदि रचितधियं माविद्यलोकोऽपविद्धं
जपति न गणये तत्त्वत्परानुग्रहेण ॥२९॥

भगवान् रुद्रने कहा—हे वरदायक ! संसारमें सम्पूर्ण पुरुषार्थोंकी प्राप्तिके साधन और आसक्तिरहित मुनिजनोंद्वारा भी अति आदरपूर्वक पूजे जानेयोग्य आपके चरणकमलोंमें दत्तचित्त रहनेके कारण यदि अज्ञानी पुरुष मुझे आचारभ्रष्ट कहते हैं तो कहें, आपके परम अनुग्रहसे मैं उनके कहने-सुननेका कोई विचार नहीं करता ॥२९॥

भृगुरुवाच

यन्मायया गहनयापहृतात्मबोधा
ब्रह्मादयस्तनुभृतस्तमसि स्वपन्तः ।
नात्मन्श्रितं तव विदन्त्यधुनापि तत्त्वं
सोऽयं प्रसीदतु भवान्प्रणतात्मबन्धुः ॥३०॥

भृगु बोले—हे परमात्मन् ! आपकी गहन मायासे जिनका आत्मज्ञान नष्ट हो गया है, अज्ञानरूप निद्रामें सोये हुए वे ब्रह्मादिक देहधारी भी अपने निजस्वरूप-में स्थित आपके वास्तविक स्वरूपको अभीतक नहीं जान सके; आप शरणागतोंके प्रिय आत्मा और बन्धु हैं, अतः आप मुझपर प्रसन्न होइये ॥३०॥

ब्रह्मोवाच

नैतत्स्वरूपं भवतोऽसौ पदार्थ-
भेदग्रहैः पुरुषो यावदीक्षेत् ।
ज्ञानस्य चार्थस्य गुणस्य चाश्रयो
मायामयाद्व्यतिरिक्तो यतस्त्वम् ॥३१॥

ब्रह्माजीने कहा—हे प्रभो ! पदार्थोंको पृथक्-पृथक् जाननेवाली इन्द्रियोंद्वारा पुरुष जो कुछ देखता है वह आपका स्वरूप नहीं है; क्योंकि ज्ञान, शब्दादि विषय और श्रोत्रादि इन्द्रियोंके आश्रयरूप आप सम्पूर्ण मायिक पदार्थोंसे अलग हैं ॥३१॥

इन्द्र उवाच

इदमप्यच्युत विश्वभावनं
वपुरानन्दकरं मनोदृशाम् ।
सुरविद्विट्क्षपणैरुदायुधै-
र्भुजदण्डैरुपपन्नमष्टभिः ॥३२॥

इन्द्रने कहा—हे अच्युत ! अपनी आठ भुजाओंमें देवद्रोहियोंको नष्ट करनेवाले आयुधोंसे युक्त आपका यह विश्वभावन रूप हमारे मन और नेत्रोंको परम आनन्ददायक हो रहा है ? ॥३२॥

पत्न्य ऊचुः

यज्ञोऽयं तव यजनाय केन सृष्टो
विध्वस्तः पशुपतिनाद्य दक्षकोपात् ।
तं नस्त्वं शवशयनाभशान्तमेवं
यज्ञात्मन्नलिनरुचा दृशा पुनीहि ॥३३॥

यज्ञपत्नियाँ बोलीं—भगवन् ! आपके पूजनके लिये ब्रह्माजीद्वारा रचा हुआ यह यज्ञ भगवान् शंकरने दक्ष-पर कुपित होनेके कारण नष्ट कर दिया था । हे यज्ञमूर्ते ! श्मशानभूमिके समान उत्सवहीन हुए उस यज्ञको आप अपने कमलनयनोंसे निहारकर पवित्र कीजिये ॥३३॥

१. प्रा० पा०—शिषां चाखिला० । २. प्रा० पा०—नात्माश्रितं ।

ऋषय ऊचुः

अनन्वितं ते भगवन्विचेष्टितं
यदात्मना चरसि हि कर्म नाज्यसे ।
विभूतये यत उपसेदुरीश्वरीं
न मन्यते स्वयमनुवर्ततीं भवान् ॥३४॥

ऋषियोंने कहा—भगवन् ! आपकी लीला अति अद्भुत है, क्योंकि आप कर्म करते हुए भी उससे असंग रहते हैं । दूसरे लोग, महान् वैभव प्राप्त करनेके लिये जिन लक्ष्मीजीकी उपासना करते हैं वे स्वयं आपकी सेवामें रहती हैं, तो भी आप उनका मान नहीं करते ॥३४॥

सिद्धा ऊचुः

अयं त्वत्कथामृष्टपीयूषनद्यां[1]
मनोवारणः क्लेशदावाग्निदग्धः ।
तृषार्तोऽवगाढो न सस्मार दावं[2]
न निष्क्रामति ब्रह्मसम्पन्नवन्नः ॥३५॥

सिद्धगण बोले—प्रभो ! नाना प्रकारके क्लेशरूप दावानलसे दग्ध हुआ हमारा मनरूप हाथी अति तृषित होकर आपकी कथारूप निर्मल अमृत-नदीमें घुसकर उसमें गोता लगाये बैठा है । वहाँ ब्रह्मानन्दमें लीन-सा हो जानेके कारण उसे न तो संसाररूप दावानलका ही स्मरण रहा है और न वह उस नदीसे बाहर ही निकलता है ॥३५॥

यजमान्युवाच

स्वागतं ते प्रसीदेश तुभ्यं नमः
श्रीनिवास श्रिया कान्तया त्राहि नः ।
त्वामृतेऽधीश नाङ्गैर्मखः शोभते
शीर्षहीनः कबन्धो यथा पूरुषः ॥३६॥

यजमानपत्नीने कहा—हे ईश ! आप भले आये । मैं आपको नमस्कार करती हूँ । आप मुझपर प्रसन्न होइये और हे लक्ष्मीपते ! अपनी प्रिया लक्ष्मीजीके सहित आप हमारी रक्षा कीजिये । हे यज्ञेश्वर ! शिरके बिना जैसे मनुष्यका धड़ अच्छा नहीं लगता उसी प्रकार आपके बिना अन्य अंगोंसे पूर्ण होनेपर भी यज्ञकी शोभा नहीं होती ॥ ३६ ॥

लोकपाला ऊचुः

दृष्टः किं नो दृग्भिरसद्ग्रहैस्त्वं
प्रत्यग्द्रष्टा दृश्यते येन दृश्यम् ।
माया ह्येषा भवदीया हि भूम-
न्यस्त्वं षष्ठः पञ्चभिर्भासि भूतैः ॥३७॥

लोकपाल बोले—हे प्रभो ! जिनकी सत्तासे यह सारा जगत् प्रतीत होता है वे आप सबके अन्तःकरणोंके साक्षी हैं । क्या मायिक पदार्थोंको ग्रहण करनेवाली इन नेत्रादि इन्द्रियोंसे हम आपको कभी देख सके हैं? हे भूमन् ! हमें जो आप पाँच भूतोंसे अलग छठे जीवरूप जान पड़ते हैं, यह आपकी माया ही है । [इसमें मोहित रहनेके कारण हम आपके शुद्ध स्वरूपको नहीं जान सकते] ॥ ३७ ॥

योगेश्वरा ऊचुः

प्रेयान्न तेऽन्योऽस्त्यमुतस्त्वयि प्रभो
विश्वात्मनीक्षेन्न पृथग्य आत्मनः ।
अथापि भक्त्येश तयोपधावता-
मनन्यवृत्त्यानुगृहाण वत्सल ॥३८॥

योगेश्वरोंने कहा—हे प्रभो ! जो पुरुष आप विश्वात्माको अपनेसे पृथक् नहीं देखता उससे अधिक प्रिय आपको कोई भी नहीं है, तो भी हे भक्तवत्सल ईश्वर ! आपको अनन्यभक्तिसे भजनेवाले हमलोगोंपर आप कृपा कीजिये ॥ ३८ ॥

१. प्रा० पा०—ते कथा । २. प्रा० पा०—दाहं ।

जगदुद्भवस्थितिलयेषु दैवतो
बहुभिद्यमानगुणयात्ममायया ।
रचितात्मभेदमतये स्वसंस्थया
विनिवर्तितभ्रमगुणात्मने नमः ॥३९॥

जिसके गुण जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति और लयके लिये दैवात् अनेक प्रकारके विभिन्न रूप धारण करते हैं उस अपनी मायासे आपने अपने ब्रह्मा आदि अनेक रूप धारण किये हैं। किन्तु अपने स्वरूपमें आप भ्रमवश भासनेवाले सम्पूर्ण गुणोंसे रहित हैं। ऐसे आपको हमारा नमस्कार है ॥ ३९ ॥

ब्रह्मोवाच

नमस्ते श्रितसत्त्वाय धर्मादीनां च सूतये ।
निर्गुणाय च यत्काष्ठां नाहं वेदापरोऽपि च ॥४०॥

शब्दब्रह्मने कहा—धर्मादिकी उत्पत्तिके लिये शुद्धसत्त्वका आश्रय लेनेवाले तथा जिनके स्वरूपको मैं एवं अन्य ब्रह्मादि देवगण भी नहीं जान सकते उन निर्गुणरूप आपको नमस्कार है ॥ ४० ॥

अग्निरुवाच

यत्तेजसाहं सुसमिद्धतेजा
हव्यं वहे स्वध्वर आज्यसिक्तम् ।
तं यज्ञियं पञ्चविधं च पञ्चभिः
स्विष्टं यजुर्भिः प्रणतोऽस्मि यज्ञम् ॥४१॥

अग्निदेव बोले—जिनके तेजसे प्रज्वलित होकर मैं घृतमिश्रित हविको देवताओंके पास पहुँचाता हूँ उन 'आश्रावय' 'अस्तु श्रौषट्' 'यज' 'ये यजामहे' और 'वषट्' इन पाँच प्रकारके मन्त्रोंसे भली प्रकार पूजित किये हुए 'अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, चातुर्मास्य, पशु और साम' इन पाँच रूपोंवाले यज्ञरक्षक भगवान् यज्ञपुरुषको मैं नमस्कार करता हूँ ॥ ४१ ॥

देवा ऊचुः

पुरा कल्पापाये स्वकृतमुदरीकृत्य विकृतं
त्वमेवाद्यस्तस्मिन्सलिल उरगेन्द्राधिशयने ।
पुमाञ्छेषे सिद्धैर्हृदि विमृशिताध्यात्मपदविः
स एवाद्याक्ष्णोर्यः पथि चरसि भृत्यानवसि नः॥४२॥

देवताओंने कहा—हे देव ! पूर्वकल्पका अन्त होनेपर आप आदिपुरुष ही अपने कार्यरूप इस जगत्‌को अपने उदरमें डालकर प्रलयकालीन जलके भीतर शेषनागकी शय्यापर शयन करते हैं तथा सिद्धगण भी अपने हृदयमें आपके ही आध्यात्मिक स्वरूपका चिन्तन करते हैं। वही आप आज हमारे नयनोंके विषय हो रहे हैं सो हे प्रभो ! आप हम दासोंकी रक्षा कीजिये ॥ ४२ ॥

गन्धर्वा ऊचुः

अंशांशास्ते देव मरीच्यादय एते
ब्रह्मेन्द्राद्या देवगणा रुद्रपुरोगाः ।
क्रीडाभाण्डं विश्वमिदं यस्य विभूमं-
स्तस्मै नित्यं नाथ नमस्ते करवाम ॥४३॥

गन्धर्वोंने कहा—हे देव ! मरीचि आदि ऋषि और ये ब्रह्मा, इन्द्र तथा रुद्र आदि देवगण आपके अंशके भी अंश हैं। हे विभूमन् ! हे नाथ ! यह सम्पूर्ण विश्व जिनके खिलौनोंकी पिटारी है, उन आपको हम सदा नमस्कार करते हैं ॥ ४३ ॥

विद्याधरा ऊचुः

त्वन्माययार्थमभिपद्य कलेवरेऽस्मि-
न्कृत्वा ममाहमिति दुर्मतिरुत्पथैः स्वैः।

विद्याधरोंने कहा—हे प्रभो ! मनुष्य, धर्मादि चारों पदार्थोंकी प्राप्तिके साधनरूप इस शरीरको पाकर भी आपकी मायासे मोहित होकर इस शरीरमें मैं-मेरापनका अभिमान करता है और वह दुर्मति

१. प्रा० पा०—ह्यतिव० ।

क्षिप्तोऽप्यसद्विषयलालस आत्ममोहं
युष्मत्कथामृतनिषेवक उद्व्युदस्येत् ॥४४॥

अपने आत्मीयोंके उपेक्षा करनेपर भी असत् विषयोंकी लालसा करता रहता है; किन्तु जो पुरुष आपके कथामृतका सेवन करता है वह अन्तःकरणके मोहको त्याग देता है ॥ ४४ ॥

ब्राह्मणा ऊचुः

त्वं क्रतुस्त्वं हविस्त्वं हुताशः स्वयं
त्वं हि मन्त्रः समिद्दर्भपात्राणि च ।
त्वं सदस्यर्त्विजो दम्पती देवता
अग्निहोत्रं स्वधा सोम आज्यं पशुः ॥४५॥
त्वं पुरा गां रसाया महासूकरो
दंष्ट्रया पद्मिनीं वारणेन्द्रो यथा ।
स्तूयमानो नदँल्लीलया योगिभि-
र्व्युज्जहर्थ त्रयीगात्र यज्ञक्रतुः ॥४६॥
स प्रसीद त्वमस्माकमाकाङ्क्षतां
दर्शनं ते परिभ्रष्टसत्कर्मणाम् ।
कीर्त्यमाने नृभिर्नाम्नि यज्ञेश ते
यज्ञविघ्नाः क्षयं यान्ति तस्मै नमः ॥४७॥

ब्राह्मण बोले—भगवन् ! आप ही यज्ञ हैं, आप ही हवि हैं, आप ही अग्नि हैं, स्वयं आप ही मन्त्र हैं, आप ही समिध, कुशा और यज्ञके पात्र हैं तथा आप ही सदस्य, ऋत्विज्, यजमान-दम्पति, देवता, अग्निहोत्र, स्वधा, सोम, घृत और बलिपशु हैं ॥ ४५ ॥ हे त्रयीमूर्ते ! हे यज्ञक्रतु ! आपने ही एक विशालकाय शूकरका रूप धारणकर योगियोंद्वारा स्तुति किये जाते हुए और अत्यन्त गर्जना करते हुए लीलासे ही इस पृथिवीको अपनी डाढ़ोंपर उठाकर इस प्रकार जलमेंसे निकाल लिया था जैसे गजराज कमलिनीको उखाड़ लेता है ॥ ४६ ॥ हे यज्ञेश ! जिन आपके नामका मनुष्योंद्वारा कीर्तन किये जानेपर यज्ञके सब विघ्न दूर हो जाते हैं उन आपको नमस्कार है । हमारा यज्ञरूप सत्कर्म नष्ट हो गया था, इसलिये हम आपके दर्शनकी इच्छा कर रहे थे । अतः अब आप हमपर प्रसन्न होइये ॥ ४७ ॥

मैत्रेय[1] उवाच

इति दक्षः कविर्यज्ञं भद्र रुद्रावमर्शितम् ।
कीर्त्यमाने हृषीकेशे संनिन्ये[2] यज्ञभावने ॥४८॥
भगवान्स्वेन भागेन सर्वात्मा सर्वभागभुक् ।
दक्षं बभाष आभाष्य प्रीयमाण इवानघ ॥४९॥

श्रीमैत्रेयजी बोले—हे भद्र ! यज्ञरक्षक भगवान् हृषीकेशकी इस प्रकार स्तुति हो चुकनेपर परम चतुर दक्षने रुद्रपार्षद वीरभद्रद्वारा विध्वंस किये हुए यज्ञको फिर आरम्भ किया ॥ ४८ ॥ हे अनघ ! तब सर्वान्तर्यामी और सर्वभोक्ता भगवान् विष्णुने अपने त्रिकपाल पुरोडाशरूप भागसे तृप्त-से होकर दक्षको सम्बोधन करके कहा—॥ ४९ ॥

श्रीभगवान्[3]वाच

अहं ब्रह्मा च शर्वश्च जगतः कारणं परम् ।
आत्मेश्वर उपद्रष्टा स्वयंदृगविशेषणः ॥५०॥
आत्ममायां समाविश्य सोऽहं गुणमयीं द्विज ।
सृजन् रक्षन्हरन्विश्वं दध्रे संज्ञां क्रियोचिताम् ॥५१॥

श्रीभगवान् बोले—हे दक्ष ! जगत्का परम कारण, सबका आत्मा, ईश्वर, साक्षी, स्वयंप्रकाश और भेदभावरहित मैं ही ब्रह्मा और महादेव हूँ ॥ ५० ॥ हे द्विज ! मैंने ही अपनी त्रिगुणमयी मायाका आश्रयकर जगत्की रचना, पालन और संहार करनेके कारण कर्मके अनुरूप ब्रह्मा, विष्णु और शिव ये तीन नाम धारण किये हैं ॥ ५१ ॥

१. प्राचीन प्रतिमें 'मैत्रेय उवाच' नहीं है । २. प्रा० पा०—सान्निध्ये । ३. प्राचीन प्रतिमें 'श्रीभगवानुवाच' नहीं है ।

तस्मिन्ब्रह्मण्यद्वितीये केवले परमात्मनि ।
ब्रह्मरुद्रौ च भूतानि भेदेनाज्ञोऽनुपश्यति ॥५२॥
यथा पुमान्न स्वाङ्गेषु शिरःपाण्यादिषु[2] क्वचित् ।
पारक्यबुद्धिं कुरुते एवं भूतेषु मत्परः ॥५३॥
त्रयाणामेकभावानां यो न पश्यति वै भिदाम् ।
सर्वभूतात्मनां ब्रह्मन्स शान्तिमधिगच्छति ॥५४॥

मैत्रेय उवाच

एवं भगवतादिष्टः प्रजापतिपतिर्हरिम् ।
अर्चित्वा क्रतुना स्वेन देवानुभयतोऽयजत्[3] ॥५५॥
रुद्रं च स्वेन भागेन ह्युपाधावत्समाहितः ।
कर्मणोदवसानेन[4] सोमपानितरानपि ।
उदवस्य सहर्त्विग्भिः सस्नावावभृथं ततः ॥५६॥
तस्मा अप्यनुभावेन स्वेनैवावाप्तरावसे ।
धर्म एव मतिं दत्त्वा त्रिदशास्ते दिवं ययुः ॥५७॥
एवं दाक्षायणी हित्वा सती पूर्वकलेवरम् ।
जज्ञे हिमवतः क्षेत्रे मेनायामिति शुश्रुम ॥५८॥
तमेव दयितं भूय आवृङ्क्ते पतिमम्बिका ।
अनन्यभावैकगतिं शक्तिः सुप्तेव पूरुषम् ॥५९॥
एतद्भगवतः[5] शम्भोः कर्म दक्षाध्वरद्रुहः ।
श्रुतं भागवताच्छिष्यादुद्धवान्मे बृहस्पतेः ॥६०॥
इदं पवित्रं परमीशचेष्टितं
यशस्यमायुष्यमघौघमर्षणम् ।
यो नित्यदाकर्ण्य[6] नरोऽनुकीर्तये-
द्धुनोत्यघं कौरव भक्तिभावतः ॥६१॥

अज्ञ पुरुष उस सर्वान्तर्यामी केवल अद्वितीय ब्रह्ममें ही ब्रह्मा, महादेव तथा अन्य सकल जीवोंको भेदभावसे देखता है ॥ ५२ ॥ जिस प्रकार पुरुष अपने शिर और हाथ आदि अंगोंमें कभी 'ये अन्य हैं' ऐसी बुद्धि नहीं करता उसी प्रकार मेरा भक्त सभी प्राणियोंमें अन्य बुद्धि नहीं करता ॥ ५३ ॥ हे ब्रह्मन् ! जो वास्तवमें एक किन्तु कार्यभेदसे तीन रूप हैं उन ब्रह्मा, विष्णु और महादेवमें जो पुरुष कुछ भी भेदभाव नहीं करता वह शान्ति-लाभ करता है ॥ ५४ ॥

श्रीमैत्रेयजी बोले—भगवान्‌के इस प्रकार आज्ञा देनेपर प्रजापतियोंके नायक दक्षने उनका यज्ञद्वारा पूजनकर अंग और प्रधान दोनों प्रकारसे सब देवताओंका पूजन किया ॥ ५५ ॥ फिर एकाग्रचित्त हो भगवान् शंकरका उनके भागसे पूजन किया । तथा उदवसान नामक कर्मसे सोमपायी तथा इतर देवताओंका भी पूजन-कर तत्पश्चात् ऋत्विजोंके सहित अवभृथस्नान किया ॥ ५६ ॥ फिर जिन्हें अपने पुरुषार्थसे ही सब ऐश्वर्य प्राप्त था उन दक्षप्रजापतिको देवगण 'तुम्हारी बुद्धि सदा धर्ममें ही रहे' ऐसा आशीर्वाद दे स्वर्गलोकको चले गये ॥ ५७ ॥

हे विदुर ! सुना जाता है कि दक्षकन्या सतीने अपने पूर्वशरीरको इस प्रकार त्यागकर फिर हिमालयकी भार्या मेनाके गर्भसे जन्म लिया ॥५८॥ और जिस प्रकार प्रलयकालमें लीन हुई शक्ति [सृष्टिके आरम्भमें अपनी प्रलयकालीन निद्राको त्यागकर] फिर ईश्वरका ही आश्रय लेती है उसी प्रकार अनन्यपरायण श्रीअम्बिकादेवीने उस जन्ममें भी अपने एकमात्र आश्रय और प्रियतम भगवान् शंकरको ही वरा ॥ ५९ ॥ हे विदुर ! दक्षयज्ञका विध्वंस करनेवाले भगवान् शंकरका यह चरित्र मैंने बृहस्पतिजीके शिष्य परम भागवत श्रीउद्धवजीसे सुना था ॥ ६० ॥ हे कुरुनन्दन ! श्रीमहादेवजीका यह पवित्र चरित्र यश और आयुको बढ़ानेवाला तथा पापपुञ्जको नष्ट करनेवाला है । जो पुरुष इसका नित्यप्रति भक्तिभावसे श्रवण और कीर्तन करता है उसके सब पाप नष्ट हो जाते हैं ॥ ६१ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे चतुर्थस्कन्धे
दक्षयज्ञसंधानं नाम सप्तमोऽध्यायः ॥७॥

---

१. प्रा० पा०—देहात्मबुद्धिर्भूतानि । २. प्रा० पा०—ण्यादिना । ३. प्रा० पा०—वान् भगवतोऽयजत् । ४. प्रा० पा०—णो ह्यव० । ५. प्रा० पा०—एवं भग० । ६. प्रा० पा०—नित्यमाक० । ७. प्रा० पा०—यज्ञसमुद्भवः सप्त० ।

आठवाँ अध्याय

ध्रुवका वन-गमन।

मैत्रेय उवाच

सनकाद्या नारदश्च ऋभुर्हंसोऽरुणिर्यतिः ।
नैते गृहान्ब्रह्मसुता ह्यावसन्नूर्ध्वरेतसः ॥ १ ॥

मृषाऽधर्मस्य भार्यासीद्दम्भं मायां च शत्रुहन् ।
असूत मिथुनं तत्तु निर्ऋतिर्जगृहेऽप्रजः ॥ २ ॥

तयोः समभवल्लोभो निकृतिश्च महामते ।
ताभ्यां क्रोधश्च हिंसा च यद्दुरुक्तिः स्वसा कलिः ॥ ३ ॥

दुरुक्तौ कलिराधत्त भयं मृत्युं च सत्तम ।
तयोश्च मिथुनं जज्ञे यातना निरयस्तथा ॥ ४ ॥

संग्रहेण मयाख्यातः प्रतिसर्गस्तवानघ ।
त्रिः श्रुत्वैतत्पुमान्पुण्यं विधुनोत्यात्मनो मलम् ॥ ५ ॥

अथातः कीर्तये वंशं पुण्यकीर्तेः कुरूद्वह ।
स्वायम्भुवस्यापि मनोर्हरेरंशांशजन्मनः ॥ ६ ॥

प्रियव्रतोत्तानपादौ शतरूपापतेः सुतौ ।
वासुदेवस्य कलया रक्षायां जगतः स्थितौ ॥ ७ ॥

जाये उत्तानपादस्य सुनीतिः सुरुचिस्तयोः ।
सुरुचिः प्रेयसी पत्युर्नेतरा यत्सुतो ध्रुवः ॥ ८ ॥

एकदा सुरुचेः पुत्रमङ्कमारोप्य लालयन् ।
उत्तमं नारुरुक्षन्तं ध्रुवं राजाभ्यनन्दत ॥ ९ ॥

श्रीमैत्रेयजी बोले—हे विदुर ! सनकादि, नारद, ऋभु, हंस, अरुणि और यति—ब्रह्माजीके इन बाल-ब्रह्मचारी पुत्रोंने गृहस्थाश्रममें प्रवेश नहीं किया ॥ १ ॥ ब्रह्माजीके पुत्र अधर्मकी मृषानाम्नी भार्या थी। हे शत्रुसूदन ! उसके दम्भनामक पुत्र और माया नामकी कन्या हुई। उन दोनोंको निर्ऋति ले गया क्योंकि उसके कोई सन्तान नहीं थी ॥ २ ॥ हे महामते ! [अधर्मकी सन्तान होनेके कारण दम्भ और मायाने भाई-बहिन होनेपर भी परस्पर दाम्पत्यसम्बन्ध स्थापित कर लिया अतः] उनसे लोभ और निकृति (शठता) का जन्म हुआ। उनसे क्रोध और हिंसा तथा उनसे कलि (कलह) और उसकी बहिन दुरुक्ति उत्पन्न हुए ॥ ३ ॥ हे साधुश्रेष्ठ ! फिर दुरुक्तिसे कलिने भय और मृत्युको उत्पन्न किया तथा उन दोनोंके संयोगसे यातना और निरय (नरक) का जन्म हुआ ॥ ४ ॥ हे अनघ ! मैंने तुम्हें संक्षेपसे यह प्रलयका कारणरूप अधर्मका वंश सुनाया, इसे तीन बार सुननेसे मनुष्यको अति पुण्य होता है और उसके चित्तकी मलिनता दूर हो जाती है ॥ ५ ॥ हे कुरुनन्दन ! अब मैं श्रीहरिके अंशके अंशसे उत्पन्न हुए पवित्रकीर्ति महाराज स्वायम्भुव मनुके वंशका वर्णन करता हूँ ॥ ६ ॥

शतरूपापति महाराज स्वायम्भुवके प्रियव्रत और उत्तानपाद ये दो पुत्र थे। ये दोनों भगवान् वासुदेव-की कलासे उत्पन्न होनेके कारण संसारकी रक्षामें तत्पर रहते थे ॥ ७ ॥ उत्तानपादके सुनीति और सुरुचि नामकी दो स्त्रियाँ थीं। उनमेंसे सुरुचि राजाको अधिक प्रिय थी, सुनीतिमें, जिसका पुत्र ध्रुव था, उनका अनुराग नहीं था ॥ ८ ॥

एक दिन राजा उत्तानपाद सुरुचिके पुत्र उत्तमको गोदमें लिये खिला रहे थे। उस समय जब ध्रुवने भी गोदमें बैठना चाहा तो राजाने उसका सत्कार नहीं किया ॥ ९ ॥

१. प्रा० पा०—ह्यव०। २. प्रा० पा०—तत्र।

तथा चिकीर्षमाणं तं सपत्न्यास्तनयं ध्रुवम् ।
सुरुचिः शृण्वतो राज्ञः सेर्ष्यमाहातिगर्विता ॥१०॥
न वत्स नृपतेर्धिष्ण्यं भवानारोढुमर्हति ।
न गृहीतो मया यत्त्वं कुक्षावपि नृपात्मजः ॥११॥
बालोऽसि बत नात्मानमन्यस्त्रीगर्भसम्भृतम्[1] ।
नूनं वेद भवान्यस्य दुर्लभेऽर्थे मनोरथः ॥१२॥
तपसाराध्य पुरुषं तस्यैवानुग्रहेण मे ।
गर्भे त्वं साधयात्मानं यदीच्छसि[2] नृपासनम् ॥१३॥

मैत्रेय उवाच

मातुः सपत्न्याः स दुरुक्तिविद्धः
श्वसन्रुषा दण्डहतो यथाहिः ।
हित्वा मिषन्तं पितरं सन्नवाचं
जगाम मातुः प्ररुदन्सकाशम् ॥१४॥
तं निःश्वसन्तं स्फुरिताधरोष्ठं
सुनीतिरुत्सङ्ग उदूह्य बालम्[3] ।
निशम्य तत्पौरमुखान्नितान्तं
सा विव्यथे यद्गदितं सपत्न्या ॥१५॥
सोत्सृज्य धैर्यं विललाप शोक-
दावाग्निना दावलतेव बाला ।
वाक्यं सपत्न्याः स्मरती सरोज-
श्रिया दृशा बाष्पकलामुवाह ॥१६॥
दीर्घं श्वसन्ती वृजिनस्य पार-
मपश्यती बालकमाह बाला ।
मामङ्गलं तात परेषु मंस्था
भुङ्क्ते जनो यत्परदुःखदस्तत् ॥१७॥
सत्यं सुरुच्याभिहितं भवान्मे
यद्दुर्भगाया उदरे गृहीतः ।
स्तन्येन वृद्धश्च विलज्जते यां
भार्येति वा वोढुमिडस्पतिर्माम् ॥१८॥

तब, अत्यन्त गर्वीली रानी सुरुचिने अपनी सौतके पुत्र ध्रुवको राजाकी गोदमें बैठनेके लिये लालायित देख राजाके सामने ही उससे ईर्ष्यापूर्वक इस प्रकार कहा—॥१०॥ 'वत्स ! तू राजसिंहासनपर चढ़नेका अधिकारी नहीं है, क्योंकि राजपुत्र होनेपर भी तुझे मैंने अपनी कोखमें धारण नहीं किया ॥११॥ तू अभी बालक है, तुझे मालूम नहीं कि तूने किसी और स्त्रीके गर्भसे जन्म लिया है; इसीलिये तू ऐसा दुर्लभ मनोरथ कर रहा है ॥१२॥ यदि तुझे राज-सिंहासनकी इच्छा है तो तू तप करके परमपुरुष श्रीनारायणकी उपासना कर और उनकी कृपासे मेरे गर्भसे जन्म ले' ॥१३॥

मैत्रेयजी बोले—इस प्रकार माताकी सौतके दुर्वचनों-से विद्ध होकर दण्डाहत सर्पके समान क्रोधसे दीर्घ निःश्वास लेता हुआ बालक ध्रुव पिताको चुपचाप सोच-विचारमें पड़ा छोड़ अपनी माताके पास रोता हुआ आया ॥१४॥ बालक ध्रुवके ओठ फड़क रहे थे और वह सुबक-सुबककर रो रहा था । माता सुनीतिने उसे गोदमें उठा लिया, और नगरनिवासियोंके मुखसे अपनी सौतके कथनको सुनकर उन्हें अत्यन्त पीडा हुई ॥१५॥ सौतके वचनोंको याद कर-कर सुनीति दावा-नलसे दग्ध हुई लताके समान शोकसे सन्तप्त हो मुरझा गयी, उसके कमलसदृश नयनोंसे आँसुओंकी धारा बह चली और वह अधीर होकर विलाप करने लगी ॥१६॥ उस बेचारीको अपने दुःखपारावारका कोई पार न दीख पड़ा और उसने दीर्घ निःश्वास छोड़ते हुए बालक ध्रुवसे कहा—'बेटा ! तू दूसरोंके लिये किसी प्रकारके अमंगलकी कामना मत कर, क्योंकि जो मनुष्य दूसरों-को दुःख देता है उसे स्वयं ही उसका फल भोगना पड़ता है ॥१७॥ सुरुचिने जो कुछ कहा है वह ठीक ही है, क्योंकि जिसे महाराज अपनी 'भार्या या दासी' स्वीकार करनेमें भी लज्जित होते हैं तूने उसी मुझ मन्दभागिनीके गर्भसे जन्म लिया है और उसीके स्तनोंका दूध पीकर तू इतना बड़ा हुआ है ॥१८॥

१. प्रा० पा०—सम्भवम् । २. प्रा० पा०—यदीच्छास्ति नृपासने । ३. प्रा० पा०—सुतं निजोत्सङ्गमुदूह्य ।

आतिष्ठ तत्तात विमत्सरस्त्व-
मुक्तं समात्रापि यदव्यलीकम् ।
आराधयाधोक्षजपादपद्मं
यदीच्छसेऽध्यासनमुत्तमो यथा ॥१९॥
यस्याङ्घ्रिपद्मं परिचर्य विश्व-
विभावनायात्तगुणाभिपत्तेः ।
अजोऽध्यतिष्ठत्खलु पारमेष्ठ्यं
पदं जितात्मश्वसनाभिवन्द्यम् ॥२०॥
तथा मनुर्वो भगवान्पितामहो
यमेकमत्या पुरुदक्षिणैर्मखैः ।
इष्ट्वाभिपेदे दुरवापमन्यतो
भौमं सुखं दिव्यमथापवर्ग्यम् ॥२१॥
तमेव वत्साश्रय भृत्यवत्सलं
मुमुक्षुभिर्मृग्यपदाब्जपद्धतिम् ।
अनन्यभावे निजधर्मभाविते
मनस्यवस्थाप्य भजस्व पूरुषम् ॥२२॥
नान्यं ततः पद्मपलाशलोचना-
द्दुःखच्छिदं ते मृगयामि कञ्चन ।
यो मृग्यते हस्तगृहीतपद्मया
श्रियेतरैरङ्ग विमृग्यमाणया ॥२३॥

हे तात ! जो तुझे उत्तमके समान राजसिंहासनपर बैठनेकी इच्छा है तो तेरी सौतेली माताने जो यथार्थ बात कही है उसीका द्वेषभाव छोड़कर पालन कर और श्रीअधोक्षज भगवान्‌के चरणकमलोंकी आराधना कर ॥१९॥ देख, जगत्‌का पालन करनेके लिये शुद्ध सत्त्वगुणमय शरीर धारण करनेवाले उन श्रीहरिके चरणकमलोंकी आराधना करनेसे श्रीब्रह्माजीको भी वह सर्वोत्तम पद प्राप्त हुआ है जिसकी मन और प्राणोंको जीतनेवाले मुनिजन भी वन्दना करते हैं ॥२०॥ और तुम्हारे दादा स्वायम्भुव मनुने भी एकाग्रचित्तसे उनका बहुत-सी दक्षिणावाले यज्ञोंद्वारा यजन करके दूसरोंके लिये दुष्प्राप्य भौम, दिव्य तथा मोक्ष—इन तीनों प्रकारके सुखोंको प्राप्त किया था ॥२१॥ अतः हे वत्स ! मुमुक्षुजन जिनके चरणकमलोंके मार्गकी निरन्तर खोज किया करते हैं तू भी उन्हीं भक्तवत्सल भगवान् हरिकी शरणमें जा, और स्वधर्मपालनसे पवित्र हुए अपने अनन्य भावनामय चित्तमें उन पुरुषोत्तमको विराजमान करके उन्हींका चिन्तन कर ॥२२॥ हे पुत्र ! मुझे तो उन कमलदललोचन भगवान् हरिको छोड़कर और कोई भी तेरे दुःखको दूर करनेवाला दिखायी नहीं देता जिन्हें अन्य ब्रह्मादिकसे ढूँढ़ी जानेवाली श्रीलक्ष्मीजी भी हाथमें कमल लिये हुए निरन्तर खोजा करती हैं' ॥२३॥

[1]मैत्रेय उवाच

एवं स[2]ञ्जल्पितं मातुराकर्ण्यार्थागमं वचः ।
सन्नियम्यात्मनात्मानं निश्चक्राम पितुः पुरात् ॥२४॥
नारदस्तदुपाकर्ण्य ज्ञात्वा तस्य चिकीर्षितम् ।
स्पृष्ट्वा मूर्धन्यघघ्नेन पाणिना प्राह विस्मितः ॥२५॥
अहो तेजः क्षत्रियाणां मानभङ्गममृष्यताम् ।
बालोऽप्ययं हृदा धत्ते यत्समातुरसद्वचः ॥२६॥
नाधुनाप्यवमानं ते सम्मानं वापि पुत्रक ।

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—हे विदुर ! इस प्रकार अपनी कामनाको पूर्ण करनेवाले माताके वचन सुनकर ध्रुवने अपनी बुद्धिद्वारा अपने चित्तको शान्त किया और पिताके नगरसे निकलकर बाहर आये ॥२४॥ यह सब समाचार सुनकर और 'ध्रुव क्या करना चाहते हैं' यह जानकर देवर्षिनारद वहाँ आये और उनके शिरपर अपना पाप-नाशक करकमल फेरते हुए [मन-ही-मन] कहने लगे—॥२५॥ 'अहो ! मानभंगको सहन न करनेवाले इन क्षत्रियोंका कैसा अद्भुत तेज है ? देखो, यह ध्रुव अभी बालक है तो भी इसे अपनी सौतेली माताके कटु-वचन नहीं भूलते' ॥२६॥ [फिर ध्रुवसे बोले] 'बेटा ! अभी तू खेल-कूदमें मस्त रहनेवाला

१. प्राचीन प्रतिमें 'मैत्रेय उवाच' नहीं है । २. प्रा० पा०—संक० ।

लक्षयामः कुमारस्य सक्तस्य क्रीडनादिषु ॥२७॥
विकल्पे विद्यमानेऽपि न ह्यसंतोषहेतवः ।
पुंसो मोहमृते भिन्ना यल्लोके निजकर्मभिः ॥२८॥
परितुष्येत्ततस्तात तावन्मात्रेण पूरुषः ।
दैवोपसादितं यावद्वीक्ष्येश्वरगतिं बुधः ॥२९॥
अथ मात्रोपदिष्टेन योगेनावरुरुत्ससि ।
यत्प्रसादं स वै पुंसां दुराराध्यो मतो मम ॥३०॥
मुनयः पदवीं यस्य निःसङ्गेनोरुजन्मभिः ।
न विदुर्मृगयन्तोऽपि तीव्रयोगसमाधिना ॥३१॥
अतो निवर्ततामेष निर्बन्धस्तव निष्फलः ।
यतिष्यति भवान्काले श्रेयसां समुपस्थिते ॥३२॥
यस्य यद्दैवविहितं स तेन सुखदुःखयोः ।
आत्मानं तोषयन्देही तमसः पारमृच्छति ॥३३॥
गुणाधिकान्मुदं लिप्सेदनुक्रोशं गुणाधमात् ।
मैत्रीं समानादन्विच्छेन्न तापैरभिभूयते ॥३४॥

ध्रुव उवाच

सोऽयं शमो भगवता सुखदुःखहतात्मनाम् ।
दर्शितः कृपया पुंसां दुर्दर्शोऽस्मद्विधैस्तु यः ॥३५॥
अथापि मेऽविनीतस्य क्षात्त्रं घोरमुपेयुषः ।
सुरुच्या दुर्वचोबाणैर्न भिन्ने श्रयते हृदि ॥३६॥

बालक है; अभी हमें किसी बातसे तेरा अपमान या सम्मान होता नहीं मालूम होता ॥२७॥ यदि तुझे मानापमानका विचार हो तो भी मनुष्यके असन्तोषका कारण तो मोहके सिवा और कुछ नहीं है, क्योंकि मनुष्य अपने कर्मानुसार लोकमें मान-अपमान या सुख-दुःख आदि भिन्न-भिन्न अवस्थाओंके वशीभूत होता रहता है ॥२८॥ अतः हे तात ! बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि भगवान्‌की विचित्र गति देखकर दैववश उसे [सुख-दुःख या आदर-अनादर] जो कुछ भी प्राप्त हो उसीमें सन्तुष्ट रहे ॥२९॥ अब तू माताके उपदेशसे योग-साधनद्वारा जिसे प्रसन्न करना चाहता है मेरे विचारसे [अजितेन्द्रिय] पुरुषोंके लिये उस परमात्माकी आराधना करना बहुत कठिन है ॥३०॥ क्योंकि उसके स्वरूपको तो योगीजन भी अनेकों जन्मतक असंग रहकर सुदृढ़ समाधियोगके द्वारा खोजते रहनेपर भी नहीं पा सके ॥ ३१ ॥ इसलिये तू अपने घरको लौट जा, तेरा यह हठ निष्फल है; जब तेरा परमार्थसाधनका समय (वृद्धावस्था) आवे तब यह सब प्रयत्न कर लेना ॥ ३२ ॥ 'दैवने जिसके लिये जैसा विधान किया है उसके अनुसार ही वह सुख-दुःख भोगता है' इस विचारसे अपने अन्तःकरणको सन्तुष्ट रखनेवाला पुरुष अज्ञानसे पार हो जाता है ॥ ३३ ॥ मनुष्यको चाहिये कि अपनेसे अधिक गुणवान्‌को देखकर प्रसन्न हो, गुणमें अपनेसे अधमको देखकर दया करे और जो अपने समान गुणी हो उससे मित्रताका भाव रक्खे। ऐसा करनेसे वह कभी सन्तप्त नहीं होता ॥३४॥

ध्रुवने कहा—भगवन् ! सुख-दुःखके अधीन रहनेवाले पुरुषोंके लिये आपने कृपापूर्वक वह शान्तिका उपाय बतलाया है जहाँ हम-जैसे अज्ञानी पुरुषोंकी दृष्टि कठिनतासे पहुँच सकती है ॥ ३५ ॥ [यद्यपि आपका उपदेश मेरे लिये अत्यन्त कल्याणकारी है] तो भी अति घोर क्षत्रियस्वभावके वशीभूत हुए मुझ दुर्विनीतके हृदयमें वह नहीं टिकता; क्योंकि मेरा चित्त सुरुचिके वाग्बाणोंसे विंधा हुआ है ॥ ३६ ॥

पदं त्रिभुवनोत्कृष्टं जिगीषोः साधु वर्त्म मे ।
ब्रूह्यस्मत्पितृभिर्ब्रह्मन्नन्यैरप्यनधिष्ठितम् ॥३७॥
नूनं भवान्भगवतो योऽङ्गजः परमेष्ठिनः ।
वितुदन्नटते वीणां हितार्थं जगतोऽर्कवत् ॥३८॥

मैत्रेय उवाच

इत्युदाहृतमाकर्ण्य भगवान्नारदस्तदा ।
प्रीतः प्रत्याह तं बालं सद्वाक्यमनुकम्पया ॥३९॥

नारद उवाच

जनन्याभिहितः पन्थाः स वै निःश्रेयसस्य ते ।
भगवान्वासुदेवस्तं भज तत्प्रवणात्मना ॥४०॥
धर्मार्थकाममोक्षाख्यं य इच्छेच्छ्रेय आत्मनः ।
एकमेव हरेस्तत्र कारणं पादसेवनम् ॥४१॥
तत्तात गच्छ भद्रं ते यमुनायास्तटं शुचि ।
पुण्यं मधुवनं यत्र सान्निध्यं नित्यदा हरेः ॥४२॥
स्नात्वानुसवनं तस्मिन्कालिन्द्याः सलिले शिवे ।
कृत्वोचितानि निवसन्नात्मनः कल्पितासनः ॥४३॥
प्राणायामेन त्रिवृता प्राणेन्द्रियमनोमलम् ।
शनैर्व्युदस्याभिध्यायेन्मनसा गुरुणा गुरुम् ॥४४॥
प्रसादाभिमुखं शश्वत्प्रसन्नवदनेक्षणम् ।
सुनासं सुभ्रुवं चारुकपोलं सुरसुन्दरम् ॥४५॥
तरुणं रमणीयाङ्गमरुणोष्ठेक्षणाधरम् ।
प्रणताश्रयणं नृम्णं शरण्यं करुणार्णवम् ॥४६॥

ब्रह्मन् ! मैं उस पदको प्राप्त करना चाहता हूँ जिसपर मेरे बाप-दादे भी नहीं पहुँचे; अतः आप मुझे त्रिलोकीमें उस सर्वश्रेष्ठ पदकी प्राप्तिका उत्तम मार्ग बतलाइये ॥ ३७ ॥ आप भगवान् ब्रह्माजीके पुत्र हैं; आप निश्चय ही सूर्यके समान संसारका कल्याण करनेके लिये वीणा बजाते हुए त्रिलोकीमें विचरा करते हैं ॥ ३८ ॥

मैत्रेयजी कहते हैं—ध्रुवका यह कथन सुन भगवान् नारदजी अति प्रसन्न हुए और उस बालकसे कृपापूर्वक इस प्रकार उत्तम वचन बोले ॥ ३९ ॥

नारदजीने कहा—बेटा ! तेरी माताने तुझे जिस मार्गका उपदेश दिया है वही तेरा कल्याण करनेवाला है । तू भगवान् वासुदेवका, उन्हींमें चित्त लगाकर भजन कर ॥ ४० ॥ जो पुरुष धर्म, अर्थ, काम और मोक्षरूप अपने कल्याणका इच्छुक हो उसे उनकी प्राप्तिका कारण एकमात्र श्रीहरिका पादसेवन ही है ॥ ४१ ॥ अतः हे प्रिय ! तेरा कल्याण हो, तू श्रीयमुनाजीके पवित्र तटपर परम पुनीत मधुवनको जा, जहाँ श्रीहरिकी निरन्तर सन्निधि रहती है ॥ ४२ ॥ वहाँ श्रीकालिन्दीके मंगलमय जलमें त्रिकाल स्नानकर अपने नित्यकर्मोंसे निवृत्त हो स्थिर आसनसे बैठना ॥ ४३ ॥ फिर रेचक, कुम्भक और पूरक इस तीन प्रकारके प्राणायामसे अपने प्राण, इन्द्रिय और मनके मलको धीरे-धीरे निकालकर शुद्ध चित्तसे परम गुरु भगवान् वासुदेवका इस प्रकार ध्यान करना—॥४४॥ भगवान्के मुख और नेत्र सदा ही अति प्रसन्न हैं, उन्हें देखनेसे मालूम होता है मानो वे वर देनेके लिये प्रस्तुत हैं, उनकी नासिका, भृकुटि और कपोल बड़े ही सुहावने हैं तथा वे सभी देवताओंमें परम सुन्दर हैं ॥ ४५ ॥ उनकी तरुण अवस्था है, सभी अंग बड़े सुडौल हैं, तथा ओष्ठ, नेत्र और अधर अरुणवर्ण हैं; वे प्रणतजनोंको आश्रय देनेवाले अति सुखदायक, शरणागतवत्सल और करुणाके समुद्र हैं ॥ ४६ ॥

१. प्रा० पा०—हिताय । २. प्राचीन प्रतिमें 'मैत्रेय उवाच' से लेकर 'मनुकम्पया' तकका मैटर मूलमें नहीं, टिप्पणीमें है । ३. प्रा० पा०—सम्यक्प्र० ।

श्रीवत्साङ्कं घनश्यामं पुरुषं वनमालिनम् ।
शङ्खचक्रगदापद्मैरभिव्यक्तचतुर्भुजम् ॥४७॥
किरीटिनं कुण्डलिनं केयूरवलयान्वितम् ।
कौस्तुभाभरणग्रीवं पीतकौशेयवाससम् ॥४८॥
काञ्चीकलापपर्यस्तं लसत्काञ्चननूपुरम् ।
दर्शनीयतमं शान्तं मनोनयनवर्धनम् ॥४९॥
पद्भ्यां नखमणिश्रेण्या विलसद्भ्यां समर्चताम्[1] ।
हृत्पद्मकर्णिकाधिष्ण्यमाक्रम्यात्मन्यवस्थितम् ॥५०॥
स्मयमानमभिध्यायेत्सानुरागावलोकनम् ।
नियतेनैकभूतेन मनसा वरदर्षभम् ॥५१॥
एवं भगवतो रूपं सुभद्रं ध्यायतो मनः ।
निर्वृत्या परया तूर्णं सम्पन्नं न निवर्तते ॥५२॥
जप्यश्च परमो गुह्यः श्रूयतां मे नृपात्मज ।
यं सप्तरात्रं प्रपठन्पुमान्पश्यति खेचरान् ॥५३॥
"ओं नमो भगवते वासुदेवाय ।"
मन्त्रेणानेन देवस्य कुर्याद्द्रव्यमयीं बुधः ।
सपर्यां विविधैर्द्रव्यैर्देशकालविभागवित् ॥५४॥
सलिलैः शुचिभिर्माल्यैर्वन्यैर्मूलफलादिभिः ।
शस्ताङ्कुरांशुकैश्चार्चेत्तुलस्या प्रियया प्रभुम् ॥५५॥
लब्ध्वा द्रव्यमयीमर्चां क्षित्यम्ब्वादिषु वार्चयेत् ।

उन पुरुषोत्तमके वक्षःस्थलमें श्रीवत्सचिह्न है, उनका शरीर सजल जलधरके समान श्यामवर्ण है, गलेमें वनमाला सुशोभित है और वे अपनी चार भुजाओंमें शंख, चक्र, गदा एवं पद्म लिये हुए हैं ॥ ४७ ॥ वे किरीट, कुण्डल, केयूर और कंकणादि आभूषणोंसे विभूषित हैं, उनके गलेमें कौस्तुभमणिकी अपूर्व आभा है और वे रेशमी पीताम्बर पहने हुए हैं ॥ ४८ ॥ उनके कटिप्रदेशमें कञ्चनकी करधनी और चरणोंमें सुवर्णमय नूपुर सुशोभित हैं । उनका स्वरूप बड़ा ही दर्शनीय, शान्त तथा मन और नयनोंको आनन्दित करनेवाला है ॥ ४९ ॥ और वे मणियोंके समान कान्तिमान् नखोंसे सुशोभित तथा भक्तजनोंद्वारा भली प्रकार पूजा किये गये अपने चरणकमलोंसे हृदयपद्मरूप सिंहासनपर आरूढ़ होकर सबके अन्तःकरणोंमें विराजमान हैं ॥ ५० ॥ इस प्रकार उन वरदायकोंमें श्रेष्ठ प्रभुका वशमें किये हुए एकाग्रचित्तसे ध्यान करे मानो वे मेरी ओर प्रेमपूर्वक निहारते हुए मन्द-मन्द मुसका रहे हैं ॥ ५१ ॥ भगवान्‌की मंगलमयी मूर्तिका इस प्रकार निरन्तर ध्यान करते-करते मन शीघ्र ही परमानन्दमें डूबकर तल्लीन हो जाता है और फिर वहाँसे नहीं लौटता ॥ ५२ ॥ हे राजपुत्र ! इसके साथ-साथ जिस परम गुह्य मन्त्रका जप करना आवश्यक है वह भी बतलाता हूँ, सुन ! इसका सात रात्रि जप करनेसे मनुष्य आकाशमें विचरनेवाले सिद्धगणका दर्शन कर सकता है ॥ ५३ ॥ वह मन्त्र 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय' है । देश-कालके विभागको जाननेवाले बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि इस मन्त्रद्वारा भगवान्‌की नाना सामग्रियोंसे पूजा करे ॥ ५४ ॥ साधकको चाहिये कि पवित्र जल, माला, जंगली मूल और फलादि, सुन्दर पत्र और पुष्प तथा भगवान्‌को अतिशय प्रिय तुलसी आदिसे प्रभुकी पूजा करे ॥ ५५ ॥ यदि शिला आदिकी मूर्ति मिल सके तो उसमें, नहीं तो पृथिवी या जल आदिमें ही भगवान्‌की सब सामग्रियोंसे पूजा करे । साधकको चाहिये कि संयतचित्त,

१. प्रा० पा०—समर्चितम् ।

आभृतात्मा मुनिः शान्तो यतवाङ्मितवन्यभुक् ५६
स्वेच्छावतारचरितैरचिन्त्यनिजमायया ।
करिष्यत्युत्तमश्लोकस्तद्ध्यायेद्धृदयङ्गमम् ॥५७॥
परिचर्या भगवतो यावत्यः पूर्वसेविताः ।
ता मन्त्रहृदयेनैव प्रयुञ्ज्यान्मन्त्रमूर्तये ॥५८॥
एवं कायेन मनसा वचसा च मनोगतम् ।
परिचर्यमाणो भगवान्भक्तिमत्परिचर्यया ॥५९॥
पुंसाममायिनां सम्यग्भजतां भाववर्धनः ।
श्रेयो दिशत्यभिमतं यद्धर्मादिषु देहिनाम् ॥६०॥
विरक्तश्चेन्द्रियरतौ भक्तियोगेन भूयसा ।
तं निरन्तरभावेन भजेताद्धा विमुक्तये ॥६१॥

मननशील, शान्त, मौन तथा जंगली फल-फूलादिका स्वल्प आहार करनेवाला हो ॥ ५६ ॥ भगवान् उत्तमश्लोक अपनी अनिर्वचनीया मायाको स्वीकारकर अपनी ही इच्छासे अवतार ले जो मनोहर चरित्र करेंगे उनका मन-ही-मन चिन्तन करता रहे ॥ ५७ ॥ भगवान्की पूजाके लिये जिन-जिन उपचारोंका सेवन करना पहले बतलाया गया है उन्हें मन्त्रमूर्ति भगवान्को द्वादशाक्षर मन्त्रद्वारा ही समर्पण करे ॥ ५८ ॥ इस प्रकार मन, वाणी और शरीरसे भक्तिपूर्वक विविध सामग्रियोंद्वारा मनमें स्थित भगवान्की पूजा की जानेपर भावके बढ़ानेवाले श्रीभगवान् निष्कपटभावसे भली प्रकार भजनेवाले पुरुषोंको उनकी इच्छानुसार धर्म, अर्थ, काम और मोक्षरूप श्रेय प्रदान करते हैं ॥ ५९-६० ॥ यदि उपासकको इन्द्रियसम्बन्धी भोगोंकी इच्छा न हो तो वह मोक्षप्राप्तिके लिये अतिशय भक्तियोगके द्वारा निरन्तर अनन्यभावसे भगवान्का भजन करे ॥ ६१ ॥

इत्युक्तस्तं परिक्रम्य प्रणम्य च नृपार्भकः ।
ययौ मधुवनं पुण्यं हरेश्चरणचर्चितम् ॥६२॥
तपोवनं गते तस्मिन्प्रविष्टोऽन्तःपुरं मुनिः ।
अर्हितार्हणको राज्ञा सुखासीन उवाच तम् ॥६३॥

नारदजीके इस प्रकार उपदेश करनेपर राजकुमार ध्रुवने नारदजीकी परिक्रमाकर उन्हें प्रणाम किया और श्रीहरिके चरणचिह्नोंसे पवित्र मधुवनको गये ॥ ६२ ॥ ध्रुवके तपोवनको चले जानेपर श्रीनारदजी राजा उत्तानपादके अन्तःपुरमें पहुँचे, और राजाद्वारा यथायोग्य पूजित हो सुखपूर्वक आसनपर बैठकर उनसे कहने लगे ॥ ६३ ॥

नारद उवाच

राजन्किं ध्यायसे दीर्घं मुखेन परिशुष्यता ।
किं वा न रिष्यते कामो धर्मो वार्थेन संयुतः ॥६४॥

नारदजीने कहा—राजन् ! तुम्हारा मुख सूख गया है, तुम किस सोच-विचारमें पड़े हुए हो ? तुम्हारा अर्थके सहित धर्म अथवा कामरूपी पुरुषार्थ नष्ट तो नहीं हो रहा है ? ॥ ६४ ॥

राजोवाच

सुतो मे बालको ब्रह्मन् स्त्रैणेनाकरुणात्मना ।
निर्वासितः पञ्चवर्षः सह मात्रा महान्कविः ॥६५॥
अप्यनाथं वने ब्रह्मन्मास्मादन्त्यर्भकं वृकाः ।
श्रान्तं शयानं क्षुधितं परिम्लानमुखाम्बुजम् ॥६६॥

राजाने कहा—ब्रह्मन् ! मैं बड़ा ही स्त्रीजित् और करुणाहीन हूँ । हाय ! मैंने अपना परम चतुर पाँच वर्षका बालक उसकी माताके सहित घरसे निकाल दिया ॥ ६५ ॥ भगवन् ! मार्गमें थकनेके कारण मलिन मुखकमलसे भूखे-प्यासे सोये हुए उस अनाथ बालकको वनमें भेड़िये तो नहीं खा जायँगे ॥ ६६ ॥

१ प्रा० पा०—दयं गतम् । २. प्रा० पा०—अर्हितोऽर्हणया । ३. प्रा० पा०—न खादन्त्यर्भकं ।

अहो मे बत दौरात्म्यं स्त्रीजितस्योपधारय ।
योऽङ्कं प्रेम्णारुरुक्षन्तं नाभ्यनन्दमसत्तमः ॥६७॥

नारद उवाच

मा[1] मा शुचः स्वतनयं देवगुप्तं विशाम्पते ।
तत्प्रभावमविज्ञाय प्रावृङ्क्ते यद्यशो जगत् ॥६८॥
सुदुष्करं[2] कर्म कृत्वा लोकपालैरपि प्रभुः ।
एष्यत्यचिरतो राजन्यशो विपुलयंस्तव ॥६९॥

मैत्रेय[3] उवाच

इति देवर्षिणा प्रोक्तं विश्रुत्य जगतीपतिः ।
राजलक्ष्मीमनादृत्य पुत्रमेवान्वचिन्तयत् ॥७०॥
तत्राभिषिक्तः प्रयतस्तामुपोष्य विभावरीम् ।
समाहितः पर्यचरदृष्यादेशेन पूरुषम् ॥७१॥
त्रिरात्रान्ते त्रिरात्रान्ते कपित्थबदराशनः ।
आत्मवृत्त्यनुसारेण मासं निन्येऽर्चयन्हरिम् ॥७२॥
द्वितीयं च तथा मासं षष्ठे षष्ठेऽर्भको दिने ।
तृणपर्णादिभिः[4] शीर्णैः कृतान्नोऽभ्यर्चयद्विभुम् ॥७३॥
तृतीयं चानयन्मासं नवमे नवमेऽहनि ।
अब्भक्ष उत्तमश्लोकमुपाधावत्समाधिना ॥७४॥
चतुर्थमपि वै मासं द्वादशे द्वादशेऽहनि ।
वायुभक्षो जितश्वासो ध्यायन्देवमधारयत् ॥७५॥
पञ्चमे मास्यनुप्राप्ते जितश्वासो नृपात्मजः ।
ध्यायन्ब्रह्म पदैकेन तस्थौ स्थाणुरिवाचलः ॥७६॥
सर्वतो मन आकृष्य हृदि भूतेन्द्रियाशयम् ।
ध्यायन्भगवतो रूपं नाद्राक्षीत्किञ्चनापरम् ॥७७॥

अहो ! मुझ स्त्रीपरवशकी दुरात्मता तो देखो; वह बालक प्रेमवश मेरी गोदमें चढ़ना चाहता था किन्तु मुझ पापीने उसका तनिक भी मन नहीं रक्खा ॥ ६७ ॥

श्रीनारदजी बोले—राजन् ! तुम अपने बालककी चिन्ता मत करो, उसका रक्षक भगवान् हैं, तुम्हें उसके प्रभावका पता नहीं है, उसका यश सम्पूर्ण जगत्में फैल जायगा ॥ ६८ ॥ वह परम समर्थ बालक लोकपालोंद्वारा भी अत्यन्त कठिनतासे किये जाने योग्य कर्म करके शीघ्र ही तुम्हारे पास लौट आवेगा । उसके कारण तुम्हारा यश भी बहुत बढ़ेगा ॥ ६९ ॥

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—हे विदुर ! देवर्षि नारदका कथन सुनकर राजराजेश्वर महाराज उत्तानपाद राजलक्ष्मीका अनादरकर अहर्निश अपने पुत्रकी ही चिन्तामें रहने लगे ॥ ७० ॥ इधर ध्रुवजीने भी मधुवनमें पहुँचकर स्नान किया और उस रात उपवास करके श्रीनारदजीके उपदेशानुसार एकाग्रचित्तसे परमपुरुष श्रीनारायणकी उपासना करने लगे ॥ ७१ ॥ ध्रुवजीने तीसरे-तीसरे दिन केवल शरीरनिर्वाहके लिये कैथे और बेरके फल खाकर भगवान्की उपासना करते हुए एक मास व्यतीत किया ॥ ७२ ॥ दूसरे महीनेमें उसने छः-छः दिन पश्चात् सूखकर अपने-आप झड़े हुए तृण और पत्तोंका आहार करते हुए श्रीहरिकी आराधना की ॥ ७३ ॥ तीसरा महीना नौ-नौ दिनपर केवल जल पीकर समाधियोगद्वारा श्रीहरिकी उपासना करते हुए व्यतीत किया ॥ ७४ ॥ चौथे महीनेमें उन्होंने श्वासको जीतकर बारह-बारह दिन पश्चात् केवल वायु भक्षण करते हुए ध्यानयोगद्वारा भगवान्की पूजा की ॥ ७५ ॥ पाँचवाँ मास लगनेपर वे राजकुमार श्वासको जीतकर परब्रह्मका चिन्तन करते हुए एक पाँवसे खम्भेके समान निश्चल भावसे खड़े रह गये ॥ ७६ ॥ उस समय ध्रुवजी अपना चित्त सब ओरसे हटाकर मन-ही-मन सम्पूर्ण भूत और इन्द्रियोंके आश्रयस्थान श्रीहरिके स्वरूपका ध्यान करने लगे, इस लिये उन्हें भगवान्के सिवा और कुछ भी नहीं दीखता था ॥ ७७ ॥

१. प्रा० पा०—मा शुचस्त्वं स्वतन० । २. प्रा० पा०—स कृत्वा दुष्करं कर्म । ३. प्राचीन प्रतिमें 'मैत्रेय उवाच' नहीं है । ४. प्रा० पा०—दिभिर्जीर्णैः ।

आधारं महदादीनां प्रधानपुरुषेश्वरम् ।
ब्रह्म धारयमाणस्य त्रयो लोकाश्चकम्पिरे ॥७८॥

यदैकपादेन स पार्थिवार्भक-
स्तस्थौ तदङ्गुष्ठनिपीडिता मही ।
ननाम तत्रार्धमिभेन्द्रधिष्ठिता
तरीव सव्येतरतः पदे पदे ॥७९॥

तस्मिन्नभिध्यायति विश्वमात्मनो
द्वारं निरुध्यासुमनन्यया धिया ।
लोका निरुच्छ्वासनिपीडिता भृशं
सलोकपालाः शरणं ययुर्हरिम् ॥८०॥

जिस समय ध्रुवने महदादि सम्पूर्ण तत्त्वोंके आधार तथा प्रकृति और पुरुषके भी अधीश्वर परब्रह्मको हृदयमें धारण किया उस समय तीनों लोक काँपने लगे ॥ ७८ ॥ जब वे राजकुमार अपने एक पैरसे खड़े हुए तब उनके अँगूठेसे दबकर आधी पृथिवी झुक गयी जैसे गजराजके चढ़नेपर नौका पद-पदपर दायीं-बायीं ओर डगमगाती रहती है ॥ ७९ ॥ ध्रुवजी अपने इन्द्रियद्वार और प्राणोंको रोककर अनन्यबुद्धिसे विश्वात्मा श्रीहरिका चिन्तन करने लगे । इससे सम्पूर्ण जीवोंका श्वास-प्रश्वास रुक गया । तब लोकपालोंके सहित सब जीव अति पीड़ित होकर विष्णु भगवान्‌की शरणमें गये ॥ ८० ॥

देवा ऊचुः

नैवं विदामो भगवन्प्राणरोधं
चराचरस्याखिलसत्त्वधाम्नः ।
विधेहि तन्नो वृजिनाद्विमोक्षं
प्राप्ता वयं त्वां शरणं शरण्यम् ॥८१॥

देवताओंने कहा—भगवन् ! सम्पूर्ण लोकोंमें रहनेवाले चराचर प्राणियोंका श्वास-प्रश्वास रुक गया है—इसका क्या कारण है, सो हम नहीं जानते । आप शरणागतोंकी रक्षा करनेवाले हैं; अतः अपनी शरणमें आये हुए हमलोगोंको इस दुःखसे छुड़ाइये ॥ ८१ ॥

श्रीभगवानुवाच[1]

मा भैष्ट बालं तपसो दुरत्यया-
न्निवर्तयिष्ये प्रतियात स्वधाम ।
यतो हि वः प्राणनिरोध आसी-
दौत्तानपादिर्मयि संगतात्मा ॥८२॥

श्रीभगवान् बोले—देवगण ! तुम डरो मत । उत्तानपादके पुत्र ध्रुवने अपने चित्तको मुझमें लीन कर दिया है [इस समय वह मुझमें तल्लीन हो गया है] इसीलिये उसके प्राणनिरोधसे सम्पूर्ण विश्वका प्राण रुका हुआ है । तुम लोग अपने-अपने लोकोंको जाओ, मैं उस बालकको अभी उसकी दुष्कर तपस्यासे निवृत्त किये देता हूँ ॥ ८२ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे चतुर्थस्कन्धे
ध्रुवचरितेऽष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

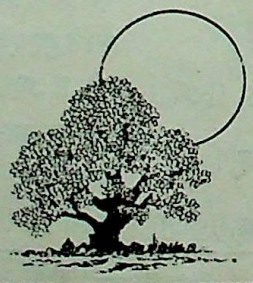

१. प्राचीन प्रतिमें 'श्रीभगवानुवाच' पाठ नहीं है ।

नवाँ अध्याय

ध्रुवका वर पाकर घर लौटना।

मैत्रेय उवाच

त एवमुत्सन्नभया उरुक्रमे
कृतावनामाः प्रययुस्त्रिविष्टपम्।
सहस्रशीर्षापि ततो गरुत्मता
मधोर्वनं भृत्यदिदृक्षया गतः॥ १॥

स वै धिया योगविपाकतीव्रया
हृत्पद्मकोशे स्फुरितं तडित्प्रभम्।
तिरोहितं सहसैवोपलक्ष्य
बहिःस्थितं तदवस्थं ददर्श॥ २॥

तद्दर्शनेनागतसाध्वसः क्षिता-
ववन्दताङ्गं विनमय्य दण्डवत्।
दृग्भ्यां प्रपश्यन्प्रपिबन्निवार्भक-
श्चुम्बन्निवास्येन भुजैरिवाश्लिषन्॥ ३॥

स तं विवक्षन्तमतद्विदं हरि-
र्ज्ञात्वास्य सर्वस्य च हृद्यवस्थितः।
कृताञ्जलिं ब्रह्ममयेन कम्बुना
पस्पर्श बालं कृपया कपोले॥ ४॥

स वै तदैव प्रतिपादितां गिरं
दैवीं परिज्ञातपरात्मनिर्णयः।
तं भक्तिभावोऽभ्यगृणादसत्वरं
परिश्रुतोरुश्रवसं ध्रुवक्षितिः[1]॥ ५॥

ध्रुव उवाच

योऽन्तः प्रविश्य मम वाचमिमां प्रसुप्तां
सञ्जीवयत्यखिलशक्तिधरः स्वधाम्ना।
अन्यांश्च हस्तचरणश्रवणत्वगादी-
न्प्राणान्नमो भगवते पुरुषाय तुभ्यम्॥ ६॥

एकस्त्वमेव भगवन्निदमात्मशक्त्या

श्रीमैत्रेयजी बोले—हे विदुर! इस प्रकार भगवान्‌के कहनेसे निर्भय हो देवगण उन्हें प्रणाम करके स्वर्गलोकको चले गये। तदनन्तर सहस्र शिरवाले भगवान् भी गरुड़पर चढ़कर अपने भक्तको देखनेके लिये मधुवनको चले॥ १॥ ध्रुवजी तीव्र योगाभ्यासके कारण एकाग्र हुई अपनी बुद्धिसे अपने हृदयरूपी कमलकोशमें भगवान्‌की जिस विद्युत्‌के समान देदीप्यमान मूर्तिका ध्यान कर रहे थे उसे सहसा विलीन हुई देख घबड़ा गये और तुरन्त ही आँखें खोलीं तो श्रीहरिको उसी रूपसे सामने खड़े देखा॥ २॥ भगवान्‌के दर्शनसे कुतूहलमें पड़े ध्रुवने उन्हें पृथिवीपर दण्डके समान लोटकर प्रणाम किया और मानो वे नेत्रोंसे पी लेंगे, मुखसे चूम लेंगे और भुजाओंसे लिपटा लेंगे—इस प्रकार प्रेम-भरी दृष्टिसे उनकी ओर निहारने लगे॥ ३॥ ध्रुवजी भगवान्‌की स्तुति करना चाहते थे किन्तु किस प्रकार करें—यह नहीं जानते थे। सर्वान्तर्यामी भगवान् उनके मनकी बात जान गये और उन्होंने कृपापूर्वक अपने वेदमय शंखसे हाथ जोड़े खड़े हुए ध्रुवका कपोल छू दिया॥ ४॥ शंखका स्पर्श होते ही ध्रुवको दिव्य वाणी प्राप्त हो गयी, उन्हें जीव और परमात्माके स्वरूपका निश्चय हो गया और जिन्हें ध्रुवपद प्राप्त होनेवाला था वे ध्रुवजी उसी समय जिनका पावन सुयश सर्वत्र प्रसिद्ध है उन श्रीहरिकी भक्तिभावसे स्थिरतापूर्वक स्तुति करने लगे॥ ५॥

ध्रुवजी बोले—जो सर्वशक्तिसम्पन्न श्रीहरि मेरे अन्तःकरणमें प्रवेशकर अपने तेजसे मेरी सोयी हुई वाणीको सजीव करते हैं तथा कर, चरण, कर्ण और त्वचा आदि अन्य इन्द्रियोंको भी चैतन्य प्रदान करते हैं उन आप भगवान् पुरुषोत्तमको प्रणाम है॥ ६॥ भगवन्! आप अकेले ही अपनी अनन्त गुणमयी मायाशक्तिसे इस महदादि सम्पूर्ण जगत्‌को

१. प्रा० पा०—स्थितिः।

मायाख्ययोरुगुणया महदाद्यशेषम् ।
सृष्ट्वानुविश्य पुरुषस्तदसद्गुणेषु
नानेव दारुषु विभावसुवद्विभासि ॥ ७ ॥
त्वद्दत्तया वयुनयेदमचष्ट विश्वं
सुप्तप्रबुद्ध इव नाथ भवत्प्रपन्नः ।
तस्यापवर्ग्यशरणं तव पादमूलं
विस्मर्यते कृतविदा कथमार्तबन्धो ॥ ८ ॥
नूनं विमुष्टमतयस्तव मायया ते
ये त्वां भवाप्ययविमोक्षणमन्यहेतोः ।
अर्चन्ति कल्पकतरुं कुणपोपभोग्य-
मिच्छन्ति यत्स्पर्शजं निरयेऽपि नृणाम् ॥९॥
या निर्वृतिस्तनुभृतां तव पादपद्म-
ध्यानाद्भवज्जनकथाश्रवणेन वा स्यात् ।
सा ब्रह्मणि स्वमहिमन्यपि नाथ मा भू-
त्किं त्वन्तकासिलुलितात्पततां विमानात् ॥
भक्तिं मुहुः प्रवहतां त्वयि मे प्रसङ्गो
भूयादनन्त महताममलाशयानाम् ।
येनाञ्जसोल्बणमुरुव्यसनं भवाब्धिं
नेष्ये भवद्गुणकथामृतपानमत्तः ॥११॥
ते न स्मरन्त्यतितरां प्रियमीश मर्त्यं
ये चान्वदः सुतसुहृद्गृहवित्तदाराः ।
ये त्वब्जनाभ भवदीयपदारविन्द-
सौगन्ध्यलुब्धहृदयेषु कृतप्रसङ्गाः ॥१२॥
तिर्यङ्नगद्विजसरीसृपदेवदैत्य-
मर्त्यादिभिः परिचितं सदसद्विशेषम् ।

रचकर उसके इन्द्रियादि असत् गुणोंमें जीवरूपसे अनुप्रविष्ट हो इस प्रकार अनेकवत् भासते हैं जैसे नाना प्रकारके काष्ठमें अनुप्रविष्ट हुआ अग्नि अपनी उपाधियोंके अनुसार भिन्न-भिन्नरूपसे भासता है ॥ ७ ॥ हे नाथ ! ब्रह्माजीने भी आपकी शरणमें प्राप्त हो आपके दिये हुए ज्ञानके प्रभावसे इस जगत्-को सोकर उठे हुएके समान देखा था । हे दीनबन्धो ! मुक्त पुरुषोंके भी आश्रय करनेयोग्य आपके चरणों-को कृतज्ञ पुरुष कैसे भूल सकता है ? ॥ ८ ॥ जिनके संसर्गसे होनेवाला सुख नरकतुल्य योनिमें भी प्राप्त हो सकता है उन शवतुल्य शरीरसे भोगे जाने योग्य विषयोंकी जो पुरुष इच्छा करते हैं और जो जन्ममरणरूप संसारसे छुड़ानेवाले कल्पवृक्षरूप आपकी मोक्षके सिवा किसी और कारणसे उपासना करते हैं अवश्य ही उनकी बुद्धिको आपकी मायाने ठग लिया है ॥ ९ ॥ आपके चरणकमलोंका ध्यान करनेसे अथवा आपके भक्तोंकी कथाएँ सुननेसे प्राणियोंको जो आनन्द प्राप्त होता है वह अपने स्वरूपभूत ब्रह्ममें भी नहीं मिल सकता, फिर जिनको कालकी तलवार खण्डित कर डालती है उन स्वर्गके विमानों-से गिरनेवाले पुरुषोंको तो वह मिल ही कैसे सकता है ॥ १० ॥ अतः हे अनन्त ! आपमें निरन्तर भक्तिभाव रखनेवाले शुद्धचित्त महापुरुषोंसे मेरा बारम्बार समागम हो जिससे मैं आपके गुणोंके कथामृतका पान करनेसे उन्मत्त होकर अति उग्र और नाना प्रकारके दुःखोंसे पूर्ण इस संसारसागरको सुगमतासे ही पार कर लूँ ॥ ११ ॥ हे कमलनाभ ! आपके चरण-कमलोंकी सुगन्धमें जिनका चित्त लुभाया हुआ है उन महापुरुषोंका जो लोग समागम करते हैं वे हे ईश ! अपने इस अत्यन्त प्रिय शरीर और इसके सम्बन्धी पुत्र, मित्र, गृह और स्त्री आदिका स्मरण भी नहीं करते ॥१२॥ हे अज ! पशु आदि तिर्यक्योनि, पर्वत, पक्षी, सरीसृप, देवता, दैत्य और मनुष्य आदिसे परिपूर्ण तथा महत्तत्त्वादि कार्य-कारणोंसे युक्त आपके इस स्थूल शरीर-

१. प्रा० पा०—नरके ।

रूपं स्थविष्ठमज ते महदाद्यनेकं[1]
नातः परं परम वेद्मि न यत्र वादः ॥१३॥
कल्पान्त एतदखिलं जठरेण गृह्णन्[2]
शेते पुमान्स्वदृगनन्तसखस्तदङ्के ।
यन्नाभिसिन्धुरुहकाञ्चनलोकपद्म-
गर्भे द्युमान्भगवते प्रणतोऽस्मि तस्मै॥१४॥
त्वं नित्यमुक्तपरिशुद्धविबुद्ध आत्मा
कूटस्थ आदिपुरुषो भगवांस्त्र्यधीशः ।
यद्बुद्ध्यवस्थितिमखण्डितया स्वदृष्ट्या
द्रष्टा स्थितावधिमखो व्यतिरिक्त आस्से॥१५॥
यस्मिन्विरुद्धगतयो ह्यनिशं पतन्ति
विद्यादयो विविधशक्तय आनुपूर्व्यात् ।
तद्ब्रह्म विश्वभवमेकमनन्तमाद्य-[3]
मानन्दमात्रमविकारमहं प्रपद्ये ॥१६॥
सत्याशिषो हि भगवंस्तव पादपद्म-
माशीस्तथानुभजतः पुरुषार्थमूर्तेः ।
अप्येवमार्य भगवान्परिपाति दीना-
न्वाश्रेव वत्सकमनुग्रहकातरोऽस्मान्॥१७॥

मैत्रेय उवाच

अथाभिष्टुत एवं वै सत्सङ्कल्पेन धीमता ।
भृत्यानुरक्तो भगवान्प्रतिनन्द्येदमब्रवीत् ॥१८॥

श्रीभगवानुवाच

वेदाहं ते व्यवसितं हृदि राजन्यबालक ।
तत्प्रयच्छामि भद्रं ते दुरापमपि सुव्रत ॥१९॥

को ही मैं जानता हूँ । इसके सिवा, जिसमें वाणीकी गति ही नहीं है उस आपके पर रूपको मैं नहीं जानता ॥१३॥ हे नाथ ! कल्पके अन्तमें जो शेषजीके सखा स्वयंप्रकाश परमपुरुष भगवान् इस सम्पूर्ण जगत्को अपने उदरमें लीन करके शेषशय्यापर शयन करते हैं तथा जिनके नाभिसिन्धुसे प्रकट हुए सकल लोकोंके उत्पत्तिस्थान सुवर्णमय कमलसे परम तेजोमय ब्रह्माजी उत्पन्न हुए हैं उन्हीं आप परमेश्वरको मैं प्रणाम करता हूँ ॥१४॥ हे प्रभो ! आप जीवात्मासे भिन्न अर्थात् पुरुषोत्तम हैं; क्योंकि आप नित्यमुक्त, नित्यशुद्ध, चेतन, आत्मा, निर्विकार, आदिपुरुष, षडैश्वर्यसम्पन्न, तीनों लोकोंके स्वामी और अपनी दृष्टिसे बुद्धिकी अवस्थाओंको अखण्डरूपसे देखनेवाले हैं । संसारकी स्थितिके लिये ही आप यज्ञपुरुष श्रीविष्णु-भगवान्के रूपसे स्थित हैं ॥१५॥ जिनसे विद्या-अविद्या आदि विरुद्धगतियोंवाली अनेक शक्तियाँ क्रमशः अहर्निश प्रकट होती हैं उन विश्वकी उत्पत्ति करनेवाले, एक, अनन्त, आद्य, आनन्दमात्र निर्विकार ब्रह्मकी मैं शरण हूँ ॥१६॥ हे भगवन् ! 'आप ही परमपुरुषार्थ हैं' ऐसा समझकर जो निष्कामभावसे निरन्तर आपका भजन करते हैं, उन श्रेष्ठ भक्तोंके लिये राज्यादि भोगोंकी अपेक्षा पुरुषार्थस्वरूप आपके चरणकमलोंकी प्राप्ति ही भजनका यथार्थ फल है । यद्यपि यही ठीक है तो भी गौ जैसे अपने तुरन्तके जन्मे हुए बछड़ेको दूध पिलाती और व्याघ्रादिसे बचाती है उसी प्रकार भक्तोंपर अनुग्रह करनेके लिये सदा विकल रहनेवाले आप हम-जैसे सकाम भक्तोंको भी उनकी कामना पूर्ण कर संसारसागरसे बचाते हैं ॥१७॥

श्रीमैत्रेयजी बोले—हे विदुर ! शुभसंकल्पवाले परम बुद्धिमान् ध्रुवजीद्वारा इस प्रकार स्तुति किये जानेपर भक्तवत्सल भगवान् उनकी प्रशंसा करते हुए इस प्रकार कहने लगे ॥१८॥

श्रीभगवान्ने कहा—हे राजकुमार ! तेरे मनमें जो संकल्प है उसे मैं जानता हूँ । हे सुव्रत ! उसका मिलना यद्यपि अत्यन्त कठिन है तो भी मैं तुझे वह पद प्रदान करता हूँ, तेरा कल्याण हो ॥१९॥

१. प्रा० पा०—च विश्वमज ते महदाद्यशेषं । २. प्रा० पा०—न्तरे तदखि० । ३. प्रा० पा०—माद्य ।

नान्यैरधिष्ठितं भद्र यद्भ्राजिष्णु ध्रुवक्षिति[1] ।
यत्र ग्रहर्क्षताराणां ज्योतिषां चक्रमाहितम् ॥२०॥
मेढ्यां गोचक्रवत्स्थास्नु परस्तात्कल्पवासिनाम् ।
धर्मोऽग्निः कश्यपः शुक्रो मुनयो ये वनौकसः ।
चरन्ति दक्षिणीकृत्य भ्रमन्तो यत्सतारकाः ॥२१॥
प्रस्थिते तु वनं पित्रा दत्त्वा गां धर्मसंश्रयः ।
षट्त्रिंशद्वर्षसाहस्रं रक्षिताव्याहतेन्द्रियः ॥२२॥
त्वद्भ्रातर्युत्तमे नष्टे मृगयायां तु तन्मनाः ।
अन्वेषन्ती वनं माता दावाग्निं सा प्रवेक्ष्यति ॥२३॥
इष्ट्वा मां यज्ञहृदयं यज्ञैः पुष्कलदक्षिणैः ।
भुक्त्वा चेहाशिषः सत्या अन्ते मां संस्मरिष्यसि।२४।
ततो गन्तासि मत्स्थानं सर्वलोकनमस्कृतम् ।
उपरिष्टादृषिभ्यस्त्वं यतो नावर्तते गतः[3] ॥२५॥

हे कल्याणस्वरूप ! जिस तेजोमय ध्रुवलोकको आजतक किसीने भी प्राप्त नहीं किया तथा जिसमें ग्रह, नक्षत्र और तारागणरूप ज्योतिश्चक्र स्थित है ॥२०॥ जो कल्पपर्यन्त रहनेवाले लोकोंसे भी अधिक काल रहनेवाला है तथा खलीहानके स्तम्भके चारों ओर घूमनेवाले बैलोंके समान नक्षत्रगण एवं धर्म, अग्नि, कश्यप और शुक्र आदि वनवासी मुनिगण जिसकी प्रदक्षिणा करते हुए घूमा करते हैं [वह ध्रुवलोक मैं तुझे देता हूँ] ॥२१॥ इस लोकमें भी जब तेरे पिता तुझे राज्य देकर वनको चले जायँगे तो तू छत्तीस हजार वर्षतक बिना इन्द्रिय-शक्तिका ह्रास हुए धर्ममें स्थित रहकर पृथिवीका शासन करेगा ॥२२॥ जिस समय तेरा भाई उत्तम शिकार खेलता हुआ मारा जायगा उस समय उसकी माता सुरुचि उसे पुत्र-प्रेमसे पागल होकर ढूँढ़ती हुई दावानलमें प्रवेश कर जायगी ॥२३॥ तू मुझ यज्ञमूर्तिका बहुत-से बड़ी-बड़ी दक्षिणावाले यज्ञोंसे यजन करेगा और यहाँ नाना प्रकारके उत्तम भोग भोगकर अन्तकाल (वृद्धावस्था) में मेरा स्मरण करेगा ॥२४॥ तब तू सम्पूर्ण लोकोंसे वन्दनीय और सप्तर्षिलोकसे भी ऊपर मेरे निजधामको जायगा, जहाँ पहुँचनेपर फिर संसारमें लौटना नहीं होता ॥२५॥

मैत्रेय उवाच

इत्यर्चितः स भगवानतिदिश्यात्मनः पदम् ।
बालस्य पश्यतो धाम स्वमगाद्गरुडध्वजः ॥२६॥
सोऽपि सङ्कल्पजं विष्णोः पादसेवोपसादितम् ।
प्राप्य सङ्कल्पनिर्वाणं नातिप्रीतोऽभ्यगात्पुरम् ॥२७॥

मैत्रेयजी बोले—ध्रुवसे इस प्रकार पूजित हो गरुडध्वज भगवान् उन्हें अपना पद प्रदानकर उस बालकके देखते-देखते अपने लोकको चले गये ॥२६॥ ध्रुवजी भी भगवान्‌की चरण-सेवासे प्राप्त हुई अपनी संकल्पपूर्तिको पाकर अपने नगरको लौट चले, किन्तु उनका चित्त कुछ अधिक प्रसन्न नहीं हुआ ॥२७॥

विदुर उवाच

सुदुर्लभं यत्परमं पदं हरे-
र्मायाविनस्तच्चरणार्चनार्जितम् ।
लब्ध्वाप्यसिद्धार्थमिवैकजन्मना
कथं स्वमात्मानममन्यतार्थवित् ॥२८॥

विदुरजीने पूछा—ब्रह्मन् ! मायापति श्रीहरिका जो परमपद अत्यन्त दुर्लभ है और जो उनके चरण-कमलोंकी उपासनासे ही प्राप्त होता है उस पदको एक ही जन्ममें प्राप्त कर लेनेपर भी पुरुषार्थके तत्त्वको जाननेवाले ध्रुवजीने अपनेको अकृतार्थ क्यों माना ? ।२८।

मैत्रेय उवाच

मातुः सपत्न्या वाग्बाणैर्हृदि विद्धस्तु तान्स्मरन् ।

मैत्रेयजी बोले—ध्रुवजीने अपनी सौतेली माताके वाग्बाणोंसे हृदयमें विद्ध होकर उनका स्मरण करते

१. प्रा० पा०—तत्र । २. प्रा० पा०—स्थिति । ३. प्रा० पा०—यतिः ।

नैच्छन्मुक्तिपतेर्मुक्तिं तस्मात्तापमुपेयिवान् ॥२९॥

हुए मुक्तिदाता श्रीहरिसे मुक्ति नहीं माँगी। इसीलिये उन्हें पश्चात्ताप हुआ ॥२९॥

ध्रुव उवाच

समाधिना नैकभवेन यत्पदं
विदुः सनन्दादय ऊर्ध्वरेतसः।
मासैरहं षड्भिरमुष्य पादयो-
श्छायामुपेत्यापगतः पृथङ्मतिः ॥३०॥

अहो बत ममानात्म्यं मन्दभाग्यस्य पश्यत।
भवच्छिदः पादमूलं गत्वायाचे यदन्तवत् ॥३१॥
मतिर्विदूषिता देवैः पतद्भिरसहिष्णुभिः।
यो नारदवचस्तथ्यं नाग्राहिषमसत्तमः ॥३२॥
दैवीं मायामुपाश्रित्य प्रसुप्त इव भिन्नदृक्।
तप्ये द्वितीयेऽप्यसति भ्रातृभ्रातृव्यहृद्रुजा ॥३३॥
मयैतत्प्रार्थितं व्यर्थं चिकित्सेव गतायुषि।
प्रसाद्य जगदात्मानं तपसा दुष्प्रसादनम्।
भवच्छिदमयाचेऽहं भवं भाग्यविवर्जितः ॥३४॥
स्वाराज्यं यच्छतो मौढ्यान्मानो मे भिक्षितो बत।
ईश्वरात्क्षीणपुण्येन फलीकारानिवाधनः ॥३५॥

ध्रुवजी सोचने लगे—अहो! ब्रह्मचर्यव्रत धारण करनेवाले सनन्दनादि सिद्धगण जिस पदको अनेकों जन्मोंमें प्राप्त कर पाते हैं उस भगवच्चरणोंकी छायाको मैंने छः मासमें ही प्राप्त कर लिया, किन्तु भेद-बुद्धिके कारण फिर उससे वञ्चित होना पड़ा ॥३०॥ अहो! मुझ मन्दभाग्यकी मूर्खता तो देखो, मैंने संसारपाशके काटनेवाले प्रभुके चरणकमलोंमें पहुँचकर भी नाशवान् पदार्थकी ही याचना की! ॥ ३१ ॥ स्वर्गभोगके अन्तमें अवश्य ही इसकी अपेक्षा नीचे गिरनेवाले देवताओंने मेरी भगवत्प्राप्तिरूप उच्च स्थितिको न सह सकनेके कारण मेरी बुद्धि भ्रष्ट कर दी इसीलिये मुझ मूर्खने नारदजीके 'अभी तुम बालक हो, मुझे तुम्हारे मान या अपमानका कोई कारण नहीं दिखायी देता' इन वचनोंकी सत्यता ग्रहण नहीं की ॥३२॥ जिस प्रकार सोया हुआ पुरुष स्वप्नमें अपने ही कल्पना किये हुए सर्प-व्याघ्रादिसे भय मानता है उसी प्रकार वास्तवमें आत्माके सिवा किसी अन्य पदार्थके न होनेपर भी भगवान्‌की मायासे मोहित हुआ भेद-बुद्धिवाला मैं भाईको ही शत्रु मानकर (द्वेषरूप) हार्दिक रोगसे अनुतप्त हो रहा हूँ ॥३३॥ जिनका प्रसन्न करना अत्यन्त कठिन है उन संसार-पाशको काटनेवाले विश्वात्मा श्रीहरिको प्रसन्न करके भी जैसे मरणासन्न पुरुष व्यर्थ ओषधि माँगा करता है उसी प्रकार मुझ भाग्यहीनने संसारको ही माँगा ॥३४॥ जिस प्रकार निर्धन पुरुष सार्वभौम राजाको प्रसन्नकर उससे चावलोंकी किनकी माँगे उसी प्रकार मुझ पुण्यहीनने परमानन्द देनेवाले श्रीहरिसे मूर्खतावश मान ही माँगा! ॥३५॥

मैत्रेय उवाच

न वै मुकुन्दस्य पदारविन्दयो
रजोजुषस्तात भवादृशा जनाः।
वाञ्छन्ति तद्दास्यमृतेऽर्थमात्मनो
यदृच्छया लब्धमनःसमृद्धयः ॥३६॥

मैत्रेयजी कहते हैं—हे तात! भगवान् मुकुन्दकी चरणरजका सेवन करनेवाले और अपने-आप ही प्राप्त हुए वस्तुसे ही मनको सन्तुष्ट रखनेवाले तुम-जैसे लोग भगवान्‌से उनके दासत्वके सिवा और कोई वस्तु नहीं माँगते ॥३६॥

आकर्ण्यात्मजमायान्तं सम्परेत्य यथागतम्।

इधर, राजा उत्तानपादने, जैसे मरा हुआ पुरुष फिर लौट आये उसी प्रकार जब अपने पुत्रके आनेका

राजा न श्रद्दधे भद्रमभद्रस्य कुतो मम ॥३७॥
श्रद्धाय वाक्यं देवर्षेर्हर्षवेगेन धर्षितः ।
वार्ताहर्तुरतिप्रीतो हारं प्रादान्महाधनम् ॥३८॥
सदश्वं रथमारुह्य कार्तस्वरपरिष्कृतम् ।
ब्राह्मणैः कुलवृद्धैश्च पर्यस्तोऽमात्यबन्धुभिः ॥३९॥
शङ्खदुन्दुभिनादेन ब्रह्मघोषेण वेणुभिः ।
निश्चक्राम पुरात्तूर्णमात्मजाभीक्षणोत्सुकः ॥४०॥
सुनीतिः सुरुचिश्चास्य महिष्यौ रुक्मभूषिते ।
आरुह्य शिबिकां सार्धमुत्तमेनाभिजग्मतुः ॥४१॥
तं दृष्ट्वोपवनाभ्याश आयान्तं तरसा रथात् ।
अवरुह्य नृपस्तूर्णमासाद्य प्रेमविह्वलः ॥४२॥
परिरेभेऽङ्गजं दोर्भ्यां दीर्घोत्कण्ठमनाः श्वसन् ।
विष्वक्सेनाङ्घ्रिसंस्पर्शहताशेषाघबन्धनम् ॥४३॥
अथाजिघ्रन्मुहुर्मूर्ध्नि शीतैर्नयनवारिभिः ।
स्नापयामास तनयं जातोद्दाममनोरथः ॥४४॥
अभिवन्द्य पितुः पादावाशीर्भिश्चाभिमन्त्रितः ।
ननाम मातरौ शीर्ष्णा सत्कृतः सज्जनाग्रणीः ॥४५॥
सुरुचिस्तं समुत्थाप्य पादावनतमर्भकम् ।
परिष्वज्याह जीवेति बाष्पगद्गदया गिरा ॥४६॥
यस्य प्रसन्नो भगवान्गुणैर्मैत्र्यादिभिर्हरिः ।
तस्मै नमन्ति भूतानि निम्नमाप इव स्वयम् ॥४७॥

समाचार सुना तो उन्हें यह सोचकर कि 'मुझ भाग्यहीनका ऐसा भाग्य कहाँ है ?' विश्वास न हुआ ॥३७॥ किन्तु फिर देवर्षिके कथनका स्मरण हो आनेसे उन्हें विश्वास हो गया और उन्होंने हर्षके वेगसे विवश हो उस समाचार सुनानेवालेको एक महामूल्यवान् हार दिया ॥३८॥ और पुत्रका मुख देखनेके लिये अति उत्कण्ठित हो वे ब्राह्मण, अपने कुलके बड़े-बूढ़े, मन्त्रिमण्डल और बन्धुओंसे घिरे हुए एक सुवर्णमण्डित रथपर आरूढ़ हो वेदध्वनि और शङ्ख तथा दुन्दुभी आदि बाजोंके घोषके साथ बड़ी शीघ्रतासे नगरके बाहर आये ॥३९-४०॥ उत्तानपादकी रानियाँ सुनीति और सुरुचि उत्तमको साथ ले सुवर्णमय आभूषणोंसे विभूषित हो पालकियोंपर चढ़कर चलीं ॥४१॥ ध्रुवको राजोद्यानके पास आता देख महाराज उत्तानपाद तुरन्त ही रथसे उतर पड़े और दीर्घकालसे मिलनेके लिये उत्कण्ठित रहनेके कारण पुत्रके पास आ, दीर्घ निःश्वास छोड़ते हुए, श्रीहरिके चरणस्पर्शसे जिनके सब पाप नष्ट हो गये हैं उन ध्रुवजीको प्रेमातुर हो दोनों भुजाओंसे गले लगा लिया ॥४२-४३॥ राजा उत्तानपादकी एक भारी कामना पूर्ण हो गयी, उन्होंने बार-बार पुत्रका सिर सूँघा और उसे अपने शीतल* आँसुओंसे भिगो दिया ॥४४॥ तदनन्तर सज्जनोंमें अग्रगण्य ध्रुवजीने पिताके चरणोंकी वन्दना की और उनसे आशीर्वाद प्राप्त किया फिर कुशलप्रश्नादिसे सम्मानित हो दोनों माताओंको शिर झुकाकर प्रणाम किया ॥४५॥ सुरुचिने अपने चरणोंमें झुके हुए बालक ध्रुवको उठाकर हृदयसे लगाया और गद्गद-वाणीसे 'चिरञ्जीव रहो' ऐसा कहकर आशीर्वाद दिया ॥४६॥ [सुरुचिका ध्रुवजीके साथ ऐसा विनम्र बर्ताव करना कोई आश्चर्यकी बात नहीं है क्योंकि] जिस प्रकार जल स्वयं ही नीचेकी ओर बहने लगता है उसी प्रकार मैत्री आदि गुणोंके कारण जिससे भगवान् प्रसन्न होते हैं उसके आगे सभी जीव झुक जाते हैं ॥४७॥

१. प्रा० पा०—परीतो । २. प्रा० पा०—तूर्यनिना० । ३. प्रा० पा०—शान्तै० । ४. प्रा० पा०—वाद्य । ५. प्रा० पा०—चानुम० ।

* आनन्द या प्रेमके कारण जो आँसू आते हैं वे शीतल हुआ करते हैं और शोकके आँसू उष्ण होते हैं ।

उत्तमश्च ध्रुवश्चोभावन्योन्यं प्रेमविह्वलौ ।
अङ्गसङ्गादुत्पुलकावस्रौघं मुहुरूहतुः ॥४८॥
सुनीतिरस्य जननी प्राणेभ्योऽपि प्रियं सुतम् ।
उपगुह्य जहावाधिं तदङ्गस्पर्शनिर्वृता ॥४९॥
पयः स्तनाभ्यां सुस्राव नेत्रजैः सलिलैः शिवैः ।
तदाभिषिच्यमानाभ्यां वीर वीरसुवो मुहुः ॥५०॥
तां शशंसुर्जना राज्ञीं दिष्ट्या ते पुत्र आर्तिहा ।
प्रतिलब्धश्चिरं नष्टो रक्षिता मण्डलं भुवः ॥५१॥
अभ्यर्चितस्त्वया नूनं भगवान्प्रणतार्तिहा ।
यदनुध्यायिनो धीरा मृत्युं जिग्युः सुदुर्जयम् ॥५२॥
लाल्यमानं जनैरेवं ध्रुवं सभ्रातरं नृपः ।
आरोप्य करिणीं हृष्टः स्तूयमानोऽविशत्पुरम् ॥५३॥
तत्र तत्रोपसंक्लृप्तैर्लसन्मकरतोरणैः ।
सवृन्दैः[1] कदलीस्तम्भैः पूगपोतैश्च तद्विधैः ॥५४॥
चूतपल्लववासःस्रङ्मुक्तादामविलम्बिभिः ।
उपस्कृतं प्रतिद्वारमपां कुम्भैः सदीपकैः ॥५५॥
प्राकारैर्गोपुरागारैः शातकुम्भपरिच्छदैः ।
सर्वतोऽलंकृतं श्रीमद्विमानशिखरद्युभिः ॥५६॥
मृष्टचत्वररथ्याट्टमार्गं चन्दनचर्चितम् ।
लाजाक्षतैः पुष्पफलैस्तण्डुलैर्बलिभिर्युतम् ॥५७॥
ध्रुवाय पथि दृष्टाय तत्र तत्र पुरस्त्रियः ।

तदनन्तर, उत्तम और ध्रुव दोनों भाई एक दूसरेसे प्रेमविह्वल होकर मिले; उस समय पारस्परिक अंगसंगके कारण दोनोंहीके शरीर पुलकित हो गये और दोनोंहीके नेत्रोंसे आँसुओंकी धारा बहने लगी ॥४८॥ ध्रुवजीकी माता सुनीति तो अपने प्राणाधिक पुत्रका आलिङ्गन कर उसके अंगस्पर्शसे आनन्दित हो अपना सारा सन्ताप भूल गयीं ॥४९॥ हे वीर ! वीर-माता सुनीतिके स्तन उनके नेत्रोंसे झरते हुए मंगलमय आनन्दाश्रुओंसे भीग गये और उनसे दूध बहने लगा ॥५०॥ उस समय महारानी सुनीतिकी प्रशंसा करते हुए पुरवासीलोग कहने लगे—"तुम्हारे दुःखको दूर करनेवाला बालक ध्रुव बहुत दिन हुए खो गया था, सौभाग्यवश अब वह लौट आया है; यह बहुत समय-तक भूमण्डलकी रक्षा करेगा ॥५१॥ तुमने अवश्य ही शरणागतभयभञ्जन श्रीहरिकी उपासना की है, जिनका ध्यान करनेवाले धीर पुरुष परम दुर्जय मृत्युको भी जीत लेते हैं" ॥५२॥

हे विदुर ! इस प्रकार सब लोगोंसे सत्कार किये हुए ध्रुवजीको भाई उत्तमके सहित एक हथिनीपर चढ़ाकर महाराज उत्तानपादने अति आनन्दपूर्वक सब पुरवासियों-से स्तुति किये जाते हुए अपनी राजधानीमें प्रवेश किया ॥५३॥ उस समय वह नगर मकराकृति वन्दन-वारोंसे तथा फल-फूलोंके गुच्छोंसे युक्त कदली और पूगीफल आदिके पौदोंसे सुशोभित था ॥५४॥ उसके प्रत्येक द्वारपर आमके पत्तों, वस्त्रों, पुष्पमालाओं तथा मोतीकी लड़ियोंसे सुसज्जित और दीपकयुक्त जलके कलशोंकी अपूर्व शोभा थी ॥५५॥ अति सुन्दर विमानोंके सुवर्णमण्डित शिखरोंकी कान्तिसे सुशोभित परकोटों, राजद्वारों और महलोंके कारण वह सब ओरसे अति सुसज्जित था ॥५६॥ उसके चौक, गलियों, अटारियों और मार्गोंको झाड़-बुहारकर उनपर चन्दन-का छिड़काव किया गया था, और जहाँ-तहाँ खील, चावल, पुष्प, फल, तण्डुल और भेंटकी सामग्री रखी हुई थी ॥५७॥ जहाँ-तहाँ मार्गमें जाते हुए ध्रुवजीको देखकर सफलमनोरथ हुई पुरनारियोंने उनपर पीली सरसों, अक्षत,

१. प्रा० पा०—सवृन्तैः ।

सिद्धार्थाक्षतदध्यम्बुदूर्वापुष्पफलानि च ॥५८॥
उपजह्रुः प्रयुञ्जाना वात्सल्यादाशिषः सतीः ।
शृण्वंस्तद्वल्गुगीतानि प्राविशद्भवनं पितुः ॥५९॥
महामणिव्रातमये स तस्मिन्भवनोत्तमे ।
लालितो नितरां पित्रा न्यवसद्दिवि देववत् ॥६०॥
पयःफेननिभाः शय्या दान्ता रुक्मपरिच्छदाः ।
आसनानि महार्हाणि यत्र रौक्मा उपस्कराः ॥६१॥
यत्र स्फटिककुड्येषु महामारकतेषु च ।
मणिप्रदीपा आभान्ति ललनारत्नसंयुताः ॥६२॥
उद्यानानि च रम्याणि विचित्रैरमरद्रुमैः ।
कूजद्विहङ्गमिथुनैर्गायन्मत्तमधुव्रतैः ॥६३॥
वाप्यो वैदूर्यसोपानाः पद्मोत्पलकुमुद्वतीः ।
हंसकारण्डवकुलैर्जुष्टाश्चक्राह्वसारसैः ॥६४॥

उत्तानपादो राजर्षिः प्रभावं तनयस्य तम् ।
श्रुत्वा दृष्ट्वाद्भुततमं प्रपेदे विस्मयं परम् ॥६५॥
वीक्ष्योढवयसं तं[1] च प्रकृतीनां च संमतम् ।
अनुरक्तप्रजं राजा ध्रुवं चक्रे भुवः पतिम् ॥६६॥
आत्मानं च प्रवयसमाकलय्य विशांपतिः ।
वनं विरक्तः प्रातिष्ठद्विमृशन्नात्मनो गतिम् ॥६७॥

दधि, जल, दूर्वा, पुष्प और फलोंकी वर्षा की तथा उन्होंने वात्सल्यभावसे उन्हें नाना प्रकारके सत् आशीर्वाद दिये । इस प्रकार उनके मनोहर गीत सुनते हुए ध्रुवजीने अपने पिताके भवनमें प्रवेश किया ॥५८-५९॥ तब उत्तम मणियोंकी लड़ियोंसे जड़े हुए उस राजभवनमें ध्रुवजी पिताके द्वारा लालन-पालनका सुख भोगते हुए स्वर्गमें देवताओंके समान रहने लगे ॥ ६० ॥ उस राजभवनमें दूधके फेनके समान श्वेत और कोमल शय्याएँ, हाथीदाँतके पलँग, सुनहरी कामदार पर्दे, महामूल्यवान् आसन और बहुत-सी सोनेकी वस्तुएँ थीं ॥ ६१ ॥ उसकी स्फटिकमणि और महामरकतमणिकी भीतोंमें [प्रतिबिम्बित] रमणी-रत्नोंके सहित मणिमय दीपक जगमगा रहे थे ॥ ६२ ॥ उन महलोंके चारों ओर चित्र-विचित्र कल्पद्रुमोंसे सुशोभित उद्यान थे जिनमें पक्षियोंके जोड़ोंका कलरव और मत्त मधुकरनिकरका गुंजारव गूँज रहा था ॥ ६३ ॥ उन बगीचोंमें वैडूर्यमणिकी सीढ़ियोंसे सुशोभित बावड़ियाँ थीं जिनमें लाल, नीले और श्वेतवर्णके कमल खिले हुए थे तथा हंस, कारण्डव, चक्रवाक एवं सारस आदि पक्षी कल्लोल कर रहे थे ॥ ६४ ॥

राजर्षि उत्तानपादने जब अपने पुत्रका अति अद्भुत प्रभाव सुना और देखा तो उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ ॥ ६५ ॥ और यह देखकर कि वे तरुणावस्थामें प्राप्त हो गये हैं और प्रजाका भी उनपर अनुराग है अपने मन्त्रियोंकी सम्मतिसे उन्हें सकल भूमण्डलके राज्यपर अभिषिक्त कर दिया ॥ ६६ ॥ फिर अपनेको वृद्धावस्थामें प्राप्त हुआ देख महाराज उत्तानपाद आत्मस्वरूपका चिन्तन करते हुए संसारसे विरक्त होकर वनको चले गये ॥ ६७ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे चतुर्थस्कन्धे ध्रुव[2]-
राज्याभिषेकवर्णनं नाम नवमोऽध्यायः ॥९॥

१. प्रा० पा०—पुत्रं प्रकृ० । २. प्रा० पा०—ध्रुवचरिते नव० ।

दशवाँ अध्याय

उत्तमका वध और ध्रुवका यक्षोंके साथ युद्ध ।

मैत्रेय उवाच

प्रजापतेर्दुहितरं शिशुमारस्य वै ध्रुवः ।
उपयेमे भ्रमिं[1] नाम तत्सुतौ कल्पवत्सरौ ॥ १ ॥
इलायामपि भार्यायां वायोः पुत्र्यां महाबलः ।
पुत्रमुत्कलनामानं योषिद्रत्नमजीजनत्[2] ॥ २ ॥
उत्तमस्त्वकृतोद्वाहो मृगयायां बलीयसा ।
हतः पुण्यजनेनाद्रौ तन्मातास्य गतिं गता ॥ ३ ॥

श्रीमैत्रेयजी बोले—हे विदुर ! ध्रुवजीने प्रजापति शिशुमारकी पुत्री भ्रमिसे विवाह किया था, उससे उनके कल्प और वत्सर नामक दो पुत्र हुए ॥ १ ॥ महाबली ध्रुवकी दूसरी स्त्री वायुकी पुत्री इला थी, उससे उनके उत्कल नामक पुत्र और स्त्रियोंमें रत्न-स्वरूपा एक कन्याने जन्म लिया ॥ २ ॥ उत्तमको उसकी कुमारावस्थामें ही हिमालय पर्वतपर मृगया करते समय एक बलवान् यक्षने मार डाला, उसके साथ उसकी माता भी परलोक सिधार गयी ॥ ३ ॥

ध्रुवो भ्रातृवधं श्रुत्वा कोपामर्षशुचार्पितः[3] ।
जैत्रं स्यन्दनमास्थाय गतः पुण्यजनालयम् ॥ ४ ॥
गत्वोदीचीं दिशं राजा रुद्रानुचरसेविताम् ।
ददर्श हिमवद्द्रोण्यां पुरीं गुह्यकसंकुलाम् ॥ ५ ॥
दध्मौ शङ्खं बृहद्बाहुः खं दिशश्चानुनादयन् ।
येनोद्विग्नदृशः क्षत्तरुपदेव्योऽत्रसन्भृशम् ॥ ६ ॥

ध्रुवने जब भाईके मरणका समाचार सुना तो वे क्रोध, असहिष्णुता और शोकसे भरकर एक जयदायक रथपर आरूढ़ हो यक्षोंकी राजधानी (अलकापुरी) को गये ॥ ४ ॥ महाराज ध्रुवने उत्तर दिशाकी ओर जाकर हिमालयकी घाटीमें रुद्रानुचर कुबेरसे पालित तथा यक्षोंसे भरी हुई अलकापुरी देखी ॥ ५ ॥ वहाँ पहुँचकर महाबाहु ध्रुवने आकाश और दिशा-विदिशाओं-को गुञ्जायमान करते हुए अपना शंख बजाया । हे विदुर ! उसकी ध्वनिसे घबड़ाकर यक्षपत्नियाँ अत्यन्त भयभीत हो गयीं ॥ ६ ॥

ततो निष्क्रम्य बलिन उपदेवमहाभटाः[4] ।
असहन्तस्तन्निनादमभिपेतुरुदायुधाः ॥ ७ ॥
स तानापततो वीर उग्रधन्वा महारथः ।
एकैकं युगपत्सर्वानहन्बाणैस्त्रिभिस्त्रिभिः ॥ ८ ॥
ते वै ललाटलग्नैस्तैरिषुभिः सर्व एव हि ।
मत्वा निरस्तमात्मानमाशंसन्कर्म तस्य तत्[5] ॥ ९ ॥
तेऽपि चामुममृष्यन्तः पादस्पर्शमिवोरगाः ।
शरैरविध्यन्युगपद्द्विगुणं प्रचिकीर्षवः ॥ १० ॥

तदनन्तर उस शब्दको सहन न कर सकनेके कारण महाबलवान् यक्षशूरवीरगण नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्र लिये नगरसे बाहर आये ॥ ७ ॥ तब प्रचण्ड धनुषधारी महारथी ध्रुवने उन्हें आये देख उनमेंसे प्रत्येकको तीन-तीन बाण मारकर एक साथ ही वेध डाला ॥ ८ ॥ उन सबने अपने मस्तक-में लगे हुए उन बाणोंके कारण अपनेको परास्त हुआ समझा और ध्रुवजीके इस विचित्र विक्रमकी प्रशंसा की ॥ ९ ॥ फिर लात खाये हुए सर्पके समान ध्रुवजीके इस विक्रमको सहन न कर सकनेके कारण इसका बदला चुकानेकी इच्छासे वे एक साथ दूने (छः-छः) बाण छोड़े ॥ १० ॥

१. प्रा० पा०—भृतिं । २. प्रा० पा०—योगेश्वरमजी० । यही पाठ अच्छा है । ३. प्रा० पा०—क्रोधाम० । ४. प्रा० पा०—उपदेवा महाभयाः । ५. प्रा० पा०—नं शशंसुः कर्म ।

ततः परिघनिस्त्रिंशैः प्रासशूलपरश्वधैः ।
शक्त्यृष्टिभिर्भुशुण्डीभिश्चित्रवाजैः शरैरपि ॥११॥
अभ्यवर्षन्प्रकुपिताः सरथं सहसारथिम् ।
इच्छन्तस्तत्प्रतीकर्तुमयुतानि त्रयोदश ॥१२॥
औत्तानपादिः[1] स तदा शस्त्रवर्षेण भूरिणा ।
न उपादृश्यत च्छन्न आसारेण यथा गिरिः ॥१३॥
हाहाकारस्तदैवासीत्सिद्धानां दिवि पश्यताम् ।
हतोऽयं मानवः सूर्यो मग्नः पुण्यजनार्णवे ॥१४॥
नदत्सु यातुधानेषु जयकाशिष्वथो मृधे ।
उदतिष्ठद्रथस्तस्य नीहारादिव भास्करः ॥१५॥
धनुर्विस्फूर्ज[2]यन्दिव्यं द्विषतां खेदमुद्वहन् ।
अस्त्रौघं व्यधमद्बाणैर्घनानीकमिवानिलः ॥१६॥
तस्य ते चापनिर्मुक्ता भित्त्वा वर्माणि रक्षसाम् ।
कायानाविविशुस्तिग्मा गिरीनशनयो यथा ॥१७॥
भल्लैः संछिद्यमानानां शिरोभिश्चारुकुण्डलैः ।
ऊरुभिर्हेमतालाभैर्दोर्भिर्वलयवल्गुभिः ॥१८॥
हारकेयूरमुकुटैरुष्णीषैश्च महाधनैः ।
आस्तृतास्ता रणभुवो रेजुर्वीरमनोहराः ॥१९॥
हतावशिष्टा इतरे रणाजिरा-
द्रक्षोगणाः क्षत्रियवर्यसायकैः ।
प्रायो विवृक्णावयवा[3] विदुद्रुवु-
र्मृगेन्द्रविक्रीडितयूथपा इव ॥२०॥
अपश्यमानः स तदाततायिनं
महामृधे कञ्चन मानवोत्तमः ।

तदनन्तर उन तेरह अयुत (१३००००) यक्षोंने ध्रुवजीसे बदला लेनेकी इच्छासे अति क्रोधित हो रथ और सारथिके सहित उनपर परिघ, खड्ग, प्रास, त्रिशूल, परश्वध, शक्ति, ऋष्टि, भुशुण्डी तथा चित्र-विचित्र पक्षोंवाले बाणोंकी वर्षा की ॥ ११-१२ ॥ उस समय, उस भयंकर शस्त्रवर्षासे आच्छादित हुए ध्रुवजी इस प्रकार अदृश्य हो गये जैसे भारी वर्षाके समय पर्वत नहीं दीख पड़ते ॥ १३ ॥ इससे, आकाशमें स्थित होकर देखनेवाले सिद्धगण भयंकर हाहाकार करते हुए कहने लगे—'हाय ! आज यक्षसेनारूप समुद्रमें डूबकर यह मनुष्यरूप सूर्य मारा गया !' ॥ १४ ॥ इधर, युद्धमें अपनी जय माननेवाले यक्षोंके जयघोष करते ही महाराज ध्रुवका रथ इस प्रकार प्रकट हो गया जैसे कुहरेको लीन करके भगवान् सूर्य निकल आते हैं ॥ १५ ॥ ध्रुवजीने शत्रुओंके हृदयोंमें खेद उत्पन्न करते हुए अपने दिव्य धनुषका टङ्कार किया और वायु जिस प्रकार मेघसमूहको छिन्न-भिन्न कर देता है उसी प्रकार अपने बाणोंसे उनके सम्पूर्ण शस्त्रसमूहको नष्ट कर दिया ॥ १६ ॥ ध्रुवजीके धनुषसे छूटे हुए तीक्ष्ण बाण उन राक्षसोंके कवचोंको फोड़कर उनके शरीरोंमें इस प्रकार घुस गये जैसे इन्द्रके छोड़े हुए वज्र पर्वतोंमें प्रवेश कर गये थे ॥ १७ ॥ हे विदुर ! ध्रुवजीके बाणोंसे काटे गये यक्षोंके सुन्दर कुण्डलमण्डित शिरोंसे, तालवृक्षके समान सुनहरी जंघाओंसे, वलयविभूषित बाहुओंसे, हार, केयूर, मुकुट और महामूल्यमयी पगड़ियोंसे आच्छादित हुई वह वीरोंके चित्तोंको उत्साहित करनेवाली रणभूमि अत्यन्त शोभाको प्राप्त हुई ॥ १८-१९ ॥ क्षत्रियप्रवर ध्रुवजीके बाणोंसे मारे गये यक्षोंके सिवा जो और यक्षगण बचे वे अंगभंग हो जानेके कारण सिंहसे युद्धक्रीडामें परास्त हुए गजराजके समान रणभूमिसे भाग गये ॥ २० ॥

नरश्रेष्ठ ध्रुवजीने देखा कि उस विस्तीर्ण रणक्षेत्रमें एक भी शत्रु हाथमें अस्त्र-शस्त्र लिये उनके सामने नहीं है । उस समय उनकी इच्छा यक्षोंकी राजधानी

१. प्रा० पा०—अथ औत्तानपादिः स । २. प्रा० पा०—विस्फारयन्नुग्रं द्विष० । ३. प्रा० पा०—निकृत्तावयवाः ।

पुरीं दिदृक्षन्नपि नाविशद्द्विषां
न मायिनां वेद चिकीर्षितं जनः ॥२१॥
इति ब्रुवंश्चित्ररथः स्वसारथिं
यत्तः परेषां प्रतियोगशङ्कितः ।
शुश्राव शब्दं जलधेरिवेरितं
नभस्वतो दिक्षु रजोऽन्वदृश्यत ॥२२॥
क्षणेनाच्छादितं व्योम घनानीकेन सर्वतः ।
विस्फुरत्तडिता दिक्षु त्रासयत्स्तनयित्नुना ॥२३॥
ववृषू रुधिरौघासृक्पूयविण्मूत्रमेदसः ।
निपेतुर्गगनादस्य कबन्धान्यग्रतोऽनघ ॥२४॥
ततः खेऽदृश्यत गिरिर्निपेतुः सर्वतोदिशम् ।
गदापरिघनिस्त्रिंशमुसलाः साश्मवर्षिणः ॥२५॥
अहयोऽशनिनिःश्वासा वमन्तोऽग्निं रुषाक्षिभिः ।
अभ्यधावन्गजा मत्ताः सिंहव्याघ्राश्च यूथशः ॥२६॥
समुद्र ऊर्मिभिर्भीमः प्लावयन्सर्वतो भुवम् ।
आससाद महाह्रादः कल्पान्त इव भीषणः ॥२७॥
एवंविधान्यनेकानि त्रासनान्यमनस्विनाम् ।
ससृजुस्तिग्मगतय आसुर्या माययासुराः ॥२८॥
ध्रुवे प्रयुक्तामसुरैस्तां मायामतिदुस्तराम् ।
निशम्य तस्य मुनयः शमाशंसन्समागताः ॥२९॥

मुनय ऊचुः

औत्तानपादे भगवांस्तव शार्ङ्गधन्वा
देवः क्षिणोत्ववनतार्तिहरो विपक्षान् ।
यन्नामधेयमभिधाय निशम्य चाद्धा

अलकापुरीको देखनेकी इच्छा हुई किन्तु यह सोचकर कि 'कोई पुरुष मायावी शत्रुओंकी इच्छाको जान नहीं सकता' वे उस पुरीमें नहीं गये ॥ २१ ॥ अपने सारथिसे इस प्रकार कह चित्र-विचित्र रथमें आरूढ़ हुए ध्रुवजी शत्रुओंके आक्रमणकी आशंकासे सावधान होकर बैठ गये। इसी समय उन्हें समुद्रकी गर्जनाके समान प्रचण्ड वायुका भयंकर शब्द सुनायी पड़ा और उन्होंने सब दिशाओंमें धूलि उठती देखी ॥ २२ ॥ एक क्षणमें ही सारा आकाश मेघोंसे आच्छादित हो गया और उसमें सब ओर भयंकर गड़गड़ाहटके साथ बिजली चमकने लगी ॥ २३ ॥ हे अनघ ! वे मेघगण रुधिरकी धाराएँ, कफ, पीब, विष्ठा, मूत्र और चर्बी आदि अपवित्र वस्तुओंकी वर्षा करने लगे और ध्रुवजीके सामने आकाशसे कबन्ध (धड़) गिरने लगे ॥ २४ ॥ तदनन्तर उन्होंने आकाशमें एक पर्वत देखा और सब दिशाओंमें पत्थरोंकी वर्षाके सहित गदा, परिघ, खड्ग और मूसल आदि गिरते देखे ॥ २५ ॥ ध्रुवजीने देखा कि बिजलीके समान दीर्घ निःश्वास छोड़नेवाले सर्पगण अपनी रोषपूर्ण आँखोंसे अग्निकी चिनगारियाँ निकालते हुए आ रहे हैं तथा झुण्ड-के-झुण्ड मतवाले हाथी, सिंह और व्याघ्र उनकी ओर दौड़े चले आ रहे हैं ॥ २६ ॥ और प्रलयकालके समान भयंकर समुद्र अपनी उत्ताल तरंगोंसे पृथिवीको सब ओरसे डुबाता हुआ भीषण गर्जनाके साथ उनकी ओर बढ़ रहा है ॥ २७ ॥ उन तीव्र गतिवाले असुरोंने अपनी आसुरी मायासे ऐसे ही बहुत-से कौतुक दिखाये जो अघोर पुरुषोंको भयभीत करनेवाले थे ॥ २८ ॥ 'ध्रुवजीके ऊपर असुरोंने अपनी दुस्तर माया फैलायी है'—यह सुनकर कुछ मुनियोंने वहाँ आकर ध्रुवजीकी शुभाशंसा की ॥२९॥

मुनिगण बोले—हे उत्तानपादकुमार ! हे प्रिय ! जिनके नामका श्रवण और कीर्तन करके मनुष्य अनायास ही अति दुस्तर मृत्युके मुखसे निकल

१. प्रा० पा०—क्षन्निव । २. प्रा० पा०—वर्षणाः । ३. प्रा० पा०—निशम्य । ४. प्राचीन प्रतिमें 'मुनय ऊचुः' नहीं है ।

लोकोऽञ्जसा तरति दुस्तरमङ्ग मृत्युम् ॥ ३० ॥

जाते हैं वे शरणागतभयभञ्जन शार्ङ्गपाणि भगवान् हरि तुम्हारे शत्रुओंका नाश करें ॥ ३० ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे चतुर्थस्कन्धे दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

ग्यारहवाँ अध्याय

स्वायम्भुव मनुका ध्रुवजीको युद्ध छोड़नेके लिये समझाना।

मैत्रेय[२] उवाच

निशम्य गदतामेवमृषीणां धनुषि ध्रुवः।
संदधेऽस्त्रमुपस्पृश्य यन्नारायणनिर्मितम् ॥ १ ॥
संधीयमान एतस्मिन्माया गुह्यकनिर्मिताः।
क्षिप्रं विनेशुर्विदुर क्लेशा ज्ञानोदये यथा ॥ २ ॥
तस्यार्षास्त्रं[३] धनुषि प्रयुञ्जतः
सुवर्णपुङ्खाः कलहंसवाससः।
विनिःसृता आविविशुर्द्विषद्बलं[४]
यथा वनं भीमरवाः शिखण्डिनः ॥ ३ ॥
तैस्तिग्मधारैः प्रधने शिलीमुखै-
रितस्ततः पुण्यजना उपद्रुताः।
तमभ्यधावन्कुपिता उदायुधा
सुपर्णमुन्नद्धफणा इवाहयः ॥ ४ ॥
स तान्पृषत्कैरभिधावतो मृधे
निकृत्तबाहूरुशिरोधरोदरान्।
निनाय लोकं परमर्कमण्डलं
व्रजन्ति निर्भिद्य यमूर्ध्वरेतसः ॥ ५ ॥
तान्हन्यमानानभिवीक्ष्य गुह्यका-
ननागसश्चित्ररथेन भूरिशः।
औत्तानपादिं कृपया पितामहो
मनुर्जगादोपगतः[५] सहर्षिभिः ॥ ६ ॥

श्रीमैत्रेयजी बोले—हे विदुर ! ऋषियोंका ऐसा कथन सुन महाराज ध्रुवने जलका आचमन कर अपने धनुषपर श्रीनारायणका बनाया हुआ नारायणास्त्र चढ़ाया ॥ १ ॥ हे विदुर ! ज्ञानका उदय होनेपर जैसे अविद्यादि क्लेश नष्ट हो जाते हैं उसी प्रकार उस बाणके चढ़ाते ही यक्षोंकी फैलायी हुई माया तत्काल नष्ट हो गयी ॥ २ ॥ उस भगवदस्त्रको धनुषपर चढ़ाते ही उससे राजहंसके-से पक्ष और सोनेकी नोंकवाले बड़े तीखे बाण निकले और जिस प्रकार मयूरगण केका शब्द करते वनमें घुस जाते हैं उसी प्रकार अति भयानक साँय-साँय शब्द करते हुए शत्रुकी सेनामें घुस गये ॥ ३ ॥ युद्धमें उन तीक्ष्ण धारवाले बाणोंसे क्षत-विक्षत हुए यक्षगण गरुड़से छेड़े हुए सर्पोंके समान अति क्रोधित होकर अपने-अपने अस्त्र-शस्त्र उठाये हुए इधर-उधरसे ध्रुवजीकी ओर दौड़े ॥ ४ ॥ तब ध्रुवजीने अपनी ओर आते हुए उन यक्षोंको, जिनके बाहु, जंघा, कंधे और उदर आदि अंग-प्रत्यंग बाणोंसे छिन्न-भिन्न हो गये थे, उस लोकमें भेज दिया जहाँ सूर्यमण्डलको बेधकर ऊर्ध्वरेता मुनिगण जाते हैं ॥ ५ ॥ इस प्रकार ध्रुवजीद्वारा उन बहुत-से निरपराध यक्षोंका वध होते देख ध्रुवके पितामह स्वायम्भुव मनुको उनपर दया आयी और उन्होंने बहुतसे ऋषियोंके साथ वहीं आकर अपने पौत्र ध्रुवसे इस प्रकार कहा ॥ ६ ॥

१. प्राचीन प्रतिमें यहाँ अध्याय समाप्त नहीं है। २. प्रा० पा०—'सूत उवाच'। ३. प्रा० पा०—तस्याप्यथा०। ४. प्रा० पा०—सृताश्चाविवि०। ५. प्रा० पा०—गतो महर्षि०।

मनुरुवाच

अलं वत्सातिरोषेण तमोद्वारेण पाप्मना ।
येन पुण्यजनानेतानवधीस्त्वमनागसः ॥ ७ ॥
नास्मत्कुलोचितं तात कर्मैतत्सद्विगर्हितम् ।
वधो यदुपदेवानामारब्धस्तेऽकृतैनसाम् ॥ ८ ॥
नन्वेकस्यापराधेन प्रसङ्गाद्बहवो हताः ।
भ्रातुर्वधाभितप्तेन त्वयाङ्ग भ्रातृवत्सल ॥ ९ ॥
नायं मार्गो हि साधूनां हृषीकेशानुवर्तिनाम् ।
यदात्मानं पराग्गृह्य पशुवद्भूतवैशसम् ॥१०॥
सर्वभूतात्मभावेन भूतावासं हरिं भवान् ।
आराध्याप दुराराध्यं विष्णोस्तत्परमं पदम् ॥११॥
स त्वं हरेरनुध्यातस्तत्पुंसामपि सम्मतः ।
कथं त्ववद्यं कृतवाननुशिक्षन्सतां व्रतम् ॥१२॥
तितिक्षया करुणया मैत्र्या चाखिलजन्तुषु ।
समत्वेन च सर्वात्मा भगवान्संप्रसीदति ॥१३॥
संप्रसन्ने भगवति पुरुषः प्राकृतैर्गुणैः ।
विमुक्तो जीवनिर्मुक्तो ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥१४॥
भूतैः पञ्चभिरारब्धैर्योषित्पुरुष एव हि ।
तयोर्व्यवायात्सम्भूतिर्योषित्पुरुषयोरिह ॥१५॥
एवं प्रवर्तते सर्गः स्थितिः संयम एव च ।
गुणव्यतिकराद्राजन्मायया परमात्मनः ॥१६॥
निमित्तमात्रं तत्रासीन्निर्गुणः पुरुषर्षभः ।
व्यक्ताव्यक्तमिदं विश्वं यत्र भ्रमति लोहवत् ॥१७॥

स्वायम्भुव मनु बोले—बेटा ! जिसके वशीभूत होकर तुमने इतने निरपराध यक्षोंका वध किया है उस क्रोधको अब दूर करो; यह पापी क्रोध तो नरकका द्वार है ॥ ७ ॥ हे तात ! तुमने जो यह निरपराध यक्षोंका वध करना आरम्भ किया है यह हमारे कुलके योग्य नहीं है तथा साधुजन भी इसकी निन्दा करते हैं ॥ ८ ॥ हे प्रिय ! हे भ्रातृवत्सल ! तुमने भाईके वधसे सन्तप्त होकर एक यक्षके अपराध करनेपर अनेकोंका वध कर डाला ! यह कहाँका न्याय है ? ॥ ९ ॥ इस जड शरीरको ही आत्मा मानकर इसके लिये पशुओंके समान प्राणियोंकी हत्या करना—यह भगवान् विष्णुमें भक्ति रखनेवाले साधु पुरुषोंका मार्ग नहीं है ॥ १० ॥ तुमने बाल्यावस्थामें ही जिनकी आराधना करना अत्यन्त कठिन है उन सम्पूर्ण भूतोंके आश्रयस्थान श्रीहरिकी सर्वभूतात्मभावसे आराधनाकर उनके परम पदको प्राप्त कर लिया है ॥ ११ ॥ तुमने भगवान्‌का ध्यान किया है और भक्तजन भी तुम्हारा सम्मान करते हैं, एक प्रकारसे तुम साधुजनोंके मार्गप्रदर्शक हो; फिर भी तुमने ऐसा निन्द्य कर्म कैसे किया ? ॥ १२ ॥ महान् पुरुषोंके प्रति सहनशीलता, छोटोंके ऊपर दया, समान स्थितिवालोंके साथ मित्रता और समस्त प्राणियोंके साथ समताका बर्ताव रखनेसे ही सर्वात्मा श्रीहरि प्रसन्न होते हैं ॥ १३ ॥ भगवान्‌के प्रसन्न होनेपर पुरुष प्राकृत गुणोंसे एवं जीव-भावसे छूटकर ब्रह्मपद प्राप्त करता है ॥ १४ ॥ हे ध्रुव ! शरीर आदिके रूपसे परिणामको प्राप्त हुए पञ्चभूतोंसे स्त्री और पुरुषकी उत्पत्ति होती है और फिर उन स्त्री-पुरुषोंके समागमसे ही अन्य स्त्री-पुरुषोंका जन्म होता है ॥ १५ ॥ हे राजन् ! इस प्रकार भगवान्‌की मायासे सत्त्वादि गुणोंमें न्यूनाधिक भाव होनेसे ही शरीरोंकी उत्पत्ति, स्थिति और नाश हुआ करते हैं ॥ १६ ॥ हे पुरुषश्रेष्ठ ! निर्गुण परमात्मा तो जगत्‌की उत्पत्ति आदिमें केवल निमित्तमात्र हैं, जिनके आश्रयसे यह कार्य-कारणरूप सम्पूर्ण प्रपञ्च चुम्बकके आश्रयसे चलनेवाले लोहेके समान भ्रमता रहता है ॥ १७ ॥

१. प्रा० पा०—तत्संगा० । २. प्रा० पा०—वायसं० ।

स खल्विदं भगवान्कालशक्त्या
गुणप्रवाहेण विभक्तवीर्यः ।
करोत्यकर्तेव निहन्त्यहन्ता
चेष्टा विभूम्नः खलु दुर्विभाव्या ॥१८॥

सोऽनन्तोऽन्तकरः कालोऽनादिरादिकृदव्ययः।
जनं जनेन जनयन्मारयन्मृत्युनान्तकम् ॥१९॥

न वै स्वपक्षोऽस्य विपक्ष एव वा
परस्य मृत्योर्विशतः समं प्रजाः ।
तं धावमानमनुधावन्त्यनीशा
यथा रजांस्यनिलं भूतसङ्घाः ॥२०॥

आयुषोऽपचयं जन्तोस्तथैवोपचयं विभुः ।
उभाभ्यां रहितः स्वस्थो दुःस्थस्य विदधात्यसौ ॥२१॥

केचित्कर्म वदन्त्येनं स्वभावमपरे नृप ।
एके कालं परे दैवं पुंसः काममुतापरे ॥२२॥

अव्यक्तस्याप्रमेयस्य नानाशक्त्युदयस्य च ।
न वै चिकीर्षितं तात को वेदार्थं स्वसंभवम् ॥२३॥

न चैते पुत्रक भ्रातुर्हन्तारो धनदानुगाः ।
विसर्गादानयोस्तात पुंसो दैवं हि कारणम् ॥२४॥

स एव विश्वं सृजति स एवावति हन्ति च ।
अथापि ह्यनहंकारान्नाज्यते गुणकर्मभिः ॥२५॥

हे ध्रुव ! कालक्रमसे गुणप्रवाहमें न्यूनाधिकता हो जानेसे भगवान्‌की शक्तिमें भी विषमता हो जाती है, उस शक्तिवैषम्यसे ही भगवान् अकर्ता होते हुए भी जगत्‌की रचना करते हैं और संहार करनेवाले न होकर भी इसका संहार करते हैं; सचमुच उन सर्वव्यापक प्रभुकी लीला सर्वथा अचिन्तनीया है ॥ १८ ॥ हे ध्रुव ! वे कालरूप अव्यय परमात्मा ही स्वयं अन्तरहित होकर भी जगत्‌का अन्त करनेवाले हैं, अनादि होकर भी सबके आदि कारण हैं । वे ही एक जीवसे दूसरे जीवकी उत्पत्ति कराते हैं और वे ही एकसे दूसरेको मरवाकर उसका अन्त करनेवाले होते हैं ॥ १९ ॥ सम्पूर्ण प्रजामें समान भावसे अनुप्रविष्ट हुए उन कालरूप परमात्माका कोई स्वपक्ष या परपक्ष नहीं है; किन्तु जैसे वायुके चलनेपर रजःकण भी उसके साथ-साथ उड़ते हैं वैसे ही सम्पूर्ण जीव कर्मोंके अधीन होकर कालरूप परमात्माका अनुगमन करते हैं [अर्थात् अपने-अपने कर्मानुसार सुख-दुःखादि फल भोगते हैं] ॥ २० ॥ सर्वव्यापक भगवान् कर्म-बन्धनमें स्थित जीवकी आयुकी वृद्धि और क्षयका विधान करते हैं किन्तु स्वयं इन दोनोंसे रहित और अपने स्वरूपमें स्थित हैं ॥ २१ ॥ हे राजन् ! इन परमात्माको ही कोई (मीमांसक) कर्म, कोई (चार्वाक) स्वभाव, कोई (वैशेषिक) काल, कोई (ज्योतिषी) दैव और कोई (वात्स्यायनादि कामशास्त्री) काम कहते हैं ॥ २२ ॥ जिनसे महत्तत्त्वादि अनेक शक्तियाँ उत्पन्न हुई हैं तथा जो अपने भी उत्पत्तिस्थान हैं उन अव्यक्त और अप्रमेय परमात्माको क्या करना है ? इस बातको ही कोई नहीं जानता फिर स्वेच्छानुसार प्रकट स्वयं भगवान्‌को कौन जान सकता है ? ॥२३॥ हे पुत्र ! ये कुबेरके सेवक तुम्हारे भाईको मारनेवाले नहीं हैं, क्योंकि मनुष्यके जन्म और मरणका वास्तविक कारण तो दैव ही है ॥२४॥ एकमात्र वही संसारकी रचना, पालन और संहार करता है, तो भी अहंकाररहित होनेके कारण उसके गुण और कर्मोंसे लिप्त नहीं होता ॥ २५ ॥

१. प्रा० पा०—वेदास्य च संभ० ।

एष भूतानि भूतात्मा भूतेशो भूतभावनः ।
स्वशक्त्या मायया युक्तः सृजत्यत्ति च पाति च ॥२६॥

तमेव मृत्युममृतं तात दैवं
सर्वात्मनोपेहि जगत्परायणम् ।
यस्मै बलिं विश्वसृजो हरन्ति
गावो यथा वै नसि दामयन्त्रिताः ॥२७॥

यः पञ्चवर्षो जननीं त्वं विहाय
मातुः सपत्न्या वचसा भिन्नमर्मा ।
वनं गतस्तपसा प्रत्यगक्ष-
माराध्य लेभे मूर्ध्नि पदं त्रिलोक्याः ॥२८॥

तमेनमङ्गात्मनि मुक्तविग्रहे
व्यपाश्रितं निर्गुणमेकमक्षरम् ।
आत्मानमन्विच्छ विमुक्तमात्मदृग्
यस्मिन्निदं भेदमसत्प्रतीयते ॥२९॥

त्वं प्रत्यगात्मनि तदा भगवत्यनन्त
आनन्दमात्र उपपन्नसमस्तशक्तौ ।
भक्तिं विधाय परमां शनकैरविद्या-
ग्रन्थिं विभेत्स्यसि ममाहमिति प्ररूढम् ॥३०॥

संयच्छ रोषं भद्रं ते प्रतीपं श्रेयसां परम् ।
श्रुतेन भूयसा राजन्नगदेन यथामयम् ॥३१॥

येनोपसृष्टात्पुरुषाल्लोक उद्विजते भृशम् ।
न बुधस्तद्वशं गच्छेदिच्छन्नभयमात्मनः ॥३२॥

हेलनं गिरिशभ्रातुर्धनदस्य त्वया कृतम् ।
यज्जघ्निवान्पुण्यजनान्भ्रातृघ्नानित्यमर्षितः ॥३३॥

तं प्रसादय वत्साशु सन्नत्या प्रश्रयोक्तिभिः ।
न यावन्महतां तेजः कुलं नोऽभिभविष्यति ॥३४॥

वे सम्पूर्ण भूतोंके आत्मा ईश्वर और रक्षा करनेवाले प्रभु ही अपनी मायाशक्तिसे युक्त होकर सब जीवोंकी रचना, पालन और संहार करते हैं ॥ २६ ॥ इसलिये हे तात ! नाकमें नकेल पड़े हुए बैल जिस प्रकार अपने स्वामीका बोझा ढोते हैं उसी प्रकार जगत्की रचना करनेवाले ब्रह्मादिक जिनकी आज्ञाका पालन करते हैं उन संसारके आश्रय तथा [अभक्तोंके लिये] मृत्यु और [भक्तोंके लिये] अमृतरूप श्रीहरिकी तुम शरण लो ॥ २७ ॥ तुम अपनी पाँच वर्षकी ही अवस्थामें अपनी सौतेली माताके वाग्बाणोंसे मर्माहत होकर अपना घर छोड़कर वनको चले गये थे । वहाँ जिन हृषीकेश भगवान्की तपस्याद्वारा आराधना करके तुमने त्रिलोकीके ऊपर ध्रुवपद प्राप्त किया है उन निर्गुण, अद्वितीय, अविनाशी, अपने वैरभावरहित अन्तःकरणमें स्थित और नित्यमुक्त परमात्माको अन्तर्दृष्टिद्वारा ढूँढ़ो, जिनमें यह भेदभावमय प्रपञ्च मिथ्या ही प्रतीत हो रहा है ॥ २८-२९ ॥ ऐसा करनेपर प्रत्यगात्मा आनन्दमात्र सर्वशक्तिसम्पन्न भगवान् अनन्तमें तुम्हारी सुदृढ़ भक्ति होगी और उसके प्रभावसे तुम धीरे-धीरे 'मैं-मेरापन' के रूपमें दृढ़ताको प्राप्त हुई अविद्यारूप ग्रन्थिको काट डालोगे ॥ ३० ॥ अतः हे राजन् ! जिस प्रकार ओषधिसे रोग शान्त किया जाता है उसी प्रकार भगवान्के गुणोंका निरन्तर श्रवण करके तुम कल्याणमार्गके परम विरोधी इस क्रोधको शान्त करो । भगवान् तुम्हारा मङ्गल करें ॥ ३१ ॥ जिसके वशीभूत हुए पुरुषसे सब लोगोंको अत्यन्त खेद होता है, अभय चाहनेवाला बुद्धिमान् पुरुष उस क्रोधके कभी अधीन न हो ॥ ३२ ॥ 'ये मेरे भाईको मारनेवाले हैं' इस प्रकार क्रोधित होकर तुमने जो यक्षोंका संहार किया है इसमें तुम्हारे हाथसे भगवान् शंकरके सखा कुबेरजीका तिरस्कार हुआ है ॥ ३३ ॥ सो, जबतक उन महापुरुषोंका तेज हमारे कुलका ह्रास न करे तबतक तुम शीघ्र ही उन्हें विनम्र भाषण और विनय आदि उपायोंसे प्रसन्न कर लो ॥ ३४ ॥

१. प्रा० पा०—मेवम० । २. प्रा० पा०—न च यावन्महातेजाः ।

एवं स्वायंभुवः पौत्रमनुशास्य मनुर्ध्रुवम् ।
तेनाभिवन्दितः साकमृषिभिः स्वपुरं ययौ ॥३५॥

हे विदुर ! इस प्रकार स्वायम्भुवमनु अपने पौत्र ध्रुवको समझा-बुझाकर उनसे अभिवन्दित हो महर्षियों-सहित अपने धामको चले गये ॥३५॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे चतुर्थस्कन्धे
एकादशोऽध्यायः

बारहवाँ अध्याय

ध्रुवजीको कुबेरका वरदान और ध्रुवलोककी प्राप्ति ।

मैत्रेय उवाच

ध्रुवं निवृत्तं प्रतिबुद्ध्य वैशसा-
दपेतमन्युं भगवान्धनेश्वरः ।
तत्रागतश्चारणयक्षकिन्नरैः
संस्तूयमानोऽभ्यवदत्कृताञ्जलिम् ॥ १ ॥

श्रीमैत्रेयजी बोले—हे विदुर ! 'ध्रुवजीका क्रोध शान्त हो गया है और वे युद्धसे निवृत्त हो गये हैं' यह जानकर भगवान् कुबेर यक्ष, चारण और किन्नरादिसे स्तुति किये जाते हुए वहाँ आये और अपने सामने हाथ जोड़े खड़े हुए ध्रुवजीसे कहने लगे ॥ १ ॥

धनद उवाच

भो भो क्षत्रियदायाद परितुष्टोऽस्मि तेऽनघ ।
यस्त्वं पितामहादेशाद्वैरं दुस्त्यजमत्यजः ॥ २ ॥
न भवानवधीद्यक्षान्न यक्षा भ्रातरं तव ।
काल एव हि भूतानां प्रभुरप्ययभावयोः ॥ ३ ॥
अहं त्वमित्यपार्था धीरज्ञानात्पुरुषस्य हि ।
स्वप्नीवाभात्यतद्ध्यानाद्यया बन्धविपर्ययौ ॥ ४ ॥
तद्गच्छ ध्रुव भद्रं ते भगवन्तमधोक्षजम् ।
सर्वभूतात्मभावेन सर्वभूतात्मविग्रहम् ॥ ५ ॥
भजस्व भजनीयाङ्घ्रिमभवाय भवच्छिदम् ।
युक्तं विरहितं शक्त्या गुणमय्यात्ममायया ॥ ६ ॥
वृणीहि कामं नृप यन्मनोगतं
मत्तस्त्वमौत्तानपदेऽविशङ्कितः ।

कुबेर बोले—हे क्षत्रियपुत्र ! तुमने अपने पितामहके उपदेशसे, जिसका त्यागना अत्यन्त कठिन था, उस वैरको त्याग दिया, इसलिये हे अनघ ! मैं तुमसे परम सन्तुष्ट हूँ ॥ २ ॥ वास्तवमें न तो तुमने यक्षोंको मारा है और न यक्षोंने तुम्हारे भाईको, क्योंकि सम्पूर्ण जीवोंके उत्पत्ति और नाशका कारण एकमात्र काल ही है ॥ ३ ॥ जिसके कारण बन्धन और दुःख आदि विपरीत अवस्थाओंकी प्राप्ति होती है वह 'मैं-तू' आदि मिथ्याबुद्धि मनुष्यको अज्ञानवश स्वप्नके समान शरीरादिमें आत्मत्वका अभिनिवेश होनेसे ही भासती है ॥ ४ ॥ अतः हे ध्रुव ! अब तुम जाओ, तुम्हारा कल्याण हो; और संसारपाशसे मुक्त होनेके लिये, सम्पूर्ण भूत जिनका स्वरूप हैं, जो [संसारकी उत्पत्ति आदिके लिये] अपनी गुणमयी मायाशक्तिसे युक्त होकर भी वास्तवमें गुणहीन हैं तथा जिनके चरणकमल सेवा करनेयोग्य हैं उन संसारपाशसे छुटानेवाले भगवान् अधोक्षजको सर्वभूतात्मभावसे भजो ॥ ५-६ ॥ हे प्रिय ! हमने सुना है, तुम सर्वदा भगवान् कमलनाभके चरणकमलोंके समीप रहनेवाले हो, इसलिये तुम वर पानेयोग्य हो;

१. प्रा० पा०—ध्रुवविजयो नाम दशमोऽध्यायः ।

वरं वरार्होऽम्बुजनाभपादयो-
रनन्तरं त्वां वयमङ्ग शुश्रुम ॥ ७ ॥

मैत्रेय उवाच

स राजराजेन वराय चोदितो
ध्रुवो महाभागवतो महामतिः ।
हरौ स वव्रेऽचलितां स्मृतिं यया
तरत्ययत्नेन दुरत्ययं तमः ॥ ८ ॥

तस्य प्रीतेन मनसा तां दत्त्वैडविडस्ततः ।
पश्यतोऽन्तर्दधे सोऽपि स्वपुरं प्रत्यपद्यत ॥ ९ ॥

अथायजत यज्ञेशं क्रतुभिर्भूरिदक्षिणैः ।
द्रव्यक्रियादेवतानां कर्म कर्मफलप्रदम् ॥१०॥

सर्वात्मन्यच्युते सर्वे तीव्रौघां भक्तिमुद्वहन् ।
ददर्शात्मनि भूतेषु तमेवावस्थितं विभुम् ॥११॥

तमेवं शीलसम्पन्नं ब्रह्मण्यं दीनवत्सलम् ।
गोप्तारं धर्मसेतूनां मेनिरे पितरं प्रजाः ॥१२॥

षट्त्रिंशद्वर्षसाहस्रं शशास क्षितिमण्डलम् ।
भोगैः पुण्यक्षयं कुर्वन्नभोगैरशुभक्षयम् ॥१३॥

एवं बहुसवं कालं महात्माविचलेन्द्रियः ।
त्रिवर्गोपयिकं नीत्वा पुत्रायादान्नृपासनम् ॥१४॥

मन्यमान इदं विश्वं मायारचितमात्मनि ।
अविद्यारचितस्वप्नगन्धर्वनगरोपमम् ॥१५॥

आत्मस्त्र्यपत्यसुहृदो बलमृद्धकोश-
मन्तःपुरं परिविहारभुवश्च रम्याः ।
भूमण्डलं जलधिमेखलमाकलय्य
कालोपसृष्टमिति स प्रययौ विशालाम् ॥१६॥

तस्यां विशुद्धकरणः शिववार्विगाह्य

अतः हे औत्तानपादे ! तुम्हें जिस वरकी इच्छा हो वह मुझसे निःशंक होकर माँग लो ॥ ७ ॥

श्रीमैत्रेयजी बोले—हे विदुर ! यक्षपति कुबेरके इस प्रकार वर माँगनेके लिये आग्रह करनेपर महाभागवत और परम बुद्धिमान् ध्रुवजीने उनसे श्रीहरिका अविचल स्मरण माँगा जिसके प्रभावसे मनुष्य सहजहीमें दुस्तर अज्ञानान्धकारको पार कर जाता है ॥ ८ ॥ तब इडविडानन्दन भगवान् कुबेरजी उन्हें प्रसन्नचित्तसे अविचल भगवत्स्मृति प्रदानकर उनके देखते-देखते अन्तर्धान हो गये । तदनन्तर, ध्रुवजी भी अपने नगरको लौट आये ॥ ९ ॥ वहाँ रहते हुए वे द्रव्य, क्रिया और देवताओंद्वारा होनेवाले समस्त कर्मोंके फलदाता श्रीयज्ञपतिका बहुतसे बड़ी-बड़ी दक्षिणाओंवाले यज्ञोंसे यजन करने लगे ॥ १० ॥ इस प्रकार सर्वात्मा सर्वरूप श्रीअच्युतमें प्रबल प्रवाहयुक्त भक्तिभाव रखते हुए वे अपने-आप और सम्पूर्ण प्राणियोंमें उन सर्वव्यापक हरिको ही स्थित देखने लगे ॥ ११ ॥ ऐसे शीलसम्पन्न, ब्राह्मणभक्त, दीनवत्सल और धर्ममर्यादाकी रक्षा करनेवाले उन ध्रुवजीको उनकी प्रजा पिताके समान मानती थी ॥ १२ ॥ इस प्रकार नाना प्रकारके ऐश्वर्यभोगसे पुण्यका और यज्ञादि कर्मोंसे पापका क्षय करते हुए ध्रुवजीने छत्तीस सहस्र वर्ष पृथिवीका शासन किया ॥ १३ ॥ महात्मा ध्रुवने इस प्रकार संयतेन्द्रिय रहकर अर्थ, धर्म और कामकी सिद्धि करानेवाले कई वर्षोंका समय बिताकर अन्तमें अपने पुत्रको राज्यासन दे दिया ॥ १४ ॥ तथा अविद्यारचित स्वप्न और गन्धर्वनगरके समान इस सम्पूर्ण जगत्को अपने आत्मामें मायासे रचा हुआ मानकर और यह समझकर कि, शरीर, स्त्री, पुत्र, मित्र, सेना, सम्पत्तिसम्पन्न कोश, अन्तःपुर, सुरम्य विहारभूमि तथा आसमुद्र भूमण्डल—ये सभी कालके गालमें पड़े हुए हैं, बद्रिकाश्रमको चले गये ॥१५-१६॥ वहाँ पवित्र जलमें स्नानकर शुद्धचित्त हो स्थिर आसनसे बैठे; फिर उन्होंने प्राणोंको जीतकर मनसे इन्द्रियों-

१. प्रा० पा०—वरार्होस्त्वज० ।

बद्ध्वासनं जितमरुन्मनसा हृताक्षः ।
स्थूले दधार भगवत्प्रतिरूप एतद्
ध्यायंस्तदव्यवहितो व्यसृजत्समाधौ ॥१७॥
भक्तिं हरौ भगवति प्रवहन्नजस्र-
मानन्दबाष्पकलया मुहुरर्द्यमानः ।
विक्लिद्यमानहृदयः पुलकाचिताङ्गो
नात्मानमस्मरदसाविति मुक्तलिङ्गः ॥१८॥

स ददर्श विमानाग्र्यं नभसोऽवतरद्ध्रुवः ।
विभ्राजयद्दश दिशो राकापतिमिवोदितम् ॥१९॥
तत्रानु देवप्रवरौ चतुर्भुजौ
श्यामौ किशोरावरुणाम्बुजेक्षणौ ।
स्थिताववष्टभ्य गदां सुवाससौ
किरीटहाराङ्गदचारुकुण्डलौ ॥२०॥
विज्ञाय तावुत्तमगायकिङ्करा-
वभ्युत्थितः साध्वसविस्मृतक्रमः ।
ननाम नामानि गृणन्मधुद्विषः
पार्षत्प्रधानाविति संहताञ्जलिः ॥२१॥
तं कृष्णपादाभिनिविष्टचेतसं
बद्धाञ्जलिं प्रश्रयनम्रकन्धरम् ।
सुनन्दनन्दावुपसृत्य सस्मितं
प्रत्यूचतुः पुष्करनाभसम्मतौ ॥२२॥

सुनन्दनन्दावूचतुः

भो भो राजन्सुभद्रं ते वाचं नोऽवहितः शृणु ।
यः पञ्चवर्षस्तपसा भवान्देवमतीतृपत् ॥२३॥
तस्याखिलजगद्धातुरावां देवस्य शार्ङ्गिणः ।
पार्षदाविह संप्राप्तौ नेतुं त्वां भगवत्पदम् ॥२४॥

का दमन किया और अपने चित्तको भगवान्‌के विराट्स्वरूपमें स्थिर कर दिया। तदनन्तर अविच्छिन्न-रूपसे भगवान्‌के उसी स्वरूपका चिन्तन करते-करते अन्तमें उसे भी छोड़कर समाधिमें लीन हो गये [अर्थात् ध्याता, ध्यान, ध्येयरूप त्रिपुटीका त्याग कर दिया] ॥ १७ ॥ भगवान् हरिमें निरन्तर भक्तिभाव रखनेके कारण नेत्रोंमें बारम्बार आनन्दाश्रुकी बाढ़ आनेसे उनका हृदय द्रवीभूत हो गया, शरीरमें रोमाञ्च हो आया और देहाभिमानका ह्रास हो जानेके कारण उन्हें 'मैं राजा ध्रुव हूँ' यह भी सुधि न रही ॥१८॥

इसी समय ध्रुवजीने आकाशसे एक अति उत्तम विमान उतरता देखा जो अपने प्रकाशसे उदय होते हुए चन्द्रमाके समान दशों दिशाओंको आलोकित कर रहा था ॥ १९ ॥ उसमें दो पार्षदप्रवर गदाओंका सहारा लिये खड़े थे। उनके चार भुजाएँ, सुन्दर श्याम शरीर, किशोरावस्था और अरुणकमलके समान विशाल नयन थे तथा वे सुन्दर वस्त्र और किरीट, हार, अंगद तथा महामनोहर कुण्डलादि आभूषणोंसे विभूषित थे ॥ २० ॥ उन्हें भगवान् उत्तमश्लोकके पार्षद समझकर ध्रुवजी पूजा आदिका क्रम भूलकर सहसा उठ खड़े हुए और 'ये भगवान्‌के पार्षदोंमें प्रधान [नन्द-सुनन्द] हैं' ऐसा जानकर उन्होंने श्रीमधुसूदनके नाम उच्चारण करते हुए उन्हें हाथ जोड़कर प्रणाम किया ॥ २१ ॥ तदनन्तर भगवान् कमलनाभके माननीय पार्षद सुनन्द और नन्दने जिनका चित्त भगवान् कृष्णचन्द्रके चरणकमलोंमें लगा हुआ है और जो हाथ जोड़े बड़ी नम्रतासे शिर झुकाये सामने खड़े हैं उन ध्रुवजीके पास जाकर उनसे मुसकाते हुए कहा ॥ २२ ॥

सुनन्द और नन्दने कहा—हे राजन्! तुम्हारा कल्याण हो; तुम हमारा कथन सावधान होकर सुनो। जिन भगवान्‌को तुमने पाँच वर्षकी अवस्थामें प्रसन्न किया हम उन्हीं निखिलजगन्नियन्ता शार्ङ्गपाणि भगवान् विष्णुके दूत तुम्हें उनके परमधामको ले जानेके लिये आये हैं ॥ २३-२४ ॥

१. प्रा० पा०—कान्विता० । २. प्रा० पा०—मुक्तसंगः । ३. प्राचीन प्रतिमें नहीं है । ४. प्रा० पा०—वाचो । ५. प्रा० पा०—यं । ६. प्रा० पा०—द्धातुर्देवदेवस्य । ७. प्रा० पा०—वत्पुरम् ।

सुदुर्जयं विष्णुपदं जितं त्वया
यत्सूरयोऽप्राप्य विचक्षते परम् ।
आतिष्ठ तच्चन्द्रदिवाकरादयो
ग्रहर्क्षताराः परियन्ति दक्षिणम् ॥२५॥
अनास्थितं ते पितृभिरन्यैरप्यङ्ग कर्हिचित् ।
आतिष्ठ जगतां वन्द्यं तद्विष्णोः परमं पदम् ॥२६॥
एतद्विमानप्रवरमुत्तमश्लोकमौलिना ।
उपस्थापितमायुष्मन्नधिरोढुं त्वमर्हसि ॥२७॥

मैत्रेय उवाच

निशम्य वैकुण्ठनियोज्यमुख्ययो-
र्मधुच्युतं वाचमुरुक्रमप्रियः ।
कृताभिषेकः कृतनित्यमङ्गलो
मुनीन्प्रणम्याशिषमभ्यवादयत् ॥२८॥
परीत्याभ्यर्च्य धिष्ण्याग्र्यं पार्षदावभिवन्द्य च ।
इयेष तदधिष्ठातुं बिभ्रद्रूपं हिरण्मयम् ॥२९॥
तदोत्तानपदः पुत्रो ददर्शान्तकमागतम् ।
मृत्योर्मूर्ध्नि पदं दत्त्वा आरुरोहाद्भुतं गृहम् ॥३०॥
तदा दुन्दुभयो नेदुर्मृदङ्गपणवादयः ।
गन्धर्वमुख्याः प्रजगुः पेतुः कुसुमवृष्टयः ॥३१॥
स च स्वर्लोकमारोक्ष्यन्सुनीतिं जननीं ध्रुवः ।
अन्वस्मरदगं हित्वा दीनां यास्ये त्रिविष्टपम् ॥३२॥
इति व्यवसितं तस्य व्यवसाय सुरोत्तमौ ।
दर्शयामासतुर्देवीं पुरो यानेन गच्छतीम् ॥३३॥
तत्र तत्र प्रशंसद्भिः पथि वैमानिकैः सुरैः ।
अवकीर्यमाणो ददृशे कुसुमैः क्रमशो ग्रहान् ॥३४॥

तुमने, जिसे कोई भी नहीं जीत सकता, उस विष्णुपदको प्राप्त किया है; परम ज्ञानी सप्तर्षि-गण भी उसे न पाकर केवल नीचेसे देखते रहते हैं। जिसकी सूर्य-चन्द्र आदि ग्रह, नक्षत्र और तारागण भी निरन्तर प्रदक्षिणा करते हैं उस परमपदपर तुम आरूढ़ हो जाओ ॥ २५ ॥ हे प्रिय ! जिस पदको तुम्हारे पितृगण अथवा और कोई भी आजतक नहीं प्राप्त कर सके, भगवान् विष्णुके उस जगद्वन्द्य परमपदपर तुम विराजमान हो जाओ ॥२६॥ यह श्रेष्ठ विमान पुण्यकीर्तिशिरोमणि श्रीहरिने भेजा है। हे आयुष्मन् ! तुम इसपर चढ़ जाओ ॥२७॥

श्रीमैत्रेयजी बोले—भगवान् विष्णुके प्रमुख पार्षदोंके ये अमृतमय वचन सुनकर परम भागवत ध्रुवजीने स्नान किया और नैत्यिक मङ्गलकृत्योंसे निवृत्त हो बद्रिकाश्रमवासी मुनीश्वरोंको प्रणामकर उनका आशीर्वाद ग्रहण किया ॥ २८ ॥ फिर उस विमानश्रेष्ठकी प्रदक्षिणा और वन्दना कर पार्षदोंको प्रणाम किया एवं सुवर्णमय स्वरूप धारणकर उसपर चढ़नेके लिये उद्यत हुए ॥ २९ ॥ इसी समय उत्तानपादनन्दन ध्रुवने देखा कि काल मूर्तिमान् होकर उनके सामने खड़ा है। तब वे मृत्युके शिरपर पैर रखकर उस अद्भुत विमानपर चढ़े ॥ ३० ॥ उस समय देवगण दुन्दुभि, मृदंग और पणव आदि बाजे बजाने लगे, गन्धर्वश्रेष्ठ गान करने लगे और आकाशसे फूलोंकी वर्षा होने लगी ॥ ३१ ॥ स्वर्ग-लोकको जाते समय ध्रुवजीको अपनी माता सुनीतिका स्मरण हो आया। वे सोचने लगे 'क्या मैं अपनी दीना माताको छोड़कर दुर्गम स्वर्गलोकको अकेले ही जाऊँ ?' ॥ ३२ ॥ देवश्रेष्ठ नन्द और सुनन्दने उनका यह विचार जान लिया और उन्हें आगे विमानपर बैठकर जाती हुई देवी सुनीतिको दिखाया ॥ ३३ ॥ फिर ध्रुवजीने आगे जाकर क्रमसे सूर्य आदि ग्रहोंको देखा, मार्गमें जहाँ-तहाँ विमानोंपर बैठे हुए देवता लोग उनकी प्रशंसा करते हुए फूलोंकी वर्षा करते थे ॥३४॥

१. प्रा० पा०—कृतकृत्यम० । २. प्राचीन प्रतिमें 'तदोत्तान···' से लेकर '···गृहम्' तक पूरा श्लोक नहीं है । ३. प्रा० पा०—यास्यन् ।

त्रिलोकीं देवयानेन सोऽतिव्रज्य मुनीनपि ।
परस्ताद्यद्ध्रुवगतिर्विष्णोः पदमथाभ्यगात् ॥३५॥

[1]यद्भ्राजमानं स्वरुचैव सर्वतो
लोकास्त्रयो ह्यनुविभ्राजन्त एते ।
[2]यन्नाव्रजञ्जन्तुषु येऽननुग्रहा
व्रजन्ति भद्राणि चरन्ति येऽनिशम् ॥३६॥

शान्ताः समदृशः शुद्धाः सर्वभूतानुरञ्जनाः[3] ।
यान्त्यञ्जसाच्युतपदमच्युतप्रियबान्धवाः ॥३७॥

इत्युत्तानपदः पुत्रो ध्रुवः कृष्णपरायणः ।
अभूत्त्रयाणां लोकानां चूडामणिरिवामलः ॥३८॥

गम्भीरवेगोऽनिमिषं ज्योतिषां चक्रमाहितम्[4] ।
यस्मिन्भ्रमति कौरव्य मेढ्यामिव गवां गणः ॥३९॥

महिमानं विलोक्यास्य नारदो भगवानृषिः ।
आतोद्यं वितुदञ्श्लोकान्सत्रेऽगायत्प्रचेतसाम् ॥४०॥

[5]नारद उवाच

नूनं सुनीतेः पतिदेवताया-
स्तपःप्रभावस्य सुतस्य तां गतिम् ।
दृष्ट्वाभ्युपायानपि वेदवादिनो
नैवाधिगन्तुं प्रभवन्ति किं नृपाः ॥४१॥

यः पञ्चवर्षो गुरुदारवाक्छरै-
र्भिन्नेन यातो हृदयेन दूयता ।
वनं मदादेशकरोऽजितं प्रभुं[6]
जिगाय तद्भक्तगुणैः[7] पराजितम् ॥४२॥

यः क्षत्रबन्धुर्भुवि तस्याधिरूढ-
मन्वारुरुक्षेदपि वर्षपूगैः ।

इस प्रकार उस दिव्य विमानपर आरूढ़ हो ध्रुव गतिको प्राप्त करनेवाले ध्रुवजी त्रिलोकीको पारकर सप्तर्षिमण्डलसे भी ऊपर जा भगवान् विष्णुके परमधाममें पहुँचे ॥३५॥ जो सब ओर अपने ही प्रकाशसे प्रकाशित है, जिसके प्रकाशसे ये तीनों लोक आलोकित हैं; जिसमें जीवोंपर निर्दयता करनेवाले पुरुष नहीं जा सकते, बल्कि जो अहर्निश शुभ कर्म करते हैं वे ही जा सकते हैं ॥ ३६ ॥ जो शान्त, समदर्शी, शुद्ध और सब प्राणियोंको प्रसन्न रखनेवाले हैं वे भगवान् अच्युतके प्रिय बान्धव उनके उस परमपदको सुगमतासे प्राप्त कर लेते हैं ॥ ३७ ॥

इस प्रकार उत्तानपादके पुत्र भगवत्परायण ध्रुवजी तीनों लोकोंके ऊपर उसकी निर्मल चूडामणिके समान विराजमान हुए ॥ ३८ ॥ हे कुरुनन्दन ! जिस प्रकार [दायँ (दौंरी) चलानेके समय] खम्भेके चारों ओर बैलोंका समूह घूमा करता है उसी प्रकार उस ध्रुवलोकके आश्रय ही यह गम्भीर वेगवाला ज्योतिश्चक्र सदा घूमता रहता है ॥ ३९ ॥ इसकी महिमाको देखकर देवर्षि नारदने प्रचेताओंकी यज्ञशालामें वीणा बजाकर हरिगुण गाते समय इन तीन श्लोकोंको कहा था ॥ ४० ॥

नारदजी बोले—निश्चय ही, पतिपरायणा सुनीतिके पुत्र ध्रुवजीको उनकी तपस्याके प्रभावसे जो गति प्राप्त हुई है उसे भागवत धर्मोंको जाननेवाले वेदवादी मुनिगण भी नहीं पा सकते, फिर राजाओंकी तो बात ही क्या है ? ॥ ४१ ॥ उन ध्रुवजीने अपनी पाँच वर्षकी ही अवस्थामें सौतेली माताके वाग्बाणोंसे मर्माहत होकर दुःखी हृदयसे वनमें जा मेरे उपदेशके अनुसार आचरण करते हुए अपने भक्तोंके गुणगानसे जीते जानेवाले अजेय प्रभुको अपने अधीन कर लिया ॥ ४२ ॥ अहो ! ध्रुवजीने अपनी पाँच-छः वर्षकी अवस्थामें कुछ ही दिनोंमें भगवान् विष्णुको प्रसन्न कर जिस परमपदको प्राप्त किया है उस उनके द्वारा प्राप्त किये

१. प्रा० पा०—विभ्रा० । २. प्रा० पा०—ये वत्सला जन्तुषु येष्वनुग्रहं । ३. प्रा० पा०—रञ्जकाः । ४. प्रा० पा०—मर्पितम् । ५. प्राचीन प्रतिमें 'नारद उवाच' यह पाठ नहीं है । ६. प्रा० पा०—विभुं । ७. प्रा० पा०—तद्भक्तगणैः ।

षट्पञ्चवर्षो[1] यदहोभिरल्पैः
प्रसाद्य वैकुण्ठमवाप तत्पदम् ॥४३॥

मैत्रेय उवाच

एतत्तेऽभिहितं सर्वं यत्पृष्टोऽहमिह त्वया ।
ध्रुवस्योद्दामयशसश्चरितं सम्मतं सताम् ॥४४॥
धन्यं यशस्यमायुष्यं पुण्यं स्वस्त्ययनं महत् ।
स्वर्ग्यं ध्रौव्यं सौमनस्यं प्रशस्यमघमर्षणम् ॥४५॥
श्रुत्वैतच्छ्रद्धयाभीक्ष्णमच्युतप्रियचेष्टितम्[2] ।
भवेद्भक्तिर्भगवति यथा[3] स्यात्क्लेशसंक्षयः ॥४६॥
महत्त्वमिच्छतां[4] तीर्थं[5] श्रोतुः शीलादयो गुणाः ।
यत्र तेजस्तदिच्छूनां मानो यत्र मनस्विनाम् ॥४७॥
प्रयतः कीर्तयेत्प्रातः समवाये द्विजन्मनाम् ।
सायं च पुण्यश्लोकस्य ध्रुवस्य चरितं महत् ॥४८॥
पौर्णमास्यां सिनीवाल्यां द्वादश्यां श्रवणेऽथ वा ।
दिनक्षये व्यतीपाते संक्रमेऽर्कदिनेऽपि[6] वा ॥४९॥
श्रावयेच्छ्रद्दधानानां तीर्थपादपदाश्रयः[7] ।
नेच्छंस्तत्रात्मनात्मानं संतुष्ट इति सिध्यति ॥५०॥
ज्ञानमज्ञाततत्त्वाय यो दद्यात्सत्पथेऽमृतम्[8] ।
कृपालोर्दीननाथस्य देवास्तस्यानुगृह्णते ॥५१॥
इदं मया तेऽभिहितं कुरूद्वह
ध्रुवस्य विख्यातविशुद्धकर्मणः ।
हित्वार्भकः क्रीडनकानि मातु-
र्गृहं च विष्णुं शरणं[9] यो जगाम ॥५२॥

हुए पदको कोई अन्य क्षत्रिय क्या अनेकों वर्षतक तपस्या करके भी पानेकी इच्छा कर सकता है ? ॥ ४३ ॥

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—हे विदुर ! तुमने जो मुझसे पूछा था, सो मैंने तुम्हें साधु पुरुषोंसे सम्मान्य परम यशस्वी ध्रुवजीका सब चरित्र सुना दिया ॥ ४४ ॥ यह ध्रुवचरित्र धन, यश और आयुको बढ़ानेवाला तथा पवित्र एवं अत्यन्त मङ्गलमय है। इतना ही नहीं, वह स्वर्ग और ध्रुवपद प्रदान करनेवाला तथा मनोज्ञ, प्रशंसनीय और पापनाशक है ॥४५॥ श्रीअच्युतके प्रिय भक्त ध्रुवके इस पवित्र चरित्रको श्रद्धापूर्वक बार-बार सुननेसे भगवान्‌की भक्ति प्राप्त होती है, जिससे सब दुःखोंका नाश हो जाता है ॥४६॥ यह चरित्र महत्त्वकी इच्छावालोंको महत्त्वप्राप्तिका साधन है, इसे सुननेवालोंको शील आदि गुण प्राप्त होते हैं तथा इसके द्वारा तेजकी इच्छावालोंको तेज और मनस्वियोंको मान मिलता है ॥ ४७ ॥ पवित्रकीर्ति ध्रुवजीके इस महान् चरित्रका प्रातःकाल और सायंकालके समय ब्राह्मणादि द्विजातियोंके समूहमें एकाग्रचित्तसे कीर्तन करना चाहिये ॥ ४८ ॥ भगवान्‌के परम पवित्र चरणकमलोंके आश्रित रहनेवाला जो पुरुष इसे पूर्णिमा, अमावास्या, द्वादशी, श्रवणनक्षत्र, तिथिक्षय, व्यतीपात, संक्रान्ति या रविवारके दिन श्रद्धालु पुरुषोंको सुनाता है उसे यदि कोई भी इच्छा न हो तो अपने आत्माके द्वारा आत्मामें ही संतुष्ट होनारूप सिद्धि प्राप्त होती है ॥ ४९-५० ॥ तथा जो पुरुष भगवन्मार्गके मर्मको न जाननेवाले लोगोंको यह भगवद्विषयक अमृतरूप ज्ञान देता है उस दीनवत्सल कृपालुपर देवता लोग अनुग्रह करते हैं ॥ ५१ ॥ हे कुरुकुलनन्दन ! जो अपनी बाल्यावस्थामें ही माताके घर और खिलौनोंको छोड़कर भगवान् विष्णुकी शरणमें चले गये थे तथा जिनके कर्म सर्वत्र प्रसिद्ध और परम पवित्र हैं उन ध्रुवजीका यह पवित्र चरित्र मैंने तुम्हें सुना दिया ॥ ५२ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे चतुर्थस्कन्धे ध्रुवचरितं[9] नाम द्वादशोऽध्यायः[10] ॥ १२ ॥

१. प्रा० पा०—यत्पञ्च० । २. प्रा० पा०—श्रुत्वेमं श्रद्ध० । ३. प्रा० पा०—यस्य । ४. प्रा० पा०—च्छतोऽत्यर्थं श्रो० । ५. प्रा० पा०—ऽथवा । ६. प्रा० पा०—श्रीमत्प्रत्ययदाश्रयः । ७. प्रा० पा०—द्याच्छुद्धधीमते । ८. प्राचीन प्रतिमें 'यो' नहीं है । ९. प्रा० पा०—ध्रुवारोहणं । १०. प्रा० पा०—एकादशो० ।

तेरहवाँ अध्याय

ध्रुववंशका वर्णन-अंगचरित्र।

सूत उवाच

निशम्य कौषारविणोपवर्णितं
ध्रुवस्य वैकुण्ठपदाधिरोहणम् ।
प्ररूढभावो भगवत्यधोक्षजे
प्रष्टुं पुनस्तं विदुरः प्रचक्रमे ॥ १ ॥

विदुर उवाच

के ते प्रचेतसो नाम कस्यापत्यानि सुव्रत ।
कस्यान्ववाये प्रख्याताः कुत्र वा सत्रमासत ॥ २ ॥
मन्ये महाभागवतं नारदं देवदर्शनम् ।
येन प्रोक्तः क्रियायोगः परिचर्याविधिर्हरेः ॥ ३ ॥
स्वधर्मशीलैः पुरुषैर्भगवान्यज्ञपूरुषः ।
इज्यमानो भक्तिमता नारदेनेरितः किल ॥ ४ ॥
यास्ता देवर्षिणा तत्र वर्णिता भगवत्कथाः ।
मह्यं शुश्रूषवे ब्रह्मन्कार्त्स्न्येनाचष्टुमर्हसि ॥ ५ ॥

मैत्रेय उवाच

ध्रुवस्य चोत्कलः पुत्रः पितरि प्रस्थिते वनम् ।
सार्वभौमश्रियं नैच्छदधिराजासनं पितुः ॥ ६ ॥
स जन्मनोपशान्तात्मा निःसङ्गः समदर्शनः ।
ददर्श लोके विततमात्मानं लोकमात्मनि ॥ ७ ॥
आत्मानं ब्रह्मनिर्वाणं प्रत्यस्तमितविग्रहम् ।
अवबोधरसैकात्म्यमानन्दमनुसंततम् ॥ ८ ॥
अव्यवच्छिन्नयोगाग्निदग्धकर्ममलाशयः ।
स्वरूपमवरुन्धानो नात्मनोऽन्यं तदैक्षत ॥ ९ ॥
जडान्धबधिरोन्मत्तमूकाकृतिरतन्मतिः ।

श्रीसूतजी बोले—हे मुने ! इस प्रकार मैत्रेयजीके मुखसे ध्रुवजीके विष्णुपदपर आरूढ़ होनेका वृत्तान्त सुनकर जिनके हृदयमें भगवान् विष्णुकी भक्तिका उद्रेक हो रहा था वे विदुरजी फिर पूछने लगे ॥ १ ॥

विदुरजी बोले—हे सुव्रत ! वे प्रचेतालोग कौन थे ? किसके पुत्र थे ? और किसके वंशमें कहे जाते थे ? और इन्होंने कहाँपर यज्ञ किया था ? ॥ २ ॥ हे ब्रह्मन् ! जिन्होंने श्रीहरिकी पूजाविधिरूप क्रियायोगका निरूपण किया है, भगवान्‌का साक्षात् दर्शन करनेवाले उन नारदजीको मैं परम भगवद्भक्त मानता हूँ ॥ ३ ॥ आपके कथनानुसार ऐसा प्रतीत होता है कि जिस समय प्रचेतागण अपने धर्मका आचरण करते हुए भगवान् यज्ञपुरुषका भजन कर रहे थे, उसी समय भक्तिमान् नारदजीने उन्हींका गुणगान किया था ॥ ४ ॥ सो, हे ब्रह्मन् ! उस स्थानपर देवर्षि नारदजीने जिन-जिन भगवच्चरित्रोंका वर्णन किया था वे सब मुझे सुनाइये । मुझे उन्हें सुननेकी बड़ी इच्छा है ॥ ५ ॥

श्रीमैत्रेयजी बोले—हे विदुर ! ध्रुवजीके पुत्र उत्कलने पिताके वनगमनके अनन्तर उनके सार्वभौम सम्पत्तिसे युक्त राजसिंहासनकी तनिक भी इच्छा न की ॥६॥ वह जन्मसे ही शान्तचित्त, असंग और समदर्शी था तथा सम्पूर्ण लोकमें अपने आत्माको और अपने आत्मामें सम्पूर्ण लोकको स्थित देखता था ॥ ७ ॥ अखण्ड योगाग्निसे कर्मोंके संस्कार भस्मीभूत हो जानेके कारण वह सम्पूर्ण भेदोंसे रहित, एकमात्र ज्ञानस्वरूप, आनन्दमय, सर्वव्यापक और निर्वाणरूप ब्रह्मको ही अपना आत्मस्वरूप मानकर अपने आत्माके सिवा और कुछ भी नहीं देखता था ॥ ८-९ ॥ वह मूर्ख लोगोंको मार्गमें जाते हुए जड, अन्धे, बहिरे, उन्मत्त और मूकके समान जान पड़ता था; किन्तु वास्तवमें वह ऐसा नहीं था, बल्कि जिसकी लपटें शान्त हो गयी

१. प्रा० पा०—भगवता ।

लक्षितः पथि बालानां प्रशान्तार्चिरिवानलः ॥१०॥
मत्वा तं जडमुन्मत्तं कुलवृद्धाः समन्त्रिणः ।
वत्सरं भूपतिं चक्रुर्यवीयांसं भ्रमेः सुतम् ॥११॥
स्वर्वीथिर्वत्सरस्येष्टा भार्यासूत षडात्मजान् ।
पुष्पार्णं तिग्मकेतुं च इषमूर्जं वसुं जयम् ॥१२॥
पुष्पार्णस्य प्रभा भार्या दोषा च द्वे बभूवतुः ।
प्रातर्मध्यन्दिनं सायमिति ह्यासन्प्रभासुताः ॥१३॥
प्रदोषो निशिथो व्युष्ट इति दोषासुतास्त्रयः ।
व्युष्टः सुतं पुष्करिण्यां सर्वतेजसमादधे ॥१४॥
स चक्षुः सुतमाकूत्यां पत्न्यां मनुमवाप ह ।
मनोरसूत महिषी विरजान्नड्वला सुतान् ॥१५॥
पुरुं कुत्सं त्रितं द्युम्नं सत्यवन्तमृतं व्रतम् ।
अग्निष्टोममतीरात्रं प्रद्युम्नं शिबिमुल्मुकम् ॥१६॥
उल्मुकोऽजनयत्पुत्रान्पुष्करिण्यां षडुत्तमान् ।
अङ्गं सुमनसं ख्यातिं क्रतुमङ्गिरसं गयम् ॥१७॥
सुनीथाङ्गस्य या पत्नी सुषुवे वेनमुल्बणम् ।
यद्दौःशील्यात्स राजर्षिर्निर्विण्णो निरगात्पुरात् ॥१८॥
यमङ्ग शेपुः कुपिता वाग्वज्रा मुनयः किल ।
गतासोस्तस्य भूयस्ते ममन्थुर्दक्षिणं करम् ॥१९॥
अराजके तदा लोके दस्युभिः पीडिताः प्रजाः ।
जातो नारायणांशेन पृथुराद्यः क्षितीश्वरः ॥२०॥

विदुर उवाच

तस्य शीलनिधेः साधोर्ब्रह्मण्यस्य महात्मनः ।
राज्ञः कथमभूद्दुष्टा प्रजा यद्विमना ययौ ॥२१॥
किं वांहो वेन उद्दिश्य ब्रह्मदण्डमयूयुजन् ।
दण्डव्रतधरे राज्ञि मुनयो धर्मकोविदाः ॥२२॥

हैं उस अग्निके समान गूढ़ भावसे परम तेजस्वी था ॥१०॥ इसलिये बड़े-बूढ़े और मन्त्रियोंने उसे मूर्ख और उन्मत्त समझकर उसके छोटे भाई वत्सरको, जो ध्रुवजीकी स्त्री भ्रमिका पुत्र था, राजा बनाया ॥११॥

वत्सरकी प्रेयसी भार्या स्वर्वीथिने पुष्पार्ण, तिग्मकेतु, इष, ऊर्ज, वसु और जय नामक छः पुत्र उत्पन्न किये ॥१२॥ पुष्पार्णके प्रभा और दोषा नामकी दो स्त्रियाँ थीं। उनमेंसे प्रभाके प्रातः, मध्यन्दिन और सायं नामक तीन पुत्र हुए ॥१३॥ तथा दोषाके प्रदोष, निशिथ और व्युष्ट—ये तीन पुत्र हुए। व्युष्टने अपनी भार्या पुष्करिणीसे सर्वतेजस् नामक पुत्र उत्पन्न किया ॥१४॥ उसने अपनी आकूति नामकी स्त्रीसे चक्षुमनुको पुत्ररूपमें प्राप्त किया। मनुकी स्त्री नड्वलाने पुरु, कुत्स, त्रित, द्युम्न, सत्यवान्, ऋत, व्रत, अग्निष्टोम, अतीरात्र, प्रद्युम्न, शिबि और उल्मुक नामके (बारह) निर्दोष बालक उत्पन्न किये ॥१५-१६॥ उनमेंसे उल्मुकके पुष्करिणी नामकी भार्यासे अंग, सुमनस्, ख्याति, क्रतु, अंगिरस् और गय नामक छः श्रेष्ठ पुत्र उत्पन्न हुए ॥१७॥ तदनन्तर अंगकी पत्नी सुनीथाने क्रूरकर्मा वेनको जन्म दिया, जिसकी दुष्टतासे खिन्न होकर राजर्षि अंग नगर छोड़कर चले गये थे ॥१८॥ तथा हे विदुरजी ! जिनके वाक्य वज्रके समान दुर्निवार थे उन मुनीश्वरोंने कुपित होकर उस वेनको शाप दिया था और फिर उसके मृतक शरीरकी दाहिनी भुजाका मन्थन किया था ॥१९॥ इस प्रकार पृथिवीलोकके राजाहीन हो जानेसे जब लुटेरे सम्पूर्ण प्रजाको पीडित करने लगे तो श्रीविष्णुभगवान्‌के अंशसे आदि सम्राट् महाराज पृथुका जन्म हुआ ॥२०॥

विदुरजीने पूछा—हे ब्रह्मन् ! महाराज अंग तो बड़े शीलसम्पन्न, साधुस्वभाव, ब्राह्मणभक्त और महात्मा थे। उनके वेन-जैसा दुष्ट पुत्र कैसे हुआ ? जिसके कारण वे उदास होकर नगरसे निकल गये ॥२१॥ तथा धर्मको जाननेवाले मुनीश्वरोंने भी वेनमें ऐसा क्या अपराध देखा जिसके कारण दुष्टोंका दमन करना ही जिसका व्रत है उस राजाको शापरूप ब्रह्मदण्ड दिया ? ॥२२॥

नावध्येयः प्रजापालः प्रजाभिरघवानपि ।
यदसौ लोकपालानां बिभर्त्योजः स्वतेजसा ॥२३॥
एतदाख्याहि मे ब्रह्मन्सुनीथात्मजचेष्टितम् ।
श्रद्दधानाय भक्ताय त्वं परावरवित्तमः ॥२४॥

प्रजाका पालन करनेवाले राजाका तो, यदि वह कोई अपराध भी करे तो भी प्रजाको उसका तिरस्कार नहीं करना चाहिये, क्योंकि वह अपने प्रभावसे इन्द्रादि लोकपालोंके तेजको ही धारण किये होता है ॥२३॥ हे ब्रह्मन् ! मुझ श्रद्धालु भक्तको सुनीथानन्दन वेनकी वह सब करतूत सुनाइये, क्योंकि आप भूत-भविष्यत्‌की बात जाननेवालोंमें सर्वश्रेष्ठ हैं ॥२४॥

मैत्रेय उवाच

अङ्गोऽश्वमेधं राजर्षिराजहार महाक्रतुम् ।
नाजग्मुर्देवतास्तस्मिन्नाहूता ब्रह्मवादिभिः ॥२५॥
तमूचुर्विस्मितास्तत्र यजमानमथर्त्विजः ।
हवींषि हूयमानानि न ते गृह्णन्ति देवताः ॥२६॥
राजन्हवींष्यदुष्टानि श्रद्धयासादितानि ते ।
छन्दांस्ययातयामानि योजितानि धृतव्रतैः ॥२७॥
न विदामेह देवानां हेलनं वयमण्वपि ।
यन्न गृह्णन्ति भागान्स्वान्ये देवाः कर्मसाक्षिणः ।२८।

श्रीमैत्रेयजी बोले—हे विदुर ! एक बार राजर्षि अंगने अश्वमेध नामक महायज्ञका अनुष्ठान किया; किन्तु उसमें वेदवादी याज्ञिकोंके आवाहन करनेपर भी देवता लोग अपना भाग लेने नहीं आये ॥२५॥ तब उन ऋत्विजोंने अति विस्मित होकर यजमान अंगसे कहा "राजन् ! हमारे हवन करनेपर भी देवता लोग तुम्हारे हविको ग्रहण नहीं करते । हम जानते हैं, तुम्हारी होमसामग्री दूषित नहीं है, तुमने उसे बड़ी श्रद्धापूर्वक जुटाया है तथा वेदमन्त्र भी ब्रह्मचर्य आदि व्रतोंका पालन करनेवाले ब्राह्मणोंद्वारा प्रयोग किये जानेसे किसी प्रकार बलहीन नहीं हैं ॥२६-२७॥ हमें ऐसी कोई बात नहीं दीखती जिससे देवताओंका अणुमात्र भी तिरस्कार हुआ हो, फिर भी न जाने कर्माध्यक्ष देवतालोग क्यों अपना भाग ग्रहण नहीं करते ?" ॥२८॥

मैत्रेय उवाच

अङ्गो द्विजवचः श्रुत्वा यजमानः सुदुर्मनाः ।
तत्प्रष्टुं व्यसृजद्वाचं सदस्यांस्तदनुज्ञया ॥२९॥
नागच्छन्त्याहुता देवा न गृह्णन्ति ग्रहानिह ।
सदसस्पतयो ब्रूत किमवद्यं मया कृतम् ॥३०॥

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—विदुरजी ! ऋत्विजोंके ये वचन सुनकर यजमान अंग बहुत उदास हुए और उनकी आज्ञासे [मौन छोड़कर] सदस्योंसे इस प्रकार कहा—॥२९॥ "हे सदस्यगण ! देवतालोग आवाहन करनेपर भी इस यज्ञमें नहीं आ रहे हैं और न अपना भाग ही ग्रहण करते हैं, अतः बतलाइये, मुझसे ऐसा क्या अपराध बना है ?" ॥३०॥

सदसस्पतय ऊचुः

नरदेवेह भवतो नाघं तावन्मनाक् स्थितम् ।
अस्त्येकं प्राक्तनमघं यदिहेदृक् त्वमप्रजः ॥३१॥

सदस्यगण बोले—राजन् ! इस समय तो तुमसे अणुमात्र भी अपराध नहीं बना, किन्तु जिसके कारण तुम पुत्रहीन हो, ऐसा एक तुम्हारे पूर्वजन्मका अपराध अवश्य है ।३१।

१. प्रा० पा०—तदूचु० । २. प्रा० पा०—भवता चावद्यं किं क्रियान्वितम् । ३. प्रा० पा०—प्राक्तनावद्यम् ।

तथा साधय भद्रं ते आत्मानं सुप्रजं नृप ।
इष्टस्ते पुत्रकामस्य पुत्रं दास्यति यज्ञभुक् ॥३२॥
तथा स्वभागधेयानि ग्रहीष्यन्ति दिवौकसः ।
यद्यज्ञपुरुषः साक्षादपत्याय हरिर्वृतः ॥३३॥
तांस्तान्कामान्हरिर्दद्यान्नान्यान्कामयते जनः ।
आराधितो यथैवैष तथा पुंसां फलोदयः ॥३४॥

इसलिये पहले तुम सत्संतानयुक्त होनेका उपाय करो । तुम्हारा कल्याण हो । भगवान् यज्ञपति, तुम्हारेद्वारा पुत्रकी कामनासे पूजित होनेपर तुम्हें पुत्र प्रदान करेंगे ॥३२॥ इसलिये जिस समय तुम सन्तानके लिये साक्षात् यज्ञपुरुष श्रीहरिको वरण करोगे उसी समय देवतालोग तुम्हारा दिया हुआ अपना यज्ञभाग भी ग्रहण करेंगे ॥३३॥ भक्त जिस-जिस वस्तुकी इच्छा करता है, श्रीहरि उसे वे ही पदार्थ देते हैं, दूसरे नहीं । जिस प्रकार उनकी आराधना की जाती है उसी प्रकार फल भी मिलता है ॥३४॥

इति व्यवसिता विप्रास्तस्य राज्ञः प्रजातये ।
पुरोडाशं निरवपन् शिपिविष्टाय विष्णवे ॥३५॥
तस्मात्पुरुष उत्तस्थौ हेममाल्यमलाम्बरः ।
हिरण्मयेन पात्रेण सिद्धमादाय पायसम् ॥३६॥
स विप्रानुमतो राजा गृहीत्वाञ्जलिनौदनम् ।
अवघ्राय मुदा युक्तः प्रादात्पत्न्या उदारधीः ॥३७॥
सा तत्पुंसवनं राज्ञी प्राश्य वै पत्युरादधे ।
गर्भं काल उपावृत्ते कुमारं सुषुवेऽप्रजाः ॥३८॥
स बाल एव पुरुषो मातामहमनुव्रतः ।
अधर्मांशोद्भवं मृत्युं तेनाभवदधार्मिकः ॥३९॥

इस प्रकार राजाकी पुत्रप्राप्तिके लिये निश्चयकर ऋत्विजोंने पशुमें यज्ञरूपसे विराजमान रहनेवाले श्रीविष्णु भगवान्‌की आराधनाके लिये पुरोडाश समर्पण किया ॥३५॥ अग्निमें आहुति डालते ही अग्निकुण्डसे सुवर्णमय माला और निर्मल वस्त्रोंसे विभूषित एक पुरुष प्रकट हुए । वे एक सोनेके पात्रमें सिद्ध हुआ पायस (खीर) लिये हुए थे ॥३६॥ तब ऋत्विजोंके कहनेसे उदारबुद्धि राजा अंगने अपनी अञ्जलीमें वह खीर ले ली और उसे स्वयं सूँघकर प्रसन्नतापूर्वक अपनी पत्नीको दे दी ॥३७॥ तब पुत्रहीना रानीने उस पुत्रप्रदायिनी खीरको खाकर अपने पतिके सहवाससे गर्भ धारण किया और समय प्राप्त होनेपर एक पुत्र उत्पन्न किया ॥३८॥ वह बालकालसे ही अधर्मके वंशमें उत्पन्न हुए अपने नाना मृत्युका अनुगामी था । इसलिये वह अधार्मिक ही हुआ ॥३९॥

स शरासनमुद्यम्य मृगयुर्वनगोचरः ।
हन्त्यसाधुर्मृगान्दीनान्वेनोऽसावित्यरौज्जनः ॥४०॥
आक्रीडे क्रीडतो बालान्वयस्यानतिदारुणः ।
प्रसह्य निरनुक्रोशः पशुमारममारयत् ॥४१॥

वह दुष्ट बालक हाथमें धनुष-बाण ले वनमें जाकर व्याधेके समान बेचारे भोले-भाले मृगोंको मारता था तथा प्रजाजन उसे देखकर 'अरे वेन आया ! वेन आया !' ऐसा कहकर चिल्लाने लगते थे ॥४०॥ वेन ऐसा क्रूर और निर्दयी था कि खेलनेके समय अपने समवयस्क बालकोंको खेल-ही-खेलमें बलात्कारसे यज्ञपशुके समान [मुक्कोंकी मारसे] मार डालता था ॥४१॥

१. प्रा० पा०—यावत्पुंस० । २. प्राचीन प्रतिमें 'बालान्वयस्यानतिदारुणः ।' इतना अंश खण्डित है ।

तं विचक्ष्य खलं पुत्रं शासनैर्विविधैर्नृपः ।
यदा न शासितुं कल्पो भृशमासीत्सुदुर्मनाः ॥४२॥
प्रायेणाभ्यर्चितो देवो येऽप्रजा गृहमेधिनः ।
कदपत्यभृतं दुःखं ये न विन्दन्ति दुर्भरम् ॥४३॥
यतः पापीयसी कीर्तिरधर्मश्च महानृणाम् ।
यतो विरोधः सर्वेषां यत आधिरनन्तकः ॥४४॥
कस्तं प्रजापदेशं वै मोहबन्धनमात्मनः ।
पण्डितो बहु मन्येत यदर्थाः क्लेशदा गृहाः ॥४५॥
कदपत्यं वरं मन्ये सदपत्याच्छुचां पदात् ।
निर्विद्येत गृहान्मर्त्यो यत्क्लेशनिवहा गृहाः ॥४६॥

अपने दुष्ट पुत्रकी ऐसी करतूतें देखकर राजा अंगने उसे बहुत कुछ समझाया। किन्तु उसे सुमार्गपर लानेमें समर्थ न हुए। इसलिये उन्हें बड़ा ही दुःख हुआ ॥४२॥ वे मन-ही-मन कहने लगे, 'जो गृहस्थ पुरुष पुत्रहीन हैं उन्होंने अवश्य ही पूर्वजन्ममें श्रीहरिकी आराधना की होगी, क्योंकि उन्हें कुपुत्रसे होनेवाले असह्य कष्टका अनुभव नहीं करना पड़ता ॥४३॥ जिसके कारण सारा सुयश मिट्टीमें मिल जाता है, मनुष्यको महान् अधर्मका भागी होना पड़ता है, सबसे विरोध हो जाता है, कभी दूर न होनेवाला मानसिक सन्ताप उठाना पड़ता है तथा घर दुःखरूप हो जाता है उस अपनेको मोहबन्धनमें डालनेवाले नाममात्रके पुत्रको ऐसा कौन बुद्धिमान् है जो बहुत आदरकी दृष्टिसे देखेगा? ॥४४-४५॥ तब भी [बिछुड़नेपर] शोकाकुल करनेवाले सुपुत्रकी अपेक्षा तो मेरे विचारसे कुपुत्र ही अच्छा है जिसके कारण घर दुःखमय हो जानेसे पुरुषको उससे वैराग्य हो जाता है [जो कल्याणका खुला मार्ग ही है]' ॥४६॥

एवं स निर्विण्णमना नृपो गृहा-
न्निशीथ उत्थाय महोदयोदयात् ।
अलब्धनिद्रोऽनुपलक्षितो नृभि-
र्हित्वा गतो वेनसुवं प्रसुप्ताम् ॥४७॥
विज्ञाय निर्विद्य गतं पतिं प्रजाः
पुरोहितामात्यसुहृद्गणादयः ।
विचिक्युरुर्व्यामतिशोककातरा
यथा निगूढं पुरुषं कुयोगिनः ॥४८॥
अलक्षयन्तः पदवीं प्रजापते-
र्हतोद्यमाः प्रत्युपसृत्य ते पुरीम् ।
ऋषीन्समेतानभिवन्द्य साश्रवो
न्यवेदयन्पौरव भर्तृविप्लवम् ॥४९॥

हे विदुरजी! इस प्रकार उदासीन हो एक दिन महाराज अंग, आधीरातके समय वेनकी माताको गाढ़ निद्रामें सोती छोड़, किसीके भी जाने बिना अपने परम ऐश्वर्यपूर्ण घरको छोड़कर चले गये। उस दिन चिन्ताके कारण उन्हें तनिक भी नींद नहीं आयी ॥४७॥ दूसरे दिन, यह जानकर कि महाराज अंग संसारसे विरक्त होकर चले गये हैं सम्पूर्ण प्रजाजन, पुरोहित, मन्त्री और सुहृद्गण अत्यन्त शोकाकुल हो उनकी खोज करने लगे; जैसे कुयोगीजन अपने हृदयमें छिपे हुए परमात्माको खोजते हैं [किन्तु पा नहीं सकते] ॥४८॥ हे विदुरजी! जब उन्हें अपने स्वामीका कहीं भी पता न लगा तो वे निराश होकर राजधानीको लौट आये और वहाँ एकत्रित हुए ऋषिगणसे उन्होंने आँखोंमें आँसू भरकर राजाके वियोगका वृत्तान्त निवेदन किया ॥४९॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे चतुर्थस्कन्धे
त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

१. प्रा० पा०—त्यश्रितं। २. प्रा० पा०—द्वादशोऽध्यायः।

चौदहवाँ अध्याय

राजा वेनकी कथा।

मैत्रेय उवाच

भृग्वादयस्ते मुनयो लोकानां क्षेमदर्शिनः ।
गोप्तर्यसति वै नृणां पश्यन्तः पशुसाम्यताम् ॥ १ ॥
वीरमातरमाहूय सुनीथां ब्रह्मवादिनः ।
प्रकृत्यसंमतं वेनमभ्यषिञ्चन्पतिं भुवः ॥ २ ॥
श्रुत्वा नृपासनगतं वेनमत्युग्रशासनम् ।
निलिल्युर्दस्यवः सद्यः सर्पत्रस्ता इवाखवः ॥ ३ ॥
स आरूढनृपस्थान उन्नद्धोऽष्टविभूतिभिः ।
अवमेने महाभागान् स्तब्धः संभावितः स्वतः ॥ ४ ॥
एवं मदान्ध उत्सिक्तो निरङ्कुश इव द्विपः ।
पर्यटन्रथमास्थाय कम्पयन्निव रोदसी ॥ ५ ॥
न यष्टव्यं न दातव्यं न होतव्यं द्विजाः क्वचित् ।
इति न्यवारयद्धर्मं भेरीघोषेण सर्वशः ॥ ६ ॥

वेनस्यावेक्ष्य मुनयो दुर्वृत्तस्य विचेष्टितम् ।
विमृश्य लोकव्यसनं कृपयोचुः स्म सत्रिणः ॥ ७ ॥
अहो उभयतः प्राप्तं लोकस्य व्यसनं महत् ।
दारुण्युभयतो दीप्त इव तस्करपालयोः ॥ ८ ॥
अराजकभयादेष कृतो राजातदर्हणः ।
ततोऽप्यासीद्भयं त्वद्य कथं स्यात्स्वस्ति देहिनाम् ॥ ९ ॥
अहेरिव पयःपोषः पोषकस्याप्यनर्थभृत् ।

श्रीमैत्रेयजी बोले—हे विदुर ! तब पृथिवीपालक राजाके अभावमें मनुष्योंको पशुओंके समान हुए देख संसारका कुशल चाहनेवाले भृगु आदि वेदवादी मुनीश्वरोंने वीरमाता सुनीथाकी सम्मतिसे, मन्त्रियोंके सहमत न होनेपर भी वेनको भूमण्डलके राजपदपर अभिषिक्त कर दिया ॥ १-२ ॥ दुर्दण्ड वेनको राज्यासनपर आरूढ़ हुए सुन सम्पूर्ण दस्युगण सर्पसे डरे हुए चूहोंके समान तत्काल जहाँ-तहाँ लुक गये ॥ ३ ॥ राज्यसिंहासन प्राप्त करनेके अनन्तर वेन आठों लोकपालोंके ऐश्वर्यमदसे उन्मत्त हो अति उद्धततापूर्वक अपनेहीको बड़ा मानकर महाभाग मुनीश्वरोंका अपमान करने लगा ॥ ४ ॥ इस प्रकार ऐश्वर्यमदसे अन्धा हो राजा वेन निरङ्कुश गजराजके समान रथपर चढ़कर पृथिवी और आकाशको कम्पायमान करता हुआ-सा सर्वत्र विचरने लगा ॥ ५ ॥ और अपने राज्यमें यह ढिंढोरा पिटवाकर कि 'कोई भी द्विजातीय कभी किसी प्रकारका यज्ञ, दान और हवन आदि न करे' सब धर्म-कर्म बंद कर दिये ॥ ६ ॥

तब दुराचारी वेनके ऐसे कुकर्म देखकर लोकपर संकट उपस्थित हुआ समझ मुनीश्वरगण कृपावश एक स्थानपर एकत्रित हो आपसमें इस प्रकार कहने लगे—॥ ७ ॥ "अहो ! दोनों ओरसे जलती हुई लकड़ीके बीचमें रहनेवाले पिपीलिकादि जीवोंके समान इस समय राजा और दस्युगण दोनोंहीसे संसारको महान् भय उपस्थित हुआ है ॥ ८ ॥ हमने अराजकताके भयसे ही इस वेनको योग्यता न होनेपर भी राजा बनाया था; किन्तु इस समय उससे भी प्रजाको भय ही होने लगा ! सो अब किस प्रकार जीवोंको सुख प्राप्त हो ? ॥ ९ ॥ दूधसे सर्पका पोषण करनेके समान इस समय इसका पोषण करना भी पोषणकर्ताके ही अनर्थका कारण हुआ । वास्तव-

१. प्रा० पा०—यस्तु ऋषयो । २. प्रा० पा०—सर्वतः । ३. प्रा० पा०—वेत्य । ४. प्रा० पा०—मन्त्रिणः । ५. प्रा० पा०—देव । ६. प्रा० पा०—कृत् ।

वेनः प्रकृत्यैव खलः सुनीथागर्भसंभवः ॥१०॥
निरूपितः प्रजापालः स जिघांसति वै प्रजाः ।
तथापि सान्त्वयेमामुं नास्मांस्तत्पातकं स्पृशेत् ॥११॥
तद्विद्वद्भिरसद्वृत्तो वेनोऽस्माभिः कृतो नृपः ।
सान्त्वितो यदि नो वाचं न ग्रहीष्यत्यधर्मकृत् ॥१२॥
लोकधिक्कारसंदग्धं[1] दहिष्यामः स्वतेजसा ।
एवमध्यवसायैनं मुनयो गूढमन्यवः ।
उपव्रज्याब्रुवन्वेनं सान्त्वयित्वा च[2] साममिः ॥१३॥

मुनय[3] ऊचुः

नृपवर्य निबोधैतद्यत्ते विज्ञापयाम भोः ।
आयुःश्रीबलकीर्तीनां तव तात विवर्धनम् ॥१४॥
धर्म आचरितः पुंसां वाङ्मनःकायबुद्धिभिः[4] ।
लोकान्विशोकान्वितरत्यथानन्त्यमसङ्गिनाम् ॥१५॥
स ते मा विनशेद्वीर प्रजानां क्षेमलक्षणः ।
यस्मिन्विनष्टे नृपतिरैश्वर्यादवरोहति ॥१६॥
राजन्नसाध्वमात्येभ्यश्चोरादिभ्यः प्रजा नृपः ।
रक्षन्यथा बलिं गृह्णन्निह प्रेत्य च मोदते ॥१७॥
यस्य राष्ट्रे पुरे चैव भगवान्यज्ञपूरुषः ।
इज्यते स्वेन धर्मेण जनैर्वर्णाश्रमान्वितैः[5] ॥१८॥
तस्य राज्ञो[6] महाभाग भगवान्भूतभावनः ।
परितुष्यति विश्वात्मा तिष्ठतो निजशासने ॥१९॥
तस्मिंस्तुष्टे किमप्राप्यं जगतामीश्वरेश्वरे ।
लोकाः सपाला ह्येतस्मै हरन्ति बलिमादृताः ॥२०॥

में सुनीथाके गर्भसे उत्पन्न हुआ यह वेन स्वभावसे ही दुष्ट है ॥१०॥ हमने तो इसे प्रजाका पालन करनेके लिये नियुक्त किया था, किन्तु यह उलटे प्रजाको नष्ट करना चाहता है । तथापि हम इसे समझावेंगे, जिससे इसके किये हुए पापोंका हमसे स्पर्श न हो ॥११॥ हमने जान-बूझकर दुराचारी वेनको राजा बनाया था । इसलिये यदि समझाने-बुझानेपर भी यह हमारी बात नहीं मानेगा तो लोकके धिक्कारसे ही दग्ध हुए इस दुष्टको हम अपने तेजसे भस्म कर देंगे ।'' ऐसा विचारकर, जिनका क्रोध गुप्त है वे मुनिगण राजा वेनके पास जा उसे शान्तिपूर्वक समझाते हुए इस प्रकार कहने लगे ॥१२-१३॥

मुनिगण बोले—हे नृपश्रेष्ठ ! हम तुमसे जो कुछ कहते हैं वह ध्यान देकर सुनो । हे तात ! इससे तुम्हारे आयु, श्री, बल और यशकी वृद्धि होगी ॥१४॥ देखो मनुष्योंद्वारा मन, वाणी, शरीर और बुद्धिसे आचरण किया हुआ धर्म उन निष्काम पुरुषोंको शोकरहित लोक और अनन्त मोक्षपद प्रदान करता है ॥१५॥ सो हे वीर ! प्रजाका कल्याणरूप वह धर्म तुम्हारे कारण नष्ट न होना चाहिये, क्योंकि उसके नष्ट हो जानेसे राजा ऐश्वर्यभ्रष्ट हो जाता है ॥१६॥ हे राजन् ! दुष्ट मन्त्री और चोर आदिसे प्रजाकी रक्षाकर न्यायानुकूल कर लेनेवाला राजा इस लोक और परलोकमें सुख पाता है ॥१७॥ जिसके राज्य अथवा नगरमें अपने वर्णाश्रमधर्मोंका पालन करनेवाले पुरुषोंद्वारा स्वधर्मपालनसे भगवान् यज्ञपुरुषका यजन किया जाता है, हे महाभाग ! अपनी आज्ञाका पालन करनेवाले उस राजासे विश्वात्मा भगवान् भूतभावन प्रसन्न रहते हैं ॥१८-१९॥ उन जगदीश्वरोंके भी ईश्वर श्रीहरिके प्रसन्न होनेपर कौन-सी वस्तु दुर्लभ रहती है । तब तो इन्द्रादि लोकपालोंके सहित सम्पूर्ण लोकफल आदरपूर्वक उसे भेंट समर्पण करते हैं ॥२०॥

१. प्रा० पा०—दिग्धं । २. प्रा० पा०—त्वाथ ता० । ३. प्राचीन प्रतिमें 'मुनय ऊचुः' इतना अंश नहीं है । ४. प्रा० पा०—शुद्धिभिः । ५. प्रा० पा०—श्रमात्मकैः । ६. प्रा० पा०—राज ।

तं सर्वलोकामरयज्ञसंग्रहं
त्रयीमयं द्रव्यमयं तपोमयम् ।
यज्ञैर्विचित्रैर्यजतो भवाय ते
राजन्स्वदेशाननुरोद्धुमर्हसि ॥२१॥
यज्ञेन युष्मद्विषये द्विजातिभि-
र्वितायमानेन सुराः कला हरेः ।
खिष्टाः सुतुष्टाः प्रदिशन्ति वाञ्छितं
तद्धेलनं नार्हसि वीर चेष्टितुम् ॥२२॥

वेन उवाच

बालिशा बत यूयं वा[1] अधर्मे धर्ममानिनः ।
ये वृत्तिदं पतिं हित्वा जारं पतिमुपासते ॥२३॥
अवजानन्त्यमी मूढा नृपरूपिणमीश्वरम् ।
नानुविन्दन्ति ते भद्रमिह लोके परत्र च ॥२४॥
को यज्ञपुरुषो नाम यत्र वो भक्तिरीदृशी ।
भर्तृस्नेहविदूराणां यथा जारे कुयोषिताम् ॥२५॥
विष्णुर्विरिञ्चो गिरिश इन्द्रो वायुर्यमो रविः ।
पर्जन्यो धनदः सोमः क्षितिरग्निरपांपतिः ॥२६॥
एते चान्ये च विबुधाः प्रभवो वरशापयोः ।
देहे भवन्ति नृपतेः सर्वदेवमयो नृपः ॥२७॥
तस्मान्मां कर्मभिर्विप्रा यजध्वं गतमत्सराः ।
बलिं च मह्यं हरत मत्तोऽन्यः कोऽग्रभुक् पुमान् ॥२८॥

मैत्रेय[2] उवाच

इत्थं विपर्ययमतिः पापीयानुत्पथं गतः ।
अनुनीयमानस्तद्याच्ञां न चक्रे[3] भ्रष्टमङ्गलः ॥२९॥
इति तेऽसत्कृतास्तेन द्विजाः पण्डितमानिना ।

वे श्रीहरि सम्पूर्ण लोक, लोकपाल और यज्ञरूप हैं, वे वेदत्रयीरूप, द्रव्यरूप और तपोमय हैं। हे राजन्! जो लोग तुम्हारे उत्कर्षके लिये उनका नाना प्रकारके यज्ञोंसे यजन करते हैं तुम्हें अवश्य उनके अनुकूल आचरण करना चाहिये ॥२१॥ तुम्हारे राज्यमें ब्राह्मणादि द्विजोंद्वारा यज्ञोंका अनुष्ठान किया जानेपर श्रीहरिकी कलारूप देवतालोग परम प्रसन्न होकर तुम्हें इच्छित फल देंगे। इसलिये हे वीर! तुम्हें उन (देवताओं) का तिरस्कार नहीं करना चाहिये ॥२२॥

वेन बोला—तुम लोग बड़े मूर्ख हो, तुमने अधर्ममें ही धर्म मान रक्खा है, क्योंकि तुम अपने पालन करनेवाले (मुझ) राजाको छोड़कर जारतुल्य पति परमात्माकी उपासना करते हो ॥२३॥ जो मूर्खजन इस राजारूप परमेश्वरका अनादर करते हैं वे इस लोक और परलोकमें कहीं भी सुखपूर्वक नहीं रह सकते ॥२४॥ जिस प्रकार अपने पतिसे प्रेम न रखनेवाली कुलटा स्त्रीकी जार-पुरुषमें प्रीति होती है उसी प्रकार स्वामि-स्नेहसे रहित तुमलोगोंकी जिसमें ऐसी भक्ति है वह यज्ञ-पुरुष कौन है? ॥२५॥ ब्रह्मा, विष्णु, महादेव, इन्द्र, वायु, यम, सूर्य, मेघ, कुबेर, चन्द्रमा, पृथिवी, अग्नि और वरुण—ये तथा वर और शाप देनेमें समर्थ अन्य देवतागण भी राजाके शरीरमें रहते हैं इसलिये राजा सर्वदेवमय है ॥२६-२७॥ अतः हे विप्रगण! तुम मत्सरताको छोड़कर अपने सब कर्मोंद्वारा मेरा ही यजन करो और मुझे ही बलि समर्पण करो। मुझसे बढ़कर और कौन पुरुष अग्रपूजाका अधिकारी हो सकता है? ॥२८॥

श्रीमैत्रेयजी बोले—इस प्रकार जिसकी बुद्धि विपरीत हो गयी थी उस महापापी और कुमार्गगामी वेनने मुनियोंके बार-बार नम्रतापूर्वक समझाने-बुझाने-पर भी उनकी प्रार्थनापर तनिक भी ध्यान न दिया, क्योंकि उसका पुण्य क्षीण हो चुका था ॥२९॥ हे विदुर! अपनेको बड़ा पण्डित माननेवाले उस वेनसे इस प्रकार अपमानित होनेपर और अपनी कल्याण-

१. प्रा० पा०—वै० । २. प्राचीन प्रतिमें 'मैत्रेय उवाच' इतना अंश नहीं है । ३. प्रा० पा०—भेजे ।

भग्नायां भव्ययाच्ञायां तस्मै विदुर चुक्रुधुः ॥३०॥
हन्यतां हन्यतामेष पापः प्रकृतिदारुणः ।
जीवञ्जगदसावाशु कुरुते भस्मसाद् ध्रुवम् ॥३१॥
नायमर्हत्यसद्वृत्तो नरदेववरासनम् ।
योऽधियज्ञपतिं विष्णुं[1] विनिन्दत्यनपत्रपः ॥३२॥
को वैनं[2] परिचक्षीत[3] वेनमेकमृतेऽशुभम् ।
प्राप्त ईदृशमैश्वर्यं यदनुग्रहभाजनः ॥३३॥

इत्थं व्यवसिता हन्तुमृषयो रूढमन्यवः ।
निर्जघ्नुर्हुङ्कृतैर्वेनं हतमच्युतनिन्दया ॥३४॥
ऋषिभिः स्वाश्रमपदं गते पुत्रकलेवरम् ।
सुनीथा पालयामास विद्यायोगेन शोचती ॥३५॥

एकदा मुनयस्ते तु सरस्वत्सलिलाप्लुताः[4] ।
हुत्वाग्नीन्सत्कथाश्चक्रुरुपविष्टाः सरित्तटे ॥३६॥
वीक्ष्योत्थितान्महोत्पातानाहुर्लोकभयंकरान्[5] ।
अप्यभद्रमनाथाया दस्युभ्यो न भवेद्ध्रुवः ॥३७॥
एवं मृशन्त ऋषयो धावतां सर्वतोदिशम् ।
पांसुः समुत्थितो भूरिश्चोराणामभिलुम्पताम् ॥३८॥
तदुपद्रवमाज्ञाय लोकस्य वसु लुम्पताम् ।
भर्तर्युपरते तस्मिन्नन्योन्यं च जिघांसताम् ॥३९॥
चोरप्रायं जनपदं हीनसत्त्वमराजकम् ।
लोकान्नावारयञ्छक्ता अपि तद्दोषदर्शिनः ॥४०॥
ब्राह्मणः समदृक्छान्तो दीनानां समुपेक्षकः ।

कारिणी माँगको व्यर्थ हुई देखकर वे ब्राह्मणगण उसपर अत्यन्त कुपित हुए ॥३०॥ और कहने लगे—"यह महापापी स्वभावसे ही बड़ा दुष्ट है, यह जीता रहा तो कुछ ही दिनोंमें संसारको भस्म कर डालेगा, इसलिये इसे मार डालो ! मार डालो ! ॥३१॥ यह दुराचारी किसी प्रकार राजसिंहासनके योग्य नहीं है, क्योंकि यह निर्लज्ज तो साक्षात् यज्ञपति श्रीविष्णु-भगवान्‌की निन्दा करता है ॥३२॥ अहो ! जिनकी कृपासे ऐसा ऐश्वर्य पाया उन श्रीहरिकी, पापी वेनको छोड़कर और कौन निन्दा कर सकता है ?" ॥३३॥

इस प्रकार अत्यन्त क्रोधातुर हो उसे मारनेका विचारकर उन मुनीश्वरोंने भगवान्‌की निन्दा करनेसे हतप्राय हुए राजा वेनको हुंकारमात्रसे मार डाला ॥३४॥ उसका वध करनेके अनन्तर जब मुनिगण अपने-अपने आश्रमको चले गये तो सुनीथा शोक करती हुई मन्त्रादिके बलसे पुत्रके शरीरकी रक्षा करने लगी ॥३५॥

एक दिन वे मुनीश्वरगण सरस्वती नदीके जलमें स्नानकर अग्निहोत्रसे निवृत्त हो नदीके तीरपर बैठे हुए हरिचर्चा कर रहे थे ॥३६॥ उस समय जहाँ-तहाँ सम्पूर्ण लोकोंको भयभीत करनेवाले महान् उत्पात होते देख वे कहने लगे—'कहीं ऐसा तो नहीं हुआ कि अनाथ हो जानेसे पृथिवीको दस्युओंके हाथसे पीड़ित होना पड़ा हो !' ॥३७॥ मुनिगण ऐसा विचार ही रहे थे कि उन्होंने लोगोंका धन लूटकर इधर-उधर भागनेवाले चोरोंके कारण उठी हुई बड़ी भारी धूलि देखी ॥३८॥ उसे राजाके न रहनेपर लोगोंका धन लूटनेवाले और एक दूसरेको मारनेकी इच्छावाले लुटेरोंका उपद्रव जानकर अराजकताके कारण बलहीन और चौरप्राय हुए लोगोंको उनका दोष देखनेवाले मुनीश्वरोंने समर्थ होकर भी नहीं रोका ॥३९-४०॥ [फिर यह सोचकर कि] ब्राह्मण यदि समदर्शी और शान्तस्वभाव भी हो तो भी दीनोंकी उपेक्षा

१. प्रा० पा०—देवं। २. प्रा० पा०—तं। ३. प्रा० पा०—परिरक्षेत। ४. प्रा० पा०—सरित्स्वच्छजला०। ५. प्रा० पा०—भयान्तरान्।

स्रवते ब्रह्म तस्यापि भिन्नभाण्डात्पयो यथा ॥४१॥
नाङ्गस्य वंशो राजर्षेरेष संस्थातुमर्हति ।
अमोघवीर्या हि नृपा वंशेऽस्मिन्केशवाश्रयाः ॥४२॥
विनिश्चित्यैवमृषयो विपन्नस्य महीपतेः ।
ममन्थुरूरुं तरसा तत्रासीद्बाहुको नरः ॥४३॥
काककृष्णोऽतिह्रस्वाङ्गो ह्रस्वबाहुर्महाहनुः ।
ह्रस्वपान्निम्ननासाग्रो रक्ताक्षस्ताम्रमूर्धजः ॥४४॥
तं तु तेऽवनतं दीनं किंकरोमीति वादिनम् ।
निषीदेत्यब्रुवंस्तात स निषादस्ततोऽभवत् ॥४५॥
तस्य वंशास्तु नैषादा गिरिकाननगोचराः ।
येनाहरज्जायमानो वेनकल्मषमुल्बणम् ॥४६॥

करनेसे उसका ब्रह्मतेज इस प्रकार नष्ट हो जाता है जैसे फूटे हुए घड़ेमेंसे जल ॥४१॥ तथा राजर्षि अंग-का वंश भी इस प्रकार समाप्त होने योग्य नहीं है, क्योंकि इस वंशमें जिनका पराक्रम कभी व्यर्थ नहीं हुआ ऐसे बहुत-से भगवत्परायण राजा लोग हुए हैं ॥४२॥ ऐसा निश्चयकर उन मुनीश्वरोंने मरे हुए राजा वेनकी जंघाको बड़े वेगसे मथा। तब उससे एक बौना पुरुष उत्पन्न हुआ ॥४३॥ वह कौवाके समान काला था, उसके सब अंग और भुजाएँ बहुत छोटी थीं, तथा ठोड़ी बड़ी, टाँगें छोटी, नाक चपटी, नेत्र लाल और केश ताम्रवर्ण थे ॥४४॥ उस पुरुषके अति दीन और नम्र भावसे यह कहनेपर कि 'मैं क्या करूँ' ऋषियोंने कहा—'हे तात! निषीद (बैठ जा)' इसलिये वह निषाद हो गया ॥४५॥ उस पुरुषने जन्म लेकर राजा वेनके भयंकर पापोंको हर लिया था। उसके वंशधर वन और पर्वतमें रहनेवाले नैषाद (भील) लोग हुए ॥४६॥

इति[3] श्रीमद्भागवते महापुराणे चतुर्थस्कन्धे पृथुचरिते
निषादोत्पत्तिर्नाम चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

पन्द्रहवाँ अध्याय

महाराज पृथुका आविर्भाव और राज्याभिषेक।

मैत्रेय उवाच

अथ तस्य पुनर्विप्रैरपुत्रस्य महीपतेः ।
बाहुभ्यां मथ्यमानाभ्यां मिथुनं समपद्यत ॥ १ ॥
तद्दृष्ट्वा[4] मिथुनं जातमृषयो ब्रह्मवादिनः ।
ऊचुः परमसंतुष्टा विदित्वा भगवत्कलाम् ॥ २ ॥

ऋषय ऊचुः

एष विष्णोर्भगवतः कला भुवनपालिनी ।
इयं च लक्ष्म्याः संभूतिः पुरुषस्यानपायिनी ॥ ३ ॥

श्रीमैत्रेयजी बोले—हे विदुर! फिर ब्राह्मणोंद्वारा मन्थन किये जानेपर उस पुत्रहीन राजाकी भुजाओंसे एक स्त्री-पुरुषका जोड़ा उत्पन्न हुआ ॥ १ ॥ इस प्रकार प्रकट हुए उस जोड़ेको देखकर उसे भगवान्‌की कला-से उत्पन्न हुआ समझ उन ब्रह्मवादी मुनीश्वरोंने कहा— ॥ २ ॥

ऋषिगण बोले—यह पुरुष भगवान् विष्णुकी जगत्प्रतिपालिनी कलासे प्रकट हुआ है और यह स्त्री उनसे कभी पृथक् न होनेवाली लक्ष्मीजीका अवतार

१. प्रा० पा०—भ्रुकुटीकुटिलाननः। २. प्रा० पा०—योऽपाहरज्जायमानो। ३. प्राचीन प्रतिमें 'इति श्री···' से आरम्भकर 'मैत्रेय उवाच' तकका अंश नहीं है। ४. प्राचीन प्रतिमें 'तद्दृष्ट्वा···' से लेकर तृतीय श्लोकके '···पुरुषस्यानपायिनी' तकका अंश नहीं है।

अयं तु प्रथमो राज्ञां पुमान्प्रथयिता यशः ।
पृथुर्नाम महाराजो भविष्यति पृथुश्रवाः ॥ ४ ॥
इयं च सुदती[1] देवी गुणभूषणभूषणा ।
अर्चिर्नाम वरारोहा पृथुमेवावरुन्धती ॥ ५ ॥
एष साक्षाद्धरेरंशो जातो लोकरिरक्षया ।
इयं च तत्परा हि श्रीरनुजज्ञेऽनपायिनी ॥ ६ ॥

है ॥ ३ ॥ यह पुरुष राजाओंमें प्रथम और अपने सुयशको स्थापित करनेवाला है । यह महायशस्वी पृथु नामक राजा होगा ॥ ४ ॥ और यह सुन्दर दाँतोंवाली, गुण और आभूषणोंको भी विभूषित करनेवाली तथा उत्तम कटिप्रदेशवाली अर्चि नामकी स्त्री इन पृथुको ही पतिभावसे वरण करेगी ॥ ५ ॥ यह साक्षात् श्रीहरिका अंश ही संसारकी रक्षाके लिये अवतीर्ण हुआ है और यह देवी, भगवान्‌से कभी विलग न रहनेवाली तथा निरन्तर उन्हींकी सेवा करनेवाली लक्ष्मीजीका ही अवतार है ॥ ६ ॥

मैत्रेय[2] उवाच

प्रशंसन्ति स्म तं विप्रा गन्धर्वप्रवरा जगुः ।
मुमुचुः सुमनोधाराः सिद्धा नृत्यन्ति स्वःस्त्रियः ॥७॥
शङ्खतूर्यमृदङ्गाद्या नेदुर्दुन्दुभयो दिवि ।
तत्र सर्व उपाजग्मुर्देवर्षिपितृणां गणाः ॥ ८ ॥
ब्रह्मा जगद्गुरुर्देवैः सहासृत्य सुरेश्वरैः ।
वैन्यस्य दक्षिणे हस्ते दृष्ट्वा चिह्नं गदाभृतः ॥ ९ ॥
पादयोररविन्दं च तं वै मेने हरेः कलाम् ।
यस्याप्रतिहतं चक्रमंशः स परमेष्ठिनः ॥१०॥

श्रीमैत्रेयजी बोले—हे विदुर ! इस प्रकार पृथुके अवतीर्ण होनेपर ब्राह्मणगण उनकी स्तुति करने लगे, गन्धर्वश्रेष्ठ गान करने लगे, सिद्धगण पुष्पोंकी वर्षा करने लगे और अप्सराएँ नृत्य करने लगीं ॥ ७ ॥ आकाशमें शंख, तूर्य, मृदंग और दुन्दुभी आदि बाजोंका शब्द होने लगा तथा वहाँ देवता, ऋषि और पितृगणके समूह पधारे ॥८॥ जगद्गुरु ब्रह्माजीने वहाँ इन्द्रादि देवगणके सहित पधारकर वेनकुमार पृथुजीके दाहिने हाथमें विष्णुभगवान्‌की हस्तरेखाएँ और चरणोंमें कमलका चिह्न देखकर उन्हें श्रीहरिका अंश ही समझा क्योंकि जिसके हाथमें अन्य रेखाओंसे बिना मिला हुआ चक्रका चिह्न होता है वह भगवान्‌का अंश हुआ करता है ॥९-१०॥

तस्याभिषेक आरब्धो ब्राह्मणैर्ब्रह्मवादिभिः ।
अभिषेचनिकान्यस्मा[3] आजह्रुः[4] सर्वतो जनाः ॥११॥
सरित्समुद्रा गिरयो नागा गावः खगा मृगाः ।
द्यौः क्षितिः सर्वभूतानि समाजह्रुरुपायनम् ॥१२॥
सोऽभिषिक्तो महाराजः सुवासाः साध्वलङ्कृतः ।
पत्न्यार्चिषालङ्कृतया विरेजेऽग्निरिवापरः ॥१३॥
तस्मै जहार धनदो हैमं वीरवरासनम् ।

तदनन्तर वेदवादी ब्राह्मणोंने महाराज पृथुके अभिषेकका आयोजन किया । तब सब ओरसे अभिषेककी सामग्री जुटायी जाने लगी ॥११॥ उस समय नदी, समुद्र, पर्वत, वृक्ष, गौ, पक्षी, मृग, स्वर्ग, पृथिवी तथा सम्पूर्ण प्राणियोंने उन्हें भाँति-भाँतिके उपहार दिये॥१२॥ इस प्रकार राज्याभिषिक्त हो महाराज पृथुने सुन्दर वस्त्राभूषण धारण किये और नाना प्रकारके अलंकारोंसे सुसज्जिता अपनी प्रिया अर्चिके साथ दूसरे अग्निदेवके समान सुशोभित हुए ॥१३॥

हे वीरवर विदुरजी ! उन्हें कुबेरने अति सुन्दर सुवर्णमय सिंहासन और वरुणने जिससे जलकी बूँदें

१. प्रा० पा०—देवी सुदती । २. प्राचीन प्रतिमें 'मैत्रेय उवाच' इतना अंश नहीं है । ३. प्रा० पा०—अभिषेच० । ४. प्रा० पा०—न्यस्मै आजह्रुः ।

वरुणः सलिलस्रावमातपत्रं शशिप्रभम् ॥१४॥
वायुश्च वालव्यजने[1] धर्मः कीर्तिमयीं[2] स्रजम् ।
इन्द्रः किरीटमुत्कृष्टं दण्डं संयमनं यमः ॥१५॥
ब्रह्मा ब्रह्ममयं वर्म[3] भारती हारमुत्तमम् ।
हरिः सुदर्शनं चक्रं तत्पत्न्यव्याहतां श्रियम् ॥१६॥
दशचन्द्रमसिं रुद्रः शतचन्द्रं तथाम्बिका ।
सोमोऽमृतमयानश्वांस्त्वष्टा रूपाश्रयं रथम् ॥१७॥
अग्निराजगवं चापं सूर्यो रश्मिमयानिषून् ।
भूः पादुके योगमय्यौ[4] द्यौः पुष्पावलिमन्वहम् ॥१८॥
नाट्यं सुगीतं वादित्रमन्तर्धानं च खेचराः ।
ऋषयश्चाशिषः सत्याः समुद्रः शङ्खमात्मजम् ॥१९॥
सिन्धवः पर्वता नद्यो रथवीथीर्महात्मनः ।
सूतोऽथ मागधो वन्दी तं स्तोतुमुपतस्थिरे ॥२०॥
स्तावकांस्तानभिप्रेत्य पृथुर्वैन्यः प्रतापवान् ।
मेघनिर्ह्रादया वाचा प्रहसन्निदमब्रवीत् ॥२१॥

पृथुरुवाच

भोः सूत हे[5] मागध सौम्य वन्दिँ-
छ्लोकेऽधुनास्पष्टगुणस्य मे स्यात् ।
किमाश्रयो मे स्तव एष योज्यतां
मा मय्यभूवन्वितथा गिरो वः ॥२२॥
तस्मात्परोक्षेऽस्मदुपश्रुतान्यल-[6]
ङ्करिष्यथ स्तोत्रमपीच्यवाचः ।
सत्युत्तमश्लोकगुणानुवादे
जुगुप्सितं न स्तवयन्ति सभ्याः ॥२३॥
महद्गुणानात्मनि कर्तुमीशः
कः स्तावकैः स्तावयतेऽसतोऽपि ।

झड़ रही थीं ऐसा चन्द्रमाके समान श्वेत और प्रकाशमय छत्र समर्पण किया ॥१४॥ इसी प्रकार वायुने दो चँवर, धर्मने कीर्तिमयी माला, इन्द्रने मनोहर मुकुट, यमने दमन करनेवाला दण्ड, ब्रह्माने वेदमय कवच, सरस्वतीने सुन्दर हार, विष्णुभगवान्‌ने सुदर्शन चक्र, उनकी प्रिया लक्ष्मीजीने निश्चल सम्पत्ति, रुद्रने दश चन्द्रमाओंके चिह्नोंवाली तलवार, पार्वतीने सौ चन्द्रमाओंके चिह्नोंवाली ढाल, चन्द्रमाने अमृतमय घोड़े, त्वष्टाने सुन्दर रथ, अग्निने सींगोंका बना हुआ सुदृढ़ धनुष, सूर्यने किरणरूप बाण, पृथिवीने चरण-स्पर्श होते ही अभीष्ट स्थानपर पहुँचा देनेवाले खड़ाऊ, स्वर्गके अभिमानी देवने नित्यप्रति पुष्पोंकी वर्षा, आकाशगामी देवताओंने नाचना, गाना, बजाना और अन्तर्धान हो जाना—ये शक्तियाँ, ऋषियोंने अमोघ आशीर्वाद, समुद्रने अपनेसे उत्पन्न हुआ शंख, तथा सातों समुद्र, पर्वत और नदियोंने महात्मा पृथुजीको रथका मार्ग दिया। इसके पश्चात् सूत, मागध और बन्दीजन उनकी स्तुति करनेको उपस्थित हुए ॥१५–२०॥ तब उन स्तुतिकर्ता बन्दीजन आदिको उद्देश्य करके परम प्रतापी महाराज पृथु हँसते हुए मेघके समान गम्भीर वाणीसे इस प्रकार कहने लगे ॥२१॥

पृथु बोले—हे सूत! हे मागध! हे सौम्य बन्दीजन! अभीतक लोकमें मेरा कोई भी गुण प्रकट नहीं हुआ फिर आपलोगोंकी की हुई मेरी यह स्तुति किन गुणोंका आश्रय करके हो सकती है? मेरे विषयमें आपलोगोंकी वाणी व्यर्थ नहीं होनी चाहिये ॥२२॥ इसलिये हे मृदुभाषीगण! मेरे अप्रकट गुणोंके प्रसिद्ध होनेपर ही आपलोग मेरी स्तुति करें क्योंकि, सभ्य पुरुष पवित्रकीर्ति भगवान्‌का गुणानुवाद रहते हुए उसको छोड़कर तुच्छ मनुष्योंकी स्तुति नहीं किया करते ॥२३॥ महान् गुणोंके धारण करनेमें समर्थ होनेपर भी ऐसा कौन बुद्धिमान् पुरुष है जो उनके न होनेतक केवल सम्भावनामात्रसे स्तुति करनेवालोंके द्वारा अपनी स्तुति करावेगा; क्योंकि '[विद्याभ्यासादि करनेसे] इसमें

१. प्रा० पा०—जनं । २. प्रा० पा०—मिव । ३. प्रा० पा०—धर्मं । ४. प्रा० पा०—माया । ५. प्रा० पा०—भो । ६. प्रा० पा०—दुपाश्रिताह्यलं० ।

तेऽस्याभविष्यन्निति विप्रलब्धो
जनावहासं कुमतिर्न वेद ॥२४॥
प्रभवो ह्यात्मनः स्तोत्रं जुगुप्सन्त्यपि विश्रुताः ।
ह्रीमन्तः परमोदाराः पौरुषं वा विगर्हितम् ॥२५॥
वयं त्वविदिता लोके सूताद्यापि वरीमभिः ।
कर्मभिः कथमात्मानं गापयिष्याम बालवत् ॥२६॥

अमुक गुण हो जायँगे' ऐसी स्तुतिद्वारा जो अपनेको बड़ा मानता है वह दुर्मति मनुष्य लोगोंसे किये जानेवाले अपने उपहासको नहीं समझता ॥२४॥ जिस प्रकार लज्जावान् उदार पुरुष अपने [गोवध आदि] निन्दित पुरुषार्थकी चर्चाको बुरी समझते हैं वैसे ही लोकविख्यात समर्थ पुरुष अपनी स्तुतिको बुरी समझते हैं ॥२५॥ हे सूतगण ! हम तो अभीतक अपने श्रेष्ठ गुणोंसे लोकमें अप्रसिद्ध ही हैं, फिर तुमलोगोंसे बच्चोंके समान अपनी कीर्तिका गान किस प्रकार करावें ? ॥२६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे चतुर्थस्कन्धे
पृथुचरिते पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

सोलहवाँ अध्याय

बन्दीजनकर्तृक महाराज पृथुकी स्तुति ।

मैत्रेय उवाच

इति ब्रुवाणं नृपतिं गायका मुनिचोदिताः ।
तुष्टुवुस्तुष्टमनसस्तद्वागमृतसेवया ॥ १ ॥
नालं वयं ते महिमानुवर्णने
यो देववर्योऽवततार मायया ।
वेनाङ्गजातस्य च पौरुषाणि ते
वाचस्पतीनामपि बभ्रमुर्धियः ॥ २ ॥
अथाप्युदारश्रवसः पृथोर्हरेः
कलावतारस्य कथामृतादृताः ।
यथोपदेशं मुनिभिः प्रचोदिताः
श्लाघ्यानि कर्माणि वयं वितन्महि ॥ ३ ॥
एष धर्मभृतां श्रेष्ठो लोकं धर्मेऽनुवर्तयन् ।
गोप्ता च धर्मसेतूनां शास्ता तत्परिपन्थिनाम् ॥ ४ ॥
एष वै लोकपालानां बिभर्त्येकस्तनौ तनूः ।
काले काले यथाभागं लोकयोरुभयोर्हितम् ॥ ५ ॥

श्रीमैत्रेयजी बोले—हे विदुर ! महाराज पृथुके इस प्रकार कहनेपर उनके वचनामृतोंका सेवन करनेसे सन्तुष्ट हुए गायकगण मुनियोंकी प्रेरणासे उनकी स्तुति करने लगे—॥ १ ॥ जो देवश्रेष्ठ अपनी मायासे ही अवतीर्ण हुए हैं उन आपकी महिमाका वर्णन करनेमें हम समर्थ नहीं हैं; क्योंकि राजा वेनके शरीरसे उत्पन्न हुए आपके पुरुषार्थ साक्षात् बृहस्पति आदिकी बुद्धिको भी चक्करमें डाल देते हैं ॥ २ ॥ तो भी जो श्रीहरिके कलावतार और परम यशस्वी हैं, उन आप महाराज पृथुके कथामृतका आदर करते हुए हम मुनियोंकी प्रेरणासे उन्हींके उपदेशानुसार आपके प्रशंसनीय गुणोंका विस्तारपूर्वक वर्णन करते हैं ॥३॥ धर्मकी रक्षा करनेवालोंमें श्रेष्ठ ये महाराज पृथु लोकको धर्ममें प्रवृत्त करके धर्ममर्यादाकी रक्षा करनेवाले और उसके विरोधियोंको दण्ड देनेवाले होंगे ॥४॥ ये अकेले ही समय-समयपर दोनों लोकोंका हित साधनेके लिये सृष्टिरचना आदि कार्योंके निमित्त भिन्न-भिन्न लोकपालोंके अंशोंको अपने शरीरमें धारण करेंगे ॥५॥

१. प्रा० पा०—गुणा भविष्य० ।

वसु काल उपादत्ते काले चायं विमुञ्चति ।
समः सर्वेषु भूतेषु प्रतपन्सूर्यवद्विभुः ॥ ६ ॥
तितिक्षत्यक्रमं वैन्य उपर्याक्रमतामपि ।
भूतानां करुणः शश्वदार्तानां क्षितिवृत्तिमान् ॥ ७ ॥
देवेऽवर्षत्यसौ देवो नरदेववपुर्हरिः ।
कृच्छ्रप्राणाः प्रजा ह्येष रक्षिष्यत्यञ्जसेन्द्रवत् ॥ ८ ॥
आप्याययत्यसौ लोकं वदनामृतमूर्तिना ।
सानुरागावलोकेन विशदस्मितचारुणा ॥ ९ ॥
अव्यक्तवर्त्मैष निगूढकार्यो
गम्भीरवेधा उपगुप्तवित्तः ।
अनन्तमाहात्म्यगुणैकधामा
पृथुः प्रचेता इव संवृतात्मा ॥१०॥
दुरासदो दुर्विषह आसन्नोऽपि विदूरवत् ।
नैवाभिभवितुं शक्यो वेनारण्युत्थितोऽनलः ॥११॥
अन्तर्बहिश्च भूतानां पश्यन्कर्माणि चारणैः ।
उदासीन इवाध्यक्षो वायुरात्मेव देहिनाम् ॥१२॥
नादण्ड्यं दण्डयत्येष सुतमात्मद्विषामपि ।
दण्डयत्यात्मजमपि दण्ड्यं धर्मपथे स्थितः ॥१३॥
अस्याप्रतिहतं चक्रं पृथोरामानसाचलात् ।
वर्तते भगवानर्को यावत्तपति गोगणैः ॥१४॥
रञ्जयिष्यति यल्लोकमयमात्मविचेष्टितैः ।
अथामुमाहू राजानं मनोरञ्जनकैः प्रजाः ॥१५॥

सम्पूर्ण प्राणियोंके प्रति समानभाव रखनेवाले सूर्यके समान ये परमतेजस्वी राजराजेश्वर समयानुसार कभी तो धन सञ्चय करेंगे और कभी उसे [प्रजाके हितके लिये] व्यय कर डालेंगे ॥ ६ ॥ जो लोग दीनोंपर सदा दया करनेवाले महाराज पृथुके शिरपर पाँव रखकर इनका उल्लंघन करेंगे उनके अपराधोंको भी ये पृथ्वीके समान क्षमाशील होनेके कारण सर्वदा सहन करेंगे ॥ ७ ॥ मेघोंके वर्षा न करनेपर जब प्रजाको प्राणसंकट उपस्थित होगा तो ये राजवेषधारी श्रीहरि इन्द्रके समान अनायास ही उनकी रक्षा करेंगे ॥ ८ ॥ ये अपने मुखचन्द्रकी मनोहर मुसकान और प्रेममयी चितवनसे सम्पूर्ण लोकोंको आनन्दित करेंगे ॥९॥ जिनकी गति अव्यक्त है, जिनके कार्योंको कोई नहीं जान सकता, जिनके साधन अति गम्भीर हैं और धन भली प्रकार सुरक्षित है तथा जो अनन्त माहात्म्य और गुणोंके एकमात्र आश्रय हैं ऐसे ये संयतचित्त महाराज पृथु सब प्रकार वरुणके समान होंगे ॥१०॥ वेनरूपी शमीकाष्ठसे उत्पन्न हुआ यह पृथुरूप अनल अति दुर्द्धर्ष और दुःसह है, यह समीप रहते हुए भी बहुत दूरवर्तीके समान है तथा इसका किसी प्रकार भी तिरस्कार नहीं किया जा सकता ॥११॥ प्राणियोंके भीतर रहनेवाले प्राणवायुके समान ये राजराजेश्वर अपने दूतोंद्वारा जीवोंके बाहर-भीतरके कर्मोंको देखते हुए साक्षी आत्माके समान उदासीन रहेंगे ॥१२॥ ये धर्ममार्गमें स्थित रहकर अपने शत्रुके पुत्रको भी, दण्डनीय न होनेपर, किसी प्रकारका दण्ड नहीं देंगे और दण्डनीय होनेपर अपने पुत्रको भी अवश्य दण्ड देंगे ॥१३॥ सूर्यभगवान् मानसपर्वत-पर्यन्त जितने प्रदेशमें अपनी किरणोंद्वारा प्रकाश करते हैं उतने देशमें इन महाराज पृथुका निष्कण्टक राज्य रहेगा ॥१४॥ ये अपनी चेष्टाओंसे सब लोकोंको रञ्जित (आनन्दित) करेंगे इसलिये इनके उस मनोरञ्जनात्मक आचरणके कारण प्रजा इन्हें 'राजा' कहेगी ॥१५॥

१. प्रा० पा०—पुत्र० ।

दृढव्रतः सत्यसन्धो ब्रह्मण्यो वृद्धसेवकः ।
शरण्यः सर्वभूतानां मानदो दीनवत्सलः ॥१६॥
मातृभक्तिः परस्त्रीषु पत्न्यामर्ध इवात्मनः ।
प्रजासु पितृवत्स्निग्धः किङ्करो ब्रह्मवादिनाम् ॥१७॥
देहिनामात्मवत्प्रेष्ठः सुहृदां नन्दिवर्धनः ।
मुक्तसङ्गप्रसङ्गोऽयं दण्डपाणिरसाधुषु ॥१८॥
अयं तु साक्षाद्भगवांस्त्र्यधीशः
कूटस्थ आत्मा कलयावतीर्णः ।
यस्मिन्नविद्यारचितं निरर्थकं
पश्यन्ति नानात्वमपि प्रतीतम् ॥१९॥
अयं भुवो मण्डलमोदयाद्रे-
र्गोप्तैकवीरो नरदेवनाथः ।
आस्थाय चैत्रं रथमात्तचापः
पर्यस्यते दक्षिणतो यथार्कः ॥२०॥
अस्मै नृपालाः किल तत्र तत्र
बलिं हरिष्यन्ति सलोकपालाः ।
मंस्यन्त एषां स्त्रिय आदिराजं
चक्रायुधं तद्यश उद्धरन्त्यः ॥२१॥
अयं महीं गां दुदुहेऽधिराजः
प्रजापतिर्वृत्तिकरः प्रजानाम् ।
यो लीलयाद्रीन्स्वशरासकोट्या
भिन्दन्समां गामकरोद्यथेन्द्रः ॥२२॥
विस्फूर्जयन्नाजगवं धनुः स्वयं
यदाचरत्क्ष्मामविषह्यमाजौ ।
तदा निलिल्युर्दिशि दिश्यसन्तो
लाङ्गूलमुद्यम्य यथा मृगेन्द्रः ॥२३॥
एषोऽश्वमेधान् शतमाजहार
सरस्वती प्रादुरभावि यत्र ।
आहारषीद्यस्य हयं पुरन्दरः
शतक्रतुश्चरमे वर्तमाने ॥२४॥
एष स्वसद्मोपवने समेत्य
सनत्कुमारं भगवन्तमेकम् ।

ये बड़े दृढ़व्रत, सत्यपरायण, ब्राह्मणभक्त, गुरुसेवक, शरणागतवत्सल, सब प्राणियोंको मान देनेवाले और दीनोंपर कृपा करनेवाले होंगे ॥१६॥ परस्त्रियोंमें इनकी माताके समान भक्ति होगी, स्त्रीको ये अपने आधे अङ्गके समान समझेंगे, प्रजापर पिताके समान प्रेम करेंगे और वेदवादियोंके सेवक होंगे ॥१७॥ ये प्राणियोंको आत्माके समान प्रिय, सुहृदोंका आनन्द बढ़ानेवाले, असंग पुरुषोंका संग करनेवाले और असाधुओंके लिये साक्षात् दण्डपाणि यमराजके समान होंगे ॥१८॥ ये तीनों गुणोंके अधिष्ठाता और निर्विकार साक्षात् भगवान् ही अपने अंशसे प्रकट हुए हैं जिनमें पण्डितजन अविद्यावश नाना रूपसे प्रतीत होनेवाले जगत्को मिथ्या देखते हैं ॥१९॥ उदयाचलपर्यन्त सम्पूर्ण भूमण्डलकी रक्षा करनेवाले ये अद्वितीय वीर महाराज पृथु अपने जयदायक रथपर चढ़कर हाथमें धनुष ले सम्पूर्ण भूमण्डलकी सूर्यके समान दाहिनी ओरसे प्रदक्षिणा करेंगे ॥२०॥ उस समय इन्हें जहाँ-तहाँ लोकपालोंके सहित सम्पूर्ण भूपालगण बलि समर्पण करेंगे और इनका सुयश गान करती हुई उनकी स्त्रियाँ इन आदिराजको साक्षात् श्रीविष्णुभगवान् ही समझेंगी ॥२१॥ प्रजाओंकी जीविका चलानेवाले ये प्रजापालक राजाधिराज गोरूपधारिणी पृथिवीका दोहन करेंगे और इन्द्रके समान अपने धनुषकी कोटिसे लीलाहीसे पर्वतोंको चूर्ण करते हुए पृथिवीको समतल करेंगे ॥२२॥ जिस समय ये वनमें पूँछ उठाकर विचरनेवाले सिंहके समान अपने शत्रुओंके लिये दुःसह आजगव (मेढे और बैलके सींगके) धनुषका टङ्कार करते हुए युद्धके निमित्त पृथिवीमें विचरेंगे उस समय इनके दुष्ट शत्रु [पशुओंके समान] दिशा-विदिशाओंमें छिप जायँगे ॥२३॥ जिस स्थानसे सरस्वती नदी निकली है वहाँ ये सौ अश्वमेध यज्ञ करेंगे । तब अन्तिम यज्ञके अनुष्ठानके समय शतक्रतु इन्द्र इनका घोड़ा चुरा ले जायँगे ॥२४॥ ये अपने भवनकी वाटिकामें भगवान् सनत्कुमार नामक एक मुनीश्वरसे भेंट होनेपर उनकी

१. प्राचीन प्रतिमें 'यस्मिन्नविद्या०···' से आरम्भकर इक्कीसवें श्लोककी समाप्तिपर्यन्त अंश मूलमें नहीं है । टिप्पणीमें लिखा है ।

आराध्य भक्त्या लभतामलं तज्-
ज्ञानं यतो ब्रह्म परं विदन्ति[1] ॥२५॥

भक्तिपूर्वक आराधना कर वह निर्मल ज्ञान प्राप्त करेंगे जिससे परब्रह्मकी प्राप्ति होती है ॥२५॥

तत्र तत्र गिरस्तास्ता इति विश्रुतविक्रमः ।
श्रोष्यत्यात्माश्रिता गाथाः पृथुः पृथुपराक्रमः ॥२६॥

इस प्रकार इनके पराक्रम सर्वत्र विख्यात हो जायँगे तब ये परमपराक्रमी महाराज पृथु जहाँ-तहाँ अपने ही चरित्रसम्बन्धी वचनोंको सुनेंगे ॥२६॥

दिशो विजित्याप्रतिरुद्धचक्रः
स्वतेजसोत्पाटितलोकशल्यः ।
सुरासुरेन्द्रैरुपगीयमान-[2]
महानुभावो भविता पतिर्भुवः ॥२७॥

इस प्रकार जिनके शासनका कोई विरोध नहीं कर सकता ऐसे ये राजराजेश्वर सब दिशाओंको जीतकर और अपने तेजसे लोकके दुःखरूप काँटेको निकालकर पृथिवीके अधिपति होंगे । उस समय देवता और असुरगण इनके प्रभावका वर्णन करेंगे ॥२७॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे चतुर्थस्कन्धे[3]
षोडशोऽध्यायः ॥१६॥

सत्रहवाँ अध्याय

महाराज पृथुका पृथिवीपर कुपित होना और पृथिवीका उनकी स्तुति करना ।

मैत्रेय उवाच

एवं स भगवान्वैन्यः ख्यापितो गुणकर्मभिः ।
छन्दयामास तान्कामैः प्रतिपूज्याभिनन्द्य च ॥ १ ॥
ब्राह्मणप्रमुखान्वर्णान्भृत्यामात्यपुरोधसः ।
पौरांञ्जानपदान् श्रेणीः प्रकृतीः समपूजयत् ॥ २ ॥

श्रीमैत्रेयजी बोले-हे विदुर ! इस प्रकार अपने गुण और कर्मोंके वर्णनद्वारा उन बन्दीजनसे प्रशंसित होनेपर महाराज पृथुने उनकी प्रशंसा करके और उन्हें वस्त्राभूषणादि इच्छित वस्तुएँ देकर सन्तुष्ट किया ॥१॥ तदनन्तर उन्होंने ब्राह्मणादि वर्णों, सेवकों, मन्त्रियों, पुरोहितों, पुरवासियों, देशवासियों, तेली-तँबोली आदि भिन्न-भिन्न व्यवसायियों और सचिवोंका सत्कार किया॥२॥

विदुर उवाच

कस्माद्दधार गोरूपं धरित्री बहुरूपिणी ।
यां दुदोह पृथुस्तत्र को वत्सो दोहनं च किम् ॥ ३ ॥
प्रकृत्या विषमा देवी कृता तेन समा कथम् ।
तस्य मेध्यं हयं देवः कस्य हेतोरपाहरत् ॥ ४ ॥

विदुरजी बोले-भगवन् ! जिसे महाराज पृथुने दुहा था उस पृथिवीने अनेकों रूप धारण करनेमें समर्थ होकर भी गौका रूप ही क्यों धारण किया ? तथा उसके दोहनके समय बछड़ेका रूप किसने धारण किया और दुहना क्या था ? ॥३॥ जो पृथिवी-देवी पहले स्वभावसे ही ऊँची-नीची थी उसे उन्होंने समतल किस प्रकार कर दिया ? और देवराज इन्द्रने उनके यज्ञसम्बन्धी घोड़ेका किस लिये हरण किया ? ॥४॥

१. प्रा० पा०—वदन्ति । २. प्रा० पा०—न्द्रैरनुगीयमानो म० । ३. प्रा० पा०—प्राचीन प्रतिमें इसके आगे 'पृथुचरिते' इतना अधिक पाठ है । ४. प्रा० पा०—पौरजा० ।

सनत्कुमाराद्भगवतो ब्रह्मन्ब्रह्मविदुत्तमात् ।
लब्ध्वा ज्ञानं सविज्ञानं राजर्षिः कां गतिं गतः ॥५॥
यच्चान्यदपि कृष्णस्य भवान्भगवतः प्रभोः ।
श्रवः सुश्रवसः पुण्यं पूर्वदेहकथाश्रयम् ॥ ६ ॥
भक्ताय मेऽनुरक्ताय तव चाधोक्षजस्य च ।
वक्तुमर्हसि योऽदुह्यद्वैन्यरूपेण गामिमाम् ॥ ७ ॥

हे ब्रह्मन् ! अन्तमें ब्रह्मज्ञानियोंमें श्रेष्ठ श्रीसनत्कुमारजीसे अनुभवज्ञानके सहित ज्ञानोपदेश प्राप्त कर वे राजर्षि किस गतिको प्राप्त हुए ? ॥५॥ इनके सिवा, जिन्होंने पृथुरूपसे पृथिवीको दुहा था ऐसे यशस्वी भगवान् कृष्णके उस पृथु-अवतारसे सम्बन्ध रखनेवाले जो और भी पवित्र चरित्र हों उन सबका आप मुझसे वर्णन कीजिये; क्योंकि मैं आपका और भगवान् कृष्णका अनुरक्त भक्त हूँ ॥६-७॥

सूत उवाच

चोदितो विदुरेणैवं वासुदेवकथां प्रति ।
प्रशस्य तं प्रीतमना मैत्रेयः प्रत्यभाषत ॥ ८ ॥

श्रीसूतजी कहते हैं—इस प्रकार भगवान् वासुदेवकी कथाके लिये विदुरजीसे प्रेरित हो श्रीमैत्रेयजी उनकी प्रशंसा करते हुए प्रसन्नचित्तसे कहने लगे ॥८॥

मैत्रेय[1] उवाच

यदाभिषिक्तः पृथुरङ्ग विप्रै-
रामन्त्रितो जनतायाश्च पालः ।
प्रजा निरन्ने क्षितिपृष्ठ एत्य
क्षुत्क्षामदेहाः पतिमभ्यवोचन् ॥ ९ ॥
वयं राजञ्जाठरेणाभितप्ता
यथाग्निना कोटरस्थेन वृक्षाः ।
त्वामद्य याताः शरणं शरण्यं
यः साधितो वृत्तिकरः पतिर्नः ॥१०॥
तन्नो भवानीहतु रातवेऽन्नं
क्षुधार्दितानां नरदेवदेव ।
यावन्न नङ्क्ष्यामह उज्झितोर्जा
वार्तापतिस्त्वं किल लोकपालः ॥११॥

श्रीमैत्रेयजीने कहा—हे प्रिय ! जिस समय ब्राह्मणोंने पृथुका राज्याभिषेककर उनसे कहा कि 'तुम जनताकी रक्षा करनेवाले हो' उस समय पृथ्वीके अन्नहीन हो जानेसे जिनके शरीर भूखसे दुर्बल हो गये थे उन प्रजाजनोंने आकर महाराज पृथुसे कहा ॥९॥ हे राजन् ! जिस प्रकार अपने कोटरमें रहनेवाले अग्निसे वृक्ष झुलस जाते हैं उसी प्रकार हम अपने जठरानलसे दग्ध हो रहे हैं । आप हमें जीविका देनेवाले हमारे स्वामी बनाये गये हैं और शरणागतोंकी रक्षा करनेवाले हैं । इसलिये अब हम आपकी शरणमें आये हैं ॥१०॥ आप सम्पूर्ण लोकोंकी रक्षा करनेवाले और हमें जीविका देनेमें समर्थ हैं । अतः हे राजराजेश्वर ! जबतक अन्न न मिलनेके कारण हम नष्ट न हो जायँ तबतक ही आप हम क्षुधापीडितोंको अन्न-प्रदान करनेका यत्न कीजिये ॥ ११ ॥

मैत्रेय उवाच

पृथुः प्रजानां करुणं निशम्य परिदेवितम् ।
दीर्घं दध्यौ कुरुश्रेष्ठ निमित्तं सोऽन्वपद्यत ॥१२॥
इति व्यवसितो बुद्ध्या प्रगृहीतशरासनः ।
संदधे विशिखं भूमेः क्रुद्धस्त्रिपुरहा यथा ॥१३॥

श्रीमैत्रेयजी बोले—हे कुरुश्रेष्ठ ! इस प्रकार प्रजाका करुण-क्रन्दन सुन पृथु बहुत देरतक सोचते रहे । अन्तमें उन्हें [पृथिवीके अन्नहीन होनेका] कारण विदित हुआ ॥१२॥ [पृथिवीने ओषधि आदिको अपने भीतर छिपा लिया है—] अपनी बुद्धिसे ऐसा निश्चयकर उन्होंने धनुष उठाया और त्रिपुर-विनाशक भगवान् शंकरके समान अत्यन्त क्रोधित हो पृथ्वीकी ओर बाण चढ़ाया ॥१३॥

१. प्राचीन प्रतिमें 'मैत्रेय उवाच' नहीं है ।

प्रवेपमाना धरणी निशाम्योदायुधं च[1] तम् ।
गौः सत्यपाद्रवद्भीता मृगीव मृगयुद्रुता ॥१४॥
तामन्वधावत्तद्वैन्यः[2] कुपितोऽत्यरुणेक्षणः ।
शरं धनुषि संधाय यत्र यत्र पलायते ॥१५॥
सा दिशो विदिशो देवी रोदसी चान्तरं तयोः ।
धावन्ती तत्र तत्रैनं ददर्शानूद्यतायुधम् ॥१६॥
लोके नाविन्दत त्राणं वैन्यान्मृत्योरिव प्रजाः ।
त्रस्ता तदा निववृते हृदयेन विदूयता ॥१७॥
उवाच च महाभागं धर्मज्ञापन्नवत्सल ।
त्राहि मामपि भूतानां पालनेऽवस्थितो भवान् ॥१८॥
स त्वं जिघांससे कस्माद्दीनामकृतकिल्बिषाम् ।
अहनिष्यत्कथं योषां धर्मज्ञ इति यो मतः ॥१९॥
प्रहरन्ति न वै स्त्रीषु कृतागस्स्वपि जन्तवः ।
किमुत त्वद्विधा राजन्करुणा दीनवत्सलाः ॥२०॥
मां विपाट्याजरां नावं यत्र विश्वं प्रतिष्ठितम् ।
आत्मानं च प्रजाश्चेमाः कथमम्भसि[3] धास्यसि ॥२१॥

पृथुरुवाच

वसुधे त्वां वधिष्यामि मच्छासनपराङ्मुखीम् ।
भागं बर्हिषि या वृङ्क्ते न तनोति च नो वसु ॥२२॥
यवसं जग्ध्यनुदिनं नैव दोग्ध्यौधसं पयः ।
तस्यामेवं हि दुष्टायां दण्डो नात्र न शस्यते ॥२३॥

महाराज पृथुको शस्त्र ग्रहण किये देख पृथ्वी गौका रूप धारणकर काँपती हुई व्याधसे डरकर भागती हुई हरिणीके समान भागी ॥१४॥

तब महाराज पृथु क्रोधके कारण आँखें लाल करके धनुषपर बाण चढ़ा जहाँ-जहाँ पृथ्वी दौड़कर गयी वहीं-वहीं उसके पीछे-पीछे दौड़े गये ॥१५॥ दिशा-विदिशा, स्वर्ग-पृथ्वी और उनके बीचमें रहनेवाले अन्तरिक्षादिमें दौड़ती हुई पृथ्वीदेवीने सर्वत्र महाराज पृथुको हथियार उठाये हुए अपने पीछे आते देखा ॥१६॥ जिस प्रकार मनुष्योंको मृत्युसे कोई भी नहीं बचा सकता उसी प्रकार उसे सम्पूर्ण जगत्में वेनपुत्र महाराज पृथुसे बचानेवाला कोई भी नहीं मिला तब वह भयके मारे हृदयमें दुःखित होकर पीछे लौटी और महाभाग पृथुजीसे कहने लगी—"हे धर्मज्ञ ! हे शरणागतवत्सल ! आप मेरी रक्षा कीजिये । हे प्रभो ! आपने तो सम्पूर्ण प्राणियोंकी रक्षा करनेका ही निश्चय किया है ॥१७-१८॥ फिर मुझ दीना और निरपराधिनी-को आप क्यों मारना चाहते हैं ? इसके सिवा आप बड़े धर्मज्ञ भी कहे जाते हैं, फिर मुझ स्त्रीका वध आप कैसे कर सकेंगे ? ॥१९॥ यदि स्त्रियाँ कोई अपराध करें, तो साधारण जीव भी उनपर हाथ नहीं उठाते, फिर हे राजन् ! आप-जैसे करुणामय और दीनवत्सल पुरुष तो ऐसा कर ही कैसे सकते हैं ? ॥२०॥ हे राजन् ! जिसमें यह सम्पूर्ण विश्व स्थित है उस (पृथ्वीरूप) मुझ सुदृढ़ नौकाको नष्ट करके आप अपने-आपको और अपनी प्रजाको किस प्रकार जलपर स्थित करेंगे ?" ॥२१॥

राजा पृथुने कहा—"हे पृथ्वी ! तू मेरी आज्ञाका उल्लङ्घन करनेवाली है । तू यज्ञमें भाग लेती है तथापि उसके बदलेमें हमें (अन्नरूप) धन नहीं देती । इसलिये मैं तेरा वध अवश्य करूँगा ॥२२॥ तू नित्य-प्रति (यज्ञभागरूप) चारा तो खाती है किन्तु ओषधि-रूप दूध नहीं देती । तुझ-जैसी दुष्टाको दण्ड देना किसी प्रकार अनुचित नहीं है ॥२३॥

१. प्रा० पा०—पृथुम् । २. प्रा० पा०—तामेवानुद्रवद्वैन्यः । ३. प्रा० पा०—कथं संधारयिष्यसि ।

त्वं खल्वोषधिबीजानि प्राक् सृष्टानि स्वयंभुवा ।
न मुञ्चस्यात्मरुद्धानि मामवज्ञाय मन्दधीः ॥२४॥
अमूषां क्षुत्परीतानामार्तानां परिदेवितम् ।
शमयिष्यामि मद्बाणैर्भिन्नायास्तव मेदसा ॥२५॥
पुमान्योषिदुत क्लीब आत्मसंभावनोऽधमः ।
भूतेषु निरनुक्रोशो नृपाणां तद्वधोऽवधः ॥२६॥
त्वां स्तब्धां दुर्मदां नीत्वा मायागां तिलशः शरैः ।
आत्मयोगबलेनेमा धारयिष्याम्यहं प्रजाः ॥२७॥
एवं मन्युमयीं मूर्तिं कृतान्तमिव बिभ्रतम् ।
प्रणता प्राञ्जलिः प्राह मही सञ्जातवेपथुः ॥२८॥

धरोवाच[1]

नमः परस्मै पुरुषाय मायया
विन्यस्तनानातनवेऽगुणात्मने[2] ।
नमः स्वरूपानुभवेन निर्धुत-
द्रव्यक्रियाकारकविभ्रमोर्मये ॥२९॥
येनाहमात्मायतनं विनिर्मिता
धात्रा यतोऽयं गुणसर्गसंग्रहः ।
स एव मां हन्तुमुदायुधः स्वरा-
डुपस्थितोऽन्यं शरणं कमाश्रये ॥३०॥
य एतदादावसृजच्चराचरं
स्वमाययात्माश्रययावितर्क्यया ।
तयैव सोऽयं किल गोप्तुमुद्यतः
कथं नु मां धर्मपरो जिघांसति ॥३१॥
नूनं बतेशस्य समीहितं जनै-
स्तन्मायया दुर्जययाकृतात्मभिः ।

तू बड़ी मन्द-बुद्धि है, तूने पूर्वकालमें ब्रह्माजीके बनाये हुए ओषधि और बीजोंको अपनेमें लीन कर लिया है और अब मेरी कुछ भी परवा न करके उन्हें अपने गर्भसे नहीं निकालती ॥२४॥ अतः अब मैं अपने बाणोंसे तुझे छिन्न-भिन्नकर तुम्हारे मेदेसे इन क्षुधातुर और दीन प्रजाजनोंका करुणक्रन्दन शान्त करूँगा ॥२५॥ जो अधम जीव अपनी ही प्रशंसा करनेवाला एवं अन्य प्राणियोंके प्रति निर्दय होता है वह पुरुष स्त्री अथवा नपुंसक कोई भी क्यों न हो राजाओंके लिये उसका मारना न मारनेके समान है ॥ २६ ॥ अतः मायासे ही गौरूप धारण करनेवाली तुझ अत्यन्त अभिमानिनी और मदोन्मत्ताके टुकड़े-टुकड़ेकर मैं अपने योगबलसे ही सम्पूर्ण प्रजाको धारण करूँगा'' ॥२७॥ इस प्रकार कालके समान अत्यन्त क्रोधमयी मूर्ति धारण करनेवाले महाराज पृथुको प्रणामकर पृथ्वी उनसे हाथ जोड़कर थर-थर काँपती हुई कहने लगी—॥२८॥

पृथ्वी बोली—जो अपनी मायासे नाना प्रकारके शरीर धारण करते हैं तथा अपने स्वरूपानुभवसे द्रव्य (पञ्चभूत) क्रिया और कारक (इन्द्रियाँ और इन्द्रियाधिष्ठाता देवता) रूप तरंग तथा भँवरोंको शान्त कर देते हैं उन निर्गुणस्वरूप परमपुरुषको नमस्कार है ॥२९॥ जिन जगद्रचयिताने मुझे सम्पूर्ण स्थावर-जंगम प्राणियोंके रहनेके लिये रचा है तथा जिनसे यह सम्पूर्ण गुणमय सर्ग उत्पन्न हुआ है अब वे ही स्वाधीन भगवान् शस्त्र उठाकर मुझे मारनेके लिये उद्यत हुए हैं तो अब मैं दूसरे किसकी शरणमें जाऊँ ? ॥३०॥ जिन्होंने कल्पके आरम्भमें अपने ही आश्रित रहनेवाली अपनी अचिन्त्य मायासे इस चराचर जगत्-की रचना की है और उस मायाहीके द्वारा जो इसका पालन करनेके लिये उद्यत हुए हैं वे ही धर्म-रक्षक भगवान् किस प्रकार मुझ (गोरूपधारिणी पृथ्वी) को मारना चाहते हैं ? ॥३१॥ जो एक होकर भी अनेक रूप तथा ब्रह्मादि ईश्वरोंके भी ईश्वर हैं उन श्रीभगवान्‌ने जो-जो चेष्टाएँ कीं अथवा करायी हैं उन्हें

१. प्राचीन प्रतिमें 'धरोवाच' नहीं है । २. प्रा० पा०—न्यस्तमायात० ।

न लक्ष्यते यस्त्वकरोदकारय-
द्योऽनेक एकः परतश्च ईश्वरः ॥३२॥
सर्गादि योऽस्यानुरुणद्धि शक्तिभि-
र्द्रव्यक्रियाकारकचेतनात्मभिः ।
तस्मै समुन्नद्धनिरुद्धशक्तये
नमः परस्मै पुरुषाय वेधसे ॥३३॥
स वै भवानात्मविनिर्मितं जग-
द्भूतेन्द्रियान्तःकरणात्मकं विभो ।
संस्थापयिष्यन्नज मां रसातला-
दभ्युज्जहाराम्भस आदिसूकरः ॥३४॥
अपामुपस्थे मयि नाव्यवस्थिताः
प्रजा भवानद्य रिरक्षिषुः किल ।
स वीरमूर्तिः समभूद्वराधरो
यो मां पयस्युग्रशरो जिघांससि ॥३५॥
नूनं जनैरीहितमीश्वराणा-
मस्मद्विधैस्तद्गुणसर्गमायया ।
न ज्ञायते मोहितचित्तवर्त्मभि-
स्तेभ्यो नमो वीरयशस्करेभ्यः ॥३६॥

जिनकी दृष्टि उनकी मायासे आवृत है वे असंयमी लोग अवश्य ही नहीं जान सकते ॥३२॥ अतः पञ्चभूत, इन्द्रिय, इन्द्रियाधिष्ठाता देवता, और बुद्धि आदि अपनी शक्तियोंके द्वारा जो जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और संहार करते हैं ऐसे उत्पत्ति और संहार आदि परस्पर विरुद्ध शक्तियोंसे युक्त परमपुरुष परमात्माको प्रणाम है ॥३३॥ हे विभो ! हे अज ! भूत, इन्द्रिय और अन्तःकरणरूप स्वनिर्मित जगत्की स्थितिके लिये वे ही आप आदिशूकररूप होकर मुझे जलके भीतर रसातलसे निकाल लाये थे ॥३४॥ इस प्रकार जो एक समय वराहरूपसे पृथ्वीको धारण करनेवाले हुए थे वे ही आप अब पृथुरूप होकर जलके ऊपर नौकारूप मुझमें रहनेवाली प्रजाकी रक्षाके लिये 'मैंने दूध नहीं दिया' इस थोड़ेसे अपराधके लिये तीव्र बाणोंद्वारा मेरा वध करना चाहते हैं ॥३५॥ जिनका चित्तरूप मार्ग आप-जैसे ईश्वरों (ईश्वरांशों) की मायाके प्रभावसे मोहित हो रहा है वे हम-जैसे जीव आपकी लीलाओंको नहीं जान सकते । इसलिये वीर-यशका विस्तार करनेवाले आपको मेरा नमस्कार है ॥ ३६ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे चतुर्थस्कन्धे पृथुविजये धरित्रीनिग्रहो नाम सप्तदशोऽध्यायः ॥१७॥

अठारहवाँ अध्याय

पृथिवी-दोहन ।

मैत्रेय उवाच

इत्थं पृथुमभिष्टूय रुषा प्रस्फुरिताधरम् ।
पुनराहावनिर्भीता संस्तभ्यात्मानमात्मना ॥ १ ॥
सन्नियच्छामि भो मन्युं निबोध श्रावितं च मे ।
सर्वतः सारमादत्ते यथा मधुकरो बुधः ॥ २ ॥

श्रीमैत्रेयजी बोले—हे विदुर ! जिनके अधरपुट क्रोधसे काँप रहे थे उन महाराज पृथुकी इस प्रकार स्तुतिकर पृथिवीने भयभीत हो अपने मनको विचारपूर्वक रोककर उनसे फिर कहा—॥१॥"राजन् ! आप अपना क्रोध शान्त कीजिये, जिससे मुझे अभय प्राप्त हो; साथ ही, आप मेरा यह कथन भी सुनिये—बुद्धिमान् पुरुष भ्रमरके समान सभी जगहसे सार ग्रहण कर लेता है ॥ २ ॥

१. प्रा० पा०—विरुद्ध० । २. प्रा० पा०—चित्तकर्म० । ३. प्रा० पा०—पृथुचरिते धरानिग्रहः सप्त० । ४. प्रा० पा०—क्रोधं ।

अस्मिँल्लोकेऽथवामुष्मिन्मुनिभिस्तत्त्वदर्शिभिः ।
दृष्टा योगाः प्रयुक्ताश्च पुंसां श्रेयःप्रसिद्धये ॥ ३ ॥
तानातिष्ठति यः सम्यगुपायान्पूर्वदर्शितान् ।
अवरः[1] श्रद्धयोपेत उपेयान्विन्दतेऽञ्जसा ॥ ४ ॥
तानानादृत्य यो विद्वानर्थानारभते स्वयम् ।
तस्य व्यभिचरन्त्यर्था आरब्धाश्च[2] पुनः पुनः ॥ ५ ॥
पुरा सृष्टा ह्योषधयो ब्रह्मणा या विशांपते ।
भुज्यमाना मया दृष्टा असद्भिरधृतव्रतैः ॥ ६ ॥
अपालितानादृता च भवद्भिर्लोकपालकैः ।
चोरीभूतेऽथ लोकेऽहं यज्ञार्थेऽग्रसमोषधीः ॥ ७ ॥
नूनं ता वीरुधः क्षीणा मयि कालेन भूयसा ।
तत्र योगेन[3] दृष्टेन भवानादातुमर्हति ॥ ८ ॥
वत्सं कल्पय मे वीर येनाहं वत्सला तव ।
धोक्ष्ये क्षीरमयान्कामाननुरूपं च दोहनम् ॥ ९ ॥
दोग्धारं च महाबाहो भूतानां भूतभावन ।
अन्नमीप्सितमूर्जस्वद्भगवान्वाञ्छते यदि ॥१०॥
समां च कुरु मां राजन्देववृष्टं यथा पयः ।
अपर्तावपि भद्रं ते उपावर्तेत मे विभो ॥११॥
इति प्रियं हितं वाक्यं भुव आदाय भूपतिः ।
वत्सं[4] कृत्वा मनुं पाणावदुहत्सकलौषधीः ॥१२॥

तत्त्वदर्शी मुनीश्वरोंने इस लोक और परलोकमें मनुष्योंका कल्याण करनेके लिये बहुतसे उपाय निकाले और काममें लिये हैं ॥ ३ ॥ उन पूर्वदर्शित उपायोंका जो परवर्ती पुरुष श्रद्धापूर्वक भली प्रकार अवलम्बन करता है वह सुगमतासे ही इच्छित फल प्राप्त कर लेता है ॥ ४ ॥ और जो तर्कशील पुरुष उनका अनादर कर अपने ही कल्पना किये हुए उपायोंका आश्रय लेता है उसके सब उपाय और प्रयत्न बारम्बार निष्फल हो जाते हैं ॥ ५ ॥ हे राजन् ! ब्रह्माजीने पूर्वकालमें जिन ओषधियोंको रचा था उन्हें मैंने देखा कि यम-नियमादि नियमोंका पालन न करनेवाले, दुराचारी मनुष्य भक्षण कर रहे हैं ॥ ६ ॥ लोकोंकी रक्षा करनेवाले आप राजालोगोंने मेरा पालन और आदर करना छोड़ दिया है, इससे सब लोग चोरोंके समान हो गये हैं [उनके भक्षण करनेसे यज्ञकी सामग्री समाप्त हो जाती] अतः यज्ञकी रक्षाके लिये मैंने उन ओषधियोंको अपनेमें लीन कर लिया था ॥ ७ ॥ अब अधिक समय हो जानेसे अवश्य ही वे ओषधियाँ मेरे उदरमें क्षीण-सी हो गयी हैं । उन्हें आप पूर्वाचार्योंके बताये हुए [दुहनारूप] उपायसे निकाल लीजिये ॥ ८ ॥

"हे महाबाहो ! हे सर्वभूतप्रतिपालक ! यदि आपको सम्पूर्ण प्राणियोंकी बलवृद्धि करनेवाले अन्नकी इच्छा है तो हे वीर ! आप किसीको मेरा बछड़ा बनाइये जिसके प्रेमसे मैं दुग्धरूपसे आपके लिये इच्छित पदार्थोंको देनेमें समर्थ हो सकूँ । इसके सिवा उस दूधको धारण करनेयोग्य पात्र और दुहनेवालेकी भी कल्पना कीजिये ॥९-१०॥ हे राजन् ! आप मुझे समतल कीजिये जिससे इन्द्रका बरसाया हुआ जल वर्षा ऋतुके बीत जानेपर भी सर्वत्र वर्तमान रहे । ऐसा करनेसे आपका कल्याण होगा" ॥११ ॥

इस प्रकार पृथिवीके कहे हुए प्रिय और हितकारी वचनोंको ग्रहणकर राजा पृथुने स्वायम्भुवमनुको बछड़ा बनाकर अपने हाथरूप पात्रमें सम्पूर्ण ओषधियोंको दुह लिया ॥ १२ ॥

१. प्रा० पा०—अथवा । २. प्रा० पा०—प्रारब्धा० । ३. प्रा० पा०—दृष्टेन योगेन । ४. प्राचीन प्रतिमें 'वत्सं कृत्वा···' यह उत्तरार्ध मूलमें नहीं टिप्पणीमें है ।

तथा परे च सर्वत्र सारमाददते बुधाः ।
ततोऽन्ये च यथाकामं दुदुहुः पृथुभाविताम् ॥१३॥
ऋषयो दुदुहुर्देवीमिन्द्रियेष्वथ सत्तम ।
वत्सं बृहस्पतिं कृत्वा पयश्छन्दोमयं शुचि ॥१४॥
कृत्वा वत्सं सुरगणा इन्द्रं सोममदूदुहन् ।
हिरण्मयेन पात्रेण वीर्यमोजो बलं पयः ॥१५॥
दैतेया दानवा वत्सं प्रह्लादमसुरर्षभम् ।
विधायादूदुहन्क्षीरमयःपात्रे सुरासवम् ॥१६॥
गन्धर्वाप्सरसोऽधुक्षन्पात्रे पद्ममये पयः ।
वत्सं विश्वावसुं कृत्वा गान्धर्वं मधु सौभगम् ॥१७॥
वत्सेन पितरोऽर्यम्णा कव्यं क्षीरमधुक्षत ।
आमपात्रे महाभागाः श्रद्धया श्राद्धदेवताः ॥१८॥
प्रकल्प्य वत्सं कपिलं सिद्धाः संकल्पनामयीम् ।
सिद्धिं नभसि विद्यां च ये च विद्याधरादयः ॥१९॥
अन्ये च मायिनो मायामन्तर्धानाद्भुतात्मनाम् ।
मयं प्रकल्प्य वत्सं ते दुदुहुर्धारणामयीम् ॥२०॥
यक्षरक्षांसि भूतानि पिशाचाः पिशिताशनाः ।
भूतेशवत्सा दुदुहुः कपाले क्षतजासवम् ॥२१॥
तथाहयो दन्दशूकाः सर्पा नागाश्च तक्षकम् ।
विधाय वत्सं दुदुहुर्बिलपात्रे विषं पयः ॥२२॥
पशवो यवसं क्षीरं वत्सं कृत्वा च गोवृषम् ।
अरण्यपात्रे चाधुक्षन्मृगेन्द्रेण च दंष्ट्रिणः ॥२३॥
क्रव्यादाः प्राणिनः क्रव्यं दुदुहुः स्वे कलेवरे ।
सुपर्णवत्सा विहगाश्चरं चाचरमेव च ॥२४॥

पृथुके समान और सब बुधजन भी सब जगहसे सार ग्रहण कर लेते हैं । इसलिये उनके दुहनेके अनन्तर और सबने भी पृथुद्वारा अपने वशीभूत की हुई पृथिवीको अपनी-अपनी इच्छाके अनुसार दुहा ॥१३॥ अतः हे साधुश्रेष्ठ ! ऋषियोंने बृहस्पतिजीको बछड़ा बनाकर इन्द्रियरूप पात्रमें वेदरूप पवित्र दूध दुहा ॥१४॥ देवताओंने इन्द्रको वत्स बनाकर सुवर्णमय पात्रमें अमृत, वीर्य (मनोबल), ओज (इन्द्रियबल) और बल (शारीरिक बल) रूप दुग्ध दुहा ॥१५॥ दैत्य और दानवोंने दैत्यश्रेष्ठ प्रह्लादको वत्स बनाकर लोहेके पात्रमें सुरा और आसवरूप दूध दुहा ॥१६॥ गन्धर्व और अप्सराओंने विश्वावसु-को बछड़ा बनाकर कमलरूप पात्रमें गानसम्बन्धी मधुरता और सुन्दरतारूप दूध दुहा ॥१७॥ श्राद्धके देवता महाभाग पितृगणने अर्यमारूप वत्सके द्वारा मिट्टीके कच्चे पात्रमें श्रद्धापूर्वक कव्यरूप दुग्ध दुहा ॥१८॥ सिद्धगण तथा विद्याधर आदिने कपिलदेवजीको वत्स बनाकर आकाशरूप पात्रमें [क्रमशः] अष्टसिद्धि और [गुप्तरूपसे विचरना आदि] विद्याओंको दुहा ॥१९॥ और भी दूसरे मायावियोंने मयदानवको बछड़ा बनाकर शरीरको अन्तर्धानकर विचित्र रूप धारण करना आदि धारणामयी विद्याओंको दुहा ॥२०॥ इसी प्रकार यक्ष, राक्षस तथा भूत-पिशाच आदि मांसभक्षी योनियोंने भूतनाथ रुद्रको बछड़ा बनाकर कपालरूप पात्रमें रुधिरासवरूप दूध दुहा ॥२१॥ तथा अहि[1], दन्दशूक[2], सर्प[3] और नाग[4]ोंने तक्षकको वत्स बनाकर बिलरूप पात्रमें विषरूप दूध दुहा ॥२२॥ इसी प्रकार पशुओंने नन्दीश्वरको वत्स बनाकर वनरूप पात्रमें तृणरूप दूध दुहा, बड़ी-बड़ी डाढ़ोंवाले मांसभक्षी जीवोंने सिंहरूप बछड़ेके द्वारा अपने शरीररूप पात्रमें क्रव्य (कच्चा मांस) रूप दूध दुहा तथा गरुड़जीको वत्स बनानेवाले पक्षियोंने चर (कीट-पतंगादि) और अचर (फलादि) पदार्थरूप दूध दुहा ॥ २३-२४ ॥

१. प्रा० पा०—ततः सर्वे । २. प्रा० पा०—गन्धं । ३. प्रा० पा०—ससौभगम् । ४. प्रा० पा०—स्वकले० ।

१ बिना फनवाले सर्प । २ बिच्छू आदि काटनेवाले जीव । ३ फनवाले सर्प । ४ कद्रूकी सन्तान ।

वटवत्सा वनस्पतयः पृथग्रसमयं पयः ।
गिरयो हिमवद्वत्सा नानाधातून्स्वसानुषु ॥२५॥
सर्वे स्वमुख्यवत्सेन स्वे स्वे पात्रे पृथक् पयः ।
सर्वकामदुघां पृथ्वीं दुदुहुः पृथुभाविताम् ॥२६॥

वृक्षोंने वटवृक्षको बछड़ा बनाकर नाना प्रकारका रसरूप दूध दुहा और पर्वतोंने हिमालयरूप बछड़ेके द्वारा अपने शिखररूप पात्रोंमें गेरू आदि अनेक प्रकारके धातुओंको दुहा ॥२५॥ इसी प्रकार सबने अपनेमें जो प्रधान था उसे वत्स बनाकर अपने पृथक्-पृथक् पात्रोंमें महाराज पृथुद्वारा वशीभूत की हुई तथा सम्पूर्ण कामनाओंको पूर्ण करनेवाली पृथिवीसे अपना मनोरथरूप दूध दुहा ॥२६॥

एवं पृथ्वादयः पृथ्वीमन्नादाः स्वन्नमात्मनः ।
दोहवत्सादिभेदेन क्षीरभेदं कुरूद्वह ॥२७॥
ततो महीपतिः प्रीतः सर्वकामदुघां पृथुः ।
दुहितृत्वे चकारेमां प्रेम्णा दुहितृवत्सलः ॥२८॥
चूर्णयन्[1]स्वधनुष्कोट्या गिरिकूटानि राजराट् ।
भूमण्डलमिदं वैन्यः प्रायश्चक्रे समं विभुः ॥२९॥
अथास्मिन्भगवान्वैन्यः प्रजानां वृत्तिदः पिता ।
निवासान्[2]कल्पयांचक्रे तत्र तत्र यथार्हतः ॥३०॥
ग्रामान्पुरः पत्तनानि दुर्गाणि विविधानि च ।
घोषान्व्रजान्सशिबिरानाकरान्खेटखर्वटान् ॥३१॥
प्राक्पृथोरिहनैवैषां[3] पुरग्रामादिकल्पना ।
यथासुखं वसन्ति स्म तत्र तत्राकुतोभयाः ॥३२॥

हे कुरुनन्दन ! इस प्रकार पृथु आदि अन्न भक्षण करनेवालोंने दोहनपात्र और बछड़ोंकी विभिन्नतासे अपने अन्नरूप भिन्न-भिन्न दुग्धोंको पृथिवीसे दुहा ॥२७॥ तब कन्यावत्सल महाराज पृथुने परम सन्तुष्ट होकर सम्पूर्ण कामनाओंको पूर्ण करनेवाली पृथिवीको पुत्रीरूपसे स्वीकार किया ॥२८॥ तदनन्तर परम समर्थ राजराजेश्वर महाराज पृथुने अपने धनुषके अग्रभागसे पर्वतोंको फोड़कर इस भूमण्डलको समतल कर दिया ॥२९॥ फिर पिताके समान प्रजाओंको आजीविका देनेवाले महाराज पृथुने पृथिवीपर जहाँ-तहाँ ग्राम, पुर, नगर, दुर्ग, भीलोंके रहनेयोग्य स्थान, पशुशालाएँ, छावनियाँ, खानें, किसानोंके गाँव और पर्वतोंकी तलैटीके गाँव बसाकर सबको यथायोग्य निवासस्थान दिये ॥ ३०-३१ ॥ राजा पृथुसे पहले भूमण्डलपर पुर-ग्रामादिकी कल्पना नहीं थी। सब लोग निर्भय होकर सुखपूर्वक जहाँ-तहाँ रहा करते थे ॥३२॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे चतुर्थस्कन्धे पृथु-विजयेऽष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

१. प्रा० पा०—चूर्णयंश्च धनु० । २. प्रा० पा०—वासं कल्प० । ३. प्रा० पा०—नैवेमाः पुरग्रामादिकल्पनाः । ४. प्रा० पा०—चरिते ।

उन्नीसवाँ अध्याय

यज्ञका घोड़ा चुरानेके कारण राजा पृथुका इन्द्रको मारनेके लिये उद्यत होना और फिर ब्रह्माजीके समझानेसे यज्ञसे निवृत्त होना।

मैत्रेय उवाच

अथादीक्षत राजा[1] तु हयमेधशतेन सः।
ब्रह्मावर्ते मनोः क्षेत्रे यत्र प्राची सरस्वती ॥ १ ॥
तदभिप्रेत्य भगवान्कर्मातिशयमात्मनः।
शतक्रतुर्न ममृषे पृथोर्यज्ञमहोत्सवम् ॥ २ ॥
यत्र यज्ञपतिः साक्षाद्भगवान्हरिरीश्वरः।
अन्वभूयत सर्वात्मा सर्वलोकगुरुः प्रभुः ॥ ३ ॥
अन्वितो ब्रह्मशर्वाभ्यां लोकपालैः सहानुगैः।
उपगीयमानो गन्धर्वैर्मुनिभिश्चाप्सरोगणैः ॥ ४ ॥
सिद्धविद्याधरा दैत्या दानवा गुह्यकादयः।
सुनन्दनन्दप्रमुखाः पार्षदप्रवरा हरेः ॥ ५ ॥
कपिलो नारदो दत्तो योगेशाः[2] सनकादयः।
तमन्वीयुर्भागवता ये च तत्सेवनोत्सुकाः ॥ ६ ॥
यत्र धर्मदुघा भूमिः सर्वकामदुघा सती।
दोग्धि[3] स्माभीप्सितानर्थान्यजमानस्य भारत ॥ ७ ॥
ऊहुः सर्वरसान्नद्यः क्षीरदध्यन्नगोरसान्।
तरवो भूरिवर्ष्माणः प्रासूयन्त[4] मधुच्युतः ॥ ८ ॥
सिन्धवो रत्ननिकरान्गिरयोऽन्नं चतुर्विधम्।
उपायनमुपाजह्रुः सर्वे लोकाः सपालकाः ॥ ९ ॥
इति चाधोक्षजेशस्य पृथोस्तु परमोदयम्।
असूयन्भगवानिन्द्रः प्रतिघातमचीकरत् ॥ १० ॥
चरमेणाश्वमेधेन यजमाने यजुष्पतिम्।

श्रीमैत्रेयजी बोले—हे विदुर! तदनन्तर, जहाँ पूर्ववाहिनी सरस्वती नदी बहती है महाराज मनुके उस ब्रह्मावर्त क्षेत्रमें राजा पृथुने सौ अश्वमेध यज्ञकी दीक्षा ग्रहण की ॥ १ ॥ तब अपने ही अंशरूप महाराज पृथुका वह महान् कर्म देखकर भगवान् इन्द्रको उनका यज्ञमहोत्सव सहन नहीं हुआ ॥ २ ॥ उस यज्ञोत्सवमें सबके अन्तरात्मा और सर्वलोक-गुरु साक्षात् यज्ञपति भगवान् हरि, जिनकी कीर्ति गन्धर्व, मुनि और अप्सरागण गाते हैं, ब्रह्मा, महादेव और अनुचरोंके सहित लोकपालोंके साथ पधारे थे ॥ ३-४ ॥ उस समय सिद्ध, विद्याधर, दैत्य, दानव, गुह्यक, नन्द-सुनन्द आदि भगवान्‌के मुख्य-मुख्य पार्षद तथा जो सर्वदा भगवान्‌की सेवाके लिये उत्सुक रहते हैं वे कपिल, नारद, दत्तात्रेय और सनकादि योगेश्वरगण भी उनके साथ आये थे ॥ ५-६ ॥ हे भारत! उस यज्ञमें यज्ञसामग्रियोंको देनेवाली पृथिवीने कामधेनुरूप होकर यजमानकी सब कामनाओं-को पूर्ण किया था ॥ ७ ॥ नदियाँ दूध, दही, अन्न और गोरसादि सम्पूर्ण रसोंको बहाकर लाती थीं; तथा जिनसे मधु चू रहा था ऐसे बड़े-बड़े वृक्ष भाँति-भाँतिके फल-फूल उत्पन्न करते थे ॥ ८ ॥ उस यज्ञमें समुद्र बहुत-सी रत्नराशियाँ, पर्वतगण चार प्रकारके अन्न और लोकपालोंके सहित सम्पूर्ण लोक नाना प्रकारके उपहार समर्पण करते थे ॥ ९ ॥

इस प्रकार, जिनके प्रभु एकमात्र श्रीहरि ही थे उन महाराज पृथुके महान् उत्कर्षको सहन न कर सकनेके कारण भगवान् इन्द्रने उसमें विघ्न उपस्थित किया ॥ १० ॥ जिस समय महाराज पृथु अपने अन्तिम (सौवें) यज्ञसे भगवान् यज्ञपतिकी आराधना कर

१. प्रा० पा०—राजर्षिर्ह० । २. प्रा० पा०—योगीशाः । ३. प्रा० पा०—दुग्धा साभी० । ४. प्रा० पा०—प्राच्यवन्त ।

वैन्ये यज्ञपशुं स्पर्धन्नपोवाह तिरोहितः ॥११॥
तमत्रिर्भगवानैक्षत्त्वरमाणं विहायसा ।
आमुक्तमिव पाखण्डं योऽधर्मे धर्मविभ्रमः ॥१२॥
अत्रिणा चोदितो[1] हन्तुं पृथुपुत्रो महारथः ।
अन्वधावत संक्रुद्धस्तिष्ठ तिष्ठेति चाब्रवीत् ॥१३॥
तं तादृशाकृतिं वीक्ष्य मेने धर्मशरीरिणम् ।
जटिलं भस्मना छन्नं तस्मै बाणं न मुञ्चति ॥१४॥
वधान्निवृत्तं तं भूयो हन्तवेऽत्रिरचोदयत्[2] ।
जहि यज्ञहनं तात महेन्द्रं विबुधाधमम् ॥१५॥
एवं वैन्यसुतः प्रोक्तस्त्वरमाणं विहायसा ।
अन्वद्रवदभिक्रुद्धो रावणं[3] गृद्धराडिव ॥१६॥
सोऽश्वं रूपं च तद्धित्वा तस्मा अन्तर्हितः स्वराट् ।
वीरः स्वपशुमादाय पितुर्यज्ञमुपेयिवान् ॥१७॥
तत्तस्य चाद्भुतं कर्म विचक्ष्य[4] परमर्षयः ।
नामधेयं ददुस्तस्मै विजिताश्व इति प्रभो ॥१८॥
उपसृज्य तमस्तीव्रं जहाराश्वं पुनर्हरिः ।
चषालयूपतश्छन्नो हिरण्यरशनं विभुः ॥१९॥
अत्रिः संदर्शयामास त्वरमाणं विहायसा ।
कपालखट्वाङ्गधरं वीरो नैनमबाधत ॥२०॥
अत्रिणा चोदितस्तस्मै संदधे विशिखं रुषा ।

रहे थे उस समय इन्द्र ईर्ष्यावश गुप्तरूपसे उनके यज्ञका घोड़ा चुरा ले गये ॥११॥ उस समय भगवान् अत्रिने अधर्ममें ही धर्मका भ्रम उत्पन्न करनेवाले पाखण्डवेषको कवचके समान धारण करके आकाश-मार्गसे अश्व लेकर शीघ्रतापूर्वक जाते हुए इन्द्रको देखा ॥१२॥ तब अत्रि मुनिकी प्रेरणासे महाराज पृथुका महारथी पुत्र इन्द्रको मारनेके लिये अति क्रोधपूर्वक दौड़ा और 'अरे खड़ा रह ! खड़ा रह !' ऐसा कहने लगा ॥१३॥ किन्तु इन्द्र शिरपर जटाजूट और शरीरपर भस्म धारण किये हुए थे । उनके ऐसे वेषको देखकर पृथुकुमारने उन्हें धर्मात्मा पुरुष समझा; इसलिये उनपर कोई बाण नहीं छोड़ा ॥१४॥

इस प्रकार इन्द्रका वध करनेसे लौटे हुए राज-कुमारको अत्रि ऋषिने फिर उनका वध करनेके लिये प्रेरित किया । वे बोले—"वत्स ! यज्ञमें विघ्न उपस्थित करनेवाले, इस देवताधम इन्द्रको तुम तुरन्त मार डालो" ॥१५॥

अत्रि मुनिके यों कहनेपर पृथुकुमार अति क्रोधित होकर आकाशमार्गसे जाते हुए इन्द्रके पीछे इस प्रकार दौड़ा जैसे रावणके पीछे जटायु ॥१६॥ तब परम स्वाधीन देवराज इन्द्र यज्ञके घोड़ेको और उस वेषको त्यागकर उसके सामने ही अन्तर्धान हो गये और वह वीर पृथुपुत्र अपने यज्ञपशुको लेकर पिताकी यज्ञशालामें लौट आया ॥१७॥ हे विदुर ! राजकुमारका वह अद्भुत पराक्रम देखकर महर्षियोंने उसका नाम 'विजिताश्व' रखा ॥१८॥

हे विदुरजी ! तदनन्तर वहाँ घोर अन्धकार उत्पन्न कर इन्द्रने छिपे-छिपे चषालयुक्त* यज्ञस्तम्भमें सोनेकी जंजीरसे बँधे हुए घोड़ेको फिर हर लिया ॥१९॥ तब अत्रिऋषिने आकाशमार्गसे शीघ्रतापूर्वक जाते हुए इन्द्रको फिर दिखाया । किन्तु उसे कपाल और खट्वांग लिये देखकर वीरवर पृथुपुत्रने उसके मार्गमें किसी प्रकारकी बाधा नहीं डाली ॥२०॥ तदनन्तर अत्रिमुनिके फिर उकसानेपर राजपुत्रने अति क्रोधित होकर उसकी

१. प्रा० पा०—सूचितं । २. प्रा० पा०—हन्तुमत्रिर० । ३. प्रा० पा०—गृध्रराडिव रावणम् । ४. प्रा० पा०—विवीक्ष्य ।

* यज्ञ-पशुको बाँधनेके लिये जो खम्भा होता है उसे 'यूप' कहते हैं और यूपके आगे रखे हुए वलयाकार काठको 'चषाल' कहते हैं ।

सोऽश्वं रूपं च तद्धित्वा तस्यावन्तर्हितः स्वराट् ॥२१॥

वीरश्चाश्वमुपादाय पितृयज्ञमथाव्रजत् ।

तदवद्यं हरे रूपं जगृहुर्ज्ञानदुर्बलाः ॥२२॥

यानि रूपाणि जगृहे इन्द्रो हयजिहीर्षया ।

तानि पापस्य खण्डानि लिङ्गं खण्डमिहोच्यते ॥२३॥

एवमिन्द्रे हरत्यश्वं वैन्ययज्ञजिघांसया ।

तद्गृहीतविसृष्टेषु पाखण्डेषु मतिर्नृणाम् ॥२४॥

धर्म इत्युपधर्मेषु नग्नरक्तपटादिषु ।

प्रायेण सज्जते भ्रान्त्या पेशलेषु च वाग्मिषु ॥२५॥

तदभिज्ञाय भगवान्पृथुः पृथुपराक्रमः ।

इन्द्राय कुपितो बाणमादत्तोद्यतकार्मुकः ॥२६॥

तमृत्विजः शक्रवधाभिसंधितं[1]
विचक्ष्य दुष्प्रेक्ष्यमसह्यरंहसम् ।
निवारयामासुरहो महामते
न युज्यतेऽत्रान्यवधः प्रचोदितात् ॥२७॥

वयं मरुत्वन्तमिहार्थनाशनं
ह्वयामहे त्वच्छ्रवसा[2] हतत्विषम् ।
अयातयामोपहवैरनन्तरं[3]
प्रसह्य राजन् जुहवाम तेऽहितम् ॥२८॥

इत्यामन्त्र्य क्रतुपतिं विदुरास्यर्त्विजो रुषा ।

स्रुग्घस्ताञ्जुह्वतोऽभ्येत्य स्वयम्भूः प्रत्यषेधत ॥२९॥

न वध्यो भवतामिन्द्रो यद्यज्ञो भगवत्तनुः ।

ओर बाण चढ़ाया । यह देखते ही स्वाधीन देवराज उस घोड़े और रूपको त्यागकर वहीं अन्तर्धान हो गये ॥२१॥ तत्पश्चात् वीर विजिताश्व अपना घोड़ा लेकर पिताकी यज्ञशालामें आया । तबसे इन्द्रके उस निन्दनीय (कापालिक) वेषको मन्दबुद्धि पुरुषोंने स्वीकार कर लिया ॥२२॥ इस प्रकार अश्वहरणकी इच्छासे इन्द्रने जिन-जिन रूपोंको धारण किया था वे पापके खंड (चिह्न) अर्थात् पाखण्ड कहलाते हैं, क्योंकि लोकमें खण्ड लिंग (चिह्न) को कहते हैं ॥२३॥

इस प्रकार महाराज पृथुका यज्ञ विध्वंस करनेके लिये इन्द्रने जिन्हें बारम्बार ग्रहण करके त्यागा था उन पाखण्डपूर्ण, देखनेमें सुन्दर तथा बड़ी-बड़ी बातें बनानेवाले नग्न (जैन) और रक्तपट (बौद्ध) आदि वेषोंमें जो केवल उपधर्ममात्र है 'भ्रमवश यही धर्म है' ऐसी भावना हो जानेसे मनुष्योंकी बुद्धि प्रायः मोहित हो जाती है ॥२४-२५॥

इन्द्रकी इस कुचालका पता लगनेपर परमपराक्रमी भगवान् पृथुने अति क्रोधित हो अपना धनुष उठा इन्द्रपर छोड़नेके लिये बाण चढ़ाया ॥२६॥ क्रोधावेशके कारण जिनके रूपकी ओर देखा नहीं जाता था तथा जिनका पराक्रम शत्रुके लिये असह्य था उन राजा पृथुको इन्द्रका वध करनेके लिये उद्यत देख ऋत्विजोंने उन्हें रोकते हुए कहा—"हे महामते ! यज्ञानुष्ठानके समय शास्त्रविहित यज्ञपशुके सिवा और किसीका वध करना उचित नहीं है ॥२७॥ अतः हे राजन् ! आपके सुयशसे ही जो ईर्ष्यावश तेजोहीन हो रहा है, कार्यमें विघ्न उपस्थित करनेवाले उस आपके शत्रु इन्द्रको हम अमोघ मन्त्रोंद्वारा बुलाते हैं, और उसे बलात्कारसे अग्निमें होम किये देते हैं" ॥२८॥

हे विदुर ! महाराज पृथुके ऋत्विजोंने इस प्रकार सम्मतिकर अति क्रोधपूर्वक इन्द्रका आवाहन किया । इसी समय जब कि वे स्रुवा लेकर होम करना चाहते थे ब्रह्माजीने वहाँ पहुँचकर उन्हें रोका ॥२९॥ [ब्रह्माजीने कहा—] "हे ऋत्विग्गण ! जिसे तुम यज्ञद्वारा मारना चाहते हो वह यज्ञनामक इन्द्र साक्षात् भगवान्का

१. प्रा० पा०—मर्षितं । २. प्रा० पा०—त्वद्वचसा । ३. प्रा० पा०—हवैस्तु संश्रये प्रस० ।

यं जिघांसथ[1] यज्ञेन यस्येष्टास्तनवः सुराः ॥३०॥
तदिदं पश्यत महद्धर्मव्यतिकरं द्विजाः ।
इन्द्रेणानुष्ठितं राज्ञः कर्मैतद्विजिघांसता ॥३१॥
पृथुकीर्तेः पृथोर्भूयात्तर्ह्येकोनशतक्रतुः[2] ।
अलं ते क्रतुभिः स्विष्टैर्यद्भवान्मोक्षधर्मवित् ॥३२॥
नैवात्मने[3] महेन्द्राय रोषमाहर्तुमर्हसि ।
उभावपि हि भद्रं ते उत्तमश्लोकविग्रहौ ॥३३॥
मास्मिन्महाराज[4] कृथाः स्म चिन्तां
निशामयास्मद्वच आदृतात्मा ।
यद्ध्यायतो दैवहतं नु कर्तुं
मनोऽतिरुष्टं विशते तमोऽन्धम् ॥३४॥
क्रतुर्विरमतामेष देवेषु दुरवग्रहः ।
धर्मव्यतिकरो यत्र पाखण्डैरिन्द्रनिर्मितैः ॥३५॥
एभिरिन्द्रोपसंसृष्टैः पाखण्डैर्हारिभिर्जनम् ।
ह्रियमाणं[6] विचक्ष्वैनं यस्ते यज्ञध्रुगश्वमुट् ॥३६॥
भवान्परित्रातुमिहावतीर्णो
धर्मं जनानां समयानुरूपम् ।
वेनापचारादवलुप्तमद्य
तद्देहतो विष्णुकलासि वैन्य ॥३७॥
स त्वं विमृश्यास्य भवं प्रजापते

स्वरूप है, तुम जिनकी यज्ञद्वारा पूजा करते हो वे देवगण उसीके अंग हैं । इसलिये तुम्हें उसका वध नहीं करना चाहिये ॥३०॥ हे विप्रगण ! देखो, राजा पृथुके यज्ञकार्यमें विघ्न उपस्थित करनेके लिये इन्द्रने धर्मका उच्छेद करनेवाला कैसा महान् पाखण्ड फैलाया है ? [इसलिये तुम इससे विरोध छोड़ दो, नहीं तो वह और भी पाखण्डमार्गोंका प्रचार करेगा] ॥३१॥ महान्कीर्ति महाराज पृथुका यह यज्ञानुष्ठान निन्यानवे यज्ञोंसे ही समाप्त हो ।" [फिर राजासे कहा—] "राजन् ! आप मोक्षधर्मको जाननेवाले हैं, अतः भली प्रकार किये हुए इतने ही यज्ञोंसे आप सन्तुष्ट हों ॥३२॥ आप और इन्द्र दोनों ही पवित्रकीर्ति भगवान् विष्णुके अवतार हैं । इसलिये, हे राजन् ! आपका कल्याण हो, आपको अपने ही स्वरूप इन्द्रके प्रति क्रोध नहीं करना चाहिये ॥३३॥ हे महाराज ! [आपका यह यज्ञ निर्विघ्न समाप्त नहीं हुआ] इसके लिये आप किसी प्रकारकी चिन्ता न करें । आप हमारी बात आदरपूर्वक स्वीकार करें, क्योंकि जो पुरुष विधाताके बिगाड़े हुए कर्मको पूरा करनेका विचार करता रहता है उसका मन अत्यन्त क्रोधसे भरकर भयंकर मोहको प्राप्त होता है ॥३४॥ अतः इस यज्ञको बंद कीजिये जिसके कारण इन्द्रके रचे हुए पाखण्डोंसे धर्मका नाश हो रहा है । [तुम्हारे यज्ञ बंद किये बिना यह धर्मका ह्रास किसी प्रकार नहीं रुक सकता] क्योंकि देवताओंमें बड़ा दुराग्रह होता है ॥३५॥ हे राजन् ! जो इन्द्र तुम्हारे यज्ञसे द्रोह करनेवाला और घोड़ेको चुरानेवाला है उसके रचे हुए जनताको मोहित करनेवाले इन पाखण्डोंसे लोकोंको मोहित होते तो देखो ॥३६॥ हे वैन्य ! आप विष्णुभगवान्के अंश हैं । आपने वेनके दुराचारसे धर्मको लुप्त होते देखकर इस समय जनताके सामयिक धर्मकी रक्षा करनेके लिये उसके शरीरसे अवतार लिया है ॥३७॥ अतः हे प्रजापते ! हे प्रभो ! आप इस अवतारका उद्देश्य

१. प्रा० पा०— सत । २. प्रा० पा०—तत्रैको० । ३. प्रा० पा०—नैवात्मना । ४. प्रा० पा०—ते । ५. प्रा० पा०—भाग । ६. प्रा० पा०—क्रियमाणं ।

संकल्पनं विश्वसृजां पिपीपृहि ।
ऐन्द्रीं च मायामुपधर्ममातरं
प्रचण्डपाखण्डपथं प्रभो जहि ॥३८॥

विचारकर [आपकी अभिव्यक्तिके लिये वेनके शरीरका मन्थन करनेवाले] भृगु आदि विश्वरचयिता मुनीश्वरोंका संकल्प पूर्ण कीजिये और अधर्मको उत्पन्न करनेवाली प्रचण्ड पाखण्डमार्गरूप इस इन्द्रकी मायाको नष्ट कीजिये" ॥३८॥

मैत्रेय उवाच[1]

इत्थं स लोकगुरुणा समादिष्टो विशां पतिः ।
तथा च कृत्वा[2] वात्सल्यं मघोनापि च संदधे ॥३९॥
कृतावभृथस्नानाय पृथवे भूरिकर्मणे ।
वरान्ददुस्ते वरदा ये तद्वर्हिषि तर्पिताः ॥४०॥
विप्राः सत्याशिषस्तुष्टाः श्रद्धया लब्धदक्षिणाः ।
आशिषो युयुजुः क्षत्तरादिराजाय सत्कृताः ॥४१॥
त्वयाहूता महाबाहो सर्व एव समागताः ।
पूजिता दानमानाभ्यां पितृदेवर्षिमानवाः ॥४२॥

श्रीमैत्रेयजी बोले—हे विदुर ! लोकगुरु भगवान् ब्रह्माजीके इस प्रकार उपदेश करनेपर राजा पृथुने वैसा ही किया और इन्द्रके साथ मित्रता भी कर ली ॥३९॥ तब, जिन्हें महाराज पृथुने उस यज्ञमें भाग देकर प्रसन्न किया था उन वरदायक देवताओंने अवभृथस्नानसे निवृत्त हुए परम पराक्रमी राजा पृथुको इच्छित वर दिये ॥४०॥ और हे विदुर ! जिनके आशीर्वाद सदा सत्य होते हैं उन ब्राह्मणोंने श्रद्धापूर्वक दक्षिणा और सत्कारसे सन्तुष्ट हो आदिराज महाराज पृथुको आशीर्वाद दिये ॥४१॥ और कहने लगे—"हे महाबाहो ! तुम्हारे बुलानेसे आये हुए हम पितृ, देवता, ऋषि और मनुष्य आदि सभीका तुमने दान-मानसे भली प्रकार सत्कार किया है" ॥४२॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे चतुर्थस्कन्धे पृथु-[3]
विजये एकोनविंशोऽध्यायः ॥ १९ ॥

बीसवाँ अध्याय

राजा पृथुको विष्णु भगवान्‌का प्रत्यक्ष दर्शन मिलना ।

मैत्रेय उवाच[4]

भगवानपि वैकुण्ठः साकं मघवता विभुः ।
यज्ञैर्यज्ञपतिस्तुष्टो[5] यज्ञभुक् तमभाषत ॥ १ ॥

श्रीमैत्रेयजी बोले—हे विदुर ! तदनन्तर इन्द्रके सहित यज्ञभोक्ता यज्ञपति भगवान् विष्णुने भी परम प्रसन्न होकर राजा पृथुसे इस प्रकार कहा ॥१॥

श्रीभगवानुवाच[6]

एष तेऽकारषीद्भद्रं हयमेधशतस्य ह ।
क्षमापयत आत्मानममुष्य क्षन्तुमर्हसि ॥ २ ॥

श्रीभगवान् बोले—हे राजन् ! इस इन्द्रने तुम्हारे सौवें यज्ञको भंग किया है । अब यह तुमसे अपना अपराध क्षमा कराना चाहता है, सो तुम इसे

१. प्राचीन प्रतिमें 'मैत्रेय उवाच' इतना अंश नहीं है । २. प्रा० पा०—कृतवान् सख्यं । ३. प्रा० पा०—पृथुचरिते आश्वमेधे । ४. प्रा० पा०—ऋषिरुवाच । ५. प्रा० पा०—तिः स्विष्टो । ६. प्राचीन प्रतिमें 'श्रीभगवानुवाच' इतना अंश नहीं है ।

सुधियः साधवो लोके नरदेव नरोत्तमाः ।
नाभिद्रुह्यन्ति भूतेभ्यो यर्हि[1] नात्मा कलेवरम् ॥ ३ ॥
पुरुषा यदि मुह्यन्ति त्वादृशा देवमायया ।
श्रम एव परं जातो दीर्घया वृद्धसेवया ॥ ४ ॥
अतः कार्यमिमं[2] विद्वानविद्याकामकर्मभिः ।
आरब्ध इति नैवास्मिन्प्रतिबुद्धोऽनुषज्जते ॥ ५ ॥
असंसक्तः शरीरेऽस्मिन्नमुनोत्पादिते गृहे ।
अपत्ये द्रविणे वापि कः कुर्यान्ममतां बुधः ॥ ६ ॥

एकः शुद्धः स्वयंज्योतिर्निर्गुणोऽसौ गुणाश्रयः ।
सर्वगोऽनावृतः साक्षी निरात्मात्मात्मनः परः ॥७॥
य एवं सन्तमात्मानमात्मस्थं वेद पूरुषः ।
नाज्यते प्रकृतिस्थोऽपि तद्गुणैः स मयि स्थितः ॥८॥
यः स्वधर्मेण मां नित्यं निराशीः श्रद्धयान्वितः ।
भजते शनकैस्तस्य मनो राजन्प्रसीदति ॥ ९ ॥
परित्यक्तगुणः सम्यग्दर्शनो विशदाशयः ।
शान्तिं मे समवस्थानं ब्रह्म कैवल्यमश्नुते ॥१०॥
उदासीनमिवाध्यक्षं द्रव्यज्ञानक्रियात्मनाम् ।
कूटस्थमिममात्मानं यो वेदाप्नोति शोभनम् ॥११॥
भिन्नस्य लिङ्गस्य गुणप्रवाहो
द्रव्यक्रियाकारकचेतनात्मनः ।
दृष्टासु सम्पत्सु विपत्सु सूरयो
न विक्रियन्ते मयि बद्धसौहृदाः ॥१२॥

क्षमा करो ॥२॥ हे राजन् ! जो नरश्रेष्ठ परम बुद्धिमान् और साधुस्वभाव होते हैं वे संसारमें अन्य जीवोंसे द्रोह नहीं करते, क्योंकि यह दृश्यमान शरीर वास्तवमें आत्मा नहीं है ॥३॥ यदि तुम-जैसे लोग भी देवमायासे मोहित हो जायँ तो समझना चाहिये कि बहुत दिनों-तक की हुई गुरुजनकी सेवा करनेसे भी केवल श्रम ही फल हुआ ॥४॥ इसलिये बुद्धिमान् पुरुष इस शरीरको अविद्या, वासना और कर्मोंसे बना हुआ समझकर इसमें आसक्त नहीं होते ॥५॥ इस प्रकार जो पुरुष इस शरीरमें अनासक्त है वह इससे उत्पन्न किये हुए गृह, पुत्र और धन आदिमें भी किस प्रकार ममता कर सकता है ? ॥६॥

"यह आत्मा एक, शुद्ध, स्वयंज्योति, निर्गुण, गुणोंका आश्रयस्थान, सर्वव्यापक, आवरणशून्य, सब-का साक्षी, अन्य आत्मासे रहित तथा शरीरादि मिथ्यात्माओंसे श्रेष्ठ है ॥७॥ जो पुरुष अपने भीतर रहनेवाले आत्माको इस प्रकार जानता है वह अपने शरीरमें रहता हुआ भी [अपने अन्तरात्मारूप] मुझमें स्थित रहनेके कारण उसके विकारोंसे लिप्त नहीं होता ॥८॥ हे राजन् ! जो पुरुष किसी प्रकारकी कामना न रखकर नित्यप्रति श्रद्धापूर्वक अपने वर्णाश्रम-धर्मोंद्वारा मेरी आराधना करता है उसका चित्त धीरे-धीरे शुद्ध हो जाता है ॥९॥ इस प्रकार विषयोंको त्याग देनेवाला सम्यग्दर्शी शुद्धचित्त पुरुष मुझमें स्थित रहनारूप शान्तिको जो ब्रह्म कैवल्यकी प्राप्ति है, प्राप्त करता है ॥१०॥ जो पुरुष द्रव्य, ज्ञान, क्रिया और मनके साक्षी, उदासीनके समान रहनेवाले इस निर्विकार आत्माको जानता है उसे ही कल्याणकी प्राप्ति होती है ॥११॥ हे राजन् ! पञ्चमहाभूत, इन्द्रियाँ, इन्द्रियाभिमानी देवतागण और चेतन—इन सबसे विशिष्ट परिच्छिन्न लिंग-शरीरमें ही गुणोंकी क्रिया होती है, [साक्षी आत्मामें नहीं] । इसलिये मुझमें दृढ़ प्रेम रखनेवाले बुद्धिमान् पुरुष सुख-दुःखकी प्राप्तिमें विकारको प्राप्त नहीं होते ॥ १२ ॥

१. प्रा० पा०—गर्हन्नात्मकलेवरम् । २. प्रा० पा०—कार्य० ।

समः समानोत्तममध्यमाधमः
सुखे च दुःखे च जितेन्द्रियाशयः ।
मयोपक्लृप्ताखिललोकसंयुतो
विधत्स्व वीराखिललोकरक्षणम् ॥१३॥
श्रेयः प्रजापालनमेव राज्ञो
यत्साम्पराये सुकृतात्[1]षष्ठमंशम् ।
हर्तान्यथा हृतपुण्यः प्रजाना-
मरक्षिता करहारोऽघमत्ति ॥१४॥
एवं द्विजाग्र्यानुमतानुवृत्त-
धर्मप्रधानोऽन्यतमोऽवितास्याः ।
ह्रस्वेन कालेन गृहोपयातान्
द्रष्टासि सिद्धाननुरक्तलोकः ॥१५॥
वरं च मत्कंचन मानवेन्द्र
वृणीष्व तेऽहं गुणशीलयन्त्रितः ।
नाहं मखैर्वै सुलभस्तपोभि-
र्योगेन वा यत्समचित्तवर्ती ॥१६॥

अतः हे वीर ! तुम उत्तम, मध्यम और अधम पुरुषोंमें समानभाव रखकर सुख-दुःखको एक-सा समझो तथा इन्द्रिय और मनको जीतकर मेरे ही उपस्थित किये मन्त्री आदिके सहित सम्पूर्ण लोकोंकी रक्षा करो॥१३॥ राजाका कल्याण प्रजा-पालन करनेमें ही है, क्योंकि प्रजाओंका पालन करनेवाला राजा परलोकमें प्रजाके पुण्यका छठा भाग भोगता है और यदि वह, इसके विरुद्ध प्रजाकी रक्षा न कर केवल कर लेनेमें ही लगा रहता है तो उसका पुण्य क्षीण हो जाता है और उसे प्रजाके पापका फल भोगना पड़ता है ॥१४॥ यह सोचकर यदि तुम श्रेष्ठ ब्राह्मणोंकी सम्मतिके अनुसार अनासक्त भावसे अपने मुख्य धर्मका पालन करते हुए पृथिवीकी रक्षा करोगे तो कुछ ही दिनोंमें अपने घर आये हुए सिद्धोंका दर्शन करोगे और सबलोग तुमसे प्रीति करेंगे ॥१५॥ हे नरेन्द्र ! मैं तुम्हारे गुण और शीलको देखकर तुम्हारे अधीन हो गया हूँ । तुम मुझसे कोई इच्छित वर माँगो। मैं सुख-दुःखमें समान रहनेवाले पुरुषको जैसी सुगमतासे प्राप्त होता हूँ वैसा किसी प्रकारके तप या योगसे प्राप्त नहीं होता'' ॥१६॥

मैत्रेय उवाच

स इत्थं लोकगुरुणा विष्वक्सेनेन विश्वजित् ।
अनुशासित आदेशं शिरसा जगृहे हरेः ॥१७॥
स्पृशन्तं पादयोः प्रेम्णा व्रीडितं स्वेन कर्मणा ।
शतक्रतुं परिष्वज्य विद्वेषं विससर्ज ह ॥१८॥
भगवानथ विश्वात्मा पृथुनोपहृतार्हणः ।
समुज्जिहानया भक्त्या गृहीतचरणाम्बुजः ॥१९॥
प्रस्थानाभिमुखोऽप्येनमनुग्रहविलम्बितः ।
पश्यन्पद्मपलाशाक्षो न प्रतस्थे सुहृत्सताम् ॥२०॥
स आदिराजो रचिताञ्जलिर्हरिं
विलोकितुं नाशकदश्रुलोचनः ।
न किंचनोवाच स बाष्पविक्लवो
हृदोपगुह्यामुमधादवस्थितः ॥२१॥

श्रीमैत्रेयजी बोले—हे विदुर ! जिनकी आज्ञा सब ओर चलती है उन सर्वलोकगुरु श्रीहरिके इस प्रकार कहनेपर जगद्विजयी महाराज पृथुने उनकी आज्ञाको शिर-पर धारण किया ॥१७॥ फिर अपने कर्मसे लज्जित होकर चरणोंमें गिरे हुए इन्द्रको प्रेमपूर्वक आलिङ्गन कर उन्होंने अपने हृदयका द्वेष-भाव निकाल दिया ॥१८॥ फिर, महाराज पृथुने जिनका पूजन किया है और क्षण-क्षणमें बढ़नेवाले भक्तिभावसे जिनके चरण-कमल पकड़े हुए हैं वे साधुओंके सुहृत् कमल-दल-लोचन सर्वात्मा श्रीहरि वहाँसे जानेके लिये उद्यत होकर भी पृथुपर कृपा करनेके लिये रुकनेके कारण पृथुकी ओर दयादृष्टिसे देखते रह गये, एकाएक न जा सके ॥१९-२०॥ आदिराज महाराज पृथु भी नेत्रोंमें जल भर आनेके कारण न तो भगवान्‌का दर्शन ही कर सके और न कण्ठ गद्गद हो जानेके कारण कुछ बोल ही सके । बस, उन्हें हृदयसे आलिङ्गनकर हाथ जोड़े हुए ज्यों-के-त्यों खड़े रहे ॥२१॥

१. प्रा० पा०—कृतं षष्ठ० ।

अथावमृज्याश्रुकलां[1] विलोकय-
न्नतृप्तदृग्गोचरमाह पूरुषम् ।
पदा स्पृशन्तं क्षितिमंस उन्नते
विन्यस्तहस्ताग्रमुरङ्गविद्विषः ॥२२॥

पृथुरुवाच

वरान्विभो त्वद्वरदेश्वराद्बुधः
कथं वृणीते गुणविक्रियात्मनाम् ।
ये नारकाणामपि सन्ति देहिनां
तानीश कैवल्यपते वृणे[2] न च ॥२३॥
न कामये नाथ तदप्यहं क्वचि-
न्न यत्र युष्मच्चरणाम्बुजासवः ।
महत्तमान्तर्हृदयान्मुखच्युतो[3]
विधत्स्व कर्णायुतमेष मे वरः[5] ॥२४॥
स उत्तमश्लोक महन्मुखच्युतो[6]
भवत्पदाम्भोजसुधाकणानिलः ।
स्मृतिं पुनर्विस्मृततत्त्ववर्त्मनां[7]
कुयोगिनां नो वितरत्यलं वरैः ॥२५॥
यशः शिवं सुश्रव आर्यसङ्गमे
यदृच्छया चोपशृणोति ते सकृत् ।
कथं गुणज्ञो विरमेद्विना पशुं
श्रीर्यत्प्रवव्रे गुणसंग्रहेच्छया ॥२६॥
अथाभजे त्वाखिलपूरुषोत्तमं
गुणालयं पद्मकरेव लालसः ।
अप्यावयोरेकपतिस्पृधोः कलि-
र्न स्यात्कृतत्वच्चरणैकतानयोः ॥२७॥
जगज्जनन्यां जगदीश वैशसं

फिर, नेत्रोंके आँसू पोछकर, अपने अतृप्त नयनोंके सामने विराजमान, चरणकमलोंसे पृथिवीको स्पर्श करनेवाले और अपने हाथका अग्रभाग गरुड़जीके ऊँचे कन्धेपर रखकर खड़े हुए उन पुरुषोत्तम भगवान्‌की ओर देखते हुए वे इस प्रकार कहने लगे ॥२२॥

राजा पृथु बोले—हे प्रभो ! आप वर देनेवाले ब्रह्मादिके भी प्रभु हैं । कोई भी बुद्धिमान् पुरुष आपसे गुणोंके विकाररूप शरीरमें अभिमान रखनेवाले पुरुषोंके भोगनेयोग्य विषयोंको, जो नारकी जीवोंको भी प्राप्त हो जाते हैं, कैसे माँग सकता है ? अतः हे मोक्षाधिपते परमेश्वर ! मैं आपसे वे विषय-भोग नहीं माँगना चाहता ॥२३॥ हे नाथ ! जहाँ महान् पुरुषोंके हृदयसे उनके मुखद्वारा बाहर निकला हुआ आपके चरणकमलका (कीर्तिरूप) मकरन्द नहीं है उस पदका मैं कभी नहीं प्राप्त करना चाहता । बस, मेरा वर तो यही है कि [अपने सुयशसुधाका पान करानेके लिये] आप मुझे दश सहस्र कान दें ॥२४॥ हे पुण्यकीर्ति प्रभो ! महान् पुरुषोंके मुखसे निकले हुए उस आपके चरणकमल-मकरन्दके कणोंसे युक्त वायु तत्त्वमार्गको भूले हुए पतित योगियोंकी स्मृतिको फिर जाग्रत् कर देता है । अतः आपके सुयशसुधाके पानके सिवा हमें दूसरे वरोंकी आवश्यकता नहीं है ॥२५॥ हे सत्कीर्ते ! सब प्रकारके सद्गुणोंकी प्राप्तिकी इच्छासे जिसके श्रवणका वरदान साक्षात् लक्ष्मीजीने माँगा था उसी आपके मङ्गलमय सुयशको दैववश साधुसमाजमें एक बार सुन लेनेपर पशुके सिवा ऐसा कौन गुणग्राही पुरुष होगा जो उनसे उपरत हो जायगा ॥२६॥ इसलिये मैं भी लक्ष्मीजीके समान उत्सुक होकर सम्पूर्ण पुरुषोंमें श्रेष्ठ आप सर्वगुणधाम भगवान्‌का भजन करता हूँ । किन्तु मुझे भय है कि एक ही पतिकी स्पर्धा (होड़) करनेवाले और एकमात्र आपहीके चरणोंमें लीन रहनेवाले हम दोनोंमें (लक्ष्मी और मुझमें) परस्पर कलह न छिड़ जाय ॥२७॥ हे जगदीश ! जगज्जननी लक्ष्मीजीके साथ मेरा वैमनस्य होना निश्चित ही है; क्योंकि मैं

१. प्रा० पा०—कलां । २. प्रा० पा०—वृणेत कः । ३. प्रा० पा०—च्युतं विध० । ४. प्रा० पा०—कर्णामृत० । ५. प्रा० पा०—वचः । ६. प्रा० पा०—मुखाच्च्युतो । ७. प्रा० पा०—कर्मणां । ८. प्रा० पा०—विरमेद्दते । ९. प्रा० पा०—यथा ।

स्यादेव यत्कर्मणि नः समीहितम् ।
करोति[1] फल्वप्युरु दीनवत्सलः
स्व एव धिष्ण्येऽभिरतस्य किं तया ॥२८॥
भजन्त्यथ त्वामत एव साधवो
व्युदस्तमायागुणविभ्रमोदयम् ।
भवत्पदानुस्मरणादृते सतां
निमित्तमन्यद्भगवन्न विद्महे ॥२९॥
मन्ये गिरं ते जगतां विमोहिनीं
वरं वृणीष्वेति भजन्तमात्थ यत् ।
वाचा नु तन्त्या यदि ते जनोऽसितः
कथं पुनः कर्म करोति मोहितः[2] ॥३०॥
त्वन्माययाद्धा जन ईश खण्डितो
यदन्यदाशास्त ऋतात्मनोऽबुधः ।
यथाचरेद्बालहितं पिता स्वयं
तथा त्वमेवार्हसि नः समीहितुम् ॥३१॥

[3] *मैत्रेय उवाच*

इत्यादिराजेन नुतः स विश्वदृक्
तमाह राजन्मयि भक्तिरस्तु ते ।
दिष्ट्येदृशी धीर्मयि ते कृता यया
मायां मदीयां तरति स्म दुस्त्यजाम् ॥३२॥
तत्त्वं कुरु मयादिष्टमप्रमत्तः प्रजापते ।
मदादेशकरो लोकः सर्वत्राप्नोति शोभनम् ॥३३॥

मैत्रेय उवाच

इति वैन्यस्य राजर्षेः प्रतिनन्द्यार्थवद्वचः[4] ।

भी आपकी सेवा करनारूप उन्हींके कर्मका उद्योग करना चाहता हूँ। किन्तु आप दीनोंपर कृपा करनेवाले हैं, इसलिये उनके तुच्छ कर्मको भी बहुत अधिक करके मानते हैं। [इसलिये मुझे आशा है कि हमारे झगड़ेमें भी आप मेरा ही पक्ष लेंगे, क्योंकि] अपने ही स्वरूपमें रमण करनेवाले आपको लक्ष्मीजीसे भी क्या लेना है ? ॥२८॥ इसीलिये साधुपुरुष जिनमें मायिक गुणोंका कार्य नहीं है ऐसे आपका भजन करते हैं। हे भगवन् ! आपके चरणकमलोंका स्मरण करनेके सिवा साधु-पुरुषोंका कोई और प्रयोजन हम नहीं जानते ॥२९॥ भगवन् ! मैं आपका भजन करनेवाला हूँ, आपने जो मुझसे कहा कि 'वर माँग' सो आपकी इस वाणीको मैं जगत्को मोहित करनेवाली समझता हूँ। [यही क्या आपकी वेदरूप वाणी भी लोगोंको मोहमें ही डालती है; क्योंकि] यदि मनुष्य वेदवाणी-रूप डोरीसे बँधे न होते तो वे मोहवश कर्मोंको क्यों करते ? [जिनके कारण उन्हें जन्म-मरणके चक्रमें पड़ना होता है] ॥३०॥ हे ईश ! मनुष्य स्वभावसे ही आपकी मायासे मोहित हो रहा है। इसीलिये वह मूढ़ अपने आत्माको छोड़कर अन्य स्त्री-पुत्रादिकी इच्छा करता है। इसलिये पिता जैसे पुत्रका कल्याण करता है उसी प्रकार आप भी हमारे हितके लिये ही प्रयत्न करें ॥३१॥

श्रीमैत्रेयजी बोले—आदिराज पृथुसे इस प्रकार वन्दित हो सर्वसाक्षी श्रीहरिने उनसे कहा—"राजन् ! तुम्हारी मुझमें भक्ति हो। बड़े सौभाग्यकी बात है कि तुमने मुझमें इस प्रकार चित्त लगाया है, जिसके कारण पुरुष मेरी दुस्तर मायाको भी पार कर जाता है ॥३२॥ अतः हे प्रजापते ! अब तुम सावधान होकर मेरी आज्ञाका पालन करो। जो पुरुष मेरी आज्ञाका पालन करता है उसका सर्वत्र मंगल होता है" ॥३३॥

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—हे विदुर ! इस प्रकार राजर्षि पृथुके यथार्थ वचनोंका सत्कारकर उनसे

१. प्रा० पा०—करोषि। २. प्रा० पा०—मोचितः। ३. प्राचीन प्रतिमें 'मैत्रेय उवाच' यहाँसे आरम्भकर तैंतीसवें श्लोकके 'सर्वत्राप्नोति शोभनम्' तकका अंश नहीं है। ४. प्रा० पा०—राजर्षेरभिनन्द्या०।

पूजितोऽनुगृहीत्वैनं गन्तुं चक्रेऽच्युतो मतिम् ॥३४॥
देवर्षिपितृगन्धर्वसिद्धचारणपन्नगाः ।
किन्नराप्सरसो मर्त्याः खगा[1] भूतान्यनेकशः ॥३५॥
यज्ञेश्वरधिया राज्ञा वाग्वित्ताञ्जलिभक्तितः ।
सभाजिता ययुः सर्वे वैकुण्ठानुगतास्ततः ॥३६॥
भगवानपि राजर्षेः सोपाध्यायस्य चाच्युतः ।
हरन्निव मनोऽमुष्य स्वधाम प्रत्यपद्यत[2] ॥३७॥
अदृष्टाय नमस्कृत्य नृपः संदर्शितात्मने ।
अव्यक्ताय[3] च देवानां देवाय स्वपुरं ययौ ॥३८॥

पूजित हो श्रीविष्णुभगवान्‌ने राजापर अनुग्रह कर वहाँसे जानेका विचार किया ॥३४॥ तदनन्तर देवता, ऋषि, पितृगण, गन्धर्व, सिद्ध, चारण, नाग, किन्नर, अप्सरा, मनुष्य और पक्षी आदि नाना प्रकारके प्राणी तथा भगवान्‌के पार्षद—ये सभी लोग राजा पृथुद्वारा भगवद्बुद्धिसे वाणी, धन और हाथ जोड़ना आदि शिष्टाचारोंसे भक्तिपूर्वक पूजित हो अपने-अपने स्थानोंको चले गये ॥३५-३६॥ तथा श्रीविष्णुभगवान् भी उपाध्यायोंके सहित राजर्षि पृथुका चित्त चुराते हुए अपने धामको चले गये ॥३७॥ तब राजा पृथु भी अपना स्वरूप दिखाकर अन्तर्धान हुए देवाधिदेव श्रीअव्यक्त भगवान्‌को नमस्कारकर अपने नगरको चले गये ॥३८॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे चतुर्थस्कन्धे
[4]विंशोऽध्यायः ॥ २० ॥

इक्कीसवाँ अध्याय

राजा पृथुका अपनी प्रजाको उपदेश ।

मैत्रेय उवाच

मौक्तिकैः कुसुमस्रग्भिर्दुकूलैः स्वर्णतोरणैः ।
महासुरभिभिर्धूपैर्मण्डितं तत्र तत्र वै ॥ १ ॥
चन्दनागुरुतोयार्द्ररथ्याचत्वरमार्गवत् ।
पुष्पाक्षतफलैस्तोकैर्लाजैरर्चिर्भिरर्चितम् ॥ २ ॥
सवृन्दैः कदलीस्तम्भैः पूगपोतैः परिष्कृतम् ।
तरुपल्लवमालाभिः सर्वतः समलंकृतम् ॥ ३ ॥
प्रजास्तं दीपबलिभिः संभृताशेषमङ्गलैः ।

श्रीमैत्रेयजी बोले—हे विदुर ! उस समय महाराज पृथुका नगर जहाँ-तहाँ मोतियोंकी लड़ियों, फूलोंकी मालाओं, रंग-बिरंगे वस्त्रों, सुवर्णमयी वन्दनवारों और अत्यन्त सुगन्धिमय धूपादिकोंसे शोभायमान था ॥१॥ उसकी गलियाँ, चौक और सड़कें चन्दन और अगुरुके जलसे सींची गयी थीं । और वह जहाँ-तहाँ रखे हुए पुष्प, अक्षत, फल, जौके अङ्कुर, खील और दीपकादिसे पूजित था ॥२॥ वह ठौर-ठौरपर रखे हुए फल-फूलयुक्त कदलीस्तम्भोंसे और पूगीफलके पौधोंसे बड़ा ही सुन्दर जान पड़ता था तथा सब ओर आम्रादि वृक्षोंके कोमल पत्तोंकी वन्दनवारोंसे सुसज्जित था ॥३॥

महाराज पृथुके नगरमें प्रवेश करते ही दीपक, उपहार और नाना प्रकारकी मंगल सामग्री लिये समस्त

१. प्रा० पा०—खान्यनीकान्यनेकशः । २. प्रा० पा०—प्रत्यगात्पुनः । ३. प्रा० पा०—वासुदेवाय देवानां ।
४ प्रा० पा०—पृथुचरिते विंशतितमोऽध्यायः ।

अभीयुर्मृष्टकन्याश्च मृष्टकुण्डलमण्डिताः ॥ ४ ॥
शङ्खदुन्दुभिघोषेण ब्रह्मघोषेण चर्त्विजाम् ।
विवेश भवनं वीरः स्तूयमानो गतस्मयः ॥ ५ ॥
पूजितः पूजयामास तत्र तत्र महायशाः ।
पौराञ्जानपदांस्तांस्तान्प्रीतः प्रियवरप्रदः ॥ ६ ॥
स एवमादीन्यनवद्यचेष्टितः
कर्माणि भूयांसि महान्महत्तमः ।
कुर्वन् शशासावनिमण्डलं यशः
स्फीतं निधायारुरुहे परं पदम् ॥ ७ ॥

प्रजा और मनोहर कुण्डलोंसे शोभायमान सुन्दरी कन्याएँ उनके सामने आयीं ॥४॥ तदनन्तर गर्वरहित वीरवर महाराज पृथुने बन्दीजनके स्तुतिगान सुनते हुए शंख-दुन्दुभि आदि बाजोंके घोष और ऋत्विजोंकी वेदध्वनिके साथ अपने महलमें प्रवेश किया ॥५॥ मार्गमें जहाँ-तहाँ पुरवासियों और देशवासियोंसे पूजित हो परम यशस्वी पृथुने उन्हें प्रसन्नतापूर्वक इच्छित वर देकर सन्तुष्ट किया ॥६॥ पवित्र आचरण करनेवाले महान्से भी महान् महाराज पृथुने इसी प्रकार बहुत-से कर्म करते हुए भूमण्डलका शासन किया और अन्तमें अपना पवित्र यश स्थापित कर परमपद प्राप्त किया ॥७॥

सूत[1] उवाच

तदादिराजस्य[2] यशो विजृम्भितं
गुणैरशेषैर्गुणवत्सभाजितम् ।
क्षत्ता महाभागवतः सदस्पते
कौषारविं प्राह गृणन्तमर्चयन् ॥ ८ ॥

सूतजी बोले–हे साधुश्रेष्ठ शौनकजी ! तब महाभागवत विदुरजीने महाराज पृथुके सम्पूर्ण गुणोंसे युक्त तथा गुणवान् पुरुषोंसे प्रशंसित विशाल यशका वर्णन करनेवाले श्रीमैत्रेयजीसे उनका सत्कार करते हुए कहा ॥८॥

विदुर उवाच

सोऽभिषिक्तः पृथुर्विप्रैर्लब्धाशेषसुरार्हणः ।
बिभ्रत्स वैष्णवं तेजो बाह्वोर्याभ्यां दुदोह गाम् ॥९॥
को न्वस्य कीर्तिं न शृणोत्यभिज्ञो
यद्विक्रमोच्छिष्टमशेषभूपाः ।
लोकाः सपाला उपजीवन्ति[3] काम-
मद्यापि तन्मे वद कर्म शुद्धम् ॥१०॥

विदुरजी बोले–हे ब्रह्मन् ! ब्राह्मणोंसे अभिषिक्त होनेके समय जिन्होंने सम्पूर्ण देवताओंसे भेंटकी सामग्री प्राप्त की थी तथा भुजाओंमें वैष्णव तेजको धारणकर उनसे पृथ्वीका दोहन किया था ॥९॥ जिनके (पृथ्वीदोहनरूप) पराक्रमके उच्छिष्टसे सम्पूर्ण राजालोग तथा लोकपालोंके सहित सकल लोक इच्छानुसार जीवन धारण करते हैं उन महाराज पृथुकी पवित्र कीर्तिको ऐसा कौन अभिज्ञ (समझदार) पुरुष है जो न सुनेगा । इसलिये आप उनके पवित्र कर्मोंका मुझसे अभी और वर्णन कीजिये ॥१०॥

मैत्रेय उवाच

गङ्गायमुनयोर्नद्योरन्तराक्षेत्रमावसन् ।
आरब्धानेव बुभुजे भोगान्पुण्यजिहासया ॥११॥
सर्वत्रास्खलितादेशः सप्तद्वीपैकदण्डधृक्[4] ।
अन्यत्र ब्राह्मणकुलादन्यत्राच्युतगोत्रतः ॥१२॥

श्रीमैत्रेयजी बोले–हे विदुर ! महाराज पृथु गंगा और यमुनाके मध्यवर्ती (ब्रह्मर्षि) देशमें ही रहते हुए अपने पुण्यकर्मोंके क्षयकी इच्छासे प्रारब्धवश प्राप्त हुए भोगोंको भोगने लगे ॥११॥ ब्राह्मणवंश और श्रीविष्णुभगवान् जिनके कुलदेव थे उन मनुष्योंको छोड़कर शेष सातों द्वीपोंका वे अकेले ही निष्कण्टक शासन करनेवाले थे ॥ १२ ॥

१. प्राचीन प्रतिमें 'सूत उवाच' इतना अंश नहीं है । २. प्रा० पा०—तदाधिरा० । ३. प्रा० पा०—उपयन्ति । यह पाठान्तर छन्दकी दृष्टिसे मूलकी अपेक्षा शुद्ध है । ४. प्रा० पा०—सर्व० ।

एकदासीन्महासत्त्रदीक्षा तत्र दिवौकसाम् ।
समाजो ब्रह्मर्षीणां च राजर्षीणां च सत्तम ॥१३॥
तस्मिन्नर्हत्सु सर्वेषु स्वर्चितेषु यथार्हतः ।
उत्थितः सदसो मध्ये ताराणामुडुराडिव ॥१४॥
प्रांशुः पीनायतभुजो गौरः कञ्जारुणेक्षणः ।
सुनासः सुमुखः सौम्यः पीनांसः सुद्विजस्मितः ॥१५॥
व्यूढवक्षा बृहच्छ्रोणिर्वलिवल्गुदलोदरः ।
आवर्तनाभिरोजस्वी काञ्चनोरुरुदग्रपात् ॥१६॥
सूक्ष्मवक्रासितस्निग्धमूर्धजः कम्बुकन्धरः ।
महाधने दुकूलाग्र्ये परिधायोपवीय च ॥१७॥
व्यञ्जिताशेषगात्रश्रीर्नियमे न्यस्तभूषणः ।
कृष्णाजिनधरः श्रीमान्कुशपाणिः कृतोचितः ॥१८॥
शिशिरस्निग्धताराक्षः समैक्षत समन्ततः ।
ऊचिवानिदमुर्वीशः सदः संहर्षयन्निव ॥१९॥
चारु चित्रपदं श्लक्ष्णं मृष्टं गूढमविक्लवम् ।
सर्वेषामुपकारार्थं तदा अनुवदन्निव ॥२०॥

हे साधुश्रेष्ठ ! एक समय उन्होंने महासत्रकी दीक्षा ग्रहण की । उस समय वहाँ देवता, ब्रह्मर्षि और राजर्षियोंका बहुत बड़ा समाज एकत्रित हुआ ॥१३॥ उस समाजमें उन पूजनीय अभ्यागतोंका यथायोग्य सत्कारकर महाराज पृथु उस सभाके बीचमें, तारागणके मध्यमें उदित हुए चन्द्रमाके समान, उठकर खड़े हुए ॥१४॥ उनका शरीर ऊँचा था, भुजाएँ स्थूल और विशाल थीं, शरीरका वर्ण गौर था तथा नेत्र कमलके समान अरुणवर्ण और विशाल थे । उनकी नासिका सुघड़, मुख मनोहर, स्वरूप अति सौम्य, कन्धे ऊँचे तथा दाँत मनोहर, मुसकान-युक्त थे ॥१५॥ उनका वक्षःस्थल विशाल, कटि-प्रदेश स्थूल और उदर वलियोंके कारण सुन्दर था । उनकी नाभि भँवरके समान गम्भीर, शरीर तेजस्वी, जंघाएँ सुवर्णके समान देदीप्यमान और चरणोंके पञ्जे ऊँचे-ऊँचे थे ॥१६॥ उनके केश सूक्ष्म घुँघराले काले और चमकीले थे, ग्रीवा शंखके समान सुन्दर थी और वे दो महामूल्य वस्त्रोंमेंसे एक पहने और एक ओढ़े हुए थे ॥ १७ ॥ यज्ञकी दीक्षा लेनेके कारण उन्होंने नियमानुसार सब आभूषण उतार दिये थे, तो भी उनके शरीरकी शोभा स्पष्ट प्रतीत हो रही थी । उन्होंने शरीरपर कृष्णमृगचर्म धारण कर रखा था और वे हाथमें कुश लिये हुए थे । इस प्रकार उचित कार्योंके करनेवाले महाराज पृथु बड़े श्रीसम्पन्न जान पड़ते थे ॥१८॥ तब जिनके नेत्रोंके तारे अति शीतल और स्नेहयुक्त थे उन महाराजने सब ओर देखकर सारी सभाको प्रसन्न करते हुए इस प्रकार कहा ॥१९॥ उनका भाषण मनोहर और विचित्र पदोंसे युक्त, अति मधुर, सुन्दर, गम्भीर और भ्रान्ति-रहित था मानो सबके उपकारके लिये वे अपने अनुभवको ही प्रकट कर रहे थे ॥२०॥

राजोवाच

सभ्याः शृणुत भद्रं वः साधवो य इहागताः ।
सत्सु जिज्ञासुभिर्धर्ममावेद्यं स्वमनीषितम् ॥२१॥

राजा पृथु बोले—हे साधु सभ्यगण ! आपका कल्याण हो; आप लोग जो यहाँ पधारे हैं मेरा कथन सुनिये, क्योंकि साधु पुरुषोंकी उपस्थितिमें धर्मके जिज्ञासुओंको अपने मनकी बात निवेदन कर देनी चाहिये ॥२१॥

१. प्रा० पा०—सा हि । २. प्राचीन प्रतिमें 'सर्वेषामुपकारार्थं तदा अनुवदन्निव' इतना अंश नहीं है ।

अहं दण्डधरो राजा[1] प्रजानामिह योजितः ।
रक्षिता वृत्तिदः स्वेषु सेतुषु स्थापिता पृथक् ॥२२॥
तस्य मे तदनुष्ठानाद्यो[2]नाहुर्ब्रह्मवादिनः ।
लोकाः स्युः कामसंदोहा यस्य तुष्यति दिष्टदृक् ॥२३॥
य उद्धरेत्करं राजा प्रजा धर्मेष्व[3]शिक्षयन् ।
प्रजानां शमलं भुङ्क्ते भगं च स्वं जहाति सः ॥२४॥
तत्प्रजा भर्तृपिण्डार्थं स्वार्थमेवानसूयवः ।
कुरुताधोक्षजधियस्तर्हि मेऽनुग्रहः कृतः ॥२५॥
यूयं तदनुमोदध्वं पितृदेवर्षयोऽमलाः ।
कर्तुः शास्तुरनुज्ञातुस्तुल्यं यत्प्रेत्य तत्फलम् ॥२६॥
अस्ति यज्ञपतिर्नाम केषांचिदर्हसत्तमाः[5] ।
इहामुत्र च लक्ष्यन्ते[6] ज्योत्स्नावत्यः क्वचिद्ध्रुवः ॥२७॥
मनोरुत्तानपादस्य ध्रुवस्यापि महीपतेः ।
प्रियव्रतस्य राजर्षेरङ्गस्यास्मत्पितुः पितुः ॥२८॥
ईदृशानामथान्येषामजस्य च भवस्य च ।
प्रह्लादस्य बलेश्चापि कृत्यमस्ति गदाभृता ॥२९॥
दौहित्रादीनृते मृत्योः शोच्यान्धर्मविमोहितान् ।
वर्गस्वर्गापवर्गाणां प्रायेणैकात्म्यहेतुना[7] ॥३०॥
यत्पादसेवाभिरुचिस्तपस्विना-
मशेषजन्मोपचितं मलं धियः ।
सद्यः क्षिणोत्यन्वहमेधती सती

इस लोकमें ऋषियोंने मुझे प्रजाका राजा बनाया है । इसलिये मैं प्रजाको दण्ड देनेवाला, उसकी रक्षा करनेवाला, उसे आजीविका देनेवाला और उसे पृथक्-पृथक् अपनी-अपनी मर्यादामें रखनेवाला हूँ ॥ २२ ॥ अतः कर्मोंके साक्षी श्रीहरि जिनसे प्रसन्न होते हैं उन पुरुषोंके लिये जो सकल कामनाओंको पूर्ण करनेवाले लोक ब्रह्मवादियोंद्वारा बतलाये गये हैं, वे ही प्रजापालन करनेके कारण मुझे भी प्राप्त हों ॥ २३ ॥ जो राजा प्रजाको धर्ममार्गकी शिक्षा न देकर उनसे कर ग्रहण करता है वह प्रजाके पापका भागी होता है और अपने ऐश्वर्यसे भ्रष्ट हो जाता है ॥ २४ ॥ अतः हे प्रजागण ! अपने स्वामी (मुझ राजा) का परलोकमें हित करनेके लिये आपलोग दोषदृष्टिसे रहित होकर भगवान्‌का चिन्तन करते हुए अपने धर्मका ही आचरण करते रहिये । यही मेरे ऊपर आप लोगोंकी बड़ी कृपा होगी ॥ २५ ॥ हे निर्मलस्वभाव देवता, पितर और ऋषिगण ! आप मेरे कथनका अनुमोदन कीजिये क्योंकि कोई भी कर्म हो, मरनेके अनन्तर उसके करनेवाले, शिक्षा देनेवाले और अनुमोदन करनेवालेको समान फल मिलता है ॥ २६ ॥ हे पूजनीय साधुश्रेष्ठगण ! कुछ महानुभावोंके मतमें कर्मोंका फल देनेवाले भगवान् यज्ञपति हैं, क्योंकि इस लोक और परलोकमें दोनों ही जगह कुछ स्थान विशेष तेजोमय देखे जाते हैं ॥ २७ ॥ मनु, उत्तानपाद, ध्रुव, राजर्षि प्रियव्रत और हमारे पिताके पिता महाराज अंग तथा ऐसे ही ब्रह्मा, महादेव, प्रह्लाद और बलि आदि अन्य महापुरुषोंके मतमें सब कार्य विष्णु भगवान्‌की प्रेरणासे ही होते हैं ॥ २८-२९ ॥ जो अत्यन्त शोचनीय और धर्ममार्गसे विमूढ़ हैं उन मृत्युके दौहित्र वेन आदिको छोड़कर प्रायः सभीके मतमें धर्म, अर्थ, काम, मोक्षरूप चतुर्वर्ग स्वर्ग और मोक्षके देनेवाले एकमात्र श्रीहरि ही हैं ॥ ३० ॥ जिनके चरण-कमलोंकी सेवामें निरन्तर बढ़नेवाली प्रीति तपस्वियोंके अनेकों जन्मोंके सञ्चित मनोमलको इस प्रकार तत्काल नष्ट कर देती है जैसे

१. प्रा० पा०—धात्रा । २. प्रा० पा०—द्यदाहु० । ३. प्रा० पा०—धर्ममशिक्षयन् । ४. प्रा० पा०—भगवन्तं । ५. प्रा० पा०—सत्तमः । ६. प्रा० पा०—दृश्यन्ते । ७. प्राचीन प्रतिमें तीसवें श्लोकका उत्तरार्द्ध अंश पहले तथा पूर्वार्द्ध अंश बादमें लिखा है ।

यथा पदाङ्गुष्ठविनिःसृता सरित् ॥३१॥
विनिर्धुताशेषमनोमलः पुमा-
नसङ्गविज्ञानविशेषवीर्यवान् ।
यदङ्घ्रिमूले कृतकेतनः पुन-
र्न संसृतिं क्लेशवहां प्रपद्यते ॥३२॥
तमेव यूयं भजतात्मवृत्तिभि-
र्मनोवचःकायगुणैः स्वकर्मभिः ।
अमायिनः कामदुघाङ्घ्रिपङ्कजं
यथाधिकारावसितार्थसिद्धयः ॥३३॥
असाविहानेकगुणोऽगुणोऽध्वरः
पृथग्विधद्रव्यगुणक्रियोक्तिभिः ।
संपद्यतेऽर्थाशयलिङ्गनामभि-
र्विशुद्धविज्ञानघनः स्वरूपतः ॥३४॥
प्रधानकालाशयधर्मसंग्रहे
शरीर एष प्रतिपद्य चेतनाम् ।
क्रियाफलत्वेन विभुर्विभाव्यते
यथानलो दारुषु तद्गुणात्मकः ॥३५॥
अहो ममामी वितरन्त्यनुग्रहं
हरिं गुरुं यज्ञभुजामधीश्वरम्[1] ।
स्वधर्मयोगेन यजन्ति मामका
निरन्तरं क्षोणितले दृढव्रताः ॥३६॥
मा जातु तेजः प्रभवेन्महर्द्धिभि-
स्तितिक्षया तपसा विद्यया च ।
देदीप्यमानेऽजितदेवतानां
कुले स्वयं राजकुलाद्द्विजानाम्[2] ॥३७॥
ब्रह्मण्यदेवः पुरुषः पुरातनो
नित्यं हरिर्यच्चरणाभिवन्दनात् ।
अवाप लक्ष्मीमनपायिनीं यशो
जगत्पवित्रं च महत्तमाग्रणीः ॥३८॥
यत्सेवयाशेषगुहाशयः स्वराड्-
विप्रप्रियस्तुष्यति काममीश्वरः ।

उन्हींके चरणनखसे निकली हुई श्रीगंगाजी ॥ ३१ ॥ तथा जिनके चरणमूलका आश्रय लेनेवाला पुरुष सम्पूर्ण मनोमलसे मुक्त होकर और असंगताके ज्ञानसे विशेष बल प्राप्तकर फिर इस दुःखमय संसारचक्रमें नहीं पड़ता ॥ ३२ ॥ अतः हे प्रजावर्ग ! यह निश्चय करके कि हमें अपने अधिकारके अनुसार अवश्य फल प्राप्त होगा आपलोग, जिनके चरण-कमल सम्पूर्ण कामनाओंको देनेवाले हैं उन प्रभुको ही न्यायपूर्वक उपार्जित अपनी सामग्रियोंसे मन, वाणी और शरीरकी क्रियाओंसे एवं स्वधर्म-पालनसे छल-कपट छोड़कर भजें ॥३३॥ ये निर्गुण भगवान् ही, जो स्वरूपसे विशुद्ध विज्ञानघन हैं, नाना प्रकारके द्रव्य, गुण, क्रिया और उक्ति (स्तोत्र) आदिसे पूजा किये जानेपर अर्थ, आशय, लिंग और नामादिसे युक्त अनेक गुणसम्पन्न वाजपेय आदि यज्ञ-रूपसे प्राप्त होते हैं ॥ ३४ ॥ वे सर्वव्यापक प्रभु ही प्रकृति, काल, अन्तःकरण और वासनाओंके समूहरूप इस शरीरमें चेतनाको प्राप्त होकर, जिस प्रकार एक ही अग्नि भिन्न-भिन्न काष्ठोंमें उन्हींकी आकृतिके अनुरूप हुआ देखा जाता है उसी प्रकार यज्ञादि क्रियाओंके फलरूपसे नाना प्रकारके प्रतीत होते हैं ॥ ३५ ॥ अहो ! इस पृथिवीतलपर मेरे जो प्रजाजन यज्ञभोक्ताओंके अधीश्वर सर्वगुरु श्रीहरिका अपने वर्णाश्रमधर्मोंके द्वारा निरन्तर पूजन करते हैं उनकी मुझपर बड़ी भारी कृपा है ॥ ३६ ॥ महान् ऐश्वर्यसे सम्पन्न राजकुलसे प्रकट होनेवाला तेज सहनशीलता, तप और विद्यासे देदीप्यमान तथा एकमात्र विष्णुभगवान्‌को ही अपना इष्टदेव माननेवाले ब्राह्मणोंके कुलपर कभी अपना प्रभाव न डाले ॥ ३७ ॥ क्योंकि ब्रह्मादि महान् पुरुषोंके परमपूजनीय ब्राह्मणभक्त पुराणपुरुष श्रीहरिने भी निरन्तर इन ब्राह्मणोंके चरणोंकी वन्दना करके ही कभी दूर न होनेवाली लक्ष्मी और संसारको पवित्र करनेवाली कीर्ति प्राप्त की है ॥ ३८ ॥ अतः जिसकी सेवा करनेसे सबके अन्तःकरणोंमें स्थित स्वप्रकाश और ब्राह्मणोंके प्रिय श्रीहरि अत्यन्त प्रसन्न होते हैं

१. प्रा० पा०—भुजां महेश्वरम् । २. प्रा० पा०—कुलं द्विजानाम् ।

तदेव तद्धर्मपरैर्विनीतैः[1]
सर्वात्मना ब्रह्मकुलं निषेव्यताम् ॥३९॥
पुमाँल्लभेतानतिवेलमात्मनः
प्रसीदतोऽत्यन्तशमं[2] स्वतः स्वयम् ।
यन्नित्यसम्बन्धनिषेवया ततः
परं किमत्रास्ति मुखं हविर्भुजाम्[3] ॥४०॥
अश्नात्यनन्तः खलु तत्त्वकोविदैः
श्रद्धाहुतं यन्मुख इज्यनामभिः ।
न वै तथा चेतनया बहिष्कृते
हुताशने पारमहंस्यपर्यगुः ॥४१॥
यद्ब्रह्म नित्यं विरजं सनातनं
श्रद्धातपोमङ्गलमौनसंयमैः ।
समाधिना बिभ्रति हार्थदृष्टये
यत्रेदमादर्श इवावभासते ॥४२॥
तेषामहं पादसरोजरेणु-
मार्या वहेयाधिकिरीटमायुः[4] ।
यं नित्यदा बिभ्रत आशु पापं
नश्यत्यमुं सर्वगुणा भजन्ति ॥४३॥
गुणायनं शीलधनं कृतज्ञं
वृद्धाश्रयं संवृणतेऽनु संपदः ।
प्रसीदतां ब्रह्मकुलं गवां च
जनार्दनः सानुचरश्च मह्यम् ॥४४॥

मैत्रेय उवाच

इति ब्रुवाणं नृपतिं पितृदेवद्विजातयः ।
तुष्टुवुर्हृष्टमनसः साधुवादेन साधवः ॥४५॥
पुत्रेण जयते लोकानिति सत्यवती श्रुतिः ।
ब्रह्मदण्डहतः पापो यद्वेनोऽत्यतरत्तमः ॥४६॥
हिरण्यकशिपुश्चापि भगवन्निन्दया तमः ।

उस ब्राह्मणकुलकी श्रीहरिके धर्मोंका ही आचरण करनेवाले आपलोगोंको भी विनयपूर्वक सब प्रकार सेवा करनी चाहिये ॥ ३९ ॥ जिनकी नित्यप्रति सेवा करनेसे मनुष्य अपने-आप ही स्वतः शुद्ध हुए चित्तसे तत्काल अत्यन्त शान्ति लाभ करता है उन ब्राह्मणोंको छोड़कर और कौन देवताओंका मुख हो सकता है ? ॥४०॥ सम्पूर्ण उपनिषद् जिन्हें 'ज्ञानानन्द-स्वरूप' बतलाते हुए एकमात्र जिनको ही विषय करते हैं वे भगवान् अनन्त तत्त्वज्ञानियोंद्वारा पूजनीय इन्द्रादि देवताओंके नामसे ब्राह्मणोंके मुखमें श्रद्धापूर्वक हवन किये पदार्थोंको जैसे चावसे ग्रहण करते हैं वैसे चेतनाशून्य अग्निमें होमे हुए पदार्थोंको नहीं करते ॥ ४१ ॥ जिसमें यह सम्पूर्ण प्रपञ्च दर्पणमें दीखनेवाले प्रतिबिम्बके समान प्रतीत हो रहा है उस नित्य, शुद्ध और सनातन वेदको जो श्रद्धा, तप, मङ्गलमय आचरण, मौन, संयम और समाधिके द्वारा परमार्थ वस्तुको जाननेके लिये धारण करते हैं, हे आर्यगण ! उन ब्राह्मणोंके चरण-कमलोंकी धूलिको मैं आयुपर्यन्त अपने मुकुटपर धारण करूँ, क्योंकि उसे सर्वदा धारण करनेवाले पुरुषके सब पाप तत्काल नष्ट हो जाते हैं और उसमें सम्पूर्ण गुण अपने-आप आ जाते हैं ॥ ४२-४३ ॥ तब उस सकल गुणधाम, शीलधन, कृतज्ञ और गुरुजनोंको आश्रय देनेवाले पुरुषको सकल सम्पत्तियाँ स्वयं वर लेती हैं । अतः [मैं चाहता हूँ कि] ब्राह्मणकुल, गोवंश और अपने भक्तोंके सहित श्रीभगवान् मुझपर प्रसन्न हों ॥ ४४ ॥

श्रीमैत्रेयजी बोले—हे विदुर ! महाराज पृथुके इस प्रकार कहनेपर देवता, पितर और ब्राह्मणगण उनसे परम सन्तुष्ट हुए और वे साधुजन प्रसन्नचित्तसे 'साधु, साधु' कहते हुए उनकी स्तुति करने लगे ॥ ४५ ॥ उन्होंने कहा—'पुत्रके द्वारा पिता पुण्यलोकोंको प्राप्त होता है'—यह श्रुतिका कथन ठीक ही है; क्योंकि पापी वेन ब्राह्मणोंके शापसे नष्ट होकर भी अपने पुत्र पृथुके प्रभावसे नरकको पार कर गया है ॥ ४६ ॥ इसी प्रकार हिरण्यकशिपु भी भगवान्‌की निन्दा करनेके कारण

१. प्रा० पा०—परैर्हि नः सदा । २. प्रा० पा०—मनन्तमव्ययम् । ३. प्रा० पा०—हविर्भुजः । ४. प्रा० पा०—णुना पर्या ।

विविक्षुरत्यगात्सूनोः प्रह्लादस्यानुभावतः ॥४७॥
वीरवर्य पितः[1] पृथ्व्याः समाः संजीव शाश्वतीः ।
यस्येदृश्यच्युते भक्तिः सर्वलोकैकभर्तरि ॥४८॥
अहो वयं ह्यद्य पवित्रकीर्ते
त्वयैव नाथेन मुकुन्दनाथाः ।
य उत्तमश्लोकतमस्य विष्णो-
र्ब्रह्मण्यदेवस्य कथां व्यनक्ति ॥४९॥
नात्यद्भुतमिदं नाथ तवाजीव्यानुशासनम् ।
प्रजानुरागो महतां प्रकृतिः करुणात्मनाम् ॥५०॥
अद्य नस्तमसः पारस्त्वयोपासादितः प्रभो ।
भ्राम्यतां नष्टदृष्टीनां कर्मभिर्दैवसंज्ञितैः ॥५१॥
नमो विवृद्धसत्त्वाय पुरुषाय महीयसे ।
यो ब्रह्मक्षत्रमाविश्य बिभर्तीदं स्वतेजसा ॥५२॥

नरकमें गिरनेहीवाला था किन्तु अपने पुत्र प्रह्लादके प्रभावसे उसको पार कर गया ॥ ४७ ॥ हे पृथिवीके पिता वीरवर पृथुजी ! आपकी सर्व लोकोंके एकमात्र ईश्वर श्रीहरिमें ऐसी प्रौढ़ भक्ति है, इसलिये आप अनन्त वर्षोंतक जीवित रहें ॥ ४८ ॥ हे पवित्रकीर्ते ! बड़े हर्षकी बात है कि आप ब्राह्मणभक्त उत्तमश्लोक शिरोमणि श्रीहरिकी कथाओंको व्यक्त करते हैं । अतः आप-जैसा स्वामी पाकर आज हमने मानो श्रीभगवान्‌को ही अपने स्वामीरूपसे प्राप्त किया है ॥ ४९ ॥ हे नाथ ! अपने आश्रितोंको इस प्रकार उपदेश देना आपके लिये कोई आश्चर्यकी बात नहीं है; क्योंकि अपनी प्रजाके ऊपर प्रेम करना दयामय महापुरुषोंका स्वभाव ही है ॥ ५० ॥ हे प्रभो ! हमलोग दैव नामक प्रारब्धकर्मके कारण विवेकहीन होकर भटक रहे थे, सो आज आपने हमें इस अज्ञानान्धकारसे पार कर दिया ॥ ५१ ॥ अतः जो ब्राह्मण और क्षत्रियकुलमें प्रविष्ट होकर अपने तेजसे इस जगत्‌का पालन करते हैं उन बढ़े हुए सत्त्वगुणसे सम्पन्न पूजनीय पुरुषोत्तमको नमस्कार है ॥ ५२ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे चतुर्थस्कन्धे
एकविंशोऽध्यायः[2] ॥ २१ ॥

बाईसवाँ अध्याय

राजा पृथुको सनकादिका उपदेश ।

मैत्रेय उवाच

जनेषु प्रगृणत्स्वेवं पृथुं पृथुलविक्रमम् ।
तत्रोपजग्मुर्मुनयश्चत्वारः सूर्यवर्चसः ॥ १ ॥
तांस्तु सिद्धेश्वरान्राजा व्योम्नोऽवतरतोऽर्चिषा ।
लोकानपापान्कुर्वत्या सानुगोऽचष्ट लक्षितान् ॥२॥
तद्दर्शनोद्गतान्प्राणान्प्रत्यादित्सुरिवोत्थितः ।

श्रीमैत्रेयजी बोले—हे विदुर ! जिस समय प्रजाजन महापराक्रमी राजा पृथुकी इस प्रकार स्तुति कर रहे थे उसी समय वहाँ सूर्यके समान तेजस्वी सनकादि चार मुनीश्वर आये ॥ १ ॥ तब अनुचरोंके सहित राजा पृथुने लोकोंको पापहीन करनेवाली अपनी कान्तिसे पहचाने गये उन सिद्धेश्वरोंको आकाशसे उतरते देखा ॥ २ ॥ फिर, जिस प्रकार जीव लालायित होकर इन्द्रियोंके विषयोंकी ओर जाता है उसी प्रकार

१. प्रा० पा०—पितुः श्रेष्ठ । २. प्रा० पा०—एकविंशतितमो ।

ससदस्यानुगो वैन्य इन्द्रियेशो गुणानिव ॥ ३ ॥
गौरवाद्यन्त्रितः सभ्यः प्रश्रयानतकन्धरः ।
विधिवत्पूजयाञ्चक्रे गृहीतार्घ्यर्हणासनान् ॥ ४ ॥
तत्पादशौचसलिलैर्मार्जितालकबन्धनः ।
तत्र शीलवतां वृत्तमाचरन्मानयन्निव ॥ ५ ॥
हाटकासन आसीनान्स्वधिष्ण्येष्विव पावकान्।
श्रद्धासंयमसंयुक्तः प्रीतः प्राह भवाग्रजान् ॥ ६ ॥

उनके दर्शनोंसे उनकी ओर जाते हुए अपने प्राणोंको मानो रोकनेकी इच्छासे ही वे अपने अनुचरोंसहित खड़े हो गये ॥ ३ ॥ तदनन्तर उनके गौरवसे कुण्ठित हुए उन शिष्ट सम्राट्ने विनयवश गर्दन झुकाकर अर्घ्य और आसनादिको स्वीकार करनेवाले उन मुनियोंकी विधिपूर्वक पूजा की ॥ ४ ॥ जिनके केशोंके जूड़ेपर उनका चरणोदक सींचा हुआ है उन महाराज पृथुने सदाचारसम्पन्न पुरुषोंके आचरणका मानो मान करनेके लिये उसीका आचरण करते हुए अति प्रसन्न होकर अपने आश्रयमें स्थित अग्निके समान सुवर्ण-सिंहासनपर बैठे हुए भगवान् शंकरके अग्रज उन सनकादि मुनीश्वरोंसे श्रद्धा और संयमपूर्वक इस प्रकार कहा ॥ ५-६ ॥

पृथुरुवाच

अहो आचरितं किं मे मङ्गलं मङ्गलायनाः ।
यस्य वो दर्शनं ह्यासीद्दुर्दर्शानां च योगिभिः ॥ ७ ॥
किं तस्य दुर्लभतरमिह लोके परत्र च ।
यस्य विप्राः प्रसीदन्ति शिवो विष्णुश्च सानुगः॥ ८ ॥
नैव लक्षयते लोको लोकान्पर्यटतोऽपि यान् ।
यथा सर्वदृशं सर्व आत्मानं येऽस्य हेतवः ॥ ९ ॥
अधना[1] अपि ते धन्याः साधवो गृहमेधिनः ।
यद्गृहा ह्यर्हवर्याम्बुतृणभूमीश्वरावराः[2] ॥१०॥
व्यालालयद्रुमा वै[3] तेऽप्यरिक्ताखिलसम्पदः ।
यद्गृहास्तीर्थपादीयपादतीर्थविवर्जिताः ॥११॥
स्वागतं वो द्विजश्रेष्ठा यद्व्रतानि मुमुक्षवः ।
चरन्ति श्रद्धया धीरा बाला एव बृहन्ति च[4] ॥१२॥
कच्चिन्नः कुशलं नाथा इन्द्रियार्थार्थवेदिनाम् ।

महाराज पृथु बोले—हे मङ्गलमूर्ते ! मुझसे ऐसा क्या शुभकर्म बना है जिसके कारण मुझे आप महानुभावोंका दर्शन हुआ, जो कि योगियोंको भी अत्यन्त दुर्लभ है ॥७॥ भला जिससे ब्राह्मणगण तथा अनुचरोंके सहित श्रीशंकर और विष्णुभगवान् प्रसन्न हों उसे लोक या परलोकमें कौन-सा पदार्थ दुर्लभ है ॥८॥ जिस प्रकार दृश्य-प्रपञ्चके कारणरूप महत्तत्त्वादिगण सर्वसाक्षी आत्माको नहीं जान सकते उसी प्रकार सम्पूर्ण लोकोंमें विचरते रहनेपर भी आपको साधारण लोग नहीं देख पाते ॥९॥ जिनके घरोंमें आप पूज्य पुरुषोंसे स्वीकार किये जानेयोग्य जल, कुशासन, पृथ्वी, घरके स्वामी अथवा अन्य पुरुष होते हैं वे साधुस्वभाव गृहस्थ पुरुष निर्धन होनेपर भी बड़े ही सौभाग्यवान् हैं ॥१०॥ तथा जो घर भगवद्भक्तोंके परम पवित्र चरणोदकसे रहित हैं वे सकल सम्पत्तियोंसे सम्पन्न होनेपर भी सर्पोंके निवासस्थानरूप वृक्षोंके समान ही हैं ॥११॥ हे द्विजश्रेष्ठ ! आपका आगमन हुआ, यह बड़ी प्रसन्नताकी बात है; धैर्यशील मुमुक्षु पुरुष जिन महान् व्रतोंका श्रद्धापूर्वक आचरण करते हैं उन्हें आपने बालकपनसे ही धारण कर रखा है ॥१२॥ हे नाथ ! अपने कर्मोंके वशीभूत होकर हम इस संसारमें पड़े हुए नाना प्रकारके दुःख

१. प्रा० पा०—अवन्या । २. प्रा० पा०—श्वराश्वराः । ३. प्रा० पा०—द्रुमाश्चैते । ४. प्रा० पा०—वै ।

व्यसनावाप एतस्मिन्पतितानां स्वकर्मभिः ॥१३॥
भवत्सु कुशलप्रश्न आत्मारामेषु नेष्यते ।
कुशलाकुशला यत्र न सन्ति मतिवृत्तयः ॥१४॥
तदहं कृतविश्रम्भः सुहृदो वस्तपस्विनाम् ।
संपृच्छे भव एतस्मिन्क्षेमः केनाञ्जसा भवेत् ॥१५॥
व्यक्तमात्मवतामात्मा भगवानात्मभावनः ।
स्वानामनुग्रहायेमां सिद्धरूपी चरत्यजः ॥१६॥

भोग रहे हैं, सो हम इन्द्रियपरायणोंके कल्याणका क्या कोई उपाय है ? ॥१३॥ हे भगवन् ! आपलोग आत्मामें ही रमण करनेवाले हैं, इसलिये आपसे कुशल-प्रश्न करना उचित नहीं है क्योंकि आपमें कुशल और अकुशलरूप बुद्धिकी वृत्तियाँ हैं ही नहीं ॥१४॥ अतः मैं आपके वचनोंमें विश्वास रखकर तपस्वियोंके सुहृद् आपसे यह पूछता हूँ कि इस संसार-में मनुष्योंका किस प्रकार सुगमतासे कल्याण हो सकता है ? ॥१५॥ यह बात स्पष्ट ही है कि अजन्मा होनेपर भी सिद्धगणके रूपसे प्रकट होनेवाले आत्म-ज्ञानियोंके अन्तरात्मारूप श्रीभगवान् ही अपने भक्तोंपर कृपा करनेके लिये पृथ्वीपर विचरा करते हैं ॥१६॥

मैत्रेय उवाच

पृथोस्तत्सूक्तमाकर्ण्य सारं सुष्ठु मितं मधु ।
स्मयमान इव प्रीत्या कुमारः प्रत्युवाच ह ॥१७॥

श्रीमैत्रेयजी बोले—हे विदुर ! राजा पृथुके वे सारयुक्त सुन्दर परिमित और मधुर वचन सुनकर श्रीसनत्कुमारजी कुछ हँसते हुए-से प्रसन्नतापूर्वक कहने लगे ॥१७॥

सनत्कुमार उवाच

साधु पृष्टं महाराज सर्वभूतहितात्मना ।
भवता विदुषा चापि साधूनां मतिरीदृशी ॥१८॥
सङ्गमः खलु साधूनामुभयेषां च सम्मतः ।
यत्सम्भाषणसम्प्रश्नः सर्वेषां वितनोति शम् ॥१९॥
अस्त्येव राजन्भवतो मधुद्विषः
पादारविन्दस्य गुणानुवादने ।
रतिर्दुरापा विधुनोति नैष्ठिकी
कामं कषायं मलमन्तरात्मनः ॥२०॥
शास्त्रेष्वियानेव सुनिश्चितो नृणां
क्षेमस्य सध्र्यग्विमृशेषु हेतुः ।
असङ्ग आत्मव्यतिरिक्त आत्मनि
दृढा रतिर्ब्रह्मणि निर्गुणे च या ॥२१॥
सा श्रद्धया भगवद्धर्मचर्यया

सनत्कुमारजी बोले—हे महाराज ! आपने सब कुछ जानते हुए भी सम्पूर्ण प्राणियोंके हितके लिये यह बड़ा सुन्दर प्रश्न किया है। सच है, साधु पुरुषोंकी बुद्धि ऐसी ही हुआ करती है ॥१८॥ साधुओंका समागम श्रोता और वक्ता दोनोंहीको अभिमत होता है क्योंकि उनके कथन और प्रश्न दोनों ही सबका कल्याण करनेवाले होते हैं ॥१९॥ हे राजन् ! श्रीमधुसूदन भगवान्के चरणकमलोंके गुणानुवादमें अवश्य ही आपकी अविचल प्रीति है, जिसका प्राप्त होना अत्यन्त कठिन है और जो अन्तःकरणके वासनारूप मलको नष्ट कर देती है ॥२०॥ 'आत्मासे भिन्न देह-गेह आदि अनात्म-पदार्थोंमें अनासक्त रहना और अपने अन्तरात्मा निर्गुण ब्रह्ममें सुदृढ अनुराग करना' बस इतना ही सुन्दर विचारयुक्त शास्त्रोंमें मनुष्यके कल्याणका हेतु निश्चित किया गया है ॥२१॥ गुरु और शास्त्रके वचनोंमें विश्वास रखनेसे, भगवद्धर्मोंका आचरण

१. प्रा० पा०—पृथोस्तु । २. प्रा० पा०—प्रभुः । ३. प्राचीन प्रतिमें 'सनत्कुमार उवाच' इतना अंश नहीं है । ४. प्रा० पा०—मति ।

जिज्ञासयाध्यात्मिकयोगनिष्ठया ।
योगेश्वरोपासनया च नित्यं
पुण्यश्रवःकथया पुण्यया च ॥२२॥
अर्थेन्द्रियारामसगोष्ठ्यतृष्णया
तत्सम्मतानामपरिग्रहेण च ।
विविक्तरुच्या परितोष आत्मन्
विना हरेर्गुणपीयूषपानात् ॥२३॥
अहिंसया पारमहंस्यचर्यया
स्मृत्या मुकुन्दाचरिताग्र्यसीधुना ।
यमैरकामैर्नियमैश्चाप्यनिन्दया
निरीहया द्वन्द्वतितिक्षया च ॥२४॥
हरेर्मुहुस्तत्परकर्णपूर-
गुणाभिधानेन विजृम्भमाणया ।
भक्त्या ह्यसङ्गः सदसत्यनात्मनि
स्यान्निर्गुणे ब्रह्मणि चाञ्जसा रतिः ॥२५॥
यदा रतिर्ब्रह्मणि नैष्ठिकी पुमा-
नाचार्यवाञ्ज्ञानविरागरंहसा ।
दहत्यवीर्यं हृदयं जीवकोशं[1]
पञ्चात्मकं योनिमिवोत्थितोऽग्निः ॥२६॥
दग्धाशयो मुक्तसमस्ततद्गुणो
नैवात्मनो बहिरन्तर्विचष्टे ।
परात्मनोर्यद्व्यवधानं पुरस्तात्
स्वप्ने यथा पुरुषस्तद्विनाशे ॥२७॥
आत्मानमिन्द्रियार्थं च परं यदुभयोरपि ।
सत्याशय उपाधौ वै पुमान्पश्यति नान्यदा ॥२८॥
निमित्ते सति सर्वत्र जलादावपि पूरुषः ।

करनेसे, अध्यात्मयोगसम्बन्धिनी जिज्ञासासे, योगेश्वरोंकी उपासनासे, नित्यप्रति पवित्रकीर्ति श्रीहरिकी परम पावन कथाओंको सुननेसे, धन और इन्द्रियोंके विषयोंमें ही सुख माननेवालोंके समाजमें प्रेम न करनेसे, उन्हें प्रिय लगनेवाले पदार्थोंका संग्रह न करनेसे, भगवद्-गुणामृतका पान करनेके सिवा अन्य समय आत्मामें ही सन्तुष्ट रहते हुए एकान्तसेवनमें प्रेम रखनेसे, किसी जीवको कष्ट न देनेसे, परमहंसवृत्तिका आचरण करनेसे, भगवान्‌का स्मरण रखनेसे, श्रीहरिके उत्तम चरित्ररूप अमृतका पान करनेसे, किसी प्रकारकी इच्छा न रखकर यम-नियमोंका पालन करनेसे, कभी किसीकी निन्दा न करनेसे, किसी प्रकारकी चेष्टा न करने और शीतोष्णादि द्वन्द्वोंको सहन करनेसे तथा श्रीहरिके श्रवणसुखदायक गुणोंका बारम्बार वर्णन करनेसे बढ़ती हुई भक्तिके प्रभावसे मनुष्य कार्य-कारणरूप सम्पूर्ण प्रपञ्चसे असंग हो जाता है और निर्गुण ब्रह्मरूप आत्मामें उसकी अनायास ही प्रीति हो जाती है ॥२२–२५॥ जिस समय परब्रह्ममें निश्चल प्रीति हो जाती है उस समय वह गुरुभक्त पुरुष जीवके आश्रयरूप अपने अन्तःकरणको जो पाँच प्रकारकी अविद्यासे युक्त है, ज्ञान और वैराग्यके वेगसे इस प्रकार निर्बीज करके दग्ध कर देता है जैसे लकड़ीसे प्रकट हुआ अग्नि अपने आश्रयरूप काष्ठको भस्म कर देता है ॥२६॥ इस प्रकार कर्माशयके दग्ध हो जानेपर सम्पूर्ण कर्मबन्धनसे मुक्त हुआ वह पुरुष शरीरके बाहर-भीतर रहनेवाले [अन्तःकरण और घट-पटादि] पदार्थोंको, जो पहले जीवात्मा और परमात्माके बीचमें रहकर उनका भेद करनेवाले थे, नहीं देखता, जिस प्रकार स्वप्नमें देखे हुए पदार्थोंको उसका अन्त हो जानेपर नहीं देखता ॥२७॥ क्योंकि पुरुष अन्तःकरणरूप उपाधिके रहते हुए ही आत्मा, इन्द्रियोंके विषय और दोनोंसे सम्बद्ध अहंकारको देख सकता है, और किसी प्रकार नहीं ॥२८॥ जिस प्रकार भेदके निमित्तरूप जल आदिके रहते हुए ही पुरुष बिम्बरूप अपना और

१. प्रा० पा०—पाञ्चकोशं ।

आत्मनश्च परस्यापि भिदां पश्यति नान्यदा ॥२९॥

इन्द्रियैर्विषयाकृष्टैराक्षिप्तं ध्यायतां मनः ।

चेतनां हरते बुद्धेः स्तम्बस्तोयमिव ह्रदात् ॥३०॥

भ्रश्यत्यनुस्मृतिश्चित्तं ज्ञानभ्रंशः स्मृतिक्षये ।

तद्रोधं कवयः प्राहुरात्मापह्नवमात्मनः ॥३१॥

नातः परतरो लोके पुंसः स्वार्थव्यतिक्रमः ।

यदध्यन्यस्य प्रेयस्त्वमात्मनः स्वव्यतिक्रमात् ॥३२॥

अर्थेन्द्रियार्थाभिध्यानं सर्वार्थापह्नवो नृणाम् ।

भ्रंशितो ज्ञानविज्ञानाद्येनाविशति मुख्यताम् ॥३३॥

न कुर्यात्कर्हिचित्सङ्गं तमस्तीव्रं तितीरिषुः ।

धर्मार्थकाममोक्षाणां यदत्यन्तविघातकम् ॥३४॥

तत्रापि मोक्ष एवार्थ आत्यन्तिकतयेष्यते ।

त्रैवर्ग्योऽर्थो यतो नित्यं कृतान्तभयसंयुतः ॥३५॥

परेऽवरे[1] च ये भावा गुणव्यतिकरादनु[2] ।

न तेषां विद्यते क्षेममीशविध्वंसिताशिषाम् ॥३६॥

तत्त्वं[3] नरेन्द्र जगतामथ तस्थुषां च

देहेन्द्रियासुधिषणात्मभिरावृतानाम् ।

यः क्षेत्रवित्तपतया हृदि विष्वगाविः

प्रत्यक्चकास्ति भगवांस्तमवेहि सोऽस्मि[4] ॥३७॥

यस्मिन्निदं सदसदात्मतया विभाति[5]

मायाविवेकविधुति स्रजि वाहिबुद्धिः ।

प्रतिबिम्बरूप दूसरेका भेद देखता है, और समय नहीं देखता ॥२९॥ जिस प्रकार जलाशयके तीरपर उगे हुए कुश आदि अपनी जड़ोंद्वारा जलाशयसे धीरे-धीरे जलको खींचते हैं उसी प्रकार विषय-चिन्तन करनेवाले पुरुषोंका मन चञ्चल होकर अपनी विषयासक्त इन्द्रियोंसे बुद्धिकी विचारशक्तिको हर लेता है ॥३०॥ विचारशक्ति नष्ट हो जानेपर पूर्वापरकी स्मृति जाती रहती है तथा स्मृतिके नष्ट हो जानेपर स्वरूपका ज्ञान नहीं रहता । इस स्वरूपज्ञानके न रहनेको ही विद्वान् लोग 'अपने आत्माका नाश करना' कहते हैं ॥३१॥ जिसके लिये अन्य सब पदार्थोंमें प्रियता होती है उस अपने आत्मस्वरूपको भूल जानेके समान मनुष्यकी संसारमें और कोई स्वार्थहानि नहीं है ॥३२॥

धन और इन्द्रियोंके विषयोंका चिन्तन करना मनुष्यके सब पुरुषार्थोंको नष्ट करनेवाला है; क्योंकि इनकी चिन्ता करनेसे जीव ज्ञान-विज्ञानसे हीन होकर वृक्षादि योनियोंको प्राप्त होता है ॥३३॥ इसलिये अज्ञानरूप घोर अन्धकारको पार करनेकी इच्छावाला पुरुष कभी विषयोंका संग न करे क्योंकि यह धर्म, अर्थ, काम और मोक्षकी प्राप्तिमें अत्यन्त विघ्नरूप है ॥३४॥ इन धर्मादि चार पुरुषार्थोंमें भी मोक्ष ही सर्वश्रेष्ठ माना जाता है, क्योंकि अन्य तीन पुरुषार्थ तो सदा कालके भयसे युक्त हैं ॥३५॥ गुणक्षोभके अनन्तर जितने भी उत्तम और अधम भाव प्रकट हुए हैं उनमेंसे कोई भी कुशलपूर्वक नहीं रह सकते क्योंकि उनकी इच्छाओंको सर्वसमर्थ काल भगवान् कुचलता रहता है ॥३६॥ अतः हे राजन् ! जो सर्वव्यापी स्वयंप्रकाश एवं बुद्धिके भी अन्तर्वर्ती भगवान् देह, इन्द्रिय, प्राण, बुद्धि और अहंकारसे आवृत स्थावर-जंगम प्राणियोंके हृदयमें जीवके अन्तर्यामोरूपसे प्रकाशित हो रहे हैं उन्हें तुम 'वह मैं ही हूँ' ऐसा जानो ॥३७॥ जिस परमात्मामें यह कार्यकारणरूप सम्पूर्ण प्रपञ्च जो कि विवेक होनेपर नहीं रहता, मालामें सर्पबुद्धिके समान मिथ्या ही भासता

१. प्रा० पा०—परावरे । २. प्रा० पा०—करादतः । ३. प्रा० पा०—सत्वम् । ४. प्रा० पा०—सोऽस्ति । ५. प्रा० पा०—चभाति ।

तं नित्यमुक्तपरिशुद्धविबुद्धतत्त्वं
प्रत्यूढकर्मकलिलप्रकृतिं प्रपद्ये ॥३८॥
यत्पादपङ्कजपलाशविलासभक्त्या
कर्माशयं ग्रथितमुद्ग्रथयन्ति सन्तः ।
तद्वन्न रिक्तमतयो यतयोऽपि रुद्ध-
स्रोतोगणास्तमरणं भज वासुदेवम् ॥३९॥
कृच्छ्रो महानिह भवार्णवमप्लवेशां
षड्वर्गनक्रमसुखेन तितीरिषन्ति ।
तत्त्वं हरेर्भगवतो भजनीयमङ्घ्रिं
कृत्वोडुपं व्यसनमुत्तर दुस्तरार्णम् ॥४०॥

है उस नित्यमुक्त, अत्यन्त शुद्ध, ज्ञानस्वरूप और स्वभावसे ही कर्ममलरहित भगवान्‌की मैं शरण हूँ—ऐसी भावना करो ॥३८॥ जिनके चरणकमलदलकी कान्तिके अनुरागसे भक्तजन कर्माशयरूप हृदयकी ग्रन्थिको जितनी सुगमतासे काट डालते हैं उतनी सुगमतासे अपनी इन्द्रियोंको अन्तर्मुख रखनेवाले वासनाहीन योगीजन भी नहीं काट सकते उन भक्त-प्रतिपालक भगवान् वासुदेवका तुम भजन करो ॥३९॥ जो पुरुष षड्वर्ग (पञ्चज्ञानेन्द्रिय और मन) रूप नाकोंसे पूर्ण इस संसारसमुद्रको योगादि दुष्कर साधनोंसे पार करना चाहते हैं उनके लिये इसे पार करना अत्यन्त कठिन है, क्योंकि उन्होंने कर्णधाररूप परमेश्वरका आश्रय नहीं लिया है; अतः भगवान् हरिके पूजनीय चरणोंकी नौका बनाकर तुम अनायास ही इस दुस्तर संसारसागरसे पार हो जाओ ॥४०॥

मैत्रेय उवाच

स एवं ब्रह्मपुत्रेण कुमारेणात्ममेधसा ।
दर्शितात्मगतिः सम्यक्प्रशस्योवाच तं नृपः ॥४१॥

श्रीमैत्रेयजी बोले—हे विदुर ! ब्रह्माजीके पुत्र आत्मज्ञानी श्रीसनत्कुमारजीके इस प्रकार आत्मतत्त्वका उपदेश देनेपर राजा पृथुने उनकी भलीप्रकार प्रशंसा करते हुए कहा ॥ ४१ ॥

राजोवाच

कृतो मेऽनुग्रहः पूर्वं हरिणार्तानुकम्पिना ।
तमापादयितुं ब्रह्मन्भगवन्यूयमागताः ॥४२॥
निष्पादितश्च कार्त्स्न्येन भगवद्भिर्घृणालुभिः ।
साधूच्छिष्टं हि मे सर्वमात्मना सह किं ददे ॥४३॥
प्राणा दाराः सुता ब्रह्मन् गृहाश्च सपरिच्छदाः।
राज्यं बलं मही कोश इति सर्वं निवेदितम् ॥४४॥
सैनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च ।
सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति ॥४५॥
स्वमेव ब्राह्मणो भुङ्क्ते स्वं वस्ते स्वं ददाति च ।

राजा पृथु बोले—हे ब्रह्मन् ! दीनोंपर कृपा करनेवाले श्रीहरिने मुझपर पहले ही कृपा की थी । हे भगवन् ! उसीको पूर्ण करनेके लिये आप यहाँ पधारे हैं ॥ ४२ ॥ आप परम कृपालुओंने उसे पूर्णतया सम्पन्न कर दिया । अब उसके बदलेमें मैं आपको क्या दूँ ? क्योंकि इस शरीरके साथ मेरे पास जो कुछ है वह सब साधुओंका ही प्रसाद है ॥ ४३ ॥ अतः हे ब्रह्मन् ! प्राण, स्त्री, पुत्र, सर्व सामग्रियोंसे पूर्ण गृह, राज्य, सेना, पृथिवी और कोश—ये सभी पदार्थ आपको समर्पण करता हूँ ॥ ४४ ॥ वास्तवमें वेद-शास्त्रका जाननेवाला ब्राह्मण ही सेनापतित्व, राज्य, दण्डविधान और सम्पूर्ण लोकोंके शासनका कार्य कर सकता है ॥ ४५ ॥ वह ब्राह्मण ही अपने पदार्थोंको खाता है, अपने वस्त्र पहनता है और अपनी ही वस्तुएँ

१. प्रा० पा०—मप्लवेन । २. प्रा० पा०—स त्वम् । ३. प्रा० पा०—सर्वं मे ह्यात्मना । ४. प्रा० पा०—मही बलं ।

तस्यैवानुग्रहेणान्नं भुञ्जते क्षत्रियादयः ॥४६॥

यैरीदृशी भगवतो गतिरात्मवाद
एकान्ततो निगमिभिः प्रतिपादिता नः ।
तुष्यन्त्वदभ्रकरुणाः स्वकृतेन नित्यं
को नाम तत्प्रतिकरोति विनोदपात्रम् ॥४७॥

दान देता है । उसकी कृपासे ही अन्य क्षत्रिय आदि अन्न ग्रहण करते हैं ॥ ४६ ॥ वेदके पारगामी जिन आपलोगोंने आत्मतत्त्वका विचार करते हुए भगवान्‌के स्वरूपका इस प्रकार निरूपण किया है वे परमकृपालु आप अपने किये हुए [पतितोद्धाररूप] कर्मसे ही सदा सन्तुष्ट हों, क्योंकि आपके उस महान् उपकारका बदला कौन चुका सकता है ? यदि कोई उसके लिये प्रयत्न करेगा भी तो वह उपहासका ही पात्र होगा ॥४७॥

मैत्रेय[1] उवाच

त आत्मयोगपतय आदिराजेन पूजिताः ।
शीलं तदीयं शंसन्तः खेऽभूवन्मिषतां नृणाम् ॥४८॥
वैन्यस्तु धुर्यो महतां संस्थित्याध्यात्मशिक्षया ।
आत्तकाममिवात्मानं मेन आत्मन्यवस्थितः ॥४९॥
कर्माणि च यथाकालं यथादेशं यथाबलम् ।
यथोचितं यथावित्तमकरोद्ब्रह्मसात्कृतम् ॥५०॥
फलं ब्रह्मणि विन्यस्य निर्विषङ्गः समाहितः ।
कर्माध्यक्षं च मन्वान आत्मानं प्रकृतेः परम् ॥५१॥
गृहेषु वर्तमानोऽपि स साम्राज्यश्रियान्वितः ।
नासज्जतेन्द्रियार्थेषु निरहंमतिरर्कवत् ॥५२॥
एवमध्यात्मयोगेन कर्माण्यनुसमाचरन् ।
पुत्रानुत्पादयामास पञ्चार्चिष्यात्मसम्मतान् ॥५३॥
विजिताश्वं धूम्रकेशं हर्यक्षं द्रविणं वृकम् ।
सर्वेषां लोकपालानां दधारैकः पृथुर्गुणान् ॥५४॥
गोपीथाय जगत्सृष्टेः काले स्वे स्वेऽच्युतात्मकः ।
मनोवाग्वृत्तिभिः सौम्यैर्गुणैः संरञ्जयन्प्रजाः ॥५५॥

श्रीमैत्रेयजी बोले—हे विदुर ! तदनन्तर जिनकी मनोवृत्ति निरन्तर आत्मज्ञानमें लगी रहती थी वे सनकादि मुनीश्वरगण आदिराज पृथुसे सत्कृत हो उनके शीलकी प्रशंसा करते हुए सब लोगोंके देखते-देखते आकाश-मार्गसे चले गये ॥ ४८ ॥ तबसे महात्माओंमें अग्रगण्य महाराज पृथु उनके आत्मोपदेशसे चित्तको स्थिर करते हुए स्वरूपमें स्थित होकर अपनेको कृतकृत्य-सा मानने लगे ॥ ४९ ॥ और सम्पूर्ण कर्म देश, काल, शक्ति और धनके अनुसार यथोचित रीतिसे ब्रह्मार्पण करते हुए करने लगे ॥ ५० ॥ अर्थात् समस्त कर्मफल परमात्मा-को समर्पणकर असंग और समाहित चित्तसे सम्पूर्ण कर्मोंके साक्षी आत्माको प्रकृतिसे अतीत मानते हुए ये सब कार्य करने लगे ॥ ५१ ॥ सार्वभौम साम्राज्य-की लक्ष्मीसे युक्त और अपने राजभवनमें ही रहते हुए भी वे अहंकारशून्य होनेके कारण इन्द्रियके विषयोंमें सूर्यके समान आसक्त नहीं हुए ॥५२॥

इस प्रकार ज्ञानयोगके अनुसार सम्पूर्ण कर्म [ब्रह्मार्पण-बुद्धिसे] करते हुए राजा पृथुने अपनी भार्या अर्चिसे विजिताश्व, धूम्रकेश, हर्यक्ष, द्रविण और वृक नामक पाँच पुत्र उत्पन्न किये । राजा पृथुने समय-समयपर जगत्‌की सृष्टिकी रक्षा करनेके लिये अकेले ही सम्पूर्ण लोकपालोंके गुण धारण किये थे । उन विष्णुस्वरूप महाराजने अपने मन और वाणीकी मनोहर वृत्तियोंसे और सौम्य गुणोंसे प्रजाका मनोरञ्जन

१. प्राचीन प्रतिमें 'मैत्रेय उवाच'—इतना अंश नहीं है ।

राजेत्यधान्नामधेयं सोमराज इवापरः ।
सूर्यवद्विसृजन्गृह्णन्प्रतपंश्च भुवो वसु ॥५६॥
दुर्धर्षस्तेजसेवाग्निर्महेन्द्र इव दुर्जयः ।
तितिक्षया धरित्रीव द्यौरिवाभीष्टदो नृणाम् ॥५७॥
वर्षति स्म यथाकामं पर्जन्य इव तर्पयन् ।
समुद्र इव दुर्बोधः सत्त्वेनाचलराडिव ॥५८॥
धर्मराडिव शिक्षायामाश्चर्ये हिमवानिव ।
कुबेर इव कोशाढ्यो गुप्तार्थो वरुणो यथा ॥५९॥
मातरिश्वेव सर्वात्मा बलेन सहसौजसा ।
अविषह्यतया देवो भगवान्भूतराडिव ॥६०॥
कन्दर्प इव सौन्दर्ये मनस्वी मृगराडिव ।
वात्सल्ये मनुवन्नृणां प्रभुत्वे भगवानजः ॥६१॥
बृहस्पतिर्ब्रह्मवादे आत्मवत्त्वे स्वयं हरिः ।
भक्त्या गोगुरुविप्रेषु विष्वक्सेनानुवर्तिषु ।
ह्रिया प्रश्रयशीलाभ्यामात्मतुल्यः परोद्यमे ॥६२॥
कीर्त्योर्ध्वगीतया पुम्भिस्त्रैलोक्ये तत्र तत्र ह ।
प्रविष्टः कर्णरन्ध्रेषु स्त्रीणां रामः सतामिव ॥६३॥

करते रहनेके कारण दूसरे चन्द्रमाके समान 'राजा'* यह सार्थक नाम प्राप्त किया था । और वे कररूपसे प्रजाका धन लेकर उसे दुष्कालादिके समय देते हुए [ग्रीष्मकालमें जल खींचकर वर्षाकालमें उसे बरसानेवाले] सूर्यके समान अपना प्रताप फैला रहे थे ॥५३–५६॥ वे अपने तेजसे अग्निके समान अदम्य और इन्द्रके समान दुर्जय थे तथा पृथिवीके समान सहनशील और स्वर्गके समान मनुष्योंकी सम्पूर्ण कामनाओंको पूर्ण करनेवाले थे ॥ ५७ ॥ वे समय-समयपर प्रजाओंको तृप्त करते हुए मेघके समान उनके इच्छित पदार्थोंकी यथेष्ट वर्षा करते थे, तथा समुद्रके समान दुर्बोध और बलमें पर्वतराजके समान अविचल थे ॥ ५८ ॥ महाराज पृथु दुष्टोंका दमन करनेमें यमराजके समान, आश्चर्यकारी वस्तुओंमें हिमालयके समान, धनिकोंमें कुबेरके समान और गुप्त धनवानोंमें वरुणके समान थे ॥ ५९ ॥ वे शारीरिक बल, इन्द्रियोंकी पटुता और ओजमें वायुके समान थे और असह्यतामें भगवान् भूतनाथके समान थे ॥ ६० ॥ वे सौन्दर्यमें कामदेवके समान, धैर्यमें सिंहके सदृश, वात्सल्यमें मनुके समान और मनुष्योंके प्रभुत्वमें भगवान् ब्रह्माजीके सदृश थे ॥ ६१ ॥ वे ब्रह्मविचार करनेमें बृहस्पतिके समान, आत्मतत्त्वके जाननेमें साक्षात् विष्णु भगवान्के सदृश और गौ, ब्राह्मण, गुरु तथा भगवद्भक्तोंकी भक्ति, लज्जा, विनय, शील और परोपकारमें अपने ही समान थे ॥ ६२ ॥ तीनों लोकोंमें पुरुषोंद्वारा जहाँ-तहाँ उच्च स्वरसे गायी हुई अपनी कीर्तिके द्वारा वे इस प्रकार स्त्रियोंके कर्णरन्ध्रोंमें प्रवेश करते थे जैसे भगवान् राम सत्पुरुषोंके हृदयोंमें ॥ ६३ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे चतुर्थस्कन्धे
पृथुचरिते द्वाविंशतितमोऽध्यायः ॥२२॥

१. प्रा० पा०—च महौजसा । २. प्रा० पा०—हि । ३. प्राचीन प्रतिमें 'पृथुचरिते'—इतना अंश नहीं है ।

* 'यथा प्रह्लादनाच्चन्द्रो राजा प्रकृतिरञ्जनात्' अर्थात् जिस प्रकार अत्यन्त आह्लादित करनेके कारण चन्द्रमाको 'चन्द्र' कहते हैं उसी प्रकार प्रजाका मनोरञ्जन करनेके कारण शासकका नाम 'राजा' है । इनकी व्युत्पत्ति इस प्रकार है—'चन्दयति आह्लादयति इति चन्द्रः' 'रञ्जयति इति राजा ।'

तेईसवाँ अध्याय

राजा पृथुकी तपस्या और परलोकगमन ।

मैत्रेय उवाच

दृष्ट्वात्मानं प्रवयसमेकदा वैन्य आत्मवान् ।
आत्मना वर्धिताशेषस्वानुसर्गः प्रजापतिः ॥ १ ॥
जगतस्तस्थुषश्चापि वृत्तिदो धर्मभृत्सताम् ।
निष्पादितेश्वरादेशो यदर्थमिह जज्ञिवान् ॥ २ ॥
आत्मजेष्वात्मजां न्यस्य विरहाद्रुदतीमिव ।
प्रजासु विमनःस्वेकः सदारोऽगात्तपोवनम् ॥ ३ ॥
तत्राप्यदाभ्यनियमो वैखानससुसम्मते ।
आरब्ध उग्रतपसि यथा स्वविजये पुरा ॥ ४ ॥
कन्दमूलफलाहारः शुष्कपर्णाशनः क्वचित् ।
अब्भक्षः कतिचित्पक्षान्वायुभक्षस्ततः परम् ॥ ५ ॥
ग्रीष्मे पञ्चतपा वीरो वर्षास्वासारषाण्मुनिः ।
आकण्ठमग्नः शिशिर उदके स्थण्डिलेशयः ॥ ६ ॥
तितिक्षुर्यतवाग्दान्त ऊर्ध्वरेता जितानिलः ।
आरिराधयिषुः कृष्णमचरत्तप उत्तमम् ॥ ७ ॥
तेन क्रमानुसिद्धेन ध्वस्तकर्ममलाशयः ।
प्राणायामैः संनिरुद्धषड्वर्गश्छिन्नबन्धनः ॥ ८ ॥
सनत्कुमारो भगवान्यदाहाध्यात्मिकं परम् ।
योगं तेनैव पुरुषमभजत्पुरुषर्षभः ॥ ९ ॥

श्रीमैत्रेयजी बोले—हे विदुर ! इस प्रकार अन्नादि तथा पुरग्रामादि सर्गकी वृद्धिकर स्थावर-जंगम सभी प्राणियोंकी आजीविका चलानेवाले, सत्पुरुषोंके धर्मोंका आचरण करनेवाले, महामनस्वी प्रजापति पृथु, जिसके लिये उन्होंने जन्म लिया था उस ईश्वराज्ञाका पालन कर चुकनेपर, एक दिन अपनी वृद्धावस्था आयी देख, अपने विरहसे मानो रोती हुई अपनी कन्यारूप पृथिवीको पुत्रोंको सौंप सकल प्रजाको विलखती छोड़ किसी दूसरे सहायकको साथ न लेकर भार्यासहित वनको चले गये ॥ १—३ ॥ वहाँ भी वे किसी प्रकारके विघ्नोंसे न टलनेवाले नियमोंका पालन करते हुए जिस प्रकार पहले विजयमें तत्पर रहते थे उसी प्रकार वानप्रस्थाश्रमके अनुकूल उग्र तपस्या करनेमें प्रवृत्त हुए ॥ ४ ॥ वे पहले तो कन्द, मूल, फल आदिका आहार करते रहे। फिर कुछ दिन सूखे पत्ते खाये। तदनन्तर कुछ पक्षपर्यन्त केवल जल पीकर ही रहे और फिर केवल वायुपर निर्वाह करने लगे ॥ ५ ॥ वीरवर पृथु मुनिवृत्तिसे रहते हुए ग्रीष्मऋतुमें पञ्चाग्नि तपते थे, वर्षाऋतुमें खुले मैदानमें रहकर अपने शरीरपर धारा-वृष्टिका आघात सहते थे, तथा शीतकालमें कण्ठपर्यन्त जलमें डूबे रहते थे और नित्यप्रति भूमिकी वेदीपर शयन करते थे ॥ ६ ॥ इस प्रकार भगवान् कृष्णकी आराधना करनेकी इच्छासे उन्होंने शीतोष्णादि द्वन्द्व सहन करते हुए, वाणी और इन्द्रियोंका संयम कर, प्राणोंको जीत, ऊर्ध्वरेता हो बड़ी कठोर तपस्या की ॥ ७ ॥ इस प्रकार क्रमसे परिपक्व हुए उस तपके प्रभावसे उनके सब कर्मरूप मल नष्ट हो गये तथा प्राणायामके द्वारा पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और मन—इस षड्वर्गके निरुद्ध हो जानेसे उनका वासनारूप बन्धन कट गया ॥ ८ ॥ तब भगवान् सनत्कुमारने उन्हें जिस परम अध्यात्मयोगका उपदेश किया था उसीके द्वारा वे पुरुषश्रेष्ठ श्रीपुरुषोत्तम भगवान्‌की उपासना करने लगे ॥ ९ ॥

१. प्राचीन प्रतिमें पाँचवें श्लोकके उत्तरार्द्धका 'अब्भक्षः' के बादका सब अंश खण्डित है। २. प्रा० पा०—सारवान्मुनिः ।

भगवद्धर्मिणः साधोः श्रद्धया यततः सदा ।
भक्तिर्भगवति ब्रह्मण्यनन्यविषयाभवत् ॥१०॥

तस्यानया भगवतः परिकर्मशुद्ध-
सत्त्वात्मनस्तदनु संस्मरणानुपूर्त्या ।
ज्ञानं विरक्तिमदभून्निशितेन येन
चिच्छेद संशयपदं निजजीवकोशम् ॥११॥

छिन्नान्यधीरधिगतात्मगतिर्निरीह-
स्तत्तत्यजेऽच्छिनदिदं वयुनेन येन ।
तावन्न योगगतिभिर्यतिरप्रमत्तो
यावद्गदाग्रजकथासु रतिं न कुर्यात् ॥१२॥

एवं स वीरप्रवरः संयोज्यात्मानमात्मनि ।
ब्रह्मभूतो दृढं काले तत्याज स्वं कलेवरम् ॥१३॥

सम्पीड्य पायुं पार्ष्णिभ्यां वायुमुत्सारयञ्छनैः ।
नाभ्यां कोष्ठेष्ववस्थाप्य हृदुरःकण्ठशीर्षणि ॥१४॥

उत्सर्पयंस्तु तं मूर्ध्नि क्रमेणावेश्य निःस्पृहः ।
वायुं वायौ क्षितौ कायं तेजस्तेजस्ययूयुजत् ॥१५॥

खान्याकाशे द्रवं तोये यथास्थानं विभागशः ।
क्षितिमम्भसि तत्तेजस्यदो वायौ नभस्यमुम् ॥१६॥

इन्द्रियेषु मनस्तानि तन्मात्रेषु यथोद्भवम् ।

इस प्रकार श्रद्धापूर्वक भगवद्धर्मोंका पालनकर निरन्तर उपासना करते-करते साधुस्वभाव महाराज पृथुको ब्रह्मस्वरूप भगवान्‌में अनन्य भक्ति उत्पन्न हुई ॥१०॥

तब, जिनका अन्तःकरण भगवान्‌की उपासनासे शुद्ध हो गया है उन महाराज पृथुको भगवान्‌की भक्ति और निरन्तर भगवच्चिन्तनके प्रभावसे वैराग्य-सहित ज्ञान उत्पन्न हुआ; जिस तीक्ष्ण ज्ञानके प्रभावसे उन्होंने संशय-विपर्यय आदिके आश्रय जीवके उपाधि-रूप अपने अहंकारको नष्ट कर दिया ॥ ११ ॥ फिर, जिनकी देहात्मबुद्धि नष्ट हो गयी है और जिन्होंने आत्म-ज्ञानकी प्राप्ति हो जानेके कारण अपने-आप प्राप्त हुई सिद्धियोंको भी छोड़ दिया है उन महात्मा पृथुने, जिससे अपनी संशयराशिको दूर किया था उस आत्मज्ञानके प्रयत्न-को भी त्याग दिया; क्योंकि जबतक योगमार्गद्वारा साधकको भगवान्‌की कथाओंमें प्रीति नहीं होती तब-तक केवल योग-साधनासे उसका विषयासक्तिरूप प्रमाद दूर नहीं होता ॥ १२ ॥ इस प्रकार वीरश्रेष्ठ महाराज पृथुने अपना मन दृढ़तापूर्वक आत्मामें स्थिरकर ब्रह्म-भावमें स्थित हो अन्तकाल उपस्थित होनेपर अपना शरीर त्याग दिया ॥ १३ ॥ उन्होंने एँडीसे अपनी गुदाके द्वारको रोककर प्राणवायुको धीरे-धीरे ऊपरकी ओर उठाते हुए उसे क्रमशः नाभि उदर हृदय वक्षः-स्थल कण्ठ और शिरमें स्थित किया ॥ १४ ॥ फिर उसे ऊपरकी ओर ले जाते हुए क्रमशः ब्रह्मरन्ध्रमें स्थित किया और सांसारिक भोगोंसे उपरत हो प्राणवायु-को वायुमें, पार्थिव शरीरको पृथिवीमें और शरीरके तेजको तेजमें लीन कर दिया ॥ १५ ॥ फिर यथास्थान विभागपूर्वक हृदयाकाशादिको महाकाशमें और रुधिर आदि शरीरके द्रव अंशोंको जलमें लीन कर पृथिवीको जलमें, जलको अग्निमें, अग्निको वायुमें और वायुको आकाशमें लीन किया ॥ १६ ॥ तदनन्तर मनको इन्द्रियोंमें और कर्णादि इन्द्रियोंको उनके कारणरूप शब्दादि तन्मात्राओंमें लीन किया । फिर तन्मात्राओंको

१. प्राचीन प्रतिमें 'छिन्नान्यधीरधिगतात्मगतिर्निरीहस' इतना अंश खण्डित है। २. प्रा० पा०—वायु-मुत्सर्पयन् । ३. प्रा० पा०—वायौ वायुं ।

भूतादिनामून्युत्क्षिप्य महत्यात्मनि संदधे ॥१७॥
तं सर्वगुणविन्यासं जीवे मायामये न्यधात् ।
तं चानुशयमात्मस्थमसावनुशयी पुमान् ।
ज्ञानवैराग्यवीर्येण स्वरूपस्थोऽजहात्प्रभुः ॥१८॥

अहंकारके द्वारा ऊपर खींचकर अहंकारसहित उन्हें महत्तत्त्वमें स्थापित कर दिया ॥ १७ ॥ तत्पश्चात् सम्पूर्ण गुणोंकी अभिव्यक्ति करनेवाले उस महत्तत्त्वको मायोपाधिक जीवमें स्थित किया । फिर ज्ञान और वैराग्यके प्रभावसे अपने स्वरूपमें स्थित हो परमसमर्थ महाराज पृथुने अपने अन्तःकरणमें स्थित उस उपाधिको भी त्याग दिया, जिसके कारण कि वे पहले मानो सोपाधिक जीवभावको प्राप्त थे ॥ १८ ॥

अर्चिर्नाम महाराज्ञी तत्पत्न्यनुगता वनम् ।
सुकुमार्यतदर्हा च यत्पद्भ्यां स्पर्शनं भुवः ॥१९॥
अतीव भर्तुर्व्रतधर्मनिष्ठया
शुश्रूषया चारुषदेहयात्रया ।
नाविन्दतार्तिं परिकर्शितापि सा
प्रेयस्करस्पर्शनमाननिर्वृतिः ॥२०॥
देहं विपन्नाखिलचेतनादिकं
पत्युः पृथिव्या दयितस्य चात्मनः ।
आलक्ष्य किञ्चिच्च विलप्य सा सती
चितामथारोपयदद्रिसानुनि ॥२१॥
विधाय कृत्यं हृदिनीजलाप्लुता
दत्त्वोदकं भर्तुरुदारकर्मणः ।
नत्वा दिविस्थांस्त्रिदशांस्त्रिः परीत्य
विवेश वह्निं ध्यायती भर्तृपादौ ॥२२॥
विलोक्यानुगतां साध्वीं पृथुं वीरवरं पतिम् ।
तुष्टुवुर्वरदा देवैर्देवपत्न्यः सहस्रशः ॥२३॥
कुर्वत्यः कुसुमासारं तस्मिन्मन्दरसानुनि ।
नदत्स्वमरतूर्येषु गृणन्ति स्म परस्परम् ॥२४॥

राजा पृथुकी पत्नी महारानी अर्चि भी, जो परम सुकुमारी थी और पृथिवीपर पैर भी रखने योग्य न थी, उनके साथ वनको गयी थी ॥ १९ ॥ वह पतिके कठोर व्रत-पालनमें उनकी सेवा-शुश्रूषा करते हुए ऋषि-वृत्ति (कन्द-मूलादि) से अपनी देहयात्रा निर्वाह करनेके कारण बहुत दुर्बल हो गयी थी । फिर भी प्रियतमके करस्पर्शसे सम्मानित हो उसीमें आनन्द माननेके कारण उसने किसी प्रकारके दुःखका अनुभव नहीं किया ॥ २० ॥ इसी समय पृथिवीके स्वामी और अपने प्रियतम महाराज पृथुके शरीरके चेतना आदि सम्पूर्ण धर्मोंको नष्ट हुआ देख उस सतीने कुछ विलाप कर पर्वतके ऊपर एक चिता बनायी और उसपर वह शरीर रक्खा ॥ २१ ॥ फिर नदीके जलमें स्नानकर परम पराक्रमी पतिको जलाञ्जलि दे सती होनेके समयके सब कृत्य पूर्णकर आकाशस्थित देवताओंकी वन्दना की और तीन बार चिताकी परिक्रमा कर पतिके चरणोंका ध्यान करती हुई अग्निमें प्रविष्ट हो गयी ॥ २२ ॥ परम साध्वी अर्चिको अपने पति वीरवर पृथुका इस प्रकार अनुगमन करते देख वर देनेमें समर्थ सहस्रों देवांगनाएँ देवताओंके सहित उनकी स्तुति करने लगीं ॥ २३ ॥ फिर उनके स्वर्गारोहणके समय उस मन्दराचलके शिखरपर पुष्पोंकी वर्षा करती हुई वे देवांगनाएँ देवताओंके तूर्यघोषके साथ परस्पर इस प्रकार कहने लगीं ॥ २४ ॥

देव्य ऊचुः
अहो इयं वधूर्धन्या या चैवं भूभुजां पतिम् ।
सर्वात्मना पतिं भेजे यज्ञेशं श्रीर्वधूरिव ॥२५॥

देवियाँ बोलीं—अहो ! यह स्त्री धन्य है; जिसने, लक्ष्मीजी जैसे विष्णु भगवान्‌की सेवा करती हैं उसी प्रकार अपने पति राजराजेश्वर पृथुकी तन-मनसे सेवा की है ॥२५॥

१. प्रा० पा०—व्यधात् । २. प्रा० पा०—कर्षितदेह० । ३. प्रा० पा०—जलप्लुता । ४. प्रा० पा०—कृत्वोदकं । ५. प्रा० पा०—पादम् ।

सैषा नूनं व्रजत्यूर्ध्वमनु वैन्यं पतिं सती ।
पश्यतास्मानतीत्यार्चिर्दुर्विभाव्येन कर्मणा ॥२६॥
तेषां दुरापं किं त्वन्यन्मर्त्यानां भगवत्पदम् ।
भुवि लोलायुषो ये वै नैष्कर्म्यं साधयन्त्युत ॥२७॥
स वञ्चितो बतात्मघ्रुक् कृच्छ्रेण महता भुवि ।
लब्ध्वापवर्ग्यं मानुष्यं विषयेषु विषज्जते ॥२८॥

देखो, यह सती अर्चि अपने अचिन्त्य कर्मके प्रभावसे हमें निश्चय ही लाँघकर, अपने पति पृथुके साथ अति उच्च लोकको जा रही है ॥ २६ ॥ अल्पायु होनेपर भी जो भगवान्‌की प्राप्ति करा देनेवाले आत्मज्ञानको प्राप्त कर लेते हैं उन मनुष्योंके लिये संसारमें और कौन पदार्थ दुर्लभ है ? ॥ २७ ॥ अतः जो मनुष्य अपने पूर्वपुण्योंके प्रभावसे मोक्षके साधनरूप नरदेहको बड़ी कठिनतासे पाकर भी विषयोंमें आसक्त होता है वह आत्मघाती निश्चय ही [भगवान्‌की मायासे] ठगा गया है ॥ २८ ॥

मैत्रेय उवाच

स्तुवतीष्वमरस्त्रीषु पतिलोकं गता वधूः ।
यं वा आत्मविदां धुर्यो वैन्यः प्रापाच्युताश्रयः[1] ॥२९॥
इत्थंभूतानुभावोऽसौ[3] पृथुः स भगवत्तमः[4] ।
कीर्तितं तस्य चरितमुद्दामचरितस्य[5] ते ॥३०॥
य इदं सुमहत्पुण्यं श्रद्धयावहितः पठेत् ।
श्रावयेच्छृणुयाद्वापि स पृथोः पदवीमियात् ॥३१॥
ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चस्वी राजन्यो जगतीपतिः ।
वैश्यः पठन्निधिपतिः स्याच्छूद्रः सत्तमतामियात्[6] ॥३२॥
त्रिः कृत्वा इदमाकर्ण्य नरो नार्यथवादृता ।
अप्रजः सुप्रजतमो निर्धनो धनवत्तमः ॥३३॥
अस्पष्टकीर्तिः सुयशा मूर्खो भवति पण्डितः ।
इदं स्वस्त्ययनं पुंसाममङ्गल्यनिवारणम् ॥३४॥
धन्यं यशस्यमायुष्यं स्वर्ग्यं कलिमलापहम् ।
धर्मार्थकाममोक्षाणां सम्यक्सिद्धिमभीप्सुभिः ।

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—हे विदुर ! देवपत्नियोंके इस प्रकार स्तुति करते समय महारानी अर्चि, जिस लोकको आत्मज्ञानियोंमें श्रेष्ठ भगवत्प्राण पृथुजी गये थे उस पतिलोकको ही प्राप्त हुई ॥ २९ ॥ हे विदुर ! परम पराक्रमी पृथु ऐसे ही प्रभावशाली थे । मैंने तुम्हें उन उदारचरित पृथुजीका यह सब चरित सुना दिया ॥ ३० ॥ जो पुरुष इस परमपवित्र चरित्रको श्रद्धापूर्वक एकाग्र चित्तसे पढ़ता, सुनता या सुनाता है वह महाराज पृथुके पद (वैकुण्ठधाम) को प्राप्त होता है ॥ ३१ ॥ इसका पाठ करनेसे ब्राह्मण ब्रह्मतेज प्राप्त करता है, क्षत्रिय पृथिवीपति होता है, वैश्य व्यापारियोंमें प्रधान हो जाता है और शूद्र साधुता लाभ करता है ॥ ३२ ॥ स्त्री हो अथवा पुरुष, जो इसे आदरपूर्वक तीन बार सुनता है वह सन्तानहीन हो तो पुत्रवान् हो जाता है और धनहीन हो तो महाधनवान् हो जाता है ॥ ३३ ॥ जिसकी कीर्ति प्रकट नहीं होती वह यशस्वी हो जाता है और मूर्ख पण्डित हो जाता है । यह चरित्र पुरुषोंका कल्याण करनेवाला और सब प्रकारके अमंगलको दूर करनेवाला है ॥३४॥ यह धन, यश और आयुकी वृद्धि करनेवाला, स्वर्गकी प्राप्ति करानेवाला और कलियुगके दोषोंको दूर करनेवाला है । यह धर्मादि चतुर्वर्गकी प्राप्तिका कारण है । इसलिये जो लोग धर्म, अर्थ, काम और मोक्षको भलो-

१. प्रा० पा०—यो वा । २. प्रा० पा०—ताश्रयः । ३. प्रा० पा०—वभावो । ४. प्रा० पा०—सोऽभवदुत्तमः । ५. प्राचीन प्रतिमें 'मुद्दामचरित'—इतना अंश खण्डित है । ६. प्रा० पा० —च्छूद्र उत्तमता ।

श्रद्धयैतदनुश्राव्यं चतुर्णां कारणं परम् ॥३५॥
विजयाभिमुखो राजा श्रुत्वैतदभियाति यान् ।
बलिं तस्मै हरन्त्यग्रे राजानः पृथवे यथा ॥३६॥
मुक्तान्यसङ्गो भगवत्यमलां भक्तिमुद्वहन् ।
वैन्यस्य चरितं पुण्यं शृणुयाच्छ्रावयेत्पठेत् ॥३७॥
वैचित्रवीर्याभिहितं महन्माहात्म्यसूचकम् ।
अस्मिन्कृतमतिर्मर्त्यः पार्थवीं गतिमाप्नुयात् ॥३८॥
अनुदिनमिदमादरेण शृण्वन्
पृथुचरितं प्रथयन्विमुक्तसङ्गः ।
भगवति भवसिन्धुपोतपादे
स च निपुणां लभते रतिं मनुष्यः ॥३९॥

प्रकार सिद्ध करना चाहें उन्हें इसे श्रद्धापूर्वक श्रवण करना चाहिये ॥ ३५ ॥ जो राजा विजयप्राप्तिके लिये जाते समय इसे सुनकर जाता है उसे राजा लोग जैसे पृथुको भेंट देते थे उसी प्रकार पहलेसे ही भेंटें समर्पण करते हैं ॥ ३६ ॥ मनुष्यको चाहिये कि अन्य सब संगोंको छोड़कर भगवान्‌में निर्मल भक्तिभाव रखते हुए ही महाराज पृथुके इस पवित्र चरित्रको सुने, सुनावे और पढ़े ॥ ३७ ॥ हे विचित्रवीर्यनन्दन विदुरजी ! भगवान्‌के माहात्म्यको प्रकट करनेवाला यह राजा पृथुका चरित्र मैंने तुमसे वर्णन किया । इसमें प्रेम करनेवाला मनुष्य महाराज पृथुके पदको प्राप्त हो जाता है ॥३८॥ सब प्रकारकी आसक्तिसे रहित होकर इस पृथुचरित्रका नित्यप्रति आदरपूर्वक श्रवण और अनुष्ठान करनेसे मनुष्य जिनके चरण संसारसागरसे पार होनेके लिये नौकाके समान हैं उन भगवान्‌में सुदृढ़ प्रेम प्राप्त करता है ॥ ३९ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे चतुर्थस्कन्धे
त्रयोविंशोऽध्यायः[1] ॥२३॥

चौबीसवाँ अध्याय

रुद्रगीत ।

मैत्रेय उवाच

विजिताश्वोऽधिराजासीत्पृथुपुत्रः पृथुश्रवाः ।
यवीयोभ्योऽददात्काष्ठा भ्रातृभ्यो भ्रातृवत्सलः ॥ १ ॥
हर्यक्षायादिशत्प्राचीं धूम्रकेशाय दक्षिणाम् ।
प्रतीचीं वृकसंज्ञाय तुर्यां द्रविणसे विभुः ॥ २ ॥
अन्तर्धानगतिं शक्राल्लब्ध्वान्तर्धानसंज्ञितः ।
अपत्यत्रयमाधत्त शिखण्डिन्यां सुसंमतम् ॥ ३ ॥
पावकः पवमानश्च शुचिरित्यग्नयः पुरा ।

श्रीमैत्रेयजी बोले—हे विदुर ! पृथुके पश्चात् उनका पुत्र परम यशस्वी विजिताश्व राजा हुआ । वह बड़ा भ्रातृवत्सल था । इसलिये उसने अपने छोटे भाइयोंको भिन्न-भिन्न दिशाओंका अधिकार सौंप दिया ॥१॥ हर्यक्षको पूर्व दिशाका अधिकार दिया, धूम्रकेशको दक्षिण दिशा सौंपी, वृक नामक भाईको पश्चिम दिशा दी और द्रविणको चौथी (उत्तर) दिशाका राज्य दिया ॥२॥ राजा विजिताश्वने इन्द्रसे अन्तर्धान होनेकी शक्ति प्राप्त की थी । इसलिये उसका नाम 'अन्तर्धान' पड़ा । उसने अपनी स्त्री शिखण्डिनीसे तीन लोकप्रिय पुत्र उत्पन्न किये ॥३॥ उनके नाम पावक, पवमान और शुचि थे । वे आहवनीयादि तीन अग्नि ही पूर्वकाल-

१. प्रा० पा०—विंशतितमो ।

वसिष्ठशापादुत्पन्नाः पुनर्योगगतिं गताः ॥ ४ ॥
अन्तर्धानो नभस्वत्यां हविर्धानमविन्दत ।
य इन्द्रमश्वहन्तारं विद्वानपि न जघ्निवान् ॥ ५ ॥
राज्ञां वृत्तिं करादानदण्डशुल्कादिदारुणाम् ।
मन्यमानो दीर्घसत्रव्याजेन विससर्ज ह ॥ ६ ॥
तत्रापि हंसं पुरुषं परमात्मानमात्मदृक् ।
यजंस्तल्लोकतामाप कुशलेन समाधिना ॥ ७ ॥
हविर्धानाद्धविर्धानी विदुरासूत षट् सुतान् ।
बर्हिषदं गयं शुक्लं कृष्णं सत्यं जितव्रतम् ॥ ८ ॥
बर्हिषत्सुमहाभागो हाविर्धानिः प्रजापतिः ।
क्रियाकाण्डेषु निष्णातो योगेषु च कुरूद्वह ॥ ९ ॥
यस्येदं देवयजनमनु यज्ञं वितन्वतः ।
प्राचीनाग्रैः कुशैरासीदास्तृतं वसुधातलम् ॥ १० ॥

में वसिष्ठजीका शाप होनेसे उत्पन्न हुए थे। पीछे योगमार्गद्वारा वे फिर अग्निरूप हो गये ॥४॥ तत्पश्चात् जिसने इन्द्रको अश्वका हरण करनेवाला जानकर भी उसका वध नहीं किया उस अन्तर्धानने नभस्वती नामकी भार्यासे हविर्धान नामक पुत्र उत्पन्न किया ॥५॥ अन्तर्धानने कर लेना, दण्ड देना और धन आदि ग्रहण करनारूप राजाओंकी वृत्तिको अति कठोर समझकर एक दीर्घकालीन यज्ञके बहाने अपना राजकार्य छोड़ दिया ॥ ६ ॥ और वहाँ यज्ञपुरुष परमात्माका अनेक प्रकारकी सामग्रियोंसे पूजन करते हुए उस आत्मदर्शीने सुदृढ़ समाधिके द्वारा भगवान्‌का वैकुण्ठधाम प्राप्त किया ॥७॥

हे विदुर ! हविर्धानसे उसकी स्त्री हविर्धानीने बर्हिषद्, गय, शुक्ल, कृष्ण, सत्य और जितव्रत नामक छः पुत्र उत्पन्न किये ॥८॥ हे विदुर ! उनमेंसे हविर्धानका प्रथम पुत्र महाभाग बर्हिषद् प्रजापति यज्ञादि कर्मकाण्डमें और योगाभ्यासमें कुशल था ॥९॥ उसके एकके पीछे एक, निरन्तर यज्ञ करते रहनेके कारण यह सम्पूर्ण पृथ्वी पूर्वकी ओर अग्रभाग करके फैलाये हुए कुशाओंसे आच्छादित हो गयी थी। [इसीलिये वह प्राचीनबर्हिष् नामसे विख्यात हुआ] ॥१०॥

सामुद्रीं देवदेवोक्तामुपयेमे शतद्रुतिम् ।
यां वीक्ष्य चारुसर्वाङ्गीं किशोरीं सुष्ठ्वलङ्कृताम् ।
परिक्रमन्तीमुद्वाहे चकमेऽग्निः शुकीमिव ॥ ११ ॥
विबुधासुरगन्धर्वमुनिसिद्धनरोरगाः ।
विजिताः सूर्यया दिक्षु क्वणयन्त्यैव नूपुरैः ॥ १२ ॥

राजा प्राचीनबर्हिने देवदेव ब्रह्माजीके कहनेसे समुद्रकी कन्या शतद्रुतिसे विवाह किया था। उस सर्वांगसुन्दरी मनोहरभूषणभूषिता किशोर अवस्थावाली कुमारीको पाणिग्रहणके समय प्रदक्षिणा करती देख अग्निने जिस प्रकार पूर्वकालमें सप्तर्षियोंकी भार्या शुकीकी* कामना की थी उसी प्रकार इसकी भी इच्छा की ॥११॥ नवविवाहिता शतद्रुतिने अपने नूपुरोंकी मञ्जुल झनकारसे सम्पूर्ण दिशाओंके देवता, असुर, गन्धर्व, मुनि, सिद्ध, मनुष्य और नाग आदिको अपने वशीभूत कर लिया था ॥ १२ ॥

* पूर्वकालमें सप्तर्षियोंके यज्ञमें उनकी भार्या शुकीको देखकर अग्निदेव कामातुर हो गये। तब उनके मनका भाव जानकर उनकी पत्नी स्वाहाने शुकीका रूप धारणकर अग्निके साथ रमण किया, फिर अग्निके वीर्यको सरकण्डोंकी झाड़ीमें रखकर आप अपने स्वाहारूपसे पुनः अग्निके पास आयी। इस प्रकार उसने अपने पतिको अनीतिमें प्रवृत्त होनेसे बचाया।

प्राचीनबर्हिषः पुत्राः शतद्रुत्यां दशाभवन् ।
तुल्यनामव्रताः सर्वे धर्मस्नाताः प्रचेतसः ॥१३॥
पित्रादिष्टाः प्रजासर्गे तपसेऽर्णवमाविशन् ।
दशवर्षसहस्राणि[1] तपसार्चंस्तपस्पतिम् ॥१४॥
यदुक्तं पथि दृष्टेन गिरिशेन प्रसीदता ।
तद्ध्यायन्तो जपन्तश्च पूजयन्तश्च संयताः ॥१५॥

उस शतद्रुतिसे प्राचीनबर्हिके प्रचेता नामक दश पुत्र हुए । वे सब एक-से नाम तथा गुणवाले और धर्ममें पारगामी थे ॥१३॥ जब पिता प्राचीनबर्हिने उन्हें प्रजा उत्पन्न करनेकी आज्ञा दी तो उन्होंने तपस्या करनेके लिये समुद्रमें प्रवेश किया । और दश सहस्र वर्षतक तपस्या करते हुए तपका फल देनेवाले श्रीविष्णु भगवान्‌की आराधना करते रहे ॥१४॥ तपस्या करनेके लिये जाते समय उनसे प्रसन्न हुए श्रीमहादेवजीने उन्हें मार्गमें जिस साधनका उपदेश दिया था उसीके अनुसार एकाग्रतापूर्वक ध्यान, जप और पूजा करते हुए वे भगवान्‌की आराधना करने लगे ॥१५॥

विदुर उवाच

प्रचेतसां गिरित्रेण यथासीत्पथि संगमः ।
यदुताह हरः प्रीतस्तन्नो ब्रह्मन्वदार्थवत् ॥१६॥
संगमः खलु विप्रर्षे शिवेनेह शरीरिणाम् ।
दुर्लभो मुनयो दध्युरसङ्गाद्यमभीप्सितम् ॥१७॥
आत्मारामोऽपि यस्त्वस्य लोककल्पस्य राधसे ।
शक्त्या युक्तो विचरति घोरया भगवान्भवः ॥१८॥

विदुरजी बोले—हे ब्रह्मन् ! प्रचेताओंका श्रीमहादेवजीके साथ मार्गमें किस प्रकार समागम हुआ ? और उनसे प्रसन्न हुए भगवान् शंकरने उन्हें किस सारयुक्त साधनका उपदेश दिया ? सो आप मुझसे कहिये ॥१६॥ हे ब्रह्मर्षे ! जिन्हें प्राप्त करनेकी इच्छासे मुनिगण आसक्तिरहित होकर निरन्तर ध्यान करते हैं उन शिवजीके साथ समागम होना तो देहधारियोंके लिये अत्यन्त कठिन है ॥१७॥ वे भगवान् शंकर आत्माराम होकर भी इस लोकरचनाकी रक्षाके लिये अपनी भयंकर शक्तिके साथ सर्वत्र विचरते हैं ॥१८॥

मैत्रेय उवाच

प्रचेतसः पितुर्वाक्यं शिरसादाय साधवः ।
दिशं प्रतीचीं प्रययुस्तपस्याहतचेतसः ॥१९॥
समुद्रमुपविस्तीर्णमपश्यन्सुमहत्सरः ।
महन्मन इव स्वच्छं प्रसन्नसलिलाशयम् ॥२०॥
नीलरक्तोत्पलाम्भोजकह्लारेन्दीवराकरम् ।
हंससारसचक्राह्वकारण्डवनिकूजितम्[3] ॥२१॥

श्रीमैत्रेयजी बोले—हे विदुर ! साधुस्वभाव प्रचेतागण अपने पिताकी आज्ञा शिरपर धारणकर तपस्यामें चित्त लगा पश्चिम दिशाको गये ॥१९॥ चलते-चलते उन्होंने समुद्रके पास एक अत्यन्त विस्तृत महासरोवर देखा जिसका जल महापुरुषोंके चित्तके समान स्वच्छ था और जिसमें रहनेवाले मत्स्य आदि जल-जीव प्रसन्न थे ॥२०॥ वह सरोवर नीलकमल, रक्तकमल, उत्पल[1], अम्भोज[2], कह्लार[3] और इन्दीवर[4] आदि अनेक प्रकारके कमलोंका उत्पत्तिस्थान था तथा उसपर हंस, सारस, चकवा और कारण्डव आदि पक्षीगण चहचहा रहे थे ॥ २१ ॥

१. प्रा० पा०—बद्धस्नेहाः । २. प्राचीन प्रतिमें 'दशवर्षसहस्राणि···' से लेकर सत्रहवें श्लोककी समाप्तितक पूरा मैटर मूलमें नहीं है । ३. प्रा० पा०—क्राक्षका० ।

१. रात्रिके समय खिलनेवाले कमल । २. दिनमें खिलनेवाले कमल । ३. सायंकालको खिलनेवाले कमल । ४. नीलकमल । नीलकमलोंकी बहुलता दिखानेके लिये उनका दो बार निर्देश किया गया है ।

मत्तभ्रमरसौस्वर्यहृष्टरोमलताङ्घ्रिपम् ।
पद्मकोशरजो दिक्षु विक्षिपत्पवनोत्सवम् ॥२२॥
तत्र गान्धर्वमाकर्ण्य दिव्यमार्गमनोहरम् ।
विसिस्म्यु राजपुत्रास्ते मृदङ्गपणवाद्यनु ॥२३॥
तर्ह्येव सरसस्तस्मान्निष्क्रामन्तं सहानुगम् ।
उपगीयमानममरप्रवरं विबुधानुगैः ॥२४॥
तप्तहेमनिकायाभं शितिकण्ठं त्रिलोचनम् ।
प्रसादसुमुखं वीक्ष्य प्रणेमुर्जातकौतुकाः ॥२५॥
स तान्प्रपन्नार्तिहरो भगवान्धर्मवत्सलः ।
धर्मज्ञान् शीलसम्पन्नान्प्रीतः प्रीतानुवाच ह ॥२६॥

श्रीरुद्र उवाच

यूयं वेदिषदः[1] पुत्रा विदितं वश्चिकीर्षितम् ।
अनुग्रहाय भद्रं व एवं मे दर्शनं कृतम् ॥२७॥
यः परं रंहसः साक्षात्त्रिगुणाज्जीवसंज्ञितात् ।
भगवन्तं वासुदेवं प्रपन्नः स प्रियो हि मे ॥२८॥
स्वधर्मनिष्ठः शतजन्मभिः पुमान्
विरिञ्चतामेति ततः परं हि माम् ।
अव्याकृतं[2] भागवतोऽथ[3] वैष्णवं
पदं यथाहं विबुधाः कलात्यये ॥२९॥
अथ भागवता यूयं प्रियाः स्थ भगवान्यथा ।
न मद्भागवतानां च प्रेयानन्योऽस्ति कर्हिचित् ॥३०॥
इदं विविक्तं जप्तव्यं पवित्रं मङ्गलं परम् ।
निःश्रेयसकरं चापि श्रूयतां तद्वदामि वः ॥३१॥

जिनके लतारूप रोम मत्तमधुकरोंके मधुर गुञ्जारवसे हर्षित हो रहे थे ऐसे वृक्षोंसे वह सरोवर घिरा हुआ था तथा कमलके मध्य भागमें स्थित परागको इधर-उधर फैलानेवाले वायुने मानो वहाँ एक अद्भुत उत्सव रचा रखा था ॥२२॥ वहाँ मृदंग और पणव आदि बाजोंके साथ अनेकों दिव्य राग-रागिनियोंसे युक्त अति मनोहर गान सुनकर वे राजपुत्र बड़े विस्मित हुए ॥२३॥ इसी समय, जिनका वर्ण तपायी हुई सुवर्ण-राशिके समान कान्तिमान् है तथा जो भक्तोंपर अनुग्रह करनेके लिये उद्यत हैं और देवानुचर गन्धर्वगण जिनके सुयशका गान कर रहे हैं उन नीलकण्ठ त्रिनयन देवश्रेष्ठ भगवान् शंकरको अपने गणोंके सहित उस सरोवरसे बाहर आते देख उन राजपुत्रोंने उन्हें कुतूहलपूर्वक प्रणाम किया ॥२४-२५॥ तब शरणागतोंका दुःख दूर करनेवाले धर्मप्रेमी भगवान् शंकरने, अपने दर्शनसे प्रसन्न हुए उन धर्मज्ञ और शीलसम्पन्न प्रचेताओंसे प्रसन्नतापूर्वक इस प्रकार कहा—॥२६॥

श्रीमहादेवजी बोले—तुम बर्हिषद्के पुत्र हो; तुम्हारा कल्याण हो। तुम जो कुछ करना चाहते हो वह मुझे विदित है। इस समय तुमपर कृपा करनेके लिये ही मैंने तुम्हें इस प्रकार दर्शन दिया है ॥२७॥ क्योंकि जो पुरुष सूक्ष्म और त्रिगुणमय प्रधान तथा जीव नामक पुरुषसे अतीत साक्षात् श्रीवासुदेव भगवान्की शरणमें जाता है वह मुझे परम प्रिय होता है ॥२८॥ जो पुरुष अपने धर्ममें तत्पर रहता है वह सौ जन्मके अनन्तर ब्रह्मारूप हो जाता है, तत्पश्चात् वह मुझे प्राप्त होता है और फिर वह भगवद्भक्त, भगवान् विष्णुके अनिर्वचनीय पदको प्राप्त होता है जिस प्रकार अधिकार समाप्त होनेपर देवताओंके सहित मैं प्राप्त होता हूँ ॥२९॥ तुम लोग बड़े भगवद्भक्त हो; इसलिये मुझे भगवान्के समान ही प्यारे हो। इसी प्रकार भगवान्के भक्तोंका भी मुझसे अधिक प्रिय और कोई नहीं है ॥३०॥ अतः सुनो, मैं तुम्हें यह परम पवित्र अत्यन्त मङ्गलमय और कल्याणकारी स्तोत्र सुनाता हूँ। तुम इसका स्पष्ट उच्चारण करते हुए जप करना ॥३१॥

१. प्रा० पा०—बर्हिषदः। २. प्रा० पा०—अव्याहतं। ३. प्रा० पा०—वतं सवैष्णवं। ४. प्रा० पा०—यद्व०।

मैत्रेय[1] उवाच

इत्यनुक्रोशहृदयो भगवानाह ताञ्छिवः ।
बद्धाञ्जलीन्राजपुत्रान्नारायणपरो वचः ॥३२॥

श्रीरुद्र उवाच

जितं त आत्मविद्धुर्यस्वस्तये स्वस्तिरस्तु मे ।
भवता राधसा राद्धं सर्वस्मा आत्मने नमः ॥३३॥
नमः पङ्कजनाभाय भूतसूक्ष्मेन्द्रियात्मने ।
वासुदेवाय शान्ताय कूटस्थाय स्वरोचिषे ॥३४॥
संकर्षणाय सूक्ष्माय दुरन्तायान्तकाय च ।
नमो विश्वप्रबोधाय प्रद्युम्नायान्तरात्मने ॥३५॥
नमो[2] नमोऽनिरुद्धाय हृषीकेशेन्द्रियात्मने ।
नमः परमहंसाय पूर्णाय निभृतात्मने ॥३६॥
स्वर्गापवर्गद्वाराय नित्यं शुचिषदे नमः ।
नमो हिरण्यवीर्याय[3] चातुर्होत्राय तन्तवे ॥३७॥
नम ऊर्ज इषे त्र्यायाः पतये यज्ञरेतसे ।
तृप्तिदाय च जीवानां नमः सर्वरसात्मने ॥३८॥
सर्वसत्त्वात्मदेहाय विशेषाय स्थवीयसे ।
नमस्त्रैलोक्यपालाय सहओजोबलाय च ॥३९॥
अर्थलिङ्गाय नभसे नमोऽन्तर्बहिरात्मने ।
नमः पुण्याय लोकाय अमुष्मै भूरिवर्चसे ॥४०॥

श्रीमैत्रेयजी बोले—इस प्रकार जिनका अन्तःकरण अत्यन्त करुणापूर्ण है उन नारायणपरायण भगवान् शंकरने सामने हाथ जोड़े खड़े हुए उन राजपुत्रोंसे कहा ॥३२॥

श्रीमहादेवजी बोले—हे प्रभो ! आपका उत्कर्ष आत्मज्ञानियोंमें श्रेष्ठ भक्तजनोंके कल्याणके लिये है अतः मेरा भी कल्याण हो । आप अपने ही परमानन्द-स्वरूपमें स्थित हैं; ऐसे सर्वरूप आपको नमस्कार है ॥३३॥ भूतसूक्ष्म और इन्द्रियोंके नियन्ता (चित्तके अधिष्ठाता), शान्त, कूटस्थ, स्वयंप्रकाश और कमलनाभ भगवान् वासुदेवको नमस्कार है ॥३४॥ अत्यन्त सूक्ष्म, अनन्त और सम्पूर्ण लोकोंका संहार करनेवाले अहंकारके अधिष्ठाता आप भगवान् संकर्षण-को प्रणाम है । जिनसे जगत्को बोध होता है उन बुद्धिके अधिष्ठाता प्रद्युम्नरूप आपको नमस्कार है ॥३५॥ तथा मन और इन्द्रियोंके अधिष्ठाता इन्द्रियरूप आप भगवान् अनिरुद्धजीको नमस्कार है । अपने तेजसे जगत्-को व्याप्त करनेवाले तथा वृद्धि और क्षयसे रहित स्वरूप-वाले सूर्यरूप आपको नमस्कार है ॥३६॥ स्वर्ग और मोक्ष-के द्वार, निरन्तर पवित्र हृदयमें रहनेवाले तथा सुवर्ण-रूप वीर्यसे युक्त और चातुर्होत्र कर्मका विस्तार करने-वाले आप अग्निदेवको नमस्कार है ॥३७॥ पितर और देवताओंके अन्नरूप तथा सोमरूप आपको नमस्कार है । इस प्रकार सूर्य, अग्नि और सोमरूपसे तीनों वेदोंके अधिष्ठाता आप श्रीहरिको प्रणाम है । तथा सम्पूर्ण प्राणियोंको तृप्त करनेवाले सर्वरस (जल) रूप आपको नमस्कार है ॥३८॥ सम्पूर्ण प्राणियोंके देह तथा पृथिवीरूप और विराट्स्वरूप आपको नमस्कार है तथा मन, इन्द्रिय और शरीरसम्बन्धिनी शक्तियोंसे युक्त त्रिलोकीकी रक्षा करनेवाले वायुरूप आपको नमस्कार है ॥३९॥ अपने गुण शब्दके द्वारा सम्पूर्ण पदार्थोंका ज्ञान करानेवाले तथा सब वस्तुओंके बाहर-भीतर रहनेवाले आकाशरूप आपको नमस्कार है तथा पुण्योंके द्वारा प्राप्त होनेवाले परम तेजोमय स्वर्ग-वैकुण्ठादि लोकरूप आपको नमस्कार है ॥४०॥

१. प्राचीन प्रतिमें 'मैत्रेय उवाच' से लेकर 'श्रीरुद्र उवाच' तक सम्पूर्ण मैटर मूलमें नहीं है । २. प्रा० पा०—नमोऽस्तु तेऽनि० । ३. प्रा० पा०—बीजाय ।

प्रवृत्ताय निवृत्ताय पितृदेवाय कर्मणे ।
नमो धर्मविपाकाय मृत्यवे दुःखदाय च ॥४१॥
नमस्त आशिषामीश मनवे कारणात्मने ।
नमो धर्माय बृहते कृष्णायाकुण्ठमेधसे ।
पुरुषाय पुराणाय सांख्ययोगेश्वराय च ॥४२॥
शक्तित्रयसमेताय मीढुषेऽहंकृतात्मने ।
चेतआकूतिरूपाय नमो वाचोविभूतये ॥४३॥
दर्शनं नो दिदृक्षूणां देहि भागवतार्चितम् ।
रूपं प्रियतमं स्वानां सर्वेन्द्रियगुणाञ्जनम् ॥४४॥
स्निग्धप्रावृड्घनश्यामं सर्वसौन्दर्यसंग्रहम् ।
चार्वायतचतुर्बाहुं सुजातरुचिराननम् ॥४५॥
पद्मकोशपलाशाक्षं सुन्दरभ्रु सुनासिकम् ।
सुद्विजं सुकपोलास्यं समकर्णविभूषणम् ॥४६॥
प्रीतिप्रहसितापाङ्गमलकैरुपशोभितम् ।
लसत्पङ्कजकिञ्जल्कदुकूलं मृष्टकुण्डलम् ॥४७॥
स्फुरत्किरीटवलयहारनूपुरमेखलम् ।
शङ्खचक्रगदापद्ममालामण्युत्तमर्द्धिमत् ॥४८॥
सिंहस्कन्धत्विषो बिभ्रत्सौभगग्रीवकौस्तुभम् ।
श्रियानपायिन्याक्षिप्तनिकषाश्मोरसोल्लसत् ॥४९॥
पूररेचकसंविग्नवलिवल्गुदलोदरम् ।

पितृलोककी प्राप्ति करानेवाले प्रवृत्ति-कर्मरूप, देवलोककी प्राप्तिके साधन निवृत्ति-कर्मरूप और अधर्मका फल देनेवाले दुःखदायक मृत्युरूप आपको नमस्कार है ॥४१॥ हे ईश ! इच्छित फलोंके देनेवाले, सर्वज्ञ, परमधर्ममूर्ति, अकुण्ठितबुद्धि, पुराण-पुरुष तथा सांख्य और योगके अधीश्वर आप भगवान् कृष्णको नमस्कार है ॥४२॥ कर्ता, करण और कर्म इन तीन शक्तियोंसे युक्त अहंकारके अधिष्ठाता भगवान् रुद्रको नमस्कार है तथा जिनसे परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी वाणीकी अभिव्यक्ति होती है उन आपको प्रणाम है एवं ज्ञान और क्रियारूप आप भगवान्को नमस्कार है ॥४३॥

हे प्रभो ! हमें आपके दर्शनोंकी अभिलाषा है, अतः आप हमें भक्तोंसे पूजित और उनका अत्यन्त प्रिय अपना रूप दिखाइये, जो अपने गुणोंसे सम्पूर्ण इन्द्रियोंको तृप्त करनेवाला है; जो वर्षाऋतुके मनोहर मेघके समान श्यामवर्ण, सम्पूर्ण सौन्दर्यका संग्रहरूप, चार सुन्दर और विशाल भुजाओंसे युक्त और अति सुघड़ मनोहर मुखारविन्दसे युक्त है ॥४४-४५॥ जिसमें कमलकोशकी पंखड़ियोंके समान विशाल नयन, सुन्दर भृकुटि और नासिका, परम शोभायमान दन्तावली, सुन्दर कपोलोंसे युक्त मनोहर मुखारविन्द और शोभाशाली समान कर्णपुट हैं ॥४६॥ जो प्रेममयी मुसकान और मनोहर कटाक्षभङ्गीसे शोभायमान है तथा कमलकुसुमकी केशरके समान पीत वस्त्र और सुन्दर कुण्डलोंसे सुशोभित है ॥४७॥ जो झिलमिलाते हुए मुकुट, कंकण, हार, नूपुर और मेखला आदिसे सुसज्जित तथा शंख, चक्र, गदा, पद्म, वनमाला और कौस्तुभमणिकी उत्तम शोभासे युक्त है ॥४८॥ जो सिंहस्कन्धके समान स्थूल कन्धोंपर पड़ी हुई कुण्डलादिकी कान्ति धारण किये है और जिसकी ग्रीवा कौस्तुभमणिके कारण अत्यन्त मनोहर हो रही है तथा जो कभी विलग न होनेवाली लक्ष्मीजीसे सुशोभित कसौटीके समान श्याम वक्षःस्थलसे शोभायमान है ॥४९॥ जिसमें श्वासके आने-जानेके कारण हिलता हुआ त्रिवलीसे शोभायमान उदर सुशोभित

१. प्रा० पा०—धर्माधर्मविवेकाय । २. प्रा० पा०—प्रियतरं । ३. प्राचीन प्रतिमें 'शङ्खचक्रगदापद्म···'से लेकर इक्यावनवें श्लोकके पूर्वार्ध (दुकूलस्वर्णमेखलम्) तकका पूरा मैटर मूलमें नहीं, टिप्पणीमें है ।

प्रतिसंक्रामयंद्विश्वं नाभ्यावर्तगभीरया ॥५०॥
श्यामश्रोण्यधिरोचिष्णुदुकूलस्वर्णमेखलम् ।
समचार्वङ्घ्रिजङ्घोरुनिम्नजानुसुदर्शनम् ॥५१॥
पदा शरत्पद्मपलाशरोचिषा
नखद्युभिर्नोऽन्तरघं विधुन्वता ।
प्रदर्शय स्वीयमपास्तसाध्वसं
पदं गुरो मार्गगुरुस्तमोजुषाम् ॥५२॥
एतद्रूपमनुध्येयमात्मशुद्धिमभीप्सताम् ।
यद्भक्तियोगोऽभयदः स्वधर्ममनुतिष्ठताम् ॥५३॥
भवान्भक्तिमता लभ्यो दुर्लभः सर्वदेहिनाम् ।
स्वाराज्यस्याप्यभिमत एकान्तेनात्मविद्गतिः ॥५४॥
तं दुराराध्यमाराध्य सतामपि दुरापया ।
एकान्तभक्त्या को वाञ्छेत्पादमूलं विना बहिः ॥५५॥
यत्र निर्विष्टमरणं कृतान्तो नाभिमन्यते ।
विश्वं विध्वंसयन्वीर्यशौर्यविस्फूर्जितभ्रुवा ॥५६॥
क्षणार्धेनापि तुलये न स्वर्गं नापुनर्भवम् ।
भगवत्सङ्गिसङ्गस्य[1] मर्त्यानां किमुताशिषः ॥५७॥
अथानघाङ्घ्रेस्तव कीर्तितीर्थयो-
रन्तर्बहिः स्नानविधूतपाप्मनाम् ।
भूतेष्वनुक्रोशसुसत्त्वशीलिनां
स्यात्संगमोऽनुग्रह एष नस्तव ॥५८॥

है तथा जो अपनी भँवरके समान गम्भीर नाभिसे मानो उसीके द्वारा प्रकट हुए विश्वको फिर उसीमें लीन कर रहे हैं ॥५०॥ जिसके श्यामवर्ण कटिभागमें अत्यन्त कान्तियुक्त पीताम्बर और सुवर्णकी मेखला शोभायमान है तथा जो समान और सुन्दर चरण, जंघा, ऊरु और नीचे घुटनोंके कारण अति सुन्दर जान पड़ता है ॥५१॥ जो शरत्कालीन कमलदलकी कान्तिके समान अपने चरणकमलके नखोंकी प्रभासे हमारे हृदयके पापरूप अन्धकारको दूर कर रहा है, भक्तोंके भयको दूर करनेवाले उस अपने रूपका आप हमें दर्शन कराइये; क्योंकि हे गुरो! हम अज्ञानावृत प्राणियोंके मार्गको प्रकाशित करनेवाले आप ही हमारे गुरु हैं ॥५२॥

हे प्रभो! चित्तशुद्धिकी इच्छावाले पुरुषको आपके इस रूपका ध्यान करना चाहिये; क्योंकि अपने धर्मका अनुष्ठान करनेवाले पुरुषोंको भक्तियोग ही अभयदायक है ॥५३॥ आप स्वर्गका शासन करनेवाले इन्द्रके भी पूज्य और एकमात्र आत्मवेत्ताओंके ही प्राप्य हैं। आपका प्राप्त होना यद्यपि सभी प्राणियोंको अत्यन्त दुर्लभ है तो भी भक्तिमान् पुरुष आपको पा लेते हैं ॥५४॥ अतः जिनकी आराधना करना अत्यन्त कठिन है ऐसे आपकी, सत्पुरुषोंको भी कठिनतासे प्राप्त होने योग्य अनन्य भक्तिसे, आराधना कर ऐसा कौन है जो आपके चरणतलके अतिरिक्त अन्य बाह्य विषयोंकी इच्छा करेगा ॥५५॥ उत्साह और वीरताके कारण फड़कती हुई भृकुटिसे विश्वका विध्वंस करनेवाला काल भी जिनकी शरणमें गये हुए प्राणियोंको अपना ग्रास नहीं मानता उन आपके चरणतलोंको छोड़कर अन्य बाह्य विषयोंकी इच्छा कौन करेगा? ॥५६॥ मैं तो भगवद्भक्तोंकी संगतिके आधे क्षणके साथ स्वर्ग और मोक्षपदकी भी तुलना नहीं करता फिर मनुष्योंके क्षणिक भोगोंकी तो बात ही क्या है? ॥५७॥ हे पापहारी चरणोंवाले भगवन्! जो लोग आपके सुयश (लीला-कथा) और तीर्थ (गङ्गाजी) में स्नान करके भीतर-बाहरसे पापहीन हो गये हैं तथा जो भूतदया, शुद्ध चित्त और सुन्दर स्वभावसे युक्त हैं, उनका संग हमें प्राप्त हो, यही हमारे ऊपर आपकी बड़ी कृपा होगी ॥५८॥

१. प्रा० पा०—सङ्गानां ।

न यस्य चित्तं बहिरर्थविभ्रमं
तमोगुहायां च विशुद्धमाविशत् ।
यद्भक्तियोगानुगृहीतमञ्जसा
मुनिर्विचष्टे ननु तत्र ते गतिम् ॥५९॥

जिस समय साधकका चित्त बाह्य विषयोंमें भ्रमण नहीं करता और तमस्वरूपा प्रकृतिमें लीन नहीं होता तथा आपके भक्तियोगसे अनुगृहीत होकर निर्मल हो जाता है उस समय वह मुनि अनायास ही आपके स्वरूपका साक्षात् कर लेता है ॥५९॥

यत्रेदं व्यज्यते विश्वं विश्वस्मिन्नवभाति यत् ।
तत्त्वं ब्रह्म परं ज्योतिराकाशमिव[1] विस्तृतम्[2] ॥६०॥

जिसमें यह सम्पूर्ण जगत् दिखायी देता है तथा जो सम्पूर्ण जगत्में प्रकाशमान है वह आकाशके समान विस्तृत और परम प्रकाशमय ब्रह्मतत्त्व आप ही हैं ॥६०॥

यो माययेदं पुरुरूपयासृज-
द्बिभर्ति भूयः क्षपयत्यविक्रियः ।
यद्भेदबुद्धिः सदिवात्मदुःस्थया
तमात्मतन्त्रं भगवन्प्रतीमहि ॥६१॥

हे भगवन् ! जिसके कारण दूसरे लोगोंके मनमें भेद-बुद्धि उत्पन्न होती है, परन्तु जो आपपर किसी प्रकारका प्रभाव नहीं डाल सकती, उस विविध-रूपिणी मायाके द्वारा जो स्वयं निर्विकार रहते हुए ही इस जगत्की रचना, पालन और अन्तमें संहार करते हैं उन आपको हम परम स्वतन्त्र जानते हैं ॥६१॥

क्रियाकलापैरिदमेव योगिनः
श्रद्धान्विताः साधु यजन्ति सिद्धये ।
भूतेन्द्रियान्तःकरणोपलक्षितं[3]
वेदे च तन्त्रे च त एव कोविदाः ॥६२॥

हे देव ! जो कर्मयोगी पुरुष अपने कर्मोंकी सिद्धिके लिये भिन्न-भिन्न कर्मोंके द्वारा पञ्चभूत, इन्द्रिय और अन्तःकरणके प्रेरकरूपसे उपलक्षित आपके इसी रूपका श्रद्धापूर्वक भलीप्रकार पूजन करते हैं वे ही वेद तथा सम्पूर्ण शास्त्रोंमें कुशल हैं ॥६२॥

त्वमेक आद्यः पुरुषः सुप्तशक्ति-
स्तया रजःसत्त्वतमो विभिद्यते ।
महानहं खं मरुदग्निवार्धराः
सुरर्षयो भूतगणा इदं यतः ॥६३॥

हे नाथ ! सृष्टिके पूर्व जिनकी मायाशक्ति सोयी रहती है वे अद्वितीय आदिपुरुष आप ही हैं । फिर उस मायाशक्तिसे ही आप सत्त्व, रज और तम भेदवाले हो जाते हैं जिनसे महत्तत्त्व, अहंकार, आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी, देवता, ऋषि और सम्पूर्ण प्राणियोंसे युक्त इस जगत्की उत्पत्ति होती है ॥६३॥

सृष्टं स्वशक्त्येदमनुप्रविष्ट-
श्चतुर्विधं पुरमात्मांशकेन ।
अथो विदुस्तं पुरुषं सन्तमन्त-
र्भुङ्क्ते हृषीकैर्मधु सारघं यः[4] ॥६४॥

इस प्रकार अपनी मायाशक्तिसे रचे हुए जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज भेदसे चार प्रकारके शरीररूप नगरमें अंशरूपसे प्रविष्ट होकर जो मधुमक्षियोंसे रचे हुए मधुके समान तुच्छ विषयोंको इन्द्रियोंद्वारा भोगता है [आपके उस अंशको] पुरुष अर्थात् जीव कहते हैं ॥६४॥

स एष लोकानतिचण्डवेगो
विकर्षसि त्वं खलु कालयानः[5] ।

जिस प्रकार असह्य वायु मेघमालाको इधर-उधर छितरा देता है उसी प्रकार जिनके स्वरूपका ज्ञान केवल अनुमानसे ही

१. प्रा० पा०—राकाश इव । २. प्रा० पा०—विस्तृतः । ३. प्रा० पा०—पलक्षणं । ४. प्रा० पा०—सारघं पयः । ५. प्रा० पा०—कामयानः ।

भूतानि भूतैरनुमेयतत्त्वो
घनावलीर्वायुरिवाविषह्यः ॥६५॥
प्रमत्तमुच्चैरितिकृत्यचिन्तया
प्रवृद्धलोभं विषयेषु लालसम् ।
त्वमप्रमत्तः सहसाभिपद्यसे
क्षुल्लेलिहानोऽहिरिवाखुमन्तकः ॥६६॥
कस्त्वत्पदाब्जं विजहाति पण्डितो
यस्तेऽवमानव्ययमानकेतनः ।
विशङ्कयास्मद्गुरुरर्चति स्म य-
द्विनोपपत्तिं मनवश्चतुर्दश ॥६७॥
अथ त्वमसि नो ब्रह्मन्परमात्मन्विपश्चिताम् ।
विश्वं रुद्रभयध्वस्तमकुतश्चिद्भया गतिः ॥६८॥

होता है ऐसे अति प्रचण्ड वेगवाले कालरूप आप सम्पूर्ण स्थावर-जंगम भूतोंको अन्य भूतोंसे विचलित कराते हुए उनका उपसंहार करते हैं ॥६५॥ हे प्रभो! भूखसे जीभ लपलपानेवाला सर्प जैसे चूहेको निगल जाता है वैसे ही 'यह कार्य इस प्रकार करना चाहिये' ऐसी चिन्तासे ग्रस्त रहनेके कारण अत्यन्त प्रमाद-युक्त, तथा विषयलालसाके कारण जिसका लोभ बढ़ा हुआ है उस पुरुषको सदा सावधान रहनेवाले कालरूप आप सहसा ग्रस्त कर लेते हैं ॥६६॥ अतः कालकी आशंकासे भयभीत होकर हमारे गुरु ब्रह्माजीने जिनका अर्चन किया है तथा स्वायम्भुव आदि चौदह मनुओंने उपपत्तिके बिना भी केवल ब्रह्माजीके वचनोंपर विश्वास करके ही जिनकी पूजा की है उन आपके चरणकमलों-को, आपकी अवहेलना करनेके कारण कालके भयसे जिसका शरीर काँप रहा है ऐसा कौन विद्वान् होगा जो त्याग देगा ॥६७॥ हे ब्रह्मन्! हे परमात्मन्! सम्पूर्ण जगत् रुद्ररूप कालके भयसे व्याकुल है। अतः इस तत्त्वको जाननेवाले हमलोगोंकी इस समय आप ही सर्वथा निर्भय गति हैं ॥६८॥

इदं जपत भद्रं वो विशुद्धा नृपनन्दनाः ।
स्वधर्ममनुतिष्ठन्तो भगवत्यर्पिताशयाः ॥६९॥
तमेवात्मानमात्मस्थं सर्वभूतेष्ववस्थितम्[1] ।
पूजयध्वं गृणन्तश्च ध्यायन्तश्चासकृद्धरिम् ॥७०॥
योगादेशमुपासाद्य धारयन्तो मुनिव्रताः ।
समाहितधियः सर्व एतदभ्यसतादृताः ॥७१॥
इदमाह पुरास्माकं भगवान्विश्वसृक्पतिः ।
भृग्वादीनामात्मजानां सिसृक्षुः संसिसृक्षताम् ॥७२॥
ते वयं नोदिताः सर्वे प्रजासर्गे प्रजेश्वराः ।
अनेन ध्वस्ततमसः सिसृक्ष्मो विविधाः प्रजाः ॥७३॥

हे राजकुमारो! तुम्हारा कल्याण हो। तुम विशुद्ध भावसे अपने धर्मका आचरण करते हुए भगवान्में चित्त लगाकर मेरे कहे हुए इस स्तोत्रका जप करते रहो ॥६९॥ तथा निरन्तर श्रीहरिका स्तवन और ध्यान करते हुए अपने अन्तःकरणमें स्थित सर्व-भूतान्तर्यामी उन परमात्माका ही पूजन करो ॥७०॥ मुझसे यह 'योगादेश' नामक स्तोत्र पाकर, इसे मनसे धारणकर मुनिव्रतका आचरण करते हुए तुम सब लोग इसका एकाग्रचित्तसे आदरपूर्वक अभ्यास करो ॥ ७१ ॥ यह स्तोत्र पूर्वकालमें प्रजापतियोंके पति सृष्टिके इच्छुक भगवान् श्रीब्रह्माजीने प्रजा उत्पन्न करनेकी इच्छावाले हम भृगु आदि अपने पुत्रोंसे कहा था ॥७२॥ तब, प्रजाकी उत्पत्तिके लिये ब्रह्माजीद्वारा प्रेरित हुए हम प्रजापतियोंने इस स्तोत्रके प्रभावसे अपना अज्ञान दूर करके नाना प्रकारकी प्रजा उत्पन्न की ॥७३॥

१. प्रा० पा०—ष्वपि स्थितम् ।

अथेदं नित्यदा युक्तो जपन्नवहितः पुमान् ।
अचिराच्छ्रेय आप्नोति वासुदेवपरायणः ॥७४॥
श्रेयसामिह सर्वेषां ज्ञानं निःश्रेयसं परम् ।
सुखं तरति दुष्पारं ज्ञाननौर्व्यसनार्णवम् ॥७५॥
य इमं श्रद्धया युक्तो मद्गीतं भगवत्स्तवम् ।
अधीयानो दुराराध्यं हरिमाराधयत्यसौ ॥७६॥
विन्दते पुरुषोऽमुष्माद्यद्यदिच्छत्यसत्वरम् ।
मद्गीतगीतात्सुप्रीताच्छ्रेयसामेकवल्लभात् ॥७७॥
इदं यः कल्य उत्थाय प्राञ्जलिः श्रद्धयान्वितः ।
शृणुयाच्छ्रावयेन्मर्त्यो मुच्यते कर्मबन्धनैः ॥७८॥
गीतं मयेदं नरदेवनन्दनाः
परस्य पुंसः परमात्मनः स्तवम् ।
जपन्त एकाग्रधियस्तपो महच्चरध्वमन्ते तत आप्स्यथेप्सितम् ॥७९॥

अब भी, जो भगवत्परायण पुरुष इसका नित्यप्रति निरन्तर समाहित चित्तसे जप करेगा उसे शीघ्र ही श्रेय की प्राप्ति होगी ॥७४॥ लोकमें सम्पूर्ण श्रेयोंमें मोक्षदायक ज्ञान ही सर्वश्रेष्ठ है । ज्ञाननौकापर आरूढ़ हुआ पुरुष इस दुष्पार संसारसागरको अनायास ही तर जाता है ॥७५॥ जो पुरुष मेरे कहे हुए इस भगवत्स्तोत्रका श्रद्धापूर्वक पाठ करता हुआ कठिनतासे आराधना किये जानेयोग्य श्रीहरिकी आराधना करता है वह जिस-जिस वस्तुकी इच्छा करता है उसीको, मेरे गान किये हुए इस स्तोत्रके गानसे अति प्रसन्न हुए सम्पूर्ण श्रेयोंके एकमात्र आश्रय श्रीभगवान्‌से तत्काल ही प्राप्त करता है ॥७६-७७॥ जो पुरुष उषाकालमें उठकर अति श्रद्धापूर्वक हाथ जोड़कर इसे सुनता या सुनाता है वह समस्त कर्मबन्धनोंसे मुक्त हो जाता है ॥७८॥ अतः हे राजपुत्रो ! मेरे बताये हुए इस परमपुरुष परमात्माके स्तवका एकाग्रचित्तसे जप करते हुए तुम घोर तपस्या करो । इससे तुम्हें इच्छित फल प्राप्त होगा ॥७९॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे चतुर्थस्कन्धे रुद्रगीतं नाम चतुर्विंशोऽध्यायः ॥२४॥

पचीसवाँ अध्याय

पुरञ्जनोपाख्यानका प्रारम्भ

मैत्रेय उवाच

इति संदिश्य भगवान्बार्हिषदैरभिपूजितः ।
पश्यतां राजपुत्राणां तत्रैवान्तर्दधे हरः ॥ १ ॥
रुद्रगीतं भगवतः स्तोत्रं सर्वे प्रचेतसः ।
जपन्तस्ते तपस्तेपुर्वर्षाणामयुतं जले ॥ २ ॥
प्राचीनबर्हिषं क्षत्तः कर्मस्वासक्तमानसम् ।
नारदोऽध्यात्मतत्त्वज्ञः कृपालुः प्रत्यबोधयत् ॥ ३ ॥

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—हे विदुर ! प्रचेताओंको इस प्रकार उपदेश कर उनसे भली प्रकार पूजित हो भगवान् शंकर उन राजपुत्रोंके देखते-देखते वहीं अन्तर्धान हो गये ॥१॥ तदनन्तर भगवान् रुद्रके कहे हुए उस भगवत्स्तोत्रका जप करते हुए वे समस्त प्रचेतागण जलमें खड़े रहकर दशसहस्र वर्षपर्यन्त तपस्या करते रहे ॥२॥ हे विदुर ! इसी समय आत्मतत्त्वको जाननेवाले परम कृपालु श्रीनारदजीने जिसका चित्त कर्ममें आसक्त हो रहा था उस राजा प्राचीनबर्हिको आत्मतत्त्वका उपदेश दिया ॥३॥

१. प्रा० पा०—मयैतन्नर० । २. प्रा० पा०—थेप्सितान् । ३. प्रा० पा०—र्विंशतितमो । ४. प्रा० पा०—चेतसम ।

श्रेयस्त्वं कतमद्राजन्कर्मणात्मन ईहसे ।
दुःखहानिः सुखावाप्तिः श्रेयस्तन्नेह चेष्यते[1] ॥ ४ ॥

(वे बोले—) "हे राजन् ! इन कर्मोंके द्वारा तुम अपने किस श्रेयकी इच्छा करते हो, क्योंकि दुःखका नाश और सुखकी प्राप्तिरूप श्रेय तो इस कर्ममार्गमें प्राप्त हो नहीं सकता" ॥४॥

राजोवाच

न जानामि महाभाग परं कर्मापविद्धधीः ।
ब्रूहि मे विमलं ज्ञानं येन मुच्येय कर्मभिः ॥ ५ ॥
गृहेषु कूटधर्मेषु पुत्रदारधनार्थधीः ।
न परं विन्दते मूढो भ्राम्यन्संसारवर्त्मसु ॥ ६ ॥

राजाने कहा—हे महाभाग नारदजी ! मेरी बुद्धि कर्मसे व्याप्त हो रही है, अतः मुझे इसके सिवा किसी और कल्याणमार्गका कुछ भी ज्ञान नहीं है । इसलिये आप मुझे निर्मल ज्ञानका उपदेश दीजिये, जिससे मैं कर्मबन्धनसे मुक्त हो सकूँ ॥५॥ क्योंकि पुत्र, स्त्री और धनको ही परमपुरुषार्थ माननेवाला यह मूढ़ पुरुष कपटधर्ममय गृहस्थाश्रममें रहकर आवागमनरूप संसारमार्गमें ही भटकते रहनेके कारण परमात्माको प्राप्त नहीं कर सकता ॥६॥

नारद उवाच

भो भो प्रजापते राजन्पशून्पश्य त्वयाध्वरे ।
संज्ञापिताञ्जीवसङ्घान्निर्घृणेन सहस्रशः ॥ ७ ॥
एते त्वां संप्रतीक्षन्ते स्मरन्तो वैशसं तव ।
संपरेतमयःकूटैश्छिन्दन्त्युत्थितमन्यवः ॥ ८ ॥
अत्र ते कथयिष्येऽद्भुमितिहासं पुरातनम् ।
पुरंजनस्य चरितं निबोध गदतो मम ॥ ९ ॥

श्रीनारदजी बोले—हे प्रजापते महाराज प्राचीनबर्हि ! तुमने जिन सहस्रों प्राणियोंकी यज्ञमें निर्दयतापूर्वक बलि दी है उन्हें आकाशमें देखो ॥७॥ ये सब तुमसे पायी हुई पीडाओंको यादकर तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहे हैं । तुम्हारे मरनेपर ये लोहेके बने हुए अस्त्रके समान अपने तीक्ष्ण सींगोंसे तुम्हें अत्यन्त क्रोधपूर्वक छेदेंगे ॥८॥ हे राजन् ! इसी सम्बन्धमें मैं तुम्हें यह पुरञ्जनोपाख्यान नामक एक प्राचीन इतिहास सुनाता हूँ, सो सावधान होकर सुनो ॥९॥

आसीत्पुरंजनो नाम राजा राजन्बृहच्छ्रवाः ।
तस्याविज्ञातनामासीत्सखाविज्ञातचेष्टितः ॥१०॥
सोऽन्वेषमाणः शरणं बभ्राम पृथिवीं प्रभुः ।
नानुरूपं यदाविन्ददभूत्स विमना इव ॥११॥
न साधु मेने ताः सर्वा भूतले यावतीः पुरः ।
कामान्कामयमानोऽसौ तस्य तस्योपपत्तये ॥१२॥

हे राजन् ! पूर्वकालमें पुरञ्जन नामक एक बड़ा कीर्तिशाली राजा था । उसका अविज्ञात नामक एक मित्र था जिसके कर्म किसीको भी विदित न थे ॥१०॥ वह राजा अपने रहनेयोग्य स्थानकी खोजमें सम्पूर्ण पृथिवीपर भटकता रहा । किन्तु जब उसे कोई भी अनुरूप स्थान न मिला तो वह कुछ उदासा-सा हो गया ॥११॥ भिन्न-भिन्न विषयोंकी कामनावाले राजा पुरञ्जनने उन विषयोंको भोगनेके लिये पृथिवीतलमें जितने नगर देखे उनमेंसे कोई भी ठीक न जान पड़ा ॥१२॥

स एकदा हिमवतो दक्षिणेष्वथ सानुषु ।

एक दिन उसने हिमालयके दक्षिणकी ओर सम्पूर्ण

१. प्रा० पा०—इष्यते ।

ददर्श नवभिर्द्वारैर्[1]भिः पुरं लक्षितलक्षणाम् ॥१३॥
प्राकारोपवनाट्टालपरिखैरक्षतोरणैः ।
स्वर्णरौप्यायसैः शृङ्गैः संकुलां सर्वतो गृहैः ॥१४॥
नीलस्फटिकवैदूर्यमुक्तामरकतारुणैः ।
क्लृप्तहर्म्यस्थलीं दीप्तां श्रिया भोगवतीमिव ॥१५॥
सभाचत्वररथ्याभिराक्रीडायतनापणैः ।
चैत्यध्वजपताकाभिर्युक्तां विद्रुमवेदिभिः ॥१६॥

पुर्यास्तु[2] बाह्योपवने दिव्यद्रुमलताकुले ।
नदद्विहङ्गा[3]लिकुलकोलाहलजलाशये ॥१७॥
हिमनिर्झरविप्रुष्मत्कुसुमाकरवायुना ।
चलत्प्रवालविटपनलिनीतटसंपदि ॥१८॥
नानारण्यमृगं[4]व्रातैरनाबाधे[5] मुनिव्रतैः ।
आहूतं मन्यते पान्थो यत्र कोकिलकूजितैः ॥१९॥
यदृच्छयागतां तत्र ददर्श प्रमदोत्तमाम् ।
भृत्यैर्दशभिरायान्तीमेकैकशतनायकैः ॥२०॥
पञ्चशीर्षाहिना गुप्तां प्रतिहारेण सर्वतः ।
अन्वेषमाणामृषभमप्रौढां कामरूपिणीम् ॥२१॥
सुनासां सुदतीं बालां सुकपोलां[6] वराननाम् ।
समविन्यस्तकर्णाभ्यां बिभ्रतीं कुण्डलश्रियम् ॥२२॥
पिशङ्गनीवीं सुश्रोणीं श्यामां कनकमेखलाम् ।
पद्भ्यां क्वणद्भ्यां चलतीं नूपुरैर्देवतामिव ॥२३॥

लक्षणोंसे युक्त एक नौ द्वारोंवाला नगर देखा ॥१३॥ वह चारों ओरसे परकोटों, उपवनों, अटारियों, खाइयों, झरोखों और वन्दनवारोंसे तथा सोने, चाँदी और लोहेके शिखरोंवाले भवनोंसे घना बसा हुआ था ॥१४॥ उसके महलोंकी भूमि (फर्श) नीलमणि, स्फटिक, वैदूर्य, मुक्ता, मरकत और लालोंकी बनी हुई थी। अतः अपनी कान्तिके कारण वह नागोंकी राजधानी भोगवती पुरीके समान जान पड़ता था ॥१५॥ वह नगर अनेकों सभाओं, चौकों, गलियों, क्रीडाभवनों, बाजारों, विश्रामस्थानों, ध्वजा-पताकाओं तथा मूँगेकी वेदियोंसे पूर्ण था ॥१६॥

उस नगरके बाहर दिव्य वृक्ष और लताओंसे पूर्ण एक उपवन था, जो भाँति-भाँतिके बोली बोलनेवाले पक्षियों और भौंरोंके कलरवसे गुञ्जायमान सरोवरसे युक्त था। जिसके सरोवरके तीरवर्ती वृक्ष शीतल झरनोंके जलकणयुक्त वसन्तकालीन वायुसे हिलते हुए नव पल्लवोंसे सम्पन्न होकर उसकी शोभा बढ़ा रहे थे, अहिंसा आदि मुनिव्रतोंको धारण करनेवाले जहाँके वन्य पशुसमूहोंसे किसीको कोई कष्ट नहीं होता था तथा जहाँ कोकिलकी कूकसे मार्गमें जानेवाले पथिकको अपने बुलाये जानेका भ्रम होता था। उस अद्भुत वनमें राजा पुरञ्जनने एक उत्तम रमणीको दश सेवकोंके साथ दैववश आते देखा जिनमेंसे प्रत्येक सौ-सौ नायिकाओंका पति था ॥१७–२०॥ वह सुन्दरी अपने द्वारपालरूप एक पाँच शिरवाले सर्पसे चारों ओरसे सुरक्षित थी और अपने लिये एक श्रेष्ठ पतिकी खोज कर रही थी, उस कामिनीकी अभी बिल्कुल नई अवस्था थी ॥२१॥ उसकी नासिका, दन्तावली, कपोल और मुख अति सुन्दर थे। वह बड़ी सुकुमारी थी और अपने समान कानोंमें कुण्डलोंकी शोभा धारण किये थी ॥२२॥ उसका कटिप्रदेश अति सुन्दर और वर्ण श्याम था। वह कुछ पीले रंगकी साड़ी और सुवर्णमयी मेखला धारण किये थी तथा चलनेमें चरणनूपुरोंकी झनकार करती हुई कोई देवी-सी जान पड़ती थी ॥ २३ ॥

१. प्रा० पा०—द्वारैः। २. प्राचीन प्रतिमें 'स्तु' इतना अंश नहीं है। ३. प्रा० पा०—विहङ्गमालि०। ४. प्रा० पा०—मृगव्यालै०। ५. प्रा० पा०—रनाबाधैर्मुनि०। ६. प्रा० पा०—सुकपोलवरान०।

स्तनौ व्यञ्जितकैशोरौ समवृत्तौ निरन्तरौ ।
वस्त्रान्तेन निगूहन्तीं व्रीडया गजगामिनीम् ॥२४॥
तामाह ललितं वीरः सव्रीडस्मितशोभनाम् ।
स्निग्धेनापाङ्गपुङ्खेन स्पृष्टः प्रेमोद्भ्रमद्भ्रुवा ॥२५॥
का त्वं कञ्जपलाशाक्षि कस्यालीह कुतः सति ।
इमामुपपुरीं भीरु किं चिकीर्षसि शंस मे ॥२६॥
क एतेऽनुपथा[1] ये त एकादशमहाभटाः ।
एता वो[2] ललनाः सुभ्रु कोऽयं तेऽहिः पुरःसरः ॥२७॥
त्वं ह्रीर्भवान्यस्यथ वाग्रमा[3] पतिं
विचिन्वती किं मुनिवद्रहो वने ।
त्वदङ्घ्रिकामाप्तसमस्तकामं[5]
क्व पद्मकोशः पतितः कराग्रात् ॥२८॥
नासां वरोर्वन्यतमा भुविस्पृक्-
पुरीमिमां वीरवरेण साकम् ।
अर्हस्यलङ्कर्तुमदभ्रकर्मणा
लोकं परं श्रीरिव यज्ञपुंसा ॥२९॥
यदेष मापाङ्गविखण्डितेन्द्रियं
सव्रीडभावस्मितविभ्रमद्भ्रुवा ।
त्वयोपसृष्टो भगवान्मनोभवः
प्रबाधतेऽर्थानुगृहाण[6] शोभने ॥३०॥
त्वदाननं सुभ्रु सुतारलोचनं[7]
व्यालम्बिनीलालकवृन्दसंवृतम्[8] ।

वह गजगामिनी बाला युवावस्थाके आगमनकी सूचना देनेवाले अपने गोल और परस्पर सटे हुए स्तनोंको लज्जावश बारम्बार अञ्चलसे ढकती जाती थी ॥२४॥

तब वीरवर पुरञ्जनने प्रेमोद्वेगके कारण चञ्चल हुए उसके भृकुटिधनुषसे छूटनेवाले प्रणयकटाक्षरूप बाणसे विद्ध होकर उस सलज्ज मुसकानसे सुशोभिता सुन्दरीके प्रति अति ललित वाणीमें यों कहा—॥२५॥ "हे कमलदललोचने ! तुम कौन हो ? और किसकी कन्या हो ? हे सति ! इस समय तुम कहाँसे आ रही हो ? हे भीरु ! इस उपपुरीमें* तुम्हारी क्या करनेकी इच्छा है ? सो हमसे कहो ॥२६॥ जिनमें ग्यारहवाँ अत्यन्त शूरवीर है ऐसे ये तुम्हारे साथके ग्यारह अनुचर कौन हैं ? तथा हे सुभ्रू ! तुम्हारे साथकी ये सहेलियाँ और सदा आगे रहनेवाला यह सर्प कौन है ? ॥२७॥ जिसकी सम्पूर्ण कामनाएँ तुम्हारे चरणकमलोंकी प्राप्तिसे ही पूर्ण हो चुकी हैं ऐसे अपने पति (धर्म या शिव या ब्रह्मा अथवा भगवान् विष्णु) को मुनियोंके समान वनमें एकान्तवास करके ढूँढनेवाली क्या तुम साक्षात् लज्जा या पार्वती या सरस्वती अथवा लक्ष्मीजी तो नहीं हो ? यदि तुम लक्ष्मीजी हो तो तुम्हारे हाथका क्रीडापद्म कहाँ गिर गया ? ॥२८॥ हे वरोरु ! तुम अपने चरणोंसे पृथिवीको स्पर्श करती हो; इसलिये इनमेंसे तो कोई नहीं हो [क्योंकि देवतालोग पृथिवीपर चरण नहीं रखते] अतः श्रीलक्ष्मीजी जिस प्रकार विष्णुभगवान्के साथ रहकर वैकुण्ठलोककी शोभा बढ़ाती हैं उसी प्रकार मुझ परम पराक्रमी वीरश्रेष्ठके साथ रहकर तुम्हें इस नगरीकी शोभा बढ़ानी चाहिये ॥२९॥ हे सुन्दरि ! तुम्हारे कटाक्षविक्षेपसे विकलेन्द्रिय हुए मुझको तुम्हारी सलज्ज मुसकानयुक्त भ्रूभङ्गीसे प्रेरित हो बढ़ा हुआ कामदेव पीड़ित कर रहा है, सो अब तुम मुझपर कृपा करो ॥३०॥ हे शुचिस्मिते ! जो लज्जावश मेरी ओर नहीं उठता तथा जो सुन्दर भृकुटि, सुन्दर पुतलियोंसे युक्त नयनों एवं लम्बी और नीली घुँघराली अलकोंसे घिरा

१. प्रा० पा०—एते ते पुरोगा ये । २. प्रा० पा०—एताश्च । ३. प्रा० पा०—श्रीर्भवान्य० । ४. प्रा० पा०—वा उमा पतिं । ५. प्राचीन प्रतिमें 'समस्त'—यह अंश खण्डित है । ६. प्रा० पा० —ते मानुगृहाण । ७. प्रा० पा०—सुनास० । ८. प्रा० पा०—संकुलम् ।

* पुरीके पासका स्थान ।

उन्नीय मे दर्शय वल्गुवाचकं
यद्व्रीडया नाभिमुखं शुचिस्मिते ॥३१॥

[1] नारद उवाच

इत्थं पुरंजनं नारी याचमानमधीरवत् ।
अभ्यनन्दत तं वीरं हसन्ती वीर मोहिता ॥३२॥
न[2] विदाम वयं सम्यक्कर्तारं पुरुषर्षभ ।
आत्मनश्च परस्यापि गोत्रं नाम च यत्कृतम् ॥३३॥
इहाद्य सन्तमात्मानं विदाम न ततः परम् ।
येनेयं निर्मिता वीर पुरी शरणमात्मनः ॥३४॥
एते सखायः सख्यो मे नरा नार्यश्च मानद ।
सुप्तायां मयि जागर्ति नागोऽयं पालयन्पुरीम् ॥३५॥
दिष्ट्यागतोऽसि भद्रं ते ग्राम्यान्कामानभीप्ससे ।
उद्वहिष्यामि तांस्तेऽहं स्वबन्धुभिररिन्दम ॥३६॥
इमां त्वमधितिष्ठस्व पुरीं नवमुखीं विभो ।
मयोपनीतान्गृह्णानः कामभोगाञ्छतं समाः ॥३७॥
कं नु त्वदन्यं रमये ह्यरतिज्ञमकोविदम् ।
असंपरायाभिमुखमश्वस्तनविदं[3] पशुम् ॥३८॥
धर्मो ह्यत्रार्थकामौ च प्रजानन्दोऽमृतं यशः ।
लोका विशोका विरजा यां न केवलिनो विदुः ॥३९॥
पितृदेवर्षिमर्त्यानां भूतानामात्मनश्च ह ।
क्षेम्यं[4] वदन्ति शरणं भवेऽस्मिन्यद्गृहाश्रमः ॥४०॥
का नाम वीर विख्यातं वदान्यं प्रियदर्शनम् ।

हुआ है उस अपने मृदुभाषी मनोहर मुखारविन्दको कुछ ऊँचा उठाकर मुझे दिखाओ'' ॥३१॥

श्रीनारदजी बोले—हे वीर ! राजा पुरञ्जनके इस प्रकार अधीर पुरुषके समान याचना करनेपर उस स्त्रीने राजाकी सुन्दरतासे मोहित होकर हँसते हुए उसके कथनका अनुमोदन किया ॥३२॥ वह कहने लगी—''हे पुरुषश्रेष्ठ ! हम अपने उत्पन्न करनेवालेको नहीं जानतीं और न हमें अपने या दूसरेके नाम और गोत्रका ही पता है ॥३३॥ आज हम सब लोग इस पुरीमें हैं—इसके सिवा हम और कुछ नहीं जानतीं । हे वीर ! हमारा निवासस्थानरूप यह पुरी किसने रची है, हमें इसका भी पता नहीं है ॥३४॥ हे मानद ! ये पुरुष और स्त्रियाँ मेरे सखा और सहेलियाँ हैं । तथा जिस समय मैं सो जाती हूँ उस समय यह सर्प इस पुरीकी रक्षा करता हुआ जागता रहता है ॥३५॥ हे शत्रुनाशक ! आपका कल्याण हो; बड़े सौभाग्यकी बात है, आप यहाँ पधारे । आपको विषयभोगोंकी इच्छा है, सो अपने साथियोंके सहित मैं आपके सभी इच्छित भोग प्रस्तुत करूँगी ॥३६॥ हे नाथ ! आप इस नौ द्वारोंवाली पुरीमें मेरे प्रस्तुत किये हुए विषयोंको भोगते हुए सौ वर्षतक रहिये ॥३७॥ हे प्रिय ! आपको छोड़कर मैं विषयसुखको न जाननेवाले, विहित भोगोंको भी त्याग देनेवाले परलोककी चिन्तासे रहित और कल क्या होगा इसका विचार भी न करनेवाले अन्य किस नरपशुके साथ रमण करूँगी ? ॥३८॥ अहो ! इस लोकमें गृहस्थाश्रममें रहकर ही धर्म, अर्थ, काम, प्रजापालनका आनन्द, अमरता और सुयश प्राप्त होते हैं तथा इसीमें वे स्वर्गादि दिव्यलोक भी प्राप्त होते हैं, जिन्हें मोक्षमार्गके पथिक केवली पुरुष भी नहीं जानते ॥३९॥ इस लोकमें देव, ऋषि, मनुष्य तथा सम्पूर्ण प्राणियोंका और अपना भी कल्याणमय आश्रयस्थान गृहस्थाश्रमको ही कहा जाता है ॥४०॥ हे वीर ! लोकमें आपजैसे विख्यात, उदारचित्त और प्रियदर्शन पतिके

१. प्राचीन प्रतिमें 'नारद उवाच' इतना अंश नहीं है । २. प्रा० पा०—विदाम न । ३. प्रा० पा०—पदं । ४. प्रा० पा०—क्षेमं ।

न वृणीत प्रियं प्राप्तं मादृशी त्वादृशं पतिम्[1] ॥४१॥
कस्या मनस्ते भुवि भोगिभोगयोः
स्त्रिया न सज्जेद्भुजयोर्महाभुज ।
योऽनाथवर्गाधिमलं घृणोद्धत-
स्मितावलोकेन चरत्यपोहितुम् ॥४२॥

नारद[3] उवाच

इति तौ दम्पती तत्र समुद्य समयं मिथः ।
तां प्रविश्य पुरीं राजन्मुमुदाते शतं समाः ॥४३॥
उपगीयमानो ललितं तत्र तत्र च गायकैः ।
क्रीडन्परिवृतः स्त्रीभिर्ह्रदिनीमाविशच्छुचौ ॥४४॥
सप्तोपरि कृता द्वारः पुरस्तस्यास्तु द्वे अधः ।
पृथग्विषयगत्यर्थं तस्यां यः कश्चनेश्वरः ॥४५॥
पञ्च द्वारस्तु पौरस्त्या दक्षिणैका तथोत्तरा ।
पश्चिमे द्वे अमूषां ते नामानि नृप वर्णये ॥४६॥
खद्योताविर्मुखी च प्राग्द्वारावेकत्र निर्मिते ।
विभ्राजितं जनपदं याति ताभ्यां द्युमत्सखः ॥४७॥
नलिनी नालिनी च प्राग्द्वारावेकत्र निर्मिते ।
अवधूतसखस्ताभ्यां विषयं याति सौरभम् ॥४८॥
मुख्यानाम पुरस्ताद्द्वास्तयापणबहूदनौ ।
विषयौ याति पुरराड्रसज्ञविपणान्वितः ॥४९॥
पितृहूर्नृप पुर्या द्वार्दक्षिणेन पुरंजनः ।
राष्ट्रं दक्षिणपञ्चालं याति श्रुतधरान्वितः[4] ॥५०॥
देवहूर्नाम पुर्या द्वा उत्तरेण पुरंजनः ।
राष्ट्रमुत्तरपञ्चालं याति श्रुतधरान्वितः ॥५१॥

प्राप्त होनेपर भी मेरे समान ऐसी कौन स्त्री है जो बरण न करेगी ॥४१॥ हे महाबाहो ! जो अपनी मधुर मुसकानमयी चितवनसे हम-जैसे अनाथ जीवोंके मानसिक सन्तापको दूर करनेके लिये ही पृथिवीमें विचर रहे हैं ऐसे आपके सर्पसदृश सुकोमल बाहुपाशमें किस स्त्रीका चित्त न फँसेगा ?'' ॥४२॥

श्रीनारदजी कहते हैं—हे राजन् ! उन स्त्री-पुरुषोंने उस समय परस्पर इस प्रकार वार्तालाप कर उस नगरमें जा सौ वर्षपर्यन्त आनन्द भोगा ॥४३॥ राजा पुरञ्जन, जहाँ-तहाँ गायकोंसे सुयशगान सुनता हुआ ग्रीष्मऋतुमें जलक्रीडाके लिये स्त्रियोंसे घिरा हुआ नदीमें घुस जाता ॥४४॥ उस पुरीका जो कोई भी स्वामी था उसने भिन्न-भिन्न देशोंकी ओर जानेके लिये उस पुरीमें सात द्वार ऊपरकी ओर और दो नीचेकी ओर बनाये थे ॥४५॥ हे राजन् ! उन नौ द्वारोंमेंसे पाँच पूर्वकी ओर, एक दक्षिणकी ओर, एक उत्तरकी ओर और दो पश्चिमकी ओर थे । उनके नाम तुम्हें सुनाता हूँ ॥४६॥ पूर्वकी ओर खद्योत और आविर्मुखी नामक दो द्वार एक ही स्थानपर बनाये गये थे । उनमें होकर राजा पुरञ्जन अपने मित्र द्युमान्के साथ विभ्राजित नामक देशको जाता था ॥४७॥ इसी प्रकार नलिनी और नालिनी नामक दो द्वार और भी पूर्व दिशामें एक ही स्थानपर थे उनके द्वारा वह अपने मित्र अवधूतके साथ सौरभ नामक देशको जाता था ॥४८॥ पूर्वकी ओर मुख्या नामक एक द्वार और था उसमें होकर राजा पुरञ्जन अपने मित्र रसज्ञ और विपणके साथ क्रमशः बहूदन और आपण नामक दो देशोंको जाता था ॥४९॥ हे राजन् ! पुरीके दक्षिणकी ओर जो पितृहू नामक द्वार था उसमें होकर राजा पुरञ्जन श्रुतिधर नामक मित्रके साथ दक्षिण पाञ्चाल देशको जाता था ॥५०॥ तथा उत्तरकी ओर जो देवहू नामक द्वार था उसके द्वारा वह अपने उसी श्रुतिधर नामक मित्रके साथ उत्तर पाञ्चाल देशको जाता था ॥ ५१ ॥

१. प्रा० पा०—पतिं । २. प्रा० पा०—स्वयम् । ३. प्राचीन प्रतिमें 'नारद उवाच'—इतना अंश नहीं है । ४. प्रा० पा०—श्रुति० ।

आसुरी नाम पश्चाद्द्वास्तया याति पुरंजनः ।
ग्रामकं नाम विषयं दुर्मदेन समन्वितः ॥५२॥
निर्ऋतिर्नाम पश्चाद्द्वास्तया याति पुरंजनः ।
वैशसं नाम विषयं लुब्धकेन समन्वितः ॥५३॥
अन्धावमीषां[1] पौराणां निर्वाक्पेशस्कृतावुभौ ।
अक्षण्वतामधिपतिस्ताभ्यां याति करोति च ॥५४॥
स[2] यर्ह्यन्तःपुरगतो विषूचीनसमन्वितः ।
मोहं प्रसादं हर्षं वा याति जायात्मजोद्भवम् ॥५५॥
एवं कर्मसु संसक्तः कामात्मा वञ्चितोऽबुधः ।
महिषी यद्यदीहेत तत्तदेवान्ववर्तत ॥५६॥
क्वचित्पिबन्त्यां पिबति मदिरां मदविह्वलः ।
अश्नन्त्यां क्वचिदश्नाति जक्षत्यां सह जक्षति ॥५७॥
क्वचिद्गायति गायन्त्यां रुदत्यां रुदति क्वचित् ।
क्वचिद्धसन्त्यां हसति जल्पन्त्यामनु जल्पति ॥५८॥
क्वचिद्धावति धावन्त्यां तिष्ठन्त्यामनु तिष्ठति ।
अनु शेते शयानायामन्वास्ते क्वचिदासतीम् ॥५९॥
क्वचिच्छृणोति शृण्वन्त्यां पश्यन्त्यामनु पश्यति ।
क्वचिज्जिघ्रति जिघ्रन्त्यां स्पृशन्त्यां स्पृशति क्वचित् ॥
क्वचिच्च शोचतीं जायामनु शोचति दीनवत् ।

पुरीके पश्चिमकी ओर आसुरी नामक द्वार था । उसमें होकर राजा पुरञ्जन अपने मित्र दुर्मदके साथ ग्रामक नाम देशको जाता था ॥५२॥ तथा निर्ऋति नामक जो दूसरा पश्चिमद्वार था उससे राजा पुरञ्जन अपने मित्र लुब्धकके साथ वैशस नामक देशको जाता था ॥५३॥ इस नगरके निवासियोंमें निर्वाक् और पेशस्कृत् ये दो नागरिक अन्धे थे । उन्हींकी सहायतासे राजा पुरञ्जन सेन्द्रिय नागरिकोंका अधिपति होनेपर भी जहाँ-तहाँ जाता और सब कार्य करता था।५४।

जिस समय राजा पुरञ्जन अपने प्रधान सेवक विषूचीनके साथ अन्तःपुरमें जाता था उस समय स्त्री और पुत्रोंके कारण होनेवाले मोह, प्रसन्नता और हर्ष आदि विकारोंका अनुभव करता था ॥५५॥ इस प्रकार अनेकों कार्योंमें लगा हुआ, विषयोंमें आसक्त और स्त्रीके द्वारा ठगा हुआ वह महा अज्ञानी राजा पुरञ्जन, जो-जो कार्य उसकी रानी करती थी वही-वही आप भी करने लगता था ॥५६॥ जब कभी वह मद्यपान करती थी तो आप भी मदमत्त होकर मदिरा पीने लगता था, जब वह खाती थी तो आप भी खाता था और जब भक्षण करती थी तो आप भी भक्षण करने लगता था ॥५७॥ कभी उसके गानेपर गाने लगता था, रोनेपर रोने लगता था, हँसनेपर हँसने लगता था और बोलनेपर बोलने लगता था ॥५८॥ कभी वह दौड़ती थी तो आप भी दौड़ने लगता था, ठहरती थी तो आप भी ठहर जाता था, सोती थी तो आप भी उसके साथ ही सो जाता था और बैठती थी तो स्वयं भी उसके साथ ही बैठ जाता था ॥५९॥ कभी वह सुनती थी तो आप भी सुनने लगता था, देखती थी तो आप भी देखने लगता था, सूँघती थी तो स्वयं भी सूँघने लगता था और कभी स्पर्श करती थी तो आप भी स्पर्श करने लगता था ॥६०॥ कभी अपनी प्रियाके शोकाकुल होनेपर आप भी अति दीनके समान व्याकुल हो जाता था तथा उसके प्रसन्न होनेपर आप भी प्रसन्न होता था

१. प्राचीन प्रतिमें 'अन्धावमीषां' से आरम्भकर 'करोति च' पर्यन्त (५४ वाँ श्लोक) नहीं है । २. प्राचीन प्रतिमें पचपनवें श्लोकका पूर्वार्द्ध भाग नहीं है ।

अनु हृष्यति हृष्यन्त्यां मुदितामनु मोदते ॥६१॥

विप्रलब्धो महिष्यैवं सर्वप्रकृतिवञ्चितः ।

नेच्छन्ननुकरोत्यज्ञः क्लैब्यात्क्रीडामृगो यथा ॥६२॥

और उसके आनन्द माननेपर आप भी आनन्द मानने लगता था ॥६१॥ इस प्रकार स्त्रीके चंगुलमें फँसा हुआ राजा पुरञ्जन अपने सभी मन्त्रियोंसे ठगा जानेके कारण अति कामवश होनेसे, इच्छा न होनेपर भी अज्ञानीके समान अपनी स्त्रीका इस प्रकार अनुकरण करता था जैसे खेल दिखानेके लिये पाला हुआ (वानर आदि) पशु हर समय अपने स्वामीकी आज्ञामें रहता है ॥६२॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे चतुर्थस्कन्धे पुरंजनोपाख्याने पञ्चविंशोऽध्यायः[1] ॥ २५ ॥

छब्बीसवाँ अध्याय

राजा पुरञ्जनका मृगयाके लिये वनमें जाना और उसकी स्त्रीका कुपित होना ।

नारद उवाच[2]

स एकदा महेष्वासो रथं पञ्चाश्वमाशुगम् ।

द्वीषं द्विचक्रमेकाक्षं त्रिवेणुं पञ्चबन्धुरम् ॥ १ ॥

एकरश्म्येकदमनमेकनीडं द्विकूबरम् ।

पञ्चप्रहरणं सप्तवरूथं पञ्चविक्रमम् ॥ २ ॥

हैमोपस्करमारुह्य स्वर्णवर्माक्षयेषुधिः ।

एकादशचमूनाथ पञ्चप्रस्थमगाद्वनम् ॥ ३ ॥

चचार मृगयां तत्र दृप्त आत्तेषुकार्मुकः ।

विहाय जायामतदर्हां मृगव्यसनलालसः ॥ ४ ॥

आसुरीं वृत्तिमाश्रित्य घोरात्मा निरनुग्रहः ।

न्यहनन्निशितैर्बाणैर्वनेषु वनगोचरान् ॥ ५ ॥

तीर्थेषु प्रतिदृष्टेषु राजा मेध्यान्[3]पशून्वने ।

श्रीनारदजी बोले—हे राजन् ! एक दिन राजा पुरञ्जन, जिसमें पाँच घोड़े जुते हुए थे तथा जो दो दण्डिकाओं, दो पहियों, एक धुरी, तीन बाँसों, पाँच बन्धनों, एक डोरी (लगाम), एक सारथी, एक बैठनेके स्थान, दो जूओं, पाँच शस्त्रों, सात पर्दों, पाँच प्रकारकी गतियों और सुवर्णमय आभूषणोंसे सुसज्जित था, ऐसे शीघ्रगामी रथपर एक महान् धनुष, सुवर्णमय कवच और अक्षय बाण धारणकर अपने ग्यारहवें सेनापतिके सहित आरूढ़ हो पञ्चप्रस्थ नामक वनको गया ॥ १—३ ॥ वहाँ मृगया करनेके लिये अति उत्सुक हो, जिसका त्यागना किसी प्रकार भी योग्य न था, उस अपनी प्रियाको त्यागकर, अति दर्पपूर्वक हाथमें धनुष-बाण ले शिकार खेलने लगा ॥ ४ ॥ इस प्रकार आसुरी वृत्तिको स्वीकारकर भयंकर और निर्दयचित्त राजा पुरञ्जनने उस वनमें अपने तीखे बाणोंसे बहुत वन्य पशुओंका वध किया ॥ ५ ॥ शास्त्रमें पशु-हिंसाके लिये विधि नहीं है, बल्कि लोगोंकी स्वाभाविक प्रवृत्तिको रोकनेके लिये यह नियम बना दिया है कि

१. प्रा० पा०—विंशतितमो । २. प्राचीन प्रतिमें 'नारद उवाच'—इतना अंश नहीं है । ३. प्रा० पा०—मेध्यपशून्वने ।

यावदर्थमलं लुब्धो हन्यादिति नियम्यते ॥ ६ ॥

य एवं कर्म नियतं विद्वान्कुर्वीत मानवः ।
कर्मणा तेन राजेन्द्र ज्ञानेन न स लिप्यते ॥ ७ ॥

अन्यथा कर्म कुर्वाणो मानारूढो निबध्यते ।
गुणप्रवाहपतितो नष्टप्रज्ञो व्रजत्यधः ॥ ८ ॥

तत्र निर्भिन्नगात्राणां चित्रबाजैः शिलीमुखैः ।
विप्लवोऽभूद्दुःखितानां दुःसहः करुणात्मनाम् ॥ ९ ॥
शशान्वराहान्महिषान्गवयान्रुरुशल्यकान् ।
मेध्यानन्यांश्च विविधान्विनिघ्नञ्छ्रममध्यगात् ॥१०॥
ततः क्षुत्तृट्परिश्रान्तो निवृत्तो गृहमेयिवान् ।
कृतस्नानोचिताहारः संविवेश गतक्लमः ॥११॥
आत्मानमर्हयाञ्चक्रे धूपालेपस्रगादिभिः ।
साध्वलङ्कृतसर्वाङ्गो महिष्यामादधे मनः ॥१२॥
तृप्तो हृष्टः सुदृप्तश्च कन्दर्पाकृष्टमानसः ।
न व्यचष्ट वरारोहां गृहिणीं गृहमेधिनीम् ॥१३॥

अन्तःपुरस्त्रियोऽपृच्छद्विमना इव वेदिषत् ।
अपि वः कुशलं रामाः सेश्वरीणां यथा पुरा ॥१४॥
न तथैतर्हि रोचन्ते गृहेषु गृहसंपदः ।
यदि न स्याद्गृहे माता पत्नी वा पतिदेवता ।
व्यङ्गे रथ इव प्राज्ञः को नामासीत दीनवत् ॥१५॥
क्व वर्तते सा ललना मज्जन्तं व्यसनार्णवे ।

मांसमें आसक्ति रखनेवाला राजा केवल शास्त्र-प्रदर्शित श्राद्धादिके समय वनमें जाकर अवर्जनीय पशुओंको ही मार सकता है, परन्तु आवश्यकतासे अधिक न मारे ॥ ६ ॥ हे राजेन्द्र ! जो विद्वान् पुरुष इस प्रकार कर्मतत्त्वको समझकर [निष्कामभावसे] नियत कर्मोंका आचरण करता है वह उन कर्मोंसे लिप्त नहीं होता ॥ ७ ॥ इसके विपरीत मनमाना कर्म करनेसे मनुष्य अभिमानी होकर कर्मोंमें बँध जाता है तथा संसारचक्रमें पड़कर विवेकबुद्धि नष्ट हो जानेसे अधम योनियोंमें जन्म लेता है ॥ ८ ॥

इधर उस वनमें पुरञ्जनके चित्र-विचित्र पुङ्खोंवाले बाणोंसे छिन्न-भिन्न होकर दुःखित हुए जीवोंका भयंकर संहार हुआ, जो करुणामय पुरुषोंके लिये अति दुःसह था ॥ ९ ॥ इस प्रकार वहाँ खरगोश, शूकर, भैंसे, नीलगाय, कृष्णमृग, स्याई तथा और भी अनेकों मेध्य पशुओंका वध करते-करते राजा पुरञ्जन बहुत थक गया ॥१०॥ तदनन्तर भूख-प्याससे थककर वह वनसे लौटकर अपने घर आया तथा स्नान और यथोचित भोजनकर कुछ देर शय्याका आश्रय ले थकान दूर की ॥११॥ फिर अपनेको गन्ध, चन्दन और माला आदिसे सुसज्जितकर सब अंगोंमें श्रेष्ठ आभूषण धारणकर अपनी प्रियामें चित्त लगाया ॥१२॥ किन्तु भोजन आदिसे तृप्त, हृदयमें आनन्दित, मदोन्मत्त और कामपरवश राजा पुरञ्जनको अपनी सुन्दर कटिवाली गृहस्वामिनी भार्या दिखायी न दी ॥१३॥

हे प्राचीनबर्हि ! तब उसने चित्तमें कुछ उदास हो अन्तःपुरकी स्त्रियोंसे पूछा—"हे रमणियो ! तुम अपनी स्वामिनीके सहित पूर्ववत् कुशलसे तो हो ? क्या कारण है इस समय घरकी सम्पत्ति पूर्ववत् सुशोभित नहीं जान पड़ती ॥१४॥ यदि घरमें माता अथवा पतिपरायणा भार्या न हो तो अंगहीन रथके समान उस दुःखमय घरमें कौन बुद्धिमान् पुरुष दीनके समान रहेगा ? ॥१५॥ अतः मुझे बताओ, जो मेरे दुःखसमुद्रमें डूबनेपर, पद-पदपर मेरी विवेक-बुद्धिको

१. प्रा० पा०— नन्यानमेध्यांश्च ।

या मामुद्धरते प्रज्ञां दीपयन्ती पदे पदे ॥१६॥

रामा ऊचुः

नरनाथ न जानीमस्त्वत्प्रिया यद्व्यवस्यति ।
भूतले निरवस्तारे शयानां पश्य शत्रुहन् ॥१७॥

नारद उवाच

पुरंजनः स्वमहिषीं निरीक्ष्यावधुतां भुवि ।
तत्सङ्गोन्मथितज्ञानो वैक्लव्यं परमं ययौ ॥१८॥
सान्त्वयञ् श्लक्ष्णया वाचा हृदयेन विदूयता ।
प्रेयस्याः स्नेहसंरम्भलिङ्गमात्मनि नाभ्यगात् ॥१९॥
अनुनिन्येऽथ शनकैर्वीरोऽनुनयकोविदः ।
पस्पर्श पादयुगलमाह चोत्सङ्गलालिताम् ॥२०॥

पुरंजन उवाच

नूनं त्वकृतपुण्यास्ते भृत्या येष्वीश्वराः शुभे ।
कृतागस्स्वात्मसात्कृत्वा शिक्षादण्डं न युञ्जते ॥२१॥
परमोऽनुग्रहो दण्डो भृत्येषु प्रभुणार्पितः ।
बालो न वेद तत्तन्वि बन्धुकृत्यममर्षणः ॥२२॥
सा त्वं मुखं सुदति सुभ्रुवनुरागभार-
व्रीडाविलम्बविलसद्धसितावलोकम् ।
नीलालकालिभिरुपस्कृतमुन्नसं नः
स्वानां प्रदर्शय मनस्विनि वल्गुवाक्यम् ॥२३॥
तस्मिन्दधे दममहं तव वीरपत्नि
योऽन्यत्र भूसुरकुलात्कृतकिल्बिषस्तम् ।
पश्ये न वीतभयमुन्मुदितं त्रिलोक्या-

जाग्रत्कर मुझे उस संकटसे निकालती थी वह मेरी प्रिया कहाँ है ?" ॥१६॥

स्त्रियोंने कहा—हे नरनाथ ! मालूम नहीं आज आपकी प्रियाने क्या विचार किया है । हे शत्रुदमन ! देखिये, वह बिना बिछौनेके पृथिवीपर ही पड़ी हुई है ॥१७॥

नारदजी कहते हैं—हे राजन् ! उस स्त्रीके संगसे जिसका विवेक नष्ट हो गया था वह राजा पुरञ्जन अपनी रानीको पृथिवीपर अस्त-व्यस्त अवस्थामें पड़ी देख अत्यन्त व्याकुल हो गया ॥ १८ ॥ फिर दुःखित चित्तसे मधुर वचनोंद्वारा बहुत-कुछ समझानेपर भी वह यह न जान सका कि उसके प्रति उसकी प्रेयसीके प्रणयकोपका क्या कारण था ? ॥ १९ ॥ तब मनानेमें कुशल उस वीरने धीरे-धीरे उसे मनाना आरम्भ किया । उसने पहले उसके चरणोंमें शिर रखा फिर उसे गोदमें ले बड़े लाड़के साथ कहने लगा ॥ २० ॥

पुरञ्जन बोला—हे सुन्दरि ! यदि अपराधी सेवकोंको स्वामी 'ये अपने ही हैं' ऐसा मानकर शिक्षाके लिये उचित दण्ड न दे तो निश्चय ही वे बड़े मन्दभागी हैं ॥ २१ ॥ हे तन्वि ! सेवकको दिया हुआ स्वामीका दण्ड उसपर परम अनुग्रह ही है । जो सेवक उसे सहन नहीं करता उस मूर्खको अपने हितकारी स्वामीके किये हुए उस उपकारका पता नहीं चलता ॥ २२ ॥ हे सुन्दर दाँतोंवाली ! हे सुभ्रु ! हे मनस्विनि ! तुम हमारी स्वामिनी हो । अतः मुझ अपने अनुचरको तुम प्रणय-भार और लज्जासे झुका हुआ तथा मधुर मुसकानमयी चितवनसे युक्त अपना मनोहर मुखारविन्द दिखाओ, जो नीली अलकावली और उन्नत नासिकासे सुशोभित है ॥ २३ ॥ हे वीरपत्नि ! [तुम मुझे अपना अपराध करनेवाला दिखाओ] ब्राह्मणकुलको छोड़कर यदि किसी औरने तुम्हारा अपराध किया होगा तो मैं उसे अभी दण्ड दूँगा, क्योंकि भगवान्‌के भक्तको छोड़कर मुझे त्रिलोकीमें अथवा त्रिलोकीसे बाहर और ऐसा कोई नहीं

१. प्राचीन प्रतिमें 'नारद उवाच'—इतना अंश नहीं है । २. प्राचीन प्रतिमें 'पुरंजन उवाच'—इतना अंश नहीं है ।

मन्यत्र वै मुररिपोरितरत्र दासात् ॥२४॥

वक्त्रं न ते वितिलकं मलिनं विहर्षं
संरम्भभीममविमृष्टमपेतरागम् ।
पश्ये स्तनावपि शुचोपहतौ सुजातौ
बिम्बाधरं विगतकुङ्कुमपङ्करागम् ॥२५॥

तन्मे प्रसीद सुहृदः कृतकिल्बिषस्य
स्वैरं गतस्य मृगयां व्यसनातुरस्य ।
का देवरं वशगतं कुसुमास्त्रवेग-
विस्रस्तपौंस्नमुशती न भजेत कृत्ये ॥२६॥

दिखायी देता जो मेरा अपराध करके निर्भय और आनन्दपूर्वक रह सके ॥ २४ ॥ हे प्रिये ! मैंने आजतक तुम्हारा मुख कभी तिलकहीन, मलिन, हर्षरहित, क्रोधके कारण भयानक, कान्तिहीन और स्नेहशून्य नहीं देखा, और न कभी तुम्हारे सुन्दर स्तनोंको शोकाश्रुओंसे भीगे हुए तथा बिम्बाफलसदृश अधरोंको कुंकुमरागके समान पानकी लालीसे रहित ही देखा है ॥ २५ ॥ अतः व्यसनवश तुम्हारी आज्ञा लिये बिना अपने आप ही मृगयाके लिये जानेवाले मुझ अपने अपराधी सुहृद्से अब तुम प्रसन्न होओ, क्योंकि कामदेवके विषम बाणोंसे अधीर होकर अपने अधीन रहनेवाले तथा अपनेको रतिसुख देनेवाले प्रिय पतिको ऐसी कौन कामिनी है जो उचित कार्यके लिये स्वीकार न करेगी ? ॥ २६ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे चतुर्थस्कन्धे
पुरंजनोपाख्याने षड्विंशोऽध्यायः ॥२६॥

सत्ताईसवाँ अध्याय

पुरंजनपुरीपर चण्डवेगकी चढ़ाई तथा कालकन्याका चरित्र

नारद उवाच

इत्थं पुरंजनं सध्र्यग्वशमानीय विभ्रमैः ।
पुरंजनी महाराज रेमे रमयती पतिम् ॥ १ ॥
स राजा महिषीं राजन्सुस्नातां रुचिराननाम् ।
कृतस्वस्त्ययनां तृप्तामभ्यनन्ददुपागताम् ॥ २ ॥
तयोपगूढः परिरब्धकन्धरो
रहो नु मन्त्रैरपकृष्टचेतनः ।
न कालरंहो बुबुधे दुरत्ययं
दिवा निशेति प्रमदापरिग्रहः ॥ ३ ॥

श्रीनारदजी बोले—हे महाराज ! इस प्रकार अनेकों हाव-भावोंसे पुरञ्जनको पूर्णतया अपने अधीन-कर वह स्त्री अपने पतिको आनन्दित करती हुई उसके साथ रमण करने लगी ॥ १ ॥ हे राजन् ! तब भलीप्रकार स्नानकर नाना प्रकारके माङ्गलिक अलंकारोंसे सुसज्जिता और भोजनादिसे तृप्त होकर अपने समीप आयी हुई उस मनोहर मुखवाली राजमहिषीका राजा पुरञ्जनने अभिनन्दन किया ॥ २ ॥ तदनन्तर परस्पर दृढ़ आलिङ्गनके द्वारा राजा पुरञ्जनने अपनी प्रियाके कन्धोंसे भेंट की और उसे आसक्त-चित्तसे एकान्तमें प्रणयमन्त्रोंद्वारा समझाते हुए उसके वशीभूत हो जानेके कारण वह कालकी रात्रि-दिवस-रूप दुस्तर गतिको भी न जान सका ॥ ३ ॥

१. प्रा० पा०—विस्रम्भपौष्य० । २. प्रा० पा०—शतितमो० । ३. प्रा० पा०—रुचिराम्बराम् ।

शयान उन्नद्धमदो महामना
महार्हतल्पे महिषीभुजोपधिः ।
तामेव वीरो मनुते परं यत-
स्तमोऽभिभूतो न निजं परं च यत् ॥ ४ ॥

महामना पुरञ्जन अपनी प्रियाकी बाहुका तकिया लगाये महामूल्य शय्यापर पड़ा रहा। बढ़े हुए मदके कारण वह वीर उसीको परम पुरुषार्थ समझता रहा, क्योंकि अज्ञानसे आवृत हो जानेके कारण उसे अपने और परब्रह्मके स्वरूपका कुछ भी पता नहीं रहा ॥ ४ ॥

तयैवं रममाणस्य कामकश्मलचेतसः ।
क्षणार्धमिव राजेन्द्र व्यतिक्रान्तं नवं वयः ॥ ५ ॥
तस्यामजनयत्पुत्रान्पुरंजन्यां पुरंजनः ।
शतान्येकादश विराडायुषोऽर्धमथात्यगात् ॥ ६ ॥
दुहितॄर्दशोत्तरशतं पितृमातृयशस्करीः ।
शीलौदार्यगुणोपेताः पौरंजन्यः प्रजापते ॥ ७ ॥
स पञ्चालपतिः पुत्रान्पितृवंशविवर्धनान् ।
दारैः संयोजयामास दुहितः सदृशैर्वरैः ॥ ८ ॥
पुत्राणां चाभवन्पुत्रा एकैकस्य शतं शतम् ।
यैर्वै पौरंजनो वंशः पञ्चालेषु समेधितः ॥ ९ ॥
तेषु तद्रिक्थहारेषु गृहकोशानुजीविषु ।
निरूढेन ममत्वेन विषयेष्वन्वबध्यत ॥१०॥
ईजे च क्रतुभिर्घोरैर्दीक्षितः पशुमारकैः ।
देवान्पितॄन्भूतपतीन्नानाकामो यथा भवान् ॥११॥
युक्तेष्वेवं प्रमत्तस्य कुटुम्बासक्तचेतसः ।
आससाद स वै कालो योऽप्रियः प्रिययोषिताम् ॥१२॥

हे राजेन्द्र ! इस प्रकार कामातुर चित्तसे उसके साथ रमण करते-करते राजा पुरञ्जनकी युवावस्था आधे क्षणके समान बीत गयी ॥ ५ ॥ हे प्रजापते ! राजा पुरञ्जनने उस स्त्रीसे ग्यारह सौ पुत्र और माता-पिताका सुयश बढ़ानेवाली तथा शील, उदारता आदि गुणोंसे सम्पन्न एक सौ दश कन्याएँ उत्पन्न कीं, जो पौरञ्जनी कहलाती थीं। इतनेहीमें उसकी विशाल आयुका आधा भाग बीत गया ॥ ६-७ ॥ फिर पाञ्चालनरेश महाराज पुरञ्जनने पिताके वंशकी वृद्धि करनेवाले उन पुत्रोंका स्त्रियोंके साथ और कन्याओंका उनके अनुरूप वरोंके साथ सम्बन्ध कर दिया ॥ ८ ॥ पुरञ्जनके पुत्रोंमेंसे प्रत्येकके सौ-सौ पुत्र हुए जिनके कारण पुरञ्जनवंश सम्पूर्ण पाञ्चालदेशमें फैल गया ॥ ९ ॥ तब अपने पुत्र, पौत्र, गृह, कोश, सेवक और देश आदिमें उत्तरोत्तर बढ़नेवाली ममतासे राजा पुरञ्जन उन विषयोंमें बँध गया ॥ १० ॥ और फिर तुम्हारे समान नाना प्रकारके भोगोंकी कामनासे उसने यज्ञकी दीक्षा ले अनेकों पशुहिंसामय भयंकर यज्ञोंद्वारा देवता, पितृ और भूतपतियोंकी आराधना की ॥११॥ इस प्रकार, परमार्थ-साधनमें असावधान रहकर अपने कुटुम्बमें ही आसक्तचित्त रहनेवाले राजा पुरञ्जनको वह वृद्धावस्थाका समय उपस्थित हुआ, जो स्त्रीलोलुप पुरुषोंको अत्यन्त अप्रिय होता है ॥ १२ ॥

चण्डवेग इति ख्यातो गन्धर्वाधिपतिर्नृप ।
गन्धर्वास्तस्य बलिनः षष्ट्युत्तरशतत्रयम् ॥१३॥
गन्धर्व्यस्तादृशीरस्य मैथुन्यश्च सितासिताः ।
परिवृत्त्या विलुम्पन्ति सर्वकामविनिर्मिताम् ॥१४॥

हे राजन् ! चण्डवेग नामक एक गन्धर्वोंका राजा था। उसके अधीन तीन सौ साठ महाबलवान् गन्धर्व थे ॥ १३ ॥ उन गन्धर्वोंके साथ शुक्ल और कृष्ण वर्णकी उतनी ही गन्धर्वियाँ थीं जो सम्पूर्ण भोगसामग्रियोंसे युक्त राजा पुरञ्जनकी पुरीको घेरकर उसे निरन्तर लूट रही थीं ॥ १४ ॥

१. प्रा० पा०—बुधो । २. प्रा० पा०—मजीजनत् । ३. प्रा० पा०—पाञ्चाल० । ४. प्रा० पा०—विषयानन्व० । ५. प्राचीन प्रतिमें ११ वाँ श्लोक नहीं है । ६. प्रा० पा०—आससादाथ वै ।

ते चण्डवेगानुचराः पुरंजनपुरं[1] यदा ।
हर्तुमारेभिरे तत्र प्रत्यषेधत्प्रजागरः ॥१५॥
स सप्तभिः शतैरेको विंशत्या च शतं समाः ।
पुरंजनपुराध्यक्षो गन्धर्वैर्युयुधे बली ॥१६॥
क्षीयमाणे स्वसम्बन्धे एकस्मिन्बहुभिर्युधा ।
चिन्तां परां जगामार्तः सराष्ट्रपुरबान्धवः ॥१७॥
स एव पुर्यां मधुभुक्पञ्चालेषु स्वपार्षदैः ।
उपनीतं[2] बलिं गृह्णन्स्त्रीजितो नाविदद्भयम् ॥१८॥

इस प्रकार जब गन्धर्वराज चण्डवेगके अनुचर राजा पुरञ्जनके नगरको लूटने लगे तो प्रजागर नामवाले उस पाँच फनके सर्पने उन्हें रोका ॥ १५ ॥ हे राजन् ! पुरञ्जनपुरीकी रक्षा करनेवाला वह महा बलवान् सर्प सौ वर्षतक अकेला ही उन सातसौ बीस गन्धर्वोंसे युद्ध करता रहा ॥ १६ ॥ इस प्रकार बहुतसे योद्धाओंके साथ अकेले ही युद्ध करनेवाले अपने एकमात्र सम्बन्धी उस सर्पको बलहीन हुआ देख अपने राष्ट्र और नगरका हित चाहनेवाला राजा पुरञ्जन घबड़ाकर बड़ी चिन्तामें पड़ गया ॥ १७ ॥ इतने दिनोंतक वह अपने दूतोंद्वारा लाये हुए करको स्वीकारकर पाञ्चाल देशके भीतर अपनी पुरीमें ही रहकर नाना प्रकारके क्षुद्र विषयोंको भोगता रहा । स्त्रीके वशीभूत होनेके कारण उसे इस आपत्तिका कुछ भी पता न चला ॥ १८ ॥

कालस्य दुहिता काचित्त्रिलोकीं वरमिच्छती ।
पर्यटन्ती न बर्हिष्मन्प्रत्यनन्दत कश्चन ॥१९॥
दौर्भाग्येनात्मनो[3] लोके विश्रुता दुर्भगेति सा ।
यां तुष्टा राजर्षये तु[4] वृतादात्पूरवे वरम् ॥२०॥
कदाचिदटमाना सा ब्रह्मलोकान्महीं गतम् ।
वव्रे बृहद्व्रतं मां तु जानती काममोहिता ॥२१॥
मयि संरभ्य विपुलमदाच्छापं सुदुःसहम् ।
स्थातुमर्हसि नैकत्र मद्याच्ञाविमुखो मुने ॥२२॥

हे बर्हिष्मन् ! [इसी समय उसपर एक दूसरा संकट भी उपस्थित हुआ] कालकी एक पुत्री अपने लिये अनुरूप पति खोजती-खोजती सम्पूर्ण त्रिलोकीमें फिरी, किन्तु उसे किसीने स्वीकार न किया ॥ १९ ॥ वह बड़ी भाग्यहीना होनेके कारण लोकमें 'दुर्भगा' नामसे विख्यात थी । एक बार उसे राजर्षि पुरुने वरा था * इसलिये उसने उन्हें प्रसन्न होकर राज्यप्राप्तिका वर दिया था ॥ २० ॥ एक बार जब मैं ब्रह्मलोकसे पृथिवीपर आया तब मुझे नैष्ठिक ब्रह्मचारी जानकर भी उस घूमती हुई कालकन्याने कामातुर होनेके कारण मुझे पतिरूपसे वरना चाहा ॥ २१ ॥ [किन्तु जब मैंने उसकी प्रार्थना स्वीकार न की तो] उसने अत्यन्त क्रोधित होकर मुझे यह दुःसह महाशाप दिया—'हे मुने ! तुमने मेरी प्रार्थना स्वीकार नहीं की, इसलिये तुम एक स्थानपर अधिक समयतक न ठहर सकोगे' ॥ २२ ॥

ततो विहतसंकल्पा[6] कन्यका यवनेश्वरम् ।
मयोपदिष्टमासाद्य वव्रे नाम्ना भयं पतिम् ॥२३॥

तब मेरी ओरसे निराश हो उस कालकन्याने मेरे कहनेसे भय नामक यवनराजके पास जा उसे पतिरूपसे वरण करते हुए कहा ॥ २३ ॥

१. प्रा० पा०—पुरीं । २. प्रा० पा०—उपानीतं । ३. प्रा० पा०—दौर्भगेन । ४. प्रा० पा०—या संतुष्टा । ५. प्राचीन प्रतिमें 'तु' इतना अंश नहीं है । ६. प्रा० पा०—विगतसं० ।

* पुरुने अपने पिता ययातिकी वृद्धावस्था स्वीकार की थी । यहाँ उसीसे अभिप्राय है ।

ऋषभं यवनानां त्वां वृणे वीरेप्सितं पतिम् ।
संकल्पस्त्वयि भूतानां कृतः किल न रिष्यति ॥२४॥
द्वाविमावनुशोचन्ति बालावसदवग्रहौ ।
यल्लोकशास्त्रोपनतं न राति न तदिच्छति ॥२५॥
अथो भजस्व मां भद्र भजतीं मे दयां कुरु ।
एतावान्पौरुषो धर्मो यदार्ताननुकम्पते ॥२६॥

"हे वीर ! आप यवनश्रेष्ठको मैं अपना मनमाना पति बनाना चाहती हूँ । [अतः मुझे आशा है आप मेरी प्रार्थना अवश्य स्वीकार करेंगे] क्योंकि आपके प्रति किया हुआ प्राणियोंका संकल्प कभी विफल नहीं होता ॥२४॥ जो मनुष्य लोक अथवा शास्त्रविहित दान नहीं देता अथवा जो लोक और शास्त्रविधिसे अधिकारी होकर भी ऐसा दान ग्रहण नहीं करता वे दोनों ही दुराग्रही मूढ़ पुरुष अन्तमें पछताते हैं ॥२५॥ हे भद्र ! मैं आपकी सेवाके लिये उपस्थित हुई हूँ, आप भी मुझे स्वीकार कर अनुगृहीत कीजिये । पुरुषका सबसे बड़ा धर्म यही है कि दीनोंपर दया करे" ॥२६॥

कालकन्योदितवचो निशम्य यवनेश्वरः ।
चिकीर्षुर्[1]देवगुह्यं स सस्मितं तामभाषत ॥२७॥
मया निरूपितस्तुभ्यं पतिरात्मसमाधिना ।
नाभिनन्दति लोकोऽयं त्वामभद्रामसंमताम् ॥२८॥
त्वमव्यक्तगतिर्भुङ्क्ष्व लोकं कर्मविनिर्मितम् ।
याहि मे पृतनायुक्ता प्रजानाशं प्रणेष्यसि ॥२९॥
प्रज्वारोऽयं मम भ्राता त्वं च मे भगिनी भव ।
चराम्युभाभ्यां लोकेऽस्मिन्नव्यक्तो भीमसैनिकः ३०

कालकन्याके ये वचन सुन यवनराजने विधाताका एक गुप्त कार्य करानेकी इच्छासे उससे मन्द-मन्द मुसकाते हुए कहा—॥२७॥ "हे कालकन्ये ! मैंने योगदृष्टिद्वारा तेरे लिये एक पति निश्चित किया है । तू सबका अनिष्ट करनेवाली है इसलिये तू किसीको प्रिय नहीं है और इसीसे तुझे यह लोक स्वीकार नहीं करता ॥२८॥ अतः तू इस कर्मजनित लोकको बलात्कारसे गुप्तरूपसे भोग । तू मेरी सेनाके सहित जा । तेरेद्वारा सम्पूर्ण प्रजाका नाश होगा ॥२९॥ यह प्रज्वार नामक मेरा भाई है और तू मेरी बहिन हो । तुम दोनोंके साथ मैं भयंकर सेनाके सहित अव्यक्तगतिसे सम्पूर्ण लोकमें विचरूँगा" ॥३०॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे चतुर्थस्कन्धे
पुरंजनोपाख्याने [2]सप्तविंशोऽध्यायः ॥२७॥

१. प्रा० पा०—चिकीर्षितं देवगुह्यं सस्मितां ता० । २. प्रा० पा०—पञ्चविंशतितमो० ।

अट्ठाईसवाँ अध्याय

पुरञ्जनको स्त्री-योनिकी प्राप्ति और अज्ञातके उपदेशसे मोक्षकी प्राप्ति

नारद उवाच

सैनिका भयनाम्नो ये बर्हिष्मन् दिष्टकारिणः ।
प्रज्वारकालकन्याभ्यां विचेरुरवनीमिमाम् ॥ १ ॥
त एकदा तु रभसा पुरंजनपुरीं नृप ।
रुरुधुर्भीमभोगाढ्यां जरत्पन्नगपालिताम् ॥ २ ॥
कालकन्यापि बुभुजे पुरंजनपुरं बलात् ।
ययाभिभूतः[1] पुरुषः सद्यो निःसारतामियात् ॥ ३ ॥
तयोपभुज्यमानां वै यवनाः सर्वतोदिशम् ।
द्वार्भिः प्रविश्य सुभृशं प्रार्दयन्सकलां पुरीम् ॥ ४ ॥
तस्यां प्रपीड्यमानायामभिमानी पुरंजनः ।
अवापोरुविधांस्तापान्कुटुम्बी[2] ममताकुलः ॥ ५ ॥
कन्योपगूढो नष्टश्रीः कृपणो विषयात्मकः ।
नष्टप्रज्ञो हृतैश्वर्यो गन्धर्वयवनैर्बलात् ॥ ६ ॥
विशीर्णां स्वपुरीं वीक्ष्य प्रतिकूलाननादृतान् ।
पुत्रान्पौत्रानुगामात्याञ्जायां च गतसौहृदाम् ॥ ७ ॥
आत्मानं कन्यया ग्रस्तं पञ्चालानरिदूषितान् ।
दुरन्तचिन्तामापन्नो न लेभे तत्प्रतिक्रियाम् ॥ ८ ॥
कामानभिलषन्दीनो यातयामांश्च कन्यया ।
विगतात्मगतिस्नेहः पुत्रदारांश्च लालयन् ॥ ९ ॥
गन्धर्वयवनाक्रान्तां कालकन्योपमर्दिताम् ।
हातुं प्रचक्रमे राजा[3] तां पुरीमनिकामतः ॥१०॥
भयनाम्नोऽग्रजो भ्राता प्रज्वारः प्रत्युपस्थितः ।
ददाह तां पुरीं कृत्स्नां भ्रातुः प्रियचिकीर्षया ॥११॥

नारदजी बोले—हे प्राचीनबर्हि ! फिर भय नामक यवनराजके आज्ञाकारी सैनिकगण प्रज्वार और कालकन्याके सहित इस पृथिवीतलपर विचरने लगे ॥१॥ हे राजन् ! एक बार उन्होंने बड़े वेगसे, वृद्ध सर्पसे सुरक्षित तथा पृथिवीके सम्पूर्ण भोगोंसे सम्पन्न पुरञ्जननगरको घेर लिया ॥२॥ तब, जिसके चंगुलमें फँसकर मनुष्य शीघ्र ही निःसार हो जाता है वह कालकन्या भी बलात्कारसे पुरञ्जनपुरीको भोगने लगी ॥३॥ उस समय वे यवनलोग भी उसके द्वारा भोगी जाती हुई उसी पुरीमें चारों ओरसे भिन्न-भिन्न द्वारोंसे घुसकर उसका विध्वंस करने लगे ॥४॥ पुरीको इस प्रकार पीडित होती देख उसके स्वामित्वका अभिमान रखनेवाले महान् कुटुम्बी राजा पुरञ्जनको ममतावश नाना प्रकारके संताप होने लगे ॥५॥

फिर कालकन्याके आलिङ्गन करनेसे तथा गन्धर्व और यवनोंकी सेनाके आक्रमणसे श्रीहीन, कृपण, विषयग्रस्त, बुद्धिहीन और ऐश्वर्यहीन हुआ राजा पुरञ्जन, अपनी पुरीको नष्ट-भ्रष्ट, पुत्र-पौत्र-भृत्य और मन्त्रियोंको प्रतिकूल तथा अनादर करनेवाले, स्त्रीको स्नेहशून्य, अपनेको कालकन्यासे ग्रस्त और पाञ्चालनिवासियोंको शत्रुओंके हाथमें पड़कर भ्रष्ट हुए देख अपार चिन्तामें डूब गया, और उससे छुटकारा पानेका कोई उपाय न निकाल सका ॥६–८॥ तब अपनी पारलौकिक गति और स्नेहसे शून्य हो पुत्र और स्त्रीका लालन करनेवाले राजा पुरञ्जनने कालकन्याके सेवन करनेसे सारहीन हुए विषयोंकी इच्छासे दीन हो, गन्धर्व और यवनोंसे घिरी हुई तथा कालकन्यासे पीडित उस पुरीको, इच्छा न होनेपर भी, त्यागनेका विचार किया ॥९-१०॥ इतनेहीमें भय नामक यवनराजके बड़े भाई प्रज्वारने वहाँ पहुँचकर अपने भाईका प्रिय करनेकी इच्छासे उस सम्पूर्ण पुरीको जला दिया ॥ ११ ॥

१. प्रा०पा०—ययातिभू० । २. प्रा० पा०—आवापो० । ३—प्रा० पा०—राजन् तां पुरीमभिनिकामतः ।

तस्यां संदह्यमानायां सपौरः सपरिच्छदः ।
कौटुम्बिकः कुटुम्बिन्या उपातप्यत सान्वयः ॥१२॥
यवनोपरुद्धायतनो ग्रस्तायां कालकन्यया ।
पुर्यां प्रज्वारसंसृष्टः पुरपालोऽन्वतप्यत ॥१३॥
न शेके सोऽवितुं तत्र पुरुकृच्छ्रोरुवेपथुः ।
गन्तुमैच्छत्ततो वृक्षकोटरादिव सानलात् ॥१४॥
शिथिलावयवो यर्हि गन्धर्वैर्हृतपौरुषः ।
यवनैररिभी राजन्नुपरुद्धो[1] रुरोद ह ॥१५॥

दुहितॄः पुत्रपौत्रांश्च जामिजामातृपार्षदान्[2] ।
स्वत्वावशिष्टं यत्किञ्चिद् गृहकोशपरिच्छदम् ॥१६॥
अहं ममेति स्वीकृत्य[3] गृहेषु कुमतिर्गृही ।
दध्यौ प्रमदया दीनो विप्रयोग उपस्थिते ॥१७॥
लोकान्तरं गतवति मय्यनाथा कुटुम्बिनी ।
वर्तिष्यते कथं त्वेषा[4] बालकाननुशोचती ॥१८॥
न मय्यनाशिते भुङ्क्ते नास्नाते स्नाति मत्परा ।
मयि रुष्टे सुसंत्रस्ता[5] भर्त्सिते यतवाग्भयात् ॥१९॥
प्रबोधयति माविज्ञं व्युषिते शोककर्शिता ।

जिस समय वह पुरी जलने लगी उस समय पुरवासी, सेवकगण, कुटुम्बके लोग, कुटुम्बकी स्वामिनी भार्या और अपनी सन्तानके सहित उसे अत्यन्त दुःख हुआ ॥१२॥ इस प्रकार उस पुरीको कालकन्यासे व्याप्त और अपने निवासस्थानको यवनोंके हाथमें गया देख प्रज्वारके उपद्रवसे पीडित वह पुरीकी रक्षा करनेवाला सर्प अत्यन्त पीडित हुआ ॥१३॥ और जब वह उस नगरकी रक्षा करनेमें सर्वथा असमर्थ हो गया तो महान् कष्टके कारण अत्यन्त काँपते हुए उसने वहाँसे निकल जानेकी इच्छा की जैसे जलते हुए वृक्षके कोटरमें रहनेवाला सर्प उससे निकल जाना चाहता है ॥१४॥ हे राजन्! जिसके पुरुषार्थको गन्धर्वोंने नष्ट कर दिया था तथा जिसके सब अंग-उपांग ढीले पड़ गये थे उस सर्पने ज्यों ही वहाँसे जानेकी तैयारी की त्यों ही यवनोंने उसे रोक लिया । इससे वह (दुःखी होकर) रोने लगा ॥१५॥

इसी समय अपने कुटुम्बसे वियोग होनेका अवसर उपस्थित हुआ देख, स्त्रीके वशीभूत होनेसे अत्यन्त दीन और गृह आदिमें 'मैं-मेरापन' का भाव रखनेसे अत्यन्त बुद्धिहीन हुआ वह गृहस्थाश्रमी राजा पुरञ्जन पुत्री, पुत्र, पौत्र, पुत्रवधू, जामाता, सेवक और अपने करके माने हुए जो कुछ भी घर, कोश तथा अन्यान्य पदार्थ थे उनके लिये इस प्रकार चिन्ता करने लगा— ॥१६-१७॥ "हाय ! मेरे परलोक चले जानेपर यह बड़े भारी कुटुम्बवाली मेरी भार्या अनाथा होकर अपने बाल-बच्चोंकी चिन्तासे ग्रस्त रहकर किस प्रकार अपना निर्वाह करेगी ? ॥१८॥ यह सर्वदा मेरी सेवामें तत्पर रहती है । मेरे भोजन किये बिना कभी भोजन नहीं करती और स्नान किये बिना स्नान नहीं करती । जब कभी मैं रूठ जाता हूँ तो यह बड़ी भयभीत हो जाती है और यदि झिड़कने लगता हूँ तो डरके मारे चुपचाप रह जाती है ॥१९॥ जब मुझसे कोई भूल हो जाती है तो यह मुझे सचेत कर देती है और जब मैं परदेश चला जाता हूँ तो मेरी विरहव्यथासे अत्यन्त दुर्बल हो

१. प्रा० पा०—राजन्नररुद्धो । २. प्रा० पा०—जामातृमित्रपार्षदान् । ३. प्रा० पा०—ममेतिसात्कृत्वा । ४. प्रा० पा०—त्वेका । ५. प्रा० पा०—तु संत्र० ।

वर्त्मैतद्गृहमेधीयं वीरसूरपि[1] नेष्यति ॥२०॥
कथं नु दारका दीना दारकीर्वा परायणाः ।
वर्तिष्यन्ते मयि गते[2] भिन्ननाव इवोदधौ ॥२१॥

जाती है । सो, यद्यपि यह वीरमाता है, तो भी मेरे पीछे क्या यह गृहस्थाश्रमके व्यवहारको चला सकेगी ? ॥२०॥ समुद्रमें नावके टूट जानेपर जैसे उसके पथिक व्याकुल हो जाते हैं उसी प्रकार मेरे परलोक चले जानेपर जिनका कोई सहारा नहीं है ऐसे मेरे पुत्र और पुत्री अत्यन्त दीन होकर किस प्रकार जीवन धारण करेंगे ?" ॥२१॥

एवं कृपणया बुद्ध्या शोचन्तमतदर्हणम् ।
ग्रहीतुं कृतधीरेनं भयनामाभ्यपद्यत ॥२२॥
पशुवद्यवनैरेष नीयमानः स्वकं क्षयम् ।
अन्वद्रवन्ननुपथाः शोचन्तो भृशमातुराः ॥२३॥
पुरीं विहायोपगत उपरुद्धो भुजङ्गमः ।
यदा तमेवानु पुरी विशीर्णा प्रकृतिं गता ॥२४॥
विकृष्यमाणः प्रसभं यवनेन बलीयसा ।
नाविन्दत्तमसाविष्टः सखायं सुहृदं पुरः ॥२५॥

इस प्रकार दीनबुद्धिसे अपने स्त्री-पुत्रादिके लिये शोकाकुल, किन्तु स्वयं शोक करनेके अयोग्य राजा पुरञ्जनको पकड़नेके लिये वहाँ भय नामक यवनराज आया ॥२२॥ जब यवनगण उसे पशुके समान बाँधकर अपने स्थानको ले चले तो उसके अनुचरगण अति आतुरतापूर्वक शोकाकुल हो उसके पीछे-पीछे चलने लगे ॥२३॥ इसी समय यवनों-द्वारा रोका हुआ वह सर्प भी नगरसे निकलकर उसके साथ हो लिया । उसके जाते ही वह नगर छिन्न-भिन्न होकर अपने कारणमें लीन हो गया ॥२४॥ इस प्रकार महाबली यवनराजके बलपूर्वक खींचनेपर भी राजा पुरञ्जनने अज्ञानवश अपने परम हितकारी और पुराने मित्र अज्ञातका स्मरण नहीं किया ॥२५॥

तं यज्ञपशवोऽनेन संज्ञप्ता येऽदयालुना ।
कुठारैश्चिच्छिदुः क्रुद्धाः स्मरन्तोऽमीवमस्य तत्[3] ॥२६॥
अनन्तपारे तमसि मग्नो नष्टस्मृतिः समाः ।
शाश्वतीरनुभूयार्तिं प्रमदासङ्गदूषितः ॥२७॥
तामेव मनसा गृह्णन्बभूव प्रमदोत्तमा ।
अनन्तरं[4] विदर्भस्य राजसिंहस्य वेश्मनि ॥२८॥
उपयेमे वीर्यपणां वैदर्भीं मलयध्वजः ।
युधि निर्जित्य राजन्यान्पाण्ड्यः परपुरंजयः ॥२९॥
तस्यां स जनयांचक्र आत्मजामसितेक्षणाम् ।

तदनन्तर, उस निर्दयी राजाने जिन यज्ञपशुओंकी बलि दी थी वे उससे प्राप्त हुई पीडाका स्मरणकर उसे क्रोधपूर्वक कुठारोंसे काटने लगे ॥२६॥ इस प्रकार, स्त्रीके संगसे जिसकी बुद्धि भ्रष्ट हो गयी थी वह राजा पुरञ्जन अनन्त और अपार अन्धकारमें डूबा रहनेसे अनेकों वर्षतक ज्ञानहीन रह अन्तमें उस स्त्रीका ही चिन्तन रहनेसे विदर्भदेशीय राज-श्रेष्ठके यहाँ एक स्त्रीरत्न होकर उत्पन्न हुआ ॥२७-२८॥ तदनन्तर पुरुषार्थसे ही प्राप्त होनेयोग्य उस विदर्भनन्दिनीको शत्रुओंके पुरोंको जीतनेवाले पाण्ड्यनरेश महाराज मलयध्वजने युद्धमें और सब राजाओंको जीतकर विवाहा ॥२९॥ फिर महाराज मलयध्वजने उस विदर्भकुमारीके गर्भसे एक श्याम-

१. प्रा० पा०—रभिनेष्यति । २. प्रा० पा०—मृते । ३. प्रा० पा०—यत् । ४. प्राचीन प्रतिमें 'अनन्तरं' इत्यादि २८ वें श्लोकका उत्तरार्ध भाग नहीं है ।

यवीयसः सप्त सुतान्सप्त द्रविडभूभृतः[1] ॥३०॥
एकैकस्याभवत्तेषां राजन्नर्बुदमर्बुदम् ।
भोक्ष्यते यद्वंशधरैर्मही मन्वन्तरं परम् ॥३१॥
अगस्त्यः प्राग्दुहितरमुपयेमे धृतव्रताम् ।
यस्यां दृढच्युतो जात इध्मवाहात्मजो मुनिः ॥३२॥

लोचना कन्या और उससे छोटे सात पुत्र उत्पन्न किये जो आगे चलकर द्रविडदेशके सात राजा हुए ॥३०॥ हे राजन् ! उनमेंसे प्रत्येक पुत्रसे एक-एक अरब पुत्र उत्पन्न हुए, जिनके वंशधरोंसे यह पृथिवी मन्वन्तरके अन्तपर्यन्त तथा उससे पीछे भी भोगी जायगी ॥३१॥ राजा मलयध्वजकी व्रतपरायणा प्रथम पुत्रीके साथ अगस्त्यऋषिका विवाह हुआ, जिससे उनके दृढच्युत नामक पुत्र हुआ जिसका पुत्र इध्मवाह था ॥३२॥

विभज्य तनयेभ्यः क्ष्मां राजर्षिर्मलयध्वजः ।
आरिराधयिषुः कृष्णं स जगाम कुलाचलम् ॥३३॥
हित्वा गृहान्सुतान्भोगान्वैदर्भी मदिरेक्षणा ।
अन्वधावत पाण्ड्येशं ज्योत्स्नेव रजनीकरम् ॥३४॥
तत्र चन्द्रमसा[2] नाम ताम्रपर्णी वटोदका[3] ।
तत्पुण्यसलिलैर्नित्यमुभयत्रात्मनो मृजन् ॥३५॥
कन्दार्टिभिर्मूलफलैः पुष्पपर्णैस्तृणोदकैः[4] ।
वर्तमानः शनैर्गात्रकर्षणं तप आस्थितः ॥३६॥
शीतोष्णवातवर्षाणि क्षुत्पिपासे प्रियाप्रिये ।
सुखदुःखे इति द्वन्द्वान्यजयत्समदर्शनः ॥३७॥
तपसा विद्यया पक्वकषायो नियमैर्यमैः ।
युयुजे ब्रह्मण्यात्मानं विजिताक्षानिलाशयः ॥३८॥
आस्ते स्थाणुरिवैकत्र दिव्यं वर्षशतं स्थिरः ।
वासुदेवे भगवति नान्यद्वेदोद्वहन्रतिम् ॥३९॥
स व्यापकतयात्मानं व्यतिरिक्ततयात्मनि ।

अन्तमें राजर्षि मलयध्वज अपना राज्य पुत्रोंको बाँटकर भगवान् कृष्णकी आराधना करनेकी इच्छासे कुलाचल पर्वतपर चले गये ॥३३॥ उस समय चन्द्रिका जिस प्रकार चन्द्रदेवका अनुसरण करती है उसी प्रकार मत्तलोचना वैदर्भी अपने घर पुत्र, और समस्त भोगोंको तिलाञ्जलि दे पाण्ड्यनरेशके साथ हो ली ॥३४॥ वहाँ चन्द्रमसा, ताम्रपर्णी और वटोदका नामकी तीन नदियाँ थीं । उनके पवित्र जलमें अपने शरीरके बाहर-भीतरका मल धोते हुए वे कन्द, बीज, मूल, फल, फूल, पत्ते, तृण और जल आदिसे निर्वाह करते हुए धीरे-धीरे शरीरको सुखानेवाला कठोर तप करने लगे ॥३५-३६॥ उन समदर्शी महाराजने शीत-उष्ण, वर्षा-वायु, क्षुधा-पिपासा, प्रिय-अप्रिय और सुख-दुःख आदि द्वन्द्वोंको जीत लिया ॥३७॥ फिर तप, ज्ञान और यम-नियमादिसे वासनाओंको क्षीण करते हुए इन्द्रिय, प्राण और मनको जीतकर अपने चित्तको ब्रह्ममें लीन कर दिया ॥३८॥ इस प्रकार सौ दिव्य वर्षपर्यन्त वे स्थाणुके समान निश्चलभावसे एक स्थानपर बैठे रहे । श्रीवासुदेव भगवान्में अत्यन्त प्रीति हो जानेके कारण इतने समयतक उन्हें और कुछ भी न जान पड़ा ॥३९॥ हे राजन् ! अपने अन्तःकरणमें सब ओर स्फुरित होनेवाले विशुद्ध विज्ञानदीपकसे साक्षात् भगवान् हरिरूप गुरुके

१. प्रा० पा०—सप्तद्रुमिल० । २. प्रा० पा०—चान्द्रमसी । ३. प्रा० पा०—बहूदका । ४. प्रा० पा०—कन्दादिभि० ।

विद्वान्स्वप्न इवामर्शसाक्षिणं विरराम ह ॥४०॥
साक्षाद्भगवतोक्तेन गुरुणा हरिणा नृप ।
विशुद्धज्ञानदीपेन स्फुरता विश्वतोमुखम् ॥४१॥
परे ब्रह्मणि चात्मानं परं ब्रह्म तथात्मनि ।
वीक्षमाणो[1] विहायेक्षामस्मादुपरराम ह ॥४२॥
पतिं परमधर्मज्ञं वैदर्भी मलयध्वजम् ।
प्रेम्णा पर्यचरद्धित्वा भोगान्सा पतिदेवता ॥४३॥
चीरवासा व्रतक्षामा वेणीभूतशिरोरुहा ।
बभावुपपतिं शान्ता शिखा शान्तमिवानलम् ॥४४॥
अजानती प्रियतमं यदोपरतमङ्गना ।
सुस्थिरासनमासाद्य यथापूर्वमुपाचरत् ॥४५॥
यदा नोपालभेताङ्घ्रावुष्माणं[3] पत्युरर्चती ।
आसीत्संविग्नहृदया यूथभ्रष्टा मृगी यथा ॥४६॥
आत्मानं शोचती दीनमबन्धुं विक्लवाश्रुभिः ।
स्तनावासिच्य विपिने सुस्वरं प्ररुरोद सा ॥४७॥
उत्तिष्ठोत्तिष्ठ राजर्षे इमामुदधिमेखलाम् ।
दस्युभ्यः क्षत्रबन्धुभ्यो बिभ्यती पातुमर्हसि ॥४८॥
एवं विलपती बाला विपिनेऽनुगता पतिम् ।
पतिता पादयोर्भर्तुः रुदत्यश्रूण्यवर्तयत् ॥४९॥
चितिं[4] दारुमयीं चित्वा तस्यां पत्युः कलेवरम् ।
आदीप्य चानुमरणे विलपन्ती मनो दधे ॥५०॥

उपदेशद्वारा अपने-आपको स्वप्नप्रपञ्चके साक्षीके समान, सम्पूर्ण उपाधियोंमें व्याप्त और उनसे पृथक् जानकर राजा मलयध्वज उपरत हो गये ॥४०-४१॥ और फिर अपने आत्माको परब्रह्ममें तथा परब्रह्मको आत्मामें अभिन्नरूपसे देख इस अभेदचिन्तनको भी त्यागकर सर्वथा शान्त हो गये ॥४२॥

हे राजन् ! इस समय पतिपरायणा वैदर्भी सम्पूर्ण भोगोंको त्यागकर अपने परम धर्मज्ञ पति मलयध्वजकी बड़े प्रेमसे सेवा करती रही ॥४३॥ उसने शरीरपर चीर-वस्त्र धारण कर रखे थे, व्रत-उपवासादिके कारण उसका शरीर अत्यन्त कृश हो गया था और शिरके केश आपसमें मिलकर जटाओंमें परिणत हो गये थे । उस समय वह अपने पतिदेवके पास धूम-रहित अग्निकी शिखाके समान शान्तभावसे सुशोभित हुई ॥४४॥ उसके प्रियतम परलोकवासी हो चुके थे, किन्तु फिर भी पहलेहीके समान स्थिर आसनसे विराजमान थे । इस रहस्यको न जाननेके कारण वह उनके पास जाकर उनकी पूर्ववत् सेवा करती रही ॥४५॥ एक दिन पतिके चरणोंकी सेवा करते हुए उस अबलाको उन चरणोंमें उष्णता प्रतीत न हुई । तब वह यूथमेंसे पृथक् हो भूली हुई मृगीके समान चित्तमें अत्यन्त व्याकुल हुई ॥४६॥ उस भयंकर वनमें अपनेको बन्धुहीन और दीन अवस्थामें देख वह अति शोकाकुल हुई और आँसुओंसे स्तनोंको भिगोती हुई बड़े जोर-जोरसे रोने लगी ॥४७॥ और बोली—"हे राजर्षे ! उठो, उठो, यह समुद्रसे घिरी हुई भूमि दस्युओं और अधम राजाओंसे भयभीत हो रही है आप इसकी रक्षा कीजिये" ॥४८॥ पतिके साथ वनमें गयी हुई वह अबला इस प्रकार विलाप करती हुई पतिके चरणोंमें गिर पड़ी और रो-रोकर आँसू बहाने लगी ॥ ४९ ॥ फिर लकड़ियोंकी चिता बनाकर उसपर पतिका शरीर रक्खा और अग्नि लगा स्वयं सती होनेका निश्चय किया ॥५०॥

१. प्रा० पा०—ईक्षमाणो । २. प्रा० पा०—विहायेमामस्मा० । ३. प्रा० पा०—नोपलभे० । ४. प्रा० पा०—चितां ।

तत्र पूर्वतरः कश्चित्सखा ब्राह्मण आत्मवान् ।
सान्त्वयन्वल्गुना साम्ना तामाह रुदतीं प्रभो ॥५१॥

हे प्रभो ! इसी समय उसका कोई पुरातन (पूर्वजन्मका) मित्र एक आत्मज्ञानी ब्राह्मण वहाँ आया और उस रुदन करती हुई अबलाको मधुर वाणीसे समझाते हुए कहने लगा ॥५१॥

ब्राह्मण उवाच

का त्वं कस्यासि को वायं शयानो यस्य शोचसि ।
जानासि किं सखायं मां येनाग्रे विचचर्थ ह ॥५२॥
अपि स्मरसि चात्मानमविज्ञातसखं सखे ।
हित्वा मां पदमन्विच्छन्भौमभोगरतो गतः ॥५३॥
हंसावहं च त्वं चार्य सखायौ मानसायनौ ।
अभूतामन्तरावौकः सहस्रपरिवत्सरान् ॥५४॥
स त्वं विहाय मां बन्धो गतो ग्राम्यमतिर्महीम् ।
विचरन्पदमद्राक्षीः कयाचिन्निर्मितं स्त्रिया ॥५५॥
पञ्चारामं नवद्वारमेकपालं त्रिकोष्ठकम् ।
षट्कुलं पञ्चविपणं पञ्चप्रकृति स्त्रीधवम् ॥५६॥
पञ्चेन्द्रियार्था आरामा द्वारः प्राणा नव प्रभो ।
तेजोऽबन्नानि कोष्ठानि कुलमिन्द्रियसंग्रहः ॥५७॥
विपणस्तु क्रियाशक्तिर्भूतप्रकृतिरव्यया ।
शक्त्यधीशः पुमांस्त्वत्र प्रविष्टो नावबुध्यते ॥५८॥
तस्मिंस्त्वं रामया स्पृष्टो रममाणोऽश्रुतस्मृतिः ।
तत्सङ्गादीदृशीं प्राप्तो दशां पापीयसीं प्रभो ॥५९॥

ब्राह्मण बोला—तू कौन है ? किसकी पुत्री है ? तथा जिसके लिये तू शोक कर रही है वह यह सोया हुआ पुरुष कौन है ? क्या तू मुझ अपने मित्रको जानती है जिसके साथ पहले विचरा करती थी ॥५२॥ हे सखे ! जिसका अविज्ञात मित्र था ऐसे अपने-आपको क्या तुम जानते हो ? तुम पृथिवीके भोगोंकी इच्छासे मुझे त्यागकर चले गये थे, सो क्या तुम्हें स्मरण है ? ॥५३॥ हे आर्य ! पहले मैं और तुम दोनों ही मानसरोवर (अन्तःकरण) में रहनेवाले हंस (शुद्धस्वभाव) थे । हम दोनों एक सहस्र वर्षपर्यन्त (प्रलयकालके अन्ततक) बिना किसी निवासस्थानके ही रहते थे ॥५४॥ हे मित्र ! वे ही तुम विषयभोगोंकी इच्छासे मुझे त्यागकर चले गये और पृथिवीपर विचरते-विचरते तुमने किसी स्त्रीका रचा हुआ एक स्थान देखा ॥५५॥ जो पाँच बगीचों, नौ द्वारों, एक द्वाररक्षक, तीन परकोटों, छः इच्छित वस्तुएँ देनेवाले वैश्यों, पाँच बाजारों और पाँच उपादान कारणोंवाला था तथा जिसकी स्वामिनी एक स्त्री थी ॥५६॥ हे राजन् ! इन्द्रियोंके पाँच विषय ही उसके बगीचे थे, नौ इन्द्रिय-छिद्र द्वार थे, तेज, अप् और अन्न तीन परकोटे थे, मन और पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ छः वैश्य थे, क्रियाशक्तियुक्त कर्मेन्द्रियाँ ही बाजार थीं तथा पञ्चभूत ही कभी क्षीण न होनेवाला उपादान कारण था । हे मित्र ! (बुद्धि) शक्ति ही जिसकी स्वामिनी है ऐसे इस नगरमें प्रवेश करनेपर पुरुष अपने स्वरूपको नहीं जान पाता ॥५७-५८॥ हे समर्थ ! उस नगरमें एक रमणीपर मोहित होकर तुम उसके साथ रमण करते-करते अपने स्वरूपको भूल गये और उसीकी सङ्गतिसे तुम इस अधम अवस्थाको प्राप्त हुए ॥ ५९ ॥

१. प्राचीन प्रतिमें 'ब्राह्मण उवाच' इतना अंश नहीं है । २. प्रा० पा०—किं जानासि । ३. प्रा० पा०—विचरेम हि । ४. प्रा० पा०—पुमानत्र ।

न त्वं विदर्भदुहिता नायं वीरः सुहृत्तव ।
न पतिस्त्वं पुरंजन्या रुद्धो नवमुखे यया ॥६०॥
माया ह्येषा मया सृष्टा यत्पुमांसं स्त्रियं सतीम् ।
मन्यसे नो भयं यद्वै हंसौ पश्यावयोर्गतिम् ॥६१॥
अहं भवान्न चान्यस्त्वं त्वमेवाहं विचक्ष्व भोः ।
न नौ पश्यन्ति कवयश्छिद्रं जातु मनागपि ॥६२॥
यथा पुरुष आत्मानमेकमादर्शचक्षुषोः ।
द्विधाभूतमवेक्षेत तथैवान्तरमावयोः ॥६३॥

तुम विदर्भराजकी पुत्री नहीं हो और यह वीर मलयध्वज भी तुम्हारा सुहृद् नहीं है और जिसने तुम्हें नौ द्वारोंके नगरमें बंद किया था उस पुरञ्जनीके पति भी तुम नहीं हो ॥६०॥ तुम जो अपनेको पुरुष अथवा सती स्त्री समझते हो, यह मेरी रची हुई माया ही है । वास्तवमें तुम दोनोंमेंसे कोई भी नहीं हो, हम दोनों हंस हैं । हमारा जो वास्तविक स्वरूप है उसे तुम जानो ॥ ६१ ॥ हे मित्र ! जो मैं (ईश्वर) हूँ सो तुम (जीव) हो, तुम मुझसे अन्य नहीं हो तथा मैं भी जो तुम हो वही हूँ—ऐसा तुम निश्चय करो । बुद्धिमान् पुरुष हम दोनोंमें किसी समय थोड़ा-सा भी अन्तर नहीं देखते ॥६२॥ जिस प्रकार पुरुष अपने एक ही रूपको दर्पण और दूसरे पुरुषके नेत्रमें दो प्रकारका देखता है उसी प्रकार हम दोनोंका अन्तर है ॥६३॥

एवं स मानसो हंसो हंसेन प्रतिबोधितः ।
स्वस्थस्तद्व्यभिचारेण नष्टामाप पुनः स्मृतिम् ॥६४॥
बर्हिष्मन्नेतदध्यात्मं पारोक्ष्येण प्रदर्शितम् ।
यत्परोक्षप्रियो देवो भगवान्विश्वभावनः ॥६५॥

इस प्रकार हंस (ईश्वर) द्वारा सावधान किया जानेपर वह मानसरोवरका हंस (जीव) अपने स्वरूपमें स्थित हुआ, और उसे अपने मित्रके वियोगसे भूला हुआ आत्मज्ञान फिर प्राप्त हुआ ॥६४॥ हे प्राचीनबर्हि ! मैंने तुम्हें यह आत्मज्ञानका वर्णन परोक्ष-रूपसे सुनाया है, क्योंकि जगद्रचयिता भगवान्‌को अप्रकट वर्णन ही प्रिय है ॥६५॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे चतुर्थस्कन्धे पुरंजनोपाख्यानेऽष्टाविंशतितमोऽध्यायः ॥२८॥

१. प्रा० पा०—ततः ।

उन्तीसवाँ अध्याय

पुरञ्जनोपाख्यानका तात्पर्य

प्राचीनबर्हिरुवाच

भगवंस्ते वचोऽस्माभिर्न सम्यगवगम्यते ।
कवयस्तद्विजानन्ति न वयं कर्ममोहिताः ॥ १ ॥

राजा प्राचीनबर्हिने कहा—भगवन्! आपके वचनोंका गूढ़ अभिप्राय हमारी समझमें नहीं आता। उनका अर्थ विवेकी पुरुष ही समझ सकते हैं, हम कर्मविमोहित पुरुष उसे नहीं जान सकते [अतः उसे स्पष्ट करके समझाइये] ॥१॥

नारद उवाच

पुरुषं पुरञ्जनं विद्याद्यद्व्यनक्त्यात्मनः पुरम्[1] ।
एकद्वित्रिचतुष्पादं बहुपादमपादकम् ॥ २ ॥
योऽविज्ञाताहृतस्तस्य पुरुषस्य सखेश्वरः ।
यन्न विज्ञायते पुम्भिर्नामभिर्वा क्रियागुणैः ॥ ३ ॥
यदा जिघृक्षन्पुरुषः कार्त्स्न्येन प्रकृतेर्गुणान् ।
नवद्वारं द्विहस्ताङ्घ्रिं तत्रामनुत[2] साध्विति ॥ ४ ॥
बुद्धिं तु प्रमदां विद्यान्ममाहमिति यत्कृतम् ।
यामधिष्ठाय देहेऽस्मिन्पुमान्भुङ्क्तेऽक्षभिर्गुणान् ॥ ५ ॥
सखाय इन्द्रियगणा ज्ञानं कर्म च यत्कृतम् ।
सख्यस्तद्वृत्तयः प्राणः पञ्चवृत्तिर्यथोरगः ॥ ६ ॥
बृहद्बलं मनो विद्यादुभयेन्द्रियनायकम् ।
पञ्चालाः पञ्च विषया यन्मध्ये नवखं पुरम् ॥ ७ ॥
अक्षिणी नासिके कर्णौ मुखं शिश्नगुदाविति ।
द्वे द्वे द्वारौ बहिर्याति यस्तदिन्द्रियसंयुतः ॥ ८ ॥

श्रीनारदजी बोले—हे राजन्! पुरञ्जनको तुम *जीव* समझो जो अपने लिये एक दो तीन चार अथवा बहुतसे चरणोंवाला या बिना पैरोंका *शरीररूप* पुर तैयार करता है ॥२॥ उस जीवका जो अज्ञात नामक मित्र बताया गया है वह *ईश्वर* है, जिसका जीवोंको किसी प्रकारके नाम गुण अथवा कर्मोंसे ज्ञान नहीं होता ॥३॥ जिस समय जीवको प्राकृत गुणोंको पूर्णतया ग्रहण करनेकी इच्छा होती है उस समय वह [और सब शरीरोंकी अपेक्षा] नौ इन्द्रिय-छिद्ररूप द्वारोंवाले तथा दो हाथ और दो पैरोंवाले *मनुष्यशरीरको* ही उत्तम मानता है ॥४॥ जिसके कारण देह-इन्द्रिय आदिमें मैं और मेरेपनका भाव होता है—उस *बुद्धिको* स्त्री समझो उसके आश्रयसे ही पुरुष इस देहमें इन्द्रियोंद्वारा उनके विषयोंको भोगता है ॥५॥ जिनके द्वारा ज्ञान और कर्म होता है वे *दश इन्द्रियाँ* ही उस स्त्रीके मित्र थे, *इन्द्रियोंकी वृत्तियाँ* उसकी सखियाँ थीं तथा पाँच वृत्तियोंवाला *प्राण* नगरकी रक्षा करनेवाले पाँच फणके सर्पके समान था ॥६॥ दोनों प्रकारकी इन्द्रियोंके नायक *मनको* बृहद्बल नामक मुख्य योद्धा समझो। इन्द्रियोंके शब्द-स्पर्शादि पाँच *विषय* ही पाञ्चाल देश हैं जिनमें वह नौ द्वारोंवाला नगर बसा हुआ है ॥७॥ उस नगरमें जो एक-एक स्थानपर दो-दो द्वार बताये गये हैं वे दो *नेत्रगोलक*, दो *नासिकारन्ध्र* और दो *कर्णछिद्र* हैं, इनके सिवा *मुख*, *शिश्न* और *गुदा*—इन तीनको मिलाकर कुल नौ द्वार हैं जिनमें होकर वह जीव अपने इन्द्रियरूप मित्रोंके साथ बाहर विषयोंकी ओर जाता है ॥८॥

१. प्रा० पा०—ना पुरम्। २. प्रा० पा०—मन्यत।

अक्षिणी नासिके आस्यमिति पञ्च पुरः कृताः ।
दक्षिणा दक्षिणः कर्ण उत्तरा चोत्तरः स्मृतः ॥ ९ ॥
पश्चिमे इत्यधोद्वारौ गुदं शिश्नमिहोच्यते ।
खद्योताविर्मुखी चात्र नेत्रे एकत्र निर्मिते ।
रूपं विभ्राजितं ताभ्यां विचष्टे[2] चक्षुषेश्वरः ॥१०॥
नलिनी नालिनी नासे गन्धः सौरभ उच्यते ।
घ्राणोऽवधूतो मुख्यास्यं विपणो वाग्रसविद्रसः ॥११॥
आपणो व्यवहारोऽत्र चित्रमन्धो बहूदनम् ।
पितृहूर्दक्षिणः कर्ण उत्तरो देवहूः स्मृतः ॥१२॥
प्रवृत्तं[3] च निवृत्तं च शास्त्रं पञ्चालसंज्ञितम् ।
पितृयानं देवयानं श्रोत्राच्छ्रुतधराद्व्रजेत् ॥१३॥
आसुरी मेढ्रमर्वाग्द्वार्व्यवायो ग्रामिणां रतिः ।
उपस्थो दुर्मदः प्रोक्तो निर्ऋतिर्गुद उच्यते ॥१४॥
वैशसं नरकं पायुर्लुब्धकोऽन्धौ तु मे शृणु ।
हस्तपादौ पुमांस्ताभ्यां युक्तो याति करोति च ॥१५॥
अन्तःपुरं च हृदयं विषूचिर्मन उच्यते ।
तत्र मोहं प्रसादं वा हर्षं प्राप्नोति तद्गुणैः ॥१६॥

उनमेंसे दो *नेत्र-गोलक*, दो *नासिका-रन्ध्र* और एक *मुख*—ये पाँच पूर्वकी ओरके द्वार हैं तथा *दाहिने कानको* दक्षिणका और *बायें कानको* उत्तरका द्वार समझना चाहिये ॥९॥ नीचेकी ओरके *गुदा* और *शिश्न* ये दो पश्चिमके द्वार कहे जाते हैं । खद्योत और आविर्मुखी ये एक स्थानपर बताये हुए दो द्वार दोनों *नेत्रगोलक* हैं । रूप विभ्राजित नामका देश है जहाँ *जीव* अपने मित्र *चक्षु-इन्द्रियके* साथ [जिसे पहले द्युमान् कहा है] जाता है ॥१०॥ दोनों *नासिका-रन्ध्रोंको* नलिनी और नालिनी नामक द्वार कहा गया है और नासिकाका विषय *गन्ध* ही सौरभ देश कहा जाता है । *घ्राणेन्द्रिय* अवधूत नामक मित्र है । *मुख* मुख्यनामक द्वार है तथा उसमें रहनेवाला *वागिन्द्रिय* विपण और *रसनेन्द्रिय* रसविद् नामक मित्र हैं ॥११॥ *वाणीका व्यवहार* आपण और नाना प्रकारका *अन्न* बहूदन है । तथा *दाहिना कान* पितृहू और *बायाँ कान* देवहू कहा गया है ॥१२॥ कर्मकाण्डरूप प्रवृत्तिशास्त्र और ज्ञानकाण्डरूप निवृत्तिशास्त्र ही क्रमशः दक्षिण पाञ्चाल और उत्तर पाञ्चाल देश हैं, जिन्हें *श्रवणेन्द्रिय-रूप* अपने मित्र श्रुतधरके द्वारा सुनकर जीव क्रमशः पितृयान और देवयान मार्गको प्राप्त होता है ॥१३॥ आसुरी नामक पश्चिमद्वार *शिश्न* है; उसके द्वारा *स्त्री-प्रसंग* करना ही ग्रामक नामका देश है तथा *उपस्थेन्द्रिय* उसमें रहनेवाला दुर्मद नामक मित्र है । *गुदा* निर्ऋति नामक पश्चिमद्वार है ॥१४॥ नरक वैशस नामक देश है और *पायु-इन्द्रिय* लुब्धक नामका मित्र है । अब जो दो अन्ध बताये थे उनका तात्पर्य बताता हूँ, सुनो । हाथ और पाँव—ये ही दो अन्धे पुरुष हैं जिनकी सहायतासे जीव सब कार्य करता है और जहाँ-तहाँ जाता है ॥ १५ ॥ *हृदय* ही अन्तःपुर है । उसमें रहनेवाला *मन* ही *विषूची* नामक मन्त्री है । वह जीव उसके सत्त्वादि गुणोंके अनुसार हर्ष, शोक और मोह आदिको प्राप्त होता है ॥१६॥

१. प्रा० पा०—मिहोदिते । २. प्रा० पा०—विचक्षे । ३. प्राचीन प्रतिमें 'प्रवृत्तं च' इत्यादि तेरहवें श्लोकसे आरम्भकर बीसवें श्लोकके पूर्वार्द्धतकका अंश यहाँ नहीं, तेईसवें श्लोकके आगे लिखा है ।

यथा यथा विक्रियते गुणाक्तो विकरोति वा ।
तथा तथोपद्रष्टात्मा तद्वृत्तीरनुकार्यते ॥१७॥

वह बुद्धिरूप महिषी जिस-जिस प्रकार (स्वप्नावस्थामें) विकारको प्राप्त होती और (जागृतिमें) इन्द्रियादिको विकृत करती है, गुणोंसे लिप्त हुआ जीव उसी-उसी प्रकार उसकी वृत्तियोंका साक्षी होकर भी उनका अनुकरण करता है* ॥१७॥

देहो रथस्त्विन्द्रियाश्वः संवत्सररयो गतिः ।
द्विकर्मचक्रस्त्रिगुणध्वजः पञ्चासुबन्धुरः ॥१८॥
मनोरश्मिर्बुद्धिसूतो हृन्नीडो द्वन्द्वकूबरः ।
पञ्चेन्द्रियार्थप्रक्षेपः सप्तधातुवरूथकः ॥१९॥
आकूतिर्विक्रमो बाह्यो मृगतृष्णां प्रधावति ।
एकादशेन्द्रियचमूः पञ्चसूनाविनोदकृत् ॥२०॥

†हे राजन्! *स्वप्नशरीर* ही रथ है। उसके *इन्द्रिय*-रूप पाँच घोड़े हैं। *वर्षोंका आना-जाना* ही उसकी गति है, *पुण्य और पाप*—ये दो प्रकारके कर्म ही पहिये हैं, *तीन गुण* उसकी ध्वजा हैं और *पाँच प्राण* बन्धन हैं ॥१८॥ *मन* उसकी बागडोर है, *बुद्धि* सारथी है, *हृदय* बैठनेका स्थान है, *सुख-दुःख आदि* द्वन्द्व उसका जूआ हैं, इन्द्रियोंके पाँच *विषय* उसमें रखे हुए शस्त्र हैं तथा त्वचा आदि सात धातु उसके पर्दे हैं ॥१९॥ *कर्मेन्द्रियाँ* उसकी बाह्य गति हैं, उस स्वप्न-शरीररूप रथपर चढ़कर यह जीव मृगतृष्णाके समान मिथ्या विषयोंकी ओर दौड़ता है। *ग्यारह इन्द्रियाँ* उसकी सेना हैं जिनके द्वारा वह इन्द्रियोंके *पाँच विषयोंको* अन्यायसे पशुवध करनेके समान अनीतिपूर्वक ग्रहण करता है ॥२०॥

संवत्सरश्चण्डवेगः कालो येनोपलक्षितः ।
तस्याहानीह गन्धर्वा गन्धर्व्यो रात्रयः स्मृताः ।
हरन्त्यायुः परिक्रान्त्या षष्ट्युत्तरशतत्रयम् ॥२१॥
कालकन्या जरा साक्षाल्लोकस्तां नाभिनन्दति ।
स्वसारं जगृहे मृत्युः क्षयाय यवनेश्वरः ॥२२॥
आधयो व्याधयस्तस्य सैनिका यवनाश्वराः ।
भूतोपसर्गाशुरयः प्रज्वारो द्विविधो ज्वरः ॥२३॥

जिसके द्वारा कालका ज्ञान होता है वह *संवत्सर* ही चण्डवेग नामक गन्धर्वराज है। उसके अधीन जो गन्धर्व बताये गये हैं वे *दिन* हैं और गन्धर्वियाँ *रात्रि* हैं। वे तीन सौ साठ दिन और रात्रि चक्कर लगाते हुए मनुष्यकी आयुको हरते हैं ॥२१॥ *जरावस्था* ही साक्षात् कालकन्या है। उसे कोई भी पुरुष पसन्द नहीं करता। उसे *मृत्युरूप* यवनराजने लोकका संहार करनेके लिये बहिन मानकर स्वीकार कर लिया ॥२२॥ *मानसिक और शारीरिक क्लेश* ही उस यवनराजके आज्ञाकारी यवन सैनिक हैं तथा प्राणियोंको शीघ्र ही मृत्यु-मुखमें डालनेवाला शीत और उष्ण दो प्रकारका ज्वर प्रज्वार है ॥२३॥

एवं बहुविधैर्दुःखैर्दैवभूतात्मसंभवैः ।

हे राजन्! इस प्रकार यह देहाभिमानी जीव वस्तुतः निर्गुण होकर भी अज्ञानसे आच्छादित हो

* अर्थात् उन वृत्तियोंको अपनी ही मानने लगता है। † अब जिस शीघ्रगामी रथपर चढ़कर राजा पुरञ्जन मृगयाके लिये गया था, उसका तात्पर्य बताते हैं।

क्लिश्यमानः शतं वर्षं देहे देही तमोवृतः ॥२४॥
प्राणेन्द्रियमनोधर्मानात्मन्यध्यस्य निर्गुणः ।
शेते कामलवान्ध्यायन्ममाहमिति कर्मकृत् ॥२५॥
यदात्मानमविज्ञाय भगवन्तं परं गुरुम् ।
पुरुषस्तु विषज्जेत गुणेषु प्रकृतेः स्वदृक् ॥२६॥
गुणाभिमानी स तदा कर्माणि कुरुतेऽवशः ।
शुक्लं कृष्णं लोहितं वा[1] यथा कर्माभिजायते ॥२७॥
शुक्लात्प्रकाशभूयिष्ठाँल्लोकानाप्नोति[2] कर्हिचित् ।
दुःखोदर्कान् क्रियायासांस्तमःशोकोत्कटान्क्वचित् २८
क्वचित्पुमान्क्वचिच्च स्त्री क्वचिन्नोभयमन्दधीः ।
देवो मनुष्यस्तिर्यग्वा यथाकर्म[3]गुणं भवः ॥२९॥
क्षुत्परीतो यथा दीनः सारमेयो गृहं गृहम् ।
चरन्विन्दति यद्दिष्टं दण्डमोदनमेव वा ॥३०॥
तथा कामाशयो जीव उच्चावचपथा भ्रमन् ।
उपर्यधो वा मध्ये वा याति[4] दिष्टं प्रियाप्रियम् ॥३१॥
दुःखेष्वेकतरेणापि दैवभूतात्महेतुषु ।
जीवस्य न व्यवच्छेदः स्याच्चेत्तत्प्रतिक्रिया ॥३२॥
यथा हि पुरुषो भारं शिरसा गुरुमुद्वहन् ।

प्राण, इन्द्रिय और मन आदिके धर्मोंको अपनेमें आरोपित-कर, मैं और मेरेपनके अभिमानसे बँधकर क्षुद्र विषय-भोगोंकी इच्छासे नाना प्रकारके कर्म करता हुआ इस शरीरमें भाँति-भाँतिके आधिदैविक, आधिभौतिक और आध्यात्मिक दुःखोंसे क्लेश पाता हुआ सौ वर्षतक पड़ा रहता है ॥२४-२५॥ और अपने आत्मा परमगुरु श्रीभगवान्‌को न जाननेसे वह जीव स्वयंप्रकाश होकर भी प्रकृतिके गुणोंमें लिप्त हो जाता है ॥२६॥ फिर उन गुणोंका अभिमानी होनेसे वह विवश होकर सात्त्विक, राजस और तामस कर्म करता है, और अपने कर्मोंके अनुसार भिन्न-भिन्न योनियोंमें जन्म लेता है ॥२७॥ इसलिये वह जीव कभी तो प्रकाश-बहुल स्वर्गादि सात्त्विक लोकोंमें जाता है, कभी दुःखमय मनुष्यादि रजोगुणी लोकोंमें उत्पन्न होता है जहाँ उसे क्रिया-कलापका क्लेश उठाना पड़ता है और कभी शोकबहुल तमोमयी तिर्यक् आदि योनियोंको प्राप्त होता है ॥ २८ ॥ वह विवेकबुद्धिशून्य प्राणी कभी पुरुष, कभी स्त्री और कभी नपुंसक होता है; वह कभी देवयोनिमें, कभी मनुष्ययोनिमें और कभी तिर्यग्योनिमें जन्म लेता है। इस प्रकार उसे कर्म और गुणोंके अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकारके जन्म मिलते रहते हैं ॥२९॥ जिस प्रकार भूखसे व्याकुल और दीन हुआ कुत्ता घर-घर फिरता हुआ अपने प्रारब्धानुसार कहीं लाठी और कहीं भात खाता है, उसी प्रकार विविध प्रकार-की वासनाओंसे बँधा हुआ जीव ऊँचे-नीचे मार्गसे उत्तम, अधम अथवा मध्य योनियोंमें भ्रमता हुआ इष्ट-अनिष्ट प्रारब्ध भोगता है ॥३०-३१॥

यदि कहो कि उन दुःखोंको दूर करनेका उपाय करनेसे उनसे छुटकारा भी तो मिल सकता है, तो यह बात नहीं है; क्योंकि आधिदैविक, आधिभौतिक और आध्यात्मिक—तीन प्रकारके दुःखोंमेंसे किसी एक-से भी जीवका सर्वथा छुटकारा हो ही नहीं सकता ॥३२॥ जिस प्रकार बोझेको शिरपर रखकर ले जानेवाला पुरुष, शिरकी पीड़ासे छूटनेके लिये उसे

१. प्रा० पा०—च यथा संभिजायते । २. प्रा० पा०—ल्लोकान् प्राप्नोति । ३. प्रा० पा०—कर्तृगुणं । ४. प्रा० पा०—यावदिष्टं ।

तं स्कन्धेन स आधत्ते तथा सर्वाः प्रतिक्रियाः ॥३३॥

नैकान्ततः प्रतीकारः कर्मणां कर्म केवलम् ।
द्वयं ह्यविद्योपसृतं स्वप्ने स्वप्न इवानघ ॥३४॥

अर्थे ह्यविद्यमानेऽपि संसृतिर्न निवर्तते ।
मनसा लिङ्गरूपेण स्वप्ने विचरतो यथा ॥३५॥

कन्धेपर रख लेता है उसी प्रकार दुःखसे छूटनेके सारे उपाय हैं* ॥३३॥ हे निष्पाप ! जिस प्रकार स्वप्नमें होनेवाला स्वप्नान्तर उस स्वप्नसे छूटनेका उपाय नहीं है उसी प्रकार कर्मफलके भोगसे सर्वथा छूटनेका साधन केवल कर्म नहीं है, क्योंकि दोनों ही (कर्म) अविद्याजन्य हैं ॥३४॥ जिस प्रकार मनोमय लिङ्गशरीरसे स्वप्नमें विचरनेवाले प्राणीको स्वप्नके पदार्थ वास्तवमें न होनेपर भी भासते रहते हैं उसी प्रकार देह अन्तःकरण आदि अनात्म-पदार्थ वास्तवमें न होनेपर भी उनमें अभिमान करनेवाले जीवका जन्म-मरणरूप संसार निवृत्त नहीं होता ॥३५॥

अथात्मनोऽर्थभूतस्य यतोऽनर्थपरम्परा ।
संसृतिस्तद्व्यवच्छेदो भक्त्या परमया गुरौ ॥३६॥
वासुदेवे भगवति भक्तियोगः समाहितः ।
सध्रीचीनेन वैराग्यं ज्ञानं च जनयिष्यति ॥३७॥
सोऽचिरादेव राजर्षे स्यादच्युतकथाश्रयः ।
शृण्वतः श्रद्दधानस्य नित्यदा स्यादधीयतः ॥३८॥
यत्र भागवता राजन्साधवो विशदाशयाः ।
भगवद्गुणानुकथनश्रवणव्यग्रचेतसः ॥३९॥
तस्मिन्महन्मुखरिता मधुभिच्चरित्र-
पीयूषशेषसरितः परितः स्रवन्ति ।
ता ये पिबन्त्यवितृषो नृप गाढकर्णै-
स्तान्न स्पृशन्त्यशनतृड्भयशोकमोहाः ॥४०॥
एतैरुपद्रुतो नित्यं जीवलोकः स्वभावजैः ।
न करोति हरेर्नूनं कथामृतनिधौ रतिम् ॥४१॥

अतः जिसके कारण परमार्थस्वरूप आत्माको नाना प्रकारके अनर्थोंकी प्राप्ति करानेवाला जन्म-मरणरूप संसारचक्र प्राप्त होता है उस अज्ञानका नाश गुरुदेवमें परम भक्ति होनेसे हो सकता है ॥३६॥ भगवान् वासुदेवमें एकाग्रतापूर्वक सम्यक् प्रकारसे किया हुआ भक्ति-भाव वैराग्य और ज्ञानको उत्पन्न करता है ॥३७॥ हे राजर्षे ! भगवान् अच्युतकी कथाके आश्रय रहनेवाला वह भक्तियोग नित्यप्रति श्रद्धापूर्वक भगवत्-कथाओंको सुनने और कहनेवाले पुरुषोंको शीघ्र ही प्राप्त हो जाता है ॥३८॥ हे राजन् ! जहाँ भगवान्के गुणोंको कहने-सुननेमें व्यग्रचित्त हुए उदारहृदय और साधुस्वभाव भक्तजन रहते हैं, उस भक्तमण्डलीमें, महापुरुषोंके मुखसे निकले हुए श्रीमधुसूदन भगवान्के चरित्ररूप अमृतसे भरी हुई अनेकों नदियाँ बहती हैं । हे राजन् ! जो लोग अतृप्त होकर अपने कर्णपुटोंसे उस अमृतका छककर पान करते हैं उन्हें भूख-प्यास, भय-शोक और मोह आदि कुछ भी बाधा नहीं पहुँचा सकते ॥३९-४०॥ हे राजन् ! जन्म-जन्मान्तरके संस्कारोंसे स्वभावसे ही प्राप्त हुए इन क्षुधा-पिपासा आदि विघ्नोंके वशीभूत हुआ यह जीवसमुदाय श्रीहरिके कथामृतसिन्धुमें प्रेम नहीं करता ॥ ४१ ॥

१. प्रा० पा०—तोयसरितः ।

* अर्थात् जैसे बोझेको कन्धेपर रख लेनेसे शिरका दुःख तो दूर हो जाता है परन्तु कन्धेमें पीड़ा होने लगती है उसी प्रकार एक दुःखसे छूटनेका उपाय करनेपर मनुष्य-को दूसरे दुःखका सामना करना ही पड़ता है ।

प्रजापतिपतिः साक्षाद्भगवान्गिरिशो मनुः ।
दक्षादयः प्रजाध्यक्षा नैष्ठिकाः सनकादयः ॥४२॥
मरीचिरत्र्यङ्गिरसौ पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः ।
भृगुर्वसिष्ठ इत्येते मदन्ता ब्रह्मवादिनः ॥४३॥
अद्यापि वाचस्पतयस्तपोविद्यासमाधिभिः ।
पश्यन्तोऽपि न पश्यन्ति पश्यन्तं परमेश्वरम् ॥४४॥
शब्दब्रह्मणि दुष्पारे चरन्त उरुविस्तरे ।
मन्त्रलिङ्गैर्व्यवच्छिन्नं[1] भजन्तो न विदुः परम् ॥४५॥
यदायमनुगृह्णाति भगवानात्मभावितः ।
स जहाति मतिं लोके वेदे च परिनिष्ठिताम् ॥४६॥
तस्मात्कर्मसु बर्हिष्मन्नज्ञानादर्थकाशिषु ।
मार्थदृष्टिं कृथाः श्रोत्रस्पर्शिष्वस्पृष्टवस्तुषु ॥४७॥
स्वं लोकं न विदुस्ते वै यत्र देवो जनार्दनः ।
आहुर्धूम्रधियो वेदं सकर्मकमतद्विदः ॥४८॥
आस्तीर्य दर्भैः प्राग्ग्रैः कार्त्स्न्येन क्षितिमण्डलम् ।
स्तब्धो बृहद्वधान्मानी कर्म नावैषि यत्परम् ।
तत्कर्म हरितोषं यत्सा विद्या तन्मतिर्यया ॥४९॥
हरिर्देहभृतामात्मा स्वयं प्रकृतिरीश्वरः ।

अधिक क्या, साक्षात् प्रजापतियोंके पति ब्रह्माजी, भगवान् शंकर, स्वायम्भुवमनु, दक्षादि प्रजापतिगण, सनकादि नैष्ठिक ब्रह्मचारी, मरीचि, अत्रि, अंगिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, भृगु और वसिष्ठादिसे लेकर मुझ नारदपर्यन्त सम्पूर्ण वेदवादी मुनिगण, नाना प्रकारकी व्याख्याओंके करनेमें कुशल होकर भी तप, ज्ञान और समाधिके द्वारा उस सर्वद्रष्टा परमात्माको देखते हुए भी नहीं देखते ॥४२–४४॥ तथा जिसका पार करना अत्यन्त कठिन है उस अत्यन्त विस्तीर्ण शब्दब्रह्म (वेद) का विचार करनेवाले अनेकों महानुभाव भी मन्त्रोंमें वर्णन किये गये इन्द्रादि देवताओंके स्वरूपसे भिन्न-भिन्न प्रतीत होनेवाले उस परमात्माका यज्ञादिसे पूजन करते हुए भी उसके वास्तविक स्वरूपको नहीं जान सके ॥४५॥ जिस समय, अन्तःकरणमें ध्यान किये जानेपर, श्रीभगवान् इस जीवपर कृपा करते हैं, उसी समय यह लौकिक और वैदिक कर्मोंमें आसक्त हुई अपनी बुद्धिको छोड़ सकता है ॥४६॥

इसलिये हे बर्हिष्मन् ! जो केवल सुननेमें ही प्रिय जान पड़ते हैं किन्तु वास्तवमें परमात्माको स्पर्श-तक नहीं करते और अज्ञानवश परमार्थरूप प्रतीत होते हैं उन कर्मोंमें तुम वस्तुदृष्टि मत करो [अर्थात् उन्हें सत्य न मानो] ॥४७॥ जो मलिनबुद्धि लोग वेदको कर्मपरक बतलाते हैं वे वास्तवमें उसके मर्मको नहीं जानते क्योंकि वे वेदके तात्पर्यसे अनुभव किये जानेयोग्य अपने स्वरूपभूत आत्मलोकको नहीं जानते, जहाँ साक्षात् श्रीजनार्दन भगवान् ही विराजमान हैं ॥४८॥ जिनका अग्रभाग पूर्वकी ओर है ऐसी कुशाओंसे सम्पूर्ण भूमण्डलको ढकने तथा बहुत-से पशुओंका वध करनेसे तू बड़ा कर्माभिमानी और उद्धत हो गया है । परन्तु वास्तवमें तुझे कर्म या ज्ञान किसीके रहस्यका पता नहीं है । वास्तवमें कर्म तो वही है जिससे श्रीहरिको सन्तुष्ट किया जा सके और विद्या भी वही है जिससे भगवान्में चित्त लगे ॥४९॥ श्रीहरि सम्पूर्ण देहधारियों-के आत्मा, नियामक और स्वतन्त्र कारण हैं; अतः

१. प्रा० पा०—वच्छिन्नैर्भ० ।

तत्पादमूलं शरणं यतः क्षेमो नृणामिह ॥५०॥

स वै प्रियतमश्चात्मा यतो न भयमण्वपि ।

इति वेद स वै विद्वान्यो विद्वान्स गुरुर्हरिः ॥५१॥

नारद उवाच

प्रश्न एवं हि संछिन्नो भवतः पुरुषर्षभ ।

अत्र मे वदतो गुह्यं निशामय सुनिश्चितम् ॥५२॥

क्षुद्रश्चरं सुमनसां शरणे मिथित्वा

रक्तं षडङ्घ्रिगणसामसु लुब्धकर्णम् ।

अग्रे वृकानसुतृपोऽविगणय्य यान्तं

पृष्ठे मृगं मृगय लुब्धकबाणभिन्नम् ॥५३॥

सुमनःसमधर्माणां स्त्रीणां शरणमाश्रमे पुष्पमधुगन्धवत्क्षुद्रतमं काम्यकर्मविपाकजं कामसुखलवं जैह्व्यौपस्थ्यादि विचिन्वन्तं मिथुनीभूय तदभिनिवेशितमनसं षडङ्घ्रिगणसामगीतवदतिमनोहरवनितादिजनालापेष्वतितरामतिप्रलोभितकर्णमग्रे वृकयूथवदात्मन आयुर्हरतोऽहोरात्रान्तान्काललवविशेषानविगणय्य गृहेषु विहरन्तं पृष्ठत एव परोक्षमनुप्रवृत्तो लुब्धकः कृतान्तोऽन्तःशरेण यमिह पराविध्यति तमिममात्मानमहो राजन्भिन्नहृदयं द्रष्टुमर्हसीति ॥५४॥

स त्वं विचक्ष्व मृगचेष्टितमात्मनोऽन्त-

श्चित्तं नियच्छ हृदि कर्णधुनीं च चित्ते ।

जिनसे सबका कल्याण होता है वे उनके चरण-कमल ही सम्पूर्ण मनुष्योंके एकमात्र आश्रय हैं ॥५०॥ 'जिससे किसीको अणुमात्र भी भय नहीं होता वह सबका प्रियतम आत्मा वे ही हैं' जो पुरुष ऐसा जानता है, निश्चय वही ज्ञानी है, और जो ज्ञानी है वही गुरु और साक्षात् श्रीहरि है ॥५१॥

श्रीनारदजी बोले—हे पुरुषश्रेष्ठ ! इस प्रकार तुम्हारे प्रश्नका उत्तर तो हो चुका; अब [तुम्हारे कल्याणके लिये] यह महापुरुषोंका निश्चित किया हुआ गुप्त साधन सुनाता हूँ, उसे ध्यान देकर सुनो ॥५२॥ हे राजन् ! जो थोड़ा भोजन करनेवाला है, पुष्पवाटिकामें अपनी स्त्रीके समागममें आसक्त है, जिसके कान भ्रमरोंके सुमधुर गानमें आसक्त हैं, जो अपने आगे जाते हुए प्राणोंकी तृप्ति करनेवाले भेड़ियोंको कुछ भी न गिनकर चल रहा है तथा अपने पृष्ठभागमें व्याधेके बाणसे विंधा हुआ है उस मृगको तुम ढूँढ़ो ॥५३॥

[अब इस गूढ़ उपदेशका तात्पर्य बताते हैं—] पुष्पके समान धर्मोंवाली स्त्रियोंके आश्रय अर्थात् गृहस्थाश्रममें रहकर जो पुष्पोंके मधु और गंधको ढूँढ़नेकी भाँति सकाम कर्मोंके परिणाममें प्राप्त होनेवाले जिह्वा तथा उपस्थेन्द्रियसम्बन्धी तुच्छ विषय-सुखको ढूँढ़ रहा है, स्त्रियोंके समागममें रहकर उनमें आसक्तचित्त हो भ्रमरोंके गानके समान स्त्री-पुत्रादिके मधुर भाषणमें जिसके कर्ण अत्यन्त आसक्त हैं, जो अपने आगे चलते हुए भेड़ियोंके झुण्डके समान आयुको हरनेवाले दिन-रात आदि कालके अवयवोंको कुछ भी न गिनकर गृहस्थीके सुखमें मस्त है तथा जिसके पीछे लगे हुए कालरूप व्याधने उसे बाणसे बींध दिया है, हे राजन् ! इस प्रकार भिन्नहृदय (मृतप्राय) मृगरूप अपने-आपको तुम देखो ॥५४॥ इस प्रकार तुम अपने-आपको मृगकी-सी स्थितिमें देखकर अपने हृदयके भीतर चित्तको निरुद्ध करो और कर्णादि इन्द्रियोंकी वृत्तियोंको चित्तमें स्थापित करो और जहाँ

१. प्राचीन प्रतिमें 'नारद उवाच' यह नहीं है । २. प्रा० पा०—तरां प्रलोभित० । यह पाठान्तर शुद्ध है, 'अतितराम्' के बाद पुनः 'अति' की आवश्यकता नहीं जान पड़ती । ३. प्रा० पा०—रात्रादीन्कालविशेषान्विगणय्य । ४. प्रा० पा०—पृष्ठतः परोक्षमनु ।

जह्यङ्गनाश्रममसत्तमयूथगाथं
प्रीणीहि हंसशरणं विरम क्रमेण ॥५५॥

विषयी पुरुषोंकी चर्चा होती है ऐसे गृहस्थाश्रमको छोड़कर परमहंसोंके आश्रयरूप श्रीहरिको प्रसन्न करो तथा क्रमशः संसार-दुःखोंसे उपरत हो जाओ ॥५५॥

राजोवाच

श्रुतमन्वीक्षितं ब्रह्मन्भगवान्यदभाषत ।
नैतज्ज्ञानन्त्युपाध्यायाः किं न ब्रूयुर्विदुर्यदि ॥५६॥
संशयोऽत्र तु मे विप्र संछिन्नस्तत्कृतो महान् ।
ऋषयोऽपि हि मुह्यन्ति यत्र नेन्द्रियवृत्तयः ॥५७॥
कर्माण्यारभते येन पुमानिह विहाय तम् ।
अमुत्रान्येन देहेन जुष्टानि स यदश्नुते ॥५८॥
इति वेदविदां वादः श्रूयते तत्र तत्र ह ।
कर्म यत्क्रियते प्रोक्तं परोक्षं न प्रकाशते ॥५९॥

राजा बर्हिष्मान्‌ने कहा—हे ब्रह्मन् ! आपने मुझे जिस आत्मविद्याका उपदेश दिया है वह मैंने सुना । निश्चय ही, मेरे कर्मकाण्डके गुरु इस तत्त्वको नहीं जानते, यदि उन्हें इसका ज्ञान होता तो वे मुझे इसका उपदेश क्यों न करते ? ॥५६॥ हे विप्रवर ! उन पुरोहितोंने [वेदवाक्योंमें विरोध दिखाकर] मेरे हृदयमें जो 'वेद कर्मपरक हैं या ज्ञानपरक' ऐसा महान् सन्देह खड़ा कर दिया था वह आपने दूर कर दिया । इस विषयमें इन्द्रियोंकी पहुँच नहीं है, अतः बड़े-बड़े ऋषिगण भी मोहित हो जाते हैं ॥५७॥ 'जिसके द्वारा पुरुष कर्म करता है उस स्थूल शरीरको यहीं छोड़कर वह परलोकमें कर्मवश प्राप्त हुए अन्य (सूक्ष्म) शरीरसे इस लोकमें किये हुए पाप-पुण्यादिका फल भोगता है' ऐसा जो वेदवादियोंका सिद्धान्त शास्त्रोंमें जहाँ-तहाँ सुना जाता है उसकी संगति किस प्रकार लगायी जाय ? क्योंकि जो-जो कर्म किये जाते हैं वे दूसरे क्षणमें ही नष्ट हो जाते हैं, वे लोकान्तरमें प्रकाशित नहीं हो सकते ॥५८-५९॥

नारद उवाच

येनैवारभते कर्म तेनैवामुत्र तत्पुमान् ।
भुङ्क्ते ह्यव्यवधानेन लिङ्गेन मनसा स्वयम् ॥६०॥
शयानमिममुत्सृज्य श्वसन्तं पुरुषो यथा ।
कर्मात्मन्याहितं भुङ्क्ते तादृशेनेतरेण वा ॥६१॥
ममैते मनसा यद्यदसावहमिति ब्रुवन् ।

श्रीनारदजी बोले—जिस मनरूप लिंगदेहके द्वारा मनुष्य इस लोकमें कर्म करता है उसीके द्वारा वह परलोकमें स्वयं ही अव्यवहित (अपरोक्ष) रूपसे उनका फल भोगता है ॥६०॥ जिस प्रकार सोता हुआ पुरुष स्वप्नावस्थामें इस जीवित शरीरका अभिमान त्यागकर, इसीके समान दूसरे (सूक्ष्म) शरीरसे अथवा पशु आदि अन्य शरीरसे मनमें संस्काररूपसे स्थित कर्मोंको भोगता है उसी प्रकार वह परलोकमें भी अपने कर्मोंका फल भोगता है ॥६१॥ उस मनके द्वारा यह जीव जिन स्त्री-पुत्रादिको 'ये मेरे हैं' और देहादिको 'यह मैं हूँ' ऐसा कहकर मानता है

गृह्णीयात्तत्पुमान्राद्धं कर्म येन पुनर्भवः ॥६२॥

यथानुमीयते चित्तमुभयैरिन्द्रियेहितैः ।

एवं प्राग्देहजं कर्म लक्ष्यते चित्तवृत्तिभिः ॥६३॥

नानुभूतं क्व चानेन देहेनादृष्टमश्रुतम् ।

कदाचिदुपलभ्येत यद्रूपं यादृगात्मनि ॥६४॥

तेनास्य तादृशं राजँल्लिङ्गिनो देहसंभवम् ।

श्रद्धत्स्वाननुभूतोऽर्थो न मनः स्प्रष्टुमर्हति ॥६५॥

मन एव मनुष्यस्य पूर्वरूपाणि शंसति ।

भविष्यतश्च भद्रं ते तथैव न भविष्यतः ॥६६॥

अदृष्टमश्रुतं चात्र क्वचिन्मनसि दृश्यते ।

यथा तथानुमन्तव्यं देशकाल[1]क्रियाश्रयम् ॥६७॥

सर्वे क्रमानुरोधेन मनसीन्द्रियगोचराः ।

आयान्ति वर्गशो[2] यान्ति सर्वे समनसो जनाः ॥६८॥

सत्त्वैकनिष्ठे मनसि भगवत्पार्श्ववर्तिनि ।

उनके किये हुए पाप-पुण्यरूप कर्मोंको भी यह ग्रहण कर लेता है और उनके कारण फिर जन्म लेता है ॥ ६२ ॥ जिस प्रकार ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियोंकी चेष्टासे [उनके प्रेरक] चित्तका अनुमान किया जाता है उसी प्रकार चित्तकी भिन्न-भिन्न वृत्तियोंसे पूर्वजन्मके कर्मोंका अनुमान होता है ॥६३॥ कभी-कभी देखा जाता है कि जिस वस्तुका इस शरीरसे कभी अनुभव नहीं किया—जिसे कभी नहीं देखा या सुना उसका स्वप्नमें, वह जैसी होती है वैसा ही अनुभव हो जाता है ॥ ६४ ॥ हे राजन् ! इससे तुम यह निश्चय मानो कि लिंगदेहके अभिमानी जीवको उसका अनुभव पूर्व शरीरमें हुआ है, क्योंकि जिस वस्तुका अनुभव पहले कभी नहीं हुआ हो उसकी वासना भी मनमें नहीं हो सकती ॥६५॥ हे राजन् ! तुम्हारा कल्याण हो, मनुष्यके पूर्व रूपोंको तथा आगे होनेवाले और न होनेवाले रूपोंको उसका मन ही बतला देता है * ॥ ६६ ॥ कभी-कभी स्वप्नमें ऐसी बातें भी देखी जाती हैं जो पहले कभी देखी-सुनी नहीं होतीं । देश, काल और क्रियाके आश्रय रहनेवाली उन बातोंका भी, निद्रादोषसे, मनकी पूर्व वासनाओंके कारण ही अनुभव होता है ॥६७॥ इन्द्रियोंसे अनुभव होनेवाले सभी पदार्थ [पूर्वकृत कर्मोंका फल देनेके लिये] क्रमशः अन्तःकरणके सामने आते-जाते रहते हैं, क्योंकि सभी मनुष्य ऐसे मनसे युक्त होते हैं, जो अनेक जन्मोंके नाना संस्कारोंसे अनुभावित है ॥६८॥ जिस प्रकार कभी न दीखनेवाला भी राहु [ग्रहणके समय] चन्द्रमामें दिखायी पड़ता है उसी प्रकार भगवान्‌की सन्निधिमें रहनेवाले भक्तजनोंके एकमात्र सत्त्वमय

१. प्रा० पा०—बलाश्रयम् । २. प्रा० पा०—बहुशो ।

* अर्थात् मनुष्यकी मनोवृत्तिसे यह पता चल जाता है कि यह पूर्वजन्ममें किस योनिमें था और उस समय इसने किन-किन गुणोंका सम्पादन किया था तथा आगे इसकी क्या गति होगी ?

तमश्चन्द्रमसीवेदमुपरज्यावभासते ॥६९॥

नाहंममेति भावोऽयं पुरुषे व्यवधीयते ।
यावद्बुद्धिमनोऽक्षार्थगुणव्यूहो ह्यनादिमान् ॥७०॥

सुप्तिमूर्च्छोपतापेषु प्राणायनविघाततः ।
नेहतेऽहमिति ज्ञानं मृत्युप्रज्वारयोरपि ॥७१॥

गर्भे बाल्येऽप्यपौष्कल्यादेकादशविधं तदा ।
लिङ्गं न दृश्यते यूनः कुह्वां चन्द्रमसो यथा ॥७२॥

अर्थे ह्यविद्यमानेऽपि संसृतिर्न निवर्तते ।
ध्यायतो विषयानस्य स्वप्नेऽनर्थागमो यथा ॥७३॥

एवं पञ्चविधं लिङ्गं त्रिवृत्षोडशविस्तृतम् ।
एष चेतनया युक्तो जीव इत्यभिधीयते ॥७४॥

अनेन पुरुषो देहानुपादत्ते विमुञ्चति ।
हर्षं शोकं भयं दुःखं सुखं चानेन विन्दति ॥७५॥

यथा तृणजलूकेयं नापयात्यपयाति च ।
न त्यजेन्म्रियमाणोऽपि प्राग्देहाभिमतिं जनः ॥७६॥

यावदन्यं न विन्देत व्यवधानेन कर्मणाम् ।
मन एव मनुष्येन्द्र भूतानां भवभावनम् ॥७७॥

यदाक्षैश्चरितान्ध्यायन्कर्माण्याचिनुतेऽसकृत् ।

अन्तःकरणमें भी इस जगत्का तादात्म्यसे भान होता है ॥६९॥ हे राजन् ! जबतक अनादि कालसे बना हुआ यह बुद्धि, मन, इन्द्रिय और शब्दादि विषयरूप गुणोंका संघात लिंगदेह वर्तमान है तबतक मनुष्यमें 'मैं और मेरा' इस भावका अभाव नहीं होता ॥७०॥

सुषुप्ति, मूर्च्छा, शोक, भयंकर कष्ट, मृत्यु और ज्वर आदिके समय भी अहंकारकी केवल अभिव्यक्ति नहीं होती वह सूक्ष्मरूपसे वर्तमान तो रहता ही है ॥७१॥ जिस प्रकार अमावास्याके दिन चन्द्रमा रहते हुए भी दिखायी नहीं देता उसी प्रकार युवावस्थामें स्पष्ट प्रतीत होनेवाला एकादश इन्द्रियविशिष्ट लिंगदेह गर्भावस्था और बाल्यकालमें [वर्तमान रहते हुए भी] इन्द्रियोंके पूर्णतया समर्थ न होनेके कारण प्रतीत नहीं होता ॥७२॥ जिस प्रकार स्वप्नमें किसी वस्तुका अस्तित्व न होनेपर भी जागे बिना अनर्थकी निवृत्ति नहीं होती, उसी प्रकार विषयोंका चिन्तन करनेवाले पुरुषका जन्ममरण-रूप संसारचक्र [वस्तुतः न होनेपर भी] आत्मज्ञान-के बिना निवृत्त नहीं होता ॥७३॥

इस प्रकार सोलह तत्त्वोंके रूपमें विस्तृत हुआ यह पाञ्चभौतिक त्रिगुणमय लिंगशरीर ही चेतनाशक्तिसे युक्त होकर 'जीव' कहा जाता है ॥७४॥ इसीके साथ पुरुष भिन्न-भिन्न शरीरोंको धारण करता और त्याग देता है तथा इसीसे वह हर्ष, शोक, भय, दुःख और सुख आदिका अनुभव करता है ॥७५॥ जिस प्रकार जोंक जबतक दूसरे तृणपर पैर नहीं जमा लेती तबतक अपने आश्रयभूत तृणको नहीं छोड़ती तथा दूसरे तृणपर पैर जमा लेनेपर उसे छोड़कर चली जाती है, उसी प्रकार मरणकाल उपस्थित होनेपर भी जबतक मनुष्यको प्रारब्ध कर्मका क्षय होकर दूसरा शरीर प्राप्त नहीं होता तबतक वह अपने पूर्व देहका अभिमान नहीं छोड़ता । हे राजन् ! वास्तवमें मन ही मनुष्यको जन्मादिकी प्राप्ति करानेवाला है ॥७६-७७॥ जब जीव इन्द्रियोंसे भोगे जानेवाले भोगोंका चिन्तन करते हुए बार-बार कर्म करता है तब उन कर्मोंके

१. प्रा० पा०—चेह उप० । २. प्रा० पा०—तथा । ३. प्रा० पा०—देहमुपादत्ते ।

सति कर्मण्यविद्यायां बन्धः कर्मण्यनात्मनः ॥७८॥

अतस्तदपवादार्थं[1] भज सर्वात्मना हरिम् ।

पश्यंस्तदात्मकं विश्वं स्थित्युत्पत्त्यप्यया यतः ॥७९॥

मैत्रेय उवाच

भागवतमुख्यो भगवान्नारदो हंसयोर्गतिम् ।

प्रदर्श्य ह्यमुमामन्त्र्य[2] सिद्धलोकं ततोऽगमत् ॥८०॥

प्राचीनबर्हिं राजर्षिः प्रजासर्गाभिरक्षणे ।

आदिश्य पुत्रानगमत्तपसे कपिलाश्रमम् ॥८१॥

तत्रैकाग्रमना वीरो गोविन्दचरणाम्बुजम् ।

विमुक्तसङ्गोऽनुभजन्भक्त्या तत्साम्यतामगात् ॥८२॥

एतदध्यात्मपारोक्ष्यं गीतं देवर्षिणानघ ।

यः श्रावयेद्यः शृणुयात्स लिङ्गेन विमुच्यते ॥८३॥

एतन्मुकुन्दयशसा भुवनं पुनानं
देवर्षिवर्यमुखनिःसृतमात्मशौचम् ।
यः कीर्त्यमानमधिगच्छति पारमेष्ठ्यं
नास्मिन्भवे भ्रमति मुक्तसमस्तबन्धः ॥८४॥

अध्यात्मपारोक्ष्यमिदं मयाधिगतमद्भुतम् ।

एवं स्त्रियाश्रमः पुंसश्छिन्नोऽमुत्र च संशयः ॥८५॥

होते रहनेसे अनात्मवस्तुमें आत्माभिमान करनेवाले उस पुरुषको अविद्यारूप कर्मोंमें बँधना पड़ता है ॥७८॥ इसलिये उस कर्मबन्धनसे छुटकारा पानेके लिये, सम्पूर्ण विश्वको भगवद्रूप समझते हुए तन-मनसे श्रीहरिका भजन करो जिनसे इस जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और लय होते हैं ॥७९॥

श्रीमैत्रेयजी बोले—हे विदुर ! इस प्रकार भक्तश्रेष्ठ श्रीनारदजी राजा प्राचीनबर्हिको जीव और ईश्वरके स्वरूपका दिग्दर्शन करा फिर उनकी अनुमति ले वहाँसे सिद्धलोकको चले गये ॥८०॥ फिर राजर्षि प्राचीनबर्हि भी अपने पुत्रोंको प्रजासर्गकी रक्षामें नियुक्त कर तपस्या करनेके लिये कपिलाश्रमको चले गये ॥८१॥ वहाँ वे वीरश्रेष्ठ, सम्पूर्ण विषयोंकी आसक्ति छोड़कर एकाग्रमनसे श्रीहरिके चरणकमलोंका भक्तिपूर्वक चिन्तन करते हुए उन्हींके सदृश हो गये ॥८२॥ हे निष्पाप विदुरजी ! देवर्षि नारदद्वारा परोक्षरूपसे कहे हुए इस आत्मज्ञानको जो पुरुष सुने या सुनावेगा वह अपने जन्म-मरणके कारणरूप लिङ्गशरीरसे शीघ्र ही छूट जायगा ॥८३॥ भगवान् मुकुन्दके यशसे त्रिलोकीको पवित्र करनेवाले तथा देवर्षि नारदके मुखसे निकले हुए इस परम पवित्र आत्मज्ञानका जो कीर्तन करता है वह पुरुष परमपदको प्राप्त हो जाता है तथा सम्पूर्ण कर्मबन्धनोंसे मुक्त हो जानेके कारण पुनः उसको इस संसारचक्रमें नहीं भटकना पड़ता ॥८४॥ हे विदुर ! गृहस्थाश्रमी पुरञ्जनके रूपकसे परोक्षरूपमें कहा हुआ यह आत्मज्ञान मैंने गुरुजीसे प्राप्त किया था, सो मैंने तुम्हें सुना दिया । इसको जाननेसे मनुष्य देहाभिमानसे रहित हो जाता है और उसका 'मनुष्य परलोकमें अपने कर्मोंका फल किस प्रकार भोगता है' यह सन्देह निवृत्त हो जाता है ॥ ८५ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे चतुर्थस्कन्धे विदुरमैत्रेयसंवादे प्राचीनबर्हिनारद[3]-संवादो नाम एकोनत्रिंशोऽध्यायः[4] ॥२९॥

१. प्रा० पा०—तदपबाधार्थं । २. प्रा० पा०—नृपमा० । ३. प्रा० पा०—नारदप्राचीनबर्हिःसंवादेऽध्यात्मपारोक्षं नाम । ४. प्रा० पा०—त्रिंशत्तमो ।

प्रचेताओंको भगवद्दर्शन

पृष्ठ ५२७

तीसवाँ अध्याय

प्रचेताओंको विष्णुका वरदान।

विदुर उवाच

ये त्वयाभिहिता ब्रह्मन्सुताः प्राचीनबर्हिषः।
ते रुद्रगीतेन हरिं सिद्धिमापुः प्रतोष्य काम् ॥ १ ॥

किं बार्हस्पत्येह परत्र वाथ
कैवल्यनाथप्रियपार्श्ववर्तिनः।
आसाद्य देवं गिरिशं यदृच्छया
प्रापुः परं नूनमथ प्रचेतसः ॥ २ ॥

विदुरजीने कहा—हे ब्रह्मन्! आपने राजा प्राचीनबर्हिके जिन पुत्रोंका वर्णन किया था उन्होंने श्रीहरिकी रुद्रगीतद्वारा स्तुति कर क्या सिद्धि प्राप्त की ॥ १ ॥ हे बृहस्पतिजीके शिष्य मैत्रेयजी! भगवान् शंकरको अकस्मात् पाकर उनकी कृपासे मोक्षाधिपति परम प्रिय श्रीहरिका ध्यान करनेवाले प्रचेताओंने मुक्ति तो अवश्य पायी ही होगी। किन्तु उससे पहले भी उन्होंने इस लोक और परलोकमें क्या प्राप्त किया, सो कहिये ॥ २ ॥

मैत्रेय उवाच

प्रचेतसोऽन्तरुदधौ पितुरादेशकारिणः।
जपयज्ञेन तपसा पुरञ्जनमतोषयन् ॥ ३ ॥
दशवर्षसहस्रान्ते पुरुषस्तु सनातनः।
तेषामाविरभूत्कृच्छ्रं शान्तेन शमयन्रुचा ॥ ४ ॥
सुपर्णस्कन्धमारूढो मेरुशृङ्गमिवाम्बुदः।
पीतवासा मणिग्रीवः कुर्वन्वितिमिरा दिशः ॥ ५ ॥
काशिष्णुना[1] कनकवर्णविभूषणेन
भ्राजत्कपोलवदनो विलसत्किरीटः।
अष्टायुधैरनुचरैर्मुनिभिः सुरेन्द्रै-
रासेवितो गरुडकिन्नरगीतकीर्तिः ॥ ६ ॥
पीनायताष्टभुजमण्डलमध्यलक्ष्म्या[2]
स्पर्धच्छ्रिया परिवृतो वनमालयाद्यः।
बर्हिष्मतः पुरुष आह सुतान्प्रपन्ना-
न्पर्जन्यनादरुतया सघृणावलोकः ॥ ७ ॥

श्रीमैत्रेयजी बोले—हे विदुर! प्रचेताओंने, अपने पिताकी आज्ञाका पालन कर समुद्रके भीतर रह जपयज्ञ और तपस्याके द्वारा श्रीहरिको सन्तुष्ट किया ॥ ३ ॥ इस प्रकार दस सहस्र वर्ष बीत जानेपर श्रीसनातन पुराणपुरुष, अपनी शान्त कान्तिसे उनका ताप दूर करते हुए उनके सामने प्रकट हुए ॥ ४ ॥ वे गरुडजीके कन्धेपर बैठे हुए ऐसे शोभित हो रहे थे, मानो सुमेरु-शिखरपर कोई श्याममेघ हो; उनके शरीरपर पीताम्बर और कण्ठमें कौस्तुभमणि विराजमान थे तथा अपनी दिव्य-कान्तिसे वे सब दिशाओंको अन्धकारशून्य कर रहे थे ॥ ५ ॥ उनके कपोल परम देदीप्यमान सुवर्णमय आभूषणोंसे सुशोभित थे, शिरपर झिलमिलाता हुआ मुकुट शोभायमान था, वे अपनी आठ भुजाओंमें आठ आयुध धारण किये थे, पार्षदगण, मुनिजन और प्रधान-प्रधान देवतागण उनकी सेवामें उपस्थित थे तथा किन्नरश्रेष्ठ गरुडजी उनका सुयश-गान कर रहे थे ॥ ६ ॥ हे विदुर! तब अपनी स्थूल और विशाल आठ भुजाओंके बीचमें लक्ष्मीजीकी कान्तिसे स्पर्द्धा करनेवाली वनमालासे विभूषित श्रीआदिपुरुषने बर्हिष्मान्‌के पुत्र उन शरणागत प्रचेताओंकी ओर दया-दृष्टिसे निहारते हुए उनसे मेघके समान गम्भीर वाणीसे कहा ॥ ७ ॥

१. प्रा० पा०—भ्राजिष्णुना। २. प्रा० पा०—लक्ष्मी०।

श्रीभगवानुवाच[1]

वरं वृणीध्वं भद्रं वो यूयं मे नृपनन्दनाः ।
सौहार्देनापृथग्धर्मास्तुष्टोऽहं सौहृदेन वः ॥ ८ ॥
योऽनुस्मरति सन्ध्यायां युष्माननुदिनं नरः ।
तस्य भ्रातृष्वात्मसाम्यं तथा भूतेषु सौहृदम् ॥ ९ ॥
ये तु मां रुद्रगीतेन सायंप्रातः समाहिताः ।
स्तुवन्त्यहं कामवरान्दास्ये प्रज्ञां च शोभनाम् ॥ १० ॥
यद्यूयं पितुरादेशमग्रहीष्ट मुदान्विताः ।
अथो वः[3] उशती कीर्तिर्लोकाननुभविष्यति ॥ ११ ॥
भविता विश्रुतः पुत्रोऽनवमो[4] ब्रह्मणो गुणैः ।
य एतामात्मवीर्येण त्रिलोकीं पूरयिष्यति ॥ १२ ॥
कण्डोः प्रम्लोचया लब्धा कन्या कमललोचना ।
तां चापविद्धां जगृहुर्भूरुहा नृपनन्दनाः ॥ १३ ॥
क्षुत्क्षामाया मुखे राजा सोमः पीयूषवर्षिणीम् ।
देशिनीं रोदमानाया निदधे[5] स दयान्वितः ॥ १४ ॥
प्रजाविसर्ग आदिष्टाः पित्रा मामनुवर्तता ।
तत्र कन्यां वरारोहां तामुद्वहत मा चिरम् ॥ १५ ॥
अपृथग्धर्मशीलानां सर्वेषां वः सुमध्यमा ।
अपृथग्धर्मशीलेयं भूयात्पत्न्यर्पिताशया ॥ १६ ॥
दिव्यवर्षसहस्राणां सहस्रमहतौजसः ।
भौमान्भोक्ष्यथ भोगान्वै दिव्यांश्चानुग्रहान्मम ॥ १७ ॥
अथ मय्यनपायिन्या भक्त्या पक्वगुणाशयाः ।

श्रीभगवान् बोले—हे राजपुत्रो ! तुम्हारा कल्याण हो । तुम सबमें परस्पर बड़ा प्रेम है और तुम सब-के-सब मेरी उपासनारूप एक ही कर्ममें तत्पर हो । मैं तुम्हारी इस सुहृदतासे तुमपर परम सन्तुष्ट हूँ, तुम मुझसे इच्छित वर माँगो ॥८॥ जो पुरुष नित्यप्रति सायंकालके समय तुम्हारा स्मरण करेगा उसे अपने भाइयोंमें परम प्रेम और सम्पूर्ण प्राणियोंमें सुहृदता प्राप्त होगी ॥९॥ जो लोग सायंकाल और प्रातःकालके समय एकाग्रचित्तसे रुद्रगीतद्वारा मेरी स्तुति करेंगे उन्हें मैं इच्छित वरदान और पवित्र बुद्धि प्रदान करूँगा ॥१०॥ तुमने बड़ी प्रसन्नतासे अपने पिताकी आज्ञा स्वीकार की है इसलिये लोकमें तुम्हारी उत्तम कीर्तिका विस्तार होगा ॥११॥ तुम्हारे एक ऐसा कीर्तिशाली पुत्र होगा जो गुणोंमें किसी भी प्रकार ब्रह्माजीसे कम न होगा और वह अपनी सन्ततिसे इस सम्पूर्ण त्रिलोकीको परिपूर्ण कर देगा ॥१२॥ हे राजकुमारो ! महर्षि कण्डुके [जिसे इन्द्रने उनकी तपस्यामें विघ्न डालनेके लिये भेजा था उस] प्रम्लोचा अप्सरासे उत्पन्न हुई एक कमलनयनी कन्या थी । जब वह अप्सरा उसे छोड़कर स्वर्गको चली गयी तो उसे वृक्षोंने ग्रहण कर लिया ॥१३॥ वह कन्या अत्यन्त भूखके कारण रोने लगी । तब ओषधियोंके राजा चन्द्रमाने दयावश उसके मुखमें अपनी अमृतवर्षिणी तर्जनी अँगुली दे दी ॥१४॥ मेरा अनुवर्तन करनेवाले तुम्हारे पिताने तुम्हें प्रजा उत्पन्न करनेकी आज्ञा दी है, सो तुम शीघ्र ही उस परम सुन्दरी कन्याके साथ विवाह करो ॥१५॥ तुम सब एक ही धर्ममें तत्पर हो और तुम्हारा स्वभाव भी एक-सा ही है । इसलिये तुम्हारे ही समान धर्म और स्वभाववाली वह सुन्दरी कन्या तुम सभीकी पत्नी होगी; क्योंकि उसका चित्त तुम्हींमें लगा हुआ है ॥१६॥ तुमलोग मेरी कृपासे कई सहस्र दिव्य वर्षपर्यन्त पृथिवीके दिव्य भोगोंको भोगोगे और तुम्हारा तेज कभी क्षीण न होगा ॥१७॥ अन्तमें मेरी अनपायिनी भक्तिसे अन्तःकरणकी सम्पूर्ण वासनाओंके क्षीण हो जानेपर तुम इस लोक और पर-

१. प्राचीन प्रतिमें 'श्रीभगवानुवाच' इतना अंश नहीं है । २. प्रा० पा०—पृथग्भावासु । ३. प्रा० पा०—वः शाश्वती । ४. प्रा० पा०—पुत्रोऽनावमो । ५. प्रा० पा०—संदधे ।

उपयास्यथ मद्धाम निर्विद्य निरयादतः ॥१८॥

गृहेष्वाविशतां[1] चापि पुंसां कुशलकर्मणाम् ।

मद्वार्तायातयामानां न[2] बन्धाय गृहा मताः ॥१९॥

नव्यवद्धृदये यज्ज्ञो ब्रह्मैतद्ब्रह्मवादिभिः ।

न मुह्यन्ति न शोचन्ति न हृष्यन्ति यतो गताः ॥२०॥

लोकके नरकतुल्य भोगोंसे उपरत होकर मेरे परमधामको जाओगे ॥१८॥ क्योंकि जो पुरुष सम्पूर्ण कर्म मुझे समर्पण करते हुए करते हैं तथा जिनका समय मेरी ही कथा-वार्ताओंमें बीतता है वे यदि गृहस्थाश्रममें भी रहें तो भी घर उनके बन्धनका कारण नहीं होता ॥१९॥ मैं ज्ञानस्वरूप परमात्मा उनके हृदयमें नित्य नया-नया-सा भासता हूँ। मुझे ही ब्रह्मवादी लोग 'ब्रह्म' कहते हैं जिसे प्राप्त होकर पुरुष न मोहको प्राप्त होते हैं, न शोकको और न हर्षको ॥२०॥

मैत्रेय उवाच

एवं ब्रुवाणं पुरुषार्थभाजनं
जनार्दनं प्राञ्जलयः प्रचेतसः ।
तद्दर्शनध्वस्ततमोरजोमला
गिरागृणन्गद्गदया सुहृत्तमम् ॥२१॥

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—हे विदुर ! सकल पुरुषार्थके आश्रयरूप अविद्यानाशक सुहृत्तम श्रीहरिके इस प्रकार कहनेपर, उनके दर्शनसे जिनके रजतमरूप मानसिक विकार नष्ट हो गये हैं उन प्रचेताओंने हाथ जोड़कर गद्गद वाणीसे इस प्रकार कहा ॥२१॥

प्रचेतस ऊचुः

नमो नमः क्लेशविनाशनाय
निरूपितोदारगुणाह्वयाय ।
मनोवचोवेगपुरोजवाय[3]
सर्वाक्षमार्गैरगताध्वने नमः ॥२२॥

शुद्धाय शान्ताय नमः स्वनिष्ठया
मनस्यपार्थं विलसद्द्वयाय ।
नमो जगत्स्थानलयोदयेषु
गृहीतमायागुणविग्रहाय ॥२३॥

नमो विशुद्धसत्त्वाय हरये हरिमेधसे ।
वासुदेवाय कृष्णाय प्रभवे सर्वसात्वताम् ॥२४॥

नमः कमलनाभाय नमः कमलमालिने ।
नमः कमलपादाय नमस्ते कमलेक्षण ॥२५॥

प्रचेताओंने कहा—हे प्रभो ! आप भक्तोंका क्लेश दूर करनेवाले हैं, हम आपको नमस्कार करते हैं। आपके उदार गुण और नामोंको वेदोंने मोक्षप्राप्तिका साधन कहा है, आपका वेग मन और वाणीसे भी बढ़कर है तथा आपका मार्ग सभी इन्द्रियोंकी गतिसे परे है। ऐसे आपको बारम्बार नमस्कार है ॥२२॥ आप अपने स्वरूपमें स्थित होनेके कारण नित्य शुद्ध और शान्त हैं किन्तु हमारे मनरूपी निमित्तकारणके होनेसे हमें यह सम्पूर्ण द्वैत आपहीमें वृथा ही भास रहा है, वास्तवमें जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और लयके लिये आप मायाके गुणोंको स्वीकार कर ब्रह्मा, विष्णु और महादेवरूप धारण करते हैं ऐसे आपको हम नमस्कार करते हैं ॥२३॥ आप विशुद्ध सत्त्वस्वरूप हैं, आपका ज्ञान संसारबन्धनको दूर कर देता है। ऐसे सम्पूर्ण यादवोंके अधिपति आप वसुदेवनन्दन भगवान् कृष्णको नमस्कार है ॥२४॥ हे कमललोचन ! जिनकी नाभिसे विश्वरूप कमल उत्पन्न हुआ है, जो कण्ठमें कमलकुसुमोंकी माला धारण किये हैं तथा जिनके चरण कमलके समान हैं उन आपको नमस्कार है ॥२५॥

१. प्रा० पा०—गृहेष्वावसतां । २. प्रा० पा०—बन्धाय न । ३. प्राचीन प्रतिमें 'मनोवचो' से आरम्भ कर 'विग्रहाय' तकका अंश [अर्थात् २२ वेंका उत्तरार्द्ध और २३ वाँ श्लोक] नहीं है ।

नमः कमलकिञ्जल्कपिशङ्गामलवाससे ।
सर्वभूतनिवासाय नमोऽयुङ्क्ष्महि साक्षिणे ॥२६॥

जो कमल-कुसुमकी केसरके समान निर्मल पीताम्बर धारण किये हैं तथा सम्पूर्ण भूतोंके आश्रयस्थान हैं उन सर्वसाक्षी आपको हम नमस्कार करते हैं ॥ २६ ॥

रूपं भगवता त्वेतदशेषक्लेशसंक्षयम् ।
आविष्कृतं नः क्लिष्टानां किमन्यदनुकम्पितम् ॥२७॥

अहो ! आपने हम त्रितापपीडितोंका दुःख दूर करनेके लिये ही यह सर्वक्लेशनाशक स्वरूप प्रकट किया है। इससे बढ़कर हमपर और क्या कृपा होगी ? ॥ २७ ॥

एतावत्त्वं हि विभुभिर्भाव्यं दीनेषु वत्सलैः ।
यदनुस्मर्यते काले स्वबुद्ध्याभद्ररन्धन ॥२८॥

हे अभद्रनाशन ! दीनवत्सल समर्थ पुरुषोंका तो इतना ही कर्तव्य है कि वे समय-समयपर उन दीनजनोंको 'ये हमारे हैं' इस प्रकार स्मरण कर लिया करें ॥२८॥ क्योंकि महापुरुषोंके उस स्मरणमात्रसे सकाम क्षुद्र जीवोंके भी सम्पूर्ण क्लेश शान्त हो जाते हैं।

येनोपशान्तिर्भूतानां क्षुल्लकानामपीहताम् ।
अन्तर्हितोऽन्तर्हृदये कस्मान्नो वेद नाशिषः ॥२९॥

आप सबके अन्तःकरणमें स्थित रहनेके कारण सभीकी इच्छाओंको जानते हैं, फिर हम अपने उपासकोंकी कामनाको आप कैसे न जानते होंगे ? ॥२९॥

असावेव वरोऽस्माकमीप्सितो जगतः पते ।
प्रसन्नो भगवान्येषामपवर्गगुरुर्गतिः ॥३०॥

हे जगत्पते ! मोक्षका मार्ग दिखानेवाले तथा स्वयं मोक्षस्वरूप आप हमपर प्रसन्न हुए हैं, [अब हमें और क्या चाहिये ?] आपकी यह प्रसन्नता ही हमारा अभिमत वरदान है ॥३०॥

वरं वृणीमहेऽथापि[1] नाथ त्वत्परतः परात् ।
न ह्यन्तस्त्वद्विभूतीनां[2] सोऽनन्त इति गीयसे[3] ॥३१॥

तो भी हे नाथ ! प्रकृति आदिसे भी परे जो आप हैं उनसे हम एक वरदान माँगते हैं। आपकी विभूतियोंका कोई अन्त नहीं है, इसलिये आप 'अनन्त' कहे जाते हैं ॥३१॥

पारिजातोऽञ्जसा लब्धे सारङ्गोऽन्यन्न सेवते ।
त्वदङ्घ्रिमूलमासाद्य साक्षात्किं किं वृणीमहि ॥३२॥

प्रभो ! भ्रमरको यदि अनायास ही कल्पवृक्ष मिल जाय तो वह दूसरे वृक्षोंका आश्रय नहीं लेता। इसी प्रकार साक्षात् आपके चरणकमलोंको पाकर भी अब हम और क्या वर माँगें ? ॥३२॥

यावत्ते मायया स्पृष्टा भ्रमाम इह कर्मभिः ।
तावद्भवत्प्रसङ्गानां सङ्गः स्यान्नो भवे भवे ॥३३॥

[अतः केवल यही माँगते हैं कि] हे नाथ ! आपकी मायासे मोहित होकर हम जबतक अपने कर्मानुसार संसारमें भ्रमते रहें तबतक जन्म-जन्ममें हमें आपके भक्तोंका संग प्राप्त होता रहे ॥३३॥

तुलयाम लवेनापि[4] न स्वर्गं नापुनर्भवम् ।
भगवत्सङ्गिसङ्गस्य[5] मर्त्यानां किमुताशिषः ॥३४॥

हम तो भगवद्भक्तोंकी एक क्षणकी संगतिके सामने स्वर्ग और मोक्षको भी कुछ नहीं समझते फिर मनुष्योंके भोगोंकी तो बात ही क्या है ? ॥३४॥

यत्रेड्यन्ते कथा मृष्टास्तृष्णायाः प्रशमो यतः ।

प्रभो ! जिनके श्रवणमात्रसे भोगोंकी तृष्णा शान्त हो जाती है उन भगवत्कथाओंकी जहाँ चर्चा होती

१. प्रा० पा०—व्यापि । २. प्रा० पा०—न ह्यन्तो यद्वि० । ३. प्रा० पा०—गीयते । ४. प्रा० पा०—क्षणेनापि । ५. प्रा० पा०—भवत्प्रसङ्गिसङ्गस्य ।

निर्वैरं यत्र भूतेषु नोद्वेगो यत्र कश्चन ॥३५॥
यत्र नारायणः साक्षाद्भगवान्न्यासिनां गतिः ।
संस्तूयते सत्कथासु मुक्तसङ्गैः पुनः पुनः ॥३६॥
तेषां विचरतां पद्भ्यां तीर्थानां पावनेच्छया ।
भीतस्य किं न रोचेत तावकानां समागमः ॥३७॥

है, जहाँ प्राणीमात्रमें किसी प्रकारका वैर नहीं रहता, जहाँ भयका नाम नहीं है, जहाँ भगवत्कथाओंके द्वारा संन्यासियोंके एकमात्र आश्रय साक्षात् भगवान् नारायणका असंग महात्माओंद्वारा पुनः-पुनः स्तवन किया जाता है तथा जो तीर्थोंको पवित्र करनेकी इच्छासे पृथिवीपर पैदल ही विचरा करते हैं उन आपके भक्तोंका समागम संसारसे भयभीत हुए पुरुषोंको कैसे रुचिकर न होगा ? ॥३५-३७॥

वयं तु साक्षाद्भगवन्भवस्य
प्रियस्य सख्युः क्षणसंगमेन ।
सुदुश्चिकित्स्यस्य भवस्य मृत्यो-
र्भिषक्तमं त्वाद्य गतिं गताः स्मः ॥३८॥
यन्नः स्वधीतं गुरवः प्रसादिता
विप्राश्च वृद्धाश्च सदानुवृत्त्या ।
आर्या नताः सुहृदो भ्रातरश्च
सर्वाणि भूतान्यनसूययैव ॥३९॥
यन्नः सुतप्तं तप एतदीश
निरन्धसां कालमदभ्रमप्सु ।
सर्वं तदेतत्पुरुषस्य भूम्नो
वृणीमहे ते परितोषणाय ॥४०॥
मनुः स्वयम्भूर्भगवान्भवश्च
येऽन्ये तपोज्ञानविशुद्धसत्त्वाः ।
अदृष्टपारा अपि यन्महिम्नः
स्तुवन्त्यथो त्वात्मसमं गृणीमः ॥४१॥
नमः समाय शुद्धाय पुरुषाय पराय च ।
वासुदेवाय सत्त्वाय तुभ्यं भगवते नमः ॥४२॥

हे भगवन् ! आपके प्रियतम सखा साक्षात् श्रीमहादेवजीके एक क्षणके ही समागमसे आज हम जन्म-मरणरूप अति दुःसाध्य रोगके श्रेष्ठतम वैद्य आप परमेश्वरकी शरणमें पहुँच गये हैं ॥३८॥ प्रभो ! हमने अति समाहित चित्तसे जो कुछ अध्ययन किया है, निरन्तर सेवा आदिसे गुरु-ब्राह्मण और वृद्धजनोंको प्रसन्न किया है, तथा भद्रजन, सुहृद्गण, भाई एवं सम्पूर्ण प्राणियोंकी दोषबुद्धि त्यागकर वन्दना की है और हे ईश ! अन्नादिको त्यागकर दीर्घकालतक जलमें खड़े रहकर घोर तपस्या की है वह सब आप सर्वव्यापक पुरुषोत्तम-के सन्तोषका कारण हो—यही वर हम आपसे माँगते हैं ॥३९-४०॥ जिनकी महिमाका पार न पाकर भी स्वायम्भुव मनु, ब्रह्माजी, भगवान् महादेवजी तथा तप और ज्ञानसे शुद्धचित्त हुए अन्य पुरुष निरन्तर स्तुति करते हैं उन्हीं आपका हम भी अपनी बुद्धिके अनुसार बखान करते हैं ॥४१॥ आप सर्वत्र समान, शुद्धस्वरूप और परम पुरुष हैं । हम आप सत्त्वमूर्ति भगवान् वासुदेवको नमस्कार करते हैं ॥४२॥

मैत्रेय उवाच

इति प्रचेतोभिरभिष्टुतो हरिः
प्रीतस्तथेत्याह शरण्यवत्सलः ।
अनिच्छतां यानमतृप्तचक्षुषां
ययौ स्वधामानपवर्गवीर्यः[1] ॥४३॥
अथ निर्याय सलिलात्प्रचेतस उदन्वतः ।

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—हे विदुरजी ! प्रचेताओंके इस प्रकार स्तुति करनेपर शरणागतवत्सल श्रीहरिने प्रसन्न होकर उनसे 'तथास्तु' कहा और अपनी मधुरमूर्तिके दर्शनसे नेत्रोंके तृप्त न होनेके कारण प्रचेताओंकी इच्छा न होनेपर भी वे अप्रतिहत-प्रभाव-शाली प्रभु अपने परमधामको चले गये ॥४३॥ तदनन्तर प्रचेताओंने समुद्रके जलसे बाहर निकलकर देखा कि सम्पूर्ण पृथिवी ऊँचे-ऊँचे वृक्षोंसे ढकी हुई है

१. प्रा० पा०—विक्रमः ।

वीक्ष्याकुप्यन्द्रुमैश्छन्नां गां गां रोद्धुमिवोच्छ्रितैः ४४
ततोऽग्निमारुतौ राजन्नमुञ्चन्मुखतो रुषा ।
महीं निर्वीरुधं कर्तुं संवर्तक इवात्यये ॥४५॥
भस्मसात्क्रियमाणांस्तान्द्रुमान्वीक्ष्य पितामहः ।
आगतः शमयामास पुत्रान्बर्हिष्मतो नयैः ॥४६॥
तत्रावशिष्टा ये वृक्षा भीता दुहितरं तदा ।
उज्जह्रुस्ते प्रचेतोभ्य उपदिष्टाः स्वयंभुवा ॥४७॥
ते च ब्रह्मण आदेशान्मारिषामुपयेमिरे ।
यस्यां महदवज्ञानादजन्यजनयोनिजः ॥४८॥
चाक्षुषे त्वन्तरे प्राप्ते प्राक्सर्गे कालविद्रुते ।
यः ससर्ज प्रजा इष्टाः[1] स दक्षो दैवचोदितः ॥४९॥
यो जायमानः सर्वेषां तेजस्तेजस्विनां रुचा ।
स्वयोपादत्त दाक्ष्याच्च कर्मणां दक्षमब्रुवन् ॥५०॥
तं प्रजासर्गरक्षायामनादिरभिषिच्य[2] च ।
युयोज युयुजेऽन्यांश्च[3] स वै सर्वप्रजापतीन् ॥५१॥

जिन्होंने मानो स्वर्गका मार्ग रोक रखा है। यह देखकर वे वृक्षोंपर अति कुपित हुए ॥४४॥ और उन्होंने पृथिवीको वृक्षहीन करनेके लिये अपने मुखसे प्रलयकालीन अग्निके समान प्रचण्ड पवन और अग्नि छोड़े ॥४५॥ वृक्षोंको इस प्रकार भस्मीभूत होते देख पितामह ब्रह्माजीने वहाँ आकर अनेकों युक्तियुक्त वाक्योंसे राजा प्राचीनबर्हिके पुत्रोंको शान्त किया ॥४६॥ फिर जो कुछ वृक्ष वहाँ बचे थे उन्होंने डरकर ब्रह्माजीके कहनेसे वह कन्या लाकर प्रचेताओंको दे दी ॥४७॥ प्रचेताओंने भी ब्रह्माजीके आदेशसे उस 'मारिषा' नामकी कन्याके साथ विवाह कर लिया जिससे महादेवजीकी अवज्ञाके कारण ब्रह्माजीके पुत्र दक्षने अपना पूर्व शरीर त्यागकर जन्म लिया ॥४८॥ ये वे ही दक्ष हैं, जिन्होंने चाक्षुषमन्वन्तरके आनेपर कालक्रमसे पूर्व सर्गके नष्ट हो जानेपर भगवान्‌की प्रेरणासे फिर नवीन प्रजा उत्पन्न की थी ॥४९॥ इन्होंने जन्म लेते ही अपनी कान्तिसे समस्त तेजस्वियोंका तेज फीका कर दिया था। ये कर्म करनेमें बड़े दक्ष (कुशल) थे इसीसे 'दक्ष' कहलाये ॥५०॥ उन्हें ब्रह्माजीने प्रजापतिके पदपर अभिषिक्त कर प्रजासर्गकी रक्षाके लिये नियुक्त किया और उन्होंने दूसरे मरीचि आदि प्रजापतियोंको अपने-अपने कार्यपर नियुक्त किया ॥५१॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे चतुर्थस्कन्धे[4]
त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३० ॥

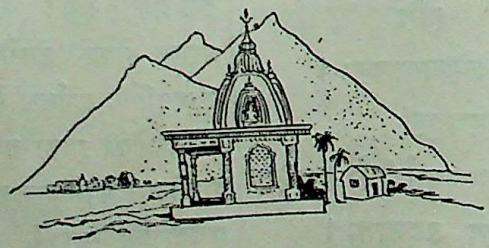

१. प्रा० पा०—मृष्टाः। २. प्रा० पा०—मनादिर्भरतर्षभ। ३. प्रा० पा०—युयुजे तान्वै सर्वानन्यान् प्रजेश्वरान्। ४. प्रा० पा०—प्राचेतसे चरिते त्रिंशत्तमोऽध्यायः।

इकतीसवाँ अध्याय

प्रचेताओंको नारदजीका उपदेश और उनका परमपदलाभ ।

मैत्रेय उवाच

तत उत्पन्नविज्ञाना आश्वधोक्षजभाषितम् ।
स्मरन्त आत्मजे भार्यां विसृज्य प्राव्रजन्गृहात् ।१।
दीक्षिता ब्रह्मसत्रेण सर्वभूतात्ममेधसा ।
प्रतीच्यां दिशि वेलायां सिद्धोऽभूद्यत्र जाजलिः ॥ २ ॥

तान्निर्जितप्राणमनोवचोदृशो
जितासनाञ्छान्तसमानविग्रहान् ।
परेऽमले ब्रह्मणि योजितात्मनः
सुरासुरेड्यो ददृशे स्म नारदः ॥ ३ ॥
तमागतं त उत्थाय प्रणिपत्याभिनन्द्य[1] च ।
पूजयित्वा यथादेशं सुखासीनमथाब्रुवन् ॥ ४ ॥

प्रचेतस[2] ऊचुः

स्वागतं ते सुरर्षेऽद्य[3] दिष्ट्या नो दर्शनं गतः ।
तव चङ्क्रमणं ब्रह्मन्नभयाय यथा रवेः ॥ ५ ॥
यदादिष्टं भगवता शिवेनाधोक्षजेन च ।
तद्गृहेषु प्रसक्तानां प्रायशः[4] क्षपितं प्रभो ॥ ६ ॥
तन्नः प्रद्योतयाध्यात्मज्ञानं[5] तत्त्वार्थदर्शनम् ।
येनाञ्जसा तरिष्यामो दुस्तरं भवसागरम् ॥ ७ ॥

मैत्रेय उवाच

इति प्रचेतसां पृष्टो भगवान्नारदो मुनिः ।
भगवत्युत्तमश्लोक आविष्टात्माब्रवीन्नृपान् ॥ ८ ॥

श्रीमैत्रेयजी बोले—हे विदुर ! तदनन्तर [सहस्रों दिव्य वर्ष बीतनेपर] प्रचेताओंको विवेक हुआ । तब वे श्रीभगवान्‌के वाक्योंको स्मरणकर तत्काल अपनी भार्या मारिषाको अपने पुत्र दक्षको सौंपकर घरसे निकल गये ॥१॥ और पश्चिम दिशामें समुद्रके तटपर जहाँ जाजलि मुनिने सिद्धि प्राप्त की थी उस स्थानपर पहुँचकर उन्होंने 'सम्पूर्ण भूतोंमें एक ही आत्मा विराजमान है' जिससे ऐसा ज्ञान होता है उस ब्रह्मसत्रकी दीक्षा ली ॥२॥

तब प्राण, मन, वाणी और दृष्टिको स्थिर कर शरीरको शान्त और समान रखते हुए जिन्होंने आसनको जीतकर अपना अन्तःकरण विशुद्ध परब्रह्ममें लीन कर दिया है उन प्रचेताओंको देवता और असुर दोनोंहीके वन्दनीय श्रीनारदजीने देखा ॥३॥ जब प्रचेताओंने नारदजीको आये हुए देखा तो वे सब खड़े हो गये और उन्हें प्रणाम कर उनका अभिनन्दन करते हुए स्तुति की । इस प्रकार जब वे सुखपूर्वक बैठ गये तो उनकी आज्ञा पा वे यों कहने लगे ॥४॥

प्रचेतागण बोले—हे देवर्षे ! हम आपका स्वागत करते हैं, आज बड़े भाग्यसे हमें आपका दर्शन हुआ । हे ब्रह्मन् ! ज्ञानालोकसे सम्पूर्ण प्राणियोंको अभय प्रदान करनेके लिये ही आप सूर्यके समान सब लोकोंमें विचरा करते हैं ॥५॥ हे प्रभो ! भगवान् शंकर और श्रीविष्णु भगवान्‌ने हमें जो कुछ उपदेश दिया था वह गृहस्थीमें आसक्त रहनेके कारण हमें प्रायः विस्मृत हो गया है ॥६॥ अतः परमार्थतत्त्वका साक्षात्कार करानेवाले उस आत्मज्ञानको आप हमारे हृदयमें फिर जाग्रत् कीजिये जिससे हम सुगमतासे ही इस दुस्तर संसार-सागरको पार कर जायँ ॥७॥

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—प्रचेताओंके इस प्रकार पूछनेपर भगवान् नारदने पुण्यकीर्ति श्रीहरिमें चित्त स्थिर कर उन राजाओंसे यों कहा ॥८॥

१. प्रा० पा०—भिवाद्य च । २. प्राचीन प्रतिमें 'प्रचेतस ऊचुः'—इतना अंश नहीं है । ३. प्राचीन प्रतिमें 'ऽद्य' यह अंश खण्डित है । ४. प्रा० पा०—प्रायो नः । ५. प्रा० पा०—ध्यात्मं ज्ञानं ।

नारद उवाच

तज्जन्म तानि कर्माणि तदायुस्तन्मनो वचः ।
नृणां येनेह[1] विश्वात्मा सेव्यते हरिरीश्वरः ॥ ९ ॥
किं जन्मभिस्त्रिभिर्वेह[2] शौक्र[3]सावित्रयाज्ञिकैः ।
कर्मभिर्वा त्रयीप्रोक्तैः पुंसोऽपि विबुधायुषा ॥१०॥
श्रुतेन तपसा वा किं वचोभिश्चित्तवृत्तिभिः ।
बुद्ध्या वा किं निपुणया बलेनेन्द्रियरा[4]धसा ॥११॥
किं वा योगेन सांख्येन न्यासस्वाध्याययोरपि ।
किं वा श्रेयोभिरन्यैश्च न यत्रात्मप्रदो हरिः ॥१२॥
श्रेयसामपि सर्वेषामात्मा ह्यवधिरर्थतः ।
सर्वेषामपि भूतानां हरिरात्मा[5]त्मदः प्रियः ॥१३॥
यथा तरोर्मूलनिषेचनेन
तृप्यन्ति तत्स्कन्धभुजोपशाखाः ।
प्राणोपहाराच्च यथेन्द्रियाणां
तथैव सर्वार्हणमच्युतेज्या ॥१४॥
यथैव सूर्यात्प्रभवन्ति वारः
पुनश्च तस्मिन्प्रविशन्ति काले ।
भूतानि भूमौ स्थिरजङ्गमानि
तथा हरावेव गुणप्रवाहः ॥१५॥
एतत्पदं[6] तज्जगदात्मनः परं
सकृद्विभातं सवितुर्यथा प्रभा ।
यथासवो जाग्रति सुप्तशक्तयो

श्रीनारदजी बोले—हे राजाओ ! इस लोकमें जिनके द्वारा सर्वात्मा जगदीश्वर श्रीहरिका सेवन किया जाता है मनुष्योंके वे ही जन्म, कर्म, आयु, मन और वचन सफल हैं ॥९॥ जिनके द्वारा अपने-आपको भी दे डालनेवाले श्रीहरिको प्राप्त न किया जाय उन शौक्र (माताके गर्भसे होनेवाले), सावित्र (यज्ञोपवीतसे होनेवाले) और याज्ञिक (यज्ञकी दीक्षासे होनेवाले) तीन जन्मोंसे, वेदोक्त कर्मोंसे, देवताओंके समान दीर्घ आयुसे, वेदाध्ययनसे, तपसे, वक्तृत्वशक्तिसे, नाना प्रकारकी बातोंको स्मरण रखनेकी शक्तिसे, तीव्र बुद्धिसे, बलसे, इन्द्रियोंके तेजसे, योग, सांख्य, न्यास और स्वाध्यायसे तथा और भी अनेक प्रकारके श्रेयसाधनोंसे पुरुषका क्या लाभ है ? ॥१०—१२॥ वास्तवमें सम्पूर्ण श्रेयोंकी अवधि आत्मा ही है तथा आत्मप्रद श्रीहरि ही सम्पूर्ण प्राणियोंके प्रिय आत्मा हैं ॥१३॥ जिस प्रकार वृक्षकी जड़को सींचनेसे उसके स्कन्ध, शाखा, उपशाखा आदि सभी तृप्त (हरे-भरे) हो जाते हैं, तथा जैसे भोजनद्वारा प्राणोंके तृप्त होनेसे सब इन्द्रियाँ सचेत हो जाती हैं उसी प्रकार श्रीहरिका पूजन करनेसे सभीका पूजन हो जाता है ॥१४॥ जिस प्रकार वर्षाकालमें जल सूर्यहीसे उत्पन्न होता है और फिर ग्रीष्मकालमें उसीमें लीन हो जाता है तथा जिस प्रकार सम्पूर्ण चराचर भूत पृथिवीसे उत्पन्न होकर फिर पृथिवीमें ही मिल जाते हैं उसी प्रकार सम्पूर्ण गुणप्रवाह श्रीहरिसे उत्पन्न होता है और उन्हींमें लीन हो जाता है ॥१५॥ यह (दृश्य जगत्) उस जगदात्मा भगवान्‌का परमपद (स्वरूप) ही है जैसे सूर्यकी प्रभा उससे भिन्न नहीं है उसी प्रकार यह जगत् भगवान्‌से भिन्न नहीं है, तथा जैसे जाग्रत्-अवस्थामें इन्द्रियाँ क्रियाशील होती हैं और सुषुप्तिमें उनकी समस्त शक्तियाँ लीन हो जाती हैं वैसे ही यह जगत् कभी (सृष्टिकालमें) भगवान्‌से प्रकट हो जाता है और प्रलयकालमें उन्हींमें लीन हो जाता है ।

१. प्रा० पा०—येन हि । २. प्रा० पा०—भिस्त्रिभिर्वेदैः । ३. प्रा० पा०—शुक्रसा० । ४. प्रा० पा०—रोधसा । ५. प्रा० पा०—रात्मप्रदः प्रि० । ६. प्राचीन प्रतिमें 'एतत्पदं' से आरम्भ कर 'मात्ययः' तकका अंश (१६ वाँ श्लोक) नहीं है ।

द्रव्यक्रियाज्ञानभिदाभ्रमात्ययः ॥१६॥

यथा नभस्यभ्रतमःप्रकाशा
भवन्ति भूपा[1] न भवन्त्यनुक्रमात् ।
एवं परे ब्रह्मणि शक्तयस्त्वमू
रजस्तमःसत्त्वमिति प्रवाहः ॥१७॥

तेनैकमात्मानमशेषदेहिनां
कालं प्रधानं पुरुषं परेशम् ।
स्वतेजसा ध्वस्तगुणप्रवाह-
मात्मैकभावेन भजध्वमद्धा ॥१८॥

दयया सर्वभूतेषु संतुष्ट्या येन केन वा ।
सर्वेन्द्रियोपशान्त्या च तुष्यत्याशु जनार्दनः ॥१९॥

अपहतसकलैषणामलात्म-
न्यविरतमेधितभावनोपहूतः ।
निजजनवशगत्वमात्मनोऽय-
न्न सरति छिद्रवदक्षरः सतां हि ॥२०॥

न भजति कुमनीषिणां स इज्यां
हरिरधनात्मधनप्रियो रसज्ञः ।
श्रुतधनकुलकर्मणां मदैर्ये
विदधति पापमकिञ्चनेषु सत्सु ॥२१॥

श्रियमनुचरतीं[2] तदर्थिनश्च
द्विपदपतीन्विबुधांश्च यत्स्वपूर्णः[3] ।
न भजति निजभृत्यवर्गतन्त्रः
कथममुमुद्विसृजेत्पुमान्कृतज्ञः ॥२२॥

मैत्रेय उवाच

इति प्रचेतसो राजन्नन्याश्च भगवत्कथाः ।
श्रावयित्वा ब्रह्मलोकं ययौ स्वायंभुवो मुनिः ॥२३॥

भगवान्‌में द्रव्य, क्रिया और ज्ञानात्मक भेदभ्रमका सर्वथा अभाव है ॥१६॥ हे नृपतिगण ! जिस प्रकार बादल, अन्धकार और प्रकाश क्रमशः आकाशसे प्रकट होते हैं और उसीमें लीन हो जाते हैं, [किन्तु उनसे आकाश लिप्त नहीं होता] उसी प्रकार सत्त्व, रज और तम —ये सब शक्तियाँ श्रीहरिसे उत्पन्न होकर उन्हींमें लीन हो जाती हैं । इसी प्रकार यह जगत्‌का प्रवाह चलता रहता है ॥१७॥ अतः काल (जगत्‌के निमित्तकारण) प्रधान (उपादानकारण) और पुरुष (जगत्‌के नियन्ता) रूप तथा सम्पूर्ण देहधारियोंके एकमात्र आत्मा ब्रह्मादि लोकपालोंके भी अधीश्वर और अपने चित्‌शक्तिसे सत्त्वादि गुणोंके प्रवाहरूप प्रपञ्चका तिरस्कार करनेवाले श्रीहरिको तुम,अपने आत्मासे भिन्न न मानते हुए,अभेद-भावसे भजो॥१८॥

वे जनार्दन भगवान्, सम्पूर्ण प्राणियोंपर दया करनेसे, जो कुछ मिल जाय उसीमें सन्तुष्ट रहनेसे तथा सम्पूर्ण इन्द्रियोंके शान्त हो जानेसे शीघ्र ही प्रसन्न हो जाते हैं ॥१९॥ सब प्रकारकी वासनाओंके दूर हो जानेसे शुद्ध हुए सन्तोंके हृदयमें निरन्तर बढ़ी हुई भावनासे खींचकर स्थापित किये हुए श्रीहरि स्वयं अपने भक्तोंके वशीभूत होकर वहाँसे हृदयाकाशकी भाँति नहीं हटते ॥२०॥ जिनका धन आत्मा ही है वे निर्धन पुरुष जिन्हें परम प्रिय हैं और जो उनके भक्तिरसको जानते हैं, वे श्रीहरि उन कुबुद्धियोंकी पूजाको स्वीकार नहीं करते जो अपनी बहुज्ञता, धन, कुल और कर्मोंके मदसे अन्धे होकर निष्किञ्चन सत्पुरुषोंका अपराध करते हैं ॥२१॥ जो स्वरूपानन्दसे ही परिपूर्ण होनेके कारण अपनी सेवा करनेवाली लक्ष्मी, उनकी इच्छा करनेवाले राजाओं और देवताओंको भी कुछ नहीं गिनते किन्तु अपने भक्तोंके सदा अधीन रहते हैं उन श्रीभगवान्‌को कोई कृतज्ञ पुरुष कैसे त्याग सकता है ? ॥२२॥

श्रीमैत्रेयजी बोले—हे विदुर ! इस प्रकार श्रीनारदजी प्रचेताओंको भगवान्‌की और भी बहुत-सी कथाएँ सुनाकर ब्रह्मलोकको चले गये ॥२३॥

१. प्रा० पा०—भूयो । २. प्रा० पा०—मनुसरतस्तदर्थि० । ३. प्रा० पा०—यत्सुपूर्णः ।

तेऽपि तन्मुखनिर्यातं यशो लोकमलापहम् ।
हरेर्निशम्य तत्पादं ध्यायन्तस्तद्गतिं ययुः ॥२४॥
एतत्तेऽभिहितं क्षत्तर्यन्मां त्वं परिपृष्टवान् ।
प्रचेतसां नारदस्य संवादं हरिकीर्तनम् ॥२५॥

तथा वे प्रचेतागण भी, संसारमलको दूर करनेवाले भगवच्चरित्रको उनके मुखसे सुनकर भगवान्‌के ही चरण-कमलोंका चिन्तन करते हुए उनके परमपदको प्राप्त हो गये ॥२४॥ हे विदुर ! तुमने जो मुझसे श्रीनारदजी और प्रचेताओंका संवादरूप हरिकीर्तन पूछा था सो सब मैंने तुम्हें सुना दिया ॥२५॥

श्रीशुक[1] उवाच

य एष उत्तानपदो मानवस्यानुवर्णितः ।
वंशः प्रियव्रतस्यापि निबोध नृप[2]सत्तम ॥२६॥
यो नारदादात्मविद्यामधिगम्य पुनर्महीम् ।
भुक्त्वा विभज्य पुत्रेभ्य ऐश्वरं समगात्पदम् ॥२७॥
इमां तु कौषारविणोपवर्णितां
क्षत्ता निशम्याजितवादसत्कथाम् ।
प्रवृद्धभावोऽश्रु[3]कलाकुलो मुने-
र्दधार मूर्ध्ना चरणं हृदा हरेः ॥२८॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे नृपश्रेष्ठ ! यह स्वायम्भुवमनुके पुत्र उत्तानपादके वंशका वर्णन तो हो चुका । अब प्रियव्रतके वंशका वर्णन भी सुनो ॥२६॥ जिन्होंने श्रीनारदजीके उपदेशसे आत्मज्ञान प्राप्तकर भी फिर राज्यभोग किया और अन्तमें सम्पूर्ण पृथिवीको अपने पुत्रोंमें बाँटकर भगवान्‌के परमधामको प्राप्त हुए ॥ २७ ॥ हे राजन् ! मैत्रेयजीद्वारा वर्णन की हुई श्रीभगवान्‌के गुणानुवादसे युक्त इस पवित्र कथाको सुनकर भक्तिभावके उद्रेकसे जिनके नयनोंसे आँसुओं-की धारा बह रही है उन विदुरजीने हृदयमें श्रीहरिके चरणोंको धारणकर अपने मस्तकको मैत्रेय मुनिके चरणोंमें रक्खा ॥२८॥

विदुर उवाच

सोऽयमद्य महायोगिन्भवता करुणात्मना ।
दर्शितस्तमसः पारो यत्राकिंचनगो हरिः ॥२९॥

विदुरजी बोले—हे महायोगिन् ! आप परम करुणामयने आज मुझे अज्ञानान्धकारके उस पार पहुँचा दिया है जहाँ अकिञ्चन महापुरुषोंको प्राप्त होनेयोग्य श्रीहरि विराजते हैं ॥२९॥

श्रीशुक[4] उवाच

इत्यानम्य तमामन्त्र्य विदुरो गजसाह्वयम् ।
स्वानां दिदृक्षुः प्रययौ ज्ञातीनां निर्वृताशयः ॥३०॥
एतद्यः शृणुयाद्राजन्राज्ञां हर्यर्पितात्मनाम् ।
आयुर्धनं यशः स्वस्ति गतिमैश्वर्यमाप्नुयात् ॥३१॥

श्रीशुकदेवजी बोले—इस प्रकार शान्तचित्त हो श्रीविदुरजी मैत्रेयजीको प्रणामकर उनकी आज्ञा ले अपने जातिबन्धुओंको देखनेके लिये हस्तिनापुरको चले गये ॥३०॥ हे राजन् ! श्रीहरिमें जिन्होंने अपना चित्त लगा रक्खा था उन प्रचेताओंकी इस पवित्र कथाको जो पुरुष सुनेगा उसे दीर्घायु, धन, सुयश, क्षेम, सद्गति और ऐश्वर्य प्राप्त होंगे ॥३१॥

इति श्रीमद्भागवते[5] महापुराणेऽष्टादशसाहस्र्यां[6] संहितायां चतुर्थस्कन्धे[7]
प्रचेतउपाख्यानं नाम एकत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३१ ॥

इति चतुर्थस्कन्धः समाप्तः[8] ।

हरिः ॐ तत्सत् ॥

१. प्राचीन प्रतिमें 'श्रीशुक उवाच' इतना अंश नहीं है । २. प्रा० पा०—नृप सम्मतम् । ३. प्रा० पा०—भावाश्रु० । ४. प्राचीन प्रतिमें 'श्रीशुक उवाच'—यह नहीं है । ५. प्रा० पा०—श्रीभागवते । ६. प्राचीन प्रतिमें 'ऽष्टादशसाहस्र्यां' इतना अंश नहीं है । ७. प्रा० पा०—चतुर्थे स्कन्धे । ८. प्रा० पा०—समाप्तश्च चतुर्थः स्कन्धः ।

श्रीराधाकृष्णाभ्यां नमः

श्रीमद्भागवत

पंचम स्कन्ध

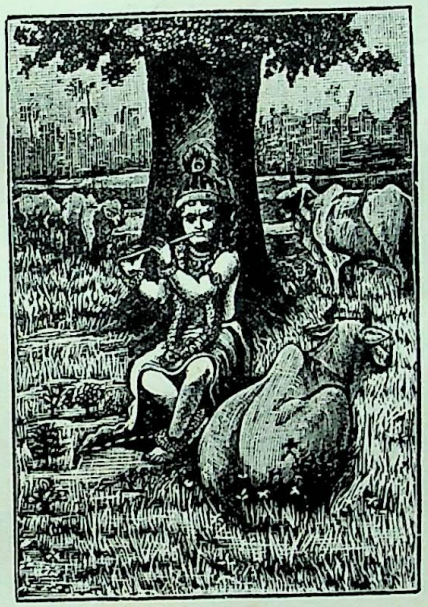

यत्रामी लोकविस्तारास्तारा इव विहायसि ।
भासन्ते तमहं वन्दे बालगोपालमालयम् ॥

श्रीगणेशाय नमः

श्रीमद्भागवत

पंचम स्कन्ध

पहला अध्याय

प्रियव्रत-चरित्र।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥

राजोवाच

प्रियव्रतो भागवत आत्मारामः कथं मुने।
गृहेऽरमत यन्मूलः कर्मबन्धः पराभवः ॥ १ ॥
न नूनं मुक्तसङ्गानां तादृशानां द्विजर्षभ।
गृहेष्वभिनिवेशोऽयं[1] पुंसां भवितुमर्हति ॥ २ ॥
महतां खलु विप्रर्षे उत्तमश्लोकपादयोः।
छायानिर्वृतचित्तानां न कुटुम्बे स्पृहामतिः ॥ ३ ॥
संशयोऽयं महान्ब्रह्मन्दारागारसुतादिषु।
सक्तस्य यत्सिद्धिरभूत्कृष्णे च मतिरच्युता ॥ ४ ॥

राजा परीक्षित्‌ने पूछा—हे मुने! जिसके कारण आत्मा अपने स्वरूपको भूलकर कर्मबन्धनमें बँध जाता है उस गृहस्थाश्रममें महाभागवत राजा प्रियव्रत आत्माराम होकर भी कैसे प्रवृत्त हुए? ॥ १ ॥ हे द्विजश्रेष्ठ! प्रियव्रत-जैसे असंग महापुरुषोंको इस प्रकार गृह आदिमें अभिमान होना तो किसी प्रकार उचित नहीं था ॥ २ ॥ हे ब्रह्मर्षे! जिनके चित्त पुण्यकीर्ति श्रीहरिके चरणोंकी शीतल छायामें शान्त हो गये हैं उन महापुरुषोंकी कुटुम्बादिमें कभी आसक्ति नहीं हो सकती—यह बात सर्वथा निःसन्देह है॥ ३॥ हे ब्रह्मन्! यह बड़े सन्देहकी बात है कि महाराज प्रियव्रतने स्त्री, घर और पुत्रादिमें आसक्त रहकर भी सिद्धि प्राप्त की और उनकी भगवान् श्रीकृष्णमें अविचल भक्ति हुई ॥ ४ ॥

श्रीशुक उवाच

वाढमुक्तं भगवत उत्तमश्लोकस्य श्रीमच्चरणारविन्दमकरन्दरस आवेशितचेतसो भागवतपरमहंसदयितकथां किंचिदन्तरायविहतां स्वां शिवतमां पदवीं न प्रायेण हिन्वन्ति ॥ ५ ॥ यर्हि[3] वाव ह राजन्स राजपुत्रः प्रियव्रतः परमभागवतो नारदस्य चरणोपसेवयाञ्जसावगतपरमार्थ-

श्रीशुकदेवजी बोले—राजन्! तुम्हारा कथन ठीक है। जिनका चित्त पुण्यकीर्ति श्रीहरिके श्रीसम्पन्न चरणकमलमकरन्दमें आसक्त होता है वे लोग किसी विघ्नके प्राप्त हो जानेपर भी प्रायः भगवद्भक्त परमहंसोंके प्रिय श्रीवासुदेव भगवान्‌की कथारूप परम कल्याणमय पथको कभी नहीं छोड़ते ॥५॥ हे राजन्! राजकुमार प्रियव्रत महान् भगवद्भक्त थे। उन्हें श्रीनारदजीके चरणोंकी सेवाके प्रभावसे सुगमतासे ही परमार्थतत्त्वका बोध हो गया था अतः, जिस समय वे

१. प्रा० पा०—निवासोऽयम्। २. प्राचीन प्रतिमें 'वाढमुक्तं…'से आरम्भकर 'हिन्वन्ति' तकका अंश नहीं है।
३. प्रा० पा०—यर्हि वाव महाराजन् राजपुत्रः। ४. प्रा० पा०—परमात्मतत्त्वो।

सतत्त्वो ब्रह्मसत्रेण दीक्षिष्यमाणोऽवनितलपरिपालनायाम्नातप्रवर[1]गुणगणैकान्तभाजनतया स्वपित्रोपामन्त्रितो भगवति वासुदेव एवाव्यवधानसमाधियोगेन समावेशितसकलकारकक्रियाकलापो नैवा[2]भ्यनन्दद्यद्यपि तदप्रत्याम्नातव्यं तदधिकरण आत्मनोऽन्यस्मादसतोऽपि पराभवमन्वीक्षमाणः ॥ ६ ॥ अथ[3] ह भगवानादिदेव एतस्य गुणसर्गस्य परि[4]बृंहणानुध्यानव्यवसितसकलजगदभिप्राय आत्मयोनिरखिल[5]निगमनिजगणपरिवेष्टितः स्वभवनादवततार॥७॥स तत्र[6] तत्र गगनतल उडुपतिरिव विमानावलिभिरनुपथममरपरिवृढै[7]रभिपूज्यमानः पथि पथि च वरूथशः सिद्धगन्धर्वसाध्यचारणमुनिगणैरुपगीयमानो गन्धमादनद्रोणीमवभासयन्नुपससर्प ॥ ८ ॥ तत्र ह वा एनं देवर्षिर्हंसयानेन पितरं भगवन्तं हिरण्यगर्भमुपलभमानः सहसैवोत्थायार्हणेन सह पितापुत्राभ्यामवहिताञ्जलिरुपतस्थे ॥ ९ ॥ भगवानपि भारत तदुपनीतार्हणः सूक्तवाकेनातितरामुदितगुणगणावतारसुजयः प्रियव्रतमादिपुरुषस्तं सदयहासाव[8]लोक इति होवाच[9] ॥ १० ॥

[आत्मचिन्तनके लिये] ब्रह्मसत्रकी दीक्षा लेनेवाले थे उसी समय उन्हें पृथिवीपालनके लिये शास्त्रमें बताये हुए सम्पूर्ण श्रेष्ठ गुणोंसे पूर्णतया सम्पन्न देख उनके पिताने राज्यशासनके लिये आज्ञा दी । तब, जिन्होंने निरन्तर समाधियोगके द्वारा अपनी सम्पूर्ण इन्द्रियाँ और क्रियाकलाप भगवान् वासुदेवको ही समर्पण कर दिये थे उन राजकुमार प्रियव्रतने 'राज-कार्यमें लगनेसे मेरा आत्मस्वरूप असत् प्रपञ्चसे आच्छादित हो जायगा और मैं अपने स्वरूपको भूल जाऊँगा' ऐसा विचारकर, किसी प्रकार त्यागने योग्य न होनेपर भी वह पिताकी आज्ञा स्वीकार नहीं की ॥ ६ ॥ तब, 'इस त्रिगुणमय जगत्की वृद्धि किस प्रकार होगी' निरन्तर इसी चिन्तामें रहकर सकल जगत्के अभिप्रायको जाननेवाले आदिदेव श्रीब्रह्माजी सम्पूर्ण वेदों और मरीचि आदि पार्षदोंसे घिरकर अपने लोक (सत्यलोक) से उतरे ॥ ७ ॥ वे मार्गमें जहाँ-तहाँ विमानोंपर चढ़े हुए देवाधिपतियोंद्वारा भाँति-भाँतिकी सामग्रियोंसे पूजित होते तथा झुण्ड-के-झुण्ड सिद्ध, गन्धर्व, साध्य, चारण और मुनिगणोंसे अपना सुयश सुनते आकाशमें चन्द्रमाके समान सुशोभित हो गन्धमादनकी कन्दराको देदीप्यमान करते हुए राजा प्रियव्रतके पास आये ॥ ८ ॥ वहाँ पहुँचनेपर उनके वाहन हंसको देखकर देवर्षि नारदजी जान गये कि हमारे पिता श्रीब्रह्माजी आये हैं; यह देखकर वे पिता (स्वायम्भुव मनु) और पुत्र (प्रियव्रत) के सहित तत्काल उठ खड़े हुए और हाथ जोड़कर ब्रह्माजीको प्रणाम किया ॥ ९ ॥ तब, हे भरतश्रेष्ठ ! देवर्षि नारदने जिनकी विविध सामग्रियोंसे पूजाकर सुमधुर वचनोंसे उनके गुणगण और अवतारकी उत्कृष्टताका अत्यन्त वर्णन किया है उन भगवान् ब्रह्माजीने राजा प्रियव्रतकी ओर दयादृष्टिसे देखते हुए उनसे इस प्रकार कहा—॥ १० ॥

---

१. प्रा० पा०—प्रवरगुणैकान्त० । २. प्रा० पा०—न वाभ्यनन्दद्यदपि तदप्रत्याम्नातं । ३. प्राचीन प्रतिमें 'अथ ह' यह पाठ नहीं है । ४. प्रा० पा०—सर्गस्य बृंहणा० । ५. प्रा० पा०—रखिलनिजगणपरिवेष्टितः । ६. प्रा० पा०—तत्र गगनतले । ७. प्रा० पा०—ममरपरिवृन्दैरभिपू० । ८. प्राचीन प्रतिमें 'चारणमुनि' से आरम्भकर 'पुरुषस्तं सदय' तकका अंश खण्डित है। ९. प्राचीन प्रतिमें 'वलोक इ'—इतना अंश खण्डित है । १०. प्रा० पा०—होवाच भगवान् वाचम् ।

प्रियव्रतके पास ब्रह्माजीका पधारना

तत्र ह वा एनं देवर्षिर्हंसयानेन पितरं भगवन्तं हिरण्यगर्भमुपलभमानः सहसैवोत्थाय सह पितापुत्राभ्यामवहिताञ्जलिरुपतस्थे

[पृष्ठ ५४०

श्रीभगवानुवाच

निबोध तातेदमृतं ब्रवीमि
मासूयितुं देवमर्हस्यप्रमेयम्[1] ।
वयं भवस्ते[2] तत एष महर्षि-[3]
र्वहाम सर्वे विवशा यस्य दिष्टम्[4] ॥११॥
न तस्य कश्चित्तपसा विद्यया वा
न योगवीर्येण मनीषया वा ।
नैवार्थधर्मैः परतः स्वतो वा
कृतं विहन्तुं तनुभृद्विभूयात् ॥१२॥
भवाय नाशाय च कर्म कर्तुं
शोकाय मोहाय सदाभयाय ।
सुखाय दुःखाय च देहयोग-
मव्यक्तदिष्टं जनताङ्ग धत्ते ॥१३॥
यद्वाचि तन्त्यां[5] गुणकर्मदामभिः
सुदुस्तरैर्वत्स वयं सुयोजिताः ।
सर्वे वहामो बलिमीश्वराय
प्रोता नसीव द्विपदे चतुष्पदः ॥१४॥
ईशाभिसृष्टं ह्यवरुन्ध्महेऽङ्ग
दुःखं सुखं वा गुणकर्मसङ्गात् ।
आस्थाय तत्तद्यदयुङ्क्त नाथ-
श्चक्षुष्मतान्धा इव नीयमानाः ॥१५॥
मुक्तोऽपि तावद्बिभृयात्स्वदेह-
मारब्धमश्नन्नभिमानशून्यः ।
यथानुभूतं प्रतियातनिद्रः
किं त्वन्यदेहाय गुणान्न वृङ्क्ते ॥१६॥
भयं प्रमत्तस्य वनेष्वपि स्या-
द्यतः स आस्ते[6] सहषट्सपत्नः ।

श्रीब्रह्माजी बोले—हे तात ! तुम निश्चय जानो, मैं तुमसे जो कुछ कहता हूँ वह सर्वथा सत्य है । तुम्हें अप्रमेय श्रीहरिके आदेशकी अवहेलना न करनी चाहिये, जिनकी आज्ञाका हम, महादेवजी, तुम्हारे पिता स्वायम्भुवमनु और ये देवर्षि नारद सभी विवश होकर पालन करते हैं ॥११॥ वे जो कुछ करना चाहते हैं उसे कोई भी देहधारी प्राणी तप, विद्या, योगबल, बुद्धिबल, अर्थ, धर्म अथवा स्वयं या दूसरेकी सहायतासे नहीं टाल सकता ॥१२॥ हे प्रिय ! सब जीव जन्म, मरण, शोक, मोह, भय और सुख-दुःखका भोग करने तथा कर्म करनेके लिये ही सदा दैववश देहसंयोगको प्राप्त होते हैं ॥१३॥ हे वत्स ! जिस प्रकार रस्सीसे नथा हुआ चौपाया मनुष्योंका बोझा ढोता है उसी प्रकार उस परमात्माकी वेदवाणीरूप रस्सीमें सत्त्वादि गुण और त्रिविध कर्मरूप दुस्तर बन्धनोंद्वारा बँधकर हम सब उन्हींकी सेवामें तत्पर रहते हैं ॥१४॥ हे प्रिय ! जैसे नेत्रयुक्त मनुष्य अन्धे आदमीको अपनी इच्छानुसार चाहे जहाँ ले जा सकता है उसी प्रकार हमारे गुण और कर्मोंके अनुसार प्रभुने हमें जिस-जिस योनिमें नियुक्त कर दिया है उसीको स्वीकार करके हम ईश्वरद्वारा नियत किये हुए सुख-दुःख भोगते रहते हैं ॥१५॥ जिस प्रकार सोकर उठा हुआ पुरुष स्वप्नके पदार्थोंका स्मरण करता है उसी प्रकार जीवन्मुक्त पुरुष भी जबतक प्रारब्ध शेष रहता है तबतक उसे भोगनेके लिये अपना शरीर धारण करता है, किन्तु उसमें अभिमान नहीं करता और न अन्य देहकी प्राप्ति करानेवाले संस्कारोंको ही स्वीकार करता है ॥१६॥ जो पुरुष इन्द्रियोंके वशीभूत होता है उसे वनमें भी भय रहता है, क्योंकि उसके काम-क्रोधादि छः शत्रु सदा साथ ही रहते हैं । इसके विपरीत जो बुद्धिमान् पुरुष जितेन्द्रिय

१. प्रा० पा०—मर्हस्यमेयम् । २. प्रा० पा०—भवस्ते य इमे । ३. प्रा० पा०—महर्षयो । ४. प्राचीन प्रतिमें 'दिष्टम्' यह नहीं है । ५. प्रा० पा०—तन्त्यां । ६. प्राचीन प्रतिमें 'आस्ते' शब्द खण्डित है ।

जितेन्द्रियस्यात्मरतेर्बुधस्य
गृहाश्रमः किं नु करोत्यवद्यम् ॥१७॥
यः षट्सपत्नान्विजिगीषमाणो
गृहेषु निर्विश्य यतेत पूर्वम् ।
अत्येति दुर्गाश्रित ऊर्जितारीन्
क्षीणेषु कामं विचरेद्विपश्चित् ॥१८॥
त्वं त्वब्जनाभाङ्घ्रिसरोजकोश-
दुर्गाश्रितो निर्जितषट्सपत्नः ।
भुङ्क्ष्वेह भोगान्पुरुषातिदिष्टा-
न्विमुक्तसङ्गः प्रकृतिं भजस्व ॥१९॥

श्रीशुक उवाच

इति समभिहितो महाभागवतो भगवतस्त्रिभुवनगुरोरनुशासनमात्मनो लघुतयावनतशिरोधरो बाढमिति सबहुमानमुवाह ॥ २० ॥ भगवानपि मनुना यथावदुपकल्पितापचितिः प्रियव्रतनारदयोरविषममभिसमीक्षमाणयोरात्मसमवस्थानमवाङ्मनसं क्षयमव्यवहृतं प्रवर्तयन्नगमत् ॥२१॥

मनुरपि परेणैवं प्रतिसंधितमनोरथः सुरर्षिवरानुमतेनात्मजमखिलधरामण्डलस्थितिगुप्तय आस्थाप्य स्वयमतिविषमविषयविषजलाशयाशाया उपरराम २२ इति ह वाव स जगतीपतिरीश्वरेच्छयाधिनिवेशितकर्माधिकारोऽखिलजगद्बन्धध्वंसनपरानुभावस्य भगवतआदिपुरुषस्याङ्घ्रियुगलानवरतध्यानानुभावेन परिरन्धितकषायाशयोऽवदातोऽपि मानवर्धनो महतां

और अपने आत्मामें ही रमण करनेवाला होता है उसका गृहस्थाश्रम भी क्या बिगाड़ सकता है ? ॥१७॥ जो पुरुष काम-क्रोधादि छः शत्रुओंको जीतना चाहे वह पहले घरहीमें रहकर उनको जीतनेका प्रयत्न करे। जिस प्रकार किलेमें सुरक्षित रहकर लड़नेवाला राजा प्रबल शत्रुओंको भी जीत लेता है, उसी प्रकार उन कामादि शत्रुओंको जीतनेके बाद ही विद्वान् पुरुषको यथेच्छ विचरना चाहिये ॥१८॥ तुम तो श्रीकमलनाभ भगवान्के चरणकमलकी कर्णिकारूप किलेके आश्रय रहकर इन छहों शत्रुओंको जीत चुके हो। अतः उन पुराणपुरुषके दिये हुए भोगोंको भोगो और निःसंग होकर अपने स्वरूपमें स्थित हो जाओ ॥१९॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—त्रिलोकीके गुरु श्रीब्रह्माजीके इस प्रकार कहनेपर महाभागवत प्रियव्रतने छोटे होनेके कारण अति नम्रतापूर्वक ग्रीवा झुका ली और उनकी आज्ञा 'बहुत अच्छा' कह बड़े आदरसे शिरोधार्य की ॥२०॥ फिर मनुजीके विधिवत् पूजा करनेपर भगवान् ब्रह्माजी प्रियव्रत और नारदजीद्वारा सरल और शुद्ध दृष्टिसे देखे जाते हुए, अपने आश्रय मन और वाणीके अविषय तथा प्राकृत व्यवहारशून्य ब्रह्मका चिन्तन करते अपने लोकको चले गये ॥२१॥

इस प्रकार ब्रह्माजीके कहनेसे अपना मनोरथ सफल हुआ देख मनुजी भी, देवर्षि नारदकी आज्ञासे अपने पुत्र प्रियव्रतको सम्पूर्ण भूमण्डलकी रक्षाका भार सौंप, स्वयं अत्यन्त विषम विषके स्थानरूप विषयोंको भोगनेकी इच्छासे उपरत हो गये ॥२२॥ इस प्रकार पृथिवीपति महाराज प्रियव्रत ईश्वरकी इच्छासे राज्यशासनरूप कर्ममें नियुक्त हुए। जो सम्पूर्ण संसारबन्धनके काटनेमें अत्यन्त समर्थ हैं उन आदिपुरुष नारायणके चरणयुगलके अनवरत ध्यानके प्रभावसे अन्तःकरणकी सम्पूर्ण वासनाओंके क्षीण हो जानेके कारण वे अत्यन्त शुद्धचित्त हो गये थे, तो भी बड़ोंका मान रखनेके लिये पृथिवीका शासन करने लगे

१. प्रा० पा०—यर्ह्येषि दुर्गा० । २. प्राचीन प्रतिमें 'श्रीशुक उवाच' इतना अंश नहीं है। ३. प्रा० पा०—मव्यवहितमगमत् । ४. प्रा० पा०—जलाशयादुपरराम । ५. प्रा० पा०—विनिवेशित० ।

महीतलमनुशशास ॥ २३ ॥ अथ च[1] दुहितरं प्रजापतेर्विश्वकर्मण उपयेमे बर्हिष्मतीं नाम तस्यामु ह वाव आत्मजानात्म[2]समानशीलगुणकर्मरूपवीर्योदारान्दश भावयांबभूव कन्यां च यवीयसीमूर्जस्वतीं नाम ॥ २४ ॥ आग्नीध्रेध्मजिह्वयज्ञबाहुमहावीरहिरण्यरेतोघृतपृष्ठसवनमेधातिथिवीतिहोत्रकवय इति सर्व एवाग्निनामानः ॥२५॥ एतेषां कविर्महावीरः सवन इति त्रय आसन्नूर्ध्वरेतसस्त आत्मविद्यायामर्भभावादारभ्य कृतपरिचयाः पारमहंस्यमेवाश्रममभजन् ॥ २६ ॥ तस्मिन्[3]नु ह वा उपशमशीलाः परमर्षयः सकलजीवनिकायावासस्य भगवतो वासुदेवस्य भीतानां शरणभूतस्य श्रीमच्चरणारविन्दाविरतस्मरणाविगलितपरमभक्तियोगानुभावेन परिभावितान्तर्हृदयाधिगते भगवति[4] सर्वेषां भूतानामात्मभूते प्रत्यगात्मन्येवात्मनस्तादात्म्यमविशेषेण[5] समीयुः ॥ २७ ॥ अन्यस्यामपि जायायां त्रयः पुत्रा आसन्नुत्तमस्तामसो रैवत इति मन्वन्तराधिपतयः[6] ॥ २८ ॥

एवमुपशमायनेषु स्वतनयेष्वथ जगतीपतिर्जगतीमर्बुदान्येकादश परिवत्सराणामव्याहताखिलपुरुषकारसारसंभृतदोर्दण्डयुगलापीडितमौर्वीगुणस्तनितविरमितधर्मप्रतिपक्षो बर्हिष्मत्याश्चानुदिनमेधमानप्रमोदप्रसरणयौर्षिण्यव्रीडाप्रमुषितहासावलोक-

॥२३॥ तदनन्तर, उन्होंने प्रजापति विश्वकर्माकी पुत्री बर्हिष्मतीके साथ विवाह किया और उससे, शील, गुण, कर्म, रूप और वीर्यमें अपने ही समान दश पुत्र तथा उनसे छोटी ऊर्जस्वती नाम एक कन्या उत्पन्न की ॥२४॥ अग्निके नामोंके अनुसार उन सब पुत्रोंके क्रमशः आग्नीध्र, इध्मजिह्व, यज्ञबाहु, महावीर, हिरण्यरेता, घृतपृष्ठ, सवन, मेधातिथि, वीतिहोत्र और कवि—ये दश नाम थे ॥२५॥ इनमेंसे कवि, महावीर और सवन—ये तीन नैष्ठिक ब्रह्मचारी थे। इन्होंने बाल्यावस्थासे ही आत्मविद्याका अभ्यास किया और अन्तमें संन्यास आश्रम ही स्वीकार किया ॥२६॥ उन निवृत्तिपरायण महर्षियोंने उस आश्रममें रहते हुए ही सम्पूर्ण जीवसमूहके निवासस्थान, भयभीतोंके आश्रयरूप भगवान् वासुदेवके शोभायमान चरणकमलोंका निरन्तर चिन्तन किया और उससे प्राप्त हुए अखण्ड एवं उत्कृष्ट भक्तियोगद्वारा विशुद्ध हुए अपने अन्तःकरणमें आविर्भूत होनेवाले सम्पूर्ण प्राणियोंके आत्मा प्रत्यगात्मस्वरूप श्रीहरिमें अविशेषरूपसे तादात्म्य प्राप्त किया ॥२७॥ उनकी एक दूसरी स्त्रीसे भी उत्तम, तामस और रैवत—ये तीन पुत्र हुए जो अगले मन्वन्तरोंके अधिपति थे ॥२८॥

इस प्रकार, कवि आदि अपने तीन पुत्रोंके परमहंसाश्रम ग्रहण कर लेनेपर पृथिवीपति महाराज प्रियव्रतने अपनी अखण्ड पुरुषार्थमयी महाबलशालिनी दोनों भुजाओंसे खींची हुई धनुषकी डोरीकी टङ्कारसे सम्पूर्ण धर्मद्रोहियोंका दमन करते हुए ग्यारह अर्ब वर्ष पृथिवीका शासन किया। अपनी प्रिया बर्हिष्मतीके साथ नित्यप्रति बढ़नेवाले आमोद-प्रमोद और क्रीडाओंके कारण तथा उसकी स्त्रीसमुचित लज्जा, सङ्कोचमयी मुसकान और चितवन एवं मनोहर मसखरी आदिके कारण यद्यपि [दूसरोंको] उनका विवेक दबा-सा

१. प्रा० पा०—अथ दुहितरं। २. प्राचीन प्रतिमें 'आत्मजानात्म'—इतना अंश नहीं है। ३. प्रा० पा०—तस्मिन्निह। ४. प्राचीन प्रतिमें 'भगवति' यह पाठ नहीं है। ५. प्रा० पा०—वात्मतादात्म्यविशे०। ६. प्रा० पा०—मन्वन्तराधिपतयः सभक्तियोगानुभावेन। ७. प्रा० पा०—प्रमोदमोदप्रसरण०। ८. प्रा० पा०—यौषण्यव्रीडाप्रमोदित०।

रुचिरक्ष्वेल्यादिभिः पराभूयमानविवेक[1] इवानव-बुध्यमान इव महामना बुभुजे ॥ २९ ॥ यावदवभासयति[2] सुरगिरिमनुपरिक्रामन्[3]भगवाना-दित्यो वसुधातलमर्धेनैव प्रतपत्यर्धेनावच्छादयति तदा हि भगवदुपासनोपचितातिपुरुषप्रभावस्तदनभि-नन्दन्समजवेन रथेन ज्योतिर्मयेन रजनीमपि दिनं करिष्यामीति सप्तकृत्वस्तरणिमनुपर्यक्रामद्द्वितीय इव पतङ्गः ॥ ३० ॥ ये वा उ ह तद्रथ-चरणनेमिकृतपरिखातास्ते सप्त[4] सिन्धव आसन्यत एव कृताः सप्त भुवो द्वीपाः ॥ ३१ ॥ जम्बू-प्लक्षशाल्मलिकुशक्रौञ्चशाकपुष्करसंज्ञास्तेषां परि-माणं पूर्वस्मात्पूर्वस्मादुत्तर उत्तरो यथासंख्यं द्विगुणमानेन[5] बहिः समन्तत उपक्लृप्ताः ॥ ३२ ॥ क्षारोदेक्षुरसोदसुरोदघृतोदक्षीरोददधिमण्डोदशुद्धो-दाः सप्त जलधयः सप्त द्वीपपरिखा[6] इवाभ्यन्तर-द्वीपसमाना एकैकश्येन[7] यथानुपूर्वं सप्तस्वपि बहिर्द्वीपेषु पृथक्परितः[8] उपकल्पितास्तेषु[9] जम्बूादिषु बर्हिष्मतीपतिरनुव्रतानात्मजानाग्नीध्रेध्मजिह्वयज्ञ-बाहुहिरण्यरेतोघृतपृष्ठमेधातिथिवीतिहोत्रसंज्ञान्यथा-संख्येनैकैकस्मिन्नेकमेवाधिपतिं[10] विदधे[11] ॥ ३३ ॥ दुहितरं चोर्जस्वतीं नामोशनसे प्रायच्छद्यस्या-मासीद्देवयानीनाम काव्यसुता ॥ ३४ ॥

जान पड़ता था और वे विषयासक्त अज्ञानी-से प्रतीत होते थे तो भी वास्तवमें महामना प्रियव्रतकी निष्ठामें कोई अन्तर नहीं था ॥२९॥ एक बार उन्होंने सोचा कि 'जब भगवान् सूर्य सुमेरु पर्वतकी परिक्रमा करते हुए उसको प्रकाशित करते हैं उस समय आधे भूभागमें ही अपनी किरणोंका प्रकाश फैलाते हैं और आधा अन्धकारसे ही आच्छादित रहता है, सो ठीक नहीं। तब भगवान्‌की उपासनासे जिनका प्रभाव अत्यन्त बढ़ गया है उन महाराज प्रियव्रतने 'मैं रात्रिको भी दिनमें परिणत कर दूँगा' इस विचारसे एक ज्योतिर्मय रथमें चढ़कर दूसरे सूर्यके समान सूर्यके पीछे-पीछे पृथिवीकी सात परिक्रमाएँ कीं ॥३०॥ उस समय उनके रथके पहियेसे जो लीकें बनीं वे ही सात समुद्र हुए, जिनके कारण पृथिवीमें सात द्वीप हो गये ॥३१॥ उनके नाम क्रमशः जम्बू, प्लक्ष, शाल्मलि, कुश, क्रौञ्च, शाक और पुष्कर द्वीप हैं। इनमेंसे पूर्व-पूर्वकी अपेक्षा उत्तर-उत्तरका परिमाण दूना है और ये समुद्रोंके बहिर्भागमें पृथिवीके चारों ओर फैले हुए हैं ॥ ३२ ॥ वे सात समुद्र क्रमशः खारे पानी, ईखके रस, मदिरा, घृत, दुग्ध, मट्ठे और मीठे जलसे भरे हुए हैं और वे सातों द्वीपोंको खाईके समान सब ओरसे घेरे हुए हैं तथा अपने भीतरवाले द्वीपोंके बराबर मापवाले हैं। पहले द्वीपके बाद एक समुद्र उसके बाद दूसरा द्वीप फिर दूसरा समुद्र इसी तरह क्रमसे सात समुद्र अपने अन्तर्वर्ती द्वीपोंको घेरकर उनके चारों ओर स्थित हैं। उन जम्बू आदि सातों द्वीपोंमें राजा प्रियव्रतने बर्हिष्मतीके आग्नीध्र, इध्मजिह्व, यज्ञबाहु, हिरण्यरेता, घृतपृष्ठ, मेधातिथि और वीतिहोत्र नामक सातों पुत्रोंको क्रमशः एक-एकमें एक-एकको राजा बनाया ॥ ३३ ॥ तथा ऊर्जस्वती नाम अपनी कन्याका विवाह शुक्राचार्यजीके साथ किया जिससे शुक्रकन्या देवयानीका जन्म हुआ ॥ ३४ ॥

१. प्रा० पा०—विवेको नावबुध्यमा० । २. प्रा० पा०—यदेवाभासयति । ३. प्रा० पा०—परिक्रामन् भगवा-नादित्यो दशदिक्षु प्रतपत्यर्द्धेनावच्छादयति । ४. प्रा० पा०—सप्त सप्त सिन्ध० । ५. प्रा० पा०—द्विगुणेन बहिः समन्ततः । ६. प्रा० पा०—परिखाभ्यन्तरे द्वीप० । ७. प्रा० पा०—एकैकस्येव । ८. प्रा० पा०—परिधय उपकल्पिता० । ९. प्रा० पा०—तेषु बर्हिष्मतीपति० । १०. प्रा० पा०—वाह० । ११. प्रा० पा०—यथासंख्यकमेकैकस्मिन्नेकमेवाधि० ।

नैवंविधः पुरुषकार उरुक्रमस्य
पुंसां तदङ्घ्रिरजसा जितषड्गुणानाम् ।
चित्रं विदूरविगतः सकृदाददीत
यन्नामधेयमधुना स जहाति बन्धम् ॥३५॥

हे राजन् ! जिन्होंने भगवच्चरणारविन्दोंकी रजके प्रभावसे क्षुधा, पिपासा, शोक, मोह, जरा और मृत्यु—शरीरके इन छः धर्मोंको जीत लिया है उन विष्णु-भक्तोंका ऐसा पुरुषार्थ होना कोई आश्चर्यकी बात नहीं है, क्योंकि उनके तो नामका ही एक बार उच्चारण करनेसे जातिका चाण्डाल भी तत्काल संसारबन्धनसे मुक्त हो जाता है ॥ ३५ ॥

स एवमपरिमितबलपराक्रम एकदा तु देवर्षिचरणानुशयनानुपतितगुणविसर्गसंसर्गेणानिर्वृतमिवात्मानं मन्यमान आत्मनिर्वेद इदमाह ॥३६॥ अहो असाध्वनुष्ठितं यदभिनिवेशितोऽहमिन्द्रियैरविद्यारचितविषमविषयान्धकूपे तदलमलममुष्या वनिताया विनोदमृगं मां धिग्धिगिति गर्हयाञ्चकार ।३७। परदेवताप्रसादाधिगतात्मप्रत्यवमर्शेनानुप्रवृत्तेभ्यः पुत्रेभ्य इमां यथादायं विभज्य भुक्तभोगां च महिषीं मृतकमिव सहमहाविभूतिमपहाय स्वयं निहितनिर्वेदो हृदि गृहीतहरिविहारानुभावो भगवतो नारदस्य पदवीं पुनरेवानुससार ॥ ३८ ॥

इस प्रकार अतुलित बल-पराक्रमसम्पन्न वे राजा प्रियव्रत एक बार, अपनेको देवर्षि नारदके चरण-शरणमें प्राप्त होकर भी फिर दैववश प्राप्त हुए प्रपञ्चमें फँस जानेसे शान्तिहीन हुआ देख मन-ही-मन विरक्त होकर इस प्रकार कहने लगे ॥३६॥ 'अहो ! बड़ा बुरा हुआ ! मेरी विषयलोलुप इन्द्रियोंने मुझे इस अविद्याजनित विषम विषयरूप अन्धकूपमें गिरा दिया ! बस, ये विषयभोग अब बहुत हो लिये । स्त्रीके क्रीडामृगरूप मुझे धिक्कार है ! धिक्कार है !' इस प्रकार उसने अपनी बहुत कुछ निन्दा की ॥३७॥ फिर परदेवता श्रीहरिकी कृपासे आत्मचिन्तनमें तत्पर हो अपने अनुगत पुत्रोंको यह सम्पूर्ण पृथिवी यथायोग्य बाँट और जिसके साथ नाना प्रकारके भोग भोगे हैं उस राजमहिषीको भी अपने पुत्रोंको सौंप अपने महान् ऐश्वर्यके सहित सम्पूर्ण राज्यको मृतक शरीरके समान त्यागकर हृदयमें वैराग्य धारणकर भगवान्‌की लीलाओं-का चिन्तन करते हुए श्रीनारदजीके बताये मार्गका पुनः अनुसरण करने लगे ॥३८॥

तस्य ह वा एते श्लोकाः ।
प्रियव्रतकृतं कर्म को नु कुर्याद्विनेश्वरम् ।
यो नेमिनिम्नैरकरोच्छायां घ्नन्सप्त वारिधीन् ॥३९॥
भूसंस्थानं कृतं येन सरिद्गिरिवनादिभिः ।
सीमा च भूतनिर्वृत्त्यै द्वीपे द्वीपे विभागशः ॥४०॥

हे राजन् ! प्रियव्रतके सम्बन्धमें ये श्लोक प्रसिद्ध हैं—राजा प्रियव्रतके किये हुए कर्मोंको भला ईश्वरके सिवा और कौन कर सकता है ? जिन्होंने अपने रथके पहियोंकी नेमिसे बनी हुई लीकोंसे सात समुद्र बना दिये ॥ ३९ ॥ जिन्होंने प्राणियोंको सुख देनेके लिये पृथिवीके द्वीप नामक विभाग किये और प्रत्येक विभागमें अलग-अलग नदी, पर्वत और वन आदिसे उसकी सीमा नियत की ॥ ४० ॥

१. प्रा० पा०—सुकृदाददीत । २. प्रा० पा०—सहजातितत्त्वम् । ३. प्रा० पा०—प्रत्यवमर्षोऽनुपरिनिवृत्त-स्वपुत्रे० । ४. प्रा० पा०—विभज्य भोगं च ।

भौमं दिव्यं मानुषं च महित्वं कर्मयोगजम् ।
यश्चक्रे निरयौपम्यं पुरुषानुजनप्रियः ॥४१॥

तथा भगवद्भक्तोंके प्रिय जिन राजराजेश्वरने कर्मयोगद्वारा प्राप्त होनेवाले पृथिवी, स्वर्ग और मनुष्योंके भोगोंको नरकतुल्य समझा [उनकी समानता कौन कर सकता है ?] ॥४१॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पञ्चमस्कन्धे
प्रियव्रतविजये प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

दूसरा अध्याय

आग्नीध्र और पूर्वचित्तिकी भेंट ।

श्रीशुक उवाच

एवं पितरि संप्रवृत्ते तदनुशासने वर्तमान आग्नीध्रो जम्बूद्वीपौकसः प्रजा औरसवद्धर्मावेक्षमाणः पर्यगोपायत् ॥ १ ॥ स च कदाचित्पितृलोककामः सुरवरवनिताक्रीडाचलद्रोण्यां भगवन्तं विश्वसृजां पतिमाभृतपरिचर्योपकरण आत्मैकाग्र्येण तपस्व्याराधयाम्बभूव ॥ २ ॥ तदुपलभ्य भगवानादिपुरुषः सदसि गायन्तीं पूर्वचित्तिं नामाप्सरसमभियापयामास ॥३॥ सा च तदाश्रमोपवनमतिरमणीयं विविधनिबिडविटपिविटपनिकरसंश्लिष्टपुरटलतारूढस्थलविहङ्गमिथुनैः प्रोच्यमानश्रुतिभिः प्रतिबोध्यमानसलिलकुक्कुटकारण्डवकलहंसादिभिर्विचित्रमुपकूजितामलजलाशयकमलाकरमुपबभ्राम ॥४॥ तस्याः सुललितगमनपदविन्यास-

श्रीशुकदेवजी बोले—इस प्रकार पिताके तपस्यामें तत्पर हो जानेपर महाराज आग्नीध्र उनकी आज्ञाका अनुसरण करते हुए धर्मपर दृष्टि रख जम्बूद्वीपमें रहनेवाली प्रजाको पुत्रके समान पालने लगे ॥ १ ॥ एक बार वे पितृलोककी कामनासे [सत्पुत्रकी प्राप्तिके लिये] सुरसुन्दरियोंके क्रीडास्थान मन्दराचल पर्वतकी कन्दरामें गये और पूजाकी सब सामग्री जुटाकर एकाग्रचित्तसे तपोनिष्ठ होकर प्रजापतियोंके पति श्रीब्रह्माजीकी आराधना करने लगे ॥ २ ॥ आदिदेव भगवान् ब्रह्माजीने आग्नीध्रकी अभिलाषाको जानकर उस समय अपनी सभामें गाती हुई पूर्वचित्ति नामक अप्सराको उनके पास भेजा ॥३॥ वह अप्सरा आग्नीध्रजीके आश्रमके निकटवर्ती उपवनमें विचरने लगी जहाँ नाना प्रकारके घने वृक्षोंकी शाखाओंके समूहसे सटी हुई सुवर्णवर्ण लताओंके ऊपर बैठे हुए स्थलचारी मयूरादि पक्षियोंके जोड़ोंके कलरवकी ध्वनि हो रही थी। और उस ध्वनिको सुनकर सचेत हुए जलकुक्कुट, कारण्डव एवं कलहंस आदि जलपक्षियोंके भाँति-भाँतिकी बोली बोलनेसे वहाँके कमलवनसुशोभित सरोवर गुञ्जायमान हो रहे थे ॥४॥ उसकी सुललित गतिविधि और पाद-

१. प्राचीन प्रतिमें 'प्रियव्रतविजये'—इतना अंश नहीं है । २. प्राचीन प्रतिमें 'श्रीशुक उवाच'—इतना अंश नहीं है । ३. प्राचीन प्रतिमें 'संप्रवृत्ते'—इतना अंश खण्डित है । ४. प्रा० पा०—अग्निध्रो । ५. प्राचीन प्रतिमें 'पितृलोककामः·····'से आरम्भ कर 'सदसि गायन्तीं'—पर्यन्त अंश नहीं है । ६. प्रा० पा०—विटपिनिकटपुरटलता० । ७. प्रा० पा०—विहग० ।

गतिविलासायाश्चानुपदं खणखणायमानरुचिरचरणाभरणस्वनमुपाकर्ण्य नरदेवकुमारः समाधियोगेनामीलितनयननलिनमुकुलयुगलमीषद्विकचय्य[2] व्यचष्ट ॥५॥ तामेवाविदूरे[3] मधुकरीमिव सुमनस[4] उपजिघ्रन्तीं दिविजमनुजमनोनयनाह्लाददुघैर्गतिविहारव्रीडाविनयावलोकसुस्वराक्षरावयवैर्मनसि[5] नृणां कुसुमायुधस्य विदधतां विवरं निजमुखविगलितामृतासवसहासभाषणामोदमहान्धमधुकरनिकरोपरोधेन द्रुतपदविन्यासेन[7] वल्गुस्पन्दनस्तनकलशकबरभाररशनां देवीं तदवलोकनेन विवृतावसरस्य भगवतो मकरध्वजस्य वशमुपनीतो जडवदिति होवाच ॥ ६ ॥

का त्वं चिकीर्षसि च किं मुनिवर्य शैले[8]
मायासि कापि भगवत्परदेवतायाः।
विज्ये बिभर्षि धनुषी सुहृदात्मनोऽर्थे
किं वा मृगान्मृगयसे विपिने प्रमत्तान्॥७॥
बाणाविमौ भगवतः शतपत्रपत्रौ
शान्तावपुङ्खरुचिरावतितिग्मदन्तौ।
कस्मै युयुङ्क्षसि वने विचरन्न विद्मः
क्षेमाय नो जडधियां तव विक्रमोऽस्तु॥८॥

विन्यासके विलाससे पद-पदपर छमछमाते हुए नूपुर आदि चरणोंके आभूषणोंकी मनोहर ध्वनिको सुनकर राजकुमार आग्नीध्रने समाधियोगद्वारा मूँदे हुए अपने दोनों नयनकमलोंको कुछ-कुछ खोलकर देखा ॥५॥ तो पास ही उन्हें वह पूर्वचित्ति अप्सरा दिखायी दी ; वह भौंरीके समान एक-एक फूलके पास जाकर उसे सूँघती थी तथा देवता और मनुष्योंके मन और नयनोंको आह्लादित करनेवाली अपनी गति, क्रीडा, लज्जा, विनय, चितवन, मधुर स्वरलहरी, मृदु वाणी और अंगोंकी बनावटसे पुरुषोंके हृदयमें कामदेवका प्रवेश होनेके लिये द्वार-सा बना रही थी। जब हास्यपूर्ण भाषणके समय उसके मुखसे निकले हुए अमृतमय मादक गन्धसे अन्धे होकर भ्रमरगण उसके मुख-कमलको घेर लेते और वह उनसे बचनेके लिये जल्दी-जल्दी चरण उठाती हुई चलती तो उसके कुच-कलश, वेणी और कर्धनी हिलते हुए बड़े ही सुहावने लगते थे। उन्हें देखनेसे अपने चित्तमें प्रवेश करनेका अवसर पाये हुए भगवान् कामदेवके अधीन होकर वे आग्नीध्र जडपुरुषोंके समान इस प्रकार कहने लगे—॥ ६ ॥

"हे मुनिवर्ये! तुम कौन हो? इस पर्वतपर तुम क्या करना चाहती हो? तुम भगवान् परमपुरुषकी कोई माया तो नहीं हो? [फिर उसकी भृकुटियोंको देखकर कहा—] हे मित्र! तुमने ये बिना प्रत्यञ्चाके दो धनुष क्यों धारण कर रखे हैं? क्या तुम इस [संसाररूप] वनमें [विषयासक्त जीवरूप] मतवाले मृगोंके शिकार करते फिरते हो? ॥७॥ [फिर नेत्रोंको लक्ष्य करके कहने लगे—] आपके जो ये कमलदलरूप पंखोंवाले दो शान्त पुङ्खहीन, अति सुन्दर और तीखे बाण हैं उन्हें इस वनमें विचरते हुए तुम किसपर प्रयोग करना चाहते हो? हमें यहाँ तुम्हारा कोई प्रतिपक्षी तो नहीं दीख पड़ता। तुम्हारा यह पराक्रम हम-जैसे जड-बुद्धियोंका कल्याण करे ॥ ८ ॥ [उसके चारों ओर जो भौंरे गुञ्जार रहे थे उन्हें देखकर कहा—]

१. प्राचीन प्रतिमें 'युगल' यह पाठ नहीं है। २. प्रा० पा०—मीषद्विहस्य। ३. प्रा० पा०—तामेव दूरे। ४. प्राचीन प्रतिमें 'सुमनस' यह पाठ खण्डित है। ५. प्राचीन प्रतिमें 'मनो' यह पाठ नहीं है। ६. प्रा० पा०—निजमुखभाषणामोद०। ७. प्रा० पा०—द्रुतपदन्यासेन। ८. प्रा० पा०—शीले। ९. प्रा० पा०—दिव्ये।

शिष्या इमे भगवतः परितः पठन्ति
गायन्ति साम सरहस्यमजस्रमीशम् ।
युष्मच्छिखाविलुलिताः सुमनोऽभिवृष्टीः
सर्वे भजन्त्यृषिगणा इव वेदशाखाः ॥ ९ ॥

वाचं परं चरणपञ्जरतित्तिरीणां
ब्रह्मन्नरूपमुखरां शृणवाम तुभ्यम् ।
लब्धा कदम्बरुचिरङ्कविटङ्कबिम्बे
यस्यामलातपरिधिः क्व च वल्कलं ते ॥ १० ॥

किं संभृतं रुचिरयोर्द्विज शृङ्गयोस्ते
मध्ये कृशो वहसि यत्र दृशिः श्रिता[1] मे ।
पङ्कोऽरुणः सुरभिरात्मविषाण ईदृग्
येनाश्रमं सुभग मे सुरभीकरोषि[2] ॥ ११ ॥

लोकं प्रदर्शय सुहृत्तम तावकं मे
यत्रत्य इत्थमुरसावयवावपूर्वौ ।
अस्मद्विधस्य मनउन्नयनौ[3] बिभर्ति
बह्वद्भुतं सरसरासुधादि[4] वक्त्रे ॥ १२ ॥

का वात्मवृत्तिरदनाद्धविरङ्ग वाति
विष्णोः कलास्यनिमिषोन्मकरौ च कर्णौ ।
उद्विग्नमीनयुगलं द्विजपङ्क्तिशोचि-

भगवन् ! आपके चारों ओर ये शिष्यगण अध्ययन कर रहे हैं सो निरन्तर रहस्ययुक्त सामगान करते हुए ईश्वरकी आराधना कर रहे हैं तथा ये सब-के-सब, जैसे ऋषिगण वेदकी शाखाओंका सेवन करते हैं उसी प्रकार आपकी चोटीसे झड़े हुए पुष्पोंका सेवन कर रहे हैं ॥ ९ ॥ हे ब्रह्मन् ! आपके चरणरूप पिंजड़ोंमें बन्द हुए तीतरोंका शब्द तो स्पष्ट सुन पड़ता है परन्तु उनका रूप कहीं दिखायी नहीं देता । [फिर कर्धनी-सहित पीली साड़ीको शरीरकी कान्ति समझकर बोले—] जिसके ऊपर जलते हुए अंगारोंका मण्डल-सा पड़ा हुआ है ऐसी यह कदम्बकुसुमकी आभा आपके नितम्बोंपर कहाँसे आ गयी तथा आपका वल्कलवस्त्र कहाँ है ? ॥ १० ॥ [फिर कुंकुममण्डित कुचोंको देखकर कहने लगे—] हे द्विज ! आपके इन दोनों सुन्दर सींगोंमें क्या भरा हुआ है । अहो ! इनका मध्यभाग बड़ा ही कृश है; उसपर पड़ी हुई मेरी दृष्टि फिर वहाँसे हटना नहीं चाहती । और इन सींगोंपर आपने यह लाल-लाल कीचड़-सी क्या लगा रक्खी है जिससे आप मेरे सम्पूर्ण आश्रमको सुगन्धित कर रहे हैं ॥ ११ ॥ हे प्रियवर ! जहाँके निवासी अपने वक्षःस्थलपर, हमारे समान पुरुषोंके चित्तोंको चुरानेवाले ऐसे अवयव तथा मुखमें अति अद्भुत हाव-भाव और सरस भाषण एवं अधरसुधा आदि धारण करते हैं उस अपने लोकको हमें दिखाइये ॥ १२ ॥ हे प्रिय ! आपका भोजन क्या है जिसके खानेसे आपके मुखसे हवनसामग्रीकी सुगन्ध फैल रही है । मालूम होता है आप कोई विष्णु भगवान्‌की कला ही हैं इसीलिये आपके कानोंमें कभी पलक न मारनेवाले दो मकराकृत कुण्डल विराजमान हैं । आपका मुख सुन्दर सरोवरके समान है, उसमें भयके कारण सदा काँपते रहनेवाले (नेत्ररूप) दो मत्स्य क्रीडा कर रहे हैं, आपकी दन्तपंक्ति हंसोंकी भाँति जान पड़ती

१. प्रा० पा०—सुता मे । २. प्रा० पा०—सुरभिं करोषि । ३. प्रा० पा०—उन्नयनैर्बिभर्ति । ४ प्रा० पा०—सरसरासुधादि ।

रासन्नभृङ्गनिकरं सर उन्मुखं ते ॥१३॥
योऽसौ त्वया करसरोजहतः पतङ्गो
दिक्षु भ्रमन्भ्रमत एजयतेऽक्षिणी मे[1] ।
मुक्तं न ते स्मरसि वक्रजटावरूथं
कष्टोऽनिलो हरति लम्पट एष नीवीम् ॥१४॥
रूपं तपोधन तपश्चरतां तपोघ्नं
ह्येतत्तु केन तपसा भवतोपलब्धम्[2] ।
चर्तुं तपोऽर्हसि मया सह मित्र मह्यं
किं वा प्रसीदति स वै भवभावनो मे[3] ॥१५॥
न त्वां त्यजामि दयितं[4] द्विजदेवदत्तं
यस्मिन्मनो दृगपि नो न वियाति लग्नम् ।
मां चारुशृङ्ग्यर्हसि नेतुमनुव्रतं ते
चित्तं यतः प्रतिसरन्तु शिवाः सचिव्यः ।१६।

है और घुँघराली अलकावली भ्रमरसमूहके समान शोभायमान है ॥ १३ ॥ तुम जो अपने करकमलोंसे थपकी मारकर इस कन्दुकको उछाल रहे हो सो यह दिशा-विदिशाओंमें जाता हुआ मेरे नेत्रोंको चञ्चल कर रहा है । देखो, तुम्हारा घुँघराला जटाजूट खुल गया है, क्या तुम्हें इसका कुछ भी पता नहीं है ? अहो ! कैसे खेदकी बात है कि यह धूर्त वायु बार-बार तुम्हारे कटिवस्त्रको हटा देता है ! ॥ १४ ॥ हे तपोधन ! तपस्वियोंके तपको नष्ट करनेवाला यह अनूप रूप आपने किस तपके प्रभावसे पाया है ? हे मित्र ! आप मेरे साथ रहकर तपस्या करें अथवा क्या विश्व-भावन श्रीब्रह्माजीने ही मुझपर प्रसन्न होकर तुम्हें मेरे पास भेजा है ॥ १५ ॥ हे प्रिय ! ब्रह्माजीके भेजे हुए तुम्हें अब मैं नहीं छोड़ सकता, क्योंकि तुममें लगे हुए मेरे नेत्र और चित्त तुम्हें छोड़कर अन्यत्र नहीं जाना चाहते । हे सुन्दर सींगोंवाली ! अब तुम्हारी जहाँ इच्छा हो वहीं मुझ अपने अनुचरको भी ले चलो और तुम्हारी ये कल्याणमयी सखियाँ भी हमारे ही साथ चलें ॥ १६ ॥

श्रीशुक उवाच

इति ललनानुनयातिविशारदो ग्राम्यवैदग्ध्यया परिभाषया तां विबुधवधूं विबुधमतिरधिसभाजयामास ॥१७॥ सा च ततस्तस्य वीरयूथपतेर्बुद्धिशील-रूपवयःश्रियौदार्येण[6] पराक्षिप्तमनास्तेन[7] सहायुतायुत-परिवत्सरोपलक्षणं कालं[9] जम्बूद्वीपपतिना[10] भौमस्वर्ग-भोगान्बुभुजे[11] ॥१८॥ तस्यामु ह वा आत्मजान्स राजवर[12] आग्नीध्रो नाभिकिंपुरुषहरिवर्षेलावृतरम्यकहिरण्मय-कुरुभद्राश्वकेतुमालसंज्ञान्नव[13] पुत्रानजनयत् ॥१९॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! इस प्रकार, स्त्रियोंको प्रसन्न करनेमें अत्यन्त कुशल और देवताओंके समान बुद्धिमान् राजा आग्नीध्रने विषयी पुरुषोंके समान बातें करते हुए उस अप्सराको प्रसन्न किया ॥ १७ ॥ और वह वीरसमाजके शिरोमणि आग्नीध्रकी बुद्धि, शील, रूप, अवस्था, लक्ष्मी और उदारता आदि गुणोंसे मोहित हो उस जम्बूद्वीपाधिपतिके साथ कई सहस्र वर्षपर्यन्त पृथिवी और स्वर्गके भोग भोगती रही ॥ १८ ॥ उस राजश्रेष्ठने उससे नाभि, किम्पुरुष, हरिवर्ष, इलावृत, रम्यक, हिरण्मय, कुरु, भद्राश्व और केतुमाल नामक नौ पुत्र उत्पन्न किये ॥ १९ ॥

१. प्रा० पा०—ते । २. प्रा० पा०—भवतेह लब्धम् । ३. प्रा० पा०—भावनोऽसौ । ४. प्रा० पा०—दयितां । ५. प्राचीन प्रतिमें 'श्रीशुक उवाच' यह पाठ नहीं है । ६. प्रा० पा०—रूपविद्यावयः । ७. प्राचीन प्रतिमें 'ते' यह पाठ खण्डित है । ८. प्राचीन प्रतिमें 'यु' यह पाठ खण्डित है । ९. प्राचीन प्रतिमें 'कालं' यह पाठ खण्डित है । १०. प्रा० पा०—भूमि० । ११. प्राचीन प्रतिमें 'जान्' यह पाठ खण्डित है । १२. प्रा० पा०—राजवर्य । १३. प्राचीन प्रतिमें 'वृतरम्यकहिरण्मय···' से आरम्भकर 'आत्मतुल्यनामानि' पर्यन्त अंश खण्डित है ।

सा सूत्वाथ सुतान्नवानुवत्सरं गृह एवापहाय पूर्वचित्तिर्भूय एवाजं देवमुपतस्थे ॥२०॥ आग्नीध्रसुतास्ते मातुरनुग्रहादौत्पत्तिकेनैव संहननबलोपेताः पित्रा विभक्ता आत्मतुल्यनामानि यथाभागं[1] जम्बूद्वीपवर्षाणि बुभुजुः ॥२१॥ आग्नीध्रो राजातृप्तः कामानामप्सरसमेवानुदिनमधिमन्यमानस्तस्याः[2] सलोकतां श्रुतिभिरवारुन्ध यत्र पितरो मादयन्ते[3] ॥२२॥ संपरेते पितरि नव भ्रातरो मेरुदुहितॄर्मेरुदेवीं प्रतिरूपामुग्रदंष्ट्रीं लतां रम्यां[4] श्यामां नारीं भद्रां देववीतिमिति[5] संज्ञा नवोदवहन्[6] ॥२३॥

इस प्रकार प्रतिवर्ष एक-एकके क्रमसे नौ पुत्र उत्पन्नकर पूर्वचित्ति उन्हें राजभवनमें ही छोड़कर फिर ब्रह्माजीकी सेवामें उपस्थित हो गयी ॥२०॥ वे आग्नीध्रके पुत्र अपनी माताके अनुग्रहसे स्वभावसे ही सुदृढ़ शरीर और बलसे सम्पन्न थे। वे अपने पिताद्वारा विभाग करके दिये हुए अपने ही नामोंवाले जम्बूद्वीपके वर्षों (भूखण्डों) का राज्य भोगने लगे ॥ २१ ॥ राजा आग्नीध्र दिन-दिन भोगोंसे अतृप्त रहनेके कारण अप्सराको ही परमपुरुषार्थ मानता हुआ वैदिक कर्मोंके द्वारा उसीके लोकको प्राप्त किया, जहाँ पितृगण अपने-अपने सुकृतोंके अनुसार नाना प्रकारके भोगोंमें मस्त रहते हैं ॥२२॥ पिताके परलोक सिधारनेपर नाभि आदि नौ भाइयोंने मेरुकी मेरुदेवी, प्रतिरूपा, उग्रदंष्ट्री, लता, रम्या, श्यामा, नारी, भद्रा और देववीति नामकी नौ कन्याओंसे विवाह किया ॥२३॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पञ्चमस्कन्धे[7] आग्नीध्रवर्णनं नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥२॥

तीसरा अध्याय

आग्नीध्रके पुत्र राजा नाभिका चरित्र।

श्रीशुक उवाच[8]

नाभिरपत्यकामोऽप्रजया मेरुदेव्या भगवन्तं यज्ञपुरुषमवहितात्मायजत[9] ॥१॥ तस्य ह वाव[10] श्रद्धया विशुद्धभावेन यजतः प्रवर्ग्येषु प्रचरत्सु द्रव्यदेशकालमन्त्रर्त्विग्दक्षिणाविधानयोगोपपत्त्या दुरधिगमो हि भगवान् भागवतवात्सल्यतया सुप्रतीक आत्मानमपराजितं निजजनाभिप्रेतार्थविधित्सया[11] गृहीतहृदयो हृदयङ्गमं मनोनयनानन्दनावयवाभिराममाविश्चकार२

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! आग्नीध्रके पुत्र नाभिने अपनी रानी मेरुदेवीके सहित पुत्रकी कामनासे एकाग्रतापूर्वक भगवान् यज्ञपुरुषका पूजन किया ॥ १ ॥ उनके अति श्रद्धापूर्वक शुद्ध भावसे आराधना करनेपर, जो श्रीभगवान् द्रव्य, देश, काल, मन्त्र, ऋत्विक्, दक्षिणा और विधि आदि सामग्रियोंसे अत्यन्त दुष्प्राप्य हैं, उन्होंने अपनी भक्तवत्सलताके कारण आकर्षित हो अपने भक्त नाभिका अभिलषित कार्य करनेके लिये यज्ञके 'प्रवर्ग्य' कर्मका अनुष्ठान होते समय अपने स्वतन्त्र स्वरूपको मन और नयनोंको आनन्दित करनेवाले अङ्गोंसे युक्त अतिसुन्दर मूर्तिमें प्रकट किया ॥ २ ॥

१. प्रा० पा०—यथाविभागं। २. प्रा० पा०—मधिगम्यमान०। ३. प्रा० पा०—मोदयन्ते। ४. प्रा० पा०—रामां नारीं। ५. प्राचीन प्रतिमें 'मिति' यह पाठ नहीं है। ६. प्रा० पा०—संज्ञा अवहन्। ७. प्रा० पा०—पञ्चमे स्कन्धे द्वितीयोऽध्यायः। ८. प्राचीन प्रतिमें 'श्रीशुक उवाच' यह पाठ नहीं है। ९. प्राचीन प्रतिमें 'मव' यह पाठ खण्डित है। १०. प्रा० पा०—तस्य ह वावेति। ११. प्रा० पा०—जनाभिप्रायार्थ०।

अथ ह तमाविष्कृतभुजयुगलद्वयं हिरण्मयं पुरुषविशेषं कपिशकौशेयाम्बरधरमुरसि विलसच्छ्रीवत्सललामं दरवरवनरुहवनमालाच्छूर्यमृतमणिगदादिभिरुपलक्षितं स्फुटकिरणप्रवरमुकुटकुण्डलकटककटिसूत्रहारकेयूरनूपुराद्यङ्गभूषणविभूषितमृत्विक्सदस्यगृहपतयोऽधना इवोत्तमधनमुपलभ्य सबहुमानमर्हणेनावनतशीर्षाण उपतस्थुः ॥३॥

[1]ऋत्विज ऊचुः

अर्हसि मुहुरर्हत्तमार्हणमस्माकमनुपथानां नमो नम इत्येतावत्सदुपशिक्षितं कोऽर्हति पुमान्प्रकृतिगुणव्यतिकरमतिरनीश ईश्वरस्य[2] परस्य प्रकृतिपुरुषयोरर्वाक्तनाभिर्नामरूपाकृतिभी रूपनिरूपणम् ॥४॥ सकलजननिकायवृजिननिरसनशिवतमप्रवरगुणगणैकदेशकथनादृते ॥ ५ ॥ परिजनानुरागविरचितशबलसंशब्द[3]सलिलसितकिसलयतुलसिकादूर्वाङ्कुरैरपि[4] संभृतया[5] सपर्यया किल परम परितुष्यति ॥ ६ ॥

चार भुजाओंसे युक्त उस परम तेजस्वी पुरुषविशेषको प्रकट हुआ देख, जिनके शरीरपर रेशमी पीताम्बर सुशोभित था, वक्षःस्थलपर मनोहर श्रीवत्सचिह्न विराजमान था, भुजाओंमें उत्तम शङ्ख, चक्र, गदा और पद्म तथा गलेमें वनमाला और कौस्तुभमणिकी अपूर्व शोभा थी तथा सम्पूर्ण शरीर अंगोंकी शोभा बढ़ानेवाले अति कान्तिमान् किरणजालमण्डित मनोहर मुकुट, कुण्डल, कटक, कटिसूत्र, हार, केयूर और नूपुर आदि आभूषणोंसे विभूषित था। ऐसे रूपको देखते ही सम्पूर्ण ऋत्विक्, सदस्य और यजमान आदि इस प्रकार आह्लादित हो गये जैसे निर्धन पुरुष उत्तम धनराशिको देखकर आनन्दित हो जाते हैं। तथा अति आदरपूर्वक शिर झुकाये हुए नाना प्रकारकी सामग्रियोंसे उनकी पूजा करने लगे ॥ ३ ॥

ऋत्विग्गण कहने लगे—हे पूज्यतम ! हम आपके अनुगत भक्त हैं, आप हमारे पुनः-पुनः पूजनीय हैं। [किन्तु हम अज्ञानी पुरुष आपकी पूजा करनी क्या जानें ?] अतः हम बारम्बार आपको नमस्कार करते हैं—महापुरुषोंने हमें केवल इतना ही सिखाया है, क्योंकि प्रकृतिके गुणोंके कार्यरूप इस प्रपञ्चमें बुद्धि फँस जानेसे आपके गुणगानमें सर्वथा असमर्थ ऐसा कौन पुरुष है जो प्रकृति और पुरुषसे अतीत आप प्राकृत रूपरहित परमेश्वरके स्वरूपका प्राकृत नाम-रूपोंद्वारा निरूपण कर सके ? ॥ ४ ॥ यदि कोई पुरुष सम्पूर्ण जनसमूहके दुःखोंको दूर करनेवाले आपके श्रेष्ठ गुणोंके वर्णन करनेका साहस भी करेगा तो वह केवल उनके एकदेशका ही वर्णन कर सकेगा ॥ ५ ॥ किन्तु प्रभो ! आप तो अपने भक्तोंद्वारा गद्गद वाणीसे की हुई स्तुतिसे तथा जल, शुद्ध तुलसीदल और दूर्वाङ्कुरादि सामग्रियोंद्वारा की हुई पूजासे ही परम सन्तुष्ट हो जाते हैं ॥ ६ ॥

१. प्राचीन प्रतिमें 'ऋत्विज ऊचुः' यह पाठ नहीं है। २. प्राचीन प्रतिमें 'ईश्वरस्य' यह पाठ नहीं है। ३. प्रा० पा०—सबलसंशब्दितसलिल०। ४. प्राचीन प्रतिमें 'सित' यह पाठ नहीं है। ५. प्रा० पा०—तुलसी०। ६. प्रा० पा०—सम्भृतया।

अथानयापि न भवत इज्ययोरुभारभरया समुचितमर्थमिहोपलभामहे ॥७॥ आत्मन एवानुसवनमञ्जसाव्यतिरेकेण बोभूयमानाशेषपुरुषार्थस्वरूपस्य किन्तु नाथाशिष आशासानानामेतदभिसंराधनमात्रं भवितुमर्हति ॥ ८ ॥ तद्यथा बालिशानां स्वयमात्मनः श्रेयः परमविदुषां परमपरमपुरुषप्रकर्षकरुणया स्वमहिमानं चापवर्गाख्यमुपकल्पयिष्यन्स्वयं नापचित एवेतरवदिहोपलक्षितः ॥ ९ ॥ अथायमेव वरो ह्यर्हत्तम यर्हि बर्हिषि राजर्षेर्वरदर्षभो भवान्निजपुरुषेक्षणविषय आसीत् ॥ १० ॥

हम तो नाना प्रकारकी सामग्रियोंसे युक्त इस यज्ञसे भी आपका कोई प्रयोजन नहीं देखते ॥ ७ ॥ क्योंकि आप परमानन्दस्वरूपको तो सम्पूर्ण पुरुषार्थ स्वयं ही सर्वदा अभिन्नभावसे स्वभावतः प्राप्त हैं। किन्तु हे नाथ ! हम विविध कामनाओंकी इच्छा करनेवालोंके लिये तो इस प्रकार आपकी आराधना करनी ही उचित है ॥ ८ ॥ क्योंकि हे परमपुरुषोत्तम ! यद्यपि हम मन्दमति यह नहीं जानते कि हमारा कल्याण किसमें है तो भी आप अत्यन्त करुणावश हमें मोक्ष नामक अपना परमपद देनेके लिये, हमसे वास्तवमें पूजित न होकर भी अन्य सकाम उपास्यदेवोंके समान यहाँ [पूजा ग्रहण करनेके लिये ही] प्रकट हुए हैं ॥ ९ ॥ अतः हे पूज्यतम ! राजर्षि नाभिको वर देनेवालोंमें सर्वश्रेष्ठ आपने इस यज्ञशालामें स्वयं प्रकट होकर हम अपने भक्तोंको जो प्रत्यक्ष दर्शन दिया—यही हमारा इष्टतम वर है—[अब हम और क्या वर माँगें ?] ॥ १० ॥

असङ्गनिशितज्ञानानलविधूताशेषमलानां भवत्स्वभावानामात्मारामाणां मुनीनामनवरतपरिगुणितगुणगणपरममङ्गलायनगुणकथनोऽसि ॥ ११ ॥ अथ कथञ्चित्स्खलनक्षुत्पतनजृम्भणदुरवस्थानादिषु विवशानां नः स्मरणाय ज्वरमरणदशायामपि सकलकश्मलनिरसनानि तव गुणकृतनामधेयानि वचनगोचराणि भवन्तु ॥ १२ ॥

हे प्रभो ! आपके गुणोंका गान परम मंगलमय है, इसलिये जिन्होंने असंग भावनासे प्रज्वलित हुए ज्ञानाग्निद्वारा अपने अन्तःकरणके राग-द्वेषादि सम्पूर्ण मलोंको भस्म कर दिया है वे आपहीके समान स्वभाववाले आत्माराम मुनिजन भी निरन्तर आपके गुणोंका गान किया करते हैं ॥ ११ ॥ अतः हम आपसे यही वरदान माँगते हैं कि किसी प्रकार गिरने, पड़ने, भूख, प्यास, जमुहाई और संकटादिके समय भी तथा ज्वर और मरण आदि अवस्थाओंमें परवश हो जानेपर भी हम आपके सकलमलविनाशक भक्तवत्सल-दीनबन्धु आदि गुणकृत नामोंका उच्चारण करें ॥ १२ ॥

किञ्चायं राजर्षिरपत्यकामः प्रजां भवादृशीमाशासान ईश्वरमाशिषां स्वर्गापवर्गयोरपि

इसके सिवा, निर्धन पुरुष जैसे किसी महान् धनवान्से भूसी आदिकी इच्छा करे उसी प्रकार स्वर्ग-अपवर्ग आदि सभी कामनाओंके देनेमें समर्थ

१. प्रा० पा०—तव । २. प्रा० पा०—सवनमव्यतिरेकेण । ३. प्राचीन प्रतिमें 'परम' यह पाठ नहीं है। ४. प्राचीन प्रतिमें 'परम' यह पाठ नहीं है। ५. नानलविशेषाशेषमलानां । ६. प्रा० पा०—परिगणित० । ७. प्रा० पा०—पतनपरिजृम्भण० । ८. प्रा० पा०—जरामरण० ।

भवन्तमुपधावति प्रजायामर्थप्रत्ययो धनदमिवाधनः फलीकरणम् ॥१३॥ को वा इह[1] तेऽपराजितोऽपराजितया माययानवसितपदव्यानावृतमतिर्विषयविषरयानावृतप्रकृतिरनुपासितमहच्चरणः[2] ॥१४॥ यदुह वाव[3] तव पुनरदभ्रकर्तरिह समाहूतस्तत्रार्थधियां मन्दानां नस्तद्यदेवहेलनं देवदेवार्हसि साम्येन सर्वान्[4]प्रतिवोढुमविदुषाम् ॥१५॥

श्रीशुक उवाच[5]

इति निगदेनाभिष्टूयमानो भगवाननिमिषर्षभो वर्षधराभिवादिताभिवन्दितचरणः[6] सदयमिदमाह ।१६।

श्रीभगवानुवाच[7]

अहो बताहमृषयो भवद्भिरवितथगीर्भिर्वरमसुलभमभियाचितो यदमुष्यात्मजो मया सदृशो भूयादिति ममाहमेवाभिरूपः कैवल्यादथापि ब्रह्मवादो न मृषा[8] भवितुमर्हति ममैव हि मुखं यद्द्विजदेवकुलम् ॥१७॥ तत आग्नीध्रीयेंऽशकलयावतरिष्याम्यात्मतुल्यमनुपलभमानः[9] ॥१८॥

श्रीशुक उवाच[10]

इति निशामयन्त्या मेरुदेव्याः पतिमभिधायान्तर्दधे भगवान् ॥१९॥ बर्हिषि तस्मिन्नेव विष्णुदत्त

आप परमेश्वरसे यह राजर्षि नाभि पुत्रकी कामना रखकर आपहीके समान पुत्र पानेकी इच्छासे आपकी आराधना कर रहा है ॥ १३ ॥ परन्तु यह कोई आश्चर्यकी बात नहीं है, क्योंकि महापुरुषोंके चरणोंकी सेवा करनेवाले भक्तोंके सिवा ऐसा कौन पुरुष है जो आपकी किसीसे भी पराजित न होनेवाली अति दुस्तर मायासे पराजित न हुआ हो तथा उससे जिसकी बुद्धि आच्छादित न हुई हो और विषयरूपी विषके वेगसे जिसका स्वभाव दूषित न हो गया हो? ॥ १४ ॥ हे अनेकों महान् कार्य करनेवाले देवदेव ! हम सकाम मन्दबुद्धियोंने इस तुच्छ कार्यके लिये आपका आवाहन करके जो अनादर किया हम अज्ञानियोंकी इस धृष्टताको आप क्षमा करें; क्योंकि आप सबको समानभावसे ही देखते हैं ॥१५॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! महाराज नाभिके पूज्य ऋत्विजोंद्वारा इस प्रकार चरणवन्दन तथा इस गद्यात्मक स्तोत्रसे स्तुति किये जानेपर देवताओंमें श्रेष्ठ श्रीहरि दयापूर्वक यों कहने लगे ॥ १६ ॥

श्रीभगवान् बोले—हे ऋषीश्वरगण ! यह बड़े आश्चर्यकी बात है ! आप सत्यवादी महात्माओंने मुझसे यह बड़ा दुर्लभ वर माँगा है कि इस राजर्षि नाभिके मेरे समान पुत्र हो । हे मुने ! अद्वितीय होनेके कारण अपने समान तो मैं स्वयं ही हूँ । तो भी ब्राह्मणोंका वचन मिथ्या न होना चाहिये; क्योंकि द्विजकुल मेरा ही मुख है ॥ १७ ॥ अतः मैं स्वयं ही अपनी अंशकलासे आग्नीध्रनन्दन नाभिके यहाँ अवतार लूँगा; क्योंकि मैं और किसीको अपने समान नहीं पाता ॥ १८ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! फिर मेरुदेवीके सुनते-सुनते उसके पतिसे इस प्रकार कह भगवान् अन्तर्धान हो गये ॥ १९ ॥ हे परीक्षित् ! उस यज्ञमें इस प्रकार महर्षियोंद्वारा प्रसन्न किये हुए

१. प्रा० पा०—इह तेऽपराजितया । २. प्रा० पा०—विषरयानृतप्रकृति० । ३. प्रा० पा०—यदिह वाव पुनरदभ्र० । ४. प्रा० पा०—सर्वात्मन् । ५. प्राचीन प्रतिमें 'श्रीशुक उवाच' यह पाठ नहीं है । ६. प्रा० पा०—वर्षवराभि० । ७. प्राचीन प्रतिमें 'श्रीभगवानुवाच' यह पाठ नहीं है । ८. प्रा० पा०—वृथा । ९. प्रा० पा०—ध्रीये स्वकलया । १०. प्राचीन प्रतिमें 'श्रीशुक उवाच' यह पाठ नहीं है ।

भगवान्परमर्षिभिः प्रसादितो नाभेः प्रियचिकीर्षया तदवरोधायने मेरुदेव्यां धर्मान्दर्शयितुकामो वातरशनानां[1] श्रमणानामृषीणामूर्ध्वमन्थिनां शुक्लया तनुवावततार ॥२०॥

श्रीभगवान् महाराज नाभिका प्रिय करनेके लिये उनके रनिवासमें महारानी मेरुदेवीके गर्भसे दिगम्बर संन्यासी और ऊर्ध्वरेता मुनिजनोंका धर्म प्रकट करनेके लिये शुद्धसत्त्वमय विग्रहसे अवतीर्ण हुए ॥ २० ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पञ्चमस्कन्धे नाभिचरिते ऋषभावतारो नाम तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

चौथा अध्याय

ऋषभदेवजीका राज्यशासन ।

श्रीशुक[2] उवाच

अथ ह तमुत्पत्त्यैवाभिव्यज्यमानभगवल्लक्षणं सौम्योपशमवैराग्यैश्वर्यमहाविभूतिभिरनुदिनमेधमानानुभावं प्रकृतयः प्रजा ब्राह्मणा[4] देवताश्चावनितलसमवनायातितरां जगृधुः ॥ १ ॥ तस्य ह वा इत्थं वर्ष्मणा वरीयसा बृहच्छ्लोकेन चौजसा बलेन श्रिया यशसा वीर्यशौर्याभ्यां च पिता ऋषभ इतीदं नाम चकार ॥ २ ॥ तस्य[5] हीन्द्रः स्पर्धमानो भगवान्वर्षे न ववर्ष तदवधार्य भगवानृषभदेवो योगेश्वरः प्रहस्यात्मयोगमायया[6] स्ववर्षमजनाभं नामाभ्यवर्षत् ॥ ३ ॥ नाभिस्तु यथाभिलषितं सुप्रजस्त्वमवरुध्यातिप्रमोदभरविह्वलो गद्गदाक्षरया गिरा स्वैरं गृहीतनरलोकसधर्मं[7] भगवन्तं पुराणपुरुषं मायाविलसितमतिर्वत्स तातेति सानुरागमुपलालयन्परां निर्वृतिमुपगतः ॥ ४ ॥ विदितानुरागमापौरप्रकृतिजनपदो राजा नाभिरात्मजं समयसेतुरक्षायामभिषिच्य

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! ऋषभदेवजीको जन्मसे ही भगवान् विष्णुके वज्र-अंकुश आदि चिह्नोंको प्रकट करनेवाले अङ्गोंसे युक्त तथा समता, उपशम, वैराग्य और ऐश्वर्य आदि महाविभूतियोंके कारण बढ़ते हुए प्रभाववाले देख मन्त्रीगण, प्रजाजन, ब्राह्मण और देवताओंको दिनोंदिन यह उत्कट अभिलाषा होने लगी कि ये ही पृथिवीका शासन करें ॥ १ ॥ उनके श्रेष्ठतम शरीर, महती कीर्ति, तेज, बल, ऐश्वर्य, यश, वीर्य और शूरवीरता आदि गुणोंके कारण पिता नाभिने उनका नाम 'ऋषभ' रक्खा ॥ २ ॥ एक बार भगवान् इन्द्रने डाहवश ऋषभजीके राज्यमें वर्षा नहीं की। तब योगेश्वर ऋषभदेवने इन्द्रकी मूर्खतापर हँसते हुए अपनी योगमायाके प्रभावसे अपने वर्ष अजनाभखण्डमें खूब जल बरसाया ॥ ३ ॥ राजा नाभि तो अपनी इच्छाके अनुसार सुपुत्र पा अत्यन्त आनन्दमग्न हो, अपनी इच्छासे ही मनुष्यशरीर धारण करनेवाले पुराणपुरुष श्रीहरिसे, उन्हींके मायाविलाससे भ्रान्त हो उनका सप्रेम लालन करते हुए 'हे वत्स ! हे तात !' इस प्रकार गद्गद वाणीसे कहते हुए परम प्रसन्नताको प्राप्त होते थे ॥ ४ ॥ अन्तमें पुरवासी और सचिवगणसे लेकर सम्पूर्ण देशवासियोंका भी अपने पुत्रमें दृढ़

१. प्रा० पा०—वाताशनानां । २. प्राचीन प्रतिमें 'श्रीशुक उवाच' यह पाठ नहीं है । ३. प्रा० पा०—सौम्योपशम० । ४. प्रा० पा०—ब्राह्मणदेवता० । ५. प्रा० पा०—यस्य ही० । ६. प्रा० पा०—प्रेममायया वर्षमजनाभं । ७. प्रा० पा०—नरलोकसाधर्म्यं ।

ब्राह्मणेषूपनिधाय सह[1] मेरुदेव्या विशालायां प्रसन्ननिपुणन तपसा समाधियोगेन नरनारायणाख्यं भगवन्तं वासुदेवमुपासीनः कालेन[2] तन्महिमानमवाप ॥ ५ ॥

अनुराग देख राजा नाभि तत्कालीन धर्ममर्यादाका रक्षाके लिये ऋषभदेवको राज्याभिषिक्त कर तथा उसकी देख-रेखके लिये निपुण ब्राह्मणोंको नियुक्त कर आप मेरुदेवीके सहित बद्रिकाश्रमको चले गये और वहाँ घोर तपस्या तथा समाधियोगके द्वारा नर-नारायण-संज्ञक भगवान् वासुदेवकी आराधना कर कालक्रमसे उन्हींके स्वरूपमें लीन हो गये ॥ ५ ॥

यस्य[3] ह पाण्डवेय श्लोकावुदाहरन्ति ।

को[4] नु तत्कर्म राजर्षेर्नाभेरन्वाचरेत्पुमान् ।
अपत्यतामगाद्यस्य हरिः शुद्धेन कर्मणा ॥ ६ ॥
ब्रह्मण्योऽन्यः कुतो नाभेर्विप्रा मङ्गलपूजिताः ।
यस्य बर्हिषि यज्ञेशं दर्शयामासुरोजसा ॥ ७ ॥

हे पाण्डुनन्दन ! पण्डितजन राजा नाभिके विषयमें ये दो श्लोक कहते हैं—उन राजर्षि नाभिके किये हुए उदार कर्मोंका आचरण दूसरा कौन पुरुष कर सकता है ? जिनके शुद्ध कामोंसे सन्तुष्ट होकर ही श्रीहरि उनके पुत्र हो गये थे ॥ ६ ॥ महाराज नाभिके समान ब्राह्मणभक्त भी और कौन हो सकता है ? जिनके द्वारा दक्षिणा आदिसे भली प्रकार पूजित हुए ब्राह्मणोंने अपने मन्त्र-बलसे उन्हें यज्ञशालामें साक्षात् विष्णु भगवान्‌के दर्शन करा दिये ॥ ७ ॥

अथ[5] ह भगवानृषभदेवः[6] स्ववर्षं कर्मक्षेत्रमनुमन्यमानः प्रदर्शितगुरुकुलवासो लब्धवरैर्गुरुभिरनुज्ञातो गृहमेधिनां धर्माननुशिक्षमाणो जयन्त्यामिन्द्रदत्तायामुभयलक्षणं कर्मसमाम्नायाम्नातमभियुञ्जन्नात्मजानामात्मसमानानां शतं जनयामास ॥ ८ ॥ येषां[8] खलु महायोगी भरतो ज्येष्ठः श्रेष्ठगुण आसीद्येनेदं वर्षं भारतमिति व्यपदिशन्ति ॥ ९ ॥ तमनु कुशावर्त इलावर्तो ब्रह्मावर्तो मलयः केतुर्भद्रसेन इन्द्रस्पृग्विदर्भः कीकट इति नव नवतिप्रधानाः ॥ १० ॥

भगवान् ऋषभदेवजीने अपने देश अजनाभखण्डको कर्मभूमि मानते हुए लोकसंग्रहार्थ कुछ समय गुरुकुलमें वास किया । फिर गुरुदक्षिणा दे गुरुदेवकी आज्ञा पा गृहस्थोंको धर्माचरणकी शिक्षा देनेके लिये इन्द्रद्वारा दी हुई उसकी कन्या जयन्तीसे विवाह कर वैदिक और स्मार्त—दोनों प्रकारके कर्मोंका आचरण करते हुए उससे अपने ही समान गुणवान् सौ पुत्र उत्पन्न किये ॥ ८ ॥ उनमें महायोगी भरतजी सबसे बड़े और उत्तम गुणवान् थे । उन्हींके नामसे इस वर्षको 'भारतवर्ष' कहते हैं ॥ ९ ॥ उनसे छोटे कुशावर्त, इलावर्त, ब्रह्मावर्त, मलय, केतु, भद्रसेन, इन्द्रस्पृक्, विदर्भ और कीकट नामक नौ राजकुमार भरतजीके अनुगामी और शेष नब्बे भाइयोंसे प्रधान थे ॥ १० ॥

कविर्हरिरन्तरिक्षः प्रबुद्धः पिप्पलायनः ।
आविर्होत्रोऽथ द्रुमिलश्चमसः[9] करभाजनः ॥११॥

कवि, हरि, अन्तरिक्ष, प्रबुद्ध, पिप्पलायन, आविर्होत्र, द्रुमिल, चमस और करभाजन ॥११॥

---

१. प्रा० पा०—सह देव्या । २. प्रा० पा०—काले तन्महिमा । ३. प्रा० पा०—यत्र । ४. प्रा० पा०—कस्तत्कर्म । ५. प्राचीन प्रतिमें 'अथ ह' यह पाठ नहीं है । ६. प्रा० पा०—भगवानृषभः स्व० । ७. प्राचीन प्रतिमें 'भ्रात' यह पाठ खण्डित है । ८. प्रा० पा०—एषां । ९. प्रा० पा०—द्रविडश्चमसः ।

इति भागवतधर्मदर्शना नव महाभागवतास्तेषां सुचरितं भगवन्महिमोपबृंहितं[1] वसुदेवनारदसंवादमुपशमायनमुपरिष्टाद्वर्णयिष्यामः[2] ॥ १२ ॥ यवीयांस एकाशीतिर्जायन्तेयाः पितुरादेशकरा महाशालीना महाश्रोत्रिया यज्ञशीलाः कर्मविशुद्धा[3] ब्राह्मणा बभूवुः ॥ १३ ॥

भगवानृषभसंज्ञ[4] आत्मतन्त्रः स्वयं नित्यनिवृत्तानर्थपरम्परः केवलानन्दानुभव[5] ईश्वर एव विपरीतवत्कर्माण्यारभमाणः कालेनानुगतं धर्ममाचरणेनोपशिक्षयन्नतद्विदां सम उपशान्तो मैत्रः कारुणिको धर्मार्थयशःप्रजानन्दामृतावरोधेन गृहेषु लोकं[6] नियमयत् ॥ १४ ॥ यद्यच्छीर्षण्याचरितं तत्तदनुवर्तते लोकः ॥ १५ ॥ यद्यपि स्वविदितं सकलधर्मं[7] ब्राह्मं गुह्यं ब्राह्मणैर्दर्शितमार्गेण सामादिभिरुपायैर्जनतामनुशशास ॥१६॥ द्रव्यदेशकालवयःश्रद्धर्त्विग्विधोद्देशोपचितैः सर्वैरपि क्रतुभिर्यथोपदेशं शतकृत्व इयाज ॥१७॥ भगवर्तर्षभेण[8] परिरक्ष्यमाण एतस्मिन्वर्षे न कश्चन पुरुषो वाञ्छत्यविद्यमानमिवात्मनोऽन्यस्मात्कथंचन किमपि कर्हिचिदवेक्षते[9] भर्तर्यनुसवनं विजृम्भित[10]-

ये नौ राजकुमार भागवतधर्मका प्रचार करनेवाले परम भगवद्भक्त थे। इनका भगवन्महिमासे महिमान्वित और शान्तिमय चरित्र हम नारद और वसुदेवजीके संवादके प्रसङ्गसे आगे (एकादश स्कन्धमें) वर्णन करेंगे ॥ १२ ॥ इनसे भी छोटे इक्यासी जयन्तीपुत्र पिताकी आज्ञाका पालन करनेवाले अति विनीत, महान् वेदज्ञ और निरन्तर यज्ञ करनेवाले थे। वे पुण्यकर्मोंका अनुष्ठान करनेसे शुद्ध होकर ब्राह्मण हो गये ॥ १३ ॥

भगवान् ऋषभजी, यद्यपि स्वतन्त्र होनेके कारण सदा ही अनर्थपरम्परासे रहित, केवल आनन्दानुभवस्वरूप और साक्षात् ईश्वर ही थे तो भी अज्ञानियोंके समान कर्म करते हुए उन्होंने कालक्रमसे चले आते हुए धर्मका आचरण कर उसका तत्त्व न जाननेवाले सर्वसाधारणको उसकी शिक्षा दी; तथा सम, शान्त, सुहृद् और कारुणिक रहकर धर्म, अर्थ, यश और सन्तानसे होनेवाले आनन्दकी प्राप्तिके लिये उन्होंने सबको गृहस्थोचित धर्ममार्गमें लगाया ॥ १४ ॥ क्योंकि महान् पुरुष जैसा-जैसा आचरण करते हैं वैसा ही अन्य साधारण पुरुष भी अनुकरण करने लगते हैं ॥ १५ ॥ भगवान् ऋषभजी यद्यपि वेदके गूढ़ रहस्यरूप सम्पूर्ण धर्मोंको जानते थे तो भी ब्राह्मणोंकी बतायी हुई विधिसे ही साम-दामादि नीतियोंका अवलम्बन कर प्रजाका पालन करते थे ॥ १६ ॥ उन्होंने भिन्न-भिन्न देवताओंके उद्देश्यसे द्रव्य, देश, काल, आयु, श्रद्धा और ऋत्विक् आदिसे समृद्धिको प्राप्त हुए सम्पूर्ण यज्ञोंद्वारा शास्त्रोक्त विधिसे भगवान् यज्ञपुरुषका सौ बार यजन किया ॥ १७ ॥ भगवान् ऋषभदेवजीके शासनकालमें इस देशका कोई भी पुरुष अपने लिये किसीसे भी अपने स्वामीके प्रति दिन-दिन बढ़नेवाले अनुरागके सिवा और किसी वस्तुकी, आकाशकुसुमादि

---

१. प्राचीन प्रतिमें 'भगवन्महिमोपबृंहितं' यह पाठ नहीं है। २. प्रा० पा०—मुपशमेन समुपरिष्टाद्व०। ३. प्रा० पा०—कर्मशुद्धा। ४. प्रा० पा०—भगवान्सर्वज्ञ आत्म०। ५. प्रा० पा०—केवल आनन्दा०। ६. प्रा० पा०—लोकानयमयत्। ७. प्रा० पा०—सकलधर्माधर्मं ब्राह्मं। ८. प्रा० पा०—भगवता ऋषभेण। ९. प्रा० पा०—दपेक्षते। १०. प्रा० पा०—सवनं जृम्भितस्नेहा०।

स्नेहातिशयमन्तरेण ॥१८॥ स कदाचिदटमानो भगवानृषभो ब्रह्मावर्तगतो ब्रह्मर्षिप्रवरसभायां प्रजानां निशामयन्तीनामात्मजानवहितात्मनः प्रश्रयप्रणयभरसुयन्त्रितानप्युपशिक्षयन्निति होवाच ।१९।

अविद्यमान वस्तुओंकी भाँति कभी इच्छा नहीं करता था ॥ १८ ॥ एक बार भगवान् ऋषभजी घूमते-घूमते ब्रह्मावर्त देशमें पहुँचे । वहाँ उन्होंने ब्रह्मर्षियोंकी सभामें अपने विनीत, प्रेमी और समाहितचित्त पुत्रोंको देखा । तब, उन्हें शिक्षा देनेके लिये वे अपनी प्रजाके सुनते हुए ही उनसे इस प्रकार कहने लगे ॥ १९ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पञ्चमस्कन्धे चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

पाँचवाँ अध्याय

ऋषभजीका अपने पुत्रोंको उपदेश देना और स्वयं अवधूतवृत्ति ग्रहण करना ।

ऋषभ उवाच

नायं देहो देहभाजां नृलोके
कष्टान्कामानर्हते विड्भुजां ये ।
तपो दिव्यं पुत्रका[2] येन सत्त्वं
शुद्ध्येद्यस्माद्ब्रह्मसौख्यं त्वनन्तम्[3] ॥ १ ॥
महत्सेवां[4] द्वारमाहुर्विमुक्ते-
स्तमोद्वारं योषितां सङ्गिसङ्गम् ।
महान्तस्ते समचित्ताः प्रशान्ता
विमन्यवः सुहृदः साधवो ये ॥ २ ॥
ये वा मयीशे कृतसौहृदार्था
जनेषु देहंभरवार्तिकेषु ।
गृहेषु जायात्मजरातिमत्सु[5]
न प्रीतियुक्ता यावदर्थाश्च लोके ॥ ३ ॥
नूनं प्रमत्तः कुरुते[6] विकर्म
यदिन्द्रियप्रीतय आपृणोति ।
न साधु मन्ये यत आत्मनोऽय-
मसन्नपि क्लेशद आस[7] देहः ॥ ४ ॥
पराभवस्तावदबोधजातो

श्रीऋषभदेवजी बोले—हे पुत्रो ! इस मर्त्यलोकमें मनुष्यदेह पाकर मनुष्यको यह उचित नहीं है कि इससे, विष्ठा खानेवाले शूकरादिको भी सुलभ दुःखमय विषयभोगोंमें फँसा रहे । इससे तो तपका ही आचरण करना चाहिये जिससे अन्तःकरण शुद्ध हो और फिर अनन्त ब्रह्मानन्दकी प्राप्ति हो ॥ १ ॥ महापुरुषोंकी सेवाको ही मुक्तिका द्वार कहा है तथा स्त्रीसंगियोंका संग ही नरकका द्वार है और महापुरुष वे ही हैं जो समानचित्त, शान्तस्वभाव, क्रोधहीन, सबके सुहृद् और सदाचारसम्पन्न हों ॥ २ ॥ तथा जो मुझ परमात्मासे ही प्रेम करते हों । केवल पेटपालनके लिये ही व्यापार करनेवाले लोगोंमें तथा स्त्री, पुत्र और धन आदि सामग्रियोंसे युक्त घरोंमें उनका प्रेम नहीं होता और केवल शरीरनिर्वाहके लिये ही लौकिक कार्योंमें प्रवृत्त होते हैं ॥ ३ ॥ मनुष्य जो प्रमादी होकर कुकर्म करने लगता है उसकी वह प्रवृत्ति केवल इन्द्रियोंको सन्तुष्ट करनेके लिये ही होती है । मैं इसे अच्छा नहीं समझता; क्योंकि यह देह वास्तवमें असत् होनेपर भी आत्माके लिये दुःखदायक ही है ॥ ४ ॥ जबतक मनुष्यको परमात्मतत्त्वको जाननेकी इच्छा नहीं होती तभीतक उसका अज्ञानवश सर्वत्र पराभव होता है

१. प्रा० पा०—प्रणयमयसु० । २. प्राचीन प्रतिमें 'पुत्रका' यह पाठ खण्डित है । ३. प्रा० पा०—ह्यनन्तम् । ४. प्रा० पा०—महात्मनां । ५. प्राचीन प्रतिमें 'रा' यह पाठ खण्डित है । ६. प्रा० पा०—कुरुते कर्म दीनोऽयमिन्द्रि० । ७. प्रा० पा०—एष ।

यावन्न जिज्ञासत आत्मतत्त्वम् ।
यावत्क्रियास्तावदिदं मनो वै
कर्मात्मकं येन शरीरबन्धः ॥ ५ ॥
एवं[1] मनः कर्मवशं प्रयुङ्क्ते
अविद्ययात्मन्युपधीयमाने ।
प्रीतिर्न यावन्मयि वासुदेवे
न मुच्यते देहयोगेन तावत् ॥ ६ ॥
यदा न पश्यत्ययथागुणेहां
स्वार्थे प्रमत्तः सहसा विपश्चित् ।
गतस्मृतिर्विन्दति तत्र तापा-
नासाद्य मैथुन्यमगारमज्ञः ॥ ७ ॥

क्योंकि अज्ञानके कारण जबतक वह लौकिक-वैदिक क्रियाकलापमें फँसा रहता है तबतक उसका चित्त कर्मवासनाओंसे युक्त रहता है और इसीसे उसे शरीर-बन्धनकी प्राप्ति होती है ॥५॥ इस प्रकार अविद्यावश आत्मस्वरूपके आच्छादित हो जानेसे कर्मवासनाओंके वशीभूत हुआ चित्त मनुष्यको फिर कर्मोंमें ही प्रवृत्त करता है । अतः जबतक जीवकी मुझ वासुदेवमें प्रीति नहीं होती तबतक वह देहबन्धनसे नहीं छूट सकता ॥ ६ ॥ जबतक मनुष्य अपने वास्तविक स्वार्थ (परमार्थ) से असावधान रहकर इन्द्रियोंकी चेष्टाको मिथ्या नहीं समझता तबतक वह मूढ़, अपनेको बड़ा बुद्धिमान् समझते हुए भी, विवेकहीन हो मैथुनप्रधान गृह आदिमें आसक्त रह नाना प्रकारके क्लेश उठाता रहता है ॥ ७ ॥

पुंसः स्त्रिया मिथुनीभावमेतं
तयोर्मिथो हृदयग्रन्थिमाहुः ।
अतो गृहक्षेत्रसुताप्तवित्तै-
र्जनस्य मोहोऽयमहंममेति ॥ ८ ॥
यदा मनो[2]हृदयग्रन्थिरस्य
कर्मानुबद्धो दृढ आश्लथेत ।
तदा जनः संप[3]रिवर्ततेऽस्मा-
न्मुक्तः परं यात्यतिहाय हेतुम् ॥ ९ ॥
हंसे[4] गुरौ मयि भक्त्या[5]नुवृत्त्या
वितृष्णया द्वन्द्वतितिक्षया च ।
सर्वत्र जन्तोर्व्यसनावगत्या
जिज्ञासया तपसेहानिवृत्त्या ॥१०॥
मत्कर्मभिर्मत्कथया च नित्यं
मद्देवसङ्गाद्गुणकीर्तनान्मे ।
निर्वैरसाम्योपशमेन पुंत्रा
जिहा[6]सया देहगेहात्मबुद्धेः ॥११॥

स्त्री और पुरुष—इन दोनोंका जो परस्पर दाम्पत्य भाव है यही उनके हृदयकी दुर्भेद्य ग्रन्थि है । इसीके कारण पुरुषको गृह, क्षेत्र, पुत्र, स्वजन और धन आदि-में 'यह मैं हूँ, यह मेरा है' ऐसा मोह हो जाता है ॥८॥ जिस समय इस मनुष्यकी कर्मवासनाओंके कारण बँधी हुई हृदयकी दृढ़ ग्रन्थि [महापुरुषोंके सङ्गसे] ढीली हो जाती है उसी समय वह गृहासक्तिसे निवृत्त हो जाता है और सब प्रकारके बन्धनोंसे मुक्त हो संसारके कारणरूप अहङ्कारको त्यागकर परमपद प्राप्त करता है ॥ ९ ॥ हे पुत्रगण ! संसारसागरसे पार होनेमें कुशल तथा धैर्य, उद्यम और सत्त्वगुणविशिष्ट पुरुषको चाहिये कि सबके आत्मारूप मुझ गुरुमें भक्तिभाव रखनेसे, तृष्णाका त्याग करनेसे, द्वन्द्व सहन करनेसे, 'जीवको सभी जगह दुःख ही उठाना पड़ता है' इस विचारसे, तत्त्वजिज्ञासासे, तपसे, सांसारिक चेष्टाओंका त्याग करनेसे, मेरे ही लिये कर्म करनेसे, मेरी कथाओं-का नित्य श्रवण करनेसे, मेरे भक्तोंका सङ्ग और मेरे गुणोंका कीर्तन करनेसे, वैरत्याग, समता और उपशम-से, शरीर और गृह आदिमें मैं-मेरेपनके भावको

१. प्रा० पा०—एनं मनः । २. प्रा० पा०—यदात्मनो । ३. प्रा० पा०—सम्प्रतिवर्त्तते । ४. प्रा० पा०—हरौ गुरौ मयि । ५. प्रा० पा०—भक्त्यानुवृद्ध्या । ६. प्रा० पा०—जिज्ञासया ।

अध्यात्मयोगेन विविक्तसेवया
प्राणेन्द्रियात्माभिजयेन सध्र्यक् ।
सच्छ्रद्धया ब्रह्मचर्येण शश्व-
दसंप्रमादेन यमेन वाचाम् ॥१२॥
सर्वत्र मद्भावविचक्षणेन
ज्ञानेन विज्ञानविराजितेन ।
योगेन धृत्युद्यमसत्त्वयुक्तो
लिङ्गं व्यपोहेत्कुशलोऽहमाख्यम् ॥१३॥
कर्माशयं हृदयग्रन्थिबन्ध-
मविद्ययासादितमप्रमत्तः ।
अनेन योगेन यथोपदेशं
सम्यग्व्यपोह्योपरमेत योगात् ॥१४॥
पुत्रांश्च शिष्यांश्च नृपो गुरुर्वा
मल्लोककामो मदनुग्रहार्थः ।
इत्थं विमन्युरनुशिष्यादतज्ज्ञा-
न्न योजयेत्कर्मसु कर्ममूढान् ।
कं योजयन्मनुजोऽर्थं लभेत
निपातयन्नष्टदृशं हि गर्ते ॥१५॥
लोकः स्वयं श्रेयसि नष्टदृष्टि-
र्योऽर्थान्समीहेत निकामकामः ।
अन्योन्यवैरः सुखलेशहेतो-
रनन्तदुःखं च न वेद मूढः ॥१६॥
कस्तं स्वयं तदभिज्ञो विपश्चि-
दविद्यायामन्तरे वर्तमानम् ।
दृष्ट्वा पुनस्तं सघृणः कुबुद्धिं
प्रयोजयेदुत्पथगं यथान्धम् ॥१७॥
गुरुर्न स स्यात्स्वजनो न स स्या-
त्पिता न स स्याज्जननी न सा स्यात् ।
दैवं न तत्स्यान्न पतिश्च स स्या-
न्न मोचयेद्यः समुपेतमृत्युम् ॥१८॥

त्यागनेकी इच्छासे, आत्मविचारसे, एकान्तसेवनसे, प्राण, इन्द्रिय और मनके पूर्ण संयमसे, गुरु और शास्त्रादिमें श्रद्धा रखनेसे, ब्रह्मचर्यसे, निरन्तर सावधानीसे, वाणीके संयमसे, सर्वत्र मेरी ही सत्ता देखनेसे, अनुभवज्ञानसहित तत्त्वविचारसे तथा योगसाधनसे अहङ्काररूप अपने लिङ्गशरीरका नाश कर दे ॥१०-१३॥ तथा अविद्यावश प्राप्त हुए हृदयग्रन्थिरूप इस कर्माशयको पूर्वोक्त साधनोंसे भली प्रकार नष्ट कर फिर उन साधनोंसे भी उपरत हो जाय ॥१४॥

मेरे लोकको पानेकी इच्छावाले राजा अथवा गुरुको चाहिये कि मेरा अनुग्रह प्राप्त करनेके लिये अपने अबोध प्रजाजन या शिष्योंको क्रोधरहित हो ऐसी ही शिक्षा दे । कर्मको ही परम पुरुषार्थ माननेवाले उन अज्ञानियोंको फिर भी कर्ममें ही प्रवृत्त न करे; क्योंकि अन्धेके गढ़ेमें ढकेलनेवाले पुरुषके समान उन कर्मान्धोंको कर्महीमें प्रवृत्त करनेसे भला किस पुरुषार्थकी सिद्धि हो सकती है ? ॥१५॥ मनुष्य अपने वास्तविक श्रेयको न जानकर नाना प्रकारकी कामनाओंसे अन्धे हो लेशमात्र सुखके लिये आपसमें वैर ठानकर विषयभोगोंकी इच्छा करते हैं; किन्तु वे मूढ़ इस द्रोहके कारण प्राप्त होनेवाले नरकादि अनन्त दुःखोंका कुछ भी विचार नहीं करते ॥१६॥ फिर, भला कुमार्गमें जानेवाले अन्धे पुरुषके समान उस बुद्धिहीन मनुष्यको अविद्यामें फँसा देखकर कोई दयालु और विवेकी पुरुष जान-बूझकर कैसे उसीमें प्रवृत्त कर सकता है ? ॥१७॥ अतः जो मनुष्य [भगवद्भक्तिका उपदेश देकर] शिरपर आयी मृत्युसे रक्षा नहीं करता वह गुरु गुरु नहीं है, स्वजन स्वजन नहीं है, पिता पिता नहीं है, माता माता नहीं है, इष्टदेव इष्टदेव नहीं है और पति पति नहीं है ॥१८॥

१. प्राचीन प्रतिमें 'न्द्रि' इतना अंश खण्डित है । २. प्रा० पा०—विज्ञानविस्फारितेन । ३. प्राचीन प्रतिमें 'हृदय' इतना अंश खण्डित है । ४. प्रा० पा०—विध्वंसविद्यया । ५. प्राचीन प्रतिमें 'मूढान्' यह अंश खण्डित है । ६. प्राचीन प्रतिमें 'कं योजयन्' से 'दृशं हि गर्ते' पर्यन्त अंश नहीं है । ७. प्राचीन प्रतिमें 'ष्टदृष्टिर्योऽर्थान्' यह अंश खण्डित है । ८. प्राचीन प्रतिमें 'लेशहेतोर' यह पाठ खण्डित है । ९. प्राचीन प्रतिमें 'दवं' इतना अंश खण्डित है ।

इदं शरीरं मम दुर्विभाव्यं
सत्त्वं[1] हि मे हृदयं यत्र धर्मः ।
पृष्ठे कृतो मे यदधर्म आरा-
दतो हि मामृषभं प्राहुरार्याः ॥१९॥

तस्माद्भवन्तो हृदयेन जाताः
सर्वे महीयांसममुं सनाभम् ।
अक्लिष्टबुद्ध्या भरतं भजध्वं
शुश्रूषणं तद्धरणं प्रजानाम् ॥२०॥

भूतेषु वीरुद्भ्य उदुत्तमा ये
सरीसृपास्तेषु सबोधनिष्ठाः[2] ।
ततो मनुष्याः प्रमथास्ततोऽपि[3]
गन्धर्वसिद्धा विबुधानुगा ये ॥२१॥

देवासुरेभ्यो मघवत्प्रधाना
दक्षादयो ब्रह्मसुतास्तु[4] तेषाम् ।
भवः परः सोऽथ विरिञ्चवीर्यः
स मत्परोऽहं द्विजदेवदेवः ॥२२॥

न ब्राह्मणैस्तुलये भूतमन्य-
त्पश्यामि विप्राः किमतः परन्तु[5] ।
यस्मिन्नृभिः प्रहुतं श्रद्धयाह-
मश्नामि कामं न तथाग्निहोत्रे ॥२३॥

धृता[6] तनूरुशती मे पुराणी
येनेह सत्त्वं परमं पवित्रम् ।
शमो दमः सत्यमनुग्रहश्च
तपस्तितिक्षानुभवश्च यत्र ॥२४॥

मत्तोऽप्यनन्तात्परतः परस्मा-
त्स्वर्गापवर्गाधिपतेर्न किञ्चित् ।
येषां किमु स्यादितरेण तेषा-
मकिञ्चनानां मयि भक्तिभाजाम् ॥२५॥

मेरा यह शरीर सर्वथा अतर्क्य है, जिसमें धर्मकी स्थिति है वह सत्त्वगुण ही मेरा हृदय है, अधर्म मेरे पृष्ठभागमें स्थित है। इसीलिये साधु पुरुष मुझे ऋषभ कहते हैं ॥१९॥ तुम सब मेरे हृदयसे उत्पन्न हुए हो। इसलिये अपने सहोदर ज्येष्ठ भ्राता महात्मा भरतकी निष्कपटभावसे सेवा करो। उसकी सेवा करना ही तुम्हारा प्रजापालन है ॥२०॥ देखो, अन्य समस्त भूतोंकी अपेक्षा वृक्ष श्रेष्ठ हैं। उनसे सरीसृप आदि कीट तथा उनसे भी ज्ञानयुक्त पशु आदि प्राणी श्रेष्ठ हैं। पशुओंसे मनुष्य, मनुष्योंसे भूत-प्रेतादि प्रमथ-गण, प्रमथोंसे गन्धर्व, गन्धर्वोंसे सिद्धगण और सिद्धोंसे देवताओंके अनुयायी किन्नरादि श्रेष्ठ हैं ॥२१॥ उनसे असुर, असुरोंसे इन्द्रादि देवता और देवताओंसे ब्रह्माजीके पुत्र दक्षादि श्रेष्ठ हैं। ब्रह्माजीके पुत्रोंमें भगवान् शङ्कर सर्वश्रेष्ठ हैं। वे ब्रह्माजीसे उत्पन्न हुए हैं, इसलिये ब्रह्माजी उनसे श्रेष्ठ हैं। वे मेरी उपासना करते हैं, अतः मैं उनसे भी श्रेष्ठ हूँ और ब्राह्मणगण मेरे भी पूज्य हैं ॥२२॥

हे विप्रगण ! मैं और किसी प्राणीको ब्राह्मणोंके समान भी नहीं समझता। फिर उनसे अधिक तो किसीको कैसे मान सकता हूँ ? मनुष्योंद्वारा ब्राह्मणोंके मुखमें श्रद्धापूर्वक हवन किये हुए अन्नको मैं जैसी प्रसन्नतासे ग्रहण करता हूँ वैसे अग्निहोत्रमें होमे हुए पदार्थोंको स्वीकार नहीं करता ॥ २३ ॥ जिन्होंने इस लोकमें अति सुन्दर और पुरातन मेरी वेदरूप मूर्तिको अध्ययनादिद्वारा धारण किया है, जो परम पवित्र सत्त्वगुण तथा शम, दम, सत्य, दया, तप, तितिक्षा और ज्ञानादिसे सम्पन्न हैं, और जो स्वर्ग तथा मोक्ष देनेमें भी समर्थ एवं ब्रह्मादिसे भी श्रेष्ठ मुझ अनन्तसे कुछ नहीं चाहते उन मेरे अकिञ्चन भक्तोंको अन्य पुरुषोंसे किस वस्तुकी इच्छा हो सकती है ? ॥२४-२५॥

१. प्रा० पा०—तत्त्वं । २. प्रा० पा०—निबोधनिष्ठाः । ३. प्रा० पा०—प्रमथास्तत्रापि । ४. प्रा० पा०—सुता हि तेषाम् । ५. प्रा० पा०—परं यत् । ६. प्रा० पा०—भूत्या ।

सर्वाणि मद्विष्ण्यतया भवद्भि-
श्चराणि भूतानि सुता ध्रुवाणि ।
संभावितव्यानि पदे पदे वो
विविक्तदृग्भिस्तदुहार्हणं मे ॥२६॥[1]
मनोवचोदृक्करणेहितस्य
साक्षात्कृतं मे परिबर्हणं हि ।
विना पुमान्येन महाविमोहा-
त्कृतान्तपाशान्न विमोक्तुमीशेत् ॥२७॥

[2]श्रीशुक उवाच

एवमनुशास्यात्मजान्स्वयमनुशिष्टानपि लोकानुशासनार्थं महानुभावः परमसुहृद्भगवानृषभापदेश उपशमशीलानामुपरतकर्मणां महामुनीनां भक्तिज्ञानवैराग्यलक्षणं पारमहंस्यधर्ममुपशिक्षमाणः स्वतनयशतज्येष्ठं परमभागवतं भगवज्जनपरायणं भरतं धरणिपालनायाभिषिच्य स्वयं भवन एवोर्वरित[3]शरीरमात्रपरिग्रह उन्मत्त इव गगनपरिधानः प्रकीर्णकेश आत्मन्यारोपिताहवनीयो ब्रह्मावर्तात्प्रवव्राज ॥२८॥ जडान्धमूकबधिरपिशाचोन्मादकवदवधूतवेषोऽभिभाष्यमाणोऽपि जनानां गृहीतमौनव्रतस्तूष्णीं बभूव ॥२९॥ तत्र तत्र पुरग्रामाकरखेटवाटखर्वटशिबिरव्रजघोषसार्थगिरिवनाश्रमादिष्वनुपथमवनिचरापसदैः परिभूयमानो मक्षिकाभिरिव वनगजस्तर्जनताडनावमेहनष्ठीवनग्रावशकृद्रजःप्रक्षेप-

अतः हे पुत्रगण ! तुम सबलोग सम्पूर्ण चराचर भूतोंको मेरे ही शरीर समझकर उनकी शुद्ध बुद्धिसे पद-पदपर सेवा करो—यही मेरा पूजन होगा ॥२६॥ मन, वचन, दृष्टि और अन्य इन्द्रियोंकी चेष्टारूप कर्मोंद्वारा चराचर भूतोंके रूपमें पूजित हुए मुझ परमेश्वरकी यही प्रत्यक्ष पूजा है जिसके बिना मनुष्य अपने-आपको महामोहमय कालपाशसे नहीं छुटा सकता ॥२७॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! महाप्रभावशाली और परमसुहृद् भगवान् ऋषभदेवजी, स्वयं भली प्रकार शिक्षा पाये हुए भी अपने पुत्रोंको, लोकोंको शिक्षा देनेके लिये इस प्रकार उपदेश देकर फिर अपने सौ पुत्रोंमें सबसे बड़े परम भगवद्भक्त और भक्तोंके आश्रयरूप भरतजीका पृथिवीकी रक्षाके लिये घरपर ही राज्याभिषेक कर स्वयं महामुनियोंके भक्ति, ज्ञान और वैराग्यरूप पारमहंस्यधर्मकी शिक्षा देते हुए उन्मत्तके समान दिगम्बरवृत्तिसे केश खोले हुए आहवनीयादि सम्पूर्ण अग्नियोंको अपनेहीमें स्थापित कर विरक्त हो ब्रह्मावर्तदेशसे बाहर चले गये । उस समय उनके पास परिग्रहके रूपमें केवल शरीर ही रह गया था ॥२८॥ वे जड, अन्धे, गूँगे, बहरे, पिशाच और उन्मत्तोंके समान अवधूतवेषसे रहते और लोगोंके बोलनेपर भी स्वयं मौनव्रत धारणकर चुपचाप रहते ॥२९॥ वे जहाँ-तहाँ पुर, ग्राम, खान, किसानोंके खेड़ों, बाड़ियों, पर्वतोंके ग्रामों, सेनाओंके पड़ाओं, पशुशालाओं, ग्वालोंकी झोंपड़ियों, यात्रियोंके समूहों, पर्वतों, वनों और आश्रम आदिमें विचरने लगे, उस समय वे जिस-जिस मार्गमें जाते थे वहीं दुष्ट मनुष्यगण, वनमें विचरनेवाले उन्मत्त हाथीको जैसे मक्षिकादि जीव काटते हैं उसी प्रकार, कोई धमकी देकर, कोई मारकर, कोई पेसाब करके, कोई थूककर, कोई पत्थर मारकर, कोई विष्ठा और धूलि फेंककर,

१. प्रा० पा०—दृग्भिस्तदिहार्पणं मे । २. प्राचीन प्रतिमें 'श्रीशुक उवाच' यह पाठ नहीं है । ३. प्राचीन प्रतिमें 'ए' यह खण्डित है । ४. प्रा० पा०—खेटवाकखर्वट० । ५. प्रा० पा०—मदगज० ।

पूतिवातदुरुक्तैस्तदविगणयन्नेवासत्संस्थान एतस्मिन्देहोपलक्षणे सदपदेश उभयानुभवस्वरूपेण स्वमहिमावस्थानेनासमारोपिताहंममाभिमानत्वादविखण्डितमनाः पृथिवीमेकचरः परिबभ्राम ॥३०॥ अतिसुकुमारकरचरणोरःस्थलविपुलबाह्वंसगलवदनाद्यवयवविन्यासः प्रकृतिसुन्दरस्वभावहाससुमुखो नवनलिनदलायमानशिशिरतारारुणायतनयनरुचिरः सदृशसुभगकपोलकर्णकण्ठनासो विगूढस्मितवदनमहोत्सवेन पुरवनितानां मनसि कुसुमशरासनमुपदधानः परागवलम्बमानकुटिलजटिलकपिशकेशभूरिभारोऽवधूतमलिननिजशरीरेण ग्रहगृहीत इवादृश्यत ॥ ३१ ॥

कोई अधोवायु छोड़कर, कोई खोटे वचन सुनाकर उनका अपमान करते थे तो भी वे उसका कुछ भी खयाल नहीं करते थे। क्योंकि भ्रमसे सत्य कहे जानेवाले इस मिथ्या शरीरमें उनका ममत्व और अभिमान नहीं था, तथा वे कार्य-कारणरूप संपूर्ण जगत्के साक्षिरूप अपने परमात्मस्वरूपमें ही स्थित थे। इसलिये अविचल मनसे—अकेले ही पृथिवीपर विचर रहे थे ॥३०॥ उनके अति सुकुमार हाथ, पाँव, वक्षःस्थल, विशाल बाहु, कंधे, कण्ठ और मुख आदि अंगोंकी गठन बहुत ही सुन्दर थी। उनका स्वभावसे ही सुन्दर मुख मधुर मुसकानसे और भी मनोहर जान पड़ता था। नवीन कमलके समान विशाल और शीतल ताराओंसे युक्त उनके नेत्रकमल बड़े ही सुहावने थे, उनके कपोल, कर्ण, कण्ठ और नासिका समान तथा सुडौल थे तथा वे अपने मन्दमुसकानमय मनोहर मुखारविन्दसे पुरनारियोंके चित्तमें कामदेवका सञ्चार करते थे। ऐसे होनेपर भी वे आगेको लटकी हुई अपनी अरुणवर्ण और घुँघराली लम्बी-लम्बी जटाओंके महान् भारसे तथा अवधूतवेश और महामलिन शरीरसे ग्रहग्रस्त (पागल) से जान पड़ते थे ॥ ३१ ॥

यर्हि वाव स भगवान्लोकमिमं योगस्याद्धा प्रतीपमिवाचक्षाणस्तत्प्रतिक्रियाकर्म बीभत्सितमिति व्रतमाजगरमास्थितः शयान एवाश्नाति पिबति खादत्यवमेहति हदति स्म चेष्टमान उच्चरित आदिग्धोद्देशः ॥३२॥ तस्य ह यः पुरीषसुरभिसौगन्ध्यवायुस्तं देशं दशयोजनं समन्तात्सुरभिं चकार ॥३३॥ एवं गोमृगकाकचर्यया व्रजंस्तिष्ठन्नासीनः शयानः काकमृगगोचरितः पिबति खादत्यवमेहति स्म ॥३४॥ इति नानायोगचर्याचरणो भगवान्कैवल्यपतिर्ऋषभोऽविरत-

जब भगवान् ऋषभदेवजीने देखा कि यह जनसमूह योगसाधनमें विघ्नरूप है और इससे बचनेका उपाय बीभत्स (घृणित) रूपसे रहना ही है तो उन्होंने अजगरवृत्ति धारण की और वे लेटे-लेटे ही खाने, पीने, भक्षण करने तथा मल-मूत्र-त्याग करने लगे। अपने ही मलमें पड़े रहनेसे उनका सम्पूर्ण शरीर उससे लिथड़ गया ॥३२॥ उनके मलकी गन्धसे सुगन्धित हुआ वायु उनके चारों ओर दश योजनपर्यन्त सम्पूर्ण देशको सुगन्धित करता था ॥३३॥ इसी प्रकार गौ, मृग और काकादिकी वृत्तियोंको ग्रहणकर वे गौ, मृग और कौवोंके समान कभी चलते हुए, कभी खड़े हुए, कभी बैठे हुए और कभी लेटे हुए ही खाने-पीने और मल-मूत्र त्याग करने लगते ॥३४॥ हे राजन्! इस प्रकार नाना प्रकारकी योगचर्याओंका आचरण करनेवाले मोक्षपति भगवान्

१. प्रा० पा०—बाह्वंसयुगल०। २. प्रा० पा०—शिशिरचार्वरुणायत०। ३. प्रा० पा०—जटिलालक०। ४. प्रा० पा०—प्रतिक्रियायां। ५. प्राचीन प्रतिमें 'हदति' यह पाठ नहीं है। ६. वायुस्तान्देशान् दशयोजनान् समन्तात्सुरभींश्चकार। ७. प्रा० पा०—काकमृगगोवच्चरति पिबत्यवमेहति स्म।

परममहानन्दानुभव आत्मनि सर्वेषां भूतानामात्मभूते भगवति वासुदेव आत्मनोऽव्यवधानानन्तरोदरभावेन सिद्धसमस्तार्थपरिपूर्णो योगैश्वर्याणि वैहायसमनोजवान्तर्धानपरकायप्रवेशदूरग्रहणादीनि यदृच्छयोपगतानि नाञ्जसा नृप हृदयेनाभ्यनन्दत्॥३५॥

ऋषभदेवजी निरन्तर अति उत्कृष्ट आनन्दका अनुभव करते हुए सम्पूर्ण प्राणियोंके अन्तरात्मा अपने आत्मारूप भगवान् वासुदेवमें अभिन्नभावसे स्थित हो जानेके कारण सम्पूर्ण पुरुषार्थोंसे परिपूर्ण हो गये थे। इसलिये उन्होंने अपने-आप ही प्राप्त हुई आकाशगमन, मनोजव (मनके समान शीघ्रगामी हो जाना), अन्तर्धान, परकायप्रवेश और दूरश्रवण-दूरदर्शन आदि सम्पूर्ण योगसिद्धियोंको मनसे भी स्वीकार नहीं किया ॥३५॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पञ्चमस्कन्धे ऋषभदेवानुचरिते पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

छठा अध्याय

ऋषभदेवजीका देहत्याग।

राजोवाच

न नूनं भगव आत्मारामाणां योगसमीरितज्ञानावभर्जितकर्मबीजानामैश्वर्याणि पुनः क्लेशदानि भवितुमर्हन्ति यदृच्छयोपगतानि ॥ १ ॥

राजा परीक्षितने पूछा—हे भगवन्! योगरूप वायुसे प्रज्वलित हुए ज्ञानाग्निद्वारा जिनके कर्मबीज दग्ध हो गये हैं उन आत्माराम महात्माओंको दैववश स्वतः ही प्राप्त हुई अणिमादि सिद्धियाँ किसी प्रकार राग-द्वेषादि क्लेशोंका कारण नहीं हो सकतीं [फिर भगवान् ऋषभजीने उन्हें क्यों त्याग दिया ?] ॥ १ ॥

ऋषिरुवाच

सत्यमुक्तं किन्त्विह वा एकेन मनसोऽद्धा विश्रम्भमनवस्थानस्य शठकिरात इव संगच्छन्ते ॥ २ ॥ तथा चोक्तम्—

न कुर्यात्कर्हिचित्सख्यं मनसि ह्यनवस्थिते।
यद्विश्रम्भाच्चिराचीर्णं चस्कन्द तप ऐश्वरम् ॥ ३ ॥
नित्यं ददाति कामस्यच्छिद्रं तमनु येऽरयः।

श्रीशुकदेवजी बोले—तुम्हारा कथन ठीक है, किन्तु लोकमें जैसे धूर्त किरात अपने वशवर्ती मृगका विश्वास नहीं करते उसी प्रकार महात्माजन इस चञ्चल चित्तका विश्वास नहीं करते ॥ २ ॥ जैसा कि कहा है—'इस चञ्चल चित्तसे कभी मित्रता न करे। देखो, इसमें विश्वास करनेसे ही [मोहिनीरूपमें मोहित हो जानेसे] श्रीमहादेवजीका चिरकालका सञ्चित तप क्षीण हो गया था ॥ ३ ॥ जिस प्रकार व्यभिचारिणी स्त्री जार पुरुषोंको अवकाश देकर उनके द्वारा, अपने ऊपर विश्वास करनेवाले पतिका

१. प्रा० पा०—परकायावेशदूर०। २. प्रा० पा०—भगवन्नात्मरामा०। ३. प्रा० पा०—ज्ञानावर्जित०। ४. प्राचीन प्रतिमें 'एके' यह पाठ खण्डित है। ५. प्राचीन प्रतिमें 'ऽद्धा' यह पाठ नहीं है। ६. प्रा० पा०—मनवस्थानस्य यौगिनः शठ०। ७. प्रा० पा०—संगच्छन्ति।

योगिनः कृतमैत्रस्य पत्युर्जायेव पुंश्चली ॥ ४ ॥
कामो मन्युर्मदो लोभः शोकमोहभयादयः ।
कर्मबन्धश्च यन्मूलः स्वीकुर्यात्को नु[1] तद्बुधः ॥ ५ ॥

वध करा देती है उसी प्रकार जो योगी मनपर विश्वास करते हैं उनका मन काम और उसके अनुगामी लोभादि शत्रुओंको अवकाश देकर उन्हें नष्ट-भ्रष्ट कर देता है ॥ ४ ॥ जो काम, क्रोध, मद, लोभ, शोक, मोह और भय आदि शत्रुओंका तथा कर्मबन्धनका मूल कारण है उस मनपर कोई बुद्धिमान् पुरुष कैसे विश्वास कर सकता है ?' ॥ ५ ॥

अथैवमखिललोकपालललामोऽपि[2] विलक्षणैर्जड[3]-वदवधूतवेषभाषाचरितैरविलक्षितभगवत्प्रभावो योगिनां सांपरायविधिमनुशिक्षयन्स्वकलेवरं जिहासुरात्मन्यात्मानमसंव्यवहितमनर्थान्तरभावेनान्वीक्षमाण[4] उपरतानुवृत्तिरुपरराम ॥ ६ ॥ तस्य ह वा एवं मुक्तलिङ्गस्य भगवत ऋषभस्य योगमायावासनया[5] देह इमां जगतीमभिमानाभासेन संक्रममाणः कोङ्क[6]वेङ्ककुटकान्दक्षिणकर्णाटकान्देशान्यदृच्छयोपगत कुटकाचलोपवन आस्यकृताश्म[7]कवल उन्माद इव मुक्तमूर्धजोऽसंवीत एव विचचार ॥ ७ ॥ अथ समीरवेगविधूतवेणुविकर्षण[8]जातोग्रदावानलस्तद्वनमालेलिहानः सह तेन ददाह ॥ ८ ॥

इस प्रकार, भगवान् ऋषभदेवजी इन्द्रादि सकल लोकपालोंके भूषणरूप होकर भी जडपुरुषोंके समान विलक्षण अवधूतवेष, भाषा और आचरणसे अपने ईश्वरीय प्रभावको छिपाये हुए थे । अन्तमें, उन्होंने योगियोंको देहत्यागकी विधि सिखानेके लिये अपना शरीर छोड़ना चाहा । अतः वे अपने अन्तरात्मामें अभेदरूपसे स्थित परमात्माको अपने साथ तादात्म्यभावसे देखते हुए देहाभिमानसे मुक्त हो संसारसे उपराम हो गये ॥ ६ ॥ इस प्रकार लिंगदेहके अभिमानसे मुक्त हुए भगवान् ऋषभदेवजीका स्थूल शरीर योगमायाकी वासनासे केवल अभिमानाभासके आश्रय ही इस पृथिवीतलपर विचरता हुआ दैववश कोङ्क, वेङ्क और कुटक आदि दक्षिण कर्णाटक प्रान्तके देशोंमें गया और मुँहमें पत्थरका ग्रास डाले तथा बाल बखेरे उन्मत्तके समान दिगम्बरवृत्तिसे कुटकाचलके उपवनमें विचरने लगा ॥ ७ ॥ इसी समय वायुवेगसे हिलते हुए बाँसोंके संघर्षसे प्रकट हुए दावानलने उस वनका ग्रास करते हुए ऋषभदेवजीके शरीरसहित उस वनको भस्म कर दिया ॥ ८ ॥

यस्य किलानुचरितमुपाकर्ण्य कोङ्कवेङ्ककुटकानां[9] राजार्हन्नामोपशिक्ष्य कलावधर्म उत्कृष्यमाणे भवितव्येन विमोहितः स्वधर्मपथमकुतोभयमपहाय कुपथपाषण्डमसमञ्जसं निजमनीषया मन्दः संप्रवर्तयिष्यते ॥ ९ ॥ येन[10] ह वाव कलौ मनुजापसदा

हे राजन् ! जिस समय कलियुगमें अधर्मकी वृद्धि होगी उस समय कोङ्क, वेङ्क और कुटक देशका मन्दमति राजा 'अर्हत्' ऋषभदेवजीके आचरणका वृत्तान्त सुन भवितव्यताके वशीभूत हो अपना निर्भय (वैदिक) धर्म त्यागकर अपनी बुद्धिसे इस अनुचित एवं पाखण्डपूर्ण कुमार्गका प्रचार करेगा ॥ ९ ॥ जिससे कलियुगके अधम मनुष्य देवमायासे मोहित हो अपने-अपने

१. प्रा० पा०—कोऽत्र तद्बुधः । २. प्राचीन प्रतिमें 'ऽपि' यह पाठ नहीं है । ३. प्रा० पा०—जडवदवधूतभाषा० । ४. प्रा० पा०—भावेनानुवीक्ष० । ५. प्रा० पा०—योगमायावासेन । ६. प्रा० पा०—कौङ्कवेङ्क० । ७. प्राचीन प्रतिमें 'श्म' यह अंश खण्डित है । ८. प्रा० प्रा०—वेणुनिघर्ष० । ९. प्राचीन प्रतिमें 'कुटकानां' यह पाठ खण्डित है । १०. प्रा० पा०—येनेह वाव ।

देवमायामोहिताः स्वविधिनियोगशौचचारित्रविहीना देवहेलनान्यपव्रतानि निजनिजेच्छया गृह्णाना अस्नानानाचमनाशौचकेशोल्लुञ्चनादीनि कलिना-धर्मबहुलेनोपहतधियो ब्रह्मब्राह्मणयज्ञपुरुषलोक-[1]विदूषकाः प्रायेण भविष्यन्ति ॥ १० ॥ ते[2] च ह्यर्वाक्तनया निजलोकयात्रयान्धपरम्परयाश्वस्तास्त-[3]मस्यन्धे स्वयमेव[4] प्रपतिष्यन्ति[5] ॥ ११ ॥

शास्त्रविहित शौच और आचरणको छोड़कर अधर्म-प्रधान कलियुगके प्रभावसे बुद्धिहीन हो स्नान न करना, आचमन न करना, अशुद्धतासे रहना और केश नुचवाना आदि ईश्वरका तिरस्कार करनेवाले पाखण्ड-धर्मोंको मनमाने ढंगसे स्वीकारकर प्रायः वेद, ब्राह्मण और भगवान् यज्ञपुरुषकी निन्दा करनेवाले हो जायँगे ॥१०॥ वे लोग अपनी अवैदिक लोकचर्यामें अन्धपरम्परासे विश्वास करते हुए [उसका आचरण करनेसे] अपने-आप ही घोर नरकमें पड़ेंगे ॥११॥

अयमवतारो रजसोपप्लुतकैवल्योपशिक्षणार्थः[6] । तस्यानुगुणान् श्लोकान्गायन्ति ॥ १२ ॥

अहो भुवः सप्तसमुद्रवत्या
द्वीपेषु वर्षेष्वधिपुण्यमेतत्[7] ।
गायन्ति यत्रत्यजना मुरारेः
कर्माणि भद्राण्यवतारवन्ति ॥१३॥
अहो नु वंशो यशसावदातः
प्रैयव्रतो यत्र पुमान्पुराणः ।
कृतावतारः पुरुषः स आद्य-
श्चचार धर्मं यदकर्महेतुम् ॥१४॥
को न्वस्य[8] कीर्तिमपरोऽनुगच्छे-
न्मनोरथेनाप्यभवस्य योगी ।
यो योगमायाः स्पृहयत्युदस्ता
ह्यसत्तया येन कृतप्रयत्नाः ॥१५॥

यह ऋषभावतार रजोगुणसे भरे हुए लोगोंको मोक्षमार्गकी शिक्षा देनेके लिये ही हुआ था । उनके गुणोंका वर्णन करते हुए लोग इन श्लोकोंको गाते हैं—॥ १२ ॥ "अहो ! सात समुद्रोंवाली पृथिवीके सम्पूर्ण द्वीप और वर्षोंमें यह भारतवर्ष परमपवित्र है जहाँके लोग श्रीहरिके मङ्गलमय अवतारचरित्रोंका गान करते हैं ॥ १३ ॥ अहो ! महाराज प्रियव्रतका विशुद्ध यशपूर्ण वंश धन्य है, जिसमें पुराणपुरुष श्रीआदिनारायणने [ऋषभ] अवतार लेकर मोक्ष-प्राप्तिके साधनरूप पारमहंस्य-धर्मका आचरण किया ॥ १४ ॥ अहो ! इन जन्मरहित भगवान् ऋषभदेवजीकी निष्ठाको कोई दूसरा योगी मनसे भी कैसे प्राप्त कर सकता है ? जो कि उनके द्वारा असत् मानकर त्यागी हुई योगसिद्धियोंको प्राप्त करनेके लिये निरन्तर प्रयत्न किया करता है" ॥ १५ ॥

इति ह स्म सकलवेदलोकदेवब्राह्मणगवां परमगुरोर्भगवत ऋषभाख्यस्य विशुद्धाचरितमीरितं[9] पुंसां समस्तदुश्चरिताभिहरणं परममहा-मङ्गलायनमिदमनुश्रद्धयोपचितयानुशृणोत्याश्राव-यति वावहितो[10] भगवति तस्मिन्वासुदेव एकान्ततो

हे राजन् ! इस प्रकार, सम्पूर्ण वेद, लोक, देवता ब्राह्मण और गौओंके परमगुरु भगवान् ऋषभदेवजीका यह विशुद्ध चरित्र तुमसे कहा । यह मनुष्योंके सम्पूर्ण पापोंको दूर करनेवाला है । जो पुरुष इस महामंगलमय पवित्र चरित्रको एकाग्रचित्तसे श्रद्धापूर्वक सुनते या सुनाते हैं उन दोनोंहीकी भगवान्

१. प्रा० पा०—यज्ञलोकपुरुषविदूषकाः । २. प्रा० पा०—तथैव ह्यर्वाक्तनया । ३. प्रा० पा०—तथैवातत्त्व-ज्ञास्तम० । ४. प्राचीन प्रतिमें 'स्वयमेव' यह पाठ नहीं है । ५. प्राचीन प्रतिमें 'ति' यह पाठ खण्डित है । ६. प्रा० पा०—शिक्षणार्थं । ७. प्राचीन प्रतिमें 'एतत्' यह अंश खण्डित है । ८. प्रा० पा०—को ह्यस्य । ९. प्रा० पा०—विशुद्धाचरितं पुंसां । १०. प्रा० पा०—वावहितस्तस्मिन् वासुदेव ।

भक्तिरनयोरपि समनुवर्तते ॥ १६ ॥ यस्यामेव कवय आत्मानमविरतं विविधवृजिनसंसारपरितापोपतप्यमानमनुसवनं स्नापयन्तस्तस्यैव परया निर्वृत्या ह्यपवर्गमात्यन्तिकं परमपुरुषार्थमपि स्वयमासादितं नो एवाद्रियन्ते[1] भगवदीयत्वेनैव[2] परिसमाप्तसर्वार्थाः ॥ १७ ॥

राजन्पतिर्गुरुरलं भवतां यदूनां
दैवं प्रियः कुलपतिः क्व च किङ्करो वः ।
अस्त्वेवमङ्ग भगवान्भजतां मुकुन्दो
मुक्तिं ददाति कर्हिचित्स्म[3] न भक्तियोगम् १८
नित्यानुभूत[4]निजलाभनिवृत्ततृष्णः
श्रेयस्यतद्रचनया चिरसुप्तबुद्धेः ।
लोकस्य यः करुणयाभयमात्मलोक-
माख्यान्नमो भगवते ऋषभाय तस्मै ॥१९॥

वासुदेवमें अनन्य भक्ति हो जाती है ॥ १६ ॥ पण्डितजन उस भक्तिरूप सरितामें ही अपने विविध पाप-जनित संसारतापसे नितान्त परितप्त अन्तःकरणको निरन्तर स्नान कराते हुए, उससे प्राप्त होनेवाली परमशान्तिके कारण, अपने-आप ही उपस्थित हुए मोक्षरूप परमपुरुषार्थका भी आदर नहीं करते क्योंकि भगवान्‌के निजजन हो जानेसे ही उनके सकल पुरुषार्थ सिद्ध हो जाते हैं ॥ १७ ॥ हे राजन् ! भगवान् कृष्ण तुम्हारे और यदुवंशियोंके कभी रक्षक, कभी गुरु, कभी इष्टदेव, कभी सुहृद्, कभी कुलपति और कभी दूत भी बने ! इसी तरह भगवान् प्रसन्न होकर दूसरे भक्तोंके भी अनेकों कार्य कर सकते हैं तथा वे अपने सेवकोंको मोक्ष भी दे देते हैं परन्तु भक्तियोग नहीं देते [उसका प्राप्त होना बड़ा ही दुर्लभ है] ॥ १८ ॥ विषय-भोगोंका निरन्तर सेवन करनेके कारण अपने वास्तविक श्रेयसे चिरकालतक बेसुध हुए लोगोंको जिन्होंने करुणावश निर्भय आत्मलोकका उपदेश दिया तथा जो स्वयं निरन्तर अनुभव होनेवाले आत्मस्वरूपकी प्राप्तिसे सम्पूर्ण तृष्णाओंसे मुक्त थे उन भगवान् ऋषभदेवजीको नमस्कार है ॥ १९ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पञ्चमस्कन्धे ऋषभदेवानुचरिते षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

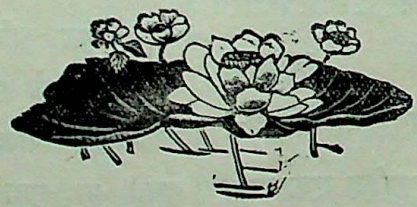

१. प्रा० पा०—नैवाद्रियन्ते । २. प्रा० पा०—भगवत्तत्त्वेनैव । ३. प्राचीन प्रतिमें 'चित्' यह पाठ खण्डित है । ४. प्राचीन प्रतिमें 'त' यह अंश खण्डित है ।

सातवाँ अध्याय

भरत-चरित्र ।

श्रीशुक[1] उवाच

भरतस्तु महाभागवतो यदा भगवतावनितल[2]-परिपालनाय सञ्चिन्तितस्तदनुशासनपरः पञ्चजनीं विश्वरूपदुहितरमुपयेमे ॥ १ ॥ तस्यामु ह वा आत्मजान्कात्स्न्येनानुरूपानात्मनः पञ्च जनयामास भूतादिरिव भूतसूक्ष्माणि ॥ २ ॥ सुमतिं राष्ट्रभृतं सुदर्शन[3]मावरणं धूम्रकेतुमिति । अजनाभं[4] नामैतद्वर्षं भारतमिति यत आरभ्य व्यपदिशन्ति ॥ ३ ॥

स[5] बहुविन्महीपतिः पितृपितामहवदु[6]रुवत्सलतया स्वे स्वे कर्मणि वर्तमानाः प्रजाः स्वधर्ममनुवर्तमानः पर्यपालयत् ॥ ४ ॥ ईजे च भगवन्तं यज्ञक्रतुरूपं[7] क्रतुभिरुच्चावचैः श्रद्धयाहृताग्निहोत्रदर्शपूर्णमास-चातुर्मास्यपशुसोमानां प्रकृतिविकृतिभिरनुसवनं चातुर्होत्रविधिना ॥ ५ ॥ संप्रचरत्सु नानायागेषु[8] विरचिताङ्गक्रियेष्वपूर्वं यत्तत्क्रियाफलं धर्माख्यं परे ब्रह्मणि यज्ञपुरुषे सर्वदेवतालिङ्गानां मन्त्राणाम-र्थनियामकतया साक्षात्कर्तरि परदेवतायां भगवति

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! महाराज भरत परम भगवद्भक्त थे । जब उन्हें भगवान् ऋषभदेवजीने पृथिवीकी रक्षा करनेके लिये नियुक्त करनेका विचार किया तो उनकी आज्ञासे उन्होंने विश्वरूपकी कन्या पञ्चजनीसे विवाह किया ॥ १ ॥ जिस प्रकार तामस अहंकारसे शब्द-स्पर्शादि पाँच भूततन्मात्राएँ उत्पन्न होती हैं उसी प्रकार भरतजीने अपनी भार्या पञ्चजनीके गर्भसे पाँच पुत्र उत्पन्न किये जो पूर्णतया उन्हींके अनुरूप थे ॥ २ ॥ उनके नाम सुमति, राष्ट्रभृत्, सुदर्शन, आवरण और धूम्रकेतु थे । इस वर्षको, जिसका नाम पहले 'अजनाभवर्ष' था राजा भरतके समयसे ही 'भारतवर्ष' कहते हैं ॥ ३ ॥

महाराज भरत सकल शास्त्रोंके मर्मको जाननेवाले थे । अतः वे अपने-अपने कर्मोंमें लगी हुई प्रजाका अपने बाप-दादोंके समान स्वयं धर्ममें स्थित रहते हुए अत्यन्त वात्सल्यभावसे पालन करने लगे ॥ ४ ॥ और होता, अध्वर्यु, उद्गाता तथा ब्रह्मा—इन चार ऋत्विजोंद्वारा श्रद्धापूर्वक कराये जानेवाले अग्निहोत्र, दर्श, पूर्णमास, चातुर्मास्य, पशु और सोमयाग आदि बड़े-छोटे यज्ञों (क्रतुओं) से* उनकी प्रकृति तथा विकृतिके† भेदसे समय-समयपर यज्ञ और क्रतुरूप भगवान्‌का यजन किया ॥ ५ ॥ इस प्रकार अङ्ग और क्रियाओंके सहित भिन्न-भिन्न यज्ञोंके अनुष्ठानके समय जब अध्वर्युगण आहुति देनेके लिये हाथमें हवि लेते तो यजमान भरत उस यज्ञकर्मके द्वारा होनेवाले पुण्यफलको इन्द्रादि सम्पूर्ण देवताओंके लिंगरूप मन्त्रोंके अर्थका नियन्त्रण करनेवाले मुख्य कर्ता परमदेव परब्रह्म, यज्ञपुरुष भगवान् वासुदेवमें

---

१. प्राचीन प्रतिमें 'श्रीशुक उवाच' यह पाठ नहीं है । २. प्रा० पा०—भगवता संचिन्तितस्तदनु० । ३. प्रा० पा०—सुदर्शनं वावरणं । ४. प्राचीन प्रतिमें 'भं' यह पाठ खण्डित है । ५. प्रा० पा०—स ह बहुविन्महीपतिः । ६. प्राचीन प्रतिमें 'मह' यह पाठ नहीं है । ७. प्रा० पा०—यज्ञक्रतुं क्रतुभिरुच्चा० । ८. प्रा० पा०—नानायोगेषु ।

* जिनमें पशु बाँधनेका खम्भा होता है उन्हें 'यज्ञ' कहते हैं और जिनमें वह नहीं होता वह 'क्रतु' हैं ।

† जिनमें यज्ञके सम्पूर्ण अङ्गोंका विधान हो वह 'प्रकृति' हैं और जिनमें अतिदेशसे अंगोंका विधान हो वह 'विकृति' हैं ।

वासुदेव एव[1] भावयमान आत्मनैपुण्यमृदितकषायो हविःष्वध्वर्युभिर्गृह्यमाणेषु सयजमानो यज्ञभाजो देवांस्तान्पुरुषावयवेष्वभ्यध्यायत् ॥ ६ ॥ एवं कर्मविशुद्ध्या[2] विशुद्धसत्त्वस्यान्तर्हृदयाकाशशरीरे ब्रह्मणि भगवति वासुदेवे महापुरुषरूपोपलक्षणे[3] श्रीवत्सकौस्तुभवनमालारिदरगदादिभिरुपलक्षिते निजपुरुषहृल्लिखितेनात्मनि पुरुषरूपेण विरोचमान[4] उच्चैस्तरां भक्तिरनुदिनमेधमानरयाजायत ॥ ७ ॥

ही समर्पण कर देते थे। तथा अपनी भगवदर्पणबुद्धिरूप कुशलतासे हृदयके राग-द्वेषादि मल दूर कर देनेके कारण उन सूर्य आदि सम्पूर्ण यज्ञभोक्ता देवताओंको भगवान्‌के नेत्र आदि अवयवरूपसे चिन्तन करते थे ॥ ६ ॥ इस प्रकार कर्मकी शुद्धिसे अन्तःकरण शुद्ध होनेपर, हृदयाकाश ही जिनका शरीर अर्थात् अभिव्यक्तिका स्थान है उन श्रीवत्सलाञ्छन, कौस्तुभमणि, वनमाला, चक्र, शङ्ख और गदा आदिसे सुशोभित तथा अन्तर्यामीरूपसे अपने भक्तोंके अन्तःकरणमें रहनेवाले पुरुषरूपसे हृदयमें विराजमान सर्वव्यापक महापुरुषरूप भगवान् वासुदेवमें भरतजीकी दिन-दिन बढ़नेवाली उत्कृष्ट भक्ति उत्पन्न हुई ॥ ७ ॥

एवं वर्षायुतसहस्रपर्यन्तावसितकर्मनिर्वाणावसरोऽधिभुज्यमानं[5] स्वतनयेभ्यो रिक्थं पितृपैतामहं[6] यथादायं विभज्य स्वयं सकलसंपन्निकेतात्स्वनिकेतात् पुलहाश्रमं[7] प्रवव्राज ॥ ८ ॥ यत्र ह वाव भगवान्हरिरद्यापि तत्रत्यानां निजजनानां वात्सल्येन संनिधाप्यत[8] इच्छारूपेण ॥ ९ ॥ यत्राश्रमपदान्युभयतोनाभिभिर्दृषच्चक्रैश्चक्रनदीनाम सरित्प्रवरा सर्वतः पवित्रीकरोति ॥ १० ॥

इस प्रकार दश सहस्र वर्षके अनन्तर अपने राज्यभोगके प्रारब्धको समाप्त हुआ जान महाराज भरतने अपनी भोगी हुई बाप-दादोंकी सम्पत्तिको शास्त्रानुसार बाँटकर अपने पुत्रोंको सौंप दिया और स्वयं अपने सर्वसम्पत्तिपूर्ण भवनको छोड़कर पुलहाश्रम (हरिहरक्षेत्र) को चले गये, जिस पुलहाश्रममें भगवान् हरि, वात्सल्यवश वहाँ रहनेवाले अपने भक्तोंकी इच्छानुसार रूप धारणकर अब भी उनके पास रहते हैं ॥ ८-९ ॥ तथा जहाँ चक्रनदी (गण्डकी) नामकी प्रसिद्ध नदी, जिनके दोनों ओर नाभिके समान चिह्न हैं ऐसी चक्राकार शालग्रामशिलाओंसे ऋषियोंके आश्रमोंको सब ओरसे पवित्र करती है ॥ १० ॥

तस्मिन्वाव[9] किल स एकलः पुलहाश्रमोपवने विविधकुसुमकिसलयतुलसिकाम्बुभिः कन्दमूलफलोपहारैश्च समीहमानो भगवत आराधनं विविक्त उपरतविषयाभिलाष उपभृतोपशमः परां निर्वृतिमवाप ॥ ११ ॥ तयेत्थमविरत-

उस पुलहाश्रमके उपवनमें एकान्त स्थानमें अकेले ही रहकर नाना प्रकारके पत्र, पुष्प, तुलसीदल, जल और कन्द-मूल-फलादि उपहारोंसे भगवान्‌की आराधना करते हुए जिनका अन्तःकरण सम्पूर्ण विषयाभिलाषाएँ निवृत्त हो जानेसे शान्त हो गया है उन भरतजीको परम आनन्द प्राप्त हुआ ॥ ११ ॥ इस प्रकार नियमपूर्वक की हुई उस भगवत्पूजाके

१. प्रा० पा०—एवम्। २. प्रा० पा०—कर्मविशुद्धिः सत्त्वस्यान्तर्हृदयाका०। ३. प्राचीन प्रतिमें 'णे' यह अंश खण्डित है। ४. प्रा० पा०—विराजमान०। ५. प्रा० पा०—वसरो विभुज्यमानं तनयेभ्यः पितृ०। ६. प्राचीन प्रतिमें 'पै' यह अंश खण्डित है। ७. प्रा० पा०—पुलहाश्रममेष प्र०। ८. प्राचीन प्रतिमें 'प्य' यह अंश खण्डित है। ९. प्रा० पा०—तस्मिन्नेव वाव किल स एव आश्रमोपवने।

पुरुषपरिचर्यया भगवति प्रवर्धमानानुरागभरद्रुत-हृदयशैथिल्यः प्रहर्षवेगेनात्मन्युद्भिद्यमानरोमपुलक-कुलक औत्कण्ठ्यप्रवृत्तप्रणयबाष्पनिरुद्धावलोकनयन एवं[1] निजरमणारुणचरणारविन्दानुध्यानपरिचित-भक्तियोगेन परिप्लुतपरमाह्लादगम्भीरहृदयह्रदाव-गाढधिषणस्तामपि क्रियमाणां भगवत्सपर्यां न सस्मार ॥१२॥ इत्थं धृतभगवद्व्रत ऐणेयाजिनवास-[2]सानुसवनाभिषेकार्द्रकपिशकुटिलजटाकलापेन च विरोचमानः सूर्यर्चा भगवन्तं हिरण्मयं पुरुषमुज्जिहाने सूर्यमण्डलेऽभ्युपतिष्ठन्नेतदु होवाच—॥१३॥

परोरजः सवितुर्जातवेदो
देवस्य भर्गो मनसेदं जजान ।
सुरेतसादः[3] पुनराविश्य चष्टे
हंसं[4] गृध्राणं नृषदिङ्गिरामिमः ॥१४॥

कारण बढ़ते हुए अनुरागके वेगसे हृदय द्रवीभूत रहनेके कारण वे उद्योगहीन हो गये, अत्यन्त आनन्दके प्रवाहसे उनके शरीरमें रोमाञ्च होने लगा तथा प्रबल उत्कण्ठाके कारण उमड़े हुए प्रेमाश्रुओंसे उनके नयनोंकी दृष्टि रुक गयी। अन्तमें अपने प्रियतमके अरुण चरणारविन्दोंके ध्यानसे प्राप्त हुए भक्तियोगद्वारा, परमानन्दसे लबालब भरे हुए हृदयरूप गम्भीर सरोवरमें बुद्धिके डूब जानेसे उन्हें अपनी नियमपूर्वक की जानेवाली भगवत्पूजाका भी स्मरण नहीं रहा ॥ १२ ॥ इस प्रकार भगवत्सेवाके नियमका पालन करनेवाले तथा कृष्णमृगचर्म और त्रिकाल स्नानके कारण भीगे हुए अपने अरुणवर्ण घुँघराले जटाजूटसे सुशोभित महाराज भरत सूर्यमण्डलके उदय होते समय हिरण्मय भगवान् पुरुषोत्तमका उपस्थान करते हुए सूर्यसम्बन्धिनी ऋचाओंके द्वारा इस प्रकार कहने लगे ॥ १३ ॥

'भगवान् सूर्यका कर्मफलदायक तेज प्रकृतिसे परे है। उन्होंने मनहीसे इस जगत्की उत्पत्ति की है तथा वे ही अपने उत्पन्न किये इस विश्वमें सर्वत्र अन्तर्यामीरूपसे प्रविष्ट हो अपनी चित्शक्तिद्वारा सुखकी इच्छावाले जीवोंकी रक्षा करते हैं। हम उसी बुद्धिप्रवर्तक तेजकी शरणमें प्राप्त होते हैं ॥ १४ ॥

इति श्रीमद्भागवते पञ्चमस्कन्धे भरतचरिते भगवत्-
परिचर्यायां सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

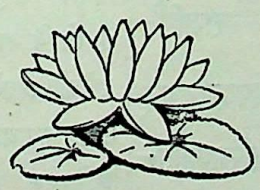

१. प्राचीन प्रतिमें 'एवं' यह पाठ नहीं है। २. प्राचीन प्रतिमें 'ऐणेयाजिनवास०'...से आरम्भकर 'तिष्ठन्नेतदु होवाच' पर्यन्त अंश छूट गया है। ३. प्रा० पा०—स्वतेजसादः पुनरा०। ४. प्राचीन प्रतिमें 'हंसं' यह पाठ खण्डित है।

आठवाँ अध्याय

भरतजीका मृगके मोहमें फँसकर मृग-योनिमें जन्म लेना।

श्रीशुक[1] उवाच

एकदा तु महानद्यां कृताभिषेकनैयमिकावश्यको ब्रह्माक्षरमभिगृणानो मुहूर्तत्रयमुदकान्त[2] उपविवेश ॥ १ ॥ तत्र तदा राजन्हरिणी पिपासया जलाशयाभ्याश[3]मेकैवोपजगाम ॥२॥ तया पेपीय[4]मान उदके तावदेवाविदूरेण नदतो मृगपतेरुन्नादो लोकभयंकर उदपतत् ॥ ३ ॥ तमुपश्रुत्य सा मृगवधूः प्रकृतिविक्लवा चकितनिरीक्षणा सुतरामपि हरिभयाभिनिवेशव्यग्रहृदया पारिप्लवदृष्टिरगततृषा भयात्सहसैवोच्चक्राम ॥ ४ ॥

तस्या उत्पतन्त्या अन्तर्वत्न्या उरुभयावगलितो योनि[5]निर्गतो गर्भः स्रोतसि निपपात ॥ ५ ॥ तत्प्रस[6]वोत्सर्पणभयखेदातुरा स्वगणेन वियुज्यमाना कस्याश्चिद्दर्यां कृष्णसारसती निप[7]पाताथ च ममार ॥ ६ ॥

तं त्वेणकुणकं कृपणं स्रोतसानूह्यमानमभिवीक्ष्यापविद्धं बन्धुरिवानुकम्प[8]या राजर्षिर्भरत आदाय मृतमातरमित्याश्रमपदमनयत् ॥ ७ ॥ तस्य ह वा एणकुणक उच्चैरेतस्मिन्कृतनिजाभिमानस्याहरहस्तत्पोषणपालनलालनप्रीणनानु-

श्रीशुकदेवजी बोले—एक समय राजा भरत महानदी गण्डकीमें स्नानकर नित्य-नैमित्तिक एवं अन्य आवश्यक कर्मोंसे निवृत्त हो ओंकारका जप करते हुए तीन मुहूर्ततक जलके भीतर बैठे रहे ॥ १ ॥ हे राजन्! इसी समय एक अकेली हरिणी प्याससे व्याकुल हो जल पीनेके लिये उस जलाशयके पास आयी ॥ २ ॥ जब वह जल पीने लगी तो पास ही एक गर्जते हुए सिंहका अति लोकभयंकर शब्द हुआ ॥ ३ ॥ हरिणीकी जाति स्वभावसे ही डरपोक होनेके कारण वह पहले ही चकितचित्तसे इधर-उधर ताकती जाती थी। उस शब्दको सुनते ही उसका हृदय सिंहके भयसे और भी व्याकुल हो उठा, उसके नेत्र कातर हो गये और वह अत्यन्त भयभीत हो प्यास दूर होनेसे पूर्व ही सहसा नदीके दूसरी ओरको उछली ॥ ४ ॥

वह मृगी गर्भिणी थी; अतः जब वह उछलने लगी तो अत्यन्त भयके कारण उसका गर्भ अपने स्थानसे हटकर योनिद्वारसे निकलकर नदीके प्रवाहमें गिर गया ॥ ५ ॥ वह कृष्णमृगपत्नी प्रथम तो अपने झुण्डसे बिछुड़ी हुई थी, फिर गर्भस्राव, उछलने और सिंहके भयसे व्याकुल होकर वह और भी थक गयी थी अतः वह कूदकर एक पर्वतकी गुफामें गिरी और गिरते ही मर गयी ॥ ६ ॥

राजर्षि भरतजीने देखा कि वह दीन मृगशावक अपने बन्धुओंसे बिछुड़कर नदीके प्रवाहमें बह रहा है तो वे स्वजनके समान करुणा करके उस मातृहीन बच्चेको अपने आश्रमपर ले आये ॥ ७ ॥ भरतजीको उस मृगबालकमें [धीरे-धीरे] अपनेपनका अत्यन्त अभिमान हो गया। अतः नित्यप्रति उसके खाने-पीनेका प्रबन्ध करने, व्याघ्रादिसे रक्षा करने, लाड़

१. प्रा० पा०—'शुक उवाच'। २. प्रा० पा०—मुदकान्तम्। ३. प्राचीन प्रतिमें 'श' यह अंश खण्डित है। ४. प्रा० पा०—तया पीयमान उदके। ५. प्राचीन प्रतिमें 'योनिनिर्गतः' यह पाठ नहीं है। ६. प्राचीन प्रतिमें 'तत्प्रसव' यह अंश नहीं है। ७. प्रा० पा०—पपाताथ च। ८. प्रा० पा०—रिवानुकम्पितया।

ध्यानेनात्मनियमाः सहयमाः पुरुषपरिचर्यादय एकैकशः कतिपयेनाहर्गणेन वियुज्यमानाः किल सर्व एवोदवसन् ॥ ८ ॥ अहो बतायं हरिणकुणकः कृपण ईश्वररथचरणपरिभ्रमणरयेण स्वगणसुहृद्[1]-बन्धुभ्यः परिवर्जितः शरणं च[3] मोपसादितो मामेव मातापितरौ भ्रातृज्ञातीन्यौथिकांश्चैवोपेयाय[4] नान्यं कञ्चन वेद मय्यतिविस्रब्धश्चात[6] एव मया मत्परायणस्य पोषणपालनप्रीणनलालनमनसूयुनानुष्ठेयं शरण्योपेक्षा-दोषविदुषा ॥ ९ ॥ नूनं ह्यार्याः साधव उपशम-शीलाः कृपणसुहृद एवंविधार्थे स्वार्थानपि गुरुतरानु-पेक्षन्ते ॥ १० ॥

इति कृतानुषङ्ग आसनशयनाटनस्थान[7]-नाशनादिषु सह मृगजहुना स्नेहानुबद्धहृदय आसीत् ॥ ११ ॥ कुशकुसुमसमित्पलाशफलमूलो-दकान्याहरिष्यमाणो वृक[8]सालावृकादिभ्यो भयमाशं-समानो यदा सह हरिणकुणकेन वनं समाविशति[9] ॥ १२ ॥ पथिषु च मुग्ध[10]भावेन तत्र तत्र विपक्त-मतिप्रणयभरहृदयः कार्पण्यात्स्कन्धेनोद्वहति एव-मुत्सङ्ग उरसि चाधायोपलालयन्मुदं परमामवाप ।१३। क्रियायां निर्वर्त्यमानायामन्तरालेऽप्युत्थायोत्थाय यदैनमभिचक्षीत तर्हि वाव स वर्षपतिः प्रकृतिस्थेन

लड़ाने और पुचकारने आदिकी चिन्तामें ग्रस्त रहने-के कारण उनके यम, नियम और भगवत्पूजा आदि सम्पूर्ण आवश्यक कर्म दिनोंदिन एक-एक करके छूटते-छूटते अन्तमें सभी छूट गये ॥ ८ ॥ [वे सोचने लगे] 'अहो ! कैसे खेदकी बात है ? इस बेचारे दीन मृगछौनेको कालचक्रके वेगने अपने समूह, सुहृद् और बन्धुओंसे दूर करके मेरी शरणमें पहुँचा दिया है । यह मुझे ही माता, पिता, भाई, जातिबन्धु तथा अपने झुण्डके मृग समझकर मेरे पास आया है; इसे मेरे सिवा और किसीका कुछ पता नहीं है, इसका मुझमें अत्यन्त विश्वास है । मैं भी शरणागतकी उपेक्षा करनेमें जो दोष है उसे जानता हूँ, इसलिये मुझे इस अपने आश्रितका सावधानता-पूर्वक भली प्रकार पालन, पोषण, लालन और प्रीणन आदि करना चाहिये ॥ ९ ॥ क्योंकि शान्तस्वभाव और दीनोंकी रक्षा करनेवाले भद्रजन ऐसे शरणागतकी रक्षाके लिये अपने बड़े-से-बड़े स्वार्थोंको भी त्याग देते हैं' ॥१०॥

इस प्रकार उस हरिणके बच्चेमें आसक्ति बढ़ जानेसे राजा भरतका चित्त उसके स्नेहपाशमें बँध गया और वे बैठने, सोने, घूमने, खड़े होने और भोजन करने आदि सभी कार्योंके समय उसीके साथ रहने लगे ॥११॥ जब उन्हें कुशा, पुष्प, समिध, पत्र, फल और मूलादि लाने होते तो भेड़ियों अथवा कुत्तों आदिके भयकी आशंकासे उस मृगशावकको अपने साथ लेकर ही वनमें जाते ॥१२॥ मार्गमें मोहवश जहाँ-तहाँ आसक्तचित्तसे प्रेमके कारण अधीर होकर उसे अपने कन्धेपर चढ़ा लेते। इसी प्रकार कभी गोदमें लेकर और कभी उसे छातीसे लगाकर दुलारते हुए परम आनन्दित होते ॥१३॥ नित्य-नैमित्तिक कर्मोंको करते हुए भी वे भारतेश्वर महाराज भरत बीच-बीचमें उठकर उस मृगबालकको देखते । तथा

१. प्राचीन प्रतिमें 'स्व' यह पाठ नहीं है । २. प्रा० पा०—सुहृद्बन्धुभिः । ३. प्रा० पा०—शरणं ममोपसादितो । ४. प्राचीन प्रतिमें 'याय' यह अंश खण्डित है । ५. प्राचीन प्रतिमें 'मय्य' यह अंश खण्डित है । ६. प्रा० पा०—धिश्रब्ध एवं । ७. प्रा० पा०—नाटनकुसुमकुशाशनादिषु सह मृगजातिना । ८. प्रा० पा०—वृकशा० । ९. प्रा० पा०—समाविशत् । १०. प्रा० पा०—शुद्धभावेन ।

मनसा तस्मा आशिष आशास्ते स्वस्ति स्ताद्वत्स ते सर्वत इति ॥ १४ ॥

जब कभी वह दिखायी देता तो स्वस्थचित्त होकर उसके लिये मंगलकामना करते हुए कहने लगते 'बेटा ! तेरा सर्वत्र कल्याण हो' ॥१४॥

अन्यदा भृशमुद्विग्नमना[1] नष्टद्रविण इव कृपणः सकरुणमतितर्षेण हरिणकुणकविरहविह्वलहृदयसंतापस्तमेवानुशोचन्किल कश्मलं महदभिरम्भित इति होवाच ॥१५॥ अपि बत स वै कृपण एणबालको मृतहरिणीसुतोऽहो ममानार्यस्य शठकिरातमतेरकृतसुकृतस्य[2] कृतविस्रम्भ आत्मप्रत्ययेन तदविगणयन्सुजन[3] इवागमिष्यति ॥१६॥ अपि क्षेमेणास्मिन्नाश्रमोपवने शष्पाणि[4] चरन्तं देवगुप्तं द्रक्ष्यामि ॥१७॥ अपि च न[5] वृकः सालावृकोऽन्यतमो वा नैकचर[6] एकचरो वा भक्षयति ॥१८॥ निम्लोचति[7] ह भगवान्सकलजगत्क्षेमोदयस्त्रय्यात्माद्यापि मम न मृगवधून्यास आगच्छति ॥१९॥ अपिस्विदकृतसुकृतमागत्य मां सुखयिष्यति हरिणराजकुमारो विविधरुचिरदर्शनीयनिजमृगदारकविनोदैरसंतोषं स्वानामपनुदन् ॥२०॥ क्ष्वेलिकायां मां मृषा समाधिना मीलितदृशं प्रेमसंरम्भेण चकितचकित आगत्य[8] पृषदपरुषविषाणाग्रेण लुठति ॥२१॥ आसादितहविषि बर्हिषि दूषिते

एक बार जब वह बहुत देरतक उन्हें दिखायी न पड़ा तो वे, जिसका धन नष्ट हो गया हो उस कृपण पुरुषके समान अत्यन्त दुःखी हुए और फिर उस हरिणके बच्चेके विरहसे व्याकुल तथा सन्तप्त-हृदय हो करुणावश अत्यन्त उत्कण्ठित होकर उसीका चिन्तन करते हुए अत्यन्त मोहको प्राप्त हो इस प्रकार कहने लगे—॥ १५ ॥ "अहो ! क्या कहा जाय ? क्या वह दीन मृगछौना, जो एक परलोकवासिनी मृगीका लाल है, दुष्ट बहेलियेकी-सी बुद्धिवाले मुझ पुण्यहीन अनार्यका विश्वास करके, मेरे किये हुए विश्वासघातादि अपराधोंको सत्पुरुषोंके समान भूलकर फिर लौट आवेगा ? ॥१६॥ क्या मैं उसे फिर इस आश्रमके उपवनमें भगवान्‌की कृपासे सुरक्षित रहकर कुशलपूर्वक हरी-हरी दूब चरते देखूँगा ? ॥ १७ ॥ ऐसा तो न हो कि कोई भेड़िया या कुत्ता अथवा कोई झुण्डमें विचरनेवाला (शूकरादि) या अकेला घूमनेवाला (व्याघ्रादि) जीव उसे चट कर जाय ? ॥१८ ॥ अहो ! सम्पूर्ण जगत्‌की कुशलके लिये प्रकट होनेवाले वेदत्रयीरूप भगवान् सूर्य अस्त होना चाहते हैं, किन्तु वह मृगीकी धरोहर अभीतक लौटकर नहीं आयी ! ॥१९॥ क्या वह हरिणराजकुमार मुझ पुण्यहीनके पास आकर अपनी नाना प्रकारकी बालसुलभ क्रीडाओंसे अपने स्वजनोंका शोक दूर करते हुए मुझे आनन्दित करेगा ? ॥२०॥ अहो ! जब वह अपनी स्वाभाविक चंचलताके कारण बहुत कूद-फाँद करता और मैं उसे प्रणयकोपसे डाँटकर झूठ-मूँठ समाधि लगाकर आँख मूँदकर बैठ जाता तो वह चकितचित्तसे मेरे पास आकर अपने जलबिन्दुसदृश कोमल और नन्हें-नन्हें सींगोंसे बारम्बार मेरे अंगोंको खुजाने लगता था ॥२१॥ जब कभी

१. प्रा० पा०—तु भृश० । २. प्रा० पा०—शठकितवमतेरकृतसुकृतस्य । ३. प्रा० पा०—स्वजन इवा० । ४. प्रा० पा०—सस्यानि । ५. प्रा० पा०—अपि न वृकः शालावृको वा । ६. प्रा० पा०—नैकचरो वा भक्षयति । ७. प्रा० पा०—निम्लोचयति । ८. प्रा० पा०—आवृत्य ।

मयोपालब्धो भीतभीतः सपद्युपरतरास[1] ऋषिकुमारवदवहितकरणकलाप आस्ते ॥ २२ ॥

वह कुशासनपर रखी हुई हवनसामग्रीको दूषित करने लगता और मैं उसे डपट देता तो वह अत्यन्त भयभीत होकर उसी समय अपनी सारी चञ्चलता छोड़ किसी ऋषिकुमारके समान अपनी सब इन्द्रियोंका निग्रहकर चुपचाप मेरे पास बैठ जाता" ॥२२॥

किं वा अरे आचरितं तपस्तपस्विन्यानया यदियमवनिः सविनयकृष्णसारतनयतनुतरसुभगशिवतमाखरखुरपदपङ्क्तिभिर्द्रविणविधुरातुरस्य कृपणस्य मम[2] द्रविणपदवीं सूचयन्त्यात्मानं च सर्वतः कृतकौतुकं द्विजानां स्वर्गापवर्गकामानां देवयजनं करोति ॥२३॥ अपिस्विदसौ भगवानुडुपतिरेनं मृगपतिभयान्मृतमातरं मृगबालकं स्वाश्रमपरिभ्रष्टमनुकम्पया कृपणजनवत्सलः परिपाति ॥२४॥ किं वात्मजविश्लेषज्वरदवदहनशिखाभिरुपतप्यमानहृदयस्थलनलिनीकं मामुपसृतमृगीतनयं शिशिरशान्तानुरागगुणितनिजवदनसलिलामृतमयगभस्तिभिः स्वधयतीति च[3] ॥ २५ ॥

[फिर उस बच्चेके पृथिवीपर बने हुए चरणचिह्नोंको देखकर कहने लगे—] "अहो ! इस परमतपस्विनी धरणीने ऐसा क्या तप किया है जो उस अति विनीत मृगशावकके सुन्दर और सुखकारी नन्हें-नन्हें खुरोंकी पंक्तिसे, अपने मृगरूप धन लुट जानेसे अत्यन्त व्याकुल हुए मुझको उस द्रव्यकी प्राप्तिका मार्ग दिखा रही है और स्वयं अपने शरीरको भी उन चरणचिह्नोंसे विभूषित कर स्वर्ग अथवा मोक्षके इच्छुक द्विजगणके लिये यज्ञभूमि बना रही है" ॥२३॥ [फिर चन्द्रमामें मृगका चिह्न देखकर उसे अपना ही मृग समझ इस प्रकार कहने लगे—] "जिसकी माता सिंहके भयसे मर गयी थी उस दीन मृगशावकको अपने आश्रमसे भटका हुआ देख क्या ये दीनवत्सल नक्षत्रनाथ दयावश उसकी रक्षा कर रहे हैं ?" ॥२४॥ [फिर उसकी शीतल किरणोंसे आह्लादित हो बोले—] "अथवा अपने पुत्रोंके वियोगके दुःखमय दावानलसे हृदयकमल दग्ध हो जानेके कारण जिसने मृगीकुमारका आश्रय लिया था ऐसे मुझको क्या ये अपनी शीतल, शान्त, स्नेहमयी और वदनसलिलरूप अमृतमयी किरणोंसे शान्त कर रहे हैं ?" ॥२५॥

एवमघटमानमनोरथाकुलहृदयो मृगदारकाभासेन स्वारब्धकर्मणा योगारम्भणतो विभ्रंशितः स योगतापसो भगवदाराधनलक्षणाच्च कथमितरथा जात्यन्तर एणकुणक आसङ्गः साक्षान्निःश्रेयसप्रतिपक्षतया प्राक्परित्यक्तदुस्त्यजहृदयाभिजातस्य तस्यैवमन्तरायविहत-

हे राजन् ! इस प्रकार जिनका पूरा होना सर्वथा असम्भव था ऐसे मनोरथोंसे व्याकुलचित्त हुए परम तपस्वी राजा भरत मृगशावकरूप अपने प्रारब्धकर्मके कारण ही भगवदाराधनरूप कर्म और योगमार्गसे भ्रष्ट हो गये । नहीं तो जिन्होंने पहले अपने ही हृदयसे उत्पन्न हुए परम दुस्त्यज पुत्रादिको मोक्षमार्गमें साक्षात् विघ्नरूप समझकर त्याग दिया था उन्हींको अन्यजातीय मृगशावकमें ऐसी आसक्ति कैसे हो सकती थी ?

१. प्रा० पा०—सपद्युपरतराग । २. प्रा० पा०—मे । ३. प्राचीन प्रतिमें 'च' यह पाठ नहीं है ।

योगारम्भणस्य राजर्षेर्भरतस्य तावन्मृगार्भकपोषणपालनप्रीणनलालनानुषङ्गेणाविगणयत आत्मानमहिरिवाखुबिलं दुरतिक्रमः कालः करालरभस आपद्यत ॥२६॥ तदानीमपि पार्श्ववर्तिनमात्मजमिवानुशोचन्तमभिवीक्षमाणो मृग एवाभिनिवेशितमना विसृज्य लोकमिमं सह मृगेण कलेवरं मृतमनु न मृतजन्मानुस्मृतिरितरवन्मृगशरीरमवाप ॥२७॥ तत्रापि ह वा आत्मनो मृगत्वकारणं भगवदाराधनसमीहानुभावेनानुस्मृत्य भृशमनुतप्यमान आह ॥२८॥ अहो कष्टं भ्रष्टोऽहमात्मवतामनुपथाद्यद्विमुक्तसमस्तसङ्गस्य विविक्तपुण्यारण्यशरणस्यात्मवत आत्मनि सर्वेषामात्मनां भगवति वासुदेवे तदनुश्रवणमननसंकीर्तनाराधनानुस्मरणाभियोगेनाशून्यसकलयामेन कालेन समावेशितं समाहितं कार्त्स्न्येन मनस्तत्तु पुनर्ममाबुधस्यारान्मृगसुतमनु परिसुस्राव ॥ २९ ॥

इत्येवं निगूढनिर्वेदो विसृज्य मृगीं मातरं पुनर्भगवत्क्षेत्रमुपशमशीलमुनिगणदयितं शालग्रामं पुलस्त्यपुलहाश्रमं कालञ्जरात्प्रत्याजगाम ॥ ३० ॥ तस्मिन्नपि कालं प्रतीक्षमाणः सङ्गाच्च भृशमुद्विग्न आत्मसहचरः शुष्कपर्ण-

इस प्रकार राजर्षि भरत अन्तरायों (विघ्नों) के वशीभूत हो योगभ्रष्ट हो गये । वे उस मृगछौनेके पालन, पोषण, प्रीणन और लालनादिमें लगकर अपने आत्मस्वरूपको भूल गये । इसी समय जिसका टालना अत्यन्त कठिन है वह प्रबल वेगशाली कराल काल, जैसे चूहेके बिलपर कोई सर्प आ पहुँचे, ऐसे आ पहुँचा ॥२६॥ उस समय भी अपने समीप बैठे हुए पुत्रके समान शोक करनेवाले उस मृगको देखते-देखते उसीमें आसक्तचित्त हो उसीके साथ इस शरीरको त्यागकर, साधारण जनोंकी भाँति मृगशरीरको प्राप्त हुए तथापि उनकी पूर्वजन्मकी स्मृति नष्ट नहीं हुई ॥२७॥ उस योनिमें भी पूर्वजन्मकी भगवदाराधनाके प्रभावसे अपने मृगरूप होनेका कारण जानकर वे अत्यन्त पश्चात्ताप करते हुए इस प्रकार कहने लगे—॥२८॥ "अहो ! बड़े खेदकी बात है कि मैं विवेकी पुरुषोंके मार्गसे भ्रष्ट हो गया । मैंने सब प्रकारकी आसक्ति त्याग एकान्त और पवित्र वनका आश्रय ले आत्मज्ञान प्राप्त किया, अपने चित्तको सबके अन्तरात्मा भगवान् वासुदेवमें, उन्हींके गुणोंका श्रवण, मनन और कीर्तनकर तथा उन्हींकी आराधना और स्मरण आदि कर प्रत्येक पलको सफल करते हुए सावधानतापूर्वक पूर्णतया लगाया । परन्तु हाय ! मुझ मूर्खका वही चित्त दैववश एक मृगछौनेके संगसे पतित हो गया !" ॥२९॥

हे राजन् ! इस प्रकार अपनी वैराग्य-भावनाको छिपाये हुए उसने अपनी माता मृगीको त्याग दिया । और अपनी जन्मभूमि कालंजरसे फिर शान्तिशील मुनियोंके प्रिय उसी शालग्राम नामक तीर्थमें, जो भगवान्‌का क्षेत्र है, पुलस्त्य और पुलह ऋषिके आश्रममें चला आया ॥ ३० ॥ वहाँ रहकर भी वह कालकी प्रतीक्षा करने लगा । सभीके संगसे अत्यन्त उपराम रहकर वह अकेला ही विचरता रहता तथा सूखे पत्ते, घास और झाड़ियोंसे शरीर-

१. प्रा० पा०—कलेवरं न नु मृतजन्मा० । २. प्राचीन प्रतिमें 'रि' यह पाठ खण्डित है । ३. प्राचीन प्रतिमें 'आ' यह अंश खण्डित है । ४. प्रा० पा०—सकलकालेन । ५. प्रा० पा०—निरूढनिर्वेदो । ६. प्रा० पा०—मुनिगणार्चितं दयितं ।

तृणवीरुधा वर्तमानो मृगत्वनिमित्तावसानमेव गणयन्मृगशरीरं तीर्थोदकक्लिन्नमुत्ससर्ज ॥ ३१ ॥

निर्वाह करता हुआ मृगयोनिकी प्राप्ति करानेवाले प्रारब्धके क्षयकी बाट देखता रहता। अन्तमें उसने तीर्थ (गंडकी नदी) के जलमें भीगे हुए अपने मृगशरीरको त्याग दिया ॥३१॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पञ्चमस्कन्धे[1] भरतचरितेऽष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

नवाँ अध्याय

भरतजीका ब्राह्मणकुलमें जन्म लेना

श्रीशुक[2] उवाच

अथ कस्यचिद्द्विजवरस्याङ्गिरःप्रवरस्य शमदमतपःस्वाध्यायाध्ययनत्यागसंतोषतितिक्षाप्रश्रयविद्यानसूयात्मज्ञानानन्दयुक्तस्यात्मसदृशश्रुतशीलाचारं रूपौदार्यगुणा नव सोदर्या अङ्गजा बभूवुर्मिथुनं च यवीयस्यां भार्यायाम् ॥ १ ॥ यस्तु तत्र पुमांस्तं परमभागवतं राजर्षिप्रवरं भरतमुत्सृष्टमृगशरीरं चरमशरीरेण विप्रत्वं गतमाहुः ॥ २ ॥ तत्रापि स्वजनसङ्गाच्च भृशमुद्विजमानो[3] भगवतः कर्मबन्धविध्वंसनश्रवणस्मरणगुणविवरणचरणारविन्दयुगलं मनसा विदधदात्मनः प्रतिघातमाशङ्कमानो भगवदनुग्रहेणानुस्मृतस्वपूर्वजन्मावलिरात्मानमुन्मत्तजडान्धबधिरस्वरूपेण[4] दर्शयामास लोकस्य ॥ ३ ॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन्! इसी समय अंगिरस्गोत्रमें उत्पन्न हुए किन्हीं शम, दम, तप, स्वाध्याय, वेदाध्ययन, त्याग, सन्तोष, तितिक्षा, विनय, विद्या, दूसरोंके गुणोंमें दोषदृष्टि न करना, आत्मज्ञान और प्रसन्नता आदि गुणोंसे युक्त एक ब्राह्मणश्रेष्ठकी बड़ी भार्यासे उन्हींके समान विद्या, शील, आचार तथा रूप और उदारता आदि गुणोंवाले नौ सहोदर पुत्र उत्पन्न हुए तथा उनकी छोटी पत्नीसे एक ही साथ एक पुत्र और एक कन्याका जन्म हुआ ॥ १ ॥ उनमें जो पुत्र था वह मृगशरीरको त्यागकर चरमशरीरसे* ब्राह्मणत्वको प्राप्त हुए परम भगवद्भक्त राजर्षिश्रेष्ठ भरतजी ही थे—ऐसा कहते हैं ॥ २ ॥ उस ब्राह्मणकुलमें जन्म लेकर भी भगवान्‌की कृपासे अपने पूर्वजन्मका वृत्तान्त स्मरण रहनेके कारण भरतजी इस आशंकासे कि कहीं स्वजनोंके सहवाससे भगवद्भक्तिमें विघ्न न पड़ जाय उनसे सदा दूर रह, अति विरक्त होकर, जिनका श्रवण, स्मरण और गुणकीर्तन सम्पूर्ण विघ्नोंको दूर करनेवाला है उन श्रीहरिके चरणकमलयुगलोंको हृदयमें धारणकर विचरने लगे। उस समय वे अपनेको लोगोंकी दृष्टिमें उन्मत्त, पागल, अन्धे और बहरेके रूपमें प्रकट कर रहे थे ॥ ३ ॥

१. प्रा० पा०—पञ्चमे स्कन्धे आदिभरतचरितेऽष्ट०। २. प्रा० पा०—शुक उवाच। ३. प्राचीन प्रतिमें 'भृशमुद्विजमानो' यह पाठ छूट गया है। ४. प्रा० पा०—मत्तजडबधिरस्वरूपेण।

* जिस शरीरसे आवागमनके चक्रसे छूटकर मोक्ष प्राप्त किया जाता है उसे 'चरमशरीर' कहते हैं।

तस्यापि ह वा आत्मजस्य[1] विप्रः पुत्रस्नेहानुबद्धमना आसमावर्तनात्संस्कारान्यथोपदेशं विदधान उपनीतस्य च पुनः शौचाचमनादीन्कर्मनियमाननभिप्रेतानपि समशिक्षयदनुशिष्टेन हि भाव्यं पितुः पुत्रेणेति ॥ ४ ॥ स चापि तदुह पितृसंनिधावेवासभ्रीचीनमिव स्म करोति छन्दांस्यध्यापयिष्यन्सह व्याहृतिभिः सप्रणवशिरस्त्रिपदीं सावित्रीं ग्रैष्मवासन्तिकान्[2]मासानधीयानमप्यसमवेतरूपं ग्राहयामास ॥ ५ ॥

उस द्विजश्रेष्ठने पुत्रस्नेहसे आसक्तचित्त हो उस अपने उन्मत्त पुत्रके भी समावर्तनपर्यन्त सम्पूर्ण संस्कार शास्त्रविधिसे करनेका विचार करके उसका उपनयन-संस्कार किया उसके बाद 'पुत्र पितासे उपदेश ग्रहण करे' इस शास्त्रज्ञानुसार उसे अपेक्षा न रहते हुए भी शौच, आचमन आदि कर्मों और नियमोंकी शिक्षा दी ॥ ४ ॥ भरतजी भी अपने पिताके सामने ही उन के उपदेशके विरुद्ध आचरण करने लगे। उनके पिताने [श्रावणमासमें] उन्हें वेदाध्ययन करानेकी इच्छासे वसन्त और ग्रीष्मऋतुके [चैत्र, वैशाख, ज्येष्ठ और आषाढ़] इन चार महीनोंमें व्याहृति, प्रणव और शिरोमन्त्रके सहित त्रिपदा गायत्रीका निरन्तर अध्ययन कराते हुए भी उन्हें वह मन्त्र स्वरादिके सहित न सिखा सके ॥ ५ ॥

एवं स्वतनुज आत्मन्यनुरागावेशितचित्तः शौचाध्ययनव्रतनियमगुर्वनलशुश्रूषणाद्यौपकुर्वाणककर्माण्यनभियुक्तान्यपि समनुशिष्टेन भाव्यमित्यसदाग्रहः पुत्रमनुशास्य स्वयं तावदनधिगतमनोरथः कालेनाप्रमत्तेन स्वयं गृह एव[3] प्रमत्त उपसंहृतः ॥ ६ ॥ अथ यवीयसी द्विजसती स्वगर्भजातं मिथुनं सपत्न्या उपन्यस्य स्वयमनुसंस्थया पतिलोकमगात् ॥ ७ ॥

इस प्रकार अपने पुत्रमें आत्माके समान प्रेम रखनेवाला वह ब्राह्मण भरतजीकी प्रवृत्ति न होनेपर भी उन्हें शौच, वेदाध्ययन, व्रत, नियम तथा गुरु और अग्निकी सेवा आदि ब्रह्मचर्य आश्रमके आवश्यक नियम 'पुत्रको भली प्रकार उपदेश करना चाहिये' इस दुराग्रहसे ही सिखाता रहा; किन्तु [पुत्रको सुशिक्षित देखनेका] अपना मनोरथ पूर्ण होनेसे पहले ही जब कि वह घरके धन्धोंमें आसक्त रहकर भगवत्सेवारूप अपने मुख्य कर्तव्यसे असावधान था कभी न चूकनेवाले कालने उसे धर दबाया ॥ ६ ॥ तब उसकी छोटी भार्याने अपने गर्भसे उत्पन्न हुए दोनों बालक अपनी सौतको सौंप दिये और स्वयं पतिके साथ प्राण त्यागकर पतिलोकको चली गयी ॥७॥

पितर्युपरते भ्रातर एनमतत्प्रभावविदस्त्रय्यां विद्यायामेव पर्यवसितमतयो न परविद्यायां जडमतिरिति भ्रातुरनुशासननिर्बन्धान्न्यवृत्सन्त[4] ॥ ८ ॥ स च प्राकृतैर्द्विपदपशुभिरुन्मत्तजडबधिरेत्यभिभाष्य-

पिताके परलोक सिधारनेपर भरतजीके भाइयोंने, जिनकी केवल कर्मकाण्डरूप अपरविद्यामें ही अलंबुद्धि थी और जो ब्रह्मज्ञानरूप परविद्यासे सर्वथा अनभिज्ञ थे, भरतजीका प्रभाव न जाननेके कारण 'यह मूर्ख है' ऐसा समझकर, उन्हें पढ़ाने-लिखानेका आग्रह छोड़ दिया ॥८॥ [भरतजीको मानापमानका कोई विचार न था] जब साधारण नरपशु उन्हें

१. प्रा० पा०—आत्मजस्य स विप्रः। २. प्राचीन प्रतिमें 'कान्' यह पाठ खण्डित है। ३. प्रा० पा०—स्वयं गृहे प्रमत्त उप०। ४. प्रा० पा०—निर्बन्धान्न्यवृत्स्यन्त।

माणो यदा तदनुरूपाणि प्रभाषते कर्माणि च स कार्यमाणः परेच्छया करोति विष्टितो वेतनतो वा याच्ञया यदृच्छया वोपासादितमल्पं बहु मिष्टं कदन्नं वाभ्यवहरति परं नेन्द्रियप्रीतिनिमित्तम्। नित्यनिवृत्तनिमित्तस्वसिद्धविशुद्धानुभवानन्दस्वात्मलाभाधिगमः सुखदुःखयोर्द्वन्द्वनिमित्तयोरसंभावितदेहाभिमानः ॥ ९ ॥ शीतोष्णवातवर्षेषु वृष इवानावृताङ्गः पीनः संहननाङ्गः स्थण्डिलसंवेशनानुन्मर्दनामज्जनरजसा महामणिरिवानभिव्यक्तब्रह्मवर्चसः कुपटावृतकटिरुपवीतेनोरुमषिणा द्विजातिरिति ब्रह्मबन्धुरिति संज्ञयातज्ज्ञजनावमतो विचचार ॥ १० ॥ यदा तु परत आहारं कर्म वेतनतः ईहमानः स्वभ्रातृभिरपि केदारकर्मणि निरूपितस्तदपि करोति किन्तु न समविषमन्यूनमधिकमिति वेद कणपिण्याकफलीकरणकुल्माषस्थालीपुरीषादीन्यप्यमृतवदभ्यवहरति ॥ ११ ॥

अथ कदाचित्कश्चिद्वृषलपतिर्भद्रकाल्यै पुरुषपशुमालभतापत्यकामः ॥ १२ ॥ तस्य

'पागल ! मूर्ख ! अथवा बहरा !' कहकर पुकारते तो वे भी वैसा ही आचरण करने लगते। मनुष्य बेगारमें अथवा कुछ मजदूरी देकर उनसे जो कार्य कराना चाहते वह उनकी इच्छानुसार कर देते। बिना माँगे अपने-आप ही अथवा माँगनेसे जो थोड़ा-बहुत अच्छा या बुरा अन्न मिल जाता उसीको रसनेन्द्रियका स्वाद न देखते हुए शरीर-निर्वाहके लिये खा लेते, क्योंकि उन्हें, जिसकी उत्पत्तिका कोई अन्य कारण नहीं है वह स्वतःसिद्ध विशुद्ध ज्ञानानन्दरूप आत्मज्ञान प्राप्त हो गया था; अतः हर्ष-शोकादि द्वन्द्वके निमित्तरूप सुख-दुःखादिमें उन्हें देहाभिमानकी स्फूर्ति नहीं होती थी ॥ ९ ॥ वे शीत, ग्रीष्म, वर्षा अथवा आँधीके समय साँडके समान नग्न रहते थे, उनके सम्पूर्ण अंग स्थूल और पुष्ट थे, उनका ब्रह्मतेज पृथिवीपर लोटने, उबटन न मलने और स्नान न करनेके कारण शरीरपर धूलि जम जानेसे धूलिसे ढँके हुए महामूल्य मणिके समान छिपा हुआ था। उनकी कमरमें एक मैला-कुचैला वस्त्र और अति मलिन यज्ञोपवीत पड़ा हुआ था। इसलिये अज्ञानी लोग उन्हें 'यह कोई द्विज है' 'कोई अधम ब्राह्मण है' ऐसा कहकर अपमान करते और वे [उसका कुछ भी विचार न कर] स्वच्छन्द विचरते रहते ॥१०॥ जब दूसरोंकी मजूरी करके पेट पालते देख उन्हें उनके भाइयोंने खेतकी क्यारियाँ ठीक करनेके धन्धेमें लगा दिया तो वे उस कार्यको भी करने लगे; किन्तु उन्हें इस बातका कुछ भी ध्यान न रहता था कि उन क्यारियोंकी भूमि समान है या ऊँची-नीची अथवा वह छोटी है या बड़ी। उनके भाई उन्हें चावलके कण, खल, भूसी, घुने हुए उड़द अथवा पात्रमें लगी हुई अन्नकी जलन आदि जो कुछ वस्तु देते उसीको वे अमृतके समान खा लेते ॥११॥

किसी समय एक शूद्रोंके राजाने पुत्रकी कामनासे भद्रकालीको मनुष्यकी बलि देनेका निश्चय किया ॥१२॥

१. प्रा० पा०—नित्यवृत्तिनिमित्त०। २. प्रा० पा०—इवापावृताङ्गः। ३. प्रा० पा०—बन्धुरितिसंज्ञोऽतज्ज्ञज०। ४. प्रा० पा०—वेतन ईहमानः। ५. प्राचीन प्रतिमें 'र्म' यह अंश खण्डित है। ६. प्रा० पा०—भद्रकाल्यै पशुमालभता।

ह दैवमुक्तस्य पशोः पदवीं तदनुचराः परिधावन्तो निशि निशीथसमये तमसावृतायामनधिगतपशव आकस्मिकेन विधिना केदारान्वीरासनेन मृगवराहादिभ्यः संरक्षमाणमङ्गिरःप्रवरसुतमपश्यन् ।१३। अथ त एनमनवद्यलक्षणमवमृश्य भर्तृकर्मनिष्पत्तिं मन्यमाना बद्ध्वा रशनया चण्डिकागृहमुपनिन्युर्मुदा विकसितवदनाः ॥ १४ ॥

उसने जो पुरुषपशु बलि देनेके लिये मँगाया था वह दैववश उसके फंदेसे निकलकर भाग गया। उसे ढूँढ़नेके लिये उसके अनुचरगण चारों ओर गये किन्तु अर्धरात्रिकी अँधियारी झुक जानेके कारण उन्हें उसका कहीं पता न लगा। इसी समय दैवयोगसे अकस्मात् उन्हें अंगिरस्गोत्रीय ब्राह्मणकुमार जडभरतजी दिखायी दिये जो वीरासनसे बैठे हुए अपने खेतोंकी मृग-वराह आदि जीवोंसे रक्षा कर रहे थे ॥१३॥ तब यह जानकर कि यह पुरुषपशु उत्तम लक्षणोंसे युक्त है और इसके द्वारा हमारे स्वामीका कार्य अवश्य सिद्ध हो जायगा, उन्हें रस्सियोंसे बाँध प्रसन्नवदनसे चण्डिकाके मन्दिरमें ले आये ॥१४॥

अथ पणयस्तं स्वविधिनाभिषिच्याहतेन वाससाच्छाद्य भूषणालेपस्रक्तिलकादिभिरुपस्कृतं भुक्तवन्तं धूपदीपमाल्यलाजकिसलयाङ्कुरफलोपहारोपेतया वैशससंस्थया महता गीतस्तुतिमृदङ्गपणवघोषेण च पुरुषपशुं भद्रकाल्याः पुरत उपवेशयामासुः ॥ १५ ॥ अथ वृषलराजपणिः पुरुषपशोरसृगासवेन देवीं भद्रकालीं यक्ष्यमाणस्तदभिमन्त्रितमसिमतिकरालनिशितमुपापदे ॥ १६ ॥

तदनन्तर, उन दस्युओंने उन्हें विधिपूर्वक स्नान कराकर कोरे वस्त्र पहनाये तथा नाना प्रकारके आभूषण, चन्दन, माला और तिलकादिसे विभूषित कर भली प्रकार भोजन कराया। फिर धूप, दीप, माला, खील, पत्ते, अंकुर, फल और नैवेद्य आदि सामग्रीके सहित बलिकी विधिसे गान, स्तुति, मृदङ्ग और पणवादिका महान् घोष करते हुए उस पुरुषपशुको भद्रकालीके सामने बिठाया ॥१५॥ तब दस्युराजके लुटेरे पुरोहितने उस पुरुषपशुके रुधिरसे देवी भद्रकालीको तृप्त करनेके लिये देवीके मन्त्रोंसे अभिमन्त्रित किया हुआ एक अति कराल खड्ग उठाया ॥१६॥

इति तेषां वृषलानां रजस्तमःप्रकृतीनां धनमदरजउत्सिक्तमनसां भगवत्कलावीरकुलं कदर्थीकृत्योत्पथेन स्वैरं विहरतां हिंसाविहाराणां कर्मातिदारुणं यद्ब्रह्मभूतस्य साक्षाद्ब्रह्मर्षिसुतस्य निर्वैरस्य सर्वभूतसुहृदः सूनायामप्यननुमतमालम्भनं तदुपलभ्य ब्रह्मतेजसातिदुर्विषहेण दन्दह्यमानेन वपुषा सहसोच्चचाट सैव देवी भद्रकाली ॥ १७ ॥ भृशममर्षरोषावेश-

हे राजन्! जिनका स्वभाव रज और तमसे आच्छादित है, जिनका मन धनमदरूप रजोगुणसे उन्मत्त हो रहा है, जो भगवान्के अंशरूप ब्राह्मणकुलको कुछ भी न समझ कुमार्गमें यथेच्छ विहार करते हैं तथा जिनकी हिंसामें अत्यन्त प्रवृत्ति है उन शूद्रोंके हाथसे जिसका वध करना आपत्तिकालमें भी निषिद्ध है ऐसे ब्रह्मभावको प्राप्त हुए वैरहीन तथा सम्पूर्ण प्राणियोंके सुहृद् एक ब्रह्मर्षिकुमारका वधरूप अति भयंकर कुकर्म हो रहा है—यह देखकर उनके असह्य ब्रह्मतेजसे शरीरमें दाह होनेके कारण देवी भद्रकाली सहसा मूर्तिको फोड़कर प्रकट हो गयी ॥१७॥ तब

१. प्राचीन प्रतिमें 'नि' यह अंश खण्डित है। २. प्रा० पा०—संरक्ष्यमाणमङ्गिरः०। ३. प्रा० पा०—माल्यलाजाकिसलया०। ४. प्रा० पा०—घोषेण च तं पुरुष०। ५. प्रा० पा०—मतमालभनं। ६. प्रा० पा०—सहसोत्थाप्य बाढं। ७. प्रा० पा०—नृशंसामर्षरोषावेशसमुत्थभ्रुकुटिविटकुटिल०।

रभसविलसितभ्रुकुटिविटपकुटिलदंष्ट्रारुणेक्षणाटोपातिभयानकवदना हन्तुकामेवेदं[1] महाट्टहासमतिसंरम्भेण[2] विमुञ्चन्ती तत उत्पत्य पापीयसां दुष्टानां[3] तेनैवासिना विवृक्णशीर्ष्णा[4] गलात्स्रवन्तमसृगासवमत्युष्णं सह गणेन निपीयातिपानमदविह्वलोच्चैस्तरां स्वपार्षदैः सह जगौ ननर्त च[5] विजहार च शिरःकन्दुकलीलया ॥ १८ ॥ एवमेवं[6] खलु महदभिचारातिक्रमः कार्त्स्न्येनात्मने[7] फलति ॥ १९ ॥ न वा एतद्विष्णुदत्त[8] महदद्भुतं यदसंभ्रमः स्वशिरश्छेदन[9] आपतितेऽपि विमुक्तदेहाद्यात्मभावसुदृढहृदयग्रन्थीनां[10] सर्वसत्त्वसुहृदात्मनां निर्वैराणां साक्षाद्भगवतानिमिषारिवरायुधेनाप्रमत्तेन तैस्तैर्भावैः[11] परिरक्ष्यमाणानां तत्पादमूलमकुतश्चिद्भयमुपसृतानां[12] भागवतपरमहंसानाम् ॥ २० ॥

अत्यन्त असहनशीलता और क्रोधके कारण चढ़ी हुई भृकुटियों, कराल दाढ़ों और अति चञ्चल लाल-लाल नयनोंके कारण जिसका मुखमण्डल अति भयानक हो गया है वह भद्रकाली मानो इस सम्पूर्ण जगत्का संहार कर डालेगी इस प्रकार अत्यन्त क्रोधसे बड़ा अट्टहास करती हुई उस स्थानसे उछली; और उस अभिमन्त्रित खड्गसे ही उन पापी दुष्टोंका शिर काटकर अपने गणोंके सहित उनके गलोंसे बहता हुआ गर्म-गर्म रुधिररूप मद्य पीकर अति उन्मत्त हो ऊँचे स्वरसे गाती और नाचती हुई उनके शिररूप गेंदोंसे क्रीड़ा करने लगी ॥१८॥ हे राजन् ! इसी प्रकार सत्पुरुषोंके प्रति किया हुआ अभिचार (मन्त्रप्रयोगसे प्राणान्त करना) रूप अपराध ज्यों-का-त्यों अपने ही ऊपर पड़ता है ॥१९॥ हे परीक्षित् ! जिन्होंने देहादिमें आत्मभावरूप सुदृढ़ हृदयग्रन्थिको काट दिया है, जो सम्पूर्ण प्राणियोंके सुहृद् और वैरहीन हैं, जिनकी साक्षात् भगवान् ही भद्रकाली आदि भिन्न-भिन्न रूप धारणकर अपने कभी न चूकनेवाले कालचक्ररूप श्रेष्ठ शस्त्रसे रक्षा करते हैं तथा जो भगवान्के निर्भय चरणोंकी शरणमें प्राप्त हो गये हैं उन भगवद्भक्त परमहंसोंके लिये अपना शिर कटनेका अवसर उपस्थित होनेपर भी किसी प्रकार व्याकुल न होना कोई बड़े आश्चर्यकी बात नहीं है ॥२०॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पञ्चमस्कन्धे
जडभरतचरिते नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

१. प्रा० पा०—हन्तुकामैवेदं। २. प्रा० पा०—महाट्टहाससंरम्भेण। ३. प्रा० पा०—पापीयसां वृषलानां तेनैवासिना। ४. प्रा० पा०—विवृक्तशीर्ष्णा। ५. प्रा० पा०—ननर्त विजहार च। ६. प्रा० पा०—एवं खलु। ७. प्रा० पा०—नात्मनि फलति। ८. प्रा० पा०—एवं विष्णुदत्त। ९. प्रा० पा०—स्वशरीरच्छेदेन। १०. प्रा० पा०—देहाध्यात्मभाव०। ११. प्रा० पा०—तैस्तैर्भावैरभिरक्ष्यमाणानां। १२. प्रा० पा०—मकुतश्चनभयमुप०।

दशवाँ अध्याय

जडभरत और राजा रहूगणकी भेंट।

[1]श्रीशुक उवाच

अथ सिन्धुसौवीरपते[2] रहूगणस्य व्रजत इक्षुमत्यास्तटे तत्कुलपतिना शिबिकावाहपुरुषान्वेषणसमये[3] दैवेनोपसादितः[4] स द्विजवर उपलब्ध एष पीवा[5] युवा संहननाङ्गो गोखरवद्धुरं[6] वोढुमलमिति पूर्वविष्टिगृहीतैः सह गृहीतः प्रसभमतदर्हं[7] उवाह शिबिकां स महानुभावः ॥ १ ॥

यदा हि द्विजवरस्येषुमात्रावलोकानुगतेर्न समाहिता पुरुषगतिस्तदा विषमगतां स्वशिबिकां रहूगण उपधार्य पुरुषानधिवहत आह हे वोढारः साध्वतिक्रमत किमिति विषममुह्यते यानमिति ॥ २ ॥

अथ तं[8] ईश्वरवचः सोपालम्भमुपाकर्ण्योपायतुरीयाच्छङ्कितमनसस्तं विज्ञापयांबभूवुः ॥ ३ ॥ न वयं नरदेव प्रमत्ता भवन्नियमानुपथाः साध्वेव वहामः । अयमधुनैव नियुक्तोऽपि न द्रुतं व्रजति

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! एक बार सिन्धु-सौवीर देशका स्वामी राजा रहूगण [पालकीपर चढ़ा हुआ] जा रहा था। जब वह इक्षुमती नदीके तीरपर पहुँचा तो उसकी पालकी उठानेवाले कहारोंके जमादारको एक कहारकी आवश्यकता पड़ी। ढूँढ़ते-ढूँढ़ते उसे दैववश द्विजश्रेष्ठ जडभरतजी मिले। उन्हें देखकर उसने सोचा—'यह मनुष्य पुष्ट तरुण और गठीले अङ्गोंवाला है इसलिये बैल या गधेके समान बोझा ढोनेमें सर्वथा समर्थ है।' ऐसा सोचकर उसने पहले बेगारमें पकड़े हुए कहारोंके साथ उन्हें भी बलात्कारसे पकड़कर पालकीमें जोड़ दिया। तब महानुभाव भरतजी इस कार्यके सर्वथा अयोग्य होनेपर भी बिना कुछ कहे पालकी ले चले ॥ १ ॥

वे द्विजश्रेष्ठ, कोई जीव पैरोंतले दबकर न मर जाय—इस आशंकासे आगे एक बाण पृथिवी देखकर चलते थे। इसलिये दूसरे कहारोंके साथ उनकी गतिका मेल न होनेसे जब पालकी टेढ़ी-सूधी होने लगी तो यह देखकर राजा रहूगणने पालकी उठानेवालोंसे कहा—"अरे कहारो ! अच्छी तरहसे चलो, पालकीको इस प्रकार ऊँची-नीची करके क्यों चलते हो ?" ॥२॥

तब अपने स्वामीका इस प्रकार आक्षेपपूर्ण वचन सुन [साम, दान, भेद और दण्ड इन चार उपायोंमेंसे] चौथे उपाय—दण्डकी आशंकासे भयभीत होकर वे उनसे इस प्रकार कहने लगे—॥ ३ ॥ "महाराज ! हमलोग असावधान नहीं हैं, हम तो आपकी आज्ञानुसार ठीक-ठीक ही पालकीको ले जा रहे हैं। किन्तु यह एक नया कहार अभी-अभी पालकीमें लगाया गया है फिर भी यह शीघ्रतासे

१. प्रा० पा०—शुक उवाच। २. प्रा० पा०—अथ सिन्धुपते रहूगणस्य। ३. प्रा० पा०—शिबिकावाहक०। ४. प्रा० पा०—पुरुषान्वेषसमये। ५. प्रा० पा०—एष यावान् संहननाङ्गो। ६. प्रा० पा०—गोखुरधुरं। ७. प्रा० पा०—मतदर्हण०। ८. प्रा० पा०—अथ ईश्वरवचः।

नानेन सह वोढुमुह वयं पारयाम इति ॥ ४ ॥

सांसर्गिको दोष एव नूनमेकस्यापि सर्वेषां सांसर्गिकाणां भवितुमर्हतीति निश्चित्य निशम्य कृपणवचो राजा रहूगण उपासितवृद्धोऽपि निसर्गेण बलात्कृत ईषदुत्थितमन्युरविस्पष्टब्रह्मतेजसं जातवेदसमिव रजसावृतमतिराह ॥ ५ ॥ अहो कष्टं भ्रातर्व्यक्तमुरुपरिश्रान्तो दीर्घमध्वानमेक एव ऊहिवान्सुचिरं नातिपीवा न संहननाङ्गो जरसा चोपद्रुतो भवान्सखे नो एवापर एते संघट्टिन इति बहुविप्रलब्धोऽप्यविद्यया विहितद्रव्यगुणकर्माशयस्वचरमकलेवरे वस्तुनि संस्थानविशेषेऽहं ममेत्यनध्यारोपितमिथ्याप्रत्ययो ब्रह्मभूतस्तूष्णीं शिबिकां पूर्ववदुवाह ॥ ६ ॥

अथ पुनः स्वशिबिकायां विषमगतायां प्रकुपित उवाच रहूगणः किमिदमरे त्वं जीवन्मृतो मां कदर्थीकृत्य भर्तृशासनमतिचरसि प्रमत्तस्य च ते करोमि चिकित्सां दण्डपाणिरिव जनताया यथा प्रकृतिं स्वां भजिष्यस इति ॥ ७ ॥

नहीं चलता। हमलोग इसके साथ पालकी नहीं ले जा सकते'' ॥४॥

उन दीन कहारोंके ये वचन सुनकर राजा रहूगणने सोचा कि 'संसर्गसे होनेवाला दोष एक व्यक्तिमें ही होनेपर भी उससे सम्बन्ध रखनेवाले समस्त पुरुषोंमें हो सकता है।' अतः गुरुजनोंका सेवक होनेपर भी अपने क्षत्रिय-स्वभाववश उसे बलात्कारसे कुछ क्रोध हो आया—उसकी बुद्धि रजोगुणसे व्याप्त हो गयी और वह, जिनका ब्रह्मतेज भस्मसे ढके हुए अग्निके समान अस्पष्ट था उन द्विजश्रेष्ठ भरतजीसे इस प्रकार कहने लगा ॥५॥ ''अरे भाई! बड़े दुःखकी बात है, तू अवश्य ही बहुत थक गया होगा। इतनी दूरसे तू अकेला ही बड़ी देरसे इस पालकीको ला रहा है। साथ ही तू बहुत मोटा-ताजा और हृष्ट-पुष्ट भी नहीं है। हे मित्र! बुढ़ापेने भी तुझे दबा रक्खा है। मालूम होता है तेरे इन साथियोंने तो अभी पालकीसे हाथ भी नहीं लगाया'' इस प्रकार राजाके बहुत कुछ उलाहना देनेपर भी वे पहलेहीके समान चुपचाप पालकी उठाते रहे; क्योंकि वास्तवमें बिना हुए ही भिन्न-भिन्न अङ्गोंसे युक्त दिखायी देनेवाले अविद्याके कार्य पञ्चभूत इन्द्रिय और अन्तःकरणके संघातरूप अपने अन्तिम शरीरमें उन्हें 'मैं-मेरेपनका' मिथ्या अध्यास नहीं रहा था ॥६॥

राजा रहूगणने जब उस पालकीको फिर पहलेहीके समान विषम गतिसे जाते देखा तो उसने अति क्रोधित होकर कहा—''अरे! यह क्या है? क्या तू जीते-जी अपनी मृत्यु बुलाना चाहता है? जो इस प्रकार अवज्ञापूर्वक मुझ अपने स्वामीकी आज्ञाका उल्लंघन करता है। तू बड़ा उन्मत्त हो रहा है, मैं दण्डपाणि यमराजके समान अभी तेरी चिकित्सा करता हूँ जिससे तू फिर होशमें आ जायगा'' ॥७॥

१. प्रा० पा०—सह वोढुं वयं पारयाम। २. प्रा० पा०—संसर्गिणां। ३. प्रा० पा०—भवितुमर्हतीति निशम्य। ४. प्राचीन प्रतिमें 'नमेक एव' इतना अंश खण्डित है। ५. प्रा० पा०—जरसा द्रुतो भवान् सुखिनो ये वापर। ६. प्रा० पा०—गुणकर्मातिशय०। ७. प्रा० पा०—चिकित्सां तव दण्डपाणिरिव।

एवं बह्वबद्धमपि[1] भाषमाणं नरदेवाभिमानं रजसा तमसानुविद्धेन[2] मदेन तिरस्कृताशेषभगवत्प्रियनिकेतं पण्डितमानिनं स भगवान् ब्राह्मणो ब्रह्मभूतः सर्वभूतसुहृदात्मा योगेश्वरचर्यायां नातिव्युत्पन्नमतिं स्मयमान इव विगतस्मय इदमाह ॥ ८ ॥

ब्राह्मण उवाच

त्वयोदितं व्यक्तमविप्रलब्धं
भर्तुः स मे स्याद्यदि वीर भारः ।
गन्तुर्यदि स्यादधिगम्यमध्वा
पीवेति राशौ न विदां प्रवादः ॥ ९ ॥

स्थौल्यं कार्श्यं व्याधय आधयश्च[3]
क्षुत्तृड् भयं कलिरिच्छा जरा च ।
निद्रा रतिर्मन्युरहंमदः शुचो
देहेन जातस्य हि मे न सन्ति ॥१०॥

जीवन्मृतत्वं नियमेन राज-
न्नाद्यन्तवद्यद्विकृतस्य दृष्टम् ।
स्वस्वाम्यभावो ध्रुव ईड्य यत्र
तर्ह्युच्यतेऽसौ विधिकृत्ययोगः ॥११॥

विशेषबुद्धेर्विवरं मनाक् च
पश्याम यन्न व्यवहारतोऽन्यत् ।
क ईश्वरस्तत्र किमीशितव्यं
तथापि राजन्करवाम किं ते ॥१२॥

तब, अपनेको राजा मानकर इस प्रकार अनापशनाप बोलनेवाले, रज-तमयुक्त अभिमानके वशीभूत होकर भगवान्‌के एकमात्र प्रिय आश्रय (भक्तजनों) का तिरस्कार करनेवाले, तथा भगवान्‌के भक्तोंका आचरण जाननेमें बहुत कुशल न होनेपर भी अपनेको बड़ा पण्डित माननेवाले राजा रहूगणसे सम्पूर्ण प्राणियोंके सुहृद् और आत्मा तथा ब्रह्मस्वरूपसे एकत्वको प्राप्त हुए उन विप्रवरने किसी प्रकारका क्रोध न कर मुसकाते हुए इस प्रकार कहा ॥८॥

ब्राह्मणदेवता बोले—हे राजन् ! तुम्हारा कथन ठीक है, मैं इसे उलाहना नहीं मानता; क्योंकि यदि बोझ ढोनेवाला और मार्गमें जानेवाला शरीर ही मैं होता तो मुझे भारका क्लेश अथवा मार्गका श्राम होता इसके सिवा तुम्हारा यह कहना भी ठीक ही है कि 'तू बहुत मोटा-ताजा भी नहीं है' क्योंकि मोटा-ताजा आदि धर्म शरीरके ही हैं, आत्माके नहीं—ऐसा ही ज्ञानियोंका कथन है ॥९॥ स्थूलता, कृशता, आधि-व्याधि, क्षुधा, तृषा, भय, कलह, इच्छा, जरा, निद्रा, प्रेम, क्रोध, अभिमान और शोक—ये सब धर्म देहाभिमानके साथ उत्पन्न होनेवाले व्यक्तिमें ही रहते हैं, मुझमें तो इनका लेश भी नहीं है ॥१०॥ हे राजन् ! तुमने जो जीने-मरनेकी बात कही सो जितने भी आदि-अन्तयुक्त विकारी पदार्थ हैं उन सभीमें नियमितरूपसे ये दोनों बातें देखी जाती हैं । और हे स्तुत्य ! जहाँ स्वामी-सेवकभाव निश्चित हो वहीं आज्ञापालनादिका नियम भी लागू हो सकता है [मुझ आत्माके साथ किसीका भी स्वामी-सेवक सम्बन्ध युक्तियुक्त नहीं हो सकता] ॥११॥ 'तुम राजा हो और मैं प्रजा हूँ' इस प्रकारकी भेद-बुद्धिके लिये व्यवहारको छोड़कर और कहीं कुछ भी अवकाश नहीं दिखायी देता । पारमार्थिक दृष्टिसे देखा जाय तो किसको स्वामी कहें और किसको सेवक ? फिर भी हे राजन् ! यदि तुम्हें स्वामित्वका अभिमान है तो कहो, हम तुम्हारी क्या सेवा करें ? ॥१२॥

१. प्रा० पा०—मभिभाषमाणं । २. प्रा० पा०—तमसानुवृद्धेन । ३. प्राचीन प्रतिमें 'आधयश्च' इतना पाठ छूट गया है ।

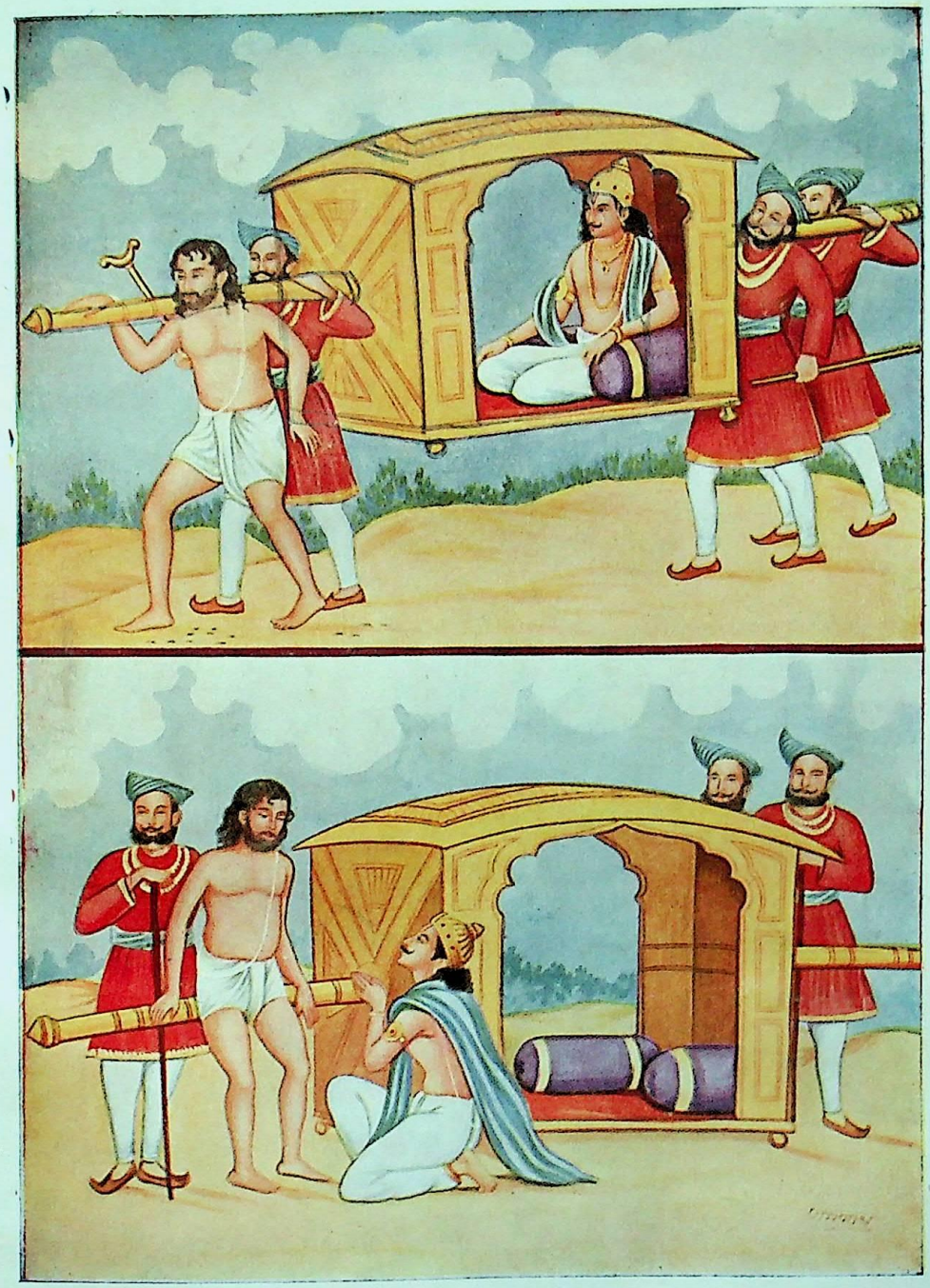

जडभरत और राजा रहूगण

[पृष्ठ ५८२

उन्मत्तमत्तजडवत्स्वसंस्थां[1]
गतस्य मे वीर चिकित्सितेन ।
अर्थः[2] कियान्भवता शिक्षितेन
स्तब्धप्रमत्तस्य च पिष्टपेषः ॥१३॥

हे वीर ! मुझ मत्त, उन्मत्त और जडके समान अपनी ही स्थितिमें रहनेवालेको दण्ड देनेसे तुम्हारा क्या अर्थ सिद्ध होगा ? और यदि मैं वास्तवमें मूर्ख और प्रमादी ही हूँ तो भी तुम्हारा शिक्षा देना पिसे हुएको पीसनेके समान निरर्थक ही है ॥१३॥

श्रीशुक उवाच[3]

एतावदनुवादपरिभाषया प्रत्युदीर्य मुनिवर[4] उपशमशील उपरतानात्म्यनिमित्त उपभोगेन[5] कर्मारब्धं व्यपनयन् राजयानमपि तथोवाह ॥१४॥ स चापि पाण्डवेय सिन्धुसौवीरपतिस्तत्त्वजिज्ञासायां सम्यक्च्छ्रद्धयाधिकृताधिकारस्तद्धृदयग्रन्थिमोचनं द्विजवच आश्रुत्य बहुयोगग्रन्थसंमतं त्वरयावरुह्य शिरसा पादमूलमुपसृतः क्षमापयन्विगतनृपदेवस्मय उवाच ॥१५॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! जिनके देहाभिमानका कारण (अज्ञान) निवृत्त हो गया था वे शान्तचित्त मुनिवर जडभरतजी राजा रहूगणके कथनका अनुवाद करते हुए इस प्रकार उत्तर दे, भोगद्वारा अपना प्रारब्ध क्षय करनेके लिये फिर उसकी पालकीको पहलेहीके समान ढोने लगे ॥१४॥ हे पाण्डुनन्दन ! सिन्धु-सौवीरनरेश राजा रहूगण भी अपनी उत्तम श्रद्धाके कारण तत्त्वजिज्ञासाका पूरा-पूरा अधिकारी था । वह उन द्विजश्रेष्ठका इस प्रकार अनेकों योगग्रन्थोंका अभिमत तथा हृदयकी ग्रन्थिका छेदन करनेवाला कथन सुनते ही तत्काल पालकीसे उतर पड़ा और राजमदसे रहित हो उनके चरणोंपर शिर रखकर अपराध क्षमा कराते हुए इस प्रकार कहने लगा ॥१५॥

कस्त्वं निगूढश्चरसि द्विजानां
बिभर्षि सूत्रं कतमोऽवधूतः ।
कस्यासि कुत्रत्य इहापि कस्मा-
त्क्षेमाय नश्चेदसि नोत[6] शुक्लः ॥१६॥

"हे देव ! आपने द्विजोंका चिह्न यज्ञोपवीत धारण कर रखा है सो इस प्रकार प्रच्छन्नभावसे विचरनेवाले आप कौन हैं ? क्या आप दत्तात्रेय आदि अवधूतोंमेंसे ही कोई हैं ? आप किसके पुत्र हैं, कहाँ आपका जन्मस्थान है और यहाँ कहाँसे पधारे हैं ? क्या हमारे कल्याणके लिये यहाँ आये हुए आप साक्षात् सत्त्वमूर्ति भगवान् कपिलजी ही हैं ? ॥१६॥

नाहं विशङ्के सुरराजवज्रा-
न्न त्र्यक्षशूलान्न यमस्य दण्डात् ।
नाग्न्यर्कसोमानिलवित्तपास्त्रा-
च्छङ्के भृशं ब्रह्मकुलावमानात् ॥१७॥

मुझे इन्द्रके वज्र, महादेवजीके त्रिशूल, यमराजके दण्ड तथा अग्नि, सूर्य, चन्द्र, वायु और कुबेरके शस्त्रोंका कुछ भी भय नहीं है । किन्तु ब्राह्मणकुलका अपमान हो जानेसे मैं बहुत डरता हूँ ॥१७॥

तद्ब्रूह्यसङ्गो जडवन्निगूढ-

अतः बतलाइये—इस प्रकार गम्भीर विज्ञानवीर्यसे सम्पन्न हो अपनी अपार महिमाको

१. प्रा० पा०—जडवत्स्वस्वसंस्थां । २. प्रा० पा०—अथ कियान्भवता । ३. प्रा० पा०—शुक उवाच । ४. प्रा० पा०—स मुनिवरः । ५. प्रा० पा०—निमित्तमुपभोगेन । ६. प्रा० पा०—नोऽत्र० ।

विज्ञानवीर्यो विचरस्यपारः[1] ।
वचांसि योगग्रथितानि साधो
न नः क्षमन्ते मनसापि भेत्तुम् ॥१८॥
अहं च योगेश्वरमात्मतत्त्व-
विदां मुनीनां परमं गुरुं वै ।
प्रष्टुं प्रवृत्तः किमिहारणं तत्
साक्षाद्धरिं ज्ञानकलावतीर्णम् ॥१९॥
स[2] वै भवाँल्लोकनिरीक्षणार्थ-
मव्यक्तलिङ्गो विचरत्यपि स्वित् ।
योगेश्वराणां गतिमन्दबुद्धिः
कथं विचक्षीत गृहानुबन्धः ॥२०॥
दृष्टः श्रमः कर्मत आत्मनो वै
भर्तुर्गन्तुर्भवतश्चानुमन्ये[3] ।
यथासतोदानयनाद्यभावा-
त्समूल इष्टो व्यवहारमार्गः ॥२१॥
स्थाल्यग्नितापात्पयसोऽभिताप-
स्तत्तापतस्तण्डुलगर्भरन्धिः ।
देहेन्द्रियास्वाशयसन्निकर्षा-
त्तत्संसृतिः पुरुषस्यानुरोधात् ॥२२॥
शास्ताभिगोप्ता नृपतिः प्रजानां
यः किङ्करो वै न पिनष्टि पिष्टम् ।

छिपाकर असंगभावसे मूर्खोंके समान विचरनेवाले आप कौन हैं? हे साधो! आपके योगयुक्त वाक्योंको समझनेमें तो हमारे चित्तकी तनिक भी गति नहीं है ॥१८॥ मैं तो आत्मतत्त्वके जाननेवाले मुनीश्वरोंके परमगुरु और साक्षात् श्रीहरिके अंशसे प्रकट हुए योगेश्वर भगवान् कपिलसे यह पूछनेके लिये कि 'संसारमें एकमात्र शरण लेनेयोग्य कौन है?' उनके आश्रमको जा रहा था ॥१९॥ सो, क्या आप वे कपिलमुनि ही सम्पूर्ण लोकोंकी दशा देखनेके लिये अपना रूप छिपाकर इस प्रकार विचर रहे हैं? भला घरमें आसक्त रहनेवाला विवेकहीन पुरुष योगीश्वरोंकी गतिको कैसे जान सकता है?'' ॥२०॥

[इस प्रकार भरतजीका परिचय पूछ राजा रहूगणने उनके कथनमें शंका करते हुए कहा—] ''मैंने युद्धादि कार्योंसे अपनेको श्रम होते देखा है इसलिये मैं अनुमान करता हूँ कि बोझा ढोने और मार्गमें चलनेसे आपको भी अवश्य होता होगा। अतः आपका यह कथन कि 'मुझे किसी प्रकारका श्रम नहीं होता' मेरी समझमें नहीं आता। इसके सिवा आपने जो कहा कि हमारा-तुम्हारा स्वामी-सेवक-भाव केवल व्यवहारमात्र ही है वास्तवमें नहीं सो व्यवहारमार्ग भी अपने मूलकारण-सहित सत्य ही माना जाता है; नहीं तो असत् घटसे जल लाना आदि कार्य कैसे हो सकते हैं? ॥२१॥ जिस प्रकार चूल्हेपर रखी हुई बटलोहीके अग्निसे गर्म होनेपर उसका जल खौलने लगता है और फिर उस जलसे चावलका भीतरी भाग भी सीज जाता है उसी प्रकार देह, इन्द्रिय और मनकी सन्निधिसे जीवको विषयोंका अनुभव होता है ॥२२॥ प्रजाका राजा तो वास्तवमें प्रजाका शासन और पालन करनेके लिये नियुक्त किया हुआ उनका दास ही है; अतः उसका उन्मत्तादिको दण्ड देना भी पिसे हुएको पीसनेके समान व्यर्थ नहीं है; क्योंकि अपने

१. प्राचीन प्रतिमें 'विचरस्यपारः·····'से आरम्भकर 'साक्षाद्धरिं' यहाँतकका अंश खण्डित है। २. प्राचीन प्रतिमें 'स वै' यह पाठ छूट गया है। ३. प्रा० पा०—भर्तुर्गुरोर्भवत०।

स्वधर्ममाराधनमच्युतस्य
यदीहमानो विजहात्यघौघम् ॥२३॥
तन्मे भवान्नरदेवाभिमान-
मदेन तुच्छीकृतसत्तमस्य ।
कृषीष्ट मैत्रीदृशमार्तबन्धो
यथा तरे सदवध्यानमंहः ॥२४॥
न विक्रिया विश्वसुहृत्सखस्य
साम्येन वीताभिमतेस्तवापि ।
महद्विमानात्स्वकृताद्धि[1] माद्दङ्-
नङ्क्ष्यत्यदूरादपि शूलपाणिः ॥२५॥

धर्मका आचरण करना ही भगवान्‌की सेवा है उसे करनेवाला अपनी सम्पूर्ण पापराशिको नष्ट कर देता है ॥२३॥ [इतना कहकर राजा रहूगण इस प्रकार क्षमा माँगने लगे] हे दीनबन्धो ! राजत्वके अभिमानसे उन्मत्त होकर मैंने आप-जैसे साधुश्रेष्ठकी अवज्ञा की है । अतः आप ऐसी कृपादृष्टि कीजिये जिससे इस साधु-अवज्ञारूप अपराधसे मैं मुक्त हो जाऊँ ॥२४॥ समदृष्टिके कारण देहाभिमानसे रहित हुए आप जगत्‌हितकारी और विश्वबन्धुको यद्यपि ऐसे मानापमानसे किसी प्रकारका विकार नहीं हो सकता, तो भी अपने किये हुए महापुरुषोंके अपमान-से मेरे-जैसा मनुष्य साक्षात् भगवान् शंकरके समान समर्थ होनेपर भी अवश्य नष्ट हो जायगा ॥२५॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पञ्चमस्कन्धे दशमोऽध्यायः[2] ॥ १० ॥

ग्यारहवाँ अध्याय

राजा रहूगणको भरतजीका उपदेश ।

ब्राह्मण उवाच

अकोविदः कोविदवादवादा-
न्वदस्यथो नार्तविदां[3] वरिष्ठः ।
न सूरयो हि व्यवहारमेनं[4]
तत्त्वावमर्शेन सहामनन्ति ॥ १ ॥
तथैव राजन्नुरुगार्हमेध-
वितानविद्योरुविजृम्भितेषु ।
न वेदवादेषु हि तत्त्ववादः
प्रायेण शुद्धो नु चकास्ति साधुः ॥ २ ॥
न तस्य तत्त्वग्रहणाय साक्षा-
द्वरीयसीरपि[5] वाचः समासन् ।
स्वप्ने निरुक्त्या गृहमेधिसौख्यं
न यस्य हेयानुमितं स्वयं स्यात् ॥ ३ ॥
यावन्मनो रजसा पूरुषस्य

ब्राह्मणने कहा—हे राजन् ! तुम अविद्वान् होकर भी आत्मतत्त्वके जाननेवाले ज्ञानियोंकी-सी बातें करते हो । इससे तुम तत्त्वज्ञोंके समाजमें श्रेष्ठ नहीं माने जा सकते । क्योंकि विचारवान् पुरुष तत्त्वविचार करते समय तुम्हारे प्रतिपादन किये हुए इस व्यवहारका समर्थन नहीं करते ॥१॥ हे राजन् ! इसी प्रकार गृहस्थोचित यज्ञविस्तारकी विधि बताने-वाले विस्तृत वेदवाक्योंमें भी रागादि दोषोंसे रहित विशुद्ध तत्त्वविज्ञानकी अभिव्यक्ति प्रायः नहीं हुई है ॥२॥ तथा जिसे गृहस्थोचित यज्ञादिकर्मोंसे प्राप्त होनेवाला स्वर्गादिसुख स्वप्नसुखके समान त्याज्य नहीं मालूम होता उसे तत्त्वज्ञान करानेमें साक्षात् उपनिषद्वाक्य भी समर्थ नहीं हैं ॥ ३ ॥ जबतक मनुष्यका चित्त सत्त्वगुण, रजोगुण अथवा तमोगुणसे

१. प्रा० पा०—द्विमानात्सुकृताद्धि । २. प्रा० पा०—जडचरिते दशमो० । ३. प्रा० पा०—नात्मविदां वरिष्ठः । ४. प्रा० पा०—व्यवहारमेतं । ५. प्रा० पा०—साक्षाद्गरीयसीरपि ।

सत्त्वेन वा तमसा वानुरुद्धम् ।
चेतोभिराकूतिभिरातनोति
निरङ्कुशं कुशलं चेतरं वा ॥ ४ ॥
स वासनात्मा विषयोपरक्तो
गुणप्रवाहो विकृतः षोडशात्मा ।
बिभ्रत्पृथङ्नामभि रूपभेद-
मन्तर्बहिष्ट्वं च पुरैस्तनोति ॥ ५ ॥
दुःखं सुखं व्यतिरिक्तं च तीव्रं
कालोपपन्नं फलमाव्यनक्ति ।
आलिङ्ग्य मायारचितान्तरात्मा
स्वदेहिनं संसृतिचक्रकूटः ॥ ६ ॥
तावानयं व्यवहारः सदाविः[1]
क्षेत्रज्ञसाक्ष्यो भवति स्थूलसूक्ष्मः ।
तस्मान्मनो लिङ्गमदो वदन्ति
गुणागुणत्वस्य[2] परावरस्य ॥ ७ ॥
गुणानुरक्तं व्यसनाय जन्तोः
क्षेमाय नैर्गुण्यमथो मनः स्यात् ।
यथा प्रदीपो घृतवर्तिमश्नन्
शिखाः सधूमा भजति ह्यन्यदा[3] स्वम् ।
पदं तथा गुणकर्मानुबद्धं[4]
वृत्तीर्मनः श्रयतेऽन्यत्र तत्त्वम् ॥ ८ ॥
एकादशासन्मनसो हि[5] वृत्तय
आकूतयः पञ्च धियोऽभिमानः[6] ।
मात्राणि कर्माणि पुरं च तासां[7]
वदन्ति हैकादश वीर भूमीः ॥ ९ ॥

व्याप्त रहता है तबतक वह स्वच्छन्दतापूर्वक उसकी ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियोंसे शुभाशुभ कर्म कराता रहता है ॥४॥ यह मन वासनाविशिष्ट, विषयोंमें आसक्त, गुणोंसे प्रेरित, विकारी और भूत-इन्द्रिय आदि सोलह कलाओंसे युक्त है। यही भिन्न-भिन्न नामोंसे देवता और मनुष्यादि रूप धारण कर शरीररूप उपाधियोंके भेदसे जीवकी उत्तमता और अधमताका विस्तार करता है ॥ ५ ॥ तदनन्तर कपटपूर्वक संसारचक्रमें डालनेवाला यह मायामय अन्तरात्मा अपने देहके अभिमानी जीवसे संयुक्त हो कालक्रमसे प्राप्त हुए सुख-दुःख और इनसे पृथक् तीव्र मोहरूप फल प्रकट करता है ॥६॥ जबतक यह मन रहता है तभीतक जीवको स्पष्टरूपसे प्रतीत होनेवाला यह स्थूल (जाग्रत्-अवस्थाका) एवं सूक्ष्म (स्वप्न-अवस्थाका) व्यवहार रहता है। इसलिये इस मनको ही त्रिगुणमय अधम संसारका और गुणातीत परमोत्कृष्ट मोक्षपदका कारण बताते हैं ॥७॥ विषयासक्त मन जीवको संसार-संकटमें डालनेवाला है और विषयहीन होनेपर वही उसे शान्तिमय मोक्षपद प्राप्त करा देता है। जिस प्रकार घृतसे भीगी हुई बत्तीको भक्षण करनेवाला दीपक धूएँवाली शिखाको धारण करता है और घृत समाप्त होते ही वह अपने कारण अग्नितत्त्वमें लीन हो जाता है, उसी प्रकार गुण और कर्मोंमें आसक्त हुआ मन नाना प्रकारकी वृत्तियोंसे युक्त होता है और निर्गुण होते ही अपने कारण महत्तत्त्वमें लीन हो जाता है ॥८॥

हे वीर! पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और एक अहंकार—ये मनकी ग्यारह वृत्तियाँ हैं तथा पाँच प्रकारके कर्म, पाँच तन्मात्रा और एक शरीर ये ग्यारह उनके आधारभूत विषय कहे जाते हैं ॥९॥

---

१. प्रा० पा०—व्यवहारो यः सदाशिवः। २. प्रा० पा०—गुणागुणत्वञ्च। ३. प्रा० पा०—भजति ह्यन्यथा स्वम्। ४. प्रा० पा०—कर्मानुबद्धे मूर्तीर्मनः श्रयते। ५. प्रा० पा०—मनसस्तु वृत्तयः। ६. प्रा० पा०—धियोऽभिमानाः। ७. प्राचीन प्रतिमें—'वीर' यह पाठ खण्डित है।

गन्धाकृतिः स्पर्शरसश्रवांसि
विसर्गरत्यर्त्यभिजल्पशिल्पाः[1] ।
एकादशं स्वीकरणं ममेति
शय्यामहं द्वादशमेक आहुः ॥१०॥
द्रव्यस्वभावाशयकर्मकालै-
रेकादशामी मनसो विकाराः ।
सहस्रशः शतशः कोटिशश्च
क्षेत्रज्ञतो न मिथो न स्वतः स्युः ॥११॥
क्षेत्रज्ञ एता मनसो विभूती-
र्जीवस्य मायारचितस्य नित्याः ।
आविर्हिताः क्वापि तिरोहिताश्च
शुद्धो विचष्टे ह्यविशुद्धकर्तुः ॥१२॥
क्षेत्रज्ञ आत्मा पुरुषः पुराणः
साक्षात्स्वयंज्योतिरजः परेशः ।
नारायणो भगवान्वासुदेवः
स्वमाययात्मन्यवधीयमानः ॥१३॥
यथानिलः स्थावरजङ्गमाना-
मात्मस्वरूपेण निविष्ट ईशेत् ।
एवं परो भगवान्वासुदेवः
क्षेत्रज्ञ आत्मेदमनुप्रविष्टः ॥१४॥
न यावदेतां मनुभृन्नरेन्द्र
विधूय मायां वयुनोदयेन ।
विमुक्तसङ्गो जितषट्सपत्नो
वेदात्मतत्त्वं भ्रमतीह तावत् ॥१५॥
न यावदेतन्मन आत्मलिङ्गं
संसारतापावपनं जनस्य ।
यच्छोकमोहामयरागलोभ-
वैरानुबन्धं ममतां विधत्ते ॥१६॥

गन्ध, रूप, स्पर्श, रस और शब्द ये पाँच ज्ञानेन्द्रियोंके विषय हैं; मलत्याग, सुखभोग, गमन, भाषण और लेना-देना आदि व्यापार—ये कर्मेन्द्रियोंके विषय हैं तथा शरीरको 'यह मेरा है' ऐसा कहकर स्वीकार करना ग्यारहवें अहंकारका विषय है। कोई-कोई लोग अहंकारको मनकी बारहवीं वृत्ति और उसके आश्रय शरीरको बारहवाँ विषय मानते हैं ॥१०॥ ये मनकी ग्यारह वृत्तियाँ द्रव्य, स्वभाव, आशय, कर्म और कालके द्वारा परिणामको प्राप्त होकर सैकड़ों, हजारों और करोड़ों प्रकारकी हो जाती हैं। इनकी सत्ता क्षेत्रज्ञ आत्माकी ही सत्तासे है स्वतः या परस्पर मिलकर नहीं ॥११॥ संसार-बन्धनके हेतुभूत कर्मोंको करनेवाले जीवके माया-रचित मनकी प्रवाहरूपसे सदा रहनेवाली वृत्तियाँ, जो कि जाग्रत् और स्वप्नावस्थामें प्रकट हो जाती हैं और सुषुप्तिमें तिरोहित हो जाती हैं उनको यह शुद्ध और साक्षी आत्मा सदा देखता रहता है ॥१२॥ यह क्षेत्रज्ञ आत्मा ही सबके अन्तःकरणोंमें रहने-वाला, जगत्का आदिकारण, स्वयंप्रकाश, अजन्मा, ब्रह्मादिका भी नियन्ता और अपने अधीन रहनेवाली मायासे सब जीवोंके भीतर स्थित रहनेवाला भगवान् वासुदेव श्रीनारायण है ॥१३॥ जिस प्रकार वायु सम्पूर्ण स्थावर-जङ्गम प्राणियोंमें प्राणरूपसे प्रविष्ट होकर उन्हें प्रेरित करता है उसी प्रकार सबका अन्तर्यामी और आत्मा प्रकृति आदिसे अतीत भगवान् वासुदेव भी इस सम्पूर्ण प्रपञ्चमें ओतप्रोत है ॥१४॥ हे राजन्! जबतक मनुष्य ज्ञानोदयके द्वारा इस मायाका तिरस्कारकर, सबका संग त्यागकर तथा काम-क्रोधादि छः शत्रुओंको जीतकर आत्मतत्त्वको नहीं जानता और जबतक वह आत्माकी उपाधिरूप इस मनको संसारदुःखका क्षेत्र नहीं जानता तबतक वह संसारमें यों ही भटकता रहता है क्योंकि यह चित्त उसे शोक, मोह, रोग, राग, लोभ और वैर आदि-से बाँधता तथा ममता बढ़ाता रहता है ॥१५-१६॥

१. प्रा० पा०—त्यभिजग्धशीलाः ।

भ्रातृव्यमेनं तददभ्रवीर्य-[1]
मुपेक्षयाध्येधितमप्रमत्तः[2] ।
गुरोर्हरेश्चरणोपासनास्त्रो
जहि व्यलीकं स्वयमात्ममोषम् ॥१७॥

अतः जो उपेक्षा करनेसे अति बलवान् हो गया है, अपने आत्माको आच्छादित करनेवाले उस मनरूप प्रबल कपटी शत्रुको तुम श्रीगुरु और हरिके चरणोंकी सेवारूप शस्त्रसे सावधानतापूर्वक मार डालो ॥१७॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पञ्चमस्कन्धे ब्राह्मणरहूगण-संवाद एकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

बारहवाँ अध्याय

रहूगणका प्रश्न और भरतजीका समाधान ।

रहूगण[3] उवाच

नमो नमः कारणविग्रहाय
स्वरूपतुच्छीकृतविग्रहाय ।
नमोऽवधूतद्विजबन्धुलिङ्ग-
निगूढनित्यानुभवाय तुभ्यम् ॥ १ ॥
ज्वरामयार्तस्य यथागदं स-
न्निदाघदग्धस्य यथा हिमाम्भः ।
कुदेहमानाहिविदष्टदृष्टे-
र्ब्रह्मन्वचस्तेऽमृतमौषधं मे ॥ २ ॥
तस्माद्भवन्तं मम संशयार्थं
प्रक्ष्यामि पश्चादधुना सुबोधम् ।
अध्यात्मयोगग्रथितं तवोक्त-
माख्याहि कौतूहलचेतसो मे ॥ ३ ॥
यदाह योगेश्वर दृश्यमानं
क्रियाफलं सद्व्यवहारमूलम् ।
न ह्यञ्जसा तत्त्वविमर्शनाय
भवानमुष्मिन्भ्रमते मनो मे ॥ ४ ॥

राजा रहूगण बोले—जिन ईश्वरस्वरूपने केवल लोकरक्षाके लिये शरीर धारण किया है, जो अपने परमानन्दमय स्वरूपका अनुभवकर शरीरको तुच्छ समझते हैं उन जड ब्राह्मणके रूपसे अपने नित्यानुभव-स्वरूपको छिपानेवाले अवधूतरूप आपको मैं नमस्कार करता हूँ ॥१॥ हे ब्रह्मन् ! जिस प्रकार ज्वररोगसे पीडित पुरुषको सुस्वादु ओषधि और धूपसे तपाये हुए मनुष्यको शीतल जल हितकारी होता है उसी प्रकार देहाभिमानरूप विषम सर्पसे डसे हुए मेरे लिये आपके अमृतमय वचन ओषधिरूप हैं ॥२॥ हे देव ! मैं आपसे अपने संशयोंकी निवृत्ति तो पीछे कराऊँगा । आपने इस समय जो अध्यात्म-योगमय भाषण दिया है पहले आप उसीको सरल रीतिसे समझाइये, मुझे उसे समझनेकी बड़ी उत्सुकता है ॥३॥ हे योगेश्वर ! आपने जो कहा कि भार उठाना आदि कर्मका प्रत्यक्ष प्रतीत होनेवाला श्रम आदि फल दृश्यमान व्यवहारका कारण होनेपर भी वास्तवमें सत्य नहीं है—वह तत्त्व-विचारके सामने कुछ भी नहीं ठहरता—इसमें मेरी बुद्धि भ्रम रही है [मुझे आपका यह कथन नहीं जँचता] ॥४॥

ब्राह्मण उवाच

अयं जनो नाम चलन्पृथिव्यां
यः पार्थिवः पार्थिव कस्य हेतोः ।

ब्राह्मणने कहा—हे पृथिवीपते ! पृथिवीका विकाररूप यह देह ही किसी विशेष कारणसे पृथिवीपर चलने लगता है । इसीसे इसके भारवाहकादि

१. प्रा० पा०—तमदभ्रवीर्य० । २. प्रा० पा०—धितमप्रवृत्तः । ३. प्रा० पा०—राहुगण उवाच । ४. प्रा० पा०—कश्चन कस्य ।

तस्यापि चाङ्घ्रयोरधिगुल्फजङ्घा-
जानूरुमध्योरुशिरोधरांसाः ॥ ५ ॥
अंसेऽधि दार्वी शिबिका च[1] यस्यां
सौवीरराजेत्यपदेश आस्ते ।
यस्मिन्[2]भवान्रूढनिजाभिमानो
राजास्मि सिन्धुष्विति दुर्मदान्धः ॥ ६ ॥
शोच्यानिमांस्त्वमधिकष्टदीना-
न्विष्ट्या निगृह्णन्निरनुग्रहोऽसि ।
जनस्य गोप्तास्मि विकत्थमानो
न शोभसे वृद्धसभासु धृष्टः[3] ॥ ७ ॥
यदा क्षितावेव[4] चराचरस्य
विदाम निष्ठां प्रभवं च नित्यम्[5] ।
तन्नामतोऽन्यद्व्यवहारमूलं
निरूप्यतां सत्क्रिययानुमेयम् ॥ ८ ॥

एवं निरुक्तं क्षितिशब्दवृत्त-
मसन्निधानात्परमाणवो[6] ये ।
अविद्यया मनसा कल्पितास्ते
येषां[7] समूहेन कृतो विशेषः ॥ ९ ॥
एवं कृशं स्थूलमणुर्बृहद्य-
दसच्च सज्जीवमजीवमन्यत् ।
द्रव्यस्वभावाशयकालकर्म-
नाम्नाजयावेहि कृतं द्वितीयम् ॥ १० ॥
ज्ञानं विशुद्धं परमार्थमेक-
मनन्तरं त्वबहिर्ब्रह्म सत्यम् ।

नाम पड़ जाते हैं। इसके जो दो चरण हैं उनके ऊपर क्रमशः गुल्फ (टखने), जानु, जंघा, ऊरु, कटिप्रदेश, वक्षःस्थल, कण्ठ और कन्धे आदि अङ्ग हैं ॥५॥ कन्धोंपर लकड़ीकी पालकी रखी हुई है। उसमें 'सौवीरराज' नामका एक पार्थिव विकार है जिसमें अपनेपनका अभिमान करनेसे तुम, 'मैं सिन्धु देशका राजा हूँ।' इस दुर्मदसे अन्धे हो रहे हो ॥६॥ किन्तु वास्तवमें तुम्हारी श्रेष्ठता सिद्ध नहीं होती क्योंकि जो अत्यन्त कष्टके कारण दीन और शोचनीय हो रहे हैं उन कहारोंको तुमने बेगारमें पकड़ रखा है! तुम बड़े क्रूर और धृष्ट हो। महापुरुषोंकी सभामें 'मैं लोकोंकी रक्षा करनेवाला हूँ' इस प्रकार बढ़-बढ़कर बातें बनाते हुए तुम शोभा नहीं पाते ॥७॥ जब कि हम ऐसा जानते हैं कि सम्पूर्ण चराचर भूतोंकी उत्पत्ति और लय सदा पृथिवीसे ही होते हैं तो उनकी क्रियासे नामके सिवा और व्यवहारका मूल क्या अनुमान किया जाय—सो बतलाओ ॥८॥

इसी प्रकार 'पृथिवी' शब्दकी स्थिति भी अर्थ-शून्य ही है, क्योंकि पृथिवी अपने कारणरूप सूक्ष्म परमाणुओंमें लीन हो जाती है। तथा जिनके समूहसे पृथिवीरूप कार्यकी सिद्धि होती है वे परमाणु भी [अविद्याद्वारा] मनसे ही कल्पना किये गये हैं। [वास्तवमें उनकी भी सत्ता नहीं है, क्योंकि सम्पूर्ण प्रपञ्च भगवान्‌की मायाका ही खेल है उससे पृथक् उसकी कुछ भी सत्ता नहीं है] ॥९॥ इसी प्रकार और भी जो कुछ कृश, स्थूल, छोटा, बड़ा, सत्, असत् तथा चेतन और अचेतन जगत् है उसे द्रव्य, स्वभाव, आशय, काल और कर्म आदि नामोंवाली भगवान्‌की मायाका ही कार्य समझो ॥१०॥ अतः जो विशुद्धज्ञानस्वरूप, अद्वितीय, भीतर-बाहरके भेदसे रहित, व्यापक और अन्तर्मुख है वही अत्यन्त

१. प्रा० पा०—शिबिका यस्यां। २. प्रा० पा०—तस्मिन्भवान्रूढ०। ३. प्रा० पा०—दुष्टः। ४. प्रा० पा०—यदा दुःखितावेव। ५. प्राचीन प्रतिमें 'नित्यम्' यह पाठ खण्डित है। ६. प्रा० पा०—परमाणवोऽथ ये। ७. प्रा० पा०—कल्पितास्ते समूहेन।

प्रत्यक् प्रशान्तं भगवच्छब्दसंज्ञं
यद्वासुदेवं कवयो वदन्ति ॥११॥
रहूगणैतत्तपसा[1] न याति
न चेज्यया निर्वपणाद्गृहाद्वा ।
नच्छन्दसा नैव जलाग्निसूर्यै-
र्विना महत्पादरजोऽभिषेकम् ॥१२॥
यत्रोत्तमश्लोकगुणानुवादः
प्रस्तूयते ग्राम्यकथाविघातः ।
निषेव्यमाणोऽनुदिनं[2] मुमुक्षो-
र्मतिं सतीं यच्छति वासुदेवे ॥१३॥
अहं पुरा भरतो नाम राजा
विमुक्तदृष्टश्रुतसङ्गबन्धः ।
आराधनं भगवत ईहमानो
मृगोऽभवं मृगसङ्गाद्धतार्थः ॥१४॥
सा मां स्मृतिर्मृगदेहेऽपि वीर
कृष्णार्चनप्रभवा नो जहाति ।
अथो अहं जनसङ्गादसङ्गो
विशङ्कमानोऽविवृतश्चरामि ॥१५॥
तस्मान्नरोऽसङ्गसुसङ्गजात-
ज्ञानासिनेहैव विवृक्णमोहः ।
हरिं तदीहाकथनस्मृतिभ्यां[3]
लब्धस्मृतिर्यात्यतिपारमध्वनः ॥१६॥

शान्त परमार्थ सत्य है; उसीका नाम 'भगवान्' है और उसीको पण्डितजन 'वासुदेव' कहते हैं ॥११॥ किन्तु, हे रहूगण ! इस प्रकारका ज्ञान महापुरुषोंकी चरणरजको शिरपर धारण करनेके सिवा तप, यज्ञ, अन्नादिके दान, गृहस्थोचित धर्मोंके पालन, वेदाध्ययन अथवा जल, अग्नि या सूर्यकी उपासना आदि किसी भी साधनसे प्राप्त नहीं हो सकता ॥१२॥ क्योंकि वहाँ (महापुरुषोंके समाजमें) पवित्रकीर्ति श्रीहरिके गुणोंकी विषयवार्ताओंको दूर करनेवाली चर्चा होती है । उसका नित्यप्रति सेवन करनेसे वह (भगवत्कथा) मोक्षाकांक्षी पुरुषकी शुद्ध बुद्धिको भगवान् वासुदेवकी ओर प्रवृत्त कर देती है ॥१३॥ देखो, पूर्वजन्ममें मैं भरत नामका राजा था । मैं लौकिक और पारलौकिक दोनों प्रकारके विषयोंका संग छोड़कर भगवान्‌की आराधनामें तत्पर रहता था । तो भी मृगका संग करनेसे परमार्थसे भ्रष्ट होकर मैं दूसरे जन्ममें मृगयोनिमें उत्पन्न हुआ ! ॥१४॥ किन्तु भगवान् कृष्णकी आराधनाके प्रभावसे उस मृगयोनिमें भी मुझे अपने पूर्वजन्मकी स्मृति बनी रही । इसलिये मैं जनसंसर्गसे शङ्कितचित्त रह सदा असंगभावसे अपनेको छिपाये हुए विचरता रहता हूँ ॥१५॥ इसलिये मेरा विचार है कि मनुष्य वैराग्य तथा साधुसमागमसे प्राप्त हुए ज्ञानरूप खड्गसे इस लोकमें ही सम्पूर्ण मोहबन्धनको काटकर श्रीहरिकी लीलाओंके कथन और स्मरणसे निरन्तर भगवान्‌का स्मरण करता हुआ संसारमार्गको पार करके भगवान्‌को प्राप्त कर लेता है ॥१६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पञ्चमस्कन्धे ब्राह्मण-
रहूगणसंवादे द्वादशोऽध्यायः ॥१२॥

१. प्रा० पा०—राहुगणैतत्तपसा । २. प्राचीन प्रतिमें 'णोऽनुदिनं मुमुक्षोर्मतिं……' से आरम्भ कर 'विशङ्कमानो' पर्यन्त पाठ खण्डित हो गया है । ३. प्रा० पा०—तदीहाकथनश्रुताभ्यां ।

तेरहवाँ अध्याय

भवाटवीका वर्णन और रहूगणका संशयोच्छेद।

ब्राह्मण उवाच

दुरत्ययेऽध्वन्यजया निवेशितो
रजस्तमःसत्त्वविभक्तकर्मदृक् ।
स एष सार्थोऽर्थपरः परिभ्रम-
न्भवाटवीं याति न शर्म विन्दति ॥ १ ॥

यस्यामिमे षण्नरदेव दस्यवः
सार्थं विलुम्पन्ति कुनायकं बलात् ।
गोमायवो यत्र हरन्ति सार्थिकं
प्रमत्तमाविश्य यथोरणं वृकाः ॥ २ ॥

प्रभूतवीरुत्तृणगुल्मगह्वरे
कठोरदंशैर्मशकैरुपद्रुतः ।
क्वचित्तु गन्धर्वपुरं प्रपश्यति
क्वचित्क्वचिच्चाशुरयोल्मुकग्रहम् ॥ ३ ॥

निवासतोयद्रविणात्मबुद्धि-
स्ततस्ततो धावति भो अटव्याम् ।
क्वचिच्च वात्योत्थितपांसुधूम्रा
दिशो न जानाति रजस्वलाक्षः ॥ ४ ॥

अदृश्यझिल्लीस्वनकर्णशूल
उलूकवाग्भिर्व्यथितान्तरात्मा ।

ब्राह्मणने कहा—हे राजन्! जिसे मायाने दुर्गम प्रवृत्तिमार्गमें लगा दिया है तथा जो सत्त्व, रज और तमरूपसे नाना प्रकारके कर्मोंका विभाग देखनेवाला है ऐसा सुखरूपी धनमें आसक्त जीवरूप वणिक् भटकता हुआ इस संसारवनमें जा पहुँचता है। वहाँ उसे तनिक भी शान्ति नहीं मिलती ॥१॥ क्योंकि हे राजन्! उस वनमें ये (ज्ञानेन्द्रिय और मनरूप) छः चोर रहते हैं वे उस जीवरूप वणिक्का जिसका बुद्धिरूप नायक बड़ा दुष्ट है, बलात्कारसे सब धन लूट लेते हैं। तथा भेड़िये जिस प्रकार [गड़रियोंद्वारा सुरक्षित] भेड़ोंके झुण्डमें घुसकर उनके बच्चेको खींच ले जाते हैं उसी प्रकार वहाँ रहनेवाले स्त्री-पुत्रादिरूपी गीदड़ उस असावधान व्यापारीको अर्थात् [उसके सञ्चित धनादिको] इधर-उधरसे खींचने (खर्च करने) लगते हैं ॥२॥ वह वन [काम्य कर्मरूप] बहुतसे लता, तृण और गुल्मोंके कारण अत्यन्त दुर्गम हो रहा है। उसमें पड़कर कभी तो यह [नीच पुरुषरूप] कठोर डाँस और मच्छरोंके काटनेसे पीडित होता है, कभी गन्धर्व नगर [के समान असत्य मर्त्यलोकको सत्य] देखता है और कभी [सुवर्णरूप] अति चञ्चल अगियावेताल देखता है ॥ ३ ॥ तथा वासस्थान, जल, धन आदिकी खोजमें आसक्त हुआ वह उस वनमें इधर-उधर भटकता फिरता है। कभी नेत्रोंमें [स्त्रीरूप] बवण्डरसे उठी हुई [रागरूप] धूलि भर जानेसे उसे दिशाओं [कर्मके साक्षी देवताओं] का भी ज्ञान नहीं रहता ॥४॥ कभी दिखायी न पड़नेवाले [शत्रुरूपी] झींगुरोंके कर्णकटु शब्द सुनता है और कभी [राजारूपी] उल्लुओंकी बोलीसे उसका चित्त अति दुःखित हो जाता है। कभी वह भूख लगनेपर [कृपण धनीरूप] पाप-

१. प्राचीन प्रतिमें 'द्र' यह अंश खण्डित है। २. प्राचीन प्रतिमें 'उलूक' शब्द छूट गया है।

अपुण्यवृक्षान् श्रयते क्षुधार्दितो
मरीचितोयान्यभिधावति क्वचित् ॥ ५ ॥
क्वचिद्वितोयाः सरितोऽभियाति
परस्परं चालपते निरन्धः[1] ।
आसाद्य दावं क्वचिदग्नितप्तो
निर्विद्यते क्व च यक्षैर्हृतासुः ॥ ६ ॥
शूरैर्हृतस्वः क्व च निर्विण्णचेताः
शोचन्विमुह्यन्नुपयाति कश्मलम् ।
क्वचिच्च गन्धर्वपुरं प्रविष्टः
प्रमोदते निर्वृतवन्मुहूर्तम् ॥ ७ ॥
चलन्क्वचित्कण्टकशर्कराङ्घ्रि-
र्नगारुरुक्षुर्विमना[2] इवास्ते ।
पदे पदेऽभ्यन्तरवह्निनार्दितः
कौटुम्बिकः क्रुध्यति वै जनाय ॥ ८ ॥
क्वचिन्निगीर्णोऽजगराहिना जनो
नावैति किञ्चिद्विपिनेऽपविद्धः ।
दष्टः स्म शेते क्व च दन्दशूकै-
रन्धोऽन्धकूपे पतितस्तमिस्रे ॥ ९ ॥
कर्हि स्मचित्क्षुद्रसान्विचिन्वं-
स्तन्मक्षिकाभिर्व्यथितो विमानः ।
तत्रातिकृच्छ्रात्[3]प्रतिलब्धमानो
बलाद्विलुम्पन्त्यथ तं ततोऽन्ये ॥ १० ॥
क्वचिच्च शीतातपवातवर्ष-
प्रतिक्रियां कर्तुमनीश आस्ते ।

वृक्षका सहारा लेता है और कभी तृषार्त्त होकर मिथ्या विषयभोगरूप मृगतृष्णाके जलकी ओर दौड़ता है ॥५॥ कभी सूखी नदियों [के समान पाखण्डपथ] की ओर जाता है, कभी अन्न न मिलनेपर भूखसे व्याकुल हो आपसमें ही अर्थात् [पिता पुत्रसे और पुत्र पितासे] अन्न माँगने लगता है, कभी दावानल [के समान दुःखमय गृह] में पहुँचकर अग्नि (शोक) से सन्तप्त होता है और कभी यक्षों (राजाओं) द्वारा प्राण (धन) हरण किये जानेपर दुःखी होता है ॥६॥ कभी शूर-वीरलोग उसका सर्वस्व छीन लेते हैं । उस समय वह खिन्नचित्त और शोकाकुल हो दुःखसे मूर्च्छित हो जाता है और कभी गन्धर्वनगर (कुटुम्बी बन्धुओं) में पहुँचकर एक मुहूर्त्तके लिये सुखी-सा होकर आनन्दमग्न हो जाता है ॥७॥ कभी पर्वतादिपर चढ़ने [अर्थात् यज्ञादि बड़े-बड़े कर्म करने] की इच्छासे चलते-चलते काँटों और कंकड़ों (विघ्नों) के कारण पैर छलनी हो जानेसे उदास हो जाता है । उसका कुटुम्ब बहुत बड़ा है इसलिये पद-पदपर जठरानलकी ज्वालासे पीडित हो वह अपने स्वजनोंपर क्रोधित होता है ॥८॥ कभी अजगर सर्प (निद्रा) के डसनेसे वनमें फेंके हुए मुर्देके समान पड़ा रहता है उस समय इसे कुछ भी सुधि नहीं रहती । कभी सर्पादि जन्तुओं [दुर्जनों] के काटनेसे अन्धा होकर वह एक घोर अँधेरे कुएँमें पड़कर सोता रहता है ॥९॥ कभी [परस्त्री-परधनरूप] मधुकी खोज करता हुआ भटकने लगता है । तब उनके पतिरूप मक्खियोंद्वारा मानमर्दन होनेसे उसे बहुत दुःख भोगना पड़ता है । यदि किसी प्रकार बहुत कठिनता-से वहाँ सफलता मिल जाती है तो दूसरे शत्रु आकर घेर लेते हैं ॥१०॥ कभी शीत, धूप, वायु और वर्षासे अपनी रक्षा करनेमें असमर्थ हो जाता है । कभी आपसमें थोड़ा-बहुत व्यापार करने

१. प्रा० पा०—निरन्तरम् । २. प्रा० पा०—नगानारुरुक्षुर्विमना इवास्ते । ३. प्रा० पा०—तत्रातिकृच्छ्रं प्रति ।

क्वचिन्मिथो विपणन्यच्च किञ्चि-
द्विद्वेषमृच्छत्युत वित्तशाठ्यात् ॥११॥
क्वचित्क्वचित्क्षीणधनस्तु तस्मिन्
शय्यासनस्थानविहारहीनः ।
याचन्परादप्रतिलब्धकामः
पारक्यदृष्टिर्लभतेऽवमानम् ॥१२॥
अन्योन्यवित्त[1]व्यतिषङ्गवृद्ध-
वैरानुबन्धो विवहन्मिथश्च ।
अध्वन्यमुष्मिन्नुरुकृच्छ्रवित्त-
बाधोपसर्गैर्विहरन्विपन्नः ॥१३॥
तांस्तान्विपन्नान्स हि तत्र तत्र
विहाय जातं परिगृह्य सार्थः ।
आवर्ततेऽद्यापि न कश्चिदत्र
वीराध्वनः पारमुपैति योगम् ॥१४॥
मनस्विनो निर्जितदिग्गजेन्द्रा
ममेति सर्वे भुवि बद्धवैराः ।
मृधे शयीरन्न तु तद्व्रजन्ति
यन्न्यस्तदण्डो गतवैरोऽभियाति ॥१५॥
प्रसज्जति क्वापि लताभुजाश्रय-
स्तदाश्रया व्यक्तपदद्विजस्पृहः ।
क्वचित्कदाचिद्धरिचक्रतस्त्रस-
न्सख्यं विधत्ते बककङ्कगृध्रैः ॥१६॥
तैर्वञ्चितो हंसकुलं समाविश-
न्न रोचयन् शीलमुपैति वानरान् ।
तज्जातिरासेन सुनिर्वृतेन्द्रियः[2]
परस्परोद्वीक्षणविस्मृतावधिः ॥१७॥

लगता है तो धनके लोभसे दूसरोंको धोखा देकर उनसे वैर ठान लेता है ॥११॥ कभी-कभी उस संसार-वनमें धन नष्ट हो जानेसे उसके पास शय्या, आसन और रहनेका स्थान भी नहीं रहता। तब वह दूसरेकी वस्तुपर आँखें गड़ाकर उससे याचना करने लगता है तो भी उसकी कामना पूर्ण नहीं होती और उसे दूसरोंके हाथसे अपमान सहन करना पड़ता है ॥१२॥

इस प्रकार व्यावहारिक सम्बन्धके कारण एक-दूसरेके साथ द्वेषभाव बढ़ जानेपर भी वह जन-समूह परस्पर विवाहादि सम्बन्ध स्थापित करता है और फिर इस मार्गमें धननाश आदि अनेकों प्रकारके संकट भोगता हुआ मृतकवत् हो जाता है ॥१३॥ तब वह वणिक्समूह अपने मरे हुए साथियोंको जहाँके तहाँ छोड़ नवीन उत्पन्न होनेवालोंको साथ ले आगे बढ़ता है। हे वीर! उनमेंसे आजतक न तो कोई पीछे ही लौटता है और न इस मार्गको पार करके परमानन्दमय योगमार्गमें ही प्रवृत्त होता है ॥१४॥ जिन्होंने बड़े-बड़े दिक्पालोंको जीत लिया है वे धीर-वीर पुरुष भी पृथिवीमें 'यह मेरी है' ऐसा अभिमान करके आपसमें वैर ठानकर युद्धमें गिर पड़ते हैं, तो भी उस पदको प्राप्त नहीं होते जिसे निर्वैर परमहंसगण प्राप्त करते हैं ॥१५॥

इस भवाटवीमें भटकनेवाला यह जनसमूह कभी लताओंकी डालियों (स्त्रीकी भुजाओं) का आश्रय कर उसका अवलम्बन करके रहनेवाले अस्पष्ट और मधुरभाषी पक्षियों (बालकों) में आसक्त हो जाता है। और कभी सिंहोंके समूह (कालचक्र) से भयभीत होकर बगुला, कंक और गिद्ध आदि (पाखण्डी देवताओं) के साथ प्रीति करता है ॥१६॥ जब उनसे धोखा उठाता है तो हंसोंकी पंक्ति (ब्राह्मणकुल) में प्रवेश करनेका प्रयत्न करता है, किन्तु जब उसे उनका आचार नहीं सुहाता तो वानरों (चञ्चलस्वभाव लोगों) में मिलकर उनके जातिस्वभावके अनुसार विषयभोगोंसे इन्द्रियोंको तृप्त करता रहता है और एक-दूसरेका मुख देखते-देखते अपनी आयुकी अवधिको भूल जाता है ॥१७॥

१. प्रा० पा०—अन्योन्यकर्म। २. प्रा० पा०—सुनिर्जितेन्द्रियः।

द्रुमेषु रंस्यन्सुतदारवत्सलो
व्यवायदीनो विवशः स्वबन्धने ।
क्वचित्प्रमादाद्गिरिकन्दरे पत-
न्वल्लीं गृहीत्वा गजभीत आस्थितः ॥१८॥
अतः कथंचित्स विमुक्त आपदः
पुनश्च सार्थं प्रविशत्यरिन्दम ।
अध्वन्यमुष्मिन्नजया निवेशितो
भ्रमञ्जनोऽद्यापि न वेद कश्चन ॥१९॥
रहूगण त्वमपि ह्यध्वनोऽस्य
संन्यस्तदण्डः कृतभूतमैत्रः ।
असज्जितात्मा हरिसेवया शितं
ज्ञानासिमादाय तरातिपारम् ॥२०॥

कभी वृक्षों (घरों) में रमण करता हुआ स्त्री-पुत्रादिमें आसक्त और मैथुनादिकी वासनासे दीन होकर अपने बन्धनको तोड़नेमें असमर्थ हो जाता है और कभी असावधानतावश पर्वतकी गुफामें (रोगादिमें) गिरकर उसमें रहनेवाले हाथी (मृत्यु) से डरता हुआ किसी लता (प्रारब्ध-कर्म) को पकड़कर लटका रहता है ॥१८॥ हे शत्रुदमन ! यदि उसे किसी प्रकार इस आपत्तिसे छुटकारा मिल जाता है तो फिर अपने साथियोंमें ही मिल जाता है। जो मनुष्य मायाकी प्रेरणासे इस झुण्डमें एक बार पहुँच जाता है उसे इस संसारवनमें भटकते-भटकते अन्ततक अपने परम पुरुषार्थका पता नहीं लगता ॥१९॥ हे रहूगण ! तुम भी इसी मार्गमें भटक रहे हो। इसलिये अब प्रजावर्गको दण्ड देनेका कार्य छोड़कर समस्त प्राणियोंसे मैत्री कर विषयोंसे उपराम हो हाथमें भगवत्सेवासे तीक्ष्ण किया हुआ ज्ञानरूप खड्ग ले इस मार्गके पार हो जाओ ॥२०॥

राजोवाच

अहो नृजन्माखिलजन्मशोभनं
किं जन्मभिस्त्वपरैरप्यमुष्मिन् ।
न यद्धृषीकेशयशःकृतात्मनां
महात्मनां वः प्रचुरः समागमः ॥२१॥
न ह्यद्भुतं त्वच्चरणाब्जरेणुभि-
र्हतांहसो भक्तिरधोक्षजेऽमला ।
मौहूर्तिकाद्यस्य समागमाच्च मे
दुस्तर्कमूलोऽपहतोऽविवेकः ॥२२॥
नमो महद्भ्योऽस्तु नमः शिशुभ्यो
नमो युवभ्यो नम आवटुभ्यः ।
ये ब्राह्मणा गामवधूतलिङ्गा-
श्चरन्ति तेभ्यः शिवमस्तु राज्ञाम् ॥२३॥

राजा रहूगणने कहा—अहो ! सम्पूर्ण जन्मोंमें यह मनुष्यजन्म ही परम कल्याणकारक है। अन्य स्वर्गादि लोकोंमें प्राप्त हुए देवतादि जन्मोंसे भी क्या लाभ है जहाँ श्रीहृषीकेश भगवान्‌के पवित्र यशसे कृतकृत्य हुए आप-जैसे महात्माओंका समागम प्रचुरतासे नहीं होता ॥२१॥ जिनके एक मुहूर्त्तभरके समागमसे मेरा कुतर्कमूलक अज्ञान दूर हो गया ऐसे आपके चरणकमलोंकी रजका सेवन करनेसे जिनके सम्पूर्ण पाप नष्ट हो गये हैं उन महानुभावोंको भगवान्‌की निर्मल भक्ति प्राप्त होना कोई विचित्र बात नहीं है ॥२२॥ [ब्रह्मज्ञानी किस स्वरूपसे रहते हैं—इसका कुछ भी निश्चय नहीं है, इसलिये सबको नमस्कार करते हुए कहते हैं—] वृद्धोंको, बालकोंको, युवाओंको और ब्रह्मचारी आदि सम्पूर्ण आश्रमियोंको नमस्कार है। जो ब्रह्मज्ञानी ब्राह्मण पृथिवीपर अवधूतवेषसे विचरते हैं उनसे [ऐश्वर्योन्मत्त] राजाओंका कल्याण हो ॥२३॥

१. प्रा० पा०—मुष्मिन्नञ्जसा ।

श्रीशुक उवाच

इत्येवमुत्तरामातः स वै ब्रह्मर्षिसुतः सिन्धुपतय आत्मसतत्त्वं[1] विगणयतः परानुभावः[2] परमकारुणिकतयोपदिश्य रहूगणेन सकरुणमभिवन्दितचरण आपूर्णार्णव[3] इव निभृतकरणोर्म्याशयो धरणिमिमां विचचार[4] ॥२४॥ सौवीरपतिरपि सुजनसमवगतपरमात्मसतत्त्व आत्मन्यविद्याध्यारोपितां च देहात्ममतिं विससर्ज। एवं हि नृप भगवदाश्रिताश्रितानुभावः[5] ॥२५॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे उत्तराकुमार ! इस प्रकार वे परम प्रभावशाली ब्रह्मर्षिपुत्र अपना अपमान करनेवाले सिन्धुनरेश राजा रहूगणको अत्यन्त करुणावश आत्मतत्त्वका उपदेश दे रहूगणद्वारा करुणापूर्वक चरणवन्दना किये जानेपर परिपूर्ण समुद्रके समान अपने मनकी इन्द्रियरूप तरंगोंको शान्त कर इस पृथिवीपर विचरने लगे ॥२४॥ तथा सौवीरपति रहूगणने भी उनके सत्संगसे परमात्मतत्त्वका ज्ञान प्राप्त कर अपनेमें अविद्यावश आरोपित की हुई देहात्मबुद्धिको त्याग दिया। क्योंकि हे राजन् ! भगवान्‌के आश्रित रहनेवाले भक्तोंकी शरणमें जानेवाले पुरुषोंका ऐसा प्रभाव हो जाता है ॥२५॥

राजोवाच

यो ह वा इह बहुविदा महाभागवत त्वयाभिहितः परोक्षेण वचसा जीवलोकभवाध्वा[6] स ह्यार्यमनीषया कल्पितविषयो नाञ्जसाव्युत्पन्नलोकसमधिगमः। अथ तदेवैतदुरवगमं समवेतानुकल्पेन निर्दिश्यतामिति ॥२६॥

राजा परीक्षित्‌ने कहा—हे महाभागवत शुकदेवजी ! आप परम विद्वान् हैं। आपने जो व्यापारियोंके संसारमार्गके रूपकसे बुद्धिमान् पुरुषोंकी समझमें आनेयोग्य उपदेश दिया है वह साधारण मनुष्योंकी बुद्धिमें सुगमतासे नहीं आ सकता। अतः मेरी प्रार्थना है कि इस दुर्बोध विषयको सरल करके समझाइये ॥ २६ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पञ्चमस्कन्धे त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

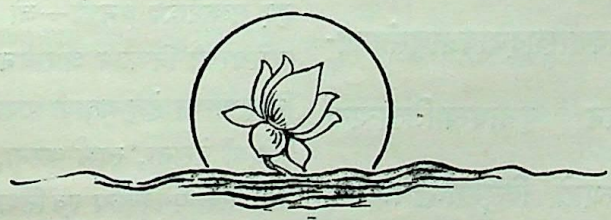

१. प्रा० पा०—आत्मस्वतत्त्वं। २. प्राचीन प्रतिमें 'परानुभावः' यह पाठ नहीं है। ३. प्रा० पा०—चरणः पूर्णार्णव इव। ४. प्रा० पा०—मिमां चचार। ५. प्रा० पा०—भगवदाश्रितानुभावः। ६. प्रा० पा०—जीवलोकभावाध्वा।

चौदहवाँ अध्याय

भवाटवीका स्पष्टार्थ ।

सहोवाच

य एष देहात्ममानिनां सत्त्वादिगुणविशेषविकल्पितकुशलाकुशलसमवहारविनिर्मितविविधदेहावलिभिर्वियोगसंयोगाद्यनादिसंसारानुभवस्य द्वारभूतेन षडिन्द्रियवर्गेण तस्मिन्दुर्गाध्ववदसुगमेऽध्वन्यापतित ईश्वरस्य भगवतो विष्णोर्वशवर्तिन्या मायया जीवलोकोऽयं यथा वणिक्सार्थोऽर्थपरः स्वदेहनिष्पादितकर्मानुभवः श्मशानवदशिवतमायां संसाराटव्यां गतो नाद्यापि विफलबहुप्रतियोगेहस्तत्तापोपशमनीं[1] हरिगुरुचरणारविन्दमधुकरानुपदवीमवरुन्धे यस्यामु ह वा एते षडिन्द्रियनामानः कर्मणा दस्यव एव ते ॥१॥ तद्यथा पुरुषस्य धनं यत्किञ्चिद्धर्मौपयिकं[2] बहुकृच्छ्राधिगतं साक्षात्परमपुरुषाराधनलक्षणो[3] योऽसौ धर्मस्तं तु सांपराय उदाहरन्ति । तद्धर्म्यं धनं दर्शनस्पर्शनश्रवणास्वादनावघ्राणसंकल्पव्यवसायगृहग्राम्योपभोगेन[4] कुनाथस्याजितात्मनो यथा सार्थस्य[5] तथाजितात्मनो विलुम्पन्ति ॥ २ ॥ अथ च यत्र कौटुम्बिका दारापत्यादयो नाम्ना कर्मणा वृकसृगाला एवानिच्छतोऽपि कदर्यस्य

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! देहात्माभिमानियोंको जो सत्त्वादि गुणोंके कारण होनेवाले शुभ, अशुभ तथा मिश्र कर्मोंके योगसे निर्मित नाना प्रकारके देहोंके साथ संयोग-वियोगरूप अनादि संसार प्राप्त हुआ है, उसके अनुभवकी द्वाररूप मन आदि छः इन्द्रियोंके द्वारा विवश होकर यह जीवसमूह मार्ग भूलकर भयङ्कर वनमें भटकते हुए वणिक्समुदायके समान परमसमर्थ भगवान् विष्णुके आश्रित रहनेवाली मायाकी प्रेरणासे, दुर्गपथके समान जिसपर चलना अत्यन्त कठिन है ऐसे मार्गमें पड़कर अपने शरीरसे आचरण किये हुए कर्मोंका फल भोगता हुआ श्मशानके समान अत्यन्त अशुभ संसारवनमें जा पहुँचता है । वहाँ इसका व्यापार अनेकों विघ्नोंके कारण विफल हो जाता है, तथापि अभीतक यह उस संसारदुःखको शान्त करनेवाले श्रीहरिचरणारविन्दोंके रसिक भ्रमरोंके (भक्तजनोंके) मार्गका अनुसरण नहीं करता । इस संसाररूपी वनमें जो मनसहित छः इन्द्रियाँ हैं, वे ही अपने कर्मोंके अनुसार चोरोंके समान हैं ॥१॥ जिसका पहरूदार दुष्ट (प्रमादी या चोरसे मिला हुआ) है, उस असावधान वणिक्के बड़े कष्टसे कमाये हुए धर्मोपयोगी धनको जिस प्रकार चोर लूट लेते हैं उसी तरह दुर्बुद्धि एवं अजितेन्द्रिय पुरुषके अत्यन्त क्लेश सहकर प्राप्त किये हुए सत्कर्मरूप धनको—जो कि साक्षात् परमपुरुष परमेश्वरकी निष्काम आराधनाके रूपमें परलोकमें परम निःश्रेयसका हेतु बताया गया है—ये मनसहित छः इन्द्रियाँ देखना, स्पर्श करना, सुनना, चखना, सूँघना तथा संकल्प-विकल्प एवं निश्चय करना आदि क्रियाओंद्वारा सांसारिक विषयभोगोंमें फँसाकर नष्ट कर देती हैं ॥ २ ॥ ये ही नहीं, उस संसारवनमें रहनेवाले उसके कुटुम्बी भी, जो नामसे तो स्त्री-पुत्रादि कहलाते हैं

१. प्रा० पा०—पोपशमनां । २. प्रा० पा०—यत्किञ्चित्साक्षाद्धर्मौप० । ३. प्रा० पा०—यत् परमपुरुषा० । ४. प्रा० पा०—दर्शनस्वादनावघ्राणसङ्कल्पसंव्यवसाय० । ५. प्रा० पा०—यथा सार्थिकस्य त० ।

कुटुम्बिन उरणकवत्संरक्ष्यमाणं[1] मिषतोऽपि हरन्ति ॥ ३ ॥ यथा ह्यनुवत्सरं कृष्यमाणमप्यदग्धबीजं क्षेत्रं पुनरेवावपनकाले गुल्मतृणवीरुद्भिर्गहनमिव भवत्येवमेव गृहाश्रमः कर्मक्षेत्रं यस्मिन्न हि कर्माण्युत्सीदन्ति यदयं कामकरण्ड एष आवसथः ॥४॥

तत्र[2] गतो दंशमशकसमापसदैर्मनुजैः शलभशकुन्ततस्करमूषकादिभिरुपरुध्यमानबहिःप्राणः क्वचित्परिवर्तमानोऽस्मिन्नध्वन्यविद्याकामकर्मभिरुपरक्तमनसानुपपन्नार्थं नरलोकं गन्धर्वनगरमुपपन्नमिति मिथ्यादृष्टिरनुपश्यति[3] ॥ ५ ॥ तत्र[4] च क्वचिदातपोदकनिभान्[5]विषयानुपधावति पानभोजनव्यवायादिव्यसनलोलुपः ॥ ६ ॥ क्वचिच्चाशेषदोषनिषदनं पुरीषविशेषं तद्वर्णगुणनिर्मितमतिः सुवर्णमुपादित्सत्यग्निकामकातर इवोल्मुकपिशाचम् ॥ ७ ॥ अथ कदाचिन्निवासपानीयद्रविणाद्यनेकात्मोपजीवनाभिनिवेश एतस्यां संसाराटव्यामितस्ततः परिधावति ॥ ८ ॥ क्वचिच्च वात्यौपम्यया प्रमदयारोहमारोपितस्तत्कालरजसा रजनीभूत इवासाधुमर्यादो रजस्वलाक्षोऽपि दिग्देवता अतिरजस्वलमतिर्न

किन्तु कर्मसे साक्षात् भेड़ियों और गीदड़ोंके समान होते हैं, वे उस बेचारे दीन कुटुम्बीके धनको उसकी इच्छा न रहनेपर भी उसके देखते-ही-देखते इस प्रकार छीन लेते हैं जैसे भेड़िये गड़रियोंसे सुरक्षित भेड़ों और बछड़ोंको उठा ले जाते हैं ॥ ३ ॥ जिस प्रकार प्रतिवर्ष जोता जानेवाला भी खेत बीज दग्ध न होनेसे खेतीका समय आनेपर फिर गुल्म, लता और तृण आदिसे गहन हो जाता है उसी प्रकार यह गृहस्थाश्रम भी कर्मभूमि है, इसमें कर्मोंका अन्त कभी नहीं होता, क्योंकि यह घर कर्म-वासनाओंकी पिटारी है ॥ ४ ॥

उस घररूप संसारवनमें पहुँचनेपर उसके (धनरूप) बाह्य प्राणोंको डाँस और मच्छरोंके समान नीच पुरुषोंसे तथा टिड्डी, पक्षी, चोर और मूषकादिसे क्षति पहुँचती है। तब इस मार्गमें भटकते-भटकते वह अविद्याद्वारा काम और कर्मोंमें आसक्त हुए अपने चित्तसे दृष्टिदोषके कारण गन्धर्वनगरके समान इस असत्य मर्त्यलोकको सत्य समझने लगता है ॥ ५ ॥ फिर भोजन, जलपान और मैथुन आदि विषयोंमें आसक्त होकर कभी मृगतृष्णाके समान मिथ्या विषयोंकी ओर दौड़ता है ॥ ६ ॥ कभी, अग्निकी इच्छासे आतुर होकर अगियाबेतालकी ओर उसे पकड़नेके लिये दौड़नेवाले मनुष्यके समान सम्पूर्ण दोषोंके आश्रय सुवर्णके लिये व्याकुल होकर उसीके (रक्त) वर्णवाले रजोगुणसे ग्रस्त हो विष्ठातुल्य सुवर्णकी ओर दौड़कर उसे लेना चाहता है ॥ ७ ॥ कभी गृह जल और धन आदि अनेक जीवनोपयोगी साधनोंमें आसक्त हो इस संसारवनमें इधर-उधर दौड़ता रहता है ॥ ८ ॥ कभी बवण्डरके समान स्त्रीद्वारा गोदमें बिठाया जाकर उसी समय उत्पन्न हुई रागरूप धूलिसे दृष्टि रुक जानेके कारण अन्धा एवं मलिनचित्त-सा होकर साधुपुरुषोंकी मर्यादाको छोड़ देता है और बुद्धिके रजोगुणसे अत्यन्त आच्छादित हो जानेपर अपने कर्मोंके साक्षी दिशारूप देवताओंको भी नहीं जानता

१. प्रा० पा०—सरक्ष्यमाणं निमिषतो। २. प्रा० पा०—स्तत्र रतो दंशमशकापसदै०। ३. प्राचीन प्रतिमें 'मिथ्यादृष्टिरनुपश्यति' यह अंश खण्डित है। ४. प्राचीन प्रतिमें 'तत्र च' यह पाठ नहीं है। ५. प्राचीन प्रतिमें 'निभान् विषयानुप……' से आरम्भकर 'परिधावति क्वचिच्च' तकका अंश खण्डित है।

विजानाति ॥ ९ ॥ क्वचित्सकृदवगतविषयवैतथ्यः स्वयं पराभिध्यानेन विभ्रंशितस्मृतिस्तयैव मरीचितोयप्रायांस्तानेवाभिधावति ॥१०॥ क्वचिदुलूकझिल्लीस्वनवदतिपरुषरभसाटोपं[1] प्रत्यक्षं परोक्षं वा रिपुराजकुलनिर्भर्त्सितेनातिव्यथितकर्णमूलहृदयः ११ स यदा दग्धपूर्वसुकृतस्तदा कारस्करकाकतुण्डाद्यपुण्यद्रुमलताविषोदपानवदुभयार्थशून्यद्रविणाञ्जीवन्मृतान्स्वयं जीवन्म्रियमाण उपधावति ॥१२॥ एकदा[2] सत्प्रसङ्गान्निकृतमतिर्व्युदकस्रोतःस्खलनवदुभयतोऽपि दुःखदं पाखण्डमभियाति ॥१३॥ यदा तु परबाधयान्ध आत्मने नोपनमति तदा हि पितृपुत्रबर्हिष्मतः पितृपुत्रान्वा स खलु भक्षयति ॥१४॥ क्वचिदासाद्य गृहं दाववत्प्रियार्थविधुरमसुखोदर्कं शोकाग्निना दह्यमानो भृशं निर्वेदमुपगच्छति ॥१५॥ क्वचित्कालविषमितराजकुलरक्षसापहृतप्रियतमधनासुः प्रमृतक[3] इव विगतजीवलक्षण आस्ते ॥१६॥ कदाचिन्मनोरथोपगतपितामहाद्यसत्सदिति स्वप्ननिर्वृतिलक्षणमनुभवति ॥१७॥ क्वचिद्गृहाश्रमकर्मचोदनातिभरगिरिमारुरुक्षमाणो

[तथा अपनेको अकेला समझने लगता है] ॥ ९ ॥ कभी अपने-आप ही एक बार विषयोंका मिथ्यात्व जानकर भी फिर देहाभिमानके कारण विवेक-बुद्धि नष्ट हो जानेसे उन मरुमरीचिकातुल्य विषयोंकी ओर दौड़ने लगता है ॥ १० ॥ कभी उल्लू और झींगुरोंके अति कठोर वचनोंके समान शत्रु और राजाओंके प्रत्यक्ष वा परोक्षरूपसे डाटने-डपटनेपर उसके कान और हृदयोंको बहुत पीडा होती है ॥ ११ ॥ जब इसके पूर्वपुण्य क्षीण हो जाते हैं तो यह जीते हुए मुर्देके समान हो कारस्कर और काकतुण्ड आदि पापवृक्ष और लताओं तथा विषैले कुँओंके समान जिनका धन इस लोक और परलोक दोनोंहीके काममें नहीं आता तथा जो जीते हुए भी मरेके समान हैं ऐसे धनवानोंका आश्रय लेता है ॥ १२ ॥ कभी असत् पुरुषोंके सहवाससे बुद्धि भ्रष्ट हो जानेके कारण बिना जलकी नदीमें गिरनेके समान इस लोक और परलोकमें दुःख देनेवाले पाखण्डमें फँस जाता है ॥ १३ ॥ जब शत्रुओंके विघ्न डालनेसे इसे अन्न नहीं मिलता तब पिता-पुत्रोंको अथवा जिनके पास पिता-पुत्रोंमेंसे किसीकी सम्पत्तिका एक तृण भी देखता है उनको मानो फाड़ खानेको तैयार हो जाता है ॥ १४ ॥ कभी, जो दावानलके समान प्रिय वस्तुसे रहित और अत्यन्त दुःखमय है उस घरमें पहुँचता है तो शोकाग्निसे सन्तप्त होकर अत्यन्त खिन्न हो जाता है ॥१५॥ कभी कालके समान भयङ्कर राजकुलरूप राक्षसके द्वारा अपने प्राणप्रिय धनके हर लिये जानेपर यह मरे हुएके समान निर्जीव हो जाता है ॥ १६ ॥ कभी मनोरथके पदार्थोंके समान प्रतीत होनेवाले पिता-पितामह आदि असत् सम्बन्धोंको सत्य मानकर उनसे होनेवाले स्वप्नतुल्य क्षणिक सुखका अनुभव करता है ॥ १७ ॥ कभी गृहस्थाश्रमके लिये कहे हुए कर्मोंके अतिशय भाररूप पर्वतपर चढ़नेकी इच्छा करता है तो लौकिक

१. प्रा० पा०—परुषसंरभसाटोपं प्रत्यक्षं वा रिपुराज० । २. प्रा० पा०—मतिर्विदिवस्रोतःस्वनेन स्खलन० । ३. प्रा० पा०—मृत इव ।

लोकव्यसनकर्शितमनाः कण्टकशर्कराक्षेत्रं प्रविशन्निव सीदति ॥१८॥ क्वचिच्च दुःसहेन कायाभ्यन्तरवह्निना गृहीतसारः[1] स्वकुटुम्बाय क्रुध्यति ॥१९॥ स एव पुनर्निद्राजगरगृहीतोऽन्धे तमसि मग्नः शून्यारण्य इव शेते नान्यत्किञ्चन वेद शव इवापविद्धः ॥ २० ॥

कदाचिद्[2]द्रुमानदंष्ट्रो दुर्जनदन्दशूकैरलब्धनिद्राक्षणो व्यथितहृदयेनानुक्षीयमाणविज्ञानोऽन्धकूपेऽन्धवत्पतति ॥ २१ ॥ कर्हिस्म[3]चित्काममधुलवान्विचिन्वन्यदा परदारपरद्रव्याण्यवरुन्धानो राज्ञा स्वामिभिर्वा निहतः पतत्यपारे निरये ॥२२॥ अथ च तस्मादुभयथापि हि कर्मास्मिन्नात्मनः संसारावपनमुदाहरन्ति ॥२३॥ मुक्तस्ततो यदि बन्धाद्देवदत्त उपाच्छिनत्ति तस्मादपि विष्णुमित्र इत्यनवस्थितिः ॥२४॥ क्वचिच्च शीतवाताद्यनेकाधिदैविकभौतिकात्मीयानां दशानां प्रतिनिवारणेऽकल्पो दुरन्तचिन्तया विषण्ण[4] आस्ते ॥२५॥ क्वचिन्मिथो व्यवहरन्[5]यत्किञ्चिद्धनमन्येभ्यो वा काकिणिकामात्रमप्यपहरन्यत्किञ्चिद्वा

आपत्तियोंसे दुःखित होकर काँटे और रोड़ोंसे भरे हुए क्षेत्रमें घुसे हुए व्यक्तिके समान खिन्न हो जाता है ॥ १८ ॥ कभी दुःसह जठराग्निसे अधीर होकर अपने कुटुम्बपर क्रोधित होता है ॥ १९ ॥ फिर वही निद्रारूप अजगरके डसनेसे अज्ञानरूप घोर अन्धकारमें डूबकर शून्य अरण्यमें फेंके हुए मुर्देके समान सो जाता है। उस समय उसे किसी वस्तुका ज्ञान नहीं रहता ॥ २० ॥

कभी सर्परूप दुर्जन इसके गर्वरूप दाँतोंको तोड़ डालते हैं। उस समय इसे एक क्षणको भी नींद नहीं आती और यह, हार्दिक वेदनाके कारण क्षण-क्षणमें विवेकशक्ति क्षीण हो जानेसे अन्तमें अन्धे पुरुषके समान अँधेरे कुएँमें गिर पड़ता है ॥ २१ ॥ कभी विषयरूप मधुकणको ढूँढते-ढूँढते जब यह परस्त्री या परधनको [चोरी आदि उपायोंसे] प्राप्त करनेकी चेष्टा करता है तो यह उनके स्वामी अथवा राजाके हाथसे मारा जाकर अपार नरकमें गिरता है ॥ २२ ॥ हे राजन्! इसीलिये, ऐसा कहते हैं कि प्रवृत्तिमार्गमें किये हुए लौकिक और वैदिक—दोनों प्रकारके ही कर्म जीवको जन्म-मरणरूप संसारमें गिरानेवाले हैं ॥ २३ ॥ यदि राजा आदिके बन्धनसे छुटकारा मिल भी जाय तो, उन स्त्री और धन आदिको देवदत्त नामक कोई दूसरा पुरुष छीन लेता है और उससे भी विष्णुमित्र नामक कोई तीसरा व्यक्ति छीन लेता है। इस प्रकार वे भोग एक पुरुषसे दूसरे पुरुषके पास जाते रहते हैं। उनकी एक स्थानपर स्थिति नहीं होती ॥२४॥ कभी-कभी शीत और वायु आदि अनेकों आधिदैविक, आधिभौतिक और आध्यात्मिक दुःखद परिस्थितियोंके निवारणमें समर्थ न होनेसे अपार चिन्ताओंके कारण उदास हो जाता है ॥२५॥ कभी परस्पर लेन-देनका व्यवहार करता हुआ किसीका एक कौड़ीभर धन भी चुराता

१. प्रा० पा०—गृहीतगतसारः। २. प्रा० पा०—क्वचिद्द्रुमानदंष्ट्रो। ३. प्रा० पा०—कर्हिचित्। ४. प्रा० पा०—चिन्तया आपन्न आस्ते। ५. प्रा० पा०—व्यवहरति वा काकिणिकमात्रमप्येव हरति यत्किं०।

विद्वेषमेति वित्तशाठ्यात् ॥२६॥ अध्वन्यमुष्मिन्निम उपसर्गास्तथा सुखदुःखरागद्वेषभयाभिमानप्रमादोन्मादशोकमोहलोभमात्सर्येर्ष्यावमानक्षुत्पिपासाधिव्याधिजन्मजरामरणादयः ॥ २७ ॥ क्वापि देवमायया स्त्रिया भुजलतोपगूढः प्रस्कन्नविवेकविज्ञानो[1] यद्विहारगृहारम्भाकुलहृदयस्तदाश्रयावसक्तसुतदुहितृकलत्रभाषितावलोकविचेष्टितापहृतहृदय[2] आत्मानमजितात्मापारेऽन्धे[3] तमसि प्रहिणोति ॥२८॥ कदाचिदीश्वरस्य भगवतो विष्णोश्चक्रात्परमाण्वादिद्विपरार्धापवर्गकालोपलक्षणात्[4]परिवर्तितेन वयसा रंहसा हरत आब्रह्मतृणस्तम्बादीनां भूतानामनिमिषतो मिषतां वित्रस्तहृदयस्तमेवेश्वरं कालचक्रनिजायुधं साक्षाद्भगवन्तं यज्ञपुरुषमनादृत्य पाखण्डदेवताः कङ्कगृध्रबकवटप्राया[5] आर्यसमयपरिहृताः सांकेत्येनाभिधत्ते ॥२९॥ यदा पाखण्डिभिरात्मवञ्चितैस्तैरुरुवञ्चितो[6] ब्रह्मकुलं समावसंस्तेषां शीलमुपनयनादिश्रौतस्मार्तकर्मानुष्ठानेन भगवतो यज्ञपुरुषस्याराधनमेव तदरोचयन् शूद्रकुलं भजते[7] निगमाचारेऽशुद्धितो यस्य मिथुनीभावः कुटुम्बभरणं यथा वानरजातेः ॥ ३० ॥

है तो इस धनलोलुपताके कारण दूसरोंसे वैर ठान लेता है ॥२६॥ हे राजन् ! इस मार्गमें सुख, दुःख, राग, द्वेष, भय, अभिमान, प्रमाद, उन्माद, शोक, मोह, लोभ, मत्सरता, ईर्ष्या, अपमान, क्षुधा, पिपासा, आधि (मानसिक कष्ट), व्याधि (शारीरिक कष्ट), जन्म, जरा और मरण आदि अनेकों विघ्न हैं ॥२७॥ [इस विघ्नबहुल मार्गमें इस प्रकार भटकता हुआ] यह जनसमुदाय किसी समय देवमायारूपिणी स्त्रीकी बाहुलताओंमें पड़कर विवेकहीन हो जाता है। तब जिसको सुख देनेके लिये यह गृह आदि बनवानेकी चिन्तामें ग्रस्त रहता है उस स्त्रीके तथा उसीके आश्रयसे प्राप्त होनेवाले पुत्र और पुत्री आदिके मीठे-मीठे बोल, चितवन और चेष्टाओंमें आसक्त हो, उन्हींके द्वारा चित्त चुरा लिये जानेसे वह अजितेन्द्रिय पुरुष अपनेको घोर अन्धकारमय नरकमें डाल देता है ॥२८॥ कभी-कभी ब्रह्मासे लेकर स्तम्बपर्यन्त सम्पूर्ण प्राणियोंकी आयुको अपने वेगसे हरते हुए सबके देखते-देखते एक क्षणमें उसका संहार करनेवाले एवं परमाणुसे लेकर द्विपरार्धपर्यन्त क्षण, घड़ी आदि नामोंसे कहे जानेवाले तथा षडैश्वर्यसम्पन्न भगवान् विष्णुके शस्त्रस्वरूप कालचक्रसे भय मानकर भी वह साक्षात् यज्ञपुरुष श्रीनारायणकी आराधनाको त्यागकर कङ्क, गृध्र, बगुला और उल्लूके सदृश शिष्टाचारसे बहिष्कृत पाखण्डमय अन्य देवताओंका अप्रामाणिक वचनोंके आधारपर आश्रय लेता है ॥२९॥ जब अपनेद्वारा धोखा दिये हुए पाखण्डियोंसे इसे और भी अधिक धोखेमें पड़ना होता है तब यह विप्रकुलमें प्रवेश करता है। किन्तु उपनयनसंस्कारके अनन्तर श्रौत-स्मार्त आदि कर्मोंसे भगवान् यज्ञपुरुषकी आराधना करना आदि उनका स्वभाव उसे अच्छा नहीं लगता; इसलिये वह उन्हें छोड़कर पुनः शूद्रकुल (कर्मरहित) की शरण लेता है और अपनेमें शुद्धि न होनेके कारण वह वेदविहित कर्मोंका अधिकारी न होनेसे वानरोंके समान सदा कुटुम्बपोषण और स्त्री-पुरुष-सम्बन्धमें ही तत्पर रहता है ॥ ३० ॥

१. प्रा० पा०—विज्ञानस्तद्विहारगृहा०। २. प्रा० पा०—भाषितालोकविचेष्टिताहृतहृदय। ३. प्रा० पा०—मापारे तमसि। ४. प्रा० पा०—परमाण्वादिपरार्द्धा०। ५. प्रा० पा०—वटबक०। ६. प्रा० पा०—यदा पाषण्डिभि०। ७. प्रा० पा०—भजति।

तत्रापि निरवरोधः स्वैरेण विहरन्नतिकृपणबुद्धिरन्योन्यमुखनिरीक्षणादिना ग्राम्यकर्मणैव विस्मृतकालावधिः ॥ ३१ ॥ क्वचिद्द्रुमवदैहिकार्थेषु गृहेषु रंस्यन्यथा वानरः सुतदारवत्सलो[1] व्यवायक्षणः ॥ ३२ ॥

वहाँ बेरोक-टोक स्वच्छन्द विहार करनेसे इसकी बुद्धि अत्यन्त दीन हो जाती है और यह एक-दूसरेका मुख देखना आदि विषय-भोगोंमें फँसकर अपने मरणकालकी अवधिको भूल जाता है ॥३१॥ और जिनका वृक्षोंके समान केवल सांसारिक भोग ही फल है ऐसे गृहोंमें वानरके समान सुख मानकर स्त्री-पुत्रादिमें आसक्त हो मैथुनादि विषयभोगोंहीमें अपना समय बिताने लगता है ॥३२॥

एवमध्वन्यवरुन्धानो मृत्युगजभयात्तमसिगिरिकन्दरप्राये ॥ ३३ ॥ क्वचिच्छीतवाताद्यनेकदैविकभौतिकात्मीयानां दुःखानां प्रतिनिवारणेऽकल्पो दुरन्तविषयविषण्ण आस्ते ॥३४॥ क्वचिन्मिथो व्यवहरन्यत्किञ्चिद्धनमुपयाति वित्तशाठ्येन ॥३५॥ क्वचित्क्षीणधनः शय्यासनाशनाद्युपभोगविहीनो[2] यावदप्रतिलब्धमनोरथोपगतादानेऽवसितमतिस्ततस्ततोऽवमानादीनि[4] जनादभिलभते ॥३६॥ एवं वित्तव्यतिषङ्गविवृद्धवैरानुबन्धोऽपि[5] पूर्ववासनया मिथ उद्वहत्यथापवहति ॥ ३७ ॥ एतस्मिन्संसाराध्वनि नानाक्लेशोपसर्गबाधित आपन्नविपन्नो यत्र[6] यस्तमु ह वावेतरस्तत्र[7] विसृज्य जातं जातमुपादाय शोचन्मुह्यन्बिभ्यद्विवदन्क्रन्दन्संहृष्यन्गायन्नह्यमानः[8] साधुवर्जितो नैवावर्ततेऽद्यापि

इस प्रकार प्रवृत्तिमार्गमें भटकता-भटकता यह जनसमुदाय गिरि-गुहारूप रोगोंमें फँसकर मृत्युरूप हाथीसे डरता रहता है ॥३३॥ कभी शीत और वायु आदि अनेकों आधिदैविक, आधिभौतिक और आध्यात्मिक दुःखोंके निवारणमें असमर्थ होनेसे दुरन्त विषयचिन्तासे खिन्न हो जाता है ॥३४॥ कभी परस्पर व्यवहार करते हुए वित्तके लिये दूसरोंको धोखा देकर कुछ धन प्राप्त कर लेता है ॥३५॥ कभी धन नष्ट हो जानेसे जब इसके पास सोने, बैठने और खानेकी भी कोई सामग्री नहीं रहती तो अपने इच्छित भोगोंके न मिलनेसे यह उन्हें [चोरी आदि असदुपायोंसे] पानेका निश्चय करता है और जहाँ-तहाँ मनुष्योंसे अपमानादि प्राप्त करता है ॥३६॥ इस प्रकार धनकी आसक्तिसे परस्पर वैरानुबन्ध बढ़ जानेपर भी यह पूर्ववासनावश आपसमें विवाहादि सम्बन्ध करता और छोड़ता रहता है ॥३७॥ हे राजन् ! इस प्रकार इस संसारमार्गमें घूमनेवाला यह जनसमुदाय नाना प्रकारके क्लेश और विघ्नोंसे बाधित होकर भी भगवान्‌की मायासे बँधा हुआ होनेके कारण मार्गमें जो-जो आपत्तिग्रस्त या मृत्युको प्राप्त हो जाता है उसे जहाँ-के-तहाँ छोड़ता, उत्पन्न हुओंको अपने साथ लगाता, शोक, मोह और भयके वशीभूत होता तथा विवाद, रुदन, हर्ष और गान करता बराबर आगे ही बढ़ रहा है। इसमेंसे एक भगवद्भक्तको छोड़कर

१. प्रा० पा०—वत्सलव्यवाय० । २. प्रा० पा०—शनादिकामभोग्यविहीनो । ३. प्रा० पा०—लब्धमनोरथस्तस्यादानेऽव० । ४. प्रा० पा०—ततोऽधनमानादीनि । ५. प्रा० पा०—विद्धवैरानुबन्धोऽपि । ६. प्राचीन प्रतिमें 'यत्र' यह पाठ नहीं है । ७. प्रा० पा०—तत्र तत्र विसृज्य । ८. प्रा० पा०—मुह्यन् विरस्यन् रुदन्नदन् संहृ० । ९. प्रा० पा०—मुह्यमानः ।

यत आरब्ध एष नरलोकसार्थो यमध्वनः पारमुपदिशन्ति ॥३८॥ यदिदं योगानुशासनं न वा[1] एतदवरुन्धते यन्न्यस्तदण्डा मुनय उपशमशीला उपरतात्मानः समवगच्छन्ति ॥ ३९ ॥ यदपि दिग्गिभजयिनो यज्विनो ये वै राजर्षयः किं तु परं मृधे शयीरन्नस्यामेव ममेयमिति कृतवैरानुबन्धायां विसृज्य स्वयमुपसंहृताः ॥४०॥ कर्मवल्लीमवलम्ब्य तत आपदः कथञ्चिन्नरकाद्विमुक्तः पुनरप्येवं संसाराध्वनि वर्तमानो नरलोकसार्थमुपयाति एवमुपरि गतोऽपि ॥ ४१ ॥

और कोई भी, जहाँसे इस संसारमार्गका आरम्भ हुआ है तथा जिसे इसकी अन्तिम अवधि कहते हैं, उस परमात्माके पास, अभीतक नहीं लौट रहा है ॥३८॥ क्योंकि जिन्होंने जीवोंको दुःख देना छोड़ दिया है वे शान्तिशील संयतचित्त विरक्त मुनिजन जिस योगमार्गमें प्रवृत्त होते हैं उसमें अन्य साधारण पुरुष नहीं जा सकते ॥३९॥ जो दिग्गजोंको जीतनेवाले और बड़े-बड़े यज्ञोंका अनुष्ठान करनेवाले राजर्षिगण हैं उनके लिये भी यह मार्ग अति दुर्गम है। वे भी इस पृथिवीमें 'यह मेरी है—तेरी नहीं' इस प्रकार वैर ठानकर इसे यहीं छोड़ स्वयं मरकर युद्ध-भूमिमें सो जाते हैं ॥४०॥ अपने पूर्वजन्मोंमें किये हुए पुण्यकर्मरूप लताओंका आश्रय ले यह जीव किसी प्रकार उन आपत्तियोंसे अथवा नरकसे छुटकारा पा भी जाता है तो फिर इसी प्रकार संसारमार्गमें भटकता हुआ मनुष्यसमुदायमें ही मिल जाता है। यही दशा स्वर्गादि लोकोंमें जानेवालोंकी भी है ॥४१॥

तस्येदमुपगायन्ति—

आर्षभस्येह राजर्षेर्मनसापि महात्मनः ।
नानुवर्त्मार्हति नृपो मक्षिकेव गरुत्मतः ॥४२॥
यो दुस्त्यजान्दारसुतान्सुहृद्राज्यं हृदिस्पृशः ।
जहौ युवैव मलवदुत्तमश्लोकलालसः ॥४३॥
यो दुस्त्यजान्क्षितिसुतस्वजनार्थदारा-
न्प्रार्थ्यां श्रियं सुरवरैः सदयावलोकाम् ।
नैच्छन्नृपस्तदुचितं महतां मधुद्विट्
सेवानुरक्तमनसामभवोऽपि फल्गुः ॥४४॥

[इस प्रकार भवाटवीका स्पष्टार्थ कर अब भरतजीके चरित्रका उपसंहार करते हुए श्रीशुकदेवजी कहते हैं—] हे राजन्! महाराज भरतके विषयमें उस समयके शिष्ट पुरुष ऐसा कहते हैं—जैसे गरुड़जीकी होड़ कोई मक्खी नहीं कर सकती उसी प्रकार ऋषभपुत्र राजर्षि महात्मा भरतजीके मार्गका कोई और राजा मनसे भी अनुसरण नहीं कर सकता ॥४२॥ जिन्होंने पुण्यकीर्ति श्रीहरिकी प्राप्तिके लिये उत्सुक हो अपनी तरुण अवस्थामें ही जिनका त्यागना अत्यन्त कठिन है उन अति मनोरम स्त्री, पुत्र, मित्र और राज्यादिको विष्ठाके समान त्याग दिया था ॥४३॥ जिन महाराज भरतने अति दुस्त्यज पृथिवी, पुत्र, स्वजन, सम्पत्ति और स्त्रीकी तथा जिसके लिये देवगण भी प्रार्थना करते हैं किन्तु जो स्वयं ही भरतजीके कृपाकटाक्षकी बाट देखती थी उस लक्ष्मीकी तनिक भी इच्छा नहीं की। यह सब उनके लिये योग्य ही था क्योंकि जिन महानुभावोंका चित्त भगवान् मधुसूदनकी सेवामें अनुरक्त होता है उनकी दृष्टिमें मोक्षपद भी अत्यन्त तुच्छ है ॥४४॥

१. प्रा० पा०—न मे 'एतदेव रुन्धते न्यस्तदण्डा मुनयः। २. प्रा० पा०—ममेदमिति कृतवैरानुबन्धा विसृज्य।

यज्ञाय धर्मपतये विधिनैपुणाय
योगाय सांख्यशिरसे प्रकृतीश्वराय।
नारायणाय हरये नम इत्युदारं
हास्यन्मृगत्वमपि यः समुदाजहार ॥४५॥

य इदं भगवतः सभाजितावदातगुणकर्मणो राजर्षेर्भरतस्यानुचरितं स्वस्त्ययनमायुष्यं धन्यं यशस्यं स्वर्ग्यपवर्ग्यं वानुशृणोत्याख्यास्यत्यभिनन्दति च सर्वा एवाशिष आत्मन आशास्ते न काञ्चन परत इति ॥४६॥

अहो ! जिन भरतजीने अपना मृगशरीर छोड़ते हुए भी उच्चस्वरसे इस प्रकार कहा था कि 'धर्मकी रक्षा करनेवाले, कर्मानुष्ठानमें निपुण, योगगम्य, सांख्यशास्त्रके सिद्धान्तस्वरूप, प्रकृतिपति यज्ञपुरुष नारायण श्रीहरिको नमस्कार है' उनका अनुकरण कौन कर सकता है ? ॥४५॥

हे राजन् ! जिनके पवित्र गुण और कर्मोंको भक्तजन प्रशंसा करते हैं उन भगवद्भक्त राजर्षि भरतके इस कल्याणकारी, आयुवर्द्धक, धनप्रद, कीर्तिकारी और स्वर्ग तथा मोक्षादिकी प्राप्ति करानेवाले चरित्रको जो पुरुष सुनता, सुनाता अथवा अनुमोदन करता है उसकी सब कामनाएँ स्वतः ही पूर्ण हो जाती हैं, उसे दूसरोंसे कुछ भी नहीं माँगना पड़ता ॥४६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पञ्चमस्कन्धे भरतोपाख्यानं[3] पारोक्ष्य-विवरणं नाम चतुर्दशोऽध्यायः ॥१४॥

पन्द्रहवाँ अध्याय

भरतके वंशका वर्णन।

श्रीशुक[4] उवाच

भरतस्यात्मजः सुमतिर्नामाभिहितो यमु ह वाव केचित्पाखण्डिन ऋषभपदवीमनुवर्तमानं चानार्या अवेदसमाम्नातां देवतां स्वमनीषया पापीयस्या कलौ कल्पयिष्यन्ति ॥ १ ॥ तस्माद्वृद्धसेनायां देवताजिन्नाम पुत्रोऽभवत् ॥ २ ॥ अथासुर्यां तत्तनयो देवद्युम्नस्ततो धेनुमत्यां सुतः परमेष्ठी तस्य सुवर्चलायां प्रतीह[5] उपजातः ॥ ३ ॥ य आत्मविद्या-

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! भरतजीका पुत्र सुमति था—ऐसा पहले हम कह चुके हैं। उसे ऋषभदेवजीके मार्गका अनुसरण करते देख कलियुग-में बहुतसे पाखण्डी अनार्य पुरुष अपनी दुष्टबुद्धिसे वेद-विरुद्ध कल्पना करके देवता मानेंगे ॥ १ ॥ उसके वृद्धसेना नामक स्त्रीसे देवताजित् नामक पुत्र हुआ ॥२॥ देवताजित्के असुर्याके गर्भसे देवद्युम्न, देवद्युम्नके धेनुमतीसे परमेष्ठी और परमेष्ठीके सुवर्चलासे प्रतीह नामक पुत्र उत्पन्न हुआ ॥३॥ जिसने अन्य पुरुषोंको आत्मविद्याका उपदेश कर स्वयं शुद्धचित्त

१. प्रा० पा०—स्वर्ग्यपवर्ग्यमनुश्रृ०। २. प्रा० पा०—ख्यास्यति ह्येवाभिनन्दति। ३. प्रा० पा०—भरतोपाख्यानं ब्राह्मणराहुगणसंवादे चतुर्दशो। ४. प्रा० पा०—शुक उवाच। ५. प्रा० पा०—प्रतीहार।

माख्याय स्वयं संशुद्धो[1] महापुरुषमनुससार ॥ ४ ॥ प्रतीहात्[2]सुवर्चलायां प्रतिहर्त्रादयस्त्रय आसन्निज्याकोविदाः सूनवः प्रतिहर्तुः स्तुत्यामजभूमानावजनिषाताम् ॥५॥ भूम्न ऋषिकुल्यायामुद्गीथस्ततः प्रस्तावो देवकुल्यायां प्रस्तावान्नियुत्सायां[3] हृदयज आसीद्विभुर्विभो रत्यां च पृथुषेणस्तस्मान्नक्त आकूत्यां जज्ञे नक्ताद्द्रुतिपुत्रो गयो राजर्षिप्रवर उदारश्रवा अजायत साक्षाद्भगवतो विष्णोर्जगद्रिरक्षिषया गृहीतसत्त्वस्य कलात्मवत्त्वादिलक्षणेन महापुरुषतां प्राप्तः ॥ ६ ॥ स वै स्वधर्मेण[4] प्रजापालनपोषणप्रीणनोपलालनानुशासनलक्षणेनेज्यादिना च भगवति महापुरुषे परावरे ब्रह्मणि सर्वात्मनार्पितपरमार्थलक्षणेन ब्रह्मविच्चरणानुसेवयापादितभगवद्भक्तियोगेन चाभीक्ष्णशः परिभावितातिशुद्धमतिरुपरतानात्म्य आत्मनि स्वयमुपलभ्यमानब्रह्मात्मानुभवोऽपि निरभिमान एवावनिमजूगुपत्[5] ॥७॥

तस्येमां गाथां पाण्डवेय पुराविद उपगायन्ति ॥८॥

गयं नृपः कः प्रतियाति कर्मभि-
र्यज्वाभिमानी बहुविद्धर्मगोप्ता ।
समागतश्रीः सदसस्पतिः सतां
सत्सेवकोऽन्यो भगवत्कलामृते ॥ ९ ॥

यमभ्यषिञ्चन्परया मुदा सतीः

हो परमपुरुष श्रीनारायणका साक्षात् अनुभव किया था ॥४॥ प्रतीहके सुवर्चला नामकी भार्यासे प्रतिहर्ता, प्रस्तोता और उद्गाता नामक तीन पुत्र हुए जो यज्ञादि कर्मोंमें निपुण थे । उनमेंसे प्रतिहर्ताके स्तुति नामकी पत्नीसे अज और भूमा ये दो पुत्र हुए ॥५॥ भूमाके ऋषिकुल्यासे उद्गीथ, उद्गीथके देवकुल्यासे प्रस्ताव, और प्रस्तावके नियुत्सासे विभु नामक पुत्रका जन्म हुआ । विभुके रतिके गर्भसे पृथुषेण, पृथुषेणके आकूतिसे नक्त उत्पन्न हुआ तथा नक्तके द्रुतिके गर्भसे उदारकीर्ति राजर्षिश्रेष्ठ गयका जन्म हुआ, जो जगत्की रक्षाके लिये सत्त्वगुणको स्वीकार करनेवाले साक्षात् भगवान् विष्णुकी कलारूप होनेसे महापुरुषताको प्राप्त हुए ॥६॥ महाराज गयने अपने धर्मानुसार प्रजाका पालन, पोषण, प्रीणन, लालन और शासन करना आदि उपायोंसे तथा यज्ञादिसे, ब्रह्मादिसे भी श्रेष्ठ परमपुरुष परब्रह्म श्रीहरिको परमार्थभावसे अपने सम्पूर्ण कर्म समर्पण करनेसे एवं ब्रह्मवेत्ता महापुरुषोंकी चरणसेवासे प्राप्त हुए भक्तियोगके द्वारा निरन्तर भगवच्चिन्तन करते हुए अपने चित्तको शुद्ध किया और देहादि अनात्मवस्तुओंसे अहंभाव हटाकर अपने आत्माको ब्रह्मस्वरूपसे अनुभव किया । यह सब होते हुए भी वह निरभिमानतासे पृथिवीका पालन करते रहे ॥७॥

हे पाण्डवपुत्र ! पूर्वकालीन इतिहासको जाननेवाले महात्मागण राजर्षि गयके विषयमें ऐसी गाथा सुनाते हैं ॥ ८ ॥ 'अहो ! अपने कर्मोंमें महाराज गयकी बराबरी और कौन राजा कर सकता है ? क्योंकि भगवदंश राजर्षि गयको छोड़कर और कोई भी इस प्रकार यज्ञोंका विधिवत् अनुष्ठान करनेवाला, सर्वत्र मान्य, बहुज्ञ, धर्मकी रक्षा करनेवाला, लक्ष्मीवान्, साधुसमाजका शिरोमणि तथा सत्पुरुषोंका सच्चा सेवक नहीं हो सकता ॥९॥ जिनका सत्यसंकल्पवाली परम साध्वी श्रद्धा, मैत्री और दया आदि दक्ष-

१. प्रा० पा०—शुद्धो । २. प्रा० पा०—प्रतीहारात्सु० । ३. प्रा० पा०—प्रस्तावाद्विरुत्सायां हृदयजय आसीद्विभुः । ४. प्रा० पा०—स वै धर्मेण प्रजा० । ५. प्रा० पा०—इवाव० ।

सत्याशिषो दक्षकन्याः सरिद्भिः ।
यस्य प्रजानां दुदुहे धराशिषो
निराशिषो[1] गुणवत्सस्नुतोधाः ॥१०॥
छन्दांस्यकामस्य च यस्य कामा-
न्दुदूहुराजह्रुरथो बलिं नृपाः ।
प्रत्यञ्चिता युधि धर्मेण[2] विप्रा
यदाशिषां षष्ठमंशं परेत्य ॥११॥
यस्याध्वरे भगवानध्वरात्मा
मघोनि माद्यत्युरुसोमपीथे ।
श्रद्धाविशुद्धाचलभक्तियोग-
समर्पितेज्याफलमाजहार[3] ॥१२॥
यत्प्रीणनाद्ब्रह्मदिपि[4] देवतिर्यङ्-
मनुष्यवीरुत्तृणमाविरिञ्चात् ।
प्रीयेत सद्यः स ह विश्वजीवः
प्रीतः स्वयं प्रीतिमगाद्गयस्य ॥१३॥

कुमारियोंने अति प्रसन्न चित्तसे गंगा आदि नदियोंके सहित अभिषेक किया था तथा जिनकी कोई कामना न होनेपर भी उनके गुणरूप बछड़ेके प्रेमसे स्तनोंमें दूध भर आनेके कारण गोरूप पृथिवीने प्रजाकी सम्पूर्ण कामनाओंको दुग्धरूपसे दिया था ॥१०॥ जिनके निष्काम होनेपर भी वेदों (वेदोक्त कर्मों) ने सम्पूर्ण कामनाओंको पूर्ण किया, युद्धमें जिनके बाणोंसे विद्ध होकर राजाओंने भाँति-भाँतिकी भेंटें समर्पण कीं तथा जिनके धर्मयुक्त प्रजापालन और दक्षिणा आदिसे सन्तुष्ट हो परलोकमें ब्राह्मणोंने अपने धर्मफलका छठा भाग दिया ॥११॥ जिनके यज्ञमें अत्यन्त सोमपान करनेसे इन्द्र उन्मत्त हो गया था तथा जिनके अत्यन्त श्रद्धा और विशुद्ध तथा निश्चल भक्तिभावसे समर्पण किये हुए यज्ञफलको भगवान् यज्ञपुरुषने [प्रत्यक्ष प्रकट होकर] ग्रहण किया था ॥१२॥ यज्ञमें जिनके तृप्त होनेपर देवता, तिर्यक्, मनुष्य, वृक्ष और तृणादिसे लेकर ब्रह्मापर्यन्त संसारके सम्पूर्ण जीव तत्काल तृप्त हो जाते हैं उन विश्वके प्राणभूत श्रीहरिने प्रसन्न होकर जिन राजर्षि गयका प्रिय किया उनकी समता कौन कर सकता है ?' ॥१३॥

गयाद्गयन्त्यां चित्ररथः सुगतिरवरोधन इति त्रयः पुत्रा बभूवुश्चित्ररथादूर्णायां सम्राडजनिष्ट ॥१४॥ तत उत्कलायां मरीचिर्मरीचेर्बिन्दुमत्यां बिन्दुमानुदपद्यत तस्मात्सरघायां मधुनामाभवन्मधोः सुमनसि[6] वीरव्रतस्ततो भोजायां मन्थुप्रमन्थू जज्ञाते मन्थोः सत्यायां भौवनस्ततो दूषणायां त्वष्टाजनिष्ट त्वष्टुर्विरोचनायां विरजो विरजस्य शतजित्प्रवरं पुत्रशतं कन्या च विषूच्यां[7] किल जातम् ॥१५॥

महाराज गयके गयन्ती नामवाली भार्यासे चित्ररथ, सुगति और अवरोधन नामक तीन पुत्र हुए। उनमेंसे चित्ररथकी ऊर्णा नामक पत्नीसे सम्राट्का जन्म हुआ ॥१४॥ सम्राट्के उत्कलासे मरीचि और मरीचिके बिन्दुमतिसे बिन्दुमान् नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। बिन्दुके सरघा नामकी स्त्रीसे मधु नामक पुत्रका जन्म हुआ। मधुके सुमनासे वीरव्रत तथा वीरव्रतके भोजासे मन्थु और प्रमन्थु नामक दो पुत्र हुए। उनमेंसे मन्थुके सत्या नामकी पत्नीसे भौवन, भौवनके दूषणासे त्वष्टा, त्वष्टाके विरोचनासे विरज तथा विरजके विषूची नामकी भार्यासे शतजित्-प्रमुख सौ पुत्र और एक कन्याका जन्म हुआ ॥१५॥

१. प्रा० पा०—यथेप्सिता । २. प्रा० पा०—युधि धर्मे च विप्राः । ३. प्रा० पा०—समर्थितेज्या० । ४. प्रा० पा०—यत्प्रीणनं ५. प्रा० पा०—मधुर्नामा । ६. प्रा० पा०—सुमनसा । ७. प्रा० पा०—रिषूच्यां ।

तत्रायं श्लोकः ॥

प्रैयव्रतं वंशमिमं विरजश्चरमोद्भवः ।
अकरोदत्यलं कीर्त्या विष्णुः सुरगणं यथा ॥१६॥

विरजके विषयमें यह श्लोक प्रसिद्ध है—'जिस प्रकार भगवान् विष्णु देवताओंकी शोभा बढ़ाते हैं उसी प्रकार अन्तमें उत्पन्न हुए राजा विरजने अपनी सत्कीर्तिसे प्रियव्रतके वंशको सुशोभित किया' ॥१६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पञ्चमस्कन्धे प्रियव्रत-वंशानुकीर्तनं[1] नाम पञ्चदशोऽध्यायः ॥१५॥

सोलहवाँ अध्याय

भुवनकोशवर्णन

राजोवाच

उक्तस्त्वया भूमण्डलायामविशेषो यावदादित्यस्तपति यत्र चासौ ज्योतिषां गणैश्चन्द्रमा वा सह दृश्यते[2] ॥ १ ॥ तत्रापि प्रियव्रतरथचरणपरिखातैः सप्तभिः सप्त सिन्धव उपक्लृप्ता यत एतस्याः[3] सप्तद्वीपविशेषविकल्पस्त्वया भगवन्खलु सूचित एतदेवाखिलमहं मानतो लक्षणतश्च सर्वं विजिज्ञासामि ॥ २ ॥ भगवतो गुणमये स्थूलरूप आवेशितं मनो ह्यगुणेऽपि सूक्ष्मतम आत्मज्योतिषि परे ब्रह्मणि भगवति वासुदेवाख्ये क्षममावेशितुं तदु हैतद्गुरोऽर्हस्यनुवर्णयितुमिति ॥ ३ ॥

राजा परीक्षित्‌ने कहा—हे मुने ! जहाँतक सूर्यका प्रकाश है तथा जहाँतक तारागणके सहित चन्द्रदेव दीख पड़ते हैं वहाँतक सम्पूर्ण भूमण्डलका विस्तार आपने मुझसे कहा ॥१॥ उसका वर्णन करते हुए आपने जो कहा कि इस पृथिवीतलपर राजा प्रियव्रतके रथके पहियोंसे बनी हुई खाइयोंके सात समुद्र हो जानेसे सात द्वीपोंकी रचना हुई सो मैं इन सबका परिमाण और लक्षणोंके सहित पूरा-पूरा विवरण जानना चाहता हूँ ॥२॥ भगवान्‌के सगुण स्थूलरूपमें लगा हुआ चित्त स्वयंप्रकाश परब्रह्म भगवान् वासुदेव नामक उनके निर्गुण और अत्यन्त सूक्ष्मस्वरूपमें भी लग सकता है। इसलिये हे गुरो ! उनके स्थूलरूप इस ब्रह्माण्डका विस्तारसे वर्णन कीजिये ॥३॥

ऋषिरुवाच

न वै महाराज भगवतो मायागुणविभूतेः काष्ठां मनसा वचसा वाधिगन्तुमलं विबुधायुषापि पुरुषस्तस्मात्प्राधान्येनैव भूगोलकविशेषं नामरूपमानलक्षणतो व्याख्यास्यामः ॥ ४ ॥ यो[4] वायं द्वीपः कुवलयकमलकोशाभ्यन्तरकोशो नियुतयोजन-

श्रीशुकदेवजी बोले—हे महाराज ! कोई भी पुरुष देवताओंके समान आयु पाकर भी भगवान्‌की मायाके गुणोंके विस्तारका अन्त मनसे जाननेमें अथवा वाणीसे वर्णन करनेमें समर्थ नहीं है। इसलिये हम मुख्य-मुख्य नाम, रूप, परिमाण और लक्षणोंकी व्याख्या करते हुए भूगोलका वर्णन करते हैं ॥४॥ जिस द्वीपमें हम रहते हैं वह इस ब्रह्माण्डकमलके कोश (मध्यभाग) के समान

१. प्रा० पा०—वंशानुचरितं । २. प्रा० पा०—सह दृश्येत । ३. प्रा० पा०—यत एतस्यां । ४. प्रा० पा०—यावानयं द्वीपः ।

विशालः समवर्तुलो यथा पुष्करपत्रम् ॥ ५ ॥ यस्मिन्नव वर्षाणि नव योजनसहस्रायामान्यष्टभिर्मर्यादागिरिभिः सुविभक्तानि भवन्ति ॥ ६ ॥ एषां मध्ये इलावृतं नामाभ्यन्तरवर्षं यस्य नाभ्यामवस्थितः सर्वतः सौवर्णः कुलगिरिराजो मेरुर्द्वीपायामसमुन्नाहः कर्णिकाभूतः कुवलयकमलस्य मूर्धनि द्वात्रिंशत्सहस्रयोजनविततो मूले षोडशसहस्रं[1] तावतान्तर्भूम्यां प्रविष्टः ॥ ७ ॥ उत्तरोत्तरेणेलावृतं नीलः श्वेतः शृङ्गवानिति त्रयो रम्यकहिरण्मयकुरूणां[2] वर्षाणां मर्यादागिरयः प्रागायता उभयतः क्षारोदावधयो द्वि[3]सहस्रपृथव एकैकशः पूर्वस्मात्पूर्वस्मादुत्तर उत्तरो[4] दशांशाधिकांशेन दैर्घ्य एव ह्रसन्ति ॥ ८ ॥

है। इसका विस्तार एक लाख योजन है और यह कमलपत्रके समान गोलाकार है ॥५॥ इसमें नौ-नौ सहस्र योजन विस्तारवाले नौ वर्ष हैं जो आठ सीमा-विभाजक पर्वतोंसे आपसमें अलग-अलग बँटे हुए हैं ॥६॥ इनके बीचो-बीचमें इलावृत नामका वर्ष है, उनके मध्यमें कुल पर्वतोंका राजा मेरु पर्वत है जो भूमण्डलरूप कमलकी कर्णिकारूप है तथा ऊपरसे नीचेतक सबका-सब सुवर्णमय है। उसका विस्तार शिखरपर बत्तीस सहस्र योजन और जड़में सोलह सहस्र योजन है तथा वह इतना (सोलह सहस्र योजन) ही पृथिवीमें घुसा हुआ है ॥७॥ इलावृत वर्षके उत्तरमें क्रमशः नील, श्वेत और शृंगवान् नामक तीन पहाड़ हैं जो रम्यक, हिरण्मय और कुरु नामक तीन वर्षोंके मर्यादा (सीमा-विभाजक) पर्वत हैं। वे पूर्व-पश्चिमकी ओर खारे पानीके समुद्रतक फैले हुए हैं। उनमेंसे प्रत्येककी मोटाई दो हजार योजन है और पहलेकी अपेक्षा पिछला क्रमशः लम्बाईमें ही दशमांशसे कुछ अधिक कम है, [चौड़ाई और ऊँचाईमें सब समान हैं] ॥८॥

एवं दक्षिणेनेलावृतं निषधो हेमकूटो हिमालय इति प्रागायता यथानीलादयोऽयुतयोजनोत्सेधा हरिवर्षकिंपुरुषभारतानां यथासंख्यम् ॥ ९ ॥ तथैवेलावृतमपरेण पूर्वेण च माल्यवद्गन्धमादनावानीलनिषधायतौ द्वि[5]सहस्रं पप्रथतुः केतुमालभद्राश्वयोः सीमानं विदधाते ॥१०॥ मन्दरो मेरुमन्दरः सुपार्श्वः कुमुद इत्ययुतयोजनविस्तारोन्नाहा मेरोश्चतुर्दिशमवष्टम्भगिरय उपक्लृप्ताः ॥११॥

इसी प्रकार इलावृतके दक्षिणकी ओर निषध, हेमकूट और हिमालय नामक तीन पर्वत हैं। ये भी नीलादि पर्वतोंके समान पूर्व-पश्चिमकी ओर फैले हुए हैं और दश सहस्र योजन ऊँचे हैं। इनसे क्रमशः हरिवर्ष, किम्पुरुष और भारतवर्षकी सीमाका विभाग होता है ॥९॥ इसी प्रकार इलावृतके पूर्व और पश्चिमकी ओर नील और निषध पर्वततक फैले हुए गन्धमादन और माल्यवान् नामक दो पर्वत हैं। इनकी चौड़ाई दो सहस्र योजन है और ये केतुमाल और भद्राश्व नामक दो वर्षोंकी सीमा निश्चित करते हैं ॥१०॥ इनके सिवा मन्दर, मेरुमन्दर, सुपार्श्व और कुमुद ये चार दश सहस्र योजन ऊँचे पर्वत मेरु-पर्वतकी आधारभूत थूनियोंके समान बने हुए हैं ॥११॥

१. प्रा० पा०—षोडशसहस्रे। २. प्रा० पा०—कुरूणां त्रयाणां वर्षाणां। ३. प्रा० पा०—द्विसाहस्र। ४. प्रा० पा०—उत्तरेण। ५. प्रा० पा०—द्विसाहस्रं।

चतुर्ष्वेतेषु चूतजम्बूकदम्बन्यग्रोधाश्चत्वारः पादपप्रवराः पर्वतकेतव इवाधिसहस्रयोजनोन्नाहास्तावद्विटपविततयः शतयोजनपरिणाहाः ॥१२॥

इन चारों पर्वतोंपर उनकी ध्वजाओंके समान आम, जामुन, कदम्ब और बड़के चार पेड़ हैं जो ग्यारह सौ योजन ऊँचे और इतने ही शाखाओंके विस्तारवाले हैं तथा जिनकी मोटाई सौ योजन है ॥१२॥

ह्रदाश्चत्वारः पयोमध्विक्षुरसमृष्टजला यदुपस्पर्शिन उपदेवगणा योगैश्वर्याणि स्वाभाविकानि भरतर्षभ धारयन्ति ॥ १३ ॥ देवोद्यानानि च भवन्ति चत्वारि नन्दनं चैत्ररथं वैभ्राजकं सर्वतोभद्रमिति ॥१४॥ येष्वमरपरिवृढाः सहसुरललनाललामयूथपतय उपदेवगणैरुपगीयमानमहिमानः किल विहरन्ति ॥१५॥

हे भरतश्रेष्ठ ! इन पर्वतोंपर दूध, मधु, ईखके रस और मीठे पानीके चार सरोवर हैं जिनमें स्नान करनेवाले यक्ष-किन्नरादि उपदेवोंको बिना प्रयत्नके स्वभावसे ही योगसिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं ॥१३॥ इसी प्रकार इनपर नन्दन, चैत्ररथ, वैभ्राजक और सर्वतोभद्र नामक चार दिव्य उपवन हैं ॥१४॥ जिनमें सुन्दरी देवाङ्गनाओंके यूथपति देवश्रेष्ठगण विहार करते हैं। उस समय गन्धर्वादि उपदेवगण उनकी महिमाका बखान करते हैं ॥१५॥

मन्दरोत्सङ्ग एकादशशतयोजनोत्तुङ्गदेवचूतशिरसो गिरिशिखरस्थूलानि फलान्यमृतकल्पानि पतन्ति ॥१६॥ तेषां विशीर्यमाणानामतिमधुरसुरभिसुगन्धिबहुलारुणरसोदेनारुणोदा नाम नदी मन्दरगिरिशिखरान्निपतन्ती पूर्वेणेलावृतमुपप्लावयति ॥१७॥ यदुपजोषणाद्भवान्या अनुचरीणां पुण्यजनवधूनामवयवस्पर्शसुगन्धवातो दशयोजनं समन्तादनुवासयति ॥१८॥ एवं जम्बूफलानामत्युच्चनिपातविशीर्णानामनस्थिप्रायाणामिभकायनिभानां रसेन जम्बू नाम नदी मेरुमन्दरशिखरादयुतयोजनादवनितले निपतन्ती दक्षिणेनात्मानं यावदिलावृतमुपस्यन्दयति १९

मन्दराचलकी गोदमें जो ग्यारह सौ योजन ऊँचा आमका वृक्ष है उससे पहाड़की चट्टानके समान मोटे और अमृतके समान स्वादिष्ट फल गिरते हैं ॥१६॥ उनके फटनेपर उनसे जो अति सुगन्धित और मधुर अरुणवर्ण रस बहता है उससे उत्पन्न हुई अरुणोदा नामकी नदी मन्दराचलके शिखरसे गिरकर अपने जलसे इलावृतखण्डके पूर्वी भागको सींचती है ॥१७॥ उस जलका सेवन करनेसे श्रीभवानीकी सखी यक्षपत्नियोंके अंगोंसे ऐसी सुगन्ध निकलती है कि उनके अंगावयवोंका स्पर्श करके बहनेवाला वायु उनके चारों ओर दश योजन पर्यन्त सम्पूर्ण देशको सुवासित कर देता है ॥१८॥ इसी प्रकार बहुत ऊँचेसे गिरे हुए हाथीके समान बड़े-बड़े और बहुत ही छोटी गुठलीवाले जामुनके फलोंके फट जानेसे उनके रससे उत्पन्न हुई जम्बू नामकी नदी मेरुपर्वतके दश सहस्र योजन ऊँचे शिखरसे पृथिवीपर गिरकर अपने जलसे इलावृतखण्डके दक्षिणी भागको सींचती है ॥ १९ ॥

१. प्रा० पा०—इव विंशसहस्रयोज० । २. प्रा० पा०—तेष्वमरपरिवृढाः । ३. प्रा० पा०—देवगिरिशिरसो । ४. प्रा० पा०—रसोदेन नानारुणोदा नाम । ५. प्रा० पा०—वृतमुपस्यन्दति ।

तावदुभयोरपि रोधसोर्या मृत्तिका तद्रसेनानुविध्यमाना[1] वाय्वर्कसंयोगविपाकेन सदासरलोकाभरणं[2] जाम्बूनदं नाम सुवर्णं भवति ॥२०॥ यदु ह वाव विबुधादयः सह[3] युवतिभिर्मुकुटकटककटिसूत्राद्याभरणरूपेण खलु धारयन्ति ॥२१॥

यस्तु महाकदम्बः सुपार्श्वनिरूढो[4] यास्तस्य कोटरेभ्यो विनिःसृताः पञ्चायामपरिणाहाः पञ्च मधुधाराः सुपार्श्वशिखरात्पतन्त्योऽपरेणात्मानमिलावृतमनुमोदयन्ति[5] ॥२२॥ या[6] ह्युपयुञ्जानानां मुखनिर्वासितो[7] वायुः समन्ताच्छतयोजनमनुवासयति ॥२३॥

एवं कुमुदनिरूढो यः शतवल्शो[8] नाम वटस्तस्य स्कन्धेभ्यो नीचीनाः[9] पयोदधिमधुघृतगुडान्नाद्यम्बरशय्यासनाभरणादयः[10] सर्व एव कामदुघा नदाः कुमुदाग्रात्पतन्तस्तमुत्तरेणेलावृतमुपयोजयन्ति ॥२४॥ यानुपजुषाणानां न कदाचिदपि प्रजानां वलीपलितक्लमस्वेददौर्गन्ध्यजरामयमृत्युशीतोष्णवैवर्ण्योपसर्गादयस्तापविशेषा भवन्ति यावज्जीवं सुखं निरतिशयमेव ॥ २५ ॥

कुरङ्गकुररकुसुम्भवैकङ्कत्रिकूटशिशिरपतङ्ग-[11]

उस नदीके दोनों तटोंकी जो मिट्टी है वह उस रससे भीगकर फिर वायु और सूर्यके संयोगसे सूख जानेपर देवलोकको सर्वदा विभूषित करनेवाले जाम्बूनद नामक सुवर्णके रूपमें परिणत हो जाती है ॥२०॥ जिसे देवता और गन्धर्वादि अपनी तरुणी स्त्रियोंके सहित मुकुट, कटक और किंकिणी आदि आभूषणोंके रूपमें धारण करते हैं ॥२१॥

सुपार्श्व पर्वतपर उगा हुआ जो बड़ा भारी कदम्बका वृक्ष है उसके पाँच कोटरोंसे मधुकी पाँच धाराएँ निकलती हैं जिनकी मोटाई पाँच आयाम (कौलियाभर) है। इस प्रकार सुपार्श्व पर्वतके शिखरसे गिरी हुई वे पाँच मधु-धाराएँ इलावृतखण्डके पश्चिमीय भागको अपनी सुगन्धसे सुवासित करती हुई बहती हैं ॥२२॥ जिनका पान करनेवाले प्राणियोंके मुखसे निकला हुआ वायु सब ओर सौ योजन भूमिको सुगन्धित करता है ॥२३॥

इसी प्रकार कुमुद पर्वतपर जो शतवल्श नामक वटवृक्ष है उसकी शाखाओंसे नीचेकी ओर दूध, दही, मधु, घृत, गुड, अन्नादि तथा वस्त्र, शय्या, आसन और आभूषणादि [धारण करनेवाले] नद निकलते हैं; वे सबके सब इच्छानुसार भोगोंको देनेवाले हैं तथा कुमुद पर्वतके शिखरसे गिरकर इलावृतके उत्तरी भागको सींचते हैं ॥ २४ ॥ उन नदोंके दिये हुए सम्पूर्ण पदार्थोंका उपभोग करनेसे वहाँकी प्रजाको कभी त्वचामें झुर्रियाँ पड़ जाना, बाल श्वेत हो जाना, थक जाना, शरीरमें पसीना आना, अथवा दुर्गन्ध, बुढ़ापा, मृत्यु, सर्दी, गर्मी और शरीरकी कान्ति बदल जाना आदि विघ्न नहीं सताते और उन्हें जीवनपर्यन्त पूरा-पूरा सुख प्राप्त होता है ॥२५॥

हे राजन्! कमलकी कर्णिकाके चारों ओर जैसे केशर होता है उसी प्रकार मेरुके मूलदेशमें

१. प्रा० पा०—रसेनानुविध्यमाना च। २. प्रा० पा०—सदाचामरलोकाभरणं। ३. प्रा० पा०—सह सहस्र युवतिभि०। ४. प्रा० पा०—निरूढस्तस्य याः कोट०। ५. प्रा० पा०—मनुमादयन्ति। ६. प्रा० पा०—यो ह्युप०। ७. प्रा० पा०—मुखनिःश्वसितो। ८. प्रा० पा०—शतवल्यो। ९. प्रा० पा०—निलीनाः पयोद०। १०. प्रा० पा०—गुडान्नाम्बरशय्या। ११. प्रा० पा०—कुवर०।

रुचकनिषधशिनीवासकपिलशङ्खवैदूर्यजारुधिहंस-ऋषभनागकालञ्जरनारदादयो विंशतिगिरयो मेरोः कर्णिकाया इव केशरभूता मूलदेशे परित उपक्लृप्ताः ॥ २६ ॥ जठरदेवकूटौ मेरुं पूर्वेणाष्टादशयोजनसहस्रमुदगायतौ द्विसहस्रं पृथुतुङ्गौ भवतः एवमपरेण पवनपारियात्रौ दक्षिणेन कैलासकरवीरौ प्रागायतावेवमुत्तरतस्त्रिशृङ्गमकरावष्टभिरेतैः परिस्तृतोऽग्निरिव परितश्चकास्ति काञ्चनगिरिः ॥२७॥ मेरोर्मूर्धनि भगवत आत्मयोनेर्मध्यत उपक्लृप्तां पुरीमयुतयोजनसाहस्रीं समचतुरस्रां शातकौम्भीं वदन्ति ॥ २८ ॥ तामनु परितो लोकपालानामष्टानां यथादिशं यथारूपं तुरीयमानेन पुरोऽष्टावुपक्लृप्ताः ॥२९॥

उसके चारों ओर कुरङ्ग, कुरर, कुसुम्भ, वैकंक, त्रिकूट, शिशिर, पतङ्ग, रुचक, निषध, शिनीवास, कपिल, शङ्ख, वैदूर्य, जारुधि, हंस, ऋषभ, नाग, कालञ्जर और नारद आदि बीस पर्वत स्थित हैं ॥२६॥ मेरुके पूर्वकी ओर जठर और देवकूट नामक दो पर्वत हैं जो उत्तरकी ओर अठारह हजार योजन लम्बे तथा दो हजार योजन चौड़े और ऊँचे हैं। इसी प्रकार पश्चिमकी ओर पवन और पारियात्र, दक्षिणकी ओर कैलास और करवीर तथा उत्तरकी ओर पूर्वाभिमुख फैले हुए त्रिशृंग और मकर नामक दो पर्वत हैं। इन आठ पर्वतोंसे घिरा हुआ सुमेरु पर्वत चारों ओरसे परिक्रमा किये हुए अग्निके समान प्रतीत होता है ॥२७॥ कहते हैं, इस सुमेरु पर्वतके शिखरपर बीचोबीचमें भगवान् ब्रह्माजीकी समचतुष्कोण और सुवर्णमयी पुरी है, जिसका विस्तार सहस्र अयुत योजन है ॥२८॥ उसके नीचे चारों ओर पूर्वादि आठों दिशाओं और उपदिशाओंमें उनके अधिपति इन्द्रादि आठों लोकपालोंकी आठ पुरियाँ हैं, जो अपने-अपने स्वामीके अनुरूप और परिमाणमें ब्रह्माजीकी पुरीसे चौथाई हैं ॥२९॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पञ्चमस्कन्धे भुवन-कोशवर्णनं नाम षोडशोऽध्यायः ॥१६॥

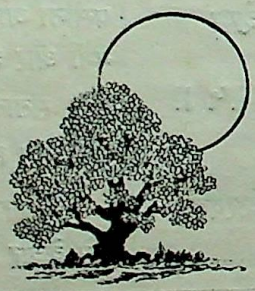

१. प्रा० पा०—क्षितिरावासकपिल० । २. प्रा० पा०—नीरदायामा । ३. प्राचीन प्रतिमें 'विंशतिगिरयो'—यह पाठ नहीं है। ४. प्रा० पा०—योजनसाहस्रमुदगायतौ द्विसाहस्रं पृथुतुङ्गौ।

सत्रहवाँ अध्याय

गङ्गाजीका विवरण और भगवान् शङ्करकृत संकर्षणदेवकी स्तुति।

श्रीशुक उवाच

तत्र भगवतः साक्षाद्यज्ञलिङ्गस्य विष्णोर्विक्रमतो वामपादाङ्गुष्ठनखनिर्भिन्नोर्ध्वाण्डकटाहविवरेणान्तःप्रविष्टा या बाह्यजलधारा तच्चरणपङ्कजावनेजनारुणकिञ्जल्कोपरञ्जिताखिलजगदघमलापहोपस्पर्शनामला साक्षाद्भगवत्पदीत्यनुपलक्षितवचोऽभिधीयमानातिमहता कालेन युगसहस्रोपलक्षणेन दिवो मूर्धन्यवततार यत्तद्विष्णुपदमाहुः ॥ १ ॥ यत्र ह वाव वीरव्रत औत्तानपादिः परमभागवतोऽस्मत्कुलदेवताचरणारविन्दोदकमिति यामनुसवनमुत्कृष्यमाणभगवद्भक्तियोगेन दृढं क्लिद्यमानान्तर्हृदय औत्कण्ठ्यविवशामीलितलोचनयुगलकुड्मलविगलितामलबाष्पकलयाभिव्यज्यमानरोमपुलककुलकोऽधुनापि परमादरेण शिरसा बिभर्ति ॥ २ ॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन्! राजा बलिकी यज्ञशालामें जाकर जब साक्षात् यज्ञमूर्ति भगवान् विष्णुने त्रिलोकीको नापनेके लिये अपना पैर फैलाया तो उनके बायें चरणके अँगूठेके नखसे ऊपरका ब्रह्माण्डकटाह फट गया। उस छिद्रमें होकर जो ब्रह्माण्डसे बाहरके जलकी धारा आयी वह उस चरणकमलके धोनेसे उसकी अरुण वर्ण केसरसे मिलकर लाल हो गयी। वह निर्मल जलधारा अपना स्पर्श होते ही जगत्के सम्पूर्ण पापोंको नष्ट कर देती है। उसे पहले-पहल किसी और नामसे न पुकारकर साक्षात् 'भगवत्पदी' कहते हैं। उस ब्रह्माण्डकटाहसे वह हजारों युगके दीर्घकालके अनन्तर स्वर्गके ऊपर स्थित साक्षात् ध्रुवलोकमें जिसे 'विष्णुपद' भी कहते हैं उतरकर आयी ॥१॥ हे वीरव्रत! उस ध्रुवलोकमें उत्तानपादके पुत्र परम भगवद्भक्त ध्रुवजी रहते हैं। वे नित्यप्रति बढ़ते हुए भक्तियोगसे 'यह हमारे कुलदेवताका चरणोदक है' ऐसा मानकर उस जलको अब अत्यन्त आदरके सहित अपने शिरपर चढ़ाते हैं। उस समय उनका हृदय प्रेमावेगके कारण अत्यन्त गद्गद हो जाता है, उत्कण्ठावश मुँदे हुए दोनों नयन-कमलोंसे निर्मल आँसुओंकी धारा बहने लगती है और शरीरमें रोमाञ्च छा जाता है ॥२॥

ततः सप्त ऋषयस्तत्प्रभावाभिज्ञा यां ननु तपस आत्यन्तिकी सिद्धिरेतावती भगवति सर्वात्मनि वासुदेवेऽनुपरतभक्तियोगलाभेनैवोपेक्षितान्यार्थात्मगतयो मुक्तिमिवागतां मुमुक्षव इव सबहुमानमद्यापि जटाजूटैरुद्वहन्ति ॥ ३ ॥ ततोऽनेकसहस्रकोटिविमाना-

तदनन्तर सर्वात्मा भगवान् वासुदेवमें निश्चल भक्तिभाव प्राप्त हो जानेके कारण जिन्होंने सम्पूर्ण कामनाओंको त्याग दिया है वे आत्मपरायण सप्तर्षिगण उन गंगाजीका प्रभाव जाननेके कारण 'तपस्याकी आत्यन्तिकी सिद्धि यही है' ऐसा मानकर उसे इस प्रकार बड़े आदरके साथ आज भी अपने जटाजूटमें धारण करते हैं जैसे मुमुक्षुजन प्राप्त हुई मुक्तिको ॥३॥ वहाँसे गंगाजी सहस्रों करोड़ देवताओंके

१. प्रा० पा०—यत्र वा ह वाव। २. प्रा० पा०—युगलविगलितामल०।

नीकसंकुलदेवयानेनावतरन्तीन्दुमण्डलमावार्य[1] ब्रह्मसदने निपतति ॥ ४ ॥

तत्र चतुर्धा भिद्यमाना चतुर्भिर्नामभिश्चतुर्दिशमभिस्पन्दन्ती नदनदीपतिमेवाभिनिविशति[2] सीतालकनन्दा चक्षुर्भद्रेति ॥ ५ ॥ सीता तु ब्रह्मसदनात्केसराचलादिगिरिशिखरेभ्योऽधोऽधः[3] प्रस्रवन्ती गन्धमादनमूर्धसु[4] पतित्वान्तरेण भद्राश्ववर्षं प्राच्यां दिशि क्षारसमुद्रमभिप्रविशति ॥६॥ एवं माल्यवच्छिखरान्निष्पतन्ती[5] ततोऽनुपरतवेगा केतुमालमभिचक्षुः प्रतीच्यां दिशि सरित्पतिं प्रविशति ॥७॥ भद्रा चोत्तरतो मेरुशिरसो निपतिता गिरिशिखराद्गिरिशिखरमतिहाय शृङ्गवतः शृङ्गादवस्यन्दमाना उत्तरांस्तु कुरूनभित उदीच्यां[6] दिशि जलधिमभिप्रविशति ॥८॥ तथैवालकनन्दा दक्षिणेन[7] ब्रह्मसदनाद्बहूनि गिरिकूटान्यतिक्रम्य[8] हेमकूटाद्धैमकूटान्यतिरभसतररंहसा लुठयन्ती भारतमभिवर्षं[9] दक्षिणस्यां दिशि जलधिमभिप्रविशति यस्यां[10] स्नानार्थं चागच्छतः पुंसः पदेपदेऽश्वमेधराजसूयादीनां फलं न दुर्लभमिति ॥९॥ अन्ये च नदा नद्यश्च वर्षे[11] वर्षे सन्ति बहुशो मेर्वादिगिरिदुहितरः शतशः ॥ १० ॥

तत्रापि भारतमेव वर्षं कर्मक्षेत्रमन्यान्यष्ट वर्षाणि स्वर्गिणां पुण्यशेषोपभोगस्थानानि भौमानि स्वर्गपदानि[12] व्यपदिशन्ति ॥११॥ एषु

विमानोंसे संकुलित आकाशमें होकर उतरती हुई चन्द्रलोकको प्लावितकर मेरुशिखरपर ब्रह्मपुरीमें आती हैं ॥४॥

ब्रह्मपुरीमें चार धाराओंमें विभक्त होकर सीता, अलकनन्दा, चक्षु और भद्रा इन चार नामोंसे चारों दिशाओंकी ओर बहती हुई अन्तमें नद और नदियोंके अधीश्वर समुद्रमें मिल जाती हैं ॥ ५ ॥ उनमेंसे सीता तो ब्रह्मपुरीसे चलकर मेरुपर्वतकी केसरके समान प्रतीत होनेवाले पर्वतोंमें होकर नीचेकी ओर वेगसे बहती हुई गन्धमादनके शिखरपर गिरती है और फिर भद्राश्वखण्डको प्लावितकर पूर्वकी ओर खारे पानीके समुद्रमें मिल जाती है ॥ ६ ॥ इसी प्रकार चक्षु माल्यवान्के शिखरपर पहुँचकर वहाँसे केतुमालवर्षमें अनवरत गतिसे पश्चिमकी ओर बहती हुई समुद्रमें जा मिलती है ॥ ७ ॥ तथा भद्रा मेरुपर्वतके उत्तरी शिखरसे गिरकर एक पर्वतसे दूसरे पर्वतपर जाती हुई अन्तमें शृंगवान्के शिखरसे गिरकर उत्तर कुरुदेशमें उत्तरकी ओर बहती हुई समुद्रमें मिल जाती है ॥ ८ ॥ और अलकनन्दा ब्रह्मपुरीके दक्षिणी भागसे चलकर बहुत-से पर्वतोंको लाँघती हुई हेमकूटपर पहुँचकर वहाँसे अत्यन्त तीव्र और अप्रतिहत वेगसे हिमालयके शिखरोंको चीरती हुई अन्तमें भारतवर्षमें पहुँचकर दक्षिण दिशाकी ओर समुद्रमें जा मिलती है। इसमें स्नान करनेके लिये आनेवाले पुरुषको पद-पदपर अश्वमेध और राजसूय आदि महायज्ञोंका फल मिलना भी दुर्लभ नहीं है ॥ ९ ॥ इसी प्रकार प्रत्येक वर्षमें मेरु आदि पर्वतोंसे निकलनेवाले और भी सैकड़ों नद और नदियाँ हैं ॥ १० ॥

इन सब वर्षोंमें केवल भारतवर्ष ही कर्मभूमि है। शेष आठ वर्ष स्वर्गवासी पुरुषोंके (स्वर्गभोगसे) बचे हुए पुण्योंको भोगनेके स्थान हैं। इसलिये इन्हें भूर्लोकस्थित स्वर्ग भी कहते हैं ॥ ११ ॥ वहाँके

१. प्रा० पा०—न्ती चन्द्रमण्डल०। २. प्रा० पा०—निविशते। ३. प्रा० पा०—केशरा०। ४. प्रा० पा०—र्धनि। ५. प्रा० पा०—निष्पतन्त्यनुपरतवेगा। ६. प्रा० पा०—उदीच्यां प्रविशति। ७. प्रा० पा०—दक्षिणेन तु ब्रह्म०। ८. प्राचीन प्रतिमें 'क्रम्य' यह पाठ खण्डित है। ९. प्रा० पा०—भारतवर्षं दक्षिणस्यां दिशि लघणजलधिमधि०। १०. प्राचीन प्रतिमें 'यस्यां स्नानार्थ...' से आरम्भकर 'फलं न दुर्लभमिति' पर्यन्त अंश नहीं है। ११. प्रा० पा०—वर्षे बहुशो। १२. प्रा० पा०—स्वर्गदानि।

पुरुषाणामयुतपुरुषायुर्वर्षाणां देवकल्पानां नागायुतप्राणानां वज्रसंहननबलवयोमोदप्रमुदितमहासौरतमिथुनव्यवायापवर्गवर्षधृतैकगर्भकलत्राणां[1] तत्र तु त्रेतायुगसमः कालो वर्तते ॥१२॥ यत्र ह देवपतयः स्वैः स्वैर्गणनायकैर्विहितमहार्हणाः[2] सर्वर्तुकसुमस्तबकफलकिसलयश्रिया नम्यमानविटपलताविटपिभिरुपशोभमानरुचिरकाननाश्रमायतनवर्षगिरिद्रोणीषु तथा चामलजलाशयेषु विकचविविधनवनलिनसौगन्धमुदितराजहंसजलकुक्कुटकारण्डवसारसचक्रवाकादिभिर्मधुकरनिकराकृतिभिरुपकूजितेषु जलक्रीडादिभिर्विचित्रविनोदैः सुललितसुरसुन्दरीणां कामकलिलविलासहासलीलावलोकाकृष्टमनोदृष्टयः स्वैरं विहरन्ति ॥ १३ ॥

देवतुल्य पुरुषोंकी मनुष्योंकी गणनाके अनुसार दश सहस्र वर्षकी आयु होती है। उनमें दश सहस्र हाथियोंका बल होता है तथा उनके वज्रसदृश सुदृढ शरीरमें जो शक्ति, यौवन और उल्लास होते हैं उनके कारण वे दीर्घकालतक मैथुन आदि विषय-भोगोंको भोगते रहते हैं। जब उनकी आयुका केवल एक वर्ष रहता है तब उनकी स्त्रियाँ गर्भ धारण करती हैं। इस प्रकार वहाँ सर्वदा त्रेतायुगके समान समय रहता है ॥ १२ ॥ सकल ऋतुओंके पुष्पोंके गुच्छों, फलों और नवीन कोंपलोंकी समृद्धिसे जिनकी शाखाएँ झुकी हुई हैं ऐसे वृक्षोंसे जहाँके बगीचे शोभायमान हैं उन आश्रम-गृहोंमें, वर्षपर्वतोंकी कन्दराओंमें तथा नाना प्रकारके खिले हुए नवीन कमलकुसुमोंकी सुगन्धसे प्रमुदित होकर कूजते हुए राजहंस, जलकुक्कुट, कारण्डव, सारस और चकवा आदि पक्षियोंसे तथा गूँजते हुए भ्रमरसमूहोंकी विभिन्न जातियोंसे सुशोभित जलाशयोंमें वहाँके देवश्रेष्ठगण, अपने-अपने सेवक-समूहके प्रमुख व्यक्तियोंद्वारा विविध सामग्रियोंसे पूजित हो, परम सुन्दरी देवांगनाओंके साथ, उनके कामजन्य विलासयुक्त हास और क्रीडाकटाक्षसे मन और नेत्रोंके आकृष्ट हो जानेके कारण [जलक्रीडा आदि भाँति-भाँतिके विनोद करते हुए] स्वच्छन्द विहार करते हैं ॥ १३ ॥

नवस्वपि वर्षेषु भगवान्नारायणो महापुरुषः पुरुषाणां तदनुग्रहायात्मतत्त्वव्यूहेनात्मनाद्यापि संनिधीयते[7] ॥ १४ ॥ इलावृते तु भगवान्भव एक एव पुमान्नह्यन्यस्तत्रापरो निर्विशति भवान्याः शापनिमित्तज्ञो यत्प्रवेक्ष्यतः स्त्रीभावस्तत्पश्चाद्वक्ष्यामि[8] ॥ १५ ॥ भवानीनाथैः स्त्रीगणार्बुदसहस्रैरवरुध्यमानो[9] भगवतश्चतुर्मूर्तेर्महा-

इन नवों वर्षोंमें परम पुरुष श्रीनारायण वहाँके पुरुषोंपर अनुग्रह करनेके लिये अपनी भिन्न-भिन्न मूर्तियोंसे इस समय भी विराजमान रहते हैं ॥ १४ ॥ इलावृत-वर्षमें तो एकमात्र भगवान् शंकर ही पुरुष हैं। श्रीपार्वती-जीके शापके कारण वहाँ किसी दूसरे पुरुषका प्रवेश नहीं हो सकता क्योंकि वहाँ जो कोई जाता है वही स्त्रीरूप हो जाता है। इस प्रसंगका हम आगे (नवम स्कन्धमें) वर्णन करेंगे ॥ १५ ॥ वहाँ पार्वती प्रमुख सहस्र अर्बुद स्त्रियोंसे घिरे हुए भगवान्

१. प्रा० पा०—पवर्गगर्भकलत्राणां त्रेतायुगसमकालो । २. प्रा० पा०—निहितमहार्हणाः । ३. प्रा० पा०—नाम्यमानविटप० । ४. प्रा० पा०—रुचिराश्रमायतन० । ५. प्रा० पा०—मोदमदमुदितराजहंसकलहंसजल० । ६. प्रा० पा०—लोकाः स्वैरं विहरन्ति । ७. प्रा० पा०—व्यूहैरात्मनाद्यापि सन्निधीयति । ८. प्रा० पा०—पश्चाद्वक्ष्यामः । ९. प्रा० पा०—सहस्रैर्व्यवरुध्यमानो ।

पुरुषस्य तुरीयां तामसीं मूर्तिं प्रकृतिमात्मनः संकर्षणसंज्ञामात्मसमाधिरूपेण संनिधाप्यैतदभिगृणन्भव उपधावति ॥१६॥

श्रीभगवानुवाच

ॐ नमो भगवते महापुरुषाय सर्वगुणसंख्यामायानन्तायाव्यक्ताय नम इति ॥१७॥

भजे भजन्यारणपादपङ्कजं
भगस्य कृत्स्नस्य परं परायणम् ।
भक्तेष्वलं भावितभूतभावनं
भवापहं त्वा भवभावमीश्वरम् ॥१८॥

न यस्य मायागुणचित्तवृत्तिभि-
र्निरीक्षतो ह्यण्वपि दृष्टिरज्यते ।
ईशे यथा नोऽजितमन्युरंहसां
कस्तं न मन्येत जिगीषुरात्मनः ॥१९॥

असद्दृशो यः प्रतिभाति मायया
क्षीबेव मध्वासवताम्रलोचनः ।
न नागवध्वोऽर्हण ईशिरे ह्रिया
यत्पादयोः स्पर्शनधर्षितेन्द्रियाः ॥२०॥

यमाहुरस्य स्थितिजन्मसंयमं
त्रिभिर्विहीनं यमनन्तमृषयः ।
न वेद सिद्धार्थमिव क्वचित्स्थितं
भूमण्डलं मूर्धसहस्रधामसु ॥२१॥

यस्याद्य आसीद्गुणविग्रहो महा-
न्विज्ञानधिष्ण्यो भगवानजः किल ।
यत्संभवोऽहं त्रिवृता स्वतेजसा

शंकर भगवान् परम पुरुषकी [वासुदेव, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध और संकर्षण नामक] चतुर्व्यूह मूर्तियोंमेंसे अपनी कारणरूप संकर्षण नामक चौथी तामस मूर्तिका समाधियोगद्वारा चिन्तनकर इस मन्त्रका जप करते हुए स्तुति करते हैं—॥ १६ ॥

भगवान् शङ्कर कहते हैं—ॐ जिनसे सम्पूर्ण गुणोंकी अभिव्यक्ति होती है उन अनन्त और अव्यक्तमूर्ति परम पुरुष श्रीभगवान्‌को बारम्बार नमस्कार है ॥ १७ ॥ हे भजनीय ! आपके चरण-कमल भक्तोंकी रक्षा करनेवाले हैं, आप सम्पूर्ण ऐश्वर्योंके परमाश्रय हैं, आपने अपना भूतभावन स्वरूप भक्तोंके प्रति पूर्णतया प्रकट किया है तथा आप भक्तोंको संसारबन्धनसे छुड़ानेवाले और अभक्तोंको उसमें डालनेवाले हैं ऐसे सर्वसमर्थ आपकी मैं वन्दना करता हूँ ॥ १८ ॥ हे प्रभो ! क्रोधको न जीतनेवाले हमलोगोंकी दृष्टि जैसे पापसे लिप्त हो जाती है उस प्रकार जिन आपकी दृष्टि संसारकी ओर देखते हुए भी मायिक विषय-वासनारूप चित्तकी वृत्तियोंसे तनिक भी लिप्त नहीं होती उन परमसमर्थ आपका, अपने अन्तःकरणको जीतनेकी इच्छावाला कौन पुरुष आदर न करेगा ? ॥ १९ ॥ जो असत्पुरुषोंको अपनी मायासे मोहित और मदिरापानके कारण अरुणनयन प्रतीत होते हैं तथा जिनके चरणस्पर्शसे कामवश चित्त चञ्चल हो जानेके कारण नागपत्नियाँ पूजा समर्पण करनेमें असमर्थ हो जाती हैं [उन आपका भला कौन आदर न करेगा ?] ॥ २० ॥ जिन्हें वेदमन्त्र जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति और लयका कारण बताते हैं तथा परमार्थतः इन तीनोंअवस्थाओंसे रहित होनेके कारण जिन्हें ऋषिगण 'अनन्त' कहते हैं और जो अपने सहस्र मस्तकोंपर सरसोंके समान रखे हुए भूमण्डलके विषयमें यह भी नहीं जानते कि वह कहाँ रखा हुआ है [ऐसे आपको नमस्कार है] ॥ २१ ॥ जिनसे उत्पन्न हुआ मैं अपने त्रिगुणमय तेजसे [त्रिविध अहंकारसे] देवता, इन्द्रिय और भूतोंकी रचना करता हूँ वे सत्त्वगुणाश्रय भगवान् ब्रह्माजी जिनके महत्तत्त्वनामक प्रथम गुणमय

वैकारिकं तामसमैन्द्रियं सृजे ॥२२॥
एते वयं यस्य वशे महात्मनः
स्थिताः शकुन्ता इव सूत्रयन्त्रिताः ।
महानहं वैकृततामसेन्द्रियाः
सृजाम सर्वे यदनुग्रहादिदम् ॥२३॥
यन्निर्मितां कर्ह्यपि कर्मपर्वणीं
मायां जनोऽयं गुणसर्गमोहितः ।
न वेद निस्तारणयोगमञ्जसा
तस्मै नमस्ते विलयोदयात्मने[1] ॥२४॥

स्वरूप हैं [उन आपको मैं नमस्कार करता हूँ] ॥ २२ ॥ महत्तत्त्व, अहंकार, इन्द्रियाभिमानी देवता, इन्द्रियाँ और पञ्चभूतगण आदि हम समस्त देवगण डोरीमें बँधे हुए पक्षीके समान जिस महात्माके वशीभूत रहकर उसीके कृपाकटाक्षसे इस जगत्की रचना करते हैं, तथा सत्त्वादि गुणोंकी सृष्टिसे मोहित होकर यह जीव जिनकी रची हुई कर्मरूप गाँठोंसे युक्त मायाको तथा उससे सुगमता-पूर्वक मुक्त होनेके उपायको नहीं जानता, उन जगत्के सर्ग और प्रलयरूप आपको नमस्कार है ॥ २३-२४ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पञ्चमस्कन्धे
सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

अठारहवाँ अध्याय

भिन्न-भिन्न वर्षोंका वर्णन ।

श्रीशुक उवाच

तथा च भद्रश्रवा नाम धर्मसुतस्तत्कुलपतयः पुरुषा भद्राश्ववर्षे[2] साक्षाद्भगवतो वासुदेवस्य प्रियां तनुं धर्ममयीं हयशीर्षाभिधानां परमेण समाधिना संनिधाप्येदमभिगृणन्त उपधावन्ति ॥ १ ॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! इसी प्रकार भद्राश्वखण्डमें धर्मपुत्र भद्रश्रवा और उनके प्रमुख सेवकगण साक्षात् भगवान् वासुदेवकी हयग्रीव नामक धर्ममयी प्रियमूर्तिको परम समाधिके द्वारा हृदयमें धारणकर इस मन्त्रका जप करते हुए स्तुति करते हैं ॥ १ ॥

भद्रश्रवस ऊचुः

ॐ नमो भगवते धर्मायात्मविशोधनाय नम इति ॥ २ ॥

भद्रश्रवागण कहते हैं—ॐ चित्तको शुद्ध करनेवाले साक्षात् भगवान् धर्मको नमस्कार है ॥ २ ॥

अहो विचित्रं भगवद्विचेष्टितं
घ्नन्तं जनोऽयं हि मिषन्न पश्यति ।
ध्यायन्नसद्यर्हि विकर्म सेवितुं
निर्हृत्य पुत्रं पितरं जिजीविषति ॥ ३ ॥

अहो ! भगवान्की लीला बड़ी विचित्र है जिसके कारण यह जीव सम्पूर्ण लोकका संहार करनेवाले कालको देखकर भी नहीं देखता । इसीलिये तुच्छ विषयोंको भोगनेके लिये निरन्तर असत् वस्तुओंका चिन्तन करता हुआ यह पुत्र अथवा पिताका दाहकर्म करके भी [उनकी सम्पत्तिसे] जीनेकी इच्छा करता है ॥ ३ ॥

१. प्रा० पा०—नमस्तद्विलयोद० । २. प्रा० पा०—भद्राश्वे वर्षे ।

वदन्ति[1] विश्वं कवयः स्म नश्वरं
पश्यन्ति चाध्यात्मविदो विपश्चितः ।
तथापि मुह्यन्ति तवाज मायया[2]
सुविस्मितं कृत्यमजं नतोऽस्मि तम् ॥ ४ ॥
विश्वोद्भवस्थाननिरोधकर्म ते
ह्यकर्तुरङ्गीकृतमप्यपावृतः ।
युक्तं न चित्रं त्वयि कार्यकारणे
सर्वात्मनि व्यतिरिक्ते च वस्तुतः[3] ॥ ५ ॥
वेदान्युगान्ते तमसा तिरस्कृता-
न्रसातलाद्यो नृतुरङ्गविग्रहः ।
प्रत्याददे वै कवयेऽभियाचते
तस्मै नमस्तेऽवितथेहिताय[4] ते इति ॥ ६ ॥

विद्वान् लोग जगत्को नाशवान् बतलाते हैं और आत्मज्ञानी विचक्षण पुरुष ऐसा ही देखते भी हैं। तथापि हे जन्मरहित ! आपकी मायासे लोग मोहित हो जाते हैं। ऐसे अत्यन्त विस्मयजनक कृत्य करनेवाले आप अजन्माको मैं नमस्कार करता हूँ ॥ ४ ॥ हे परमात्मन् ! आप अकर्ता और आवरणशून्य हैं, तो भी वेदने जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय आपहीके कर्म माने हैं, परन्तु आपके विषयमें यह कोई आश्चर्यकी बात नहीं है, क्योंकि सम्पूर्ण कार्यवर्गके कारणभूत आप सर्वात्मामें मायासे कर्म होना संभव है वास्तवमें तो आप [अपने शुद्धस्वरूपसे] सबसे अलग हैं ॥ ५ ॥ जिन्होंने मनुष्य और घोड़ेके समान शरीर धारणकर प्रलयकालमें तमःप्रधान मधुकैटभ दैत्यद्वारा हरे गये हुए वेदोंको उनके याचना करनेपर रसातलसे लाकर दिया उन अमोघकर्मा आपको नमस्कार है ॥ ६ ॥

हरिवर्षे चापि भगवान्नरहरिरूपेणास्ते तद्रूपग्रहणनिमित्तमुत्तरत्राभिधास्ये तद्दयितं रूपं महापुरुषगुणभाजनो महाभागवतो दैत्यदानवकुलतीर्थीकरणशीलाचरितः प्रह्लादोऽव्यवधानानन्यभक्तियोगेन[5] सह तद्वर्षपुरुषैरुपास्ते इदं चोदाहरति ॥७॥ ॐ नमो भगवते नरसिंहाय नमस्तेजस्तेजसे आविराविर्भव वज्रनख वज्रदंष्ट्र कर्माशयान्[6] रन्धय रन्धय तमो ग्रस ग्रस ॐ स्वाहा। अभयमभयमात्मनि भूयिष्ठा ॐ क्षौम् ॥ ८ ॥

स्वस्त्यस्तु विश्वस्य खलः प्रसीदतां
ध्यायन्तु भूतानि शिवं मिथो धिया ।

हरिवर्षखण्डमें भगवान् नृसिंहरूपसे रहते हैं। उनके इस रूपको ग्रहण करनेका कारण हम आगे (सातवें स्कन्धमें) बतायेंगे। भगवान्के उस प्रिय स्वरूपकी, महापुरुषोंके योग्य गुणोंसे सम्पन्न तथा दैत्य और दानवकुलको पवित्र करनेवाले स्वभाव एवं आचरणसे युक्त परम भगवद्भक्त प्रह्लादजी, उस वर्षमें रहनेवाले अन्य पुरुषोंके सहित अनन्य और अव्यवहित भक्तिभावसे उपासना करते हैं और इस मन्त्र तथा स्तोत्रका उच्चारण करते हैं ॥ ७ ॥ ॐ भगवान् नृसिंहदेवको नमस्कार है। आप अग्नि आदि तेजोंके भी तेज हैं। हे वज्रनख ! हे वज्रदंष्ट्र ! हमारी कर्मवासनाओंको भस्म करो, भस्म करो। हमारे अज्ञानरूप अन्धकारका ग्रास करो, ग्रास करो। ॐ स्वाहा। हमें अभय प्राप्त हो, अभय प्राप्त हो। ॐ क्षौम् ॥ ८ ॥ हे नाथ ! सम्पूर्ण विश्वका कल्याण हो। दुष्ट लोग अपनी कुटिलताको छोड़कर शान्त हों, समस्त प्राणी अपनी बुद्धिसे परस्पर एक-दूसरेका

१. प्रा० पा०—विदन्ति । २. प्रा० पा०—माययाशु विस्मितं । ३. प्रा० पा०—वस्तुनि । ४. प्रा० पा०—हिताय ते । ५. प्रा० पा०—व्यवधानमनन्यभक्ति० । ६. प्रा० पा०—शयान् तमो ग्रस ॐ स्वाहा अभयमभयमात्मनि भूयिष्ठाः क्षौम् ।

मनश्च भद्रं भजतादधोक्षज
आवेश्यतां नो मतिरप्यहैतुकी ॥ ९ ॥
मागारदारात्मजवित्तबन्धुषु
सङ्गो यदि स्याद्भगवत्प्रियेषु नः ।
यः प्राणवृत्त्या परितुष्ट आत्मवा-
न्सिद्ध्यत्यदूरान्न तथेन्द्रियप्रियः ॥१०॥
यत्सङ्गलब्धं निजवीर्यवैभवं[1]
तीर्थं मुहुः संस्पृशतां हि मानसम् ।
हरत्यजोऽन्तःश्रुतिभिर्गतोऽङ्गजं
को वै न सेवेत मुकुन्दविक्रमम् ॥११॥
यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिञ्चना
सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः ।
हरावभक्तस्य कुतो महद्गुणा
मनोरथेनासति धावतो बहिः ॥१२॥
हरिर्हि साक्षाद्भगवाञ्छरीरिणा-
मात्मा झषाणामिव तोयमीप्सितम् ।
हित्वा महांस्तं यदि सज्जते गृहे
तदा महत्त्वं वयसा दम्पतीनाम्[2] ॥१३॥
तस्माद्रजोरागविषादमन्यु-
मानस्पृहाभयदैन्याधिमूलम् ।
हित्वा गृहं संसृतिचक्रवालं
नृसिंहपादं भजताकुतोभयमिति[3] ॥१४॥

हित-चिन्तन करें, हमारा मन शुभमार्गमें प्रवृत्त हो तथा हम सबकी बुद्धि निष्काम भावसे श्रीअधोक्षज भगवान्‌में लगे ॥ ९ ॥ हे प्रभो ! घर, स्त्री, पुत्र, धन और भाई-बन्धुओंमें हमारी आसक्ति न हो। यदि हो तो केवल भगवान्‌के भक्तोंमें हो; क्योंकि जो धीर पुरुष केवल शरीर-निर्वाहयोग्य अन्नादिसे सन्तुष्ट रहता है उसे जिस प्रकार शीघ्र ही सिद्धि प्राप्त हो जाती है; उस प्रकार इन्द्रियलोलुप पुरुषको नहीं प्राप्त होती ॥ १० ॥ उन भगवद्भक्तोंके सहवाससे प्राप्त हुए भगवान्‌के उदार चरित्रोंकी कथारूप तीर्थका कानों-द्वारा बार-बार सेवन करनेवालोंके हृदयमें प्रवेश करके भगवान् अज उनके शारीरिक और मानसिक मलका सर्वथा मार्जन कर देते हैं, अतः भगवान् मुकुन्दके उन पवित्र चरित्रोंका कौन सेवन न करेगा ? ॥ ११ ॥ जिस पुरुषकी भगवान्‌में निःस्वार्थ भक्ति होती है उसकी सेवामें देवतागण धर्म-ज्ञानादि सम्पूर्ण सद्गुणोंके सहित सर्वदा उपस्थित रहते हैं। इसके विपरीत जो पुरुष भगवान्‌का भक्त नहीं है और नाना प्रकारके संकल्प करके निरन्तर बाह्य तुच्छ विषयोंकी ओर दौड़ता रहता है उसमें महापुरुषोंके गुण कैसे आ सकते हैं ? ॥ १२ ॥ जैसे मछलियोंके लिये जल ही अत्यन्त अभीष्ट है उसी प्रकार साक्षात् भगवान् हरि ही सम्पूर्ण देहधारियोंके प्रिय आत्मा हैं। उन्हें त्यागकर यदि कोई महापुरुष गृह आदिमें आसक्त रहता है तो उन दम्पतियों (स्त्री-पुरुषों) का बड़प्पन केवल आयुसे ही रह जाता है किसी गुणसे नहीं ॥ १३ ॥ इसलिये हे दैत्यगण ! तुम तृष्णा, राग, विषाद, क्रोध, अभिमान, इच्छा, भय, दीनता और मानसिक सन्तापके मूल कारण तथा जन्ममरणरूप संसारचक्रका वहन करने-वाले गृह आदिको त्यागकर भगवान् नृसिंहके निर्भय चरणकमलोंका आश्रय लो ॥ १४ ॥

केतुमालेऽपि भगवान्कामदेवस्वरूपेण लक्ष्म्याः प्रियचिकीर्षया प्रजापतेर्दुहितॄणां पुत्राणां[4] तद्वर्षप-

केतुमालखण्डमें लक्ष्मीजीका तथा संवत्सर नामक प्रजापतिके पुत्र और कन्याओंका प्रिय करनेके लिये भगवान् कामदेवरूपसे रहते हैं। उन

१. प्रा० पा०—धैर्यवैभवं । २. प्रा० पा०—पतीनाम् । ३. प्रा० पा०—तोऽकुतोभय० । ४. प्रा० पा०—पुत्राणां च तद्वर्षपतीनां पुरुषाहोरात्रपरिसंख्यानां ।

तीनां पुरुषायुषाहोरात्रपरिसंख्यानानां यासां गर्भा महापुरुषमहास्त्रतेजसोद्वेजितमनसां[1] विध्वस्ता व्यसवः संवत्सरान्ते विनिपतन्ति ॥१५॥ अतीव सुललित-गतिविलासविलसितरुचिरहासलेशावलोकलीलया किञ्चिदुत्तम्भितसुन्दरभ्रूमण्डलसुभगवदनारविन्द-श्रिया रमां रमयन्निन्द्रियाणि रमयते ॥१६॥ तद्भगवतो मायामयं रूपं परमसमाधियोगेन रमा-देवी संवत्सरस्य रात्रिषु प्रजापतेर्दुहितृभिरुपेताहस्सु च तद्भर्तृभिरुपास्ते इदं चोदाहरति ॥१७॥ ॐ ह्रां ह्रीं ह्रूं ॐ नमो भगवते हृषीकेशाय सर्वगुणविशेषै-र्विलक्षितात्मने आकूतीनां चित्तीनां चेतसा विशेषाणां चाधिपतये षोडशकलायच्छन्दोमया-यान्नमयायामृतमयाय सर्वमयाय सहस ओजसे बलाय कान्ताय कामाय नमस्त उभयत्र भूयात् ॥१८॥

स्त्रियो व्रतैस्त्वा हृषिकेश्वरं स्वतो[2]
ह्याराध्य लोके पतिमाशासतेऽन्यम् ।
तासां न ते वै परिपान्त्यपत्यं
प्रियं धनायूंषि यतोऽस्वतन्त्राः ॥१९॥
स वै पतिः स्यादकुतोभयः स्वयं
समन्ततः पाति भयातुरं जनम् ।
स एक एवेतरथा मिथो भयं

[रात्रिकी अभिमानी देवतारूप] कन्याओं और [दिनके अभिमानी देवतारूप] पुत्रोंकी संख्या मनुष्यकी परमायुके दिन और रात्रिके बराबर अर्थात् छत्तीस-छत्तीस सहस्र है, तथा वे ही उस वर्षके अधिपति हैं । परमपुरुष श्रीनारायणके परमास्त्र सुदर्शनचक्रके तेजसे भयभीत हुई उन कन्याओंके गर्भ प्रत्येक वर्षके अन्तमें निष्प्राण होकर स्खलित हो जाते हैं ॥ १५ ॥ वहाँ भगवान् कामदेव अपने परम सुन्दर गति-विलाससे सुशोभित मधुर मुसकानमय क्रीडाकटाक्षकी लीलासे कुछ-कुछ ऊपरको उठी हुई सुन्दर भृकुटियोंसे सुशोभित अपने मनोहर मुखारविन्दकी शोभासे लक्ष्मीजीको आनन्दित करते हुए रमण करते हैं ॥१६॥ श्रीलक्ष्मीजी परम समाधियोगके द्वारा भगवान्के उस मायामय स्वरूपकी रात्रिके समय प्रजापति संवत्सरकी कन्याओंके सहित और दिनमें उनके पतियोंके सहित उपासना करती हैं और इस मन्त्रका जप करती हुई भगवान्की स्तुति करती हैं ॥ १७ ॥ "जो इन्द्रियोंके नियन्ता, सम्पूर्ण श्रेष्ठ वस्तुओंसे लक्षित होनेवाले, क्रियाशक्ति, ज्ञानशक्ति और संकल्प-अध्यवसाय आदि चित्तके धर्मों एवं उनके विषयोंके अधीश्वर, ग्यारह इन्द्रिय और पाँच विषय—इन सोलह कलाओंसे युक्त, वेदोक्त कर्मोंसे प्राप्त होनेवाले, तथा अन्नमय, अमृतमय और सर्वमय हैं उन साहस (मनोबल), ओज (इन्द्रियबल) और बल (देहबल) रूप परम सुन्दर भगवान् कामदेवको 'ॐ ह्रां ह्रीं ह्रूं' इस बीजमन्त्रके सहित सब ओरसे नमस्कार है ॥१८॥ हे भगवन् ! आप इन्द्रियोंके अधीश्वर हैं । स्त्रियाँ नाना प्रकारके व्रतोंसे आपकी आराधना कर दूसरे पतियोंकी प्रार्थना करती हैं; किन्तु वे उनके प्रिय पुत्र, धन, और आयु आदिकी रक्षा नहीं कर सकते; क्योंकि वे स्वयं परतन्त्र होते हैं ॥ १९ ॥ सच्चा पति (रक्षा करनेवाला ईश्वर) वही है जो स्वयं सर्वथा निर्भय हो और दूसरे भयभीत लोगोंकी भी सब प्रकार रक्षा कर सके । ऐसे पति एकमात्र आप ही हैं जो कि आत्मलाभसे बढ़कर और किसी वस्तुको नहीं मानते । अन्यथा

१. प्रा० पा०—जितचेतसां । २. प्रा० पा०—स्वत आराध्य ।

नैवात्मलाभादधि मन्यते परम् ॥२०॥
या तस्य ते पादसरोरुहार्हणं
निकामयेत्साखिलकामलम्पटा ।
तदेव रासीप्सितमीप्सितोऽर्चितो
यद्भग्नयाच्ञा भगवन्प्रतप्यते ॥२१॥
मत्प्राप्तयेऽजेशसुरासुरादय-
स्तप्यन्त उग्रं तप ऐन्द्रियेधियः ।
ऋते भवत्पादपरायणान्न मां
विन्दन्त्यहं त्वद्धृदया यतोऽजित ॥२२॥
स त्वं ममाप्यच्युत शीर्ष्णि वन्दितं
कराम्बुजं यत्त्वदधायि सात्वताम् ।
बिभर्षि मां लक्ष्मवरेण्य मायया
क ईश्वरस्येहितमूहितुं विभुरिति ॥२३॥

रम्यके च भगवतः प्रियतमं मात्स्यमवताररूपं तद्वर्षपुरुषस्य मनोः प्राक्प्रदर्शितं स इदानीमपि महता भक्तियोगेनाराधयतीदं चोदाहरति ॥२४॥

ॐ नमो भगवते मुख्यतमाय नमः सत्त्वाय प्राणायौजसे सहसे बलाय महामत्स्याय नम इति ॥२५॥

अन्तर्बहिश्चाखिललोकपालकै-
रदृष्टरूपो विचरस्युरुस्वनः ।
स ईश्वरस्त्वं य इदं वशेऽनय-
न्नाम्ना यथा दारुमयीं नरः स्त्रियम् ॥२६॥
यं लोकपालाः किल मत्सरज्वरा

अनेक ईश्वर माननेपर उनमें परस्पर भयकी संभावना है ॥ २० ॥ हे भगवन् ! जो स्त्री आपके चरणकमलोंका निष्काम भावसे पूजन करती है उसकी सभी कामनाएँ पूर्ण हो जाती हैं और यदि वही किसी फलकी इच्छासे उपासना करती है तो उसे केवल वही फल मिलता है और उसका भोग समाप्त होनेपर जब वह निःशेष हो जाता है तो अपनी याच्ञा (याचित वस्तु) के भग्न हो जानेसे उसे बड़ा सन्ताप होता है ॥ २१ ॥ हे अजित ! मुझे पानेके लिये, इन्द्रियसुखके अभिलाषी ब्रह्मा और महादेव आदि सम्पूर्ण सुरासुरगण घोर तपस्या करते हैं; किन्तु आपके चरणकमलोंका आश्रय लेनेवाले भक्तके सिवा दूसरे किसीको मेरी प्राप्ति नहीं हो सकती; क्योंकि मेरा मन आपहीमें लगा रहता है ॥ २२ ॥ सो हे अच्युत ! आप अपने जिस भक्तवन्दित कर-कमलको भक्तोंके मस्तकपर रखते हैं उसे मेरे मस्तकपर भी रखिये । आप मुझे केवल श्रीलाञ्छनरूपसे अपने वक्षःस्थलमें ही धारण करते हैं सो आप 'सर्व-समर्थकी मायामयी लीलाका भेद कौन जान सकता है'' ॥ २३ ॥

रम्यकखण्डमें भगवान्‌ने पूर्व समयमें वहाँके अधिपति मनुको अपना परमप्रिय मत्स्यावताररूप दिखाया था । मनुजी इस समय भी भगवान्‌के उस रूपकी महान् भक्तियोगसे उपासना करते हैं और इस मन्त्रका जप करते हैं ॥२४॥ ''ॐ सर्वप्रधान, सत्त्वगुणविशिष्ट, सूत्रात्मा, मानसिक, ऐन्द्रियिक और शारीरिक शक्तिसे सम्पन्न महामत्स्यरूप श्रीहरिको बारम्बार नमस्कार है ॥२५॥ हे प्रभो ! जिस प्रकार नट कठपुतलियोंको नचाता है उसी प्रकार [विधि-निषेधके आश्रयरूप] ब्राह्मणादि नामोंसे सम्पूर्ण जगत्‌को कर्ममें लगाकर जिन्होंने उन्हें अपने अधीन कर रक्खा है वह महान् शब्द करनेवाले वेदरूप जगदीश्वर आप ब्रह्मा आदि सकल लोकपालोंसे अलक्षित रहकर [वायुरूपसे] प्राणियोंके बाहर और [प्राणरूपसे] उनके भीतर विचरते हैं ॥२६॥ हे प्रभो ! जिसे त्याग देनेपर दूसरेकी उन्नति न सह सकनारूप

१. प्रा० पा०—चाभीप्सित० । २. प्रा० पा०—मत्प्राप्तये ससुरासुरादय० । ३. प्रा० पा०—पालैरदृष्ट० ।

हित्वा यतन्तोऽपि पृथक् समेत्य च ।
पातुं[1] न शेकुर्द्विपदश्चतुष्पदः
सरीसृपं स्थाणु यदत्र दृश्यते ॥२७॥
भवान्युगान्तार्णव ऊर्मिमालिनि
क्षोणीमिमामोषधिवीरुधां निधिम् ।
मया सहोरु क्रमतेऽज ओजसा
तस्मै जगत्प्राणगणात्मने नम इति ॥२८॥

हिरण्मयेऽपि[2] भगवान्निवसति कूर्मतनुं बिभ्राणस्य तत्प्रियतमां तनुमर्यमा सह वर्षपुरुषैः पितृगणाधिपतिरुपधावति[3] मन्त्रमिमं चानुजपति ॥२९॥ ॐ नमो भगवते अकूपाराय सर्वसत्त्वगुणविशेषणाय[4] नोपलक्षितस्थानाय नमो वर्ष्मणे नमो भूम्ने नमो नमोऽवस्थानाय नमस्ते ॥३०॥

यद्रूपमेतन्निजमाययार्पित-
मर्थस्वरूपं बहुरूपरूपितम् ।
संख्या न यस्यास्त्ययथोपलम्भना-
त्तस्मै नमस्तेऽव्यपदेशरूपिणे ॥३१॥
जरायुजं स्वेदजमण्डजोद्भिदं
चराचरं देवर्षिपितृभूतमैन्द्रियम् ।
द्यौः खं क्षितिः शैलसरित्समुद्र-
द्वीपग्रहर्क्षेत्यभिधेय एकः ॥३२॥
यस्मिन्नसंख्येयविशेषनाम-
रूपाकृतौ कविभिः कल्पितेयम् ।
संख्या यया तत्त्वदृशापनीयते
तस्मै नमः सांख्यनिदर्शनाय ते इति ॥३३॥

उत्तरेषु च कुरुषु भगवान्यज्ञपुरुषः कृतवराहरूप आस्ते तं तु देवी हैषा भूः सह कुरुभिरस्खलितभक्तियोगेनोपधावति इमां च परमामुपनिषद-

डाहके कारण इन्द्रादि देवगण अलग-अलग अथवा आपसमें मिलकर भी मनुष्य, पशु, सरीसृप और स्थावर आदि जितने प्राणी दीखते हैं उनमेंसे किसीकी भी रक्षा नहीं कर सके [वे प्राणरूप परमात्मा आप ही हैं] ॥२७॥ हे भगवन् ! आप अजन्मा परमेश्वरने मेरे सहित ओषधि और लताओंकी आश्रयरूपा इस पृथिवीकी रक्षा करनेके लिये बड़ी-बड़ी उत्ताल तरङ्गोंसे पूर्ण प्रलयकालीन समुद्रमें बड़े उत्साहसे विचरण किया था। ऐसे संसारके प्राणस्वरूप आपको नमस्कार है" ॥२८॥

हिरण्मयखण्डमें भगवान् कूर्मरूप धारण करके रहते हैं । वहाँके निवासियोंके सहित पितृराज अर्यमा भगवान्‌की उस प्रियतम मूर्तिकी उपासना करते हैं और इस मन्त्रका जप करते हैं ॥२९॥ "ॐ जो सम्पूर्ण सात्त्विक गुणोंसे युक्त हैं, [जलमें विचरते रहनेके कारण] जिनके स्थानका कोई निश्चय नहीं है तथा जो कालकी मर्यादासे बाहर हैं उन सर्वव्यापक सर्वाधार श्रीकच्छप भगवान्‌को बारम्बार नमस्कार है ॥३०॥ हे भगवन् ! वास्तविक रूपकी प्रतीति न होनेके कारण जिसकी गणना नहीं हो सकती ऐसा नाना रूपोंमें प्रतीत होनेवाला यह मायासे प्रकाशित प्रपञ्च जिनका रूप है उन अनिर्वचनीयस्वरूप आपको नमस्कार है ॥३१॥ हे देव ! एकमात्र आप ही जरायुज, स्वेदज, अण्डज, उद्भिज्ज, जङ्गम, स्थावर, देवता, ऋषि, पितृगण, भूत, इन्द्रिय, स्वर्ग, आकाश, पृथिवी, पर्वत, नदी, समुद्र, द्वीप, ग्रह और तारा आदि भिन्न-भिन्न नामोंसे प्रसिद्ध हैं ॥३२॥ जो असंख्य नामरूप और आकृतियोंसे युक्त हैं ऐसे आपमें कपिलादि विद्वानोंने जो चौबीस तत्त्वोंकी संख्या निश्चित की है वह जिस तत्त्वज्ञानसे निवृत्त हो जाती है ऐसे सांख्यसिद्धान्तरूप आपको नमस्कार है" ॥३३॥

हे राजन् ! उत्तरकुरुवर्षमें भगवान् यज्ञपुरुष वराहमूर्ति धारणकर विराजमान हैं । वहाँके निवासियोंके सहित साक्षात् पृथिवीदेवी उनकी अविचल भक्तियोगसे उपासना करती हैं और इस परमोत्कृष्ट उपनिषद्का

१. प्रा० पा०—शातुं न शेकु० । २. प्रा० पा०—हिरण्मये तु । ३. प्रा० पा०— पितृणां गणाधिपति० । ४. प्रा० पा०—तत्त्वगुण० । ५. प्रा० पा०—तं ह्यर्थस्वरूपं ।

मावर्तयति ॥३४॥ ॐ नमो भगवते मन्त्रतत्त्व-
लिङ्गाय यज्ञक्रतवे महाध्वरावयवाय[1] महापुरुषाय
नमः कर्मशुक्लाय त्रियुगाय नमस्ते ॥३५॥

यस्य स्वरूपं कवयो विपश्चितो
गुणेषु दारुष्विव जातवेदसम् ।
मथ्नन्ति मथ्ना मनसा दिदृक्षवो
गूढं क्रियार्थैर्नम ईरितात्मने ॥३६॥

द्रव्यक्रियाहेत्वयनेशकर्तृभि-
र्मायागुणैर्वस्तुनिरीक्षितात्मने ।
अन्वीक्षयाङ्गातिशयात्मबुद्धिभि-
र्निरस्तमायाकृतये नमो नमः ॥३७॥

करोति विश्वस्थितिसंयमोदयं
यस्येप्सितं नेप्सितमीक्षितुर्गुणैः ।
माया यथायो भ्रमते तदाश्रयं
ग्राव्णो नमस्ते गुणकर्मसाक्षिणे ॥३८॥

प्रमथ्य दैत्यं प्रतिवारणं मृधे
यो मां रसाया[2] जगदादिसूकरः[3] ।
कृत्वोग्रदंष्ट्रे[4] निरगादुदन्वतः
क्रीडन्निवेभः प्रणतास्मि तं विभुमिति ॥३९॥

पाठ करती हैं—॥३४॥ "ॐ जिनका तत्त्व मन्त्रोंसे जाना जाता है, जो यज्ञ और क्रतुरूप हैं तथा यज्ञादि जिनके अङ्ग हैं उन शुद्धकर्ममय त्रियुगमूर्ति श्रीवराह भगवान्‌को बारम्बार प्रणाम है ॥३५॥ जिस प्रकार ऋत्विक्‌गण अरणिमन्थनके द्वारा अग्नि प्रकट करते हैं उसी प्रकार कर्मोंकी फल-कामनाओंसे छिपे हुए जिनके स्वरूपको देखनेकी इच्छासे परमप्रवीण पण्डित-जन अपने मनरूप मन्थन-काष्ठसे भली प्रकार मन्थन (चिन्तन) करते हैं इस प्रकार प्रकट होनेवाले उन व्यक्तस्वरूप आपको नमस्कार है ॥३६॥ यम-नियमादि योगाङ्गोंका पालन करनेसे जिनकी बुद्धि निश्चयात्मिका हो गयी है वे महापुरुष विषय, इन्द्रिय, इन्द्रियाधिष्ठाता देवता, शरीर, काल और अहंकार आदि मायाके कार्योंको देखकर विचारद्वारा जिनके वास्तविक स्वरूप-का साक्षात्कार करते हैं उन मायिक आकृतियोंसे रहित आपको बारम्बार नमस्कार है ॥ ३७ ॥ जिस प्रकार चुम्बकके आश्रित रहनेवाला लोहा उसकी सन्निधिमात्रसे चलता-फिरता है उसी प्रकार जिन सर्वसाक्षीकी इच्छामात्रसे—जो अपने लिये नहीं बल्कि सम्पूर्ण प्राणियोंके लिये होती है—प्रकृति अपने गुणोंके द्वारा जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय करती है उन गुणोंके साक्षीरूप आपको नमस्कार है ॥३८॥ जिस प्रकार एक हाथी दूसरे हाथीको पछाड़ देता है उसी प्रकार अपने प्रतिद्वन्द्वी हिरण्याक्ष दैत्य-को युद्धमें दलितकर जो आदिसूकररूप आप मुझे रसातलसे निकालकर अपनी दाढ़पर रख गजराजके समान क्रीडा करते हुए प्रलयकालीन समुद्रसे बाहर आये उन सर्वसमर्थ आपको मैं बारम्बार नमस्कार करती हूँ" ॥३९॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पञ्चमस्कन्धे भुवनकोशवर्णनं[5]
नामाष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

१. प्रा० पा०—महाध्वराय महापुरुषाय । २. प्रा० पा०—रसायां । ३. प्रा० पा०—शूकरः । ४. प्रा० पा०—हृत्वोग्रदंष्ट्रे । ५. प्रा० पा०—कोशानुवर्णनं ।

उन्नीसवाँ अध्याय

किम्पुरुष और भारतवर्षका वर्णन ।

श्रीशुक उवाच

किंपुरुषे वर्षे भगवन्तमादिपुरुषं लक्ष्मणाग्रजं सीताभिरामं रामं तच्चरणसंनिकर्षाभिरतः परमभागवतो हनुमान्सह किंपुरुषैरविरतभक्तिरुपास्ते ॥१॥ आर्ष्टिषेणेन सह गन्धर्वैरनुगीयमानां परमकल्याणीं भर्तृभगवत्कथां समुपशृणोति स्वयं चेदं गायति ॥ २ ॥ ॐ नमो भगवते उत्तमश्लोकाय नम आर्यलक्षणशीलव्रताय नम उपशिक्षितात्मन उपासितलोकाय नमः साधुवादनिकषणाय[1] नमो ब्रह्मण्यदेवाय महापुरुषाय महाराजाय नम इति ॥ ३ ॥

यत्तद्विशुद्धानुभवमात्रमेकं
स्वतेजसा ध्वस्तगुणव्यवस्थम् ।
प्रत्यक् प्रशान्तं सुधियोपलम्भनं
ह्यनामरूपं निरहं प्रपद्ये ॥ ४ ॥
मर्त्यावतारस्त्विह मर्त्यशिक्षणं
रक्षोवधायैव न केवलं विभोः ।
कुतोऽन्यथा स्याद्रमतः स्व[2] आत्मनः
सीताकृतानि व्यसनानीश्वरस्य ॥ ५ ॥
न वै स आत्मात्मवतां सुहृत्तमः[3]
सक्तस्त्रिलोक्यां भगवान्वासुदेवः ।
न स्त्रीकृतं कश्मलमश्नुवीत
न लक्ष्मणं चापि विहातुमर्हति ॥ ६ ॥
न जन्म नूनं महतो न सौभगं
न वाङ् न बुद्धिर्नाकृतिस्तोषहेतुः ।

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! किम्पुरुषवर्षमें लक्ष्मणजीके ज्येष्ठ भ्राता आदिपुरुष सीतापति भगवान् रामके चरणोंकी सन्निधिके रसिक परम भागवत श्रीहनुमान्‌जी अन्य किन्नरोंके सहित निश्चल भक्तिभावसे उनकी उपासना करते हैं ॥१॥ और किन्नरश्रेष्ठ आर्ष्टिषेणके सहित गन्धर्वोंद्वारा गायी जाती हुई अपने प्रभु भगवान् रामकी कथाओंको सुनते हुए स्वयं भी इस स्तोत्रका गान करते हैं—॥२॥ ॐ हम पवित्रकीर्ति भगवान् रामको प्रणाम करते हैं । वे सत्पुरुषोंके लक्षण और स्वभावसे युक्त, संयतचित्त, साधुताकी कसौटी और ब्राह्मणभक्त हैं । उन लोकपूजित महापुरुष महाराज रामको हमारा बारम्बार प्रणाम है ॥३॥ जो विशुद्ध, अनुभवमात्र, अद्वितीय, अपने स्वरूपके प्रकाशसे जाग्रदादि सम्पूर्ण अवस्थाओंका तिरस्कार करनेवाले, अन्तर्यामी, अतिशय शान्त, शुद्ध बुद्धिसे ग्रहण किये जानेयोग्य, नाम-रूपसे रहित तथा अहंकारहीन हैं उन प्रभुकी मैं शरण हूँ ॥४॥ भगवान्‌का यह मनुष्यावतार केवल रावणादि राक्षसोंको मारनेके लिये ही नहीं हुआ, बल्कि मनुष्योंको शिक्षा देनेके लिये हुआ है; नहीं तो अपने आत्मामें ही रमण करनेवाले साक्षात् ईश्वरको सीताजीके लिये ऐसा दुःख कैसे हो सकता था ? ॥५॥ क्योंकि वे धीर पुरुषोंके आत्मा* और प्रियतम भगवान् वासुदेव त्रिलोकीमें किसी वस्तुमें आसक्त नहीं हैं; अतः उन्हें न तो सीताजीके वियोगका दुःख ही हो सकता था और न वे लक्ष्मणजीका त्याग ही कर सकते थे ॥ ६ ॥ उत्तम कुलमें जन्म, सुन्दरता, वाक्चातुरी, बुद्धि और आकृति—इनमेंसे कोई भी गुण भगवान्‌को प्रसन्न करनेका

१. प्रा० पा०—वादधिषणाय । २. प्रा० पा०—स्वसुखात्मनः । ३. प्रा० पा०—सुहृत्तमो मुक्त० ।

* यहाँ शङ्का होती है कि भगवान् तो सभीके आत्मा हैं, फिर यहाँ आत्मवान् (धीर) पुरुषोंके ही आत्मा क्यों बताया गया ? इसका कारण यही है कि सबके आत्मा होते हुए भी उन्हें केवल आत्मज्ञानी पुरुष ही अपने आत्मारूपसे अनुभव करते हैं—अन्य पुरुष नहीं । श्रुतिमें जहाँ-कहीं आत्मसाक्षात्कारकी बात आयी है वहीं आत्मवेत्ताके लिये 'धीर' शब्दका प्रयोग किया है । जैसे 'कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षत' 'इति नः शुश्रुम धीराणाम्' इत्यादि । इसीलिये यहाँ भी भगवान्‌को आत्मवान् या धीर पुरुषका आत्मा बताया है ।

तैर्यद्विसृष्टानपि[1] नो वनौकस-
श्चकार सख्ये बत लक्ष्मणाग्रजः ॥ ७ ॥
सुरोऽसुरो वाप्यथ[2] वानरो नरः
सर्वात्मना यः सुकृतज्ञमुत्तमम् ।
भजेत रामं मनुजाकृतिं हरिं
य उत्तराननयत्कोशलान्दिवमिति ॥ ८ ॥

कारण नहीं है। यह बात दिखानेके लिये ही उन लक्ष्मणाग्रज भगवान् रामने उपर्युक्त गुणोंसे रहित होनेपर भी वानरोंसे मित्रता की ॥७॥ अतः देवता, असुर, वानर और मनुष्य इनमेंसे कोई भी क्यों न हो उसे चाहिये कि उत्तम कृतज्ञशिरोमणि नररूप हरि भगवान् रामको, जो सम्पूर्ण कोशलवासियोंको अपने साथ विमानपर चढ़ाकर स्वर्गसे भी ऊपर अपने निजधामको ले गये थे, अनन्यभावसे भजे ॥८॥

भारतेऽपि वर्षे भगवान्नरनारायणाख्य आकल्पान्तमुपचितधर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्योपशमो परमात्मोपलम्भनमनुग्रहायात्मवतामनुकम्पया तपोऽव्यक्तगतिश्चरति ॥ ९ ॥ तं भगवान्नारदो वर्णाश्रमवतीभिर्भारतीभिः प्रजाभिर्भगवत्प्रोक्ताभ्यां सांख्ययोगाभ्यां भगवदनुभावोपवर्णनं सावर्णेरुपदेक्ष्यमाणः परमभक्तिभावेनोपसरति इदं चाभिगृणाति ॥१०॥ ॐ नमो भगवते उपशमशीलायोपरतानात्म्याय नमोऽकिञ्चनवित्ताय ऋषिऋषभाय नरनारायणाय परमहंसपरमगुरवे आत्मारामाधिपतये नमो नम इति ॥११॥ गायति चेदम्—

इस भारतवर्षमें भी श्रीहरि नर और नारायण—दो रूप धारण कर आत्मनिष्ठ पुरुषोंपर कृपा करनेके लिये अव्यक्त रहकर कल्पान्ततक चालू रहनेवाली तपस्या कर रहे हैं, जिससे धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य (योगसिद्धि) और उपशमकी उत्तरोत्तर वृद्धि होकर अन्तमें परमात्माकी उपलब्धि होती है ॥ ९ ॥ वहाँ भगवान्के कहे हुए सांख्य और योगशास्त्रके सहित जिसमें भगवान्के प्रभावका वर्णन किया गया है उस पाञ्चरात्र शास्त्रका सावर्णिमनुको उपदेश करते हुए भगवान् नारदजी वर्णाश्रमधर्मका पालन करनेवाली भारतीय प्रजाके सहित अत्यन्त भक्तिभावसे भगवान्की उपासना करते हैं और इस स्तोत्रका पाठ करते हैं—॥ १० ॥ "ॐ अनात्मभावसे रहित, निर्धनोंके धन, शान्तस्वभाव ऋषिश्रेष्ठ भगवान् नर-नारायणको नमस्कार है। वे परमहंसोंके परमगुरु और आत्मारामोंके अधीश्वर हैं उन्हें बारम्बार नमस्कार है" ॥ ११ ॥ इस मन्त्रका पाठ करते हुए वे इस प्रकार गान करते हैं—"जो जगत्की उत्पत्ति आदिमें उनके कर्ता होकर भी कर्तृत्वके अभिमानसे नहीं बँधते, शरीरमें रहते हुए भी जो उसके धर्म भूख-प्यास आदिके वशीभूत नहीं होते तथा द्रष्टा होनेपर भी जिनकी दृष्टि दृश्यके दोषोंसे दूषित नहीं होती उन निःसंग निर्मल और सर्वसाक्षी परमात्माको नमस्कार है ॥ १२ ॥

कर्तास्य सर्गादिषु यो न बध्यते
न हन्यते देहगतोऽपि दैहिकैः ।
द्रष्टुर्न दृग्यस्य गुणैर्विदूष्यते
तस्मै नमोऽसक्तविविक्तसाक्षिणे ॥१२॥
इदं हि योगेश्वर योगनैपुणं
हिरण्यगर्भो भगवान् जगाद यत् ।
यदन्तकाले त्वयि निर्गुणे मनो

हे योगेश्वर! हिरण्यगर्भ भगवान् ब्रह्माजीने योगमार्गकी सबसे बड़ी चातुरी यही बतायी है कि मनुष्य अन्तकालमें देहाभिमानको छोड़कर भक्तिपूर्वक आप निर्गुण

१. प्रा० पा०—सृष्टान्विपिने। २. प्रा० पा०— वाथवा। ३. प्रा० पा०—परमगुरुवरायात्मारामा०।

भक्त्या दधीतोज्झितदुष्कलेवरः ॥१३॥
यथैहिकामुष्मिककामलम्पटः
सुतेषु दारेषु धनेषु चिन्तयन् ।
शङ्केत विद्वान्कुकलेवरात्यया-
द्यस्तस्य यत्नः श्रम एव केवलम् ॥१४॥
तन्नः प्रभो त्वं कुकलेवरार्पितां
त्वन्माययाहंममतामधोक्षज ।
भिन्द्याम येनाशु वयं सुदुर्भिदां
विधेहि योगं त्वयि नः स्वभावमिति ॥१५॥

परमात्मामें ही अपना चित्त लगावे ॥१३॥ इसके विपरीत, जैसे लौकिक और पारलौकिक भोगोंके लालची मूढपुरुष पुत्र, कलत्र और धन आदिकी चिन्ता करते हुए मृत्युसे डरते रहते हैं उसी प्रकार जिस विद्वान्को इस निन्दनीय शरीरके छूटनेका भय बना रहता है उसका ज्ञानप्राप्तिके लिये किया हुआ सारा प्रयत्न केवल श्रममात्र ही है ॥१४॥ अतः हे प्रभो ! आप हमें अपनेमें स्वाभाविक प्रेमरूप अपना भक्तियोग प्रदान कीजिये जिससे हे अधोक्षज ! आपकी मायाकी प्रेरणासे ही इस निन्द्य शरीरमें स्थापित की हुई इस दुर्भेद्य ममता और अहंताका हम तत्काल भेदन कर सकें ॥१५॥

भारतेऽप्यस्मिन्वर्षे सरिच्छैलाः सन्ति[1] बहवो मलयो मङ्गलप्रस्थो मैनाकस्त्रिकूट ऋषभः कूटकः कोल्लकः[2] सह्यो देवगिरिर्ऋष्यमूकः श्रीशैलो वेङ्कटो[3] महेन्द्रो वारिधारो विन्ध्यः शुक्तिमानृक्षगिरिः पारियात्रो द्रोणश्चित्रकूटो गोवर्धनो रैवतकः ककुभो नीलो गोकामुक[4] इन्द्रकीलः कामगिरिरिति चान्ये च शतसहस्रशः शैलास्तेषां नितम्बप्रभवा नदा नद्यश्च सन्त्यसंख्याताः ॥१६॥ एतासामपो भारत्यः प्रजा नामभिरेव पुनन्तीनामात्मना चोपस्पृशन्ति ॥ १७ ॥ चन्द्रवशा[5] ताम्रपर्णी अवटोदा कृतमाला वैहायसी कावेरी वेणी पयस्विनी शर्करावर्ता तुङ्गभद्रा कृष्णा वेण्या[6] भीमरथी गोदावरी निर्विन्ध्या पयोष्णी तापी रेवा सुरसा नर्मदा चर्मण्वती सिन्धुरन्धः[7] शोणश्च नदौ महानदी वेदस्मृतिर्ऋषिकुल्या त्रिसामा कौशिकी मन्दाकिनी यमुना सरस्वती दृषद्वती गोमती सरयू रोधस्वती[8] सप्तवती सुषोमा[9] शतद्रूश्चन्द्रभागा मरुद्वृधा[10] वितस्ता असिक्री विश्वेति महानद्यः ॥ १८ ॥ अस्मिन्नेव वर्षे पुरुषैर्लब्ध-

इसी तरह और भी सैकड़ों-हजारों पर्वत हैं तथा उनके बीचमेंसे निकले हुए अगणित नद और नदियाँ हैं ॥१६॥ अपने नामहीसे पवित्र करनेवाली इन नदियोंके जलमें भारतीय प्रजा स्नानादि करती है ॥१७॥ वे मुख्य-मुख्य नदियाँ चन्द्रवशा, ताम्रपर्णी, अवटोदा, कृतमाला, वैहायसी, कावेरी, वेणी, पयस्विनी, शर्करावर्ता, तुङ्गभद्रा, कृष्णा, वेण्या, भीमरथी, गोदावरी, निर्विन्ध्या, पयोष्णी, तापी, रेवा, सुरसा, नर्मदा, चर्मण्वती, सिन्धु, अन्ध और शोण नामक दो नद, महानदी, वेदस्मृति, ऋषिकुल्या, त्रिसामा, कौशिकी मन्दाकिनी, यमुना, सरस्वती, दृषद्वती, गोमती, सरयू, रोधस्वती, सप्तवती, सुषोमा, शतद्रू, चन्द्रभागा, मरुद्वृधा, वितस्ता, असिक्री और विश्वा आदि हैं ॥ १८ ॥ इसी वर्षमें जन्म लेनेवाले पुरुषोंको अपने

१. प्रा० पा०—न्ति हि बहवो । २. प्रा० पा०—कोल्लः । ३. प्राचीन प्रतिमें 'वेङ्कटो' यह पाठ नहीं है । ४. प्रा० पा०—कोकामुखः । ५. प्रा० पा०—चन्द्रवंश्या । ६. प्रा० पा०—वेन्ता । ७. प्रा० पा०—न्धुर्दृषद्वती अन्धः शोणश्च । ८. प्रा० पा०—रोधवती । ९. प्रा० पा०—सुषोमा । १०. प्रा० पा०—मरद्विधा ।

जन्मभिः शुक्ललोहितकृष्णवर्णेन स्वारब्धेन कर्मणा दिव्यमानुषनारकगतयो बह्व्य आत्मन आनुपूर्व्येण सर्वा ह्येव सर्वेषां विधीयन्ते यथावर्णविधानमपवर्गश्चापि भवति ॥१९॥ योऽसौ भगवति सर्वभूतात्मन्यनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयने परमात्मनि वासुदेवेऽनन्यनिमित्तभक्तियोगलक्षणो नानागतिनिमित्ताविद्याग्रन्थिरन्धनद्वारेण यदा हि महापुरुषप्रसङ्गः २०

किये हुए सात्त्विक, राजस और तामस कर्मोंके अनुसार देव, मनुष्य और नरकादि लोकोंमें नाना प्रकारकी गतियाँ प्राप्त होती हैं, क्योंकि अपने-अपने कर्मोंके अनुसार ये सब योनियाँ क्रमशः सभीको प्राप्त हुआ करती हैं तथा इसी वर्षमें ब्राह्मणादि वर्णोंके लिये निश्चित किये हुए संन्यासादि धर्मोंका पालन करनेसे मोक्ष भी प्राप्त हो सकता है ॥१९॥ हे राजन्! सम्पूर्ण भूतोंके अन्तरात्मा, रागादि दोषोंसे रहित, अनिर्वाच्य, निराधार परमात्मा भगवान् वासुदेवमें अनन्य और निष्काम भक्तिभाव ही वह मोक्षपद है, और वह नाना प्रकारकी गतियोंको प्राप्त करानेवाली अविद्यारूप हृदयकी ग्रन्थिके कट जानेपर जब महापुरुषोंका संग होता है उसी समय प्राप्त होता है ॥२०॥

एतदेव हि देवा गायन्ति ।

अहो अमीषां किमकारि शोभनं
प्रसन्न एषां स्विदुत स्वयं हरिः ।
यैर्जन्म लब्धं नृषु भारताजिरे[1]
मुकुन्दसेवौपयिकं स्पृहा हि[2] नः ॥२१॥

किं दुष्करैर्नः क्रतुभिस्तपोव्रतै-
र्दानादिभिर्वा द्युजयेन[3] फल्गुना ।
न यत्र नारायणपादपङ्कज-
स्मृतिः प्रमुष्टातिशयेन्द्रियोत्सवात् ॥२२॥

कल्पायुषां स्थानजयात्पुनर्भवात्
क्षणायुषां भारतभूजयो वरम् ।
क्षणेन मर्त्येन कृतं मनस्विनः
संन्यस्य संयान्त्यभयं पदं हरेः ॥२३॥

न यत्र वैकुण्ठकथासुधापगा
न साधवो भागवतास्तदाश्रयाः ।

'यह मनुष्य-जन्म ही सकल पुरुषार्थोंका साधन है' ऐसा ही देवता लोग भी गान करते हैं—"अहो! जिसके लिये हमारी लालसा बनी रहती है उस भगवत्सेवाके लिये उपयोगी इस मनुष्यशरीरमें जिन जीवोंने भारतवर्षमें जन्म ग्रहण किया है उनसे ऐसा क्या पुण्य-कर्म बना है? अथवा उनपर भगवान् श्रीहरि स्वयं ही प्रसन्न हो गये हैं ॥२१॥ स्वर्गलोकका आधिपत्य प्राप्त करानेवाले इन सारहीन दुष्कर यज्ञ, तप, व्रत और दानादिसे हमें क्या लाभ? जहाँ इन्द्रियोंके भोगोंकी बहुलतासे दबी रहनेके कारण श्रीहरिके चरण-कमलोंकी स्मृति नहीं होती ॥२२॥ [स्वर्गलोक तो क्या?] जहाँ एक-एक कल्पकी आयु होती है किन्तु उसके पीछे फिर संसारचक्रमें आना पड़ता है, उन ब्रह्मलोकादिको प्राप्त करनेकी अपेक्षा भी अल्पायु होकर भारतभूमिमें जन्म लेना अच्छा है, क्योंकि इस भारतवर्षमें धीर पुरुष एक क्षणमें ही अपने सम्पूर्ण कर्म भगवान्‌को अर्पण करके उनका अभयपद प्राप्त कर लेते हैं ॥२३॥ जहाँ भगवत्कथा-रूप अमृतमयी सरिता नहीं बहती, जहाँ भगवान्‌के आश्रित रहनेवाले भगवद्भक्त साधुजन निवास नहीं करते तथा जहाँ यज्ञपुरुष श्रीहरिकी पूजा-अर्चा

१. प्रा० पा०—तेऽजिरे । २. प्रा० पा०—स्पृहा नः । ३. प्रा० पा०—प्रजयेन ।

न यत्र यज्ञेशमखा महोत्सवाः
सुरेशलोकोऽपि न वै स सेव्यताम् ॥२४॥
प्राप्ता नृजातिं त्विह ये च जन्तवो
ज्ञानक्रियाद्रव्यकलापसंभृताम् ।
न वै[1] यतेरन्नपुनर्भवाय ते
भूयो वनौका इव यान्ति बन्धनम् ॥२५॥
यैः श्रद्धया बर्हिषि भागशो हवि-
र्निरुप्तमिष्टं विधिमन्त्रवस्तुतः ।
एकः पृथङ्नामभिराहुतो मुदा
गृह्णाति पूर्णः स्वयमाशिषां प्रभुः ॥२६॥
सत्यं दिशत्यर्थितमर्थितो नृणां
नैवार्थदो यत्पुनरर्थिता यतः ।
स्वयं विधत्ते भजतामनिच्छता-
मिच्छापिधानं निजपादपल्लवम् ॥२७॥
यद्यत्र नः स्वर्ग[2]सुखावशेषितं
स्विष्टस्य सूक्तस्य कृतस्य शोभनम् ।
तेनाजनाभे स्मृतिमज्जन्म नः स्याद्
वर्षे हरिर्यद्भजतां शं तनोति ॥२८॥

[3]श्रीशुक उवाच

जम्बूद्वीपस्य च राजन्नुपद्वीपानष्टौ हैक उपदिशन्ति सगरात्मजैरश्वान्वेषण इमां महीं परितो निखनद्भिरुपकल्पितान् ॥२९॥ तद्यथा स्वर्णप्रस्थश्चन्द्रशुक्ल आवर्तनो रमणको मन्दरहरिणः[4] पाञ्चजन्यः सिंहलो लङ्केति ॥३०॥ एवं तव भारतोत्तम जम्बू-

आदिके लिये बड़े-बड़े उत्सव नहीं मनाये जाते वह यदि ब्रह्मलोक हो तो भी उसका सेवन न करना चाहिये ॥२४॥ जिन जीवोंने इस भारतभूमिमें ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय और पञ्चभूतोंकी चातुरीसे युक्त यह मनुष्यजन्म प्राप्त किया है वे यदि आवागमनके चक्रसे निकलनेका यत्न नहीं करते तो [व्याधेके पाशसे मुक्त होकर फलादिके लोभसे उसी वृक्षपर विहार करनेवाले] वनवासी पक्षियोंके समान वे फिर बन्धनमें पड़ जायँगे ॥२५॥ अहो ! इन भारतवासियोंका कैसा सौभाग्य है ? जिनके द्वारा यज्ञमें भिन्न-भिन्न देवताओंके उद्देश्यसे अलग-अलग भाग निकालकर श्रद्धापूर्वक विधि, मन्त्र और द्रव्यादिके द्वारा दिये हुए हविको, इन्द्रादि विभिन्न नामोंसे आवाहन किये गये सर्वव्यापी सम्पूर्ण कामनाओंको पूर्ण करनेमें समर्थ श्रीहरि अति प्रसन्नतापूर्वक स्वयं ग्रहण करते हैं ॥२६॥ सकाम पुरुषोंको भगवान् उनके इच्छित पदार्थ देते हैं—यह ठीक है; किन्तु वह उन्हें असली चीज नहीं देते, इसीसे उन्हें फिर कामना होती है । इसके विपरीत अपने निष्काम भक्तोंको वे अपना चरण-कमल प्रदान करते हैं, जो सम्पूर्ण कामनाओंको दूर करनेवाला है ॥२७॥ सो यदि हमारे भोगे हुए स्वर्गसुखसे हमारे पूर्वकृत पूजन, अध्ययन अथवा सुकर्ममेंसे कुछ भी पुण्य शेष रहा है तो उसके प्रभावसे इस भारतवर्षमें हमें श्रीहरिकी स्मृतिसे युक्त मनुष्यजन्म प्राप्त हो, क्योंकि श्रीहरि अपना भजन करनेवालेका सब प्रकार कल्याण करते हैं'' ॥२८॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! राजा सगरके पुत्रोंने यज्ञके घोड़ेको ढूँढ़ते समय इस पृथिवीको चारों ओरसे खोदा था उससे जम्बूद्वीपमें आठ उपद्वीप और बन गये—ऐसा कुछ लोगोंका कथन है ॥२९॥ वे स्वर्णप्रस्थ, चन्द्रशुक्ल, आवर्तन, रमणक, मन्दरहरिण, पाञ्चजन्य, सिंहल और लंका हैं ॥३०॥ हे भरतश्रेष्ठ !

१. प्रा० पा०—चेद्यतेरन्नपुनर्भूताय ते । २. प्रा० पा०—सूज्यसुखा० । ३. प्राचीन प्रतिमें 'श्रीशुक उवाच' यह पाठ नहीं है । ४. प्रा० पा०—मन्दहरिणो ।

द्वीपवर्षविभागो यथोपदेशमुपवर्णित इति ॥३१॥

इस प्रकार मैंने तुम्हें यह जम्बूद्वीपका वर्षविभाग, जैसा मुझे बताया गया था वैसा सुना दिया ॥३१॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे जम्बूद्वीपवर्णनं नामैकोनविंशोऽध्यायः ॥ १९ ॥

बीसवाँ अध्याय

अन्य छः द्वीपों तथा लोकालोकपर्वतका वर्णन ।

[1]श्रीशुक उवाच

अतः परं प्लक्षादीनां प्रमाणलक्षणसंस्थानतो वर्षविभाग उपवर्ण्यते ॥ १ ॥ जम्बूद्वीपोऽयं यावत्प्रमाणविस्तारस्तावता क्षारोदधिना परिवेष्टितो यथा मेरुर्जम्ब्वाख्येन लवणोदधिरपि ततो द्विगुणविशालेन प्लक्षाख्येन परिक्षिप्तो यथा परिखा बाह्योपवनेन प्लक्षो जम्बूप्रमाणो द्वीपाख्याकरो[3] हिरण्मय उत्थितो यत्राग्निरुपास्ते सप्तजिह्वस्तस्याधिपतिः प्रियव्रतात्मज इध्मजिह्वः स्वं द्वीपं सप्तवर्षाणि विभज्य सप्तवर्षनामभ्य आत्मजेभ्य[4] आकलय्य स्वयमात्मयोगेनोपरराम ॥ २ ॥ शिवं यवसं सुभद्रं शान्तं क्षेममभृतमभयमिति वर्षाणि तेषु गिरयो नद्यश्च सप्तैवाभिज्ञाताः[5] ॥३॥ मणिकूटो वज्रकूट[6] इन्द्रसेनो ज्योतिष्मान्सुपर्णो हिरण्यष्ठीवो मेघमाल इति सेतुशैलाः[7] अरुणा नृम्णाङ्गिरसी[8] सावित्री सुप्रभाता ऋतम्भरा सत्यम्भरा इति महानद्यः । यासां[9] जलोपस्पर्शनविधूतरजस्तमसो हंसपतङ्गोर्ध्वा-

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! अब आगे प्रमाण, लक्षण और स्थितिके अनुसार प्लक्षादि द्वीपोंके वर्षविभागका वर्णन किया जाता है ॥ १ ॥ जिस प्रकार मेरु पर्वत जम्बूद्वीपसे घिरा हुआ है उसी प्रकार यह जम्बूद्वीप भी अपने ही समान प्रमाण और विस्तारवाले खारे जलके समुद्रसे परिवेष्टित है । फिर जिस प्रकार खाई बाहरके उपवनसे घिरी रहती है उसी प्रकार क्षारसमुद्र भी अपनेसे दूने विस्तारवाले प्लक्षनामक द्वीपसे आवृत है । उसमें जम्बूद्वीपस्थ जामुनके वृक्षके समान विस्तारवाला एक सुवर्णमय प्लक्ष (पकड़ी) का वृक्ष है । उसीके कारण उसका नाम 'प्लक्षद्वीप' हुआ है । वहाँ सात जिह्वाओंवाले अग्निदेव विराजमान हैं । उस द्वीपके अधिपति प्रियव्रतपुत्र महाराज इध्मजिह्व थे । उन्होंने अपने द्वीपको सात वर्षोंमें बाँटकर उन वर्षोंके समान ही नामवाले अपने पुत्रोंको सौंप दिया और स्वयं अध्यात्मयोगका आश्रय कर उपरत हो गये ॥ २ ॥ उन वर्षों (और पुत्रों) के नाम ये हैं—शिव, यवस, सुभद्र, शान्त, क्षेम, अमृत और अभय । उनमें भी सात पर्वत और सात नदियाँ ही प्रसिद्ध हैं ॥ ३ ॥ उनमें मणिकूट, वज्रकूट, इन्द्रसेन, ज्योतिष्मान्, सुपर्ण, हिरण्यष्ठीव और मेघमाल ये सात मर्यादापर्वत हैं तथा अरुणा, नृम्णा, आङ्गिरसी, सावित्री, सुप्रभाता, ऋतम्भरा और सत्यम्भरा ये सात महानदियाँ हैं । उन नदियोंके जलमें स्नान करनेसे जिनके रजो-

१. प्रा० पा०—ऋषिरुवाच । २. प्रा० पा०—वान् । ३. प्रा० पा०—ख्यातिकरो । ४. प्राचीन प्रतिमें 'आत्मजेभ्य' यह पाठ खण्डित है । ५. प्रा० पा०—व पतन्त्यभिज्ञाताः । ६. प्रा० पा०—टः शतशृङ्गमिन्द्र० । ७. प्रा० पा०—सप्तशैलाः । ८. प्रा० पा०—मृगगणाङ्गि० । ९. प्रा० पा०—आसां ।

यनसत्याङ्गसंज्ञाश्चत्वारो वर्णाः सहस्रायुषो विबुधोपमसंदर्शनप्रजननाः स्वर्गद्वारं त्रय्या विद्यया भगवन्तं त्रयीमयं सूर्यमात्मानं यजन्ते ॥ ४ ॥

प्लक्षस्य विष्णो रूपं यत्सत्यस्यर्तस्य ब्रह्मणः ।
अमृतस्य च मृत्योश्च सूर्यमात्मानमीमहीति ॥ ५ ॥

प्लक्षादिषु पञ्चसु पुरुषाणामायुरिन्द्रियमोजः सहो बलं बुद्धिर्विक्रम इति च सर्वेषामौत्पत्तिकी सिद्धिरविशेषेण वर्तते ॥ ६ ॥

प्लक्षः[1] स्वसमानेनेक्षुरसोदेनावृतो यथा तथा द्वीपोऽपि शाल्मलो द्विगुणविशालः समानेन सुरोदेनावृतः परिवृङ्क्ते ॥ ७ ॥ यत्र ह वै शाल्मली प्लक्षायामा यस्यां वाव किल निलयमाहुर्भगवतश्छन्दःस्तुतः पतत्त्रिराजस्य सा द्वीपह्वयतये उपलक्ष्यते ॥ ८ ॥ तद्द्वीपाधिपतिः प्रियव्रतात्मजो यज्ञबाहुः स्वसुतेभ्यः सप्तभ्यस्तन्नामानि सप्तवर्षाणि व्यभजत्सुरोचनं सौमनस्यं रमणकं देववर्षं पारिभद्रमाप्यायनमविज्ञातमिति ॥ ९ ॥ तेषु वर्षाद्रयो नद्यश्च सप्तैवाभिज्ञाताः स्वरसः शतशृङ्गो वामदेवः कुन्दो मुकुन्दः[2] पुष्पवर्षः सहस्रश्रुतिरिति । अनुमतिः सिनीवाली सरस्वती कुहू रजनी नन्दा राकेति ॥ १० ॥ तद्वर्षपुरुषाः श्रुतधरवीर्यधरवसुंधरेषंधरसंज्ञा[3] भगवन्तं वेदमयं सोममात्मानं वेदेन यजन्ते ॥ ११ ॥

गुण और तमोगुण क्षीण हो गये हैं, जिनकी परमायु सहस्र वर्षकी है तथा जिनसे देवताओंके समान रूपवती सन्तति होती है ऐसे हंस, पतङ्ग, ऊर्ध्वायन और सत्याङ्ग नामक वहाँके चार वर्ण त्रयीविद्याके द्वारा तीनों वेदोंमें वर्णन किये हुए सर्वान्तर्यामी भगवान् सूर्यकी उपासना करते हैं ॥ ४ ॥ और इस प्रकार स्तुति करते हैं—'जो सत्य (अनुष्ठीयमान धर्म), ऋत (प्रतीयमान धर्म), वेद और शुभाशुभ फलके अधिष्ठाता हैं उन पुराणपुरुष विष्णुस्वरूप भगवान् सूर्यको हम नमस्कार करते हैं ॥ ५ ॥ प्लक्षादि पाँच द्वीपोंमें सब मनुष्योंको जन्मसे ही आयु, इन्द्रिय, मनोबल, इन्द्रियबल, शारीरिक बल, बुद्धि और पराक्रमकी समानरूपसे सिद्धि प्राप्त होती है' ॥ ६ ॥

जैसे प्लक्षद्वीप अपने ही समान विस्तारवाले इक्षुरसके समुद्रसे घिरा हुआ है वैसे ही उससे द्विगुण परिमाणवाला शाल्मलीद्वीप भी उतने ही विस्तारवाले मदिराके सागरसे आवृत है ॥ ७ ॥ वहाँ प्लक्षद्वीपस्थ पकड़ीके वृक्षके समान विस्तारवाला एक शाल्मली (सेमल) का पेड़ है, जिसपर अपने पङ्खोंसे वेदध्वनि करनेवाले पक्षिराज भगवान् गरुडजीका निवासस्थान बताया जाता है । वह वृक्ष ही उस द्वीपके नामकरणका कारण है ॥ ८ ॥ उस द्वीपके अधिपति प्रियव्रतपुत्र महाराज यज्ञबाहुने अपने द्वीपके सात विभाग किये, और अपने सात पुत्रोंको उन्हींके नामानुसार उन सुरोचन, सौमनस्य, रमणक, देववर्ष, पारिभद्र, आप्यायन और अविज्ञात नाम सात वर्षोंको सौंप दिया ॥ ९ ॥ उनमें भी सात वर्षपर्वत और सात नदियाँ ही प्रसिद्ध हैं । वहाँ स्वरस, शतशृङ्ग, वामदेव, कुन्द, मुकुन्द, पुष्पवर्ष और सहस्रश्रुति—ये सात पर्वत हैं और अनुमति, सिनीवाली, सरस्वती, कुहू, रजनी, नन्दा तथा राका—ये सात नदियाँ हैं ॥ १० ॥ उन वर्षोंमें रहनेवाले श्रुतधर, वीर्यधर, वसुन्धर एवं इषन्धर नामक चार वर्णोंके पुरुष वेदमूर्ति सर्वान्तर्यामी भगवान् चन्द्रमाकी वेदमन्त्रोंसे उपासना करते हैं ॥ ११ ॥ [और कहते हैं—]

१. प्रा० पा०—प्लक्षस्तु । २. प्रा० पा०—कुमुदः पुष्प० । ३. प्रा० पा०—धरेषुन्धरसंज्ञा ।

स्वगोभिः[1] पितृदेवेभ्यो विभजन् कृष्णशुक्लयोः ।
प्रजानां सर्वासां राजान्धः सोमो न आस्त्विति ॥१२॥

'जो कृष्णपक्ष और शुक्लपक्षमें अपनी किरणोंसे विभाग करके देवता, पितृ और सम्पूर्ण प्रजाओंको उनका अन्न देते हैं वे चन्द्रदेव हमारे राजा (हमारा रञ्जन करनेवाले) हों' ॥ १२ ॥

एवं सुरोदाद्बहिस्तद्द्विगुणः समानेनावृतो घृतोदेन यथापूर्वः कुशद्वीपो यस्मिन्कुशस्तम्बो देवकृतस्तद्द्वीपाख्यो[2]करो ज्वलन इवापरः स्वशष्परोचिषा दिशो विराजयति[3] ॥१३॥ तद्द्वीपपतिः प्रियव्रतो राजन्हिरण्यरेतो[4] नाम स्वं द्वीपं सप्तभ्यः स्वपुत्रेभ्यो यथाभागं विभज्य स्वयं[5] तप आतिष्ठत वसुवसुदानदृढरुचिनाभिगुप्तस्तुत्यव्रतविविक्तवामदेवनामभ्यः[6] ॥ १४ ॥ तेषां वर्षेषु सीमागिरयो नद्यश्चाभिज्ञाताः[7] सप्त सप्तैव चक्रश्चतुःशृङ्गः कपिलश्चित्रकूटो[8] देवानीक ऊर्ध्वरोमा द्रविण इति रसकुल्या मधुकुल्या मित्रविन्दा श्रुतविन्दा देवगर्भा घृतच्युता मन्त्रमालेति[9] ॥ १५ ॥ यासां पयोभिः कुशद्वीपौकसः कुशलकोविदाभियुक्तकुलकसंज्ञा भगवन्तं जातवेदसरूपिणं कर्मकौशलेन यजन्ते ॥१६॥

इसी प्रकार मदिराके समुद्रके चारों ओर उससे दुगुना तथा पूर्ववत् अपने ही समान विस्तारवाले घृतके समुद्रसे घिरा हुआ कुशद्वीप है । उसमें भगवान्का रचा हुआ एक कुशाओंका झाड़ है; जो उस द्वीपके नामको निश्चित करता है तथा दूसरे अग्निदेवके समान अपनी कोंपलोंकी कान्तिसे सम्पूर्ण दिशाओंको आलोकित करता है ॥ १३ ॥ हे राजन् ! उस द्वीपके अधिपति महाराज प्रियव्रतके पुत्र हिरण्यरेता थे । उन्होंने अपने द्वीपके सात विभाग कर उन्हें वसु, वसुमान, दृढरुचि, नाभिगुप्त, स्तुत्यव्रत, विविक्त और वामदेव नामक अपने सात पुत्रोंको यथायोग्य बाँट दिया और स्वयं तपस्या करने लगे ॥ १४ ॥ उनके वर्षोंकी सीमाको निश्चित करनेवाले पर्वत और नदियाँ भी सात-सात ही हैं । उनमें चक्र, चतुःशृङ्ग, कपिल, चित्रकूट, देवानीक, ऊर्ध्वरोमा और द्रविण ये सात पर्वत हैं तथा रसकुल्या, मधुकुल्या, मित्रविन्दा, श्रुतविन्दा, देवगर्भा, घृतच्युता और मन्त्रमाला—ये सात नदियाँ हैं ॥ १५ ॥ उनके जलमें स्नान कर कुशद्वीपनिवासी कुशल, कोविद, अभियुक्त और कुलक नामक चार वर्णोंके पुरुष अग्निस्वरूप श्रीहरिका यज्ञादि कर्मकौशलसे पूजन करते हैं ॥ १६ ॥ [और कहते हैं—] 'हे अग्ने ! आप परब्रह्मको साक्षात् हवि पहुँचानेवाले हैं अतः भगवान्के अङ्गभूत देवताओंके यजनद्वारा आप उन परमपुरुषका ही यजन कीजिये' ॥ १७ ॥

परस्य[10] ब्रह्मणः साक्षाज्जातवेदोऽसि हव्यवाट् ।
देवानां पुरुषाङ्गानां यज्ञेन पुरुषं यजेति ॥१७॥

तथा[11] घृतोदाद्बहिः क्रौञ्चद्वीपो द्विगुणः स्वमानेन

हे राजन् ! जिस प्रकार कुशद्वीप घृतके समुद्रसे घिरा हुआ है उसी प्रकार घृतसमुद्रके आगे उससे

१. प्राचीन प्रतिमें 'स्वगोभिः पितृदेवेभ्यो···' से लेकर 'सोमो न अस्त्विति' यहाँतक पूरा एक श्लोक ही नहीं है। २. प्रा० पा०—ख्यायनो ज्वलन । ३. प्रा० पा०—विराजति । ४. प्रा० पा०—ण्यरोमा नाम । ५. प्रा० पा०—स्वयं तु तप । ६. प्रा० पा०—चिराभिगुप्त० । ७. प्रा० पा०—ज्ञाताः सप्तैव चक्र० । ८. प्रा०पा०—पिलो वित्रकूटो । ९. प्रा० पा०—मधुमालेति । १०. प्राचीन प्रतिमें 'परस्य ब्रह्मणः···' यह श्लोक नहीं है । ११. प्राचीन प्रतिमें 'तथा घृतोदाद्बहिः' यह पाठ नहीं है ।

क्षीरोदेन परित उपक्लृप्तो वृतो यथा कुशद्वीपो घृतोदेन यस्मिन् क्रौञ्चो नाम पर्वतराजो द्वीपनामनिर्वर्तक आस्ते ॥१८॥ योऽसौ गुहप्रहरणोन्मथितनितम्बकुञ्जोऽपि क्षीरोदेनासिच्यमानो भगवता वरुणेनाभिगुप्तो विभयो बभूव ॥१९॥ तस्मिन्नपि प्रियव्रतो घृतपृष्ठो नामाधिपतिः स्वे[1] द्वीपे वर्षाणि सप्त विभज्य तेषु पुत्रनामसु सप्तरिक्थादान्वर्षपान्निवेश्य स्वयं भगवान्[2] भगवतः परमकल्याणयशस आत्मभूतस्य हरेश्चरणारविन्दमुपजगाम ॥२०॥ आम्रो[3] मधुरुहो मेघपृष्ठः सुधामा भ्राजिष्ठो लोहितार्णो वनस्पतिरिति घृतपृष्ठसुतास्तेषां वर्षगिरयः[4] सप्त सप्तैव नद्यश्चाभिख्याताः शुक्लो वर्धमानो भोजन उपबर्हिणो नन्दो[5] नन्दनः सर्वतोभद्र इति अभया अमृतौघा आर्यका तीर्थवती वृत्तिरूपवती[6] पवित्रवती शुक्लेति ॥ २१ ॥ यासामम्भः पवित्रममलमुपयुञ्जानाः पुरुषऋषभद्रविणदेवकसंज्ञा[7] वर्षपुरुषा आपोमयं देवमपां पूर्णेनाञ्जलिना यजन्ते ॥२२॥

आपः[8] पुरुषवीर्याः स्थ पुनन्तीर्भूर्भुवः सुवः ।
ता नः पुनीतामीवघ्नीः स्पृशतामात्मना भुव इति ।२३।

एवं पुरस्तात्क्षीरोदात्[9]परित उपवेशितः शाकद्वीपो द्वात्रिंशल्लक्षयोजनायामः समानेन च दधिमण्डोदेन परितो यस्मिन्[10] शाको नाम महीरुहः स्वक्षेत्रव्यप-

दूने विस्तारवाला क्रौञ्चद्वीप चारों ओरसे अपने ही समान परिमाणवाले क्षीरसमुद्रसे परिवेष्टित है। वहाँ उस द्वीपका नाम डालनेवाला क्रौञ्च नामक एक महापर्वत है ॥ १८ ॥ जो पूर्वकालमें श्रीस्वामिकार्तिकेयजीके शस्त्रप्रहारसे कटि-प्रदेश और लता-विटपादिके क्षीण हो जानेपर भी क्षीरसमुद्रसे सिञ्चित और भगवान् वरुणसे सुरक्षित होकर निर्भय हो गया था ॥ १९ ॥ उसके अधिपति प्रियव्रतपुत्र महाराज घृतपृष्ठने भी अपने द्वीपको सात वर्षोंमें विभक्त कर उनमें प्रजापालनके लिये उन्हींके समान नामवाले अपने सात उत्तराधिकारी पुत्रोंको नियुक्त किया और स्वयं सम्पूर्ण जीवोंके अन्तरात्मा, परम मङ्गलमय कीर्तिशाली, भगवान् श्रीहरिके पावन पादारविन्दोंकी शरण ली ॥ २० ॥ महाराज घृतपृष्ठके आम्र, मधुरुह, मेघपृष्ठ, सुधामा, भ्राजिष्ठ, लोहितार्ण और वनस्पति—ये सात पुत्र थे। उनके वर्षोंमें भी सात मर्यादापर्वत और सात नदियाँ ही कही जाती हैं। उनमें शुक्ल, वर्धमान, भोजन, उपबर्हिण, नन्द, नन्दन और सर्वतोभद्र—ये सात पर्वत तथा अभया, अमृतौघा, आर्यका, तीर्थवती, वृत्तिरूपवती, पवित्रवती और शुक्ला नामकी सात नदियाँ हैं ॥ २१ ॥ जिनके पवित्र और निर्मल जलका सेवन करनेवाले वहाँके पुरुष, ऋषभ, द्रविण और देवक—इन चार वर्णोंके पुरुष जलसे भरी हुई अञ्जलिके द्वारा जलमय देवताकी उपासना करते हैं ॥ २२ ॥ [और इस प्रकार स्तुति करते हैं—] 'हे जल ! तुम्हें परमात्मासे सामर्थ्य प्राप्त है। तुम भूः, भुवः और स्वः तीनों लोकोंको पवित्र करते हो। इसलिये तुम स्वभावसे ही पापनाशक हो। हम अपने शरीरसे तुम्हारा स्पर्श करते हैं; तुम हमें पवित्र करो' ॥ २३ ॥

इसी प्रकार क्षीरसमुद्रसे आगे उसके चारों ओर बत्तीस लाख योजन विस्तारवाला शाकद्वीप है, जो अपने ही समान परिमाणवाले मट्ठेके समुद्रसे घिरा हुआ है और जिसमें अपने द्वीपका नाम डालनेवाला

१. प्रा० पा०—श्वेतद्वीपे। २. प्रा० पा०—भगवतः। ३. प्रा० पा०—आम्रो। ४. प्रा० पा०—गिरयः सप्तैव नद्य०। ५. प्रा० पा०—नन्दनः सर्व०। ६. प्रा० पा०—वृत्तिरूपवती। ७. प्रा० पा०—षर्षभ। ८. प्राचीन प्रतिमें 'आपः पुरुषवीर्याः…' यह श्लोक नहीं है। ९. प्रा० पा०—क्षीरोदकात्। १०. प्रा० पा०—यस्मिन् हि शा०।

देशको यस्य ह महासुरभिगन्धस्तं द्वीपमनुवासयति ॥२४॥ तस्यापि प्रैयव्रत एवाधिपतिर्नाम्ना मेधातिथिः सोऽपि विभज्य सप्त वर्षाणि पुत्रनामानि तेषु स्वात्मजान्पुरोजवमनोजवपवमानधूम्रानीकचित्ररेफ-बहुरूपविश्वाधारसंज्ञान्निधायाधिपतीन्स्वयं भगवत्यनन्त आवेशितमतिस्तपोवनं प्रविवेश ॥२५॥ एतेषां वर्षमर्यादागिरयो नद्यश्च सप्तसप्तैव ईशान उरुशृङ्गो बलभद्रः शतकेसरः सहस्रस्रोतो देवपालो महानस इति अनघायुर्दा उभयसृष्टिरपराजिता पञ्चपदी सहस्रस्रुतिर्निजधृतिरिति ॥२६॥ तद्वर्षपुरुषा ऋतव्रतसत्यव्रतदानव्रतानुव्रतनामानो भगवन्तं वाय्वात्मकं प्राणायामविधूतरजस्तमसः परमसमाधिना यजन्ते ॥२७॥

अन्तः प्रविश्य भूतानि यो बिभर्त्यात्मकेतुभिः ।
अन्तर्यामीश्वरः साक्षात्पातु नो यद्वशे स्फुटम् ॥२८॥

एवमेव दधिमण्डोदात्परतः पुष्करद्वीपस्ततो द्विगुणायामः समन्तत उपकल्पितः समानेन स्वादूदकेन समुद्रेण बहिरावृतो यस्मिन् बृहत्पुष्करं ज्वलनशिखामलकनकपत्रायुतायुतं भगवतः कमलासनस्याध्यासनं परिकल्पितम् ॥२९॥ तद्द्वीपमध्ये मानसोत्तरनामैक एवार्वाचीनपराचीनवर्षयोर्मर्यादाचलोऽयुतयोजनोच्छ्रायायामो यत्र तु चतसृषु दिक्षु

एक बहुत बड़ा शाकका वृक्ष है जिसकी अत्यन्त मनोहर सुगन्ध उस सम्पूर्ण द्वीपको सुवासित रखती है ॥२४॥ उसके मेधातिथि नामक अधिपति भी राजा प्रियव्रतके ही पुत्र थे। वे भी अपने द्वीपको सात वर्षोंमें विभक्तकर और उनमें उन्हींके समान नामवाले अपने पुरोजव, मनोजव, पवमान, धूम्रानीक, चित्ररेफ, बहुरूप और विश्वाधार नामक सात पुत्रोंको नियुक्त कर स्वयं भगवान् अनन्तमें दत्तचित्त हो तपोवनको चले गये ॥२५॥ उन वर्षोंमें भी मर्यादा-पर्वत और नदियोंकी संख्या सात-सात ही है। वहाँ ईशान, उरुशृंग, बलभद्र, शतकेशर, सहस्रस्रोत, देवपाल और महानस नामक सात पर्वत और अनघा, आयुर्दा, उभयसृष्टि, अपराजिता, पञ्चपदी, सहस्रस्रुति और निजधृति नामक सात नदियाँ हैं ॥२६॥ उन वर्षोंके ऋतव्रत, सत्यव्रत, दानव्रत और अनुव्रत नामक चार वर्णोंके पुरुष प्राणायामद्वारा अपने रजोगुण और तमोगुणको क्षीण कर परम समाधिके द्वारा वायुरूप श्रीहरिकी आराधना करते हैं ॥२७॥ [और इस प्रकार स्तुति करते हैं—] "जो सम्पूर्ण प्राणियोंके भीतर अपनी प्राणादि वृत्तियोंके द्वारा प्रवेशकर उनका पालन करता है तथा सम्पूर्ण जगत् जिसके अधीन है वह साक्षात् अन्तर्यामी ईश्वर हमारी रक्षा करे" ॥२८॥

इसी प्रकार मट्ठेके समुद्रके आगे उसके चारों ओर उससे दूने विस्तारवाला पुष्करद्वीप है। वह चारों ओरसे अपने ही समान परिमाणवाले मीठे पानीके समुद्रसे घिरा हुआ है। उसमें अग्निकी शिखाके समान प्रकाशमान और अति निर्मल हजारों-लाखों पंखड़ियोंवाला एक पुष्कर (कमल) उगा हुआ है, जो भगवान् ब्रह्माजीका आसन है ॥२९॥ उस द्वीपके बीचोबीच उसके अर्वाचीन और पराचीन नामक दो वर्षोंकी मर्यादा निश्चित करनेवाला मानसोत्तर नामक एक ही पर्वत है, जो हजारों योजन ऊँचा और

१. प्रा० पा०—वेपमान० । २. प्रा० पा०—सप्त सप्त । ३. प्रा० पा०—सहस्रस्रुतिर्निज० । ४. प्राचीन प्रतिमें 'अन्तः प्रविश्य·····' यह श्लोक नहीं है । ५. प्रा० पा०—दकसमुद्रेण । ६. प्रा० पा०—पुष्करं ज्वलन० । ७. प्रा० पा०—सोत्तरो नामैक । ८. प्रा० पा०—प्राचीनयोर्वर्षयो० । ९. प्रा० पा०—तु वनचतसृषु दिक्षु ।

चत्वारि पुराणि लोकपालानामिन्द्रादीनां यदुपरिष्टात्सूर्यरथस्य मेरुं परिभ्रमतः संवत्सरात्मकं चक्रं[1] देवानामहोरात्राभ्यां परिभ्रमति ॥३०॥ तद्द्वीपस्याप्यधिपतिः प्रियव्रतो वीतिहोत्रो नामैतस्यात्मजौ रमणकधातकिनामानौ[2] वर्षपती नियुज्य स स्वयं पूर्वजवद्भगवत्कर्मशील एवास्ते ॥३१॥ तद्वर्षपुरुषा भगवन्तं ब्रह्मरूपिणं सकर्मकेन कर्मणाराधयन्तीदं चोदाहरन्ति ॥३२॥

यत्तत्कर्ममयं लिङ्गं ब्रह्मलिङ्गं जनोऽर्चयेत् ।
एकान्तमद्वयं शान्तं तस्मै भगवते नम इति ॥३३॥

ऋषिरुवाच

ततः परस्ताल्लोकालोकनामाचलो लोकालोकयोरन्तराले परित उपक्षिप्तः ॥३४॥ यावन्मानसोत्तरमेर्वोरन्तरं तावती भूमिः काञ्चन्यन्यादर्शतलोपमा यस्यां प्रहितः पदार्थो न कथंचित्पुनः प्रत्युपलभ्यते तस्मात्सर्वसत्त्वपरिहृतासीत् ॥३५॥ लोकालोक इति समाख्या यदनेनाचलेन लोकालोकस्यान्तर्वर्तिनावस्थाप्यते ॥३६॥ स लोकत्रयान्ते परित ईश्वरेण विहितो यस्मात्सूर्यादीनां ध्रुवापवर्गाणां ज्योतिर्गणानां गभस्तयोऽर्वाचीनांस्त्रीँल्लोकानावितन्वाना न कदाचित्पराचीना भवितुमुत्सहन्ते तावदुन्नहनायामः[3] ॥ ३७ ॥

एतावाँल्लोकविन्यासो मानलक्षणसंस्थाभिर्विचिन्तितः कविभिः स तु पञ्चाशत्कोटिश्च गणितस्य

विस्तारवाला है । उसके ऊपर चारों दिशाओंमें इन्द्रादि लोकपालोंकी चार पुरियाँ हैं तथा मेरुपर्वतके चारों ओर घूमनेवाले सूर्यके रथका संवत्सररूप चक्र उसपर देवताओंके दिन और रात (उत्तरायण तथा दक्षिणायन) के क्रमसे सर्वदा घूमा करता है ॥३०॥ उस द्वीपका स्वामी प्रियव्रतपुत्र वीतिहोत्र भी अपने रमणक और धातकि नामक पुत्रोंको दोनों वर्षोंका अधिपति बना, स्वयं अपने बड़े भाइयोंके समान भगवत्सेवामें ही तत्पर रहा ॥३१॥ वहाँके निवासी ब्रह्मारूप श्रीहरिकी ब्रह्मसालोक्यादिकी प्राप्ति करानेवाले कर्मोंसे आराधना करते हुए इस प्रकार कहते हैं—॥३२॥ "जो उस प्रसिद्ध कर्मफलके चिह्न हैं तथा जिन ब्रह्मस्वरूपकी सब लोग पूजा करते हैं उन एकमात्र अद्वितीय और शान्तस्वरूप भगवान्‌को नमस्कार है" ॥३३॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! उसके आगे लोकालोक नामक पर्वत है जो सब ओरसे सूर्यद्वारा प्रकाशित और अप्रकाशित लोकोंके बीचमें [उनका विभाग करनेके लिये] स्थित है ॥३४॥ सुमेरुसे लेकर मानसोत्तर पर्वततक जितना अन्तर है उतनी ही भूमि शुद्धोदक समुद्रके उस ओर भी है । उसके आगे सुवर्णमयी भूमि है जो दर्पणके समान स्वच्छ है तथा जिसपर गिरी हुई वस्तु फिर नहीं मिलती । इसलिये वहाँ कोई भी प्राणी नहीं रहता ॥३५॥ इस पर्वतका नाम लोकालोक इसलिये पड़ा है कि यह सूर्यसे प्रकाशित और अप्रकाशित लोकोंके बीचमें स्थित है ॥३६॥ इसे परमात्माने त्रिलोकीके बाहर उसके चारों ओर स्थापित किया है । यह इतना ऊँचा है कि इसके एक ओर तीनों लोकोंको प्रकाशित करनेवाली सूर्य तथा ध्रुव आदि समस्त ज्योतिर्गणोंकी किरणें इसके दूसरी ओर कभी नहीं जा सकतीं ॥३७॥

इस प्रकार प्रमाण, लक्षण और स्थितिके अनुसार विद्वानोंने सम्पूर्ण लोकोंका इतना ही विस्तार बताया है । वह सब मिलाकर पचास करोड़ योजन

१. प्रा० पा०—चक्रमहोरात्राभ्यां । २. प्रा० पा०—णकधातकनामानौ । ३. प्रा० पा०—दुन्नाहनायामः ।

भूगोलस्य[1] तुरीयभागोऽयं लोकालोकाचलः ॥३८॥ तदुपरिष्टाच्चतसृष्वाशास्वात्मयोनिनाखिलजगद्गुरुणाधिनिवेशिता[2] ये द्विरदपतय ऋषभः पुष्करचूडो वामनोऽपराजित इति सकललोकस्थितिहेतवः ॥३९॥ तेषां स्वविभूतीनां[3] लोकपालानां च विविधवीर्योपबृंहणाय भगवान्परममहापुरुषो महाविभूतिपतिरन्तर्याम्यात्मनो विशुद्धसत्त्वं धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्याद्यष्टमहासिद्ध्युपलक्षणं विष्वक्सेनादिभिः स्वपार्षदप्रवरैः परिवारितो निजवरायुधोपशोभितैर्निजभुजदण्डैः[4] संधारयमाणस्तस्मिन्गिरिवरे समन्तात्सकललोकस्वस्तय आस्ते ॥४०॥ आकल्पमेवं[5] वेषं गत एष भगवानात्मयोगमायया विरचितविविधलोकयात्रागोपीथायेत्यर्थः[6] ॥४१॥ योऽन्तर्विस्तार एतेन ह्यलोकपरिमाणं च व्याख्यातं तद्बहिर्लोकालोकाचलात् ततः परस्ताद्योगेश्वरगतिं विशुद्धामुदाहरन्ति ॥४२॥

अण्डमध्यगतः सूर्यो द्यावाभूम्योर्यदन्तरम् ।
सूर्याण्डगोलयोर्मध्ये कोट्यः स्युः पञ्चविंशतिः ॥४३॥

मृतेऽण्ड एष एतस्मिन्यदभूत्ततो मार्तण्ड इति व्यपदेशः ।

हिरण्यगर्भ इति यद्धिरण्याण्डसमुद्भवः ॥४४॥
सूर्येण हि विभज्यन्ते दिशः खं द्यौर्महीभिदा ।
स्वर्गापवर्गौ नरका रसौकांसि च सर्वशः ॥४५॥
देवतिर्यङ्मनुष्याणां सरीसृपसवीरुधाम्[7] ।
सर्वजीवनिकायानां सूर्य आत्मा दृगीश्वरः ॥४६॥

है। इस प्रकार गणना किये हुए समस्त भूगोलका चौथा भाग यह लोकालोक पर्वत है ॥३८॥ उसके ऊपर चारों दिशाओंमें समस्त संसारके गुरु आत्मयोनि श्रीब्रह्माजीने सम्पूर्ण लोकोंकी स्थितिके लिये ऋषभ, पुष्करचूड, वामन और अपराजित नामक चार गजराज नियुक्त किये हैं ॥३९॥ अपने अंशरूप उन दिग्गजों और इन्द्रादि लोकपालोंके विविध वीर्योंकी अभिवृद्धिके लिये सुदर्शनादि आयुधोंसे सुसज्जित भुजाओंसे युक्त महाविभूतिपति सर्वान्तर्यामी परमपुरुष श्रीहरि धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य तथा अणिमादि अष्ट महासिद्धियोंसे युक्त अपना विशुद्ध सत्त्वमय विग्रह धारणकर विष्वक्सेनादि पार्षदप्रवरोंसे घिरे रहकर उस पर्वतराजपर सकल लोकोंके कल्याणके लिये रहते हैं ॥४०॥ इस प्रकार अपनी मायासे रचित विविध लोकयात्राकी रक्षाके लिये भगवान् ऐसा ही रूप धारणकर वहाँ कल्पान्तपर्यन्त रहते हैं ॥४१॥ लोकालोकके अन्तर्वर्ती भूभागका जितना विस्तार है उसीसे उसके बहिर्भागमें स्थित अलोकके परिमाणकी भी व्याख्या हो जाती है। उस अलोक-विभागके बाहर योगेश्वरोंकी ही ठीक-ठीक गति हो सकती है ॥४२॥

हे राजन्! स्वर्ग और पृथिवीके मध्यमें जो ब्रह्माण्डका केन्द्र है वहीं सूर्यकी स्थिति है, तथा सूर्य और ब्रह्माण्डगोलकके बीचमें सब ओरसे पचीस करोड़ योजनका अन्तर है ॥४३॥ यह सूर्य मृत अर्थात् मरे हुए (अचेतन) अण्डसे उत्पन्न हुआ है, इसलिये इसे 'मार्तण्ड' कहते हैं तथा हिरण्मय (प्रकाशमान) ब्रह्माण्डसे प्रकट होनेके कारण यह 'हिरण्यगर्भ' कहलाता है ॥४४॥ सूर्यके कारण ही दिशा, आकाश, द्युलोक, भूर्लोक, स्वर्ग, अपवर्ग, नरक और रसातलादि सम्पूर्ण भागोंका विभाग किया जाता है ॥४५॥ तथा सूर्य ही देवता, तिर्यक्, मनुष्य, सरीसृप और लता-वृक्षादि समस्त जीवसमूहोंका आत्मा, साक्षी और प्रभु है ॥४६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पञ्चमस्कन्धे भुवनकोशवर्णने समुद्रवर्षसंनिवेशपरिमाणलक्षणो विंशतितमोऽध्यायः ॥ २० ॥

१. प्रा० पा०—भूगोलकस्य। २. प्रा० पा०—भिनिवेशिता। ३. प्रा० पा०—स्वाधिपतीनां महेन्द्रादीनां लोकपालानां विविध०। ४. प्रा० पा०—भितैर्भुजदण्डैः। ५. प्रा० पा०—मेष एवमात्मयोग०। ६. प्रा० पा०—त्रिविधलोकयात्रा०। ७. प्रा० पा०—सूपमृगवीरुधाम्। ८. प्राचीन प्रतिमें 'भुवनकोशवर्णने' यह पाठ नहीं है।

इक्कीसवाँ अध्याय

सूर्यके रथ और उसकी गतिका वर्णन

श्रीशुक उवाच[1]

एतावानेव भूवलयस्य संनिवेशः प्रमाणलक्षणतो व्याख्यातः ॥ १ ॥ एतेन[2] हि दिवो मण्डलमानं तद्विद उपदिशन्ति यथा द्विदलयोर्निष्पावादीनां[3] ते अन्तरेणान्तरिक्षं तदुभयसंधितम् ॥ २ ॥ यन्मध्यगतो भगवांस्तपतांपतिस्तपन आतपेन त्रिलोकीं[4] प्रतपत्यवभासयत्यात्मभासा स एष उदगयनदक्षिणायनवैषुवतसंज्ञाभिर्मान्द्यशैघ्र्यसमानाभिर्गतिभिरारोहणावरोहणसमानस्थानेषु[5] यथासवनमभिपद्यमानो मकरादिषु राशिष्वहोरात्राणि दीर्घह्रस्वसमानानि विधत्ते ॥ ३ ॥ यदा मेषतुलयोर्वर्तते तदाहोरात्राणि समानानि भवन्ति यदा वृषभादिषु[6] पञ्चसु च राशिषु चरति तदाहान्येव वर्धन्ते[7] ह्रसति च मासिमास्येकैका घटिका रात्रिषु ॥ ४ ॥ यदा वृश्चिकादिषु पञ्चसु वर्तते तदाहोरात्राणि विपर्ययाणि भवन्ति ॥ ५ ॥ यावद्दक्षिणायनमहानि वर्धन्ते यावदुदगयनं रात्रयः ॥ ६ ॥

एवं नवकोटय एकपञ्चाशल्लक्षाणि योजनानां मानसोत्तरगिरिपरिवर्तनस्योपदिशन्ति तस्मिन्नैन्द्रीं पुरीं पूर्वस्मान्मेरोर्देवधानीं नाम दक्षिणतो याम्यां संयमनीं नाम पश्चाद्वारुणीं निम्लोचनीं नाम उत्तरतः सौम्यां

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन्! इस सम्पूर्ण भूमण्डलका प्रमाण और लक्षणोंके सहित कुल इतना ही विस्तार कहा गया है ॥१॥ प्रमाणवेत्ता पुरुष इसीके अनुसार स्वर्गमण्डलका भी प्रमाण बताते हैं जैसे कि मटर-चना आदिके दो दलोंमेंसे एक दलका परिमाण जान लेनेसे दूसरेका भी अनुमान हो जाता है। उन दोनोंके बीचमें अन्तरिक्षलोक है जो कि उन दोनोंसे संलग्न है ॥२॥ जिसमें स्थित ज्योतिर्गणोंके अधिपति भगवान् सूर्य स्वयं तपते हुए सम्पूर्ण त्रिलोकीको अपने तेजसे तपाते तथा प्रकाशसे आलोकित करते हैं। वे सूर्य भगवान् उत्तरायण, दक्षिणायन और विषुवत नामक मार्गोंसे मन्द, शीघ्र और समान गतिसे चलते हुए समयानुसार मकरादि राशियोंमें ऊँचे-नीचे और समान स्थानोंमें जाकर दिन और रात्रियोंको बड़े, छोटे और समान करते हैं ॥३॥ जिस समय सूर्य मेष या तुला राशिपर होते हैं उस समय दिन और रात समान होते हैं तथा जब वृषादि पाँच राशियोंमें चलते हैं तो क्रमशः हर महीने रात्रियोंमें एक-एक घड़ी कम होती जाती है और दिन बढ़ते जाते हैं ॥४॥ और जब वृश्चिकादि पाँच राशियोंमें जाते हैं तो दिन और रात्रियोंमें इसके विपरीत परिवर्तन होता है [अर्थात् दिन घटते जाते हैं और रात्रियाँ बढ़ती जाती हैं] ॥५॥ इस प्रकार दक्षिणायन आरम्भ होनेतक दिन बढ़ते हैं और उत्तरायण लगनेतक रात्रियाँ ॥६॥

इस प्रकार पण्डितजन मानसोत्तर पर्वतपर सूर्यके तीव्र, मन्द और समान गतिसे परिक्रमा करनेका परिमाण नौ करोड़ इक्यावन लाख योजन बताते हैं तथा उस पर्वतपर सुमेरुकी पूर्व दिशामें इन्द्रकी देवधानी नामकी पुरी, दक्षिणकी ओर यमराजकी संयमनी पुरी, पश्चिम ओर वरुणकी निम्लोचनी पुरी और उत्तर दिशामें

१. प्रा० पा०—शुक उवाच। २. प्रा० पा०—एतदेव दिवो मण्डल०। ३. प्रा० पा०—विदलयोर्नि०। ४. प्रा० पा०— त्रीँल्लोकान्। ५. प्रा० पा०—शैघ्र्यप्रसमानाभिर्गतिभिरारोहणस्थानेषु। ६. प्रा० पा०—वृषादिषु ७. प्रा० पा०—विवर्धन्ते।

विभावरीं नाम तासूदयमध्याह्नास्तमयनिशीथानीति भूतानां प्रवृत्तिनिवृत्तिनिमित्तानि समयविशेषेण मेरोश्चतुर्दिशम् ॥ ७ ॥ तत्रत्यानां दिवसमध्यंगत एव सदादित्यस्तपति सव्येनाचलं दक्षिणेन करोति ॥ ८ ॥ यत्रोदेति तस्य ह समानसूत्रनिपाते निम्लोचति यत्र क्वचन स्यन्देनाभितपति तस्य हैष समानसूत्रनिपाते प्रस्वापयति[1] तत्र गतं न पश्यन्ति ये तं समनुपश्येरन् ॥ ९ ॥

सोमकी विभावरी पुरी है—ऐसा कहते हैं। उन पुरियोंमें मेरुके चारों ओर समय-समयपर सम्पूर्ण प्राणियोंकी प्रवृत्ति और निवृत्तिके कारणरूप सूर्योदय, मध्याह्न, सूर्यास्त और अर्द्धरात्रि आदि समय बर्तते रहते हैं ॥७॥ हे राजन्! जो प्राणी मेरु पर्वतपर रहते हैं उन्हें सूर्यदेव मध्याह्न-कालीन होकर ही तपाते हैं और वे [अपनी गतिसे अश्विनी आदि नक्षत्रोंकी ओर] जाते समय मेरुको बायीं ओर करके चलनेपर भी [प्रदक्षिणाकार चलनेवाले प्रवाह नामक वायुके द्वारा तीव्रगतिसे घुमाये जानेवाले ज्योतिश्चक्रके साथ घूमनेके कारण] उसे दायीं ओर करते-से जान पड़ते हैं ॥८॥ जिस दिशामें सूर्यदेव उदित होते हैं उसके ठीक सामनेकी ओर अस्त होते हैं तथा जहाँ वे [मध्याह्नकालमें] पसीने प्रकट करके प्राणियोंको तपाते हैं उसके विपरीत दिशामें वे उन्हें निद्रावश कर देते हैं। उस अवस्थामें (अर्द्धरात्रिके समय) जो लोग मध्याह्नकालमें उन्हें भलीभाँति देख सकते हैं वे ही उसके विपरीत दिशामें पहुँचे हुए उन सूर्यदेवको नहीं देख पाते ॥९॥

यदा चैन्द्र्याः पुर्याः प्रचलते पञ्चदशघटिकाभिर्याभ्यां[2] सपादकोटिद्वयं योजनानां सार्धद्वादशलक्षाणि साधिकानि चोपयाति ॥ १० ॥ एवं ततो वारुणीं सौम्यामैन्द्रीं च पुनस्तथान्ये च ग्रहाः सोमादयो नक्षत्रैः सह ज्योतिश्चक्रे समभ्युद्यन्ति सह वा[3] निम्लोचन्ति ॥११॥ एवं मुहूर्तेन चतुस्त्रिंशल्लक्षयोजनान्यष्टशताधिकानि सौरो रथस्त्रयीमयोऽसौ चतसृषु परिवर्तते पुरीषु ॥१२॥

जब सूर्यदेव इन्द्रकी पुरीसे यमराजकी पुरीको जाते हैं तो पन्द्रह घड़ीके भीतर वे सवा दो करोड़ और साढ़े बारह लाख योजनसे कुछ अधिक चलते हैं ॥१०॥ फिर इसी क्रमसे वे वरुण और सोमकी पुरियोंको पार करते हुए पुनः इन्द्रकी पुरीमें पहुँचते हैं। उन्हींके समान चन्द्रमा आदि अन्य ग्रह भी ज्योतिश्चक्रमें अन्य नक्षत्रोंके सहित उदित और अस्त होते रहते हैं ॥११॥ इस प्रकार इन चारों पुरियोंमें भ्रमण करता हुआ सूर्यभगवान्‌का वेदत्रयीरूप रथ एक मुहूर्तमें चौंतीस लाख आठ सौ योजनसे कुछ अधिक चलता है ॥१२॥

यस्यैकं चक्रं द्वादशारं षण्नेमि त्रिणाभि संवत्सरात्मकं समामनन्ति तस्याक्षो मेरोर्मूर्धनि कृतो मानसोत्तरे कृतेतरभागो यत्र प्रोतं रविरथचक्रं

सूर्यके रथका जो संवत्सर नामक एक ही चक्र बताया जाता है उसमें (मासरूप) बारह आरे हैं, छः (ऋतुएँ) नेमियाँ हैं और तीन (चातुर्मास) नाभि हैं। उसकी धुरीका एक सिरा मेरुपर स्थित है और दूसरा मानसोत्तर पर्वतपर रखा हुआ है। उस धुरीमें लगा हुआ वह सूर्यके रथका चक्र तैल-

१. प्रा० पा०—प्रस्थापयति। २. प्रा० पा०—शभिर्घटिकाभिः। ३. प्रा० पा०—वाभिनिम्लोचन्ति।

तैलयन्त्रचक्रवद्भ्रमन्मानसोत्तरगिरौ परिभ्रमति १३ तस्मिन्नक्षे कृतमूलो द्वितीयोऽक्षस्तुर्यमानेन संमितस्तैलयन्त्राक्षवद्ध्रुवे कृतोपरिभागः ॥ १४ ॥

यन्त्र (कोल्हू) के पहियेके समान घूमता हुआ मेरुके चारों ओर मानसोत्तर पर्वतपर चक्कर लगाता है ॥१३॥ उसी धुरीमें जिसका मूलभाग जुड़ा हुआ है ऐसी एक और धुरी है, जो परिमाणमें उससे एक-चौथाई है। उसका ऊपरी भाग तैलयन्त्रके धुरेके समान ध्रुवलोकसे लगा हुआ है ॥१४॥

रथनीडस्तु षट्त्रिंशल्लक्षयोजनायतस्तत्तुरीयभागविशालस्तावान्रविरथयुगो यत्र हयाश्छन्दोनामानः सप्तारुणयोजिता वहन्ति देवमादित्यम् ॥१५॥ पुरस्तात्सवितुररुणः पश्चाच्च नियुक्तः सौत्ये कर्मणि किलास्ते ॥१६॥ तथा वालखिल्या ऋषयोऽङ्गुष्ठपर्वमात्राः षष्टिसहस्राणि पुरतः सूर्यं सूक्तवाकाय[1] नियुक्ताः संस्तुवन्ति ॥१७॥ तथान्ये च ऋषयो गन्धर्वाप्सरसो नागा ग्रामण्यो यातुधाना देवा इत्येकैकशो गणाः सप्त चतुर्दश[2] मासि मासि भगवन्तं सूर्यमात्मानं[3] नानानामानं पृथङ्नानानामानः पृथक्कर्मभिर्द्वन्द्वश उपासते ॥१८॥ लक्षोत्तरं सार्धनवकोटियोजनपरिमण्डलं[4] भूवलयस्य क्षणेन सगव्यूत्युत्तरं[5] द्विसहस्रयोजनानि स भुङ्क्ते ॥१९॥

उस रथमें बैठनेका स्थान छत्तीस लाख योजन लम्बा और इससे चौथाई अर्थात् नौ लाख योजन चौड़ा है तथा उसका जूआ भी छत्तीस लाख योजन ही लम्बा है, जिसमें अरुण नामक सारथिके जोते हुए गायत्री आदि छन्दोंके नामवाले सात घोड़े हैं, वे ही भगवान् सूर्यका वहन करते हैं ॥ १५ ॥ सूर्यदेवके सामने, सारथ्य कर्ममें नियुक्त हुए अरुणजी, उन्हींकी ओर मुँह करके बैठते हैं ॥ १६ ॥ तथा उनके आगे, उनकी स्तुति करनेके लिये नियुक्त हुए अंगूठेके पोरुएके समान परिमाणवाले वालखिल्यादि साठ सहस्र ऋषिगण उनकी स्तुति करते हुए चलते हैं ॥ १७ ॥ तथा इनके अतिरिक्त ऋषि, गन्धर्व, अप्सरा, नाग, यक्ष, राक्षस और देवताओंके समुदाय भी प्रत्येक मासमें भिन्न-भिन्न नामोंवाले होकर अपने भिन्न-भिन्न कर्मोंसे मास-मासमें भिन्न-भिन्न नाम धारण करनेवाले परमात्मा भगवान् सूर्यकी दो-दो मिलकर उपासना करते हैं। वे सब संख्यामें चौदह-चौदह हैं किन्तु युग्मरूपसे कुल सात गण हैं ॥ १८ ॥ हे राजन् ! इन सबके सहित भगवान् सूर्य भूमण्डलके मानसोत्तरवर्ती नौ करोड़ इक्यावन लाख योजनपरिमित घेरेके दो कोस अधिक दो सहस्र योजनको एक क्षणमें पार कर लेते हैं ॥ १९ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पञ्चमस्कन्धे ज्योतिश्चक्र[6]-सूर्यरथमण्डलवर्णनं नामैकविंशतितमोऽध्यायः ॥२१॥

१. प्रा० पा०—वाक्याय नियुक्ताः। २. प्रा० पा०—र्दश मासि भगव०। ३. प्रा० पा०—त्मानं पृथगात्मानः पृथ०। ४. प्रा० पा०—योजनमण्डलं। ५. प्रा० पा०— सगत्युत्तरं। ६. प्रा० पा०—श्चक्रानुवर्णनं।

बाईसवाँ अध्याय

भिन्न-भिन्न ग्रहोंकी स्थिति और गतिका वर्णन।

राजोवाच

यदेतद्भगवत आदित्यस्य मेरुं ध्रुवं च प्रदक्षिणेन परिक्रामतो राशीनामभिमुखं प्रचलितं[1] चाप्रदक्षिणं भगवतोपवर्णितममुष्य वयं कथमनुमिमीमहीति[2] ॥ १ ॥

राजा परीक्षित्‌ने पूछा—भगवन्! आपने जो कहा कि यद्यपि भगवान् सूर्य मेरु और ध्रुवको अपने दाएँ करके घूमते दिखायी देते हैं तो भी राशियोंके सम्मुख जाते समय उनकी वह गति दक्षिणावर्त नहीं होती [अर्थात् वे मेरुको बाएँ करके चलते हैं] इसे हम कैसे समझें? ॥ १ ॥

स होवाच

यथा कुलालचक्रेण भ्रमता सह भ्रमतां तदाश्रयाणां पिपीलिकादीनां गतिरन्यैव[3] प्रदेशान्तरेष्वप्युपलभ्यमानत्वादेवं नक्षत्रराशिभिरुपलक्षितेन कालचक्रेण ध्रुवं मेरुं च प्रदक्षिणेन[4] परिधावता सह परिधावमानानां तदाश्रयाणां सूर्यादीनां ग्रहाणां गतिरन्यैव नक्षत्रान्तरे राश्यन्तरे चोपलभ्यमानत्वात् ॥ २ ॥ स एष भगवानादिपुरुष एव साक्षान्नारायणो लोकानां स्वस्तय आत्मानं त्रयीमयं कर्मविशुद्धिनिमित्तं कविभिरपि च वेदेन विजिज्ञास्यमानो[5] द्वादशधा विभज्य षट्सु वसन्तादिष्वृतुषु यथोपजोषमृतुगुणान्विदधाति ॥ ३ ॥ तमेतमिह पुरुषास्त्रय्या विद्यया[6] वर्णाश्रमाचारानुपथा उच्चावचैः कर्मभिराम्नातैर्योगवितानैश्च श्रद्धया यजन्तोऽञ्जसा श्रेयः समधिगच्छन्ति ॥ ४ ॥ अथ स एष आत्मा लोकानां द्यावापृथिव्योरन्तरेण नभोवलयस्य कालचक्रगतो द्वादशमासान्भुङ्क्ते राशिसंज्ञान्संवत्सरावयवान्मासः पक्षद्वयं[7] दिवा नक्तं चेति सपादर्क्षद्वयमु-

श्रीशुकदेवजीने कहा—हे राजन्! जिस प्रकार घूमते हुए कुलालचक्रके साथ घूमनेवाली किन्तु उसपर दूसरी ओरको चलनेवाली चींटीकी गति उससे भिन्न ही होती है, क्योंकि वह भिन्न-भिन्न समयमें उस चक्रके भिन्न-भिन्न भागोंमें दिखायी देती है, उसी प्रकार कालचक्रमें पड़कर मेरु और ध्रुवको दाएँ करके घूमते हुए भी सूर्य आदि ग्रहोंकी गति उससे भिन्न ही है, क्योंकि वे कालभेदसे भिन्न-भिन्न राशि और नक्षत्रोंमें दीख पड़ते हैं ॥ २ ॥ वेद तथा विद्वज्जन जिनकी गतिको जाननेके लिये तर्कना करते रहते हैं वे आदिपुरुष साक्षात् भगवान् नारायण ही लोकोंके कल्याण और वेदोक्त कर्मोंकी शुद्धिके लिये अपनी कालरूप मूर्तिको (मासरूपसे) बारह भागोंमें विभक्तकर वसन्तादि छः ऋतुओंमें उनके यथायोग्य गुणोंका विधान करते हैं ॥ ३ ॥ इस लोकमें वेदत्रयीद्वारा प्रतिपादित वर्णाश्रमधर्मका अनुगमन करनेवाले पुरुष अपने छोटे-बड़े विहित कर्मोंसे तथा योगसाधनसे उनकी श्रद्धापूर्वक उपासना कर सुगमतासे ही कल्याणको प्राप्त हो जाते हैं ॥ ४ ॥ वे सूर्यनारायण सम्पूर्ण लोकोंके आत्मा हैं। वे पृथिवी और आकाशके मध्य स्थित आकाशमण्डलमें कालगतिसे घूमते हुए संवत्सरके अवयवरूप मेषादि राशि नामक बारह महीनोंको भोगते हैं। उनमेंसे प्रत्येक मासको चन्द्रमानसे शुक्ल और कृष्ण दो पक्षका, पितृमानसे एक रात और दिनका तथा सौरमानसे सवा दो नक्षत्रका बताते हैं। जितने

१. प्रा० पा०—तं भगवतोपवर्णित०। २. प्रा० पा०—मनुमीमहीति। ३. प्रा० पा०—न्या च। ४. प्रा० पा०—दक्षिणतः। ५. प्रा० पा०—जिज्ञास्यमानोः। ६. प्रा० पा०—विद्याया। ७. प्रा० पा०—द्वयं सपादर्क्षद्वयं दिवा नक्तमुपवदन्ति।

पदिशन्ति यावता षष्ठमंशं भुञ्जीत स वै ऋतुरित्युपदिश्यते संवत्सरावयवः ॥ ५ ॥

अथ च यावतार्धेन नभोवीथ्यां प्रचरति तं कालमयनमाचक्षते ॥ ६ ॥ अथ च यावन्नभोमण्डलं सह द्यावापृथिव्योर्मण्डलाभ्यां कार्त्स्न्येन सह भुञ्जीत तं कालं संवत्सरं परिवत्सरमिडावत्सरमनुवत्सरं वत्सरमिति भानोर्मान्द्यशैघ्र्यसमगतिभिः समामनन्ति ॥ ७ ॥

एवं चन्द्रमा अर्कगभस्तिभ्य उपरिष्टाल्लक्षयोजनत उपलभ्यमानोऽर्कस्य संवत्सरभुक्तिं पक्षाभ्यां मासभुक्तिं सपादर्क्षाभ्यां दिनेनैव पक्षभुक्तिमग्रचारी द्रुततरगमनो भुङ्क्ते ॥ ८ ॥ अथ चापूर्यमाणाभिश्च कलाभिरमराणां क्षीयमाणाभिश्च कलाभिः पितृणामहोरात्राणि पूर्वपक्षापरपक्षाभ्यां वितन्वानः सर्वजीवनिवहप्राणो जीवश्चैकमेकं नक्षत्रं त्रिंशता मुहूर्तैर्भुङ्क्ते ॥ ९ ॥ य एष षोडशकलः पुरुषो भगवान्मनोमयोऽन्नमयोऽमृतमयो देवपितृमनुष्यभूतपशुपक्षिसरीसृपवीरुधां प्राणाप्यायनशीलत्वात्सर्वमय इति वर्णयन्ति ॥ १० ॥

तत उपरिष्टात्त्रिलक्षयोजनतो नक्षत्राणि मेरुं दक्षिणेनैव कालायन ईश्वरयोजितानि सहाभिजिताष्टाविंशतिः ॥११॥ तत उपरिष्टादुशना द्विलक्षयोजनत उपलभ्यते पुरतः पश्चात्सहैव वार्कस्य शैघ्र्यमान्द्यसाम्याभिर्गतिभिरर्कवच्चरति लोकानां नित्यदानुकूल एव प्रायेण वर्षयंश्चारेणानुमीयते स वृष्टिविष्टम्भग्रहोपशमनः ॥ १२ ॥

उशनसा बुधो व्याख्यातस्तत उपरिष्टाद्

कालमें सूर्यदेव संवत्सरके एक छठे भागका उपभोग करते हैं उसे संवत्सरका अवयवरूप एक ऋतु कहते हैं ॥ ५ ॥

जितने कालमें सूर्य अपने नभोमार्गका आधा भाग पार करते हैं उतने समयको एक अयन कहते हैं ॥ ६ ॥ तथा जितने समयमें वे अपनी मन्द शीघ्र अथवा समान गतिसे स्वर्ग और पृथिवीके सहित सम्पूर्ण आकाशमण्डलको पार करते हैं उसे संवत्सर, परिवत्सर, इडावत्सर, अनुवत्सर अथवा वत्सर कहते हैं ॥ ७ ॥

इसी प्रकार सूर्यकी किरणोंसे एक लाख योजन ऊपर चन्द्रमा है । वह सब नक्षत्रोंके आगे चलनेवाला और अत्यन्त शीघ्रगामी होनेसे सूर्यके एक वर्षके भोगको दो पक्षमें, एक मासके भोगको सवा दो नक्षत्रमें और एक पक्षके भोगको एक दिनमें ही भोग लेता है ॥८॥ तथा कृष्ण और शुक्लपक्षमें क्षय और वृद्धिको प्राप्त होनेवाली अपनी कलाओंसे पितृगण और देवताओंके दिन-रातका विभाग करता हुआ सम्पूर्ण जीवसमूहका प्राण और जीवरूप वह चन्द्रदेव तीस-तीस मुहूर्त्तमें एक-एक नक्षत्रको भोगता है ॥ ९ ॥ ये जो सोलह कलाओंसे युक्त मनोमय, अन्नमय, अमृतमय, पुरुषरूप भगवान् चन्द्रमा हैं इन्हें मनुष्य, भूत, पशु, पक्षी, सरीसृप और वृक्षादिमें प्राणसञ्चार करनेके स्वभाववाला होनेसे सर्वमय कहते हैं ॥ १० ॥

चन्द्रमासे तीन लाख योजन ऊपर भगवान्‌द्वारा कालचक्रमें नियुक्त किये हुए अभिजित्‌सहित अट्ठाईस नक्षत्र हैं, जो मेरुको दाएँ करके ही घूमते हैं ॥११॥ उनसे दो लाख योजन ऊपर शुक्र दीख पड़ता है । वह सूर्यकी शीघ्र, मन्द और समान गतियोंके अनुसार कभी उसके आगे, कभी पीछे और कभी साथ-साथ रहकर सूर्यकी भाँति ही चलता है । वह वर्षा करनेवाला होनेसे लोकोंको सर्वदा प्रायः अनुकूल ही रहता है उसकी गतिसे ऐसा अनुमान किया जाता है कि वह वृष्टिको रोकनेवाले ग्रहोंको शान्त करनेवाला है ॥१२॥

शुक्रकी व्याख्यासे बुधकी व्याख्या भी हो जाती

१. प्रा० पा०—थ्याः । २. प्रा० पा०—वहः प्राणो । ३. प्रा० पा०—जन उपलभ्यते । ४. प्रा० पा०—कान् नित्यदा० ।

द्विलक्षयोजनतो बुधः सोमसुत उपलभ्यमानः प्रायेण शुभकृद्यदार्काद्व्यतिरिच्येत तदातिवाताभ्रप्रायानावृष्ट्यादिभयमाशंसते ॥ १३ ॥ अत ऊर्ध्वमङ्गारकोऽपि योजनलक्षद्वितय उपलभ्यमानस्त्रिभिस्त्रिभिः पक्षैरेकैकशो राशीन्द्वादशानुभुङ्क्ते यदि न वक्रेणाभिवर्तते प्रायेणाशुभग्रहोऽघशंसः ॥१४॥ तत उपरिष्टाद्द्विलक्षयोजनान्तरगतो भगवान्बृहस्पतिरेकैकस्मिन्राशौ परिवत्सरं परिवत्सरं चरति[1] यदि न वक्रः स्यात्प्रायेणानुकूलो[2] ब्राह्मणकुलस्य ॥ १५ ॥

तत उपरिष्टाद्योजनलक्षद्वयात्प्रतीयमानः शनैश्चर एकैकस्मिन्राशौ त्रिंशन्मासान्विलम्बमानः सर्वानेवानुपर्येति तावद्भिरनुवत्सरैः प्रायेण हि सर्वेषामशान्तिकरः ॥१६॥ तत उत्तरस्मादृषय एकादशलक्षयोजनान्तर[3] उपलभ्यन्ते य एवं[4] लोकानां समनुभावयन्तो भगवतो विष्णोर्यत्परमं पदं प्रदक्षिणं[5] प्रक्रमन्ति ॥१७॥

है। शुक्रसे दो लाख योजन ऊपर सोमपुत्र बुधकी स्थिति है। वह प्रायः मंगलकारी ही है, किन्तु जब वह सूर्यकी गतिका उल्लंघन करके चलता है तब अत्यन्त आँधी, मेघ और अनावृष्टिका भय सूचित करता है॥ १३ ॥ उससे दो लाख योजन ऊपर मंगल है। वह, यदि वक्रगतिसे न चले तो एक-एक राशिको तीन-तीन पक्षमें भोगता हुआ बारहों राशियोंको भोगता है। यह प्रायः अशुभ ग्रह है और अमंगलका सूचक है ॥ १४ ॥ उसके ऊपर दो लाख योजनकी दूरीपर भगवान् बृहस्पतिजी हैं। वे यदि वक्रगतिसे न चलें तो एक-एक राशिको एक-एक वर्षमें भोगते हैं। वे प्रायः ब्राह्मणकुलके अनुकूल रहते हैं ॥ १५ ॥

बृहस्पतिजीसे दो लाख योजन ऊपर शनैश्चरजी दीख पड़ते हैं। वे एक-एक राशिमें तीस-तीस मास रहते हैं और उतने (तीस) ही वर्षोंमें सब राशियोंको भोगते हैं। वे प्रायः सभीके लिये अशान्तिकारक हैं ॥ १६ ॥ उनके ऊपर ग्यारह लाख योजनकी दूरीपर कश्यपादि सप्तर्षिगण हैं। वे सकल लोकोंके मंगलकी कामना करते हुए, जो भगवान् विष्णुका परमपद है उस ध्रुवलोककी प्रदक्षिणा किया करते हैं ॥ १७ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पञ्चमस्कन्धे ज्योतिश्चक्र[6]-वर्णने द्वाविंशोऽध्यायः ॥ २२ ॥

१. प्रा० पा०—प्रचरति। २. प्रा० पा०—प्रायशोऽनु०। ३. प्रा० पा०—न्तरत उपलक्ष्यन्ते। ४. प्रा० पा०—वं। ५. प्रा० पा०—क्षिणमुपक्रामन्ति। ६. प्रा० पा०—श्चक्रानुवर्णनो।

तेईसवाँ अध्याय

शिशुमारचक्रका वर्णन

श्रीशुक[1] उवाच

अथ तस्मात्परतस्त्रयोदशलक्षयोजनान्तरतो यत्तद्विष्णोः परमं पदमभिवदन्ति यत्र ह महाभागवतो ध्रुव औत्तानपादिरग्निनेन्द्रेण प्रजापतिना कश्यपेन धर्मेण च समकालयुग्भिः सबहुमानं दक्षिणतः क्रियमाण इदानीमपि कल्पजीविनामाजीव्य उपास्ते तस्येहानुभाव उपवर्णितः ॥ १ ॥ स हि सर्वेषां ज्योतिर्गणानां ग्रहनक्षत्रादीनामनिमिषेणाव्यक्तरंहसा भगवता कालेन भ्राम्यमाणानां स्थाणुरिवावष्टम्भ ईश्वरेण विहितः शश्वदवभासते[2]।२। यथा मेढीस्तम्भ[3] आक्रमणपशवः संयोजितास्त्रिभिस्त्रिभिः[4] सवनैर्यथास्थानं मण्डलानि चरन्त्येवं भगणा ग्रहादय एतस्मिन्नन्तर्बहिर्योगेन कालचक्र आयोजिता ध्रुवमेवावलम्ब्य वायुनोदीर्यमाणा आकल्पान्तं परिचङ्क्रमन्ति[5] नभसि यथा मेघाः श्येनादयो वायुवशाः कर्मसारथयः परिवर्तन्ते एवं ज्योतिर्गणाः प्रकृतिपुरुषसंयोगानुगृहीताः कर्मनिर्मितगतयो भुवि न पतन्ति ॥ ३ ॥

केचनैतज्ज्योतिरनीकं शिशुमारसंस्थानेन भगवतो वासुदेवस्य योगधारणायामनुवर्णयन्ति ॥४॥ यस्य पुच्छाग्रे[6]ऽवाक्शिरसः कुण्डलीभूतदेहस्य ध्रुव उपकल्पितस्तस्य लाङ्गूले प्रजापतिरग्निरिन्द्रो धर्म इति

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! सप्तर्षियोंसे तेरह लाख योजनकी दूरीपर जिसे भगवान् विष्णुका परमपद कहते हैं, वह ध्रुवलोक है, जहाँ परम भगवद्भक्त उत्तानपादपुत्र श्रीध्रुवजी, नक्षत्ररूपसे अपने साथ ही नियुक्त किये हुए अग्नि, इन्द्र, प्रजापति, कश्यप और धर्मादिद्वारा प्रदक्षिणा किये जाते हुए इस समय भी विराजमान हैं। वे कल्पान्तस्थायी भूर्लोकादिके आश्रय हैं। उनका इस लोकका पराक्रम हम पहले (चौथे स्कन्धमें) कह चुके हैं ॥१॥ वह ध्रुवलोक निरन्तर अव्यक्त गति भगवान् कालद्वारा घुमाये जाते हुए ग्रहनक्षत्रादि सम्पूर्ण ज्योतिर्मण्डलके ईश्वरद्वारा स्थापित किये आधार स्तम्भके समान सर्वदा प्रकाशमान रहता है ॥ २ ॥ जिस प्रकार दाँय चलानेके समय बीचके खम्भेसे छोटी, मध्यम और बड़ी डोरियोंद्वारा बँधे रहकर सस्यका मर्दन करनेवाले पशु निकट, मध्य और दूरके क्रमसे अपने-अपने स्थानपर उस खम्भके चारोंओर मण्डल बाँध कर घूमते हैं। उसी प्रकार सम्पूर्ण नक्षत्र और ग्रहगण इस कालचक्रमें बाहर-भीतरसे क्रमसे नियुक्त होकर ध्रुवलोकका ही आश्रय ले अपने-अपने स्थानपर वायुसे प्रेरित हो कल्पान्तपर्यन्त घूमते रहते हैं। जिस प्रकार मेघ और श्येन (बाज) आदि पक्षिगण वायुके वशवर्ती होकर कर्मकी सहायतासे आकाशमें उड़ते रहते हैं उसी प्रकार जिनकी गति क्रमानुसार नियत की गयी है वे ज्योतिर्गण भी पुरुषाधिष्ठित मायाके प्रभावसे आकाशमें परिभ्रमण करते हैं, पृथिवीपर नहीं गिरते ॥ ३ ॥

कोई-कोई पुरुष इस ज्योतिश्चक्रको शिशुमार (मकर) रूपसे भगवान् वासुदेवकी योगमायामें स्थित बताते हैं ॥ ४ ॥ यह शिशुमारचक्र कुण्डलाकार है और इसका शिर नीचेकी ओर है। इसकी पूँछके अग्रभागमें ध्रुव स्थित है, लाङ्गूल (पूछके नीचेके भाग) में प्रजापति, अग्नि, इन्द्र और धर्म हैं,

१. प्रा० पा०—ऋषिरुवाच। २. प्रा० पा०—दाभासते। ३. प्रा० पा०—मेधीस्तम्भ। ४. प्रा० पा०—तास्त्रिभिः सवनै०। ५. प्रा० पा०—चङ्क्रामन्ति। ६. प्रा० पा०—च्छाग्रेऽर्वाक्शिरसः

पुच्छमूले धाता विधाता च कट्यां सप्तर्षयः । तस्य दक्षिणावर्तकुण्डलीभूतशरीरस्य यान्युदगयनानि दक्षिणपार्श्वे तु नक्षत्राण्युपकल्पयन्ति दक्षिणायनानि तु सव्ये । यथा शिशुमारस्य कुण्डलाभोगसन्निवेशस्य पार्श्वयोरुभयोरप्यवयवाः समसंख्या भवन्ति पृष्ठे त्वजवीथी आकाशगङ्गा चोदरतः ॥ ५ ॥ पुनर्वसुपुष्यौ दक्षिणवामयोः[1] श्रोण्योरार्द्राश्लेषे च दक्षिणवामयोः पश्चिमयोः पादयोरभिजिदुत्तराषाढे दक्षिणवामयोर्नासिकयोर्यथासंख्यं श्रवणपूर्वाषाढे दक्षिणवामयोर्लोचनयोर्धनिष्ठा मूलं च दक्षिणवामयोः[2] कर्णयोर्मघादीन्यष्ट नक्षत्राणि दक्षिणायनानि वामपार्श्ववङ्क्रिषु[3] युञ्जीत तथैव मृगशीर्षादीन्युदगयनानि[4] दक्षिणपार्श्ववङ्क्रिषु[5] प्रातिलोम्येन प्रयुञ्जीत शतभिषाज्येष्ठे स्कन्धयोर्दक्षिणवामयोर्न्यसेत् ॥ ६ ॥ उत्तराहनावगस्तिरधराहनौ[6] यमो मुखेषु चाङ्गारकः शनैश्चर उपस्थे बृहस्पतिः ककुदि वक्षस्यादित्यो हृदये नारायणो[7] मनसि चन्द्रो नाभ्यामुशना स्तनयोरश्विनौ बुधः प्राणापानयो राहुर्गले केतवः सर्वाङ्गेषु रोमसु सर्वे तारागणाः ॥ ७ ॥

पूँछके मूलमें धाता और विधाता हैं, कटिप्रदेशमें सप्तर्षिगण हैं; इस शिशुमारके दक्षिणावर्त कुण्डलाकार शरीरके दक्षिण पार्श्वमें जो चौदह नक्षत्र हैं उनको उत्तरायण कहते हैं और वाम पार्श्वमें स्थित चौदह नक्षत्रोंको दक्षिणायन । जैसे लोकमें शिशुमारके शरीरका विस्तार कुण्डलाकार होनेसे इसके दोनों पार्श्वोंकी अवयवसंख्या समान होती है [उसी प्रकार शिशुमार चक्रके दोनों ओर बराबर नक्षत्र हैं] । इसकी पीठमें अजवीथी है और उदरमें आकाशगंगा ॥ ५ ॥ हे राजन् ! इसके दायें और बायें कटितटमें पुनर्वसु और पुष्य नक्षत्र हैं, दायें और बायें चरणोंके पृष्ठभागमें आर्द्रा और आश्लेषा हैं, दायें और बायें नथुनोंमें क्रमशः अभिजित् और उत्तराषाढा हैं, इसी प्रकार दक्षिण और वाम नेत्रोंमें श्रवण और पूर्वाषाढा एवं दायें और बायें कानोंमें धनिष्ठा और मूल नक्षत्र हैं तथा मघा आदि आठ दक्षिणायन नक्षत्र बायीं पसलियोंमें और विपरीत क्रमसे मृगशीर्ष आदि आठ उत्तरायण नक्षत्र दायीं पसलियोंमें स्थित हैं एवं शतभिषा और ज्येष्ठा—ये दो नक्षत्र क्रमशः दक्षिण और वाम स्कन्धोंमें विराजमान हैं—ऐसा समझना चाहिये ॥ ६ ॥ इसके ऊपरकी थूथनीमें अगस्त्य, नीचेकी ठोड़ीमें यम, मुखमें मंगल, उपस्थमें शनि, कुम्भमें बृहस्पति, वक्षःस्थलमें सूर्य, हृदयमें नारायण, मनमें चन्द्रमा, नाभिमें शुक्र, स्तनोंमें अश्विनीकुमार, प्राण और अपानमें बुध, गलेमें राहु, सम्पूर्ण अङ्गोंमें केतु और रोमोंमें तारागण स्थित हैं ॥ ७ ॥

एतदुहैव भगवतो विष्णोः सर्वदेवतामयं रूपमहरहः सन्ध्यायां प्रयतो वाग्यतो निरीक्षमाण उपतिष्ठेत नमो[8] ज्योतिर्लोकाय कालायनायानिमिषां पतये महापुरुषायाभिधीमहीति ॥ ८ ॥

ग्रहर्क्षतारामयमाधिदैविकं
पापापहं मन्त्रकृतां त्रिकालम् ।

हे राजन् ! भगवान् विष्णुके इस सर्वदेवमय रूपका नित्यप्रति सायंकालके समय पवित्र और मौन होकर दर्शन करे तथा 'सम्पूर्ण ज्योतिर्गणोंके आश्रय, कालचक्ररूप सर्वदेवाधिपति परमपुरुष परमात्माको नमस्कार है । हम उनका ध्यान करते हैं' ऐसा कहकर स्तुति करे ॥ ८ ॥ जो मनुष्य पूर्वोक्त मन्त्रके जपमें लगे हुए पुरुषोंके समस्त पापोंको दूर करनेवाले तथा ग्रह, नक्षत्र और तारारूपमें प्रकाशित होनेवाले श्रीहरिके आधिदैविक स्वरूपका नित्यप्रति प्रातः, सायं और मध्याह्न—तीनों

१. प्रा० पा०—योरार्द्राश्लेषे च । २. प्राचीन प्रतिमें 'दक्षिणवामयोः' यह पाठ नहीं है । ३. प्रा० पा०—पार्श्ववक्षःसु । ४. प्रा० पा०—मृगशीर्षर्क्षादीन्यु० । ५. प्रा० पा०—क्षिणपार्श्वेषु प्रातिलोम्येन शतभिषाज्येष्ठे । ६. प्रा० पा०—उत्तरहनावगस्त्योऽधरहनौ यमो मुखे चा० । ७. प्रा० पा०—नासायामुशना । ८. प्रा० पा०—नमो नमो ।

नमस्यतः स्मरतो वा त्रिकालं
नश्येत तत्कालजमाशु पापम् ॥ ९ ॥

समयोंमें वन्दन और स्मरण करता है उसका तत्कालीन पाप तुरन्त नष्ट हो जाता है ॥ ९ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पञ्चमस्कन्धे[1] शिशुमारसंस्थावर्णनं नाम त्रयोविंशतितमोऽध्यायः ॥ २३ ॥

चौबीसवाँ अध्याय

अतलादि नीचेके सात लोकोंका वर्णन ।

श्रीशुक उवाच

अधस्तात्सवितुर्योजनायुते स्वर्भानुर्नक्षत्रवच्चरतीत्येके योऽसावमरत्वं ग्रहत्वं चालभत भगवदनुकम्पया स्वयमसुरापसदः सैंहिकेयो ह्यतदर्हस्तस्य तात जन्मकर्माणि चोपरिष्टाद्वक्ष्यामः ॥ १ ॥ यददस्तरणेर्मण्डलं प्रतपतस्तद्विस्तरतो योजनायुतमाचक्षते द्वादशसहस्रं सोमस्य त्रयोदशसहस्रं राहोर्यः पर्वणि तद्व्यवधानकृद्वैरानुबन्धः सूर्याचन्द्रमसावभिधावति ॥ २ ॥ तन्निशम्योभयत्रापि भगवता रक्षणाय प्रयुक्तं सुदर्शनं नाम भागवतं दयितमस्त्रं तत्तेजसा दुर्विषहं मुहुः परिवर्तमानमभ्यवस्थितो मुहूर्तमुद्विजमानश्चकितहृदय आरादेव निवर्तते तदुपरागमिति वदन्ति लोकाः ॥३॥

ततोऽधस्तात्सिद्धचारणविद्याधराणां सदनानि तावन्मात्र एव ॥ ४ ॥ ततोऽधस्ताद्यक्षरक्षःपिशाचप्रेतभूतगणानां विहाराजिरमन्तरिक्षं यावद्वायुः

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! कुछ लोगोंका कथन है कि सूर्यसे दश सहस्र योजन नीचे अन्य नक्षत्रोंके समान राहु घूमता है । इसने भगवान्‌की कृपासे ही देवत्व और ग्रहत्व लाभ किया है यद्यपि यह असुराधम सिंहिकापुत्र स्वयं किसी प्रकार इस योग्य नहीं था । हे तात ! इसके जन्म और कर्मोंका वर्णन हम आगे चलकर करेंगे ॥ १ ॥ हे राजन् ! अत्यन्त तपनेवाले इस सूर्यका जो मण्डल है उसका विस्तार दश सहस्र योजन बताते हैं । इसी प्रकार चन्द्रमाका मण्डल बारह हजार योजन है और राहुका तेरह हजार योजन । यह राहु अमृतपानके समय बाधा डालनेवाले सूर्य और चन्द्रमाके वैरको यादकर अमावास्या और पूर्णिमाके समय उनपर आक्रमण करता है ॥ २ ॥ यह जानकर भगवान्‌ने सूर्य और चन्द्रमाकी रक्षाके लिये उन दोनोंके पास अपना प्रिय आयुध सुदर्शन चक्र नियुक्त कर दिया है । उसके बारंबार घूमते रहनेसे राहु उसके दुस्सह तेजसे उद्विग्न और चकितचित्त होकर एक मुहूर्त्तके लिये उनके सामने टिककर सहसा लौट जाता है । इसीको लोग ग्रहण कहते हैं ॥ ३ ॥

राहुके उतने ही (दश सहस्र योजन) नीचे सिद्ध, चारण और विद्याधर आदिके निवासस्थान हैं ॥४॥ उनके नीचे यक्ष, राक्षस, पिशाच, प्रेत और भूतगणोंका विहारस्थल अन्तरिक्ष है जहाँतक कि

१. प्रा० पा०—मे स्कन्धे त्रयो० ।

प्रवाति यावन्मेघा उपलभ्यन्ते ॥ ५ ॥ ततोऽधस्ताच्छतयोजनान्तर इयं पृथिवी यावद्धंसभासश्येनसुपर्णादयः पतत्रिप्रवरा उत्पतन्तीति ॥ ६ ॥ उपवर्णितं भूमेर्यथा संनिवेशावस्थानमवनेरप्यधस्तात्सप्त भूविवरा एकैकशो योजनायुतान्तरेणायामविस्तारेणोपक्लृप्ताः[1] अतलं वितलं सुतलं तलातलं महातलं रसातलं पातालमिति ॥ ७ ॥

वायुकी गति है और मेघ दिखायी देते हैं ॥ ५ ॥ उससे सौ योजनकी दूरीपर यह पृथिवी है। जहाँतक हंस, भास, श्येन (बाज) और गरुड़ आदि प्रधान-प्रधान पक्षिगण उड़ते हैं वही इसकी सीमा है ॥ ६ ॥ हे राजन् ! भूमिके विस्तारादिका वर्णन मैं पहले कर ही चुका हूँ। इसके भी नीचे एकके बाद एक ऐसे सात भूविवर (बिल) हैं, जिनमेंसे प्रत्येक दश-दश हजार योजनके अन्तरपर है और उनकी लम्बाई-चौड़ाई ब्रह्माण्डकटाहके अनुकूल है। उनके नाम क्रमशः अतल, वितल, सुतल, तलातल, महातल, रसातल और पाताल हैं ॥ ७ ॥

एतेषु हि बिलस्वर्गेषु[2] स्वर्गादप्यधिककामभोगैश्वर्यानन्दविभूतिभिः सुसमृद्धभवनोद्यानाक्रीडविहारेषु दैत्यदानवकाद्रवेया नित्यप्रमुदितानुरक्तकलत्रापत्यबन्धुसुहृदनुचरा गृहपतय ईश्वरादप्यप्रतिहतकामा मायाविनोदा निवसन्ति ॥ ८ ॥ येषु महाराज मयेन मायाविना विनिर्मिताः[3] पुरो नानामणिप्रवरप्रवेकविरचितविचित्रभवनप्राकारगोपुरसभाचैत्यचत्वरायतनादिभिर्नागासुरमिथुनपारावतशुकसारिका[4]कीर्णकृत्रिमभूमिभिर्विवरेश्वरगृहोत्तमैः समलंकृताश्चकासति ॥ ९ ॥ उद्यानानि चातितरां[5] मनइन्द्रियानन्दिभिः कुसुमफलस्तवकसुभगकिसलयावनतरुचिर[6]विटपविटपिनां लताङ्गालिङ्गितानां श्रीभिः समिथुनविविधविहङ्गमजलाशयानाममलजलपूर्णानां झषकुलोल्लङ्घनक्षुभितनीरनीरजकुमुदकुवलयकह्लारनीलोत्पल[7]-

इन भूविवररूपी स्वर्गोंमें, जहाँ स्वर्गसे भी अधिक काम, भोग, ऐश्वर्य, आनन्द और विभूतियोंसे सम्पन्न भवन, उद्यान और क्रीडा तथा विहारके स्थान हैं, दैत्य, दानव और नागगण मायामय आमोद-प्रमोद करते हुए निवास करते हैं। उन गृहस्वामियोंके स्त्री, पुत्र, बन्धु, सुहृद् और अनुचर आदि सदा प्रसन्नचित्त और अनुरक्त रहते हैं तथा उनके भोगोंका प्रतिघात करना ईश्वरके लिये भी कठिन है ॥ ८ ॥ हे महाराज ! उन भूविवरोंमें महामायावी मयदानवद्वारा रची हुई नगरियाँ प्रमुख मणिश्रेष्ठोंसे रचे हुए चित्र-विचित्र भवन, परकोटे, नगरद्वार, सभा, मन्दिर, चौराहे और आयतनादिसे नाग और असुर दम्पतियों एवं कबूतर, शुक और सारिका आदि पक्षियोंसे संकुलित कृत्रिम भूमियोंसे तथा उन लोकोंके अधिपतियोंके उत्तम प्रासादोंसे सुसज्जित होकर जगमगा रही हैं ॥ ९ ॥ तथा वहाँके उद्यान भी फूल-फल, गुच्छे और सुन्दर कोंपलोंके भारसे जिनकी डालियाँ झुकी हुई हैं तथा जो लतापाशसे बँधे हुए हैं ऐसे तरुवरोंकी शोभासे तथा जिनमें चक्रवाकादि अनेक प्रकारके पक्षियोंके जोड़े निवास करते हैं उन निर्मल जलपूर्ण जलाशयोंकी सुषमासे और उनमें उछलती हुई मछलियोंसे चञ्चल हुए जलमें स्थित कमल, कुमुद, कुवलय, कह्लार, नीलोत्पल

१. प्रा० पा०—मविस्ताराः सिद्धचारणविद्याधराणां सदनानि तावन्मात्र एव ततोऽधस्तादुरगाणामुपक्लृप्ता अतलं। २. प्रा० पा०—बिलस्थलेषु। ३. प्रा० पा०—निर्मिताः। ४. प्रा० पा०—शारिका। ५. प्रा० पा०—नितरां। ६. प्रा० पा०—चिरविटपिनां। ७. प्रा० पा०—नीलनीरज०।

लोहितशतपत्रादिवनेषु कृतनिकेतनानामेकविहाराकुलमधुरविविधस्वनादिभिरिन्द्रियोत्सवैरमरलोकश्रियमतिशयितानि ॥१०॥ यत्र ह वाव न भयमहोरात्रादिभिः कालविभागैरुपलक्ष्यते ॥११॥ यत्र[1] हि महाहिप्रवरशिरोमणयः सर्वं तमः प्रबाधन्ते ॥१२॥ न वा एतेषु वसतां दिव्यौषधिरसरसायनान्नपानस्नानादिभिराधयो व्याधयो वलीपलितजरादयश्च देहवैवर्ण्यदौर्गन्ध्यस्वेदक्लमग्लानिरिति वयोऽवस्थाश्च भवन्ति ॥१३॥ न हि तेषां कल्याणानां प्रभवति कुतश्चन मृत्युर्विना भगवत्तेजसश्चक्रापदेशात् ॥१४॥ यस्मिन्प्रविष्टेऽसुरवधूनां प्रायः पुंसवनानि भयादेव स्रवन्ति पतन्ति च ॥१५॥

अरुण कमल तथा शतपत्रादिके वनोंमें रहनेवाले पक्षियोंकी निरन्तर क्रीडासे युक्त एवं मन और इन्द्रियोंको आह्लादित करनेवाले भाँति-भाँतिके सुमधुर शब्दोंसे समस्त इन्द्रियोंके लिये उत्सवकी भाँति सुखद साधनोंसे पूर्ण होनेके कारण देवलोककी शोभाको भी मात कर देते हैं ॥१०॥ वहाँ [सूर्यादिका अभाव होनेके कारण] दिन-रात आदि कालके विभागोंसे होनेवाला भय बिल्कुल देखनेमें नहीं आता ॥११॥ बड़े-बड़े नागोंके मस्तकोंकी मणियाँ ही वहाँके अन्धकारको दूर कर देती हैं ॥१२॥ वहाँके निवासियोंको दिव्य ओषधि, रस, रसायन, अन्न, पान और स्नानादिका सेवन करते रहनेसे मानसिक अथवा शारीरिक क्लेश, झुर्रियाँ पड़ जाना, केश पक जाना, वृद्धावस्था प्राप्त होना, देहका कान्तिहीन हो जाना, दुर्गन्ध, स्वेद, श्रम और ग्लानि होना तथा आयुके साथ शरीरकी अवस्थाओंका बदलना आदि विकार नहीं होते ॥१३॥ उन पुण्यपुरुषोंकी भगवान्‌के सुदर्शनचक्र नामक तेजके सिवा और किसी प्रकार मृत्यु नहीं हो सकती ॥१४॥ उस चक्रके आते ही असुर-रमणियोंके गर्भ भयसे ही स्रवित और पतित* हो जाते हैं ॥१५॥

अथातले मयपुत्रोऽसुरो बलो निवसति येन ह वा इह सृष्टाः षण्णवतिर्मायाः काश्चनाद्यापि मायाविनो धारयन्ति यस्य च जृम्भमाणस्य मुखतस्त्रयः स्त्रीगणा उदपद्यन्त स्वैरिण्यः कामिन्यः पुंश्चल्य इति या वै विलायनं प्रविष्टं पुरुषं रसेन हाटकाख्येन साधयित्वा स्वविलासावलोकनानुरागस्मितसंलापोपगूहनादिभिः स्वैरं किल रमयन्ति यस्मिन्नुपयुक्ते पुरुष ईश्वरोऽहं सिद्धोऽहमित्ययुतमहागजबलमात्मानमभिमन्यमानः कत्थते मदान्ध इव ॥१६॥

अतललोकमें मयदानवका पुत्र बल नामक असुर रहता है, जिसने छियानवे प्रकारकी मायाएँ रची हैं। उनमेंसे कुछको इस समय भी मायावी पुरुष धारण करते हैं। उस दैत्यके जमुहाई लेनेपर उसके मुखसे स्वैरिणी (इच्छाचारिणी), कामिनी (कामातुरा) और पुंश्चली (चञ्चल स्वभाववाली) तीन प्रकारकी स्त्रियाँ प्रकट हुईं, जो उस लोकमें आये हुए पुरुषको हाटक नामका एक रस पिलाकर सम्भोग करनेमें समर्थ कर लेती हैं; तथा उससे अपनी हाव-भावमयी चितवन, प्रणय-मुसकान, बातचीत और आलिङ्गनादिके द्वारा यथेष्ट रमण कराती हैं। उस हाटक रसका पान करनेसे मनुष्य मदान्ध हो जाता है और अपनेको दश सहस्र गजराजोंके बलसे सम्पन्न समझकर 'मैं ईश्वर हूँ, मैं सिद्ध हूँ' इस प्रकार बढ़-बढ़कर बातें करने लगता है ॥१६॥

---

१. प्रा० पा०—यत्र महाहि० ।

* 'आचतुर्थाद्भवेत्स्रावः पातः पञ्चमषष्ठयोः' अर्थात् चौथे मासतक जो गर्भ गिरता है उसे 'गर्भस्राव' कहते हैं तथा पाँचवें और छठे मासमें गिरनेसे वह 'गर्भपात' कहलाता है।

ततोऽधस्ताद्वितले हरो भगवान्हाटकेश्वरः स्वपार्षदभूतगणावृतः[1] प्रजापतिसर्गोपबृंहणाय भवो भवान्या सह मिथुनीभूत[2] आस्ते यतः प्रवृत्ता सरित्प्रवरा हाटकी नाम भवयोर्वीर्येण[3] यत्र चित्रभानुर्मातरिश्वना समिध्यमान ओजसा पिबति तन्निष्ठ्यूतं हाटकाख्यं सुवर्णं भूषणेनासुरेन्द्रावरोधेषु पुरुषाः सह पुरुषीभिर्धारयन्ति ॥ १७ ॥

ततोऽधस्तात्सुतल उदारश्रवाः पुण्यश्लोको विरोचनात्मजो बलिर्भगवता महेन्द्रस्य प्रियं चिकीर्षमाणेनादितेर्लब्धकायो भूत्वा बटुवामनरूपेण पराक्षिप्तलोकत्रयो[4] भगवदनुकम्पयैव पुनः प्रवेशित इन्द्रादिष्वविद्यमानया सुसमृद्धया श्रियाभिजुष्टः स्वधर्मेणाराधयंस्तमेव भगवन्तमाराधनीयमपगतसाध्वस आस्तेऽधुनापि ॥१८॥ नो एवैतत्साक्षात्कारो[5] भूमिदानस्य यत्तद्भगवत्यशेषजीवनिकायानां जीवभूतात्मभूते परमात्मनि वासुदेवे तीर्थतमे पात्र उपपन्ने परया श्रद्धया परमादरसमाहितमनसा संप्रतिपादितस्य साक्षादपवर्गद्वारस्य यद्विलनिलयैश्वर्यम् ॥१९॥ यस्य ह वाव क्षुतपतनप्रस्खलनादिषु विवशः सकृन्नामाभिगृणन्पुरुषः कर्मबन्धनमञ्जसा विधुनोति यस्य हैव प्रतिबाधनं मुमुक्षवोऽन्यथैवोपलभन्ते[6] ॥२०॥ तद्भक्तानामात्मवतां सर्वेषामात्मन्यात्मद आत्मतयैव ॥२१॥ न वै भगवान्नूनममुष्यानुजग्राह यदुत पुनरात्मानुस्मृतिमोषणं मायामय-

उसके नीचे वितल नामक भूविवरमें अपने पार्षद भूतगणोंसे आवृत भगवान् हाटकेश्वर नामक महादेवजी रहते हैं। वे प्रजापतिकी सृष्टिकी वृद्धिके लिये भवानीके साथ विहार करते हैं। उन शिव-पार्वतीके तेजसे हाटकी नामकी एक श्रेष्ठ नदी निकली है, जिसका जल वायुसे प्रज्वलित हुआ अग्नि बड़े उत्साहसे पान करता है। उसके थूके हुए हाटक नामक सुवर्णको दैत्यराजोंके अन्तःपुरोंमें पुरुष और स्त्रियाँ आभूषणरूपसे धारण करती हैं ॥१७॥

उसके नीचे सुतल लोक है। वहाँ इन्द्रका प्रिय करनेके लिये अदितिके गर्भसे बटु वामनरूपसे अवतीर्ण होकर भगवान्ने जिससे तीनों लोक छीन लिये थे वह महायशस्वी पवित्रकीर्ति विरोचनपुत्र राजा बलि फिर भगवत्कृपासे ही स्थित होकर जो इन्द्रादिको भी प्राप्त नहीं है ऐसी अतुल सम्पत्तिसे सम्पन्न हो उन्हीं परमपूज्य प्रभुकी अपने धर्माचरणसे आराधना करता हुआ इस समय भी निर्भयतापूर्वक रहता है ॥१८॥ हे राजन्! सम्पूर्ण जीवसमूहोंके जीवभूत, आत्मस्वरूप अन्तर्यामी और आत्माराम साक्षात् परमात्मा वासुदेवजैसे पवित्रतम पात्रके उपस्थित होनेपर उन्हें परम श्रद्धा और अत्यन्त आदरपूर्वक एकाग्रचित्तसे दिया हुआ भूमिदान तो साक्षात् मोक्षका द्वार है, यह सुतल लोकका ऐश्वर्यमात्र ही उसका फल कभी नहीं हो सकता ॥१९॥ छींकने, गिरने और फिसलने आदिके समय विवश होकर जिसका एक बार नाम लेनेपर भी पुरुष उस कर्मबन्धनको सहसा त्याग देता है जिसको मुमुक्षुजन योगसाधनादि अन्य नाना प्रकारके उपायोंसे दूर कर पाते हैं ॥२०॥ अपने ज्ञानी भक्तोंको स्वस्वरूप प्रदान करनेवाले और सम्पूर्ण प्राणियोंके आत्मारूप उन प्रभुको आत्मभावसे समर्पण किये हुए भूमिदानका फल यह सुतल लोकका राज्यमात्र क्या हो सकता है? ॥२१॥ भगवान्ने बलिको उसके उपर्युक्त कर्मका फल यदि परमात्मचिन्तनकी विस्मृति

१. प्रा० पा०—पारिषदभू०। २. प्रा० पा०—भूय। ३. प्रा० पा०— तयोर्वीर्येण। ४. प्रा० पा०—परिक्षिप्तस्वर्लोकत्रयो। ५. प्रा० पा०—यद्येतत्साक्षात्कारो। ६. प्रा० पा०—ऽन्यथैवेहोप०।

भोगैश्वर्यमेवातनुतेति ॥२२॥ यत्तद्भगवतानधिगतान्योपायेन याच्ञाच्छलेनापहृतस्वशरीरावशेषितलोकत्रयो वरुणपाशैश्च संप्रतिमुक्तो गिरिदर्यां चापविद्ध इति होवाच ॥ २३ ॥ नूनं बतायं भगवानर्थेषु न निष्णातो योऽसाविन्द्रो यस्य सचिवो मन्त्राय[1] वृत एकान्ततो बृहस्पतिस्तमतिहाय[2] स्वयमुपेन्द्रेणात्मानमयाचतात्मनश्चाशिषो नो एव तद्दास्यमतिगम्भीरवयसः कालस्य मन्वन्तरपरिवृत्तं कियल्लोकत्रयमिदम् ॥२४॥ यस्यानुदास्यमेवास्मत्पितामहः किल वव्रे नतु स्वपित्र्यं यदुताकुतोभयं पदं दीयमानं भगवतः परमिति[3] भगवतोपरते खलु स्वपितरि ॥ २५ ॥ तस्य महानुभावस्यानुपथममृजितकषायः को वास्मद्विधः परिहीणभगवदनुग्रह[4] उपजिगमिषतीति ॥ २६ ॥ तस्यानुचरितमुपरिष्टाद्विस्तरिष्यते[5] यस्य भगवान्स्वयमखिलजगद्गुरुर्नारायणो द्वारि गदापाणिरवतिष्ठते निजजनानुकम्पितहृदयो येनाङ्गुष्ठेन पदा दशकन्धरो योजनायुतायुतं दिग्विजय उच्चाटितः ॥ २७ ॥

करा देनेवाला मायामय भोग और ऐश्वर्य ही दिया तब तो यह उनका उसपर कुछ अनुग्रह नहीं हुआ ॥२२॥ क्योंकि जब कोई और उपाय न दीखनेके कारण भगवान्ने याचनाके छलसे उसका त्रिलोकीका राज्य छीन लिया, केवल उसका शरीरमात्र रहने दिया; तथा उसे (बलिको) भी वरुणके पाशोंसे बाँधकर पर्वतकी कन्दरामें मूँद दिया तब भी उसने कहा था—॥२३॥ "खेद है ! यह इन्द्र विद्वान् होते हुए भी अपने वास्तविक स्वार्थसाधनमें कुशल नहीं है। अहो ! इसने सम्मति लेनेके लिये अति श्रद्धापूर्वक बृहस्पतिजीको अपना मन्त्री बनाया है फिर भी उनकी अवहेलना करके (उनसे सलाह न लेकर) साक्षात् विष्णु भगवान्के प्रसन्न होनेपर इसने उनसे उनकी सेवा न माँगकर उनके द्वारा मुझसे अपने भोगोंकी ही याचना की ! जिसके वयका अन्त नहीं है ऐसे कालका केवल एक मन्वन्तर समाप्त होते ही छिन्न-भिन्न हो जानेवाले इन तीनों लोकोंका उनकी चरणसेवाके आगे क्या मूल्य है ? ॥२४॥ देखो, हमारे पितामह (प्रह्लादजी) ने भगवान्के हाथों अपने पिता हिरण्यकशिपुके मारे जानेपर प्रभुके देनेपर भी, भगवान्से दूर करनेवाला समझकर, अपने पिताका निष्कण्टक राज्य स्वीकार नहीं किया ! बल्कि भगवत्सेवाका ही वर माँगा ॥२५॥ उन महानुभावके चरणचिह्नोंका अनुसरण करनेका संकल्प कोई मुझ-जैसा वासनालिप्त और भगवत्कृपाशून्य पुरुष कैसे कर सकता है ?" ॥ २६ ॥ [श्रीशुकदेवजी बोले—] हे राजन् ! जिन्होंने दिग्विजयके समय अपने पादाङ्गुष्ठके प्रहारसे रावणको हजारों योजन दूर फेंक दिया था वे निखिल जगद्गुरु साक्षात् श्रीनारायण अपने भक्तपर दयार्द्रचित्त होकर हाथमें गदा लिये हुए जिसके द्वारपर सदा उपस्थित रहते हैं उस राजा बलिका चरित्र हम आगे चलकर विस्तारपूर्वक वर्णन करेंगे ॥२७॥

ततोऽधस्तात्तलातले मयो नाम दानवेन्द्रस्त्रिपुराधिपतिर्भगवता पुरारिणा[6] त्रिलोकीशं चिकीर्षुणा निर्दग्धस्वपुरत्रयस्तत्प्रसादाल्लब्धपदो

सुतल लोकके नीचे तलातलमें त्रिपुराधिपति दानवराज मय रहता है। पहले त्रिलोकीकी कल्याणकामनासे भगवान् शंकरने उसके तीनों पुर भस्म कर दिये थे। फिर उन्हींकी कृपासे उसे यह स्थान प्राप्त

१. प्रा० पा०—मन्त्राय एकान्ततो। २. प्रा० पा०—हायोपेन्द्रेणात्मानमाशिषो नो एव तदनुदास्यमति०। ३. प्रा० पा०—परमिति स्वपितरि। बीचका अंश खण्डित है। ४. प्रा० पा०—ग्रहमुपजि०। ५. प्रा० पा०—मुत्तरस्माद्विस्तरिष्यते यद्भगवान्। ६. प्रा० पा०—त्रिपुरारिणा त्रिलोक्यर्थे।

मायाविनामाचार्यो[1] महादेवेन परिरक्षितो विगतसुदर्शनभयो महीयते ॥ २८ ॥

ततोऽधस्तान्महातले कादृवेयाणां सर्पाणां नैकशिरसां क्रोधवशो नाम गणः कुहकतक्षककालियसुषेणादिप्रधाना महाभोगवन्तः पतत्रिराजाधिपतेः पुरुषवाहादनवरतमुद्विजमानाः[2] स्वकलत्रापत्यसुहृत्कुटुम्बसङ्गेन क्वचित्प्रमत्ता विहरन्ति ॥ २९ ॥

ततोऽधस्ताद्रसातले दैतेया दानवाः पणयो नाम निवातकवचाः कालेया हिरण्यपुरवासिन इति विबुधप्रत्यनीका उत्पत्त्या महौजसो महासाहसिनो भगवतः सकललोकानुभावस्य हरेरेव[3] तेजसा प्रतिहतबलावलेपा[4] बिलेशया इव वसन्ति ये वै सरमयेन्द्रदूत्या वाग्भिर्मन्त्रवर्णाभिरिन्द्राद्बिभ्यति ॥ ३० ॥

ततोऽधस्तात्पाताले नागलोकपतयो वासुकिप्रमुखाः शङ्खकुलिकमहाशङ्खश्वेतधनंजयधृतराष्ट्रशङ्खचूडकम्बलाश्वतरदेवदत्तादयो महाभोगिनो महामर्षा[5] निवसन्ति येषामु ह वै पञ्चसप्तदशशतसहस्रशीर्षाणां फणासु विरचिता महामणयो रोचिष्णवः पातालविवरतिमिरनिकरं स्वरोचिषा विधमन्ति ॥ ३१ ॥

हुआ। वह मायावियोंका परम गुरु है और श्रीमहादेवजीसे सब प्रकार सुरक्षित रहनेके कारण सुदर्शनचक्रसे भी निर्भय रह वहाँके निवासियोंसे सम्मानित होता है ॥ २८ ॥

उसके नीचे महातलमें कद्रूसे उत्पन्न हुए अनेक शिरवाले सर्पोंका क्रोधवश नामक एक समुदाय रहता है। उनमें कुहक, तक्षक, कालिय और सुषेण आदि महाकाय सर्प मुख्य हैं, वे सर्वदा विष्णुभगवान्‌के वाहन पक्षिराज गरुड़के भयसे उद्विग्न रहते हैं; तो भी कभी-कभी उन्मत्त होकर अपने स्त्री, पुत्र, मित्र और कुटुम्बादिके साथ विहार करने लगते हैं ॥ २९ ॥

उसके नीचे रसातलमें पणि नामक निवातकवच, कालेय और हिरण्यपुरवासी देवद्रोही दैत्य और दानवगण रहते हैं। वे जन्मसे ही बड़े उत्साही और परम साहसी होते हैं किन्तु जिनका प्रभाव सम्पूर्ण लोकोंमें व्याप्त है उन श्रीहरिके तेजसे ही हतवीर्य होकर वे सर्पोंके समान लुक-छिपकर रहते हैं तथा इन्द्रकी दूती सरमाके उच्चारण किये हुए मन्त्रवर्णरूप* कटुवाक्यके कारण सदा इनसे डरते रहते हैं ॥ ३० ॥

रसातलके नीचे पाताललोक है। वहाँ जिनमें वासुकि प्रधान है ऐसे शङ्ख, कुलिक, महाशङ्ख, श्वेत, धनञ्जय, धृतराष्ट्र, शंखचूड, कम्बल, अश्वतर और देवदत्तादि महाक्रोधी और बड़े-बड़े डीलवाले नागलोकाधिपति रहते हैं। उनमेंसे किसीके पाँच, किसीके सात, किसीके दश, किसीके सौ और किसीके सहस्र शिर हैं। उनके फणोंकी अति दीप्तिशालिनी मणियाँ अपनी कान्तिसे उस पातालविवरका सम्पूर्ण अन्धकार नष्ट कर देती हैं ॥ ३१ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पञ्चमस्कन्धे राह्वादिस्थितिबिलस्वर्गमर्यादानिरूपणं नाम चतुर्विंशतितमोऽध्यायः ॥ २४ ॥

१. प्रा० पा०—मायानामाचार्यो। २. मुद्विग्नमनसा स्वक०। ३. प्रा० पा०—हरेरिव। ४. प्रा० पा०—हतावलेपा बिलशया इव वसन्ति ये वै सुरमये०। ५. प्रा० पा०—मर्षाः सन्ति। ६. प्रा० पा०—विवरावयववर्णनं नाम।

* वेदमें एक आख्यायिका है कि जब पणि नामक दैत्योंने पृथिवीको रसातलमें छिपा लिया, तो इन्द्रने उसे ढूँढ़नेके लिये सरमा नामकी एक दूती भेजी। जब वह रसातलमें पहुँची तो दैत्योंने सन्धि करनेकी इच्छासे उससे पूछा—'सरमा, तू क्या चाहती है?' किन्तु सरमाने सन्धि करना न चाहा और इन्द्रकी स्तुति करते हुए कहा—'हता इन्द्रेण पणयः शयध्वम्' अर्थात् 'हे पणिगण! तुम इन्द्रके हाथसे मरकर पृथिवीपर शयन करो।' इस शापके कारण उन्हें सदा इन्द्रका डर लगा रहता है।

पचीसवाँ अध्याय

संकर्षणदेवका विवरण और स्तुति ।

श्रीशुक उवाच

तस्य मूलदेशे त्रिंशद्योजनसहस्रान्तर आस्ते या वै कला भगवतस्तामसी समाख्यातानन्त इति सात्वती या द्रष्टृदृश्ययोः[1] संकर्षणमहमित्यभिमानलक्षणं यं संकर्षणमित्याचक्षते ॥१॥

यस्येदं[2] क्षितिमण्डलं भगवतोऽनन्तमूर्तेः सहस्रशिरस एकस्मिन्नेव शीर्षणि ध्रियमाणं सिद्धार्थ इव लक्ष्यते ॥ २ ॥ यस्य ह वा इदं कालेनोपसंजिहीर्षतोऽमर्षविरचितरुचिरभ्रमद्भ्रुवोरन्तरेण सांकर्षणो[3] नाम रुद्र एकादशव्यूहस्त्र्यक्षस्त्रिशिखं शूलमुत्तम्भयन्नुदतिष्ठत् ॥ ३ ॥ यस्याङ्घ्रिकमलयुगलारुणविशदनखमणिखण्डमण्डलेष्वहिपतयः[4] सह सात्वतर्षभैरेकान्तभक्तियोगेनावनमन्तः[5] स्ववदनानि परिस्फुरत्कुण्डलप्रभामण्डितगण्डस्थलान्यतिमनोहराणि[6] प्रमुदितमनसः खलु विलोकयन्ति ॥४॥ यस्यैव हि नागराजकुमार्य आशिष आशासानाश्चार्वङ्गवलयविलसितविशदविपुलधवलसुभगरुचिरभुजरजतस्तम्भेष्वगुरुचन्दनकुङ्कुमपङ्कानुलेपेनावलिम्पमानास्तदभिमर्शनोन्मथितहृदयमकरध्वजावेशरुचिरललितस्मितास्तदनुरागमदमुदितमदविघूर्णितारुणकरुणावलोकनयनवदनारविन्दं[7] सव्रीडं किल विलोकयन्ति ॥ ५ ॥ स[8] एव भगवाननन्तोऽनन्तगुणार्णव आदिदेव उपसंहृतामर्षरोषवेगो लोकानां स्वस्तय आस्ते ॥ ६ ॥

श्रीशुकदेवजी बोले--हे राजन् ! उस पाताललोकके मूलदेशमें तीस सहस्र योजनकी दूरीपर अनन्त नामसे विख्यात भगवान्‌की तामसी नित्यकला है, जिसे अहंकाररूपसे द्रष्टा और दृश्यको संयुक्त करनेवाली होनेसे भक्तजन 'संकर्षण' कहकर पुकारते हैं ॥ १ ॥

जिन सहस्र शिरवाले भगवान् अनन्तके एक शिरपर रखा हुआ यह भूमण्डल सरसोंके दानेके समान प्रतीत होता है ॥ २ ॥ प्रलयकाल उपस्थित होनेपर जब ये विश्वका संहार करना चाहते थे उस समय इनकी क्रोधवश घूमती हुई भृकुटियोंके मध्यभागसे हाथमें तीन नोकवाले शूल लिये ग्यारह मूर्ति और तीन नेत्रोंवाले सांकर्षण नामक रुद्र प्रकट हुए थे ॥ ३ ॥ अन्य भक्तश्रेष्ठोंके सहित अति भक्तिभावसे प्रणाम करते समय जिनके युगल चरणकमलोंके स्वच्छ और अरुण वर्णवाले नखमणिमण्डलमें नागाधिपतिगण अति आनन्दित हो झिलमिलाते हुए कुण्डलोंकी कान्तिसे सुशोभित कमनीय कपोलोंसे युक्त अपने मनोहर मुखारविन्दकी झाँकी करते हैं ॥ ४ ॥ जिनके शरीरमण्डलपर सुशोभित रजतस्तम्भके समान अति विशाल, स्वच्छ और श्वेतवर्ण भुजाओंपर नाना प्रकारकी कामनाओंसे अगुरु, चन्दन और कुंकुमपंकका अनुलेपन लगाते समय परम सुन्दरी नागराजकन्याएँ उनके अंगस्पर्शसे विचलित हुए अपने हृदयमें कामावेश हो जानेके कारण मधुर, मनोहर एवं मंद मुसकानसे युक्त हो उनके मदविह्वल सकरुण अरुण नयनोंसे सुशोभित तथा प्रेममदसे मुदित मुखारविन्दकी ओर सलज्जभावसे निहारने लगती हैं ॥ ५ ॥ वे ही अनन्त गुणोंके सागर आदिदेव भगवान् अनन्त अमर्ष (असहनशीलता) और रोषके वेगको रोके हुए वहाँ सम्पूर्ण लोकोंके कल्याणके लिये विराजमान हैं ॥ ६ ॥

१. प्रा० पा०—द्रष्टृदर्शनयोः सन्निकर्षेण । २. प्रा० पा०—तस्येदं । ३. प्रा० पा०—संकर्षणो । ४. प्रा० पा०—मण्डलं ह्यधिपतयः । ५. प्रा० पा०—नमन्ति स्व० । ६. प्रा० पा०—रिस्फुरत्प्रभामण्डलीमण्डित० । ७. प्रा० पा०—न विलिम्पमाना० । ८. प्रा० पा०—स भगवाननन्तो ।

ध्यायमानः सुरासुरोरगसिद्धगन्धर्वविद्याधरमुनिगणैरनवरतमदमुदितविकृतविह्वललोचनः सुललितमुखरिकामृतेनाप्यायमानः स्वपार्षदविबुधयूथपतीनपरिम्लानरागनवतुलसिकामोदमध्वासवेन माद्यन्मधुकरव्रातमधुरगीतश्रियं वैजयन्तीं स्वां वनमालां नीलवासा एककुण्डलो हलककुदि कृतसुभगसुन्दरभुजो भगवान्माहेन्द्रो वारणेन्द्र इव काञ्चनीं कक्षामुदारलीलो बिभर्ति ॥ ७ ॥

जिनका देवता, असुर, नाग, सिद्ध, गन्धर्व, विद्याधर और मुनिगण निरन्तर ध्यान करते हैं, जो मदसे प्रसन्न तथा विकृत और चञ्चल नयनोंवाले हैं, अपने सुललित वचनरूप अमृतसे जो अपने देवयूथप पार्षदोंको सन्तुष्ट रखते हैं, जिन्होंने नीलाम्बर तथा एक ही कुण्डल धारण किया है और अपना मनोहर एवं सुन्दर भुजदण्ड हलके कूबरपर कर रक्खा है वे उदारलीलामय भगवान् शेषजी, जैसे इन्द्रका गजराज सुवर्णमयी कर्धनी धारण करता है उसी प्रकार, अपनी वैजयन्ती नामकी वनमाला धारण किये हुए हैं, जो कभी मन्द न पड़नेवाली कान्तिसे युक्त नवीन तुलसीकी सुगन्ध और मधुर मकरन्दसे उन्मत्त हुए भ्रमरगणके सुमधुर गुञ्जारसे सुशोभित है ॥ ७ ॥

य एष एवमनुश्रुतो ध्यायमानो मुमुक्षूणामनादिकालकर्मवासनाग्रथितमविद्यामयं हृदयग्रन्थिं सत्त्वरजस्तमोमयमन्तर्हृदयं गत आशु निर्भिनत्ति तस्यानुभावान्भगवान्स्वायम्भुवो नारदः सह तुम्बुरुणा सभायां ब्रह्मणः संश्लोकयामास ॥ ८ ॥

हे राजन् ! जो भगवान् अनन्त इस प्रकार श्रवण और ध्यान किये जानेपर मुमुक्षुओंके हृदयमें आविर्भूत होकर अनादिकालीन कर्मवासनाओंसे ग्रथित उनकी सत्त्व, रज और तमोगुणात्मक अविद्यामयी हृदयग्रन्थिको तत्काल काट डालते हैं उनकी महिमाका ब्रह्माके पुत्र भगवान् नारदने तुम्बुरु गन्धर्वके सहित एक बार ब्रह्माजीकी सभामें इस प्रकार वर्णन किया था—॥ ८ ॥

उत्पत्तिस्थितिलयहेतवोऽस्य कल्पाः
सत्त्वाद्याः प्रकृतिगुणा यदीक्षयासन् ।
यद्रूपं ध्रुवमकृतं यदेकमात्म-
न्नानाधात्कथमु ह वेद तस्य वर्त्म ॥ ९ ॥
मूर्तिं नः पुरुकृपया बभार सत्त्वं
संशुद्धं सदसदिदं विभाति यत्र ।
यल्लीलां मृगपतिराददेऽनवद्या-
मादातुं स्वजनमनांस्युदारवीर्यः ॥ १० ॥
यन्नाम श्रुतमनुकीर्तयेदकस्मा-
दार्तो वा यदि पतितः प्रलम्भनाद्वा ।

"जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और लयके कारण जो प्रकृतिके सत्त्वादि गुण हैं वे जिनके दृष्टिपातसे अपने-अपने कार्योंमें समर्थ होते हैं, जिनका रूप अनन्त और अनादि है तथा जो अकेले ही सम्पूर्ण प्रपञ्चको अपनेमें धारण किये हुए हैं उन (श्रीसंकर्षणदेव) का तत्त्व कोई कैसे जान सकता है ? ॥ ९ ॥ जिनमें यह कार्य-कारणरूप सम्पूर्ण प्रपञ्च भास रहा है, तथा जिनकी [शूरवीरतारूप] एक उदार लीलाको सिंहने ग्रहण किया है उन परमपराक्रमी भगवान्ने अपने भक्तोंके चित्त चुरानेके लिये हमपर अत्यन्त कृपालु होकर यह विशुद्धसत्त्वमय शरीर धारण किया है ॥ १० ॥ जिनके सुने-सुनाये नामका कोई दीन या पापी पुरुष अकस्मात् दुःख दूर होनेके लिये

१. प्रा० पा०—मुखविकारामृतेना० । २. प्रा० पा०—यूथपपतीनां । ३. प्रा० पा०—वनतुलसि० । ४. प्रा० पा०—मनुश्रुतोऽभिध्यायमानः सुमुमुक्षूणामना० । ५. प्रा० पा०—कर्मणां वा० । ६. प्रा० पा०—भावमुद्वहन् भग० ।

हन्त्यंहः सपदि नृणामशेषमन्यं
कं शेषाद्भगवत आश्रयेन्मुमुक्षुः ॥ ११ ॥
मूर्धन्यर्पितमणुवत्सहस्रमूर्ध्नो
भूगोलं[1] सगिरिसरित्समुद्रसत्त्वम् ।
आनन्त्यादनिमितविक्रमस्य भूम्नः
को वीर्याण्यधिगणयेत्सहस्रजिह्वः[2] ॥ १२ ॥
एवंप्रभावो भगवाननन्तो
दुरन्तवीर्योरुगुणानुभावः[3] ।
मूले रसायाः स्थित आत्मतन्त्रो
यो लीलया क्ष्मां स्थितये बिभर्ति ॥ १३ ॥

अथवा हँसीमें भी कीर्तन करता है तो उसका वह कीर्तन मनुष्योंके सम्पूर्ण पापोंको तत्काल नष्ट कर देता है, उन भगवान् शेषको छोड़कर कोई मोक्षाकांक्षी पुरुष दूसरे किसका आश्रय ले सकता है ? ॥ ११ ॥ जिन सहस्र शिरवाले भगवान् संकर्षणके एक मस्तकपर यह पर्वत, नदी और समुद्रादिसे पूर्ण सम्पूर्ण भूमण्डल एक रजःकणके समान रखा हुआ है, तथा अनन्त होनेके कारण जिनके पराक्रमका कोई परिमाण नहीं है उन सर्वव्यापक शेषजीके पराक्रमोंको कोई सहस्र जिह्वाओंवाला पुरुष भी कैसे गिन सकता है ? ॥ १२ ॥ जिनके पराक्रमका कोई अन्त नहीं है तथा जो अतिशय गुण और प्रभावयुक्त हैं वे भगवान् अनन्त ऐसे प्रभावशाली हैं और सम्पूर्ण लोकोंकी स्थितिके लिये रसातलके मूलमें स्थित होकर स्वतन्त्रतापूर्वक लीलाहीसे पृथिवीको धारण करते हैं" ॥ १३ ॥

एता ह्येवेह नृभिरुपगन्तव्या गतयो यथाकर्मविनिर्मिता यथोपदेशमनुवर्णिताः कामान्कामयमानैः ॥ १४ ॥ एतावतीर्हि राजन्पुंसः प्रवृत्तिलक्षणस्य धर्मस्य विपाकगतय उच्चावचा विसदृशा यथाप्रश्नं व्याचख्ये किमन्यत्कथयाम इति ॥ १५ ॥

[श्रीशुकदेवजी कहते हैं--] हे राजन् ! भोगोंकी इच्छावाले पुरुषोंको अपने कर्मोंके अनुसार प्राप्त होनेवाली भगवान्‌की रची हुई ये ही गतियाँ हैं । ये, जिस प्रकार मैंने गुरुमुखसे सुनी थीं उसी प्रकार तुम्हें सुना दीं ॥ १४ ॥ हे राजन् ! मनुष्यको प्रवृत्तिरूप धर्मके परिणाममें प्राप्त होनेवाली नाना प्रकारकी ऊँच-नीच गतियाँ इतनी ही हैं, सो तुम्हारे प्रश्नके अनुसार मैंने तुम्हें सुना दी । अब और क्या कहें, सो बताओ ॥ १५ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पञ्चमस्कन्धे भूविवरविध्युपवर्णनं नाम पञ्चविंशतितमोऽध्यायः ॥ २५ ॥

१. प्रा० पा०—भूगोलकं । २. प्रा० पा०—र्याण्यभिगणये० । ३. प्रा० पा०—वीर्यो गुणानुभावः ।

छब्बीसवाँ अध्याय

नरकोंकी विभिन्न गतियोंका वर्णन ।

राजोवाच

महर्ष एतद्वैचित्र्यं लोकस्य कथमिति ॥ १ ॥

ऋषिरुवाच[1]

त्रिगुणत्वात्कर्तुः[2] श्रद्धया कर्मगतयः पृथग्विधाः सर्वा एव सर्वस्य तारतम्येन भवन्ति ॥ २ ॥ अथेदानीं प्रतिषिद्धलक्षणस्याधर्मस्य तथैव कर्तुः[3] श्रद्धाया वैसादृश्यात्कर्मफलं विसदृशं भवति या ह्यनाद्यविद्यया[4] कृतकामानां तत्परिणामलक्षणाः सृतयः सहस्रशः प्रवृत्तास्तासां प्राचुर्येणानुवर्णयिष्यामः ॥३॥

राजोवाच

नरका नाम भगवन्किं देशविशेषा अथवा बहिस्त्रिलोक्या आहोस्विदन्तराल इति ॥ ४ ॥

ऋषिरुवाच

अन्तराल एव त्रिजगत्यास्तु दिशि दक्षिणस्यामधस्ताद्भूमेरुपरिष्टाच्च जलाद्यस्यामग्निष्वात्तादयः पितृगणा दिशि स्वानां गोत्राणां परमेण समाधिना सत्या एवाशिष आशासाना निवसन्ति ॥ ५ ॥ यत्र ह वाव भगवान्पितृराजो वैवस्वतः स्वविषयं प्रापितेषु स्वपुरुषैर्जन्तुषु संपरेतेषु यथाकर्मावद्यं दोषमेवानुछ्वसितभगवच्छासनः सगणो दमं धारयति ॥ ६ ॥ तत्र हैके नरकानेकविंशतिं गणयन्ति अथ तांस्ते राजन्नामरूपलक्षणतोऽनुक्रमिष्यामस्तामिस्रोऽन्धता-

राजा परीक्षित्‌ने पूछा—हे महर्षे ! लोगोंको प्राप्त होनेवाली इन ऊँच-नीच गतियोंमें [illegible] विभिन्नता क्यों होती है ? ॥ १ ॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! कर्मोंके करनेवाले पुरुष सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणोंसे युक्त होते हैं, अतः उनकी श्रद्धा भी सत्त्वादि गुणोंसे युक्त होनेके कारण उनके कर्मोंकी समस्त गतियाँ नाना प्रकारकी होती हैं और वे उन सबको तारतम्यसे प्राप्त होती हैं ॥२॥ इसी प्रकार निषिद्ध कर्मोंके कर्ताओंको भी उनकी श्रद्धाकी असमानताके कारण असमान फल ही मिलता है, सो अब अनादि अविद्याके वशीभूत होकर कामना किये हुए प्रतिषिद्ध कर्मोंके परिणाममें जो सहस्रों नरक प्राप्त होते हैं उनका हम विस्तारसे वर्णन करेंगे ॥ ३ ॥

राजा परीक्षित्‌ने पूछा—भगवन् ! [आप जिनका वर्णन करना चाहते हैं] वे नरक क्या कोई पृथिवीके ही देशविशेष हैं अथवा त्रिलोकीके बाहर हैं या इसके भीतर ही किसी जगह हैं ? ॥ ४ ॥

श्रीशुकदेवजी बोले—राजन् ! वे नरक त्रिलोकीके भीतर ही दक्षिण दिशामें पृथिवीके नीचे तथा जलके ऊपर स्थित हैं। उसी दिशामें अग्निष्वात्ता आदि पितृगण अपने वंशधरोंको सत्य आशीर्वाद देते हुए महासमाधिमें स्थित रहते हैं ॥ ५ ॥ वहाँ भगवान्‌की आज्ञाका कभी उल्लंघन न करनेवाले सूर्यपुत्र पितृराज भगवान् यम अपने सेवकोंके सहित रहते हैं और अपने दूतोंद्वारा अपने लोकमें लाये हुए मृत प्राणियोंको उनके किये हुए दूषित कर्मोंके अनुसार उनके अपराधको ही दण्डरूपमें भोगवाते हैं ॥ ६ ॥ हे राजन् ! कोई-कोई लोग इक्कीस नरक गिनाते हैं, सो नाम, रूप और लक्षणके अनुसार मैं तुमसे उन सबका वर्णन करता हूँ। उनके नाम ये हैं—

१. प्राचीन प्रतिमें 'ऋषिरुवाच' यह पाठ नहीं है। २. प्रा० पा०—कर्तृश्रद्धायाः। ३. प्रा० पा०—कर्तृश्रद्धायाः। ४. प्रा० पा०—विद्याकामानां।

मिस्रो रौरवो महारौरवः कुम्भीपाकः कालसूत्रमसिपत्रवनं सूकरमुखमन्धकूपः कृमिभोजनः संदंशस्तप्तभूमिर्वज्रकण्टकशाल्मली वैतरणी पूयोदः प्राणरोधो विशसनं लालाभक्षः सारमेयादनमवीचिरयःपानमिति ॥ किञ्च क्षारकर्दमो रक्षोगणभोजनः शूलप्रोतो दन्दशूको[1] वटनिरोधनः पर्यावर्तनः सूचीमुखमित्यष्टाविंशतिनरका विविधयातनाभूमयः ॥७॥

तत्र यस्तु परवित्तापत्यकलत्राण्यपहरति स हि कालपाशबद्धो यमपुरुषैरतिभयानकैस्तामिस्रे नरके बलान्निपात्यते अनशनानुदपानदण्डताडनसंतर्जनादिभिर्यातनाभिर्यात्यमानो जन्तुर्यत्र कश्मलमासादित एकदैव मूर्च्छामुपयाति तामिस्रप्राये ॥ ८ ॥ एवमेवान्धतामिस्रे यस्तु वञ्चयित्वा[2] पुरुषं दारादीनुपयुङ्क्ते यत्र शरीरी निपात्यमानो यातनास्थो वेदनया नष्टमतिर्नष्टदृष्टिश्च भवति यथा[3] वनस्पतिर्वृश्च्यमानमूलस्तस्मादन्धतामिस्रं तमुपदिशन्ति ॥९॥

यस्त्विह वा एतदहमिति ममेदमिति भूतद्रोहेण केवलं स्वकुटुम्बमेवानुदिनं प्रपुष्णाति स तदिह विहाय स्वयमेव तदशुभेन[4] रौरवे निपतति ॥१०॥ ये[5] त्विह यथैवामुना विहिंसिता जन्तवः परत्र यमयातनामुपगतं[6] त एव रुरवो भूत्वा तथा तमेव विहिंसन्ति तस्माद्रौरवमित्याहू रुरुरिति सर्पादति[7]-

तामिस्र, अन्धतामिस्र, रौरव, महारौरव, कुम्भीपाक, कालसूत्र, असिपत्रवन, सूकरमुख, अन्धकूप, कृमिभोजन, सन्दंश, तप्तभूमि, वज्रके समान काँटोंवाला, शाल्मली वृक्ष, वैतरणी, पूयोद, प्राणरोध, विशसन, लालाभक्ष, सारमेयादन, अवीचि और अयःपान । इनके सिवा क्षारकर्दम, रक्षोगणभोजन, शूलप्रोत, दन्दशूक, वटरोधन, पर्यावर्तन और सूचीमुख—ये सात मिलाकर कुल अट्ठाईस नरक नाना प्रकारकी यातनाओंको भोगनेके स्थान हैं ॥ ७ ॥

जो पुरुष दूसरोंके धन, सन्तान अथवा स्त्रियोंका हरण करता है वह अति भयानक यमदूतोंद्वारा कालपाशोंसे बाँधकर बलपूर्वक तामिस्र नरकमें गिराया जाता है । तथा उस अन्धकारमय नरकमें खाने-पीनेके न मिलने, डंडे खाने तथा भय दिखलाये जाने आदि नाना प्रकारकी यातनाओंसे पीडित हुआ वह जीव अत्यन्त दुखी होकर एकबारगी मूर्च्छित हो जाता है ॥ ८ ॥ इसी प्रकार जो पुरुष किसी दूसरेको धोखा देकर उसकी स्त्री आदिको भोगता है वह अन्धतामिस्र नरकमें पड़ता है । वहाँ गिराये जानेपर यातनामें पड़ा हुआ जीव, जड़से काटे जाते हुए वृक्षके समान वेदनाके मारे सुध-बुध खो बैठता है और उसे कुछ भी सूझ नहीं पड़ता । इसीलिये उसे 'अन्धतामिस्र' कहते हैं ॥९॥

जो पुरुष इस लोकमें 'यह शरीर ही मैं हूँ और ये धन तथा स्त्री आदि मेरे हैं' ऐसी बुद्धिसे प्राणियोंके साथ द्रोह करता हुआ प्रतिदिन अपने कुटुम्बके ही पालन-पोषणमें लगा रहता है वह अपना शरीर छोड़नेपर अपने पापके कारण स्वयं ही रौरव नरकमें गिरता है ॥ १० ॥ हे राजन् ! इस लोकमें अपने कुटुम्बका पोषण करनेके लिये उसने जिस जीवकी जिस प्रकार हिंसा की होती है, परलोकमें यमयातनाको प्राप्त होनेपर उसे वे ही जीव 'रुरु' होकर उसी प्रकार पीडित करते हैं । इसीलिये उसे 'रौरव' कहते हैं । 'रुरु' यह सर्पसे भी अधिक क्रूर स्वभाववाले

१. प्रा० पा०—शूकोऽवटनिरोधनं पर्यावर्त्तनं । २. प्रा० पा०—वञ्चित्वा । ३. प्रा० पा०—यथा हि वनस्पति० । ४. प्रा० पा०—तदशुभे रौरवे । ५. प्रा० पा०—ये वेह तथैवामुना । ६. प्रा० पा०—यातनायतनमुपगतास्त । ७. प्रा० पा०—सर्पवदतिक्रूरसत्त्व० ।

क्रूरसत्त्वस्यापदेशः ॥११॥ एवमेव महारौरवो यत्र निपतितं पुरुषं क्रव्यादा[1] नाम रुरवस्तं क्रव्येण घातयन्ति यः केवलं देहंभरः ॥ १२ ॥

यस्त्विह वा उग्रः पशून्पक्षिणो वा प्राणत उपरन्धयति तमपकरुणं पुरुषादैरपि विगर्हितममुत्र यमानुचराः कुम्भीपाके तप्ततैले उपरन्धयन्ति ॥ १३ ॥ यस्त्विह पितृविप्रब्रह्मध्रुक्स कालसूत्रसंज्ञके नरके अयुतयोजनपरिमण्डले ताम्रमये[2] तप्तखले उपर्यधस्तादग्न्यर्काभ्यामतितप्यमानेऽभिनिवेशितः क्षुत्पिपासाभ्यां च दह्यमानान्तर्बहिःशरीर आस्ते शेते[3] चेष्टतेऽवतिष्ठति परिधावति च यावन्ति पशुरोमाणि तावद्वर्षसहस्राणि ॥ १४ ॥

यस्त्विह[4] वै निजवेदपथादनापद्यपगतः पाखण्डं[5] चोपगतस्तमसिपत्रवनं प्रवेश्य कशया[6] प्रहरन्ति तत्र हासावितस्ततो धावमान उभयतोधारैस्तालवनासिपत्रैश्छिद्यमानसर्वाङ्गो हा हतोऽस्मीति परमया वेदनया मूर्च्छितः पदे पदे निपतति स्वधर्महा पाखण्डानुगतं[7] फलं भुङ्क्ते ॥१५॥

यस्त्विह वै राजा राजपुरुषो वा अदण्ड्ये दण्डं

एक जीवका नाम है ॥११॥ ऐसा ही महारौरव नरक है। वहाँ वह पुरुष जाता है जो केवल अपने ही देहको पालता है। वहाँ पड़े हुए जीवको कच्चा मांस खानेवाले रुरु नामक जीव मांसके लोभसे काटते हैं ॥ १२ ॥

जो महाक्रूर पुरुष इस लोकमें जीवित पशु या पक्षियोंको राँधता है राक्षसों द्वारा भी निन्दित उस निर्दय प्राणीको परलोकमें यमराजके सेवक कुम्भीपाक नरकमें ले जाकर खौलते हुए तैलमें राँधते हैं ॥ १३ ॥ जो मनुष्य इस लोकमें पिता, ब्राह्मण अथवा वेदसे द्रोह करनेवाला होता है उसे यमदूत कालसूत्र नामक नरकमें ले जाते हैं जिसका घेरा दश हजार योजन है, जो ताँबेका बना हुआ है, जिसमें तपा हुआ मैदान है और जो ऊपरसे सूर्य तथा नीचेसे अग्निके दाहसे अत्यन्त सन्तप्त है। वहाँ वह भूख-प्याससे व्याकुल हो जाता है तथा उसका शरीर बाहर-भीतरसे जलने लगता है। इस प्रकार पशुके शरीरमें जितने रोम होते हैं उतने ही सहस्र वर्षतक वह उस नरकमें कभी बैठता है, कभी लेटता है, कभी उठनेकी चेष्टा करता है, कभी खड़ा होता है, और कभी इधर-उधर दौड़ने लगता है ॥ १४ ॥

जो पुरुष किसी प्रकारकी विपत्ति न आनेपर भी अपने वैदिक मार्गको छोड़कर अन्य पाखण्डपूर्ण धर्मोंका आश्रय लेता है उसे यमदूतगण असिपत्रवन नरकमें ले जाकर कोड़ोंसे पीटते हैं। वहाँ इधर-उधर दौड़नेसे उसके सम्पूर्ण अंग तालवनके तलवार सदृश पत्तोंसे, जिनमें दोनों ओर धारें होती हैं, छिन्न-भिन्न होने लगते हैं। तब वह 'हाय मैं मारा गया' इस प्रकार चिल्लाता हुआ अत्यन्त वेदनासे मूर्च्छित होकर पद-पदपर गिरने लगता है। जो पुरुष अपने धर्मको त्याग देता है उसे पाखण्डमार्गपर चलनेका फल इस प्रकार भोगना पड़ता है ॥ १५ ॥

जो पुरुष राजा या राजकर्मचारी होकर किसी दण्डके अयोग्य पुरुषको दण्ड देता है, अथवा

१. प्रा० पा०—क्रव्यादा रुरवस्तं। २. प्रा० पा०—मये खले। ३. प्रा० पा०—शेतेऽवतिष्ठति। ४. प्रा० पा०—यस्तूह वै निज०। ५. प्रा० पा०—पाषण्डं चोप०। ६. प्रा० पा०—कषया। ७. प्रा० पा०—पापण्डानुगमनं।

प्रणयति ब्राह्मणे वा शरीरदण्डं स पापीयान्नरकेऽमुत्र सूकरमुखे[1] निपतति तत्रातिबलैर्विनिष्पिष्यमाणावयवो यथैवेहेक्षुखण्ड आर्तस्वरेण स्वनयन्क्वचिन्मूर्च्छितः कश्मलमुपगतो यथैवेहादृष्टदोषा उपरुद्धाः ॥ १६ ॥

यस्त्विह वै भूतानामीश्वरोपकल्पितवृत्तीनामविविक्तपरव्यथानां स्वयं पुरुषोपकल्पितवृत्तिर्विविक्तपरव्यथो व्यथामाचरति स परत्रान्धकूपे तदभिद्रोहेण निपतति तत्र हासौ तैर्जन्तुभिः पशुमृगपक्षिसरीसृपैर्मशकयूकामत्कुणमक्षिकादिभिर्ये केचाभिद्रुग्धास्तैः सर्वतोऽभिद्रुह्यमाणस्तमसि विहतनिद्रानिर्वृतिरलब्धावस्थानः परिक्रामति यथा कुशरीरे जीवः ॥ १७ ॥

यस्त्विह वा असंविभज्याश्नाति यत्किञ्चनोपनतमनिर्मितपञ्चयज्ञो वायससंस्तुतः स परत्र कृमिभोजने नरकाधमे निपतति तत्र शतसहस्रयोजने[4] कृमिकुण्डे[5] कृमिभूतः स्वयं कृमिभिरेव भक्ष्यमाणः कृमिभोजनो यावत्तदप्रत्ताप्रहृतादोऽनिर्वेशमात्मानं यातयते ॥ १८ ॥ यस्त्विह वै स्तेयेन बलाद्वा हिरण्यरत्नादीनि ब्राह्मणस्य

ब्राह्मणको शरीरदण्ड देता है वह पापी परलोकमें सूकरमुख नामक नरकमें गिरता है। वहाँ महाबली यमदूतों द्वारा अपने अंगोंके कुचले जानेसे वह कोल्हूमें पेरे जाते हुए गन्नोंके समान आर्त्तस्वरसे चिल्लाता है और अत्यन्त पीडित होकर इस प्रकार अचेत हो जाता है जैसे इस लोकमें उसके द्वारा कारागृहमें बन्द किये हुए निरपराध प्राणी कष्टसे मूर्च्छित हो गये थे ॥ १६ ॥

परमेश्वरने ब्राह्मणादि वर्ण और आश्रमके अनुसार जिसकी विधिनिषेधपूर्वक वृत्ति नियत कर दी है तथा जो विवेकपूर्वक औरोंके दुःखको जाननेवाला है वह पुरुष भी जिनकी परमेश्वरने ही रक्तपानादि वृत्ति बना दी है तथा जो दूसरोंके दुःखको भी नहीं जानते उन खटमल आदि जीवोंकी यदि हिंसा करता है तो वह उनसे द्रोह करनेके कारण अन्धकूप नामक नरकमें गिरता है; और वहाँ, जिनसे उसने द्रोह किया होता है उन पशु, मृग, पक्षी, सरीसृप, मच्छर, जूँ, खटमल और मक्खी आदि जीवोंद्वारा सब ओरसे काटे जानेके कारण उस घोर अन्धकारमें, निद्रा और शान्तिके भंग हो जानेसे उसे तनिक भी चैन नहीं मिलता और वह इस प्रकार भटकने लगता है जैसे रोगग्रस्त शरीरमें जीव छटपटाता रहता है ॥ १७ ॥

जो मनुष्य इस लोकमें बिना पञ्चमहायज्ञ किये तथा जो कुछ मिले उसे बालक, वृद्ध और अतिथि आदिको बिना दिये स्वयं ही खा लेता है उसे कौएके समान कहा है। वह परलोकमें महा अधम कृमिभोजन नामक नरकमें गिरता है। वहाँ वह एक लाख योजन विस्तारवाले कीड़ोंके कुण्डमें कीड़ा बनता है और जबतक वह बिना बाँटे और बिना हवन किये भोजन करनेवाला प्राणी पूरा प्रायश्चित्त नहीं कर लेता तबतक उन कीड़ोंसे भक्षित होता हुआ और स्वयं भी उन्हींको खाता हुआ अपने शरीरको पीडित करता रहता है ॥ १८ ॥ हे राजन्! जो पुरुष इस

१. प्रा० पा०—शूकरमुखे । २. प्रा० पा०—मीश्वरकल्पित० । ३. प्रा० पा०—सङ्गेऽसंविभज्य । ४. प्रा० पा०—शतयोजने । ५. प्रा० पा०—ण्डे कृमिभिरेव भक्ष्यमाणः ।

वापहरत्यन्यस्य वानापदि पुरुषस्तममुत्र राजन्यमपुरुषा अयस्मयैरग्निपिण्डैः[1] संदंशैस्त्वचि निष्कृषन्ति ॥ १९ ॥ यस्त्विह वा अगम्यां स्त्रियमगम्यं वा पुरुषं योषिदभिगच्छति[2] तावमुत्र कशया ताडयन्तस्तिग्मया[3] सूर्म्या लोहमय्या पुरुषमालिङ्गयन्ति स्त्रियं च पुरुषरूपया[4] सूर्म्या ॥ २० ॥ यस्त्विह वै सर्वाभिगमस्तममुत्र निरये वर्तमानं वज्रकण्टकशाल्मलीमारोप्य निष्कर्षन्ति ॥ २१ ॥

ये त्विह वै राजन्या राजपुरुषा वा अपाखण्डा धर्मसेतून्भिन्दन्ति[5] ते संपरेत्य वैतरण्यां निपतन्ति भिन्नमर्यादास्तस्यां निरयपरिखाभूतायां नद्यां यादोगणैरितस्ततो भक्ष्यमाणा आत्मना न वियुज्यमानाश्चासुभिरुह्यमानाः स्वाघेन[6] कर्मपाकमनुस्मरन्तो विण्मूत्रपूयशोणितकेशनखास्थिमेदोमांसवसावाहिन्यामुपतप्यन्ते ॥ २२ ॥ ये त्विह वै वृषलीपतयो नष्टशौचाचारनियमास्त्यक्तलज्जाः पशुचर्यां चरन्ति ते चापि प्रेत्य पूयविण्मूत्रश्लेष्ममलापूर्णार्णवे निपतन्ति तदेवातिबीभत्सितमश्नन्ति ॥ २३ ॥ ये त्विह वै श्वगर्दभपतयो ब्राह्मणादयो मृगयाविहारा अतीर्थे च मृगान्निघ्नन्ति तानपि संपरेताँल्लक्ष्यभूतान्यमपुरुषा इषुभिर्विध्यन्ति ॥ २४ ॥

लोकमें आपत्तिकाल न होनेपर भी चोरी या बलात्कारसे ब्राह्मण अथवा अन्य पुरुषोंके सुवर्ण एवं रत्नादिका हरण करता है उसे परलोकमें यमदूत लोहेके तपाये हुए गोलोंसे दागते हैं और संडासीसे उसकी त्वचा नोचते हैं ॥ १९ ॥ इस लोकमें यदि कोई पुरुष अगम्या स्त्रीके साथ सम्भोग करता है, अथवा कोई स्त्री अगम्य पुरुषसे व्यभिचार करती है तो यमदूत उन्हें कोड़ेसे पीटते हुए पुरुषको तपाये हुए लोहेकी स्त्री-प्रतिमासे और स्त्रीको तपायी हुई पुरुष-प्रतिमासे आलिंगन कराते हैं ॥ २० ॥ जो मनुष्य इस लोकमें पशु आदि सभीके साथ व्यभिचार करता है उसे परलोकमें नरक प्राप्त होनेपर यमदूतगण वज्रके समान कठोर कण्टकोंसे पूर्ण सेमलके वृक्षपर चढ़ाकर नीचेकी ओर घसीटते हैं ॥ २१ ॥

जो राजा या राजपुरुष इस लोकमें श्रेष्ठ कुलमें जन्म लेकर भी धर्ममर्यादाका उच्छेद करते हैं वे मरनेके अनन्तर मर्यादाहीन होकर वैतरणी नदीमें गिरते हैं जो नरककी खाईके समान है। वहाँ उन्हें इधर-उधरसे जलचरगण नोंचते हैं तो भी उनके शरीरका अन्त नहीं होता; और वे अपने पापोंके कारण विष्ठा, मूत्र, पीब, रक्त, केश, नख, अस्थि, मेद, मांस और वसा आदिसे पूर्ण उस घृणित नदीमें प्राणोंके सहित बहते हुए उसे अपने कर्मोंका फल समझकर अत्यन्त सन्तप्त होते रहते हैं ॥ २२ ॥ जो लोग शौच और आचारके नियमोंसे भ्रष्ट होकर तथा लज्जाको तिलाञ्जलि देकर इस लोकमें शूद्राओंके पति (जार) बनकर पशुवत् आचरण करते हैं वे भी मरनेके अनन्तर पीब, विष्ठा, मूत्र, कफ और मलसे भरे हुए समुद्रमें गिरकर उन अत्यन्त घृणित वस्तुओंको ही भक्षण करते हैं ॥ २३ ॥ जो ब्राह्मणादि [उच्चवर्ण] इस लोकमें कुत्ते या गधे आदि [निन्द्य जीवों] को पालते हैं और मृगया आदिमें लगे रहते हैं तथा यज्ञादिविहित कर्मोंके सिवा अन्यत्र भी पशुओंका वध करते हैं उन्हें भी मरनेके अनन्तर यमदूतगण लक्ष्य बनाकर बाणोंसे बींधते हैं ॥ २४ ॥

१. प्रा० पा०—अश्ममयैरग्नि० । २. प्रा० पा०—दपि गच्छति । ३. प्रा० पा०—ताडयेत्तिग्मया । ४. प्रा० पा०—षमूर्त्या सूर्म्या । ५. प्रा० पा०—धर्मसेतुं । ६. प्रा० पा०—अघेन कर्मविपाकमनुस्मरन्त उपतप्यन्ते विण्मू० ।

ये त्विह वै दाम्भिका दम्भयज्ञेषु पशून्विशसन्ति तानमुष्मिँल्लोके वैशसे नरके पतितान्निरयपतयो यातयित्वा विशसन्ति ॥ २५ ॥ यस्त्विह वै सवर्णां भार्यां द्विजो रेतः पाययति काममोहितस्तं पापकृतममुत्र रेतःकुल्यायां पातयित्वा रेतः संपाययन्ति[1] ॥ २६ ॥ ये त्विह वै दस्यवोऽग्निदा गरदा ग्रामान् सार्थान्वा विलुम्पन्ति राजानो राजभटा वा तांश्चापि हि परेत्य[2] यमदूता वज्रदंष्ट्राः श्वानः सप्तशतानि विंशतिश्च सरभसं खादन्ति ॥ २७ ॥

यस्त्विह[3] वा अनृतं वदति साक्ष्ये द्रव्यविनिमये दाने वा कथञ्चित्स वै प्रेत्य नरकेऽवोचिमत्यधःशिरा[4] निरवकाशे योजनशतोच्छ्रायाद्गिरिमूर्ध्नः संपात्यते यत्र[5] जलमिव स्थलमश्मपृष्ठमवभासते तदवीचिमत्तिलशो विशीर्यमाणशरीरो न म्रियमाणः पुनरारोपितो निपतति ॥ २८ ॥

यस्त्विह वै विप्रो राजन्यो वैश्यो वा सोमपीथस्तत्कलत्रं वा सुरां व्रतस्थोऽपि वा पिबति प्रमादतस्तेषां[6] निरयं नीतानामुरसि पदाक्रम्यास्ये वह्निना द्रवमाणं कार्ष्णायसं निषिञ्चन्ति ॥ २९ ॥ अथ च यस्त्विह[7] वा आत्मसंभावनेन स्वयमधमो जन्मतपोविद्याचारवर्णाश्रमवतो वरीयसो न बहु मन्येत स मृतक एव मृत्वा क्षारकर्दमे निरयेऽवाक्-

जो पाखण्डी लोग पाखण्डपूर्ण यज्ञोंमें पशुओंका वध करते हैं उन्हें परलोकमें वैशस (विशसन) नामक नरकमें डालकर वहाँके अधिकारी बहुत पीडा देकर काटते हैं ॥२५॥ जो पुरुष द्विजातीय होकर कामसे मोहित हो अपने ही वर्णकी स्त्रीको वीर्यपान कराता है उस पापीको यमदूतगण परलोकमें रेतःकुल्या (लालाभक्ष) नामक नरकमें डालकर वीर्यहीका पान कराते हैं ॥२६॥ जो कोई चोर अथवा राजा या राजपुरुष इस लोकमें किसीके घरमें आग लगा देते हैं, किसीको विष खिला देते हैं अथवा गाँवों या व्यापारियोंके टाँडेको लूट लेते हैं उनको भी मरनेके अनन्तर वज्रके समान दाढ़ोंवाले सात सौ बीस श्वानरूप यमदूत बड़े आवेशसे खाने लगते हैं ॥२७॥

जो पुरुष किसीकी गवाही देनेमें, धनके लेनदेनमें अथवा दान देनेके समय किसी तरह भी झूठ बोलता है वह मरनेके अनन्तर आधारशून्य अवीचिमत् नरकमें ले जाया जाकर सौ योजन ऊँचे पर्वतके शिखरसे नीचेको शिर करके गिराया जाता है। जहाँ स्थलका पाषाणमय धरातल ही जलके समान प्रतीत होता है वह नरक अवीचिमत् कहलाता है। वहाँ गिराये जानेपर शरीरके टुकड़े-टुकड़े हो जानेपर भी वह नहीं मरता और उसे पुनः-पुनः ऊपर ले जाकर गिराया जाता है ॥२८॥

जो सोमपान करनेवाला ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य अथवा उनकी स्त्री यज्ञव्रत ग्रहण करनेके अनन्तर भी प्रमादवश मद्यपान करते हैं उन्हें यमदूत नरकमें ले जाकर उनकी छातीपर पाँव रखकर उनके मुँहमें अग्निसे गलाया हुआ लोहा डालते हैं ॥२९॥ जो पुरुष इस लोकमें निम्नश्रेणीका होकर भी अपनेको बड़ा माननेके कारण जन्म, तप, विद्या, आचार, वर्ण या आश्रममें अपनेसे बड़ोंका विशेष सत्कार नहीं करता वह जीता हुआ भी मरे हुएके समान है वह मरनेके अनन्तर क्षारकर्दम नामक नरकमें

१. प्रा० पा०—आपाययन्ति। २. प्रा० पा०—परेतान्। ३. प्रा० पा०—ये त्विह वा अनृतं वदन्ति साक्ष्ये द्रव्यविनिमये वा कथञ्चित्। ४. प्रा० पा०—चीमयेऽधश्शि०। ५. प्रा० पा०—यत्तज्जलमिव। ६. प्रा० पा०—पुमानतस्तेषां निरयं। ७. प्रा० पा०—यस्त्विहात्मसंभावनेन।

शिरा निपातितो दुरन्ता यातना ह्यश्नुते ॥ ३० ॥

ये त्विह वै पुरुषाः पुरुषमेधेन यजन्ते याश्च स्त्रियो[1] नृपशून्खादन्ति तांश्च ते पशव इव[2] निहता यमसदने यातयन्तो रक्षोगणाः सौनिका इव स्वधितिनाव-दायासृक्[3] पिबन्ति नृत्यन्ति च गायन्ति च हृष्यमाणा यथेह पुरुषादाः ॥ ३१ ॥ ये त्विह वा अनागसोऽरण्ये ग्रामे वा वैश्रम्भकैरुपसृतानुपविश्र-म्भ्य जिजीविषूञ्छूलसूत्रादिषूपप्रोतान्क्रीडन-कतया यातयन्ति तेऽपि च प्रेत्य यमयातनासु शूलादिषु प्रोतात्मानः क्षुत्तृड्भ्यां चाभिहताः कङ्क-वटादिभिश्चेतस्ततस्तिग्मतुण्डैराहन्यमाना आत्मशमलं स्मरन्ति ॥ ३२ ॥

ये त्विह वै भूतान्युद्वेजयन्ति नरा उल्बण-स्वभावा यथा दन्दशूकास्तेऽपि प्रेत्य नरके दन्दशूकाख्ये निपतन्ति यत्र नृप दन्दशूकाः पञ्चमुखाः सप्तमुखा उपसृत्य[4] ग्रसन्ति यथा बिलेश-यान् ॥ ३३ ॥ ये त्विह वा अन्धावटकूपगृहा-दिषु भूतानि निरुन्धन्ति तथामुत्र तेष्वेवोपवेश्य सगरेण वह्निना धूमेन निरुन्धन्ति ॥ ३४ ॥ यस्त्विह वा अतिथीनभ्यागतान्वा गृहपतिरसकृदु-पगतमन्युर्दिधक्षुरिव पापेन चक्षुषा निरीक्षते तस्य चापि निरये पापदृष्टेरक्षिणी वज्रतुण्डा[5] गृध्राः कङ्ककाकवटादयः प्रसह्योरुबलादुत्पाटयन्ति ॥ ३५ ॥

यस्त्विह वा आढ्याभिमतिरहंकृतिस्तिर्यक्प्रेक्षणः

नीचेको मुख करके गिराया जाता है। वहाँ उसे अनन्त पीडाएँ भोगनी पड़ती हैं ॥ ३० ॥

जो पुरुष इस लोकमें नरमेधादिके द्वारा [भैरव-यक्ष-राक्षसादिका] यजन करते हैं तथा जो स्त्रियाँ पुरुषरूप पशुओंका भक्षण करती हैं उन्हें वे पशुके समान मारे हुए पुरुष यमलोकमें राक्षस होकर नाना प्रकारकी यातनाएँ देते हैं और व्याधोंके समान अपने शस्त्रोंसे काट-काटकर उनका रक्त पीते हैं। तथा जिस प्रकार वे मनुष्यभोजी पुरुष इस लोकमें उनका मांस भक्षण करके आनन्दित होते थे उसी प्रकार उनका रक्त पान करते और आनन्दित होकर नाचते-गाते हैं ॥ ३१ ॥ इस लोकमें जो पुरुष वन या ग्रामके निरपराध जीवोंको, जो सभी अपने प्राणोंकी रक्षा चाहते हैं, अनेक उपायोंसे विश्वास दिलाकर अपने पास आने-पर उन्हें धोखेसे पकड़कर काँटे या सूत्रादिमें पिरो-कर खेल करते हुए पीडित करते हैं वे भी मरनेपर यमयातनाओंके समय शूलसे बेधे जाते हैं। उस समय भूख-प्याससे व्याकुल और कंक, वट आदि तीखी चोंचोंवाले पक्षियोंसे नोचे जानेपर वे अपने पापोंको स्मरण करते [हुए पछताते] हैं ॥ ३२ ॥

हे राजन्! इस लोकमें जो सर्पोंके समान उग्रस्वभाव पुरुष प्राणियोंको पीडित करते हैं वे स्वयं भी मरनेके अनन्तर दन्दशूक नामक नरकमें गिरते हैं जहाँ पाँच-पाँच और सात-सात मुखवाले सर्प उनके समीप आकर उन्हें चूहोंके समान निगल जाते हैं ॥ ३३ ॥ जो व्यक्ति यहाँ अन्य प्राणियोंको अँधेरे गढ़ों, कोठों अथवा कारागृहोंमें मूँद देते हैं उन्हें यमदूत मरनेके अनन्तर वैसे ही स्थानोंमें मूँदकर विषयुक्त अग्निसे निकलते हुए धुएँमें घोटते हैं ॥ ३४ ॥ जो गृहस्थ पुरुष इस लोकमें [अपने घर आये हुए] अतिथि या अभ्यागतोंकी ओर बार-बार क्रोधमें भरकर, मानो उन्हें भस्म करना चाहता हो ऐसी कुटिल दृष्टिसे देखता है, नरकमें जानेपर उस पापदृष्टिके नेत्रोंको गृध्र, कंक, काक और वट आदि वज्रके समान तीखी चोंचोंवाले पक्षी सहसा बलात्कार-से निकाल लेते हैं ॥ ३५ ॥

जो पुरुष इस लोकमें अपनेको धनाढ्य समझकर अभिमानपूर्वक सबको टेढ़ी नजरसे देखता है,

१. प्रा० पा०—स्वस्त्रियो नृपशून्। २. प्रा० पा०—इह। ३. प्रा० पा०—दार्य्यासृक्। ४. प्रा० पा०—पश्लिष्य। ५. प्रा० पा०—क्रतुण्डा०।

सर्वतोऽभिविशङ्की[1] अर्थव्ययनाशचिन्तया परिशुष्यमाणहृदयवदनो निर्वृतिमनवगतो ग्रह इवार्थमभिरक्षति[2] स चापि प्रेत्य तदुत्पादनोत्कर्षणसंरक्षणशमलग्रहः[3] सूचीमुखे नरके निपतति यत्र ह वित्तग्रहं[4] पापपुरुषं धर्मराजपुरुषा वायका इव सर्वतोऽङ्गेषु सूत्रैः परिवयन्ति ॥ ३६ ॥

जिसका सभीपर सन्देह रहता है तथा धनके व्यय और नाशकी चिन्तासे जिसका हृदय और मुख सूखा रहता है, इसलिये तनिक भी चैन न मानकर जो यक्षके समान धनकी रक्षामें ही लगा रहता है वह भी मरनेके अनन्तर उसके अर्जन, वर्धन और संरक्षणकी चिन्तामें ग्रस्त हुआ सूचीमुख नामक नरकमें गिरता है जहाँ उस धनलोलुप पापी पुरुषके सम्पूर्ण अंगोंको यमराजके दूत दर्जियोंके समान सुई और धागेसे सीते हैं ॥३६॥

एवंविधा नरका यमालये सन्ति शतशः[5] सहस्रशस्तेषु च सर्वेषु च सर्व एवाधर्मवर्तिनो ये केचिदिहोदिता अनुदिताश्चावनिपते पर्यायेण विशन्ति तथैव धर्मानुवर्तिन इतरत्र इह तु पुनर्भवे त उभयशेषाभ्यां निविशन्ति ॥ ३७ ॥

हे राजन् ! यमलोकमें इस प्रकारके सैकड़ों-हजारों नरक हैं । उन सबमें, जिनका यहाँ जिक्र हुआ है तथा जिनके विषयमें कुछ भी नहीं कहा गया वे सभी अधर्मपरायण जीव अपने कर्मोंके अनुसार जाते हैं । इसी प्रकार धर्मात्मालोग स्वर्गादि अन्य लोकोंमें जाते हैं तथा उन पाप-पुण्योंके [भोगद्वारा] क्षीण हो जानेपर वे फिर इसी लोकमें आ जाते हैं ॥३७॥

निवृत्तिलक्षणमार्ग आदावेव व्याख्यातः ॥ एतावानेवाण्डकोशो यश्चतुर्दशधा पुराणेषु विकल्पित उपगीयते यत्तद्भगवतो नारायणस्य साक्षान्महापुरुषस्य स्थविष्ठं रूपमात्ममायागुणमयमनुवर्णितमादृतः[6] पठति शृणोति श्रावयति स उपगेयं भगवतः परमात्मनोऽग्राह्यमपि श्रद्धाभक्तिविशुद्धबुद्धिर्वेद ॥ ३८ ॥

हे राजन् ! निवृत्तिमार्गका तो मैं पहले [द्वितीय स्कन्धमें] ही वर्णन कर चुका हूँ । पुराणोंमें जिसका चौदह भुवनरूपसे वर्णन किया है वह ब्रह्माण्डकोश इतना ही है । साक्षात् परमपुरुष भगवान् नारायणका अपनी मायाके गुणोंसे युक्त वह स्थूल रूप मैंने तुम्हें सुना दिया । जो पुरुष इसे पढ़ता, सुनता या सुनाता है वह श्रद्धा और भक्तिके कारण शुद्धबुद्धि होकर अग्राह्य होनेपर भी भगवान्‌के उपनिषदोंद्वारा वर्णन किये हुए स्वरूपको जान लेता है ॥३८॥

श्रुत्वा स्थूलं तथा सूक्ष्मं रूपं भगवतो यतिः ।
स्थूले निर्जितमात्मानं शनैः सूक्ष्मं धिया नयेदिति ॥३९॥

यतिको चाहिये कि भगवान्‌के स्थूल और सूक्ष्म दोनों प्रकारके रूपोंका श्रवणकर प्रथम स्थूलरूपमें चित्त स्थिर करे, फिर वहाँसे धीरे-धीरे हटाकर उसे सूक्ष्ममें लगावे ॥३९॥

भूद्वीपवर्षसरिदद्रिनभःसमुद्र-
पातालदिङ्नरकभागणलोकसंस्था ।
गीता मया तव नृपाद्भुतमीश्वरस्य
स्थूलं वपुः सकलजीवनिकायधाम ॥ ४० ॥

हे राजन् ! मैंने तुमसे पृथिवी, द्वीप, वर्ष, नदियाँ, पर्वत, आकाश, समुद्र, पाताल, दिशा, नरक, ज्योतिर्गण तथा लोकोंकी स्थितिका वर्णन किया, यही सकल जीवसमुदायका आश्रय और भगवान्‌का अति अद्भुत स्थूल विग्रह है ॥४०॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां पञ्चमस्कन्धे नरकानुवर्णनं नाम षड्विंशतितमोऽध्यायः ॥२६॥

॥ इति पञ्चमस्कन्धः समाप्तः ॥

॥ हरिः ॐ तत्सत् ॥

१. प्रा० पा०—सर्वतः शङ्की व्ययनाशचिन्तया । २. प्रा० पा०—मतिरक्षति । ३. प्रा० पा०—रक्षणसमलग्रहः । ४. प्रा० पा०—ग्रहणं । ५. प्रा० पा०—शतसहस्रशः । ६. प्रा० पा०—णमनुवर्णित० ।

श्रीराधाकृष्णाभ्यां नमः

श्रीमद्भागवत

षष्ठ स्कन्ध

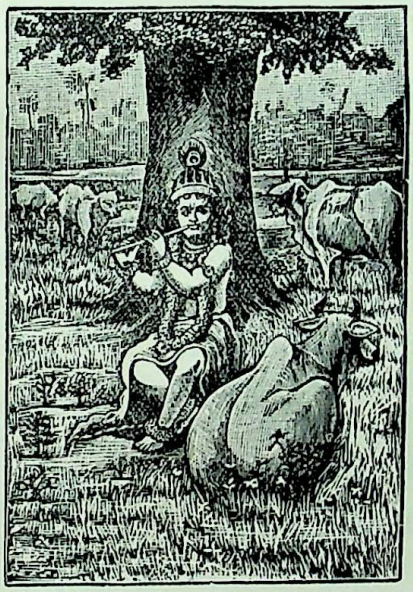

वन्दे गोविन्ददेवस्य नाम नारायणं सदा ।

अबुद्ध्यापि यदुच्चार्य मुक्तः पापोऽप्यजामिलः ॥

ॐ नमो नारायणाय

श्रीमद्भागवत

षष्ठ स्कन्ध

पहला अध्याय

अजामिलोपाख्यानका प्रारम्भ ।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ।

राजोवाच[1]

निवृत्तिमार्गः कथित आदौ भगवता यथा ।
क्रमयोगोपलब्धेन ब्रह्मणा यदसंसृतिः ॥ १ ॥
प्रवृत्तिलक्षणश्चैव त्रैगुण्यविषयो मुने ।
योऽसावलीनप्रकृतेर्गुणसर्गः पुनः पुनः ॥ २ ॥
अधर्मलक्षणा नाना नरकाश्चानुवर्णिताः ।
मन्वन्तरश्च व्याख्यात आद्यः स्वायम्भुवो यतः ॥ ३ ॥
प्रियव्रतोत्तानपदोर्वंशस्तच्चरितानि च ।
द्वीपवर्षसमुद्राद्रिनद्युद्यानवनस्पतीन् ॥ ४ ॥
धरामण्डलसंस्थानं भागलक्षणमानतः ।
ज्योतिषां विवराणां च यथेदमसृजद्विभुः ॥ ५ ॥
अधुनेह महाभाग यथैव नरकान्नरः ।
नानोग्रयातनान्नेयात्तन्मे व्याख्यातुमर्हसि ॥ ६ ॥

राजा परीक्षित् बोले—भगवन् ! जिसके द्वारा क्रमशः अर्चि आदि मार्गोंसे ब्रह्मलोकमें पहुँचनेपर वहाँ साधकको भगवान् ब्रह्माके साथ मोक्ष प्राप्त होता है उस निवृत्तिमार्गका आप पहले (द्वितीय स्कन्धमें) ही वर्णन कर चुके हैं ॥ १ ॥ और हे मुने ! जिससे त्रिगुणमय स्वर्गादिकी ही प्राप्ति होती है तथा जिसके कारण प्रकृतिसम्बन्धमें बँधे हुए पुरुषोंको बारम्बार जन्म-मरणके चक्रमें पड़ना होता है उस प्रवृत्तिमार्गका भी आप [तृतीय स्कन्धमें] भली प्रकार वर्णन कर चुके हैं ॥ २ ॥ इनके सिवा आपने अधर्मरूप अनेकों नरकोंका और जिसके आदिमें स्वायम्भुव मनु हुए हैं उस प्रथम मन्वन्तरका भी [चौथे स्कन्धमें] वर्णन किया है ॥ ३ ॥ तथा प्रियव्रत और उत्तानपादके वंशों और उनके चरित्रोंका एवं द्वीप, वर्ष, समुद्र, पर्वत, नदी, उद्यान और वृक्षादिका भी निरूपण किया है ॥ ४ ॥ फिर विभाग, लक्षण और परिमाणके सहित सम्पूर्ण भूमण्डलकी स्थिति, नक्षत्रगण, अतलादि भूविवर और जिस प्रकार भगवान्‌ने इन सबकी रचना की है वह सब भी आपने सुनाया ॥ ५ ॥ अब हे महाभाग ! जिस प्रकार इन नाना प्रकारकी भयंकर यातनाओंसे पूर्ण नरकोंमें मनुष्यको न जाना पड़े वह उपाय आप मुझे बताइये ॥ ६ ॥

---

१. प्रा० पा०—परिक्षिदुवाच ।

श्रीशुक[1] उवाच

न चेदिहैवापचितिं यथांहसः
कृतस्य कुर्यान्मनउक्तिपाणिभिः ।
ध्रुवं स वै प्रेत्य नरकानुपैति
ये कीर्तिता मे भवतस्तिग्मयातनाः ॥७॥
तस्मात्पुरैवाश्विह पापनिष्कृतौ
यतेत मृत्योरविपद्यतात्मना ।
दोषस्य दृष्ट्वा गुरुलाघवं यथा
भिषक्चिकित्सेत रुजां निदानवित् ॥ ८ ॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! जो पुरुष मन, वाणी और शरीरसे किये हुए अपने पापोंका इसी जन्ममें प्रायश्चित्त नहीं कर लेता उसे मरनेके अनन्तर मेरे कहे हुए भयंकर यातनापूर्ण नरकोंमें अवश्य जाना पड़ेगा ॥ ७ ॥ इसलिये जिस प्रकार रोगोंका निदान जाननेवाला वैद्य दोषोंकी न्यूनाधिकता देखकर उनकी यथोचित चिकित्सा करता है उसी प्रकार मनुष्यको मृत्युमुखमें जानेसे पूर्व ही जबतक उसका शरीर क्षीण न हो तभीतक पापोंसे छुटकारा पानेका उपाय कर लेना चाहिये ॥ ८ ॥

राजोवाच

दृष्टश्रुताभ्यां यत्पापं जानन्नप्यात्मनोऽहितम् ।
करोति भूयो विवशः प्रायश्चित्तमथो कथम् ॥ ९ ॥
क्वचिन्निवर्ततेऽभद्रात्क्वचिच्चरति[2] तत्पुनः ।
प्रायश्चित्तमतोऽपार्थं मन्ये कुञ्जरशौचवत् ॥१०॥

राजा परीक्षित्‌ने कहा—हे मुने ! प्रत्यक्ष दीखनेवाले [राजदण्डादि] और शास्त्रादिसे सुने हुए [नरकादि] दुःखोंके द्वारा पापको अपना परम शत्रु जानकर भी जो पुरुष [पापवासनाओंके कारण] विवश होकर बारंबार उसीमें प्रवृत्त होता है उसके पापोंका प्रायश्चित्त कैसे हो सकता है ? ॥ ९ ॥ वह कभी [प्रायश्चित्तादिद्वारा] पापसे छुटकारा पाता है तो कभी फिर पापकर्म ही करने लगता है । अतः उसके प्रायश्चित्तको तो मैं हाथीके स्नानके समान व्यर्थ ही समझता हूँ ॥१०॥

श्रीशुक[3] उवाच

कर्मणा कर्मनिर्हारो[4] न ह्यात्यन्तिक इष्यते ।
अविद्वदधिकारित्वात्[5]प्रायश्चित्तं विमर्शनम् ॥११॥
नाश्नतः पथ्यमेवान्नं व्याधयोऽभिभवन्ति हि ।
एवं नियमकृद्राजञ्छनैः क्षेमाय कल्पते ॥१२॥
तपसा ब्रह्मचर्येण शमेन च दमेन च ।
त्यागेन सत्यशौचाभ्यां यमेन नियमेन च ॥१३॥
देहवाग्बुद्धिजं धीरा धर्मज्ञाः श्रद्धयान्विताः ।

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! कृच्छ्रचान्द्रायणादि प्रायश्चित्तोंसे पापकर्मोंका आत्यन्तिक नाश नहीं हो सकता क्योंकि उनका अधिकारी अज्ञानी ही है [इसलिये अविद्याका नाश न होनेके कारण उससे फिर भी पाप-कर्म होंगे ही] अतः सच्चा प्रायश्चित्त तो भगवत्स्वरूप-ज्ञान ही है ॥ ११ ॥ जो पुरुष केवल पथ्यान्न ही भोजन करता है उसपर रोगोंका आक्रमण नहीं हो सकता । इसी प्रकार हे राजन् ! नियमानुसार आचरण करनेवाला पुरुष धीरे-धीरे कल्याण (भगवत्तत्त्वज्ञान) प्राप्त करनेमें समर्थ हो जाता है ॥१२॥ जिस प्रकार बाँसोंके वनमें प्रकट हुआ दावानल उन्हें जलाकर भस्म कर देता है उसी प्रकार धर्मज्ञ और श्रद्धावान् धीर पुरुष तप, ब्रह्मचर्य, शम, दम, दान, सत्य, शौच एवं यम और नियम—इन नौ साधनोंसे अपने

१. प्रा० पा०—बादरायणिरुवाच । २. प्रा० पा०—क्व वाचरति । ३. प्रा० पा०—बादरायणिरुवाच । ४. प्रा० पा०—कर्मनिर्वेगो न चात्यन्तिक । ५. प्रा० पा०—कारत्वा० ।

क्षिपन्त्यघं महदपि वेणुगुल्ममिवानलः ॥१४॥
केचित्केवलया भक्त्या वासुदेवपरायणाः ।
अघं धुन्वन्ति कार्त्स्न्येन नीहारमिव भास्करः ॥१५॥
न तथा ह्यघवान्राजन्पूयेत तपआदिभिः ।
यथा कृष्णार्पितप्राणस्तत्पूरुषनिषेवया[1] ॥१६॥
सध्रीचीनो ह्ययं लोके पन्थाः क्षेमोऽकुतोभयः ।
सुशीलाः साधवो यत्र नारायणपरायणाः ॥१७॥
प्रायश्चित्तानि चीर्णानि नारायणपराङ्मुखम् ।
न निष्पुनन्ति राजेन्द्र सुराकुम्भमिवापगाः ॥१८॥
सकृन्मनः कृष्णपदारविन्दयो-
र्निवेशितं तद्गुणरागि यैरिह ।
न ते यमं पाशभृतश्च तद्भटा-
न्स्वप्नेऽपि पश्यन्ति हि चीर्णनिष्कृताः ॥१९॥

मन, वाणी और शरीरद्वारा किये हुए महान् पापोंको भी नष्ट कर देते हैं ॥१३-१४॥ कोई-कोई भगवत्परायण पुरुष, केवल भक्तिके द्वारा ही अपने सम्पूर्ण पापोंका उसी प्रकार सर्वथा ध्वंस कर देते हैं जैसे सूर्य कुहरेको नष्ट कर देता है ॥१५॥ हे राजन् ! पापी पुरुष अपनी सम्पूर्ण इन्द्रियोंको भगवान्में लगाकर उनके भक्तोंका संग करनेसे जैसा शुद्ध होता है वैसा तप आदि अन्य उपायोंसे नहीं हो सकता ॥१६॥ संसारमें यह भक्तिमार्ग ही सर्वश्रेष्ठ, कल्याणमय और भयरहित है, जिसमें कि नारायण-परायण सुशील साधुजन चलते हैं ॥१७॥ हे राजेश्वर ! मद्यके घड़ेको जैसे नदियाँ पवित्र नहीं कर सकतीं उसी प्रकार भगवान्से विमुख रहनेवाले पुरुषको उसके किये हुए प्रायश्चित्त शुद्ध नहीं कर सकते ॥१८॥ जिन्होंने अपने भगवद्गुणासक्त चित्तको एक बार भी श्रीकृष्णचन्द्रके चरणसरोरुहमें लगा दिया है वे यमराज तथा हाथोंमें पाश लिये हुए यमदूतोंको स्वप्नमें भी नहीं देखते, क्योंकि ऐसा करनेसे उनके सम्पूर्ण पापोंका प्रायश्चित्त हो जाता है ॥१९॥

अत्र चोदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
दूतानां विष्णुयमयोः संवादस्तं निबोध मे ॥२०॥
कान्यकुब्जे द्विजः कश्चिद्दासीपतिरजामिलः ।
नाम्ना नष्टसदाचारो दास्याः संसर्गदूषितः ॥२१॥
बन्ध्वक्षकैतवैश्चौर्यैर्गर्हितां[2] वृत्तिमास्थितः[3] ।
बिभ्रत्कुटुम्बमशुचिर्यातयामास देहिनः ॥२२॥

हे राजन् ! इस विषयमें भगवान् विष्णु और यमराजके दूतोंका संवादरूप यह प्राचीन इतिहास कहा करते हैं, सो मैं तुम्हें सुनाता हूँ, श्रवण करो ॥२०॥ कान्यकुब्ज (कन्नौज) नगरमें अजामिल नामक एक दासीपति ब्राह्मण रहता था । दासीके संसर्गसे दूषित हो जानेके कारण उसका सदाचार नष्ट हो गया था ॥२१॥ वह सर्वथा शौचहीन था तथा निन्दनीय वृत्तिका आश्रयकर पथिकोंको बाँध लेना, जूआ खेलना, धोखा देना और चोरी करना आदि उपायोंसे अपने कुटुम्बका पालन करता था एवं अन्य प्राणियोंको पीडित करता था ॥२२॥

एवं निवसतस्तस्य लालयानस्य तत्सुतान् ।
कालोऽत्यगान्महान्राजन्नष्टाशीत्यायुषः समाः ॥२३॥
तस्य प्रवयसः पुत्रा दश तेषां तु योऽवमः ।

हे राजन् ! इस प्रकार वहाँ रहकर उस दासीके बालकोंका लालन-पालन करते हुए उसकी आयुका बहुत बड़ा भाग अस्सी वर्षका समय निकल गया ॥२३॥ उस वृद्ध अजामिलके दश पुत्र थे, उनमें नारायण

१. प्रा० पा०—तत्परस्य तु सेवया । २. प्रा० पा०—क्षैः कैतवै० । ३. प्रा० पा०—माश्रितः ।

बालो नारायणो नाम्ना पित्रोश्च दयितो भृशम् ॥२४॥
स बद्धहृदयस्तस्मिन्नर्भके कलभाषिणि ।
निरीक्षमाणस्तल्लीलां मुमुदे जरठो भृशम् ॥२५॥
भुञ्जानः प्रपिबन्खादन्बालकस्नेहयन्त्रितः ।
भोजयन्पाययन्मूढो न वेदागतमन्तकम् ॥२६॥

नामक जो सबसे छोटा बालक था वह अपने माता-पिताको अत्यन्त प्रिय था ॥२४॥ वह बूढ़ा उस मृदुभाषी बालकमें आसक्तचित्त होकर उसकी लीलाओंको देख-देखकर फूला नहीं समाता था ॥२५॥ बालकमें अत्यन्त स्नेहबद्ध होनेके कारण वह ऐसा मूढ़ हो गया था कि जब कुछ खाने-पीने अथवा भक्षण करने लगता तो उसे भी अवश्य खिलाता-पिलाता । इस प्रकार वह [मोहपाशमें बँधकर] अपनी निकट आयी हुई मृत्युको भूल गया ॥२६॥

स एवं वर्तमानोऽज्ञो मृत्युकाल उपस्थिते ।
मतिं चकार तनये बाले नारायणाह्वये ॥२७॥
स पाशहस्तांस्त्रीन्दृष्ट्वा पुरुषान्भृशदारुणान् ।
वक्रतुण्डानूर्ध्वरोम्ण आत्मानं नेतुमागतान् ॥२८॥
दूरे क्रीडनकासक्तं पुत्रं नारायणाह्वयम् ।
प्लावितेन स्वरेणोच्चैराजुहावाकुलेन्द्रियः ॥२९॥

इस प्रकार व्यवहारमें लगे हुए उस अज्ञानीने अपना मृत्युकाल उपस्थित होनेपर अपने नारायण नामक पुत्रमें चित्त लगाया ॥२७॥ इतनेहीमें उसने देखा कि उसे लेनेके लिये तीन अत्यन्त भयानक पुरुष हाथोंमें पाश लिये हुए वहाँ आये हैं । उनके मुख टेढ़े-टेढ़े हैं और रोम उठे हुए हैं । उन्हें देखकर उसने विह्वल हो, खेलमें लगे हुए अपने नारायण नामक पुत्रको अत्यन्त उच्चस्वरसे चिल्लाकर पुकारा ॥ २८-२९ ॥

निशम्य म्रियमाणस्य ब्रुवतो[1] हरिकीर्तनम् ।
भर्तुर्नाम महाराज पार्षदाः सहसापतन् ॥३०॥
विकर्षतोऽन्तर्हृदयाद्दासीपतिमजामिलम् ।
यमप्रेष्यान्विष्णुदूता वारयामासुरोजसा ॥३१॥
ऊचुर्निषेधितास्तांस्ते वैवस्वतपुरःसराः ।
के यूयं प्रतिषेद्धारो धर्मराजस्य शासनम् ॥३२॥
कस्य वा कुत आयाताः कस्मादस्य निषेधथ ।
किं देवा उपदेवा वा यूयं किं सिद्धसत्तमाः ॥३३॥
सर्वे पद्मपलाशाक्षाः पीतकौशेयवाससः ।
किरीटिनः कुण्डलिनो लसत्पुष्करमालिनः ॥३४॥
सर्वे च नूत्नवयसः[2] सर्वे चारुचतुर्भुजाः ।
धनुर्निषङ्गासिगदाशङ्खचक्राम्बुजश्रियः ॥३५॥
दिशो वितिमिरालोकाः कुर्वन्तः स्वेन रोचिषा ।

हे राजन् ! इस प्रकार अपने स्वामीका नाम सुनकर, उसे मरते समय हरिकीर्तन करता जान वहाँ सहसा विष्णुभगवान्‌के पार्षद आ गये ॥३०॥ उन विष्णुपार्षदोंने दासीपति अजामिलको उसके अन्तः-करणमेंसे खींचनेवाले यमदूतोंको तत्काल बलपूर्वक रोका ॥३१॥ उनके निषेध करनेपर यमदूतोंने कहा—'अरे ! धर्मराजकी आज्ञाको टाल देनेवाले तुम कौन हो ? ॥३२॥ तुम किसके दूत हो ? कहाँसे आये हो ? और हमें इसे ले जानेसे क्यों रोकते हो ? क्या तुम कोई देव, उपदेव अथवा सिद्धश्रेष्ठ हो ? ॥३३॥ [हम देखते हैं] तुम सब लोगोंके नेत्र कमलदलके समान हैं तथा तुम सभी रेशमी पीताम्बर, मुकुट, कुण्डल और कमलकुसुमके हारोंसे सुशोभित हो ॥३४॥ तुम सभी नवयौवनसम्पन्न हो, सभीके चार भुजाएँ हैं तथा सभीके करकमलोंमें धनुष, तरकश, खड्ग, गदा, शङ्ख, चक्र और पद्मादि सुशोभित हैं ॥३५॥ अहो ! अपनी कान्तिसे तुमने सम्पूर्ण दिशाओंका अन्धकार

१. प्रा० पा०—मुखतो हरिकीर्त्तनम् । 'ब्रुवतो' की अपेक्षा 'मुखतो' पाठ अच्छा है । २. प्रा० पा०—तुल्यवयसः ।

अजामिल-उद्धार

विकर्षतोऽन्तर्हृदयाद्दासीपतिमजामिलम् । यमप्रेष्यान्विष्णुदूता वारयामासुरोजसा ॥

[पृष्ठ ६६४

किमर्थं धर्मपालस्य किङ्करान्नो निषेधथ ॥३६॥

नष्ट करके उन्हें देदीप्यमान कर दिया है। हम धर्मराज-के किंकरोंको तुम लोग क्यों रोकते हो ? ॥३६॥

श्रीशुक उवाच

इत्युक्ते यमदूतैस्तैर्वासुदेवोक्तकारिणः ।
तान्प्रत्यूचुः प्रहस्येदं मेघनिर्ह्रादया गिरा ॥३७॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! यमदूतोंके इस प्रकार कहनेपर भगवान् वासुदेवकी आज्ञाका अनुसरण करनेवाले उन विष्णुपार्षदोंने हँसकर अपनी मेघके समान गम्भीर वाणीसे इस प्रकार कहा—॥३७॥

विष्णुदूता ऊचुः

यूयं वै धर्मराजस्य यदि निर्देशकारिणः ।
ब्रूत धर्मस्य नस्तत्त्वं यच्च धर्मस्य लक्षणम् ॥३८॥
कथंस्विद्ध्रियते दण्डः किं वास्य स्थानमीप्सितम् ।
दण्ड्याः किं कारिणः सर्वे आहोस्वित्कतिचिन्नृणाम् ॥३९॥

विष्णुदूत बोले—हे यमदूतगण ! यदि तुमलोग सचमुच धर्मराजकी आज्ञाका पालन करनेवाले हो तो धर्मका जो लक्षण और तत्त्व है वह हमसे बताओ ॥३८॥ दण्ड किस प्रकार दिया जाता है ? उसका योग्य पात्र कौन है ? तथा मनुष्योंमें क्या सभी पापाचारी दण्डनीय हैं अथवा उनमेंसे कुछ लोग ही ? ॥३९॥

यमदूता ऊचुः

वेदप्रणिहितो धर्मो ह्यधर्मस्तद्विपर्ययः ।
वेदो नारायणः साक्षात्स्वयंभूरिति विश्रुतम् ॥४०॥
येन स्वधाम्न्यमी भावा रजःसत्त्वतमोमयाः ।
गुणनामक्रियारूपैर्विभाव्यन्ते यथातथम् ॥४१॥
सूर्योऽग्निः खं मरुद्भावः सोमः सन्ध्याहनी दिशः ।
कं कुः[1] कालो धर्म इति ह्येते दैह्यस्य साक्षिणः ॥४२॥
एतैरधर्मो[2] विज्ञातः स्थानं दण्डस्य युज्यते ।
सर्वे कर्मानुरोधेन दण्डमर्हन्ति कारिणः ॥४३॥
सम्भवन्ति हि भद्राणि विपरीतानि चानघाः ।
कारिणां गुणसङ्गोऽस्ति देहवान्नह्यकर्मकृत् ॥४४॥
येन यावान्यथाधर्मो धर्मो वेह समीहितः[3] ।
स एव तत्फलं भुङ्क्ते तथा तावदमुत्र वै ॥४५॥
यथेह देवप्रवरास्त्रैविध्यमुपलभ्यते ।

यमदूत बोले—जो वेदविहित है वही धर्म है, और जो उसके विपरीत है वही अधर्म है, क्योंकि [भगवान्‌के श्वासरूपसे] स्वयं ही प्रकट हुआ वेद साक्षात् नारायण ही है, ऐसा हमने सुना है ॥४०॥ उस वेदसे ही, भगवान्‌के स्वरूपमें स्थित हुए इन सत्त्व, रज और तमोमय प्राणियोंका उनके गुण, नाम, कर्म और रूपादिके अनुसार यथायोग्य विभाग किया जाता है ॥४१॥ [यदि कहो कि जीवके शुभाशुभ कर्मोंका ज्ञान कैसे होगा ? तो इस विषयमें] सूर्य, अग्नि, आकाश, वायु, इन्द्रियोंके अभिमानी देवता, चन्द्रमा, सन्ध्या, रात्रि-दिवस, दिशाएँ, जल, पृथिवी, काल और धर्म—ये जीवके कर्मोंके साक्षी हैं ॥४२॥ इनके द्वारा जाना गया अधर्म ही दण्ड-योग्य समझा जाता है तथा सभी कर्म करनेवाले प्राणी अपने-अपने कर्मोंके अनुसार दण्डनीय होते हैं ॥४३॥ हे निष्पाप ! कर्म करनेवाले सभी प्राणी गुणोंसे सम्बद्ध हैं, इसलिये सभीसे शुभ और अशुभ कर्म बन सकते हैं; देहवान् होकर कोई कर्म किये बिना रह ही नहीं सकता ॥४४॥ इस लोकमें जिससे जैसा और जितना धर्म या अधर्म बनता है वह परलोकमें उसका उतना और वैसा ही फल भोगता है ॥४५॥ हे देवश्रेष्ठगण ! गुणोंकी विभिन्नताके कारण जैसे इस लोकमें जीवोंके तीन भेद देखे जाते

१. प्रा० पा०—कालः स्वयं धर्म इति । २. प्रा० पा०—र्मोऽभिज्ञातः । ३. प्रा० पा०—समर्जितः ।

भूतेषु गुणवैचित्र्यात्तथान्यत्रानुमीयते ॥४६॥
वर्तमानोऽन्ययोः कालो गुणाभिज्ञापको यथा ।
एवं जन्मान्ययोरेतद्धर्माधर्मनिदर्शनम् ॥४७॥
मनसैव पुरे देवः पूर्वरूपं विपश्यति ।
अनुमीमांसतेऽपूर्वं मनसा भगवानजः ॥४८॥
यथाज्ञस्तमसा युक्त उपास्ते व्यक्तमेव हि ।
न वेद पूर्वमपरं नष्टजन्मस्मृतिस्तथा ॥४९॥
पञ्चभिः कुरुते स्वार्थान्पञ्च वेदाथ पञ्चभिः ।
एकस्तु षोडशेन त्रीन्स्वयं सप्तदशोऽश्नुते ॥५०॥
तदेतत्षोडशकलं लिङ्गं शक्तित्रयं महत् ।
धत्तेऽनुसंसृतिं पुंसि हर्षशोकभयार्तिदाम् ॥५१॥
देह्यज्ञोऽजितषड्वर्गो नेच्छन्कर्माणि कार्यते ।
कोशकार इवात्मानं कर्मणाच्छाद्य मुह्यति ॥५२॥
न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवशः कर्म गुणैः स्वाभाविकैर्बलात् ॥५३॥
लब्ध्वा निमित्तमव्यक्तं व्यक्ताव्यक्तं भवत्युत ।
यथायोनि यथाबीजं स्वभावेन बलीयसा ॥५४॥
एष प्रकृतिसङ्गेन पुरुषस्य विपर्ययः ।
आसीत्स एव न चिरादीशसङ्गाद्विलीयते ॥५५॥

हैं उसी प्रकार परलोकमें भी उनके होनेका अनुमान किया जाता है ॥४६॥ जिस प्रकार वर्तमानकाल ही भूत और भविष्यत् इन दोनोंके गुणोंका ज्ञापक है उसी प्रकार वर्तमान जन्म भी आगे-पीछेके जन्मोंके पाप-पुण्यका प्रदर्शक है ॥४७॥

भगवान् यम तो सबके अन्तःकरणोंमें विराजमान होनेसे अपने मनहीसे उसके पूर्व रूपको देख लेते हैं, तथा उसके अपूर्वका भी वे अजन्मा भगवान् मनहीसे विचार कर लेते हैं ॥ ४८ ॥ जिस प्रकार निद्रासे अभिभूत हुआ अज्ञानी पुरुष स्वप्नमें प्रतीत हुए कल्पित शरीरको ही अपना वास्तविक देह समझता है उसी प्रकार जीव अपने पूर्वजन्मोंकी स्मृति नष्ट हो जानेसे वर्तमान शरीरके सिवा अन्य पहले-पिछले किसी जन्मके विषयमें कुछ नहीं जानता ॥४९॥ वह अपनी पाँच कर्मेन्द्रियोंसे ग्रहण-त्यागादिरूप भिन्न-भिन्न कर्म करता है, पाँच ज्ञानेन्द्रियोंसे पाँच विषयोंको जानता है तथा सोलहवें मनके साथ सत्रहवाँ स्वयं मिलकर वह मन, ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय इन तीनोंके विषयोंको भोगता है ॥५०॥ ऐसा यह सोलह कलाओं और सत्त्वादि तीन गुणोंवाला दारुण लिंगदेह ही उसे बार-बार हर्ष, शोक, भय और पीड़ा देनेवाले जन्म-मरणके चक्रमें डालता है ॥५१॥ जिसने काम-क्रोधादि छः शत्रुओंको नहीं जीता है ऐसा यह अज्ञानी जीव ही इच्छा न रहते हुए भी लिङ्गशरीरद्वारा नाना प्रकारके कर्मोंमें नियुक्त किया जाता है । तब वह कोशकार (रेशमके कीड़े) के समान अपनेको कर्मरूप जालसे आच्छादित कर उसीमें मोहित हो जाता है ॥५२॥ कोई जीव बिना कर्म किये कभी एक क्षण भी नहीं रह सकता । प्रत्येक प्राणीके स्वाभाविक गुण उसके द्वारा बलात्कारसे कर्म कराते हैं ॥५३॥ अदृष्टरूप कारणको पाकर प्रबल कर्मवासनारूप स्वभावके द्वारा योनि (माता) और बीज (पिता) के अनुरूप स्थूल या सूक्ष्म शरीर उत्पन्न होता है ॥५४॥ प्रकृतिका संसर्ग होनेसे ही पुरुषको यह विपरीत भावना हुई है । यह भगवान्‌के भजनसे शीघ्र ही दूर हो जाती है ॥५५॥

१. प्रा० पा०—व्याद्यथा । २. प्रा० पा०—मानोऽप्ययं कालो ।

अयं हि[1] श्रुतसम्पन्नः शीलवृत्तगुणालयः ।
धृतव्रतो मृदुर्दान्तः सत्यवान्मन्त्रविच्छुचिः ॥५६॥
गुर्वग्न्यतिथिवृद्धानां शुश्रूषुर्निरहङ्कृतः[2] ।
सर्वभूतसुहृत्साधुर्मितवागनसूयकः[3] ॥५७॥
एकदासौ वनं यातः पितृसंदेशकृद्द्विजः ।
आदाय तत आवृत्तः फलपुष्पसमित्कुशान् ॥५८॥
ददर्श कामिनं कञ्चिच्छूद्रं सह भुजिष्यया ।
पीत्वा च मधु मैरेयं मदाघूर्णितनेत्रया ॥५९॥
मत्तया विस्रस्तनीव्या व्यपेतं निरपत्रपम् ।
क्रीडन्तमनु गायन्तं हसन्तमनयान्तिके ॥६०॥
दृष्ट्वा तां कामलिप्तेन बाहुना परिरम्भिताम्[5] ।
जगाम हृच्छयवशं सहसैव विमोहितः ॥६१॥
स्तम्भयन्नात्मनात्मानं यावत्सत्त्वं यथाश्रुतम्[6] ।
न शशाक समाधातुं मनो मदनवेपितम् ॥६२॥
तन्निमित्तस्मरव्याजग्रहग्रस्तो विचेतनः ।
तामेव मनसा ध्यायन्स्वधर्माद्विरराम ह ॥६३॥
तामेव तोषयामास पित्र्येणार्थेन यावता ।
ग्राम्यैर्मनोरमैः कामैः प्रसीदेत यथा[7] तथा ॥६४॥
विप्रां स्वभार्यामप्रौढां कुले महति लम्भिताम् ।
विससर्जाचिरात्पापः स्वैरिण्यापाङ्गविद्धधीः[9] ॥६५॥
यतस्ततश्चोपनिन्ये न्यायतोऽन्यायतो धनम् ।
बभारास्याः कुटुम्बिन्याः कुटुम्बं मन्दधीरयम् ॥६६॥
यदसौ शास्त्रमुल्लङ्घ्य स्वैरचार्यार्यगर्हितः ।

देखिये, यह अजामिल बड़ा शास्त्रज्ञ, शील सदाचार और सद्गुणोंका आश्रय, व्रतका पालन करनेवाला, मृदुलस्वभाव, जितेन्द्रिय, सत्यपरायण, मन्त्रवेत्ता, पवित्र आचरणवाला, गुरु अग्नि अतिथि और वृद्धजनोंकी सेवा करनेवाला, अहंकारशून्य, सब जीवोंका हितैषी, साधु-स्वभाव, मितभाषी और असूयारहित (दूसरोंके गुणोंमें दोष-दृष्टि न करनेवाला) था ॥ ५६-५७ ॥ एक दिन अपने पिताकी आज्ञा पालन करनेवाला यह ब्राह्मण वनको गया और वहाँसे फल, फूल, समिधा और कुशा लेकर घरकी ओर चला ॥ ५८ ॥ मार्गमें इसने एक कामी, निर्लज्ज एवं आचारभ्रष्ट शूद्रको देखा, जो एक व्यभिचारिणी दासीके साथ मदिरा पान करके उसीके पास रहकर गाता और हँसता हुआ क्रीडा कर रहा था। उस वेश्याके नेत्र मैरेयमदका पान करनेसे घूम रहे थे तथा उन्मत्त होनेके कारण उसकी साड़ी कुछ खिसक गयी थी ॥५९-६०॥

इस प्रकार, उस शूद्रकी कामोद्दीपक अंगरागोंसे अनुलिप्त भुजाओंद्वारा आलिंगित हुई उस शूद्राको देखकर यह मोहवश सहसा कामदेवके वशीभूत हो गया ॥६१॥ अपने धैर्य और ज्ञानके अनुसार इसने कामवेगसे कम्पित हुए अपने चित्तको बहुत कुछ रोकना चाहा, किन्तु उसे शान्त करनेमें सफल न हुआ ॥६२॥ इस प्रकार, उस स्त्रीके निमित्तसे ही यह कामरूप ग्रहसे ग्रस्त होकर स्मृतिशून्य हो गया, तथा मनमें उसीका चिन्तन करता हुआ अपने धर्मसे विमुख हो गया ॥६३॥

फिर वह वेश्या जिस प्रकार मनोरम ग्राम्य विषयोंसे सन्तुष्ट हो सकती थी उसी प्रकार इसने अपने पिताके सम्पूर्ण धनसे उसे प्रसन्न करनेका प्रयत्न किया ॥६४॥ उस स्वेच्छाचारिणी वेश्याके कटाक्षबाणोंसे विद्ध होकर इस पापीने अपनी तरुणी और सत्कुलोत्पन्ना विवाहिता भार्याको शीघ्र ही त्याग दिया ॥ ६५ ॥ यह मन्दमति जहाँ-तहाँसे न्याय अथवा अन्यायसे धन बटोर लाता और उस कुटुम्बिनी वेश्याके कुटुम्बका पालन करता ॥६६॥

[हे विष्णुपार्षदगण !] यह पापी शास्त्राज्ञाका उल्लंघन

१. प्रा० पा०—च । २. प्रा० पा०—षुरनहङ्कृतः । ३. प्रा० पा०—साधुर्ऋतवागन० । ४. प्रा० पा०—कृच्छुचिः । ५. प्रा० पा०—परिवर्तिताम् । ६. प्रा० पा०—यथाश्रयम् । ७. प्रा० पा०—यथा यथा । ८. प्रा० पा०—प्रियां स्वभार्या० । ९. प्रा० पा०—ङ्गबद्धधीः ।

अवर्तत चिरं कालमघायुरशुचिर्मलात् ॥६७॥

तत एनं दण्डपाणेः सकाशं कृतकिल्बिषम् ।

नेष्यामोऽकृतनिर्वेशं[1] यत्र दण्डेन शुद्ध्यति ॥६८॥

कर भद्रजननिन्दित स्वेच्छाचारका अवलम्बन करनेवाला है। इसका जीवन पापपूर्ण रहा है और यह बहुत समय-तक वेश्याका अन्नरूप मल भक्षण करता हुआ सदा अपवित्र रहा है ॥ ६७ ॥ इसलिये अब हम इस पापीको दण्डपाणि यमराजके पास ले जायँगे । इसने अपने पापोंका प्रायश्चित्त नहीं किया है । वहाँ दण्ड भोगनेसे यह शुद्ध हो जायगा ॥६८॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे षष्ठस्कन्धेऽजामिलो-
पाख्याने प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

दूसरा अध्याय

विष्णुदूतोंका भागवतधर्म-निरूपण और अजामिलका परमधामगमन ।

श्रीशुक[2] उवाच

एवं ते भगवद्दूता यमदूताभिभाषितम् ।
उपधार्याथ तान्राजन्प्रत्याहुर्नयकोविदाः[3] ॥ १ ॥

विष्णुदूता ऊचुः

अहो कष्टं धर्मदृशामधर्मः स्पृशते सभाम् ।
यत्रादण्ड्येष्वपापेषु दण्डो यैर्ध्रियते वृथा ॥ २ ॥
प्रजानां पितरो ये च शास्तारः साधवः समाः ।
यदि स्यात्तेषु वैषम्यं कं यान्ति शरणं प्रजाः ॥ ३ ॥
यद्यदाचरति श्रेयानितरस्तत्तदीहते[4] ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥ ४ ॥
यस्याङ्के शिर आधाय लोकः स्वपिति निर्वृतः ।
स्वयं धर्ममधर्मं वा न हि वेद यथा पशुः ॥ ५ ॥
स कथं न्यर्पितात्मानं[5] कृतमैत्रमचेतनम् ।
विश्रम्भणीयो भूतानां सघृणो द्रोग्धुमर्हति ॥ ६ ॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! यमदूतोंका यह कथन सुनकर न्यायकुशल विष्णुपार्षदोंने उनसे इस प्रकार कहा ॥ १ ॥

विष्णुदूत बोले—अहो ! बड़े दुःखकी बात है कि धर्मज्ञोंके समाजमें भी अधर्मका प्रवेश हो रहा है जो कि उनके द्वारा अदण्ड्य तथा निष्पापोंको भी वृथा दण्ड दिया जाता है ॥२॥ जो समदर्शी साधुजन प्रजा-के माता-पिता और शिक्षक हैं, यदि उनमें भी ऐसी विषम बुद्धि हो जाय तो प्रजा किसकी शरण जायगी ? ॥३॥ सत्पुरुष जैसा आचरण करता है अन्य लोग भी वैसा ही किया करते हैं । वह जैसा आदर्श सामने रखता है उसीका सब लोग अनुकरण करते हैं ॥४॥ जिस प्रकार पशु अपने स्वामीमें विश्वास करता है उसी प्रकार सम्पूर्ण जगत् स्वयं धर्म-अधर्म कुछ भी न जानकर जिसकी गोदमें शिर रखकर निर्भय शयन करता है वह अन्य जीवोंका विश्वासपात्र और दयालु होकर भी मित्र-भावसे अपनेमें विश्वास करके आत्म-समर्पण करनेवाले अज्ञ जीवोंका अनिष्ट कैसे कर सकता है ? ॥५-६॥

१. प्रा० पा०—निर्वेदं । २. प्रा० पा०—बादरायणिरुवाच । ३. प्रा० पा०—प्रीत्याहुर्नय० । ४. प्रा० पा०—रस्तन्निरीहते । ५. प्रा० पा०—न्यर्पितात्मानं ।

अयं हि कृतनिर्वेशो जन्मकोटयंहसामपि ।
यद्व्याजहार विवशो नाम स्वस्त्ययनं हरेः ॥ ७ ॥
एतेनैव ह्यघोनोऽस्य कृतं स्यादघनिष्कृतम् ।
यदा नारायणायेति जगाद चतुरक्षरम् ॥ ८ ॥
स्तेनः सुरापो मित्रध्रुग्ब्रह्महा गुरुतल्पगः ।
स्त्रीराजपितृगोहन्ता ये च पातकिनोऽपरे ॥ ९ ॥
सर्वेषामप्यघवतामिदमेव सुनिष्कृतम् ।
नामव्याहरणं विष्णोर्यतस्तद्विषया मतिः ॥१०॥
न निष्कृतैरुदितैर्ब्रह्मवादिभि-
स्तथा विशुद्ध्यत्यघवान्व्रतादिभिः ।
यथा हरेर्नामपदैरुदाहृतै-
स्तदुत्तमश्लोकगुणोपलम्भकम् ॥११॥
नैकान्तिकं तद्धि कृतेऽपि निष्कृते
मनः पुनर्धावति चेदसत्पथे ।
तत्कर्मनिर्हारमभीप्सतां हरे-
र्गुणानुवादः खलु सत्त्वभावनः ॥१२॥
अथैनं मापनयत कृताशेषाघनिष्कृतम् ।
यदसौ भगवन्नाम म्रियमाणः समग्रहीत् ॥१३॥
साङ्केत्यं पारिहास्यं वा स्तोभं हेलनमेव वा ।
वैकुण्ठनामग्रहणमशेषाघहरं विदुः ॥१४॥
पतितः स्खलितो भग्नः संदष्टस्तप्त आहतः ।
हरिरित्यवशेनाह पुमान्नार्हति यातनाम् ॥१५॥
गुरूणां च लघूनां च गुरूणि च लघूनि च ।
प्रायश्चित्तानि पापानां ज्ञात्वोक्तानि महर्षिभिः ॥१६॥

[हे यमदूतो !] इसने विवश होकर जो श्रीहरिका मंगलमय नाम लिया है, उससे यह अपने करोड़ों जन्मोंके पापका प्रायश्चित्त कर चुका ॥७॥ जिस समय इसने 'नारायण' इन चार अक्षरोंवाले नामका उच्चारण किया उसी समय इस पापीके समस्त पापोंका प्रायश्चित्त हो गया ॥ ८ ॥ चोर, मद्यप, मित्रद्रोही, ब्रह्महत्यारा, गुरुस्त्रीगामी, स्त्री, राजा, माता-पिता तथा गौकी हत्या करनेवाले एवं और भी जितने पापी हैं उन सभी अपराधियोंके लिये भगवान् विष्णुका नाम लेना ही सबसे बड़ा प्रायश्चित्त है जिससे भगवान्के गुण, लीला और स्वरूपको विषय करनेवाली बुद्धि होती है ॥९-१०॥ वेदवादी मनु आदिके बताये हुए कृच्छ्रचान्द्रायणव्रत आदि प्रायश्चित्तोंसे पापी पुरुष वैसा शुद्ध नहीं होता जैसा श्रीहरिके नामरूप पदोंका उच्चारण करनेसे होता है; क्योंकि वे हरिनाम पुण्यकीर्ति भगवान्के गुणोंका ज्ञान करानेवाले हैं ॥११॥ जिस प्रायश्चित्तके करनेपर चित्त फिर भी असन्मार्गकी ओर दौड़े वह चित्तकी आत्यन्तिक शुद्धि करनेवाला नहीं है। इसलिये पापकर्मोंकी आत्यन्तिक निवृत्ति चाहनेवाले पुरुषोंको भगवान्का गुणानुवाद ही करना चाहिये, क्योंकि यह निश्चय ही चित्त शुद्ध करनेवाला है ॥ १२ ॥

अतः [हे यमदूतगण !] इस अजामिलको तुम मत ले जाओ। इसने मरते समय भगवान्का नाम लिया है, इससे इसके सब पापोंका प्रायश्चित्त हो गया है ॥१३॥ [क्योंकि] संकेतसे, हँसीसे, गानके आलापको पूर्ण करनेके लिये अथवा अवहेलनासे भी लिया हुआ भगवान्का नाम मनुष्यके समस्त पापोंको नष्ट करनेवाला है, इसे महात्मा पुरुष जानते हैं ॥१४॥ जो मनुष्य ऊँचेसे गिरने, मार्गमें फिसलने, अंग-भंग हो जाने, सर्पादिके डँस लेने, ज्वरादिसे सन्तप्त होने अथवा डंडे आदिसे पीटे जानेके समय विवश होकर भी 'हरि !' ऐसा कहता है वह यातनाका अधिकारी नहीं है ॥१५॥ महर्षियोंने पापोंकी न्यूनाधिकताको जानकर बड़े और छोटे पापोंके लिये क्रमशः बड़े और छोटे प्रायश्चित्त बताये हैं ॥१६॥

१. प्रा० पा०—ष्कृतैस्तैरुदितैः। २. प्रा० पा०—सत्यपि।

तैस्तान्यघानि पूयन्ते तपोदानजपादिभिः ।
नाधर्मजं तद्धृदयं तदपीशाङ्घ्रिसेवया ॥१७॥
अज्ञानादथवा ज्ञानादुत्तमश्लोकनाम यत् ।
सङ्कीर्तितमघं पुंसो दहेदेधो यथानलः ॥१८॥
यथागदं वीर्यतममुपयुक्तं यदृच्छया ।
अजानतोऽप्यात्मगुणं कुर्यान्मन्त्रोऽप्युदाहृतः ॥१९॥

उन तप, दान और जप आदि प्रायश्चित्तोंसे केवल वे पापमात्र ही नष्ट होते हैं, पापीका पापदूषित चित्त नहीं शुद्ध होता परन्तु भगवान्‌के चरणोंकी सेवासे वह भी शुद्ध हो जाता है ॥ १७ ॥ जिस प्रकार अग्नि ईंधनको जला देता है उसी प्रकार उत्तमश्लोक श्रीहरिके नामका कीर्तन जानकर किया जाय अथवा बिना जाने वह पुरुषके सम्पूर्ण पापोंको भस्म कर डालता है ॥१८॥ जिस प्रकार बलवान् औषध उसका गुण जाने बिना भी स्वेच्छासे सेवन कर लेनेपर लाभ करता ही है उसी प्रकार यह हरिनामरूप मन्त्र [उसके प्रभावको जानकर जपा जाय या बिना जाने] उच्चारण करनेपर अपना फल करेगा ही ॥१९॥

श्रीशुक उवाच

त एवं सुविनिर्णीय धर्मं भागवतं नृप ।
तं याम्यपाशान्निर्मुच्य विप्रं मृत्योरमूमुचन् ॥२०॥
इति प्रत्युदिता याम्या दूता यात्वा यमान्तिके ।
यमराज्ञे यथा सर्वमाचचक्षुररिन्दम ॥२१॥
द्विजः पाशाद्विनिर्मुक्तो गतभीः प्रकृतिं गतः ।
ववन्दे शिरसा विष्णोः किङ्करान्दर्शनोत्सवः[1] ॥२२॥
तं विवक्षुमभिप्रेत्य महापुरुषकिङ्कराः ।
सहसा पश्यतस्तस्य तत्रान्तर्दधिरेऽनघ ॥२३॥
अजामिलोऽप्यथाकर्ण्य[2] दूतानां यमकृष्णयोः ।
धर्मं भागवतं शुद्धं त्रैविद्यं च गुणाश्रयम् ॥२४॥
भक्तिमान्भगवत्याशु माहात्म्यश्रवणाद्धरेः ।
अनुतापो महानासीत्स्मरतोऽशुभमात्मनः ॥२५॥
अहो मे परमं कष्टमभूदविजितात्मनः ।
येन विप्लावितं ब्रह्म वृषल्यां जायतात्मना ॥२६॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! उन विष्णुपार्षदोंने भागवतधर्मोंका इस प्रकार अच्छी तरह निर्णय कर उस ब्राह्मणको यमदूतोंके पाशसे छुड़ाकर मृत्युके मुखसे निकाला ॥ २० ॥ हे शत्रुदमन ! तब विष्णुपार्षदोंके इस प्रकार कहनेपर यमदूतोंने यमराजके पास जाकर वह सारा वृत्तान्त ज्यों-का-त्यों कह सुनाया ॥ २१ ॥

इधर, अजामिलने यमदूतोंके पाशसे छूटकर निर्भय और सावधान हो भगवान्‌के पार्षदोंके दर्शनसे आह्लादित होकर उन्हें शिर झुकाकर प्रणाम किया ॥ २२ ॥ हे अनघ ! उन विष्णुदूतोंने जब देखा कि वह कुछ कहना चाहता है तो उसके देखते-देखते वे सहसा वहीं अन्तर्धान हो गये ॥ २३ ॥

इस समय भगवान् विष्णुके पार्षदोंके मुखसे निर्गुण भागवतधर्म तथा यमदूतोंके मुखसे वेदत्रयीद्वारा प्रतिपादित सगुण धर्म सुनकर भगवान्‌का माहात्म्य श्रवण करनेसे अजामिलको भी श्रीहरिमें भक्ति उत्पन्न हुई और उसे अपने पूर्वकृत दुष्कर्मोंका स्मरण कर बड़ा ही पश्चात्ताप हुआ ॥ २४-२५ ॥ [वह सोचने लगा—] "अहो ! मैं बड़ा अजितेन्द्रिय हूँ । मेरे लिये यह बड़े ही कष्टकी बात है कि मैंने दासीके गर्भसे पुत्र उत्पन्न करके स्वयं ही अपना ब्राह्मणत्व नष्ट कर दिया ॥२६॥

१. प्रा० पा०—नोत्सुकः । २. प्रा० पा०—अथाजामिल आकर्ण्य ।

धिङ्मां विगर्हितं सद्भिर्दुष्कृतं कुलकज्जलम् ।
हित्वा बालां सतीं योऽहं सुरापामसतीमगाम् ॥२७॥

वृद्धावनाथौ पितरौ नान्यबन्धू तपस्विनौ ।
अहो मयाधुना त्यक्तावकृतज्ञेन नीचवत् ॥२८॥

सोऽहं व्यक्तं पतिष्यामि नरके भृशदारुणे ।
धर्मघ्नाः कामिनो यत्र विन्दन्ति यमयातनाः ॥२९॥

किमिदं स्वप्न आहोस्वित्साक्षाद्दृष्टमिहाद्भुतम् ।
क्व याता अद्य ते ये मां व्यकर्षन्पाशपाणयः ॥३०॥

अथ ते क्व गताः सिद्धाश्चत्वारश्चारुदर्शनाः ।
व्यमोचयन्नीयमानं बद्ध्वा पाशैरधो भुवः ॥३१॥

अथापि मे दुर्भगस्य विबुधोत्तमदर्शने ।
भवितव्यं मङ्गलेन येनात्मा मे प्रसीदति ॥३२॥

अन्यथा म्रियमाणस्य नाशुचेर्वृषलीपतेः ।
वैकुण्ठनामग्रहणं जिह्वा वक्तुमिहार्हति ॥३३॥

क्व चाहं कितवः पापो ब्रह्मघ्नो निरपत्रपः ।
क्व च नारायणेत्येतद्भगवन्नाम मङ्गलम् ॥३४॥

सोऽहं तथा यतिष्यामि यतचित्तेन्द्रियानिलः ।
यथा न भूय आत्मानमन्धे तमसि मज्जये ॥३५॥

विमुच्य तमिमं बन्धमविद्याकामकर्मजम् ।
सर्वभूतसुहृच्छान्तो मैत्रः करुण आत्मवान् ॥३६॥

मोचये ग्रस्तमात्मानं योषिन्मय्यात्ममायया ।
विक्रीडितो यथैवाहं क्रीडामृग इवाधमः ॥३७॥

ममाहमिति देहादौ हित्वा मिथ्यार्थधीर्मतिम् ।

सत्पुरुषोंसे निन्दित मुझ कुलकलङ्क पापात्माको धिक्कार है जिसने अपनी अल्पवयस्का पतिव्रता पत्नीको त्यागकर मद्यपान करनेवाली कुलटाका सहवास किया ! ॥ २७ ॥ हाय ! मैं बड़ा कृतघ्न हूँ ! मैंने नीच पुरुषोंकी भाँति अपने वृद्ध, असहाय और तपस्वी माता-पिताओंको, जिनका कोई और सहायक नहीं है, इस समय त्याग दिया ॥ २८ ॥ सो अब मैं अवश्य ही महा भयङ्कर नरकमें गिरूँगा जहाँ धर्मघाती पापी पुरुष नाना प्रकारकी यमयातनाएँ भोगते हैं ॥ २९ ॥ मैंने जो अभी-अभी एक अद्भुत दृश्य देखा है, वह मेरा स्वप्न है या जाग्रत् अवस्थाका प्रत्यक्ष अनुभव ? मुझे जो अभी हाथोंमें पाश लिये खींच रहे थे वे कहाँ चले गये ? ॥ ३० ॥ और जब वे मुझे पाशोंमें बाँधकर पृथिवीके नीचे ले जा रहे थे उस समय जिन्होंने मुझे उनके पंजेसे छुड़ाया वे देखनेमें अति सुन्दर चार सिद्धगण कहाँ गये ? ॥ ३१ ॥ इस जन्ममें तो मैं महापापी हूँ, तो भी मेरे पूर्वजन्मोंका कोई महान् पुण्य अवश्य होगा जो मुझे उन देवश्रेष्ठोंका दर्शन करानेमें कारण है जिनको स्मरण करके अभीतक मेरा चित्त आनन्दित हो रहा है ॥ ३२ ॥ यदि ऐसा न होता तो मुझ महा अपवित्र शूद्रापतिकी जिह्वा मरणकाल उपस्थित होनेपर किसी प्रकार श्रीविष्णुभगवान्‌का नाम उच्चारण नहीं कर सकती थी ॥ ३३ ॥ अहो ! कहाँ तो मैं महा कपटी, पापी, निर्लज्ज और ब्रह्मतेजको नष्ट करनेवाला ! और कहाँ भगवान्‌का 'नारायण' यह परम मंगलमय नाम ? ॥ ३४ ॥ अच्छा, अब मैं अपने मन, इन्द्रिय और प्राणोंको वशीभूत कर ऐसा प्रयत्न करूँगा जिससे अपनेको फिर अन्धतम नरकमें न डालूँ ॥ ३५ ॥ अब अविद्या, कामना और कर्मादिसे उत्पन्न हुए इस बन्धनको त्यागकर मैं सब प्राणियोंका सुहृद्, शान्त, मित्र, दयालु और संयतेन्द्रिय होकर, जिसने मुझ अधमको अबतक क्रीडामृगकी तरह नचाया है, उस स्त्रीरूप भगवान्‌की मायासे अपने-आपको मुक्त करूँगा ॥ ३६-३७ ॥ अब मैं देहादिमें 'यह मैं हूँ, यह मेरा है' ऐसी असद्बुद्धि त्यागकर भगवान्‌के

१. प्रा० पा०—अहोऽधुना मया त्यक्ता० । २. प्रा० पा०—यत्तद्विन्दन्ति । ३. प्रा० पा०—यथैवाहं । ४. प्रा० पा०—देहं नो हित्वा ।

धास्ये मनो भगवति शुद्धं तत्कीर्तनादिभिः ॥३८॥

[1]श्रीशुक उवाच

इति जातसुनिर्वेदः क्षणसङ्गेन साधुषु ।
गङ्गाद्वारमुपेयाय मुक्तसर्वानुबन्धनः ॥३९॥

स तस्मिन्देवसदन आसीनो योगमाश्रितः ।
प्रत्याहृतेन्द्रियग्रामो युयोज मन आत्मनि ॥४०॥

ततो गुणेभ्य आत्मानं वियुज्यात्मसमाधिना ।
युयुजे भगवद्धाम्नि ब्रह्मण्यनुभवात्मनि ॥४१॥

यर्ह्युपारतधीस्तस्मिन्नद्राक्षीत्पुरुषान्पुरः ।
उपलभ्योपलब्धान्प्राग्ववन्दे शिरसा द्विजः ॥४२॥

हित्वा कलेवरं तीर्थे गङ्गायां दर्शनादनु ।
सद्यः स्वरूपं जगृहे भगवत्पार्श्ववर्तिनाम् ॥४३॥

साकं विहायसा विप्रो महापुरुषकिङ्करैः ।
हैमं विमानमारुह्य ययौ यत्र श्रियः पतिः ॥४४॥

एवं स विप्लावितसर्वधर्मा
[2]दास्याः पतिः पतितो गर्ह्यकर्मणा ।
निपात्यमानो निरये हतव्रतः
सद्यो विमुक्तो भगवन्नाम गृह्णन् ॥४५॥

नातः परं कर्मनिबन्धकृन्तनं
मुमुक्षतां तीर्थपदानुकीर्तनात् ।
न यत्पुनः कर्मसु सज्जते मनो
रजस्तमोभ्यां कलिलं ततोऽन्यथा ॥४६॥

[3]य एवं परमं गुह्यमितिहासमघापहम् ।
शृणुयाच्छ्रद्धया युक्तो यश्च भक्त्यानुकीर्तयेत् ॥४७॥

कीर्तनादिसे शुद्ध हुई अपनी बुद्धिको उन्हींमें लगाऊँगा'' ॥ ३८ ॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन्! इस प्रकार साधुओंके एक क्षणके सङ्गसे तीव्र वैराग्य उत्पन्न होनेपर वह सबका मोह त्यागकर हरिद्वारको चला गया ॥ ३९ ॥ उस देवस्थानमें स्थिर आसनसे बैठकर उसने योगमार्गका आश्रय ले अपनी सब इन्द्रियोंको उनके विषयोंसे हटाकर मनमें लीन कर दिया और मनको बुद्धिमें लीन कर दिया ॥ ४० ॥ फिर अध्यात्मयोगके द्वारा आत्माको शरीरादि दृश्यवर्गसे पृथक् कर उसे ज्ञानमय भगवत्स्वरूप परब्रह्ममें लीन कर दिया ॥ ४१ ॥ इस प्रकार जब उसकी बुद्धि भगवान्‌के स्वरूपमें स्थिर हो गयी तो उसने विष्णुके दूतोंको देखा और 'ये वे ही हैं जिन्हें मैंने पहले देखा था' ऐसा विचार कर उसने उन्हें शिर झुकाकर प्रणाम किया ॥ ४२ ॥ उनका दर्शन पानेके अनन्तर उसने उस तीर्थस्थानमें गङ्गातटपर अपना शरीर त्यागकर तत्काल भगवान्‌के पार्षदोंका-सा रूप धारण कर लिया ॥ ४३ ॥ फिर वह ब्राह्मण उन विष्णु-पार्षदोंके साथ सुवर्णमय विमानपर आरूढ़ हो आकाश-मार्गसे उस वैकुण्ठधामको चला गया जहाँ साक्षात् श्रीलक्ष्मीपति विराजमान हैं ॥ ४४ ॥

हे राजन्! इस प्रकार जिसने दासीका पति होकर अपने समस्त धर्म-कर्मोंको डुबो दिया था, अपने निन्दित कर्मोंके कारण पतित, व्रतहीन और नरकमें गिराया जानेवाला वह ब्राह्मण भगवान्‌का नाम लेनेसे तत्काल मुक्त हो गया ॥ ४५ ॥ अतः तीर्थपाद श्रीहरिके नामसंकीर्तनसे बढ़कर मुमुक्षु पुरुषोंके कर्मबन्धनको काटनेवाला और कोई साधन नहीं है क्योंकि उसके कारण मनुष्यका चित्त फिर कर्मोंमें आसक्त नहीं होता; किन्तु दूसरे प्रायश्चित्तोंको करनेपर भी वह रजोगुण-तमोगुणसे ग्रस्त रहता है ॥ ४६ ॥

जो पुरुष इस पापापहारी परमगुह्य इतिहासको श्रद्धापूर्वक सुनता अथवा भक्तिभावसे कहता है वह

१. प्राचीन प्रतिमें 'श्रीशुक उवाच' यह पाठ नहीं है। २. प्रा० पा०—दासीपतिः पतितो। ३. प्रा० पा०—य इमं परमं।

न वै स नरकं याति नेक्षितो[1] यमकिङ्करैः ।
यद्यप्यमङ्गलो मर्त्यो विष्णुलोके महीयते ॥४८॥
म्रियमाणो हरेर्नाम गृणन्पुत्रोपचारितम्[2] ।
अजामिलोऽप्यगाद्धाम किं पुनः श्रद्धया गृणन् ॥४९॥

नरकमें कभी नहीं पड़ता और न उसे कभी यमदूत ही देखते हैं । वह पुरुष महापापी होनेपर भी वैकुण्ठ-लोकमें महिमान्वित होता है ॥ ४७-४८ ॥ अहो ! मरनेके समय पुत्रके मिससे भी श्रीहरिका नाम लेने-वाला अजामिल उनके परमधामको चला गया, फिर जो लोग उसका श्रद्धापूर्वक कीर्तन करते हैं उनकी तो बात ही क्या है ? ॥ ४९ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे षष्ठस्कन्धे[3]ऽजामिलो-
पाख्याने द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

तीसरा अध्याय

यम और यमदूतोंका संवाद ।

राजोवाच

निशम्य देवः स्वभटोपवर्णितं
प्रत्याह किं तान्प्रति धर्मराजः ।
एवं हताज्ञो विहतान्मुरारे-
र्नैदेशिकैर्यस्य वशे जनोऽयम् ॥ १ ॥
यमस्य देवस्य न दण्डभङ्गः
कुतश्चनर्षे श्रुतपूर्व आसीत् ।
एतन्मुने वृश्चति लोकसंशयं
न हि त्वदन्य इति मे विनिश्चितम् ॥ २ ॥

राजा परीक्षित्‌ने पूछा—भगवन् ! इस प्रकार जिनकी आज्ञाका उल्लङ्घन हुआ है और जिनके अधीन यह सारा संसार है उन देवश्रेष्ठ धर्मराजने अपने दूतोंके मुखसे सब वृत्तान्त सुनकर विष्णुदूतोंद्वारा खदेड़े गये उन वीरोंसे क्या कहा ? ॥ १ ॥ हे ऋषे ! किसी भी हेतुसे यमदेवताके शासनका भंग होना तो पहले कभी नहीं सुना गया । [यहाँ उसकी भी अवहेलना हुई, यह बड़े आश्चर्यकी बात है ।] हे मुने ! मुझे निश्चय है, लोगोंके इस सन्देहको आपके सिवा और कोई नहीं काट सकता ॥ २ ॥

श्रीशुक उवाच[5]

भगवत्पुरुषैर्राजन्याम्याः प्रतिहतोद्यमाः ।
पतिं विज्ञापयामासुर्यमं संयमनीपतिम् ॥ ३ ॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! भगवान्‌के पार्षदोंने जिनका उद्योग विफल कर दिया था उन यमदूतोंने अपने स्वामी संयमनी पुरीके अधिपति भगवान् यमसे इस प्रकार निवेदन किया ॥ ३ ॥

यमदूता ऊचुः

कति सन्तीह शास्तारो जीवलोकस्य वै प्रभो ।
त्रैविध्यं कुर्वतः कर्म फलाभिव्यक्तिहेतवः ॥ ४ ॥
यदि स्युर्बहवो लोके शास्तारो दण्डधारिणः ।
कस्य स्यातां न वा कस्य मृत्युश्चामृतमेव वा ॥ ५ ॥

यमदूत बोले—हे प्रभो ! संसारमें पुण्य, पाप और मिश्र तीन प्रकारके कर्म करनेवाले जीवोंको उनके कर्मोंका फल देनेवाले शासक निश्चितरूपसे कितने हैं ? ॥ ४ ॥ यदि संसारमें बहुत-से दण्डधारी शासक हों तो भला किसको सुख-दुःख प्राप्त होंगे अथवा किसको नहीं प्राप्त होंगे ॥ ५ ॥

१. प्रा० पा०—निष्कृतो । २. प्रा० पा०—गृह्णन्पुत्रप्रचारितम् । ३. प्रा० पा०—स्कन्धे द्वितीयोऽध्यायः । ४. प्रा० पा०—तानपि । ५. प्रा० पा०—बादरायणिरुवाच ।

किन्तु शास्तृबहुत्वे स्याद्बहूनामिव कर्मिणाम् ।
शास्तृत्वमुपचारो हि यथा मण्डलवर्तिनाम् ॥ ६ ॥
अतस्त्वमेको भूतानां सेश्वराणामधीश्वरः ।
शास्ता दण्डधरो नृणां शुभाशुभविवेचनः ॥ ७ ॥
तस्य ते विहितो दण्डो न लोके वर्ततेऽधुना ।
चतुर्भिरद्भुतैः सिद्धैराज्ञा ते विप्रलम्भिता ॥ ८ ॥
नीयमानं तवादेशादस्माभिर्यातनागृहान् ।
व्यमोचयन्पातकिनं छित्त्वा पाशान्प्रसह्य ते ॥ ९ ॥
तांस्ते वेदितुमिच्छामो यदि नो मन्यसे क्षमम् ।
नारायणेत्यभिहिते मा भैरित्याययुर्द्रुतम् ॥१०॥

यदि कहें कर्मियोंकी बहुलताके अनुसार उनके शासक भी अनेक हैं तो यह ठीक है, परन्तु इस दशामें [सम्राट्के अधीन रहनेवाले] माण्डलिक राजाओंके समान उनका शासकत्व केवल उपचारमात्र ही है [क्योंकि वे प्रधान शासकके अधीन होनेके कारण अपने शासनविधानमें स्वतन्त्र नहीं हैं] ॥६॥ अतः हमारे विचारसे तो एकमात्र आप ही शासकोंके सहित सम्पूर्ण जीवोंके दण्डधर शासक हैं और आप ही मनुष्योंके शुभाशुभका निर्णय करनेवाले हैं ॥ ७ ॥ आप ऐसे हैं, तो भी आपका विहित दण्ड इस समय लोकमें नहीं चलता। चार विचित्र सिद्धोंने आपकी आज्ञाको उठा दिया है ॥ ८ ॥ हे नाथ ! हमलोग आपकी आज्ञासे एक पापीको यातनागृहकी ओर ले जा रहे थे कि इतनेहीमें उन्होंने बलात्कारसे हमारे पाशोंको तोड़कर उसे छुड़ा दिया ॥ ९ ॥ सो, यदि आप बता देनेमें हमारा हित समझें तो हम उन सिद्धोंके विषयमें [वे कौन थे यह] जानना चाहते हैं, जो उस पापीको 'नारायण' इतना कहते ही 'डरो मत, डरो मत' ऐसा कहते हुए तत्काल उपस्थित हो गये ॥१०॥

श्रीशुक उवाच[2]

इति देवः स आपृष्टः प्रजासंयमनो यमः ।
प्रीतः स्वदूतान्प्रत्याह स्मरन्पादाम्बुजं हरेः ॥११॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—[हे राजन् !] उनके इस प्रकार पूछनेपर प्रजाका शासन करनेवाले भगवान् यमने अति प्रसन्न हो श्रीहरिके चरणकमलोंका ध्यान करते हुए अपने दूतोंसे इस प्रकार कहा ॥११॥

यम उवाच

परो मदन्यो जगतस्तस्थुषश्च
ओतं प्रोतं पटवद्यत्र विश्वम् ।
यदंशतोऽस्य स्थितिजन्मनाशा
नस्रोतवद्यस्य वशे च लोकः ॥१२॥
यो नामभिर्वाचि जनान्निजायां
बध्नाति तन्त्यामिव दामभिर्गाः ।
यस्मै बलिं त इमे नामकर्म-
निबन्धबद्धाश्चकिता वहन्ति ॥१३॥

यमराज बोले—[हे दूतगण !] मेरे सिवा एक और ही स्थावर-जंगम जगत्के प्रधान अधीश्वर हैं जिनमें सारा विश्व तन्तुमें पटके समान ओत-प्रोत है, जिनके अंश (ब्रह्मा, विष्णु और महादेव) से इसके जन्म, स्थिति और नाश होते हैं तथा सम्पूर्ण लोक नथे हुए बैलके समान जिनके अधीन हैं ॥ १२ ॥ जिस प्रकार किसान लोग अपने बैलोंको डोरियोंद्वारा एक रस्सेमें बाँधते हैं उसी प्रकार जो मनुष्योंको ब्राह्मणादि नामोंसे वेदवाणीरूप रस्सेमें बाँधे हुए हैं, तथा जिन्हें, नामकर्मरूप बन्धनमें बँधे हुए ये सम्पूर्ण जीव भयभीत होकर बलि समर्पण करते हैं ॥१३॥

१. प्रा० पा०—हम् । २. प्रा० पा०—बादरायणिरुवाच ।

अहं महेन्द्रो निर्ऋतिः प्रचेताः
सोमोऽग्निरीशः पवनोऽर्को विरिञ्चः ।
आदित्यविश्वे वसवोऽथ साध्या
मरुद्गणा रुद्रगणाः ससिद्धाः ॥१४॥
अन्ये च ये विश्वसृजोऽमरेशा
भृग्वादयोऽस्पृष्टरजस्तमस्काः ।
यस्येहितं न विदुः स्पृष्टमायाः
सत्त्वप्रधाना अपि किं ततोऽन्ये ॥१५॥
यं वै न गोभिर्मनसासुभिर्वा
हृदा गिरा वासुभृतो[1] विचक्षते ।
आत्मानमन्तर्हृदि सन्तमात्मनां
चक्षुर्यथैवाकृतयस्ततः परम् ॥१६॥
तस्यात्मतन्त्रस्य हरेरधीशितुः
परस्य मायाधिपतेर्महात्मनः ।
प्रायेण दूता इह वै मनोहरा-
श्चरन्ति तद्रूपगुणस्वभावाः ॥१७॥
भूतानि विष्णोः सुरपूजितानि
दुर्दर्शलिङ्गानि महाद्भुतानि ।
रक्षन्ति तद्भक्तिमतः परेभ्यो
मत्तश्च मर्त्यानथ सर्वतश्च ॥१८॥

धर्मं तु साक्षाद्भगवत्प्रणीतं
न वै विदुर्ऋषयो नापि देवाः ।
न सिद्धमुख्या असुरा मनुष्याः
कुतश्च[2] विद्याधरचारणादयः ॥१९॥
स्वयंभूर्नारदः शम्भुः कुमारः कपिलो मनुः ।
प्रह्लादो जनको भीष्मो बलिर्वैयासकिर्वयम् ॥२०॥
द्वादशैते विजानीमो धर्मं भागवतं भटाः ।
गुह्यं विशुद्धं दुर्बोधं यं ज्ञात्वामृतमश्नुते ॥२१॥
एतावानेव लोकेऽस्मिन्पुंसां धर्मः परः स्मृतः ।
भक्तियोगो भगवति तन्नामग्रहणादिभिः ॥२२॥
नामोच्चारणमाहात्म्यं हरेः पश्यत पुत्रकाः ।
अजामिलोऽपि येनैव मृत्युपाशादमुच्यत ॥२३॥
एतावतालमघनिर्हरणाय[3] पुंसां

[और हे दूतगण !] औरोंकी तो बात ही क्या है, जिनकी मायाके वशीभूत होकर मैं, इन्द्र, निर्ऋति, वरुण, चन्द्र, अग्नि, महादेव, वायु, सूर्य, ब्रह्मा, बारह आदित्य, विश्वेदेव, वसुगण, साध्यगण, मरुद्गण, सिद्धोंके सहित रुद्रगण तथा जिन्हें रज और तमका स्पर्श भी नहीं हुआ है ऐसे भृगु आदि अन्य प्रजापति तथा देवगण सत्त्वप्रधान होनेपर भी जिनकी लीलाका कुछ भी मर्म नहीं जानते ॥१४-१५॥ तथा जिस प्रकार घट आदि रूपवान् पदार्थ अपने प्रकाशक नेत्रको नहीं देख सकते उसी प्रकार अपने अन्तः-करणमें जीवोंके साक्षिरूपसे स्थित जिन परमात्माको प्राणी इन्द्रिय, मन, प्राण, हृदय या वाणी आदि किसीसे भी नहीं जान सकते ॥१६॥ उन आत्मतन्त्र जगदीश्वर मायापति परमपुरुष श्रीहरिके दूत, जो देखनेमें परम मनोहर और उन्हींके समान रूप, गुण एवं स्वभाववाले हैं, प्रायः इस लोकमें विचरा करते हैं ॥१७॥ वे देववन्दित दुर्दर्शस्वरूप महा अद्भुत विष्णुदूत भगवद्भक्त मनुष्योंको उनके शत्रुओंसे, मुझसे और अग्नि आदिसे सर्वत्र सुरक्षित रखते हैं ॥१८॥

साक्षात् श्रीभगवान्‌के कहे हुए इस धर्मके विषयमें ऋषि, देवता और प्रधान-प्रधान सिद्धगण भी कुछ नहीं जानते, फिर असुर, मनुष्य, विद्याधर और चारण आदि तो जान ही कैसे सकते हैं ? ॥१९॥ हे दूतगण ! ब्रह्माजी, नारद, श्रीमहादेव, सनत्कुमार, कपिलदेव, स्वायम्भुव मनु, प्रह्लाद, जनक, भीष्म, बलि, शुकदेवजी और मैं—ये बारह उस परम गुह्य पवित्र और दुर्बोध भागवतधर्मके विषयमें कुछ जानते हैं, जिसके जान लेनेपर मनुष्य अमरपद (मोक्ष) प्राप्त कर लेता है ॥२०-२१॥ इस लोकमें भगवान्‌के नामोच्चारणादिके सहित किया हुआ भक्तियोग ही मनुष्यका सबसे प्रधान धर्म माना गया है ॥२२॥ हे पुत्रो ! देखो भगवान्‌के नामोच्चारणका कैसा माहात्म्य है जिसके ही प्रभावसे अजामिल भी मृत्युके पाशसे मुक्त हो गया ॥२३॥ इसलिये मनुष्योंके पापोंका समूल नाश करनेके लिये भगवान्‌के गुण-कर्म-सम्बन्धी

१. प्रा० पा०—धृतो विचक्षते । २. प्रा० पा०—तो नु । ३. प्रा० पा०—णेन ।

सङ्कीर्तनं भगवतो गुणकर्मनाम्नाम् ।
विक्रुश्य पुत्रमघवान्यदजामिलोऽपि
नारायणेति म्रियमाण इयाय मुक्तिम् ॥२४॥

प्रायेण वेद तदिदं न महाजनोऽयं
देव्या विमोहितमतिर्बत मायया लम्[1] ।
त्रय्यां जडीकृतमतिर्मधुपुष्पितायां
वैतानिके महति कर्मणि युज्यमानः ॥२५॥

नामोंका कीर्तन ही बहुत है; क्योंकि महापापी अजामिल तो मरनेके समय अस्वस्थचित्तसे अपने पुत्रको 'नारायण' इस प्रकार कहकर पुकारनेसे ही मुक्त हो गया ॥२४॥ खेदका विषय है कि [बड़े-बड़े प्रायश्चित्तोंका विधान करनेवाले] जैमिनि आदि महापुरुषोंकी बुद्धि भगवान्‌की मायासे मोहित हो गयी थी, अधिक सम्भव है कि वे इस (भगवन्नामकीर्तन) का माहात्म्य नहीं जानते रहे हों । इसीलिये स्वर्गादि नाशवान् फलोंकी बड़ाई करनेवाले आपात-रमणीय पुष्पस्थानीय वेदवाक्योंमें चित्त फँस जानेसे वे [भगवन्नामको छोड़कर] यज्ञ-यागादि बड़े-बड़े कर्मोंमें ही लगे रहे ॥२५॥

एवं विमृश्य सुधियो भगवत्यनन्ते
सर्वात्मना विदधते खलु भावयोगम् ।
ते मे न दण्डमर्हन्त्यथ यद्यमीषां
स्यात्पातकं तदपि हन्त्युरुगायवादः ॥२६॥

ते देवसिद्धपरिगीतपवित्रगाथा
ये साधवः समदृशो भगवत्प्रपन्नाः ।
तान्नोपसीदत हरेर्गदयाभिगुप्ता-
न्नैषां वयं न च वयः प्रभवाम दण्डे ॥२७॥

तानानयध्वमसतो विमुखान्मुकुन्द-
पादारविन्दमकरन्दरसादजस्रम् ।
निष्किञ्चनैः परमहंसकुलै रसज्ञै-
र्जुष्टाद्गृहे निरयवर्त्मनि बद्धतृष्णान् ॥२८॥

जिह्वा न वक्ति भगवद्गुणनामधेयं
चेतश्च न स्मरति तच्चरणारविन्दम् ।
कृष्णाय नो नमति यच्छिर एकदापि
तानानयध्वमसतोऽकृतविष्णुकृत्यान् ॥२९॥

तत्क्षम्यतां स भगवान्पुरुषः पुराणो
नारायणः स्वपुरुषैर्यदसत्कृतं नः ।
स्वानामहो न विदुषां रचिताञ्जलीनां
क्षान्तिर्गरीयसि नमः पुरुषाय भूम्ने ॥३०॥

हे भृत्यगण ! ऐसा सोचकर जो बुद्धिमान् पुरुष सब प्रकार भगवान् अनन्तमें ही अपना भक्ति-भाव स्थापित करते हैं, वे मेरे दण्डके पात्र नहीं हैं, क्योंकि प्रथम तो उनमें पाप होता ही नहीं है और यदि कुछ हो भी तो उसे भगवद्गुणगान तत्काल नष्ट कर देता है ॥२६॥ जो भगवान्‌के शरणागत और समदर्शी साधुजन हैं उनके पवित्र चरित्रोंका देवता और सिद्धगण गान करते हैं । वे श्रीहरिकी गदासे सुरक्षित रहते हैं, उनके पास तुम कभी मत जाना; उन्हें दण्ड देनेमें तो मैं और साक्षात् काल भी समर्थ नहीं हैं ॥२७॥ तुम तो यहाँ उन्हीं पापियोंको लाना जो सर्वसंग-परित्यागी और रसज्ञ परमहंसोंसे निरन्तर सेवित श्रीहरिके चरणकमलमकरन्दकी माधुरीसे विमुख और नरकके द्वाररूप अपने घरोंमें आसक्त हैं ॥२८॥ जिनकी जिह्वा भगवान्‌के गुण और नामोंका कीर्तन नहीं करती, जिनका चित्त उनके चरणकमलोंका स्मरण नहीं करता तथा जिनका शिर एक बार भी भगवान् कृष्णके सामने नहीं झुकता, भगवत्परिचर्या आदि कृत्योंको न करनेवाले उन अधम पुरुषोंको ही तुम यहाँ लाना ॥२९॥ अपने भृत्योंके द्वारा हमने जो अपराध किया है उसे वे पुराणपुरुष भगवान् नारायण क्षमा करें, हम सर्वदा उनकी सेवामें हाथ जोड़े उपस्थित रहते हैं । अतः उन परम प्रभुको हम अज्ञानी निज-जनोंका अपराध क्षमा करना ही योग्य है । उन सर्वव्यापक पुरुषोत्तमको हमारा नमस्कार है ॥३०॥

१. प्रा० पा०—अवाप ।

तस्मात्सङ्कीर्तनं विष्णोर्जगन्मङ्गलमंहसाम् ।
महतामपि कौरव्य विद्ध्येकान्तिकनिष्कृतम् ॥३१॥

[श्रीशुकदेवजी कहते हैं—] अतः हे कुरुश्रेष्ठ ! भगवान् विष्णुका जगन्मंगलमय नामकीर्तन ही बड़े-से-बड़े पापका मूलसहित नाश करनेवाला प्रायश्चित्त है—ऐसा जानो ॥ ३१ ॥

शृण्वतां गृणतां [1]वीर्याण्युद्दामानि हरेर्मुहुः ।
यथा सुजातया भक्त्या शुद्ध्येन्नात्मा व्रतादिभिः ।३२।

क्योंकि श्रीहरिके उदार चरित्रोंका बारम्बार श्रवण और कीर्तन करनेवाले पुरुषोंका अन्तःकरण जैसा अनायास ही प्रकट हुई भगवद्भक्तिसे शुद्ध होता है वैसा अन्य व्रतादिसे नहीं होता ॥३२॥

कृष्णाङ्घ्रिपद्ममधुलिण्न पुनर्विसृष्ट-
मायागुणेषु रमते वृजिनावहेषु ।
अन्यस्तु कामहत आत्मरजः प्रमार्ष्टु-
मीहेत कर्म यत एव रजः पुनः स्यात् ॥३३॥

जो मनुष्य श्रीकृष्ण-चरणारविन्दका रसास्वादन करनेवाला (भ्रमर) है वह एक बार तुच्छ जानकर त्यागे हुए पापोत्पादक मायिक गुणोंमें फिर नहीं फँसता; किन्तु अन्य विषय-लोलुप पुरुष अपने दोषका मार्जन करनेके लिये प्रायश्चित्तरूप कर्मोंमें ही प्रवृत्त होते हैं जिनसे फिर दोषोंकी ही उत्पत्ति होती है ॥३३॥

इत्थं स्वभर्तृगदितं भगवन्महित्वं
संस्मृत्य विस्मितधियो यमकिङ्करास्ते ।
नैवाच्युताश्रयजनं प्रतिशङ्कमाना
द्रष्टुं च बिभ्यति ततः प्रभृति स्म राजन् ।३४।

हे राजन् ! अपने स्वामीके कहे हुए इस भगवन्माहात्म्यका स्मरण कर उन यमदूतोंको बड़ा आश्चर्य हुआ । और [उनके कथनमें विश्वास कर] वे तभीसे अपने ही नाशकी आशंकासे भगवान्के आश्रित रहनेवाले पुरुषके निकट नहीं जाते, उन्हें देखनेमें भी भय मानते हैं ॥३४॥

इतिहासमिमं [2]गुह्यं भगवान्कुम्भसम्भवः ।
कथयामास मलय आसीनो हरिमर्चयन् ॥३५॥

हे नृप ! यह परम गुह्य इतिहास मुझसे भगवान् अगस्त्यजीने मलयाचल-पर बैठकर श्रीहरिकी पूजा करते समय कहा था ॥३५॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे [3]षष्ठस्कन्धे
तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

१. प्रा० पा०—पर्वाण्युत्तमानि । २. प्रा० पा०—मह्यं भगवा० । ३. प्रा० पा०—षष्ठे स्कन्धे यमपुरुषसंवादे तृतीयो ।

चौथा अध्याय

हंसगुह्यस्तोत्र ।

राजोवाच

देवासुरनृणां सर्गो नागानां मृगपक्षिणाम् ।
सामासिकस्त्वया प्रोक्तो यस्तु स्वायंभुवेऽन्तरे ॥ १ ॥
तस्यैव व्यासमिच्छामि ज्ञातुं ते भगवन्यथा ।
अनुसर्गं यथा शक्त्या ससर्ज भगवान्परः ॥ २ ॥

सूत उवाच

इति संप्रश्नमाकर्ण्य राजर्षेर्बादरायणिः ।
प्रतिनन्द्य महायोगी[1] जगाद मुनिसत्तमाः ॥ ३ ॥

श्रीशुक[2] उवाच

यदा प्रचेतसः पुत्रा दश प्राचीनबर्हिषः ।
अन्तःसमुद्रादुन्मग्ना ददृशुर्गां द्रुमैर्वृताम् ॥ ४ ॥
द्रुमेभ्यः[3] क्रुध्यमानास्ते तपोदीपितमन्यवः ।
मुखतो वायुमग्निं च ससृजुस्तद्दिधक्षया ॥ ५ ॥
ताभ्यां निर्दह्यमानांस्तानुपलभ्य कुरूद्वह ।
राजोवाच महान्सोमो मन्युं प्रशमयन्निव ॥ ६ ॥
मा द्रुमेभ्यो महाभागा दीनेभ्यो द्रोग्धुमर्हथ ।
विवर्धयिषवो यूयं प्रजानां पतयः स्मृताः ॥ ७ ॥
अहो प्रजापतिपतिर्भगवान्हरिरव्ययः ।
वनस्पतीनोषधीश्च ससर्जोर्जमिषं विभुः ॥ ८ ॥
अन्नं चराणामचरा ह्यपदः पादचारिणाम् ।
अहस्ता हस्तयुक्तानां द्विपदां च चतुष्पदः ॥ ९ ॥
यूयं च पित्रान्वादिष्टा[4] देवदेवेन चानघाः ।
प्रजासर्गाय हि कथं वृक्षान्निर्दग्धुमर्हथ ॥ १० ॥

राजा परीक्षित्‌ने कहा—भगवन्! आपने स्वायम्भुव मन्वन्तरमें जिस देवता, असुर, मनुष्य, सर्प, मृग और पक्षियोंकी सृष्टिका संक्षेपसे वर्णन किया है, अब मैं उसीका विस्तृत विवरण जानना चाहता हूँ; तथा भगवान्‌ने अपनी जिस शक्तिसे जिस प्रकार आगेकी सृष्टि उत्पन्न की है उसे जाननेकी भी मेरी इच्छा है ॥ १-२ ॥

श्रीसूतजी कहते हैं—हे मुनिवरो ! राजर्षि परीक्षित्‌का यह उत्तम प्रश्न सुनकर महायोगी शुकदेवजी उनकी प्रशंसा करते हुए कहने लगे ॥३॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! जब प्राचीनबर्हिके प्रचेता नामक दश पुत्रोंने समुद्रसे निकलकर सम्पूर्ण भूमण्डलको झाड़-झंखाड़ोंसे भरा देखा तो तपोबलके कारण जिनका क्रोध बढ़ गया है ऐसे उन प्रचेताओंने वृक्षोंपर अत्यन्त कुपित होकर उन्हें दग्ध करनेकी इच्छासे अपने मुखसे वायु और अग्नि छोड़े ॥४-५॥ हे कुरुनन्दन ! प्रचेताओंके छोड़े हुए वायु और अग्निसे उन्हें दग्ध होते देख [ओषधियोंके] महाराज सोमने उनका कोप शान्त करते हुए इस प्रकार कहा—॥६॥ हे महाभाग ! तुमलोग प्रजाओंकी वृद्धि करनेके इच्छुक होनेसे प्रजापति कहे जाते हो, इसलिये तुम्हें इन बेचारे गरीब वृक्षोंसे द्रोह न करना चाहिये ॥ ७ ॥ अहो ! प्रजापतियोंके अधिपति अविनाशी भगवान् श्रीहरिने सम्पूर्ण वनस्पति और ओषधियोंको प्रजाओंके भक्ष्य और अन्नरूपसे उत्पन्न किया है ॥ ८ ॥ संसारमें जंगमोंके अन्न स्थावर हैं, पैरवालोंके बिना पैरवाले हैं तथा हाथवालोंके बिना हाथवाले और दो पैरवालोंके चार पैरवाले अन्न (अर्थात् उसके साधन) हैं ॥९॥ और हे अनघ ! तुम्हें तो तुम्हारे पिता (राजा प्राचीनबर्हि) और देवाधिदेव श्रीहरिने प्रजाकी उत्पत्तिके लिये आज्ञा दी है ! फिर तुम्हारे लिये वृक्षोंको जला डालना कैसे उचित हो सकता है ?

१. प्रा० पा०—यथा योगी । २. प्रा० पा०—ऋषिरुवाच । ३. प्रा० पा०—वृक्षेभ्यः क्रुध्य० । ४. प्रा० पा०—त्वादिष्टा ।

आतिष्ठत सतां मार्गं कोपं यच्छत दीपितम् ।
पित्रा पितामहेनापि जुष्टं वः प्रपितामहैः ॥११॥
तोकानां[1] पितरौ बन्धुर्दृशः पक्ष्म स्त्रियाः पतिः ।
पतिः प्रजानां भिक्षूणां गृह्यज्ञानां बुधः सुहृत् ॥१२॥
अन्तर्देहेषु भूतानामात्मास्ते[2] हरिरीश्वरः ।
सर्वं तद्विष्ण्वमीक्षध्वमेवं वस्तोषितो ह्यसौ ॥१३॥
यः समुत्पतितं देह आकाशान्मन्युमुल्बणम् ।
आत्मजिज्ञासया यच्छेत्स गुणानतिवर्तते ॥१४॥
अलं दग्धैर्द्रुमैर्दीनैः खिलानां शिवमस्तु वः ।
वार्क्षी ह्येषा वरा कन्या पत्नीत्वे प्रतिगृह्यताम् ॥१५॥

इत्यामन्त्र्य वरारोहां कन्यामाप्सरसीं नृप ।
सोमो राजा ययौ दत्त्वा[3] ते धर्मेणोपयेमिरे ॥१६॥
तेभ्यस्तस्यां समभवद्दक्षः प्राचेतसः किल ।
यस्य[4] प्रजाविसर्गेण लोका आपूरितास्त्रयः ॥१७॥
यथा ससर्ज भूतानि दक्षो दुहितृवत्सलः ।
रेतसा मनसा चैव तन्ममावहितः शृणु ॥१८॥

मनसैवासृजत्पूर्वं प्रजापतिरिमाः प्रजाः ।
देवासुरमनुष्यादीन्नभस्थलजलौकसः ॥१९॥
तमवृंहितमालोक्य प्रजासर्गं प्रजापतिः ।
विन्ध्यपादानुपव्रज्य सोऽचरद्दुष्करं[5] तपः ॥२०॥

॥१०॥ अतः अब तुम अपने बढ़े हुए क्रोधको शान्त करो तथा अपने पिता, पितामह और प्रपितामह आदिद्वारा सेवन किये हुए सत्पुरुषोंके मार्गका अवलम्बन करो ॥११॥ देखो, [जैसे] बालकोंके रक्षक माता-पिता हैं, नेत्रोंके रक्षक पलक हैं, स्त्रीका रक्षक पति है, भिक्षुकोंका पोषक गृहस्थ है और अज्ञानियोंका हितैषी ज्ञानवान् है [उसी प्रकार] प्रजाओंकी रक्षा करनेवाला राजा होता है ॥१२॥ सारे प्राणियोंके अन्तःकरणमें आत्मारूपसे भगवान् श्रीहरि ही विराजमान हैं अतः तुम सबको उन्हींका निवासस्थान जानो । ऐसा करनेसे तुम उन्हें (श्रीहरिको) सन्तुष्ट कर सकोगे ॥१३॥ जो पुरुष अपने देहमें हृदयाकाशसे उत्पन्न हुए भयंकर क्रोधको आत्मविचारसे शान्त कर देता है वही तीनों गुणोंको पार कर सकता है ॥१४॥ अतः अब तुम इन बेचारे वृक्षोंको जलाना बंद करो, तुम्हारा और बचे-खुचे वृक्षोंका कल्याण हो तथा तुमलोग वृक्षोंद्वारा पालन की हुई इस श्रेष्ठ कन्याको पत्नीरूपसे ग्रहण करो ॥१५॥

हे राजन् ! प्रचेताओंको इस प्रकार समझा-बुझाकर राजा सोम उन्हें [प्रम्लोचा] अप्सरासे उत्पन्न हुई वह सुन्दर कटिवाली कन्या देकर चले गये । तदनन्तर प्रचेताओंने उससे धर्मानुसार पाणिग्रहण किया ॥१६॥ कहते हैं उसीसे उनके प्राचेतस नामसे प्रसिद्ध दक्ष नामक पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसकी प्रजासृष्टिसे तीनों लोक परिपूर्ण हो गये ॥१७॥ हे राजन् ! पुत्रीवत्सल दक्षने अपने वीर्य और मनसे जिस-जिस प्रकार जीवोंकी रचना की थी वह मैं कहता हूँ, सावधान होकर सुनो ॥१८॥

पहले-पहल प्रजापति दक्षने आकाश, स्थल और जलपर रहनेवाली इस देव, असुर और मनुष्यरूप प्रजाको अपने मनहीसे उत्पन्न किया ॥१९॥ उस प्रजासर्गको बढ़ता न देखकर प्रजापति दक्ष विन्ध्याचलकी तलैटीमें जाकर घोर तपस्या करने लगे ॥२०॥

१. प्रा० पा०—लोकानां पितरौ । २. प्रा० पा०—भूतानां शास्तास्ते । ३. प्रा० पा०—दृष्टस्ते । ४. प्रा० पा०—तस्य । ५. प्रा० पा०—दुश्चरं ।

तत्राघमर्षणं नाम तीर्थं पापहरं परम् ।
उपस्पृश्यानुसवनं तपसातोषयद्धरिम् ॥२१॥
अस्तौषीद्धंसगुह्येन भगवन्तमधोक्षजम् ।
तुभ्यं तदभिधास्यामि[1] कस्यातुष्यद्यतो हरिः ॥२२॥

प्रजापतिरुवाच

नमः परायावितथानुभूतये
गुणत्रयाभासनिमित्तबन्धवे ।
अदृष्टधाम्ने गुणतत्त्वबुद्धिभि-
र्निवृत्तमानाय दधे स्वयंभुवे ॥२३॥
न यस्य सख्यं पुरुषोऽवैति सख्युः
सखा वसन्संवसतः पुरेऽस्मिन् ।
गुणो यथा गुणिनो व्यक्तदृष्टे-
स्तस्मै महेशाय नमस्करोमि ॥२४॥
देहोऽसवोऽक्षा मनवो भूतमात्रा
नात्मानमन्यं च विदुः परं यत् ।
सर्वं पुमान्वेद गुणांश्च तज्ज्ञो
न वेद सर्वज्ञमनन्तमीडे ॥२५॥
यदोपरामो मनसो नामरूप-
रूपस्य दृष्टस्मृतिसंप्रमोषात् ।
य ईयते केवलया स्वसंस्थया[2]
हंसाय तस्मै शुचिसद्मने नमः ॥२६॥
मनीषिणोऽन्तर्हृदि संनिवेशितं
स्वशक्तिभिर्नवभिश्च त्रिवृद्भिः ।
वह्निं यथा दारुणि पाञ्चदश्यं
मनीषया निष्कर्षन्ति गूढम् ॥२७॥

वहाँ सकल पापोंको नष्ट करनेवाले अघमर्षण नामक श्रेष्ठ तीर्थमें त्रिकाल स्नान करते हुए उन्होंने तपस्याद्वारा श्रीहरिको प्रसन्न किया ॥२१॥ हे राजन् ! [उस समय] जिस हंसगुह्य नामक स्तोत्रसे प्रजापति दक्षने श्रीअधोक्षज भगवान्‌की स्तुति की और जिसके कारण श्रीहरि उनपर प्रसन्न हुए वह मैं तुम्हें सुनाता हूँ ॥२२॥

दक्षप्रजापतिने कहा—जिसकी चित्‌शक्ति अमोघ है, जो जीव और मायाके नियन्ता हैं, तथा प्रत्यक्षादि प्रमाणोंकी पहुँच न होनेके कारण जिनके स्वरूपको विषयोंमें परमार्थबुद्धि रखनेवाले पुरुष नहीं जान सकते उन स्वयंप्रकाश सर्वोत्तम परमात्माको मैं नमस्कार करता हूँ ॥२३॥ जिस प्रकार रूपादि विषय अपने प्रकाशक चक्षु आदि इन्द्रियोंके प्रकाशकत्वको नहीं जानते उसी प्रकार इस शरीरमें सखाभावसे रहनेवाला जीव इसीमें सखारूपसे साथ-साथ रहनेवाले जिस विश्व-साक्षीके सखाभावको नहीं जानता उस महेश्वरको नमस्कार है ॥२४॥ देह, प्राण, इन्द्रिय, अन्तःकरण, पञ्चभूत और उनकी तन्मात्राएँ ये सब [जड होनेके कारण] अपनेको और अपनेसे भिन्न इन्द्रियोंके तथा उनके अधिष्ठाता देवताओंके स्वरूपको भी नहीं जान सकते किन्तु जीव इन सबको और इनके कारणरूप गुणोंको भी जानता है । तथापि इन सबका जाननेवाला होकर भी जिस सर्वज्ञ परमात्माके विषयमें वह कुछ नहीं जान सकता उस अनन्तकी मैं स्तुति करता हूँ ॥२५॥ दर्शन और स्मरणका नाश हो जानेपर जब नामरूपके बोधक मनकी समाधि हो जाती है उस समय जो केवल अपनी स्वरूपस्थितिसे ही जाना जाता है तथा शुद्ध-चित्त ही जिसका उपलब्धिस्थान है उस शुद्धस्वरूप परमात्माको नमस्कार है ॥२६॥ जिस प्रकार याजकगण [सामधेनी नामक] पन्द्रह मन्त्रोंसे प्रकट होनेवाले काष्ठमें छिपे हुए अग्निको प्रकट करते हैं उसी प्रकार सत्ताईस तत्त्वरूप अपनी उपाधियोंसे छिपकर अन्तः-करणमें गूढ़भावसे स्थित हुए जिस परमात्माको विवेकी पुरुष अपनी बुद्धिद्वारा साक्षात् करते हैं वह

१. प्रा० पा०—समभिधास्यामि । २. प्रा० पा०—स्वसंज्ञया ।

स वै ममाशेषविशेषमाया-
निषेधनिर्वाणसुखानुभूतिः ।
स सर्वनामा स च विश्वरूपः
प्रसीदतामनिरुक्तात्मशक्तिः ॥२८॥

यद्यन्निरुक्तं वचसा निरूपितं
धियाक्षभिर्वा मनसा वोत यस्य ।
मा भूत्स्वरूपं गुणरूपं हि तत्त-
त्स वै गुणापायविसर्गलक्षणः ॥२९॥

यस्मिन्यतो येन च यस्य यस्मै
यद्यो यथा कुरुते कार्यते च[1] ।
परावरेषां परमं प्राक्प्रसिद्धं
तद्ब्रह्म तद्धेतुरनन्यदेकम् ॥३०॥

यच्छक्तयो वदतां वादिनां वै
विवादसंवादभुवो भवन्ति ।
कुर्वन्ति चैषां मुहुरात्ममोहं
तस्मै नमोऽनन्तगुणाय भूम्ने ॥३१॥

अस्तीति नास्तीति च वस्तुनिष्ठयो-
रेकस्थयोर्भिन्नविरुद्धधर्मयोः ।
अवेक्षितं किञ्चन योगसांख्ययोः
समं परं ह्यनुकूलं बृहत्तत् ॥३२॥

योऽनुग्रहार्थं भजतां पादमूल-
मनामरूपो भगवाननन्तः ।
नामानि रूपाणि च जन्मकर्मभि-
र्भेजे स मह्यं परमः प्रसीदतु ॥३३॥

यः प्राकृतैर्ज्ञानपथैर्जनानां
यथाशयं देहगतो विभाति ।
यथानिलः पार्थिवमाश्रितो गुणं
स ईश्वरो मे कुरुतान्मनोरथम् ॥३४॥

सम्पूर्ण मायिक भेदोंके त्याग देनेपर मोक्षसुखस्वरूपसे अनुभव होनेवाले सर्वनाम और सर्वरूपमय अनिर्वचनीय प्रभावसम्पन्न श्रीहरि मुझपर प्रसन्न हों ॥२७-२८॥ किन्तु जो कुछ वाणीसे कहा जाता है तथा बुद्धि, इन्द्रिय अथवा मनसे ग्रहण किया जाता है वह उनका रूप नहीं है, वह तो गुणोंका ही कार्य है । वह परमात्मा तो गुणोंकी उत्पत्ति और प्रलयसे [उनके अधिष्ठान-रूपसे] लक्षित होता है ॥२९॥ जिसमें जहाँसे जिसके द्वारा जिसका जिसके लिये जिस कार्यको जो जिस प्रकार करता है अथवा जिसकी प्रेरणासे वह कार्यमें प्रवृत्त किया जाता है वह सब ब्रह्म ही है, क्योंकि वह सम्पूर्ण कार्यकारणसे पूर्वसिद्ध है और सजातीय-विजातीय भेदसे रहित सबका एकमात्र कारण है ॥३०॥ जिनकी माया और अविद्या आदि शक्तियाँ वाद-विवाद करनेवाले वादियोंके विवाद और संवादकी भूमि (विषय) होती हैं और उनके चित्तको बार-बार मोहमें डाल देती हैं उन अनन्तगुणमय सर्वव्यापी परमात्माको नमस्कार है ॥३१॥ [योगशास्त्र कहता है कि सम्पूर्ण जगत् भगवान्‌का ही रूप है और सांख्य कहता है कि उनका कोई रूप नहीं है—इस प्रकार] एक ही वस्तुके विषयमें [उसके हाथ-पाँव आदि अंग] 'हैं' और 'नहीं हैं' इस प्रकार दो विरुद्ध और भिन्न धर्मोंका प्रतिपादन करनेवाले योग और सांख्यमें अपने-अपने तर्कोंके अनुकूल जो एक ही समान और श्रेष्ठ वस्तु अभिमत है, वही ब्रह्म है [उसे मैं नमस्कार करता हूँ] ॥३२॥ प्राकृत नाम-रूपसे रहित होते हुए भी जिन भगवान् अनन्तने अपने चरणकमलोंका भजन करनेवाले पुरुषोंपर कृपा करनेके लिये अपने जन्म और कर्मोंके द्वारा क्रमशः रूप और नाम धारण किये वे परमात्मा मुझपर प्रसन्न हों ॥३३॥ जिस प्रकार वायु पृथिवीके गुण (गन्ध) का आश्रयकर उसीके समान प्रतीत होता है उसी प्रकार जो अन्तर्यामी प्राकृत ज्ञानमार्गोंद्वारा मनुष्योंके भावानुसार भिन्न-भिन्न देवताओंके रूपमें प्रतीत होते हैं वे परमेश्वर मेरी कामना पूर्ण करें ॥३४॥

१. प्रा० पा०—वा ।

श्रीशुक उवाच[1]

इति स्तुतः[2] संस्तुवतः स तस्मिन्नघमर्षणे ।
आविरासीत्कुरुश्रेष्ठ[3] भगवान्भक्तवत्सलः ॥३५॥
कृतपादः सुपर्णांसे प्रलम्बाष्टमहाभुजः ।
चक्रशङ्खासिचर्मेषुधनुःपाशगदाधरः ॥३६॥
पीतवासा घनश्यामः प्रसन्नवदनेक्षणः ।
वनमालानिवीताङ्गो लसच्छ्रीवत्सकौस्तुभः ॥३७॥
महाकिरीटकटकः स्फुरन्मकरकुण्डलः ।
काञ्च्यङ्गुलीयवलयनूपुराङ्गदभूषितः ॥३८॥
त्रैलोक्यमोहनं रूपं बिभ्रत्त्रिभुवनेश्वरः ।
वृतो नारदनन्दाद्यैः पार्षदैः सुरयूथपैः ॥३९॥
स्तूयमानोऽनुगायद्भिः सिद्धगन्धर्वचारणैः ।
रूपं तन्महदाश्चर्यं विचक्ष्यागतसाध्वसः ॥४०॥
नमाम दण्डवद्भूमौ प्रहृष्टात्मा प्रजापतिः ।
न किञ्चनोदीरयितुमशक्तत्तीव्रया मुदा ।
आपूरितमनोद्वारैर्हृदिन्य इव निर्झरैः ॥४१॥

तं तथावनतं भक्तं प्रजाकामं प्रजापतिम् ।
चित्तज्ञः सर्वभूतानामिदमाह जनार्दनः ॥४२॥

श्रीभगवानुवाच

प्राचेतस महाभाग संसिद्धस्तपसा भवान् ।
यच्छ्रद्धया मत्परया मयि भावं परं गतः ॥४३॥
प्रीतोऽहं ते प्रजानाथ यत्तेऽस्योद्बृंहणं तपः ।

श्रीशुकदेवजी बोले—हे कुरुश्रेष्ठ ! तब उस अघमर्षण तीर्थमें इस प्रकार स्तुति किये जानेपर भक्तवत्सल भगवान् स्तुतिकर्ता दक्षके सामने प्रकट हुए ॥३५॥ वे अपना चरण गरुड़के कन्धेपर रखे हुए थे, उनके आठ लम्बी-लम्बी भुजाएँ थीं, जिनमें वे शंख, चक्र, ढाल, तलवार, धनुष, बाण, गदा और पाश लिये हुए थे ॥३६॥ उनका शरीर सजल जलधरके समान श्याम था, उसपर पीताम्बर सुशोभित था तथा उनके मुख और नेत्र प्रसन्न थे । सारा शरीर वनमालासे ढँका हुआ था तथा श्रीवत्स और कौस्तुभमणिके कारण वह अत्यन्त शोभायमान जान पड़ता था ॥३७॥ वे विशाल मुकुट, कटक, झिलमिलाते हुए मकराकृत कुण्डल, काञ्ची, अंगूठी, कंकण, नूपुर और अंगदादि आभूषणोंसे विभूषित थे ॥३८॥ इस प्रकार त्रिभुवन-पति श्रीहरि त्रिलोकीको मोहित करनेवाला रूप धारणकर प्रकट हुए । वे नारद और नन्द-सुनन्दादि पार्षदों तथा अनेकों देवनायकोंसे घिरे हुए थे ॥३९॥ तथा उनके पीछे-पीछे गान करनेवाले सिद्ध, गन्धर्व और चारण आदि उनकी स्तुति कर रहे थे । भगवान्‌का वह अति अद्भुत रूप देखकर प्रजापति दक्ष कुछ सहम गये और उन्हें अति प्रसन्न चित्तसे पृथिवीपर लोटकर प्रणाम किया । और जिस प्रकार बहुतसे झरनोंके जलसे नदियाँ भर जाती हैं उसी प्रकार परमानन्दके वेगसे मन और इन्द्रियोंके रुँध जानेसे वे कुछ भी न बोल सके ॥४०-४१॥

तब समस्त भूतोंके मनकी बात जाननेवाले श्रीहरिने इस प्रकार साष्टाङ्ग प्रणाम करनेवाले एवं प्रजा उत्पन्न करनेकी इच्छावाले प्रजापति दक्षसे यों कहा ॥४२॥

श्रीभगवान् बोले—हे महाभाग प्रचेतापुत्र दक्ष ! तुम्हें तपस्याद्वारा उत्तम सिद्धि प्राप्त हुई है, क्योंकि मुझमें श्रद्धा करनेसे तुम्हें मेरे प्रति दृढ़ प्रेम हो गया है ॥४३॥ हे प्रजापते ! तुम्हारा तप इस विश्वकी वृद्धि करनेवाला है इसलिये मैं तुमसे अत्यन्त प्रसन्न हूँ

१. प्राचीन प्रतिमें 'श्रीशुक उवाच' इतना अंश नहीं है । २. प्रा० पा०—स्तवं । ३. प्रा० पा०—प्रादुरा० । ४. प्रा० पा०—विचित्राङ्गो । । ५. प्रा० पा०—सर्वसत्त्वाना० ।

दक्षको भगवद्दर्शन

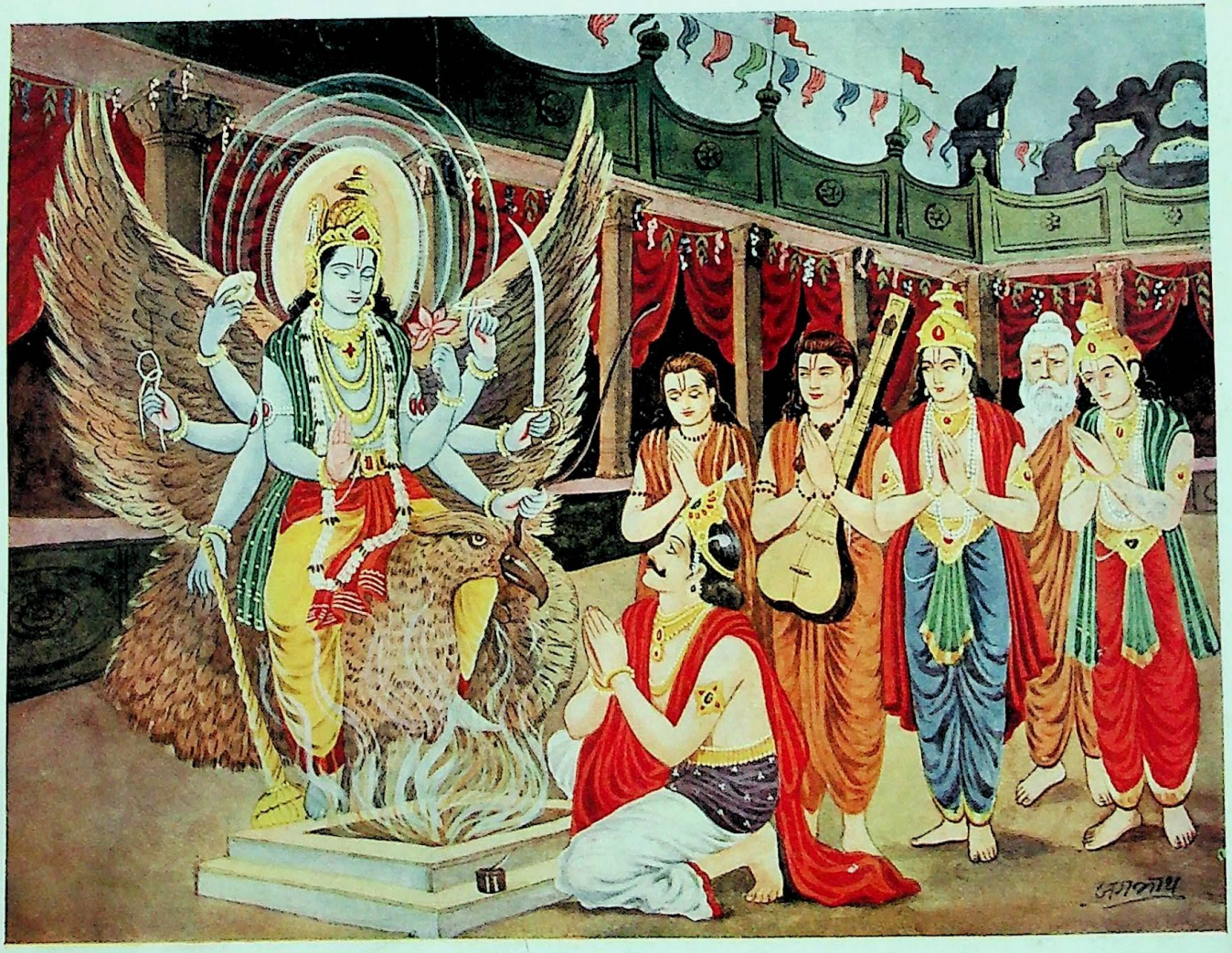

स्तूयमानोऽनुगायद्भिः सिद्धगन्धर्वचारणैः । रूपं तन्महदाश्चर्यं विचक्ष्यागतसाध्वसः ॥
ननाम दण्डवद्भूमौ प्रहृष्टात्मा प्रजापतिः । न किञ्चनोदीरयितुमशकत्तीव्रया मुदा ॥

[पृष्ठ ६८२

ममैष कामो भूतानां यद्भूयासुर्विभूतयः ॥४४॥
ब्रह्मा भवो भवन्तश्च मनवो विबुधेश्वराः ।
विभूतयो मम ह्येता भूतानां भूतिहेतवः ॥४५॥
तपो मे हृदयं ब्रह्मंस्तनुर्विद्या क्रियाकृतिः ।
अङ्गानि क्रतवो जाता धर्म आत्मासवः सुराः॥४६॥
अहमेवासमेवाग्रे नान्यत्किञ्चान्तरं बहिः ।
संज्ञानमात्रमव्यक्तं प्रसुप्तमिव विश्वतः ॥४७॥
मय्यनन्तगुणेऽनन्ते गुणतो गुणविग्रहः ।
यदासीत्तत एवाद्यः स्वयंभूः समभूदजः ॥४८॥
स वै यदा महादेवो मम वीर्योपबृंहितः ।
मेने खिलमिवात्मानमुद्यतः सर्गकर्मणि ॥४९॥
अथ मेऽभिहितो देवस्तपोऽतप्यत दारुणम् ।
नव विश्वसृजो युष्मान्येनादावसृजद्विभुः ॥५०॥
एषा पञ्चजनस्याङ्ग दुहिता वै प्रजापतेः ।
असिक्नी नाम पत्नीत्वे प्रजेश प्रतिगृह्यताम् ॥५१॥
मिथुनव्यवायधर्मस्त्वं प्रजासर्गमिमं पुनः ।
मिथुनव्यवायधर्मिण्यां भूरिशो भावयिष्यसि ॥५२॥
त्वत्तोऽधस्तात्प्रजाः सर्वा मिथुनीभूय मायया ।
मदीयया भविष्यन्ति हरिष्यन्ति च मे बलिम् ॥५३॥

श्रीशुक उवाच

इत्युक्त्वा मिषतस्तस्य भगवान्विश्वभावनः ।
स्वप्नोपलब्धार्थ इव तत्रैवान्तर्दधे हरिः ॥५४॥

क्योंकि 'सब प्राणियोंकी अभिवृद्धि हो' यह मेरी ही इच्छा है ॥४४॥ ब्रह्मा, महादेव, तुम, मनु और इन्द्र—ये सब प्राणियोंकी उत्पत्तिकी हेतुभूत मेरी ही विभूतियाँ हैं ॥४५॥ हे ब्रह्मन् ! तप मेरा हृदय है, विद्या शरीर है, कर्म आकृति है, यज्ञ अंग हैं, धर्म मन है और देवता प्राण हैं ॥४६॥ सृष्टिके आदिमें चिन्मात्र अव्यक्त और सब ओरसे सोये हुएके समान एक मैं ही था। मेरे सिवा बाहर (दृश्य) या भीतर (द्रष्टा) और कोई न था ॥४७॥ जिस समय मुझ अनन्तगुणमय अनन्तमें मायाके योगसे गुणमय ब्रह्माण्डशरीर प्रकट हुआ उस समय अयोनिज आदिपुरुष ब्रह्माजी उत्पन्न हुए ॥४८॥ मेरे वीर्यसे वृद्धिको प्राप्त हुए वे देवश्रेष्ठ ब्रह्माजी जब सृष्टि करनेके लिये उद्यत हुए तो उन्होंने अपनेको उस कार्यमें असमर्थ-सा पाया ॥४९॥ तब मेरे कहनेपर देववर ब्रह्माने कठोर तपस्या की और उसके प्रभावसे पहले-पहल तुम नौ प्रजापतियोंको उत्पन्न किया ॥५०॥

हे तात! यह पञ्चजन प्रजापतिकी असिक्नी नामवाली कन्या है। हे प्रजापते ! इसे तुम अपनी भार्यारूपसे ग्रहण करो ॥ ५१ ॥ तुम दाम्पत्य सम्बन्धसे होनेवाले रतिधर्मको स्वीकारकर इस मैथुनधर्मशालिनी भार्यासे बहुत-सी प्रजा उत्पन्न करोगे ॥ ५२ ॥ तुम्हारे पीछे सब प्रजा मेरी मायासे मैथुनधर्मद्वारा ही उत्पन्न होगी और मेरी सेवामें तत्पर रहेगी ॥ ५३ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! दक्षसे इस प्रकार कह विश्वभावन भगवान् हरि उनके देखते-देखते स्वप्नमें देखे हुए पदार्थके समान वहीं अन्तर्धान हो गये ॥ ५४ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे षष्ठस्कन्धे चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

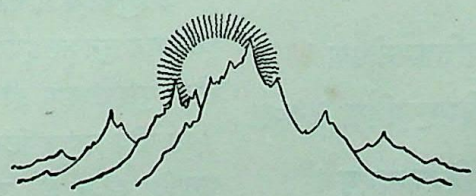

१. प्रा० पा०—जत्प्रभुः । २. प्रा० पा०—प्रसह्य । ३. प्रा० पा०—त्वत्तो हि वंशजाः स० । ४. प्राचीन प्रतिमें 'श्रीशुक उवाच' इतना अंश नहीं है । ५. प्राचीन प्रतिमें 'भगवद्दक्षसंवादः' इतना अधिक पाठ है ।

पाँचवाँ अध्याय

श्रीनारदजीके उपदेशसे हर्यश्व और शबलाश्व नामक दक्ष-पुत्रोंका विरक्त होना तथा नारदजीको दक्षका शाप ।

श्रीशुक उवाच[1]

तस्यां स पाञ्चजन्यां वै विष्णुमायोपबृंहितः ।
हर्यश्वसंज्ञानयुतं पुत्रानजनयद्विभुः ॥ १ ॥
अपृथग्धर्मशीलास्ते सर्वे दाक्षायणा नृप ।
पित्रा प्रोक्ताः प्रजासर्गे प्रतीचीं प्रययुर्दिशम् ॥ २ ॥
तत्र नारायणसरस्तीर्थं सिन्धुसमुद्रयोः ।
संगमो यत्र सुमहन्मुनिसिद्धनिषेवितम् ॥ ३ ॥
तदुपस्पर्शनादेव विनिर्धूतमलाशयाः ।
धर्मे पारमहंस्ये च प्रोत्पन्नमतयोऽप्युत ॥ ४ ॥
तेपिरे[2] तप एवोग्रं पित्रादेशेन यन्त्रिताः ।
प्रजाविवृद्धये यत्तान्देवर्षिस्तान्ददर्श ह ॥ ५ ॥
उवाच चाथ[3] ह्यर्यश्वाः कथं स्रक्ष्यथ वै प्रजाः ।
अदृष्ट्वान्तं भुवो यूयं बालिशा बत पालकाः ॥ ६ ॥
तथैकपुरुषं राष्ट्रं बिलं चादृष्टनिर्गमम् ।
बहुरूपां स्त्रियं चापि पुमांसं पुंश्चलीपतिम् ॥ ७ ॥
नदीमुभयतोवाहां पञ्चपञ्चाद्भुतं गृहम् ।
क्वचिद्धंसं चित्रकथं क्षौरपव्यं स्वयंभ्रमिम् ॥ ८ ॥
कथं स्वपितुरादेशमविद्वांसो विपश्चितः ।
अनुरूपमविज्ञाय अहो सर्गं करिष्यथ ॥ ९ ॥

श्रीशुक उवाच

तन्निशम्याथ हर्यश्वा औत्पत्तिकमनीषया ।
वाचः[4] कूटं तु देवर्षेः स्वयं विममृशुर्धिया ॥१०॥
भूक्षेत्रं जीवसंज्ञं यदनादि निजबन्धनम् ।

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! तब भगवान् विष्णुकी मायासे बढ़े हुए समर्थ दक्षने उस पञ्चजनकी पुत्रीसे हर्यश्वनामक दश सहस्र पुत्र उत्पन्न किये ॥१॥ हे नृप ! वे सब दक्षपुत्र समान धर्म और समान स्वभाववाले थे । जब उनको पिताने प्रजा उत्पन्न करनेकी आज्ञा दी तो वे [तपस्या करनेके लिये] पश्चिम दिशाको चले गये ॥२॥ वहाँ, जिस स्थानपर सिन्धुनदी समुद्रसे मिलती है, नारायणसरोवर नामक एक महान् तीर्थ है जो मुनि और सिद्धजनोंसे सेवित है ॥३॥ उसमें स्नान करते ही उनके अन्तःकरणका मल धुल गया और उनकी बुद्धि पारमहंस्यधर्ममें लग गयी; तो भी वे पिताकी आज्ञासे बँधे होनेके कारण घोर तपस्या करने लगे । इस प्रकार प्रजाकी वृद्धिके लिये तत्पर हुए उन दक्षपुत्रोंको नारदजीने देखा ॥ ४-५ ॥ और उनके पास आकर कहा—अरे हर्यश्वगण ! खेद है, तुम प्रजापति होकर भी बड़े मूर्ख हो । तुम पृथिवीका अन्त देखे बिना किस प्रकार प्रजा उत्पन्न करोगे ? ॥६॥ तथा जिसमें एक ही पुरुष है ऐसे राष्ट्रको, जिससे निकलनेका मार्ग नहीं देखा ऐसे बिलको, बहुरूपिणी स्त्रीको, जो व्यभिचारिणीका पति है ऐसे पुरुषको, दोनों ओर बहनेवाली नदीको, पच्चीस पदार्थोंके बने हुए विचित्र गृहको, चित्र-विचित्र पंखोंवाले किसी हंसको तथा छुरे और वज्रके बने हुए स्वयं ही घूमनेवाले चक्रको देखे बिना तुम अपने सर्वज्ञ पिताकी वास्तविक आज्ञाको बिना समझे ही उसके अनुरूप सृष्टि किस प्रकार उत्पन्न करोगे ? ॥७–९॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! नारदजीके ये कूट वचन सुनकर हर्यश्वगण अपनी स्वाभाविक विचारशीला बुद्धिसे स्वयं ही इस प्रकार सोचने लगे—॥१०॥ "यह जीव नामक लिंगशरीर ही भूमि है जो आत्माका अनादि बन्धन है उसका अन्त देखे बिना अन्य

१. प्रा० पा०—बादरायणिरुवाच । २. प्रा० पा०—तेपुस्ते त० । ३. प्रा० पा०—तान्स । ४. प्रा० पा०—तद्वाचः कूटं देव० ।

अदृष्ट्वा तस्य निर्वाणं किमसत्कर्मभिर्भवेत् ॥११॥
एक एवेश्वरस्तुर्यो भगवान्स्वाश्रयः परः ।
तमदृष्ट्वाभवं पुंसः किमसत्कर्मभिर्भवेत् ॥१२॥
पुमान्नैवैति यद्गत्वा बिलस्वर्गं गतो यथा ।
प्रत्यग्धामाविद इह किमसत्कर्मभिर्भवेत् ॥१३॥
नानारूपात्मनो बुद्धिः स्वैरिणीव गुणान्विता ।
तन्निष्ठामगतस्येह किमसत्कर्मभिर्भवेत् ॥१४॥
तत्सङ्गभ्रंशितैश्वर्यं संसरन्तं कुभार्यवत् ।
तद्गतीरबुधस्येह किमसत्कर्मभिर्भवेत् ॥१५॥
सृष्ट्यप्ययकरीं मायां वेलाकूलान्तवेगिताम् ।
मत्तस्य तामविज्ञस्य किमसत्कर्मभिर्भवेत् ॥१६॥
पञ्चविंशतितत्त्वानां पुरुषोऽद्भुतदर्पणम् ।
अध्यात्ममबुधस्येह किमसत्कर्मभिर्भवेत् ॥१७॥
ऐश्वरं शास्त्रमुत्सृज्य बन्धमोक्षानुदर्शनम् ।
विविक्तपदमज्ञाय किमसत्कर्मभिर्भवेत् ॥१८॥
कालचक्रं भ्रमिस्तीक्ष्णं सर्वं निष्कर्षयज्जगत् ।
स्वतन्त्रमबुधस्येह किमसत्कर्मभिर्भवेत् ॥१९॥
शास्त्रस्य पितुरादेशं यो न वेद निवर्तकम् ।
कथं तदनुरूपाय गुणविश्रम्भ्युपक्रमेत् ॥२०॥
इति व्यवसिता राजन्हर्यश्वा एकचेतसः ।
प्रययुस्तं परिक्रम्य पन्थानमनिवर्तनम् ॥२१॥

असत् [मोक्षमें अनुपयोगी] कर्मोंमें लगे रहनेसे क्या लाभ है ? ॥११॥ सम्पूर्ण अवस्थाओंका साक्षी, अपने ही आश्रय रहनेवाला तथा प्रकृति आदिसे अतीत एक ही ईश्वर है उस नित्यमुक्त परमात्माको देखे बिना पुरुषको अन्य असत् कर्मोंसे क्या लाभ है ? ॥१२॥ जिसको प्राप्त होकर पुरुष पातालगत जीवके समान फिर नहीं लौटता उस स्वयंज्योति परमात्माको जाने बिना संसारमें अन्य व्यर्थ कर्मोंसे क्या होना है ? ॥१३॥ नाना प्रकारके रूप धारण करनेवाली यह गुणमयी बुद्धि एक व्यभिचारिणी स्त्रीके समान है, उसका अन्त जाने बिना इन असत्कर्मोंसे क्या होगा ? ॥१४॥ कुलटा भार्याके संगसे पतित हुए पतिके समान उस बहुरूपिणी बुद्धिके संसर्गसे ऐश्वर्यभ्रष्ट होकर उसकी सुख-दुःखरूप गतियोंको प्राप्त होते हुए जीवको न जाननेवाले पुरुषका इस संसारमें विवेकशून्य कर्म-कलापसे क्या लाभ है ? ॥१५॥ संसारकी उत्पत्ति और संहार करनेवाली तथा इहलोक और परलोकरूप दोनों किनारोंतक फैलकर वेगसे बहनेवाली इस मायारूप नदीको जो नहीं जानता उस उन्मत्तको अन्य असत्कर्मोंसे क्या लाभ होगा ? ॥१६॥ अन्तर्यामी पुरुष पच्चीस तत्त्वोंका अद्भुत आश्रय है । कार्यकारण-संघातके अधिष्ठाता उस पुरुषका स्वरूप न जाननेवाले व्यक्तिको असत्-कर्मोंसे क्या लाभ हो सकता है ? ॥१७॥ जिससे बन्ध और मोक्षका विवेक होता है उस ईश्वरप्रतिपादक शास्त्रको छोड़कर तथा जड-चेतनका ज्ञान प्राप्त न कर अन्य बहिर्मुख कर्मोंसे क्या हो सकता है ? ॥१८॥ इसी प्रकार सम्पूर्ण जगत्को आकर्षित करनेवाले अति स्वतन्त्र और तीक्ष्ण कालचक्रको न जाननेवाले पुरुषको अन्य व्यर्थ कर्मोंसे क्या लाभ है ? ॥१९॥ जो पुरुष पितृतुल्य शास्त्रकी निवृत्तिपरक आज्ञाको नहीं जानता, वह गुणोंमें आस्था रखनेवाला पुरुष किस प्रकार निवृत्तिमें तत्पर हो सकता है ?" ॥२०॥

हे राजन् ! इस प्रकार निश्चयकर उन एकचित्त हर्यश्वगणने नारदजीकी परिक्रमा की और उस मोक्ष-मार्गकी राह ली जहाँसे फिर लौटना नहीं पड़ता ॥२१॥

१. प्रा० पा०—किं नु स्यात्कर्म० । २. प्रा० पा०—बिलं सर्गं । ३. प्रा० पा०—तदविज्ञस्य । यही पाठ शुद्ध है । ४. प्रा० पा०—दर्शनम् । ५. प्रा० पा०—रूपम० ।

स्वरब्रह्मणि निर्भातहृषीकेशपदाम्बुजे ।
अखण्डं चित्तमावेश्य लोकाननुचरन्मुनिः ॥२२॥

तदनन्तर श्रीनारदजी भी स्वरब्रह्म (संगीत) में भासनेवाले भगवान् कृष्णके चरणकमलोंमें अपने चित्त-को अखण्डरूपसे स्थिरकर लोकान्तरोंमें विचरने लगे ॥२२॥

नाशं निशम्य पुत्राणां नारदाच्छीलशालिनाम् ।
अन्वतप्यत कः शोचन्सुप्रजस्त्वं शुचां पदम् ॥२३॥
स[2] भूयः पाञ्चजन्यायामजेन परिसान्त्वितः ।
पुत्रानजनयद्दक्षः शबलाश्वान्सहस्रशः ॥२४॥
तेऽपि पित्रा समादिष्टाः प्रजासर्गे धृतव्रताः ।
नारायणसरो जग्मुर्यत्र सिद्धाः स्वपूर्वजाः ॥२५॥
तदुपस्पर्शनादेव विनिर्धूतमलाशयाः ।
जपन्तो ब्रह्म परमं तेपुस्तेऽत्र महत्तपः ॥२६॥
अब्भक्षाः कतिचिन्मासान्कतिचिद्वायुभोजनाः ।
आराधयन्मन्त्रमिममभ्यस्यन्त इडस्पतिम् ॥२७॥
ॐ नमो नारायणाय पुरुषाय महात्मने ।
विशुद्धसत्त्वधिष्ण्याय महाहंसाय धीमहि ॥२८॥

इधर, नारदजीके उपदेशसे अपने शीलसम्पन्न पुत्रोंको कर्त्तव्यच्युत हुआ सुन प्रजापति दक्ष बहुत शोकाकुल हुए। सच है, सत्सन्तान भी शोकका ही कारण होती है ॥ २३ ॥ तदनन्तर ब्रह्माजीके समझाने-बुझानेपर उन्होंने अपनी भार्या पाञ्चजनीसे शबलाश्व नामक एक सहस्र पुत्र और उत्पन्न किये ॥ २४ ॥ वे भी पिताकी आज्ञा पाकर प्रजोत्पत्तिके सङ्कल्पसे नारायणसरोवरपर गये, जहाँ जाकर उनके अग्रजोंने सिद्धि प्राप्त की थी ॥ २५ ॥ उसमें स्नान करनेसे ही उनके अन्तःकरणका सब मल दूर हो गया और वे परब्रह्म (ॐकार) का जप करते हुए घोर तपस्या करने लगे ॥२६॥ कुछ मास केवल जल पीकर और फिर केवल वायु भक्षण कर उन्होंने इस नीचे लिखे मन्त्रका जप करते हुए मन्त्राधिपति भगवान्‌की आराधना की ॥ २७ ॥ 'ॐ परम पुरुष परमात्मा नारायणको नमस्कार है, उन विशुद्ध सत्त्वगुणके आश्रय परमहंस-स्वरूप परमेश्वरका हम ध्यान करते हैं' ॥ २८ ॥

इति तानपि राजेन्द्र प्रतिसर्गधियो[3] मुनिः ।
उपेत्य नारदः प्राह वाचःकूटानि पूर्ववत् ॥२९॥
दाक्षायणाः संशृणुत गदतो निगमं मम ।
अन्विच्छतानुपदवीं भ्रातॄणां भ्रातृवत्सलाः ॥३०॥
भ्रातॄणां प्रायणं भ्राता योऽनुतिष्ठति धर्मवित् ।
स पुण्यबन्धुः पुरुषो मरुद्भिः सह मोदते ॥३१॥
एतावदुक्त्वा प्रययौ नारदोऽमोघदर्शनः ।
तेऽपि चान्वगमन्मार्गं भ्रातणामेव मारिष ॥३२॥
सध्रीचीनं प्रतीचीनं परस्यानुपथं गताः ।

हे राजेन्द्र ! इस प्रकार सृष्टिवृद्धिकी कामनावाले उन शबलाश्वोंसे भी, एक दिन देवर्षि नारदने आकर, पहलेहीके समान कूट वचन कहकर यों कहा—॥२९॥ 'हे दक्षपुत्रो ! मैं तुम्हें जो उपदेश देता हूँ वह सुनो। हे भ्रातृवत्सलो ! तुम अपने भाइयोंके मार्गको देखो ॥३०॥ जो धर्मज्ञ भ्राता अपने भाइयोंके श्रेष्ठ मार्गका अनुसरण करता है वह पुण्यप्रिय पुरुष परलोकमें मरुद्गणके साथ आनन्द भोगता है' ॥ ३१ ॥

हे आर्य ! शबलाश्वगणसे ऐसा कह अमोघदर्शन नारदजी वहाँसे चले गये तथा उन राजकुमारोंने भी अपने भाइयोंका मार्ग पकड़ा ॥ ३२ ॥ वे अन्तर्मुखी वृत्तिसे प्राप्त होने योग्य समीचीन और परमेश्वरकी

१. प्रा० पा०—चरेन्मु० । २. प्रा० पा०—ततः स पाञ्च० । ३. प्रा० पा०—प्रजास० ।

नाद्यापि ते निवर्तन्ते पश्चिमा यामिनीरिव ॥३३॥

प्राप्तिके अनुकूल मार्गमें चलने लगे, जिससे बीती हुई रात्रिके समान वे अभीतक नहीं लौटे ॥ ३३ ॥

एतस्मिन्काल उत्पातान्बहून्पश्यन्प्रजापतिः ।
पूर्ववन्नारदकृतं पुत्रनाशमुपाशृणोत् ॥३४॥
चुक्रोध नारदायासौ पुत्रशोकविमूर्च्छितः ।
देवर्षिमुपलभ्याह रोषाद्विस्फुरिताधरः ॥३५॥

इसी समय बहुतसे उत्पात होते देख जब प्रजापति दक्षने नारदजीकी प्रेरणासे पहलेहीके समान अपने दूसरे पुत्रोंको भी कर्त्तव्यच्युत हुआ सुना तो वे पुत्र-शोकसे मूर्च्छित होकर नारदजीपर अत्यन्त कुपित हुए और उन्हें सामने पाकर इस प्रकार कहने लगे। इस समय क्रोधावेशके कारण उनके अधरपुट काँप रहे थे ॥ ३४-३५ ॥

दक्ष उवाच

अहो असाधो साधूनां साधुलिङ्गेन नस्त्वया ।
असाध्वकार्यर्भकाणां भिक्षोर्मार्गः प्रदर्शितः ॥३६॥
ऋणैस्त्रिभिरमुक्तानाममीमांसितकर्मणाम् ।
विघातः श्रेयसः पाप लोकयोरुभयोः कृतः ॥३७॥
एवं त्वं निरनुक्रोशो बालानां मतिभिद्धरेः ।
पार्षदमध्ये चरसि यशोहा निरपत्रपः ॥३८॥
ननु भागवता नित्यं भूतानुग्रहकातराः ।
ऋते त्वां सौहृदघ्नं वै वैरंकरमवैरिणाम् ॥३९॥
नेत्थं पुंसां विरागः स्यात्त्वया केवलिना मृषा ।
मन्यसे यद्युपशमं स्नेहपाशनिकृन्तनम् ॥४०॥
नानुभूय न जानाति पुमान्विषयतीक्ष्णताम् ।
निर्विद्येत स्वयं तस्मान्न तथा भिन्नधीः परैः ॥४१॥
यन्नस्त्वं कर्मसंधानां साधूनां गृहमेधिनाम् ।

दक्ष बोले—रे दुष्ट ! ऊपरसे साधुओंका-सा वेष धारण करनेवाले तूने मेरे साथ बहुत बुरा बर्ताव किया जो मेरे स्वधर्मपरायण पुत्रोंको संन्यासमार्गका उपदेश दिया ॥३६॥ अरे पापिष्ठ ! जो देव, ऋषि और पितृऋणसे उऋण* नहीं हुए तथा जिन्होंने कर्मके विषयमें भी कुछ विचार नहीं किया उन मेरे पुत्रोंके इह लोक और परलोक दोनों ही लोकोंमें प्राप्त होनेवाले श्रेयको तूने नष्ट कर दिया ॥ ३७ ॥ तू बालकोंकी बुद्धि बिगाड़नेवाला है, इसलिये बड़ा ही निर्दयी है। इस प्रकार भगवान्‌के यशको कलङ्कित करनेवाला होकर भी तू निर्लज्जता-पूर्वक उनके पार्षदोंमें रहता है ! ॥ ३८ ॥ अरे ! तेरे सिवा और सभी भगवद्भक्त सर्वदा सम्पूर्ण प्राणियों-पर कृपा करनेके लिये व्यग्र रहते हैं तू तो सौहार्द-का नाशक और वैर न करनेवालोंका भी वैरी है ॥३९॥ तू समझता है कि उनके अवधूतवेष धारण करनेसे ही स्नेहबन्धनका उच्छेद करनेवाली शान्ति प्राप्त हो जायगी सो तेरा यह विचार ठीक नहीं है, क्योंकि बिना ज्ञानोदय हुए केवल तेरे बहकानेसे ही उन्हें वैराग्य नहीं हो सकता [और बिना वैराग्यके उपशम तथा बिना उपशमके स्नेहबन्धनका उच्छेद नहीं हो सकता] ॥ ४० ॥ क्योंकि मनुष्य विषयोंका अनुभव किये बिना उनकी कटुताको नहीं जान सकता। इसलिये उनकी दुःखरूपताका स्वयं अनुभव करनेपर उसे जैसा वैराग्य होता है वैसा दूसरोंके बहकानेसे नहीं हो सकता ॥ ४१ ॥ धर्ममर्यादाका पालन करनेवाले

* ब्रह्मचर्यसे ऋषिऋण, यज्ञसे देवऋण और पुत्रोत्पत्तिसे पितृऋण उतरता है।

कृतवानसि दुर्मर्षं विप्रियं तव मर्षितम् ॥४२॥
तन्तुकृन्तन यन्नस्त्वमभद्रमचरः पुनः ।
तस्माल्लोकेषु ते मूढ न भवेद्भ्रमतः पदम् ॥४३॥

हम सद्गृहस्थोंका तूने जो पहले असह्य अप्रिय किया था उसे तो हमने सह लिया ॥ ४२ ॥ तथापि हे सन्ततिविनाशक ! तूने फिर भी हमारा अप्रिय ही किया, इसलिये हे मूढ़ ! सम्पूर्ण लोकोंमें विचरते हुए तेरे ठहरनेका कोई निश्चित स्थान न होगा ॥ ४३ ॥

श्रीशुक उवाच

प्रतिजग्राह तद्वाढं नारदः साधुसंमतः ।
एतावान्साधुवादो हि तितिक्षेतेश्वरः स्वयम् ॥४४॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! तब साधु-समाजमें, सम्मानित श्रीनारदजीने 'बहुत अच्छा' कह वह दक्षका शाप स्वीकार किया, क्योंकि संसारमें साधु वही कहलाता है जो समर्थ होकर भी दूसरेके अपराधको सहन कर ले ॥ ४४ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे षष्ठस्कन्धे नारदशापो नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

छठा अध्याय

दक्षप्रजापतिकी साठ कन्याओंके वंशका वर्णन ।

श्रीशुक उवाच

ततः प्राचेतसोऽसिक्न्यामनुनीतः स्वयंभुवा ।
षष्टिं संजनयामास दुहितॄः पितृवत्सलाः ॥ १ ॥
दश धर्माय कायेन्दोर्द्विषट् त्रिणव दत्तवान् ।
भूताङ्गिरःकृशाश्वेभ्यो द्वे द्वे तार्क्ष्याय चापराः ॥ २ ॥
नामधेयान्यमूषां त्वं सापत्यानां च मे शृणु ।
यासां प्रसूतिप्रसवैर्लोका आपूरितास्त्रयः ॥ ३ ॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! तदनन्तर श्रीब्रह्माजीके कहने-सुननेसे प्रजापति दक्षने अपनी भार्या असिक्नीसे साठ पितृपरायणा कन्याएँ उत्पन्न कीं ॥ १ ॥ उनमेंसे दश धर्मको, तेरह कश्यपको, सत्ताईस चन्द्रमाको, दो-दो भूत, अङ्गिरा और कृशाश्व-को तथा शेष चार तार्क्ष्यको विवाह दीं ॥ २ ॥ हे राजन् ! उन दक्षकन्याओंके तथा उनकी सन्तानोंके नाम तुम मुझसे सुनो जिनकी सन्ततिकी सन्तानोंसे ये तीनों लोक परिपूर्ण हो गये ॥ ३ ॥

भानुर्लम्बा ककुब्जामिर्विश्वा साध्या मरुत्वती ।
वसुर्मुहूर्ता संकल्पा धर्मपत्न्यः सुताञ्छृणु ॥ ४ ॥
भानोस्तु देवऋषभ इन्द्रसेनस्ततो नृप ।
विद्योत आसील्लम्बायास्ततश्च स्तनयित्नवः ॥ ५ ॥
ककुभः संकटस्तस्य कीकटस्तनयो यतः ।

भानु, लम्बा, ककुप्, जामि, विश्वा, साध्या, मरुत्वती, वसु, मुहूर्ता और सङ्कल्पा—ये धर्मकी स्त्रियाँ थीं । उनके पुत्रोंके नाम सुनो ॥ ४ ॥ हे नृप ! भानुका पुत्र देवऋषभ था और उसका इन्द्रसेन । लम्बाका पुत्र विद्योत हुआ और उसके स्तनयित्नु नामक पुत्र हुए ॥ ५ ॥ ककुभका पुत्र सङ्कट, उसका कीकट और

१. प्रा० पा०—दक्षान्नारदशापः पञ्च० । २. प्रा० पा०—कश्यपाय द्वि० । ३. प्रा० पा०—प्रभवै० । ४. प्रा० पा०—वेद० । ५. प्रा० पा०—ककुदः ।

भुवो दुर्गाणि जामेयः स्वर्गो नन्दिस्ततोऽभवत् ॥ ६ ॥
विश्वेदेवास्तु विश्वाया अप्रजांस्तान्प्रचक्षते ।
साध्यो गणस्तु साध्यायां अर्थसिद्धिस्तु तत्सुतः ॥ ७॥
मरुत्वांश्च[2] जयन्तश्च मरुत्वत्यां बभूवतुः ।
जयन्तो वासुदेवांश उपेन्द्र इति यं विदुः ॥ ८ ॥
मौहूर्तिका देवगणा मुहूर्तायाश्च जज्ञिरे ।
ये वै फलं प्रयच्छन्ति भूतानां स्वस्वकालजम् ॥ ९ ॥
संकल्पायाश्च संकल्पः कामः संकल्पजः स्मृतः[3] ।
वसवोऽष्टौ वसोः पुत्रास्तेषां नामानि मे शृणु ॥१०॥
द्रोणः प्राणो ध्रुवोऽर्कोऽग्निर्दोषो वसुर्विभावसुः ।
द्रोणस्याभिमतेः[4] पत्न्या हर्षशोकभयादयः ॥११॥
प्राणस्योर्जस्वती भार्या सह आयुः पुरोजवः ।
ध्रुवस्य भार्या धरणिरसूत विविधाः पुरः ॥१२॥
अर्कस्य वासना भार्या पुत्रास्तर्षादयः स्मृताः ।
अग्नेर्भार्या वसोर्धारा पुत्रा द्रविणकादयः ॥१३॥
स्कन्दश्च कृत्तिकापुत्रो ये विशाखादयस्ततः ।
दोषस्य शर्वरीपुत्रः शिशुमारो हरेः कला ॥१४॥
वसोराङ्गिरसीपुत्रो[5] विश्वकर्मा कृतीपतिः ।
ततो मनुश्चाक्षुषोऽभूद्विश्वे साध्या मनोः सुताः ॥१५॥
विभावसोरसूतोषा व्युष्टं रोचिषमातपम् ।
पञ्चयामोऽथ भूतानि येन जाग्रति कर्मसु ॥१६॥

सरूपासूत[6] भूतस्य भार्या रुद्रांश्च कोटिशः ।
रैवतोऽजो भवो भीमो वाम उग्रो वृषाकपिः ॥१७॥
अजैकपादहिर्बुध्न्यो बहुरूपो महानिति ।

कोकटके पुत्र सम्पूर्ण दुर्गाभिमानी देवता थे तथा जामिसे स्वर्ग और उससे नन्दिका जन्म हुआ ॥ ६ ॥ विश्वाके विश्वेदेव नामक पुत्र हुए; कहते हैं, उनके सन्तान नहीं हुई । साध्यासे साध्यगण हुए और उनके अर्थसिद्धि नामक पुत्र हुआ ॥ ७ ॥ मरुत्वतीसे मरुत्वान् और जयन्त ये दो पुत्र हुए । उनमें जयन्त भगवान् वासुदेवका अंश है, जिसको उपेन्द्र नामसे भी लोग जानते हैं ॥ ८ ॥ मुहूर्तासे मुहूर्तके अभिमानी देवता उत्पन्न हुए जो जीवोंको अपने-अपने समयपर [उनके कर्मानुसार] फल देते रहते हैं ॥ ९ ॥ संकल्पासे संकल्प हुआ, इस संकल्पका पुत्र काम कहा जाता है । वसुके पुत्र आठ वसु हुए; उनके नाम हमसे सुनो—॥ १० ॥ वे द्रोण, प्राण, ध्रुव, अर्क, अग्नि, दोष, वसु और विभावसु थे । उनमेंसे द्रोणके अभिमति नामकी स्त्रीसे हर्ष, शोक और भय आदिका जन्म हुआ ॥ ११ ॥ प्राणकी भार्या ऊर्जस्वतीके सह, आयु और पुरोजव नामक तीन पुत्र हुए और ध्रुवकी पत्नी धरणीने अनेक नगरोंको जन्म दिया ॥ १२ ॥ अर्ककी पत्नी वासना थी उसके तर्ष आदि पुत्र कहे जाते हैं तथा अग्नि नामक वसुकी पत्नी धारा थी जिससे द्रविणकादि कई पुत्र उत्पन्न हुए । कृत्तिकापुत्र स्कन्द भी अग्निसे उत्पन्न हुए । उससे विशाख आदिका जन्म हुआ । तथा दोषके शर्वरीके गर्भसे भगवान्का अंशरूप शिशुमार हुआ ॥ १३-१४ ॥ वसुकी स्त्री आङ्गिरसीसे शिल्पकारोंके अधिपति विश्वकर्माजी हुए । उनके पुत्र चाक्षुष मनु हुए और मनुके विश्वेदेव और साध्यगणका जन्म हुआ ॥ १५ ॥ विभावसुकी स्त्री उषासे व्युष्ट, रोचिष् और आतप ये तीन पुत्र उत्पन्न हुए । उनमेंसे आतपके पञ्चयाम (पाँच पहर-वाला दिन) नामक पुत्र हुआ जिसके कारण सब जीव कर्मोंमें तत्पर होते हैं ॥ १६ ॥

[दक्षकी अन्य कन्याओंमें] भूतकी भार्या सरूपाने करोड़ों रुद्रोंको उत्पन्न किया उनमेंसे रैवत, अज, भव, भीम, वाम, उग्र, वृषाकपि, अजैक-पाद, अहिर्बुध्न्य, बहुरूप और महान् ये ग्यारह मुख्य

१. प्रा० पा०—यामर्थ० । २. प्रा० पा०—त्वांस्तु । ३. प्रा० पा०—सुतः । ४. प्रा० पा०—मताः । ५. प्रा० पा०—रसः पु० । ६. प्रा० पा०—सुरूपा० ।

रुद्रस्य पार्षदाश्चान्ये घोरा[1] भूतविनायकाः ॥१८॥
प्रजापतेरङ्गिरसः स्वधा पत्नी पितॄनथ ।
अथर्वाङ्गिरसं वेदं[2] पुत्रत्वे चाकरोत्सती ॥१९॥
कृशाश्वोऽर्चिषि भार्यायां धूम्रकेशमजीजनत् ।
धिषणायां[3] वेदशिरो देवलं वयुनं मनुम् ॥२०॥

हुए । तथा उनकी दूसरी पत्नीसे भयंकर भूत और विनायकादिका जन्म हुआ जो रुद्रके पार्षद हुए ॥१७-१८॥ अंगिरा प्रजापतिकी प्रथम पत्नी स्वधाने पितृगणको और दूसरी भार्या सतीने अथर्वांगिरस नामक एक वेदको पुत्ररूपसे स्वीकार किया ॥१९॥ [इसी प्रकार] कृशाश्वने अर्चि नामकी भार्यासे धूम्रकेश और धिषणासे वेदशिरा, देवल, वयुन और मनु—ये चार पुत्र उत्पन्न किये ॥२०॥

तार्क्ष्यस्य विनता कद्रूः पतङ्गी यामिनी इति ।
पतङ्ग्यसूत पतगान्यामिनी शलभानथ ॥२१॥
सुपर्णासूत गरुडं साक्षाद्यज्ञेशवाहनम् ।
सूर्यसूतमनूरुं च कद्रूर्नागाननेकशः ॥२२॥

तार्क्ष्यके विनता, कद्रू, पतंगी और यामिनी—ये चार स्त्रियाँ थीं । उनमेंसे पतंगीने पक्षियोंको और यामिनीने शलभोंको जन्म दिया ॥२१॥ तथा सुपर्णा (विनता) से साक्षात् भगवान् विष्णुके वाहन गरुड़जी और सूर्यदेवके सारथी अरुणजी हुए और कद्रूके बहुतसे नाग उत्पन्न हुए ॥२२॥

कृत्तिकादीनि नक्षत्राणीन्दोः पत्न्यस्तु भारत ।
दक्षशापात्सोऽनपत्यस्तासु यक्ष्मग्रहार्दितः ॥२३॥
पुनः प्रसाद्य तं सोमः कला लेभे क्षये दिताः ।
शृणु नामानि लोकानां मातॄणां[4] शङ्कराणि च ॥२४॥
अथ कश्यपपत्नीनां यत्प्रसूतमिदं जगत् ।
अदितिर्दितिर्दनुः काष्ठा अरिष्टा सुरसा इला[5] ॥२५॥
मुनिः क्रोधवशा ताम्रा सुरभिः सरमा तिमिः ।
तिमेर्यादोगणा आसञ्छ्वापदाः सरमासुताः ॥२६॥
सुरभेर्महिषा गावो ये चान्ये द्विशफा नृप ।
ताम्रायाः श्येनगृध्राद्या[5] मुनेरप्सरसां गणाः ॥२७॥
दन्दशूकादयः सर्पा राजन् क्रोधवशात्मजाः ।
इलाया[6] भूरुहाः सर्वे यातुधानाश्च सौरसाः ॥२८॥
अरिष्टायाँश्च गन्धर्वाः काष्ठाया द्विशफेतराः ।

हे भरतनन्दन ! कृत्तिका आदि (सत्ताईस) नक्षत्र चन्द्रमाकी पत्नियाँ हैं । दक्षके शापसे चन्द्रदेवको क्षय रोग हो गया था इसलिये उन पत्नियोंसे उनके कोई सन्तान नहीं हुई ॥२३॥ दक्षको फिर प्रसन्न करनेपर उन्हें कृष्णपक्षमें क्षीण हुई कलाओंके [शुक्लपक्षमें] पूर्ण हो जानेका वरदान मिला [सन्तान तब भी प्राप्त न हुई] । अब जिनसे यह सम्पूर्ण जगत् उत्पन्न हुआ है उन लोकमाता कश्यपपत्नियोंके मंगलमय नाम सुनो । वे अदिति, दिति, दनु, काष्ठा, अरिष्टा, सुरसा, इला, मुनि, क्रोधवशा, ताम्रा, सुरभि, सरमा और तिमि थीं । उनमें तिमिके पुत्र जलचरगण थे और सरमाके व्याघ्रादि श्वापदगण ॥२४–२६॥ हे नृप ! सुरभिके महिष, गौ तथा अन्य दो खुरवाले पशु उत्पन्न हुए, ताम्राके बाज और गृध्र आदि हुए तथा मुनि नामक पत्नीसे अप्सराओंके समुदायने जन्म लिया ॥२७॥ हे राजन् ! दन्दशूक आदि सर्पगण क्रोधवशाके पुत्र हैं, सम्पूर्ण वृक्ष इलाकी सन्तान हैं और राक्षसगण सुरसासे उत्पन्न हुए हैं ॥२८॥ अरिष्टाके पुत्र गन्धर्वगण हैं और काष्ठाके [अश्व आदि] एक खुरवाले पशु ।

१. प्रा० पा०—राः प्रेत० । २. प्रा० पा०—देवं । ३. प्रा० पा०—धिषणा वेदशिरसं । ४. प्रा० पा०—इरा । ५. प्रा० पा०—गृध्रश्येनाद्याः । ६. प्रा० पा०—इराया । ७. प्रा० पा०—यास्तु ।

सुता दनोरेकषष्टिस्तेषां प्राधानिकांञ्छृणु[1] ॥२९॥
द्विमूर्धा शम्बरोऽरिष्टो हयग्रीवो विभावसुः ।
अयोमुखः शङ्कुशिराः स्वर्भानुः कपिलोऽरुणः ॥३०॥
पुलोमा वृषपर्वा च एकचक्रोऽनुतापनः ।
धूमकेशो विरूपाक्षो विप्रचित्तिश्च[2] दुर्जयः ॥३१॥
स्वर्भानोः सुप्रभां कन्यामुवाह नमुचिः किल ।
वृषपर्वणस्तु शर्मिष्ठां ययातिर्नाहुषो बली ॥३२॥
वैश्वानरसुता याश्च चतस्रश्चारुदर्शनाः ।
उपदानवी हयशिरा पुलोमा कालका तथा ॥३३॥
उपदानवीं हिरण्याक्षः क्रतुर्हयशिरां नृप ।
पुलोमां कालकां च द्वे वैश्वानरसुते तु कः ॥३४॥
उपयेमेऽथ[3] भगवान्कश्यपो ब्रह्मचोदितः ।
पौलोमाः कालकेयाश्च दानवा युद्धशालिनः ॥३५॥
तयोः षष्टिसहस्राणि यज्ञघ्नांस्ते पितुः पिता ।
जघान स्वर्गतो राजन्नेक इन्द्रप्रियङ्करः ॥३६॥
विप्रचित्तिः सिंहिकायां शतं चैकमजीजनत्[5] ।
राहुज्येष्ठं केतुशतं ग्रहत्वं य उपागताः ॥३७॥
अथातः श्रूयतां वंशो योऽदितेरनुपूर्वशः ।
यत्र नारायणो देवः स्वांशेनावतरद्विभुः ॥३८॥
विवस्वानर्यमा पूषा त्वष्टाथ सविता भगः ।
धाता विधाता वरुणो मित्रः शक्र उरुक्रमः ॥३९॥
विवस्वतः श्राद्धदेवं संज्ञासूयत वै मनुम् ।
मिथुनं च महाभागा यमं देवं यमीं तथा ।
सैव भूत्वाथ वडवा नासत्यौ सुषुवे भुवि[6] ॥४०॥
छाया शनैश्चरं लेभे सावर्णिं च मनुं ततः ।
कन्यां च तपतीं या वै वव्रे संवरणं पतिम् ॥४१॥

दनुके इकसठ पुत्र हुए, उनमेंसे प्रधान-प्रधान दानवोंके नाम सुनो—॥२९॥ वे द्विमूर्धा, शम्बर, अरिष्ट, हयग्रीव, विभावसु, अयोमुख, शङ्कुशिरा, स्वर्भानु, कपिल, अरुण, पुलोम, वृषपर्वा, एकचक्र, अनुतापन, धूमकेश, विरूपाक्ष, विप्रचित्ति और दुर्जय हैं ॥ ३०-३१ ॥

कहते हैं, स्वर्भानुकी कन्या सुप्रभासे नमुचिने और वृषपर्वाकी पुत्री शर्मिष्ठासे महाबली नहुषनन्दन ययातिने विवाह किया था ॥३२॥ वैश्वानर दानवकी जो उपदानवी, हयशिरा, पुलोमा और कालका नामकी चार परम सुन्दरी पुत्रियाँ थीं उनमेंसे उपदानवीसे हिरण्याक्षने और हयशिरासे क्रतुने विवाह किया तथा पुलोमा और कालका इन दो वैश्वानर-पुत्रियोंको भगवान् ब्रह्माजीकी आज्ञासे कश्यपजीने विवाहा । उनसे पौलोम और कालकेय नामक साठ सहस्र रणवीर दानव हुए । वे यज्ञकर्ममें विघ्न डालते थे इसलिये हे राजन् ! इन्द्रका प्रिय करनेवाले तुम्हारे पितामह अर्जुनने स्वर्गमें रहते समय अकेले ही जाकर उनका वध किया ॥३३–३६॥ विप्रचित्तिने सिंहिकाके गर्भसे एक सौ एक पुत्र उत्पन्न किये जिनमें बड़ा राहु था और शेष सौ केतु कहलाते थे । ये सब ग्रह हो गये ॥३७॥

अब क्रमशः अदितिके वंशका वर्णन सुनो, जिसमें सर्वव्यापक श्रीनारायणदेवने अपने अंशसे अवतार लिया था ॥३८॥ विवस्वान्, अर्यमा, पूषा, त्वष्टा, सविता, भग, धाता, विधाता, वरुण, मित्र, शक्र और उरुक्रम—ये बारह आदित्य अदितिके पुत्र थे ॥३९॥ विवस्वान्के वीर्यसे उनकी भार्या महाभागा संज्ञाने श्राद्धदेव मनुको तथा यम और यमी इन दोनोंको उत्पन्न किया । फिर उसीने घोड़ीका रूप धारण कर दो अश्विनीकुमारोंको जन्म दिया ॥४०॥ विवस्वान्की दूसरी पत्नी छायाके शनैश्चर और सावर्णि मनु नामक दो पुत्र और तपती नामकी कन्या—ये तीन सन्तान हुईं । तपतीने संवरणको पतिरूपसे वरण किया ॥४१॥

१. प्रा० पा०—कं शृ० । २. प्रा० पा०—चित्तिः सुदु० । ३. प्रा० पा०—मे स । ४. प्रा० पा०—सर्वे । ५. प्रा० पा०—शतमेकम० । ६. प्रा० पा०—शुचिः ।

अर्यम्णो मातृका पत्नी तयोश्चर्षणयः सुताः ।
यत्र वै मानुषी जातिर्ब्रह्मणा चोपकल्पिता[1] ॥४२॥
पूषानपत्यः पिष्टादो भग्नदन्तोऽभवत्पुरा ।
योऽसौ दक्षाय कुपितं[2] जहास विवृतद्विजः ॥४३॥
त्वष्टुर्दैत्यानुजा भार्या रचना[3] नाम कन्यका ।
संनिवेशस्तयोर्जज्ञे विश्वरूपश्च वीर्यवान् ॥४४॥
तं वव्रिरे सुरगणा दौहित्रं द्विषतामपि ।
विमतेन परित्यक्ता गुरुणाङ्गिरसेन यत् ॥४५॥

अर्यमाकी पत्नी मातृका थी। उन दोनों दम्पतिके पुत्र चर्षणी (कृताकृतज्ञानयुक्त मनुष्य) हुए जिनमें ब्रह्माजीने मनुष्यजाति (ब्राह्मणादि वर्णों) की कल्पना की ॥४२॥ पूषाके कोई सन्तान नहीं हुई, वे दाँत न होनेके कारण पिसा अन्न खानेवाले हैं। पूर्व कालमें वे दक्षपर कुपित हुए महादेवजीकी ओर दाँत निकालकर हँसे थे, इसी अपराधसे उनके दाँत तोड़ दिये गये थे ॥४३॥

दैत्योंकी छोटी बहिन कुमारी रचना त्वष्टाकी भार्या थी। उन दम्पतियोंसे संनिवेश और महापराक्रमी विश्वरूपका जन्म हुआ ॥४४॥ विश्वरूप देवताओंके शत्रुओंके दौहित्र (धेवते) थे तो भी, जिस समय इन्द्रसे अपमानित होनेपर देवगुरु बृहस्पतिजीने देवताओंको त्याग दिया उस समय देवताओंने उन्हें अपना पुरोहित बनाया ॥४५॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे षष्ठस्कन्धे
षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

सातवाँ अध्याय

बृहस्पतिजीका अपमान करनेसे देवताओंका ऐश्वर्यभ्रष्ट होना और विश्वरूपको अपना पुरोहित बनाना।

राजोवाच

कस्य[4] हेतोः परित्यक्ता आचार्येणात्मनः सुराः[5] ।
एतदाचक्ष्व भगवञ्छिष्याणामक्रमं गुरौ ॥ १ ॥

श्रीशुक[6] उवाच

इन्द्रस्त्रिभुवनैश्वर्यमदोल्लङ्घितसत्पथः ।
मरुद्भिर्वसुभी रुद्रैरादित्यैर्ऋभुभिर्नृप[7] ॥ २ ॥
विश्वेदेवैश्च साध्यैश्च नासत्याभ्यां परिश्रितः ।
सिद्धचारणगन्धर्वैर्मुनिभिर्ब्रह्मवादिभिः ॥ ३ ॥
विद्याधराप्सरोभिश्च किन्नरैः पतगोरगैः ।
निषेव्यमाणो मघवान्स्तूयमानश्च भारत ॥ ४ ॥

राजा परीक्षित्‌ने पूछा—भगवन् ! आचार्य बृहस्पतिजीने अपने प्रिय शिष्य देवताओंको किस कारणसे त्याग दिया था; उनसे अपने गुरुका ऐसा क्या अपराध हुआ, सो आप मुझसे कहिये ॥ १ ॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! त्रिलोकीके ऐश्वर्यमदसे मोहित होकर जिसने सन्मार्गको छोड़ दिया था वह इन्द्र अर्धासनपर बैठी हुई पुलोमकन्या (इन्द्राणी) के सहित अपनी सभामें एक उच्च राजसिंहासनपर विराजमान था। मरुत्, वसु, रुद्र, आदित्य, ऋभु, विश्वेदेव और साध्यगण तथा दोनों अश्विनीकुमार उसकी सेवामें उपस्थित थे। सिद्ध, चारण, गन्धर्व, ब्रह्मवादी मुनिगण, विद्याधर, अप्सरा, किन्नर, पक्षी और नाग उसकी सेवा

१. प्रा० पा०—सुसमाहिता। २. प्रा० पा०—कुपितो। ३. प्रा० पा०—चरमा। ४. प्रा० पा०—यस्य। ५. प्रा० पा०—सुताः। ६. प्रा० पा०—श्रीबादरायणिरुवाच। ७. प्रा० पा०—षिभिर्नृप।

उपगीयमानो ललितमास्थानाध्यासनाश्रितः ।
पाण्डुरेणातपत्रेण चन्द्रमण्डलचारुणा ॥ ५ ॥
युक्तश्चान्यैः पारमेष्ठ्यैश्चामरव्यजनादिभिः ।
विराजमानः पौलोम्या सहार्धासनया भृशम् ॥ ६ ॥
स यदा परमाचार्यं देवानामात्मनश्च ह ।
नाभ्यनन्दत संप्राप्तं प्रत्युत्थानासनादिभिः ॥ ७ ॥
वाचस्पतिं मुनिवरं सुरासुरनमस्कृतम् ।
नोच्चचालासनादिन्द्रः पश्यन्नपि सभागतम् ॥ ८ ॥
ततो निर्गत्य सहसा कविराङ्गिरसः प्रभुः ।
आययौ स्वगृहं तूष्णीं विद्वाञ्छ्रीमदविक्रियाम् ॥ ९ ॥

तर्ह्येव प्रतिबुद्ध्येन्द्रो गुरुहेलनमात्मनः ।
गर्हयामास सदसि स्वयमात्मानमात्मना ॥ १० ॥
अहो बत मयासाधु कृतं वै दभ्रबुद्धिना ।
यन्मयैश्वर्यमत्तेन गुरुः सदसि कात्कृतः ॥ ११ ॥
को गृध्येत्पण्डितो लक्ष्मीं त्रिविष्टपपतेरपि ।
ययाहमासुरं भावं नीतोऽद्य विबुधेश्वरः ॥ १२ ॥
ये पारमेष्ठ्यं धिषणमधितिष्ठन्न[1] कश्चन ।
प्रत्युत्तिष्ठेदिति ब्रूयुर्धर्मं ते न परं विदुः ॥ १३ ॥
तेषां कुपथदेष्टॄणां पततां तमसि ह्यधः ।
ये श्रद्दध्युर्वचस्ते वै मज्जन्त्यश्मप्लवा इव ॥ १४ ॥
अथाहममराचार्यमगाधधिषणं द्विजम् ।
प्रसादयिष्ये निशठः शीर्ष्णा तच्चरणं स्पृशन् ॥ १५ ॥

एवं चिन्तयतस्तस्य मघोनो भगवान्गृहात् ।
बृहस्पतिर्गतोऽदृष्टां गतिमध्यात्ममायया ॥ १६ ॥

तथा स्तुति कर रहे थे। सब ओर उसकी कीर्तिका ललित स्वरमें गान हो रहा था। ऊपर चन्द्रमण्डलके समान अति सुन्दर श्वेत छत्र सुशोभित था तथा अति श्रेष्ठ चामर-व्यजन आदि महाराजोचित चिह्नोंकी अपूर्व छटा छायी हुई थी ॥ २–६ ॥ इसी समय वहाँ बृहस्पतिजी आये। अपने और देवताओंके परम गुरु उन सुरासुरवन्दित मुनिश्रेष्ठको सभामें उपस्थित देखकर भी जब इन्द्रने उनका प्रत्युत्थान (आसनसे उठना) और आसनादिसे सत्कार नहीं किया और न अपने आसनसे ही हिला तो परम समर्थ त्रिकालदर्शी विद्वान् बृहस्पतिजी उस सभासे उसी समय बाहर चले गये। और 'यह ऐश्वर्यमदका दोष है' ऐसा समझकर चुपचाप अपने घर आ गये ॥ ७–९ ॥

इसी समय जब इन्द्रको चेत हुआ और उसने जाना कि मैंने गुरुकी अवज्ञा की है तो वह उस सभामें स्वयं ही अपनी निन्दा करने लगा ॥ १० ॥ वह बोला—'हाय ! मुझ मन्दमतिसे यह बड़ा अपराध हुआ जो मैंने ऐश्वर्यमदसे अन्धे होकर भरी सभामें गुरुका अनादर किया ! ॥ ११ ॥ जिसके कारण मोहग्रस्त हो जानेसे परमसात्त्विक देवताओंका अधिपति होनेपर भी मेरा ऐसा आसुरी भाव हो गया उस इन्द्रलक्ष्मीकी इच्छा कौन बुद्धिमान् करेगा ॥ १२ ॥ जो लोग यह कहते हैं कि सार्वभौम सिंहासनपर बैठा हुआ सम्राट् किसीके भी आनेपर न उठे वे उत्तम धर्मको नहीं जानते ॥ १३ ॥ इस प्रकार कुमार्गका उपदेश देनेवाले और घोर नरकमें जानेवाले उन मूर्खोंके वचनोंमें जो विश्वास करते हैं वे पत्थरसे भरी हुई नौकापर बैठे हुए पुरुषोंके समान बीचहीमें डूब जाते हैं ॥ १४ ॥ अतः अब मैं शठताको छोड़कर अगाधबुद्धि द्विजश्रेष्ठ देवगुरुको, उनके चरणोंपर शिर रखकर मनाऊँगा ॥ १५ ॥

इन्द्र इस प्रकार सोच ही रहे थे कि इसी बीचमें भगवान् बृहस्पतिजी घरसे निकलकर अपने योगबलसे अन्तर्धान हो गये ॥ १६ ॥

१. प्रा० पा०—ष्ठन् कथञ्चन ।

गुरोर्नाधिगतः संज्ञां परीक्षन्भगवान्स्वराट् ।
ध्यायन्धिया सुरैर्युक्तः[1] शर्म नालभतात्मनः ॥१७॥

जब बहुत ढूँढ़नेपर भी गुरुजीका कुछ पता न लगा तो भगवान् इन्द्र अन्य देवताओंके साथ मिलकर अपनी रक्षाका उपाय सोचने लगे, किन्तु अपनी बुद्धिसे कुछ भी निश्चय न हो सकनेके कारण उनका चित्त शान्त न हुआ ॥ १७ ॥

तच्छ्रुत्वैवासुराः सर्व आश्रित्यौशनसं मतम् ।
देवान्प्रत्युद्यमं चक्रुर्दुर्मदा आततायिनः ॥१८॥
तैर्विसृष्टेषुभिस्तीक्ष्णैर्[2]निर्भिन्नाङ्गोरुबाहवः ।
ब्रह्माणं शरणं जग्मुः सहेन्द्रा नतकन्धराः ॥१९॥
तांस्तथाभ्यर्दितान्वीक्ष्य भगवानात्मभूरजः ।
कृपया परया देव उवाच परिसान्त्वयन् ॥२०॥

यह सब प्रसङ्ग सुनकर मदोन्मत्त और आततायी असुरोंने शुक्राचार्यजीकी सम्मतिसे [अस्त्र-शस्त्रसे सुसज्जित हो] देवताओंपर चढ़ाई कर दी ॥ १८ ॥ उनके छोड़े हुए तीखे बाणोंसे सब अङ्ग तथा जङ्घा और बाहु आदिके छिन्न-भिन्न हो जानेसे इन्द्रके सहित सम्पूर्ण देवगण शिर झुकाये हुए श्रीब्रह्माजीकी शरणमें गये ॥ १९ ॥ देवताओंको इस प्रकार अत्यन्त पीडित देख स्वयम्भू भगवान् ब्रह्माजीने अत्यन्त कृपापूर्वक उन्हें धीरज बँधाते हुए कहा ॥ २० ॥

ब्रह्मोवाच

अहो बत सुरश्रेष्ठा ह्यभद्रं वः कृतं महत् ।
ब्रह्मिष्ठं ब्राह्मणं दान्तमैश्वर्यान्नाभ्यनन्दत ॥२१॥
तस्यायमनयस्यासीत्परेभ्यो वः पराभवः ।
प्रक्षीणेभ्यः स्ववैरिभ्यः समृद्धानां च यत्सुराः ॥२२॥
मघवन्द्विषतः पश्य प्रक्षीणान्गुर्वतिक्रमात् ।
सम्प्रत्युपचितान्भूयः काव्यमाराध्य भक्तितः ।
आददीरन्निलयनं ममापि भृगुदेवताः ॥२३॥
त्रिविष्टपं किं गणयन्त्यभेद्य-
मन्त्रा भृ[3]गूणामनुशिक्षितार्थाः ।
न विप्रगोविन्दगवीश्वराणां
भवन्त्यभद्राणि नरेश्वराणाम् ॥२४॥
तद्विश्वरूपं भजताशु विप्रं
तपस्विनं त्वाष्ट्रमथात्मवन्तम् ।
सभाजितोऽर्थान्स विधास्यते वो
यदि क्षमिष्यध्वमुतास्य कर्म ॥२५॥

श्रीब्रह्माजी बोले—अहो देवगण ! खेद है ! तुमने बड़ा बुरा किया जो ऐश्वर्यमदसे अन्धे होकर जितेन्द्रिय और ब्रह्मनिष्ठ ब्राह्मणका सत्कार नहीं किया ॥ २१ ॥ तुमलोग समृद्धिशाली होकर भी अपने शक्तिहीन शत्रुओंसे हार गये—यह तुम्हारे उस अन्यायका ही फल है ॥ २२ ॥ हे इन्द्र ! गुरुका अपमान करनेसे क्षीण होनेवाले अपने शत्रुओंको ही देखो, आज वे ही गुरु शुक्राचार्यकी भक्तिपूर्वक आराधना करनेसे फिर उन्नत हो गये हैं । अधिक क्या, कुछ दिनोंमें ये शुक्रभक्त असुरगण मेरे लोकको भी छीन लेंगे ॥ २३ ॥ शुक्राचार्यजीसे अर्थसिद्धिकी शिक्षा पाये हुए ये अविचलित मन्त्रणावाले असुरगण इस समय स्वर्गको समझते ही क्या हैं ? सच है, गौ, ब्राह्मण और भगवान् जिनके सहायक होते हैं उन नरश्रेष्ठोंका अमङ्गल नहीं हो सकता ॥ २४ ॥ इसलिये तुम शीघ्र ही त्वष्टाके पुत्र विश्वरूपके पास जाओ । वह ब्राह्मण तपस्वी और आत्मज्ञानी है । यदि तुम उसके [असुर-पक्षपातरूप] कर्मको सहन कर सकोगे तो तुमसे सम्मानित होनेपर वह तुम्हारे सब कार्य सिद्ध कर देगा ॥ २५ ॥

१. प्रा० पा०—ऋचा युक्तः । २. प्रा० पा०—स्तिग्मैर्नि० । ३. प्रा० पा०—गुरूणा० ।

श्रीशुक उवाच

त एवमुदिता राजन्ब्रह्मणा विगतज्वराः ।
ऋषिं त्वाष्ट्रमुपव्रज्य परिष्वज्येदमब्रुवन् ॥२६॥

देवा ऊचुः

वयं तेऽतिथयः प्राप्ता आश्रमं भद्रमस्तु ते ।
कामः सम्पाद्यतां तात पितॄणां समयोचितः ॥२७॥
पुत्राणां हि परो धर्मः पितृशुश्रूषणं सताम् ।
अपि पुत्रवतां ब्रह्मन्किमुत ब्रह्मचारिणाम् ॥२८॥
आचार्यो ब्रह्मणो मूर्तिः पिता मूर्तिः प्रजापतेः ।
भ्राता मरुत्पतेर्मूर्तिर्माता साक्षात्क्षितेस्तनुः ॥२९॥
दयाया भगिनी मूर्तिर्धर्मस्यात्मातिथिः स्वयम् ।
अग्नेरभ्यागतो मूर्तिः सर्वभूतानि चात्मनः ॥३०॥
तस्मात्पितॄणामार्तानामार्तिं परपराभवम् ।
तपसापनयंस्तात सन्देशं कर्तुमर्हसि ॥३१॥
वृणीमहे त्वोपाध्यायं ब्रह्मिष्ठं ब्राह्मणं गुरुम् ।
यथाञ्जसा विजेष्यामः सपत्नांस्तव तेजसा ॥३२॥
न गर्हयन्ति ह्यर्थेषु यविष्ठाङ्घ्र्यभिवादनम् ।
छन्दोभ्योऽन्यत्र न ब्रह्मन्वयो ज्यैष्ठ्यस्य कारणम् ३३

ऋषिरुवाच

अभ्यर्थितः सुरगणैः पौरोहित्ये महातपाः ।
स विश्वरूपस्तानाह प्रसन्नः[1] श्लक्ष्णया गिरा ॥३४॥

विश्वरूप उवाच

विगर्हितं धर्मशीलैर्ब्रह्मवर्चउपव्ययम् ।

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! ब्रह्माजीके इस प्रकार कहनेपर देवताओंकी चिन्ता दूर हो गयी और वे विश्वरूप ऋषिके पास जा उन्हें हृदयसे लगाकर यों कहने लगे ॥ २६ ॥

देवगण बोले—हे तात ! तुम्हारा कल्याण हो । हम तुम्हारे आश्रमपर अतिथि होकर आये हैं । अतः तुम अपने पितृगणकी समयोचित कामना पूर्ण करो ॥ २७ ॥ सन्तानयुक्त पुत्रोंका भी सबसे बड़ा धर्म अपने पितृगणकी सेवा करना ही है फिर ब्रह्मचारियोंकी तो बात ही क्या है ? ॥ २८ ॥ आचार्य (मन्त्रदाता) वेदकी, पिता ब्रह्माजीकी, भाई मरुत्पति इन्द्रकी और माता साक्षात् पृथिवीकी मूर्ति है ॥२९॥ इसी प्रकार बहिन दयाकी, अतिथि धर्मकी, अभ्यागत अग्निकी और सकल जीव अपने आत्माकी ही मूर्ति हैं ॥ ३० ॥ हे तात ! हम तुम्हारे पितृगण हैं, अपने शत्रुओंसे तिरस्कृत होनेके कारण हम बहुत दुःखी हैं । अतः अपने तपोबलसे हमारे इस सङ्कटको दूर करते हुए तुम हमारी आज्ञाका पालन करो ॥ ३१ ॥ तुम ब्रह्मनिष्ठ ब्राह्मण हो, अतः हमारे गुरु हो । हम तुम्हें अपना उपाध्याय बनाते हैं जिससे तुम्हारे तेजके प्रभावसे हम अपने शत्रुओंपर विजय प्राप्त कर सकें ॥ ३२ ॥ [यदि तुम कहो कि मैं तो आपलोगोंका बालक हूँ, आपका गुरु कैसे बन सकता हूँ ? सो] प्रयोजनसिद्धिके लिये अपनेसे छोटोंकी चरणवन्दना करनेसे भी निन्दा नहीं होती और हे ब्रह्मन् ! वेदज्ञानको छोड़कर केवल अवस्था बड़प्पनका कारण भी नहीं है ॥ ३३ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! देवताओंद्वारा इस प्रकार पुरोहिताईके लिये प्रार्थना किये जानेपर महातपस्वी विश्वरूपने प्रसन्न होकर उनसे मधुर वाणीमें कहा—॥ ३४ ॥

विश्वरूप बोले—पौरोहित्य कर्म ब्रह्मतेजको क्षीण करनेवाला है इसलिये धर्मात्मा पुरुषोंने उसकी

१. प्रा० पा०—प्रहसन् ।

कथं नु मद्विधो नाथा[1] लोकेशैरभियाचितम् ।
प्रत्याख्यास्यति तच्छिष्यः[2] स एव स्वार्थ उच्यते ॥३५॥

अकिञ्चनानां हि धनं शिलोञ्छनं
तेनेह निर्वर्तितसाधुसत्क्रियः ।
कथं विगर्ह्यं नु करोम्यधीश्वराः
पौरोधसं हृष्यति येन दुर्मतिः[3] ॥३६॥

तथापि न प्रतिब्रूयां गुरुभिः प्रार्थितं कियत् ।
भवतां प्रार्थितं सर्वं प्राणैरर्थैश्च साधये ॥३७॥

निन्दा की है, किन्तु हे स्वामिगण ! जब आप लोकेश्वरगण मुझसे उसके लिये प्रार्थना कर रहे हैं तो आपलोगोंका शिष्य मुझ-जैसा व्यक्ति उसे अस्वीकार भी कैसे कर सकता है ? क्योंकि शिष्योंका सबसे बड़ा स्वार्थ तो यही कहा जाता है कि गुरुजनोंकी आज्ञा माने ॥ ३५ ॥ हे देवगण ! अकिञ्चन व्यक्तियोंका धन तो शिलोञ्छवृत्ति ही है । उसीसे साधु पुरुषोंके गृहस्थोचित सत्कर्मोंका आचरण करनेवाला मैं अति निन्दनीय पौरोहित्य कर्म कैसे कर सकूँगा ? जिससे केवल कुबुद्धियोंको ही हर्ष होता है ॥ ३६ ॥ तो भी इस सम्बन्धमें अब मैं और कुछ नहीं कहना चाहता; क्योंकि आपने मेरे गुरुजन होकर भी ऐसा माँगा ही क्या है ? आपकी सब प्रकारकी प्रार्थनाको मैं अपने प्राण और धन देकर भी पूर्ण करूँगा ॥ ३७ ॥

श्रीशुक[4] उवाच

तेभ्य एवं प्रतिश्रुत्य विश्वरूपो महातपाः ।
पौरोहित्यं वृतश्चक्रे परमेण समाधिना ॥३८॥
सुरद्विषां श्रियं गुप्तामौशनस्यापि विद्यया ।
आच्छिद्यादान्महेन्द्राय वैष्णव्या विद्यया विभुः ॥३९॥
यथा गुप्तः सहस्राक्षो जिग्येऽसुरचमूर्विभुः[5] ।
तां प्राह स महेन्द्राय विश्वरूप उदारधीः ॥४०॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! देवताओंसे इस प्रकार प्रतिज्ञा कर महातपस्वी विश्वरूप उनके वरण करनेपर बड़े उद्योगके साथ उनकी पुरोहिताई करने लगे ॥३८॥ परम समर्थ विश्वरूपने दैत्योंकी राज्यलक्ष्मी शुक्राचार्यजीके विद्याबलसे सुरक्षित होनेपर भी उनसे वैष्णवी विद्याके प्रभावसे छीनकर इन्द्रको दे दी ॥३९॥ जिस (नारायणकवचरूप) विद्यासे सुरक्षित होकर इन्द्रने दैत्योंकी सेनाको जीता था वह उन्हें उदारबुद्धि विश्वरूपने ही बतायी थी ॥४०॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे षष्ठस्कन्धे
सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

१. प्रा० पा०—नाम । २. प्रा० पा०—सच्छिष्यः । ३. प्रा० पा०—दुर्मनाः । ४. प्रा० पा०—बादरायणिरुवाच । ५. प्रा० पा०—द्विजः ।

आठवाँ अध्याय

नारायणकवचका उपदेश ।

राजोवाच

यया गुप्तः सहस्राक्षः सवाहान्रिपुसैनिकान् ।
क्रीडन्निव विनिर्जित्य त्रिलोक्या बुभुजे श्रियम् ॥ १ ॥
भगवंस्तन्ममाख्याहि वर्म नारायणात्मकम् ।
यथाततायिनः शत्रून्येन गुप्तोऽजयन्मृधे ॥ २ ॥

श्रीशुक उवाच

वृतः पुरोहितस्त्वाष्ट्रो महेन्द्रायानुपृच्छते ।
नारायणाख्यं वर्माह तदिहैकमनाः शृणु ॥ ३ ॥

विश्वरूप उवाच

धौताङ्घ्रिपाणिराचम्य सपवित्र उदङ्मुखः ।
कृतस्वाङ्गकरन्यासो मन्त्राभ्यां वाग्यतः शुचिः ॥ ४ ॥
नारायणमयं वर्म सन्नह्येद्भय आगते ।
पादयोर्जानुनोरूर्वोरुदरे हृद्यथोरसि ॥ ५ ॥
मुखे शिरस्यानुपूर्व्यादोङ्कारादीनि विन्यसेत् ।
ॐ नमो नारायणायेति विपर्ययमथापि वा ॥ ६ ॥
करन्यासं ततः कुर्याद्द्वादशाक्षरविद्यया ।
प्रणवादियकारान्तमङ्गुल्यङ्गुष्ठपर्वसु ॥ ७ ॥
न्यसेद्धृदय ओङ्कारं विकारमनु मूर्धनि ।
षकारं तु भ्रुवोर्मध्ये णकारं शिखयादिशेत् ॥ ८ ॥
वेकारं नेत्रयोर्युञ्ज्यान्नकारं सर्वसन्धिषु ।
मकारमस्त्रमुद्दिश्य मन्त्रमूर्तिर्भवेद्बुधः ॥ ९ ॥
सविसर्गं फडन्तं तत्सर्वदिक्षु विनिर्दिशेत् ।
ॐ विष्णवे नम इति ॥१०॥

राजा परीक्षित्‌ने पूछा—भगवन् ! जिससे सुरक्षित होकर इन्द्रने हाथी-घोड़े आदि वाहनोंसे युक्त शत्रुओं-की सम्पूर्ण सेनाको खेलहीमें जीतकर त्रिलोकीकी राज्यलक्ष्मीका भोग किया उस नारायणकवचरूप वैष्णवी विद्याका आप मुझसे वर्णन कीजिये, और जिस प्रकार उससे रक्षित होकर इन्द्रने अपने शत्रुओंको युद्धमें परास्त किया वह प्रसंग भी सुनाइये ॥१-२॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! पुरोहित बनाये जानेके पश्चात् इन्द्रके पूछनेपर विश्वरूपने उन्हें जिस नारायण नामक कवचका उपदेश किया था उसे यहाँ एकाग्रचित्तसे सुनो ॥ ३ ॥

विश्वरूपने कहा—हे इन्द्र ! जब कोई भय उपस्थित हो तो अपने शरीरपर नारायणकवच धारण करे । प्रथम हाथ-पाँव धोकर आचमन करे और कुशाकी पवित्री धारणकर उत्तरकी ओर मुँह करके बैठे, फिर वाणीका संयमकर पवित्रतापूर्वक अष्टाक्षर और द्वादशाक्षर मन्त्रोंसे अङ्गन्यास और करन्यास करे । प्रथम 'ॐ नमो नारायणाय' इस अष्टाक्षरमन्त्रके ॐकारादि आठ अक्षरोंका क्रमसे चरण, जानु, ऊरु, उदर, हृदय, वक्षःस्थल, मुख और शिरमें न्यास करे अथवा (यकारसे लेकर ॐकार पर्यन्त) विपरीत क्रमसे शिर आदिमें न्यास करे ॥४–६॥ फिर द्वादशाक्षर मन्त्रके ओंकारादि बारह अक्षरोंका क्रमशः अङ्गुलियों और दोनों अँगूठोंके पर्वोंमें न्यास करे* ॥ ७ ॥

तदनन्तर, 'ॐ विष्णवे नमः' इस मन्त्रके प्रणवको हृदयमें, 'वि'को मूर्धामें, 'ष'को भ्रूमध्यमें, 'ण'को शिखामें, 'वे'को नेत्रोंमें और 'न'को सब सन्धियोंमें स्थापित करे । तथा 'म'को अस्त्ररूपसे चिन्तन करता हुआ स्वयं मन्त्रस्वरूप हो जाय फिर फडन्त विसर्ग-सहित मकारका सब दिशाओंमें निर्देश करे । अर्थात् 'मः अस्त्राय फट्' ऐसा कहकर दिग्बन्ध करे ॥८–१०॥

१. प्रा० पा०—माचक्ष्व । २. प्रा० पा०—त्रून्सैन्ये । ३. प्रा० पा०—बादरायणिरुवाच । ४. प्रा० पा०—या न्यसेत् ।

* अर्थात् दाईं तर्जनीसे बाईं तर्जनीतक दोनों हाथकी अङ्गुलियोंमें आठ अक्षरोंका और दोनों अँगूठोंके चार पर्वोंमें शेष चार अक्षरोंका न्यास करे ।

आत्मानं परमं ध्यायेद्ध्येयं षट्शक्तिभिर्युतम् ।
विद्यातेजस्तपोमूर्तिमिमं मन्त्रमुदाहरेत् ॥११॥
ॐ हरिर्विदध्यान्मम सर्वरक्षां
न्यस्ताङ्घ्रिपद्मः पतगेन्द्रपृष्ठे ।
दरारिचर्मासिगदेषुचाप-
पाशान्दधानोऽष्टगुणोऽष्टबाहुः ॥१२॥
जलेषु मां रक्षतु मत्स्यमूर्ति-
र्यादोगणेभ्यो वरुणस्य पाशात् ।
स्थलेषु मायावटुवामनोऽव्या-
त्त्रिविक्रमः खेऽवतु विश्वरूपः ॥१३॥
दुर्गेष्वटव्याजिमुखादिषु प्रभुः
पायान्नृसिंहोऽसुरयूथपारिः ।
विमुञ्चतो यस्य महाट्टहासं
दिशो विनेदुर्न्यपतंश्च गर्भाः ॥१४॥
रक्षत्वसौ माध्वनि यज्ञकल्पः
स्वदंष्ट्रयोन्नीतधरो वराहः ।
रामोऽद्रिकूटेष्वथ विप्रवासे
सलक्ष्मणोऽव्याद्भरताग्रजोऽस्मान् ॥१५॥
मामुग्रधर्मादखिलात्प्रमादा-
न्नारायणः पातु नरश्च हासात् ।
दत्तस्त्वयोगादथ योगनाथः
पायाद्गुणेशः कपिलः कर्मबन्धात् ॥१६॥
सनत्कुमारोऽवतु कामदेवा-
द्धयशीर्षा मां पथि देवहेलनात् ।
देवर्षिवर्यः पुरुषार्चनान्तरा-
त्कूर्मो हरिर्मां निरयादशेषात् ॥१७॥
धन्वन्तरिर्भगवान्पात्वपथ्या-
द्द्वन्द्वाद्भयादृषभो निर्जितात्मा ।
यज्ञश्च लोकादवतात्[3]जनान्ता-
द्बलो गणात्क्रोधवशादहीन्द्रः ॥१८॥
द्वैपायनो भगवानप्रबोधा-
द्बुद्धस्तु पाखण्डगणात्प्रमादात् ।

तत्पश्चात् अपने ध्येय षडैश्वर्यसम्पन्न परमात्माका ध्यान करे तथा विद्या, तेज और तपःस्वरूप इस मन्त्रका जप करे—॥११॥ ॐ जिन्होंने अपने चरणकमल गरुड़जीकी पीठपर रखे हुए हैं तथा जो शंख, चक्र, चर्म, खड्ग, गदा, बाण, धनुष और पाश—ये आठ आयुध धारण किये हैं वे अणिमादि अष्ट ऐश्वर्य और अष्ट भुजाओंसे सुशोभित श्रीहरि मेरी सब प्रकार रक्षा करें ॥१२॥ जलके भीतर भगवान् मत्स्यमूर्ति जलजन्तुरूप वरुणपाशोंसे मेरी रक्षा करें; स्थलपर अपनी मायाशक्तिसे वटुवामनरूप धारण करनेवाले श्रीहरि मेरी रक्षा करें और आकाशमें विश्वरूप श्री-त्रिविक्रम भगवान् मुझे बचावें ॥१३॥ दुर्ग, वन और युद्धस्थलादिमें भगवान् नृसिंह मेरी रक्षा करें, जो हिरण्यकशिपु आदि दैत्ययूथपतियोंके शत्रु हैं तथा जिनके घोर अट्टहास करनेपर सब दिशाएँ गूँज उठी थीं और गर्भवती दैत्य-स्त्रियोंके गर्भ गिर गये थे ॥१४॥ जिन्होंने अपनी दाढ़ोंपर पृथिवीको धारण किया वे यज्ञमूर्ति वराह भगवान् मार्गमें मेरी रक्षा करें । तथा पर्वतशिखरोंपर परशुरामजी और विदेशमें लक्ष्मणजीके सहित भरताग्रज भगवान् रामचन्द्र मेरी रक्षा करें ॥१५॥ इसी प्रकार भगवान् नारायण अभिचारादि उग्रधर्मोंसे तथा प्रमादसे, भगवान् नर गर्वसे, योगेश्वर दत्तात्रेयजी कुयोगसे और गुणाधिपति कपिलमुनि कर्मबन्धनसे मेरी रक्षा करें ॥१६॥ सनत्कुमारजी कामदेवसे, हयग्रीव भगवान् मार्गमें चलते समय देवताओंकी अवहेलना करनेके अपराधसे, देवर्षि नारद भगवान्‌की पूजामें हुए अपराधोंसे और कच्छप भगवान् सकल नरकोंसे मेरी रक्षा करें ॥१७॥ भगवान् धन्वन्तरि कुपथ्यसे, परमजितेन्द्रिय ऋषभदेवजी सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंसे, यज्ञ भगवान् लोकापवादसे, बलभद्र-जी मनुष्योंसे प्राप्त होनेवाले कष्टोंसे और श्रीशेषजी अत्यन्त क्रोधी सर्पगणसे मेरी रक्षा करें ॥१८॥ भगवान् व्यासदेव अज्ञानसे, बुद्धदेव पाखण्ड और

१. प्रा० पा०—मुदीरयेत् । २. प्रा० पा०—मां पथि यज्ञ० । ३. प्रा० पा०—तात्कृतान्ता० । ४. प्रा० पा०—द्धश्च ।

कल्किः कलेः कालमलात्प्रपातु
धर्मावनायोरुकृतावतारः ॥१९॥
मां केशवो गदया प्रातरव्या-
द्गोविन्द आसङ्गवमात्तवेणुः ।
नारायणः प्राह्ण उदात्तशक्ति-
र्मध्यन्दिने विष्णुररीन्द्रपाणिः ॥२०॥
देवोऽपराह्णे मधुहोग्रधन्वा
सायं त्रिधामावतु माधवो माम् ।
दोषे हृषीकेश उतार्धरात्रे
निशीथ एकोऽवतु पद्मनाभः ॥२१॥
श्रीवत्सधामापररात्र ईशः
प्रत्यूष ईशोऽसिधरो जनार्दनः ।
दामोदरोऽव्यादनुसन्ध्यं प्रभाते
विश्वेश्वरो भगवान्कालमूर्तिः ॥२२॥
चक्रं युगान्तानलतिग्मनेमि
भ्रमत्समन्ताद्भगवत्प्रयुक्तम् ।
दन्दग्धि दन्दग्ध्यरिसैन्यमाशु
कक्षं यथा वातसखो हुताशः ॥२३॥
गदेऽशनिस्पर्शनविस्फुलिङ्गे
निष्पिण्ढि निष्पिण्ढ्यजितप्रियासि ।
कूष्माण्डवैनायकयक्षरक्षो-
भूतग्रहांश्चूर्णय चूर्णयारीन् ॥२४॥
त्वं यातुधानप्रमथप्रेतमातृ-
पिशाचविप्रग्रहघोरदृष्टीन् ।
दरेन्द्र विद्रावय कृष्णपूरितो
भीमस्वनोऽरेर्हृदयानि कम्पयन् ॥२५॥
त्वं तिग्मधारासिवरारिसैन्य-
मीशप्रयुक्तो मम छिन्धि छिन्धि ।
चक्षूंषि चर्मञ्छतचन्द्र छादय
द्विषामघोनां हर पापचक्षुषाम् ॥२६॥
यन्नो भयं ग्रहेभ्योऽभूत्केतुभ्यो नृभ्य एव च ।

प्रमादसे तथा धर्मरक्षाके लिये महान् अवतार धारण करनेवाले श्रीकल्कि भगवान् कलिकालके दोषोंसे मेरी रक्षा करें ॥१९॥ प्रातःकाल सूर्योदयके समय भगवान् केशव अपनी गदासे मेरी रक्षा करें, सूर्योदयके पश्चात् वेणुधर गोविन्द, पूर्वाह्णमें उदात्तशक्तिधारी नारायण, मध्याह्नमें चक्रपाणि विष्णु भगवान्, अपराह्णमें उग्र-धनुर्धर मधुसूदन, सायंकालमें ब्रह्मादि त्रिमूर्तिधारी माधव, प्रदोषकालमें हृषीकेश, अर्द्धरात्रिके समय और निशीथ कालमें भगवान् पद्मनाभ, रात्रिके पिछले पहरमें श्रीवत्सलाञ्छन हरि, उषाकालमें खड्गधारी भगवान् जनार्दन, प्रातःकाल (सूर्योदयसे पूर्व) श्रीदामोदर और सम्पूर्ण सन्ध्याओंमें विश्वेश्वर भगवान् काल मेरी रक्षा करें ॥२०–२२॥

हे सुदर्शन ! तुम्हारा आकार चक्रवत् है, तुम्हारी नेमि (किनारेका भाग) प्रलयकालीन अग्निके समान अत्यन्त तीक्ष्ण है और तुम भगवान्की प्रेरणासे सब ओर घूम रहे हो । जिस प्रकार वायुकी सहायतासे बढ़ा हुआ अग्नि सूखे घासफूँसको जला डालता है उसी प्रकार तुम हमारे शत्रु-ओंकी सेनाको भस्म कर दो, भस्म कर दो ॥२३॥ हे गदे ! तेरी चिनगारियोंका स्पर्श वज्रके समान असह्य है । तू भगवान् अजितकी प्रिया है [और मैं भी भगवान्का दास हूँ] । इसलिये तू कूष्माण्ड, विनायक, यक्ष, राक्षस, भूत और ग्रहोंको कुचल दे, कुचल दे । और मेरे शत्रुओंको चूर्ण कर दे, चूर्ण कर दे ॥२४॥ हे शंखश्रेष्ठ ! तुम भगवान् कृष्णके फूँकनेसे भयंकर शब्द करके मेरे शत्रुओंके हृदयोंको कम्पायमान करते हुए यातुधान, प्रमथ, प्रेत, मातृका, पिशाच एवं ब्रह्मराक्षस आदि घोरदर्शन जीवोंको भगा दो ॥ २५ ॥ हे तीखी धारवाले खड्गश्रेष्ठ ! तुम भगवान्से प्रयुक्त होकर मेरे शत्रुओंको छिन्न-भिन्न कर डालो । हे शतचन्द्र ढाल ! [तुम चन्द्राकार सैकड़ों मण्डलोंसे युक्त हो] तुम उग्रदृष्टिवाले पापात्मा शत्रुओंके नेत्रोंको बन्द कर दो अथवा हर लो ॥२६॥

सूर्य आदि ग्रह, उल्कापातादि केतु, दुष्ट मनुष्य, सरीसृप, दाढ़ोंवाले जीव, भूत-प्रेतादि तथा पापी

१. प्रा० पा०—प्रपायाद् । २. प्रा० पा०—प्रातरुदात्त० । ३. प्रा० पा०—वायु० ।

सरीसृपेभ्यो दंष्ट्रिभ्यो भूतेभ्योंऽहोभ्य एव वा ॥२७॥
सर्वाण्येतानि भगवन्नामरूपास्त्रकीर्तनात् ।
प्रयान्तु संक्षयं सद्यो ये नः श्रेयःप्रतीपकाः ॥२८॥
गरुडो भगवान्स्तोत्रस्तोभश्छन्दोमयः प्रभुः ।
रक्षत्वशेषकृच्छ्रेभ्यो विष्वक्सेनः स्वनामभिः ॥२९॥
सर्वापद्भ्यो हरेर्नामरूपयानायुधानि नः ।
बुद्धीन्द्रियमनःप्राणान्पान्तु पार्षदभूषणाः ॥३०॥
यथा हि भगवानेव वस्तुतः सदसच्च यत् ।
सत्येनानेन वः सर्वे यान्तु नाशमुपद्रवाः ॥३१॥
यथैकात्म्यानुभावानां विकल्परहितः स्वयम् ।
भूषणायुधलिङ्गाख्या धत्ते शक्तीः स्वमायया ॥३२॥
तेनैव सत्यमानेन सर्वज्ञो भगवान्हरिः ।
पातु सर्वैः स्वरूपैर्नः सदा सर्वत्र सर्वगः ॥३३॥
विदिक्षु दिक्षूर्ध्वमधः समन्ता-
दन्तर्बहिर्भगवान्नारसिंहः ।
प्रहापयँल्लोकभयं स्वनेन
स्वतेजसा ग्रस्तसमस्ततेजाः ॥३४॥
मघवन्निदमाख्यातं वर्म नारायणात्मकम् ।
विजेष्यस्यञ्जसा येन दंशितोऽसुरयूथपान् ॥३५॥
एतद्धारयमाणस्तु यं यं पश्यति चक्षुषा ।
पदा वा संस्पृशेत्सद्यः साध्वसात्स विमुच्यते ॥३६॥
न कुतश्चिद्भयं तस्य विद्यां धारयतो भवेत् ।
राजदस्युग्रहादिभ्यो व्याघ्रादिभ्यश्च कर्हिचित् ॥३७॥
इमां विद्यां पुरा कश्चित्कौशिको धारयन्द्विजः ।
योगधारणया स्वाङ्गं जहौ स मरुधन्वनि ॥३८॥
तस्योपरि विमानेन गन्धर्वपतिरेकदा ।

प्राणियोंसे हमें जो-जो भय प्राप्त हुए हैं हमारे कल्याणपथके प्रतिबन्धक वे सभी दोष भगवान्‌के नाम, रूप और आयुधोंका कीर्तन करनेसे तत्काल नष्ट हो जायँ ॥२७-२८॥ बृहद्रथन्तर आदि साम-स्तोत्रोंसे स्तुति किये जानेवाले वेदमूर्ति भगवान् गरुड़जी तथा अपने नामोच्चारणके प्रभावसे भगवान् विष्वक्सेन हमारी सब आपत्तियोंसे रक्षा करें ॥२९॥ श्रीहरिके नाम, रूप, आयुध और श्रेष्ठ पार्षदगण हमारे बुद्धि, इन्द्रिय, मन और प्राणोंकी सब आपत्तियोंसे रक्षा करें ॥३०॥

जितना भी सत् (स्थूल) असत् (सूक्ष्म) प्रपञ्च है वह वास्तवमें भगवान् ही है—इस सत्यके प्रभावसे हमारे सब विघ्न दूर हो जायँ ॥३१॥ सर्वत्र एक आत्माकी ही भावना करनेवालोंकी दृष्टिमें विकल्पशून्य होनेपर भी भगवान् अपनी मायाके द्वारा भूषण, आयुध और रूप नामक अपनी शक्तियोंको धारण करते हैं—यह प्रमाण यदि सत्य हो तो सर्वज्ञ और सर्वव्यापक भगवान् हरि अपने सम्पूर्ण रूपोंसे सदा और सब जगह हमारी रक्षा करें ॥३२-३३॥ जो अपने भयंकर अट्टहाससे सम्पूर्ण लोकोंके भयको दूर कर देते हैं तथा अपने तेजसे जिन्होंने सबके तेजको ग्रस लिया है वे भगवान् नृसिंह दिशा-विदिशा, नीचे-ऊपर तथा बाहर-भीतर सब ओर हमारी रक्षा करें ॥३४॥

हे इन्द्र ! मैंने तुम्हें यह नारायणकवच बतलाया जिससे आवृत होकर तुम सहजहीमें सब दैत्ययूथपोंको जीत लोगे ॥ ३५ ॥ इसे धारण करनेवाला पुरुष जिस-जिसको नेत्रसे देखता है अथवा पैरसे छूता है वह भी तत्काल भयसे मुक्त हो जाता है ॥३६॥ इस विद्याको धारण करनेवाले पुरुषको राजा, चोर, ग्रहादि तथा व्याघ्रादि—किसीसे भी भय प्राप्त नहीं होता ॥३७॥

हे देवराज ! पूर्वकालमें इस विद्याको धारण करनेवाले एक कौशिकगोत्रीय ब्राह्मणने योग-धारणासे मरुभूमिमें अपना शरीर त्यागा ॥३८॥ जहाँ उस ब्राह्मणका शरीर नष्ट हुआ था उसके ऊपर होकर

१. प्रा० पा०—भ्यो घोरेभ्य एव च । २. प्रा० पा०—वान् देवः संस्तुतः । ३. प्रा० पा०—व्याध्यादि० ।

ययौ चित्ररथः स्त्रीभिर्वृतो यत्र द्विजक्षयः ॥३९॥
गगनान्न्यपतत्सद्यः सविमानो ह्यवाक्शिराः ।
स वालखिल्यवचनादस्थीन्यादाय विस्मितः ।
प्रास्य प्राचीसरस्वत्यां स्नात्वा धाम स्वमन्वगात् ॥४०॥

एक दिन गन्धर्वराज चित्ररथ अपनी स्त्रियोंके सहित विमानपर बैठकर निकला ॥३९॥ वहाँ आते ही वह विमानसहित नीचेको शिर किये आकाशसे गिर पड़ा। उस समय वालखिल्यादि मुनीश्वरोंके कहनेसे उसने उस ब्राह्मणकी अस्थियोंको ले जाकर पूर्ववाहिनी सरस्वतीमें प्रवाहित किया और स्वयं स्नानकर अति विस्मय मानता हुआ अपने लोकको चला गया ॥४०॥

श्रीशुक उवाच

य इदं शृणुयात्काले यो धारयति चादृतः ।
तं नमस्यन्ति भूतानि मुच्यते सर्वतो भयात् ॥४१॥
एतां विद्यामधिगतो विश्वरूपाच्छतक्रतुः ।
त्रैलोक्यलक्ष्मीं बुभुजे विनिर्जित्य मृधेऽसुरान् ॥४२॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! जो पुरुष इस नारायणकवचको यथासमय सुनता और आदरपूर्वक धारण करता है उसे सब प्राणी नमस्कार करते हैं और वह सब प्रकारके भयोंसे मुक्त हो जाता है ॥४१॥ इन्द्रने विश्वरूपसे यह विद्या प्राप्तकर [इसके प्रभावसे] युद्धमें असुरोंको परास्त किया और तीनों लोकोंकी राज्यलक्ष्मीको भोगा ॥४२॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे षष्ठस्कन्धे नारायणवर्म-
कथनं नामाष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

नवाँ अध्याय

वृत्रासुरकी उत्पत्ति ।

श्रीशुक उवाच[1]

तस्यासन्विश्वरूपस्य शिरांसि त्रीणि भारत ।
सोमपीथं सुरापीथमन्नादमिति शुश्रुम ॥ १ ॥
स वै बर्हिषि देवेभ्यो भागं प्रत्यक्षमुच्चकैः ।
अवदद्यस्य पितरो देवाः सप्रश्रयं नृप ॥ २ ॥
स एव हि ददौ भागं परोक्षमसुरान्प्रति ।
यजमानोऽवहद्भागं मातृस्नेहवशानुगः ॥ ३ ॥
तद्देवहेलनं तस्य धर्मालीकं सुरेश्वरः ।
आलक्ष्य तरसा भीतस्तच्छीर्षाण्यच्छिनद्रुषा[2] ॥ ४ ॥
सोमपीथं तु यत्तस्य शिर आसीत्कपिञ्जलः ।
कलविङ्कः सुरापीथमन्नादं यत्स तित्तिरिः ॥ ५ ॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे भारत ! सुना है, देवगुरु विश्वरूपके सोमपीथ, सुरापीथ और अन्नाद—ये तीन शिर थे ॥१॥ हे राजन् ! यज्ञके समय वे प्रत्यक्षमें तो उच्चस्वरसे बोलते हुए अति विनयपूर्वक देवताओंको भाग देते थे, क्योंकि देवगण उनके पितृपक्षीय थे ॥ २ ॥ किन्तु गुप्तरूपसे वे ही मातृस्नेहके वशीभूत होकर यज्ञ करते समय दैत्योंको भी हविर्भाग दे देते थे ॥३॥ तब देवराज इन्द्रने उनके किये हुए देवताओंके अपराध और धर्ममर्यादाके उल्लङ्घनको देखकर [इस प्रकार तो यह दैत्योंका बल बढ़ाकर हमारा नाश करा देगा—ऐसा सोचकर] मनमें भयभीत हो अति क्रोधपूर्वक आवेगसे उनके तीनों मस्तक काट डाले ॥ ४ ॥ तब उनका जो सोमपीथ नामक मस्तक था वह कपिञ्जल पक्षी हो गया, सुरापीथ कलविङ्क हुआ और अन्नाद तीतर हो गया ॥ ५ ॥

१. प्रा० पा०—बादरायणिरुवाच । २. प्रा० पा०—भीतः शीर्षाण्यस्याच्छिनद्रुषा ।

ब्रह्महत्यामञ्जलिना जग्राह यदपीश्वरः[1] ।
संवत्सरान्ते तदघं भूतानां स विशुद्धये ।
भूम्यम्बुद्रुमयोषिद्भ्यश्चतुर्धा व्यभजद्धरिः ॥ ६ ॥

भूमिस्तुरीयं जग्राह खातपूरवरेण वै ।
ईरणं ब्रह्महत्याया रूपं भूमौ प्रदृश्यते ॥ ७ ॥
तुर्यं छेदविरोहेण वरेण जगृहुर्द्रुमाः ।
तेषां निर्यासरूपेण ब्रह्महत्या प्रदृश्यते ॥ ८ ॥
शश्वत्कामवरेणांहस्तुरीयं जगृहुः स्त्रियः ।
रजोरूपेण तास्वंहो मासि मासि प्रदृश्यते ॥ ९ ॥
द्रव्यभूयोवरेणापस्तुरीयं जगृहुर्मलम् ।
तासु बुद्बुदफेनाभ्यां दृष्टं तद्धरति[3] क्षिपन् ॥१०॥

हतपुत्रस्ततस्त्वष्टा[4] जुहावेन्द्राय शत्रवे ।
इन्द्रशत्रो विवर्धस्व मा चिरं जहि विद्विषम् ॥११॥
अथान्वाहार्यपचनादुत्थितो घोरदर्शनः ।
कृतान्त इव लोकानां युगान्तसमये यथा ॥१२॥
विष्वग्विवर्धमानं तमिषुमात्रं दिने दिने ।
दग्धशैलप्रतीकाशं सन्ध्याभ्रानीकवर्चसम् ॥१३॥
तप्ततामशिखाश्मश्रुं मध्याह्नार्कोग्रलोचनम् ॥१४॥
देदीप्यमाने त्रिशिखे शूल आरोप्य रोदसी ।

विश्वरूपका वध करनेसे जो ब्रह्महत्या लगी उसे इन्द्रने—उसके निवारण करनेमें समर्थ होनेपर भी—अञ्जलिमें ग्रहण किया, और [एक वर्षतक उससे छूटनेका कोई उद्योग नहीं किया जब सभी लोग 'ब्रह्महत्यारा' कहकर उनकी निन्दा करने लगे तो] एक वर्ष पश्चात् प्राणियोंमें अपनी शुद्धि [प्रकट करने] के लिये उस पापको चार भागोंमें विभक्तकर पृथिवी, जल, वृक्ष और स्त्री—इन चारोंको बाँट दिया ॥ ६ ॥

गड्ढोंके भर जानेका वरदान पाकर उस ब्रह्महत्याका एक चतुर्थांश पृथिवीने ग्रहण किया। पृथिवीमें जहाँ-तहाँ ऊसरके रूपमें वह ब्रह्महत्याका रूप दिखायी देता है ॥ ७ ॥ 'कट जानेपर भी फिर पनप जायँगे' यह वर पाकर एक चतुर्थांश वृक्षोंने स्वीकार किया वह ब्रह्महत्या उनमें गोंदके रूपमें दिखायी देती है ॥ ८ ॥ 'निरन्तर सम्भोग करनेकी शक्ति रहे'* यह वर पाकर एक चतुर्थांश स्त्रियोंने ग्रहण किया। वह हत्या उनमें रजोधर्मके रूपसे प्रत्येक मासमें प्रत्यक्ष दीखती है ॥ ९ ॥ कूपादिसे खर्च किये जानेपर भी निरन्तर बढ़ते रहना—यह वर पाकर उसका चौथा भाग जलने स्वीकार किया। उसमें वह हत्या फेन और बुदबुदोंके रूपमें प्रकट देखी गयी है। अतः मनुष्य फेनादि हटाकर जल ग्रहण किया करते हैं ॥१०॥

अपने पुत्र विश्वरूपके मारे जानेपर त्वष्टाने 'हे इन्द्रशत्रो ! तुम वृद्धिको प्राप्त हो और शीघ्र ही अपने शत्रुका संहार करो' ऐसा कहते हुए इन्द्रका शत्रु उत्पन्न करनेकी कामनासे अग्निमें हवन किया ॥११॥ इसी समय अन्वाहार्यपचन अग्निसे एक महाभयंकर दैत्य प्रकट हुआ, मानो प्रलयकाल उपस्थित होनेपर सर्वलोक-संहारक काल ही उत्पन्न हुआ हो ॥१२॥ हे राजन् ! वह प्रतिदिन चारों ओरसे, जितनी दूर बाण जाता है उतना बढ़ने लगा। वह जले हुए पर्वतके समान कृष्ण वर्ण एवं विशालकाय था और सन्ध्याकालीन मेघमालाके समान उसकी देदीप्यमान कान्ति थी। उसके दाढ़ी-मूँछ तपाये हुए ताँबेके समान अरुणवर्ण और नेत्र मध्याह्नकालके सूर्यके समान उग्र थे। वह अपने तीन नोकोंवाले अति देदीप्यमान

१. प्रा० पा०—यदधीश्वरः। २. प्रा० पा०—द्रव्यरूप व०। ३. प्रा० पा०—तद्धरिरक्षिपत्। ४. प्रा० पा०—हते पुत्रे त०।

* इसके पहले मनुष्यस्त्रियोंमें भी पशुओंकी तरह गर्भाधानके समय ऋतु आनेपर ही कामवासना उत्पन्न होती थी पर ब्रह्महत्या लेनेके बाद इन्द्रके वरसे स्त्रियोंको निरन्तर कामवासना रहने लगी।

नृत्यन्तमुन्नदन्तं च चालयन्तं पदा महीम् ॥१५॥
दरीगम्भीरवक्त्रेण पिबता च नभस्तलम् ।
लिहता जिह्वयर्क्षाणि ग्रसता भुवनत्रयम् ॥१६॥
महता रौद्रदंष्ट्रेण जृम्भमाणं मुहुर्मुहुः ।
वित्रस्ता दुद्रुवुर्लोका वीक्ष्य सर्वे दिशो[1] दश ॥१७॥

येनावृता इमे लोकास्तमसा[2] त्वाष्ट्रमूर्तिना ।
स वै वृत्र इति प्रोक्तः पापः परमदारुणः ॥१८॥
तं निजघ्नुरभिद्रुत्य सगणा विबुधर्षभाः ।
स्वैः स्वैर्दिव्यास्त्रशस्त्रौघैः सोऽग्रसत्तानि कृत्स्नशः ॥१९॥
ततस्ते विस्मिताः सर्वे विषण्णा ग्रस्ततेजसः ।
प्रत्यञ्चमादिपुरुषमुपतस्थुः समाहिताः ॥२०॥

देवा ऊचुः

वाय्वम्बराग्न्यप्क्षितयस्त्रिलोका
ब्रह्मादयो ये वयमुद्विजन्तः ।
हराम यस्मै बलिमन्तकोऽसौ
बिभेति यस्मादरणं ततो नः ॥२१॥
अविस्मितं तं परिपूर्णकामं
स्वेनैव लाभेन समं प्रशान्तम् ।
विनोपसर्पत्यपरं हि बालिशः
श्वलाङ्गुलेनातितितर्ति सिन्धुम् ॥२२॥
यस्योरुशृङ्गे जगतीं स्वनावं
मनुर्यथाबध्य ततार दुर्गम् ।
स एव नस्त्वाष्ट्रभयाद्दुरन्ता-
त्त्वाताश्रितान्वारिचरोऽपि नूनम् ॥२३॥
पुरा स्वयम्भूरपि संयमाम्भ-

त्रिशूलपर मानो पृथिवी और आकाशको उठाकर नाचता तथा घोर गर्जना करता था और अपने पाद-प्रहारसे पृथिवीको कम्पायमान कर रहा था। उसका मुख गिरिगुहाके समान गम्भीर था, उससे वह मानो आकाशको पिये जाता था, जिह्वासे मानो नक्षत्रोंको चाट रहा था और अपने विशाल एवं विकराल दाढ़ोंसे तीनों लोकोंको मानो निगल रहा था। इस प्रकार वह बारम्बार अपना बिशाल वदन फैलाकर जमुहाई लेता था। उसके इस विकराल रूपको देखकर सब लोग अत्यन्त भयभीत हो दशों दिशाओंमें भागने लगे ॥१३-१७॥

हे राजन्! उस महातमोगुणी त्वष्टापुत्रने इन सब लोकोंको आवृत कर लिया था इसलिये वह महा-पापी और परम दारुण असुर 'वृत्र' नामसे विख्यात हुआ ॥ १८ ॥ तब सम्पूर्ण देवगण अपने अनुयायियों-के सहित उसपर एक साथ ही आक्रमण कर अपने दिव्य शस्त्रास्त्रोंसे प्रहार करने लगे, किन्तु वह उन सबको निगल गया ॥ १९ ॥ तदनन्तर वे तेजोहीन और उदास होकर अत्यन्त विस्मयपूर्वक अपने अन्तःकरणमें स्थित आदिपुरुष श्रीनारायणकी एकाग्र-चित्तसे उपासना करने लगे ॥ २० ॥

देवगण बोले—वायु, आकाश, अग्नि, जल और पृथिवी—ये पाँचों भूत, तीनों लोक और हम ब्रह्मादि देवगण भयभीत होकर जिसे बलि (पूजोपहार) समर्पण करते हैं वह काल भी जिनसे भय मानता है वे परमात्मा हमारे रक्षक हों ॥२१॥ वे अहङ्कारशून्य, आत्मलाभसे ही पूर्णकाम, सर्वत्र समान (उपाधिकृत भेदसे रहित) और प्रशान्त (राग-द्वेषसे शून्य) हैं; जो मन्दमति उन्हें छोड़कर किसी औरका आश्रय लेता है वह मानो कुत्तेकी पूँछ पकड़कर वेगसे समुद्र पार करना चाहता है ॥ २२ ॥ जिनके विशाल शृङ्गमें पृथिवीरूप नौकाको बाँधकर सत्यव्रत मनु अनायास ही दुस्तर आपत्तिके पार हो गये वे मत्स्य भगवान् हम अपने आश्रितोंकी वृत्रासुरके दुरन्त भयसे अवश्य रक्षा करेंगे ॥ २३ ॥ पूर्वकालमें, प्रचण्ड पवनके थपेड़ोंसे

१. प्रा० पा०—दिवौकसः । २. प्रा० पा०—स्तपसा ।

स्युदीर्णवातोर्मिरवैः कराले ।
एकोऽरविन्दात्पतितस्ततार
तस्माद्भयाद्येन स नोऽस्तु पारः ॥२४॥
य एक ईशो निजमायया नः
ससर्ज येनानुसृजाम विश्वम् ।
वयं न यस्यापि पुरः समीहतः
पश्याम लिङ्गं पृथगीशमानिनः ॥२५॥
यो नः सपत्नैर्भृशमर्द्यमाना-
न्देवर्षितिर्यङ्नृषु नित्य एव ।
कृतावतारस्तनुभिः स्वमायया
कृत्वात्मसात्पाति युगे युगे च ॥२६॥
तमेव देवं वयमात्मदैवतं
परं प्रधानं पुरुषं विश्वमन्यम् ।
व्रजाम सर्वे शरणं शरण्यं
स्वानां स नो धास्यति शं महात्मा॥२७॥

[1]श्रीशुक उवाच

इति तेषां महाराज सुराणामुपतिष्ठताम् ।
प्रतीच्यां दिश्यभूदाविः शङ्खचक्रगदाधरः ॥२८॥
आत्मतुल्यैः षोडशभिर्विना श्रीवत्सकौस्तुभौ ।
पर्युपासितमुन्निद्रशरदम्बुरुहेक्षणम् ॥२९॥
दृष्ट्वा तमवनौ सर्व ईक्षणाह्लादविक्लवाः ।
दण्डवत्पतिता राजञ्छनैरुत्थाय तुष्टुवुः ॥३०॥

देवा ऊचुः

नमस्ते यज्ञवीर्याय वयसे उत ते नमः ।
नमस्ते ह्यस्तचक्राय नमः सुपुरुहूतये ॥३१॥

उठी हुई उत्ताल तरङ्गोंकी गर्जनाके कारण अत्यन्त भयानक प्रलयकालीन जलमें भगवान्‌के नाभिकमलसे गिरे हुए ब्रह्माजी अकेले होनेपर भी जिनकी कृपासे उस सङ्कटके पार हुए वे ही परमात्मा हमें इस आपत्तिसे पार लगावें ॥ २४ ॥ जिन एकमात्र प्रभुने अपनी मायासे हमारी रचना की, जिनके अनुग्रहसे हम संसारकी रचना करते हैं तथा 'हम स्वतन्त्र ईश्वर हैं' ऐसा अभिमान करनेके कारण, सम्पूर्ण प्राणियोंके अन्तःकरण-में स्थित होकर पहलेहीसे प्रेरणा करनेवाले जिन परमात्माके स्वरूपको हम नहीं जान सकते ॥ २५ ॥ जो हमें शत्रुओंसे अत्यन्त पीड़ित देखकर वास्तवमें निर्विकार रहते हुए ही अपनी मायाको आश्रयकर देवता, ऋषि, तिर्यक् और मनुष्यादि योनियोंमें अवतार ले, हमें अपना समझ युग-युगमें हमारी रक्षा करते हैं ॥ २६ ॥ जो सबके आत्मा और परमदेव हैं, प्रकृति और पुरुषरूपसे विश्वके कारण हैं तथा विश्वसे भिन्न होकर भी विश्वरूप हैं उन शरणागत-वत्सल श्रीहरिकी हम शरण हैं । वे महात्मा अवश्य अपने भक्त हमलोगोंका कल्याण करेंगे ॥ २७ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे महाराज ! देवताओं-के इस प्रकार स्तुति करनेपर शङ्ख-चक्र-गदाधारी श्रीहरि पश्चिम दिशामें प्रकट हुए ॥ २८ ॥ हे राजन् ! जिनके चारों ओर श्रीवत्सलाञ्छन और कौस्तुभमणिके सिवा अन्य सब भगवल्लक्षणोंसे युक्त सुनन्दादि सोलह पार्षदगण उपस्थित हैं तथा जिनके नेत्र शरत्कालीन प्रफुल्ल कमलके समान मनोहर हैं उन श्रीहरिका दर्शनकर उनके दर्शनानन्दसे विह्वल हो सम्पूर्ण देवताओंने पृथिवीमें दण्डके समान लोटकर प्रणाम किया और फिर धीरे-धीरे उठकर वे इस प्रकार स्तुति करने लगे ॥ २९-३० ॥

देवगण बोले—हे देव ! यज्ञ ही जिनका वीर्य है, जो [यज्ञफल देनेके लिये] कालस्वरूप हैं उन आपको हमारा नमस्कार है । जो [यज्ञविनाशक दैत्योंपर] अपना अमोघ चक्र चलाते हैं तथा जिनके अनेकों नाम हैं, ऐसे आपको हम पुनः-पुनः प्रणाम करते हैं ॥ ३१ ॥

१. प्रा० पा०—ऋषिरुवाच । २. प्रा० पा०—मधि ति० ।

यत्ते गतीनां तिसृणामीशितुः परमं पदम् ।
नार्वाचीनो विसर्गस्य धातर्वेदितुमर्हति ॥ ३२ ॥

हे धातः ! आप सात्त्विकादि तीनों प्रकारकी गतियोंके नियामक हैं, आपका जो निर्गुण परमपद है उसे इस कार्यरूप जगत्का कोई भी आधुनिक जीव नहीं जान सकता ॥ ३२ ॥

ॐ नमस्तेऽस्तु भगवन्नारायण वासुदेवादिपुरुष महापुरुष महानुभाव परममङ्गल परमकल्याण परमकारुणिक केवलजगदाधार लोकैकनाथ सर्वेश्वर लक्ष्मीनाथ परमहंसपरिव्राजकैः परमेणात्मयोगसमाधिना परिभावितपरिस्फुटपारमहंस्यधर्मेणोद्घाटिततमःकपाटद्वारे चित्तेऽपावृत आत्मलोके स्वयमुपलब्धनिजसुखानुभवो भवान् ॥ ३३ ॥ १ ॥ दुरवबोध इव तवायं विहारयोगो यदशरणोऽशरीर इदमनवेक्षितास्मत्समवाय आत्मनैवाविक्रियमाणेन सगुणमगुणः सृजसि पासि हरसि ॥ ३४ ॥ २ ॥ अथ तत्र भवान्किं देवदत्तवदिह गुणविसर्गपतितः पारतन्त्र्येण स्वकृतकुशलाकुशलं फलमुपाददात्याहोस्विदात्माराम उपशमशीलः समञ्जसदर्शन उदास्त इति ह वाव न विदामः ॥ ३५ ॥ ३ ॥ न हि विरोध उभयं भगवत्यपरिगणितगुणगण ईश्वरेऽनवगाह्यमाहात्म्येऽर्वाचीनविकल्पवितर्कविचारप्रमाणाभासकुतर्कशास्त्रकलिलान्तःकरणाश्रयदुरवग्रहवादिनां वि-

ॐ हे भगवन् ! हे नारायण ! हे वासुदेव ! हे आदिपुरुष ! हे परमपुरुष ! हे महानुभाव ! हे परममङ्गलमय ! हे परमकल्याणस्वरूप ! हे परमकारुणिक ! हे एकमात्र जगदाधार ! हे लोकैकनाथ ! हे सर्वेश्वर ! हे लक्ष्मीपते ! परमहंस परिव्राजकोंद्वारा आत्मसंयमरूप परमसमाधिसे भली प्रकार अनुशीलन किये जानेसे प्रकाशित हुए पारमहंस्यधर्मके द्वारा अपने हृदयके अज्ञानरूप कपाटोंके खोल दिये जानेपर जो आवरणरहित आत्मलोकमें प्राप्त हुए निजानन्दरूपसे अनुभवके विषय होते हैं वे आप ही हैं। ऐसे आपको नमस्कार है ॥ ३३ ॥ १ ॥ हे प्रभो ! आपकी यह क्रीडा बड़ी ही दुर्विज्ञेय जान पड़ती है कि आप निराश्रय, अशरीर, हमारी सहायताकी अपेक्षासे रहित और निर्गुण होकर भी विकारको प्राप्त हुए बिना ही इस गुणमय जगत्की रचना, पालन और संहार करते हैं ॥ ३४ ॥ २ ॥ हे देव ! गुणोंके कार्यरूप इस जगत्में मूर्तरूपसे प्रकट होकर आप देवदत्त नामक किसी व्यक्तिविशेषके समान अपने किये हुए शुभाशुभ कर्मोंका फल परतन्त्रतासे भोगते हैं अथवा अपनी चैतन्यशक्तिसे च्युत न होकर आत्माराम और उपशमशील हो उदासीन वृत्तिसे रहते हैं—यह हमारी समझमें कुछ नहीं आता ॥ ३५ ॥ ३ ॥ [हमारे विचारसे तो] आपमें इन दोनों बातोंके रहनेमें भी कोई विरोध नहीं है क्योंकि आप भगवान् हैं, आपके गुणगण अगणित हैं, आपका माहात्म्य दुर्बोध है और आप सर्वसमर्थ हैं। जिनका आपसे स्पर्श भी नहीं होता उन आधुनिक विकल्प, वितर्क, विचार, प्रमाणाभास और कुतर्कोंसे युक्त शास्त्रोंके कारण व्याकुल हुआ अन्तःकरण ही जिसका आश्रय है उस दुराग्रहसे विवाद करनेवाले पुरुषोंके विवादको जहाँ बिलकुल अवकाश नहीं है और

वादानवसर उपरतसमस्तमायामये केवल एवात्ममायामन्तर्धाय को न्वर्थो दुर्घट इव भवति स्वरूपद्वयाभावात् ॥ ३६ ॥ ४ ॥ समविषममतीनां मतमनुसरसि यथा रज्जुखण्डः सर्पादिधियाम्॥३७॥५॥ स एव हि पुनः सर्ववस्तुनि वस्तुस्वरूपः सर्वेश्वरः सकलजगत्कारणकारणभूतः सर्वप्रत्यगात्मत्वात्सर्वगुणाभासोपलक्षित एक एव पर्यवशेषितः ॥३८॥६॥ अथ ह वाव तव महिमामृतरससमुद्रविप्रुषा सकृदवलीढया स्वमनसि निष्यन्दमानानवरतसुखेन विस्मारितदृष्टश्रुतविषयसुखलेशाभासाः परमभागवता एकान्तिनो भगवति सर्वभूतप्रियसुहृदि सर्वात्मनि नितरां निरन्तरं निर्वृतमनसः कथमु ह वा एते मधुमथन पुनः स्वार्थकुशला ह्यात्मप्रियसुहृदः साधवस्त्वच्चरणाम्बुजानुसेवां विसृजन्ति न यत्र पुनरयं संसारपर्यावर्तः ॥३९॥७॥ त्रिभुवनात्मभवन त्रिविक्रम त्रिनयन त्रिलोकमनोहरानुभाव तवैव विभूतयो दितिजदनुजादयश्चापि तेषामनुपक्रमसमयोऽयमिति स्वात्ममायया सुरनरमृगमिश्रितजलचराकृतिभिर्यथापराधं दण्डं दण्डधर दधर्थ एवमेनमपि भगवञ्जहि त्वा-

जो सम्पूर्ण मायामय प्रपञ्चसे रहित है ऐसे आपके अद्वितीय स्वरूपमें अपनी मायाको छिपा लेनेपर कर्तृत्व-भोक्तृत्व आदि कौन-सा व्यापार नहीं हो सकता ? क्योंकि वास्तवमें तो आपमें दोनों ही स्वरूपोंका अभाव है ॥ ३६ ॥ ४ ॥ जिस प्रकार एक ही रस्सी निर्भ्रान्त पुरुषको रस्सी और भ्रान्तको सर्प-भूच्छिद्रादि प्रतीत होती है उसी प्रकार आप भी विवेकी और अविवेकी पुरुषोंकी बुद्धिका अनुसरण करते हैं* ॥ ३७ ॥ ५ ॥ विचारपूर्वक देखनेसे आप ही सब वस्तुओंमें सारभूत हैं, आप ही सर्वेश्वर हैं, आप ही जगत्के कारणरूप महत्तत्त्वादिके भी कारण हैं तथा सबके अन्तर्यामी होनेसे आप ही सम्पूर्ण विषयोंकी प्रतीतिसे लक्षित होते हैं और आपहीको श्रुति अनात्मवस्तुओंका निषेध करनेपर सबके अधिष्ठानरूपसे अवशिष्ट रखती है ॥ ३८ ॥ ६ ॥ हे मधुसूदन ! आपके महिमामृतरससमुद्रके बिन्दुका एक बार आस्वादन करनेसे अपने हृदयमें निरन्तर बहते हुए अनवरत सुखप्रवाहके कारण जिनके दृष्ट और श्रुत विषयजन्य लेशमात्र सुखाभास विस्मृत हो गये हैं तथा जिनका चित्त सम्पूर्ण भूतोंके प्रिय सुहृद् सर्वात्मा आपहीमें निरन्तर पूर्णतया समाहित रहता है वे परम अनन्य भगवद्भक्त स्वार्थसाधनमें कुशल और अपने प्रिय सुहृद् होकर भी किस प्रकार आपके चरणकमलोंकी सेवाको त्याग सकते हैं जिसके कारण उन्हें फिर इस संसारचक्रमें नहीं गिरना पड़ता ॥ ३९ ॥ ७ ॥ हे त्रिलोकीके आत्मा और आश्रय ! हे त्रिविक्रम ! हे त्रिलोकीके नियन्ता ! हे त्रिभुवनमोहन महानुभाव ! यद्यपि ये दैत्य-दानवादि भी आपहीकी विभूतियाँ हैं तथापि 'यह इनके उत्कर्षका समय नहीं है' यह सोचकर हे दण्डधर ! जिस प्रकार आप अपनी मायासे देवता, मनुष्य, मृग, मिश्रित और जलचरादि रूप धारणकर इन्हें इनके अपराधानुसार पहले दण्ड देते रहे हैं उसी प्रकार हे भगवन् ! यदि आपकी

१. प्रा० पा०—महिममहामृत० । २. प्रा० पा०—सकृल्लीढया । ३. प्रा० पा०—मानेनानव० । ४. प्रा० पा०—तमपि ।

* अर्थात् विवेकीको शुद्धसच्चिदानन्दस्वरूप जान पड़ते हैं और अविवेकीको अन्य संसारी जीवोंके समान कर्ता-भोक्ता।

ष्ट्रमुत यदि मन्यसे ॥४०॥८॥ अस्माकं तावकानां तव नतानां[1] तत ततामह तव चरणनलिनयुगलध्यानानुबद्धहृदयनिगडानां स्वलिङ्गविवरणेनात्मसात्कृतानामनुकम्पानुरञ्जितविशदरुचिरशिशिरस्मितावलोकेन विगलितमधुरमुखरसामृतकलया चान्तस्तापमनर्हसि शमयितुम् ॥४१॥९॥ अथ भगवंस्तवास्माभिरखिलजगदुत्पत्तिस्थितिलयनिमित्तायमानदिव्यमायाविनोदस्य सकलजीवनिकायानामन्तर्हृदयेषु बहिरपि च ब्रह्मप्रत्यगात्मस्वरूपेण प्रधानरूपेण च यथादेशकालदेहावस्थानविशेषं तदुपादानोपलम्भकतयानुभवतः सर्वप्रत्ययसाक्षिण आकाशशरीरस्य साक्षात्परब्रह्मणः परमात्मनः क्रियानिह वा अर्थविशेषो विज्ञापनीयः स्याद्विस्फुलिङ्गादिभिरिव हिरण्यरेतसः ॥४२॥१०॥ अत एव स्वयं तदुपकल्पयास्माकं भगवतः परमगुरोस्तव चरणशतपलाशच्छायां विविधवृजिनसंसारपरिश्रमोपशमनीमुपसृतानां[2] वयं यत्कामेनोपसादिताः ॥४३॥११॥

अथो ईश जहि त्वाष्ट्रं ग्रसन्तं भुवनत्रयम् ।
ग्रस्तानि येन नः कृष्ण तेजांस्यस्त्रायुधानि च ॥४४॥

हंसाय दहनिलयाय निरीक्षकाय
कृष्णाय मृष्टयशसे निरुपक्रमाय ।
सत्संग्रहाय भवपान्थनिजाश्रमाप्ता-
वन्ते परीष्टगतये हरये नमस्ते ॥४५॥

श्रीशुक उवाच

अथैवमीडितो राजन्सादरं त्रिदशैर्हरिः ।

इच्छा हो तो इस त्वष्टापुत्र वृत्रासुरका भी वध कीजिये ॥४०॥ ८ ॥ हे पितः ! हे पितामह ! हम आपके जन हैं और निरन्तर आपके सम्मुख प्रणत रहते हैं । आपके चरणकमलयुगलके ध्यानसे हमारे हृदय आपकी प्रेमशृंखलासे बँध गये हैं । आपने हमारे सम्मुख अपनी सगुण मूर्ति प्रकटकर हमें अपनाया है, अतः हे अनघ ! अब अपनी दयापूर्ण विशद सुन्दर और शीतल मुसकानयुक्त चितवनसे तथा अपने मुखारविन्दसे झड़ती हुई मनोहर वाणीरूप सुमधुर सुधाकलासे हमारे हृदयका ताप शान्त कीजिये ॥४१॥ ९ ॥ हे भगवन् ! जिस प्रकार चिनगारियाँ अग्निको प्रकाशित नहीं कर सकतीं उसी प्रकार हम भी आपको किस अर्थविशेषका ज्ञान करावें ? क्योंकि सम्पूर्ण जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति और लयकी कारणरूप दिव्य मायाके साथ क्रीडा करनेवाले आप निखिल जीवसमुदायके अन्तःकरणमें ब्रह्म और अन्तर्यामीरूपसे तथा बाहर प्रधानरूपसे स्थित रहकर उनके उपादान और प्रकाशकरूपसे देश, काल, शरीर और अवस्थाविशेषके अनुसार उनका अनुभव करनेवाले, सम्पूर्ण प्रतीतियोंके साक्षी एवं आकाश-शरीर साक्षात् परब्रह्म परमात्मा ही हैं ॥४२॥१०॥ आप अचिन्त्य-ऐश्वर्यसम्पन्न और संसारके परमगुरु हैं । अतः जिस कामनासे हम विविध पापोंके परिणामरूप संसारश्रमको शान्त करनेवाले आपके चरणकमलोंकी छायामें आये हैं, हम शरणागतोंका वह मनोरथ आप पूर्ण कीजिये ॥४३॥११॥ हे कृष्ण ! हे ईश ! त्रिलोकीका ग्रास करनेवाले इस वृत्रासुरका, जिसने हमारे तेज और अस्त्र-शस्त्रोंको भी निगल लिया है आप शीघ्र ही संहार कीजिये ॥४४॥ जो शुद्धस्वरूप, हृदयाकाशविहारी, सर्वसाक्षी, सच्चिदानन्दस्वरूप, विमलकीर्ति, अनादि एवं साधुजनसेवित हैं तथा जो संसारपथिकके अपनी शरणमें आ जानेपर अन्तमें उसके लिये उत्तम गति देनेवाले हैं उन श्रीहरिको हमारा नमस्कार है ॥४५॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! देवताओंके इस प्रकार आदरपूर्वक स्तुति करनेपर, अपना स्तोत्र

१. प्रा० पा०—रतानां इन्त तव । २. प्रा० पा०—मुपसंगतानां ।

स्वमुपस्थानमाकर्ण्य प्राह तानभिनन्दितः ॥४६॥

श्रीभगवानुवाच

प्रीतोऽहं वः सुरश्रेष्ठा मदुपस्थानविद्यया ।
आत्मैश्वर्यस्मृतिः पुंसां भक्तिश्चैव यया मयि ॥४७॥
किं दुरापं मयि प्रीते तथापि विबुधर्षभाः ।
मय्येकान्तमतिर्नान्यन्मत्तो वाञ्छति तत्त्ववित् ॥४८॥
न वेद कृपणः श्रेय आत्मनो गुणवस्तुदृक् ।
तस्य तानिच्छतो यच्छेद्यदि सोऽपि तथाविधः ॥४९॥
स्वयं निःश्रेयसं विद्वान्न वक्त्यज्ञाय कर्म हि ।
न राति रोगिणोऽपथ्यं वाञ्छतो[1] हि भिषक्तमः ॥५०॥
मघवन्यात भद्रं वो दध्यञ्चमृषिसत्तमम् ।
विद्याव्रततपःसारं गात्रं याचत मा चिरम् ॥५१॥
स वा अधिगतो दध्यङ्ङश्विभ्यां ब्रह्म निष्कलम्[2] ।
यद्वा अश्वशिरो नाम तयोरमरतां व्यधात् ॥५२॥
दध्यङ्ङाथर्वणस्त्वष्ट्रे वर्माभेद्यं मदात्मकम् ।
विश्वरूपाय यत्प्रादात्त्वष्टा यत्त्वमधास्ततः ॥५३॥

सुनकर प्रसन्न हुए श्रीहरि उनसे कहने लगे ॥ ४६ ॥

श्रीभगवान् बोले—हे देवश्रेष्ठगण ! मेरी स्तुति-युक्त जो तुम्हारा यह ज्ञान है उसके कारण मैं तुमपर प्रसन्न हूँ । इसके द्वारा मनुष्योंको आत्माके प्रभावकी स्मृति और मेरी भक्ति प्राप्त होती है ॥४७॥ हे विबुधर्षभ ! मेरे प्रसन्न होनेपर फिर दुर्लभ ही क्या है ? तथापि मेरा अनन्य और तत्त्ववेत्ता भक्त मेरे सिवा और कुछ नहीं चाहता ॥४८॥ जो मन्दमति विषयों-को ही सार समझता है उसे अपने वास्तविक कल्याण-का ज्ञान नहीं हो सकता और यदि कोई उसे वे अभीष्ट पदार्थ दे तो वह भी उसीके समान [महामूर्ख] है ॥४९॥ जो पुरुष मुक्तिमार्गको जानता है वह किसी अज्ञ व्यक्तिको भी कर्म (प्रवृत्तिमार्ग) का उपदेश नहीं देता । जिस प्रकार श्रेष्ठ वैद्य रोगीके इच्छा करनेपर भी उसे कुपथ्य नहीं देता ॥५०॥ हे देवेन्द्र ! तुम्हारा कल्याण हो । तुम शीघ्र ही मुनिवर दधीचिके पास जाओ और विद्या, व्रत तथा तपके प्रभावसे अत्यन्त दृढ़ हुआ उनका शरीर माँग लाओ ॥५१॥ उन दधीचि ऋषिको अश्वशिर* नामक शुद्ध-ब्रह्मका ज्ञान है । इसका उन्होंने अश्विनीकुमारोंको उपदेश किया था जिसके प्रभावसे उन अश्विनी-कुमारोंको अमरता प्राप्त हुई ॥५२॥ उन अथर्वणवेदीय दधीचि ऋषिने ही पहले-पहल मेरा स्वरूपभूत नारायणकवच त्वष्टाको उपदेश किया था । वही त्वष्टाने विश्वरूपको दिया और विश्वरूपसे तुम्हें मिला

१. प्रा० पा०—तोऽपि भि० । २. प्रा० पा०—निष्कृतम् ।

* यह कथा इस प्रकार है—दधीचि ऋषिको प्रवर्ग्य (यज्ञकर्मविशेष) और ब्रह्मविद्याका उत्तम ज्ञान है—यह जानकर एक बार उनके पास अश्विनीकुमार आये और उनसे ब्रह्मविद्याका उपदेश करनेके लिये प्रार्थना की। दधीचि मुनिने कहा—'इस समय मैं एक कार्यमें लगा हुआ हूँ इसलिये अब तो जाओ, फिर किसी समय आना।' इसपर अश्विनीकुमार चले गये। उनके जाते ही इन्द्रने आकर कहा—'मुने ! अश्विनीकुमार वैद्य हैं, उन्हें तुम ब्रह्मविद्याका उपदेश मत करना । यदि तुम मेरी बात न मानकर उन्हें उपदेश करोगे तो मैं तुम्हारा शिर काट डालूँगा ।' जब ऐसा कहकर इन्द्र चले गये तो अश्विनीकुमारोंने आकर फिर वही प्रार्थना की । मुनिने इन्द्रका सब वृत्तान्त सुनाया । इसपर अश्विनीकुमारोंने कहा—'हम पहले ही आपका यह शिर काटकर घोड़ेका शिर जोड़ देंगे । उससे आप हमें उपदेश करें और जब इन्द्र आपका घोड़ेका शिर काट देंगे तो हम फिर असली शिर जोड़ देंगे ।' मुनिने मिथ्या-भाषणके भयसे उनका कथन स्वीकार कर लिया । इस प्रकार अश्वमुखसे उपदेश की जानेके कारण ब्रह्मविद्याका नाम 'अश्वशिरा' पड़ा ।

युष्मभ्यं याचितोऽश्विभ्यां धर्मज्ञोऽङ्गानि दास्यति ।
ततस्तैरायुधश्रेष्ठो विश्वकर्मविनिर्मितः ।
येन वृत्रशिरो हर्ता मत्तेजउपबृंहितः ॥५४॥
तस्मिन्विनिहते यूयं तेजोऽस्त्रायुधसम्पदः ।
भूयः प्राप्स्यथ भद्रं वो न हिंसन्ति च मत्परान् ॥५५॥

॥५३॥ दधीचि ऋषि परम धर्मात्मा हैं, तुमलोगोंके और विशेषतः अश्विनीकुमारोंके माँगनेपर वे अपने शरीरके अंग अवश्य दे देंगे । उनसे विश्वकर्माजीका बनाया हुआ एक शस्त्र तैयार होगा उससे देवराज इन्द्र मेरे तेजसे सम्पन्न होकर वृत्रासुरका शिर काट डालेगा ॥५४॥ उसके मारे जानेपर तुम अपने (खोये हुए) तेज, अस्त्र-शस्त्र और सम्पत्तिको फिर प्राप्त करोगे । मेरे भक्तोंको कोई कष्ट नहीं दे सकता; अतः तुम्हारा कल्याण अवश्य होगा ॥५५॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे षष्ठस्कन्धे नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

दशवाँ अध्याय

देवताओंका दधीचि ऋषिकी हड्डी लाना और वृत्रासुरसे युद्ध करना ।

श्रीशुक उवाच

इन्द्रमेवं समादिश्य भगवान्विश्वभावनः ।
पश्यतामनिमेषाणां तत्रैवान्तर्दधे हरिः ॥ १ ॥
तथाभियाचितो देवैर्ऋषिराथर्वणो महान् ।
मोदमान उवाचेदं प्रहसन्निव भारत ॥ २ ॥
अपि वृन्दारका यूयं न जानीथ शरीरिणाम् ।
संस्थायां यस्त्वभिद्रोहो दुःसहश्चेतनापहः ॥ ३ ॥
जिजीविषूणां जीवानामात्मा प्रेष्ठ इहेप्सितः ।
क उत्सहेत तं दातुं भिक्षमाणाय विष्णवे ॥ ४ ॥

देवा ऊचुः

किं नु तद्दुस्त्यजं ब्रह्मन्पुंसां भूतानुकम्पिनाम् ।
भवद्विधानां महतां[2] पुण्यश्लोकेड्यकर्मणाम् ॥ ५ ॥
ननु[3] स्वार्थपरो लोको न वेद परसंकटम् ।

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! इन्द्रको इस प्रकार आज्ञा दे विश्वभावन भगवान् हरि देवताओंके देखते-देखते वहीं अन्तर्धान हो गये ॥ १ ॥ हे भारत ! जब देवताओंने भगवान्के कथनानुसार दधीचि ऋषिसे याचना की तो उन्होंने अति प्रसन्न होकर हँसते हुए इस प्रकार कहा—॥ २ ॥ 'हे देवगण ! देहधारियोंको शरीर-त्याग करनेमें जो अचेत कर देनेवाला दुःसह दुःख होता है क्या तुम उसे नहीं जानते ? ॥ ३ ॥ संसारमें जीवित रहनेकी इच्छावाले पुरुषोंको शरीर बहुत ही प्रिय होता है । उसे यदि साक्षात् विष्णुभगवान् भी माँगें तो भी कौन देनेका साहस कर सकता है ? ॥ ४ ॥

देवताओंने कहा—हे ब्रह्मन् ! जिनके कर्मोंकी पुण्यकीर्तिशाली सत्पुरुष भी प्रशंसा करते हैं, सम्पूर्ण भूतोंपर कृपा करनेवाले वे आप-जैसे महापुरुष [परोपकारके लिये] किस वस्तुका त्याग नहीं कर सकते ? ॥ ५ ॥ भगवन् ! यह संसार तो स्वार्थी है, यह दूसरेके दुःखको नहीं जानता । यदि इसे उसका

१. प्रा० पा०—बादरायणिरुवाच । २. प्रा० पा०—साधूनां । ३. प्रा० पा०—नूनं ।

यदि वेद न याचेत नेति नाह यदीश्वरः ॥ ६ ॥

ऋषिरुवाच

धर्मं वः श्रोतुकामेन यूयं मे प्रत्युदाहृताः ।
एष वः प्रियमात्मानं त्यजन्तं संत्यजाम्यहम् ॥ ७ ॥
योऽध्रुवेणात्मना नाथा न धर्मं न यशः पुमान् ।
ईहेत[1] भूतदयया स शोच्यः स्थावरैरपि ॥ ८ ॥
एतावानव्ययो धर्मः पुण्यश्लोकैरुपासितः ।
यो भूतशोकहर्षाभ्यामात्मा[2] शोचति हृष्यति ॥ ९ ॥
अहो दैन्यमहो कष्टं पारक्यैः क्षणभङ्गुरैः ।
यन्नोपकुर्यादस्वार्थैर्मर्त्यः स्वज्ञातिविग्रहैः ॥१०॥

श्रीशुक[3] उवाच

एवं कृतव्यवसितो दध्यङ्ङाथर्वणस्तनुम् ।
परे भगवति ब्रह्मण्यात्मानं सन्नयज्जहौ ॥११॥
यताक्षासुमनोबुद्धिस्तत्त्वदृग्ध्वस्तबन्धनः ।
आस्थितः परमं योगं न देहं बुबुधे गतम् ॥१२॥
अथेन्द्रो वज्रमुद्यम्य निर्मितं विश्वकर्मणा ।
मुनेः शुक्तिभिरुत्सिक्तो भगवत्तेजसान्वितः ॥१३॥
वृतो देवगणैः सर्वैर्गजेन्द्रोपर्यशोभत ।
स्तूयमानो मुनिगणैस्त्रैलोक्यं हर्षयन्निव ॥१४॥
वृत्रमभ्यद्रवच्छेत्तुमसुरानीकयूथपैः ।
पर्यस्तमोजसा राजन्क्रुद्धो रुद्र इवान्तकम् ॥१५॥

ज्ञान होता तो न तो माँगनेवाला दूसरोंसे माँगता और न देनेमें समर्थ होकर कोई निषेध करता ॥ ६ ॥

दधीचि ऋषिने कहा--मैंने आपलोगोंके मुखसे धर्म सुननेके लिये ही यह प्रत्युत्तर दिया था। मेरा यह प्रिय शरीर एक दिन स्वयं ही मुझे छोड़नेवाला है, इसलिये इसे मैं [आपलोगोंके हितके लिये] आज ही छोड़े देता हूँ ॥ ७ ॥ हे स्वामियो ! जो पुरुष इस अनित्य शरीरसे जीवोंपर दया करते हुए धर्म अथवा यशके उपार्जनका प्रयत्न नहीं करता वह स्थावरों (वृक्षादिकों) की दृष्टिमें भी शोचनीय है ॥ ८ ॥ मनुष्य जो कि दूसरोंके दुःखमें दुःखी और सुखमें सुखी होता है यही पुण्यकीर्तिशाली पुरुषोंद्वारा सेवित अक्षय धर्म है ॥९॥ अहो, कैसी कृपणता है ! कैसे दुःखकी बात है कि जिनसे मनुष्यका कुछ भी स्वार्थ सिद्ध नहीं होता तथा जो दूसरोंके ही भोग्य और क्षणभङ्गुर हैं उन धन, जन और शरीरादिसे वह दूसरोंका कुछ भी उपकार नहीं करता ! ॥ १० ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! ऐसा निश्चय कर अथर्वणवेदी दधीचि ऋषिने अपने चित्तको परब्रह्म भगवान्‌में लीन कर अपना शरीर त्याग दिया ॥११॥ मुनिवर दधीचिके इन्द्रिय, मन और प्राण संयत थे और दृष्टि तत्त्वमयी थी। इस प्रकार वे सब बन्धनोंसे मुक्त हो गये थे। अतः जब उन्होंने परमयोगमें स्थित होकर प्राण त्याग किया तो उन्हें इस शरीरका कुछ भी पता नहीं चला ॥ १२ ॥

तदनन्तर, भगवान्‌के तेजसे सम्पन्न होनेके कारण जिनका बल बढ़ गया है, जो चारों ओरसे देवताओंसे घिरे हुए हैं तथा मुनिजन जिनकी स्तुति कर रहे हैं वे देवराज इन्द्र त्रिलोकीको आनन्दित करते हुए विश्वकर्माद्वारा दधीचि मुनिकी हड्डियोंसे बनाये हुए वज्रको ले गजराज ऐरावतपर सुशोभित हुए ॥१३-१४॥ हे राजन् ! जैसे भगवान् रुद्रने समस्त लोकोंका संहार करनेवाले त्रिपुरासुरपर क्रोधपूर्वक आक्रमण किया था उसी प्रकार वे असुरयूथपतियोंसे घिरे हुए वृत्रासुरकी ओर उसका वध करनेके लिये बड़े वेगसे दौड़े ॥१५॥

१. प्रा० पा०—इच्छेत । २. प्रा० पा०—भ्यां न शोचति न हृष्यति । ३. प्रा० पा०—बादरायणिरुवाच ।

ततः सुराणामसुरै रणः परमदारुणः ।
त्रेतामुखे नर्मदायामभवत्प्रथमे युगे ॥१६॥
रुद्रैर्वसुभिरादित्यैरश्विभ्यां पितृवह्निभिः ।
मरुद्भिर्ऋभुभिः साध्यैर्विश्वेदेवैर्मरुत्पतिम् ॥१७॥
दृष्ट्वा वज्रधरं शक्रं रोचमानं स्वया श्रिया ।
नामृष्यन्नसुरा राजन्मृधे वृत्रपुरःसराः ॥१८॥
नमुचिः शम्बरोऽनर्वा द्विमूर्धा ऋषभोऽम्बरः ।
हयग्रीवः शङ्कुशिरा विप्रचित्तिरयोमुखः ॥१९॥
पुलोमा वृषपर्वा च प्रहेतिर्हेतिरुत्कलः[1] ।
दैतेया दानवा यक्षा रक्षांसि च सहस्रशः ॥२०॥
सुमालिमालिप्रमुखाः कार्तस्वरपरिच्छदाः ।
प्रतिषिध्येन्द्रसेनाग्रं मृत्योरपि दुरासदम् ॥२१॥
अभ्यर्दयन्नसंभ्रान्ताः सिंहनादेन दुर्मदाः ।
गदाभिः परिघैर्बाणैः प्रासमुद्गरतोमरैः[2] ॥२२॥
शूलैः परश्वधैः खड्गैः शतघ्नीभिर्भुशुण्डिभिः ।
सर्वतोऽवाकिरन् शस्त्रैरस्त्रैश्च विबुधर्षभान् ॥२३॥
न तेऽदृश्यन्त संछन्नाः शरजालैः समन्ततः ।
पुङ्खानुपुङ्खपतितैर्ज्योतींषीव नभोघनैः ॥२४॥
न ते शस्त्रास्त्रवर्षौघा ह्यासेदुः सुरसैनिकान् ।
छिन्नाः सिद्धपथे देवैर्लघुहस्तैः सहस्रधा ॥२५॥
अथ क्षीणास्त्रशस्त्रौघा गिरिशृङ्गद्रुमोपलैः ।
अभ्यवर्षन्सुरबलं चिच्छिदुस्तांश्च पूर्ववत् ॥२६॥

तानक्षतान्स्वस्तिमतो निशाम्य
शस्त्रास्त्रपूगैरथ वृत्रनाथाः ।
द्रुमैर्दृषद्भिर्विविधाद्रिशृङ्गै-
रविक्षतांस्तत्रसुरिन्द्रसैनिकान् ॥२७॥
सर्वे प्रयासा अभवन्विमोघाः
कृताः कृता देवगणेषु दैत्यैः ।

इस प्रकार [वैवस्वतमन्वन्तरके] प्रथम चतुर्युगके त्रेतायुगका आरम्भ होनेके समय नर्मदा नदीके तीरपर असुरोंके साथ देवताओंका भयङ्कर युद्ध होने लगा ॥ १६ ॥ हे राजन् ! उस समय रुद्र, वसु, आदित्य, अश्विनीकुमार, पितृगण, अग्नि, मरुद्गण, ऋभु, साध्य और विश्वदेवतादिके साथ अपनी कान्तिसे शोभायमान वज्रधारी देवराज इन्द्रको युद्धस्थलमें [अपने सामने] देखकर वृत्रासुर आदि दैत्योंको सहन न हुआ ॥ १७-१८ ॥ अतः नमुचि, शम्बर, अनर्वा, द्विमूर्धा, ऋषभ, अम्बर, हयग्रीव, शङ्कुशिरा, विप्रचिति, अयोमुख, पुलोमा, वृषपर्वा, प्रहेति, हेति और उत्कल आदि दैत्य, दानव और यक्षगण तथा सुमाली-माली आदि सहस्रों सुवर्णालङ्कारविभूषित राक्षसगण साक्षात् मृत्युके लिये भी असह्य इन्द्रकी सेनाके अग्रभागको रोककर उसे अत्यन्त उन्मत्त हो क्रोधपूर्वक पीडित करने लगे तथा उन देवश्रेष्ठोंपर सब ओरसे गदा, परिघ, बाण, प्रास, मुद्गर, तोमर, शूल, परशु, खड्ग, शतघ्नी और भुशुण्डी आदि अस्त्र-शस्त्रोंकी वर्षा करने लगे ॥ १९-२३ ॥ इस प्रकार पुङ्खानुपुङ्ख भावसे छोड़े हुए बाणसमूहसे सब ओरसे आच्छादित हो जानेके कारण देवतालोग आकाशस्थ मेघमालासे ढँके हुए तारागणके समान अदृश्य हो गये ॥ २४ ॥ किन्तु वह शस्त्रास्त्रोंकी वर्षा सुरसैनिकोंको स्पर्श भी न कर सकी, फुर्तीले देवताओंने उसके सहस्रों खण्ड करके उसे आकाशहीमें छिन्न-भिन्न कर दिया ॥ २५ ॥ तदनन्तर, अस्त्र-शस्त्रोंके समाप्त हो जानेपर दैत्योंने देवसेनाके ऊपर पर्वत-शिखर, वृक्ष और पत्थर बरसाना आरम्भ किया । किन्तु देवताओंने उन्हें भी पूर्ववत् काट डाला ॥ २६ ॥

हे राजन् ! इस प्रकार इन्द्रसेनाको अपने शस्त्रसमूहसे अक्षत तथा वृक्ष, पत्थर और अनेकों पर्वतोंके प्रहारसे भी अनाहत एवं सकुशल देख वृत्रासुरके अनुयायी दैत्यगण बड़े भयभीत हुए ॥ २७ ॥ जिस प्रकार क्षुद्र मनुष्योंद्वारा महापुरुषोंके प्रति कहे हुए कठोर और अमङ्गलमय वचन उनका कुछ नहीं बिगाड़

१. प्रा० पा०—कटः । २. प्रा० पा०—प्रासतोमरमुद्गरैः ।

कृष्णानुकूलेषु यथा महत्सु
क्षुद्रैः प्रयुक्ता रुशती रूक्षवाचः ॥२८॥
ते स्वप्रयासं वितथं निरीक्ष्य
हरावभक्ता हतयुद्धदर्पाः ।
पलायनायाजिमुखे विसृज्य
पतिं मनस्ते दधुरात्तसाराः ॥२९॥
वृत्रोऽसुरांस्ताननुगान्मनस्वी
प्रधावतः प्रेक्ष्य बभाष एतत् ।
पलायितं प्रेक्ष्य बलं च भग्नं
भयेन तीव्रेण विहस्य वीरः ॥३०॥
कालोपपन्नां रुचिरां मनस्विना-
मुवाच वाचं पुरुषप्रवीरः ।
हे विप्रचित्ते नमुचे पुलोमन्
मयानर्वञ्शम्बर मे शृणुध्वम् ॥३१॥
जातस्य मृत्युर्ध्रुव एष सर्वतः,
प्रतिक्रिया यस्य न चेह कल्पा ।
लोके यशश्चाथ ततो यदि ह्यमुं
को नाम मृत्युं न वृणीत युक्तम् ॥३२॥
द्वौ संमताविह मृत्यू दुरापौ
यद्ब्रह्मसंधारणया जितासुः ।
कलेवरं योगरतो विजह्या-
द्यदग्रणीर्वीरशयेऽनिवृत्तः ॥३३॥

सकते उसी प्रकार भगवदनुग्रहीत देवताओंपर उनके नाशके लिये पुनः-पुनः किये हुए दैत्योंके सारे उद्योग निष्फल हो गये ॥ २८ ॥ इस प्रकार भगवद्भक्तिशून्य दैत्योंका युद्धोत्साह नष्ट हो गया, देवताओंने उनका सारा धैर्य हर लिया और वे अपने उद्योगको व्यर्थ होता देख अपने नायक वृत्रासुरको युद्धभूमिमें ही छोड़कर भागने लगे ॥ २९ ॥ उस समय धीर-वीर वृत्रासुर अपने अनुयायी असुरोंको भागते और सेनाको अत्यन्त भयसे छिन्न-भिन्न होते देख हँसकर कहने लगा ॥ ३० ॥ उस वीरश्रेष्ठने मनस्वियोंके योग्य समयोचित वाणीसे कहा—'हे विप्रचित्ते ! हे नमुचे ! हे पुलोमन् ! हे मय ! हे अनर्वन् ! हे शम्बर ! मेरी एक बात सुनो ॥ ३१ ॥ भाई, जो उत्पन्न हुआ है उसकी मृत्यु निश्चित है, उसे रोकनेका विधाताने कोई उपाय नहीं रचा । तब उस मृत्युसे यदि परलोकमें सद्गति और इस लोकमें सुयश प्राप्त होता हो तो ऐसी उत्तम मृत्युको कौन स्वीकार न करेगा ॥३२॥ संसारमें दो प्रकारकी मृत्यु परम दुर्लभ और श्रेष्ठ मानी गयी है—एक तो ब्रह्मचिन्तनके द्वारा प्राणोंको जीतकर योगाभ्यास करते हुए शरीर त्यागना और दूसरे युद्धस्थलमें सेनाके आगे रहकर पीछे पैर न रखते हुए प्राण विसर्जन करना' ॥३३॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे षष्ठस्कन्धे इन्द्रवृत्रासुर-
युद्धवर्णनं नाम दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

ग्यारहवाँ अध्याय

वृत्रासुरके वीरोचित उद्गार ।

श्रीशुक उवाच

त एवं शंसतो धर्मं वचः पत्युरचेतसः ।
नैवागृह्णन्भयत्रस्ताः पलायनपरा नृप ॥ १ ॥
विशीर्यमाणां पृतनामासुरीमसुरर्षभः ।
कालानुकूलैस्त्रिदशैः काल्यमानामनाथवत् ॥ २ ॥
दृष्ट्वातप्यत संक्रुद्ध इन्द्रशत्रुरमर्षितः ।

श्रीशुकदेवजी बोले—हे नृप ! दैत्यराज वृत्रासुरके इसप्रकार धर्मयुक्त वचन कहनेपर भी भयसे व्याकुल होकर भागते हुए असुरोंने उनपर कोई ध्यान न दिया ॥ १ ॥ हे राजन् ! तब, काल जिनके अनुकूल है ऐसे देवताओंद्वारा खदेड़ी हुई असुरसेना-को अनाथके समान छिन्न-भिन्न होती देख इन्द्रशत्रु वृत्रासुरको क्रोध और असहिष्णुताके कारण अत्यन्त

१. प्रा० पा०—कल्प्यते ।

तान्निवार्यौजसा राजन्निर्भर्त्स्येदमुवाच ह ॥ ३ ॥

किं व उच्चरितैर्मातुर्धावद्भिः पृष्ठतो हतैः ।

न हि भीतवधः श्लाघ्यो न स्वर्ग्यः शूरमानिनाम् ॥ ४ ॥

यदि वः प्रधने श्रद्धा सारं वा क्षुल्लका हृदि ।

अग्रे तिष्ठत मात्रं मे न चेद्ग्राम्यसुखे स्पृहा ॥ ५ ॥

एवं सुरगणान्क्रुद्धो भीषयन्त्रपुषा रिपून् ।
व्यनदत्सुमहाप्राणो येन लोका विचेतसः ॥ ६ ॥
तेन देवगणाः सर्वे वृत्रविस्फोटनेन वै ।
निपेतुर्मूर्च्छिता भूमौ यथैवाशनिना हताः ॥ ७ ॥

ममर्द पद्भ्यां सुरसैन्यमातुरं
निमीलिताक्षं रणरङ्गदुर्मदः ।
गां कम्पयन्नुद्यतशूल ओजसा
नालं वनं यूथपतिर्यथोन्मदः ॥ ८ ॥
विलोक्य तं वज्रधरोऽत्यमर्षितः
स्वशत्रवेऽभिद्रवते महागदाम् ।
चिक्षेप तामापततीं सुदुःसहां
जग्राह वामेन करेण लीलया ॥ ९ ॥
स इन्द्रशत्रुः कुपितो भृशं तया
महेन्द्रवाहं गदयोग्रविक्रमः ।
जघान कुम्भस्थल उन्नदन्मृधे
तत्कर्म सर्वे समपूजयन्नृप ॥१०॥
ऐरावतो वृत्रगदाभिमृष्टो
विघूर्णितोऽद्रिः कुलिशाहतो यथा ।
अपासरद्भिन्नमुखः सहेन्द्रो
मुञ्चन्नसृक्सप्तधनुर्भृशार्तः ॥११॥
न सन्नवाहाय विषण्णचेतसे
प्रायुङ्क्त भूयः स गदां महात्मा ।

सन्ताप हुआ । उसने देवसेनाको बलपूर्वक रोककर ललकारते हुए कहा—॥ २-३ ॥ "अरे ! माताके उदरसे विष्ठाके समान निकले हुए रणभूमिसे भागनेवाले इन दैत्योंपर पीछेसे प्रहार करनेसे तुम्हें क्या मिलेगा ? अपनेको शूरवीर माननेवाले पुरुषोंके लिये डरपोकोंका वध करना प्रशंसनीय और स्वर्गप्रद नहीं है ॥ ४ ॥ अतः हे क्षुद्रो ! यदि तुम्हारे हृदयमें युद्ध करनेका शौक और साहस है तथा विषय-भोगोंकी चाह नहीं है तो एक क्षणके लिये मेरे सामने डटे रहो" ॥ ५ ॥

इस प्रकार अपने शत्रु देवताओंको अपने विकट शरीरसे भयभीत करते हुए उस महाबली दैत्यने भयंकर गर्जना की, जिससे सब लोक अचेत हो गये ॥ ६ ॥ वृत्रासुरके उस भयानक सिंहनादसे समस्त देवगण वज्राहतके समान अचेत होकर पृथिवीपर गिर पड़े ॥७॥ तब जिस प्रकार मदोन्मत्त यूथपति गजराज नरसलके वनको रौंदता है उसी प्रकार रणरंगदुर्मद वृत्रासुर हाथमें त्रिशूल लिये अपने बलसे पृथिवीको कम्पायमान करता हुआ भयसे नेत्र बंद किये पड़ी हुई देवसेनाको पैरोंसे कुचलने लगा ॥ ८ ॥ उसकी यह करतूत देखकर इन्द्रने अत्यन्त अमर्षयुक्त हो अपनी ओर आते हुए अपने शत्रु वृत्रासुरपर एक प्रचण्ड गदा फेंकी । उस असह्य गदाको अपनी ओर आती देख वृत्रासुरने उसे खेलहीमें बायें हाथसे पकड़ ली ॥९॥ और हे राजन् ! उस महापराक्रमी इन्द्रशत्रुने युद्धमें अत्यन्त कुपित हो भयंकर गर्जना करते हुए उसी गदासे इन्द्रके वाहन ऐरावतके मस्तकपर प्रहार किया । उसके इस कार्यकी सभीने प्रशंसा की ॥१०॥ वृत्रासुरकी गदासे आहत हुआ ऐरावत वज्राहत पर्वतके समान तिलमिला उठा, और मुँह फट जानेके कारण अत्यन्त व्याकुल हो रक्त वमन करता हुआ वह इन्द्रके सहित सात धनुष (अट्ठाईस हाथ) पीछे हट गया ॥११॥

इस प्रकार, वाहनके मूर्च्छित हो जानेसे व्याकुल हुए इन्द्रपर महामना वृत्रासुरने फिर प्रहार नहीं

१. प्राचीन प्रतिमें 'तन्निवार्यौजसा·····'से लेकर '·····क्षुल्लका हृदि' तकका पाठ मूलमें छूट गया है ।

इन्द्रोऽमृतस्यन्दिकराभिमर्श-[1]
वीतव्यथः क्षतवाहोऽवतस्थे[2] ॥१२॥
स तं नृपेन्द्राहवकाम्यया रिपुं
वज्रायुधं भ्रातृहणं विलोक्य।
स्मरंश्च तत्कर्म नृशंसमंहः
शोकेन मोहेन हसञ्जगाद ॥१३॥

वृत्र उवाच

दिष्ट्या भवान्मे समवस्थितो रिपु-
र्यो ब्रह्महा गुरुहा भ्रातृहा च।
दिष्ट्यानृणोऽद्याहमसत्तम त्वया
मच्छूलनिर्भिन्नदृषद्धृदाचिरात् ॥१४॥
यो नोऽग्रजस्यात्मविदो द्विजाते-
र्गुरोरपापस्य च दीक्षितस्य।
विश्रभ्य खड्गेन शिरांस्यवृश्चत्
पशोरिवाकरुणः स्वर्गकामः ॥१५॥
ह्रीश्रीदयाकीर्तिभिरुज्झितं त्वां
स्वकर्मणा पुरुषादैश्च गर्ह्यम्।
कृच्छ्रेण मच्छूलविभिन्नदेह-
मस्पृष्टवह्निं समदन्ति गृध्राः ॥१६॥
अन्येऽनु[3] ये त्वेह नृशंसमज्ञा
ये ह्युद्यतास्त्राः प्रहरन्ति मह्यम्।
तैर्भूतनाथान्सगणान्निशात-
त्रिशूलनिर्भिन्नगलैर्यजामि ॥१७॥
अथो हरे मे कुलिशेन वीर
हर्ता प्रमथ्यैव शिरो यदीह।
यत्रानृणो भूतबलिं विधाय
मनस्विनां पादरजः प्रपत्स्ये ॥१८॥
सुरेश कस्मान्न हिनोषि वज्रं
पुरः स्थिते वैरिणि मय्यमोघम्।

किया। इतनेहीमें अपने अमृतस्रावी हाथके स्पर्शसे घायल ऐरावतकी पीडा शान्त हो जानेपर देवराज इन्द्र फिर युद्धस्थलमें आ डटे ॥१२॥ हे राजेन्द्र! अपने भाई [विश्वरूप] का वध करनेवाले दैत्यशत्रु इन्द्रको युद्धकी कामनासे वज्र लेकर सामने आया देख उनके उस निष्ठुर पापकर्मका स्मरणकर वृत्रासुरने शोक और मोहसे अभिभूत हो उनसे हँसते हुए कहा—॥१३॥

वृत्रासुर बोला—अहो! बड़े सौभाग्यकी बात है जो तू ब्रह्महत्यारा, गुरुद्रोही और मेरे भाईका वध करनेवाला मेरा शत्रु आज मेरे सामने उपस्थित हुआ। अरे महा अधम! अब शीघ्र ही तेरे पाषाणतुल्य हृदयको अपने त्रिशूलसे विदीर्णकर मैं भ्रातृ-ऋणसे उऋण हो जाऊँगा ॥१४॥ जिस प्रकार स्वर्गकी इच्छावाले याज्ञिकगण पशुका शिर काटते हैं उसी प्रकार तूने विश्वासघात करके विप्रवंशमें उत्पन्न हुए, अपने गुरु, आत्मज्ञानी, निर्दोष और यज्ञकर्मके लिये दीक्षित हमारे बड़े भाईके शिरोंको काटा डाला! ॥१५॥ लज्जा, लक्ष्मी, दया और कीर्ति आदि तुझे छोड़ चुकी हैं, तेरे इस कुकर्मके कारण मनुष्यभक्षी राक्षसगण भी तेरी निन्दा करते हैं। अब मेरे त्रिशूलसे बड़े कष्टसे छिन्न-भिन्न हुए तेरे देहको गिद्ध भक्षण करेंगे, इसे अग्निका स्पर्श भी नहीं होगा ॥१६॥ और भी जो मूर्ख देवगण तुझ महाक्रूरका अनुगमन करते हुए मुझपर नाना प्रकारके शस्त्रास्त्र लेकर प्रहार कर रहे हैं उन पशुओंका मैं अपने तीक्ष्ण त्रिशूलसे गला काटकर उनके द्वारा भैरवादि गणोंके सहित भगवान् भूतनाथका यजन करूँगा ॥१७॥ अथवा हे वीर इन्द्र! यदि इस युद्धस्थलमें मेरे दलका दलनकर तूने ही अपने वज्रसे मेरा मस्तक काट डाला तो मैं कर्मबन्धनसे छूटकर [अपने शरीरसे] सम्पूर्ण भूतोंको बलि समर्पणकर धीर पुरुषोंके पदको प्राप्त हो जाऊँगा ॥१८॥ देवराज! अपने सम्मुख खड़े हुए मुझ शत्रुपर तुम अपना अमोघ वज्र क्यों नहीं छोड़ते? तुम ऐसा सन्देह न

१. प्रा० पा०—मर्शादीषद्व्यथः। २. प्रा० पा०—होऽभितस्थे। ३. प्रा० पा०—अन्ये च ये।

मा संशयिष्ठा न गदेव वज्रं
स्यान्निष्फलं कृपणार्थेव याच्ञा ॥१९॥
नन्वेष वज्रस्तव शक्र तेजसा
हरेर्दधीचेस्तपसा च तेजितः ।
तेनैव शत्रुं जहि विष्णुयन्त्रितो
यतो हरिर्विजयः श्रीर्गुणास्ततः॥२०॥
अहं समाधाय मनो यथाह
सङ्कर्षणस्तच्चरणारविन्दे ।
त्वद्वज्ररंहोलुलितग्राम्यपाशो
गतिं मुनेर्याम्यपविद्धलोकः ॥२१॥
पुंसां किलैकान्तधियां स्वकानां
याः सम्पदो दिवि भूमौ रसायाम् ।
न राति यद्द्वेष उद्वेग आधि-
र्मदः कलिर्व्यसनं संप्रयासः ॥२२॥
त्रैवर्गिकायासविघातमस्म-
त्पतिर्विधत्ते पुरुषस्य शक्र ।
ततोऽनुमेयो भगवत्प्रसादो
यो दुर्लभोऽकिञ्चनगोचरोऽन्यैः ॥२३॥

अहं हरे तव पादैकमूल-
दासानुदासो भवितास्मि भूयः ।
मनः स्मरेतासुपतेर्गुणांस्ते
गृणीत वाक्कर्म करोतु कायः ॥२४॥
न नाकपृष्ठं न च पारमेष्ठ्यं
न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम् ।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा
समञ्जस त्वा विरहय्य काङ्क्षे ॥२५॥
अजातपक्षा इव मातरं खगाः
स्तन्यं यथा वत्सतराः क्षुधार्ताः ।

करना कि कृपण मनुष्यसे की हुई याचनाके समान तुम्हारी गदाकी भाँति कहीं वज्र भी निष्फल न हो जाय ॥१९॥ हे इन्द्र ! तुम्हारा यह वज्र श्रीहरिके तेज और महर्षि दधीचिके तपोबलसे तेजोमय है और भगवान् विष्णुने भी तुम्हें प्रेरित किया है इसलिये तुम इसीसे अपने शत्रुपर प्रहार करो, क्योंकि जिधर श्रीहरि होते हैं उधर ही विजय, लक्ष्मी और सब गुण रहते हैं ॥२०॥ मैं तो, जैसा भगवान् संकर्षणने मुझे उपदेश दिया है उसी प्रकार उनके चरणकमलोंमें चित्त लगाकर, तुम्हारे वज्रके वेगसे अपना विषयभोगरूप बन्धन कट जानेके कारण शरीर त्यागनेपर योगियोंकी गतिको प्राप्त हो जाऊँगा ॥२१॥ जो पुरुष भगवान्में अनन्य प्रेम करनेवाले हैं और उनके निजजन कहलाते हैं उन्हें वे स्वर्ग, पृथिवी अथवा रसातल कहींकी भी सम्पत्तियाँ नहीं देते; क्योंकि उनसे द्वेष, उद्वेग, मानसिक पीड़ा, अभिमान, कलह, व्यसन और श्रम ही प्राप्त होते हैं ॥२२॥ हे शक्र ! हमारे प्रभु अपने भक्तके त्रैवर्गिक (अर्थ-धर्म-काम-सम्बन्धी) प्रयासका सर्वदा नाश कर दिया करते हैं। उसमें भगवान्की कृपा ही समझनी चाहिये। केवल अकिञ्चन भक्तोंको ही प्राप्त होनेवाली यह भगवत्कृपा अन्य पुरुषोंको अत्यन्त दुर्लभ है ॥२३॥

[इन्द्रसे इस प्रकार कह वृत्रासुर भगवान्को प्रत्यक्ष देखकर भगवान्से प्रार्थना करने लगा—] 'हे हरे ! जिन्हें आपके चरणकमलोंका ही आश्रय है, मैं फिर भी आपके उन दासोंका ही दास होऊँ। मेरा मन आप प्राणनाथके गुणोंका ही चिन्तन करे, मेरी वाणी आपहीका गुणगान करे और शरीर आपहीका कार्य करे ॥ २४ ॥ हे सर्वसौभाग्यनिधे ! मुझे आपको छोड़कर स्वर्ग, ब्रह्मपद, सार्वभौम साम्राज्य, रसातलका आधिपत्य, योगसिद्धि अथवा अपुनर्भव (मोक्ष) आदि किसी भी पदार्थकी इच्छा नहीं है ॥ २५ ॥ हे कमलनयन ! जिनके पङ्ख नहीं जमे हैं वे पक्षियोंके बच्चे जैसे माताकी प्रतीक्षा करते हैं, भूखसे पीड़ित बछड़े जैसे माताका दूध पीनेके लिये उत्सुक रहते हैं तथा जैसे

१. प्रा० पा०—अतो ।

प्रियं प्रियेव व्युषितं विषण्णा
मनोऽरविन्दाक्ष दिदृक्षते त्वाम् ॥२६॥
ममोत्तमश्लोकजनेषु सख्यं
संसारचक्रे भ्रमतः स्वकर्मभिः ।
त्वन्माययात्मात्मजदारगेहे-
ष्वासक्तचित्तस्य[1] न नाथ भूयात् ॥२७॥

विरहव्यथित कामिनी अपने प्रवासी प्रियतमकी बाट जोहती है उसी प्रकार मेरा मन आपकी झाँकी करना चाहता है ॥ २६ ॥ हे भगवन् ! यदि प्रारब्धवश मुझे संसारचक्रमें भ्रमण करना पड़े तो सर्वदा पवित्र कीर्तिवाले आप परमेश्वरके भक्तोंमें ही मेरी प्रीति रहे। किन्तु आपकी विश्वमोहिनी मायासे मोहित रहनेके कारण पुत्र, कलत्र और गृह आदिमें आसक्त रहनेवाले संसारी मनुष्योंमें मेरा प्रेम न हो' ॥ २७ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे षष्ठस्कन्धे वृत्रस्येन्द्रोपदेशो नाम एकादशोऽध्यायः ॥११॥

बारहवाँ अध्याय

वृत्रवध ।

ऋषिरुवाच

एवं जिहासुर्नृप देहमाजौ
मृत्युं वरं विजयान्मन्यमानः ।
शूलं प्रगृह्याभ्यपतत्सुरेन्द्रं
यथा महापुरुषं कैटभोऽप्सु ॥ १ ॥
ततो युगान्ताग्निकठोरजिह्व-
माविध्य शूलं तरसासुरेन्द्रः ।
क्षिप्त्वा महेन्द्राय विनद्य वीरो
हतोऽसि पापेति रुषा जगाद ॥ २ ॥
ख आपतत्तद्विचलद्ग्रहोल्कव-
न्निरीक्ष्य दुष्प्रेक्ष्यमजातविक्लवः ।
वज्रेण वज्री शतपर्वणाच्छिन-
द्भुजं च तस्योरगराजभोगम् ॥ ३ ॥
छिन्नैकबाहुः परिघेण वृत्रः
संरब्ध आसाद्य गृहीतवज्रम् ।
हनौ तताडेन्द्रमथामरेभं
वज्रं च हस्तान्न्यपतन्मघोनः[2] ॥ ४ ॥
वृत्रस्य कर्मातिमहाद्भुतं तत्
सुरासुराश्चारणसिद्धसङ्घाः ।

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! इस प्रकार विजयकी अपेक्षा मृत्युको ही श्रेष्ठ माननेवाला वह वृत्रासुर युद्धमें शरीर त्याग करनेकी कामनासे अपना त्रिशूल उठाकर इस प्रकार इन्द्रकी ओर दौड़ा जिस प्रकार प्रलयकालीन जलमें भगवान्‌की ओर कैटभासुर दौड़ा था ॥ १ ॥ फिर उस शूरवीर दैत्यराजने प्रलयाग्निके समान तीखी नोंकोंवाले अपने त्रिशूलको घुमाकर बड़े वेगसे इन्द्रके ऊपर फेंका और अत्यन्त क्रोधसे गर्जना करता हुआ बोला—'ले, पापी! अब तू मारा गया' ॥ २ ॥ भ्रमते हुए ग्रह और उल्काके समान उस दुर्दर्शनीय त्रिशूलको आकाशमें आते देख इन्द्रने अधीर न होकर उसे और उसके साथ नागराज वासुकीके समान वृत्रासुरकी विशाल बाहुको अपने शतपर्वा वज्रसे काट डाला ॥ ३ ॥ तब एक हाथ कट जानेपर वृत्रासुरने अत्यन्त क्रुद्ध हो वज्रधर इन्द्रकी ठोडीमें और गजराज ऐरावतपर परिघसे प्रहार किया, जिसके कारण देवराज इन्द्रके हाथसे वह वज्र गिर पड़ा ॥ ४ ॥

वृत्रासुरके उस अति अद्भुत कार्यकी देवता, असुर, चारण और सिद्धगण आदि सभीने प्रशंसा की, तथा

१. प्रा० पा०—चित्तेषु । २. प्रा० पा०—रेशं वज्रश्च हस्तादपत० ।

अपूजयंस्तत्पुरुहूतसंकटं
निरीक्ष्य हाहेति विचुक्रुशुर्भृशम् ॥ ५ ॥
इन्द्रो न वज्रं जगृहे विलज्जित-
श्च्युतं स्वहस्तादरिसन्निधौ पुनः ।
तमाह वृत्रो हर आत्तवज्रो
जहि स्वशत्रुं न विषादकालः ॥ ६ ॥
युयुत्सतां कुत्रचिदाततायिनां
जयस्तदैकत्र न वै परात्मनाम् ।
विनैकमुत्पत्तिलयस्थितीश्वरं
सर्वज्ञमाद्यं पुरुषं सनातनम् ॥ ७ ॥
लोकाः सपाला यस्येमे श्वसन्ति विवशा वशे ।
द्विजा इव शिचा बद्धाः स काल इह कारणम् ॥ ८ ॥
ओजः सहो बलं प्राणममृतं मृत्युमेव च ।
तमज्ञाय जनो हेतुमात्मानं मन्यते जडम् ॥ ९ ॥
यथा दारुमयी नारी यथा यन्त्रमयो मृगः ।
एवं भूतानि मघवन्नीशतन्त्राणि विद्धि भोः ॥१०॥
पुरुषः प्रकृतिर्व्यक्तमात्मा भूतेन्द्रियाशयाः ।
शक्नुवन्त्यस्य सर्गादौ न विना यदनुग्रहात् ॥११॥
अविद्वानेवमात्मानं मन्यतेऽनीशमीश्वरम् ।
भूतैः सृजति भूतानि ग्रसते तानि तैः स्वयम् ॥१२॥
आयुः श्रीकीर्तिरैश्वर्यमाशिषः पुरुषस्य याः ।
भवन्त्येव हि तत्काले यथानिच्छोर्विपर्ययाः ॥१३॥
तस्मादकीर्तियशसोर्जयापजययोरपि ।
समः स्यात्सुखदुःखाभ्यां मृत्युजीवितयोस्तथा॥१४॥

इन्द्रपर सङ्कट पड़ा देख वे सभी अत्यन्त हाहाकार करने लगे ॥ ५ ॥ इस प्रकार, अपने हाथसे छूटकर शत्रुके पास गिरे हुए उस वज्रको इन्द्रने लज्जावश फिर नहीं उठाया । तब उनसे वृत्रासुरने कहा—"इन्द्र ! अपना वज्र लेकर शत्रुका वध करो, यह विषाद करनेका समय नहीं है ॥ ६ ॥ जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और लय करनेमें समर्थ एक सर्वज्ञ और सनातन आदिपुरुषके सिवा अन्य देहाभिमानी युद्धोत्सुक आततायियोंको सर्वदा जय ही प्राप्त नहीं हुआ करती । वे कभी जीतते हैं तो कभी हारते भी हैं ॥ ७ ॥ लोकपालोंके सहित ये सम्पूर्ण लोक, जाल-में फँसे हुए पक्षियोंके समान विवश होकर जिसके अधीन रहकर चेष्टा करते हैं वह काल ही इस लोकमें जय-पराजय आदिका मुख्य कारण है ॥ ८ ॥ तथा वही मनुष्यके मनोबल, इन्द्रियबल, शरीरबल, प्राण, जीवन और मृत्युके रूपमें स्थित है । उसे न जाननेसे ही मनुष्य जड शरीरको जय-पराजय आदिका कारण समझता है ॥ ९ ॥ हे इन्द्र ! काठकी पुतली और यन्त्रके हरिणके समान इन सम्पूर्ण भूतोंको भगवान्के ही अधीन समझो ॥ १० ॥ उनकी कृपाके बिना पुरुष, प्रकृति, महत्तत्त्व, अहङ्कार, पञ्चभूत, इन्द्रियाँ और अन्तःकरण-चतुष्टय—ये कोई भी इस विश्वकी उत्पत्ति आदि करनेमें समर्थ नहीं हो सकते ॥ ११ ॥ जिसे भगवान्के नियामकत्वका ज्ञान नहीं है वही पुरुष इस परतन्त्र जीवको ईश्वर (स्वतन्त्र कर्ता-भोक्ता) मानता है । वास्तवमें तो भगवान् ही प्राणियोंके द्वारा प्राणियोंकी रचना करते हैं और प्राणियोंके द्वारा प्राणियोंका संहार करते हैं ॥ १२ ॥ हे इन्द्र ! जिस प्रकार इच्छा न होनेपर भी, कालकी विपरीतताके कारण मनुष्यको मृत्यु और अपयश आदि प्राप्त होते हैं उसी प्रकार उसकी अनुकूलता होनेपर उसे आयु, लक्ष्मी, यश और ऐश्वर्य आदि भोग भी प्राप्त हो जाते हैं ॥१३॥ अतः यश-अपयश, जय-पराजय, सुख-दुःख और जीवन-मरणमें भी सदा समान भाव रहना चाहिये ॥१४॥

१. प्रा० पा०—त्मभू० । २. प्रा० पा०—वै स्व० ।

सत्त्वं रजस्तम इति प्रकृतेर्नात्मनो गुणाः ।
तत्र साक्षिणमात्मानं यो वेद न स बध्यते ॥१५॥
पश्य मां निर्जितं शक्र वृक्णायुधभुजं मृधे ।
घटमानं यथाशक्ति तव प्राणजिहीर्षया ॥१६॥
प्राणग्लहोऽयं समर इष्वक्षो वाहनासनः ।
अत्र न ज्ञायतेऽमुष्य जयोऽमुष्य पराजयः ॥१७॥

श्रीशुक उवाच

इन्द्रो वृत्रवचः श्रुत्वा गतालीकमपूजयत् ।
गृहीतवज्रः प्रहसंस्तमाह गतविस्मयः ॥१८॥

इन्द्र उवाच

अहो दानव सिद्धोऽसि यस्य ते मतिरीदृशी ।
भक्तः सर्वात्मनात्मानं सुहृदं जगदीश्वरम् ॥१९॥
भवानतार्षीन्मायां[1] वै वैष्णवीं जनमोहिनीम् ।
यद्विहायासुरं भावं महापुरुषतां गतः ॥२०॥
खल्विदं महदाश्चर्यं यद्रजःप्रकृतेस्तव ।
वासुदेवे भगवति सत्त्वात्मनि दृढा मतिः ॥२१॥
यस्य भक्तिर्भगवति हरौ निःश्रेयसेश्वरे ।
विक्रीडतोऽमृताम्भोधौ किं क्षुद्रैः खातकोदकैः ॥२२॥

श्रीशुक उवाच[2]

इति ब्रुवाणावन्योन्यं धर्मजिज्ञासया नृप ।
युयुधाते महावीर्यावेन्द्रवृत्रौ युधांपती ॥२३॥
आविध्य परिघं वृत्रः कार्ष्णायसमरिन्दमः ।

सत्त्व, रज और तम—ये तीनों गुण प्रकृतिके हैं, आत्माके नहीं । अतः जो पुरुष आत्माको उनका साक्षीमात्र जानता है वह उनके गुण-दोषसे लिप्त नहीं होता ॥ १५ ॥ इन्द्र ! मुझे देखो, तुमने मेरा हाथ और शस्त्र काटकर एक प्रकारसे मुझे परास्त कर दिया है । फिर भी तुम्हारे प्राण लेनेके लिये मैं यथाशक्ति प्रयत्न कर ही रहा हूँ ॥ १६ ॥ यह युद्ध जूएके खेलके समान है, इसमें प्राण ही पण (बाजी) हैं, बाण पाँसे हैं और वाहन चौसर हैं । इस खेलमें अमुक जीतेगा और अमुक हारेगा—यह निश्चितरूपसे नहीं ज्ञात होता'' ॥ १७ ॥

श्रीशुकदेवजी बोले--हे राजन् ! वृत्रासुरके ये निष्कपट वचन सुनकर इन्द्रने मन-ही-मन उसका सम्मान किया और अपना वज्र ले उससे, विस्मयरहित होकर उसकी प्रशंसा करते हुए कहा ॥ १८ ॥

इन्द्र बोले--अहो ! दानव ! तुम अवश्य ही [पूर्वजन्मके] कोई सिद्ध हो, इसीसे तुम्हें ऐसी बुद्धि प्राप्त हुई है । तुमने [अपने पूर्वजन्ममें] सम्पूर्ण जीवोंके आत्मा और सुहृद् श्रीजगदीश्वरकी आराधना की है ॥ १९ ॥ तुमने निश्चय ही भगवान् विष्णुकी विश्वमोहिनी मायाको पार कर लिया है, इसीसे तुम आसुरी प्रकृतिको त्यागकर महापुरुषोंके भावको प्राप्त हुए हो ॥ २० ॥ निश्चय ही, यह बड़े आश्चर्यकी बात है कि रजोगुणी प्रकृतिवाले होनेपर भी सत्त्वस्वरूप भगवान् वासुदेवमें तुम्हारी बुद्धि ऐसी दृढ़तासे लगी हुई है ॥२१॥ जिसे मोक्षपति भगवान् हरिमें प्रेम है, सुधासमुद्रमें क्रीडा करनेवाले उस महात्माको [विषय-भोगरूप] क्षुद्र गढ़ेके जलकी क्या आवश्यकता है ? ॥२२॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! धर्म जाननेकी इच्छासे इस प्रकार वार्तालाप करते हुए युद्ध-स्थलके अधिनायक परमपराक्रमी इन्द्र और वृत्रासुर आपसमें युद्ध करने लगे ॥२३॥ हे नृपश्रेष्ठ ! तब शत्रुसूदन वृत्रासुरने एक अति भयानक लोहेका परिघ

१. प्रा० पा०—पीद्यन्मायां वैष्णवीं । २. प्रा० पा०—बादरायणिरुवाच ।

इन्द्राय प्राहिणोद्घोरं वामहस्तेन मारिष ॥२४॥
स तु वृत्रस्य परिघं करं च करभोपमम् ।
चिच्छेद युगपद्देवो वज्रेण शतपर्वणा ॥२५॥
दोर्भ्यामुत्कृत्तमूलाभ्यां बभौ रक्तस्रवोऽसुरः ।
छिन्नपक्षो यथा गोत्रः खाद्भ्रष्टो वज्रिणा हतः ॥२६॥
कृत्वाधरां हनुं भूमौ दैत्यो दिव्युत्तरां हनुम् ।
नभोगम्भीरवक्त्रेण लेलिहोल्बणजिह्वया ॥२७॥
दंष्ट्राभिः कालकल्पाभिर्ग्रसन्निव जगत्त्रयम् ।
अतिमात्रमहाकाय आक्षिपंस्तरसा गिरीन् ॥२८॥
गिरिराट् पादचारीव पद्भ्यां निर्जरयन्महीम् ।
जग्रास स समासाद्य वज्रिणं सहवाहनम् ॥२९॥
महाप्राणो महावीर्यो महासर्प इव द्विपम् ।
वृत्रग्रस्तं तमालक्ष्य[1] सप्रजापतयः सुराः ।
हा कष्टमिति निर्विण्णाश्चुक्रुशुः समहर्षयः ॥३०॥
निगीर्णोऽप्यसुरेन्द्रेण न ममारोदरं गतः ।
महापुरुषसन्नद्धो योगमायाबलेन च ॥३१॥
भित्त्वा वज्रेण तत्कुक्षिं निष्क्रम्य बलभिद्विभुः ।
उच्चकर्त शिरः शत्रोर्गिरिशृङ्गमिवौजसा ॥३२॥
वज्रस्तु तत्कन्धरमाशुवेगः
कृन्तन्समन्तात्परिवर्तमानः ।
न्यपातयत्तावदहर्गणेन
यो ज्योतिषामयने वार्त्रहत्ये ॥३३॥
तदा च खे दुन्दुभयो विनेदु-
र्गन्धर्वसिद्धाः समहर्षिसङ्घाः ।

(बेलन) उठाकर उसे अपने बायें हाथसे घुमाते हुए इन्द्रके ऊपर फेंका ॥२४॥ किन्तु देवराज इन्द्रने वृत्रासुरकी वह परिघ और हाथीकी सूँडके समान उसकी भुजा अपने शतपर्वा वज्रसे एक साथ ही काट डाली ॥२५॥ इस प्रकार जड़से कटी हुई दोनों भुजाओंके मूलसे रक्त बहाता हुआ वह दैत्य ऐसा मालूम होता था मानो इन्द्रके वज्रप्रहारसे पंख कट जानेपर कोई पर्वत ही आकाशसे गिरा हो ॥२६॥ तब, पैरोंसे चलने-फिरनेवाले पर्वतराजके समान वह अत्यन्त दीर्घकाय दैत्य अपनी ठोड़ीको पृथिवीसे और ऊपरके ओंठको स्वर्गसे लगा आकाशके समान गम्भीर मुखमण्डल, सर्पके समान भयानक जिह्वा और मृत्युके समान कराल दाढ़ोंसे मानो तीनों लोकोंको निगलता हुआ तथा अपने पादप्रहारसे पृथिवीको कँपाता और प्रबल वेगसे पर्वतोंको उलटता-पुलटता इन्द्रके पास आया और उन्हें उनके वाहन (ऐरावत) सहित इस प्रकार लील गया जैसे कोई अत्यन्त बलवान् और परमपराक्रमी अजगर हाथीको निगल जाय। इस प्रकार इन्द्रको वृत्रासुरके मुखमें पड़ा देख प्रजापति और महर्षियोंके सहित सम्पूर्ण देवगण अति दुःखित हो 'हा ! कष्ट !!' ऐसा कहकर आर्त्तनाद करने लगे ॥२७-३०॥

किन्तु [नारायणकवचरूप] श्रीहरि तथा योग और मायाके प्रभावसे सुरक्षित होनेके कारण वे दैत्यराज वृत्रासुरके निगलनेसे उसके पेटमें पहुँचकर भी नहीं मरे ॥३१॥ सामर्थ्यवान् इन्द्र अपने वज्रसे उसका पेट फाड़कर बाहर निकल आये और बड़े वेगसे शत्रुका पर्वतशिखरके समान ऊँचा मस्तक काट डाला ॥३२॥ सूर्य आदि ग्रहगणकी उत्तरायण-दक्षिणायनरूप गतिमें जितना समय लगता है उतने दिनोंमें [अर्थात् छः मासमें] वृत्रवधका योग उपस्थित होनेपर उस तीव्र वेगशाली वज्रने उसके मस्तकको सब ओर घूमकर काटते हुए भूमिपर गिरा दिया ॥३३॥ उस समय आकाशमें दुन्दुभियाँ बजने लगीं तथा महर्षिमण्डलके सहित

१. प्रा० पा०—समालक्ष्य ।

वार्त्रघ्नलिङ्गैस्तमभिष्टुवाना
मन्त्रैर्मुदा कुसुमैरभ्यवर्षन् ॥३४॥
वृत्रस्य देहान्निष्क्रान्तमात्मज्योतिररिन्दम ।
पश्यतां सर्वलोकानामलोकं समपद्यत ॥३५॥

सिद्ध और गन्धर्वगण वृत्रहन्ता इन्द्रके पराक्रमसूचक मन्त्रोंसे उनकी स्तुतिकर आनन्दपूर्वक फूलोंकी वर्षा करने लगे ॥३४॥ हे शत्रुदमन परीक्षित् ! उस समय वृत्रासुरके शरीरसे निकली हुई आत्मज्योति सब लोगोंके देखते-देखते सर्वलोकातीत भगवान्‌के स्वरूपमें लीन हो गयी ॥३५॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे षष्ठस्कन्धे वृत्रवधो नाम द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

तेरहवाँ अध्याय

इन्द्रपर ब्रह्महत्याका आक्रमण ।

श्रीशुक[1] उवाच

वृत्रे हते त्रयो लोका विना शक्रेण भूरिद ।
सपाला ह्यभवन्सद्यो विज्वरा निर्वृतेन्द्रियाः ॥ १ ॥
देवर्षिपितृभूतानि दैत्या देवानुगाः[2] स्वयम् ।
प्रतिजग्मुः स्वधिष्ण्यानि ब्रह्मेशेन्द्रादयस्ततः ॥ २ ॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे महादानी परीक्षित् ! वृत्रासुरके मारे जाते ही एक इन्द्रको छोड़कर और तीनों लोक सम्पूर्ण लोकपालोंके सहित सन्तापशून्य होकर आनन्दमग्न हो गये ॥१॥ युद्ध समाप्त होनेपर देवता, ऋषि, पितृगण, दैत्य और देवताओंके अनुचरगण तथा ब्रह्मा, महादेव और इन्द्रादि लोकपालगण स्वयं ही अपने-अपने लोकोंको चले गये ॥ २ ॥

राजोवाच

इन्द्रस्यानिर्वृतेर्हेतुं श्रोतुमिच्छामि भो मुने ।
येनासन्सुखिनो देवा हरेर्दुःखं कुतोऽभवत् ॥ ३ ॥

राजा परीक्षित्‌ने पूछा—हे मुने ! मुझे इन्द्रके असन्तोषका कारण जाननेकी बड़ी अभिलाषा है । जिस वृत्रवधसे सभी देवताओंको आनन्द प्राप्त हुआ उससे इन्द्रको क्यों दुःख हुआ ? ॥ ३ ॥

श्रीशुक[3] उवाच

वृत्रविक्रमसंविग्नाः सर्वे देवाः सहर्षिभिः ।
तद्वधायार्थयन्निन्द्रं नैच्छद्भीतो बृहद्वधात् ॥ ४ ॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! जब वृत्रासुरके पराक्रमसे व्यथित सम्पूर्ण देवता और महर्षियोंने इन्द्रसे उसका वध करनेके लिये प्रार्थना की तो ब्रह्महत्याके भयसे इन्द्रको उसे मारनेकी इच्छा न हुई ।४।

इन्द्र उवाच

स्त्रीभूजलद्रुमैरेनो विश्वरूपवधोद्भवम् ।
विभक्तमनुगृह्णद्भिर्वृत्रहत्यां क्व मार्ज्म्यहम् ॥ ५ ॥

इन्द्र बोले—हे देवगण ! विश्वरूपका वध करनेसे मुझे जो ब्रह्महत्या लगी थी उसे तो स्त्री, पृथिवी, जल और वृक्षोंने कृपा करके बाँट लिया । अब वृत्रवधकी हत्यासे मैं किस प्रकार मुक्त हो सकूँगा ? ॥ ५ ॥

श्रीशुक उवाच

ऋषयस्तदुपाकर्ण्य महेन्द्रमिदमब्रुवन् ।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—यह सुनकर महर्षियोंने इन्द्रसे कहा—"देवराज ! तुम इससे न डरो; तुम्हारा

१. प्रा० पा०—बादरायणिरुवाच । २. प्रा० पा०—नुगाश्च ये । ३. प्रा० पा०—बादरायणिरुवाच । ४. प्राचीन प्रतिमें यह उत्तरार्द्ध इस प्रकार है—गृहीतं मे महाभागाः कथं श्रेयोऽधुना भवेत् ।

याजयिष्याम भद्रं ते हयमेधेन मा स्म भैः ॥ ६ ॥
हयमेधेन पुरुषं परमात्मानमीश्वरम् ।
इष्ट्वा नारायणं देवं मोक्ष्यसेऽपि जगद्वधात् ॥ ७ ॥
ब्रह्महा पितृहा गोघ्नो मातृहाचार्यहाघवान् ।
श्वादः पुल्कसको वापि शुद्ध्येरन्यस्य कीर्तनात् ॥ ८ ॥
तमश्वमेधेन महामखेन
श्रद्धान्वितोऽस्माभिरनुष्ठितेन ।
हत्वापि सब्रह्म चराचरं त्वं
न लिप्यसे किं खलनिग्रहेण ॥ ९ ॥

सब प्रकार कल्याण होगा, हम तुमसे अश्वमेधयज्ञद्वारा भगवान्‌का यजन करायेंगे ॥ ६ ॥ अश्वमेधयज्ञद्वारा सर्वान्तर्यामी परमात्मा भगवान् नारायणदेवकी आराधना करनेसे तुम सम्पूर्ण विश्वकी भी हत्याके पापसे मुक्त हो जाओगे [इस एक हत्याकी तो बात ही क्या है ?] ॥ ७ ॥ जिन श्रीहरिका कीर्तन करनेसे ब्राह्मण, पिता, गौ, माता और आचार्यकी हत्या करनेवाले महापापी एवं कुत्तोंका मांस खानेवाले चाण्डाल अथवा पुल्कस आदि नीच पुरुष भी तत्काल शुद्ध हो जाते हैं ॥ ८ ॥ उन भगवान्‌का हमारे द्वारा अनुष्ठान किये गये अश्वमेधनामक महायज्ञसे श्रद्धापूर्वक यजन करके तुम ब्रह्माके सहित सम्पूर्ण चराचर जगत्‌को मार डालनेपर भी पापसे लिप्त नहीं हो सकते, फिर इस दुष्टका वध करनेसे तो हो ही कैसे सकते हो ? ॥ ९ ॥

श्रीशुक उवाच

एवं सञ्चोदितो विप्रैर्मरुत्वानहनद्रिपुम् ।
ब्रह्महत्या हते तस्मिन्नाससाद वृषाकपिम् ॥ १० ॥
तयेन्द्रः स्मासहत्तापं निर्वृतिर्नामुमाविशत् ।
ह्रीमन्तं वाच्यतां प्राप्तं सुखयन्त्यपि नो गुणाः ॥ ११ ॥
तां ददर्शानुधावन्तीं चाण्डालीमिव रूपिणीम् ।
जरया वेपमानाङ्गीं यक्ष्मग्रस्तामसृक्पटाम् ॥ १२ ॥
विकीर्य पलितान्केशांस्तिष्ठ तिष्ठेति भाषिणीम् ।
मीनगन्ध्यसुगन्धेन कुर्वतीं मार्गदूषणम् ॥ १३ ॥
नभोगतो दिशः सर्वाः सहस्राक्षो विशां पते ।
प्रागुदीचीं दिशं तूर्णं प्रविष्टो नृप मानसम् ॥ १४ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—ब्राह्मणोंके इस प्रकार उत्साहित करनेपर इन्द्रने देवशत्रु वृत्रासुरका वध किया था । उसके मारे जानेपर ब्रह्महत्याने उनपर आक्रमण किया ॥ १० ॥ उसके कारण इन्द्रको बड़ा सन्ताप सहना पड़ा, उन्हें तनिक भी चैन न मिला; क्योंकि लज्जावान् पुरुषकी अपकीर्ति होनेपर धैर्यादि गुण भी उसे प्रसन्न नहीं कर सकते ॥ ११ ॥

इन्द्रने देखा कि ब्रह्महत्या साक्षात् चाण्डालिनीके समान उसके पीछे दौड़ी आ रही है । उसका क्षयग्रस्त शरीर वृद्धावस्थाके कारण काँप रहा है तथा वस्त्र रुधिरसे लथपथ हो रहे हैं ॥ १२ ॥ वह पके हुए (श्वेत) बाल बखेरे 'ठहर जा, ठहर जा' इस प्रकार चिल्ला रही है । उसके श्वाससे मछलीकी-सी दुर्गन्ध आती है, जिससे वह मार्गको दूषित कर रही है ॥ १३ ॥ हे राजन् ! उसके भयसे देवराज आकाशमें तथा सम्पूर्ण दिशाओंमें भागते फिरे, [किन्तु कहीं भी शरण न मिलनेसे] अन्तमें पूर्व और उत्तरके कोनेमें मानससरोवरमें घुस गये ॥ १४ ॥

स आवसत्पुष्करनालतन्तू-
नलब्धभोगो यदिहाग्निदूतः ।

वहाँ, उस ब्रह्महत्यासे छूटनेका उपाय सोचते हुए वे एक सहस्र वर्षपर्यन्त अलक्षितभावसे कमलनालके

१. प्रा० पा०—अथेन्द्रः ।

वर्षाणि साहस्रमलक्षितोऽन्तः[1]
स चिन्तयन्ब्रह्मवधाद्विमोक्षम् ॥१५॥

तावत्त्रिणाकं[2] नहुषः शशास
विद्यातपोयोगबलानुभावः ।
स सम्पदैश्वर्यमदान्धबुद्धि-
र्नीतस्तिरश्चां गतिमिन्द्रपत्न्या ॥१६॥

ततो गतो ब्रह्मगिरोपहूत
ऋतम्भरध्याननिवारिताघः ।
पापस्तु दिग्देवतया हतौजा-
स्तं नाभ्यभूदवितं विष्णुपत्न्या ॥१७॥

तं च ब्रह्मर्षयोऽभ्येत्य हयमेधेन भारत ।
यथावद्दीक्षयाञ्चक्रुः पुरुषाराधनेन ह ॥१८॥
अथेज्यमाने पुरुषे सर्वदेवमयात्मनि ।
अश्वमेधे महेन्द्रेण वितते ब्रह्मवादिभिः ॥१९॥
स वै त्वाष्ट्रवधो भूयानपि पापचयो[3] नृप ।
नीतस्तेनैव शून्याय नीहार इव भानुना ॥२०॥
स वाजिमेधेन यथोदितेन
वितायमानेन मरीचिमिश्रैः ।
इष्ट्वाधियज्ञं पुरुषं पुराण-
मिन्द्रो महानास विधूतपापः ॥२१॥
इदं महाख्यानमशेषपाप्मनां
प्रक्षालनं तीर्थपदानुकीर्तनम् ।
भक्त्युच्छ्रयं भक्तजनानुवर्णनं
महेन्द्रमोक्षं विजयं मरुत्वतः ॥२२॥

तन्तुओंमें रहे । इस समय उन्हें कुछ भी भोग प्राप्त नहीं हुआ; क्योंकि उन्हें भोग पहुँचानेवाला दूत अग्नि है [और उसका जलमें प्रवेश नहीं हो सकता था] ॥ १५ ॥

जबतक इन्द्र मानससरोवरमें रहे तबतक विद्या, तप, योग और बलके प्रभावसे सम्पन्न राजा नहुषने स्वर्गका शासन किया, किन्तु धन और ऐश्वर्यके मदसे बुद्धि मारी जानेके कारण वे इन्द्राणीद्वारा तिर्यक योनिको प्राप्त हुए * ॥ १६ ॥ तदनन्तर, जब सत्यपालक श्रीहरिका ध्यान करनेसे इन्द्रका पाप नष्ट हो गया तो वे ब्राह्मणोंके वचनसे [अग्निद्वारा] बुलाये जानेपर स्वर्गलोकको गये । मानससरोवरमें रहनेवाली श्रीलक्ष्मीजी इन्द्रकी रक्षा करती थीं, इसलिये पहले भी, (पूर्वोत्तर) दिशाके देवता रुद्रकी दृष्टिसे तेजोहीन हुआ वह पाप उनका तिरस्कार नहीं कर सका था ॥ १७ ॥

हे भरतनन्दन ! तब ब्रह्मर्षियोंने आकर इन्द्रको भगवान् पुरुषोत्तमकी आराधनारूप अश्वमेधयज्ञकी विधिवत् दीक्षा दी ॥ १८ ॥ हे राजन् ! उन वेदवादी मुनिजनोंद्वारा अनुष्ठान किये गये अश्वमेधयज्ञसे जब इन्द्रने सर्वदेवमय परमात्मा पुरुषोत्तमका यजन किया तो उसीसे उनका वृत्रवधजनित महान् पापपुञ्ज इस प्रकार लीन हो गया जैसे सूर्योदय होते ही कुहिरा नष्ट हो जाता है ॥ १९-२० ॥ इस प्रकार, मरीचि आदि मुनीश्वरोंसे यथाविधि कराये गये अश्वमेधद्वारा पुराणपुरुष श्रीयज्ञभगवान्‌का यजन करके निष्पाप होकर इन्द्र पहलेहीके समान पूजनीय हो गये ॥२१॥

हे राजन् ! यह महान् आख्यान सम्पूर्ण पापोंको नष्ट करनेवाला है, इसमें तीर्थपाद श्रीहरिका कीर्तन और भक्तजनोंका भक्तिवर्द्धक चरित्र वर्णन किया गया है तथा इन्द्रकी विजय और ब्रह्महत्यासे छूटनेकी गाथा है ॥ २२ ॥

१. प्रा० पा०—तोऽनिशं । २. प्रा० पा०—त्रिलोकं । ३. प्रा० पा०—पापः क्षयं नृप ।

* यह कथा इस प्रकार है--जब राजा नहुष धन और प्रभुताके मदसे बहुत उन्मत्त हो गया तो एक दिन उसने इन्द्राणीसे कहा कि 'अब मैं इन्द्र हूँ, इसलिये तुम मुझे पतिरूपसे स्वीकार करो ।' इसपर इन्द्राणीने देवगुरु बृहस्पतिजीकी सम्मतिसे कहला भेजा कि 'यदि तुम ब्राह्मणोंकी पालकीपर चढ़कर आओ तो मैं स्वीकार कर सकती हूँ ।' उस दुर्मदने ऐसा ही किया । और मार्गमें, शीघ्र चलनेको कहते हुए पालकीमें जुते हुए अगस्त्य ऋषिको पैरसे छूकर 'शीघ्रं सर्प, सर्प' (जल्दी चलो, जल्दी चलो) इस प्रकार आज्ञा दी । इसपर ऋषिने कुपित होकर उसे शाप दिया कि 'तू सर्प हो जा ।' इससे वह उसी समय सर्प होकर स्वर्गसे गिर पड़ा ।

पठेयुराख्यानमिदं सदा बुधाः
शृण्वन्त्यथो पर्वणि[1] पर्वणीन्द्रियम् ।
धन्यं यशस्यं निखिलाघमोचनं[2]
रिपुञ्जयं स्वस्त्ययनं तथायुषम् ॥२३॥

इस इन्द्रसम्बन्धी आख्यानको बुद्धिमान् पुरुष सर्वदा पढ़ें, विशेषतया पर्वकाल उपस्थित होनेपर तो इसे अवश्य ही श्रवण करें, क्योंकि यह धन और यशकी वृद्धि करनेवाला, सम्पूर्ण पापोंको नष्ट करनेवाला, शत्रुओंपर विजय प्राप्त करानेवाला, परम मङ्गलदायक और आयुकी वृद्धि करनेवाला है ॥ २३ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे षष्ठस्कन्धे इन्द्रविजयो नाम त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

चौदहवाँ अध्याय

वृत्रासुरका पूर्वचरित्र ।

परीक्षिदुवाच

रजस्तमःस्वभावस्य ब्रह्मन्वृत्रस्य पाप्मनः ।
नारायणे भगवति कथमासीद्दृढा मतिः ॥ १ ॥
देवानां शुद्धसत्त्वानामृषीणां चामलात्मनाम् ।
भक्तिर्मुकुन्दचरणे न प्रायेणोपजायते ॥ २ ॥
रजोभिः समसंख्याताः पार्थिवैरिह जन्तवः ।
तेषां ये केचनेहन्ते श्रेयो वै मनुजादयः ॥ ३ ॥
प्रायो मुमुक्षवस्तेषां केचनैव द्विजोत्तम ।
मुमुक्षूणां सहस्रेषु कश्चिन्मुच्येत सिध्यति ॥ ४ ॥
मुक्तानामपि सिद्धानां नारायणपरायणः ।
सुदुर्लभः प्रशान्तात्मा कोटिष्वपि महामुने ॥ ५ ॥
वृत्रस्तु स कथं पापः सर्वलोकोपतापनः ।
इत्थं दृढमतिः कृष्ण आसीत्संग्राम उल्बणे ॥ ६ ॥
अत्र नः[3] संशयो भूयाञ्छ्रोतुं कौतूहलं प्रभो ।
यः पौरुषेण समरे सहस्राक्षमतोषयत् ॥ ७ ॥

राजा परीक्षित्‌ने पूछा—ब्रह्मन् ! रजोगुणी-तमोगुणी स्वभाववाले महापापी वृत्रासुरकी भगवान् नारायणमें ऐसी दृढ़ बुद्धि कैसे हुई ? ॥ १ ॥ भगवान् मुकुन्दके चरणोंमें तो प्रायः शुद्ध सत्त्वमय देवता और पवित्रचित्त मुनिजनोंकी भी प्रीति नहीं होती ॥ २ ॥ संसारमें पृथिवीके रजःकणोंके समान ही जीवोंकी संख्या कही गयी है उनमें कुछ मनुष्य आदि ही अपने कल्याणकी चेष्टा करते हैं ॥ ३ ॥ उनमें भी, हे द्विजश्रेष्ठ ! संसारसे मुक्त होनेकी इच्छावाले तो कोई-कोई ही हैं और उन सहस्रों मुमुक्षुओंमें भी कोई बिरले ही मोक्ष या सिद्धिलाभ कर पाते हैं ॥ ४ ॥ किन्तु हे महामुने ! उन करोड़ों सिद्ध और मुक्त पुरुषोंमें भगवत्परायण शान्तचित्त महापुरुष मिलना तो बहुत ही कठिन है ॥ ५ ॥ फिर सम्पूर्ण लोकोंको सन्तप्त करनेवाले महापापी वृत्रासुरकी ऐसे घोर संग्रामके समय भगवान् कृष्णमें ऐसी निश्चल मति कैसे हुई ? ॥ ६ ॥ हे प्रभो ! इस विषयमें हमें बड़ा सन्देह है तथा आपके मुखसे यह सब वृत्तान्त सुननेका बड़ा उत्साह है, क्योंकि उस वृत्रासुरने अपने पुरुषार्थसे रणभूमिमें इन्द्रको भी सन्तुष्ट कर दिया था ॥ ७ ॥

सूत उवाच

परीक्षितोऽथ संप्रश्नं भगवान्बादरायणिः ।
निशम्य श्रद्दधानस्य प्रतिनन्द्य वचोऽब्रवीत् ॥ ८ ॥

सूतजी बोले—हे मुने ! श्रद्धालु राजा परीक्षित्‌का यह श्रेष्ठ प्रश्न सुनकर भगवान् शुकदेवजीने उनकी प्रशंसा करते हुए इस प्रकार कहा—॥ ८ ॥

१. प्रा० पा०—णि ते तु धन्याः । २. प्रा० पा०—घनाशनं । ३. प्रा० पा०—मे ।

श्रीशुक उवाच

शृणुष्वावहितो राजन्नितिहासमिमं यथा ।
श्रुतं द्वैपायनमुखान्नारदाद्देवलादपि ॥ ९ ॥

आसीद्राजा सार्वभौमः शूरसेनेषु वै नृप ।
चित्रकेतुरिति ख्यातो यस्यासीत्कामधुङ्मही ॥१०॥

तस्य भार्यासहस्राणां सहस्राणि दशाभवन् ।
सान्तानिकश्चापि नृपो न लेभे तासु सन्ततिम् ॥११॥

रूपौदार्यवयोजन्मविद्यैश्वर्यश्रियादिभिः ।
सम्पन्नस्य गुणैः सर्वैश्चिन्ता वन्ध्यापतेरभूत् ॥१२॥

न तस्य संपदः सर्वा महिष्यो वामलोचनाः ।
सार्वभौमस्य भूश्चेयमभवन्प्रीतिहेतवः ॥१३॥

तस्यैकदा तु भवनमङ्गिरा भगवानृषिः ।
लोकाननुचरन्नेतानुपागच्छद्यदृच्छया ॥१४॥

तं पूजयित्वा विधिवत्प्रत्युत्थानार्हणादिभिः ।
कृतातिथ्यमुपासीदत्सुखासीनं समाहितः ॥१५॥

महर्षिस्तमुपासीनं प्रश्रयावनतं क्षितौ ।
प्रतिपूज्य महाराज समाभाष्येदमब्रवीत् ॥१६॥

अङ्गिरा उवाच

अपि तेऽनामयं स्वस्ति प्रकृतीनां तथात्मनः ।
यथा प्रकृतिभिर्गुप्तः पुमान्राजापि सप्तभिः ॥१७॥

आत्मानं प्रकृतिष्वद्धा निधाय श्रेय आप्नुयात् ।
राज्ञा तथा प्रकृतयो नरदेवाहिताधयः ॥१८॥

श्रीशुकदेवजी बोले--हे राजन् ! इस विषयमें महर्षि द्वैपायन तथा देवर्षि नारद और देवलके मुखसे सुना हुआ यह इतिहास सावधान होकर सुनो ॥९॥

हे नृप ! शूरसेन देशमें चित्रकेतु नामसे विख्यात एक सार्वभौम राजा रहते थे। उनके राज्यमें पृथिवी सम्पूर्ण कामनाओंको पूर्ण करनेवाली थी॥१०॥ उनके एक करोड़ रानियाँ थीं, और वे स्वयं भी सन्तान उत्पन्न करनेमें समर्थ थे, तो भी उनसे उनके कोई सन्तान नहीं हुई ॥ ११ ॥ अतः रूप, उदारता, आयु, कुलीनता, विद्या, ऐश्वर्य और सम्पत्ति आदि सम्पूर्ण गुणोंसे सम्पन्न होनेपर भी वन्ध्या स्त्रियोंके पति होनेके कारण उन्हें अत्यन्त चिन्ता हुई ॥ १२ ॥ इसीसे सम्पूर्ण सम्पत्ति, सुलोचना स्त्रियाँ और पृथिवी-मण्डलका राज्य भी उन सार्वभौम सम्राट्को आनन्दित न कर सका ॥ १३ ॥

एक दिन भगवान् अङ्गिरा ऋषि इन सम्पूर्ण लोकोंमें विचरते हुए दैववश उनके यहाँ आ पहुँचे ॥ १४ ॥ राजाने प्रत्युत्थान तथा अर्घ्यादिसे उनका विधिवत् पूजन किया और जब आतिथ्य-सत्कार हो चुकनेपर वे सुखपूर्वक आसनपर विराजमान हुए तो महाराज चित्रकेतु भी शान्तभावसे उनके पास बैठ गये ॥ १५ ॥ हे महाराज ! तब इस प्रकार अति विनयपूर्वक अपने पास पृथिवीपर बैठे हुए राजा चित्रकेतुका सम्भाषणादिसे सत्कार कर मुनिवरने कहा ॥ १६ ॥

अङ्गिरा मुनि बोले—हे राजन् ! जीव जिस प्रकार महत्तत्त्वादि सात प्रकृतिरूप आवरणोंसे आवृत रहता है उसी प्रकार राजा भी [स्वामी, अमात्य, जनपद, दुर्ग, कोष, दण्ड और मित्ररूप] सात प्रकृतियोंसे घिरा रहता है। सो अपनी प्रकृतियोंके सहित तुम कुशलसे हो न ? ॥१७॥ हे नरदेव ! जिस प्रकार राजा अपनी उक्त प्रकृतियोंके अनुकूल रहनेसे ही राज्यसुख भोग सकता है उसी प्रकार प्रकृतियाँ भी अपना दायित्व राजा-पर छोड़कर सुख और समृद्धि लाभ कर सकती हैं ॥१८॥

१. प्रा० पा०—भूश्चेयं नाभवन् । २. प्रा० पा०—सीनं मु० । ३. प्रा० पा०—राजा च ।

अपि दाराः प्रजामात्या भृत्याः श्रेण्योऽथ मन्त्रिणः ।
पौरा[1] जानपदा भूपा आत्मजा वशवर्तिनः ॥१९॥
यस्यात्मानुवशश्चेत्स्यात्सर्वे तद्वशगा इमे ।
लोकाः सपाला यच्छन्ति सर्वे बलिमतन्द्रिताः ॥२०॥
आत्मनः प्रीयते नात्मा परतः स्वत एव वा ।
लक्षयेऽलब्धकामं त्वां चिन्तया शबलं मुखम् ॥२१॥
एवं विकल्पितो राजन्विदुषा मुनिनापि सः ।
प्रश्रयावनतोऽभ्याह प्रजाकामस्ततो[3] मुनिम् ॥२२॥

चित्रकेतुरुवाच

भगवन्किं न विदितं तपोज्ञानसमाधिभिः ।
योगिनां ध्वस्तपापानां बहिरन्तःशरीरिषु ॥२३॥
तथापि पृच्छतो ब्रूयां ब्रह्मन्नात्मनि चिन्तितम् ।
भवतो विदुषश्चापि चोदितस्त्वदनुज्ञया ॥२४॥
लोकपालैरपि प्रार्थ्याः साम्राज्यैश्वर्यसम्पदः ।
न नन्दयन्त्यप्रजं मां क्षुत्तृट्काममिवापरे ॥२५॥
ततः[4] पाहि महाभाग पूर्वैः सह गतं तमः ।
यथा तरेम दुस्तारं प्रजया तद्विधेहि नः ॥२६॥

श्रीशुक उवाच

इत्यर्थितः स भगवान्कृपालुर्ब्रह्मणः सुतः ।
श्रपयित्वा चरुं त्वाष्ट्रं त्वष्टारमयजद्विभुः ॥२७॥

सो हे राजन्! तुम्हारी रानियाँ, प्रजा, अमात्य, सेवक, व्यापारीलोग, मन्त्रिगण, पुरवासी, देशवासी, सामन्तगण और पुत्र तुम्हारे अधीन हैं न? ॥१९॥ और वैसे तो जिसका मन अपने अधीन होता है उसके वशीभूत ये सभी हो जाते हैं। यही नहीं, लोकपालोंके सहित सम्पूर्ण लोक सावधान होकर उसे बलिसमर्पण करते हैं ॥२०॥ किन्तु, राजन्! तुम मुझे स्वयं प्रसन्न नहीं दिखायी देते; तुम्हारा मुख चिन्ताग्रस्त है। इससे मालूम होता है कि अपने आपसे अथवा किसी अन्यसे तुम्हारी कोई कामना पूर्ण नहीं हुई ॥२१॥

हे राजन्! अपनी चिन्ताका कारण जानते हुए भी उन मुनीश्वरके इस प्रकार विकल्पपूर्वक पूछनेपर पुत्रकी कामनावाले राजा चित्रकेतुने उनसे विनयावनत होकर कहा—॥२२॥

राजा चित्रकेतु बोले—भगवन्! जिनकी पापवासनाएँ नष्ट हो गयी हैं उन योगीश्वरोंको, देहधारियोंके बाहर या भीतर रहनेवाली ऐसी कौन-सी वस्तु है जो अपने तप, ज्ञान और समाधिके प्रभावसे ज्ञात न हो ॥२३॥ तथापि सब कुछ जानते हुए भी आप मुझसे प्रश्न करते हैं इसलिये आपसे प्रेरित होकर आपहीकी आज्ञासे मैं अपने चित्तकी चिन्ता आपसे निवेदन करता हूँ ॥२४॥ हे मुने! जिस प्रकार भूख-प्याससे व्याकुल पुरुषको अन्न और जलके सिवा दूसरे भोग प्रसन्न नहीं कर सकते उसी प्रकार मुझ सन्तानहीनको ये साम्राज्य, ऐश्वर्य और सम्पत्ति, जिनकी लोकपालगण भी इच्छा करते हैं, कुछ सुख नहीं पहुँचाते ॥२५॥ अतः हे महाभाग! अपने पूर्वजोंसहित घोर दुःखमें पड़े हुए मेरी आप रक्षा कीजिये और ऐसा उपाय कीजिये जिससे मैं परलोकमें प्राप्त होनेवाले दुस्तर नरकको सन्तानके द्वारा पार कर जाऊँ ॥२६॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन्! चित्रकेतुके इस प्रकार प्रार्थना करनेपर ब्रह्माजीके पुत्र परमकृपालु भगवान् अङ्गिरा मुनिने त्वाष्ट्र चरु तैयारकर उससे त्वष्टा देवताका यजन कराया ॥२७॥

१. प्रा० पा०—पौरजानपदा। २. प्रा० पा०—राजा। ३. प्रा० पा०—मस्तु तं मु०। ४. प्रा० पा०—त्वन्नः पाहि।

ज्येष्ठा श्रेष्ठा च या राज्ञो महिषीणां च भारत ।
नाम्ना कृतद्युतिस्तस्यै यज्ञोच्छिष्टमदाद्द्विजः ॥२८॥
अथाह नृपतिं राजन्भवितैकस्तवात्मजः ।
हर्षशोकप्रदस्तुभ्यमिति ब्रह्मसुतो ययौ ॥२९॥
सापि तत्प्राशनादेव चित्रकेतोरधारयत् ।
गर्भं कृतद्युतिर्देवी कृत्तिकाग्नेरिवात्मजम् ॥३०॥
तस्या[1] अनुदिनं गर्भः शुक्लपक्ष इवोडुपः ।
ववृधे शूरसेनेशतेजसा शनकैर्नृप ॥३१॥
अथ काल उपावृत्ते कुमारः समजायत ।
जनयञ्छूरसेनानां शृण्वतां परमां मुदम् ॥३२॥

और हे भरतनन्दन ! राजा चित्रकेतुकी रानियोंमें जो सबसे बड़ी और सर्वश्रेष्ठ कृतद्युति नामकी महिषी थी उसे उन द्विजश्रेष्ठने वह यज्ञशेष दिया ॥२८॥ तथा चित्रकेतुसे कहा—"राजन् ! तुम्हारे एक पुत्र होगा जिससे तुम्हें हर्ष और शोक दोनों ही प्राप्त होंगे ।" ऐसा कह ब्रह्मपुत्र अंगिराजी वहाँसे चले गये ॥ २९ ॥ देवी कृतद्युतिने भी उस चरुको भक्षण करनेसे ही चित्रकेतुके सहवाससे गर्भ धारण किया जैसे कृत्तिकाने अग्निपुत्रको धारण किया था ॥३०॥ हे राजन् ! शूरसेनाधिप चित्रकेतुके तेजसे उसका वह गर्भ प्रतिदिन धीरे-धीरे शुक्लपक्षके चन्द्रमाके समान बढ़ने लगा ॥३१॥ तदनन्तर समय उपस्थित होनेपर एक कुमार उत्पन्न हुआ, जिसके जन्मका संवाद पाकर सभी शूरसेनदेशवासियोंको अत्यन्त आनन्द प्राप्त हुआ ॥३२॥

हृष्टो राजा कुमारस्य स्नातः शुचिरलङ्कृतः ।
वाचयित्वाशिषो विप्रैः कारयामास जातकम् ॥३३॥
तेभ्यो हिरण्यं[2] रजतं वासांस्याभरणानि च ।
ग्रामान्हयान्गजान्प्रादाद्धेनूनामर्बुदानि षट् ॥३४॥
ववर्ष काममन्येषां पर्जन्य इव देहिनाम् ।
धन्यं यशस्यमायुष्यं कुमारस्य महामनाः ॥३५॥
कृच्छ्रलब्धेऽथ राजर्षेस्तनयेऽनुदिनं पितुः ।
यथा निःस्वस्य कृच्छ्राप्ते धने स्नेहोऽन्ववर्धत[3] ॥३६॥
मातुस्त्वतितरां पुत्रे स्नेहो मोहसमुद्भवः ।
कृतद्युतेः सपत्नीनां प्रजाकामज्वरोऽभवत् ॥३७॥
चित्रकेतोरतिप्रीतिर्यथा दारे प्रजावति ।
न तथान्येषु संजज्ञे बालं लालयतोऽन्वहम् ॥३८॥
ताः पर्यतप्यन्नात्मानं गर्हयन्त्योऽभ्यसूयया ।

राजा चित्रकेतु भी पुत्रोत्पत्तिका समाचार पा परम प्रसन्न हुए । उन्होंने स्नानादिसे पवित्र हो सुन्दर वस्त्राभूषण धारण किये और ब्राह्मणोंसे आशीर्वाद लेकर स्वस्तिवाचन-पूर्वक बालकका जातकर्म-संस्कार कराया ॥३३॥ फिर उन ब्राह्मणोंको सोना, चाँदी, वस्त्र, आभूषण, ग्राम, अश्व, गज और साठ करोड़ गौएँ समर्पण कीं ॥३४॥ महामना राजा चित्रकेतुने पुत्रके धन, यश और आयुकी वृद्धिके लिये अन्य प्राणियोंकी कामनाओंको भी इस प्रकार पूर्ण किया जैसे मेघ सभी जीवोंका मनोरथ पूर्ण करता है ॥३५॥ हे राजन् ! जिस प्रकार किसी कंगालको कठिनतासे प्राप्त हुए धनमें उसकी आसक्ति हो जाती है उसी प्रकार अति क्लेशसे प्राप्त हुए उस बालकमें राजर्षि चित्रकेतुका प्रेम दिन-दिन बढ़ने लगा ॥३६॥ माता कृतद्युतिको भी अपने पुत्रपर अत्यन्त मोहजनित स्नेह था, और उसकी अन्य सौतोंके मनमें पुत्रकी कामनारूप सन्ताप बढ़ने लगा ॥ ३७ ॥ रोज-रोज बालकका लालन-पालन करनेसे चित्रकेतुका भी प्रेम जैसा पुत्रवती भार्यामें था वैसा औरोंमें नहीं रहा ॥३८॥

इस प्रकार, सन्तान न होनेके दुःख और राजाके तिरस्कारसे अति सन्तप्त हो वे डाहवश अपनी निन्दा

१. प्रा० पा०—स्याश्चानु० । २. प्रा० पा०—हि रजतं प्रादाद् वासां० । ३. प्रा० पा०—हो विवर्धते ।

आनपत्येन दुःखेन राज्ञोऽनादरणेन[1] च ॥३९॥
धिगप्रजां स्त्रियं पापां पत्युश्चागृहसंमताम् ।
सुप्रजाभिः सपत्नीभिर्दासीमिव तिरस्कृताम् ॥४०॥
दासीनां को नु सन्तापः स्वामिनः परिचर्यया ।
अभीक्ष्णं लब्धमानानां दास्या दासीव दुर्भगाः ॥४१॥
एवं संदह्यमानानां सपत्न्याः पुत्रसम्पदा ।
राज्ञोऽसंमतवृत्तीनां विद्वेषो बलवानभूत् ॥४२॥
विद्वेषनष्टमतयः स्त्रियो दारुणचेतसः ।
गरं ददुः कुमाराय दुर्मर्षा[2] नृपतिं प्रति ॥४३॥
कृतद्युतिरजानन्ती सपत्नीनामघं महत् ।
सुप्त एवेति सञ्चिन्त्य निरीक्ष्य व्यचरद्गृहे ॥४४॥
शयानं सुचिरं बालमुपधार्य मनीषिणी ।
पुत्रमानय मे भद्रे इति धात्रीमचोदयत् ॥४५॥
सा शयानमुपव्रज्य[3] दृष्ट्वा चोत्तारलोचनम्[4] ।
प्राणेन्द्रियात्मभिस्त्यक्तं हतास्मीत्यपतद्भुवि ॥४६॥
तस्यास्तदाकर्ण्य भृशातुरं स्वरं
घ्नन्त्याः कराभ्यामुर उच्चकैरपि ।
प्रविश्य राज्ञी त्वरयात्मजान्तिकं
ददर्श बालं सहसा मृतं सुतम् ॥४७॥
पपात भूमौ परिवृद्धया शुचा
मुमोह विभ्रष्टशिरोरुहाम्बरा ॥४८॥
ततो नृपान्तःपुरवर्तिनो जना
नराश्च नार्यश्च निशम्य रोदनम् ।

करने लगीं और मन-ही-मन बहुत दुःख मानने लगीं ॥३९॥ [वे आपसमें कहने लगीं—] "अरी ! अन्य पुत्रवती सौतें जिनका दासीके समान तिरस्कार करती हैं और पति भी जिन्हें अपनी गृहिणी करके नहीं मानता उन पापिनी निपूती स्त्रियोंको धिक्कार है ॥४०॥ भला दासियोंको क्या दुःख है ? उन्हें तो अपने स्वामीकी सेवा करनेसे सदा मान ही मिलता है । किन्तु हम अभागिनी तो इस समय [सन्तानहीना होनेके कारण अपमानित होनेसे] दासियोंकी भी दासियोंके समानही रही हैं" ॥४१॥

इस प्रकार अपनी सौतकी पुत्रसम्पत्तिसे सन्तप्त और जिनका जीवन भी राजाको प्रिय नहीं था उन रानियोंको कृतद्युतिके प्रति अत्यन्त द्वेष उत्पन्न हुआ ॥४२॥ उन क्रूरचित्त स्त्रियोंकी बुद्धि विद्वेषसे नष्ट हो गयी; उन्हें राजाका पुत्रस्नेह सहन न हुआ और उन्होंने उस बालकको विष दे दिया ॥४३॥

सौतोंकी इस महापापमयी लीलाका कुछ ज्ञान न होनेके कारण कृतद्युति, यह सोचकर कि बालक सो रहा है, उसे दूरहीसे देखकर घरमें डोलती-फिरती रहीं ॥४४॥ फिर उस बुद्धिमतीने यह विचारकर कि बालकको सोते-सोते बहुत देर हो गयी उसकी धायसे कहा—'भद्रे ! लालाको मेरे पास ले आओ' ॥४५॥ धायने सोते बालकके पास जाकर जब उसके नेत्रोंकी पुतली चढ़ी हुई और शरीरको प्राण, इन्द्रिय तथा जीवात्मासे रहित देखा तो वह 'हाय ! मैं मारी गयी' ऐसा कहकर पृथिवीपर गिर पड़ी ॥४६॥

दोनों हाथोंसे जोर-जोरसे छाती पीटती उस धायका वह अति आतुर चीत्कार सुन रानी कृतद्युति बड़ी शीघ्रतासे पुत्रके पास आयी तो उसने बालकको सहसा मरा हुआ पाया ॥ ४७ ॥ यह देखकर वह अत्यन्त शोकके कारण मूर्छित होकर पृथिवीपर गिर पड़ी और उसके केश तथा वस्त्र अस्त-व्यस्त हो गये ॥ ४८ ॥ तदनन्तर, रानीका रुदन सुन रनिवासके सब स्त्री-पुरुष आ गये और उसीके समान दुःखित हो रोने

१. प्रा० पा०—राज्ञश्चानादरेण च । २. प्रा० पा०—विद्वेषान्नृप० । ३. प्रा० पा०—मुपा० । ४. प्रा० पा०—त्तानलो० ।

आगत्य तुल्यव्यसनाः सुदुःखिता-
स्ताश्च व्यलीकं रुरुदुः कृतागसः ॥४९॥
श्रुत्वा मृतं पुत्रमलक्षितान्तकं
विनष्टदृष्टिः प्रपतन्स्खलन्पथि ।
स्नेहानुबन्धैधितया शुचा भृशं
विमूर्च्छितोऽनुप्रकृतिर्द्विजैर्वृतः ॥५०॥
पपात बालस्य स पादमूले
मृतस्य विस्रस्तशिरोरुहाम्बरः ।
दीर्घं श्वसन्बाष्पकलोपरोधतो
निरुद्धकण्ठो न शशाक भाषितुम् ॥५१॥
पतिं निरीक्ष्योरुशुचार्पितं तदा
मृतं च बालं सुतमेकसन्ततिम् ।
जनस्य राज्ञी प्रकृतेश्च हृद्रुजं
सती दधाना विललाप चित्रधा ॥५२॥
स्तनद्वयं कुङ्कुमगन्धमण्डितं
निषिञ्चती साञ्जनबाष्पबिन्दुभिः ।
विकीर्य केशान्विगलत्स्रजः सुतं
शुशोच चित्रं कुररीव सुस्वरम् ॥५३॥
अहो विधातस्त्वमतीव बालिशो
यस्त्वात्मसृष्ट्यप्रतिरूपमीहसे ।
परेऽनुजीवत्यपरस्य या मृति-
र्विपर्ययश्चेत्त्वमसि ध्रुवः परः ॥५४॥
न हि क्रमश्चेदिह मृत्युजन्मनोः
शरीरिणामस्तु तदात्मकर्मभिः ।
यः स्नेहपाशो निजसर्गवृद्धये
स्वयं कृतस्ते तमिमं विवृश्चसि ॥५५॥
त्वं तात नार्हसि च मां कृपणामनाथां
त्यक्तुं विचक्ष्व पितरं तव शोकतप्तम् ।
अञ्जस्तरेम भवताप्रजदुस्तरं य-
द्ध्वान्तं न याह्यकरुणेन यमेन दूरम् ॥५६॥

लगे, तथा जिन्होंने यह अपराध किया था वे रानियाँ भी उसी प्रकार झूठमूठ रोने लगीं ॥ ४९ ॥

तदनन्तर, बिना कारण ही पुत्रकी मृत्युका समाचार सुन राजा चित्रकेतु भी स्नेहानुबन्धके कारण बढ़े हुए शोकसे मूर्च्छित हो अपने अनुगामी मन्त्रियोंके सहित ब्राह्मणोंसे घिरा हुआ, मार्गमें गिरता-पड़ता राजमन्दिरमें पहुँचा और मरे हुए बालकके पैरोंके समीप जा पड़ा । उस समय उसकी आँखोंके सामने अँधेरा छा गया, उसके बाल और वस्त्र तितर-बितर हो गये और दीर्घ निःश्वास तथा अश्रुधाराओंसे गला रुँध जानेके कारण वह कुछ भी न बोल सका ॥ ५०-५१ ॥ तब पतिको अत्यन्त शोकाकुल और अपने एकमात्र पुत्रको मरा हुआ देख रानी कृतद्युति प्रजा और मन्त्रिमण्डलको शोकग्रस्त करती हुई भाँति-भाँतिसे विलाप करने लगी ॥ ५२ ॥ कुङ्कुम मिले हुए चन्दनसे चर्चित अपने दोनों कुचोंको कज्जल-कालिमामिश्रित अश्रुबिन्दुओंसे भिगोती और जिनमेंसे फूलोंकी माला बिखरकर गिर रही थी, उन बँधे हुए केशोंको छिन्न-भिन्न करती हुई वह अपने लालके लिये कुररीके समान इस प्रकार उच्चस्वरसे शोक प्रकाशित करने लगी ॥ ५३ ॥

'अरे विधाता ! तू बड़ा ही मूर्ख है जो अपनी ही सृष्टिके प्रतिकूल चेष्टा करता है । बड़े आश्चर्यकी बात है कि बूढ़े-बूढ़े तो जीते रहें और बालक मर जायँ ? यदि वास्तवमें तेरे स्वभावमें ऐसी विपरीतता है, तो तू तो जीवोंका अमर शत्रु ही है ॥ ५४ ॥ यदि संसारमें प्राणियोंके जीवन-मरणका कोई निश्चित क्रम नहीं है तो वे अपने प्रारब्धानुसार होते रहेंगे, [फिर तुम्हारी क्या आवश्यकता है ?] अरे ! सर्गकी वृद्धि-के लिये तूने जिस स्नेहपाशकी रचना की है, उसे तू स्वयं ही काट डालता है ! ॥ ५५ ॥ [फिर पुत्रको लक्ष्य करके कहने लगी—] भैया ! मुझ अनाथ और दीनाको छोड़कर जाना तुम्हें उचित नहीं है, तुम अपने शोकसन्तप्त पिताजीकी ओर तो देखो । निःसन्तान पुरुषोंको जिसका पार करना अत्यन्त कठिन है उस घोर नरकको हम तुम्हारे कारण सुगमतासे ही पार कर जायँगे । तुम हमें छोड़कर इस निर्दयी यमराजके साथ दूर न जाओ ॥ ५६ ॥

उत्तिष्ठ तात त इमे शिशवो वयस्या-
स्त्वामाह्वयन्ति नृपनन्दन संविहर्तुम् ।
सुप्तश्चिरं ह्यशनया च भवान्परीतो
भुङ्क्ष्व स्तनं पिब शुचो हर नः स्वकानाम्
नाहं तनूज ददृशे हतमङ्गला ते
मुग्धस्मितं मुदितवीक्षणमाननाब्जम् ।
किं वा गतोऽस्यपुनरन्वयमन्यलोकं
नीतोऽघृणेन न शृणोमि कला गिरस्ते ॥५८॥

अरे लल्ला ! ओ राजकुमार ! उठ बैठ । देख तेरे साथी बालक तुझे खेलनेके लिये बुला रहे हैं । तुझे सोते-सोते बहुत देर हो गयी है, तू बहुत भूखा होगा । इसलिये उठकर कुछ खा, स्तन पान कर और हम अपने स्वजनोंका शोक दूर कर ॥ ५७ ॥ बेटा ! मुझ मन्दभागिनीको आज तुम्हारा मुखकमल मधुर मुसकान और प्रसन्न चितवनसे युक्त नहीं दिखायी दिया । इस समय भी मुझे तुम्हारी सुमधुर तोतली बोली सुनायी नहीं देती, सो क्या तुम निष्ठुर यमराज-के द्वारा ले जाये जाकर उस परलोकको चले गये हो जहाँसे लौटकर फिर कोई नहीं आता ?' ॥ ५८ ॥

श्रीशुक उवाच

विलपन्त्या मृतं पुत्रमिति चित्रविलापनैः ।
चित्रकेतुर्भृशं तप्तो मुक्तकण्ठो रुरोद ह ॥५९॥
तयोर्विलपतोः सर्वे दम्पत्योस्तदनुव्रताः ।
रुरुदुः स्म नरा नार्यः सर्वमासीदचेतनम् ॥६०॥
एवं कश्मलमापन्नं नष्टसंज्ञमनायकम् ।
ज्ञात्वाङ्गिरा नाम मुनिराजगाम सनारदः ॥६१॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! रानीको अपने मृतपुत्रके लिये इस प्रकार भाँति-भाँतिसे विलाप करती देख राजा चित्रकेतु अत्यन्त सन्तप्त हो मुक्त-कण्ठसे रोने लगा ॥ ५९ ॥ राजदम्पतियोंके विलाप करनेपर उनके अनुगामी अन्य स्त्री-पुरुष भी दुःखित होकर रोने लगे, इस प्रकार सारा नगर शोकसे अचेत-सा हो गया ॥६०॥ तब, राजाको इस प्रकार शोकमें पड़कर संज्ञाशून्य हुए देख और यह जानकर कि इसे समझानेवाला भी कोई नहीं है—वहाँ नारदजीके सहित महर्षि अङ्गिरा आये ॥ ६१ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे षष्ठस्कन्धे चित्रकेतु-
विलापो नाम चतुर्दशोऽध्यायः ॥१४॥

पन्द्रहवाँ अध्याय

चित्रकेतुको अङ्गिरा और नारदजीका उपदेश ।

श्रीशुक उवाच

ऊचतुर्मृतकोपान्ते पतितं मृतकोपमम् ।
शोकाभिभूतं राजानं बोधयन्तौ सदुक्तिभिः ॥ १ ॥
कोऽयं स्यात्तव राजेन्द्र भवान्यमनुशोचति ।
त्वं चास्य कतमः सृष्टौ पुरेदानीमतः परम् ॥ २ ॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! उन महर्षियोंने, मरे हुए बालकके पास शोकग्रस्त होकर मृतकवत् पड़े हुए राजा चित्रकेतुको सुन्दर उक्तियोंसे समझाते हुए कहा—॥ १ ॥ हे राजेन्द्र ! जिसके लिये तुम इतना शोक करते हो यह बालक तुम्हारे इस जन्ममें, इससे पहलोंमें तथा इसके पश्चात् आगामी जन्मोंमें तुम्हारा कौन है ? और तुम भी इसके क्या लगते हो ? ॥२॥

१. प्रा० पा०—ऽस्यपरम० । २. प्रा० पा०—चित्रकेतुचरिते चतु० । ३. प्रा० पा०—आगतौ तादृषी तदा ।

यथा प्रयान्ति संयान्ति स्रोतोवेगेन वालुकाः ।
संयुज्यन्ते वियुज्यन्ते तथा कालेन देहिनः ॥ ३ ॥
यथा धानासु वै धाना भवन्ति न भवन्ति च ।
एवं भूतेषु भूतानि चोदितानीशमायया ॥ ४ ॥
वयं च त्वं च ये चेमे तुल्यकालाश्चराचराः ।
जन्ममृत्योर्यथा पश्चात्प्रागेवमधुनापि भोः ॥ ५ ॥
भूतैर्भूतानि भूतेशः सृजत्यवति हन्त्यजः[1] ।
आत्मसृष्टैरस्वतन्त्रैरनपेक्षोऽपि बालवत् ॥ ६ ॥
देहेन देहिनो राजन्देहाद्देहोऽभिजायते ।
बीजादेव यथा बीजं देह्यर्थ इव शाश्वतः ॥ ७ ॥
देहदेहिविभागोऽयमविवेककृतः पुरा ।
जातिव्यक्तिविभागोऽयं यथा वस्तुनि कल्पितः ॥८॥

जिस प्रकार जलप्रवाहके वेगसे वालुकाएँ एकत्रित और अलग-अलग होती रहती हैं उसी प्रकार जीव कालक्रमसे मिलते और बिछुड़ते रहते हैं ॥३॥ जैसे कुछ बीजोंसे अन्य बीज उत्पन्न होते हैं और नष्ट हो जाते हैं वैसे ही भगवान्‌की मायासे प्रेरित होकर किन्हीं प्राणियोंसे अन्य प्राणी उत्पन्न होते हैं और नष्ट हो जाते हैं ॥ ४ ॥ हे राजन् ! हम, तुम और ये जितने भी चराचर प्राणी इस समय वर्तमान हैं वे जिस प्रकार अपने जन्मसे पूर्व और मरणके पश्चात् नहीं रहते उसी प्रकार वर्तमान कालमें भी नहीं हैं ॥ ५ ॥ वह सर्वभूतपति अजन्मा परमेश्वर किसी प्रकारकी इच्छा न होनेपर भी बालकके समान केवल खेलसे ही अपने रचे हुए परतन्त्र प्राणियोंसे अन्य जीवोंकी उत्पत्ति, पालन और संहार किया करता है ॥ ६ ॥ हे राजन् ! जैसे एक बीजसे दूसरा बीज उत्पन्न होता है उसी प्रकार देही (पिता) के देह-द्वारा देही (माता) के देहसे ही देही (पुत्र) का देह उत्पन्न होता है । उनमें देही घटादि कार्योंमें पृथिवी आदिके समान नित्य है ॥ ७ ॥ हे राजन् ! जिस प्रकार एक ही वस्तुमें घटत्वादि जाति तथा घट आदि व्यक्तिका विभाग केवल कल्पनामात्र है उसी प्रकार यह देही और देहका विभाग भी अनादि और अविद्याकल्पित है ॥ ८ ॥

श्रीशुक उवाच

एवमाश्वासितो राजा चित्रकेतुर्द्विजोक्तिभिः[2] ।
प्रमृज्य पाणिना वक्त्रमाधिम्लानमभाषत ॥ ९ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! इस प्रकार ब्राह्मणवाक्योंसे कुछ सान्त्वना मिलनेपर राजा चित्रकेतु-ने मानसिक व्यथासे मलिन हुए अपने मुखके आँसू हाथसे पोंछकर कहा ॥ ९ ॥

राजोवाच

कौ युवां ज्ञानसम्पन्नौ महिष्ठौ च महीयसाम् ।
अवधूतेन वेषेण गूढाविह समागतौ ॥१०॥
चरन्ति ह्यवनौ कामं ब्राह्मणा भगवत्प्रियाः ।
मादृशां ग्राम्यबुद्धीनां बोधायोन्मत्तलिङ्गिनः ॥११॥

राजा बोला—आप दोनों कौन हैं ? जो परम ज्ञानवान् और महान्-से-महान् जान पड़ते हैं तथा अपनेको अवधूतवेषसे छिपाये हुए यहाँ आये हैं ॥ १० ॥ बहुतसे भगवत्प्रिय ब्राह्मणगण मुझ-जैसे विषयासक्त बुद्धिवाले पुरुषोंको उपदेश करनेके लिये उन्मत्तके समान वेष बनाये पृथिवीपर स्वच्छन्द विचरा करते हैं ॥ ११ ॥

१. प्रा० पा०—हन्ति च । २. प्रा० पा०—तुर्द्विजातिभिः ।

कुमारो नारद ऋभुरङ्गिरा देवलोऽसितः ।
अपान्तरतमोव्यासो मार्कण्डेयोऽथ गौतमः ॥१२॥
वसिष्ठो भगवान्रामः कपिलो बादरायणिः ।
दुर्वासा याज्ञवल्क्यश्च जातूकर्ण्यस्तथारुणिः ॥१३॥
रोमशश्च्यवनो दत्त आसुरिः सपतञ्जलिः ।
ऋषिर्वेदशिरा [1]बोध्यो मुनिः पञ्चशिरास्तथा ॥१४॥
हिरण्यनाभः कौसल्यः श्रुतदेव ऋतध्वजः ।
एते परे च सिद्धेशाश्चरन्ति ज्ञानहेतवः ॥१५॥
तस्माद्युवां ग्राम्यपशोर्मम मूढधियः प्रभू ।
अन्धे तमसि मग्नस्य ज्ञानदीप उदीर्यताम् ॥१६॥

अङ्गिरा उवाच

अहं ते पुत्रकामस्य पुत्रदोऽस्म्यङ्गिरा नृप ।
एष ब्रह्मसुतः साक्षान्नारदो भगवानृषिः ॥१७॥
इत्थं त्वां पुत्रशोकेन मग्नं तमसि दुस्तरे ।
अतदर्हमनुस्मृत्य महापुरुषगोचरम् ॥१८॥
अनुग्रहाय भवतः प्राप्तावावामिह प्रभो ।
ब्रह्मण्यो भगवद्भक्तो नावसीदितुमर्हति ॥१९॥
[3]तदेव ते परं ज्ञानं ददामि गृहमागतः ।
ज्ञात्वा[4]न्याभिनिवेशं ते पुत्रमेव ददावहम् ॥२०॥
अधुना पुत्रिणां तापो भवतैवानुभूयते ।
एवं दारा गृहा [5]रायो विविधैश्वर्यसम्पदः ॥२१॥
शब्दादयश्च विषयाश्चला राज्यविभूतयः ।
[6]मही राज्यं बलं कोशो भृत्यामात्याः सुहृज्जनाः ॥२२॥
सर्वेऽपि [7]शूरसेनेमे शोकमोहभयार्तिदाः ।
गन्धर्वनगरप्रख्याः स्वप्नमायामनोरथाः ॥२३॥
दृश्यमाना विनार्थेन न दृश्यन्ते मनोभवाः ।

सनत्कुमार, नारद, ऋभु, अंगिरा, देवल, असित, जिनके हृदयका अन्धकार नष्ट हो गया है वे व्यासजी, मार्कण्डेय, गौतम, वसिष्ठ, भगवान् परशुराम, कपिल, शुकदेवजी, दुर्वासा, याज्ञवल्क्य, जातूकर्ण्य, आरुणि, रोमश, च्यवन, दत्तात्रेय, आसुरि, पतञ्जलि, ऋषि वेदशिरा, बोध्यमुनि, पञ्चशिरा, हिरण्यनाभ, कौसल्य, श्रुतदेव और ऋतध्वज—ये सब तथा अन्य ज्ञानदाता सिद्धेश्वरगण पृथिवीपर विचरा करते हैं ॥ १२–१५ ॥ अतः हे प्रभो ! ग्राम्य विषयोंमें फँसे हुए मुझ मूढबुद्धि पशुको, जो घोर अज्ञानान्धकारमें डूबा हुआ है, आप ज्ञान-दीपक दिखाइये ॥१६॥

अङ्गिरा ऋषि बोले—हे राजन् ! जिस समय तुम पुत्रकी कामनावाले थे उस समय जिसने तुम्हें पुत्र दिया था, मैं वही अंगिरा ऋषि हूँ, और ये साक्षात् ब्रह्माजीके पुत्र भगवान् नारद ऋषि हैं ॥१७॥ हे प्रभो ! तुम पुत्रशोकके कारण दुस्तर अज्ञानान्धकार-में डूबे हुए हो, यद्यपि भगवद्भक्त होनेके नाते तुम इसके योग्य नहीं थे—यह जानकर तुमपर कृपा करनेके लिये ही हम यहाँ आये हैं । तुम ब्राह्मणभक्त और भगवान्के प्यारे हो, तुम्हें इस प्रकार खिन्न न होना चाहिये ॥१८-१९॥ हे राजन् ! जिस समय मैं पहले आया था उसी समय तुम्हें ज्ञानोपदेश करता किन्तु तुम्हारे चित्तमें दूसरी अभिलाषा (पुत्रकी इच्छा) जानकर मैंने केवल पुत्र ही दिया ॥२०॥ अब तो तुमने स्वयं ही पुत्रवानोंका दुःख अनुभव कर लिया । इसी प्रकार ये स्त्री, धन, नाना प्रकारके ऐश्वर्य और सम्पत्ति, शब्दादि विषय, राज्यवैभव, पृथिवी, राज्य, सेना, कोश, भृत्य, अमात्य और सुहृद्गण—सभी चलायमान हैं ॥२१-२२॥ हे शूरसेनेश ! ये सभी गन्धर्वनगर, स्वप्न, माया और मनः-कल्पित पदार्थोंके समान असत्य तथा शोक, मोह, भय और दुःख देनेवाले हैं ॥२३॥ ये सभी दृश्य पदार्थ मनःकल्पित (मिथ्या) हैं; क्योंकि ये वास्तविक स्वरूपके बिना ही दिखायी दे रहे हैं, इसीलिये ये एक क्षणमें दीखनेपर भी दूसरे क्षणमें नहीं दीखते हैं । हे राजन् ! जो लोग

१. प्रा० पा०—धौम्यो । २. प्रा० पा०—शिखस्तथा । ३. प्रा० पा०—तत्रैव । ४. प्रा० पा०—त्वात्माभि० । ५. प्रा० पा०—रामा । ६. प्रा० पा०—राज्यं मही बलं । ७. प्रा० पा०—सुखदा नेमे ।

कर्मभिर्ध्यायतो नानाकर्माणि मनसोऽभवन् ॥२४॥
अयं हि देहिनो देहो द्रव्यज्ञानक्रियात्मकः ।
देहिनो विविधक्लेशसन्तापकृदुदाहृतः ॥२५॥
तस्मात्स्वस्थेन मनसा विमृश्य गतिमात्मनः ।
द्वैते ध्रुवार्थविभ्रम्भं त्यजोपशममाविश ॥२६॥

कर्मवासनासे [प्रेरित होकर] विषयोंका चिन्तन करते हैं उन्हींके मनसे नाना प्रकारके कर्म उत्पन्न होते हैं ॥२४॥ जीवात्माका यह देह जो पञ्चभूत, ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियोंका संघात है, यही उसे विविध प्रकारके क्लेश और सन्ताप देनेवाला कहा जाता है ॥२५॥ अतः तुम शान्तचित्तसे आत्मस्वरूपका विचार करके इस द्वैतभ्रममें नित्यत्व बुद्धिको त्यागकर शान्ति लाभ करो ॥२६॥

नारद उवाच

एतां मन्त्रोपनिषदं प्रतीच्छ प्रयतो मम ।
यां धारयन्सप्तरात्राद्द्रष्टा संकर्षणं प्रभुम् ॥२७॥
यत्पादमूलमुपसृत्य नरेन्द्र पूर्वे
शर्वादयो भ्रममिमं द्वितयं विसृज्य ।
सद्यस्तदीयमतुलानधिकं महित्वं
प्रापुर्भवानपि परं न चिरादुपैति ॥२८॥

श्रीनारदजी बोले—हे राजन् ! तुम संयत चित्त होकर मुझसे यह मन्त्रोपनिषद् ग्रहण करो, इसे धारण करनेसे तुम सात रात्रिमें ही भगवान् संकर्षणका दर्शन पाओगे ॥२७॥ हे राजेन्द्र ! उन भगवान् संकर्षणके चरणतलका आश्रयकर पूर्वकालमें भगवान् शंकर आदि इस भेदभ्रमको त्यागकर शीघ्र ही उनकी साम्यातिशयहीन महिमाको प्राप्त हो गये थे । उसके प्रभावसे तुम भी शीघ्र ही उस परमपदको प्राप्त कर लोगे ॥२८॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे षष्ठस्कन्धे चित्रकेतु-
सान्त्वनं[1] नाम पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

सोलहवाँ अध्याय

नारदजीके उपदेशसे चित्रकेतुको श्रीसंकर्षणदेवका साक्षात्कार होना ।

श्रीशुक उवाच

अथ देवऋषी राजन्संपरेतं नृपात्मजम् ।
दर्शयित्वेति होवाच ज्ञातीनामनुशोचताम् ॥ १ ॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! तदनन्तर देवर्षि नारदने उस मृत राजकुमारको उसके शोकाकुल स्वजनोंके सामने प्रत्यक्ष बुलाकर कहा ॥ १ ॥

नारद उवाच

जीवात्मन्पश्य भद्रं ते मातरं पितरं च ते ।
सुहृदो बान्धवास्तप्ताः शुचा त्वत्कृतया भृशम् ॥ २ ॥
कलेवरं स्वमाविश्य शेषमायुः सुहृद्वृतः ।
भुङ्क्ष्व भोगान्पितृप्रत्तानधितिष्ठ नृपासनम् ॥ ३ ॥

श्रीनारदजी बोले—हे जीवात्मन् ! तुम्हारा कल्याण हो; देखो, तुम्हारे माता, पिता, सुहृद् और बन्धु-बान्धवगण तुम्हारे लिये अत्यन्त शोकाकुल हो रहे हैं ॥ २ ॥ अतः तुम शीघ्र ही अपने शरीरमें प्रवेशकर शेष आयुमें अपने बन्धुजनोंके साथ पिताके दिये हुए भोगोंको भोगो और राजसिंहासनपर बैठो ॥ ३ ॥

१. प्रा० पा०—शोकापनोदो ।

जीव उवाच

कस्मिञ्जन्मन्यमी मह्यं पितरो मातरोऽभवन् ।
कर्मभिर्भ्राम्यमाणस्य देवतिर्यङ्नृयोनिषु ॥ ४ ॥
बन्धुज्ञात्यरिमध्यस्थमित्रोदासीनविद्विषः ।
सर्व एव हि सर्वेषां भवन्ति क्रमशो मिथः ॥ ५ ॥
यथा वस्तूनि पण्यानि हेमादीनि ततस्ततः ।
पर्यटन्ति नरेष्वेवं जीवो योनिषु कर्तृषु ॥ ६ ॥
नित्यस्यार्थस्य सम्बन्धो ह्यनित्यो दृश्यते नृषु ।
यावद्यस्य हि सम्बन्धो ममत्वं तावदेव हि ॥ ७ ॥
एवं योनिगतो जीवः स नित्यो निरहंकृतः ।
यावद्यत्रोपलभ्येत तावत्स्वत्वं हि तस्य तत् ॥ ८ ॥
एष नित्योऽव्ययः सूक्ष्म एष सर्वाश्रयः स्वदृक् ।
आत्ममायागुणैर्विश्वमात्मानं सृजते प्रभुः ॥ ९ ॥
न ह्यस्यातिप्रियः कश्चिन्नाप्रियः स्वः परोऽपि वा ।
एकः सर्वधियां द्रष्टा कर्तॄणां गुणदोषयोः ॥ १० ॥
नादत्त आत्मा हि गुणं न दोषं न क्रियाफलम् ।
उदासीनवदासीनः परावरदृगीश्वरः ॥ ११ ॥

श्रीशुक उवाच

इत्युदीर्य गतो जीवो ज्ञातयस्तस्य ते तदा ।
विस्मिता मुमुचुः शोकं छित्त्वात्मस्नेहशृङ्खलाम् ॥ १२ ॥
निर्हृत्य ज्ञातयो ज्ञातेर्देहं कृत्वोचिताः क्रियाः ।
तत्यजुर्दुस्त्यजं स्नेहं शोकमोहभयार्तिदम् ॥ १३ ॥

जीव बोला—मैं अपने कर्मवश अनेकों देव, मनुष्य और तिर्यगादि योनियोंमें भ्रमता रहा । उनमेंसे किस जन्ममें ये मेरे माता-पिता हुए ? ॥ ४ ॥ [जीवके भिन्न-भिन्न जन्मोंमें] क्रमशः सभी सबके परस्पर बन्धु, ज्ञाति, शत्रु, मध्यस्थ, मित्र, उदासीन और द्वेषी होते रहते हैं ॥ ५ ॥ जैसे सुवर्णादि क्रय-विक्रयकी वस्तुएँ व्यावहारिक मनुष्योंमें जिस-तिसके पास जाती-आती रहती हैं वैसे ही जीव भी भिन्न-भिन्न योनियोंमें उत्पन्न होता रहता है ॥ ६ ॥ इस प्रकार सुवर्णादि नित्य वस्तुओंका सम्बन्ध भी मनुष्योंमें अनित्य ही देखा जाता है और जबतक जिसका सम्बन्ध रहता है तभीतक उनमें उसकी ममता (मेरापन) भी रहती है ॥७॥ इस प्रकार वह नित्य और निरहंकारी जीव गर्भमें आकर जबतक शरीरमें रहता है तभीतक उस जीवका उस शरीरमें ममत्व रहता है ॥ ८ ॥ यह जीव नित्य, अविनाशी और सूक्ष्म (जन्मादि-रहित) है तथा स्वयंप्रकाश होनेके कारण सबका अधिष्ठान है । यह सर्वसमर्थ अपनी मायाके गुणोंसे अपने-आपको ही विश्वरूपसे उत्पन्न करता है ॥ ९ ॥ इसका न कोई अति प्रिय अथवा अप्रिय है और न अपना या पराया है; क्योंकि अपना हित या अहित करनेवाले मित्र या शत्रु आदिकी बुद्धियोंका यह एक ही साक्षी है ॥१०॥ यह आत्मा कार्य-कारणका साक्षी और स्वतन्त्र है । इसलिये यह गुण, दोष अथवा क्रियाफलको ग्रहण नहीं करता; सदा उदासीनभावसे स्थित रहता है ॥११॥

श्रीशुकदेवजी बोले—ऐसा कहकर वह जीव चला गया । तब उसके जातिबन्धुओंने अति विस्मित हो स्नेहबन्धनको काटकर उसका शोक त्याग दिया ॥१२॥ तदनन्तर उन सगोत्रियोंने अपने ज्ञातिभूत उस मृत बालकके देहका तत्कालोचित संस्कार करके उसके पश्चात् करनेयोग्य और्ध्वदैहिक क्रियाएँ पूर्ण कीं, फिर शोक, मोह, भय और दीनता उत्पन्न करनेवाले दुस्त्यज स्नेहको छोड़ दिया ॥ १३ ॥

१. प्रा० पा०—तु । २. प्रा० पा०—सुकृत् । ३. प्रा० पा०—इवासीनः । ४. प्राचीन प्रतिमें 'श्रीशुक उवाच' पाठ नहीं है । ५. प्रा० पा०—जन्तोर्दे० ।

बालघ्न्यो व्रीडितास्तत्र बालहत्याहतप्रभाः ।
बालहत्याव्रतं चेरुर्ब्राह्मणैर्यन्निरूपितम् ।
यमुनायां महाराज स्मरन्त्यो द्विजभाषितम् ॥१४॥

हे महाराज ! फिर बालहत्याके कारण हतप्रभ और लज्जित हुई उन बालघातिनी रानियोंने अंगिराजीके कथनको याद करते हुए यमुनाजीके तटपर ब्राह्मणोंके कथनानुसार बालहत्याका प्रायश्चित्त किया ॥१४॥

स इत्थं प्रतिबुद्धात्मा चित्रकेतुर्द्विजोक्तिभिः ।
गृहान्धकूपान्निष्क्रान्तः सरःपङ्कादिव द्विपः ॥१५॥
कालिन्द्यां विधिवत्स्नात्वा कृतपुण्यजलक्रियः ।
मौनेन संयतप्राणो ब्रह्मपुत्राववन्दत ॥१६॥
अथ तस्मै प्रपन्नाय भक्ताय प्रयतात्मने ।
भगवान्नारदः प्रीतो विद्यामेतामुवाच ह ॥१७॥

इस प्रकार अङ्गिरा और नारदजीके उपदेशसे आत्मज्ञान प्राप्त होनेपर चित्रकेतु, हाथी जैसे कीचड़से निकल आता है उसी प्रकार गृहरूप अन्धकूपसे बाहर निकल आया ॥ १५ ॥ फिर उसने यमुनाजीमें विधिपूर्वक स्नानकर तर्पणादि जलक्रियाएँ कीं और मौन धारणकर संयतेन्द्रिय हो ब्रह्माजीके पुत्रों (नारद और अङ्गिरा) को प्रणाम किया ॥ १६ ॥ तब भगवान् नारदने प्रसन्न होकर उस शरणागत और संयतचित्त भक्तको इस विद्याका उपदेश किया—॥१७॥

ॐनमस्तुभ्यं भगवते वासुदेवाय धीमहि ।
प्रद्युम्नायानिरुद्धाय नमः संकर्षणाय च ॥१८॥
नमो विज्ञानमात्राय परमानन्दमूर्तये ।
आत्मारामाय शान्ताय निवृत्तद्वैतदृष्टये ॥१९॥
आत्मानन्दानुभूत्यैव न्यस्तशक्त्यूर्मये नमः ।
हृषीकेशाय महते नमस्ते विश्वमूर्तये ॥२०॥
वचस्युपरतेऽप्राप्य य एको मनसा सह ।
अनामरूपश्चिन्मात्रः सोऽव्यान्नः सदसत्परः ॥२१॥
यस्मिन्निदं यतश्चेदं तिष्ठत्यप्येति जायते ।
मृन्मयेष्विव मृज्जातिस्तस्मै ते ब्रह्मणे नमः ॥२२॥
यन्न स्पृशन्ति न विदुर्मनोबुद्धीन्द्रियासवः ।
अन्तर्बहिश्च विततं व्योमवत्तं नतोऽस्म्यहम् ॥२३॥
देहेन्द्रियप्राणमनोधियोऽमी
यदंशविद्धाः प्रचरन्ति कर्मसु ।
नैवान्यदा लोहमिवाप्रतप्तं
स्थानेषु तद्द्रष्टृपदेशमेति ॥२४॥

'ॐ आप भगवान् वासुदेवको मैं हृदयसे नमस्कार करता हूँ । प्रद्युम्न, अनिरुद्ध और सङ्कर्षणरूप आपको मेरा नमस्कार है ॥१८॥ विशुद्ध ज्ञानमात्र, परमानन्दस्वरूप, आत्माराम तथा द्वैतदृष्टिसे रहित और शान्तस्वरूप आप परमेश्वरको नमस्कार है ॥१९॥ स्वरूपानन्दके अनुभवसे मायाकी राग-द्वेषादि तरङ्गोंको शान्त कर देनेवाले इन्द्रियोंके स्वामी, अति महान् तथा विश्वरूप आपको मैं नमस्कार करता हूँ ॥ २० ॥ अहो ! जिन्हें प्राप्त न कर मनके सहित वाणी लौट आती है वे नाम-रूपसे रहित, एक, चिन्मात्र और कार्य-कारणसे अतीत आप हमारी रक्षा करें ॥ २१ ॥ यह सम्पूर्ण जगत् जिनमें जिनके द्वारा उत्पन्न, स्थित और लीन होता है तथा जो मिट्टीकी वस्तुओंमें व्याप्त मृत्तिकाके समान सबमें ओतप्रोत हैं उन परब्रह्मस्वरूप आपको नमस्कार है ॥ २२ ॥ आकाशके समान बाहर-भीतर व्याप्त होनेपर भी जिन्हें मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ और प्राण न स्पर्श कर सकते हैं और न जानते ही हैं उन आपको मैं नमस्कार करता हूँ ॥ २३ ॥ जिसके चैतन्यांशसे युक्त होकर ये देह, इन्द्रिय, प्राण, मन और बुद्धि आदि अपने-अपने कार्योंमें प्रवृत्त होते हैं तथा जिसके बिना अग्निमें बिना तपाये हुए लोहेके समान ये कुछ भी नहीं कर सकते उस आत्माकी ही जाग्रदादि अवस्थाके साक्षीरूपसे जीव संज्ञा है ॥२४॥

ॐ नमो भगवते महापुरुषाय महानुभावाय महाविभूतिपतये सकलसात्वतपरिवृढनिकरकरकमलकुड्मलोपलालितचरणारविन्दयुगल परम परमेष्ठिन्नमस्ते ॥२५॥

ॐ महाप्रभावशाली, महाविभूतिपति भगवान् महापुरुषको नमस्कार है। जिनके दोनों चरणकमल सम्पूर्ण भक्तश्रेष्ठसमुदायकी करकमलकलिकाओंसे सेवित हैं उन परम परमेष्ठीको पुनः-पुनः नमस्कार है॥२५॥

श्रीशुक उवाच

भक्तायैतां प्रपन्नाय विद्यामादिश्य नारदः ।
ययावङ्गिरसा साकं धाम स्वायंभुवं प्रभो ॥२६॥

चित्रकेतुस्तु विद्यां तां यथा नारदभाषिताम् ।
धारयामास सप्ताहमब्भक्षः सुसमाहितः ॥२७॥

ततश्च सप्तरात्रान्ते विद्यया धार्यमाणया ।
विद्याधराधिपत्यं स लेभेऽप्रतिहतं नृपः ॥२८॥

ततः कतिपयाहोभिर्विद्ययेद्धमनोगतिः ।
जगाम देवदेवस्य शेषस्य चरणान्तिकम् ॥२९॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन्! इस प्रकार अपने शरणागत भक्त राजा चित्रकेतुको इस विद्याका उपदेश कर नारदजी अङ्गिरा मुनिके सहित अपने धाम ब्रह्मलोकको चले गये ॥ २६ ॥ राजा चित्रकेतुने नारदजीकी बतायी हुई उस विद्याका उनके कथनानुसार सात दिनतक केवल जल पीते हुए एकाग्रचित्तसे अनुष्ठान किया ॥ २७ ॥ तदनन्तर उस विद्याके अनुष्ठानसे सात रात्रिके पश्चात् राजा चित्रकेतुको विद्याधरोंका अप्रतिहत आधिपत्य प्राप्त हुआ ॥ २८ ॥ फिर कुछ दिनोंमें उस विद्याके प्रभावसे मनकी गति और भी बढ़ जानेपर वे देवदेव भगवान् शेषजीके चरणोंके समीप पहुँचे ॥ २९ ॥

मृणालगौरं शितिवाससं स्फुर-
त्किरीटकेयूरकटित्रकङ्कणम् ।
प्रसन्नवक्त्रारुणलोचनं वृतं
ददर्श सिद्धेश्वरमण्डलैः प्रभुम् ॥३०॥

तद्दर्शनध्वस्तसमस्तकिल्बिषः
स्वच्छामलान्तःकरणोऽभ्ययान्मुनिः ।
प्रवृद्धभक्त्या प्रणयाश्रुलोचनः
प्रहृष्टरोमानमदादिपूरुषम् ॥३१॥

स उत्तमश्लोकपदाब्जविष्टरं
प्रेमाश्रुलेशैरुपमेहयन्मुहुः ।
प्रेमोपरुद्धाखिलवर्णनिर्गमो
नैवाशकत्तं प्रसमीडितुं चिरम् ॥३२॥

ततः समाधाय मनो मनीषया
बभाष एतत्प्रतिलब्धवागसौ ।
नियम्य सर्वेन्द्रियबाह्यवर्तनं
जगद्गुरुं सात्वतशास्त्रविग्रहम् ॥३३॥

उन्होंने देखा कि भगवान् शेषजी सिद्धेश्वरोंसे घिरे हुए हैं। उनका शरीर कमलनालके समान गौर वर्ण है; उसपर नीलाम्बर तथा झिलमिलाते हुए किरीट, केयूर, कटिसूत्र और कङ्कणादि आभूषण सुशोभित हैं और उनका मुख प्रसन्न तथा नयन अरुण वर्ण हैं ॥ ३० ॥ उनका दर्शन करते ही राजर्षि चित्रकेतुके सब पाप नष्ट हो गये, उनका अन्तःकरण शुद्ध और निर्मल हो गया और उन्होंने बढ़े हुए भक्तिभावसे नेत्रोंमें प्रेमाश्रु भर पुलकित शरीर हो भगवान् आदिपुरुषको नमस्कार किया ॥ ३१ ॥ और अपने प्रेमाश्रुबिन्दुओंसे पवित्रकीर्ति भगवान् शेषजीके पादपीठको बारम्बार सींचने लगे, उस समय प्रेमोद्वेगके कारण गला रुँध जानेसे वे बहुत देरतक उनकी स्तुति न कर सके ॥ ३२ ॥ तदनन्तर बोलनेकी शक्ति प्राप्त होनेपर बुद्धिपूर्वक मनको समाहित कर और सम्पूर्ण इन्द्रियोंकी बाह्य वृत्तिको रोककर उन जगद्गुरुकी, जिनके स्वरूपका पाञ्चरात्र आदि भक्तिशास्त्रोंमें वर्णन किया है, इस प्रकार स्तुति की ॥ ३३ ॥

१. प्रा० पा०—लमुकुलो। २. प्राचीन प्रतिमें यहाँ 'श्रीशुक उवाच' पाठ नहीं है। ३. प्रा०पा०—स्तु तां विद्यां पठन् नार०। ४. प्रा० पा०—ततः स। ५. प्रा० पा०—मुहुः। ६. प्रा० पा०—पसेवय०।

चित्रकेतुरुवाच

अजित जितः सममतिभिः
साधुभिर्भवान् जितात्मभिर्भवता ।
विजितास्तेऽपि च भजता-
मकामात्मनां य आत्मदोऽतिकरुणः ॥३४॥
तव विभवः खलु भगव-
ञ्जगदुदयस्थितिलयादीनि ।
विश्वसृजस्तेंऽशांशा-
स्तत्र मृषा स्पर्धन्ते पृथगभिमत्या ॥३५॥
परमाणुपरममहतो-
स्त्वमाद्यन्तान्तरवर्ती त्रयविधुरः ।
आदावन्तेऽपि च स-
त्त्वानां यद् ध्रुवं तदेवान्तरालेऽपि ॥३६॥
क्षित्यादिभिरेष किला-
वृतः सप्तभिर्दशगुणोत्तरैराण्डकोशः ।
यत्र पतत्यणुकल्पः
सहाण्डकोटिकोटिभिस्तदनन्तः ॥३७॥
विषयतृषो नरपशवो
य उपासते विभूतीर्न परं त्वाम् ।
तेषामाशिष ईश
तदनु विनश्यन्ति यथा राजकुलम् ॥३८॥
कामधियस्त्वयि रचिता
न परम रोहन्ति यथा करम्भबीजानि ।
ज्ञानात्मन्यगुणमये
गुणगणतोऽस्य द्वन्द्वजालानि ॥३९॥
जितमजित तदा भवता
यदाह भागवतं धर्ममनवद्यम् ।
निष्किञ्चना ये मुनय

चित्रकेतुने कहा—हे अजित ! [आप यद्यपि देवताओंसे भी अजेय हैं, तो भी] समदर्शी और जितेन्द्रिय साधुपुरुषोंने आपको जीत लिया है, तथा आपने भी उन्हें अपने वशीभूत कर लिया है; क्योंकि आप अत्यन्त दयालु होनेके कारण अपने निष्काम भक्तोंको अपना स्वरूप दे डालते हैं ॥ ३४ ॥ हे भगवन् ! संसारकी उत्पत्ति, स्थिति और लय आदि आपहीकी लीला है । विश्वरचयिता ब्रह्मादि आपके अंशके भी अंश हैं, फिर भी 'हम ही जगत्कर्ता हैं' ऐसी भेदबुद्धिसे वे व्यर्थ ही परस्पर स्पर्द्धा करते हैं ॥ ३५ ॥ परमाणुसे लेकर अति महान् महत्तत्त्व-पर्यन्त सम्पूर्ण वस्तुओंके आदि, अन्त और मध्यमें आप ही विराजमान हैं तथापि आप आदि, अन्त और मध्य इन तीन अवस्थाओंसे रहित हैं, क्योंकि सत्यस्वरूपसे प्रतीत होनेवाली इन वस्तुओंके आदि और अन्तमें जो निश्चल तत्त्व है वही मध्यमें भी है ॥ ३६ ॥ जिनमें यह ब्रह्माण्डकोश, जो एक-एकसे दशगुने बड़े पृथिवी आदि सात आवरणोंसे घिरा हुआ है, अपने ही समान करोड़ों ब्रह्माण्डोंके सहित परमाणुके समान घूमता रहता है वे आप वास्तवमें अनन्त हैं ॥ ३७ ॥ जो मनुष्यरूप पशु केवल विषयोंकी ही कामना करते हैं वे आप परमात्माको छोड़कर आपकी विभूतिरूप इन्द्रादि अन्य देवताओंकी ही उपासना करते हैं । अतः जैसे राजकुलके पतनके साथ उसके अनुयायियों-की आजीविका भी मारी जाती है उसी प्रकार उन क्षुद्र उपास्यदेवोंका ह्रास होनेपर उनके दिये हुए भोग भी नष्ट हो जाते हैं ॥ ३८ ॥ हे परमात्मन् ! आप ज्ञानस्वरूप और निर्गुण हैं; इसलिये आपके प्रति की हुई विषयवासनाएँ उसी प्रकार कर्मफलदायिनी नहीं होतीं जैसे भुने हुए बीजोंसे अङ्कुर उत्पन्न नहीं होते, क्योंकि जीवको सुख-दुःखादि द्वन्द्व सत्त्वादि गुणोंसे ही प्राप्त होते हैं [और आप निर्गुण हैं] ॥ ३९ ॥ हे अजित ! जिस समय आपने विशुद्ध भागवत धर्मका उपदेश किया था उसी समय सबको जीत लिया, क्योंकि निष्किञ्चन एवं आत्मामें ही रमण करनेवाले

१. प्रा० पा०—लयावनादीनि ।

आत्मारामा यमुपासतेऽपवर्गाय ॥४०॥
विषममतिर्न यत्र नृणां
त्वमहमिति मम तवेति च यदन्यत्र ।
विषमधिया रचितो यः
स ह्यविशुद्धः क्षयिष्णुरधर्मबहुलः ॥४१॥
कः क्षेमो निजपरयोः
कियानर्थः स्वपरद्रुहा धर्मेण ।
स्वद्रोहात्तव कोपः
परसंपीडया च तथाधर्मः ॥४२॥
न व्यभिचरति तवेक्षा
यया ह्यभिहितो भागवतो धर्मः ।
स्थिरचरसत्त्वकदम्बे-
ष्वपृथग्धियो यमुपासते त्वार्याः ॥४३॥
न हि भगवन्नघटितमिदं
त्वद्दर्शनान्नृणामखिलपापक्षयः ।
यन्नामसकृच्छ्रवणा-
त्पुल्कसकोऽपि विमुच्यते संसारात् ॥४४॥
अथ भगवन्वयमधुना
त्वदवलोकपरिमृष्टाशयमलाः ।
सुरऋषिणा यदुदितं
तावकेन कथमन्यथा भवति ॥४५॥
विदितमनन्त समस्तं
तव जगदात्मनो जनैरिहाचरितम् ।
विज्ञाप्यं परमगुरोः
कियदिव सवितुरिव खद्योतैः ॥४६॥
नमस्तुभ्यं भगवते
सकलजगत्स्थितिलयोदयेशाय ।
दुरवसितात्मगतये
कुयोगिनां भिदा परमहंसाय ॥४७॥
यं वै श्वसन्तमनु विश्वसृजः श्वसन्ति
यं चेकितानमनु चित्तय उच्चकन्ति ।

सनकादि मुनिगण मोक्षप्राप्तिके लिये उसी भागवत धर्मका आश्रय लेते हैं ॥ ४० ॥ उस भागवत धर्माचरणमें, अन्य सकाम धर्मोंके समान, मनुष्योंकी 'मैं, तू, मेरा, तेरा' ऐसी भेदबुद्धि नहीं होती। इसके विपरीत भेदबुद्धिसे किया हुआ धर्म अशुद्ध, नाशवान् और अधर्मबहुल होता है ॥ ४१ ॥ इस प्रकार अपना और पराया दोनोंहीका अपकार करनेवाले उक्त सकाम धर्मसे अपना या दूसरेका क्या हित अथवा प्रयोजन सिद्ध हो सकता है? [कुछ भी नहीं]। बल्कि अपने चित्तको सन्तप्त करनेसे आप (भगवान्) कुपित होते हैं और दूसरोंको कष्ट पहुँचनेके कारण अधर्म होता है ॥ ४२ ॥ हे नाथ! जिस दृष्टिसे आपने भागवत धर्मका निरूपण किया है वह[परमार्थसे] कभी विचलित नहीं होती; अतः जिनकी चराचर जीवसमुदायमें समान दृष्टि होती है वे आर्यजन ही उस धर्मका सेवन करते हैं ॥४३॥ भगवन्! आपके दर्शनमात्रसे ही मनुष्योंके सब पाप क्षीण हो जाते हैं—यह कोई असम्भव बात नहीं है क्योंकि आपका नाम एक बार सुननेसे ही चाण्डाल भी संसारसे मुक्त हो जाता है ॥४४॥ हे भगवन्! इस समय आपके दर्शनमात्रसे हमारे अन्तःकरणका सब मल नष्ट हो गया है, सो ठीक ही है; क्योंकि आपके अनन्य भक्त देवर्षि नारदने जो कुछ कहा है वह मिथ्या कैसे हो सकता है? ॥४५॥ हे अनन्त! आप सम्पूर्ण जगत्के आत्मा हैं इसलिये संसारमें मनुष्य जो कुछ करते हैं वह आपको विदित ही है। अतः जिस प्रकार सूर्यको खद्योत प्रकाशित नहीं कर सकता उसी प्रकार आप परम गुरुको हम क्या बताएँ? ॥४६॥ हे भगवन्! आप सम्पूर्ण जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय करनेमें समर्थ हैं; कुयोगीजन भेददृष्टिके कारण आपके तत्त्वको नहीं जान सकते। ऐसे अत्यन्त शुद्धस्वरूप आपको नमस्कार है ॥४७॥ जिनके चेष्टा करनेपर ब्रह्मा आदि जगत्कर्ता चेष्टा करते हैं, जिनकी दृष्टि पड़नेपर ज्ञानेन्द्रियाँ अपने विषयोंको ग्रहण करती हैं तथा जिनके मस्तकपर रखा हुआ

१. प्रा० पा०—त्वद्दर्शिना० । २. प्रा० पा०—तत्केन ।

भूमण्डलं सर्षपायति यस्य मूर्ध्नि
तस्मै नमो भगवतेऽस्तु सहस्रमूर्ध्ने ॥४८॥

यह भूमण्डल सरसोंके दानेके समान जान पड़ता है उन भगवान् सहस्रशीर्षाको नमस्कार है ॥४८॥

श्रीशुक उवाच

संस्तुतो भगवानेवमनन्तस्तमभाषत ।
विद्याधरपतिं प्रीतश्चित्रकेतुं कुरूद्वह ॥४९॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे कुरुनन्दन ! इस प्रकार स्तुति किये जानेपर भगवान् अनन्तने प्रसन्न हो विद्याधरपति राजा चित्रकेतुसे कहा ॥४९॥

श्रीभगवानुवाच

यन्नारदाङ्गिरोभ्यां ते व्याहृतं मेऽनुशासनम् ।
संसिद्धोऽसि तया राजन्विद्यया दर्शनाच्च मे ॥५०॥
अहं वै सर्वभूतानि भूतात्मा भूतभावनः ।
शब्दब्रह्म परं ब्रह्म ममोभे शाश्वती तनू ॥५१॥
लोके विततमात्मानं लोकं चात्मनि संततम् ।
उभयं च मया व्याप्तं मयि चैवोभयं कृतम् ॥५२॥
यथा सुषुप्तः[1] पुरुषो विश्वं पश्यति चात्मनि ।
आत्मानमेकदेशस्थं मन्यते स्वप्न उत्थितः ॥५३॥
एवं जागरणादीनि जीवस्थानानि चात्मनः ।
मायामात्राणि विज्ञाय तद्द्रष्टारं परं[2] स्मरेत् ॥५४॥
येन प्रसुप्तः पुरुषः स्वापं वेदात्मनस्तदा ।
सुखं च निर्गुणं ब्रह्म तमात्मानमवेहि माम् ॥५५॥
उभयं स्मरतः पुंसः प्रस्वापप्रतिबोधयोः ।
अन्वेति व्यतिरिच्येत तज्ज्ञानं[3] ब्रह्म तत्परम् ॥५६॥
यदेतद्विस्मृतं पुंसो मद्भावं भिन्नमात्मनः ।
ततः संसार एतस्य देहाद्देहो मृतेर्मृतिः ॥५७॥
लब्ध्वेह मानुषीं योनिं ज्ञानविज्ञानसंभवाम् ।
आत्मानं यो न बुद्ध्येत न क्वचिच्छममाप्नुयात्[4] ॥५८॥

श्रीभगवान् बोले—हे राजन् ! नारद और अंगिरामुनिने तुम्हें मेरे विषयमें जो उपदेश दिया है उस विद्याके प्रभावसे तथा मेरे दर्शनसे ही तुम पूर्णतया सिद्ध हो चुके हो ॥५०॥ सम्पूर्ण भूत तथा उनका अन्तरात्मा और पालनकर्ता मैं ही हूँ। शब्दब्रह्म और परब्रह्म— ये दोनों ही मेरी सनातन मूर्तियाँ हैं ॥५१॥ प्रपञ्चमें आत्मा व्याप्त है और आत्मामें प्रपञ्च व्याप्त है तथा इन दोनोंमें कारणरूपसे मैं व्याप्त हूँ और मुझहीमें ये दोनों कल्पित हैं ॥५२॥ जिस प्रकार स्वप्नमें सोया हुआ पुरुष [स्वप्नान्तर प्राप्त होनेपर] सम्पूर्ण जगत्को अपनेहीमें देखता है तथा [स्वप्नावस्थाहीमें] जागनेपर अपनेको संसारके एक देशमें स्थित मानता है उसी प्रकार जीवकी जाग्रत् आदि अवस्थाएँ परमेश्वरकी मायामात्र ही हैं—ऐसा जानकर उन सबके साक्षी मायातीत परमात्माका स्मरण करना चाहिये ॥५३-५४॥ सोया हुआ पुरुष, जिसकी सहायतासे अपनी निद्रा और अतीन्द्रिय सुखका अनुभव करता है वह सबका आत्मारूप ब्रह्म मैं ही हूँ—ऐसा जानो ॥५५॥ जो निद्रा और जागृति—इन दोनों अवस्थाओंका स्मरण करनेवाले पुरुषकी उन अवस्थाओंमें साक्षीरूपसे अनुगत है तथा वास्तवमें उनसे पृथक् है वह ज्ञान ही परब्रह्म है ॥५६॥ जब मेरे उक्त परब्रह्म स्वरूपको जीव भूल जाता है तो वह अपने आत्मस्वरूपसे बिछुड़ जाता है इसीसे उसे संसार प्राप्त होता है और उसे जन्मके पश्चात् जन्म तथा मरणके पश्चात् मरण प्राप्त होता रहता है ॥ ५७ ॥ जो पुरुष इस लोकमें ज्ञान-विज्ञानकी प्राप्तिके कारणरूप मनुष्यजन्मको पाकर भी सबके आत्मारूप परमेश्वरको नहीं जानता उसे कहीं शान्ति प्राप्त नहीं होती ॥५८॥

१. प्रा० पा०—प्रसुप्तः । २. प्रा० पा०—स्मरेत माम् । ३. प्रा० पा०—ज्ञानं तद् ब्रह्म । ४. प्रा० पा०—चित्क्षेम० ।

स्मृत्वेहायां परिक्लेशं ततः फलविपर्ययम् ।
अभयं[1] चाप्यनीहायां संकल्पाद्विरमेत्कविः[2] ॥५९॥
सुखाय दुःखमोक्षाय कुर्वाते दम्पती क्रियाः ।
ततोऽनिवृत्तिरप्राप्तिर्दुःखस्य च सुखस्य च[3] ॥६०॥

सांसारिक सुखके लिये की जानेवाली चेष्टामें श्रम है और उससे विपरीत फल प्राप्त होनेकी भी सम्भावना है तथा निवृत्तिमार्गमें किसी प्रकारका भय नहीं है—यह विचारकर विवेकी पुरुष फलकी कामनासे निवृत्त हो जाय ॥५९॥ हे राजन् ! सभी स्त्री-पुरुष सुखकी प्राप्ति और दुःखकी निवृत्तिके लिये प्रयत्न करते हैं किन्तु उन कर्मोंसे न तो उनका दुःख दूर होता है और न उन्हें सुख ही मिलता है ॥६०॥

एवं विपर्ययं बुद्ध्वा नृणां विज्ञाभिमानिनाम् ।
आत्मनश्च गतिं सूक्ष्मां स्थानत्रयविलक्षणाम् ॥६१॥
दृष्टश्रुताभिर्मात्राभिर्निर्मुक्तः स्वेन तेजसा ।
ज्ञानविज्ञानसंतुष्टो[4] मद्भक्तः पुरुषो भवेत् ॥६२॥
एतावानेव मनुजैर्योगनैपुणबुद्धिभिः[5] ।
स्वार्थः सर्वात्मना ज्ञेयो यत्परात्मैकदर्शनम्[6] ॥६३॥
त्वमेतच्छ्रद्धया राजन्नप्रमत्तो वचो मम ।
ज्ञानविज्ञानसंपन्नो धारयन्नाशु सिध्यसि ॥६४॥

अपनेको बड़ा ज्ञानी माननेवाले पुरुषोंको इस प्रकार विपरीत फल मिलता है यह समझकर तथा आत्माकी गति अति सूक्ष्म और जाग्रदादि तीनों अवस्थाओंसे पृथक् है—यह जानकर पुरुष अपने विवेकबलसे लौकिक और पारलौकिक भोगोंसे मुक्त तथा ज्ञान-विज्ञानपरितृप्त होकर मेरा भक्त हो जाय ॥६१-६२॥ इस प्रकार जो सम्पूर्ण इन्द्रियोंके द्वारा एकमात्र परमात्माका दर्शन करना है इसे ही योगमार्गमें कुशलताको प्राप्त हुई बुद्धिवाले मनुष्योंको अपना सबसे बड़ा पुरुषार्थ समझना चाहिये ॥ ६३ ॥ हे राजन् ! यदि तुम मेरे इस उपदेशको सावधान होकर श्रद्धासहित धारण करोगे तो ज्ञान-विज्ञानसम्पन्न होकर शीघ्र ही सिद्ध हो जाओगे ॥६४॥

श्रीशुक उवाच

आश्वास्य भगवानित्थं चित्रकेतुं जगद्गुरुः ।
पश्यतस्तस्य विश्वात्मा ततश्चान्तर्दधे हरिः ॥६५॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! तब जगद्गुरु विश्वात्मा भगवान् हरि चित्रकेतुको इस प्रकार समझा-बुझाकर उसके देखते-देखते वहाँसे अन्तर्धान हो गये ॥६५॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे षष्ठस्कन्धे चित्रकेतोः
परमात्मदर्शनं नाम षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

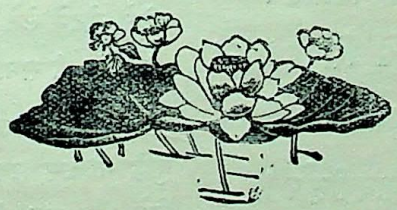

१. प्रा० पा०—नो भयं । २. प्रा० पा०—त्क्वचित् । ३. प्रा० पा०—त्तिर्न प्राप्ति० । ४. प्रा० पा०—विज्ञानज्ञानसंहृष्टो । ५. प्रा० पा०—नैपुण्य० । ६. प्रा० पा०—रात्म्यैक० । ७. प्रा० पा०—त्रकेतूपाख्याने परमपुरुषादेशः षोड० ।

सत्रहवाँ अध्याय

चित्रकेतुको पार्वतीजीका शाप ।

श्रीशुक उवाच

यतश्चान्तर्हितोऽनन्तस्तस्यै कृत्वा दिशे नमः ।
विद्याधरश्चित्रकेतुश्चचार गगनेचरः ॥ १ ॥
स लक्षं वर्षलक्षाणामव्याहतबलेन्द्रियः ।
स्तूयमानो महायोगी मुनिभिः सिद्धचारणैः ॥ २ ॥
कुलाचलेन्द्रद्रोणीषु नानासंकल्पसिद्धिषु ।
रेमे विद्याधरस्त्रीभिर्गापयन्हरिमीश्वरम् ॥ ३ ॥

एकदा स विमानेन विष्णुदत्तेन भास्वता ।
गिरिशं ददृशे गच्छन्परीतं सिद्धचारणैः ॥ ४ ॥
आलिङ्ग्याङ्गीकृतां देवीं बाहुना मुनिसंसदि ।
उवाच देव्याः शृण्वत्या जहासोच्चैस्तदन्तिके ॥ ५ ॥

चित्रकेतुरुवाच

एष लोकगुरुः साक्षाद्धर्मं वक्ता शरीरिणाम् ।
आस्ते[2] मुख्यः सभायां वै मिथुनीभूय भार्यया ॥ ६ ॥
जटाधरस्तीव्रतपा ब्रह्मवादिसभापतिः ।
अङ्गीकृत्य स्त्रियं चास्ते गतह्रीः प्राकृतो यथा ॥ ७ ॥
प्रायशः प्राकृताश्चापि स्त्रियं रहसि बिभ्रति ।
अयं महाव्रतधरो बिभर्ति सदसि स्त्रियम् ॥ ८ ॥

श्रीशुक उवाच

भगवानपि तच्छ्रुत्वा प्रहस्यागाधधीर्नृप ।
तूष्णीं बभूव सदसि सभ्याश्च[3] तदनुव्रताः ॥ ९ ॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! जिस दिशामें भगवान् अनन्त अन्तर्धान हुए थे उसे नमस्कारकर विद्याधर चित्रकेतु आकाशमार्गसे स्वच्छन्द विचरने लगे ॥ १ ॥ वे महायोगी लाखों वर्षतक शरीर और इन्द्रियोंकी अकुण्ठित शक्तिसे युक्त होकर मुनिजन, सिद्ध एवं चारणादिसे स्तुति किये जाते हुए, नाना प्रकारके संकल्पोंको पूर्ण करनेवाली मेरु पर्वतकी कन्दराओंमें विद्याधर-सुन्दरियोंसे भगवान् हरिका सुयशगान कराते हुए उनके साथ रमण करने लगे ॥ २-३ ॥

एक दिन, वे विष्णु भगवान्‌के दिये हुए तेजोमय विमानपर चढ़कर जा रहे थे । इसी समय उन्होंने देखा कि भगवान् शंकर सिद्ध-चारणोंसे घिरे हुए मुनिमण्डलीके बीचमें भगवती भवानीको गोदमें लेकर एक बाँहसे आलिंगन किये बैठे हैं । यह देखकर उन्होंने उनके समीप जा देवी पार्वतीके सुनते हुए बड़े जोरसे हँसकर कहा—॥ ४-५ ॥

चित्रकेतु बोले—अहो ! ये सकल देहधारियोंमें श्रेष्ठ, धर्मका बखान करनेवाले और सम्पूर्ण संसारके गुरु हैं ! तथापि इस प्रकार बीच सभामें अपनी भार्याके साथ चिपटे हुए बैठे हैं !! ॥ ६ ॥ ये वैसे तो बड़े जटाधारी, महान् तपस्वी और ब्रह्मवेत्ताओंके समाजमें अग्रगण्य हैं परन्तु इस समय साधारण विषयी पुरुषोंके समान निर्लज्ज होकर स्त्रीको गोदमें लिये बैठे हैं ॥ ७ ॥ विषयी पुरुष भी प्रायः एकान्तमें ही स्त्रीको गोदमें लेते हैं, किन्तु ये बड़े व्रतधारी होकर भी उसे भरी सभामें लिये बैठे हैं ॥ ८ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! अगाध-बुद्धि भगवान् शंकर उनका यह कटाक्ष सुनकर हँस दिये और कुछ भी नहीं बोले; तथा उस सभामें बैठे हुए अन्य सदस्यगण भी उन्हींके अनुसार चुप रहे

१. प्रा० पा०—स्वबि० । २. प्रा० पा०—आर्यमुख्यः सत्सभायां । ३. प्रा० पा०—सभ्याश्चासन्ननुव्रताः ।

इत्यतद्वीर्यविदुषि ब्रुवाणे बह्वशोभनम् ।
रुषाह देवी धृष्टाय निर्जितात्माभिमानिने ॥१०॥

पार्वत्युवाच[1]

अयं किमधुना लोके शास्ता दण्डधरः प्रभुः ।
अस्मद्विधानां दुष्टानां निर्लज्जानां च विप्रकृत् ॥११॥
न वेद धर्मं किल पद्मयोनि-
र्न ब्रह्मपुत्रा भृगुनारदाद्याः[2] ।
न वै कुमारः[3] कपिलो मनुश्च
ये नो निषेधन्त्यतिवर्तिनं हरम् ॥१२॥
एषामनुध्येयपदाब्जयुग्मं
जगद्गुरुं मङ्गलमङ्गलं स्वयम् ।
यः[4] क्षत्रबन्धुः परिभूय सूरीन्
प्रशास्ति धृष्टस्तदयं हि दण्ड्यः ॥१३॥
नायमर्हति वैकुण्ठपादमूलोपसर्पणम् ।
संभावितमतिः[5] स्तब्धः साधुभिः पर्युपासितम् ॥१४॥
अतः पापीयसीं योनिमासुरीं याहि दुर्मते ।
यथेह भूयो महतां न कर्ता[6] पुत्र किल्बिषम् ॥१५॥

श्रीशुक उवाच

एवं शप्तश्चित्रकेतुर्विमानादवरुह्य सः ।
प्रसादयामास सतीं मूर्ध्ना नम्रेण भारत ॥१६॥

चित्रकेतुरुवाच

प्रतिगृह्णामि ते शापमात्मनोऽञ्जलिनाम्बिके ।
देवैर्मर्त्याय यत्प्रोक्तं पूर्वदिष्टं हि तस्य तत् ॥१७॥
संसारचक्र एतस्मिञ्जन्तुरज्ञानमोहितः ।
भ्राम्यन्[7]सुखं च दुःखं च भुङ्क्ते सर्वत्र सर्वदा ॥१८॥
नैवात्मा न परश्चापि कर्ता स्यात्सुखदुःखयोः ।
कर्तारं मन्यतेऽप्राज्ञ आत्मानं परमेव च ॥१९॥

॥ ९ ॥ भगवान् शंकरके प्रभावको न जाननेवाले चित्रकेतुके इस प्रकार बहुत कुछ अनुचित भाषण करनेपर 'मैं जितेन्द्रिय हूँ' ऐसे अभिमानसे अत्यन्त धृष्ट हुए उस राजासे देवी पार्वतीने क्रोधपूर्वक कहा ॥१०॥

पार्वतीजी बोलीं—अहो ! हम जैसे दुष्ट और निर्लज्जोंका शासन करके सुधार करनेवाला दण्डधर प्रभु क्या इस समय संसारमें यही है ? ॥११॥ क्या कमलयोनि ब्रह्माजी, भृगु आदि ब्रह्माजीके पुत्र, नारदादि देवर्षिगण, सनकादि, कपिलदेव और मनु—इनमेंसे कोई भी धर्मको नहीं जानता, जोकि शास्त्रविधिका उल्लङ्घन करनेवाले भगवान् शङ्करको नहीं बरजते ॥१२॥ इस क्षत्रियाधमने विद्वन्मण्डलीका तिरस्कारकर जिनके चरणकमलयुगल इन ब्रह्मादिकोंके भी ध्यान करनेयोग्य हैं, साक्षात् उन्हीं मंगलमूर्ति जगद्गुरु भगवान् शङ्करका निःशङ्क होकर शासन किया है; इसलिये यह दण्डनीय है ॥१३॥ इसे अपनी श्रेष्ठताका बड़ा घमण्ड है; अतः यह दुष्ट भगवान् विष्णुके साधुजनसेवित चरणकमलोंके समीप रहने योग्य नहीं है ॥१४॥ अतः हे दुर्मते ! तू अति अधम आसुरी योनिको प्राप्त हो; ऐसा होनेसे बच्चा ! तू फिर महापुरुषोंका अपराध न करेगा ॥१५॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे भरतनन्दन ! इस प्रकार शाप दिये जानेपर चित्रकेतु विमानसे उतर पड़ा और अति नम्रतासे शिर झुकाकर देवी पार्वतीको प्रसन्न करने लगा ॥१६॥

चित्रकेतु बोला—हे अम्बिके ! मैं तुम्हारा शाप अपनी अञ्जलीमें ग्रहण करता हूँ, क्योंकि देवगण मनुष्योंके लिये जो कुछ कहते हैं वह उनके पूर्वकर्मका ही फल होता है ॥१७॥ अज्ञानसे मोहित हुआ जीव इस संसारचक्रमें भ्रमता हुआ सर्वदा सब जगह सुख-दुःख भोगता रहता है ॥१८॥ उस सुख-दुःखका देनेवाला स्वयं आप अथवा कोई और नहीं है इस विषयमें विवेकहीन पुरुष ही अपनेको अथवा किसी दूसरेको कर्ता मानते हैं ॥१९॥

१. प्राचीन प्रतिमें 'पार्वत्युवाच' यह पाठ नहीं है । २. प्रा० पा०—दादयः । ३. प्रा० पा०—कुमारो मुनिवृन्दवन्द्यो । ४. प्रा० पा०—यत् । ५. प्रा० पा०—वितोऽतिसंस्तब्धः । ६. प्रा० पा०—कर्तामुत्र । ७. प्रा० पा०—भ्रमन् ।

गुणप्रवाह एतस्मिन्कः शापः को न्वनुग्रहः[1] ।
कः स्वर्गो नरकः को वा किं सुखं दुःखमेव वा ॥२०॥
एकः सृजति भूतानि भगवानात्ममायया ।
एषां बन्धं च मोक्षं च सुखं दुःखं च निष्कलः ॥२१॥
न तस्य कश्चिद्दयितः[2] प्रतीपो
न ज्ञातिबन्धुर्न परो न च स्वः ।
समस्य सर्वत्र[3] निरञ्जनस्य
सुखे न रागः कुत एव रोषः ॥२२॥
तथापि तच्छक्तिविसर्ग एषां
सुखाय दुःखाय हिताहिताय ।
बन्धाय मोक्षाय च मृत्युजन्मनोः
शरीरिणां संसृतयेऽवकल्पते ॥२३॥
अथ[4] प्रसादये न त्वां शापमोक्षाय भामिनि ।
यन्मन्यसे असाधूक्तं मम तत्क्षम्यतां सति ॥२४॥

श्रीशुक[5] उवाच

इति प्रसाद्य गिरिशौ चित्रकेतुररिन्दम ।
जगाम स्वविमानेन पश्यतोः स्मयतोस्तयोः ॥२५॥
ततस्तु भगवान्रुद्रो रुद्राणीमिदमब्रवीत् ।
देवर्षिदैत्यसिद्धानां पार्षदानां च शृण्वताम्[7] ॥२६॥

श्रीरुद्र[8] उवाच

दृष्टवत्यसि सुश्रोणि हरेरद्भुतकर्मणः ।
माहात्म्यं भृत्यभृत्यानां निःस्पृहाणां महात्मनाम् ॥२७॥
नारायणपराः सर्वे न कुतश्चन बिभ्यति ।
स्वर्गापवर्गनरकेष्वपि तुल्यार्थदर्शिनः ॥२८॥
देहिनां देहसंयोगाद्द्वन्द्वानीश्वरलीलया ।
सुखं दुःखं मृतिर्जन्म शापोऽनुग्रह एव च ॥२९॥

यह संसार सत्त्वादि गुणोंका प्रवाह है, इसमें शाप या अनुग्रह, स्वर्ग या नरक, सुख या दुःख क्या है ? [कुछ भी नहीं] ॥ २० ॥ एकमात्र भगवान् ही अपनी मायासे सम्पूर्ण भूतोंकी तथा उनके बन्ध-मोक्ष और सुख-दुःखकी रचना करते हैं, किन्तु वे स्वयं बन्धनादिसे रहित हैं ॥२१॥ हे मातः ! वे श्रीहरि सर्वत्र समान और निर्दोष हैं । उनका कोई प्रिय, अप्रिय, जातिबन्धु अथवा अपना या पराया नहीं है । जब उनका सुखमें राग ही नहीं है तो रागजन्य क्रोध कैसे हो सकता है ? ॥२२॥ तथापि उनकी मायारूप शक्तिसे उत्पन्न हुए पाप-पुण्य ही जीवोंके सुख-दुःख, हित-अहित, बन्धन-मोक्ष, जन्म-मरण एवं संसारके कारण होते हैं ॥२३॥ अतः हे भामिनि ! मैं शापसे मुक्त होनेके लिये तुम्हें प्रसन्न नहीं करना चाहता । हे सति ! केवल इतनी ही प्रार्थना है कि मेरा कथन [उचित होनेपर भी] यदि तुम्हें अनुचित प्रतीत हुआ है तो उसके लिये क्षमा करो ॥२४॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे शत्रुदमन ! भगवान् शंकर और पार्वतीजीको इस प्रकार प्रसन्नकर राजा चित्रकेतु उनके देखते-देखते अपने विमानपर आरूढ़ हो उन्हें विस्मयग्रस्तकर वहाँसे चला गया ॥ २५ ॥ तब सम्पूर्ण देवता, ऋषि, दैत्य, सिद्ध और पार्षदोंके सुनते हुए भगवान् शंकरने पार्वतीजीसे इस प्रकार कहा—॥ २६ ॥

श्रीमहादेवजी बोले—हे सुन्दरि ! तुमने अद्भुत-कर्मा श्रीहरिके निःस्पृह और महानुभाव दासानुदासोंका माहात्म्य देखा ॥ २७ ॥ जो लोग भगवत्परायण हैं उन्हें किसी बातका भय नहीं होता; क्योंकि उनकी स्वर्ग, मोक्ष और नरकादिमें भी समान दृष्टि होती है ॥ २८ ॥ जीवोंको, भगवान्‌की लीलासे ही देहका संयोग होनेपर सुख-दुःख, जन्म-मरण और शाप-अनुग्रह आदि द्वन्द्व प्राप्त होते हैं ॥ २९ ॥

१. प्रा० पा०—कस्त्व० । २. प्रा० पा०—यितो न प्रती० । ३. प्रा० पा०—सर्वस्य । ४. प्रा० पा०—अतः । ५. प्राचीन प्रतिमें 'श्रीशुक उवाच' यह पाठ नहीं है । ६. प्रा० पा०—मिति चा० । ७. प्रा० पा०—सिद्धये । ८. प्रा० पा०—देव उवाच ।

अविवेककृतः पुंसो ह्यर्थभेद इवात्मनि ।
गुणदोषविकल्पश्च भिदेव स्रजिवत्कृतः ॥३०॥
वासुदेवे भगवति भक्तिमुद्वहतां नृणाम् ।
ज्ञानवैराग्यवीर्याणां नेह कश्चिद्व्यपाश्रयः ॥३१॥
नाहं विरिञ्चो न कुमारनारदौ
न ब्रह्मपुत्रा मुनयः सुरेशाः ।
विदाम यस्येहितमंशकांशका
न तत्स्वरूपं पृथगीशमानिनः ॥३२॥
नह्यस्यास्ति प्रियः कश्चिन्नाप्रियः स्वः परोऽपि वा ।
आत्मत्वात्सर्वभूतानां सर्वभूतप्रियो हरिः ॥३३॥
तस्य चायं महाभागश्चित्रकेतुः प्रियोऽनुगः ।
सर्वत्र समदृक्छान्तो ह्यहं चैवाच्युतप्रियः ॥३४॥
तस्मान्न विस्मयः कार्यः पुरुषेषु महात्मसु ।
महापुरुषभक्तेषु शान्तेषु समदर्शिषु ॥३५॥

श्रीशुक उवाच

इति श्रुत्वा भगवतः शिवस्योमाभिभाषितम् ।
बभूव शान्तधी राजन्देवी विगतविस्मया ॥३६॥
इति भागवतो देव्याः प्रतिशप्तुमलंतमः ।
मूर्ध्ना संजगृहे शापमेतावत्साधुलक्षणम् ॥३७॥
जज्ञे त्वष्टुर्दक्षिणाग्नौ दानवीं योनिमाश्रितः ।
वृत्र इत्यभिविख्यातो ज्ञानविज्ञानसंयुतः ॥३८॥
एतत्ते सर्वमाख्यातं यन्मां त्वं परिपृच्छसि ।
वृत्रस्यासुरजातेश्च कारणं भगवन्मतेः ॥३९॥
इतिहासमिमं पुण्यं चित्रकेतोर्महात्मनः ।
माहात्म्यं विष्णुभक्तानां श्रुत्वा बन्धाद्विमुच्यते ॥४०॥

जिस प्रकार स्वप्नमें भेदभ्रमसे सुख-दुःखादिकी प्रतीति होती है तथा जागृतिमें मालामें सर्पका भ्रम होता है उसी प्रकार मनुष्य अज्ञानसे ही आत्मामें देव-मनुष्यादि भेद और गुण-दोषकी कल्पना करता है ॥ ३० ॥ जो ज्ञानवैराग्यके बलसे सम्पन्न पुरुष भगवान् वासुदेवमें भक्ति रखते हैं उन्हें इस संसारमें अपनी बुद्धिका आश्रयरूप कोई पदार्थ नहीं दीखता ॥ ३१ ॥ जिनकी लीलाको मैं, ब्रह्माजी, सनकादि, नारदमुनि, ब्रह्माजीके पुत्र भृगु आदि और प्रधान-प्रधान देवगण भी नहीं जानते, उनका स्वरूप अन्य साधारण पुरुष कैसे जान सकते हैं ? जो उनके अंशके अंश होकर भी अपनेको अलग-अलग बड़ा समर्थ मानते हैं ॥ ३२ ॥ उन श्रीहरिको न कोई अत्यन्त प्रिय है, न अप्रिय है और न कोई अपना है न पराया है । भगवान् सभी भूतोंके अन्तरात्मा हैं इसलिये वे सभीके प्रिय हैं ॥ ३३ ॥ यह महाभाग चित्रकेतु उन्हींका प्रिय अनुचर एवं शान्त और सर्वत्र समदर्शी है, और मैं भी श्रीअच्युतका ही प्रिय हूँ ॥ ३४ ॥ इसलिये परमपुरुष भगवान्‌के इन शान्त समदर्शी और महात्मा भक्तोंके विषयमें तुम्हें किसी प्रकारका विस्मय न करना चाहिये ॥ ३५ ॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! भगवान् शंकरका यह भाषण सुनकर देवी पार्वतीका विस्मय दूर हो गया और वे शान्तचित्त हो गयीं ॥ ३६ ॥ महाभागवत चित्रकेतु भगवती भवानीको शापके बदले शाप देनेमें भली भाँति समर्थ थे, तो भी उन्होंने उनका शाप शिरपर धारण किया—यही साधुताका लक्षण है ॥ ३७ ॥ तत्पश्चात् राजा चित्रकेतु दानवीयोनिको प्राप्त हो त्वष्टा देवताके दक्षिणाग्निसे उत्पन्न हुए तथा ज्ञान-विज्ञानसे युक्त हो वृत्रासुर नामसे विख्यात हुए ॥ ३८ ॥ इस प्रकार तुमने जो वृत्रासुरके दैत्ययोनिमें जन्म लेनेपर भी भगवत्परायण होनेका कारण पूछा था वह सब मैंने तुम्हें सुना दिया ॥ ३९ ॥ हे राजन् ! विष्णुभक्तोंके माहात्म्यरूप महात्मा चित्रकेतुके इस पवित्र इतिहासको सुननेसे मनुष्य सब बन्धनोंसे छूट जाता है ॥४०॥

य एतत्प्रातरुत्थाय श्रद्धया[1] वाग्यतः पठेत् ।
इतिहासं हरिं स्मृत्वा स याति परमां गतिम् ॥४१॥

जो पुरुष प्रातःकाल उठकर भगवान्‌का स्मरणकर मौन हो इसका पाठ करता है उसे परमपद प्राप्त होता है ॥ ४१ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे षष्ठस्कन्धे चित्रकेतुशापो[2] नाम सप्तदशोऽध्यायः ॥१७॥

अठारहवाँ अध्याय

अदिति और दितिकी सन्तानोंका तथा मरुद्गणकी उत्पत्तिका वर्णन ।

श्रीशुक उवाच

पृश्निस्तु पत्नी सवितुः सावित्रीं व्याहृतिं त्रयीम् ।
अग्निहोत्रं पशुं सोमं चातुर्मास्यं महामखान् ॥१॥
सिद्धिर्भगस्य भार्याङ्ग महिमानं विभुं प्रभुम् ।
आशिषं च वरारोहां कन्यां प्रासूत सुव्रताम् ॥ २ ॥
धातुः कुहूः सिनीवाली राका चानुमतिस्तथा ।
सायं दर्शमथ प्रातः पूर्णमासमनुक्रमात् ॥ ३ ॥
अग्नीन्पुरीष्यानाधत्त क्रियायां समनन्तरः ।
चर्षणी वरुणस्यासीद्यस्यां जातो भृगुः पुनः ॥ ४ ॥
वाल्मीकिश्च महायोगी वल्मीकादभवत्किल ।
अगस्त्यश्च वसिष्ठश्च मित्रावरुणयोर्ऋषी ॥ ५ ॥
रेतः सिषिचतुः कुम्भे उर्वश्याः सन्निधौ द्रुतम् ।
रेवत्यां मित्र उत्सर्गमरिष्टं पिप्पलं व्यधात् ॥ ६ ॥
पौलोम्यामिन्द्र आधत्त त्रीन्पुत्रानिति नः श्रुतम् ।
जयन्तमृषभं तात तृतीयं मीढुषं प्रभुः ॥ ७ ॥
उरुक्रमस्य देवस्य मायावामनरूपिणः ।
कीर्तौ पत्न्यां बृहच्छ्लोकस्तस्यासन्सौभगादयः । ८ ।

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! सविताकी पृश्नि नामवाली स्त्रीने सावित्री, व्याहृति, त्रयी, अग्निहोत्र, पशु, सोम, चातुर्मास्य तथा पञ्चमहायज्ञ—ये सन्तानें उत्पन्न कीं ॥१॥ हे प्रिय ! भगकी स्त्री सिद्धिने महिमा, विभु और प्रभु तीन पुत्र तथा आशीः नामकी एक सुन्दरी और सुव्रता कन्याको जन्म दिया ॥ २ ॥ धाताकी कुहू, सिनीवाली, राका और अनुमति नामकी स्त्रियोंने क्रमशः सायं, दर्श, प्रातः और पूर्णमास नामक पुत्रोंको उत्पन्न किया ॥३॥ उस (धाता) से छोटे विधाताने अपनी भार्या क्रियासे पुरीष्य नामक पाँच अग्नि उत्पन्न किये । वरुणकी स्त्रीका नाम चर्षणी था उसके गर्भसे भृगुजीने पुनः जन्म ग्रहण किया [इससे पहले वे ब्रह्माजीसे उत्पन्न हुए थे] ॥ ४ ॥ कहते हैं, जो वल्मीकसे उत्पन्न हुए वे महायोगी वाल्मीकिजी भी वरुणके ही पुत्र थे। मित्र और वरुण इन दोनोंहीका वीर्य जब उर्वशीको देखकर स्खलित हो गया तो उन्होंने उसे घड़ेमें रख दिया; उससे अगस्त्य और वसिष्ठ ऋषिका जन्म हुआ । मित्रने अपनी भार्या रेवतीसे उत्सर्ग, अरिष्ट और पिप्पल नामक पुत्र और उत्पन्न किये ॥ ५-६ ॥ हे राजन् ! भगवान् इन्द्रने अपनी भार्या पौलोमीसे जयन्त, ऋषभ और मीढुष नामक तीन पुत्र उत्पन्न किये थे—ऐसा हमने सुना है ॥ ७ ॥ मायावामनरूप भगवान् उरुक्रमके उनकी भार्या कीर्तिसे बृहच्छ्लोक नामक पुत्र हुआ और उसके सौभग आदि कई सन्तानें हुईं ॥ ८ ॥

१. प्रा० पा०—श्रद्धावान् । २. प्रा० पा०—केतूपाख्याने सप्तदशः ।

तत्कर्मगुणवीर्याणि काश्यपस्य महात्मनः ।
पश्चाद्वक्ष्यामहेऽदित्यां यथा वावततार ह ॥ ९ ॥

उन कश्यपनन्दन महात्मा भगवान् त्रिविक्रम (वामन) के कर्म, गुण और वीर्योंका तथा जिस प्रकार उन्होंने माता अदितिके गर्भसे जन्म लिया था, उसका हम आगे वर्णन करेंगे ॥ ९ ॥

अथ कश्यपदायादान्दैतेयान्कीर्तयामि ते ।
यत्र[1] भागवतः श्रीमान्प्रह्लादो बलिरेव च ॥१०॥
दितेर्द्वावेव दायादौ दैत्यदानववन्दितौ ।
हिरण्यकशिपुर्नाम हिरण्याक्षश्च कीर्तितौ ॥११॥
हिरण्यकशिपोर्भार्या कयाधुर्नाम दानवी ।
जम्भस्य तनया दत्ता सुषुवे चतुरः सुतान् ॥१२॥
संह्लादं प्रागनुह्लादं ह्लादं[2] प्रह्लादमेव च ।
तत्स्वसा सिंहिका नाम राहुं विप्रचितोऽग्रहीत् ॥१३॥
शिरोऽहरद्यस्य हरिश्चक्रेण पिबतोऽमृतम् ।
संह्लादस्य कृतिर्भार्यासूत[3] पञ्चजनं ततः ॥१४॥
ह्लादस्य धमनिर्भार्यासूत वातापिमिल्वलम् ।
योऽगस्त्याय त्वतिथये पेचे वातापिमिल्वलः ॥१५॥
अनुह्लादस्य सूर्म्यायां[4] बाष्कलो महिषस्तथा ।
विरोचनस्तु प्राह्लादिर्देव्यास्तस्याभवद्बलिः ॥१६॥
बाणज्येष्ठं पुत्रशतमशनायां ततोऽभवत् ।
तस्यानुभावः सुश्लोक्यः पश्चादेवाभिधास्यते ॥१७॥
बाण आराध्य गिरिशं लेभे तद्गणमुख्यताम् ।
यत्पार्श्वे भगवानास्ते ह्यद्यापि पुरपालकः ॥१८॥

हे राजन् ! अब मैं भगवान् कश्यपके दितिके गर्भसे उत्पन्न होनेवाले पुत्रोंका वर्णन करता हूँ जिनके वंशमें परम भगवद्भक्त श्रीमान् प्रह्लादजी और राजा बलिने जन्म लिया था ॥ १० ॥ दितिके, दैत्य और दानवोंसे वन्दित हिरण्यकशिपु और हिरण्याक्ष नामक दो ही पुत्र थे जिनका वर्णन पहले (तीसरे स्कन्धमें) किया जा चुका है ॥११॥ हिरण्यकशिपुकी भार्या कयाधू नाम दानवीने, जो जम्भ दानवकी पुत्री थी और जिसे उसके पिताने हिरण्यकशिपुको विवाह दिया था, चार पुत्र उत्पन्न किये ॥१२॥ वे क्रमशः संह्लाद, अनुह्लाद, ह्लाद और प्रह्लाद थे । तथा उनकी बहिन सिंहिका थी, उसने अपने पति विप्रचितिनामक दानवसे राहु नामवाला पुत्र उत्पन्न किया ॥१३॥ [समुद्र-मन्थनके पश्चात्] अमृत पान करते समय जिसके शिरको श्रीहरिने अपने चक्रसे काट लिया था । संह्लादकी भार्या कृतिने पञ्चजन नामक पुत्र उत्पन्न किया ॥१४॥ अगस्त्यजीका आतिथ्य करते समय जिसने [मेषरूपधारी] वातापीको पकाया था उस इल्वलको तथा [पकाये जानेवाले] वातापीको* ह्लादकी भार्या धमनिने जन्म दिया ॥ १५ ॥ अनुह्लादके उसकी स्त्री सूर्म्याके गर्भसे बाष्कल और महिषासुरका जन्म हुआ । प्रह्लादजीका पुत्र विरोचन था और उसकी भार्यासे बलिका जन्म हुआ ॥ १६ ॥ राजा बलिके उनकी भार्या अशनाके गर्भसे सौ पुत्र हुए, जिनमें बाणासुर सबसे बड़ा था । इनकी कथनीय महिमाका वर्णन आगे चलकर किया जायगा ॥१७॥ बाणासुरने भगवान् शङ्करकी आराधनाकर उनके पार्षदोंमें प्रमुखता प्राप्त की । श्रीमहादेवजी इस समय भी उसके नगररक्षक होकर उसीके पास रहते हैं ॥१८॥

१. प्रा० पा०—अत्र । २. प्रा० पा०—प्रह्लादं ह्लादमेव च । ३. प्रा० पा०—सती । ४. प्रा० पा०—सूर्यायां ।

* एक बार अगस्त्य ऋषि वातापी और इल्वलके यहाँ आये । उन्हें निमन्त्रितकर इल्वलने मेषरूपधारी वातापीको पकाकर अगस्त्यजीको खिला दिया और फिर इस अभिप्रायसे कि वातापी ऋषिका पेट फोड़कर निकल आवे उसे पुकारा, किन्तु ऋषि उसे पहले ही पचा चुके थे । इस प्रकार उनकी कुमति उन्हींके लिये घातक सिद्ध हुई ।

मरुतश्च दितेः पुत्राश्चत्वारिंशन्नवाधिकाः ।
त आसन्नप्रजाः सर्वे नीता इन्द्रेण सात्मताम् ॥१९॥

दितिके मरुत् नामक उनचास पुत्र और थे। वे सब निःसन्तान रहे। उन्हें इन्द्रने अपने ही समान देवता बना लिया ॥ १९ ॥

राजोवाच

कथं त आसुरं भावमपोह्यौत्पत्तिकं गुरो ।
इन्द्रेण प्रापिताः सात्म्यं किं तत्साधु कृतं हि तैः ॥२०॥
इमे श्रद्दधते ब्रह्मन्नृषयो हि मया सह ।
परिज्ञानाय भगवंस्तन्नो व्याख्यातुमर्हसि ॥२१॥

राजा परीक्षित्‌ने पूछा—हे गुरो ! मरुद्गणने ऐसा क्या सत्कर्म किया था जिससे वे अपने जन्मजात आसुरभावको त्यागकर इन्द्रके द्वारा देवभावसे सम्पन्न किये गये ? ॥ २० ॥ हे भगवन् ! इस बातको जाननेके लिये मेरे सहित ये सभी ऋषिगण उत्सुक हैं; अतः आप वह सब रहस्य हमें विस्तारसे सुनाइये ॥ २१ ॥

सूत उवाच

तद्विष्णुरातस्य स बादरायणि-
र्वचो निशम्याद्दतमल्पमर्थवत् ।[1]
सभाजयन्संनिभृतेन[2] चेतसा
जगाद सत्रायण सर्वदर्शनः ॥२२॥

श्रीसूतजी कहते हैं—हे शौनक ! राजा परीक्षित्‌के वे सादर, स्वल्प और सारगर्भित वचन सुनकर उन सर्वज्ञ व्यासनन्दनने प्रसन्नचित्तसे उनकी प्रशंसा करते हुए कहा ॥ २२ ॥

श्रीशुक उवाच

हतपुत्रा दितिः शक्रपार्ष्णिग्राहेण विष्णुना ।
मन्युना शोकदीप्तेन ज्वलन्ती पर्यचिन्तयत् ॥२३॥
कदा नु भ्रातृहन्तारमिन्द्रियाराममुल्बणम् ।
अक्लिन्नहृदयं पापं घातयित्वा शये सुखम् ॥२४॥
कृमिविड्भस्मसंज्ञासीद्यस्येशाभिहितस्य च ।
भूतध्रुक् तत्कृते स्वार्थं किं वेद निरयो यतः ॥२५॥
आशासानस्य तस्येदं ध्रुवमुन्नद्धचेतसः ।
मदशोषक इन्द्रस्य भूयाद्येन सुतो हि मे ॥२६॥
इति भावेन सा भर्तुराचचारासकृत्प्रियम् ।

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! इन्द्रका पक्ष लेनेवाले भगवान् विष्णुके हाथसे [हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपु नामक] अपने पुत्रोंको मरा हुआ देख दिति शोकाग्निसे प्रज्वलित हुए क्रोधसे सन्तप्त होकर सोचने लगी—॥ २३ ॥ 'अहो ! ऐसा कब होगा ? जब अपने भाइयोंका वध करानेवाले इस विषयलोलुप, क्रूर, निष्ठुरचित्त और पापात्मा इन्द्रको मारकर मैं सुखपूर्वक सोऊँगी ॥ २४ ॥ जो [राजा आदिके] शरीर किसी समय 'प्रभु' कहलाते हैं वे भी अन्तमें [सड़ जानेसे] कृमि, [खा लिये जानेसे] विष्ठा और [जला दिये जानेसे] भस्म हो जाते हैं ! ऐसे निन्द्य शरीरके लिये जो पुरुष अन्य प्राणियोंसे द्रोह करता है क्या वह अपने वास्तविक स्वार्थको जानता है ? [नहीं,] उसे तो प्राणियोंसे द्रोह करनेके कारण नरक ही भोगना पड़ता है ॥ २५ ॥ अतः, इस शरीरको नित्य मानकर जिसका चित्त सदा ही उन्मत्त हो रहा है उस इन्द्रका मद चूर करनेवाला पुत्र जिस प्रकार मेरे उत्पन्न हो—ऐसा कोई उपाय अवश्य ही करना चाहिये ॥ २६ ॥

मनमें ऐसा विचारकर दिति सेवा, अनुराग,

१. प्रा० पा०—मर्यदृक् । २. प्रा० पा०—जयंस्तं निभृतेन तेजसा ।

शुश्रूषयानुरागेण प्रश्रयेण दमेन च ॥२७॥
भक्त्या परमया राजन्मनोज्ञैर्वल्गुभाषितैः ।
मनो जग्राह भावज्ञा सुस्मितापाङ्गवीक्षणैः ॥२८॥
एवं स्त्रिया जडीभूतो विद्वानपि विदग्धया ।
बाढमित्याह विवशो न तच्चित्रं हि योषिति ॥२९॥
विलोक्यैकान्तभूतानि भूतान्यादौ प्रजापतिः ।
स्त्रियं चक्रे स्वदेहार्धं यया पुंसां मतिर्हृता ॥३०॥
एवं शुश्रूषितस्तात भगवान्कश्यपः स्त्रिया ।
प्रहस्य परमप्रीतो दितिमाहाभिनन्द्य च ॥३१॥

कश्यप उवाच

वरं वरय वामोरु प्रीतस्तेऽहमनिन्दिते ।
स्त्रिया भर्तरि सुप्रीते कः काम इह चागमः ॥३२॥
पतिरेव हि नारीणां दैवतं परमं स्मृतम् ।
मानसः सर्वभूतानां वासुदेवः श्रियः पतिः ॥३३॥
स एव देवतालिङ्गैर्नामरूपविकल्पितैः ।
इज्यते भगवान्पुम्भिः स्त्रीभिश्च पतिरूपधृक् ॥३४॥
तस्मात्पतिव्रता नार्यः श्रेयस्कामाः सुमध्यमे ।
यजन्तेऽनन्यभावेन पतिमात्मानमीश्वरम् ॥३५॥
सोऽहं त्वयार्चितो भद्रे ईदृग्भावेन भक्तितः ।
तत्ते सम्पादये काममसतीनां सुदुर्लभम् ॥३६॥

दितिरुवाच

वरदो[2] यदि मे ब्रह्मन्पुत्रमिन्द्रहणं वृणे ।
अमृत्युं मृतपुत्राहं[3] येन मे घातितौ सुतौ ॥३७॥

विनय और इन्द्रियसंयमादिद्वारा अपने पतिको निरन्तर प्रसन्न रखने लगी ॥ २७ ॥ हे राजन् ! पतिके भावको जाननेवाली देवी दितिने उत्कृष्ट भक्तिभाव, मनोहर और मधुर भाषण तथा मुसकानमयी कटाक्ष-भङ्गीसे कश्यपजीका हृदय अपने वशीभूत कर लिया ॥ २८ ॥ कश्यपजी विद्वान् और विचारवान् थे तथापि उस बुद्धिमती स्त्रीकी सेवासे मोहित हो जानेके कारण उन्होंने विवश होकर 'हाँ' कह दिया [और इस प्रकार उसकी इच्छा पूर्ण करनी स्वीकार कर ली] स्त्रीमें आसक्त होकर पुरुषका ऐसा कह देना कोई आश्चर्यकी बात नहीं है ॥ २९ ॥ क्योंकि पहले प्रजापति ब्रह्माने सब जीवोंको निःसङ्ग देखकर अपने आधे शरीरसे स्त्रीजातिको उत्पन्न किया जिसने पुरुषोंकी बुद्धिको हर लिया ॥ ३० ॥ इस प्रकार अपनी भार्या दितिके अत्यन्त सेवा करनेसे भगवान् कश्यपने परम प्रसन्न हो उसकी प्रशंसा करते हुए हँसकर कहा ॥ ३१ ॥

कश्यपजी बोले—हे वरोरु ! हे अनिन्दिते ! मैं तुमसे प्रसन्न हूँ । तुम मुझसे वर माँगो । पतिके प्रसन्न होनेपर स्त्रीके लिये इस लोक या परलोकमें ऐसा कौन पदार्थ है जो दुर्लभ हो ? ॥ ३२ ॥ स्त्रियोंका परम पूजनीय देव पति ही कहा गया है । सम्पूर्ण भूतोंके अन्तःकरणमें विराजमान लक्ष्मीपति भगवान् वासुदेव ही नाम-रूपके भेदसे कल्पना किये गये भिन्न-भिन्न देवताओंके रूपमें सम्पूर्ण पुरुषोंसे और पतिरूपमें स्त्रियोंसे पूजित होते हैं ॥ ३३-३४ ॥ इसलिये हे सुमध्यमे ! कल्याणकामिनी पतिव्रता नारियाँ अपने पतिका अनन्यभावसे सर्वात्मा श्रीहरिरूपके रूपमें पूजन करती हैं ॥ ३५ ॥ हे भद्रे ! तूने भी भक्तिपूर्वक मुझ अपने पतिकी ऐसे ही भावसे पूजा की है; इसलिये मैं तुम्हारी सब अभिलाषाएँ पूर्ण करूँगा जो असती स्त्रियोंके लिये परम दुर्लभ हैं ॥ ३६ ॥

दिति बोली—ब्रह्मन् ! यदि आप मुझे वर देना चाहते हैं तो मैं एक ऐसा अमर पुत्र माँगती हूँ जो इन्द्रका वध करनेवाला हो, जिसने मेरे दो पुत्रोंको मरवाकर मुझे पुत्रहीना कर दिया है ॥ ३७ ॥

१. प्रा० पा०—विमोहित० । २. प्रा० पा०—दोऽसि यदि ब्रह्म० । ३. प्रा० पा०—हतपुत्रा ।

निशम्य तद्वचो विप्रो विमनाः पर्यतप्यत ।
अहो अधर्मः सुमहानद्य मे समुपस्थितः ॥३८॥
अहो अद्येन्द्रियारामो योषिन्मय्येह[1] मायया ।
गृहीतचेताः कृपणः पतिष्ये नरके ध्रुवम् ॥३९॥
कोऽतिक्रमोऽनुवर्तन्त्याः स्वभावमिह योषितः ।
धिङ् मां बतावुधं[2] स्वार्थे यदहं त्वजितेन्द्रियः ॥४०॥
शरत्पद्मोत्सवं वक्त्रं वचश्च श्रवणामृतम् ।
हृदयं क्षुरधाराभं स्त्रीणां को वेद चेष्टितम् ॥४१॥
नहि कश्चित्प्रियः स्त्रीणामञ्जसा स्वाशिषात्मनाम् ।
पतिं पुत्रं भ्रातरं वा घ्नन्त्यर्थे घातयन्ति च ॥४२॥
प्रतिश्रुतं ददामीति[3] वचस्तन्न मृषा भवेत् ।
वधं नार्हति चेन्द्रोऽपि तत्रेदमुपकल्पते ॥४३॥
इति संचिन्त्य भगवान्मारीचः कुरुनन्दन ।
उवाच किञ्चित्कुपित आत्मानं च विगर्हयन् ॥४४॥

कश्यप उवाच

पुत्रस्ते भविता भद्रे इन्द्रहा देवबान्धवः ।
संवत्सरं व्रतमिदं यद्यज्ञो धारयिष्यसि ॥४५॥

दितिरुवाच

धारयिष्ये व्रतं ब्रह्मन्ब्रूहि कार्याणि यानि मे ।
यानि चेह निषिद्धानि न व्रतं घ्नन्ति यानि[4] तु ॥४६॥

दितिके ये वचन सुन विप्रवर कश्यपजी कुछ अनमने होकर इस प्रकार पश्चात्ताप करने लगे—'अहो ! आज मेरे लिये यह बड़ा भारी पाप उपस्थित हुआ ! ॥ ३८ ॥ अहो ! मुझ इन्द्रियलोलुपके चित्तको आज स्त्रीरूपिणी मायाने मोहित कर लिया ! अब मुझ दीनको अवश्य ही नरकमें गिरना पड़ेगा ॥३९॥ इस अबलाने तो अपने जातिस्वभावका ही अनुसरण किया है, इसमें इसका क्या दोष है ? मैं ही बड़ा अजितेन्द्रिय और अपने वास्तविक स्वार्थसे अनभिज्ञ हूँ; मुझे धिक्कार है ! ॥ ४० ॥ इन स्त्रियोंका मुख शरत्कालीन कमलकुसुमके समान कमनीय और वचन मानो कानोंमें अमृतकी ही वर्षा करनेवाले होते हैं; किन्तु इनका हृदय छुरेकी धारके समान तीखा है; अतः इनके चरित्रको कौन जान सकता है ? ॥ ४१ ॥ जो अपनी अभिलाषाओंकी पूर्तिके लिये अपने आत्माके समान प्रियतमा जान पड़ती हैं उन स्त्रियोंका वास्तवमें कोई भी प्रिय नहीं होता । अपने स्वार्थका विघात होनेपर ये पति, पुत्र और भाईको भी स्वयं मार डालती हैं अथवा किसी दूसरेसे मरवा देती हैं ! ॥ ४२ ॥ अतः अब इस विषयमें ऐसा करना उचित है—मैंने जो इससे प्रतिज्ञा की थी कि 'मैं तुझे वर देता हूँ' सो वह मेरा वचन मिथ्या न हो और इन्द्रका भी वध न हो सके [इसलिये मैं इसे वैष्णव व्रतका उपदेश करता हूँ]' ॥४३॥ हे कुरुनन्दन ! ऐसा सोचकर मरीचिपुत्र भगवान् कश्यपजीने कुछ कुपित हो अपनी निन्दा करते हुए कहा—] ॥ ४४ ॥

कश्यपजी बोले—हे भद्रे ! यदि तुम एक वर्षतक इस व्रतका विधिवत् पालन करोगी तो तुम्हारे गर्भसे इन्द्रको मारनेवाला पुत्र उत्पन्न होगा । किन्तु [उसमें कोई विघ्न उपस्थित हो जानेसे] वह देवताओंका बन्धु हो जायगा ॥ ४५ ॥

दितिने कहा—ब्रह्मन् ! मैं उस व्रतको धारण करूँगी । इसमें जो-जो करना चाहिये, जिस-जिसका त्याग करना चाहिये और जिस-जिसके करनेसे व्रत भङ्ग नहीं होता वह सब मुझे बताइये ॥ ४६ ॥

१. प्रा०पा०—मय्येव । २. प्रा०पा०—विप्लावितो ध्रवार्थेषु यदहं । ३. प्रा०पा०—ददानीति । ४. प्रा०पा०—यान्युत ।

कश्यप उवाच

न हिंस्याद्भूतजातानि न शपेन्नानृतं वदेत् ।
न छिन्द्यान्नखरोमाणि न स्पृशेद्यदमङ्गलम् ॥४७॥
नाप्सु स्नायान्न कुप्येत न संभाषेत दुर्जनैः ।
न वसीताधौतवासः स्रजं च विधृतां क्वचित् ॥४८॥
नोच्छिष्टं चण्डिकान्नं च सामिषं वृषलाहृतम् ।
भुञ्जीतोदक्यया दृष्टं पिबेदञ्जलिना त्वपः ॥४९॥
नोच्छिष्टास्पृष्टसलिला सन्ध्यायां मुक्तमूर्धजा ।
अनर्चितासंयतवाङ्नासंवीता बहिश्चरेत् ॥५०॥
नाधौतपादाप्रयता नार्द्रपान्नो उदक्शिराः ।
शयीत नापराङ्गान्यैर्न नग्ना न च सन्ध्ययोः ॥५१॥
धौतवासाः शुचिर्नित्यं सर्वमङ्गलसंयुता ।
पूजयेत्प्रातराशात्प्राग्गोविप्राञ्छ्रियमच्युतम् ॥५२॥
स्त्रियो वीरवतीश्चार्चेत्स्रग्गन्धबलिमण्डनैः ।
पतिं चार्च्योपतिष्ठेत ध्यायेत्कोष्ठगतं च तम् ॥५३॥
सांवत्सरं पुंसवनं व्रतमेतदविप्लुतम् ।
धारयिष्यसि चेत्तुभ्यं शक्रहा भविता सुतः ॥५४॥

वाढमित्यभिप्रेत्याथ दिती राजन्महामनाः ।
काश्यपं गर्भमाधत्त व्रतं चोज्झो दधार सा ॥५५॥
मातृष्वसुरभिप्रायमिन्द्र आज्ञाय मानद ।
शुश्रूषणेनाश्रमस्थां दितिं पर्यचरत्कविः ॥५६॥

कश्यपजी बोले—इस व्रतका आचरण करते समय किसी प्राणीकी हिंसा न करे, किसीको शाप न दे, मिथ्याभाषण न करे, नख और रोम न काटे, किसी अमङ्गल वस्तुको स्पर्श न करे ॥ ४७ ॥ जलमें घुसकर स्नान न करे, क्रोध न करे, दुर्जनोंसे बातचीत न करे, बिना धुला वस्त्र न पहने और किसीकी पहनी हुई मालाको न पहने ॥ ४८ ॥ जूठा, भद्रकालीको निवेदन किया हुआ, मांसयुक्त, शूद्रोंका लाया हुआ अथवा रजस्वला स्त्रीका देखा हुआ अन्न ग्रहण न करे, अञ्जलिसे जलपान न करे ॥४९॥ जूठे मुँह, बिना आचमन किये, सन्ध्याके समय, बाल खोले हुए, बिना शृंगार किये, बिना वाणीका संयम किये और बिना वस्त्र पहने घरसे बाहर न जाय ॥ ५० ॥ बिना पैर धोये, अपवित्र अवस्थामें, गीले पाँवोंसे, उत्तर या पश्चिमकी ओर शिर करके, दूसरेके साथ, नग्नावस्थामें अथवा प्रातःकाल या सायंकालके समय शयन न करे ॥ ५१ ॥

[इस प्रकार इन निषिद्ध आचरणोंका त्याग करते हुए] नित्यप्रति पवित्र हो धुला वस्त्र धारणकर सर्वसौभाग्यचिह्नोंसे युक्त हो कलेवा करनेसे पूर्व गौ, ब्राह्मण, लक्ष्मीजी और श्रीनारायणका पूजन करे ॥५२॥ फिर माला, गन्ध, नैवेद्य और आभूषणादिसे सौभाग्यवती स्त्रियोंका पूजन करे तथा पतिका पूजनकर उसीकी सेवामें तत्पर रहे और यह चिन्तन करे कि उसका तेज मेरी कुक्षिमें स्थित है ॥ ५३ ॥ हे दिति ! यदि तुम एक वर्षतक इस पुंसवनव्रतका अखण्डरूपसे आचरण करोगी तो तुम्हारे गर्भसे इन्द्रको मारनेवाला पुत्र उत्पन्न होगा ॥ ५४ ॥

हे राजन् ! तब महामनस्विनी दितिने 'बहुत अच्छा' कह कश्यपजीके सहवाससे गर्भ धारण किया और उस व्रतकी भी दीक्षा ली ॥ ५५ ॥

हे मानद ! जब परम चतुर देवराज इन्द्रको अपनी माताकी भगिनी (दिति) का अभिप्राय विदित हुआ तो वे आश्रममें रहनेवाली दितिकी सेवा-शुश्रूषामें रहने लगे ॥५६॥

१. प्रा० पा०—नार्द्रपादा । २. प्रा० पा०—नापराह्णे वै नग्ना च न च । ३. प्रा० पा०—त्यभ्युपेत्या० । ४. प्रा० पा०—श्यपाद्गर्भ० । ५. प्रा० पा०—राजन् । ६. प्रा० पा०—चरद्धरिः ।

नित्यं वनात्सुमनसः फलमूलसमित्कुशान् ।
पत्राङ्कुरमृदोऽपश्च काले काल उपाहरत् ॥५७॥

वे दितिको नित्यप्रति समय-समयपर वनसे फूल, फल, मूल, समिध, कुशा, पत्र, दूब, मृत्तिका और जल आदि लाकर देते रहे ॥ ५७ ॥

एवं तस्या व्रतस्थाया व्रतच्छिद्रं हरिर्नृप ।
प्रेप्सुः पर्यचरज्जिह्मो मृगहेव मृगाकृतिः ॥५८॥
नाध्यगच्छद्व्रतच्छिद्रं तत्परोऽथ महीपते ।
चिन्तां तीव्रां गतः शक्रः केन मे स्याच्छिवं त्विह ॥५९॥

हे राजन् ! जिस प्रकार व्याध मृगको मारनेके लिये उसीके समान रूप धारण कर लेता है उसी प्रकार इन्द्र, कपटवेष धारण कर व्रतस्थिता दितिका व्रत भङ्ग करनेका अवसर देखते हुए उसकी टहलमें लगे रहे ॥ ५८ ॥ हे पृथिवीपते ! इस प्रकार छिद्रान्वेषणमें निरन्तर तत्पर रहनेपर भी जब उन्हें कोई अवसर हाथ न लगा तो उन्हें बड़ी चिन्ता हुई कि किस प्रकार मेरा कल्याण हो ? ॥ ५९ ॥

एकदा सा तु सन्ध्यायामुच्छिष्टा व्रतकर्शिता ।
अस्पृष्टवार्यधौताङ्घ्रिः सुष्वाप विधिमोहिता ॥६०॥
लब्ध्वा तदन्तरं शक्रो निद्रापहृतचेतसः ।
दितेः प्रविष्ट उदरं योगेशो योगमायया ॥६१॥
चकर्त सप्तधा गर्भं वज्रेण कनकप्रभम् ।
रुदन्तं सप्तधैकैकं मा रोदीरिति तान्पुनः ॥६२॥
ते तमूचुः पाट्यमानाः सर्वे प्राञ्जलयो नृप ।
नो जिघांससि किमिन्द्र भ्रातरो मरुतस्तव ॥६३॥
मा भैष्ट भ्रातरो मह्यं यूयमित्याह कौशिकः ।
अनन्यभावान्पार्षदानात्मनो मरुतां गणान् ॥६४॥
न ममार दितेर्गर्भः श्रीनिवासानुकम्पया ।
बहुधा कुलिशक्षुण्णो द्रौण्यस्त्रेण यथा भवान् ॥६५॥
सकृदिष्ट्वादिपुरुषं पुरुषो याति साम्यताम् ।

एक दिन विधाताके विधानसे विमोहित हो दिति, व्रतके कारण अति क्षीण हो जानेसे, सायंकालके समय उच्छिष्ट अवस्थामें आचमन तथा पादप्रक्षालन किये बिना सो गयी ॥ ६० ॥ यह अवसर हाथ लगा देख योगेश्वर इन्द्र उसी समय निद्रासे अचेत हुई दितिके उदरमें अपने योगबलसे घुस गये ॥ ६१ ॥ और अपने वज्रसे उस सुवर्णकी-सी कान्तिवाले गर्भके सात टुकड़े कर दिये । इससे जब वह बालक रोने लगा तो 'तू मत रो' ऐसा कहकर एक-एक खण्डके सात-सात टुकड़े और कर दिये ॥ ६२ ॥ हे राजन् ! इस प्रकार काटे जानेपर उन सबने हाथ जोड़कर इन्द्रसे कहा, 'इन्द्र ! तुम हमें क्यों मारते हो ? हम मरुद्गण तो तुम्हारे ही भाई हैं' ॥ ६३ ॥ तब इन्द्रने, अपने अनन्य-पार्षद उन मरुद्गणसे कहा—'अच्छा, तुम मेरे ही भाई हो तो मत डरो' ॥ ६४ ॥ हे राजन् ! जिस प्रकार अश्वत्थामाके ब्रह्मास्त्रसे तुम्हारा कोई अनिष्ट नहीं हुआ उसी प्रकार श्रीनिवास हरिकी कृपासे वह दितिका गर्भ वज्रद्वारा टुकड़े-टुकड़े हो जानेपर भी नहीं मरा ॥६५॥ [सो इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं है, क्योंकि] पुरुष एक बार भी आदिपुरुष श्रीनारायणका पूजन करनेसे उनकी समानता [सायुज्य मोक्ष] प्राप्त कर लेता है, फिर

१. प्रा० पा०—किन्नः शक्र जिघांससि भ्रात० ।

संवत्सरं किञ्चिदूनं दित्या यद्धरिरर्चितः ॥६६॥

सजूरिन्द्रेण पञ्चाशद्देवास्ते मरुतोऽभवन् ।
व्यपोह्य मातृदोषं ते हरिणा सोमपाः कृताः ॥६७॥
दितिरुत्थाय ददृशे कुमाराननलप्रभान् ।
इन्द्रेण सहितान्देवी पर्यतुष्यदनिन्दिता ॥६८॥
अथेन्द्रमाह ताताहमादित्यानां भयावहम् ।
अपत्यमिच्छन्त्यचरं व्रतमेतत्सुदुष्करम् ॥६९॥
एकः संकल्पितः पुत्रः सप्त सप्ताभवन्कथम् ।
यदि ते विदितं पुत्र सत्यं कथय मा मृषा ॥७०॥

इन्द्र उवाच

अम्ब तेऽहं व्यवसितमुपधार्यागतोऽन्तिकम् ।
लब्धान्तरोऽच्छिदं गर्भमर्थबुद्धिर्न धर्मवित्[1] ॥७१॥
कृत्तो मे सप्तधा गर्भ आसन्सप्त कुमारकाः ।
तेऽपि चैकैकशो वृक्णाः सप्तधा नापि मम्रिरे ॥७२॥
ततस्तत्परमाश्चर्यं वीक्ष्याध्यवसितं मया ।
महापुरुषपूजायाः सिद्धिः काप्यानुषङ्गिकी ॥७३॥
आराधनं भगवत ईहमाना निराशिषः ।
ये तु नेच्छन्त्यपि परं ते स्वार्थकुशलाः स्मृताः ॥७४॥
आराध्यात्मप्रदं देवं स्वात्मानं जगदीश्वरम् ।
को वृणीते गुणस्पर्शं बुधः स्यान्नरकेऽपि यत् ॥७५॥
तदिदं मम दौर्जन्यं बालिशस्य महीयसि ।
क्षन्तुमर्हसि मातस्त्वं दिष्ट्या गर्भो मृतोत्थितः ॥७६॥

श्रीशुक उवाच

इन्द्रस्तयाभ्यनुज्ञातः शुद्धभावेन तुष्टया ।
मरुद्भिः सह तां नत्वा जगाम त्रिदिवं प्रभुः ॥७७॥
एवं ते सर्वमाख्यातं यन्मां त्वं परिपृच्छसि ।

दितिने तो कुछ कम एक वर्षतक भगवान्‌की आराधना की थी ॥६६॥

तदनन्तर वे मरुद्गण इन्द्रके साथ मिलकर पचास देवगण हुए। इन्द्रने भी विमाताके संबन्धसे होनेवाले दोष (शत्रुभाव) को त्यागकर उन्हें सोमपायी देवगण बना लिया ॥६७॥ जागनेपर दितिने उन अग्निके समान तेजस्वी बालकोंको इन्द्रके सहित देखा। इससे उत्तम आचरणवाली देवी दिति बहुत प्रसन्न हुई ॥६८॥ और इन्द्रसे कहा—"बेटा ! मैं अदितिके पुत्रोंको भय उत्पन्न करनेवाले पुत्रको पानेकी इच्छासे ही इस दुष्कर व्रतका पालन कर रही थी ॥६९॥ मेरा संकल्प केवल एक ही पुत्रके लिये था, फिर ये उनचास पुत्र किस प्रकार हुए ? बेटा, इस विषयमें यदि तुम्हें कुछ पता हो तो ठीक-ठीक बताओ, झूठ मत बोलना" ॥७०॥

इन्द्र बोले—माता ! तुम्हारा अभिप्राय जानकर मैं स्वार्थबुद्धिसे तुम्हारे पास आकर रहने लगा। मुझे धर्मका कोई विचार न था; इसलिये अवसर पाकर मैंने तुम्हारे गर्भके टुकड़े-टुकड़े कर डाले ॥७१॥ पहले मैंने सात टुकड़े किये तो वे सात बालक हो गये; फिर उनमेंसे प्रत्येकके सात-सात टुकड़े कर डाले, तब भी वे न मरे [और उनचास बालक हो गये] ॥७२॥ तब यह अति आश्चर्य देखकर मैंने निश्चय किया कि यह कोई परमपुरुष श्रीनारायणकी उपासनासे प्राप्त होनेवाली सिद्धि है ॥७३॥ जो लोग निष्काम भावसे भगवान्‌की आराधना करते हुए मोक्षकी भी इच्छा नहीं करते वे ही परम स्वार्थकुशल कहे गये हैं ॥७४॥ अतः अपने आत्मा तथा आत्मस्वरूपका ज्ञान करानेवाले श्रीजगदीश्वरकी आराधना कर कोई भी बुद्धिमान् पुरुष उनसे विषय-भोगोंकी याचना कैसे कर सकता है जो कि नरकमें भी प्राप्त हो सकते हैं ॥७५॥ हे मातः ! तुम सब प्रकार बड़ी हो, मुझ मूर्खने तुम्हारे प्रति जो दुष्टता की है उसे क्षमा करो। यह बड़े सौभाग्यकी बात है कि तुम्हारा गर्भ मरकर भी फिर जी उठा ॥७६॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—तदनन्तर इन्द्रके शुद्ध भावसे प्रसन्न हुई दितिके आज्ञा देनेपर देवराज उसे प्रणामकर मरुद्गणको साथ ले देवलोकको चले गये ॥७७॥ इस प्रकार तुम्हारे प्रश्नके अनुसार मैंने

१. प्रा० पा०—धर्मदृक् ।

मङ्गलं मरुतां जन्म किं भूयः कथयामि ते ॥७८॥

मरुद्गणके मंगलमय जन्मका सारा वृत्तान्त तुम्हें सुना दिया; अब और क्या वर्णन करूँ ? ॥७८॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे षष्ठस्कन्धे मरुदुत्पत्ति[1]-कथनं नामाष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

उन्नीसवाँ अध्याय

पुंसवनव्रतकी विधि

राजोवाच

व्रतं पुंसवनं ब्रह्मन्भवता यदुदीरितम् ।
तस्य[2] वेदितुमिच्छामि येन[3] विष्णुः प्रसीदति ॥ १ ॥

राजा परीक्षित्‌ने कहा—ब्रह्मन् ! आपने जिस पुंसवनव्रतका वर्णन किया है और जिससे श्रीविष्णुभगवान् प्रसन्न होते हैं मैं उसकी विधि जानना चाहता हूँ ॥१॥

श्रीशुक[4] उवाच

शुक्ले मार्गशिरे पक्षे योषिद्भर्तुरनुज्ञया ।
आरभेत व्रतमिदं सार्वकामिकमादितः ॥ २ ॥
निशम्य मरुतां जन्म ब्राह्मणाननुमन्त्र्य च ।
स्नात्वा शुक्लदती शुक्ले वसीतालंकृताम्बरे ।
पूजयेत्प्रातराशात्प्राग्भगवन्तं श्रिया सह ॥ ३ ॥
अलं ते निरपेक्षाय पूर्णकाम नमोऽस्तु ते ।
महाविभूतिपतये नमः सकलसिद्धये ॥ ४ ॥
यथा त्वं कृपया भूत्या तेजसा महिमौजसा ।
जुष्ट ईशगुणैः सर्वैस्ततोऽसि भगवान्प्रभुः ॥ ५ ॥
विष्णुपत्नि महामाये महापुरुषलक्षणे ।
प्रीयेथा मे महाभागे लोकमातर्नमोऽस्तु ते ॥ ६ ॥

ॐ नमो भगवते महापुरुषाय महानुभावाय महाविभूतिपतये सह महाविभूतिभिर्बलिमुपहरामीति । अनेनाहरहर्मन्त्रेण विष्णोरावाहनार्घ्य-

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! स्त्री अपने स्वामीकी आज्ञा लेकर सम्पूर्ण कामनाओंको सिद्ध करनेवाले इस व्रतका अगहन मासके शुक्लपक्षकी प्रतिपदासे आरम्भ करे ॥२॥ प्रथम मरुद्गणके जन्मकी कथा सुनकर ब्राह्मणोंसे आज्ञा ले प्रतिदिन प्रातःकाल दाँतन आदिसे दाँत साफ करके स्नानसे निवृत्त हो दो श्वेत वस्त्र और आभूषण धारण करे तथा कलेवा करनेसे पूर्व लक्ष्मीजीके सहित श्रीनारायणकी पूजा करे ॥ ३ ॥ [और इस प्रकार स्तुति करे—] 'हे पूर्णकाम ! आपको सदा ही सब कुछ पूर्णतया प्राप्त है, अतएव आप किसीसे कुछ भी अपेक्षा नहीं रखते, आपको नमस्कार है । हे महाविभूतिपते ! हे सर्वसिद्धिमय ! आपको बारम्बार नमस्कार है ॥ ४ ॥ हे देव ! आप कृपा, विभूति, तेज, महिमा और वीर्य आदि सम्पूर्ण भगवद्गुणोंसे युक्त हैं, अतः आप भगवान् हैं ॥५॥ [इस प्रकार भगवान्‌की प्रार्थना कर फिर लक्ष्मीजीकी स्तुति करे—] हे विष्णुपत्नि ! हे महामाये ! हे भगवद्गुणविशिष्टे ! हे महाभागे ! हे जगन्मातः ! तुम मुझपर प्रसन्न हो, तुम्हें नमस्कार है' ॥६॥

फिर समाहित चित्तसे 'ॐ महानुभाव महाविभूतिपति भगवान् महापुरुषको उनकी महाविभूतियोंके सहित प्रणाम है, मैं उन्हें पूजोपहार समर्पण करती

१. प्रा० पा०—त्पत्तिरष्टादशो । २. प्रा० पा०—तत्र । ३. प्रा० पा०—विष्णुर्येन । ४. प्रा० पा०—बादरायणिरुवाच ।

पाद्योपस्पर्शनस्नानवासउपवीतविभूषणगन्धपुष्पधूप-
दीपोपहाराद्युपचारांश्च समाहित उपाहरेत् ॥ ७ ॥
हविःशेषं तु जुहुयादनले द्वादशाहुतीः ।
ॐ नमो भगवते महापुरुषाय महाविभूतिपतये
स्वाहेति ॥ ८ ॥

हूँ' इस मन्त्रसे श्रीविष्णुभगवान्‌को प्रतिदिन आवाहन, अर्घ्य, पाद्य, आचमन, स्नान, वस्त्र, यज्ञोपवीत, आभूषण, गन्ध, पुष्प, धूप, दीप और उपहार आदि समर्पण करे ॥७॥ और बचे हुए नैवेद्यसे 'ॐ नमो भगवते महापुरुषाय महाविभूतिपतये स्वाहा'* यह मन्त्र बोलकर अग्निमें बारह आहुतियाँ दे ॥८॥

श्रियं विष्णुं च वरदावाशिषां प्रभवावुभौ ।
भक्त्या संपूजयेन्नित्यं यदीच्छेत्सर्वसम्पदः ॥ ९ ॥
प्रणमेद्दण्डवद्भूमौ भक्तिप्रह्वेण चेतसा ।
दशवारं जपेन्मन्त्रं ततः स्तोत्रमुदीरयेत् ॥१०॥

इस प्रकार जिसे सब प्रकारकी सम्पत्तियोंकी इच्छा हो वह सम्पूर्ण कामनाओंको पूर्ण करनेवाले एवं वरदायक श्रीलक्ष्मी और नारायण दोनोंहीकी भक्तिपूर्वक पूजा करे ॥९॥ फिर भक्तिविनम्रचित्तसे पृथिवीपर लेटकर साष्टांग प्रणाम करे और उक्त मन्त्रका दश बार जप करके इस स्तोत्रका पाठ करे—॥१०॥

युवां तु विश्वस्य विभू जगतः कारणं परम् ।
इयं हि प्रकृतिः सूक्ष्मा मायाशक्तिर्दुरत्यया ॥११॥
तस्या अधीश्वरः साक्षात्त्वमेव पुरुषः परः ।
त्वं सर्वयज्ञ इज्येयं क्रियेयं फलभुग्भवान् ॥१२॥
गुणव्यक्तिरियं देवी व्यञ्जको गुणभुग्भवान् ।
त्वं हि सर्वशरीरात्मा श्रीः शरीरेन्द्रियाशया ।
नामरूपे भगवती प्रत्ययस्त्वमपाश्रयः ॥१३॥
यथा युवां त्रिलोकस्य वरदौ परमेष्ठिनौ ।
तथा म उत्तमश्लोक सन्तु सत्या महाशिषः ॥१४॥

'हे लक्ष्मी-नारायण ! आप दोनों परम समर्थ और सम्पूर्ण जगत्‌के परम कारण हैं; ये (लक्ष्मीजी) आप (नारायण) की दुर्निवार मायाशक्तिरूप सूक्ष्म-प्रकृति हैं ॥११॥ और आप इनके अधीश्वर, साक्षात् परमपुरुष हैं । आप सकल यज्ञ हैं और ये इज्या हैं, आप फलके भोक्ता हैं और ये क्रिया हैं ॥१२॥ ये देवी लक्ष्मीजी गुणोंकी अभिव्यक्ति हैं और आप उन्हें व्यक्त करनेवाले गुणोंके भोक्ता हैं, आप सम्पूर्ण देहधारियोंके आत्मा हैं तथा लक्ष्मीजी शरीर, इन्द्रिय और अन्तःकरणरूप हैं, भगवती लक्ष्मीजी नाम और रूप हैं तथा आप उनके प्रकाशक और आधार हैं ॥१३॥ हे पवित्रकीर्ते ! आप दोनों त्रिलोकीको वर देनेवाले परमेश्वर हैं अतः मेरी सभी बड़ी-बड़ी कामनाएँ [आपकी कृपासे] पूर्ण हों' ॥१४॥

इत्यभिष्टूय वरदं श्रीनिवासं श्रिया सह ।
तन्निःसार्योपहरणं दत्त्वाचमनमर्चयेत् ॥१५॥
ततः स्तुवीत स्तोत्रेण भक्तिप्रह्वेण चेतसा ।
यज्ञोच्छिष्टमवघ्राय पुनरभ्यर्चयेद्धरिम् ॥१६॥
पतिं च परया भक्त्या महापुरुषचेतसा ।
प्रियैस्तैस्तैरुपनमेत्प्रेमशीलः स्वयं पतिः ।
बिभृयात्सर्वकर्माणि पत्न्या उच्चावचानि च ॥१७॥

इस प्रकार वरदायक लक्ष्मीपतिकी श्रीलक्ष्मीजीके सहित स्तुतिकर वहाँसे नैवेद्यको हटावे और भगवान्‌को आचमन कराकर पूजन करे ॥१५॥ फिर भक्तिविनम्र चित्तसे स्तोत्रद्वारा भगवान्‌की स्तुति करे और यज्ञशेषको सूँघकर पुनः श्रीहरिका पूजन करे ॥१६॥ इसी प्रकार अपने पतिको भी उसकी प्रिय वस्तुएँ समर्पणकर अति भक्तिभावसे ईश्वरबुद्धिसे पूजे, तथा स्वयं पति भी अपनी पत्नीके सब छोटे-बड़े कार्य प्रेमपूर्वक सम्पन्न करे ॥१७॥

* महान् ऐश्वर्योंके स्वामी भगवान् महापुरुषको नमस्कार है, उन्हींके निमित्त इस हविषका भलीभाँति हवन (समर्पण) किया जाता है ।

कृतमेकतरेणापि दम्पत्योरुभयोरपि ।
पत्न्यां कुर्यादनर्हायां पतिरेतत्समाहितः ॥१८॥
विष्णोर्व्रतमिदं बिभ्रन्न विहन्यात्कथञ्चन ।
विप्रान्स्त्रियो वीरवतीः स्रग्गन्धबलिमण्डनैः ।
अर्चेदहरहर्भक्त्या देवं नियममास्थितः ॥१९॥
उद्वास्य देवं स्वे धाम्नि तन्निवेदितमग्रतः ।
अद्यादात्मविशुद्ध्यर्थं सर्वकामर्द्धये तथा ॥२०॥
एतेन पूजाविधिना मासान्द्वादश हायनम् ।
नीत्वाथोपचरेत्साध्वी कार्तिके चरमेऽहनि ॥२१॥
श्वोभूतेऽप उपस्पृश्य कृष्णमभ्यर्च्य पूर्ववत् ।
पयःश्रृतेन जुहुयाच्चरुणा सह सर्पिषा ।
पाकयज्ञविधानेन द्वादशैवाहुतीः पतिः ॥२२॥
आशिषः शिरसादाय द्विजैः प्रीतैः समीरिताः ।
प्रणम्य शिरसा भक्त्या भुञ्जीत तदनुज्ञया ॥२३॥
आचार्यमग्रतः कृत्वा वाग्यतः सह बन्धुभिः ।
दद्यात्पत्न्यै चरोः शेषं सुप्रजास्त्वं सुसौभगम् ॥२४॥
एतच्चरित्वा विधिवद्व्रतं विभो-
रभीप्सितार्थं लभते पुमानिह ।
स्त्री त्वेतदास्थाय लभेत सौभगं
श्रियं प्रजां जीवपतिं यशो गृहम् ॥२५॥
कन्या च विन्देत समग्रलक्षणं
वरं त्ववीरा हतकिल्बिषा गतिम् ।
मृतप्रजा जीवसुता धनेश्वरी
सुदुर्भगा सुभगा रूपमग्र्यम् ॥२६॥

स्त्री-पुरुषोंमेंसे किसी एकका किया हुआ कार्य दोनोंहीको फल देता है, इसलिये यदि पत्नी इस व्रतको पूर्ण करनेमें समर्थ न हो तो पति ही एकाग्रचित्तसे इसे धारण करे ॥१८॥ क्योंकि इस वैष्णव व्रतको धारण करनेके अनन्तर अधूरा कभी न छोड़ना चाहिये । इस व्रतको नियमपूर्वक धारण करनेवाला [पुरुष या स्त्री] नित्यप्रति देवपूजनके अनन्तर माला, चन्दन, नैवेद्य और आभूषणादिसे ब्राह्मण और सौभाग्यवती स्त्रियोंका भक्तिपूर्वक पूजन करे ॥१९॥ फिर भगवान्‌का अपने परम धाममें पधारनेकी भावनासे विसर्जन करके चित्तकी शुद्धि और कामनाओंकी वृद्धिके लिये पहले भगवान्‌को समर्पण किया हुआ प्रसाद भोजन करे ॥२०॥

वह साध्वी स्त्री इसी विधिसे बारह मासतक इस व्रतका आचरणकर कार्तिक मासके अन्तिम दिन* उद्यापन-संबन्धी उपवास और पूजनादि करे ॥२१॥ उस दिन प्रातःकाल ही स्नानकर पूर्ववत् भगवान् कृष्णकी पूजा करे । और उसका पति पाकयज्ञविधिसे दूधमें पकाये हुए घृतमिश्रित चरुसे अग्निमें बारह आहुतियाँ दे ॥२२॥ फिर ब्राह्मणोंके प्रसन्नतापूर्वक दिये हुए आशीर्वादोंको-शिर पर धारणकर उन्हें शिर झुकाकर भक्तिपूर्वक प्रणाम करे और उनकी आज्ञा ले प्रथम आचार्यको जिमाकर फिर अपने बन्धु-बान्धवोंके सहित मौन धारणकर भोजन करे । तत्पश्चात् जो सत्पुत्रदायक और सौभाग्यप्रद चरु बच रहे उसे अपनी पत्नीको दे ॥२३-२४॥

भगवान् विष्णुके इस व्रतका विधिवत् आचरण करनेसे पुरुषको सम्पूर्ण इच्छित पदार्थ मिल जाते हैं तथा स्त्रीको, इसका आचरण करनेसे सौभाग्य, सम्पत्ति, सन्तान, अवैधव्य, यश और गृह आदि प्राप्त होते हैं ॥२५॥ [इसी प्रकार इसे धारण करनेसे] कन्याको सर्वसुलक्षणसम्पन्न पति मिलता है, विधवा निष्पाप होकर सद्गति पा जाती है, मृतपुत्रा [जिसके पुत्र उत्पन्न होकर मर जाते हैं उस] को चिरञ्जीवी पुत्र, धनवती किन्तु अभागिनी स्त्रीको सौभाग्य तथा कुरूपाको सुन्दर रूप

* यहाँ अन्तिम दिनसे मार्गशीर्षकी अमावस्या समझनी चाहिये । क्योंकि मार्गशीर्षके शुक्लपक्षसे इस व्रतका आरम्भ होता है, शुक्ल प्रतिपदासे अमावस्यातक यहाँ मासकी गणना है ।

विन्देद्विरूपा विरुजा विमुच्यते
य आमयावीन्द्रियकल्पदेहम् ।
एतत्पठन्नभ्युदये च कर्म-
ण्यनन्ततृप्तिः पितृदेवतानाम् ॥२७॥
तुष्टाः प्रयच्छन्ति समस्तकामा-
न्होमावसाने हुतभुक्छ्रीर्हरिश्च ।
राजन्महन्मरुतां जन्म पुण्यं
दितेर्व्रतं चाभिहितं महत्ते ॥२८॥

प्राप्त होता है। यदि रोगी पुरुष इसका आचरण करे तो रोग मुक्त होकर इन्द्रियपाटवयुक्त सुदृढ़ शरीरवाला हो जाता है। तथा आभ्युदयिक (यज्ञ-श्राद्धादि) कर्मोंके समय इसका पाठ करनेसे देवता और पितरोंको अनन्त तृप्ति होती है॥२६-२७॥ तथा वे सन्तुष्ट होकर समस्त कामनाएँ पूर्ण कर देते हैं इसी प्रकार होमके अन्तमें हवन की हुई सामग्रीको [अग्निके द्वारा] भोगनेवाले श्रीलक्ष्मी-नारायण प्रसन्न होकर सकल मनोरथ पूर्ण करते हैं। हे राजन्! इस प्रकार यह मरुद्गणका पुण्यप्रद महान् चरित्र और दितिके महाव्रतका विवरण हमने तुमसे कह दिया ॥ २८ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणेऽष्टादशसाहस्र्यां संहितायां
वैयासिक्यां षष्ठस्कन्धे पुंसवनव्रतकथनं
नामैकोनविंशोऽध्यायः ॥ १९ ॥

इति षष्ठस्कन्धः समाप्तः

॥ हरिः ॐ तत्सत् ॥

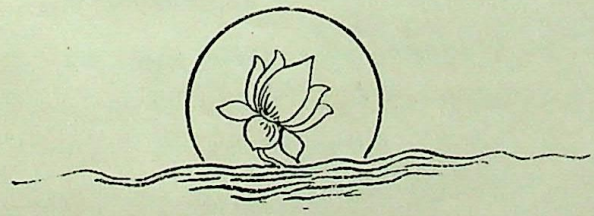

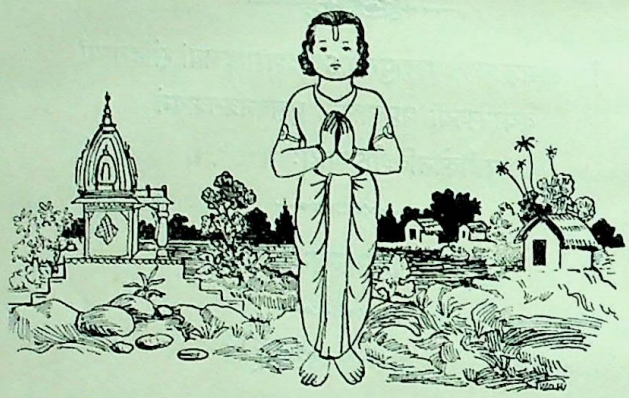

श्रीराधाकृष्णाभ्यां नमः

श्रीमद्भागवत

सप्तम स्कन्ध

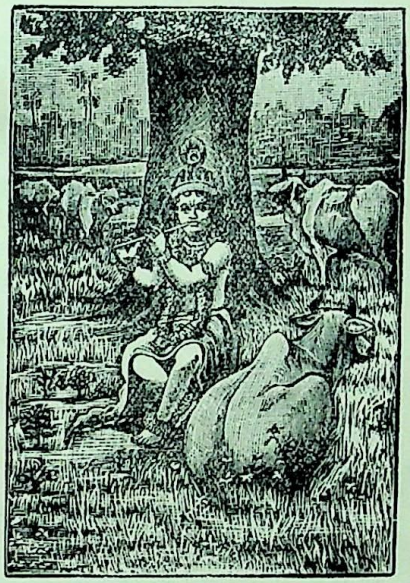

नरसिंहवपुर्भीमं स्तम्भसम्भवमद्भुतम् ।
भक्तत्राणाय बिभ्राणं वासुदेवमुपास्महे ॥

श्रीनृसिंहाय नमो नमः

श्रीमद्भागवत

सप्तम स्कन्ध

पहला अध्याय

नारद-युधिष्ठिर-संवादका प्रारम्भ और जय-विजयकी कथा।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥

राजोवाच

समः प्रियः सुहृद्ब्रह्मन्भूतानां भगवान्स्वयम् ।
इन्द्रस्यार्थे कथं दैत्यानवधीद्विषमो यथा ॥ १ ॥
न ह्यस्यार्थः सुरगणैः साक्षान्निःश्रेयसात्मनः ।
नैवासुरेभ्यो विद्वेषो नोद्वेगश्चागुणस्य हि ॥ २ ॥
इति नः सुमहाभाग नारायणगुणान्प्रति ।
संशयः सुमहाञ्जातस्तद्भवांश्छेत्तुमर्हति ॥ ३ ॥

राजा परीक्षित्‌ने पूछा—ब्रह्मन् ! भगवान् तो स्वभावसे ही समदर्शी और समस्त प्राणियोंके प्रिय सुहृद् हैं; फिर उन्होंने विषमदृष्टि पुरुषोंके समान इन्द्रके लिये दैत्योंका वध क्यों किया ॥ १ ॥ वे साक्षात् कल्याणस्वरूप हैं, इसलिये देवताओंसे उन्हें कोई प्रयोजन भी नहीं है तथा निर्गुण होनेके कारण दैत्योंसे किसी प्रकारका विद्वेष या उद्वेग भी नहीं है ॥ २ ॥ हे महाभाग ! हमारे चित्तमें श्रीनारायणके गुणोंके प्रति यह बड़ा भारी सन्देह हो रहा है, इसे आप निवृत्त कीजिये ॥ ३ ॥

श्रीशुक उवाच

साधु पृष्टं महाराज हरेश्चरितमद्भुतम् ।
यत्र भागवतमाहात्म्यं भगवद्भक्तिवर्धनम् ॥ ४ ॥
गीयते परमं पुण्यमृषिभिर्नारदादिभिः ।
नत्वा कृष्णाय मुनये कथयिष्ये हरेः कथाम् ॥ ५ ॥

श्रीशुकदेवजी बोले—महाराज ! तुमने श्रीहरिके विचित्र चरित्रसे सम्बद्ध यह बड़ा सुन्दर प्रश्न किया है, जिसमें भगवद्भक्तिको बढ़ानेवाला परमभागवत श्रीप्रह्लादजीका माहात्म्य है ॥ ४ ॥ इस परम पवित्र चरित्रका नारदादि मुनिजन भी गान करते हैं। अतः अब मैं मुनिवर श्रीकृष्णद्वैपायनको नमस्कार कर उस हरिकथाका वर्णन करता हूँ ॥ ५ ॥

निर्गुणोऽपि ह्यजोऽव्यक्तो भगवान्प्रकृतेः परः ।
स्वमायागुणमाविश्य बाध्यबाधकतां गतः ॥ ६ ॥
सत्त्वं रजस्तम इति प्रकृतेर्नात्मनो गुणाः ।
न तेषां युगपद्राजन्ह्रास उल्लास एव वा[1] ॥ ७ ॥

वे श्रीहरि वास्तवमें निर्गुण, अजन्मा, अव्यक्त और प्रकृतिसे अतीत हैं, तो भी अपनी मायाके गुणोंका आश्रय लेकर स्वयं ही बाध्य-बाधक भावको प्राप्त होते हैं ॥ ६ ॥ सत्त्व, रज और तम ये तीनों प्रकृतिके ही गुण हैं—आत्माके नहीं। हे राजन् ! उन तीनोंमें एक साथ ही क्षति या वृद्धि नहीं होती ॥ ७ ॥

---

१. प्रा० पा०—च ।

जयकाले तु सत्त्वस्य देवर्षीन्रजसोऽसुरान् ।
तमसो यक्षरक्षांसि तत्कालानुगुणोऽभजत् ॥ ८ ॥
ज्योतिरादिरिवाभाति संघातान्न विविच्यते ।
विदन्त्यात्मानमात्मस्थं मथित्वा कवयोऽन्ततः ॥ ९ ॥
यदा सिसृक्षुः पुर आत्मनः परो
रजः सृजत्येष पृथक् स्वमायया ।
सत्त्वं विचित्रासु रिरंसुरीश्वरः
शयिष्यमाणस्तम ईरयत्यसौ ॥ १० ॥
कालं चरन्तं सृजतीश आश्रयं
प्रधानपुम्भ्यां नरदेव सत्यकृत् ।
य एष राजन्नपि काल ईशिता
सत्त्वं सुरानीकमिवैधयत्यतः ।
तत्प्रत्यनीकानसुरान्सुरप्रियो
रजस्तमस्कान्प्रमिणोत्युरुश्रवाः ॥ ११ ॥

अत्रैवोदाहृतः पूर्वमितिहासः सुरर्षिणा ।
प्रीत्या महाक्रतौ राजन्पृच्छतेऽजातशत्रवे ॥ १२ ॥
दृष्ट्वा महाद्भुतं राजा राजसूये महाक्रतौ ।
वासुदेवे भगवति सायुज्यं चेदिभूभुजः[2] ॥ १३ ॥
तत्रासीनं सुरऋषिं राजा पाण्डुसुतः क्रतौ ।
पप्रच्छ विस्मितमना मुनीनां शृण्वतामिदम् ॥ १४ ॥

इसलिये भगवान् समय-समयपर तत्कालीन गुणका अनुसरण करते हुए सत्त्वगुणकी प्रधानताके समय देवता और ऋषिको, रजोगुणकी वृद्धिके समय असुरोंको तथा तमोगुणकी प्रधानता होनेपर यक्ष और राक्षसादिको [उनके शरीरमें प्रविष्ट होकर] बढ़ाते हैं ॥ ८ ॥ आत्मा [काष्ठादि भिन्न-भिन्न आश्रयोंमें स्थित] ज्योति आदिके समान [भिन्न-भिन्न देहोंमें भिन्न-भिन्न रूपसे] प्रकाशित होता है। उसकी देहादिसे अलग उपलब्धि नहीं होती। मनीषिजन विचारद्वारा [काल, कर्म और स्वभावादि वादोंका बाध करते हुए] अन्तमें उसे अन्तर्यामीरूपसे अपने अन्तःकरणमें उपलब्ध करते हैं ॥ ९ ॥ जब जीवके कर्मफल-भोगके लिये परमात्मा भिन्न-भिन्न शरीरोंको रचना करना चाहते हैं तो वे अपनी मायासे रजोगुणको पृथक् उत्पन्न करते हैं, जब उन्हें उन नाना प्रकारके शरीरोंमें रमण करनेकी इच्छा होती है तो सत्त्वगुणकी सृष्टि करते हैं और जब वे प्रभु शयन (उपसंहार) करना चाहते हैं तब तमोगुणको प्रेरित करते हैं ॥ १० ॥ हे नरदेव ! जगत्के निमित्तभूत प्रकृति और पुरुषके सहकारी एवं आश्रयरूप कालको अमोघकर्ता श्रीभगवान् स्वयं ही रचते हैं। [वे उसके अधीन नहीं हैं]। किन्तु, हे राजन् ! जब यह काल सत्त्वगुणकी वृद्धि करता है तो परम-यशस्वी देवप्रिय परमेश्वर भी सत्त्वप्रधान देवसमाजका उत्कर्ष और उसके विरोधी रजोगुण-तमोगुणप्रधान असुरोंका संहार करते-से जान पड़ते हैं ॥ ११ ॥

हे राजन् ! पूर्वकालमें राजसूय महायज्ञके समय अजातशत्रु महाराज युधिष्ठिरके प्रश्न करनेपर देवर्षि नारदने सन्तुष्ट होकर उन्हें इस विषयमें एक इतिहास सुनाया था ॥ १२ ॥ राजसूय महायज्ञमें चेदिराज शिशुपालकी भगवान् वासुदेवमें सायुज्य मुक्ति हुई; यह अति अद्भुत व्यापार देखकर पाण्डुनन्दन महाराज युधिष्ठिरने अति विस्मित हो वहाँ यज्ञशालामें बैठे हुए देवर्षि नारदसे समस्त मुनिमण्डलीके सामने इस प्रकार पूछा ॥ १३-१४ ॥

१. प्रा० पा०—पुनरात्मनः । २. प्रा० पा०—भूभृतः ।

नारद-युधिष्ठिर-संवाद

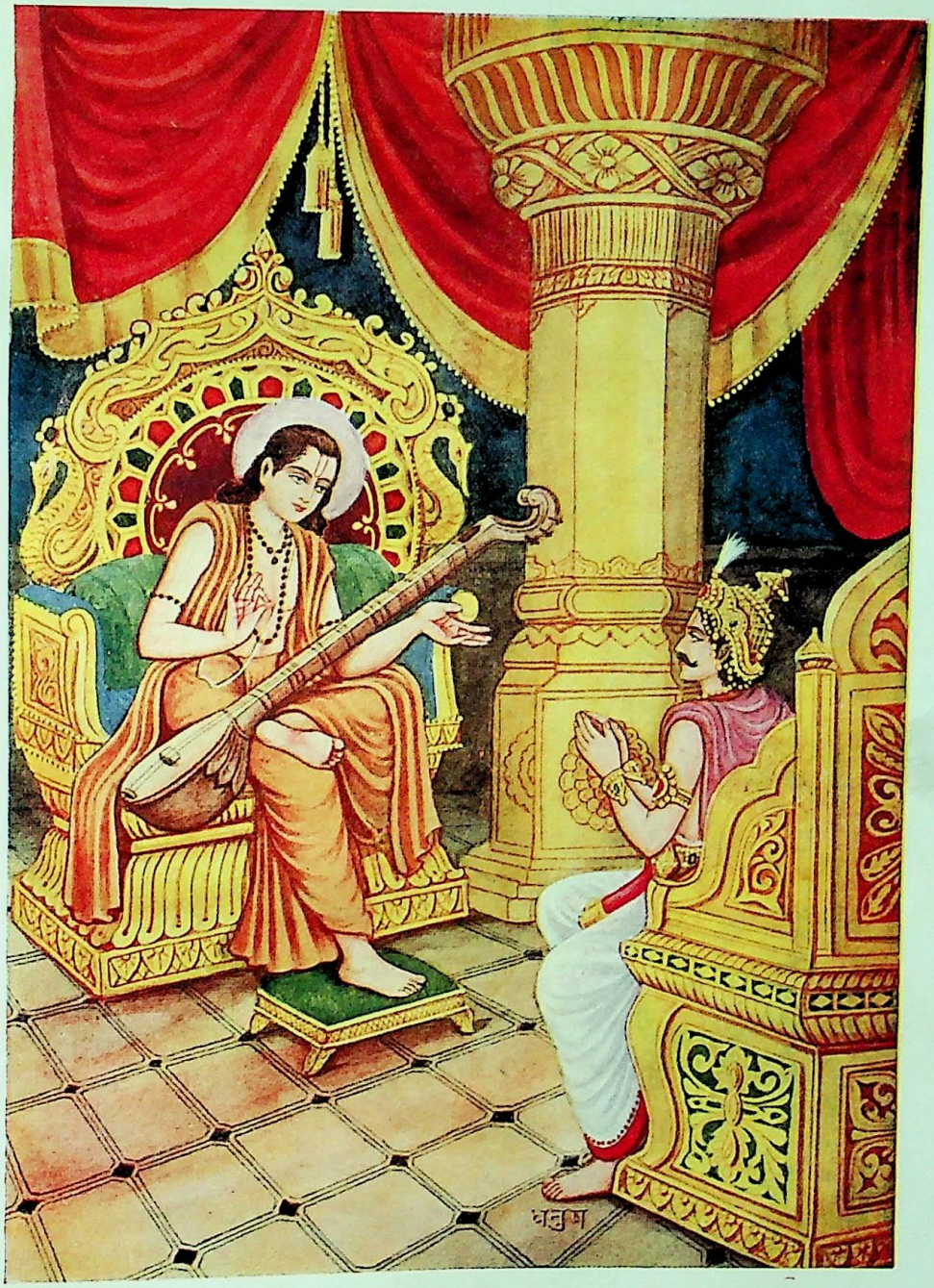

तत्रासीनं सुरऋषिं राजा पाण्डुसुतः क्रतौ।
पप्रच्छ विस्मितमना मुनीनां शृण्वतामिदम्॥

[पृष्ठ ७६०

युधिष्ठिर उवाच

अहो अत्यद्भुतं ह्येतद्दुर्लभैकान्तिनामपि ।
वासुदेवे परे तत्त्वे प्राप्तिश्चैद्यस्य विद्विषः ॥१५॥

एतद्वेदितुमिच्छामः सर्व एव वयं मुने ।
भगवन्निन्दया वेनो द्विजैस्तमसि पातितः ॥१६॥

दमघोषसुतः पाप आरभ्य कलभाषणात् ।
सम्प्रत्यमर्षी गोविन्दे दन्तवक्रश्च दुर्मतिः ॥१७॥

शपतोरसकृद्विष्णुं यद्ब्रह्म परमव्ययम् ।
श्वित्रो न जातो जिह्वायां नान्धं विविशतुस्तमः ॥१८॥

कथं तस्मिन्भगवति दुरवग्राहधामनि ।
पश्यतां सर्वलोकानां लयमीयतुरञ्जसा ॥१९॥

एतद्भ्राम्यति मे बुद्धिर्दीपार्चिरिव वायुना ।
ब्रूह्येतदद्भुततमं भगवंस्तत्र कारणम् ॥२०॥

श्रीशुक उवाच

राज्ञस्तद्वच आकर्ण्य नारदो भगवानृषिः ।
तुष्टः प्राह तमाभाष्य शृण्वत्यास्तत्सदः कथाः ॥२१॥

नारद उवाच

निन्दनस्तवसत्कारन्यक्कारार्थं कलेवरम् ।
प्रधानपरयो राजन्नविवेकेन कल्पितम् ॥२२॥

हिंसा तदभिमानेन दण्डपारुष्ययोर्यथा ।
वैषम्यमिह भूतानां ममाहमिति पार्थिव ॥२३॥

यन्निबद्धोऽभिमानोऽयं तद्वधात्प्राणिनां वधः ।
तथा न यस्य कैवल्यादभिमानोऽखिलात्मनः ।
परस्य दमकर्तुर्हि हिंसा केनास्य कल्प्यते ॥२४॥

युधिष्ठिर बोले—अहो ! यह बड़ी विचित्र बात है कि भगवद्द्वेषी शिशुपालको परमतत्त्व श्रीवासुदेवमें सायुज्य-पद प्राप्त हुआ, जो उनके अनन्य भक्तोंके लिये भी परम दुर्लभ है ॥ १५ ॥ हे मुने ! भगवान्‌की निन्दा करनेके कारण ब्राह्मणोंने राजा वेनको भयङ्कर नरकमें डाल दिया था; किन्तु महापापी दमघोषपुत्र शिशुपाल और दुर्मति दन्तवक्रने तो जबसे तुतलाकर बोलना आरम्भ किया है तभीसे लेकर अबतक श्रीगोविन्दसे द्वेष ही किया है । ये अविनाशी परब्रह्म श्रीविष्णु भगवान्‌को निरन्तर कटुवाक्य कहते रहे हैं, तो भी न तो इनकी जिह्वामें कुष्ठ ही हुआ और न ये घोर नरकमें ही गिरे । हम सब इसका कारण जाननेके लिये अति उत्सुक हैं कि ये [ऐसे भगवद्द्रोही होकर भी], जिनका स्वरूप अत्यन्त दुर्लभ है उन भगवान् श्रीहरिमें सब लोगोंके देखते-देखते अनायास ही कैसे लीन हो गये ? ॥ १६–१९ ॥ भगवन् ! यह बात बड़ी ही आश्चर्य-जनक है, इससे मेरी बुद्धि वायुके झकोरोंसे चञ्चल हुई दीपशिखाके समान भ्रान्त हो रही है; अतः इसका कारण बतलाइये ॥ २० ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—राजा युधिष्ठिरके ये वचन सुन देवर्षि भगवान् नारद परम सन्तुष्ट हुए और सम्पूर्ण सभाके सुनते हुए उन्हें सम्बोधन कर इस प्रकार कथा कहने लगे—॥ २१ ॥

श्रीनारदजी बोले—हे राजन् ! प्रकृति और पुरुषके अविवेकसे ही निन्दा, स्तुति, सत्कार और तिरस्कारके आश्रयभूत शरीरकी रचना हुई है ॥२२॥ हे पृथिवीपते ! उस शरीरके अभिमानसे ही जीवोंमें अहंता-ममतारूप विषमता होती है और ताडन, निन्दा आदिके दुःखका अनुभव होता है ॥ २३ ॥ जिस देहमें ऐसा अभिमान होता है उसीके वधसे प्राणियोंका वध माना जाता है । किन्तु यह अभिमान जिस प्रकार जीवोंमें है उस प्रकार सर्वात्मा श्रीहरिमें नहीं है; क्योंकि वे अद्वितीय हैं अतः दूसरोंके कल्याणके लिये ही उनका दमन करनेवाले उन श्रीपरमात्माको हिंसा कैसे लग सकती है ॥२४॥

१. प्रा० पा०—गवन्नत्र । २. प्रा० पा०—श्रीबादरायणिरुवाच ।

तस्माद्वैरानुबन्धेन निर्वैरेण भयेन वा ।
स्नेहात्कामेन वा युञ्ज्यात्कथञ्चिन्नेक्षते पृथक् ॥२५॥
यथा वैरानुबन्धेन मर्त्यस्तन्मयतामियात् ।
न तथा भक्तियोगेन इति मे निश्चिता मतिः ॥२६॥
कीटः पेशस्कृता रुद्धः कुड्यायां तमनुस्मरन् ।
संरम्भभययोगेन विन्दते तत्सरूपताम् ॥२७॥
एवं कृष्णे भगवति मायामनुज ईश्वरे ।
वैरेण पूतपाप्मानस्तमापुरनुचिन्तया ॥२८॥
कामाद्द्वेषाद्भयात्स्नेहाद्यथा भक्त्येश्वरे मनः ।
आवेश्य तदघं हित्वा बहवस्तद्गतिं गताः ॥२९॥
गोप्यः कामाद्भयात्कंसो द्वेषाच्चैद्यादयो नृपाः ।
सम्बन्धाद्वृष्णयः स्नेहाद्यूयं भक्त्या वयं विभो ॥३०॥
कतमोऽपि न वेनः स्यात्पञ्चानां पुरुषं प्रति ।
तस्मात्केनाप्युपायेन मनः कृष्णे निवेशयेत् ॥३१॥
मातृष्वस्रेयो वश्चैद्यो दन्तवक्रश्च पाण्डव ।
पार्षदप्रवरौ विष्णोर्विप्रशापात्पदाच्च्युतौ ॥३२॥

युधिष्ठिर उवाच

कीदृशः कस्य वा शापो हरिदासाभिमर्शनः ।
अश्रद्धेय इवाभाति हरेरेकान्तिनां भवः ॥३३॥
देहेन्द्रियासुहीनानां वैकुण्ठपुरवासिनाम् ।
देहसम्बन्धसम्बद्धमेतदाख्यातुमर्हसि ॥३४॥

नारद उवाच

एकदा ब्रह्मणः पुत्रा विष्णोर्लोकं यदृच्छया ।

इसलिये सुदृढ़ वैरानुबन्ध, वैरविहीन भक्तिभाव, भय, स्नेह अथवा कामना—किसी भी कारणसे उनमें इस प्रकार चित्त लगाना चाहिये कि उनसे पृथक् कुछ भी दिखायी न दे ॥२५॥ और मेरा तो यह निश्चित विचार है कि मनुष्य जैसा वैरानुबन्धसे भगवान्‌में तन्मय होता है वैसा भक्तियोगसे नहीं होता ॥ २६ ॥ देखो भृङ्गी कीटद्वारा भीतपर अपने छिद्रमें बन्द किया हुआ कीड़ा भय और उद्वेगके कारण उसका स्मरण करते-करते तद्रूप हो जाता है ॥२७॥ इसी प्रकार मायामानव परमेश्वर भगवान् कृष्णमें वैरभाव रखकर निरन्तर उन्हींका चिन्तन करनेसे निष्पाप होकर इन्होंने उन्हींको प्राप्त कर लिया ॥२८॥ हे राजन् ! काम, द्वेष, भय, स्नेह और भक्ति आदि उपायोंसे भगवान्‌में चित्त लगाकर बहुत-से लोग कामादिजन्य पापसे मुक्त होकर उनमें सायुज्य प्राप्त कर चुके हैं ॥२९॥ हे समर्थ ! कामसे गोपियाँ, भयसे कंस, द्वेषसे शिशुपालादि राजालोग, सम्बन्धसे यादवगण, स्नेहसे आपलोग और भक्तिसे हम मुनिजन उनके स्वरूपको प्राप्त हुए हैं ॥३०॥ इन पाँच प्रकारके भगवच्चिन्तकोंमेंसे वेन किसीके अन्तर्गत नहीं था, [इसीलिये उसकी ऐसी दुर्गति हुई] । अतः मनको किसी-न-किसी उपायसे भगवान् कृष्णमें लगा देना चाहिये ॥३१॥ हे पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर ! तुम्हारे मौसेरे भाई शिशुपाल और दन्तवक्र भगवान् विष्णुके प्रमुख पार्षद थे । ये विप्रशापके कारण हो अपने पदसे च्युत हो गये थे ॥३२॥

राजा युधिष्ठिरने पूछा—हे मुने ! भगवान्‌के अनुचरोंका भी तिरस्कार करनेवाला वह शाप कैसा और किसका था । भगवान्‌के अनन्य भक्तोंका भवसागरमें पड़ना तो विश्वासयोग्य नहीं मालूम होता ॥३३॥ जो प्राकृत देह और इन्द्रिय आदिसे रहित हैं उन वैकुण्ठनिवासियोंको जिससे शरीरसम्बन्धकी प्राप्ति हुई वह प्रसंग सुनाइये ॥३४॥

श्रीनारदजी बोले—हे राजन् ! एक बार ब्रह्माजीके पुत्र सनन्दन आदि ऋषि तीनों लोकोंमें स्वच्छन्द

१. प्रा० पा०—पदच्युतौ ।

सनन्दनादयो जग्मुश्चरन्तो भुवनत्रयम् ॥३५॥
पञ्चषड्वायनाभाभाः पूर्वेषामपि पूर्वजाः ।
दिग्वाससः शिशून्मत्वा द्वाःस्थौ तान्प्रत्यषेधताम् ॥३६॥
अशपन्कुपिता एवं युवां वासं न चार्हथः ।
रजस्तमोभ्यां रहिते पादमूले मधुद्विषः ।
पापिष्ठामासुरीं योनिं वालिशौ यातमाश्वतः ॥३७॥

एवं शप्तौ स्वभवनात्पतन्तौ तैः कृपालुभिः ।
प्रोक्तौ पुनर्जन्मभिर्वां त्रिभिर्लोकाय कल्पताम् ॥३८॥
जज्ञाते तौ दितेः पुत्रौ दैत्यदानववन्दितौ ।
हिरण्यकशिपुर्ज्येष्ठो हिरण्याक्षोऽनुजस्ततः ॥३९॥
हतो हिरण्यकशिपुर्हरिणा सिंहरूपिणा ।
हिरण्याक्षो धरोद्धारे बिभ्रता सौकरं वपुः ॥४०॥
हिरण्यकशिपुः पुत्रं प्रह्लादं केशवप्रियम् ।
जिघांसुरकरोन्नाना यातना मृत्युहेतवे ॥४१॥
सर्वभूतात्मभूतं[1] तं प्रशान्तं समदर्शनम् ।
भगवत्तेजसा स्पृष्टं नाशक्नोद्धन्तुमुद्यमैः ॥४२॥

ततस्तौ राक्षसौ जातौ केशिन्यां विश्रवःसुतौ ।
रावणः कुम्भकर्णश्च सर्वलोकोपतापनौ[2] ॥४३॥
तत्रापि राघवो भूत्वा न्यहनच्छापमुक्तये ।
रामवीर्यं श्रोष्यसि त्वं मार्कण्डेयमुखात्प्रभो ॥४४॥
तावेव क्षत्रियौ जातौ मातृष्वस्रात्मजौ तव ।
अधुना शापनिर्मुक्तौ कृष्णचक्रहतांहसौ ॥४५॥
वैरानुबन्धतीव्रेण ध्यानेनाच्युतसात्मताम् ।

विचरते हुए विष्णुलोकमें पहुँचे ॥३५॥ वे [मरीचि आदि] पूर्वजोंके भी पूर्वज पाँच-छः वर्षके बालकोंके समान जान पड़ते थे और दिगम्बरवेषसे रहते थे। उन्हें साधारण बालक समझकर द्वारपालोंने भीतर जानेसे रोका ॥३६॥ तब उन्होंने क्रोधित होकर उन्हें यह शाप दिया—"अरे मूर्खो ! तुम दोनों भगवान् मधुसूदनके रजोगुण-तमोगुणहीन चरणकमलोंमें रहने योग्य नहीं हो, अतः तुम शीघ्र ही अत्यन्त पापमयी असुरयोनिको प्राप्त हो जाओ" ॥३७॥

इस प्रकार शाप दिये जाते ही जब वे अपने स्थानसे भ्रष्ट होने लगे तो उन कृपालु मुनियोंने कहा—"तुम्हारे तीन जन्मोंके द्वारा यह शाप समाप्त होकर पुनः इस वैकुण्ठ लोककी प्राप्तिमें सहायक हो" ॥ ३८ ॥ तदनन्तर वे दोनों द्वारपाल दैत्य और दानवोंसे वन्दनीय दितिके पुत्र हुए, उनमें हिरण्यकशिपु बड़ा था और हिरण्याक्ष छोटा ॥३९॥ हिरण्यकशिपुका वध श्रीहरिने नृसिंहरूप धारणकर किया और हिरण्याक्षको पृथिवीका उद्धार करनेके समय सूकररूप धारण करके मारा ॥४०॥ हिरण्यकशिपुने अपने पुत्र भगवद्भक्त प्रह्लादका वध करनेकी इच्छासे उसे मृत्युके मुखमें डालनेके लिये नाना प्रकारकी यातनाएँ दीं ॥ ४१ ॥ किन्तु वह अनेकों प्रयत्न करनेपर भी सम्पूर्ण भूतोंके आत्मस्वरूप, परम-शान्त, समदर्शी और भगवत्तेजसे व्याप्त श्रीप्रह्लादजीका वध न कर सका ॥ ४२ ॥

इसके पीछे वे दोनों केशिनीके गर्भसे विश्रवापुत्र रावण और कुम्भकर्ण होकर उत्पन्न हुए जो सम्पूर्ण लोकोंको सन्तप्त करनेवाले थे ॥४३॥ उस जन्ममें भी, उन्हें शापसे छुटानेके लिये भगवान्‌ने रामरूपसे अवतीर्ण होकर उनका वध किया। हे राजन् ! इन रघुनाथजीका पराक्रम तुम मार्कण्डेय मुनिके मुखसे सुनोगे ॥ ४४ ॥ वे ही दोनों क्षत्रिय होकर तुम्हारी मौसीके पुत्र हुए थे। अब श्रीकृष्णचन्द्रके चक्रसे निष्पाप होकर शापसे मुक्त हो गये हैं ॥ ४५ ॥ इस समय ये विष्णुपार्षद वैरानुबन्धके कारण अत्यन्त सुदृढ़

१. प्रा० पा०—तं सर्वभूतसुहृदं प्रशा० । २. प्रा० पा०—तापकौ ।

नीतो पुनर्हरेः पार्श्वं जग्मतुर्विष्णुपार्षदौ ॥४६॥

ध्यानके द्वारा भगवान् अच्युतके स्वरूपको प्राप्त होकर फिर उन्हींके पास चले गये हैं ॥ ४६ ॥

युधिष्ठिर उवाच

विद्वेषो दयिते पुत्रे कथमासीन्महात्मनि ।
ब्रूहि मे भगवन्येन प्रह्लादस्याच्युतात्मता ॥४७॥

राजा युधिष्ठिर बोले—भगवन् ! हिरण्यकशिपुने अपने प्रिय पुत्र महात्मा प्रह्लादसे द्वेष क्यों किया ? और [असुरकुलमें उत्पन्न हुए] प्रह्लादजीने भी श्रीहरिमें अपना चित्त कैसे लगाया ? सो मुझसे कहिये ॥४७॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे सप्तमस्कन्धे[1] प्रह्लादचरितोपक्रमे प्रथमोऽध्यायः ॥१॥

दूसरा अध्याय

पुत्रशोकाकुला दिति तथा अन्य कुटुम्बियोंको हिरण्यकशिपुका समझाना ।

नारद उवाच

भ्रातर्येवं विनिहते हरिणा क्रोडमूर्तिना[2] ।
हिरण्यकशिपू राजन्पर्यतप्यद्रुषा शुचा ॥ १ ॥
आह चेदं रुषा घूर्णः संदष्टदशनच्छदः ।
कोपोज्ज्वलद्भ्यां चक्षुर्भ्यां निरीक्षन्[3] धूम्रमम्बरम् ॥ २ ॥
करालदंष्ट्रोग्रदृष्ट्या दुष्प्रेक्ष्यभ्रुकुटीमुखः[4] ।
शूलमुद्यम्य सदसि दानवानिदमब्रवीत् ॥ ३ ॥
भो भो दानवदैतेया द्विमूर्धंस्त्र्यक्ष शम्बर ।
शतबाहो हयग्रीव नमुचे पाक इल्वल ॥ ४ ॥
विप्रचित्ते मम वचः पुलोमञ्छकुनादयः ।
शृणुतानन्तरं सर्वे क्रियतामाशु मा चिरम् ॥ ५ ॥
सपत्नैर्घातितः क्षुद्रैर्भ्राता मे दयितः सुहृत् ।
पार्ष्णिग्राहेण हरिणा समेनाप्युपधावनैः[5] ॥ ६ ॥
तस्य त्यक्तस्वभावस्य घृणेर्मायावनौकसः ।
भजन्तं भजमानस्य बालस्येवास्थिरात्मनः ॥ ७ ॥

श्रीनारदजी बोले—हे राजन् ! इस प्रकार [देवताओंके हितके लिये] वराहरूप धारण करनेवाले श्रीहरिके हाथसे अपने भाईके मारे जानेपर हिरण्यकशिपु क्रोध और शोकसे अति सन्तप्त हुआ ॥ १ ॥ और क्रोधसे कम्पायमान हो अपने ओठोंको दाँतोंसे चबाता हुआ तथा क्रोधाग्निसे जलते हुए नेत्रोंके धुएँसे धूम्रवर्ण हुए आकाशकी ओर निहारता हुआ इस प्रकार बोला ॥ २ ॥ उस समय कराल दाढ़ों, उग्र नेत्रों और वक्र भृकुटियोंके कारण उसका मुख अति दुर्दर्श हो रहा था, ऐसी अवस्थामें उसने सभाके बीच त्रिशूल उठाकर कहा—॥ ३ ॥ "हे द्विमूर्द्धा, त्र्यक्ष, शम्बर, शतबाहु, हयग्रीव, नमुचि, पाक, इल्वल, विप्रचित्ति, पुलोमा और शकुनि आदि दैत्य और दानवगण ! मेरा कथन सुनो, उसके पश्चात् सब लोग वैसा ही करो—इसमें विलम्ब न हो ॥४-५॥ देखो, समदर्शी होनेपर भी उपासनासे अपने पक्षमें हुए विष्णुद्वारा हमारे तुच्छ शत्रु देवताओंने मेरे परम सुहृद् सहोदर बन्धुको मरवा डाला है ॥ ६ ॥ जो शुद्ध स्वरूप होकर भी अपने स्वभावको त्याग देता है अब उस मायावराहरूप, बालकोंके समान अस्थिरचित्त तथा अपने उपासकोंके अनुकूल रहनेवाले विष्णु-

१. प्रा० पा०—न्धे युधिष्ठिरनारदसंवादे प्रथ० । २. प्रा० पा०—रूपिणा । ३. प्रा० पा०—निरीक्ष्य धू० । ४. प्रा० पा०—क्ष्यो भ्रु० । ५. प्रा० पा०—पधारितैः ।

मच्छूलभिन्नग्रीवस्य भूरिणा रुधिरेण वै ।
रुधिरप्रियं तर्पयिष्ये भ्रातरं मे गतव्यथः ॥ ८ ॥
तस्मिन्कूटेऽहिते नष्टे कृत्तमूले वनस्पतौ ।
विटपा इव शुष्यन्ति विष्णुप्राणा दिवौकसः ॥ ९ ॥
तावद्यात भुवं यूयं विप्रक्षत्रसमेधिताम् ।
सूदयध्वं तपोयज्ञस्वाध्यायव्रतदानिनः ॥१०॥
विष्णुर्द्विजक्रियामूलो यज्ञो धर्ममयः पुमान् ।
देवर्षिपितृभूतानां धर्मस्य च परायणम् ॥११॥
यत्र यत्र द्विजा गावो वेदा वर्णाश्रमाः क्रियाः ।
तं तं जनपदं यात संदीपयत वृश्चत ॥१२॥
इति ते भर्तृनिर्देशमादाय शिरसादृताः ।
तथा प्रजानां कदनं विदधुः कदनप्रियाः ॥१३॥
पुरग्रामव्रजोद्यानक्षेत्रारामाश्रमाकरान् ।
खेटखर्वटघोषांश्च ददहुः पत्तनानि च ॥१४॥
केचित्खनित्रैर्बिभिदुः सेतुप्राकारगोपुरान् ।
आजीव्यांश्चिच्छिदुर्वृक्षान्केचित्परशुपाणयः ।
प्रादहञ्छरणान्यन्ये प्रजानां ज्वलितोल्मुकैः ॥१५॥
एवं विप्रकृते लोके दैत्येन्द्रानुचरैर्मुहुः ।
दिवं देवाः परित्यज्य भुवि चेरुरलक्षिताः ॥१६॥
हिरण्यकशिपुर्भ्रातुः सम्परेतस्य दुःखितः ।
कृत्वा कटोदकादीनि भ्रातृपुत्रानसान्त्वयत् ॥१७॥
शकुनिं शम्बरं धृष्टं भूतसन्तापनं वृकम् ।
कालनाभं महानाभं हरिश्मश्रुमथोत्कचम् ॥१८॥
तन्मातरं रुषाभानुं दितिं च जननीं गिरा ।
श्लक्ष्णया देशकालज्ञ इदमाह जनेश्वर ॥१९॥

का कण्ठ अपने त्रिशूलसे काटकर जब मैं अपने रुधिर-प्रिय बन्धुका तर्पण करूँगा तभी मेरे मनकी व्यथा दूर होगी ॥ ७-८ ॥ इन देवताओंका प्राण विष्णु ही है, अतः उस कपटी शत्रुके नष्ट हो जानेपर ये सब इस प्रकार निस्तेज हो जायँगे जैसे जड़ कट जानेपर वृक्ष सूख जाते हैं ॥ ९ ॥ अतः तुम लोग इसी समय ब्राह्मण और क्षत्रियोंसे पूर्ण पृथिवीतलपर जाओ और वहाँ तप, यज्ञ, स्वाध्याय, व्रत एवं दानादि शुभकर्म करनेवालों-का वध करो ॥ १० ॥ क्योंकि ब्राह्मणोंद्वारा की हुई यज्ञादि क्रिया ही विष्णुकी मूल हैं और वह पुराणपुरुष यज्ञस्वरूप एवं धर्ममय है तथा देव, ऋषि, पितर, भूत और धर्मका परम आश्रय है ॥ ११ ॥ जहाँ-जहाँ ब्राह्मण, गौ, वेद और वर्णाश्रम-धर्म-कर्म हो वहाँ-वहाँ जाकर उन देशों-को जला दो और नष्ट-भ्रष्ट कर डालो" ॥ १२ ॥

इस प्रकार अपने स्वामीकी आज्ञाको आदरपूर्वक शिरोधार्यकर वे हिंसाप्रिय दैत्यगण उसीके अनुसार प्रजाका संहार करने लगे ॥ १३ ॥ उन्होंने पुर, ग्राम, व्रज, उद्यान, क्षेत्र, बगीचे, आश्रम, खान, खेट, खर्वट, घोष और नगरोंमें आग लगा दी ॥ १४ ॥ किन्हींने कुदालोंसे सेतु, परकोटों और नगरद्वारोंको तोड़ डाला, किन्हींने कुल्हाड़ियोंसे आजीविकायोग्य वृक्षोंको काट डाला और किन्हींने जलती हुई लकड़ियोंसे लोगोंके घर जला दिये ॥ १५ ॥ इस प्रकार दैत्यराज हिरण्यकशिपुके अनुचरोंद्वारा प्रजाके अत्यन्त पीडित किये जानेपर देवतालोग [यज्ञभागसे वञ्चित रहनेके कारण] स्वर्गलोकको छोड़कर गुप्तरूपसे पृथिवीपर विचरने लगे ॥ १६ ॥

तदनन्तर, बन्धुवियोगसे दुःखी और देशकालको जाननेवाले हिरण्यकशिपुने अपने मृत सहोदरको तिलाञ्जलि आदि देकर शकुनि, शम्बर, धृष्ट, भूतसन्तापन, वृक, कालनाभ, महानाभ, हरिश्मश्रु और उत्कच आदि भतीजोंको धैर्य बँधाया फिर हे नरनाथ ! उनकी माता रुषाभानु और अपनी जननी दितिसे अति मधुर वाणीमें इस प्रकार कहने लगा—॥ १७-१९ ॥

१. प्रा० पा०—ब्रह्मक्षत्र० ।

हिरण्यकशिपुरुवाच

अम्बाम्ब हे वधूः पुत्रा वीरं मार्हथ शोचितुम् ।
रिपोरभिमुखे श्लाघ्यः शूराणां वध ईप्सितः ॥२०॥

भूतानामिह संवासः प्रपायामिव सुव्रते ।
दैवेनैकत्र नीतानामुन्नीतानां स्वकर्मभिः[1] ॥२१॥

नित्य आत्माव्ययः शुद्धः सर्वगः सर्ववित्परः ।
धत्तेऽसावात्मनो लिङ्गं मायया विसृजन्गुणान् ॥२२॥

यथाम्भसा प्रचलता तरवोऽपि चला इव ।
चक्षुषा भ्राम्यमाणेन दृश्यते चलतीव भूः ॥२३॥

एवं गुणैर्भ्राम्यमाणे मनस्यविकलः पुमान् ।
याति तत्साम्यतां भद्रे ह्यलिङ्गो लिङ्गवानिव ॥२४॥

एष आत्मविपर्यासो ह्यलिङ्गे लिङ्गभावना[2] ।
एष प्रियाप्रियैर्योगो वियोगः कर्मसंसृतिः ॥२५॥

सम्भवश्च विनाशश्च शोकश्च विविधः स्मृतः ।
अविवेकश्च चिन्ता च विवेकास्मृतिरेव च ॥२६॥

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
यमस्य प्रेतबन्धूनां संवादं तं निबोधत ॥२७॥

उशीनरेष्वभूद्राजा सुयज्ञ इति विश्रुतः ।
सपत्नैर्निहतो युद्धे ज्ञातयस्तमुपासत[3] ॥२८॥

विशीर्णरत्नकवचं विभ्रष्टाभरणस्रजम् ।
शरनिर्भिन्नहृदयं शयानमसृगाविलम् ॥२९॥

हिरण्यकशिपु बोला—अरी माँ ! ओ वधू ! हे पुत्रगण ! तुम्हें उस वीरके लिये किसी प्रकारका शोक न करना चाहिये । शूरवीरोंको तो अपने शत्रुके सामने ही शरीर त्यागना अभीष्ट और प्रशंसनीय होता है ॥ २० ॥ हे सुव्रते ! इस संसारमें जीवोंका एक स्थानपर मिल जाना प्याऊपर इकट्ठे हुए पथिकोंके समान क्षणभरके लिये ही है; वे अपने कर्मानुसार दैवयोगसे एकत्रित होते हैं और बिछुड़ जाते हैं ॥ २१ ॥ वास्तवमें आत्मा नित्य, अविनाशी, शुद्ध, सर्वगत, सर्वज्ञ और देह-इन्द्रिय आदिसे पृथक् है; वह अपनी अविद्यासे ही सुख-दुःखादि गुणोंको स्वीकारकर लिंगदेह धारण करता है ॥ २२ ॥ जिस प्रकार जलके चलनेसे [उसके किनारेके] वृक्ष भी चलते-से दिखायी देते हैं, तथा नेत्रोंके घूमनेसे पृथिवी घूमती मालूम होती है ॥ २३ ॥ उसी प्रकार, हे भद्रे ! गुणोंद्वारा मनके भ्रमित होनेपर आत्मा वास्तवमें निर्विकार होनेपर भी उसीके समान भ्रान्तवत् हो जाता है और वस्तुतः देहादि लिंगसे रहित होनेपर भी उनसे युक्त जान पड़ता है ॥ २४ ॥ इस प्रकार अशरीरी आत्मामें शरीरकी भावना होना ही आत्मविपर्यय है । इसीके कारण उसे प्रिय और अप्रियका संयोग या वियोग होता है, कर्म एवं संसारकी प्राप्ति होती है तथा जन्म, मरण, नाना प्रकारका शोक, अविवेक, चिन्ता एवं विवेककी विस्मृति आदि होते हैं ॥ २५-२६ ॥ इस सम्बन्धमें पण्डितजन इस पुरातन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं जिसमें किसी मृतक व्यक्तिके बन्धुजनोंके साथ यमराजका संवाद वर्णित है, सो तुम लोग सुनो ॥ २७ ॥

उशीनर देशमें सुयज्ञ नामक एक विख्यात राजा था । वह युद्धक्षेत्रमें शत्रुओंके हाथसे मारा गया । तब उसके जातिबन्धु उसे घेरकर बैठ गये, उसका रत्नजटित कवच छिन्न-भिन्न हो गया था, सम्पूर्ण आभूषण और माला जहाँ-तहाँ गिर गये थे, हृदय बाणोंसे बिंधा हुआ था और सारा शरीर खूनमें लथपथ हुआ पड़ा था ।

१. प्रा० पा०—तथाध्रुवः । २. प्रा० पा०—साधना । ३. प्रा० पा०—सते ।

प्रकीर्णकेशं ध्वस्ताक्षं रभसा दष्टदच्छदम् ।
रजःकुण्ठमुखाम्भोजं छिन्नायुधभुजं मृधे ॥३०॥

उशीनरेन्द्रं विधिना तथा कृतं
पतिं महिष्यः प्रसमीक्ष्य दुःखिताः ।
हताः स्म नाथेति करैरुरो भृशं
घ्नत्यो मुहुस्तत्पदयोरुपापतन् ॥३१॥
रुदत्य उच्चैर्दयिताङ्घ्रिपङ्कजं
सिञ्चन्त्य अस्रैः कुचकुङ्कुमारुणैः ।
विस्रस्तकेशाभरणाः शुचं नृणां
सृजन्त्य आक्रन्दनया विलेपिरे ॥३२॥
अहो विधात्राकरुणेन नः प्रभो
भवान्प्रणीतो दृगगोचरां दशाम् ।
उशीनराणामसि वृत्तिदः पुरा
कृतोऽधुना येन शुचां विवर्धनः ॥३३॥
त्वया कृतज्ञेन वयं महीपते
कथं विना स्याम सुहृत्तमेन ते ।
तत्रानुयानं तव वीर पादयोः
शुश्रूषतीनां दिश यत्र यास्यसि ॥३४॥
एवं विलपतीनां वै परिगृह्य मृतं पतिम् ।
अनिच्छतीनां निर्हारमर्कोऽस्तं संन्यवर्तत ॥३५॥

तत्र ह प्रेतबन्धूनामाश्रुत्य परिदेवितम् ।
आह तान्बालको भूत्वा यमः स्वयमुपागतः ॥३६॥

यम उवाच

अहो अमीषां वयसाधिकानां
विपश्यतां लोकविधिं विमोहः ।
यत्रागतस्तत्र गतं मनुष्यं
स्वयं सधर्मा अपि शोचन्त्यपार्थम् ॥३७॥
अहो वयं धन्यतमा यदत्र

उसके बाल बिखरे हुए थे और नेत्र नष्ट हो गये थे, क्रोधके कारण उसने दाँतोंसे अधरपुट दबा रखा था, उसका मुख-कमल धूलिधूसरित हो रहा था तथा अस्त्र-शस्त्र और भुजाएँ युद्धमें छिन्न-भिन्न हो गयी थीं ॥ २८–३० ॥

विधाताने उशीनरनरेशको इस दशाको पहुँचा दिया—यह देखकर उसकी पटरानियोंको अत्यन्त दुःख हुआ, और वे 'हा नाथ ! हम मारी गयीं' ऐसा कहकर बारम्बार हाथोंसे छाती पीटती हुई उसके पैरोंके पास गिर पड़ीं ॥ ३१ ॥ वे जोर-जोरसे विलापकर अपने कुचकुङ्कुमसे अरुण हुए अश्रुजलसे प्रियतमके पदपद्म पखारने लगीं । उनके केश और आभूषण बिखर गये तथा अन्य पुरुषोंके हृदयमें शोकका सञ्चार करती हुई वे करुण क्रन्दनपूर्वक इस प्रकार विलाप करने लगीं—॥ ३२ ॥ "अहो ! निर्दयी विधाताने आज आपको हमारी आँखोंसे ओझल अवस्थाको पहुँचा दिया ! हे स्वामिन् ! आप पहले उशीनरवासियोंके वृत्तिदाता थे, किन्तु आज उस निर्दयीने आपको उनका शोक बढ़ानेवाला बना दिया ॥ ३३ ॥ हे पृथिवीपते ! आप अति कृतज्ञ प्रियतमके बिना अब हम कैसे रहेंगी ? अतः हे वीर ! जहाँ आप जा रहे हैं वहाँ आनेके लिये इन चरणोंकी चेरियोंको भी आज्ञा दीजिये" ॥ ३४ ॥

इस प्रकार अपने मृतक पतिको पकड़ विलाप करते-करते उन्हें सूर्यास्त हो गया, तो भी उन्होंने उसका दाहसंस्कार होना न चाहा ॥ ३५ ॥ तब उस मृत राजाके बन्धुओंका विलाप सुन स्वयं यमराजने बालकरूपसे प्रकट हो उनके पास आकर कहा ॥ ३६ ॥

यमराज बोले—अहो ! ये लोग अवस्थामें मुझसे बड़े हैं और रात-दिन जन्म-मरणरूप संसारकी गतिको देखते हैं; फिर भी इन्हें कैसा मोह हो रहा है ? यह मनुष्य जहाँसे आया था वहीं चला गया, ये स्वयं भी इसीके समान मरणधर्मा हैं; फिर भी वृथा शोक कर रहे हैं ॥ ३७ ॥ अहो ! हम परम धन्य

१. प्रा० पा०—नृणं शुचं । २. प्रा० पा०—दिशि । ३. प्रा० पा०—प्रति० । ४. प्रा० पा०—यत्रोद्भवः । ५. प्रा० पा०—यदेतत् ।

त्यक्ताः पितृभ्यां न विचिन्तयामः ।
अभक्ष्यमाणा अबला बृकादिभिः
स रक्षिता रक्षति यो हि गर्भे ॥३८॥
य इच्छयेशः सृजतीदमव्ययो
य एव रक्षत्यवलुम्पते च यः ।
तस्यावलाः क्रीडनमाहुरीशितु-
श्चराचरं निग्रहसंग्रहे[1] प्रभुः ॥३९॥
पथि च्युतं तिष्ठति दिष्टरक्षितं
गृहे स्थितं तद्विहतं विनश्यति ।
जीवत्यनाथोऽपि तदीक्षितो वने
गृहेऽपि गुप्तोऽस्य हतो न जीवति ॥४०॥

हे अबलाओ ! जो अविनाशी परमेश्वर इच्छामात्रसे ही इस जगत्की रचना करता है तथा जो स्वयं ही इसका पालन और संहार भी करता है, इस चराचर जगत्को उस ईश्वरका खिलौना कहते हैं, अतः वह इसके पालन और संहारमें सर्वथा समर्थ है ॥ ३९ ॥ दैव (ईश्वर) के द्वारा रक्षा होनेपर मार्गमें पड़ी हुई वस्तु भी ज्यों-की-त्यों रहती है तथा उसकी मार होनेपर घरमें रखा हुआ पदार्थ भी नष्ट हो जाता है । उस परमात्माकी दयादृष्टि होनेपर अनाथ और वनमें रहनेवाला मनुष्य भी [चिरकालतक] जीवित रहता है और उसके विपरीत होनेपर घरमें सुरक्षित रहनेवाला भी नहीं बच सकता ॥ ४० ॥

भूतानि तैस्तैर्निजयोनिकर्मभि-
र्भवन्ति काले न भवन्ति सर्वशः ।
न तत्र हात्मा प्रकृतावपि स्थित-
स्तस्या गुणैरन्यतमो निबध्यते[2] ॥४१॥
इदं शरीरं पुरुषस्य मोहजं
यथा पृथग्भौतिकमीयते गृहम् ।
यथौदकैः[3] पार्थिवतैजसैर्जनः
कालेन जातो विकृतो विनश्यति ॥४२॥
यथानलो दारुषु भिन्न ईयते
यथानिलो देहगतः पृथक् स्थितः ।
यथा नभः सर्वगतं न सज्जते
तथा पुमान्सर्वगुणाश्रयः परः ॥४३॥

हे राजमहिलाओ ! ये भौतिक शरीर अपने कारणरूप लिङ्गदेहके कर्मानुसार समय-समयपर उत्पन्न और नष्ट होते रहते हैं; परन्तु आत्मा शरीरमें स्थित रहनेपर भी उससे सर्वथा भिन्न होनेके कारण उसके [जन्म-मरणादि] गुणोंसे लिप्त नहीं होता ॥४१॥ पुरुषको यह शरीर मोहके कारण ही अपना मालूम होता है; वास्तवमें तो अपने कहे जानेवाले भौतिक गृहादिकी भाँति यह भी सर्वथा अपनेसे पृथक् ही है; जिस प्रकार जलसे उत्पन्न हुए बुद्बुदादि पृथिवीके विकार घटादि और तैजस पदार्थ कुण्डलादि कालक्रमसे उत्पन्न होते और फिर विकृत होकर नष्ट हो जाते हैं उसी प्रकार इन तीनोंके परमाणुओंसे उत्पन्न हुआ शरीर भी यथासमय विकृत होकर नष्ट हो जाता है ॥ ४२ ॥ जिस प्रकार अग्नि काष्ठमें व्याप्त रहनेपर भी उससे पृथक् है, वायु शरीरमें स्थित होनेपर भी उससे भिन्न है तथा आकाश सर्वत्र व्याप्त होनेपर भी असंग है उसी प्रकार आत्मा सम्पूर्ण देहादिमें रहकर भी उनसे अलग है ॥ ४३ ॥

१. प्रा० पा०—संग्रहनिग्रहे । २. प्रा० पा०—ऽपि बद्ध्यते । ३. प्रा० पा०—तथौ० ।

सुयज्ञो नन्वयं शेते मूढा यमनुशोचथ ।
यः श्रोता योऽनुवक्तेह स न दृश्येत कर्हिचित् ॥४४॥
न श्रोता नानुवक्तायं मुख्योऽप्यत्र महानसुः ।
यस्त्विहेन्द्रियवानात्मा स चान्यः प्राणदेहयोः ॥४५॥
भूतेन्द्रियमनोलिङ्गान्देहानुच्चावचान्विभुः ।
भजत्युत्सृजति ह्यन्यस्तच्चापि स्वेन तेजसा ॥४६॥
यावल्लिङ्गान्वितो ह्यात्मा तावत्कर्मनिबन्धनम् ।
ततो विपर्ययः क्लेशो मायायोगोऽनुवर्तते ॥४७॥
वितथाभिनिवेशोऽयं यद्गुणेष्वर्थदृग्वचः ।
यथा मनोरथः स्वप्नः सर्वमैन्द्रियकं मृषा ॥४८॥
अथ नित्यमनित्यं वा नेह शोचन्ति तद्विदः ।
नान्यथा शक्यते कर्तुं स्वभावः शोचतामिति ॥४९॥

लुब्धको विपिने कश्चित्पक्षिणां निर्मितोऽन्तकः ।
वितत्य जालं विदधे तत्र तत्र प्रलोभयन् ॥५०॥
कुलिङ्गमिथुनं तत्र विचरत्समदृश्यत ।
तयोः कुलिङ्गी सहसा लुब्धकेन प्रलोभिता ॥५१॥
सासज्जत शिचस्तन्त्यां महिषी कालयन्त्रिता ।
कुलिङ्गस्तां तथापन्नां निरीक्ष्य भृशदुःखितः ।

हे मूढा स्त्रियो ! जिसके लिये तुम शोक कर रही हो वह सुयज्ञ तो तुम्हारे सामने पड़ा है । और इसमें जो सुनने या बोलनेवाला था वह तो कभी किसीको दिखायी नहीं देता । [इसलिये उसके लिये शोक करना वृथा है] ॥४४॥ [यदि कहो कि नहीं, सुनने और बोलनेवाला प्राण तो प्रत्यक्ष दिखायी देता था, सो] यह महाप्राण सब इन्द्रियोंमें प्रधान होनेपर भी सुनने या बोलनेवाला नहीं है । जो आत्मा इस शरीरमें सब इन्द्रियोंका आश्रय है वह तो प्राण और देहसे सर्वथा पृथक् है ॥ ४५ ॥ वह सर्वगत आत्मा वास्तवमें शरीरसे भिन्न है तो भी भूत, इन्द्रिय और मन आदि लिङ्गोंसे प्रतीत होनेवाले उत्तम या अधम शरीरोंको अपने तेजसे धारण करता है और त्याग देता है ॥४६॥ आत्मा जबतक लिङ्गदेहसे मिला रहता है तभीतक उसे कर्मका बन्धन रहता है । उसीसे उसे मोह और नाना प्रकारके क्लेश बारंबार प्राप्त होते हैं, जिनका अस्तित्व केवल मायाके ही कारण है [वास्तवमें नहीं] ॥४७॥ गुणोंके कार्यभूत सुख-दुःखादिको सत्य समझना अथवा सत्य बतलाना केवल मिथ्या अभिनिवेश (असत्याग्रह) ही है, क्योंकि मनोरथ और स्वप्नके पदार्थोंके समान इन्द्रियोंके सभी विषय मिथ्या हैं ॥४८॥ इसलिये पण्डितजन नित्य (आत्मा) अथवा अनित्य (शरीर) किसीके लिये शोक नहीं करते, क्योंकि शोक करनेवाले भी वस्तुके स्वभावको नहीं बदल सकते ॥४९॥

[इस सम्बन्धमें तुम्हें एक दृष्टान्त सुनाते हैं—] एक वनमें कोई बहेलिया था; उसे विधाताने मानो पक्षियोंका काल ही रचा था । वह जहाँ-तहाँ जाल फैलाकर [धान्यके कण आदिसे] पक्षियोंको प्रलोभित करता था ॥५०॥ एक दिन उसे एक कुलिङ्ग पक्षियोंका जोड़ा वनमें विचरता दिखायी पड़ा । उनमेंसे उसने कुलिङ्गीको सहसा प्रलोभित कर लिया ॥५१॥ वह कुलिङ्ग-प्रिया कालकी गतिसे जालके फन्दोंमें फँस गयी । उसे इस प्रकार आपत्तिग्रस्त देखकर कुलिङ्ग अत्यन्त दुःखी हुआ और उसे छुड़ानेमें असमर्थ होनेके

स्नेहादकल्पः कृपणः कृपणां पर्यदेवयत् ॥५२॥
अहो अकरुणो देवः स्त्रिया करुणया विभुः ।
कृपणं मानुशोचन्त्या दीनया किं करिष्यति ॥५३॥
कामं नयतु मां देवः किमर्धेनात्मनो हि मे ।
दीनेन जीवता दुःखमनेन[1] विधुरायुषा ॥५४॥
कथं त्वजातपक्षांस्तान्मातृहीनान्बिभर्म्यहम् ।
मन्दभाग्याः प्रतीक्षन्ते नीडे मे मातरं प्रजाः ॥५५॥

एवं कुलिङ्गं विलपन्तमारा-
त्प्रियावियोगातुरमश्रुकण्ठम् ।
स एव तं शाकुनिकः शरेण
विव्याध कालप्रहितो विलीनः ॥५६॥

एवं यूयमपश्यन्त्य आत्मापायमबुद्धयः ।
नैनं प्राप्स्यथ शोचन्त्यः पतिं वर्षशतैरपि ॥५७॥

हिरण्यकशिपुरुवाच

बाल[2] एवं प्रवदति सर्वे विस्मितचेतसः ।
ज्ञातयो मेनिरे सर्वमनित्यमयथोत्थितम् ॥५८॥
यम एतदुपाख्याय तत्रैवान्तरधीयत ।
ज्ञातयोऽपि सुयज्ञस्य चक्रुर्यत्साम्परायिकम् ॥५९॥
ततः[3] शोचत मा यूयं परं चात्मानमेव च ।
क आत्मा कः परो वात्र स्वीयः पारक्य एव वा ।
स्वपराभिनिवेशेन विनाज्ञानेन देहिनाम् ॥६०॥

नारद उवाच

इति दैत्यपतेर्वाक्यं दितिराकर्ण्य सस्नुषा ।

कारण वह स्नेहवश अति दीन होकर इस प्रकार विलाप करने लगा—॥५२॥ 'अहो यह विधाता सर्वसमर्थ होकर भी बड़ा ही निर्दयी है ! भला, मुझ अभागेके लिये शोक करनेवाली और सबकी करुणापात्री इस मेरी दीना भार्याको लेकर वह क्या करेगा ? ॥५३॥ स्त्रीके बिना अत्यन्त दुःखसे जीनेवाले इस अत्यन्त दीन अर्द्धशरीरसे मुझे क्या प्रयोजन है ? अब विधाता भले ही मुझे भी ले जाय ॥५४॥ जिनके अभी पंख भी नहीं जमे हैं उन मातृहीन बच्चोंका मैं किस प्रकार पालन करूँगा ? अहो ! आज मेरे अभागे बच्चे [भूखके कारण] घोंसलेमें अपनी माताकी बाट देख रहे होंगे !' ॥५५॥ इस प्रकार अपनी प्रियाके वियोगसे आतुर और गद्गदकण्ठ होकर विलाप करते हुए उस कुलिङ्गको उसी चिड़ीमारने कालकी प्रेरणासे पासहीके [वृक्षोंमें छिपकर] बाणसे बेध दिया, जिससे वह भी वहीं समाप्त हो गया ॥ ५६ ॥ हे बुद्धिहीना राजमहिषियो ! इसी प्रकार एक दिन अवश्य प्राप्त होनेवाली अपनी मृत्युको तुम लोग नहीं देखतीं । इस पतिको तो तुम सौ वर्षतक शोक करती रहनेपर भी नहीं पा सकोगी ॥५७॥

हिरण्यकशिपु बोला—हे मातः ! उस बालकके इस प्रकार कहनेपर वे सब ज्ञातिबन्धु अति विस्मित हुए और उन्होंने इस सम्पूर्ण जगत्‌को अनित्य और मिथ्या समझा ॥५८॥ यमराज ये सब बातें कहकर वहीं अन्तर्धान हो गये और सुयज्ञके जातिबन्धुओंने भी उसके शरीरके और्ध्वदैहिक कर्म किये ॥५९॥ इसलिये तुम भी अपने या परायेके लिये किसी प्रकारका शोक मत करो, क्योंकि इस संसारमें यह अपना है और यह पराया—इस प्रकारके अभिनिवेशरूप अज्ञानके सिवा वास्तवमें प्राणियोंका अपना-आप और अन्य अथवा अपना और पराया है ही क्या ? ॥६०॥

श्रीनारदजी कहते हैं—हे राजन् ! दैत्यराज हिरण्यकशिपुके ये वाक्य सुनकर अपनी पुत्रवधूके

१. प्रा० पा०—खं जीवेन । २. प्रा० पा०—काल । ३. प्रा० पा०—अतः शोचत मा यूयं परमात्मानमेव च ।

पुत्रशोकं क्षणात्त्यक्त्वा तत्त्वे चित्तमधारयत् ॥६१॥

सहित दितिने उसी क्षण पुत्रशोकको त्यागकर अपना चित्त आत्मतत्त्वमें लगा दिया ॥६१॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे सप्तमस्कन्धे[1] दितिशोकापनयनं नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

तीसरा अध्याय

हिरण्यकशिपुकी तपस्या और वरप्राप्ति।

नारद उवाच

हिरण्यकशिपू राजन्नजेयमजरामरम् ।
आत्मानमप्रतिद्वन्द्वमेकराजं व्यधित्सत ॥ १ ॥

स तेपे मन्दरद्रोण्यां तपः परमदारुणम् ।
ऊर्ध्वबाहुर्नभोदृष्टिः पादाङ्गुष्ठाश्रितावनिः ॥ २ ॥

जटादीधितिभी रेजे संवर्तार्क इवांशुभिः ।
तस्मिंस्तपस्तप्यमाने देवाः स्थानानि भेजिरे ॥ ३ ॥

तस्य मूर्ध्नः समुद्भूतः सधूमोऽग्निस्तपोमयः ।
तिर्यगूर्ध्वमधोलोकानतपद्विष्वगीरितः ॥ ४ ॥

चुक्षुभुर्नद्युदन्वन्तः सद्वीपाद्रिश्चचाल भूः ।
निपेतुः सग्रहास्तारा जज्वलुश्च दिशो दश ॥ ५ ॥

तेन तप्ता दिवं त्यक्त्वा ब्रह्मलोकं ययुः सुराः ।
धात्रे विज्ञापयामासुर्देवदेव जगत्पते ॥ ६ ॥

दैत्येन्द्रतपसा तप्ता दिवि स्थातुं न शक्नुमः ।
तस्य चोपशमं भूमन्विधेहि यदि मन्यसे ।

लोका न यावन्नङ्क्ष्यन्ति बलिहाराः[2]स्तवाभिभः ॥ ७ ॥

तस्यायं किल संकल्पश्चरतो दुश्चरं तपः ।
श्रूयतां किं न विदितस्तवाथापि[3] निवेदितः ॥ ८ ॥

सृष्ट्वा चराचरमिदं तपोयोगसमाधिना ।

श्रीनारदजी बोले—हे राजन् ! तदनन्तर हिरण्यकशिपुने अपनेको अजेय, अजर-अमर तथा एकमात्र निष्कण्टक सम्राट् बनानेका विचार किया ॥ १ ॥ इसके लिये उसने मन्दराचलकी कन्दरामें ऊपरको बाँह उठाये, आकाशकी ओर दृष्टि लगाये तथा भूमिपर केवल पाँवके अँगूठेके सहारे खड़े रहकर अति कठोर तपस्या करनी आरम्भ की ॥ २ ॥ अपने जटाकलापके कारण वह मयूखमालासे सुशोभित प्रलयकालीन सूर्यके समान जान पड़ता था । इस प्रकार उसके तपमें लग जानेपर देवगण फिर अपने-अपने स्थानोंमें रहने लगे ॥ ३ ॥ तदनन्तर उसके कपालसे धूमयुक्त तपोमय अग्नि प्रकट हुआ । वह चारों ओर फैलकर ऊपर, नीचे तथा इधर-उधरके लोकोंको सन्तप्त करने लगा ॥ ४ ॥ उसके तापसे नदी और समुद्र खौलने लगे, द्वीप और पर्वतोंके सहित पृथिवी डगमगाने लगी, ग्रह और नक्षत्रगण टूट-टूटकर गिरने लगे तथा दशों दिशाओंमें दाह होने लगा ॥ ५ ॥

तब उस ज्वालासे सन्तप्त हो देवगण स्वर्गको छोड़कर ब्रह्मलोकको गये और ब्रह्माजीसे कहने लगे—"हे देवदेव ! हे जगत्पते ! हमलोग दैत्यराजके तपसे सन्तप्त होनेके कारण अब स्वर्गमें नहीं ठहर सकते । अतः हे सर्वाधिपते ! हे भूमन् ! यदि आपकी इच्छा हो तो जबतक आपको भेंट समर्पण करनेवाले लोकका संहार न हो आप उसे शान्त कर दीजिये ॥ ६-७ ॥ इस दुश्चर तपस्याको वह जिस सङ्कल्पसे कर रहा है वह आपको क्या विदित नहीं है ? फिर भी हम निवेदन करते हैं, सुनिये—॥ ८ ॥ [उसका विचार है कि] जिस प्रकार ब्रह्माजी अपने तप और योगके प्रभावसे इस चराचर जगत्को रचकर सम्पूर्ण लोकोंसे

१. प्रा० पा०—तमे स्कन्धे दितेः शोकापनोदनो नाम । २. प्रा० पा०—हारास्तथा विभो । ३. प्रा० पा०—स्तव सोऽपि ।

अध्यास्ते सर्वधिष्ण्येभ्यः परमेष्ठी निजासनम् ॥ ९ ॥
तदहं वर्धमानेन तपोयोगसमाधिना ।
कालात्मनोश्च नित्यत्वात्साधयिष्ये तथात्मनः ॥ १० ॥
अन्यथेदं[1] विधास्येऽहमयथापूर्वमोजसा ।
किमन्यैः कालनिर्धूतैः कल्पान्ते वैष्णवादिभिः ॥ ११ ॥
इति शुश्रुम निर्बन्धं तपः परममास्थितः ।
विधत्स्वानन्तरं युक्तं स्वयं त्रिभुवनेश्वर ॥ १२ ॥
तवासनं द्विजगवां पारमेष्ठ्यं जगत्पते ।
भवाय श्रेयसे भूत्यै क्षेमाय विजयाय च ॥ १३ ॥

उत्कृष्ट अपने स्थान सत्यलोकमें विराजते हैं उसी प्रकार मैं भी अपने बढ़े हुए तप और योगसमाधिके द्वारा उस-उस स्थानको प्राप्त कर लूँगा, क्योंकि काल और आत्मा तो नित्य हैं [इसलिये यदि एक जन्ममें सफलता न हुई तो अनेक जन्ममें तो अवश्य वह पद प्राप्त हो ही जायगा] ॥ ९-१० ॥ फिर पाप-पुण्यादिकी विपरीत गति कर इस सम्पूर्ण जगत्को उलट-पलट दूँगा । इस ब्रह्मपदके सिवा अन्य वैष्णवादि पदोंसे मुझे क्या प्रयोजन है, क्योंकि वे सब तो कल्पान्तमें नष्ट हो जाते हैं* ॥ ११ ॥ इस प्रकार [आपका पद लेनेके विषयमें ही] हमने इसका सङ्कल्प सुना है, इसीलिये यह इस कठोर तपस्यामें स्थित है । अतः हे त्रिभुवनेश्वर ! इस सम्बन्धमें आप जो उचित समझें शीघ्र ही करें ॥ १२ ॥ हे जगत्पते ! आपका यह सर्वश्रेष्ठ स्थान ब्राह्मण और गौओंकी उत्पत्ति, कल्याण, विभूति, कुशल और विजयका कारण है [यदि यह उस दैत्यके हाथमें चला गया तो बड़ा अनर्थ होगा]" ॥ १३ ॥

इति विज्ञापितो देवैर्भगवानात्मभूर्नृप ।
परीतो भृगुदक्षाद्यैर्ययौ दैत्येश्वराश्रमम् ॥ १४ ॥
न ददर्श प्रतिच्छन्नं वल्मीकतृणकीचकैः ।
पिपीलिकाभिरा[2]चीर्णमेदस्त्वङ्मांसशोणितम् ॥ १५ ॥
तपन्तं तपसा लोकान्यथाभ्रापिहितं रविम् ।
विलक्ष्य विस्मितः प्राह प्रहसन्हंसवाहनः ॥ १६ ॥

हे राजन् ! देवताओंके इस प्रकार निवेदन करनेपर आत्मयोनि भगवान् ब्रह्माजी भृगु और दक्षादि प्रजापतियोंके साथ हिरण्यकशिपुके आश्रमपर आये ॥ १४ ॥ किन्तु पहले तो वे उसे देख ही न सके, क्योंकि वल्मीक (बाँबी), तृण और बाँसोंके कारण उसका शरीर ढँका हुआ था तथा चींटियाँ उसके मेद, त्वचा, मांस और रक्तादिको खा रही थीं ॥ १५ ॥ फिर [विशेष खोज करनेपर] जब मेघमालासे आच्छादित सूर्यके समान परम तेजस्वी और अपने तपसे त्रिलोकीको सन्तप्त करनेवाले उस दैत्यको देखा तो हंसवाहन श्रीब्रह्माजी बड़े विस्मित हुए और हँसते हुए बोले— ॥ १६ ॥

ब्रह्मोवाच
उत्तिष्ठोत्तिष्ठ भद्रं ते तपःसिद्धोऽसि काश्यप ।

श्रीब्रह्माजीने कहा—हे कश्यपनन्दन ! उठो, उठो, तुम्हारा तप सिद्ध हो गया । तुम्हारा कल्याण

१. प्रा० पा०—अन्यथैव । २. प्रा० पा०—राकीर्णमस्थित्वङ्मांस० ।

* यद्यपि वैष्णवपद (वैकुण्ठ-धाम) नित्य एवं अविनाशी है तो भी हिरण्यकशिपु उसे कल्पान्तमें नष्ट हो जानेवाला समझता था, इस प्रसङ्गसे उसकी आसुरी भावना—तामसी बुद्धिकी ओर संकेत किया गया है; क्योंकि 'सर्वार्थान् विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी' इस भगवद्वचनके अनुसार नित्य पदार्थमें अनित्यभावना रखनेवाली उसकी बुद्धि तामसी ही थी ।

वरदोऽहमनुप्राप्तो व्रियतामीप्सितो वरः ॥१७॥
अद्राक्षमहमेतत्ते हृत्सारं महदद्भुतम् ।
दंशभक्षितदेहस्य प्राणा ह्यस्थिषु शेरते ॥१८॥
नैतत्पूर्वर्षयश्चक्रुर्न करिष्यन्ति चापरे ।
निरम्बुर्धारयेत्प्राणान्को वै दिव्यसमाः शतम् ॥१९॥
व्यवसायेन तेऽनेन दुष्करेण मनस्विनाम् ।
तपोनिष्ठेन भवता जितोऽहं दितिनन्दन ॥२०॥
ततस्त आशिषः सर्वा ददाम्यसुरपुङ्गव ।
मर्त्यस्य ते अमर्त्यस्य दर्शनं नाफलं मम ॥२१॥

हो । मैं तुम्हें वर देनेके लिये आया हूँ, तुम अपना इच्छित वर माँगो ॥१७॥ आज मैंने तुम्हारा यह अद्भुत हार्दिक बल (धैर्य) देखा है, जो डाँसोंद्वारा शरीरके खा लिये जानेपर भी तुम्हारे प्राण केवल हड्डियोंके आश्रय ही टिके हुए हैं ॥ १८ ॥ ऐसा तप न तो पूर्वकालीन महर्षियोंने ही किया है और न कोई भविष्यमें ही कर सकेगा । भला ऐसा कौन है जो बिना जलके भी सौ दिव्य वर्षतक प्राण धारण कर सके ॥ १९ ॥ हे दितिनन्दन ! बड़े-बड़े धीर पुरुषोंके लिये भी अत्यन्त दुष्कर तुम्हारे इस व्यापारने और सुदृढ़ तपोनिष्ठाने मुझे वशीभूत कर लिया है ॥२०॥ अतः हे असुरश्रेष्ठ ! मैं तुम्हारी सब कामनाएँ पूर्ण कर दूँगा । तुम मरणधर्मा हो, तथापि हम-जैसे मृत्युहीन देवताका दर्शन तुम्हारे लिये निष्फल नहीं हो सकता ॥ २१ ॥

नारद उवाच

इत्युक्त्वादिभवो देवो भक्षिताङ्गं पिपीलिकैः ।
कमण्डलुजलेनौक्षद्दिव्येनामोघराधसा ॥२२॥
स तत्कीचकवल्मीकात्सहओजोबलान्वितः[1] ।
सर्वावयवसम्पन्नो वज्रसंहननो युवा ।
उत्थितस्तप्तहेमाभो विभावसुरिवैधसः ॥२३॥
स निरीक्ष्याम्बरे देवं हंसवाहमवस्थितम् ।
ननाम शिरसा भूमौ तद्दर्शनमहोत्सवः ॥२४॥
उत्थाय प्राञ्जलिः प्रह्व ईक्षमाणो दृशा विभुम् ।
हर्षाश्रुपुलकोद्भेदो[2] गिरा गद्गदयागृणात् ॥२५॥

श्रीनारदजी बोले—हे राजन् ! तब आदिदेव श्रीब्रह्माजीने ऐसा कह, जिसके शरीरको चींटियोंने खा डाला था उस हिरण्यकशिपुके ऊपर अपने कमण्डलुका अमोघ प्रभावशाली जल छिड़का ॥२२॥ इससे वह ईंधनसे प्रकट हुए अग्निके समान मानसिक, ऐन्द्रियिक और शारीरिक शक्तिसे सम्पन्न, सर्वाङ्गपूर्ण तथा वज्रके समान सुदृढ़ एवं तपाये हुए सुवर्णके समान कान्तिमान् नवयुवक हो बाँस और वल्मीकोंके बीचमेंसे उठ खड़ा हुआ ॥ २३ ॥ और आकाशमें हंसवाहन भगवान् ब्रह्माजीको खड़ा देख, उनके दर्शनसे अति आनन्दित हो उसने पृथिवीपर शिर रखकर उन्हें प्रणाम किया ॥ २४ ॥ तदनन्तर दैत्यराज उठा और नेत्रोंमें आनन्दाश्रु भरे, शरीरमें पुलकित हो भगवान्‌की ओर अति विनीतभावसे निहारते हुए दोनों हाथ जोड़कर गद्गद कण्ठसे इस प्रकार स्तुति करने लगा ॥२५॥

हिरण्यकशिपुरुवाच

कल्पान्ते कालसृष्टेन योऽन्धेन[3] तमसा वृतम् ।
अभिव्यनग्[4] जगदिदं स्वयंज्योतिः स्वरोचिषा ॥२६॥
आत्मना त्रिवृता चेदं सृजत्यवति लुम्पति ।

हिरण्यकशिपु बोला—कल्पके अन्तमें कालप्रेरित तमोगुणसे आच्छादित इस जगत्‌को जिन स्वयंप्रकाश परमेश्वरने अपने तेजसे पुनः प्रकट किया तथा जो त्रिगुणमय रूपसे इस जगत्‌की रचना, पालन और

१. प्रा० पा०—सहतेजो ब० । २. प्रा० पा०—कोद्भूतो । ३. प्रा० पा०—सोऽन्धेन । ४. प्रा० पा०—अभिव्यञ्जगं० ।

रजःसत्त्वतमोधाम्ने पराय महते नमः ॥२७॥
नम आद्याय बीजाय ज्ञानविज्ञानमूर्तये ।
प्राणेन्द्रियमनोबुद्धिविकारैर्व्यक्तिमीयुषे ॥२८॥
त्वमीशिषे जगतस्तस्थुषश्च
प्राणेन मुख्येन पतिः प्रजानाम् ।
चित्तस्य चित्तेर्मनइन्द्रियाणां
पतिर्महान्भूतगुणाशयेशः ॥२९॥
त्वं सप्ततन्तून्वितनोषि तन्वा
त्रय्या चातुर्होत्रकविद्यया च ।
त्वमेक आत्मात्मवतामनादि-
रनन्तपारः कविरन्तरात्मा ॥३०॥
त्वमेव कालोऽनिमिषो जनाना-
मायुर्लवाद्यावयवैः क्षिणोषि ।
कूटस्थ आत्मा परमेष्ठ्यजो महां-
स्त्वं जीवलोकस्य च जीव आत्मा ॥३१॥
त्वत्तः परं नापरमप्यनेज-
देजच्च किञ्चिद्व्यतिरिक्तमस्ति ।
विद्याः कलास्ते तनवश्च सर्वा
हिरण्यगर्भोऽसि बृहत्त्रिपृष्ठः ॥३२॥
व्यक्तं विभो स्थूलमिदं शरीरं
येनेन्द्रियप्राणमनोगुणांस्त्वम् ।
भुङ्क्षे स्थितो धामनि पारमेष्ठ्य
अव्यक्त आत्मा पुरुषः पुराणः ॥३३॥
अनन्ताव्यक्तरूपेण येनेदमखिलं ततम् ।
चिदचिच्छक्तियुक्ताय तस्मै भगवते नमः ॥३४॥

संहार करते हैं उन सत्त्व, रज और तमोरूप परमात्माको नमस्कार है ॥ २६-२७ ॥ जो आदिपुरुष और जगत्के बीज हैं, ज्ञान और विज्ञान ही जिनका स्वरूप हैं तथा जो प्राण, इन्द्रिय, मन और बुद्धि आदि विकारोंमें व्यक्त होते हैं [ऐसे आपको नमस्कार है] ॥ २८ ॥ हे विधातः ! आप ही सूत्रात्मारूपसे स्थावर-जङ्गम जगत्का नियमन करते हैं, अतः आप प्रजाओंके और उनके चित्त, चेतना, मन एवं इन्द्रियोंके भी अधीश्वर हैं, तथा महत्तत्त्वरूपसे आप ही आकाशादि भूत, शब्दादि विषय और उनकी वासनाओंके रचयिता हैं ॥ २९ ॥ जिसमें होता, अध्वर्यु, ब्रह्मा और उद्गाता—ये चार ऋत्विज् होते हैं उस यज्ञकर्मका प्रतिपादन करनेवाले वेदत्रयीरूप अपने शरीरसे आप ही अग्निष्टोम आदि सात यज्ञोंकी रचना करते हैं तथा आप ही सम्पूर्ण प्राणियोंके एकमात्र आत्मा हैं क्योंकि आप अनादि, अनन्त, अपार, सर्वज्ञ और सबके अन्तर्यामी हैं ॥ ३० ॥ हे देव ! आप ही काल हैं, अतः आप अनिमेषरूपसे क्षण-लव आदि अपने अवयवोंद्वारा सब जीवोंकी आयुका क्षय करते रहते हैं, [किन्तु इस प्रकार सृष्टिकर्ता होनेपर भी] आप निर्विकार हैं क्योंकि आप ज्ञानस्वरूप परमेश्वर अजन्मा महान् और सम्पूर्ण जीवोंके अन्तरात्मा हैं ॥ ३१ ॥ हे प्रभो ! कारण-कार्य एवं स्थावर-जङ्गम आदि कोई भी वस्तु आपसे भिन्न नहीं है; विद्या और कला—ये सब भी आपके अङ्ग ही हैं । आप त्रिगुणमयी मायासे अतीत साक्षात् परब्रह्म हैं; क्योंकि यह स्वर्णमय ब्रह्माण्ड आपके गर्भमें स्थित है ॥ ३२ ॥ हे विभो ! यह व्यक्त ब्रह्माण्ड आपका स्थूल शरीर है, जिससे आप इन्द्रिय, प्राण और मनके विषयोंको भोगते हैं; किन्तु इन सब विषयोंका उपभोग आप अपने परमात्मस्वरूपमें स्थित हुए ही करते हैं [हम साधारण जीवोंकी भाँति अज्ञानसे आवृत होकर नहीं करते] अतः वस्तुतः आप अव्यक्त, पुराणपुरुष और निरुपाधिक ब्रह्मस्वरूप ही हैं ॥ ३३ ॥ जिन्होंने अपने अनन्त और अव्यक्त रूपसे इस सम्पूर्ण जगत्को व्याप्त कर रखा है, चेतन और अचेतन शक्तिसे युक्त उन श्रीभगवान्को नमस्कार है ॥ ३४ ॥

यदि दास्यस्यभिमतान्वरान्मे वरदोत्तम ।
भूतेभ्यस्त्वद्विसृष्टेभ्यो मृत्युर्मा भून्मम प्रभो ॥३५॥
नान्तर्बहिर्दिवा नक्तमन्यस्मादपि चायुधैः ।
न भूमौ नाम्बरे मृत्युर्न नरैर्न मृगैरपि ॥३६॥
व्यसुभिर्वासुमद्भिर्वा सुरासुरमहोरगैः ।
अप्रतिद्वन्द्वतां युद्धे ऐकपत्यं च देहिनाम् ॥३७॥
सर्वेषां लोकपालानां महिमानं यथात्मनः ।
तपोयोगप्रभावाणां यन्न रिष्यति कर्हिचित् ॥३८॥

हे वरदायकोंमें श्रेष्ठ ! यदि आप मुझे अभिमत वर देना चाहते हैं तो हे प्रभो ! आपके रचे हुए किसी भी प्राणीसे मेरी मृत्यु न हो ॥३५॥ भीतर, बाहर, दिनमें, रात्रिमें, आपके रचे प्राणियोंके सिवा किसी और जीवसे, किसी भी अस्त्र-शस्त्रसे, पृथिवी या आकाशमें, मनुष्य या मृगसे एवं जीवित या मृतक प्राणीसे मेरी मृत्यु न हो तथा देवता, असुर या नागादिमेंसे भी मुझे कोई न मार सके । युद्धमें कोई भी मेरा सामना न कर सके, मैं सबका एकमात्र अधीश्वर होऊँ ॥ ३६-३७ ॥ इन्द्रादि सम्पूर्ण लोकपालोंमें जैसी आपकी महिमा है वैसी ही मेरी भी हो तथा तप और योगादिके प्रभावसे सम्पन्न योगिजनोंको जो कभी क्षीण न होनेवाला [अणिमादि] ऐश्वर्य प्राप्त है वह मुझे भी प्राप्त हो ॥ ३८ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे सप्तमस्कन्धे हिरण्यकशिपो-
र्वरयाचनं नाम तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

चौथा अध्याय

हिरण्यकशिपुके शासन और प्रह्लादके गुणोंका वर्णन ।

नारद उवाच

एवं वृतः शतधृतिर्हिरण्यकशिपोरथ ।
प्रादात्तत्तपसा प्रीतो वरांस्तस्य सुदुर्लभान् ॥ १ ॥

ब्रह्मोवाच

तातेमे दुर्लभाः पुंसां यान्वृणीषे वरान्मम ।
तथापि वितराम्यङ्ग वरान्यदपि दुर्लभान् ॥ २ ॥
ततो जगाम भगवानमोघानुग्रहो विभुः ।
पूजितोऽसुरवर्येण स्तूयमानः प्रजेश्वरैः ॥ ३ ॥
एवं लब्धवरो दैत्यो विभ्रद्धेममयं वपुः ।
भगवत्यकरोद्द्वेषं भ्रातुर्वधमनुस्मरन् ॥ ४ ॥

श्रीनारदजी बोले—हे राजन् ! ब्रह्माजी हिरण्यकशिपुसे अत्यन्त प्रसन्न हो गये थे । अतः उसके इस प्रकार माँगनेपर उन्होंने वे सब वर, परम दुर्लभ होनेपर भी, उसे दे दिये ॥ १ ॥

श्रीब्रह्माजी बोले—हे तात ! तुम जो वर माँग रहे हो वे जीवके लिये अत्यन्त दुर्लभ हैं; किन्तु दुर्लभ होनेपर भी मैं तुम्हें वे सब देता हूँ ॥ २ ॥

इसके पश्चात्, जिनकी कृपा कभी व्यर्थ नहीं होती वे श्रीब्रह्माजी दैत्यश्रेष्ठ हिरण्यकशिपुसे पूजित हो प्रजापतिगणसे अपनी स्तुति सुनते हुए वहाँसे चले गये ॥३॥ इधर सुवर्णसदृश कान्तिमय शरीरसे सुशोभित दैत्यराज हिरण्यकशिपु इस प्रकार वर प्राप्तकर अपने भाईके वधका स्मरणकर भगवान्से द्वेष करने लगा ॥ ४ ॥

१. प्राचीन प्रतिमें 'हिरण्य·····नाम' इतना अंश नहीं है । २. प्रा० पा०—म्यद्य वरान् यद्यपि ।

स विजित्य दिशः सर्वा लोकांश्च त्रीन्महासुरः ।
देवासुरमनुष्येन्द्रान्गन्धर्वगरुडोरगान् ॥ ५ ॥
सिद्धचारणविद्याध्रानृषीन्पितृपतीन्मनून् ।
यक्षरक्षःपिशाचेशान्प्रेतभूतपतीनथ[1] ॥ ६ ॥
सर्वसत्त्वपतीञ्जित्वा वशमानीय विश्वजित् ।
जहार लोकपालानां स्थानानि सह तेजसा ॥ ७ ॥
देवोद्यानश्रिया जुष्टमध्यास्ते स्म त्रिविष्टपम् ।
महेन्द्रभवनं साक्षान्निर्मितं विश्वकर्मणा ।
त्रैलोक्यलक्ष्म्यायतनमध्युवासाखिलर्द्धिमत् ॥ ८ ॥
यत्र विद्रुमसोपाना महामारकता भुवः ।
यत्र स्फाटिककुड्यानि वैदूर्यस्तम्भपङ्क्तयः ॥ ९ ॥
यत्र चित्रवितानानि पद्मरागासनानि च[2] ।
पयःफेननिभाः शय्या मुक्तादामपरिच्छदाः ॥१०॥
कूजद्भिर्नूपुरैर्देव्यः शब्दयन्त्य इतस्ततः ।
रत्नस्थलीषु पश्यन्ति सुदतीः सुन्दरं मुखम् ॥११॥
तस्मिन्महेन्द्रभवने महाबलो[3]
महामना निर्जितलोक एकराट् ।
रेमेऽभिवन्द्याङ्घ्रियुगः सुरादिभिः
प्रतापितैरूर्जितचण्डशासनः ॥१२॥
तमङ्ग मत्तं मधुनोरुगन्धिना
विवृत्तताम्राक्षमशेषधिष्ण्यपाः ।
उपासतोपायनपाणिभिर्विना
त्रिभिस्तपोयोगबलौजसां पदम् ॥१३॥
जगुर्महेन्द्रासनमोजसा स्थितं
विश्वावसुस्तुम्बुरुरस्मदादयः[4] ।

उस महादैत्यने सम्पूर्ण दिशाओं, तीनों लोकों तथा देवता, असुर, नरेन्द्रगण, गन्धर्व, गरुड़, सर्प, सिद्ध, चारण, विद्याधर, ऋषि, पितृगणोंके अधिपति, मनु, यक्ष, राक्षस, पिशाचपति, भूत और प्रेतोंके नायक तथा सम्पूर्ण जीवोंके स्वामियोंको जीतकर अपने वशीभूत कर लिया; इस प्रकार उस विश्वजित् असुरने अपने पराक्रमसे सम्पूर्ण लोकपालोंके स्थान छीन लिये ॥ ५–७ ॥ फिर वह महाबलवान् दैत्यराज हिरण्यकशिपु नन्दनवनकी शोभासे सम्पन्न स्वर्गलोकमें बसकर साक्षात् विश्वकर्माके बनाये हुए, त्रिलोकीकी शोभाके आश्रयभूत निखिल वैभवसम्पन्न इन्द्रभवनमें रहने लगा ॥ ८ ॥ जिसकी सीढ़ियाँ विद्रुमकी, भूमि (फर्श) महामरकतमणिकी, भीत स्फटिककी तथा स्तम्भोंकी श्रेणी वैडूर्यमणिकी थी ॥ ९ ॥ तथा जिसमें चित्र-विचित्र वितान, पद्मरागमणिके आसन, दुग्धफेनके समान स्वच्छ और सुकोमल शय्या तथा मोतीकी लड़ियोंसे सुशोभित परिच्छद (ओढ़नेके वस्त्र) शोभायमान थे ॥ १० ॥ उस दिव्यभवनमें अनेकों सुन्दर दाँतोंवाली देवाङ्गनाएँ नूपुरोंकी झनकार करती इधर-उधर फिरती थीं और वहाँकी रत्नस्थलियोंमें अपना मनोहर मुखारविन्द निहारती थीं ॥ ११ ॥ उस इन्द्रभवनमें वह महाबली और महामनस्वी दैत्यराज सम्पूर्ण लोकोंको जीतकर त्रिलोकीका एकमात्र शासक होकर रमण करने लगा, वह बड़ा ही ओजस्वी एवं कठोर शासक था अतः उसके तेजसे सन्तप्त हुए देवगण उसके चरणयुगलकी वन्दना करते थे ॥ १२ ॥ हे राजन् ! वह अति तीव्र गन्धवाली मदिराके कारण उन्मत्त रहता था, उसके नेत्र अरुणवर्ण और कुछ चढ़े-से रहते थे तथा वह तप, योग एवं शारीरिक और मानसिक शक्तिका आश्रय बना हुआ था । त्रिदेव (ब्रह्मा, विष्णु और महादेव) के सिवा और सब लोकपालगण हाथोंमें उपहार लिये उसकी सेवामें रहने लगे ॥ १३ ॥ हे पाण्डुपुत्र ! अपनी शक्तिसे इन्द्रासनपर विराजमान उस हिरण्यकशिपुका मैं, विश्वावसु और तुम्बुरु आदि

१. प्रा० पा०—पतीन् प्रभुः । २. प्रा० पा०—गसमानि च । ३. प्रा० पा०—महासुरो महाबलो नि० । ४. प्रा० पा०—रुनारदादयः ।

गन्धर्वसिद्धा ऋषयोऽस्तुवन्मुहु-
र्विद्याधरा अप्सरसश्च पाण्डव ॥१४॥

गुणगान करते थे तथा सिद्ध, गन्धर्व, ऋषि, विद्याधर और अप्सरा आदि उसकी स्तुति करते थे ॥ १४ ॥

स एव वर्णाश्रमिभिः क्रतुभिर्भूरिदक्षिणैः ।
इज्यमानो हविर्भागानग्रहीत्स्वेन तेजसा ॥१५॥

हे राजन् ! अपने-अपने वर्णाश्रमधर्मका पालन करनेवाले पुरुषोंद्वारा बड़ी-बड़ी दक्षिणाओंवाले यज्ञोंसे यजन किये जानेपर वह दैत्यराज ही अपने प्रबल प्रभावके कारण यज्ञभाग ग्रहण करने लगा ॥ १५ ॥

अकृष्टपच्या तस्यासीत्सप्तद्वीपवती मही ।
तथा कामदुघा [1]द्यौस्तु नानाश्चर्यपदं नभः ॥१६॥

उसके शासनकालमें सप्तद्वीपा पृथिवी बिना जोते-बोये ही अन्न उत्पन्न करती थी, स्वर्ग सम्पूर्ण कामनाएँ पूर्ण करता था और अन्तरिक्षलोक नाना प्रकारके आश्चर्योंका आश्रय बना हुआ था ॥ १६ ॥

रत्नाकराश्च रत्नौघांस्तत्पत्न्यश्चोहुरूर्मिभिः ।
क्षारसीधुघृतक्षौद्रदधिक्षीरामृतोदकाः ॥१७॥

इसी प्रकार खारे पानी, मदिरा, घृत, इक्षुरस, दधि, दुग्ध और मीठे पानीके समुद्र भी अपनी पत्नियों (नदियों) के सहित उसके पास तरंगोंद्वारा रत्नराशि पहुँचाने लगे ॥ १७ ॥

शैला द्रोणीभिराक्रीडं सर्वर्तुषु गुणान्द्रुमाः ।
दधार लोकपालानामेक एव पृथग्गुणान् ॥१८॥

पर्वतगण अपनी कन्दराओंको क्रीडाके योग्य रखने लगे तथा वृक्ष प्रत्येक ऋतुके गुण (फल-फूलादि) धारण करने लगे । उस समय वह अकेला ही समस्त लोकपालोंके विभिन्न गुणोंको धारण किये हुए था ॥ १८ ॥

स इत्थं निर्जितककुबेकराड्विषयान्प्रियान् ।
यथोपजोषं भुञ्जानो नातृप्यदजितेन्द्रियः ॥१९॥

इस प्रकार दिग्विजयी और एकच्छत्र सम्राट् होकर अपने प्रिय भोगोंको यथेच्छ भोगता था, तो भी अजितेन्द्रिय होनेके कारण उसे तृप्ति नहीं होती ॥ १९ ॥

एवमैश्वर्यमत्तस्य दृप्तस्योच्छास्त्रवर्तिनः ।
कालो महान्व्यतीयाय ब्रह्मशापमुपेयुषः ॥२०॥

इस प्रकार विप्रशापको प्राप्त हुए उस ऐश्वर्योन्मत्त और अभिमानवश शास्त्रविरुद्ध आचरण करनेवाले दुष्ट दैत्यका बहुत-सा समय बीत गया ॥ २० ॥

तस्योग्रदण्डसंविग्नाः सर्वे लोकाः सपालकाः ।
अन्यत्रालब्धशरणाः शरणं ययुरच्युतम् ॥२१॥

उसके कठोर शासनसे लोकपालोंके सहित सम्पूर्ण लोक उद्विग्न हो गये और जब उन्हें अन्यत्र कहीं आश्रय न मिला तो वे श्रीविष्णुभगवान्‌की शरणमें गये ॥ २१ ॥

तस्यै नमोऽस्तु काष्ठायै यत्रात्मा हरिरीश्वरः ।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते शान्ताः संन्यासिनोऽमलाः ॥२२॥

[और कहने लगे—] "उस दिशाको बारम्बार नमस्कार है जिसमें सर्वात्मा जगदीश्वर श्रीहरि रहते हैं तथा जिसे प्राप्त होकर शान्त और निर्मल संन्यासीगण फिर नहीं लौटते" ॥ २२ ॥

इति ते संयतात्मानः समाहितधियोऽमलाः ।
उपतस्थुर्हृषीकेशं विनिद्रा वायुभोजनाः ॥२३॥

इस प्रकार इन्द्रियोंका संयम और चित्तको एकाग्र कर उन्होंने निद्राको जीत केवल वायु-भक्षण करते हुए विशुद्ध बुद्धिसे भगवान् हृषीकेशकी आराधना की ॥ २३ ॥

तेषामाविरभूद्वाणी [3]अरूपा मेघनिःस्वना ।

तब एक दिन उन्हें मेघके समान गम्भीर तथा साधुओंको अभयप्रदान

१. प्रा० पा०—गावो । २. प्रा० पा०—ककुप्सकलान् वि० । ३. प्रा० पा०—आकाशान्मे० ।

सन्नादयन्ती ककुभः साधूनामभयङ्करी ॥२४॥
मा भैष्ट विबुधश्रेष्ठाः सर्वेषां भद्रमस्तु वः ।
मद्दर्शनं हि भूतानां सर्वश्रेयोपपत्तये ॥२५॥
ज्ञातमेतस्य दौरात्म्यं दैतेयापसदस्य च ।
तस्य शान्तिं करिष्यामि कालं तावत्प्रतीक्षत ॥२६॥
यदा देवेषु वेदेषु गोषु विप्रेषु साधुषु ।
धर्मे मयि च विद्वेषः स वा आशु विनश्यति ॥२७॥
निर्वैराय प्रशान्ताय स्वसुताय महात्मने ।
प्रह्लादाय यदा द्रुह्येद्धनिष्येऽपि वरोर्जितम् ॥२८॥

करनेवाली आकाश-वाणी सुनायी पड़ी, जिसके घोषसे सम्पूर्ण दिशाएँ गूँज उठीं ॥ २४ ॥ [वह इस प्रकार थी—] "हे देवश्रेष्ठगण ! तुम मत डरो; तुम सब लोगोंका कल्याण हो । मेरा दर्शन प्राणियोंके लिये सब प्रकारके मंगलोंका साधक है ॥ २५ ॥ मुझे इस अधम दैत्यकी सारी दुष्टताका पता है, मैं उसे शान्त कर दूँगा; अभी तुम समयकी प्रतीक्षा करो ॥२६॥ जिस समय कोई प्राणी देवता, वेद, गौ, ब्राह्मण, साधु, धर्म और मुझसे द्वेष करने लगता है उस समय वह शीघ्र ही नष्ट हो जाता है ॥ २७ ॥ अतः जब वह अपने निर्वैर, प्रशान्त और महात्मा पुत्र प्रह्लादसे वैर करेगा उस समय, ब्रह्माजीके वरसे सतेज होनेपर भी मैं उसे अवश्य मार डालूँगा" ॥ २८ ॥

नारद उवाच[1]

इत्युक्ता लोकगुरुणा तं प्रणम्य दिवौकसः ।
न्यवर्तन्त गतोद्वेगा मेनिरे चासुरं हतम् ॥२९॥
तस्य दैत्यपतेः पुत्राश्चत्वारः परमाद्भुताः ।
प्रह्लादोऽभून्महांस्तेषां गुणैर्महदुपासकः ॥३०॥
ब्रह्मण्यः शीलसम्पन्नः सत्यसंधो जितेन्द्रियः ।
आत्मवत्सर्वभूतानामेकः प्रियसुहृत्तमः ॥३१॥
दासवत्संनतार्याङ्घ्रिः पितृवद्दीनवत्सलः ।
भ्रातृवत्सदृशे स्निग्धो गुरुष्वीश्वरभावनः ।
विद्यार्थरूपजन्माढ्यो मानस्तम्भविवर्जितः ॥३२॥
नोद्विग्नचित्तो व्यसनेषु निःस्पृहः
श्रुतेषु दृष्टेषु गुणेष्ववस्तुदृक् ।
दान्तेन्द्रियप्राणशरीरधीः सदा
प्रशान्तकामो रहितासुरोऽसुरः ॥३३॥

श्रीनारदजी कहते हैं—निखिल लोकगुरु श्रीनारायणके इस प्रकार कहनेपर देवगण उद्वेगरहित हो उन्हें प्रणाम कर लौट आये; फिर उन्होंने उस असुरको मरा हुआ ही समझा ॥ २९ ॥

हे राजन् ! उस दैत्यराजके अति अद्भुत चार पुत्र थे । उनमें प्रह्लाद गुणोंके कारण सबसे बढ़ा-चढ़ा था । वह महापुरुषोंकी सेवा करनेवाला, ब्राह्मणभक्त, सदाचारी, सत्यप्रतिज्ञ, जितेन्द्रिय, अपने समान सम्पूर्ण प्राणियोंका एकमात्र प्रिय और अति सुहृद्, भद्रपुरुषोंके चरणोंमें दासवत् विनीत, दीनोंपर पिताके समान कृपा करनेवाला, बराबरवालोंसे भाईके समान स्नेह रखनेवाला तथा बड़ोंको ईश्वरवत् समझनेवाला था । वह विद्या, धन, रूप और कुलसे सम्पन्न होनेपर भी मान और गर्वसे रहित था ॥ ३०–३२ ॥ किसी भी प्रकारकी विपत्ति पड़नेपर घबराता न था तथा देखे (ऐहिक) और सुने (पारलौकिक) सभी विषयोंको मिथ्या समझकर उनकी इच्छा न करता था । उसकी इन्द्रियाँ, प्राण, शरीर और मन—सभी संयत थे और उसे किसी प्रकारकी कामना न थी; इस प्रकार असुरकुलमें उत्पन्न होनेपर भी उसमें किसी प्रकारका आसुरभाव नहीं था ॥३३॥

१. प्राचीन प्रतिमें 'नारद उवाच' इतना अंश नहीं है ।

यस्मिन्महद्गुणा राजन्गृह्यन्ते कविभिर्मुहुः ।
न तेऽधुनापिधीयन्ते यथा भगवतीश्वरे ॥३४॥
यं साधुगाथासदसि रिपवोऽपि सुरा नृप ।
प्रतिमानं प्रकुर्वन्ति किमुतान्ये भवादृशाः ॥३५॥
गुणैरलमसंख्येयैर्माहात्म्यं तस्य सूच्यते ।
वासुदेवे भगवति यस्य नैसर्गिकी रतिः ॥३६॥

हे राजन् ! पण्डितजन उनके महान् गुणोंको बारम्बार ग्रहण करते हैं तथा भगवान् ईश्वरके समान उनके गुण अभीतक तिरोहित (अप्रसिद्ध) नहीं हुए हैं ॥ ३४ ॥ हे राजन् ! देवगण, उनके प्रतिपक्षी होनेपर भी, सभामें साधुपुरुषोंकी चर्चा चलनेपर जिनका दृष्टान्त देते हैं उन प्रह्लादजीका आप-जैसे भगवद्भक्त आदर करेंगे—इसमें तो कहना ही क्या है ? ॥ ३५ ॥ जिनकी भगवान् वासुदेवमें स्वाभाविक प्रीति थी उन श्रीप्रह्लादजीके असंख्य गुणोंका वर्णन तो कैसे किया जा सकता है ? हम तो [इतना कहकर] केवल उनका माहात्म्यमात्र सूचित करते हैं ॥ ३६ ॥

न्यस्तक्रीडनको बालो जडवत्तन्मनस्तया ।
कृष्णग्रहगृहीतात्मा न वेद जगदीदृशम् ॥३७॥
आसीनः पर्यटन्नश्नञ्छयानः प्रपिबन्ब्रुवन् ।
नानुसन्धत्त एतानि गोविन्दपरिरम्भितः ॥३८॥
क्वचिद्रुदति वैकुण्ठचिन्ताशबलचेतनः ।
क्वचिद्धसति तच्चिन्ताह्लाद उद्गायति क्वचित् ॥३९॥
नदति क्वचिदुत्कण्ठो विलज्जो नृत्यति क्वचित् ।
क्वचित्तद्भावनायुक्तस्तन्मयोऽनुचकार ह ॥४०॥
क्वचिदुत्पुलकस्तूष्णीमास्ते संस्पर्शनिर्वृतः ।
अस्पन्दप्रणयानन्दसलिलामीलितेक्षणः ॥४१॥
स उत्तमश्लोकपदारविन्दयो-
र्निषेवयाकिञ्चनसङ्गलब्धया ।
तन्वन्परां निर्वृतिमात्मनो मुहु-

हे राजन् ! जिस समय वे बालक ही थे उस समय भी खेल-कूदको छोड़कर भगवद्ध्यानमें तल्लीन हो जानेसे जडवत् हो जाते थे। उनके चित्तको कृष्णरूप ग्रहने ग्रस लिया था, इसलिये उन्हें यह कुछ भी पता नहीं रहता था कि 'जगत् ऐसा है' ॥ ३७ ॥ श्रीगोविन्दमें तन्मय रहनेके कारण उन्हें बैठते, घूमते, खाते, शयन करते, पीते और बोलते-चालते समय [उन क्रियाओंका] कुछ भी भान न रहता था ॥ ३८ ॥ कभी श्रीवैकुण्ठनाथकी चिन्तासे चित्त क्षुभित हो जानेके कारण वे रोने लगते, कभी भगवत्स्मृतिसे आह्लादित होकर हँसने लगते और कभी जोर-जोरसे भगवद्गुणगान करने लगते ॥ ३९ ॥ इसी प्रकार वे कभी अत्यन्त उत्कण्ठित होकर गर्जना करने लगते, कभी लज्जा छोड़कर नृत्य करने लगते और कभी भगवद्भावनाके आवेशमें आकर उनकी लीलाओंका अनुकरण करने लगते ॥४०॥ कभी भगवान्के स्पर्शका अनुभव करके परमानन्दसे पुलकित हो चुपचाप बैठे रहते; उस समय उनके नेत्र अविचल प्रेमानन्दसे प्रकट हुए आनन्दाश्रुओंसे पूर्ण होकर कुछ मुँदे-से हो जाते थे ॥ ४१ ॥ इस प्रकार वे निष्किञ्चन भगवद्भक्तोंके सहवाससे प्राप्त हुई पुण्यश्लोक श्रीहरिके चरणारविन्दोंकी सेवासे अपने चित्तको परमानन्दित करते हुए अन्य कुसंगग्रस्त

१. प्रा० पा०—मतिः ।

दुःसङ्गदीनान्यमनःशमं व्यधात् ॥४२॥
तस्मिन्महाभागवते महाभागे महात्मनि ।
हिरण्यकशिपू राजन्नकरोदघमात्मजे ॥४३॥

युधिष्ठिर उवाच

देवर्ष एतदिच्छामो वेदितुं तव सुव्रत ।
यदात्मजाय शुद्धाय पितादात्साधवे ह्यघम् ॥४४॥
पुत्रान्विप्रतिकूलान्स्वान्पितरः पुत्रवत्सलाः ।
उपालभन्ते शिक्षार्थं नैवाघमपरो[1] यथा ॥४५॥
किमुतानुवशान्साधूंस्तादृशान्गुरुदेवतान् ।
एतत्कौतूहलं ब्रह्मन्नस्माकं विधम प्रभो ।
पितुः पुत्राय यद्द्वेषो मरणाय प्रयोजितः ॥४६॥

पुरुषोंके चित्तोंको भी बारम्बार शान्ति-प्रदान करने लगे ॥ ४२ ॥ हे राजन् ! ऐसे महान् भगवद्भक्त, महाभाग और महात्मा पुत्रसे भी हिरण्यकशिपु विरोध करने लगा ॥ ४३ ॥

राजा युधिष्ठिरने पूछा—हे देवर्षे ! हे सुव्रत ! अब हम आपसे यह सुनना चाहते हैं कि हिरण्यकशिपुने पिता होकर भी ऐसे शुद्ध हृदयवाले साधु पुत्रसे विरोध क्यों किया ? ॥ ४४ ॥ जो पुत्र अपने प्रतिकूल होते हैं उन्हें शिक्षा देनेके लिये, पुत्रका हित चाहनेवाले पिता तिरस्कार तो करते हैं, परन्तु शत्रुके समान उनसे विरोध नहीं करते ॥ ४५ ॥ फिर प्रह्लादजीके समान अनुकूल, साधुचरित और गुरुजनोंका सम्मान करनेवाले पुत्रोंके विषयमें तो कहना ही क्या है ? हे प्रभो ! [हमें तो इससे बड़ा आश्चर्य होता है कि] पिताने पुत्रका वध करनेके लिये द्रोह किया ! अतः हे ब्रह्मन् ! हमारे इस कुतूहलको आप शान्त कीजिये ॥ ४६ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे सप्तमस्कन्धे
प्रह्लादचरिते[2] चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

पाँचवाँ अध्याय

हिरण्यकशिपुद्वारा प्रह्लादजीके वधका प्रयत्न ।

नारद उवाच

पौरोहित्याय भगवान्वृतः काव्यः किलासुरैः ।
शण्डामर्कौ सुतौ तस्य दैत्यराजगृहान्तिके ॥ १ ॥
तौ[3] राज्ञा प्रापितं बालं प्रह्लादं नयकोविदम् ।
पाठयामासतुः पाठ्यानन्यांश्चासुरबालकान् ॥ २ ॥
यत्तत्र गुरुणा प्रोक्तं शुश्रुवेऽनु पपाठ च ।
न साधु मनसा मेने स्वपरासद्ग्रहाश्रयम् ॥ ३ ॥

श्रीनारदजी बोले—हे राजन् ! कहते हैं, असुरोंने भगवान् शुक्राचार्यजीको अपना पुरोहित बनाया, अतः उनके पुत्र शण्ड और अमर्क दैत्यराज हिरण्यकशिपुके भवनके पास रहते थे ॥ १ ॥ वे दोनों, राजाके भेजे हुए नीतिनिपुण बालक प्रह्लादको तथा अन्य असुर बालकोंको भी पाठ्य विषय (दण्ड-नीति आदि) पढ़ाया करते थे ॥ २ ॥ गुरुजी जैसा पाठ पढ़ाते उसे सुनकर प्रह्लादजी उन्हें ज्यों-का-त्यों सुना दिया करते थे; किन्तु 'यह अपना है, यह पराया है'—ऐसे असद् आग्रहसे युक्त होनेके कारण उन्हें अपने मनमें वह पाठ अच्छा नहीं लगता था ॥ ३ ॥

१. प्रा० पा०—परे । २. प्राचीन प्रतिमें 'प्रह्लादचरिते' इतना अंश नहीं है । ३. प्रा० पा०—तौ तु राज्ञार्पितं ।

एकदासुरराट् पुत्रमङ्कमारोप्य पाण्डव ।
पप्रच्छ कथ्यतां वत्स मन्यते साधु यद्भवान् ॥ ४ ॥

हे पाण्डुनन्दन ! एक दिन दैत्यराज हिरण्यकशिपुने पुत्र प्रह्लादको गोदमें लेकर पूछा—"बेटा ! बता तो तुझे क्या अच्छा लगता है ?" ॥ ४ ॥

प्रह्लाद उवाच

तत्साधु मन्येऽसुरवर्य देहिनां
सदा समुद्विग्नधियामसद्ग्रहात् ।
हित्वात्मपातं गृहमन्धकूपं
वनं गतो यद्धरिमाश्रयेत ॥ ५ ॥

प्रह्लादने कहा—हे दैत्यश्रेष्ठ ! अहंता-ममतारूप असद् अभिनिवेशसे जिनकी बुद्धि सदा उद्विग्न रहती है उन प्राणियोंके लिये मैं यही अच्छा समझता हूँ कि आत्मपतनके हेतुभूत जो गृहरूप अन्धकूप हैं उन्हें त्यागकर वनमें जा श्रीहरिका आश्रय लें ॥ ५ ॥

नारद उवाच

श्रुत्वा पुत्रगिरो दैत्यः परपक्षसमाहिताः ।
जहास बुद्धिर्बालानां भिद्यते परबुद्धिभिः ॥ ६ ॥
सम्यग्विधार्यतां बालो गुरुगेहे द्विजातिभिः ।
विष्णुपक्षैः प्रतिच्छन्नैर्न भिद्येतास्य धीर्यथा ॥ ७ ॥

श्रीनारदजी बोले—हे राजन् ! अपने पुत्रका यह विपक्षकी श्रद्धासे युक्त भाषण सुन दैत्यराज हँसा और कहने लगा "बालकोंकी बुद्धि इसी प्रकार दूसरोंके बहकानेमें आकर भ्रष्ट हो जाती है ॥ ६ ॥ अतः इसे गुरुगृहमें ले जाकर उन ब्राह्मणोंसे इसकी खूब देख-रेख कराओ, जिससे गुप्तरूपसे विचरनेवाले विष्णुके पक्षपाती इसकी बुद्धि न बिगाड़ने पावें" ॥७॥

गृहमानीतमाहूय प्रह्लादं दैत्ययाजकाः ।
प्रशस्य श्लक्ष्णया वाचा समपृच्छन्त सामभिः ॥ ८ ॥
वत्स प्रह्लाद भद्रं ते सत्यं कथय मा मृषा ।
बालानति कुतस्तुभ्यमेष बुद्धिविपर्ययः ॥ ९ ॥
बुद्धिभेदः परकृत उताहो ते स्वतोऽभवत् ।
भण्यतां श्रोतुकामानां गुरूणां कुलनन्दन ॥१०॥

तब, अपने घर पहुँचाये जानेपर उन दैत्य-पुरोहितोंने प्रह्लादको अपने पास बुलाकर मधुरवाणीसे उनकी प्रशंसा करते हुए शान्तिपूर्वक पूछा—॥ ८ ॥ "बेटा प्रह्लाद ! तेरा कल्याण हो, तू ठीक-ठीक बता—देख, झूठ न बोलना—तेरी बुद्धिमें यह इन सब बालकोंसे निराला उलट-फेर कैसे हुआ ? ॥ ९ ॥ हे कुलनन्दन ! तुम्हारा यह बुद्धिभेद किसी औरका किया हुआ है, अथवा स्वयं ही हुआ है ? देखो, हम तुम्हारे गुरु हैं—हमें यह बात सुननेकी बड़ी उत्कण्ठा है; अतः तुम सब बात सच-सच बता दो" ॥ १० ॥

प्रह्लाद उवाच

स्वः[1] परश्चेत्यसद्ग्राहः पुंसां यन्मायया कृतः ।
विमोहितधियां दृष्टस्तस्मै भगवते नमः ॥११॥
स यदानुव्रतः पुंसां पशुबुद्धिर्विभिद्यते ।
अन्य एष तथान्योऽहमिति भेदगतासती ॥१२॥

प्रह्लादजी बोले—जिनकी बुद्धि मोहसे ग्रस्त है उन पुरुषोंको जिनकी मायासे 'यह मेरा है, यह पराया है' ऐसा मिथ्या दुराग्रह हो रहा है उन श्रीभगवान्‌को नमस्कार है ॥ ११ ॥ जब उन प्रभुका जीवोंपर अनुग्रह होता है तब उनकी मिथ्या पशुबुद्धि—जिससे 'यह व्यक्ति अन्य और मैं अन्य हूँ' ऐसा भेद होता है—नष्ट हो जाती है ॥ १२ ॥

१. प्रा० पा०—परः स्वश्चेत्य० ।

स एष आत्मा स्वपरेत्यबुद्धिभि-
दुरत्ययानुक्रमणो निरूप्यते ।
मुह्यन्ति यद्वर्त्मनि वेदवादिनो
ब्रह्मादयो ह्येष भिनत्ति मे मतिम् ॥१३॥
यथा भ्राम्यत्ययो ब्रह्मन्स्वयमाकर्षसन्निधौ ।
तथा मे भिद्यते चेतश्चक्रपाणेर्यदृच्छया ॥१४॥

उस आत्माका ही बुद्धिहीन पुरुष 'यह अपना है, यह पराया है' इस प्रकार निरूपण करते हैं । [सो ठीक ही है, क्योंकि] उसकी लीला बड़ी ही दुर्ज्ञेय है—उसके मार्गमें ब्रह्मादि वेदवादीगण भी मोहित हो जाते हैं । उस परमात्माने ही मेरी बुद्धिमें भेद डाला है ॥१३॥ हे ब्रह्मन् ! जिस प्रकार लोहा स्वयं ही चुम्बकके पास खिंच जाता है उसी प्रकार चक्रपाणि श्रीहरिकी इच्छासे ही मेरी बुद्धिमें भी भेद पड़ा हुआ है ॥ १४ ॥

नारद उवाच

एतावद्ब्राह्मणायोक्त्वा विरराम महामतिः ।
तं निर्भर्त्स्याथ कुपितः स दीनो राजसेवकः ॥१५॥
आनीयतामरे वेत्रमस्माकमयशस्करः ।
कुलाङ्गारस्य दुर्बुद्धेश्चतुर्थोऽस्योदितो दमः ॥१६॥
दैतेयचन्दनवने जातोऽयं कण्टकद्रुमः ।
यन्मूलोन्मूलपरशोर्विष्णोर्नालायितोऽर्भकः ॥१७॥
इति तं विविधोपायैर्भीषयंस्तर्जनादिभिः ।
प्रह्लादं ग्राहयामास त्रिवर्गस्योपपादनम् ॥१८॥
तत एनं गुरुर्ज्ञात्वा ज्ञातज्ञेयचतुष्टयम् ।
दैत्येन्द्रं दर्शयामास मातृमृष्टमलङ्कृतम् ॥१९॥
पादयोः पतितं बालं प्रतिनन्द्याशिषासुरः ।
परिष्वज्य चिरं दोर्भ्यां परमामाप निर्वृतिम् ॥२०॥
आरोप्याङ्कमवघ्राय मूर्धन्यश्रुकलाम्बुभिः ।
आसिञ्चन्विकसद्वक्त्रमिदमाह युधिष्ठिर ॥२१॥

हिरण्यकशिपुरुवाच

प्रह्लादानूद्यतां तात स्वधीतं किञ्चिदुत्तमम् ।
कालेनैतावतायुष्मन्यदशिक्षद्गुरोर्भवान् ॥२२॥

श्रीनारदजी कहते हैं—हे राजन् ! उन ब्राह्मण गुरुसे ऐसा कह महामति प्रह्लादजी मौन हो गये । तब उस बेचारे राजसेवकने कुपित हो प्रह्लादजीको झिड़कते हुए कहा—॥१५॥ "अरे ! कोई मेरा बेंत तो लाओ, यह हमें अपयश दिलानेवाला है; इस दुर्बुद्धि कुलाङ्गार-के लिये [शास्त्रोंमें वर्णित साम, दान, भेद और दण्ड—इन चार उपायोंमेंसे] चौथा उपाय—दण्ड ही उपयुक्त बताया गया है ॥१६॥ यह बालक दैत्यकुलरूप चन्दन-वनमें काँटोंका वृक्ष ही उत्पन्न हुआ और उसका मूलोच्छेदन करनेवाले विष्णुरूप परशुके लिये मानो दण्ड (बेंट) का काम देनेवाला है" ॥१७॥

इस प्रकार डाँटना-डपटना आदि अनेकों उपायोंसे प्रह्लादको डराते हुए वे उन्हें अर्थ, धर्म और कामकी प्राप्ति करानेवाली विद्या पढ़ाने लगे ॥१८॥ कुछ समय बीतनेपर, गुरुने यह देखकर कि प्रह्लाद साम, दान, भेद और दण्ड चारों विषय भली प्रकार जान गये हैं, उन्हें उनकी मातासे स्नान और आभूषणादिसे अलंकृत करा हिरण्यकशिपुके पास ले जाकर दिखाया ॥१९॥ पुत्रको पैरोंमें पड़ा देख असुरराज हिरण्यकशिपुने उसका आशीर्वादसे अभिनन्दन किया, फिर अपनी दोनों भुजाओंसे बहुत देरतक आलिङ्गनकर अति आनन्दमग्न हो गया ॥२०॥ हे युधिष्ठिर ! तदनन्तर उस प्रसन्नवदन बालकको गोदमें ले, उसका शिर सूँघ, नेत्रोंसे अश्रुजल बहाते हुए वह इस प्रकार कहने लगा॥२१॥

हिरण्यकशिपु बोला—चिरञ्जीवी बेटा प्रह्लाद ! इतने दिनोंतक तुमने गुरुसे जो कुछ भली भाँति अध्ययन किया है उसमेंसे कोई अच्छी-सी बात सुनाओ ॥२२॥

१. प्राचीन प्रतिमें 'नारद उवाच' यह पाठ नहीं है । २. प्रा० पा०—तं मुनिर्भर्त्स्य कु० । ३. प्रा० पा०—तन्मू० । ४. प्रा० पा०—प्रणतं पादयोर्बालं । ५. प्राचीन प्रतिमें 'हिरण्यकशिपुरुवाच' यह पाठ नहीं है ।

प्रह्लाद उवाच

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् ।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ॥२३॥
इति पुंसार्पिता विष्णौ भक्तिश्चेन्नवलक्षणा ।
क्रियते भगवत्यद्धा तन्मन्येऽधीतमुत्तमम् ॥२४॥
निशम्यैतत्सुतवचो हिरण्यकशिपुस्तदा ।
गुरुपुत्रमुवाचेदं रुषा प्रस्फुरिताधरः ॥२५॥
ब्रह्मबन्धो किमेतत्ते विपक्षं श्रयतासता ।
असारं ग्राहितो बालो मामनादृत्य दुर्मते ॥२६॥
सन्ति ह्यसाधवो लोके दुर्मैत्राश्छद्मवेषिणः ।
तेषामुदेत्यघं काले रोगः पातकिनामिव ॥२७॥

प्रह्लादजी बोले—पिताजी ! भगवान् विष्णुका श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन करना—यह उनकी नवधा भक्ति है । यदि पुरुष इस नवधा भक्तिका भगवदर्पणपूर्वक आचरण करे तो मैं उसे ही सबसे अच्छा अध्ययन समझता हूँ ॥२३-२४॥

पुत्रके ये वचन सुन क्रोधके मारे हिरण्यकशिपुका अधर फड़कने लगा और उसने गुरुपुत्रसे कहा—॥ २५ ॥ "अरे ब्राह्मणाधम ! रे दुर्बुद्धे ! तूने मेरी कुछ भी परवा न कर शत्रुका आश्रय ले इस बालकको यह कैसी सारहीन शिक्षा दे दी ? ॥२६॥ सच है, संसारमें बहुतसे दुष्टलोग कपटवेष धारणकर ऊपरसे मित्र बने रहते हैं, किन्तु जिस प्रकार समय आनेपर पापियोंको रोग घेर लेता है उसी प्रकार कालान्तरमें उनका द्रोह भी प्रकट हो ही जाता है" ॥२७॥

गुरुपुत्र उवाच

न मत्प्रणीतं न परप्रणीतं
सुतो वदत्येष तवेन्द्रशत्रो ।
नैसर्गिकीयं मतिरस्य राज-
न्नियच्छ मन्युं कददाः स्म मा नः ॥२८॥

गुरुपुत्र बोला—हे इन्द्रशत्रो ! आपका पुत्र जो कुछ कह रहा है वह मेरा अथवा किसी औरका सिखाया हुआ नहीं है । हे राजन् ! यह इसकी स्वाभाविक बुद्धि है; आप अपना क्रोध शान्त कीजिये, हमें वृथा दोष न लगाइये ॥२८॥

नारद उवाच

गुरुणैवं प्रतिप्रोक्तो भूय आहासुरः सुतम् ।
न चेद्गुरुमुखीयं ते कुतोऽभद्रासती मतिः ॥२९॥

श्रीनारदजी बोले—हे राजन् ! गुरुके इस प्रकार उत्तर देनेपर उस दैत्यने अपने पुत्रसे फिर पूछा, "क्यों रे, यदि तुझे ऐसी अमङ्गलमयी खोटी बुद्धि गुरुके उपदेशसे नहीं हुई तो कहाँसे हुई ?" ॥२९॥

प्रह्लाद उवाच

मतिर्न कृष्णे परतः स्वतो वा
मिथोऽभिपद्येत गृहव्रतानाम् ।
अदान्तगोभिर्विशतां तमिस्रं
पुनः पुनश्चर्वितचर्वणानाम् ॥३०॥
न ते विदुः स्वार्थगतिं हि विष्णुं
दुराशया ये बहिरर्थमानिनः ।
अन्धा यथान्धैरुपनीयमाना
वाचीशतन्त्यामुरुदाम्नि बद्धाः ॥३१॥

प्रह्लादजी बोले—जो अजितेन्द्रिय होनेके कारण चर्वितचर्वणन्यायसे भोगे हुए विषयोंको फिर भोगनेके लिये बारम्बार संसारमें प्रवेश करते हैं उन गृहासक्त पुरुषोंकी बुद्धि अपने-आप, किसीके सिखानेसे अथवा पारस्परिक सत्संगसे भी भगवान्में नहीं लगती ॥३०॥ जो बाह्य विषयोंको ही बड़ा मानते हैं तथा अन्धेसे ले जाये जाते हुए अन्धेके समान वेदवाणीरूप रस्सीके कर्मबन्धनमें बँधे हुए हैं वे दुर्मति अपने परम-पुरुषार्थरूप श्रीविष्णुको नहीं पा सकते ॥ ३१ ॥

१. प्रा० पा०—गुरुरुवाच ।

नैषां मतिस्तावदुरुक्रमाङ्घ्रिं
स्पृशत्यनर्थापगमो यदर्थः ।
महीयसां पादरजोऽभिषेकं
निष्किञ्चनानां[1] न वृणीत यावत् ॥३२॥

ये लोग जबतक अपने-आपको निष्किञ्चन महापुरुषोंकी चरणरजसे अभिषिक्त नहीं करते तबतक इनकी बुद्धि भगवान् उरुक्रमके चरणोंका स्पर्श नहीं कर सकती, जिससे कि संसाररूप अनर्थका सर्वथा नाश हो जाता है॥३२॥

इत्युक्त्वोपरतं पुत्रं हिरण्यकशिपू रुषा ।
अन्धीकृतात्मा स्वोत्सङ्गान्निरस्यत महीतले ॥३३॥
आहामर्षरुषाविष्टः कषायीभूतलोचनः[2] ।
वध्यतामाश्वयं वध्यो निःसारयत नैर्ऋताः ॥३४॥
अयं मे भ्रातृहा सोऽयं हित्वा स्वान्सुहृदोऽधमः ।
पितृव्यहन्तुर्यः पादौ विष्णोर्दासवदर्चति ॥३५॥
विष्णोर्वा साध्वसौ किं नु करिष्यत्यसमञ्जसः ।
सौहृदं दुस्त्यजं पित्रोरहाद्यः पञ्चहायनः ॥३६॥
परोऽप्यपत्यं हितकृद्यथौषधं
स्वदेहजोऽप्यामयवत्सुतोऽहितः ।
छिन्द्यात्तदङ्गं यदुतात्मनोऽहितं
शेषं सुखं जीवति यद्विवर्जनात् ॥३७॥
सर्वैरुपायैर्हन्तव्यः सम्भोजशयनासनैः ।
सुहृल्लिङ्गधरः शत्रुर्मुनेर्दुष्टमिवेन्द्रियम् ॥३८॥

प्रह्लादजी ऐसा कहकर मौन हो गये । यह देख हिरण्यकशिपुने क्रोधान्ध हो अपने पुत्रको गोदसे पृथिवीपर पटक दिया ॥३३॥ फिर असहिष्णुता और रोषसे रक्तनयन हो वह कहने लगा—"अरे राक्षसो ! यह बालक वध करने योग्य है, इसे तुरन्त मार डालो अथवा यहाँसे बाहर निकाल दो ॥३४॥ यह पापी अपने बन्धुओंको छोड़कर अपने पितृव्य (काका) का वध करनेवाले विष्णुके चरणोंकी दासके समान पूजा करता है; अतः यह मेरे भाईको मारनेवाला विष्णु ही है ॥३५॥ यह अविश्वसनीय बालक भला विष्णुका भी क्या हित कर सकेगा ? जिसने पाँच वर्षकी अवस्थामें ही अपने माता-पिताका दुस्त्यज स्नेह त्याग दिया ! ॥३६॥ ओषधिके समान यदि कोई अन्य पुरुष भी हितकारी हो तो उसे पुत्र ही समझना चाहिये और अपने शरीरसे उत्पन्न हुआ पुत्र भी यदि दुःखदायी हो तो रोगके समान त्याज्य ही है। अन्यका तो क्या कहना, यदि अपने शरीरका कोई अंग भी दुःख देने लगे तो उसे काट डालना चाहिये, क्योंकि उसके न रहनेपर शेष शरीर तो सुखपूर्वक जीवित रह सकता है ॥३७॥ अतः इसे खाने-पीने, सोने, बैठने आदिके समय होनेवाले किसी भी उपायसे मार डालो, क्योंकि जैसे मुनिजनके लिये उनकी उच्छृङ्खल इन्द्रियाँ शत्रु हैं उसी प्रकार मैं इसे सुहृद्-रूपधारी शत्रु ही समझता हूँ ॥३८॥

नैर्ऋतास्ते समादिष्टा भर्त्रा वै शूलपाणयः ।
तिग्मदंष्ट्रकरालास्यास्ताम्रश्मश्रुशिरोरुहाः ॥३९॥
नदन्तो भैरवान्नादांश्छिन्धि भिन्धीति वादिनः ।
आसीनं चाहनञ्छूलैः प्रह्लादं सर्वमर्मसु ॥४०॥
परे ब्रह्मण्यनिर्देश्ये भगवत्यखिलात्मनि ।

स्वामीके इस प्रकार आज्ञा देनेपर वे तीखी दाढ़, विकराल वदन और लाल-लाल दाढ़ी-मूँछ एवं केशोंवाले राक्षसगण हाथोंमें त्रिशूल ले तथा 'मारो ! काटो !' ऐसा कहकर भयंकर सिंहनाद करने लगे और वहाँ बैठे हुए प्रह्लादजीके सम्पूर्ण मर्मस्थानोंमें त्रिशूलसे प्रहार करने लगे ॥३९-४०॥ इस समय प्रह्लादजीका चित्त अनिर्वाच्य सर्वात्मा भगवान् परब्रह्ममें लीन था;

१. प्रा० पा०—नानामवृणीत । २. प्रा० पा०—कषायीकृत० ।

युक्तात्मन्यफला आसन्नपुण्यस्येव सत्क्रियाः ॥४१॥

प्रयासेऽपहते तस्मिन्दैत्येन्द्रः परिशङ्कितः ।
चकार तद्वधोपायान्निर्बन्धेन युधिष्ठिर ॥४२॥
दिग्गजैर्दन्दशूकैश्च अभिचारावपातनैः ।
मायाभिः संनिरोधैश्च गरदानैरभोजनैः ॥४३॥
हिमवाय्वग्निसलिलैः पर्वताक्रमणैरपि ।
न शशाक यदा हन्तुमपापमसुरः सुतम् ।
चिन्तां दीर्घतमां प्राप्तस्तत्कर्तुं नाभ्यपद्यत ॥४४॥
एष मे बह्वसाधूक्तो वधोपायाश्च निर्मिताः ।
तैस्तैर्द्रोहैरसद्धर्मैर्मुक्तः स्वेनैव तेजसा ॥४५॥
वर्तमानोऽविदूरे वै बालोऽप्यजडधीरयम् ।
न विस्मरति मेऽनार्यं शुनःशेप इव प्रभुः ॥४६॥
अप्रमेयानुभावोऽयमकुतश्चिद्भयोऽमरः ।
नूनमेतद्विरोधेन मृत्युर्मे भविता न वा ॥४७॥

इति तं चिन्तया किञ्चिन्म्लानश्रियमधोमुखम् ।
शण्डामर्कावौशनसौ विविक्त इति होचतुः ॥४८॥

जितं त्वयैकेन जगत्त्रयं भ्रुवो-
र्विजृम्भणत्रस्तसमस्तधिष्ण्यपम् ।

इसलिये पुण्यहीन पुरुषोंके महान् उद्योगके समान उनके सब प्रहार प्रह्लादजीके विषयमें व्यर्थ हो गये ॥४१॥

हे युधिष्ठिर ! इस प्रकार उस प्रयत्नके निष्फल हो जानेपर दैत्यराजने अति शङ्कितचित्त हो उनका वध करनेके लिये आग्रहपूर्वक अनेकों उपाय किये ॥४२॥ किन्तु जब दिग्गजोंसे रौंदवाकर, विषधर सर्पोंसे डँसवाकर, अभिचार कराकर, पर्वतादिसे गिराकर, अनेकों मायाओंका प्रयोग कराकर, अँधेरी कोठरियोंमें बंद कराकर, विष दिलाकर, उपवास कराकर, शीत, वायु, अग्नि और जलमें बिठाकर तथा पर्वतोंके नीचे दबाकर भी किसी उपायसे उस निर्दोष बालकका वध न कर सका तो उस असुरको बड़ी चिन्ता हुई, और उसे उनका वध करनेका और कोई उपाय न सूझा ॥४३-४४॥ [वह कहने लगा—] "अहो ! मैंने इससे अनेकों दुर्वचन कहे और इसके वधके बहुतसे उपाय किये, किन्तु उन सब प्रकारके द्रोह और निन्दित आचरणोंसे यह अपने ही प्रभावद्वारा बच गया ॥ ४५ ॥ यह बालक होनेपर भी मेरे पास निःशङ्क भावसे बैठा हुआ है, अतः इसमें अवश्य कुछ सामर्थ्य है और यह शुनःशेपके * समान मेरे किये अपकारोंको नहीं भूलेगा ॥ ४६ ॥ इसका प्रभाव तो अपरिमित मालूम होता है, इसे किसीका भय नहीं है, मालूम होता है यह अमर है; अतः इसका विरोध करनेसे निश्चय ही मेरी मृत्यु होगी, अथवा न भी हो [क्योंकि मैं अमर हूँ] ॥ ४७ ॥

इस प्रकार चिन्ताके कारण जिसकी कान्ति कुछ मलिन हो गयी है उस हिरण्यकशिपुको एकान्तमें शिर झुकाये बैठे देख शुक्रपुत्र शण्ड और अमर्कने यह कहा—॥ ४८ ॥ हे नाथ ! आपके भृकुटिविलासमात्रसे जहाँके सम्पूर्ण लोकपालगण भयभीत हो जाते हैं उन तीनों लोकोंको आपने अकेलेही जीत लिया था ।

१. प्रा० पा०—शूकेन्द्रैरभिचाराभिपात० ।

* शुनःशेप अजीगर्त्तका मँझला पुत्र था । उसे पिताने वरुणके यज्ञमें बलि देनेके लिये हरिश्चन्द्रके पुत्र रोहिताश्वके हाथ बेच दिया था । तब उसके मामा विश्वामित्रजीने उसकी रक्षा की और वह अपने पितासे विरुद्ध होकर उनके विपक्षी विश्वामित्रजीके ही गोत्रमें हो गया । यह कथा आगे नवम स्कन्ध, सातवें अध्यायमें आयेगी ।

न तस्य चिन्त्यं तव नाथ चक्ष्महे[1]
न वै शिशूनां गुणदोषयोः पदम् ॥४९॥
इमं तु पाशैर्वरुणस्य बद्ध्वा
निधेहि भीतो न पलायते यथा ।
बुद्धिश्च पुंसो वयसार्यसेवया
यावद्गुरुर्भार्गव आगमिष्यति ॥५०॥

आप-जैसे प्रतापशालीके लिये हमें कोई चिन्ताकी बात नहीं दिखायी देती। हे तात! बालकोंका व्यवहार किसी प्रकारके गुण-दोषका कारण नहीं हुआ करता ॥ ४९ ॥ फिर भी जबतक श्रीशुक्राचार्यजी आवें तबतक आप इसे वरुण-के पाशोंमें बाँधकर डाल दीजिये जिससे यह भयवश कहीं भाग न जाय। [प्रायः देखा जाता है] आयु-की वृद्धि और भद्रजनोंकी सेवासे मनुष्योंको स्वयं ही बुद्धि आ जाती है ॥ ५० ॥

तथेति गुरुपुत्रोक्तमनुज्ञायेदमब्रवीत् ।
धर्मा ह्यस्योपदेष्टव्या[2] राज्ञां यै[4] गृहमेधिनाम् ॥५१॥
धर्ममर्थं च कामं च नितरां चानुपूर्वशः ।
प्रह्लादायोचतू राजन्प्रश्रितावनताय च ॥५२॥
यया त्रिवर्गं[5] गुरुभिरात्मने उपशिक्षितम्[6] ।
न साधु मेने तच्छिक्षां द्वन्द्वारामोपवर्णिताम् ॥५३॥

तब 'बहुत अच्छा' ऐसा कहकर हिरण्यकशिपुने गुरुपुत्रोंकी बात स्वीकार की और उनसे कहा—'इसे, जो गृहस्थ राजाओंके धर्म हैं उन्हींका उपदेश करना चाहिये ॥ ५१ ॥ हे राजा युधिष्ठिर! तब उन गुरु-पुत्रोंने अति विनीत और नम्र प्रह्लादजीको क्रमशः केवल धर्म, अर्थ और कामकी ही शिक्षा देनी आरम्भ की ॥ ५२ ॥ किन्तु गुरुओंने जिसके द्वारा उन्हें केवल अर्थ, धर्म और कामका ही उपदेश दिया वह शिक्षा उन्हें अच्छी नहीं लगी क्योंकि वह तो राग-द्वेषादि द्वन्द्व और विषय-भोगोंमें आसक्त रहनेवाले पुरुषोंके लिये ही बतायी गयी है ॥ ५३ ॥

यदाचार्यः परावृत्तो गृहमेधीयकर्मसु ।
वयस्यैर्बालकैस्तत्र सोपहूतः कृतक्षणैः ॥५४॥
अथ तान् श्लक्ष्णया वाचा प्रत्याहूय महाबुधः ।
उवाच विद्वांस्तन्निष्ठां कृपया प्रहसन्निव ॥५५॥
ते तु तद्गौरवात्सर्वे त्यक्तक्रीडापरिच्छदाः ।
बाला न दूषितधियो द्वन्द्वारामेरितेहितैः ॥५६॥
पर्युपासत राजेन्द्र तन्न्यस्तहृदयेक्षणाः ।

एक बार जब गुरुजी घरके धन्धोंमें लगे हुए थे, उनके समवयस्क बालकोंने, खेल-कूदका अवसर पाकर उन्हें [अपने साथ खेलनेके लिये] पुकारा ॥ ५४ ॥ तब उनके जन्म-मरणकी गतिको जाननेवाले महाज्ञानी प्रह्लादजीने मधुर वाणीसे उन्हें ही अपने पास बुला लिया और उनपर कृपा करके कुछ हँसते हुए-से बोले ॥ ५५ ॥ हे राजन्! वे बालक थे, उनकी बुद्धि राग-द्वेषादि द्वन्द्वोंमें रमण करनेवाले विषयी पुरुषोंके उपदेशों और आचरणोंसे दूषित नहीं हुई थी; अतः प्रह्लादजीके गौरवसे [उनके बुलानेपर] वे सब-के-सब अपनी खेल-कूदकी सामग्री छोड़कर उनके पास चले गये, तथा उन्हींमें अपने चित्त और नेत्र लगाकर उनके चारों ओर बैठ गये।

१. प्रा० पा०—विद्महे। २. प्रा० पा०—धर्मो। ३. प्रा० पा०—व्यो। ४. प्रा० पा०—यो। ५. प्रा० पा०—त्रिवर्गो। ६. प्रा० पा०—क्षितः।

तानाह करुणो मैत्रो महाभागवतोऽसुरः ॥५७॥

तब उन अति करुणामय और परम सुहृद् महाभागवत असुरश्रेष्ठने उनसे कहा ॥ ५६-५७ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे सप्तमस्कन्धे प्रह्लादानु-
चरिते पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

छठा अध्याय

प्रह्लादजीका असुरबालकोंको उपदेश ।

प्रह्लाद उवाच

कौमार आचरेत्प्राज्ञो धर्मान्भागवतानिह ।
दुर्लभं मानुषं जन्म तदप्यध्रुवमर्थदम् ॥ १ ॥
यथा हि पुरुषस्येह विष्णोः पादोपसर्पणम् ।
यदेष सर्वभूतानां प्रिय आत्मेश्वरः सुहृत् ॥ २ ॥
सुखमैन्द्रियकं दैत्या देहयोगेन देहिनाम् ।
सर्वत्र लभ्यते दैवाद्यथा दुःखमयत्नतः ॥ ३ ॥
तत्प्रयासो न कर्तव्यो यत आयुर्व्ययः परम् ।
न तथा विन्दते क्षेमं मुकुन्दचरणाम्बुजम् ॥ ४ ॥
ततो यतेत कुशलः क्षेमाय भयमाश्रितः ।
शरीरं पौरुषं यावन्न विपद्येत पुष्कलम् ॥ ५ ॥
पुंसो वर्षशतं ह्यायुस्तदर्धं चाजितात्मनः ।
निष्फलं यदसौ रात्र्यां शेतेऽन्धं प्रापितस्तमः ॥ ६ ॥

प्रह्लादजी बोले—हे दैत्यबालको ! बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि बाल्यावस्थामें ही भागवत धर्मोंका आचरण करे, क्योंकि यह मनुष्यजन्म अति दुर्लभ है और अनित्य होनेपर भी पुरुषार्थका साधक है ॥१॥ इस मनुष्यजन्ममें भगवान् विष्णुके चरणोंकी शरण लेना ही जीवका एकमात्र कर्त्तव्य है, क्योंकि सम्पूर्ण प्राणियोंके वे ही आत्मा, प्रिय, ईश्वर और सुहृद् हैं ॥२॥ अरे दैत्यो ! देहका सम्बन्ध होनेपर प्राणियोंको इन्द्रियजनित सुख तो दुःखकी भाँति अनायास ही सब योनियोंमें मिल जाता है ॥ ३ ॥ अतः उसके लिये प्रयत्न नहीं करना चाहिये, क्योंकि उसमें तो आयुको व्यर्थ गँवाना ही है । उससे वह सुख नहीं मिल सकता जो श्रीभगवान्के चरणकमलोंकी सेवासे प्राप्त होता है ॥ ४ ॥ अतः जबतक यह सर्वावयवपूर्ण मानवशरीर विपत्तिग्रस्त न हो तबतक ही भवभयमें पड़े हुए विवेकी पुरुषको अपने कल्याणका उपाय कर लेना चाहिये ॥ ५ ॥ मनुष्यकी पूर्ण आयु केवल सौ वर्षकी ही है, उसमें भी अजितेन्द्रियकी आधी आयु तो व्यर्थ ही जाती है, क्योंकि वह रात्रिके समय तमोग्रस्त होकर सोता रहता है ॥ ६ ॥

१. प्रा० पा०—दचरिते । २. प्राचीन प्रतिमें प्रह्लादके वाक्यमें 'कौमार आचरेत्प्राज्ञो' इस श्लोकके पहले पाँच श्लोक और अधिक हैं । ये पाँच श्लोक भागवतके विख्यात टीकाकार श्रीविजयध्वजजीने भी माने हैं और उनपर टीका भी लिखी है । प्राचीन प्रतिका लेख कहीं-कहीं अस्पष्ट और खण्डित होनेके कारण ये पाँच श्लोक शुद्ध रूपमें नहीं लिये जा सके, अतः उनको विजयध्वजकी टीकाके अनुसार शुद्ध करके यहाँ उद्धृत किया जा रहा है—

हन्तार्भका मे शृणुत वचो वः सर्वतः शिवम् । वयस्यान् पश्यत मृतान् क्रीडान्धा मा प्रमाद्यथ ॥
न पुरा विवशं बाला आत्मनोऽर्थे प्रियैषिणः । गुरूक्तमपि न ग्राह्यं यदनर्थेऽर्थकल्पनम् ॥
यदुक्त्या न प्रबुद्ध्येत सुप्तस्त्वज्ञाननिद्रया । न श्रद्दध्यान्मतं तस्य यथान्धो ह्यन्धनायकः ॥
कः शत्रुः क उदासीनः किं मित्रं चेह आत्मनः । भवत्स्वपि नयैः किं स्याद्देवं सम्पद्विपत्पदम् ॥
यो न हिंस्याद्धर्मकाममात्मानं स्वजने वशः । पुनः श्रीलोकयोर्हेतुः स मुक्तान्ध्योऽतिदुर्लभः ॥

मुग्धस्य बाल्ये कौमारे क्रीडतो याति विंशतिः ।
जरया ग्रस्तदेहस्य यात्यकल्पस्य विंशतिः ॥ ७ ॥
दुरापूरेण कामेन मोहेन च बलीयसा ।
शेषं गृहेषु सक्तस्य प्रमत्तस्यापयाति हि ॥ ८ ॥

उसमेंसे भी बाल्यावस्थामें मोहग्रस्त रहने और कौमारावस्थामें खेल-कूदमें लगे रहनेसे, बीस वर्ष यों ही चले जाते हैं तथा बीस वर्ष वृद्धावस्थामें शरीरके सामर्थ्यहीन हो जानेसे नष्ट हो जाते हैं ॥ ७ ॥ रही शेष आयु, वह कठिनतासे पूर्ण होनेवाले काम और प्रबल मोहके कारण गृहमें आसक्त रहनेसे केवल प्रमादमें ही बीत जाती है ॥ ८ ॥

को गृहेषु पुमान्सक्तमात्मानमजितेन्द्रियः ।
स्नेहपाशैर्दृढैर्बद्धमुत्सहेत विमोचितुम् ॥ ९ ॥
को न्वर्थतृष्णां विसृजेत्प्राणेभ्योऽपि य ईप्सितः ।
यं क्रीणात्यसुभिः प्रेष्ठैस्तस्करः सेवको वणिक् ॥१०॥

अरे बालको ! अपनी इन्द्रियोंको वशमें न रखनेवाला ऐसा कौन पुरुष है जो सुदृढ़ स्नेहबन्धनसे बँधे हुए अपने गृहासक्त चित्तको उससे मुक्त कर सके ? ॥९॥ जिसे चोर, सेवक और व्यापारीलोग अपने प्रियतम प्राणोंके बदले भी मोल लेते हैं, उस प्राणाधिक द्रव्यकी तृष्णाको भला कौन त्याग सकता है ? ॥ १० ॥

कथं प्रियाया अनुकम्पितायाः
सङ्गं रहस्यं रुचिरांश्च मन्त्रान् ।
सुहृत्सु च स्नेहसितः शिशूनां
कलाक्षराणामनुरक्तचित्तः ॥११॥
पुत्रान्स्मरंस्ता दुहितृर्हृदग्या[1]
भ्रातृन्स्वसॄर्वा पितरौ च दीनौ ।
गृहान्मनोज्ञोरुपरिच्छदांश्च
वृत्तीश्च कुल्याः पशुभृत्यवर्गान् ॥१२॥
त्यजेत कोशस्कृदिवेहमानः
कर्माणि लोभादवितृप्तकामः ।
औपस्थ्यजैह्वं बहु मन्यमानः
कथं विरज्येत दुरन्तमोहः ॥१३॥

जिसका चित्त अपनी प्रियतमा प्रियाके एकान्त सहवास और मनोज्ञ वार्तालापमें, बन्धुजनोंके स्नेहमें, एवं बालकोंकी तोतली बोलीमें फँसा हुआ है तथा जिसे श्वशुरगृहनिवासिनी कन्या, पुत्र, भाई, बहिन और दीन माता-पिताओंकी अथवा मनोहर और प्रचुर परिच्छदोंसे पूर्ण गृह, कुलपरम्परागत वृत्ति एवं पशु और सेवकादिका स्मरण बना रहता है वह उन्हें कैसे त्याग सकता है ? लोभवश कामनाओंसे तृप्त न होकर जो उपस्थ और जिह्वाके सुखोंको ही बड़ा मानता है तथा कोशस्कृत् (रेशम बनानेवाले) कीड़ेके समान अपने बन्धनका ही सामान करता रहता है वह महामोहग्रस्त व्यक्ति इस संसारसे किस प्रकार विरक्त हो सकता है ? ॥ ११–१३ ॥

कुटुम्बपोषाय वियन्निजायु-
र्न बुध्यतेऽर्थं विहतं प्रमत्तः ।
सर्वत्र तापत्रयदुःखितात्मा
निर्विद्यते न स्वकुटुम्बरामः ॥१४॥
वित्तेषु नित्याभिनिविष्टचेता
विद्वांश्च दोषं परवित्तहर्तुः ।

जो पुरुष अपने कुटुम्बके पोषणमें अनुरक्त रहता है वह ऐसा मतवाला हो जाता है कि उसे यह मालूम ही नहीं होता कि इस कुटुम्बपालनमें आयु गँवानेसे मेरा वास्तविक पुरुषार्थ नष्ट हो रहा है । वह सर्वत्र त्रिविध तापोंसे पीडित होता है तो भी [उस गृहासक्तिसे] विरक्त नहीं होता ॥१४॥ उस कुटुम्बीका चित्त धनमें निरन्तर आसक्त रहता है, इसलिये परधन हरण करनेवालेको इहलोक और परलोकमें जो दुःख उठाना पड़ता है उसे जानकर भी

१. प्रा० पा०— दुहितॄश्च स्वसर्भ्रातॄन् कलत्रान् पित० ।

प्रेत्येह चाथाप्यजितेन्द्रियस्त-
दशान्तकामो हरते कुटुम्बी ॥१५॥
विद्वानपीत्थं दनुजाः कुटुम्बं
पुष्णन्स्वलोकाय न कल्पते वै ।
यः[1] स्वीयपारक्यविभिन्नभाव-
स्तमः प्रपद्येत यथा विमूढः ॥१६॥
यतो न कश्चित्क्व च कुत्रचिद्वा
दीनः स्वमात्मानमलं समर्थः ।
विमोचितुं कामदृशां विहार-
क्रीडामृगो यन्निगडो विसर्गः ॥१७॥
ततो विदूरात्परिहृत्य दैत्या
दैत्येषु सङ्गं विषयात्मकेषु ।
उपेत नारायणमादिदेवं
सं[2] मुक्तसङ्गैरिषितोऽपवर्गः ॥१८॥
न ह्यच्युतं प्रीणयतो बह्वायासोऽसुरात्मजाः ।
आत्मत्वात्सर्वभूतानां सिद्धत्वादिह सर्वतः ॥१९॥
परावरेषु भूतेषु ब्रह्मान्तस्थावरादिषु ।
भौतिकेषु विकारेषु भूतेष्वथ महत्सु च[3] ॥२०॥
गुणेषु गुणसाम्ये च गुणव्यतिकरे तथा[4] ।
एक एव परो ह्यात्मा भगवानीश्वरोऽव्ययः ॥२१॥
प्रत्यगात्मस्वरूपेण दृश्यरूपेण[5] च स्वयम् ।
व्याप्यव्यापकनिर्देश्यो ह्यनिर्देश्योऽविकल्पितः ॥२२॥
केवलानुभवानन्दस्वरूपः परमेश्वरः ।
माययान्तर्हितैश्वर्य ईयते गुणसर्गया ॥२३॥
तस्मात्सर्वेषु भूतेषु दयां कुरुत सौहृदम् ।
आसुरं[6] भावमुन्मुच्य यया तुष्यत्यधोक्षजः ॥२४॥
तुष्टे[7] च तत्र किमलभ्यमनन्त आद्ये
किं तैर्गुणव्यतिकरादिह ये स्वसिद्धाः ।

वह अजितेन्द्रिय और अशान्तकाम होनेके कारण दूसरोंका धन चुराता ही है ॥ १५ ॥ इस प्रकार, हे दैत्यगण ! जो पुरुष कुटुम्बके पालन-पोषणमें लगा हुआ है वह विद्वान् भी हो तो भी किसी प्रकार आत्मपद प्राप्त नहीं कर सकता, क्योंकि अपने-परायेपन-की भेदबुद्धिके कारण वह अज्ञानियोंके समान ही तमोग्रस्त हो जाता है ॥ १६ ॥

हे दैत्यबालको ! इस प्रकार जो कामिनियोंके विहारका क्रीडामृग है तथा जिसके पैरोंमें सन्ततिरूप बेड़ियाँ पड़ी हुई हैं ऐसा कोई भी दीन पुरुष अपने आत्माका कभी कहींसे किसी प्रकार उद्धार नहीं कर सकता । इसलिये तुम विषयासक्त दैत्योंका सङ्ग दूरही-से त्यागकर आदिदेव श्रीनारायणकी शरण लो; वे ही निस्सङ्ग महात्माओंके वाञ्छित मोक्षपद हैं ॥ १७-१८ ॥ हे दैत्यकुमारो ! श्रीअच्युतको प्रसन्न करनेमें कोई विशेष प्रयास नहीं होता, क्योंकि वे सम्पूर्ण प्राणियोंके आत्मा हैं और संसारमें सर्वत्र विराजमान हैं ॥ १९ ॥ ब्रह्मासे लेकर स्थावरपर्यन्त सम्पूर्ण छोटे-बड़े प्राणियोंमें, पञ्च महाभूतोंसे उत्पन्न हुए घट-पटादि पदार्थोंमें, आकाशादि महाभूतोंमें, सत्त्वादि गुणोंमें, गुणोंकी साम्यावस्थारूप प्रकृतिमें तथा गुणवैषम्यस्वरूप महत्तत्त्वमें वे परमात्मा अविनाशी भगवान् ईश्वर अकेले ही विराजमान हैं ॥ २०-२१ ॥ वे अनिर्वचनीय और अविकल्पित हैं तो भी अन्तर्यामी द्रष्टारूपसे व्यापक और अनात्मा दृश्यरूपसे व्याप्य कहकर उन्हींका निर्वचन किया जाता है ॥ २२ ॥ केवल ज्ञानानन्द-स्वरूप उन परमेश्वरका ऐश्वर्य गुणमयी सृष्टि करनेवाली मायासे आच्छादित है, अतः उसकी निवृत्ति होनेपर ही उनका दर्शन होता है ॥ २३ ॥ अतः तुम आसुरभावको त्यागकर सब प्राणियोंपर दया और प्रेम करो जिससे श्रीअधोक्षज भगवान् प्रसन्न हों ॥ २४ ॥ और उन आदिनारायण श्रीअनन्तके प्रसन्न होनेपर फिर दुर्लभ ही क्या है ? अतः गुणोंके परिणामरूपसे जो स्वतः ही प्राप्त हो जाते हैं उन धर्मादिसे हमें क्या

१. प्रा० पा०—यत्स्वी० । २. प्रा० पा०—संमुक्त० । ३. प्रा० पा०—सूक्ष्मेषु च मह० । ४. प्रा० पा०—यथा । ५. प्रा० पा०—कालरूपेण । ६. प्रा० पा०—भावमासुरमुन्मुच्य । ७. प्रा० पा०—तु ।

धर्मादयः किमगुणेन च काङ्क्षितेन
सारंजुषां चरणयोरुपगायतां नः ॥२५॥
धर्मार्थकाम इति योऽभिहितस्त्रिवर्ग
ईक्षा त्रयी नयदमौ विविधा च वार्ता।
मन्ये तदेतदखिलं निगमस्य सत्यं
स्वात्मार्पणं स्वसुहृदः परमस्य पुंसः ॥२६॥
ज्ञानं तदेतदमलं दुरवापमाह
नारायणो नरसखः किल नारदाय।
एकान्तिनां भगवतस्तदकिञ्चनानां
पादारविन्दरजसाप्लुतदेहिनां स्यात् ॥२७॥
श्रुतमेतन्मया पूर्वं ज्ञानं विज्ञानसंयुतम्।
धर्मं भागवतं शुद्धं नारदाद्देवदर्शनात् ॥२८॥

दैत्यपुत्रा ऊचुः

प्रह्लाद त्वं वयं चापि नर्तेऽन्यं विद्महे गुरुम्।
एताभ्यां गुरुपुत्राभ्यां बालानामपि हीश्वरौ ॥२९॥
बालस्यान्तःपुरस्थस्य महत्सङ्गो दुरन्वयः।
छिन्धि नः संशयं सौम्य स्याच्चेद्विश्रम्भकारणम् ॥३०॥

प्रयोजन है ? तथा भगवान्‌का गुणगान करनेवाले और उनके चरणामृतका रसास्वाद करनेवाले हमलोगोंको मोक्षकी इच्छा भी क्यों होने लगी ? ॥ २५ ॥ हे बालको ! धर्म, अर्थ और कामरूप जो त्रिवर्ग कहा जाता है तथा शास्त्रमें जिन आन्वीक्षिकी, कर्मकाण्ड, न्याय, दण्डनीति एवं नाना प्रकारके जीविकाके साधनोंका वर्णन किया गया है वे यदि अपने परम सुहृद् श्रीपुरुषोत्तमको आत्मार्पण करनेमें सहायक हों तब तो मैं उन्हें ठीक समझता हूँ; नहीं तो, व्यर्थ ही हैं ॥ २६ ॥ पूर्वकालमें इस परम दुर्लभ और विशुद्ध ज्ञानका उपदेश नरके सखा श्रीनारायणने नारदजीको किया था—यह बात लोकप्रसिद्ध है, और यह उन सब प्राणियोंको प्राप्त हो सकता है जो भगवान्‌के अनन्य एवं निष्किञ्चन भक्तोंके चरणकमलोंकी पुनीत रजमें स्नान किये होता है ॥ २७ ॥ मैंने भी यह विज्ञानयुक्त ज्ञान और विशुद्ध भागवत धर्म पूर्वकालमें देवदर्शन श्रीनारदजीके ही मुखसे सुना था ॥ २८ ॥

दैत्यबालकोंने पूछा—हे प्रह्लाद ! हमें और तुम्हें इन दोनों गुरुपुत्रोंके सिवा और किसी गुरुका पता नहीं है; ये बाल्यावस्थासे ही हमारे शासक रहे हैं ॥ २९ ॥ और शैशवकालमें भी अन्तःपुरमें रहनेके कारण तुम्हें किसी महापुरुषका समागम होना अत्यन्त दुर्घट था। [फिर नारदजीसे तुम्हारी भेंट किस प्रकार हुई ?] हे सौम्य ! इस विषयमें हमें विश्वास दिलानेवाला यदि कोई साधन हो तो उसे बताकर हमारे इस संशयको दूर कीजिये ॥ ३० ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे सप्तमस्कन्धे
प्रह्लादानुचरिते षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

१. प्रा० पा०—वतां तद०। २. प्रा० पा०—ज्ञानविज्ञा०। ३. प्रा० पा०—दचरि०।

सातवाँ अध्याय

प्रह्लादजीद्वारा माताके गर्भमें प्राप्त हुए नारदजीके उपदेशका वर्णन।

नारद उवाच

एवं दैत्यसुतैः पृष्टो महाभागवतोऽसुरः।
उवाच स्मयमानांस्तान्स्मरन्मदनुभाषितम्[1] ॥ १ ॥

प्रह्लाद उवाच

पितरि प्रस्थितेऽस्माकं तपसे मन्दराचलम्।
युद्धोद्यमं परं चक्रुर्विबुधा दानवान्प्रति ॥ २ ॥
पिपीलिकैरहिरिव दिष्ट्या लोकोपतापनः।
पापेन पापोऽभक्षीति वादिनो वासवादयः ॥ ३ ॥
तेषामतिबलोद्योगं[2] निशम्यासुरयूथपाः।
वध्यमानाः सुरैर्भीता दुद्रुवुः सर्वतो दिशम् ॥ ४ ॥
कलत्रपुत्रमित्राप्तान्गृहान्पशुपरिच्छदान्।
नावेक्षमाणास्त्वरिताः सर्वे प्राणपरीप्सवः ॥ ५ ॥
व्यलुम्पन्राजशिबिरममरा जयकाङ्क्षिणः[3]।
इन्द्रस्तु राजमहिषीं मातरं मम चाग्रहीत् ॥ ६ ॥
नीयमानां भयोद्विग्नां रुदतीं कुररीमिव।
यदृच्छयागतस्तत्र देवर्षिर्ददृशे पथि ॥ ७ ॥
प्राह मैनां सुरपते नेतुमर्हस्यनागसम्[4]।
मुञ्च मुञ्च महाभाग सतीं परपरिग्रहम् ॥ ८ ॥

इन्द्र उवाच

आस्तेऽस्या जठरे वीर्यमविषह्यं[5] सुरद्विषः।
आस्यतां यावत्प्रसवं मोक्ष्येऽर्थपदवीं गतः ॥ ९ ॥

नारद उवाच

अयं निष्किल्बिषः साक्षान्महाभागवतो महान्।

श्रीनारदजीने कहा—हे राजन्! दैत्यपुत्रोंके इस प्रकार पूछनेपर महाभागवत असुरश्रेष्ठ प्रह्लादजी मेरे कथनका स्मरण करते हुए विस्मयमें पड़े हुए उन बालकोंसे इस प्रकार कहने लगे ॥ १ ॥

प्रह्लादजी बोले—भाइयो! जब हमारे पिताजी तपस्या करनेके लिये मन्दराचल पर्वतपर चले गये तो इन्द्रादि देवताओंने यह कहते हुए कि 'सर्प जिस प्रकार चींटियोंको चाट जाता है उसी प्रकार सौभाग्य-वश सम्पूर्ण लोकोंको सन्तप्त करनेवाले पापी हिरण्यकशिपुको उसके पापोंने भक्षण कर लिया' दानवोंसे युद्ध करनेकी बड़ी तैयारी की ॥ २-३ ॥ देवताओंके इस प्रबल आयोजनका समाचार पा सम्पूर्ण दैत्यनायक उनसे निहत हो भयवश स्त्री, पुत्र, मित्र, बन्धु, गृह, पशु और भोगसामग्रीकी कुछ भी परवा न कर अपने प्राण बचानेके लिये समस्त दिशाओंमें भाग गये ॥ ४-५ ॥ तब विजयाभिलाषी देवगण राजमहलको लूटने लगे तथा इन्द्रने मेरी माता राजमहिषी (कयाधु) को पकड़ लिया ॥ ६ ॥ जिस समय वह, भयसे व्याकुल होकर कुररीके समान रोती हुई मेरी माताको स्वर्गलोककी ओर ले जा रहा था उस समय मार्गमें उसे दैववश आये हुए देवर्षि नारदजी मिले ॥ ७ ॥ उन्होंने कहा—'देवराज! तुम्हें इस निरपराध अबलाको नहीं ले जाना चाहिये; हे महाभाग! इस साध्वी परनारीको छोड़ दो' ॥ ८ ॥

इन्द्रने कहा—हे मुने! इसके उदरमें देवद्रोही हिरण्यकशिपुका असह्य वीर्य स्थित है। अतः इसे प्रसवकालतक मेरे पास रहने दीजिये; फिर [इसके बालकको मारकर] अपना कार्य सिद्ध कर लेनेपर इसे छोड़ दूँगा ॥ ९ ॥

श्रीनारदजी बोले—इन्द्र! इसके गर्भमें जो बालक है वह सर्वथा निर्दोष, साक्षात् परम भागवत, गुणोंके

१. प्रा० पा०—मानस्तान्। २. प्रा० पा०—मपि। ३. प्रा० पा०—जितकाशिनः। ४. प्रा० पा०—हर्तुम०। ५. प्रा० पा०—वीरम०।

त्वया न प्राप्यते संस्थामनन्तानुचरो बली ॥१०॥

कारण अति महान्, भगवान् अनन्तका सेवक और अतिशय बलशाली है; वह तुम्हारेद्वारा नहीं मारा जा सकता ॥ १० ॥

इत्युक्तस्तां विहायेन्द्रो देवर्षेर्मानयन्वचः ।
अनन्तप्रियभक्त्यैनां परिक्रम्य[1] दिवं ययौ ॥११॥

तब इन्द्रने देवर्षि नारदके कथनका आदर कर उसे छोड़ दिया और [उसके उदरमें स्थित] मुझ भगवद्भक्तकी भक्तिसे उसकी परिक्रमा कर देवलोकको चला गया ॥ ११ ॥

ततो नो मातरमृषिः समानीय निजाश्रमम् ।
आश्वास्येहोष्यतां वत्से यावत्ते भर्तुरागमः ॥१२॥
तथेत्यवात्सीद्देवर्षेरन्ति[2] साप्यकुतोभया ।
यावद्दैत्यपतिर्घोरात्तपसो न न्यवर्तत ॥१३॥
ऋषिं पर्यचरत्तत्र भक्त्या परमया सती ।
अन्तर्वत्नी स्वगर्भस्य क्षेमायेच्छाप्रसूतये ॥१४॥

तब नारदजी मेरी माताको अपने आश्रमपर ले गये और उसे सान्त्वना देकर कहा—'बेटी ! जबतक तेरा पति [तपस्यासे निवृत्त होकर] लौटे तबतक तू यहीं रह' ॥ १२ ॥ मुनिवरके इस प्रकार कहनेपर वह 'जो आज्ञा' ऐसा कहकर जबतक दैत्यपति तपस्यासे लौटकर न आये, सब प्रकारसे निर्भय हो उन्हींके आश्रमपर रही ॥ १३ ॥ वह गर्भवती सती अपने गर्भकी मङ्गलकामनासे तथा इच्छानुसार [अर्थात् पतिके आनेपर ही] प्रसव हो—इस उद्देश्यसे मुनिकी अति भक्तिपूर्वक सेवा करने लगी ॥ १४ ॥

ऋषिः कारुणिकस्तस्याः प्रादादुभयमीश्वरः[3] ।
धर्मस्य तत्त्वं ज्ञानं च मामप्युद्दिश्य निर्मलम् ॥१५॥
तत्तु कालस्य दीर्घत्वात्स्त्रीत्वान्मातुस्तिरोदधे ।
ऋषिणानुगृहीतं मां नाधुनाप्यजहात्स्मृतिः ॥१६॥
भवतामपि भूयान्मे यदि श्रद्दधते वचः ।
वैशारदी धीः श्रद्धातः स्त्रीबालानां च मे यथा ॥१७॥
जन्माद्याः षडिमे भावा दृष्टा देहस्य नात्मनः ।
फलानामिव वृक्षस्य कालेनेश्वरमूर्तिना ॥१८॥
आत्मा नित्योऽव्ययः शुद्ध एकः क्षेत्रज्ञ आश्रयः ।
अविक्रियः स्वदृग्हेतुर्व्यापकोऽसङ्ग्यनावृतः ॥१९॥

उसी समय परमकारुणिक और सर्वसमर्थ देवर्षिने मेरे उद्देश्यसे मेरी माताको धर्मके रहस्य और विशुद्ध ज्ञान दोनोंहीका उपदेश दिया था ॥ १५ ॥ किन्तु बहुत समय बीत जानेसे और स्त्रीस्वभाव होनेके कारण मेरी माताके चित्तसे तो वह लुप्त हो गया; परन्तु ऋषिवरकी विशेष कृपा होनेके कारण मुझे अभीतक उसका विस्मरण नहीं हुआ ॥ १६ ॥ हे बालको ! यदि तुम मेरे कथनपर श्रद्धा करोगे तो तुम्हें भी वह दुर्लभ ज्ञान प्राप्त हो सकता है; श्रद्धाके बलसे मेरे समान ही अन्य बालक और स्त्रियोंकी बुद्धि भी शुद्ध हो सकती है ॥ १७ ॥ ईश्वरस्वरूप कालके प्रभावसे जैसे वृक्षके फलोंमें जन्मादि [जन्म, वृद्धि, परिणाम, क्षय, जीर्णता और नाश—ये] छः विकार होते हैं उसी प्रकार शरीरके भी जन्मादि विकार देखे जाते हैं इनसे आत्माका कोई सम्बन्ध नहीं है ॥ १८ ॥ आत्मा तो नित्य, अविनाशी, शुद्ध, एक, क्षेत्रज्ञ, अधिष्ठान, अविकारी, स्वयंप्रकाश, सबका कारण, व्यापक, असङ्ग और अनावृत (पूर्ण) है ॥ १९ ॥

१. प्रा० पा०—परित्यज्य । २. प्रा० पा०—रन्तिके साकुतो० । ३. प्रा० पा०—दादभ० ।

एतैर्द्वादशभिर्विद्वानात्मनो लक्षणैः परैः ।
अहं ममेत्यसद्भावं देहादौ मोहजं त्यजेत् ॥२०॥

स्वर्णं यथा ग्रावसु हेमकारः
क्षेत्रेषु योगैस्तदभिज्ञ आप्नुयात् ।
क्षेत्रेषु देहेषु तथात्मयोगै-
रध्यात्मविद्ब्रह्मगतिं लभेत ॥२१॥

अष्टौ प्रकृतयः प्रोक्तास्त्रय एव हि तद्गुणाः ।
विकाराः षोडशाचार्यैः पुमानेकः समन्वयात् ॥२२॥

देहस्तु सर्वसंघातो जगत्तस्थुरिति द्विधा ।
अत्रैव मृग्यः पुरुषो नेति नेतीत्यतत्त्यजन् ॥२३॥

अन्वयव्यतिरेकेण विवेकेनोशतात्मना ।
सर्गस्थानसमाम्नायैर्विमृशद्भिरसत्वरैः ॥२४॥

बुद्धेर्जागरणं स्वप्नः सुषुप्तिरिति वृत्तयः ।
ता येनैवानुभूयन्ते सोऽध्यक्षः पुरुषः परः ॥२५॥

एभिस्त्रिवर्णैः पर्यस्तैर्बुद्धिभेदैः क्रियोद्भवैः ।
स्वरूपमात्मनो बुध्येद्गन्धैर्वायुमिवान्वयात् ॥२६॥

एतद्द्वारो हि संसारो गुणकर्मनिबन्धनः ।
अज्ञानमूलोऽपार्थोऽपि पुंसः स्वप्न इवेष्यते ॥२७॥

अतः विचारवान् पुरुषको उचित है कि आत्माके इन अति उत्कृष्ट बारह लक्षणोंकी सहायतासे देहादिमें मोहके कारण होनेवाले मैं-मेरेपनके भावको त्याग दे ॥ २० ॥ जिस प्रकार सुवर्णकी खानोंमें पत्थरमें मिले हुए सुवर्णको उसके निकालनेकी विधि जाननेवाला सुवर्णकार उसे युक्तिपूर्वक निकाल लेता है उसी प्रकार आत्मस्वरूपको जाननेवाला विद्वान् अध्यात्मयोगद्वारा देह-रूप क्षेत्रमें ही ब्रह्मपदको उपलब्ध कर लेता है ॥२१॥

आचार्योंने [मूलप्रकृति, महत्तत्त्व, अहङ्कार और पञ्चतन्मात्राएँ—ये] आठ प्रकृति, उनके तीन गुण [मनसहित ग्यारह इन्द्रियाँ तथा शब्दादि पाँच विषय मिलाकर] सोलह विकृति और उन सबमें अनुगत एक पुरुष बतलाया है ॥ २२ ॥ इन सबका संघात देह है जो स्थावर और जङ्गमरूपसे दो प्रकारका है । इसमें ही, अन्तःकरण-इन्द्रिय आदि अनात्म वस्तुओंका 'यह आत्मा नहीं है—यह आत्मा नहीं है' इस प्रकार बाध करते हुए आत्मानुसन्धान करना चाहिये ॥ २३ ॥ अन्वय और व्यतिरेकसे* विशुद्ध हुई बुद्धिके द्वारा संसारकी उत्पत्ति-स्थिति आदिका अनुसन्धान करते हुए धैर्यपूर्वक विचार करनेवाले पुरुषोंको आत्माकी उपलब्धि करनी चाहिये ॥ २४ ॥ जागृति, स्वप्न और सुषुप्ति—ये तीनों बुद्धिकी वृत्तियाँ जिसके द्वारा अनुभव की जाती हैं वही सर्वसाक्षी परमात्मा है ॥२५॥ जिस प्रकार गन्धसे उसके आश्रयभूत वायुका ज्ञान होता है उसी प्रकार बुद्धिकी इन कर्मजन्य एवं बदलनेवाली तीनों अवस्थाओंद्वारा [इनके साक्षी] आत्माके स्वरूपका ज्ञान प्राप्त करे ॥ २६ ॥ गुण और कर्म ही जिसके निमित्त हैं उस संसारका द्वार भी यह (देहाध्यास) ही है तथा वह संसार अज्ञानजनित और मिथ्या होनेपर भी स्वप्नके समान जीवको प्रतीत होता है ॥ २७ ॥

१. प्रा० पा०—हेमं यथा । २. प्रा० पा०—धत्ते गन्धैर्वायुरिवा० ।

* अन्वय-व्यतिरेकका स्वरूप यहाँ इस प्रकार समझना चाहिये । मालाके दानोंमें अनुस्यूत तागेके समान आत्मा देहादि सम्पूर्ण विकारोंमें अनुगत है तथा जिस प्रकार वह तागा उन दानोंसे सर्वथा पृथक् है उसी प्रकार साक्षी आत्मा भी सम्पूर्ण दृश्यवर्गसे निराला है ।

तस्माद्भवद्भिः कर्तव्यं कर्मणां त्रिगुणात्मनाम् ।
बीजनिर्हरणं योगः प्रवाहोपरमो धियः ॥२८॥
तत्रोपायसहस्राणामयं भगवतोदितः ।
यदीश्वरे भगवति यथा यैरञ्जसा रतिः ॥२९॥
गुरुशुश्रूषया भक्त्या सर्वलब्धार्पणेन च ।
सङ्गेन साधुभक्तानामीश्वराराधनेन च ॥३०॥
श्रद्धया तत्कथायां च कीर्तनैर्गुणकर्मणाम् ।
तत्पादाम्बुरुहध्यानात्तल्लिङ्गेक्षार्हणादिभिः ॥३१॥
हरिः सर्वेषु भूतेषु भगवानास्त ईश्वरः ।
इति भूतानि मनसा कामैस्तैः साधु मानयेत् ॥३२॥
एवं निर्जितषड्वर्गैः क्रियते भक्तिरीश्वरे ।
वासुदेवे भगवति यथा संलभते रतिम् ॥३३॥

अतः [इस संसारसङ्कटसे मुक्त होनेके लिये] तुम्हें त्रिगुणात्मक कर्मोंके बीजको नष्ट करनेवाले एवं जाग्रदादि बुद्धिवृत्तियोंके निवर्त्तक योगका साधन करना चाहिये ॥ २८ ॥ उस आत्मानुभवके लिये सहस्रों उपाय हैं । उनमें जिन-जिन साधनोंसे भगवान् विष्णुमें स्वाभाविक प्रेम हो उन-उनका ही यथायोग्य पालन करना, यही एक उपाय साक्षात् भगवान्‌का कहा हुआ है ॥ २९ ॥ गुरुकी प्रेमपूर्वक सेवा करना, अपनेको प्राप्त हुई सभी वस्तुएँ भगवान्‌को अर्पण कर देना, साधु भक्तजनोंका सङ्ग करना, भगवान्‌की उपासना करना, भगवत्कथामें श्रद्धा रखना, प्रभुके गुण और कर्मोंका कीर्तन करना, उनके चरणकमलोंका चिन्तन करना तथा भगवत्प्रतिमाओंका दर्शन और पूजन करना आदि साधनोंसे भगवान्‌में स्वाभाविक प्रेम हो जाता है ॥ ३०-३१ ॥ परमेश्वर भगवान् श्रीहरि सभी जीवोंमें विराजमान हैं—ऐसी भावनासे सभी प्राणियोंके प्रति मनमें सम्मानभाव रखे तथा [यथाशक्ति] उनकी कामनाओंको पूर्ण करे ॥ ३२ ॥ जिन्होंने काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर—इन छः शत्रुओंको जीत लिया है वे पुरुष परमेश्वरमें ऐसी भक्ति किया करते हैं जिससे भगवान् वासुदेवमें उनकी रति (अनन्य प्रीति) हो जाती है ॥ ३३ ॥

निशम्य कर्माणि गुणानतुल्यान्
वीर्याणि लीलातनुभिः कृतानि ।
यदातिहर्षोत्पुलकाश्रुगद्गदं
प्रोत्कण्ठ उद्गायति रौति नृत्यति ॥३४॥
यदा ग्रहग्रस्त इव क्वचिद्धस-
त्याक्रन्दते ध्यायति वन्दते जनम् ।
मुहुः श्वसन्वक्ति हरे जगत्पते
नारायणेत्यात्ममतिर्गतत्रपः ॥३५॥
तदा पुमान्मुक्तसमस्तबन्धन-
स्तद्भावभावानुकृताशयाकृतिः ।

जिस समय पुरुष भगवान्‌के लीला-विग्रहोंद्वारा किये हुए कर्म, अनुपम गुण और पराक्रमोंको सुनकर परमानन्दके उद्रेकसे रोमाञ्चित और गद्गद कण्ठ होकर उत्कण्ठावश जोर-जोरसे गाने, रोने और नाचने लगता है ॥ ३४ ॥ जिस समय वह ग्रहग्रस्तके समान कभी हँसता, कभी विलाप करता, कभी ध्यान करता, कभी सर्वसाधारणकी वन्दना करता तथा श्रीहरिमें तन्मय हो जानेसे निःसङ्कोच होकर बारम्बार दीर्घनिःश्वास छोड़ता हुआ 'हे हरे ! हे जगत्पते ! हे नारायण !' इस प्रकार कहता है ॥ ३५ ॥ तब भक्तिके प्रबल प्रभावसे वासनाबीजोंके दग्ध हो जाने तथा चित्त और शरीरके भगवद्भावमें रँगे रहनेके कारण

१. प्रा० पा०—सर्वलाभार्प०।

निर्दग्धबीजानुशयो महीयसा
भक्तिप्रयोगेण समेत्यधोक्षजम् ॥३६॥
अधोक्षजालम्भमिहाशुभात्मनः
शरीरिणः संसृतिचक्रशातनम् ।
तद्ब्रह्मनिर्वाणसुखं विदुर्बुधा-
स्ततो भजध्वं हृदये हृदीश्वरम् ॥३७॥
कोऽतिप्रयासोऽसुरबालका हरे-
रुपासने स्वे हृदि छिद्रवत्सतः ।
स्वस्यात्मनः सख्युरशेषदेहिनां
सामान्यतः किं विषयोपपादनैः ॥३८॥
रायः कलत्रं पशवः सुतादयो
गृहा मही कुञ्जरकोशभूतयः ।
सर्वेऽर्थकामाः क्षणभङ्गुरायुषः
कुर्वन्ति मर्त्यस्य कियत्प्रियं चलाः ॥३९॥
एवं हि लोकाः क्रतुभिः कृता अमी
क्षयिष्णवः सातिशया न निर्मलाः ।
तस्माददृष्टश्रुतदूषणं परं
भक्त्यैकयेशं भजतात्मलब्धये ॥४०॥
यदध्यर्थ्येह कर्माणि विद्वन्मान्यसकृन्नरः ।
करोत्यतो विपर्यासममोघं विन्दते फलम् ॥४१॥
सुखाय दुःखमोक्षाय संकल्प इह कर्मिणः ।
सदाप्नोतीहया दुःखमनीहायाः सुखावृतः ॥४२॥
कामान्कामयते काम्यैर्यदर्थमिह पूरुषः ।
स वै देहस्तु पारक्यो भङ्गुरो यात्युपैति च ॥४३॥
किमु व्यवहितापत्यदारागारधनादयः ।
राज्यं कोशगजामात्यभृत्याप्ता ममतास्पदाः ॥४४॥

वह समस्त बन्धनोंसे छूटकर श्रीअधोक्षज भगवान्‌को प्राप्त कर लेता है ॥ ३६ ॥

[हे दैत्यकुमारो!] इस लोकमें श्रीअधोक्षज भगवान्‌की उपलब्धि ही अशुद्धचित्त प्राणियोंके संसारचक्रको काटनेवाली है । बुधजन उसे ही ब्रह्मनिर्वाणरूप परमसुख बतलाते हैं, इसलिये अपने हृदयमें उन हृदयेश्वरका भजन करो ॥ ३७ ॥ हे असुरबालको ! जो अपने हृदयमें आकाशके समान स्थित हैं उन श्रीहरिकी उपासना करनेमें ऐसा क्या विशेष परिश्रम पड़ता है ? वे सामान्य भावसे सम्पूर्ण प्राणियोंके सखा और आत्मा ही हैं; [उन्हें छोड़कर] अन्य विषयोंके उपार्जन करनेसे क्या लाभ है ? ॥ ३८ ॥ धन, स्त्री, पशु, पुत्रादि, घर, पृथिवी, हाथी, कोश, नाना प्रकारकी सम्पत्ति तथा सम्पूर्ण अर्थ और भोगसामग्रियाँ इस क्षणिक आयुवाले मनुष्यका क्या प्रिय कर सकती हैं; वे तो स्वयं ही अस्थिर हैं ॥ ३९ ॥ इसी प्रकार यज्ञादिसे प्राप्त होनेवाले स्वर्गादि लोक भी नाशवान् और एक दूसरेसे कुछ विशेषता रखनेवाले हैं, इसलिये निर्दोष नहीं हैं; अतः जिनमें कोई दोष न तो देखा गया है और न सुना ही गया है उन परमेश्वरको, आत्मपद पानेके लिये, एकनिष्ठ भक्तिभावसे भजो ॥ ४० ॥

इसके सिवा, अपनेको बड़ा विद्वान् माननेवाला पुरुष इस लोकमें जिस उद्देश्यसे वारंवार कर्म करता है, उसे अवश्य ही उसके विपरीत फल मिलता है ॥ ४१ ॥ संसारमें कर्मपरायण पुरुषोंका सङ्कल्प सुखकी प्राप्ति और दुःखकी निवृत्तिके लिये ही होता है; किन्तु सकाम कर्म करनेसे उसे सर्वदा दुःख ही उठाना पड़ता है, इसकी अपेक्षा तो वह पहले ही कामनावश कर्म न करनेके कारण आनन्दमें रहता था ॥४२॥ जिस शरीरके लिये पुरुष इस लोकमें काम्य कर्मोंद्वारा नाना प्रकारके भोगोंकी इच्छा करता है वह देह तो परकीय और क्षणभङ्गुर है—वह तो वारंवार मिलता और बिछुड़ता रहता है ॥ ४३ ॥ फिर इससे दूर रहनेवाले ममताके आश्रयरूप पुत्र, स्त्री, गृह, धनादि, राज्य, कोश, गज, अमात्य, सेवक तथा विश्वासपात्र व्यक्तियोंकी तो बात ही क्या है ? ॥४४॥

१. प्रा० पा०—हासुखात्म० । २. प्रा० पा०—यदर्थ इह । ३. प्रा० पा०—शबलामा० ।

किमेतैरात्मनस्तुच्छैः सह देहेन नश्वरैः ।
अनर्थैरर्थसंकाशैर्नित्यानन्दमहोदधेः ॥४५॥

इन तुच्छ विषयोंसे आत्माका क्या प्रयोजन है ? ये तो देहके साथ ही नष्ट हो जानेवाले और पुरुषार्थरूप मालूम होनेपर भी नित्यानन्दमहोदधि आत्माके लिये अनर्थरूप ही हैं ॥ ४५ ॥

निरूप्यतामिह स्वार्थः कियान्देहभृतोऽसुराः ।
निषेकादिष्ववस्थासु क्लिश्यमानस्य कर्मभिः ॥४६॥
कर्माण्यारभते देही देहेनात्मानुवर्तिना ।
कर्मभिस्तनुते देहमुभयं त्वविवेकतः ॥४७॥
तस्मादर्थाश्च कामाश्च धर्माश्च यदपाश्रयाः ।
भजतानीहयात्मानमनीहं हरिमीश्वरम् ॥४८॥
सर्वेषामपि भूतानां हरिरात्मेश्वरः प्रियः ।
भूतैर्महद्भिः स्वकृतैः कृतानां जीवसंज्ञितः ॥४९॥
देवोऽसुरो मनुष्यो वा यक्षो गन्धर्व एव च ।
भजन्मुकुन्दचरणं स्वस्तिमान्स्याद्यथा वयम् ॥५०॥

हे असुरगण ! जरा सोचो तो, अपने प्रारब्धवश गर्भाधान आदि अवस्थाओंमें दुःख भोगनेवाले इस प्राणीको इस संसारमें कितना सुख मिलता है ? [अर्थात् कुछ भी नहीं] ॥ ४६ ॥ यह जीव आत्माका अनुवर्तन करनेवाले लिङ्गदेहसे नाना प्रकारके कर्म करता है और कर्मोंके कारण ही फिर शरीर धारण करता है—इस प्रकार ये [कर्म और शरीर] दोनों ही अविवेकजन्य हैं ॥ ४७ ॥ इसलिये, जिसके आश्रित सम्पूर्ण अर्थ, धर्म और काम हैं उस अपने निश्चेष्ट आत्मा परमेश्वर श्रीहरिको सङ्कल्परहित होकर * भजो ॥ ४८ ॥ क्योंकि वे हरि ही अपने रचे हुए पञ्चभूत और महत्तत्त्वादिसे उत्पन्न हुए सकल प्राणियोंके आत्मा प्रिय प्रभु और अन्तर्यामी कहे जाते हैं ॥४९॥ हे बालको ! देवता, असुर, मनुष्य, यक्ष अथवा गन्धर्व कोई भी हो श्रीमुकुन्दके चरणोंका चिन्तन करनेसे हमारे समान ही आनन्द प्राप्त कर सकता है ॥ ५० ॥

नालं द्विजत्वं देवत्वमृषित्वं वासुरात्मजाः ।
प्रीणनाय मुकुन्दस्य न वृत्तं न बहुज्ञता ॥५१॥
न दानं न तपो नेज्या न शौचं न व्रतानि च ।
प्रीयतेऽमलया भक्त्या हरिरन्यद्विडम्बनम् ॥५२॥
ततो हरौ भगवति भक्तिं कुरुत दानवाः ।
आत्मौपम्येन सर्वत्र सर्वभूतात्मनीश्वरे ॥५३॥
दैतेया यक्षरक्षांसि स्त्रियः शूद्रा व्रजौकसः ।

हे दैत्यात्मजो ! भगवान् मुकुन्दको प्रसन्न करनेमें ब्राह्मणत्व, देवत्व, ऋषित्व, सदाचार, बहुज्ञता, अथवा दान, तप, यज्ञ, शौच एवं व्रत आदि कोई भी समर्थ नहीं हैं; वे तो केवल विशुद्ध भक्तिसे ही प्रसन्न होते हैं उसके सिवा और सब विडम्बनामात्र है ॥५१-५२॥ अतः हे दानवगण ! सब जीवोंको अपने ही समान मानकर सर्वभूतात्मा परमेश्वर भगवान् हरिमें भक्ति करो ॥ ५३ ॥ [देखो, भगवान्में भक्ति करनेसे] दैत्य, यक्ष, राक्षस, स्त्रियाँ, शूद्र, व्रजवासी, पक्षी,

१. प्रा० पा०—रसोदधेः ।

* कर्मोंको त्यागकर अथवा ध्यानयोगद्वारा मन और इन्द्रियोंको वृत्तिशून्य करके, जैसा कि श्रुतिने भी कहा है—

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह । बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम् ॥

(कठोपनिषद् २ । ६ । १०)

अर्थात् 'जिस समय मनके सहित पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ रुक जाती हैं तथा बुद्धि भी चेष्टा नहीं करती उसीको परमगति कहा है ।'

खगा मृगाः पापजीवाः सन्ति ह्यच्युततां गताः॥५४॥
एतावानेव लोकेऽस्मिन्पुंसः स्वार्थः परः स्मृतः।
एकान्तभक्तिर्गोविन्दे यत्सर्वत्र तदीक्षणम् ॥५५॥

मृग तथा बहुत-से पापी जीव भी भगवद्भावको प्राप्त हो गये हैं ॥ ५४ ॥ इस लोकमें पुरुषका सबसे बड़ा स्वार्थ केवल इतना ही है कि श्रीगोविन्दमें सर्वत्र उन्हींका दर्शन करनारूप ऐकान्तिकी भक्ति करे ॥५५॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे सप्तमस्कन्धे
प्रह्लादानुचरिते[1] दैत्यपुत्रानुशासनं
नाम सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

आठवाँ अध्याय

नृसिंहभगवान्‌का प्रादुर्भाव, हिरण्यकशिपुवध एवं ब्रह्मादि देवताओंका भगवान्‌की स्तुति करना।

नारद उवाच

अथ दैत्यसुताः सर्वे श्रुत्वा तदनुवर्णितम्।
जगृहुर्निरवद्यत्वान्नैव गुर्वनुशिक्षितम् ॥ १ ॥
अथाचार्यसुतस्तेषां बुद्धिमेकान्तसंस्थिताम्।
आलक्ष्य भीतस्त्वरितो राज्ञ आवेदयद्[2]यथा ॥ २ ॥
श्रुत्वा तदप्रियं दैत्यो दुःसहं तनयानयम्।
कोपावेशचलद्गात्रः पुत्रं हन्तुं मनो दधे ॥ ३ ॥

क्षिप्त्वा परुषया वाचा प्रह्लादमतदर्हणम्।
आहेक्षमाणः पापेन तिर्यग्भीनेन चक्षुषा ॥ ४ ॥
प्रश्रयावनतं दान्तं बद्धाञ्जलिमवस्थितम्।
सर्पः पदाहत इव श्वसन्प्रकृतिदारुणः ॥ ५ ॥
हे दुर्विनीत मन्दात्मन्कुलभेदकराधम।
स्तब्धं मच्छासनोद्वृत्तं नेष्ये त्वाद्य यमक्षयम् ॥ ६ ॥
क्रुद्धस्य यस्य कम्पन्ते त्रयो लोकाः सहेश्वराः।

श्रीनारदजी बोले—हे राजन् ! प्रह्लादजीका कथन सुनकर उस समयसे, सम्पूर्ण दैत्यबालकोंने निर्दोष समझकर उसे ही ग्रहण कर लिया, तथा गुरुजीकी शिक्षाकी ओर ध्यान देना छोड़ दिया ॥१॥ तब आचार्यपुत्रोंने उन सबकी बुद्धि एक (भगवान्‌की) ही ओर लगी देख, अति भयभीत हो, तुरन्त ही सारा वृत्तान्त दैत्यराजको जा सुनाया ॥ २ ॥ पुत्रके इस अप्रिय और असह्य अन्यायको सुनकर दैत्यपति हिरण्यकशिपुका शरीर क्रोधावेशके कारण काँपने लगा और उसने अपने मनमें पुत्रको मार डालनेका निश्चय किया ॥ ३ ॥

तब, अपने सामने अति विनयपूर्वक अञ्जलि बाँधे खड़े हुए, तिरस्कारके अयोग्य एवं जितेन्द्रिय प्रह्लादजीका कठोर वाणीसे तिरस्कार कर वह निष्ठुर-प्रकृति दैत्य, लात खाये हुए सर्पके समान दीर्घ निःश्वास छोड़ते हुए उनकी ओर अति कुटिल एवं तिरछी दृष्टिसे देखकर इस प्रकार कहने लगा—॥४-५॥ "रे दुर्विनीत ! रे मन्दबुद्धे ! रे कुलनाशक अधम ! तू बड़ा ही ढीठ और मेरी आज्ञाका उल्लङ्घन करनेवाला है । मैं तुझे अभी यमराजके घर भेजे देता हूँ ॥ ६ ॥ रे मूढ़ ! मेरे कुपित होनेपर लोकपालोंके सहित सम्पूर्ण लोक काँपने लगते हैं ! तूने किसके

१. प्रा० पा०—दैत्यानुशासनं नाम । २. प्रा० पा०—यत्तदा ।

तस्य मेऽभीतवन्मूढ शासनं किम्बलोऽत्यगाः ॥ ७ ॥

प्रह्लाद उवाच

न केवलं मे भवतश्च राजन्
स वै बलं बलिनां चापरेषाम् ।
परेऽवरेऽमी स्थिरजङ्गमा ये
ब्रह्मादयो येन वशं प्रणीताः ॥ ८ ॥
स ईश्वरः काल उरुक्रमोऽसा-
वोजःसहःसत्त्वबलेन्द्रियात्मा ।
स एव विश्वं परमः स्वशक्तिभिः
सृजत्यवत्यत्ति गुणत्रयेशः ॥ ९ ॥
जह्यासुरं भावमिमं त्वमात्मनः
समं मनो धत्स्व न सन्ति विद्विषः ।
ऋतेऽजितादात्मन उत्पथस्थिता-
त्तद्धि ह्यनन्तस्य महत्समर्हणम् ॥१०॥
दस्यून्पुरा षण्ण विजित्य लुम्पतो
मन्यन्त एके स्वजिता दिशो दश ।
जितात्मनो ज्ञस्य समस्य देहिनां
साधोः स्वमोहप्रभवाः कुतः परे ॥११॥

हिरण्यकशिपुरुवाच

व्यक्तं त्वं मर्तुकामोऽसि योऽतिमात्रं विकत्थसे ।
मुमूर्षूणां हि मन्दात्मन्ननु स्युर्विप्लवा गिरः ॥१२॥
यस्त्वया मन्दभाग्योक्तो मदन्यो जगदीश्वरः ।
क्वासौ यदि स सर्वत्र कस्मात्स्तम्भे न दृश्यते ॥१३॥
सोऽहं विकत्थमानस्य शिरः कायाद्धरामि ते ।

बलसे इस प्रकार निर्भय-सा होकर मेरी आज्ञाका उल्लङ्घन किया ?" ॥ ७ ॥

प्रह्लादजी बोले—हे राजन् ! जिन्होंने ब्रह्मासे लेकर इन सभी छोटे-बड़े स्थावर-जङ्गम प्राणियोंको अपने वशीभूत कर रक्खा है वे भगवान् केवल मेरे ही नहीं, आपके तथा अन्य समस्त बलवानोंके भी बल हैं ॥ ८ ॥ वे परमपराक्रमी ईश्वर ही काल हैं तथा वे ही इन्द्रियबल, मनोबल, धैर्य, देहबल और इन्द्रियस्वरूप हैं । वे तीनों गुणोंके नियन्ता परमात्मा ही अपनी शक्तियोंसे सम्पूर्ण जगत्-की रचना, पालन और संहार करते हैं ॥ ९ ॥ हे पितः ! आप अपने इस आसुर भावको त्याग दीजिये । अपने मनको समदर्शी बनाइये । इस संसारमें असंयत और कुमार्गका आश्रय लेनेवाले चित्तके सिवा और कोई द्वेषपात्र नहीं है; और इसे समदर्शी बनाना ही भगवान् अनन्तकी सबसे बड़ी उपासना है ॥ १० ॥ कुछ लोग अपना सर्वस्व हरण करनेवाले छः इन्द्रियरूप शत्रुओंको बिना जीते ही अपनेको दशों दिशाओंपर विजय प्राप्त करने-वाला मान बैठते हैं, किन्तु जो साधु पुरुष जितेन्द्रिय, बोधवान् तथा सम्पूर्ण प्राणियोंके प्रति समान भाव रखनेवाले हैं उनके तो अज्ञानजनित [काम-क्रोधादि] शत्रु भी नहीं रहते फिर अन्य [बाह्य शत्रु] तो रह ही कैसे सकते हैं ? ॥ ११ ॥

हिरण्यकशिपु बोला—रे मन्दमते ! तू जो इस प्रकार बहुत बढ़-बढ़कर बातें बना रहा है इससे स्पष्ट विदित होता है कि तू मरना चाहता है, क्योंकि जो प्राणी मरनेवाला होता है उसीकी ऐसी असम्बद्ध बातें हुआ करती हैं ॥ १२ ॥ रे मन्दभाग्य ! मेरे सिवा जिस अन्य जगदीश्वरकी तू बात कहता है बता, वह कहाँ है ? [प्रह्लादने कहा—"वह सर्वत्र है ।" हिरण्यकशिपु बोला—) यदि सर्वत्र है तो इस खम्भेमें क्यों नहीं दीखता ? [प्रह्लादने उस ओर देखकर कहा—"दीखता तो है"] ॥ १३ ॥ [किन्तु जब उस ओर देखनेपर भी कुछ दिखायी न दिया तो वह रोषपूर्वक बोला—]अरे! तू बहुत डींग हाँकता है; ले, मैं तेरा शिर अभी धड़से अलग

१. प्रा० पा०—कुतोऽपरे । २. प्रा० पा०—नाना स्युर्विक्लवा ।

गोपायेत हरिस्त्वाद्य यस्ते शरणमीप्सितम् ॥१४॥

किये देता हूँ। तू जिसे अपना अभीष्ट शरण देनेवाला समझता है वह हरि आज आकर तुझे बचावे तो सही॥१४॥

एवं दुरुक्तैर्मुहुरर्दयन्रुषा
सुतं महाभागवतं महासुरः।
खड्गं प्रगृह्योत्पतितो वरासनात्
स्तम्भं तताडातिबलः स्वमुष्टिना ॥१५॥

इस प्रकार रोषपूर्वक अपने परम भागवत पुत्रको बारम्बार दुर्वचनोंसे पीडितकर वह महादैत्य खड्ग उठाकर अपने श्रेष्ठ सिंहासनसे कूद पड़ा और उस खम्भमें बड़े जोरसे अपने घूँसेका प्रहार किया ॥१५॥

तदैव तस्मिन्निनदोऽतिभीषणो
बभूव येनाण्डकटाहमस्फुटत्।
यं वै स्वधिष्ण्योपगतं त्वजादयः
श्रुत्वा स्वधामाप्ययमङ्ग मेनिरे ॥१६॥

इससे उसी समय उस खम्भेमें बड़ा भयानक शब्द हुआ, जिससे ऐसा विदित हुआ मानो ब्रह्माण्डकटाह फट गया हो। उस ध्वनिको अपने-अपने धामोंमें सुनकर ब्रह्मा आदि लोकपालोंने अपने लोकोंका प्रलय होना ही समझा ॥ १६ ॥

सं विक्रमन्पुत्रवधेप्सुरोजसा
निशम्य निर्ह्रादमपूर्वमद्भुतम्।
अन्तःसभायां न ददर्श तत्पदं
वितत्रसुर्येन सुरारियूथपाः ॥१७॥

अपने पुत्रका वध करनेके लिये बड़े उत्साहसे तत्पर हुए हिरण्यकशिपुने भी उस अपूर्व एवं अद्भुत घोर शब्दको सुना जिससे सम्पूर्ण दैत्ययूथपतिगण भयभीत हो गये थे, परन्तु उस सभामें उसे उस शब्दका आधारभूत कोई व्यक्ति नहीं दिखायी पड़ा ॥ १७ ॥

सत्यं विधातुं निजभृत्यभाषितं
व्याप्तिं च भूतेष्वखिलेषु चात्मनः।
अदृश्यतात्यद्भुतरूपमुद्वहन्
स्तम्भे सभायां न मृगं न मानुषम् ॥१८॥

इसी समय श्रीहरि अपने सेवक (प्रह्लाद और ब्रह्मा) के वचनोंकी सत्यता एवं सम्पूर्ण प्राणियोंमें अपनी व्यापकता दिखानेके लिये सभाके भीतर उसी स्तम्भसे बड़ा ही विचित्र रूप धारण कर प्रकट हुए जो न [पूरा] मृग (पशु)का ही था और न मनुष्यका ही॥१८॥

स सत्त्वमेनं परितोऽपि पश्यन्
स्तम्भस्य मध्यादनु निर्जिहानम्।
नायं मृगो नापि नरो विचित्र-
महो किमेतन्नृमृगेन्द्ररूपम् ॥१९॥

हिरण्यकशिपुने भी इधर-उधर देखते हुए उस खम्भेसे उस विचित्र प्राणीको निकलते देखा। [उसे देखकर वह कहने लगा—] "अहो ! यह न मनुष्य ही है और न पशु ही; फिर यह नृसिंहरूपधारी विचित्र जीव कौन है ?" ॥ १९ ॥

मीमांसमानस्य समुत्थितोऽग्रतो
नृसिंहरूपस्तदलं भयानकम्।
प्रतप्तचामीकरचण्डलोचनं
स्फुरत्सटाकेसरजृम्भिताननम् ॥२०॥
करालदंष्ट्रं करवालचञ्चल-

जिस समय हिरण्यकशिपु इस उधेड़-बुनमें लगा हुआ था इसी समय भगवान् उसके सामने नृसिंहरूपमें प्रकट हो गये, उनका वह रूप अत्यन्त भयानक था, उसके नेत्र तपाये हुए सुवर्णके समान तेजस्वी और भयानक थे तथा मुखसे जमुहाई लेनेके कारण उसका सटाकलाप (मुखका रोम) इधर-उधर हिलता जाता था ॥ २० ॥ उसकी दाढ़ें बड़ी पैनी तथा जिह्वा तलवारके समान चञ्चल एवं छुरेके समान तीक्ष्ण थी,

१. प्रा० पा०—बभञ्जाति० । २. प्रा० पा०—सोऽतिक्रम० । ३. प्रा० पा०—सुस्तत्र ।

क्षुरान्तजिह्वं भ्रुकुटीमुखोल्बणम् ।
स्तब्धोर्ध्वकर्णं गिरिकन्दराद्भुत-
व्यात्तास्यनासं हनुभेदभीषणम् ॥२१॥
दिविस्पृशत्कायमदीर्घपीवर-
ग्रीवोरुवक्षःस्थलमल्पमध्यमम् ।
चन्द्रांशुगौरैश्छुरितं तनूरुहै-
र्विष्वग्भुजानीकशतं नखायुधम् ॥२२॥
दुरासदं सर्वनिजेतरायुध-
प्रवेकविद्राविततैत्यदानवम् ।
प्रायेण मेऽयं हरिणोरुमायिना
वधः स्मृतोऽनेन समुद्यतेन किम् ॥२३॥

एवं ब्रुवंस्त्वभ्यपतद्गदायुधो[1]
नदन्नृसिंहं प्रति दैत्यकुञ्जरः ।
अलक्षितोऽग्नौ पतितः पतङ्गमो
यथा नृसिंहौजसि सोऽसुरस्तदा ॥२४॥
न तद्विचित्रं खलु सत्त्वधामनि
स्वतेजसा यो नु पुरापिबत्तमः ।
ततोऽभिपद्याभ्यहनन्महासुरो
रुषा नृसिंहं गदयोरुवेगया ॥२५॥

तं विक्रमन्तं सगदं गदाधरो
महोरगं तार्क्ष्यसुतो यथाग्रहीत् ।
स तस्य हस्तोत्कलितस्तदासुरो
विक्रीडतो यद्वदहिर्गरुत्मतः ॥२६॥

भृकुटियुक्त मुखके कारण वह अति दारुण प्रतीत होता था, उसके कान निश्चल और ऊपरकी ओर खड़े हुए थे, फैला हुआ मुख और नासिका कन्दराओंके समान अद्भुत जान पड़ते थे तथा फटे हुए जबड़ोंके कारण वह बड़ा भयानक प्रतीत होता था ॥ २१ ॥ उसका विशाल शरीर स्वर्गसे लगा हुआ था, ग्रीवा नाटी और मोटी थी तथा वक्षःस्थल विशाल और उदर अत्यन्त कृश था । उसके शरीरपर चन्द्रकिरणके समान श्वेत रोमावली फैली हुई थी, सब ओर सैकड़ों भुजाएँ शोभायमान थीं तथा नख ही उसके शस्त्र थे ॥ २२ ॥ भगवान्‌का वह स्वरूप बड़ा ही दुरासद था [अर्थात् उसके पास जानेका किसीको भी साहस न होता था] तब, जिन्होंने [चक्रादि] अपने और [वज्रादि] दूसरोंके प्रमुख अस्त्र-शस्त्रोंसे सम्पूर्ण दैत्य और दानवोंको भगा दिया है उन श्रीनृसिंह भगवान्‌के विषयमें हिरण्यकशिपु सोचने लगा—'सम्भवतः महामायावी हरिने ही मुझे मारनेके लिये यह ढंग निकाला है; परन्तु उसके इस उद्यमसे मेरा क्या बिगड़ सकता है ?' ॥ २३ ॥

इस प्रकार कहकर वह दैत्यराज भयंकर सिंहनाद करता हुआ हाथमें गदा लिये नृसिंहभगवान्‌की ओर दौड़ा; किन्तु जिस प्रकार पतंग अग्निमें गिरकर अदृश्य हो जाता है उसी प्रकार वह नृसिंहजीके तेजमें पड़कर लीन हो गया ॥ २४ ॥ उन सात्त्विकतेजोमय प्रभुके लिये यह कोई विचित्र बात नहीं थी क्योंकि उन्होंने पहले (सृष्टिके आरम्भमें) अपने तेजसे प्रलयकालीन अन्धकारका भी पान कर लिया था । तब उस महादैत्यने लपककर अति क्रुद्ध हो नृसिंहजी-पर बड़े वेगसे गदाका प्रहार किया ॥ २५ ॥

हिरण्यकशिपुके इस प्रकार आक्रमण करनेपर श्रीगदाधरने उसे गदासहित इस प्रकार पकड़ लिया जैसे गरुड़ महासर्पको पकड़ लेता है । फिर खिलवाड़ करते हुए गरुड़के पञ्जेसे छूटे हुए सर्पके समान वह असुर उनके हाथसे निकल गया ॥ २६ ॥

१. प्रा० पा०—वंश्रा० ।

असाध्वमन्यन्त हृतौकसोऽमरा
घनच्छदा भारत सर्वधिष्ण्यपाः ।
तं मन्यमानो निजवीर्यशङ्कितं
यद्धस्तमुक्तो नृहरिं महासुरः ।
पुनस्तमासज्जत खड्गचर्मणी
प्रगृह्य वेगेन जितश्रमो मृधे ॥२७॥
तं श्येनवेगं शतचन्द्रवर्त्मभि-
श्चरन्तमच्छिद्रमुपर्यधो हरिः ।
कृत्वाट्टहासं खरमुत्स्वनोल्बणं
निमीलिताक्षं जगृहे महाजवः ॥२८॥
विष्वक्स्फुरन्तं ग्रहणातुरं हरि-
र्व्यालो यथाखुं कुलिशाक्षतत्वचम् ।
द्वार्यूर आपात्य ददार लीलया
नखैर्यथाहिं गरुडो महाविषम् ॥२९॥
संरम्भदुष्प्रेक्ष्यकराललोचनो
व्यात्ताननान्तं विलिहन्स्वजिह्वया ।
असृग्लवाक्तारुणकेसराननो
यथान्त्रमाली द्विपहत्यया हरिः ॥३०॥
नखाङ्कुरोत्पाटितहृत्सरोरुहं
विसृज्य तस्यानुचरानुदायुधान् ।
अहन्समन्तान्नखशस्त्रपाणिभि-
र्दोर्दण्डयूथोऽनुपथान्सहस्रशः ॥३१॥

सटावधूता जलदाः परापत-
न्ग्रहाश्च तद्दृष्टिविमुष्टरोचिषः ।

हे भारत ! उस समय, जिनके स्थान हिरण्यकशिपुने छीन लिये थे वे समस्त लोकपाल देवगण, बादलोंमें छिपे हुए यह सब चरित्र देख रहे थे। उन्होंने उसका भगवान्‌के हाथसे छूट जाना अच्छा नहीं माना। महादैत्य हिरण्यकशिपुने भी श्रीहरिके हाथसे निकल जानेपर उन्हें अपने पराक्रमसे भयभीत समझा। अतः वह युद्धमें श्रमसे रहित हो हाथमें ढाल-तलवार ले फिर बड़े जोरसे उनकी ओर दौड़ा ॥ २७ ॥ तब, बाज पक्षीके समान वेगवान् तथा ढाल-तलवारके पैंतरे बदलते हुए अनवरत ऊपर-नीचे उछलते-कूदते उस दैत्यको महान् वेगशाली श्रीहरिने उच्चस्वरसे प्रचण्ड एवं भयङ्कर अट्टहास करके पकड़ लिया। उस समय उनके सिंह-नादसे उसके नेत्र मुँद गये थे ॥ २८ ॥ सर्प जैसे चूहेको पकड़ लेता है उसी प्रकार भगवान्‌के पकड़ लेनेपर अति आतुर होकर [उनके पञ्जेसे निकलनेके लिये] सब ओरसे छटपटाते हुए उस हिरण्यकशिपुको, जिसकी त्वचा इन्द्रके वज्रसे भी नहीं छिली थी, सभाके द्वारमें अपनी जाँघोंपर गिराकर श्रीहरिने लीलाहीसे इस प्रकार चीर डाला जैसे गरुड़ महान् विषधर सर्पको फाड़ डालता है ॥२९॥ फिर, क्रोधके कारण जिनके कराल नयन अति दुष्प्रेक्ष्य (कठिनतासे देखे जानेयोग्य) हो रहे हैं, जो अपनी [लपलपाती हुई] जिह्वासे मुखके प्रान्तभागोंको चाट रहे हैं, रक्तके छींटोंसे अभिषिञ्चित हो जानेके कारण जिनके मुख और ग्रीवाके बाल लाल-लाल हो गये हैं, जो गजराजकी हत्या करके गलेमें आँतोंकी माला पहने हुए सिंहके समान शोभायमान हो रहे हैं उन श्रीनृसिंहजीने अपने नखाङ्कुरों-से जिसके हृदयकमलको विदीर्ण कर दिया था उस हिरण्यकशिपुको पृथिवीपर पटक दिया तथा शस्त्र उठाये [अपनी ओर आते] हुए उसके सेवकों एवं सहस्रों अनुयायियोंको अपने भुजदण्डरूपी सैनिकोंकी सहायतासे नखरूप शस्त्रोंद्वारा सब ओर पीछा करके मार डाला ॥ ३०-३१ ॥

हे राजन् ! उस समय श्रीनृहरिके सटाकलापके आघातसे मेघगण तितर-बितर होने लगे, उनके नेत्रोंकी ज्योतिसे ग्रहगणका तेज फीका पड़ गया, श्वासवायुके

१. प्रा० पा०—हामनाः । २. प्रा० पा०—खरकेसरोल्वणो । ३. प्रा० पा०—उरः स आ० ।

अम्भोधयः श्वासहता विचुक्षुभु-
र्निर्ह्रादभीता दिगिभा विचुक्रुशुः[1] ॥३२॥
द्यौस्तत्सटोत्क्षिप्तविमानसङ्कुला
प्रोत्सर्पत क्ष्मा च पदातिपीडिता ।
शैलाः समुत्पेतुरमुष्य रंहसा
तत्तेजसा खं ककुभो न रेजिरे ॥३३॥
ततः सभायामुपविष्टमुत्तमे
नृपासने संभृततेजसं विभुम् ।
अलक्षितद्वैरथमत्यमर्षणं
प्रचण्डवक्त्रं न बभाज कश्चन ॥३४॥

निशम्य[2] लोकत्रयमस्तकज्वरं
तमादिदैत्यं हरिणा हतं मृधे ।
प्रहर्षवेगोत्कलिताननाः मुहुः
प्रसूनवर्षैर्ववृषुः सुरस्त्रियः ॥३५॥
तदा[3] विमानावलिभिर्नभस्तलं
दिदृक्षतां सङ्कुलमास नाकिनाम् ।
सुरानका दुन्दुभयोऽथ जघ्निरे
गन्धर्वमुख्या ननृतुर्जगुः स्त्रियः ॥३६॥
तत्रोपव्रज्य[4] विबुधा ब्रह्मेन्द्रगिरिशादयः ।
ऋषयः पितरः सिद्धा विद्याधरमहोरगाः ॥३७॥
मनवः प्रजानां पतयो गन्धर्वाप्सरचारणाः ।
यक्षाः किंपुरुषास्तात वेतालाः सिद्धकिन्नराः ॥३८॥
ते विष्णुपार्षदाः[5] सर्वे सुनन्दकुमुदादयः ।
मूर्ध्नि बद्धाञ्जलिपुटा आसीनं तीव्रतेजसम् ।
ईडिरे नरशार्दूलं नातिदूरचराः पृथक् ॥३९॥

ब्रह्मोवाच

नतोऽस्म्यनन्ताय दुरन्तशक्तये
विचित्रवीर्याय पवित्रकर्मणे ।

थपेड़ोंसे समुद्रमें तूफान उठने लगा तथा सिंहनादसे भयभीत होकर दिग्गज चिग्घाड़ने लगे ॥ ३२ ॥ उनके केशोंसे टकराकर ऊँचे उठे विमानोंसे व्याप्त हुआ स्वर्ग मानो अपने स्थानसे हट गया, तथा पादप्रहारसे पृथिवी अत्यन्त पीडित हो गयी। उनके प्रबल वेगसे पर्वतसमूह उछलकर गिरने लगे तथा उनके तेजसे आकाश और दिशाएँ निस्तेज हो गयीं ॥ ३३ ॥ अब भगवान्‌का कोई भी प्रतिपक्षी दिखायी न देता था, तथापि अभी वे अत्यन्त क्रुद्ध थे । अतः [अपने भक्तका ऐश्वर्य समझकर कुतूहलवश] जब उस सभामें वे राजसिंहासनपर विराजमान हुए तो उन पूर्णतेजस्वी विकरालवदन प्रभु नृसिंहजीकी सेवामें [भयवश] कोई भी उपस्थित न हो सका ॥ ३४ ॥

हे राजन्! मस्तककी पीडाके समान तीनों लोकोंको कष्ट देनेवाला आदिदैत्य हिरण्यकशिपु श्रीहरिके हाथसे मारा गया है—यह सुनकर हर्षोत्कर्षके कारण जिनके मुखमण्डल खिल गये हैं वे देवाङ्गनाएँ बारम्बार फूलोंकी वर्षा करने लगीं ॥ ३५ ॥ उस समय श्रीनृसिंहजीके दर्शनाभिलाषी देवताओंके विमानोंसे सम्पूर्ण आकाश भर गया । फिर देवताओंके पटह और दुन्दुभी आदि बाजे बजाये जाने लगे, मुख्य-मुख्य गन्धर्वोंने गाना आरम्भ किया और अप्सराएँ नृत्य करने लगीं ॥ ३६ ॥ हे तात ! इसी समय ब्रह्मा, ~~विष्णु~~ इन्द्र, महादेव आदि देवगण, ऋषि, पितर, सिद्ध, विद्याधर, सर्प, मनु, प्रजापति, गन्धर्व, अप्सरा, चारण, यक्ष, किम्पुरुष, वेताल, सिद्ध, किन्नर तथा सुनन्द और कुमुद आदि जो विष्णुभगवान्‌के पार्षद हैं वे सभी वहाँ आये; तथा मस्तकपर अञ्जलि बाँधकर सिंहासनपर विराजमान महातेजस्वी श्रीनृसिंह भगवान्‌की, उनके पास ही खड़े होकर, अलग-अलग स्तुति करने लगे ॥ ३७–३९ ॥

श्रीब्रह्माजी बोले—जिनकी शक्तिका कोई पारावार नहीं है, जो अद्भुत पराक्रमी और पवित्र कर्म करने-

१. प्रा० पा०—जहुर्दिशः । २. प्रा० पा०—निशाम्य । ३. प्राचीन प्रतिमें 'तदा विमानावलिभिः' से लेकर 'ननृतुर्जगुः स्त्रियः' तक पूरा एक श्लोक नहीं है । ४. प्रा० पा०—ते उपव्रज्य वि० । ५. प्रा० पा०—विष्णुपारिषदाः सर्वे ।

विश्वस्य सर्गस्थितिसंयमान्गुणैः
स्वलीलया संदधतेऽव्ययात्मने ॥४०॥

श्रीरुद्र उवाच

कोपकालो युगान्तस्ते हतोऽयमसुरोऽल्पकः ।
तत्सुतं पाह्यपसृतं[1] भक्तं ते भक्तवत्सल ॥४१॥

इन्द्र उवाच

प्रत्यानीताः परम भवता त्रायता नः स्वभागा
दैत्याक्रान्तं हृदयकमलं त्वद्गृहं प्रत्यबोधि ।
कालग्रस्तं कियदिदमहो नाथ शुश्रूषतां ते
मुक्तिस्तेषां न हि बहुमता नारसिंहापरैः किम् ।४२।

ऋषय ऊचुः

त्वं नस्तपः परममात्थ यदात्मतेजो
येनेदमादिपुरुषात्मगतं ससर्ज[2] ।
तद्विप्रलुप्तममुनाद्य शरण्यपाल
रक्षागृहीतवपुषा पुनरन्वमंस्थाः ॥४३॥

पितर ऊचुः

श्राद्धानि नोऽधिबुभुजे प्रसभं तनूजै-
र्दत्तानि तीर्थसमयेऽप्यपिबत्तिलाम्बु[3] ।
तस्योदरान्नखविदीर्णवपाद्य आर्च्छ-
त्तस्मै नमो नृहरयेऽखिलधर्मगोप्त्रे ॥४४॥

सिद्धा ऊचुः

यो नो गतिं योगसिद्धामसाधु-
रहारषीद्योगतपोबलेन ।

वाले हैं तथा जो अपनी लीलासे ही सत्त्वादि गुणोंद्वारा जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और लय करनेवाले हैं उन अव्ययात्मा श्रीअनन्तको मैं नमस्कार करता हूँ ॥ ४० ॥

श्रीरुद्र बोले—हे भक्तवत्सल ! आपके क्रोध करनेका समय तो प्रलयकाल है, इस समय तो आपने इस तुच्छ दैत्यको ही मारा है । इसका पुत्र आपकी शरणमें आया है; आप अपने इस भक्तकी रक्षा कीजिये ॥ ४१ ॥

इन्द्रने कहा—हे परमपुरुष ! [सबके अन्तर्यामी होनेसे आप ही भोक्ता हैं, अतः] हमारी रक्षा करके आपने अपना ही यज्ञभाग लौटा लिया है । आपके निवासस्थानरूप हमारे हृदयकमल दैत्यके आतङ्कसे दबे हुए थे, उन्हें आपने फिर विकसित कर दिया । हे नाथ ! जिन्हें आपकी सेवा करनेकी चाह है उनकी दृष्टिमें इन कालग्रस्त भोगोंका क्या मूल्य है ? हे नृसिंह-देव ! वे तो मुक्तिका भी बहुत अधिक मान नहीं करते, फिर अन्य भोगोंकी तो बात ही क्या है ? ॥ ४२ ॥

ऋषिगण बोले—हे आदिपुरुष ! जिसके द्वारा आपने अपनेमें लीन हुए जगत्की पुनः रचना की थी उस अपने तेजस्वरूप उत्कृष्ट तपका ही आपने हमें उपदेश किया था । हे शरणागतपालक ! इस दैत्यने उसका उच्छेद कर दिया था; अतः उसकी रक्षाके लिये यह शरीर धारणकर आपने फिर उस (तपोनिष्ठा) का ही अनुमोदन किया है ॥ ४३ ॥

पितृगण कहने लगे—हे प्रभो ! यह दैत्य हमारे पुत्रोंद्वारा किये हुए श्राद्धोंको बलात्कारसे स्वयं भोगता था तथा तीर्थोंमें दिये हुए तिलोदकको भी स्वयं ही पी जाता था; अतः आज जिन्होंने अपने नखोंसे उसकी उदर-गुहाको फाड़कर मानो [उसमें मुँदे हुए] हमारे पिण्डादिको उसके पेटसे छीनकर हमें वापस दिया है उन निखिल-धर्मरक्षक श्रीनृहरिको नमस्कार है ॥ ४४ ॥

सिद्धगण बोले—हे नृसिंह ! जिस दुष्टने अपने योग और तपोबलसे हमारी योगसिद्ध गतिको हर लिया था

१. प्रा० पा०—पनतं । २. प्रा० पा०—समर्थम् । ३. प्रा० पा०—पि तिलाम्बुमिश्रम् ।

नानादर्पं तं नखैर्निर्ददार
तस्मै तुभ्यं प्रणताः स्मो नृसिंह ॥४५॥

विद्याधरा ऊचुः

विद्यां पृथग्धारणयानुराद्धां[1]
न्यषेधदज्ञो बलवीर्यदृप्तः ।
स[2] येन संख्ये पशुवद्धतस्तं
मायानृसिंहं प्रणताः स्म नित्यम् ॥४६॥

नागा ऊचुः

येन पापेन रत्नानि स्त्रीरत्नानि हृतानि नः ।
तद्वक्षःपाटनेनासां दत्तानन्द नमोऽस्तु ते ॥४७॥

मनव ऊचुः

मनवो वयं तव निदेशकारिणो
दितिजेन देव परिभूतसेतवः ।
भवता खलः स उपसंहृतः प्रभो
करवाम ते किमनुशाधि किङ्करान् ॥४८॥

प्रजापतय ऊचुः

प्रजेशा वयं ते परेशाभिसृष्टा
न येन प्रजा वै सृजामो निषिद्धाः ।
स एष त्वया भिन्नवक्षा नु शेते
जगन्मङ्गलं सत्त्वमूर्तेऽवतारः ॥४९॥

गन्धर्वा ऊचुः

वयं विभो ते नटनाट्यगायका
येनात्मसाद्वीर्यबलौजसा कृताः ।
स एष[3] नीतो भवता दशामिमां
किमुत्पथस्थः कुशलाय कल्पते ॥५०॥

चारणा ऊचुः

हरे तवाङ्घ्रिपङ्कजं भवापवर्गमाश्रिताः ।
यदेष साधुहृच्छयस्त्वयासुरः समापितः ॥५१॥

नाना प्रकारके दर्पोंसे पूर्ण उस पापीको जिन्होंने अपने नखोंसे फाड़ डाला ऐसे आपको हम विनीतभावसे नमस्कार करते हैं ॥४५॥

विद्याधर बोले—जिस मूढ़ने अपने बल-वीर्यसे उन्मत्त होकर विविध धारणाओंसे प्राप्त की हुई हमारी विद्याको व्यर्थ कर दिया, उसे जिन्होंने युद्धस्थलमें यज्ञपशुके समान नष्ट किया है उन मायानृसिंहको हम सर्वदा नमस्कार करते हैं ॥४६॥

नागोंने कहा—जिस पापीने हमारी मणियों और स्त्रीरत्नोंको हर लिया था उसका वक्षःस्थल विदीर्ण करके जिन्होंने इन (हमारी स्त्रियों) को आनन्द दिया है ऐसे आपको नमस्कार है ॥४७॥

मनुओंने कहा—हे देव ! हम आपकी आज्ञाका पालन करनेवाले मनु हैं । इस दितिपुत्रने [हमारी स्थापित की हुई] सारी धर्ममर्यादा तोड़ दी थी । हे प्रभो ! आज उस दुष्टका आपने अन्त कर दिया; अब, हम आपकी क्या सेवा करें ? इसके लिये हम अपने दासोंको आप आज्ञा दीजिये ॥४८॥

प्रजापति बोले—हे परमेश्वर ! हम आपके रचे हुए प्रजापतिगण हैं; जिस दुष्ट दैत्यके कारण हम प्रजा उत्पन्न नहीं कर सकते थे वह आपके द्वारा वक्षःस्थल विदीर्ण हो जानेसे पृथ्वीपर पड़ा हुआ है । हे सत्त्वमूर्ते ! आपका यह अवतार संसारके कल्याणके लिये ही है ॥४९॥

गन्धर्व बोले—हे विभो ! हम आपके नट और आपके सामने नाचने-गानेवाले हैं । अहो ! जिस पापीने अपने बल-वीर्य और पराक्रमसे हमें अपने अधीन कर लिया था उसे आज आपने इस दशाको पहुँचा दिया । ठीक है, कुमार्गमें चलनेवाले व्यक्तिकी क्या कभी कुशल हो सकती है ? ॥५०॥

चारणोंने कहा—हे हरे ! हमने आपके भवभयहारी चरणकमलोंका आश्रय लिया है, क्योंकि आपने साधुओंके हृदयमें निरन्तर खटकनेवाले इस दैत्यको समाप्त कर दिया है ॥५१॥

१. प्रा० पा०—नुरुद्धां । २. प्रा० पा०—शयीत सं० । ३. प्रा० पा०—एव ।

यक्षा ऊचुः

वयमनुचरमुख्याः कर्मभिस्ते मनोज्ञै-
स्त इह दितिसुतेन प्रापिता वाहकत्वम् ।
स तु जनपरितापं तत्कृतं जानता ते
नरहर उपनीतः पञ्चतां पञ्चविंश ॥५२॥

किंपुरुषा ऊचुः

वयं किंपुरुषास्त्वं तु महापुरुष ईश्वरः ।
अयं कुपुरुषो नष्टो धिक्कृतः साधुभिर्यदा ॥५३॥

वैतालिका ऊचुः

सभासु सत्रेषु तवामलं यशो
गीत्वा सपर्यां महतीं लभामहे ।
यस्तां व्यनैषीद्भृशमेष दुर्जनो
दिष्ट्या हतस्ते भगवन्यथामयः ॥५४॥

किन्नरा ऊचुः

वयमीश किन्नरगणास्तवानुगा
दितिजेन विष्टिमसुनाऽनुकारिताः ।
भवता हरे स वृजिनोऽवसादितो
नरसिंह नाथ विभवाय नो भव ॥५५॥

विष्णुपार्षदा ऊचुः

अद्यैतद्धरिनररूपमद्भुतं ते
दृष्टं नः शरणद सर्वलोकशर्म ।
सोऽयं ते विधिकर ईश विप्रशप्त-
स्तस्येदं निधनमनुग्रहाय विद्मः ॥५६॥

यक्षोंने कहा—हे ईश ! नाना प्रकारके मनोहर कर्म करनेके कारण हम यक्षगण आपके दासोंमें प्रधान हैं, किन्तु इस दितिनन्दनने हमें अपने भारवाहक बना लिया था । हे चौबीस तत्त्वोंके नियन्ता पच्चीसवें पुराणपुरुष श्रीनृसिंह ! उसकी दी हुई प्राणियोंकी पीडाको जाननेवाले आपने आज उसे मार डाला । [अतः अब हम फिर आपकी सेवा कर सकेंगे] ॥५२॥

किम्पुरुष बोले—हम [अति तुच्छ] किम्पुरुष हैं तथा आप सर्वसमर्थ महापुरुष हैं । यह कुपुरुष (दुर्जन) साधुजनोंसे तिरस्कृत था इसलिये आज [आपके हाथों] मारा गया ॥५३॥

वैतालिक बोले—हे हरे ! सभाओं और यज्ञ-शालाओंमें आपका सुयश गाकर हम बड़ी भेंट-पूजा पाते थे; हे भगवन् ! जिसने हमारी उस आजीविकाको नष्ट कर दिया था आज बड़े भाग्यसे वह रोग-सदृश दुर्जन मारा गया ॥५४॥

किन्नरोंने कहा—हे ईश ! हम आपके अनुचर किन्नरगण हैं; इस दैत्यने हमें बेगारमें लगा रक्खा था । हे नृसिंहदेव ! उस पापीको आज आपने नष्ट कर दिया है, सो हे नाथ ! इसी प्रकार आगे भी आप हमारी उन्नति करें ॥ ५५ ॥

विष्णुपार्षदोंने कहा—हम-जैसे भक्तजनोंको आश्रय देनेवाले प्रभो ! सम्पूर्ण लोकोंको शान्ति प्रदान करनेवाला आपका यह विचित्र नृसिंहरूप हमने आज ही देखा है । हे ईश ! वास्तवमें यह दैत्य तो आपकी आज्ञाका पालन करनेवाला दास ही था; ब्राह्मणोंके शापसे ही इसकी यह गति हुई थी । अतः आपने जो इसका वध किया है इसे हम आपकी कृपा ही समझते हैं ॥५६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे सप्तमस्कन्धे
प्रह्लादानुचरिते दैत्यराजवधे नृसिंहस्तवो
नामाष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

१.प्रा०पा०—रिह च दिति० । २.प्रा०पा०—भिः सदा । ३.प्रा०पा०—पारिषदा । ४. प्रा०पा०—दचरितेऽष्टमो ।

नवाँ अध्याय

प्रह्लादकर्तृक नृसिंह-स्तुति ।

नारद उवाच

एवं सुरादयः सर्वे ब्रह्मरुद्रपुरःसराः ।
नोपैतुमशकन्मन्युसंरम्भं सुदुरासदम् ॥ १ ॥
साक्षाच्छ्रीः प्रेषिता देवैर्दृष्ट्वा तन्महदद्भुतम् ।
अदृष्टाश्रुतपूर्वत्वात्सा नोपेयाय शङ्किता ॥ २ ॥
प्रह्लादं प्रेषयामास ब्रह्मावस्थितमन्तिके ।
तात प्रशमयोपेहि स्वपित्रे कुपितं प्रभुम् ॥ ३ ॥

तथेति शनकै राजन्महाभागवतोऽर्भकः ।
उपेत्य भुवि कायेन ननाम विधृताञ्जलिः ॥ ४ ॥
स्वपादमूले पतितं तमर्भकं
विलोक्य देवः कृपया परिप्लुतः ।
उत्थाप्य तच्छीर्ष्ण्यदधात्कराम्बुजं
कालाहिवित्रस्तधियां कृताभयम् ॥ ५ ॥
स तत्करस्पर्शधुताखिलाशुभः
सपद्यभिव्यक्तपरात्मदर्शनः ।
तत्पादपद्मं हृदि निर्वृतो दधौ
हृष्यत्तनुः क्लिन्नहृदश्रुलोचनः ॥ ६ ॥
अस्तौषीद्धरिमेकाग्रमनसा सुसमाहितः ।
प्रेमगद्गदया वाचा तन्न्यस्तहृदयेक्षणः ॥ ७ ॥

प्रह्लाद उवाच

ब्रह्मादयः सुरगणा मुनयोऽथ सिद्धाः
सत्त्वैकतानमतयो वचसां प्रवाहैः ।
नाराधितुं पुरुगुणैरधुनापि पिप्रुः
किं तोष्टुमर्हति स मे हरिरुग्रजातेः ॥ ८ ॥

श्रीनारदजी बोले—हे युधिष्ठिर ! इस प्रकार, ब्रह्मा और महादेवसे लेकर समस्त देवता आदि [भयभीत होनेके कारण] क्रोधावेशमें बैठे हुए उन दुर्द्धर्ष भगवान् नरसिंहके निकट न जा सके॥१॥ देवताओंने [उन्हें शान्त करनेके लिये] साक्षात् लक्ष्मीजीको भेजा; किन्तु उन्होंने जिसे पहले न कभी देखा और न सुना ही था, ऐसा वह अति अद्भुत स्वरूप देखकर वे भयवश उनके पास न जा सकीं ॥२॥ तब ब्रह्माजीने अपने पास खड़े हुए प्रह्लादको भेजा और कहा—"हे तात ! तुम्हारे पितापर कुपित हुए भगवान्के निकट तुम जाओ और उन्हें शान्त करो" ॥३॥

हे राजन् ! तब महाभागवत बालक प्रह्लाद 'जो आज्ञा' ऐसा कहकर धीरेसे नृसिंहजीके निकट गये और उन्हें हाथ जोड़ पृथिवीपर लोटकर साष्टांग प्रणाम किया ॥४॥ उस बालकको अपने चरणोंके समीप पड़ा देख भगवान्ने कृपासे परिपूर्ण हो उसे उठा लिया, और उसके मस्तकपर अपना वह करकमल रखा जो कालसर्पसे भयभीत हुए पुरुषोंको निर्भय करनेवाला है ॥ ५ ॥ भगवान्के हाथका स्पर्श होते ही प्रह्लादजीके सारे अशुभ नष्ट हो गये और उन्हें तत्काल परमात्माके वास्तविक स्वरूपका साक्षात्कार हो गया । उन्होंने परमानन्दसे भरकर भगवान्के चरणकमलोंको हृदयमें धारण किया । उस समय उनके शरीरमें रोमाञ्च हो आया, हृदय प्रेमार्द्र हो गया तथा नेत्रोंसे आनन्दाश्रु झरने लगे ॥६॥ वे एकाग्रचित्तसे भलीभाँति समाहित हो अपने हृदय और नयनोंको श्रीहरिहीमें लगाकर प्रेमके कारण गद्गद वाणीसे उनकी स्तुति करने लगे ॥७॥

प्रह्लादजी बोले—जिनकी बुद्धि एकमात्र सत्त्वगुणमें ही स्थित है वे ब्रह्मादि देवगण तथा मुनि और सिद्धगण भी अपने वचनोंके प्रवाहसे और बहुत गुणोंसे भी अभीतक जिनको आराधनाद्वारा संतुष्ट नहीं कर सके वे ही श्रीहरि उग्रजातिमें उत्पन्न हुए मुझ दैत्यपर क्योंकर संतुष्ट हो सकते हैं ? ॥ ८ ॥

१. प्रा० पा०—उत्पत्य । २. प्रा० पा०—हिनिर्दृष्टधि० ।

प्रह्लादपर भगवान् नृसिंहकी कृपा

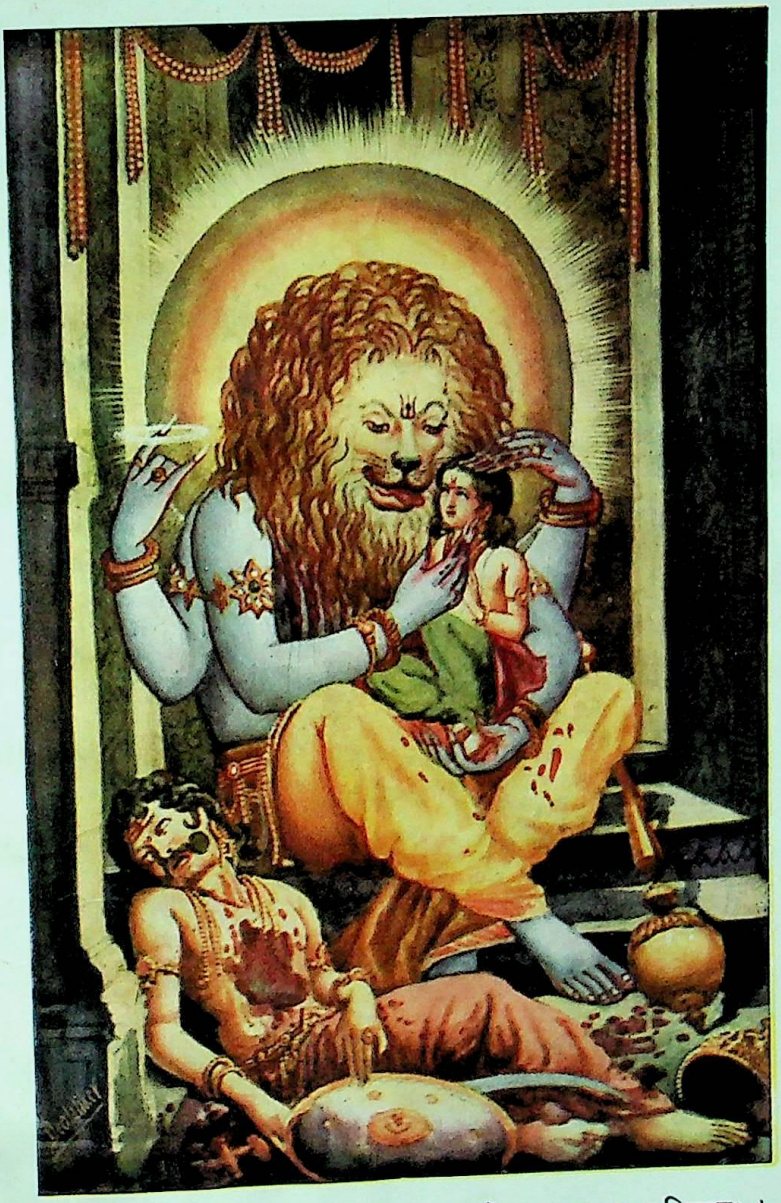

स्वपादमूले पतितं तमर्भकं विलोक्य देवः कृपया परिप्लुतः ।
उत्थाप्य तच्छीर्ष्ण्यदधात्कराम्बुजं कालाहिवित्रस्तधियां कृताभयम् ॥

[पृष्ठ ८०६

मन्ये धनाभिजनरूपतपःश्रुतौज-
स्तेजःप्रभावबलपौरुषबुद्धियोगाः ।
नाराधनाय हि भवन्ति परस्य पुंसो
भक्त्या तुतोष भगवान्गजयूथपाय ॥ ९ ॥

विप्राद्द्विषड्गुणयुतादरविन्दनाभ-
पादारविन्दविमुखाच्छ्वपचं वरिष्ठम् ।
मन्ये तदर्पितमनोवचनेहितार्थ-
प्राणं पुनाति स कुलं न तु भूरिमानः ॥१०॥

नैवात्मनः प्रभुरयं निजलाभपूर्णो
मानं जनादविदुषः करुणो वृणीते ।
यद्यज्जनो भगवते विदधीत मानं
तच्चात्मने प्रतिमुखस्य यथा मुखश्रीः॥११॥

तस्मादहं विगतविक्लव ईश्वरस्य
सर्वात्मना महि गृणामि यथामनीषम् ।
नीचोऽजया गुणविसर्गमनुप्रविष्टः
पूयेत येन हि पुमाननुवर्णितेन ॥१२॥

सर्वे ह्यमी विधिकरास्तव सत्त्वधाम्नो
ब्रह्मादयो वयमिवेश न चोद्विजन्तः ।
क्षेमाय भूतय उतात्मसुखाय चास्य
विक्रीडितं भगवतो रुचिरावतारैः ॥१३॥

तद्यच्छ मन्युमसुरश्च हतस्त्वयाद्य
मोदेत साधुरपि वृश्चिकसर्पहत्या ।

तो भी मेरा ऐसा विचार है कि धन, कुलीनता, रूप, तप, विद्या, ओज, तेज, प्रभाव, बल, पौरुष, बुद्धि और योग—ये सभी गुण परमपुरुष श्रीहरिकी आराधनाके साधन नहीं हो सकते; किन्तु भक्तिसे तो वे भगवान् गजेन्द्रपर भी प्रसन्न हो गये थे ॥ ९ ॥ जो ब्राह्मण उपर्युक्त बारह गुणोंसे युक्त है, किन्तु भगवान् कमलनाभके चरणकमलोंसे विमुख है उससे तो मैं उस चाण्डालको श्रेष्ठ समझता हूँ जिसने अपने मन वचन, कर्म, धन और प्राण श्रीहरिहीमें लगा रखे हैं; वह अपने कुलको पवित्र कर देता है, किन्तु अपने बड़प्पनका विशेष गर्व रखनेवाला ब्राह्मण वैसा नहीं कर सकता ॥१०॥ [इससे यह न समझना चाहिये कि भगवान्को पूजाकी आवश्यकता है] भगवान् तो आत्मलाभसे ही पूर्ण हैं, वे क्षुद्र पुरुषोंसे पूजाकी इच्छा नहीं रखते। वे केवल करुणावश ही अपने भक्तों-द्वारा की हुई परिचर्याको स्वीकार कर लेते हैं, [इससे भी उन उपासकोंका ही लाभ है] क्योंकि जिस प्रकार अपने मुखकी शोभा [दर्पणादिमें प्रतीत होनेवाले] प्रतिबिम्बको भी सुशोभित करती है उसी प्रकार भक्त भगवान्के प्रति जो-जो मान प्रदर्शित करता है वह [भगवदंशरूप] उस भक्तको ही प्राप्त होता है ॥११॥ अतः यद्यपि मैं नीच हूँ, तो भी निःशङ्क होकर अपनी बुद्धिके अनुसार सब प्रकार उन ईश्वरकी महिमाका वर्णन करता हूँ, जिसका वर्णन करनेसे, अविद्यावश संसारचक्रमें पड़ा हुआ जीव तत्काल पवित्र हो जाता है ॥१२॥

हे ईश ! ये ब्रह्मादिक समस्त देवगण आप सत्त्वस्वरूपकी आज्ञाका अनुवर्तन करनेवाले हैं; हम दैत्योंकी भाँति आपसे द्वेष करनेवाले नहीं हैं। और हे भगवन् ! अपने मनोहर अवतारोंद्वारा आप जो-जो लीलाएँ करते हैं वे भी जगत्के कल्याण एवं उद्भव तथा आत्मानन्दके लिये ही होती हैं ॥ १३ ॥ अतः अब आप क्रोध शान्त कीजिये; क्योंकि अब आप असुरका संहार कर चुके। हे देव ! सर्प और बिच्छू आदि दुःखदायी जीवोंके मारे जानेपर साधुजन भी आनन्द

१. प्रा० पा०—प्रताप० ।

लोकाश्च निर्वृतिमिताः प्रतियन्ति सर्वे
रूपं नृसिंह विभयाय जनाः स्मरन्ति ॥१४॥
नाहं बिभेम्यजित तेऽतिभयानकास्य-
जिह्वार्कनेत्रभ्रुकुटीरभसोग्रदंष्ट्रात् ।
आन्त्रस्रजः क्षतजकेसरशङ्ककर्णा-
न्निर्ह्रादभीतदिगिभादरिभिन्नखाग्रात् ॥१५॥
त्रस्तोऽस्म्यहं[1] कृपणवत्सल दुःसहोग्र-
संसारचक्रकदनाद्[2]रसतां प्रणीतः ।
बद्धः स्वकर्मभिरुशत्तम तेऽङ्घ्रिमूलं
प्रीतोऽपवर्गमरणं ह्वयसे कदा नु ॥१६॥
यस्मात्प्रियाप्रियवियोगसयोगजन्म-
शोकाग्निना सकलयोनिषु दह्यमानः ।
दुःखौषधं तदपि दुःखमतद्धियाहं
भूमन्भ्रमामि वद मे तव दास्ययोगम् ॥१७॥
सोऽहं प्रियस्य सुहृदः परदेवताया
लीलाकथास्तव नृसिंह विरिञ्चगीताः ।
अञ्जस्तितर्म्यनुगृणन्गुणविप्रमुक्तो
दुर्गाणि ते पदयुगालयहंससङ्गः ॥१८॥
बालस्य नेह शरणं पितरौ नृसिंह
नार्तस्य चागदमुदन्वति मज्जतो नौः ।
तप्तस्य तत्प्रतिविधिर्य इहाञ्जसेष्ट-
स्तावद्विभो तनुभृतां त्वदुपेक्षितानाम् ॥१९॥
यस्मिन्यतो यर्हि येन च यस्य यस्मा-
द्यस्मै यथा यदुत यस्त्वपरः परो वा ।

मानते हैं अतः इस असुरके संहारसे आनन्दित हुए सब लोक आपका कोप शान्त होनेकी बाट देख रहे हैं। हे नृसिंह ! भयसे मुक्त होनेके लिये मनुष्य आपके इस रूपका स्मरण करेंगे ॥ १४ ॥ हे अजित ! जिसके अति भयानक मुख और जिह्वा, सूर्यके समान देदीप्यमान नेत्र, भ्रुकुटिका वेग एवं उग्र दाढ़ें हैं, जो आँतोंकी माला, रक्ताक्त सटाकलाप एवं सीधे खड़े हुए कानोंसे युक्त है, जिसके सिंहनादने दिग्गजोंको भी भयभीत कर दिया है तथा जिसके नखाग्र शत्रुको विदीर्ण करनेवाले हैं आपके उस भयङ्कर स्वरूपसे मुझे कुछ भी भय नहीं है ॥ १५ ॥ हे दीनवत्सल ! मैं तो अति उग्र और दुःसह संसारचक्रके दुःखसे भयभीत हो रहा हूँ, जहाँ मुझे कर्मोंने बाँधकर हिंस्र जीवोंके बीचमें डाल दिया है। हे श्रेष्ठतम ! अब आप प्रसन्न होकर मुझे अपने मोक्षप्रद और शरणदायक चरणोंमें कब बुलायेंगे ? ॥ १६ ॥ हे भूमन् ! मैं सभी योनियोंमें प्रियके वियोग और अप्रियके संयोगसे उत्पन्न होनेवाले शोकानलसे सन्तप्त होता आया हूँ; उस दुःखकी जो ओषधि है वह भी दुःख ही है; अतः मैं देहादि अनात्मामें आत्मबुद्धि कर चिरकालसे भटक रहा हूँ, सो आप मुझे अपने दास्यभावका उपदेश दीजिये ॥ १७ ॥ हे नृसिंह ! आप सबके प्रिय सुहृद् और श्रेष्ठ देवतारूप हैं; आपके दासभावको प्राप्त होकर मैं आपके चरणयुगलमें निवास करनेवाले ज्ञानियोंका सहवास करता हुआ रागादि गुणोंके बन्धनसे मुक्त हो ब्रह्माजीद्वारा कही हुई आपकी लीलाकथाओंको गाकर सुगमतासे ही संसारसे पार हो जाऊँगा ॥१८॥ हे नृसिंह ! इस लोकमें सन्तप्त पुरुषोंकी दुःखनिवृत्तिका जो उपाय माना जाता है आपके उपेक्षा करनेपर वह एक क्षणके लिये ही होता है [कुछ स्थायी नहीं होता]। बालकके लिये माता-पिता, रोगीके लिये ओषधि और समुद्रमें डूबते हुएके लिये नौका सदा ही सहायक नहीं होते [उनके रहते हुए भी विपरीत फल होता देखा गया है] ॥१९॥ हे भगवन् ! भिन्न-भिन्न स्वभाववाले [ब्रह्मादि] पुरातन अथवा [माता-पितादि] अर्वाचीन कर्त्ता

१. प्रा० पा०—स्म्यलं । २. प्रा० पा०—गहनाद् ।

भावः करोति विकरोति पृथक्स्वभावः
सञ्चोदितस्तदखिलं भवतः स्वरूपम् ॥२०॥

माया मनः सृजति कर्ममयं बलीयः
कालेन चोदितगुणानुमतेन पुंसः ।
छन्दोमयं यदजयार्पितषोडशारं
संसारचक्रमज कोऽतितरेत्त्वदन्यः ॥२१॥

स त्वं हि नित्यविजितात्मगुणः स्वधाम्ना
कालो वशीकृतविसृज्यविसर्गशक्तिः।
चक्रे विसृष्टमजयेश्वर षोडशारे
निष्पीड्यमानमुपकर्ष विभो प्रपन्नम् ॥२२॥

दृष्टा मया दिवि विभोऽखिलधिष्ण्यपाना-
मायुः श्रियो विभव इच्छति याञ्जनोऽयम् ।
येऽस्मत्पितुः कुपितहासविजृम्भितभ्रू-
विस्फूर्जितेन लुलिता स तु ते निरस्तः ॥२३॥

तस्मादमूस्तनुभृतामहमाशिषो ज्ञ
आयुः श्रियं विभवमैन्द्रियमाविरिञ्चात् ।
नेच्छामि ते विलुलितानुरुविक्रमेण
कालात्मनोपनय मां निजभृत्यपार्श्वम् ॥२४॥

कुत्राशिषः श्रुतिसुखा मृगतृष्णिरूपाः
क्वेदं कलेवरमशेषरुजां विरोहः ।
निर्विद्यते न तु जनो यदपीति विद्वा-
न्कामानलं मधुलवैः शमयन्दुरापैः ॥२५॥

जिससे प्रेरित होकर जिसमें जब जिसके द्वारा जिसका जिससे जिसके लिये जिस प्रकार जो कुछ उत्पन्न करते अथवा बदलते हैं वह सब आपहीका रूप है ॥ २० ॥

हे प्रभो ! कालके द्वारा जिसके गुणोंमें क्षोभ हुआ है ऐसी माया आपके अंशभूत पुरुषकी दृष्टिमात्रसे प्रेरित हो मनःप्रधान लिङ्गदेहकी रचना करती है जो अति बलवान्, कर्ममय, वैदिक कर्म-कलापमें आसक्त तथा अविद्याद्वारा अर्पित [मन, दश इन्द्रिय और पञ्चतन्मात्रा इन] सोलह विकाररूप अरोंसे युक्त संसारचक्र है; सो हे अजन्मा प्रभो ! आपसे अलग रहनेवाला ऐसा कौन पुरुष है जो उस (मनरूप) संसारचक्रको पार कर सके ॥ २१ ॥ हे प्रभो ! हे ईश्वर ! अपनी चैतन्य-शक्तिसे बुद्धिके समस्त गुणोंपर सर्वदा विजय पानेवाले तथा कालरूपसे [मायाके नियन्ता होकर] सम्पूर्ण साध्य और साधनको अपने वशमें रखनेवाले आप मुझ शरणागतको, जो मायाद्वारा इस सोलह अरोंवाले संसारचक्रमें डालकर [इक्षुदण्डके समान] पेरा जा रहा है, अपने समीप खींच लें ॥ २२ ॥ हे विभो ! जिसके लिये संसारी लोग बड़े लालायित रहते हैं वह स्वर्गलोकमें मिलनेवाली सम्पूर्ण लोकपालोंकी आयु, लक्ष्मी और विभूति तो मैंने खूब देख ली । वह तो हमारे पिताके क्रोधयुक्त हास्यसे किये हुए भ्रुकुटिविलाससे ही नष्ट हो गयी थी और अब आपने उन्हें भी मार डाला ॥२३॥ अतः देहधारियोंके इन भोगोंके परिणामको जाननेवाला मैं [सामान्य जीवसे लेकर] ब्रह्मातकके भी आयु, वैभव और इन्द्रियसम्बन्धी भोगोंकी इच्छा नहीं करता; क्योंकि वे सभी परमपराक्रमी कालरूप परमेश्वरसे ग्रस्त हैं। अतः मुझे आप अपने दासोंके समीप ले चलिये ॥२४॥ अहो ! कहाँ केवल सुननेमें सुखदायक मृगतृष्णारूप विषय-भोग और कहाँ सम्पूर्ण रोगोंका उत्पत्तिस्थान यह शरीर ? किन्तु मनुष्य इनकी असारता और नाशवत्ताको जानकर भी, बड़ी कठिनतासे प्राप्त होनेवाले [भोगरूप] मधुकणोंसे अपनी भोगेच्छारूप अग्निको शान्त करता हुआ, इनसे विरक्त नहीं होता ! ॥ २५ ॥

१. प्रा० पा०—विमोहः ।

क्वाहं रजःप्रभव ईश तमोऽधिकेऽस्मि-
जातः सुरेतरकुले क्व तवानुकम्पा ।
न ब्रह्मणो न तु भवस्य न वै रमाया
यन्मेऽर्पितः शिरसि पद्मकरः प्रसादः ॥२६॥

नैषा परावरमतिर्भवतो ननु स्या-
ज्जन्तोर्यथात्मसुहृदो जगतस्तथापि ।
संसेवया सुरतरोरिव ते प्रसादः
सेवानुरूपमुदयो न परावरत्वम् ॥२७॥

एवं जनं निपतितं प्रभवाहिकूपे
कामाभिकाममनु यः प्रपतन्प्रसङ्गात् ।
कृत्वात्मसात्सुरर्षिणा भगवन्गृहीतः
सोऽहं कथं नु विसृजे तव भृत्यसेवाम् ॥२८॥

मत्प्राणरक्षणमनन्त पितुर्वधश्च
मन्ये स्वभृत्यऋषिवाक्यमृतं विधातुम् ।
खड्गं प्रगृह्य यदवोचदसद्विधित्सु-
स्त्वामीश्वरो मदपरोऽवतु कं हरामि ॥२९॥

एकस्त्वमेव जगदेतदमुष्य यत्त्व-
माद्यन्तयोः पृथगवस्यसि मध्यतश्च ।
सृष्ट्वा गुणव्यतिकरं निजमाययेदं
नानेव तैरवसितस्तदनुप्रविष्टः ॥३०॥

हे ईश ! कहाँ तो इस तमःप्रधान असुरकुलमें रजोगुणसे उत्पन्न हुआ मैं ? और कहाँ आपकी कृपा ? अहो ! जो परम पुरुषार्थस्वरूप [और सकल सन्तापहारी] करकमल आपने कभी ब्रह्मा, महादेव और लक्ष्मीजीके शिरपर भी नहीं रखा वही मेरे मस्तकपर रखा ! ॥२६॥ [किन्तु यह कोई आश्चर्यकी बात नहीं है] क्योंकि अन्य संसारी जीवोंके समान आपकी [ब्रह्मादिक और मेरे-जैसे प्राणियोंमें] उत्तम-अधम बुद्धि नहीं है; क्योंकि आप सम्पूर्ण जगत्के आत्मा और सुहृद् हैं। फिर भी [आपकी कृपामें जो अन्तर देखा जाता है उसका कारण यही है कि] कल्पवृक्षके समान आपका प्रसाद भी सेवासे ही प्राप्त होता है, आपकी सेवाके अनुसार ही जीवमें धर्मादिका उदय होता है, जातिगत उच्चता या नीचता यहाँ कारण नहीं है ॥ २७ ॥ हे भगवन् ! इस प्रकार कालरूप सर्पसे युक्त संसार-कूपमें पड़े हुए अन्य विषयाभिलाषी पुरुषोंके पीछे मैं भी उनके संगदोषसे गिरा जा रहा था। उस समय देवर्षि नारदने मुझे अपना मानकर स्वीकार किया था [और उन्हींकी कृपासे आज मुझे आपके दर्शनोंका सौभाग्य प्राप्त हुआ है।] अतः मैं आपके दासोंकी सेवा किस प्रकार त्याग सकता हूँ ? ॥ २८ ॥ हे अनन्त ! मेरे पिताने अन्याय करनेके लिये कमर कसकर जब हाथमें खड्ग लेकर कहा कि 'मुझसे अतिरिक्त यदि कोई ईश्वर है तो तेरी रक्षा करे—मैं तेरा शिर काटता हूँ', उस समय आपने जो मेरे प्राणोंकी रक्षा की और मेरे पिताका वध किया वह भी अपने दास देवर्षि नारदके वचनोंको सत्य करनेके लिये ही था—ऐसा मैं मानता हूँ ॥ २९ ॥

हे नाथ ! यह सम्पूर्ण जगत् एकमात्र आप ही हैं क्योंकि इसके आदि, अन्त और मध्यमें आप ही स्थित रहते हैं। आप एक होकर भी अपनी मायासे गुणोंके परिणामरूप इस जगत्को रचकर इसमें अनुप्रविष्ट हो उन गुणोंके [सृष्टि-प्रलय आदि] व्यापारोंसे [जगत्के स्रष्टा, रक्षक और संहारक आदि रूपोंमें] अनेक-से प्रतीत होते हैं ॥ ३० ॥

१. प्रा० पा०—दसून् बिभित्सु० ।

त्वं वा इदं सदसदीश भवांस्ततोऽन्यो
माया यदात्मपरबुद्धिरियं ह्यपार्था ।
यद्यस्य जन्म निधनं स्थितिरीक्षणं च
तद्वै तदेव वसुकालवदष्टितर्वोः ॥३१॥

हे ईश ! यह सत् (कार्य) असत् (कारण) रूप सम्पूर्ण जगत् आप ही हैं; तथा इससे भिन्न परमपुरुष भी आप ही हैं । अतः 'यह अपना है, यह पराया है' ऐसी बुद्धि व्यर्थ माया ही है, क्योंकि जिसका जिससे जन्म, स्थिति, लय और प्रकाश होता है वह तद्रूप ही होता है; अतः जिस प्रकार (कार्यरूप) वृक्ष और (कारणरूप) बीज दोनों ही गन्धतन्मात्रारूप हैं उसी प्रकार यह सम्पूर्ण जगत् आपहीका रूप है ॥ ३१ ॥

न्यस्येदमात्मनि जगद्विलयाम्बुमध्ये
शेषेऽऽत्मना[1] निजसुखानुभवो निरीहः ।
योगेन मीलितदृगात्मनिपीतनिद्र-
स्तुर्ये स्थितो न तु तमो न गुणांश्च युङ्क्षे ॥३२॥

हे प्रभो ! आप इस निखिल प्रपञ्चको स्वयं ही अपनेमें समेटकर आत्मसुखका अनुभव करते हुए निरीह होकर प्रलयकालीन जलमें शयन करते हैं । उस समय योगद्वारा बाह्य दृष्टि मूँदकर और आत्मस्वरूपके प्रकाशसे निद्राको विलीनकर आप तुरीयपदमें स्थित रहते हैं—न तो तमोयुक्त ही होते हैं और न विषयोंके भोक्ता ही ॥ ३२ ॥

तस्यैव ते वपुरिदं[2] निजकालशक्त्या
सञ्चोदितप्रकृतिधर्मण आत्मगूढम् ।
अम्भस्यनन्तशयनाद्विरमत्समाधे-
र्नाभेरभूत्सकणिकावटवन्महाब्जम् ॥३३॥

यह ब्रह्माण्ड, उन अपनी कालशक्तिसे प्रकृतिके गुणोंको प्रेरित करनेवाले आप परमेश्वरका ही शरीर है । पहले यह आपही-में निहित था; जब प्रलयकालीन जलके भीतर शेषशय्यापर शयन करनेवाले आपने योगनिद्रारूप समाधिको त्यागा तो वटके बीजसे उत्पन्न हुए महावृक्षके समान आपकी नाभिसे अति विशाल ब्रह्माण्डकमल उत्पन्न हुआ ॥ ३३ ॥

तत्सम्भवः कविरतोऽन्यदपश्यमान-
स्त्वां बीजमात्मनि ततं स्वबहिर्विचिन्त्य ।
नाविन्ददब्दशतमप्सु निमज्जमानो
जातेऽङ्कुरे कथमुहोपलभेत बीजम् ॥३४॥

उससे उत्पन्न हुए सूक्ष्मदर्शी ब्रह्माजीको जब उस कमलके अतिरिक्त और कुछ भी दिखायी न दिया तो अपनेमें व्याप्त बीजरूप आपको अपनेसे बाहर समझकर वे सौ वर्षतक जलके भीतर घुसकर ढूँढ़ते रहे, किन्तु उन्हें कुछ भी न मिला—सो ठीक ही है, क्योंकि अङ्कुर उत्पन्न हो जानेपर [उसमें व्याप्त हुए] बीजको कोई पुरुष पृथक् कैसे देख सकता है ? ॥ ३४ ॥

स त्वात्मयोनिरतिविस्मित आस्थितोऽब्जं
कालेन तीव्रतपसा परिशुद्धभावः ।
त्वामात्मनीश भुवि गन्धमिवातिसूक्ष्मं
भूतेन्द्रियाशयमये विततं ददर्श ॥३५॥

इससे आत्मयोनि श्रीब्रह्माजी अति विस्मित हो उस कमलपर बैठ गये । हे ईश ! फिर बहुत समयतक तीव्र तपस्याद्वारा अन्तःकरण शुद्ध हो जानेपर उन्हें, पृथिवीमें व्याप्त अतिसूक्ष्म गन्धतन्मात्राके समान भूत, इन्द्रिय और अन्तःकरणरूप अपने शरीरमें व्याप्त आपके सूक्ष्मरूपका साक्षात्कार हुआ ॥ ३५ ॥

१. प्रा० पा०—शेषासनो । २. प्रा० पा०—पुनरिदं ।

एवं सहस्रवदनाङ्घ्रिशिरःकरोरु-
नासास्यकर्णनयनाभरणायुधाढ्यम् ।
मायामयं सदुपलक्षितसन्निवेशं
दृष्ट्वा महापुरुषमाप मुदं विरिञ्चः ॥३६॥

तस्मै भवान्हयशिरस्तनुवं च बिभ्र-
द्वेदद्रुहावतिबलौ मधुकैटभाख्यौ ।
हत्वानयच्छ्रुतिगणांस्तु रजस्तमश्च
सत्त्वं तव प्रियतमां तनुमामनन्ति ॥३७॥

इत्थं नृतिर्यगृषिदेवझषावतारै-
र्लोकान् विभावयसि हंसि जगत्प्रतीपान् ।
धर्मं महापुरुष पासि युगानुवृत्तं
छन्नः कलौ यदभवस्त्रियुगोऽथ सत्वम् ॥३८॥

नैतन्मनस्तव कथासु विकुण्ठनाथ
सम्प्रीयते दुरितदुष्टमसाधु तीव्रम् ।
कामातुरं हर्षशोकभयैषणार्तं
तस्मिन्कथं तव गतिं विमृशामि दीनः॥३९॥

जिह्वैकतोऽच्युत विकर्षति मावितृप्ता
शिश्नोऽन्यतस्त्वगुदरं श्रवणं कुतश्चित् ।
घ्राणोऽन्यतश्चपलदृक् क्व च कर्मशक्ति-
र्बह्व्यः सपत्न्य इव गेहपतिं लुनन्ति ॥४०॥

एवं स्वकर्मपतितं भववैतरण्या-
मन्योन्यजन्ममरणाशनभीतभीतम् ।
पश्यञ्जनं स्वपरविग्रहवैरमैत्रं
हन्तेति पारचर पीपृहि मूढमद्य ॥४१॥

को न्वत्र तेऽखिलगुरो भगवन्प्रयास
उत्तारणेऽस्य भवसम्भवलोपहेतोः ।

इस प्रकार सहस्रों वदन, चरण, शिर, हाथ, उरु, नासिका, मुख, कर्ण, नयन, आभूषण और आयुधोंसे सम्पन्न, चौदह लोकरूप अवयवोंसे विभूषित आप मायामय विराट्पुरुषका दर्शन कर ब्रह्माजीको परमानन्द प्राप्त हुआ ॥ ३६ ॥ तब आपने हयग्रीव-रूप धारणकर अति प्रबल और वेदद्रोही रजोगुण-तमोगुणरूप मधु और कैटभनामक दो दैत्योंको मारकर उन ब्रह्माजीको सत्त्वगुणरूप समस्त वेद समर्पण किये । अतः सत्त्वगुणको ही आपका प्रियतम रूप कहा जाता है ॥३७॥ हे परमपुरुष ! इस प्रकार आप मनुष्य, तिर्यक्, ऋषि, देवता और मत्स्यादि अवतार लेकर सम्पूर्ण लोकोंका पालन और जगद्विद्रोहियोंका संहार करते हैं । उन अवतारोंद्वारा आप प्रत्येक युगके धर्मोंकी रक्षा करते हैं, किन्तु कलियुगमें [अवतार न लेकर] गुप्तरूपसे ही रहते हैं; इसीलिये आप 'त्रियुग' नामसे भी प्रसिद्ध हैं ॥३८॥

हे वैकुण्ठनाथ ! यह मेरा मन अति असाधु, दोषदूषित, कामातुर तथा हर्ष, शोक, भय और त्रिविध एषणाओंसे व्याकुल है, आपकी कथाओंमें इसकी प्रीति ही नहीं है । ऐसे कलुषित चित्तके होते हुए मैं दीन किस प्रकार आपके स्वरूपका चिन्तन करूँ ॥३९॥ हे अच्युत ! जिस प्रकार बहुत-सी सपत्नियाँ (सौतें) अपने स्वामीको अपनी-अपनी ओर खींचती हैं उसी प्रकार मुझे अतृप्त रसना एक ओर, उपस्थ दूसरी ओर, त्वचा, उदर एवं कर्ण तीसरी ओर, घ्राण और चञ्चल नयन किसी और तरफ तथा कर्मेन्द्रियाँ और ही स्थानकी ओर खींचती हैं ॥४०॥

हे नित्यमुक्त ! संसाररूप वैतरणीमें अपने कर्मोंके कारण पड़कर परस्पर प्राप्त होनेवाले जन्म-मरण एवं खानपानादिसे अत्यन्त भयभीत तथा अपने और पराये पुरुषोंसे मित्रता एवं द्वेष करते हुए इस मूढ़ जनसमुदायको देखकर करुणावश खेद प्रकट करते हुए आप अब इस (वैतरणी) के पार लगाकर इस (प्राणिवर्ग) की रक्षा कीजिये ॥४१॥ हे अखिलगुरो ! आप सम्पूर्ण जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और पालन करनेवाले हैं । भगवन् ! इन सबको पार लगानेमें आपको क्या

१. प्रा०पा०—लक्षणस० । २. प्रा०पा०—हत्वा पुनः स्थितिगुणांश्च । ३. प्रा० पा०—कृताव० । ४. प्रा० पा०—प्रभवसिद्धियुगोऽथ । ५. प्रा० पा०—भयेक्षणार्तं ।

मूढेषु वै महदनुग्रह आर्तबन्धो
किं तेन ते प्रियजनाननुसेवतां नः ॥४२॥

नैवोद्विजे परदुरत्ययवैतरण्या-
स्त्वद्वीर्यगायनमहामृतमग्नचित्तः ।
शोचे ततो विमुखचेतस इन्द्रियार्थ-
मायासुखाय भरमुद्वहतो विमूढान् ॥४३॥

प्रायेण देव मुनयः स्वविमुक्तिकामा
मौनं चरन्ति विजने न परार्थनिष्ठाः ।
नैतान्विहाय कृपणान्विमुमुक्ष एको
नान्यं त्वदस्य शरणं भ्रमतोऽनुपश्ये ॥४४॥

यन्मैथुनादि गृहमेधिसुखं हि तुच्छं
कण्डूयनेन करयोरिव दुःखदुःखम् ।
तृप्यन्ति नेह कृपणा बहुदुःखभाजः
कण्डूतिवन्मनसिजं विषहेत धीरः ॥४५॥

मौनव्रतश्रुततपोऽध्ययनस्वधर्म-
व्याख्यारहोजपसमाधय आपवर्ग्याः ।
प्रायः परं पुरुष ते त्वजितेन्द्रियाणां
वार्ता भवन्त्युत न वात्र तु दाम्भिकानाम् ॥४६॥

रूपे इमे सदसती तव वेदसृष्टे
बीजाङ्कुराविव न चान्यदरूपकस्य ।

प्रयास हो सकता है ? हे दीनबन्धो ! महापुरुषोंकी कृपा तो मूढ़ोंपर ही होनी चाहिये; आपके प्रिय दासोंकी सेवा करनेवाले हमलोगोंके लिये उसका ऐसा क्या प्रयोजन है ? [हम तो उनकी सेवासे ही तर जायँगे] ॥४२॥ हे प्रभो ! जिसका पार करना दूसरोंके लिये अत्यन्त कठिन है उस संसाररूप वैतरणीसे मुझे कुछ भी भय नहीं है, क्योंकि मेरा चित्त आपके गुणगानरूप परमामृतका पान करके मग्न रहता है, मुझे तो उन्हींकी चिन्ता है जो मूढ़ उससे विमुख रहकर इन्द्रियोंके विषयोंसे प्राप्त होनेवाले मायिक सुखके लिये कुटुम्बपोषणादिका भार वहन करते रहते हैं ॥४३॥ हे देव ! मुनिजन प्रायः अपनी ही मुक्तिकी इच्छासे एकान्तमें रहकर मौनव्रत धारण कर लेते हैं; वे दूसरेके हितमें तत्पर नहीं होते । किन्तु मुझे इन गरीबोंको छोड़कर अकेले ही मुक्त होनेकी इच्छा नहीं है, और संसारमें भटकनेवाले इन लोगोंके लिये आपके सिवा और कोई मुझे उद्धार करनेवाला भी दिखायी नहीं देता ॥४४॥

हे प्रभो ! गृहस्थके जो मैथुनादि सुख हैं वे खुजलीके समान हैं । जिस प्रकार हाथोंसे खुजानेपर खुजलीमें [पहले कुछ चैन पड़नेपर भी फिर] अधिकाधिक दुःख ही बढ़ता है उसी प्रकार ये भोग भी अत्यन्त तुच्छ हैं । किन्तु अनेकों दुःख उठानेपर भी ये दीनजन इनसे तृप्त नहीं होते किन्तु धीर पुरुष खुजलीके समान कामादि वेगोंको सहन कर लेता है ॥४५॥ हे अन्तर्यामिन् ! मौन, व्रत, शास्त्रश्रवण, तप, वेदाध्ययन, स्वधर्मपालन, शास्त्रोंकी व्याख्या करना, एकान्तसेवन, जप और समाधि— ये मोक्षके दश साधन प्रसिद्ध हैं परन्तु वे भी प्रायः अजितेन्द्रिय पुरुषोंकी जीविकाके साधन बन जाते हैं; तथा दाम्भिकोंके लिये तो वे कभी जीविकाके साधन रहते भी हैं और कभी [दम्भ खुल जानेपर] नहीं भी रहते ॥४६॥ वेदने बीज और अङ्कुरके समान कार्य और कारण—ये दो आपके रूप बतलाये हैं । वास्तवमें आप रूपरहित हैं; परन्तु इन्हें छोड़कर

१. प्रा० पा०—वया नः ।

युक्ताः समक्षमुभयत्र विचिन्वते[1] त्वां
योगेन वह्निमिव दारुषु नान्यतः स्यात् ॥४७॥
त्वं वायुरग्निरवनिर्वियदम्बुमात्राः
प्राणेन्द्रियाणि हृदयं चिदनुग्रहश्च ।
सर्वं त्वमेव सगुणो विगुणश्च भूमन्
नान्यत्त्वदस्त्यपि मनोवचसा निरुक्तम् ॥४८॥
नैते गुणा न गुणिनो महदादयो ये
सर्वे मनःप्रभृतयः सहदेवमर्त्याः ।
आद्यन्तवन्त उरुगाय विदन्ति हि त्वा-
मेवं विमृश्य सुधियो[3] विरमन्ति शब्दात् ॥४९॥
तत्तेऽर्हत्तम नमःस्तुतिकर्मपूजाः
कर्म स्मृतिश्चरणयोः श्रवणं कथायाम् ।
संसेवया त्वयि विनेति षडङ्गया किं
भक्तिं जनः परमहंसगतौ लभेत ॥५०॥

नारद उवाच

एतावद्वर्णितगुणो भक्त्या भक्तेन निर्गुणः ।
प्रह्लादं प्रणतं प्रीतो यतमन्युरभाषत ॥५१॥

श्रीभगवानुवाच

प्रह्लाद भद्र[3] भद्रं ते प्रीतोऽहं तेऽसुरोत्तम ।
वरं वृणीष्वाभिमतं कामपूरोऽस्म्यहं नृणाम् ॥५२॥
मामप्रीणत आयुष्मन्दर्शनं दुर्लभं हि मे ।
दृष्ट्वा मां न पुनर्जन्तुरात्मानं[4] तप्तुमर्हति ॥५३॥
प्रीणन्ति ह्यथ मां धीराः सर्वभावेन साधवः ।

आपके ज्ञानका और कोई साधन भी नहीं है। योगीजन काष्ठमें निहित अग्निके समान भक्तियोगद्वारा इन [कार्य और कारण] दोनोंहीमें आपका साक्षात्कार करते हैं, क्योंकि आपसे पृथक् इनकी कोई सत्ता नहीं है ॥४७॥ हे भूमन् ! वायु, अग्नि, पृथिवी, आकाश, जल, पञ्चतन्मात्रा, प्राण, इन्द्रिय, मन, चित्त, अहङ्काररूप सम्पूर्ण जगत् तथा सगुण और निर्गुण सब एकमात्र आप ही हैं। अधिक क्या, जितने भी पदार्थ मन या वाणीके विषय हैं उनमेंसे कोई भी आपसे पृथक् नहीं है ॥४८॥ किन्तु हे महाकीर्ते ! ये सत्त्वादि गुण, गुणोंके परिणाम महत्तत्त्वादि तथा देवता और मनुष्योंके सहित मन-बुद्धि आदि कोई भी आपको नहीं जानते, क्योंकि सभी आदि-अन्तयुक्त हैं। आप ऐसे हैं—यह जानकर पण्डित-जन शास्त्राध्ययनादिसे उपरत हो जाते हैं ॥४९॥ हे पूज्यतम ! प्रणाम, स्तुति, सर्वकर्मार्पण, उपासना, चरणोंका ध्यान तथा कथाश्रवण इन छः अंगोंसे युक्त जो आपकी सेवा है उसे किये बिना केवल परमहंसोंको ही प्राप्त होनेवाले आपमें मनुष्यकी किस प्रकार भक्ति हो सकती है ? ॥५०॥

श्रीनारदजी बोले—हे राजन् ! भक्त प्रह्लादद्वारा इस प्रकार भक्तिपूर्वक भगवत्सम्बन्धी गुणोंका वर्णन किया जानेपर उन निर्गुण भगवान्‌का क्रोध शान्त हो गया और वे विनयसम्पन्न प्रह्लादजीसे प्रसन्न होकर बोले ॥ ५१ ॥

श्रीभगवान्‌ने कहा—भद्र प्रह्लाद ! तुम्हारा भला हो। हे असुरश्रेष्ठ ! मैं तुमपर अत्यन्त प्रसन्न हूँ। तुम मुझसे इच्छित वर माँगो, मैं प्राणियोंकी सम्पूर्ण कामनाएँ पूर्ण कर देता हूँ ॥ ५२ ॥ हे आयुष्मन् ! जो व्यक्ति मुझे प्रसन्न नहीं कर पाता उसे मेरा दर्शन मिलना अत्यन्त कठिन है। किन्तु जब मेरा दर्शन हो गया तब उसे ['मेरी अमुक कामना पूर्ण नहीं हुई' ऐसा] पश्चात्ताप नहीं करना पड़ता ॥ ५३ ॥ मैं सकल मनोरथोंको पूर्ण करनेवाला हूँ, इसलिये जितेन्द्रिय और अपना कल्याण चाहने-

१. प्रा० पा०—विचक्षते । २. प्रा० पा०—मुनयो । ३. प्रा० पा०—तव । ४. प्रा० पा०—पुनर्जन्म नात्मा० ।

श्रेयस्कामा महाभागाः सर्वासामाशिषां पतिम् ॥५४॥

वाले महाभाग साधुजन सब प्रकार मुझे प्रसन्न करनेका प्रयत्न करते हैं ॥ ५४ ॥

एवं प्रलोभ्यमानोऽपि वरैर्लोकप्रलोभनैः ।
एकान्तित्वाद्भगवति नैच्छत्तानसुरोत्तमः ॥५५॥

इस प्रकार सम्पूर्ण लोकोंको प्रलोभित करनेवाले वरोंका लोभ दिखानेपर भी असुरश्रेष्ठ प्रह्लादने उनकी इच्छा नहीं की, क्योंकि वे भगवान्‌के अनन्य भक्त थे ॥५५॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे सप्तमस्कन्धे प्रह्लादचरिते भगवत्स्तवो नाम नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

दशवाँ अध्याय

भगवान् नृसिंहका अन्तर्धान होना, प्रह्लादजीका राज्याभिषेक तथा त्रिपुरदहनकी कथा ।

नारद उवाच

भक्तियोगस्य तत्सर्वमन्तरायतयार्भकः ।
मन्यमानो हृषीकेशं स्मयमान उवाच ह ॥ १ ॥

श्रीनारदजी बोले—हे युधिष्ठिर ! उन सब (वरदानादि) को भक्तियोगका विघ्न समझकर बालक प्रह्लादने श्रीहृषीकेशसे मुसकाकर कहा ॥ १ ॥

प्रह्लाद उवाच

मा मां प्रलोभयोत्पत्त्यासक्तं कामेषु तैर्वरैः ।
तत्सङ्गभीतो निर्विण्णो मुमुक्षुस्त्वामुपाश्रितः ॥ २ ॥

प्रह्लादजी बोले—प्रभो ! मैं तो स्वभावसे ही भोगासक्त हूँ, मुझे इन वर आदिसे और अधिक लोभमें न डालिये । इस समय मैं भोगोंके संगसे डरकर उनसे उपरत हो मोक्षप्राप्तिकी कामनासे आपकी शरणमें आया हूँ ॥ २ ॥

भृत्यलक्षणजिज्ञासुर्भक्तं कामेष्वचोदयत् ।
भवान्संसारबीजेषु हृदयग्रन्थिषु प्रभो ॥ ३ ॥

हे नाथ ! हे अखिलगुरो ! जान पड़ता है, आपने अपने दासकी परीक्षा करनेके लिये ही इस भक्तको हृदयकी ग्रन्थिरूप तथा संसारके बीजभूत सांसारिक भोगोंकी ओर प्रेरित किया है ॥३॥

नान्यथा तेऽखिलगुरो घटेत करुणात्मनः ।
यस्त आशिष आशास्ते न स भृत्यः स वै वणिक् ॥ ४ ॥

क्योंकि इसके सिवा अन्य किसी भी प्रकारसे आप करुणामयके लिये ऐसा करना सर्वथा असम्भव था । हे स्वामिन् ! जो सेवक आपसे कामनापूर्तिकी इच्छा रखता है वह तो सेवक नहीं कोरा व्यापारी है ॥४॥

आशासानो न वै भृत्यः स्वामिन्याशिष आत्मनः ।
न स्वामी भृत्यतः स्वाम्यमिच्छन्यो राति चाशिषः ॥५॥

[मेरे विचारसे तो] स्वामीसे कामनापूर्तिकी इच्छा रखनेवाला सेवक सेवक नहीं है और सेवकसे स्वामित्वकी इच्छा रखकर उसे धन या भोगादि देनेवाला स्वामी स्वामी नहीं है ॥ ५ ॥

अहं त्वकामस्त्वद्भक्तस्त्वं च स्वाम्यनपाश्रयः ।

प्रभो ! मैं आपका निष्काम भक्त हूँ और आप मेरे निरपेक्ष स्वामी

१. प्रा० पा०—स्कन्धे नव० । २. प्रा० पा०—नैतेषु । ३. प्रा० पा०—घटते ।

नान्यथेहावयोरर्थो राजसेवकयोरिव[1] ॥ ६ ॥

यदि रासीश[2] मे कामान्वरांस्त्वं वरदर्षभ ।
कामानां हृद्यसंरोहं भवतस्तु वृणे वरम् ॥ ७ ॥
इन्द्रियाणि मनः प्राण आत्मा धर्मो धृतिर्मतिः ।
ह्रीः श्रीस्तेजः स्मृतिः सत्यं यस्य नश्यन्ति जन्मना ।८।
विमुञ्चति यदा कामान्मानवो मनसि स्थितान् ।
तर्ह्येव पुण्डरीकाक्ष भगवत्त्वाय कल्पते[3] ॥ ९ ॥
नमो भगवते तुभ्यं पुरुषाय महात्मने ।
हरयेऽद्भुतसिंहाय ब्रह्मणे परमात्मने ॥१०॥

नृसिंह[5] उवाच

नैकान्तिनो मे[6] मयि जात्विहाशिष
आशासतेऽमुत्र च ये[7] भवद्विधाः ।
अथापि मन्वन्तरमेतदत्र
दैत्येश्वराणामनुभुङ्क्ष्व भोगान् ॥११॥
कथा मदीया जुषमाणः प्रियास्त्व-
मावेश्य मामात्मनि सन्तमेकम् ।
सर्वेषु भूतेष्वधियज्ञमीशं
यजस्व योगेन च कर्म हिन्वन्[8] ॥१२॥
भोगेन पुण्यं कुशलेन पापं
कलेवरं कालजवेन हित्वा ।
कीर्तिं विशुद्धां सुरलोकगीतां
विताय मामेष्यसि मुक्तबन्धः ॥१३॥
य एतत्कीर्तयेन्मह्यं त्वया गीतमिदं नरः ।
त्वां च मां च स्मरन्[9]काले कर्मबन्धात्प्रमुच्यते ॥१४॥

प्रह्लाद उवाच

वरं[10] वरय एतत्ते वरदेशान्महेश्वर ।

हैं, इसके सिवा राजा और सेवककी भाँति आपका और हमारा कोई पृथक् प्रयोजन नहीं है ॥ ६ ॥

हे वरदायकोंमें श्रेष्ठ ! यदि आप मुझे इच्छित वर देना ही चाहते हैं तो मैं आपसे यही वर माँगता हूँ कि मेरे हृदयमें किसी प्रकारकी कामनाओंका अङ्कुर उत्पन्न न हो ॥ ७ ॥ क्योंकि इसके उत्पन्न होते ही इन्द्रिय, मन, प्राण, देह, धर्म, धैर्य, बुद्धि, लज्जा, श्री, तेज, स्मृति और सत्य—ये सभी नष्ट-भ्रष्ट हो जाते हैं ॥ ८ ॥ हे कमलनयन ! जिस समय मनुष्य अपने मनमें स्थित कामनाओंको त्याग देता है उसी समय वह भगवद्भावको प्राप्त हो जाता है ॥ ९ ॥ हे प्रभो ! अन्तर्यामी महात्मा एवं अद्भुत नृसिंहरूप-धारी आप परब्रह्म परमात्मा भगवान् विष्णुको नमस्कार है ॥ १० ॥

श्रीनृसिंहजी बोले—प्रह्लाद ! जो पुरुष तुम्हारे समान मेरे अनन्य भक्त हैं वे लौकिक अथवा पारलौकिक किसी प्रकारके भोगोंकी कामना कभी नहीं करते; तो भी [मेरी आज्ञासे] इस मन्वन्तर-की समाप्तितक तुम इस लोकमें दैत्येश्वरोंके सम्पूर्ण भोग भोगो ॥ ११ ॥ समस्त भूतोंमें विराजमान मुझ एक-मात्र यज्ञेश्वरको अपने हृदयमें धारण करके मेरी प्रिय कथाओंको सुनते तथा सम्पूर्ण कर्म मुझे ही समर्पण करते हुए तुम भक्तियोगद्वारा मेरी आराधना करो ॥ १२ ॥ इस प्रकार, सुखभोगसे पुण्य और पुण्यकर्मोंसे पापको त्यागकर कालक्रमसे शरीर छूट जानेपर तुम, देवलोकमें गायी जानेवाली अपनी पवित्र कीर्तिका विस्तार कर सब प्रकारके कर्मबन्धनसे मुक्त हो अन्तमें मुझे ही प्राप्त हो जाओगे ॥ १३ ॥ जो पुरुष मेरा और तुम्हारा स्मरण करता हुआ तुम्हारे कहे हुए इस मेरे स्तोत्रका कीर्तन करेगा वह भी कालान्तरमें कर्मबन्धनसे मुक्त हो जायगा ॥ १४ ॥

प्रह्लादजीने कहा—हे महेश्वर ! आप वरदायकोंके प्रभु हैं; आपसे मैं एक वर और माँगता हूँ । मेरे

१. प्रा० पा०—रिह । २. प्रा० पा०—दास्यसि । ३. प्राचीन प्रतिमें 'कल्पते ॥९॥' इसके बाद 'नारदेनोपदिष्टं मे तव मन्त्रमहं स्मरे' यह अंश अधिक है । ४. प्रा० पा०—ॐनमो । ५. प्रा० पा०—भगवानुवाच । ६. प्रा० पा०—ये । ७. प्रा० पा०—ते । ८. प्रा० पा०—हित्वा । ९. प्रा० पा०—स्मरेत् । १०. प्रा० पा०—वरान् ।

यदनिन्दत्पिता मे त्वामविद्वांस्तेज ऐश्वरम् ॥१५॥
विद्वामर्षाशयः साक्षात्सर्वलोकगुरुं प्रभुम् ।
भ्रातृहेति मृषादृष्टिस्त्वद्भक्ते मयि चाघवान् ॥१६॥
तस्मात्पिता मे पूयेत दुरन्ताद्दुस्तरादघात् ।
पूतस्तेऽपाङ्गसंदृष्टस्तदा कृपणवत्सल ॥१७॥

पिताने आपके ईश्वरीय तेजको न जाननेके कारण 'यह मेरे भाईको मारनेवाला है' ऐसी मिथ्या दृष्टि रखकर चित्तमें असहिष्णु हो आप साक्षात् निखिललोकगुरु सर्वेश्वरकी निन्दा की और मुझ आपके भक्तसे द्रोह किया इस दुरन्त और दुस्तर दोषसे मेरे पिता शुद्ध हो जायँ। हे दीनवत्सल! जिस समय उनपर आपका दृष्टिपात हुआ उसी समय वे शुद्ध हो गये [तथापि अपनी कृपणतावश मैं आपसे यह प्रार्थना करता हूँ] ॥ १५-१७ ॥

श्रीभगवानुवाच

त्रिःसप्तभिः पिता पूतः पितृभिः सह तेऽनघ ।
यत्साधोऽस्य गृहे जातो भवान्वै कुलपावनः ॥१८॥
यत्र यत्र च मद्भक्ताः प्रशान्ताः समदर्शिनः ।
साधवः समुदाचारास्ते पूयन्त्यपि कीकटाः ॥१९॥
सर्वात्मना न हिंसन्ति भूतग्रामेषु किञ्चन ।
उच्चावचेषु दैत्येन्द्र मद्भावेन गतस्पृहाः ॥२०॥
भवन्ति पुरुषा लोके मद्भक्तास्त्वामनुव्रताः ।
भवान्मे खलु भक्तानां सर्वेषां प्रतिरूपधृक् ॥२१॥
कुरु त्वं प्रेतकार्याणि पितुः पूतस्य सर्वशः ।
मदङ्गस्पर्शनेनाङ्ग लोकान्यास्यति सुप्रजाः ॥२२॥
पित्र्यं च स्थानमातिष्ठ यथोक्तं ब्रह्मवादिभिः ।
मय्यावेश्य मनस्तात कुरु कर्माणि मत्परः ॥२३॥

श्रीभगवान् बोले—हे अनघ! हे साधो! तुम्हारा पिता तो अपनी इक्कीस* पीढ़ियोंके पितरोंसहित पवित्र हो गया क्योंकि उसके यहाँ तुम-जैसे कुलपावन पुत्र-का जन्म हुआ है ॥ १८ ॥ जहाँ-जहाँ मेरे भक्त, शान्त-चित्त, समदर्शी और सदाचारपरायण साधुजन रहते हैं वे कीकट (मगध)-जैसे अपवित्र देश [और कुल] भी पवित्र हो जाते हैं ॥ १९ ॥ हे दैत्येन्द्र! मेरी भक्तिके कारण जिन्हें किसी प्रकारकी कामना नहीं रही है वे भक्तजन सबमें आत्मदृष्टि रखते हुए छोटे-बड़े सभी प्रकारके प्राणियोंको किञ्चिन्मात्र भी पीड़ा नहीं पहुँचाते ॥ २० ॥ संसारमें जो लोग तुम्हारा अनुकरण करेंगे वे मेरे भक्त हो जायँगे। निश्चय ही, तुम मेरे सम्पूर्ण भक्तोंमें आदर्शस्वरूप हो ॥ २१ ॥ हे वत्स! मेरे अंगका स्पर्श होनेसे तुम्हारा पिता सब प्रकार पवित्र हो गया है; तथापि तुम [लोकमर्यादाकी रक्षाके लिये] उसका और्ध्वदैहिक संस्कार करो। तुम-जैसे सुपुत्रके कारण वह अवश्य उत्तम लोकोंको प्राप्त होगा ॥ २२ ॥ तदनन्तर, हे तात! तुम अपने पिताके पदपर स्थित होओ, और वेदवादी मुनि-गणोंकी आज्ञाका उल्लङ्घन न करते हुए मुझमें चित्त लगाकर मेरी ही परिचर्यामें तत्पर रह सब कार्य करो ॥ २३ ॥

नारद उवाच

प्रह्लादोऽपि तथा चक्रे पितुर्यत्सांपरायिकम् ।

श्रीनारदजी बोले—हे राजन्! तब भगवान्ने जैसी-जैसी आज्ञा की प्रह्लादजीने अपने पिताकी वह

१. प्रा० पा०—ते शान्तया दृष्टया दृष्टः कृप० । २. प्रा० पा०—पूयन्तेऽपि । यही शुद्ध पाठ है । ३. प्रा० पा०—मद्भक्ता विगतस्पृहाः । ४. प्रा० पा०—शुक उवाच ।

* यहाँ शंका होती है कि हिरण्यकशिपुके तो कश्यप, मरीचि और ब्रह्मा—केवल तीन ही पीढ़ियाँ थीं फिर इक्कीस पीढ़ियाँ कैसे पवित्र हो गयीं? अतः इस कथनको पूर्वकल्पोंके पितृगणके अभिप्रायसे समझना चाहिये।

यथाह भगवान् राजन्नभिषिक्तो द्विजोत्तमैः[1] ॥२४॥
प्रसादसुमुखं दृष्ट्वा ब्रह्मा नरहरिं हरिम् ।
स्तुत्वा वाग्भिः पवित्राभिः प्राह देवादिभिर्वृतः ॥२५॥

ब्रह्मोवाच[2]

देवदेवाखिलाध्यक्ष भूतभावन पूर्वज ।
दिष्ट्या ते निहतः पापो लोकसंतापनोऽसुरः ॥२६॥
योऽसौ लब्धवरो मत्तो न वध्यो मम सृष्टिभिः ।
तपोयोगबलोन्नद्धः[3] समस्तनिगमानहन् ॥२७॥
दिष्ट्यास्य[4] तनयः साधुर्महाभागवतोऽर्भकः ।
त्वया विमोचितो मृत्योर्दिष्ट्या त्वां[5] समितोऽधुना ॥२८॥
एतद्वपुस्ते भगवन्ध्यायतः प्रयतात्मनः ।
सर्वतो गोप्तृ सन्त्रासान्मृत्योरपि जिघांसतः ॥२९॥

नृसिंह उवाच[6]

मैवं वरोऽसुराणां ते प्रदेयः पद्मसम्भव ।
वरः क्रूरनिसर्गाणामहीनाममृतं यथा ॥३०॥

नारद उवाच

इत्युक्त्वा भगवान्राजंस्तत्रैवान्तर्दधे हरिः ।
अदृश्यः सर्वभूतानां पूजितः परमेष्ठिना ॥३१॥
ततः संपूज्य शिरसा ववन्दे परमेष्ठिनम् ।
भवं प्रजापतीन्देवान्प्रह्लादो भगवत्कलाः ॥३२॥
ततः काव्यादिभिः सार्धं मुनिभिः कमलासनः ।
दैत्यानां दानवानां च प्रह्लादमकरोत्पतिम् ॥३३॥

सब और्ध्वदैहिक क्रिया सम्पन्न की। तत्पश्चात् ब्राह्मणोंने उनका राज्याभिषेक किया ॥ २४ ॥ इसी समय, देवताओंसे घिरे हुए श्रीब्रह्माजीने भगवान् नृसिंहको प्रसन्नतासे सौम्यवदन देख, पवित्र वचनोंद्वारा उनकी स्तुतिकर इस प्रकार कहा ॥ २५ ॥

श्रीब्रह्माजी बोले—हे देवाधिदेव ! हे सर्वान्तर्यामिन् ! हे भूतभावन ! हे पूर्वज ! बड़े सौभाग्यकी बात है कि आपने सम्पूर्ण लोकोंको सन्तप्त करनेवाले इस दुष्ट दैत्यको मार डाला ॥ २६ ॥ यह मुझसे वर पाकर बड़ा मतवाला हो गया था, क्योंकि मेरे रचे हुए किसी भी प्राणीसे इसकी मृत्यु नहीं हो सकती थी। अतः अपने तप, योग और बलके कारण उन्मत्त होकर इसने सभी वेदविधियोंका उच्छेद कर दिया था ॥२७॥ आपने इसके परम भगवद्भक्त और साधुपुत्र बालक प्रह्लादको मृत्युमुखसे छुड़ाया--यह बड़े आनन्दकी बात हुई और यह (प्रह्लाद) भी इस समय आपकी शरणमें आ गया--यह भी बड़ा ही मङ्गल हुआ ॥ २८ ॥ हे भगवन् ! जो पुरुष आपके इस नृसिंहरूपका एकाग्रचित्तसे ध्यान करता है उसे यह सब प्रकारके भयसे यहाँतक कि मारनेके लिये उद्यत मृत्युसे भी बचानेवाला है ॥ २९ ॥

श्रीनृसिंह भगवान् बोले--हे कमलयोने ! तुम्हें दैत्योंको ऐसा वर कभी न देना चाहिये; जो स्वभावसे ही क्रूर हैं उन्हें दिया हुआ वर तो सर्पोंको पिलाये हुए दूधके समान ही अनिष्टकारक है ॥ ३० ॥

श्रीनारदजी कहते हैं--हे राजन् ! ऐसा कह भगवान् श्रीहरि ब्रह्माजीसे पूजित हो वहीं अन्तर्धान हो गये। फिर किसी भी प्राणीने उनको न देखा ॥ ३१ ॥ तब प्रह्लादजीने भगवान्के अंशस्वरूप ब्रह्मा, महादेव तथा प्रजापति और देवगणका भली प्रकार पूजन कर उन्हें शिर झुकाकर प्रणाम किया ॥ ३२ ॥ फिर शुक्राचार्यादि मुनियोंके सहित श्रीब्रह्माजीने प्रह्लादजीको सम्पूर्ण दैत्य और दानवोंका अधिपति बना दिया ॥३३॥

१. प्रा० पा०—द्विजातिभिः । २. प्राचीन प्रतिमें 'ब्रह्मोवाच' नहीं है । ३. प्रा० पा०—बलोन्मत्तः । ४. प्रा० पा०—दिष्ट्या ते । ५. प्रा० पा०—तन्नियतोऽधुना । ६. प्रा० पा०—भगवानुवाच ।

प्रतिनन्द्य ततो देवाः प्रयुज्य परमाशिषः ।
स्वधामानि ययू राजन्ब्रह्माद्याः प्रतिपूजिताः ॥३४॥
एवं तौ पार्षदौ विष्णोः पुत्रत्वं प्रापितौ दितेः ।
हृदि स्थितेन हरिणा वैरभावेन तौ हतौ ॥३५॥
पुनश्च विप्रशापेन[1] राक्षसौ तौ बभूवतुः ।
कुम्भकर्णदशग्रीवौ हतौ तौ रामविक्रमैः ॥३६॥
शयानौ युधि निर्भिन्नहृदयौ रामसायकैः ।
तच्चित्तौ जहतुर्देहं यथा प्राक्तनजन्मनि ॥३७॥
ताविहाथ पुनर्जातौ शिशुपालकरूपजौ[2] ।
हरौ वैरानुबन्धेन पश्यतस्ते समीयतुः ॥३८॥
एनः पूर्वकृतं यत्तद्राजानः कृष्णवैरिणः ।
जहुस्त्वन्ते तदात्मानः कीटः पेशस्कृतो यथा ॥३९॥
यथा यथा भगवतो भक्त्या परमयाभिदा ।
नृपाश्चैद्यादयः सात्म्यं हरेस्तच्चिन्तया ययुः ॥४०॥
आख्यातं सर्वमेतत्ते यन्मां त्वं परिपृष्टवान् ।
दमघोषसुतादीनां हरेः सात्म्यमपि द्विषाम् ॥४१॥
एषा ब्रह्मण्यदेवस्य कृष्णस्य च महात्मनः ।
अवतारकथा पुण्या वधो यत्रादिदैत्ययोः ॥४२॥
प्रह्लादस्यानुचरितं महाभागवतस्य च ।
भक्तिर्ज्ञानं विरक्तिश्च याथात्म्यं चास्य वै हरेः ॥४३॥

तत्पश्चात् ब्रह्मा आदि समस्त देवगण प्रह्लादजीसे पूजित हो उनकी प्रशंसा कर उन्हें शुभाशीर्वाद दे अपने-अपने लोकोंको चले गये ॥ ३४ ॥

हे राजन् ! इस प्रकार वे विष्णुपार्षद, जिन्हें [सनकादिके शापवश अपने प्रथम जन्ममें] दितिका पुत्र होना पड़ा था, अपने हृदयमें स्थित भगवान् विष्णुके द्वारा मारे गये ॥ ३५ ॥ किन्तु विप्रशापके कारण वे फिर भी रावण और कुम्भकर्ण नामक दो राक्षस हुए। तब वे भगवान् रामके पराक्रमसे मारे गये ॥ ३६ ॥ उन्होंने श्रीरामचन्द्रजीके बाणोंसे छिन्न-हृदय हो रणभूमिमें पड़े-पड़े पूर्वजन्मकी भाँति उन्हींका स्मरण करते हुए देहत्याग किया ॥ ३७ ॥ वे ही अब शिशुपाल और करूषनन्दन दन्तवक्त्र होकर पृथ्वीमें उत्पन्न हुए थे, जो श्रीहरिमें वैरभाव रखनेके कारण तुम्हारे देखते-देखते उनमें लीन हो गये ॥ ३८ ॥ हे राजन् ! जिस प्रकार पेशस्कृत (एक प्रकारके भौंरे) का ध्यान करते रहनेसे उसका पकड़ा हुआ कीड़ा उसीके आकारका हो जाता है उसी प्रकार ये कृष्णद्रोही राजा लोग [वैरभावसे] उन्हींका चिन्तन करते रहनेके कारण अपने पूर्वकृत पापोंसे मुक्त होकर अन्तमें तद्रूप ही हो गये ॥ ३९ ॥ हे धर्मराज ! जिस प्रकार भगवान्के भक्त उनकी उत्कृष्ट अनन्य भक्तिसे उन्हींमें लीन हो जाते हैं उसी प्रकार उनसे वैर ठानकर उन्हींका चिन्तन करते रहनेके कारण शिशुपाल आदि नृपतिगण भी श्रीहरिके सारूप्यको प्राप्त हुए हैं ॥ ४० ॥

हे राजन् ! तुमने जो पूछा था कि शिशुपालादि भगवद्द्वेषियोंको भी किस प्रकार भगवान्का सायुज्य प्राप्त हुआ सो सब मैंने तुमसे वर्णन कर दिया ॥४१॥ ब्रह्मण्यदेव परमात्मा कृष्णकी यह परमपवित्र अवतारकथा, जिसमें आदिदैत्य हिरण्यकशिपु और हिरण्याक्षके वधका प्रसंग है, मैंने तुम्हें सुनायी ॥४२॥ इस आख्यानमें महाभागवत श्रीप्रह्लादजीका चरित्र, उनकी भक्ति, ज्ञान और वैराग्य, संसारकी उत्पत्ति,

१. प्रा० पा०—पूर्वशापेन । २. प्रा० पा०—करूषकौ ।

सर्गस्थित्यप्ययेशस्य गुणकर्मानुवर्णनम् ।
परावरेषां स्थानानां कालेन व्यत्ययो महान् ॥४४॥
धर्मो भागवतानां च भगवान्येन गम्यते ।
आख्यानेऽस्मिन्समाम्नातमाध्यात्मिकमशेषतः ॥४५॥
य एतत्पुण्यमाख्यानं विष्णोर्वीर्योपबृंहितम् ।
कीर्तयेच्छ्रद्धया श्रुत्वा कर्मपाशैर्विमुच्यते ॥४६॥
एतद्य आदिपुरुषस्य मृगेन्द्रलीलां
दैत्येन्द्रयूथपवधं प्रयतः पठेत ।
दैत्यात्मजस्य च सतां प्रवरस्य पुण्यं
श्रृत्वानुभावमकुतोभयमेति लोकम् ॥४७॥
यूयं नृलोके बत भूरिभागा
लोकं पुनाना मुनयोऽभियन्ति ।
येषां गृहानावसतीति साक्षा-
द्गूढं परं ब्रह्म मनुष्यलिङ्गम् ॥४८॥
स वा अयं ब्रह्म महद्विमृग्य-
कैवल्यनिर्वाणसुखानुभूतिः ।
प्रियः सुहृद्वः खलु मातुलेय
आत्मार्हणीयो विधिकृद्गुरुश्च ॥४९॥
न यस्य साक्षाद्भवपद्मजादिभी
रूपं धिया वस्तुतयोपवर्णितम् ।
मौनेन भक्त्योपशमेन पूजितः
प्रसीदतामेष स सात्वतां पतिः ॥५०॥
स एष भगवान्राजन्व्यतनोद्विहतं यशः ।
पुरा रुद्रस्य देवस्य मयेनानन्तमायिना ॥५१॥

राजोवाच

कस्मिन्कर्मणि देवस्य मयोऽहञ्जगदीशितुः ।
यथा चोपचिता कीर्तिः कृष्णेनानेन कथ्यताम् ॥५२॥

स्थिति और प्रलयके स्वामी श्रीहरिका यथार्थ तत्त्व, भगवान्‌के गुण और कर्मोंका वर्णन, देवता और दैत्योंके स्थानोंका कालकृत महान् परिवर्तन, जिनसे भगवान्‌की प्राप्ति होती है वे भगवद्भक्तोंके धर्म तथा आत्मानात्मविवेक आदि सभी विषयोंका भली प्रकार निरूपण किया गया है ॥ ४३–४५ ॥ जो पुरुष भगवान्‌के पराक्रमोंसे पूर्ण इस पवित्र आख्यानका श्रद्धापूर्वक कीर्तन करता है अथवा केवल सुनता ही है वह कर्मबन्धनसे मुक्त हो जाता है ॥ ४६ ॥ आदिपुरुष श्रीहरिके नृसिंहरूपसे किये हुए हिरण्यकशिपु तथा अन्य दैत्य-यूथपोंके वधरूप इस चरित्रको तथा असुरनन्दन साधुश्रेष्ठ श्रीप्रह्लादजीके पावन प्रभावको जो पुरुष सुनेगा वह सर्वथा निर्भय होकर वैकुण्ठलोकको प्राप्त होगा ॥ ४७ ॥

हे राजन् ! इस मर्त्यलोकमें तुम बड़े ही भाग्यशाली हो क्योंकि मनुष्यरूपमें छिपे हुए साक्षात् परब्रह्म तुम्हारे घरमें निवास करते हैं; इस कारण [उन्हींका दर्शन करनेके लिये] अपने दर्शनोंसे सम्पूर्ण लोकोंको पवित्र करनेवाले मुनिजन चारों ओरसे तुम्हारे यहाँ आते रहते हैं ॥ ४८ ॥ महान् पुरुष जिनकी निरन्तर खोज करते हैं वे उपाधिरहित परमानन्दानुभवस्वरूप परब्रह्म ही ये तुम्हारे प्रिय सुहृद्, मामाके पुत्र, आत्मा, पूज्य, आज्ञापालक और गुरु भगवान् श्रीकृष्ण हैं ॥४९॥ जिनके वास्तविक स्वरूपका साक्षात् वर्णन भगवान् शङ्कर और ब्रह्माजी भी अपनी बुद्धि लगाकर नहीं कर सके, हमारेद्वारा मौन, भक्ति और इन्द्रियदमनसे पूजित वे भक्तप्रतिपालक भगवान् हमपर प्रसन्न हों ॥५०॥ हे राजन् ! पूर्व कालमें जब महामायावी मयासुर रुद्रदेवके सुयशको नष्ट किये डालता था तो इन्हीं श्रीहरिने उसका पुनः प्रसार किया था ॥ ५१ ॥

राजा युधिष्ठिरने पूछा—हे मुने ! मयासुर किस कार्यमें जगदीश्वर श्रीमहादेवजीके सुयशको नष्ट करता था और भगवान् कृष्णने उसे किस प्रकार बचाया ? सो कहिये ॥ ५२ ॥

१. प्रा० पा०—समाख्यात० । २. प्रा० पा०—लोकान् । ३. प्रा० पा०—यान्ति । ४. प्रा० पा०—सर्वाश्रयं । ५. प्रा० पा०—वस्तु तदानुव० । ६. प्रा० पा०—तथा ।

नारद उवाच

निर्जिता असुरा देवैर्युध्यनेनोपबृंहितैः ।
मायिनां परमाचार्यं मयं शरणमाययुः ॥५३॥

स निर्माय पुरस्तिस्रो हैमी रौप्यायसीर्विभुः ।
दुर्लक्ष्यापायसंयोगा दुर्वितर्क्यपरिच्छदाः ॥५४॥

ताभिस्तेऽसुरसेनान्यो लोकांस्त्रीन्सेश्वरान्नृप ।
स्मरन्तो नाशयाञ्चक्रुः पूर्ववैरमलक्षिताः ॥५५॥

ततस्ते सेश्वरा लोका उपासाद्येश्वरं विभो ।
त्राहि नस्तावकान्देव विनष्टांस्त्रिपुरालयैः ॥५६॥

अथानुगृह्य भगवान्मा भैष्टेति सुरान्विभुः ।
शरं धनुषि संधाय पुरेष्वस्त्रं व्यमुञ्चत ॥५७॥

ततोऽग्निवर्णा इषव उत्पेतुः सूर्यमण्डलात् ।
यथा मयूखसंदोहा नादृश्यन्त पुरो यतः ॥५८॥

तैः स्पृष्टा व्यसवः सर्वे निपेतुः स्म पुरौकसः ।
तानानीय महायोगी मयः कूपरसेऽक्षिपत् ॥५९॥

सिद्धामृतरसस्पृष्टा वज्रसारा महौजसः ।
उत्तस्थुर्मेघदलना वैद्युता इव वह्नयः ॥६०॥

विलोक्य भग्नसंकल्पं विमनस्कं वृषध्वजम् ।
तदायं भगवान्विष्णुस्तत्रोपायमकल्पयत् ॥६१॥

वत्स आसीत्तदा ब्रह्मा स्वयं विष्णुरयं हि गौः ।
प्रविश्य त्रिपुरं काले रसकूपामृतं पपौ ॥६२॥

श्रीनारदजी बोले—हे राजन् ! एक बार उत्कर्षको प्राप्त हुए देवताओंने युद्धमें दैत्योंको परास्त कर दिया । तब असुरगण मायावियोंके परमगुरु मयासुरकी शरणमें गये ॥ ५३ ॥ तब मयासुरने सोने, चाँदी और लोहेकी तीन पुरियाँ बनाकर उन्हें दीं । वे ऐसी थीं कि उनका गमनागमन प्रतीत नहीं होता था और उनमें अपरिमेय सामग्री भरी हुई थी ॥ ५४ ॥ हे राजन् ! उन तीनों पुरियोंमें छिपे रहकर असुर-सेनापति अपने पूर्व वैरका स्मरणकर लोकपालोंके सहित तीनों लोकोंको नष्ट करने लगे ॥ ५५ ॥ तब इन्द्रादि लोकपालोंसहित सम्पूर्ण प्रजाओंने भगवान् शङ्करके पास जाकर कहा—"हे देव ! ये त्रिपुरनिवासी असुरगण हमें नष्ट किये डालते हैं । हे प्रभो ! हम आपके हैं, आप हमारी रक्षा कीजिये" ॥ ५६ ॥

तब भगवान् रुद्रने देवताओंपर अनुग्रहकर उनसे 'डरो मत' ऐसा कहकर अपने धनुषपर पाशुपतास्त्रसे अभिमन्त्रित बाण चढ़ाया और उन पुरोंके ऊपर छोड़ दिया ॥ ५७ ॥ तब, सूर्यमण्डलसे निकलनेवाली किरणोंके समान उस बाणसे अग्निके समान देदीप्यमान अनेकों तीर निकले, जिनके कारण वे पुर अदृश्य हो गये ॥ ५८ ॥ उन बाणोंका स्पर्श होते ही तीनों पुरोंके निवासी निष्प्राण होकर गिर पड़े । तब महा-मायावी मयने उन सब दैत्योंको लाकर अपने बनाये हुए अमृतके कुएँमें डाल दिया ॥ ५९ ॥ उस सिद्ध अमृतका स्पर्श होते ही दैत्यगण वज्रके समान सुदृढ शरीर और अत्यन्त ओजस्वी हो गये तथा मेघमालाको विदीर्ण करनेवाली विद्युत्‌रूप अग्नियोंके समान एक साथ खड़े हो गये ॥ ६० ॥

तब श्रीमहादेवजीको भग्नसङ्कल्प और खिन्नचित्त देख भगवान् विष्णुने उस अमृतकूपका नाश करनेके लिये एक उपाय निकाला ॥६१॥ उस समय ब्रह्माजी वत्स और स्वयं विष्णुभगवान् गौ बने और उन्होंने मध्याह्नके समय उस त्रिपुरीमें जाकर उस कुएँका सारा अमृत पी लिया ॥ ६२ ॥

१. प्रा० पा०—मभ्ययुः । २. प्रा० पा०—सीः प्रभुः । ३. प्रा० पा०—ततः । ४. प्रा०पा०—पूर्वमस्त्रं ।

तेऽसुरा ह्यपि पश्यन्तो न न्यषेधन्विमोहिताः ।
तद्विज्ञाय महायोगी रसपालानिदं जगौ ॥६३॥
स्वयं विशोकः शोकार्तान्स्मरन्दैवगतिं च ताम् ।
देवोऽसुरो नरोऽन्यो वा नेश्वरोऽस्तीह कश्चन ॥६४॥
आत्मनोऽन्यस्य वा दिष्टं दैवेनापोहितुं द्वयोः ।
अथासौ शक्तिभिः स्वाभिः शम्भोः प्राधनिकं व्यधात् ॥
धर्मज्ञानविरक्त्यृद्धितपोविद्याक्रियादिभिः ।
रथं सूतं ध्वजं वाहान्धनुर्वर्म शरादि यत् ॥६६॥
सन्नद्धो रथमास्थाय शरं धनुरुपाददे ।
शरं धनुषि संधाय मुहूर्तेऽभिजितीश्वरः ॥६७॥
ददाह तेन दुर्भेद्या हरोऽथ त्रिपुरो नृप ।
दिवि दुन्दुभयो नेदुर्विमानशतसङ्कुलाः ॥६८॥
देवर्षिपितृसिद्धेशा जयेति कुसुमोत्करैः ।
अवाकिरञ्जगुर्हृष्टा ननृतुश्चाप्सरोगणाः ॥६९॥
एवं दग्ध्वा पुरस्तिस्रो भगवान्पुरहा नृप ।
ब्रह्मादिभिः स्तूयमानः स्वधाम प्रत्यपद्यत ॥७०॥

एवंविधान्यस्य हरेः स्वमायया
विडम्बमानस्य नृलोकमात्मनः ।
वीर्याणि गीतान्यृषिभिर्जगद्गुरो-
र्लोकान्पुनानान्यपरं वदामि किम् ॥७१॥

उसकी रक्षा करनेवाले असुरोंने भी भगवान्‌की मायासे मोहित हो जानेसे उस गौको अमृत पीती देखकर भी नहीं रोका । तब, स्वयं सब प्रकारके शोकसे रहित महायोगी मयने यह सब रहस्य जानकर भगवान्‌की गतिका स्मरण करते हुए उन शोकातुर अमृतरक्षकोंसे कहा—"अपने, पराये अथवा दोनोंके लिये विधाताने जैसा विधान कर दिया है उसे मिटानेमें देवता, असुर, मनुष्य अथवा और कोई प्राणी भी समर्थ नहीं है ।" तदनन्तर भगवान् विष्णुने श्रीमहादेवजीके लिये धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, तप, विद्या और क्रिया आदि अपनी शक्तियोंसे रथ, सारथी, ध्वजा, अश्व, धनुष, कवच और बाण आदि युद्धकी सामग्री तैयार की ॥ ६३–६६ ॥ उससे सन्नद्ध हो भगवान् शंकर हाथमें धनुष-बाण ले रथपर सवार हुए और उस धनुषपर बाण चढ़ा उन्होंने अभिजित् मुहूर्त्तमें उन तीनों दुर्भेद्य पुरोंको तत्काल भस्म कर दिया । उस समय स्वर्गलोकमें दुन्दुभियाँ बजने लगीं तथा सैकड़ों विमानोंमें बैठे हुए देवता, ऋषि, पितर और सिद्धेश्वरगण हर्षित हो जय-जयकार करते हुए पुष्पोंकी वर्षा करने लगे तथा अप्सराएँ नाचने और गाने लगीं ॥ ६७–६९ ॥ हे राजन् ! इस प्रकार उन तीनों पुरोंको भस्मकर भगवान् त्रिपुरहरने ब्रह्मादिसे स्तुत हो अपने धाममें प्रवेश किया ॥ ७० ॥

हे धर्मराज ! अपनी मायासे स्वयं ही मानव-शरीरका अनुकरण करनेवाले जगद्गुरु श्रीहरिके ऋषियोंने ऐसे ही अनेकों त्रिलोकपावन चरित्र कहे हैं । अब मैं तुम्हें और क्या सुनाऊँ ? सो कहो ॥७१॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे सप्तमस्कन्धे
युधिष्ठिरनारदसंवादे त्रिपुरविजयो नाम[3]
दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

१. प्रा० पा०—तं विज्ञाय । २. प्राचीन प्रतिमें 'ददाह·····नृप' इस उत्तरार्द्धके स्थानपर ऐसा पाठ है—
यथा पुरं तु संलग्नं ददाह त्रिपुरं नृप ।
३. प्राचीन प्रतिमें 'नाम' नहीं है ।

ग्यारहवाँ अध्याय

चारों वर्ण तथा स्त्रियोंके धर्मोंका वर्णन ।

श्रीशुक उवाच

श्रुत्वेहितं साधुसभासभाजितं
महत्तमाग्रण्य उरुक्रमात्मनः ।
युधिष्ठिरो दैत्यपतेर्मुदा युतः
पप्रच्छ भूयस्तनयं स्वयम्भुवः ॥ १ ॥

युधिष्ठिर उवाच

भगवञ्छ्रोतुमिच्छामि नृणां धर्मं सनातनम् ।
वर्णाश्रमाचारयुतं यत्पुमान्विन्दते परम् ॥ २ ॥
भवान्प्रजापतेः साक्षादात्मजः परमेष्ठिनः ।
सुतानां संमतो ब्रह्मंस्तपोयोगसमाधिभिः[1] ॥ ३ ॥
नारायणपरा विप्रा धर्मं गुह्यं परं विदुः ।
करुणाः साधवः शान्तास्त्वद्विधा न तथापरे ॥ ४ ॥

नारद उवाच

नत्वा भगवतेऽजाय लोकानां धर्महेतवे ।
वक्ष्ये सनातनं धर्मं नारायणमुखाच्छ्रुतम् ॥ ५ ॥
योऽवतीर्यात्मनोंऽशेन दाक्षायण्यां तु धर्मतः ।
लोकानां स्वस्तयेऽध्यास्ते तपो बदरिकाश्रमे ॥ ६ ॥
धर्ममूलं हि भगवान्सर्ववेदमयो[2] हरिः ।
स्मृतं च तद्विदां राजन्येन चात्मा प्रसीदति ॥ ७ ॥
सत्यं दया तपः शौचं तितिक्षेक्षा शमो दमः ।
अहिंसा ब्रह्मचर्यं च त्यागः स्वाध्याय आर्जवम् ॥ ८ ॥
सन्तोषः समदृक्सेवा ग्राम्येहोपरमः शनैः ।
नृणां विपर्ययेहेक्षा[3] मौनमात्मविमर्शनम् ॥ ९ ॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! जो महापुरुषोंमें अग्रगण्य और भगवान्‌के परम भक्त हैं उन दैत्यराज प्रह्लादजीका यह साधुसमाजमें सम्मानित पवित्र चरित्र सुन महाराज युधिष्ठिरने अति आनन्दित हो फिर ब्रह्माजीके पुत्र श्रीनारदजीसे पूछा ॥ १ ॥

राजा युधिष्ठिर बोले—भगवन् ! अब मैं वर्णाश्रमाचारके सहित मनुष्योंका सनातन धर्म सुनना चाहता हूँ; जिससे मनुष्यको भक्ति और ज्ञानकी प्राप्ति होती है ॥ २ ॥ हे ब्रह्मन् ! आप साक्षात् प्रजापति भगवान् ब्रह्माजीके पुत्र हैं और अपने तप, योग तथा समाधिके कारण उनके पुत्रोंमें सर्वमान्य हैं ॥ ३ ॥ हे प्रभो ! आपके समान नारायणपरायण, दयालु, सदाचारी और शान्तस्वभाव विप्रगण गुह्य और श्रेष्ठ धर्मको जैसा जानते हैं वैसा और लोग नहीं जानते ॥ ४ ॥

श्रीनारदजी बोले—हे राजन् ! जो लोकोंके कल्याणके लिये धर्मद्वारा दक्षपुत्री (मूर्ति) के गर्भसे अपने अंशसे अवतीर्ण होकर बदरिकाश्रममें तपस्या कर रहे हैं सकल लोकधर्मोंके कारणरूप उन अजन्मा भगवान् नारायणको नमस्कार कर उन्हींके मुखसे सुने हुए सनातन धर्मका वर्णन करता हूँ ॥ ५-६ ॥ हे राजन् ! सर्ववेदमय भगवान् हरि, धर्मतत्त्ववेत्ता महर्षियोंकी स्मृतियाँ और जिससे चित्तको सन्तोष हो वह (आचरण) ही धर्मके मूल हैं ॥ ७ ॥*

हे राजन् ! हे पाण्डुपुत्र सत्य, दया, तप, शौच, तितिक्षा, युक्तायुक्तका विचार, शम, दम, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, त्याग, स्वाध्याय, सरलता, सन्तोष, समदर्शी महात्माओंकी सेवा, अभ्यासद्वारा सांसारिक भोगोंकी चेष्टासे निवृत्त होना, मनुष्योंको उनके प्रयत्नोंका उलटा ही फल मिलता है—यह विचार करना, मौन रहना, आत्मचिन्तन करना,

१. प्रा० पा०—तपोज्ञानसमा० । २. प्रा० पा०—सर्वभूतमयो । ३. प्रा० पा०—विषयग्रहेक्षा ।

* अर्थात् 'धर्म क्या है ?' इस बातका निर्णय श्रुति, स्मृति तथा शुद्ध अन्तःकरणकी प्रेरणासे ही हो सकता है ।

अन्नाद्यादेः संविभागो भूतेभ्यश्च यथार्हतः ।
तेष्वात्मदेवताबुद्धिः सुतरां नृषु पाण्डव ॥१०॥
श्रवणं कीर्तनं चास्य स्मरणं महतां गतेः ।
सेवेज्यावनतिर्दास्यं सख्यमात्मसमर्पणम् ॥११॥
नृणामयं परो धर्मः सर्वेषां समुदाहृतः ।
त्रिंशल्लक्षणवान्राजन्सर्वात्मा येन तुष्यति ॥१२॥
संस्कारा यत्राविच्छिन्नाः स द्विजोऽजो जगाद यम् ।
इज्याध्ययनदानानि विहितानि द्विजन्मनाम् ।
जन्मकर्मावदातानां क्रियाश्चाश्रमचोदिताः ॥१३॥
विप्रस्याध्ययनादीनि षडन्यस्याप्रतिग्रहः ।
राज्ञो वृत्तिः प्रजागोप्तुरविप्राद्वा करादिभिः ॥१४॥
वैश्यस्तु वार्तावृत्तिश्च नित्यं ब्रह्मकुलानुगः ।
शूद्रस्य द्विजशुश्रूषा वृत्तिश्च स्वामिनो भवेत् ॥१५॥
वार्ता विचित्रा शालीनयायावरशिलोञ्छनम् ।
विप्रवृत्तिश्चतुर्धेयं श्रेयसी चोत्तरोत्तरा ॥१६॥
जघन्यो नोत्तमां वृत्तिमनापदि भजेन्नरः ।
ऋते राजन्यमापत्सु सर्वेषामपि सर्वशः ॥१७॥

प्राणियोंको अन्नादिका यथोचित भाग देना, समस्त प्राणियोंमें और विशेषतः मनुष्योंमें इष्टदेवबुद्धि-रखना तथा महात्माओंके आश्रयभूत श्रीहरिका श्रवण, कीर्तन और स्मरण करना, उनकी सेवा, पूजा, नमस्कार और दासत्व करना तथा उनके प्रति सखाभाव और आत्मसमर्पण करना—यह तीस प्रकार-का आचरण ही सम्पूर्ण मनुष्योंका उत्तम धर्म कहा गया है, इसका पालन करनेसे सर्वात्मा श्रीहरि प्रसन्न हो जाते हैं ॥ ८-१२ ॥

हे धर्मराज ! जिनके गर्भाधानादि संस्कार अविच्छिन्नरूपसे सम्पन्न हुए हैं तथा जिन्हें ब्रह्माजीने भी उन संस्कारोंके योग्य बताया है वे ही 'द्विज' हैं । उन जन्म और कर्मसे शुद्ध द्विजोंके लिये यज्ञ, अध्ययन और दानादि कर्म विहित हैं तथा उनके लिये ब्रह्मचर्यादि आश्रमोचित कर्मोंका भी विधान है ॥ १३ ॥ अध्ययन, अध्यापन, दान देना, दान लेना, तथा यज्ञ करना और यज्ञ कराना—ये छः कर्म ब्राह्मणके हैं । किन्तु अन्य अर्थात् क्षत्रियको दान नहीं लेना चाहिये । प्रजाका पालन करनेवाले राजाके लिये ब्राह्मणके सिवा और सब प्रजाजनसे दण्ड-करादि लेकर वृत्ति चलानेका विधान है ॥ १४ ॥ वैश्यको सर्वदा ब्राह्मणोंका अनुगामी रहकर कृषि-वाणिज्यादिसे अपनी आजीविका चलानी चाहिये तथा शूद्रको द्विजातियोंकी सेवा करनी चाहिये । उसे अपनी जीविका अपने स्वामीसे प्राप्त होनी चाहिये ॥ १५ ॥

ब्राह्मणकी चार वृत्तियाँ हैं—वार्ता, शालीन यायावर तथा शिलोञ्छन । इनमेंसे पीछे-पीछेकी वृत्ति श्रेष्ठतर है ॥ १६ ॥ हे राजन् ! आपत्तिकाल न होनेपर क्षत्रियके सिवा अन्य किसी निम्नवर्णके पुरुषको उच्चवर्णकी वृत्तिका अवलम्बन नहीं लेना चाहिये [तथा क्षत्रिय-को भी परिग्रहके सिवा अन्य ब्राह्मण-वृत्तियोंको ही स्वीकार करना चाहिये] । परन्तु आपत्तिकालमें सभी सबकी वृत्तियोंका आश्रय ले सकते हैं ॥ १७ ॥

१. प्रा० पा०—नतिः सख्यं दास्यमात्म० । २. प्रा० पा०—वान् साक्षात्सर्वा० । ३. प्रा० पा०—सिद्धिदा वैदिकादयः । ४. प्रा० पा०—तथा शिष्टपरिग्रहः । ५. प्रा० पा०—त्तिः स्यान्नित्यं । ६. प्रा० पा०—शालीना यावज्जीवं शिलोञ्छनम् ।

१ यज्ञाध्ययनादि कराकर धन लेना । २ बिना माँगे जो कुछ मिल जाय उसीमें निर्वाह करना । ३ नित्यप्रति धान्यादि माँग लाना । ४ किसानके खेत काटकर अन्न घरको ले जानेपर पृथिवीपर जो कण पड़े रह जाते हैं उन्हें 'शिल' तथा बाजारमें पड़े हुए अन्नके दानोंको 'उञ्छ' कहते हैं । उन शिल और उञ्छोंको बीनकर अपना निर्वाह करना 'शिलोञ्छन' वृत्ति है ।

ऋतामृताभ्यां जीवेत मृतेन प्रमृतेन वा ।
सत्यानृताभ्यां जीवेत न श्ववृत्त्या कथञ्चन ॥१८॥
ऋतमुञ्छशिलं प्रोक्तममृतं यदयाचितम् ।
मृतं तु नित्ययाच्ञा स्यात्प्रमृतं कर्षणं स्मृतम् ॥१९॥
सत्यानृतं तु वाणिज्यं श्ववृत्तिर्नीचसेवनम् ।
वर्जयेत्तां सदा विप्रो राजन्यश्च जुगुप्सिताम् ।
सर्ववेदमयो विप्रः सर्वदेवमयो नृपः ॥२०॥

शमो दमस्तपः शौचं संतोषः क्षान्तिरार्जवम् ।
ज्ञानं दयाच्युतात्मत्वं सत्यं च ब्रह्मलक्षणम् ॥२१॥
शौर्यं वीर्यं धृतिस्तेजस्त्याग आत्मजयः क्षमा ।
ब्रह्मण्यता प्रसादश्च रक्षा च क्षत्रलक्षणम् ॥२२॥
देवगुर्वच्युते[1] भक्तिस्त्रिवर्गपरिपोषणम्[2] ।
आस्तिक्यमुद्यमो नित्यं नैपुणं वैश्यलक्षणम् ॥२३॥
शूद्रस्य संनतिः शौचं सेवा स्वामिन्यमायया ।
अमन्त्रयज्ञो ह्यस्तेयं सत्यं गोविप्ररक्षणम् ॥२४॥

स्त्रीणां च पतिदेवानां तच्छुश्रूषानुकूलता ।
तद्बन्धुष्वनुवृत्तिश्च नित्यं तद्व्रतधारणम् ॥२५॥
संमार्जनोपलेपाभ्यां गृहमण्डलवर्तनैः ।
स्वयं च मण्डिता नित्यं परिमृष्टपरिच्छदा ॥२६॥
कामैरुच्चावचैः साध्वी प्रश्रयेण दमेन च ।
वाक्यैः सत्यैः[3] प्रियैः प्रेम्णा काले[4] काले भजेत्पतिम् ॥२७॥
संतुष्टालोलुपा दक्षा धर्मज्ञा प्रियसत्यवाक् ।
अप्रमत्ता शुचिः स्निग्धा पतिं त्वपतितं भजेत् ॥२८॥

हे राजन् ! ऋत, अमृत, मृत, प्रमृत और सत्यानृत इनमेंसे किसी भी वृत्तिका आश्रय कर ले किन्तु श्ववृत्ति (नीचसेवा) का अवलम्बन कभी न करे ॥१८॥ शिलोञ्छवृत्तिको ऋत कहा है, अयाचित अमृत है, नित्य माँगकर ले आना मृत है तथा कृषि प्रमृत वृत्ति है ॥१९॥ वाणिज्य सत्यानृत है तथा नीच वर्णकी सेवा करना श्ववृत्ति है । उस निन्द्यवृत्तिका ब्राह्मण और क्षत्रियको सर्वदा त्याग करना चाहिये, क्योंकि ब्राह्मण सर्ववेदमय है और राजा सर्वदेवमय है ॥ २० ॥

शम, दम, तप, शौच, सन्तोष, क्षमा, आर्जव, ज्ञान, दया, भगवत्परायणता और सत्य—ये ब्राह्मणके लक्षण हैं ॥२१॥ शूरवीरता, पुरुषार्थ, धैर्य, तेजस्विता, त्याग, मनोजय, क्षमा, ब्राह्मणोंमें भक्ति रखना, अनुग्रह और प्रजाकी रक्षा करना—ये क्षत्रियके लक्षण हैं ॥२२॥ देवता, गुरु और भगवान्‌में भक्ति रखना, अर्थ, धर्म और कामकी पुष्टि करना, आस्तिकता, नित्य उद्यम तथा व्यवहारकुशलता—ये वैश्यके लक्षण हैं ॥२३॥ उच्च वर्णोंके सामने विनम्र रहना, शौच, स्वामीकी निष्कपट सेवा, वैदिक मन्त्रहीन यज्ञ, चोरी न करना, सत्यभाषण तथा गौ और ब्राह्मणोंकी रक्षा करना—शूद्रके धर्म हैं ॥ २४ ॥

[अब स्त्रियोंके धर्म बतलाते हैं—] पतिकी सेवा करना, उसके अनुकूल रहना, पतिके सम्बन्धियोंका अनुवर्तन करना तथा पतिके नियमोंकी रक्षा करना—ये पतिव्रता स्त्रियोंके धर्म हैं ॥ २५ ॥ साध्वी स्त्री झाड़ने-बुहारने, लीपने तथा चौक पूरने आदिसे घरको और सुन्दर वस्त्राभूषणोंसे अपने शरीरको अलङ्कृत रखे, तथा अपने पतिकी छोटी-बड़ी सब प्रकारकी इच्छाओंको समयानुसार पूर्ण करती हुई, विनय, इन्द्रियसंयम एवं सत्य और प्रिय वचनोंसे उसकी प्रेमपूर्वक सेवा करे ॥२६-२७॥ इस प्रकार जो कुछ मिल जाय उसीमें सन्तुष्ट, विषय-भोगोंमें अनासक्त, कार्यकुशल, धर्मज्ञ, सत्य और प्रिय बोलनेवाली, सावधान, पवित्र और प्रेममयी होकर अपने अपतित पतिकी सेवा करे ॥ २८ ॥

१. प्रा० पा०—देवगुर्वनुगा भक्ति० । २. प्रा० पा०—परितोषणम् । ३. प्रा० पा०—सदा । ४. प्रा० पा०—यथा ।

या पतिं हरिभावेन भजेच्छ्रीरिव तत्परा ।
हर्यात्मना हरेर्लोके पत्या श्रीरिव मोदते ॥२९॥

वृत्तिः संकरजातीनां तत्तत्कुलकृता भवेत् ।
अचौराणामपापानामन्त्यजान्तेऽवसायिनाम् ॥३०॥

प्रायः स्वभावविहितो नृणां धर्मो युगे युगे ।
वेददृग्भिः[1] स्मृतो राजन्प्रेत्य चेह च शर्मकृत् ॥३१॥

वृत्त्या स्वभावकृतया वर्तमानः स्वकर्मकृत् ।
हित्वा स्वभावजं कर्म शनैर्निर्गुणतामियात् ॥३२॥

उप्यमानं मुहुः क्षेत्रं स्वयं निर्वीर्यतामियात् ।
न कल्पते पुनः सूत्या उप्तं बीजं च नश्यति ॥३३॥

एवं कामाशयं चित्तं कामानामतिसेवया ।
विरज्येत यथा राजन्नाग्निवत्कामबिन्दुभिः ॥३४॥

यस्य यल्लक्षणं प्रोक्तं पुंसो वर्णाभिव्यञ्जकम् ।
यदन्यत्रापि दृश्येत तत्तेनैव विनिर्दिशेत् ॥३५॥

जो स्त्री लक्ष्मीजीके समान पतिपरायणा होकर उसे भगवद्भावसे ही भजती है वह वैकुण्ठलोकमें विष्णुसारूप्य-को प्राप्त हुए पतिके साथ रहकर इस प्रकार आनन्दित होती है जैसे विष्णु भगवान्‌के साथ श्रीलक्ष्मीजी ॥ २९ ॥

हे राजन् ! जो चोरी तथा अन्यान्य पापकर्म नहीं करते उन [रजक-चर्मकार आदि] अन्त्यज तथा [चाण्डालादि] अन्तेवसायी वर्णसङ्कर जातियोंकी वृत्तियाँ वे ही हैं जो उनकी कुलपरम्परासे चली आयी हों ॥३०॥ हे राजन् ! वेदवेत्ता मुनीश्वरोंने युग-युगमें मनुष्योंके स्वभावानुसार उनके जो-जो धर्म निश्चित किये हैं प्रायः वे ही उनके लिये इस लोक और परलोकमें हितकारी होते हैं ॥३१॥ जो पुरुष अपनी स्वाभाविक वृत्तिका आश्रय ले अपने वर्णाश्रमविहित धर्मोंका आचरण करता रहता है वह धीरे-धीरे उन स्वाभाविक कर्मोंको त्यागकर गुणातीत हो जाता है ॥३२॥ जिस प्रकार बारम्बार बोया जानेवाला खेत स्वयं ही शक्तिहीन हो जाता है—उससे फिर अङ्कुर उत्पन्न नहीं होता तथा उसमें बोया हुआ बीज भी नष्ट हो जाता है—उसी प्रकार वासनाओंका आश्रयरूप चित्त भोगोंका अत्यन्त सेवन करनेसे स्वयं ही ऊब जाता है, किन्तु स्वल्प भोगोंसे ऐसा नहीं होता; जैसे अग्नि एक बिन्दुमात्र घृतसे शान्त नहीं होता [किन्तु एक साथ अधिक घृत डालनेसे ठंडा पड़ जाता है] ॥३३-३४॥ हे राजन् ! जिस पुरुषके वर्णको प्रकट करनेवाला जो लक्षण बतलाया गया है वह यदि अन्य वर्णवालेमें भी मिले तो उसे भी उसी वर्णका समझना चाहिये ॥ ३५ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे सप्तमस्कन्धे[3] युधिष्ठिरनारदसंवादे सदाचारनिर्णयो नामैकादशोऽध्यायः ॥११॥

१. प्रा० पा०—देवदृग्भिः । २. प्रा० पा०—कर्मकृत् । ३. प्रा० पा०—स्कन्धे सदाचारविनिर्णय एका० ।

बारहवाँ अध्याय

ब्रह्मचर्य और वानप्रस्थ आश्रमोंके नियम ।

नारद उवाच

ब्रह्मचारी गुरुकुले वसन्दान्तो गुरोर्हितम् ।
आचरन्दासवन्नीचो गुरौ सुदृढसौहृदः ॥ १ ॥
सायं प्रातरुपासीत गुर्वग्न्यर्कसुरोत्तमान् ।
उभे[1] सन्ध्ये च यतवाग्जपन्ब्रह्म समाहितः ॥ २ ॥
छन्दांस्यधीयीत गुरोराहूतश्चेत्[2]सुयन्त्रितः ।
उपक्रमेऽवसाने च चरणौ शिरसा नमेत् ॥ ३ ॥
मेखलाजिनवासांसि जटादण्डकमण्डलून् ।
बिभृयादुपवीतं च दर्भपाणिर्यथोदितम् ॥ ४ ॥
सायं प्रातश्चरेद्भैक्षं गुरवे तन्निवेदयेत् ।
भुञ्जीत यद्यनुज्ञातो[3] नोचेदुपवसेत्क्वचित् ॥ ५ ॥
सुशीलो मितभुग्दक्षः श्रद्दधानो जितेन्द्रियः ।
यावदर्थं व्यवहरेत्स्त्रीषु स्त्रीनिर्जितेषु च ॥ ६ ॥
वर्जयेत्प्रमदागाथामगृहस्थो बृहद्व्रतः ।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्त्यपि यतेर्मनः ॥ ७ ॥
केशप्रधानोन्मर्दस्नपनाभ्यञ्जनादिकम् ।
गुरुस्त्रीभिर्युवतिभिः कारयेन्नात्मनो युवा ॥ ८ ॥
नन्वग्निः प्रमदा नाम घृतकुम्भसमः[4] पुमान् ।
सुतामपि रहो जह्यादन्यदा यावदर्थकृत् ॥ ९ ॥
कल्पयित्वात्मना यावदाभासमिदमीश्वरः ।

श्रीनारदजी बोले—हे धर्मराज ! गुरुगृहमें रहनेवाला ब्रह्मचारी इन्द्रियोंका संयम कर दासके समान अपनेको नीच मानकर सदा गुरुके हितका आचरण करता हुआ उनमें सुदृढ़ अनुराग रखे ॥ १ ॥ सायंकाल और प्रातःकालमें गुरु, अग्नि, सूर्य और देवताओंकी उपासना करे, तथा एकाग्रतापूर्वक गायत्रीका जप करता हुआ दोनों समय मौनावलम्बनपूर्वक सन्ध्योपासन करे ॥ २ ॥ जब गुरुजी बुलावें उस समय सावधान होकर वेदाध्ययन करे तथा पाठके आरम्भमें और पाठ समाप्त होनेपर उनके चरणोंमें शिर रखकर नमस्कार करे ॥ ३ ॥ शास्त्रकी आज्ञानुसार मेखला, मृगचर्म, वस्त्र, जटा, दण्ड, कमण्डलु और यज्ञोपवीत तथा हाथमें कुशा धारण करे ॥ ४ ॥ सायंकाल और प्रातःकाल भिक्षा माँगकर लावे और उसे गुरुजीको समर्पण कर दे, फिर गुरुजी आज्ञा दें तो भोजन करे, कभी आज्ञा न दें तो उपवास भी कर ले ॥ ५ ॥ सुशील, अल्पाहारी, दक्ष, श्रद्धालु और जितेन्द्रिय रहे तथा जबतक आवश्यकता हो तभीतक स्त्रियों या स्त्रीजित पुरुषोंके साथ व्यवहार रखे ॥ ६ ॥ जो गृहस्थ नहीं है उस ब्रह्मचारीको चाहिये कि सर्वदा स्त्रियोंकी चर्चाका त्याग करे, क्योंकि प्रमथनशील इन्द्रियाँ यतिके चित्तको भी हर लेती हैं ॥ ७ ॥ यदि ब्रह्मचारी नवयुवक हो तो उसे युवती गुरुपत्नीसे बाल सुलझवाना, शरीर मलवाना अथवा स्नान या उबटन कराना आदि कार्य नहीं कराने चाहिये ॥ ८ ॥ क्योंकि स्त्री अग्निके समान है और पुरुष घीके कलशके समान । उसे एकान्तमें तो अपनी कन्याके साथ भी नहीं रहना चाहिये तथा अन्यत्र भी जितना प्रयोजन हो उतनी ही देर रहे ॥ ९ ॥ हे राजन् ! तत्त्वज्ञानमें समर्थ पुरुष भी इन स्त्री आदि भोग्य पदार्थोंको आभासमात्र जान लेनेपर भी जबतक इनका चिन्तन करता रहता

१. प्रा० पा०—सन्ध्ये उभे । २. प्रा० पा०—तश्चेह यन्त्रितः । ३. प्रा० पा०—तदनु० । ४. प्रा० पा०—घृतकुम्भः पुमानतः ।

द्वैतं तावन्न विरमेत्ततो ह्यस्य विपर्ययः ॥१०॥

है, तबतक [मैं पुरुष हूँ यह स्त्री है इत्यादि रूपसे] उसकी द्वैतबुद्धि निवृत्त नहीं होती; अतः उसका पतन होना निश्चित है ॥१०॥

एतत्सर्वं गृहस्थस्य समाम्नातं यतेरपि ।
गुरुवृत्तिर्विकल्पेन गृहस्थस्यर्तुगामिनः[1] ॥११॥
अञ्जनाभ्यञ्जनोन्मर्दस्त्र्यवलेखामिषं[2] मधु ।
स्रग्गन्धलेपालंकारांस्त्यजेयुर्ये धृतव्रताः ॥१२॥

ये सब सुशीलत्व आदि साधारण धर्म गृहस्थ और संन्यासीके लिये भी विहित हैं; किन्तु ऋतुगामी गृहस्थके लिये गुरुवृत्ति (गुरुकुलमें रहकर गुरुशुश्रूषापूर्वक ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन) विकल्पसे विहित है [अर्थात् ऋतुकालके अतिरिक्त समयमें ही विहित है] ॥११॥ व्रतधारियोंको चाहिये कि अञ्जन या तेल लगाना, उबटन मलना, स्त्रियोंके चित्र बनाना, मांसाहार, मद्यपान तथा माला, चन्दन और आभूषण आदिका त्याग करें ॥१२॥

उषित्वैवं गुरुकुले द्विजोऽधीत्यावबुध्य च ।
त्रयीं साङ्गोपनिषदं यावदर्थं यथाबलम् ॥१३॥
दत्त्वावरमनुज्ञातो गुरोः कामं यदीश्वरः ।
गृहं वनं वा प्रविशेत्प्रव्रजेत्तत्र वा वसेत् ॥१४॥
अग्नौ गुरावात्मनि च सर्वभूतेष्वधोक्षजम् ।
भूतैः स्वधामभिः पश्येदप्रविष्टं प्रविष्टवत् ॥१५॥
एवंविधो ब्रह्मचारी वानप्रस्थो यतिर्गृही ।
चरन्विदितविज्ञानः परं ब्रह्माधिगच्छति ॥१६॥

इस प्रकार गुरुगृहमें निवास करते हुए अपनी शक्ति और आवश्यकताके अनुसार [शिक्षा-कल्प आदि] अंगों और उपनिषदोंके सहित तीनों वेदोंका अध्ययन और मनन करे ॥१३॥ और फिर, यदि सामर्थ्य हो तो गुरुको अभीष्ट गुरुदक्षिणा दे । उनकी आज्ञा होनेपर गृहस्थ, वानप्रस्थ अथवा संन्यास आश्रममें प्रवेश करे या [नैष्ठिक ब्रह्मचारी होकर यावज्जीवन] उन्हींके घर रहे ॥१४॥ यद्यपि भगवान् वासुदेव [स्वस्वरूपसे] किसी भी पदार्थमें अनुप्रविष्ट नहीं हैं [वे सारे प्रपञ्चसे पृथक् हैं] तो भी अग्नि, गुरु, आत्मा और सकल प्राणियोंमें उन्हें अपने आश्रित जीवोंके साथ व्याप्त देखे ॥ १५ ॥ हे धर्मराज ! इस प्रकार आचरण करनेवाला ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ, संन्यासी अथवा गृहस्थ पुरुष ज्ञेय वस्तुका साक्षात्कारकर परब्रह्मको प्राप्त कर लेता है ॥१६॥

वानप्रस्थस्य वक्ष्यामि नियमान्मुनिसम्मतान्[3] ।
यानातिष्ठन्मुनिर्गच्छेदृषिलोकमिहाञ्जसा[5] ॥१७॥
न कृष्टपच्यमश्नीयादकृष्टं चाप्यकालतः ।

हे राजन् ! अब मैं तुम्हें वानप्रस्थके मुनिजन-सम्मत नियम सुनाता हूँ, जिनका आचरण करनेसे वानप्रस्थ मुनि अनायास ही ऋषिलोक प्राप्त कर लेता है ॥१७॥ वानप्रस्थको उचित है कि जोती हुई भूमिमें उत्पन्न होनेवाले [चावल-गेहूँ आदि] अन्न भक्षण न करे तथा बिना जोती हुई भूमिमें उत्पन्न होकर भी जो समयसे पहले ही पक गया हो,

१. प्रा० पा०—कामिनः । २. प्रा० पा०—लोकामिषं । ३. प्रा० पा०—संगतान् । ४. प्रा० पा०—तथाति० । ५. प्रा० पा०—हौजसा ।

अग्निपक्वमथामं वा अर्कपक्वमुताहरेत् ॥१८॥
वन्यैश्चरुपुरोडाशान्निर्वपेत्कालचोदितान्[1] ।
लब्धे नवे नवेऽन्नाद्ये पुराणं तु परित्यजेत् ॥१९॥
अग्न्यर्थमेव शरणमुटजं वाद्रिकन्दराम्[2] ।
श्रयेत हिमवाय्वग्निवर्षार्कार्तपपाट्[3] स्वयम् ॥२०॥
केशरोमनखश्मश्रुमलानि जटिलो दधत् ।
कमण्डल्वजिने दण्डवल्कलाग्निपरिच्छदान् ॥२१॥
चरेद्वने द्वादशाब्दानष्टौ वा चतुरो मुनिः ।
द्वावेकं वा यथा बुद्धिर्न विपद्येत कृच्छ्रतः ॥२२॥

यदाकल्पः स्वक्रियायां व्याधिभिर्जरयाथवा[4] ।
आन्वीक्षिक्यां वा विद्यायां कुर्यादनशनादिकम् ॥२३॥
आत्मन्यग्नीन्समारोप्य संन्यस्याहंममात्मताम् ।
कारणेषु[5] न्यसेत्सम्यक् संघातं तु यथार्हतः ॥२४॥
खे खानि वायौ निःश्वासांस्तेजस्यूष्माणमात्मवान् ।
अप्स्वसृक्श्लेष्मपूयानि क्षितौ शेषं यथोद्भवम् ॥२५॥
वाचमग्नौ सवक्तव्यामिन्द्रे शिल्पं करावपि ।
पदानि गत्या वयसि रत्योपस्थं प्रजापतौ ॥२६॥
मृत्यौ पायुं विसर्गं च यथास्थानं विनिर्दिशेत् ।
दिक्षु श्रोत्रं सनादेन स्पर्शमध्यात्मनि[6] त्वचम् ॥२७॥
रूपाणि चक्षुषा राजञ्ज्योतिष्यभिनिवेशयेत्[7] ।

अग्निसे पकाया गया हो अथवा कच्चा हो उस अन्नको न खाय। केवल सूर्यके तापसे ही पके हुए [कन्द-मूल-फलादि] भक्षण करे॥१८॥नीवारादि वनके धान्योंसे समयानुसार विहित चरु और पुरोडाश होम करे तथा नवीन अन्न प्राप्त होनेपर पूर्व सञ्चित अन्नको निकाल डाले॥१९॥ [यज्ञीय] अग्निकी रक्षाके लिये ही पर्णकुटी अथवा पर्वतकन्दराका आश्रय ले; स्वयं तो सर्वदा शीत, वायु, अग्नि, वर्षा और घामादिको सहन करे ॥२०॥ शिरपर जटा धारणकर केश, रोम, नख, दाढ़ी-मूँछ, मल, कमण्डलु, मृगचर्म, दण्ड, वल्कलवस्त्र और [स्रुक्-स्रुवा आदि] अग्निहोत्रके पात्र धारण करे ॥२१॥ विचारवान् मुनिको उचित है कि जिसमें तपके क्लेशसे बुद्धि भ्रष्ट न हो उस प्रकार बारह, आठ, चार, दो अथवा एक वर्षतक वानप्रस्थ आश्रमके नियमोंका पालन करे ॥२२॥

हे राजन्! जब वानप्रस्थी मुनि रोग अथवा वृद्धावस्थाके कारण अपना कर्म या वेदान्त-विचार करनेमें समर्थ न रहे तो उसे अनशनादि व्रत करने चाहिये ॥२३॥ किन्तु अनशन करनेसे पहले वह आहवनीयादि अग्नियोंको अपने आत्मामें लीन करे तथा अहंता-ममताको त्यागकर [भावनाद्वारा] शरीरका उसकी उत्पत्तिके कारणरूप आकाशादि पञ्च तत्त्वोंमें सम्यक्प्रकारसे लय करे॥२४॥ विचारवान् पुरुषको उचित है कि अपने-अपने उद्भवस्थानके अनुसार इन्द्रिय-गोलकोंको आकाशमें, प्राणको वायुमें, उष्णताको अग्निमें, रक्तश्लेष्मा (कफ) और पूय (पीब) आदिको जलमें तथा शेष [अस्थि आदि कठिन पदार्थों] को पृथिवीमें लीन करे ॥२५॥ इसी प्रकार यथास्थान वाणी और उसके कर्म भाषणको [वाणीके अधिष्ठातृदेव] अग्निमें, हाथ और शिल्पको इन्द्रमें, गतिके सहित चरणोंको कालस्वरूप विष्णुमें, रतिके सहित उपस्थको प्रजापतिमें तथा पायु और मलोत्सर्गको उनके आश्रयके अनुसार मृत्युमें लीन करे। हे राजन्! नादसहित श्रवणेन्द्रियको दिशाओंमें, स्पर्श और त्वचाको वायुमें, नेत्रसहित रूपको ज्योतिमें, मधुरादि रसके

प्रा० पा०
१. प्रा० पा०—पेन्नित्यनोदितान् । २. प्रा० पा०—न्दरम् । ३. तपमाश्रयम् । ४. प्रा० पा०—योत वा ।
५. प्रा० पा०—कारणे विन्यसेत् । ६. प्रा० पा०—स्पर्शेनाध्यात्मचिन्तनम् । ७. प्रा० पा०—ज्योतिःष्व० ।

अप्सु प्रचेतसा जिह्वां घ्रेयैर्घ्राणं क्षितौ न्यसेत् ॥२८॥
मनो मनोरथैश्चन्द्रे बुद्धिं बोध्यैः कवौ परे ।
कर्माण्यध्यात्मना रुद्रे यदहंममता क्रिया ।
सत्त्वेन चित्तं क्षेत्रज्ञे गुणैर्वैकारिकं परे ॥२९॥
अप्सु क्षितिमपो ज्योतिष्यदो वायौ नभस्यमुम् ।
कूटस्थे तच्च महति तदव्यक्तेऽक्षरे च तत् ॥३०॥
इत्यक्षरतयात्मानं चिन्मात्रमवशेषितम् ।
ज्ञात्वाद्वयोऽथ विरमेद्दग्धयोनिरिवानलः ॥३१॥

सहित*रसनेन्द्रियको जलमें तथा गन्धसहित घ्राणेन्द्रियको पृथिवीमें लय करे ॥२६-२८॥ मनोरथोंके सहित मनको चन्द्रमें, बोध्य पदार्थोंके सहित बुद्धिको ब्रह्मामें, अहंकारके सहित उसके कर्मोंको रुद्रमें, जिनसे कि अहंता-ममतारूप क्रियाएँ होती हैं, लीन करे। इसी प्रकार चेतना-सहित चित्तको क्षेत्रज्ञ(जीव)में तथा गुणोंके कारण विकारी-सा प्रतीत होनेवाले जीवको परब्रह्ममें लीन करे ॥२९॥ फिर पृथिवीका जलमें, जलका अग्निमें, अग्निका वायुमें, वायुका आकाशमें, आकाशका अहंकारमें, अहंकारका महत्तत्त्वमें, महत्तत्त्वका अव्यक्तमें और उस अव्यक्तका परमात्मामें लय करे ॥३०॥ इस प्रकार [लयचिन्तनके अनन्तर] बचे हुए चिन्मात्र परमात्माको अक्षररूपसे जानकर स्वयम् अद्वितीयभावसे स्थित होकर अपने आश्रय काष्ठादिके भस्म हो जानेपर शान्त हुए अग्निके समान उपरत हो जाय ॥३१॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे सप्तमस्कन्धे युधिष्ठिरनारदसंवादे सदाचारनिर्णयो नाम द्वादशोऽध्यायः ॥१२॥

तेरहवाँ अध्याय

यतिके धर्मोंका वर्णन तथा अवधूत और प्रह्लादका संवाद ।

नारद उवाच

कल्पस्त्वेवं परिव्रज्य देहमात्रावशेषितः ।
ग्रामैकरात्रविधिना निरपेक्षश्चरेन्महीम् ॥ १ ॥
बिभृयाद्यद्यसौ वासः कौपीनाच्छादनं परम् ।

श्रीनारदजी बोले—हे धर्मराज ! [इस प्रकार लय-चिन्तन करनेके अनन्तर] यदि वानप्रस्थ पुरुष ब्रह्म-विचारमें समर्थ हो तो संन्यास ग्रहणकर शरीरके सिवा और सब वस्तुओंको त्याग दे तथा एक ग्राममें केवल एक ही रात्रि टिकनेका नियम लेकर किसी बातकी इच्छा न रख स्वच्छन्दभावसे पृथिवीपर विचरे ॥ १ ॥ यदि उसे वस्त्र धारण करनेकी इच्छा हो तो केवल कौपीनमात्र पहने, तथा जबतक कोई विशेष

१. प्रा० पा०—मनोरथे शुद्धे बुद्धौ वाचं तथार्पयेत् । २. प्रा० पा०—तु । ३. प्रा० पा०—स्कन्धे आश्रमलक्षणविधिर्द्वाद० । ४. प्रा० पा०—परित्यज्य ।

* यहाँ मूलमें 'प्रचेतसा' पद है जिसका अर्थ 'वरुणके सहित' होता है । वरुण रसनेन्द्रियके अधिष्ठाता हैं । श्रीधरस्वामीने भी इसी मतको स्वीकार किया है । परन्तु इस प्रसंगमें सर्वत्र इन्द्रिय और उसके विषयका अधिष्ठातृदेवमें लय करना बताया गया है, फिर रसनेन्द्रियके लिये ही नया क्रम युक्तियुक्त नहीं जँचता । इसलिये यहाँ श्रीविश्वनाथ चक्रवर्तीके मतानुसार 'प्रचेतसा' पदका ('प्रकृष्टं चेतो यत्र स प्रचेतो मधुरादिरसस्तेन'—जिसकी ओर चित्त अधिक आकृष्ट हो वह मधुरादि रस 'प्रचेतस्' है उसके सहित) इस विग्रहके अनुसार प्रस्तुत अर्थ किया गया है, और यही युक्तियुक्त मालूम होता है ।

त्यक्तं न दण्डलिङ्गादेरन्यत्किञ्चिदनापदि ॥ २ ॥
एक एव चरेद्भिक्षुरात्मारामोऽनपाश्रयः ।
सर्वभूतसुहृच्छान्तो नारायणपरायणः ॥ ३ ॥
पश्येदात्मन्यदो विश्वं परे सदसदोऽव्यये ।
आत्मानं च परं ब्रह्म सर्वत्र सदसन्मये ॥ ४ ॥
सुप्तप्रबोधयोः सन्धावात्मनो गतिमात्मदृक् ।
पश्यन्बन्धं च मोक्षं च मायामात्रं न वस्तुतः ॥ ५ ॥
नाभिनन्देद्ध्रुवं मृत्युमध्रुवं वास्य जीवितम् ।
कालं परं प्रतीक्षेत भूतानां प्रभवाप्ययम् ॥ ६ ॥
नासच्छास्त्रेषु सज्जेत नोपजीवेत जीविकाम् ।
वादवादांस्त्यजेत्तर्कान्पक्षं कं च न संश्रयेत् ॥ ७ ॥
न शिष्याननुबध्नीत ग्रन्थान्नैवाभ्यसेद्बहून् ।
न व्याख्यामुपयुञ्जीत नारम्भानारभेत्क्वचित् ॥ ८ ॥
न यतेराश्रमः प्रायो धर्महेतुर्महात्मनः ।
शान्तस्य समचित्तस्य बिभृयादुत वा त्यजेत् ॥ ९ ॥
अव्यक्तलिङ्गो व्यक्तार्थो मनीष्युन्मत्तबालवत् ।
कविर्मूकवदात्मानं स दृष्ट्या दर्शयेन्नृणाम् ॥१०॥

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
प्रह्लादस्य च संवादं मुनेराजगरस्य च ॥११॥

आपत्ति न हो तबतक दण्ड और अपने आश्रमके चिह्नके सिवा और कोई त्यागी हुई वस्तु धारण न करे ॥२॥ भिक्षुको उचित है कि वह सम्पूर्ण भूतोंका हितैषी, शान्तचित्त तथा नारायणपरायण हो किसीका आश्रय न लेकर आत्मामें ही रमण करता हुआ अकेला विचरे ॥ ३ ॥ जो सत् (कार्य) और असत् (कारण) दोनोंसे परे है उस अविनाशी आत्मामें इस सम्पूर्ण प्रपञ्चको अध्यस्त जाने तथा कार्य-कारणरूप जगत्में सर्वत्र परब्रह्मस्वरूप अपने आत्माको व्याप्त देखे ॥ ४ ॥ आत्मदर्शी यति सुषुप्ति और जागृतिकी सन्धिमें आत्मस्वरूपका साक्षात्कार करके बन्धन और मोक्ष केवल मायामात्र हैं, वस्तुतः कुछ भी नहीं हैं—ऐसा समझता हुआ सर्वत्र परब्रह्मस्वरूप अपने आत्माका ही अनुभव करे ॥ ५ ॥ शरीरको निश्चय ही प्राप्त होनेवाली मृत्युका अथवा उसके अनिश्चित जीवनका अभिनन्दन न करे; प्राणियोंकी उत्पत्ति और नाशके कारणरूप केवल कालकी प्रतीक्षा करता रहे॥६॥अनात्मशास्त्रोंमें प्रीति न करे, [ज्यौतिषादि विद्याओंके आश्रयसे] किसी आजीविकाका अवलम्बन न ले, केवल वादके ही लिये होनेवाले [जल्प-वितण्डा आदि] तर्कोंका त्याग करे तथा कोई पक्ष ग्रहण न करे ॥ ७ ॥ शिष्यमण्डली एकत्रित न करे, बहुत-से ग्रन्थोंका अभ्यास न करे, शास्त्रोंकी व्याख्या न करे तथा [मठ-स्थापना आदि] नये-नये कार्योंका आरम्भ न करे ॥ ८ ॥ शान्त और समचित्त महात्मा यतिका आश्रम प्रायः धर्माचरणके लिये नहीं है; अतः वह [दण्ड-कमण्डलु आदि] अपने आश्रमके चिह्नोंको इच्छानुसार चाहे धारण करे, चाहे त्याग दे ॥ ९ ॥ जिसका कोई बाह्य चिह्न नहीं है किन्तु जो निरन्तर आत्मानुसन्धानमें तत्पर रहता है वह विवेकी पुरुष अन्य मनुष्योंके प्रति बुद्धिमान् होकर भी उन्मत्त या बालकके समान तथा विद्वान् होकर भी मूकके समान अपनेको प्रकट करे ॥१०॥

हे राजन् ! इस विषयमें पण्डितजन अजगरवृत्तिसे रहनेवाले एक मुनि और प्रह्लादजीके संवादरूप इस पुरातन इतिहासका दृष्टान्त दिया करते हैं ॥११॥

१. प्रा० पा०—लिङ्गदण्डादे० । २. प्रा० पा०—परीक्षेत । ३. प्रा० पा०—प्रभवाव्ययम् । ४. प्रा० पा०—कञ्चन नाश्रयेत् । ५. प्रा० पा०—रन्त्येतमि० ।

तं शयानं धरोपस्थे कावेर्यां सह्यसानुनि ।
रजस्वलैस्तनूदेशैर्निगूढामलतेजसम् ॥१२॥
ददर्श लोकान्विचरँल्लोकतत्त्वविवित्सया[1] ।
वृतोऽमात्यैः कतिपयैः प्रह्लादो भगवत्प्रियः ॥१३॥
कर्मणाकृतिभिर्वाचा लिङ्गैर्वर्णाश्रमादिभिः ।
न विदन्ति जना यं वै सोऽसाविति न वेति च[2] ॥१४॥
तं नत्वाभ्यर्च्य विधिवत्पादयोः शिरसा स्पृशन्[3] ।
विवित्सुरिदमप्राक्षीन्महाभागवतोऽसुरः ॥१५॥
बिभर्षि कायं पीवानं सोद्यमो भोगवान्यथा ।
वित्तं चैवोद्यमवतां भोगो वित्तवतामिह ।
भोगिनां खलु देहोऽयं पीवा भवति नान्यथा॥१६॥
न ते शयानस्य निरुद्यमस्य
ब्रह्मन्नु हार्थो यत एव भोगः ।
अभोगिनोऽयं तव विप्र देहः
पीवा यतस्तद्वद नः क्षमं चेत् ॥१७॥
कविः कल्पो निपुणदृक् चित्रप्रियकथः समः ।
लोकस्य कुर्वतः कर्म शेषे तद्वीक्षितापि वा ॥१८॥

नारद उवाच

स इत्थं दैत्यपतिना परिपृष्टो महामुनिः ।
स्मयमानस्तमभ्याह तद्वागमृतयन्त्रितः ॥१९॥

ब्राह्मण उवाच

वेदेदमसुरश्रेष्ठ भवान्नन्वार्यसम्मतः ।
ईहोपरमयोर्नृणां पदान्यध्यात्मचक्षुषा ॥२०॥
यस्य नारायणो देवो भगवान्हृद्गतः सदा ।

एक बार लोकतत्त्वकी जिज्ञासासे कुछ मन्त्रियोंके साथ लोकमें विचरते हुए भगवद्भक्त प्रह्लादजीने उन मुनीश्वरको सह्य पर्वतके शिखरपर कावेरी नदीके किनारे पृथिवीपर पड़े देखा, उनका विमल तेज धूलिधूसरित अंगोंसे ढँका हुआ था ॥१२-१३॥ उनके कर्म, आकार, वाणी तथा वर्णाश्रमादिके चिह्नोंसे लोग यह नहीं जान सकते थे कि 'ये कोई सिद्ध पुरुष हैं या नहीं' ॥१४॥ महाभागवत असुरश्रेष्ठ प्रह्लादजीने उनके चरणोंपर शिर रखकर नमस्कार किया और उनका विधिवत् पूजनकर जिज्ञासु होकर इस प्रकार पूछा—॥१५॥ 'भगवन् ! आप उद्योगी और भोगी पुरुषोंके समान पुष्ट शरीर धारण किये हुए हैं। संसारमें देखा जाता है कि उद्यमी पुरुषोंको ही धन मिलता है और धनवानोंको ही भोग प्राप्त होते हैं; तथा जो भोगी होते हैं उन्हींका शरीर मोटा-ताजा हुआ करता है, और किसी प्रकार नहीं ॥१६॥ किन्तु इस प्रकार निरुद्यम पड़े हुए आपके पास किसी प्रकारका धन भी नहीं है जिससे आपको भोग प्राप्त हो; तो भी, हे ब्रह्मन् ! बिना भोगोंके ही आपका शरीर ऐसा पुष्ट है। इसका कारण क्या है ? यदि हमसे कहनेयोग्य हो तो बताइये ॥१७॥ आप विद्वान्, समर्थ और चतुर हैं तथा लोगोंको प्रसन्न करनेवाली तरह-तरहकी बातें भी जानते हैं; तथापि सब लोगोंको कर्म करते देखकर भी आप उदासीनभावसे पड़े ही रहते हैं ? [इसका क्या कारण है ? कहिये] ॥ १८ ॥

श्रीनारदजी बोले—हे धर्मराज ! दैत्यपति प्रह्लादजीके इस प्रकार पूछनेपर उनके वचनामृतसे आकर्षित हो वे महामुनि उनसे मुसकाते हुए बोले—॥१९॥

ब्राह्मणने कहा—हे असुरश्रेष्ठ ! तुम साधुसमाजमें सम्मानित हो, इसलिये मनुष्योंको प्रवृत्ति और निवृत्तिसे क्या फल मिलता है—यह सब तुम अपनी ज्ञानदृष्टिसे जानते ही हो ॥२०॥ क्योंकि तुम्हारी विशुद्ध भक्तिके कारण भगवान् श्रीनारायणदेव सर्वदा तुम्हारे हृदयमें स्थित रहकर, सूर्य जिस प्रकार अन्धकारको

१. प्रा० पा०—बुभुत्सया । २. प्रा० पा०—तम् । ३. प्रा० पा०—पतन् ।

भक्त्या केवलयाज्ञानं धुनोति ध्वान्तमर्कवत् ॥२१॥
अथापि ब्रूमहे प्रश्नांस्तव राजन्यथाश्रुतम् ।
सम्भावनीयो हि भवानात्मनः शुद्धिमिच्छताम्॥२२॥

नष्ट कर देता है उसी प्रकार तुम्हारे अज्ञानको नष्ट करते रहते हैं ॥२१॥ तो भी, हे राजन् ! जैसा मैंने सुना है उसीके अनुसार मैं तुम्हारे प्रश्नोंका उत्तर देता हूँ; क्योंकि जिन्हें अपने अन्तःकरणको शुद्ध करनेकी इच्छा हो उन्हें तुम्हारा सम्मान अवश्य करना चाहिये ॥२२॥

तृष्णया भववाहिन्या योग्यैः कामैरपूरया ।
कर्माणि कार्यमाणोऽहं नानायोनिषु योजितः ॥२३॥
यदृच्छया लोकमिमं प्रापितः कर्मभिर्भ्रमन् ।
स्वर्गापवर्गयोर्द्वारं तिरश्चां पुनरस्य च ॥२४॥
अत्रापि दम्पतीनां च सुखायान्यापनुत्तये ।
कर्माणि कुर्वतां दृष्ट्वा निवृत्तोऽस्मि विपर्ययम् ॥२५॥

[हे प्रह्लादजी!] इच्छित भोगोंसे भी जिसको तृप्त करना अत्यन्त कठिन है तथा जो जन्म-मरणरूप संसारचक्रको चलानेवाली है उस तृष्णाने मुझसे नाना प्रकारके कर्म करवाकर मुझे अनेकों प्रकारकी योनियोंमें डाला ॥२३॥ कर्मोंकी प्रेरणासे ही अनेकों योनियोंमें भटकते हुए दैववश मुझे यह मनुष्य-जन्म प्राप्त हुआ है जो [पुण्य-कर्मद्वारा] स्वर्ग, [पापोंके कारण] तिर्यग्योनि, [निवृत्तिसे] मोक्ष तथा [मिश्रित कर्मोंद्वारा] फिर इस मनुष्य-योनिकी ही प्राप्तिका द्वार है ॥ २४ ॥ किन्तु इस मनुष्ययोनिमें भी स्त्री-पुरुषोंको सुखकी प्राप्ति और दुःखकी निवृत्तिके लिये प्रयत्न करनेपर भी उलटा ही फल प्राप्त होता देखकर मैं कर्मोंसे उपरत हो गया हूँ ॥२५॥

सुखमस्यात्मनो रूपं सर्वेहोपरतिस्तनुः ।
मनःसंस्पर्शजान्दृष्ट्वा भोगान्स्वप्स्यामि संविशन्॥२६॥
इत्येतदात्मनः[1] स्वार्थं सन्तं विस्मृत्य वै पुमान् ।
विचित्रामसति द्वैते घोरामाप्नोति संसृतिम् ॥२७॥
जलं तदुद्भवैश्छन्नं हित्वाज्ञो जलकाम्यया ।
मृगतृष्णामुपाधावेद्यथान्यत्रार्थदृक्[2] स्वतः ॥२८॥
देहादिभिर्दैवतन्त्रैरात्मनः सुखमीहतः ।
दुःखात्ययं चानीशस्य क्रिया मोघाः कृताः कृताः २९

हे राजन् ! सुख तो आत्माका स्वरूप ही है और वह सब प्रकारकी चेष्टाओंके निवृत्त होनेपर स्वयं ही प्रकाशित हो जाता है । अतः सम्पूर्ण भोगोंको मनोरथमात्र समझकर मैं प्रारब्ध-भोग करता हुआ यहाँ पड़ा रहता हूँ ॥२६॥ पुरुष, इस प्रकार [अपने भीतर ही वर्तमान] अपने सच्चे स्वार्थको भूलकर द्वैतप्रपञ्चके वस्तुतः असत् होनेपर भी, जन्म-मरणरूप विचित्र और भयङ्कर संसारचक्रमें पड़ा रहता है ॥२७॥ जिस प्रकार अज्ञानी पुरुष, जलहीसे उत्पन्न हुए तृण-शैवालादिसे आच्छादित जलको छोड़कर जलकी ही कामनासे मृगतृष्णाकी ओर दौड़ता है उसी प्रकार अपने आत्मासे अन्यत्र पुरुषार्थ समझनेवाला पुरुष आत्मानुसन्धानसे विमुख होकर विषयोंकी ओर दौड़ता है ॥२८॥ किन्तु जो पुरुष दैवाधीन शरीरादिके द्वारा अपने लिये सुखप्राप्ति और दुःखनिवृत्तिकी चेष्टा करता रहता है उस दैवहीन पुरुषकी बारम्बार की हुई सभी क्रियाएँ व्यर्थ हो जाती हैं ॥२९॥

१. प्रा० पा०—त्मनि । २. प्रा० पा०—तृष्णां प्रधावेत तथा० ।

आध्यात्मिकादिभिर्दुःखैरविमुक्तस्य कर्हिचित् ।
मर्त्यस्य कृच्छ्रोपनतैरर्थैः कामैः क्रियेत किम् ॥३०॥
पश्यामि धनिनां क्लेशं लुब्धानामजितात्मनाम् ।
भयादलब्धनिद्राणां सर्वतोऽभिविशङ्किनाम् ॥३१॥
राजतश्चोरतः शत्रोः स्वजनात्पशुपक्षितः ।
अर्थिभ्यः कालतः स्वस्मान्नित्यं प्राणार्थवद्भयम् ॥
शोकमोहभयक्रोधरागक्लैब्यश्रमादयः ।
यन्मूलाः स्युर्नृणां जह्यात्स्पृहां[1] प्राणार्थयोर्बुधः॥३३॥
मधुकारमहासर्पौ लोकेऽस्मिन्नो गुरूत्तमौ ।
वैराग्यं परितोषं च प्राप्ता यच्छिक्षया वयम् ॥३४॥
विरागः सर्वकामेभ्यः शिक्षितो मे मधुव्रतात् ।
कृच्छ्राप्तं मधुवद्वित्तं हत्वाप्यन्यो हरेत्पतिम् ॥३५॥
अनीहः परितुष्टात्मा यदृच्छोपनतादहम् ।
नो चेच्छये बह्वहानि महाहिरिव सत्त्ववान् ॥३६॥
क्वचिदल्पं क्वचिद्भूरि भुञ्जेऽन्नं स्वाद्वस्वादु वा ।
क्वचिद्भूरिगुणोपेतं गुणहीनमुत[2] क्वचित् ॥३७॥
श्रद्धयोपाहृतं[3] क्वापि कदाचिन्मानवर्जितम् ।
भुञ्जे भुक्त्वाथ कस्मिंश्चिद्दिवा नक्तं यदृच्छया ॥३८॥
क्षौमं दुकूलमजिनं चीरं वल्कलमेव वा ।
वसेऽन्यदपि सम्प्राप्तं दिष्टभुक् तुष्टधीरहम् ॥३९॥

और यदि कभी कुछ सफलता हो भी जाय तो जिसको आध्यात्मिकादि दुःखोंसे किसी समय छुटकारा नहीं मिलता उस मरणधर्मा पुरुषको इन कष्ट-साध्य अर्थ और भोगोंसे ऐसा क्या सुख मिल सकता है ? ॥३०॥ धनलोलुप और अजितेन्द्रिय धनी पुरुषों-का क्लेश मुझे स्पष्ट दिखायी देता है; उन्हें सर्वत्र सन्देह रहता है और भयके कारण नींदतक नहीं आती ॥३१॥ प्राण और धनवालोंको राजा, चोर, शत्रु, स्वजन, पशु, पक्षी, याचक, काल तथा स्वयं अपनेसे भी*सर्वदा भय बना रहता है ॥३२॥ अतः बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि जिनके कारण मनुष्यको शोक, मोह, भय, क्रोध, राग, कायरता और श्रम आदिका शिकार होना पड़ता है उन धन और प्राणोंकी इच्छा-को त्याग दे ॥३३॥

[हे असुरश्रेष्ठ!] इस लोकमें मधुमक्षिका और अजगर ये दो हमारे श्रेष्ठ गुरु हैं, जिनसे शिक्षा ग्रहणकर हमने वैराग्य और सन्तोष प्राप्त किये हैं ॥३४॥ मधुके समान बड़ी कठिनतासे सञ्चित किये धनको भी [चोर आदि] अन्य पुरुष, उसके स्वामीको मारकर हर ले जाते हैं—इस प्रकार मधुमक्षिकासे मैंने सम्पूर्ण भोगोंसे विरक्त रहना सीखा है ॥३५॥ मैं अजगरके समान निश्चेष्ट रहकर दैववश जो कुछ मिल जाता है उसीमें सन्तुष्ट रहता हूँ; और यदि कुछ भी नहीं मिलता तो भी धैर्य धारण-कर बहुत दिनोंतक यों ही पड़ा रहता हूँ ॥३६॥ कभी थोड़ा अन्न खाता हूँ और कभी बहुत। इसी प्रकार कभी स्वादु, कभी अस्वादु, कभी अनेकों गुणोंसे युक्त, कभी सर्वथा गुणहीन, कभी श्रद्धापूर्वक लाया हुआ और कभी बिना मानके मिला हुआ अन्न खा लेता हूँ। तथा कभी दैवेच्छासे एक बार भोजन करके दिन या रात्रिके समय फिर भी खा लेता हूँ ॥३७-३८॥ मैं प्रारब्ध-को भोगनेवाला और सन्तुष्टचित्त हूँ, अतः मुझे रेशमी वस्त्र, सूती वस्त्र, मृगचर्म, चीर, वल्कल अथवा और भी जैसा वस्त्र मिल जाता है उसे ही पहन लेता हूँ ॥३९॥

१. प्रा० पा०—स्पृहाः । २. प्रा० पा०—हीनं ततः क्व० । ३. प्रा० पा०—योपगतं चापि ।

* मैं किसीको देकर न भूल जाऊँ अथवा स्वभाव-दोषसे अधिक खर्च न कर डालूँ—इस आशंकासे उसे स्वयं अपनेसे भी भय बना रहता है ।

क्वचिच्छये धरोपस्थे तृणपर्णाश्मभस्मसु ।
क्वचित्प्रासादपर्यङ्के कशिपौ वा परेच्छया ॥४०॥

क्वचित्स्नातोऽनुलिप्ताङ्गः सुवासाः स्रग्[1]व्यलंकृतः ।
[2]रथेभाश्वैश्चरे क्वापि दिग्वासा ग्रहवद्विभो ॥४१॥

नाहं निन्दे न च स्तौमि स्वभावविषमं जनम् ।
एतेषां श्रेय आशासे उतैकात्म्यं महात्मनि ॥४२॥

विकल्पं जुहुयाच्चित्तौ तां मनस्यर्थविभ्रमे ।
मनो वैकारिके हुत्वा तन्मायायां [3]जुहोत्यनु ॥४३॥

आत्मानुभूतौ तां मायां जुहुयात्सत्यदृङ्मुनिः ।
ततो निरीहो विरमेत्स्वानुभूत्यात्मनि स्थितः ॥४४॥

स्वात्मवृत्तं मयेत्थं ते सुगुप्तमपि वर्णितम् ।
व्यपेतं लोकशास्त्राभ्यां भवान् हि भगवत्परः ॥४५॥

कभी तो मैं पृथिवी, तृण, पत्तों, पत्थरों अथवा भस्मपर ही पड़ रहता हूँ और कभी दूसरोंकी इच्छासे महलोंमें पलंगों और गद्दियोंपर शयन करता हूँ ॥ ४० ॥ हे समर्थ ! कभी नहा-धोकर शरीरमें चन्दन लगा, सुन्दर वस्त्र और माला आदिसे अलंकृत हो रथ, हाथी अथवा घोड़ेपर चढ़कर चलता हूँ और कभी पिशाचके समान दिगम्बरवृत्तिसे विचरता हूँ ॥४१॥ मनुष्योंके स्वभाव भिन्न-भिन्न हैं; परन्तु मैं किसीकी निन्दा या स्तुति नहीं करता । मैं तो, परमात्मामें इन्हें सायुज्य मोक्ष प्राप्त हो—ऐसी इनके लिये मङ्गलकामना ही करता हूँ ॥४२॥

सत्यानुसन्धान करनेवाले पुरुषको चाहिये कि द्रव्य-जाति आदि विकल्पको भेदग्राहिणी चित्तवृत्तिमें और चित्त-वृत्तिको पदार्थोंका भ्रम उत्पन्न करनेवाले मनमें हवन करे; फिर मनको सात्त्विक अहंकारमें होमकर उस अहंकारको [महत्तत्त्वके द्वारा] क्रमशः मायामें हवन करे, तथा उस मायाको आत्मानुभवमें लीन कर दे । इस प्रकार अपने आत्माके अनुभवसे आत्मस्वरूपमें स्थित हो सब प्रकार-के कर्म त्यागकर उपरत हो जाय ॥४३-४४॥ हे प्रह्लादजी ! इस प्रकार जो देखनेमें लोक और शास्त्रसे विरुद्ध मालूम होता है ऐसा अपना वृत्तान्त अत्यन्त गोपनीय होनेपर भी मैंने तुम्हें सुना दिया; क्योंकि तुम भगवान्‌के भक्त हो ॥४५॥

नारद उवाच

धर्मं पारमहंस्यं वै मुनेः श्रुत्वासुरेश्वरः ।
पूजयित्वा ततः प्रीत आमन्त्र्य प्रययौ गृहम् ॥४६॥

श्रीनारदजी बोले—हे राजन् ! इस प्रकार उन मुनीश्वरसे परमहंसोंका धर्म श्रवणकर दैत्यपति प्रह्लाद-ने उनका पूजन किया, और फिर उनकी आज्ञा ले वे प्रसन्नचित्तसे अपने घर चले गये ॥४६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे सप्तमस्कन्धे
युधिष्ठिरनारदसंवादे [4]यतिधर्मे
त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

१. प्रा० पा०—स्रगलंकृतः । २. प्रा० पा०—रथेनाश्वैश्चरे । ३. प्रा० पा०—जुहोम्यहम् । ४. प्रा० पा०—मयैतत्ते । ५. प्रा० पा०—यतिधर्मस्त्रयो० ।

चौदहवाँ अध्याय

गृहस्थसम्बन्धी सदाचारका वर्णन ।

युधिष्ठिर उवाच

गृहस्थ एतां पदवीं विधिना येन चाञ्जसा ।
याति देवऋषे ब्रूहि मादृशो गृहमूढधीः ॥ १ ॥

नारद उवाच

गृहेष्ववस्थितो[1] राजन्क्रियाः कुर्वन्गृहोचिताः ।
वासुदेवार्पणं साक्षादुपासीत महामुनीन् ॥ २ ॥
शृण्वन्भगवतोऽभीक्ष्णमवतारकथामृतम् ।
श्रद्दधानो यथाकालमुपशान्तजनावृतः ॥ ३ ॥
सत्सङ्गाच्छनकैः[2] सङ्गमात्मजायात्मजादिषु ।
विमुच्येन्मुच्यमानेषु स्वयं स्वप्नवदुत्थितः ॥ ४ ॥
यावदर्थमुपासीनो देहे गेहे च पण्डितः ।
विरक्तो रक्तवत्तत्र नृलोके नरतां न्यसेत् ॥ ५ ॥
ज्ञातयः पितरौ पुत्रा भ्रातरः सुहृदोऽपरे ।
यद्वदन्ति यदिच्छन्ति चानुमोदेत निर्ममः ॥ ६ ॥
दिव्यं भौमं चान्तरिक्षं वित्तमच्युतनिर्मितम् ।
तत्सर्वमुपभुञ्जान एतत्कुर्यात्स्वतो बुधः ॥ ७ ॥
यावद्भ्रियेत जठरं तावत्स्वत्वं हि देहिनाम् ।
अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति ॥ ८ ॥
मृगोष्ट्रखरमर्काखुसरीसृप्खगमक्षिकाः ।

राजा युधिष्ठिरने पूछा—हे देवर्षे! जिसका चित्त गृह आदिमें आसक्त है ऐसा मेरे समान गृहस्थी पुरुष भी जिस प्रकार अनायास ही इस पदको प्राप्त कर सके वह उपाय मुझसे कहिये ॥ १ ॥

श्रीनारदजी बोले—हे राजन् ! गृहस्थाश्रममें रहनेवाला पुरुष सम्पूर्ण गृहस्थोचित कार्योंको भगवदर्पणपूर्वक करता हुआ तथा शान्त पुरुषोंके सहवासमें रहकर निरन्तर भगवान्‌की अमृतमयी अवतारकथाओंको श्रद्धापूर्वक सुनता हुआ साक्षात् मुनीश्वरोंकी सेवा करे ॥ २-३ ॥ और जिस प्रकार स्वप्नसे जगा हुआ पुरुष स्वप्नकल्पित सम्बन्धियोंमें आसक्त नहीं होता उसी प्रकार सत्संगके द्वारा धीरे-धीरे, एक दिन अवश्य छूट जानेवाले अपने स्त्री और पुत्रादिकी आसक्तिको स्वयं ही त्याग दे ॥ ४ ॥ बुद्धिमान् पुरुषको उचित है कि प्रयोजनसिद्धिके लिये ही घर और शरीरसे सम्बन्ध रखकर भीतरसे विरक्त और ऊपरसे रागीके समान आचरण करता हुआ इस मनुष्यलोकमें अपना पुरुषार्थ सिद्ध कर ले ॥ ५ ॥ जातिवाले, पितृगण, बाल-बच्चे, भाई, सुहृद्‌गण तथा अन्य सम्बन्धी जो कुछ कहें अथवा चाहें उसका भीतरसे ममताशून्य रहकर अनुमोदन कर दे ॥ ६ ॥

बुद्धिमान् पुरुषको उचित है कि वर्षा आदिसे प्राप्त होनेवाले (धान्यादि), पृथिवीसे उत्पन्न होनेवाले (सुवर्णादि), अकस्मात् प्राप्त होनेवाले द्रव्यादि तथा दैवकृत पदार्थोंको भोगता हुआ उपर्युक्त (साधु-सेवादि) कर्मोंमें ही लगा दे ॥ ७ ॥ क्योंकि प्राणियोंका अधिकार उतने ही द्रव्यपर है जितनेसे उनकी उदरपूर्ति हो, जो व्यक्ति उससे अधिक वस्तुओंपर अपना अधिकार मानता है वह तो चोर है और दण्डका भागी है ॥ ८ ॥ मृग, ऊँट, गधा, वानर, चूहा, सर्प, पक्षी और मक्षिका

१. प्रा० पा०—गृहे व्यवस्थितो । २. प्रा० पा०—तत्सङ्गा० ।

आत्मनः पुत्रवत्पश्येत्तैरेषामन्तरं कियत् ॥ ९ ॥

त्रिवर्गं[1] नातिकृच्छ्रेण भजेत गृहमेध्यपि ।
यथादेशं यथाकालं यावद्दैवोपपादितम् ॥१०॥

आश्वाघान्तेवसायिभ्यः कामान्संविभजेद्यथा ।
अप्येकामात्मनो दारां नृणां स्वत्वग्रहो यतः ॥११॥

जह्याद्यदर्थे स्वप्राणान्हन्याद्वा पितरं गुरुम् ।
तस्यां स्वत्वं स्त्रियां जह्याद्यस्तेन ह्यजितो जितः ॥१२॥

कृमिविड्भस्मनिष्ठान्तं क्वेदं तुच्छं कलेवरम् ।
क्व तदीयरतिर्भार्या क्वायमात्मा नभश्छदिः ॥१३॥

सिद्धैर्यज्ञावशिष्टार्थैः कल्पयेद्वृत्तिमात्मनः ।
शेषे स्वत्वं त्यजन्प्राज्ञः पदवीं महतामियात् ॥१४॥

देवानृषीन्नृभूतानि पितॄनात्मानमन्वहम् ।
स्ववृत्त्यागतवित्तेन यजेत पुरुषं पृथक् ॥१५॥

यर्ह्यात्मनोऽधिकाराद्याः सर्वाः स्युर्यज्ञसम्पदः ।
वैतानिकेन विधिना अग्निहोत्रादिना यजेत् ॥१६॥

नह्यग्निमुखतोऽयं वै भगवान्सर्वयज्ञभुक् ।
इज्येत[2] हविषा राजन्यथा विप्रमुखे हुतैः ॥१७॥

आदिको अपने पुत्रके समान समझे, क्योंकि उनमें और अपने पुत्रोंमें अन्तर ही कितना है ? ॥ ९ ॥ गृहस्थ पुरुषको भी अर्थ, धर्म और कामोपार्जनमें अत्यन्त व्यग्र नहीं रहना चाहिये; बल्कि देश और कालके अनुसार जो कुछ दैवयोगसे मिल जाय उसीमें संतुष्ट रहना चाहिये ॥ १० ॥ तथा अपनी भोग-सामग्रीको भी कुत्ता, पतित और चाण्डालादिपर्यन्त सभी प्राणियोंको यथायोग्य बाँटकर भोगे; यहाँतक कि अपनी स्त्रीको भी जिसमें कि मनुष्योंका 'यह मेरी ही है' ऐसा अभिमान होता है [अतिथि आदिकी सेवामें नियुक्त रक्खे] ॥ ११ ॥ हे राजन् ! जिसके लिये मनुष्य अपने प्राण भी दे डालता है तथा माता-पिता और गुरुका भी वध कर डालता है उस स्त्रीमें जो पुरुष अपनेपनका अभिमान त्याग देता है वह न जीतेजानेवाले परमात्माको भी जीत लेता है ॥ १२ ॥ जो अन्तमें कृमि, विष्ठा या भस्म ही हो जाता है, कहाँ तो वह तुच्छ देह ! और कहाँ उसीके लिये जिसमें प्रेम होता है वह स्त्री ! तथा कहाँ [अपनी महिमासे] आकाशको भी ढँक लेनेवाला आत्मा ! [अतः इस तुच्छ शरीरके तुच्छ सुखकी परवा न करके चित्तको आत्मचिन्तनमें ही लगाना चाहिये] ॥ १३ ॥ गृहस्थको चाहिये कि दैवयोगसे प्राप्त हुए और पञ्च-यज्ञादिसे बचे हुए अन्नसे ही अपना निर्वाह करे । जो प्राज्ञ पुरुष यज्ञशिष्ट अन्नके सिवा अन्य सब पदार्थोंमें स्वत्व त्याग देता है वह महापुरुषोंके पदको प्राप्त होता है ॥ १४ ॥ हे राजन् ! गृहस्थको अपनी वर्णाश्रमविहित वृत्तिसे प्राप्त हुए द्रव्यद्वारा नित्यप्रति [पञ्चयज्ञविधिसे] देवता, ऋषि, मनुष्य, भूत और पितृगणका तथा अपने आत्माका पूजन करना चाहिये । इससे पृथक्-पृथक् सर्वान्तर्यामी परमेश्वरकी ही आराधना हो जाती है ॥१५॥ और यदि अपनेको अधिकारादि सम्पूर्ण यज्ञ-सम्पत्तियाँ प्राप्त हों तो यज्ञविधिका प्रतिपादन करने-वाले ग्रन्थोंके अनुसार अग्निहोत्रादिसे भगवान्का पूजन करे ॥१६॥ हे राजन् ! ब्राह्मणोंके मुखमें अर्पण किये अन्नादिसे सर्वयज्ञभुक् भगवान्की जैसी पूजा होती है वैसी अग्निके मुखमें हवन किये हुए हविसे नहीं होती ॥ १७ ॥

१. प्रा० पा०—त्रिवर्गतां निमित्तेन भजेत । २. प्रा० पा०—इज्यते ।

तस्माद्ब्राह्मणदेवेषु मर्त्यादिषु यथार्हतः ।
तैस्तैः कामैर्यजस्वैनं क्षेत्रज्ञं ब्राह्मणाननु ॥१८॥

कुर्यादपरपक्षीयं[1] मासि प्रौष्ठपदे द्विजः ।
श्राद्धं पित्रोर्यथावित्तं तद्बन्धूनां च वित्तवान् ॥१९॥

अयने विषुवे कुर्याद्व्यतीपाते दिनक्षये ।
चन्द्रादित्योपरागे च द्वादशीश्रवणेषु च ॥२०॥

तृतीयायां शुक्लपक्षे नवम्यामथ कार्तिके ।
चतसृष्वप्यष्टकासु हेमन्ते शिशिरे तथा ॥२१॥

माघे च सितसप्तम्यां मघाराकासमागमे ।
राकया[2] चानुमत्या वा मासर्क्षाणि युतान्यपि ॥२२॥

द्वादश्यामनुराधा स्याच्छ्रवणस्तिस्र उत्तराः ।
तिसृष्वेकादशी वासु जन्मर्क्षश्रोणयोगयुक्[3] ॥२३॥

त एते श्रेयसः काला नृणां श्रेयोविवर्धनाः ।
कुर्यात्सर्वात्मनैतेषु श्रेयोऽमोघं तदायुषः ॥२४॥

एषु स्नानं जपो होमो व्रतं देवद्विजार्चनम् ।
पितृदेवनृभूतेभ्यो यद्दत्तं तद्ध्यनश्वरम् ॥२५॥

संस्कारकालो जायाया अपत्यस्यात्मनस्तथा ।
प्रेतसंस्था[4] मृताहश्च कर्मण्यभ्युदये नृप ॥२६॥

अथ देशान्प्रवक्ष्यामि धर्मादिश्रेयआवहान् ।

अतः ब्राह्मण, देवता, और मनुष्यादिमें, उनके यथायोग्य भोगोंद्वारा, उन अन्तर्यामी भगवान्‌का पूजन करो, उनमें औरोंको ब्राह्मणोंके पीछे ही समझो ॥१८॥

द्विजको अपनी सम्पत्तिके अनुसार भाद्रपदमासके* द्वितीय पक्ष (कृष्णपक्ष) में अपने माता-पिताका [महालय नामक] श्राद्ध करना चाहिये, और धनवान्‌को तो उनके [माता-पिताके] बन्धुओंका भी करना उचित है ॥१९॥ इसके सिवा अयन, विषुव, व्यतीपात, दिनक्षय, चन्द्रग्रहण या सूर्यग्रहणके समय, द्वादशीके दिन, श्रवणादि तीन नक्षत्रोंके समय तथा वैशाखशुक्ला तृतीया, कार्तिकशुक्ला नवमी एवं हेमन्त और शिशिर ऋतुकी चार अष्टका तिथियोंपर माघशुक्ला सप्तमीको, मघानक्षत्र और पूर्णचन्द्रा पूर्णिमाका योग होनेपर, पूर्ण चन्द्रमावाली अथवा एक कलासे हीन चन्द्रमावाली पूर्णिमाके साथ[चित्रा, ज्येष्ठा, आषाढ़ा आदि]मासनक्षत्रोंका योग होनेपर, द्वादशीके दिन अनुराधा, श्रवण अथवा तीन उत्तरा (उत्तरा, उत्तराषाढ़ा, उत्तराभाद्रपदा) नक्षत्र होनेपर या इन उत्तरा नक्षत्रोंमें एकादशीका योग होनेपर, तथा जन्मनक्षत्र या श्रवणनक्षत्र आनेपर पितृगणका श्राद्ध करे ॥२०–२३॥ हे राजन्! ये श्रेयः साधनके योग्य काल मनुष्योंके कल्याणकी वृद्धि करनेवाले हैं; अतः इन अवसरोंपर प्रयत्नपूर्वक शुभकर्म करने चाहिये, इसीमें जीवनकी सफलता है ॥२४॥ इन अवसरोंपर जो स्नान, जप, होम, व्रत तथा देवता या ब्राह्मणोंकी पूजा की जाती है अथवा जो कुछ देवता, पितर, मनुष्य एवं भूतोंको समर्पण किया जाता है वह अक्षय होता है ॥ २५ ॥ हे राजन्! इसी प्रकार स्त्रीके [पुंसवनादि] सन्तानके [जातकर्मादि] तथा अपने [यज्ञदीक्षादि] संस्कारोंके समय, मृतकके दहनादि या वार्षिक श्राद्धके समय तथा अन्यान्य आभ्युदयिक कर्मोंके अवसरपर भी किये हुए स्नानादि अक्षय फल देनेवाले होते हैं ॥ २६ ॥

हे राजन्! अब, मैं धर्मादि श्रेयकी प्राप्ति कराने-

१. प्रा० पा०—दपरपक्षीयं मासे । २. प्रा० पा०—राकायां । ३. प्रा० पा०—जन्मश्रवणयोग० । ४. प्रा० पा०—तत्संस्था च मृता० ।

* यह वर्णन शुक्लपक्षकी प्रतिपदासे महीनेका आरम्भ मानकर किया गया है, जैसा कि इस समय गुजरातमें माना जाता है। साधारणतः जो आश्विनका कृष्णपक्ष माना जाता है वही यहाँ भाद्रका कृष्णपक्ष कहा गया है; अतः किसी तरहका विरोध नहीं है।

स वै पुण्यतमो देशः सत्पात्रं यत्र लभ्यते ॥२७॥
बिम्बं भगवतो यत्र सर्वमेतच्चराचरम् ।
यत्र ह ब्राह्मणकुलं तपोविद्यादयान्वितम् ॥२८॥
यत्र यत्र हरेरर्चा स देशः श्रेयसां पदम् ।
यत्र गङ्गादयो नद्यः पुराणेषु च[1] विश्रुताः ॥२९॥
सरांसि पुष्करादीनि क्षेत्राण्यर्हाश्रितान्युत ।
कुरुक्षेत्रं गयशिरः प्रयागः पुलहाश्रमः ॥३०॥
नैमिषं फल्गुनं सेतुः प्रभासोऽथ कुशस्थली ।
वाराणसी मधुपुरी पम्पा बिन्दुसरस्तथा[2] ॥३१॥
नारायणाश्रमो नन्दा सीतारामाश्रमादयः ।
सर्वे कुलाचला राजन्महेन्द्रमलयादयः ॥३२॥
एते पुण्यतमा देशा हरेरर्चाश्रिताश्च ये ।
एतान्देशान्निषेवेत श्रयस्कामो ह्यभीक्ष्णशः ।
धर्मो ह्यत्रेहितः पुंसां सहस्राधिफलोदयः ॥३३॥

पात्रं त्वत्र[3] निरुक्तं वै कविभिः पात्रवित्तमैः ।
हरिरेवैक उर्वीश यन्मयं वै चराचरम् ॥३४॥
देवर्ष्यर्हत्सु वै सत्सु तत्र ब्रह्मात्मजादिषु ।
राजन्यदग्रपूजायां मतः पात्रतयाच्युतः ॥३५॥
जीवराशिभिराकीर्ण आण्डकोशाङ्घ्रिपो महान् ।
तन्मूलत्वादच्युतेज्या सर्वजीवात्मतर्पणम् ॥३६॥
पुराण्यनेन सृष्टानि नृतिर्यगृषिदेवताः ।
शेते जीवेन रूपेण पुरेषु पुरुषो ह्यसौ ॥३७॥
तेष्वेषु भगवान्राजंस्तारतम्येन वर्तते ।
तस्मात्पात्रं हि पुरुषो यावानात्मा यथेयते ॥३८॥

वाले देशोंका वर्णन करता हूँ । जहाँ सत्पात्र पुरुष मिल सकते हैं वही देश सबसे अधिक पवित्र है ॥२७॥ जिनमें यह सम्पूर्ण चराचर स्थित है उन श्रीहरिकी जहाँ प्रतिमा हो, जहाँ तप, विद्या एवं दया आदि गुणोंसे युक्त ब्राह्मण-कुल हो तथा जहाँ-जहाँ भगवान्‌की पूजा होती हो वह सभी देश परमकल्याणकारी हैं । जहाँ पुराणोंमें प्रसिद्ध गंगा आदि नदियाँ, पुष्करादि सरोवर तथा सिद्धजनसेवित क्षेत्र हैं [वे सब देश भी परमपवित्र हैं ।] जैसे कुरुक्षेत्र, गया, प्रयाग, पुलहाश्रम, नैमिषारण्य, फल्गुन-क्षेत्र, सेतुबन्ध, प्रभास, द्वारका, काशी, मथुरा, पम्पासर, बिन्दुसरोवर, बदरिकाश्रम, नन्दा, सीताजी और रामचन्द्रजीके आश्रमादि, महेन्द्र और मलयाचलादि सम्पूर्ण कुलपर्वत तथा जहाँ-जहाँ भगवान्‌की प्रतिमाएँ हैं हे राजन् ! ये सभी देश अत्यन्त पवित्र हैं; जिन्हें अपने कल्याणकी इच्छा हो उन्हें इन स्थानोंका निरन्तर सेवन करना चाहिये, क्योंकि इन स्थानोंपर किया हुआ पुण्यकर्म मनुष्योंको सहस्रगुना अधिक फल देता है ॥ २८–३३ ॥

हे पृथिवीपते ! [अब पात्रका वर्णन करता हूँ] पात्रके गुणोंको जाननेवाले विवेकी पुरुषोंने एकमात्र श्रीहरिको ही सत्पात्र बताया है; क्योंकि यह सम्पूर्ण चराचर उन्हींका रूप है ॥३४॥ [देखो, तुम्हारे यज्ञमें भी] देवता, ऋषि, सिद्ध और ब्रह्माजीके पुत्र सनकादिके रहते हुए भी अग्रपूजाके लिये श्रीअच्युत ही पात्र समझे गये थे ॥३५॥ निखिल जीवसमूहसे पूर्ण जो यह ब्रह्माण्डरूप महावृक्ष है उसके मूल भी वे ही हैं, अतः श्रीहरिकी पूजासे सभी जीवोंकी तृप्ति हो जाती है ॥ ३६ ॥ उन्हींने मनुष्य, तिर्यक्, ऋषि और देवता आदिके शरीररूप पुरोंकी रचना की है; वे इन पुरोंमें जीवरूपसे शयन करते हैं, इसीलिये उन्हें 'पुरुष' भी कहते हैं ॥३७॥ हे राजन् ! इन मनुष्यादि शरीरोंमें न्यूनाधिक भावसे भगवान् ही विराजमान हैं [अर्थात् पशु-पक्षी आदिकी अपेक्षा वे देवता-मनुष्य आदिमें अधिक अंशसे स्थित हैं] । अतः 'पुरुष' ही श्रेष्ठ पात्र हैं, उनमें भी जिसमें भगवान्‌का अंश (तप, योग आदि) जितना ही अधिक है वह उतना ही श्रेष्ठ है ॥ ३८ ॥

१. प्रा० पा०—परिश्रुताः । २. प्रा० पा०—सरः पुरी । ३. प्रा० पा०—तत्र ।

दृष्ट्वा[1] तेषां मिथो नृणामवज्ञानात्मतां नृप ।
त्रेतादिषु हरेरर्चा क्रियायै कविभिः कृता ॥३९॥
ततोऽर्चायां हरिं केचित्संश्रद्धाय[2] सपर्यया ।
उपासत उपास्तापि नार्थदा पुरुषद्विषाम् ॥४०॥
पुरुषेष्वपि राजेन्द्र सुपात्रं ब्राह्मणं विदुः ।
तपसा विद्यया तुष्ट्या धत्ते वेदं हरेस्तनुम् ॥४१॥
नन्वस्य ब्राह्मणा राजन्कृष्णस्य जगदात्मनः ।
पुनन्तः पादरजसा त्रिलोकीं दैवतं महत् ॥४२॥

हे राजन् ! उन पुरुषोंमें परस्पर एक दूसरेका अपमानादि करनेकी प्रवृत्ति देखकर विज्ञजनोंने त्रेता आदि युगोंमें उपासनाके लिये भगवत्प्रतिमाकी कल्पना की थी ॥३९॥ तबसे कितने ही लोग बड़ी श्रद्धा और सामग्रीसे प्रतिमामें ही भगवान्‌की पूजा करने लगे हैं; परन्तु पुरुषसे द्वेष करनेवालोंकी उस प्रतिमा-पूजासे भी पुरुषार्थकी सिद्धि नहीं हो सकती ॥ ४० ॥ हे राजेन्द्र ! उन पुरुषोंमें भी ब्राह्मणको ही सुपात्र माना गया है, क्योंकि वह अपने तप, विद्या और सन्तोषादि गुणोंसे साक्षात् श्रीहरिका वेदरूप शरीर ही धारण करता है ॥४१॥ हे राजन् ! अपनी चरणरजसे त्रिलोकीको पवित्र करनेवाले ब्राह्मण तो इन जगदात्मा भगवान् कृष्णके भी परम इष्टदेव हैं [फिर हमारी-तुम्हारी तो बात ही क्या है ?] ॥ ४२ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे सप्तमस्कन्धे[3] सदाचारनिर्णयो नाम चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

पन्द्रहवाँ अध्याय

गृहस्थोंके लिये मोक्षधर्मका वर्णन ।

नारद उवाच

कर्मनिष्ठा द्विजाः केचित्तपोनिष्ठा नृपापरे ।
स्वाध्यायेऽन्ये प्रवचने ये केचिज्ज्ञानयोगयोः ॥ १ ॥
ज्ञाननिष्ठाय देयानि कव्यान्यानन्त्यमिच्छता ।
दैवे च तदभावे स्यादितरेभ्यो यथार्हतः ॥ २ ॥
द्वौ दैवे पितृकार्ये त्रीनेकैकमुभयत्र वा ।
भोजयेत्सुसमृद्धोऽपि श्राद्धे कुर्यान्न विस्तरम् ॥ ३ ॥

श्रीनारदजी बोले—हे राजन् ! कोई ब्राह्मण कर्म-निष्ठ होते हैं, कोई तपोनिष्ठ होते हैं, कोई वेदाध्ययनमें तत्पर रहते हैं, कोई शास्त्रोंकी व्याख्या करते हैं और कोई ज्ञान एवं योगके अभ्यासमें तत्पर रहते हैं ॥ १ ॥ गृहस्थ पुरुषको चाहिये कि अपने कृत्यका अनन्त फल प्राप्त होनेके लिये उनमेंसे ज्ञानीको ही, पितर तथा देवताओंके उद्देश्यसे दिये हुए कव्य और हव्य समर्पण करे; ऐसा ब्राह्मण न मिले तो दूसरोंको, उनकी योग्यता-के अनुसार देना चाहिये ॥२॥ देवतासम्बन्धी कार्यमें दो तथा पितृकर्ममें तीन ब्राह्मणोंको जिमाना चाहिये, अथवा दोनों कार्योंके लिये एक-एक ही ब्राह्मण नियुक्त करे; विशेष सम्पत्तिशाली होनेपर भी श्राद्धकर्ममें अधिक विस्तार नहीं करना चाहिये ॥ ३ ॥

१. प्रा० पा०—दृष्ट्वैतेषां । २. प्रा० पा०—संशुद्धायां । ३. प्रा० पा०— स्कन्धे चतुर्द० ।

देशकालोचितश्रद्धाद्रव्यपात्रार्हणानि च ।
सम्यग्भवन्ति नैतानि[1] विस्तरात्स्वजनार्पणात् ॥ ४ ॥
देशे काले च सम्प्राप्ते मुन्यन्नं[2] हरिदैवतम् ।
श्रद्धया विधिवत्पात्रे न्यस्तं कामधुगक्षयम् ॥ ५ ॥
देवर्षिपितृभूतेभ्य आत्मने स्वजनाय च ।
अन्नं संविभजन्पश्येत्सर्वं तत् पुरुषात्मकम् ॥ ६ ॥

न दद्यादामिषं श्राद्धे न चाद्याद्धर्मतत्त्ववित् ।
मुन्यन्नैः स्यात्परा प्रीतिर्यथा न पशुहिंसया ॥ ७ ॥
नैतादृशः परो धर्मो नृणां सद्धर्ममिच्छताम् ।
न्यासो दण्डस्य भूतेषु मनोवाक्कायजस्य[3] यः ॥ ८ ॥
एके कर्ममयान्यज्ञान् ज्ञानिनो यज्ञवित्तमाः ।
आत्मसंयमनेऽनीहा जुह्वति ज्ञानदीपिते ॥ ९ ॥
द्रव्ययज्ञैर्यक्ष्यमाणं दृष्ट्वा भूतानि बिभ्यति ।
एष माकरुणो हन्यादतज्ज्ञो ह्यसुतृब् ध्रुवम् ॥१०॥
तस्माद्दैवोपपन्नेन मुन्यन्नेनापि धर्मवित् ।
सन्तुष्टोऽहरहः कुर्यान्नित्यनैमित्तिकीः क्रियाः ॥११॥

विधर्मः परधर्मश्च आभास उपमा छलः ।
अधर्मशाखाः पञ्चेमा धर्मज्ञोऽधर्मवत्त्यजेत् ॥१२॥
धर्मबाधो विधर्मः स्यात्परधर्मोऽन्यचोदितः ।

क्योंकि सगे-सम्बन्धी आदि स्वजनोंको निमन्त्रित करके अधिक विस्तार कर लेनेसे देश-कालोचित श्रद्धा, पदार्थ, पात्र और पूजनादिका ठीक-ठीक निर्वाह नहीं हो सकता ॥४॥ किन्तु यदि देश और कालके प्राप्त होनेपर मुनिजनके भोजन करनेयोग्य अन्न भगवान्‌को निवेदनकर श्रद्धापूर्वक योग्य पात्रको समर्पण किया जाय तो वह सब कामनाओंको पूर्ण करनेवाला और अक्षय होता है ॥५॥ हे राजन् ! देवता, ऋषि, पितर, भूतगण तथा स्वयं अपने और अपने सम्बन्धियोंको अन्नका यथोचित विभाग करे और सबको परमात्मरूप देखे ॥ ६ ॥

धर्मका मर्म जाननेवाला पुरुष श्राद्धमें मांस अर्पण न करे और न स्वयं ही मांस भक्षण करे; क्योंकि पितरोंको मुनियोंके योग्य व्रीहि आदि अन्नोंसे जैसी प्रसन्नता होती है वैसी पशुहिंसासे नहीं होती ॥ ७ ॥ प्राणियोंको मन, वाणी और शरीरसे किसी प्रकारका कष्ट न दिया जाय—इससे बढ़कर सद्धर्माभिलाषियोंके लिये और कोई धर्म नहीं है ॥८॥ इसीलिये, यज्ञतत्त्वको जाननेवाले कितने ही निष्काम ज्ञानी पुरुष ज्ञानाग्निसे प्रज्वलित मनोनिग्रहरूप यज्ञमें इन कर्ममय यज्ञोंका हवन कर देते हैं [अर्थात् बाह्य कर्म-कलापोंसे उपरत होकर मनोनिग्रहपूर्वक आत्मचिन्तनमें तत्पर रहते हैं] ॥९॥ क्योंकि द्रव्यमय यज्ञसे यजन करनेवाले पुरुषको देखकर सभी प्राणी [मन-ही-मन यह सोचकर] डरते हैं कि अपने ही प्राणोंका पोषण करनेवाला यह निर्दयी अज्ञानी मुझे अवश्य मार डालेगा ॥ १० ॥ इसलिये धर्मज्ञ पुरुषको उचित है कि नित्यप्रति, प्रारब्धवश प्राप्त हुए मुनि-अन्नसे ही सन्तोषपूर्वक सब नित्य-नैमित्तिक क्रियाएँ सम्पन्न करे ॥ ११ ॥

हे राजन् ! विधर्म, परधर्म, आभास, उपमा और छल—अधर्मकी इन पाँच शाखाओंको धर्मज्ञ पुरुष अधर्महीकी भाँति त्याग दे ॥१२॥ जिस कार्यको धर्मबुद्धिसे करनेपर भी अपने धर्ममें बाधा उपस्थित हो वह 'विधर्म' है। किसी अन्यके द्वारा अन्य पुरुषके लिये उपदेश किया हुआ धर्म 'परधर्म' है, पाखण्ड या दम्भ-

१. प्रा० पा०—भूतानि । २. प्रा० पा०—मुच्यते दैवसङ्गतम् । ३. प्रा० पा०—कायकर्मभिः ।

उपधर्मस्तु पाखण्डो दम्भो वा शब्दमिच्छलः ॥१३॥

यस्त्विच्छया कृतः पुम्भिराभासो ह्याश्रमात्पृथक् ।

स्वभावविहितो धर्मः कस्य नेष्टः प्रशान्तये ॥१४॥

धर्मार्थमपि नेहेत यात्रार्थं वाधनो धनम् ।

अनीहानीहमानस्य महाहेरिव वृत्तिदा ॥१५॥

सन्तुष्टस्य निरीहस्य स्वात्मारामस्य यत्सुखम् ।

कुतस्तत्कामलोभेन धावतोऽर्थेहया दिशः ॥१६॥

सदा सन्तुष्टमनसः सर्वाः सुखमया दिशः ।

शर्कराकण्टकादिभ्यो यथोपानत्पदः शिवम् ॥१७॥

सन्तुष्टः केन वा राजन्न वर्तेतापि वारिणा ।

औपस्थ्यजैह्व्यकार्पण्याद्गृहपालायते जनः ॥१८॥

असन्तुष्टस्य विप्रस्य तेजो विद्या तपो यशः ।

स्रवन्तीन्द्रियलौल्येन ज्ञानं चैवावकीर्यते ॥१९॥

कामस्यान्तं च क्षुत्तृड्भ्यां क्रोधस्यैतत्फलोदयात् ।

जनो याति न लोभस्य जित्वा भुक्त्वा दिशो भुवः ॥२०॥

पण्डिता बहवो राजन्बहुज्ञाः संशयच्छिदः ।

को 'उपधर्म' (उपमा) कहते हैं, अर्थान्तर करके दूसरे प्रकारकी व्याख्या करना 'छल' है ॥ १३ ॥ तथा पुरुषोंका अपने आश्रमसे विपरीत मनमाना धर्म 'आभास' है । हे राजन् ! अपने स्वभावानुसार शास्त्र-विहित धर्म किसे शान्ति प्रदान नहीं करता ? [अतः अन्य धर्मोंकी उत्कृष्टतासे आकर्षित न होकर अपने ही वर्णाश्रमानुकूल धर्मका यथोचित रीतिसे आचरण करे] ॥ १४ ॥

हे राजन् ! धनहीन पुरुषको धर्म अथवा अपनी शरीरयात्राके लिये भी धनकी इच्छा नहीं करनी चाहिये, क्योंकि उद्योगहीन अजगरके समान निवृत्ति-परायण पुरुषका निर्वाह उसकी निवृत्ति ही कर देती है ॥ १५ ॥ सन्तुष्ट, निवृत्तिपरायण तथा अपने आत्मामें ही रमण करनेवाले पुरुषको जो आनन्द प्राप्त होता है वह कामना और लोभ-के वशीभूत होकर धनके लिये सब दिशाओंमें दौड़नेवाले व्यक्तिको कहाँ मिल सकता है ? ॥१६॥ जिसका चित्त सन्तुष्ट है उसके लिये सभी दिशाएँ सदा सुख-मयी हैं जिस प्रकार पैरोंमें जूता पहने हुए व्यक्तिको कंकड़ और काँटे आदिसे कोई बाधा नहीं होती*॥१७॥ इसके विपरीत, इन उपस्थ और जिह्वा-सम्बन्धी विषयों-की वासनासे कृपण होकर वह मनुष्य घरकी चौकसी करनेवाले कुत्तेके समान हो जाता है । हे राजन् ! ऐसा होते हुए भी मनुष्य दैवयोगसे प्राप्त हुए केवल जल-मात्रसे ही क्यों नहीं सन्तुष्ट रहता ? यह समझमें नहीं आता ॥१८॥ जिस ब्राह्मणको सन्तोष नहीं है उसके तेज, विद्या, तप और यश इन्द्रियलोलुपतासे क्षीण हो जाते हैं तथा विवेक भी नष्ट हो जाता है ॥१९॥ भूख और प्यासकी शान्ति हो जानेपर [अन्न-जल-विषयक] कामनाका अन्त हो जाता है तथा क्रोधका परिणाम [हिंसादि] हो जानेपर उसकी भी शान्ति हो जाती है किन्तु मनुष्यके लोभका अन्त तो दशों दिशाओंको जीतकर उनका भोग करनेपर भी नहीं होता ॥२०॥ हे राजन् ! अनेकों विद्याओंके ज्ञाता, दूसरेके संशयोंका छेदन करनेवाले तथा सभाओंके

१. प्रा० पा०—शिवमया । २. प्रा० पा०—हि ।

* जिस प्रकार छोटा-सा जूता पहननेवाला मनुष्य यह समझता है कि सारी पृथ्वीपर चमड़ा ही बिछा है; क्योंकि उसके पैरके नीचे सर्वत्र चमड़ा ही रहता है । इसी प्रकार थोड़ेमें संतुष्ट रहनेवाले मनुष्यको सारी दिशाएँ सुखमयी जान पड़ती हैं ।

सदसस्पतयोऽप्येके असन्तोषात्पतन्त्यधः ॥२१॥

अधिपति ऐसे अनेकों पण्डितजन हैं जिनका असन्तोषके कारण ही अधःपतन हो जाता है ॥२१॥

असङ्कल्पाज्जयेत्कामं क्रोधं कामविवर्जनात् ।
अर्थानर्थेक्षया लोभं भयं तत्त्वावमर्शनात् ॥२२॥
आन्वीक्षिक्या शोकमोहौ दम्भं महदुपासया ।
योगान्तरायान्मौनेन हिंसां कायाद्यनीहया ॥२३॥
कृपया भूतजं दुःखं दैवं जह्यात्समाधिना ।
आत्मजं योगवीर्येण निद्रां सत्त्वनिषेवया ॥२४॥
रजस्तमश्च सत्त्वेन सत्त्वं चोपशमेन[1] च ।
एतत्सर्वं गुरौ भक्त्या पुरुषो ह्यञ्जसा जयेत् ॥२५॥
यस्य साक्षाद्भगवति ज्ञानदीपप्रदे गुरौ ।
मर्त्यासद्धीः[2] श्रुतं तस्य सर्वं कुञ्जरशौचवत् ॥२६॥
एष वै भगवान्साक्षात्प्रधानपुरुषेश्वरः ।
योगेश्वरैर्विमृग्याङ्घ्रिर्लोको वै[3] मन्यते नरम् ॥२७॥

हे धर्मराज ! कामको निःसंकल्पतासे, क्रोधको कामनाओंके त्यागसे, लोभको अर्थमें अनर्थबुद्धि करनेसे तथा भयको तत्त्व-चिन्तनसे जीतना चाहिये ॥२२॥ इसी प्रकार शोक और मोहको अध्यात्मविद्यासे, दम्भको महापुरुषोंकी सेवासे, योगके विघ्नोंको मौनसे, हिंसाको शरीरकी निश्चेष्टतासे, आधिभौतिक दुःखको कृपासे, आधिदैविक वेदनाको समाधिसे, आध्यात्मिक कष्टको योगबलसे, निद्राको सात्त्विक आहारादिके सेवनसे, रजोगुण और तमोगुणको सत्त्वगुणसे एवं सत्त्वगुणको उपरतिसे जीते तथा पुरुष इन सबको गुरुकी भक्तिद्वारा सहजहीमें जीत सकता है ॥२३–२५॥ हे राजन् ! ज्ञानरूप दीपक प्रदान करनेवाले साक्षात् भगवत्स्वरूप गुरुदेवमें जिनकी 'यह मनुष्य है' ऐसी दुर्बुद्धि है, उनका सारा शास्त्रश्रवण हाथीके स्नानके समान है ॥२६॥ योगेश्वरगण जिनके चरण-कमलोंका अनुसन्धान करते हैं तथा जो प्रधान और पुरुषके भी अधीश्वर हैं वे साक्षात् भगवान् ही ये गुरुदेव हैं, इन्हें लोग भ्रमसे ही मनुष्य मानते हैं ॥२७॥

षड्वर्गसंयमैकान्ताः सर्वा नियमचोदनाः ।
तदन्ता यदि नो योगानावहेयुः श्रमावहाः ॥२८॥
यथा वार्तादयो[4] ह्यर्था योगस्यार्थं न बिभ्रति ।
अनर्थाय भवेयुस्ते पूर्तमिष्टं तथासतः ॥२९॥
यश्चित्तविजये यत्तः[5] स्यान्निःसङ्गोऽपरिग्रहः ।
एको विविक्तशरणो भिक्षुर्भिक्षामिताशनः ॥३०॥

हे राजन् ! सम्पूर्ण नियमविधिका लक्ष्य छः इन्द्रियों (मन और पाँच ज्ञानेन्द्रियों) को जीतना ही है । ऐसा होनेपर भी यदि वे नियमविधियाँ योग (धारणा, ध्यान और समाधि आदि) की साधक न हो सकें तो केवल श्रमकारक ही हैं ॥२८॥ जिस प्रकार खेती आदि कार्य योग (मोक्ष) के साधक नहीं होते उलटे अनर्थरूप संसारकी ही वृद्धि करते हैं, उसी प्रकार बहिर्मुख व्यक्तिके इष्टापूर्तादि कर्म भी बन्धनहीके कारण होते हैं ॥२९॥

हे धर्मराज ! जो पुरुष मनोजयके लिये उद्यत हो वह परिग्रह और सबका संग त्यागकर संन्यास ग्रहण करे तथा एकान्तदेशमें अकेला ही रहकर भिक्षावृत्तिसे प्राप्त हुआ स्वल्प आहार करे ॥३०॥

१. प्रा० पा०—पासनेन । २. प्रा० पा०—न स्याच्छ्रद्धा श्रुतं । ३. प्रा० पा०—यं । ४. प्रा० पा०—दयो विद्यामायासार्थं न । ५. प्रा० पा०—तु स्यान्निःसङ्गो निष्प० ।

देशे शुचौ समे राजन्संस्थाप्यासनमात्मनः ।
स्थिरं समं[2] सुखं तस्मिन्नासीतर्ज्वङ्ग ओमिति ॥३१॥
प्राणापानौ संनिरुन्ध्यात्पूरकुम्भकरेचकैः ।
यावन्मनस्त्यजेत्कामान्[3]स्वनासाग्रनिरीक्षणः ॥३२॥
यतो यतो निःसरति मनः कामहतं भ्रमत् ।
ततस्तत उपाहृत्य हृदि रुन्ध्याच्छनैर्बुधः[4] ॥३३॥
एवमभ्यसतश्चित्तं कालेनाल्पीयसा यतेः ।
अनिशं तस्य निर्वाणं यात्यनिन्धनवह्निवत् ॥३४॥
कामादिभिरनाविद्धं प्रशान्ताखिलवृत्ति[5] यत् ।
चित्तं ब्रह्मसुखस्पृष्टं नैवोत्तिष्ठेत कर्हिचित् ॥३५॥

हे राजन्! वह एकान्त और समान भूमिपर अपना आसन लगाकर शरीरको सीधा और स्थिर रखते हुए सुखपूर्वक बैठे, तथा ओङ्कारका उच्चारण करे ॥३१॥ फिर जबतक चित्त संकल्प-विकल्पोंको न छोड़ दे तबतक नासिकाके अग्रभागपर दृष्टि रखकर पूरक, कुम्भक और रेचकद्वारा प्राण और अपानकी गतिको रोके ॥३२॥ तथा कामनाओंके वशीभूत होकर भटकता हुआ चित्त जहाँ-जहाँ निकलकर जाय बुद्धिमान् पुरुष उसे वहीं-वहींसे फेरकर धीरे-धीरे अपने हृदयहीमें रोके ॥३३॥ इस प्रकार निरन्तर अभ्यास करनेवाले यतिका चित्त थोड़े ही दिनोंमें ईंधनरहित अग्निके समान शान्त हो जाता है ॥३४॥ इस प्रकार कामादि वासनाओंसे क्षुब्ध न होनेवाला योगीका चित्त फिर कभी चलायमान नहीं होता, क्योंकि ब्रह्मानन्दका अनुभव कर लेनेपर उसकी सब वृत्तियाँ शान्त हो जाती हैं ॥३५॥

यः प्रव्रज्य गृहात्पूर्वं त्रिवर्गावपनात्पुनः
यदि सेवेत तान्भिक्षुः स वै वान्ताश्यपत्रपः ॥३६॥
यैः स्वदेहः स्मृतो नात्मा मर्त्यो[6] विट्कृमिभस्मसात् ।
त एनमात्मसात्कृत्वा श्लाघयन्ति ह्यसत्तमाः ॥३७॥
गृहस्थस्य क्रियात्यागो व्रतत्यागो वटोरपि ।
तपस्विनो ग्रामसेवा भिक्षोरिन्द्रियलोलता ॥३८॥
आश्रमापसदा ह्येते खल्वाश्रमविडम्बकाः ।
देवमायाविमूढांस्तानुपेक्षेतानुकम्पया ॥३९॥
आत्मानं चेद्विजानीयात्परं ज्ञानधुताशयः ।
किमिच्छन्कस्य वा हेतोर्देहं पुष्णाति लम्पटः ॥४०॥

जो भिक्षु धर्म, अर्थ और कामकी प्राप्ति करानेवाले गृहस्थाश्रमको त्यागकर फिर उन धर्मादिका ही सेवन करता है वह निस्सन्देह मानो अपने ही उगले हुएको भक्षण करनेवाला और अति निर्लज्ज है ॥३६॥ [तथापि ऐसा देखा जाता है कि] जो अपने देहको अनात्मा, मरणशील और परिणाममें विष्ठा, कृमि एवं भस्मरूप ही मानने लगे थे वे ही मूढ़ फिर उसे आत्मस्वरूप मानकर उसकी प्रशंसा करने लग जाते हैं ॥३७॥ हे राजन्! गृहस्थका कर्मत्याग, ब्रह्मचारीका व्रतत्याग, तपस्वीका गाँवमें रहना और संन्यासीका इन्द्रियलोलुप होना—इन अवस्थाओंमें ये चारों ही आश्रमियोंमें नीच हैं और अपने आश्रमोंकी विडम्बना करनेवाले हैं। भगवान्‌की मायासे विमोहित उन मूर्खोंपर तरस खाकर उनकी उपेक्षा करनी चाहिये ॥३८-३९॥ जिसने अपने आत्माको ब्रह्मस्वरूप जान लिया है और उस आत्मज्ञानसे जिसकी सब वासनाएँ क्षीण हो गयी हैं वह पुरुष किस इच्छा और किस कारणसे इन्द्रियलोलुप होकर अपने शरीरको पुष्ट करेगा ? ॥४०॥

१. प्रा० पा०—जन्नास्था० । २. प्रा० पा०—सुखं समं । ३. प्रा० पा०—कामं स्व० । ४. प्रा० पा०—नैः शनैः । ५. प्रा० पा०—न्ताचलवृत्ति । ६. प्रा० पा०—मर्त्यो वै दुष्कृतं स्मरन् ।

आहुः शरीरं रथमिन्द्रियाणि
हयानभीषून्मन इन्द्रियेशम् ।
वर्त्मानि मात्रा धिषणां च सूतं
सत्त्वं बृहद्बन्धुरमीशसृष्टम् ॥४१॥
अक्षं दशप्राणमधर्मधर्मौ
चक्रेऽभिमानं रथिनं च जीवम् ।
धनुर्हि तस्य प्रणवं पठन्ति
शरं तु जीवं परमेव लक्ष्यम् ॥४२॥
रागो द्वेषश्च लोभश्च शोकमोहौ भयं मदः ।
मानोऽवमानोऽसूया च माया हिंसा च मत्सरः ॥४३॥
रजः प्रमादः क्षुन्निद्रा शत्रवस्त्वेवमादयः ।
रजस्तमःप्रकृतयः सत्त्वप्रकृतयः क्वचित् ॥४४॥
यावन्नृकायरथमात्मवशोपकल्पं
धत्ते गरिष्ठचरणार्चनया निशातम् ।
ज्ञानासिमच्युतबलो दधदस्तशत्रुः
स्वाराज्यतुष्ट उपशान्त[1] इदं विजह्यात् ॥४५॥
नो चेत्प्रमत्तमसदिन्द्रियवाजिसूता
नीत्वोत्पथं विषयदस्युषु निक्षिपन्ति ।
ते दस्यवः सहयसूतममुं तमोऽन्धे
संसारकूप उरुमृत्युभये क्षिपन्ति ॥४६॥
प्रवृत्तं च निवृत्तं च द्विविधं कर्म वैदिकम् ।
आवर्तेत[2] प्रवृत्तेन निवृत्तेनाश्नुतेऽमृतम् ॥४७॥
हिंस्रं द्रव्यमयं काम्यमग्निहोत्राद्यशान्तिदम् ।

पण्डितजन कहते हैं कि शरीर रथ है, इन्द्रियाँ घोड़े हैं, इन्द्रियाधिपति मन लगाम है, शब्दादि विषय मार्ग हैं, बुद्धि सारथी है, चित्त ही ईश्वरका रचा हुआ विशाल बन्धन है, दश प्राण धुरी हैं, धर्म और अधर्म पहिये हैं और अभिमानी जीव रथी है। उस रथीका धनुष ओंकार, बाण जीव और लक्ष्य परब्रह्म कहा जाता है [अतः जिस प्रकार धनुषपर चढ़ाकर बाणको लक्ष्यमें घुसा दिया जाता है उसी प्रकार ओंकारके जपद्वारा अपने अन्तरात्माको परमात्मामें लीन कर दे] ॥ ४१-४२॥ राग, द्वेष, लोभ, शोक, मोह, भय, मद, मान, अपमान, असूया (निन्दा करना), छल, हिंसा, ईर्ष्या, (आसक्ति) प्रमाद, क्षुधा और निद्रा—ये सब तथा ऐसे ही और भी जीवके अनेकों शत्रु हैं, जो रजोगुणी और तमोगुणी प्रकृतिके होते हैं तथा कभी-कभी [समाधिनिष्ठोंके लिये] वे परोपकारादि सात्त्विक-भावसे भी प्रकट होते हैं ॥ ४३-४४ ॥ अतः जबतक जीव इन्द्रियादि समस्त सामग्रीसे युक्त तथा अपने अधीन रहने योग्य इस मनुष्यदेहरूप रथको धारण किये हुए है तभीतक गुरुजनोंकी चरणसेवासे तीक्ष्ण किये हुए ज्ञानरूप खड्गको धारणकर श्रीअच्युतका आश्रय ले इन शत्रुओंका नाश कर शान्त हो जाय और फिर आत्मानन्दमें मग्न रहकर इस (शरीररूप रथ) की भी उपेक्षा कर दे ॥४५॥ नहीं तो, असावधान हो जाने-पर असत् (बहिर्मुख) इन्द्रियरूप घोड़े और बुद्धिरूप सारथी [रथके स्वामी जीवको] कुमार्गमें ले जाकर विषय-रूप लुटेरोंके हाथमें डाल देंगे और वे लुटेरे इसे सारथी और घोड़ोंके सहित मृत्युरूप महाभयसे युक्त घोर अन्धकारमय संसारकूपमें डाल देंगे ॥ ४६ ॥

हे राजन्! वैदिक कर्म दो प्रकारके हैं—प्रवृत्ति-परक और निवृत्तिपरक। उनमेंसे प्रवृत्तिपरक कर्मसे जन्म-मरणरूप संसार प्राप्त होता है और निवृत्तिसे अमृतत्वकी प्राप्ति होती है ॥ ४७ ॥ [श्येनयागादि] हिंसामय कर्म तथा अग्निहोत्र, दर्श, पूर्णमास, चातुर्मास्य, पशुयाग, सोमयाग, हुत (वैश्वदेव) और प्रहुत (बलिहरण)

१. प्रा० पा०—शान्तमतिर्विजह्यात्। २. प्रा० पा०—आवर्तते।

दर्शश्च पूर्णमासश्च चातुर्मास्यं पशुः[1] सुतः ॥४८॥
एतदिष्टं प्रवृत्ताख्यं हुतं प्रहुतमेव च ।
पूर्तं सुरालयारामकूपाजीव्यादिलक्षणम् ॥४९॥
द्रव्यसूक्ष्मविपाकश्च धूमो रात्रिरपक्षयः ।
अयनं दक्षिणं सोमो दर्श ओषधिवीरुधः ॥५०॥
अन्नं रेत इति क्ष्मेश पितृयानं पुनर्भवः ।
एकैकश्येनानुपूर्वं भूत्वा भूत्वेह जायते ॥५१॥
निषेकादिश्मशानान्तैः संस्कारैः संस्कृतो द्विजः ।
इन्द्रियेषु क्रियायज्ञान् ज्ञानदीपेषु जुह्वति ॥५२॥
इन्द्रियाणि मनस्यूर्मौ[2] वाचि वैकारिकं मनः ।
वाचं वर्णसमाम्नाये तमोङ्कारे स्वरे न्यसेत् ।
ओङ्कारं बिन्दौ नादे तं तं तु प्राणे महत्यमुम् ॥५३॥
अग्निः सूर्यो दिवा प्राह्णः शुक्लो राकोत्तरं स्वराट् ।
विश्वश्च[3] तैजसः प्राज्ञस्तुर्य आत्मा समन्वयात् ॥५४॥
देवयानमिदं प्राहुर्भूत्वा भूत्वानुपूर्वशः ।

आदि द्रव्यमय कर्म ये 'इष्ट' कहलाते हैं, तथा देवालय, बगीचा, कुआँ और प्याऊ आदि लगाना 'पूर्त' कर्म है। ये सभी प्रवृत्तिपरक कर्म हैं और सकामतासे किये जानेपर अत्यन्त अशान्तिकारक होते हैं ॥ ४८-४९ ॥ हे राजन् ! प्रवृत्तिपरायण पुरुष चरुपुरोडाशादि द्रव्यके सूक्ष्म भागसे बना हुआ शरीर धारणकर धूमाभिमानी देवताओंके पास जाता है; फिर क्रमशः रात्रि, कृष्ण-पक्ष और दक्षिणायनके अभिमानी देवताओंके पास जा-कर चन्द्रलोकमें पहुँचता है। वहाँसे [भोग समाप्त होनेपर अमावस्याको अदृश्य हुए चन्द्रमाके समान] क्षीण होकर पितृयानमार्गसे [वृष्टिद्वारा] क्रमशः ओषधि, लता, अन्न और वीर्यमें परिणत होकर फिर इस संसारमें ही जन्म लेता है ॥५०-५१॥ हे राजन् ! गर्भाधानसे लेकर श्मशानपर्यन्त सब संस्कारोंसे संस्कृत हुआ द्विज ही इस प्रवृत्तिमार्गका अधिकारी है।

[इसके विपरीत निवृत्तिमार्गमें तत्पर हुआ पुरुष] इष्ट-पूर्तादि कर्मोंको ज्ञानसे प्रकाशित इन्द्रियोंमें हवन करता है ॥५२॥ फिर इन्द्रियोंको दर्शनादि सङ्कल्परूप मनमें, वैकारिक मनको [परा] वाणीमें, वाणीको वर्ण-समुदायमें, वर्णसमुदायको (अ उ म) स्वरत्रयरूप ओंकारमें, ओंकारको बिन्दुमें, बिन्दुको नादमें, नादको सूत्रात्मारूप प्राणमें तथा प्राणको ब्रह्ममें लीन कर देता है ॥ ५३ ॥ वह निवृत्तिनिष्ठ ज्ञानी क्रमशः अग्नि, सूर्य, दिन, सायं-काल, शुक्लपक्ष, पूर्णमासी और उत्तरायणके अभिमानी देवताओंके पास जाकर ब्रह्मलोकमें पहुँचता है; और फिर भोग समाप्त होनेपर वह स्थूलोपाधिक 'विश्व' अपनी स्थूल उपाधिको लीनकर सूक्ष्मोपाधिक 'तैजस' हो जाता है, फिर सूक्ष्म उपाधिको कारणमें लय करके 'प्राज्ञ' रूपसे स्थित होता है और अन्तमें कारणोपाधिके भी लीन हो जानेपर सर्वसाक्षी 'तुरीय' रूपसे स्थित हो जाता है [इस प्रकार वह क्रमशः मोक्षपद प्राप्त करता है] ॥५४॥ इसे देवयानमार्ग कहते हैं। इस मार्गसे जानेवाला आत्मोपासक शान्तात्मा क्रमशः अग्नि आदिके अभिमानी देवताओंको प्राप्त होकर आत्मस्वरूपमें

१. प्रा० पा०—पशुस्ततः। २. प्रा० पा०—मनस्यग्नौ। ३. प्रा० पा०—विश्वोऽथ।

आत्मयाज्युपशान्तात्मा ह्यात्मस्थो न निवर्तते ॥५५॥

स्थित हो जाता है। वह [पितृयानमार्गसे जानेवाले प्रवृत्तिपरायण पुरुषके समान] फिर इस संसारमें नहीं लौटता ॥ ५५ ॥

य एते पितृदेवानामयने वेदनिर्मिते ।
शास्त्रेण चक्षुषा वेद जनस्थोऽपि न मुह्यति ॥५६॥

हे राजन् ! जो पुरुष शास्त्ररूपी नेत्रद्वारा इन पितृयान और देवयान नामक वेदोक्त मार्गोंको जानता है वह जनसमुदायमें रहते हुए भी मोहको प्राप्त नहीं होता ॥५६॥

आदावन्ते जनानां सद्बहिरन्तः परावरम् ।
ज्ञानं ज्ञेयं वचो वाच्यं तमो ज्योतिस्त्वयं स्वयम् ॥५७॥

क्योंकि [कारण और अवधिरूपसे] शरीरोंके आदि और अन्तमें तथा (भोक्ता और भोग्यरूपसे) उनके भीतर और बाहर जो कुछ ऊँच-नीच, ज्ञान-ज्ञेय, वचन-वाच्य अथवा अन्धकार और प्रकाशरूप वस्तु है वह तो यह (ज्ञानी) स्वयं ही है* ॥ ५७ ॥

आबाधितोऽपि ह्याभासो यथा वस्तुतया स्मृतः ।
दुर्घटत्वादैन्द्रियकं तद्वदर्थविकल्पितम् ॥५८॥

जिस प्रकार प्रतिबिम्बादि आभास बाधित (युक्ति और विचारसे निरस्त) होनेपर भी वास्तविक-से जान पड़ते हैं उसी प्रकार इन्द्रियोंके विषय असम्भव होनेके कारण न होते हुए भी सत्यकी भाँति प्रतीत होते हैं ॥५८॥

क्षित्यादीनामिहार्थानां छाया न कतमापि हि ।
न संघातो विकारोऽपि न पृथङ् नान्वितो मृषा ॥५९॥

पृथिवी आदि पञ्चभूतोंकी छाया [अर्थात् भूतोंके साथ ऐक्यबुद्धिका आलम्बन] रूप यह देह वास्तवमें उन भूतोंका सङ्घात, विकार अथवा परिणाम कुछ भी नहीं है; क्योंकि यह अपने अवयवोंसे न तो पृथक् ही है और न उनमें अनुगत ही†; इसलिये यह मिथ्या है ॥५९॥

धातवोऽवयवित्वाच्च तन्मात्रावयवैर्विना ।
न स्युर्ह्यसत्यवयविन्यसन्नवयवोऽन्ततः ॥६०॥

इसी प्रकार शरीरके कारणरूप पञ्चभूत भी अवयवी होनेके कारण अपने अवयवरूप ही हैं इस प्रकार अवयवीके असत् सिद्ध होनेपर अन्ततः अवयव भी असत् ही हैं ॥६०॥

१. प्रा० पा०—तत्रस्थोऽपि । २. प्रा० पा०—मिवा० ।

* अर्थात् उस आत्मस्थित ज्ञानीकी दृष्टिमें आत्माके सिवा और किसीकी सत्ता नहीं रहती इसलिये उसे मोह भी कैसे हो सकता है ?

† यहाँ ग्रन्थकारने यह सिद्ध किया है कि जिस प्रकार वृक्षकी छाया वृक्षका संघात अथवा परिणाम कुछ भी नहीं है इसी प्रकार यह शरीर भी पञ्चभूतोंकी छायामात्र होनेसे मिथ्या ही है। यदि इसे सत्य माना जाय तो यह भूतोंका संघात या परिणाम होना चाहिये। यदि इसे वृक्षोंके संघातरूप वनके समान भूतोंका संघात माना जाय तो इसके एक अवयवको खींचनेसे सारा शरीर नहीं खिंचना चाहिये; जैसे कि एक वृक्षको खींचनेसे सारा वन नहीं खिंच आता। अब, यदि इसे भूतोंका परिणाम मानें तो यह विचारना चाहिये कि यह भूतोंके परिणामरूप अपने अवयवोंसे भिन्न है या उनमें मिला हुआ है। भिन्न तो हो नहीं सकता क्योंकि हाथ-पाँव आदि अपने अवयवोंसे पृथक् कहीं अन्यत्र शरीर दिखायी नहीं देता। यदि मिला हुआ मानें तो देखना चाहिये कि यह अपने अवयवोंमें पूर्णतया मिला हुआ है या अंशरूपसे ? यदि पूर्णतया मिला हुआ है तो एक अँगुलीमें भी शरीरबुद्धि होनी चाहिये तथा किसी भी अंगके निकम्मे हो जानेसे सारा शरीर बेकाम हो जाना चाहिये; किन्तु ऐसा देखनेमें नहीं आता। अब यदि अंशतः मिला हुआ मानें तो एक अवयवके और अवयव तथा उनके भी और अवयव माननेसे और उन सभीमें शरीरको अंशतः अनुगत माननेसे उसकी अंशपरम्पराका कोई अन्त ही नहीं होगा, और इस प्रकार अनवस्था दोष खड़ा हो जायगा। इसलिये वस्तुतः शरीर भूतोंका न तो संघात है और न परिणाम ही। वह केवल उनमें आरोपित (कल्पित) ही है। इसलिये मिथ्या है।

स्यात्सादृश्यभ्रमस्तावद्विकल्पे सति वस्तुनः ।
जाग्रत्स्वापौ यथा स्वप्ने तथा विधिनिषेधता ॥६१॥

जबतक वस्तुओंका अविद्याकल्पित विकल्प बना हुआ है तबतक सदृशताका भ्रम भी रह सकता है; तथा स्वप्नमें जिस प्रकार कभी जागृतिकी और कभी स्वप्नकी प्रतीति होती है उसी प्रकार [मोह-निद्राके रहनेतक] शास्त्रके विधि-निषेध भी हैं॥ ६१ ॥

भावाद्वैतं क्रियाद्वैतं द्रव्याद्वैतं तथात्मनः ।
वर्तयन्स्वानुभूत्येह त्रीन्स्वप्नान्धुनुते मुनिः ॥६२॥
कार्यकारणवस्त्वैक्यमर्शनं पटतन्तुवत् ।
अवस्तुत्वाद्विकल्पस्य भावाद्वैतं तदुच्यते ॥६३॥
यद्ब्रह्मणि परे साक्षात्सर्वकर्मसमर्पणम् ।
मनोवाक्तनुभिः पार्थ क्रियाद्वैतं तदुच्यते ॥६४॥
आत्मजायासुतादीनामन्येषां सर्वदेहिनाम् ।
यत्स्वार्थकामयोरैक्यं द्रव्याद्वैतं तदुच्यते ॥६५॥

हे राजन् ! भावाद्वैत, क्रियाद्वैत और द्रव्याद्वैतकी आलोचना करनेवाला मुनि आत्मानुभवके द्वारा अपने जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्तिरूप तीनों स्वप्नों (अवस्थाओं) को त्याग देता है ॥६२॥ पट जिस प्रकार तन्तुरूप ही है उसी प्रकार सर्वत्र कार्य-कारणरूप वस्तु एक ही है, क्योंकि भेद वास्तवमें असत्य है—ऐसा विचार करना भावाद्वैत है ॥६३॥ हे पृथापुत्र ! मन, वाणी और शरीरसे किये जानेवाले अपने सब कर्मोंको साक्षात् परब्रह्मको ही समर्पण कर देना—यही क्रियाद्वैत है ॥६४॥ अपने, स्त्री-पुत्रादिके तथा अन्य समस्त प्राणियों-के स्वार्थ और भोगोंकी एकता करना द्रव्याद्वैत है ॥६५॥

यद्यस्य वानिषिद्धं स्याद्येन यत्र यतो नृप ।
स तेनेहेत कर्माणि नरो नान्यैरनापदि ॥६६॥
एतैरन्यैश्च वेदोक्तैर्वर्तमानः स्वकर्मभिः ।
गृहेऽप्यस्य गतिं यायाद्राजंस्तद्भक्तिभाङ्नरः ॥६७॥
यथा हि यूयं नृपदेव दुस्त्यजा-
दापद्गणादुत्तरतात्मनः प्रभोः ।
यत्पादपङ्केरुहसेवया भवा-
नहारषीन्निर्जितदिग्गजः क्रतून् ॥६८॥

हे नृप ! जिस पुरुषको जो द्रव्य, जिस समय, जिस उपायसे जिससे ग्रहण करना शास्त्राज्ञाके विरुद्ध न हो उसे, कोई आपत्तिकाल न होनेपर, उसीसे अपने सब कार्य सम्पन्न करने चाहिये—अन्यसे नहीं ॥६६॥ हे राजन् ! इन कर्मोंके तथा वेदमें कहे हुए अन्य स्वकर्मोंके अनुसार बर्ताव करते रहनेसे पुरुष भगवान्‌की भक्ति पाकर घरमें रहते हुए भी उनकी गतिको प्राप्त हो जाता है ॥६७॥ हे नरेन्द्रदेव ! तुम अपने प्रभु भगवान् कृष्णकी कृपासे जिस प्रकार दुस्तर विपत्तियोंसे पार हो गये हो तथा उन्हींके चरणकमलोंकी सेवाके प्रभावसे जैसे तुमने दिग्गजोंपर्यन्त [सम्पूर्ण भूमण्डलको] जीत-कर राजसूयादि बड़े-बड़े यज्ञ किये हैं [उसी प्रकार उन जगदुद्धारक प्रभुकी कृपासे तुम संसार-सागरसे भी पार हो जाओगे] ॥ ६८ ॥

---

१. उपर्युक्त कथनसे सारा प्रपञ्च असत् सिद्ध हुआ । अब शंका होती है कि संसारमें बहुत-सी वस्तुएँ जैसी पहले थीं वैसी ही आज भी क्यों दिखायी देती हैं ? इसका कारण बताते हुए कहते हैं—'जबतक……' इत्यादि ।

२. अर्थात् 'यह वही वस्तु है' इस प्रकार समानताका सन्देह ।

३. अर्थात् सबके शरीर पञ्चभूतात्मक हैं और भोक्ता एकमात्र सर्वान्तर्यामी परमात्मा ही हैं—ऐसी भावनासे सबके धन और भोगोंकी एकता देखना ।

अहं पुराभवं कश्चिद्गन्धर्व उपबर्हणः ।
नाम्नातीते महाकल्पे गन्धर्वाणां सुसम्मतः ॥६९॥
रूपपेशलमाधुर्यसौगन्ध्यप्रियदर्शनः ।
स्त्रीणां प्रियतमो नित्यं मत्तस्तु[1] पुरुलम्पटः ॥७०॥

हे राजन् ! पहले, बीते हुए महाकल्पमें मैं अन्य गन्धर्वोंसे अत्यन्त सम्मानित उपबर्हणनामक एक गन्धर्व था ॥६९॥ सुन्दर रूप, सुकुमारता, मधुरता और मनोहर सुगन्धके कारण मेरा दर्शन लोगोंको बड़ा प्रिय था। स्त्रियोंको तो मैं बहुत ही प्रिय था; इसलिये मैं भी उनमें अत्यन्त आसक्त होकर उन्मत्त रहता था ॥७०॥

एकदा देवसत्रे तु गन्धर्वाप्सरसां गणाः ।
उपहूता विश्वसृग्भिर्हरिगाथोपगायने ॥७१॥
अहं च गायंस्तद्विद्वान्स्त्रीभिः परिवृतो गतः ।
ज्ञात्वा विश्वसृजस्तन्मे हेलनं शेपुरोजसा ।
याहि त्वं शूद्रतामाशु नष्टश्रीः कृतहेलनः ॥७२॥
तावद्दास्यामहं जज्ञे तत्रापि ब्रह्मवादिनाम् ।
शुश्रूषयानुषङ्गेण प्राप्तोऽहं ब्रह्मपुत्रताम् ॥७३॥

एक बार देवताओंकी यज्ञशालामें प्रजापतियोंने भगवान्‌का चरित्र गानेके लिये बहुत-से गन्धर्व और अप्सराओंको बुलाया ॥७१॥ इसका पता लगनेपर मैं भी बहुत-सी स्त्रियोंसे घिरा हुआ उनके साथ उन्मत्त-भावसे गान करता वहाँ पहुँचा। मेरी यह अवज्ञापूर्ण प्रवृत्ति देख प्रजापतियोंने अपने तपोबलसे मुझे शाप दिया कि 'तूने हमारी अवज्ञा की है, इसलिये तू तुरन्त ही श्रीहीन होकर शूद्रयोनिको प्राप्त हो' ॥७२॥ इससे मैंने उसी समय दासीके गर्भसे जन्म लिया। किन्तु वहाँ ब्रह्मवादियोंकी सेवा और संगति करनेसे मैं फिर ब्रह्माजीका पुत्र हुआ ॥ ७३ ॥

धर्मस्ते गृहमेधीयो वर्णितः पापनाशनः ।
गृहस्थो येन[2] पदवीमञ्जसा न्यासिनामियात् ॥७४॥
यूयं नृलोके बत भूरिभागा
लोकं पुनाना मुनयोऽभियन्ति ।
येषां गृहानावसतीति साक्षाद्-
गूढं परं ब्रह्म मनुष्यलिङ्गम् ॥७५॥
स वा अयं ब्रह्म महद्विमृग्य-
कैवल्यनिर्वाणसुखानुभूतिः ।
प्रियः सुहृद्वः खलु मातुलेय
आत्मार्हणीयो विधिकृद्गुरुश्च ॥७६॥
न यस्य साक्षाद्भवपद्मजादिभी
रूपं धिया वस्तुतयोपवर्णितम् ।
मौनेन भक्त्योपशमेन पूजितः
प्रसीदतामेष स सात्वतां पतिः ॥७७॥

हे राजन् ! इस प्रकार मैंने तुमसे उस पापनाशक गृहस्थ-धर्मका वर्णन कर दिया, जिसका आचरण करनेसे गृहस्थ पुरुष भी अनायास ही संन्यासियोंको प्राप्त होने-योग्य गति प्राप्त कर लेता है ॥ ७४ ॥ हे युधिष्ठिर ! इस मर्त्यलोकमें तुमलोग निस्सन्देह बड़े ही भाग्यवान् हो, क्योंकि तुम्हारे घरोंमें मनुष्यरूपसे छिपे हुए साक्षात् परब्रह्म ही निवास करते हैं—यह सोचकर तुम्हारे यहाँ अपने दर्शनोंसे ही लोकोंको पवित्र करनेवाले मुनिजन सब ओरसे आते रहते हैं ॥७५॥ हे राजन् ! महात्मा-गण जिनका अनुसन्धान करते हैं, वे अद्वितीय और निरुपाधिक परमानन्दानुभवरूप परब्रह्म ही ये तुम्हारे प्रिय, सुहृद्, मातुलेय (मामाके पुत्र), आत्मीय, पूज्य, आज्ञाकारी और गुरु भगवान् श्रीकृष्ण हैं ॥ ७६ ॥ अहो ! जिनके स्वरूपका साक्षात् श्रीमहादेवजी और ब्रह्माजी आदि भी ठीक-ठीक वर्णन नहीं कर सके, हमारे द्वारा भक्ति, मौन और मनःसंयमसे पूजित हुए वे ही ये भक्तवत्सल भगवान् हमपर प्रसन्न हों ॥७७॥

१. प्रा० पा०—मत्तः स्वपुरु० । २. प्रा० पा०—यत्र ।

श्रीशुक उवाच

इति देवर्षिणा प्रोक्तं निशम्य भरतर्षभः ।
पूजयामास सुप्रीतः कृष्णं च प्रेमविह्वलः ॥७८॥
कृष्णपार्थावुपामन्त्र्य पूजितः प्रययौ मुनिः ।
श्रुत्वा कृष्णं परं ब्रह्म पार्थः परमविस्मितः ॥७९॥

इति दाक्षायणीनां ते पृथग्वंशाः प्रकीर्तिताः ।
देवासुरमनुष्याद्या लोका यत्र चराचराः ॥८०॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! नारदजीका यह कथन सुन भरतश्रेष्ठ महाराज युधिष्ठिरने प्रेमसे विह्वल हो अति प्रसन्नतापूर्वक उनकी और भगवान् श्रीकृष्णकी पूजा की ॥७८॥ तत्पश्चात् भगवान् श्रीकृष्ण और युधिष्ठिर-से अनुमति ले उनसे सत्कृत हो श्रीनारदजी चले गये। 'श्रीकृष्णचन्द्र साक्षात् परब्रह्म हैं'—यह सुनकर राजा युधिष्ठिरको बड़ा ही विस्मय हुआ ॥७९॥

हे राजन् ! इस प्रकार मैंने तुमसे दक्षकन्याओंके पृथक्-पृथक् वंशोंका वर्णन किया जिनमें देवता, असुर और मनुष्यादि सभी चराचर जीव उत्पन्न हुए हैं ॥८०॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे वैयासिक्यामष्टादशसाहस्र्यां पारमहंस्यां संहितायां सप्तमस्कन्धे प्रह्लादानुचरिते युधिष्ठिरनारदसंवादे सदाचारनिर्णयो नाम पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

॥ समाप्तोऽयं सप्तमः स्कन्धः ॥

छिटनेका पता—

गीताप्रेस, गोरखपुर।